राजस्थांनी सबद कोस

पृष्ठ १—८३०　　['अ' से 'घ' तक]　　शब्द २८७७१

राजस्थांनी सबद कोस

[राजस्थानी हिन्दी वृहत् कोश]

[प्रथम खण्ड]

कर्ता

सीतारांम लाळस

व्युत्पत्ति आदि द्वारा—परिष्कारक

पं. नित्यानन्द शास्त्री दाधीच

[आशुकवि, कविभूषण, व्याकरण, साहित्य, कोशादि तीर्थ,
श्रीरामचरिताब्धिरत्नम् महाकाव्य आदि के प्रणेता]

प्रकाशक

राजस्थानी शोध संस्थान

जोधपुर [राजस्थान]

प्रकाशक
राजस्थानी शोध संस्थान
जोधपुर

प्रथम संस्करण

मुद्रक
हरिप्रसाद पारीक
साधना प्रेस
जोधपुर

समर्पण

जिन्होंने अपनी महती कृपा से
इस अकिंचन के जीवन में ज्ञानार्जन की जिज्ञासा जागृत कर
साहित्य अध्ययन की ओर आकृष्ट किया
उन
परम वन्दनीय पूज्य नानाजी
कविवर श्री सादूळदांनजी बोगसा, सरवड़ी (मारवाड़)
तथा
जिन्होंने कोश-निर्माण की अनुपम प्रेरणा प्रदान कर
प्रस्तुत कोश-निर्माण के पथ पर अग्रसर किया
उन
राजस्थानी के अनन्य सेवी, विद्यानुरागी
पं० हरिनारायणजी पुरोहित, बी. ए., विद्याभूषण, जयपुर
को
पावन स्मृति में
सादर समर्पित

जेथ नदी जळ बहळ, तेथ थळ विमळ उलट्टै ।
तिमर घोर अंधार, तेथ रवि किरण प्रगट्टै ।
राव करीजै रंक, रंक सिर छत्र धरीजै ।
'अलू' तास विसवास, आस कीजे सिमरीजै ।

चख लहै अंध पंगू चलण, मूनी सिद्धायत वयण ।
तो कियां (करत) कहा न ह्वै क्रिसन, नारायण पंकज नयण ।। १

महात्मा अलूनाथ

Jaipur, Rajasthan

सन्देश

त्याग और बलिदान से ओतप्रोत राजस्थान का इतिहास जितना उज्ज्वल है उतना ही उज्ज्वल, समृद्ध और ओजस्वी यहाँ का साहित्य है। प्राचीन डिंगल गीत, कविराजा सूरजमल का वंशभाष्कर, राठौड़ पृथ्वीराज की वेलि क्रिष्ण रुक्मणिरी, ईसरदासजी के कुण्डलिये, ढोला मारू रा दूहा, मीराँ बाई के पद, संतों की वाणियाँ तथा लोगों के कण्ठों में सुरक्षित विशाल लोक-साहित्य किसी भी प्रान्तीय भाषा के उच्चस्तरीय साहित्य के समकक्ष रखा जा सकता है। परन्तु इस भाषा का कोई व्याकरण और कोश न होने के कारण इस साहित्य का उचित मूल्यांकन तथा प्रचार भारत के अन्य प्रान्तों में नहीं हो पाया।

यह देख कर बड़ा हर्ष होता है कि श्री सीताराम लाळस ने पहले व्याकरण प्रकाशित कर और अब वृहद् राजस्थानी शब्द कोश का निर्माण कर इस अभाव की पूर्ति करदी है और इसका प्रथम खण्ड प्रकाशित होने जा रहा है। अब देश के विद्वान् राजस्थानी साहित्य का सही मूल्यांकन कर सकेंगे, ऐसी मेरी धारणा है।

श्री सीताराम लाळस एक साधारण अध्यापक हैं और उनके सीधे-सादे वेश तथा सरल स्वभाव को देख कर किसी भी व्यक्ति के लिए उनकी प्रकांड विद्वता और भाषा-शास्त्र में असाधारण गति का अंदाज लगाना कठिन हो जाता है। पर एक अवसर पर राजस्थानी शोध संस्थान के कार्यालय में जब मैंने कोश के कई एक अंशों की व्याख्या उनसे सुनी तो मैं उनकी विशाल जानकारी और असाधारण विद्वता से प्रभावित हुए विना नहीं रह सका।

राजस्थानी भाषा के इस कोश में विद्वान् सम्पादक ने अपनी ३० वर्ष की निरन्तर साधना के फलस्वरूप विस्तार के साथ राजस्थानी शब्दों के विभिन्न अर्थ, व्युत्पत्ति तथा जो अनेक उदाहरण प्रस्तुत किए हैं उससे कोश की उपयोगिता और भी बढ़ गई है। इस कार्य के महत्व को समझ कर ही राजस्थान सरकार ने तथा भारत सरकार ने इसके प्रकाशनार्थ आर्थिक सहायता भी दी है।

मैं इस उपयोगी ग्रन्थ के सम्पादन के लिए श्री सीताराम लाळस को तथा सुन्दर प्रकाशन के लिए राजस्थानी शोध संस्थान, जोधपुर व उसके प्रबन्धकों को हार्दिक बधाई देता हूँ और आशा करता हूँ कि भविष्य में भी राजस्थानी शोध संस्थान इस प्रकार के सुन्दर प्रकाशन कर राजस्थानी साहित्य की अमूल्य सेवा करता रहेगा।

मोहनलाल सुखाड़िया

१९ – ३ – ६१

प्रबन्धकारिणी समिति की ओर से

राजस्थानी भाषा के एक सर्वांगीण कोश की कमी राजस्थान के विद्वान् और गण्यमान्य व्यक्ति कई वर्षो से अनुभव कर रहे थे। जहां तक मेरा ख्याल है आज से कोई ३०-३५ वर्ष पहले भूतपूर्व जोधपुर राज्य के दीवान सर सुखदेव ने एक राजस्थानी कोश बनवाने का प्रयत्न किया था। कोश-निर्माण सम्बन्धी अन्य जो भी प्रयास समय-समय पर हुए उनका विस्तृत वर्णन कोशकर्ता ने अपने निवेदन में किया है। मेरे मित्र स्वर्गीय ठाकुर भवानीसिंहजी, पोकरण, ने भी इस विषय में कई बार मेरे से चर्चा की। उनकी भी इस कार्य में बड़ी रुचि थी। इस वृहत् राजस्थानी शब्द-कोश का कार्य श्री सीतारामजी लाळस लगभग ३० वर्षो से कर रहे हैं। जिस लगन और निष्ठा से उन्होंने यह कार्य किया है वह वास्तव में सराहनीय है।

इतना बड़ा कार्य अकेले व्यक्ति से होना संभव नहीं था अत: कई व्यक्तियों ने समय-समय पर किसी न किसी रूप में उन्हें सहयोग दिया, जिसका जिक्र उन्होंने स्वयं किया है। कोश के लिए शब्द जब काफी संख्या में शामिल कर लिए गए और उन्हें अक्षर-क्रम से जमाया गया तो उनके सामने यह प्रश्न आया कि इस कार्य को पूर्ण रूप देकर प्रकाशित करवाया जाय।

राजस्थानी शोध संस्थान के संचालक श्री नारायणसिंह भाटी ने प्रबन्धकारिणी समिति के सामने यह प्रस्ताव रखा कि उक्त ग्रन्थ का प्रकाशन कार्य संस्थान अपने हाथ में लेले। प्रबन्धकारिणी समिति ने इसे अत्यन्त महत्वपूर्ण कार्य समझ कर सहर्ष स्वीकार किया। कोश को उदाहरण, मुहावरे, व्युत्पत्ति, आवश्यक टिप्पणियां आदि से सर्वांगीण रूप देने के लिए कोशकर्ता को एक विस्तृत योजना दी गई और उस योजना के अनुसार राजस्थानी का वृहद् कोश बनाने हेतु समिति ने अर्थ आदि की आवश्यक व्यवस्था भी की। इस प्रकार की योजना के अनुसार लगभग चार वर्ष तक निरंतर कार्य चलते रहने पर कोश का प्रथम भाग तैयार हुआ है। शेष तीन भागों पर अभी कार्य चल रहा है। यह अत्यन्त हर्ष का विषय है कि इस वृहत् कोश का प्रथम भाग एक बड़ी साहित्य-साधना के पश्चात् जनता के सामने प्रस्तुत किया जा रहा है।

जनतंत्र में जनवाणी का बड़ा महत्व होता है। राजस्थानी यहां की जनता की मातृभाषा है। पर हमारा दुर्भाग्य है कि भारतवर्ष की अन्य भाषाओं की तरह राजस्थानी को संविधान में स्थान प्राप्त नहीं हो सका। पर यहां की जनता के हृदय में राजस्थानी का स्थान है और राजस्थान के नवयुवक विद्वानों ने भी इसके महत्व को समझ कर ही इस ओर पूर्ण अभिरुचि प्रकट की है।

राजस्थान सरकार ने भी 'प्राच्य विद्या प्रतिष्ठान' जैसी महत्वपूर्ण संस्था कायम कर राजस्थानी व अन्य भाषाओं के ग्रंथों को सुरक्षित करने तथा विद्वानों के लिए उन्हें उपलब्ध कराने का अत्यन्त उपयोगी व सराहनीय कार्य किया है। राजस्थानी शब्द कोश इन ग्रथों को समझने में तथा नये लेखकों को प्रोत्साहित करने में अत्यन्त उपयोगी सिद्ध होगा। एक तरह से देखा जाय तो राजस्थानी शब्द कोश समय की माँग है। आज जब विकेन्द्रीकरण द्वारा शासन सत्ता आम जनता के हाथों में चली गई है तो यह आवश्यक है कि आम जनता की भाषा को भी उचित महत्व दिया जाय और उसका अपना कोश व नया साहित्य बने जो यहाँ की जनता की भावनाओं का सही माध्यम हो। प्रस्तुत ग्रंथ को देख कर हमारे देश के बड़े विद्वानों ने इसकी प्रशंसा की है। अतः यह विद्वत्-वर्ग तथा जनता दोनों के लिए लाभप्रद सिद्ध होगा, ऐसी आशा है। राजस्थान सरकार व भारत सरकार ने इस ग्रन्थ के प्रकाशनार्थ आर्थिक सहयोग दे कर संस्थान के कार्य को और भी सुलभ बना दिया जिसके लिए संस्थान उनका अत्यंत आभारी है।

झालावाड़ नरेश श्रीमान् हरिश्चन्द्रजी तथा कर्नल ठा० श्यामसिंहजी ने जो विशेष आर्थिक सहायता दी है, उसके लिए भी मैं प्रबन्धकारिणी समिति की ओर से उनका आभार स्वीकार करता हूँ।

असली कार्य तो इस कोश के सम्पादक श्री सीतारामजी लाळस व शोध संस्थान के संचालक श्री नारायणसिंहजी भाटी का है जिनके अथक प्रयत्न से ग्रन्थ का प्रकाशन इस रूप में सम्भव हो सका है। राजस्थानी साहित्य की जो सेवा इन्होंने की है उसका आभार आने वाली पीढ़ियाँ भी मानेंगी।

कोश का कार्य किस विद्वत्तापूर्ण ढंग से किया गया है उसके सम्बन्ध में कुछ कहने का अधिकारी मैं नहीं हूँ, क्योंकि यह तो विद्वानों के ही कहने की बात है। पर मुझे यह आशा है कि यह कोश राजस्थानी साहित्य की बहुत बड़ी कमी को पूरा करके राजस्थान की जनता की बहुत बड़ी सेवा करेगा और हमारी जो यह अभिलाषा है कि राजस्थानी भाषा को संविधान में मान्यता प्राप्त हो, उसे फलीभूत करने में भी यह अत्यन्त सहायक सिद्ध होगा।

भैरूंसिंह (खेजड़ला)
अध्यक्ष
प्रबंधकारिणी समिति
चौपासनी शिक्षा समिति, जोधपुर

वसंत पंचमी
सं० २०१८
जोधपुर

संचालकीय वक्तव्य

आधुनिक भारतीय भाषाओं में राजस्थानी भाषा का भी महत्वपूर्ण स्थान है। पर इस भाषा के साहित्य के प्रकाशन की समुचित व्यवस्था न होने के कारण तथा कोश व व्याकरण के अभाव में इसे वह महत्व नहीं मिल पाया जिसकी वह अधिकारिणी थी। इस प्रान्त के विभिन्न राज्यों की सांस्कृतिक व ऐतिहासिक विशेषताओं को सर्वप्रथम विश्व के सामने आधुनिक ढंग से प्रकट करने का श्रेय कर्नल टॉड को है जिन्होंने न केवल यहाँ के इतिहास पर ही प्रकाश डाला वरन् यहाँ की साहित्यिक निधि तथा महत्वपूर्ण साहित्यकारों तथा कवियों की ओजस्विनी वाणी की भी यथास्थान प्रशंसा भी की। परन्तु यहाँ की भाषा पर भारतीय भाषाओं का सर्वेक्षण करते समय सर्वप्रथम वैज्ञानिक ढंग से विचार सर जॉर्ज ग्रियर्सन ने किया। हालांकि कुछ और विदेशी विद्वानों ने भी इस बीच छोटे-बड़े प्रयत्न इस भाषा पर प्रकाश डालने के लिए किये पर उन सब में ग्रियर्सन का कार्य ही अधिक महत्वपूर्ण था। उन्होंने अपने सर्वे की जिल्द संख्या ९ में गुजराती और राजस्थानी भाषाओं को पृथक करते हुए प्रत्येक भाषा की व्याकरण सम्बन्धी विशेषताओं तथा बोलियों आदि पर बहुत उपयोगी कार्य किया और उन्हीं की सहायता से दूसरे इटली के विद्वान् डॉ० तैस्सीतोरी को राजस्थानी भाषा तथा साहित्य पर कार्य करने का अवसर मिला। उनका कार्यकाल १९१४ से १९१९ तक ही रहा पर इस काल में वे बहुत महत्वपूर्ण कार्य कर गये। हस्तलिखित ग्रन्थों के सर्वेक्षण तथा 'वेलि क्रिस्न रुकमणिरी' जैसे महत्वपूर्ण ग्रन्थों के सुन्दर सम्पादन के साथ-साथ उन्होंने पुरानी राजस्थानी का व्याकरण भी लिखा तथा गुजराती और राजस्थानी के अलग-अलग अस्तित्व प्राप्त करने की सीमा रेखा पर बड़ी बारीकी तथा नपे-तुले ढंग से विचार किया। उनका यह कार्य केवल राजस्थानी व गुजराती भाषा के अध्ययन के लिए ही उपयोगी नहीं है वरन् अन्य सम्बन्धित भारतीय भाषाओं के लिए भी कई प्रकार से बड़े महत्व का है। यदि वे कुछ समय और जीवित रहते तो शायद राजस्थानी के लिए बहुत-सा उपयोगी कार्य कर जाते पर ऐसा न हो सका। उनके उस कार्य को किसी ने भी आगे नहीं बढ़ाया।

कुछ वर्षों बाद यहीं के विद्वानों ने कुछेक महत्वपूर्ण ग्रन्थों का सम्पादन कर लोगों में राजस्थानी के प्रति रुचि उत्पन्न की, उनमें श्री रामकरण आसोपा, जोधपुर, श्री सूर्यकरण पारीक, बीकानेर तथा पुरोहितजी श्री हरिनारायणजी, जयपुर का नाम उल्लेखनीय है। यह जितना भी कार्य हुआ इससे भाषा-विज्ञान के विद्वानों के हृदय में राजस्थानी के लिए बड़ी जिज्ञासा उत्पन्न हुई जिसके फलस्वरूप प्रसिद्ध भारतीय भाषाविद् श्री सुनीतिकुमार चटर्जी ने उदयपुर साहित्य संस्थान के तत्वावधान में राजस्थानी भाषा पर महत्वपूर्ण भाषण दिए, जो राजस्थानी की प्राचीनता और अन्य भारतीय भाषाओं से उसके सम्बन्ध पर अच्छा प्रकाश डालते हैं।

इधर स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात् इस भाषा के प्राचीन गौरव को सुरक्षित रखने और प्रकाश में लाने के लिए कई योग्य व्यक्ति तत्पर हुए, कितने ही प्राचीन ग्रन्थों का सम्पादन विभिन्न संस्थाओं द्वारा हाथ में लिया गया और आधुनिक राजस्थानी में नए पद्य तथा गद्य के लेखक भी समय की मांग के अनुकूल रचनाएँ प्रस्तुत करने लगे। राजस्थान की जनता ने अपनी मातृभाषा में अपने ही हृदय के उद्‌गारों को व्यक्त होते देख उसका समुचित आदर भी किया। और भारत के अनेक निष्पक्ष विद्वानों ने ऐसे प्रयत्नों की हृदय से प्रशंसा भी की। पर इस भाषा का व्याकरण और शब्द कोश जब तक किसी उपयुक्त विद्वान् की साधना के फलस्वरूप सामने नहीं आया तब तक कई लोगों को राजस्थानी को एक स्वतंत्र तथा सशक्त भाषा के रूप में स्वीकार करने में बड़ी आपत्ति थी। सौभाग्य से राजस्थान की इस समस्या को पूर्ण करने वाला व्यक्ति उसे मिल गया। श्री सीताराम लाळस ने ७-८ वर्ष पहले अपना व्याकरण प्रकाशित करवाया था जिसकी प्रशंसा भाषा विज्ञान के सभी विद्वानों ने की और लगभग ३० वर्ष

के अगाध्य परिश्रम के फलस्वरूप उनका 'राजस्थानी सबद कोस' चार भागों में प्रकाशित हो रहा है। इसका पहला भाग आपके सम्मुख प्रस्तुत है।

पूरे कोश में करीब सवा लाख शब्दों को उनके हिन्दी-अर्थ और उदाहरणों तथा मुहावरों आदि सहित प्रकाशित किया जा रहा है। यह कोश कितना विद्वतापूर्ण और उपयोगी है यह तो विद्वानों के समझने और कहने की बात है, पर इतना अवश्य कहा जा सकता है कि श्री सीतारामजी का यह प्रयत्न राजस्थानी भाषा के लिए ही नहीं वरन् राष्ट्र भाषा हिन्दी और उससे सम्बन्धित अन्य भारतीय भाषाओं के लिए भी अत्यन्त उपयोगी और ऐतिहासिक महत्व का है।

कोश-निर्माण का कार्य श्री सीतारामजी ने सन् १९३२ में पंडित हरिनारायणजी विद्याभूषण की प्रेरणा से प्रारंभ किया था और तब से वे निरन्तर इस पर कार्य करते रहे। इतने बड़े कार्य के लिए आर्थिक सहायता की बड़ी आवश्यकता थी जो उन्हें समय-समय पर साहित्य-प्रेमी सज्जनों से मिलती रही। पर कर्नल ठा० श्यामसिंहजी ने इस कार्य के महत्व को समझ कर विशेष आर्थिक सहायता का प्रबन्ध किया जिसके फलस्वरूप बहुत बड़ी संख्या में शब्दों तथा उदाहरणों का संकलन संभव हो सका। इसके पश्चात् राजस्थानी शोध संस्थान की प्रबन्धकारिणी समिति ने इस कार्य को संस्थान के अन्तर्गत ले लिया। अभी तक प्रेस कॉपी बनने तथा कोश को पूर्णता प्रदान करने में काफी काम शेष था, वह काम विस्तृत योजना के अनुसार संस्थान के तत्वावधान में श्री सीतारामजी करते रहे। कर्नल ठा० श्यामसिंहजी की भी आर्थिक सहायता संस्थान को इस कार्य में मिलती रही। इतने बड़े ग्रन्थ के प्रकाशन के लिए बहुत बड़ी धन-राशि की आवश्यकता थी। अतः झालावाड़ नरेश श्रीमान् हरिश्चन्द्रजी ने पहले-पहल पांच हजार रुपये की राशि इस कार्य के लिए प्रदान की और कार्य प्रारम्भ कर दिया गया। तत्पश्चात् राजस्थान राज्य के मुख्यमंत्री श्री मोहनलालजी सुखाड़िया तथा केन्द्रीय सरकार के विज्ञान अनुसंधान व सांस्कृतिक मंत्री श्री हुमायूं कबीर को यह कार्य दिखाने का अवसर संस्थान की प्रबन्धकारिणी समिति के अध्यक्ष श्री भैरूंसिहजी खेजड़ला M. L. A. व मंत्री श्री विजयसिंहजी सिरियारी M. P. के प्रयत्नों के फलस्वरूप मिला और उसी वर्ष राजस्थान सरकार से ९४७०) रु० की तथा भारत सरकार से १७०००) रु० की आर्थिक सहायता कोश के प्रकाशनार्थ प्राप्त हुई। तथा दूसरे वर्ष राजस्थान सरकार ने ७५३०) रु० की सहायता और दी जिसके लिए उपरोक्त दोनों महानुभावों का मैं हृदय से आभार स्वीकार करता हूं। सरकारी सहायता शीघ्रातिशीघ्र दिलवाने में राजस्थान शिक्षा मंत्रालय के सचिव श्री विष्णुदत्तजी शर्मा I. A. S., वित्त विभाग के उपसचिव श्री विनोदचन्द्रजी पांडे I.A. S. तथा श्री जगन्नाथसिंहजी मेहता I. A. S., संचालक, शिक्षा विभाग और केन्द्रीय सरकार के डॉ० रोजेरियो संयुक्त शिक्षा सलाहकार तथा डॉ० रघुवीरसिंहजी, सीतामऊ M. P. का पूरा सहयोग मिला, जिसके लिए भी मैं संस्थान की ओर से उनका आभार प्रकट करता हूं।

जैसा कि बड़े कामों में प्रायः हुआ करता है, इस कोश के प्रकाशन में भी हमें अजीब तरह की कठिनाइयों का सामना करना पड़ा है, जिनका हमें अनुमान नही था। उन कठिनाइयों के फलस्वरूप प्राप्त अनुभव भी एक धरोहर है। पर इन कठिनाइयों को दूर करने का श्रेय ठा० भैरूंसिहजी खेजड़ला तथा विजयसिंहजी सिरियारी के अतिरिक्त कर्नल ठा० श्यामसिंहजी, श्री गोवर्द्धनसिंहजी I.A.S. तथा राजा साहिब देवीसिंहजी भाद्राजून को है जिन्होंने इस कार्य के राष्ट्रीय महत्व को समझते हुए हर कठिनाई में मेरी पूरी सहायता की अन्यथा शायद इस कोश का यह प्रथम खण्ड अब तक प्रकाशित नहीं हो पाता।

अंत में मैं उन सभी महानुभावों का आभार प्रदर्शित करना आवश्यक समझता हूं जिन्होंने परोक्ष या अपरोक्ष रूप में इस कार्य को पूर्णता प्रदान करने में सहयोग दिया है या जिन्होंने हमें इस क्षेत्र में विशेष प्रकार के अनुभव प्राप्त करने का अवसर दिया है।

नारायणसिंह भाटी
संचालक
राजस्थानी शोध-संस्थान, जोधपुर

निवेदन

राजस्थानी भाषा एवं साहित्य अत्यन्त सम्पन्न होते हुए भी आधुनिक ढंग से निर्मित कोश का इसमें सर्वथा अभाव ही रहा है। यद्यपि डिंगल में रचे गये नाम माला कोश, अनेकार्थी कोश तथा एकाक्षरी कोश अल्प संख्या में उपलब्ध अवश्य हैं परन्तु साहित्य के अध्ययन में इनकी उपादेयता प्राय: नहीं के बराबर है। प्रस्तुत कोश का निर्माण राजस्थानी साहित्य में इसी अभाव की पूर्ति करने का एक प्रयास मात्र है। अन्य भाषाओं में निर्मित अधिकांश कोश अपने पूर्ववर्ती कोशों पर ही आधारित होते हैं परन्तु राजस्थानी में कोश-रचना की अपनी परम्परा से पृथक इस प्रकार के कोश निर्माण के पथ में प्रथम चरण ही है। वस्तुत: कोश-सम्पादन का कार्य सब प्रकार के साहित्यिक कार्यों से बहुत ही कठिन परिश्रम एवं व्ययसाध्य है। अत: मुझे प्राय: उन सभी कठिनाइयों से गुजरना पड़ा है जो किसी भाषा के प्रथम कोश के निर्माण के समय आती हैं।

प्रस्तुत कोश राजस्थानी में आधुनिक ढंग का सर्व प्रथम कोश होने के कारण कुछ निश्चित सिद्धान्तों का निर्धारण आवश्यक था। सब से बड़ी समस्या शब्द-संग्रह की थी। जीवित और प्रचलित भाषाओं में नित्य नए शब्द बनते रहते हैं तथा नित्य नया साहित्य भी प्रकाशित होता रहता है। अत: पुरानी पुस्तकों के साथ ही नवीन पुस्तकों में से भी शब्द-संग्रह करना आवश्यक था। यह कार्य जितना आवश्यक था उससे कहीं अधिक दुरूह भी था। पुरानी पुस्तकों में अधिकांश हस्तलिखित ग्रंथ थे। शब्दों के बीच अवकाश या स्थान देने की परिपाटी उस युग में नहीं के समान थी। लिपिकर्ताओं के अज्ञान से पुस्तकों के बहुत से शब्दों में परिवर्तन हो गया था। जीर्णशीर्ण अवस्था में मिलने वाले ये अधिकांश ग्रंथ अपूर्णावस्था में थे। किन्हीं के कुछ पृष्ठ ही गायब थे तो किन्हीं प्रतियों में शब्दों के शुद्ध रूपों का पता तक नहीं चलता था। ऐसी स्थिति में शब्दों के अर्थ-ग्रहण की समस्या बड़ी विकट थी। जो पुस्तकें प्रकाशित हो चुकी थीं उनमें भी अधिकांश का प्रकाशन उच्च स्तर का न हो सका। पुराने ढंग से छपी हुई बहुत सी पुस्तकों में भी आठ-आठ और दस-दस शब्द और यहाँ तक कि पूरे चरण और पूरी पंक्तियाँ एक साथ छपी हुई मिलती हैं। शब्दों के रूपों में विभिन्नता का पाया जाना तो साधारण सी बात है। प्रकाशित पुस्तकों में ऐसी पुस्तकें अल्प संख्या में ही प्राप्त होती हैं जिनमें फुटनोट में पाठान्तर की व्यवस्था की गई है। शब्द वर्तनी के दृष्टि-कोण से कई पुस्तकों का सम्पादन भी दोषपूर्ण हुआ है। ऐसी अवस्था में शब्द-चयन कार्य बहुत ही कठिन हो गया। इसके विपरीत जिन प्रकाशित पुस्तकों का प्रकाशन एवं सम्पादन सुन्दर ढंग से हुआ है उनकी टीकायें, शब्दानुक्रमणिकायें, कठिन शब्दों के अर्थ हमारे बहुत ही सहायक हुए हैं।

सभी प्रकार की पुस्तकों में से शब्द-चयन स्वयं मेरे द्वारा ही हुआ है। प्रकाशित पुस्तकों को तो मैंने एक बार पढ़ कर लिए जाने वाले शब्दों को रेखांकित कर दिया और लेखकों ने उन शब्दों की स्लिपें (चिटें) तैयार करलीं। हस्तलिखित ग्रंथों के शब्दों की स्लिपें (चिटें) लेखकों के पास बैठ कर मैंने स्वयं ने तैयार कराईं। इसके अतिरिक्त सुदूर देहाती गाँवों में घूम-घूम कर लोहारों, सुनारों, खातियों, चमारों, तेलियों, गूजरों, कहारों, जुलाहों, धुनियों, गाड़ीवानों, कसारों, कुश्तीवाजों, सिकलीगरों, सिलावटों, महाजनों, बजाजों, पंसारियों, दलालों, महावतों, जुआरियों, सईसों आदि से सम्बन्धित शब्द भी एकत्रित करने का प्रयत्न किया गया। पशु-पक्षी तथा अन्य जीव-जन्तु आदि से सम्बन्धित शब्द भी लिए गये। इतिहास, भूगोल, गणित, दर्शन शास्त्र, खगोल शास्त्र, शकुन शास्त्र, ज्योतिष, विज्ञान, वास्तु विद्या, शालिहोत्र, कृषि, राजनीति, युद्ध, अर्थ-शास्त्र, काम विज्ञान, धर्म शास्त्र, नीति शास्त्र, वैद्यक आदि से संबंधित वे सभी शब्द लेने का भी प्रयास किया गया है जिनका राजस्थानी साहित्य व भाषा में प्रयोग हुआ है अथवा जिनका यहाँ के जन-जीवन में प्रचलन है। गृहस्थी के पदार्थों, पकवानों, मिठाइयों, विवाह आदि की रस्मों, तरकारियों, फल-फूलों, पेड़-पौधों, पहिनने के आभूषणों, वस्त्रों,

अनाजों, बरतनों, देवी-देवताओं, योगासनों आदि के नामों एवं पारिभाषिक शब्द भी लेने के लिए सम्बन्धित व्यक्तियों का सहयोग प्राप्त किया गया है। विभिन्न विषयों के अनेक शब्दों के अर्थ एवं परिभाषा में जहाँ भी तनिक शंका हुई, वहाँ विषय-सम्बन्धित विद्वज्जनों से विना किसी हिचकिचाहट के सम्पर्क स्थापित कर शब्दों का अर्थ या परिभाषा ज्ञात की गई।

राजस्थान में युद्ध एक प्रिय विषय रहा है, अतः युद्ध में प्रयुक्त होने वाले अनेक प्रकार के अस्त्र-शस्त्र यहाँ पाये जाते हैं। विभिन्न शस्त्रागारों में जाकर प्राचीन अस्त्र-शस्त्रों को देख कर उनकी वास्तविक परिभाषा इस कोश में दी गई है। इसके अतिरिक्त ऐतिहासिक व्यक्तियों की जीवनियाँ, प्राचीन स्थानों एवं त्यौहारों का वर्णन भी यथा स्थान पर संक्षिप्त रूप में दे दिया गया है जो व्यक्ति विशेष अथवा घटना विशेष की पूरी जानकारी देने में सहायक ही सिद्ध होगा। शब्दार्थ के साथ साथ व्यापक रूप में प्रयुक्त होने वाले मुहावरों तथा कहावतों को भी यथा स्थान देने का प्रयत्न किया गया है। इतने पर भी मैं यह कहने का साहस नहीं कर सकता कि राजस्थान में प्रचलित अथवा राजस्थानी साहित्य में प्रयुक्त सभी शब्दों का समावेश इस कोश में हो गया है। यद्यपि वैसे ही किसी भाषा के समस्त शब्दों का संग्रह एक महान् कठिन कार्य है तथापि किसी जीवित भाषा में शब्दों का आगम निरंतर होता ही रहता है। कोश अधिकतम पूर्णता प्राप्त कर सके, इसी उद्देश्य से मेरी ओर से, प्रेस में पृष्ठों के छापे जाने के समय तक मिलने वाले नवीन शब्दों को कोश में अंकित करने का प्रयास चलता ही रहा। प्राचीन राजस्थानी में कुछ ऐसे अटपटे शब्दों का प्रयोग मिलता है जिनका प्रयोग बाद के साहित्य में नहीं हुआ और न होने की भविष्य में आशा ही है। कई बार तो ऐसे शब्द अपने मूल अर्थ से भिन्न अर्थ में प्रयुक्त होते हैं। कई कोशकारों के मत से इस प्रकार के शब्दों को कोश में स्थान नहीं देना चाहिए।[1] तथापि प्राचीन राजस्थानी के अध्ययन एवं उसे ठीक तरह समझने के उद्देश्य से ही ऐसे शब्दों को इस कोश में स्थान दिया गया है। जीवित भाषा होने के फलस्वरूप स्थानिक प्रभावों के कारण इसमें अनेक प्रकार के परिवर्तन एवं रूपान्तर होते रहते हैं तथा नए-नए शब्द मिलते रहते हैं। इस कोश में कुछ ऐसे विदेशी शब्दों को भी स्थान दे दिया है जो साहित्य एवं लोक-व्यवहार में रूढ़िग्रस्त हो चुके हैं और हमारे व्याकरण के नियमों से अनुशासित होते हैं। ऐसे शब्दों के आगे कोष्टक में उनके शुद्ध मूल रूप भी प्रस्तुत कर दिए गये हैं।

शब्दों की प्रामाणिकता एवं अर्थ की स्पष्टता का ध्यान रखने के फलस्वरूप शब्दों के साथ उदाहरण भी देने का निश्चय किया गया था। किन्तु यह निश्चय करना वस्तुतः एक कठिन कार्य था कि किन-किन शब्दों के उदाहरण दिए जायें और किन-किन शब्दों के उदाहरण छोड़ दिये जायें। इस सम्बन्ध में कोई निश्चित सीमा रेखा नहीं खींची जा सकती। शब्दों के कम प्रयोग एवं कम प्रचलन के कारण तो उनके उदाहरण दिये ही गए हैं परन्तु अनेक शब्दों के ठीक उपयोग को बताने के लिए भी उनके उदाहरण प्रस्तुत किए गए हैं। साथ-साथ ऐसे शब्दों के भी उदाहरण दे दिए गए हैं जिनके सम्बन्ध में हमारे दृष्टिकोण से किसी प्रकार की आपत्ति या आशंका हुई है। दिए गए उदाहरणों के सम्बन्ध में यह कहा जा सकता है कि कहीं-कहीं वे लम्बे हो गए हैं। शब्द-कोश का एक उद्देश्य उसे उपयोग में लेने वालों की जिज्ञासा पूरा करना भी है अतः उदाहरण में उतनी ही पंक्तियाँ दी गई हैं जिनसे सम्बन्धित शब्द का अर्थ स्पष्ट हो जाय, फिर वह केवल एक वाक्य के रूप में है अथवा उसका विस्तार चार-पांच पंक्तियों में हो गया है। कुछ शब्दों के अर्थ विशेष की पुष्टि के लिए यद्यपि उदाहरण में गीतों की एक दो पंक्तियाँ दी गई हैं परन्तु केवल उन पंक्तियों से अर्थ स्पष्ट नहीं होता। कारण यह है कि शब्द के उस विशेष अर्थ का सम्बन्ध पूरे गीत से होता है। राजस्थानी के डिंगल गीतों में यह परम्परा है कि उनमें शब्द की पुनरावृत्ति नहीं होती किन्तु अर्थ-चमत्कार के लिए पूर्व के द्वाले के शब्द या शब्दों के पर्यायवाची शब्दों का प्रयोग होता है। अतः इस प्रकार के शब्द का अर्थ गीत के पूर्व के द्वालों से सम्बन्धित होता है। उदाहरण के लिए **असत** शब्द में अर्थ संख्या ७ शत्रु, दुश्मन दिया हुआ है और अर्थ की पुष्टि के लिए **सूजा हरौ असतां सालै, हालै मन मांनिए** हुए उदाहरण दिया हुआ है। यहां यह **असतां** शब्द इस गीत के पूर्व के द्वाले **दोखियां तणी घणी धर दाबै, फावै जुध जुध**

[1] देखो 'कोश कला'—रामचन्द्र वर्मा, पृ० २८, २९।

करण फतै के दोखियां शब्द के लिए ही प्रयुक्त हुआ है जिसका अर्थ भी शत्रु ही है। अतः कोश का उपयोग करने वाले सज्जन जहाँ ऐसी शंका का अनुभव करें वहाँ गम्भीरता-पूर्वक विचार करें।

मूल एवं मुख्य शब्द के साथ पर्यायवाची शब्द भी दिए गए हैं। राजस्थानी में किसी-किसी शब्द के अनेकों पर्यायवाची शब्द मिलते हैं, अतएव किसी शब्द के साथ इस प्रकार के पर्यायवाची शब्दों की संख्या कुछ अधिक हो जाना कोई आश्चर्य की बात नहीं है। इसे राजस्थानी की विशेषता समझ कर स्वीकार कर लेना ही उचित है। इन पर्यायवाची शब्दों को यथास्थान अक्षर-क्रम से भी ले लिया गया है। बहुत से शब्द ऐसे भी होते हैं जिनके योग से अथवा जिनके आगे अन्य शब्द लग कर और अन्य शब्द भी बनते हैं। जैसे **गज से गजानन, गजकांन, गजगति, गजधड़, गजपति, गजपत, गजपाळ, गजबंध** आदि ऐसे शब्दों को अलग-अलग यथा स्थान अक्षर क्रम में तो लिया ही गया है परन्तु इनको उन शब्दों के साथ भी लिया गया है जिनके योग से या जिनके साथ लग कर वे बने होते हैं। पर्यायवाची एवं यौगिक शब्दों के अतिरिक्त मुख्य शब्द के साथ रूप भेद, अल्पार्थ, महत्त्ववाची एवं विलोम शब्द तथा क्रिया प्रयोग आदि भी यथा स्थान अक्षर क्रम से दिए गए हैं।

मोटे तौर पर प्रथम खंड के प्रकाशित होने तक कुल मिला कर ८००००० (आठ लाख) के लगभग स्लिपें (चिटें) तैयार की गई। लगभग ३०० राजस्थानी पुस्तकों से शब्द इकट्ठे किये गये। पांच हजार के लगभग फुटकर राजस्थानी डिंगल गीतों से भी शब्द संग्रह किया गया। कोश की पूर्णता चार खंडों में होगी और जहाँ तक अनुमान किया जाता है इन चारों खंडों की पृष्ठ संख्या लगभग ३५०० के होगी। शब्द संख्या को अधिक से अधिक बताने में आजकल के कोश निर्माताओं में एक प्रकार की होड़-सी लग रही है। किसी भी प्रकार से शब्दों की संख्या अधिक बताई जा सकती है परन्तु यह निश्चित है कि जहाँ कोश की पृष्ठ संख्या तो कम होती है और शब्द संख्या अधिक बताई जाती है; ऐसे कोशों में शब्दों के अर्थ अधिक विस्तृत एवं स्पष्ट रूप से नहीं मिल सकते। इनमें अर्थों का स्थान कोरी शब्द संख्या ही घेरे रखती है। चूंकि अधिकतर शब्द-कोशों की शब्द संख्या के उल्लेख का उद्देश्य प्रचार मात्र होता है, अतः ये शब्द संख्यायें बहुत भ्रामक और प्रायः निरर्थक होती हैं। किसी विद्वान का यह कथन पूर्ण सत्य है कि शब्द संख्या का महत्त्व तो तभी माना जायगा जब कि गृहीत शब्दों के अर्थों का विवेचन और व्याख्या भी समुचित रूप से हो। यदि ऐसा नहीं है तो शब्द संख्या वह धोखे की आड़ है जिसकी ओट में ग्राहकों का भली भांति शिकार होता रहता है। ऐसी अवस्था में कोश की शब्द संख्या बताना बड़ा जोखिम का काम है और वह भी उस समय जब कि कोश के चार खंडों में से केवल एक खंड ही प्रकाशित हुआ हो एवं बाद के खंडों के पृष्ठों के प्रेस में जाने तक नित्य नए-नए शब्दों का समावेश हो जाता हो। फिर भी अक्षर-क्रम से तैयार किए गए रजिस्टरों से अनुमान लगाये जाने पर प्रस्तुत कोश में कुल शब्द संख्या १२५००० (एक लाख पच्चीस हजार) के लगभग ठहरती है। इस संख्या में न्यूनाधिकता होना संभव है।

देवनागरी लिपि में प्रकाशित कोशों के शब्द-क्रम में भी विभिन्नता पाई जाती है। प्राचीन वस्तु एवं विषय-वर्ग को परम्परा को छोड़ दिया जाय तब भी आधुनिक ढंग से प्रकाशित कोश में भी समानता नहीं पाई जाती है। प्रायः बड़े-बड़े विद्वान अपने-अपने विचारों और सिद्धान्तों के अनुसार क्रम में कई प्रकार के छोटे-मोटे अंतर स्थिर कर लेते हैं और उन्हीं के अनुसार अपने कोश का निर्माण करते हैं। अनुस्वारों के सम्बन्ध में अधिकांश कोशकारों ने अनुस्वार-प्रधान प्रणाली को ही अपनाया है। देवनागरी वर्णमाला में अनुस्वार का स्थान स्वरों के अंत में है अतः कई शब्द कोशों में इसी को ध्यान में रख कर अनुस्वार को स्थान दिया गया है। राजस्थानी में अनुनासिक के रूप में पंचम् वर्ण यथा ङ, ञ, ण, न एवं म का उपयोग नहीं होता है। भाषा में अनुस्वार के व्यापक रूप को देखते हुए उसे वर्ग के आरम्भ में ही लिखने का निश्चय किया गया। इसके अतिरिक्त अनुस्वार और चंद्रबिंदु के प्रयोग की भी बड़ी समस्या थी। इन दोनों का प्रयोग किया जाता है किन्तु दोनों के युक्त प्रयोग के कारण कोई निश्चित सीमा-रेखा खींचना अत्यन्त कठिन है कि कौनसा प्रयोग चंद्र बिन्दु का है और कौनसा अनुस्वार का। राजस्थानी कवियों ने आवश्यकता होने पर ध्वनि कम या अधिक शक्तिशाली करने

के लिए इसमें बहुत स्वतन्त्रता वरती है। कोश आरम्भ करने के पहिले इस सम्बन्ध में निश्चित स्थिर करना अत्यन्त आवश्यक था अतः हमने इन दोनों के स्थान पर एक मात्र अनुस्वार लेना ही निश्चित किया और उसे वर्ण के आरंभ में ही स्थान दिया गया।

राजस्थानी में कुछ विशेष ध्वनियों को प्रकट करने के लिए कुछ विशेष वर्ण हैं यथा **ल़ या ल या व़, स़** आदि। साधारणतया ल़ और ल का क्रम कुछ जटिल है। नीचे विंदी वाले शब्दों को पहिले लेने की परिपाटी रखी गई है। इस नियम से **आळ** शब्द पहिले होगा तथा **आल** शब्द वाद में। सम्पूर्ण कोश में प्रायः इसी नियम का पालन किया जा रहा है किन्तु इस नियम का कठोरता से पालन करने पर यह अनुभव हुआ कि सम्वन्धित शब्द दूर-दूर पड़ जाते हैं और जिज्ञासु पाठकों को निराशा होती है। इन दोनों में उच्चारण-भेद को स्वीकार करते हुए भी पाठकों को जटिलता एवं दुरूहता से वचाने के लिए क्रम में दोनों के मध्य कोई विशेपता नहीं वरती गई, किन्तु समान शब्दों में इसका कुछ ध्यान अवश्य रखा गया है जिसके अनुसार **अकल, गल, आल** आदि शब्द **अकळ, गळ,** और **आळ** आदि के तत्काल वाद में ही लिए गये हैं। इसके अतिरिक्त वहुत प्रयत्न करने पर भी सम्वन्धित प्रेस व़ एवं स़ के टाइप की व्यवस्था नहीं कर सका, अतः व़ और स़ से सम्वन्धित शब्द व और स के ही अन्तर्गत दे दिए गये हैं। द्वितीय खण्ड में व़ और स़ की भी व्यवस्था हो सकेगी, ऐसी पूर्ण आशा है।

इस प्रणाली के आधार पर राजस्थानी कोश-निर्माण का प्रथम प्रयास होने के कारण शव्दों की व्युत्पत्ति का कार्य अत्यन्त कठिन था। शव्द की ठीक व्युत्पत्ति के अभाव में उसके सही अर्थ या उसकी आत्मा तक पहुँचना वहुत कठिन होता है। किसी वस्तु का वास्तविक रूप तो उसके आधार द्वारा ही प्रकट होता है। अतः शव्दों की उचित व्युत्पत्तियों के अभाव में कोश प्रायः अपूर्ण ही रह जाता है। प्रस्तुत कोश में शव्दों की व्युत्पत्ति देने में हम जो समर्थ हुए हैं, उस सम्वन्ध में स्वर्गीय विद्यानुरागी पं० नित्यानन्दजी शास्त्री, चाँद वावड़ी, जोधपुर का सहयोग चिरस्मरणीय रहेगा। राजस्थानी का मूल उद्‌गम संस्कृत से सम्वन्धित है। शास्त्रीजी संस्कृत के प्रकाण्ड पण्डित थे। संस्कृत के अनेक ग्रंथ (कोश, व्याकरणादि) उन्हें कण्ठस्थ थे। शव्दों की व्युत्पत्ति के सम्वन्ध में उनकी प्रतिभा अद्‌भुत थी। उन्होंने कोश के सव शव्दों को सुन कर उनकी सही व्युत्पत्तियाँ वताई एवं अशुद्ध व्युत्पत्तियों को शुद्ध किया। इस कार्य में यदि आपका सहयोग नहीं मिलता तो निस्संदेह व्युत्पत्तियों की दृष्टि से यह कोश अधूरा ही रह जाता। (परम) पूजनीय होने के नाते उनके प्रति आभार प्रदर्शित करना या धन्यवाद अर्पण करना उनकी प्रतिभा के समक्ष निरी तुच्छता ही होगी। अतः मैं तो यही कहूँगा कि उनके शुभाशीर्वाद ने सदैव मेरा पथ प्रशस्त किया है। इसके लिए मैं उनका सदैव ऋणी हूँ। यथासम्भव प्रत्येक शव्द के साथ व्युत्पत्ति देने का प्रयत्न किया गया है। मूल शव्द से वर्तमान शव्द के स्वरूप तक का विकास भी आवश्यकतानुसार दिया गया है। यथा:— **आई** सं०, **आर्या** प्रा०, **अज्जा** अप०, **आजी** रा०, **आई**, आयी अर्थात् दुर्गा। इसी प्रकार **कोसीस**— सं० **कपि शीर्षक**, प्रा० **कवि सीसग**, अप० **कवसीस**, रा० **कोसीस** अर्थात् किले या गढ़ की दीवार में थोड़ी-थोड़ी दूर पर त्रिकोणाकार स्थान या कंगूरा अथवा शिखर। कुछ शव्दों के साथ उनका सन्धि-विच्छेद एवं समास का स्पष्टीकरण भी कर दिया गया है जिससे जिज्ञासुओं को अर्थ समझने में सुगमता होगी और साथ ही साथ उनके ज्ञान की वृद्धि में भी यह सहायक होगा। जैसे— **ओखधीस**— सं० **औषधि**+**ईष** अर्थात् **चंद्रमा। इंदरावर**— सं० **इंदिरा**+**वर** अर्थात् **लक्ष्मीपति, विष्णु।** कहीं-कहीं आवश्यकतानुसार धातुओं को उपसर्गों अथवा प्रत्ययों से पृथक कर के भी दर्शाया गया है। यथा—**आसन्न = आ+सद्+क्त**। कुछ शव्द ऐसे भी हैं जो अपने भिन्न-भिन्न अर्थों में चार-चार और छः-छः भिन्न-भिन्न मूलों से निकले हैं। उदाहरण के लिए **असत्** शव्द अपने विभिन्न अर्थों में— **सं० असत्, सं० असत्वर, सं० अस्त, सं० असत्य, स० असत्व, सं० अस्थि** आदि से विकृत हुआ है। शव्द की व्युत्पत्ति देते समय शव्द के भिन्न-भिन्न अर्थों पर अधिक ध्यान दिया गया है। इन सव का श्रेय पं० नित्यानन्दजी शास्त्री को ही है। उनके प्रयास से ही ऐसे अनेक शव्दों की व्युत्पत्तियाँ देना सम्भव हो सका है जो यद्यपि दुर्लभ नहीं तो दुरूह अवश्य ही थीं। उदाहरणार्थ **छोकरौ** एवं **डीकरौ** शव्दों की व्युत्पत्तियाँ उन्होंने संस्कृत के **शोकहर** एवं **दीप्तिकर** से मानी है। यह वस्तुतः उनकी गहरी

पैठ एवं अनोखी सूझ का ही प्रमाण है। इतना सब कुछ होने पर भी यह तो नहीं कहा जा सकता कि कोश में दी गई सब व्युत्पत्तियाँ अपने में पूर्ण हैं। उनमें मतभेद हो सकता है। इसके अतिरिक्त भाषा विज्ञान का भी निरन्तर विकास होता जा रहा है। भाषाओं के तुलनात्मक अध्ययन द्वारा नित नवीन सिद्धान्तों की स्थापना की जा रही है। ऐसी स्थिति में आज जो सत्य मानी जाने वाली व्युत्पत्ति कल गलत सिद्ध हो जाय तो कोई आश्चर्य की बात नहीं। विकासोन्मुख अवस्था का स्वागत करना ही चाहिए।

कोश में अर्थों का महत्व सबसे अधिक है। कोश का मुख्य उपयोग अर्थ, परिभाषा या व्याख्या जानने के लिए ही किया जाता है। अन्य उपयोग प्राय: गौण होते हैं, अत: इस बात का ध्यान रखने का विशेष प्रयत्न किया गया है कि शब्दों के अर्थ या उनकी व्याख्या ठीक प्रकार से स्पष्ट हो जाय, सहज में बोधगम्य हो जाय एवं अर्थ देखने में पूर्ण सुविधा हो, इसी दृष्टि से शब्द के विभिन्न अर्थों को अलग-अलग वर्गों में बाँट दिया गया है और पार्थक्य प्रकट करने के लिए उनके साथ संख्यासूचक अंक भी दे दिए गये हैं। आवश्यकता होने पर अर्थ स्पष्ट करने के उद्देश्य से शब्द के साथ कुछ विशेष विवरण भी प्रस्तुत किया गया है जो उस शब्द के सम्बन्ध में अतिरिक्त जानकारी देने में सहायक होगा। अर्थ देने के लिए प्राय: पर्याय एवं व्याख्या दोनों विधियाँ अपनाई गई हैं। जहाँ 'अनंग', 'मार', 'मदन' आदि के आगे केवल कामदेव ही लिखना पर्याप्त समझा गया है वहाँ कुछ शब्दों की पूरी व्याख्या भी दी गई है। प्रयत्न यह किया गया है कि जो परिभाषाएँ दी जायें वे जटिलताओं से मुक्त तथा दुरूहताओं से रहित हों, जिससे वे साधारण पाठकों को भी भली प्रकार बोधगम्य हो सकें। शब्दों के साथ जो क्रिया प्रयोग, मुहावरे, कहावतें, रूप-भेद, अल्पार्थ, महत्त्ववाची आदि शब्द हैं वे सब उन्हीं अर्थों के तुरन्त बाद ही दिए गए हैं जिनसे कि वे सम्बन्धित हैं। अर्थ और व्याख्या मुख्य या अधिक प्रचलित शब्द के साथ देकर उस शब्द के अन्य रूपभेदों के सम्मुख उस शब्द का निर्देश कर दिया गया है। यदि इस शब्द का निर्देशन शब्द के किसी अर्थ विशेष से ही संबंध है तो उस निर्देश के आगे संबंधित अर्थ का संख्यासूचक अंक भी दे दिया गया है। इस प्रकार के स्पष्टीकरण से, आशा है कि पाठक एवं जिज्ञासु जन सहज ही में आशय समझ लेंगे और तुरन्त अभीष्ट अर्थ तक पहुँच जायेंगे।

प्रस्तुत कोश के निर्माण की एक लम्बी कहानी है। जब से राजस्थानी साहित्य से मेरा परिचय हुआ तभी से एक सर्वाङ्ग, पूर्ण और बृहत् कोश का अभाव मुझे खटकता रहता था। मैंने अपनी जिज्ञासा, यद्यपि वह मेरा दुस्साहस ही था, राजस्थानी के अनन्य सेवी पुरोहित श्री हरिनारायणजी के समक्ष प्रकट की। इस पर उन्होंने कोश सम्बन्धी कुछ राजस्थानी पुस्तकें मेरे पास भेजीं। पुस्तकों के सम्बन्ध में मैंने पुन: उन्हें अपनी अल्प मति के अनुसार कुछ सूचना दी। इसके प्रत्युत्तर में मुझे दिनांक ६-४-३२ को उनका लिखा हुआ पत्र मिला। कहना न होगा कि यही पत्र इस कोश के निर्माण की सम्पूर्ण शक्ति अपने में समेट कर लाया था। यहीं पत्र इस कोश के निर्माण का मुख्य प्रेरणा-स्रोत था। पत्र के भावों ने हृदय पर प्रभाव जमाया, एक नवीन प्रेरणा मिली, पथ प्रशस्त हुआ। इससे यद्यपि राजस्थानी भाषा के बृहत् कोश का सूत्रपात भले ही न हुआ हो परन्तु कोश-निर्माण का विचार तो दृढ़ एवं निश्चित रूप से हो ही गया। उन्हीं दिनों में मैंने 'सूरज-प्रकाश' आदि कुछ हस्तलिखित ग्रंथों से शब्द छांट कर उनकी एक लम्बी सूची बना कर पुरोहित श्री हरिनारायणजी के पास प्रेषित की। उन्होंने उस सूची को पसन्द नहीं किया किन्तु साथ में प्रकाशित अथवा अप्रकाशित ग्रंथों से शब्द छांटने के तरीके के सम्बन्ध में अपने सुझाव भेज दिए। उन्हीं सुझावों के अनुसार नए सिरे से शब्द संग्रह का कार्य आरंभ कर दिया। पहला प्रयास होने एवं समयाभाव के कारण इसकी गति अति धीमी रही। कुछ सज्जन ऐसे भी थे जो शब्द देखने के बहाने स्लिपें ले जाते और लाख कहने पर भी वापिस लौटाने का नाम तक नहीं लेते। ऐसी अवस्था में इस प्रकार की स्लिपों को फिर से तैयार करना पड़ा। ऐसे विशाल कार्य में इस प्रकार की छोटी-बड़ी कठिनाइयाँ तो आती ही हैं। पुरोहित श्री हरिनारायणजी की इस सम्बन्ध में कुछ विशेष कृपा रही। कोश के शब्द-संग्रह की प्रगति से मैं उन्हें निरन्तर सूचित करता रहता था। कई बार दो-दो मास तक मैं जयपुर में इसी कार्य हेतु रहा और दिन में निरन्तर उनके पास जात

था। उनके निर्देशन में विभिन्न ग्रंथों से शब्द-चयन कर अनेक स्लिपें बनाई। वस्तुतः मुझे कहने में संकोच नहीं है कि अगर श्री पुरोहितजी महाराज की कृपा एवं सहयोग मुझे प्राप्त नहीं होता तो मेरा इस कोश-निर्माण के पथ पर कदम रखना नितांत असम्भव था। उन्होंने मुझे यह विश्वास भी दिलाया था कि वे मेरे द्वारा तैयार किए गए कोश को नागरी प्रचारिणी सभा काशी द्वारा प्रकाशित होने वाली 'बालाबख्श राजपूत चारण पुस्तक-माला' के अन्तर्गत प्रकाशित कराने का प्रयत्न करेंगे। दैव को यह स्वीकार नहीं था। संवत् २००२ में पुरोहितजी का स्वर्गवास हो गया। कोश के निर्माण की प्रगति में यह एक जबरदस्त व्याघात था। फिर भी उनकी इच्छा के अनुसार कोश-निर्माण का कार्य निरन्तर चलाए रखने का प्रयत्न किया। इस थोड़ी सी अवधि में कोश निर्माण के लिए मुझे जो अनुपम प्रेरणा व अमूल्य निर्देशन पुरोहित श्री हरिनारायणजी द्वारा प्राप्त हुए हैं, इसके लिए मैं उनका चिर ऋणी हूँ।

व्यावहारिक दृष्टि से यह सत्य है कि कोरे परिश्रम एवं लगन से कोश जैसा कार्य तब तक पूर्ण नहीं हो सकता जब तक कि इसके लिए पर्याप्त आर्थिक सहयोग उपलब्ध नहीं हो। इसकी प्रगति में आर्थिक समस्या एक मुख्य बाधा थी। साधारण अध्यापकीय पद पर कार्य करते हुए स्वयं मेरे ही द्वारा कोश के सम्पूर्ण व्यय-भार को वहन करने की कल्पना भी आकाश कुसुमवत् थी। आर्थिक अभाव के कारण कार्य में अवरोध उपस्थित हुआ ही। इसी समय ठाकुर श्री गोरधनसिंहजी मेड़तिया (खानपुर) की कृपा मुझे वरदान सिद्ध हुई। मैंने उनसे कोश सम्बन्धी आर्थिक समस्या के सम्बन्ध में कुछ चर्चा की जिसके फलस्वरूप उन्होंने अपने पास से रुपये देकर इस समस्या को हल कर दिया। उनका इस प्रकार का सहयोग कोश के आरम्भ होने के समय से लेकर आज तक समान रूप से प्राप्त हो रहा है। यह उन्हीं के सफल प्रयासों का फल है कि कोश आज इस रूप में प्रकाशित हो सका है। साहित्य-प्रकाशन में आपकी ऐसी सच्ची लगन और सद्भावना निश्चय ही आपकी महान उदारता एवं सौजन्य का परिचायक है। मैं हृदय से आपका कृतज्ञ हूँ।

कोश निर्माण के सम्बन्ध में मोतीसर शाखा के एक कबीर पंथी साधु श्री पन्नारामजी का सहयोग भी मैं नहीं भूल सकता। उनका राजस्थानी के सम्बन्ध में अद्भुत ज्ञान था। 'रघुनाथ रूपक', 'रघुवरजस प्रकास', 'लखपत पिंगळ' आदि ग्रंथ उनको कंठस्थ थे। सैकड़ों ही गीत उन्हें मौखिक रूप से याद थे। सात-आठ बार मैंने उनका चातुर्मास भी करवाया। चातुर्मास के समय जो भी अतिरिक्त समय मिलता उस समय डिंगल गीतों के अर्थ एवं शब्द व्याख्या के सम्बन्ध में उनसे विचार-विमर्श होता रहता था। उनके द्वारा मुझे बहुत कुछ सीखने को मिला है, इसके लिए मैं उनका पूर्ण आभारी हूँ।

शब्द संग्रह के लिए स्लिपें बनाने का कार्य अब विकास पा रहा था। मेरे अकेले के प्रयत्न अब इस कार्य के लिए पर्याप्त नहीं थे। अतः स्लिपें बनाने के लिए कुछ कर्मचारियों की नियुक्ति भी आवश्यक थी। इसके लिए विशेष आर्थिक सहायता की आवश्यकता थी। इस समय आर्थिक सहयोग की व्यवस्था कराने में श्री उदयराजजी उज्ज्वल का विशेष हाथ रहा है। साहित्य में, वह भी विशेषकर राजस्थानी साहित्य में आपकी विशेष अभिरुचि रही है। साहित्य-सेवा की भावना से ही आपने इस कार्य में अपना यह सहयोग दिया है। आपने तत्कालीन पोकरण ठाकुर स्व० श्री भवानीसिंहजी से आर्थिक सहयोग के लिये अनुरोध किया जिसके फलस्वरूप उनसे २४७५)रु. कोश कार्य के लिए प्राप्त हुए। श्री भवानीसिंहजी की उदारता तथा श्री उदयराजजी उज्ज्वल की सौजन्यता एवं सहृदयता के लिये अपना आभार प्रकट करता हूँ।

इसी समय श्रीमान् ठाकुर गोरधनसिंहजी के सद्प्रयत्नों के फलस्वरूप नीमाज ठाकुर श्री उम्मेदसिंहजी से भी इसी कार्य के लिये लगभग २२००) की आर्थिक सहायता प्राप्त हुई। इस प्रकार निरन्तर सहयोग मिलते रहने से स्लिपें बनने के कार्य में अच्छी गति उत्पन्न हो गई। इस समय तक विभिन्न शब्दों की चार लाख के लगभग स्लिपें तैयार हो चुकी थीं। शब्द संग्रह का कार्य प्रायः ठीक चल ही रहा था परन्तु यह आर्थिक सहयोग कालान्तर में परिस्थितिवश रुक जाने के कारण फिर से कोश कार्य में व्यवधान आ गया। ऐसी भी स्थिति आ गई कि यह कार्य एक बारगी तो बंद ही हो गया।

इसी समय मुझे पता लगा कि शार्दूल रिसर्च इन्स्टीट्यूट, बीकानेर ने भी राजस्थानी भाषा का एक बृहद् कोश

बनाने का निश्चय किया है। इस सम्बन्ध में ऐसा सुना गया कि वे श्री रामकरण आसोपा द्वारा संकलित एवं अक्षर क्रम में व्यवस्थित लगभग चालीस हजार शब्द प्राप्त कर चुके हैं। यह एक बहुत बड़ी प्राप्ति थी। मेरा उद्देश्य तो केवल इतना ही था कि राजस्थानी भाषा में सर्वाङ्गपूर्ण शब्द कोश का जो अभाव है उसकी पूर्ति हो जाय। स्वयं उसका श्रेय प्राप्त करने का मेरा लेश मात्र भी विचार नहीं था। अतः जब मुझे यह ज्ञात हुआ कि शार्दूल रिसर्च इन्स्टीट्यूट, बीकानेर कोश निर्माण करने का विचार कर रहा है तो मैंने अपनी कोश सम्बन्धी सारी संचित सामग्री, जो उस समय बहुत मात्रा में संग्रहीत थी, इन्स्टीट्यूट, बीकानेर को देने का निश्चय कर लिया और इसी उद्देश्य से मैंने अपने द्वारा संग्रहीत शब्दों में से धीरे-धीरे कुल ६३००० (तिरेसठ हजार) शब्द मय अर्थ एवं उदाहरण के उनके पास भेज दिए और इसके साथ में यह भी निश्चय किया कि आवश्यकता होने पर उसे सब प्रकार की सहायता भी दी जाय किन्तु विधाता को संभवतः यह भी स्वीकार न था। काफी समय तक राह देखने पर भी शार्दूल राजस्थानी इन्स्टीट्यूट. बीकानेर, कोश के प्रकाशन का कोई विशेष प्रबंध नहीं कर सका। तब मैंने स्वयं ही इस ओर पुनः प्रयास आरंभ किया। यद्यपि आर्थिक समस्या तो दुर्गम पर्वत की भांति मेरे समक्ष अडिग खड़ी थी तथापि कुछ साहस बटोर कर फिर आगे कदम रखा और ठाकुर गोरधनसिंहजी के समक्ष बिना किसी हिचकिचाहट के इसी समस्या को एक बार फिर रख दिया। उदारमना ठाकुर साहब ने कोश-प्रकाशन के प्रति पूर्ण सहानुभूति बताते हुए आर्थिक सहयोग देने का विश्वास दिलाया। शब्द संग्रह के लिए अन्य स्लिपें बनाने, बनी हुई स्लिपों को काट कर क्रमवार व्यवस्थित करने एवं उन्हें अक्षर-क्रम से रजिस्टरों में लिखने आदि के कार्य आर्थिक दृष्टि से अत्यन्त व्यय-साध्य थे किन्तु श्री गोरधनसिंहजी की कृपा से यह समस्या हल हो ही गई। ठाकुर श्री गोरधनसिंहजी के बारबार नामोल्लेख के कारण कुछ सज्जनों को पुनरुक्ति का अनुभव हो सकता है परन्तु यह सत्य ही है कि उन्हीं के सद्-प्रयत्नों के फलस्वरूप इस कोश का निर्माण हो पाया है। श्रेयांसि बहु विघ्नानि' के अनुसार इस बड़े कार्य में भी समय-समय पर अनेक विघ्न उपस्थित हुए पर उनके प्रयत्नों से धीरे-धीरे सभी विघ्न दूर होते गये। आपके व्यक्तिगत सम्पर्क एवं पारस्परिक सम्बन्धों के आधार पर ही श्रीमान ठाकुर कर्नल श्री श्यामसिंहजी ने स्लिपें कटवाने, उन्हें क्रमवार जमाने एवं रजिस्टरों में अक्षर क्रम से अंकित कराने आदि का सभी व्यय देना स्वीकार किया।

कोश निर्माण के कार्य में कर्नल श्री श्यामसिंहजी का जो अत्युत्तम सहयोग प्राप्त हुआ है, वह राजस्थानी साहित्य के साथ सदैव स्मरणीय रहेगा। वास्तव में आज के इस युग में कर्नल श्री श्यामसिंहजी जैसे साहित्य-प्रेमी सज्जन विरले ही मिलते हैं। संभवतः यह कहा जाय तो कोई अत्युक्ति न होगी कि अगर उनका सहयोग प्राप्त नहीं हुआ होता तो शायद कोश भी नहीं होता। जिस समय से आपका सहयोग प्राप्त हुआ है उस समय से लेकर अद्यावधि उनकी रुचि इस कोश में वैसी ही चली आ रही है। उनकी महती कृपा के कारण आगे हमने किसी भी प्रकार की आर्थिक कठिनाई अनुभव नहीं की। जब-जब भी अर्थ-व्यवस्था की आवश्यकता हुई, आपने मुक्तहस्त होकर अपना सहयोग दिया। लगातार प्रति माह आवश्यकतानुसार निश्चित रूप से आर्थिक सहायता प्रदान करना साधारण कार्य नहीं है। गंगा की अविरल धारा के समान उनके द्वारा प्रदत्त सहायता अजस्र बनी रही है। स्लिपों के द्वारा सम्पूर्ण कोश की प्रथम प्रतिलिपि आपकी ही आर्थिक सहायता से की जा सकी। आर्थिक सहायता के अतिरिक्त आपके द्वारा प्राप्त अन्य सहयोग भी उल्लेखनीय है। कोश के लिए विभिन्न विषयों पर पुस्तकों की अत्यन्त आवश्यकता थी। इतनी बड़ी संख्या में पुस्तकें खरीदना मेरे लिए संभव नहीं था। कुछ पुस्तकें तो अत्यन्त दुर्लभ भी थीं तथा कुछ अधिक कीमती भी थीं। इस कठिनाई का ज्ञान होते ही श्रीमान् कर्नल साहब ने अपना निजी पुस्तकालय हमारे लिए उपलब्ध कर दिया। आपका यह पुस्तकालय बहुत ही विशाल है। उसमें विभिन्न विषयों की अनेक पुस्तकों का सुन्दर संग्रह है। राजस्थान में ऐसे पुस्तकालय बहुत ही कम हैं। उनके समस्त पुस्तकालय से हमने पूरा-पूरा लाभ उठाया है। आवश्यकता होने पर नैपाली कोश, 'पाइअ-सद्द-महण्णवो' जैसी कीमती पुस्तकें भी मंगवा कर हमें दीं। जब भी हमें किसी वस्तु की आवश्यकता हुई, उन्होंने उसकी तुरन्त ही व्यवस्था कर दी। बड़े-बड़े समाजो-पयोगी कार्य ऐसे ही उदार, दानी एवं विद्वान महानुभावों के

बल पर ही सम्पन्न होते हैं। मैं कर्नल श्री श्यामसिंहजी के उपकारों से अनुगृहीत हूँ। उनके लिए आभार प्रदर्शित करने का साहस तो मैं नहीं कर सकता क्योंकि यह सब उन्हीं की कृपा का प्रसाद है।

कर्नल श्री श्यामसिंहजी के द्वारा आर्थिक सहयोग की पूर्ण सुविधा प्राप्त होने पर कोश सम्बन्धी कार्य अधिक गति एवं व्यवस्थित रूप में होने लगा। सभी स्लिपों को अक्षर क्रम से व्यवस्थित कर प्रत्येक वर्ण के पृथक-पृथक रजिस्टर में उनको अंकित करने का कार्य आरम्भ हुआ। साथ ही साथ मुझे जैसे-जैसे नवीन हस्तलिखित ग्रंथ एवं प्रकाशित पुस्तकें या संस्करण प्राप्त होते रहे, उनसे मैं नवीन स्लिपें बनाने का कार्य निरन्तर करता रहा। शब्दों को सम्मिलित करने का कार्य जैसा कि पहले बताया जा चुका है कि कोश के पृष्ठ प्रेस में छपने हेतु जाने के समय तक होता रहा है। इतना सब कुछ होने पर भी संभव है कि बहुत से शब्द रह गये हों। ऐसे छूटे हुए एवं नवीन उपलब्ध होने वाले शब्द कोश के चारों खण्डों के प्रकाशित होने के बाद परिशिष्ट के रूप में प्रकाशित करने का प्रयत्न किया जायगा।

इस प्रकार कार्य करते हुए सभी संग्रहीत शब्दों को अक्षर-क्रम से रजिस्टरों में लिख लेने से कोश का एक अच्छा ढाँचा तैयार हो गया। अब प्रेस में सामग्री देने के लिए प्रेस कापी तैयार करने की समस्या सामने थी। यह भी एक विकट समस्या थी। प्रेस कापी के लिए रजिस्टरों में तैयार किये गये कोश के ढांचे में क्रिया प्रयोग, मुहावरे, कहावतें, रूप भेद, अल्पार्थ सूचक शब्द एवं महत्त्ववाची शब्दों का समावेश करना अत्यन्त आवश्यक था। प्रेस कापी बनाने के साथ ही साथ नए प्रकाशित ग्रंथों से शब्द छांट कर स्लिपें बनाना तथा उन्हें भी प्रेस कापी में सम्मिलित करना आवश्यक था। इस सभी कार्य के लिए कर्मचारियों की संख्या बढ़ाना अत्यन्त जरूरी था। इसके साथ ही अब छपाई-व्यय, जिसकी अधिकता का अनुमान आसानी से लगाया जा सकता है, सामने था। इतना अधिक व्यय भार एक व्यक्ति द्वारा ही वहन किया जाना दूभर नहीं तो कठिन अवश्य ही है। अतः कोश हितैषी महानुभावों की सम्मति से कोश प्रकाशन का कार्य शिक्षा समिति चौपासनी, जोधपुर के नियंत्रण में इस शर्त पर दे दिया गया कि शिक्षा समिति अपने अधीनस्थ कार्य करने वाले राजस्थानी शोध-संस्थान के अंतर्गत इसे प्रकाशित करा दे। शोध-संस्थान के अंतर्गत इस कोश-निर्माण के कार्य की सम्पन्नता के लिए शिक्षा समिति ने प्रान्तीय एवं केन्द्रीय सरकारों से प्रान्तीय भाषाओं के उत्थान के निमित्त प्राप्त होने वाली आर्थिक सहायता प्राप्त की। इसका श्रेय शिक्षा समिति के अध्यक्ष श्री भैरूंसिंहजी खेजड़ला, सदस्य, विधान सभा तथा मंत्री श्री कुंवर विजयसिंहजी सिरयारी, सदस्य, राज्य सभा, को ही है। राजकीय सहायता प्राप्त करने के लिए कुछ अंशों में व्यक्तिगत अनुदान भी आवश्यक था, अतः इसी अवसर पर झालावाड़ नरेश श्री हरिश्चन्द्रजी ने ५०००) रु० का अनुदान देकर इस कार्य को सुगम बना दिया। इसके साथ ही साथ राजा साहब ने कोश कार्य के लिए भविष्य में भी आर्थिक सहयोग देते रहने का पूर्ण आश्वासन दिया। उनकी इस परम उदारता के लिए मैं उनका आभारी हूँ।

राजकीय सहयोग प्राप्त होने पर शोध-संस्थान के अंतर्गत कोश प्रकाशन का कार्य सुचारु रूप से होने लगा। इस सुन्दर व्यवस्था का श्रेय राजस्थानी शोध-संस्थान के संचालक श्री नारायणसिंह भाटी, एम. ए., एल-एल. बी. जो राजस्थानी के एक श्रेष्ठ कवि भी हैं, को है। आपके द्वारा मुझे जो सहयोग प्राप्त हुआ वह कभी भुलाया नहीं जा सकता। कोश प्रकाशन का कार्य जब से आपने अपने नियंत्रण में लिया तभी से इस कार्य की सम्पन्नता में सतत प्रयत्नशील हैं। कोश निर्माण के प्रति आपने अपनी अभिन्न रुचि प्रकट कर अपना अपूर्व साहित्य प्रेम प्रकट किया है। कोश कार्य के लिए राजकीय सहायता प्राप्त करने के लिए आपको अनेकों बार बाहर भी जाना पड़ा, जिसमें आपने समय-असमय व सुविधा-असुविधा का कोई ध्यान न रखते हुए अपने महत्वपूर्ण कार्य को भी एक तरफ रखते हुए कोश के प्रति तत्परता बतलाई। कोश की भूमिका में 'राजस्थानी भाषा का विवेचन' एवं 'साहित्य परिचय' के प्रकरणों के लिखने में भी आपने पूर्ण सहयोग दिया है। आपके साहचर्य्य का मैंने पूर्ण लाभ उठाया है और इसीलिए आपको बार-बार कष्ट भी देता रहा। आपकी सहृदयता एवं सहयोग के लिए मैं आपको अन्तःकरण से धन्यवाद देता हूँ।

माननीय श्री मोहनलाल सुखाड़िया, मुख्य मंत्री, राजस्थान सरकार, की इस राजस्थानी कोश पर विशेष कृपा दृष्टि रही है। सर्वप्रथम दिनांक ११-११-५६ को उच्चतर विद्यालय, चौपासनी, जोधपुर के प्रांगण में जब अखिल राजस्थान एन. सी. सी. शिविर (कन्या वर्ग) के विसर्जन समारोह की अध्यक्षता करने पधारे थे तब अत्यधिक व्यस्त कार्यक्रम होते हुए भी आपने कोश के लिए कुछ समय निकाल कर शोध-संस्थान के कार्यालय में पूर्ण रूप से कोश का अवलोकन किया। कोश निर्माण की प्रणाली एवं उस समय तक के प्रकाशित शब्दों के अर्थों से, जो उदाहरण, मुहावरों, कहावतों आदि से पुष्ट थे, अत्यन्त प्रभावित हुए। राजस्थानी भाषा में इस नवीन प्रयास की प्रशंसा करते हुए वे मुझे उसी दिन (११-११-५६) को उदयपुर ले गए। वहाँ मेरी भेंट श्री हुमायूं कबीर, केन्द्रीय मन्त्री, वैज्ञानिक अनुसंधान एवं सांस्कृतिक मंत्रणालय, जो उस समय औषधालय के उद्घाटनार्थ पधारे हुए थे, से कराई। इन दोनों महानुभावों ने राज्य की ओर से आर्थिक सहायता की स्वीकृति प्रदान की जिसके लिए मैं उनका अत्यन्त आभारी हूँ। मुख्य मंत्री महोदय ने कोश के लिए अपना शुभ संदेश भेजा है, जिसके लिए भी मैं कृतज्ञ हूँ।

शिक्षा समिति के आधीन शोध-संस्थान के नियंत्रण में कोश प्रकाशन की उत्तम व्यवस्था करने एवं केन्द्रीय तथा राजकीय या राज्यीय आर्थिक सहायता प्राप्त कराने में जो सहयोग चौपासनी शिक्षा समितिके अध्यक्ष एवं राजस्थान विधान सभा के सदस्य ठाकुर श्री भैरूंसिंहजी खेजड़ला तथा शिक्षा समिति के मंत्री सिरियारी कुंवर श्री विजयसिंहजी, सदस्य राज्य सभा, का प्राप्त हुआ है वह किसी भी स्थिति में विस्मृत नहीं किया जा सकता। इन्हीं महानुभावों के सद्प्रयत्नों एवं कोश के प्रति पूर्ण सहानुभूति होने के कारण ही कोश इस स्वरूप में प्रकाशित होने में समर्थ हो सका है। मुख्य मंत्री श्री मोहनलालजी सुखाड़िया को कोश देखने के लिए शोध-संस्थान, चौपासनी के कार्यालय में लाना तथा कोश कार्य से परिचित कराना आदि सभी का श्रेय इन्हीं दोनों महानुभावों को है। आपके जिस सहयोग ने मुझे अपना कार्य सम्पन्न करने के लिए उत्साहित किया है उसके लिए मैं इन दोनों महानुभावों तथा प्रबंधकारिणी समिति के सदस्यों का हृदय से कृतज्ञ हूँ।

कोश निर्माण जैसे विशाल एवं दीर्घकालीन कार्य में अधिकाधिक सहृदय विद्वज्जनों का सहयोग अपेक्षित ही था। कोश के माध्यम से ही मुझे अनेक महानुभावों के दर्शनों का सौभाग्य प्राप्त हुआ है। इनमें पद्मश्री जिनविजयजी मुनि, पुरातत्त्वाचार्य, सम्मान्य संचालक, राजस्थान प्राच्य विद्या प्रतिष्ठान, जोधपुर; श्री विष्णुदत्तजी शर्मा, प्रधानाचार्य, प्रशासकीय प्रशिक्षण विद्यालय, जोधपुर; श्री विष्णुदत्तजी शर्मा, सचिव, शिक्षा सचिवालय, राजस्थान; श्री लक्ष्मीनारायणजी जोशी, सदस्य, राजस्थान लोक सेवा आयोग; श्री भगवतशरण उपाध्याय, सम्पादक, हिन्दी विश्वकोश; डॉ० मोतीलाल मेनारिया, संचालक, राजस्थान साहित्य अकादमी, उदयपुर; डॉ० रोजेरियो, संयुक्त शिक्षा सलाहकार, केन्द्रीय सरकार दिल्ली; डॉ० कन्हैयालाल सहल, अध्यक्ष, हिन्दी विभाग, बिड़ला आर्ट्स कॉलेज, पिलानी; श्री विश्वेश्वरनाथ रेऊ, महामहोपाध्याय, जोधपुर; डा० रघुवीरसिंह, महाराज कुमार सीतामऊ; डॉ. बी. एल. रावत; श्री जगन्नाथसिंह मेहता, संचालक, प्राथमिक एवं माध्यमिक शिक्षा, राजस्थान; श्री सुधीन्द्रकुमार, उपसंचालक, शिक्षा विभाग, जोधपुर; श्री जनार्दनराय नागर, अध्यक्ष, साहित्य अकादमी, उदयपुर; श्री शिवशंकरजी, जिलाधीश जोधपुर; श्री गोपालनारायणजी बोहरा, एम. ए., उपसंचालक, राजस्थान प्राच्य विद्या प्रतिष्ठान, जोधपुर; श्री शाह गोवर्द्धनलालजी काबरा; श्री अगरचन्दजी नाहटा; श्री आर. पी. श्रीवास्तव, रेक्टर, चोपासनी इन्स्टीट्यूट, श्री गणपतिचन्द्रजी भण्डारी, प्राध्यापक, महाराज कुमार कॉलेज, जोधपुर; सत्ता ठाकुर तणुराव, जैसलमेर; कर्नल श्री धोंकलसिंह मांमड़ोली व महन्त श्री लादूरामजी विशेष उल्लेखनीय हैं। इन सभी महानुभावों ने मेरे कोश को बहुत निकट से देखा है और समय-समय पर अपने अमूल्य सुझाव देते हुए मेरी कोश-प्रणाली की सराहना भी की है। इनके जिस सहयोग से मुझे बल प्राप्त हुआ है और जिसके फलस्वरूप मैं अपने इस कार्य को सुगमतापूर्वक सम्पन्न करने में कुछ भी समर्थ हुआ हूँ उसके लिए मैं इन सभी विज्ञ जनों के प्रति आभारी हूँ।

इसके अतिरिक्त अनेक सज्जनों से समय-समय पर आवश्यकतानुसार मेरा सम्पर्क रहा है जिनमें श्री शक्तिसिंहजी (मंडला) अधीक्षक, पुरातत्त्व अजायबघर एवं विभाग

श्री दुर्गालाल माथुर, क्यूरेटर, अजायबघर, जोधपुर; श्री रावत सारस्वत, सम्पादक, मरुवाणी; रानी लक्ष्मीकुमारी चूंडावत; श्री पुरुषोत्तमलाल मेनारिया; श्री आनन्दीलालजी शास्त्री; श्री कोमल कोठारी, सचिव, राजस्थान संगीत नाटक अकादमी, जोधपुर; श्री विजयदान देथा, कवि श्री रेवंतदानजी 'कल्पित'; वकील श्री अचलसिंहजी भाटी; श्री धोंकलसिंहजी, वाइस प्रिन्सीपल, चौपासनी, विद्यालय; श्री सत्यप्रकाश जोशी, एम. ए., जोधपुर; श्री तेजसिंहजी, शोध सहायक, राजस्थानी शोध संस्थान; लेफ्टीनेंट श्री रेवतसिंहजी भाटी; श्री चन्द्रसिंहजी जोधा; जोधसिंहजी उज्ज्वल, बीकानेर; श्री चंद्रसिंहजी बीका; श्री अक्षयचन्द्र शर्मा, बीकानेर आदि ने भिन्न-भिन्न क्षेत्र में अपना सहयोग दिया है। इसके लिये ये सभी धन्यवाद के पात्र हैं।

यह तो पहिले ही कहा जा चुका है कि कोश प्रकाशन का कार्य राजस्थानी शोध-संस्थान, चौपासनी, जोधपुर के सुपुर्द कर दिया गया था। कोश प्रकाशन की समुचित व्यवस्था के लिये शिक्षा समिति, चौपासनी ने एक पृथक उपसमिति का निर्माण किया, जिसके अध्यक्ष पद का भार भाद्राजून राजा साहिब श्री देवीसिंहजी को सौंपा गया। यह मेरे लिए अत्यन्त सौभाग्य की बात हुई। राजा साहिब ने जिस सच्ची लगन से कोश कार्य की सम्पन्नता में अपना सहयोग दिया है उसके लिए मैं उनका चिर कृतज्ञ हूँ।

जैसा कि पूर्व विवरण से स्पष्ट है कि कोश निर्माण का कार्य कोई अल्पावधि का कार्य नहीं है और न ही किसी एक व्यक्ति की शक्ति का ही है। कोश का कार्य पर्याप्त अवधि तक चलता रहा है जिसमें कई व्यक्तियों ने वेतन पर कार्य करते हुए कोश कार्य के प्रति तत्परता एवं सुरुचि का परिचय दिया। श्री सुकनमलजी माथुर, एम. ए., बी. एड. ने कोश का कार्य बहुत लम्बे समय तक किया। उनको कर्मठता एवं लगन के कारण उन्हें इस कार्य का काफी अनुभव हो गया जिससे आगे चल कर कोश की विशेषताओं का बारीकी के साथ निर्वाह करने में भी उनका सहयोग मिला और कार्य शीघ्रता से आगे बढ़ गया। इस कार्यावधि में उनके द्वारा किए गए सुन्दर कार्य, उनकी समय की पाबन्दी एवं कार्य के प्रति जागरूकता निश्चय ही सराहनीय है।

श्री मोहनलालजी पुरोहित, बी. ए., बी. एड., साहित्य-रत्न ने भो काफी अर्से तक कोश कार्यालय में तथा अन्यत्र रहते हुए भी कोश सम्बन्धी कार्य किया। कोश सम्बन्धी बहुत से कृषि संबंधी शब्दों का संकलन भी उनके द्वारा किया गया तथा उन शब्दों की परिभाषा भी आप ही ने बनाई। इनकी लगन, गहरी सूझ एवं सार ग्रहण करने की शक्ति वस्तुतः प्रशंसनीय है। हिन्दी साहित्य में विशेष रुचि होने के कारण लेखन कार्य में इनकी ओर से विशेष सहयोग मिला है। ये परिश्रमी व्यक्ति हैं और बड़ी लगन के साथ कोश कार्य कर रहे हैं।

कोश कार्य करते हुए श्री भँवरलालजी कछवाहा ने भी थोड़े से समय में कोश की कार्य-प्रणाली को बड़ी खूबी के साथ समझा है और बड़े ही परिश्रम तथा रुचि के साथ कार्य कर रहे हैं। इनके अतिरिक्त श्री शक्तिदानजी कविया, एम. ए. ने भी कुछ समय तक कोश सम्बन्धी कार्य किया, ये राजस्थानी के अच्छे कवि भी हैं। मेरे अनुज श्री जैतदान लाळस ने बाहर भ्रमण कर ग्रामीण शब्दों, राजस्थान के देहाती क्षेत्रों में प्रचलित मुहावरे, लोकोक्तियाँ आदि के संग्रह करने में मेरी पर्याप्त सहायता की। कोश का कार्य करने वाले अन्य कार्यकर्ताओं में श्री सुमेरमलजी लोढ़ा, श्री हेमसिंहजी चौहान, श्री भालचन्द्रजी बोहरा, श्री बख्तावरदानजी वणसूर, श्री सांवळदानजी रतनू तथा श्री दौलतसिंहजी भी धन्यवाद के पात्र हैं। इन सभी कार्यकर्ताओं के उज्ज्वल भविष्य एवं सफल जीवन की कामना करता हूँ।

यह मेरा सौभाग्य ही था कि कोश प्रकाशन का कार्य साधना प्रेस, जोधपुर जैसे योग्य एवं व्यवस्थित प्रेस द्वारा सम्पन्न हुआ। प्रेस के व्यवस्थापक श्री हरिप्रसादजी पारीक के ही प्रयत्नों का फल है कि यह राजस्थानी शब्द कोश इस रूप में आपके समक्ष प्रस्तुत किया जा सका है। श्री पारीकजी ने सही एवं शुद्ध रूप देने, प्रूफ संशोधन करने एवं उत्तम प्रकाशन करने के लिए जो अथक परिश्रम किया है उसके लिए वे वस्तुतः धन्यवाद के पात्र हैं।

अन्त में मैं उन सभी सज्जनों एवं सहयोगी बन्धुओं का आभार स्मरण किये बिना नहीं रह सकता, जिनसे परोक्ष या अपरोक्ष रूप में मुझे कोश निर्माण एवं इसकी सम्पन्नता में यथाविधि सहयोग प्राप्त होता रहा है। कदाचन् विस्मृति के

प्रभाव से सहयोगी जन का नामोल्लेख नहीं हो पाया है तो उसके लिए मैं क्षमाप्रार्थी हूँ।

यथेष्ट सावधानी रखने पर भी जो कुछ मानव-स्वभाव-सुलभ त्रुटियां या भूलें हुई हों उनको सुधारने के लिए विद्वानों से सादर विनम्र प्रार्थना करता हुआ यह आशा करता हूँ कि वे ऐसी भूलों के विषय में मुझे सतर्क करेंगे ताकि भविष्य में तदनुसार संशोधन का कार्य सरल हो सके। जो विद्वान मेरे भ्रम प्रमादों की प्रामाणिक पद्धति से मुझे सूचित करेंगे उनका मैं चिर-कृतज्ञ रहूंगा।

यदि मेरी इस कृति से राजस्थानी साहित्य के उन्नयन में कुछ भी सहयोग पहुंचा तो मैं अपने इस दीर्घकालीन परिश्रम को सफल समझूंगा।

बसन्त पंचमी
सं० २०१८ विक्रम

—सीताराम लाळस

प्रस्तावना

राजस्थानी भाषा का विवेचन



भाषा मनुष्य के विकास का सब से महत्वपूर्ण साधन है। इसके द्वारा मानव का समाज से संपर्क स्थापित होता है। भाषा के द्वारा जहां बालक दूसरों के भावों को जानता है, वहां अपने भाव भी वह दूसरों के समक्ष व्यक्त करता है। भावों को व्यक्त करने से इच्छाओं की पूर्ति के साथ मानव में विचार करने की भी शक्ति आती है तथा उसे अपनी सामर्थ्य का ज्ञान होता है। तुलसी के 'गिरा अरथ जल वीचि सम, कहिअत भिन्न-न-भिन्न'[1] के अनुसार भाषा और विचार एक ही तथ्य के दो पहलू हैं। किसी भी व्यक्ति के बौद्धिक विकास को उसके भाषा-ज्ञान तथा उसके शब्दों की संख्या से भले प्रकार जाना जा सकता है। भाषा के माध्यम से ही मानव ने अपना सांस्कृतिक एवं भौतिक विकास किया है, किन्तु इसके साथ यह भी सत्य है कि मानव के विकास के साथ भाषा का भी विकास होता है। इस दृष्टि से दोनों का विकास अन्योन्याश्रित है।

मनुष्य की भाषा उसकी सृष्टि के आरम्भ से, अविरल गति से, प्रवाह रूप में चली आ रही है। नदी के वेग के समान ही उसकी भाषा का वेग भी अनियंत्रित होता है। भाषा में अनेकरूपता का यही मूल कारण है। यह नहीं कहा जा सकता कि यह अनेकरूपता कितनी पुरानी है। समय-समय पर इसी अनेकरूपता को संयत एवं टकसाली रूप देने का बार-बार प्रयत्न किया जाता रहा। किसी भाषा के इस सुसंगठित रूप को प्रस्तुत करने में उस भाषा का व्याकरण और कोश प्रधान साधन हैं। इनके अभाव में कोई भाषा रूपवती भिखारिन की भाँति कभी आदरणीय नहीं हो सकती। खेद है कि राजस्थानी में इनका अभाव रहा है।

लगभग सत्तर वर्ष पहिले जोधपुर के पंडित रामकरण आसोपा ने 'मारवाड़ी भाषा रौ व्याकरण' नामक पुस्तक का प्रकाशन किया था। सन् १९१४ में तैस्सीतोरी का प्रयत्न भी इस ओर विशेष सराहनीय रहा किन्तु परिवर्तित परिस्थितियों, प्रतीकों और प्रतिमाओं के कारण नयी राजस्थानी के साथ इनका सामञ्जस्य अपूर्ण रहा। आठ-नौ वर्ष पहिले मैंने भी 'राजस्थानी व्याकरण' के नाम से एक पुस्तक प्रकाशित की थी। किन्तु ये सब प्रयत्न आरंभिक अवस्था के अनुरूप ही माने जा सकते हैं। शब्दकोश-निर्माण का प्रयत्न इस ओर अधिक किया गया। नाममालाओं आदि के रूप में एक शब्द के अनेकों पर्यायवाची शब्दों के कोश राजस्थानी में भी प्राप्य हैं। डिंगळ नांममाळा, नागराज डिंगळ कोश, हमीर नांम माळा, अवधांन माळा, नांम माळा, मुरारीदानजी का डिंगळ कोश, अनेकार्थी कोश, एकाक्षरी कोश[1] आदि कितने ही कोश इस सम्बन्ध में गिनाये जा सकते हैं। आधुनिक कोशों के समान इनकी उपादेयता चाहे न मानी जाय परन्तु इनके महत्व से इन्कार नहीं किया जा सकता। प्रायः ये कोश छंदोबद्ध हैं। संभव है पीढ़ी-दर-पीढ़ी हस्तांतरित करने के उद्देश्य से ही इनका लयात्मक एवं तुकात्मक रूप प्रस्तुत किया गया हो। राजस्थानी भाषा एवं साहित्य के संबंध में शोध कार्यो के लिये इनकी उपयोगिता निर्विवाद है। वैज्ञानिक ढंग से राजस्थानी भाषा के विकास को समझने के लिए ये एक महत्त्वपूर्ण साधन हैं। लिपिकर्ताओं की कृपा एवं जीर्ण-शीर्ण अवस्था के कारण किन्हीं-किन्हीं स्थलों पर इनकी उपादेयता संदिग्ध हो सकती है[2], तथापि कई कोश निसंदेह प्रामाणिक हैं। हमीरदांन रतनू की 'हमीर नांममाळा' की प्रामाणिकता

[1] रामचरितमानस—बालकाण्ड, दो० १८

[1] इनमें से कुछ कोशों का संग्रह 'परंपरा' में 'डिंगल कोश' के नाम से राजस्थानी शोध संस्थान, चौपासनी, जोधपुर, द्वारा प्रकाशित हो चुका है।

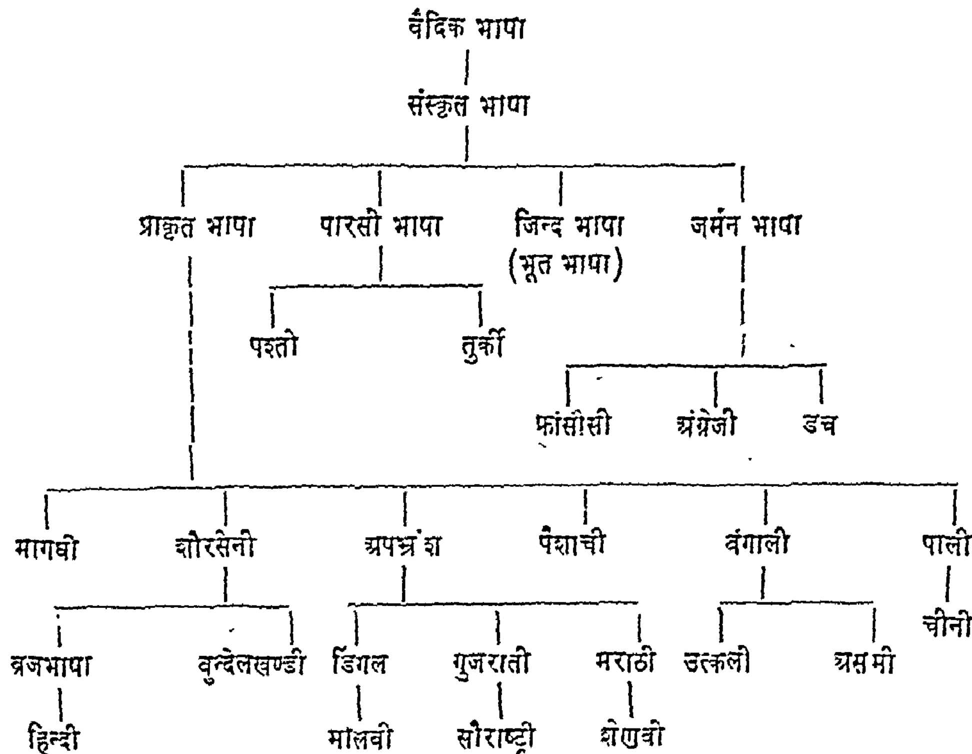
[2] जैसे इसी 'डिंगल कोश' में प्रकाशित 'हमीर-नांम-माळा' पृष्ठ ८३ में 'द्रिव्य' के प्रर्याय रूप में 'स्रवरे' और 'आइतेयक' शब्द दिये गए हैं, यह लिपिकर्ताओं की भूल का परिणाम है। शुद्ध रूप में ये 'स्वः' (देखो 'संस्कृतकोश'), रै—दोनों अलग-अलग होंगे तथा 'आइतेयक' के स्थान पर 'स्वापतेय' होगा (मि०—अमरकोश—२/९०) इसी प्रकार की अन्य भूलें देखी जा सकती हैं।

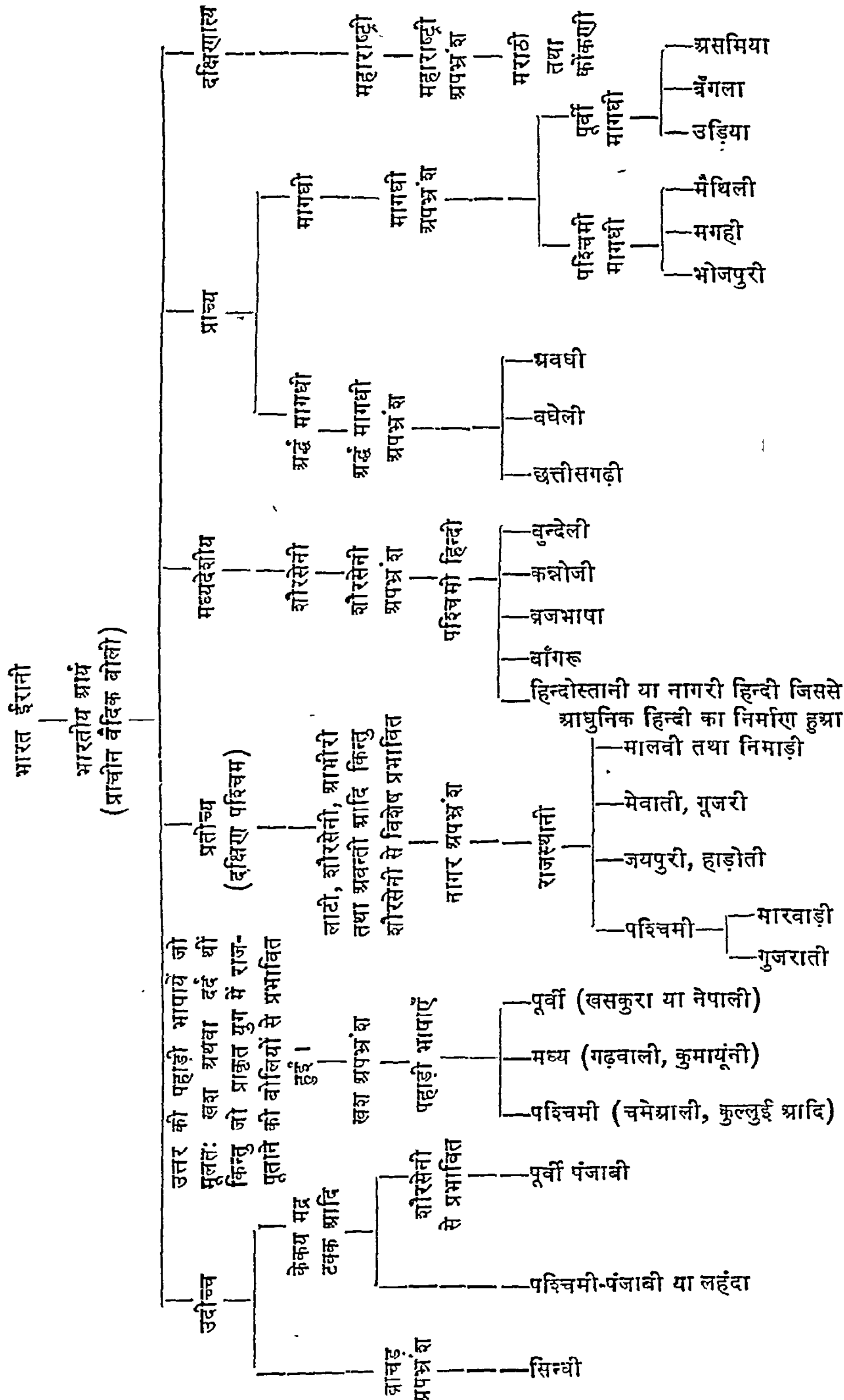
भारतीय आर्य भाषाओं का विधिवत् इतिहास हमें प्रामाणिक रूप से उपलब्ध नहीं है, तथापि इसकी साधारण रूपरेखा ऋग्वेद से आज तक उपलब्ध है। कुछ विद्वानों ने अनार्य भाषाओं को छोड़ कर संसार भर की परिष्कृत भाषाओं का उद्गम वैदिक भाषा को माना है।[1] इस संबंध में इस मत के समर्थक विद्वानों ने शब्दों के कई प्रमाण देकर एक भाषा का दूसरी भाषा से संबंध बताने का प्रयत्न किया है। कुछ विद्वानों ने भारतीय-योरोपीय भाषाओं की मूल भाषा के रूप में उर्सप्राख (Ursprache) नामक एक नई भाषा की कल्पना की है।[2] भाषाविज्ञान के क्षेत्र में शोध की गति इतनी तीव्र है कि नित्य नये सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया जा रहा है एवं नई भाषाओं पर प्रकाश पड़ता जा रहा है। भारतीय आर्य भाषाओं के संबंध में डा० सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या का निम्नलिखित वर्गीकरण उल्लेखनीय है[3]—

[1] श्री किशोरसिंह बार्हस्पत्य ने झालरपाटन से प्रकाशित 'सौरभ' अक्तूबर १६२० के एक लेख में निम्नलिखित चित्र प्रकाशित किया है।

[2] Elements of Science of Language–by Taraporewala, Page 21

[3] The Origin and Development of the Bengali Language–Part I, by S. K. Chatterji, Page 6




भारत ईरानी
भारतीय आर्य
(प्राचीन वैदिक बोली)
दक्षिणात्य
महाराष्ट्री
महाराष्ट्री अपभ्रंश
मराठी तथा कोंकणी
प्राच्य
मागधी
मागधी अपभ्रंश
पूर्वी मागधी
असमिया
बँगला
उड़िया
पश्चिमी मागधी
मैथिली
मगही
भोजपुरी
अर्द्ध मागधी
अर्द्ध मागधी अपभ्रंश
अवधी
बघेली
छत्तीसगढ़ी
मध्यदेशीय
शौरसेनी
शौरसेनी अपभ्रंश
पश्चिमी हिन्दी
बुन्देली
कन्नौजी
ब्रजभाषा
बाँगरू
हिन्दोस्तानी या नागरी हिन्दी जिससे आधुनिक हिन्दी का निर्माण हुआ
प्रतीच्य
(दक्षिण पश्चिम)
लाटी, शौरसेनी, आभीरी तथा अवन्ती आदि किन्तु शौरसेनी से विशेष प्रभावित
नागर अपभ्रंश
राजस्थानी
मालवी तथा निमाड़ी
मेवाती, गूजरी
जयपुरी, हाड़ोती
पश्चिमी
मारवाड़ी
गुजराती
उत्तर की पहाड़ी भाषायें जो मूलतः खश अथवा दर्द थीं किन्तु जो प्राकृत युग में राजपूताने की बोलियों से प्रभावित हुईं।
खश अपभ्रंश
पहाड़ी भाषाएँ
पूर्वी (खसकुरा या नेपाली)
मध्य (गढ़वाली, कुमायूंनी)
पश्चिमी (चमेआली, कुल्लुई आदि)
उदीच्य
केकय मद्र टक्क आदि
शौरसेनी से प्रभावित
पूर्वी पंजाबी
पश्चिमी-पंजाबी या लहंदा
व्राचड़ अपभ्रंश
सिन्धी

इस वंश-वृक्ष से राजस्थानी की उत्पत्ति के सम्बन्ध में कुछ प्रकाश पड़ता है। प्राचीन काल में इसका नाम मरुभाषा ही था।[१] कालान्तर में यह डिंगळ कहलाने लगी। इसी नामकरण के समय राजस्थानी में समृद्धतम साहित्य की रचना हुई। आधुनिक समय में मोटे तौर से इसे राजस्थानी ही कहा जाता है। अतः राजस्थानी से हमारा अभिप्राय उसी परंपरागत मरु एवं डिंगळ भाषा से है।

राजस्थानी के ठीक उद्गम को समझने के लिये अन्य भाषाओं का अध्ययन आवश्यक है। तैस्सितोरी व ग्रियर्सन ने सोलहवीं शताब्दी तक पश्चिमी राजस्थान तथा गुजरात की भाषा को एक ही माना है,[२] किन्तु डा० चाटुर्ज्या के अनुसार यह शौरसेनी या मध्यप्रदेशीय प्राकृत, जिसे पाली भी कहा जा सकता है, से अलग थी।[३] वास्तव में पाली मध्यप्रदेश की भाषा का ही साहित्यिक रूप था। कुछ विद्वानों का विश्वास है कि पाली और प्राचीन मागधी प्राकृत की ही बोलियां हैं।[४] पश्चिमी पंजाब की बोली एवं सौराष्ट्र की बोली में भी कुछ समानता अशोक के समय में पाई जाती है। इससे यह तो स्पष्ट है कि राजस्थान में जो आर्य बोली आई वह मध्यप्रदेश की ओर से नहीं आई। सम्भव है आधुनिक हिसार, शेखावाटी या उदयपुर की राह से आई हो क्योंकि राजस्थानी-गुजराती का मेल, पश्चिमी पंजाबी से तथा कुछ-कुछ सिंधी से है किन्तु मध्यप्रदेश की बोली से नहीं है।[५] राजनैतिक रूप से भी राजस्थान का गुजरात, सिंध एवं पंजाब से अधिक सम्बन्ध रहा है। प्राचीन काल में भी 'गुर्जरत्रा' (गुर्जर गोत्रा) अर्थात् 'गूजर या गूर्जर लोगों का देश' के नाम से सिंध, गुजरात और मारवाड़ सम्मिलित रूप से एक ही राष्ट्र था।[६]

[१] कविराजा सूर्यमल्ल ने वंशभास्कर में स्थान-स्थान पर इस नाम का प्रयोग किया है।
[२] (क) पुरानी राजस्थानी (मू० ले० एल. पी. तैस्सितोरी)—अनु० नामवरसिंह, अध्याय १, भूमिका पृष्ठ १०
(ख) राजस्थानी भाषा—डा० चाटुर्ज्या, पृष्ठ ४५
[३] राजस्थानी भाषा—डा० चाटुर्ज्या, पृष्ठ ४५
[४] – वही –
[५] – वही – पृष्ठ ४७
[६] राजपूताने का इतिहास—जिल्द पहली—ले० गौरीशंकर हीराचन्द ओझा, पृष्ठ १८७

कुछ विद्वानों का निश्चित मत है कि राजस्थानी का उद्गम शौरसेनी अपभ्रंश से हुआ है,[१] यद्यपि कुछ लोगों ने इस सम्बन्ध में संदेह प्रकट किया है।[२] इस ओर प्रामाणिक अनुसंधान की आवश्यकता है। हिन्दी साहित्य सम्मेलन के ३३ वें अधिवेशन के सभापति पद से भाषण देते हुए श्री कन्हैयालाल माणिकलाल मुंशी ने इसका उद्गम गुर्जरी अपभ्रंश से माना है। श्री एन० बी० दिवातिया ने भी गुजराती की उत्पत्ति की विवेचना करते हुए इसी का समर्थन किया है।[३] जैसा कि ऊपर लिखा जा चुका है कि राजनैतिक रूप से सिंध, गुजरात एवं मारवाड़ के सम्मिलित रूप को 'गुर्जरत्रा' (गुर्जर+गोत्रा) कहा जाता था, किन्तु कालान्तर में (जैसा कि अलबरूनी ने वर्णन किया है) संभवतया भीनमाल का राज्य हाथ से निकल जाने से गुर्जरों का राज्य छोटा रह गया। इसकी राजधानी 'नराएन' कही गई है।[४] इतने लम्बे समय तक इस विस्तृत भू-भाग पर गुर्जरों का अधिकार रहने से भाषा का प्रभावित होना संभव है। अतः गुर्जरी अपभ्रंश नाम अधिक सार्थक है। डा० ग्रियर्सन ने राजस्थानी की उत्पत्ति नागर अपभ्रंश एवं पश्चिमी हिन्दी से मानी है।[५] डा० धीरेन्द्र वर्मा के अनुसार नागर अपभ्रंश गुजरात के उस भाग में बोली जाती थी जहां आजकल नागर ब्राह्मण बसते हैं। नागर ब्राह्मण विद्यानुराग के लिए प्रसिद्ध रहे हैं। इन्हीं के नाम

[१] (क) प्राकृत भाषाओं का व्याकरण—रिचर्ड पिशल; अनु० डा० हेमचन्द्र जोशी, पृष्ठ ६-७, पैरा ५
(ख) 'पुरानी राजस्थानी' (मू० ले० एल. पी. तैस्सितोरी) अनु० डा० नामवरसिंह, अध्याय १, भूमिका पृष्ठ १
(ग) हिन्दी भाषा का उद्गम और विकास—डा० उदयनारायण तिवारी, पृष्ठ १७८
[२] हिन्दी भाषा का इतिहास—डा० धीरेन्द्र वर्मा, भूमिका ४९ व ५० पृष्ठ पर दी गई फुटनोट की टिप्पणी
[३] Gujrati Language and Literature, Vol. II, by N. B. Divatia B. A., Lecture V, Page 9
[४] – वही – पृष्ठ १९३
[५] (क) Linguistic Survey of India, Vol. IX, Part II.
(ख) हिन्दी भाषा का उद्गम और विकास—डा० उदयनारायण तिवारी, पृष्ठ २९७

से कदाचित् नागरी अक्षरों का नाम पड़ा।[1] नागर अपभ्रंश के व्याकरण के लेखक हेमचन्द्र गुजराती ही थे। हेमचन्द्र के मतानुसार नागर अपभ्रंश का आधार शौरसेनी प्राकृत था।[2] इस दृष्टि से नागर अपभ्रंश शौरसेनी का ही एक रूप है।[3] किन्तु डा० चाटुर्ज्या इसी स्थान की भाषा को सौराष्ट्री अपभ्रंश के नाम से पुकारते हैं।[4] ये दोनों नाम ही कुछ अस्पष्ट से जान पड़ते हैं। नागर अपभ्रंश से अभिप्राय नागर जाति की अपभ्रंश से है या नागरिकों की अपभ्रंश से, यह साफ नहीं है।[5] सौराष्ट्र अपभ्रंश नाम भी कुछ संकीर्ण है। इससे इसका दायरा केवल सौराष्ट्र (काठियावाड़) तक ही सीमित होना सूचित होता है।[6]

राजस्थानी के प्रादुर्भाव का निश्चित समय बताना कुछ कठिन सा है। ठीक समय निर्धारण करने के लिए हमें उस काल की रचनाओं पर दृष्टिपात करना होगा। श्री राहुल सांकृत्यायन ने कुछ प्राचीन कवियों के फुटकर दोहे एवं पद खोज निकाले हैं[7] जिनमें से कुछ हैं—

१. सरहपाद—

(संवत् ६९० के लगभग)

रचना—जहि मन पवन न संचरई, रवि ससि नाहि पवेस।
तहि वट चित्त विसाय करू, सरहे कहिय उवेस॥

२. लूहिया—

(संवत ८३० के लगभग)

रचना—का आ तरुवर पंच विडाल, चंचल चीए पइयो काळ।
दिअ करिअ महासुद परिमाण, लूइ भणइ गुरु पच्छिअ जाण॥

उपरोक्त रचनाओं को पुरानी राजस्थानी के साथ कुछ समानता अवश्य है। लूहिया की रचना की भाषा कांन्हडदे-प्रबन्ध के कुछ दोहों की भाषा के काफी निकट है। वह राजस्थानी का आरंभिक काल हो सकता है। गेय रूप में सब से प्रथम छंदबद्ध ग्रंथ हमें 'बीसलदेव रासो' प्राप्त है। यह राजस्थानी का प्राचीनतम ग्रंथ है। यहां कुछ मतभेद हो सकता है। कई विद्वानों ने इसे पश्चिमी हिन्दी का सब से पहला ग्रंथ माना है। संभवतया यह इसलिये माना गया हो कि उन्होंने राजस्थानी को हिन्दी का ही एक रूप मान लिया। अगर निष्पक्ष दृष्टि से देखा जाय तो यही विचारधारा वर्तमान में राजस्थानी साहित्य के ह्रास का कारण हुई। राजस्थानी की स्वयं की विशेषता है, उसका अपना व्याकरण है, शब्द-भंडार है, समृद्ध साहित्य है, उसे उसी रूप में देखना चाहिए। 'बीसलदेव रासो' के निर्माणकाल के संबंध में भी विवाद है। उसका सही रचनाकाल निश्चित होने की अवस्था में राजस्थानी के उद्गम के समय का अनुमान करना कठिन नहीं होगा।

बीसलदेव के निर्माणकाल के बारे में विस्तृत विवेचना हम इसी भूमिका में राजस्थानी साहित्य के इतिहास की विवेचना करते समय करेंगे किन्तु मोटे रूप से इसका निर्माण-काल ग्यारहवीं शताब्दी माना जा सकता है।[1] जिस लोकभाषा में 'बीसलदेव रासो' की रचना हुई उसके उस रूप तक पहुँचने में अवश्य कुछ समय लगा होगा। इस दृष्टि से सौ डेढ़ सौ वर्ष का समय कुछ अधिक नहीं। नवीं शताब्दी की सरहपा एवं लूहिया की रचनाओं का उल्लेख हम ऊपर कर चुके हैं। वे भी हमारे मत की पुष्टि करती हैं। यद्यपि इस समय के काफी बाद तक अपभ्रंश में साहित्य रचना होती गई तथापि लोकभाषा के रूप में आरंभिक राजस्थानी की नींव नवीं शताब्दी में स्थापित हो चुकी थी। दोनों का कुछ संबंध भी काफी समय तक रहा एवं साहित्यिक रूप से तेरहवीं शती में दोनों का विच्छेद हुआ। तैस्सीतोरी ने भी प्राचीन पश्चिमी राजस्थानी का अपभ्रंश से अंतिम रूप से संबन्ध-विच्छेद कर लेने का समय तेरहवीं शताब्दी के आसपास निश्चित किया है।[2]

---

[1] हिन्दी भाषा का इतिहास—डा० धीरेन्द्र वर्मा, पृष्ठ ४८

[2] (क) – वही – पृष्ठ ४८
(ख) Prakrit Grammar of Hemchandra.

[3] हिन्दी भाषा का इतिहास—डा० धीरेन्द्र वर्मा, पृष्ठ ४८

[4] राजस्थानी भाषा—डा० सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या, पृष्ठ ४५

[5] राजस्थानी भाषा और साहित्य—मोतीलाल मेनारिया, पृष्ठ ३

[6] – वही – पृष्ठ ३

[7] महापंडित राहुल सांकृत्यायन द्वारा सम्पादित 'दोहा-कोश'

---

[1] इसकी विस्तृत व्याख्या इसी भूमिका के राजस्थानी साहित्य के इतिहास के प्रसंग में आगे की जायेगी, जिसमें बीसलदेव रासो के संवत् १०७३ में रचे जाने की पुष्टि की गई है।

[2] 'पुरानी राजस्थानी'—(मू ले० तैस्सितोरी) अनु० नामवरसिंह अध्याय १, भूमिका पृष्ठ ८

गुजराती एवं राजस्थानी को सोलहवीं शताब्दी तक एक ही भाषा माना गया है,[1] यद्यपि सौ वर्ष पहिले से ही इनमें साधारण विभेद आरम्भ हो गया था। नरसिंह मेहता का जन्म सन् १४१३ ई० में हुआ था। इनके द्वारा लिखित गीत आधुनिक गुजराती के अधिक निकट हैं, किन्तु गेय रूप में होने के कारण इतने वर्षों में इसकी भाषा में अन्तर हो जाना स्वाभाविक है। सन् १४५६ में रचित 'कान्हडदे प्रवन्ध' की समान भाषा के रूप में ही संभवतया नरसिंह मेहता ने रचना की होगी। 'कान्हडदे प्रवन्ध' का रचयिता 'पद्मनाभ' नरसिंह मेहता का समकालीन था। सोलहवीं शताब्दी में ये दोनों भाषायें अपने अलग-अलग रूपों में विकसित हुईं।[2]

जैसा कि ऊपर लिख आये हैं, राजस्थानी प्रधान पांच शाखाओं में विभक्त है। प्रत्येक शाखा की स्वयं की अपनी कुछ विशेषतायें हैं। पश्चिमी राजस्थानी के कुछ क्षेत्रों में **इकार** तथा **उकार** के स्थान पर **अकार** करने की प्रवृत्ति अधिक है, यथा—**हाजर, मनख, मालम, वराजौ** आदि। वर्तमान काल में इसमें जहां **है** का प्रयोग होता है वहां भूतकाल के लिये **हौ** या **हा** का प्रयोग होता है, यथा—**चालै है** (वर्तमान काल), **चालता हा** (भूतकाल)।[3] मेवाड़ी में **सकार** के स्थान पर **ह्कार** करने की प्रवृत्ति अधिक है। हम आगे विवेचन करेंगे कि राजस्थानी में **स** और **स़** के उच्चारण में कुछ भेद है जो साधारणतया अन्य भाषी विद्वानों के लिये कुछ कठिनता उत्पन्न कर देता है। मेवाड़ी **स** के स्थान पर **स़** या **ह़** का प्रयोग अधिक होता है, किन्तु इसका यह परिवर्तन शब्द के प्रथम अक्षर तक ही सीमित रहता है। पश्चिमी राजस्थानी में प्रायः **वकार** के स्थान पर **वकार** करने की भी प्रवृत्ति है, यथा—**वा़त, वा़र**।

उत्तर-पूर्वी राजस्थानी में भी पश्चिमी राजस्थानी की तरह भूतकाल के लिए **हौ** का प्रयोग होता है। पश्चिमी राजस्थानी में संबंधकारक के लिए **रौ रा री** का प्रयोग होता है किन्तु पूर्वी राजस्थानी में **को का की** का प्रयोग अधिक है। अल्प प्राण का प्रयोग भी उत्तर-पूर्वी राजस्थानी की अपनी विशेषता है।[1]

पश्चिमी राजस्थानी के अन्तर्गत हमने मारवाड़ी, थली, वीकानेरी, वागड़ी, शेखावाटी, मेवाड़ी, खैराड़ी, गोड़वाड़ी आदि को भी गिना है। इन सब में आपस में कुछ विभेद हैं। वागड़ी में **चकार** और **छकार** का **स़कार** हो जाता है, जैसे—**स़ोर** (चोर), **स़ांनी** (छांनी) आदि। इसमें **सकार** का **ह्कार** भी होता है। किन्तु ऐसी अवस्था में **ह** की ध्वनि अत्यन्त निर्वल होकर **स** के निकट चली जाती है, यथा—**होनौ** (**स़ोनौ**)। गोड़वाड़ी में भी **सकार** को **ह्कार** में परिवर्तित करने की प्रवृत्ति प्रचलित है, यथा—**सिनांन** को **ह्निांन** अथवा **स़िनांन**। इसमें **ड़** को भी **र** में परिवर्तित कर दिया जाता है, यथा—**कीरी** (**कीड़ी**) = चिउँटी। उसमें वागड़ी के समान ही **चकार** और **छकार** का भी **स़कार** हो जाता है, जैसे—**पस़ै** (पछै), **स़ोरी** (छोरी) आदि।

जहां पश्चिमी राजस्थानी में **व़कार** करने की प्रवृत्ति है वहां ढूंढाड़ी में **वकार** के स्थान पर **बकार** करने की प्रवृत्ति प्रचलित है, यथा—**बात, बे'म, बचन** आदि। इसमें **आवौ, जावौ, खावौ** आदि रूप का प्रचार है। वर्तमान काल में **छै**, भूत काल में **छौ** तथा भविष्य काल में **ला** का प्रयोग होता है।[2] प्राचीन काल में **छै** का प्रयोग लिखित गद्य साहित्य में सर्वत्र पाया जाता है। मुंहणोत नैणसी की ख्यात एवं वाँकीदास की ख्यात इसके उदाहरण हैं, किन्तु आधुनिक समय में इसका प्रयोग केवल ढूंढाड़ी एवं उसके आसपास के क्षेत्र तक ही सीमित रह गया है। **इकार** तथा **उकार** का भी ढूंढाड़ी में **अकार** हो जाता है।

क्षेत्र-भेद की दृष्टि से राजस्थानी में विभिन्न विशेषताएँ पायी जाती हैं। ढूंढाड़ी और पश्चिमी राजस्थानी (मारवाड़ी) को ही हम शुद्ध राजस्थानी का रूप मान सकते हैं। अधिकांश साहित्य-सामग्री इसी में उपलब्ध है।[3] पूर्वी राजस्थानी व्रज भाषा से प्रभावित है जबकि पश्चिमी राजस्थानी गुजराती से

---

१ राजस्थानी भाषा—डा० सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या, पृष्ठ ४५ व ४६

२ 'Gujrati must have differentiated from old western Rajasthani in the sixteenth century into a separate language'—Dr. S. K. Chatterji, Origin & Development of Bengali Language, Vol. I, Page 9

३ Linguistic Survey of India, Vol. IX, Part, II Page 20.

---

१ Linguistic Survey of India, Vol. IX, Part II, Page 43-51

२ – वही – Page 41

३ "The only dialect of Rajasthani which has a considerable recognized literature is Marwari"—Linguistic Survey of India, Vol. IX. Part II, Page 3.

साम्य रखती है। मोटे तौर पर यह देखा जाय तो मालूम होगा कि प्रायः विभिन्न संस्कृतियों का राजस्थान के रास्ते ही भारत के विभिन्न भागों में प्रसार हुआ है। अतः यह स्पष्ट रेखा द्वारा विभाजित नहीं किया जा सकता कि विभिन्न संस्कृतियों ने कब-कब और किस-किस रूप में यहां पर प्रभाव डाला। एक तरह से यह उन सब प्रभावों का सम्मिलित रूप है।

कुछ शब्दों के प्रयोग तो वास्तव में आश्चर्य में डाल देते हैं। राजस्थानी में कुछ ऐसे विशेष शब्द भी हैं जो वेदों में प्रयुक्त हुए हैं किन्तु उनका प्रयोग इतर भाषाओं में साधारणतः नहीं पाया जाता। उदाहरण के लिए कुछ शब्द इस प्रकार हैं—

१ **गिरिआरक** = सुमेरु पर्वत ('आरक' स्वर्ण के लिए प्रयुक्त हुआ है।)

२ **प्राचीन वरहिस** = इंद्र।

३ **दलम** = इंद्र।

४ **तविख** (तविप) = स्वर्ग।

ऐसे कई उदाहरण दिये जा सकते हैं। सीधे वेदों के बाद राजस्थानी में इन शब्दों का प्रयोग वस्तुतः राजस्थानी साहित्यकारों के विशाल अध्ययन एवं पांडित्य का परिचायक है। कुछ साहित्यकारों ने संस्कृत से सम्बन्ध दर्शाने के लिए कुछ शब्दों की विभिन्न व्युत्पत्तियां बताई हैं पर वे संदिग्ध हैं। वैसे भी प्रत्येक शब्द को बलात् खींच कर संस्कृत से संबंधित करने की प्रवृत्ति, जो आधुनिक युग में खूब प्रचलित है, उचित नहीं कही जा सकती। शब्दों को अपने स्वयं के स्वाभाविक रूप में ही ग्रहण करना वांछनीय है।

रूपभेद भी राजस्थानी की अपनी विशेषता है। एक ही शब्द के कई रूप यहां मिलते हैं, यथा—भूमि के लिए **भोम, भुमि, भुंहडी, भुंई, भंय, भुंवि**; पृथ्वी के लिए **प्रथी, प्रथवी, प्रथमी, पोहोवी, पुहमी** आदि। कुछ कवियों ने शब्दों के रूपभेदों को विशेष स्तर पर ही प्रयोग करने की सतर्कता बरती है, किन्तु कुछ अन्य कवियों ने स्वरों को दीर्घ ह्रस्व करने, शब्दों को तोड़ फोड़ कर नये अटपटे अर्थ में प्रयोग करने, अपनी इच्छानुसार स्वरों को उलट पुलट करने आदि में बहुत ही स्वतंत्रता से काम लिया है। यह संभव हो सकता है कि इस श्रेणी के कवियों ने अपभ्रंश की परम्परा के प्रभाव से ही ऐसे प्रयोग किये हों।[1]

जहां राजस्थानी की कई रचनाओं का स्तर बहुत ऊंचा है वहां राजस्थानी से अनभिज्ञ लेखकों, कवियों एवं संपादकों ने राजस्थानी को बहुत अटपटे शब्द दिये हैं। उदाहरण के लिए हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग से प्रकाशित 'मीरां पदावली' में मीरां के एक प्रसिद्ध पद की पहली पंक्ति इस प्रकार दी है—

'बसो मेरे **णेणण** में नंदलाल'

राजस्थानी में **न** एवं **ण** दोनों का प्रयोग होता है और दोनों का अपना विशिष्ट स्थान है। प्रायः इतर भाषा-भाषियों ने यह मान लिया है कि राजस्थानी में **न** के स्थान पर सर्वत्र **ण** और **ल** के स्थान पर **ळ** का प्रयोग ही होता है।[2] संभव है अपभ्रंश के प्रयोगों के कारण इन्होंने राजस्थानी के सम्बन्ध में भी ऐसी ही धारणा बनाली हो। प्राकृत, मागधी आदि भाषाओं में जिन शब्दों में लगातार आने वाले दो **नकार** हों, वहां कहीं पूर्व **नकार** एवं कहीं उत्तर **नकार णकार** हो जाता है यथा—**नैण, णैन** (नैन), **नाणा, णाना** (नाना) आदि। राजस्थानी में यह प्रणाली प्रयुक्त नहीं होती। यहां शब्द के आरंभ में **ण** का प्रयोग नहीं पाया जाता। अपभ्रंश आदि भाषाओं में उपरोक्त प्रयोगों के कारण ही इतर भाषा-भाषियों द्वारा संपादित राजस्थानी के ग्रंथों में इस प्रकार की भूलें प्रायः पायी जाती हैं। कुछ उदाहरणों से दोनों के प्रयोग से अर्थ की विभिन्नता स्पष्ट हो जाएगी—

कांन = कर्ण	**कांण** = तराजू के पलड़ों में संतुलन की विषमता, मर्यादा आदि।
नांनौ = मातामह	**नांणौ** = रुपया-पैसा।
मन = जी, हृदय	**मण** = एक तौल परिमाण।

---

[1] इस सम्बन्ध में देखिये—'प्राकृत भाषाओं का व्याकरण'—मू० ले० रिचर्ड पिशल, अनु०—डा० हेमचन्द्र जोशी, पृष्ठ ५९, पारा-२८ का अंतिम अंश।

[2] देखिये—'मीरांबाई की पदावली' संपादक—परशुराम चतुर्वेदी, हिन्दी साहित्य सम्मेलन प्रयाग द्वारा प्रकाशित—भूमिका, पृष्ठ ६२ व ६३ पर दी गई टिप्पणियां (सातवां संस्करण)।

पांन = पत्ता पांण = कलप, धार, वाढ़, वल, हाथ आदि ।
जांन = वारात जांण = जानने की क्रिया ।
वोलौ = वोलिये ! वोळौ = वधिर ।
पालौ = झाड़ी विशेप का पत्ता । पाळौ = पैदल ।
काल = कल काळ = यम, मृत्यु ।
कालौ = पागल काळौ = काला, श्याम वर्ण ।

हम ऊपर राजस्थानी में शब्दों के रूप-भेद की चर्चा कर रहे थे । रूप-भेद होने के कई कारण हैं । भाषा-विज्ञान के अनुसार भी ध्वनि-परिवर्तन के कई कारण होते हैं, यथा-वाक्यंत्र अथवा श्रवणयंत्र की विभिन्नता, अनुकरण की अपूर्णता, अज्ञानता, भ्रमपूर्ण उत्पत्ति, वोलने में शीघ्रता, मुख-सुख, भावुकता, वना कर वोलना, विभाषा का प्रभाव, भौगोलिक प्रभाव, सामाजिक प्रभाव, लिखने के कारण, संक्षिप्त करने की प्रवृत्ति, वलहीन व्यञ्जन का आधिक्य, स्वाभाविक विकास, मात्रा या तुक, सादृश्य, स्वराघात आदि । ध्वनि-परिवर्तन में इनमें से कोई न कोई कारण अवश्य होता है । इन सव पर सूक्ष्म रूप से विस्तृत प्रकाश डालने का हमारा मंतव्य नहीं है तथापि राजस्थानी भाषा की वैज्ञानिक दृष्टि से विवेचना करने के लिये इनकी थोड़ी जानकारी विषयान्तर न होगी ।

मोटे तौर पर प्रायः प्रयत्न-लाघव के कारण भी कई शब्दों का निर्माण हो जाता है । असाधारण लंबाई को न संभाल सकने के कारण लोग सुविधा के लिए उसे छोटा कर देते हैं । उदाहरण के लिए **जयरामजी** की का **जैरांमजी**, चाय का **चा** छाछ का **छा** एवं **साहब** का **सा** हो गया है ।

अनुकरण के कारण भी कई नये शब्दों का प्रयोग हुआ है यथा—**कँवर, भँवर, चँवर, टँवर** आदि । मात्रा या तुक मिलाने के लिए भी कुछ सिद्ध कवियों को छोड़ कर प्रायः अन्य कवि लोग ध्वनि में मनमाना परिवर्तन कर देते हैं । राजस्थानी के कुछ कविगण तो इसके लिये विशेप रूप से प्रसिद्ध हैं । यथा—

सत्थ = साथ
किम्मत = कीमत
मुनी = मुनि
कव, कवी (कवि) आदि ।

पाद-पूर्ति के लिये प्रायः **ह, क, स** आदि का प्रयोग भा साधारण वात है । वेदों एवं संस्कृत में भी ह पाद-पूर्ति के रूप में प्रचुर मात्रा में आया है ।[1] उसी परंपरा के कारण राजस्थानी के काव्य-ग्रंथों में इसके कई उदाहरण मिल जायेंगे । अपभ्रंश की प्राचीन पद्धति के अनुसार भी शब्दों को कोमलकांत पदावली में परिवर्तित करने की इच्छा के कारण कुछ कवियों ने अकार को उकार में परिवर्तित कर दिया, यथा—**कमळु** (कमल), **चपळु** (चपल) आदि ।[2]

स्वराघात के कारण भी राजस्थानी में ध्वनि-परिवर्तन हुआ है । ऊंचे सुर देने के लिये हमें मुंह फैलाना पड़ता है, अतः संवृत स्वरों का कभी-कभी विवृत में परिवर्तन हो जाता है । इस प्रकार **इ** का **ए** और **उ** का **ओ** हो जाना साधारण वात है । यथा—

कुष्ठ = कोढ़ ।
कुक्षि = कोख आदि ।

अधिकतर ध्वनि-परिवर्तन प्रायः भाषा के प्रवाह में स्वयमेव हो जाते हैं । उनके लिए किसी विशेप अवस्था या परिस्थिति की आवश्यकता नहीं होती । भाषा विज्ञान ने इन्हें स्वयंभू (unconditional, spontaneous or incontact) कहते हैं । ये कई प्रकार से हो जाते हैं । वोलने में शीघ्रता या स्वराघात के प्रभाव से कुछ ध्वनियों का लोप संभव है । ऐसी ध्वनियों में आदि स्वर लोप के उदाहरण वहुत मिलते हैं ।

(i) **अमीर = मीर**
(ii) **अनाज = नाज**
(iii) **अकाल = काळ**

स्वरों के अतिरिक्त व्यंजन-लोप के भी उदाहरण मिलते हैं, यथा—

---

[1] (क) वाल्मीकि रामायण में भी पाद-पूर्ति के लिए 'ह' का प्रयोग प्रचुर मात्रा में मिलता है, यथा—

शवर्या पूजितः सम्यग्रामो दशरथात्मजः ।
पम्पा तीरे हनुमता संगतो वानरेणह ॥

वाल्मीकि रामायण
वालकांड, प्रथम सर्ग श्लोक ५८

(ख) अमरकोश में भी इसका उल्लेख है—'तु हि च स्म ह वै पादपूरणे' 'इत्यमरः' । वाल्मीकि रामायण के वाद संस्कृत ग्रंथों में प्रायः इस प्रकार के प्रयोग नहीं मिलते ।

आदि व्यञ्जन लोप—

(i) **स्थाली = थाली**

(ii) **श्मशान = मसांण**

(iii) **स्थान = थांन**

(iv) **स्तम्भ = थंभ**

मध्य व्यञ्जन लोप—

(i) **सूची = सूई**

(ii) **कोकिल = कोइल**

(iii) **घरद्वार = घरवार**

(iv) **कायस्थ = कायथ**

(v) **कारतिक = कातिक**

अंत व्यञ्जन लोप—

(i) **सत्य = सत**

(ii) **निम्ब = नीम**

(iii) **जीव = जी**

इसके अतिरिक्त जब एक ही व्यञ्जन दो बार पास-पास आ जाता है तो प्रयत्न-लाघव के कारण दो के स्थान पर केवल एक ही व्यञ्जन प्रयोग में आने लगता है, यथा—

(i) **बाप-पड़ौ = बापड़ौ**

(ii) **नाक-कटौ = नकटौ**

प्राकृत एवं अपभ्रंश का प्रभाव भी राजस्थानी पर पर्याप्त रूप से पड़ा है।[१] प्राचीन राजस्थानी में ऐसे अनेक उदाहरण मिलते हैं—

(i) **वचन = वअण**

(ii) **सागर = साअर, सायर**

(iii) **संदेश = संदेसउ**

(iv) **नगर = नयर**

जहां बोलने में शीघ्रता के कारण किसी ध्वनि का लोप होता है वहां सुगमता के लिए नई ध्वनियों का भी प्रवेश हो जाता है। इसका प्रधान कारण उच्चारण की सुविधा है। इसके भी दो भेद होते हैं, यथा—

आदिस्वरागम—प्रायः ऊष्म ध्वनियों के आरंभ में ही यह प्रवृत्ति अधिक पायी जाती है।

(i) **स्नान = असनांन**

(ii) **स्तुति = असतूती**

(iii) **सवार = असवार**

(iv) **वारना = अवारणौ,**

मध्यस्वरागम—

(i) **भ्रम = भरम**

(ii) **जन्म = जनम**

(iii) **स्वाद = सवाद**

विपर्यय भी ध्वनि-परिवर्तन का एक कारण है। असावधानी के कारण ही प्रायः इस प्रकार का ध्वनि-परिवर्तन होता है। यथा—

(i) **जानवर = जनावर, जिनावर**

(ii) **तमगा = तुगमौ**

(iii) **ब्राह्मण = बांम्हण**

(iv) **नारिकेल = नाळेर**

(v) **डूबणौ = बूडणौ**

रेफ[१] के कारण भी राजस्थानी में ध्वनि-परिवर्तन हो जाता है। रेफ के विषय में आधुनिक राजस्थानी में कोई विशेष नियम नहीं है। आधुनिक संपादकों ने अपने द्वारा संपादित ग्रंथों में रेफ का प्रयोग किया है। यह शोधकर्त्ताओं का कार्य है कि वे प्राचीन मूल प्रतियों (जो स्वयं रचयिताओं द्वारा लिपिबद्ध हो) से वर्तमान प्रतियों को मिला कर शोध करें। जहां तक हमारा प्रश्न है, हमने राजस्थानी में रेफ को नहीं माना है। प्राकृत एवं अपभ्रंश में रेफ का प्रयोग नहीं मिलता। संभव है वही परंपरा राजस्थानी ने ग्रहण करली हो। रेफ के लोप के कारण कई ध्वनि-परिवर्तनों के उदाहरण इस प्रकार मिलते हैं,[२] यथा—

---

[१] इसी प्रभाव के कारण ह्रस्व को दीर्घ करने के लिए कविता में प्रायः अनुस्वार अथवा वर्ण द्वित्व का प्रयोग कर दिया जाता है, यथा—कनक > कनंक, कटक > कटक्क, अमर > अम्मर आदि।

[१] रेफ से हमारा तात्पर्य 'र' के उस रूप से है जो अन्य अक्षर के पहले आने पर उसके मस्तक पर रहता है, यथा—हर्ष, सर्प आदि।

[२] (क) राजस्थानी भाषा और साहित्य—डा० हीरालाल माहेश्वरी, पृष्ठ ४०

(ख) ऐसा प्रायः स्वरभक्ति (Anaptyxis) के कारण होता है। देखो Elements of the Science of Language—by Taraporewala, Para 130 (d). Pp. 163-164.

(i) कर्म = करम
(ii) दुर्गा = दुरगा
(iii) धर्म = धम्म, धरम
(iv) चर्म = चरम, चांम

कुछ व्यञ्जन यथा प, व, म, थ आदि उच्चारण में स्वर के समीप होने के कारण स्वर में परिवृत होकर फिर अपने पहले के व्यंजन में मिल जाते हैं। इस प्रकार का परिवर्तन कई बार तो इतना विपम हो जाता है कि नयी ध्वनि मूल ध्वनि से नितांत साम्यरहित प्रतीत होने लगती है, यथा—

पुत्र = पुत्त = उत्त = वत[1]
शत = सत्र = सव = सउ = सौ
नयन = नइन = नैन = नैण

राजस्थानी में प्रत्येक स्वर का अनुनासिक रूप भी पाया जाता है। इस भापा में अनुनासिकता की अपनी कुछ विशेषताएँ हैं। चूंकि अनुनासिक ध्वनि ही हमारे लिए स्वाभाविक एवं सरल है अतः अनजाने ही उसका विकास स्वतः हो गया है। वास्तव में अनुनासिक एवं निरनुनासिक दोनों स्वर भिन्न-भिन्न हैं। अनुनासिक स्वरों के उच्चारण में स्थान वही रहता है किन्तु साथ ही कोमल तालु और कौवा नीचे झुक आता है जिससे मुख द्वारा निकलने के अतिरिक्त हवा का कुछ भाग नासिका विवर में गूंज कर निकलता है, इस कारण स्वरों में अनुनासिकता आ जाती है। कई स्थानों पर अनजाने ही अनुनासिकता का विकास हो गया है, यथा—

(i) कूप = कूँआ
(ii) अश्रु = आँसू
(iii) उष्ट्र = ऊंट
(iv) पुच्छ = पूंछ
(v) अक्षि = आंख

राजस्थानी में अगर सबसे अधिक मतभेद किसी पर है तो वह अनुनासिक समस्या पर ही है। भापा विज्ञान के अनुसार अनुनासिकता आना स्वाभाविक है। भापा के स्वाभाविक विकास में ऐसा हो जाता है। संभवतया इसका मुख्य कारण मुख-सुख है।

राजस्थानी में उन सभी दो अक्षर वाले शब्दों में जिसमें पहला अक्षर आ स्वर से युक्त हो तथा दूसरा अक्षर अनुनासिक हो तो अनुनासिक के पूर्व अक्षर पर अनुस्वार लगता है। क्रियाओं के सम्बन्ध में यह नियम उनके धातु पर ही लागू होता है। धातु क्रिया के उस अंश को कहते हैं जो उसके समस्त रूपान्तरों में पाया जाता है। उदाहरणार्थ **चालणौ, चालियौ, चालेला, चालतौ** आदि समस्त रूपों में **चाल** अंश समान रूप से मिलता है, अतः **चाल** इन क्रिया-रूपों की धातु मानी जाती है जो संस्कृत के 'चल्' धातु से बनी है। कुछ विद्वानों के मतानुसार धातु की धारणा वैयाकरणों की उपज है एवं यह भापा का स्वाभाविक अंग नहीं है।[1] प्रायः क्रिया के—**णौ** से युक्त साधारण रूप से—**णौ** हटा देने पर राजस्थानी धातु निकल आती है जैसे—**खाणौ, जांणणौ, देखणौ** में क्रमशः **खा, जांण, देख** धातु है। क्रिया के ऐसे धातु भी अगर दो अक्षर-युक्त हों एवं पहला अक्षर **आ** स्वर से युक्त हो तथा दूसरा अक्षर अनुनासिक हो तो अनुनासिक के पूर्व अक्षर पर अनुस्वार लग जाता है। अतः यह नियम साधारण तथा क्रिया-धातु वाले सभी शब्दों पर लागू होता है[2] —

साधारण—(i) आम्र = आंम
(ii) राम = रांम
(iii) काम = कांम
(iv) दान = दांन

[1] The उत्त becomes वत्त by prati-samprasarana in these cases. I do not believe that पुत्र-पुत्त becomes वुत्त and thus वत्त; for in the case of गुहिलोत the steps are पुत्त-उत्त, (not पुत्त, वुत्त, उत्त)"
—Gujrati Language and Literature, Vol. I
—by N. B. Divatia, Pp. 146, Foot-note No. 24

१ हिन्दी भाषा का इतिहास—धीरेन्द्र वर्मा, पृष्ठ २६०
२ (क) भापा विज्ञान— भोलानाथ तिवारी, पृष्ठ २०६—
"आज भी कुछ शब्दों में अनुनासिकता आ रही है, यद्यपि लिखने में अभी हमने उन्हें स्वीकार नहीं किया है—
आम = आंम काम = कांम हनुमान = हँनुमांन
राम = रांम नाम = नांम महाराज = मँहाराज"
(ख) हिन्दी भापा का इतिहास—धीरेन्द्र वर्मा, पृष्ठ १४० भी द्रष्टव्य है।

क्रियाएँ—

क्रिया	राज. धातु	राजस्थानी रूप
जानना	**जांण**	**जांणणौ**
मानना	**मांण**	**मांणणौ**
तानना	**तांण**	**तांणणौ**
नमाना	**नांम**	**नांमणौ**

(अर्थ झुकाना एवं उंडेलना)

जिन क्रियाओं के धातु दो अक्षरयुक्त नहीं हैं अथवा प्रथम अक्षर आ की मात्रायुक्त एवं दूसरा अनुनासिक नहीं है तो ऐसी क्रियाओं में अनुस्वार का प्रयोग नहीं होता

क्रिया	राज. धातु	राजस्थानी रूप
आना	**आ**	**आणौ**
खाना	**खा**	**खाणौ**
चलना	**चाल**	**चालणौ**
मारना	**मार**	**मारणौ**
देखना	**देख**	**देखणौ** आदि

इसके अतिरिक्त दो से अधिक अक्षरों वाले कुछ शब्दों में भी अनुनासिकता प्रवेश करती जा रही है

(i) **अमानत = अमांनत**

(ii) **खयानत = खयांनत**

(iii) **आनन = आंणण**

(iv) **बादाम = बादांम**

(v) **सामंत = सांमंत**

(vi) **प्राघुण = पांमणौ** आदि ।

किन्तु इसी श्रेणी के कुछ शब्द ऐसे भी हैं जो अनुनासिक नहीं होते, यथा—

(i) **करामात = करामात**

(ii) **आनंद = आणंद**

(iii) **कयामत = कयामत** आदि ।

वास्तव में इस सम्बन्ध में कोई निश्चित सीमा रेखा निर्धारित नहीं की जा सकती कि दो से अधिक अक्षरों वाले अमुक शब्दों में अनुस्वार लगेगा और अमुक में नहीं । यह प्रमुखतया उच्चारित की जाने वाली ध्वनि पर ही निर्भर है । इस ध्वनि की खोज किसी अन्य भाषा के प्रभाव से बच कर अथवा उसका आवरण हटा कर शुद्ध राजस्थानी की गहराई में पैठ कर ही की जा सकती है ।

भाषा का वैज्ञानिक एवं स्वाभाविक रूप वह है जो बोलने की ध्वनि के अनुसार ही लिपिबद्ध हो । भाषा-विज्ञान ने यह मान लिया है कि यह ध्वनि स्वाभाविक है और आधुनिक भाषाओं में वह आ भी रही है । अतः उसके आगमन को स्वाभाविक मान कर उसे ग्रहण कर लेना उचित एवं वैज्ञानिक होगा । हिन्दी आदि कुछ अन्य भाषाओं में भी अब अनुनासिकता का प्रवेश हो रहा है । चाहे विद्वान अभी उसे लिखने में स्वीकार करने की स्थिति में न हों),[१] किन्तु राजस्थानी में इसका प्रवेश सोलहवीं शताब्दी से पहले ही हो चुका था । उस काल की प्राचीन हस्तलिखित प्रतियों में इसका प्रयोग देखा जा सकता है । जो विद्वान इसे स्वीकार करने के पक्ष में नहीं हैं वे संभवतया भाषा के स्वाभाविक प्रवाह एवं विकास को अवरुद्ध करने का प्रयत्न कर रहे हैं ।

भारत की विभिन्न बोलियों में भी अनुनासिकता की प्रवृत्ति बढ़ती जा रही है ।[२] वर्तमान बोलियां ही भविष्य में साहित्यिक भाषा का आधार बनती हैं । अतः इस विकास को दबाने की अपेक्षा इसे स्वाभाविक रूप में ग्रहण कर लेना ही युक्तिसंगत है । अतएव इसी प्रणाली को हमने कोश में स्वीकार किया है ।

कुछ लोगों के कथनानुसार राजस्थानी में सबसे अधिक तोड़-मोड़ नामों में हुई है, चाहे वे किसी मनुष्य के नाम हों अथवा किसी स्थान विशेष के । किन्हीं स्थानीय नामों का ब्यौरेवार अध्ययन करने के लिये स्थानीय जातियों की भाषा, प्रसार और तत्कालीन रहन-सहन की जानकारी अत्यावश्यक है । मुंडारी, द्रविड़, आर्य एवं म्लेच्छ परिवार की भाषाओं ने स्थान-नामों की रचना में महत्वपूर्ण भाग अदा किया है ।[3] परिवर्तित साहित्यिक विशेषताओं ने इन नामों पर पर्याप्त प्रभाव डाला है । संस्कृत शब्दों को जिन प्राकृत एवं अपभ्रंश की साहित्यिक विशेषताओं में से गुजरना पड़ा उनका उन

---

१ भाषा-विज्ञान—भोलानाथ तिवारी, पृष्ठ २०६ ।

२ धीरेन्द्र वर्मा ने 'हिन्दी भाषा का इतिहास' पृष्ठ १०६ में इस प्रकार के अनुनासिक स्वरों की छोटी सी तालिका दी है ।

3 पाणिनिकालीन भारतवर्ष—वासुदेवशरण अग्रवाल, पृष्ठ १८० ।

नामों पर भी प्रभाव आवश्यक था। नामों के रूपभेद का मोटे रूप से मुख्य कारण यही है,[1] यथा—

चित्तौर—चतरंग, चत्रंग, चत्रंगद, चत्रकोटगढ़, चत्रगढ़, चात्रंग, चात्रक, चितावर, चित्रकूट, चित्रकौर, चीतगढ़, चीतदुरंग आदि।

नामों में एक प्रकार की जातीय और वैयक्तिक सुरुचि, आस्था और संस्कृति की छाप पाई जाती है। चरक[2] ने नामों को दो प्रकार से विभक्त किया है—नाक्षत्रिक नाम एवं आभिप्रायिक नाम। वह नाम जो किसी नक्षत्र में हुए जन्म के अनुसार रक्खा जाता है, नाक्षत्रिक नाम कहलाता है। आभिप्रायिक नामों में कोई अभिप्राय निहित रहता है। अधिकांश नाम प्रायः आभिप्रायिक ही पाये जाते हैं। ऋग्वेद काल एवं उसके उपरांत पिता से प्राप्त होने वाले पैतृक नाम को जोड़ने की प्रवृत्ति बढ़ती गई। राजस्थान की शासकीय एवं उससे सम्बन्धित अन्य जातियों में यह प्रवृत्ति पर्याप्त रूप से परिलक्षित होती है, यथा—**रामसिंह जोधावत, नाथूराम खड़गावत** आदि। पाणिनि ने अपने अष्टाध्यायी में इसका विस्तार के साथ उल्लेख किया है। गोत्र एवं उपगोत्रीय नामों के अतिरिक्त स्थानवाची नाम भी राजस्थान में प्रचलित हैं। स्वयं के रहने अथवा पूर्वजों के रहने से—दोनों प्रकार से स्थानवाची नामों का निर्माण हो जाता है। किसी स्थान से हटने पर भी उस व्यक्ति की सन्तानें उस स्थान के नाम को जारी रखती हैं, यथा—**गोविंदलाल जयपुरिया, धनराज मेड़तिया** आदि। किसी स्थान की शासक जाति भी कालांतर में उस स्थान से सम्बन्धित स्थानवाची नाम ग्रहण कर लेती है। प्राचीन समय में सांभर पर चौहानों का राज्य रहा था, उसी कारण चौहानों को आज भी **सांभरिया** कह देते हैं।

राजस्थान में नामों के सम्बन्ध में कुछ ऐसी विशेषतायें हैं जो आधुनिक समय में प्रायः अन्य स्थानों में नहीं मिलतीं। विवाहोपरांत स्त्री प्रायः अपने पति का गोत्र ही नाम के साथ लिखती है। कायस्थ जाति की सक्सेना लड़की का विवाह किसी माथुर के साथ होने पर वह श्रीमती कमला माथुर के नाम से ही पुकारी जाती है। राजस्थान में कहीं-कहीं इससे विपरीत प्रथा मिलती है। यहाँ की कई शासकीय जातियों में लड़की विवाहोपरांत भी अपना गोत्र एक इकाई के रूप में कायम रख लेती है, यथा—**कूंपावतजी** आदि। गोत्र के साथ **जी** लगाने से उस गोत्र की स्त्री का बोध होता है जिस गोत्र से वह आई है। यही कारण है कि अन्य प्रान्तों की तरह गोत्र के साथ **जी** लगा कर पुकारने या लिखने की प्रथा राजस्थान में नहीं है। किसी राणावत गोत्र के पुरुष को राणावतजी कह कर पुकारना यहाँ अशिष्टता है। यहाँ **जी** वर्ण ने भी नामों में एक नवीनता उत्पन्न करदी है।[1]

नामों के प्रायः दो भाग होते हैं, यथा—पूर्वपद एवं उत्तरपद, यथा—**रायमल्ल**। वैदिक काल में नाम बह्वच (बहुत अच् वाले) होते थे जो पूर्वपद एवं उत्तरपद के मेल से बने होते थे।[2] कालांतर में उत्तरपद या पूर्वपद को लोप करके नामों को छोटा करके बोलने या लिखने की प्रथा चल पड़ी। राजस्थानी के कवियों ने इसका खूब लाभ उठाया। एक नाम के दोनों पदों को उलटने, किसी पद को लुप्त करने तथा रूपांतरित करने में वे अग्रणी रहे हैं। इस नई परंपरा ने एक प्रथा का रूप धारण कर लिया है, यथा—रायमल्ल के विभिन्न प्रचलित रूपभेद हैं—**राय, मल्लराय, मल्ल, रायमल, रायम** आदि। नामों को छोटा करने में प्यारवाचक या निंदावाचक अल्पार्थों ने भी बहुत योग दिया है जिनका वर्णन हम आगे अल्पार्थ शब्दों का विवेचन करते समय करेंगे।

धर्म, देवी-देवताओं एवं पशु-पक्षियों का भी मनुष्यों के नामकरण पर बड़ा प्रभाव पड़ा है। देवताओं के नाम, मनुष्यों के नामों में इस प्रकार घुल-मिल जाते हैं और पुरातत्त्व की सामग्री की तरह बच रहते हैं। **सिंह** शब्द का भारतीय एवं विशेष कर राजस्थानी नामों पर बहुत अधिक प्रभाव पड़ा है।

---

१ राठौड़—राठवड़, राठउड़, राठोड़, राइठोड़, रट्ठवड़, रट्ठउड़, राठौहड़, राउठउड़।
चौहान—चाहवांण, चाहमांण, चहुआंण, चहुवांण, चवांण, चुहांण, चोहांण, चोहान।

२ देखो—चरक, शरीर-स्थान, अ० ८। ५१

१ प्राचीन काल में भी एक जनपद में उत्पन्न राजकुमारियाँ या स्त्रियाँ विवाह के बाद जब दूसरे जनपद में जाती थीं तो पतिगृह में वे अपने जनपदीय नाम से ही पुकारी जाती थीं। इससे स्त्रियों की सामाजिक प्रतिष्ठा और गौरवात्मक स्थिति का संकेत मिलता है, यथा—माद्री, कुंती, गांधारी आदि।

२ अष्टाध्यायी : पाणिनि—५/३/७८

राजस्थानी नामों के उत्तरपद के रूप में **सिंह** शब्द को जो स्थान मिला है वह संभवतया किसी अन्य शब्द को नहीं मिला।

कुछ व्यक्ति विशेष के नाम अत्यधिक महत्व पाने पर कालान्तर में विशेषण का रूप धारण कर लेते हैं। प्रसिद्ध **बाघ**[1] नाम क्षत्रिय से उत्पन्न **बगड़ावतों** की वीरता के कारण प्रायः राजस्थान में काम निकालने वाले वीर, साहसी पुरुषों को **बघड़ावत** विशेषरा से संबोधित किया जाता है। बुवाल के राजा ईहड़देव चालुक्य की पुत्री **जयमती**[2] अत्यन्त दुश्चरित्रा हुई। पति के वृद्ध होने के कारण उसने राव भोज के साथ रहना चाहा और बाद में उनकी ही मृत्यु का कारण बनी। इसी के आधार पर आज भी दुश्चरित्रा स्त्री को दुत्कारते समय **जा ! ए रांड जैमती !** कह कर फटकारा जाता है। इन उदाहरणों से यह मान लेना उचित न होगा कि जिस व्यक्ति के लिये ये विशेषण रूप प्रयोग किये जांय उनमें उस विशेष नामधारी व्यक्ति के गुणों का संन्निहित होना आवश्यक है। कालान्तर में नाम के साथ संयुक्त गुण अलग हो जाते हैं और वे किसी दूसरे ही अर्थ में प्रयुक्त होने लगते हैं। अफलातून एक प्रसिद्ध दार्शनिक था, किन्तु आज राजस्थान में किसी जबरदस्त व प्रबल व्यक्ति को भी **बड़ौ अफलातून** आदमी है, कह दिया जाता है। यद्यपि दर्शन के साथ उस व्यक्ति का किंचित् मात्र भी सम्बन्ध नहीं होता। प्राचीन कुक्कुटध्वज नामक राजा के कारण **खख्खड़धज**, प्रसिद्ध धनवंतरि वैद्य के कारण **धन्तरजी** आदि विशेषण प्रचलित हो गये हैं। अंग्रेजी शासनकाल के गवर्नर जनरल का लॉर्ड विशेषण **लाटसाहब** व्यंग्य रूप में आज भी प्रयुक्त किया जाता है। ये सब नाम विशेषण रूप में होकर सर्वसाधारण में प्रयुक्त होने लगे हैं।

प्रत्येक शब्द का अपना कुछ विशेष इतिहास होता है, उसकी निश्चित पृष्ठभूमि होती है। एक भाषा के शब्द दूसरी भाषा में बिल्कुल विभिन्न अर्थ में प्रयुक्त हो जाते हैं, यद्यपि तत्सम रूप के कारण उनका लगाव पुरानी भाषा से भी सम्बंधित रहता है। इस सम्बन्ध में कई रूप प्रचलित हैं, यथा—अर्थ-संकोच, अर्थ-विस्तार, अर्थ-परिवर्तन आदि। पूर्व संस्कृत में **सर्प** शब्द समस्त रेंगने वाले जंतुओं के लिए प्रयुक्त होता था किन्तु अर्थ-संकोच के कारण आज वह केवल **साँप** के लिए प्रयुक्त होता है। इसी प्रकार **संध्या** शब्द जो सबेरे, शाम (प्रातः संध्या, सायं संध्या) दोनों अर्थों में प्रयुक्त होता था, भ्रम के कारण अब केवल शाम के अर्थ में ही प्रयुक्त होता है। अर्थ-परिवर्तन के कारण भी कुछ शब्द भाषा बदलते समय अर्थ भी बदल लेते हैं। अरबी भाषा में **हैफ** शब्द अफसोस, दुख एवं अत्याचार के अर्थ में आता है किन्तु इसी भाषा से राजस्थानी में आने पर यही **हैफ (हैंप)** शब्द आश्चर्य एवं विस्मय का अर्थ देता है। फारसी भाषा में **खसफोस** विशेषण रूप में 'घास से ढका हुआ' या 'घास से आच्छादित' के अर्थ

---

१ बाघ नामक क्षत्रिय के विषय में प्रसिद्ध है कि उसने अपने निवास-स्थान गोठरा की पच्चीस भिन्न-भिन्न जाति की कन्याओं के साथ जंगल में गंधर्व विवाह कर लिया था। बात प्रकट होने पर कन्याओं के माता-पिताओं ने भी इनका विवाह बाघ के साथ कर दिया। विवाह के समय ग्राम का पुरोहित (गुरु) ने विवाह के पहले बाघ से यह प्रण करा लिया कि विवाह की दक्षिणा में एक कन्या जो सबसे सुन्दरी होगी, उसको उसे देना होगा। अतः गुरु की इच्छानुसार अत्यन्त सुंदरी मेघवाल (बलाई) जाति की कन्या का विवाह गुरू के साथ कर दिया गया। इसकी संतान गुरड़ा नामक नई स्वतंत्र जाति के रूप में प्रसिद्ध हुई। शेष चौबीस कन्याओं के जो चौबीस पुत्र उत्पन्न हुए वे अपने पिता के नाम पर 'बघड़ावत' कहलाये। ये चौबीसों भाई अपने समय के प्रसिद्ध वीर और दानी हुए। **वदान्यता** में इनकी साम्यता कर्ण से की जाती है और ये लोग प्रातःस्मरणीय माने गये हैं।

(सौरभ, भाग १, खंड २, मार्च सन् १९२१, पृष्ठ १७ की टिप्पणी)

२ यह बुवाल के राजा ईहड़देव चालुक्य की पुत्री थी। इसका विवाह राणा भणाय के वृद्ध राजा बाघराज पड़िहार से हुआ था। बाघ के चौबीस पुत्रों की वीरता के प्रभाव से वृद्ध राजा ने बघड़ावतों के साथ भ्रातृ-भाव स्थापित कर लिया था। बघड़ावतों में एक भोज भी था जिसने इतना धन लुटाया कि चारों ओर उसकी कीर्ति फैल गई थी। अपने पति को वृद्ध एवं भोज को सुन्दर एवं युवा देख कर उन्हें पति रूप में ग्रहण करने के विचार से भोज के पास संदेश भेजा। भोज ने उचित मौका देख कर बाघराज की अनुपस्थिति में डाका डाल कर जयमति को उड़ा लिया। इस पर बाघराज ने एक बड़ी सेना लेकर भोज पर चढ़ाई करदी। इधर जयमती भी भोज से शीघ्र ऊब गई और मन ही मन पछताने लगी। अतः उसने भोज एवं उसके भाइयों को मरवाने के उद्देश्य से बाघराज से लड़ने को खूब प्रोत्साहित किया। सब भाई एक-एक कर के बाघराज की सेना द्वारा मार डाले गये। इसी दुश्चरित्र एवं कपट भाव के कारण जयमती को कालान्तर में अत्यन्त हेय दृष्टि से देखा जाने लगा।

(सौरभ, भाग १, खंड २, मार्च सन् १९२१, पृष्ठ १८ की टिप्पणी)

में प्रयुक्त होता है किन्तु राजस्थानी में यह संज्ञा रूप में आच्छादन या पाटन के लिये आता है। कई वार तो एक ही भाषा के शब्दों में अर्थ-परिवर्तन हो जाया करता है।[1] स्थान विशेष से सम्बंधित बहुत से नाम भी कालान्तर में सार्वदेशिक वन जाते हैं। पुराने सिंध प्रान्त में अच्छा घोड़ा व नमक मिलने के कारण वहाँ के घोड़ों को **सैंधव** कहते हैं किन्तु कालान्तर में यही नाम प्रायः नमक एवं घोड़े का पर्याय ही वन गया।[2] कई वार नये आये शब्द पुराने शब्दों को दबा देते हैं। इस प्रकार पुराने शब्दों का प्रचलन कम होता जाता है। नये **लैम्प** एवं **लालटेन** ने प्राचीन **दीपक** एवं **दीवौ** का प्रयोग वहुत कम कर दिया है। अरवी, फारसी, इरानी, तुर्की, पुर्तगाली आदि भाषा के अनेक शब्दों ने ग्रामस्तर तक की वोलचाल की भाषा में घर कर लिया है, यथा—**सा'ब, जवाव, जलसौ, अरज, तमाकू, अलमारी,** इत्यादि।

सादृश्य का प्रभाव भी जोड़ी के शब्दों मे वहुधा दिखाई देता है। स्वर्ग-नरक राजस्थानी में इसी सादृश्य के प्रभाव के कारण **सरग-नरग** हो गये। व्यर्थ की पंडिताई की अहमन्यता में पड़ कर कुछ लोग सादृश्य के स्थान के अशुद्ध प्रयोग कर वैठते हैं।[3] राजस्थानी के **सराप** (शाप) को वे **श्राप** लिख कर संस्कृत से निकटता एवं पंडिताई का दम भरते हैं। इसी प्रकार **जवाव** को **जवाव, रवाज** को **रिवाज, जिगर** को **ज़िगर, कागज** को **काग़ज़** आदि कहने एवं लिखने वालों की कमी नहीं है। अन्य भाषा में प्रयुक्त होने पर शब्द भी कुछ मर्यादित होकर नयी भाषा के नियमों एवं व्याकरण के साँचे में ढल जाते हैं।

ध्वनि-विकास एवं ध्वनि-परिवर्तन की गति वहुत ही मंद होती है। संस्कृत का 'अग्नि' आज **आग** हो गया है, किन्तु इसे इस रूप में आने में कितनी शताब्दियां लगी होंगी? इसके वीच में **अग्गी, अग्गि, आगि** आदि रूप भी आये होंगे। इसके अतिरिक्त ई का ह्रस्व इ और उससे फिर लोप हो जाना भी कम समय का द्योतक नहीं है। यदि ई की काल-मात्रा ४० इकाई रही हो तो उसको शून्य तक पहुँचने में कई सौ वर्ष लगे होंगे। ध्वनि-विकास तो मनुष्य समुदाय में अनजाने ही अपने-आप हुआ करता है। किसी भाषा-वैज्ञानिक द्वारा भाषा-विज्ञान के अध्ययन के समय ही इस परिवर्तन का पता चलता है।

संस्कृत की कुछ परंपरायें राजस्थानी में भी उसी रूप में मिलती हैं। संस्कृत के कुछ शब्दों के आदि वर्ण की पुनरावृत्ति होने पर भी अर्थ प्रायः वही रहता है, यथा—**चल = चंचल**। इसी प्रकार राजस्थानी में भी कुछ शब्द वन गये हैं—**छेड़णौ = छंछेड़णौ; छोरापण = छिछोरापण** आदि।

ध्वनि-विकास के इस प्रकरण में राजस्थानी की कुछ अन्य ध्वनि-विकास-विशेषताएँ उल्लेखनीय हैं।

आद्य या मध्य अक्षरों में, उसके पूर्व या पश्चात् दीर्घ-स्वर वाला कोई अक्षर हो तो राजस्थानी में अ का इ हो जाता है, यथा–सं०–**कपाट**, अप०–**कवांड**, रा०–**किंवाड़**, अ० **सलांम**, रा० **सिलांम**। इसी प्रकार **उ, ऊ, प, फ, व, भ** और **म** ओष्ठ्य वर्णो के पूर्व या पश्चात् अ आने पर वह प्रायः 'उ' का रूप धारण कर लेता है। यथा सं०–**प्रहर**, अप०–**पहर**, रा० **पुहर**, सं० **पल**, रा० **पुल**। दो या दो से अधिक अकारयुक्त व्यन्जन एक दूसरे के वाद आने पर अ प्रायः फैल कर अइ हो जाता है, यथा–**करइतु = करतु**; कहीं पर यह ऐ भी हो जाता है, यथा—सं०–**सहस्त्र**, रा०–**सैंस**। कहीं-कहीं पर इ दुर्वल होकर अ हो जाता है, यथा—**इन्द्र = अंद्र, इला = अला**; तथा कहीं-कहीं पर उ दुर्वल होकर अ हो जाता है, यथा—**उलूक = अलूक**। प्राकृत एवं अपभ्रंश के अई का भी केवल इ के रूप में सरलीकरण हो गया, यथा—सं० **करोति**, अप० **करइ**, रा० **करि**। इस सरलीकरण के साथ ही व्याकरण की दृष्टि से भी निर्मित रूप पूर्वकालिक हो गया है। तत्सम रूपों के तद्भव रूपों में परिवर्तित होने के

---

[1]इस सम्वन्ध में निम्नलिखित उदाहरण द्रष्टव्य है—

"The word असुर meant originally the Deity (lit, the Lord of Life, असू), but later on it was misunderstood and the initial अ- was taken to be the negative prefix and a new word सुर was coined to mean "god" and असुर came to have the meaning 'demon'.

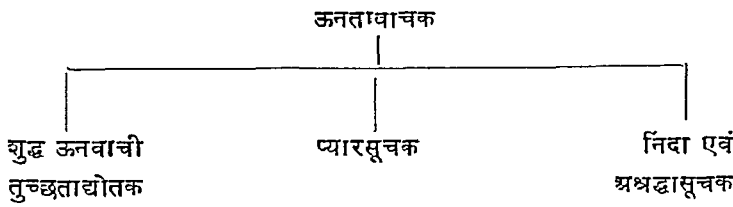
—Elements of Science of Language by Taraporewala, Pp. 102.

[2]—वही—पृष्ठ १०५

[3]सामान्य भाषा विज्ञान—वावूराम सक्सेना, पृष्ठ ६७

साथ ही व्याकरण की दृष्टि से रूप बदलने की विवेचना हम पीछे कर चुके हैं।

बलाघात एवं भावातिरेक का भी भाषा-परिवर्तन पर बहुत प्रभाव पड़ता है, यद्यपि इसके मूल में भी सुविधाजनक प्रयत्न-लाघव ही होता है। शब्दों के प्रयत्न-लाघव के साथ भाव-संबंधी प्रयत्न-लाघव भी कार्य करता है। कुछ मनुष्य वास्तविक स्थिति को तुच्छ समझ कर एवं कुछ कम कर के आंकते हैं। अल्पार्थ शब्दों की उत्पत्ति का यही कारण है। प्रेम, स्नेह, ईर्ष्या, द्वेष आदि मनोविकार भी ऊनवाचक शब्दों की उत्पत्ति का कारण बनते हैं। ऊनवाची शब्दों का विभाजन निम्नलिखित प्रकार से किया जा सकता है—



प्रत्येक को तुच्छ समझ कर एवं कुछ कम कर के आंकने की एवं अहंभाव की रक्षा करने की प्रवृत्ति ही शुद्ध तुच्छता-द्योतक ऊनतावाचक शब्दों की उत्पत्ति का कारण बनती है। अचेतन मन की इस अहंभाव की तुष्टि के अतिरिक्त किसी अन्य मनोविकार या भाव की अभिव्यक्ति इसमें नहीं होती। पाणिनी-काल में भी इस प्रकार के प्रयोग प्रचलित थे। पाणिनि ने इस सम्बन्ध में अपने व्याकरण के सूत्र ५।३। ८०; ५।३।८१; ५।३।८६; में इनका उल्लेख किया है। प्रस्तुत कोश में इस प्रकार के समस्त अल्पार्थो को संवंधित शब्द के साथ देने का प्रयत्न किया गया है, यथा—**घोड़ौ = घोड़लौ, घोड़ियौ; गधौ = गधेड़ौ, गधेड़ियौ** आदि।[1]

भावातिरेक के कारण भी भाषा में परिवर्तन होता है, यद्यपि इसके मूल में भी सुविधाजनक 'प्रयत्न-लाघव' कार्य करता है। दुलार की आंतरिक भावना कई बार हमारे द्वारा उच्चारित शब्दों में भी झाँकने लगती है। बच्चों के पग को दुलार में हम कई बार **पगलिया** कह बैठते हैं। **कमलेश** नामक शिशु को हम प्यार में **कमियौ** कह बैठते हैं।[1] **बाँह** का **बँहिया, मुख** का **मुखड़ौ** रूप मोहक मोहन के अतिशय प्रेम का ही द्योतक हो सकता है। प्रेमातिरेक के कारण मनुष्य अपने स्निग्धजनों के नाम कुछ-कुछ विगाड़ कर बोलने लगता है। जहाँ प्रेमातिरेक के कारण शब्दों के उच्चारण में कुछ अंतर आ जाता है, वहाँ गुस्से में प्रायः नाम और शब्द भी विगड़ जाया करते हैं। कुछ विषयों या व्यक्तियों के प्रति हमारे मन में घृणा के स्थायी भाव (Sentiments) नहीं होते किन्तु उनके प्रति कभी क्रोध आने पर हम शब्दों को विगाड़ डालते हैं, यथा—**कालूराम** का **कालूड़ौ**।

कुछ व्यक्तियों के प्रति हमारे आंतरिक मन में क्रोध अथवा घृणा के स्थायी भाव (Sentiments) होते हैं। तब हमारा अचेतन मस्तिष्क (Unconcious-mind) उस घृणा एवं क्रोध को शब्दों के विगड़े हुए रूप में प्रस्तुत कर प्रकट भी कर देता है, यथा— **साधु = साधुड़ौ**। इस आधार पर विगड़े उच्चारण के शब्दों अथवा विषय के प्रति उच्चारणकर्ता के हृदय में तनिक भी श्रद्धा नहीं होती। इस प्रकार विभिन्न मनोविकार शब्दों के भाषा-वैज्ञानिक पहलू की दृष्टि से काफी प्रभावशाली सिद्ध होते हैं।

जहां अपने अहंभाव के कारण अथवा अन्य किसी मनो-विकार के कारण ऊनतावाची शब्दों की उत्पत्ति होती है वहां दूसरे का महत्व कुछ अधिक प्रकट करने के लिये महत्ववाची शब्दों का प्रयोग भी पाया जाता है। यह वास्तविक वस्तु को कुछ अधिक बढ़ा-चढ़ा कर (चाहे वह आकार में हो अथवा भाव में) प्रस्तुत करने के प्रयत्न के कारण होता है। ऐसे शब्दों के रूप, औकारांत अथवा अकारांत ही होते हैं। मूल रूप के अकारांत, औकारांत शब्द अपने महत्ववाची रूप में अकारांत हो जाते हैं, यथा— **गधौ = गधेड़, घोड़ौ = घोड़** आदि।

राजस्थानी भाषा के स्वरों की कुछ अपनी विशेषताएँ हैं। कई स्वरों के उच्चारण में वैशिष्ठ्य है। विशेष रूप में इनको स्पष्ट करने के लिये प्रत्येक का अपने अलग रूप में स्पष्ट करने का प्रयत्न वांछनीय होगा।

अ—यह ह्रस्व अर्द्धविवृत मध्य स्वर है। जैसा कि हम

---

[1]कई बार इस सम्बन्ध में 'की' का प्रयोग भी हो जाता है, यथा—नाथी = नथकी।

[1]ली का प्रयोग—**चिड़कली, घीवड़ली**।

पहले विवेचन कर चुके हैं। कुछ शब्दों में अ स्वर लुप्त हो गया है,[1] यथा—अनाज = नाज, अकाल् = काल्

यह कहीं मध्य में लोप होता है तथा कहीं अंत में। लुप्त होने के साथ ही विभिन्न दूसरे स्थलों में इसका आगम भी हो जाता है। रेफ वाले प्रायः समस्त शब्दों में अ का आगम होता है, यथा—धर्म = धरम, कर्म = करम। किन्तु कुछ स्थलों में अ शुद्ध रूप में प्रवेश पा गया है, यथा—जंबुअदीप, दुअड्ड आदि। अ का आ के स्वर में परिवर्तन भी यदा-कदा हो जाता है, यथा—महेस = माहेस, उदयपुर = उदयापुर, समरथ = समराथ आदि। कहीं-कहीं अ के स्थान पर इ का प्रयोग हो जाता है, यथा—जग = जिग, कलोल् = किलोल् आदि। अ के उ में परिवर्तन के भी कई उदाहरण प्राप्त हैं, यथा—श्मशान—मसांण > मुसांण, अज्ज > अज्जु, वायस > वायसु आदि। अ का य में परिवर्तन—

रत्न > रतन > रयण > रयण।

आ—यह दीर्घविवृत्त पश्च संयुक्त स्वर है। आदोत = दोत, आडंबर = डंबर आदि शब्दों में आ का लोप हुआ है तथापि— रण = आरांण आदि शब्दों में आ का आगम हुआ है। कई बार अंतिम अक्षर आ के स्थान पर अ का ही प्रयोग हो जाता है, यथा—सीता = सीत, लंका = लंक। स्त्रीत्व-निर्देशक टा (आ वन्त) प्रत्यय से सिद्ध हुए शब्दों का अंतिम आकार प्रायः अकार में परिणत हो जाता है,[2] जैसे—गंगा = गंग, सीता = सीत, सीय, माला = माल, धारा = धार आदि। शब्द के आदि में भी आ का कई बार अ में परिवर्तन हो जाता हैं, यथा—राजपूत = रजपूत, आग्या = अग्या।

ओ, औ—ये अर्द्धसंवृत, दीर्घ, पश्च, स्वर हैं। शब्दों के अंत में अय के प्रयोग पर औ का परिवर्तन धीरे-धीरे स्थान ले लेता है, यथा—समय = समौ, अजय = अजौ। राजस्थान में प्रायः ओ और औ के प्रयोग के सम्बन्ध में अत्यधिक मतभेद चला आ रहा है। प्रायः लोगों ने अधिकतर इस सम्बन्ध में स्वच्छंदता ही बरती है। अन्य भाषाओं में अधिकतर शब्द मर्यादित हो जाने के कारण इन दोनों स्वरों के मध्य एक निश्चित सीमा-रेखा निश्चित हो गई है। प्राचीन प्रतियों में इनका स्वतंत्र अमर्यादित प्रयोग मिलता है किन्तु संभव है, वह लिपिकर्ताओं की कृपा का फल हो। इस सम्बन्ध में विशेष गवेषणा की आवश्यकता है। यह निश्चित है कि राजस्थानी में प्रायः सभी ओकारांत शब्दों के अन्त में औ का प्रयोग ही होता है, यथा—घोड़ौ, गधौ, म्हारौ, प्यारौ आदि। समस्त क्रियाओं में भी यही परिपाटी है, यथा—करणौ, मरणौ, कटणौ, खाणौ, जांणणौ, मांनणौ आदि। प्रायः अधिकतर लेखकों ने क्रियाओं के अंत में औ का ही प्रयोग किया किन्तु अन्य के विषय में काफी भिन्नता मिलती है। यह तो हमें मानना पड़ेगा कि राजस्थानी भाषा की प्रवृत्ति औ की ओर अधिक झुकाव प्रकट करती जा रही है। वैसे भी हिन्दी के समस्त आकारांत शब्द राजस्थानी में औकारांत ही पुकारे जाते हैं, यथा—गधा = गधौ, घोड़ा = घोड़ौ।

बलाघात के कारण हम किसी विशेष अक्षर पर अधिक प्राणशक्ति व्यय कर देते हैं, उसका परिणाम हमें दो रूपों में मिलता है। अंतिमाक्षर पर बलाघात के कारण ही प्रायः अंतिमाक्षर के रूप में औ के प्रयोग की बहुलता मिलती है। दूसरा परिणाम यह भी होता है कि किसी अक्षर विशेष पर अधिक प्राणशक्ति खर्च कर देने पर आसपास के अक्षर कमजोर पड़ जाते हैं तथा कभी-कभी इसी कमजोरी के कारण वे गायब भी हो जाते हैं, यथा— समय = समयौ = समौ। किन्तु अंतिमाक्षर के रूप में समस्त शब्दों के पीछे ओ के स्थान पर औ का प्रयोग कठोरता से लागू नहीं किया जा सकता। ओकारान्त वाले शब्दों में यह कठिनाई अधिक बढ़ जाती है। ओ और औ के द्वारा वे भिन्न अर्थ देते हैं, यथा— सो—सौ, रो—रौ, जो—जौ आदि। तब भी इन थोड़े से शब्दों को अपवाद मान लिया जाय तो ओकारांत समस्त शब्दों के अंत में औ का प्रयोग प्रायः सब जगह किया जा सकता है।

उ— यह संवृत्त ह्रस्व पश्च स्वर है। प्राचीन एवं मध्यकालीन राजस्थानी ग्रंथों में इसके प्रयोग के प्रचुर

---

[1] स्वर या व्यञ्जन लोप अथवा आगम, एवं परिवर्तित शब्दों के रूप देने का यह अर्थ नहीं है कि इस प्रकार के परिवर्तन इस श्रेणी में आने वाले प्रत्येक शब्द में आवश्यक रूप से होते ही हों। उनका ऐसा परिवर्तन संभव है। कई बार इस प्रकार के परिवर्तित नये रूप एवं पूर्व अपरिवर्तित रूप दोनों भाषा में प्रयुक्त होते रहते हैं।

[2] कुछ पुल्लिंग शब्दों में भी ऐसा परिवर्तन होता है, जैसे—पिता = पित, दाता = दात आदि।

उदाहरण पाये जाते हैं, यथा- **सउदागर, संदेसड़उ, सासरउ, कियउ** आदि। कालांतर में इसी **अउ** ने **औं** का रूप ले लिया[1], यथा- **सौदागर, संदेसड़ौ, सासरौ, कियौ** आदि। **उ** के बाद ही महाप्राण अक्षरों के आगम से बलाघात के कारण वह अक्षर विशेष महत्व पा लेता है और धीरे-धीरे **उ** लुप्त हो जाता है, यथा- **उदधि-दधि, उपानह-पनही**। कई बार **उ अ** में परिवर्तित हो जाता है। इसका कारण भी सहज-प्रयत्न एवं प्रयत्नलाघव ही कहा जायेगा, यथा- **साधु = साध, मधुर = मधरौ, कुमार = कंवर** आदि। राजस्थानी भाषा की यह एक विशेष प्रवृत्ति है।

ऊ- यह संवृत्त, दीर्घ, पश्च, स्वर है। मात्रापूर्ति के लिये यह कवियों का विशेष रूप से सहायक रहा है। कविता में इसी के कारण **तंतु = तंतू, उठणौ = ऊठणौ, उगणौ = ऊगणौ** आदि का प्रयोग बहुत मिलता है। सुगमता के लिये ह्रस्व को दीर्घ में परिवर्तन कर देना उनके लिये सहज है। यह प्रवृत्ति प्रायः सभी भाषाओं में पायी जाती है। बलाघात के कारण बोलचाल में भी कुछ लोग प्रायः **उ** के स्थान पर **ऊ** का प्रयोग करते हैं।

इ, ई- ये संवृत अग्रस्वर हैं। इनके प्रयोग से राजस्थानी में शब्दों के कुछ विशेष रूपों का निर्माण हो गया है, यथा- **करइ, रहइ, संदेसड़इ** आदि। इसके अतिरिक्त **घरि, दिसि** आदि के रूप भी प्रचलित हैं। प्रायः कई स्थानों पर **अ ई** के रूप में परिवर्तित हो जाता है, यथा—**चमकणौ = चिमकणौ**। इसके अतिरिक्त **इ** स्वयं कई बार **अ** में परिवर्तित हो जाता है, यथा—**हरि = हर, कवि = कव, उदधि = उदध, रीति = रीत** आदि। प्रायः लिपिकर्ताओं के कारण अथवा अज्ञानावस्था से दोनों ह्रस्व एवं दीर्घ रूप प्रचलित हो गये हैं। यथा **लिपि = लिपी मुनि = मुनी, कवि = कवी** आदि। **इ** का **ए** में भी परिवर्तन होता है, यथा—**हिमालय = हेमालो**। कई शब्दों में **इ** का आगम हो जाता है, यथा- **स्त्री = इस्तरी, स्कूल = इस्कूल, स्टेशन = इस्टेसण**।

राजस्थानी में **ऋ, ॠ, ऌ, ॡ** आदि नहीं हैं। **ऋ** का **रि** के रूप में ही प्रयोग किया जाता है, यथा—**ऋषि = रिसी, रिखी, ऋतु = रितु** आदि। इसी प्रकार **मृग** को **म्रग, पृथ्वी** को **प्रथ्वी** आदि लिखा जाता है। ये प्रयोग दो रूपों में प्रचलित हैं—

१ **मृग = म्रग, म्रिग**
२ **पृथ्वी = प्रथमी, प्रिथमी**
३ **दृग = द्रग, द्रिग**
४ **वृथा = व्रथा, व्रिथा**

कुछ शब्द ऐसे भी हैं जिनमें **ऋ अ** में परिवर्तित हो जाता है—

१ **कृष्ण = कन्ह**
२ **कृसानु = कसण**
३ **तृण = तण**

ऋ का **आ** में परिवर्तन—

१ **शृंखला = सांकल**
२ **कृष्ण = कान्ह**
३ **मृत्तिका = माटी**

ऋ का **इ** में परिवर्तन—

१ **हृदय = हियौ**
२ **शृगाल = सियालियौ**
३ **शृंगार = सिणगार**

ऋ का **ई** में परिवर्तन—

१ **गृद्ध = गींध**
२ **घृत = घी**
३ **शृंग = सींग**

ऋ का **उ** में परिवर्तन—

पृथ्वी = पुहमी

ऋ का **ऊ** में परिवर्तन—

१ **वृद्ध = वूढ़ौ**
२ **मृत = मूवौ**
३ **वृक्ष = रूंख**

ऋ का **ए** में परिवर्तन—

कृपाण = केवांण
धृष्ट = धेटौ
दृश् = देखणौ
मृत्तिका = मेट

---

[1] Gujarati Language and Literature, Vol. I by N. B. Divatia, Page 189

ए, ऐ- ये अर्द्धसंवृत्त अग्रस्वर हैं। इनके प्रयोग में कवियों ने प्रायः स्वच्छंदता बरती है। कवियों ने अगर कुछ कृपणता की हो तब भी लिपिकर्ताओं ने इन पर प्रचुर कृपा की है। **घरे = घरै, करे = करै** आदि रूप अनायास ही मिल जाते हैं। कई वार इनका प्रयोग बहुत ही लघु उच्चारण में प्रयुक्त होता है। निम्नलिखित उदाहरणों में **ए** का लघु उच्चारण हुआ है—

कद **रे** मिळउँली सज्जना, लाँबी बांह पसार—ढो.मा.

निम्नलिखित उदाहरणों में **ऐ** का लघु उच्चारण हुआ है—

१ पंथी एक संदेसड़उ, लग ढोलइ **पैहचाइ**—ढो.मा.

२ वरती मो वारी (ह), **सोवै** क जागै सांवरा।

—रांमनाथ कवियौ

प्रायः **य** का **ऐ** में परिवर्तन हो गया है—

१ **अजय = अजै**

२ **जयपुर = जैपुर**

३ **हयवर = हैवर**

४ **उदय = उदै**

ऐ का **ए** में परिवर्तन —

१ **तैल = तेल**

२ **शैवाल = सेंवाल**

विभिन्न स्वरों की विवेचना करने के बाद व्यञ्जनों की विवेचना करना समीचीन होगा।

कवर्ग– यह कंठ्यवर्ग है जिसके अंतर्गत **क, ख, ग,** और **घ** आते हैं। राजस्थानी भाषा के व्यञ्जनों की कुछ अपनी विशेषतायें हैं। कई स्थानों पर **क** राजस्थानी में लुप्त हो गया है—

१ **मस्तक = माथौ**

२ **कार्तिक = काती**

३ **अचानक = अचांण**

कुछ स्थानों में **आ** का आगम हो जाता है—

१ **कंचुकी = कांचळी**

२ **कल (कल्य) = काल**

क्रियाओं में कई स्थानों पर **क** प्रायः द्वित्व हो जाता है।[1] किन्तु यह प्रवृत्ति साधारणतया कविताओं में ही अधिक पायी जाती है—

१ **चमकणौ = चमक्कणौ**

२ **सरकणौ = सरक्कणौ**

३ **खणंकणौ = खणंक्कणौ**

क्रियाओं के अतिरिक्त कुछ अन्य शब्दों में भी **क** कई वार द्वित्व हो जाता है, यथा–

१ **हक = हक्क**

२ **कटक = कटक्क**

क को **य** में परिवर्तन करने की प्रवृत्ति राजस्थानी में पायी जाती है—

१ **दिनकर = दिणयर**

२ **सकल = सयळ**

क का महाप्राण **ख** है। अतः कई स्थानों पर **क** महाप्राण होकर **ख** हो जाता है—

१ **रुकमिणी = रुखमिणी**

२ **किंसुक = किंसुख**

इसके विरुद्ध कई वार महाप्राण **ख** अल्पप्राण होकर **क** बन जाता है—

१ **भीख = भीक**

२ **भूख = भूक**

३ **खाखरौ = खाकरौ**

४ **खाख = खाक**

स्वयं महाप्राण **ख** भी कई स्थानों पर द्वित्व हो जाता है—

१ **चक्षु = चख = चख्ख**

२ **अक्षर = आखर = अख्खर**

३ **चखणौ = चख्खणौ**

अल्पप्राण **क** के समान महाप्राण **ख** का भी **ह** में परिवर्तन हो जाता है—

१ **रेख = रेह**

२ **सुख = सुह**

---

[1] प्राकृत भाषाओं में भी इस प्रकार के द्वित्व की परम्परा है। देखो– 'प्राकृत भाषाओं का व्याकरण'—आर० पिशल (जर्मन भाषा में) पारा २८५ से ३०० तक।

३ सखि = सहि
४ शिखर = सिहरां

ख का ढ में परिवर्तन—

खंडहर = ढंढेर

कवर्ग के अंतर्गत ग स्वयं अल्पप्राण व्यञ्जन है। क अघोष वर्ण है जबकि ग घोष वर्ण है। कई बार ग अघोष वर्ण में परिवर्तित हो जाता है—

१ नाबालिग = नाबालक
२ गाजबीज = काजबीज

इसी प्रकार अघोष वर्ण भी घोष वर्ण में परिवर्तित हो जाता है—

१ उपकार = उपगार
२ सेवक = सेवग
३ शोक = सोग
४ काक = काग

क के समान ग भी य में परिवर्तित हो जाता है, यथा—

१ सागर = सायर
२ गगन = गयण
३ नगर = नयर

जिस प्रकार क का महाप्राण ख है ठीक उसी प्रकार ग का महाप्राण घ है। घ भी निम्नलिखित उदाहरणों में अल्पप्राण हो गया है—

१ मेघनाद = मेगनाद
२ अरघ = अरग

निम्नलिखित उदाहरणों में घ ह हो गया है—

१ मेघ = मेह
२ दीरघ = दीह

चवर्ग—यह तालव्य वर्ग है, जिसके अंतर्गत च, छ, ज एवं झ आते हैं। इनमें च और ज अल्पप्राण तथा छ और झ महाप्राण वर्ण हैं। च अघोष और ज घोष वर्ण है।

निम्नलिखित उदाहरणों में वर्ण द्वित्व हो जाते हैं—

च— १ फच्चर
२ टुच्चौ

ज— १ अज्ज
२ कज्ज
३ कमधज्ज

झ— १ तुझ्झ
२ मुझ्झ
३ जूझ्झणौ

च का महाप्राण में परिवर्तन—

१ पश्चात् = पछै
२ पश्चिम = पिछम

छ का अल्पप्राण में परिवर्तन—

छछुंदर = चकचुंदर

ज का महाप्राण में परिवर्तन—

१ जहाज = झाझ
२ जहर = झैर

झ का अल्पप्राण में परिवर्तन—

१ संध्या = संझ्या = संज्या
२ मध्यरात्रि = मझरात = मजरात

च का ज में परिवर्तन—

१ पंच = पंज
२ आलोच्य = आलोज

च का य में परिवर्तन—

१ वचन = वयण
२ लोचन = लोयण

छ का स में परिवर्तन—

१ पछै = पस्सै
२ पश्चाताप = पछतावौ = पसतावौ

च का स में परिवर्तन—

चबूतरौ = सबूतरौ

छ और च के स में परिवर्तन की प्रवृत्ति राजस्थान के प्राय: कुछ ही भागों में पायी जाती है जिसका विवेचन हम राजस्थान की प्रमुख बोलियों का विवेचन करते समय कर चुके हैं।

ज का द में परिवर्तन—

१ कागज = कागद
२ गुजरणौ = गुदरणौ
३ मुजफर = मुदफर

४ हौज = हौद

ज का ल में परिवर्तन

कागज = कागळ

ज का य में परिवर्तन—

१ गज = य

२ भुजंग = भयंग

३ राजकुमारी = रायकुंवरी

टवर्ग— यह मूर्धन्य वर्ग है। इसके अंतर्गत ट, ठ, ड, ढ, ण आते हैं। इनमें ट और ड अल्पप्राण तथा ठ और ढ महाप्राण हैं। ट का महाप्राण ठ है तथा ड का महाप्राण ढ है।

इनमें ट और ड के द्वित्व बहुत प्रचलित हैं, यथा—

ट का— १ अरट्ट

२ गरट्ट

३ वट्ट

ड का— १ खड्ड

२ हड्ड

३ तिड्ड

ट का महाप्राण में परिवर्तन—

१ दृष्टि = द्रस्टि = दीठ

२ वृष्ठि = व्रस्टि = बूठौ

ड का महाप्राण मे परिवर्तन —

१ खंडहर = खंढेर = ढंढेर

राजस्थानी में ट का ड में परिवर्तन होने की विशेपता है, यथा —

१ घोटक = घोडउ = घोड़ौ

२ कोटि = कोडि = कोड़

इस सम्बन्ध में यह कहना अप्रासंगिक न होगा कि ड और ड़ के अमर्यादित प्रयोगों ने प्राय: गलतफहमियाँ उत्पन्न करदी हैं। भापा के अधिकतर विद्यार्थी इनके मध्य अवस्थित अंतर से परिचित नहीं होते। हों भी कैसे—अन्येतर भापाओं में मिलने वाले समस्त कोशों में, जिनमें अकारादि क्रम से शब्द अंकित रहते हैं ड एवं ड़ को एक ही वर्ण मान कर टवर्ग के अंतर्गत ही अकारादि क्रम से उपस्थित किया गया है। दोनों के प्रयोग शब्दों में काफी मात्रा में अंतर उत्पन्न कर देते हैं—

१ कोड = उमंग, उत्साह

कोड़ = करोड़, कोटि

२ मोड = संन्यासी

मौड़ = दूल्हे का शिरोभूषण

इन अंतरों को दृष्टिगत रखते हुए यह अवश्य मानना पड़ेगा कि इनको अकारादि क्रम से एक ड के अंतर्गत रखना उचित नहीं कहा जा सकता। ड़ और ढ़ का उच्चारण जीभ का अग्र भाग उलट कर मूर्द्धा पर लगाने से होता है। इस उच्चारण को द्विस्पृष्ट कहते हैं। वैदिक भापा में दो स्वरों के बीच में आने वाले ड् ढ् का उच्चारण ळ् ळ्ह् होता था। पाली में भी यह विशेपता पाई जाती है किन्तु संस्कृत में यह परिवर्तन नहीं होता था। मध्यकाल में संभवतया किसी समय स्वर के बीच में आने वाले ड् ढ् का उच्चारण ड़ ढ़ के समान होने लगा हो। ड़ और ढ़ से कोई शब्द आरंभ नहीं होता। कवर्ग के अंतिमाक्षर ङ के स्थान पर साधारण जन ड़ का उच्चारण करने लगे। आज भी चटसाल में पढ़ते बच्चे क, ख, ग, घ, ड़ के उच्चारण से कवर्ग को याद करते हैं। अंतिमाक्षर अनुनासिक रूप ङ का कवर्ग में उच्चारण की दृष्टि से एक प्रकार से राजस्थानी में लोप हो गया है। प्राचीन सब प्रतियों में ड ही मिलता है किन्तु इसी ड का कालांतर में ड़ के रूप में परिवर्तन हो गया। किन्तु कवर्ग के अंतिमाक्षर के रूप में ङ के स्थान पर ड़ के उच्चारण की परंपरा को हमने मान कर उसी का परिपालन करने की चेष्टा की है। यद्यपि यह कंठ्य न हो कर मूर्धन्य ही है तथापि उपरोक्त परंपरा के कारण हमने भी ड़ को अकारादि क्रम में घ के बाद ही स्थान दिया है। पाठकगण राजस्थानी की इस विशेपता को कोश-अवलोकन के समय ध्यान में रक्खें तो वे अधिक सुविधा के साथ शब्दों को ढूँढ़ सकेंगे।

ट और ठ के संयुक्त रूप भी राजस्थानी में मिलते हैं—

१ पुट्ठौ

२ कट्ठौ

३ दिट्ठौ

ड और ड़ के उपरोक्त विवेचन पर दृष्टि डालते समय यह ध्यान में रखना आवश्यक है कि राजस्थान में ट कई स्थानों में ड़ में परिवर्तित हो गया है।

१ कपाट = कपाडि, किवाड़, कवाड़

२ भट = भड = भड़

३ कटि = कड़

तवर्ग– यह दंत्य वर्ग है। इसके अंतर्गत त थ द ध और अनुनासिक न है। इसमें त और द अल्पप्राण हैं जिसके महाप्राण क्रमशः थ और ध[1] हैं। त अघोष तथा द घोष वर्ण है।

द्वित्व रूप त– १ गत्त २ असपत्त

थ– १ कथ्थ २ सथ्थ

द– १ सरद्द २ भद्द ३ हद्द

ध– १ सुध्ध २ गिध्ध

न– १ मन्न २ रतन्न ३ जतन्न

त का विभिन्न वर्णो में परिवर्तन हो जाता है, यथा–

त का द में– १ विपत्ति = विपदा

२ आपत्ति = आपद

त का च में– १ सत्य = सच

२ मीति = मीच

त का मूर्धन्य ट में– १ कर्तन = काटणौ

२ उदवर्तन = उबटन

३ निवर्तन = निवटणौ

त का य में– १ गत = गय

२ सत = सय

त का ब में– १ सुजात = सुजाब

त का व में– १ प्रभात = पोहोव

२ घात = घाव

त का अपने महाप्राण थ में– १ कंत = कंथ

२ भरत = भरथ

३ अस्तमन = आथुणौ

त का क में परिवर्तन– सौत = सौक

इनके अतिरिक्त कुछ स्थानों पर त का लोप हो जाता है, यथा–

१ कदाचित = कदाच् = कदास

२ उत्साह = उछाह

[1] बहुत से विद्वानों ने ध के नीचे बिंदी मान कर एक नयी ध्वनि निश्चित की है। पं० रामकर्ण आसोपा ने भी ध के नीचे बिंदी को स्वीकार किया है। देखो 'मारवाड़ी री पैली पोथी।'

३ शीतल = सीलौ

इसी प्रकार थ भी अपने अल्पप्राण त में परिवर्तित हो जाता है—

१ हाथ = हात

२ अवस्था = औसता

थ का मूर्धन्य ठ में परिवर्तन—

स्थान = ठांण = ठांव

थ का ह में परिवर्तन—

१ नाथ = नाह

२ गाथा = गाहा

३ गूथ = गूह

४ कथना = कहना

द का लोप– १ नदी = नई

२ द्वार = वार

३ एकादश = ग्यारा

द का अपने महाप्राण ध में परिवर्तन—

द्रंग = ध्रंग, ध्रंगड़ौ

द का न में परिवर्तन—

१ चंदन = चन्नण

२ संदेस = संनेस

३ चांद = चांन

द का ज में परिवर्तन—

१ अद्य = आज

२ श्वापद = सावज (सिंह)

द का ड में परिवर्तन—

१ दाव = डाव

२ दंड = डंड

३ दर्दुर = डेडरौ

द का त में परिवर्तन—

१ मस्जिद = मसीद = मसीत

२ सुफेद = सुपेद = सुपेत

३ मदद = मदत

द का य में परिवर्तन—

१ मदन = मयण

२ मदकल = मयगल

३ पाद = पाय

द का व में परिवर्तन —

१ पाद = पाव

२ स्वाद = साव

ध का अल्पप्राण द में परिवर्तन—

१ समाधि = समाद

२ अश्वमेध = असमेद

३ श्रद्धा = सरदा

४ श्राद्ध = सराद

५ लोध्र = लोद

ध का झ में परिवर्तन—

१ संध्या = संझ्या, सांझ

२ वंध्या = वांझ

३ मध्य = मझ्झ

ध का मूर्धन्य ढ में परिवर्तन—

१ संनद्ध = सनढ

२ वृद्ध = वूढौ

३ धोक = ढोक

ध का ह में परिवर्तन—

१ जलधर = जलहर

२ विषधर = विखहर

३ रुधिर = रुहिर

न का ल में परिवर्तन—

१ जन्म = जनम = जलम

२ नंवर = लंवर

न का ड़ में परिवर्तन—

१ हनुमान = हड़ूमांन

२ रणमल्ल = रिनमल्ल,रिड़मल्ल

न का ड में परिवर्तन—

कनेर = कंडेर

न का द में परिवर्तन—

उन्माद = उदमाद

न का मूर्धन्य ण में परिवर्तन—

१ योनि = जूण

२ जन = जण

तवर्ग के वर्णों का मूर्धन्य वर्णों में परिवर्तन एक निश्चित क्रम से होता है। त का ट में, थ का ठ में, द का ड में, ध का ढ में तथा न का ण में होता है। इस क्रम में उलटफेर नहीं होता। इस प्रकार दंत्य वर्णों का मूर्धन्य वर्णों में कुछ क्रमिक परिवर्तनशील समानता है। उच्चारण में सूक्ष्म निकटता का भाव है।

पवर्ग– यह ओष्ठ वर्ग है। इसके अंतर्गत प, फ, ब, भ और म हैं। इनमें प और ब अल्पप्राण हैं जिनके महाप्राण क्रमशः फ और भ हैं। प अघोष एवं ब घोष वर्ण है।

द्वित्व रूपों के उदाहरण—

प का = अप्प, वप्प, जप्प

फ का = वप्फ

ब का = अकब्बर, सरब्ब, अब्ब

भ का = अब्भ, नब्भ, गरब्भ

म का = करम्म, सरम्म, धरम्म

प प्रायः कुछ शब्दों में महाप्राण हो जाता है, यथा–

१ दोपहर = दोफार

२ वाष्प = बाफ

३ परशु = फरसौ

इसी प्रकार महाप्राण फ भी कुछ शब्दों में अल्पप्राण प में परिवर्तित हो जाता है—

१ सफेद = सुपेत

२ अफसोस = अपसोस

ब का अपने महाप्राण भ में परिवर्तन—

बहुत = भोत

भ का अल्पप्राण व में परिवर्तन—

१ सोभा = सोवा

२ अभ्र = आभौ, आवौ

३ गरभ = ग्याव

इनके अतिरिक्त पवर्ग के वर्ण कुछ अन्य वर्गों में भी परिवर्तित हो जाते हैं। परिवर्तित वर्णों के अनुसार प्रत्येक अक्षर का अलग-अलग उदाहरण दिया जाना समीचीन होगा—

प का व में परिवर्तन—

१ नूपुर = नेवर

२ कपाट = किंवाड़
३ गोपाल = गुवाल
४ अपर = अवर
५ अंतःपुर = अंतेवर
६ कृपाण = केवांण

उ तथा अ के साथ प का ओ में परिवर्तन—

१ अपयश = ओदस
२ सपत्नी = सौत
३ कपर्दिका = कोडी
४ उपाख्यान = ओखांण

फ का ह में परिवर्तन[1]

१ मुक्ताफल = मोताहल
२ सफल = सहल
३ अफल = अहर

ब का लोप—

१ कदम्ब = कदम
२ शब्द = साद
३ चौबीस = चोईस

ब का प में परिवर्तन—

१ खूबसूरत = कपसूरत
२ जब्त = जपत
३ गंधर्व = गंधरब = गंध्रप

ब का म में परिवर्तन—

१ प्रबोध = परमोद
२ संबंध = सनमन

राजस्थानी में प्रायः बहुलता से ब, व का स्थानीय बन जाता है। व को ब बनाने व उच्चारण करने की ओर राजस्थानी की प्रवृत्ति अधिक है।

१ वंशी = बंसी
२ वट = बट
३ वार = बार
४ वपु = बपु
५ वाम = बांम
६ वचन = बचन

भ का म में परिवर्तन—

१ उपालम्भ = ओळभौ = ओलमौ
२ सौरभ = सौरम
३ स्तंभ = थांम, थंभ

भ का लोप—

१ कुम्भकरण = कूमकरण
२ कुसुम्भ = कसुम, कसूमल

भ का ह में परिवर्तन—

१ सुरभि = सुरही
२ लाभ = लाह
३ करभ = करह
४ सुभट = सुहट = सुहड़

म का व में परिवर्तन—[1]

१ ग्राम = गांव
२ भीम = भींव
३ कुमार = कंवर
४ चामर = चंवर
५ सीमा = सींव

म का ब में परिवर्तन—

१ उत्तमांग = उतबंग
२ आम्र = आंबौ

म का न में परिवर्तन—

१ सम्मान = सनमान
२ सम्बंध = सनमंद
३ सम्मुख = सनमुख

म के महाप्राण के रूप में म्ह का प्रयोग कई शब्दों में होता है, यथा—

१ महाराज = म्हाराज
२ मैं = म्हैं
३ मेरा = म्हारौ

[1] हेमचंद्र सिद्धहेमचंद्र १।२३६ में अनुमति देता है कि फ के स्थान पर प्राकृत में भ और ह दोनों रखे जा सकते हैं। देखो—पिशेल का व्याकरण, पारा १९२।

[1] अपभ्रंश में भी यह विशेषता पाई जाती है। देखिये—हिन्दी साहित्य का वृहत्त इतिहास, प्रथम भाग, सं० राजबली पांडे, पृष्ठ ३२१।

र—यह अल्पप्राण घोष वर्त्स्य लुंठित ध्वनि है। निम्नलिखित शब्दों में र का लोप हो जाता है—

१ प्रेम = पेम
२ श्रावण = सांवण
३ प्रण = पण
४ शीर्ष = सीस
५ ध्रुव = धू
६ भाद्रपद = भादवौ
७ सहस्त्र = सहस

र का आगम—

१ शाप = सराप
२ सजल = सरजल
३ सिखर = सिरहर

र का परिवर्तन ड़ में बहुलता के साथ होता है, यथा—

१ विरुद = बिड़द
२ अर्बुद = अड़व
३ परदा = पड़दौ

र का ल़ में परिवर्तन—

१ दारिद्रय = दालद
२ हरिद्रा = हलदी

रेफ की विवेचना हम पीछे कर चुके हैं, अतः इसकी पुनरावृत्ति यहाँ उचित न होगी।

ल— यह अल्पप्राण घोष वर्त्स्य पार्श्विक ध्वनि है।

ल का द्वित्व— सल्लणी, गल्ल, पीथल्ल आदि।

[1]ल का ल़ में परिवर्तन—

१ माला = माला़
२ धूलि = धूल़
३ शूल = सूल़

ल का र में परिवर्तन

किल = किर

ल़ का ड़ में परिवर्तन

धूलि = धूड़

ल का लोप—

१ फाल्गुण = फागुण, फागण
२ म्लेच्छ = मेछ

ल का न में परिवर्तन—

ललाट = लिलाड़ = निलाड़

ल का महाप्राण ल्ह में—

१ लाश = ल्हास
२ कल = काल = काल्हि

राजस्थानी में ल के अतिरिक्त ल़ की ध्वनि भी होती है। इस सम्बन्ध में डा० चाटुर्ज्या लिखते हैं[1] कि 'पुरानी राजस्थानी में सिर्फ ल ही लिखा जाता था पर ल़ का उच्चारण भाषा में था। इसके पक्ष में युक्ति है। अभी तक पूर्वी पंजाबी की गुरुमुखी लिपि में जैसा हम देखते हैं ल़ के लिये वर्ण नहीं है, पर ल़ ध्वनि पंजाबी भाषा में सुनाई देती है।' संस्कृत तथा अन्य भाषाओं में ल़ की ध्वनि नहीं है। वेदों में इसका प्रयोग हुआ है। उसके बाद इसका प्रयोग प्राकृत[2] राजस्थानी एवं मराठी में ही हुआ है।[3] ल और ल़ के ध्वनि एवं अर्थभेद के विषय में हम विवेचन कर चुके हैं। ल वर्त्स्य ध्वनि है एवं ल़ मूर्धन्य ध्वनि है। किसी शब्द के प्रथम अक्षर के रूप में ल़ का प्रयोग नहीं होता। यह उत्तरवर्ती अक्षरों के रूप में ही शब्द में स्थान पाता है।

व—यह दंतोष्ठ्य घोष संघर्षी ध्वनि है। राजस्थानी में व के नीचे बिंदी लगा कर व़ लिखने की प्रथा है। साधारणतया व और व़ में कोई भेद नहीं किया जाता। श्री नरोत्तम स्वामी ने व को अंग्रेजी के w और व़ को v के समान उच्चरित मान कर ध्वनि में अन्तर स्पष्ट करने का प्रयत्न किया है।[4]

---

[1] हम पहले उल्लेख कर चुके हैं कि भाषा-प्रवाह में परिवर्तित नये रूप एवं पूर्व अपरिवर्तित रूप दोनों प्रयुक्त होते हैं। किन्तु इस परिवर्तन में ऐसी बात नहीं है। यद्यपि इन रूपों में ल का परिवर्तन ळ में हुआ है किन्तु राजस्थानी में ये नये परिवर्तित रूप ही प्रयुक्त होते हैं। राजस्थानी में ल और ळ के प्रयोग निश्चित हैं उनमें परस्पर परिवर्तन नहीं होता।

[1] राजस्थानी भाषा : डा० सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या, पृष्ठ १३

[2] प्राकृत भाषाओं का व्याकरण—मूल ले० रिचर्ड पिशल, अनुवादक—डा० हेमचन्द्र जोशी (हिन्दी में) पृष्ठ संख्या ३४८, ३४९

[3] Gujarati Language and Literature, Vol. II. by N.B. Divatia, Pages 70-71

[4] 'राजस्थान रा दूहा' भाग १ में राजस्थानी वर्णमाला लिखते हुए श्री नरोत्तम स्वामी ने एक नोट दिया है—
'राजस्थानी लिपि में संस्कृत व (w) व़ से और राजस्थानी व़ (v) व से लिखा जाता है।'

श्री मेनारिया ने भी इस मत का समर्थन किया है।[1] डा० सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या व और व़ की दो ध्वनियां स्वीकार नहीं करते।[2] डा० ग्रियर्सन ने इन ध्वनियों में भेद माना है।[3] उनके अनुसार व़ की वास्तविक ध्वनि अंग्रेजी के न तो w में है और न v में। यथार्थ में यह इन दोनों के बीच की ध्वनि है। डा० ग्रियर्सन के अनुसार भारत में v का उच्चारण शुद्ध ओष्ठ्य[4] है किन्तु राजस्थानी में अनेक शब्द ऐसे हैं जहां व का यह शुद्ध ओष्ठ्य उच्चारण नहीं है। डा० ग्रियर्सन का यह मत सही मालूम होता है। व और व़ की ध्वनि में अन्तर अवश्य है। डा० नरोत्तमदास ने जो व़ को अंग्रेजी v के समान उच्चारित माना है, वह संभवतया इस आधार पर माना है कि ये दोनों दंतोष्ठ्य हैं। इनमें ऊपर के दांत नीचे के होठों का तनिक सा स्पर्श करते हैं एवं स्पर्श करने के पश्चात् अलग होते ही मुंह की अवरुद्ध वायु निकल कर ध्वनि उत्पन्न कर देती है। व में दांत होठों के नजदीक जरूर जाते हैं किन्तु होठों का स्पर्श नहीं करते। नजदीक जाते हुए ही वे वायु निकालते रहते हैं। इसमें वायु अवरुद्ध नहीं होती। इस दृष्टि से व और व़ में अन्तर है। व़ और अंग्रेजी के v में भी इतना अन्तर है कि व़ में होठों की अवस्था विवृत्त होती है तथा v में उनकी अवस्था विवृत्त नहीं होती।

वास्तव में प्रत्येक भाषा की अपनी कुछ विशेष ध्वनियाँ होती हैं, अन्य किसी भाषा की ध्वनि विशेष से उसकी तुलना नहीं की जा सकती।

दोनों के मध्य के इस भेद को जानना अत्यन्त आवश्यक है क्योंकि व के स्थान पर व़ और व़ के स्थान पर व का

'वीर सतसई' का संपादन करते हुए संपादकों ने श्री नरोत्तम स्वामी के पत्र का हवाला देते हुए भूमिका में लिखा है—

'मेनारियाजी का लिखना सर्वांश में ठीक नहीं, भ्रमपूर्ण है। आजकल लोग हिन्दी तथा व्रज के प्रभाव से व को प्राय: ब से लिख देते हैं, यह अशुद्ध है। बीकानेर नहीं किन्तु वीकानेर लिखना चाहिए। टैसिटोरी ने सर्वत्र Viko लिखा है। Biko नहीं। रोमन में व को v से तथा व़ को w से लिखा जाना चाहिए।'

उपरोक्त दोनों उल्लेखों में अन्तर है। हमने पहले उल्लेख के अनुसार ही स्वामीजी का मत मान लिया है। राजस्थानी भाषा और साहित्य में डा० हीरालाल माहेश्वरी ने भी पृष्ठ ४१ में इसी मत का समर्थन किया है।

१ व का उच्चारण डिंगल में दो तरह से होता है, एक संस्कृत व अथवा अंग्रेजी w की तरह और दूसरा अंग्रेजी v की तरह। उच्चारण का यह अन्तर बतलाने के लिए लिखने में एक व तो वैसा ही रहने दिया जाता है पर दूसरे के नीचे बिन्दी लगादी जाती है।
—राजस्थानी भाषा और साहित्य, पृष्ठ ३२

२ देखिए 'वीर सतसई' की भूमिका, पृष्ठ १०६—डा० सहल द्वारा संपादित।

३ हिन्दी में व का उच्चारण दंतोष्ठ्य माना जाता है।

४ "I take this opportunity of explaining the pronunciation of the letter व; sometimes transliterated w, and sometimes v. In western Hindi and in the languages further to the east this letter almost invariably becomes b. Thus 'wadan', a face becomes 'badan', and 'vichar' consideration becomes बिचार. In Rajasthan we first come upon the custom prevalent in Western India of giving this letter its proper sound. In the मराठी section of the survey it is regularly transliterated v, but this does not indicate its exact pronunciation. In English the letter v is formed by pressing the upper teeth on the lower lip. It is thus a denti-labial. This sound, so far as I am aware, does not occur in any Indo-European language. In India v is a pure labial, and is formed by letting the breath issue, not between the teeth and the lip, but between the two lips. An experiment will show the correct sound at once.

It is something between that of an English w and that of an English v. This sound naturally varies slightly according to the vowel which follows it. Before long or short a, u, o, ai, or au it is nearer the sound of w, while before long or short i or e it is nearer that of v. This sound will be naturally uttered under the influence of the following vowel, so long as the consonent w or v is pronounced as a pure labial and not as a denti-labial. In transliterating Rajasthani I *represent* the w sound by w and the v sound by v, but it must be remembered that the English sound of v is never intended. Thus I write Marwari not Marvari because the v is followed by a but Malvi not Malwi because v is followed by i"

—Linguistic Survey of India, Vol. IX p. 5. Grierson.

प्रयोग होने से शब्द का अर्थ बिल्कुल पलट जाता है। निम्न-लिखित उदाहरणों से यह बात स्पष्ट हो जायगी—

१ वार = दिन, प्रहार   व़ार = सहायतार्थ पीछा करना
२ बीर = बहादुर   ब़ीर = रवानगी
३ वात = वायु   व़ात = कहानी

इस ध्वनि-भेद के ज्ञान के पूर्ण अभाव में ही प्रायः साधारण जन प्रत्येक व के नीचे बिंदी लगा कर लिख देते हैं।

व का द्वित्व—
१ हैव्वर
२ गैव्वर

व का म में परिवर्तन—
१ रावण = रांमण
२ हयवर = हैमर
३ विवाह = बिमाह
४ यादव = जादम

व का लोप—
१ लवण = लूण
२ यादव = जादू
३ पांडव = पांडू
४ भव = भौ
५ दंडवत = डंडौत, दंडौत

व का महाप्राण व्ह का प्रयोग—
१ व्हालौ
२ व्हैम

व का ब में परिवर्तन—
१ वाम = बांम
२ वंसी = बंसी

व के महाप्राण के रूप में भी व़ का प्रयोग किया जाता है। उच्चारण की दृष्टि से व़ पवर्ग के वर्ण ब के नजदीक है व शुद्ध ओष्ठ्य है। कुछ विद्वानों का कथन है कि व़ शब्द के आरम्भ में प्रायः नहीं आता[1], किन्तु कई शब्द ऐसे मिलते हैं जिनमें व़ शब्द के पहले आया है यथा—

१ व़ाकारणौ
२ व़ात
३ व़ादल आदि।

यह बात निश्चित रूप से कही जा सकती है कि अभी तक व और व़ का तुलनात्मक वैज्ञानिक अध्ययन नहीं किया जा सका है। भाषा विज्ञान के विद्यार्थियों को इस ओर विशेष ध्यान देना चाहिये।

य– यह तालव्य घोष अर्द्धस्वर है। ल एवं व के प्रयोग में विभिन्नता को देख कर राजस्थानी में कुछ लोग य के नीचे बिंदी का लगाते हैं[1], किन्तु उच्चारण की दृष्टि से उसका कोई विशेष महत्व नहीं है। इस बिंदी से य और य़ में उच्चारण विभिन्नता प्रकट नहीं होती। संस्कृत की भांति य का द्वित्व प्रयोग राजस्थानी में नहीं होता—

१ सूर्य्य = सूरज
२ मोर्य्य = मोरी

य की ओर झुकाव के कारण कई शब्दों में य का आगम हो गया है यथा—

१ राठौड़ = रायठौड़
२ रथ = रयत्थ
३ अकथ्य = अकय्थ
४ शाबास = स्याबास
५ लज्जा = लज्या
६ मनसा = मनस्या

य का लोप—
१ पुण्य = पुन
२ दैत्य = दैत
३ आदित्य = आदीत
४ ज्योति = जोत
५ मनुष्य = मिनख
६ मध्य = मझ
७ नियम = नेम

[1] श्री कन्हैयालाल सहल, श्री पतराम गौड़ तथा श्री ईश्वरदान आसिया द्वारा संयुक्त रूप से संपादित कविराजा सूर्यमल्ल की 'वीर सतसई' की भूमिका पृष्ठ १०९ में लिखा है—
व अन्तस्थ व्यंजन semi vowel है, जैसे स्वामी, हुवौ, स्वर, सेवग, साव। व़ संघर्षी व्यंजन है जैसे वन, वासदे, वासग। व ब्रजभाषा में व बन जाता है, पर व़ ब नहीं बन सकता। व़ शब्द के आरम्भ में प्रायः नहीं आता।

[1] शोध पत्रिका भाग ४ अंक ३ मार्च ५३ में प्रकाशित एक लेख 'राजस्थानी में ध्वनि परिवर्तन का पारा ८९ का अंतिम अंश।

८ नीयत = नीत

य का इ में परिवर्तन–

१ मयण = मइण

२ नारायण = नरायण, नराइण

इ का य में परिवर्तन–

१ रमाइन = रमायण

२ कोइल = कोयल

३ कोइक = कोयक

य का ऐ में परिवर्तन–

१ अजय = अजै

२ भय = भै

३ अभय = अभै

४ जय = जै

५ नयन = नैण

राजस्थानी में य को ज में परिवर्तन करने की प्रवृत्ति की ओर अधिक झुकाव होता जा रहा है[1]। अनेक शब्दों में य ज में परिवर्तित हो गया है। यथा–

१ योगी = जोगी

२ युग = जुग

३ यज्ञ = जग्ध

४ युक्ति = जुगत

५ यात्रा = जातरा

य का व में परिवर्तन–

१ न्याय = न्याव

२ वायु = वाव

३ आयुध = आवध

४ आयु = आव

उपाय = उपाव

श, ष, स राजस्थानी में इन तीनों के स्थान पर केवल एक दन्त्य 'स' का ही प्रयोग होता है।[1] 'श' के लिए सदैव 'स' प्रयुक्त होता है।

१ शमा = समा

२ शाम = सांम

३ श्याम = स्यांम

४ आशा = आसा

५ शय्या = सेज

किन्तु 'ष' के लिए 'स' एवं 'ख' दोनों वर्ण प्रयुक्त होते हैं—

१ दोष = दोख, दोस

२ वर्षा = वरखा, वरसा

३ पाषाण = पाखांण, पाखांन
पासांण, पासांन

४ तृषा = तिरस, तिरख

'स' का लोप

१ स्नेह = नेह

२ स्थिर = थिर

३ स्थापना = थापना

४ सहेली = हेली

---

१ (क) 'पुरानी राजस्थानी' मू० ले० डा० एल० पी० तेस्सितोरी अनु० नामवरसिंह पारा २२।

'ज कभी-कभी य में बदल जाता है। अनेक स्थानों पर इस परिवर्तन का आभास-मात्र होता है, क्योंकि लिखने में ज और य प्रायः एक दूसरे के स्थान पर व्यवहृत हो जाते हैं और इसमें कोई संदेह नहीं कि वे बहुत कुछ एक ही प्रकार से उच्चरित होते थे, अर्थात् ज की तरह। लेकिन कुछ अन्य स्थानों पर ऐसा प्रतीत होता है कि ज का दुर्बल होकर य हो जाना वास्तविक है, अर्थात स्वरों के बीच ज व्यंजन की शक्ति खो देता है और जैन-प्राकृत की य श्रुति की तरह Euphonic तत्व के रूप में प्रयुक्त होता है।

(ख) श्री मोतीलाल मेनारिया ने 'राजस्थानी भाषा और साहित्य' पृष्ठ ३३ पर लिखा है—

'डिंगल में य का उच्चारण य और ज दोनों तरह से होता है। जब य किसी शब्द का पहला अक्षर होता है तब इसका उच्चारण प्रायः ज किया जाता है और ज ही लिखा जाता है। परन्तु जब य शब्द के पहले अक्षर के बाद आता है तब यह ज्यों का त्यों य बोला और लिखा जाता है। जैसे (क) जुध (युद्ध), जोधा (योद्धा), जात्रा (यात्रा), जमराज (यमराज)। (ख) न्याय, ख्यात, रायजादा, माया, शयन, बयण, गुणियण।

किन्तु मेनारिया का यह मत उचित नहीं मालूम होता। शय्या आदि में य प्रथम अक्षर न होने पर भी ज हो जाता है यथा–सेज गुणियण को गुणिजण भी कहते हैं

१ 'प्राचीन भारती के कई एक वर्णों का भी प्राकृत में सर्वथा अभाव हो गया है, जैसे ऋ, ॠ, लृ, लॄ, ऐ, औ, य, श, ष तथा विसर्ग।' प्राकृत प्रवेशिका मू० ले० ए० सी० वूल्नर अनु० बनारसीदास जैन पृष्ठ ११ " श् ष् स्-इन तीनों के स्थान में दन्त्य स हो जाता है।" वही पृष्ठ-१६ पारा क,

श का लोप

१ आश्चर्य = अचरज

२ निश्चित = नचीत

ष का लोप

१ शुष्क = सूखौ

२ वाष्प = भाप

३ मुष्टि = मूठ

४ दुष्काल = दुकाळ

स का ह में परिवर्तन

१ केसरी = केहरी

२ दिवस = दिवह

३ जैसलमेर = जेहलमेर

ष का ह में परिवर्तन

१ पौष = पोह

२ पुष्प = पुहप

३ पुष्कर = पुहकर

४ कोष = कोह

श का छ में परिवर्तन

१ शकट = छकड़ौ

२ शोकहर = छोकरौ

३ शोभा = छोभा

ल, ळ, ब, व़ के समान स के नीचे भी विंदी लगाई जाती है। दोनों के उच्चारण में भेद है।

स़ की ध्वनि महाप्राण है। इससे स पर जोर देकर उच्चारण किया जाता है अतः स का उच्चारण ह के निकट चला जाता है यथा स़ोरौ, स़ाथी आदि। पश्चिमी राजस्थान में स के स्थान पर स़ का उच्चारण एक आम बात है। लिखित साहित्य में केवल स का ही प्रयोग होता है।

राजस्थानी में यद्यपि श का प्रयोग नहीं होता तथापि प्राचीन परिपाटी के अनुकरण से प्रारम्भिक ज्ञान कराते समय बालकों को श, ष, स का ज्ञान कराया जाता था।

स का छ में परिवर्तन—

१ वत्स = वाछौ

२ उत्साह = उछाह

३ मत्सर = मछर

४ तुलसी, तुलछी, तुलछां

ह—यह काकल्य घोष, संघर्षी ध्वनि है। जितनी इस अक्षर ने राजस्थानी कवियों की सहायता की, तुलनात्मक दृष्टि से उतनी सहायता अन्य किसी अक्षर द्वारा उन्हें प्राप्त नहीं हुई। अन्य भाषाओं में भी इसके उदाहरण प्रचुर रूप से प्राप्य हैं जिसकी विवेचना हम पीछे कर चुके हैं। पादपूर्ति के लिए ह का प्रयोग राजस्थानी कवियों ने भी स्वतंत्र रूप से किया है—

१ घोड़ौ = घोड़ांह

२ नेड़ौ = नेड़ांह

३ ढोलौ = ढोलांह

४ मोड़ = मोड़ांह

५ मच्छी = मच्छीह

शब्दों के अंत में प्रयुक्त होने के अतिरिक्त ह का आगम शब्दों के मध्य भी हुआ है—

१ अंबर = अंबहर

२ समर = समहर

३ डाल = डाहल

४ एक = हेक

५ एकठा = हेकठा

६ अब = हव

अन्य प्रकार से ह का आगम

१ लाश = ल्हास

२ रईस = रहीस

३ लसकर = ल्हसकर

अपभ्रंश प्रयोगों के प्रभाव में आकर कुछ क्रियाओं में भी ह का प्रयोग होने लगा है।

१ देना = दिण्णउ = दीन्हौ

२ मेलणो = म्हेल्हणौ

३ उल्लसइ = उल्हसइ

ह का लोप

१ ब्रह्मा = बिरमा, बरम

२ सहस्त्र = सैंस

३ ब्राह्मण = बांमण

४ दरगाह = दरगा

५ आलीजाह = आलीजौ
६ उगाही = उगाई
७ सिपाही = सिपाई

ह का ऐ में परिवर्तन–
१ नहर = नै'र
२ कहर = कै'र
३ जहर = जै'र, झै'र
४ सहर = सै'र

ह का घ में परिवर्तन–
१ सिंह = सिंघ
२ सिंहासन = सिंघासण
३ दाह = दाघ, दाग

ह का य में परिवर्तन–
१ साहब = सायब
२ दहेज = दायजौ

ह का व में परिवर्तन–
१ सेहरौ = सेवरौ
२ विवाह = व्याव
३ मोहनी = मोवनी

राजस्थानी में विसर्ग का प्रयोग नहीं होता। विसर्गरहित शब्द ही प्रयुक्त किये जाते हैं, यथा—दुःख = दुख।

क्ष का प्रयोग राजस्थानी में संस्कृत शब्दों के तत्सम रूपों में होता है, यद्यपि उसमें भी परिवर्तन की ओर झुकाव अधिक है, यथा–

१ क्षेत्र = खेत
२ क्षार = खार
३ राक्षस = राकस
४ लक्षण = लक्खण = लच्छण

इन दोनों रूपों का प्रयोग राजस्थानी में होता है। ज्ञ का प्रयोग राजस्थानी में नहीं होता। इसकी ध्वनि को ग्य में फैला कर उपस्थित किया जाता है, यथा–

१ संज्ञा = संग्या
२ यज्ञ = जग्य, जिग
३ सर्वज्ञ = सरवग्य
४ अज्ञान = अग्यांन
५ आज्ञा = आग्या

ज्ञ का ज में परिवर्तन–
१ अज्ञान = अजांण
२ प्रतिज्ञा = पैंज

ज्ञ का ण में परिवर्तन–
१ राज्ञी = रांणी
२ आज्ञा = आंण (णा)

ज्ञ का न में परिवर्तन–
१ अभिज्ञान = अहनांण
२ साभिज्ञान = सहनांण
३ संज्ञानी = सैनांणी

राजस्थानी में सावर्ण्य प्रवृत्ति की विशेषता विशेष रूप से उल्लेखनीय है[1]—

१ रिक्त = रित्तौ
२ चक्र = चक्कौ
३ कार्य = कज्ज
४ हस्त = हत्थ
५ मत्सर = मच्छर
६ मध्य = मज्झ

संस्कृत भाषा के विसर्ग ध्वनि के समान अरबी एवं फारसी भाषा की जिह्वामूलीय ध्वनियाँ भी राजस्थानी में साधारण हो जाती हैं—

१ ग़रीब = गरीब
२ बुख़ार = बुखार
३ बाज़ = बाज
४ साफ़ = साफ

शब्दों को संक्षिप्त करने एवं अक्षर को लुप्त करने की प्रवृत्ति राजस्थानी में है। ऐसे स्थलों पर सम्बन्धकारक चिन्ह (Apostrophe) का भी प्रयोग किया जाता है। अधिकतर स, ष, श, ह आदि अक्षरों का ही इस प्रकार लोप होता है। अधिक खोजबीन करने पर कुछ दूसरे अक्षरों के उदाहरण भी

[1] शोध पत्रिका, भाग ४, अंक ३, मार्च ५३ में प्रकाशित मनोहर शर्मा का एक लेख—'राजस्थानी में ध्वनि-परिवर्तन' का पारा ६३।

प्राप्त हो सकते हैं, तथापि तुलनात्मक दृष्टि से उनका प्रयोग वहुत कम होता है।

स का लोप–

१ **ससुराल = सासरौ, सा'रौ**

२ **स्थूल = थू'ल**

३ **स्कंध = कां'धौ**

ष का लोप–

१ **कुष्ठ = को'ड**

२ **कृष्ण = का'नौ**

३ **कोष्ठक = को'ठौ**

ह का लोप–

१ **पौव = पौह, पौ'**

२ **चाह = चा'**

३ **फूहड़ = फू'ड़**

इन अक्षरों की विलुप्तावस्था में (') चिन्ह का प्रयोग अत्यन्त आवश्यक है। इसके अभाव में अर्थभेद के कारण असंगति उत्पन्न हो जाती है। दोनों के अर्थभेद के उदाहरणों से यह वात अच्छी तरह स्पष्ट हो जायगी, यथा–

१ **चा' = इच्छा**

चा = चाय

२ **चै'रौ = चेहरा**

चेरौ = दास, सेवक

३ **ना'र = नाहर, सिंह, वाघ**

नार = नारी, स्त्री

इस प्रकार (') के चिन्ह के अभाव में अर्थ कई वार विल्कुल वदल जाता है। इसके प्रयोग का अधिक झुकाव वर्तमान काल में ही अधिक देखा जाता है। संभव है यह आंग्ल भाषा के प्रभाव का कारण हो।

भाषा विज्ञान के अंतर्गत ध्वनिलोप (Haplology) के नियमानुसार एक ही प्रकार की दो ध्वनियों के आसपास आने पर उच्चारण सौकर्य के लिये एक प्रायः लुप्त हो जाता है, जिसका उल्लेख हम इस निवन्ध के आरम्भ में व्यन्जनलोप के उदाहरण देते समय कर चुके हैं (देखो—पृष्ठ १३)।

अन्य भाषाओं के समान राजस्थानी में भी प्रतिध्वनित अथवा अनुकरणमूलक शब्दों का खूब व्यवहार होता है। प्रतिध्वनित रूप में मुख्य शब्द के किंचित् अंशों को ही दुहराया जाता है। इस अंश का स्वतः कुछ अर्थ नहीं होता किन्तु मूल शब्द के साथ यह 'इत्यादि' का अर्थ देता है, यथा—**रोटी-वोटी, भात-वात** आदि। प्रायः ये शब्द मूल शब्द के आद्य अक्षर के व्यंजन-ध्वनि के स्थान पर व विठा देकर वनते हैं।[1]

कुछ शब्द गहराई एवं घनत्व उत्पन्न करने के लिए शब्दों के साथ प्रयुक्त होते हैं। इनका उद्देश्य शब्द का अर्थ कुछ अधिक स्पष्ट कर गहराई तक पहुँचाने का होता है—

यथा—१ **फीकौ = फीका**

फीकौ थूक = विल्कुल फीका, थूक के समान फीका

२ **धोळौ – सफेद**

धोळौ वग = वगुले के समान सफेद, नितान्त श्वेत

३ **लंवौ = लम्वा**

लवौ लड़ंग = पंक्ति के समान लम्वा, वहुत लम्वा

४ **डीगौ = ऊँचा, लम्वा**

डीगौ डांग = वहुत लम्वा (ऊँचाई में व्यक्ति के लिए)

उपरोक्त शब्दों के साथ आने वाले शब्दों में कुछ अर्थ निहित है। किन्तु, कुछ शब्द ऐसे भी होते हैं जिनको मूल शब्दों से अलग कर देने पर उन शब्दों का कोई विशेष अर्थ नहीं निकलता, वे केवल शब्दों के साथ रह कर ही अर्थ में वैचित्र्य उत्पन्न करते हैं, यथा—

१ **धोळौ = सफेद**

धोळौ धट – विल्कुल सफेद

धोळौ फट = ,, ,,

२ **सीधौ सड़ाग = विल्कुल सीधा**

सीधौ सणंक = ,, ,,

३ **लीलौ = नीला**

लीलो चैर = गहरा नीला

इसके अतिरिक्त व्यवहार में समान अर्थ वाले शब्दों को भी कहीं-कहीं साथ-साथ उपस्थित कर दिया जाता है। अलग-अलग रूप में वे दोनों समान अर्थ देते हैं. एवं सम्मिलित रूप से भी उनका अर्थ वही रहता है, उसमें परिवर्तन नहीं होता। इनका वर्गीकरण इस प्रकार से किया जा सकता है—

---

[1] राजस्थानी भाषा—डा० सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या, पृष्ठ ५२।

१. अनुकार शब्द—
पूछ-ताछ, देख-भाल
२. अनुचर शब्द—
कपड़ा-लत्ता, दिन-दहाड़ौ, कांम-काज
३. सहचर या अनुवाद शब्द—
साग-सब्जी, पहाड़-परवत, नदी-नाला, व्याव-सादी
४. विकार शब्द—
गोभी-गाभी, गाबा-गूबौ

कुछ शब्द अर्थ में भिन्नता रखते हुए भी रोजाना के सहचर्य के कारण साथ-साथ आ जाते हैं। इन्हें प्रतिचर शब्द कहते हैं, यथा—

दिन-रात, राजा-वजीर आदि।

वर्ण-विपर्यय की विवेचना हम पहले कर चुके हैं। उसके आधार पर कुछ शब्द परस्पर आदान-प्रदान कर संतुलन ठीक बनाये रखते हुए भी रूप में परिवर्तन कर लेते हैं—

यथा— **जंघा = जांघ**
संभा = सांझ

राजस्थानी नामों के सम्वन्ध में विवेचना करते हुए उनके रूप-भेद आदि की विशेषताओं का वर्णन किया जा चुका है, किन्तु कुछ इस प्रकार की जटिलताएँ हैं, जिसके कारण भाषा कई स्थलों पर बड़ी दुरूह हो गई है। ऐसे शब्दों का प्रयोग, जिनके कई अर्थ हो सकते हैं. किसी विशेष एक अर्थ में प्रयुक्त किया जाय, वह भी लाक्षणिक रूप से, तव उनका अर्थ बड़ा अस्पष्ट-सा हो जाता है। ऐसे प्रसंगों में पूरी कविता या प्रसंग के ज्ञान विना चलती हुई गाड़ी रुक जाती है। एक दो उदाहरणों द्वारा यह वात अच्छी तरह स्पष्ट हो सकेगी। प्रिथीराज राठौड ने अपनी वेलि में रुक्म के लिए **सोनानांमी** प्रयुक्त किया है। **सोनानांमी** का अर्थ रुक्म नहीं होता। सोने (स्वर्ण) के वहुत से पर्यायवाची शब्द होते हैं, उनमें एक शब्द रुक्म भी होता है। इसी को आधार मान कर उन्होंने वेलि में रुक्म के लिए **सोनानांमी**[1] प्रयुक्त किया है। कितनी जटिलता है। कुछ कविगण इससे भी आगे वढ़ गये हैं। प्राचीन गीतों में सीसोदिया भीमसिंह के लिए कई स्थलों पर **पांडवनांमी**[1] प्रयुक्त किया गया है। **पांडवनांमी** का अर्थ किया गया है 'पांडव के नाम वाला'। पांडव पाँच थे। किस पांडु पुत्र के नाम का आधार मान कर अर्थ किया गया है यह तव तक स्पष्ट नहीं होता जव तक कि प्रसंगानुसार पूर्व ज्ञान प्राप्त नहीं कर लिया जाता। इस प्रकार ऊँट के लिए **सिसुनांमी**, महेशदास के लिए **भूतेसनांमी**[2], राव गांगा के लिए **ससमाथ**[3] आदि शब्दों का प्रयोग देखने को मिलता है।[4]

---

[1] निराउध कियौ तदि **सोनानांमी**, केस उतारि विरूप कियौ।
छिणियै जीवि जु जीव छंडियो, हरि हरिणाखी पेखि हियौ॥
—वेलि क्रिसन रुकमणी री, राठौड़ प्रथीराज

---

[1] गोळा तीर आछूटै गोळा, दोळा आलम तणा दळ।
पड़ दड़अड़ चड़यड़ चहुंपासै, खूमांणौ लूंविया खळ॥
पातल हरा ऊपरा पड़भव, खळ खूटा तूटा खड़ग।
पांडवनांमी नीठ पाड़ियो, लग ऊगमण आथमण लग।
—गीत भीमसिंह सीसोदिया रौ : रच०—खेमराज दधवाड़िया।
(ना० प्र० प०, भाग १ के पृष्ठ १६० से बाबू रामनारायण दूगड़ के एक लेख से उद्धृत)

[2] घावां वाणासां तिलक्कां धू सांवलां गंगाजळां घोख,
वील पत्रां कटारां अखत्रां गोळी वांण।
सोर धुवां झाळां दीपमाळां गोळां फणां सेस,
पूजै यूं सतारा दळां माहेस पीठांण॥ १
हरी हरा रट्टां चहूं तरफ्फां असीस होत,
नमैं सट्टी सट्टां धार खत्रीवट्टां नेम।
पड़ै पावां सार भट्टां हजारां अगुट्टां पेस,
अरच्चै **भूतेसनांमी** मरहट्टा येम॥ २
—गीत आसोप ठाकुर महेसदासजी रौ : रच०—उमेदराम सांदू

[3] हुवै मुहमेज दळ सबळ मंगळ हुवै।
जुबै जोधार जुव सार जाय जाडौ॥
लीजते साथ भारथ 'गंग' लसतां।
आवीयौ 'जैत' **ससमाथ** आडौ॥
—राव गांगैजी रौ गीत (ठाकुर जैतसी री वात

[4] हिन्दी भाषा में भी इस प्रकार के प्रयोग पाये जाते हैं, यद्यपि राजस्थानी की अपेक्षा उनमें जटिलताएँ कम हैं—
१ रामचरित मानस में एक स्थान पर ऐसा प्रयोग मिलता है—
'विप्र श्राप तें दूनउ भाई, तामस असुर देह तिन्ह पाई।
कनककसिपु अरु हाटक लोचन, जगत विदित सुरपति मद मोचन॥
—वालकांड १२१/३
इसमें हिरण्यकशिपु के लिए 'कनकसिपु' तथा हिरण्याक्ष के लिए 'हाटकलोचन' का प्रयोग द्रष्टव्य है। सोने के पर्यायवाची शब्दों में हिरण्य, कनक तथा हाटक तीनों हैं, अतः हिरण्य के लिए 'कनक

कुछ शब्दों का उच्चारण राजस्थानी में कुछ विशेष प्रकार का होता है। अंग्रेजी के Hot (हॉट) एवं Call (कॉल) के समान ही इनका उच्चारण होता है। ऐसे उच्चारणों के लिए किसी अलग चिह्न द्वारा चिह्नित न होने के कारण बहुत से शब्दों के दोनों उच्चारण प्रचलित हो गए हैं, यथा–

कांम शब्द का उच्चारण

(१) कांम

(२) कॉम

राजस्थानी व्याकरण

संज्ञा–राजस्थानी में व्यञ्जनान्त अन्त्य स्वर[1] अधिकतर निम्नलिखित मिलते हैं—

आ–वांमा, रमा आदि।

इ–कवि, रवि आदि।

ई–सगती, मुगती, माळी, दही, रोही आदि।

उ–भानु।

ऊ–भालू, चक्कू, डाकू आदि।

ए–

ऐ–नेपै, रावळै।

औ–घोड़ौ, लड़कौ, बेटौ, कोठौ, माटौ इत्यादि।

एवं हाटक' का प्रयोग कर दिया गया है। (प्रथीराज राठौड़ द्वारा रचित वेलि क्रिसन रुकमणी री' में दोहा १३४ में प्रयुक्त 'सोना-नांमी' से इस प्रयोग को मिलाइये।

२ संस्कृत के 'द्विरेफ' शब्द की उत्पत्ति में भी यही प्रवृत्ति कार्य कर रही है। द्विरेफ का अर्थ है दो रेफ वाला, अर्थात् जिसमें दो रेफ हों। चूंकि भ्रमर शब्द में दो रेफ हैं अतः 'द्विरेफ' भी भ्रमर का पर्याय बन गया। इस प्रकार के शब्दों को Irony कहते हैं। देखिये—Elements of Science of Language, by Taraporewala, Page 98-99, Para 79.

[1] राजस्थानी में व्यंजनांत (हलंत) शब्दों की अंतिम व्यंजन ध्वनि या तो लुप्त हो जाती है या अ जोड़ कर अकारांत बनादी जाती है, यथा—मन (मनस्), जग (जगत्) आदि। अपभ्रंश में भी यही परंपरा मिलती है, देखो—हिन्दी साहित्य का वृहत इतिहास, प्रथम भाग; सं०—राजबली पांडे, पृ. ३२२।

अन्त्य व्यञ्जन साधारणतः निम्नलिखित हैं—

क–नाक, चाक, चमक, लटक आदि।

ख–राख, पंख, आंख, परख आदि।

ग–साग, आग, रोग, चंग आदि।

घ–वाघ, जांघ, ऊंघ आदि।

ड़–वाड़, नाड़, पीड़, मोड़ आदि।

च–आंच, नाच, काच, मच आदि।

छ–छाछ पांछ आदि।

ज–राज, काज, लाज आदि।

झ–सांझ, वांझ आदि।

ट–वाट, दाट, पेट, ईंट, ऊँट आदि।

ठ–ओठ, सेठ, मठ आदि।

ड–सांड, लाड आदि।

ढ़–कोढ़, वाढ़ आदि।

ण–मांण, कांण, वांण आदि।

त–मात, पित, रेत, पोत आदि।

थ–हाथ, थोथ, नथ आदि।

द–दाद, तूंद, मोद, नाद आदि।

ध–कांध, दूध।

न–कांन, मन, तन आदि।

प–पाप, वेप, सांप, कप आदि।

फ–वाफ, वरफ, सूंफ आदि।

ब–अरब, गरब, आब आदि।

भ–लाभ, गरभ, नभ, आभ आदि।

म–कांम, नांम, विदांम, दम आदि।

य–हाय, राय आदि।

र–हार, खुर, अमचूर आदि।

ल–काल, रेल आदि।

ळ–काळ, दाळ, साळ आदि।

व–गांव, घाव आदि।

व़–वाव़।

स–हूंस, बांस, ओस, उसांस आदि।

ह–उछाह, कलह आदि।

लिङ्ग—स्वाभाविक रूप से पुरुप, स्त्री एवं नपुंसक ये तीन वर्ग प्रकृति में मिलते हैं। इसी कारण प्रायः कई भाषाओं में

इन तीनों का प्रयोग हुआ है। प्राचीन पश्चिमी राजस्थानी, मराठी एवं गुजराती—इन तीन भाषाओं में ये तीनों लिङ्ग पाये जाते रहे हैं। प्राचीन राजस्थानी के बाद निरंतर दो ही लिङ्ग मानने की ओर राजस्थानी में झुकाव रहा। आज प्रायः पु० एवं० स्त्री० इन दो ही लिङ्गों का प्रयोग होता है।[1] स्थान-भेद के कारण विभिन्न बोलियों में कुछ लिङ्ग-भेद मिलते हैं। **स्नांन** को पु० माना गया है, किन्तु जैसलमेर की ओर स्थानीय रूप में इसे स्त्री० माना गया है। परन्तु प्रामाणिक रूप से शब्दों का **मानकीकरण** Standard प्रायः स्थिर है।

आधुनिक रूप में राजस्थानी में नपुंसक लिंग नहीं है। किन्तु प्रकृत्यनुसारी पु० एवं नपुं० लिङ्ग का थोड़ा-सा भेद कर्मकारक के परसर्ग **नै** प्रयोग में अवश्य दृष्टिगत होता है, यथा—

१ माळी **नै** बुलावौ।
२ घोड़ी **नै** खोलदौ।
३ वळीतौ लाश्रो।

अन्य परसर्गों में लिङ्ग विकार होता है किन्तु **नै** नपुं० के समान दोनों लिङ्गों में समान रूप प्रयुक्त होता है।

प्रायः राजस्थानी में तद्भव शब्दों का लिङ्ग वही है जो तत्सम रूपों का है। तत्सम रूपों से उन तद्भव रूपों तक आते-आते कुछ घिसा-पिटी इस प्रकार की हो गई है कि अन्य भाषा-भाषियों के लिए राजस्थानी का लिङ्ग समस्या कुछ दुरूह-सी हो गई है। यह दुरूहता केवल राजस्थानी में ही नहीं है अपितु हिन्दी तथा कुछ अन्य आर्य भाषाओं में भी वैसी ही है, यथा—

पु०	स्त्री०
हिसाब	किताब
व्याल्	वेल्
सूत	लूट
दाग	आग

साधारण जन के लिए यह दुरूह है कि जब **हिसाब** पुलिंग है तो **किताब** स्त्री० क्यों है ? **मकान** शब्द पु० है, जबकि **दुकांन** व **कबांन** शब्द स्त्री० है। इससे जन-साधारण की धारणा कुछ इस प्रकार की बनती है कि यह लिङ्ग-विधान नितांत अनियमित है। मेरी 'राजस्थांनी व्याकरण' में मैंने इस लिङ्ग-विधान की विवेचना एवं व्याख्या करने का प्रयत्न अवश्य किया है तथापि उसी क्रम में आने वाले विभिन्न-लिंगी शब्दों को अपवाद माना गया है। तब भी लिङ्ग-विधान के विकास-क्रम की कुछ अधिक सूक्ष्म एवं सरलतर व्याख्या की आवश्यकता है। यह समस्या उस समय और भी जटिल हो जाती है जबकि तत्सम रूपों का लिङ्ग तद्भव रूपों में परिवर्तित रूप में प्रचलित हो जाता है, यथा—

संस्कृत	राजस्थानी	
अग्नि (पु०)	आग (स्त्री०)	[प्राचीन पश्चिमी राजस्थानी में अगि पु० में प्रयुक्त हुआ है।]
देवता (स्त्री०)	देवता (पु०)	[इन्द्रिय-पराजय-शतक का बालावबोध—८३।]

तत्सम रूपों के नपुंसक लिङ्ग के बारे में यह माना गया है कि वे पु० एवं स्त्री० में बँट गए हैं। अतः इस बँटवारे में सम्बन्धित भाषाओं ने स्वतंत्र विचार द्वारा लिङ्ग निश्चित किए हैं। इस प्रस्तुत कोश में भी प्रामाणिक लिङ्ग रूपों को ही प्रस्तुत किया गया है। प्रचलित पु० शब्दों के साथ ही उनके स्त्री० रूप दे दिए गए हैं। अलग स्त्री० रूप उन्हीं शब्दों के दिए गए हैं जिनका पु० रूप बहुत कम प्रयुक्त होता है। अतः प्रचलित शब्दों के स्त्री० शब्दों को उनके पु० रूपों में ही खोजने का प्रयत्न करना चाहिये।[1]

---

[1] लिंग sex पर आधारित न होकर व्याकरण पर आधारित है। इस सम्बन्ध में निम्नलिखित उद्धरण उल्लेखनीय है—
"The gender is not based on sex distinctions, but as in the Semitic and Indo-European families it is "grammatical". Perhaps it would be more correct to say that nouns are divided into two classes, which answer more or less to our masculine and feminine genders. As a general rule the big and strong things are 'masculine' and the weak and small things are feminine."
—Elements of Science of Language, by Taraporewala, Page 358, Para 240 (iii)

[1] कुछ प्राणीवाचक शब्द सदैव पु० रूप में ही प्रयुक्त होते हैं, यथा—बावहियौ, माछर, कागलौ आदि तथा कुछ सदैव स्त्री० रूप में ही प्रयुक्त होते हैं, यथा—कोयल, मैना, चील, उदेई, चुड़ैल आदि।

वचन— संस्कृत में एकवचन, द्विवचन एवं बहुवचन तीनों का प्रयोग होता था। मध्य भारतीय आर्य भाषा काल के प्रारम्भ में ही द्विवचन लुप्त हो गया।[1] इसी उत्तराधिकार के फलस्वरूप आधुनिक आर्य भाषाओं में केवल दो ही वचन होते हैं—एकवचन एवं बहुवचन। आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओं के प्रारम्भिक काल तक प्राचीन भारतीय आर्य भाषा का पु० प्रथमा, बहुवचन का प्रत्यय आ अपभ्रंश की पदांत ह्रस्व-स्वर लोप की प्रवृत्ति के कारण समाप्त हो गया।[2] यथा—सं० एकवचन पुत्र, बहुवचन पुत्राः। राजस्थानी में यह प्रवृत्ति विसर्ग लोप के साथ कुछ उलटफेर से अब भी प्रचलित है। यहां **अकारांत** एकवचन शब्दों का बहुवचन अंत्य-स्वर के बदले **आं** करने से बनता है, यथा—

	एकवचन	बहुवचन
पु०	नर	**नरां**
	खेत	**खेतां**
	कायर	**कायरां**
स्त्री०	रात	**रातां**
	चील	**चीलां**

इकारांत एवं ईकारांत एकवचन शब्दों के बहुवचन रूप में **यां** लगाया जाता है—

	एकवचन	बहुवचन
पु०	कवि	**कवियां**
	तेली	**तेल्यां, तेलियां**
स्त्री०	मूरती	**मूरत्यां, मूरतियां**
	रोटी	**रोट्यां, रोटियां**
	घोड़ी	**घोड़्यां, घोड़ियां**

औकारांत शब्दों के बहुवचन रूप **आकारांत** हो जाते हैं, यथा—

	एकवचन	बहुवचन
पु०	घोड़ौ	**घोड़ा**
	भालौ	**भाला**
	पोतौ	**पोता**

[1] हिन्दी साहित्य का वृहत् इतिहास, प्रथम भाग—सं० राजबली पांडे, पृ० २६६।

[2] हिन्दी भाषा का उद्गम और विकास—उदयनारायण तिवाड़ी, पृ० ४३४।

राजस्थानी में प्रायः **औकारांत** शब्द स्त्रीलिंग नहीं होते। लिंग परिवर्तन में उनका रूप **ईकारांत** अथवा **अकारांत** हो जाता है। अपवादस्वरूप एक अक्षरिक जो स्त्रीलिंग **औकारांत** शब्द मिलते हैं उनका बहुवचन रूप **वां** लगने से होता है, यथा—

पौ एक व० का **पौवां** बहु० व०

गौ एक व० का **गौवां** बहु० व०

आकारांत एवं **ऊकारांत** शब्दों में भी **वां** लगा कर उनका बहुवचन रूप बनाया जाता है, यथा—

एकवचन	बहुवचन
मा	**मावां**
लू	**लूवां**
बहू	**बहुवां**

उपरोक्त रूपों के अतिरिक्त कुछ शब्दों की सहायता से भी बहुवचन प्रकट किया जाता है। प्रायः ये शब्द-समूह का बोध कराते हैं। इस प्रकार के शब्दों का योग होने पर कारक परसर्ग संज्ञा पद के साथ न लग कर इन्हीं शब्दों के बाद लगते हैं। इस प्रकार के कुछ शब्द ये हैं—**लोग, सब, सैंग** (अथवा इनके रू०भे०) **गण** आदि। उदाहरणस्वरूप निम्न-लिखित प्रयोग द्रष्टव्य हैं—**राजा लोग, कवि लोगां सूं, सैंग तारां, सैंग जणा** आदि।

जैसलमेर आदि स्थानों में स्त्रीलिंग शब्दों के बहुवचन रूप **एकारांत** होते हैं, यथा—

एकवचन	बहुवचन
रोटी	**रोटैं**
सती	**सतैं**
ओल	**ओलैं**

एकवचन एवं बहुवचन तथा इनके कारक प्रत्ययों की विवेचना करने का यहाँ हमारा उद्देश्य नहीं है। यह कार्य वैयाकरणों एवं व्याकरण का है। प्रस्तुत कोश में एकवचन शब्दों को ही उपस्थित किया गया है। व्याकरण के नियमानुसार उनका बहुवचन रूप स्वयमेव समझ लेने का प्रयत्न अधिक उचित होगा। अपवादस्वरूप कुछ शब्द अपने बहु-वचन रूप में ही प्रयुक्त होते हैं। उनका एकवचन प्रायः होता ही नहीं, अगर होता है तब भी वह अत्यन्त महत्वहीन होता

है। वे सदा बहुवचन रूप में ही सार्थक होते हैं, यथा—**परियां**[1], **कंपा (चित्रां), आखा** आदि।

इस प्रकार के शब्दों को सोल्लेख उपस्थित किया गया है। फिर भी मोटे रूप से हमने कोश को कोश ही बनाये रखना वांछनीय समझा है, उसे व्याकरण बनाने का उद्देश्य हमारा कदापि नहीं है। प्रत्येक भाषा के अपने स्वयं के व्याकरण सम्बन्धी कुछ नियम होते हैं। जब कोई भाषा अन्य भाषाओं से किन्हीं शब्दों को ग्रहण करती है तब उन शब्दों को वह भाषा अपने व्याकरण के ढाँचे के अनुकूल ढाल लेती है। राजस्थानी में भी विदेशी शब्दों को स्वदेशी रूप में बहुवचनान्त बना लिया जाता है, यथा—

विदेशी एकवचन शब्द	स्वदेशी बहुवचनान्त रूप
स्टेशन, स्टेसन	**स्टेसनां**
मोटर	**मोटरां**
टिकट	**टिकटां**

कारक—भारत की प्राचीन भाषाओं तथा योरोपीय भाषाओं में संज्ञाओं का सम्वन्ध उपसर्गों (Preposition) द्वारा प्रकट कर दिया जाता था। इनके अतिरिक्त अरबी-फारसी आदि भाषाओं में भी उपसर्गों की सहायता से कारक प्रकट किये जाते हैं। किन्तु भारतीय भाषाओं में प्राचीन काल से ही कुछ परिवर्तन दृष्टिगोचर होने लगा था। इस परिवर्तन के अनुसार उपसर्ग क्रियाओं के साथ जुड़ने लगे और संज्ञाओं के कारक सम्वन्ध नियमित करने का इनका कार्य समाप्त हो चला। इस काल के उपरांत शब्दों के प्रातिपदिक रूप में विभक्ति-प्रत्यय लगा कर भिन्न-भिन्न कारक रूप निष्पन्न किये जाते रहे। प्राचीन भारतीय आर्य भाषा, यथा—संस्कृतादि में छः कारक (संस्कृत में सम्वन्ध एवं संबोधनकारक का समावेश नहीं था। राजस्थानी में इन दोनों को मिला कर कारक संख्या आठ मानी जाती है) माने गये और प्रत्येक कारक का एकवचन, द्विवचन एवं बहुवचन का रूप अलग-अलग विभक्ति प्रत्ययों के योग से बनता था। इस दृष्टि से प्रत्येक शब्द के सामान्य रूप से चौवीस रूप होते थे। शब्दों के कारक रूपों में समीकरण की प्रवृत्ति के प्रसार के साथ ही प्राचीन भारतीय आर्य भाषाओं में शब्द रूपों की बहुलता निरंतर कम होती गई एवं केवल पांच-छः रूप ही शेष रह गये। अपभ्रंश काल में तो शब्द-रूपों के अनुसार कारकों के केवल तीन ही वर्ग शेष बच रहे।

ध्वनि-परिवर्तन के कारणवश विभक्ति प्रत्ययों के मूल रूप की अस्पष्टता अपभ्रंश काल तक इस अवस्था में पहुँच गई कि कारक प्रकट करने के लिये सहायक शब्दों का प्रयोग आवश्यक माना जाने लगा। आगे चल कर विभक्ति प्रत्ययों में और भी कमी हो गई। केवल कर्ता बहुवचन, करणकारक, सम्वन्ध बहुवचन और अधिकरण एकवचन के विभक्ति प्रत्यय ही जिस किसी रूप में शेष बच पाये, किन्तु उनमें समानता न रही।

राजस्थानी में कारकों के निर्विभक्तिक और सविभक्तिक रूप दोनों देखने को मिलते हैं। विभक्ति चिन्ह इस भाषा में अन्य भाषाओं की अपेक्षा कुछ अधिक एवं अनेक रूपों में मिलते हैं, यथा—

कारक	विभक्तियां	विभक्ति चिन्ह
करता	प्रथमा विभक्ति	×
करम	द्वितीया विभक्ति	**नै, नूं, नां, को, कूं।**
करण	तृतीया विभक्ति	**सूं, ऊँती, ती, सेती, सात, हूंत, हूंता, सां, सै, संथो।**
संप्रदान	चतुर्थी विभक्ति	**रै, कै, बैई, वैई, लिये, आंटा, माटै, आंटै, वासतै, कारण, सारू, तांई।**
अपादान	पंचमी विभक्ति	**तृतीया विभक्ति के समान।**
सम्वन्ध	षष्ठी विभक्ति	**रा, री, रै, रौ, का, की, के, को, चो, चा, च, ची, तणौ, तणी**[1]**, तण।**
अधिकरण	सप्तमी विभक्ति	**मैं, में, मांय, परे, पै, माथै, ऊपरै, तांई, तक, खनै,**

[1] पूर्वजों के अर्थ में।

[1] 'तण' का प्रयोग हेमचंद्र के दोहों में षष्ठी वाले रूपों के साथ भी मिलता है। बाद में जाकर इन्हीं से राजस्थानी में तणा-तणी का विकास हुआ है—देखिये—'हिन्दी का वृहत् इतिहास', प्रथम भाग, सं० राजवली पांडे, पृ० ३२६।
(मेरे द्वारा लिखित 'राजस्थांनी व्याकरण, पृष्ठ ३८)

कनै, नखै, नकै, खंडे, खूंडै,
गोडै, दीहा, पां, दीसा, वळ,
वलाकौ, पाहै, पास, पासै,
पागती, पसवाड़ै, पा'ड़ै
पासड़ै ।

सम्बोधन अष्टमी विभक्ति हे, हो, अरे, ओ ।

राजस्थानी में विभक्तिसहित बहुवचन बनाने के कुछ विशेष नियम हैं। यह व्याकरण का विषय होने के कारण उसका विस्तारपूर्वक उल्लेख यहाँ संभव नहीं है, तथापि कुछ विशिष्ट विशेषताओं से परिचित कराना विषयान्तर न होगा।

बहुवचन बनाने में अकारांत विकारी शब्द आंकारांत तथा आकारांत विकारी शब्द आंकारांत या वांकारांत हो जाते हैं, यथा–

एकवचन	बहुवचन
घर	घरां (नै)
बात	बातां (सूं)
खेत	खेतां (में)
राजा	राजाआं, राजावां (नै)
पिता	पिताआं, पितावां (नै)

इकारांत तथा **ईकारांत** शब्दों को बहुवचन बनाने के लिये **इकारांत** शब्दों में **यां** जोड़ा जाता है एवं **ईकारांत** शब्दों में ई को ह्रस्व कर **यां** जोड़ दिया जाता है—

एकवचन	बहुवचन
कवि	कवियां
टोपी	टोपियां
घोड़ी	घोड़ियां

उकारांत तथा **ऊकारांत** शब्दों को बहुवचन बनाने के लिये **उकारांत** शब्दों में **आं** अथवा **वां** जोड़ दिया जाता है एवं **ऊकारांत** शब्दों में ऊ को ह्रस्व कर **आं** या **वां** जोड़ा जाता है—

एकवचन	बहुवचन
साधु	साधुआं, साधुवां
चरू	चरुवां

एकारांत शब्दों को बहुवचन बनाने के लिये **आंकारांत** एवं **हांकारांत** बनाया जाता है, यथा–

एकवचन	बहुवचन
मे	मेआं, मेहां
खे	खेआं, खेहां

ऐकारांत शब्द दोनों वचनों में समान-रूप से प्रयुक्त होते हैं—

एकवचन	बहुवचन
रावळै	रावळै (पु०)
कलै	कलै (स्त्री०)

औकारांत शब्दों का बहुवचन **आकारांत** करने पर हो जाता है, यथा–

एकवचन	बहुवचन
दादौ	दादां, दादा
छोकरौ	छोकरां, छोकरा

कुछ विशिष्ट परसर्गो का विवेचन करना इस दृष्टिकोण से उचित होगा–

नै– इस परसर्ग का व्यवहार राजस्थानी की एक प्रमुख विशेषता है। कुछ अन्य भाषाओं में भी इसका व्यवहार परसर्ग के रूप में होता है। प्रायः इसके स्थान पर यदा-कदा **नूं, कूं, कौ, नां** आदि भी प्रयुक्त होते हैं—

१ घोड़ां **नै** मारौ।
२ घोड़ां **नूं** मारौ।
३ घोड़ां **कूं** मारौ।
४ घोड़ां **कौ** मारौ आदि।

जो अप्राणीवाचक शब्द हो, उसके साथ साधारणतया **नै** का प्रयोग नहीं किया जाता, यथा–

१ कपड़ा खोल दौ।
२ घास काटौ।
३ नळ खोल दौ।

किन्तु जोश, क्रोध, गर्वोक्ति, उद्देश्य-विधेय, निश्चयात्मक भावों आदि में **नै** लगाना आवश्यक है अन्यथा भाव विशेष अस्पष्ट रहेगा एवं साधारण भाव ही प्रकट होगा।

इस **नै** परसर्ग की व्युत्पत्ति के विषय में विद्वानों में काफी मतभेद है। प्रायः इसका सम्बन्ध प्राचीन भारतीय आर्य भाषा की करण-कारक एकवचन की विभक्ति **एन** से जोड़ते हैं एवं वर्ण-

व्यत्यय से एन का ने में परिणत होने का अनुमान करते हैं, किन्तु यह मत ठोस प्रमाणों पर आधारित नहीं माना जाता। डा० चाटुर्ज्या इस परसर्ग की व्युत्पत्ति सं० शब्द कर्ण से मानते हैं। उनके अनुसार इस परसर्ग का प्राचीन रूप कनै था। राजस्थानी में आधुनिक काल में भी यह शब्द 'समीप' के अर्थ में प्रयुक्त होता है, यथा-म्हारै कनै आव (मेरे पास आ)। सं० कर्ण मध्य भारतीय आर्य भाषा काल में कन्न एवं अपभ्रंश में इसका अधिकरण रूप कन्नहि बनता है, जिसमें क तथा ह् के लोप से नइ और गुण द्वारा नै रूप निष्पन्न हुआ। संस्कृत कर्ण का शब्दार्थ कान होते हुए भी यह सामीप्य का बोधक है। अत: राजस्थानी में भी यह संज्ञा एवं क्रिया के मध्य संबंध स्थापित करने में प्रयुक्त होता रहा है।[1]

हम ऊपर लिख चुके हैं कि को राजस्थानी में नै परसर्ग के स्थानापन्न रूप में प्रयुक्त होता है, यथा-

रांम नै रोटी घालौ।
रांम को रोटी घालौ।

अन्य भाषाओं में इन परसर्गों के प्रयोग से अर्थान्तर हो जाता है, यथा-

रांम ने रोटी खाई।
रांम को रोटी डालिये।

राजस्थानी में इस प्रकार का विभेद नहीं है।

निम्नलिखित उदाहरणों से परसर्गों की व्याख्या अधिक स्पष्ट हो जायगी—

१ करम-

(i) रथ थंभि सारथी विप्र छंडि रथ, औ पुर हरि बोलिया इम।
आयौ कहि, कहि नांम अम्हीणौ, जा सुख दे स्यांमा नै जिम ॥—वेलि. ६९

(ii) आजूणउ घन दीहड़उ, साहिब कउ मुख दिट्ठ।
माथा भार उळथ्यियउ, आंख्यां अमी पयट्ठ ॥
—ढो मा. ५३१

(iii) राजा राणी नूं कहइ, वात विचारउ जोइ।
आज विखइ थां दीकरी, हांसउ हसिली लोइ ॥
- ढो.मा. ७

२. करण-

(i) चकड़ोळ लगै इणि भांति सुं चाली,
मति तै वाखांणण न मूं।
सखी समूह मांहि इम स्यांमा,
सीळ आवरित लाज सूं ॥—वेलि. १०३

(ii) गाढह दाध्यउ दग्ग करि, सासू कहइ वचन्न।
करहउ ए कूड़इ मनइ, खोड़उ करइ यतन्न ॥
—ढो.मा. ३३५

३. सम्प्रदान-

(i) तदि नृप पग वंदि मुनि तणा, कोधज छिमा कराय।
साथ दिया लछमण सहित, रछ्या कजि रघुराय ॥
—सू.प्र., पृष्ठ २६

(ii) रोहड़ छळि राजा रतन।—वचनिका रतनसिंघजी री
(iii) सीख रतन कीधी स्रगि सारू।—वचनिका रतनसिंघजी री

४. अपादान-

(i) इंद्र मांगे जिन कनै (सूं) दक्षिणा।—अज्ञात
(ii) नदी हेम थी ले चली जांणि नीर।
—वचनिका रतनसिंघजी री

(iii) चीतारंती चुगतियां कुंझी रोयहियांह।
दूरां हुंता तउ पलइ, जऊ न मेल्हहियांह ॥
—ढो.मा. २०३

५. सम्बन्ध-

(i) करहा कहि कासूं करां, जो ए हुई जक्काह।
नरवर केरा माणसां, कारै कहिस्यां जाह ॥
—ढो.मा. ४४५

(ii) साहिब आया, हे सखी, कज्जा सहु सरियांह।
पूनिम-केरे चंद ज्यूं, दिसि च्यारे फळियांह ॥
—ढो.मा. ५२८

(iii) साल्ह चलंतइ परठिया, आंगण वीखड़ियांह।
कूवा-केरी कुहड़ि ज्यूं, हियड़इ हुइ रहियांह ॥
—ढो.मा. ३६७

(iv) सखी अमीणां कंत री, औ इक वडौ सुभाव।
गळियारां ढीलौ फिरै, हाकां वागां राव ॥
—हा.झा. १७

(v) सिंघ सरस रायसिंघ रै रहियौ झूझै रांम।
आड़ौ सरवहियौ अछै कळह तणौ घरि कांम ॥
—हा.झा. ३६

[1] हिन्दी भाषा का उद्गम और विकास—डॉ० उदयनारायण तिवारी, पृष्ठ ४४०-४४१।
राजस्थानी में सामीप्य के बोधक इस प्रकार के अनेक अंगवाची शब्द मिलते हैं = गोडै, नखै, पाहडै आदि।

(vi) विढंतौ जसौ विसकन्या वाखांणियौ ।
परणती कंथ चौ मुरड़ पहचांणियौ ॥—हा. झा. २५

(vi) कांम संग्राम चौ हांम जुध कांमणी ।
घणा नर जोवती भोमि आई धणी ॥—हा.झा. २२

(vii) जिण दीध जनम, जगि, मुखि दे जीहा,
क्रिसन जु पोखण भरण करै ।
कहण तणौ तिणि तणौ कीरतन,
स्रम कीधां विणु केम सरै ॥—वेलि. ७

(viii) ग्रहे अंत्रावळि उड़ि चली ग्रीभणी ।
त्रिहूं भुयण रही वात सोहड़ां तणी ॥—हा.झा. ४७

(ix) संहितासु तणै पुत्र अक्कसासु(स) ।
अक्कसासु तणै पुत्र जवनग्सु ॥—सू.प्र पृष्ठ ११

(x) फिरि फिरि झटका जे सहै हाका वाजंतांह ।
त्यां घरि हंदी बंदड़ी घरणी कापुरसांह ॥
—हा.झा. ३८

७. अधिकरण—

(i) कुंदणपुर हूंता वसां कुंदणपुरि,
कागळ दीधौ एम कहि ।
राज लगें मेल्हियौ रुखमणी,
समाचार इणि मांहि सहि ॥—वेलि. ५६

(ii) सींगण कांइ न सिरजियां, प्रीतम हाथ करंत ।
काठी साहंत मूठि-मां, कोडी कासो संत ॥
—ढो.मा. ४१६

(iii) मारु लंक दुइ अंगुळां, वर निर्तंव उर मंस ।
मल्हपइ मांझ सहेलियां, मांन सरोवर हंस ॥
—ढो.मा. ४६१

(iv) वपु नीलवसन मझि इम वखांण ।
जगमगत घटा मझि छटा जांण ॥
—सू.प्र., पृष्ठ १५

(v) सींगाळो अवखल्लणी, जिण कुळ हेक न थाय ।
नास पुराणी वाड़ जिम, जिण जिण मत्थै पाय ॥
—हा.झा. ३२

(vi) घणा मझ घातियां भार झालै घणी ।
बहुत अवगुण कियां थोड़हो बीजणी ॥
—हा.झा. १५

(vii) मधि त्रेता जुग चैत्रमास, सकंति-मेखि सरि ।
करक लगन पख सुकळ, घरा पुन्नवसु नखित्र धुरि ॥
सू.प्र., पृष्ठ २०

(viii) रमै हसै नरिंदरं, मझार राज मिंदरं ।
करै उछाह सुक्किया, पचास सातसै प्रिया ॥
सू.प्र., पृष्ठ २२

(ix) अणी चढ़ि खेति जसवंत सूं आहुड़ी ।
पिय नखै पौढ़सी नहीं परिहारड़ी ॥—हा.झा. ३१

परसर्गोरहित कारक विभक्तियों के उदाहरण—

१. कर्त्ता—

(i) सीखावि सखी राखी आखै सुजि, रांणी पूछै रुखमणी ।
आज कहौ तौ आप जाइ आवूं, अंब जात्र अंबिका तणी ॥
—वेलि. ७६

(ii) तरै वांण वांदे गयौ देखि तासं ।
सुरांराज झल्ले न हल्ले सरासं ॥—सू.प्र., पृष्ठ २८

२. करम—

(i) दुसटां रचियौ दाव, द्रोपद (को) नागी देखवा ।
अब तो वेगो आव, साय करण नै सांवरा ॥
—द्रो पु. ५०

(ii) हलै हेक राई न को स्रम्म होतां ।
जत्ती जीव चालै न ज्यूं वांम (को) जोतां ॥
—सू.प्र., पृष्ठ २८

३. करण—

(i) सांवण आयउ साहिबा, पगइ (से) विलंबी गार ।
व्रच्छ (से) विलंबी वेलड़ियां, नरा (से) विलंबी नार ॥
—ढो.मा. २६६

४. सम्प्रदान—

(i) हंसां (के लिये) नग हरनूं तुचा, दांत किरातां (के लिए) दीध ।
—बां.दा.

(ii) प्रिव माळवणी परहरे, हालयउ पुंगळ (के लिये)देस ।
ढोला म्हां विच मोकळा, वासा घणा वसेस ॥
—ढो.मा.

५. अपादान—

(i) कुमकुमै मंजण करि धोत वसत धरि,
चिहुरे (से) जळ लागौ चुवण ।—वेलि. ८१

(ii) ऊनमियउ उत्तर दिसइं, गाज्यउ गुहरि गंभीर ।
मारवणी प्रिय संभरयउ, नयणे (से) वूठउ नीर ॥
—ढो.मा. १८

६. सम्बन्ध—

(i) केवियां (के) दळ नंडळ जेगि किया ।
दन सांसण लक्ख गजेन्द्र दिया ॥
—वचनिका रतनसिंघजी री

(ii) छुटै अम्रताधार अप्पार छंदं।
चवै वंस (का) वाखांण वे भांग चंदं ॥—सू.प्र. २८

(iii) इंद्रां (का) वाहण नासिका, तासु तणइ उणिहार।
तस भख हूवउ प्राहुणउ, तिणि सिणगार उतार ॥
—ढो.मा. ५८०

(iv) पछें जमी आकास, पवन पांणी, चंद सूरज नूं प्रणांम करि आरोगी (क) दोळी परिक्रमा दीन्ही।
—वचनिका रतनसिंघजी री

७. अधिकरण—

(i) रचे चितामणी सु हार, कठि (में) रंक कीजियै।
पलं पलं विलोकि पुत्र, जेण भांति जीजियै ॥
—सू.प्र., पृष्ठ २५

(ii) सखिए, साहिब आविया, जांहकी हूंति चाइ।
हियडउ हेमांगिर भयउ, तन पंजरे (में) न माइ ॥
—ढो.मा.

(iii) चंचळां (पर) चढ़ि महा सरवर री पाळि आइ ऊभी रही—
—वचनिका रतनसिंघजी री

८. सम्बोधन—

(i) सखिए साहिब ! आविया, मन चाहंदी मोइ।
वाड़ी हुवा वधांमणा, सज्जण मिळिया सोइ ॥
—ढो.मा. ५३२

(ii) रजस्वळा नारीह ! कथा गोप किणसूं कहूं।
समझो हरि सारीह, (म्हारी) सरम मरम री सांवरा ॥
—द्रो०पु० ४७

प्रस्तुत कोश में मूल शब्दों को ही स्थान दिया गया है। शब्दों के अर्थ के प्रमाण में दिये जाने वाले उदाहरणों में कहीं-कहीं उसी शब्द का परिवर्तित रूप लिख दिया गया है, किन्तु वे मूल शब्दों की भूमि को अधिक स्पष्ट करते हैं। विकारी शब्दों के उपरोक्त उदाहरणों में शब्दों के परिवर्तित एवं मूल रूप का सम्बन्ध पूर्णतया स्पष्ट हो जाएगा।

सर्वनाम—

वैदिक तथा पाणिनिकालीन संस्कृत के विभिन्न सर्वनामों का स्थिरीकरण पर्याप्त रूप से हो चुका था। किन्तु कालांतर में प्राकृत, अपभ्रंश एवं राजस्थानी आदि आधुनिक आर्य-भाषाओं तक आते-आते सर्वनाम के इन रूपों में काफी परिवर्तन दृष्टिगोचर होने लगा। राजस्थानी में भी विकल्प से सर्वनामों के अनेक रूप उपलब्ध हैं, किन्तु उन सभी को कतिपय मूल रूपों के अन्तर्गत लाया जा सकता है।

समय के बीतने के साथ ही संज्ञापदों की भाँति सर्वनामों के विकारी रूपों का भी लोप होता गया। प्राचीन काल की आर्य भाषा संस्कृत में उत्तम एवं मध्यम पुरुष में लिंग-भेद न था, केवल अन्यपुरुष के लिए इसका समावेश था, परन्तु समय की प्रगति के साथ ही इसका भी लोप हो गया। अगर वास्तव में देखा जाय तो राजस्थानी आदि आधुनिक भाषाओं के अंतर्गत सम्बन्धकारक के रूप विशेष्य के अनुसार होने के कारण वे विशेषण होते हैं, यथा—

(i) **मारी** घोड़ी
(ii) **मारौ** घोड़ौ

सर्वनाम के कई भेद बताये जाते हैं। डॉ० उदयनारायण ने नौ भेदों का उल्लेख किया है[1], किन्तु राजस्थानी में प्रायः सात प्रकार के भेद माने गये हैं[2] :—

१ पुरुषवाचक
२ निजवाचक
३ निश्चयवाचक
४ अनिश्चयवाचक
५ सम्बन्धवाचक
६ आदरसूचक
७ प्रश्नवाचक

---

[1] हिन्दी भाषा का उद्गम और विकास—डॉ० उदयनारायण तिवारी ने पृष्ठ ४६० पर निम्न लिखित नौ भेदों का उल्लेख किया है—

१. व्यक्तिवाचक या पुरुषवाचक (Personal)
२. उल्लेखसूचक (Demonstrative)
  (क) प्रत्यक्ष-उल्लेख-सूचक (Near Demonstrative)
  (ख) परोक्ष या दूरत्व उल्लेखसूचक (Remote Demonstrative)
३. साकल्यवाचक (Inclusive)
४. सम्बन्धवाचक (Relative)
५. पारस्परिक सम्बन्धवाचक (Co-relative)
६. प्रश्नसूचक (Interrogative)
७. अनिश्चयसूचक (Indefinite)
८. आत्मवाचक (Reflexive)
९. पारस्परिक (Reciprocal)

[2] राजस्थानी व्याकरण—मेरे द्वारा लिखित—पृ० ६८ से ७१

इनका विस्तार से उल्लेख 'राजस्थांनी व्याकरण' में किया जा चुका है। यहाँ संक्षिप्त विवेचन ही पर्याप्त होगा।

[क] उत्तमपुरुष—राजस्थानी में इसके निम्नलिखित रूप मिलते हैं।

	एकवचन	बहुवचन
अविकारी—	हूं, मूं, म्हैं	म्हे, म्हां, अमे, अमां
कर्म—	म्ह, मी, मो	म्हां
सम्बन्ध—	म्हारौ, म्हाअजौ	म्हांअली, म्हांअजौ, मांणौ
स्त्री०	म्हारी	मांणी

अविकारी मूं, म्हैं की उत्पत्ति[1] संस्कृत **मया+एन** से हुई है। प्राकृत के करणकारक में **मया—मए,** राजस्थानी में **म्हैं** रूप मिलता है। अपभ्रंश में इसके **मैं** तथा **मइँ** रूप हैं। इसी **मइँ** से मूं राजस्थानी रूप बना है। अनुनासिक होने का कारण वस्तुतः **एन** है। प्रायः सभी बोलियों एवं आर्य-भाषाओं में यह अनुनासिकता वर्तमान है।

बहुवचन रूप **अमे, अमां** की उत्पत्ति भी वैदिक **अस्मे** से ही हुई है। प्राकृत में **अस्में** का रूप **आम्हे** बना। इससे **आम्हि** बनता हुआ राजस्थानी में **अमें** या **अमां** रूप बहुवचन में मिलता है।[2]

संस्कृत के **अहकम्** का संक्षिप्त रूप अप० **हउँ** से राजस्थानी में **हूँ** हो गया। आधुनिक गुजराती में भी **हुं** का काफी प्रचलन है. यद्यपि यहाँ **अउँ** से ऊ के सबल रूप की अपेक्षा उँ वाले दुर्बल रूपों की प्रबल प्रवृत्ति है, तथापि आधुनिक राजस्थानी में **हूँ** रूप सुरक्षित है।

सम्बन्ध विकारी रूप **मुझ, मझ** की उत्पत्ति भी संस्कृत के **मह्यम** से हुई है। सं० **मह्यम** से प्राकृत में तथा अप० में **मज्झु** तथा राजस्थानी में **मुझ** या **मझ** होता है। गुजराती में इसी का रूप **मज** मिलता है। पुरानी राजस्थानी में अपवाद-स्वरूप **मेरउ** और **मोरउ** रूप भी मिलते हैं। ये दोनों रूप पूर्वी प्रदेश की ओर संकेत करते हैं और ब्रज तथा बुन्देली के विकारी रूप **मो, मे** के सदृश हैं। इन्हीं का बिगड़ कर आधुनिक राजस्थानी में **म्हारौ** या **मा'रौ** बन गये हैं।

आधुनिक राजस्थानी में **आंपांणै** या **आपांणौ** रूप भी मिलता है। प्रायः इसका प्रयोग उत्तमपुरुष सर्वनाम के ऐसे बहुवचन में होता है, जिसमें सम्बोधित व्यक्ति भी वक्ता द्वारा अपने में सम्मिलित कर लिया जाता है। प्राचीन राजस्थानी की पांडुलिपियों में यह **आंप, आंपे** रूपों में कर्ता के लिए तथा **आपां** रूप में सम्बन्ध विकारी के लिए आया है। इस द्वितीय रूप का सम्बन्ध स्पष्टतः अपभ्रंश के **अप्पांह, अप्पहँ** से है जो संस्कृत के **आत्मन्** से उत्पन्न हैं। आधुनिक राजस्थानी में इसका प्रयोग अविकारी कारकों के लिए भी बढ़ा दिया गया है।

[ख] मध्यमपुरुष—

	एकवचन	बहुवचन
अविकारी—	तूं, तूंह, थूं	तैं, थैं, थां
कर्म—	तइँ तुझे	तुम्ह, तुम्हां, थां
तिर्यक या विकारी—	तुझ	तुम्ह
सम्बन्ध (पु०)—	थांरौ	थांकौ, थांणौ
(स्त्री०)	थांरी	थांकी, थांणी

मध्यमपुरुष के रूप भी एकदम उत्तमपुरुष के समानान्तर ही मिलते हैं। वैदिक **तु-अम** में तूं या थूं की उत्पत्ति निहित है। वैदिक **तु-अस** से संस्कृत **त्वम्** या **त्वकम्**; प्राकृत **तू**, अपभ्रंश **तुहुं** उससे राजस्थानी रूप **तूं**, तउं मिलते हैं। इसी तूं का महाप्राण थूं भी प्रचलित हो गया। संस्कृत के **युष्मद (युष्मे)** प्रा० **तुम्हें** होता हुआ राजस्थानी में **तुम्ह, तुम्हां** या **थां** हो गया।

प्राचीन पांडुलिपियों में **तइं** का प्रयोग कर्म में भी हुआ है। यह **मइं** के समान ही विकारी रूप हो गया है—

सं० **त्वयां,** प्रा० **तइं, तइं,** राज० **तइं ति, तिइं** (कां.दे.प्र.)

सम्बन्ध विकारी **तुझ** की उत्पत्ति भी संस्कृत के **तुभ्यम** एवं अपभ्रंश के **तुज्झु** से हुई है। आधुनिक राजस्थानी का **थारौ** भी **तोरउ** रूप से बना है—

---

[1] संस्कृत के प्रसिद्ध विद्वान् स्व. पं. श्री नित्यानन्दजी शास्त्री ने इसकी उत्पत्ति संस्कृत-अस्मद् (अहम्) से मानी है। परवर्ती दोनों अक्षरों के वर्ण-विपर्यय और आदिम अकार के लोप से 'म्हे' रूप होना माना है।

[2] अपभ्रंश में भी सर्वनाम रूपों में अस्मत् शब्द के प्रथमा एक वचन में 'हउ', 'मइ-मइ' रूप देखे जाते हैं। बहुवचन में अम्हें, अम्हइ— हिन्दी साहित्य का बृहत् इतिहास, प्रथम भाग—सं० राजबली पांडे पृष्ठ, ३२४

सं० तुहकार्य, अप० तुहारउ, ताहरउ, तोरउ। इसका अधिकरण रूप **ताहरइ** बनता है।[1]

बहुवचन रूप **तुम्हे, तुम्हि, तम्हे, तम्हि, तुहे** आदि प्राचीन राजस्थानी में प्रयुक्त हुए हैं। ये सब अपभ्रंश के **तुम्हें** एवं संस्कृत के **तुष्मे** से बने हैं।[2] आधुनिक राजस्थानी में अविकारी कारक के लिये **तमे, थे** (प्राचीन पश्चिमी राजस्थानी में तुहे), विकारी के लिये **तमां, थां** जो प्राचीन पश्चिमी राजस्थानी के **तुम्हां** का परिवर्तित रूप है और सम्बन्धी-सम्बन्ध के लिये **तमांरौ** या **थांरौ (थारौ)** होता है।

विशेषण रूप होने के सम्बन्ध में डा० तैस्सितोरी ने अपने एक लेख Notes on the Grammar of the old western Rajasthani with special refernce to Apabhreamsa and Gujarati and Marwari'[3] में लिखा है—'सर्वनाम के जो रूप क्रिया विशेषण हो गये हैं, मुख्यतः उनके थोड़े से अपवादों को छोड़ कर ठेठ सर्वनाम विशेषण की तरह भी प्रयुक्त होते हैं और ठीक इसके विपरीत अधिकांश सार्वनामिक विशेषण स्वतंत्र सर्वनामों का भी कार्य करते हैं। मेरी राय में ऐसे ही भ्रम के कारण संभवतः अपभ्रंश **एह** (सं० **एष**) के सादृश्य पर **जेह, तेह, केह** जैसे रूप जो मूलतः सार्वनामिक विशेषण हैं, ठेठ सर्वनाम के क्षेत्र में आ गये।

(ग) अन्य पुरुष—

प्रत्यक्ष उल्लेख सूचक—

	एक व०	बहु व०
अविकारी —	**ओ**	**ए**
तिर्यक —	**इण**	**इन्हां**

परोक्ष उल्लेख सूचक—

	एक व०	बहु व०
अविकारी —	**वौ**	**वे**
तिर्यक —	**उण**	**उणां**

व्युत्पत्ति—

सं० **असौ**; पा० **असु**; प्रा० **असौ, ओह**; रा० **ओ**।
सं० **एते**; प्रा० **एए, एये** (य श्रुति से); अप० **एह**; रा० **ए**।

सं० **अमुष्याम्** > **अमुनाम** > **अउणं** > **उण्ह** > **उण**

निजवाचक—

प्रायः इस सर्वनाम के अंतर्गत **आप, आपण, आपणप, आपोप** आदि रूप मिलते हैं जो अपभ्रंश के **अप्प** या **अप्पण** से होते हुए मूल रूप में आर्य भाषा संस्कृत के **आत्मन्** से उत्पन्न हुए हैं। **आप** अथवा **आपण** प्रकृति विशेषण की तरह (संबंधी सम्बन्ध कारक की रचना में) और सर्वनाम की तरह (उत्तम पुरुष सर्वनाम, बहुवचन के स्थानापन्न रूप में) दोनों प्रकार से प्रयुक्त होते हैं। इस सर्वनाम की रूप-रचना निम्नलिखित ढंग से की गई है—

	एक व०	बहु व०
कर्ता—	**आप**	**आंप, आंपे, आपण**
सम्बन्ध विकारी—	**आपणपा**	**आंपां, आपां**
सम्बन्धी-सम्बन्ध—	**आपणपई**	**आपणउ**
अधिकरण—	**आपणपई**	**आपणई**

प्रायः परसर्गों के मेल से अविकारी शब्द **आप** प्रत्येक विभक्ति में प्रयुक्त हो जाता है।

निश्चयवाचक—

प्राचीन राजस्थानी में **ए** और **आ** प्रकृति के दो समूहों में विभक्त है। आधुनिक राजस्थानी में **ओ** रूप और मिलता है। इनके अर्थ में कोई विशेष अंतर नहीं है, यद्यपि **आ** और **ओ** से निश्चय की कुछ गहरी मात्रा का बोध उत्पन्न होता है।[1]

---

[1] यह उत्पत्ति भी डा० तैस्सितोरी द्वारा मानी गई है। (देखो—पुरानी राजस्थानी, पारा ८७)। तैस्सितोरी ने अपना मत संभवतया पिशैल के व्याकरण के आधार पर स्थिर किया है। (देखो—प्राकृत भाषाओं का व्याकरण—मू० ले० रिचर्ड पिशल, अनु० हेमचन्द्र जोशी, पारा ४२२)। कुछ विद्वानों के अनुसार इसकी व्युत्पत्ति 'त्वाम' अथवा 'युष्मद' से मानी जा सकती है।

[2] इस लेख का अनुवाद 'पुरानी राजस्थानी' के नाम से नागरी प्रचारिणी सभा, काशी, द्वारा प्रकाशित हो चुका है। इसका अनुवाद डॉ० नामवरसिंह द्वारा किया गया है।

[3] यह उत्पत्ति डॉ० एल० पी० तैस्सितोरी द्वारा दी गई है। (देखो—पुरानी राजस्थानी—मू० ले० तैस्सितोरी, अनु० नामवरसिंह, पारा ८६) तैस्सितोरी का यह मत ठीक नहीं मालूम होता। संभवतया यह सं० ते (तेरा) से बना है।

---

[1] आधुनिक समय में **आ** स्त्री० एवं **ओ** पु० रूप में प्रयुक्त होता है। **ए** का प्रयोग दोनों के समान रूप से बहुवचन रूप में होता है।

कारक	प्राचीन पश्चिमी राज०		आधुनिक राज०	
	एक व०	बहु व०	एक व०	बहु व०
कर्ता–	एह, ए, आ	ए	वो, औ	वे, औ
करण	एण्इँ, एणी, इणी	एणे	उण, उवै	उणां, उआं, उवां
संबंध विकारी–	एह, ए	ईयां, एह	उण, उवै	उणां, वणां, उवां

प्राचीन राजस्थानी में आ वाले रूपों का उदाहरण बहुवचन में नहीं मिलता। वहाँ ए, एह रूप उभयलिंग है। ए रूप का एकवचन वाला अर्थ आधुनिक राजस्थानी में लुप्त हो चुका है। आधुनिक गुजराती में ए और आ को सामान्यत: सभी कारकों, वचनों और लिंगों में अपनाया गया है। प्राचीन रूप एण्इँ आधुनिक राजस्थानी में इणि हो गया।

अनिश्चयवाचक–

इस सर्वनाम का रूप प्राय: प्रश्नवाचक सर्वनाम के समान ही होता है। मुख्यतया केवल एक अंतर यह होता है कि अनिश्चयवाचक सर्वनाम में जोर देने के लिये अंत में ही का अर्थबोधक एक शब्द और जोड़ दिया जाता है।

निश्चयवाचक सर्वनाम के रूपों में एवं इसके रूपों में कुछ समानता है—

कारक	प्राचीन राजस्थानी		आधुनिक राजस्थानी	
	एक व०	बहु व०	एक व०	बहु व०
कर्म–	जो, जु	जे, जेअ	जिकौ, जकौ	जिकै, जकां
	सो, सोय	जेह, ते, तेअ	जिण, जै	जिणां, जां
		तेह	ज्यों	ज्यां
करण–				
	जेणइँ, जीणइँ	जेहे, जीए	जिकण, जकण,	जकां, जिकां
	जिणइ	जेउणोइँ	जणी, जीं	जणां, त्यां
	तेणइँ, तीणइँ	तेहे, तीए	तिण	तिणां
	तिणि, तेणीयइँ	तेणे, तीणे		
		तेउणोइँ		
सम्बन्ध अविकारी–				
	जास, जस	जेह, जीह	जकण, जीण	जका, जणां
	जसु,	जेहँ, जे	जैं	जां
	तास, तस	तेह, तीह		
	तसु, तह	तेहँ, ते		
	तेह	तीयाँ		

आधुनिक राजस्थानी में रूपों की सीमा कुछ अधिक व्यापक है जिनमें से कुछ प्रमुख ये है—जो, सो और जिकौ, तिकौ, सामान्य कारक एकवचन के लिये, तथा बहुवचन और विकारी एकवचन के लिये जिण, तिण (प्राचीन राजस्थानी में जिणि, तिणि) तथा विकारी बहुवचन के लिये ज्यां, त्यां (प्राचीन पश्चिमी राजस्थानी में जीआं, तीआं) जिकौ-तिकौ के समान संयुक्त रूप सम्बन्धवाचक तथा नित्यसम्बन्धी सर्वनाम रूपों के साथ अनिश्चयवाचक को के संयोग से बनते हैं। आधुनिक राजस्थानी में इनके रूप सभी कारकों में किसी सामान्य सर्वनाम की तरह ही मिलते हैं, यथा—

एकवचन सामान्य–जिकौ, जिकां। कर्तृ–जिकण, जिकइ।
,, विकारी–जिकण।
बहुवचन सामान्य–जिका, जिकइ। कर्तृ–जिका।
,, विकारी–जिकां।

आदरसूचक–

आदरवाची सर्वनाम राजस्थानी में एक विशेष रूप में प्रयुक्त होते हैं। हिन्दी या अन्य भाषाओं में संस्कृत आत्मन् से निकला हुआ आप शब्द प्रचलित है।[1] राजस्थानी में भी आप शब्द का प्रचलन है। राजस्थानी में कुछ ऐसे शब्द भी प्रचलित हैं जिनका अर्थ कुछ विशिष्ट व्यक्तियों से ही सम्बन्धित होता है किन्तु आदर के लिये सर्वसाधारण में भी किसी सामान्य व्यक्ति के लिये वे सर्वनाम रूप में प्रयुक्त हो जाते हैं। उदाहरण के लिये रावळौ (सं० राजकुल से उत्पन्न) शब्द राजा या किसी ठाकुर के निवास-स्थान का अर्थ देता है। प्राय: राजा या ठाकुर के लिये ही कहा जाता है—रावळै सूं कठै विराजै ? यही शब्द जन-साधारण में आप के अर्थ में प्रचलित होकर आदरसूचक बन गया है। इस प्रकार के शब्द जो प्रमुख रूप से राज, रावळ, आप, पींडा, डीलां आदि हैं, बहुधा बहुवचन में भी इसी प्रकार प्रयुक्त होते हैं।

---

[1] 'आप' शब्द की व्युत्पत्ति दो प्रकार से होती है। जब यह निजवाचक में स्वय के लिये प्रयुक्त होता है तब उसकी उत्पत्ति 'आत्मन्' से मानी जा सकती है, किन्तु जब 'आप' किसी दूसरे के लिये आदरसूचक रूप में प्रयुक्त होता है, तो उसकी उत्पत्ति सं० 'आप्त' से ही मानी जायगी।

प्रश्नवाचक–

	एकवचन	बहुवचन
कर्ता–	कुंण, कूंण, कवण को, का, किण	कुण, किणां
कर्म–	किणनै, किण, किणि, केण, कवण, कीनै	कीनै, कणां नै
सम्बन्ध–	कींरा, किणरा कुणह	किणांरा

व्युत्पत्ति–सं० कः पुनः > कपुण > कवुण (इससे राजस्थानी का **कवण** रूप बना है।) > **कउण** > **कुंण**।

इन उपरोक्त प्रकार के सर्वनामों के अतिरिक्त परिमाण, गुण और स्थान के अनुसार सार्वनामिक विशेषण भी होते हैं। सर्वनामों के उपरोक्त रूपों में प्रस्तुत कोश में मूल सार्वनामिक रूपों को तो स्थान दिया ही है, यथासंभव विभक्तिरहित प्रयुक्त होने वाले परिवर्तन रूपों को भी स्थान देने का प्रयत्न किया गया है।

परिमाणवाचक सार्वनामिक विशेषण भी तीन वर्गों में विभाजित किये गये हैं––

(अ)—

प्राचीन राजस्थानी	आधुनिक राजस्थानी
एतउ, जेतउ, तेतउ केतउ	इत्ता, जित्ता, कित्ता

ये संस्कृत के **अयत्त्व** और **ययत्य** से उत्पन्न माने गये हैं।[1] कुछ लोगों ने इनकी उत्पत्ति **इयत्**. **यत्वत्** तथा **तत्वत्** से मानी है।

(आ)—

प्राचीन राजस्थानी	आधुनिक राजस्थानी
एतलउ, जेतलउ	इत्तौ, कित्तौ
तेतलउ, केतलउ	किता

इनकी उत्पत्ति अप० **एत्तुलउ**. **जेत्तुउल** आदि से मानी जाती है।

(इ)—

प्राचीन राजस्थानी	आधुनिक राजस्थानी
एवडउ, जेवडउ, तेवडउ	अवडौ
केवडउ	इडौ, किडौ

सं० **अयवड्रक, ययवड्रक**[1] तथा अप० **एवडउ जेवडउ** इत्यादि से उपरोक्त रूपों की उत्पत्ति हुई है।

मोटी दृष्टि से परिमाणवाचक सार्वनामिक विशेषण के उपरोक्त रूप आर्य भाषा संस्कृत के **इयत्, यावत्, तावत्** एवं **कियत्** के पर्याय हैं। इनके द्वारा किसी सबल विशेषण के समान रचना होती है।

गुणवाचक सार्वनामिक विशेषण भी पाँच वर्गों में विभाजित किये गये हैं—

(अ) प्राचीन राजस्थानी में इनके **इसउ, असउ, जिसउ, तिसउ, किसउ, इसिउ, असिउ, जिसिउ, तिसिउ, किसिउ, इस्यउ, जिस्यउ, तिस्यउ, किस्यउ** आदि रूप मिलते हैं जो अपभ्रंश भाषा के **अइसउ, जइसउ, तइसउ, कइसउ** से होते हुए संस्कृत के **यादृश, तादृश** से निकले हैं। इन रूपों में से **किसउ** तथा इसके रूपभेद **किसिउ** एवं **किस्यउ** सामान्यतः प्रश्नवाचक और अनिश्चयवाचक सामान्य सर्वनामों के लिये प्रयुक्त होते हैं। आधुनिक राजस्थानी में उपरोक्त इन्हीं रूपों से निःसृत इनके रूप-भेद यथा–**इसौ, जिसौ, तिसौ, किसौ** आदि प्रयुक्त होते हैं जिनमें **किसौ** प्रश्नवाचक एवं अनिश्चयवाचक सामान्य सर्वनामों के लिये प्रयुक्त होता है।

(आ) दूसरे वर्गभेद के अन्तर्गत प्राचीन राजस्थानी के **एहउ, जेहउ, तेहउ, केहउ** आदि रूप आते हैं। आधुनिक राजस्थानी में इनका प्रयोग अल्प मात्रा में ही होता है तथापि कुछ सुधरे रूप में ये **एहौ, जेहौ, केहौ** आदि रूपों में प्रयुक्त होते हैं। जहाँ कहीं भी ये विशेषण की तरह प्रयुक्त होते हैं इनमें लिंग, वचन और कारक के अनुसार रूपविकार होता है।

(इ) यह प्रायः केवल प्राचीन राजस्थानी में ही मिलता है। आधुनिक राजस्थानी में इनके ये रूप लुप्तप्राय हो गये हैं। इनके इस पुरानेपन पर अपभ्रंश की छाप स्पष्ट दृष्टिगोचर होती है। पुरानी राजस्थानी में **एहवउ, जेहवउ, तेहवउ, केहवउ** तथा इनके रूप भेद **एव्हउ, जेव्हउ, तेव्हउ,**

---

[1] देखो 'पुरानी राजस्थानी' पारा ९३ (i) तथा पिशैल का प्राकृत व्याकरण, पारा १५३। स्व० पं० नित्यानंदजी शास्त्री इनकी उत्पत्ति सं० इयत्, यावत् तथा कियत् से मानते हैं।

[1] स्व० पं० नित्यानंदजी शास्त्री के अनुसार यहाँ सं० अयवर्त एवं ययवर्त होना चाहिये।

केव्हउ मिलते हैं। आधुनिक गुजराती में इसके समक्ष ऐवौं, जेवौं रूप प्राप्य हैं।

(उ) उपरोक्त रूपों के रूपभेदों के अनुरूप ही प्राचीन राजस्थानी में एहवडउ, जेहवडउ, तेहवडउ, केहवडउ भी मिलते हैं। इनके ये रूप लुप्त-प्राय हैं। केवल तैस्सितोरी ने अपने राजस्थानी भाषा सम्बन्धी एक लेख में उल्लेख करते हुए लिखा है[1] कि 'जहाँ तक मुझे मालूम है, अपादान हवडाँ, हिवडाँ, (एहवडाँ) और अधिकरण हवडइ (एहवडइ), जो कि क्रियाविशेषण की तरह प्रयुक्त हुआ है, अधिकरण क्रियाविशेषण के अतिरिक्त इसका प्रयोग कहीं नहीं मिलता।'

(ए) आधुनिक राजस्थानी में एडौ, जेडौ, तेडौ एवं केड़ौ, जिनका प्राचीन राजस्थानी में एहडउ, जेहडउ, तेहडउ, केहडउ रूप मिलते हैं, प्रयुक्त होते हैं।

इन उपरोक्त पाँचों वर्गों के ये रूप जब विशेषण के समान प्रयुक्त होते हैं तो अर्थ की दृष्टि से ये संस्कृत के ईदृशः, यादृशः के समकक्ष होते हैं।

स्थानकवाचक सार्वनामिक विशेषण के रूपों में आधुनिक राजस्थानी में क्षेत्रीय रूप से कुछ स्थानों में एथ, जेथ, तेथ, केथ (प्राचीन राजस्थानी रूप एथउ या अथउ, जेथउ, तेथउ, केथउ) प्रयुक्त होते हैं। अपभ्रंश भाषा में इन्हीं स्थान-वाचक सार्वनामिक विशेषणों के लिए इस प्रकार के रूप नहीं मिलते, किन्तु स्थानवाचक सार्वनामिक क्रियाविशेषण रूप एत्थु, जेत्थु, तेत्थु, केत्थु का हेमचंद्र[2] ने प्रयोग किया है। प्राचीन राजस्थानी एवं आधुनिक राजस्थानी के प्रयोगों द्वारा यह स्पष्ट हो जायगा—

प्रा० रा० केथउँ करचू त्रिसूल (कां.दे.प्र. १०२).
आ० रा० वै केथ गया ? (क्षेत्रीय)

कुछ सर्वनाम क्रियाविशेषण के रूप में प्रयुक्त होते हैं अतः उन्हें सार्वनामिक क्रिया विशेषण का नाम दिया गया है। अपादान रूप में इहाँ (ईहां रू०भे०) अहाँ, जिहाँ, तिहाँ, किहाँ आदि रूप मिलते हैं जो अपभ्रंश के एअहाँ, आअहाँ, जहाँ, तहाँ, कहाँ एवं प्राकृत के एअम्हा, आअम्हा, जम्हा, तम्हा, कम्हा, से होते हुए संस्कृत-एतस्मात्, अयस्मात्, अदस्मात्[1], यस्मात्, तस्मात्, कस्मात् रूपों से निःसृत हुए हैं। कुछ ग्रंथों में इनके संक्षिप्त रूप जाँ, ताँ, काँ का प्रयोग हुआ है। इनमें जाँ, ताँ, रूप तो प्रायः पर्यन्त अर्थ में प्रयुक्त होते हैं जो अर्थ में संस्कृत के यावत्, तावत् के समान है। अधिकरण क्रिया विशेषण रूप में एहीं, अहीं, जहीं, तहीं, कहीं प्रयुक्त होते हैं। अपभ्रंश रूप एअहि, आअहि, जहि, तहि, कहि प्राकृत रूप एअम्हि, आअम्हि, जम्हि, तम्हि, कम्हि एवं संस्कृत रूप एतस्मिन्, अदस्मिन् या अयस्मिन्, यस्मिन्, तस्मिन्, कस्मिन् से इनकी व्युत्पत्ति मानी जा सकती है।[2]

अव्यय क्रिया विशेषण के रूप में इम, जिम, किम, तिम का प्रयोग होता है। कविता में ऐम, जेम इत्यादि का भी प्रयोग मिलता है।

विशेषण—

प्राचीन भारतीय आर्यभाषा में विशेषण पदों के रूपों में भी अपने विशेष्य पदों के अनुसार परिवर्तन होता था एवं मध्य भारतीय आर्यभाषा काल में भी यह प्रणाली बहुत कुछ सुरक्षित रही। आधुनिक राजस्थानी में भी विशेषणों की रूप-रचना संज्ञा शब्दों की तरह ही होती है और ये अपने विशेष्य के लिंग, वचन, कारक के अनुसार होते हैं। स्त्री लिंग के रूप इसके अपवाद कहे जा सकते हैं, ये वचन और कारक संबंधी विशेषता से रहित होते हैं। प्रायः स्त्री लिंग विशेषण इकारान्त होते हैं, यथा—

उर चौड़ी कड़ पातळी, झीणी पांसळियांह।
कै मिळसी हर पूजियां, हीमाळै गळियांह॥

विशेषणों का प्रयोग जब क्रिया विशेषण की तरह होता है तो उनकी वाक्य-रचना दो प्रकार की हो जाती है—एक तो वे जो नपुंसक एक वचन में रहते हुए सभी कारकों में अपरिवर्तित रहते हैं; दूसरे वे जो किसी समानाधिकरण विशेषण की तरह लिङ्ग, वचन और कारक के अनुसार रूप-रचना करते हैं।

सर्वनामों के रूप एवं उन पर आधारित गुणवाचक तथा

---

[1] पुरानी राजस्थानी, मू० ले० एल. पी. तैस्सितोरी, अनु० नामवरसिंह, पृष्ठ १२० अथवा पारा ९४

[2] सिद्ध हेमचंद्र, ४—४०५

[1] संदिग्ध

[2] पुरानी राजस्थानी, मू० ले०—एल. पी. तैस्सितोरी, अनु०—नामवरसिंह, पारा ९८, पृष्ठ १२४

परिमाणवाचक विशेषण निम्नलिखित चित्र से भली प्रकार समझे जा सकेंगे—

सर्वनाम	रूप	गुणवाचक विशेषण	परिमाणवाचक विशेषण
औ, यौ	अण, अणी, इ, इं, इण इयै	ऐड़ौ, इसौ इस्यौ, ऐसौ	इतौ, इतरौ इतरोई, इडौ
औ, ऊ, वौ	उण, उणी, वण	वेड़ौ, ऊड़ौ	उतौ, उतरौ, उतरोई
वौ, एवौ	वणी, विणी वण, बिण, विणी बीं, वीं, उवै,	विसौ(विस्यौ) वैसो, विसो	वतौ, वतरौ वतरोई, वितौ, वितरौ, वितरोई बितौ, बितौ, बितरोई
तिकौ	तण, तिण	तैड़ौ, तिसौ तैसौ	तितौ, तितरौ, तितरोई तिडौ
जिकौ	जण, जिण जी	जैड़ौ, जिसौ जिस्यौ	जितौ, जितरौ जितरोई, जिडौ
कुण	कण, किण	कैड़ौ	कितौ, कितरौ, कितरोई किडौ ।

तुलनात्मक विशेषण रूपों का प्रयोग राजस्थानी में जिस वस्तु से तुलना की जाती है वह अपादान कारक में होती है। इस प्रक्रिया में विशेषण अपरिवर्तित रहते हैं। प्राचीन राजस्थानी में अपादान परसर्ग मुख्यतया ये प्रयुक्त होते थे—

पाहिं-पाहति और **थकी, थी**[1] ।

आधुनिक रूप में तुलनात्मक विशेषणस्वरूप प्रायः सूं, **करतां** आदि का प्रयोग होता है, यथा—

आ किताब उण सूं चोखी है।
रांम इण करतां चोखो टावर है।

गणनावाचक संख्याओं का प्रयोग प्रायः अविकारी रूप मे ही होता है, केवल करण कारक में उनके अंत में **ए** प्रत्यय लगता है। राजस्थानी में उनके विकारी रूपों का भी प्रयोग मिलता है, यथा—

चौसठ— साठ और चार के योग के बराबर।

चौसठमौं— जो क्रम में तिरेसठ के बाद पड़ता हो।

चौसठेक—चौसठ के लगभग।

चौसठौ—६४ वाँ वर्ष।

चौसठे, चौसठै—६४ वें वर्ष में।

[1] देखो—पुरानी राजस्थानी, तैस्सितोरी, पारा ७९, अनु० नामवरसिंह

प्रस्तुत कोश में प्रायः गणनावाचक संख्याओं के उपरोक्त समस्त रूपों को देने का प्रयत्न किया गया है। कुछ रूप तो राजस्थानी की अपनी विशेषता हैं, जैसे—**चारेक, पांचेक, सातेक, बीसेक, पचासेक** आदि। इस प्रकार के समस्त रूपों में गणनावाचक संख्या के साथ **एक** जुड़ा है, यथा—

चार+एक = चारेक
पांच+एक = पांचेक
सात+एक = सातेक

यह **एक** लगभग का अर्थ उत्पन्न करता है। इसके अतिरिक्त **मौं** शब्द का रूप भी क्रमानुसार मिलने वाले स्थान का अर्थ देता है। अन्य अर्थ मुख्य भाषाओं के इसी समान रूप के साथ रखने से यह अर्थ स्पष्ट हो जायगा—

संस्कृत	हिन्दी	राजस्थानी
षष्ठ	**छठां, छठवां**	**छठौ**
द्वादश	**बारहवां**	**बारमौं**
द्वितीय	**दूसरा**	**दूजौ, बीजौ, दूसरौ**

अंतिम उदाहरण **मौं** रूप का नहीं है। गुणवाचक प्रथम चार संख्याओं में **मौं** नहीं लग कर उनका रूप इस प्रकार होता है—**पै'लौ, दूजौ, तीजौ, चोथौ**। इनके अतिरिक्त सब में **मौं** लग कर क्रमानुसार मिलने वाले स्थान का अर्थ उत्पन्न करता है। केवल **छः** का विकारी रूप **छठौ** ही होता है।

इनकी व्युत्पत्ति इस प्रकार मानी जा सकती है—

स० मः [यथा सं० **पञ्चमः**] **वं**>मः-**मौं**। किन्तु प्रथम चार संख्याओं में जिनमें कि **मौं** नहीं लगता, उनकी व्युत्पत्ति इस प्रकार से की जायगी—

पे'लौ— सं० **प्रथम** अप० **पढ़म+इल्ल, पढ़िल्ल, पहिल**
दूजौ— सं० **द्वितीय** अप० रा० **दूजौ, बीजौ**
तीजौ—सं० **तृतीय** अप० **तीज, तीजौ**
चोथौ—सं० **चतुर्थ** अप० **चउत्थ, चोथौ**

गुणात्मक संख्यावाचक विशेषण में भी राजस्थानी में **दूना, तिया, चौका** आदि प्रयुक्त होते हैं। चटसाल में आज भी बालक बोलते हुए दिखाई देते हैं—

१ एक **एकम्** एक
२ दो **दूणी** चार
३ तीन **तिया** नौ
४ चार **चौक** सोळै, सोळ

५ पांच पंजा पच्चीस
६ छै छका छत्तीस
७ साती साती गुणपचा
८ आठौ आठी चौसठ
९ नमे नमे इक्यासी
१० दाहे दाहे सौ

इस प्रकार के विशेषणों का साधारणत: गणित के पहाड़ों में ही प्रयोग होता है। समूहवाचक संख्याओं (Collective Numerals) के भी कुछ रूपों का प्रयोग राजस्थानी में होता है।

जोड़ौ, जोड़ी	(सं० **युत या युतक**)	दो का समूह
चौक	(सं० **चतुष्क**)	चार का समूह
सैंकड़ौ	(सं० **शत**)	सौ का समूह
लख, लखो	(सं० **लक्ष**)	लाख का समूह यथा नवलखी हार
सतसई	(सं० **सप्त+शत+ई**)	सात सौ का समूह

उपरोक्त समूह रूपों के अतिरिक्त गंजीफे के खेल में विभिन्न इकाइयों के पत्तों को भी **इक्कौ, दूग्गी, तिग्गी, चौकी, पंजी, छक्की, सत्ती, अट्ठी, नैली, दैली** अथवा पुल्लिग रूप **इक्कौ** (इसके पश्चात्) **पंजौ, छक्कौ, सत्तौ, अट्ठौ, नैलौ** एवं **दैलौ** कहते हैं। इनकी व्युत्पत्ति का ठीक-ठीक पता नहीं चलता तथापि इनके द्वित्व-व्यंजनों की स्थिति से इन पर पंजाबी अथवा प्राचीन नागर अपभ्रंश का प्रभाव लक्षित होता है।

समानुपाती संख्यावाचक विशेषण के अंतर्गत साधारणतया संख्याओं में **गुणा** [सं० **गुण** (+ **क**), प्रा० **गुणअ**] के योग से समानुपाती संख्यावाचक पद बनाये जाते हैं। इनके योग से गणनात्मक संख्यावाचक शब्द के रूप में थोड़ा परिवर्तन हो जाता है, यथा—**दुगणौ, दूणौ** (=दो+गुना, द्वि+गुणक), **तिगणौ-तिगुणौ, चौगणौ-चौगुणौ, पंचगुणौ** अथवा **पांचगुणौ** आदि।

भिन्नात्मक संख्यावाचक विशेषण (Fractional Numerals) भी राजस्थानी में विभिन्न रूपों में मिलते हैं। सभी आर्य-भाषाओं में ये मिलते हैं। आधुनिक राजस्थानी में इनके रूप इस प्रकार हैं—

१/४ **पाव** [सं० **पाद**, अप० **पाअ**]
३/४ **पूण** [सं० **पाद**<**पादोन**<**पाउण** <**पूण**]
१/२ **आदौ, आधौ, अद्धौ** [सं० **अर्द्धक**<**अद्धअ**]
१ १/४ **सवा** [सं० **सपाद**<**सवाअ**]
१ १/२ **डोड, डोढ** [**द्वि अर्द्ध** (**क**) <**डि-अड्ढ**]
२ १/२ **अडाई, अढाई, ढाई** [**अर्द्ध-तृतीय** (**क**) <**अड्ढइअ**][1]

इसके अतिरिक्त गणित के पहाड़े रूप में ३ १/२ को **हूंटा** ४ १/२ गुणा को **ढंचा**, ६ १/२ गुणा को **सिटिया** कहते हैं। इनकी व्युत्पत्ति के सम्बन्ध में कुछ स्पष्टतया ज्ञात नहीं हो सका है।

तिर्यक रूप में १/२ का प्रयोग **साढ़े** के अर्थ में प्राय: सभी संख्यावाचक गणनाओं में (एक एवं दो को छोड़कर होता है। सं० **सार्द्ध**, प्रा० **सड्ढ** से साढे रूप की व्युत्पत्ति[2] मानी जा सकती है।

बिंदी अथवा शून्य को संख्यावाचक गणनाओं में राजस्थानी में अशुभ माना गया है। व्यापारी अपने आंकड़ों में, तौल में तथा अन्य साधारण जनता भी १०० के स्थान पर १०१ लिखना अधिक ठीक समझती है। अगर बीच की शून्य भी हट सके तो अति उत्तम। इस दृष्टि से १११ की संख्या शुभ संख्या मानी जाती है। शून्य का शाब्दिक अर्थ भी कुछ नहीं होता है। सामान्य-जन इस अर्थ को पसंद नहीं करता अत: शून्य को बोलचाल में शून्य न कह कर 'शुभ' कहते हैं। शून्य को अशुभ कब से माना गया एवं क्यों माना गया, इस सम्बन्ध में क्रमबद्ध विवेचना हमें उपलब्ध नहीं है, तथापि सम्भवतया शून्य का अर्थ रिक्त एवं कुछ नहीं के कारण ही अशुभ माना गया है। जन-साधारण की यह इच्छा होती है कि उसका घर भरा रहे, वह स्वयं, उसका खेत आदि सब हरे-भरे रहें, ऐसी अवस्था में शून्य को वह शुभ रूप में किस प्रकार से स्वीकार कर सकता था?

गणना में अपेक्षाकृत कमजोर व्यक्ति ऋणात्मक संख्यावाचक विशेषणों का प्रयोग करते हैं। इसके लिए फारसी भाषा का **कम** शब्द ही राजस्थानी में प्रचलित हो गया है। यथा-**एक कम सौ। तीन कम चार बीसी।**

---

[1] कुछ विद्वानों ने इसकी उत्पत्ति सं०—सार्द्ध+द्वय से मानी है।
[2] स्व० पं० नित्यानंदजी शास्त्री इनकी उत्पति सं०—अर्द्धाञ्च से मानते हैं जिसका अर्थ है—अर्द्ध को लिये हुए।

निश्चित भाव प्रकट करने के लिए गणनात्मक संख्यावाचक शब्दों में ऊ प्रत्यय लगा कर उन्हें निश्चित बना देते हैं। इस प्रकार ऊ प्रत्यय **ही** के समान निश्चयात्मक अर्थ देता है, यथा—

चारूं, च्यारूं = चारों ही
दोनूं, दोन्यूं = दोनों ही
सातूं = सातों ही

दहाई के बाद की संख्याओं के साथ ऊ के स्थान पर सीधे **ही** का भी प्रयोग मिलता है, यथा—

१ **बारूं** = बारह ही
बारै ही = बारह ही
२ **अठारूं ही** = अठारह ही
अठारै ही = अठारह ही

दो एवं तीन की संख्याओं के साथ केवल **नूं** ही लगता है— **दोनूं**, **तीनूं** ।

इन्हीं संख्याओं को **आं** प्रत्यय के प्रयोग से कई बार अनिश्चयात्मक भी बना दिया जाता है, यथा—

पचासां, हजारां, सैंकड़ां, लाखां ।

दो संख्यावाचक शब्दों के योग से भी अनिश्चय व्यक्त किया जाता है—**बीस-तीस, बारै-तेरै, हजार-बारै सौ** आदि ।

प्रस्तुत कोश में संख्यावाचक गणनाओं के समस्त रूपों को देना संभव नहीं था, अतः किसी संख्या के केवल निम्नलिखित रूप देना ही संभव हो सका—

बत्तीस— तीस एवं दो के योग के बराबर
बत्तीसमौं— जो क्रम में इकत्तीस के बाद पड़ता हो
बत्तीसेक— बत्तीस के लगभग
बत्तीसौ— बत्तीस का वर्ष ।

अन्य रूप व्याकरण के अनुसार स्वयमेव निर्मित हो जाते हैं जिनका उल्लेख करना उचित न होगा ।

विशेषण की तुलनात्मक श्रेणियों में आधुनिक राजस्थानी में **सूं** का प्रयोग अधिक होता है, जिसका उल्लेख यथास्थान हम ऊपर कर चुके हैं। **तमवन्त** विशेषण (Superlative) का भाव विशेषण पद के पूर्व **सब सूं**, *सब में अथवा* **सब सूं** *बढ़ कर* इत्यादि अपादान अथवा अधिकरण परसर्ग युक्त पद जोड़ कर प्रकट किया जाता है, यथा—

१ राम **सब सूं** छोटौ टाबर है ।
२ वो **सब में** हुसियार है ।
३ खेलण में तौ **सब सूं बढ़ कर** है ।

इनके अतिरिक्त समानता एवं सादृश्य का भाव प्रकट करने के लिए संज्ञा अथवा सर्वनाम पदों के साथ **सरीखौ, जेड़ौ, सा** आदि पद जोड़ दिये जाते हैं। इनमें भी रूप-विकार होते हैं—

१ इरै **सरीखौ** आदमी
२ सीता **सरीखी** लुगाइयां

सरीखा शब्द की उत्पत्ति संस्कृत के सदृक्ष शब्द से माना जाती है। राजस्थानी में इस शब्द के कई रूप-भेदों का प्रयोग हुआ है। इन सभी रूप-भेदों को कोश में स्थान दिया गया है।

अतिशय एवं आधिक्य के लिए विशेषण पद के साथ **सा** का प्रयोग होता है, यथा—

बोत सा छोरा आज छुट्टी माथै हैं ।

इसके अतिरिक्त सार्वनामिक विशेषणों का उल्लेख सर्वनामों के साथ किया जा चुका है। गणनात्मक संख्यावाचक समस्त विशेषणों के अविकारी रूपों की व्युत्पत्ति कोश में शब्द के साथ ही प्रस्तुत करदी गई है ।

क्रिया— प्राचीन भारतीय आर्य भाषा काल के आरंभ में धातु-प्रक्रिया अत्यन्त जटिल थी एवं कालान्तर में इसमें सरलता की ओर अग्रसर होने की प्रवृत्ति परिलक्षित होती रही। विभिन्न गणों की धातुओं के रूपों में समानता आने का कारण सरलीकरण की इसी प्रवृत्ति का फल था। इसका प्रभाव यह हुआ कि गण-विभाग धीरे-धीरे घटता गया और अपभ्रंश काल तक समाप्त ही हो गया। इसके अनन्तर प्रायः सभी धातुओं के रूप भ्वादिगण के समान निर्मित होने लगे। कालान्तर में आत्मनेपद-परस्मैपद के भेद को दूर करने के साथ ही द्विवचन भी समाप्त हो गया।[1] कालों एवं प्रकारों के विभिन्न रूपों की संख्या भी घट गई। प्राचीन काल की अपेक्षा नवीन अपभ्रंश काल तक इस प्रकार धातु प्रक्रिया बहुत सरल हो गई, क्योंकि भाषा के नौसिखियों के लिये उस जटिलतर प्रवृत्ति का निर्वाह करना सहज रूप में बोधगम्य न था ।

---

[1] हिन्दी भाषा का उद्गम और विकास, डॉ. उदयनारायण तिवारी, पृष्ठ ४७७ ।

मध्य-भारतीय भाषा काल में तिङ्यन्त रूपों के स्थान पर कृदन्त रूपों का व्यवहार अधिक प्रचलित हो चुका था। सरलता के गुण के कारण इनका प्रचार शीघ्रता से हुआ। धातु रूपों को सीमित कर दिया गया और इन्हीं सीमित धातु रूपों से ही सभी कालों एवं प्रकारों का अर्थ द्योतन कराने के लिये नये-नये उपाय काम में लाये जाने लगे।

धीरे-धीरे भाषा अपने स्वाभाविक विकास की ओर निरन्तर बढ़ने लगी। प्राचीन जटिलता तो मध्य-भारतीय भाषा-काल में ही समाप्त हो चुकी थी। संयुक्त क्रियाओं का प्रचलन तीव्र गति से होने लगा। आधुनिक भाषाओं के लिये डॉ० सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या ने क्रियाओं को मोटे तौर से दो रूपों में वर्गीकृत किया है। राजस्थानी की क्रियाओं को भी इन दो रूपों की दृष्टि से देखा जा सकता है, यथा—

(१) सिद्ध धातुएँ (Primary Roots) मूल रूप से सुरक्षित धातुयें जिनके अन्तर्गत निम्नलिखित रूप माने जा सकते हैं—

खा(णौ) = [सं० खाद्, प्रा० खाअ]
गूंथ(णौ) = [सं० ग्रंथ, पा० गुम्फ्, प्रा० गुन्थ्]
जांण(णौ) = [सं० ज्ञा, प्रा० जाण, जाणेइ]

(२) साधित धातुएँ (Secondary Roots)—वे धातुएँ जो मूल रूप में सुरक्षित नहीं हैं एवं किसी प्रत्यय के संयोग से जिनका निर्माण हुआ है, यथा—

घिसवाणौ, घिसाणौ = [सं० घृष् धातु के साथ वा या आ प्रेरणार्थक प्रत्यय के संयोग से]।
लिखवाणौ, लिखाणौ = [सं० लिख धातु के साथ वा या आ प्रेरणार्थक प्रत्यय के संयोग से] आदि।

डॉ० उदयनारायण तिवारी ने उपरोक्त भेदों को निम्नलिखित शीर्षकों में विभक्त किया है[1]—

१ सिद्ध धातुएँ—

(i) संस्कृत से आई हुई तद्भव सिद्ध धातुएँ—
(क) साधारण धातुएँ (ख) उपसर्गयुक्त धातुएँ।
(ii) संस्कृत णिजन्त से आई हुई सिद्ध धातुएँ।
(iii) संस्कृत से पुन: व्यवहृत तत्सम एवं अर्धतत्सम सिद्ध धातुएँ।
(iv) संदिग्ध व्युत्पत्ति वाली देशी धातुएँ।

२ साधित धातुएँ—

(i) आकारांत णिजन्त (प्रेरणार्थक)
(ii) नाम धातु—
(क) तद्भव—
(i) प्राचीन (उत्तराधिकार सूत्र में प्राप्त)
(ii) नवीन।
(ख) तत्सम।
(ग) विदेशी।
(iii) मिश्रित अथवा संयुक्त एवं प्रत्यययुक्त (तद्भव)
(iv) ध्वन्यात्मक अथवा अनुकार ध्वनिज धातुएँ।
(v) संदिग्ध व्युत्पत्ति की धातुएँ।

उपरोक्त वर्गीकरण उन्होंने हिन्दी भाषा के उद्गम और विकास की विवेचना (पृष्ठ ४७८-४७९) के अंतर्गत किया है, किन्तु क्रिया-पदों की दृष्टि से यह वर्गीकरण राजस्थानी में भी इसी प्रकार लागू हो सकता है। निम्नलिखित उदाहरणों से यह बात अच्छी तरह स्पष्ट हो जायगी—

१ सिद्ध धातुएँ—

(i) संस्कृत से आई हुई तद्भव सिद्ध धातुएँ।
(क) साधारण धातुएँ—कर(णौ) [सं० कृ]
मांज(णौ) [सं० मृज, अप० मज्ज)
टूट(णौ) [सं० त्रुट्, अप० टुट्ट]
(ख) उपसर्गयुक्त धातुएँ—
उजड़णौ [सं० उत्+जट्, प्रा० उज्जाडेइ]
उतरणौ [सं० उत् तृ, प्रा० उत्तरइ]

कुछ धातुओं के आने के साथ ही नयी भाषा में उनका अर्थ भी बदल जाता है। संस्कृत के तत्सम् रूप के कर्मवाच्य रूप नयी भाषाओं में कई बार कर्तृवाच्य रूप हो जाता है, यथा—

सं० तप्यते = तपाया जाता है—कर्मवाच्य

[1] हिन्दी भाषा का उद्गम और विकास—डॉ० उदयनारायण तिवारी, पृष्ठ ४७८-४७९।

अप० **तप्पइ** = स्वयं को तपाता है—कर्तृवाच्य

रा० **तपै** = तपता है—कर्तृवाच्य

उपरोक्त राजस्थानी शब्द **तपै** संस्कृत के **तप्यते** से ही निःसृत हुआ है, परन्तु अर्थ में परिवर्तन होकर वह कर्मवाच्य से कर्तृवाच्य हो गया।

(ii) संस्कृत णिजन्त से आई हुई सिद्ध धातुएँ संस्कृत की कुछ णिजन्त धातुओं में अंतर्निहित प्रेरणार्थक भाव लुप्त होकर केवल साधारण सकर्मक भाव रह गया है एवं प्रेरणार्थक भाव-स्वरूप कुछ नये स्वरूप निर्मित हो गये हैं, यथा–

राजस्थानी में **मरणौ** अकर्मक है, जिसका सकर्मक रूप **मारणौ** है। **मारणौ** सकर्मक रूप की उत्पत्ति संस्कृत के णिजन्त **मारयति** से हुई है। संस्कृत के इस णिजन्त धातु में प्रेरणार्थक रूप निहित है, किन्तु राजस्थानी में **मारणौ** केवल सकर्मक रूप है तथा उसका प्रेरणार्थक रूप राजस्थानी में **मरावणौ** होगा। इस प्रकार के कई उदाहरण दिये जा सकते हैं यथा–

उखाड़(णौ)–सं० **उत्खाटयति**; **बाल(णौ)** सं० **ज्वालयति**, **तपा(णौ)**–सं० **तापयति**, **हार(णौ)**–सं० **हारयति** आदि।

(iii) संस्कृत से पुनः व्यवहृत तत्सम् तथा अर्द्ध तत्सम् धातुएँ– संस्कृत भाषा के पश्चात् जब लोक भाषाओं ने साहित्यिक स्थान ग्रहण करना आरंभ किया, तब वे सस्कृत से पूर्ण रूप से प्रभावित थीं। बहुत से संस्कृत शब्दों को उसी तत्सम रूप में नयी भाषाओं में प्रयोग किया जाने लगा, परन्तु निरन्तर परिवर्तित परिस्थितियों में उत्पन्न, बाद में आने वाली लोक भाषाओं में इन्हीं रूपों का अर्द्धतत्सम् रूपों में परिवर्तन कर लिया गया। इनका प्रभाव क्रियापदों पर पड़ना आवश्यक था। अतः इन बदलते हुए अर्द्ध तत्सम् रूपों के क्रिया पद भी नये-नये प्रयुक्त होने लगे, यथा–

(i) **अरप** (सं० **अर्प**) **अरपणौ, अरपण करणौ**।

(ii) **गरज** (सं० **गर्ज**) **गरजणौ, गरजण करणौ**।

(iii) **रच** (सं० **रच्**) **रचणौ, रचना करणौ**।

इनके साथ ही कुछ अन्य ऐसी धातुयें भी आधुनिक राजस्थानी में प्रयुक्त होती हैं जिनके तत्सम् रूप संस्कृत से आये प्रतीत नहीं होते। संभव है ये क्षेत्र विशेष की ही उपज हों एवं कालान्तर में साहित्य में इनका प्रयोग होने लग गया हो, यथा—

टोक(णौ), ठोक(णौ), डपट(णौ), लड़(णौ) इत्यादि।

२ साधित धातुएँ—

(i) आकारांत णिजन्त (प्रेरणार्थक)—ऊपर संस्कृत णिजन्त से आई हुई सिद्ध धातुओं के सिलसिले में हम यह उल्लेख कर चुके हैं कि संस्कृत की कुछ णिजन्त धातुओं में अंतर्निहित प्रेरणार्थक भाव लुप्त होकर केवल सकर्मक भाव रह गया है। राजस्थानी में इस भाव की पूर्ति वा प्रत्यय के प्रयोग से की जाती है, यथा–

अकर्मक	सकर्मक	प्रेरणार्थक
मरणौ	**मारणौ**	**मरवाणौ**
चढ़णौ	**चाढ़णौ**	**चढ़वाणौ**

इस नये प्रेरणार्थक रूप में परिवर्तन के समय एकाक्षरीय (Monosyllabic) दीर्घ स्वरयुक्त धातुओं का दीर्घ स्वर पलट कर ह्रस्व हो जाता है, यथा–

१ **घूमणौ—घुमवाणौ**

२ **चालणौ—चलवाणौ**

३ **पीणौ, पीवणौ—पिलवाणौ, पिवाड़णौ**

४ **सूणौ—सुलवाणौ, सुवाड़णौ**

किन्तु ओ, औ दीर्घस्वर युक्त धातुओं में परिवर्तन नहीं होता, वे अपने मूल रूप में ही रहती हैं—

१ **दौड़णौ, दौड़वाणौ**

२ **कोरणौ, कोरवाणौ, कोराड़णौ, कोरवावणौ**

ए प्रायः इ में परिवर्तन हो जाता है, तथापि कहीं-कहीं वही रूप प्रचलित रहता है, यथा—

देखणौ—देखवाणौ, दिखवाणौ

चेडणौ, चेढणौ—चेढवाणौ, चिढवाणौ

(ii) **नाम धातु**– नाम धातु बनाने की प्रथा अत्यन्त प्राचीन है। संज्ञापद अथवा क्रियामूलक विशेषण को क्रियापद के लिए धातु रूप में प्रयुक्त करने पर नाम धातु कहते हैं। मुख्यतया ये चार रूपों में मिलते हैं। प्रथम वे जिन्हें उत्तराविकार सूत्र में प्राप्त कर लिया गया है, यथा—

सं० **पिष्ट**, प्रा० **पिट्टइ**, रा० **पीटणौ**

इनके अतिरिक्त राजस्थानी में **णौ** प्रत्यय लगा कर बहुत सी नयी नाम धातुओं का निर्माण कर लिया है, यथा—

सं० दुःख, अप० दुक्ख, रा० दूखणौ
सं० सूत्र, प्रा० सुत्त, रा० सूतणौ

प्राचीन पश्चिमी राजस्थानी में अव प्रत्यय का प्रयोग होता था। तैस्सितोरी ने भी इसका उल्लेख किया है। उन्होंने लिखा है कि ये नामधातु या तो सीधे संज्ञा या विशेषण के साथ क्रिया जोड़ने से बनते हैं अथवा प्रेरणार्थक प्रत्यय अव (आव कभी नहीं) जोड़ने से। ये दोनों तरीके प्राकृत और अपभ्रंश में भी प्रचलित थे। डा० तैस्सितोरी ने इस सम्बन्ध में कुछ उदाहरण भी दिये हैं[1]—

(i) संज्ञा या विशेषण से सीधे बनी नामबोधक क्रियाएँ–
आणंदिउ<आणंद<सं० आनन्द
जम्म्यउ<सं० जन्मन्
जीतइ, जीपइ <भूतकृदन्त जीत <अप० जित्त-<सं० जित।

(ii) संज्ञा या विशेषण में अव प्रत्यय जोड़ कर बनी हुई नामबोधक क्रियाएँ--

भोगवइ< सं० भोग
साचवइ<अप० सच्चवइ< सं० सत्यापयति
गोपावइ< सं० गोपयति

विदेशी संपर्क के साथ राजस्थानी में कई विदेशी शब्दों का प्रवेश हो गया है। विदेशियों के सम्पर्क से जब हम कोई नई विद्या, कला, खेल, फ़ैशन आदि सीखते हैं तब उस सम्बंध के विदेशी शब्द अनायास ही हमारी भाषा में प्रवेश पा जाते हैं। प्रायः कोई भी जीवित भाषा यथासंभव इन नये शब्दों को अपने ध्वनि-नियमों के सांचे में ढाल लेती है। राजस्थानी में भी अनेक विदेशी संज्ञा तथा विशेषण शब्दों के साथ ई जोड़ कर नाम धातुओं का निर्माण कर लिया गया है, यथा—

(i) फा० शर्म रा० सरमा(णौ)

जहाँ राजस्थानी ने अनेक विदेशी शब्दों को अपने ध्वनि-नियम में ढाल लिया है वहाँ कई शब्दों एवं नामधातुओं को ज्यों का त्यों अपने भीतर उतार लिया है। ऐसा प्रायः संस्कृत भाषा के सम्बन्ध में ही हुआ है, क्योंकि राजस्थानी मूल रूप में संस्कृत से सम्बन्धित ही मानी गई है, यद्यपि मध्यकाल में वह कितनी ही सीढ़ियाँ पार कर चुकी है, यथा—

सं०	राज०
भज्	भज(णौ)
आकुल	अकुला(णौ)
आलाप	आलाप(णौ)

(iii) मिश्रित अथवा संयुक्त एवं प्रत्यययुक्त (तद्भव)–

इनको हम दो रूपों में विभक्त कर सकते हैं—(i) मिश्रित एवं संयुक्त, तथा (ii) प्रत्यययुक्त।

पहली श्रेणी में वे संयुक्त विशेष धातुयें आती हैं जो धातुओं से पूर्व कृदन्त, क्रिया जातविशेष्य अथवा संज्ञा पद जोड़ कर बन जाते हैं, यथा—जावण देणौ, बांट लेणौ, चढ़ बैठणौ आदि। प्रस्तुत कोश में इन संयुक्त धातुओं के क्रियात्मक रूप ही दिए गए हैं, यथा—जावणौ, बांटणौ, चढ़णौ आदि। दूसरी श्रेणी में वे क्रियायें हैं जो राजस्थानी प्रत्यय के संयोग से बनी हैं। एक दो प्रत्ययों के उदाहरण से इन प्रत्यययुक्त क्रियाओं का रूप स्पष्ट हो जायगा, यथा—

(१) क प्रत्यययुक्त—
छिटकणौ – [सं० सृज, रा० छिड़+क+णौ]
चूकणौ – [सं० च्युत, रा० चू+क+णौ]
अटकणौ – [सं० अट्ट, रा० अट+क+णौ]

(२) ड़ प्रत्यययुक्त—
थापड़णौ – सं० स्थाप+ड़+णौ]
वधाड़णौ – सं० वृधु+रा० ड़+णौ]
पछाड़णौ–[सं० पश्चात्+प्रा० पच्छा+ड़,रा० पछाड़+णौ]

(vi) ध्वन्यात्मक अथवा अनुकार ध्वनिज धातुएँ—

इस प्रकार की ध्वन्यात्मक या अनुकरणात्मक धातुएँ प्रायः सभी आर्य भाषाओं में मिलती हैं। अनुकरणात्मक शब्दों पर अलग से प्रकरण लिखा जा सकता है। प्रायः हर ध्वनि अपना एक विशेष प्रकार का अनुकरणात्मक शब्द उत्पन्न करती है और राजस्थानी भाषा अपना प्रसिद्ध णौ लगा कर उन्हें क्रिया रूप दे देती है। प्राचीन भाषाओं (यथा संस्कृत आदि) में इनके अनुकरणात्मक रूप अत्यन्त अल्प मात्रा में मिलते हैं, अतः संस्कृत के वैय्याकरणों ने इस प्रकार की धातुओं को देशी

[1] पुरानी राजस्थानी–मू०ले०–एल०पी० तैस्सितोरी; अनु० नामवरसिंह, पारा १४२।

के अंतर्गत ही मान लिया है, फिर भी झङ्कार, गुञ्जन आदि शब्द संस्कृत में मिलते हैं। राजस्थानी में इस प्रकार की ध्वन्यात्मक अथवा अनुकार ध्वनित धातुयें कई रूपों में पाई जाती हैं, यथा—**धमकणौ, झणझणाणौ, थरथरणौ खटखटाणौ** आदि।

(v) संदिग्ध व्युपत्ति वाली धातुएँ—राजस्थानी में कुछ इस प्रकार की धातुएँ मिलती हैं जिनको व्युत्पत्ति बड़ी ही संदिग्ध है। वे न तो मूल रूप में संस्कृत से सम्वन्धित जान पड़ती हैं और न वे साधित धातुयें ही मानी जा सकती हैं। उनके प्राचीन रूपों को भी तत्कालीन वैय्याकरणों द्वारा देशी नाम दिया गया है। आज के युग में जबकि भाषा-विज्ञान बहुत उन्नति कर चुका है, इस प्रकार की धातुओं का सम्वन्ध खोजना अत्यन्त आवश्यक है। श्री उदयनारायण तिवारी ने अपनी हिन्दी भाषा का उद्‌गम और विकास में इस सम्बन्ध में कूद(णौ) धातु का उदाहरण दिया है।[1] उन्होंने लिखा है कि यद्यपि संस्कृत कोशों में एक धातु कूर्द् भी है और उससे कूद(णौ) का सम्वन्ध स्पष्ट है परन्तु कूर्द् धातु संस्कृत में बहुत बाद में अपनाई गई जान पड़ती है और बहुत संभव है कि तत्कालीन कथ्य भाषा (प्राकृत) से संस्कृत ने इसको ग्रहण किया हो। तमिळ भाषा में कूर्द् की सरूप एवं समानार्थक धातु मिलती है। इससे क्या यह निष्कर्ष नहीं निकलता कि यह धातु प्राचीन भारतीय आर्य-भाषा में तमिळ से ली गई? श्री तिवाड़ी का यह तर्क उचित भी हो सकता है एवं संस्कृत के कुछ विद्वान इससे मतभेद भी रख सकते हैं, तथापि मोटे रूप में इतना तो अवश्य मानना पड़ेगा कि कतिपय धातुओं के तत्सम रूपों के सम्बन्ध में संदेह अवश्य है एवं प्रामाणिक रूप से उन्हें किसी अन्य प्राचीन आर्य भाषा से सम्वन्धित नहीं किया जा सकता। इस दृष्टि से निम्न-लिखित धातुओं की गणना इस सम्बन्ध में की जा सकती है—

टहुक(णौ), झौंक(णौ), चौंक(णौ) आदि।

धातुओं का यह प्रकरण पूर्ण होने से पहले कुछ क्रिया विशेष्यपदों (Verbal Nouns) की जानकारी कर लेनी भी आवश्यक है। प्राचीन आर्य भाषा संस्कृत में यह आवश्यक समझा जाता था कि शब्दों के रूप चलाते समय उनके मूल रूप धातुओं में विभक्ति प्रत्ययों का संयोग किया जाय। कालान्तर में ध्वन्यात्मक परिवर्तन होते रहने के कारण कर्ता के एकवचन में प्रायः शब्द के मूल रूप ही रह गये। प्रायः सभी दूसरी भाषाओं में यह परिवर्तन मिलता है। राजस्थानी में ऐसे रूपों का अभाव नहीं है। इस प्रकार के शब्द प्रायः कर्ता या कर्मकारक में अकेले या समानार्थक धातु पदों के संयोग से प्रयुक्त किये जाते हैं। इनका प्रयोग संयुक्त क्रियाओं की रचनाओं में होता है। ऐसे शब्दों के कुछ उदाहरण निम्न-लिखित रूप से उल्लेखनीय हैं—

१ संपादक **काट-छांट** करनै कविता अखबार में छापी।

२ दो चार आदमियां री **धर-पकड़** होवतां सभा रा लोग भाग छूटा।

३ छोटा-छोटा छोरां नै पुलिस वाळां **डांट-डपट** करनै छोड़ देवै।

अकर्मक एवं सकर्मक रूप—

ऐसा माना गया है कि सिद्ध धातुओं के रूप प्रायः अकर्मक होते हैं। उनके द्वारा साधित धातुयें सकर्मक रूप धारण कर लेती हैं। किन्तु कई साधित धातुओं के भी अकर्मक रूप मिलते हैं, यथा—

बैठ(णौ) नाच(णौ)
खेल(णौ) (कूदणौ) आदि।

अकर्मक क्रियाओं को सकर्मक रूप देने के लिये उनमें आ जोड़ दिया जाता है, यथा—

अकर्मक रूप	सकर्मक रूप
कटणौ	**काटणौ**
मरणौ	**मारणौ**

सकर्मक क्रिया में जैसा कि नाम से ही स्पष्ट है, कर्म निहित रहता है अतः अन्य भाषाओं के समान राजस्थानी में भी इनके बाद परसर्ग **नै**[1] नहीं आता, किन्तु यह केवल अप्राणीवाचक संज्ञा शब्दों के विषय में ही लागू होता है, यथा—**गेंद फेंकौ, कपड़ा धोवौ, रोटी खावौ** आदि। जहाँ प्राणी-

[1] देखो पारा ३७४।

[1] इसने, नै परसर्ग की उत्पत्ति आदि के विषय में इसी प्रस्तावना के संज्ञा प्रकरण में कारकों की विवेचना करते समय प्रकाश डाला जा चुका है। देखिये पृष्ठ ३६, ३७।

वाचक संज्ञा पदों का व्यवहार होता है वहाँ सामान्यतया **नै** परसर्ग का प्रयोग पाया जाता है, यथा—

उण घोड़ा नै देखी।
रांम नै मारौ, आदि।

किन्तु जैसा कि पहले लिखा जा चुका है, जोश, क्रोध, गर्वोक्ति, उद्देश्य-विधेय, निश्चयात्मक भावों में **नै** लगाना आवश्यक है, चाहे सम्बन्धित शब्द प्राणीवाचक हो अथवा अप्राणीवाचक।

इस परसर्ग **नै** का प्रयोग वास्तव में बड़ा महत्वपूर्ण है। कर्म की इस विभक्ति का लोप होने से उसका निश्चय करना कठिन हो जाता है तथा भूतकालिक कृदंतीय रूप भी उसे प्रकट करने में असमर्थ रहता है।

राजस्थानी में अकर्मक से सकर्मक रूप बनाने में विभिन्न प्रत्ययों का प्रयोग होता है, यथा—

१ आव प्रत्यय से—

अकर्मक	सकर्मक
जागणौ	**जगावणौ**
मिलणौ	**मिलावणौ**

२ आड़ प्रत्यय से—

अकर्मक	सकर्मक
जीवणौ	**जीवाड़णौ**
नाचणौ	**नचाड़णौ**
खेलणौ	**खेलाड़णौ**

३ धातु के उपांत्य स्वर में परिवर्तन—

अकर्मक	सकर्मक
उतरणौ	**उतारणौ**
चढ़णौ	**चाढ़णौ**
बलणौ	**बालणौ**

४ धातु बदल कर—

अकर्मक	सकर्मक
जाणौ	**भेजणौ**
टूटणौ	**तोड़णौ**

५ बिना परिवर्तन के—

अकर्मक	सकर्मक
खड़णौ = मरना	**खड़णौ** = हाँकना
गमणौ = खोना, गायब होना (नाश होना)	**गमणौ** = नाश करना, व्यतीत करना

६ अपवादस्वरूप कुछ अन्य रूप—

अकर्मक	सकर्मक
जागणौ	**जागवणौ**
दहणौ	**दाहवणौ**

साधारणतः सभी धातुओं के रूप समान रूप से समान आधार पर निष्पन्न होते हैं, किन्तु कुछ धातुएँ ऐसी हैं जिनके भूतकालिक कृदन्त तथा उससे बनने वाले कालों के रूप कुछ भिन्न होते हैं। यद्यपि भिन्नता कोई विशेष नहीं है, केवल धातु का रूप कुछ परिवर्तित अवस्था में होता है। मुख्य-मुख्य धातुयें ये हैं—

हो(णौ) हुणौ– हुवौ, हुइ, होई, हौ
कर(णौ)– कियौ, की, कीदौ, कीधौ, कीन्हौ, कीनौ
दे(णौ)– दियौ, दीदौ, दीधौ, दीन्हौ, दीनौ
ले(णौ)– लियौ, लीदौ, लीधौ, लीन्हौ, लीनौ
पी(णौ)– पीयौ, पीदौ, पीधौ, पीनौ

लिंग, वचन, पुरुष, प्रकार, वाच्य कालादि का प्रभाव धातुओं पर पड़ता है। प्राचीन आर्य भाषा संस्कृत में भी कृदन्त रूपों में लिंग भेद मिलता है, यथा—

स गतः = वह गया
सा गता: = वह गयी

राजस्थानी में भी यही प्रणाली पाई जाती है जो संभवतया संस्कृत के प्रभाव के कारण है। अतः यहाँ भी धातु रूपों में लिंग भेद होता है, यथा—

वो गयौ = वह गया
वा गई = वह गयी

परम्परा रूप में संस्कृत से प्राप्त आज्ञात्मक रूप भी (Imperative) राजस्थानी में मिलते हैं। प्राचीन ग्रन्थों में इनका उल्लेख विभिन्न प्रकार से हुआ है। राजस्थानी में इनके ये रूप इस प्रकार हैं—

	आधुनिक राजस्थानी	प्राचीन राजस्थानी
उत्तम पुरुष—		
एक वचन	चालूं, करूं	बोलज्यूं, चलउ
बहु वचन	चालां, करां	बोलज्यां, चलउं

प्रायः इस प्रयोग में रूप **उकारान्त** होते हैं। प्राचीन राजस्थानी पर अपभ्रंश के प्रभाव के कारण कई रूपों में अपभ्रंश एवं पुरानी राजस्थानी में अत्यधिक भेद नहीं हैं।

मध्यम पुरुष[1]—

एक वचन–	**चल, कर, मर चाल**	**आणज्यौ, करौ, चालि चालौ**
वहु वचन–	**चालौं, करौ, मरौ चलौ**	**आणज्यां, करां**

अन्य पुरुष—

एक वचन–	**चालियौ, करै लिखावै, करावै पेखीजै**	**पुरज्यौ यछै, आवइ हुवइ, भंमइ, सुणै मांडइ, रहियौ, बोलिजइ**
बहु वचन–	**चालिया**	

राजस्थानी में क्रिया प्रयोगों की कुछ विशेषताएँ—

आदरसूचक[2] प्रयोग राजस्थानी में प्रायः वहुवचन में ही किये जाते हैं, यथा—**आप अरोगिया, वे सिधाया**। अन्य भाषाओं की अपेक्षा राजस्थानी में आदरसूचक एवं मांगलिक प्रयोग के सम्बन्ध में कुछ विशेषताएँ हैं। आधुनिक हिन्दी में प्राकृत एवं अपभ्रंश के प्रयोग **किज्जइ, दिज्जइ** आदि रूपों का परिवर्तित रूप **कीजिए, दीजिए** आदि है। प्राचीन राजस्थानी में भी अपभ्रंश के प्रभावस्वरूप **किज्जइ, दिज्जइ** आदि रूपों का प्रयोग हुआ है। आधुनिक राजस्थानी में प्रायः मुख्य-मुख्य क्रियाओं के आदरसूचक रूप कुछ विशेष प्रकार के निर्मित हो गये हैं।

निम्नलिखित उदाहरणों से यह वात स्पष्ट हो जायगी[3]—

तू **खाव** = तुम खाओ

थे **जीमौं** = तुम खाओ

आप **अरोगौ** = आप खाइये

उपरोक्त तीन पदों का आधार समान धातु नहीं है। **खाणो** संस्कृत के **खादन** से वना है, **जीमणौ** संस्कृत **जेमन** से तथा **अरोगणौ** क्षेत्रीय मेवाड़ी उपज है। **अरोगणौ** क्षेत्रीय उपज होने पर भी कालांतर में समस्त राजस्थान में व्यवहृत होने लगा। तीनों का समान अर्थ है तथापि आदरसूचक शब्दों के प्रयोग की दृष्टि से इन तीनों के प्रयोगों में अंतर है। **खाणौ** साधारण अर्थ में; **जीमणौ** अपेक्षाकृत शिष्ट अर्थ में एवं **अरोगणौ** आदरसूचक अर्थ में प्रयुक्त होता है। इसी प्रकार का एक और प्रयोग दृष्टव्य है—

वो **जावै** = वह जाता है।

वे **पधारै** = वे जाते हैं या वे आते हैं।

आप **सिधावै** = आप जाते हैं।

जाणौ– [सं० **यान**], **पधारणौ** [सं० **पद्धारण**] **सिधाणौ** [सं० **साधय**]

पधारणौ शब्द की उत्पत्ति **पद्धारण** शब्द से मानी गई है। यह द्विअर्थक शब्द है। दोनों ही अर्थ परस्पर विरोधी हैं।

राजस्थानी में **पधारणो** शुभागमन एवं आदरसहित विदा दोनों अर्थों में प्रयुक्त होता है।

अमांगलिक भाव के कारण प्रायः कई बार विरोधी अर्थ में क्रियाओं का प्रयोग होता है। इसके मूल में प्रायः यह भाव निहित है कि अशुभ सोचने, अशुभ कहने या अशुभ देखने से संभवतया अशुभ घटित हो जाता है। अतः वे क्रियायें जिनमें किसी प्रकार का अशुभ भाव अंतर्निहित होता है, नहीं बोली जाती है। एक उदाहरण से यह बात स्पष्ट हो जायगी—पड़ौस में आटा मांगने एक स्त्री पड़ौसिन के यहाँ गई। पड़ौसिन के यहाँ भी आटा न था, अतः उसने कहा—**म्हारै तौ आटौ वधै**। राजस्थानी में **वधै** शब्द अधिक है के अर्थ में प्रयुक्त होता है। पड़ौसिन ने यह नहीं कहा—कि हमारे यहाँ आटा नहीं है। 'नहीं है' अर्थ अशुभ है। भगवान सब कुछ देता है। भरा-पूरा घर है, अतः 'नहीं है' न कह कर, 'अधिक है' के अर्थ वाले शब्द का पड़ौसिन प्रयोग करती है। उसी प्रकार **आडौ ढकणौ** के स्थान पर **आडो मंगल करणौ** कहा जाता है। इस प्रकार के कई उदाहरण दिए जाते हैं। कोश में इस प्रकार के शब्दों का वास्तविक अर्थ ही दिया गया है। **वधै** या **वधणौ** का अर्थ कोश में 'बढ़ना' या 'अधिक होना' ही

---

[1] राजस्थानी के मध्यम पुरुष के कई रूप संस्कृत के मध्यम पुरुषों के धातुओं के समान ही होते हैं, यथा–पढ़, जा, लिख आदि।

[2] प्रायः पश्चिमी राजस्थानी में आदरसूचक संज्ञा शब्दों के अगाड़ी **जी** नहीं लगाया जाता है वहां पर संबंधित क्रिया प्रयोग वहुवचन का रूप देकर आदरसूचक भाव व्यक्त किया जाता है–ज्यूं राव चूंडौ वूढ़ा हुआ। राव जोधौ बायाजी री जात पधारिया। देखो परम्परा–ऐतिहासिक वातां, पृ. १८, ३५।

[3] निम्न रूपों के अतिरिक्त सम्माननीय पुरुषों के लिए क्रिया के प्रेरणार्थक रूपों का प्रयोग किया जाता है, यथा–आप अरोगावै, आप पोढ़ावै।

होगा। 'कम होना' अर्थ वहाँ नहीं मिलेगा। वास्तव में 'कम है' के अशुभ अर्थ से बचने के लिए ही तो उसके विरोधी अर्थ का प्रयोग किया जाता है[1]।

कर्तृवाचक संज्ञा—

(i) कर्तृवाचक संज्ञा एवं विशेषता—राजस्थानी में समस्त क्रियाओं से कर्तृवाचक संज्ञा[2] बनती है। क्रिया के धातु में **अणहार** के संयोग से यह रूप बनता है, यथा—

क्रिया	कर्तृवाचक संज्ञा
करणौ = करना	**करणहार** = करने वाला व्यक्ति
मरणौ = मरना	**मरणहार** = मरने वाला व्यक्ति
पाळणौ = पालन करना	**पाळणहार** = पालन करने वाला

इस प्रकार के प्रयोग व्रज, अवधी आदि भाषाओं में भी प्रचलित हैं। तुलसी ने अपने मानस में इनका प्रयोग किया है।[3] इनका स्त्री लिङ्ग रूप **हारी** होता है। रूप भेद से इसका **हारि** एवं **हारी** दोनों रूपों में प्रयोग होता हैं। अपभ्रंश में भी इस प्रकार के प्रयोगों का प्रचलन था, यथा–**पालकहार**। क का लोप होने से यही राजस्थानी में **पालणहार** हो गया।

तैस्सितोरी ने पुरानी राजस्थानी के सम्बन्ध में **व** श्रुति का भी इस सम्बन्ध में उल्लेख किया है।[4] उन्होंने **अणावालौ** और **अवावालौ** का उदाहरण दिया है। प्रथम की उत्पत्ति **अणउँ** एवं द्वितीय की **अवउँ** क्रियार्थक संज्ञा से मानी है।

विशेषण के रूप में **इयौ** प्रत्यय से प्रायः सभी क्रियाओं के रूप बनते हैं—

क्रिया	कर्तृवाचक विशेषण
करणौ = करना	**करणियौ** = करने वाला
मरणौ = मरना	**मरणियौ** = मरने वाला
पालणौ = पालन करना	**पालणियौ** = पालने वाला

इस प्रकार के प्रयोग केवल राजस्थानी में ही पाये जाते हैं। अन्य भाषाओं में ऐसे उदाहरण नहीं मिलते। प्रस्तुत कोश में समस्त क्रियाओं के इस प्रकार के रूप नहीं दिये गये हैं। सब के रूप देकर व्यर्थ में कोश के पृष्ठ बढ़ाने का कोई अर्थ न था, अतः मुख्य-मुख्य प्रचलित क्रियाओं के ये रूप सम्बन्धित क्रिया के साथ ही दे दिये गये हैं। जिन क्रियाओं के साथ ये रूप नहीं दिये गये हैं, पाठक स्वयं ऐसे रूपों का निर्माण कर सकते हैं।

वाच्य—

कर्मवाच्य रूप –

धातु में **ई** अथवा **ईज** (**य**) जोड़ने से यह रूप बनता है। प्राचीन भाषाओं में भी धातु में प्रत्यय के संयोग से कर्मवाच्य रूप प्रकट किया जाता था। संस्कृत के धातु के साथ **य** जोड़ कर कर्मवाच्य का रूप बनाया जाता था। प्राकृत एवं अपभ्रंश में **इज्ज** या **ईज** रूप मिलता है। वहाँ **ई** प्रत्यय का कोई उदाहरण उपलब्ध नहीं है। सिद्ध हेमचन्द्र ने (सं० **प्राप्यते**) **पाविअइ** का प्रयोग किया है। कुछ विद्वानों ने इस **ई** प्रत्यय का सम्बन्ध शौरसेनी तथा मागधी के **ई** से जोड़ा है तथा कुछ के मत से इ (य) प्रत्यय **इज्ज** (**ईज**) से निकला है और इसलिये शौरसेनी तथा मागधी के ई प्रत्यय से इसका कोई सम्बन्ध नहीं है। किन्तु इस ई का सम्बन्ध संस्कृत के **य** से अवश्य है।[1] ध्वनि-परिवर्तन पर विचार करते समय हम देख चुके हैं कि राजस्थानी में **य** का **ज** में परिवर्तन एक आम बात है। इस दृष्टि से **ईज** का प्रयोग भी इसी प्रकार से प्रचलित हुआ है, फिर भी ई स्वयं में **य** की ध्वनि संन्निहित है। **ईजइ** एवं **ईयइ** दोनों के रूप अत्यन्त समान हैं। दूसरे रूप **ईयइ** में **य** का लोप होकर द्वित्व के स्थान पर केवल ह्रस्व **इ** का रह जाना भी असंभव नहीं है। आधुनिक राजस्थानी में इस प्रकार ई, ईज, इ इन तीनों का प्रयोग कर्मवाच्य रूपों के लिये होता है। यह केवल सकर्मक क्रियाओं का ही रूप होता है।

---

[1] अप्रिय को प्रिय रूप देने की प्रवृत्ति का ही यह रूप है जिसे Euphemism कहते हैं।

[2] व्याकरण में इन्हें कर्तृवाचक संज्ञा ही कहा गया है तथापि इनका प्रयोग विशेषण रूप में ही होता है अतः प्रस्तुत कोश में इनको विशेषण ही माना गया है।

[3] उ०—नाथ संभु धनु भंजनिहारा, होइहि केउ एक दास तुम्हारा।
—बालकांड, २७०।१—रामचरितमानस

[4] पुरानी राजस्थानी, पारा १३५।

---

[1] यण का इक हो जाता है जो संप्रसारण कहलाता है। **य व र ल** के स्थान में क्रमशः इ उ ऋ लृ होता है। (इग्यणः संप्रसारणम्) सिद्धान्तकौमुदी, सूत्र १/१/४५।

वर्तमान कर्मवाच्य–

प्राचीन राजस्थानी में **ईजइ, ईयइ (ईग्रइ)** एवं **ईइ** का प्रयोग कर्मवाच्य रूप बनाने में किया जाता था, यथा–

(i) **ईजइ** के उदाहरण–
कीजइ [सं० **क्रियते,** अप० **कीज्जइ**]
कहीजइ [सं० **कथ्यते,** अप० **कहिज्जइ**]

(ii) **ग्राजई** या **ग्रजई** से–
खाजइ [सं० **खाद्यते,** अप० **खज्जइ**]
नीपजई [सं० **निष्पद्यते,** अप० **णिप्पज्जइ**]

(iii) **(ईग्रइ), ईयइ** से–
करीयइ [सं० **क्रियते,** अप० **करिज्जइ, करीजइ**]
जोईग्रइ [सं० **द्योत्यते,** अप० **जोइज्जइ**]

(iv) **ईइ** से–
करीइ [ग्रन्य रूप **करी(य)इ** > **करीजइ**]
जाणीइ
धरीइ

ग्राधुनिक राजस्थानी में केवल **ईज, इज** एवं **ईयइ** का ही प्रयोग साधारणतः होता है–

(i) **ईज**–
काटणौ कर्म वा० रूप–**काटीजणौ** ।
मारणौ कर्म वा० रूप–**मारीजणौ** ।

(ii) **ईयइ**–
छोडणौ **छुंडयइ** ।

इनके ग्रतिरिक्त केवल **ई**-प्रत्यय से कुछ विशेष कर्मवाच्य रूप भी होते हैं। इनमें **ग्रोकारान्त** रूप न रह कर **ई** प्रत्यय से केवल ईकारान्त ही होते हैं। किन्तु इस प्रकार के रूपों के प्रयोग क्वचित् ही होते हैं ग्रथवा क्षेत्र विशेष में ही सीमित रहते हैं, यथा –

(i) **खाणौ** क्रिया का कर्मवाच्य रूप **खाणी** ।
उ०–म्हांसूं **खाणी** को ग्रावै नी—मुझसे खाया नहीं जाता ।

(ii) **जोवणौ** क्रिया का कर्मवाच्य रूप **जोवणी** ।
उ०–म्हांसूं **जोवणी** को ग्रावै नी—मुझसे देखा नहीं जाता ।

तैस्सितोरी ने प्राचीन राजस्थानी में कर्मवाच्य रूपों के प्रयोगों के सम्बन्ध में लिखा है[१]—'जितनी पांडुलिपियाँ मैंने देखी हैं उनमें हमें वर्तमान कर्मवाच्य के केवल ग्रन्य पुरुष के एकवचन ग्रौर बहुवचन रूप ही प्राप्त हुए हैं। इनमें से एकवचन के रूप ग्रधिक प्रचलित हैं ग्रौर इनका प्रयोग विविध ग्रर्थों में होता है ग्रौर प्रायः सभी पुरुषों के स्थान पर ये भाववाच्य में भी प्रयुक्त होते हैं।' यह मत कहाँ तक तर्क-सम्मत है, यह विचारणीय एवं शोध का विषय है। प्राचीन राजस्थानी एवं ग्राधुनिक गुजराती में इस प्रकार के उदाहरण पाये जाते हैं किन्तु ग्राधुनिक राजस्थानी में इनका प्रयोग स्वल्प ही है ।

भूतकालिक कर्मवाच्य –

साधारण **कर्तृवाच्य** रूपों के समान वर्तमान कर्मवाच्य रूपों में—**इयौ** प्रत्यय से ही उनका भूतकालिक रूप बनाया जाता है—

वर्तमान कर्म वा०	भूतकालिक कर्म० वा०
करीजणौ	**करीजियौ**
काटीजणौ	**काटीजियौ**
मारीजणौ	**मारीजियौ**

लिङ्ग के प्रभाव से इनके रूपों में भी परिवर्तन हो जाता है। उपरोक्त रूप पुल्लिग है। स्त्री लिङ्ग रूपों में **यौ** का लोप होकर रूप **ईकारांत** होता है, यथा–

वर्तमान कम वा०	भूतकालिक कर्म वा०	
	पुल्लिग	स्त्रीलिंग
लीरीजणौ	**लीरीजियौ**	**लीरीजी**
खवीजणौ	**खवीजियौ**	**खवीजी**

गोड़वाड़ ग्रादि क्षेत्रों में इस भूतकालिक कर्मवाच्य के रूप इस प्रकार मिलते हैं–

क्रिया	भूतकालिक कर्मवाच्य
लिखणौ	**लिखांणौ**
पढ़णौ	**पढ़ांणौ**
खाणौ	**खावाणौ** ग्रादि ।

---

१ पुरानी राजस्थानी, डा० एल० पी० तैस्सितोरी, ग्रनु० नामवरसिंह, पारा १३७ का ग्रंश ।

भविष्यत् कर्मवाच्य—

भविष्यत् कर्मवाच्य के रूप पुरानी राजस्थानी एवं आधुनिक राजस्थानी में कुछ भिन्न प्रकार से होते हैं। पुरानी राजस्थानी पर अपभ्रंश का पर्याप्त प्रभाव है। उसके कुछ रूप निम्नलिखित प्रकार से निष्पन्न होते हैं—

(i) इज वाले—

कीजसी = किया जायगा
जाइजसी = जाया जायगा
लीजिस्यइ = लिया जायगा

(ii) इ वाले

कहीस्यइ, कहीसिइ = कहा जायगा
बोलिसिइँ = बोला जायगा
पराबीसिउ = पराभूत होंगे
मरीसिइ = मरेगा
पांमीस्यइँ = पायेंगे

आधुनिक राजस्थानी में भी रूप प्रायः सी लग कर ही बनते हैं—

वर्तमान कर्मवाच्य	भविष्यत्कालिक कर्मवाच्य
लीरीजणौ	लीरीजसी
करीजणौ	करीजसी
खवीजणौ	खवीजसी

भाववाच्य—

सकर्मक क्रियाओं के रूप कर्मवाच्य तथा अकर्मक क्रियाओं के रूप भाववाच्य होते हैं। कर्मवाच्य एवं भाववाच्य के रूपों में कोई विशेष भेद नहीं होता। एक ही प्रकार से दोनों के रूप बनते हैं। केवल अकर्मक एवं सकर्मक के भेद से ही भाववाच्य एवं कर्मवाच्य रूप बनते हैं, यथा—

(अ) वर्तमानकाल—

क्रिया	वाच्य
मरणौ (अकर्मक)	मरीजणौ (भाववाच्य)
मराणौ (सकर्मक)	मराईजणौ (कर्मवाच्य)
कटणौ (अकर्मक)	कटीजणौ (भाववाच्य)
कटाणौ (सकर्मक)	कटाईजणौ (कर्मवाच्य)
काटणौ (सकर्मक)	काटीजणौ (कर्मवाच्य)

(आ) भूतकालिक—

क्रिया	वाच्य	
	वर्तमानकाल	भूतकाल
पड़णौ (अ०रू०)	पड़ीजणौ	पड़ीजियौ (भाव० वा०)
काटणौ (स०रू०)	काटीजणौ	काटीजियौ (कर्म० वा०)

(इ) भविष्यकालिक—

क्रिया	वर्तमानकाल	भविष्यकाल
जावणौ	जावीजणौ	जावीजसी
बैठणौ	बैठीजणौ	बैठीजसी

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि भाववाच्य एवं कर्मवाच्य दोनों में परिवर्तन करने या रूप बनाने की प्रणाली का कुछ एक ही प्रकार का ढंग है।

तैस्सितोरी ने अपने लेख में विधिमूलक कर्मवाच्य (Potential Passive) का भी उल्लेख किया है[1]। डॉ० हॉर्नले ने भी अपनी 'गौडियन ग्रामर' में इस सम्बन्ध में युक्तियां एवं उदाहरण प्रस्तुत किये हैं[2]। कर्मवाच्य धातु में आ जोड़ने से बनने वाले विधिमूलक कर्मवाच्य के कई उदाहरण प्राचीन राजस्थानी में मिलते हैं। इस कर्मवाच्य की महत्वपूर्ण विशेषता यह है कि सामान्यतः इसमें विधि (Potential) का अर्थ निहित रहता है, परन्तु कालान्तर में इस विशिष्ट अर्थ का धीरे-धीरे लोप होता गया। आधुनिक गुजराती में इसका प्रयोग सामान्यतः कर्मवाच्य के अर्थ में होता है। प्राचीन राजस्थानी में इस विधिमूलक कर्मवाच्य (Potential Passive) के निम्नलिखित उदाहरण प्रस्तुत किए जाते हैं।

वर्तमान—

(i) सरव पाप-मल-थकी मुकाइँ = (वे) सर्व पाप मल से मुक्त हो सकते हैं।

(ii) तुम्हो अभक्ष्य-मांहि कहिवाय = तुम अभक्ष्य में कहे जा सकते हो।

भविष्यत—

नरक रूपी या वैस्वानर मांहि पचाइसि = नरक रूपी वैस्वानर में पकाए जाओगे।

---

[1] पुरानी राजस्थानी, पृष्ठ १८४, पारा १४०

[2] 'गौडियन ग्रामर' पारा ४८४

आधुनिक राजस्थानी में इनका प्रयोग निम्नलिखित रूपों में होता है—

वर्तमान—

सब पापां सूं मुक्त होवीजै

भविष्य—

रोटी तवा माथै पकावीजसी

राजस्थानी में भविष्य आज्ञार्थक में जे जै, या जौ का प्रयोग होता है, यथा—

पत्र लिखज = पत्र लिखना

औखध खाइजौ = औषधि खाना

धान खरीदजै – धान खरीदना

इन जे, जै, जौ की उत्पत्ति संस्कृत के **ण्यत्(यत्)** प्रत्यय से हुई है।

प्रेरणार्थक—

संस्कृत के मूल स्वर को दीर्घ करके प्रेरणार्थक बनाने की परिपाटी रही है। राजस्थानी मे भी इस प्रकार के कई उदाहरण मिलते हैं। यहाँ भी स्वर को दीर्घ करके प्रेरणार्थक रूप कई क्रियाओं का बनाया जाता है। सामान्यत: ऐसे रूपों को आजकल सकर्मक ही माना गया है। प्रस्तुत कोश में भी ऐसे रूप व्याकरण की दृष्टि से सकर्मक के अंतर्गत ही रक्खे गये हैं। सूक्ष्म दृष्टि से देखने पर ऐसा अनुभव होता है कि उनमें प्रेरणार्थक भाव अंतर्निहित है। ऐसे रूप अकर्मक क्रियाओं से बनते हैं।

अकर्मक क्रिया	सकर्मक क्रिया (प्रेरणार्थक रूप)	
	प्राचीन राजस्थानी	आधुनिक राजस्थानी
उतरणौ	**ऊतारइ**	**ऊतारणौ**
मरणौ	**मारइ**	**मारणौ**
मिळणौ	**मेळइ**	**मिळाणौ**

इसके अतिरिक्त राजस्थानी में **आव** प्रत्यय जोड़ कर भी प्रेरणार्थक रूप बनाये जाते हैं। यह **आव** प्रत्यय की उत्पत्ति संभवतया संस्कृत के **आ-पय** से हुई है। सं० का **'आ-पय'** अपभ्रंश में **आव, आवे** के रूप में प्रयुक्त हुआ है। प्राकृत में **आपय** को प्रत्यय के रूप में स्वीकार किया जाकर इसका प्रयोग सामान्यत: प्रेरणार्थक रूप बनाने में किया जाता था। ऐसा देखा गया है कि राजस्थानी में प्रेरणार्थक रूप इस प्रत्यय द्वारा बनाते समय मूल दीर्घ स्वर ह्रस्व हो जाया करता है, किन्तु यह नियम सदैव लागू नहीं होता। **आव** प्रत्यय से बने निम्नलिखित रूपों के उदाहरण दिये जा सकते हैं—

क्रिया	प्रेरणार्थक
काटणौ (स० रू०)	**कटावणौ**
मारणौ (स० रू०)	**मरावणौ**
आंणणौ	**अणावणौ** या **आंणावणौ**

प्राय: कई वार इस **आव** प्रत्यय का मूल स्वर ह्रस्व होकर **अव** के रूप में प्रयुक्त होने लगता है, यथा—

क्रिया	प्रेरणार्थक
मेलणौ	**मेलवणौ**
सीखणौ	**सीखवणौ**

इस प्रकार के रूपों का प्राकृत में भी हेमचंद्र ने प्रयोग किया है—**पट्टवइ** (सिद्ध ४।३७), **मेलवइ** (सिद्ध ४।२८) **सोखवइ** (सिद्ध ३।१५०)। अत: यह केवल राजस्थानी की अपनी विशेषता नहीं है। इसे परम्परा के रूप में प्राकृत एवं अपभ्रंश से राजस्थानी में प्राप्त किया गया है। इस प्रकार **अव** प्रत्यय से बने रूप आधुनिक राजस्थानी में कम, परन्तु प्राचीन राजस्थानी में प्रचुरता से मिलते हैं। तैस्सितोरी ने भी इसका उल्लेख किया है। कठिनाई यह है कि इस **अव** प्रत्यय का प्रयोग राजस्थानी में अपभ्रंश की तरह नाम धातु बनाने के लिए भी प्रयोग किया जाता है, यथा—

सं० **भोग**		रा० **भोगवइ**
सं० **सत्यापयति**	अप० **सच्चवइ**	रा० **साचवइ**
सं० **चिन्तयति**		रा० **चींतवइ**

इस प्रकार के रूपों से कई वार यह निर्णय करना कठिन हो जाता है कि **अवइ** वाला यह रूप प्रेरणार्थक है अथवा नाम धातु-निर्मित क्रियापद।

इसके अतिरिक्त **आड़** प्रत्यय के संयोग से भी राजस्थानी में प्रेरणार्थक रूप निष्पन्न हुए हैं। इस प्रत्यय का अस्तित्व प्राकृत में भी मिल जाता है। सिद्ध हेमचंद्र जैन सूरि ने अपने प्राकृत व्याकरण ४।३० में इसका उल्लेख किया है। इस प्रकार व के स्थान पर ड स्वार्थिक अथवा श्रुति तत्व के रूप में आया है। प्राचीन राजस्थानी में यह आड था किन्तु आधुनिक राजस्थानी में इसका प्रयोग आड़ के रूप में हुआ है। ड

वर्ण के सम्बन्ध में विवेचना करते समय हम यह स्पष्ट कर चुके हैं कि प्राचीन राजस्थानी में ड का प्रयोग था। प्राचीन अपभ्रंश एवं प्राकृत में भी केवल ड ही था। इसी के प्रभाव के कारण पुरानी राजस्थानी में भी ड ही रहा, किन्तु आधुनिक राजस्थानी में यही ड़ के रूप में प्रयुक्त होने लगा, यथा—

क्रिया	प्रेरणार्थक	
	प्राचीन राज०	आधुनिक राज०
लगाणौ	**लगाडणौ**	**लगाड़णौ**
काटणौ	**कटाडणौ**	**कटाड़णौ**
देखाणौ	**देखाडणौ**	**देखाड़णौ**
बांधणौ	**बंधाडणौ**	**बंधाड़णौ**

इस **आड़** प्रत्यय से कालान्तर में **आर** एवं **आल** दो प्रत्यय और प्रयोग में आने लगे। इन दोनों का प्रयोग प्राचीन राजस्थानी में तो बहुतायत से हुआ है परन्तु आधुनिक राजस्थानी में इनका प्रयोग बहुत कम मिलता है।

क्रिया	प्रेरणार्थक	
	प्राचीन राज०	आधुनिक राज०
घटाणौ	**घटारणौ (घटारइ)**	**घटारणौ**
दिवाणौ	**दिवारणौ (दिवारइ)**	**दिरावणौ**

आल प्रत्यय के रूप—

दिखाणौ	**दिखालणौ (दिखालइ)**	**दिखालणौ**
बिठाणौ	**बेठालणौ**	**बैठालणौ**

वर्णों के स्थानान्तरण से कुछ क्रियाओं के रूप नये रूप में निर्मित हो जाते हैं। उदाहरण के लिए **देणौ** क्रिया का प्रेरणार्थक रूप **दिवाणौ** है। **आर** प्रत्यय के संयोग से इसका **दिवारणौ** रूप भी बनता है किन्तु इस **दिवारणौ** रूप का प्रयोग आधुनिक साहित्य में नहीं होता। र के स्थानान्तरण से इसका **दिरावणौ** रूप ही पूरी तरह प्रचलित हो गया है। किन्तु मूल रूप में यह **आर** प्रत्यय का ही उदाहरण है। इस प्रकार **लेणौ** क्रिया का प्रेरणार्थक रूप **लेवाणौ** या **लेवारणौ** है। इस **आर** प्रत्यय वाले **लेरावणौ** रूप में भी र का स्थानान्तरण होकर **लेरावणौ** या **लिरावणौ** रूप ही मुख्यतया प्रचलित हो गया है। राजस्थानी में ये रूप विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं।

आड़ एवं आर प्रत्यय से निर्मित होने वाले रूपों का उल्लेख हम ऊपर कर चुके हैं। कालान्तर में इन दोनों प्रत्ययों का परस्पर प्रभाव के कारण संयुक्त रूप **अवाड़** या **अवाड** तथा **अवार** प्रयुक्त होने लगा। इन्हें हमें दुहरी प्रेरणार्थक क्रियायें कह सकते हैं, यथा—

क्रिया	प्राचीन राज०	आधुनिक राज०
कहणौ	**कहवारइ**	**कहवाड़णौ**
मेलणौ	**मेलवाडइ**	**मेलवाड़णौ**

ऊपर हम र के स्थान पर स्थानान्तरण के विषय में लिख चुके हैं। आव और **आर** का संयुक्त रूप **अवार** है, जो **दिवारणौ, लिवारणौ** में प्रयुक्त होता है। इसी **अवार** का रूप र के स्थानान्तरण के कारण **अराव** हो गया। इस सम्बन्ध में मतभेद हो सकते हैं। डॉ. तैस्सितोरी ने भी इसी मत का प्रतिपादन किया है। उनके अनुसार धातु के अन्त्यस्वर तथा प्रत्यय के आद्य **अ** के बीच आई हुई **व** श्रुति तथा प्रत्यय गत **व** के पास रहने से जो उच्चारण सम्बन्धी कठिनाई उत्पन्न हो सकती थी उसे दूर करने के लिए र का स्थानान्तरण कर दिया गया है। इस प्रकार **दि-व्-अवार-अ इ** हुई, फिर र के वर्ण-विपर्यय द्वारा **दि-व-अराव अइ**[1]। डॉ० तैस्सितोरी के इस मत से पूर्ण सहमति कई विद्वानों को न हो सके किन्तु उनका यह मत विचारणीय अवश्य है।

धातु के स्वर में परिवर्तन करके भी प्रेरणार्थक रूपों का निर्माण होता है—

पीवणौ–क्रि०स० **पावणौ**–क्रि०प्रे०रू०

कुछ स्थानों में अथवा कुछ व्यक्तियों के प्रति आदरसूचक भाव के निमित्त प्रेरणार्थक क्रियाओं का प्रयोग कर दिया जाता है, किन्तु वे प्रायः अपने मूल में आज्ञार्थक ही रहती है—

रावलै आरोगावौ(वै)—आप अरोगिए

रावलै पोढ़ावौ(वै)—आप शयन कीजिए

ल, र एवं व के संयोग से बनने वाले कुछ प्रेरणार्थक रूप विचारणीय हैं—

धातु	प्रेरणार्थक	प्रेरणार्थक
	पहला रूप	दूसरा रूप
दा (देणौ)	**दिराणौ**	**दिलवाणौ, दिवाणौ**

[1] पुरानी राजस्थानी—मूल ले० तैस्सितोरी, अनु० नामवरसिंह, पारा १४१।

मर (मरणौ)	**मराणौ**	**मरवाणौ, मरवाड़णौ**
ला[1] (लेणौ)	**लिराणौ**	**लिरवाणौ, लिवाणौ**

आव प्रत्यय वाले प्राय: ये दोनों रूप प्रेरणार्थक क्रियाओं के रूप में मिलते हैं—

क्रिया	प्रेरणार्थक
करणौ	**कराणौ, करावणौ, करावावणौ**
करणौ	**करवाणौ, करवावणौ**
पढ़णौ	**पढ़वाणौ, पढ़वावणौ**

उपरोक्त समस्त प्रेरणार्थक रूप अपनी मूल क्रियाओं से सम्बन्धित हैं। अत: इस कोश में उन्हें स्वतन्त्र स्थान नहीं दिया गया है। प्रचलित क्रिया रूपों के साथ ही उनके द्वारा निर्मित अन्य रूप यथास्थान दे दिए गए हैं। किन्तु कुछ क्रियाओं के साथ में इस प्रकार के रूपों को स्थान दे दिया गया है तथा कुछ के साथ नहीं दिया गया। पाठकगण भ्रम में न पड़ जायँ, अत: स्पष्टीकरण आवश्यक है। प्राय: सभी प्रचलित एवं साधारण व्यवहार में काम आने वाली क्रियाओं के समस्त रूप उनके साथ ही दे दिए गए हैं, किन्तु कुछ क्रियाओं का प्रयोग अत्यन्त सीमित रूप में होता है, या तो वे साहित्य में भी बहुत ही कम स्थानों में प्रयुक्त हुई हैं या साधारण बोल-चाल के व्यवहार में काम में नहीं लाई जातीं। अत: इनके बनने वाले रूपों को कोश में स्थान नहीं दिया गया। इसके अतिरिक्त कुछ क्रियायें बहुत प्रचलित हैं, किन्तु उनके द्वारा बनने वाले रूप साधारणत: कार्य में नहीं आते। इस प्रकार की क्रियाओं के रूप नहीं दिए गए हैं। प्राय: समस्त क्रियाओं के येन-केन-प्रकारेण कुछ न कुछ रूप अवश्य होते हैं। अगर पाठकों को ऐसी क्रिया के रूपों की आवश्यकता अनुभव हो जिनके कि रूप इस कोश में नहीं लिखे गए हैं तो वे स्वयं इस भूमिका के आधार पर अथवा तत्संबंधित व्याकरण के नियमों के आधार पर उनके रूपों का निर्माण कर प्रयोग में ला सकते हैं। कोश व्याकरण का स्थान नहीं ले सकता। इस प्रकार के स्थानों में व्याकरण का ज्ञान आवश्यक है। पाठकों को कोश का अवलोकन करते समय इन बातों का विशेष ध्यान रखना चाहिए।

कृदन्त—

राजस्थानी में भी अन्य भाषाओं की तरह कृदन्तों का व्यवहार होता है।

वर्तमानकालिक कृदंत—इसका निर्माण धातु के अंत में **तां** लगाने से बनता है। प्राकृत के प्रभाव से **तौ** भी इस कृदंत के बनाने में प्रयुक्त होता है। ड़ौ राजस्थानी की अपनी विशेषता है। इस प्रकार **तां, तौ, तोड़ौ**—तीनों के संयोग से वर्तमानकालिक कृदंतों का निर्माण होता है। इस **तां** की व्युत्पत्ति संस्कृत वर्तमानकालिक कृदंत के अंत (शतृ-प्रत्ययांत)[1] वाले रूपों से मानी गई है। लिङ्ग के कारण इसके रूपों में भी विकार होता है, यथा—

सं० कृ क्रिया—करणौ करना

वर्तमानकालिक कृदन्त—**करतां**— करते हुए (पु०)

करती— करती हुई (स्त्री०)

करतौ— करता हुआ (पु०)

करती— करती हुई (स्त्री०)

करतोड़ौ—करता हुआ (पु०)

करतोड़ी—करती हुई (स्त्री०)

राजस्थानी साहित्य में इन कृदंतों का प्रयोग स्थान-स्थान पर हुआ है, यथा—

वह मुगलाँ विरदैत, खागै **खंडरतौ** खलां

—वचनिका रतनसिंघजी री।

प्राचीन राजस्थानी में इसके रूप आंशिक रूप से अपभ्रंश एवं प्राकृत से प्रभावित हैं, यथा—

पु० एकवचन—**वूठैतौ, चलंतउ, चडंदउ**

पु० वहुवचन—**मनगमता, जावता, नीगमतांह, उसारंता भमंता**

स्त्री० —**विलसंती, चाहंदी, देखती, वलती**

आधुनिक राजस्थानी में **तौ** एवं **तोड़ौ** केवल एकवचन के रूप में ही प्रयुक्त होता है। वर्तमानकालिक कृदन्त का यह एकवचनांत रूप है।

---

[1] जिस प्रकार दा = देना होता है, उसी प्रकार ला = लेना मान लिया गया है। दान–आदान जैसा सहयोग है, वैसा ही देना–लेना का सहयोग है। यह सादृश्य के प्रभाव के कारण है, ऐसा स्व. पं० नित्यानन्दजी शास्त्री का मत है।

[1] पं० नित्यानन्दजी शास्त्री के मत के अनुसार—'शान्-प्रत्ययांत' होना चाहिए।

उपरोक्त तीनों प्रत्यय, यथा—**तां, तौ, तोड़ौ**—इस कृदंत में प्रयुक्त होते हैं, तथापि इनके बीच सूक्ष्म रूप से कुछ अंतर विद्यमान है। **तौ, तोड़ौ** एकवचन के साथ ही सामान्य वर्तमान-काल का बोध कराते हैं, किन्तु **तां** प्रत्यय से निश्चयार्थ तत्काल का बोध होता है। सामान्यतया **तां** इसी अर्थ में प्रयुक्त होता है और तात्कालिक कृदन्त के नाम से पुकारा जाता है। तात्कालिक कृदन्त रूप वर्तमानकालिक कृदन्त विकृत रूप में ही **इज, ईज, हिज, हीज, ज, पांण** आदि लगा कर बनता है, यथा—

दवाई देवतां **पांण** सास निकळ गियौ।

सिफारिस **लगावतां** ही नौकरी मिळगी।

किन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि तात्कालिक कृदन्त में केवल **'तां'** प्रत्यय का ही प्रयोग होता है। इसकी पहचान तो केवल **ही, पांण, ईज** आदि का प्रयोग है। **'तौ'** का भी तात्कालिक कृदन्त अव्यय के रूप में कभी-कभी प्रयोग होता है, प्रायः यह सदा एकवचन रूप के प्रयोग तक ही सीमित रहता है, यथा—

चोर चोरी **करतौ ही** पकड़ीज गियौ।

इस प्रकार तात्कालिक कृदंत का अलग अस्तित्व न होकर यह वर्तमानकालिक कृदन्त का ही विकारी रूप है। इससे मुख्य क्रिया के साथ होने वाले कार्य की समाप्ति का बोध होता है। तात्कालिक कृदन्त और मुख्य क्रिया का उद्देश्य बहुधा एक ही रहता है पर कभी-कभी तात्कालिक कृदन्त का उद्देश्य भिन्न रहता है और यदि वह प्राणीवाचक हो तो संबंधकारक में आता है, यथा—

दिन **निकलतां पांण** चोर भाग गिया।
आपरै **आवतां ही** झगड़ौ ठंडौ पड़ गियौ।

ड़ौ का प्रयोग राजस्थांनी की विशेषता है। वर्तमान-कालिक कृदन्त के साथ इसके संयोग से वर्तमानकालिक कृदन्त विशेषण बन जाता है, यथा—

चलतोड़ी गाडी में मत बैठौ।
उड़तोड़ी चिड़ियां नै भाटा मत वावौ।

यह विशेषण विशेष्य लिङ्ग, वचन के अनुसार बदलता है। अपूर्ण क्रिया द्योतक कृदन्त भी वर्तमानकालिक कृदन्त का विकृत रूप मात्र है, यथा—उनै कांम करतां देर होइगी।

भूतकालिक कृदन्त—

यह धातु के अंत में प्रायः **इयौ** या **यौ** जोड़ने से बनता है। इसकी व्युत्पत्ति संस्कृत के भूतकालिक कर्मवाच्य कृदन्त के **त, इत** (क्त प्रत्ययान्त) वाले रूपों से मानी जाती है।[1] इसके रूप भी प्राकृत के समान ही होते हैं—

सं० **चलितः**   प्रा० **चलिओ,**   रा० **चालियौ**
सं० **कृतः**   प्रा० **करियो.**   रा० **करियौ**

ड़ौ के जोड़ने से भूतकालिक कृदन्त विशेषण का रूप बन जाता है। भूतकालिक कृदन्त विशेषण बनाने के नियमों का विस्तारपूर्वक उल्लेख करना व्याकरण का कार्य है। अकर्मक क्रिया से बना हुआ भूतकालिक कृदन्त विशेषण कर्तृवाच्य और सकर्मक क्रिया से बना हुआ कर्मवाच्य होता है, यथा—

अकर्मक—

ऊगियोड़ी घास काट दियौ।
आयोड़ौ माल बारै मती फेंकौ।

सकर्मक—

तपायोड़ी चाँदी चमकदार हुवै।

निम्नलिखित उदाहरणों से भूतकालिक कृदन्त विशेषणों के रूप अधिक स्पष्ट हो जायेंगे—

बचियोड़ी रोटियां कुत्तां नै नांख दौ।
फंसियोड़ी मिनकी खतरनाक हुवै।

लिङ्ग एवं वचन के अनुसार ये विशेषण भी विशेष्य के अनुसार रूप बदलते हैं। प्रस्तुत कोश में इस प्रकार के भूत-कालिक कृदन्त विशेषणों को यथास्थान उपस्थित किया गया है।

पुरानी राजस्थानी में भी भूत कृदन्तों का प्रयोग अपभ्रंश से प्रभावित था। श्री तैस्सितोरी ने पुरानी राजस्थानी के भूत कृदन्तों को प्रत्यय एवं व्युत्पत्ति के अनुसार पाँच समूहों में रखा है[2]—

(१) इउ (यु), (इअउ) यउ अंत वाले भूत कृदन्त राज-स्थानी भूत कृदन्तों में इनका प्रयोग सबसे अधिक था, यथा—

करउ = कर्-इउ
कहउ = कह्-इउ

---

[1] हिन्दी भाषा का इतिहास, धीरेन्द्र वर्मा, पृष्ठ २९५, पारा ३१०
[2] पुरानी राजस्थानी, पारा १२६

ध्याउ = ध्या-यउ

हु-यउ

(२) **आंणउ** अंत वाले भूत कृदन्त — इनका प्रयोग प्रमुखतया कर्मवाच्य के अर्थ में ही होता है। सिंधी भाषा के अंदर भी इस प्रकार के **उभाणो, उझाणो, खाणो** आदि रूप मिलते हैं। इनकी उत्पत्ति **आमणु** वाली कर्मवाच्य की क्रियाओं से है। पुरानी राजस्थानी में निम्नलिखित उदाहरण मिलते हैं—

क्रियांणउ = खरीदा

छेतरांणउ = धोखा खाया हुआ

मूकांणउ = मुक्त

रंगांणउ = रंगा हुआ

विलखांणी (स्त्री०) = विलखाई हुई

(३) **धउ** अंत वाले भूत कृदन्त — इसके रूप वहुत ही सीमित मात्रा में प्रयुक्त होते हैं यथा—

कीधउ = किया	**खाधउ** = खाया
दीधउ = दिया	**पीधउ** = पिया
बीधउ = भयभीत	**लीधउ** = लिया

इन छः उदाहरणों के अतिरिक्त और कोई उदाहरण इस प्रकार के प्रयोग के उपलब्ध नहीं है।[1] आधुनिक राजस्थानी में भी इन्हीं छः के आधार पर निम्नलिखित रूप प्रचलित हैं—

सं० कृत करइ से संबद्ध कीधउ से आधुनिक राजस्थानी में **कीधौ**

सं० खादित खाइ ,, ,, खाधउ ,, ,, ,, , **खाधौ**

सं० दत्त दिइ ,, ,, दीधउ ,, ,, ,, ,, **दीधौ**

सं० पीत पीइ ,, ,, पीधउ ,, ,, ,, ,, **पीधौ**

सं० विद्ध बीहइ ,, ,, बीधउ ,, ,, ,, ,, **बीधौ**

सं० लात लिइ ,, ,, लीधउ ,, ,, ,, ,, **लीधौ**

आधुनिक राजस्थानी में भी इन छः प्रयोगों के अतिरिक्त अन्य प्रयोग नहीं मिलते। ये क्रियाओं के भूतकालिक प्रयोग हैं। भाषा-विज्ञान से सम्बन्धित लोगों के लिये इस प्रकार के रूप अध्ययन के विषय हैं। इनकी संतोषप्रद व्याख्या आज तक प्रायः उपलब्ध नहीं हुई है। तैस्सितोरी ने इस सम्बन्ध में कुछ निष्कर्ष पर पहुँचने का प्रयत्न किया है। उन्होंने लिखा है कि "**धउ** का उत्पत्ति न्हउ में **द** श्रुति के समावेश द्वारा हुई है। यह प्रक्रिया अपभ्रंश के अति परिचित शब्द **पण्णरह** (< सं० **पञ्चदश**) के परिवर्तन से बहुत कुछ मिलती-जुलती है जो प्राचीन पश्चिमी राजस्थानी में **पनर** हो गया। प्रोफेसर पिशेल ने दिखलाया है कि प्राकृत भूत कृदन्त **दिण्ण दिद्‌न** से निकला है और दूसरी ओर इस प्रमाण का अभाव नहीं है कि संस्कृत की अपेक्षा प्राकृत में भूत कृदन्त प्रत्यय **न** का प्रचलन अधिक है। **न** प्रत्यय वाले ये आनुमानित रूप **कृण-न** > **कृण्ण**; **खाद्‌-न** > **खान्न**; **दिद्‌ न** > **दिन्न, पिप्‌-न, विभ-न, लिन-न** ही है जिनसे प्राचीन पश्चिमी राजस्थानी के भूत कृदंत के **ध(उ)** वाले रूपों का इतिहास जाना जा सकता है। मध्यवर्ती अवस्थाएँ (**कः** स्वार्थे के साथ) ये हैं— अप०—**किण्णउ, खण्णउ, दिण्णउ, पिण्णउ, विण्हउ, लिण्णउ, (लिण्हउ)**।'[1] इनमें अपभ्रंश का मूर्धन्य द्वित्त्व **ण** सरलीकृत होकर प्राचीन पश्चिमी राजस्थानी में दन्त्य न हो गया, यथा— **कीन्हउ, खान्हउ, दीन्हउ, पीन्हउ, बीन्हउ, लीन्हउ**। इसके पश्चात्‌ **न्** के स्थान पर **द्** श्रुति का समावेश हो जाने से **कीधउ, खाधउ, दीधउ, बीधउ, लीधउ** रूप बनते हैं। **अउ** आधुनिक राजस्थानी में **औ** में रूपान्तरित हो गया है। अतः आधुनिक राजस्थानी में इनके **कीधौ, खाधौ, दीधौ, पीधौ, बीधौ, लीधौ** आदि रूप मिलते हैं। इन छः के अतिरिक्त और कोई रूप आधुनिक राजस्थानी में नहीं मिलता। **लाधौ** (प्राप्त) का सम्बन्ध सं० के **लब्ध** से है। इस **धउ** का उससे कोई सम्बन्ध नहीं है।

(४) व्यञ्जनान्त धातुओं से निर्मित **त** या **न** वाले मूल संस्कृत कृदन्तों से उत्पन्न भूत कृदन्त—**इन** यौगिक रूप के दोनों तत्वों में से एक धातु का अंतिम व्यञ्जन है और दूसरा संस्कृत प्रत्यय है। अपभ्रंश में इन दोनों का सारूप्य होकर प्राचीन राजस्थानी में सरलीकरण हो गया[2], यथा—

कंठ्य—

सं० **भग्नक**, अप० **भग्गउ**, प्रा० रा० **भागउ**, आ० रा० **भागो**।

[1] 'रीधौ' शब्द भी राजस्थानी में मिलता है, किन्तु इसकी गणना इस प्रकार के शब्दों के अंतर्गत नहीं की जा सकती। 'रीझणो' में 'झ' का परिवर्तन 'ध' में होने से 'रीधणो' बन गया। 'रीधौ' इसीका भूतकालिक कृदन्त है।

[1] पुरानी राजस्थानी, पृ० १६२।

[2] पुरानी राजस्थानी, एल. पी. तैस्सितोरी, अनु० नामवरसिंह, पृष्ठ १६३।

सं० लग्नक, अप० लग्गउ, प्रा० रा० लागउ, आ० रा० लागौ।

मूर्वन्य—

सं० छुट्, प्रा० छुट्ट, अप० छुट्टउ, प्रा० रा० छूटउ आ० रा० छूटौ।

सं० दृष्टक, अप० दिट्ठउ, प्रा० रा० दीठउ, आ० रा० दीठौ।

सं० रुष्टक, अप० रुट्ठउ, प्रा० रा० रूठउ, आ० रा० रूठौ।

दन्त्य—

सं० जितकः, अप० जित्तउ, प्रा० रा० जीतउ, आ० रा० जीतौ।

सं० प्रभूतक[1], अप० पहुत्तउ, प्रा० रा० पहुतउ, पुहुतउ
आ० रा० पहुतौ, पो'तौ

सं० लब्धकः, अप० लद्धउ, प्रा० रा० लाधउ, आ० रा० लाधौ।

सं० वद्धकः, अप० वद्धउ, प्रा० रा० वाधउ, आ० रा० वाधौ।

सं० सिद्धकः, अप० सिद्धउ, प्रा० रा० सीधउ, आ० रा० सीधौ।

(५) अलउ, इलउ वाले भूत कृदन्त—इनका प्रयोग बहुत ही थोड़ी मात्रा में मिलता है। वह भी प्राचीन राजस्थानी की पांडुलिपियों तक सीमित है। आधुनिक राजस्थानी में इनके रूप नहीं मिलते। प्राचीन राजस्थानी में कुछ रूप ये हैं—

सुणिल्ला = सुना, धुणिल्ला = धुना हुआ।

समस्त भूत कृदन्त लिंग, वचन एवं कारक के अनुसार विकारग्रस्त होते हैं।

भूत-कृदन्त के प्रयोगों एवं भूतकालिक कृदन्त विशेषण के रूप के बारे में ऊपर व्याख्या की जा चुकी है, फिर भी थोड़े से उदाहरण इस सम्बन्ध में और दिये जाने उचित होंगे, यथा–

(i) कर्तृ प्रयोग—हूँ बोलियौ—मैं बोला।
मनैं कुण लायौ—मुझे कौन लाया ?

(ii) कर्मणि प्रयोग—
तारौ दीठौ—तारा दृष्टिगत हुआ।
मैं दांन दीधौ—मैंने दान दिया।

(iii) भावे प्रयोग—
म्हैं हस्यौ—मैं हँसा।

पूर्ण क्रिया द्योतक कृदन्त भी भूतकालिक कृदन्त का विकृत रूप है, यथा—

विनै गयां बोत दिन होय गया।

भूतकालिक कृदन्त के विकारी रूप इस प्रकार हैं—

पु० एक०	अउ	लागउ, वूठउ, विलखउ
	यउ	आयउ
	इयउ	कूटियउ, ऊमाहियउ
पु० वहु० व०	आ	विलक्खा, अदिठा, सूका
	या	पिया
	इया	भरिया
स्त्री० एक व०	ई	वियापी, मांगी-तांगी
वहु०	इयाँ	सामुहियाँ, उपराठियाँ

पूर्वकालिक कृदन्त—

यह अविकृत धातु के रूप में रहता है या धातु के अंत में कर या नै लगा कर बनता है, यथा—

पांच वजीया **सोकर** उठीयो.........(i)
मार **नै** रुपिया खोस लिया.........(ii)

संस्कृत में यह कृदन्त **त्वा** और **य** लगा कर बनता है। क्रिया के पहले उपसर्ग आने पर ही संस्कृत में **य** लगता था किन्तु प्राकृत में यह भेद भुला दिया गया और उपसर्ग न रहने पर भी सं० **य** से सम्बन्ध रखने वाले रूपों का व्यवहार प्रचलित हो गया।

प्राकृत में संस्कृत के त्वा के स्थान पर ऊण का प्रयोग होने लगा। राजस्थानी में यही ऊण आगे जाकर नै हो गया। श्री एस० सी० वूल्लर ने अपनी प्राकृत प्रवेशिका में क्त्वा, ल्यप् प्रत्ययान्त या पूर्वकालिक क्रिया के सम्बन्ध में इस प्रकार लिखा है[1]—

शौ० पुच्छिअ, महा० पुच्छिऊण, अमा० पुच्छित्ता या पुच्छिदूण। शौ० माग० कदुअ = कृत्वा, गदुअ = गत्वा।[1] कभी शौ० छंद में—ऊण-दूण प्रत्यय होते हैं। जैसे—पेक्खिऊण।

---

[1] प्र+'भू० = प्राप्तौ'क्तः।

[1] प्राकृत प्रवेशिका—मू० ले० ए. सी. वूल्लर, अनु० वनारसीदास जैन, पारा १२२, पृष्ठ ६६।

गद्य में इअ प्रत्यय ही होता है। माग० में अधिक प्रयोग **ऊण** प्रत्यय का है जैसे—**हऊण, गन्तूण, हसिऊण, काऊण**।

राजस्थानी में **नै** का सम्वन्ध इसी **ऊण** से है। मराठी में यह **ऊण** अभी तक प्रयुक्त होता है।

प्राचीन राजस्थानी में पूर्वकालिक कृदन्तों के रूप दो प्रकार से वनाये जाते थे –

(i) धातु में—**एवि** प्रत्यय जोड़ कर इसकी उत्पत्ति संस्कृत की सप्तमी **त्वी** से हुई है, यथा—

भणेवि, घरेवि, पणमेवि, जोडेवि।

इन रूपों का राजस्थानी में वहुत ही कम व्यवहार हुआ है, जो कुछ हुआ है वह भी कविता तक सीमित रहा है। इस पर अपभ्रंश काल का प्रभाव स्पष्टतः लक्षित होता है।

(ii) धातु में ई प्रत्यय जोड़ कर, यथा—

नमी, विस्तारी, वउलावी, लेई, जाई।

कई वार कवियों ने पादपूर्ति आदि के लिए **ई** के वाद **अ** का आगम कर दिया है, यथा—

मारीअ, छाँडीअ, वरीअ।

इसके अतिरिक्त गद्य और पद्य दोनों में पूर्वकालिक **ई** को जोरदार वनाने के लिए प्रायः उसके वाद स्वार्थिक **नइ** परसर्ग[१] जोड़ दिया जाता है, यथा—

करी-नइ, वाँची-नइ, थई-नई, भोगवी-नई।

अंत्य **ई** के आगम की उत्पत्ति के विषय में काफी मतभेद हैं। श्री उदयनारायण ने[२] इन **इ** प्रत्ययांत रूपों की उत्पत्ति संस्कृत **दृक्ष्य** से मध्यभारतीय आर्य भाषा में **देक्खिअ** तथा आधुनिक रूप में **देखि** परिवर्तन क्रम से मानी है।

डा० तैस्सितोरी ने इस सम्वन्ध में काफी छान-वीन की है। सं० **य** से अपभ्रंश **इ** से राजस्थानी पूर्वकालिक कृदन्त की **ई** धारणा को उन्होंने भ्रममूलक ठहराया है। उनके अनुसार अपभ्रंश के भावे सप्तमी कृदन्तों से प्राचीन राजस्थानी के **ई** वाले पूर्वकालिक कृदन्त उत्पन्न हुए हैं जिनमें **इ-इ** संकुचित होकर **ई** हो गया जैसा कि **ई** वाले तृतीया रूपों में हुआ है। इस तरह **करि-इ** (**करिउ** का सप्तमी रूप) से पूर्वकालिक कृदन्त **करी** उत्पन्न हुआ है[१]।

आधुनिक राजस्थानी में इन ई अन्त्य का **प्रयोग** कम होता है। प्रायः धातुओं के साथ **कर** या **नै** को जोड़ कर ही पूर्वकालिक कृदन्तों का प्रयोग किया जाता है। जहाँ **ई** का प्रयोग होता है वहाँ **नै** या **कर** का प्रयोग नहीं होता, यथा—

खेत **सींचि** आयौ ......(i)
खेत **सींचनै** आयौ.........(ii)
खेत **सींच नै** आयौ.........(iii)

उपरोक्त उदाहरणों में प्रथम **ई** अन्त्य का उदाहरण है। दूसरे में **नै** का प्रयोग हुआ है एवं तीसरे में **नै** लुप्त है। आधुनिक राजस्थानी में प्रायः दूसरे व तीसरे प्रकार के प्रयोग ही अधिक मिलते हैं। व्यवहार में आते-आते इस **इकार** का लोप होने लगा किन्तु अंत्य **इ** के लुप्त हो जाने से क्रिया के धातु वाले रूप और इस कृदन्त के रूप में कुछ भी भेद नहीं रह गया। अतः ऊपर से **कर, नै** आदि शब्द जोड़े जाने लगे। इस **कर** की उत्पत्ति प्रा० **करिअ** से मानी गई है।

काल—

व्याकरण में काल तीन माने गए हैं—वर्तमान, भूत एवं भविष्य। वर्तमान राजस्थानी की काल-रचना-प्रणाली प्राचीन आर्य भाषा संस्कृत की पद्धति से बहुत दूर चली गई। संस्कृत में धातु के तीन रूप किये जाते थे—**लङ्, लिट्** एवं **लुङ लकार** में, यथा—(स) **अगच्छत्**. (स) **जगाम**. (स) **अगमत्**। किन्तु मध्य काल में धातु के भूतकालिक कृदन्त रूप से ही भूत काल प्रकट किया जाकर ये तीनों रूप छोड़े जाने लगे। इन तीनों रूपों के वदले प्राकृत ने संस्कृत भाषा के कृदन्तीय रूप (स) **गतः** अपनाया। यह **गतः** मध्य काल में **गअ, गद** था एवं राजस्थानी में **गयौ** रूप में प्रयुक्त होने लगा। संस्कृत का वर्तमानकालिक कृदन्त रूप भी राजस्थानी में इसी प्रकार आया[२]। सं० **चलन्त** (**चलत्+शतृ प्रत्यय-अन्त**) से राजस्थानी में **चालतौ** वना। इन कृदन्तीय रूपों के अतिरिक्त

---

[१] मिलाओ—प्राकृत भाषाओं का व्याकरण, पिशैल, पारा ५८१।
[२] आधुनिक राजस्थानी में 'नै' इसी 'नइ' परसर्ग से निष्पन्न हुआ प्रतीत होता है।

[१] पुरानी राजस्थानी—डॉ० तैस्सितोरी, अनु० नामवरसिंह, पारा १३१ का कुछ अंश।
[२] मि० उपरोक्त प्रस्तावना का पृष्ठ ६३।

संस्कृत के वर्तमान निर्देशक प्रकार के रूप भी राजस्थानी में आ गये, यथा—

संस्कृत **चलति**, मध्यभाषाकाल **चलइ**, राजस्थानी **चालै**। संस्कृत भाषा से प्राप्त ये तीन रूप (एक तिङन्त एवं दो कृदन्त), हिन्दी धातुओं के विविध रूपों के आधार हैं और इनमें सहायक क्रियाओं के योग से राजस्थानी में काल-रचना-प्रणाली का विकास हुआ है।

निश्चयार्थ, आज्ञार्थ तथा संभावनार्थ इन तीन मुख्य अर्थो तथा व्यापार की सामान्यता, पूर्णता तथा अपूर्णता को ध्यान में रख कर समस्त राजस्थानी कालों की संख्या सोलह मानी जा सकती है, यथा—

१ साधारण अथवा मूलकाल

(१) भूत निश्चयार्थ — **वौ चालियौ।**
(२) भविष्य ,, — **वौ चालसी।**
(३) वर्तमान संभावनार्थ — **अगर वौ चालै।**
(४) भूत संभावनार्थ — **अगर वौ चालतौ।**
(५) वर्तमान आज्ञार्थ — **थूं चाल।**
(६) भविष्य आज्ञार्थ — **थे चालजौ।**

२ संयुक्त काल

वर्तमानकालिक कृदन्त+सहायक क्रिया

(७) वर्तमान अपूर्ण निश्चयार्थ — **वौ चालै है।**
(८) भूत ,, ,, — **वौ चालतौ हौ।**
(९) भविष्य ,, ,, — **वौ चालतौ व्हैला**
(१०) वर्तमान ,, संभावनार्थ — **अगर वौ चालतौ व्है**
(११) भूत ,, ,, — **अगर वौ चालतौ होतौ।**

३ भूतकालिक कृदन्त+सहायक क्रिया

(१२) वर्तमान पूर्ण निश्चयार्थ — **वौ चालियौ है।**
(१३) भूत ,, ,, **वौ चालियौ हौ।**
(१४) भविष्य ,, ,, **वौ चालियौ व्हैला**
(१५) वर्तमान ,, संभावनार्थ **अगर वौ चालियौ व्है।**
(१६) भूत ,, ,, **अगर वौ चालियौ होतौ।**

डा० धीरेन्द्र वर्मा ने ऐतिहासिक कालों को तीन वर्गों में विभाजित किया है[1]—

१. संस्कृत कालों के अवशेष काल—इस वर्ग के अंतर्गत वर्तमान संभावनार्थ और आज्ञा आते हैं।

२. संस्कृत कृदन्तों से बने काल—इस वर्ग के अंतर्गत भूत निश्चयार्थ, भूत संभावनार्थ तथा भविष्य आज्ञा आते हैं।

३. आधुनिक संयुक्तकाल—इस श्रेणी में कृदन्त तथा सहायक क्रिया के संयोग से आधुनिक काल में बने समस्त अन्य काल आते हैं।

राजस्थानी काल-रचना की दृष्टि से इन पर अलग-अलग विचार करना समीचीन होगा।

१ संस्कृत कालों के अवशेष[2]

डा० ग्रियर्सन ने 'जर्नल ऑफ दी एशियाटिक सोसाइटी बंगाल' १८९६ में 'रेडिकल एण्ड पार्टिसिपियल टेन्सेज' नामक लेख में इन कालों का विस्तारपूर्वक विवेचन किया है। उन्होंने अपने लेख में हिन्दी के वर्तमान संभावनार्थ एवं आज्ञा पर विचार कर तुलनात्मक चित्र प्रस्तुत किया है। राजस्थानी के सम्बंध में भी उसका उपयोग किया जा सकता है—

		संस्कृत	प्राकृत	अपभ्रंश	राजस्थानी
एक वचन	(१)	**चलामि**	**चलामि**	**चलउ**	**चालूं**
	(२)	**चलसि**	**चलसि**	**चलहि, चलइ**	**चालै**
	(३)	**चलसि**	**चलइ**	**चलहि, चलइ**	**चालै**
वहुवचन	(१)	**चलामः**	**चलामौ**	**चलहुं**	**चालां**
	(२)	**चलथ**	**चलह**	**चलहु**	**चालौ**
	(३)	**चलन्ति**	**चलन्ति**	**चलंहि**	**चालै**

डा० ग्रियर्सन ने जो तुलनात्मक कोष्ठक प्रस्तुत किया है वह विचारणीय है। मध्यम पुरुष के रूपों के विकास में कोई विशेष कठिनाई नहीं मालूम पड़ती किन्तु उत्तम पुरुष के सम्वन्ध में उपरोक्त विवेचना संदिग्ध है। इस पुरुष के एक-वचन के बारे में श्री उदयनारायण तिवारी ने इस प्रकार की

---

[1] हिन्दी भाषा का इतिहास—डा० धीरेन्द्र वर्मा, पृष्ठ २९९, पारा ३१६।

[2] ग्रियर्सन, रेडिकल एण्ड पार्टिसिपियल टेन्सेज, जर्नल ऑव दि एशियाटिक सोसायटी ऑवबेंगाल, १८९६, पृ० ३५२, ३५५।

व्युत्पत्ति प्रकट की है[१]—प्रा० भा० आर्य भाषा–**चलामः**, प्रा० **चलामु**, **चलाउँ**, अप० **चलउँ**, राजस्थानी **चालूं** । यह अधिक संभव है कि **चलामि** के **इकार** के लोप हो जाने और म के अनुस्वार में परिवर्तित हो जाने से यह रूप बना होगा । बीम्स ने भी अपनी ग्रैमर (भाग ३) में इस मत का समर्थन किया है । इसी प्रकार इसके बहुवचन रूप **चालां** की उत्पत्ति भी संस्कृत **चलामि**, म० भा० आ० भा० **चलाइँ** से हुई होगी ।

डा० ग्रियर्सन ने आज्ञा के रूपों का भी सम्बन्ध संस्कृत के वर्तमान काल के रूपों से ही माना है किन्तु बीम्स ने अपनी ग्रैमर में इनका सम्बन्ध संस्कृत के आज्ञा-रूपों से मान लिया है । बीम्स का मत भ्रामक मालूम होता है । संस्कृत, प्राकृत एवं राजस्थानी इन तीनों के आज्ञा-रूपों को बराबर देने से यह स्पष्ट हो जायगा—

	सं०	प्रा०	रा०
एक वचन–	**चलानि**	चलमु	**चालूं**
	चल	**चलसु, चलाहि**	**चाल**
	चलतु	**चलदु, चलउ**	**चाले**
बहु वचन–	**चलाम**	**चलामो**	**चालां**
	चलत	**चलह, चलध**	**चालौ**
	चलंतु	**चलंतु**	**चाले**

उपरोक्त कोष्ठक में मध्यम पुरुष एकवचन को छोड़ कर आज्ञार्थ के अन्य राजस्थानी रूप वर्तमान संभावनार्थ के ही समान है । पाली और प्राकृत में भी आज्ञा और संभाव्य भविष्यत् के रूपों का इस तरह का हेलमेल पाया जाता है ।

राजस्थानी में भविष्य निश्चयार्थ में ल का संयोग होता है, यथा—

वौ जावेला, वौ करैला, थूं करैला, मूं करूंला ।

राजस्थानी में सामान्य वर्तमान में अन्य भाषाओं के समान ही क्रिया रूपों का व्यवहार होता है । अन्य भाषाओं में (यथा–हिन्दी) सामान्य वर्तमान में लिङ्ग भेद से विकार होता है, यथा—

वह खाती है—स्त्री०
वह खाता है—पु०

किन्तु राजस्थानी में लिङ्ग भेद से कोई विकार नहीं होता । दोनों लिंगों में वह सामान्य रूप में व्यवहृत होते हैं–

	एक व०	बहु० व०	प्राचीन राज०
उत्तम पुरुष–	खाऊं हूँ, खावूंछूं	खावा हां	एक०व० खाऊँ, खावउँ
	खावां हां, खाऊं छूं	खावां छां	दिउ
	खावूं छूं		बहु०–देवां, द्यां
मध्यम पुरुष–	थूं खावै छै	थे खावौ छौ	गाजइ, चुट्टइ
	थूं खावै है	थे खावौ हौ	खावइ
अन्य पुरुष–	(वां) वौ खावे है	वे खावे हैं	खांवरण, जांणइ
	(वां) वौ खावै छै	वे खावे छै	जायइ, दियइ आदि

पूर्ण वर्तमान—

	एक व०	बहु व०
उत्तम पु०–	म्हैं खायौ है (छै)	म्हे खाया हैं (छै)
	म्हैं खादौ है (छै)	म्हे खादा है (छै)
मध्यम पु०–	(थूं) तूं खायौ है (छै)	थे खायौ है (छै)
	(थूं) तूं खादौ है (छै)	थे खादौ है (छै)
अन्य पु०–	उण खायौ है (छै)	उणां खायौ है (छै)
	उण खादौ है (छै)	उणां खादौ है (छै)

संभाव्य वर्तमान—

	एक व०	बहु व०
उत्तम पु०–	म्हैं सायत खाऊँ (खावूं)	म्हैं सायत खावां
मंध्यम पु०–	थूं (तूं) सायत खावै है	थे सायत खावौ हौ (छौ)
अन्य पु०–	वौ सायत खावै है (छै)	वे सायत खावै है (छै)

संदिग्ध वर्तमान—

उत्तम पु०–	म्हैं खावतौ होऊंला	म्हे खावता होवांला
मध्यम पु०–	थूं (तूं) खावतौ होवैला	थे खावता होवौला
अन्य पु०–	वौ खावतौ होवैला	वे खावता होवैला

लिङ्ग भेद से संदिग्ध वर्तमान में विकार उत्पन्न होने से खावतौ का खावती हो जाता है । वर्तमानकालिक कृदन्त (जिनकी विवेचना हम पहले कर चुके हैं) एवं सहायक क्रिया के संयोग से संदिग्ध वर्तमान का रूप बनता है ।

---

१ हिन्दी भाषा का उद्गम और विकास—डा० उदयनारायण तिवारी, पृष्ठ ४६६, पारा ३६३ ।

हेतु हेतु मद् वर्तमान—

उत्तम पु०– म्हैं खाऊं तौ, म्हनै भी दौ   म्हे खावां तौ
मध्यम पु०– थूं (तूं) खावै तौ   थे खावौ तौ
अन्य पु०– वौ खावै तौ   वे खावै तौ

राजस्थानी साहित्य में इन वर्तमान कालों के रूप विभिन्न रूपों में प्रयुक्त हुए हैं। प्राचीन एवं आधुनिक राजस्थानी की कुछ फुटकर कविता-पंक्तियों के उद्धरण से यह अच्छी तरह ज्ञात हो सकेगा—

१. वाज कुमैंत विसासतौ, धीमैं वेग वधाय।
वाभी तोरण वींद तिम, जोवौ देवर जाय॥—वी.स. १३४

२. ईखौ घर घर ऊतरैं, चूड़ा भूखण चीर।
दया न मांनैं दोयणां, बाई! थांरौ वीर॥—वी.स. १३६

३. मारू-लंक दुइ अंगुळां, वर नितंब उर मंस।
मल्हपइ मांझ सहेलियां, मानसरोवर हंस॥—ढो.मा. ४६१

४. पुहपवती लता न परस पमूंके, देतौ अंग आलिंगन दांन।
मतवाळौ पय ठाइ न मंडै, पवन वमन करतौ मधुपांन॥
—वेलि २६२

५. सखी अमीणा कंत रौ, औ इक वडौ सुभाव।
गळियारां ढीलौ फिरै, हाकां वागां राव॥—हा.झा. १७

भूतकाल—

सामान्य भूतकाल और भूतकालिक कृदन्त के रूप प्रायः एक समान ही होते हैं। भूतकालिक कृदन्तों की विवेचना करते समय इस प्रकार के रूपों का उल्लेख कर चुके हैं, अतः सामान्य भूत के रूप में अपनी पुनरावृत्ति करना उचित न होगा। सामान्य भूतकाल में लिंग भेद से विकार होता है, यथा—

	एक वचन		बहुवचन	
	पु०	स्त्री०	पु०	स्त्री
उत्तम पु०–	म्हैं आयौ	म्हैं आई	म्हे आया	म्हे आई म्हे आयै।
मध्यम पु०–	थूं आयौ	थूं आई	थे आया,	थे आई, थे आयै
अन्य पु०–	वौ आयौ	वा आई	वे आया,	वे आई, वे आयै

घउ अंत वाले रूपों का प्रयोग राजस्थानी में विशेष प्रकार से होता है। भूतकालिक कृदन्तों के घउ अंत वाले रूपों यथा- कीघौ, खाघौ, दीघौ, पीघौ, लीघौ की विवेचना पहले की जा चुकी है। सामान्य भूत में भी उन्हीं रूपों का प्रयोग किया जाता है। प्रस्तुत कोश में इन रूपों को स्थान दिया गया हैं। साधारणतया क्रियाओं के भूतकाल कोश में नहीं दिये गये तथापि इन रूपों की राजस्थानी विशेषता, जो किसी अन्य भाषा में नहीं मिलती, के कारण ही कोश में इनका उल्लेख किया गया है एवं उनके स्त्री लिंग रूप भी साथ में कोष्ठक में दे दिये गये हैं।

अपूरण भूतकाल—

	एक वचन	बहुवचन
उत्तम पु०–	म्हे आवतौ हौ (तौ, थौ, हंतौ, हुंतौ, हतौ छौ)	म्हे आवता हा (ता, था, हंता, हुंता, हता)
मध्यम पु०–	थू आवतौ हौ (छौ)	थे आवता हा (छा)
अन्य पु०–	वौ आवतौ हौ (छौ)	वे आवै हा

पूरण भूतकाल—

	एक वचन	बहुवचन
उत्तम पु०–	म्हैं आयौ हौ (छौ, तौ, थौ, हंतौ, हुतौ, हतौ)	म्हे आया हा (छा, ता, था, हंता, हुता, हता)
मध्यम पु०–	थूं आयौ हौ (छौ, तौ, थौ, हंतौ, हुतौ, हतौ)	थे आया हा (छा, ता, था, हंता, हता, हुतौ)
अन्य पु०–	वौ आयौ हौ (छौ, तौ, थौ, हंतौ, हुतौ, हतौ)	वे आया हा (छा, ता, था, हता हुता, हतौ)

संभाव्य भूत—

	एक वचन	बहुवचन
उत्तम पु०–	(सायत) म्हैं आयौ होऊं (वा)	म्हे आया होवां
मध्यम पु०–	थूं आयौ होवै	थे आया होवौ
अन्य पु०–	वौ आयौ होवै	वे आया होवै

संदिग्ध भूत—

	एक व०	बहु व०
उत्तम पु०–	म्हैं आयौ (आवतौ) होऊलां	म्हे आया (आवता) होवाला
मध्यम पु०–	थूं आयौ (आवतौ) होवैला	थे आया (आवता) होवोला
अन्य पु०–	वौ आयौ (आवतौ) होवैला	वेआया (आवता) होवैला

हेतु-हेतु मद् भूत—

उत्तम पु०– म्है आवतौ   म्हे आवता

म्हैं आयौ (आवतौ) होतौ (होवतौ) | म्हे आया (आवता) होता (होवता)

मध्यम पु०—थूं आवतौ | थे आवता

थूं आयौ (आवतौ) होतौ (होवतौ) | थेआया (आवता) होता (होवता)

अन्य पु०—वौ आवतौ | वे आवता

वौ आयौ (आवतौ) होतौ (होवतौ) | वे आया (आवता) होता (होवता)

भूतकालिक प्रयोगों के कुछ कविता पंक्तियों के उदाहरण—

१. सेल घमोड़ा किम सह्या, किम सहिया गज दंत ।
कठिन पयोहर लागतां, कसमसतौ तूं कंत ॥
कंत सूं ओळंबौ दियौ इम कांमणी ।
ऐण घट आज रा केम सहिया अणी ॥—हा.भा. १९

२. ऊलंवे सिर हथ्थड़ा, चाहूंदी रस-लुब्ध ।
विरह-महाघण ऊमटचउ, थाह निहाळइ मुध्घ ।—ढो.मा. १५

३. भड़ घोड़ा महंगा थिया, एकण झाट उडंत ।
भड़ घोड़ां रा भांमणा, जेथ जुड़ीजै कंत ॥—वी.स. २०

४. गंडा मारि बेसारिया नीठि गज्जं ।
रुआमाळ फेरै करै झाडि रज्जं ॥
तिर्यां चोपड़ै तेल सिंदूर तन्नं ।
वयंडा वणावै घणूं स्यांम व्रन्नं ॥
नाड़ी भिड़ियां अंग लग्गा निहंगं ।
जटा जूट संनाह जे कोड जंगं ॥
कसे पाखरां चांमरां जूह काळा ।
वणे जांणि पाहाड़ हेमंग वाळा ॥—वचनिका ५८ (२, ३, ४, ५)

भविष्यत्काल—

भविष्यकालिक रूपों में राजस्थानी में **ल** एवं **स** का प्रयोग प्रचुरता के साथ होता है। इन दो वर्णो के संयोग से ही भविष्यत्काल के रूप निर्मित होते हैं। संस्कृत के भविष्यत्-कालिक **स्य** प्रत्यय का प्राकृत परिवर्तन **स्स** में होता है। इसी से **करिष्यति** आदि का राजस्थानी रूप **करीस** आदि बनता है।

सामान्य भविष्यत्—

	एक वचन	बहु वचन
उत्तम पु०—	म्हैं जाऊंला, म्हैं जाऊंलौ, म्हैं जाऊं	म्हे जावांला, म्हे जावां
मध्यम पु०—	थूं जावैला, थूं जावैलौ, थूं जाई	थे जावोला, थे जावौ
अन्य पु०—	वौ जावैला, वौ जावैलौ, वौ जाई	वे जावैला. वे जाई

दूसरा रूप स का अथवा रूपान्तरित ह का संयोग—

	एक व०	बहु व०
उत्तम पु०—	म्हैं जासूं, हूं जाहो हूं जासो, हूं जाईस हूं जाईह, म्हैं जास्यूं हूं जाऊं, हूं जाहूं	म्हे, जासां, म्हे जास्यां म्हे जाहां, म्हे जास्यां
मध्यम पु०—	थूं जाईह, थूं जाईस थूं जासी थूं जाही	थे जाहौ, थे जासौ थे जास्यौ
अन्य पु०—	औ (वौ) जासी औ (वौ) जास्यै, औ (वौ) जाही	औ (वे) जासी औ (वे) जास्यै औ (वे) जाही औ (वे) जाई

इनके अतिरिक्त कुछ लोग गा, गी, गो के संयोग से भी इन रूपों का निर्माण करते हैं, किन्तु उनका प्रयोग बहुत ही सीमित मात्रा में होता है।

संभाव्य भविष्यत्काल—

उत्तम पु०—

एक व०— सायत मैं जाऊं ।

बहु व०— सायत म्हे जावां (जाहां) ।

मध्यम पु० —

एक व०— सायत थूं जावै ।

बहु व०— सायत थे आवौ (औ) ।

अन्य पु०—

एक व०— सायत वौ जावै ।

बहु व०— सायत वे जावै (ऐ)

आज्ञार्थक रूपों में जा, जाजे, जाए, जावजे आदि रूप केवल मध्यम पुरुष में होते हैं।

हेतु-हेतु मद भविष्यत्—

	एक वचन	बहुवचन
उत्तम पु०–		
	आवैला तौ म्हैं जाऊंला	**म्है आवांला तौ**
मध्यम पु०–		
	थूं आवैला तौ	**थे आवोला तौ**
अन्य पु०–		
	वौ आवैला तौ	**वे आवैला तौ**

भूतकाल एवं भविष्यकाल के समस्त रूपों में लिंग भेद के कारण रूपों में विकार होकर पुल्लिंग रूप **औकारांत** अथवा **आकारांत** से बदल कर **ईकारांत** बन जाते हैं। किन्तु वर्तमान काल में इस प्रकार के रूपों का परिवर्तन साधारणतया नहीं होता।

भविष्यकालिक प्रयोगों के कुछ कविता प्रयोग उदाहरण–

१. केहरि केस भमंग मणि, सरणाई सुहडांह।
सती पयोहर क्रपण धन, पड़सी हाथ मुवांह।।
मूवांहिज पड़ैसी हाथ तौ भमंग मणि।
गहड़ सरणाइयां ताहरै गैंडसणि।।—हा.झा. १२

२. राड़ि म करि इक तरफ रहि, आगैं पीछैं आव।
जोड़ दिली फिरि जाइस्यां, परसि असप्पति पाव।।—वचनिका ४१

३. जेताइ दीसां धरण गगन मां, तेताई उठ जासी।
तीरथ वरतां ग्यांन कथंता, कहा लियां करवत कासी।।
यौ देही रौ गरब ना करणा, माटी मां मिळ जासी।
यौ संसार चहर री बाजी, सांझ पड़यां उठ जासी।।
कहा भयां थां भगवा पहरयां, घर तज लयां संन्यासी।
जोगी होयां जुगत ना जांणी, उलट जनम फिर आसी।।
—मीरां

४. समळी और निसंक भख, अंबक राह म जाह।
पण धण रौ किम पेखही, नयण बिणट्ठा नाह।।—वी.स. १७

५. कंत भलां घर आविया, पहरीजै मो वेस।
अब धण लाजी चूड़ियाँ, भव दूजै भेटेस।।—वी.स. ८१

६. नारायण रा नांम सूं, लोकां मरत जो लाज।
बूडैला बुध बायरा, जळ बिच छोड जहाज।।—ह.र. ३६

राजस्थानी में प्रायः क्रिया के अंत में अ, इ, र, एवि, नै, ह आदि प्रत्ययों के संयोग से पूर्वकालिक क्रियायें भी बनाई जाती हैं, यथा–

पालिअ = पालन कर   ठांनि = ठान कर।
जायर = जाकर   प्रणमेवि = प्रणाम कर।

मूल धातु के आगे नैं, र, अर, अन, न, इनै, ने, ए, ऐन, फं प्रत्यय जोड़ कर भी बनते हैं। यह, तथा पूर्वकालिक कृदन्त एक ही हैं जिनका विवेचन हम कृदन्तों के सिलसिले में पहले ही कर चुके हैं।

उत्तरकालिक क्रिया (क्रियार्थक क्रिया) के प्रयोगों में प्रत्यय रहित अवस्था में रूप प्रायः **अकारांत** एवं **आकारांत** ही होते हैं, यथा–

म्हैं पढ़ण आयौ हूं = मैं पढ़ने के लिये आया हूँ।
थूं खेलवा जावै है = तुम खेलने के लिये जाते हो।
वा खेलण आई है = वह खेलने के लिये आई है।
वौ मिळण आयौ है = वह मिलने के लिये आया है।

इनके अतिरिक्त मूल धातु के साथ विभिन्न प्रत्ययों के संयोग से भी उत्तरकालिक क्रिया के रूप बनते हैं। उदाहरण के रूप में लिख धातु के उदाहरण से ये रूप पूर्णतया स्पष्ट हो जायेंगे–

धातु– **लिख – लिखण, लिखण नैं, लिखण नें, लिखण नां, लिखण नूं, लिखवा, लिखवा, लिखण आंटै, लिखवा आंटै, लिखबा आंटै, लिखण वासते, लिखण सारू, लिखवा वैई, लिखवा वेई, लिखवा तांई, लिखण आंटा।**

उपरोक्त विवेचन से क्रिया के सब रूप पूर्णतया स्पष्ट हो गये होंगे। कोश में इस प्रकार से निर्मित सब रूपों का मूल क्रिया के साथ उल्लेख करना न तो आवश्यक ही है एवं न उचित ही। किसी क्रिया के प्रत्येक रूप एवं उसके निर्माण-नियमों का विवेचन करना व्याकरण का कार्य है। इस प्रस्तावना में मोटे तौर से इनके उल्लेख का केवल इतना ही अर्थ है कि पाठक कोश में मूल क्रिया देख कर उसके साथ ही दिये गये अन्य क्रिया रूपों को हृदयंगम कर सके एवं आवश्यकतानुसार उनका उपयोग कर सके। किसी क्रिया के विकारी रूप को ढूंढ़ने वाला पाठक निराश ही होगा जबकि इस भूमिका की टिप्पणियों द्वारा उसे यह ज्ञात हो जायेगा कि यह विकृत रूप किस क्रिया का है। मूल क्रिया ज्ञात होने पर वह कोश में उसे आसानी से ढूंढ़ सकेगा। मूल क्रियाओं के साथ उससे संबंधित मुख्य-मुख्य रूप प्रस्तुत कोश में दे दिये गये हैं। जो क्रियायें बहुत कम प्रयोग में आती हैं अथवा उससे बनने वाले रूप कुछ अटपटे हैं या कम व्यवहृत होते हैं, ऐसी मूल क्रिया के साथ अन्य रूप नहीं दिये गये। आवश्यकता होने पर पाठक

सं०पु०—उनसठ की संख्या, ५६ ।
गुणसाठमौ–वि०—जो क्रम में अट्ठावन के बाद पड़ता हो ।
गुणसाठे'क–वि०—उनसठ के लगभग ।
गुणसाठौ–सं०पु०—५६ वाँ वर्ष ।
गुणसार–सं०पु०—मांगणियार जाति का एक भेद ।
गुणसित्तर–वि० [सं० ऊनसप्तति, प्रा० एगूणसत्तरि, अप० अउणत्तरि] साठ और नौ के योग के बराबर ।
सं०पु०—६९ की संख्या ।
गुणसित्तरमौ–वि०—जो क्रम में अठहत्तर के बाद पड़ता हो ।
गुणसित्तरे'क–वि०—उनहत्तर के लगभग ।
गुणसित्तरौ–सं०पु०—६९ वाँ वर्ष ।
गुणसोभा–सं०पु०—एक प्रकार का घोड़ा (शा.हो.)
गुणहींण, गुणहीण, गुणहीणौ–वि०—१ गुणहीन, गुणरहित, निर्बुद्धि, मूर्ख. २ कृतघ्न ।
गुणांक–सं०पु० [सं०] वह अंक संख्या जिसको किसी से गुणा करना हो ।
गुणांकारी—देखो 'गुणकारी' (रू.भे.) उ०—नीमां चढ़ी गिलोय, वणीं वडी गुणांकारी । छः आंना भर भाव, फळावै ग्रांम पंसारी ।
—दसदेव
गुणांगहीर–वि०—गम्भीर गुणों वाला, गुणवान ।
गुणांणी–सं०स्त्री०—माला (अने०)
गुणागर—[सं० गुणाकर] देखो 'गुणसागर' । उ०—गति ग्यांन विग्यांन गुणागर वहे, सत्य ध्यांन विधांन सुसागर वहे ।—ऊ.का.
गुणताळीस—देखो 'गुणचाळी' (रू.भे.)
गुणातीत–वि०—जो गुणों के प्रभाव से अलग हो, गुणों से परे ।
सं०पु०—परमेस्वर ।
गुणानुवाद–सं०पु०—गुणों की व्याख्या, यश-स्तवन ।
गुणाढ्य–वि०—गुणवान, गुणसम्पन्न ।
सं०पु०—एक प्रसिद्ध कवि जिसने पैशाची भाषा में बड़ा ग्रंथ लिखा था ।
गुणाधपति–सं०पु०—गणेश, गजानन (डि.को.)
गुणावळ–सं०स्त्री० [सं० गुणावलि] संन्यासियों के गले में धारण करने की माला । उ०—मिळ अक्ष गुणावळ कठ मई । लख चींप कमडळ हाथ लई ।—पा प्र.
गुणावळि, गुणावळी–सं०स्त्री०—१ प्रशंसा, यश कीर्तिगान (ह.नां.) २ हार, माला (अने०)
गुंणिंद–सं०पु० [सं० गुणइंद्र] कवि । उ०—इळ सिर भांण विजाहर ओपै । नाथ क्रपा प्रभता नूमळ । जळज गुंणिंद हरख मय जाझा । खूटै रिख वळ छोड खळ ।—महाराजा मांनसिंहजी रौ गीत
गुणिअण, गुणिजण, गुणियजण–सं०पु० [सं० गुणीजन] १ गुणवान । उ०—राजा परजा गुणियजण, कविजण पंडित पात । सगळां मन ऊछव हुअउ, वूठै तौ वरसात ।—ढो.मा.
२ विद्वान, पंडित । उ०—काळै अजुआळौ किऔ, आवि दळां अविग्रट्ट । चारण भाट चगाहटां, गुणिअण थट्ट गरट्ट ।—वचनिका
३ कवि । उ०—गुणिअण मारू दिस पुरव ग्रांम । घर सगत द्रव्य अवतार धांम ।—पा.प्र.
४ गवैया, गायक । उ०—नृप सनढ़ कोळूनाथ रै, संग वंटै सारी रात । गुणिअणां झूलर गावतां, पावतां मद परभात ।—पा प्र.
यौ०—गुणिजनखांनौ ।
गुणिजनखांनौ–सं०पु०—प्राचीन देशी रियासतों के अंतर्गत होने वाला एक विभाग जिसमें गायक, नर्तक व नर्तकियों के कार्यक्रम व खर्च आदि का ब्यौरा रक्खा जाता था ।
गुणित–वि० [सं०] गुणा किया हुआ ।
गुणियण, गुणियर—देखो 'गुणिअण' (रू.भे.) उ०—१ गुणियण द्वार वधाई गावै, प्रत दिन अन सोवन धन पावै ।—रा.रू. उ०—२ इळ राइ करन वारउ कि इंद, गुणियणां ग्रिहे वाधा गइद ।—रा.ज.सी.
गुणियासियौ–सं०पु०—उनासी का वर्ष, ७९ वाँ वर्ष ।
गुणियासी–वि० [सं० ऊनाशीति, प्रा० एगुणासी] सत्तर और नौ के योग के बराबर ।
सं०पु०—उनासी की संख्या, ७९ ।
गुणियासीक–वि०—उनासी के लगभग ।
गुणियासीमौ–वि०—जो क्रम में अठहत्तर के बाद पड़ता हो ।
गुणियोड़ौ–भू०का०कृ०—१ विचार किया हुआ, मनन किया हुआ. २ समझा हुआ. ३ विद्वान, गुणी । (स्त्री० गुणियोड़ी)
गुणियौ–सं०पु०—१ कमान, प्रत्यञ्चा. २ डोर, तांत. ३ शिल्पकारों का भूमि मापने का एक प्रकार का छोटा गज. ४ वढ़ई का एक औजार ।
गुणी–वि०—१ जिसमें कई गुण हों, गुणवान, गुणयुक्त ।
उ०—उळझाया तन मन आपमें, विहत सीत रुखुमिणि वरि । वांणि अरथ जिम सकति सकतिवत, पुहप गंध गुण गुणी परि ।
—वेलि.
२ दक्ष, निपुण ।
सं०पु०—१ कवि (अ.मा.) २ विद्वान. पंडित. ३ गवैया. ४ झाड़-फूंक टोना आदि करने वाला ओझा. ५ डोर, रस्सी. ६ प्रत्यञ्चा. ७ कमान ।
गुणीअण, गुणीजण—देखो 'गुणिजण' (रू.भे.) उ०—गरीब खैरात पावै । गरीबां नूं नितका नाज, कपड़ौ जिकौ चावै सो पावै । ढाढ़ी गुणीजन आवै ।—जलाल बूबना री वात
गुणीजणखांनौ—देखो 'गुणिजणखांनौ' (रू.भे.)
गुणीजणौ–क्रि०अ०—१ अनुभव प्राप्त करना, व्यावहारिक ज्ञान प्राप्त करना. २ मनन करना, विचार करना. ३ उच्चरित होना ।
उ०—विद्यारथियां रै मुख गुणणी गुणीजण लागी ।—र. हमीर
गुणीजनखांनौ—देखो 'गुणिजणखांनौ' (रू.भे.)
गुणीजियोड़ौ–भू०का०कृ०—अनुभव प्राप्त किया हुआ, मनन किया हुआ ।

जा सकती है, सं० असन्त-अहन्त, हंतौ-हतौ त का लोप होकर हौ। प्राचीन राजस्थानी में सामान्य रूप हूउ, (अप० हूअउ, सं० भूतक), हूअउ, हूयउ, हऊउ और हुयउ मिलते हैं। मूल स्वर ऊ प्रायः ह्रस्व हो जाता है जबकि उसके बाद आने वाला पदान्त स्वर दीर्घ हो जैसे—हुई (स्त्री०) हुआ (पु० बहु०) इत्यादि।

निषेधवाचक रूप **नथी** का प्रयोग भी राजस्थानी में पाया जाता है। यह सं० नास्ति, प्रा० णत्थि, अप० नाथि से निकल **नथी** हो गया है। इसका प्रयोग सहायक एवं मुख्य दोनों अर्थों में होता है। लिंग एवं वचन भेद से इसमें विकार उत्पन्न नहीं होता। प्राकृत में अत्थि तथा णत्थि का प्रयोग भी इसी रूप में एकवचन और बहुवचन सभी पुरुषों के साथ होता है। राजस्थानी कविताओं में **नथी** का प्रयोग प्रचुरता के साथ हुआ है, यथा—

कंत लखीजै दोहि कुळ, नथी फिरंती छांह।
मुड़ियां मिळसी गींदवो, वळै न धण री बांह॥
—बी. स.

जब **नथी** का प्रयोग सहायक क्रिया के कार्य के लिये होता है तो प्राचीन राजस्थानी में वर्तमानकाल की रचना करने के लिये यह वर्तमान कृदन्तों के साथ जुड़ता है, यथा—

नथी कही तां = नहीं कहा जाता।

अथवा, फिर परोक्ष भूत की रचना के लिये भूतकृदन्त के साथ जुड़ता है, यथा—

हउँ बाहरइ नथी नीसरी = मैं बाहर नहीं निकली।

वर्तमानकाल में सहायक क्रिया के लिये पूर्वी राजस्थानी में प्रायः **छै** का प्रयोग किया जाता है। लिंग भेद के कारण इस काल के एकवचन के अंतर्गत इसमें विकार नहीं होता, केवल उत्तम पुरुष के एकवचन में इसका रूप **छूं** (**म्हैं आऊं छूं**) पाया जाता है अन्यथा यह विकार रहित ही रहता है, यथा—

एक वचन— **तूं आवै छै** = तू आता है।
वो आवै छै = वह आता है।
स्त्री०— **तू आवै छै** = तू आती है।
वा आवै छै = वह आती है।

बहुवचन में अन्य पुरुष एवं मध्यम पुरुष के प्रयोग में **छै** तथा **छौ** का प्रयोग भी होता है, यथा—

बहुवचन पु०—
थे आवौ छौ = तुम आते हो।
वे आवै छै = वे आते हैं।
स्त्री०— **थां आवौ छौ** = तुम आती हो।
वे आवै छै = वे आती हैं।

उत्तम पुरुष के बहुवचन में इसका रूप **छां** होता है, यथा— **म्हे आवां छां**।

प्रायः मुख्य क्रिया के रूप के साथ ही इस सहायक क्रिया **छै** का रूप निर्धारित होता है। ऐकारान्त होने पर **छै**, ईकारांत होने पर **छी**, आकारांत में **छां** तथा औकारांत में **छौ** रूप ग्रहण कर लेता है।

प्राचीन राजस्थानी में भी इसके सामान्य वर्तमान में प्रायः इस प्रकार के रूप पाये जाते हैं—

	उत्तम पु०	मध्यम पु०	अन्य
एकवचन—	छउं, छूं	अछइ, छइ	अछइ, छइ
बहुवचन—	छूं	अछउ, छउ	अछइ, छइ, छि

छै का भविष्यकालीन रूप नहीं होता। संस्कृत के भू द्वारा सब कालों के रूप बनते हैं किन्तु अस का भविष्यत् रूप नहीं होता। **छै** की उत्पत्ति अस् धातु से ही हुई है, अतः **छै** का भी भविष्यकालीन रूप नहीं होता। पाणिनि का सूत्र श्नसोरल्लोपः (६।४।१११) यह होने अर्थ वाले अस् धातु के अकार का लोप कर डालता है। इसी आधार पर सत् का छतौ, छै, छौ, छा रूप अपभ्रष्ट होकर दिखाई पड़ते हैं। भविष्यत् में तो पाणिनि अस् को भू कर **भविष्यति** बनाता है, जो भाषा में **होगा** के स्थान पर प्रयुक्त होता है।[1]

डॉ० तैस्सितोरी ने **छै** या **छूं** संबंधी ये सब रूप अछवउं क्रिया से माने हैं। पिशैल ने अपने प्राकृत व्याकरण में[2] इसकी उत्पत्ति सं० ऋच्छति एवं अप० अच्छइ से मानी है। अछइ का प्रयोग एवं अ के लोप से छइ का प्रयोग इसीसे निःसृत हुआ है। प्राचीन राजस्थानी में वर्तमान कृदन्त छतउ सं०

---

[1] यह स्व० पंडित नित्यानन्द शास्त्री का मत है।

[2] पिशैल का प्राकृत व्याकरण, पारा ५७, ४८०

स्वयं व्याकरण के नियमानुसार उनके रूपों का निर्माण कर उपयोग करने को स्वतंत्र हैं। कुछ प्रचलित क्रियाओं के साथ विभिन्न रूप दिये गये हैं। कृदन्तों, सहायक क्रियाओं आदि का समावेश उनमें किया गया है। मूल क्रिया एवं उसका सकर्मक रूप, यदि कोई हो तो, एवं भूतकालिक कृदन्त विशेषण मूल स्थान पर दिये गये हैं। एक उदाहरण इस संबंध में पर्याप्त होगा–

करणौ, करबौ–क्रि०स०—कार्य को संपादित करना।
करणहार, हारौ (हारी), **करणियौ**—वि०।
करवाणौ करवाबौ, करवावणौ, करवावबौ।
कराणौ, कराबौ, करावणौ, करावबौ—प्रे०रू०।
करिग्रोड़ौ, करियोड़ौ, करच्योड़ौ—भू०का०कृ०।
करीजणौ, करीजबौ—कर्म वा०।

इनमें सकर्मक रूप एवं भूतकालिक कृदन्त को इस प्रकार मूल संबंधित क्रिया के साथ दिये जाने के अतिरिक्त उन्हें अलग से भी अपने क्रमिक स्थान पर प्रस्तुत किया गया है। संबंधित क्रिया के साथ भूतकालिक कृदन्त के तीनों रूपों का उल्लेख है, यथा– **करिग्रोड़ौ, करियोड़ौ, करच्योड़ौ**; किन्तु अलग से क्रमशः दिये जाने पर उनका केवल **करियोड़ौ** रूप ही दिया गया है। शेष दो रूप संबंधित क्रिया के साथ ही दे देना पर्याप्त समझा गया है। प्रत्येक भूतकालिक कृदन्त के संबंध में यही परिपाटी प्रस्तुत कोश में अपनाई गई है। अलग से दिये गये भूतकालिक कृदन्त के साथ उनका स्त्रीलिंग रूप भी दे दिया गया है। पूर्वी राजस्थानी में क्रियान्त **णौ** के स्थान पर **बौ** का प्रयोग किया जाता है अतः प्रत्येक क्रिया एवं उसका रूप, जिनके अंत में **णौ** है, वह दूसरे **बौ** अंत के रूप में भी हर जगह प्रस्तुत कर दिया गया है। वस्तुतः दोनों एक ही हैं किन्तु क्षेत्र-भेद के प्रयोग से इन दोनों को स्थान देना आवश्यक समझा गया। हम पहले उल्लेख कर चुके हैं कि कुछ क्रियायें ऐसी हैं जिनका प्रयोग अकर्मक एवं सकर्मक दोनों रूपों में होता है, यथा– **खड़णौ** = मरना (अ०क्रि०), **खणड़ौ** = हाँकना (स०क्रि०) इस प्रकार की क्रियाओं का अगर अकर्मक अर्थ पहले दिया गया है तो व्याकरण के कॉलम में क्रि०अ०स० अर्थात् पहले क्रिया अकर्मक लिखा गया है एवं सकर्मक बाद में लिखा गया है। किन्तु अगर सकर्मक अर्थ पहले लिखा गया है तो व्यवस्था इसके विपरीत होगी एवं व्याकरण के खाने में क्रि०स०अ० लिखा गया है। भूतकालिक कृदन्त विशेषण के अतिरिक्त अन्य कृदन्तीय रूप मूल क्रिया के साथ क्रिया रूपों में नहीं दिये गये हैं। इस प्रस्तावना के अध्ययन से पाठक स्वयं उनका रूप-निर्माण कर प्रयोग कर सकते हैं।

संज्ञा एवं विशेषण शब्दों के साथ कुछ के क्रिया प्रयोग भी दिये गये हैं जिससे पाठकों को उनके साथ प्रयुक्त होने वाली क्रियाओं अथवा सहायक क्रियाओं का ज्ञान हो जायगा।

क्रिया के इस प्रकरण के समाप्त होने से पहले सहायक क्रियाओं, द्वैत क्रिया-पदों, संयुक्त क्रिया-पदों आदि का उल्लेख करना विषयान्तर न होगा।

सहायक क्रियाओं की रचना प्रमुखतः संस्कृत धातु **भू** (प्राचीन राजस्थानी **होवउँ**, आधुनिक राजस्थानी **होणौ**) और **अस** (प्राचीन राजस्थानी **अछवउँ**) से हुई है। निषेधवाचक रूप **नथी** ही अस धातु से बना है। सामान्य वर्तमानकाल में प्रायः **होवै** का (प्राचीन राजस्थानी में **हुइ** तथा काव्यगत रूप **होइ, होय** का) प्रयोग होता है जो अपभ्रंश के **होइ**, प्रा० **हवइ**[1] सं० **भवति** से निःसृत हुआ है। आधुनिक राजस्थानी में **होवै** के रूप भेद **हुवइ** एवं **व्है** भी प्रचलित है। तैस्सितोरी के मतानुसार ये दोनों रूप **व** श्रुति के समावेश से बने हैं।[2] बहुवचन के लिये प्राचीन राजस्थानी में **हुइँ, हुइ, होइँ, होइ, हुवइ** आदि रूप भी मिलते हैं। आधुनिक राजस्थानी में एक वचन में उत्तम पुरुष के लिये **हूँ**, मध्यम पुरुष तथा अन्य पुरुष के लिये (तू या वह) **है** का प्रयोग है। सं०–**अस्म, अस्मि** से मध्यकालीन भाषाओं में **अम्हि** तथा वर्तमानकाल में **हूँ** हो गया। **हैं** रूप संस्कृत के **अस्ति**, प्रा०–**अत्थि, अहि** से निकला है। प्राचीन राजस्थानी में **हूतउँ** सामान्य रूप से व्यवहृत होता था। यह सं०–**भवन्तकः**, अप०–**होन्तउ** से स्पष्टतः निकला है।

भूतकाल में प्रायः **हौ, छौ, थौ** का प्रयोग (स्त्री लिंग रूप में **ही, छी, थी**) एक वचन में एवं **हा, छै, छा, था** का प्रयोग बहुवचन में किया जाता है। **हौ** की व्युत्पत्ति इस प्रकार मानी

---

[1] प्राकृत भाषाओं का व्याकरण—ले० रिचार्ड पिशैल—अनु० डॉ० हेमचंद्र जोशी, पारा ४७५।

[2] पुरानी राजस्थानी, पृष्ठ १३९।

कालान्तर में इसका अभाव होता गया। आधुनिक भारतीय भाषाओं में इसकी क्षतिपूर्ति संयुक्त क्रियाओं के प्रयोग से की गई। इन संयुक्त क्रिया पदों का रूप अत्यन्त आधुनिक होने के कारण इनका ऐतिहासिक रूप से विवेचन करना सम्भव नहीं है। द्रविड़ भाषाओं में भी संयुक्त क्रियाओं का बहुत प्रयोग होता है किन्तु आधुनिक उत्तर भारत की भाषाओं में उसके प्रभाव के कारण ही संयुक्त क्रिया पदों का प्रयोग होने लगा हो, यह कहना संदिग्ध है। केलॉग ने अपनी ग्रैमर में संयुक्त क्रियाओं का विस्तार से वर्गीकरण किया है। आधुनिक भाषाओं में क्रिया पदों के साथ संज्ञा, क्रियामूलक-विशेष्य अथवा कृदन्तीय पदों के संयोग के कारण एक विशेष प्रकार का मुहावरेदार प्रयोग बन जाता है। इन दो संयुक्त पदों में से क्रिया पद वास्तव में सहायक रूप में ही होता है तथा वह संज्ञा एवं क्रियामूलक विशेषण या विशेष्य (Participle तथा verble Nouns) की विशेषता द्योतित करता है।

संयुक्त क्रियाओं का प्रयोग प्राचीन काल से ही चला आ रहा है, ऐसा डॉ० सुनीतिकुमार चटर्जी ने उदाहरण देकर सिद्ध करने का प्रयत्न[1] किया है।

केलॉग ने संयुक्त क्रियाओं को पाँच वर्गों में बाँटा है[2]—(१) पूर्वकालिक कृदन्त पद-युक्त; (२) आकारान्त क्रिया-मूलक विशेष्य पद-युक्त; (३) असमापिका पद-युक्त; (४) वर्तमानकालिक तथा भूतकालिक कृदन्तयुक्त; (५) विशेष्य अथवा विशेषण पद-युक्त।

१. पूर्वकालिक कृदन्त पद-युक्त—

(i) भृशार्थक (Intensives), यथा— **फेंक देणौ, खा जाणौ, पी लेणौ, गिर पड़णौ** आदि।

(ii) शक्यताबोधक (Potentials)— ये पूर्वकालिक कृदंत के साथ सक(णौ) के संयोग से बनते हैं, यथा— **पढ़ सकणौ, देख सकणौ** आदि।

(iii) पूर्णताबोधक (Completives)— ये पूर्वकालिक कृदंत रूप एवं चुक(णौ) क्रिया के साथ निष्पन्न होते हैं, यथा— **खा चुकणौ, कर चुकणौ** आदि।

२. आकारान्त क्रिया-मूलक विशेष्य पदयुक्त—

(i) पौनः पुन्यार्थक (Frequentatives)— क्रियामूलक विशेष्य पद जो आकारान्त हो उसके साथ **कर(णौ)** क्रिया के संयोग से बनते हैं, यथा— **जाया करणौ, खाया करणौ, सोया करणौ** आदि।

(ii) इच्छार्थक (Desiderative)— ये **चाह(णौ)** धातु के संयोग से बनते हैं, यथा— वो **बोलणौ चावै**। वा लड़णौ चावै, वो **पढ़णौ चावै**।[3]

३. असमापिका पद युक्त—

(i) आरम्भिकता-बोधक (Inceptives)— यह असमापिका पद के विकारी रूप के साथ **लग(णौ)** धातु के संयोग से बनते हैं, यथा— **खावण लागणौ, पढ़ण लागणौ** आदि।

(ii) अनुमतिबोधक (Permissive)— यह असमापिका पद के विकारी रूप के साथ **दे (णौ)** क्रिया लगा कर बनते हैं, यथा—**जावण देणौ, सोवण देणौ, पढ़ण देणौ** आदि।

(iii) सामर्थ्यबोधक (Acquisirives)— **पा(णौ)** या **पा(वणौ)** को असमापिका-पद के विकारी रूप के साथ जोड़ कर बनाया जाता है, यथा— **करण पावै** आदि।

४. वर्तमानकालिक तथा भूतकालिक कृदन्तयुक्त—

(i) निरन्तरता-बोधक (Continuatives)— यह वर्तमान-कालिक कृदन्त के साथ **रै(णौ)** के जोड़ने से बनता है, यथा—**करतौ रैवै, पढ़तौ रै'वै, सोवतौ रै'वै** आदि। भूतकालिक कृदंत के संयोग से भी इनका निर्माण होता है, यथा— **दूध पीयां करौ**।

(ii) प्रगतिबोधक (Progressives)— वर्तमानकालिक कृदन्त के साथ **जा(णौ)** क्रिया के योग से यह रूप बनता है यथा— **पढ़तौ जाणौ, खेलतौ जाणौ, नदी उतरती जावै** आदि।

(iii) गत्यर्थक (Statical)— यह वर्तमानकालिक कृदन्त के साथ गतिबोधक क्रिया के जोड़ने से बनता है, यथा— वो **गावतौ चालै, रोवतौ दौड़** आदि।

(५) विशेष्य अथवा विशेषण-पद-युक्त—वाक्य विशेष

---

[1] बेंगाली लेंग्वेज—डा० चाटुर्ज्या, पारा ७७८

[2] हिन्दी ग्रामर—कैलॉग, पृ० २५८

[3] पूर्वी राजस्थान में ये रूप निम्न प्रकार से भी बनते हैं—वो बोलणी चावै, वा लड़णी चावै, वो पढ़णी चावै।

ऋच्छन्तकः, अप०-**अच्छन्तउ** से निकल कर बना है।[1] डॉ० तैस्सितोरी का यह मत[2] हमें उचित नहीं मालूम देता।

संभाव्य अतीत में सहायक क्रियाओं के रूप इस प्रकार मिलते हैं—

	उत्तम पु०	मध्यम पु०	अन्य पु०
एकवचन-	**मैं होतौ**	**तू होतौ**	**वो होतौ**
बहुवचन-	**आपां (या म्हां) होता**	**थे होता**	**वे होता**

होतौ रूप प्राकृत के **होन्तो** का रूप भेद है। प्राकृत का **होन्तो** सं० के **भवन्** से निकला है। **होता, होतौ** का ही विकारी रूप है।[3]

भविष्यत्काल मे मध्यमपुरुष में **होइसि. हुएसि, हुइसिइ, होसि** आदि रूप, अप०-**होएस्सहि** या **होस्सहि** एवं संस्कृत के **भविष्यसि** से निकले हैं। अन्य पुरुष के एकवचन में **हुसइ, हुसिइ, हुसि, हुस्यइँ, होसिइ. होस्यइँ, हसिइ** आदि रूप मिलते हैं। इनकी उत्पत्ति अपभ्रंश **होसइ** (सिद्ध हेम० ४।३८८) एवं **भोष्यति** (भविष्यति) से मानी गई है।[4]

संभाव्य भविष्यत् के रूप इस प्रकार होते हैं–

	उत्तम पु०	मध्यम पु०	अन्य पु०
एकवचन	**मैं होऊँला**	**तू होवैला**	**वौ होवैला (हौलां)**
बहुवचन	**म्हां होवालां (हौलां)**	**थे होवोला**	**व्है होवैला (हौलां)**

द्वैत क्रिया पद—

कार्य की निरन्तरता, महत्व एवं पुन: करने के भाव जिनमें तात्कालिक किये जाने वाले कार्य का भाव निहित रहता है, प्रकट करने के लिये प्राय. कृदन्तीय रूपो को द्वित्व कर दिया जाता है, **यथा–**

(i) चील **उडती-उडती** नीचे पड़गी।

(ii) **भागतां-भागतां** ठोकर लागगी।

(iii) का'णी **सुणतां-सुणतां** नींद आयगी।

[1] पुरानी राजस्थानी—मू०ले० डॉ० एल. पी तैस्सितोरी, अनु० नामवर सिंह, पारा ११४

[2] श्री N. B. Divatia ने भी तैस्सितोरी का यह मत नही माना है। देखिये Gujarati Language and Literature, Vol. 1, Page 248 to 264

[3] हिन्दी भाषा का उद्गम और विकास—डॉ० उदयनारायण तिवारी, पारा ४०५

[4] पुरानी राजस्थानी, मू. ले. डॉ. एल. पी. तैस्सितोरी, अनु० नामवर-सिंह, पारा ११४

इसके अतिरिक्त पूर्वकालिक क्रिया के द्वित्व में **नै** परसर्ग को बाद में जोड़ देते हैं, यथा–

(i) **नाच-नाच नै** राजी कियौ।

(ii) **पढ़-पढ़ नै** हुसियार होइ गियौ।

पाणिनि ने भी 'नित्यवीप्सयौः' ८।१।४ (वीप्सा) के अर्थ में द्वैत क्रियापदों के बारे में **भुक्त्वा-भुक्त्वा** आदि के रूप में विधान किया है। इस दृष्टि से इनके प्रयोग की परिपाटी अति प्राचीन मानी जा सकती है।

कई बार समानार्थ में अथवा इसी के समान विभिन्न अर्थ में कुछ धातु पदों को युग्म रूपों में प्रयुक्त करते हैं, यथा–

(i) वौ चार आखर **लिख-पढ़** नै रौब गांठै।

(ii) **देख-सुण** नै कांम करणौ चाहिजै।

(iii) **कूट-पीस** नै कप्पड़छांण कर लियौ।

इस प्रकार के **प्रयोग संभवतया प्राचीन आर्य-भाषाओं में नहीं प्राप्त होते**। ये बाद की आधुनिक उपज मालूम होते है।

अन्य आधुनिक भाषाओं के समान आधुनिक राजस्थानी में भी पारस्परिक क्रिया-विनिमय प्रकट करने के लिये, क्रिया विशेष्य पदों के 'द्विरुक्त' रूप प्रयुक्त होते हैं। इस प्रकार के युग्म पदों में पहला पद **आकारांत** तथा दूसरा पद **ईकारांत** कर दिया जाता है, यथा—

(i) टाबरां नै घणी **मारा-मारी** मत करजौ।

(ii) **देखा-देखी** टाबर विगड़ै।

उपरोक्त द्वैत क्रिया पदों मे एक ही क्रिया की पुनरावृत्ति हुई है किन्तु कभी-कभी अन्य समानार्थक क्रियाओं का भी युग्म बना कर प्रयोग कर दिया जाता है—

छीना-झपटी नी करणी चाहिजै।

सयुक्त क्रिया पद (Compound verbs)—

प्राचीन भारतीय आर्य भाषाओं में जो काम प्रत्यय आदि लगा कर लिया जाता था वह काम अब बहुत कुछ संयुक्त क्रियाओं से होता है। अन्य आधुनिक भाषाओं के समान राजस्थानी भाषा में भी संयुक्त क्रिाओं का प्रयोग प्रचुर मात्रा में पाया जाता है। प्राचीन भाषाओं, जैसे ग्रीक, लैटिन, संस्कृत आदि में क्रिया पदों में उपसर्ग लगा कर नवीन भावों का प्रकाशन होता था। योरोप की कई आधुनिक भाषाओं मे

इस प्रकार के विशेषण प्रयोगों मे लिङ्ग एवं वचन-भेद से शब्दों में विकार होता है।

कुछ क्रियायें तीनों अर्थों में (यथा– क्रिया, संज्ञा एवं विशेषण) प्रयुक्त होती हैं। इस प्रकार का एक उदाहरण यहां पर्याप्त होगा।

१. सुवै विदांम री सीरौ **खाणौ** जोइजै—प्रातःकाल विदाम का हलुवा खाना चाहिये।

२. **खाणौ** पुरस नै वेगौ लावौ—भोजन शीघ्र परोस कर लाइये।

३. औ कुत्तौ **खाणौ** है—यह कुत्ता काटने वाला है अथवा इस कुत्ते के काटने का स्वभाव है।

उपरोक्त इन तीनों उदाहरणों में **खाणौ** शब्द अलग-अलग अर्थों में प्रयुक्त हुआ है। पहले उदाहरणों में क्रिया, दूसरे में संज्ञा एवं तीसरे में विशेषण अर्थ में प्रयुक्त हुआ है।

क्षेत्र भेद के अनुसार पूर्वी राजस्थान आदि स्थानों पर क्रियान्त में **णौ** के स्थान पर **वौ** का प्रचलन है यथा– **करवौ, दौड़वौ, खावौ** आदि। सभी क्रियाओं के साथ क्रियान्त में **णौ** रूपों के साथ **वौ** रूप भी दिये गये हैं। ये केवल क्षेत्र भेद का प्रभाव है, किन्तु इस प्रकार के प्रयोगों से अर्थ-विस्तार संकुचित हो गया है। **णौ** क्रियान्त वाली कुछ क्रियाओं का संज्ञा या विशेषण अथवा दोनों रूपों में प्रयुक्त होना सम्भव है परन्तु **वौ** क्रियान्त वाली क्रियायें सामान्यतया इस प्रकार के विभिन्न अर्थों में प्रयुक्त नहीं होतीं। ऊपर के उदाहरणों में **खुरचणौ** एवं **कसणौ** क्रिया एवं संज्ञा दोनों अर्थों में प्रयुक्त हुए हैं, किन्तु **खुरचवौ** एवं **कसवौ** केवल क्रिया अर्थ में ही प्रयुक्त होते हैं। संज्ञा अर्थ में इस प्रकार के रूप नहीं मिलते। यही प्रभाव क्रियाओं के विशेषण प्रयोगों पर भी पड़ता है। **खाणौ** शब्द कभी-कभी संज्ञा एवं विशेषण अर्थों में भी प्रयुक्त हो जाता है, किन्तु **खावौ** का प्रयोग केवल क्रिया अर्थ में ही होता है। कभी-कभी इसे विशेषण रूप में प्रयुक्त कर देते हैं यथा– **कुत्तौ** बडौ खावौ है—कुत्ता काटने वाला है आदि। किन्तु यह **णौ** क्रियान्त वाले रूपों के प्रभाव के कारण है। सामान्यतया **वौ** क्रियान्त वाले रूपों का प्रयोग क्रिया अर्थ के अतिरिक्त नहीं किया जाता, अतः प्रस्तुत कोश में जहाँ क्रिया शब्दों में **णौ** एवं **वौ** क्रियान्त वाले दोनों रूप दे दिये गये हैं वहाँ इन क्रियाओं से बनने वाले संज्ञा एवं विशेषण अर्थ वाले शब्दों के केवल **णौ** अंत वाले रूप ही दिये गये हैं। **वौ** क्रियांत वाले कुछ शब्द दोनों अर्थों (यथा क्रिया व संज्ञा) में प्रयुक्त होते हैं, यथा—

करवौ– क्रि० स० (सं० कृ) करना।

करवौ– सं० पु० (सं० करम्भ) दले हुए अनाज को पका कर छाछ के मिश्रण से बनाया जाने वाला एक प्रकार का पेय पदार्थ।

ऐसे प्रयोगों के मूल तत्सम आधार अलग-अलग होने के कारण हमारी उपरोक्त संभावनाओं में नहीं आते। इस प्रकार का प्रयोग संयोगिक है। क्रिया एवं संज्ञा अर्थों में कोई सामञ्जस्य नहीं। अतः यह मान लिया गया है कि **वौ** क्रियांत वाले शब्द केवल क्रिया सम्बन्धी अर्थ ही देते हैं जब कि **णौ** क्रियान्त वाले कुछ शब्द क्रिया के अतिरिक्त संज्ञा एवं विशेषण अर्थ भी देते हैं।

कुछ क्रियाओं का प्रचलन आरम्भ के स्वर को ह्रस्व से दीर्घ करके भी उसी अर्थ में हो गया है। इस प्रचलन से उनके अर्थ में कोई भिन्नता उत्पन्न नहीं होती, यथा—

अजमाणौ, आजमाणौ।	**जगणौ, जागणौ।**
रखणौ, राखणौ।	**थकणौ, थाकणौ।**
पकणौ, पाकणौ।	**चखणौ, चाखणौ।**
भगणौ, भागणौ।	आदि।

किन्तु यह परिवर्तन प्रायः उन्हीं क्रियाओं में सम्भव है जिनके आरम्भ में दोनों स्वर ह्रस्व हों। अगर प्रथम ह्रस्व है एवं उसके बाद पड़ने वाला वर्ण अ स्वर के अतिरिक्त किसी अन्य स्वर से प्रभावित है तो ऐसा परिवर्तन प्रायः सम्भव नहीं है। अपवादस्वरूप कुछ ऐसे शब्द भी मिल जाते हैं जिनमें प्रथम स्वर के बाद पड़ने वाला दूसरा स्वर ह्रस्व से दीर्घ होता है, यथा—

उमहणौ, उमाहणौ

किन्तु इनमें भी प्रथम दोनों वर्णों में अ स्वर होना आवश्यक है। दूसरे स्वर से प्रभावित वर्णों में परिवर्तन इस प्रकार नहीं होता।

ध्वनि के सम्बन्ध में विवेचना करते समय हम लिख आए हैं कि क्रोधादि मनोविकारों के कारण हम शब्दों को प्रायः

या विशेषण पदों के साथ **कर(णौ), हो(णौ), ले(णौ), दे(णौ)** आदि धातुओं के जोड़ने से बनते हैं, यथा– **काम करणौ, मोज करणी, सुख देणौ** आदि।

क्रिया सम्बन्धी इस प्रकरण को समाप्त करने से पहले कुछ ऐसी विशेषताओं की ओर इंगित कर देना चाहते हैं जो प्राय: किसी अन्य भाषा में नहीं मिलतीं।

राजस्थानी में कुछ क्रियायें केवल भाववाच्य ही होती हैं। उनका अकर्मक एवं सकर्मक रूप नहीं बनता। वे अपने भाववाच्य रूप में ही प्रयुक्त होती हैं, यथा—

१. **तुहींजणौ** (सं० **तुभ्यते**) पशुओं में मादा का गर्भस्राव होना।

२. **गड़ीजणौ**—भैंस का गर्भवती होना।

३. **आंवाईजणौ, आंबीजणौ**– १. अधिक शारीरिक कार्य करने या अधिक चलने से शरीर का ऐंठा जाना। २. नींबू, आम, अमचूर आदि खट्टे पदार्थों के खाने से दांतों का खट्टा होना।

४. **फोगराईजणौ, फोगरीजणौ**– अधिक पानी के प्रभाव से फूल जाना, अथवा कालर नामक कीड़ा लगने से मिट्टी, पत्थर आदि की बनी दीवार व वस्तुओं पर से पपड़ी उतरना।

५. **कालरीजणौ**

६. फाताईजणौ, **फातीजणौ**– व्याकुल होना, घबड़ाना।

राजस्थानी के ये प्रयोग बड़े स्वाभाविक एवं स्वतंत्र हैं। सम्भवतया इस प्रकार के सूक्ष्म भाव स्पष्ट करने वाले प्रयोग अन्य भाषाओं में कम मिलते हैं। प्रस्तुत कोश में इस प्रकार के भाववाच्य रूपों को मूल क्रिया के समान ही स्थान दे दिया गया है एवं पाठकों को असुविधा से बचाने के लिये इनको प्राय: अकर्मक रूप मान लेने की प्रवृत्ति अपनाई गई है। किन्तु वास्तव में ये भाववाच्य रूप ही हैं, इनके सकर्मक एवं अकर्मक रूपों का निर्माण होता ही नहीं। भूतकालिक कृदन्त विशेषण रूप अवश्य ही इनसे निर्मित होते हैं यथा–**तुहींजियोड़ी, आंवाईजियोड़ौ, आंबीजियोड़ौ, फोगरीजियोड़ौ, कालरीजियोड़ौ, फातीजियोड़ौ** आदि। इनके स्त्री लिंग प्रयोग भी शब्द के साथ ही उपस्थित कर दिये गये हैं किन्तु ये इन भाववाच्य रूपों के ही भूतकालिक कृदन्त विशेषण हैं। रूप-भेद के अनुसार इनके कई भेद होते हैं, यथा—

कुईजणौ
कुयीजणौ
कुहीजणौ
} (सं० **कुथ्-पूती-भावे**)–सड़ना, खमीर उठना।

इस प्रकार के रूपभेद वाले प्रयोगों में प्रमुख रूप से प्रयुक्त होने वाले रूप को मुख्य स्थान देकर बाकी को उसी के साथ रूप भेद में दे दिया गया है।

राजस्थानी भाषा की कुछ क्रियायें उसी रूप में संज्ञा अर्थ में भी प्रयुक्त होती हैं। इस प्रकार के प्रयोग में अर्थ बदल जाता है किन्तु मूल भाव के अनुसार दोनों में थोड़ा बहुत सादृश्य रहता है, यथा–

खुरचणौ– क्रि०स० कुरेदना, खुरचना।

खुरचणौ– सं०पु० कुरेदने या खुरचने का लोहे या पीतल का बना एक उपकरण।

कसणौ– क्रि० स० बजबूत बांधना, कसौटी पर कसना आदि।

कसणौ– सं० पु० रगड़ कर परीक्षा करने का काला पत्थर, कंचुकी बांधने की डोरी, कवच का हुक आदि।

उपरोक्त उदाहरणों के उन क्रियाओं के रूप स्पष्ट हैं जो संज्ञा अर्थों में भी उसी रूप में प्रयुक्त होती हैं। संज्ञा के अतिरिक्त कुछ क्रियायें विशेषण अर्थों में भी प्रयुक्त होती हैं, यथा–

भुसणौ– क्रि० अ०–भौंकना।

भुसणौ– वि०–भौंकने वाला।

व्हेणौ– क्रि०–अ० चलना।

व्हेणौ – वि०–चलने में दक्ष, चलने वाला।

विशेषण अर्थों में कोई क्रिया उसी समय प्रयुक्त होती है जब क्रिया के करने में दक्षता या अधिकता का भाव निहित हो, जैसे—

कुत्तौ **भुसै** है— कुत्ता भौंकता है।

कुत्तौ **भुसणौ** है— यह कुत्ता (बहुत) भौंकने वाला है।

परसूं सं० **परश्व**, = आने वाला दूसरा दिन (तैस्सितोरी के अनुसार सं० **परमकै**) से, **तरसों** सं० त्रि + श्वस् से, **तुरत** सं० **त्वरितम्** से, **झट** सं० **झटति** से निकले हैं। प्राचीन राजस्थानी में इन रूपों का प्रयोग प्रायः ई के संयोग से होता था, यथा- **काल्हि, कालि, दीहइ, परमइँ, प्रभातइ, रातइ, विहांणइ, सांझइ** आदि।

(ii) स्थानवाचक—इसमें **भीतर, बाहर, आगै, पीछै** आदि रूपों का प्रयोग होता है। **भीतर** का संबंध सं० **अभ्यंतर, बाहिर** का सं० **बहिः, आगै** का सं० **अग्रके, पीछे** का सं० **पश्चके** या **पश्चिले** से जोड़ा जाता है। राजस्थानी में **मांयनै** भी भीतर के लिये प्रयुक्त होता है। प्राचीन राजस्थानी में **आगइ, आगलि, पाछइ, पाछलि** आदि रूपों का खूब प्रचलन था। तैस्सितोरी ने इन स्थानवाचक एवं कालवाचक क्रिया-विशेषणों को अविकरण मूलक क्रिया-विशेषण कहा है।[1]

(iii) रीतिवाचक—तैस्सितोरी ने इनको करणमूलक[2] कहा है। उसके अनुसार इनका उपयोग प्रायः रीतिवाचक क्रिया-विशेषण के रूप में होता है जैसा कि संस्कृत और प्राकृत में भी होता है। प्राचीन राजस्थानी में निम्नलिखित प्रकार के रूप प्रचलित थे—

आडइँ = आर-पार, **कस्टइँ** = कठिनाई से, **जोडिलइ** = संयुक्त रूप से, **दोहिलइँ** = कठिनाई से, **निश्चइँ** (सं० **निश्चयेन** = निश्चयपूर्वक, **प्राहइँ** = **प्राहिइँ** (सं० **प्रायकेण**, अप० **प्राअएँ**) = प्रायः, **मउडइँ** (सं० **मृदुटकेन**, अप० **मउडएँ**) = देर से, **रूडइ** (सं० **रूपटकेन**, अप० **रूअडएँ**) = भली-भांति, **वेगि** (स० **वेगेन**) = वेगपूर्वक, **संक्षेपइकरी** (सं० **संक्षेपेण**) = संक्षेप में, **सहजि** (सं० **सहजेन**) = स्वभावतः आदि। तैस्सितोरी ने विशेषणमूलक क्रिया विशेषणों का एक और भेद माना है। इनका निर्माण एकदम नपुंसक लिङ्ग एकवचन विशेषणों के द्वारा किया जाता है। यह विधि आधुनिक सभी भारतीय भाषाओं में प्रचलित है तथापि गुजराती, मराठी, सिंधी भाषाओं में ही इसका स्वरूप स्पष्ट रूप से लक्षित होता है क्योंकि नपुंसक लिङ्ग इन्हीं भाषाओं में सुरक्षित रह गया है।

[1] पुरानी राजस्थानी, पारा ९६

[2] —वही—

क्रिया विशेषण की यही शाखा आधुनिक राजस्थानी में सबसे अधिक विवादास्पद हो गई है। सब वैय्याकरणों में क्रिया-विशेषण अव्यय के शब्दों को विकाररहित माना है तथा वे सदा सब प्रकार के प्रयोगों में एक रूप में ही रहते हैं किन्तु राजस्थानी में इन विशेषणमूलक क्रिया विशेषणों के शब्दों में विकार उत्पन्न हो जाता है, यथा—

हिन्दी भाषा—पु० एक व०— वह **धीमे-धीमे** चलता है।
स्त्री० एक व०— वह **धीमे-धीमे** चलती है।
पु० बहु० व०— वे **धीमे-धीमे** चलते हैं।
राजस्थानी भाषा—पु० एक व०— वौ **धीमे-धीमे** चालै।
स्त्री० एक व०— वा **धीमी-धीमी** चालै।
पु० बहु व०— वे **धीमा-धीमा** चालै।

इस प्रकार वचन एवं लिङ्ग के प्रभाव से इनमें विकार उत्पन्न हो जाता है। एक और उदाहरण से यह बात अधिक स्पष्ट हो जायगी—

पु० एकवचन— वो **वेगौ** आयौ।
स्त्री० एकवचन— वा **वेगी** आई।
पु० बहुवचन— वे **वेगा** आया।
स्त्री० बहुवचन— वे **वेगी** आई।

राजस्थानी की इसी विशेपता के कारण इस शाखा के अंतर्गत आने वाले क्रिया विशेषण रूपों में लिङ्ग-भेद एवं वचन-भेद से विकार होना मान लिया गया है। यद्यपि उद्देश्य-विधेय के अनुसार ये एक प्रकार के विशेषण ही हैं तथापि इनका प्रयोग क्रिया विशेषण के तौर-तरीकों पर हो गया। प्राचीन राजस्थानी में प्रायः ऐसा विकार नहीं पाया जाता, यथा—

घणुं = घना। उ०—घणुं दौडउ या सोचइ मनि घणऊँ।
थोडुं = थोड़ा।
पहिलूं = पहले।
जोई नीचुं जराणी-नइ-कहइ।

जिनमें ये नपुंसक एकवचन में रहते हुए सभी कारकों में अपरिवर्तित रहते हैं उनको तो तैस्सितोरी ने विशेषणात्मक क्रिया विशेषण एवं जो किसी समानाधिकरण विशेषण की

बिगाड़ कर बोलते हैं। क्रियाओं में भी इन मनोविकारों का प्रभाव स्पष्टतः लक्षित होता है। कुछ क्रियाओं के प्रयोगों से यह बात स्पष्ट हो जायगी—

(i) रोटी **गिटणी**

(ii) लाडू **धसकाणौ** आदि

रोटी प्रायः स्वभाव से ही भूख मिटाने के लिये खाई जाती है। उससे खाने वाले की आत्मा भी सन्तुष्ट होती है। बलात् खाने या खिलाने से खाने वाले के आत्म-सन्तोष से कोई सम्बन्ध नहीं रहता। अतः प्रायः क्रोधादि में इनका प्रयोग बिगड़ कर असम्बन्धित क्रियाओं के साथ जुड़ जाता है। दवाई की गोली के लिये ही सामान्यतया **गिटणौ** का प्रयोग होता है किन्तु क्रोध के प्रभाव से प्रायः लोग रोटी **गिटलै** भी कह देते हैं। इस प्रकार के प्रयोग करने वाले व्यक्ति के मनोभावों से प्रभावित होते हैं। (**अठी आ**—इधर आ) को क्रोध में लोग **अठी बल** (इधर जल) भी उच्चारित कर देते हैं। ऐसे प्रयोगों को बोलने वाले व्यक्ति के मनोविकारों के आधार पर ही देखना चाहिये।

क्रिया विशेषण—

प्राचीन एवं मध्यकालीन आर्य भाषाओं, यथा-संस्कृत, पालि, प्राकृत आदि में नाम तथा सर्वनाम शब्दों के परे तद्धित के कतिपय प्रत्यय लगाने से अव्यय बन जाते हैं। प्राचीन भाषाओं के अंतर्गत प्राप्त यह विशेषता आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओं में भी पूर्णतया सुरक्षित है। आधुनिक क्रिया विशेषणों की उत्पत्ति प्रायः संस्कृत संज्ञाओं अथवा सर्वनामों से हुई है। अर्थ की दृष्टि से ये कालवाचक, स्थानवाचक, दिशावाचक तथा रीतिवाचक इन चार मुख्य वर्गों में विभक्त किये जाते हैं। डा० तैस्सितोरी ने[1] इन्हें करणमूलक, अधिकरणमूलक, विशेषणमूलक एवं अव्ययमूलक नाम से विभाजित किया है। वे करणमूलक के अंतर्गत रीति का बोध कराने वाले क्रिया-विशेषणों को एवं अधिकरणमूलक के अंतर्गत काल एवं स्थान के बोधक क्रिया विशेषणों को रखते हैं। उनके लिखे अनुसार विशेषणमूलक क्रिया विशेषण से परिमाण या मात्रा का अथवा रीति की भावना में संशोधन का बोध होता है और अव्यय-मूलक विशेषण (एक निश्चित उद्गम स्रोत न होने के कारण) कोई एक निश्चित अर्थ व्यक्त नहीं करते। निषेधवाचक क्रिया विशेषणों की गणना भी उन्होंने अव्ययमूलक विशेषण के अंतर्गत ही की है।

[1] पुरानी राजस्थानी—अनु० नामवरसिंह, पारा ६६

१ सर्वनाममूलक क्रिया विशेषण

(i) कालवाचक—इसका प्रयोग प्रायः **ब** के संयोग से होता है, यथा – **अब, जब, तब, कब** आदि। राजस्थानी में इनका प्रयोग **जद, तद, कद** आदि रूपों में **द** लगा कर भी किया जाता है। **ब** वाले रूपों की उत्पत्ति डा० चटर्जी ने वैदिक **एव, एवा**, सं० **एवं**, प्रा० **एव्वं, एव्वं** से तथा बीम्स ने अपनी व्याकरण में सं० **वेला** से मानी है। राजस्थानी के **द** रूपों वाले शब्दों **जद, तद, कद** आदि की उत्पत्ति संस्कृत के **यदा, तदा, कदा** आदि से स्पष्ट ही है।

ही के संयोग से (अब+ही) **अभी** (तब+ही) **कभी** (कब+ही) **कभी**, (कद+ही) **कदी** आदि रूप भी प्रचलित हो गये हैं।

(ii) स्थानकवाचक—इनके रूप राजस्थानी में **थ** या **ठ** के संयोग से बनते हैं, यथा—**अठै, बठै, तठै, कठै** आदि या **ऐथ, ओथ, केथ** आदि। इनका सम्बन्ध संस्कृत के **अत्र, यत्र, तत्र, कुत्र** आदि से जोड़ा जा सकता है।

(iii) रीतिवाचक—इनके रूप **यूं**, के संयोग से बनते हैं यथा—**ज्यूं, त्यूं, क्यूं** आदि। इन रूपों की उत्पत्ति अत्यन्त संदिग्ध है। डा० चटर्जी ने इनकी उत्पत्ति अप० के **जेंव, तेंव केंव, जेवं, तेवं, केवं** आदि से बताई है तथा केलॉग ने अपनी व्याकरण में इस प्रकार के शब्दों की उत्पत्ति सं० **इत्थं, कथं** आदि से मानी है। बीम्स ने इनका सम्बन्ध सं० **मत्** प्रा० **मन्तो** से मानी है, यद्यपि संस्कृत भाषा में इस प्रत्यय से बने हुए रूप अर्थ की दृष्टि से परिमाणवाचक होते हैं। इस प्रकार इन शब्दों की व्युत्पत्ति का विवेचन अत्यन्त संदिग्ध है।

(२) संज्ञामूलक, क्रियामूलक एवं अन्य क्रिया विशेषण—

(i) कालवाचक—इसके अंतर्गत **आज, काल, परसूं, तरसूं, सुवै, तड़कै, तुरत, झट, अचांणक** आदि शब्दों के प्रयोग आते हैं। **आज** सं० के **अद्य** से, **काल** सं० **कल्य**, अप० **कल्ले** से,

तरह लिंग वचन और कारक के अनुसार रूप-रचना करते हैं उनको क्रियाविशेषणात्मक विशेषण नाम से लिखा है।[1]

सर्वनाम के अंतर्गत स्थानवाचक क्रिया-विशेषणों के रूप में **उरौ** = इधर, यहाँ; **परौ** = उधर, वहाँ; दूर आदि के प्रयोग लिंग एवं वचन के प्रभाव से विकारग्रस्त होते हैं, यथा–

उरौ = इधर (पास) आ—पु० ।

उरी आव = इधर (पास) आ—स्त्री० ।

उरा आवौ = इधर (पास) आइये ।—पु० बहु व० ।

ऐसे प्रयोग प्राय: अन्य भाषाओं में नहीं मिलते । अत: अन्य भाषा-वैय्याकरण इन क्रियाविशेषणों के विकारग्रस्त भेदों पर नाक-भौं सिकोड़ें तो कोई आश्चर्य न होगा । प्रस्तुत कोश में इस विकारग्रस्त श्रेणी में आने वाले क्रियाविशेषणों में लिंग भेद देकर ही उपस्थित किया गया है । अत: ऐसे रूपों पर आपत्ति करने वाले महानुभावों को राजस्थानी की इस विशेषता को ध्यान में रखना चाहिये ।

अव्ययमूलक क्रियाविशेषण—इस श्रेणी के अंतर्गत वे क्रियाविशेषण आते हैं जो किसी सिद्ध शब्द से उत्पन्न नहीं हुए हैं, यथा–

अजी = अब तक ।

अतिहिं = अत्यन्त ।

नहीं, **नइँ** ।

मत =

अवधारण अथवा जोर देने के लिये शब्दों के अंत में जोड़े जाने वाले निपात **इ, जि (ज) ही** हैं । **इ** संस्कृत **अपि** से एवं **जि (ज)** संस्कृत **एव** से उत्पन्न हुआ है, यथा–

सघलउ-इ वंसु = संपूर्ण ही वंश ।

आज-इ **लगइ** = आज तक ।

हूँ **करेसि-जि** = मैं करूँगा ही ।

सात-ज = सात ही ।

एक-इ-जि = एक ही ।

[1] पुरानी राजस्थानी, पारा ७८ और १०२ ।

अगर शब्द के साथ कोई परसर्ग होता है तो यह निपात शब्द एवं परसर्ग के बीच में आ जाता है, यथा–

गुरुआ-इ न = गुरुओं को भी ।

ही निपात का प्रयोग प्राय: प्राचीन राजस्थानी में कम हुआ, किन्तु आधुनिक राजस्थानी में इसका प्रयोग प्रचुर मात्रा में हुआ है—

ईणि हि-जि-कारणि = इसी कारण में से ।

तिम-ही-ज = इसी प्रकार ।

परिमाणवाचक क्रिया विशेषणों के अन्तर्गत **ज्यादा, बोत, कम, कुल** आदि प्रयुक्त होते हैं ।

जब सर्वनाम-सम्बन्धी अव्यय को दुहरा दिया है तथा अन्य अव्ययों से संयुक्त कर दिया जाता है तो प्राय: उनका अर्थ परिवर्तित होता है, यथा– **जब-जब** के साथ **तब-तब** और **जठै-जठै** के साथ **तठै-तठै** आदि ।

अनिश्चितता का भाव उत्पन्न करने के लिए संबंधवाची अव्यय का अनिश्चयवाची अव्यय के साथ संयोग कर दिया जाता है, यथा– **जद-कदी, जठै-कठी** आदि भी कभी अनिश्चितता प्रकट करने के लिए एक दो अव्ययों के मध्य **न** का प्रयोग कर दिया जाता है, यथा–**कदी न कदी, कठै न कठै** आदि ।

निम्नलिखित प्रकार के पदों का भी प्रयोग प्राय: राजस्थानी में अव्यय की भांति होता है, यथा—**नाच कर, मिल कर, जांण कर** आदि । पूर्वकालिक क्रिया से सम्बन्धित होने के कारण ये पूर्वकालिक क्रियाविशेषण कहे जा सकते हैं । इनका विवेचन हम पीछे कर चुके हैं । ऐसे पदों को कोश में स्थान देना उचित नहीं समझा गया क्योंकि इस प्रकार के पदों का निर्माण व्याकरण के निश्चित नियमों के आधार पर होता है । इस सम्बन्ध में सम्बन्धित व्याकरण की जानकारी आवश्यक है । अत: ऐसे रूपों को छोड़ कर शेष समस्त क्रियाविशेषणों के रूपों को उनके रूप भेदों सहित प्रस्तुत कोश में स्थान दिया गया है । जहां उनमें लिङ्ग-भेद का विकार भी दिया गया है वहां पाठकों को विशेषणात्मक क्रियाविशेषणों के संबंध में दी गई टिप्पणी को ध्यान में रखना चाहिए ।

औरंगजेब के समय में जब धार्मिक असहिष्णुता के कारण संस्कृत के धार्मिक ग्रन्थों को क्षति पहुँचाई जाने लगी तो बीकानेर के तत्कालीन महाराजा अनूपसिंहजी ने कितने ही महत्त्वपूर्ण ग्रंथों को सुदूर दक्षिण से मंगवा कर अपने यहाँ सुरक्षित रखा जो आज भी अनूप संस्कृत लाइब्रेरी बीकानेर में विद्यमान हैं। इसके अतिरिक्त अन्य शासकों ने भी अपने संग्रहालयों में संग्रहीत कर कितने ही ग्रन्थों को कालकवलित होने से बचाया।[1] जैन यतियों ने अपने सतत् प्रयत्नों से बहुत बड़ी साहित्यिक निधि को मंदिरों और उपाश्रयों आदि में सुरक्षित रखा। कितने ही ठाकुरों तथा जागीरदारों ने भी इस दिशा में महत्व-पूर्ण कार्य किया। ये सभी प्रयत्न यहाँ के लोगों के प्रगाढ़ साहित्य-प्रेम के परिचायक हैं।

जिस सामाजिक ऊहापोह और राजनैतिक तथा साम्प्र-दायिक उथल-पुथल के बीच यहाँ साहित्य सृजन हुआ है, इतिहास इसका साक्षी है। काल-क्रम की पृष्ठ-भूमि के साथ आगे हम उसका उल्लेख यथास्थान करेंगे।

सम्पूर्ण प्राचीन राजस्थानी साहित्य को ४ मुख्य भागों में विभाजित किया जा सकता है। इस दृष्टि से संक्षेप में यहाँ कुछ विचार उनकी विशेषताओं को ध्यान में रखते हुए किया जा रहा है।

(१) जैन साहित्य
(२) चारण साहित्य[2]
(३) भक्ति साहित्य
(४) लोक साहित्य

जैन साहित्य अधिकांश में जैन यतियों और उनके अनु-गामी श्रावकों द्वारा लिखा गया है। उसमें उनके धार्मिक नियमों और आदर्शों का कई प्रकार से गद्य तथा पद्य में वर्णन है। यह साहित्य बहुत बड़े परिमाण में लिखा गया है और प्रारम्भिक राजस्थानी साहित्य की तो वह बड़ी धरोहर है। जैन साधुओं ने धार्मिक साहित्य का ही निर्माण किया है पर अन्य अच्छे साहित्य के संग्रह और सुरक्षा में संकीर्णता नहीं बरती। इस ओर हम पहले ही संकेत कर आये है। अत: उनकी राजस्थानी साहित्य को बहुत बड़ी देन है पर उनका यह साहित्य जैन धर्म से सम्बन्धित होने के कारण जैन धर्माव-लंबियों तक ही सीमित रहा। वह समूचे समाज की वस्तु न बन सका। जो मध्ययुगीन सन्तों की धार्मिक वाणियों तथा तुलसी-कृत रामायण आदि का समूचे उत्तरी भारत में प्रचार-प्रसार हुआ और सूर, तुलसी, मीरा, कबीर, दादू आदि के पद जन-जन के कठहार बन गए वैसी स्थिति जैन साहित्य की नहीं बन सकी। वह साहित्य जन-जन का साहित्य न बन सका और न समाज के बहुत बड़े क्षेत्र को ही उतना प्रभावित कर सका।

चारण शैली में साहित्य का निर्माण चारणों के अतिरिक्त राजपूत, मोतीसर, भोजक ब्राह्मण, ओसवाल आदि अनेक जाति के लोगों ने किया है पर चारणों की इसे विशेष देन है। चारण जाति का शासक वर्ग के साथ विशेष सम्बन्ध रहा है। वे मध्य-कालीन राजपूत संस्कृति के प्रेरक स्रोत रहे हैं। संघर्ष के युग मे उन्होंने अपने आश्रयदाताओं को कभी अपने कर्त्तव्य से च्युत नही होने दिया। उन्होंने तत्कालीन शासकों को ऐश्वर्य और विलासी जीवन से दूर ही नहीं रखा अपितु निरन्तर संघर्ष कर देश और धर्म की रक्षा करने के लिए प्राणोत्सर्ग कर देने की प्रेरणा देना ही अपने जीवन का ध्येय माना है। मौका पड़ने पर वे स्वयं रण भूमि में उपस्थित होकर वीरों को उत्सा-हित करने तथा स्वयं युद्ध करने में पीछे नहीं रहे हैं। आज उनके द्वारा किए गए युद्ध-वर्णन भले ही अतिशयोक्तिपूर्ण लगें पर यवनों द्वारा आतंकित समाज की सुरक्षा के लिए उन कवियों ने अपने योद्धाओं के समक्ष शत्रुओं की सेना रूपी कुंवरी (कुमारी) कन्या को वरण करने की मधुर कल्पना रख कर मौत के विकराल स्वरूप को जो तुच्छ रूप दिया है वह तत्कालीन परिस्थितियों के अनुसार अत्यन्त आवश्यक था। मनुष्य सभी कुछ आदर्श जीवन के लिए करता है और उस आदर्श की रक्षा के लिए सहज ही मृत्यु का आलिंगन करने वाले व्यक्ति के यशोगान में कौनसी उपमा अतिशयोक्तिपूर्ण हो सकती है? इसका अनुभव सहानुभूतिपूर्वक इस साहित्य का अध्ययन करने पर ही हो सकता है। कहने का तात्पर्य यह है कि उनका साहित्य अत्यन्त प्राणवान और जीवन्त साहित्य है। उसमें जीवन की जो ऊर्जस्विता दृष्टिगोचर होती है वह

---

[1] सरस्वती भंडार उदयपुर, पोथीखाना जयपुर, अलवर का राजकीय संग्रह, जैसलमेर जैन संग्रहालय, जोधपुर का पुस्तक प्रकाश आदि।

[2] चारण-साहित्य से तात्पर्य यहां चारण शैली में लिखे गए साहित्य से है।

राजस्थानी साहित्य का परिचय



आर्यावर्त के विशाल भू-खंड में राजस्थान का विशिष्ठ ऐतिहासिक महत्त्व है। शताब्दियों से यहाँ के लोगों ने भारतीय संस्कृति, कला और साहित्य को अक्षुण्ण योग-दान दिया है जिसके महत्त्व पर आने वाली पीढ़ियाँ भी गर्व का अनुभव करती रहेंगी। यहाँ का बहुत प्राचीन इतिहास अभी अंधकार में है, पर जहाँ तक हमारे इतिहासकार पहुँचे हैं उनके लिखे इतिहासों को देखने से पता चलता है कि यहाँ के लोगों ने अपनी स्वतंत्रता और संस्कृति की रक्षा के लिए जो निरन्तर संघर्ष, तप और त्याग का जीवन व्यतीत किया है, उसके दर्शन अन्यथा दुर्लभ हैं।

इसी संघर्षमय जीवन में उन्होंने अपने सांस्कृतिक आदर्शों की रक्षा के लिए प्राणोत्सर्ग ही नहीं किया, उस संस्कृति को अपनी कलात्मक रचनाओं के माध्यम से अक्षुण्ण बना देने के लिए भी बहुत कड़ी साधना, मौलिक सूझ-बूझ और अमरता को वरण करने की अमिट लालसा का परिचय दिया है।

राजस्थान का प्राचीन कलात्मक वैभव सर्व-विख्यात है। यहाँ के विशाल एवं सुदृढ़ दुर्ग, जैन व अजैन मंदिर, भव्य राजप्रासाद, सती-स्मारक, समाधि-स्थान आदि वास्तु कला के अद्भुत नमूने हैं। इन राजप्रासादों और दुर्गों की बुलंदी आज भी उस समय के जीवन की बुलंदगी का संदेश दे रही है। इसी तरह यहाँ की मूर्ति कला में उस काल के कलाकारों की सौन्दर्यानुभूति ही सुरक्षित नहीं है, शताब्दियों से चली आ रही धार्मिक निष्ठा को कला के माध्यम से व्यंजित कर भारतीय संस्कृति की एकता और अखंडता का भी परिचय दिया है।

चित्रकला में राजपूत कलम के अगणित चित्र विभिन्न शैलियों में चित्रित किये गए। मुगल शैली से प्रभावित होने पर भी वैष्णव धर्म-भावना को राधा कृष्ण की लीलाओं के रूप में चित्रित कर नैसर्गिक प्रेम भावना को मौलिक अभिव्यक्ति देने में यहाँ के कलाकारों ने कोई कसर नहीं रखी। जीवन के ऐश्वर्य, विलास और प्रणय को चित्रित करने वाले कलाकारों ने विभिन्न रंगों और आकृतियों के माध्यम से जो भावानुभूति की बारीकियों का चित्रण किया है, उसकी विलक्षणता और सौन्दर्यानुभूति को भावोद्रेक से रंजित कर देने वाली क्षमता को कौन अस्वीकार कर सकता है? इन अमूल्य चित्रों के पीछे उन्हें चित्रित करने वाले कलाकारों की प्रेरणा और उनके आश्रयदाताओं की परिष्कृत रुचि हमारे कल्पना लोक को आज भी अभिभूत कर देती है।

संगीत के क्षेत्र में भी यह प्रांत पिछड़ा हुआ नहीं रहा। यहाँ के शासकों ने संगीत को प्रश्रय तो दिया ही परन्तु कई एक ने स्वयं संगीत की साधना कर इस विषय के ग्रंथों का निर्माण भी किया। राणा कुंभा का संगीतराज इसका प्रमाण है। राजस्थान के मध्ययुगीन भक्त कवियों ने विभिन्न राग-रागिनियों में हजारों पदों की रचना कर संगीत के माध्यम से ही उन्हें अपने-अपने इष्ट देवता को अर्पण किया है। मुगल सल्तनत का पतन हो जाने पर तो बहुत से प्रसिद्ध गायकों व नृत्यकारों को राजस्थान के शासकों ने ही प्रश्रय दिया था। यहाँ की मांड रागिनी (?) और अनेकानेक धुनें (तानें) आज भी यहाँ के लोकगीतों में सुरक्षित हैं। संगीत की विरल साधना के प्रतीक स्वरूप राग-रागिनियों के कितने ही सुन्दर व चित्ताकर्षक चित्रों का निर्माण यहाँ हुआ है।

विभिन्न कलाओं को प्रश्रय देने वाली इस भूमि का प्राचीन साहित्यिक गौरव भी किसी प्रान्तीय भाषा के साहित्यिक गौरव से कम नहीं है। जिस परिमाण में यहाँ साहित्य सृजन हुआ है उसका सतांश भी अभी प्रकाश में नहीं आया। अनगिनत हस्तलिखित ग्रन्थों में वह अमूल्य सामग्री ज्ञात-अज्ञात स्थानों पर बिखरी पड़ी है। काव्य, दर्शन, ज्योतिष, शालिहोत्र, संगीत, वेदांत, दर्शन, वैद्यक, गणित, शकुन आदि से सम्बन्ध रखने वाले मौलिक ग्रन्थों के अतिरिक्त कितने ही संस्कृत, प्राकृत, फारसी आदि के प्राचीन ग्रन्थों के अनुवाद व टीकाओं का निर्माण यहाँ हुआ है।

इतना ही नहीं, यहाँ के शासकों ने प्राचीन संस्कृत साहित्य की रक्षा की ओर भी समय-समय पर ध्यान दिया है।

किया है—'भक्ति रस का काव्य तो भारतवर्ष के प्रत्येक साहित्य में किसी न किसी कोटि का पाया जाता है। राधाकृष्ण को लेकर हर एक प्रांत ने मंद व उच्च कोटि का साहित्य पैदा किया है, लेकिन् राजस्थान ने अपने रक्त से जो साहित्य निर्माण किया है उसकी जोड़ का साहित्य नहीं मिलता।'[1] राजस्थानी साहित्य के महत्त्व के सम्बन्ध में इससे अधिक और क्या कहा जाय ?

राजस्थान का यह प्राचीन साहित्य डिंगल तथा पिंगल दो भाषाओं में प्राप्त होता है। कई विद्वानों ने पिंगल को डिंगल की ही एक शैली मान लेने की भूल की है। पर वास्तव में पिंगल डिंगल से भिन्न भाषा है जो व्रज का ही एक स्वरूप है। कविराजा बांकीदास[2] एवं सूर्यमल्ल मीसण ने भी इन दोनों भाषाओं का अस्तित्व स्वीकार किया है। इस सम्बन्ध में डॉ. एल. पी. तैस्सितोरी ने एक स्थान पर लिखा है—

'It is well known that there are two languages used by the bards of Rajputana in their poetical compositions and they are called 'Dingala' and 'Pingala'. These are not mere 'styles' of poetry as held by Mahamahopadhyaya Har Prasad Shastri, but two distinct languages, the former being the local Bhasha of Rajputana and the letter Braja Bhasha, more or less vitiated under the influence of the former.'[3]

इसके अतिरिक्त सर जार्ज ग्रियर्सन ने भी इस सम्बन्ध में अपना निश्चित मत प्रस्तुत किया है—

'Marwari has an old literature about which hardly any thing is known. The writers some times composed in Marwari and some times in Brij Bhasa. In the former case, the language was called 'Dingala' and in the latter 'Pingala'[4].

डॉ. सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या ने उदयपुर में दिए गए अपने एक भाषण में कहा था कि 'गुजरात और मारवाड़ के जैन आचार्य और पंडितों के द्वारा सौराष्ट्र अपभ्रंश से उद्भूत पुरानी पश्चिमी राजस्थानी में साहित्य का सृजन होने लगा पर साथ ही साथ शौरसेनी अपभ्रंश साहित्यिक भाषा, पूर्व से बदलती गई, इसका एक नवीनतम या अर्वाचीन रूप 'पिंगल' नाम से राजस्थान और मालवा के कवियों में पूर्णतया गृहीत हुआ। पिंगल का एक साहित्य वन गया। पिंगल को शौरसेनी अपभ्रंश साहित्यिक भाषा और मध्यकालीन व्रज भाषा, इन दोनों के बीच की भाषा कहा जा सकता है। व्रज भाषा प्रतिष्ठित हो जाने के बाद पिंगल के साथ-साथ व्रज भाषा ने भी राजस्थानी भाषाओं में अपना महत्त्वपूर्ण स्थान बना लिया। समग्र राजस्थान व्रज भाषा के लिए अपना क्षेत्र हो गया। व्रज भाषा के कुछ श्रेष्ठ कवि राजस्थानी भाषी ही थे। फिर राजपूताने के भाट और चारणों ने 'पिंगल' की अनुकारी एक नई कवि भाषा मारवाड़ी के आधार पर बनाई जो 'डींगल' या 'डिंगल' नाम से अब परिचित है।[1]

डॉ० चाटुर्ज्या ने जहां पिंगल के अनुकरण पर डिंगल नाम का प्रादुर्भाव होना माना है वहाँ डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी ने डिंगल के अनुकरण पर पिंगल नामकरण का अनुमान किया है।[2] वास्तव में पिंगल और डिंगल दो भिन्न भाषायें हैं।[3] पिंगल का विकास शौरसेनी अपभ्रंश से हुआ है[4] और डिंगल का गुर्जरी अपभ्रंश से।[5] देखा जाय तो डिंगल काव्य पिंगल की अपेक्षा अधिक प्राचीन है। जब व्रज भाषा की उत्पत्ति हुई तो उसका तत्कालीन प्रभाव राजस्थान के पूर्वी प्रदेश पर भी पड़ा। शुद्ध डिंगल तथा व्रज भाषा से प्रभावित डिंगल में अंतर स्पष्ट करने के लिए संभवतः दोनों का नामकरण हुआ हो। यह तो सर्वविदित है कि व्रज भाषा के पहले से ही

---

१ टि. वी., हि. सा. स. प्रयाग, संवत् २००३, पृ० ६८

२ डिंगलियां मिलियां करै, पिंगल तणौ प्रकास।
संसकृति व्है कपट सज, पिंगळ पढ़ियां पास।—बां. दा. ग्र० भाग २

३ Journal of the Asiatic Society of Bengal, Vol. X No. 10 PP. 375

४ Linguistic Survey of India, Vol. IX, Part II, Page 19.

---

१ राजस्थानी भाषा : डा० सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या, पृष्ठ ६५

२ हिन्दी साहित्य : डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी, पृष्ठ ६७

३ राजस्थानी भाषा और साहित्य : डा० हीरालाल माहेश्वरी, पृष्ठ ७

४ (क) Linguistic Survey of India, Grierson, Pt. I, Page 126
(ख) राजस्थानी भाषा : डा० सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या, पृ० ६४

५ (क) अखिल भारतीय हिन्दी साहित्य सम्मेलन के ३३ वें अधिवेशन का विवरण—कन्हैयालाल माणिकलाल मुन्शी, पृष्ठ ६।
(ख) राजस्थान का पिंगल साहित्य तथा राजस्थानी भाषा और साहित्य—श्री मोतीलाल मेनारिया।

अन्यथा दुर्लभ है। इस प्रकार के साहित्य की रचना करने वाले कवियों की शासक वर्ग और समाज में बड़ी प्रतिष्ठा थी। शासक उन्हें जागीर-देकर सम्मानित करते थे। राज दरबार में उन्हें उचित आसन मिलता था और समाज उन्हें आदर की दृष्टि से देखता था। शासकों पर कई बार जब कि आपत्ति आ जाती तो वे उनकी पूरी सहायता करते थे।[१] उन्हें दी गई जागीर 'सांसण' के नाम से पुकारी जाती थी। क्योंकि उस जागीर पर पूरा अधिकार चारण का ही होता था। यहां तक कि राज्यद्रोह करने वाला व्यक्ति भी 'सांसण' में शरण चला जाता तो उसे कोई दखल नहीं देता था। चारणों को इतना सम्मान मिलता था, इसके उपरांत भी वे शासकों को खरी-खरी सुनाने में भी कभी नहीं चूकते थे। युद्ध में वीर गति प्राप्त करने वाले की जहां वे प्रशंसा करते थे वहां युद्ध से भाग जाने वाले की निंदा करने में भी कसर नहीं रखते। सच तो यह है कि वे वीरता के उपासक थे और किसी भी वीर के वीरतापूर्वक कार्य की प्रशंसा किए बिना उनका मन नहीं मानता था, चाहे वह व्यक्ति उनका परिचित हो अथवा नहीं। यही कारण है कि उनके द्वारा रचा गया अधिकांश साहित्य वीररसात्मक है और उस समय में उस साहित्य का बड़ा ही सामाजिक महत्त्व रहा है।

राजस्थान में भक्ति साहित्य भी बहुत बड़े परिमाण में लिखा गया है। संत कवियों की वाणियां आज भी समाज में प्रचलित हैं। उत्तरी भारत की संत परम्परा से प्रभावित होने पर भी यहां की संत परम्परा में तथा भक्ति साहित्य में एक विशेषता यह है कि उनका झुकाव अधिकतया निर्गुण भक्ति की ओर रहा है। यहां के कवियों ने यहां की भाषा में नवीन उपमाओं और उत्प्रेक्षाओं आदि के माध्यम से अपने भावों की अभिव्यक्ति को एक नवीन रूप दिया है जो बड़ा ही प्रभावोत्पादक और सरस है।

किसी भी देश या प्रान्त का लोक साहित्य वहां के जन-जीवन से निसृत स्वाभाविक भावोद्रेक को व्यक्त करता है। राजस्थान की वीर प्रसविनी भूमि में जहां हजारों कवियों ने अपनी काव्य-कला के माध्यम से राजस्थानी साहित्य की सेवा की है वहां कितने ही अज्ञात जन कवियों ने अपनी सरल और सरस वाणी में अपने लौकिक अनुभवों को जन साधारण की निधि बना दिया है। लोक-गीत, पवाड़े, लोक कथायें, कहावतें मुहावरे आदि राजस्थानी लोक साहित्य के अमूल्य रत्न हैं। लोक साहित्य जितने बड़े परिमाण में यहां सुरक्षित है उतना शायद भारत की किसी अन्य भाषा में उपलब्ध नहीं होगा। राजस्थानी लोक गीतों की विविधता और सरसता तो सर्व-विख्यात है। राजस्थान की संस्कृति को समझने के लिए भी उनसे बढ़ कर अन्य कोई उपयोगी साधन शायद ही सुलभ होगा। क्योंकि यहां के जन-जीवन की सर्वांगीण निश्छल अभिव्यक्ति इसी साहित्य में सुरक्षित मिलती है। युगों-युगों से यह साहित्य जनता का मनोरंजन ही नहीं करता रहा है परन्तु इसने उन्हें व्यावहारिक जीवन दर्शन भी दिया है। राजस्थानी साहित्य को प्राणवान बनाने का और भाषा को नवीन रूप प्रदान करने का बहुमूल्य कार्य भी अज्ञात रूप से इसी साहित्य ने किया है।

इतने विशाल और विविधतापूर्ण राजस्थानी साहित्य की महानता को विद्वान सही रूप में तभी समझ पायेंगे जब वह सम्पूर्ण साहित्य सुलभ हो जायेगा। कोश-निर्माण के दौरान में मुझे इस साहित्य की कितनी ही हस्तलिखित प्रतियाँ देखने का और उनकी खूबियों पर विचार करने का सौभाग्य प्राप्त हुआ है। अतः इस साहित्य के महत्व पर विचार करते समय कई बार प्रसिद्ध अंग्रजी आलोचक मेथ्यू अरनॉल्ड की पंक्तियां याद आ जाती हैं जिनमें वह इंगलैण्ड की महानता उसके बहुत बड़े साम्राज्यवाद अथवा सैनिक शक्ति और असाधारण राजनीतिज्ञों की वजह से नहीं पर अंग्रेजी साहित्य की महानता की वजह से मानता है।[१] क्या राजस्थानी का इतना महान् साहित्य हमारे देश की महानता का प्रतीक नहीं है? सभी भारतीय भाषाओं का साहित्य अपने-अपने ढंग का निराला है पर राजस्थानी साहित्य की कुछ अपनी ऐसी विशेषतायें हैं जो अन्य भाषाओं के साहित्य में देखने में नहीं आतीं। विश्व कवि रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने भी मुक्त हृदय से इस विशेषता को स्वीकार

---

१ राव चूंडा अपने पिता वीरम की मृत्यु के उपरांत बचपन में आल्हा बारहठ के घर पर ही बड़ा हुआ था।

१ 'And by nothing is England so glorious as by her poetry. Mathew Arnold. Preface to the 'Poems of Wordsworth'.

वैज्ञानिक रूप से उचित कालों में विभाजित हो। इसी दृष्टि-कोण से अनेक विद्वान साहित्यकारों ने अपने-अपने मतानुसार राजस्थानी साहित्य को भी भिन्न-भिन्न कालों में विभाजित किया है। उनमें से अनेक विद्वानों का काल-विभाजन पूर्ण वैज्ञानिक एवं तर्कयुक्त है।

जैसा कि हम प्रारम्भ में लिख चुके हैं कि राजस्थानी की नींव नवीं शताब्दी में स्थापित हो चुकी थी इसलिए राजस्थानी साहित्य के प्राचीन काल का आरम्भ हम नवीं शताब्दी के आरम्भ से ही मानते हैं। डा० एल. पी. तैस्सितोरी ने प्राचीन पश्चिमी राजस्थानी का अपभ्रंश से अंतिम रूप से सम्बन्ध-विच्छेद कर लेने का समय तेरहवीं शताब्दी के आसपास निश्चित किया है। स्पष्ट तो यह है कि पन्द्रहवीं शताब्दी के आरम्भ तक डिंगल भाषा अपभ्रंश के प्रभाव से पूर्ण रूप से मुक्त न हो पाई थी। अतः पन्द्रहवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध तक के साहित्य को प्रारंभिक काल के अंतर्गत रखना अधिक वैज्ञानिक है। लगभग इस काल के पश्चात् डिंगल एक स्वतंत्र एवं सुगठित भाषा के रूप में विकसित हुई। इसके पश्चात् का काल मध्य-काल माना जा सकता है। इस काल में रचित प्रचुर एवं विशिष्ट साहित्य ने ही राजस्थानी को पूर्ण विकसित रूप प्रदान किया और इसे उन्नति के शिखर पर बैठाने वाले अधिकांश कवि भी इसी काल में हुए। इस काल में पाई जाने वाली साहित्यिक विशेषतायें निरन्तर रूप से महा कवि सूर्यमल्ल मीसण की रचनाओं के पूर्व के समय तक मिलती रही है। अतः महाकवि सूर्य-मल्ल के समय से ही राजस्थानी का आधुनिक युग माना जा सकता है। इस सम्पूर्ण विवेचन के अनुसार हम अपने दृष्टिकोण से राज-स्थानी साहित्य को निम्न प्रकार से कालबद्ध कर सकते हैं—

१. आदिकाल वि० सं० ८०० से सं० १४६०
२. मध्यकाल वि० सं० १४६० से सं० १९००
३. आधुनिक काल वि० सं० १९०० से वर्तमान काल तक

वस्तुतः काल-विभाजन किसी काल विशेष की समाप्ति और दूसरे काल के आरम्भ होने के समय के मध्य कोई निश्चित सीमा रेखा नहीं है। अतः हमें यह नहीं मान लेना चाहिए कि काल की समाप्ति के पश्चात् उस काल की शैली व परम्परा में आगे कोई रचना नहीं होती। आरंभिक काल की भी कुछ विशेषतायें ऐसी हैं जो मध्यकाल की रचनाओं में भी पाई जाती हैं। इसके अतिरिक्त आधुनिक काल के भी अनेकानेक कवि मध्यकालीन ऐतिहासिक परंपरा का अनुसरण करते आ रहे हैं। अतः उपरोक्त सीमा रेखायें परिवर्तन के आरंभ की ही सूचक मानी जा सकती हैं। अब हम ऊपर दर्शाये हुए तीनों कालों को पृथक-पृथक लेकर उनमें रचे जाने वाले साहित्य पर प्रकाश डालेंगे।

पाठकों की सुविधा के लिए यहाँ काल-विभाजन के साथ केवल पद्यात्मक रचनाओं का ही वर्णन किया जा रहा है। गद्य साहित्य एवं लोक साहित्य का पृथक-पृथक शीर्षकों के अंतर्गत अलग से विवेचन प्रस्तुत करेंगे।

आदिकाल—विक्रम संवत् ८०० से १४६०

नवीं शताब्दी से पूर्व प्राचीन राजस्थानी के प्रारंभिक साहित्य की क्या दशा रही होगी इसकी कल्पना करने के लिए इतिहास में कोई सामग्री नहीं मिलती। यद्यपि यह तो माना जाता है कि अपभ्रंश से अन्य भाषाओं के उद्‌गम के समय अपभ्रंश के साथ-साथ उनमें भी साहित्यिक रचनायें अवश्य हुई हैं परन्तु प्रामाणिक सामग्री के अभाव में बहुत प्राचीन साहित्य के विषय में निश्चयपूर्वक कुछ भी नहीं कहा जा सकता। पूर्व वर्णित मुनि उद्योतन सूरि रचित 'कुवलय माला' जिसका, काल सं० ८३५ है, से हमें राजस्थानी का परिचय मरु भाषा के नाम से मिलता है। यद्यपि यह ग्रन्थ राजस्थानी की रचना तो नहीं फिर भी इसमें राजस्थानी में वर्णित चर्चरी द्वारा हमें तत्कालीन राजस्थानी के स्वरूप की झलक अवश्य मिलती है। उदाहरण के लिए उक्त ग्रंथ का एक पद यहाँ उद्धृत किया जाता है—

उ.— कम्मिरा-कमळ-दळ लोयरा-चल रे, हंत ओ।
पीरा-पिहुल-थरा-कडियल भार किलंत ओ॥
तारा-चलिर वळियावळि-कळयळ-सद्द ओ।
रास यम्मि जइ लब्भइ जुवइ-सत्थ ओ॥

इससे यह तो पता चलता है कि राजस्थानी साहित्य का निर्माण नवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध से ही आरम्भ हो चुका था परन्तु इसके बाद १० वीं शताब्दी के अन्त तक कोई प्रामाणिक लिपिनिष्ठ रचना प्राप्त नहीं होती। इसके अनेक कारण हैं। ऐसा माना जाता है कि राजस्थानी का अति प्राचीन तथा प्रारंभिक साहित्य अधिकांश में श्रुतिनिष्ठ साहित्य ही था। श्री किशोरसिंह बारहठ ने आरंभिक काल के साहित्य के

राजस्थानी में काव्य-रचना होती थी। अतः यह कहना उचित नहीं होगा कि पिंगल के आधार पर ही डिंगल का नामकरण-संस्कार किया गया। इस सम्बन्ध में डॉ० रामकुमार वर्मा का यह मत उचित मालूम देता है कि—'उचित तो यह ज्ञात होता है कि 'डिंगल' के आधार पर ही 'पिङ्गल' शब्द का उपयोग किया होगा। इस कथन की सार्थकता इससे भी ज्ञात होती है कि पिङ्गल का तात्पर्य छंदशास्त्र से है। ब्रज भाषा न तो छंदशास्त्र ही है और न उसमें रचित काव्य छंदशास्त्र के नियमों के निरूपण के लिए ही है। अतएव 'पिङ्गल' शब्द ब्रज भाषा काव्य के लिए एक प्रकार से उपयुक्त ही माना जाना चाहिए। हां यह अवश्य है कि ब्रज भाषा काव्य में छंदशास्त्र पर अपेक्षाकृत अधिक ध्यान दिया गया है और सम्भवतः यही कारण है कि उसका नाम पिङ्गल रखा गया है।'[1]

यहां हम प्राचीन राजस्थानी को डिंगल के नाम से अभिहित कर रहे हैं। कुछ विद्वानों का यह भी भ्रम है कि शायद राजस्थान में पिङ्गल साहित्य का निर्माण परिमाण में डिंगल से भी अधिक हुआ है, पर यह मान्यता भी निराधार है, जैसे कि हम पहिले कह आये हैं कि डिंगल का अधिकांश साहित्य अभी प्रकाश में नहीं आया है और बहुत सा लिपिवद्ध भी नहीं हुआ है, इसीलिए शायद ऐसी भ्रामक धारणा वन गई है।

राजस्थानी साहित्य के इस विवेचन के पश्चात् अब हम उसके विकास-क्रम पर विचार करते हैं। राजस्थानी भाषा विवेचन के प्रकरण में हम यह स्पष्ट कर आये हैं कि राजस्थानी का निकास अपभ्रंश भाषा से हुआ है। अतः अपभ्रंश की अन्तिम अवस्था ही राजस्थानी का आदिकाल अथवा प्रारम्भिक काल माना जाता है। राजस्थानी का प्राचीन नाम मरु भाषा है। सर्व प्रथम मरु भाषा का नाम हमें मारवाड़ राज्य के जालोर ग्राम में रचे गए जैन मुनि उद्योतन सूरि के प्रसिद्ध ग्रन्थ 'कुवलय माला' में मिलता है। इस ग्रन्थ की रचना विक्रम संवत् ८३५ में हुई थी। इसमें तत्कालीन १८ भाषाओं का उल्लेख है जिसमें मरु भाषा का नाम भी है। यथा—

'अप्पा-तुप्पा', भणिरे अह पेच्छइ मारुऐ तत्तो
'न उरे भल्लउं' भणिरे अह पेच्छइ गुज्जरे अवरे
'अम्हं काउं तुम्हं' भणि रे अह पेच्छइ लाड़े
'भाइ य इ भइणी तुब्भे' भणि रे अह मालवे दिट्ठे।
(कुवलयमाला)

इससे यह प्रकट हो ही जाता है कि राजस्थानी साहित्य का निर्माण लगभग नवीं शताब्दी में होने लग गया था। इस समय की मुख्य भाषा अपभ्रंश थी और अधिकांश साहित्य की रचना इसी भाषा में हो रही थी, अतः ऐसे समय में नव विकसित भाषा में निर्मित होने वाला साहित्य इसके प्रभाव से अछूता कैसे रह सकता था। यही कारण है कि यद्यपि राजस्थानी साहित्य का निर्माण नवीं शताब्दी के प्रारम्भ से ही आरम्भ हो गया था, फिर भी ११ वीं शताब्दी तक हमें बहुत ही कम साहित्य उपलब्ध होता है। यह सब कुछ होते हुए भी यह तो निश्चित है कि राजस्थानी अपने प्रारम्भिक काल में राजस्थान की ही नहीं वरन् उसके आसपास के बहुत बड़े भूखंड की भाषा रही है। गुजराती भाषा के मर्मज्ञ एवं विद्वान स्वर्गीय झवेरचंद मेघाणी ने भी अपने शब्दों में इसे स्वीकार किया है।

'अपनी मातृ भाषा का नाम था—राजस्थानी! मेड़ता की मीरां इसी में पदों की रचना करती और गाया करती थी। इन पदों को सौराष्ट्र की सीमा तक के मनुष्य गाते तथा अपना कर के मानते थे। चारण का दूहा राजस्थान की किसी सीमा में से राजस्थानी भाषा में अवतरित होता तथा कुछ वेश वदल कर काठियावाड़ में भी घर-घराऊ बन जाता। नरसी मेहता गिरनार की तलहटी में प्रभु पदों की रचना करता और ये पद यात्रियों के कण्ठों पर सवार होकर जोधपुर, उदयपुर पहुँच जाया करते थे। इस जमाने का पर्दा उठा कर यदि आप आगे बढ़ेंगे तो आपको कच्छ, काठियावाड़ से लेकर प्रयाग प्रर्यन्त के भूखंड पर फैली हुई एक भाषा दृष्टिगोचर होगी…। इस व्यापक बोलचाल की भाषा का नाम—राजस्थानी। इसी की पुत्रियाँ फिर ब्रजभाषा, गुजराती और आधुनिक राजस्थानी का नाम धारण कर स्वतंत्र भाषायें वनीं।' अतः राजस्थानी भाषा में रचित साहित्य एक विस्तृत भू-भाग का साहित्य था।

किसी भी साहित्य के क्रमिक विकास का अध्ययन सुविधापूर्वक एवं समुचित रूप से तभी हो सकता है जब कि वह

---

[1] हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास, भाग १, डा० रामकुमार वर्मा, पृ० १३९–१४०

कारण उनकी कुल रचनाओं के लिखित एवं प्रामाणिक रूप राज्य के संग्रहालयों में सुरक्षित रहे। किन्तु ये इतने थोड़े हैं कि तत्कालीन राजस्थानी साहित्य के सम्बन्ध में पूर्ण एवं स्पष्ट दृष्टिकोण उपस्थित नहीं करते। इसके अतिरिक्त जन-साधारण के मन में अपने वीर चरितनायकों के प्रति अपार श्रद्धा थी। इसका मुख्य कारण यह था कि ये ही वीर लोग संकट के समय जन साधारण के जीवन धन की रक्षा करते। जन जीवन की रक्षार्थ वे अपने प्राणों की आहुति देने के लिए सदैव तत्पर रहते। अतः ऐसे वीरों की प्रशंसा में बनाई गई कवितायें शीघ्र ही प्रचलित हो जाया करतीं और श्रुतिनिष्ठ साहित्य के रूप में पीढ़ी दर पीढ़ी हस्तांतरित होती रहती थीं। उस काल में साहित्य को पूर्ण रूप से सुरक्षित रखने की प्रवृत्ति बहुत कम थी। यही कारण है कि आदि काल का लिपिनिष्ठ साहित्य बहुत ही कम मात्रा में प्राप्त होता है।

प्राचीन राजस्थानी साहित्य में जो कुछ भी लिखित एवं प्रामाणिक साहित्य प्राप्त हुआ है उसमें जैनाचार्यों का साहित्य भी अपना महत्वपूर्ण स्थान रखता है। जैन-साहित्य की रचना संस्कृत काल से होती आयी है और यही कारण है कि प्राकृत और अपभ्रंश में भी जैन-साहित्य हमें प्रचुर मात्रा में प्राप्त होता है। इसका मुख्य कारण यही रहा है कि जैन मुनि तथा उनके श्रावकगण सदैव से ही अपने इस धार्मिक साहित्य की सुरक्षा के प्रति सचेष्ट एवं जागरूक रहते आये हैं। राजस्थानी में भी जो कुछ आदिकालीन जैन एवं जैनेतर साहित्य हमें मिलता है वह भी इनकी साहित्य सुरक्षा के प्रति इस प्रवृत्ति का ही परिणाम है। जिनालयों, जैन-भण्डारों, उपाश्रयों आदि में प्राप्त राजस्थानी साहित्य की प्राचीनतम प्रतियां इसका सही प्रमाण हैं। राजस्थानी के प्रारम्भिक काल में रचित जैन मुनियों की अनेक धार्मिक रचनायें प्राप्त होती हैं परन्तु यह काल अनेक देशी भाषाओं का जन्म-काल होने के कारण उन भाषाओं के विद्वानों ने तत्कालीन रचनाओं को अपनी भाषा की प्रारम्भिक रचनायें मान लिया है। फिर भी उस समय राजस्थान में रहने वाले जैन मुनियों तथा अन्य सिद्धों व नाथों द्वारा जो भी रचनाएँ हुई वे प्रामाणिक रूप से राजस्थानी रचनायें ही मानी जा सकती हैं। इस प्रारंभिक काल की अनेक रचनायें उपलब्ध हैं परंतु कहीं पर वे अपने रचनाकारों के सम्बन्ध में मौन साधे हुए हैं तो कहीं अपना रचनाकाल प्रकट करने में पूर्ण असमर्थ। साहित्य की प्रामाणिकता के सम्बन्ध में शोध-कार्य अनेक वर्षों से हो रहा है और इसी के फलस्वरूप अन्धकार के गर्त में डूबे हुए अतुल साहित्य में से उसका कुछ भाग प्रकाश में आया है। अब हम इस काल के प्राप्त महत्वपूर्ण साहित्य को क्रमशः उनके संवतोल्लेख के अनुसार प्रस्तुत करेंगे।

खुम्माणरासौ—

राजस्थानी साहित्य में प्रारम्भ से ही प्रथम काव्य-ग्रन्थ के रूप में 'खुमाणरासौ' का उल्लेख किया जाता रहा है।[1] आज इसकी प्राप्त प्रतियों के आधार पर इसके रचनाकाल में अनेक विद्वानों को पूर्ण सन्देह है। इस काव्य-ग्रंथ में चित्तौड़ के महाराणा प्रतापसिंह तक का वर्णन दिया गया है। इससे यह प्रकट होता है कि यह ग्रन्थ समय-समय पर नई सामग्री प्राप्त करने के कारण अपने वास्तविक रूप से सर्वथा भिन्न हो गया है। एक स्थान पर इसके रचयिता का नाम दलपत-विजय लिखा गया है। कुछ लोगों के मतानुसार ये जैन साधु थे।[2] कर्नल टॉड ने अपने इतिहास में चितौड़ के रावळ खुम्माण का उल्लेख किया है। उन्होंने अपने इतिहास में लिखा है कि काल भोज (बप्पा) के पश्चात् खुम्माण गद्दी पर बैठा। इतिहास में इस खुम्माण का नाम बहुत प्रसिद्ध है। इसके शासनकाल में ही बगदाद के खलीफा अलमांसू ने चित्तौड़ पर चढ़ाई की। कर्नल टॉड द्वारा यह वर्णन खुम्माणरासौ के आधार पर ही किया गया प्रतीत होता है। सम्भवतः कर्नल टॉड को इस विषय में भ्रान्ति हो गई। काल भोज (बप्पा) से लेकर तीसरे खुम्माण तक वंशावली इस प्रकार मानी गई है।[3] कालभोज (बप्पा)>खुम्माण>मत्रट, भर्तृभट्ट>सिंह,

---

[1] हिन्दी साहित्य का इतिहास—लेखक रामचन्द्र शुक्ल, सातवां संस्करण, संवत् २००८, पृष्ठ ३३।

[2] 'ये (दलपत) तपागच्छीय जैन साधु शान्तिविजयजी के शिष्य थे। इनका असली नाम दलपत था किन्तु दीक्षा के बाद बदल कर दौलत-विजय रख लिया गया था। विद्वानों ने इनका मेवाड़ के रावळ खुंमाण द्वितीय (सं० ८७०) का समकालीन होना अनुमानित किया है, जो गलत है। वास्तव में इनका रचनाकाल सं० १७३० और सं० १७६० के मध्य में है। राजस्थानी भाषा और साहित्य—लेखक मोतीलाल मेनारिया। पृष्ठ ८२।

[3] वीर विनोद, प्रथम भाग, कविराजा श्यामलदास, पृष्ठ २६७ से २७२ तक।

सम्बन्ध में लिखा है कि चारण जाति के मरु देश में आने के पूर्व अर्थात् विक्रम की नवीं शताब्दी के आसपास उसके क्षेत्र में केवल एक नायक जाति ही ऐसी जाति थी जो अपने प्रारंभिक साहित्य को परम्परा से कंठस्थ करती हुई सुरक्षित रखे हुए थी। नायक लोग अपने पूर्वजों से सुन सुन कर जो पंवाड़ा, गीत आदि कंठस्थ किया करते थे या नए रचा करते थे उन्हीं को गांवों में जाकर रात्रि के समय चौपाल, या गांव के मध्य के खुले स्थान में एकत्रित जन-समूह के बीच रावणहत्थे (एक प्रकार का तन्त्री वाद्य विशेष) पर गाते और उनका अर्थ श्रोताओं को समझाया करते। इसी समय उन्होंने एक और जाति का भी अस्तित्व स्वीकार किया है, वह है जोगी या नाथ जाति जिसने प्राचीन श्रुतिनिष्ठ साहित्य की सुरक्षा में अपना योगदान दिया है।[1]

पंवाड़ों तथा गीतों का साहित्य भी अधिक प्राचीन तथा श्रुतिनिष्ठ होने के कारण उनके रचयिताओं की पिछली संतान उसे ठीक रूप में याद न रख सकी। अनेक प्रक्षिप्त अंशों का समावेश होने के साथ साथ कुछ चरितनायकों की जीवन-कथाओं के साथ अप्रासंगिक व चमत्कारिक बातें भी जोड़ दी गई। अपनी प्राचीन थाती को इस प्रकार लुप्त होते देख कर संभव है उस समय के लोगों में इस साहित्य की रक्षा की इच्छा अवश्य उत्पन्न हुई होगी। इसी के फलस्वरूप चित्रलिपि का प्रयोग किया गया। अपने चरितनायकों का पूर्ण जीवन-चरित चित्रों के रूप में अंकित किया जाने लगा। इन चित्रों का उन घटनाओं तथा कथाओं के साथ सम्बन्ध रहता था जो नायक आदि जाति के लोगों द्वारा रावणहत्थे पर मौखिक रूप से गाई जाती थी। इस चित्रलिपि के कारण चरित-नायकों के जीवन में अप्रासंगिक एवं चमत्कारिक घटनाओं का प्रवेश तो रुक गया किन्तु गाई जाने वाली भाषा में परिवर्तन तब भी होता गया। चित्र चित्रित होने के कारण स्थिर रहे परन्तु गीत गेय रूप में ही आने वाली पीढ़ियों को हस्तांतरित होने से उनकी मूल रचना में कितना अंश प्रामाणिक है और कितना प्रक्षिप्त, इसका पता लगाना अत्यन्त कठिन हो गया। राजस्थानी में इन चित्रों के आधार पर गाये जाने वाले गीतों को 'फड़ें' कहते हैं जो पट का अपभ्रंश है। आज भी राजस्थान के सुदूर गांवों में यदाकदा इन पंवाड़ों एवं फड़ों का आनन्द लिया जाता है।

लगभग नवीं शताब्दी के अन्तिम काल में एक ऐसी घटना हुई जिससे राजस्थानी साहित्य में एक नए युग का सूत्रपात हुआ। जिस समय राजस्थान में राजस्थानी की उपरोक्त दशा थी, ठीक उसी समय सिन्ध में वहां की तत्कालीन भाषा को वहां के चारण नवजीवन प्रदान कर रहे थे। सिन्ध के प्राचीन वीरों का यशोगान एवं वीरों का चरित्र-वर्णन उनकी कविताओं में स्पष्टतः लक्षित होता था। उस समय के सूमरा क्षत्रियों के अत्याचारों से वहां की जनता व्याकुल हो उठी। इसी समय सिन्ध में आवड़देवी का पिता मामड़ सकुटुम्ब आकर बस गया। ये कुल सात बहिनें थीं। सिंध के तत्कालीन राजा ने इनके सौन्दर्य-वर्णन पर लुभायमान होकर इन सातों बहिनों को अपने अधिकार में करने का प्रयत्न किया। ऐसी अवस्था में आवड़ देवी ने अपने अनुयायी समस्त चारणों को सिन्ध देश छोड़ कर राजस्थान की ओर जाने का निर्देश दिया और साथ में स्वयं भी सिन्ध छोड़ कर राजस्थान में आ बसी। आये हुए चारण कवियों ने यहां की लोक भाषाओं का प्रयोग धीरे-धीरे अपने साहित्य में किया। इस घटना से राजस्थानी साहित्य को एक नया मोड़ प्राप्त हुआ।

जिस समय राजस्थानी साहित्य में यह नवीन प्रवाह आया उस समय यहां की राजनैतिक परिस्थिति भी पूर्ण विचित्र थी जिसका प्रभाव तत्कालीन साहित्य पर स्पष्ट रूप से दृष्टिगोचर होता है। सोलंकी, पंवार, कछवाह, परिहार, तोमर, गहलोत, चौहान और यादव (भाटी) उस समय यहां शासन कर रहे थे। शासक वर्ग में परस्पर घोर संघर्ष चल रहा था। शासकीय स्थिति पूर्ण अनिश्चित थी। ऐसी स्थिति के मध्य प्रथम तो विशिष्ट साहित्य का सृजन होना संदिग्ध ही है, फिर भी यदि कुछ हो पाया तो वह आश्रयदाताओं को रणभूमि में उत्साहित करने के निमित्त फुटकर रचनायें ही थीं अथवा उनके मनोरंजनार्थ कोई प्रेम काव्य आदि। यही कारण है कि इस काल के प्राप्त ग्रंथों में जैन साहित्य को छोड़ कर, जो कि अधिकांश में अपने धर्म से ही सम्बन्धित है, अन्य सभी ग्रंथ प्रेम काव्य ही हैं। राज्याश्रय के

[1] सौरभ पत्रिका, भाग १, संख्या १, पृ० ५७, डिंगल भाषा और उसका साहित्य।—किशोरसिंह बारहठ

के अर्थ में आया है। हेमचंद्र का जन्म संवत् ११४५ और मृत्यु संवत् १२२९ में मानी गई है।[1] श्री मोहनलाल दलीचंद देसाई ने भी इसका समर्थन किया है।[2] इससे यह तो स्पष्ट है कि उस समय ढोला के सम्बन्ध में जनसाधारण में काफी जानकारी प्रचलित होगी। जिस प्रकार राधा-कृष्ण ऐतिहासिक एवं वास्तविक व्यक्ति होते हुए भी कालान्तर में काव्य में समस्त कविता के नायक-नायिका के रूप में रूढ हो गये, ठीक उसी प्रकार ढोले का नाम भी तत्कालीन कविताओं में नायक के रूप में प्रयुक्त किया जाने लगा हो। आधुनिक राजस्थानी के लोक-गीतों में 'ढोला' का प्रयोग नायक, पति, वीर आदि के लिये प्रचुरता के साथ पाया जाता है।[3] इससे यह सहज में ही अनुमान किया जा सकता है कि हेमचंद्र के समय तक ढोला के सम्बन्ध में दोहे जनसाधारण में इतने प्रचलित हो गये होंगे कि उस समय के कवियों ने उसके नाम का नायक के रूप में किसी भी कविता में प्रयोग करना आरम्भ कर दिया हो। जनसाधारण में दोहों के ऐसे प्रचलन के लिये सौ-डेढ़ सौ वर्ष का समय कुछ अधिक नहीं। अगर हेमचंद्र का समय संवत् ११४५-१२२९ माना गया है तो ढोला मारू के इन दोहों का निर्माणकाल संवत् १००० सहज ही माना जा सकता है। इस प्रकार के उदाहरणों में भाषा-विज्ञान के अनुसार अर्थ-विस्तार प्रायः हो जाया करता है। राजस्थानी भाषा की विवेचना करते समय ऐसे उदाहरण हम प्रस्तुत कर चुके हैं।

भाषा की दृष्टि से वर्तमान समय में प्रचलित ढोला मारू के दोहे इतने प्राचीन नहीं मालूम होते। वस्तुतः लोक-काव्य और अन्य साहित्यिक रचनाओं में काफी अंतर होता है। किसी साहित्यिक ग्रन्थ के निर्माण में कुछ न कुछ साहित्यिक कला का होना अत्यन्त आवश्यक समझा जाता है। लोक-गीतों की रचना-व्यवस्था इसके ठीक विपरीत होती है। लोक-गीतों का निर्माता यदि कोई हो सकता है तो देश विशेष की प्राचीन-कालीन परिस्थिति और साधारण जनता की सामूहिक रागात्मक अभिरुचि ही हो सकती है। गेय गीतों को मौखिक रूप में आने वाली पीढ़ियों में हस्तान्तरित करने की परंपरा बहुत ही प्राचीन समय से प्रचलित रही है। अतः वह तत्कालीन जनता की साधारण अभिरुचि से प्रेरणा पाती रहती है। नागरी प्रचारिणी सभा द्वारा प्रकाशित ढोला मारू की भूमिका में इस सम्बन्ध में एक स्थान पर लिखा है[1], 'यह काव्य मौखिक परंपरा के प्राचीन काव्य-युग की एक विशेष कृति है और सभव है कि तत्कालीन जनता की साधारण अभिरुचि को ध्यान में रख कर उससे प्रेरित होकर किसी प्रतिभासंपन्न कवि ने जनता के प्रीत्यर्थ उसी के मनोभावों को वर्तमान काव्य-रूप में बद्ध कर उसके समक्ष उपस्थित कर दिया हो और जनता ने बड़ी प्रसन्नता से इसे अपनी ही सामूहिक कृति मान कर कंठस्थ किया हो। ऐसी दशा में व्यक्ति विशेष कवि होने पर भी उसके व्यक्तित्व का सामूहिक अभिरुचि के प्रवल प्रवाह में लुप्त प्राय हो जाना संभव है। अतएव हमारा अनुमान है कि व्यक्ति विशेष का इसके बनाने में कुशल हाथ स्पष्टतः दृष्टिगोचर होते हुए भी सामूहिक मनोभावों की एकता और सहानुभूति एकत्रित होने के कारण कवि का व्यक्तित्व समूह में लुप्त हो गया है। और अंत में मौखिक परम्परा से चला आता हुआ यह काव्य हमको किसी व्यक्ति विशेष कवि की कृति के रूप में नहीं मिला वलिक जनता के काव्य के रूप में उपलब्ध हुआ है।'

कुछ विद्वानों ने 'कल्लोल' नामक एक कवि को ही इसका

---

[1] कुमारपालचरित : Introduction, Page, XXIII-XXV, (१९३६)

[2] जैन गुर्जर कविओ, प्रथम भाग, जूनी गुजराती भाषानों संक्षिप्त इतिहास' : श्री मोहनलाल दलीचंद देसाई, पृष्ठ ११३।

[3] (i) गोरी छाई छै जी रूप, ढोला, धीरां-धीरां आव।

(ii) सावण खेती, भँवरजी, थे करी जी, हांजी ढोला, भादूड़े करचो छो निनांण। सीट्टां रो रुत छाया, भँवरजी, परदेश में जी, ओ जी म्हांरा घण कमाऊ उमराव, थांरी प्यारी ने पलक न आवड़े जी।

(iii) गोरी तो भीजें, ढोला, गोखड़े, आलीजो भीजें जी फोजां मांय। अब घर आयजा, आसा थारी लग रही हो जी।

(iv) दूधां ने गींवाबो ढोलाजी रो नींबूड़ो ओ राज।
—ढोला मारू रा दूहा, सं० रामसिंह तथा नरोत्तमदास, पृष्ठ संख्या ३९८।

---

[1] 'ढोला मारू रा दूहा'—भूमिका, पृष्ठ ३६।

खुम्माण (द्वितीय) महायक, खुम्माण (तृतीय)। इस प्रकार स्पष्ट है कि खुम्माण तीन हुए हैं। कर्नल टॉड ने इन तीनों को एक ही मान लिया है। लेकिन इन तीनों का शासनकाल इतिहासकार इस प्रकार मानते हैं।

खुम्माण (प्रथम) वि.सं. ८१० से ८३५।
खुम्माण (द्वितीय) वि.सं. ८७० से ९०० तक।
खुम्माण (तृतीय) वि.सं. ९६५ से ९९० तक।

अब्बासिया वंश के अलमामूं का समय भी वि.सं. ८७० से ८९० तक माना जाता है। इसी समय वह खलीफा रहा। यदि कोई लड़ाई अलमामूं के साथ खुम्माण की हुई होगी तो वह दूसरे खुम्माण के समय में ही हुई होगी। अतः यह अनुमान किया जा सकता है कि 'खुम्माणरासौ' की रचना भी इसी काल में हुई।[1]

यह सब कुछ होते हुए भी मूल रचना के वास्तविक स्वरूप के अभाव में उसके रचनाकाल के सम्बन्ध में निश्चयपूर्वक कुछ भी नहीं कहा जा सकता। इस रचना में महाराणा प्रताप तक का वर्णन होने के कारण कई विद्वान इसे १७वीं शताब्दी ही की रचना मानते हैं। इसके साथ यह भी निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता कि दलपति विजय इसका वास्तविक रचयिता था अथवा इसके प्रक्षिप्त अंश का।[2] इस प्रकार खुम्माणरासौ को प्रामाणिक रूप से प्रथम काव्य-ग्रन्थ स्वीकार नहीं किया जा सकता।

'ढोला मारू रा दूहा'—सं. १०००

राजस्थानी के श्रेष्ठ प्रणय-काव्य 'ढोला मारू रा दूहा' का रचनाकाल श्री मोतीलाल मेनारिया ने वि.सं. १००० के आस-पास का अनुमान किया है।[3] ढोला मारू एक लोक-काव्य के रूप में प्रसिद्धि पा चुका है। ऐसे जन-प्रिय लोक-काव्यों की जो अवस्था होती है, उसकी विवेचना हम पहले कर चुके हैं।

[1] हिन्दी साहित्य का इतिहास—ले० रामचन्द्र शुक्ल, सातवां संस्करण, सं० २००८, पृ० ३३ के आधार पर।

[2] हिन्दी साहित्य का वृहत् इतिहास—सं० राजवली पांडेय, प्रथम भाग, पृष्ठ स० ३७६।

[3] राजस्थानी साहित्य की रूपरेखा—ले० मोतीलाल मेनारिया, परिशिष्ट—पृष्ठ २१९।

संभव है सर्वप्रथम इसकी रचना किसी सुयोग्य कवि ने की हो तथापि वर्तमान रूप में जो ढोला मारू की प्रतियाँ उपलब्ध हैं वे कालान्तर में अन्य लोगों द्वारा जोड़े गये प्रक्षिप्त अंश सहित ही मिलती हैं। काव्य की कथा ऐतिहासिक है तदपि पूर्ण ऐतिहासिक शोध के अभाव में यह निश्चित करना अत्यन्त कठिन है कि उसमें ऐतिहासिकता का अंश कितना है। कछवाह राजपूतों की ख्यातों के अनुसार यह कहा जा सकता है कि नल और ढोला ऐतिहासिक व्यक्ति हैं। काव्य में ढोला को नरवर के चौहान राजा नल का पुत्र बताया गया है किन्तु इतिहास के आधार पर यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि नरवर में चौहानों का राज्य कभी नहीं रहा। ओझाजी ने लिखा है[1] कि कछवाह वंश की ख्यातों में नल और ढोला का जो स्पष्ट वृत्तान्त मिलता है तथा ढोला को मारवणी का पति कहा है वह वस्तुतः सत्य है। अतः यह तो निसंदेह कहा जा सकता है कि ढोला कछवाह वंश का क्षत्रिय था। कछवाह वंश की ख्यातों में इसका समय संवत् १००० के आसपास दिया गया है। अगर ढोला के शासनकाल में ही 'ढोला मारू' की रचना की गई हो तो इसका रचनाकाल संवत् १००० के आसपास माना जा सकता है।

श्री हजारीप्रसाद द्विवेदी ने इन दोहों का सबसे पुराना रूप ग्यारहवीं-बारहवीं शताब्दी का माना है।[2] डॉ० भोलाशंकर व्यास ने इसका रचनाकाल विक्रम की १३वीं-१४वीं शती माना है।[3] १२वीं या १३वीं शती को इसका रचनाकाल मानने वाले इसकी रचना ढोला के तीन सौ वर्ष बाद हुई मानते हैं। सिद्ध हेमचन्द्र ने अपनी अपभ्रंश व्याकरण में दो तीन बार 'ढोल्ला' शब्द का प्रयोग किया है।[4] वहाँ यह तीनों बार नायक

[1] टॉड राजस्थान—संपादक, गौरीशंकर हीराचंद ओझा, पृष्ठ ३७१, टिप्पणी संख्या ५९।

[2] हिन्दी साहित्य का आदिकाल—डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी, पृष्ठ ९।

[3] हिन्दी साहित्य का वृहत् इतिहास—प्रथम भाग, खंड २, अध्याय ४, पृष्ठ ४०४।

[4] ढोल्ला सामला धण चम्पा-वण्णी।
णाइ सुवण्णरेह कस-वट्टइ दिण्णी॥ ८।४।३३०।१
ढोल्ला मइँ तुहुँ वारिया मा कुरु दीहा माणु।
निद्दए गमिही रत्तड़ी दडवड होइ विहाणु॥८।४।३३०।२
ढोल्ला एँह परिहासडी अइ भण-भण कवणहिं देसि।
हउँ झिज्जउँ तउ केहिं पिअ तुहुँ पुणु अन्नहि रेसि॥८।४।४२५।१
—अपभ्रंश व्याकरण—आचार्य हेमचंद्र

सोलहवीं शताब्दी के प्रतीत होते हैं—चाहे इनका ऐतिहासिक आधार कितना ही पुराना क्यों न हो।

'ढोला मारू रा दूहा' तथा 'जेठवे रा सोरठा' इन दोनों लौकिक प्रेम-काव्यों में ऐतिहासिक तथ्य गौण ही है। डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी ने ठीक ही कहा है[1] कि "वस्तुतः इस देश में इतिहास को ठीक आधुनिक अर्थ में कभी नहीं लिया गया। बराबर ही ऐतिहासिक व्यक्ति को पौराणिक या काल्पनिक कथानायक बनाने की प्रवृत्ति रही है।......कर्मफल की अनिवार्यता में, दुर्भाग्य और सौभाग्य की अद्‌भुत शक्ति में और मनुष्य के अपूर्व शक्तिभंडार होने में दृढ़ विश्वास ने इस देश के ऐतिहासिक तथ्यों को सदा काल्पनिक रंग में रंगा है। यही कारण है कि जब ऐतिहासिक व्यक्तियों का भी चरित्र लिखा जाने लगा तब भी इतिहास का कार्य नहीं हुआ। अन्त तक ये रचनायें काव्य ही बन सकीं, इतिहास नहीं।"

वीसलदेव रासौ[2]—

प्राचीनता की दृष्टि से वीसलदेव रासौ का अत्यधिक महत्व है। साहित्यिक दृष्टि से इसका मूल्य कितना ही नगण्य क्यों न हो किन्तु प्राचीनता उसकी एक ऐसी विशेषता है जिसके कारण इसके अध्ययन-अध्यापन की ओर कई विद्वानों का ध्यान गया है। अगर देखा जाय तो यही ग्रन्थ राजस्थानी का प्राचीनतम प्रामाणिक ग्रन्थ है। किसी भी प्राचीन ग्रन्थ का अपने शुद्ध रूप में मिलना संभव नहीं है और फिर एक ऐसे ग्रन्थ का जो सैकड़ों वर्षों तक गाया जाता रहा हो, शुद्ध प्राचीन रूप में मिलना सर्वथा असंभव है। अतः इसी को आधार मान कर कुछ विद्वानों ने समस्त प्राचीन ग्रंथों को आधुनिक सिद्ध करने में ही अपनी अधिकांश शक्ति खर्च करदी है। 'वीसलदेव रासौ' के बारे में डॉ० उदयनारायण तिवारी लिखते हैं[3]—"वास्तव में नरपति न तो इतिहासज्ञ था और न कोई बड़ा कवि ही। किसी सुनेसुनाये आख्यान के आधार पर लोगों को प्रसन्न करने के लिए उसने कुछ बेतुकी तुकबंदी कर के काव्य का एक ढांचा—येन-केन-प्रकारेण खड़ा कर दिया, जिस पर उनके पश्चात् के कवियों ने भी नमक-मिर्च लगाया। इस प्रकार एक साधारण कवि के मिथ्या-बहुल-काव्य को लेकर जिसका असली रूप भी इस समय सुरक्षित नहीं, इतनी ऐतिहासिक ऊहापोह करनी ही व्यर्थ है।" श्री मेनारिया ने इस संबंध में एक नई कल्पना की है। उन्होंने 'नरपति नाल्ह' का सम्बन्ध 'नरपति' नामक एक गुजराती कवि से जोड़ दिया है।[1] इन दोनों को वे एक ही कवि मानते हैं एवं इनका रचनाकाल संवत् १५४५-१५६० के आसपास माना है। डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी ने भी श्री मेनारिया के मत का समर्थन किया है।[2]

'वीसलदेव रासौ' को प्राचीनतम मानने के लिये इसके निर्माणकाल की विवेचना अत्यन्त आवश्यक है। नरपति नाल्ह ने अपनी पुस्तक की रचना-तिथि निम्नलिखित प्रकार से दी है।

बारह सै बहोत्तरां हां मंझारि।
जेठ वदी नवमी बुधवारि॥
'नाल्ह' रसायण आरंभई।
सारदा तूठि ब्रह्म कुमारी॥[3]

इसी के आधार पर वीसलदेव रासौ की रचना-तिथि मिश्र बंधुओं ने[4] संवत् १३५४, लाला सीताराम ने १२७२ तथा सत्यजीवन वर्मा ने[5] १२१२ माना है। श्री रामचंद्र शुक्ल ने भी वर्माजी के मत का अनुमोदन किया है।[6] मिश्र बंधुओं ने अपनी 'विनोद' में लिखा है—'चंद और जल्हण के पीछे संवत् १३५४ में नरपति नाल्ह कवि ने वीसलदेव रासौ नामक ग्रंथ बनाया। इसमें चार खंड हैं और उनमें वीसलदेव का वर्णन है। नरपति नाल्ह ने इसका समय १२२० लिखा है, पर जो तिथि उन्होंने बुधवार को ग्रंथ-निर्माण की लिखी है

---

[1] हिन्दी साहित्य का आदिकाल : डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी, पृष्ठ ७१।
[2] इसका विशुद्ध राजस्थानी रूप 'वीसलदे रासौ' है।
[3] 'वीर काव्य'—ले० डॉ० उदयनारायण तिवारी, पृष्ठ २०८।

---

[1] राजस्थानी भाषा और साहित्य—ले० पं० मोतीलाल मेनारिया, पृष्ठ ८८-८९।
[2] हिन्दी साहित्य : डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी, पृष्ठ ५२।
[3] वीसलदेव रासौ : सं० सत्यजीवन वर्मा—काशी नागरी प्रचारिणी सभा द्वारा प्रकाशित, प्रथम सर्ग, ४।
[4] मिश्रबंधु विनोद।
[5] नागरी प्रचारिणी सभा, काशी द्वारा प्रकाशित 'वीसलदेव रासौ' की भूमिका, पृष्ठ ५।
[6] हिन्दी साहित्य का इतिहास—रामचंद्र शुक्ल (सातवां संस्करण) पृष्ठ ३४।

रचयिता माना है।[1] जोधपुर के सिवाना नामक ग्राम में एक जैन यति के पास से प्राप्त प्रति में इसके रचयिता का नाम लूणकरण खिड़िया लिखा है। खेद की बात है कि संवत् १५०० के पहले की लिखी कोई प्रति अभी तक उपलब्ध नहीं हुई है। वैसे तो 'ढोला मारू रा दूहा' की बहुत-सी हस्तलिखित प्रतियाँ राजस्थान के पुस्तक भंडारों में मिलती हैं किन्तु वे अधिक पुरानी नहीं हैं। असली काव्य तो संभवतया सब का सब दूहों में ही लिखा गया होगा, परन्तु कालान्तर में दूहों की यह शृङ्खला छिन्न-भिन्न हो गई। संवत् १६१८ के लगभग जैसलमेर के एक जन यति कुशललाभ ने तत्कालीन महारावल के आदेशानुसार 'ढोला मारू' के विभिन्न दोहों को इकट्ठा किया और इस छिन्न-भिन्न कथा-सूत्र को मिलाने के लिए कुछ चौपाइयाँ बनाई। इन चौपाइयों को दूहों के बीच में रख कर कुशललाभ ने पूरे कथा-सूत्र को ठीक कर दिया। अभी तक उपलब्ध प्रतियों में यही प्रति सबसे पुरानी मानी गई है। श्री गौरीशंकर हीराचंद ओझा ने इन दोहों का निर्माण-काल संवत् १५०० वि० के लगभग माना है।[2]

जेठवे रा सोरठा—११००

राजस्थानी साहित्य की रूपरेखा के परिशिष्ट में श्री मेनारिया ने 'जेठवे रा सोरठा' का निर्माणकाल सं० ११०० के लगभग दिया है।[3] इनके साहित्यिक महत्व को छोड कर पहले इन पर ऐतिहासिक दृष्टिकोण से विचार कर लेना आवश्यक है। श्री मेनारियाजो के अतिरिक्त अन्य किसी व्यक्ति ने इन दोहों की रचना इतनी प्राचीन नहीं मानी है। प्रायः प्रत्येक सोरठे के अंत में जेठवा या मेहउत शब्द आया है। स्वर्गीय श्री झवेरचंद मेघाणी ने जेठवे के गुजराती सोरठों का संकलन किया था। इसी प्रसंग में एक स्थान पर उन्होंने लिखा है—"यह कथा श्री जगजीवन पाठक ने सन् १९१५ में 'गुजराती' के दीपावली अंक में लिखी थी तथा 'मकरध्वजवंशी महीपमाला' पुस्तक में भी लिखी है। इसमें सम्पादक ताळाजा के 'एलमवाला' का प्रसंग (सात हुकाळी, मंत्रेभहरण आदि : देखो रसधार, १ : पृष्ठ १८८) मेहजी के साथ जोड़ते हैं। इसके पश्चात् यह प्रसंग बरड़ा पर्वत पर नहीं परन्तु दूर ठांगा पर्वत पर घटित मानते हैं। मेहजी को श्री पाठक १४४ वीं पीढ़ी में रखते हैं परन्तु उनका वर्ष व संवत् नहीं बताते। उनके द्वारा बाद के १४७ वें राजा को १२ वीं शताब्दी में रखने के अंदाज से मेहजी का समय दूसरी या तीसरी शताव्दी के भीतर किया जा सकता है। परन्तु वे स्वयं दूसरे एक मेहजी को (१५२) संवत १२३५ के अन्तर्गत लेते हैं। ऊजळो वाले मेहजी यह तो नहीं हो सकते। कथा के दोहे १०००-१५०० वर्ष प्राचीन तो प्रतीत नहीं होते। घटना होने के पश्चात् १००-२०० वर्षों में इसका काव्य-साहित्य रचा गया होगा। यदि इस प्रकार गणना करें तो मेह-उजळी के दोहे संवत् १४००-१५०० तक प्राचीन होने की कल्पना अनुकूल प्रतीत होती है। तो फिर इस कथा के नायक का १५२वां मेहजी होने की संभावना अधिक स्वीकार करने योग्य प्रतीत होती है।" इसके अतिरिक्त इन सोरठों की भाषा भी नवीन है। कालान्तर में जेठवे के नाम पर विभिन्न कवियों द्वारा रचे गये सोरठे भी इसमें सम्मिलित होते गये। उदाहरण के लिए निम्नलिखित दो सोरठे मथानिया-निवासी श्री जैतदान बारहठ द्वारा संवत् १९७४-७५ में लिखे गये थे, किन्तु बाद में वे 'जेठवे के सोरठे' के नाम से प्रसिद्ध हो गये—

डहक्यौ डंफर देख, बादळ थोथौ नीर बिन,
हाथ न आई हेक, जळ री बूंद न जेठवा।
दरसण हुआ न देव, भेव बिहूणा भटकिया,
सूना मिंदर सेव, जलम गमायौ जेठवा।

उपरोक्त दोहे जेठवे के नाम से परम्परा के 'जेठवे रा सोरठा' नामक अंक में प्रकाशित हो चुके हैं। अतः इन दोहों का ठीक रचनाकाल निश्चित् करना अत्यन्त कठिन है। जो सोरठे पुराने कहे जाते हैं वे भी साहित्यिक दृष्टि से पन्द्रहवीं

---

[1] (क) राजस्थानी भाषा और साहित्य : डॉ० हीरालाल माहेश्वरी, पृष्ठ २०१।
(ख) राजस्थानी भाषा और साहित्य : श्री मोतीलाल मेनारिया, पृष्ठ १०१।
(ग) हिन्दी काव्य-धारा में प्रेम-प्रवाह : श्री परशुराम चतुर्वेदी, पृष्ठ २६।
(घ) प्राचीन राजस्थानी साहित्य, भाग ६, सं० गोवर्धन शर्मा, पृष्ठ ८३-८५।

[2] 'ढोला मारू रा दूहा'—प्रकाशक, नागरी प्रचारिणी सभा, काशी, डॉ० ओझा द्वारा लिखित प्रवचन, पृष्ठ ७।

[3] राजस्थानी साहित्य की रूपरेखा : पं० मोतीलाल मेनारिया, पृष्ठ २१९।

ओझा के अनुसार वीसलदेव का समय संवत् १०३० से १०५६ माना गया है।[1]......यदि गौरीशंकर हीराचंद ओझा के अनुसार वीसलदेव का काल संवत् १०३० से १०५६ मान लिया जाय तो वीसलदेव रासौ की रचना १५६ वर्ष बाद होती है। ऐसी स्थिति में लेखक का वर्तमान काल में लिखना समीचीन नहीं जान पड़ता। अतएव या तो वीसलदेव काल जो वीसेंट स्मिथ और गौरीशंकर हीराचंद ओझा द्वारा निर्धारित किया गया है, उसे अशुद्ध मानना चाहिये, अथवा वीसलदेव रासौ में वर्णित इस 'बारह सै बहोत्तरां हां मंझारि' वाली तिथि को।" इस प्रकार ग्रंथ के रचनाकाल की तिथि संवत् १२१२ को गलत ठहराते हुए उन्होंने संवत् १०७३ को ही ठीक माना है।

वीसेन्ट ए० स्मिथ ने अपने इतिहास में लिखा है—

'Jaipal, who was again defeated in November 1001, by Sultan Mahmud, committed suicide and, was succeeded by his son Anandpal, who like his father joined a confederacy of the Hindu powers under the supreme command of Vishal Dev, the Chauhan Rajah of Ajmer.'

इस प्रकार डॉ० वर्मा द्वारा यह लिखा जाना कि या तो वीसलदेव काल जो वीसेंट स्मिथ और गौरीशंकर हीराचंद ओझा द्वारा निर्धारित किया गया है, उसे अशुद्ध मानना चाहिये अथवा रासौ में वर्णित इस 'बारह सैं बहोत्तरां मंझारि' वाली तिथि को, ठीक नहीं जान पड़ता। सांभर एवं अजमेर की चौहान परंपरा में चार वीसलदेव हुए हैं। वीसलदेव विग्रहराज द्वितीय का समय संवत् १०३० से १०५६ तक माना जाता है। वीसलदेव विग्रहराज तृतीय का काल १११२-१११६ के आसपास तथा वीसलदेव विग्रहराज चतुर्थ का राज्यकाल संवत् १२१०-१२२० के आसपास होना अनुमानित किया गया है। संवत् १०७३ में ग्रंथ रचना के विचार के समर्थक इस ग्रंथ के नायक वीसलदेव को विग्रहराज द्वितीय मानते हैं एवं संवत् १२१२ के समर्थक विग्रहराज चतुर्थ।

वीसलदेव रासौ में उल्लिखित ऐतिहासिक घटनाओं के आधार पर इन तिथियों का विवेचन करना अत्यन्त आवश्यक है। यह पहला ग्रंथ है जिसका रचना-काल शोध द्वारा ठीक निर्धारित किया जा सकता है।

संवत् १०७३ के पक्ष में कई तर्क दिये जाते हैं। वीसलदेव का विवाह भोज की कन्या राजमती के साथ होना लिखा है। राजा भोज के समय के सम्बन्ध में वीसेंट ए० स्मिथ लिखते हैं[1]—

"Munja's nephew, the famous Bhoja ascended the throne of Dhar in those days the capital of Malwa, about 1018 A. D. and reigned gloriously for more than forty years."

इस दृष्टि से राजा भोज वीसलदेव विग्रहराज द्वितीय का समकालीन ही सिद्ध होता है। ऐसी स्थिति में वीसलदेव का राजा भोज की पुत्री से विवाह होना संभव है। अगर संवत् १२१२ को रचना-काल माना जाय तो यह निश्चित है कि 'वीसलदेव रासौ' घटना-काल के काफी बाद में लिखा गया होगा, किन्तु जैसा कि हम लिख चुके हैं, रासौ की भाषा में वर्तमान-काल का इस ढंग से प्रयोग किया गया है कि कवि को नायक का समकालीन मानना ही होगा। अतः अगर 'वीसलदेव रासौ' के नायक को विग्रहराज चतुर्थ मान लिया जाय तो एक प्रश्न यह उपस्थित होता है कि राजा भोज की पुत्री के साथ विवाह किस प्रकार संभव है। धार में उस समय कोई भोज नामक राजा नहीं था। वीसलदेव के एक परमारवंशीय रानी तो अवश्य थी, क्योंकि उसका वर्णन पृथ्वीराज रासौ में भी आता है।[2] हो सकता है राजा भोज के पश्चात् उस वंश ने यह उपाधि प्राप्त करली हो जिससे आगे होने वाले परमार-वंशी सरदार व राजा का भोज उपाधिसूचक नाम रहा हो। नरपति नाल्ह ने अपने रासौ में असली नाम न देकर केवल उपाधिसूचक नाम ही दे दिया हो। किन्तु परमार वंशी कन्या के लिए जो शब्द प्रयुक्त हुए हैं, उनके द्वारा यह भ्रम हो जाता है कि राजा भोज का नाम कहीं पीछे से मिलाया हुआ न हो, जैसे—'जन्मी गौरी तू जैसलमेर' 'गोरड़ी जैसलमेर की'। धार के परमार इधर राजपूताने में भी फैले हुए थे अतः राजमती का उनमें से किसी सरदार की कन्या होना भी संभव है।

---

[1] हिन्दी टाड राजस्थान, प्रथम खंड, पृष्ठ ३५८।

[1] "Early History of India."—V. A. Smith, page 393.

[2] देखो भूमिका H. Search Report, 1900

वह १२२० संवत् में बुधवार को नहीं पड़ती परन्तु १२२० शाके बुधवार को पड़ती है। इससे सिद्ध होता है कि यह रासौ १२२० शाके में बना।" विक्रम संवत् और शक संवत् में लगभग १३४ वर्ष का अंतर है अतः उन्होंने ग्रंथ का रचनाकाल संवत् १३५४ मान लिया। मिश्र बंधुओं की इस विवेचना का आधार बाबू श्यामसुंदरदास की एक रिपोर्ट[१] है जिसमें उन्होंने लिखा था कि—The author of this chronicle is Narpati Natha and he gives the date of the composition of the book as samvat 1220. This is not vikram samvat.' किन्तु गौरीशंकर हीराचंद ओझा की मान्यता के अनुसार राजपूताने में पहले शक संवत् प्रचलित नहीं था।[२] यहाँ के लोग विक्रम संवत् का ही प्रयोग करते थे, अतः शक संवत् की कल्पना उचित प्रतीत नहीं होती। इसके अतिरिक्त 'बहोत्तरां' का अर्थ 'बीस' मान कर इसका रचनाकाल १२२० मानना भी ठीक नहीं है। 'मिश्र बंधु विनोद' में एक दामों नामक कवि का विवरण आता है। उसने 'लक्ष्मणसेन-पद्मावती' की कहानी लिखी थी। उसने अपने ग्रंथ में कहानी का रचनाकाल इस प्रकार दिया है—

> संवत् पदरइ सोलोत्तरां मझार, ज्येष्ठ वदी नौमी बुधवार।
> सप्त तारिका नक्षत्र दृढ़ जान, वीर कथा रस करू बखान॥

मिश्र बंधुओं ने इस सोलोत्तराँ का अर्थ सं० १५१६ लिखा है। तत्पश्चात् एक 'हरराज' नामक अन्य कवि का वर्णन है, जिसने राजस्थानी में 'ढोला मारू वानी' चौपइयों में लिखी थी। उसमें भी कहानी का रचनाकाल 'संवत् सोलह सै सत्तोतरइ' दिया है। मिश्र बंधुओं ने यहाँ भी इसका अर्थ १६०७ किया है, १६७७ नहीं। आश्चर्य तो यह है कि वे 'पंदरइ सोलोत्तराँ' को तो १५१६ और 'सोलह सै सत्तोतरइ' को १६०७ मान लेते हैं किन्तु 'बारह सै बहोत्तराँ' को १२१२ न मान कर १२२० मानते हैं। वस्तुतः 'बहोत्तर' 'द्वादशोत्तर' का रूपान्तर मात्र है। डॉ० माताप्रसाद गुप्त 'बीसलदेव रासौ' को संवत् १४०० में रचा हुआ मानते हैं।[३] इस सम्बन्ध में उनका तर्क यह है कि जिन स्थानों के नाम 'बीसलदेव रासौ' में आते हैं, उनमें से कोई भी सं० १४०० के बाद का नहीं प्रमाणित हुआ है।'

१ हिन्दी हस्तलिखित पुस्तकों की रिपोर्ट, सन् १९००।
२ काशी नागरी प्रचारिणी सभा द्वारा प्रकाशित बीसलदेव रासो की भूमिका, पृष्ठ ६ में दिये गये डॉ० ओझा के पत्र का उल्लेख।
३ 'बीसलदेव रास'—सं० डॉ० माताप्रसाद गुप्त एवं श्री अगरचन्द नाहटा, हिन्दी परिषद, विश्वविद्यालय प्रयाग द्वारा प्रकाशित, भूमिका ५८।

श्री सत्यजीवन वर्मा एवं श्री रामचंद्र शुक्ल ने 'बीसलदेव रासौ' का रचनाकाल संवत् १२१२ माना है।[१] इसका कुछ ऐतिहासिक आधार भी है। 'बीसलदेव रासौ' में सर्वत्र क्रिया का प्रयोग वर्तमान काल में किया गया है। इससे प्रतीत होता है कि कवि बीसलदेव का समकालीन था। दिल्ली की प्रसिद्ध फिरोजशाह की लाट पर संवत् १२२० (विक्रमी), वैशाख शुक्ला १५ का खुदा हुआ एक लेख मिलता है।[२] उसके द्वारा यह पता चलता है कि बीसलदेव संवत् १२१०-१२२० तक अजमेर का शासक था।

'बड़ा उपाश्रय' बीकानेर में 'बीसलदेव रासौ' की एक और प्रति कुछ दिन पहले मिली थी।[३] इसमें 'बारह सै बहोत्तरां मंझारि' के स्थान पर ग्रंथ का रचनाकाल इस प्रकार लिखा है—

> संवत सहस तिहुतरइ जाणि,
> नाल्ह कवीसर सरसीय वाणि।

इसके अनुसार 'बीसलदेव रासौ' का रचनाकाल संवत् १०७३ ठहरता है। डॉ० रामकुमार वर्मा ने भी इसी मत की पुष्टि करते हुए संवत् १०७३ को ही उचित ठहराया है।[४] उन्होंने अपने इतिहास में लिखा है[५]—गौरीशंकर हीराचंदजी

१ 'बीसलदेव रासो' सं० सत्यजीवन वर्मा, काशी नागरी प्रचारिणी सभा द्वारा प्रकाशित, भूमिका, पृष्ठ ६।
२ आविन्ध्यादाहिमाद्रेर्विरचितविजयस्तीर्थयात्रा प्रसंगा–
दुद्ग्रीवेषु प्रहर्ता नृपतिषु विनमत्कन्धरेषु प्रयत्नः।
आर्यावर्तं यथार्थं पुनरपि कृतवान्म्लेच्छविच्छेद नाभि–
र्देवः शाकंभरीन्द्रो जगति विजयते वीसलः क्षोणिपालः।
ब्रूते सम्प्रति चाहुवाणतिलकः शाकंभरी भूपति–
श्रीमान विग्रहराज एष विजयी सन्तानजानात्मनः।
अस्माभिः करदंव्याधापि हिमवद्विन्ध्यान्तरालंभुवः
शेष स्वीकरणीयमस्तु भवतामुद्योगशून्य -मनः॥
३ नागरी प्रचारिणी पत्रिका, भाग १४, अंक १, पृष्ठ ९९
४ हिन्दी का आलोचनात्मक इतिहास, प्रथम खंड, डॉ० रामकुमार वर्मा, पृष्ठ १४७।
५ वही, पृष्ठ १४७।

लिये कुछ वर्ष उसे बाहर बिताने पड़े हों और नरपति नाल्ह ने उस अवधि को बारह वर्ष लिख डाला हो।

उपरोक्त सब दृष्टियों से संवत् १०७३ की तिथि ही अधिक प्रमाणित मालूम देती है। किन्तु इस सम्बन्ध में एक शंका और होती है। विग्रहराज द्वितीय सांभर का शासक था, जैसा कि स्व० गौरीशंकर हीराचंद ओझा ने भी अपने इतिहास में स्पष्ट किया है।[1] अस्तु रासौ का नायक अजमेर का शासक था—

'गढ़ अजमेरां को चाल्यौ राव।'
'गढ़ अजमेरां गम करऊ।'
'गढ़ अजमेरां पहुतां जाई।'

अजमेर नगर अर्णोराज के पिता अजयदेव (अजयराज) द्वारा बसाया गया था। श्री ओझाजी ने भी पृथ्वीराज प्रथम (सं० ११६२ वि०) के पुत्र अजयदेव को अजमेर बनाने वाला कहा है। श्री रामनारायण दूगड़ भी इसका समर्थन करते हैं।[2] अजयदेव का समय सं० ११७० वि० के आसपास का माना जाता है। इस दृष्टि से वीसलदेव विग्रहराज द्वितीय (जो लगभग एक सौ वर्ष पहिले हो चुका था) का अजमेर का शासक होना संभव नहीं है।

अपने विवाह के पश्चात् जब वीसलदेव धार से अजमेर लौटता है तो उसे आनासागर मार्ग में मिलता है।

दीठउ आनासागर समंद तणी वहार।
हंस गवणी अग लोचणी नारि॥
एक भरइ बीजी कलिस करइ।
तीजी घरी पावजे ठंडा नीर॥
चौथी धनसागर जू घूलई।
ईसी हो समंद अजमेर को तीर॥[3]

आनासागर झील को बनाने वाले अर्णोराज वीसलदेव विग्रहराज चतुर्थ के पिता थे। ओझाजी ने भी इसी मत को पुष्टि[4] की है।

बाबू श्यामसुंदरदास इसे अनार्पण देवी के नाम पर बना हुआ मानते हैं।[1] बाबू साहब वीसलदेव रासौ में वर्णित आनासागर और अर्णोराज द्वारा बनाये गये आनासागर में भेद करते हैं, किन्तु वह एक ही है जो अजमेर से कुछ दूरी पर है। विग्रहराज चतुर्थ वीसलदेव जब विवाह कर के लौटा होगा तो इस सागर की शोभा नवीन रही होगी तथा उसके पिता की कीर्ति-स्मरण के लिये कवि ने इसका वर्णन किया हो। ऐसी अवस्था में विग्रहराज द्वितीय व तृतीय को (जो अर्णोराज से डेढ़ सौ वर्ष पहले हो चुके थे) शादी के पश्चात् आनासागर मिलना असंभव-सा हो जाता है।

उपरोक्त दो विरोधाभासी ऐतिहासिक तथ्यों के कारण वीसलदेव रासौ का रचनाकाल निश्चित् रूप से तय किया जाना कुछ कठिन-सा है। इस तथ्य से इन्कार नहीं किया जा सकता कि यह सैंकड़ों वर्षों तक गाया जाता रहा। गेय रूप में होने के कारण किसी गायक ने उस समय परिस्थितियों के अनुसार अगर उसमें थोड़ा बहुत परिवर्तन कर लिया हो तो आश्चर्य नहीं। जो विरोधाभासी ऐतिहासिक तथ्य मिलते हैं, उनका यही कारण जान पड़ता है। वास्तव में संवत् १०७३ की तिथि ही निश्चित् रूप से जान पड़ती है। वीसलदेव तथा धार का राजा भोज पँवार दोनों ग्यारहवीं शताब्दी में सं० १००० और १०७३ के बीच में थे। राजा भोज का राज्यासीन होने का समय संवत् १०५५ माना जाता है। किन्तु जिस समय राजा भोज गद्दी पर बैठा उस समय उसकी आयु केवल नौ वर्ष की थी। अतः राजमती का भोज की पुत्री न होकर बहिन होना ही अधिक उचित मालूम पड़ता है। रासौ के अनुसार कवि वीसलदेव का समकालीन ही मालूम देता है। अगर वीसलदेव विग्रहराज द्वितीय का स्वर्गवास सं० १०५६ में मान लिया जाय तो वीसलदेव रासौ का रचनाकाल उसके

---

[1] राजपूताने का इतिहास, Vol. I, ले० गौरीशंकर हीराचंद ओझा, पृष्ठ २४०।

[2] मुहणोत नैणसी की ख्यात (प्रथम भाग), हिन्दी अनुवाद—सं० रामनारायण दूगड़, पृष्ठ १६९ की फुटनोट में दी गई टिप्पणी।

[3] वीसलदेव रासो—सं० सत्यजीवन वर्मा, ना०प्र०स०, प्रथम सर्ग, पृष्ठ २७, छंद ७५।

[4] 'अजयदेव के पुत्र अर्णोराज (आना) के समय मुसलमानों की सेना फिर इधर आई, पुष्कर को नष्ट कर अजमेर की तरफ बढ़ी और पुष्कर की घाटी उल्लंघन कर आनासागर के स्थान तक आ पहुँची, जहाँ अर्णोराज ने उसका संहार कर विजय प्राप्त की। यहाँ मुसलमानों का रक्त गिरा था अतएव इस भूमि को अपवित्र जान जल से इसकी शुद्धि करने के लिये उसने यहाँ आनासागर तालाव बनवाया। राजपूताने का इतिहास, Vol. I., पृष्ठ ३०५।

[1] नागरी प्रचारिणी पत्रिका, भाग ५, पृष्ठ १४१।

इस सम्बन्ध में एक और मत का उल्लेख आवश्यक है। डॉ० गौरीशंकर हीराचंद ओझा ने लिखा है[1]—"वीसलदेव रासौ नामक हिन्दी काव्य में मालवे के राजा भोज की पुत्री राजमती का विवाह चौहान राजा वीसलदेव (विग्रहराज तीसरे) के साथ होना लिखा है और अजमेर के चौहान राजा सोमेश्वर के समय के (वि० सं० १२२६) बीजोल्यां (मेवाड़) के चट्टान पर खुदे हुये इस बड़े शिलालेख में वीसल की रानी का नाम राजदेवी मिलता है। राजमती और राजदेवी एक ही राजपुत्री के नाम होने चाहियें, परन्तु भोज ने सांभर के चौहान राजा वीर्यराम को मारा था। ऐसी दशा में भोज की पुत्री राजमती का विवाह वीसलदेव के साथ होना सम्भव नहीं। उदयादित्य ने चौहानों से मेल कर लिया था अतएव सम्भव है कि यदि वीसलदेव रासौ के उक्त कथन में सत्यता हो तो राजमती उदयादित्य की पुत्री या बहिन हो सकती है।" अवंती के राजा भोज ने सांभर के चौहान राजा वीर्यराम को मारा था, ऐसा उल्लेख पृथ्वीराजविजय में भी है।[2] वीर्यराम विग्रहराज तृतीय का ताऊ था अतः वीसलदेव विग्रहराज तृतीय और परमारवंशी राजा भोज में परस्पर वैमनस्य पैदा हो गया था। ऐसी दशा में राजा भोज का वीसलदेव तृतीय के साथ अपनी पुत्री का विवाह करना सम्भव नहीं जान पड़ता। किन्तु श्री रामबहोरी शुक्ल और भगीरथ मिश्र ने इसका समाधान इस प्रकार प्रस्तुत किया है कि[3] "यह तो निश्चित ही है कि भोज-वीर्यराम युद्ध के बाद मालवा और शाकंभरी के राजाओं में सुलह हो गई थी। क्या यह सम्भव नहीं कि वीर्यराम के भतीजे वीसलदेव तीसरे की वीरता से मुग्ध होकर भोज ने अपनी लड़की उसे व्याह दी हो और इसी सम्बन्ध के कारण वीसलदेव ने उदयादित्य को सहायता दी हो। तब यह कहना होगा कि नरपति ने वीसलदेव चौथे के राज्य-काल में सं० १२१२ वि० (११५५ ई०) में वीसलदेव रासौ की रचना की परन्तु उसमें जो कहानी दी वह वीसलदेव तीसरे की थी।"

वीसलदेव रासौ में वीसलदेव की यात्रा का वर्णन इतने स्पष्ट शब्दों में किया गया है कि धार के राजा के सिवाय अन्य किसी के साथ सम्बन्ध की कल्पना करना ही उचित नहीं जंचता। वीसलदेव अजमेर से रवाना होता हुआ चित्तौड़ होकर धार पहुँचता है। यात्रा के स्थानों का वर्णन भी स्पष्ट है। अतः यह आवश्यक है कि वीसलदेव राजा भोज का समकालीन हो। सं० १०७३ वि० मानने से ऐसा संभव है।

रासौ में लिखा है कि शादी के पश्चात् वीसलदेव तीर्थ-यात्रा के प्रसंग में उड़ीसा गया था तथा उड़ीसा जाने के पहले भी सात वर्ष बाहर रहा था। मुहणौत नैणसी की ख्यात का अनुवाद व सम्पादन करते हुए श्री रामनारायण दूगड़ ने एक टिप्पणी में लिखा है[1] कि "वीसलदेव दूसरे ने नरवदा तक देश विजय किया, गुजरात के प्रथम सोलंकी राजा मूलराज को कंथाकोट में भगाया, अणहिलवाड़े के पास वीसलपुर का नगर बसाया और भड़ौंच में आसापूरा देवी का मन्दिर बनवाया। सोलंकी राजा मूलराज के साथ युद्ध करने के कारण वीसलदेव साल-डेढ़ साल बाहर रहा था, तथा वीसलपुर नामक नगर बसाया था।" श्री ओझाजी भी इसका समर्थन करते हुए लिखते हैं[2]—"मूलराज को इस प्रकार उत्तर में आगे बढ़ता देख कर सांभर के राजा विग्रहराज (वीसलदेव दूसरे) ने उस पर चढ़ाई कर दी जिससे मूलराज अपनी राजधानी छोड़ कर कंथादुर्ग (कंथाकोट का किला : कच्छ राज्य) में भाग गया। विग्रहराज साल भर तक गुजरात में रहा और उसको जर्जर करके लौटा।"

सम्भव है कवि ने साल-डेढ़ साल को सात वर्ष की अवधि में परिणत कर दिया हो तथा नरवदा व पूर्व के देश जीतने के

---

[1] राजपूताने का इतिहास, Vol. I—गौरीशंकर हीराचंद ओझा (दूसरा परिवर्द्धित संस्करण, पृष्ठ २१६।

[2] वीर्यरामसुतस्तस्य वीर्येण स्यात्स्मरोपमः।
यदि प्रसन्नया दृष्टया न दृश्यते पिनाकिना॥ ६५
अगम्यो यो नरेन्द्राणां सुधादीधितिसुन्दर।
जघ्ने यशश्चयो यश्च भोजेना वन्ति भूभुजा॥ ६७
पृथ्वीराजविजय, सर्ग ५।

[3] हिन्दी साहित्य का उद्भव और विकास, लेखक—रामबहोरी शुक्ल और भगीरथ मिश्र, पृष्ठ ६३।

[1] मुहणौत नैणसी की ख्यात (प्रथम भाग), (हिन्दी अनुवाद), सं०, रामनारायण दूगड़, पृष्ठ १९९ की फुट-नोट में दी गई टिप्पणी।

[2] राजपूताने का इतिहास, Vol. I., ले० गौरीशंकर हीराचंद ओझा, पृष्ठ २४०।

'नरपति' ने अपने को कहीं 'नाल्ह' नहीं कहा जबकि 'वीसलदेव रासौ' का रचयिता अपने को 'नाल्ह' कहता है। फिर जो पंक्तियाँ तुलना के लिए दोनों कवियों से दी गई हैं, उनमें चार तो इस संस्करण में प्रक्षिप्त माने गए छंदों की हैं, और शेष तीन पंक्तियों में जो साम्य है वह साधारण है। उस प्रकार का साम्य देखा जावे तो मध्य युग के किन्हीं भी दो कवियों की रचनाओं में मिल सकता है। फिर 'वीसलदेव रासौ' में न जैन नमस्क्रिया है और न कोई अन्य बात मिलती है जिससे इसका लेखक जैन प्रमाणित होता हो। केवल आंशिक नाम-साम्य के आधार पर इस रचना को सोलहवीं-सत्रहवीं शती के किसी जैन लेखक की कृति मानना तटस्थ बुद्धि से सम्भव नहीं ज्ञात होता है।"

कवि की जाति भी विवादास्पद है। आचार्य शुक्ल ने इसे भाट माना है।[1] श्री अगरचन्द नाहटा इसे ब्राह्मण (सेवग) मानते हैं।[2]

वीसलदेव रासौ की रचना के बाद से ही राजस्थानी भाषा शनैः शनैः अपभ्रंश से दूर होकर अपना स्वतन्त्र रूप ग्रहण करने लगी। ११वीं शताब्दी से लेकर आदि काल के अन्तिम समय, अर्थात् लगभग पन्द्रहवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध तक प्राचीन राजस्थानी के जैन कवियों के अनेक प्रामाणिक ग्रंथ हमें प्राप्त हैं परन्तु इस अवधि की जैनेतर स्वतन्त्र रचनायें प्रायः अनुपलब्ध ही हैं। ढोला मारू रा दूहा, जेठवा रा दूहा और वीसलदेव रासौ जो ११वीं शताब्दी की ही रचनायें मानी गई हैं, को छोड़ कर १५वीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध तक कोई अन्य जैनेतर स्वतन्त्र ग्रंथ प्राप्त नहीं होता। इसका अभिप्राय यह नहीं कि इस काल में कोई जैनेतर रचना हुई ही नहीं। साहित्य की सुरक्षा के प्रति शिथिलता एवं उदासीनता के कारण ही तत्कालीन रचनायें अपना स्थायित्व नहीं रख सकीं। उस समय की रचनाओं के अनेक फुटकर पद इन्हीं शताब्दियों में जैन मुनियों द्वारा रचित प्रभावकचरित्र, प्रबन्धकोश, प्रबन्ध चिन्तामणि, उपदेशतरंगिणी, पंचशती कोश आदि ग्रंथों में उद्धृत मिलते हैं। यहां हम तेरहवीं शताब्दी तक की जैनेतर रचनाओं के प्राप्त फुटकर पदों को उदाहरणस्वरूप प्रस्तुत कर आगे प्रामाणिक जैन साहित्य का शताब्दी अनुसार उल्लेख करेंगे। जैनेतर फुटकर पद जो भी प्रबन्धादि ग्रंथों में उद्धृत मिलते हैं प्रायः चारणों, भाटों तथा ब्राह्मणों आदि की ही रचनायें हैं।

१. उदाहरण—प्रभावकचरित्र—

१. अणु हुल्लीय फुल्ल म तोडहु मन आरामा म मोडहु।
मण कुसुमहिं अच्चि निरञ्जणु, हिण्डह काइं वणेण वणु।
२. नवि मारिअइ नवि चोरिअइ, पर-दारह अत्थु निवारिअइ।
थोवाह वि थोवं दाइअइ, तउ सग्गि टुगुटुगु जाइयइ।
(वृद्धवादि सूरिचरितम् में संग्रहीत)

२. डूमण चारण—

जीव ववन्तां नग्ग गइ, अववन्तां गइ सग्गि।
हुं जाणुं दुइ वट्टड़ी, जिणि भावै तिणि लग्गि।
(उपदेशतरंगिणि)

३ रामचन्द्र चारण—

काहूं मती विभंतड़ी, अजीय मणिअड़ा गुणेह।
अखय निरंजण परम पया, अजय जय न लहेह॥
अम्हे थोड़ा रिपु घणा, इम कायर चिंतंति।
मुद्ध निहालउ गयणयलु, के उज्जोउ करंति॥
(पुरातनाचार्यप्रबन्ध)

४ वागण कवि—

कुमरउ ! कुमर विहार, एता कांई कराविया।
ताहं कु करिसइ सार, सीप न आवइं सयं धणी॥
(पुरातनाचार्यप्रबन्ध)

५ आमभट्ट—

रे रक्खइ लहु जीव वड विरणि मयगळ मारइ,
न पीइ अणगल नीर हेलिरायह संहारइ।
अवरन बंधइ कोइ सधर रयणायर बंधइ,
पर नारी परिहरइ लच्छि पररायह रूंधइ।
ए कुमार पाल ! कोपि चडिउ फोडइ सत्त कडाहि जिम,
जे जिणधम्म न मन्निसिइं तोंहवी चाडिमु तेम तिम।
(उपदेशतरंगिणी)

६ उदयसिंह चारण—

सुन्दर सर असुराह दलि, जल पीवइं वयणेहिं।
उदयनरिंदहिं रुड़ीउं, तीहं नारीनयणेहिं॥
(प्रबन्धचिन्तामणि)

७ मुंजराजप्रबन्ध—

देव अम्हारी सीख, कोजइ अवगणिअइ नहीं।
तूं चालंतो भीख, इणि मंत्रिहिं हुस्यइ मही॥

---

[1] हिन्दी साहित्य का इतिहास—रामचन्द्र शुक्ल, सातवां संस्करण, पृष्ठ ३७।

[2] राजस्थानी, भाग ३, अंक ३ में प्रकाशित नाहटाजी का एक लेख।

सत्रह वर्ष बाद होता है। १७ वर्ष का समय इतना लंबा नहीं जो बीसलदेव और भोज जैसे प्रसिद्ध राजाओं की स्मृति को भुला दे और उनके सम्बन्ध में कवि को कल्पना का आश्रय लेना पड़े। अजमेर एवं आनासागर सम्बन्धी वर्णन गायकों ने बीसलदेव विग्रहराज चतुर्थ के समय तथा उसके भी बाद संभवतया सम्मिलित कर लिये हों।

बीसलदेव रासौ की भाषा भी आरंभिक राजस्थानी का उदाहरण है। कई सौ वर्षों तक मौखिक रूप में रहने पर कई स्थल वस्तुतः बदल गये हैं किन्तु अंतस्थल मे अभी वही प्राचीनता का ढांचा वर्तमान है। इसमें कुछ फारसी शब्द भी प्रयुक्त हुए हैं जैसे—महल, इनाम, नेजा, चाबुक आदि। ये शब्द बाद में मिलाये गये प्रतीत होते हैं। किन्तु यह भी संभव है कि नरपति नाल्ह ने स्वयं भी इनका प्रयोग किया हो, क्योंकि उस समय मुसलमानों का भारत में प्रवेश हो गया था। बीसलदेव के सरदारों में एक मुसलमान सरदार भी था जैसा कि नरपति नाल्ह ने रासौ में लिखा है—

चढ़ि चाल्यौ छै मीर कबीर।
खुद कार तुह्य टुकैटुक धीर॥ १–४३
महल पलांण्यो ताज दीन।
खुरसांणी चढ़ी चाल्यो गोड॥ १–४१

मुसलमानों के सम्पर्क में आकर अगर नरपति नाल्ह ने कुछ फारसी शब्दों को ग्रहण कर लिया हो तो कोई आश्चर्य नहीं। प्राकृत एवं अपभ्रंश की छाप इस काव्य में पूरी तरह स्पष्ट है। यह ग्रंथ उस समय रचा गया जब कि साहित्यिक विद्वानों की भाषा प्राकृत व अपभ्रंश थी। उस समय बोल-चाल की भाषा में नरपति नाल्ह ने काव्य-रचना कर वास्तव में बड़े साहस का कार्य किया। कहीं-कहीं मेलन, वितह, रणि, आपिजइ, इणीविधि, ईसउ, नायर, पसाऊ, पयोहर आदि प्राकृत शब्द भी आ गए जिनका प्रयोग अपभ्रंश काल के पीछे तक भी होता रहा।

बीसलदेव रासौ में कारक दो प्रकार से व्यक्त हुए हैं। कुछ में तो विभक्तियों का प्रयोग है, कुछ में कारक चिन्ह लगे हैं। इस प्रकार भाषा में संयोगात्मक और वियोगात्मक दोनों अवस्थायें प्राप्त हैं। वर्तमान काल भी इसमें दो प्रकार से व्यक्त हुए हैं। एक तो 'छइ' वा 'हइ' मूल क्रिया में लगा कर तथा दूसरे मूल क्रिया में परिवर्तन कर के। भाषा यद्यपि काफी नवीन रूप में हो गई है किन्तु प्राचीन रूप भी पूर्णतया नष्ट नहीं हुआ। प्रायः संज्ञायें, कारक आदि प्राचीन रूप में मिलते हैं। विसनपुरी, म्हारउ, मिलिग्र, पणमिग्र, अछइ, वे, राखइ, जेणि इत्यादि अपभ्रंश के ठीक पश्चात् की लोक-भाषा के प्रयोग हैं। ऐसे प्रयोगों की संख्या काफी अधिक है। कई ऐसे प्रयोग भी मिलते हैं जो सोलहवीं शताब्दी की भाषा के रूप कहे जा सकते हैं। जैसे—'बेटी राजा भोज की' में 'की' और 'उलिगाणा गुण वरणिता' में 'वरणिता' का प्रयोग। किन्तु ऐसे शब्द बहुत कम हैं। इस तनिक से शब्द-साम्य पर इसे सत्रहवीं शताब्दी का रचित जाली ग्रंथ कह देना उचित नहीं। भाषा की परीक्षा उसके शब्दों से न होकर व्याकरण से होती है। 'बीसलदेव रासौ' की भाषा को व्याकरण की कसौटी पर कसने से पता चलता है कि उसमें अपभ्रंश के नियमों का विशेष पालन हुआ है। इस सम्बन्ध में दो उदाहरणों से यह बात अधिक स्पष्ट हो जायेगी—

कसमीरां पाटणह मंझारि। सारदा तुठि ब्रह्मकुमारि॥
'नाल्ह रसायण नर भणइ। हियडइ हरषि गायण कइ भाइ॥
खेला मेल्ह्या मांडली। बहस सभा मांहि मोहेउ छइ राइ॥
—खंड १, छंद ६।

नाल्ह बषाणइ छइ नगरी जू धार।
जिहां वसइ राजा भोज पंवार।
असीय सइहस सजे करि मैमत्ता।
पंच क्षोहण जे कर मिलइ निरिंवा॥
कर जोड़े 'नरपति' कहइ।
विसनपुरी जाणे वसइही गोव्यंद॥—खंड १, छंद १२

ग्रंथ के रचयिता के विषय में भी नाम के अतिरिक्त अन्य जानकारी बहुत ही कम है। इतना अवश्य कहा जा सकता है कि सोलहवीं शताब्दी के गुजरात के 'नरपति' और 'बीसलदेव रासौ' के रचयिता नरपति नाल्ह एक व्यक्ति नहीं हैं। श्री मोतीलाल मेनारिया की एक होने की धारणा[1] का खंडन करते हुए श्री माताप्रसाद गुप्त ने लिखा है[2]—"गुजरात के

---

[1] राजस्थानी भाषा और साहित्य, ले० पं० मोतीलाल मेनारिया, पृष्ठ ८८-८९।

[2] 'बीसलदेव रास', सं० डॉ० माताप्रसाद गुप्त तथा श्री अगरचन्द नाहटा, प्रकाशक: हिन्दी परिषद्, विश्वविद्यालय प्रयाग, भूमिका, पृष्ठ ६०।

२—अगुरु अंजगु अंविलीय अंवाडय अंकुल्लु ।
उंवरु अंवरु आमलीय, अगरु असोय अहल्लु ।।
वेयलु वंजलु वडल वडो, वेडस वरण विडंग ।
वासंती वीरिणि विरह, वंसियाली वण वंग ।।
सीसमि सिंवलि सिरसमि, सिंधुवारि सिरखंड ।
सरलसार साहार सय, सागु सिगु सिणदंड ।।
(रेवंतगिरि रास वि.सं. १२८७)

३—विसय मुक्खु कहि नरय दुवारु, कहि अनंत सुहु संजम भारु।
भलउ वुरउ जाणत विचारइ, कम्गिणि कारणि कोडि कुहारइ ।
(नेमिरास वि.सं. १२६५)

४—कासमीर मुख मंडण देवी वाएसरि पाल्हणु पणमेवी ।
पदमावतिय चक्केसरि नमिउं, अंविक देवी हउ वीनवउं ।।
चरिउ पयासउ नेमि जिण केरउं, कपीतु गुण धम्म निवासो।
जिम राइमइ वीओगु भओ, 'वारहमास' पयासउ रासो ।।
(नेमिनाथ वारहमासा वि.सं. १२८६)

तेरहवीं शताव्दी की साहित्यिक परम्परा चौदहवीं शताव्दी के ग्रंथों में भी परिलक्षित है । इस शताव्दी की प्राप्त स्वतंत्र रचनाओं में अधिकांश जैन मुनियों के ही ग्रंथ प्राप्त हैं । प्राप्त ग्रंथों का उल्लेख कर हम नीचे इस काल की भाषा के उदाहरणस्वरूप विख्यात ग्रंथों के पद उद्धृत करेंगे ।

चौदहवीं शताव्दी की रचनायें—

अभयतिलक गणि कृत—महावीर रास, वि.सं. १३०७ ।

लक्ष्मीतिलक उपाध्याय कृत—वुद्धचरित्र, श्रावकधर्म प्रकरण वृहत्वृत्ति, वि.सं. १३११ ।

आणंद सूरि एवं प्रेम सूरि रचित—

द्वादश भाषा (ढ़ाल) निवद्ध तीर्थ माला स्तवन, वि.सं. १३२३ ।

मुनि राजतिलक रचित शालीभद्र रास, वि.सं. १३३२ ।

कवि सोममूर्ति कृत—१ जिनेश्वर सूरि दीक्षा विवाह वर्णन रास, सं. १३३१ ।

कवि सोममूर्ति कृत—२ जिनप्रवोध सूरि चर्चरी, वि.सं. १३३२।

कवि हेमभूषण मणि कृत जिनचंद्रसूरि चर्चरी, वि.सं. १३४१ ।

मुनि मेरुतुङ्गाचार्य कृत प्रवन्ध चिन्तामणि संग्रह, सं० १३६१ ।

श्रावक कवि वस्तिम रचित वीस विरह मान रास, सं० १३६२ ।

गुणाकार सूरि रचित श्रावक विधि रास, सं० १३७१ ।

अंवदेव सूरि कृत समरा रास, सं० १३७१ ।

मुनि धर्मकलश कृत जिनकुशल सूरि पट्टाभिषेक रास, सं० १३७७ ।

जिनप्रभ सूरि रचित पद्मावती चौपई, वि.सं. १३८५ ।

इनके अतिरिक्त कवि छल्हु कृत क्षेत्रपाल, द्विपदिका, कवि सारमूर्ति कृत 'पद्मसूरि पट्टाभिषेक रास', जिनपद्म सूरि रचित स्थूलिभद्र फाग, पउम रचित शालीभद्र काव्य, सोलणु कृत चर्चरिका आदि भी इसी शताव्दी की रचनायें हैं ।

चौदहवीं शताव्दी के ग्रंथों में प्रयुक्त राजस्थानी भाषा—

तसु उवरि भवणु उत्तंग वर तोरणं,
मंडलिय राय आएसि अइ सोहणं ।
सुहोणा भुवण पालेण कराविय,
जगधरह साहु कुलिकलस चडाविय ।
हेम घय दंड कलसो तहिं कारिउ,
पहु जिणेसर सुगुरु पासि पयठाविउ ।
विक्कमे वरिस तेरहइ सत्तरुत्तरे,
सेय वयसाह दसमीई सुहवासरे ।
(महावीर रास)

'संत जिणेसर' वर भुयणि, मांडिउ नंदि सुवेह ।
वरिसहिं भविय दाणजलि, जिम गयणंगणि मेह ।
ताहि अगयारिय नीपजइ, भाणानलि पजलंति ।।
तउ संवेगहि निम्मियउ, हथलेवउ सुमहुत्ति ।
(जिनेश्वर सूरि दीक्षाविवाहवर्णन रास)

वाजिय संख असंख नादि काहिल दुडुदुड़िया,
घोड़े चडइ सल्लार सार, राउत सींगडिया ।
तउ देवालउ जोत्रि वेगि, घाघरिखु झमकइ,
सम विसम नवि गणइ कोइ नवि वारिउ थक्कइ ।।
सिजवाळा धर धड़हड़इ वहिणि वहुवेंगि ।
धरणि धड़क्कइ रजु ऊडए, नवि सूझइ मागो ।
हय हींसइ आरसइ करह वेगि वहइ वइल्ल,
साद किया थाहरइ अवरु नवि देई वुल्ल ।
(समरा रास)

वंझ नारि तुह पय झापंति, सुरकुमरोवम पुत्त लहंति ।
निंदू नंदण जणइ चिराउ, दूहव पावइ वल्लह राउ ।।

सामी मुहतउ वीनवइ, ए छेहलउ जुहार ।
अम्ह आइसु हिव सीमि तुह, पडतउं देखूं छारु ।।
जा मति पच्छइ सम्पज्जइ, सा मति पहिली होइ ।
मुंज भणइ मुणालवइ, विघन न वेढ़इ कोइ ।।
(प्रबन्धचिन्तामणि)

८. संवत् ११६६ के आसपास श्री विजयसिंह ने सांचोर के दहियों का राज्य छीन लिया था। उस समय के जिस पद का उल्लेख मुहणौत नैणसी ने अपनी ख्यात में किया है वह निम्न है—

धरा धूंण धकचाळ कीध दहिया दल्लवहै ।
सवदी सवळां साल प्राण मेवास पहै ।।
आल्हणसुत विजयसी वंस आसराव प्रागवड़ ।
खाग त्याग सत्रवाट सरण विजय पंजर सोहड़ ।।
चहुआंण राव चौरंग अचल नरांनाह अणभंग नर ।
धूमेर सेर ज्यां लग अचळ तांम राज सांचोरधर ।।

जिनवल्लभ सूरि—

११वीं शताब्दी तक राजस्थान में रचित अपभ्रंश काव्य के प्रकाश में आगे चल कर तेरहवीं शताब्दी में अनेक जैन मुनियों ने राजस्थानी में भी रचना की है। उन्हीं की रचनाओं के आधार पर इस शताब्दी तक राजस्थानी को गुजराती तथा अपभ्रंश से मुक्त होना माना जाता है। जैन साहित्य में प्रथम ग्रंथ हमें जैनाचार्य जिनवल्लभ सूरि रचित 'वृद्ध नवकार' प्राप्त होता है। सूरिजी का देहान्त संवत् ११६७ में माना जाता है। अतः यह निश्चित है कि 'वृद्ध नवकार' की रचना भी संवत् ११६७ के पहिले ही की गई होगी।[1] इस ग्रंथ की भाषा के उदाहरण के लिए एक पद प्रस्तुत किया जाता है—

उ०—चित्रा वेली काज किसै देसांतर लंघउ ।
रयण रासि कारण किसै सायर उल्लंघउ ।।
चवदह पूरव सार युगे एक नवकार ।
सयल काज महि पल सरै दुत्तर तरै संसार ।।

वज्रसेन सूरि—

इसके बाद प्राप्त होने वाली रचनाओं में वज्रसेन सूरि रचित 'भरतेश्वर-बाहुबलिघोर' रचनाकाल वि.सं. १२२५ और शालिभद्र सूरि रचित 'भरतेश्वर बाहुबलि रास' वि.सं. १२४१ प्राचीन राजस्थानी की प्राचीनतम रचनायें हैं। इन ग्रंथों की भाषा के उदाहरण-स्वरूप दो पद यहां उद्धृत हैं—

धर डोलइ खलभलइ सेनु, दिणियरु छाइजइ ।
भरहेसरु चालियउ कटकि, कसु ऊपमु दीजइ ।।
तंति सुणे विणु बाहू बलिण, सीवह गय गुड़िया ।
रिण रहसिहि चउरंग दलिहि, बेऊ पासा जुड़िया ।।
(बाहुबलि घोर)

कंधागल केकाण, कवी करडइं कडियाल,
रण गाइं रवि रण वखर सखर घण घाघरीयाला,
सींचाण वरि सरइं, फिरइं सेलइं फोकारइं
ऊडइं आडइं अंगि रंगि, असवार विचारइं ।
(बाहुबलि रास)

इनके अतिरिक्त तेरहवीं शताब्दी की अन्य अनेक उल्लेखनीय जैन रचनायें हैं। स्थानाभाव के कारण प्रत्येक ग्रंथ का पूर्ण परिचय एवं उसकी भाषा का उदाहरण देने में असमर्थ से हैं। फिर भी पाठकों की सुविधा के लिए प्राप्त प्रामाणिक ग्रंथों के नाम, उनके रचनाकार एवं रचनाकाल यहाँ प्रस्तुत कर रहे हैं—

मुनि शालिभद्र सूरि कृत—बुद्धिरास, वि.सं. १२४१ ।

कवि आसिगु कृत—जीवदयारास, चन्दनबाला, वि.सं. १२५७ ।

धर्म (धम्म) मुनि कृत—जम्बूस्वामी, वि.सं. १२६६ ।

मुनि जिनपति सूरि कृत—जिनपति सूरि बधावण गीत, वि.सं. १२३२ ।

विजयसेन सूरि कृत—रेंवतगिरि रास, वि.सं. १२८७ ।

पल्हण कवि कृत—आबूरास, नेमिनाथ बारहमासा, वि.सं. १२८६ ।

जिनभद्र सूरि रचित—वस्तुपाल तेजपाल प्रबन्धावली, वि.सं. १२९० ।

सुमतिगणि रचित—नेमिरास तथा गजधर सार्धशतक वृहद्वृत्ति, वि.सं. १२९५ ।

अभयदेव सूरि रचित—जयंतविजय, वि.सं. १२८५ ।

इनके अतिरिक्त शान्तिनाथ रास, महावीरजन्माभिषेक, श्री वासुपूज्य बोलिका चाचरी, शान्तिनाथ बोली, रसविलास, गयसुकुमाल रास आदि भी इसी शताब्दी की रचनायें मानी जाती हैं। इस काल की भाषा के उदाहरण के लिए मुख्य ग्रंथों के कुछ पद यहां उद्धृत किये जाते हैं—

के नर सालि दालि भुंजंता, घिय घलहलु मज्झे विलहंता ।
के नर भूखा दूखियइं, दीसहिं परघरि कम्मु करंता ।
जीवता विमुया गणिय, अच्छहिं बाहिरि भूमि रुलंता ।
—जीवदयारास सं० १२५७ ।

गया है किन्तु बीच-बीच में दोहों का भी प्रयोग किया गया है। इस ग्रन्थ के निर्माण के पूर्व ही एक जैन कवि विनयभद्र 'हंसवच्छ' काव्य चौपाइयों में लिख चुका था। उसमें भी इसी प्रेम-कथा का वर्णन है। कवि असाइत ने उसी प्रेम-गाथा को अपने 'हंसाउली' में नवीन रूप में प्रस्तुत किया। इनकी कविता पर जैन कवियों की शैली व परम्परा की पूर्ण छाप दृष्टिगोचर होती है। 'हंसाउली' की भाषा निम्न उद्धरण से देखी जा सकती है—

विवध फूल फल निव नैवेद्य, वीणा वस गाइ गुण भेद ।
सोइ जि परवरी पंचसि नारि, दीठी कुंयरि मंत्रि मढि वारि ।।
यथू देवी तव बुद्धि निधांन, हाकि मुनि केसर प्रधांन ।
नरहत्या ति किधी धर्णा मुझ मढ़ि मर हेसि पापिणी ।।
हंसाउली सबद जव सुणी, जांण्यु देवि कुपी मुझ भणी ।
कर जोडीनि ऊभी रहि गत, पूरव भव वीतक कहि ।।

श्रीधर व्यास द्वारा रचित 'रणमल छन्द' नामक रचना भी इस काल की एक प्रामाणिक रचना मानी जा चुकी है। उक्त कवि के सम्बन्ध में अधिक जानकारी उपलब्ध नहीं है, फिर भी इनकी रचना ऐतिहासिक दृष्टि से पूर्ण प्रामाणिक है। 'रणमल छंद' सत्तर छंद का एक वीर काव्य है जिसमें पाटण के तत्कालीन सूबेदार मुजफ्फरशाह और ईडर के वीर राठौड नरेश रणमल्ल के युद्ध का सजीव चित्रण है। इस युद्ध का समय अनेक विद्वानों ने ई. सन् १३९७ माना है। इसके सम्बन्ध में इतिहासज्ञों का भिन्न-भिन्न मत है, फिर भी गुजरात के प्रसिद्ध विद्वान के. ह. ध्रुव ने सन् १३९७ को ही स्वीकार किया है।[1] इस दृष्टि से इस ग्रन्थ का रचनाकाल वि. सं. १४५४ के आस-पास ही ठहरता है। इसकी भाषा के उदाहरण हेतु एक पद नीचे प्रस्तुत किया जाता है—

गोरी दल गाहवि दिट्ठ दहुद्दिसि गढ़ि मढ़ि गिरिगहरि गडियं ।
हगहणि हवकन्तउ हुं हुं हय हय हुंकारवि हयमरि चडियं ।।
धडहडतड वडि धमधज्ज धरातळि धसि वगडायण वूंसवरइ ।
ईडरवइ पंडर वेस सरिनु रणि रांमायण रणमल्ल करइ ।।

इसी समय कवि जाखी मणिहार भी हो चुके हैं जिन्होंने लगभग संवत् १४५३ में बोलचाल की राजस्थानी में 'हरिचंद पुराण' नामक धार्मिक ग्रन्थ की रचना की। उपर्युक्त सम्पूर्ण विवेचन के आधार पर यह स्पष्ट है कि आदिकालीन राजस्थानी साहित्य हमारे समक्ष मुख्यतः दो रूप में आता है—जैनेतर साहित्य एवं जैन साहित्य। इस काल की प्राप्त सभी रचनाओं में जैनेतर साहित्य की अपेक्षा जैन साहित्य अधिक मात्रा में उपलब्ध है और वह पूर्ण प्रामाणिक भी है। इस प्रारंभिक साहित्य के कई ग्रन्थों की प्रामाणिकता को लेकर भिन्न-भिन्न साहित्य-विशेषज्ञों तथा इतिहासकारों ने यद्यपि अपनी मत-भिन्नता प्रकट की है, फिर भी इन रचनाओं को उन्होंने प्रामाणिक रूप से आदिकालीन रचनायें ही स्वीकार किया है। दोनों ही प्रकार की रचनाओं के उल्लेख के समान यथास्थान पर दिये गए पदों के उदाहरण तत्कालीन राजस्थानी भाषा पर प्रकाश ही नहीं डालते परन्तु भाषा के निजी अस्तित्व का प्रमाण भी प्रस्तुत करते हैं। निष्पक्ष दृष्टिकोण से यह तो मानना ही होगा कि इस काल की रचनाएं हमारी अमूल्य निधि रही हैं। हिन्दी व राजस्थानी इसी विधि के द्वारा ही अपनी मां अपभ्रंश से सम्बन्ध स्थापित करती हैं। इन रचनाओं में वास्तव में हम प्राचीनता के दर्शन करते हैं, चाहे वे पूर्ण न होकर आंशिक ही हों। ये रचनाएं उस मिली-जुली अवस्था की प्रतिनिधि हैं जब राजस्थानी अपभ्रंश से पृथक स्वतंत्र सत्ता ग्रहण करने का प्रयत्न कर रही थी। इस दृष्टि से इन रचनाओं का महत्व और भी अधिक बढ़ जाता है।

आदिकालीन राजस्थानी साहित्य के वर्णन के समय अनेक विद्वानों का प्रायः यही मत उल्लिखित मिलता है कि यह साहित्य वीररस-प्रधान है। हिन्दी साहित्य के इतिहास के लेखकों ने तो राजस्थानी की इन्हीं प्रारम्भिक रचनाओं के नाम उल्लेख कर उसे वीरगाथा-काल नाम भी दे दिया है, जब कि राजस्थानी साहित्य में पन्द्रहवीं शताब्दि के प्रारम्भ तक वीर-रस का कोई ग्रंथ उपलब्ध भी नहीं होता। परन्तु वास्तव में ऐसी बात नहीं है। विद्वानों का यह मत पूर्ण भ्रमात्मक ही प्रतीत होता है। इस काल की उल्लेखित रचनाओं में एक भी स्वतंत्र रचना ऐसी नहीं है जिसे हम वीररस-प्रधान कह सकते हैं। प्राप्त रचनायें मुख्यतः प्रेम-काव्य होने के कारण शृंगारिक हैं। अन्य या तो धार्मिक ग्रन्थ होने के कारण उपदेशात्मक हैं या फिर वस्तु-वर्णन-प्रधान। यह सत्य तो अवश्य है कि इस काल में राजनैतिक स्थिति संघर्षपूर्ण थी। राजपूत शासक

[1] प्राचीन गुर्जर काव्य—के. ह. ध्रुव. प्रस्तावना, पृष्ठ ३।

चिंतियफल चिंतामणि मंति तुज्झ पसायिं फलइ नियंलु।
अणुगह नर पिक्खेवि, सिज्झइ सोलह विज्जाएवि ।।

(पद्मावती चौपई)

सीमळ कोमल सुरहि वाय जिम जिम वायंते।
माणमडप्फर माणणिय तिम तिम नाचंते ।।
जिम जिम जलभर भरिय मेह गयणंगणि मिलिया।
तिम-तिम कामी तणा नयण नीरिहि झलहलिया ।।
भोस मेहारव भर उलटिय, जिम जिम नाचइ मोर।
तिम-तिम माणिणि खळभळइ, साहीता जिम चोर ।।

(स्थूलीभद्र फाग)

चौदहवीं शताब्दी के पश्चात् पन्द्रहवीं शताब्दी के मध्य तक की उल्लेखनीय रचनायें निम्नलिखित हैं। ग्रन्थों की नामावली के पश्चात् भाषा के उदाहरणस्वरूप कुछ पद उद्धृत किए जा रहे हैं।—

राजेश्वर सूरि कृत प्रवन्ध कोश, नेमिनाथ फागु, वि.सं. १४०५।

कवि हलराज कृत स्थूलिभद्र फाग, वि सं. १४०९।

मुनि शालिभद्र सूरि कृत पांच पांडव रास, वि.सं. १४१०।

मुनि विनयप्रभसूरि कृत गौतमस्वामी रास, वि.सं. १४१२।

जैन मुनि ज्ञानकलश रचित जिनोदय सूरि पट्टाभिषेक रास, वि.सं. १४१५।

श्रावक विद्धणु रचित ज्ञानपंचमी चौपई, वि.सं. १४२३। मेरुनंदण गणि कृत जिनोदयसूरि गच्छनायक विवाहलु, वि.सं. १४३२।

देवप्रभ गणि कृत कुमारपाल रास।

कवि चंपा कृत देवसुन्दर रास, वि.सं. १४४५।

साधु हंस कृत शालिभद्र रास, वि.सं. १४५५।

१—वंकुडियालीय भुंहुडियहं, भरि भुवणु भमाडइ।
लाडी लोयण लह कुडलइ सुर सग्गह पाडइ ।।
किरि सिसि बिंब कपोल, कन्नहिंडोल फुरंता।
नासा वंसा गरुड चंचु दाड़िम फल दंता ।।
अहर पवाल तिरेह कंठराजलसर रूडउ।
जाणु वीणु रणरणइं, जाणु कोइल टहकडलउ ।।

(नेमिनाथ फागु)

२—जिम सहकारिहिं कोयल टहकउ जिम कुसुमह वनि परिमल बहकउ
जिम चंदनि सोगंध विधि, जिम गंगाजलु लहरिहिं लहकइ,
जिम कणयाचलु तेजिहिं झलकइ
तिम गोयम सोभाग निधि ।।

(गौतम स्वामी रास)

३—इक्कु जगि जुग पवरु अवरु निय दिक्खे गुरु
थुणिसुं हुउं तेण निय मइ बलेण।
सुरभि किरि कंचणं दुद्ध सक्कर घणं
संखु किरि भरीउ गंगा जलेण ।।
अत्थि गूजरधरा' सुंदरी सुंदरे,
उरवरे रयण हारोवमाणं।
लच्छि केलिहरं नयरु 'पल्हणपुरं',
सुरपुरं जेम सिद्धामिहांण ।।

(जिनोदय सूरी गच्छनायक वीवाहलु)

आदि काल की इस अंतिम अवधि में जैन ग्रंथों के साथ-साथ कुछ उल्लेखनीय जैनेतर रचनाओं का भी निर्माण हुआ है। प्रामाणिक रचनाओं के रूप में प्राप्त होने के कारण आदि-काल के साहित्य में इन जैनेतर रचनाओं का अपना विशेष महत्व है। इन रचनाओं में सर्वप्रथम 'बारूजी सौदा' के फुटकर गीतों का उल्लेख मिलता है। ये उदयपुर के महाराणा हम्मीर के समकालीन थे। इस दृष्टि से इनका रचनाकाल संवत् १४०८ से १४२१ के बीच माना जा सकता है। वैसे इनका लिखा हुआ कोई ग्रंथ स्वतंत्र रूप में तो नहीं मिलता लेकिन कुछ फुटकर गीत यत्र-तत्र मिल जाते हैं जो उस काल की साहित्यिक विधाओं को समझने में सहायक होते हैं। उदाहरण-स्वरूप उनका लिखा एक गीत यहां उद्धृत किया जाता है—

ऐळा चितौडा सहै घर आसी, हूँ थारा दोखियां हरूं।
जणणी इसौ कहूँ नह जायौ, कहवै देवी धीज करूं ।। १
रावळ बापा जसौ रायगुर, गीभ खीभ सुरपंत री रूंस।
दस सहंसां जेहो नह दूजौ, सकती करैं गळा रा सूंस ।। २
मन साचै भाखै महमाया, रमणा सहती बात रसाळ।
सरज्यौ लै अडसी सुत सरखो, पकड़े लाऊं नाग पयाळ ।। ३
आलम कलम नवै खंड एळा, कैलपुरारि मीढ किसौ।
देवी कहै सुण्यौ नह दूजौ, अवर ठिकांणै भूप इसौ ।। ४

प्राचीन राजस्थानी साहित्य, भाग ६[1] में असाइत नामक एक कवि का और उल्लेख किया गया है। इन्होंने वि. संवत् १४२७ में 'हंसाउली' काव्य की रचना की। 'हंसाउली' मुख्यतः एक प्रेम - काव्य है जो चार खण्डों में विभक्त है तथा ४४० कड़ियों में लिखा हुआ है। सम्पूर्ण काव्य चौपाइयों में रचा

---

[1] उदयपुर साहित्य संस्थान।

लाभ उठा कर अनेक क्षेत्रीय शासकों ने अपनी स्वाधीन रियासतें कायम करदीं। इन रियासतों में भी एकता का परम अभाव था। इनमें पारस्परिक द्वेष एवं फूट की वृद्धि होती गई जिसके कारण इसकी शक्ति का भी ह्रास हो गया।

ऐसी स्थिति में मुगल सरदार बावर ने हिन्दुस्तान में आकर अपनी सल्तनत कायम करने का प्रयत्न किया। यद्यपि स्वतंत्रता-प्रेमी मेवाड़ राज्य के वीर शासक राणा सांगा ने खानवा के युद्ध (वि० सं० १५८४) में बावर से लड़ते समय अद्भुत वीरता एवं अदम्य साहस का परिचय दिया तथापि दुर्भाग्यवश विजय बावर के ही हाथ रही। इस पराजय के कुछ ही दिनों बाद राणा सांगा की मृत्यु हो गई जिसके कारण समूचे भारतवर्ष की स्वाधीनता ही अंधकार में विलीन हो गई। इस समय देश में कोई ऐसी एक दृढ़ सत्ता न रह गई थी जो विदेशी सत्ता को देश से निकाल बाहर करती। इसके फलस्वरूप मुगल सल्तनत की नींव ही भारत में अधिक गहरी जमती गई। हुमायू की मृत्यु तक तो कुछ उथल-पुथल अवश्य होती रही और उसमें कई विघ्न उत्पन्न हुए, परन्तु हुमायू की मृत्यु के बाद अकबर जब गद्दी पर बैठा तो उसने अपने शासन को दृढ़ करने के लिए हिन्दुओं को प्रसन्न रखने व राजपूत राजाओं के साथ मेल-जोल बढ़ाने की नीति को अपनाया। वह राजपूतों की वीरता से परिचित हो चुका था। इस समय राजपूताने में कुल ११ राज्य थे[1], जिनमें मेवाड़ (उदयपुर) और जोधपुर राज्य मुख्य थे। अकबर ने सर्व प्रथम आंबेर के राजा भारमल कछवाहा को कुछ प्रलोभन देकर अपनी ओर मिला लिया। परन्तु इसके साथ ही वह राजपूताने की मुख्य शक्ति मेवाड़ को भी अपने अधीन करने के लिए पूर्ण उत्सुक था। इसी उद्देश्य से उसने वि० सं० १६२४ में महाराणा उदयसिंह पर चढ़ाई की। महाराणा इस युद्ध में हार अवश्य गए परन्तु उन्होंने अधीनता स्वीकार नहीं की। चित्तौड़ का किला छोड़ने के उपरान्त भी वे युद्ध करते ही रहे। महाराणा उदयसिंह के देहांत के बाद महाराणा प्रताप ने स्वतंत्रता के व्रत को कायम रखा। उन्होंने यवनों के विरुद्ध जिस वीरता का परिचय दिया वह विश्व-विदित है। इसी प्रकार मुगल सल्तनत के अन्तिम काल तक स्वाधीनता-प्रेमी राजपूत समय-समय पर अपनी मर्यादा एवं हिन्दुत्व की रक्षा के लिए निरन्तर युद्ध करते हुए अपनी वीरता का परिचय देते रहे। औरंगजेब ने जोधपुर के महाराजा जसवंतसिंह की मृत्यु के बाद जोधपुर को खालसे कर लिया और मेवाड़ के राणा से अप्रसन्न होने के कारण उस पर चढ़ाई करदी। उसके बाद बहादुरशाह ने महाराजा जयसिंह से आमेर छीन लिया था परन्तु मुगल सल्तनत का पतन होते देख जोधपुर के महाराजा अजीतसिंह व आमेर के राजा जयसिंह ने महाराणा अमरसिंह द्वितीय की सहायता से अपने अपने राज्यों पर पुनः अधिकार कर लिया। इस अवसर पर महाराजा अजीतसिंह को राज्याधिकार प्राप्त कराने में उनके सामंत वीर राठौड़ दुर्गादास ने पूर्ण सहयोग देकर सच्ची स्वामी-भक्ति का परिचय दिया।

मुगल सल्तनत के पतन के समय जब मरहठों की शक्ति बढ़ती जा रही थी तब यहां के शासकों को तो उनका भी प्रतिरोध करना पड़ा। इसके परिणामस्वरूप मरहठों तथा राजपूतों में भी निरन्तर संघर्ष चलता ही रहा।

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि यह काल भयंकर युद्ध एवं संघर्ष का युग रहा। इस संघर्ष में विशेषतः राजपूताने के वीरों ने जो अतुल शौर्य का परिचय दिया वह कहीं अन्यत्र दृष्टिगोचर नहीं होता। अपनी मर्यादा और मातृभूमि की रक्षा के लिए युद्ध भूमि में हँसते-हँसते प्राणों की आहुति दे देना ही इनके जीवन की विशेषता थी। यही कारण है कि इस संघर्ष काल में वीरता, साहस और बलिदान का परिचय देने वाले योद्धाओं की अनेकों गाथाओं से राजस्थानी साहित्य का भंडार भरा हुआ है। ऐसे शूरवीर नायकों की कीर्तिगाथायें इस समय के साहित्य की मुख्य धरोहर हैं।

इस अमर साहित्य का सृजन करने वाले कवि प्रायः राज्याश्रित होते थे। राज्याश्रित होने पर उनका उद्देश्य राजा की प्रशंसा करना ही नहीं होता था। वे जहाँ भी वीरता और मानवीय गुणों का परिचय पाते, अपनी काव्य-प्रतिभा के माध्यम से उन गुणों को जन साधारण तक पहुँचाते, चाहे वर्णन साधारण योद्धा के सम्बन्ध में हो, चाहे किसी बड़े शासक के सम्बन्ध में। कविवर दुरसा आढ़ा ने जनता एवं स्थानीय शासक के मध्य भी सम्मान प्राप्त किया और प्रताप की प्रशंसा

---

[1] उदयपुर, डूंगरपुर, बांसवाड़ा, प्रतापगढ़, जोधपुर, बीकानेर, आंबेर, बूंदी, सिरोही, करौली और जैसलमेर।

युद्ध के लिए सदैव ही तत्पर रहते थे। अनेक राजपूत वीरों ने युद्ध के मैदान में अपने अद्भुत शौर्य का परिचय भी दिया परन्तु उनकी वीर-प्रशंसा तथा युद्ध-वर्णन का तत्कालीन कोई ग्रन्थ नहीं मिलता। अतः इस सम्बन्ध में तत्कालीन लिपिनिष्ठ रचनाओं के अभाव में इस समय के साहित्य को वीररसप्रधान बताना असंगत ही है। हो सकता है, उस समय वीर-चरित-नायकों की वीर-प्रशंसा में श्रुतिनिष्ठ साहित्य प्रचलित हो।

डॉ. हजारीप्रसाद द्विवेदी ने अपने 'हिन्दी साहित्य का आदिकाल' में आचार्य शुक्ल के हिन्दी के आदिकाल को वीर-गाथा काल बताने के मत का खण्डन करते हुए बताया कि शुक्लजी द्वारा जिन १२ ग्रंथों के आधार पर इस काल को वीर गाथा काल नाम दिया गया है उनमें से कई रचनायें तो बाद की निकलती हैं और कुछेक के सम्बन्ध में यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता कि उनका मूल रूप क्या था।[1] खुमाण रासौ बहुत पीछे की रचना निकलती है तो पृथ्वीराज रासौ के मूल रूप का पता नहीं चलता, बीसलदे रासौ कोई वीर रस-प्रधान रचना नहीं है। अतः उन्होंने भी मिश्रबंधुओं द्वारा दिये गये नाम—आदिकाल के ही पक्ष में अपना मत दिया है।

साहित्य-विशेषज्ञ एवं विद्वद्जन आदिकालीन रचनाओं के सम्बन्ध में निरन्तर रूप से अनुसन्धान एवं साहित्य शोध-कार्य करते आ रहे हैं। इसी के परिणामस्वरूप राजस्थानी के प्राचीनतम साहित्य का दिग्दर्शन सम्भव हो सका है। प्राचीन राजस्थानी की अनेक रचनायें आज भी अज्ञानता के अंधकार में लुप्त हैं। जन-साधारण की अशिक्षा के कारण और प्राचीन साहित्य के महत्व की अनभिज्ञता के कारण कई प्राचीन मौलिक ग्रन्थ व ग्रन्थों की प्रतियां सुदूर गांवों में विनाश को प्राप्त हो रही हैं। इसके अतिरिक्त प्राप्त रचनाओं में से भी कुछेक काल-प्रमाण के अभाव में विवादग्रस्त पड़ी हुई हैं। ऐसी स्थिति में अप्राप्त रचनाओं की खोज एवं प्राप्त साहित्य के सम्बन्ध में शोधकार्य अत्यन्त आवश्यक रूप से अपेक्षित है। इस प्रकार का कार्य न केवल साहित्य की अभिवृद्धि ही करेगा अपितु उसकी प्रामाणिकता को और अधिक पुष्टि प्रदान करता हुआ हमारी अपनी प्राचीन संस्कृति की सुरक्षा करने में भी सहयोगी सिद्ध होगा।

[1] हिन्दी साहित्य का आदिकाल—डॉ. हजारीप्रसाद द्विवेदी, प्रथम व्याख्यान, पृ० ११

मध्यकाल—वि. सं. १४६० से १९०० तक

आदिकालीन राजस्थानी साहित्य की ऐतिहासिक पृष्ठ-भूमि में हम यह बता आए हैं कि लगभग विक्रम की तेरहवीं शताब्दी तक राजपूताने के प्रत्येक विभाग पर राजपूती राज्य की स्थापना हो चुकी थी। देश में होने वाले बाह्य आक्रमणों एवं राजपूत राजाओं के पारस्परिक युद्धों के कारण तत्कालीन राजनैतिक स्थिति पूर्ण अनिश्चित थी। आगे चल कर मध्य-युग में विदेशी सत्ताधारियों के राज्य-विस्तार के लोभ एवं राजपूतों के पारस्परिक वैमनस्य तथा फूट के कारण यह स्थिति अधिकाधिक संघर्षपूर्ण बनती गई। उत्तर-पश्चिम से आने वाले मुसलमान आक्रमणकारियों ने देश की कमजोरी से लाभ उठा कर उत्तरी भारत में अपनी सत्ता कायम कर दी। जब दिल्ली की बादशाहत से उन्हें सन्तोष नहीं हुआ तो वे राज-पूताने के राज्यों को भी अपने अधिकार में करने के लिए प्रयत्न करने लगे। इसके लिए उन्हें अनेक युद्ध करने पड़े। वीर राज-पूत लोग, विदेशी सत्ता तो दूर रही, उस समय अपने पड़ौसी राजपूत राजा की अधीनता भी स्वीकार करने के लिए कभी तैयार नहीं थे। अतः उन आक्रमणों का कोई परिणाम नहीं निकला। तुगलक वंश की कमजोरी के समय राजपूत राजाओं ने उन सभी राज्यों को पुनः प्राप्त कर लिया जिन्हें मुसलमानों ने हस्तगत कर लिया था।

मध्य युग में यद्यपि दिल्ली में मुस्लिम सल्तनत कायम हो चुकी थी, फिर भी बाह्य आक्रमणों का अंत नहीं हुआ था। वि० सं० १४५५ (ई० सन् १३९८) में अमीर तैमूर ने हिन्दुस्तान पर चढ़ाई कर दिल्ली को फतह किया, उसे लूटा और वहाँ मारकाट की। इन बाह्य आक्रमणों एवं आंतरिक युद्धों के कारण तुगलक शासक बिल्कुल कमजोर हो गए और सैयदों ने उनसे राज्य छीन लिया। ये कुछ ही वर्ष रह पाये थे कि लोदी पठानों ने इनसे बादशाहत छीन ली। इस वंश के बादशाहों ने भी राजपूत राजाओं पर अनेक आक्रमण किये परन्तु यहां के शासको ने सभी आक्रमणों का सदैव ही वीरता के साथ प्रतिरोध किया। जिसके फलस्वरूप दिल्ली में कोई स्थायी सल्तनत कायम न हो सकी और निरन्तर आक्रमणों के कारण इन मुस्लिम शासकों की शक्ति क्षीण हो गई और अवसर का

खानवा के युद्ध में महाराणा संग्रामसिंह जब घायल हो गए तो उनके सैनिक लोग उन्हें उठा कर ले आये। मूर्च्छा खुलने पर राणा उदासीन हुए और अपने आपको अंग भंग देख राणा के पद के लिए अनुपयुक्त घोषित कर दिया। उसी समय कवि जमणाजी अपने एक ही गीत द्वारा उनमें उत्साह की उमंग भर देते हैं और इस गीत से प्रभावित होकर सांगा ने राणा पद को पुनः स्वीकार कर लिया।

गीत—सतवार जरासंध आगळ स्री रंग, विमहा टीकम दीध वग।
मेलि घात मारे मधुसूदन, असुर घात नांखे अळग॥ १

पारथ हेकरसां हथणापुर, हटियो त्रिया पडंतां हाथ।
देख जका दुरजोधण कीधी, पछै तका कीधी कांइ पाथ॥ २

इकरां रांमतणी तिय रांवण, मंद हरेगो दहकमळ।
टीकम सोहि ज पथर तारिया, जगनायक ऊपरा जळ॥ ३

एक राड भव मांह अवत्थी, ओरस आणै केम उर।
'माल' तणा केवा कज मांगा, सांगा तू साले असुर॥ ४

राजपूताने के वीर शिरोमणि महाराणा प्रताप की वीरता, त्याग एवं बलिदान से कौन परिचित नहीं है। अकबर जैसे सम्राट ने भी महाराणा प्रताप की वीरता का लोहा माना और प्रमुख शत्रु होते हुए भी उसकी सदैव प्रशंसा की। राणा ने अपना समस्त जीवन युद्ध में ही व्यतीत किया। राणा के प्रति तत्कालीन कवि सूरायच टापरिया का कहा हुआ गीत कायर के हृदय में भी उत्साह की लहर उत्पन्न कर देता है—

गीत—वरियाम विडंग न लहै वेसांमी, खग सावरत रण पैसे खाप।
अकबर साह न छाडै आरंभ, पांण न छाडै रांण प्रताप॥ १

वे अतलोकि नगींद बराबर, पेखे पदम हाथ लहै परै।
मेले जोगणिपुरो महादळ, केळपुरो उखेळ करै॥ २

प्रभणै किरण पेखि कोळापति, देखै मीढ़ण तणो दुह राव।
नंद-हमाऊं रीस न नामै, सीस न नामै 'सिंघ' सुजाव॥ ३

सूरज-चंद तांम समासैं, खरै आव वाजियो खरो।
हेकां सिर खोटै वाबर हर, हेकां अमट 'संग्राम' हरो॥ ४

मध्यकालीन राजपूत राजा लोग जहाँ अपनी शूरवीरता के लिए प्रसिद्ध हो चुके हैं वहाँ दानशीलता एवं त्याग में भी वे अपना प्रतिद्वन्दी नहीं रखते। वीरों के प्रभावशाली व्यक्तित्व एवं वीरता के अद्भुत कार्य-कलापों की प्रेरणा से जिस प्रकार वीर-काव्यों की रचना हुई है, उसी प्रकार दानवीरों की दान-वीरता भी इन कवियों की कविता में उद्भूत हुई है। अपने आश्रित कवियों को उनकी सुन्दर रचनाओं पर करोड़ पसाव और लाख पसाव देने की परम्परा सर्वविदित है। इस प्रकार के दान और पुरस्कार में भी परस्पर प्रतिस्पर्धा की भावना रहती और दान देने में अपना नाम उच्च रखने के लिए एक दूसरे से बढ़ कर दान दे दिया करते। कवि शंकर बारहठ की कविता पर प्रसन्न होकर बीकानेर महाराजा रायसिंह ने उसे सवाकोड़ का पुरस्कार प्रदान किया। इसकी सूचना जब जयपुर के महाराजा मानसिंह को उसकी रानी, जो महाराजा रायसिंह की लड़की थी, द्वारा मिली तो उन्होंने प्रातः ही ६ श्रेष्ठ कवियों को बुला कर ६ करोड़ पसाव का पुरस्कार दे दिया।[1] इस प्रकार की पुरस्कार व्यवस्था से राजा लोग अपने आश्रित कवियों को सम्मानित कर साहित्य-सृजन के लिए प्रोत्साहित करते तथा साहित्य के प्रति अपना अटूट प्रेम भी प्रगट करते। मध्यकालीन कवियों को निरन्तर रूप से साहित्य रचना के लिए इस प्रकार का प्रोत्साहन मिलने के कारण भी इस काल में राजस्थानी का अतुल भंडार उपलब्ध होता है।

विक्रम की सत्रहवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध अर्थात् अकबर के शासन-काल के आरम्भ होने तक भारत में मुगल राज्य की नींव सुदृढ़ हो चुकी थी और निरन्तर युद्ध एवं मुगलों के प्रभुत्व ने राजपूत राजाओं की शक्ति को जर्जर कर दिया था। ऐसी स्थिति में भी वीरता के उपासक राजपूत अब भी अपने धर्म एवं हिन्दुत्व की रक्षार्थ अवसर पड़ने पर प्राणों की बाजी लगाने से चूकते नहीं थे। इस्लाम का आतंक देशव्यापी हो गया था। राजस्थान के सुदूर गांवों में भी हिन्दू जाति की साधारण जनता को धर्म के नाम पर बहुत बुरी तरह से कष्ट दिया जा रहा था। गायों को लूट कर ले जाना, मन्दिरों को नष्ट करना,

---

[1] पोळ पात हरपाळ[1], प्रथम प्रभता कर थप्पे।
दळ में दासो[2] नरू[3] सहांइ घण हेत समप्पे।
ईसर[4] किसनो[5] अरध, वडी प्रभता वाधाई
भाई डूंगर[6] भणे, कीत लख मुखां कहाई।
अई अई 'मांन' उनमान पहो, हात धनो-धन धन हियो।
सुरज घड़ीक चढ़ता समो, दे छ कोड़ दातण कियो॥
—वीरविनोद, भाग २, कविराजा श्यामलदास, पृ० १२८५

में 'विरुद छिहृतरी' लिख कर वादशाह अकबर के दरवार तक में अधिक ख्याति पाई।

दूसरा उदाहरण कविराजा वांकीदासजी का भी है। ये जोधपुर के महाराजा मानसिंह के राजकवि थे पर जब खांडप के एक साधारण व्यक्ति लाधा सोलंकी ने भीषण दुष्काल के समय अपने क्षेत्र की प्रजा की यथाशक्ति सहायता की और आने जाने वाले यात्रियों की सुविधा के लिए वहुत से प्रयत्न किए तव कवि ने उसके सुकृत्यों की प्रशंसा मे भी गीत कह कर उसे अमर कर दिया।[1] इस काल के कवियों की अपनी निजी विशेषता थी। ये केवल सरस्वती के उपासक ही नहीं होते थे पर रणचण्डी का आह्वान भी समय पड़ने पर स्वीकारते थे। रणस्थल में उपस्थित हो अपनी ओजस्वी वाणी द्वारा वीरों में जोश की उमंगें भरते तथा आप स्वयं भी हाथ में तलवार ले अपने नायक का साथ देते। वीरों की प्रशंसा में कर्नल टाड ने जहां अपने ये विचार व्यक्त किए हैं कि……… There is not a petty State in Rajasthan that has not had its Thermopylae and scarcely a city that has not produced its Leonidas' वहां इस प्रसंग में प्रो. नरोत्तमदास स्वामी ने उचित ही लिखा है कि 'कर्नल टाड यह लिखते समय इतना और लिखना भूल गए थे कि थर्मापोली से रण-क्षेत्र तैयार करने वाले वीर सैनिक कवियों से भी राजस्थान का साधारण से साधारण गांव भी खाली नहीं रहा है।' -राजपूत लोग अपने धर्म एवं स्वतंत्रता की रक्षा के लिए रणोन्मत्त होकर सहर्ष मृत्यु को गले लगाते और उनकी स्त्रियां और वच्चे मर्यादा की रक्षा के लिए अपने आपको अग्नि देवी की गोद में समर्पित करते। कवि लोग प्रत्येक परिस्थिति में साथ रहते। इसलिए प्रत्यक्ष दृश्यानुभूति होने के कारण उनकी लेखनी ऐसे वीरों के उज्ज्वल चरित्र की अभिव्यक्ति के लिए वरवस ही फूट पड़ती।

इन कवियों की रचना में आज लोगों को भले ही अतिशयोक्ति लगे परन्तु जिन वीरों की अद्भुत वीरता एवं वलिदान ने शत्रुओं को भी मुक्त कंठ से प्रशंसा करने के लिए वाध्य कर दिया और वे ऐसे वीरों की प्रशंसा करते अघाये नहीं, वे सच्चे देश भक्त वास्तव में ही प्रातःस्मरणीय हैं। चित्तौड़ दुर्ग की रक्षा के लिए अकवर की विशाल सेना के विरुद्ध युद्ध करते हुए वीर शिरोमणि जयमल मेड़तिया और वीरवर पत्ता सीसोदिया ने जिस अद्भुत वीरता, प्रगाढ़ देश-प्रेम और सच्ची स्वामी-भक्ति के दर्शन कराये उसकी अकवर जैसा समृद्धिशाली वादशाह भी अपने सच्चे हृदय से सराहना किये बिना न रह सका। वीरों ने अपने चमत्कारों द्वारा अपनी प्रतिष्ठा उसके हृदय पर अमिट रूप से अंकित करदी। वादशाह ने इन वीरों की केवल अपने मुख से ही प्रशंसा नहीं की अपितु युग्म वीर जयमल और पत्ता की वीरता को चिरस्थायी एवं चिरस्मरणीय करने के लिए दोनों वीरों की पाषाण की गजारूढ़ दीर्घ प्रतिमायें वनवा कर आगरे में अपने शाही किले के प्रधान द्वार पर वड़ी प्रतिष्ठा के साथ स्थापित करादी।[1]

मूर्ति-स्थापन के साथ यह भी प्रसिद्ध है कि वादशाह अकवर ने इन दोनों मूर्तियों पर उन वीरों की प्रशंसा की याद में निम्नलिखित दोहा भी खुदवा दिया था—

जयमल वड़तां जीवणें, पत्तो वायें पास।
हिन्दू चढ़िया हाथियां, अडियो जस आकास॥

जहां प्रतिपक्षी द्वारा वीरों की कीर्ति एवं यश की रक्षा के लिए इतनी चेष्टा की जाय वहाँ लेखनी द्वारा ऐसे वीरों के लिए जो कुछ भी लिखा जाय वह वहुत थोड़ा है।

वीरों की कीर्ति-रक्षार्थ यशगान करने वाले कवि स्वयं भी वीर होते और उन्हें वीरता का सच्चा अनुभव भी होता था। इसीलिए उनके द्वारा रचित साहित्य में हमें वीरत्व की जीवन्त झांकी के दर्शन होते हैं। इस कथन की पुष्टि में अनेकों उदाहरण प्रस्तुत किए जा सकते हैं।

---

[1] झरहरियौ आभ न कूमांडे झड़, विखमां जग परहरियौ वाव।
जो उगणतरौ थरहरियौ जग में, चाळक न परहरियौ चाव॥ १
अंन विन लोक वहू चक ओड़ै, गया माळवे छोडे गेह।
दोवां नाडकां छेह दिखायौ, 'आसावत' दरियाव अछेह॥ २
मानव विकै पाव अंन माट, दुरभिख जग में ताव दियौ।
अंन रांधै कोरे नह ऊतर, लाधे हद सो भाग लियौ॥ ३
भेटे कोय गयौ नंह भूखौ, परजाची कीधी प्रतिपाळ।
खोटे समय उगंतरे खांडप, सोलंकी दरसियौ सुकाळ॥ ४
—वांकीदास ग्रन्थावली, भाग ३, भूमिका

[1] वर्नियर्स ट्रेवल्स इन दी मुगल एम्पायर, कान्स्टेवल और स्मिथ कृत, पृष्ठ २५६—५७।

वरण करतीं। राजस्थानी साहित्य इसके अनेक उदाहरण प्रस्तुत करता है।

राजस्थानी साहित्यकारों ने इन वीरांगनाओं के उज्ज्वल चरित्र को बड़े ही आदर और श्रद्धा के साथ अपने साहित्य में अभिव्यक्त किया है। नारी के जिन विभिन्न रूपों का उन्होंने दर्शन किया, उसका अपने साहित्य में दिग्दर्शन कराया है। शक्ति रूप में उसकी पूजा की है, माँ के रूप में उसकी वंदना की है, वीरांगना के रूप में उसका सम्मान किया है। जयसिंह कछवाहा की पुत्री किसनावती अपने पुत्रों की रक्षा हेतु शक्ति रूप धारण कर युद्ध में शत्रुओं का संहार करती है; उसका वर्णन तत्कालीन कवि गोरधन बोगसे ने किया है जिसमें नारी की वीरता पर देवता तक न्यौछावर हुए हैं।

गीत—भारथ मझि मिळे दूसरौ भारथ, रथ ठांमियौ जोवरा ग्रहराज
उमया ईस उभै आहुड़िया, किसनावती तणै सिर काज ॥
कत सूरति पेखे कछवाही, हुवौ पदम हय विमुह हय।
आदमियां उतवंग लै आदम, संकति रूप कहियौ सकत ॥
अमुख-अमुख चर नारद ओसर, त्रिपति पांच मिळि पांचतत।
हूँ सर तिरपति सुज जांण हरि, त्रिसगति त्रिहूँ रति तिरपत ॥
रुद्र-घरणी जंपै, सांभळि रुद्र, आज लगै तैं लिया अनेक।
जैसिंघ-धूय तणौ धू जोतां, अंबर भर मो जुड़ियौ एक ॥
हरि-दरगाह न्याय गा हाले, ब्रह्म वांटियौ करे विचार।
सतरमौ सिणगार सिवा सिव सिर आधै पूरौ सिणगार

(राजस्थानी वीर गीत, गीत ११७)

इसी प्रकार वीर पत्नी का स्वरूप हमें कवि ईसरदास कृत 'हालां झालां रा कुंडलिया' में हाला जसवंतसिंहजी (जसा जी) की पत्नी द्वारा पति को कहे हुए शब्दों में मिलता है। हलवद नरेश झाला रायसिंह, हाला जसवन्तसिंह पर चढ़ाई कर उसके नगर ध्रोल में आ पहुँचे तब हाला ठाकुर की पत्नी उन्हें युद्ध के लिए तत्पर करती है—

उठि अडंगा बोलणा, कांमणि आखै कंत।
अै हल्ला तो ऊपरां, हूं कळ कळळ हुवंत ॥
हूं कळै सींचवौ वीर कळ हळ हुवै।
वरण कजि अपछरां सुरिमां वह वुवै ॥
त्रिजड़-हथ मयंद जुध गयंद घड़ तोड़णा।
उठि हर धवळ सुत अडंगा बोल्लणा ॥

(हालां झालां रा कुंडळिया. पृ० ६)

मध्य युग में स्त्री समाज में सती प्रथा का विशेष महत्त्व था। प्राचीन काल से चली आ रही इस प्रथा को इस युग में बड़े सम्मान की दृष्टि से देखा जाता था। प्रारम्भ में पति की मृत्यु के पश्चात् अनुसरण या सहगमन करना ही स्त्रियों का जीवनादर्श था। पति के साथ चितारोहण करती हुई नारी को यह दृढ़ विश्वास होता था कि उसके सती होने के बाद उसे अमर लोक में अमर सौभाग्य मिलेगा। आगे चल कर प्रचलित होने वाली जौहर प्रथा भी इसी का विकसित रूप है। मध्यकाल में युद्धों की अधिकता थी। युद्ध में वीर राजाओं, सामंतों तथा सैनिकों का काम आ जाना ही जब निश्चित सा प्रतीत होता तो उसके पूर्व ही उनकी वीर स्त्रियां महलों आदि में चिता की तैयारी कर उसमें अपने प्राणों की बलि दे देतीं। उनका यह तेजोमय आदर्श बहुत ऊंचा था। इसकी झलक मध्यकाल की रचनाओं में स्थान-स्थान पर मिलती है। किशनगढ़ के महाराजा बहादुरसिंह ने अखां नामक वीरांगना के सती होने पर जो गीत कहा उसे उदाहरणार्थ यहां प्रस्तुत किया जाता है—

गीत—लगी लाय प्रत रोम धकतीरथी धोम लख,
वोम अंतरीक वहती वताई।
जळ पाखां चाड़ती सकळ जग जोव ज्यों,
अनळ झळ पड़णवा 'अखां' आई ॥ १
वर सवद रांम रांमेत मुख वोलती,
तोलती देह सत वरत तावै।
दुनी कौतक कहै अमी वा देख ज्यों,
उक्रमी गयण मग क्रमी आवै ॥ २
आरखत वदन 'अजवेस' वाली उमंग,
मछर छळ छोड उर अकाळी मीच।
कीच कुळ उकासण कंथ आसण करै,
बैठगी विखम झळ हुतासण वीच ॥ ३
रूप दाहै दवन अंगारा······
मन भवन अगन जस हूंत मंडगी।
कुळ उतंग डोर आवागवन भंग कर,
चंग पवन संग जिम सुरंग चडगी ॥ ४

इसी प्रकार जोधपुर के महाराजा मालदेव की रानी उमा भटियाणी अपने मान के कारण आजीवन महाराजा से रूठी रही और अपने ननिहाल में रह कर ब्रह्मचर्य व्रत का पालन किया, परन्तु अन्त में महाराजा की मृत्यु के समाचार सुनते ही वहाँ से आकर उनके साथ सती हो गई। इसी का वर्णन तत्कालीन कवि आसा बारहठ ने बड़े ही प्रभावोत्पादक ढंग से किया है—

लूट-मार करना आदि दिन प्रति दिन की घटनायें थीं। ऐसे संकट काल में उस जनता के वीर नायक प्रायः ये ही वीर राजपूत उनकी रक्षार्थ सामने आते और आततायियों के अन्याय का अन्तिम श्वास तक प्रतिरोध करते। ऐसे धर्मवीरों के चरित्र-वर्णन एवं उनके बलिदान की प्रशंसा के लिए तत्कालीन कवियों की लेखनी मौन कैसे रह सकती थी। इसीलिये धर्मवीरों के बलिदान की अनेक गाथायें मध्ययुगीन राजस्थानी साहित्य में हमें उपलब्ध होती हैं। गायों की रक्षा करते समय मर मिटने वाले के प्रति रचा हुआ कवि का निम्न गीत कितना हृदयस्पर्शी है।

गीत—मिळ भायां मतौ कियौ मा जायां
दळ बळ सज आयां दुरत।
गायां गीयां जीवीयां कुण गत
गायां वांसै मुआं गत ॥ १
सजीयां खाग 'प्रीयाग' समोभ्रम।
साची कहै वंधतां सार।
वित जावै ऊभा वाहरुआं,
लांणत वां वाहरुआं लार। २
'वदरै' 'अने'करी वातां वे मुख
सुरां दैणौ मरण ·····।
धन धारियां लाज की धणियां,
धणीयां ऊभौ जाय धण ॥ ३
अरजा देव प्रथी परमाणै······
ओजो मांटीपणौ गई।
भारत कट पड़ीयां वे भायां,
गायां घट खूंदती गई ॥ ४

इसी प्रकार धर्म रक्षा में रत अनेक बहादुरों ने स्थान-स्थान पर मंदिरों, देवरों की रक्षा में अपने प्राणों की आहुति दी है। एक वीर राठौड़ मेड़ता के मंदिर की रक्षा करते करते काम आगया, जिसके सम्वन्ध में कहा हुआ गीत वरवस ही हमारी भावनाओं को झकझोर देता है।

झिरमिर झिरमिर मेवा बरसै, मोरां छती छाई।
कुळ में छै तौ आव 'सुजांणा', फौज देवरै आई ॥

गीत—आया दळ असुर देवरां ऊपर
कूरम कमधज एम कहै।
ढहियां सीस देवळ ढहसी,
ढह्यां देवाळौ सीस ढहै ॥ १
'माल' हरी 'गोपाल' हरौ मंढ़
अडिया दुहूँ खागां अणअंग,
उतगंग साथ उतरसी अंडौ
अंडा साथ पड़ै उतमंग ॥ २
'स्यांम' सुतन 'पातळ' सुत सझिया,
निज भगतां बांध्यौ हर नेह।
देही साथ समायां देवळ,
देवळ साथ समायां देह ॥ ३
कुरम खंडेले कमंध मेड़ते,
मरण तणौ बांध्यौ सिर मोड़।
'सूजा' जिसौ नहीं कोइ सेखौ,
'राजड़' जिसौ नहीं राठौड़ ॥ ४

जहां राजपूत वीरों ने अपनी वीरता, बलिदान और दानशीलता आदि का अपूर्व परिचय देकर साहित्य-सृजन के लिए तत्कालीन कवियों को प्रेरित किया, वहां इनकी वीर स्त्रियों ने भी किसी प्रकार की कसर न रखी। जैसे वीर राजपूत पुरुष वैसी ही उनकी वीर नारियां। पुरुषों की भांति इन्हें भी प्राणों का मोह लेश मात्र भी नहीं था। जिस प्रकार कायर कहलाने की अपेक्षा वीर राजपूत मर जाना अधिक पसंद करते थे, उसी प्रकार राजपूत वीरांगनायें किसी कायर की मां, वहन या पत्नी कहलाना अपने लिए महान लज्जा की बात समझती थीं। युद्ध के समय मातायें अपने वीर पुत्रों, पत्नियां सुभट पतियों तथा बहिनें बहादुर भाइयों को सहर्ष अपने हाथ से तिलक कर लड़ने के लिए विदा देने में अपना अहोभाग्य समझती थीं। विदाई के अवसर पर उनके द्वारा प्रकट किये जाने वाले हृदयोद्गार वस्तुतः उनके वीर हृदय का परिचय देते हैं। युद्ध में जाने वाले वीर से माता यही कहती कि पुत्र! तूने मेरे स्तन का पान किया है अतः युद्ध में मेरे दूध को कलंकित न करना। वहिन यह कह कर विदा देती कि, मेरे वीर (भ्राता) यह चुनड़ी तूने अपने हाथ से मुझ पर ओढ़ाई है अतः इस चुनड़ी को अपने नाम से लज्जित न करना, और पत्नी यह कह कर शकुन मनाती कि आर्य पुत्र! यह अहिवात (चूड़ौ) मैं तुम्हारे नाम का धारण किए हुए हूं अतः इसे तुम किसी तरह से कलंकित न होने देना। अवसर पड़ने पर वे नारियां स्वयं भी रणचण्डी का रूप धारण कर शत्रुओं का संहार करने के लिए युद्ध-भूमि में आ उतरतीं और आवश्यकता होने पर अपनी मर्यादा की रक्षा के लिए हँसते-हँसते जौहर की ज्वाला को भी

ज तौ वीवाह री वाट जोती जगत
रुक वळ आसियौ गियौ राजा ।
मराड़ी जांन घर आवियौ मांडवै
तेल चड़ती रही अछर ताजा ॥

इसी प्रकार एक बार उदयपुर का महाराणा राजसिंह औरंगजेब से मिलने के विचार से दिल्ली की ओर रवाना हुआ। मेवाड़ की परम्परा में यह बात अपमानजनक थी। अतः तभी जीलिया चारणवास का कवि कमाजी (कम्मा) जो पंगु था, उस मार्ग में एक टीबे पर बैठ गया। महाराणा की सवारी जब उसके सामने होकर निकल रही थी तब उसने अपना निम्न छप्पय १०-१५ बार पढ़ कर सुना दिया। छप्पय को सुनते ही महाराणा को मेवाड़ के गौरव का भान हुआ और उन्होंने अपनी सवारी वहीं से उदयपुर की ओर मोड़ ली। उन्होंने समझ लिया कि दिल्ली जाकर बादशाह से मिलना मेवाड़ को नीचा दिखाना है। कवि का छप्पय वस्तुतः एक सारगर्भित व्यंगोक्ति है।

छप्पय—अजे सूर झळहळै, अजे प्राजळै हुतासण ।
अजे गंग खळहळै, अजे सावत इंद्रासण ।
अजे धरणि ग्रहमंड, अजे फल फूल बरत्ती ।
अजे नाथ गोरक्ख, अजे ग्रह मात मकत्ती ।
आजू हीलोहल घू अटळ, वेद धरम वांणारसी ।
पतमाह हूंत चीतोड़पत, रांण मिळै किम राजसी ॥

यद्यपि इस प्रकार की उपालम्भोक्तियों तथा व्यंगोक्तियों का दुष्परिणाम इन आश्रित कवियों को भुगतना पड़ता था, फिर भी जहां सच्चे वीर की मुक्त-कंठ से प्रशंसा करने में उद्यत रहते वहां कायरता एवं हीनता का चित्रण करने में भी वे नहीं चूकते। इन कवियों की रचना चाहे वीर राजपूत में देश और धर्म की रक्षा के लिए मर मिटने वाली ओजस्विनी शक्ति प्रदान करने तथा कर्तव्यों के प्रति जागरूकता उत्पन्न करने के लिए हो अथवा कायर एवं मिथ्याभिमानी को लज्जित कर व्यंग तथा उपालम्भ के प्रभाव से उसकी रगों में सच्चा राजपूती जोश उत्पन्न करने के लिए हो, सदैव ही सद्‌भावना से उद्‌भूत होती। इतना ही नहीं, इस काल के कवियों की कविता में देश-प्रेम की सच्ची भावना स्पष्ट रूप से लक्षित होती है। अनेक प्रसिद्ध ऐतिहासिक घटनायें इसका प्रमाण हैं।

माधोजी सिंधिया ने राजपूतों का दमन करने की भावना से जोधपुर राज्य को अपने अधीन करने के लिए फ्रांसीसी डी. बोइने की अध्यक्षता में वि. सं. १८४७ में अपनी एक सेना भेजी। जोधपुर के महाराजा विजयसिंह के पास भी अनेक वीर सरदार थे जिन पर उनको विश्वास ही नहीं, पूर्ण गर्व भी था। इस अवसर पर महाराजा ने अपने वीर सरदार महेशदास के प्रति जो कुछ भावना प्रकट की वह उसकी वीरता का अच्छा प्रमाण है।[१] परन्तु यही वीर जब कि राठौड़ों की सेना मराठों से मेड़ता के पास मुकाबला कर रही थी तब महाराजा को लेकर कुछ अन्य सरदारों के साथ लौट कर आ गए, तब कवि तो मौन कैसे रह सकता था। उसने युद्ध से लौट आने वाले वीर सरदारों को देश-रक्षा हित चेतावनी देने के लिए तीक्ष्ण व्यंगोक्ति सुना ही दी—

आप भलांई आविया, सुवस वसावौ देस ।
जंबक ए क्यूं जीविया, 'आसौ', 'किसनौ', 'महेस' ।

यह व्यंगोक्ति महेशदास के हृदय पर तीर सी लगी। वह उलटे पैर रण-स्थल में लौट गया और वहीं राज्य-रक्षा हित बहादुरी के साथ लड़ते हुए अपने प्राणों की बलि दे दी। कवि उसकी अद्‌भुत वीरता की सराहना किए बिना नहीं रह सका।

आसांणी अंजस करै, अंजसै मुरधर देस ।
बल दिखणी रै ऊपरै, वणियौ वींद महेस ॥
म्हैस कहै सुण मेड़ता, सांची साख भरेस ।
कुण भिड़सी कुण भागसी, देखै जसी कहेस ॥
पग जड़िया पाताळ सूं, अड़िया भुज अमरेस ।
तन झड़िया तरवारियां, मुड़िया नहीं माहेस ॥

केवल सराहना तक ही उनकी कविता सीमित नहीं रही, अवसर आने पर सत्यता प्रकट करने के लिए स्पष्टोक्ति का भी प्रयोग किया। महेशदास के मरने पर उसका परिवार रक्षा हेतु देशनोक पहुंच गया। इधर आसोप ठिकाना सूना देख गच्छीपुरे के ठाकुर जगरामसिंह ने महाराजा के साथ सांठ-गांठ कर उसका पट्टा अपने नाम करा लिया। कवि को ज्ञात होने पर उसने दरबार में ही यह कह सुनाया—

मरज्यौ मती महेस ज्यूं, गाड बिचै पग रोप ।
झगड़ा में भाग्यौ जगौ, उण पायौ आसोप ॥

---

[१] दिखणी आयौ दळ सज दळां, पृथी भरावण पेस ।
कृपा तो बिन कुण करै, म्हारी मदत महेस ॥
सुख महलां नह सोवणौ, भार न झल्ले सेस ।
तो ऊभां दळ रा तणां, मुरधर जाय महेस ॥

कवित्त—हंस गमण राव रमण, निरम्मळ सारंग नैणी।
इम्रत वैण सव जांण, वदन चन्दा ग्रह वेंणी।
पतवरता पदमणी: सील सुन्दर सतवन्ती।
लछण महा लच्छिमी, जिसी गंगा पारवत्ती।
वड सती माल चाढ़त वड़म, जीव ग्रंग करती जुवा।
झेलती झाळ ग्राठूं दिसा, हार कण्ठ जू जू हुग्रा॥[1]

निस्सन्देह मध्ययुग में राजपूताने के वीर राजाओं ने अपूर्व देश-प्रेम और अद्भुत वीरता का परिचय दिया। राजाओं के आश्रित कवियों ने अपनी ओजस्विनी एवं शक्ति-शालिनी वाणी में उनकी वीरता का यशोगान किया है और उनकी प्रशंसा में ग्रंथों की रचना की है। उन्होंने इनके इस उज्ज्वल पक्ष का चित्रण करने में अतिशयोक्ति का भी सहारा लिया है परन्तु यह भी सत्य है कि उनके अन्य जीवन पक्षों पर भी वे मौन नहीं रहे। जहाँ कहीं कवियों ने वीरों तथा अपने आश्रयदाताओं की कायरता देखी है, उनमें झूठा गर्व पाया है, वहीं अपनी उसी प्रभावशाली वाणी में तीक्ष्ण फटकार के साथ उनकी भर्त्सना की है। इनके साहित्य में कायरों की हीनता और राजाओं के मिथ्याभिमान का चित्रण भी स्पष्ट रूप से मिलता है। हल्दी घाटी के युद्ध में महाराणा प्रताप को पराजित कर जयपुर नरेश मानसिंह उदयपुर पहुँचे और वहाँ पिछोले के तालाव में अपने घोड़े को पानी पिलाने लगे। घोड़ा पानी पी रहा था, उसी समय वे गर्व से वोले, 'वेटा नीला ! तुम तृप्त होकर पानी पिओ। या तो इस पिछोले में मंडोवर के राव जोधा राठौड़ ने ही राणा के वल को चूर्ण कर अपने घोड़े को पानी पिलाया या आज मैं महाराणा प्रताप के गर्व को खण्डित कर तुझे इस पिछोले में पानी पिला रहा हूँ।' इसी समय जयपुर निवासी जगावत शाखा का बारहठ 'किसना' भी जो मानसिंह का आश्रित कवि होने के कारण उस युद्ध में शामिल था, मानसिंह के घोड़े के साथ-साथ अपने घोड़े को भी पानी पिला रहा था। वह मानसिंह के थोथे गर्व के शब्दों को सहन नहीं कर सका और तत्काल ही मानसिंह को निम्नलिखित उपालम्भसूचक दोहा कह सुनाया।

'मांना' मन अंजसो मती, अकवर वळ आयाह।
'जोधै' जंगम आपणा पांणां वळ पायाह॥[2]

एक समय वीकानेर के महाराजा दलपतसिंह ने जहांगीर वादशाह की फौज के साथ युद्ध किया, तव उसी के राठौड़ साथियों ने उसे धोखा देकर वादशाह की फौज से मिल कर उसे कैद करा दिया। महाराजा को कैद कराने के वाद जव सभी राठौड़ अपने राज्य की ओर पुनः लौटे तव कवि इसे सहन न कर सका और उसने अपनी ओजस्वी वाणी में उन्हें स्पष्ट कह सुनाया—

फिट वीकां फिट कांधळां फिट जंगळ धर लेडां।
'दळपत' हुड ज्यूं वांधियौ, भाज गई भेड़ां॥[1]

मारवाड़ के महाराजा जसवंतसिंह प्रथम ने वादशाह शाहजहाँ की शाही सेना को लेकर औरंगजेव के विरुद्ध धरमत (उज्जैन) में युद्ध किया। युद्ध में विपरीत परिस्थितियों के कारण हार निश्चित समझ महाराजा के मंत्रियों ने उन्हें युद्ध से लौट कर मारवाड़ पहुंच जाने के लिए वाध्य कर दिया। युद्ध में सेना का भार रतलाम के राजा रतनसिंह ने संभाल लिया और महाराजा जसवंतसिंह मारवाड़ चले आये। उनके युद्ध से लौटने पर उनकी रानी ने तो किले के द्वार वंद करवाये ही पर कवियों ने भी उन्हें कायर राजपूत होने के अनेक उपालम्भ दिए। बारहठ नरहरदास कवि का ऐसा ही गीत हम उदाहरण के लिए यहाँ प्रस्तुत करते हैं जो निस्सन्देह कायर की रगों में भी वीरता की भावना भरने में पूर्ण समर्थ है।

गीत—महा मंडियौ जाग उज्जैण खागां मधै
रुदन विलखावती रही रोती।
हेळवी 'ग्रमर' री हीय करती हरख
'जसा' ग्रपछर रहीं वाट जोती॥
किया काचा 'ग्रमर' 'सूरहर' कळोधर
डरत गत न पीधौ फूल दारू।
वडा री भोळवी हूर आवी वरण
मेलती गई नीसास मारू॥
पाटवी हेळवी वेगमै पैलकै
तैं समै ग्रैलकै लीध टाळा।
पागती 'दलौ' नै 'रतन' परणीजतै
वाट जोती रही 'गजन' वाळा॥

---

[1] राजस्थान के ऐतिहासिक प्रवाद, पृ० ११०–१११

[2] चारण अखवार, सम्पादक : किशोरसिंह वारहठ, पृ० २५४

[1] विविध संग्रह, संकलनकर्ता : ठाकुर भूरसिंह, मलसीसर, पृ० १५२।

संत सम्प्रदाय जो तेरहवीं शताब्दी में महाराष्ट्र में विट्ठल सम्प्रदाय के रूप में रहा, वह धीरे-धीरे उत्तर भारत में आता हुआ पन्द्रहवीं शताब्दी में निर्गुण सम्प्रदाय के रूप में प्रचारित हुआ। इस निर्गुण सम्प्रदाय ही का प्रभाव राजस्थानी संतों पर पड़ा। यह लहर यहाँ स्वामी रामानन्द की शिष्य परम्परा के साथ प्रविष्ट हुई। इसके पूर्व यहां भारत के अन्य क्षेत्रों की भांति नाथ अथवा सिद्ध सम्प्रदाय का ही प्राधान्य रहा। इस सम्प्रदाय के प्रवर्तक मत्स्येंद्रनाथ माने जाते हैं, जिनके शिष्य गोरखनाथ हुए हैं। गोरखनाथ के सम्बन्ध में आज भी राजस्थान में बहुत से चमत्कारपूर्ण किस्से-कहानियां प्रचलित हैं। राजस्थान में नाथ जोगी संप्रदाय का प्रभाव काफी समय तक बना रहा। मारवाड़ राज्य में तो महाराजा मानसिंह के समय में राजकीय कागज-पत्रों, आज्ञाओं आदि के शिरो भाग पर जालंधरनाथजी का नाम भी लिखा जाने लगा। इसके अलावा अनेक स्थानों पर नाथों के मठ स्थापित हो चुके थे।

नाथ जोगी संप्रदाय के अन्तर्गत संत कवियों ने 'वांणियों' तथा 'सब्दी' का निर्माण किया। इनमें से जिसने भी किसी पद का निर्माण किया, उस पद को उसने अपने गुरु के नाम से ही प्रचारित किया। अधिकतर पद नाथ संप्रदाय के चमत्कारिक सिद्धों के नाम से ही बनाये गए हैं अतः यह पता लगाना अत्यंत कठिन है कि उनमें से कितने पद वास्तव में उनके गुरुओं द्वारा निर्मित हैं और कितने शिष्यों द्वारा। इसी संदिग्धता एवं उलझन के कारण इन नाथ संतों के साहित्यिक कृत्यों का ठीक ऐतिहासिक स्थान निर्धारित करना अत्यन्त कठिन है। इस सम्बन्ध में डॉ. हजारीप्रसाद द्विवेदी लिखते हैं—'गोरखनाथ के नाम पर जो पद मिले हैं वे कितने पुराने हैं, यह कहना कठिन है। इन पदों में से कई दादूदयाल के नाम पर, कई कबीर के नाम पर और कई नानकदेव के नाम पर पाये गए हैं। कुछ पद लोकोक्ति का रूप धारण कर गए हैं, कुछ ने जोगीड़ों का रूप लिया है और कुछ लोक में अनुभवसिद्ध ज्ञान के रूप में चल पड़े हैं। इन पदों में यद्यपि योगियों के लिए ही उपदेश हैं, अतएव इनमें भी उसी प्रकार की साधनामूलक बातें पाई जाती हैं जो इस प्रकार की रचनाओं का मुख्य प्रतिपादन है।'[1]

इस प्रकार की संदिग्धताओं के कारण ही इन नाथ-जोगी सम्प्रदाय के अधिकतर संतों की रचनाओं का राजस्थानी के ऐतिहासिक काल-निर्धारण में उचित स्थान देना संभव नहीं है। नाथ साहित्य के उदाहरण के लिए 'चरपट' नामक नाथ संत की रचना दी जा सकती है। इनका पूर्व का नाम श्री चरकानंद नाथ था। ये कहीं गोरखनाथ के और कहीं बालानाथ के शिष्य कहे गए हैं। इनकी कविताओं का एक उदाहरण डॉ. मोहनसिंह ने उद्धृत किया है, वह इस प्रकार है—

नृघु फटकि मनु गिग्रानि रता। चरपट प्रणिवै सिध मता।
बाहिरि उलटि भवन नहि जाऊ, काहे कारनि कांननि का चीरा खाउ।
बिभूति न लगाओ जिउतरि उतरि जाइ. खर जिउ घूड़ि लेटे मेरी बलाई।
सेली न बांधौ लेवौ ना भिगानी, ओढउं ना खिथा जो होइ पुरानी।
पत्र न पूजौ उड़ा न उठावौ, कुते की निआई मांगने न जावौ।
ग्रामी करि के भुगति न खाओ, सिंविआ देखि सिंगी न वजाओ।
दुआरि दुआरे घूआ न पाओ, भेखि का जोगी न कहावौ।

आनिमा का जोगी चरपट नाउ[1]

श्री रामकुमार वर्मा ने 'चरपट' के नाम से कविता का उदाहरण जो प्रस्तुत किया है वह निम्न है—

इक लाल पटा इक सेत पटा, इक तिलक जनेऊ लमक लटा।
जब लहीं अलटी प्राण घटा, तब चरपट भूले पेट नटा।
जब आवैगी काल घटा, तब छोड़ि जाइगे लटा पटा।
सुणि सिखवंती सुणि पतवंती, इस जग महि कैसे रहणां।
अंखी देखन कंणी सुनणा, मुख सों कछू न कहणां।
बकते आगे स्रोता होइ रहु, धौक आगें मस कीना।
गुरु आगे चेला होइबौ, एहा बात परवीना॥
मन महि रहना भेद न कहना बोलिबौ अम्रत बानी।
अगला अगन होइबा औधू, आप होइबो पांनी॥[2]

मेरे अपने संग्रह में 'चरपट' के नाम से एक 'सब्दी' संगृहीत है, उसकी भाषा का उदाहरण इस प्रकार है—

घिस घिस गई नाक की डांडी, अहार की कोथली नरग की कूंडी।
मन का बासा अजब तमासा, चम चस का हारत गुंजा।
गंधवी गंधजार बिजारा, चरपट चाला मांत जुहारी॥ १
चांम की कोथली, चांम का मूया, ताकी सरीत करी जग मूया।
देवैंगे भूप मांनी मांन जाता, कोई गुरु मुख एक ही चेतया।
'चरपट' कहै सुनो हो अंदो, कांमण संग न कीजै॥ २

[1] नाथ सम्प्रदाय, डॉ. हजारीप्रसाद द्विवेदी, पृष्ठ १८२

[1] पंजाब विश्वविद्यालय पुस्तकालय की ३७४ संख्या की हस्तलिखित प्रति से उद्धृत।

[2] हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास, प्रथम खण्ड, पृष्ठ ११६।

इस पर जोधपुर के महाराजा ने महेशदास के पुत्र को बुला कर पुनः आसोप का ठिकाणा उसके नाम कर दिया।[1]

ऐतिहासिक घटनाओं के आधार पर यह बात प्रसिद्ध है कि राजपूताने के वीर राजपूत अपनी मर्यादा की रक्षा के लिए शत्रुओं से लोहा लेने में पूर्ण प्रवल थे। परन्तु इसके साथ ही उनमें एक बहुत बड़ी कमजोरी भी थी, और वह थी उनकी पारस्परिक प्रतिद्वन्द्विता की दृढ़ भावना। इसी भावना ने उनकी अदम्य शक्ति का ह्रास कर दिया जिससे वे अत्यन्त बलशाली एवं वीर होते हुए भी अपनी स्वतंत्रता कायम रखने में सफल न हो सके। छोटा से छोटा शासक भी अपनी निजी स्वतंत्रता चाहता था। कोई भी राजा किसी अन्य राजा की अधीनता स्वीकार करना नहीं चाहता था। इसके साथ ही अपने बाहुबल के प्रभाव से अपने राज्य का विस्तार तथा अपनी वीरता की मान्यता भी चाहता था। इसी कारण इन राज्यों में भी परस्पर अनेक युद्ध हुए। जोधपुर और बीकानेर के राजा यद्यपि परस्पर भाई थे, फिर भी इन्होंने अनेक युद्ध किए। इसी प्रकार जयपुर जोधपुर व जयपुर बीकानेर के बीच भी युद्ध होते रहे। इस द्वेष की भावना के कारण कई बार वे राष्ट्रीय हितों को भी तिलांजली दे दिया करते थे, यद्यपि इसके अपवाद भी अनेक थे, तथापि कुछेक राजपूतों में इस पारस्परिक प्रतिद्वंद्विता की अति हो चुकी थी।

इस सम्पूर्ण राजनैतिक विवेचना के आधार पर यह मानना ही होगा कि मध्यकाल में राजस्थान विषम परिस्थितियों का अनुभव कर रहा था। ऐसी परिस्थितियों में अंकुरित, पोषित एवं संवर्धित होने के कारण इस काल का राजस्थानी साहित्य प्रधानतया वीररसात्मक ही रहा है। आगे यथास्थान इस काल के वीर साहित्य का संवत् अनुसार उल्लेख करेंगे।

जिस समय राजस्थान में सच्ची वीरता के दर्शन हो रहे थे और यहाँ के कविजन अपनी ओजस्विनी वाणी द्वारा वीरों में देश-प्रेम की भावना का उद्घोष कर अपनी लेखनी द्वारा उज्ज्वल चरित्रों का निर्माण कर रहे थे, उसी समय भारतीय जन-जीवन एक नवीन लहर का प्रभाव अनुभव कर रहा था। दक्षिण में प्रस्फुटित एवं विकसित होने वाली भक्ति-भावना जो बहुत पहिले से धीरे-धीरे उत्तरी भारत में आ रही थी, राजनैतिक परिवर्तनों एवं अनुकूल वातावरण के कारण व्यापक रूप से प्रसारित होने लगी। लगभग पन्द्रहवीं शताब्दी तक आते-आते उसका रूप काफी व्यापक हो चुका था। भक्ति की इस धारा ने उत्तरी भारत को, जो इस समय तक बाह्य आक्रमणों एवं अनेक युद्धों की विभीषिका से पूर्ण आतंकित हो चुका था, धर्म के क्षेत्र में भक्ति की ओर आकृष्ट किया। भारत में इस भक्ति-भावना के आविर्भाव के सम्बन्ध में डा. रामकुमार वर्मा ने लिखा है कि 'यह एक ऐतिहासिक सत्य है कि भक्ति का जन-व्यापी प्रभाव दक्षिण के अलवार[1] गायकों से ही ईसा की छठवीं शताब्दी में आरम्भ हो चुका था।'[2] प्रारम्भ में इसका प्रभाव दक्षिण में रहा परन्तु इस अविरल स्रोत का प्रवाह सीमित कैसे रह सकता था। अतः धीरे-धीरे परिस्थिति अनुकूल परिवर्तनों के साथ विस्तृत क्षेत्र में व्यापक होता ही गया। प्रारम्भिक स्थिति में गीतों की लोकप्रियता के कारण भक्ति का रागात्मक रूप ही अधिक प्रिय रहा, परन्तु आठवीं शताब्दी में शंकराचार्य ने 'अहं ब्रह्मास्मि' कह कर अद्वैतवाद का सिद्धान्त प्रतिपादित किया। इसके प्रभाव से वैष्णव भक्ति में कुछ काल के लिए अवरोध अवश्य आ गया परन्तु इसके बाद ही श्री रामानुजाचार्य, श्री माध्वाचार्य, श्री निम्बार्काचार्य तथा श्री वल्लभाचार्य ने अपने-अपने संशोधन के साथ क्रमानुसार विशिष्टाद्वैत, द्वैताद्वैत, द्वैत और शुद्धाद्वैत सिन्द्धातों का प्रतिपादन कर वैष्णवों के चार संप्रदायों की स्थापना की। रामानन्द ने रामानुजाचार्य के भक्ति-सिद्धान्तों का उत्तर भारत में अधिकाधिक प्रचार किया। इस भक्ति धारा के उचित प्रभाव के फलस्वरूप ही विदेशी धर्मों के विरुद्ध भारतीय हिन्दू धर्म स्थिर रह सका।

स्वामी रामानन्द, भक्त नामदेव तथा संत ज्ञानेश्वर आदि के पर्यटन एवं धार्मिक प्रचारों से दक्षिण की भक्ति लहर लगभग पन्द्रहवीं शताब्दी तक उत्तरी भारत में व्यापक रूप से प्रवाहित हो चुकी थी। ऐसे समय में राजस्थान भी इसके प्रभाव से अछूता कैसे रह सकता था। दक्षिण का प्रारंभिक

---

[1] जोधपुर राज्य का इतिहास, भाग २, गौरीशंकर हीराचंद ओझा, पृष्ठ ७५३ का फुट नोट।

[1] हिन्दी साहित्य कोश में 'आलवार' जाति बताया गया है।
[2] हिन्दी साहित्य, द्वितीय खण्ड, धीरेन्द्र वर्मा तथा व्रजेश्वर वर्मा, पृ. १६०।

जन-जीवन में आत्मज्ञान का प्रतिबोध कराया है। संत लोग सत्संग-प्रेमी होने के कारण पर्यटन भी अधिक करते थे, इसी कारण उनकी रचनाओं में समीपवर्ती बोलियों तथा भाषाओं का प्रभाव पाया जाना स्वाभाविक ही है। इस युग के संतों की वाणियां ग्रंथों के रूप में उपलब्ध हैं। हम संवत्क्रम से यथा-स्थान इनका उल्लेख करेंगे।

संतों के अतिरिक्त इस काल के अन्य राजस्थानी कवियों ने भी भक्ति साहित्य की रचना कर साहित्य-वृद्धि में योगदान देकर अपनी भक्ति का परिचय दिया है। इन कवियों में प्रमुखतया चारण एवं जैन कवि ही हैं। अनेक साहित्यकार यह कह कर राजस्थानी भक्ति साहित्य की महत्ता कम कर देते हैं कि इस युग में वातावरण की अनुकूलता के अभाव में डिंगल काव्य-निर्माता भक्ति साहित्य का निर्माण नहीं कर सके। डॉ. जगदीशप्रसाद श्रीवास्तव का उनके शोध प्रबन्ध 'डिंगल साहित्य'[1] में यह मत कि मध्य युग में राजनैतिक अव्यवस्था एवं संघर्षमय वातावरण में कवियों का भक्ति रस की कविता सुनाना बेवक्त की शहनाई होता, उचित प्रतीत नहीं होता। साहित्य राजाओं का न होकर जनसाधारण का होता है। तत्कालीन अनेक आश्रित कवियों की भक्ति सम्बन्धी रचनायें स्वतः इनके मत के विरोध में अपना प्रमाण प्रस्तुत करती हैं। इन कवियों ने डिंगल के वीर काव्यों की रचना के साथ-साथ ही भक्ति सम्बन्धी रचनायें की हैं। उदाहरण के लिए प्रसिद्ध कवि ईसरदास को ही लें। ये कई राजाओं के पास रहे और इन्होंने 'हालां झालां रा कुंडळिया' नामक वीर ग्रंथ की रचना की। इसके अतिरिक्त इनके अनेक वीर गीत भी प्राप्त होते हैं। वीर रस की रचना के साथ इनके भक्ति रस के भी ग्रंथ उपलब्ध हैं जिनके नाम—१. हरिरस, २. छोटा हरि-रस, ३. बाल लीला, ४. गुण भागवत हंस, ५. गरुड़पुराण, ६. गुणआगम, ७. निंदास्तुति, ८. रासकैलास, ९. वैराट, १०. देवियांण आदि हैं। हरिरस की प्रसिद्धि में कवि केसोदास गाडण का कहा हुआ दोहा यहाँ देना पर्याप्त होगा—

नग माळकी जोग, अघ दावानळ ऊपरां।
गनिवी 'रोहड़' रांग, समंद 'हरी रस' सूरवत ॥

[1] देखो—पृष्ठ १८७

कवि जग्गा खिड़िया अपनी वीर रस की रचना 'रतन महेशदासोत री वचनिका' के लिए प्रसिद्ध है ही, परन्तु इन्होंने शान्त रस की भी रचना की है, जिसके लगभग १४० छप्पय कवित्त हमें प्राप्त हुए हैं। उदाहरण के लिए उनका एक छप्पय कवित्त यहां प्रस्तुत है—

जिके जपै हरि जाप, जिके वैकुंठ सिधावै।
जिके जपै हरि जाप, उदर फिर कदे न आवै ॥
जिके जपै हरि जाप, जियां मन नांसौ भग्गै।
जिके जपै हरि जाप, जियां जम लत्त न लग्गै ॥
क्रमबंध पाप जावै कटे, उर परम्म धरतां अगा।
एतौ प्रताप हरि जाप रौ, जाप ज जनि भूलै जगा ॥

प्रसिद्ध अल्लूजी कविया को ही लीजिये। ये भी चारण कवि थे जो इस काल में शांत रस की रचना के लिए प्रसिद्ध हो चुके हैं। इन्होंने रामावतार एवं कृष्णावतार सम्बन्धी रच-नायें की हैं। इनकी भक्ति-भावना निम्न उदाहरण से स्पष्ट हो जाती है। इनके रचे हुए १६० भक्ति सम्बन्धी छप्पय कवित्त मिलते हैं।

कवित्त—जेथ नदी जळ वहळ, तेथ थळ विमळ उल्टै।
तिमिर घोर अंधार, तेथ रविकरण प्रकट्टै ॥
राव करीजे रंक, रंक ले सिर छत्र धरीजै।
'अलू' तास विसवास आस कीजै सुमरीजै ॥
चख लिए अंध पंगु चलण मुनि सिद्धायत वयण।
तो करत कहा न हुवै नारायण पंकज नयण।

भक्ति रस की रचना के साथ-साथ इन्होंने भी वीर रस में कई गीत कहे हैं।[1] इनके अतिरिक्त भी अनेक चारण कवि हुए हैं जिन्होंने इस काल में शान्त रस की रचना कर भक्ति साहित्य की महिमा बढ़ाई है।[2] संवत् क्रम से जहां इस युग के

[1] गीत सूरजमल हाडा रौ—

अकआंणे पगे अंगि उघाड़ै, विणि हथियारां वस्त्र विणि,
जेसाहरो दिगंबर जाणै, जातौ दीठौ घणे जणि
बटुओ तेग कटारी बीटी, खाटी रडे उपरै खाट।
मुड़तौ आन्वड़तौ सूरजमल, विण पैठौ छांडै त्रिवाट ॥
मछरीकै आये सूरिजमल्ल, भुजि उड़े न कियौ भाराथ।
हाके न मिळियौ हाथूकै, ह नियौ ऊंट लगाड़े हाथ ॥

[2] चौमुख[1] चौरा[2] चंड[3] जगत ईस्वर[4] गुन जानें।
करमानंद[5] अोर कोल्ह[6] अलू[7] अक्षर परवानें।
माधौ[8] मथुरा[9] मध्य साधु जीवानंद[10] सींवा[11]।

उपरोक्त तीन उदाहरणों से यह स्पष्ट है कि चरपट के नाम से जिन कविताओं का उल्लेख किया जाता है उनकी भाषा में कितना अंतर है। तब यह सहज ही अनुमान किया जा सकता है कि इन नाथ जोगी सम्प्रदाय के संतों के नाम जो 'सब्दियां' मिलती हैं वे उनके नाम से बाद में उनके शिष्यों द्वारा लिखी गई हों। प्रामाणिकता के अभाव में उनका महत्व न्यून रह जाता है। अत: इस प्रकार के उदाहरणों की विवेचना इस निबन्ध में उपयोगी सिद्ध नहीं होगी।

नाथ सम्प्रदाय अपने काल का एक मुख्य सम्प्रदाय था और इसके नाथों तथा सिद्धों की हठ तथा योग-क्रियाओं का अपना विशेष महत्व था। परन्तु इनकी यह योग मार्ग की साधना इनके शिष्यों तक ही सीमित रह गई। धार्मिक दृष्टि से गोपनीय एवं कष्टसाध्य होने के कारण जन-साधारण को अपनी ओर आकृष्ट न कर सकी। यह साधना किसी भी प्रकार से लोक-जीवन की आध्यात्मिक निष्ठा तथा भक्ति-भावना से उत्प्रेरित करने में समर्थ न हो सकी। समय की गति के साथ इसका भी विकास होता रहा और कालान्तर में जो संत सम्प्रदाय हमारे समक्ष आया वह इसी का विकसित रूप था। यद्यपि संत सम्प्रदाय इसके विकास की एक स्वतंत्र कड़ी थी और योग का अभ्यास इसकी साधना का अंग बना, तथापि इस युग में उत्तर भारत में व्यापक रूप से प्रवाहित होने वाली भक्ति-धारा भी इस संप्रदाय की साधना का अंग बन गई।[1]

राजस्थान में भक्ति धारा के व्यापक प्रवाह का श्रेय संत सम्प्रदाय को ही है। उत्तर भारत में स्वामी रामानन्द द्वारा प्रतिपादित एवं प्रचारित धार्मिक सिद्धान्तों का प्रभाव यहां के संतों पर भी पड़ा और इसी के परिणामस्वरूप उनकी शिष्य परम्परा यहां आरम्भ हो गई। संतों ने अवश्य ही अपनी निर्गुण वाणी द्वारा जन-साधारण में भक्ति-धारा बहाई परन्तु इस क्षेत्र में यहां के सिद्ध पुरुषों का जो हाथ रहा वह भुलाया नहीं जा सकता। आलोच्य काल के पूर्व इन सिद्ध पुरुषों ने ही अपने आत्मबल के प्रभाव से राजस्थान के लोक जीवन में भक्ति-भावना एवं आध्यात्मिक निष्ठा की प्रथम किरण जागृत की। इन सिद्ध पुरुषों में यहां के पांच पीर के नाम से प्रसिद्ध पांच वीर पुरुष हो चुके हैं जिनके नाम—(१) पाबूजी राठौड़ (२) रामदेवजी तंवर (३) हड़बूजी सांखला (४) मेहाजी मांगलिया और गोगाजी चौहान। ये सिद्ध पुरुष नाथों की भांति योगमार्गी नहीं थे, अपितु दृढ़ हिन्दू वीर थे। सम्भवत: मुसलमानों के प्रभाव से इनके साथ पीर शब्द जुड़ गया है। इनकी प्रसिद्धि में यह दोहा प्रचलित है—

पाबू हड़भू रांमदे, मांगलिया मेहा।
पांचूं पीर पधारज्यौ, गोगा दे जेहा॥

इन वीरों ने जन-साधारण के कष्टों को समझा और उनसे छुटकारा दिलाने के लिए पूर्ण प्रयत्न किया। यही नहीं, उनकी जीवन-रक्षा एवं धर्म-रक्षा के लिए समय आने पर उन्होंने अपने प्राणों की बलि भी दे दी। इसीलिए समाज में इनके प्रति अटूट श्रद्धा जागृत हो चुकी थी। ऐसे ही सिद्ध पुरुषों में मारवाड़ के राठौड़ राव सलखाजी के पुत्र मल्लीनाथजी तथा उनकी पत्नी रूपांदे का भी नाम लिया जा सकता है। इसी श्रेणी में जाखड़ जाट वीर तेजा को भी नहीं भुलाया जा सकता। इनकी मान्यता धीरे-धीरे राजस्थान के बाहर भी होने लगी। इनके नाम पर लोग 'जम्मे' लगाने लगे। जनता में इनके प्रति श्रद्धा इतनी बढ़ गई कि स्थान-स्थान पर इनके 'देवरे' बन गए। यही वह समय था जब कि स्वामी रामानन्द की भक्ति संबन्धी विचारधारा यहां पनप रही थी। स्वामी कृष्णदास पयहारी के राजस्थान में आने के पश्चात् काफी संत उनकी शिष्य परम्परा में आ गए और भक्ति-धारा को प्रबल बनाने लगे।

राजस्थान में संतों ने निर्गुण पक्ष को लेकर ही अपनी वाणियों की रचना की है। यद्यपि जन-साधारण में सगुणोपासना प्रचलित थी और लोग मन्दिरों आदि में देव-दर्शन और पूजा आदि करने में विश्वास रखते थे, तथापि भक्ति-सम्बन्धी जो भी रचनायें हुई, निर्गुणोपासना की ही हुई। इस युग में केवल मीरां को छोड़ सगुण भक्ति सम्बन्धी किसी अन्य भक्त कवि की रचनायें प्राप्त नहीं होतीं। संत लोग मुख्यत: स्वानुभूति की अभिव्यक्ति एवं आत्म-ज्ञान की प्रेरणा हेतु वाणियों की रचना करते और उन्हें सत्संग में गाते। इन्होंने सदैव जीवन के जटिल प्रश्नों पर व्यावहारिक रूप से विचार किया है और वाणियों के सहारे अपनी भावाभिव्यक्ति द्वारा

---

[1] हिन्दी साहित्य, द्वितीय खण्ड, डॉ. धीरेन्द्र वर्मा, ब्रजेश्वर वर्मा; संत काव्य, डॉ. रामकुमार वर्मा, पृ. २०७।

(३) ऐतिहासिक काव्यः—

(i) पद्य—

१. चरित्तनायकों के नाम पर—

(क) रास– रायमल रासौ, रतन रासौ, रांणा रासौ आदि ।

(ख) प्रकास– राजप्रकास, सूरजप्रकास, भीमप्रकास आदि ।

(ग) विलास– राजविलास, जगविलास, रतनविलास आदि ।

(घ) रूपक– रघुनाथरूपक, राजरूपक, रतनरूपक, महाराज गजसिंहजी रौ रूपक आदि ।

(ङ) वचनिका– अचळदास खीची री वचनिका, राठौड़ रतनसिंह महेसदासोत री वचनिका आदि ।

(च) वेल (वेलि)– राजकुमार अनोपसिंहजी री वेल, राजा रायसिंहजी री वेल, रूपांदे री वेल आदि ।

२. छंदों के आधार पर—

(क) नीसांणी– नीसांणी वीरमांण री, गोगैजी चहुवांण री नीसांणी, आंदेर रा महाराज प्रताप-सिंघजी री नीसांणी आदि ।

(ख) झूलणा– सोढ़ां रा गुण झूलणा, राजा गजसिंघ रा झूलणा, अमरसिंहजी रा झूलणा आदि ।

(ग) झमाल– वीदावत करमसेण हिमतसिंघोत री झमाल, आदि ।

(घ) गीत– सीवलां रा गीत, पंवारां रा गीत, जाड़ेचां रा गीत आदि ।

(ङ) कुंडळिया– हालां झालां रा कुंडळिया, सगरांमदास रा कुंडळिया आदि ।

(च) कवित्त (छप्पय)– महाराज अभैसिंहजी रा कवित्त, पंवार अखैराज रा कवित्त, राठौड़ रतनसी रा कवित्त, महाराज गजसिंहजी रा निरवांण रा कवित्त ।

(छ) दूहा (सोरठा)– पाबूजी रा दूहा, राव अमरसिंहजी रा दूहा, लाखै फूलांणी रा दूहा आदि ।

(ii) गद्य—

(क) ख्यात– सीसोदियां री ख्यात, राठौड़ां री ख्यात, कछवाहां री ख्यात, मुहणोत नैणसी री ख्यात आदि ।

(ख) वात– रांणै उदैसिंह री वात, हाडे सूरजमल री वात, राव वीकैजी री वात, जैसलमेर री वात आदि ।

(ग) विगत– गैहलोतां री चौवीस साखां री विगत, कछवाहां सेखावतां री विगत, जोधपुर-बीकानेर टीकायतां री विगत आदि आदि ।

(घ) पीढ़ी– ईडर रा धणी राठौड़ां री पीढ़ियां, हमीरोत भाटियां री पीढ़ियां ।

(ङ) वंसावळी– राठौड़ां री वंसावळी, राजपूतां री वंसा-वळी, जैसलमेर भाटी महारावळ री वंसा-वळी आदि ।

(iii) प्रकीर्ण काव्य—

(क) देश-भक्ति, देशों का नैसर्गिक वर्णन ।

(ख) अश्व-प्रशंसा ।

(ग) उष्ट्र-प्रशंसा ।

(घ) शस्त्र-प्रशंसा ।

(ङ) शृंगार रस की प्रकीर्ण कवितायें

(च) सिलोका (ब्राह्मणीय)

(iv) अनुवाद-टीकाएँ, रूपान्तर आदि—

(i) धार्मिक ग्रंथों का– भागवत का अनुवाद, गीता का अनुवाद आदि ।

(ii) अन्य ग्रन्थों का अनुवाद– नीति मंजरी आदि ।

(v) शास्त्रीय साहित्य—

(i) धर्म शास्त्र

(ii) ज्योतिष शास्त्र

समानता नहीं है। गीतों में इतिहास की अनन्य और अक्षय सामग्री भरी पड़ी है। ऐसा कोई भी वीर, जुझार या त्यागी पुरुष नहीं हुआ होगा जिस पर एक-आध गीत न बने हों। जिन पुरुषों और घटनाओं को इतिहास ने भुला दिया है, उनकी स्मृति को गीतों ने ही सुरक्षित रखा है।' राजस्थानी भाषा और साहित्य—डॉ० हीरालाल माहेश्वरी, पृष्ठ ७२

कवियों का उल्लेख किया जायगा वहाँ अन्य कवियों तथा उनके ग्रंथों का भी उल्लेख करेंगे।

इस प्रकार हम देखते हैं कि इस मध्यकाल में कवियों की ओजस्विनी वाणी में वीर रस का स्रोत दहा है वहां संतों एवं भक्त कवियों द्वारा भक्ति रस की भी धारा प्रवाहित हुई है। इन दोनों धाराओं के साथ आदिकालीन शृंगारिक धारा भी नियमित रूप से बहती चली आई है। उसमें किसी प्रकार का विक्षेप नहीं आया। मध्ययुग में वीर, भक्ति और शृंगार की निरन्तर प्रवाहित होने वाली इस त्रिवेणी के प्रभाव से ही श्रेष्ठ एवं प्रचुर साहित्य उपलब्ध हुआ है।

आदिकाल की भांति मध्यकाल में भी साहित्य-रचना में जैन विद्वानों का प्रचुर मात्रा में सहयोग रहा है। श्री अगरचन्द नाहटा ने अपने एक लेख में लिखा है कि 'राजस्थानी साहित्य का निर्माण सबसे अधिक चारणों ने किया है, यह माना जाता है। पर, वास्तव में जैन विद्वानों ने गद्य और पद्य में जितने बड़े साहित्य का निर्माण किया है उसकी तुलना में चारण कवियों की रचनायें परिमाण में आधी भी नहीं होंगीं। मेरे ख्याल से १० लाख से भी अधिक श्लोक परिमाण वाला राजस्थानी साहित्य केवल जैन विद्वानों द्वारा रचित ही है। तीन-चार कवि तो ऐसे हो गये हैं जिनमें से एक-एक व्यक्ति ने लाख श्लोक से भी अधिक परिमाण की रचना की है।' वास्तव में राजस्थानी साहित्य बहुत अंशों में जैन विद्वानों का ऋणी है। इस काल की भी इनकी अनेक रचनायें उपलब्ध हैं। इन विद्वानों ने साहित्य-रचना के साथ-साथ पूर्व रचित साहित्य को सुरक्षित रखने की भी व्यवस्था की। अपनी तथा अन्य कवियों की रचनाओं की प्रतिलिपियां भी उन्होंनें खूब कीं। उनके सद्-प्रयत्नों के परिणामस्वरूप ही आज जैन भंडारों में राजस्थानी साहित्य के अनेक अमूल्य ग्रंथ उपलब्ध हैं। जैन विद्वानों ने धार्मिक रचनाओं के अतिरिक्त अन्य जीवनोपयोगी विषयों पर भी अपनी लेखनी चलाई है। उनके धार्मिक ग्रंथों का भी साहित्यिक दृष्टि से मूल्यांकन करना आवश्यक है। कोरे धार्मिक ग्रंथ कह कर उनकी उपेक्षा नहीं की जा सकती। जैन विद्वानों की प्रवृत्ति संकीर्ण कभी नहीं रही। अतः उनकी धार्मिक रचनाओं को साहित्य में विवेच्य योग्य न मानने की भावना उचित प्रतीत नहीं होती। इस काल की महत्वपूर्ण रचनाओं का उल्लेख संवत् क्रम में यथास्थान किया जायेगा।

ऊदा[१२] नारायनदास[१३] नाम मांडन[१४] तन ग्रीवा।
चौरासी रूपक चतुर चवत वांनी जूजुवा।
चरन सरन चारन भगत हरि गायक एता हुवा।

(नाभादास)

कालक्रम से समस्त साहित्य की विवेचना के पूर्व इस युग में साहित्य की बहुलता के कारण पद्य एवं गद्य में जो विविध रूपता प्रकट हुई उसकी व्याख्या को स्थान देना कुछ सीमा तक उचित ही होगा। आदिकाल की विवेचना में जैसा कि हम बता आये हैं कि राजस्थानी साहित्य का प्रारम्भिक रूप श्रुति-निष्ठ साहित्य के रूप में ही था। प्रारम्भिक काल में इसी का उपयोग अधिक था। दसवीं ग्यारहवीं शताब्दी में इसके साथ-साथ लिपिबद्ध साहित्य भी प्राप्त होने लगा। मध्यकाल में लिपिबद्ध साहित्य का विकास अधिकाधिक हुआ। लिपिनिष्ठ साहित्य की प्रचुरता एवं विविधता के कारण ही मध्यकाल राजस्थानी साहित्य का स्वर्ण युग कहलाता है। श्रुतिनिष्ठ साहित्य भी यथाविधि अपने क्षेत्र में चलता रहा। दोनों ही प्रकार के साहित्य के विभिन्न अंगों को, जो इस काल में प्रचलित हो चुके थे, सूची के रूप में यहां प्रस्तुत करते हैं—

(१) श्रुतिनिष्ठ साहित्य—
  १. पंवाड़ा
  २. पड़ें (फड़ें)—यथा पाबूजी री पड़, बगड़ावतां री पड़ आदि।
  ३. कहानियां
  ४. वातें
  ५. लोक गीत
  ६. चरजा
  ७. भजन (हरजस)

(२) लिपिनिष्ठ या लिखित साहित्य—
  १. गीत (फुटकर)[१]

[१] 'गीत' डिंगल साहित्य की विशिष्ट देन है, जिसका जोड़ अन्य भारतीय आर्य भाषाओं, हिन्दी, पंजाबी, गुजराती, सिंधी आदि में नहीं मिलता। गीत एक प्रकार की छोटी सी कविता है जिसमें प्रायः चार दोहले होते हैं। ये गीत गाने की चीज नहीं हैं। एक लय विशेष से, ऊंचे स्वर में इनका पाठ किया जाता है। ध्यान रखने की बात है कि पिंगल के पद-साहित्य और डिंगल के गीत-साहित्य में

वीरमदेव की मृत्यु संवत् १४४० में हुई थी।[1] इसके रचना-काल में काफी मतभेद है। स्वयं श्री मेनारिया ने भी परस्पर विरोधी विचार प्रकट किए हैं। एक स्थान पर उन्होंने इसका रचना काल संवत् १४४० लिखा है[2] तथा दूसरे स्थान पर लिखते हैं—'परन्तु जैसा कि कुछ लोग मान बैठे हैं, यह वीरमजी की समकालीन रचना नहीं है। कोई अठारहवीं शताब्दी के मध्य में यह रची गई है।'[3] ग्रंथ का आधार ऐतिहासिक है जिसकी पुष्टि ऐतिहासिक ग्रंथों से हो जाती है। इसमें राव वीरम के द्वितीय पुत्र चूंडा के विवाह तथा दहेज में मंडोर-प्राप्ति का उल्लेख है।[4] ऐतिहासिक तथ्यों के अनुसार मंडोर पर चूंडा का अधिकार संवत् १४५१ में हुआ था।[5] ग्रन्थ में राव वीरम के पुत्र गोगे का जोइयों के साथ किए गए युद्ध का वर्णन भी है।[6] श्री विश्वेश्वरनाथ रेऊ के अनुसार गोगा का जन्म संवत् १४३५ तथा स्वर्गवास संवत् १४५९-६० में हुआ था।[7] अतः ग्रन्थ की रचना संवत् १४६० के पश्चात् ही किसी समय हुई होगी। ग्रंथ में स्वयं कवि ने अपनी ओर से कहीं पर भी रचना काल नहीं लिखा है। यह ग्रंथ पन्द्रहवीं शताब्दी की रचना अवश्य है परन्तु यह श्रुतिनिष्ठ साहित्य के रूप में ही एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी को हस्तांतरित होता रहा, अतः भाषा में परिवर्तन होना स्वाभाविक ही है। प्रतिलिपियाँ जो भी प्राप्त हैं वे बहुत समय पश्चात् की हैं अतः उनकी भाषा के आधार पर इस रचना का काल निर्धारित नहीं किया जा सकता। डॉ० माहेश्वरी ने इसका रचना-काल संवत् १५०० के लगभग माना हैं।[8] कुछ लोगों ने भ्रमवश वीरमायण के रचयिता का नाम रामचंद्र लिख दिया है[1] जो ठीक नहीं है, क्योंकि स्वयं कवि ने ग्रंथ में अपना नाम बादर ढाढ़ी ही बताया है—

> सामां वीरम सारका विरा ऊभा कीला।
> बादर ढाढ़ी बोलीयौ, नीसांणी गला ॥[2]

इसकी प्राचीनता के सम्बन्ध में एक बात और उल्लेखनीय है कि इसी काल में लिखी जाने वाली राठौड़ों की ख्यातों में 'वीरमायण' के अनेक दोहों तथा उक्तियों का प्रयोग हुआ है। जिन्होंने आगे चल कर कहावतों का रूप ले लिया।[3] इन ख्यातों की रचना के सम्बन्ध में अनेक इतिहासकारों ने यह मान लिया है कि ख्यातों का लिखा जाना लगभग अकबर के शासन-काल में प्रारम्भ हो चुका था। पूर्वकाल से मौखिक रूप में हस्तांतरित होने के कारण ही यह प्रयोग सम्भव हो सका है।

ग्रंथ की भाषा ओज-गुण-सम्पन्न बोलचाल की राजस्थानी है—

> दिल्ली सूं चढ़ीया दुजल, गोगी सुरतांणा।
> वाज छतीमूं ई बाजतां, नांबत नीसांणा।
> मांडळ मूं महमंद चढ़े, खांमंद खुरसांणा।
> सातूं लोपी सायरां, जळ पाजा जांणा।
> इण विध महमंद आवियौ, कीवा घमसांणा।
> हजरत वे भेळा हुआ, पूरब पिछमांणा।
> घर बेहूं मोटा बहत, छोटा रहमांणा।
> खोज गमाड़ण खूनीयों, जोड़े जमरांणा।
> रीस करै ज्यों रोळवे, बोले महरांणा।

चानण खिड़ियौ—चानण खिड़ियौ राव रणमल का समकालीन कवि था। संवत् १४९५ का इनका गीत उपलब्ध है। कवि ने जिस भाषा का प्रयोग किया है उसके उदाहरण के लिए एक गीत यहाँ दिया जाता है—

> अपूरव वात सांभळी ऐही, रिम चूके अित दिन रयण।
> सूतें तेहिज काढ़ी सुजड़ी, जागत काढ़ें बगा जण ॥
> चूक हुवे केइक चीतारै, वाहै केइ वहंतै वाढ़ि।
> पोढ़िया रयण जेम प्रतमाळी, कद ही कोइ न सकियो काढ़ि ॥

---

[1] जोधपुर राज्य का इतिहास, भाग १, 'राव वीरम' शीर्षक के अंतर्गत।

[2] (क) राजस्थानी साहित्य की रूपरेखा—डॉ. मोतीलाल मेनारिया, प्रथम संस्करण, परिशिष्ट के अंतर्गत, पृष्ठ २२१।
(ख) डिंगल में वीर-रस—डॉ. मोतीलाल मेनारिया, भूमिका, पृष्ठ ३६।

[3] राजस्थानी भाषा और साहित्य—डॉ. मोतीलाल मेनारिया, पृष्ठ १७०

[4] देखो 'वीरमायण', नीसांणी ९९।

[5] 'मारवाड़ का इतिहास' श्री विश्वेश्वरनाथ रेऊ—प्रथम भाग, पृष्ठ ६१ पर फुटनोट में दी गई टिप्पणी।

[6] देखो 'वीरमायण', नीसांणी १०१।

[7] 'मारवाड़ का इतिहास' श्री विश्वेश्वर नाथ रेऊ—प्रथम भाग, पृष्ठ ५६-५७ पर फुटनोट में दी गई टिप्पणी।

[8] राजस्थानी भाषा और साहित्य—डॉ० हीरालाल माहेश्वरी, पृष्ठ ७६।

---

[1] मारवाड़ का मूल इतिहास—ले० पं. श्री रामकरण आसोपा, पृष्ठ ८७।

[2] देखो—'वीरमायण', नीसांणी ८०।

[3] क. हमारे संग्रह में 'राठौड़ों की ख्यात'।
उ०— तेरे तूंगा भांजिया माले सलखांणी।
ख. मारवाड़ का संक्षिप्त इतिहास, पं० श्री रामकरण आसोपा, पृष्ठ ८२।

(iii) शकुन शास्त्र
(iv) शालिहोत्र
(v) वृष्टि विज्ञान
(vi) तत्वज्ञान
(vii) नीति शास्त्र
(viii) आयुर्वेद शास्त्र
(ix) कोक सार

राजस्थानी साहित्य के सम्बन्धं में उपरोक्त वर्गीकरण अपने में पूर्ण नहीं है, फिर भी इससे राजस्थानी साहित्य की एक दृष्टि में झलक तो अवश्य ही मिल जाती है। उपर्युक्त समस्त विवेचन के पश्चात् अब हम मध्यकालीन पद्य साहित्य का संवत्-क्रम से शताव्दी अनुसार वर्णन करेंगे।

मध्यकाल के आरम्भ में वीररसात्मक काव्यों में शुद्ध डिंगल का प्रयोग होने लगा था। इसके साथ-साथ भाषा का संगठन भी कुछ अधिक उच्च स्तर प्राप्त करता जा रहा था। किन्तु जैन साहित्य में उस समय भी प्राकृत एवं संस्कृत का प्रभाव कुछ-कुछ दृष्टिगोचर हो रहा था।

जयशेखर सूरि– सर्व प्रथम संवत् १४६२ में जयशेखरसूरि कृत त्रिभुवनदीपकप्रवन्ध, नेमिनाथ फागु तथा अर्वुदाचल-वीनत रचनायें प्राप्त होती हैं।

हीरानंद सूरि– संवत् १४८५ में पींपलगच्छ के हीरानंद सूरि ने 'वस्तुपाल तेजपाल' नामक ग्रन्थ की रचना की। इसी समय के उनके लिखे हुए 'विद्याविलास पवाड़ा' के उदाहरण से उस समय की भाषा का ज्ञान हो सकता है—

तिणि पुरि निवसइं सेठि धनावह धम्मी नइ धनवंत।
पदम सिरी तस घरणी भणीइ सहि जिइं अति गुणवंत॥
तस घरि नंदन च्यारि निरूपम पहिलउ धुरि घनसार।
बीजउ वंधव वहु गुण वोलइ बुद्धिवंत गुण लार॥
त्रीजु मूरति वंत (गुण) सागर, सागर जेम गंभीर।
चउथउ वंधव सुणि घन सागर समर ससाहस धीर॥

उपरोक्त कविता में संस्कृत और प्राकृत के तत्सम और तद्भव शब्दों को लेने की प्रवृत्ति स्पष्टतः लक्षित होती है।

यह परिपाटी चारण साहित्य में, जो इस काल में प्रचुर मात्रा में प्राप्त है, नजर नहीं आती। उनके द्वारा सुसंगठित डिंगल भाषा के प्रयोग के कारण ही इस समय से काल-विभाजन किया गया है।

सिवदास गाडण– संवत् १४८५ में ही चारण कवि सिवदास रचित वीर काव्य 'अचळदास खीची री वचनिका' प्राप्त होती है। चारण कवियों की रचना में प्रथम ग्रन्थ होने तथा मध्य-काल का प्रथम वीररसात्मक ग्रन्थ होने के कारण इसका महत्व वहुत अधिक है। मालवा के वादशाहों की तवारिख में लिखा है कि सन् १४२३ ई. (संवत् १४८०) में हुशंग गोरी ने चढ़ाई कर के गागरौण को फतह किया था। डॉ. तैस्सितोरी ने इस ग्रन्थ की रचना को इस युद्ध की समकालीन रचना वतलाया है।[1] ग्रन्थ की भाषा सुगठित स्वतंत्र राजस्थानी का उदाहरण है।

सातलसोम हमीर कन्ह, जिम जौहर जालिय।
चढ़िय खेति चहवांण, आदि कुळवट्ट उजाळिय॥
मुगत चिहुर सिरि मंडि, वपि कंठि तुळसी वासी।
भोजाउति भुजवळहिं, करिहि करिमर कळासी॥
गढ़ि खंडि पड़ंति गागुरणि, दिढ़ राखे सुरितांण दळ।
संसारि नांव आतम सरिग, अचळि वेवि कीधा अचळ॥

वादर ढाढ़ी– इसी शताव्दी में ढाढ़ी जाति के कवियों का भी अच्छा सहयोग रहा। डॉ. रामकुमार वर्मा ने ढाढ़ियों की कविता को चारणों की कविता से भी पुराना माना है।[2] ढाढ़ियों की फुटकर कवितायें तो वहुत मिलती हैं परन्तु पूर्ण ग्रन्थ के रूप में १५ वीं शताव्दी का वादर ढाढ़ी द्वारा रचित 'वीरमायण' नामक ग्रन्थ मिलता है। इसमें राव वीरमजी राठौड़ का शौर्य-वर्णन है। राजा वीरमजी का शासन काल संवत् १४३५ का माना जाता है।[3] वादर ढाढ़ी राव वीरमजी के आश्रय में ही था। श्री ओझाजी के अनुसार

---

१ A descriptive catalouge of Bardic and Historical mss. Pt. 1, Bikaner State, Fasc. I, Page 41।

२ हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास, प्रथम-खण्ड, पृष्ठ १७३

३ 'It is an anonymous Dhadi composition of the 15th Century. It deals with the Chivalry of Rao Biramji Rathore, who reigned C.V.S. 1435 (A.D. 1378) The Rao was the patron of the poet.' A Descriptive Catalogue, Pt. 1, एशियाटिक सोसायटी, कलकत्ता, पृष्ठ ३।

पद्मनाभ—उत्तरकालीन अपभ्रंश से विकसित होती हुई पुरानी पश्चिमी राजस्थानी डिंगल के मध्यकालीन ग्रंथों में पूर्ण स्वतंत्र राजस्थानी के रूप में प्रयुक्त होने लग गई थी। इसका प्रमाण हमें पन्द्रहवीं शताब्दी के अन्तिम काल में लिखी जाने वाली रचनाओं से ही मिल जाता है। इसकी भाषा का सुन्दर उदाहरण हमें इस शताब्दी की रचना 'कान्हड़दे प्रबन्ध' में मिलती है। इस ग्रन्थ की रचना जालोर के चौहान अखैराज के आश्रित वीसनगरा नागर ब्राह्मण 'पद्मनाभ' ने संवत् १५१२ में की थी, जिसमें जालोर के अधिपति सोनगरा शाखा के चौहान कान्हड़दे के साथ अलाउद्दीन खिलजी के हुए युद्धों का वर्णन है। कहा जाता है कि जब अल्लाउद्दीन खिलजी सोमनाथ पर आक्रमण कर महादेव की मूर्ति उठा लाया तो कान्हड़दे ने उसे हटा कर धर्म की मर्यादा की रक्षा की और शिवलिंग को मकराने गांव में मन्दिर बनवा कर स्थापित किया। मुहणौत नैणसी की ख्यात में भी इस घटना का उल्लेख है।[1] कान्हड़दे का तेजस्वी रूप इस ग्रंथ में स्थल-स्थल पर झलकता है। इतिहास की दृष्टि से यह एक श्रेष्ठ रचना है। ऐतिहासिक घटनाओं का विवरण जो हमें इसमें मिलता है वह भी सही है।

साहित्यिक दृष्टि से अवलोकन करने पर प्रतीत होता है कि यह श्रेष्ठ रचना प्राचीन होते हुए भी प्रसादगुणयुक्त प्रवाहपूर्ण शैली में लिखी गई है। कवि की यह ओजपूर्ण एवं वीररसात्मक रचना है। सहायक के रूप में शृंगार और करुणरस भी यथास्थान मिलते हैं। ग्रंथ में दो पात्रों—कान्हड़दे तथा अल्लाउद्दीन की पुत्री फिरोजा का विशिष्ट चित्रण हुआ है। भाषा की दृष्टि से भी इस काव्य का विशिष्ट महत्व है। डॉ० तैस्सितोरी ने इसे इस दृष्टि से समुचित महत्त्व दिया है। गुजराती विद्वान श्री के. वी. व्यास ने अपनी भूमिका में इसके महत्व को निम्न प्रकार प्रकट किया है[2] —

'The Kanhadade Prabandha' is perhaps the most valuable treasure in old Gujrati or old Western Rajasthani as it is called by Dr. Tessitory. It is an epic of a glorious age and there is nothing to compare with it either in old or modern Gujrati. It can easily stand in comparison with the celebrated 'Prithviraja Raso' in old Hindi. There are various reasons why the Kanhadade Prabandha has attained this unique position. In the first place it is a text of supreme importance for a study of the development of the Gujrati language. Composed as early as V.S. 1512; it represents an important landmark in the evolution of the Gujrati language. It embodies a stage when Gujrati and Rajasthani were just beginning to evolve their distinctive characteristics from the common source the post Apabhramsa. While the morphology and the general character of the language are unmistakably Gujrati, its phonology reveals several Rajasthani traits.'

डॉ० माताप्रसाद ने लिखा है[1]—'राजस्थानी ही नहीं हिन्दी के भी प्रारंभिक युग के ग्रंथों में कदाचित् ही कोई ग्रंथ ऐसा माना जा सकता है जिसकी रचना-तिथि इतनी निश्चित हो। रचना के महत्त्व के अनुसार ही ग्रन्थ का पाठ भी अपने मूल रूप में प्रायः सुरक्षित है और अपने युग की भाषा के अध्ययन के लिए एक दृढ़ आधार प्रस्तुत करता है। इसकी भाषा निम्न उदाहरण में देखिये—

उ०—रणि राउत वावरइ कटारी, लोह कटांकडि ऊडइ।
तुरक तणा पाखरीया तेजी, ते तरूआरे गूडइ॥
मोल तणी परि वाथे आवइ, प्रांणइ विलगइ भूंटइ।
गुडदा पाट्ट दोट वजावइ, भिडइ प्रहारे मोटइ॥
ऊपरिथा पूंतार त्रिछूटइ, भूतलि भाजइ पाउ।
वाढ़ी सूंढ़ि डोलोइ ढांचा, धरणि वलइ नीहाउ॥
भाजइ कंध पडइ रिण माथां, धगड तणां धडधाइ।
माहो-मांहि मारेवा लागा, विगति किसी न कहाइ॥

ऋषिवर्द्धन सूरि—जैन कवि ऋषिवर्द्धन सूरि द्वारा चित्तौड़ में रचित नलदमयंती रास के सोलहवीं शताब्दी के आरम्भ का एक प्रसिद्ध राजस्थानी ग्रंथ है। इसका रचना काल

---

[1] मुहणौत नैणसी की ख्यात—प्रथम भाग, सं० : पं. रामकरण आसोपा, पृ० २६१।

[2] 'कान्हड़दे प्रबन्ध'—सं. : प्रो० कांतिलाल बलदेवराम व्यास, राजस्थान पुरातत्त्व मंदिर से प्रकाशित, प्रस्तावना १।

[1] आलोचना, भाग १४, पृष्ठ ६४।

अंत परजाई चूक अहाड़ा, अम हळि हुवै हुवौ ऊखेळ।
रिणमल जेथ कियौ रायांगुर, मेळ जूज अर जमदढ़ मेळ।
अे अखियात, सळखहर ओपम, अगै न सूझी सुर असुर।
कर सूतैं मेलियौ कटारी, अणी सु काढ़ी प्रिसण-उर।

मध्यकाल के इस आरम्भिक समय में ऊपर वर्णित कवियों के अतिरिक्त अन्य कवियों की रचनायें भी प्राप्त हैं। स्थानाभाव के कारण केवल उनका नामोल्लेख ही कर पा रहे हैं।

(कवि भीम—सदयवत्सचरित, सं० १४६६, गुणवन्त—वसन्त विलास, मांडण, सिद्धचक्र श्रीपाल रास, संवत् १४६८, मेहाकवि—रणकपुर स्तवन, तीर्थमाला स्तवन, संवत् १४६६, सोमसुन्दर सूरि—नेमिनाथ नवरस फाग, संवत् १४६६, बारहठ दूदो, मेहौ बारहठ, आल्हौ बारहठ, धरमौ कवियौ, खिड़ियौ लूणकरण आदि)

पसाइत—सोलहवीं शताब्दी के प्रारम्भ में लिखी हुई गाडण पसाइत की ये दोनों रचनायें ग्रंथ के रूप में उपलब्ध हैं। दोनों रचनायें अनूप संस्कृत लाइब्रेरी, बीकानेर की हस्तलिखित प्रति में प्राप्त हैं।[1] 'राव रिणमल रौ रूपक' में मारवाड़ के राव रणमल की कीर्ति और राणा कुम्भा द्वारा उनकी मृत्यु का वर्णन है। राव रणमल के सम्बन्ध में इनकी अन्य फुटकर रचनायें भी प्राप्त हैं जिनमें रणमल द्वारा जैसलमेर के भाटियों से अपने पिता राव चूंडा की मृत्यु का बदला लेने का वर्णन है। 'गुण जोधायण' में जोधाजी के राज्य-प्रसार तथा बहलोलखाँ के साथ युद्ध करने का वर्णन है। इन घटनाओं के आधार पर ही डॉ० माहेश्वरी ने पसाइत का रचनाकाल संवत् १४८० से १५३१ माना है।[2] कवि पसाइत ने जिस भाषा का प्रयोग किया है वह गुण जोधायण के प्रस्तुत उदाहरण में देखिये—

वळी प्रबत लंघीयौ चडे पाखरीये घोड़े,
जाए दीन्हा घाव, कोट चीत्रोड़ किमाड़े,
बोल ढोल बोलियौ, त्यार स्रमणे उत सुणीया,
कूंभनेर नारियां ग्रभ पेटां हूँ छणीया,
चीतोड़ तणे चूंडाहरा किमाड़े परजाळीये,
जोहार जाय 'जोधै' कियौ, राव रिणमल पालीय।

[1] प्रति नं० १३६।
[2] राजस्थानी साहित्य—डॉ० हीरालाल माहेश्वरी, पृष्ठ ८८।

इनकी फुटकर रचनाओं में (१) 'कवित्त राव रिणमल चूंडै रै वैर में भाटियाँ नै मारिया तैं समै रा, (२) 'कवित्त राव रिणमल नागौर रै धणी पेरोज नै मारिया तैं समै रा' तथा (३) 'कवित राणै मोकल मुआं री खबर आयां रा' प्रसिद्ध है। इन फुटकर रचनाओं में भी राजस्थानी का स्वतंत्र रूप से प्रयोग हुआ है। राणा मोकल की मृत्यु का बदला लेने की रणमल की भावना इस उदाहरण में देखते ही बनती है—

जेय चडै आकास तांम आयास उतारूं,
जे पसै पाताळ काढ़ पायाळा मारूं,
जेथ जाय तेथ जाय खित खेलूं खत्र साची,
जऐ किम जीवतौ अति ओगारी चाचौ,
बावन वीर वीरमहर कोय जु जुध मंडे कया,
मालवै वीर मोकळ तणा रिणमल लई प्रतंग्या॥

जयसागर—इसी प्रकार पन्द्रहवीं और सोलहवीं शताब्दी के संधिकाल में महोपाध्याय जयसागर जैन कवि हो चुके हैं जिन्होंने राजस्थानी में अनेक रचनायें रच कर साहित्य की अभिवृद्धि की है। इनकी 'जिनकुशलसूरि सप्ततिका' राजस्थानी की विशिष्ट रचना है। इसके अतिरिक्त इनके द्वारा रचित लगभग ३० ग्रंथ उपलब्ध हैं। ग्रंथों के आधार पर ही उनका रचना-काल संवत् १४८० से १५१५ माना जाता है। सर्वसाधारण में प्रिय 'वीरप्रभु वीनती' का एक उदाहरण देखिए—

नयण नाभि सलूणिय रूयडी, तपइ भाल प्रभाजळ कूयड़ी।
सुघट होठ हियउं तिम मोकळउं, जिण तणउं अथवा सहुयइ भलउं।
तिसउ कंठ तिसा कर जाणिवा, तिसिया रख तिसा नख पल्लवा।
पग तिसाहु तिसि पुणि आंगुळी, सलहियइ प्रभु विंब किसउंवळी।

देपाल्—इसी समय के प्रसिद्ध कवि देपाल भी हैं जो नरसी मेहता के समकालीन माने जाते हैं। इनके द्वारा रचित छोटी-मोटी १४ रचनायें प्राप्त हैं जिनका रचना काल सं० १५०१ से १५३४ है। इनकी 'जंवू स्वामी' पंचभव वर्णन चौपई का एक उदाहरण देखिये—

धन धन जे गुरु लहइ सुसाध
आराधी भव टाळइ व्याध
वचन सुणी तस सेवा करइ
भव सायर ते दुत्तर तरइ।
मरण मइगळ जीव नर, जन्म कूपि निविडंति।
च्यारिक खाय भुयंगमंह, अज गिरि नर गहवंति॥

धारा को भी इन्होंने अपनी साधना का अंग माना है। जसनाथजी ने अपनी 'वांणी' में जन-साधारण में प्रचलित बोलचाल की राजस्थानी का ही प्रयोग किया है, जो निम्न उदाहरण में देखा जा सकता है।

> कांई रै पिरांणी सोज नै खोजै, खाख हुवै भुस खेहा।
> काची काया गळ गळ जासी कूं कूं वरणी देहा।
> हाडां ऊपर पून ढुळैली, घणहर वरसै मेहा।
> माटी में माटी मिळ जासी, भसम उडै हुय खेहा।
> हुय भूतळा खाख उड़ावै, करणी रा फळ ऐहा।
> घड़ी घड़ी वाइन्दा वाजै, रच्या न रहसी छेहा।
> गावां गाडर सैं'रां सूअर, खाड खिणै हुय सेहा।
> कियै किरत नै जोय पिरांणी, दोस न दीज्यो देवा।

धर्मसमुद्र गणि—जैन कवियों की परम्परा में सोलहवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में खरतरगच्छीय धर्मसमुद्र गणि का नाम भी प्रसिद्ध है। इनकी रचनाओं के अनुसार इनका रचना काल संवत् १५६७ से १५९० है। इनके ग्रंथों में 'सुमित्रकुमार रास' 'कुलध्वजकुमार रास', 'रात्रिभोजन रास' और 'शकुन्तला रास' आदि प्रसिद्ध हैं। 'शकुन्तला रास' छोटी रचना है परन्तु राजस्थानी में शकुन्तला पर प्रथम पद्य-बद्ध रचना[1] होने के कारण इसका अपना महत्व है। विषय पौराणिक होते हुए भी जैन कवि की रचना होने के कारण यह जैन धर्म से प्रभावित है। कवि की भाषा के उदाहरण हेतु 'शकुंतला रास' का पद यहां प्रस्तुत किया जाता है।

> राय अन्याय तणउ रखवाल
> पाल पृथ्वी तणउ सहू कहइ ए।
> ए निरधार ऊपरि हथियार
> भार सोगा केही लह इए।

गणपति—कायस्थ नरसा के पुत्र कवि गणपति ने माधवानल कामकन्दला प्रबन्ध की रचना संवत् १५७४ में की।[2] राजस्थान में माधवानल कामकन्दला की प्रेम-कथा बहुत प्रचलित है। इसी प्रणय-कथा के आधार पर यह शृंगारिक रचना हुई है। महा-काव्य की शैली में लगभग २५०० दोहों (दोग्धक) में यह कथा कही गई है। इसी आधार पर डॉ० रामकुमार वर्मा ने इसी ग्रंथ का नाम 'माधवानल प्रबन्ध दोग्धक' दिया है।[1] इस रचना में विप्रलंभ तथा संयोग दोनों ही प्रकार के शृंगार का पूर्ण परिपाक हुआ है। इसके अतिरिक्त बारहमासा वर्णन विशेष आकर्षित करने वाले विषय हैं। कवि ने राजस्थानी और गुजराती घरों में प्रत्येक ऋतु में जो-जो सुख-सामग्रियाँ उपलब्ध होती हैं उनका अच्छा चित्रण किया है। ग्रंथ की भाषा भी सरल एवं प्रसादगुणयुक्त है। उदाहरण के लिए फाल्गुन मास का वर्णन देखिये—

> फागुण-केरां फणगरां, फिरि फिरि गाई फाग।
> चंग वजावइ चंग परि, आलवइ पंचम राग॥
> केलि कुसुंभा केरड़ां, केसर सुर-तरु सोय।
> माधव कीजइ छांटणां, अमर आश्चर्यइं जोइ।
> पीली कीधी पाघड़ी, फूलडीए रंग रोळ '
> अन्यो अन्यि छांटणा, चटकु लागु चोळ॥

गोरा—कवि गोरा बीकानेर के राव जैतसी के समकालीन थे। इनके लिखे कुछ कवित्त प्रसिद्ध हैं। 'राव लूणकरण रा कंवित्त' में राव लूणकरण के युद्ध और उनकी मृत्यु का ओज-पूर्ण वर्णन है। यह युद्ध संवत् १५८३ में नारनौल के समीप मुसलमानों के साथ हुआ था। इसी प्रकार 'राव जैतसी रा कवित्त' में जैतसी की हुमायूं के भाई कामरान पर विजय का वर्णन है। यह युद्ध सं० १५९१ में हुआ था। इन कवित्तों की रचना कवि ने उसी समय की थी। भाषा का स्वरूप इस उदाहरण में देखिये—

> अहि मिसि फनु फुंकरइ पवन मिसि सत्रु संघारइ
> सिंह जेम उट्ठवै हाकि हनुमत जिम मारइ
> वयरी सउं बळ ग्रहइ गहवि गढ़ कोट उपाडइ
> जे अन्याय अंगवै तिनिहि सपतं ग्रहि तडइं
> कमज राइ लूंण कंग्रत न महि मंडालि जसु संभळ्यो।
> जयतसी राव 'गोरउ' भणंइ मुगळ तणउं दळ निर्दळ्यो।

बीठू सूजो—संवत् १५९१ से १५९८ के बीच बीठू शाखा के सूजा नामक चारण ने 'राउ जैतसी री छंद' नामक एक ग्रंथ की रचना की थी। इस ग्रंथ में बीकानेर नरेश राव जैतसी का बाबर के द्वितीय पुत्र कामरान के साथ हुए युद्ध का सुन्दर वर्णन है। प्रारम्भ में जैतसी की वंशावली देते हुए

---

[1] राजस्थानी भाषा और साहित्य—डॉ० हीरालाल माहेश्वरी पृष्ठ २५३

[2] गायकवाड़ ओरियन्टल सिरीज, Vol. XCIII, संपादक—मजूमदार।

[1] हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास—डॉ० रामकुमार वर्मा, पृष्ठ १७६।

सं० १५१२ है। इसी समय की कवि की ग्रन्य 'जिनेन्द्रातिशय पंचाशिका' भी है। जिस सरल राजस्थानी का कवि ने अपने ग्रंथ में प्रयोग किया है उसे नलदवदंती के निम्न उदाहरण में देखा जा सकता है—

मणिमय कुंडळ राखड़ी सखि मांणिक मोतीहर।
तिलक निगोदर खीटुली सखि कांठलु मेखळा सार।
कंचण कंकण मूंदड़ी सखि चूड़ी चूनड़ी चारु।
तीयली नेत्र पटलडी सखि नेउर रुणझुणकार।

दामो[1]—कवि दामो कृत 'लखमसेन पदमावती चौपई' एक प्रेम-काव्य है जो अभी तक अप्रकाशित है।[2] ग्रंथ में स्वयं ग्रंथकार द्वारा वर्णित तिथि के अनुसार इसका रचना काल संवत् १५१६ जेठ वदि नवमी है।

संवत् पनरइ सोळोत्तर तर, मझारि जेठ वदी · वमी बुधवार।

इस ग्रंथ में गढ़ सामौर के राजा हंसराय की पुत्री पदमावती तथा लखनौती के राजा लखमसेन के परस्पर प्रणय तथा विवाह का वर्णन विशुद्ध राजस्थानी में बड़े ही रोचक ढंग से किया गया है। कवि का भाव पक्ष प्रबल होने के कारण रचना में सजीवता आ गई है। इसके साथ ही प्रसादगुणयुक्त प्रवाहमयी सरल एवं सरस भाषा ने इसके महत्व को द्विगुणित कर दिया है। भाषा का प्रवाह निम्न उदाहरण में देखिये—

पर दुखइं ते दुखीयां, पर सुख हरख करंत।
पर कजइ सुदा सुहड, ते विरळा नर हुंत॥
पर दुखइं सुख उपजइ, पर सुख दुख करंत।
पर कजइ कायर पुरस, घरि घरि बार फिरंत॥
सीह सीचाणी सापुरिस, पडि पडि उठंति।
गय गडर कुच कापुरिस, पड़े न वलि उठंति॥

कवि भांडउ—व्यास जाति के कवि भांडउ ने ग्रंथ 'हमीरायण' की रचना वि. सं. १५३८ में की। इस ग्रंथ का नाम 'राय हमीर देव चौपाई' भी मिलता है। इस ग्रंथ में रणथंभोर के प्रसिद्ध वीर चौहान हम्मीरदेव की शरणागत रक्षा और उनके पराक्रम का सुन्दर वर्णन है। रचना पर जैन शैली का प्रभाव स्पष्ट लक्षित है। ग्रंथ की भाषा के उदाहरण हेतु कुछ अंश यहाँ उद्धृत हैं—

न परणाऊं डीकरी, न आपो देऊं मीर।
हाथी गढ़ आपउ नहीं, इसउ कहई हमीर॥
तूं सरीखा सुरतांण सूं, करई विग्रह निसी-दीस।
हमीर देव कथउ इसउ, तव इव नांमे सीस॥

जांभोजी—जैसा कि हम पहिले कह आये हैं कि इस काल के आरम्भ के साथ ही राजस्थान में भक्ति-भावना की लहर प्रवाहित हो चुकी थी और उसके प्रभाव से संत लोग भक्ति-सम्बन्धी रचनायें भी करने लग गये थे। अतः इस प्रकार की रचना में जांभोजी द्वारा रचित 'जम्भसार' ग्रंथ प्राप्त होता है। ये पंवार राजपूत थे और इनका जन्म संवत् १५०८ में नागौर परगने के पीपासर गांव में हुआ था। इन्होंने विशनोई सम्प्रदाय की स्थापना की और संवत् १५४२ में उपदेश देना आरम्भ किया। जम्भसार का रचना काल भी यही माना जाता है। जांभोजी ने 'वांणियों' तथा 'सबदों' द्वारा भिन्न-भिन्न विषयों पर जन-समुदाय को उपदेश दिये। उनके एक 'सबद' का उदाहरण यहां देखिये—

कांयरें मुरखा तैं जनम गमायो, भूंय भारी ले भारूं।
जा दिन तेरे होम न जाप न तपः न किया।
गरू न चीन्हों पंथ न पायौ, अहल गई जमवारूं।
ताती वेळा ताव न जाग्यौ, ठाढ़ी वेळा ठारूं।
बिंवै वेळा विस्णु न जंप्यौ, तातें वहुत भई कसवारूं॥
खरी न खाटी देह विणाठी, थिर न पावणा पारूं॥
अह निस आव घटकती जावै, तेरा स्वास सभी कसवारूं॥
जा जन मंत्र विस्णु नहिं जंप्यौ, ते नर कुवरण काळू॥

सिद्ध जसनाथ—ये जांभोजी के ही समकालीन थे जिन्होंने अपने प्रभाव से जसनाथी सम्प्रदाय की स्थापना की। ये कातरियासर (बीकानेर) के हमीरजी जांणी जाट और उनकी पत्नी रूपांदे के पोष्य पुत्र थे। इनके विषय में यह प्रसिद्ध है कि हमीरजी को ये एक तालाब के पास पड़े मिले। संवत् १५५१ आश्विन शुक्ला सप्तमी को इन्हें ज्ञान प्राप्ति हुई। इसके पश्चात् इन्होंने अपनी 'वाणी' द्वारा ज्ञानोपदेश देना आरम्भ किया। इनकी 'वाणी' के विषय प्राणी मात्र पर दया, पशु-हिंसा का विरोध, जीव ब्रह्म की एकता, संसार की नश्वरता आदि हैं। इन्होंने अपने जीवन में चमत्कारी प्रमाण देकर जन साधारण को जीव, दया तथा ज्ञान मार्ग के प्रति आकर्षित किया। इनके द्वारा चलाया हुआ जसनाथी सम्प्रदाय का सीधा सम्बन्ध नाथ सम्प्रदाय से है, परन्तु वैष्णवी भक्ति-

---

[1] डॉ हीरालाल माहेश्वरी के शोध प्रबन्ध राजस्थानी साहित्य से साभार।
[2] ग्रंथ की संवत् १६६६ की लिखी हुई हस्तलिखित प्रति श्री अभय जैन ग्रंथालय, बीकानेर में है।

कवि ने इसके पूर्वजों की प्रशंसा भी की है। ऐतिहासिक दृष्टि से ग्रंथ का बहुत महत्वपूर्ण स्थान है। उस समय का इतिहास अधिकतर मुसलमानों ने लिखा है और जैतसी एवं कामरान के बीच होने वाले युद्ध के विषय में वे मौन साध गये हैं। संभव है कामरान की पराजय के कारण ही उन्होंने ऐसा किया हो। सूजाजी ने इस युद्ध का विस्तारपूर्वक वर्णन कर राजस्थान ही नहीं अपितु भारत के इतिहास की कड़ी को कायम रक्खा है। डॉ० तैस्सितोरी ने इस सम्बन्ध में लिखा है[1]—

> 'The fact that the Mohammadan historians do not even mention this unfortunate adventure of the son of Babar, only enhances the value of the poem, which may thus claim the credit of filling a small gap in the history of India.'

इसका परिणाम यह हुआ है कि रचना के मूल कथानक में युद्ध के वातावरण का प्राधान्य हो गया है। चारणों की जिस परम्परा का पहले उल्लेख किया गया है उसी परम्परा के अन्तर्गत यह ग्रंथ रचा गया है। भाषा के उदाहरण से यह बात पूर्ण रूप से स्पष्ट हो जायगी—

राठउड़ां पाखइ अउर राइ, लोक किय मूगुले पाइ लाइ।
छात पति हेक अम्मली छत्त, गिर मेर प्रमाणइ तास गत्त।
खुरसांणी खाफर खेड़ खत्ति, पारंभ कियउ उतराध पत्ति।
लाहउरि सेन सम्मिळइ लक्ख, पाखरिजइ तेजी सूध पक्ख।
सम्मिळइ साहि आलम समांन, खिड़ि संतरि बहत्तरी मिळइ खांन।
काळवा कुही करड़ा कियाह, हांसला हरे वीनइ हलाह।
रोभड़ा महूड़ा पीत रंग, तोरकी केवि ताजो तुरंग।
डूंगरी मसक्की वेसि दीय, अइराक ततारी आरबीय।
खुरसांणी मकुरांणी खहंग, पतिसाह तणा छूटइ पवंग।

इस उदाहरण से मालूम होता है कि दीर्घकाल से मुसलमानों के साथ सम्पर्क होने के कारण उनकी बोली तथा भाषा का प्रभाव राजस्थानी पर पड़ा। इसी कारण अरबी फारसी तक के तद्भव शब्दों का प्रयोग राजस्थानी में खुले रूप से होने लगा। देशी शब्दों का विस्तृत प्रयोग इसमें बराबर होता रहा है जो वीर-रस की कविताओं में प्रायः अनिवार्य रूप से पाये जाते रहे हैं। इसके साथ-साथ धीरे-धीरे ध्वन्यात्मक तथा वर्णनात्मक विशेषताओं का भी प्रवेश इसमें होता गया। अनुप्रास एवं उपमा की ओर भी कवियों का ध्यान आकर्षित हुआ।

मीरां बाई—इसी शताब्दी के अन्तिम चरण में वैष्णव भक्ति धारा से प्रभावित कृष्ण-भक्ति में लगी हुई मीरां बाई ने अपने हृदय के भावों की अभिव्यक्ति के लिए जिन पदों को गाया है वे ही इस साहित्य की अमूल्य निधि बन गये हैं। भक्ति रस के अनेकानेक पदों की रचना के कारण ही राजस्थानी साहित्य के विकास की कहानी में मीरां बाई का प्रमुख स्थान है। मीरां बाई का जन्म संवत् १५५५ के लगभग जोधपुर राज्य में मेड़ता परगने के कुड़की ग्राम में मेड़ते के राठौड़ राव दूदाजी के चतुर्थ पुत्र रत्नसिंह के यहां हुआ था।[1] इनकी माता का बाल्यावस्था में देहान्त होने के कारण ये अपने दादा राव दूदाजी के पास ही रहती थीं। उन्नीस वर्ष की अवस्था में इनका विवाह मेवाड़ के महाराणा संग्रामसिंह (सं० १५६५-८४) के ज्येष्ठ पुत्र भोजराज के साथ हुआ था। दुर्भाग्यवश विवाह के तीन वर्ष बाद ही मीरां बाई विधवा हो गई। ऐसी अवस्था में भी उनके हृदय पर एक सच्ची राजपूत रमणी के साहस एवं निष्ठा की गहरी छाप प्रकट हो रही थी। बाल्यकाल से ही कृष्ण के प्रति पूर्ण अनुरक्त होने के कारण इस समय उनकी निष्ठा और भी अधिक दृढ़ हो गई। पतिदेव का वियोग होते ही अपने सारे लौकिक सम्बन्धों के बन्धन से मुक्त होकर वे अपने इष्टदेव की आराधना में लवलीन हो गई। थोड़े ही समय बाद पिता एवं श्वसुर की मृत्यु के कारण विरक्ति की भावना और तीव्र हुई और वे लोक-लज्जा का परित्याग कर साधु-संतों के सत्संग में आने लगीं। भगवद्दर्शन हेतु मन्दिरों में पहुंचती और वहाँ प्रेमावेश में आकर कृष्ण की मूर्ति के समक्ष नाचने तथा गाने लगतीं।

मीरां बाई की भक्ति का आदर्श ऊंचा था। उनके 'परमभाव' का निर्वाह किसी साधारण भक्त के वश की

---

[1] छंद राउ जइतसी रउ, बीठू सूजइ रउ कहियउ—सं० डॉ० तैस्सितोरी, Introduction, Page 1.

[1] मीरां की जन्मतिथि के सम्बन्ध में विद्वानों में मतभेद है पर हमें उपरोक्त संवत् कई कारणों से उचित प्रतीत होता है। स्थानाभाव के कारण उन सभी मतभेदों पर हम अपना मंतव्य यहां प्रकट नहीं कर रहे हैं। —सं०

कुशललाभ—ये खरतरगच्छीय वाचक अभयधर्म के शिष्य थे। इन्होंने अपनी समस्त रचनायें राजस्थानी भाषा में ही की हैं। अपने समय के श्रेष्ठ कवियों में इनकी गणना थी। इनकी प्रौढ़ कृतियाँ ही इसका प्रमाण हैं। इनके द्वारा रचे गये ग्रंथों के अनुसार इनका रचनाकाल इस शताब्दी का प्रथम चरण ही है। संवत् १६१६ में इन्होंने लोक-कथानक पर 'माधवानल चौपाई' काव्य की सुन्दर रचना की। राजस्थानी साहित्य की महत्त्वपूर्ण कृति 'ढोला मारू' जो एक सरस प्रेम-काव्य है, के बिखरे हुए दोहों को एकत्र कर कवि ने अपनी ओर से कथासूत्र को जोड़ने के लिए चौपाइयाँ मिला कर उसे पूर्ण किया। इसके अतिरिक्त इन्होंने 'तेजसार रास' (सं० १६२४), 'अगड़दत्त रास' (सं० १६२५), 'दुर्गा सप्तसी', 'जिनपालित जिनरक्षित संधि', 'भवानी छंद' आदि कई ग्रन्थों की रचना की। 'ढोला-मारवण री चौपई' में इनकी भाषा का स्वरूप निम्न उदाहरण में देखा जा सकता है—

गोधूळिक वेळा जब हूई, जोवा जांन पधारी जूई।
तद पिंगळ तेड़ी सुभ वार, परिणाव्यउ करि मंगळच्यारि।
निरखयउ नयणे पिंगळराय, राजाइ तसु आप्यउँ दाय।
रूपवंत नइँ सुंदर देह, मोंडी-मनि निरखतां सनेह।
मोव्हि वरसे परण्यउँ राउ, अति सुकमाळ असंभय काय।
बारह वरस-तणी देवड़ी, लोक कहइ ए जोड़ी जुडी।
एक कहइ तूठउ करतार, पांम्यउ तिणि पिंगळ भरतार।

मालदेव—ये राजस्थान में भटनेर (हनुमानगढ़) के रहने वाले थे। इनकी रचनाओं में इनका संक्षिप्त नाम 'माल' ही मिलता है। इनकी कृतियों के आधार पर इनका रचनाकाल सं० १६१२-१६२० के आसपास ही प्रतीत होता है। अपनी रचनाओं की लोकप्रियता एवं परवर्ती कवियों के उल्लेखों के आधार पर यह स्पष्ट है कि अपने समय में ये एक प्रसिद्ध कवि थे। इन्होंने लगभग २५ ग्रंथों की रचना की जिनमें से 'मन-भमरा गीत', 'महावीर पारणा', 'माल शिक्षा चौपाई', 'शील बावनी' आदि तो अपनी निजी विशेषताओं के कारण श्रद्धालु भक्तों के हृदय की हार बनी हुई हैं। इनके अतिरिक्त भी 'पुरंदर चौपाई', 'पद्मावती पद्मश्री रास', 'राजुल नेमिनाथ धमाल', 'भोजप्रबंध मृगांक पद्मावती रास' तथा अन्य फुटकर गीत आदि भी अधिक विख्यात हैं। 'पुरंदर चौपाई' का एक उदाहरण नीचे प्रस्तुत किया जाता है—

अति प्रीतम जउं वीछडइ, तउ ही न मरणौ जाइ।
हीयड़ा सांवर सींग ज्युं, दिन दिन नीठुर थाइ॥
पांणी तणइ वियोग, कादम ज्युं फाटइ हीयउ।
इम जो मांणस होइ, साचउ नेह तौ जाणिजइ।
अइ वाल्हां वियोग, पांणी पापिण नीसरइ।
साचउ नेह ते जोइ, जइ लोयण लोहू वहइ॥

वारहठ ईसरदास—राजस्थानी साहित्य के इस स्वर्णिम-काल में वारहठ ईसरदास का विशेष महत्त्वपूर्ण स्थान है। कवि ईसरदास ने चारण परम्परानुसार केवल वीररसात्मक रचनायें ही नहीं कीं अपितु राजस्थानी साहित्य में भक्ति रस की अनुपम रचना देकर अपने एक भक्त होने का परिचय भी दिया है। इनकी लेखनी से वीर रस और भक्ति रस की दोनों ही धारायें समान रूप से प्रवाहित हुई हैं। कवि एवं भक्त ईसरदास का जन्म संवत् १५६५ में माना जाता है। ऐतिहासिक आधार तथा उनकी जन्मपत्री इसी बात की पुष्टि करते हैं।[1] अपने जीवनकाल में इन्होंने निम्नलिखित ग्रन्थों की रचना की—

१–हरिरस, २–छोटा हरिरस, ३–गुण भागवत हंस, ४–गरुड़ पुराण, ५–बाळलीला, ६–निंदा-स्तुति, ७–देवियांण, ८–गुण आगम, ९–गुण वैराट, १०–सभापर्व, ११–रास-कैळास, १२–हालां झालां रा कुण्डळिया और १३–दांण लीला।

उनकी इन रचनाओं में 'हरिरस' और 'हालां झालां रा कुंडळिया' इनकी सर्वोत्कृष्ट रचनायें हैं। 'हरिरस' शान्त रस का ईश्वर भक्ति का ग्रन्थ है जिसमें अटूट तन्मयता, अगाध प्रेम एवं दृढ़ विश्वास भरा पड़ा है। ईश्वर के अनेक नामों की महिमा, उसके प्रति कवि का प्रेम, दीन जनों का कारुणिक प्रकार आदि सभी बातों का 'हरिरस' में सुन्दर समन्वय हुआ है। कवि ने कर्म, उपासना तथा ज्ञान तीनों विषयों का उल्लेख विशद विवेचना के साथ किया है। पूर्ण अध्ययन से इस ग्रंथ में श्रीमद्भागवत का संक्षिप्त सार मिल जाता है। भक्ति रस का ग्रंथ होने के कारण यह राजस्थान तथा गुजरात के लोगों का दैनिक पाठ करने का ग्रंथ बन गया है। हरि-भक्तों में जैसा 'हरिरस' का प्रचार यहाँ हुआ वैसा किसी

[1] 'हरिरस' (राजस्थान रिसर्च सोसायटी, कलकत्ता)।

साधारण रह जाता है। इस शताब्दी में प्रचुर मात्रा में ही रचना नहीं हुई, अपितु विशिष्ट एवं विपद ग्रंथों का निर्माण भी इसी शताब्दी में हुआ। साहित्य के सभी अंगों से परिपूर्ण इस शताब्दी की उत्कृष्ट साहित्यिक रचनाओं ने ही इस काल को राजस्थानी साहित्य का स्वर्णयुग कहलाने का अवसर प्रदान किया है। इस शताब्दी के प्रमुख कवियों की संवत्-क्रम से हम यहाँ चर्चा कर रहे हैं।

आसौ बारहठ—कवि आसाजी बारहठ जोधपुर राज्य के भाद्रेस गाँव के रहने वाले थे। इनके पिता का नाम गीधा था। ये राव-मालदेव के कृपा-पात्र होने के कारण इन्हीं के पास रहते थे। इनके विषय में यह बात बहुत प्रसिद्ध है कि जब मालदेवजी ने अपनी रूठी रानी भटियाणी उमादे को मनाने के लिए इनके भतीजे ईसरदास को अजमेर भेजा था तब आसाजी भी उनके साथ गये। ईसरदास अनेक कठिनाइयों के बाद रानी को मना कर ला रहे थे कि मार्ग में कोसाना गाँव के पास (जो जोधपुर से लगभग ३० मील ही दूर रह जाता है) आसाजी ने रानी को यह दोहा कह सुनाया—

माण रखै तौ पीव तज, पीव रखै तज माण।
दो-दो गयंद न बंध ही, हेकै खंभू ठांण॥

इसका भावार्थ समझ कर रानी वहीं से जैसलमेर लौट गई और मालदेव के जीवनपर्यन्त जोधपुर नहीं आई। आसाजी भी कुछ समय पश्चात् जैसलमेर चले गये और वहाँ से चल कर कोटड़ा के सरदार बाघा के पास रहने लगे। यह भी कहा जाता है कि जैसलमेर के रावल ने भारमली नामक दासी को, जो बाघा के पास रहती थी, अपने यहाँ लाने के लिए कोटड़ा भेजा था। कोटड़ा मे बाघा और भारमली के प्रेमपूर्ण व्यवहार से प्रसन्न होकर वे वहीं रहने लग गये। एक बार आमोद-प्रमोद के समय इनके मुंह से यह दोहा निकल गया—

जहां तरवर तहां मोरिया, जहां सायर तहां हंस।
जहां 'बाघा' तहां भारमली, जहां दारू तहां मस॥

इस पर बाघा ने आसाजी को भारमली कभी नहीं मांगने के लिए वचन-बद्ध कर दिया। यहाँ रहते हुए बाघा के प्रति इनका प्रेम प्रगाढ़ होता गया। उसकी मृत्यु पर इन्होंने बड़े मार्मिक दोहे कहे हैं। ये दोहे आज भी हृदय को छुए बिना नहीं रहते—

बाघा हाले बेग, दुःख साले 'दूदा' हरा,
आठूं पहर उदेग, जातौ देगौ जैतवत।
हाठां पडी हडताळ, हमें मद सूंगा हुआ,
कूके घणा कलाळ, बिकरी भागी बाघजी।

अपने जीवन के शेष क्षणों में वे बाघा को कभी भूल नहीं पाये। पिछले समय में ये अमरकोट के तत्कालीन राणा के पास भी रहे। उन्होंने बाघा को भुलाने के लिए बहुत प्रयत्न किए परन्तु विफल रहे। राणा ने एक बार आठ पहर तक बाघा का नाम न लेने के लिए आसाजी से कहा और भांति-भांति के आमोद-प्रमोद मे मग्न रखा परन्तु भोर होने के पूर्व ही जब मुर्गे ने बांग दी तो अनायास ही इनके मुख से निकल पड़ा—

कूकड क्यूं कुरळावियौ, ढळती मांझल जोग।
कै थनै मिनड़ी झापियौ, कै बाघा तणौ विजोग॥

सुबह होते-होते राणाजी आसाजी को तालाब पर स्नान के लिए ले गये। नहाने के बाद तालाब से बाहर निकलने पर कवि भूल से राणाजी के कपड़े पहिनने लगे तो राणा ने कहा ये तो मेरे कपड़े हैं। इस पर उन्हें पुनः बाघा की स्मृति हो आई और उन्होंने यह दोहा राणा को कह सुनाया—

की कह की कह की कहूं, की कह करूं बखांण।
थारौ म्हारौ न कियौ, अे बाघा अहनांण॥

इन्होंने फुटकर रचनाओं के साथ कुछ ग्रंथों की भी रचना की है जिनमें प्राप्त ग्रंथों में 'राउ चन्द्रसेण रा रूपक', 'रावळ माला सलखावत रौ गुण', 'गुण निरंजन प्रांग' प्रसिद्ध हैं। फुटकर रचनाओं में 'बाघजी रा दूहा', 'उमादे भटियांणी रा कवित्त' आदि प्रचलित हैं। इनकी भाषा का उदाहरण उमादे के सती होने पर कहे हुए इस कवित्त में देखा जा सकता है—

भंवर ब्रह परजाळ जंघा रंभातर।
कनक पयोधर कुम्भ, राख कीया चढ़ि जमहर।
चंपकळी निरमळी, भखै झाळा दावानळ।
बांहां नाळ मुणाळ, कंठ होमे सानूजळ।
विधु वदन केस कोमळ तवां, दहवे जेम सहस्स फण।
वाळिया सती 'ऊमा' विनै, अधर बिंब दाडम दसण॥

वीठू मेहा—कवि ईसरदास की भांति वीर रस की सुन्दर रचना देने वालों में कवि वीठू मेहा का नाम भुलाया नहीं जा सकता। इनकी रचनाओं में 'पाबूजी रा छंद', 'गोगाजी रा रसावला' तथा कर्मसी और सांवलदास के प्रति कहे हुए कवित्त बहुत प्रसिद्ध हैं। 'पाबूजी रा छंद' की हस्तलिखित प्रति का विवरण डॉ० तैस्सितोरी ने दिया है[1] जो अनूप संस्कृत लाइब्रेरी बीकानेर में सुरक्षित है। इस प्रति मे इसके रचनाकाल तथा लिपिकाल का कहीं उल्लेख नहीं मिलता, फिर भी इसके साथ ही अन्य रचना 'जैतसी री पाथड़ी छद, लिखा हुआ है जिसका लिपिकाल सं० १६७२ लिखा हुआ है।[2] दोनों ही रचनायें एक ही हाथ की लिखी होने के कारण 'पाबूजी रा छंद' का लिपिकाल सं० १६७२ के बाद ही माना जा सकता है। इससे यह अनुमान किया जा सकता है कि वीठू की यह रचना संवत् १६७२ के पूर्व ही प्रसिद्ध हो चुकी होगी। वीठू मेहा के जोधपुर के कूंपा मेहराजोत पर लिखे हुए फुटकर गीत भी प्राप्त होते हैं। कूंपा मेहराजोत संवत् १६०० में जोधपुर की ओर से शेरशाह के विरुद्ध लड़ कर काम आया था।[3] इस दृष्टि से वीठू मेहा का रचनाकाल सत्रहवीं शताब्दी का प्रथम चरण ही माना जा सकता है।

'गोगाजी रा रसावला' भी फुटकर छन्दों की रचना है जिसमें गोगाजी चौहान का युद्ध, उनकी वीरता तथा गायों की रक्षार्थ किए गए आत्म-त्याग का विषद वर्णन है। वीर-रस के फुटकर कवित्तों में बागड़ के करमसी और सांवलदास चौहान की वीरता पर कहे हुए कवित्त बहुत प्रसिद्ध हैं। ये दोनों वीर डूंगरपुर के महारावळ आसकरण (सं० १६०६-२७) की ओर से महाराणा उदयसिंह की सेना के विरुद्ध लड़ कर काम आये।[4] वीठू के ये कवित्त वीररस के सजीव उदाहरण हैं जिनकी झलक निम्न उद्धरण में देखी जा सकती है—

ढळगि ढार ढहराक, हवक होए हलकारां।
बाजे बबक भड़ार, नंक चूटे झूझारा।
डरे कूंत खरड़क्क सार झावक्क सवक्कां।
फोफर फटिय मुवक्क, रकत ऊवके खळक्कां।
वर वंक वधे चहुवांण वंस, विढ़ण वंक आंकह चलै।
सामळै सुहड़ सौ खंड किय, खळां सरै सारण खळै॥

रामा सांदू—ये मेवाड़ के राणा उदयसिंह के समकालीन थे।[1] इन्होंने महाराणा की प्रशंसा में १५ वेलिया छंदों में 'वेलि राणा उदयसिंघरी' की संवत् १६२८ के आसपास रचना की। इसके अतिरिक्त इन्होंने फुटकर गीतों की भी रचना की है। उदाहरण के लिए एक गीत यहाँ दिया जा रहा है।

गीत—दळ पैलां अकळ उलटा देखै,
खळ मैंगळ प्रजाळण खाग,
घ्रहड़ खल सूरत घड़हड़ियौ,
'ईसर' तिकर पराळी आग॥ १
माहव तणौ महाबळ मिळियौ
घण जूंझार वधै घण घाय॥
पंडवेसां पटहथां प्रजाळण
लांप तणै गंज लागी लाय॥ २
आडै धाय वाजियौ 'ईसर'
खळ मैंगळ जाळण खुरसांण
आग अंगारै लाग उडियौ
उजवाळै झाळां असमांण॥ ३
'माधव' हरौ अछरां वरमाळै
सुजड़ उजाळै तेरे साख
'ईसर' दावानळ उभमियौ
रिम लाकड़ घड़ वाळै राख॥ ४

अखौ भाणावत—ये रोहड़िया शाखा के चारण थे और जोधपुर के राजा मालदेव के कृपा-पात्र भाना बारहट के पुत्र थे। बाल्यकाल में ही माता-पिता की मृत्यु के कारण इनका पालन-पोषण मालदेव की झाली रानी स्वरूपदे ने अपने पुत्र उदयसिंह और चन्द्रसेन के साथ किया। बड़े होने पर भी ये उदयसिंह के साथ ही रहते थे। कारणवश उदयसिंह ने चारणों के गाँव छीन लिए थे। इसके विरुद्ध संवत् १६४३ में आउआ ठिकाने में चारणों ने धरना दिया। उदयसिंह ने अखा को उनसे सुलह करने के लिए भेजा परन्तु अखाजी सुलह

[1] Descriptive Catalogue, Sec. II, Pt. 1, Page 8-9.

[2] संवत् १६७२ वर्षे शाके १५ माह मासे शुक्ल पक्षे त्रितीयां तिथौ गुरुवासरे……।

[3] मारवाड़ रा इतिहास, प्रथम भाग, वि० रेउ०, पृ० १२८-१३१।

[4] डूंगरपुर राज्य का इतिहास : गौ० ही० ओझा, पृ० ८९-९०।

[1] नैणसी की ख्यात, भाग १, पृ० १११।

अन्य रचना का नहीं। ग्रंथ में यत्र-तत्र सगुण तथा निर्गुण दोनों रूपों की मिली-जुली झलक भी दृष्टिगोचर होती है।

निरग्गुण नाथ नमौ जिय नाथ, स्रवंगत देव नमौ ससिमाथ।
नमौ तो नमौ तो लीला नांम सोहं अवतार नमौ स्रीरांम।।
निरंजण नाथ परम्म नृवांण, किसन्न महाघण-रूप कल्यांण।
स्रवग्गुण देव अतीत ससार, विभू अति गुज्झ परम्म विचार।।

अब उनकी भक्ति के उदाहरण के लिए निम्न कवित्त देखिये—

जनम-पीड़ जगदीस, ईस अवतार म आणे।
छळ-वळ करि-छोडवण, जनम आपण कर जांणे।
भणे नाम हूँ भणिस, जोति जगती जगदीसै।
क्रपा साधना करण, तवन कोड़ तेतीसै।
द्रगदेव दिनंकर समि दुवै, त्रिगुण नाथ तारण-तरण।
'ईसरो' कहै असरण-सरण, किसू तुझ कारण करण।।

'हरि रस' में भाषा की विविधता पायी जाती है। कहीं संस्कृत के तत्सम एवं तद्भव शब्दों की बहुलता है तो कहीं फारसी शब्दों तथा साधारण बोलचाल के शब्दों का भी प्रयोग पाया जाता है। जहाँ ऐसे शब्दों का प्रयोग हुआ है वहाँ भाषा अत्यन्त सरल एवं चलती हो गई है।

अवगुण मोरा बापजी, बगस गरीब निवाज।
जो कुळ पूत कपूत व्है, तो ही पिता कुळ लाज।।
म्हैं तौ कुछ करता नहीं, करता है करतार।
देखौ करता क्या करै, रख बंदा इतवार।।
रांम भरोसे ऊकळै, आदण ईसरदास।
ऊकळता में ओर दै, बंदा रख वीसास।।

कवि ईसरदास का दूसरा प्रसिद्ध ग्रंथ 'हालां झालां रा कुंडलिया' है। यह वीर-रस-प्रधान काव्य है। श्री मोतीलाल मेनारिया द्वारा उदयपुर से प्रकाशित ग्रंथ में ५० कुंडलिया दिए गए हैं। ऐसा कहा जाता है कि स्व० पुरोहित श्री हरिनारायणजी के संग्रह में ६३ कुंडलिया संग्रहीत थे। ये कुंडलिया स्फुट रूप में ही मिलते हैं तथा इन छंदों में क्रम-बद्धता का अभाव है। प्रत्येक कुंडळिया अपने आप में पूर्ण है। 'हालां झालां रा कुंडळिया' का वर्ण्य-विषय हलवद (वर्तमान नाम ध्रांगध्रा) के अधिपति झाला रायसिंह ध्रोल राज्य के ठाकुर हाला जसवन्तसिंह (जसाजी) जो कि उनके निकट सम्बन्धी भी थे[1], के बीच होने वाले युद्ध से सम्बन्धित है। राजस्थानी भाषा की सर्वश्रेष्ठ वीररसात्मक कृतियों में इस ग्रंथ का स्थान है। कवि ने ओजस्विनी भाषा का प्रयोग कर इसे वीररस की एक सजीव कृति बना दिया है। कवि ने इसमें झड़-उलट कुंडळिया का प्रयोग किया है जिससे रचना में और भी सार्थकता आ गई है। ग्रंथ की भाषा क्लिष्ट न होकर पूर्ण प्रसादगुणयुक्त है। मौलिक भावों की अभिव्यंजना के लिए सुन्दर शब्दावली का चयन कवि की अपनी निजि विशेषता है। शब्दों का विषयानुकूल प्रयोग एवं उनकी विशिष्ट ध्वन्यात्मकता से बरबस ही ओज फड़क उठता है। वीर-रस का रूप वास्तविक नीचे दिए गए उदाहरण मे देखा जा सकता है—

एकौ लाखां आंग में सीह कहीजै सोय।
सूरा जेथी रोड़ियै कळहळ तेथी होय।।
कळळ हूंकळ अवसि खेति सूरा करै।
धीरपै सुहड़ रिण चलण धीरा धरै।।
आगि अजागि जसवंत अकळावणौ।
खाग वळि एकलौ लाख दळ खावणौ।। (८)

इस ग्रंथ में अधिकांश पद्यों को ईसरदास ने स्त्री के मुंह से कहलवाया है। वीर जसाजी की राणो अपने पति, अपनी सखी आदि के समक्ष अपने वीर-भाव प्रकट करती है। कवि की इस अभिव्यक्ति में बड़ी स्वाभाविकता एवं सरसता आ गई है। इससे समस्त रचना भाव-सौन्दर्य से अभिभूत हो गई है—

ऊठि अचूंका बोलणा, नारि पयंपै नाह।
घोड़ां पाखर घमघमी, सींधू राग हुवाह।।
हुवौ अति सींधवौ राग बागी हका।
थाट आया पिसण घाट लागै थका।।
अखाडां जीति खग अरि घड़ा खोलणा।
ऊठि हरधवळ सुत अचूंका बोलणा।। ४

ग्रंथों के अतिरिक्त कवि द्वारा रचे हुए कुछ फुटकर गीत भी मिलते हैं। गीतों की भाषा प्राचीन चारण काव्य-परंपरा का सुन्दर उदाहरण प्रस्तुत करती है—

रंग रातौ चीत कवट-हर राजा, अवरां हूंतौ ऊतरीयौ।
तो मुख दीठै लाख-तियागी 'विजा' जगत सहू वीसरीयौ।। १
'विजमल' तुझ दीठै वीसरिया, सयळतणा भूपति सिगळेय।
दूजा तीह भज्जे किम डूंगर, निरख्यौ ज्यां मुरगिरि नयणेह।। २
अनिजळ तीह थियै किम आरति, जमण-गंग-तट वसिया जाइ।
दीठै तुझ पछै 'दूदावत', दूजा सुपह न आवै दाइ।। ३

---

[1] झाला रायसिंह जसाजी के भानजे थे।

समकालीन थे अतः इनका रचनाकाल संवत् १६३३ के आस-पास माना जाता है। ये अपने वीररसपूर्ण फुटकर गीतों के लिए ही अधिक प्रसिद्ध हैं। इनके ओजपूर्ण गीत पाठकों के हृदय में उत्साह का संचार करने से पूर्ण समर्थ हैं। भाषा सरस एवं मंजी हुई है। गीतों में जथा और उक्तियों का निर्वाह भली प्रकार से हुआ है।

हल्दी घाटी के युद्ध में कवि स्वयं महाराणा प्रताप के साथ थे। अतः अपने गीतों में हल्दी घाटी के युद्ध एवं राणा प्रताप के शौर्य एवं पराक्रम का आंखों देखा वर्णन करने से उनमें सजीवता आ गई है। गीत के पढ़ते ही सारा दृश्य आंखों के समक्ष उपस्थित हो जाता है। इसी युद्ध के वर्णन का एक गीत देखिये—

गयंद 'मांन' रै मुहर ऊभो हुतो दुरदगत,
सिलह पोसां तणा जूथ साथै।
तद वही रूक अणचूक 'पातळ' तणी,
मुगळ बहलोल खां तणै माथै॥ १
तणै श्रम 'ऊद' असवार चेटक तणै,
घणो मगरूर बहरार घटको।
आचरै जोर सिरजातणै आछटी,
भाचरै चाचरै बीज भटकी॥ २
सूरतन रीझतां भीजतां सैलगुर
पहां अन दीजतां कदम पाछै।
दांत चढ़तां जवन सीस पछटी दुजड़
तांन सावण ज्यूंही गई ताछै॥ ३
वीर अवसांण केवांण उजबक वहे,
रांण हथवाह दुय राह रटियौ।
कट झिलम सीस बगतर वरंग अंग कटे,
कटे पाखर सुरंग तुरंग कटियौ॥ ४

सूरा टापरिया—ये टापरिया शाखा के चारण थे। ये भी महाराणा प्रताप और पृथ्वीराज राठौड़ के समकालीन थे। दिल्ली में अनायास ही इनकी मुलाकात पृथ्वीराज से हो गई थी। पृथ्वीराज ने इनका खूब सम्मान किया और इन्हें बादशाह अकबर के दरबार में ले गये, वहाँ सूरा ने निम्न-लिखित सोरठा कहा—

अकबरिया इण बार, मर रे मंगळ हर धणी।
सोयळो सह संसार, दोयळो कोई देखां नहीं॥

अकबर ने इसका अर्थ शीघ्र समझ लिया और सूरा से अपनी मृत्यु की कामना करने का सोरठा फिर से सुनाने को कहा। तब शीघ्र ही सूरा ने उसे पलट कर इस प्रकार कहा—

अकबरिया इण बार, म मरे मंगळ हर धणी।
सोयळी सह संसार, दोयळी कोई देखां नहीं॥

इस पर बादशाह बहुत प्रसन्न हुआ और उसने सूरा की इच्छापूर्ति की।

सूरा निस्सन्देह श्रेष्ठ कवि था। वह सत्यवादी एवं वीरता का उपासक होने के साथ-साथ सच्चा राष्ट्र भक्त भी था। इसकी कविता में राष्ट्रीय भावना स्पष्ट रूप से झलकती है। महाराणा प्रताप के प्रति कहे हुए सोरठे वीररस के सुन्दर उदाहरण हैं—

मांझी मोह मराट, 'पातल' रांण प्रवाड़ मल।
दुजड़ां किय दह वाट, दळ मेंगळ दांणव तणा॥
चंपो चीतोड़ाह, पोरस तणौ प्रतापसी।
सोरभ अकबर साह, अलियळ आभड़ियौ नहीं॥
अेही भुजे अरीत, तसलीमज हिंदू तुरक।
माथै निकर मजीत, परसाद के प्रतापसी॥
चौकी चीतोड़ाह, 'पातल' पंडवेसां तणी।
रहचेवा रांणाह, आयो पण आयौ नहीं॥

सूरा के फुटकर गीत भी अनेक प्राप्त हैं जो उसकी काव्य-प्रतिभा के सच्चे प्रमाण हैं। गीतों की भाषा ओजपूर्ण है। शब्द-चयन पूर्ण विषयानुकूल है जो बरबस ही पाठकों में उत्साह की उमंग पैदा कर देता है। एक गीत का उदाहरण देखिये—

आलापै राग गारड़ू अकबर,
दै पैंतीस असट कुळ दाव।
रांण सेस वसुधा कथ राखण,
राग न पांतरियौ अहराव॥
मिणधर छत्रधर अवर गेल मन,
ताडवर रजधर 'गींधतण'।
पूंगी दळ पतसाह पेरतां,
फेरै कमळ न सहसफण॥
गढ़ गढ राफ मेटे गह,
रैण खत्रीध्रम लाज अरेस।
पंडर वेस नाद अण पीणग,
सेन न आवौ पत्ती नरेस॥

करने के बजाय स्वयं धरने में शामिल हो गए और वहीं उन्होंने अपने प्राण त्याग दिए।

अखाजी डिंगल के कवि थे। द्वारकादास दधवाड़िया ने अपने ग्रन्थ 'दवावैत' में अपने से पूर्व के कवियों का वर्णन किया है, उसमें अखाजी का भी उल्लेख कवि के रूप में किया है। इन्होंने वेलिया छंद में 'वेलि देईदास जैतावत री' नामक ग्रंथ की रचना की। इस वेलि में २३ दोहलों में देवीदास जैतावत के युद्ध एवं वीरता का वर्णन है। संवत् १६१६ में देवीदास ने जालोर को अपने अधिकार में कर लिया और बदनोर से जयमल को भी निकाल दिया। ये अकबर से शाही सेना की सहायता लेकर मेड़ता पर चढ़ आये। यहीं देवीदास ने उनसे युद्ध किया और वहीं वीरगति को प्राप्त हुआ। कवि की रचना इस घटना की सम-सामयिक ही जान पड़ती है। अतः इसका रचनाकाल संवत् १६२० के आसपास ही माना जा सकता है। इस वेलि से एक पद नीचे उदाहरण-स्वरूप दिया जाता है—

मिळि जमलि रांण कल्यांण मेड़तै,
घणंजू वैहता बिरद घण।
बळ छाडियौ तुहारै वोले,
त्रिहं ठाकुरे जैततण ॥ ११

अखाजी वैसे किसी ग्रंथ आदि की रचना के लिए प्रसिद्ध नहीं हैं परन्तु फुटकर गीतों की रचना के लिए राजस्थानी साहित्य-जगत में इनकी प्रसिद्धि अधिक है। गीत बड़े ही सुन्दर हैं जिनकी भाषा शैली बड़ी प्रसादगुणयुक्त है। इनके द्वारा लिखे गए एक गीत का उदाहरण देखिये—

ताकंती फिरै हिंदवां तुरकां
जुड़ै न भरता भांत जुई।
मरण तुहारे चंद मछर गुर
अकबर फौज सचीत हुई ॥ १
करै न जूसण राग कलांसै,
विलखी फिरै न पूछै वात।
एकण कमंध मरण उतरिया,
असपत फौज तणै अेह वात ॥ २
रचै न जूसण टोप राखड़ी,
हिए न कांचू जिरह न हार।
'गंगा' हरा मरण गहलांणी,
सारी फौज तणा सिणगार ॥ ३
मांणण हार 'माल' तण मूओ,
सजती जै ऊपर सिणगार।
साह घड़ा राठौड़ सरीखा,
भव दूजै पांमिस भरतार ॥ ४

अल्लू कविया—ये जाति के कविया गोत्र के चारण थे और जोधपुर के राजा मालदेव के समकालीन थे। इनका जन्म सिणला ग्राम में हेमराज कविया के घर संवत् १५६० में हुआ।[१] इनका रचनाकाल संवत् १६२० के लगभग माना जा सकता है। इनका रचा हुआ कोई भी ग्रन्थ उपलब्ध नहीं है। सम्भव है इन्होंने कोई ग्रंथ लिखा ही न हो, फिर भी इनके कुछ फुटकर छप्पय एवं गीत मिलते हैं जिनकी विशेष प्रसिद्धि है। इनकी कविता को पढ़ कर किसी ने ठीक ही कहा है—

कविते अलू दूहे करमाणंद, पात ईसर विद्या चौ पूर।
छंदे 'मेहो' झूलणे 'मालो', सूर पदे गीते हर सूर ॥

इनकी कविताओं से कोई ठोस ऐतिहासिक सामग्री प्राप्त नहीं होती परन्तु सभी कवितायें सरस, हृदयग्राही एवं भक्ति-रस से परिपूर्ण अवश्य हैं—

गोप नार चित हरण, प्रेम लच्छण समप्पण
कुंज विहारी क्रस्ण रास व्रन्दावन रच्चण
गोवरधन ऊधरण ग्राह मारण गज तारण
जुरासिंधु सिसपाळ भिड़ै भू-भार उतारण
जमलोक दरस्सण परहरण भौ भग्गौ जीवण मरण
ओ मंत्र भलौ निस दिन 'अलू' सिमर नाथ असरण सरण ॥

इन्होंने जोधपुर के राव मालदेव की विभिन्न विजयों के वर्णन हेतु कुछ कवित्तों की रचना की है जिनमें से अनूप संस्कृत लाइब्रेरी बीकानेर की हस्तलिखित प्रति[२] में ४ कवित्त मिलते हैं। इन कवित्तों में वीर-रस की झलक दिखाई देती है। इनके बून्दी के हाडा सूरजमल पर लिखे गीत भी प्राप्त हैं जो कवि के भाव पक्ष को स्पष्ट करने में सहायक हैं।

गोरधन बोगसौ—कवि गोरधन बोगसौ गोत्र के चारण, मेवाड़ राज्य के निवासी थे। ये महाराणा प्रताप के

---

[१] परम्परा, भाग १२, सिद्धभक्त कवि अलूनाथ कविया : श्री सौभाग्यसिंह शेखावत, पृ० ५५।

[२] प्रति नं० ९६।

रयण-दियण पात'ळ न राखै, कनक-ब्रवण रुची कविळास ।
महि-पुड़ि गज-दातार ज मारै, विमन कसै पुड़ि मांडूं वास ॥ ३
नाग अमर नर भुवण निरखतां, हेक ठोड़ छै, कहै हरि ।
घर अर नांन्हा निघ घातिया, कुरिंद तठै जाइ वास करि ॥ ४

ऊमर कोट—

पद्मण पांणी जावत प्रात, रुळंती आवत आधी रात ।
विलखा टावर जोवे वाट, विनो वर घाट विनो वर घाट ॥
अरोगै नीर गयां सर आंण, सराप संदेस वरां सोढ़ांण ।
कविसर पारख ठोठ न कोय, हसती भेस बराबर होय ॥
परख्या ऊन बरोबर पाट, विनो वर घाट विनो वर घाट ॥

दूदा आसिया—राजस्थानी साहित्य में इस समय चारण परम्परा की बहुलता थी। समस्त राजस्थान में यह लहर व्यापक रूप से व्याप्त थी। अन्य चारण कवियों की भाँति इसी समय दूदा आसिया भी प्रसिद्ध कवि हो चुका है। ये आसिया गोत्र के चारण सिरोही राज्य के निवासी थे। इनका रचना-काल संवत् १६३३ से १६४४ के लगभग माना जाता है। सिरोही के राव सुरताण ने इन्हें सीवाणा के राठौड़ कल्ला के पास भेजा था। यहाँ पर इन्होंने राठौड़ कल्ला की वीरता की प्रशंसा में अनेक कुंडलिया तथा फुटकर गीत लिखे। इनके रचे कुंडलियों की संख्या १४० के लगभग कही जाती है, यद्यपि अभी तक केवल २० कुंडलिये ही उपलब्ध हैं। दूदाजी के गीत निसन्देह सुन्दर रचनायें हैं। भाषा और भाव दोनों ही इनकी काव्य-प्रतिभा के द्योतक हैं। उदाहरण के लिए इनका निम्न गीत देखिये—

सवीयांण 'कल्यांण' तणै अत सीधो, अगै मेटिया असत अग्यांन ।
आजस आभड़ छोत उतरीयो, त्रीण गंगोदक हुओ सनांन ॥ १
नर नांमियो गंगाजळ न्होणी, सत सीधो 'कल्यांण' सकाज ।
असतो पीहां तणी आभड़ियो, अनड़ प्रवीत हुओ तिण आज ॥ २
'माल' हर गड़ सीस मरंतै, मंजन गाळिया मिळे मळ ।
'नागावटे' गुहाळो सोडे, जांणुं न्हवियो गंगजळ ॥ ३
पांणी न्होण सीस-पांणीरै, सत सीधो कल्यांण सपोत ।
मोटा अनड़ तणुं सिर मरतै, 'छाटा' हरै उतारी छोत ॥ ४

माला सांदू—माला सांदू बीकानेर के राजा रायसिंहजी के समकालीन थे। इनके जीवन का अधिकांश भाग रायसिंहजी के साथ ही व्यतीत हुआ प्रतीत होता है। 'दयाळदास की ख्यात' से पता चलता है कि इन्होंने रायसिंह से दो बार पुरस्कार प्राप्त किया था।[1] ओझाजी के अनुसार संवत् १६२७ में अकबर के नागौर आने पर बीकानेर के राव कल्याणसिंह अपने पुत्र रायसिंह के साथ उससे मिले। संवत् १६३० में कल्याणमल का देहान्त हुआ।[2] इसी समय गुजरात विजय पर जोधपुर का राज्य अकबर ने रायसिंह को दिया। 'दयाळदास की ख्यात' के अनुसार संवत् १६४६ में रायसिंह ने जैसलमेर के रावळ हरराज की पुत्री से विवाह किया।[3] कवि की राय-सिंहजी के सम्बन्ध की लिखी रचना व अन्य रचनाओं के आधार पर इनका रचनाकाल सं० १६३० से १६६० माना जा सकता है। इनके लिखे तीन ग्रंथ मिलते हैं—

(१) झूलणा महाराज रायसिंघजी रा ।
(२) झूलणा दीवांण श्री प्रतापसिंघजी रा ।
(३) झूलणा अकबर पातसाहजी रा ।

उपर्युक्त तीनों ही रचनायें झूलणा छन्द में हैं, जिनमें कवि ने अपने समय के तीन ऐतिहासिक प्रसिद्ध वीरों, अकबर प्रताप और रायसिंह के पराक्रमों का वर्णन किया है। रचनायें घटनाओं की सम-सामयिक जान पड़ती हैं जिससे उनमें वास्तविकता आ गई है। हल्दी घाटी के युद्ध-वर्णन में इनकी भाषा पूर्ण ओजस्विनी हो गई है और इसमें कवि की राष्ट्रीय भावना स्पष्ट रूप से झलकती दिखाई देती है। उदाहरण के लिए एक पद नीचे देखिये—

जोगण खप्पर मांडीय पळ रत अघाई
नाळां गोळा पूरीया की सोर सजाई
सोर पलीता गड़ड़ीया हथनाळ हवाई
वर पड़सादे परवतां फिर गैण गजाई
सिर चढ़ोतो सीसोदीयो सोहीयो सेलारां
आळूझै अंत्रावळी वणीयो तिण वारां ॥

---

[1] क. गांव एक भदोरी नागोर रो मालै सांदू नूं दीनो। ख. हाथी एक मालै सांदू नूं। (ख्यात, भाग २, पृ. ११८, १२५)

[2] बीकानेर राज्य का इतिहास : गौरीशंकर हीराचंद ओझा, पृ. १६२ का फुटनोट।

[3] दयाळदास री ख्यात, भाग २, पृ. १२३।

आया ऊन भूपत आवाहण,
भुजंगे भुजंग तजे वळ भंग।
रहियौ रांण खत्रीध्रम राखण,
सेत उरंग कळोधर 'संग'॥

हीर कलश—राजस्थानी के जैन कवि हीर कलश खरतर-गच्छ की सागरचन्द्र सूरि शाखा के विद्वान थे। जीवनकाल के अधिकांश भाग में ये वीकानेर तथा जोधपुर राज्य में ही रहे अतः इनका जन्म इन दोनों राज्यों में होना सम्भव है, जो वि० सं० १५६५ में हुआ था। कवि ने वहुत संख्या में रचनायें लिखी हैं जिनका रचनाकाल सं० १६१५ से ५७ है। इस प्रकार इन्होंने लगभग ४२ वर्ष तक साहित्य-साधना में रत रह कर कई श्रेष्ठ रचनाओं का निर्माण किया।

श्री अगरचन्द नाहटा ने कवि के ३० ग्रंथों का संवत् क्रम से नामोल्लेख किया है।[1] इनकी अन्तिम रचना 'हीयाली' सं० १६५७ नागौर के निकटवर्ती 'डेह' नामक स्थान पर रची हुई मिलती है। कवि का स्वर्गवास इसी स्थान पर होने का अनुमान लगाया जाता है। इनकी रचना 'मोती कपासिया संवाद' का एक उदाहरण देखिये—

मोती—कहि मोती सुणि कांकड़ा, मइ तइ केहो साथ।
हूं साव्हुं कंचण सरिस, तइ खळ कूकस वाथ॥
मइ सुर नरवर भेंटीया, कीधां जिहां सिंगार।
तइ भेंटीया गोधण वळद, जिहां कीधा आहार॥

कपासिया—ऊतर दीयइ कपासीयउ, अम्ह आहार जोइ।
गायां गोरस नीपजइ, वळदे करसण होइ॥
गोधण जदि बांटउ न हुइ, तदि वरतइ कंतार।
धांन वडइ तव वेचीयइ, सोवन मोती हार॥

कनक सोम—इसी समय के अन्य जैन कवि कनक सोम की रचनायें भी राजस्थानी साहित्य में उल्लेखनीय हैं। ये खरतर-गच्छ के अमर माणिक्य के शिष्य थे। डॉ० माहेश्वरी ने इनके ग्रंथों की सूची में १२ नाम गिनाये हैं।[2] ग्रन्थों में संवतोल्लेख के अनुसार इनका रचनाकाल भी १६२५ से १६५५ तक के लगभग ठहरता है। इनकी प्रसिद्ध रचना 'आषाढ़ भूति चौपाई' का उदाहरण देखिये—

नट ए पुत्री गीखवी, ए मुनिवरनि मोहउ रे।
हाव भाव विभ्रम करी, काम दुधा घरि दोहउ रे।
भुवन सुंदर जय सुन्दरी, मुनि मोहन वर नारी रे।
जन मन रंजन अवतरी, गोरी रति अनुकारी रे।
कुंच विच हार विण्यउ इस्यउ, गिरि विचि गंग प्रवाहा रे।
नाभि मंडळ सागर संगरइ, जांनु कि तीरथ लाहा रे॥

रंगरेलौ वीठू—इनके जन्मकाल के सम्वन्ध में विशेष पता नहीं चलता। इतना अवश्य प्रचलित है कि ये जैसलमेर के रावल हरराज और वीकानेर के राजा रायसिंह के सम-कालीन थे। इनका जन्म जैसलमेर राज्य के सांगड़ ग्राम में हुआ था, परन्तु वचपन में ही कच्छभुज चले गए और वहीं विद्याध्ययन किया। इसके पश्चात् वे देशाटन के लिए निकल पड़े और विभिन्न नगरों एवं देशों में घूमते हुए उनका वर्णन अपनी कविता में करने लगे। इनकी कवितायें व्यंग के लिए वहुत प्रसिद्ध हैं। ये घूमते हुए अपने देश जैसलमेर आ पहुँचे और यहीं पर जैसलमेर का वर्णन अपनी व्यंगपूर्ण भाषा में किया और यहाँ के रावल को सुना दिया। रावल ने इसे दूषित समझ वीठू को कैद कर लिया। वीकानेर के राजा रायसिंह अपना विवाह करने जैसलमेर पहुँचे तव इनको छुड़ा कर साथ ले आये। यहाँ इन्होंने रायसिंह की प्रशंसा में कुछ फुटकर गीतों की रचना कीं। एक समय राजा के कहने पर कवि ने रानी के समक्ष जैसलमेर का वर्णन सुनाया। वह व्यंगपूर्ण होने के कारण रानी को कटु लगा, इससे उसने नौकरों द्वारा रात्रि में वीठू को पलंग सहित कूए में पटकवा दिया। भाग्य से वे वहाँ वच गये और निकल कर भीनमाल चले गये जहाँ से जालोर का विहारी पठान अपने साथ ले गया। इनकी रचना के उदाहरण देखिये—

राठौड़ महाराजा रायसिंह कल्याणमलोत रौ गीत—

पाताळ तठै वळि रहण न पाऊं, रिघ मांडे स्रग करण रहै।
मो त्रितलोक राइसिंघ मारै, कठै रहूं हरि दळिद्र कहै॥ १
विरोचंद-सुत अहिपुर वारै, रवि-सुत तणौ अमरपुर राज।
निधि- दातार कलाउत नरपुर, अनंत रौर-गति केहि आज॥ २

---

[1] शोध पत्रिका, भाग ७, अंक ४ : राजस्थानी भाषा के एक बड़े कवि हीर-कलश।

[2] राजस्थानी भाषा और साहित्य : डॉ० हीरालाल माहेश्वरी, पृ० २६५–२६६।

पूजवै 'सिव' पाहाड़ सिर पोगरां,
कमंव ग्रसफेरिया ग्रचळ रा कांगरां।
हूवै हैकंप तिण वार 'बीजड़' हरां,
बीनवै ग्रभै मांगत व्रिय नै वरां॥

पद्मा सांदू—राजस्थान की स्त्री कवियों में पद्मा का नाम भी महत्वपूर्ण है। यह ऊपर वर्णित कवि बारहठ शंकर की पत्नी और प्रसिद्ध कवि माला सांदू की बहिन थी। इसने अपने भाई माला से ही शिक्षा पाई थी। इसका रचनाकाल संवत् १६४० के ग्रासपास ही माना जाता है। सं० १६४३ में जोधपुर राज्य के चारणों द्वारा ग्राउग्रा गांव में दिये जाने वाले धरने में से शंकर बारहठ के लौट ग्राने पर यह उनसे रुष्ट होकर राजा रायसिंह के भाई ग्रमरसिंह के पास चली ग्राई और उसके ग्रन्तःपुर में रहते हुए कविता करने लगी। ग्रमरसिंह के विद्रोही हो जाने के कारण संवत् १६५४ में ग्रकबर ने ग्रपने सेनापति ग्ररबखां को इन्हें पकड़ने के लिए भेजा। ग्रमरसिंह ग्रफीम ज्यादा खाते थे, ग्रतः इन्हें जगाना ग्रासान कार्य न था। इस पर पद्मा ने नीचे उदाहरण में दिये गये गीत द्वारा उसे जगा कर युद्ध के लिए प्रेरित किया। ग्रमरसिंह इसी युद्ध में मारे गये। इनका पृथक कोई ग्रंथ तो नहीं मिलता परन्तु फुटकर गीत प्राप्त हैं जो निसन्देह सुन्दर हैं—

महर लूटतो मरध नित देस करतौ सरद,
कहर नर प्रगट कीधां कमाई।
उज्यागर झाल खग 'जैतहर' ग्राभरण,
'ग्रमर' ग्रकबर तणी फौज ग्राई॥ १
बीदहर माहिधर मार करती बसू,
ग्रभंग ग्ररिव्रंद तो सींम ग्राया।
जाग गयणाग खग तोल भुज लंकाळा,
जाग हो जाग कलियांण—जाया॥ २
गाळ भर सबळ नर प्रगट ग्रर-गाहण,
घरवर्णा ग्रावियो लाग ग्रसमांण।
नियागी नींद कमधज ग्रबै निडर नर,
प्रगट हुय 'जैतहर' दाखवो पांण॥ ३
दुई नगराग दमामा मानी जठै,
गाज कुन्दांण भड़ बीज नमरी।
जागसी जिका घर न दी भड़ ग्रकबर नै,
जागसी जिके यह रूपो 'ग्रमरो'॥ ४

दुरसा ग्राढ़ा—मध्यकाल में साहित्य की विभिन्न धारायें भिन्न-भिन्न कवियों द्वारा पूर्ण रूप से पोषित हुई है। ऐतिहासिक परिस्थितियों के ग्रनुकूल देश के लिए बलि होने वाले, स्वतन्त्रता के उपासक एवं धर्म-रक्षक वीरों के प्रति उनके यशोगान एवं वीर प्रशंसा में इस काल के कवियों ने ग्रपनी लेखनी चलाने में कोई कसर उठा न रखी। ऐसे कवियों की कविताग्रों में देश एवं मर्यादा की रक्षा के लिए प्राणोत्सर्ग करने वालों के प्रति श्रद्धा एवं सहानुभूति स्पष्ट रूप से झलकती है। उनकी कविताग्रों में राष्ट्रीय भावना की धारा ग्रविरल रूप से बही है। इस युग के वीर शिरोमणि, राजस्थान के सूर्य राणा प्रताप का यशोगान जितना उनके समकालीन कवियों ने किया है वह ग्रन्यत्र दुर्लभ ही है। ऐसे कवियों में दुरसा ग्राढ़ा का नाम ग्रग्रगण्य है। काव्य-चमत्कार एवं भाषा-सौष्ठव की दृष्टि से इनकी तुलना इनके समकालीन कवि पृथ्वीराज राठौड़ से भले ही न की जा सके तथापि प्राचीन परंपरागत डिंगल में गीत-रचना की दृष्टि से इनका महत्व कम नहीं है।

दुरसा ग्राढ़ा गोत्र के चारण मेहाजी के पुत्र थे। इनका जन्म संवत् १५९२ में जोधपुर राज्य के ग्रन्तर्गत धूंदला गांव में हुग्रा था। इनकी माता का नाम धनीबाई था जो बोगसा गोविन्द की बहिन थी। ग्रत्यधिक निर्धनता के कारण दुरसा के जन्म के पूर्व ही इनके पिता मेहाजी ने सन्यास ग्रहण कर लिया था। इनकी माता ने बड़ी कठिनाइयों का सामना करते हुए इनका पालन-पोषण किया। बाल्यकाल में ही बगड़ी के ठाकुर प्रतापसिंह सूंडा इन्हें एक किसान के पास से ले गये ग्रौर पालन-पोषण करते हुए इनकी शिक्षा ग्रादि का प्रबन्ध किया। दुरसा ने ठाकुर के प्रति कृतज्ञता प्रकट करते हुए यह दोहा कहा—

मावै मावीतांह, जनम तणो ब्यावर जितो।
सूंडो मुघ पाताह, पाळणहार प्रतापसी॥

काव्य-रचना के स्वरूप दुरसा को ग्रपने जीवन में धन, यश एवं सम्मान बहुत प्राप्त हुग्रा। कहा जाता है कि जोधपुर पर ग्रधिकार के समय बीकानेर के राजा रायसिंह ने इनको चार गांव, एक करोड़ का पुरस्कार ग्रौर एक हाथी प्रदान किये थे।[1] इन्होंने बादशाह ग्रकबर तथा सिरोही के राव

---
[1] दयाळदास री ख्यात, भाग २, पृ० ११८।

रिड़ै रगत्र सगत्र पत्र भरीया कर भारां,
खाळ ज वहैंड हिगळ का पड़नाळ पयारां।
लट छूटा तूटा कमळ घट फूटा धारां,
जांण क मट उपटीया विच हट रंगारां।

इन भूलणाग्रों के अतिरिक्त कवि के कई फुटकर गीत और कवित्त मिलते हैं। गीतों की भाषा भी पूर्ण प्रवाहमयी तथा ओजगुण-सम्पन्न है। भाव पक्ष प्रबल होने के कारण गीत बड़े ही आकर्षक हो पाये हैं। राव जोधा के पुत्र करमसी के प्रति कहे एक गीत के दो दोहले यहाँ उदाहरण में देखिये—

राखत जो नहीं 'कमो' रिण रहचै।
घाय मिळे रिण असुर घड़।
तो जड़ जंगळ जात जैता।
ज्यूं जैतायण ही जात जड़॥ १
पोह धमोरी अनै द्रोणपुर।
पैह मेड़ती जांगळू पैह।
काडत जड़ां सहत किलमायण।
'करमट' जो नह करत कळैह॥ २

हेमरत्न सूरि—ये पद्मराज गणि के शिष्य थे।[1] सत्रहवीं शताब्दी के जैन कवियों में इनका नाम भी उल्लेखनीय है। इनकी निम्नलिखित रचनायें है—

१–महिपाळ चौपाई, २–अमर कुमार चौपाई, ३–सीता चरित्र, ४–गोरा बादळ पदमनी चौपाई।

उपरोक्त प्रमुख रचनाओं के अतिरिक्त अन्य अनेक फुटकर रचनायें भी हैं। ग्रंथों में प्रयुक्त भाषा शुद्ध राजस्थानी है। इनकी 'गोरा बादल पदमनी री चौपाई' वीररस की अनूठी रचना है। शृंगार रस का प्रयोग भी गौण रूप से इसमें हुआ है। गोरा बादल की वीरता एवं पद्मनी के शील का कवि ने बहुत सुन्दर ढंग से वर्णन किया है। कवि के वीररस का उदाहरण देखिये—

धड़ ऊपरि धड़ ऊथलि पड़इ, ग्रहि करवाळ मूंड विगु भिड़इ।
रण चाचरि नाचइ रजपूत, पाड़इ पड़इ किहाडइ भूत।
नवि चीतारइ घर सुख साथ, वाहइ वहकि छछोहा हाथ।
रे! रे! मुगळ ग्रांधा ढ़ोर, इम कहि वाहइ खग अघोर।
पदमिण साटइ ले करवाळ, किहां दिल्लीघर घन संभाळि॥

[1] जैं०गु०क०, ततीय भाग, पृ० ६८०।

बारहठ शंकर—इस शताब्दी के पूर्वार्द्ध के कवियों में बारहठ शंकर भी उल्लेखनीय कवि हैं। ये रोहड़िया शाखा के चारण थे और बीकानेर के प्रसिद्ध राजा रायसिंहजी के ही समकालीन थे। रायसिंहजी द्वारा संवत् १६५१ में कवि को सवा करोड़ का दान देना सर्वप्रसिद्ध है।[1] संवत् १६४३ में जोधपुर के राजा उदयसिंह के समय राज्य के चारणों ने आउआ गाँव में धरना दिया तब उसमें ये भी थे किन्तु किसी कारण-वश उस धरने को छोड़ कर चले ग। कहाये जाता है कि इनकी पत्नी पद्मा जो माला सांदू की बहिन थी, इन्हें छोड़ कर चली गई और आजीवन रायसिंह के भाई अमरसिंह को अपना धर्म भाई बना कर उसी के पास रह गई।

कवि शंकर बारहठ की 'दातार सूर रौ संवाद' प्रसिद्ध रचना है।[2] इसकी हस्तलिखित प्रतियाँ अनूप संस्कृत लाइब्रेरी, बीकानेर में विद्यमान है। इस रचना में, जैसा कि इसका नाम है, दानवीर और शूरवीर पुरुषों के संवाद हैं। इस परस्पर वार्तालाप में प्रत्येक एक दूसरे से श्रेष्ठ होने का दावा करता है। अन्त में रायसिंहजी अपनी विशेष युक्ति देकर दानी को श्रेष्ठ बता कर उनका न्याय करते हैं। इस रचना के अतिरिक्त कवि के अन्य फुटकर गीत भी बहुत मिलते हैं। गीतों की भाषा साधारण होते हुए भी वे बड़े प्रभावपूर्ण प्रतीत होते हैं। उदाहरण के लिए निम्न गीत देखिये—

अकळ थाट असमांण अर ऊपरै आंणिया,
दूहरी कुंजरै ढाल ढळकांणियां।
सिखर भुरजां चढ़ी सखी साहवांणियां,
रायसिंघ संपेखै नंद गिररांणियां॥
कळहळै बगतरां टोप री भ्भरहरी,
घमधमै घूघरां पाखरां छरहरी।
कोट कमसीस पैह निजर सांमी करी,
'कला' सुत पेखियौ कोड राय करी॥
धूपटै घरां पुर जोध हरसै धणी,
वेहद राज ऊजळी सिह मायै वणी।
तुरी आफाळतां विख अरबद तणी,
मारवौ राव साराहियौ पदमणी॥

[1] दयाळदास री ख्यात, भाग २, पृ० १२६-१२७।

[2] Descriptive Catalogue Sec. II, Pt. I, Page 14: Tessitori.

रचनाओं से उसका पोषण कर रहे थे, उसी समय साहित्य क्षेत्र में एक ऐसे व्यक्ति का अवतरण हुआ जिसने अपूर्व साहित्य की रचना कर केवल साहित्य को ही नहीं अपितु राजस्थानी भाषा को भी उन्नति के उच्चतम शिखर पर पहुंचाने में अमूल्य सहयोग दिया। ये व्यक्ति थे, बीकानेर नरेश राव कल्याणमल के पुत्र एवं राव जैतसी के पौत्र श्री पृथ्वीराज राठौड़। इनका जन्म संवत् १६०६ में हुआ था। ये उच्च कोटि के कवि एवं योद्धा होने के साथ-साथ पूरे भगवद्भक्त भी थे। इस समय में उत्तरी भारत में व्याप्त भक्ति-लहर से ये भी पूर्ण प्रभावित थे और इसी कारण इनकी रचनाओं में इनकी भक्ति-भावना की झलक स्पष्ट रूप से दिखाई देती है। भक्त कवि नाभादास ने अपनी भक्तमाल में इनका भी गुण-गान किया है।[1]

अपनी विशिष्ट विद्वत्ता एवं उच्च कोटि की रचनाओं के कारण राजस्थानी साहित्य के सर्वोत्कृष्ट कवियों में इनका स्थान है। इनके लिखे पांच ग्रंथ मिलते हैं—

१—वेलि क्रिसन रुकमणी री।
२—दसम भागवत रा दूहा।
३—गंगा लहरी।
४—वसदे रावउत, और
५—दसरथ रावउत।

अंतिम चारों रचनायें शांतरस के भक्ति सम्बन्धी छंदों से परिपूर्ण हैं। 'दसम भागवत रा दूहा' में कृष्ण भक्ति सम्बन्धी १८४ दोहे हैं। 'दशरथ रावउत' में श्री रामचन्द्रजी की स्तुति में ५० के लगभग दोहे हैं। 'वासदे रावउत' में श्री कृष्ण का गुणानुवाद किया गया है तथा 'गंगा लहरी' में गंगा की महिमा का वर्णन करते हुए ८० के लगभग दोहे हैं।

प्रथम रचना 'वेलि क्रिसन रुकमणी री' पृथ्वीराज की काव्यमयी प्रतिभा की सर्वोत्कृष्ट रचना है। इसके रचनाकाल के सम्बन्ध में विद्वानों में मतभेद है। एक मत के अनुसार इसकी रचना संवत् १६३७ में हुई।[1] इसके समर्थक डॉ० तैस्सितोरी[2], सूर्यकरण पारीक[3], रामकुमार वर्मा[4] प्रभृति विद्वान हैं। दूसरा मत डॉ० मोतीलाल मेनारिया का है। इन्होंने सरस्वती भंडार, उदयपुर से प्राप्त वेलि की तीन हस्तलिखित प्रतियों के आधार पर इसका रचनाकाल संवत् १६४४ माना है।[5] श्री मेनारिया का अनुमान है कि संवत् १६३७ 'वेलि' को आरम्भ करने का समय है तथा इसका समाप्ति काल १६४४ ही है। यह ग्रंथ डिंगल साहित्य के प्रसिद्ध छंद वेलियौ गीत में लिखा हुआ ३०५ दोहालों का एक खण्ड काव्य है। यह ग्रंथ साहित्य जगत में कितनी प्रसिद्धि प्राप्त कर चुका है, इसका अनुमान दुरसा आढ़ा नामक सम-सामयिक कवि के निम्न छंद से ही लगा सकते हैं, जिसने 'वेलि' को 'पांचवां वेद' कह कर पुकारा है—

रुकमणि गुण लखण रूप गुण रचवण,
'वेलि' तासु कुण करै वखांण।
पांचमौ वेद भाख्यौ पीथळ,
पुणियौ उगणीसमौ पुरांण॥

'वेलि' की कथा का बीज रूप आश्रय श्रीमद्भागवत-पुराण, दशम स्कन्ध के अन्तर्गत अध्याय ५२, ५३, ५४ व ५५ से ग्रहण किया गया है। यह बात स्वयं कवि ने ग्रंथ के छन्द

---

[1] सवैया गीत श्लोक, वेलि दोहा गुण नव रस।
पिंगळ काव्य प्रमाण, विविध विधि गायो हरजस॥
परिदुख विदुख सलाघ्य, वचन रचना जु उच्चारै।
अरथ विचित्रन मोल, सबै सागर उद्धारै॥
रुकमणी लता वरणन अनूप, वगीस वदन कल्याण सुव।
नरदेव उभै भाषा निपुन, प्रथीराज कविराज हुव॥

[1] हिन्दुस्तानी एकेडेमी प्रयाग से प्रकाशित 'वेलि क्रिसन रुकमणी री' पृ० २७२, दो० ३०५।
वरसि अचळ गुण अंग ससी संवति, तवियौ जस करि श्री भरतार।
करि श्रवणे दिन रात कंठ करि, पामै स्त्री फळ भगति अपार॥

[2] 'वेलि क्रिसन रुकमणी री' एशियाटिक सोसाइटी, कलकत्ता, Introduction, Page IX.

[3] 'वेलि' (हिन्दुस्तानी एकेडेमी) भूमिका, पृ० ६७, ६६।

[4] हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास, पृ० ११२ (प्रथम संस्करण)

[5] क. सोळह सै संवत चमाळै वरसै, सोम तीज वैसाख सुदि। (सं० १७०१ की प्रति)
ख. सोळह सै संवत चमाळै वरखै सोमतीज वैसाख समंधि। (सं० १७२८ की प्रति)
ग. सोळह सै संवत चमाळीसै वरसै, सोम तीज वैसाख सुदि। (सं० १७६५ की प्रति)

सुरताण से भी एक-एक करोड़ का पुरस्कार प्राप्त किया था।[1] इस प्रकार हम देखते हैं कि दुरसा अपने काल के अत्यन्त लोकप्रिय कवि थे। इनके लिखे हुए तीन ग्रंथ बतलाये जाते हैं—

(१) विरुद छहत्तरी (२) किरतार बावनी, और (३) श्री कुमार अजाजी नी भूचर मोरी नी गजगत। अन्तिम दो ग्रंथों को इनके रचे मानने का कोई निश्चित प्रमाण प्राप्त नहीं हुआ है। 'विरुद छिहत्तरी' वास्तव में इनकी एक अनोखी रचना है। इसमें कवि ने महाराणा प्रताप की प्रशंसा मुक्त कंठ से की है। यह ७६ दोहों का ग्रंथ है। ये दोहे पृथ्वीराज द्वारा रचित दोहों से किसी रूप में कम नहीं हैं। यही कारण है कि कुछ दोहों में इतनी समानता आ गई है कि लोग भ्रम से दुरसा आढ़ा के दोहों को भी पृथ्वीराज द्वारा रचा गया मान लेते हैं। उदाहरण के लिए देखिये—

अकबर समंद अथाह, सूरापण भरियौ सज्ळ।
मेवाड़ौ तिण मांह, पोयण फूल प्रतापसी॥
—पृथ्वीराज

अकबर समंद अथाह, तिहँ डूबा हिन्दू तुरक।
मेवाड़ौ तिण मांह, पोयण फूल प्रतापसी॥
—दुरसा आढ़ा

अकबर एकण बार, दागल की सारी दुनी।
अणदागल असवार, रहियौ रांण प्रतापसी॥
—पृथ्वीराज

अकबरिये इक बार, दागल की सारी दुनी।
अणदागल असवार, एकज राण प्रतापसी॥
—दुरसा आढ़ा

अकबर बादशाह के दरबार में दुरसा को बहुत सम्मान प्राप्त हुआ था। यहां उनकी प्रतिष्ठा बहुत अधिक थी। इतना सब कुछ होते हुए भी उन्होंने अकबर की प्रशंसा में अपनी लेखनी कभी नहीं चलाई। अकबर के समक्ष भी वे सदैव राणा प्रताप की ही प्रशंसा करते थे। इससे कवि की आन्तरिक राष्ट्रीय भावना का स्पष्ट पता चलता है। महाराणा प्रताप की मृत्यु का समाचार जब बादशाह ने सुना तो उनकी आंखें भर आई और एक लम्बी निश्वास छोड़ी। इस पर दुरसा उनके हृदय के भाव को समझ गये और शीघ्र ही निम्न कवित्त सुनाया—

अस लेगौ अण दाग, पाघ लेगौ अणनांमी
गौ आडा गवड़ाय, जिकौ वहतौ धुर वांमी
नवरोजे नंह गयौ, न गौ आतसां नवल्ली
न गौ झरोखां हेठ, जेथ दुनियांण दहल्ली
गहलोत रांण जीती गयौ, दसण मूंद रसणा डसी।
नीसास मूक भरिया नयण, तो मृत साह 'प्रतापसी'॥

कवि के कवित्त में अपने भावों का सच्चा प्रतिविम्ब देख बादशाह प्रसन्न हुये।

राजस्थानी साहित्य में दुरसा का स्थान बहुत ऊंचा है। इन्होंने अपने ग्रंथों के अतिरिक्त फुटकर रचना भी बहुत की हैं। ईश-कृपा से इन्होंने दीर्घायु प्राप्त की अतः अनुमान लगाया जा सकता है कि अपने जीवनकाल में इन्होंने प्रचुर मात्रा में साहित्य रचना की। फुटकर रचनाओं में इनके—१–राउ श्री सुरतांण रा कवित्त, २–झूलणा रावत मेघा रा, ३–दूहा सोळंकी वीरमदेजी रा, ४–गीत राजि श्री रोहितासजी रौ, तथा ५–झूलणा राव श्री अमरसिंघजी गजसिंघोत रा आदि बहुत प्रसिद्ध हैं। दुरसाजी हिन्दू-धर्म, हिन्दू-जाति और हिन्दू-संस्कृति के अनन्य उपासक थे। अपनी कविता में उन्होंने तत्कालीन हिन्दू समाज की विपन्नावस्था और अकबर की कूटनीति का बड़ा ही सजीव, वीर-दर्पपूर्ण एवं चुभता हुआ वर्णन किया है।[1] इनकी भाषा प्रसादगुणयुक्त होने के साथ-साथ ओजपूर्ण एवं प्रभावमयी है जो पाठकों के हृदय पर अपनी छाप छोड़े बिना नहीं रहती। फुटकर रचना के एक गीत का उदाहरण देखिये—

सामौ आवियौ सुरसाथ सहेतौ, ऊंच वहा ऊदांणा।
अकबर साह सरस अणमिळियां, रांम कहै मिळ रांणा॥ १
प्रम गुर कहै पधारौ 'पातल', प्राझा करण प्रवाड़ा।
हेवैं सरस अणमिळिया हींदू, मोसूं मिळ मेवाड़ा॥ २
एकंकार ज रहियौ अळगौ, अकबर सरस अनैसौ।
विसन भणै रुद्र ब्रह्म विचाळैं, बीजा 'सांगण' बैसौ॥ ३

निस्सन्देह दुरसाजी अपने समय के बहुत ऊंचे कवि थे। डिंगल भाषा को ऐसे कवियों पर गर्व है।

पृथ्वीराज राठौड़—मध्यकाल में राजस्थानी साहित्य जब अपने उच्च शिखर पर था और दुरसा आढ़ा जैसे कवि अपनी

[1] राजस्थानी भाषा और साहित्य : डॉ० मोतीलाल मेनारिया, पृ० १३७, १३८।

[1] डिंगल में वीररस, पृ० ५१।

ग्रंथ की सरसता एवं स्वाभाविकता को द्विगुणित कर दिया है। स्वाभाविकता के साथ-साथ कविता की संगीतमयी मधुरिमा ने ग्रंथ को सर्वोच्च स्थान पर लाने में पूर्ण सहयोग दिया है। इसकी एक विशेषता यह और है कि यह शृंगारिक काव्य है पर इसकी आत्मा में आध्यात्मिक संदेश निहित है। इसका मूल संदेश भक्तिमय है और वह अवश्य ही साधारण जीवन-निर्वाह के लिए एक आदर्श स्थापित करता है। परन्तु जिस उच्च शृंगारिक आवरण में अपनी गहन आध्यात्मिकता प्रस्तुत की वह जन साधारण के लिए बोधगम्य न हो सकी। यही कारण है कि पृथ्वीराज अपने समसामयिक रामभक्त कवि तुलसी की भांति लोक शिक्षा के लिए भक्ति का आदर्श रखने में असमर्थ रहे। कवि की विद्वत्ता एवं अनुभव-दक्षता के सम्बन्ध में किंचित मात्र भी सन्देह नहीं है। उनका यह ग्रंथ ही इस बात का सही प्रमाण है। स्वयं कवि ने भी यह स्पष्ट कर दिया है कि ग्रंथ की गहनता एवं उसका अर्थ ज्ञान प्राप्त करने के लिए पाठक को भी विविध शास्त्रों के मर्म का ज्ञाता होना अत्यन्त आवश्यक है। सत्य तो यह है कि कवि के व्यक्तित्व को समझने पर ही उनकी इस गहन काव्य-चातुरी और विशिष्ट अभिव्यक्ति को हृदयंगम किया जा सकता है। पृथ्वीराज के व्यक्तित्व के विषय में कर्नल टॉड ने लिखा है—

> 'Pirthi Raj was one of the most gallant chieftains of the age, and like the Troubadour princes of the west could grace a cause with the soul inspiring effusions of the muse, as well as aid it with his sword; nay in an assembly of the bards of Rajasthan the palm of merit was unanimously awarded to the Rathore cavalier ?'[1]

वास्तव में जो व्यक्ति समस्त भारत की शक्तियों को नतमस्तक करने वाले मुगल साम्राज्य की शक्ति के अधीनस्थ रहते हुए भी अपने देश की स्वतंत्रता की कामना प्रकट कर सके उनके शौर्य्य के आदर्श की सहज ही में कल्पना की जा सकती है। वे राजपूत थे और साहस और उत्साह का मूल्य पहचानते थे। महाराणा प्रताप को लिखे गये पत्र के विशिष्ट ऐतिहासिक महत्व से लोग आज भी भली भांति परिचित हैं।

निस्सन्देह 'वेलि' समस्त काव्य-गुणों की पूर्णता प्राप्त कर एक अत्यन्त प्रौढ़ कलाकृति हो गई है। ग्रंथ में कला पक्ष एवं भाव पक्ष का जो सुन्दर सामंजस्य उपस्थित हुआ है वह अन्यत्र सुलभ नहीं। वर्ण्य-विषयानुकूल नादसौन्दर्ययुक्त शब्द-चयन, एवं प्रसंगानुकूल भाषा में लोच 'वेलि' की अपनी निजी विशेषता है। कवि का प्रकृति-वर्णन जो षट्-ऋतु वर्णन के रूप में हुआ है, परंपरानुगत और पिष्टपेषित नहीं है। कवि ने राजस्थान के ऋतु-परिवर्तनों को बड़ी सूक्ष्म दृष्टि से देख कर उन्हें हूबहू उतारने का सफल प्रयास किया है। वैसे तो कवि ने साधारणतः सभी ऋतुओं के वर्णन में अपनी मौलिक प्रतिभा का परिचय दिया है तथापि इनकी ये सब कल्पनायें इनके अपरिचित वस्तु ज्ञान भंडार एवं निजी सांसारिक अनुभवों पर आश्रित हैं।

'वेलि' की भाषा के लालित्य एवं सहज प्रवाह में अलंकारों का विशेष हाथ है। शब्दालंकार एवं अर्थालंकार दोनों का ही स्वाभाविक रूप से प्रचुर प्रयोग हुआ है। अर्थालंकारों में उपमा, रूपक एवं उत्प्रेक्षा का अधिकाधिक प्रयोग हुआ है। कवि की उपमाओं के सम्बन्ध में डॉ० मेनारिया का कथन है कि 'वे अपनी उपमाओं में न केवल उपमेय उपमान का साधर्म्य कथन करते हैं प्रत्युत दोनों के आसपास के पूरे वातावरण को ही शब्दों में ला उतारते हैं जिससे भाव सजीव होकर जगमगाने लगता है।'[2] यथा—

> संग सखी सीळ कुळ वेस समांणी, पेखि कळी पदिमणी परि।
> राजति राजकुंअरि राय अंगणि, उडियण बीरज अंबहरि॥

वस्तुतः वेलि अपने काल की प्रौढ़तम रचना है। इसमें राजस्थानी साहित्य की परम्परानुगत प्रेम, भक्ति एवं वीर रस की त्रिवेणी के दर्शन होते हैं। राजस्थानी की पूर्व प्रचलित प्रमुख काव्यधाराओं की समष्टि पूर्णरूपेण हो पाई है। कवि की इस अनुपम कृति के विषय में डा० तैस्सीतोरी ठीक ही लिखते हैं—

> 'The Veli....is one of the most fulgent gams in the rich mine of the Rajasthani literature...is one of the most perfect productions of the Dingala literature, a marvel of poetical ingenuity,

---

[1] 'Annals of Mewar' Chapter XI, Page 273 of Routledge's edition.

[2] राजस्थानी भाषा और साहित्य : डॉ० मोतीलाल मेनारिया पृ० १२५

२६१ में सुन्दर रूपक का उदहारण प्रस्तुत करते हुए स्वीकृत की है—

> वल्ली तसु बीज भागवत वायो,
> महि थांणौ प्रथुदास मुख ।
> मूल ताल जड़ अरथ मंडहे,
> सुथिर करणि चढ़ि छाह सुख ।। २६१

कथा-विस्तार में श्रीकृष्ण रुक्मिणी के विवाह, उनकी रति-क्रिड़ा और अन्त में प्रद्युम्न के जन्म का वर्णन किया गया है। साथ ही साथ रुक्मिणी का नख-शिख-रूप-वर्णन, पट्-ऋतुवर्णन आदि का भी हुआ है, यद्यपि इसका कथा के साथ कोई विशेष सम्बन्ध नहीं है। कथानक केवल बीज रूप में ही ग्रहण किया गया है। काव्य-सौष्ठव व वर्णन-शैली पूर्णतया मौलिक है। जिस समय तुलसीदासजी अपने 'रामचरित मानस' की रचना द्वारा वैष्णव भक्ति के प्रचार में संलग्न थे उसी समय राजपूताने में प्रवाहित होने वाली भक्तिधारा में पृथ्वीराज ने यह शृंगार रस को अनूठा ग्रंथ लिखा। वीररसात्मक काव्य की प्रचुरता के कारण कुछ लोगों की ऐसी धारणा हो गई थी कि राजस्थानी भाषा तो वीररसात्मक काव्य के लिए ही उपयुक्त है तथा शृंगार की श्रेष्ठ कविताओं की रचना इस भाषा में नहीं की जा सकती। 'वेलि' की रचना ने यह भ्रम पूर्ण रूप से निवारण कर दिया। भक्ति की भावना के साथ शृंगार की रसीली साधना भी है। ग्रंथ में १५ से २४ तक के दोहलों में उच्च शृंगार-प्रधान भावमयी उक्तियां भरी पड़ी हैं जिनसे कवि की श्रेष्ठ कल्पना, गहन सूझ एवं मनन का स्पष्ट पता चलता है। कवि ने देवी रुक्मिणी के यौवनागमन एवं वयसंधि का जिस विलक्षण दक्षता से वर्णन किया है उससे कवि की उच्च काव्य-प्रतिभा को स्वीकार करने में कोई सन्देह नहीं रह जाता। जिस विधि से कवि ने अपनी वर्णन-शैली के माध्यम से मानव-विज्ञान एवं दर्शनशास्त्र का सामंजस्य उपस्थित किया है वह किसी भी पाठक के हृदय पर अपनी अमिट छाप छोड़े बिना नहीं रह सकता। वयसंधि का अनुपम शृंगारिक वर्णन देखिये—

> पहिलौ मुख राग प्रगट थ्यौ प्राची
> अरुण कि अरुणोद अम्बर ।
> पेखे करि जागिया पयोहर
> सञ्झा वंदण रिखेसर ।। १६

इसी प्रकार यौवन प्रकट करने वाले अंगों के उभार के सम्बन्ध मे जो कवि की सूझ है वह देखते ही बनती है। यह अद्भुत शृंगारिक उक्ति पाठकों के हृदय को छूए बिना नहीं रहती—

> आगळि पित मात रमंती अंगणि
> कांम विरांम छिपाड़ण काज ।
> लाजवती अंगि एह लाज विधि
> लाज करंती आवै लाज ।। १८

इस प्रकार भक्ति के उस युग में रीति का यह मनोरंजक और सरस वर्णन राजस्थानी साहित्य को अनोखी वस्तु है। इस सबका श्रेय राठौड़ पृथ्वीराज को ही है।

वेलि का ढांचा प्राचीन राजस्थानी का ही है, किन्तु मध्यकाल की प्रचलित विशेषतायें भी इसमें मिलती हैं। देखा जाय तो वेलि की अक्षरी सर्वथा माध्यमिक राजस्थानी की सी ही है। इतना अवश्य है कि इसकी रचना तत्कालीन बोलचाल की भाषा में न की जाकर साहित्यिक डिंगल में ही की गई है। शब्दों का तोड़-फोड़ करने की जो परम्परा मध्यकाल में रचित राजस्थानी के साहित्यिक ग्रंथों में मिलती है वह 'वेलि' में बहुत कम दृष्टिगोचर होती है। इसी विशेषता के कारण यह शृंगारिक-काव्य डिंगल भाषा पर कर्णकटुता, कठोरता तथा कांतगुणहीनता आदि के लगाये जाने वाले आरोपों को सर्वथा मिथ्या सिद्ध करने में सफल हो सका है। इस सम्बन्ध में वेलि का संपादन करते हुए श्री रामसिंह तथा श्री सूर्यकरण पारीक ने लिखा है—'वेलि जैसे डिंगल के सर्वोत्तम शृंगार ग्रंथ को रखते हुए यह विश्वास करते हैं कि इस ग्रंथ रत्न के उच्चतम भाषा-सौन्दर्य, शब्द-सौष्ठव, छंद-माधुर्य, विविध अलंकृति और अर्थगौरव से मुग्ध होकर सहृदय पाठक न केवल डिंगल भाषा सम्बन्धी काठिन्य एवं श्रुति-कटुत्व के ही भावों को सदा के लिए विस्मृत कर देंगे वरन् यह जान कर कि डिंगल में भी संस्कृत, परिमार्जित हिन्दी तथा अन्यान्य उन्नत प्रान्तीय भाषाओं के समान समस्त काव्य गुणों को धारण करने की पूर्ण क्षमता है, अत्यन्त संतुष्ट होंगे।[1]

वस्तुतः वेलि की भाषा सौन्दर्ययुक्त होने के साथ-साथ पूर्ण प्रवाहमयी है। कवि द्वारा विषयानुकूल शब्द-चयन ने

---

[1] वेलि क्रिसन रुकमणी री : सं० ठाकुर रामसिंह तथा पं० सूर्यकरण पारीक, हिन्दुस्तान एकेडेमी, प्रयाग से प्रकाशित—भूमिका पृष्ठ १०६

खाटी सौ दाटी घर खोदे
साथ न चाली हेक सिळी
पवन ज जाय पवन बिच पैठी
माटी माटी मांहि मिळी ॥

लक्खोजी—ये रोहड़िया शाखा के चारण मारवाड़ राज्य के अन्तर्गत साकड़े परगने के नानणियाई ग्राम के निवासी थे। ये बादशाह अकबर के कृपापात्रों में थे। ऐसा कहा जाता है कि अकबर ने इन्हें मथुरा के पास अन्तर्वेद में साढे तीन लाख की जागीर दी और मथुरा में रहने के लिए हवेली प्रदान की। बादशाह ने उन्हें 'बरण पतसाह' अर्थात् चारणों के बादशाह की उपाधि भी दी थी जिसके प्रमाण में यह दोहा है—

अकबर मुंह सूं आखियौ, रूड़ी कहै दोहूं राह,
मैं पतसाह दुन्यानपत, लखा बरण पतसाह।

'दयाळदास की ख्यात' में बीकानेर नरेश रायसिंह द्वारा इन्हें एक करोड़ पसाव और दो हाथी देने का उल्लेख मिलता है।[1] इनके नाम के दो पट्टे मिलते हैं। एक पट्टा संवत् १६५८ और दूसरा सं० १६७२ का है। इनसे इनका बादशाह अकबर के समय से लेकर जहांगीर के समय तक विद्यमान रहने का पता चलता है। इनका लिखा एक ग्रंथ 'पाबू रासौ' मिलता है। इसके अतिरिक्त इन्होंने अन्य फुटकर गीतों की रचना के साथ राठौड़ पृथ्वीराज की 'वेलि' पर टीका भी लिखी थी। 'पाबू रासौ' दोहा छंद में रचित एक चरित्र काव्य है जिसमें पाबूजी राठौड़ के जीवन-चरित्र का वर्णन है। इनका रचा एक गीत जैमळ मेड़तिया की प्रशंसा में मिला है।

गीत—

गज रूप चढ़ण अंग रहण असंभगति, पहप कमळ दैसोत पगि,
जिम जगदीसर पूजतौ 'जैमल' जैमल तिम पूजिजै जगी ॥
गज आरोह वद वद गडपति, चौसरा घरि वंदे चलण,
'वीर' तणौ अरचतौ विसंभर, तिम अरचीजै आपतण।
मोटा पहु आराध करै महि, मोटे गड लीजतै मुग्री,
जगि हरि भगत तुहाळो 'जैमल', हरि सारीख प्रताप हुओ।
रधि हाथ रूक गमरथ रे नगि, महिपति पग तिस अेक मण,
प्रग कमधज जिण चरम पूजतौ, आप वडिम मूजि आचरण ॥

[1] दयाळदास री ख्यात, भाग २, पृ० १०५, ११८, १२४।

इस शताब्दी में एक ओर जहाँ कवि लोग राजा-महाराजाओं के यशोगान, उनका देश-प्रेम और वीरता की प्रशंसा में अपनी ओजस्विनी वाणी द्वारा प्रचुर मात्रा में वीर-रस की रचना कर रहे थे, वहाँ दूसरी ओर भक्ति के प्रभाव से भक्त कवि लोग शान्तरस की अधिकाधिक रचना कर साहित्य की अभिवृद्धि कर रहे थे। इन भक्त कवियों में केसोदास गाडण, माधोदास दधवाड़िया, सायांजी झूला आदि का नाम उल्लेखनीय है। यहाँ संवत्-क्रम के अनुसार इन्हीं के साहित्य का परिचय दे रहे हैं।

केसोदास गाडण—ये गाडण शाखा के चारण थे। इनका जन्म जोधपुर राज्यान्तर्गत गाडणों की बासनी में सदामल के घर संवत् १६१० में हुआ था। डॉ० मोतीलाल मेनारिया ने इन्हें सोजत परगने के चिड़िया नामक गांव का निवासी बताया है[1] जो अशुद्ध है। इनके विषय में यह बात प्रसिद्ध है कि ये गृहस्थ होते हुए भी सदैव साधुओं की भांति गेरुआं वस्त्र पहिनते थे। इस विषय में और इनकी प्रशंसा में 'वेलि क्रिसन रुकमणी' के रचयिता राठौड़ पृथ्वीराज ने निम्न दोहा कहा था—

'केसौ' गोरखनाथ कवि, चेलौ कियौ चकार।
सिव रूपी रहता सबद, गाडण गुण भंडार ॥

केसोदास महात्मा ईसरदास के समकालीन ही थे। ईसरदास की प्रशंसा में इन्होंने निम्न दोहा कहा है—

जग प्राजळती जांण, अघ दावानळ ऊपरां।
रचियौ रोहड़ रांण, समंद हरी रस सूरवत ॥

कहा जाता है कि इसके बदले में ईसरदास ने भी उनकी रचना की प्रशंसा निम्न दोहा कह कर की—

नीसांणंद नीसांण, 'केसव' परमारथ कियौ।
पोह स्वारथ परमांण, सो बीसोतर बरण सिर ॥

केसोदास जोधपुर के महाराजा गजसिंहजी के कृपा-पात्र थे। इसके अनुसार इनका रचनाकाल लगभग १६४० के पश्चात् ही माना जा सकता है। संवत् १६६७ में इनका देहान्त हो गया था। इनकी रची हुई निम्नलिखित रचनायें कही जाती हैं—

[1] राजस्थानी भाषा और साहित्य : डॉ० मोतीलाल मेनारिया, पृ० ११६।

in which like in the Taj of Agra, elaborateness of detail is combined with simplicity of conception and exquisitness of feeling is glorified in immaculateness of form [1]

पृथ्वीराज की कविता-शैली के व्यापक प्रभाव ने न केवल राजस्थानी साहित्य के महत्त्व की अभिवृद्धि ही की अपितु इसने पिंगल पर डिंगल की श्रेष्ठता भी स्थापित कर दी। पृथ्वीराज यदि चाहते तो इस ग्रंथ की रचना पिंगल में भी कर सकते थे। व्रज भाषा माधुर्यगुण से ओतप्रोत है, किन्तु ओजगुण की उसमें कमी है। डिंगल इस कमी की पूर्ति करती है। बिना ओजगुण के वेलि में वह बल, वह उल्लास, वह लावण्य और वह तेज नहीं होता जिसके दर्शन आज हमें इस ग्रंथ में स्थल-स्थल पर होते हैं। इस मत का प्रतिपादन करते हुए डॉ० तैस्सितोरी लिखते हैं—

'It is certain that had Prithiraj chosen to compose his Veli in emasculated Pingala, he would have given us a very different composition, not superior in musicality, and considerably inferior in naivete. But fortunately for us, he preferred to compose in the literary bhasa of his native land, the Dingala of the *bards*[2]'.

डिंगल ग्रंथों के अतिरिक्त महाराजा पृथ्वीराज ने अनेक फुटकर गीत एवं दोहे भी लिखे हैं। गीत-रचना में उन्होंने चारण परम्परा का ही अनुकरण किया है। महाराणा प्रताप ने जीते-जी अकबर की अधीनता स्वीकार नहीं की। उनकी प्रशंसा में लिखा पृथ्वीराज का प्रसिद्ध गीत आज भी जन-साधारण में खूब प्रचलित है। उदाहरण के लिए उसे ही हम यहाँ उद्धृत करते हैं[3]—

नर जेथि निमांणा नीलजी नारी
अकबर गाहक वट अवट
आवै तिणि हाटै 'ऊदावत'
वेचै किम रजपूत वट ॥ १
गोजाइतां तणै नउरोजै
जेथि मुसीजै जणो-जण
चौहटि तिणि आवै चीतोड़ौ
'पतौ' न खरचे खत्रीपण ॥ २
पड़पंच दीठ वध लाज न व्यापति
खोटौ लाभ कुलाभ खरौ
रज्ज वेचिवा नायौ 'रांणौ'
हाटि मीर 'हमीर' हरौ ॥ ३
पिंड आपरै दाखि पुरसातण
रह अणियाळ तणै बळ रांणौ
खत्र वेचियौ जठै वड खत्रिए
खत्र राखियौ जठै खुम्मांणि ॥ ४
जासी हाट बात रहिसी जगि
अकबर ठगि जासी एकार
रहि राखियौ खत्री ध्रम रांणै
सगळी ई वरतै संसार ॥ ५

इनकी लेखनी में ही ओज नहीं बल्कि रचना के आधार पर इनके हृदय की दृढ़ता एवं ओजस्विता स्पष्ट प्रकट होती है। इनके वीर रस में जहाँ अनुपम ओज की छवि है वहाँ शान्त रस में विरक्ति भाव के दर्शन होते हैं। शान्त रस के एक गीत का कुछ अंश देखिये—

सुखरास रमंता पास सहेली
दास खवास मोकळा दांम
न लियौ नांम पखै नारायण
'कलिया' उठ चलिया बेकांम ॥ १
माया पास रही मुळकंती
सजि सुंदरि कीधां सिणगार
बहु परिवार कुटंब चौ बाधौ
हरि बिन गयौ जमारौ हार ॥ २
हास हसंता रह्या धौळहर
सुखमै राजत जे सिणगार
लाखां धणी पयाणै लांवै
जातां नह भेजिया जुहार ॥ ३

× ×

केसर चनण चरचतौ काया
भणहणता ऊपर भ्रमर
रजियौ राख तणै पूगरणै
घणा मुसांणां बीच घर।

[1] वेलि क्रिसन रुकमणी री—सम्पादक डॉ० एल. पी. तैस्सितोरी, भूमिका, पृ० १।

[2] वेलि क्रिसन रुकमणी री—सं. डॉ० तैस्सितोरी, भूमिका, पृ० १२।

[3] वही, पृ० ४।

माधोदास उच्च कोटि के कवि एवं धार्मिक प्रवृत्ति के व्यक्ति थे अतः इनकी रचना शान्तरस से ओतप्रोत है। इनके रचे हुए तीन ग्रन्थ प्राप्त हैं। १—रामरासो, २—भासा दसम-स्कंध, और ३—गजमोख।

रामरासो इनका सबसे प्रसिद्ध ग्रंथ है जो सोलह सौ से अधिक छंदों का एक बृहत् ग्रन्थ है। इसमें राम कथा का विविध छंदों में विस्तार के साथ वर्णन किया है। इसमें साहित्यिक डिंगल एवं बोलचाल की राजस्थानी का सुन्दर मिश्रण है। इसी के प्रभाव से ग्रंथ की भाषा सरस एवं प्रवाह-मय हो पाई है। सीता-हरण के पश्चात् सूनी कुटिया के द्वार पर राम का विलाप-वर्णन देखिये—

लखमंण सूना झूपड़ा, सीता चोर पइठ।
दर धण दीसौ नाह विण, धण विण नाह म दिठ।
तरि तरि पेखि न कलपतरु, सर सर हंस म सोझि।
कुवळ न लखमंण जांनकी, नडि नडि विहड न खोजि।
भंगि भंगि सीत सुभांम, वंन वंन खिण खिण विचरतां।
व्यापै रांम विरांम, जळ तोळै थळ माछ जिम।

'गजमोख' नीसांणी छंदों में लिखी गई छोटी रचना है। महाभारत की 'गज-ग्राह' कथा के आधार पर इसकी रचना की गई है। इसके अतिरिक्त कवि के अन्य फुटकर गीत भी मिलते हैं।

सायांजी झूला—भक्त कवियों में सायांजी झूला का भी महत्वपूर्ण स्थान है। इनका जन्म संवत् १६३२ में और मृत्यु १७०३ में हुई। ये ईडर नरेश राव कल्याणमल के आश्रित थे। सायांजी श्रीकृष्ण के अनन्य भक्त थे। अपनी समस्त कविता इन्होंने भगवान श्रीकृष्ण के सम्बन्ध में लिखी है जो भक्तिरस से परिपूर्ण है। इनकी भाषा परिमार्जित एवं प्रभावोत्पादक है। कहीं-कहीं पर गुजराती का प्रभाव भी दृष्टिगोचर होता है। सायांजी स्वयं काठियावाड़ी थे अतः उनकी कविताओं में गुजराती का पुट होना संभव ही है।

इनके लिखे दो ग्रंथ मिलते हैं—१—रुपमणीहरण तथा २—नागदमण। दोनों ही ग्रंथ कृष्णभक्ति सम्बन्धी हैं। 'रुपमणी-हरण' में भगवान श्रीकृष्ण द्वारा रुक्मिणी का हरण एवं उन दोनों के विवाह की कथा का वर्णन है। यह ४३६ छंदों का एक प्रसिद्ध ग्रंथ है। इसके सम्बन्ध में अकबर का यह कथन है कि पृथ्वीराज की वेलि को सायांजी के 'हरणिया' चर गये, बहुत प्रचलित है। वास्तव में ऐसी बात नहीं है, पृथ्वीराज की 'वेलि' सर्वश्रेष्ठ काव्यकृति है और 'रुपमणी हरण' एक साधारण श्रेणी का वर्णनात्मक ग्रंथ। इन दोनों की तुलना करना ही अनुचित है।

सायांजी का दूसरा ग्रंथ 'नागदमण' है। इसमें १२७ भुजंगप्रयात, ४ दोहे तथा एक छप्पय कुल मिला कर १३२ छंद हैं। ग्रंथ में विषयों के वर्णन की शैली जो कवि ने अपनाई है उससे इसकी विशेषता अधिक बढ़ गई है। कवि ने कृष्ण की बाललीला-वर्णन, नागणी के साथ संवाद तथा कालिया-मर्दन का सजीव चित्रण उपस्थित किया है। ग्रन्थ की भाषा प्रसाद-गुणयुक्त तो है ही तथापि विषयानुकूल वात्सल्य, माधुर्य, ओज, भय, विस्मय आदि भावों की सुन्दर अभिव्यक्ति के कारण उसमें विशेष रस प्रवाहित हो गया है। कवि के दोनों ही ग्रन्थों के उदाहरण यहाँ नीचे दिए जाते हैं—

रुखमणी हरण—

स्रीक्रसन भेटवा देवळ दिस संचरी।
पाखती पूज रै साज बहु परवरी।
मेघमाळा जही सोमरथ सारखी।
पींजरै अंबरै गरद री पालखी॥

दुलहणी पाखती हालियो हेम दळ।
मयंक खड़िया मले जांण तारा-मंडळ।
आव ऊभा सया काज संकेत रा।
देहळी ओळंगी भीतरै देहरा॥

वींटियो आव चक्रवेव चहुंवै वळे।
देहरा सहित सिसपाळ वाळै दळै।
गैदळां हैदळां पैदळां गूंथणी।
चालतो कोट चौफेर लीधो चुणी॥

नागदमण—

कृष्ण कालिय नाग का मर्दन कर उसके फणों पर सवार होकर व्रजवासियों को दर्शन देते हैं, इसका वर्णन देखिये—

उबारे घणां आप आपै अरच्चे
चुवे चंदणं कासमीरी चरच्चे
अहीं नाथियो पोयणी नाळ आणे
असवार आपे हुवे अप्पलाणे॥ १२१
काळी मारियो कम्मळांमार कांने
पड़्यो आव पाताळ सुं आप पांने

१—गुणरूपक बंध, २—राव अमरसिंहजी रा दूहा, ३—नीसांणी विवेक वारता, ४—गजगुण चरित और अन्य फुटकर दोहे, गीत आदि ।

इन ग्रंथों में 'गुणरूपक' सबसे बड़ा ग्रंथ है। ग्रंथ का विषय वही है जो हेम कवि ने अपने ग्रन्थ 'भाखा चरित्र' का रक्खा है। विषय समान होते हुए भी 'गुणरूपक' हेम कवि के ग्रन्थ से विस्तार में कहीं अधिक है। महाराजा गजसिंह ने मुगल बादशाह जहांगीर की ओर से शाहजादा खुर्रम के विरुद्ध युद्ध किया था। यह युद्ध संवत् १६८१ में हुआ था और कवि ने अपना ग्रन्थ भी सं० १६८१ में सम्पूर्ण किया जैसा कि 'गुणरूपक' के अंतिम कवित्त में लिखा है—

सोळह सै संमत हुऔ, जोगणपुर चाळौ
समै एकासियै मास काती बडाळौ
पूनम थावर वार सरद रितु है पळट्टी
वीर खेत पूरब्ब रितु हेमंत प्रगट्टी ।
सुरतांण खुरम भागौ, भिड़े चाड़ चिकरथा चक्कवै ।
गजसिंह प्रवाड़ौ खाट्टियौ, गिळै भीम चित्तौड़वै ।

इसी ग्रंथ पर प्रसन्न होकर महाराजा गजसिंह ने इनको एक लाख पसाव का पुरस्कार दिया था। दोहा, कवित्त, गाहा, अड़ल, मथाणा इत्यादि मिला कर कुल एक हजार छन्द इस ग्रन्थ में हैं। उदाहरण के लिए निम्न छंद देखिये—

गरजंति घनख गुणबांण वणण घण,
आग अकारण उडवियं ।
गज थाटां गहण गणण गयणंगण,
सोक सणण भरपूर थियं ।
धड़हड़ि धक धोम वळिक खग धडि घड़ि,
रावत वड़ि वड़ि रोस चडै ।
गड़ि गड़ि नीसांण गयण किरि गड़िग्रड़,
खांडा खड़ि खड़ि खाट खड़ै ॥

'नीसांणी विवेक वारता' इनकी शान्त रस की रचना है जिसमें वेदान्त का वर्णन है। यह ३३ नीसांणी छंद[१] का ग्रन्थ है। कवि की आस्था परब्रह्म में प्रकट होती है। परब्रह्म की स्तुति की एक नीसांणी देखिये—

फूलां मझै वासना तिल तेल वलाया,
वेसन्नर लकड़ी पाखांण जिम लोह लुकाया,
थण मझै जिम खीर सीर ऊदरत कहाया,
आठां अंगां मझ लै तत पांचे कहाया,
गोरस चोपड़ एकठा दोय हेक देखाया,
सूरिज घांम संजोईया जिम आग उनाया,
जिम चेतन मनख वन मंझ मन मंडे माया,
आदर खांणी अध भुजां जिम बीज बंधाया,
कांसा मझै गेबका जिम सबद सुणाया,
पांणी हुदे प्रतीबिंब् जिम दरपण छाया,
दैवां देतां अहि नरां एह ग्यांन दढ़ाया,
विण खोज्यां पाया नहीं खोज्या जिहां पाया ।

माधोदास दधवाड़िया—केसोदास गाडण के समकालीन भक्त कवियों मे माधोदास दधवाड़िया का नाम भी वड़े आदर के साथ लिया जाता है। इनका जन्म जोधपुर राज्य के बलूंदा ग्राम में हुआ था। इनके पिता का नाम चूंडाजी था। इनका जन्मकाल निश्चित तो नहीं है पर कई विद्वानजन अपनी अटकल से सं० १६१० और १६१५ के मध्य किसी समय मानते हैं। जोधपुर नरेश सूरसिंहजी इनके आश्रयदाता थे। पृथ्वीराज राठौड़ से भी इनका अच्छा परिचय था। 'वेलि' को सुन कर ये बड़े खुश हुए और मुक्त कंठ से पृथ्वीराज की इस रचना की प्रशंसा की। इस पर पृथ्वीराज ने भी इनकी प्रशंसा में निम्न दोहा कहा—

चूंडे चत्रभुज सेवियौ, ततफळ लागौ तास ।
चारण जीवौ चार जुग, मरौ न माधौदास ॥

इनका रचनाकाल सत्रहवीं शताब्दी का तृतीय चरण ही माना जा सकता है। मिश्र-बन्धुओं ने इनका कविताकाल सं० १६६४ माना है।[१] ऐसा कहा जाता है कि इनके जीवन के अंतिम काल में मुसलमान लोग इनकी गायें चुरा कर ले गये। इनको पता लगने पर अपने पुत्र को साथ लेकर उनका पीछा किया और उनसे युद्ध किया। इसी युद्ध में सं० १६६० में उनका स्वर्गवास हुआ।

[१] छंद में प्रायः चार पंक्ति होती हैं परन्तु नीसांणी छन्द में जहां तक तुकवन्दी मिलती है वहाँ तक एक ही नीसांणी रहती है। पंक्तियों की सीमा-रेखा से यह छन्द मुक्त है। तुक के अनुसार पंक्तियों की कमी व अधिकता हो सकती है।

[१] मिश्रबन्धु विनोद : प्रथम भाग, पृ० ३७६ ।

रज्जबजी का जन्म सांगानेर में एक सैनिक पठान के घर हुआ था। इनका जन्म-संवत् कहीं लिखा नहीं मिलता। साधुजनों में प्रचलित मत से वे १२२ वर्ष की आयु प्राप्त कर चुके थे। उनकी मृत्यु सं० १७४६ के लगभग मानी जाती है इसके अनुसार उनका जन्मकाल सं० १६२४ ठहरता है।[1] ऐसा कहा जाता है कि रज्जबजी जब विवाह के लिए जा रहे थे तब आमेर में दूल्हे के वेश में ही दादूजी से मिले और वहीं उनके शिष्य बन कर वैराग्य ले लिया। यहां सन्त सत्संग के प्रभाव से उनके ज्ञान की अभिवृद्धि हुई और धीरे-धीरे वे अपनी वाणी भी सुनाने लगे। इस समय उनके भी शिष्य हो गये जो सावधानीपूर्वक इनकी वाणियों को लिखते रहते। उनकी ज्ञान-पिपासा अत्यन्त प्रबल थी और इसकी शांति के लिए वे सतत् प्रयत्नशील रहते। धीरे-धीरे इनका अनुभव बढ़ता ही चला गया और वे दादूजी के प्रिय एवं प्रधान शिष्यों में हो गये। वे अपने गुरु के अनन्य भक्त थे एवं अपने गुरु में अटूट श्रद्धा रखते थे। एक बार दादूजी रज्जबजी के 'अस्थल' पर सांगानेर पधारे तब उन्होंने अपने गुरु की बड़े प्रेम और भक्तिभाव से सेवा की। इस प्रसंग में उन्होंने कुछ छंद और पद भी कहे हैं। गुरु-भक्ति का उदाहरण देखिये—

रज्जब रजा खुदाय की, पाया दादू पीर।
कुल मंजिल महरम किया, दिल नांही दिलगीर॥
देख्या पारस परसतां, लोहे लाभ सुलीन।
रज्जब गुर दादू मिळत, सो गति हमसों लीन॥
गुर दादू का हाथ सिर, हिरदे त्रिभुवन नाथ।
रज्जब डरिए कौन सों, मिळिया सांई साथ॥

रज्जबजी की भाषा साधारण राजस्थानी की बोलचाल की भाषा है। इस सरल भाषा में उन्होंने अपने गम्भीर ज्ञान एवं उच्च अनुभव को ऐसे सुन्दर ढंग से व्यक्त किया है कि जिज्ञासुओं को उनकी उक्तियों में रत्न भरे मिलते हैं। दृष्टान्तों के प्रयोग से रचना का भाव-वैचित्र्य और भी बढ़ गया है और 'वांणी' प्रभावपूर्ण बन गई है। रज्जबजी के जीवनकाल में ही उनके अनेक भक्त शिष्य बन गये जिन्होंने अपनी वाणियां रच कर अपने गुरु रज्जबजी को भेंट कर दी। अब यहां रज्जबजी की रचना का उदाहरण देखिये—

संतो मगन भयौ मन मेरौ।
अहनिस सदा एक रस लागा, दियौ दरीबैं डेरौ॥
कुळ मरजाद मैंड सब भागी, बैठा भाठी नेरौ।
जाति पांति कछु समझौं नाहीं, किसकूं करैं परेरा॥
रस की प्यास आस नहिं औरों, इहि मत किया बसेरा।
ल्याव-ल्याव याही लै लागी, पीवैं फूल घनेरा॥
सो रस मांग्या मिळै न काहू, सिर साटै बहुतेरा।
जन रज्जब तन मन दे लीया, होय धणी का चेरा॥

×

रज्जब सांचा सूर कौ, वेरी करैं बखांण।
साध सराहै सो सती, जती जोखता जांण॥
रजब पराये बाग में, दाख तोर कर खाहि।
अपणू कछू न बीगरैं, असही सही न जाहि॥
रज्जब पारस परसतै, मिटिगौ लोह बिकार।
तीन बात तौ रहि गई, बांक धार अरु मार॥
रज्जब ऐसा मन करौ, जैसा पहिली था।
जांणे रस्सा मूंज का, लाध्या ही न था॥
सरज्यौ आवै अरस सूं, वूठां करैं सुकाळ।
अण सरज्यौ रज्जब कहै, खादौ देत उखाल॥
भली कहत मांनत बुरी, यह परकृति है नीच।
रज्जब कोठी गार की, ज्यूं धोवे ज्यूं कीच॥

हरिदास—इनके भी प्रारम्भिक जीवन के विषय में प्रामाणिक रूप से कुछ भी ज्ञात नहीं है। अन्य प्राचीन संतों की भांति इनका जीवन चरित्र भी जनश्रुति के आधार पर ही ज्ञात है। कोई इन्हें बीदा राठौड़ और कोई जाट बतलाते हैं। कुछ भी हो, इतना अवश्य है कि ये एक उच्च कोटि के संत और सहृदय कवि थे। अनुमानतः ये सत्रहवीं शताब्दी के मध्य में ही हुए हैं। इनके मृत्युकाल के सम्बन्ध में भी विद्वानों के भिन्न-भिन्न मत हैं। कुछ मृत्यु-संवत् १७००[1] मानते हैं तो किन्हीं ने अपने मतानुसार सं० १५६५[2] और सं० १६००[3] भी दिया है।

इनके विषय में यह प्रसिद्ध है कि इनकी भक्ति-साधना

---

[1] 'राजस्थान' वर्ष १, संख्या २, महात्मा रज्जबजी, पुरोहित श्री हरिनारायण, पृ० ६८-६६।

---

[1] 'श्री हरिपुरुषजी की वांणी' में वर्णित हरिदास का संक्षिप्त जीवन-चरित्र—साधु देवदास : जोधपुर सं० १९८८।

[2] मरु भारती, वर्ष ४, अंक १, अप्रेल १९५६।
पंद्रह सौ पचांणवें, सुद फागण छठ जांण,
बीसा सो वपु राख के, पहुंचे पद निर्वांण।

[3] वहीं : संवत सोळह सै सईकै, हरि पुरुस गये धाम हरि कै।

अस्सवार काळी तणौ कांन आयौ
विवीधं विधी व्रज्ज नारी वधायौ ॥ १२२

हेम सामोर—कवि हेम, सामोर शाखा के चारण, बीकानेर राज्यान्तर्गत सीथल गाँव के निवासी थे। ये जोधपुर के महाराजा गजसिंह के कृपा-पात्र थे। संस्कृत, प्राकृत, फारसी के विद्वान होने के कारण इनका विशेष सम्मान था। इनका रचनाकाल संवत् १६८५ के आसपास माना जा सकता है। इनका लिखा हुआ 'गुण भाखा चरित्र' नामक एक ग्रन्थ मिलता है जिसमें महाराजा गजसिंहजी का चरित्र वर्णित है। इसी ग्रन्थ के युद्ध-वर्णन का एक उदाहरण देखिये—

वहै ऊजळा वीजळा सार वज्जैं।
भड़ां अंधळां कंधळां कंध भज्जैं।
डळां हड्डळां गुड्डुलां टूट उड्डैं।
वड़ां अत्तुळां सातळां नीर बुड्डैं ॥ १
चळां रत्तळां वाहळां स्रोण चल्लै।
झुकै कम्मळां सम्मळां भुक्ख झल्लै।
रुळां अंतुळां तंतुळां घाव रूकां।
हुळां सावळां स्रोण भब्भक्क हूकां ॥ २

इस काल में संत कबीर के उपदेशों का जनता पर अच्छा प्रभाव पड़ रहा था। कबीर पंथ की सफलता से प्रभावित होकर राजस्थान में भी कुछ उसी प्रकार के पंथों की नींव पड़ी, जिनमें दादू पंथ, चरणदासी पंथ आदि प्रमुख हैं। संत-साहित्य के सम्बन्ध में पर्याप्त लिखा जा चुका है। इसी संत-परम्परा में जो कवि हुए उनमें से कुछ संत तो ऐसे भी हुए जिनका भाव-प्रदर्शन के साथ-साथ काव्य-चमत्कार एवं भाषा-लालित्य पर भी अधिकार था। कला पक्ष की दृष्टि से भी उनकी कविता उच्च कोटि की होती थी, किन्तु ऐसे संत कवियों की संख्या अधिक नहीं थी। अधिकतर संत कवियों ने जो कुछ लिखा उनमें अपने धर्म-सिद्धांतों के प्रचार तथा प्रसार की भावना अधिक थी, साहित्य-सौन्दर्य उनमें उतना नहीं है।

दादूदयाल—संत कवियों में दादूदयाल का स्थान बहुत ऊंचा है। संवत् १६३१ में इन्होंने ब्रह्म-संप्रदाय की स्थापना की, जिसका कार्य वे मृत्युपर्यन्त अविच्छिन्न रूप से चलाते रहे। ये कबीर के समकालीन नहीं थे, किन्तु इनकी रचनाओं पर कबीर का प्रभाव स्पष्टतः लक्षित होता है। महात्मा दादूदयाल के जन्म एवं जन्म-स्थान के सम्बन्ध में कोई निश्चित प्रमाण नहीं है। अनेक विद्वानों के मतानुसार ये संवत् १६०१ में अहमदाबाद नगर के ब्राह्मण लोदीराम को साबरमती में बहते हुए एक शिशु के रूप में प्राप्त हुए थे। उन्होंने ही इनका पालन-पोषण किया। इनके प्रारम्भिक जीवन के संबंध में विशेष वृत्तान्त उपलब्ध नहीं है।

दादू की भाषा मुख्यत: राजस्थानी है। कहीं-कहीं गुजराती और पश्चिमी हिन्दी का तथा बहुत ही कम पंजाबी का मिश्रण पाया जाता है।[1] दादूजी ने अपने भावों तथा सिद्धांतों को वाणियों के रूप में ही प्रकट किया है जिनमें इनकी आत्मानुभूति की अभिव्यक्ति प्रतीत होती है। दादूदयाल की वाणियों का संकलन एवं संग्रह इनके शिष्यों ने किया है। वाणियों की सरलता ही इनकी अपनी विशेषता है। इनकी वाणी का निम्न उदाहरण देखिये—

जीवां मांहै जीव रहै, ऐसा माया मोह।
सांई सूधा सब गया, 'दादू' नहीं अंदोह ॥ १
दादू इण संसार सां, निमख न कीजौ नेह।
जांमण मरण आवटण, छिन-छिन दाझै देह ॥ २
आपै मरै आपकूं यह जीव विचारा।
साहिब राखणहार है, सो हितू हमारा ॥ ३
मरिबै की सब ऊपजै, जीबै की कछु नांहि।
जीबै की जांणै नहीं, मरबै की मन मांहि ॥ ४
दादू नीका नांव है, तीन लोक ततसार।
रात दिवस रटिबौ करं, रे ! मन इहै विचार ॥ ५
दादू सब जग निरधना, धनवंता नहिं कोइ।
सो धनवंता जांणिए, जाके रांम पदारथ होइ ॥ ६

रज्जबजी—महात्मा दादू की शिष्य-परम्परा में रज्जबजी नाम के प्रसिद्ध संत हुए हैं। ये दादू के प्रधान शिष्यों में थे। रज्जबजी की साखियाँ जनसाधारण में बहुत प्रचलित हो चुकी हैं और उनकी वाणी को बहुत सम्मान की दृष्टि से देखा जाता है। इनके रचे दो ग्रंथ प्राप्त हैं—१—'वांणी' जिसमें साखी और अनेक पद हैं. और २—'सर्वगी' जिसमें अपनी वाणी के साथ पूर्वकालीन महात्माओं के वचन संगृहीत हैं। अपने निजी ज्ञान एवं अनुभव के कारण उनकी वाणी में विशेष प्रभाव छलक आया है।

---

[1] राजस्थानी भाषा और साहित्य : डॉ० हीरालाल माहेश्वरी, पृ. २८४।

इनके 'बारह मासा' वर्णन का कुछ अंश नीचे दिया जाता है—

नित्रि आवउ स्रांवण मास, पिउ नहीं मांहरइ पासि ।
कंत विना हुं करतार, कीधी किसा भणी नारि ॥
भाद्रवइ वरसइ मेह, विरहणी बूजइ देह ।
गयउ नेमि गढ़ गिरनारि, निरवही न सकी नारि ॥
आंसू अमी झरइ चंद, संयोगिनी सुखकंद ।
निरमळ थया सर नीर, नेमि विना हुं दिलगीर ॥
कातियइ कामिनी टोळ, रमइ रासड़इ रंग रोळि ।
हूं घरि वइसी रहि एथि, मन माहरउ पिउ जेथि ॥

कल्याणदास मेहडू—ये डिंगल के कवि जाडा मेहडू के पुत्र थे और जोधपुर के महाराजा गजसिंह के कृपा-पात्रों में थे। इनका रचनाकाल संवत् १६८५ के लगभग था। ये असाधारण गुण-सम्पन्न प्रतिभावान व्यक्ति थे। ये वीरता के उपासक थे अतः इनकी रचना अधिकतर वीर पुरुषों और वीर जातियों की प्रशंसा में ही लिखी हुई मिलती है। भाषा पूर्ण मजी हुई और भाव उच्च कोटि के हैं। इनके सुन्दर गीतों और इनकी असाधारण काव्य-प्रतिभा के कारण ही महाराजा गजसिंह ने इनको लाखपसाव प्रदान किया था।[1]

बूंदी के वीर हाडा राव रतनसिंह पर लिखी हुई 'राव रतन री वेलि' इनकी प्रसिद्ध रचना है।[2] इस खण्ड काव्य में कवि ने रतनसिंह के जीवन चरित्र का वर्णन करते हुए इनके पूर्वजों की वीरता का भी उल्लेख किया है। इस काव्य में कुल तीन पद्पदियां और १२१ छंद हैं। काव्य में वर्णित भिन्न-भिन्न विषय उचित उपमाओं के प्रयोग से आकर्षक हो गये हैं। यद्यपि रचना एक लघु काव्य ही है पर कवि की प्रतिभा बताने में पूर्ण सफल व समर्थ है। वेलि का उदाहरण प्रस्तुत किया जाता है—

याछंट घोमटा फटक घट वढ़ीया, दुजड़े ऊलट पुलट हूवो ।
मेह रयण घाइ झड़ वट मंडीयो, हेवै काळ सुकाळ हूवो ॥ ८१
रहचढ़ीया रुंड मूंड राउजादां, चड़ वेहंड गुढ़ीया धार ।
मांणिक डंड प्रचंडां मार्थं, मेह रयण बूठो झड़ मार ॥ ८२

[1] वीर विनोद : श्यामलदास, द्वितीय भाग, पृ० ८२० ।

[2] शोध पत्रिका, दिसम्बर १९६० : कल्याणदास मेहडू री कही 'राव रतन री वेलि' : श्री सौभाग्यसिंह शेखावत ।

वीठू सुन्दरदास—इस शताब्दी के अन्तिम दशक में प्राप्त होने वाली रचनाओं में वीठू सुन्दरदास की रचनायें उल्लेखनीय हैं। कवि सुन्दरदास वीठू शाखा के चारण थे और इतिहास-प्रसिद्ध जोधपुराधिपति महाराजा गजसिंह के पुत्र अमरसिंह के आश्रित थे। इनका रचनाकाल संवत् १६९४ के आसपास माना जा सकता है। ये बड़े स्वामीभक्त थे और इसी के कारण वे अमरसिंह के विशेष कृपा-पात्रों में थे। एक बार अपने स्वामी के प्राण बचाने पर इन्हें झोरड़ा नामक ग्राम पुरस्कार में प्राप्त हुआ था जिसके विषय में निम्न दोहा व छप्पय प्रसिद्ध है—

आय चोर अमरेस री, फाड़ी तम्बू कनात ।
सिर तोड़चो समसेर सूं, हद सुंदर री हात ॥

छप्पय—

पट्ट पर मूं उत्तराध, कोस दस गांव कहीजै ।
इम कह्यो 'अमरेस', दवागिरां लिख दीजै ॥
झास गांव झोरड़ो, भळै परगने भदांणो ।
तांबा पत्र तांम हुवो, सांसण हिंदवांणो ।
केकांण रीझ मोतीकड़ां, जग परसिध जस वासणैं,
'अमरेस' दियो सांसण अचळ, सुकवि सुंदरदास नैं ॥

बादशाह शाहजहाँ की भरी सभा में अमरसिंह ने एक कटार से एक ही वार में सलावंत खाँ को मारा था। उस समय सुन्दरदास भी उनके साथ थे और उनकी प्रशंसा में अनेक कवित्त बनाये। एक छंद उदाहरण के लिए देखिये—

सिव करणाटक रुस रोम सोम बलख बीच,
ऐसे विसरांणी कांनी कांनी घबरांणी है ।
दूजा 'गजेस' जीत जाहिर विदेस देस,
चहुं कांनी छांनी नहीं हरख हिंदवांणी है ।
पातसाही कहां क्या उथाप थाप तेरे हाथ,
सात सर पार फतह सरसांणी है ।
कहै कवि सुंदरदास, राव अमरेस आज,
ऐसे अदल्ली हूंत दिल्ली दहलांणी है ॥

इसके अतिरिक्त इनके अनेक फुटकर गीत भी हमारे संग्रह में प्राप्त हैं। उनमें से अमरसिंहजी का एक गीत यहाँ दिया जाता है—

अडर खेड़चे मध ऊसर धर ऊपरा,
भिड़ण जंग निडरता बीया 'बाधा' ।

से इनकी ख्याति डीडवाणे के आसपास के क्षेत्रों में फैल गई थी और वहीं पर इनके कई शिष्य भी हो गए थे।' हरिदास ने अपने जीवनकाल में निरंजन निराकार की उपासना कर एक नवीन सम्प्रदाय का प्रचलन किया जो आगे चल कर निरंजनी सम्प्रदाय कहलाया। डीडवाने के निकट ही गाढ़ा नामक गांव इनका प्रमुख स्थान है जहाँ प्रति वर्ष फाल्गुन मास के शुक्ल पक्ष में १ से १२ तक मेला लगता है।

हरिदासजी ने भले ही निरंजन निराकार की उपासना के आधार पर नवीन मत का प्रतिपादन कर एक नए सम्प्रदाय को जन्म दिया हो परन्तु उनकी रचना-शैली और भक्ति-साधना के आधार पर उन्हें निर्गुणमार्गी संतों की परम्परा से पृथक नहीं माना जा सकता। इनकी रचना ज्ञान, भक्ति और वैराग्य से सराबोर है। इन पर कबीर का प्रभाव स्पष्ट रूप से झलकता है। इसी के फलस्वरूप इनकी रचना में साम्प्रदायिक कट्टरता की घोर भर्त्सना मिलती है। विषय-निरूपण का ढंग इनका अपना निजी है जो सुन्दर भाषा के प्रयोग के कारण अत्यन्त चित्ताकर्षक बन पड़ा है। इनकी रचना का उदाहरण देखिये—

स्याह लाल जरदा सफेद, गिरिवर सुत हाथि हजूरि।
लोह पलटि कंचन करे, सोतो पारस कहूं दूरि॥
हीरा की सोभा कहां, सोतो चोर ले जाय।
वो हीरा कोइ और है, उलटि चोर कूं खाय॥
मन मरजी वा तन समंद, उलटा गोता खाय।
हीरा ले न्यारा रह्या, खरा जळ न सुहाय॥
(शब्द परीक्षा योग से)

मन पंखिया मैं तू जांण्यौ रे भाई।
उलटै खेलि परम निधि पोई॥
अगम अगाहि अंतरि अविनासी।
मन निहचळ काया तन कासी।
अवरण वरण करम नहिं काया।
सूछिम व्रछ सूं सीतळ छाया॥
जन हरिदास निरभै भै नांही।
(म्हारौ) प्रांण वसै हरि तरवर मांही॥

समयसुन्दर—सत्रहवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में अपनी अनूठी साहित्यिक रचनाओं के कारण विशेष ख्याति प्राप्त करने वालों में जैन कवि समयसुन्दर का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। इनका जन्म जोधपुर राज्यान्तर्गत सांचोर ग्राम में हुआ था जो कवि स्वयं द्वारा लिखित 'सीताराम चतुष्पदी' के खण्ड ६ ढाल तीसरी के अन्तिम पद से प्रकट होता है—

'मुझ जनम स्रो सांचोर मांहि,
तिहां च्यार मासि रह्या उछाहि।

इनका जन्म-समय अज्ञात है तथापि अनेक विद्वानों ने अनुमानतः सं० १६२० माना है।[1] आपने सत्रहवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध से मृत्युपर्यन्त लगभग ५० वर्ष तक निरन्तर साहित्य की सेवा करते हुए विशाल साहित्य का निर्माण किया।

कवि समयसुन्दर अपनी भावुकता और औदार्य के कारण ही कवि थे। ये अपने समय में अपनी विशालहृदयता के कारण अत्यधिक प्रसिद्ध थे। संवत् १६८७ में गुर्जर देश में होने वाले भयंकर दुष्काल ने इनके जीवन को और भी कारुणिक और दयनीय स्वरूप प्रदान किया। कविवर इस प्रकार सर्वतोमुखी प्रतिभा को धारण करने वाले एक उद्भट विद्वान थे। साहित्य-चर्चा करने वाले उत्कृष्ट वाचक के साथ-साथ ये श्रेष्ठ कवि भी थे। इन्होंने अपनी लेखनी से अनेकार्थी साहित्य, व्याकरण, साहित्य, ज्योतिष, पादपूर्ति साहित्य, सैद्धान्तिक और भाषात्मक गेय साहित्य की मौलिक रचनायें और टीकायें ग्रंथित कर जो भारतीय वाङ्मय की सेवा की है, वह वस्तुतः अनुपमेय है।[2] इनके द्वारा रचित अपार साहित्य के कारण यह स्पष्ट ही है कि ये अपने समय के अत्यन्त प्रख्यात कवि और प्रौढ़ विद्वान थे। कविवर की 'पुण्य छत्तीसी' का उदाहरण देखिये—

पुण्य तणा फळ परतिख देखौ, करौ पुण्य सहु कोय जी।
पुण्य करंतां पाप पुळावें, जीव सुखी जग होय जी।
अभयदांन सुपात्र अनोपम, वळि अनुकंपा दांन जी।
साधु स्रावक धर्म तीरथ यात्रा, सील धर्म तप ध्यांन जी॥

---

[1] समयसुन्दर-कृत 'कुसुमांजली' : सम्पादक अगरचन्द नाहटा, भंवरलाल नाहटा, में महोपाध्याय विनयसागर द्वारा लिखित कविवर का जीवन चरित्र, पृ० २ का फुट नोट।

[2] समयसुन्दर कृत 'कुसुमाञ्जली' : सम्पादक, अगरचन्द नाहटा, भंवरलाल नाहटा, में महोपाध्याय विनयसागर द्वारा लिखित कविवर का जीवन चरित्र, पृ० ५०-६०।

होने के कारण इनका रचनाकाल संवत् १७०० के आसपास ठहरता है। इनका स्वतंत्र ग्रंथ तो नहीं मिलता परंतु वीर-रस से परिपूर्ण अनेक फुटकर गीत उपलब्ध हैं। गीतों में प्रयुक्त वीररस की उक्तियां सीधी हृदय को स्पर्श करती हैं। वर्णन में सजीवता है। सुन्दर शब्द-चयन के कारण भाषा-सौष्ठव देखते ही बनता है। महाराणा जगतसिंह के पराक्रम की प्रशंसा में लिखा एक गीत देखिये—

अदर देस देसां तणां लार कर एकठा,
रैमिया मुगळां दीध गये।
हेक सिर नावियो नहीं 'सांगाहरै',
'जगै' पतसाह रै द्वार जाये॥ १

भाड पाहाड़ मेवाड़ रा झाटके,
जूंझ रूपी हुवौ खाग झाले।
मुगळ्ळां न गो दिलीस थांणा मिळण,
हिंदवांणां तणी छात हाले॥ २

रांण रजपूत वट तणौ छळ राखियौ,
साह सूं नांमियौ तोड सांधौ।
कमरबंध छोड कर जोड डंडवत करण,
'करण' रै नांमियो नहीं कांधौ॥ ३

'जगतसी' 'अमरसी' 'उदैसी' जेहवो,
छातपत केम कुळ राह छाडै।
राण सीसोदियो टेक झालै रहै,
एक पतसाह सूं कंध आडै॥ ४

जयसोम—कवि जयसोम के निश्चित जन्मकाल का पता नहीं लगता, फिर भी सत्रहवी शताब्दी के उत्तरार्द्ध में ही इनका पैदा होना माना जाता है। ये तपागच्छीय जैन साधु विजयदेव के शिष्य जससोम के शिष्य थे। अपनी रचना के अन्त में उन्होंने गुरु-वन्दना करते हुए स्वयं लिखा है—

तप गच्छपति विजयदेव मुनीसर पति जससोम गुरु उरिधारे,
नाम सीस जयसोम नमई···जे समरस गुण भरिआरे।

इन्होंने धर्म ग्रन्थ के ६ भागों की गद्य में टीकायें भी लिखी हैं जिनसे इनकी शास्त्रविज्ञता एवं विद्वता का पता चलता है। इनका प्रसिद्ध ग्रंथ 'बारह भावना वेलि', जिसकी रचना संवत् १७०३ में हुई थी, राजस्थानी साहित्य में अधिक ख्याति प्राप्त कर चुका है। रचनाकाल के सम्बन्ध में स्वयं कवि ने दूहा-छंद शैली में लिखा है—

भोजन नभ गुण (१७०३) वरस सुचि, सित तेरस कुंजवार,
भगत हेतु भावन भणी, जेसलमेर मझार।

कवि की शान्तरस की यह रचना साधारण बोलचाल की भाषा में ही लिखी गई है। कवि इसी भाषा के आधार पर अपनी बात जन-मानस में उतारना चाहता है। जैसलमेर में कृति का निर्माण होने के कारण स्थल-स्थल पर स्थानीय झलक दृष्टिगोचर होती है, फिर भी सरल राजस्थानी का रूप सर्वत्र हा रहा है। कवि का अलकारों की ओर ध्यान तो नहीं रहा तथापि कहीं-कहीं शब्दालंकारों तथा अर्थालंकारों का प्रयोग हुआ है, उनसे कवि की सुन्दर भावाभिव्यक्ति का पता चलता है। रचना का एक उदाहरण देखिये—

सुभ मांनस मांनस करी, ध्यांन अम्रत रस रोळ।
नवदळ स्री नवकार पद, करि कमळासन कोळ॥
पातक पंक परवाळि नइ, करि संवरनि पाळि।
परमहंस पदवी भजै, छोड़ी सकळ जंजाळि॥

जगा खिड़िया—राजस्थानी साहित्य के मध्यकाल में प्राचीन परंपरागत चारण शैली में रचे गये ग्रंथों में 'वचनिका राठौड़ रतनसिंघजी री, जगा खिड़िया री कही' प्रमुख है। इसके रचयिता जगाजी खिड़िया गोत्र के चारण थे। इनके विषय में बहुत कम विदित है। इन्होंने अपनी वचनिका में अपने जीवन-चरित्र तथा वंश-परम्परा आदि के सम्बन्ध में कोई विवरण नहीं दिया। निम्न पंक्तियों से केवल उनके नाम का पता चलता है—

कोडि भणै खिड़ियौ 'जगौ', रासौ रतन रसाळ।
सूरा पूरा सांभळौ, भड मोटा भूपाळ॥ २६५

राजस्थानी के विशिष्ट ज्ञाता एवं काव्य-जिज्ञासु डॉ० तैस्सितोरी ने कवि के जीवन वृत्त को पाने का विशेष प्रयत्न किया। जगा के वंशजों से तो कोई उपयुक्त सामग्री न मिल सकी, फिर भी उन्होंने अपने अथक प्रयत्नों से कवि के बारे में बहुत कुछ जानकारी प्राप्त की।

जगाजी रतलाम के वीरवर रतनसिंह के दरबारी कवि थे। उक्त ग्रंथ में इन्हीं रतनसिंह का वर्णन बड़ी ओजस्वी भाषा में किया गया है। राजा रतनसिंह जोधपुर के राठौड राजा जसवंतसिंह की ओर से शाहजादा औरंगजेब के विरुद्ध लड़ कर वीरगति को प्राप्त हुये। यह घटना वि. सं. १७१५ में हुई थी। कवि ने इसी घटना का उल्लेख अपनी वचनिका

हारिया घणा अड़ हसम पतसाह रा,
भिड़िया भड़ धके सोई धके भागा ॥ १
जोधहर तोय कर तेग जग जाहरां,
थाहरा दळा थिर विजै थावै ।
साबळां खळां वप सलोहा साभिया,
जंगां जुड़ निलोहा नाह जावे ॥ २
अडर नर भोक रै अमर आपायता,
विचळ हुए असुर धर सोर वरते ।
नीसा भर सेभ सुख ओभके नींद में,
डरे इम साह नित तोय डरते ॥ ३
जवन मन हार हिंदवांण धजराज को,
पूज कुण रीभ कज खाग पोणै ।
परा गिर वार सूं जार······पति,
जोस अंग ऊफणे जगत जांणै ॥ ४
सेख हर पठांणां मुगळ हर सय्यद्दां,
भेचके निसा दिन फिकर भरिया ।
खळां वप घाविया खास अंब खास में,
'अमर' कज इसी विध अमर करिया ॥ ५

सत्रहवीं शताब्दी के अन्तर्गत उल्लिखित कवियों के अतिरिक्त और भी अनेक कवि हैं जो अपनी फुटकर रचनाओं यथा—गीत, दोहे, कवित्त आदि के लिए प्रसिद्ध हैं। ऐसे कवियों की रचना में विशेष ग्रंथ तो प्राप्त नहीं होते परन्तु उनकी फुटकर रचनाओं का कोई पार नहीं है। केवल सत्रहवीं शताब्दी के ही फुटकर कवि इतने हैं कि उन सभी के नाम गिनाना प्रायः कठिन सा ही है, फिर भी कुछ प्रसिद्ध कवियों के नाम नीचे दिए जा रहे हैं।

सादूळ (सं० १६००-१०), सांखला करमसी रुणेचा (सं० १६१०), रतना खाती (सं० १६१७), दयासागर (सं० १६१७), रावळ हरराज (१६१८), रांमा सांदू (सं० १६-२८), किसनौजी भादौ (सं० १६३०-३४), देवौ (सं० १६३२) पीथोजी आसियौ (सं० १६३३), उपाध्याय गुणविनय (सं० १६१३-७६), रतनू देवराज (सं० १६३५), सिंढ़ायच गैपौ (सं १६३५), गरीबदास (सं० १६३२-३५), जाडा महडू (सं० १६३५), दल्लौ आसियौ (सं० १६४०), वखनाजी (सं० १६४०), वाजिदजी (सं० १६५०), गरीबदास (सं० १६-३२ से ६०), चम्पा दे (सं० १६५०), महाराणा प्रतापसिंह (सं० १६३२-१६५३), महाराजा रांयसिंह (सं० १६२८ से १६६८), सेवारांम (सं० १६५६-६०), हरनाथ (सं० १६६०), हरपाळ (सं० १६६०), नरूजी (सं० १६६०), किसनदास (सं० १६६०), राजसिंह (सं० १६६०), डूंगरसिंह (सं० १६६२), सेवादास (सं० १६६०), नेतौ (सं० १६६२), हरखौ (सं० १६६५), महारांणा अमरसिंह (सं० १६५३-७३), महाराजा मांनसिंह (सं० १६५६ - १६७१), आसौ सिंढ़ायच), (सं० १६६५) किसनौ आढ़ौ (१६७०), रूपसिंह लाळस (सं०१६७०), परशुरांमदेव (सं० १६७७), आसियौ भोपत (सं० १६८०), कवि मांन (सं० १६७३-८०), चुतरौ मोतीसर (सं० १६८५), भोजग मनोहर (सं० १६९०), खेतसिंह (सं० १६९०), माधौदास गाडण (सं० १६९५, हरिदास भाट (सं० १७००)।

अठारहवीं शताब्दी

नरहरिदास—ये रोहड़िया शाखा के चारण लक्खाजी के पुत्र थे। इनका जन्म संवत् १६०० के उत्तरार्द्ध में हुआ था। अठारहवीं शताब्दी के प्रारम्भिक काल के भक्त कवियों में इनका नाम उल्लेखनीय है। इनका व्रज भाषा का लिखा 'अवतार चरित्र' का प्रसिद्ध ग्रंथ है। इसके अतिरिक्त इनकी राजस्थानी की मुक्तक रचनायें भी उपलब्ध हैं। 'अमरसिंहजी रा दूहा' और अनेक फुटकर गीत इनकी काव्य-प्रतिभा का प्रमाण देने में पूर्ण समर्थ हैं। इनकी भाषा माधुर्यगुणयुक्त सरस एवं सरल है। इनका एक गीत देखिये—

कुतब गोस अवदाळ सूफी अनै कळंदर,
पीरजादा मिळै सांभ परभात।
कांन 'अवरंग' रा भरै इक राह कज,
वरै नह पड़ै जसवंत छतै बात ॥ १
मोलवी कराड़ै अरज काजी मुला,
पोड़जै देव हर दर्ला कर पेळ।
मेछवांछै जिकौ हिंद इकलीम मभ,
खड़ौ राजा-जिसूं वर्णे नह खेल ॥ २
अरथ कर नवा फुरकांण री आयतां,
लियां कर साह रै कांन लागै।
कहै मख दूम जग हेक मजहब करौ,
.... ॥

गोविन्दजी—ये रोहड़िया शाखा के चारण और मेवाड़ राज्य के निवासी थे। महाराणा जगतसिंह के समकालीन

रचनायें बड़ी उत्तम, प्रौढ़ एवं मनोहारिणी हैं। उनमें कई स्थलों पर आपके असाधारण पांडित्य, विलक्षण व्यक्तित्व एवं श्रेष्ठ प्रतिभा का परिचय मिलता है। इसी असाधारण व्यक्तित्व एवं काव्य-प्रतिभा के कारण अपने जीवनकाल में ही आपने बहुत अधिक ख्याति प्राप्त करली थी। बीकानेर के महाराजा अनूपसिंह, सुजाणसिंह; जैसलमेर के रावल अमरसिंह, जोधपुर नरेश जसवंतसिंह, वीर शिवाजी और राठौड़ दुर्गादास आदि से आपका काफी अच्छा परिचय था। संवत् १७४० में जिनचन्द्र सूरि ने आपको उपाध्याय के पद से सुशोभित किया। ८० वर्ष की दीर्घायु प्राप्त कर संवत् १७८०-८१ में आप परलोकगामी हुये। आपकी राजस्थानी रचना का उदाहरण देखिये—

शीत ऋतु वर्णन—

ठंड सबळी पड़े हाथ पग ठाठरे,
दावरो ऊपरां सबळ वाजै।
माल साहिब तिके मौज मांणे मही,
भूखियड़ लोक रा हाड भाजै।
किड़किड़ै दांतां री पांत सी सी करै,
धूम मुख ऊषमा तणा धखिया॥
दरब सूं गरब सौ जांणि गुजें दरक,
दरब हीणा सवै लोक दुखिया।

सुस्त्री वर्णन—

सुकूळीणी सुंदरी मिठबोली मतिवंती
चित चोख्ने अति चतुर जीह जीकार जपंती।
दातारणि दीपती पुण्य करती परकासू।
हसामुखी चित हरणि सेवि संतोखे सासू।
सुकुळीणि सील राखे सुजस, गहै लाज निज गेह नी।
'धरमसी' कैसा कीधौ धरम, तिण गुणवंत पांमी गेहिनी॥

किसोरदास—ये मेवाड़ के महाराणा राजसिंह के आश्रित कवि थे। इनका रचनाकाल संवत् १७१६ के लगभग माना जा सकता है। अपनी जाति के सम्बन्ध में इन्होंने स्व-रचित ग्रन्थ 'राजप्रकास' में लिखते हुए अपने आपको राव बताया है—

गोती अपनै गत्नां, पर गिर पाटड वीर।
राज प्रकासित नाम गहि, कहि कहि राव किसोर॥

अपने आश्रयदाता की प्रशंसा में लिखा इनका एक ग्रन्थ 'राजप्रकास' प्राप्त है। इस ग्रंथ में प्रारम्भ के ५६ छंदों में महाराणा राजसिंह के पूर्वजों का संक्षिप्त वर्णन है और उसके बाद महाराणा राजसिंह के वैभव, विलास एवं शौर्य्य तथा पराक्रम का वर्णन किया हुआ है। प्रस्तुत ग्रंथ में दोहा, कवित्त, मोतीदाम आदि विविध छंदों को मिला कर कुल १३२ पद्य हैं। ग्रन्थ की भाषा शुद्ध साहित्यिक डिंगल भाषा है। विषयानुकूल उचित शब्दावली के प्रयोग से कृति सुन्दर बन पड़ी है। नीचे इसका एक उदाहरण देखिये—

कवि धनि कीय करतार बार राजसी विराजै।
सर गिरवर संचरी छत्रधारी कीत छाजै।
चंद दूहींद नरींद तेज सीतळ अवतारी।
सतजुग त्रेता हूंत वार द्वापर हू भारी।
अंक गिरह तेणि आईस अर्णी जांम न सातां जांणीयौ।
राजसी रांण अविचळ रहो राव किसोर वखांणियौ॥

'राजप्रकास' तो कवि की उच्च कोटि की साहित्यिक कृति है ही परन्तु इसके अतिरिक्त इनके फुटकर गीत भी मिलते हैं। गीतों में चारण शैली का निर्वाह पूर्ण रूप से हुआ है।

लघराज[1] —ये जोधपुर राज्यान्तर्गत सोजत नगर के निवासी थे। इनके पिता कोचर, मूहता मंत्रीश्वर महेश थे जो महाराजा जसवंतसिंहजी के अत्यन्त विश्वासपात्र मंत्री थे। कवि ने अपनी रचनाओं में कहीं लधिया, लवो, लघमल, लघराज आदि लिख कर अपना नाम प्रकट किया है। 'देव विलास' में अपना परिचय देते हुए स्वयं कवि ने लिखा है—

महिप राव 'चूंड' रै, तपे नागौर तखत्ते।
'कोचर' पुत्र सुपुत्र, हुवौ राव जोध वखत्ते।
'दूजण' 'सांगो' 'नरो' 'अखो' 'तपमाल' सुरधर।
तिण घर 'वैरीसाल', वीरमे-हीमत सागर।

×

तिण वंस लघराज, सुछमती सुध आदर।
तिण मोटो गुण एक, वसे सोभित निरंतर॥
करै सेव च वंद, हुई परतख सगत्ती।
तिण कारण तेण नूं, सिकौ मांनै छत्रपत्ती॥

---

[1] मरु-भारती, जनवरी-फरवरी ५४ में लिखित श्री अगरचन्द नाहटा के लेख, 'महाराजा जसवन्तसिंह के मंत्री लघराज और उनके ग्रन्थ' से साभार।

में किया है। कुछ विद्वानों के मतानुसार ये स्वयं घटनास्थल पर उपस्थित थे और उन्होंने रतनसिंह की वीरता का आंखों देखा हाल अपनी वचनिका में लिखा है। इस प्रकार इस ग्रंथ का रचनाकाल भी संवत् १७१५ के आसपास ही माना जा सकता है।

वचनिका वीररस-प्रधान ग्रंथ है जिसमें गद्य एवं पद्य दोनों का ही प्रयोग हुआ है। भाषा की ओजस्विता से स्पष्ट है कि कवि ने अपनी रचना के लिए सोलहवीं शताब्दी से चली आ रही वीररसात्मक काव्य भाषा का ही अनुकरण किया है। ग्रंथ की भाषा पूर्ण प्रौढ़ है। किस रस में, किस प्रसंग में और कैसी परिस्थिति में भाषा का प्रयोग एवं किस प्रकार की वाक्य-रचना का प्रयोग किया जाय, इस बात का कवि को पूरा ज्ञान था। विषयानुकूल शब्द-चयन एवं प्रसंगानुकूल भावाभिव्यक्ति के कारण कृति बड़ी उत्कृष्ट हो गई है। भाषा पर कवि का पूर्ण अधिकार प्रतीत होता है। युद्ध के विकट प्रसंग का एक शब्द-चित्र देखिये—

भड़ां धड़ भंजि हुवै बि बि भग्ग,
खड़क्खड़ ढ़ल्ल झड़ज्झड़ खग्ग ॥
कड़क्कड़ वाजि धड़ां किरमाळ।
वड़व्वड़ भाजि पड़ंत वंगाळ ॥
दड़व्वड़ मुण्ड रड़व्वड़ दीस,
अड़व्वड़ लेत चड़च्चड़ ईस ॥
अंत्रां खग झाट निराट अळग्ग।
पड़ै वि वि जंघ पड़ै झड़ि पग्ग ॥

वचनिका में अनेक छंदों तथा गद्य-बंधों का प्रयोग किया गया है। त्रोटक, भुजंगी, गाथा, मौक्तिक-दांम, दूहा, वड़ा दूहा, कवित्त, चंद्रायणौ, हणूफाळ गाहा, चौसर और दुमेल आदि के प्रयोग से उन्होंने अपने पाण्डित्य का अच्छा प्रदर्शन किया है। कवि की उच्च काव्य-प्रतिभा के फलस्वरूप यह ग्रंथ कथा-प्रवाह की दृष्टि से, शब्द-चयन की दृष्टि से और रस-वर्णन की दृष्टि से उच्च कोटि की रचना हो गया है।

यह तो सत्य ही है कि चारण काव्य-परम्परा में वीररस का प्राधान्य रहता आया है, किन्तु उत्तम कवि प्रसंगवश समस्त रसों का वर्णन किया करते थे। जगा खिड़िया ने भी अपनी वचनिका में वीररस के साथ-साथ अन्य रसों का भी प्रयोग किया है।

तिण वार त्रियां रतनेस तणी विधि साहस सोळ सिगार वणी।
पग हाथ मलूक ज पंकजयं, गुणि छत्तिय गत्ति जिन्है गजयं।
कटि सिंघ नितंब जंघा कदळी, चित नित्त वित्त मराळ चली।
तन रंभह खंभ कनंक तिसी, ओपै सिरि नागेंद्र वेणि इसी।
वनिता मुख पूनिम चंद वणी, भ्रिग भ्रूह चखां म्रिग रूप भणी।

जगा खिड़िया जहाँ वीर और श्रृंगार रस के अच्छे कवि थे वहाँ ये ईश्वर के भी परम भक्त थे। वीर-रस की रचना के साथ-साथ ईश्वर-भक्ति सम्बन्धी हृदयस्पर्शी कविता का सृजन भी इन्होंने अपनी लेखनी से किया है। भक्ति सम्बन्धी शांत-रस से ओतप्रोत उनके सभी छप्पय केवल गंभीर, भाव-युक्त एवं चमत्कारपूर्ण ही नहीं अपितु उनकी आत्मानुभूति की अभिव्यक्ति करने में भी पूर्ण समर्थ हैं। भक्तिरस का एक छप्पय देखिये—

पत राखे द्रोपदी, प्रभू विरदां प्रतपाळे।
ब्रहम पत्त राहवी वेद च्यारे ही गावाळे।
पत राखे पडवां, अंब कर मांझि उपाये।
गजपत पत राहवे, अनंत खगपत चढ़ आये।
करणां निधांन जगियौ कहै, वहनांमी वह वूझि इण।
कळजुग इसा मांहे किसन, राखे पत राधा रमण ॥

धर्मवर्द्धन—कविवर धर्मवर्द्धन के जन्म-संवत् तथा माता-पिता के सम्बन्ध में कोई विवरण ज्ञात नहीं है परंतु इनकी लिखी 'श्रेणिक चौपई' से इनका जन्म-संवत् १७०० निर्धारित होता है—

वयु लघु में उगणीस में वरसे, कीधी जोड कहावै।
आयौ सरस वचन को इण में, सो सद्गुरू सुपसाये री।[1]

इस चौपई की रचना संवत् १७१९ में चन्देरीपुर में हुई थी।[2] १९ वर्ष की अल्पायु में ही आपने काव्य की रचना कर अपनी कवित्व-शक्ति एवं कुशाग्र बुद्धि का परिचय दिया। अपने जीवन काल में आपने प्रचुर मात्रा में साहित्यिक रचनायें की जिनसे आपका राजस्थानी, हिन्दी-गुजराती मिश्रित लोक-भाषा एवं संस्कृत भाषा पर पूर्णाधिकार स्पष्ट प्रकट होता है। आपकी लिखी हुई रचनाओं के आधार पर आपका रचना-काल संवत् १७१९ से संवत् १७७३ ठहरता है। आपकी सभी

---

[1] राजस्थान, भाद्रपद १९९३, वर्ष २, संख्या २, राजस्थानी साहित्य और जैन कवि धर्मवर्द्धन : श्री अगरचन्द, नाहटा पृ० ३।

[2] 'सतरसै उगणीसे वरखे चंदेरीपुर चावै।'

परसाद तिण सदगुरु तणौं. एकी चौपई सार
ढाळ सतावीसमी भली, सुणंतां हर्स अपार
सतरै सै तेवीस में, नभ मास सुद्धि पख
तिहां ए संपूरण थइ, तिथे तेरस बुधवार
ग्रांम स्री जयतारण सरस लहीई, नगरी सुथिर सुखकार।

इसके बाद से लेकर संवत् १७७० तक की आपकी अनेक रचनायें उपलब्ध हैं जिनकी सूची नीचे दी जाती है।

लीलावती रास सं० १७२८, विक्रम पंच दंड चौपाई सं० १६३३, धर्मबुद्धि पापबुद्धि रास स० १६४२, निसांणी महाराजा अजीतसिंहजी री सं० १७६३, पांडव चरित चौपाई सं० १७६७, शकुन दीपिका चौपाई सं० १७७० आदि।

इनके अतिरिक्त इनकी फुटकर रचनायें भी अनेक हैं। आपने अपना सारा जीवनकाल राजस्थान में ही विताया और वृद्धावस्था तक रचनाओं का निर्माण करते रहे। आपकी भाषा लोक-भाषा-मिश्रित साहित्यिक डिंगल है। लीलावती का एक उदाहरण देखिये—

मेरी देहु लाला चूनड़ी अे जात कही ईक ढाळ रे,
जे चतुर हुसी सो समझसी, लाभवन्धन वचन रसाळ रे।

×

ढुळावे हो गजसिंघ री छावौ महिल में, अेह देसी में अेह,
पूरांय बांजी हो ढाळ कही, इनी लालचंद ससनेह।

कुंभकरण—रतनरासौकार कवि कुंभकरण का जन्म-नाम दलपत था। इनका जन्म नागौर के समीप भदोरा गांव में कवि माला सांदू के पुत्र ईसरदास के घर में हुआ था। इनके जन्मकाल के सम्बन्ध में कोई निश्चित संवत् ज्ञात नहीं है, फिर भी रतनरासौ के पढ़ने से यह ज्ञात होता है कि ये रतलाम नरेश रतनसिंह के पुत्र रामसिंह और उसके पुत्र शिवसिंह के समय विद्यमान थे। कवि के रचे हुए दो ग्रंथ १ 'रतन रासौ' और २ 'जयचन्द रासौ' उपलब्ध हैं। 'रतन रासौ' तो महाराजकुमार रघुवीरसिंह और श्री काशीराम शर्मा के सद्प्रयत्नों से बहुत शीघ्र ही प्रकाशित हो रहा है। 'जयचन्द रासौ' की हस्तलिखित प्रति पाली जिले के मिरगेसर ग्राम में भीमदानजी सांदू के पास निजी सम्पत्ति के रूप में सुरक्षित है। 'रतन रासौ' के अनुसार कवि का रचनाकाल लगभग १७३२ के लगभग ठहरता है।[1] शिवसिंह का शासनकाल सं० १७४० से सं० १७५२ है। 'रतन रासौ' की रचना इससमय से कुछ पूर्व रामसिंह के शासनकाल के अन्तिम समय में हुई थी। कवि के अनुसार इस रचना की समाप्ति में वारह वर्ष लगे, अतः इसका रचनाकाल संवत् १७३२ ही समीचीन जान पड़ता है।

कवि की भाषा प्रौढ़ और संयत है। ग्रंथ में विविध प्रकार के छंदों का प्रयोग हुआ है। 'रतन रासौ' का एक उदाहरण यहां देखिये—

लाज खिलेति कुंकुम चढांय
सिव भवत रतन रासौ पढ़ाय
रासौ अगाध सिव कर रतन, कुंभकरन कवि-इंद्र
कित स्रंगार सम इच्छाक छत्र, द्रढ़ सिघ आनंद
चित चमत्कार सस्फुट वचन, अस्त्र सस्त्र चतुर्थ ध्रति
'सिवरतनसिंघ' रासो सरस, अस विधांन सुन परि नृपति।

वीर दुरगादास की प्रशंसा में कुंभकरण कृत दो गीत—

(१)

अवळवाट खट झाट दहवाट करतौ असण
भिड़तां निसाट चर थाट भागौ
'दुरग' दिली जाय र दरकार जुध देखिया
लार संकर वहै प्यार लागौ। १
भीमड़ा तणै तट विकट घट भांजतौ
भोम भाराथ सिवनाथ भोळा
जोयवा खड़ा संकर सकत जेहड़ा
दोवड़ा तेवड़ा जूथ दोळा। २
पेखता फिरंता फिरे हूरां परी
खिले नारद सकत वीर खेळा
अवखियां लिए पैकंवरां अंवरां
महत है आसुरां सुरां मेळा। ३
वींभरै तरैं केई मीर वजरै विकर,
तगाछ खग फरहरै वीर ताळी
व्हर वर रिणोही वीर हाका करै
अजेही भीमड़ा तीर वाळी। ४

(२)

ईंढा ऊकटै काट है थाट भेळै अभग
अकळ दोय वात संसार आखै

[1] 'रतन रासौ' के रचयिता का वंश-परिचय—काशीराम शर्मा, राजस्थान भारती, भा० ३, अं० ३-४।

अन्य रचनाओं में भी अपने पिता का नाम, जन्म-स्थान आदि के विषय में इन्होंने उल्लेख किया है। यथा 'महादेव निसाणी' में—

कर भासा 'लधराज', पिता 'माहेस' मंत्रीस्वर,
सोजत वास सुवास, सेव चामुंड निरंतर।

संवत् १७०८ से सं० १७३० तक की लिखी आपकी रचनायें प्राप्त हुई हैं, जिनकी सूची निम्न है—

१–कालिकाजी रा दूहा, सं० १७०८, २–पाबूजी रा दूहा, सं० १७०६, ३–प्रबोधमाला, ४–देव विलास, सं० १७१३, ५–लधमलसतक दूहा, सं० १७२३, ६–रुक्मांगद चरित, सं० १७२३। इनके अतिरिक्त 'सीख बत्तीसी' 'भजन पच्चीसी' 'महादेवजी री निसांणी' 'गणेसजी री निसांणी' आदि के साथ-साथ कुछ गुटके भी उपलब्ध हैं। कवि ने साधारण बोलचाल की राजस्थानी भाषा में ही काव्य-रचना की है। इन्हें संस्कृत का ज्ञान नहीं था। संस्कृत के आधार पर बनाये गये ग्रंथ इन्होंने दूसरे विद्वानों से सुन कर ही बनाये हैं। कवि ने स्वयं अपनी रचना में सोजत के श्रीमाली पंडित रामेश्वर का नामोल्लेख किया है। यहाँ नीचे हम उनके 'देवविलास' का एक उदाहरण दे रहे हैं—

जोधांणे 'जसराज' नृप, तप दूजौ 'जैचंद'।
उटी दिली लग आगरै, हद ईस दीसी समंद।
प्रभ दीधौ महाराज पद, रीझे साहजहांन।
पीछै 'ओरंग' मांन अत, महिपत न को समांन।
मित्री तिण 'लधमालियौ', साचौ सगत भगत्त।
रहे भजन भगवंत रत जे जांणंत जगत्त।

गिरधर आसियौ—कवि गिरधर मेवाड़ निवासी आसिया शाखा के चारण थे। इनका लिखा हुआ ग्रंथ 'सगतसिंघ रासौ' प्राप्त हुआ है, जिसमें वीर शिरोमणि महाराणा प्रताप के छोटे भाई शक्तिसिंह के जीवन-चरित्र का विवरण दिया गया है। यह लगभग ५०० छंदों का ग्रंथ है जिसमें दोहा, भुजंगी, कवित्त आदि मुख्यतः प्रयुक्त हुए हैं। उक्त 'रासौ' की भाषा साहित्यिक डिंगल होने के कारण रचना प्रौढ़ हो पाई है। 'सगतसिंघ रासौ' की भाषा का उदाहरण देखिये—

'ऊदळ' रांणै एक दिन, सभ पूछियौ स कोइ,
अणी सिरै कर आहणै, हूं सारै हूं सोइ॥
मैंगळ मैंगळ सारिखौ, सीह सारिखौ सीह,
सगतौ 'उदियासिंघ' तण, अंग पित जिसौ अबीह।
चख रत्तें मुख रत्तड़ी, वैस जिहिं कुळ वग्ग,
सगतै जमदड़हां सिरै, आफाळियौ करग्ग॥

उक्त ग्रंथ के अतिरिक्त कवि के फुटकर गीत भी उपलब्ध हैं जिनमें वीर व श्रृंगार रस की बहुलता स्पष्ट झलकती है।

जोगीदास—ये जाति के चारण थे और प्रतापगढ़ नरेश महारावत हरिसिंह के आश्रित कवि थे। इनका रचनाकाल संवत् १७२१ के लगभग है। कवि का लिखा एक ग्रंथ 'हरि पिंगल प्रबन्ध' उपलब्ध है जिसमें कवि ने स्वयं रचनाकाल संवत् १७२१ दिया है—

संवत् सतर इकवीस में, कातिक सुभ पख चंद,
हरि पिंगळ हरिअंद जस, वणियौ खीर समंद।

हिन्दी एवं डिंगल के मुख्य-मुख्य छंदों के लक्षणों की उदाहरण सहित विवेचना की है। समस्त ग्रन्थ तीन भागों में विभक्त है जिसमें प्रत्येक भाग को एक परिच्छेद का रूप दिया गया है। अन्तिम परिच्छेद के अधिकांश भाग में कवि ने अपने आश्रयदाता महारावत हरिसिंह के वंश-गौरव का विस्तृत विवरण दिया है। भाषा, कविता, विषय आदि सभी दृष्टि से 'हरि पिंगळ प्रबन्ध' एक सफल रचना है। इसका उदाहरण देखिये—

जां लग रवि ससि अचळ, अचळ जां सेस धरत्ती।
जां वेळावळ अचळ अचळ जां केल सकत्ती।
वंभ संभ जां अचळ अचळ जां मेर गिरव्वर।
इंद ध्रूअ जां अचळ अचळ जां भरण विसंभर।
चहुं वेद धरम्म जां लग अचळ, जाय व्यास वांणी विमळ।
'जसराज' नंद जग मध्य लै, हरिअसिंघ तां लग अचळ।

उपाध्याय लाभवर्द्धन—ये खरतरगच्छ की क्षेम शाखा के मुनि शान्तिहर्ष के शिष्य थ। इनका जन्म-नाम लाला या लालचन्द था। संवत् १७१३ में सिरोही के आचार्य जिनचन्द्र सूरि ने इन्हें जैन मुनि की दीक्षा दी और इनका दीक्षा-नाम लाभवर्द्धन रखा। अपने समय के जैन कवियों में ये राजस्थानी के श्रेष्ठ कवि हो चुके हैं। इनकी सबसे पहली रचना 'विक्रम ६०० कन्या चौपाई' है जो संवत् १७२३ में जोधपुर राज्यान्तर्गत जयतारण ग्राम में रची गई थी। ग्रंथ की समाप्ति के लिए स्वयं कवि ने लिखा है[1] —

[1] जैन गुर्जर कवियौ, भाग २, पृ० २१२।

कवि ने उक्त रचना की है। वीर रस की मौलिक एवं ओजपूर्ण रचना वास्तव में पढ़ते ही बनती है।

वृन्द कवि के वंशज श्री जियालालजी ने 'रघुनाथ रूपक' की टीका के अन्त में महाकवि वृन्द की डिंगल कविता के कुछ गीतों को उदाहरणस्वरूप प्रस्तुत किया है। उसी में से त्रिकुटबंध गीत हम यहां नीचे दे रहे हैं।[1] कवि की ओजपूर्ण भाषा देखिये—

दळ दिखण मिळ दिल्ली दळां, वध वेध खेद दुहूं वळां।
वर लियण घूपट दियण वस मस, रूक रय राजांन।
'अवरंग' संगर आहुरे, फत्र फौज गज धज फरहरे।
घर फसर हैवर धूज घर, मद झरर कुंजर सिर चमर।
नर निजर नाहर डर निडर, तन पहर वगतर छिलम छर।
हर समर हस वर कस कमर, धर सरध सर वर कर सिफर।
वद कँवर वीरत वांन॥

एक अन्य गीत के दो दोहले और देखिये—

मच्चै दिनी रा चकत दिनी दिसां घमच्चकां मचै,
संभाळै कायरां वरां सूरां चढ़ै सोह।
धवै नाळां झड़ा भड़ी घड़ा घड़ी घूजे धरा,
छूटै बांणां गोळी रांमचंगिया छछोह॥ १
तड़ा तड़ी तठै वगतरां तणी तूटै तड़ी,
धमां धमी ऊठै घणां सेलां रा धमोड़।
झड़ा झड़ी जठै तरवारियां थी पड़ै झींक,
रमैं जगां महाराजा 'राजसिंह' राठोड़॥ २

महाराजा अजीतसिंह—अजीतसिंहजी का जन्म संवत् १७३५ चैत्र कृष्णा चतुर्थी को हुआ था। इनके पिता जोधपुर के महाराजा जसवंतसिंहजी भी संस्कृत, व्रजभाषा और डिंगल भाषा के बड़े अच्छे विद्वान थे। महाराजा का देहान्त अजीतसिंह के जन्म के कुछ दिनों पहले ही हो गया था। महाराजा के देहान्त होने पर वीर दुर्गादास, जो उनके विश्वस्त अनुचरों में थे, अजीतसिंह को काबुल से मारवाड़ ले आये और वयस्क होने तक इन्हें छिपा कर रखते हुए इनका पालन-पोषण किया। वयस्क होने पर ये मारवाड़ के अधिपति घोषित कर दिये गये। इसके पश्चात् इनका अधिकांश समय युद्धों में ही बीता। अन्त में संवत् १७८१ में ये अपने जनानखाने में सोते हुए अपने पुत्र वख्तसिंह द्वारा मार डाले गये।[1]

महाराजा अजीतसिंह वीर, साहसी और स्वाभिमानी नरेश होने के साथ विद्वान और अच्छे कवि भी थे। उनके रचे निम्न ग्रंथ हैं जिनकी हस्तलिखित प्रतियां पुस्तक प्रकाश, जोधपुर में विद्यमान है।

(१) गुण सागर (२) गज उद्धार (३) दुर्गापाठ भासा (४) निर्वाण दूहा। इनके अतिरिक्त इन्होंने अनेक फुटकर दूहे तथा गीत भी लिखे हैं जो अपनी सरलता एवं सरसता के लिए प्रसिद्ध हैं। इनकी कविता की भाषा प्रसादगुणमयी साधारण बोलचाल की भाषा है। प्रवाहमयी होने के कारण इसमे विशेष आकर्षण है। 'गज उद्धार' में गज की करुण पुकार का एक उदाहरण देखिये—

डंडे जळ में ले चल्यौ, गज कुं विकटौ ग्राह।
तब ततकार संभारीयौ, राधा नागर नाह॥
जिण सांई पैदा कियौ, सो मो पास सदाय।
अलख अपंपर ईसवर, सो क्यूं अळगौ थाय।
जळ आयौ गज पीठ पर, डर उपज्यौ मन मांहि।
ग्राह राह वैरी भयौ, जळ डंडे ले जांहि।

लोक-भाषा का प्रयोग इनकी द्वारिका यात्रा के सम्बन्ध में लिखे फुटकर दोहों में देखिये—

और सबै आंणंद हुऔ, एक बात नह चाह।
कील्यांणौ राजण तणौ, मुवौ द्वारिका मांह॥
सिरदारां साथे हुतौ, नारी परतण दोय।
ठाली भूली रह गई, साथ गई नह कोय॥
ईते मरगे गह में, मांणस तीन हजार।
ऊंट तुरंगम बैल री, कर कुण सकै सुमार॥

कीर्तिसुन्दर—जैन विद्वानों ने स्व-रचनाओं के अतिरिक्त अनेक संग्रहों का भी निर्माण कर साहित्य की सतत् सेवा की

[1] इस सम्बन्ध में श्री जियालालजी ने 'रघुनाथरूपक' की टीका के अंत में एक नोट दिया है—'हमारे प्रपिता 'वृन्द सतसई' के कर्ता कवि वृन्दजी भी डिंगल कविता करते थे, जिनका बनाया हुआ यह 'त्रिकुटबंध' गीत कृष्णगढ़ महाराजा श्री राजसिंहजी का 'सुलतानी जंग' अर्थात् शाहआलम और मुअज्जम से युद्ध हुआ, उसका भाव है, और जैसा कि ऊपर दरसाया गया है—इस युद्ध का वृन्दजी ने 'सत्यरूपक' ग्रंथ बनाया। यह युद्ध ... के 'जाजुवा' नामक मैदान में संवत् १७६४ में हुआ।"

[1] जोधपुर राज्य का इतिहास : गौरीशंकर हीराचंद ओझा, पृष्ठ ६००।

राह हिंदू तणी साह 'औरंग' रुकै,
राह हिंदूआं तणो 'दुरग' राखै । १
खेध चढिया धरा वेध विहूँ खड़खड़ँ
सुध्रम राखण कुळां जुगां सारू
ग्रजादा वेद री खूंद मेटण मतै
ग्रजादा वेद री गह्यां मारू । २
पटक रहिया धँणू कटकता असपती
मुरधरा काज ग्रर धरा मारी
पालटै तखत पण धरम नँह पालटै
धरम री सरम करणोत धारी । ३
देवड़ां कूरमां ग्रने हाडां दुगम
चम्पक चीतोड़पत दीध चांटी
'नींद' हर कमधजां चाळ वांधत नहीं
मुखां कलमा पढत घणा मांटी । ४

मान जती—कवि मान विजयगच्छीय जैन यति थे। इनके यति होने का उल्लेख कविराजा वांकीदास के 'वात संग्रह' में ग्राया हुग्रा है—"मांनजी जती राज विलास नांमरूपक रांणा राजसिंह रौ वणायौ"[१] इसके ग्रनुसार कवि मान ने 'राज विलास' ग्रंथ की रचना की। इनका रचनाकाल सं० १७३० से १७४० है। 'राज विलास' उच्च साहित्यिक डिंगल की एक वीररस-प्रधान सुन्दर कृति है। कवि ने इस ग्रंथ में ग्रपने समय के मेवाड़ के महाराणा राजसिंह के जीवन-इतिहास का सुन्दर वर्णन किया है। महाराणा राजसिंह ने ग्रौरंगजेब के वढ़ते हुए ग्रत्याचारों का बड़ी वहादुरी के साथ विरोध किया ग्रौर संकटापन्न ग्रवस्था में हिन्दू धर्म की रक्षा की। राणा का यही जीवन-वृत्त उक्त ग्रंथ में १८ विलासों में विभक्त किया गया है। कवि का राणा के समसामयिक होने के कारण ग्रंथ में वास्तविक घटनाग्रों का उल्लेख हुग्रा है। सही घटनाग्रों के समावेश के कारण साहित्यिक महत्त्व के साथ इसका ऐतिहासिक महत्व भी वहुत वढ़ गया है। ग्रौरंगजेब के विरुद्ध राणा की चढ़ाई का उदाहरण देखिये—

रांण चढ़े राजेस सहस पण वीस तुरग सजि
घुरत निसांननि घोख रवि सुढकिय हय खुर रजि
मयंगळ दळ मय गत्त घटा उट्ठी कि स्यांम घन
पयदळ सहस पचीस सज्ज सायुध सूरं तन
रथ जंत्रि सहस सस्त्रहि भरिय, कर हां गिनति परंत किहि
जग मज्झ कवन जननी जन्यौ, जंग ग्राइ जितै सुजिहि।

वृन्द—महाकवि वृन्द का पूरा नाम वृन्दावनदास था किन्तु 'रचना कलाप: में कवि ने उसे वृन्द ही रखा। ये शाकद्वीपीय ब्राह्मण थे। इनके पिता का नाम रूपसी था जो बीकानेर राज्य के रहने वाले थे किन्तु सोलहवीं शताब्दी में वे जोधपुर राज्य के मेड़ता गांव में ग्राकर वस गये। यहीं पर प्रौढ़ावस्था में इनके घर संवत् १७०० के ग्राश्विन शुक्ला प्रतिपदा, गुरुवार को वृन्द का जन्म हुग्रा। इन्होंने ग्रपने वाल्यकाल में काशी जाकर वहां के तारा नामक पंडित से साहित्य, वेदान्त ग्रादि ग्रनेक विषयों का ज्ञान प्राप्त किया। काशी से लौटने पर मेड़ते में इनका वहुत सम्मान हुग्रा। जोधपुर के महाराजा जसवन्तसिंह ने भी इनको कुछ भूमि देकर इनकी प्रतिष्ठा वढ़ाई। धीरे-धीरे ये वादशाह ग्रौरंगजेब के दरवार में भी पहुंच गये। वहां इनकी ग्रधिक प्रशंसा हुई।

संवत् १७३८ में किशनगढ़ के महाराजा मानसिंह ने इन्हें सम्मानित किया ग्रौर संवत् १७६४ में यहीं के महाराजा राजसिंह ने ग्रपने यहां वसा लिया।[१] कवि ने ग्रपना शेष जीवन यहीं विताया ग्रौर ग्रन्त में संवत् १७८० में यहीं पर उनका स्वर्गवास हो गया।

कवि वृन्द डिंगल व हिन्दी दोनों में ही कविता करते थे। हिन्दी साहित्य में भी इनके ग्रनेक काव्य-ग्रंथ उच्च स्थान प्राप्त कर चुके हैं। डिंगल में लिखा 'वचनिका-स्थान' इनका वहुत ही ख्याति-प्राप्त ग्रंथ है। कवि ने संवत् १७६४[२] में इस ग्रंथ की रचना की जिसमें संवत् १७१५ में शाहजहाँ के पुत्रों—दारा, शुजा, मुराद ग्रौर ग्रौरंगजेब के वीच दिल्ली की वादशाहत के लिए धौलपुर के पास सामूगढ़[३] में हुए युद्ध का वर्णन है। इस युद्ध में किशनगढ़ के महाराजा रूपसिंह ने दारा का पक्ष लेकर ग्रौरंगजेब के साथ वड़ी वीरता के साथ युद्ध किया। इस युद्ध में उन्होंने ग्रपना जो ग्रपूर्व पराक्रम दिखाया उसी का कवि ने 'वचनिका' में सजीव चित्रण किया है। जैसी ग्रद्भुत वीरता राजा ने दिखाई वैसी ही वीरतापूर्ण भाषा में

१· वांकीदास की ख्यात : पं० नरोत्तमदास स्वामी, पृ० ६७।

१ 'रघुनाथरूपक गीतां रौ' में पुरोहित हरिनारायणजी द्वारा लिखित भूमिका, पृष्ठ ४।
२ डॉ० मोतीलाल मेनारिया ने इसका रचनाकाल सं० १७६२ माना है।
३ ग्रौरंगजेब नामा : यदुनाथ सरकार, ग्रनुवादक नाथूराम प्रेमी, पृष्ठ ८६।

थे। बचपन से ही ये कच्छभुज में रहते थे। ये कच्छभुज के महाराव श्री देशलजी प्रथम (सं० १७७४ से सं० १८०८) के महाराज कुमार लखपतजी के कृपापात्र थे। अपनी रचना में कवि ने अपना स्वयं का परिचय देते हुए अपने आश्रयदाता के सम्बन्ध में भी लिखा है—

मुरधर देस सिवाना नगर मध्य
उतन घड़ोई प्रसिद्ध अमीर।
चारण 'रतनू' कवियण चावौ,
हरि रौ चाकर नांम 'हमीर'॥
जाड़ेचा सूरज राव जळवट,
भुज भूपत लखपत कुळ भांण।
त्रिय ग्रंथ कीध अजाची तिण रै,
जोतिखि पिंगळ नांम त्रव जांण॥

इनके प्रसिद्ध डिंगल कोश 'हमीर नांममाळा' की रचना संवत् १७७४ में हुई थी अतः इनके काव्य-सृजन का काल भी इसी के आसपास माना जाना चाहिए। इनके रचे लगभग १७५ ग्रंथ बताये जाते हैं जिनमें निम्नलिखित ग्रन्थ मुख्य हैं—

१—लखपत पिंगळ, २—पिंगळ प्रकास, ३—हमीर नांममाळा ४—जदवंस वंसावळि, ५—देसळजी री वचनिका, ६—जोतिस जड़ाव, ७—ब्रह्माण्ड पुरांण, ८—भागवत दर्पण, ९—चाणक्य नीति, १०—भरतरी सतक, ११—महाभारत रौ अनुवाद छोटौ व वड़ौ।

ये राजस्थानी के उच्च कोटि के विद्वान और श्रेष्ठ कवि थे। खेद है कि राजस्थानी साहित्य के इतिहास सम्बन्धी अब तक के प्रकाशित ग्रन्थों में इनको समुचित स्थान प्रदान नहीं किया गया। इनके ग्रंथों में लखपत पिंगळ' तथा 'पिंगळ प्रकास' दोनों ही छंद-शास्त्र के सुन्दर ग्रंथ हैं। 'लखपत पिंगळ' कवि का सबसे अधिक प्रसिद्ध ग्रंथ है जिसका निर्माण संवत् १७९६ में हुआ था—

संवत सत्तर छिनुओ, पण तस वरस पटंतर।
तिथि उतम मातिम्म, वार उतिम गुरु वासर।
माह मास व्रतमांन, अरक बैठो उत्तराइणि।
सुकळ पख्य रिति सिसिर महा सुभ जोग सिरोमणि।
धिनवार गाह माथा वरण सुजि पसाउ सर सतिरो।
कहियो 'हमीर' जिन चोज करि पिंगळ गुण लखपति रो॥

ग्रन्थ की भाषा सरल और प्रवाहयुक्त है। कवि ने इसमें छंदों एवं गाहों के लक्षण देकर सुन्दर उदाहरण प्रस्तुत किये हैं। वस्तुतः यह छंदों का श्रेष्ठ ग्रन्थ है। छंद शास्त्र का ही इनका दूसरा ग्रंथ 'पिंगळ प्रकास' है जो 'लखपत पिंगळ' से पहिले समाप्त कर लिया गया था। ग्रंथ के अन्त में कवि ने इसका रचनाकाल दिया है—

संवत सतरह अड़सठै, माह सीत रित मास।
जिहड़ौ जोई जांणीयौ, एहड़ौ कीऔ अभ्यास।
सुणतां पुणतां सीखतां, अधक होइ आणंद।
कहीयौ ग्रंथ हमीर कवि, गुण ग्राहग गोविंद।

'अचळदास खीची री वचनिका' व 'रतनसिंघ री वचनिका' की भांति हमीरजी ने भी अपने आश्रयदाता की प्रशंसा में 'देसलजी री वचनिका' की रचना की। यह पूर्ववर्ती वचनिकाओं की भांति गद्यबद्ध रचना न होकर डिंगल पद्य में ही हैं। ऐतिहासिक काव्य होने के कारण इसका भी अधिक महत्त्व है। इसमें संवत् १७८५ की होलिका के समय सरबुलन्द व कच्छ के महाराव देशल के बीच घोर युद्ध हुआ जिसमें देशल ने विजय प्राप्त की, इसी का ओजस्वी भाषा में सुन्दर वर्णन है। भाषा का प्रवाह देखते ही बनता है। निम्न उदाहरण में शब्द-चयन का चमत्कार देखिये—

भळाभळ कूंत खिवे अदभूत, धौळै दिन वेढ़ करै अविधूत।
हुए असुरांण घणां खळ हांण, सांमी दस नांम रचै घमसांण॥
लथोबथ लोह झपेट लपेट, खसै दळ मूंगळ आखळ खेट।
नागा करिवा वर खाग निनाग, कटै धड़ वेहड़ पग्ग करग्ग॥
कड़ाकड़ जूट विछूट कटक्क, तड़ातड़ि त्रूट मिआं मसतक्क।
धमंचक चोट अणीं पड़ि धार, तड़प्फड़ मीर फड़प्फड़ तार॥

ग्रंथों के अतिरिक्त कवि के अनेक फुटकर गीत भी उपलब्ध हैं जिनकी भाषा बड़ी सरस एवं चलती हुई है।

वीरभांण—अठारहवीं शताब्दी में राजस्थानी की श्रेष्ठ रचनाएँ प्रदान करने वालों में कवि वीरभांण का नाम भी अग्रगण्य है। ये भी जोधपुर राज्य के घड़ोई ग्राम के रहने वाले रतनू शाखा के चारण थे और हमीर रतनू के ही समसामयिक थे।[1] इन्होंने डिंगल के ख्यातिप्राप्त प्रसिद्ध ग्रंथ 'राजरूपक' की रचना कर साहित्य की ही अमूल्य सेवा नहीं की अपितु इतिहास को भी एक अमूल्य देन दी है। ग्रन्थ में तिथि अनुसार अनेक ऐतिहासिक घटनाओं पर विशद वर्णन होने के कारण इसका ऐतिहासिक महत्त्व भी बहुत अधिक है। इस ग्रंथ

[1] राजस्थानी भाषा और साहित्य, डा० मोतीलाल मेनारिया, पृष्ठ १७८

है। इन संग्रहों में 'कथा संग्रह' आदि ग्रंथ मिलते हैं। ऐसे ही एक कथा संग्रह 'वाग्विलास' का निर्माण करने वाले जैन मुनि कीर्तिसुन्दर थे। कीर्तिसुन्दर राजस्थान के प्रसिद्ध कवि-वर महोपाध्याय के शिष्य थे। 'वाग्विलास' में कथा सम्बन्धी कुछ संस्कृत श्लोकों के साथ राजस्थानी गद्य-पद्य में अनेक सुन्दर कथा प्रसंग दिये हुये हैं। इसके अतिरिक्त कवि के निम्न ग्रंथ भी प्राप्त हैं—

१—माकड़रास, २—अभय कुमारादि, ३—ज्ञान छत्तीसी, ४—कौतुक पच्चीसी, ५—साधुरास, ६—चौवोली चौपाई, ७—अवंति सुकुमार चौढ़ाळिया आदि। 'वाग्विलास' ग्रंथ के अन्त में उसका निर्माणकाल आदि नहीं दिया हुआ है। परन्तु अन्य ग्रंथों को देखने से उसका रचनाकाल संवत् १७५० से १७६५ के मध्य ठहरता है। विनोदपूर्ण रचना 'मांकड़रासौ' का उदाहरण देखिये—

बोलंता मांही मैं बजरैं, निन्नांमौ हिव आयौ नजरैं।
सौड़ मांहै आवैं सळवळती, वळै पलक में पूठा वळती॥
नेठ पकड़तां हाथै नावैं, जोतां हीज कठै ही जावैं।
फेरंता कर केइक फिसिया, घर में केइक कुसळै घुसिया॥
बाहर घालि वळै केइ वळिया, 'मांकण' हिवैं घण हिज मिळिया।
पीवैं लोही केइक पूठैं, ऊंघांणौ सो भड़की ऊठैं॥

द्वारकादास—ये दधवाड़िया गोत्र के चारण और भक्ति रस के प्रसिद्ध ग्रंथ 'रांमरासौ' के रचयिता प्रसिद्ध कवि माधौदास दधवाड़िया के पुत्र थे। ये अपने समय के जोधपुर नरेश अजीतसिंहजी के कृपापात्र थे और उनकी फौज में मुसाहिब के पद पर आसीन थे। इस समय उनकी प्रतिष्ठा बहुत थी। पिता की भांति इनमें भी काव्य-शक्ति प्रस्फुटित हुई और आगे चल कर डिंगल में सुन्दर रचनायें कर राजस्थानी के श्रेष्ठ कवियों में स्थान प्राप्त किया। इन्होंने महाराजा अजीतसिंहजी के जीवनकाल में ही संवत् १७७२ में 'महाराजा अजीतसिंह री दवावैत' नामक ग्रन्थ की रचना की जिसमें महाराजा के शौर्य, पराक्रम और वैभव का विशिष्ट वर्णन है। इसकी समाप्ति पर रचनाकाल के सम्वन्ध में स्वयं कवि ने लिखा है—

दवावैत द्वादस हुआ, तीन कवित दोय गाह।
सतरे संवत् बहोतरे, कवि द्वारे कहियाह॥

इसी ग्रंथ पर प्रसन्न होकर अजीतसिंहजी ने इन्हें जयतारण परगने का बासनी गांव प्रदान किया। इनकी भाषा सरल एवं आकर्षक है। सर्वत्र प्रसाद गुण ही छाया हुआ है। भाषा का उदाहरण यहाँ देखिये—

इनके खेहां के डंबर उनके बद्दल के आडंबर।
इनके नौबत के टंकारे, उनके गाज घनघोरे।
इनके भालों का भाव, उनके बीज के सळाव।
इनके पंचरंगे बांने, उनके इंद्रधनक तांने।
इनके हस्तियां के हलके, उनके एरावत तुलके।
इनके खेत स्वेत दंत, उनके जेही बुक पंत।

उपरोक्त ग्रन्थ के अतिरिक्त कवि के अनेक फुटकर गीत भी पाये जाते हैं। गीतों की रचना साधारण है। भाषा बोल-चाल की सरल भाषा है। महाराजा अभयसिंह के सम्बन्ध में कहा हुआ एक गीत देखिये—

सोहे सांमळी घड़ सुघड़ सहेली,
वांछंती वर समर वहेली।
चौरंग सीलहै फाड़ कुच चौळी,
वाजंद्रे 'अभमाल' विरोळी॥ १
सार सिंगार छतीसूं सज्जै,
ओप टोप पगूं घट आंवजै।
विचित्र घड़ा इण वैर विलूंधै,
रिण कण-कण कीधी रस रूळूंधै॥ २
नेवर पाखर रोळ नचंती,
संग 'सिर बिलंद' तणै सोभंती।
रोळी 'अजण' तणै रंग रमणी,
गहु खोसाड़ गई गय गमणी॥ ३
ओप टोप गूंघट तोड़ावै,
माड हाड भागा मचकावै।
'गजन' हरा आगै रण गहली,
चतुरंगण हा हा कर चल्ली॥ ४
लड़खड़ती पडती लालरती,
मेल मांण सिर 'संबर' मरती।
गी 'अभमल' अगै पड़ गळियां,
मरमट मूंक मरद्दां मिळियां॥ ५
जैत जुग्रर बडो जुग जीवै,
दळ गुजरात अमल घर दीवै।
गूड मलार राग सुर गवणी,
पेस करी 'द्वारै' पालवणी॥ ६

हमीरदान रतनू—मध्यकालीन राजस्थानी साहित्य में अपनी विशिष्ट एवं महत्वपूर्ण रचनाओं के कारण हमीरदान रतनू का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। ये रतनू शाखा के चारण थे और जोधपुर राज्यान्तर्गत घड़ोई ग्राम के निवासी

मिलता। सम्भवतः वीर रस की इस श्रेष्ठ रचना में करुण रस को सम्मिलित करना कवि को अभीष्ट न था। भापा का प्रवाह एवं चमत्कार निम्न उदाहरण में देखिये—

नुणि 'रांमौ' सबळ रौ, एम बोलियौ ग्रड़ी खंभ।
विड़ंग ग्रोरि दळ 'विलंद' जवन खग हणू रूप जम।
घण भेलूं खग घाव, सांम निज कांम सुधारूं।
सिर समपूं संकर नूं, रंभ चौसरि गळ वारूं।
जग तणी मोह माया तजूं, जिम गोपीचंद भरथरी।
चढ़ि रथां ग्रमरपुर मझि चढ़ूं, ग्रमर कीत ग्रापरी॥

कवि ने इसी विस्तृत ग्रन्थ का सारांश लेकर 'विरद-संणगार' नामक छोटा ग्रंथ तैयार किया और महाराजा को दरबार में सुनाया। महाराजा इसे सुन कर बहुत अधिक प्रभावित हुए और कवि को अधिकाधिक सम्मान प्रदान किया। इस ग्रन्थ के अतिरिक्त 'जतीरासा' तथा 'अभय भूपण' इनके दो उत्तम ग्रंथ और मिलते हैं। 'अभय भूपण' का एक सवैया देखिये—

ऐ न घटा तन ग्रांन सजे भट, ऐ न छटा चमके छहरारी।
गाज न बाजत दुंदुभि ऐ, बक पंत नहीं गज दंत निहारी॥
ऐ न मयूर जु बोलत हैं, *विरदावत मंगन के गन भारी।*
ऐ नहि पावस काळ ग्रली, 'ग्रभमाल' 'ग्रजावत' की ग्रसवारी॥

ग्रंथों के अतिरिक्त विभिन्न विपयों पर करणीदानजी के लिखे अनेक गीत भी मिलते हैं जिनमें इनका कवित्व स्पष्ट रूप से झलकता है।

खेतसी सांदू—ये जोधपुर के महाराजा अभयसिंह के आश्रित थे और कविराजा करणीदान और वीरभांण की भांति ये भी अहमदावाद के युद्ध में महाराजा के साथ थे। ये सांदू शाखा के चारण और नाथूसिंह सांदू के पुत्र थे। डा० मोतीलाल मेनारिया ने भी इन्हें सांदू बतलाया है। परंतु श्री अगरचंद नाहटा ने अपने लेख 'भापा भारत की ऐतिहासिक प्रशस्ति'[1] में एक प्रति का उल्लेख कर 'खेतसी' का 'गढ़वी खिड़िया' होना लिखा है। खेतसी के रचित प्रसिद्ध ग्रंथ 'भापा भारत' की उदयपुर वाली प्रति में इनका सांदू होना ही लिखा है और कविराजा करणीदान के 'सूरज प्रकास' से भी यही बात पुष्ट होती है—

सुतण 'नाथ' 'खेतसी', वदै सांदू खग वाहण।
'करतौ' खिड़ियौ वदै, रखूं 'ग्रमरा' जैही रण॥

[1] राजस्थान भारती : सार्दूल राजस्थानी रिसर्च-इन्स्टीट्यूट बीकानेर, अंक १-२, वर्ष ६।

कवि ने अपने प्रसिद्ध ग्रंथ 'भापा भारत' में महाभारत का राजस्थानी में सुन्दर पद्यानुवाद किया है। इसका रचनाकाल संवत् १७९० के आसपास माना जाता है। ग्रन्थ की समाप्ति सं० १७९० में हुई। इसका उल्लेख कवि ने स्वयं अपने ग्रंथ में किया है—

सतरमैं सांमंत वरस नेउवैं वसेखण।
कवि सुर वरखे करी कथ भारथ संपूरण।
वेसाखह वदि विवध तिथ एकम ग्रालोकत।
भोमवार निरवार निरत रित राव स चाहत।
उत्तरांण भांण वरनन अगम दिस दिखण्ण विचारि उर।
कवि 'सीह' परम महिम कही कुर पंडव क्रम जुत दुकर।

कवि का पूरा नाम खेतसिंह था परंतु कविता में इन्होंने अपने नाम के अन्तिम दो अक्षरों का ही प्रयोग किया है। 'भाषा भारत' डिंगल की श्रेष्ठ रचनाओं में से है। इसकी भापा पूर्ण साहित्यिक डिंगल एवं प्रौढ़ है। इसमें मोतीदांम, हनूफाळ, दूहा, कवित्त, चौपाई आदि अनेक छन्दों का प्रयोग किया गया है। इसकी भापा के उदाहरण के लिए निम्न कवित्त देखिये—

तर भेळप सुख मिळत, निसा भेळप तप नाहिन।
जळ भेळप मळ घटत, सतह पुरखां चित चाहिन।
पंडित भेळप प्रगट, मनह हरिनांम पियासै।
गुणीयां भेळप गुणी; विमळ बुद्धि ववण विकासै।
महिमा समंद जादव निमळ, देखत ब्रन ग्राणंदीयौ।
कवी सीह हठौ भेळप करे, भाखा दव पारह भयौ॥

पीरदांन लालस—ये लाळस गोत्र के चारण जोधपुर राजयन्तर्गत शेरगढ़ परगने में जुड़िया गांव के रहने वाले थे। इनके जन्मकाल एवं माता-पिता के सम्बन्ध में कोई विशेप विवरण ज्ञात नहीं है। ये एक भक्त थे। इनके भक्ति सम्बन्धी ग्रंथों की प्रति हमारे संग्रह में है जिसके अन्त में स्वयं पीरदांन लाळस के हाथ का सांझ्या भूला रचित एक गीत लिखा हुआ है जिसमें उसका लेखनकाल संवत् १७९२ लिखा है। इससे संवत् १७९२ में उनका जीवित होना प्रकट होता है। इनका रचनाकाल भी इसी संवत् के आसपास माना जा सकता है। इनके ग्रन्थों का एक संग्रह 'पीरदांन लाळस ग्रन्थावली' के नाम से बहुत शीघ्र ही सार्दूल राजस्थानी रिसर्च इन्स्टीटयूट, बीकानेर, प्रकाशित कर रहा है। कवि ने साधारण बोलचाल में ही शान्तरस की सुन्दर रचना की है। निम्न उदाहरण में इनकी भक्ति-भावना के साथ कविता-शैली देखिए—

में जोधपुर के महाराजा अभयसिंह और गुजरात के सूबेदार सर बुलन्दखां के बीच अहमदावाद पर हुए युद्ध (सं. १७८७) का वर्णन है। इस युद्ध में कवि वीरभांण स्वयं महाराजा अभयसिंह के साथ थे अतः उन्होंने अपने इस ग्रन्थ में अहमदावाद के युद्ध का अपनी आंखों देखा वर्णन किया है। इस ग्रंथ से उस समय की राजनैतिक, सामाजिक एवं सांस्कृतिक परिस्थितियों पर अच्छा प्रकाश पड़ता है। अहमदाबाद के युद्ध के अतिरिक्त कवि ने उक्त ग्रन्थ में महाराजा जसवंतसिंह और महाराजा अजीतसिंह की जीवन घटनाओं के ठीक-ठीक संवत् और स्थान-स्थान पर काम आने वाले वीरों व सामंतों के नाम भी दिए हैं। इसके अनुसार यह स्पष्ट है कि कवि घटनाओं के समय उनके साथ उपस्थित अवश्य ही रहा होगा। डा० मोतीलाल ने इनका जन्म संवत् १७४५ बताया है[1] जो इस तथ्य से उचित प्रतीत नहीं होता। इनका जन्म अवश्य ही महाराजा जसवंतसिंह के अन्तिम काल के निकट ही हुआ समीचीन जान पड़ता है।

ग्रंथ की भाषा सरल होते हुए भी पूर्ण साहित्यिक डिंगल है। पूरा ग्रंथ ४६ प्रकाशों में विभक्त है। निम्न पंक्तियों में कवि की भाषा देखिये—

परम अंस रवि वंस, अवर दुरवंस अभायौ।
हंस वंस अवतंस, पूंस परताप सवायौ।
तेज पुंज आजांनबाहु, मुख कंज सकोमळ।
मंजु कांम समरूप अंज गज वंध महाबळ।
अणकोट कोट ऊथापणौ, आयां थापण ओटरां।
पेखियौ सांम चढ़ती प्रभा, सांमंतां नवकोटरां॥

करणीदान—जोधपुर के महाराजा अभयसिंह के अहमदावाद के युद्ध का वर्णन करने वालों में कवि वीरभांण के साथ ही महाकवि करणीदान का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। ये कविया शाखा के चारण मेवाड़ राज्य के शूलवाड़ा ग्राम के निवासी थे। ये जोधपुर के महाराजा अभयसिंह के आश्रित कवि थे। 'सूरज प्रकास' जैसे प्रसिद्ध ग्रन्थ की रचना संवत् १७८७ में समाप्त करने के कारण इनका रचनाकाल संवत् १७८७ के आसपास ही ठहरता है। ऐसा कहा जाता है कि महाराजा अभयसिंह ने अहमदावाद के युद्ध में जाने से पूर्व अपने तीन मुख्य कवियों को युद्ध का वर्णन करने की आज्ञा दी थी, जिनमें कविराजा करणीदान, वीरभांण रतनू तथा बखता खिड़िया थे। वीरभांण ने पूर्वोक्त 'राजरूपक' ग्रन्थ की रचना की। बखता खिड़िया ने १६५ छप्पय कवित्तों में युद्ध का वर्णन किया, परंतु कविराजा करणीदान ने अपने ग्रन्थ 'सूरज प्रकास' में महाराजा के सर बुलन्दखां के साथ हुए युद्ध के वर्णन का उद्देश्य लेकर इनके पूर्वजों का भी इतिहास दिया है। इस ग्रंथ में अहमदावाद के युद्ध का वर्णन अधिक विस्तार के साथ किया गया है।

'सूरज प्रकास' 'राजरूपक' की भांति महत्त्वपूर्ण ऐतिहासिक ग्रन्थ तो है ही परन्तु वह साहित्य की दृष्टि से भी अधिक महत्त्वशाली है। करणीदानजी भी वीरभांण की तरह युद्ध में महाराजा के साथ उपस्थित थे, इसीलिए युद्ध का आंखों देखा वर्णन वड़ा सजीव बन पड़ा है। ग्रंथ के प्रारम्भ में महाराजा अभयसिंहजी के पूर्वजों का संक्षिप्त वर्णन है जिसमें सर्व प्रथम सूर्य वंश की वंशावली और उसके साथ रामायण की कथा लिखी है। रामायण की कथा के पश्चात् राम के पुत्र कुश से लेकर राजा पुंज तक की वंशावली देकर राजा जयचंद से अजीतसिंहजी तक के राजाओं का संक्षिप्त वर्णन दिया गया है।

ग्रन्थ की रचना में कवि को एक वर्ष की अवधि लगी जिसका उल्लेख कवि ने स्वयं ग्रन्थ के अन्त में किया है—

सत्रै से समत सत्यासियै, विजयदसमी सनि जीत।
वदि कातिग गुण वरणियौ, दसमी वार अदीत।
वणियौ गुण इक वरस विचि, उकति अरथ अणपार।
छंद अनुस्टप करिउ जन, सत पंच सात हजार।
'अभा' तणी सुभ नजर अति, वधि छक सुकवि विधांन।
कुरवदांन लहियौ अधिक, कहियौ करणीदांन॥

'सूरज प्रकास' वस्तुतः डिंगल भाषा का एक उच्च कोटि का ग्रंथ है। ग्रंथ के अध्ययन से पता चलता है कि कविराजा का राजस्थानी भाषा पर तो पूर्ण अधिकार था ही परन्तु इसके साथ-साथ उन्हें अरवी, फारसी व सस्कृत का भी उत्तम ज्ञान था। उक्त ग्रन्थ में कवि ने पात्रों के चरित्र-चित्रण और वस्तु-वर्णन में अपनी अद्भुत काव्य शक्ति का परिचय दिया है। अलंकार एवं रस-विधान भी यथोचित है। इस ग्रंथ में सभी रसों का समावेश है पर करुण रस किसी स्थान पर नहीं

[1] राजस्थानी भाषा और साहित्य : डॉ० मोतीलाल मेनारिया, पृ० १७८।

जूझ री भार विहूँवां भलो झलियो,
निज वचन तोल साचां निभायो।
'हरागे' सती संग सतीपुर हालियो,
मालियो 'मेर' प्रम जोत मांहै ॥ २२

बहादुरसिंह—बहादुरसिंह राठौड़ राजपूत थे। ये किशनगढ़ राज्य के संस्थापक महाराजा कृष्णसिंह के वंश में महाराजा राजसिंह के पुत्र थे। हिन्दी के श्रेष्ठ भक्त कवियों में अपना नाम रखवाने वाले कवि नागरीदास (सांवतसिंह) इन्हीं के बड़े भाई थे। राजसिंह की मृत्यु (सं० १८०५) पर बादशाह अहमदशाह ने सांवतसिंह को किशनगढ़ का राजा घोषित कर दिया। परंतु सांवतसिंह इस समय दिल्ली में था अतः उसकी अनुपस्थिति में बहादुरसिंह स्वयं किशनगढ़ का राजा बन गये। इन्होंने अपनी बहादुरी और चतुराई से ३३ वर्ष तक अर्थात् सं० १८०५ से सं० १८३८ वि० तक राज्य किया।

महाराजा को डिंगल भाषा से प्रेम था। वे स्वयं डिंगल में कविता किया करते थे। इनकी लिखी 'रावत प्रतापसिंघ म्होकमसिंघ हरीसिंघोत री वात' जो एक प्रसिद्ध ऐतिहासिक वार्ता है, उपलब्ध है। डॉ० गौरीशंकर हीराचन्द ओझा ने भी अपने राजपूताने के इतिहास में इसका उल्लेख किया है।[1]

उक्त वात में देवलिया रावत हरीसिंह के पुत्र प्रतापगढ़ के संस्थापक रावत प्रतापसिंह तथा इनके अनुज म्होकमसिंह का वीरतापूर्ण चरित्र-चित्रण है। रावत प्रतापसिंह का प्रतापगढ़ का शासनकाल संवत् १७३० से १७६४ माना जाता है।[2] बहादुरसिंह इनके परवर्ती काल में हुये, अतः स्पष्ट है कि ये उनकी वीरता से प्रभावित थे।

'रावत प्रतापसिंघ म्होकमसिंघ हरीसिंघोत री वात' वीर-चरित नायकों की विलक्षण वीरता पर आधारित एक वर्णनात्मक कथा है। वार्ता में सर्वप्रथम प्रतापसिंह का श्रेष्ठ शासक के रूप में चित्रण है। इनके पश्चात् म्होकमसिंह की वीरतापूर्ण घटनाओं का वर्णन होने के कारण वार्ता में वीर रस का परिपाक पूर्ण रूप से हुआ है। कवि ने ओजस्वी भाषा में धारा-प्रवाह के रूप में अनेक गीत, दूहे और कवित्त लिख दिए हैं। भाषा की प्रौढ़ता एवं सुन्दर शब्द-सौष्ठव के कारण वीर घटनाओं का चित्रण बड़ा सजीव बन पड़ा है। सम्पूर्ण रचना गद्य पद्य दोनों में ही है। इसके एक कवित्त का उदाहरण देखिए—

बजै झाट बीजळां, काटि पड कंध विछूटै।
तड़िछ उठ घट तठै, जोंम धक हूता जूटै।
अमोसमा आछटै, छोह उपटै छछोहा।
मिटै घटै नह मरट, लहै चहै गळ लोहा।
अवनाड बीर साहस अधिक, दुहूं तरफां छक दाम्वै।
बड भिड़ै देख पड़ियां धरा, वाह वाह सिर आम्वै॥

महाराजा बहादुरसिंह ने इस 'वात' के अतिरिक्त कुछ फुटकर गीतों की रचना भी की है। गीतों की भाषा मंजी हुई है। इनमें भी ओज गुण की प्रधानता है।

ब्रह्मदास—ब्रह्मदास के जन्म का नाम विसनदांन (विष्णुदान था)। इन्होंने जोधपुर राज्य के माड़वा नामक ग्राम में वीठू शाखा के चारण जगा के घर में जन्म लिया था। इनके जन्मकाल के सम्बन्ध में कोई विशेष विवरण ज्ञात नहीं है। इन्होंने ब्रह्मचर्य व्रत पालन किया और आगे चल कर दादूपंथी साधु बन गये। इनके गुरु का नाम हरिनाथजी था। साधु होने के पश्चात् इन्होंने अपना समय हरि-भजन व शास्त्र-श्रवण में ही व्यतीत किया। ये राजस्थानी के अच्छे कवि भी थे। अपनी भक्ति-भावना को इन्होंने अपनी भगतमाला में सुन्दर ढंग से अभिव्यक्त किया है। इनका जोधपुर के महाराजा विजयसिंहजी के राज्यकाल में विद्यमान होना पाया जाता है। इसी के अनुसार इनका रचनाकाल सं० १८१६ के आसपास ठहरता है। इनके भक्ति सम्बन्धी दोहे देखिये—

ऊचरतां सुख ऊपजे, सुणतां आवै स्वाद।
कहियौ दांणव कोप कर, हर पर हर पहलाद॥
संतां सायक तूं सदा, दुसटां खायक देव।
केमत तो वरणन करूं, भल गुरु दीनो भेव॥

इनके भक्ति सम्बन्धी एक गीत में अनूठी सूझ देखिये—

कहै मांनवी देव अणभेद चिरतां सकळ,
जांण कुण सकै गोपाळजी को।
ऊचरे संत महिमा करे ऊजळी,
नद्या कर तिरे सिसपाळ नीको॥ १

×

[1] प्रतापगढ़ राज्य का इतिहास, डॉ० गौरीशंकर हीराचंद ओझा, पृ० १६५ और १८५ के फुट नोट में।
[2] वहीं—पृष्ठ १६७-१८८।

अला तूझ उवारण जयौ जगदीस जुरारी
नरहर गुरु हरनाथ निमौ निकळंक विजारी।
कन्हैया कांन्हुंग्रा निमौ निकळंक नरसेर
ग्वाळ निमौ ग्वाळिया, साच साथै सारंगधर।
राजि नां किसी परि रीझवां, राज वडा राधारमण
'पीरियौ' तूझ दाखै प्रभु, मूझ निवाजै महमहंण॥
(अलख आराध)

अठारहवीं शताब्दी में भी इतने अधिक कवि हुए हैं कि सब का क्रम से परिचय देना सम्भव नहीं होता अतः अब हम इस शताब्दी के शेष कवियों का उनके रचनाकाल के साथ नामोल्लेख मात्र कर रहे हैं। इस शताब्दी के अन्य कविगण— खेतसी लाळस (सं० १७००), किसनो आढ़ौ दुरसावत (सं० १७०२), खीमराज दधवाड़िया (सं० १७०५), हरिदास सिंढ़ायच (सं० १७०५), बल्लू महडू (सं० १७०५), महेसदास आढ़ौ (सं० १७१०), डूंगरसी (सं० १७१०), महाराजा करणसिंह (सं० १७१५-२६), आसकरण (सं० १७१५), पीरदांन आसिया (सं० १७१५), जिनसमुद्र सूरि (सं० १७२०), मतिसुंदर (सं० १७२४), हेमराज (सं० १७२६), मोहनलाल (सं० १७२६), कुसळधीर (सं० १७२७), मथेरन उदयचंद (सं० १७३१-६५), मथेरन जोगीदास (सं० १७३१-६२), रुगौ मूथौ (सं० १७४०-५०), वीर दुर्गादास (सं० १७४०-६०), नाथौ सांदू (१७४५-६०), ईस्वरदास (सं० १७६४), कम्मा नाई (सं० १७७०), वख्ताजी खिड़िया (सं० १७८०-८५), कुसाळचंद्र काळा (सं० १७८१), नैणसी (सं० १७८६), वरजूबाई (सं० १७८७-९०), भाखसी लाळस (सं० १७८८), जोधराज (सं० १७८५), टोडरमल (सं० १७९७)।

काल-निर्धारण के समय हम यह निश्चयपूर्वक कह आये हैं कि राजस्थानी साहित्य की मध्यकालीन परम्परा लगभग १९ वीं शताब्दी की समाप्ति तक निरन्तर रूप से पाई जाती है। यद्यपि इस शताब्दी के उत्तरार्द्ध में साहित्य के वर्ण्य विषय एवं शैली में कुछ नवीनता के दर्शन हो जाते हैं, फिर भी मध्यकालीन विशेषतायें तो इस शताब्दी की समाप्ति के बाद तक भी पूर्ण रूप से मिलती हैं। अब हम यहाँ मध्यकाल की इस अन्तिम (उन्नीसवीं) शताब्दी के कवियों व उनके द्वारा रचित रचनाओं का परिचय देंगे।

पहाड़खाँ आढ़ा—ये आढ़ा शाखा के चारण, जोधपुर राज्य के पांचेटिया ग्राम के निवासी थे और जोधपुर के महाराजा विजयसिंह और वखतसिंह के समकालीन थे। इन्होंने अपना अधिकांश समय रियां ठाकुर शेरसिंहजी के पास रह कर ही विताया। इन्होंने बादर ढाढ़ी के प्रसिद्ध ग्रंथ वीरमायण की घटना के आधार पर 'गोगादे रूपक'[1] काव्य ग्रन्थ की रचना की। ग्रन्थ में कवि द्वारा रचनाकाल आदि कहीं भी दर्शाया नहीं गया है फिर भी अन्य तथ्यों के आधार पर कवि का रचनाकाल संवत् १८०५ से १८१० तक माना जा सकता है। उक्त ग्रन्थ में राव वीरमदे के पुत्र गोगादे और जोहियो के नेता दला के मध्य हुए युद्ध का वर्णन है। गोगादे ने अपने पिता वीरमदे की मृत्यु का वदला लेने के अभिप्राय से ही दला से युद्ध किया था। इस ग्रन्थ में मोतीदाम और त्रोटक छंदों का ही प्रयोग हुआ है। ग्रन्थ की भाषा साहित्यिक है, शब्द-सौष्ठव देखते ही वनता है। निम्न उदाहरण देखिये—

उडै रज डंभर व्योम अथाह, मिळै निस जंणक भाद्रव माह।
दलं कद वीरम हूं तायदाय, उगंतां सूर वित लियौय आय।
धुबै पड़ रोस अरारक धाक, हुवो-हुव होय चहुंवळ हाक।
ढंमंकय वाहर वाहर ढोल, खेगां जड जीण दुवागाय खोल।

उक्त ग्रंथ के अतिरिक्त भिन्न-भिन्न अवसर पर पहाड़खाँ के अनेक फुटकर गीत लिखे हुए प्राप्त हैं। गीतों की भाषा में ओज एवं लावण्य है। आउवे के ठाकुर कुशलसिंह और कवि के आश्रयदाता शेरसिंह के मध्य जोधपुर राज्य के विषय को लेकर परस्पर द्वन्द युद्ध हुआ। इस युद्ध में दोनों ही वीर वीरगति को प्राप्त हुए। इस सम्बन्ध में कवि ने एक सुन्दर गीत लिखा है। इसका प्रथम एवं अन्तिम दो द्वाले देखिये—

वडा वोलतौ वोल, वातां घणी वणातौ,
जोम छक जणातौ टसक जाझी।
'सदारौ' अग्राजै 'सेर' ऊभौ समर,
'मघारा' हराए आव माझी॥ १
×
सता रा दिली आंवेर चीतोड़ सूं,
विढण कुण कुंवारी घडा वरसी।
...विचै तांम अधरात रौ,
कांम पड़सी तरै याद करसी॥ २१

[1] राजस्थान प्राच्य विद्या प्रतिष्ठान, जोधपुर द्वारा प्रकाशित हो चुका है।

स्वयं इस युद्ध में उपस्थित थे। अतः इन्होंने राजा उम्मेदसिंह की अद्भुत वीरता का आंखों देखा वर्णन अपने इस गीत में किया है। इस युद्ध की तिथि के अनुसार ही कवि का रचना-काल संवत् १८२५ के आसपास ठहरता है। गीत का उदाहरण देखिये—

कड़ी वागतां वरम्मां पीठ पनागां उघड़ी केत,
मागां काळ वड़ी देत पैंडा आसमेद।
छड़ाळां अभागां लागां ऊडी आसमांन छायौ,
ऊपड़ी वाजंदां वागां यूं आयौ 'ऊमेद' ॥ १
कोटी-उड्डा फुणी भाट मोडतौ कमट्ठां कंध,
पव्वैराट निध वीछोडतौ भोमपाट।
थंभ जंगां वोम थाट जोड़तौ रातंगा थाट,
तोड़तौ मातंगां थाट रोड़तौ आंत्राट ॥ २
वाघ री वच्छंगी मोड़ चितोड़नाथ रौ वंधू,
काळी चक हात रौ आरोध लीवां क्रोध।
दुस्सासेण माथ क्रांत रोव घायौ दूठ,
जेठौ पाराथ रौ किना भारात रौ जोध ॥ ३

पाट-धणी धारा धांम धंन मंत्र कांम पूगौ,
न्याग धारां ऊगौ अत्तु भांण सो अखेद।
खवीतौ वचाड़ पाठ नेकी धाड़ वाड़ा वीर,
अेरी राड़ जीती आठ प्रवाड़ा 'उमेद' ॥ २२
कोड़ नवा जांमै काळनांमै चाड़ै हेक कोड़,
माहा दद्र थांमै न को पांमै अेहो मीच।
वीच अेक नरां लोक आयौ तूं 'उम्मेद' वीर,
वीर अेक तूं ही गौ अम्मरां लोकां वीच ॥ २३

कृपाराम—ये जोधपुर राज्य में मेड़ता परगने के जसूरी नामक गांव के निवासी खिड़िया शाखा के चारण थे। इनके पिता का नाम जगाराम था। ये बड़े होने पर सीकर चले गये और वहाँ रावराजा लक्ष्मणसिंह के पास रहने लगे, जिन्होंने इनके काम से प्रभावित होकर 'लछीपुर' और 'ढांणी' जो आज कृपाराम की 'ढांणी' के नाम से प्रसिद्ध है, गांव प्रदान किये। काव्य-जगत में ये अपने सोरठों और दोहों की रचना के लिए अधिक ख्याति प्राप्त कर चुके हैं। इन्होंने अपने सेवक 'राजिया' को सम्बोधित कर सोरठे व दोहे कहे थे। सम्भवतया सेवक की सेवा एवं स्वामीभक्ति से प्रसन्न होकर उनके नाम को अमरता प्रदान करने के लिए ही कवि ने इन सोरठों की रचना की हो। उनके ये दोहे 'राजिया के सोरठे' के नाम से जनसाधारण में अधिक प्रचलित हैं। साहित्य जगत में आज जो कृपाराम की प्रसिद्धि है वह इन्हीं सोरठों की लोकप्रियता के कारण है।

इन सोरठों की सबसे बड़ी विशेषता उनकी सरलता, सहजता एवं बोधगम्यता है। शीघ्र बोधगम्य होने के कारण ही ये सहज ही पाठकों के हृदय में अपना स्थान बना लेते हैं। कवि ने स्वयं जीवन के चौराहे पर खड़े होकर विभिन्न समस्याओं को देखा, परखा एवं उन पर विचार किया। तत्पश्चात् उनका निचोड़ एवं निष्कर्ष इन सोरठों के रूप में सर्वसाधारण के सामने प्रस्तुत किया है। सरलता और सादगी ही इनका सबसे बड़ा सौन्दर्य है। सोरठों में इतनी सजीवता है कि ये इतने प्राचीन होते हुए भी आज नवीन प्रतीत होते हैं। यह कहना कोई अतिशयोक्ति नहीं होगा कि इनका प्रत्येक सोरठा सांसारिक अनुभव का भंडार है, काव्य-दक्षता का प्रतीक है। निम्न दोहों में कवि की विशेपता देखिये—

हिम्मत कीमत होय, बिन हिम्मत कीमत नहीं।
करे न आदर कोय, रद कागद ज्यूं राजिया ॥
नरां नखत परवांण, ज्यां ऊभां संके जगत।
भोजन तपै न भांण, रांवण मरतां राजिया ॥
लह पूजा गुण लार, नह आडंवर सूं निपट।
सिव वंदे संसार, राख लगायां राजिया ॥
सांचौ मित्र सचेत, कह्यौ, कांम न करै किसौ।
हर अरजणरै हेत, रथ कर हांक्यौ राजिया ॥
मळयागिर मँझार, हर कोइ तरु चंदण हुवै।
संगत लह सुधार, रूँखां नै ही राजिया ॥
पुत्र गया परवार, सज्जन-साथ छुटचा जदै।
दुरजण-जण री लार, रोता फिरवै राजिया ॥
मुख ऊपर मीठास, घट मांहीं खोटा घड़ै।
इसड़ां सूं इखळास, राखीजै नहि राजिया ॥
मिळियां अत मनवार, वीछड़ियां भाखै बुरी।
नांणत दे ज्यां लार, रजी उडावौ राजिया ॥

कृपाराम के लिखे ये सोरठे जनसाधारण में इतने अधिक प्रचलित हुए कि बहुत से अन्य कवि भी राजिया के नाम से सोरठों का निर्माण करने का लोभ संवरण नहीं कर सके हैं। इससे राजिये के वास्तविक सोरठों में कुछ प्रक्षिप्त अंश भी सम्मिलित हो गये हैं। उदाहरण हेतु निम्न सोरठा श्री फतहकरण उज्ज्वल का बनाया हुआ है परन्तु कई लोग भ्रमवश इसे कृपाराम का सोरठा ही समझते हैं—

दुवध दातार अरणपार जगदीस री,
भलांई वेद गावै भलाई।
दूध पाय'र तिरी जसोदा देवकी,
पय विख पूतना मोख पाई ॥
भाग जागै कहै किसी ही भांत सूं,
दांमोदर मांय चित राख दीधां।
रुकमणी आदि तौ पतिवरत सूं ऊधरी,
कूवड़ी आदि विभचार कीधां।
×
कहै ब्रह्मदास जगदीस महाराज री,
गत अगत सेस माहेस गावै।
रिझावै जिकै पदन्याख पावै परम,
परम पद खिजावै जिकेई पावै ॥

ओपाजी आढ़ा—ये सिरोही राज्य के पेशुआ नामक गांव में उत्पन्न हुए थे। इनके पिता का नाम वखता आढ़ा था। इनके जीवन की मुख्य घटनाओं, जन्म-मरण के संवतों के विषय में कुछ भी ज्ञात नहीं है। इतना अवश्य है कि ये जोधपुर के महाराजा विजयसिंह के दरबारी कवि थे और महाराजा मानसिंह के समय तक विद्यमान रहे। इसी के आधार पर इनका रचनाकाल वि० सं० १८४० से १८७५ तक माना जाता है। इनका लिखा स्वतंत्र ग्रंथ तो कोई प्राप्त नहीं, किन्तु इनके लिखे फुटकर डिंगल गीत बहुत प्रसिद्धि प्राप्त कर चुके हैं। इनके गीतों में बड़ी सरसता और कमनीयता है। भाव अनुभवगम्य और मर्मस्पर्शी हैं। गीत शान्त रस से ओतप्रोत एवं उपदेशात्मक होते हुए भी अधिक जनप्रिय हैं। इनके एक गीत का उदाहरण यहाँ देखिये—

जोवन कारमौ रे ! विहांणे वह जासी,
आदर भजन-तणौ अभियास।
प्रांणिया ! कदे न आवै पाछौ,
वळे न बीजौ बागड़ वास ॥ १
होय सनाथ जनम मत हारव,
नाथ समर त्रयलोक नरेस।
नांम लियण जोयां मिळसी नह,
वीस कोड़ देतां लघु वेस ॥ २
सूनै गांव म फाड़व साड़ौ,
गाफल हिरदै राख गिनांन।
'ओपा' ऐ दिन कदै फिर आसी,
भजसी भळै कदै भगवांन ॥ ३
परसरांम भज नाख अंम्रितफळ,
जनम सफळ हुय जासी।
पाछौ वळै अमोलक पंछी,
इण तरवर कद आसी ॥ ४

ओपाजी एक भक्त कवि थे। इनकी भक्ति दास भाव की थी। हिन्दी के कवियों की भांति इनकी भक्ति के प्रधान विषय ईश्वर के प्रति अटल विश्वास, मानव जीवन की क्षण-भंगुरता, काल की सवलता, सांसारिक वैभव की अनित्यता आदि थे। कवि के गीतों में इनकी मौलिकता स्पष्ट रूप से झलकती है।

हुकमीचंद खिड़िया—राजस्थानी साहित्य में गीत रचना की परम्परा अति प्राचीन है। राजस्थानी के अनेक कवियों ने अपने डिंगल गीतों द्वारा ही इस साहित्य को समृद्धशाली बनाने में पूरा-पूरा सहयोग दिया है। हुकमीचंद खिड़िया भी एक ऐसे कवि हो गये हैं जिनके गीत श्रेष्ठ कोटि के कहे जा सकते हैं। उनके गीतों की श्रेष्ठता सर्वमान्य ही रही है, इसीलिये किसी कवि ने कहा है—

सरूप कवित्त नरहरि छप्पय, सूरजमल के छन्द।
गहरी झमक गणेस री, रूपक हुकमीचंद ॥

हुकमीचन्द जयपुर राज्य के निवासी थे। ये जोधपुर के महाराजा विजयसिंह और शाहपुरा के राव उम्मेदसिंह के समकालीन माने जाते हैं। इन्होंने अपने समकालीन राजाओं पर अनेक गीतों की रचना की और प्रायः सभी से सम्मान के रूप में जागीर प्राप्त की। ये गीत रचने में ही विशेष निपुण थे इसीलिए गीतों के अतिरिक्त इनकी कोई स्वतंत्र रचना नहीं मिलती। एक रचना 'जयपुर के महाराजा प्रतापसिंहजी री झमाल' अवश्य है परन्तु 'झमाल' एक बड़ा गीत होने के कारण यह भी गीतों की श्रेणी में ही आ जाता है। इनके गीत मुख्यतः वीर-रस प्रधान ही हैं। मौलिक उपमाओं और उत्प्रेक्षाओं के साथ-साथ गीतों में भाषा अत्यन्त प्रौढ़ एवं ओजपूर्ण है। इनके एक प्रसिद्ध गीत के कुछ द्वाले नीचे उद्धृत किये जाते हैं। यह गीत शाहपुरा के राजा उम्मेदसिंह की वीरता की प्रशंसा में कहा गया है। उम्मेदसिंह ने मेवाड़ की रक्षा के लिए मरहठा सरदार माधोजी सिंधिया से उज्जैन में क्षिप्रा नदी के तट पर घनघोर युद्ध किया था। यह युद्ध संवत् १८२५ में हुआ था।[1] कवि

[1] वीर विनोद, भाग २, कविराजा श्यामलदास, पृष्ठ १५५६।

अध्याय में जो अपने विचार प्रकट किये हैं उससे कवि की इस कृति के महत्व का पता चलता है—

"....The most admired Dingala work is the 'Raghunath Roopak' of Mansa Ram, written at the commencement of the nineteenth century. It is a prosody with copious original examples, so arranged that they give a continuous history of Ram."

ग्रन्थ के अध्ययन से ज्ञात होता है कि कवि ने अपनी रचना के लिए सोलहवीं शताब्दी से चली आ रही भाषा का ही अनुकरण किया है। ग्रन्थ में कला पक्ष एवं भाव पक्ष दोनों ही बहुत सुन्दर बन पड़े हैं। परंपरागत डिंगल की विशेषतायें यत्र-तत्र खूब झलकती हैं। ग्रन्थ का एक गीत देखिये—

गीत जात सपंख री

अंगां झमंमे सवायो तायो मुणैं वैण रांणवाळा,
वडाळां छोह में छायो चखां चोळ व्रन्न ।
पळेसां अघायो लेण रटक्कां सजोर काथैं,
कटक्कां रांम रै माथैं आयो कुंभक्रन्न ।। १
अछेहो वदन्नां वांणी बोलतो पुलस्त अंसी,
कोपाळ अमूळ तसां तोलतो करूर ।
मिळे मूंछ भूहारां टोलतो आकारीठ महां,
गरीठ दोयणां हिया छोलतो गरूर ।। २
दमंगे रहाळा छूटे सोहड़ां काकुस्थवाळा,
अताळा सजूटे तेण सांमूहां अटोल ।
हूवै चुरा पव्वै कोना विछूटे दटल्ला हूंत,
फूटै काच सीसा जांणे कुंभायळां फोल ।। ३
लचैं चील्हारांव सीस हजारूं डाळवा लागा,
दिगांम ढाळवा लागा दिसावा दुम्भाल ।
लेवा मुंड सुरांगणा सूंतैस चालवा लगा,
रंचै रचां दिवेसां भाळवा लागा स्याल ।। ४

बांकीदास—परंपरागत चारण शैली एवं प्राचीन डिंगल भाषा के रचनाकारों में कविराजा बांकीदास का नाम अग्रगण्य है। इनका जन्म जोधपुर राज्यान्तर्गत पचपद्रा परगने के भांडियावास ग्राम में संवत् १८३८ वि० में हुआ था। ये आशिया नाथा के चारण फतहसिंह के पुत्र थे। बाल्यावस्था में अपने गांव में ही कुछ शिक्षा ग्रहण कर ये जोधपुर आ गये जहां रायपुर के ठाकुर अर्जुनसिंह ने इनकी शिक्षा की व्यवस्था की। यहाँ पर इन्होंने काव्य, व्याकरण, इतिहास आदि विभिन्न विषयों का अध्ययन किया और अवधि समाप्त होने पर रायपुर चले गये।

संवत् १८६० में जब ये पुनः जोधपुर आये तो यहाँ इनकी मुलाकात आयसजी देवनाथजी, जो जोधपुर के तत्कालीन महाराजा मानसिंह के गुरु थे, और विद्या के परम रसिक और गुणग्राही थे, से हुई। देवनाथजी बांकीदास की अद्भुत काव्य-शक्ति से बहुत प्रभावित हुए और उन्हें महाराजा मानसिंह के पास भेज दिया। महाराजा मानसिंह स्वयं काव्य-प्रेमी एवं विद्वान् थे। वे बांकीदास की कविता से बड़े प्रसन्न हुए और इन्हें अपना काव्य-गुरु बना लिया। कालान्तर में महाराजा ने इन्हें कविराजा की उपाधि, पांव में सोना, लाख पसाव आदि देकर खूब सम्मानित किया और इनकी प्रतिष्ठा बढ़ाई। महाराजा ने अपने गुरु-शिष्य के सम्बन्ध को सूचित करने के अभिप्राय से कागजों पर लगाने की मोहर (जो आज तक कविराजा के वंशजों के पास सुरक्षित है) रखने की आज्ञा दी जिस पर निम्न बरवै जाति का छंद खुदा हुआ है—

श्रीमान् मान धरणि पति, बहु गुन रास ।
जिण भाषा गुरु कीनौ बांकीदास ।।

कविराजा डिंगल भाषा के पूर्ण विद्वान् और आशु कवि थे। इनकी स्मरणशक्ति भी अपूर्व थी। इन्होंने भिन्न-भिन्न विषयों पर कविता की है। विषयगत शब्द-चयन भी अनूठा है। कवि ने अपनी रचना में मुख्य छंद दोहा, सोरठा तथा गीत आदि का प्रयोग बड़ी कुशलता के साथ किया है। काव्य की भाषा अत्यन्त प्रौढ़, परिमार्जित एवं प्रसादगुणयुक्त है। अलंकारों के प्रयोग से उसमें विशेष लोच, लावण्य एवं आकर्षण आ गया है। भाषा की सरलता का उदाहरण देखिये—

सादूळो लाजै ससां, घात करण घिरतांह ।
कूंभायळ खाय चौ-पल, गज मोतीं खिरतांह ।।
मरणौ लाजम मांमलै, धार अणी चढ धाप ।
पड़णौ सांकळ पींजरै, सिहां वडौ सराप ।।
पग पग कांटा पायरै, वादीलो वनराव ।
होणी ज्यूं त्यूं होवसी, दियै न हीणौ दाव ।।
सादूळो वन साहिबौ, स्वाटै पग पग खून ।
कायरड़ा इण कांम नूं. जंबक कहै जबून ।।

मिनखां घणां न मांन, मांन रहे हेकण मनां।
जीतौ जुध जावांन, रूस तणै बळ राजिया।।

सोरठों के अतिरिक्त कवि का लिखा एक ग्रन्थ 'चाळक-नेची माता' भी उपलब्ध है जो एक नाटक ग्रन्थ है। इसकी भाषा प्रौढ़ एवं परिमार्जित है। कवि द्वारा किया गया प्रकृति वर्णन भी स्वाभाविक एवं सजीव है। प्रातःकाल का वर्णन देखिये—

मिळत ग्रोक निस चरण, कोकनद मधुप कोक जिम।
सुमन वास दिन कर प्रकास, छुटत ग्रकास तिम।।
इधि ग्रमांम झल्लरी दमांम, विधि विधि नह वज्जत।
सिव झिली कोसिक सिगाळ, सुर नाहिन सज्जत।।

दयालदास— रामस्नेही साधुओं ने भी राजस्थानी साहित्य में अपना योगदान दिया है। रामस्नेही साधु और उनके अनुयायी निर्गुण परमेश्वर को राम के नाम से मानते हैं। इन साधुओं में रामचरणजी, हरिरामदासजी, दरियावजी आदि उल्लेखनीय हैं। राजस्थानी साहित्य में दयाळदासजी का नाम इनकी रचनाओं के लिये विशेष महत्व का है। ये भक्त कवि रामदासजी के पुत्र थे। इनका जन्म संवत् १८१६ में हुआ था। पिता की भांति इन्होंने भी अपनी भक्ति सम्बन्धी रचनाओं द्वारा अपनी भक्ति एवं काव्य-शक्ति का परिचय दिया। इनका रचा हुआ 'करुणा सागर' बहुत प्रसिद्ध ग्रन्थ है। रामस्नेही सम्प्रदाय के अनुयायियों में इसका विशेष आदर है। 'करुणा सागर' के अतिरिक्त इनके रचे हुए भक्ति सम्बन्धी अनेक फुटकर पद भी प्राप्त हैं जिनमें निर्गुण भक्ति की अविरल धारा बही है। इनकी भक्ति-भावना निम्न पद में देखें—

सजनी म्हारी रांम सभा वलिहारी ए।
रांम सनेही परचै हरिजन चरण कमळ वळिहारी ए।
तन मन धन निछरावळ करसां ग्रठ सिधि नव निधि सारी ए।
रचना ब्रहमंड सजूं संजीवन ग्ररपूं वार हजारी ए।
सत गुरु सें मैं उरण नहीं जिण दिया रांम-धन भारी ए।
द्याल वाळ निरा लेऊं वलैया निभज्यौ टेक हमारी ए।

मनसारांम (मंछ कवि)—मध्यकालीन साहित्य में केवल रसाप्लावित वीर एवं शृंगारिक रचनायें ही नहीं हुईं अपितु इस काल में कई उच्च कोटि के रीति ग्रंथकारों ने उत्तम रीति ग्रंथों का निर्माण कर साहित्य को अमूल्य निधि अर्पित की है। इस काल के रीति ग्रंथकारों में मनसारांम उर्फ मंछ कवि का नाम उल्लेखनीय है। इनका जन्म जोधपुर नगर के शाकद्वीपी ब्राह्मण बखशीरामजी के घर संवत् १८२७ वि० में हुआ। बाल्यावस्था में इन्होंने विद्या अपने चाचा हाथीराम के पास ही ग्रहण की। ये जोधपुर के महाराजा मानसिंह, जो स्वयं काव्य-प्रेमी थे, के ही समकालीन थे। इन्होंने अपनी सुन्दर रचनाओं के फलस्वरूप महाराजा से बहुत अधिक सम्मान एवं पुरस्कार प्राप्त किया।

इन्होंने श्री रामचन्द्र का यश-वर्णन करते हुए रीति ग्रंथ 'रघुनाथ रूपक गीतां रौ' का निर्माण किया। यह ग्रंथ छंद-शास्त्र का उत्तम ग्रंथ होते हुए भी राम-यश वर्णन के लिए अधिक प्रसिद्ध है। सभी वर्णन राजस्थानी के प्रसिद्ध छंद 'गीत' में ही किया गया है। इसी विशेषता के कारण कवि ने ग्रंथ का नाम भी 'रघुनाथरूपक गीतां रौ' रक्खा—

इण ग्रंथ मो रघुनाथ गुण ग्रत भेद कविता भाखियौ।
इण हीज कारण नांम श्री 'रघुनाथ रूपक' राखियौ।।[1]

इसी ग्रंथ में कवि ने अपने काव्य-चातुर्य से डिंगल भाषा की कविता की रीतियां, छंद-भेद, छंद-लक्षण, अलंकार, गुण-दोष आदि का समावेश कर दिया है। यद्यपि कवि की यह एक ही रचना है परन्तु इसने कवि को अमर कर दिया है। ग्रंथ की भाषा अत्यंत प्रौढ़ एवं पूर्ण परिमार्जित साहित्यिक डिंगल भाषा है। ग्रंथ में प्रसाद गुण अधिक होने और भाषा-प्रवाह होने के कारण काव्य की दृष्टि से भी यह सुन्दर बन पड़ा है। सम्भवतः आज इसकी व्यापक प्रसिद्धि का भी यही कारण हो। इनके सम-सामयिक कवि उत्तमचंद भंडारी ने इनके विषय में जो कविता कही उससे कवि की उस समय की प्रतिष्ठा का पता लगता है—

आछौ कीध इसोह, रस ले साहित सिंधु रौ।
जग सह पियण जिसोह, रूपक रांम पयोध रख।।
मनसांरांम प्रबंध मझ, राखे मनसारांम।
कियौ भलौ हिज कांम कवि, कियौ भलौ हिज कांम।

'रघुनाथ रूपक गीतां रौ' के सम्बन्ध में डॉ० ग्रियर्सन ने इंपीरियल गजेटियर की दूसरी जिल्द के ११ वें

[1] नागरी प्रचारिणी सभा द्वारा प्रकाशित 'रघुनाथ रूपक गीतां रौ' पृ० २८४।

गुण में जग जग कंठ गवीजै, नरमळ ज्यूं नरझर में नीर।
जग मांझळ वसतार घणुं जस, हुग्रो ग्रमावड़ दुग्रा हमीर ॥ ३
ग्रड़ली मुत कीरत दिन ऊगै, परमण घण जोजन पारंभ।
एक खंड की हुए ग्रमावड़, ग्रन खंडां मावणौ ग्रसंभ ॥ ४

महाराजा मानसिंह केवल कवि ही न थे, ग्रपितु कवियों एवं विद्वानों का पर्याप्त ग्रादर करते थे। इन्होंने ग्रपने दरबार में एक वार सत्ताईस कवियों को एक-एक हाथी एवं लाख पसाव प्रदान किया था। साहित्य से विशेष प्रेम होने के कारण इन्होंने ग्रपने किले में 'पुस्तक प्रकास' नामक पुस्तकालय की स्थापना की। इसमें १६७८ संस्कृत पुस्तकों तथा १७०० राजस्थानी एवं हिन्दी की हस्तलिखित प्रतियों का बड़ा सुन्दर संग्रह है। कविता के साथ इन्हें चित्रकला का भी विशेष शौक था। ग्रपने 'पुस्तक प्रकास' में इन्होंने विविध चित्रों का संग्रह करवा कर तत्कालीन कला एवं संस्कृति को सुरक्षित रखा। संवत् १९०० वि० में इनका देहान्त हो गया।

सांईदीनजी—सांईदीनजी, जो ग्रपने छोटे नाम 'दीनजी' के नाम से भी प्रसिद्ध हैं, उदयपुर राज्य के कैलाशपुरी ग्राम के निवासी थे। इनके जन्म एवं मृत्यु के संवत् का ठीक-ठीक पता नहीं लगता। ये जाति के लुहार बताये जाते हैं। ग्रपने जन्मस्थान के बारे में दीनजी स्वयं एक स्थान पर लिखते हैं—

'गुरु स्थान गिरनार, हौं उदैपुर देस एकलिंग वासी।'

दीनजी एक चमत्कारिक सिद्ध हो चुके हैं। मेवाड़ के महाराणा भीमसिंहजी इन्हें बहुत मानते थे। सिद्ध पुरुष होने के साथ-साथ ये एक प्रतिभावान कवि भी थे। पढ़े-लिखे विशेष न होने के कारण इनकी रचना साधारण बोलचाल की राजस्थानी में ही है। ग्राध्यात्मिक चिन्तन ही इनका विषय था, ग्रत: इनकी कविता में ब्रह्म का ही वर्णन है जो रहस्यवाद से परिपूर्ण है। इनका रचनाकाल सं० १८६० के ग्रासपास ही माना जाता है। ब्रह्म या ग्रध्यात्म सम्बन्धी इनके रचे हुए छंद 'सांईदीन के रेखते' के नाम से प्रसिद्ध हैं। एक 'रेखते' में इनके विचार देखिये—

दीन देख संसार विचार किया, संसार तो रैन का सपना है।
जाग हुग्र जंजाट मे कौन पड़ै, तेहूं काळ की झाळ में तपना है।
देख प्यारे दुनियार रैं'ण, इस जुग में कोई न ग्रपणा है।
सांईदीन कहै मन मान मेरा, जुग जुग जीवां तोहीं खपणा है।

नवलदांन लालस—ये जोधपुर राज्य में शेरगढ़ परगने के जुडिया ग्राम के निवासी थे। इनके पिता का नाम रिवदान था। बाल्यावस्था में ही इनके माता-पिता का देहान्त हो जाने के कारण इनका पालन-पोषण पाटोदी ठाकुर के यहाँ हुग्रा। ऊपर वर्णित सिद्ध 'सांईदीन' पाटोदी ठाकुर के पास ग्राया-जाया करते थे ग्रत: ठाकुर ने नवलदान को शिक्षा ग्रहण करने हेतु सांईदीन के सुपुर्द कर दिया। ग्रत: इन्होंने ग्रपनी शिक्षा सांईदीन से ही प्राप्त की। तत्कालीन ग्राहोर का ठाकुर ग्रनाड़सिंह सांईदीन का परम भक्त था ग्रौर वह प्राय: सांईदीन को ग्रपने यहीं रखता। सांईदीन ने नवलदान की मेधा-शक्ति एवं काव्य-रुचि से प्रभावित होकर उन्हें ग्राहोर ठाकुर के पास ही रख दिया। जोधपुर के महाराजा भीमसिंह ने मानसिंह के विरुद्ध जो इस समय जालोर के किले में था ग्रपनी सेना भेजी। मानसिंह के सभी हितैषी उसकी सहायता के लिए जालोर पहुंचे। इस समय नवलदान भी ग्राहोर ठाकुर के साथ मानसिंह के पास गये। वहाँ ग्रपनी कविता से इन्होंने ग्रच्छा सम्मान प्राप्त किया। मानसिंह के जोधपुर की गद्दी पर ग्रासीन होने पर ये भी जोधपुर ग्रा गये ग्रौर यहीं रहने लगे। 'ग्राबू वर्णन' इनकी राजस्थानी की सुन्दर कृति है। महाराजा ने इन्हें भी एक हाथी ग्रौर लाख पसाव प्रदान किया था। इसके ग्रतिरिक्त संवत् १८७४ में नेरवा नामक ग्राम भी प्रदान किया। ग्राबू वर्णन में से एक 'रोमकंद' छंद देखिये—

बौहो फूल हुवास जहुड़ियें डंबर, ताज कदम सरोह तठै।
सावत्रीये घाय चंपेलिए साटै, जाय खिजूरिये केळ जठै।
केवड़ा ग्रहवेल कणेर ग्रणकळ कंज समूलीये पार किसौ।
ग्रनड़ां सिरताज वणै गिर ग्राबूये, जांण घराज सुमेर जिसौ॥

उदयरांम—कवि उदयराम जोधपुर राज्य के थबूकड़ा गांव के निवासी थे। जोधपुर के काव्य-प्रेमी महाराजा मानसिंह के समय में ही ये विद्यमान थे। महाराजा ने जिन सत्ताईस कवियों को एक-एक हाथी ग्रौर लाख पसाव प्रदान किया था उनमें ये भी सम्मिलित थे।[1] इनका ग्रधिक समय कछभुज के राजा भारमल तथा उनके पुत्र देसल द्वितीय के पास व्यतीत

[1] हमारे संग्रह में महाराजा मानसिंह के समय के इन कवियों का एक चित्र सुरक्षित है।

कविराजा की वीररसात्मक उक्तियां, जो अत्यन्त प्रभावोत्पादक एवं कलात्मक हैं, देखते ही बनती हैं—

सूतौ थाहर नींद सुख, सादूलौ बळवंत।
वन कांठै मारग वहै, पग पग होल पड़ंत॥
घाल घणां घर पातळा, आयौ थह में आप।
सूतौ नाहर नींद सुख, पोहरौ दिये प्रताप॥

कविराजा ने अपने जीवनकाल में अनेक ग्रंथों की रचना की। इनके ग्रंथों के आधार पर इनका रचनाकाल संवत् १८६० से सं० १८९० है। इनके रचे निम्नलिखित ग्रंथ उपलब्ध हैं—

१–सूर-छतीसी, २–सीह-छतीसी, ३–वीर-विनोद, ४–धवळ-पचीसी, ५–दातार-बावनी, ६–नीति-मंजरी, ७–सुपह-छतीसी, ८–वैसक-वारता, ९–मावड़िया-मिजाज, १०–कृपण-दरपण, ११–मोह-मरदन, १२–चुगल-मुख-चपेटिका, १३–वस-वारता, १४–कुकवि-बतीसी, १५–विदुर-बतीसी, १६–भुरजाळ-भूसण, १७–गंगालहरी, १८–जेहल जस-जड़ाव, १९–कायर-बावनी, २०–भमाल नखसिख, २१–सुजस छतीसी, २२–संतोस बावनी, २३–सिद्धराव छतीसी, २४–वचन विवेक पच्चीसी, २५–कृपण पच्चीसी, २६–हमरोट छत्तीसी, २७–स्फुट संग्रह, २८–कृस्णचंद्र-चंद्रिका, २९–विरह चंद्रिका, ३०–चमत्कार चंद्रिका, ३१–मांनजसो मंडन, ३२–चंद्रदूसण दरपण, ३३–वैसाख वारता संग्रह, ३४–स्त्री दरबारी कविता, ३५–रस तथा अलंकार ग्रंथ, ३६–वृत्तरत्नाकर भासा व्याख्या, ३७–महाभारत छंदोऽनुवाद, ३८–गीत वा छंदां रौ संग्रह, ३९–ऐतिहासिक वारता संग्रह, ४०–अंतरलापिका, ४१–थळवट पच्चीसी।

इन ग्रंथों के अतिरिक्त कविराजा ने अनेक फुटकर गीतों की भी रचना की जो पूर्ण रूप से काव्य-कला-कलित, भावापन्न एवं स्फूर्तिवर्द्धक हैं। इनकी रचना प्राचीन परम्परागत वीररसात्मक डिंगल के आधार पर ही हुई है।

रांमदांन लालस—ये जोधपुर राज्य के निवासी फतहदान के पुत्र थे। इनका जन्म संवत् १८१८ में हुआ था। जोधपुर के महाराजा मानसिंह ने इनकी कविता से प्रभावित होकर इन्हें तोळेसर नामक गांव प्रदान किया था। यह घटना सं० १८६५ की है। इसी तिथि के अनुसार इनका रचनाकाल संवत् १८६५ के आसपास ही माना जाता है। संवत् १८८२ में इनका देहान्त हो गया।

इनके रचित तीन ग्रंथ हैं—१. भीम प्रकास, २. करणी-रूपक, ३. खीचियों का इतिहास।

'भीम प्रकास' में महाराणा भीमसिंह के वैभव-वर्णन के साथ कुछ मेवाड़ का इतिहास भी वर्णित है। इसमें कुल १७५ छंद हैं। कहीं-कहीं बीच में गद्यबद्ध वर्णन भी मिलता है। इसकी भाषा कुछ इस प्रकार की है—

असंक सेन आरंभ बोल नकीब वळोवळ।
गहरा थाट गैमरां चपळ हैमरां चळोवळ।
भाल तेज भळहळै ढ़ळै विहुंवै पख चम्मर।
दिन दूलह दीवांण ए चढियौ छक ऊपर।
तिण वार आप दरियाव तट विडंग छंडि जगपति वियौ।
दीवांण 'भीम' गणगौर दिन एम रांण आरंभियौ॥

दूसरे ग्रन्थ 'करणी रूपक' में करणी देवी का चरित्र एवं इतिहास वर्णित है और 'खीचियों के इतिहास' में खीची शाखा के चौहानों का क्रमबद्ध इतिहास लिखा है। ग्रंथों में शुद्ध डिंगल भाषा का प्रयोग हुआ है।

महाराजा मांनसिंह—ये जोधपुर के महाराजा थे। इनका जन्म संवत् १८३९ में हुआ था और २१ वर्ष की अवस्था में (सं० १८६०) जोधपुर की राज्यगद्दी पर बैठे। ये स्वयं एक अच्छे विद्वान और काव्य-रचना में प्रवीण कवि थे। कविता-प्रेमी एवं सरस्वती-उपासक होने के कारण इन्होंने अपने राज्य-काल मे काव्य-कला को विशेष प्रोत्साहन दिया। इन्होंने भागवत की मारवाड़ी भापा में सुन्दर टीका की है। इसके अतिरिक्त मौलिक ग्रंथों की रचना भी की है। ये डिंगल तथा पिंगल दोनों ही भाषाओं में रचना करते थे। नाथ सम्प्रदाय के प्रति अधिक श्रद्धा होने के कारण इनकी रचनाओं में इसी सम्प्रदाय की महिमा को अधिक स्थान दिया गया है।

राजस्थानी की उपलब्ध रचनाओं में उनकी काव्य-कला एवं भाव-मौलिकता वस्तुतः सराहनीय है। महाराणा भीमसिंहजी की प्रशंसा में लिखा यह गीत उदाहरण के लिए देखिये—

हेमगर जसा डुंगरां, नदियां नद रोकियौ नहीं।
सुसबद तूझ तणौ सिसोदा, मावै नह दुनियांण मही॥ १
है नभ जितै अहिमकर हिमकर, नरपुर अतै रहण री नीम।
महत सुजस विसतार न मावै, भरतखंड मझ रांणा भीम॥ २

क्रमबद्ध चलती है। परन्तु किसनाजी ने अपने उक्त ग्रंथ में मुक्तक रूप से राम-महिमा का वर्णन किया है। छंद लक्षण जैसे अरुचिकर विषय को कवि ने अति सरस बना कर रख दिया है।

पूर्वोल्लिखित अन्य छन्द शास्त्र सम्बन्धी रचनाओं—पिंगळ प्रकास, लखपत पिंगळ, हरि पिंगळ रघुनाथ रूपक, कविकुळ-बोध आदि में इतना विस्तारपूर्वक वर्णन नहीं हुआ है जितना आलोच्य ग्रंथ 'रघुवरजस प्रकास' में मिलता है। इसमें कवि ने ९१ गीतों का वर्णन किया है। केवल गीतों का ही नहीं, गीतों के विभिन्न अंगों का वर्णन भी बड़े सुन्दर एवं विस्तृत ढंग से किया गया है। वस्तुत: यह ग्रंथ कवि की उच्च काव्य-प्रतिभा का पूर्ण परिचायक है।

इस ग्रंथ की एक विशेषता यह है कि इसमें चित्र काव्य का भी उल्लेख मिलता है। संस्कृत व व्रज भाषा में चित्र काव्य पर्याप्त मात्रा में उपलब्ध होता है, परन्तु अद्यावधि डिंगल गीतों के प्राप्त लाक्षणिक ग्रन्थों में चित्र काव्य सम्बन्धी विवरण नहीं मिलता। 'रघुवरजस प्रकास' में एक 'जाळीबंध बेलियो सांणोर गीत' का चित्र-काव्य के रूप में उदाहरण मिलता है। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि मध्यकालीन राजस्थानी साहित्य के गीतों में चित्र-काव्य की रचना प्रारम्भ हो गई थी।

सम्पूर्ण ग्रंथ में प्रसाद गुण का पूर्ण रूप से निर्वाह हुआ है। भाषा की सरलता के कारण ही समस्त ग्रंथ में प्रवाह एक सा रहा है। गीतों में प्रयुक्त 'वयण सगाई' से उनमें विशेष आकर्षण उत्पन्न हो गया है। ग्रंथ का एक गीत देखिये—

गीत 'पंखाळो'

दसरथ नृप नंदण हर दुख दाळद, मिटण फंद जांमण मरण।
कर आणंद वद नित 'किसना', चंद रांम वाळा चरण॥
दीनानाथ अभै पद दांनख, भांनख अंतक समर भर।
मांनख जनम सफळ कर मांगण, धांनख धर पद सीसधर॥
सुरनर सुजळ नमळ संजोगी, दळ मळ अघ ओघी दुख दंद।
सारू कमळ पद रांम प्रमोगी, मन अलियळ भोगी मकरंद॥

उपरोक्त दोनों ग्रंथों के अतिरिक्त कवि की अनेक फुटकर कवितायें तथा गीत भी प्राप्त हैं। इनकी काव्य-शक्ति पर प्रसन्न होकर महाराणा भीमसिंह ने इनको सीसोदा गाँव प्रदान किया था।

रायसिंह सांदू—जिस प्रकार कवि कृपाराम के सोरठे 'राजिया के सोरठे' के नाम से राजस्थानी साहित्य में प्रसिद्धि पा चुके हैं, उसी प्रकार रायसिंह सांदू के 'मोतिया के दूहे' भी अधिक ख्याति-प्राप्त हैं। रायसिंह सांदू का जन्म जोधपुर राज्य के बाली परगने में मिरगेसर ग्राम में संवत् १८५० में हुआ था। ये परम ईश्वर-भक्त थे। इनकी रचना में इनकी सात्विक भक्ति स्पष्ट रूप से झलकती है।

ये एक बार उदयपुर राज्य के रूपनगर ठिकाने के ठाकुर नवलसिंह के पास गये। वहीं ये अस्वस्थ हो गये। ठाकुर ने मोतिया नामक सेवक को इनकी सेवा में नियुक्त कर दिया। मोतिया सेवक ने इनकी सेवा, जब तक वे पूर्ण स्वस्थ नहीं हो गये, जी-जान से की। रायसिंह उसके सेवा-भाव से अत्यधिक प्रभावित हुए और उसके प्रति उसी समय निम्न दोहे कहे—

जगपत दीधौ जोय, रूपनगर 'नवलेस' रै,
किणी ठिकांणै कोय, मींढ़ न किंकर मोतिया॥ १
केइ केइ मोती कीध, तकलीणा घर घर तिके।
अधके तोल अवींद, माधव घड़ियौ मोतिया॥ २

इसके बाद इसी मोतिया को सम्बोधित कर इन्होंने अनेक दोहे कहे, जो अपनी सरलता एवं सरसता के कारण जन-जन में प्रचलित हो गये। इन दोहों में वर्णित अन्योक्ति विशेष रूप से आकर्षित करती है। इनका रचनाकाल उन्नीसवीं शताब्दी का अन्तिम चरण ही माना जा सकता है। संवत् १९१८ में इनका देहावसान हो गया। इनके कुछ दोहे देखिये—

सारै दुख सहियौ, नवग्रह बांधे नाखिया,
रांमण नां रहियौ, माया दस ही मोतिया।
नागौ गयौ निरधार, तागौ रहियौ न तेण रै,
लेगौ बीसल लार, माया सांसी मोतिया।
कामूं काज करेह, सिधूर बावा सांकळां,
भगवत पेट भरेह, मण नित चहिए मोतिया।
भटकै कर कर भेख, घर घर अलख जगावतां,
दुनियां रा ठग देख, मळसी पनिया मोतिया।

उन्नीसवीं शताब्दी के अन्य कवि

उम्मेदरांम (सं० १८०९), देवीदास खिड़िया (सं० १८०७ से १५), अमरसिंह (सं० १८१७), नंदलाल (सं० १८२५), मोतीचंद (सं० १८३६-४५), अरजुनजी बारहट (सं० १८४२), उम्मेदसिंह सांदू (सं० १८४७), चंडीदास (सं० १८४६-६०

हुआ। इसीलिए इन्होंने अपनी प्रसिद्ध रचना 'कविकुळ-बोध' में इन दोनों की प्रशंसा की है।

'कविकुळ-बोध' कवि की एक महत्त्वपूर्ण कृति है। छन्द-शास्त्र का यह उत्तम ग्रन्थ है। इसमें गीतों का वर्णन और उनके भेद और जथायें आदि का वर्णन विशिष्ट प्रकार एवं वैज्ञानिक रूप से किया हुआ है। डिंगल गीतों के प्रसिद्ध ग्रंथ 'रघुनाथ रूपक' में केवल ७२ जाति के गीतों का वर्णन है परन्तु 'कविकुळ-बोध' में कवि ने ८४ प्रकार के गीतों का उल्लेख किया है।

इसमें काव्य में प्रयुक्त होने वाले नौ रसों पर भी पर्याप्त प्रकाश डाला गया है। रस-व्याख्या के अन्तर्गत कवि ने विभावों तथा अनुभावों का भी सुन्दर ढंग से विवेचन किया है। रसों में आने वाले दोषों को भी उदाहरण सहित प्रस्तुत करने का कवि ने सफल प्रयास किया है। इसके अतिरिक्त कवि ने उक्त ग्रंथ में 'उकतों' तथा जथाओं का विवरण देकर डिंगल-पिंगल के महत्त्व को प्रकट किया है। समस्त ग्रंथ १० तरंगों में विभक्त है। छन्द-शास्त्र सम्बन्धी तरंगों के पश्चात् अस्त्र-शस्त्रों का वर्णन देकर कवि ने अवधानमाळा, एकाक्षरी कोश तथा अनेकार्थी कोश देकर अपने पूर्ण एवं दृढ़ भाषा-अधिकार का परिचय दिया है।

ग्रंथ की भाषा विशुद्ध साहित्यिक डिंगल है जो तत्सम शब्दों की प्रचुरता लिए हुए है। सस्कृत शब्दों की अधिकता होते हुए भी सुन्दर शब्द-चयन एवं भाषा में प्रवाह होने के कारण भाव बोधगम्य है। ग्रन्थ का एक गीत उदाहरण के लिए यहां प्रस्तुत किया जाता है—

सम सुं निस, निस सुं सस सोभा,
सस निस सुं द्रय गयण सुणाय।
वारज जळ जळ सुं दुत वारज,
जळ वारज सर प्रभा सुणाय ॥ १
वनता वर वर सुं दुत वनता,
वर वनता प्रभता घर बार।
कंकण नग नग सुं दुत कंकण,
नग कंकण दुत कण निहार ॥ २
गुणियण ग्रंथ ग्रंथ दुत गुणियण,
गुणियण ग्रंथ प्रभा जग ग्यांन।
नृप सुं निपुण निपुण सुं नृपता,
नृप कव सुं दुत छमा निदांन ॥

'देसळ' कुळ कुळ सुं दुत देसळ,
कुळ देसळ जस काछ प्रकास।
भाव प्रकास जथा गुण भारी।
उदैरांम जस कियौ उजास ॥

किसना आढ़ा—पूर्व के पृष्ठों में हमने इस शताब्दी में रचे जाने वाले श्रेष्ठ रीति ग्रंथों में 'रघुनाथरूपक गीतां रौ' तथा 'कविकुळ-बोध' आदि का उल्लेख कर साहित्य के उत्थान एवं विकास में इनके महत्त्व को प्रकट किया है। इसी श्रृंखला में कवि 'किसना आढ़ा' अपनी श्रेष्ठ कृति 'रघुवरजस प्रकास' द्वारा एक कड़ी और जोड़ने में सफल होते हैं। कवि किसना आढ़ा राजस्थानी के प्रसिद्ध कवि दुरसाजी के वंशजों में थे। इनके पिता का नाम दूल्हजी था, जिनके छः पुत्रों में से ये तीसरे पुत्र थे। 'रघुवरजस प्रकास' में कवि ने अपना वंश-परिचय दिया है—

दुरसा घर किसनेस, किसन घर सुकवि महेसर।
सुत महेस खूंमाण, खांन साहिब सुत जिण घर ॥
साहिब घर पनसाह, पना सुत दूल्ह सुकव पुण।
दूल्ह घरे पट पुत्र, दांन जस किसन बुधोमण ॥
सारूप चमन मुरधर उतन, परगट नगर पांचेटियौ।
चारण जात आढ़ा विगत, किसन सकवि पिंगळ कियौ ॥

किसना आढ़ा का रचनाकाल संवत् १८८० के आस-पास है। ये मेवाड़ के महाराणा भीमसिंह के आश्रित कवि थे। इनके रचे दो ग्रंथ उपलब्ध हैं—१. 'भीम विलास' और २. 'रघुवरजस प्रकास'। 'भीम विलास' महाराणा भीमसिंह की आज्ञा से सं० १८७६ में लिखा गया था जिसमें उक्त महाराणा का जीवन-वृत्त है। 'रघुवरजस प्रकास' राजस्थानी भाषा का छंद-रचना का उत्कृष्ट लाक्षणिक ग्रंथ है। इस ग्रंथ में संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश, हिन्दी व राजस्थानी के छंदों का मौलिक रचना में विषद विवेचन है। छंद-रचना के नियमों व लक्षणों का वर्णन सरल, प्रवाहमय एवं प्रसादगुणयुक्त भाषा में होने के कारण यह एक सफल रचना बन पड़ी है। छंदों के वर्णन में कवि ने अपनी रामभक्ति का पूर्ण परिचय दिया है। राम-गुणगान ही कवि का मुख्य ध्येय था, अतः छंद-रचना के लक्षणों के साथ-साथ रामगुण-वर्णन करते हुए कवि ने एक पंथ दो काज की कहावत को पूर्ण रूप से चरितार्थ किया है। मनसा-राम कृत 'रघुनाथ रूपक' में रामकथा रामायण की भांति

गौरव भी है। ऐसी ही रचनाओं से भाषा को पूर्ण प्रौढ़ता प्राप्त हुई। इस समय तक भाषा को जो उच्चस्तरीय रूप प्राप्त हुआ उसका निर्वाह इस काल के अन्तिम समय तक पूर्ण रूप से होता रहा। भाषा को यह स्वरूप देने में इस काल के रीति ग्रंथकारों का हाथ भी महत्वपूर्ण रहा है। श्रेष्ठ रीति ग्रंथकारों ने छंद-शास्त्र सम्बन्धी उच्च कोटि की रचनायें प्रस्तुत कर साहित्य को अमूल्य निधि भेंट की है। पिंगळ सिरोमणी, पिंगळ प्रकास, लखपत पिंगळ, हरि पिंगळ, रघुनाथ रूपक गीतां री, रघुवरजस प्रकास, कविकुळ बोध आदि लाक्षणिक ग्रंथों में गीतों, छंदों, रसों, जथाओं, उकतों, अलंकारों आदि की जो सुन्दर विवेचना हुई है वह अन्यत्र दुर्लभ है। प्रत्येक ग्रंथ अपने आप में एक पूर्ण एवं मौलिक रचना है।

राजस्थानी जैन साधुओं, मुनियों तथा श्रावकों ने भी विविध प्रकार की रचनाओं का निर्माण कर मध्यकालीन साहित्य के विकास में अपना सराहनीय सहयोग प्रदान किया। इन्होंने केवल अपनी धर्म-सम्बन्धी रचनायें ही न कीं परन्तु इनके प्राप्त ग्रन्थों में छन्द ग्रन्थ, कोश, अलंकार और श्रृंगार सम्बन्धी ग्रंथ भी उपलब्ध हैं। इनकी रचनाओं में शांत रस की जिस अखंड धारा के दर्शन हुए हैं वह अन्यत्र सुलभ नहीं। युग की मांग के अनुसार अनेक जैन कवियों ने अपनी रचनाओं द्वारा जन-जीवन में आध्यात्मिक भक्ति एवं वैराग्य का प्रेरणा-स्रोत बहा कर उन्हें विलास की ओर से हटा कर धर्माभिमुख किया है। जैन कवियों की कुछ रचनायें तो साहित्य का प्राण बन चुकी हैं। अनेक जैन कवियों ने साहित्य-निर्माण के साथ-साथ प्राचीन ग्रंथों की राजस्थानी में टीकायें कर जैनेतर साहित्य का प्रचार किया और अपने भंडारों में सुन्दर संग्रह किया। वस्तुतः जैन संतों एवं कवियों का हमारे साहित्य में महत्वपूर्ण स्थान है। इनके साहित्य का अध्ययन कर मूल्यांकन करने से निश्चित ही राजस्थानी साहित्य का महत्व बढ़ेगा।

साहित्य कभी किसी जाति विशेष या समाज विशेष का नहीं होता। इसका अधिकार और इसका प्रभाव सार्वभौम होता है। मध्ययुगीन साहित्य की यही विशेषता है। बड़े से बड़े महाराजा से लेकर साधारण से साधारण व्यक्ति की रचनायें इस काल में प्राप्त होती हैं। इस युग में जहाँ एक ओर काव्य-प्रेमी एवं विज्ञ महाराजाओं ने स्वयं काव्य-रचना कर और अपने काल के कवियों को विविध प्रकार से प्रतिष्ठित कर साहित्य-सृजन को प्रोत्साहन दिया, वहाँ जन-साधारण के बीच सरल से सरल व्यक्ति ने अपनी काव्य-शक्ति द्वारा अपने भावों को रचनाबद्ध कर उन्हें जन-जन के गले का हार बना दिया।

उपरोक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि मध्यकाल राजस्थानी साहित्य के इतिहास में न केवल अपनी बहुसंख्यक रचनाओं तथा विभिन्न साहित्यिक विधाओं की दृष्टि से ही महत्त्वपूर्ण है वरन् काव्य-कला की सर्वांगीण उत्कृष्टता का श्रेय भी इसी काल को है। उत्कृष्ट काव्य-रचनाओं परस्थानाभाव के कारण संक्षेप में ही प्रकाश डाला जा सका है, पर आशा है इनके साहित्यिक महत्व का अनुमान पाठकों को इस विवेचन से अवश्य हो जायगा।

आधुनिक काल—(वि०सं० १९०० से वर्तमान काल तक)

साहित्य में कालजनित परिस्थितियों के अनुसार परिवर्तन अवश्य आता है परन्तु इसकी गति अति धीमी होती है। प्रारम्भ में परिस्थितियों का प्रभाव तत्कालीन समाज पर पड़ता है जिससे सामाजिक गतिविधियों में परिवर्तन उपस्थित होता है। यही प्रभाव शनैः शनैः साहित्यकारों के साहित्य में प्रतिबिम्बित होता है। यह भी सत्य है कि समाज सदैव एक ही परिस्थिति में नहीं रहता। संसार की गतिशीलता के साथ-साथ सामाजिक परिस्थितियाँ भी स्वयं परिवर्तनशील हैं। मध्यकाल के संघर्षपूर्ण वातावरण में जीवन की अनिश्चितता बढ़ गई और संघर्ष अपनी चरम सीमा पर पहुंच गया। इसके प्रभाव से आदिकालीन साहित्यिक परम्परा धीरे-धीरे लुप्त होती नजर आई और मध्यकाल के अर्द्ध भाग तक इसी परिवर्तन का प्रभाव उस समय के साहित्य पर पूर्ण रूप से छा गया। मध्यकाल का संघर्ष भी स्थिर न रह सका। आगे चल कर राजनैतिक परिवर्तनों के कारण सामाजिक, धार्मिक आदि विभिन्न परिवर्तन होते रहे और उनका स्वरूप उस समय रचे जाने वाले साहित्य में दृष्टिगोचर होने लगा। यही कारण है कि राजस्थानी साहित्य में मध्यकाल की रचनाओं में जिस वीरता के दर्शन होते हैं और जो भक्तियुक्त शान्त रस का प्रवाह मीरां, ईसरदास, केसवदास गाडण, दादूदयाल और हरिपुरुष की शैली में मिलता है वह कालान्तर में नहीं है।

उदयचंद भंडारी (सं० १८६०), हाथीरांम कल्ला (सं० १८६०), मुनि गुणचंद (सं० १८७०), नागजी (सं० १८७०-७८), भोपाळदांन सांदू (सं० १८८०), उदयचंद यति (सं० १८८०)

उपरोक्त फुटकर कवियों के अतिरिक्त इस शताब्दी में और भी कुछ प्रसिद्ध कवि हुए हैं जिनका ठीक-ठीक संवत्-काल ज्ञात नहीं होता। ऐसे ही कवि महाराजा मानसिंह के रचनाकाल (सं० १८६०-१६००) के समय अपनी रचनाओं के कारण प्रसिद्ध थे जिनकी सूची निम्न है—

कुसळजी रतनू, गुमांनजी, पनजी आढ़ा, बुधजी आसिया, सुरतौ वोगसौ, महादांन महड़ू, मोतीरांम, लक्ष्मीनारायण सेवक, तिलोक सेवक, दौलतरांम सेवक, संतोकीरांम, मनोहरदास, वखसीरांम, गाडूरांम सेवक, ताराचंद, रिझावर आदि-आदि ।

राजस्थानी साहित्य का मध्ययुग वस्तुतः इस साहित्य के उत्थान का युग था। पूर्व के पृष्ठों में इस युग के प्रदत्त साहित्य के परिचय से यह स्पष्ट हो ही गया कि जिस प्रचुर मात्रा एवं विविधता में इस काल में साहित्य का निर्माण हुआ वह अन्य किसी काल में न हो सका। ऐतिहासिक, धार्मिक, पौराणिक, लौकिक आदि विभिन्न शाखाओं में ओजयुक्त वीर-रस, लावण्य एवं माधुर्ययुक्त शृंगार रस, निष्ठायुक्त भक्ति-रस के साथ-साथ छन्द-शास्त्र के लाक्षणिक ग्रंथ एवं अनेकानेक प्रबन्ध-काव्य, मुक्तक-काव्य, फुटकर गीत, लोक साहित्य आदि का सृजन हुआ। साहित्य के इस महत्वपूर्ण युग का सूत्रपात उस समय से होता है जब कि पन्द्रहवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में राजस्थानी भाषा में कुछ-कुछ प्रौढ़ता के लक्षण प्रकट होने लगते हैं। यही भाषा इस युग में आगे चल कर उच्च काव्य प्रतिभासम्पन्न कवियों एवं साहित्यकारों की लेखनी से पूर्ण परिमार्जित होकर युग के समूचे साहित्य में धाराप्रवाह के रूप में बही है ।

कवि की रचना काल-प्रसूत होती है और उसमें तत्कालीन समाज की संस्कृति का वास्तविक प्रतिविम्ब झलकता है। इस काल के साहित्य का सर्वांगीण रूप से अध्ययन करने पर यह सत्य उतरता है। मध्यकाल के पूर्वार्द्ध में वीर-रस-प्रधान साहित्य की अधिक रचना हुई। इसमें केवल उस समय की ऐतिहासिक घटनाओं का ही साहित्यिक वर्णन नहीं अपितु जनजीवन की वास्तविक स्थिति एवं तत्कालीन चरित-नायकों के उज्ज्वल चरित्र का प्राणवान चित्रण मिलता है। ये वीर-रसात्मक रचनायें ही इस तथ्य का प्रमाण हैं कि राजस्थानी वीर-रस वर्णन के लिये अत्यन्त उपयुक्त भाषा है। निस्सन्देह कान्हड़दे प्रवन्ध, राउ जैतसी रौ छंद, हालां झालां रा कुण्डळिया, झूलणा दीवांण प्रतापसिंहजी रा, कुंडळिया कल्ला रायमलोत रा, वचनिका राठौड़ रतनसिंह महेसदासोत री आदि ग्रंथ तथा अखौ भाणावत, गोरधनजी बोगसौ, सूरायच टापरिया, महाराजा प्रथ्वीराज, दुरसा आढ़ा प्रभृति कवियों के गीत तथा फुटकर रचनायें वीर-रस के बोलते हुए प्रमाण हैं।

परवर्ती काल में भी वीररस की श्रेष्ठ रचनायें होती रहीं परन्तु आलोच्य काल के मध्य भाग में ही साहित्यकारों का ध्यान साहित्य की विभिन्न विधाओं की ओर आकृष्ट हो गया था। इसी के फलस्वरूप धीरे-धीरे इसी काल में साहित्य के विविध विषयों पर भी श्रेष्ठ ग्रंथ रचे गये। उत्तर भारत में व्याप्त एवं विवर्द्धित संत साहित्य की धारा ने राजस्थानी संतों को भी प्रभावित किया और जंभसागर, सिद्धनाथ री वांणी, हरि रस, मीरां पदावली, विवेक वारता री नीसांणी, रुक्मणी हरण, हरिपुरुष री वांणी, रांमरासौ आदि भक्ति की भिन्न धाराओं से सम्वन्धित श्रेष्ठ ग्रंथ एवं अलूनाथ, जग्गा खिड़िया, सांयाजी झूला, ओपा आढ़ा, ईसरदास प्रभृति भिन्न-भिन्न भक्त कवियों के उत्तम छप्पय कवित्त, गीत आदि जनसाधारण के मध्य आये। इन संतों एवं भक्त कवियों ने अपनी वाणी, पदों एवं अन्य प्रकार की रचना के लिए अत्यन्त सरस एवं सरल राजस्थानी का प्रयोग किया। इससे अनेक भक्तों की वाणी एवं पद जन-जन के कंठ-हार हो गये और शताब्दियां गुजर जाने के बाद भी धरोहर के रूप में जन-समुदाय के बीच सुरक्षित चले आ रहे हैं ।

इस काल में रची जाने वाली श्रेष्ठ रचनाओं के कारण ही राजस्थानी साहित्य अपने विकास की चरम सीमा को पहुँच रहा था। प्रारंभिक काल में यद्यपि कुछ प्रणय-कथायें शृंगार रस के साहित्य के रूप में हमारे समक्ष आई तथापि इस काल की शृंगारिक रचना पृथ्वीराज राठौड़ कृत 'किसन रुक्मणी री वेली' एक अनुपम कृति ही नहीं, इस काल का

सैकड़ों वर्षों से चारण कवियों का जो सम्बन्ध शासक वर्ग के साथ तथा अन्य लोगों के साथ बना हुआ था वह एकाएक शिथिल हो गया। इसके दो मुख्य कारण थे। एक तो यह कि अब वह संघर्ष का समय न रह गया था जिसमें कि वे अपने वीरों को देश और धर्म की रक्षा के लिए ललकारते और दूसरा यह कि अंग्रेजों ने अपनी गंभीर कूटनीति के आधार पर शासक वर्ग को इस तरह अपनी संस्कृति में जकड़ लिया था कि उनके पास काव्य आदि सुनने की फुर्सत नहीं रह गई थी और न वे उसकी आवश्यकता ही महसूस कर सकते थे। ऐसी स्थिति में चारण कवियों ने भी अपना रुख बदल दिया। अब उनका न तो पहिले का सा सम्मान ही रह गया था और इस नये परिवर्तन में उन्हें काव्य-कला के बल पर न कोई आर्थिक लाभ ही होता था। चारणों के अतिरिक्त राजपूत, मोतीसर, भोजक ब्राह्मण आदि अन्य जातियाँ भी डिंगल काव्य के सृजन में सैकड़ों वर्षों से अपना योग देती आई थीं पर इस प्रकार के सामाजिक और राजनैतिक परिवर्तन के कारण उनमें भी अन्तर आ गया था। राजस्थानी साहित्य में चारण-काव्य की परम्परा इस प्रकार यहां आते-आते शिथिल हो गई। बूंदी के कविराजा सूर्यमल २० वीं शताब्दी के प्रारंभ में अंतिम महान् कवि हुए। वे जैसे उत्तम कवि थे वैसे उद्भट विद्वान भी। उनकी कविता में मध्यकालीन डिंगल का गौरव एक बार पुनः अपनी उत्कर्षता पर आ गया। 'वंश भास्कर' के अतिरिक्त उनकी 'वीर सतसई' डिंगल-काव्य का उत्कृष्ट नमूना है। संवत् १९१४ के स्वतंत्रता संग्राम के समय अवसर की अनुकूलता देख राजस्थान के शासकों व वीरों को उनकी प्राचीन वीरता एवं गौरव का स्मरण दिलाने हेतु ही उन्होंने वीर शैली में इस रचना द्वारा राजस्थान की वीरता को ललकारा था। 'वीर सतसई' के दोहे मध्यकालीन साहित्यिक परम्परा से प्रभावित हैं, फिर भी उनमें युग की नवीनता झलकती है। कवि की ललकार रोम-रोम में उत्साह उत्पन्न करने में पूर्ण समर्थ है—

मूंछ न तोड़ी कोट में, कढ़ियां छोडै काळ ।
नाहां पर चैजी करै, सूना पग सूंढाळ ॥
इळहेली सिर ओर री, सूनै कुळ साभाव ।
सूरा पालन एन है, आज सुभाई आव ॥
सत सुरां अर सीर सत, कढ़णी मरणी हेक ।
सांद विरहां जे गयौ, नाम न्हौनै नेह ॥

जिण बन भूल न जावता, गैंद, गवय, गिड़राज ।
तिण बन जंबुक ताखड़ा ऊधम मंडै आज ॥

कविराजा सूर्यमल के पश्चात् डिंगल-काव्य-परम्परा अधिकाधिक शिथिल होती ही गई, परन्तु बारहठ केसरीसिंह की रचना में यह अन्तिम लौ एकबारगी अपनी समस्त शक्ति ग्रहण कर क्षण भर के लिए प्रज्वलित होकर सदैव के लिए लुप्त हो गई। भारत के वायसराय लॉर्ड कर्जन ने दिल्ली में दरबार आयोजित करने के लिये भारत के समस्त नरेशों को फरमान भेजा। उदयपुर के महाराणा फतहसिंह भी दरबार मे सम्मिलित होने के लिए रवाना हो गये। प्राचीन परम्परा एवं मर्यादा के प्रेमी ठाकुर केसरीसिंह बारहठ को यह मेवाड़ की आन के विरुद्ध लगा। उन्होंने तत्काल ही महाराणा को मेवाड़ के गौरव की स्मृति दिलाने हेतु 'चेतावणी रौ चूंगट्यौ' नामक एक दोहों का संग्रह पत्र के रूप में लिख भेजा।[1] उनकी

---

[1] पग पग भम्या पहाड, धरा छांड राख्यौ धरम ।
(ईसूं) महारांणा' र मेवाड़, हिरदे बसिया हिन्द रै ॥ १
घरा घलिया घमसांण (तोई) रांण सदा रहिया निडर ।
(अब) पेखंतां फुरमांण, हलचल किम फतमल हुवै ॥ २
गिरद गजां घमसांण, नहचै घर माई नहीं ।
(ऊ) मावै किम महारांण, गज दो सै रा गिरद में ॥ ३
ओरां ने आसांण, हाकां हरवळ हालणौ ।
(पण) किम हाले कुळ रांण, (जिण) हरवळ साहां हंकिया ॥ ४
नरियंद सह नजरांण, झुक करसी सरसी जिकां ।
(पण) पसरेलौ किम पांण, पांण छतां थारौ 'फता' ॥ ५
सिर झुकिया सह साह, सीहासण जिण सांम्हने ।
(अब) रळणौ पंगत राह, फाबै किम तोने 'फता' ॥ ६
सकळ चढ़ावैं सीस, दांन धरम जिणरौ दियौ ।
सो खिताब बखसीस, लेवण किम ललचावसी ॥ ७
देखेला हिंदवांण, निज सूरज दिस नेह सूं ।
पण तारा परमांण, निरख निसासा न्हांकसी ॥ ८
देखे अंजस दीह, मुळकेलौ मन ही मनां ।
दंभी गढ़ दिल्लीह, सीस नमंतां सीसवद ॥ ९
अंतबेर आखीह, 'पातल' जो बातां पहल ।
(वे) रांण ! सह राखीह, जिणरी साखी सिर जटा ॥ १०
कठिन जमांनो कोल, बांधै नर हीमत बिना ।
(यो) बीरां हंदौ बोल, 'पातल' 'सांगे' पेखियौ ॥ ११
अब लग सारां आस, रांण रीत कुळ राखसी ।
रहौ साहि सुखरास, एकलिंग प्रभु आपरै ॥ १२
मांन मोद सीसोद ! राजनीत बळ राखणौ ।
(ई) गवरमिंट री गोद, फळ मीठा दीठा फता ॥ १३

अतः स्पष्ट है कि साहित्य में भी शैली विशेष के प्रवाह का समय होता है जो पूर्णरूपेण समाज की तत्कालीन परिस्थितियों और आवश्यकताओं पर ही आधारित होता है।

१६ वीं शताब्दी के अंतिम काल में समूचे भारतवर्ष में बहुत बड़ा राजनैतिक परिवर्तन आया। मुगल सल्तनत के पतन के पश्चात् ईस्ट इण्डिया कम्पनी ने भारत के विशाल भू-खंड पर यहाँ की डावांडोल परिस्थितियों से लाभ उठा कर कब्जा कर लिया था। इतना ही नहीं, वे अपने अधिकार को साम, दाम दंड, भेद आदि कई प्रकार की नीतियों का सहारा लेकर और भी दृढ़ बनाने में लगे हुए थे। अंग्रेज जनरलों ने भारतीय सेनाओं के बल-बूते पर ही भारत को दासता की शृंखलाओं में जकड़ लिया। राजस्थान मरहठों के आक्रमणों से बहुत कमजोर हो चुका था और यहां के शासकों की आपसी फूट ने भी उनकी शक्ति को जर्जरित कर दिया था। अतः अंग्रेजों ने अपनी कूटनीति के बल पर यहां के शासकों की परिस्थितियों से पूरा लाभ उठाया और उनके साथ सन्धि आदि कर के अपने अधीन कर लिया। मरहठों से मुकाबिला करने का वायदा भी अंग्रेजों ने उनके साथ किया। इतना होते हुए भी राज्य-सत्ता में उनका हस्तक्षेप सहज ही में हो गया हो ऐसी बात न थी। संघर्ष ही जिनका जीवनोद्देश्य रहा हो वह जाति एकाएक समर्पण कर दे, ऐसा संभव नहीं था। अतः कई एक शासकों व बहादुर व्यक्तियों ने अवसर पड़ने पर विदेशी सत्ता का वीरतापूर्वक मुकाबिला किया। ऐसे वीरों में बूंदी के बलवंतसिंह हाड़ा का संघर्ष इतिहास में सदा अमर रहेगा। इसी तरह भरतपुर के शासक रणजीतसिंह ने लॉर्ड लेक के साथ जो दृढ़ता के साथ युद्ध किया वह भी उल्लेखनीय है। पर अंग्रेजों ने इस प्रकार के संघर्षों के बावजूद भी यहाँ की नाजुक परिस्थितियों से पूरा लाभ उठाया और राजस्थान की राज्य-सत्ता पर अपना प्रभुत्व कायम कर लिया।

भारतवर्ष में ईस्ट इण्डिया कम्पनी के प्रभाव से अंग्रेजी सत्ता कायम हो जाने पर भी भारतवासियों में स्वतंत्रता की आग जो अब भी चिंगारी के रूप में शेष थी वही चेतना का झोंका पाकर चमक उठी। परिणामस्वरूप २० वीं शताब्दी के प्रारम्भ में वि० सं० १६१४ (सन् १८५७) में स्वतन्त्रता संग्राम की देशव्यापी आग भभक उठी। इस स्वतंत्रता संग्राम का नेतृत्व झांसी की रानी लक्ष्मीबाई और तांतिया टोपे जैसे स्वतंत्रता-प्रेमी वीरों ने किया। उसका प्रभाव राजस्थान पर भी पड़ा। आउवा ठाकुर खुशहालसिंह तथा गूलर के ठाकुर बिशनसिंह मेड़तिया ने अंग्रेजों की खिलाफत करने में कोई कसर उठा न रखी और कोटा आदि स्थानों पर भी अंग्रेजी सत्ता को उखाड़ने का पूरा प्रयत्न किया गया। पर अंग्रेजों ने देश की आपसी फूट से लाभ उठा कर शीघ्र से शीघ्र इस बढ़ती हुई अग्नि को दबा दिया और इसके तुरन्त बाद ही ब्रिटेन की सम्राज्ञी विक्टोरिया ने भारत को अंग्रेजी साम्राज्य का अंग घोषित कर दिया। इसके पश्चात् समस्त भारतवर्ष पर अंग्रेजी सत्ता दृढ़ता से कायम हो गई। राजस्थान में भी उनका रेजीडेण्ट रहने लगा और सन्धिपत्र के अनुसार राजस्थान के राज्यों में अंग्रेजों की हुकूमत का हस्तक्षेप होने लगा।

अंग्रेज अपनी राज्य-सत्ता कायम रखने के लिए यहां की राजकीय शक्ति को ही अपने अधिकार में नहीं रखना चाहते थे। इनकी दृष्टि और समझ बड़ी गहरी थी इसलिए इन्होंने अपनी संस्कृति का प्रभाव भी यहाँ की संस्कृति पर डालना प्रारंभ किया और यहां के लोगों के लिए ऐसी शिक्षा-प्रणाली की व्यवस्था की जो उनके वफादार नौकर और अंग्रेजी संस्कृति के प्रशंसक पैदा कर सके। राजस्थान के शासकों को तो उन्होंने राजनैतिक विषमताओं से निश्चिन्त ही नहीं किया वरन् अपनी संस्कृति में उन्हें रंगने की भी पूरी चेष्टा की और इसमें वे सफल भी हुए। अजमेर में मेयो कॉलेज की स्थापना के पीछे भी इसी उद्देश्य का रहस्य छिपा हुआ था। शासक वर्ग के पीछे-पीछे यहाँ के बड़े-बड़े जागीरदार और धनी लोग भी उसी पथ का अनुकरण करने लगे। संघर्ष का समय समाप्त हो चुका था अतः शासक वर्ग तथा धनी वर्ग ऐश-आराम में लीन हो गया और साथ ही साथ अपनी संस्कृति तथा देश-प्रेम को भुलाता गया। शासक वर्ग का जो अपनी प्रजा के साथ निकट संबंध था उसमें भी धीरे-धीरे शिथिलता आती गई और दुराव होता गया। अंग्रेज अपनी कानूनी व्यवस्था में बड़े पटु थे। उन्होंने कानून एवं अपनी कूटनीति के माध्यम से हर मनुष्य की मिल्कियत तथा उसके माली अधिकारों को सुरक्षित करने की उत्तम व्यवस्था की और सरकारें आपसी सम्बन्धों पर नहीं वरन् कानून के बल पर चलने लगीं।

महाकविराजा की उपाधि से प्रसिद्धि प्राप्त कर चुके हैं। इनकी सर्वोत्कृष्टता का प्रमाण इनका साहित्य तो है ही, फिर भी इनके विषय में विद्वानों द्वारा दी गई सम्मतियों का यहाँ उल्लेख करना अनुपयुक्त न होगा। रघुवीरसिंह के शब्दों में 'साहित्य के क्षेत्र में महाकवि सूर्यमल का एकछत्र शासन था।' मोतीलाल मेनारिया के मतानुसार 'परिवर्तनकाल में सबसे बड़े कवि बूंदी के सूर्यमल हुए जिनको चारण लोग अपनी जाति का सर्वश्रेष्ठ कवि मानते हैं।' डॉ० सुनीतिकुमार चटर्जी के विचारानुसार 'सूर्यमल अपने काव्य और कविता को Lay of the last Minstrel. बना गये और वे स्वयं बने Last of the Giants.'[१]

राजस्थानी भाषा के कवि तो अनेक हुए हैं किन्तु सूर्यमल्ल के समान विद्वान कदाचित् ही कोई हुआ हो। साधारणतः उस काल के समस्त कवि कुछ न कुछ कम-अधिक विद्वान हुआ ही करते थे तथापि ज्ञान की दृष्टि से सूर्यमल वास्तव में सूर्य ही थे। छंद-शास्त्र, धर्म-शास्त्र, अर्थ-शास्त्र, काम-शास्त्र ज्योतिष-शास्त्र, शब्द-शास्त्र आदि अनेक शास्त्रों में ज्ञान होना ही इनकी बहुज्ञता का द्योतक था। इतने विषयों में जानकारी रखने वाला अन्य कवि शायद ही राजस्थानी साहित्य के इतिहास में मिल सके। राजस्थानी के लिए यह गौरव की बात है कि सूर्यमल्ल जैसे विद्वानों ने इसे गौरवान्वित किया।

सूर्यमल्लजी के लिखे दो ग्रंथ बहुत प्रसिद्ध हैं। एक 'वंश भास्कर' एवं दूसरा 'वीर सतसई'। 'वंश भास्कर' एक बहुत बड़ा गद्य-पद्य-बद्ध ऐतिहासिक ग्रंथ है जो चार जिल्दों में प्रकाशित हो चुका है। 'वंश भास्कर' के एक टीकाकार श्री कृष्णसिंह ने इन्हें सच्चा इतिहास-लेखक लिखा है। कविराजा श्यामलदास ने भी अपने 'वीर विनोद' में 'खुद बूंदी के एक बड़े मौतबर सत्यवक्ता कवि चारण' से सम्बोधित किया है। इतिहास की दृष्टि से 'वंश भास्कर' कितना सही है, इस विषय में विद्वानों में मतभेद है। डॉ० गौरीशंकर हीराचंद ओझा ने लिखा है 'सूर्यमल्ल ने वंश भास्कर नामक विस्तृत पद्यात्मक ग्रन्थ लिखा जिसमें दिए हुए चौहानों तथा हाड़ों के इतिहास का गद्यात्मक सारांश बूंदी के पंडित गंगासहाय ने 'वंश प्रकाश' नाम से प्रसिद्ध किया है, वही बूंदी का इतिहास माना जाता है। सूर्यमल्ल एक अच्छा कवि था परन्तु इतिहासवेत्ता न होने से उसने उक्त पुस्तक में प्राचीन इतिहास भाटों की ख्यातों से ही लिया है। उसमें सैकड़ों कृत्रिम पीढ़ियां भरदी हैं और वि०सं० १५८४ (ई० सन् १५२७) तक के सब संवत् तथा ऐतिहासिक घटनाएँ बहुधा कृत्रिम लिखी हैं। उस समय तक का इतिहास लिखने में विशेष खोज की हो, ऐसा पाया नहीं जाता। कवि का लक्ष्य कविता की ओर ही रहा, प्राचीन इतिहास की विशुद्धि की ओर नहीं।'[१]

ऐतिहासिक दृष्टिकोण से इस ग्रन्थ का स्थान चाहे जो हो परन्तु यह तो निश्चित रूप से सत्य है कि यह साहित्य की एक उत्कृष्ट कृति है। कवि ने अपने ज्ञान के आधार पर वंश-भास्कर में संस्कृत, प्राकृत तथा मरुदेशीय आदि विभिन्न भाषाओं का भिन्न-भिन्न स्थानों पर प्रयोग किया है। इन भाषाओं के सामंजस्य के प्रभाव से कहीं-कहीं भाषा जटिल भी हो गई है।

कटिल्ल कर्णिकावली भय ह्रदावनी भये।
अरिंठ के अपष्ठ वृंद लोम कंद उन्नये।।
बनै अरी पलास कांन अंद नाग वल्लरी।
कलेज पीलु पर्णिका कसेस तोर इक्करी।।

मिश्र-बन्धुओं ने लिखा है कि सूर्यमल्ल के वंश भास्कर द्वारा हमारे यहाँ कथा-विभाग की अच्छी पूर्ति हुई है। इनका कविता-चमत्कार अच्छी श्रेणी का है। ग्रन्थ से कवि का पांडित्य भली भांति प्रदर्शित होता है। इससे इनकी सत्य-प्रियता का पूरा प्रमाण मिलता है। भाषा राजपूतानी, बुंदेलखंडी और प्राकृत मिश्रित है।

इनका दूसरा ग्रंथ 'वीर सतसई' इस युग का सर्वश्रेष्ठ वीर-रसात्मक ग्रन्थ है। यह समस्त ग्रन्थ सरल एवं प्रसादगुण-युक्त प्रवाहमय राजस्थानी में रचा गया है। लोकप्रियता की दृष्टि से सूर्यमल्ल की 'वीर सतसई' को सर्वाधिक महत्त्व प्राप्त है। संकीर्ण भावों से परे सार्वजनीन भावों का चित्रण 'वीर सतसई' की एक अद्वितीय विशेषता है। इसमें कवि का

---

[१] डिंगल साहित्य, डॉ० जगदीशप्रसाद श्रीवास्तव, भूमिका पृ० ५६।

[१] राजपूताने का इतिहास—ले० गौरीशंकर हीराचंद ओझा, द्वितीय भाग, पृ० ५५८।

यह रचना केवल १३ दोहों की है परन्तु उसमें प्राचीन काव्य-परम्परा की आत्मा बोलती है। इसका प्रभाव सीधा महाराणा के हृदय पर हुआ। महाराणा वायसराय के दरबार में सम्मिलित न हुए। इस प्रकार वे अपनी परम्परागत मर्यादा को निभाने में समर्थ हुए। इसीलिए राजस्थानी साहित्य में इन दोहों का ऐतिहासिक महत्त्व है।

जिस समय अंग्रेजी शिक्षा-दीक्षा के माध्यम से अंग्रेज अपनी भाषा का प्रचार यहाँ कर रहे थे उसी समय उत्तरी भारत में भारतेन्दु ने हिन्दी भाषा के विकास और प्रचार-प्रसार का बीड़ा उठाया। खड़ी बोली में गद्य रचना होती थी पर पद्य के लिए अभी तक ब्रज का ही प्रयोग होता था। ब्रज-काव्य की रचना राजस्थान में बहुत पहिले से ही भक्ति-काव्य के रूप में होती आई थी। यहीं वृन्द जैसे भक्त कवि ने सुन्दर भक्ति की रचनायें और बिहारी ने रीतिकाल में 'बिहारी सतसई' जैसी अलंकृत कलाकृति ब्रज को भेंट की थी। अतः इस समय में आकर यहां के कवि ब्रज की ओर फिर आकृष्ट हुए और इसके माध्यम से भी काव्य-रचना करना पांडित्य का एक प्रमाण माना जाने लगा। सूर्यमल जैसे डिंगल आदि अनेकों भाषाओं के प्रकांड पंडित ने भी अपने 'वंश भास्कर' में ब्रज अथवा पिंगल का बहुत प्रयोग किया है। ऐसी स्थिति में डिंगल में काव्य-रचना अधिक परिमाण में नहीं हो सकी। उत्तरी भारत में धीरे-धीरे हिन्दी का प्रचार बढ़ता ही गया और राजस्थान में भी शिक्षा-दीक्षा का माध्यम इसी भाषा को बनाया गया। इस कार्य में उत्तर प्रदेश से आये हुए अध्यापकों का भी काफी हाथ रहा। यह सब कुछ होने के बावजूद भी हिन्दी अथवा ब्रज भाषा यहां की मातृभाषा राजस्थानी का स्थान नहीं ले सकी। शहरों के नागरिकों और छोटे से शिक्षित वर्ग तक ही हिन्दी का पठन-पाठन सीमित रहा। आजादी के पश्चात् ज्योंही भारतीय संस्कृति के पुनर्जागरण की नवीन लहर उठी, सभी लोग अपनी-अपनी भाषा और उसके अतीत गौरव की ओर पूर्ण ध्यान देने लगे। राजस्थान के डिंगल साहित्य के अभ्युत्थान के अभिप्राय से प्राचीन साहित्य की खोज की ओर विशेष ध्यान दिया जाने लगा और अनेक प्राचीन ग्रंथों का सम्पादन तथा प्रकाशन किया जाने लगा जिससे इस भाषा की अभिव्यक्ति-क्षमता और अन्य कई साहित्यिक विशेषताओं से विद्वान प्रभावित हुए और यहाँ के नवीन लेखकों को राजस्थानी भाषा के माध्यम से साहित्य-सृजन करने की प्रेरणा भी मिली। आजादी के संघर्ष के दौरान में भी कई बार राजस्थानी में क्रांति के स्वर सुनाई पड़ते थे पर अब व्यवस्थित रूप से राजस्थानी में लेखन-कार्य प्रारम्भ हुआ और अनेक संस्थायें और लेखक इस ओर गतिशील हैं।

यहाँ हम आधुनिक काल के कुछ विशिष्ट कवियों का परिचय देकर अन्य कवियों की नामावली प्रस्तुत कर रहे हैं।

रामनाथ कविया—राजस्थानी साहित्य में दोहा शैली में रचना करने की परम्परा में रामनाथ कविया का नाम उल्लेखनीय है। इनका जन्म सं० १८६५ में 'चोखां का वास' (सीकर) में हुआ था। इनके द्वारा लिखे गए 'द्रोपदी-विनय' सम्बन्धी सोरठे बहुत ही प्रसिद्ध हैं जो 'द्रोपदी-विनय' अथवा 'करुण बहत्तरी' के नाम से प्रकाशित भी हो चुके हैं। इसके अतिरिक्त इनके द्वारा समय-समय पर फुटकर दोहे व सोरठे भी कहे गये हैं क्योंकि इनकी यह विशेषता थी कि ये पात्र को प्रत्यक्ष देख कर तत्काल अपने भाव व्यक्त कर देते थे। इनका रचनाकाल बीसवीं सदी का प्रारम्भ ही माना जा सकता है। इनकी काव्य-शैली निम्न उदाहरण में देखिये—

व्यास बिगाड़्यो वंस, कैरव निपज्या जेण कुळ।
असली ह्वेता अंस, सरम न लेता सांवरा॥
सासू मत्रज साज, पूत जण्या जे पार का।
ज्यांरी पारख आज, साची हुँगी सांवरा॥
मो मन पड़ियो मोच, आव कह्या आयो नहीं।
साड़ी री नहं सोच, सोच विरद री सांवरा॥

सती नारी के आक्रोश की अच्छी व्यञ्जना इन सोरठों द्वारा हुई है। भाषा अत्यन्त सरल एवं प्रवाहमय है।

सूर्यमल्ल मिश्रण—इस परिवर्तन काल के सर्वोत्कृष्ट कवि सूर्यमल्ल मीसण (मिश्रण) हुए हैं। इनका जन्म बूंदी में वि० सं० १८७२ कार्तिक कृष्णा प्रतिपदा को चंडीदानजी के घर में हुआ था।[१] चंडीदानजी स्वयं एक अच्छे कवि थे। राजस्थानी साहित्य में उनके भी अनेक ग्रंथ प्रसिद्धि प्राप्त कर चुके हैं। माता-पिता का प्रभाव सूर्यमल्ल पर पर्याप्त रहा और इसी कारण वे अपने जीवन में एक सफल कवि ही नहीं अपितु

---

[१] वीर सतसई, सम्पादक : श्री कन्हैयालाल सहल, भूमिका पृ० १२।

इस महाकवि का निधन वि० सं० १९२५ को हुआ। इनके देहान्त पर पूर्व-उल्लिखित रामनाथ कविया द्वारा कहे गए मर्मस्पर्शी मरसियों में कितनी सत्यता है—

मिळतां कासी मांह, कवि पिंडतां सोभा करी।
चरचा देवां चाहि, सुरग बुलायौ 'सूजड़ौ'॥ १
निज छळती गुण नाव, मीसण 'छौ' खेवट मुदै।
अब के हकण उपाव, सुकवी मरतां 'सूजड़ा'॥ २
करती अब कविराज, मीसण नित थारी मना।
सुरसत दुचित समाज, सुकवी मरतां 'सूजड़ा'॥३
मुदै गरुड़ खग मोड़, मेर पहाड़ां मांन जै।
मीसण कविदा मोड़, सुरग पहूंतौ 'सूजड़ौ'॥ ४
थई ग्रत्यु थारीह, कुण मेटे करतार सूं।
खतम लगी खारीह, सुणता कांनां 'सूजड़ा'॥ ५
जिण सूं ऊजळ जात, दिन-दिन सारै दीसती।
रैणव थारी रात, मुकवि न जनम्यौ 'सूजड़ा'॥ ६

स्वरूपदास—ये देथा शाखा के चारण मिश्रीदान के पुत्र थे। इनके पूर्वज ऊमरकोट के रहने वाले थे परन्तु सराइयों द्वारा लूट-खसोट के कारण इनके पिता अपने भाई परमानन्द को साथ लेकर अजमेर राज्य के बड़ली गांव में आ गये और वहीं रहने लगे। स्वरूपदास के बचपन का नाम शंकरदान था। इन्होंने अपनी शिक्षा अपने चाचा परमानन्द से ही ग्रहण की। वेदान्त के प्रभाव से इनके मन में वैराग्य उत्पन्न हो गया। अतः शिक्षा की समाप्ति के बाद देवलिये ग्राम में एक दादू-पंथी साधू के पास जाकर स्वयं दादू-पंथी साधू बन गए। इससे इनके चाचा को बड़ी निराशा हुई। इसी पर क्षोभ प्रकट करते हुए इन्होंने स्वरूपदास को एक पत्र में लिखा—

कीधो थो की कौल, कह पाछो कानूं कियौ।
बेटा थारा बोल, सालै निस दिन 'संकरा'॥

स्वरूपदास का मालवे में बहुत सम्मान था। यहाँ पर ये प्रायः 'अन्नदाता' के नाम से ही पुकारे जाते थे। एक बार रतलाम के राजा बलवंतसिंह ने मरते समय इनको निम्न दोहा कहा—

धागे नरगां धांम, बळवंत रै चितथीं वदे।
सेवग री सतराम, अनदाता छै सबे॥

इस पर स्वरूपदास ने निम्न उत्तर दिया—

मागक हूंत प्रमांण, अंत लगो सतराम यह।
'बळवंत' थारा बोल, सारा निस दिन सटकसी।

ये डिंगल, पिंगल एवं संस्कृत आदि भाषाओं के विद्वान थे। हिन्दू धर्म-शास्त्रों का भी इनको अच्छा ज्ञान था। राजस्थानी के साथ व्रज भाषा में भी इनकी अनेक रचनाएं उपलब्ध हैं। इनका 'पांडव यशेन्दु चंद्रिका' एक सफल काव्य है। यद्यपि ग्रंथ व्रज भाषा का है तथापि स्थान-स्थान पर राजस्थानी में भी वर्णन मिलता है।

डिंगल के प्रसिद्ध कवि सूर्यमल्ल मिश्रण इनके समकालीन थे और इनके प्रति बड़ी श्रद्धा और सम्मान का भाव रखते थे। कई विद्वान तो इन्हें सूर्यमल्ल का गुरु भी मानते हैं। संवत् १९२० में ये स्वर्गलोक सिधारे। रतलाम नरेश बलवंत-सिंह की मृत्यु पर इनका राजस्थानी में कहा हुआ मरसिया उदाहरण के लिए प्रस्तुत है—

केई अलापता राग पात कीरति गावंता केई,
सुणावत केई विप्र सभा में सलोक।
भलौ भाई कळ तौने आवतां न लागी भेला।
प्रथीनाथ 'बळूंतेस' जावतां प्रलोक॥
थंड देख रंकां तणा उछाळव द्रवां थेली,
मुद्रसां भाळवा रोग गाळव सहीप,
फीलां सीम चढ़ौ मारू प्रजा ने पाळवा फेरू,
माळवा देस में पाछा पधारौ महीप॥
×
छूटी चखां नीर सतरांम रै करंता चेला,
'सरूप' गुरु की छाती उफेळे समंद।
जांमी आज छोड़ मोने अकेला कठीने जावौ,
कोयलां विरंगा हेला दे रही कंवंध॥

सम्मानबाई—आधुनिक काल के कवियों के अन्तर्गत सम्मानबाई का नाम भी उल्लेखनीय है। ये प्रसिद्ध कवि राम-नाथ कविया की सुपुत्री थीं। स्त्री कवियों में इनका स्थान बहुत ऊंचा है। ये ईश्वर की अनन्य भक्त थीं। इन्होंने अपना समस्त जीवन हरि-स्मरण में ही व्यतीत किया। हरि-भक्ति में इन्हें पति-सहयोग भी पूर्ण रूप से मिला। इसी से प्रभावित होकर इन्होंने 'पति सतक' की रचना की जिसमें अपने पति के गुणों की प्रशंसा की है। इनकी दूसरी रचना 'क्रस्ण बाळ लीला' है जिसमें इनके भक्ति सम्बन्धी बड़े अनूठे पद हैं। इनकी भाषा में तत्कालीन परिवर्तनों का प्रभाव स्पष्ट रूप से लक्षित होता है। 'सोळौ' इनकी राजस्थानी की अनुपम कृति है। इसी का एक उदाहरण देखिये—

पांडित्य नहीं प्रकट होता। इसमें कोई कलाबाजी नहीं अपितु कला है। इस संबंध में डॉ० सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या ने लिखा है—'मेरे विचार में 'वंश भास्कर' जैसा वृहत् ग्रंथ भविष्य में जनता के लिए नहीं रहेगा, पर 'वीर सतसई' के दोहे राजस्थानी का अस्तित्व जब तक रहेगा तब तक अमर रहेंगे। इस दोहा-पुस्तिका में राजस्थानियों की साहित्यिक रुचि विराजती है।'

सूर्यमल्ल अपने युग के प्रतिनिधि कवि थे और वह समय देश का महान संक्रमण काल था। विदेशी सत्ता का प्रभुत्व अधिकाधिक बढ़ता जा रहा था। उस समय ऐसी शक्ति का अभाव अनुभव किया जा रहा था जो अपनी प्रेरणा से विखरी हुई राजपूत शक्ति को एक सूत्र में बांध कर विदेशियों के विरुद्ध मोर्चा लेने के लिए खड़ी कर दे। युग-प्रतिनिधि कवि इस ओर प्रयत्न करने का बीड़ा न उठाते तो वे संभवतः अपने कर्तव्य से च्युत होते। 'सतसई' के दोहों में जागरण का यही महामंत्र फूंका गया है। आरम्भ में ही कवि ने सकेत किया है—

बीकम वरसां बीतियौ, गणचौ चंद गुणीम।
विसहर तिथ गुरु जेठ वदि, समय पलट्टी सीस।।

'सतसई' में राजपूती वीरत्व का गुणगान अवश्य है किन्तु काव्य-चातुर्य के कारण कही भी किसी जाति विशेष की ओर स्पष्ट संकेत नहीं किया गया है। अतः स्पष्टतः 'सतसई' में वर्णित भावनायें एवं वीर चेष्टायें किसी भी आदर्श वीर की चेष्टायें व भावनायें मानी जा सकती हैं। देश के युवक, युवतियों में मरण की सार्थकता का अमोघ मंत्र फूंक-फूंक कर कवि ने देश-रक्षा के निमित्त उत्सर्ग होने का आव्हान किया था। इन दोहों में मर-मिटने की उत्कट भावना है, हृदय को वीरत्व से उद्वेलित करने की अतुल शक्ति है।

'सतसई' की भाषा आधुनिक है। प्राचीन शास्त्रीय डिंगल के स्थान पर इसमें बोलचाल की भाषा का ही अधिकतर प्रयोग हुआ है। 'सतसई' की लोकप्रियता का सभवतः यही कारण है। कहीं-कहीं प्राचीन डिंगल के अनुरूप विभक्ति-प्रयोग हुआ है किन्तु वहाँ भी सीधे-सादे शब्दों में कवि ने बोलचाल की भाषा में बहुत कुछ कह दिया है—

आज घरे सासू कहै, हरख अचांणक काय।
बहू वळेवा हूलसै, पूत मरेवा जाय।।
देख सहेली मो धणी, अजको बाग उठाय।
मद प्यालां जिम एकलौ, फौजां पीवत जाय।।
धीरा-धीरा ठाकुरां, जमी न भागी जाय।
धणियां पग लूंबी धरा, अबक्षी ही घर आय।।

इस सरल भाषा में कवि ने अपने ग्रंथ में अद्भुत वीरत्व का चित्रण किया है। वीरत्व का परिचय पराक्रम, साहस, धैर्य, स्फूर्ति, उदात्त भावना, सहिष्णुता आदि से ही मिलता है। अतः वीर के चरित्र-चित्रण में कवि ने उसकी बाह्य-आंतरिक मनोवृत्तियों तथा कार्य-कलाप का सुन्दर वर्णन कर अपनी सूक्ष्म निरीक्षण की अद्भुत शक्ति का परिचय दिया है। 'सतसई' के दोहों में योद्धा के बाह्य-जगत की क्रिया एवं वृत्ति के साथ उसकी आंतरिक वृत्तिका जो सुन्दर सम्मिश्रण है वह अन्यत्र सुलभ नहीं। उदाहरणस्वरूप कुछ दोहे देखिये—

जिम-जिम कायर थरहरै, तिम-तिम फैले नूर।
जिम-जिम वगतर ऊवड़ै, तिम-तिम फूलै सूर।।
सांम्है भालै फूटतौ, पूग उपाडै दंत।
हू बळिहारी जेठ री, हाथी हाथ करंत।।
कंकांणी चंपै चरण, गीधांणी सिर गाह।
मो बिण सूतौ सेज री रीत न छंडै नाह।।

उल्लिखित ग्रंथों के अतिरिक्त कविराजा सूर्यमल्ल मिश्रण द्वारा लिखे गए फुटकर गीत भी बड़ी मात्रा में मिलते हैं। प्राचीन चारण शैली के आधार पर ही उन्होंने गीतों की रचना की है। उनका रचा हुआ निम्न गीत देखिये—

दगौ विचारै फेरियौ अंगरेजां लोगां चौगड्डौ,
तासा बबी भड़ंदा, तेड़ियौ नाग ताय।
भाळ घांचौ फेरियौ खैह री हूंत छायौ भांण,
वांधलौ केहरी 'चैन' घेरियौ बलाय।। १
माचै खाग भाटां राचै तंवाई छ खंडां माथै,
रत्रां आट पाटां नदी बहाई रोसाण।
पाथ थाटां जंग रूपी कुवांणा नवाई पांणा,
सत्राटां वेढ़ियौ थाटां, सवाई 'सौभाग' ।। २
सुणै घोर तासां आसमांण लागियौ सीस,
सत्रां धू 'चैन' रौ खाग बागियौ समूल।
कोपै 'हण' आमुरां विभाड़वा आगियौ किनां,
सिंधुर पाड़वा सूतौ जागियौ सादूळ।। ३
देखतां एहड़ौ जंग धड़क्कै आगरौ दिल्ली,
बंबी जैत माग रा रडक्कै बारंवार।
भड़क्कै खाग रा बाढ भड़क्कै कायरां झुंड,
हमल्लां नाग रा माथा रड़क्कै हजार।। ४

वर्णन' ग्रंथ रचा। उपरोक्त ग्रंथों के अतिरिक्त इनके दो ग्रंथ 'झमाळ जूनिया' और 'तवारीख अलवर' और मिलते हैं। 'सड्रितु वर्णन' में नायिका-भेद पर भी इन्होंने कुछ लिखा है किन्तु प्रकृति-वर्णन सजीव एवं स्वाभाविक है। वर्षा के बाद धरा की मनोहर छवि निम्न उदाहरण में देखिये—

हरिया तरु गिरवर हुवा, पांवरिया बन पात।
सर तालर भरिया सुजळ, वसुधा सवज बनात॥
वसुधा सवज बनात विछायत ज्यौं बणी।
जिलह ओस कण जोति कि नां हीरा कणीं॥
इंद वधू अणपार क वसुधा विथरी।
मनु तूटी मणि माळ, मदन महिपत्त री॥

वीर-रस-वर्णन तो प्रायः चारणों की पैतृक सम्पत्ति है। शिवबक्स का वीर-रस-वर्णन भी अनूठा है। इन्होंने वीर वचन शिकार के पशु सूअर, सिंह आदि से ही कहलाये हैं। सिंह द्वारा कायर के प्रति कहे वीर वचन निम्न उदाहरण में देखें—

इसा वचन सुणि ऊठियौ, अंग मोड़ै असळाक।
बाघ कहै सुण बाघणी, तजणौ खेत तलाक॥
तजणौ खेत तलाक, कहाऊं केहरी।
नहौ गरज नहिं सीस, क माथै मेहरी॥
मरण तणौ भय मांनि, भोमि तजि भागवै।
बाघ जनम बेकाज, लाज कुळ लागवै॥

यद्यपि अलवर नरेश से इनका सम्बन्ध विच्छिन्न हो गया था परन्तु थाणा ठाकुर से आपका सम्बन्ध पूर्ववत् ही बना रहा। संवत् १९५६ में थाणा ठाकुर साहब की अलवर स्थित हवेली में ही इनका देहान्त हो गया।

राव बख्तावर—राव बख्तावर का जन्म संवत् १८७० में उदयपुर राज्यान्तर्गत बसी ग्राम में हुआ था। इनके पिता का नाम मुन्नराम था जो बसी के ठाकुर अर्जुनसिंह के पूर्ण कृपा-पात्र थे। राव बख्तावर का जन्म-नाम मोडजी था। इनके बाल्य-काल में पिता की मृत्यु हो जाने के कारण बसी के ठाकुर अर्जुनसिंह ने इन्हें पुत्रवत् समझ सभी प्रकार से सुयोग्य बनाया। संवत् १९०९ में गांव के पारस्परिक झगड़े के सम्बन्ध में ये उदयपुर में आये। यहां इनकी भेंट महाराणा स्वरूपसिंह से हुई। महाराणा ने इनकी कविता तथा वाक्य-चातुरी से प्रसन्न होकर वेतन पर अपने पास रख लिया और कालान्तर में मिहारो तथा डांगरो ग्राम प्रदान कर इनकी प्रतिष्ठा बढ़ाई। इन्हीं महाराणा ने मोडजी से इनका नाम बख्तावरजी रखा। महाराणा की आज्ञा से इन्होंने 'स्वरूप यस प्रकास' ग्रन्थ की रचना की जिसमें अन्योक्ति कवित्तों की बाहुल्यता है। महाराणा स्वरूपसिंह के बाद भी तीन महा-राणाओं के समय में इनकी प्रतिष्ठा पूर्ववत् बनी रही। संवत् १९५१ में इनका देहावसान हो गया।

अपने काल में होने वाले सभी महाराणाओं की प्रशंसा में इन्होंने ग्रंथ लिखे। इनके लिखे निम्न ११ ग्रंथ हैं[1]—

१—स्वरूप यस प्रकास, २—सम्भू यस प्रकास, ३—सज्जन यस प्रकास, ४—फतह यस प्रकास, ५—सज्जन चित्र-चंद्रिका, ६—केहर प्रकास, ७—रसोत्पत्ति, ८—संचारणव, ९—अन्योक्ति प्रकास, १०—रागनियां री पुस्तक, ११—सामंत प्रकास।

इन ग्रंथों में 'केहर प्रकास' सबसे बड़ा और श्रेष्ठ ग्रंथ है, जो ग्रंथकर्ता के प्रपौत्र कवि राव मोहन द्वारा ही सम्पादित हो चुका है। 'केहर प्रकास' में केसरीसिंह और उनकी प्रेयसी कमल प्रसन्न के प्रणय का वर्णन है। इसमें १४८६ छंद हैं। भाषा आधुनिक बोलचाल की राजस्थानी है। वर्णन बड़ा ही रोचक और कलापूर्ण है। इसी ग्रंथ के मिलन प्रकरण का एक उदाहरण देखिये—

उसैं कंवर झंकियौ असांड सदन बागर सूत।
कंवळ दसी झांकर कही, अ कुण गजब अभूत॥
कंवळ जिकण पुळ कंवर री, सुरत झंकण फिर सार।
झंकै मुड़े फिर आ झंकै, लिलचावण ले लार॥
झंक्यौ कंवर जद झोक सूं, सांगे अतरे साद।
कहियौ ओ पाल्यौ कियौ, अमे घड़ी दिन आद॥
कंवर गयौ पांत्यौ कहत, लगन कंवळ री लाय।
कंवळ हुई अंदर कुळफ, बीज सनेह बुहाय॥

ऊमरदांन लालस—राजस्थानी काव्य की नवीन धारा में विशिष्ट योगदान देने वालों में कविवर ऊमरदांन लाळस का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। इन्होंने तत्कालीन परि-स्थितियों का सरस राजस्थानी में अनुपम चित्र प्रस्तुत कर राजस्थानी साहित्य जगत में महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त किया है। ये एक जन्म-सिद्ध कवि थे और इनमें प्रायः वे सभी गुण विद्यमान थे जो एक प्रतिभाशाली कवि में होने चाहिएँ। इन

[1] 'केहर प्रकास' सं० कवि रावमोहन, ग्रन्थकर्ता का परिचय, पृ० ३-४।

रांम बनूं छै रूपाळौ, बनाजी नै नैण नजर भर न्हाळौ ।
कसूंबल पाग कैंसरिया जांमूं, तुररा किळंगी वाळौ ।
नैण सलूण झौंकत डयोढ़ी, बिच अण अणियाळौ ।
वय किसोर सब भांति सुहावै, सहज सलूणौ काळौ ।
करत मरोड़ मधुर पग धरत, चलत मनौ मन मतवाळौ ।
वंकोई चालै टेढोई झोकै, लुळि-लुळि बनि दिस न्हाळौ ।
कहत 'समांन' कवर दसरथ रौ, वींद बडौ चिरताळौ ।
दसरथ सुवन अयोध्या का राजा, कंवर कौसल्या वाळौ ।
भूप उदार तिलक रघुकुळ कौ, चहुं पुर कौ उजियाळौ ।।

गणेशपुरी—इस परिवर्तन-काल में सूर्यमल्ल की प्रेरणा से प्रेरित होने वाले कवियों में गणेशपुरी का नाम भी उल्लेखनीय है। इनका जन्म संवत् १८८३ में जोधपुर राज्य के अन्तर्गत 'चारणवास' गांव में हुआ था। ये पदमजी रोहड़िया चारण के पुत्र थे। बचपन से ही डिंगल भाषा के प्रति इनकी रुचि अधिक थी। यह बात प्रचलित है कि एक वार 'जसवंत जसौ भूषण' के रचयिता कविवर मुरारीदानजी से इनका अलंकारों पर शास्त्रार्थ हुआ था। गणेशपुरी भी पंडित थे, परन्तु अपने क्षेत्र में मुरारीदानजी का प्रभाव होने के कारण लोगों ने मुरारीदानजी का ही पक्ष लेकर गणेशपुरी को पराजित घोषित कर दिया। इससे उनके हृदय पर बड़ी ठेस पहुंची और इन्होंने सन्यास धारण कर लिया और इसके बाद काशी में १० वर्ष तक रह कर विद्याध्ययन किया। काशी से लौटने पर कविराजा सूर्यमल्ल के पास कुछ समय तक रहे। इसके पश्चात् ये जोधपुर आये और मुरारीदानजी से शास्त्रार्थ करने को कहा परन्तु मुरारीदानजी ने सन्यासियों से शास्त्रार्थ न करने की बात कह कर उसे टाल दिया।

गणेशपुरी एक सुयोग्य साहित्य-सेवी और काव्य-कुशल व्यक्ति थे। इनके रचे हुए तीन ग्रंथ प्राप्त हैं।

१—वीर विनोद, २—जीवन मूल और ३—मारू महरांण।

'मारू महरांण' 'काव्य प्रकाश' और 'साहित्य-दर्पण' के ढंग पर लिखा गया राजस्थानी का विशाल लाक्षणिक ग्रंथ है। इनकी कवितायें एवं गीत प्राचीन परंपरागत डिंगल का अच्छा नमूना हैं। आधुनिक काल मे होते हुए भी इनकी कविता पर वर्तमान दृष्टिकोण की छाप नहीं है। भावों की स्पष्टता एवं शब्द-सौष्ठव इनकी कविता का विशेष गुण है, किन्तु आधुनिक काल में भी उसी प्राचीन परंपरागत भाषा व शैली में होने के कारण इनकी कविता जन-साधारण के हृदय को स्पर्श नहीं कर सकी। केवल काव्य-प्रेमियों के सम्मुख काव्य-कला का सुन्दर नमूना बन कर रह गई। इनके रचे एक गीत का उदाहरण देखिये—

गीत

सिव सादत सीस फूल रा सहजां, देख मठोड़ां सला दवै ।
'वाघ' सुतन रघुवर जस वातां, फतैंपेच रै फैल फवै ।। १
'दूदा' सरब जगत नैं दीठां, ठहरै दांन मांन मन ठीक ।
कळवछ सिवी नरेस करणसा, करण फूल कीमत कोड़ीक ।। २
पर दुख काटण तणा प्रवाड़ां, जांणै जीवण जुवा-जुवा ।
वीर उभै वाजूवंध विधरा, हातम विक्रम नृपत हुवा ।। ३
कटक जेमल फतमल व्हा कंकण, चंद लखौ हत फूल सचौ :
जगत सुपह द्रढ़ भगत तणौ जस, ओपै अमळ आरसी···।। ४
भाऊ नृप सिवराज भुजाळा, हद गज रा गज देवणहार ।
'मांन' भूप 'बळवंत' महाराजा, हुवा हमेल अनैं चंद्रहार ।। ५
लंगर अवर लाज रा लंगर, नळ धीरज घरन नूपर वीर ।
मारू तूं मो मत महळी रैं, हुवौ तेवटौ हेल-हमीर ।। ६

शिवबख्श पाल्हावत—शिवबख्श का जन्म जयपुर राज्यान्तर्गत हणोतिया ग्राम में वि० सं० १८९९ में हुआ था। ये पाल्हावत शाखा के चारण रामसुख के पुत्र थे और प्रसिद्ध कवि रामनाथजी कविया के दोहित्र थे। बाल्यकाल में ही पितृविहीन होने के कारण ये अपने ननिहाल अलवर आ गए। इनके नाना स्वयं काव्य-प्रेमी थे, अतः उनका प्रभाव शिवबख्श पर भी पड़ा। ये भी नाना का अनुकरण कर कविता करने लगे और शीघ्र ही डिंगल के ज्ञाता हो गये।

प्रारम्भ में ये थाणा के ठाकुर हनुमंतसिंह के कृपापात्र थे। यहाँ ठाकुर के लड़के मंगलसिंह से इनकी गाढ़ी मैत्री थी। मंगलसिंह अलवर के महाराजा शिवदानसिंह द्वारा गोद ले लिए गए और कुछ समय बाद ही शिवदानसिंह की मृत्यु के पश्चात् वे अलवर के महाराजा बन गये। शिवबख्शजी भी थाणा से अलवर आ गये और यहीं काव्य-रचना करने लगे। कुछ समय पश्चात् महाराजा से अनबन होने के कारण य अलवर त्याग कर वृन्दावन चले गये और वहीं रह कर इन्होंने 'वृन्दावन शतक' की रचना की।

महाराजा मंगलसिंह की मृत्यु के पश्चात् ये वृन्दावन से अपने गाँव आये। यहीं पर इन्होंने 'झमाळ अलवर सड्रितु

आतो ओलरा नै अंवक दळ आयौ,
छातो छोलगा नै छपनौ छित छायौ ।
जावक पावक जिम रंडातक जीवै,
मातां ठोड़ां मूं चंडातक सीवै ।
आखी उगळांची कांचळियां आधी,
विलिये चूंड़ी विन चींथरियां बाधी ॥
नोनूं मपी तन पाठी सुपनैं में,
छल्ले वींटी विन दीठी छपनैं में ।
काजळ टीको विन फीको द्रग कोरां,
नवधा विधवा दिच विवरो नहिं सोरां ।
महला मुरधर री तरसै अन तांई,
तीजै पोरां तक वीजै दिन तांई ।
नांखै नीसासा आसा अड़ियोड़ी,
पामर पुत्रां रै पांनैं पड़ियोड़ी ।
ऊजळ मळ संकुळ पीठी उवटांणी,
'करडै लो' साथे अैरण कूटांणी ।
कळियां कूंना री कादै में कळगी,
त्रिलहर संगत सूं पीपळियां वळगी ।

महाराज चतुरसिंह—भक्त-कवि महाराज चतुरसिंह का जन्म मेवाड़ के राजघराने में करजाळी की हवेली, उदयपुर में संवत् १९३६ में हुआ था। इनके पिता महाराज सूरतसिंह करजाळी जागीर के स्वामी और मेवाड़ के महाराणा फतहसिंह के भाई थे। महाराज चतुरसिंह अपने पिता के चार पुत्रों में सबसे छोटे थे। इनकी रुचि बचपन से ही आध्यात्मिकता की ओर झुकी हुई थी। अध्ययन की ओर इनका झुकाव विशेष था। विभिन्न भाषाओं के धार्मिक ग्रंथों का अध्ययन करने के लिए इन्होंने संस्कृत, गुजराती, मराठी, अंग्रेजी तथा उर्दू आदि अन्य भाषाओं का भी अच्छा अभ्यास कर लिया था।

आपका विवाह अठारह वर्ष की आयु में हुआ था। इनके दो कन्यायें भी हुई। परन्तु दस वर्ष बाद ही इनकी धर्मपत्नी का देहान्त हो गया। इससे इनकी विरक्ति और भी बढ़ गई और इसके बाद इन्होंने अपना अधिक समय योगाभ्यास, ईश-भजन, शास्त्राध्ययन तथा पुस्तकें लिखने में ही बिताया। आपने अनेक पुस्तकों की रचना की जिनमें से कई प्रकाशित हो चुकी हैं। ये ईश्वर के अनन्य उपासक और भक्त-कवि थे। मीरां के बाद मेवाड़ में यही इतने लोकप्रिय भक्त-कवि हो गए हैं। आपने राजस्थानी और ब्रज भाषा दोनों में ही कविता की है।

इनकी भाषा सरल बोलचाल की भाषा ही है जो अत्यन्त मधुर एवं भावपूर्ण है। इन्होंने जो कुछ लिखा वह स्वयं की आत्मानुभूति के आधार पर ही लिखा है। इसलिए इनकी रचना मौलिक बन पड़ी है। इनकी रचनाओं में १–भगवद्गीता की गंगाजळी टीका, २–परमारथ विचार, ३–योग सूत्र की टीका, ४–मांनव मित्र रांमचरित्र वारता, ५–दुरगा सप्तसती वारता, ६–अलख पचीसी वारता, ७–चतुर चितामणि, ८–महिम्न-स्तोत्र आदि की सुन्दर रचनायें हैं।

जहां मीरां अपने आराध्यदेव की सेविका (चाकर) बनने की हार्दिक कामना करती है वहां महाराज चतुरसिंह अपने आपको अपने उपास्यदेव की चाकरी में ही रत मानते हैं। इस भाव को उन्होंने कितनी सरल अभिव्यक्ति से प्रकट किया है—

म्हें तो छांजी चाकर वांका, म्हें तो ठेठ जनम जनम का,
वाज राज लीला रे म्हें तो, सदा पागड़े लागां।

मौलिकतापूर्ण एवं भावमयी होने के साथ-साथ इनकी रचना सदुपदेशों से भी ओतप्रोत है जो मानव जीवन को उच्चादर्शों के दर्शन कराती है। ऐसे ही भावमय पद का एक उदाहरण देखिये—

रे मन छन ही में उठ जांणो।
ई रो नी है ठोड ठिकांणो, अरे मन छन ही में उठ जाणो।
सार्थं कंई न लायो पेली, नी सार्थं अव आंणो।
वी वी आय मळेगा आगे, जी जी करम कमांणो ॥ १
नो सो जतन करे ई तन रा, आखर नी आपांणो।
करणो व्हे सो झटपट कर लै, पछे पड़ै पछतांणो ॥ २
दो दन रा जीवा रे खातर, क्यूं अतरो ऐंठांणो।
हाथां में तो कंई न आयो, वातां में वेकांणो ॥ ३
कणी सीम पै गांम वसावै, कणी नीम कमठांणो।
ई तो पवन पुरख रा मेळा, 'चातुर' भेद पछांणो ॥ ४

सामन्ती घर में जन्म लेकर और विलास के हास में अपना पालन-पोषण पाकर भी इन्होंने सदैव सरल एवं सात्विक जीवन व्यतीत किया। घर पर रहते हुए जब इन्हें अपने अध्ययन एवं आध्यात्मिक चिन्तन में बाधा प्रतीत हुई तो इन्होंने घर भी छोड़ दिया और उदयपुर से १६ मील की दूरी पर नडवा ग्राम के पास एक स्थान पर कुटिया बना कर रहने लगे। यहीं संवत् १९९६ में अपनी जीवन-लीला समाप्त की।

समय तक प्राय: समस्त राष्ट्र में सुधारवाद की एक प्रवल लहर प्रवाहित हो चुकी थी । भिन्न-भिन्न भाषाओं में अनेक सुधारवादी रचनाये ही जन-जीवन के समक्ष प्रस्तुत की जा रही थीं । कविवर ऊमरदान भी इसी नवीन विचारधारा के व्यक्ति थे । इन्होंने भी समयानुसार परिस्थिति को समझाते हुए समाज-सुधार की विवेचना सरस राजस्थानी में की। आपका जन्म संवत् १६०८ में जोधपुर राज्यान्तर्गत फलोदी तहसील के ढाढ़ रवाळा ग्राम में हुआ था । इनके पिता बख्शी-रामजी संस्कृत एवं राजस्थानी के अच्छे विद्वान थे । ऊमर-दानजी की प्रारम्भिक शिक्षा घर पर इन्हीं के पास हुई थी । माता-पिता का सुख इनके भाग्य में नहीं था, अत: दुर्भाग्यवश वाल्यकाल में ही ये अपने पारिवारिक सुख से वंचित हो गये । इसके वाद ये रामस्नेही साधुओं के सम्पर्क में आ गये और अन्त में संवत् १६३६ में जोधपुर में मोती चौक रामद्वारा के साधु के शिष्य हो गये । इस सम्बन्ध में निम्नलिखित दोहा प्रसिद्ध है—

ऊमर नत उगणीस में, वरस छनीसं वीच ।
फागण अथवा फरवरी, निरख्या सतगुरु नीच ।।

इस दोहे में सत्गुरु के साथ नीच शब्द का प्रयोग महत्व-पूर्ण है । ऐसा प्रतीत होता है कि यह दोहा ऊमरदानजी द्वारा बाद में लिखा गया होगा । 'ऊमर-काव्य' में भी यह दोहा 'संत-असंत सार' के साथ ही लिखा हुआ है । संवत् १६४० में जब ऋषि दयानन्द मारवाड में आये तब उनसे प्रभावित होकर श्री ऊमरदान ने साधु सम्प्रदाय छोड़ दिया और गार्हस्थ्य जीवन प्रारम्भ कर दिया । स्वामी दयानन्द के प्रभाव से ये कट्टर आर्यसमाजी हो गये और इसी कारण जहाँ भी इन्होंने तनिक अवगुण अथवा बुराई देखी उसी ओर कस-कस कर व्यंग-वाण मारने में तनिक भी संकोच नहीं किया । इस प्रकार की इनकी रचना कुछ लोगों द्वारा सभ्य रुचि के प्रति-कूल समझी गई, परन्तु ऊमरदानजी को इसकी तनिक भी परवाह नहीं थी । व्यक्ति विशेष या समुदाय विशेष इनके प्रति कैसे विचार रखता है, इस ओर इनका तनिक भी ध्यान न था । अपने स्वयं के सम्बन्ध में, इसी प्रसंग में, इन्होंने लिखा है—

जोगी कहौ भव भोगी कहौ,
रजयोगी कहौ कौ केसेई हैं ।
न्यायी कहौ अन्यायी कहौ,
कुकसाई कहौ जग जैसेइ हैं ।
मीत कहौ वो अमीत कहौ,
ज्युं पलीत कहौ तन तैसेइ हैं ।
ऊत कहौ अवधूत कहौ,
लो कपूत कहौ, हम है सोई हैं ।।

इन्होंने विभिन्न विषयों पर अपनी कवितायें लिखी हैं । 'संत कसौटी' को छोड़ कर प्राय: इनकी सभी फुटकर कवि-ताओं का संग्रह 'ऊमर-काव्य' के नाम से प्रकाशित हो चुका है । सुधारवादी दृष्टिकोण होने के कारण आपकी कविताओं के प्रसंग भी तत्कालीन समाज में प्रचलित दोप एवं कुरीतियों से ही सम्वन्धित हैं । मादक द्रव्यों के सेवन के प्रति ये पूर्ण विरुद्ध थे । अत: स्थल-स्थल पर इनकी कविता में बुराइयों का स्पष्ट वर्णन मिलता है । रामस्नेही साधुओं की भी इन्होंने नि:संकोच निन्दा की है । संत शब्द को वदनाम करने वाले असंतों की भी खूब खबर ली है—

गुरु आप अज्ञांनी जुगत न जांणी,
चेला मुक्त चहंदा है ।
करणी रा काचो साघ न साचा,
वाचा वहोत वकंदा है ।
अंधै कौ अंधा घर के कंधा
चल कर पार चहंदा है ।
नगटा निरदावे जमपुर जावे,
खररर खाड खपिंदा है ।

कविवर ऊमरदान की रचना यद्यपि साधारण वोलचाल की राजस्थानी में है, फिर भी उसमें अनेक संस्कृत शब्दों का प्रयोग हुआ है । इससे उनके संस्कृत भाषा के ज्ञान का भी परिचय मिलता है । इनकी समस्त रचनाओं में चलती भापा का अधिक प्रयोग होने के कारण प्राय: सभी रचनायें साधारण जन-जीवन के वीच अधिक प्रसिद्ध हो गई हैं । कवि ने सरल एवं सरस भाषा में वड़ा ही सजीव वर्णन किया है । संवत् १६५६ में मारवाड़ में भयंकर दुर्भिक्ष पड़ा । जन-जीवन की दशा वड़ी दयनीय हो गई । इन्हीं सभी विपम परिस्थितियों एवं जन-जीवन की हीन दशा का वड़ा ही मार्मिक एवं सजीव वर्णन कवि ने 'छपना री छोरा रौळ' नामक रचना में किया है । काव्य के पठन मात्र से आँखों के समक्ष चित्र सा उपस्थित हो जाता है । अकाल के दुष्प्रभाव से हुई ग्रहिणियों की दुर्दशा का कारुणिक चित्रण देखते ही वनता है—

सर जॉर्ज ग्रियर्सन ने 'लिंग्विस्टिक सर्वे ऑफ इण्डिया' में राजस्थानी को एक पृथक साहित्यिक भाषा के रूप में स्वीकार किया है। डॉ० सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या[1] तथा डॉ० एल. पी. तैस्सितोरी ने भी इसे केवल बोलियों का समूह न मान कर हिन्दी से स्वतन्त्र एवं भारतीय आर्य-भाषाओं के परिवार की एक समृद्ध भाषा माना है।

हमारा उद्देश्य इस विवाद में पड़ने का नहीं। तथापि यह निस्संदेह सत्य है कि राजस्थानी में विपुल काव्य-निधि के अतिरिक्त गद्य साहित्य की परम्परा भी बहुत प्राचीन एवम् समृद्ध रही है।

इसके समुचित प्रकाशन एवम् अध्ययन के अभाव में ही प्रायः लोगों की इस प्रकार की धारणा-सी बन गई है कि राजस्थानी में गद्य साहित्य नगण्य अथवा गौण है। आधुनिक युग में राजस्थानी गद्य की स्थिति बड़ी चिंतनीय रही है, इसे राजस्थानी साहित्य की सेवा करने वाले लेखकों ने भी अनुभव किया है। यद्यपि इस स्थिति में अब बहुत अन्तर आ चुका है, कई व्याकरण प्रकाशित हो चुके हैं, कोश का निर्माण भी हो चुका है, राजस्थान निवासी अपनी भाषा की रक्षा के प्रति अधिक जागरूक हैं, राजस्थानी की सूक्ष्म बारीकियों का अनुसंधान किया जा रहा है, एवम् उस पर शोध-प्रबन्ध प्रस्तुत किए जा रहे हैं, और आधुनिक लेखक भी इसी भाषा में कहानी, उपन्यास आदि लिख रहे हैं।

जो लोग राजस्थानी के सम्बन्ध में यह भ्रामक धारणा रखते हैं कि राजस्थानी का अर्थ विभिन्न बोलियों का समूह मात्र है तथा उसमें गद्य का एकस्तरीय रूप नहीं है, उनकी यह धारणा प्राचीन राजस्थानी गद्य (ख्यात, वातें) का अध्ययन करने पर अवश्य मिट जानी चाहिये। मुहणोत नैणसी जालोर का निवासी था, कविराजा बांकीदास जोधपुर के रहने वाले थे, दयाळदास ने अपनी ख्यात बीकानेर में बैठ कर लिखी थी और कविराजा सूर्यमल बून्दी के निवासी थे, किन्तु इनके लिखे गद्य में विशेष अन्तर नहीं है। राजस्थानी भाषा की

[1] 'वस्तुतः भाषा-शास्त्र की दृष्टि से विचार किया जाय तो राजस्थानी, कोसली या मगधी, भोजपुरी या मैथिली आदि बोलियां नहीं, भाषायें ही हैं।'—राज भाषा आयोग का प्रतिवेदन, पृ० २३८।

एकरूपता का इससे बढ़ कर अन्य कौनसा प्रमाण हो सकता है।

आज के साहित्य में गद्य की प्रधानता है, किन्तु प्राचीन साहित्य में गद्य का ऐसा प्रचलन नहीं था। राजस्थानी में गद्य का प्राचीन रूप मिलता है, किन्तु यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि वह साहित्य का उतना प्रभावशाली वाहन नहीं रहा जितना कि पद्य।

राजस्थानी गद्य के विकास पर दृष्टि डालते समय हम विषय-क्रम (यथा–ख्यात, वात आदि) का वर्गानुसार उल्लेख न कर के कालक्रमानुसार ही विकास-क्रम का विवेचन करेंगे।

चौदहवीं शताब्दी से राजस्थानी गद्य-रचना की परम्परा स्पष्ट रूप से देखने में आती है। गद्य लिखने की परम्परा इससे भी प्राचीन अवश्य थी पर उसके उदाहरण बहुत अल्प मिलते हैं।[1] चौदहवीं शताब्दी के प्राचीनतम गद्य के दो उदाहरण हमें उपलब्ध हैं। पहला उदाहरण एक गोरखपंथी गद्य ग्रंथ में मिलता है। हिन्दी साहित्य के सभी इतिहासकारों ने गोरखपंथी की रचना के रूप में निम्नलिखित अवतरण उद्धृत किया है

'श्री गुरु परमानन्द तिनको दडवंत है। हैं कैसे परमानन्द आनन्द स्वरूप हैं सरीर जिन्हि को। जिन्ही के नित्य गायें तें सरीर चेतन्नि अरु आनन्दमय होतु हैं। मैं जु हौं गोरिख सो मछंदरनाथ को दडवंत करत हौं। हैं कैसे वे मछंदरनाथ। आत्मा ज्योति निस्चल है अन्तःकरन जिनिको अरु मूल द्वार तें छइ चक्र जिनि नाकी तरह

[1] शिलालेख, ताम्रपत्र आदि के रूप में कहीं-कहीं प्राचीन राजस्थानी गद्य के नमूने आज भी उपलब्ध होते हैं। यहां एक १३वीं शताब्दी का शिलालेख प्रस्तुत कर रहे हैं जो बीकानेर के नायूसर गांव में उपलब्ध हुआ है।

प्रलेख का मूल पाठ—

पंक्ति–१—संमत १२८० वेरखे मती माह सुद्ध २ राग—
,, २—ठ कुसलो गारवनत काम यायो छैं गा वनैम—
,, ३—सर माह. रगड़ कुसलो रणधीर त.कुकार
,, ४—हवा छैं पाता अरपीयो रैं वैरे महे कम या—
,, ५—या मटो.कस(ल) मंघ अखराज तरै म
,, ६—ह डक ॥ काम यया छ।

—'वरदा' पृष्ठ ३, वर्ष ४, अंक ३

उपरोक्त वर्णित कवियों के अतिरिक्त आधुनिक काल में अनेकों कवियों ने भी अपनी विभिन्न रचनायें प्रस्तुत कर राजस्थानी साहित्य को जीवन-दान देने में अपना सहयोग दिया। आज भी अनेक कवि इस ओर सतत् प्रयत्नशील हैं। विषय-विस्तार-भय से नीचे इन कवियों के नाम मात्र देकर ही संतोष करना पड़ रहा है—

चडीदांन (कोटा), प्रतापकुंवरी बाई (जाखण, जोधपुर), गोपाळ कविया (चोखां का वास, शेखावाटी), मुरारिदांन (बूंदी), गुलावजी (बूंदी), विड़दसिह (अलवर), केसरीसिह (सोन्याणा, उदयपुर), मुरारिदांन आसिया (जोधपुर), अम्रतलाल माथुर (कुचेरा, जोधपुर), गणेसदांन (जोधपुर), महादांन (पारलू, जोधपुर), जैतदांन (मथानिया, जोधपुर), किसोरदांन (लोळावस, जोधपुर), जुगतीदांन (बोरूंदा, जोधपुर), सेवादास (जोधपुर), पुरोहित केसरीसिह (तिवरी, जोधपुर), पावूदांन आसिया (भांडियावास, जोधपुर), मोडजी आसिया (भांडियावास, जोधपुर), राघूदांन सांदू (मिरगेसर, जोधपुर), चिमनदांन रतनू (विडलिया, जोधपुर), फतहकरण (ऊजळां, जोधपुर), क्रस्णसिह सोदा (शाहपुरा), मोडजी महियारिया (उदयपुर), वालावक्स पाल्हावत (हणूतिया, जयपुर), बळवंतसिह रोहडिया (माहुद, अलवर), रांमनाथ रतनू (किशनगढ़), मुरारीदांन (आंगदोस, जोधपुर), लिखमीदांन वारहठ (आंगदोस, जोधपुर), कांनीदांन (देशनोक, बीकानेर), हिंगळाजदांन कविया (सेवापुरा, जयपुर), नाथूदांन वारहठ (शेरगढ़, जोधपुर), सेरजी बारहठ (भाखरी, जोधपुर), भगवानजी रतनू (लालपुरा, जोधपुर) भावनादास साधु (जोधपुर), किसोरसिह वार्हस्यपत्य (शाहपुरा), धूड़जी मोतीसर (जुडिया, जोधपुर), पन्नारांमजी (जोधपुर), प्रभुदांन (भाडियावास जोधपुर), चौथमलजी जैन साधु।

नाथूदान (उदयपुर), राव मोहनसिह (उदयपुर), नैनूराम सस्करता (वीकानेर), मुरारिदांन कविया (जयपुर), अक्षयसिह रतनू (जयपुर), देवकरण वारहठ (इन्दोकली, जोधपुर), कन्हैयालाल सेटिया (वीकानेर), रेवतदान (मथानिया, जोधपुर), गजानन (रतनगढ़, बीकानेर), चन्द्रसिंह वीका (बिरकाळी, बीकानेर), उदयराज उज्जळ (ऊजळां, जोधपुर), नारायणसिंह भाटी (माळूंगा, जोधपुर), मनोहर शर्मा (जयपुर), मेघराज मुकुल (वीकानेर), लक्ष्मणसिंह रसवन्त (जाळसू, जोधपुर), कल्यांणसिंह राजावत (चितावा, नागौर), रेंवतसिंह भाटी (नरवर, किशनगढ़), भीम पांडिया (बीकानेर), सोहनलालजी तेरापंथी, प्रभुदांन (मथानिया, जोधपुर), किसोर कल्पनाकांत (रतनगढ़, बीकानेर), क्रस्णगोपाळ कल्ला (मेड़ता, जोधपुर) गणपति स्वांमी (पिलाणी, जयपुर), गणेसीलाल व्यास (जोधपुर), गंगाराम पथिक (बीकानेर), चंडीदान सांदू (हिलोड़ी, नागौर), भरत व्यास (चुरू, बीकानेर), मरुधर म्रदुल (जोधपुर), माधव शर्मा (चुरू, बीकानेर), राज श्री 'साधना' (कोटा), रामदेव आचार्य (बीकानेर), रावत 'सारस्वत' (चूरू, बीकानेर), विस्वनाथ शर्मा 'विमलेश' (झुंझुनू, जयपुर), सक्तिदांन कविया (बिराही, जोधपुर), सोभागसिह सेखावत (भगतपुरा, सीकर), रामसिंघ सोलंकी (उदयपुर), हणूंतसिंह देवड़ा (राणीवाड़ा, जालोर)।

राजस्थांनी गद्य साहित्य

विद्वानों ने प्राचीन एवम् आधुनिक भाषाओं के अध्ययन में राजस्थानी को भी प्रर्याप्त महत्व दिया है, किन्तु उनका यह आधार राजस्थानी की काव्यगत विशेषताओं तक ही सीमित रहा। गद्य की दृष्टि से भी राजस्थानी एक समृद्ध भाषा है; इस तथ्य की ओर सम्भवतया उनका ध्यान ही नहीं गया। राजस्थान के विद्वानों ने भी इसे प्रकाश में लाने का कोई विशेष प्रयास नहीं किया। यहां के अधिकांश आधुनिक विद्वानों ने भी सम्भवतः भाषायी एकता को पुष्ट करने की दृष्टि से अथवा किन्ही अन्य कारणों से प्रायः हिन्दी भाषा मे ही गद्य निर्माण किया है। इसका परिणाम राजस्थानी के लिए अत्यन्त हानिकर सिद्ध हुआ है। तत्कालीन राजभाषा आयोग ने अपने प्रतिवेदन मे राजस्थानी को स्वतंत्र प्रांतीय भाषा के रूप में स्वीकार नहीं किया, यद्यपि इस प्रतिवेदन के पहले बड़े-बड़े भाषाविद् राजस्थानी को एक स्वतंत्र भाषा के रूप में स्वीकार कर चुके हैं।

दूसरे प्रकार की लिपि काफी साफ-सुथरी और स्पष्ट होती थी।

शैली की दृष्टि से भी यहाँ यह स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि आगे जाकर गद्य की दो प्रमुख शैलियाँ बन गई थीं—जैन शैली तथा चारण शैली। इस समय का एक विशिष्ट ग्रंथ 'प्रथीचंद चरित' अपर नाम 'वाग्विलास' जैनाचार्य माणक्य-सुन्दर सूरि द्वारा रचा हुआ मिलता है। इसका रचनाकाल सवत् १४७८ है। इसमें वर्णन बड़ा सजीव, कथात्मक एवं महत्वपूर्ण है। लोक-भाषा में वर्णनों का ऐसा सुन्दर संदर्भ ग्रंथ सम्भवतः अन्य नहीं है। इसमें पृथ्वीचन्द्र के चरित्र की अपेक्षा वाग्विलास रूप-चमत्कारिक वर्णनों की ही प्रधानता के कारण रचयिता ने ही सार्थक नाम 'वाग्विलास' स्वयं रखा है। ग्रन्थ प्रायः तुकान्त गद्य में लिखा गया है, जिसे पढ़ते समय काव्य-का सा आनन्द प्राप्त होता है। उस समय में ऐसे ग्रंथ का निर्माण वास्तव में राजस्थानी गद्य साहित्य की समृद्धि का महत्वपूर्ण उदाहरण है। ग्रन्थ की भाषा भी अपेक्षाकृत परि-मार्जित एवं सुन्दर है। उदाहरण के रूप में एक-दो वर्णन देखिये—

मरहट्ठ देस वरणण—

> 'जिरण देसि ग्राम अत्यन्त अभिराम। भलां नगर जिहां न मागीयइ कर। दुर्ग जिस्यां हुई स्वर्ग। धान्य न निपजइ सामान्य। आगर, सोना, रुपा तणा सागर। जेइ देस माहि नदी वहीइं, लोक सुपहं निर्वहइ। इसिउ देस पुण्य तणउ निवेश गरुअउ प्रदेश। तिणि देस पइठाणपुर पाटण वर्तइं, जिहां अन्याय न वर्तइं। जीणइ नगरि कउसीसे करी सदाकार पापलि पोढ़उ प्राकार, उदार प्रतोली द्वार। पाताल भणी धाई, महाकाय पाइ, समुद्र जेहनु भाई। जे लिइ केलास पर्वत सिउंवाद, इस्या सर्वज्ञ देव तणा प्रासाद। करइ उल्लास, लक्षेस्वरी कोटिध्वज तणा आवास। आणंदइ मन, गरुउं राजभवन। उपरि उटंड सुवर्णमय दड, ध्वजपट लह-लहई प्रचंड।'

वास्तव में राजस्थानी साहित्य की उत्पत्ति और विकास में जैन धर्म का बहुत हाथ रहा है। विकासोन्मुख राजस्थान का प्राचीन रूप हमें उस समय के जैन आचार्यों की भाषा में मिलता है। इस पर विशेष कर नागर अपभ्रंश का अधिक प्रभाव है। वाग्विलास के सात-आठ साल बाद ही संवत् १४८५ में हीरानंद सूरि द्वारा लिखा गया 'वस्तुपाल तेजपाल रास' नामक ग्रन्थ की भाषा से यह स्पष्ट हो जाएगा—

> 'इसउ एक श्री सत्रुंजय तणउ विचारु महिमा नउ भण्डार मंत्रीस्वर मन माहि जाणी उत्तरंग आणी। यात्रा उपरि उद्यम कीधउ, पुण्य प्रमादन नउ मनोरथ सिधउ।'

इस समय की भाषा के 'कीधउ' (कीधौ) 'सिधउ' आदि रूप विशेष रूप से दृष्टव्य हैं। 'उ' का प्रयोग प्रायः शब्दांत में प्रचुरता के साथ मिलता है।

इस समय में अनेक जैनेतर (चारण शैली) रचनाओं का भी निर्माण हुआ है। संवत् १४८५ में रची गई 'अचळदास खीची री वचनिका' इनमें प्रमुख है। इसके रचनाकाल के विषय में विद्वानों में मतभेद है। श्री अगरचंद नाहटा एवं श्री मोतीलाल मेनारिया ने इसे पंद्रहवीं शताब्दी का ग्रंथ माना है। श्री मेनारिया ने इसका रचनाकाल स्पष्ट रूप से १४८५ ही दिया है।[1] परंतु डॉ० रामकुमार वर्मा ने संवत् १६१५ माना है।[2] हमारे दृष्टिकोण से इस ग्रंथ की रचना संभवतः पंद्रहवी शताब्दी में हुई है। डॉ० तैस्सितोरी का मत भी इसी का समर्थन करता है।[3] इसका रचयिता शिवदास चारण कवि था। उसने इस ग्रंथ में गागरौन के खीची शासक अचळदास की उस वीरता का वर्णन किया है जो उन्होंने मांडल के पातिशाह के साथ युद्ध में दिखलाई थी। उस युद्ध में अचळ-दास वीरगति को प्राप्त हुए। शिवदास ने यह सब आंखों-देखा वर्णन किया है। ग्रंथ में पद्य के साथ-साथ वात रूप गद्य भी पाया जाता है। यह गद्य सर्वत्र तुकांत नहीं है। उस काल की रचना का यह अच्छा उदाहरण है।

> 'तितरइ वात कहतां वार लागइ। अस्त्री जन सहस चाळीस कउ संघाट आइ संप्राप्ती हुवइ छइ। बाळी-भोळी अबळा-प्रउढा

---

[1] राजस्थानी भाषा और साहित्य—पं० मोतीलाल मेनारिया, पृ० १००।

[2] हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास—डॉ० रामकुमार वर्मा, तृतीय संस्करण, पृष्ठ १७८।

[3] A descriptive Catalogue of Bardic and Historical Mss. Pt. J. Bikaner State, Fasc. I., P. 401.

जानै। अरु जुग काल कल्प इनिकी रचना तत्व जिनि गायौ। सुगंध कौ समुद्र तिनि कौं मेरी दंडवत। स्वामी, तुमैं तौ सत्गुरु अम्हैं तौ सिख सव्द एक पूछिवौ, दया करि कहिवौ मनि न करिवौ रोस।'

उपरोक्त अवतरण में 'पूछिवौ' 'कहिवौ' 'करिवौ' आदि के प्रयोगों के कारण इसके रचयिता को आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने राजस्थान का निवासी माना है।[1] पूर्वी राजस्थान में आज भी क्रियाओं के अंत में 'वौ' लगाने की प्रथा है। किन्तु इन्हीं प्रयोगों को देख कर कुछ बंगाली विद्वानों ने अनुमान किया है कि इसकी भाषा पर पूर्वी बंगाल की भाषा का प्रभाव पड़ा है। नाथपंथी साधक प्रायः देशाटन करते रहते थे। अतः उनकी भाषा पर अनेक स्थानों की भाषाओं का प्रभाव पड़ना सम्भव है। अधिकतर विद्वानों ने उपरोक्त अवतरण को ब्रज-भाषा का नमूना माना है। वास्तव में यह ब्रजभाषा का ही उदाहरण है। प्राचीन राजस्थानी में वाक्यों का संगठन इस ढंग का नहीं मिलता।

चौदहवीं शताब्दी का एक और गद्य का उदाहरण श्री मोतीलाल मेनारिया ने प्राचीन राजस्थानी गद्य के नमूने के रूप में अपनी 'राजस्थानी भाषा और साहित्य' नामक पुस्तक में उद्धृत किया है—

> 'ज्ञानाचारि पुस्तक पुस्तिका संपुट संपुटिका टीपणां कवली उतरी ठवणी पाठा दोरी प्रभृति ज्ञानोपकरण अवज्ञा, अकालि पठन अतिचार विपरीत कथनु, उत्सूत्र प्ररूपणु अश्रद्धधांन—प्रभृतिकु आलोयहु।'—आराधना[2] (संवत् १३३०)

श्री संग्रामसिंह द्वारा रचित 'बाल शिक्षा व्याकरण' में भी राजस्थानी गद्य के उदाहरण पाये जाते हैं। इस ग्रंथ का रचनाकाल संवत् १३३६ है। यद्यपि यह संस्कृत व्याकरण का ग्रंथ है तथापि समझाने के लिए इसमें राजस्थानी गद्य के शब्द-समूह का प्रयोग किया गया है।

पद्य की तरह राजस्थानी गद्य के भी प्रारंभिक विकास में जैन विद्वानों का विशेष हाथ रहा है। संवत् १४११ के गद्य का एक उदाहरण एक जैन आचार्य द्वारा लिखा मिलता है। इसे राजस्थानी गद्य के नमूने के रूप में स्वीकार किया जा सकता है।

> 'ग्रामि एक अति दरिद्रता करी दुक्खित डोकरी एक हूंती। हूंस्उ इसइ नामि तेहनउ दीकिरउ एकु हूंतउ। सु आजिविका कारणि ग्राम लोक तणा वाछरू चारतउ। अनेरइ दिनि संध्या समइ-उद्यान-वन हूंतउ वाछरू ले आवतउ हूंतउ सु सर्पि डसिउ, मूर्च्छा आवी; तिहाईजि महाविखवेग संगनु हूंतउ हेठउ ढलिउ। जिम काष्टु निस्चेष्टु हुयइ, तिम थाई मही पीठि पड़िउ। किणिहि एकि ग्राम माहि आवी करि डोकरि आगइ कहिउ—ताहरउ दीकिरउ सरपि डसिउ। बाहिरि अचेतनु थाई पड़िउ छइ।' तरुणप्रभा-चार्य[1] संवत् (१४११)

पन्द्रहवीं शताब्दी में राजस्थानी गद्य में दो प्रकार की लिपि का प्रयोग होता था। पहले प्रकार में महाजनी लिखावट होने से मात्राओं आदि का बहुत कम प्रयोग किया जाता था। राव चूंडा के समय का (वि० सं० १४७८) एक ताम्र-पत्र बड़ली ग्राम में प्राप्त हुआ है। इसमें तत्कालीन महाजनी लिखावट का प्रयोग किया गया है—

> श्री राव चूंडाजी रो दत बड़ली गांव।
> प्रोयत सादा नै दीधौ संवत् १४ व...
> रस आठतरो काती सुद पूनम रै।
> दिन बार सूरज पुस्करजी माथै।
> पुण्यारथ कीदौ महाराज चूंडाजी।
> दुवौ तेवीस हजार वीगा जमीनी।
> म समेत ईस्वर प्रीतये
> गांव दीधौ हिन्दू नै गऊ मुसलमा
> सूर माताजी चामुंडाजी सूं वेमुख
> आल-औलाद अणारी कोई गोती पोती।
> ईस्वर सूं वेमुख प्रोयत सादा नै।[2]

---

[1] हिंदी साहित्य का इतिहास—आचार्य रामचन्द्र शुक्ल।

[2] प्राचीन गुजराती गद्य-संदर्भ—मुनि जिनविजय, पृष्ठ २१८-२१६।

[1] 'षडावश्यक बालावबोध'—रचयिता खरतरगच्छाचार्य तरुणप्रभ सूरि, संवत् १४११।

[2] मारवाड़ का इतिहास, प्रथम भाग, लेखक—विश्वेश्वरनाथ रेऊ, पृष्ठ ६५ से उद्धृत।

रसवति वरणन—

'उपलइ मांहि प्रमवइ कालि। भला मंडप निपाया, पोयणी नैं पांनैं छाया। केसर कुंकम ना छड़ा दीधा। मोती ना चौक पूरचा। ऊपरि पंचवरणा चंद्रवा बांध्या, अनेक रूपे आछी परियछीना रंग माव्या। फूला ना पगर भरचा, अगर ना गंध मंचरचा। थांन गादी चातुरि चाक्ला, वटमरण हारा वइठा पाताळा। सारवा घाट मेलाव्या आगलि पाट। ऊंची आडणी, झलकती कुडली। ऊपरि मेलाव्या मुविमाळ थाळ, वाटा, वांटली सुवरणमई कचौळी। रूपा नी सीप हूकी, इसी भांत मूकी।'

इस काल में तुकांत गद्य वाले और विशिष्ट वर्णनात्मक गद्य ग्रन्थ राजस्थान में निरन्तर बनते रहे हैं। राजस्थानी की इस परम्परा पर संस्कृत के काव्यकार वाण की रचना में भाषा की चित्रोपमता, लय-समन्वित विचारों की नूतन परम्परा तथा अलंकरणप्रियता अधिक है। दंडी की भाषा शिष्ट, स्निग्ध एवं शान्त है। पद-विन्यास की प्रौढ़ता अनूठी लाक्षणिकता, सजीव मूर्तिमत्ता का समावेश, उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा आदि का मनोरम प्रयोग आदि विशेषताएँ दण्डी के साहित्य में बहुलता से मिलती हैं। राजस्थानी गद्य-काव्यों में भी अलंकरणप्रियता अधिक है। संस्कृत में ऐसे गद्य के लिए जिसमें अनुप्रासों और समासों की अधिकता हो एवं जिसमें पद्य का सा आनन्द आवे, वृत्तगंधी का उल्लेख किया गया है। गद्य की भाषा हमारे जीवन के अधिक समीप है, अतः अत्यधिक भावुक हृदय कवि-जन, जिन्हें छन्दों की कृत्रिमता प्रिय नहीं है, इसी के माध्यम से अपने भावों को व्यक्त करते हैं, किन्तु उस समय के साहित्य पर पड़ा हुआ पद्य का विशाल प्रभाव, उन्हें पद्य के समीप रहने की ही प्रेरणा देता था। अतः गद्य होते हुए भी उनके पढ़ने और सुनने में पद्य के समान आनन्द या रस प्राप्त होता है। ऐसे गद्य-काव्यों का यह निष्कर्ष निकालना ठीक न होगा कि पद्यबद्ध रचना के क्षेत्र में असफल होने पर ही कविगण गद्य का आश्रय लेते हैं। पद्यबद्ध रचना के क्षेत्र में पूर्ण सफल व्यक्ति ही गद्य-काव्य-क्षेत्र में उतर सकते हैं। गद्य की स्वाभाविकता ने जहां लेखकों को गद्य लिखने के लिए प्रोत्साहित किया वहां पद्य की एक लय, एक ध्वनि, एक आश्रय की सत्ता का भी इन्होंने उपयोग किया। यह वह समय कहा जा सकता है जब कि गद्य पद्य से अलग होने का प्रयत्न कर रहा था किन्तु पद्य के प्रभाव से पूर्ण रूप से मुक्त अभी तक न हो सका था। सम्भवतः गद्य-काव्यों की इतनी प्राचीन परम्परा आधुनिक समय में प्रचलित अन्य भाषाओं में नहीं मिलती।

सोलहवीं शताब्दी के उत्तरकाल में निर्मित दो और पद्यानुकारी कृतियों का उल्लेख हम यहां कर रहे हैं। ये दोनों राजस्थानी साहित्य-भाग २, में प्रकाशित हो चुकी हैं।[1] जैसा कि हम लिख चुके हैं, ये रचनाएँ गद्य में होने पर भी पद्यात्मक शैली से प्रभावित हैं—

१. 'पहिलउ दामा पुरोहित तणी नगरी श्री तिमरी आविया, पइसा रा मोटइ मंडाण कराविया, जांगी ढोल झालरि संखि वादित्र वजाविया, बिहुं पासे पटकूल तणा नेजा लहकाविया, पगि पगि खेला नचाविया, तणिया तोरण बंधाविया। गीत गान कीधा पून कळस मूहव सिरि दीधा; भला मगळीक कीधा। घरि-घरि गूडि ऊछळी, श्री सघ तणी पूगी रळी। दाहो तरमो वरसां तणी कांण भागी, पुण्य तणी वेली वधिवा लागी। सरव······का भेळउ हूयउ। अभंग जोड़ी वडा वंधव श्री सूजा सहित राउल सातल वगावितउ सोभइ।'

२. 'मिळिया ओसवाळ, श्रीमाळ, ढिलीवाळ, खंडेलवाळ, गुजराती, मेवाती, जैसलमेरा, अजमेरा, भटनेर, सिंधू, बहुतेरा, गोडवाड़ा, मेवाड़ा, मारुआड़ा, महेवेचा, कोटडेचा, पाटणेचा, मांडया सोवन पाट, ववळिया मदिर हाट, फूल विखेरचा वाट, एकन हुवा महाजन-तणा थाट, हमक्या ढोल-निसाण, ऊमटिया खरतर नां खुरसाण, ऊछव करइ जिणराज ठाकुर सुजाण। वाजिवा लागा तूर, ऊपना आणद पूर भट्ट थट्ट लहइं कूर कपूर, याचक आपइ आसीस लहइं बोल वभीस, न करइ लगाइ रीस, पूगी मनइ जगीस, पूत कळस ले नारी आवइ, धवळ मंगळ गावइ, मोतिए गुरइ वधावइ, ऊपरि अति बहुमूल, उतारइ सोवन फूल, उछाळइ चावळ, फूआ वेळाउळ, जाणिवा लागा राउळ, जिसा गयणि गाजइ वादळ, निसा रळी रळी रणकइ मादळ, चउपट चडसाळ वाजइ ताळ कंसाळ।'

---

[1] ये दोनों रचनाएँ संवत् १५४८ एवम् १५६६ के मध्य में रची गई हैं। पहली रचना में जैसलमेर के गढ़ सातल का परिचय दिया गया है एवम् दूसरी रचना में खरतरगच्छाचार्य श्री शान्तिसागर सूरिजी के वैशिष्ट्य पर प्रकाश डालने के साथ ही तत्कालीन जोधपुर नरेश की वीरता एवम् उदारता का उल्लेख है।

सोडस-वारखी-राणी रवताणी वहदा-वहदी ही आपणा देवर जेठ भरतार का सत देखती फिरइ छइ।'

इसके अतिरिक्त इस ग्रंथ में तुकांत गद्य का भी उदाहरण मिलता है जो काव्य का सा आनन्द देता है—

'पगि पगि पउलि हस्ती की गज घटा, तौ ऊपरि सात-सात सइ धनक-घर सांवठा। सात-सात ओलि पाइक की बइठी, सात-सात ओलि पाइक की उठी। खेडा उडण मुद फरफरी चुहंच की ठांइ ठांइ ठररी इसी एक त्यापट उडि चत्र दिसी पडी, तिण वाजि तकड निनादि घर आकास चडहडी। वाप वाप हो! थारा आरंभ पारंभ लागि गढ़ लेयण हार किना। बाप वाप हो! थारा सत तेज अहंकार, राइ द्रुग राखणहार।'

संवत् १५१२ में 'कान्हडदे प्रवंध' की रचना हुई। इसमें भी पद्य के वीच-वीच में कहीं-कहीं गद्य मिलता है—

'वाघवालिया च्यारि च्यारि विलगा छइ। किरि जाणीइ आकासि तणा गमन करसि। अथवा पाताल तणां पाणी प्रगटावसि। ते घोड़ा गगोद कि स्नांन कराव्या तेह तणि सिरि श्री कमलि पूजा कीधी। तेह तणि पूठि बावनो चंदन तणा हाथी दीधा। तेह तणि पूठि पंच वर्ण पाखर ढाळी। किसी पखर—रणपखर, जीणपखर, गुडिपखर, लोहपखर, कातलीयालीपखर।'

उस समय की साहित्यिक भाषा एवं वोलचाल की अथवा ताम्रपत्रों की भाषा में पर्याप्त अंतर दृष्टिगोचर होता है। संवत् १५१६ में जोधपुर के महाराजा राव जोधाजी ने श्रीपति के पुत्र रिषभदेव को, जो जाति का सारस्वत ब्राह्मण था और जिसका अवट्टंक ल्होड़ ओझा था, पुरोहितपन का ताम्रपत्र कर दिया था। उस ताम्रपत्र से उस काल की भाषा पर पर्याप्त प्रकाश पड़ता है—

'महारावजी श्री जोधाजी वचनायते तथा कनोज सूं सेवग लूंब्र रिसी जातऐ सारसुत ओजो ल्होड़ सेवा लेनै आयो सु राठौड़ वंस रा सेवग ऐ है। ठेटु कदीम सूं मुलगायां रो सेवगपणो इणारो है। पहरी वंस रै माताजी श्री आदपंखणीजी चक्रेश्वरीजी पछै राव श्री धूहड़जी नूं वर दीधो नै नाग रा रूप सूं दरसण दीधो तरै नागणेचियां कहांणी सु धूहड़जी रो तांबापत्र ओझा रिषभदेव श्रीपत रा बेटा कनै थी सु वाचनै मैं ही तांबापत्र कर दीधो। इण मुजब राठौड़ वंस रो सवगपणो रो लवाजमो जाया परणियो नेग दापो राजलोक रावळै करै सु वरत वडुलियो सरवेत रणां रो नेग है नै राठौड़ वंस गोतमस गोत्र अकरूर साखा री लार इतरा जणा छै। पीरोत सेवड़ ओजा सेवग लोड मथरेण रुदर देवा। सो देस परदेस मांहरी आल ओलाद पीढी दर पीढी ओजा रिषभदेव री।'[1]

मुसलमानी शासन के कारण अरवी-फारसी के भी कई शब्द बोलचाल की भाषा में प्रवेश पा गये हैं। उपरोक्त ताम्रपत्र में भी कदीम, लवाजमो, आल-औलाद आदि शब्दों का प्रयोग विशेष रूप से दृष्टव्य है।

श्री मेनारिया ने 'राजस्थानी भाषा और साहित्य' में संवत् १५३२ के लगभग लिखे गये एक ताम्रपत्र का उल्लेख किया है—

'धरती वीघा तीन सै सुर प्रब में उदक आधाट श्री रामार अरपण कर देवाणी सो अणी जमी रो हांसल भोग डंड वराड लागत वलगत कुडा नवाण रुख वरख आंवा महुड़ा मेर को खड़म सरब सुदी थारा बेटा पोता सपुत कपुत खायां पायां जायेला।'[2]

जैन धर्म के उद्धारक भगवान महावीर ने लोक-भाषा में अपने प्रवचन किये और परवर्ती जैनाचार्यों ने भी लोक-भाषा का सदा आदर किया और उसमें निरन्तर साहित्य-निर्माण करते रहे। अतएव लोक-भाषा के क्रमिक विकास के अध्ययन की सामग्री केवल जैन साहित्य में ही सुरक्षित है। जैन आचार्यों ने लोक-भाषा में केवल रचनाएँ ही नहीं कीं, अपितु उन रचनाओं को सुरक्षित रखने का भी महान् प्रयत्न किया। जैन भंडारों में से बहुत-से ऐसे ग्रन्थ उपलब्ध हुए जिनकी प्रतियां अन्यत्र कहीं भी उपलब्ध नहीं होतीं।

जैन भण्डारों से उपलब्ध सोलहवीं शताव्दी में रची गई दो-तीन रचनाओं का उल्लेख करना यहां अनुचित न होगा। जैसलमेर के जैन भण्डार से १६वीं शताव्दी के आरम्भ में लिखा गया एक विशिष्ट वर्णनात्मक ग्रन्थ अपूर्ण रूप में प्राप्त हुआ है, जिससे तत्कालीन भाषा पर अच्छा प्रकाश पड़ता है। इनमें से कुछ वर्णन तो संस्कृत में हैं किन्तु अधिकांश वर्णन राजस्थानी में ही लिखा गया है।

---

[1] मारवाड़ का संक्षिप्त इतिहास—ले० रामकरण आसोपा, पृ. १८५ से उद्धृत।

[2] राजस्थानी भाषा और साहित्य—पं० मोतीलाल मेनारिया, पृ. २७४।

(ग) काल्पनिक– बात ठग री बेटी री, पदमकळा री बात, फोगसी एवाळ री बात, कोड़ीधज री बात, चंदण मळयागिरि री बात आदि ।

(घ) पौरांणिक– सोमवती अमावस री कथा, बुधास्टमी व्रत कथा, राजा नळ री बात, द्वारका महातम री बात, रांमनवमी री कथा आदि ।

२–विषय की दृष्टि से—

(क) प्रेम– सोरठ री बात, ऊमादे भटियांणी री बात, ढोला मरवण री बात, बींझरै अहीर री बात, रांणै खेतै री बात, सोना री बात आदि ।

(ख) वीर– जगदे पँवार री बात, सोनिगरै मालदे री बात, राव चूंडै री बात, डाढाळै सूर री बात, राजा प्रथीराज चौहांन री बात, गौड़ गोपाळदास री बात आदि ।

(ग) हास्य– च्यार मूरखां री बात, गोदावरी नदी रै जोगी री बात, मांमै भांणजै री बात, राजा भोज और खापरियै चोर री बात, बीरबळ री बात आदि ।

(घ) शान्त– राजा भोज री पनरमी विद्या री बात, भांडरा गांम रै पीर री बात, रांमदास वैरावत री आखड़ियां, रांमदे तुवर री बात आदि ।

३–भाषा के प्रभाव की दृष्टि से—

(क) राजस्थांनी– नागौर रै मामले री बात, सूरां अर सतवादियां री बात, सांई री पलक में खलक वसै तैं री बात, राजा भीम सूं जुध कियौ तैं री बात आदि ।

(ख) उर्दू मिश्रित– कुतबदी साहिजादै री बात, देहली री बात, लुकमांन हकीम की आपर्णै बेटे कूं नसीहत आदि ।

(ग) व्रजभाषा मिश्रित– नासिकेत री कथा, पूरणमानी री कथा आदि ।

(घ) गुजराती मिश्रित– अंजना सती री बात ।

४–रचना प्रकार की दृष्टि से—

(क) गद्यात्मक– सूरिजमल हाडै री बात, राजा करणसिंहजी री कंवरी री बात आदि ।

(ख) गद्य पद्यात्मक– रतना हमीर री बात, नागजी नागमती री बात, पना वीरमदे री बात आदि ।

(ग) पद्यात्मक– विद्याविळास चौपई, नळ दमयंती चौपई, सनिस्चरजी री कथा, ढोला मारवणी चौपई आदि ।

५–शैली की दृष्टि से—

(क) घटनात्मक– पातिसाह औरंगजेब री हकीकत, जैपुर में सेव वैस्णवां रौ झगड़ौ हुयौ तैंरौ हाल आदि ।

(ख) वर्णनात्मक– खीची गंगेव नींबावत रौ वेपारौ, लूणसाह री बात रौ वखांण आदि ।

(ग) विचारात्मक– माघ पिंडत, राजा भोज, डोकरी री बात, जसनाथ जाट री बात ।

६–उद्देश्य की दृष्टि से—

(क) व्यक्ति चित्रण– हरराज रै नैणां री बात, हरदास ऊहड़ री बात, ऊदै उगणावत री बात, महाराजा पदमसिंह री बात आदि ।

(ख) समूह दर्शन– भायलां री बात, बूंदेलां री बात, सांचौर रै चहुवांणां री बात, गढ़ वांधव रै धणियां री बात ।

(ग) समय व स्थान विशेष का वर्णन– राव बीकै बीकानेर वसायौ तैं समै री बात, रांणै उदैसिंह उदयपुर वसायौ तैं समै री बात, अणहलवाड़ा पाटण री बात आदि ।

उपरोक्त वर्गीकरण के साथ इस बात का भी ध्यान रखना आवश्यक है कि राजस्थानी बात-साहित्य इतना विस्तृत तथा विविधतापूर्ण है कि उसका पूर्ण वैज्ञानिक वर्गीकरण करना साधारण रूप में सम्भव नहीं है ।

"राजस्थानी साहित्य में मोटे तौर पर दो प्रकार की वातें मिलती हैं । एक तो वे बातें जिनका लिपिबद्ध स्वरूप बन गया है और जिनकी भाषा-शैली में स्थायी रूपगत विशिष्टता प्रकट होती है । दूसरे वर्ग के अन्तर्गत वे बातें आती हैं जिनका कोई एक शैलीगत रूप लिपिबद्ध नहीं हो सका, किन्तु वे अभी तक लोगों की जबान पर ही हैं । इस दूसरे प्रकार की बातों को लोक-कथाओं के नाम से भी पुकारा जाता है ।"[1]

राजस्थानी लोक-कथाओं की दृष्टि से भी बहुत समृद्ध है । राजस्थान के भूतकालीन इतिहास की गौरव कथायें आदि विविध रसों से परिपूर्ण होकर लोककथाओं के रूप में प्रचलित

[1] परम्परा–राजस्थानी बात संग्रह, भूमिका, पृष्ठ १२ ।

धीरे-धीरे गद्य का विभिन्न रूपों में विस्तार होने लग गया था। आवश्यकतानुसार विभिन्न विचार-प्रवाह के रूप में गद्य का प्रयोग किया जाने लगा। इस प्रकार सोलहवीं शताब्दी में विभिन्न रूपों में गद्य-लेखन आरंभ हो चुका था। वात, ख्यात, पीढ़ी, वंसावली, टीका, वचनिका, हाल, पट्टा, वही, शिलालेख, खत आदि के माध्यम से समाज के संघर्ष-पूर्ण तत्वों, सौन्दर्य-भावनाओं, सृजनात्मक प्रवृत्तियों तथा अन्य कितने ही कार्य-व्यापारों का सुन्दर चित्रण हुआ है। इन विभिन्न विषयों के संबंध में मुन्शी देवीप्रसाद ने 'चांद' (मारवाड़ी अंक) नवम्बर १९२९ में 'भाट और चारणों का हिन्दी भाषा सम्बन्धी काम' नामक एक लेख में लिखा था—

"ये लोग पद्य को 'कविता' और गद्य को 'वारता' कहते हैं। 'वारता' ग्रंथ 'वचनका' 'वात' और 'ख्यात' कहलाते हैं। 'वचनका' और 'ख्यात' इतिहास के और 'वात' किस्से-कहानी के ग्रंथ हैं। इनमें गद्य और पद्य दोनों प्रकार की कविताएँ हैं। 'वचनका' और 'ख्यात' में बनावट का भेद होता है। 'वचनका' में तुकबंदी होती है, 'ख्यात' में नहीं होती पर उसकी इबारत सीधीसादी होती है।'

समृद्धता की दृष्टि से राजस्थानी का वात साहित्य सबसे अधिक महत्वपूर्ण है। राजस्थान में कहानी लिखने की परम्परा बहुत प्राचीन समय से चली आ रही है। संपूर्ण वात साहित्य के प्रकाश में न आने के कारण अधिकांश विद्वान वातों की विशिष्ट विशेषताओं के संबंध में अनभिज्ञ ही रहे। यही कारण है कि अधिकतर विद्वानों ने इन वातों का विषय (रईसों, नवाबों आदि के अवकाश के क्षणों में मनोरंजन हेतु) प्रेम एवं अतिरंजित एवं आकस्मिक घटनाओं से परिपूर्ण ही माना है। डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी ने 'हिन्दी साहित्य' नामक पुस्तक में राजस्थानी गद्य साहित्य के विषय में लिखा है—'व्रजभाषा की भाँति ही राजस्थानी में ख्यात, वात और वार्ताओं का साहित्य थोड़ा बहुत बनता रहा। मुगल दरबार में 'किस्सागोई' नाम की एक विशेष प्रकार की कला का जन्म हो चुका था। मुगल काल के अंतिम दिनों में तो 'किस्सा-गोई' या 'दास्तानगोई' एक पेशे का रूप धारण कर चुकी थी। किस्सा-गो लोग अवकाश के क्षणों में बादशाहों, नवाबों और अन्य रईसों का मनोरंजन किया करते थे। इन कहानियों का प्रधान विषय प्रेम हुआ करता था और अतिरंजित एवं आकस्मिक घटनाओं से वर्ण्य-विषय को आकर्षक बनाने की चेष्टा भी होती थी। राजपूत दरबारों में भी इनका थोड़ा-बहुत अनुकरण होने लगा, इसी कारण राजस्थानी भाषा में भी 'किस्सागोई' का साहित्य बनता रहा। परन्तु जिस प्रकार राज-पूत कला मुगल कला से प्रभावित होकर भी भीतर से संपूर्ण रूप से भारतीय बनी रही, उसी प्रकार यह आख्यान साहित्य भी संपूर्ण रूप में भारतीय ही बना रहा।'

इस सम्बन्ध में एक बात विशेष उल्लेखनीय है कि राज-स्थानी वात साहित्य पर मुगल काल में प्रचलित **किस्सागोई** का असर भले ही पड़ा हो किन्तु राजस्थानी में वात साहित्य सम्बन्धी रचनाएँ मुगलों के भारत में आने से पहले ही निर्मित होती रही हैं। अतः राजस्थान की कहानी कहने और लिखने का विचार नितान्त मौलिक है। 'वात' शब्द भी कहानी का उपयुक्त पर्याय नहीं है। 'वात' शब्द में कहानी के अन्तर्गत वर्णित की जाने वाली सम्पूर्ण रोचकता, कहने वाले की विज्ञता और सुनने वाले के जिज्ञासापूर्ण आग्रह का एक मिश्रित भाव-सृजन निहित है। विषय की दृष्टि से भी राजस्थानी वार्ताओं का प्रेम, वीर, हास्य एवं शान्त रस के अन्तर्गत वर्गीकरण किया जा सकता है। श्री रावत सारस्वत ने विभिन्न दृष्टियों से 'वातों' का जो वर्गीकरण किया है[1] वह राजस्थानी वात साहित्य को पूर्णरूपेण समझने में सहायक होगा।

१—कथानक की दृष्टि से—

(क) ऐतिहासिक—राव रिणमल री वात, पाबूजी री वात, कानड़दे री वात, नापै सांखळै री वात, राव अमरसिंहजी री वात आदि।

(ख) अर्द्ध ऐतिहासिक— गोगैजी री वात, सयणी चारणी री वात, जोगराज चारण री वात, राजा मांन-धाता री वात, पीरोजसाह पातिसाह री वात, मूमल री वात आदि।

[1] राजस्थान भारती, वर्ष ३, जुलाई १९५१।

निर्वाह, लयात्मक भापा में काव्य का सा आनंद और सामाजिक सत्य की अभिव्यक्ति आदि के कारण सैकड़ों वर्पों से ये वातें राजस्थान के लोगों को अत्यन्त प्रिय रही हैं।

सोलहवीं शताव्दी के उत्तरार्द्ध तक राजस्थानी का गद्य साहित्य काफी उन्नति कर चुका था। सुसंगठित भापा में उपमाओं, दृष्टान्तों और उत्प्रेक्षाओं एवं अतिशयोक्तियों का अत्यन्त सुन्दर प्रयोग होने लगा था। रुढ़ उपमानों के अतिरिक्त अन्य कितने ही नये मौलिक उपमानों का भी प्रयोग हुआ है। पद्य के समान गद्य में भी नख-शिख वर्णन राजस्थानी वातों में पाया जाता है। सोलहवीं शताव्दी[1] का ही इस संवंध में गद्य का एक और उदाहरण देखिये—

'तठा उपरांति करि नैं राजां न सिलामति नख सिख सूधौ सिरणगार वखांणीजै छै। वासिगां सारीखी पद्मवेरण ऊपरि सीमफूल मोतिआं रौ वणाव वणी नैं रहियौ छै। पूनिमचंद सो मुख सोळै कळा संपूरण विराजिओ छै। तिलक वीच विंदी खिल नैं रही छै। कवांण ज्यां वाकी भ्रांहां भमर विलसी विराज नै रहिया छै। म्रिघ नैंणां त्रिखां मलकां ज्यों जळवालिआं टोए अणिआळी काजळ ठांविया छै सू आनी नासिका वीच वेसर वणी, उजळ पाणी नरमदा मोती प्रोया सू लटकि नैं रहिआ छै। विचै लाल मणी झळक रही छै।'

—राजांन राउतरौ वात-वणाव।

राजस्थानी वातों की यह परम्परा आधुनिक काल तक निर्वाध गति से चली आ रही है। सोलहवीं शताव्दी के वाद भी साहित्यिक एवं ऐतिहासिक दृष्टि से वहुत सी सुन्दर वातें लिखी गईं, जिनका हम आगे यथास्थान उल्लेख करेंगे।

वात साहित्य के अतिरिक्त उस समय 'वंसावळी' या 'पीढ़ियावळी' भी लिखी जाती रही, जिनका साहित्य की अपेक्षा इतिहास की दृष्टि से अधिक महत्व है। वंसावळी या पीढ़ियावळी में पीढ़ियाँ दी जाती हैं, जिनके साथ में व्यक्तियों का संक्षिप्त या विस्तृत परिचय भी प्रायः रहता है। विविध जातियों की वंशावलियाँ भाट, मथेरण आदि जाति के व्यक्तियों द्वारा लिखी जाती रही हैं। वीकानेर के जैन संग्रहालयों में इस प्रकार की लिखी गई वंशावलियाँ प्रचुर मात्रा मे उपलव्ध होती हैं। 'वच्छावत वंसावळी, राठौड़ वंस री विगत आदि वंशावळियाँ तो इतिहास की दृष्टि से भी वहुत महत्वपूर्ण हैं। विविध राज्यों की लिखी हुई अधिकांश पीढ़ियावलियाँ आधुनिक समय में उपलव्ध नहीं हैं। जो मिलती हैं उनसे ही राजस्थान के इतिहास पर अच्छा प्रकाश पड़ता है।

संवत् १६०० के लगभग की लिखी गई 'राठौड़ों की वंशावळी' से उस समय की भापा एवं वंशावलियाँ लिखने के ढंग की जानकारी प्राप्त की जा सकती है।

'पछै मुलतान री फौजाँ नैं दिली री फौजां ले नैं राउ चूंडै उपर नागौर आयौ। राउ चूंडो नागोर मारिया पछै केल्हण अपूठो आयौ।'—राठौड़ां री वंसावळी (सं० १६००)

पन्द्रहवीं शताव्दी के 'वालाववोध' लिखने की परंपरा भी अभी तक जैन लेखकों में चली आ रही थी। वालक भी सरलता से समझ सकें इस तरह की टीका को 'वालाववोध' कहा गया है।[1] संवत १६०० की लिखी गई 'मुनिपति चरित्र वालाववोध' की एक प्रति हमारे देखने में आई है। भापा की दृष्टि से यह ग्रन्थ काफी महत्वपूर्ण है। इसकी भापा का एक उदाहरण देखिये—

साकत (साकेत) नगर चंद्रावतंसक राजा। तहनइ (तेहनइ) त्रि भार्या। एक सुदर्शना। वीजी पद्मावती। सुदर्शना ना वि पुत्र। सागरचंद्र। मणिचंद्र। पद्मावती ना वि पुत्र। गुणचंद्र। वालाचंद्र। चंद्रावतंसक राजा इंदीवउ दखी। (देखी) अभिग्रह लीवउ। जां ए दीवउ वलि सिइ तांमइ का सगन पाखिउ। दासिइं च्यारइ पुहर दीवउ सींचिउ। राजानउं सयर ।लाही (लोही) भरिउं। मूरछा आवी। आकुल हुउ। मरी ।दवालां कि गिराज परीधउ मिलिउ। (मरी देव लोकि गिरोज परीधउ मिलिउ)

इस समय की वोलचाल की भापा में अरवी-फारसी का प्रयोग वढ़ता जा रहा था। शासन-कार्यो में भी फारसी-मिश्रित राजस्थानी का प्रयोग होता है। वारहठ लक्खा द्वारा

[1] राजस्थानी साहित्य संग्रह, भाग १, प्रकाशक—राजस्थान पुरातत्वान्वेपण मंदिर—में प्रकाशित श्री अगरचंद नाहटा का एक लेख, पृष्ठ ३४ के आधार पर।

[1] परंपरा, भाग ६-१० 'नीतिप्रकास' में प्रकाशित श्री अगरचंद नाहटा का एक लेख— 'राजस्थानी भापा में अनुवाद की परम्परा', पृष्ठ १७२।

हो गई हैं। ग्राम-ग्राम में इन लोक-कथाओं की समृद्ध स्मृतियाँ और रसात्मक श्रुतियाँ प्रचलित हैं और नाना जनों के स्मरण और कण्ठ में रम रही हैं। स्थानीय प्रभावों के कारण उनमें अधिक विभेद पाया जाता है और लिपिबद्ध बातों में जहाँ घटनाओं का एक रूढ़ रूप परिपाटी से चला आ रहा है वहाँ इन वातों (लोक-कथाओं) में परिवर्तन के लिए सदैव गुंजाइश रहती है। वातों की रचना-प्रणाली पर विचार करने से यह बात स्पष्ट हो जायगी।

यद्यपि राजस्थानी की प्राचीन वातों में आधुनिक साहित्य की कहानियों में मिलने वाला सूक्ष्म तत्वों का चित्रण, पात्रों का वैज्ञानिक चरित्र-लेखन तथा कहानी लेखक के विस्तृत अध्ययन की सारगर्भित मार्मिक उक्तियों आदि का अस्तित्व आदि नहीं मिलता तथापि राजस्थानी वातों की अपनी एक विशिष्ट शैली है।

घटना-बाहुल्य राजस्थानी वातों की प्रमुख विशेषता है। इनमें पाठकों को मन्त्रमुग्ध करने की अपूर्व क्षमता है। बीच-बीच में जहाँ भी अवसर प्राप्त होता है वहीं प्रकृति की अनुपम छटा, नगर की विशालता एवं सम्पन्नता, दुर्ग की अभेद्यता, युद्ध की भयंकरता, वीरों का रण-कौशल, हाथी-घोड़ों के लक्षण, अस्त्र-शस्त्रों की विशेषताएँ, नायिका का सौन्दर्य, उसके शृंगारिक उपकरणों आदि का बड़ा सुन्दर वर्णन किया गया है। ये वर्णन इतने सजीव एवं मार्मिक हैं कि पाठकों के कल्पना पटल पर सजीव चित्र उपस्थित कर देते हैं। वात कहने वाले या लिखने वालों की दृष्टि इतनी पैनी हो गई है कि वे अत्यंत सूक्ष्म तत्वों का निर्देश करना भी नहीं भूले हैं। उदाहरण के रूप में जहाँ मृगया का वर्णन हो रहा है वहाँ एक-एक क्षण के परिवर्तन के सुन्दर चित्र हैं। किसी सरस विषय को वे और भी मनोरंजक बना देते थे। कुछ रचनाएँ तो ऐसी हैं जिनमें शताब्दियों का इतिवृत्त ठूंस दिया गया है एवं उनका लिपिबद्ध रूप सैकड़ों पृष्ठों में जाकर समाप्त होता है। किन्तु कुछ रचनाओं में थोड़े से समय में घटित होने वाली छोटी-छोटी घटनाओं का भी अत्यन्त विशद वर्णन है: सोलहवीं शताब्दी में[1] रची गई 'खींची गंगेव नींबावत री दो-पहरौ' इसका सुन्दर उदाहरण है। इसमें खीची-वंशीय नींबा के पुत्र गंगेव की एवं उनके साथियों की एक दिन की दिनचर्या का वर्णन है जिसमें दुपहर का वर्णन प्रधान है। छोटे-छोटे वाक्यों की सुन्दर योजना के कारण गंभीर भावों की आलोचना तथा सूक्ष्म तत्वों का चित्रण बड़ा सुन्दर बन पड़ा है। इसी वात का एक उदाहरण देखिये—

> 'तठा उपरायंत मोदियां नै हुकम हुवौ छै। भूंजाई सारू सारी ही वसत सीधौ मीठांण वेसवार सरब लेय राती-नाडी चालज्यो, म्है सिकार रमै उण नाडी आवां छां। सू मोदी भोई तो पाधरा नाडी रै मारग वहीर हुवा छै। आप रमणै'र मारग भाखरां नै खुडां रै मारग चालिया छै। घोड़ां रा पोडां सूं जमी गूंज रही छै। खेह री डोरी आकास नै जाय लागी छै। घूघरमाळ घोड़ां री वाज रही छै। हींस कळळ होफ हुयनै रही छै। वहलियां रा घूघरां जंगां री झमकार हुयनै रह्यौ छै। वहलां रा वांस पइयां री खड़वड़ाट हुयनै रह्यौ छै। होकारा हुयनै रह्या छै। सहनायां में मलार राग हुयनै रह्यौ छै। निसांण मुंहडै आगै फरहरतै रह्या छै। नकीब, चोपदार नजर दौलत। सू सूरज री किरण नै वरछियां री एकै किरण हुयनै रही छै। इसौ समीयौ वणनै रह्यौ छै।'

वर्णन परंपरागत होते हुए भी इसकी सरसता में कमी नहीं आ पाई है। व्यक्ति-चित्रण भी इन वातों में बड़े सुन्दर ढंग से उपस्थित किया जाता है। इसी 'खीची गंगेव नींबावत रौ वेपारौ' नामक वात में खीची गंगेव के व्यक्तित्व का रेखा-चित्र देखिये—

> 'तठा उपरांयत गंगेव नींबावत बाहर पधारै छै, सू किण भांत रौ छै ? ऊगतौ सूरज, पावासर रौ हांस, कुंवरांपत कुंवर, जळहर जवाध भोगी भंवर, कसतूरियौ म्रिघ, लांघियौ सिंघ, सोळ गंगेव, दुरजोधन अहमेव, जुजठळ ज्यूं साच, दुरवासा वाच, ग्यांन रौ गोरख, सहदेव ज्यूं सारी वात समरथ, अरजुन ज्यूं बांण, करण ज्यूं दांन पांण, वत्तीस आखड़ी रौ निवाहणहार, वैरियां विभाड़णहार, पर-भोम पंचायण, घण दियण, जस लियण, कळायरौ मोर, सूंघै भोनै गात, केसरिया पौसाख कियां, पांच हथियारां बाधां आंण घोड़ै असवार हुवै छै।'

प्राय: सभी वातों में तत्कालीन समाज की परिस्थितियों का सुंदर चित्रण मिलता है। इन वातों से मध्यकालीन राजस्थान के बहुत बड़े समाज के सामाजिक एवं राजनैतिक वातावरण, आमोद-प्रमोद, रूढ़ि-निर्वाह, जीवन सिद्धान्तों आदि पर प्रकाश पड़ता है। वर्णनों की सजीवता, औत्सुक्य का

---

[1] राजस्थानी साहित्य संग्रह, भाग १, प्रकाशक— राजस्थान पुरातत्वान्वेषण मंदिर में प्रकाशित अगरचंद नाहटा का एक लेख, पृ० २४ के आधार पर।

सैकड़ों की संख्या में उपलब्ध होते हैं। इनमें 'भागवत दसम स्कंध भासा', 'महाभारत भासा', 'गरुड़ पुरांण भासा' आदि के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं।

मुस्लिम संस्कृति एवं साहित्य के प्रसार के कारण फारसी भाषा के भी अनेक ग्रंथों का अनुवाद राजस्थानी में किया जाने लगा। उन्नीसवीं शताव्दी तक तो यह परंपरा वहुत ही बढ़ गई थी।

टीकाओं एवं अनुवादों के अतिरिक्त सत्रहवीं शताब्दी के परवर्ती काल तक गद्य काव्य का रूप भी काफी निखर चुका था। भाषा में लालित्य की मात्रा कुछ अधिक दृष्टिगोचर होने लगी थी। वर्णन वड़े सुन्दर होते थे। सत्रहवीं शताब्दी में लिखित एक वर्णनात्मक ग्रन्थ में विरहिणी का वर्णन देखिये—

'हारु त्रोड़ती, वलय मोडती। आभरण भांजती, वस्त्र गांजती। किंकणी कलाप छोड़ती, मस्तक फोड़ती। वक्षस्थल ताड़ती, कंचउ फाड़ती। केश कलाप रोलावती, प्रथ्वी तलि लोटती। आंसूकरी कंचुक सींचती, डोडली दृष्टि मींचती। दीन वचन वोलती, सखीजन अपमानती। थोड़इ पांणी माछळी जिम तालोवलि जाती, सोक विकल जाती, सोक विकल थाती। क्षणि जोयइ, क्षणि रोयइ। क्षणि हसइ, क्षणि रूसइ। क्षणि आक्रंदइ, क्षणि निंदइ। क्षणि मूझइ, क्षणि वूझइ। तेह तनु संतापइ चंदणु। कमळनाल पुण मेलइ जाल। चंद्रकांति ज्वलइ, पुस्प सय्या वलइ। हार भावइ अंगारु, कदलीहर, मानइ जमहर, जे जल सीकर ते उद्वेग कर। जउ सीतलोपचार, ते करइ विकार। इणि परि प्रज्वलित, स्नेह पटल, विरहानल नीपजइ।'[१]

जैसा कि पहले लिखा जा चुका है कि सत्रहवीं शताब्दी तक मुगलकालीन साहित्यिक एवं सांस्कृतिक विशेषताओं का प्रभाव राजस्थान की भाषाओं एवं वोलियों पर भी पर्याप्त रूप से पड़ने लगा था। उस समय की वे वार्तायें अथवा लोक-कथायें जो वोलचाल की भाषा में लिखी जाती रहीं, उनमें अरवी-फारसी के शव्द निस्संकोच रखे गये हैं। ये कथाएँ साहित्यिक निपुणता या चमत्कार की दृष्टि से नहीं लिखी गईं। सत्रहवीं शताव्दी की लिखित 'कुतवदीन साहिजादै री वारता' का एक उद्धरण देखिये—

'एक दिवस पीरोजसाह का उमराव दांनसमंद की वेटी साहिवां खुलावती थी, ढ़ढ़णी खुस्याल भई महरवांन हुई कर कहण लागी—'अरे साहिवां तूझ कूं उपगार करूंगी इहै खूव मर्मा क्या उपगार करैगी उपगार करती है हमारै वडां वुढ़ु कै नांम लेती है।'

साधारणत: लोक-कथाओं का निर्माण जन-साधारण के लिये ही किया जाता था, अत: उन कथाओं की रचना प्राय: वोल-चाल की भाषा में ही की जाती थी। अरवी-फारसी शव्दों का प्रचलन वोलचाल की भाषा में निरन्तर वढ़ता ही जा रहा था। लेखक प्राय: अरवी-फारसी के अच्छे जानकार भी होते थे। अत: वाद की 'वातों' में अरवी-फारसी का प्रयोग वड़ा सुव्यवस्थित ढंग से हुआ। 'वातों' में इन शव्दों के प्रचुर प्रयोग का दूसरा कारण इन लोक-कथाओं का कई वर्षो तक लिपिवद्ध नहीं होना भी है। लिपिवद्ध न होने से इनका स्वरूप स्थिर न रह सका और कालान्तर में इनकी भाषा अरवी-फारसी शव्दों से प्रभावित होती गई और जव इनको लिपिवद्ध किया गया तव तक ये शव्द इन वातों में अपनी जड़ जमा चुके थे। 'वात' के लेखकों ने जहाँ मुसलमानी पात्रों का वर्णन एवं कथानक प्रस्तुत किया है वहाँ उसके अनुरूप अरवी-फारसी के शव्दों का प्रयोग भी किया है जिससे वर्णन में अत्यंत स्वाभाविकता वनी रहती है—

'नवाव मुहीम सर कर पदमपुरे सूं पाव कोसे'क गांव थो उणमें आ उतरियौ थो। इतरै उण वखत रा ढोल नगारा वाजिया जिका सुण'र पूछी—आज भाई के पुरे में ढोल नगारे जो वाजे हैं सो किसी की सादी है या कोई कुंवर पैदा हुवा है या किही ऊपर फतह हासिल की है? सो जाय सताव खवर लेय आवौ। जणां आदमी खवर नु गयौ। आदमी तुरत आय सारी खवर सुणाई।

—महाराजा श्री पदमसिंह री वात

प्राचीन राजस्थानी का गद्य अनेक रूपों में मिलता है। वातें, लोक-कथायें, वंशावलियाँ आदि का उल्लेख हम कर चुके हैं। संवत् १७१५ में एक और प्रमुख 'वचनिका' का निर्माण हुआ। इसके पहले शिवदास चारण द्वारा 'अचळदास खीची री वचनिका' लिखी जा चुकी थी जिसका उल्लेख हम यथास्थान कर चुके हैं। उसी परंपरा में जग्गा खिड़िया ने 'वचनिका राठौड़ रतनसिंघ जी री महेसदासोत री' की रचना

---

१ राजस्थान साहित्य संग्रह, भाग १, प्रकाशक : राजस्थान पुरातत्वान्वेषण मंदिर, जोधपुर में प्रकाशित अगरचंद नाहटा के एक लेख के पृ० २२ पर दिया गया उद्धरण।

संवत् १६४२ में कुलगुरु गंगारामजी को बादशाह अकबर की ओर से दिये गये ताम्रपत्र की भाषा के उदाहरण से यह बात स्पष्ट हो जायेगी—

परवाना

लीखावतां वारहठजी श्री· लखोजी समसत चारण वरण दीसजात्रा सीरदारां सूं श्री जेमाताजी की बाचज्यो अठे तपत आगरा श्रीपातसाजी श्री १०८ श्री अकबर साहजी रा हजुरात दरीपांना माहीं भाट चारणां रा कुळ री नंदीक कीधी जण वषत समसत राजेसुर हाजर था वां का सेवागीर वी हाजर था जकां सुण अर मो सु समंचार कह्या जद सब पंचां री सला सु कुलगुरु गंगारांमजी प्रगणै जेसलमेर गांव जाजीयां का जकानें अरज लीष अठे बुलाया गुर पधारया श्री पातसाहजी नी रुवकारी में चारण उत्पत्ती सास्त्र सिवरहस्य सुणायौ पंडतां कबूल कीधो जण पर भाट झुटा पड्या गुरां चारण वंस री पुषत राखी नीवाजस सारां वुतासु सीवाय वंदगी कीधी ओर मारा वुता माफक हाली लाप पसाव प्रथक दीधो गांव की अेवज वावन हजार वीगा जमी ऊजेण के प्रगने दीधी जकण रो तांवापत्र श्री पातसाहजी का नांव को कराय दीधो अण सवाय आगा सुं चारण वरण समसत पंचां कुल गुरु गंगारामजी का बाप दादा ने व्याव हुअे जकण में कुल दापा रा रुपीया १७।।) ओर त्याग परट हुवे जीण मां मोतीसरां को नांवो बंधे जीण सु दुणौ नांवो कुल गुरु गंगारांम का वेटा. पोता पायां जासी संमत १६४२ रा मती माहा सूद ५ दसकत पचोली पन्ना-लाल हुकम बारठजी का सु लीखी तखत आगरा समसत पंचां की सलाह सू आपांणौ यां गुरां सू अधीकता दुजी नहीं छै।[1]

परवर्ती काल में राजस्थानी गद्य में साधारणतः दो प्रकार की पुस्तकें लिखी गईं—कुछ स्वतंत्र ग्रंथ तथा कुछ साहित्यिक ग्रंथ की टीकाएँ, अनुवाद आदि, स्वतंत्र ग्रंथों के अन्तर्गत इस समय में रचा गया 'दलपत विळास' का उल्लेख आवश्यक है। इसकी रचना रायसिंहजी के समय में संवत् १६२१ से १६६८ के बीच किसी समय हुई थी[2] क्योंकि इसमें संवत् १६३२ तक की घटनाओं का उल्लेख मिलता है। इस ग्रन्थ की भाषा का एक उदाहरण देखिये—

'एक अमरै कल्याणमलोत पातिसाही साढि ली हुती। ताहरां कुंवर श्री दळपतजी नूं राजाजी कहाड़ि मेल्हियो जुं ऐ सांढि घेराए। अर इणनूं काढे परहा धरती महा अमरै नूं। ताहरां इसड़ै सै टांणै कुंवर श्री दळपतिजी वीकानेर थी चढि अन इयां सांमहा पधारिया। आंवासर महा करि, सोहवै महा करि सिंधू पधारिया। सिंधू ओथ खवरि पाई जु एथि तो नैड़ा सा नहीं। ताहरां सिंधू हुता कूच करि अर बाढसरि पधारिया। ओथि राघवदास रा आदमी खोसाखूंदी करता हुता सु कुंवर श्री दळपतजी झलाड़िया।'

दूसरे प्रकार के ग्रन्थ अनुवाद एवं टीका के रूप में मिलते हैं। अनेक साहित्यिक ग्रंथ (जिसमें अधिकतर काव्य ग्रंथ ही होते थे) जो साधारण जन के लिये सहज रूप में बोधगम्य नहीं होते थे, उनकी उस समय में प्रचलित सरल गद्य में टीका प्रस्तुत की जाती थी जिससे जन-साधारण भी उन काव्य-ग्रंथों का रसास्वादन कर सकें। राजस्थानी अनुवादों की विविध शैलियां पाई जाती हैं। वे अनुवाद या टीकाएँ जो जैन ग्रंथों या जैन विद्वानों के किये हुए हैं, उन्हें प्रधानतया 'टव्वा', 'वालाववोध' और 'वार्तिक' के नाम से ही संवोधित किया गया है। 'टव्वा' संक्षिप्त शब्दानुवाद का द्योतक है। अनुवाद अनेक प्रकार के पाये जाते हैं जिनमें शब्दानुवाद, छायानुवाद प्रधान रूप से उल्लेखनीय हैं। विस्तृत विवेचन को टीकाओं की संज्ञा मिल जाती है। इस काल में अनेक ग्रंथों की टीकायें लिखी गईं। प्रथीराज की 'वेलि' पर लिखी गई आठ-दस टीकायें मिलती हैं, उनमें प्राचीनतम रूप में उपलब्ध टीका का उदाहरण हम यहां दे रहे हैं जो संभवतः संवत् १६८३ का है—

'वलि को वंधणहार। सब ही वात सामरथ। श्री क्रसण रुखमणीजी वांह पकड़ि रथ उपरि वैसाणी। तवै वाहर वाहर हुई। कहण लागा जु कोई होय सु दौड़िज्यौ। हरणाखी कहतां रुकमणीजी हरि कहतां क्रस्ण हरि ले गयौ।'

— वेलि क्रिसण रुखमणी री टीका (संवत् १६८३)

इन टीकाओं के अतिरिक्त दूसरी भाषाओं के ग्रंथों का भी राजस्थानी में अनुवाद किया गया। संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश आदि प्राचीन भाषाओं में रचित ग्रंथों को समझना जव जन-साधारण के लिए अत्यन्त कठिन हो गया तब प्रचलित भाषा में उनके अनुवाद की आवश्यकता अनुभव की जाने लगी। यद्यपि प्रारम्भ में अधिकांश अनुवाद जैन आचार्यों द्वारा किए हुए ही मिलते हैं तथापि जैनेतर अनुवाद भी वाद में

---

[1] नागरी प्रचारिणी पत्रिका, भाग १, संवत् १६७७ में प्रकाशित 'चारणों और भाटों का झगड़ा' नामक लेख, पृ० १३१-१३४ से उद्धृत।

[2] राजस्थान भारती, भाग २, अंक १, जुलाई १६४८, पृ० ५१।

भी काफी मात्रा में पाये जाते हैं। यथा— गड़गड़, हड़बड़, धड़ड़ि, खाटरखड़ि, क्रह्क्रह, चड़च्चड़, भाटभड़ि, वड़वड़, कणकण, कळळ, सळस्सळि, टळट्टळि खड़क्खड़ आदि। संस्कृत-मूलक कुछ शब्द तत्सम रूप में भी आये हैं। इस ग्रंथ का एक अतुकांत गद्य का उदाहरण देखिये—

'इणि भांति सूं च्यारि रांणी त्रिण्ह खवासि द्रव्य नाळेर उछाळि वळण चाली। चंचळां चढि महा सरवर री पाळि आइ ऊभी रही। किसड़ी हीं'क दीसैं। जिसड़ी कीरतियां री भूं बको। कैं मोतियां री लड़ी। पवंगां नूं उतरि महा प्रवीत ठौडि ईसर गौरिज्या पूजी। कर जोड़ि कहण लागी। जुग जुग औ हीं'ज धणी देज्यौ। न मांगां वात दूजी। पछै जमी आकास पवन पाणी। चंद सूरज नूं। प्रणाम करि। आरोगी ढोळी परिक्रमा दीन्ही। पछैं आप रैं पूत परिवार नैं छेहली सीख मति आसीस दीन्ही।'

—वचनिका राठौड़ रतनसिंघजी री (सं० १७१५)

बात और वचनिका के अतिरिक्त राजस्थानी गद्य साहित्य के विकास में ख्यातों का भी महत्वपूर्ण स्थान है। साहित्यिक दृष्टि के अतिरिक्त ऐतिहासिक दृष्टि से भी इन ख्यातों का महत्व बहुत अधिक है। राजस्थानी में 'ख्यात' शब्द प्राय: इतिहास के पर्याय रूप में ही प्रयुक्त होता रहा है। 'ख्यात' संस्कृत के 'ख्याति' शब्द का रूपान्तर मात्र है।[1] अठारहवीं शताब्दी में कई ख्यातें लिखी गईं। वैसे क्रमबद्ध इतिहास लिखने की परंपरा प्राचीन भारत में नहीं मिलती, किन्तु मुगलकाल में लिखी गई फारसी तवारीखों के प्रभाव के कारण लोक-भाषाओं में इतिहास लिखने का प्रयत्न किया गया। सम्राट अकबर को इतिहास से बड़ा प्रेम था। उसने अपने समय में इतिहास लेखन को बहुत महत्व दिया। अब्दुल फजल द्वारा 'अकबर नामा' एवं 'आइने अकबरी', अब्दुल कादिर बदऊनी कृत 'तारीखे बदऊनी' निजामुद्दीन द्वारा 'तवकाते अकबरी' आदि प्रसिद्ध ऐतिहासिक ग्रंथ इसी समय लिखे गये। स्थानीय राजाओं ने भी इतिहास-लेखन के महत्व को समझा एवं इसके लिखाने की आवश्यकता अनुभव करने लगे। सम्राट ने भी राजपूत राजाओं को इसके लिये प्रेरित किया। इसके बाद प्राय: प्रत्येक राजपूत राजा के समय में नियमपूर्वक ख्यातें लिखी जाती रहीं। राजस्थानी का प्राचीनतम ख्यात साहित्य प्राय: इसी समय से मिलना आरंभ होता है। वास्तविक एवं प्रामाणिक गद्य साहित्य का उदाहरण इन्हीं ख्यातों में मिलता है। ये ख्यातें विभिन्न लोगों द्वारा लिखी जाती रहीं। कुछ ख्यातें तो राज्य की ओर से नियुक्त ख्यात-लेखकों द्वारा लिखी गईं। इन ख्यातों में अपने स्वामी के प्रति प्रशंसायें ही अधिक हैं, आलोचनायें कम। इस दृष्टि से इनका साहित्यिक मूल्य चाहे कितना ही क्यों न हो, ऐतिहासिक मूल्य अवश्य कुछ कम हो जाता है। इन राजकीय ख्यात-लेखकों के अतिरिक्त कुछ व्यक्तियों ने स्वतंत्र रूप से भी ख्यातें लिखीं। इतिहास की दृष्टि से ये ख्यातें ही अधिक प्रामाणिक एवं महत्वपूर्ण हैं। इनमें नैणसी, दयाळदास व बाँकीदास के नाम प्रमुख रूप से लिये जा सकते हैं।

ख्यातें प्राय: दो ढंग से लिखी जाती रहीं। एक तो वे जो लगातार इतिहास के रूप में लिखी गई एवं जिनमें साधारणतया क्रम-भंग नहीं होता। इसके अंतर्गत 'दयाळदास री ख्यात' मानी जा सकती है। दूसरे प्रकार की वे ख्यातें हैं जिनमें क्रमबद्ध इतिहास के स्थान पर क्रमरहित फुटकर बातें पाई जाती हैं। कुछ बातें उनमें बड़ी भी होती हैं एवं कुछ बातें नितांत छोटी एक डेढ़ लाइन में ही समाप्त होने वाली होती हैं। अगर इन बातों को क्रम से लगा दिया जाय तो भी इनसे कोई श्रृंखला-बद्ध इतिहास नहीं बनता। दूसरी श्रेणी के अंतर्गत 'बाँकीदास की ख्यात' की गणना की जा सकती है।

आधुनिक समय में लिखे गये मुगलकालीन इतिहास प्राय: मुसल्मानी तवारीखों को आधार मान कर ही लिखे गये हैं, अत: ये इतिहास बहुत कुछ अधूरे, भ्रमात्मक एवं एकपक्षीय ही कहे जा सकते हैं। राजस्थानी ख्यातों से सहायता लेकर इन भूलों एवं अधूरेपन को दूर किया जा सकता है, किन्तु अद्यावधि इनका उपयोग नाम मात्र के लिये ही हुआ है। संभवत: इसका प्रमुख कारण इन ख्यातों का शीघ्र प्रकाशित न होना भी हो।

---

[1] नागरी प्रचारिणी पत्रिका, भाग १, में प्रकाशित 'विविध विषयों' के अंतर्गत 'चारण' पर विचार प्रकट करते हुए श्री चंद्रधर शर्मा गुलेरी ने मुरारि कवि के नाम से श्लोक दिया है—

चर्चाभिश्चारणानां क्षिति रमण, परां प्राप्य संमोदलीलां।
मा कीर्तेः सौविदल्ला नवगणय कवि प्रात वाणी विलासान्॥
गीतं ख्यातं न नाम्ना किमपि रघुपतेरद्य यावत्प्रसादा।
द्वाल्मीकेरेव धात्रीं धवलयति यशोमुद्रया रामभद्रः॥

इनमें 'ख्यात' शब्द का प्रयोग है, अत: ऐसा माना जा सकता है कि 'ख्यात' शुद्ध तत्सम शब्द है।

कि किन्तु शिवदास के निर्दिष्ट मार्ग पर चल कर भी जग्गा साहित्यिक दृष्टि से उससे आगे निकल गया। भाषा की दृष्टि से इसका रूप शिवदास की वचनिका से अधिक सुधरा हुआ है। इसमें गद्य-पद्य दोनों का प्रयोग बड़े सुंदर ढंग से किया गया है। प्रवंध काव्यों में पद्य के साथ ही साथ गद्य के प्रयोग की परंपरा भी राजस्थानी साहित्य में काफी समय से चली आ रही है। संभवतः यह प्रणाली संस्कृत के चम्पू ग्रन्थों से ली गई है। इस प्रकार के गद्य ग्रन्थों में ये गद्य खंड विभिन्न नामों से मिलते हैं, यथा—वचनिका, वारता दवावैत आदि।

१–वारता—औरंगसा पातसा आसुर अवतार। तपस्या के तेज पुंज एक से विसतार। माप का विहाई सा प्रताप का निदांन। मारतंड आगे जिसी जोतसी जिहांन।—राजरूपक (सं० १७८७)

२–दवावैत—ऐसा गढ जोधांण और सहर का दरसाव जिसके चौतरफ कौं वागीचूं का डंबर और दरियाऊं का वणाव। पहिले वागीचूं की सोभा कहिके दिखाया पीछे दरियाऊं की तारीफ जिसके गुन गाया। सो कैसे कहि दिखाया जळ निवांणू का निवास रतिराज का वास। गुलजार के रस ने हौजूं का वणाव। इंद्रलोक सा उदोत अवासूं का दरसाव।—सूरजप्रकास (सं० १७८७)

'वचनिका' ग्रन्थ में एक-एक चरित्रनायक का विवरण और यश-वर्णन रहता है। 'रघुनाथ रूपक' इत्यादि छंद-शास्त्रीय ग्रंथों में गीतों आदि का विवेचन करने के साथ वार्ता, वचनिका, दवावैत आदि गद्य रूपों के भी लक्षण उदाहरण सहित दिए हैं। उसमें गद्य के दो भेद माने हैं—दवावैत और वचनिका। इन दोनों के भी दो दो भेद किये गये हैं—दवावैत के शुद्धवंध और गद्यवंध तथा वचनिका के पद्यवंध और गद्यवंध। मंछ कवि द्वारा लिखे गये दवावैत की व्याख्या करते हुए उसके टीकाकार श्री महताबचंदजी खारैड़ ने लिखा है—"दवावैत कोई छंद नहीं है, जिसमें मात्राओं वर्णो अथवा गणों का विचार हो। यह अंत्यानुप्रास रूप गद्य जाल है। अंत्यानुप्रास, मध्यानुप्रास और किसी प्रकार का सानुप्रास या यमक लिया हुआ गद्य का प्रकार है। यह संस्कृत, प्राकृत, फारसी, उर्दू और हिन्दी भाषा में भी अनेक कवियों और ग्रंथकारों द्वारा प्रयोग में लाया हुआ मालूम देता है। आधुनिक लल्लूलालजी के 'प्रेमसागर' आदि ग्रंथों में तथा उर्दू के 'वहारवेख़िजा', 'नोवतन' आदि ग्रंथों में तथा फारसी के ग्रंथों में देखा जाता है। यह दवावैत दो प्रकार की होती है—एक शुद्धवंध अर्थात् पद्यवंध जिसमें अनुप्रास मिलाया जाता है और दूसरी गद्यवंध जिसमें अनुप्रास नहीं मिलाते हैं।

इस सम्बन्ध में श्री अगरचन्द नाहटा द्वारा अपने एक लेख में दी गई टिप्पणी भी उल्लेखनीय है[1]—"रघुनाथरूपक में वचनिका और दवावैत के जो भेद बताये गये हैं, उनके नामों में थोडा उलटफेर हो गया है, गद्यबद्ध को पद्यबद्ध और पद्यबद्ध को गद्यवद्ध कह दिया गया है। टीकाकार ने जो टिप्पणियाँ दी हैं वे भी भ्रांतिपूर्ण हैं। शुद्ध विवेचन इस प्रकार है—वचनिका के दो भेद होते हैं—(क) पद्यवध (या पदबद्ध), जिसमें मात्राओं का नियम होता है। इसके दो भेद होते हैं—१. जिसमें आठ-आठ मात्राओं के तुक-युक्त गद्य खंड हों और २. जिसमें बीस-बीस मात्राओं के तुक-युक्त गद्य खंड हों। (ख) गद्यबद्ध, जिसमें मात्राओं का नियम नहीं होता। इसके भी दो भेद होते हैं—३ वारता (कहीं-कहीं तुकान्त गद्य के लिये भी वात, वार्ता या वार्तिक नाम का प्रयोग देखा जाता है) या साधारण गद्य ४. तुक युक्त गद्य। दवावैत के भी इसी प्रकार दो भेद होते हैं—१. पद्यवद्ध (या पदवद्ध) इसमें चौवीस-चौवीस मात्राओं के तुकयुक्त गद्य खंड होते हैं; २ गद्यवद्ध—इसमें तुकयुक्त गद्य खंड होते हैं, मात्राओं का नियम नहीं होता। दवावैत और वचनिका मे क्या अन्तर है, यह अभी तक समझ में नहीं आ पाया है। वचनिका के चतुर्थ भेद और दवावैत के द्वितीय भेद में कोई अन्तर नहीं दीख पड़ता। उपलब्ध दवावैतों की भाषा राजस्थानी से प्रभावित खड़ी बोली हिंदी है जबकि वचनिकाओं की राजस्थानी।"

संवत् १७१५ में रची गई राठौड़ रतनसिंघजी महेसदासौत री वचनिका' इस दृष्टि से अत्यन्त महत्वपूर्ण रचना है। चारण कवियों और काव्य-रसिकों में वचनिका का अत्यधिक मान और सत्कार रहा है। यह एक प्रवंध काव्य है। उस काल के अन्य ग्रंथों के समान वचनिका में भी विदेशी (अरबी-फारसी) शब्दों का प्रयोग हुआ है किन्तु उनकी संख्या वहुत ही कम है। डिंगल के कुछ विशिष्ट ध्वन्यानुकरण-मूलक शब्द

---

[1] राजस्थानी साहित्य संग्रह, भाग १, प्रकाशक : राजस्थान पुरातत्वान्वेषण मदिर, जोधपुर, में प्रकाशित 'राजस्थानी गद्य काव्य की परम्परा' नामक श्री अगरचन्दजी नाहटा द्वारा लिखे गये एक लेख में दिये गये फुट नोट के आधार पर।

उत्कृष्ट कोटि का गद्य साहित्य लिखा। शैली की विविधता की दृष्टि से भी इस काल का विशेष महत्व है।

संवत् १८०० के गद्य का एक उदाहरण श्री मेनारिया ने राजस्थानी भाषा और साहित्य में दिया है—

'पछै बामण सोदो ले नै तळाव उपर रोटी करवा बैठो। जठे तळाव री तीर एक मीडक आयौ। आवे न बांमण थी कही। देवता तोंहे तो में अठे कदी नहीं देख्यौ। तू कठे जाग्र है। जदी बांमण कहै। हूँ उजीण रहौं छूँ नै गयाजी जांऊ छूँ।'

भाषा की दृष्टि से यह उदाहरण उन्नीसवीं शताब्दी के परवर्ती काल का मालूम होता है। संवत् १८०० तक गद्य साहित्य में इतनी आधुनिकता नहीं आने पाई थी।

कविराजा बाँकीदास द्वारा संवत् १८६० में लिखी गई ख्यात राजस्थान पुरातत्वान्वेषण मंदिर से प्रकाशित हो चुकी है। इसमें छोटी-छोटी फुटकर बातों का संग्रह है। लगभग २७७६ बातें इसमें संग्रहीत हैं। राजपूताने के समस्त राज्यों एवं मुगल बादशाहों के इतिहास सम्बन्धी अनेक फुटकर नोट इसमें भरे पड़े हैं। ख्यात की भाषा का एक उदाहरण दृष्टव्य है—

'अकबर री मा मक्का वगैरै मकां-सरीफ ज्यांरी ज्यारत करण गयी। पातसाह मिरजा सरफुद्दीन नुं साथै मेलियौ। अेक पीर विलायत में जिण री ज्यारत सुहागवती करै, विधवा न करै। ज्यारत करण वास्तै विधवा अन्य पुरख सूं अवध करि निका पढ़ लै। उण पीर री ज्यारत करण नूं अकबर री मा मिरजा सरफुद्दीन साथ निका पढ़ी। दिली अकबर री मा पाछी आयी। जद आ वात सुणी अकबर फुरमायो—आगै तो सरफुद्दीन हमारा चाकर रहा, अब हमारा बावा है।'

उन्नीसवीं शताब्दी का वात साहित्य के विकास की दृष्टि से काफी महत्व है। इस शताब्दी के आरंभकाल (संवत् १८१२) में लिपिबद्ध 'श्री ढोलामारूजी री वारता' नामक एक ग्रन्थ जोधपुर के 'पुस्तक प्रकाश' में वर्तमान है। ग्रन्थ प्राय: दोहों-सोरठों में ही लिखा गया है किन्तु बीच-बीच में कुछ फुटकर गद्य भी दिया गया है—

'जण गांम ऐवाळ रहंतो हुतो अण गांम ऐक लुगाई री नांम मांरुणी हुंती। ऐवाळ जांणीयो वा मारु। ऐवाळ कहण लागो मारु तो माहरा साथ मांह छै। काले म्हारी छाळ चारती हुंती।'

'ढोला मारू री वात' की एक और लिपिबद्ध प्रतिलिपि संवत् १८७२ की मिलती है। इस काल के गद्य का क्रमश: विकास समझने में इसका उदाहरण भी सहायक होगा—

'पिंगळ राजा सांवतसी देवड़ा नै आदमी मेल कहायो—अवै थै आणौ करो। तद सांवतसी घणौ ही विचारियो पण बात बांध कोई बैसे नहीं। कुंवरि नै ऊझणौ दे मेली जे। तद ऊंठ, घोडा, रथ, सेजवाळ, खवास, पासवांन, साथे हुवा सो उदैचद खमै नहीं। वाट रोक्या छै। अनरथ होय, माल जाय। तरै सांवत सी आदमी ने कह्यौ—जै मारग विखम छै। आप द्यांनै परधांन मेलो तो आणो करां। कुंवरि नै घरे पहुंचायां पछै सारी बात सोरी छै। इतरो कहि आदमी नै सीख दीधी।'

उपरोक्त दोनों उदाहरणों की तुलना से यह स्पष्ट है कि जहां पहले उदाहरण में प्राचीनता की छाप स्पष्ट है वहाँ पिछले उदाहरण में भाषा आधुनिकता की ओर बढ़ती हुई दिखाई देती है। 'रहंतौ हुतौ' 'चारती हुंती' आदि प्रयोग आधुनिक वातों में नहीं मिलते, अगर मिलते भी हैं तो उनकी संख्या नगण्य है। अरबी-फारसी के शब्दों का प्रयोग प्राय: बढ़ता जा रहा था। संभवत: इसका कारण यह था कि उस समय राजस्थान के अधिकतर रजवाड़ों का शासन-संबंधी कार्य प्राय: फारसी के माध्यम से ही संपन्न होता था।

जैसा कि ऊपर लिखा जा चुका है कि इस शताब्दी में वात रचनाओं में विविध शैलियों का प्रयोग किया गया। प्रतीकात्मक शैली में लिखी गई 'डाढ़ाळा सूर की वात' इस सम्बन्ध में विशेष रूप से उल्लेखनीय है। इस वात में वीरोचित कार्यों का आरोपण एक सूअर परिवार पर किया गया है। 'डाढ़ाळा सूर' की वीरता अपने युग की वीर भावना के अनुकूल एवं अनुरूप है। किन्तु जहाँ किसी ऐतिहासिक कथा में 'वीरता' पात्रों एवं घटनाक्रम में निहित रहती है, वहां इस वात में 'वीरता' को अमूर्त तत्व के रूप में ही ग्रहण किया जा सकता है। संभवत: प्रतीकात्मक शैली में लिखी गई यह पहली रचना है, इस कारण इसका महत्व और भी बढ़ जाता है। सूअर की व्यवहारगत और स्वभावजन्य परिस्थितियों के आधार पर मानवोचित वीरभाव की अभिव्यंजना जैसी सुन्दर इस वात में बन पड़ी है, वैसी संभवतया अन्य किसी प्रकाशित वात में नहीं पायी जाती। किसी ने इस वात के सम्बन्ध में ठीक ही लिखा है कि 'प्रतीक के ही कारण

ख्यात-लेखकों को विभिन्न विषयक सामग्री खोजने तथा उसे उचित रूप में उपस्थित करने के लिये अथक परिश्रम करना पड़ा है, किन्तु खेद है कि उनके इस कठोर परिश्रम का अभी तक उचित मूल्याङ्कन नहीं किया गया।

ख्यातों में गद्य एवं पद्य दोनों का प्रयोग किया गया है तथापि पद्य की मात्रा बहुत ही कम है। ख्यात-साहित्य की इस परंपरा में मुँहणौत नैणसी द्वारा संवत् १७१९ में लिखी ख्यात बहुत महत्वपूर्ण है। नैणसी की ख्यात में बातें बहुत बड़ी-बड़ी हैं जो कई पृष्ठों तक चलती हैं। अगर इन बातों को क्रम से व्यवस्थित कर दिया जाय तो उनसे क्रमवार इतिहास बन जाता है।

'मुंहणौत नैणसी की ख्यात' राजस्थानी गद्य की अत्यन्त प्रौढ़ और उत्कृष्ट रचना कही जा सकती है। इस ख्यात के गद्य का एक नमूना देखिये—

'माछळां रा मगरा सूं उतर नै सहर छै। दीवांण रा मोहल पीछोळा री पाळ ऊपर छै। मोहलां थी आथवण नूं तळाव लगतौ सहर छै। कोस दो रै फेरै छै। सहर री एक कांनी माछळा रौ मगरौ छै। एकण कांनी खरक दिस सिसरवा रौ मगरौ छै। तळाव घणौ भरीजै तरै पांणी मगरै तांईं जाय छै। तळाव में पांणी माछळा रा मगरा रौ, सीसरवा रा मगरा रौ घणौ आवै छै। तळाव निपट वडौ छै। मांहे मगरमछ रहै छै। तळाव ऊंडौ घणौ छै। ते तळाव री मोरी छूटै छै। तिण थी घणी धरती दोळौ फिरै छै। तिणरौ घणौ हासल हुवै छै।'

राजपूताने के इतिहास में कई जगह जहां प्राचीन शोध से प्राप्त सामग्री इतिहास की पूर्ति नहीं कर सकती, वहाँ नैणसी की ख्यात ही कुछ-कुछ सहारा देती है। इतिहास की दृष्टि से यह एक अपूर्व संग्रह है।

कालक्रम की दृष्टि से अठारहवीं शताब्दी के परवर्ती काल में ख्यात साहित्य के अतिरिक्त परंपरागत गद्य-काव्य के भी कुछ उदाहरण मिलते हैं। इनमें 'सभाश्रृंगार' नामक ग्रंथ की एक प्रति संवत् १७६२ की मिली है। यद्यपि सोलहवीं शताब्दी में गुजराती राजस्थानी से अलग हो चुकी थी तथापि इस पर गुजराती का थोड़ा बहुत प्रभाव मालूम देता है। इस ग्रंथ का वर्षाकाल का एक वर्णन देखिये—

'वरखाकाल हूउ, वहितौ रहिउ कुयउ, वावि पाणी भरता रया। बादल उनया। मेघ तणा पाणी वहै, पंथी गांमइ जाता रहै। पूरव नां वाजइ वाय लोक सहु हरखित थाय। आकास धडहडै, खाळ खडहडै। पंखी तड़फड़इ, वडा मांणस लड़थडइ, काठ सड़इ, हाळी हळ खड़इ। आपणा घरि कादम फेड़इ, बीजा काज मेड़इ। पार पार न लीइं, साध विहार न करीइं। अनेक जीव नीपजै, विविध धान्य ऊपजै। लोकनी आस पूजै, गाय भैंस दूजै।'

इस समय की दवावैत के रूप में लिखी गद्य रचनायें भी मिलती हैं। उदाहरण के लिये मालीदास भाट द्वारा रचित 'नरसिंहदास गौड़ की दवावैत' का एक उदाहरण देखिये—

'रंग छहरते हैं। कपड़े पहरते है तोसक सील्यावता है। हजूरी पावता है। चढ़ते उतरते पाव दे सलांम करांवदे है। जरवफत पाटता है। अंवर फटते हैं। सभा विराजती है। कीरत राजते हैं। घोड़े फिरते हैं। पायक अड़ते हैं। गुणीजण राग घटता है। वह वखत वणाता है। सोभा वणती है। श्री दीवांण पधारते हैं। दुसमण को जारते हैं। देसौ दूर डरते हैं। साहौ काम सरते हैं। कवीसुर बोलते हैं। भरणा खोलते हैं। काम का सूरत। जेतला दिहाडा तेतला प्रवाड़ा। जग जेठराज नरसिंह जेत; कवि मालीदास कहै दवावैत।'

इस दवावैत के अतिरिक्त संवत् १७७२ में बनाई गई कुछ और दवावैत भी मिलती हैं जिनमें रामविजय उपाध्याय द्वारा रचित जैनाचार्य जिनसुखसूरिजी की दवावैत तथा जिनलाभसूरि दवावैत प्रमुख है। इस काल का दवावैत-साहित्य बहुधा जैन-आचार्यों द्वारा ही रचा गया है।

इस काल में संस्कृत गद्य ग्रंथों के कुछ अनुवाद भी किये गये। संवत् १७७३ में लिपिवद्ध 'वैताळ पच्चीसी' की भाषा का उदाहरण देखिये—

वार्ता—तीयैं विस्वनाथ रौ दरसन कर वैठौ इतरइ एक नाइका वहिल हूं ऊतरि स्नांन करि पूजा करि चाली। तितरइ एक वर दीठी कवर नुं कवरी यइ दीठौ मांहोमाहि निभर मिली कांम रा वांण लागा उन्मादन सोखण, संदीपन, मोहन, तापन ए पांच वांण कांम रा नाइका रा हीया मांहि चुभीया तरै कुळ री मरयादा छोडि लाज दूर करि सील कनार इधरि समस्या करि संकेत स्थान कह्या—एक कमळ हाथ मांहे लीयौ हंतौ माथइ लगाइ पछै कांने लगायौ, कांनां थी दांते लगायौ, दांतां थी पगे लगायौ, पगां थी हीयइ धरि चालती हुई, वांसइ राजा पुत्र विरह करि पीड़ित हुइउ तरइ प्रधांन…'

संवत् १८०० के वाद गद्य साहित्य का विस्तार द्रुत गति से हुआ। उन्नीसवीं शताव्दी में ऐसे वहुत से लेखक हुए जिन्होंने

'पीछै आलमगीरजी हाथी सूं उतरिया, अरु फौज मांय फिरै है। आप रा काम आया तथा घायलां नूं देखै है। आपरी तरफ रां नूं उठावै है, पाटा बांध जावतो करावै है, तथा डोलियां मैं घालै है, वा साह सूजै री तरफ रां नूं मारै है। अरु बूंदी रा राव राजा सत्रसालजी घावांपूर हुवा पड़िया है। जिसै आलमगीरजी गया। सूं मूहड़ै ऊपर हाथ फेरियौ। अरु पांणी पायौ। सावचेत कर अमल दियौ। तद चेतौ हुवौ, पछै आलमगीरजी फुरमायौ जो रावजी अरज करौ।'

दवावैत, वचनिका आदि के रूप में बीसवीं शताब्दी में बहुत कम लिखा गया। दवावैत, वचनिका, वारता आदि प्राचीन राजस्थानी की शैली रही है। आरंभिक काल में कुछ कवियों ने इनमें रचनायें कीं, किन्तु वे अधिक प्रसिद्धि प्राप्त न कर सकीं। इनमें गोपाळदास कविया रचित 'शिखर वसोत्पत्ति वारतिक' (संवत् १९२६) तथा 'लावारासा' और कविराव बख्तावर द्वारा रचित 'केहर प्रकास' (संवत् १९३६) की गणना की जा सकती है। ये तीनों ऐतिहासिक ग्रंथ हैं। इनकी भाषा प्राचीन परंपरागत राजस्थानी का अनुकरण करती सी मालूम होती है, यथा—

'स्यांम ताज कफनी कमंडल में नीर। डाटी सुपेत सेख सुवरण सरीर॥ मोकल राव आतौ देखि माथा कौं नवायौ, सांई स्यां मुरांनी सेख नामी पंथ पायौ। जंगल में चरे छी सो अव्याई भोटी आई, मोकल का कनां सू सेख चीपी में दुहाई।'

—शिखर-वंशोत्पत्ति

'पुत्री जिणरे कंवलप्रसण रूप री निवांन। सुकेसिणा सूं सवाई साव रंभा रे समान। साहित्य शृंगार काव्य जवानी पर कहे। रमाताल परिजंत संगीत में रहे। वीणांधर सहजांई गावे किण भांत। तराज पर नहं आवे नारद वीणां री तांत। जिणने सुण्यां कोकिला मयूर लाज भाग जावे। कुरंग औ भमंग वन पाताल सुं आवे।'

'सुघड़ जठे बोली या नवेली सहज सारे ही सिखावज्यौ। पण बाग वन सरोवर कदे भी मत जावज्यौ। जावेला बाग तो पिक सुक अली उड़ जावसी ने बिवफल श्रीफल अनाड़ सेवां जो मुरझानसी, जावेला जो वन तो खंजन कपोत चोंच चूरेला।'

—केहर-प्रकाश

इन सबको श्लोक की तरह मात्राओं आदि के प्रतिबंध से रहित गद्य ही समझना चाहिये। आधुनिक काल में इस प्रकार की रचनाओं का निर्माण नहीं होता।

उपरोक्त लिखे गये गद्य के विकास-क्रम पर दृष्टि डालते समय यह ध्यान रखना आवश्यक है कि प्राचीन राजस्थानी में जहां कहीं भी गद्य का उपयोग हुआ, वहाँ वह वैज्ञानिक या विचारात्मक रूप में न होकर सीधेसादे कथात्मक रूप में हुआ। उस काल के गद्य के लिये सीधी एवं सरल शैली ही उपयुक्त समझी जाती थी क्योंकि तब तक उसके सामने गहन एवं सूक्ष्म विचारों की अभिव्यक्ति का अवसर ही उपस्थित न हुआ था। संभवतया इसी कारणवश भाषा में अंतर्निहित व्यञ्जना शक्ति भी पूर्ण रूप से प्रदर्शित न हो सकी थी। किन्तु भारतीयों की चिन्तन-शक्ति पर जब से पाश्चात्य योरोपीय विचारधारा का प्रभाव पड़ा तब से भाषा के विकास के लिये भी एक नये युग का सूत्रपात हो गया। एक बंगाली लेखक द्वारा सूत्र रूप में कहा गया यह ठीक ही मालूम देता है कि 'अंग्रेजों के साथ-साथ भारत में गद्य का आविर्भाव हुआ, कविता की जगह तर्क ने ले ली।' इसमें कुछ अतिशयोक्ति हो सकती है, किन्तु यह तो मानना पड़ेगा कि गद्य के आधुनिकीकरण में पाश्चात्य शिक्षा का बहुत कुछ हाथ रहा है।

भारत के पराधीनताकाल में जो राष्ट्रीयता की लहर उठी उसके कारण स्वातंत्र्य प्राप्ति के लिये देश की एकता पर अधिक ध्यान दिया जाने लगा। 'एक भाषा, एक राष्ट्र' की आवश्यकता को कुछ लोगों ने महसूस किया। जातीय एवं प्रांतीय बंधन तोड़ कर लोग राष्ट्रीय दृष्टिकोण अपनाने लगे। संभवतः इसी कारणवश बीसवीं शताब्दी में राजस्थानी में गद्य-निर्माण एक तरह से अवरुद्ध हो गया। राजस्थान में हिन्दी गद्य का निर्माण एवं विकास होने लगा। कविराजा श्यामलदास, शिवचंद्र भरतिया, मुन्शी देवीप्रसाद, पं० लज्जाराम, पं० रामकर्ण, पुरोहित हरिनारायण, गौरीशंकर हीराचंद ओझा, पं० सूर्यकरण प्रभृति कई विद्वान हिन्दी के अच्छे गद्य-लेखक हो गये हैं। इनमें से शिवचंद्र भरतिया एवं पं० रामकर्ण ने राजस्थानी में भी गद्य लिखा किन्तु हिन्दी गद्य के मुकाबले इसकी मात्रा अत्यन्त अल्प रही। शिवचंद्र भरतिया ने तो राजस्थानी में तीन नाटकों का भी निर्माण किया। राजस्थानी गद्य के इतिहास में संभवतः नाटक रचना पहली बार इनके द्वारा ही हुई है। स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात् राजस्थानी के साहित्यकारों का ध्यान इस ओर आकर्पित हुआ है। अब राजस्थानी गद्य

इस कथा में एक प्रकार से सत्य का विरूपात्मक प्रयोग हुआ है और यह 'विरूप' एक वीर सूअर परिवार के प्रतीक रूप में स्थापित किया गया और सफलतापूर्वक निभाया भी गया।[1] यह बात भी संभवतया उन्नीसवीं शताब्दी के परवर्ती काल में लिपिबद्ध की गई जान पड़ती है। इस बात की भाषा का एक उदाहरण देखिये—

'पाव कोसे'क गया जद डाढ़ाळी बोलियौ—भूंडरण, महा सूरवीर रौ खेतरिण रौ छोडियौ आछौ नहीं। धावां बडो धरम छै और म्हारौ सरीर सूं सभार छै। काल्ह पग पसार थे म्हे मरीस तौ अगत जायसैं, मौनूं अगत होयसी, थांनू बड़ौ महणौ होसी। राव बडो रजपूत छै, सूरवीर छै। पाछौ जाय कांम आयसूं तौ गत होयसी। राव रौ चित्त सांत होवै। मोनूं फेर इसौ सापुरुख कोई मारणोहारौ नहीं मिळसी तीसूं राजी होय मोनूं सीख देवौ'जे कांम आवूं।'

उन्नीसवीं शताब्दी का अंतिम गद्य लेखक कविराजा सूर्यमल्ल हुआ। अपने वृहत् ग्रंथ 'वंशभास्कर' में इन्होंने गद्य एवं पद्य दोनों का प्रयोग किया है। साहित्यिक रूप में इन्होंने संस्कृतनिष्ठ राजस्थानी का प्रयोग किया। वंशभास्कर की भाषा में प्रसाद गुण का अभाव है, वह अत्यन्त गूढ और क्लिष्ट है, यहां तक कि टिप्पणी से भी आशय सुगमता से नहीं खुलता। संभवतया प्राचीन परंपरागत क्लिष्ट राजस्थानी का यह अंतिम उदाहरण है। भाषा में संस्कृत के तत्सम रूपों का प्रयोग प्रचुरता के साथ हुआ है—

'सो राजा नैं आपरा प्रांण रौ औषध अनंगसेना जांणि अवरोध जाय रांणी रैं अरथ निवेदन कीधौ। रांणी तो कळिजुग रो रूप एहा अभिरूप अवनीस रौ तिरस्कार करि सुद्धांत रैं आश्रित अनेक जन रहै जिकां में कोई दो ही लोक रो खोवणहार ठाळियो जिण री संगति रैं प्रभाव स्वर्ग लोक रा मार्ग मुद्रित कराय कुंभीपाक रौ निवास भाळियो सो आपरा स्वामी रो दीधो अपूर्व चमत्कारिक फळ रांणी अनंगसेना नैं जाररैं भेट कीधौ।'

साहित्यिक भाषा एवं लोकभाषा में सदैव से अंतर रहता चला आया है, अतः कविराजा ने जिस भाषा का अपने गद्य में प्रयोग किया है, वह जन-साधारण में प्रचलित भाषा से काफी दूर थी। उस समय में जन-साधारण के प्रयोग में आने वाले गद्य के नमूने के रूप में नामली ठाकुर साहब बखतावरसिंहजी को चैत्र शुक्ला नवमी संवत् १६१५ के दिन सूर्यमल्ल द्वारा लिखे गये एक पत्र के कुछ अंश उद्धृत कर रहे हैं—

'धार सों तथा आमझरा सों अंग्रेज को कांई' कसूर बणि आयो सो बीसा विक दस्तूर लिखावसी और राजसिंह के साथ पत्र गयो तीमें धरम के निमित्त युयुत्सा को प्रश्न लिख्यौ छै तींको भी प्रत्युत्तर लिखायो नही सो अब ज्यां-ज्यां की जसी जसी तरह दीसती होय सो लिखावसी— म्लेच्छां को इरादो अस्यो दीसै छै कि अब कै रह्या तो ई आरयावत है परतंत्र करि ही देसी अर ठिकाणौ कोई भी हिंदू कै न रहसी परंतु परमेश्वर की इच्छा आरय न राखवा की दीसै छै क्योंकि अबार क्षत्रियां ने प्रतिकूल बातां छै जे सब अनुकूल दीस रही छै तीसों भावी विपरीत ही जाण्यो पडै छै और अठी का तरफ को वरतमांन जांणसी कि इंगरेज की फोज अजमेर सूं कोटे लड़ाई पर आई छै। गोरां तो सोळासै छै अर काळा हजार च्यार के अनुमान छै परन्तु मन में बदल्या हुवा दीसै छै…।'

बीसवीं सदी के आरम्भ में दयाळदास सिंढ़ायच द्वारा 'राठौड़ां री ख्यात' नाम से एक वृहत् ग्रंथ रचा गया, जिसका कुछ अंश अनूप संस्कृत पुस्तकालय, बीकानेर से प्रकाशित भी हो चुका है। दयाळदास की भाषा एवं ख्यात के सम्बन्ध में डॉ० दशरथ शर्मा लिखते हैं—

'We might regard Dayaldas Sindhayach as the last of the great bardic chroniclers of Bikaner. With the advance of the western system of education and increasing materialism their days were speedily coming to an end. Dayaldas however was an honoured courtier, trusted adviser and emissari besides being a state chronicler. He was no Abul Fazl; but his position in the state affairs was high enough to suggest some comparison with that great historian of the Mugal period Like him Dayaldas Sindhayach was an erudite scholar. He was an accomplished rhetorician, a writer of excellent Marwari, only a little inferior to that of Nainsi Munnot.'

दयाळदास की भाषा सीधी-सादी किन्तु प्रवाहपूर्ण है। उसका उद्देश्य साहित्यिक ग्रंथ लिखना नहीं था। उसने इतिहास लिखा, परन्तु उसमें प्रयुक्त राजस्थानी गद्य उस समय के गद्य साहित्य पर प्रकाश डालता है। दयाळदास की ख्यात में प्रयुक्त गद्य का एक उदाहरण देखिये—

[1] 'परंपरा' के 'राजस्थानी वातां' नामक अंक में श्री कोमल कोठारी द्वारा लखे गये एक लेख के आधार पर।

विद्यमान है। डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी ने परिष्कृत एवं संस्कृत लोगों के प्रभाव से दूर अकृत्रिम जीवन के अभ्यस्त लोगों को ही लोक की संज्ञा दी है।

उन्होंने लिखा है—'लोक' शब्द का अर्थ 'जान-पद' या 'ग्राम्य' नहीं है बल्कि नगरों और गांवों में फैली हुई वह समूची जनता है जिनके व्यावहारिक ज्ञान का आधार पोथियां नहीं हैं। ये लोग नगर में परिष्कृत, रुचि-सपन्न तथा सुसंस्कृत समझे जाने वाले लोगों की अपेक्षा अधिक सरल और अकृत्रिम जीवन के अभ्यस्त होते हैं और परिष्कृत रुचि वाले लोगों की समूची विलासिता और सुकुमारता को जीवित रखने के लिए जो भी वस्तुएँ आवश्यक होती हैं उनको उत्पन्न करते हैं।[१] इससे स्पष्ट है कि इस भू-भाग पर रहने वाला वह जन-समुदाय जो सुसंस्कृत तथा सुसभ्य प्रभावों से बाहर रह कर अपनी पुरातन सभ्यता को प्रवहमान करता हुआ जीवन-निर्वाह करता है 'लोक' कहलाता है। इन्हीं लोगों का साहित्य 'लोक-साहित्य' कहा जाता है। यह साहित्य प्रायः मौखिक होता है जिसकी भाषा बोलचाल की भाषा ही होती है। यह श्रुतिनिष्ठ अवस्था में परम्परागत रूप से चला आता है। 'आधुनिक साहित्य की नवीन प्रवृत्तियों में 'लोक' का प्रयोग गीत, वार्ता, कथा, संगीत, साहित्य आदि से मुक्त हो कर साधारण जन-समाज, जिसमें पूर्व संचित परम्परायें, भावनायें, विश्वास और आदर्श सुरक्षित हैं तथा जिसमें भाषा और साहित्यगत सामग्री ही नहीं अपितु अनेक विषयों के अनगढ़ किन्तु ठोस रत्न छिपे हैं, के अर्थ में होता है।'[२] स्पष्टतः 'लोक' शब्द हमारी व्यापक एवं प्राचीन परम्पराओं की सुरक्षित निधि एवं अर्वाचीन संस्कृति के विकास का प्रतीक है।

प्राचीन भारतीय साहित्य से यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि इस देश में वैदिक काल से ही लोक-जीवन में संस्कृति की दो पृथक धाराओं का प्रवाह होता रहा है—(i) शिष्ट संस्कृति, एवं (ii) लोक संस्कृति। शिष्ट संस्कृति से अभिप्राय उस परिष्कृत एवं सुसभ्य वर्ग की संस्कृति से है जो अपने बौद्धिक विकास के उच्चतम शिखर पर पहुंचा हुआ था और

[१] डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी : 'जनपद' वर्ष १, अंक १, पृ० ६५।

[२] भारतीय लोक-साहित्य—श्याम परमार, पृ० ११।

अपनी ज्ञान-प्रतिभा के कारण समाज का नेतृत्व कर रहा था। लोक-संस्कृति से अभिप्राय उस साधारण जन-समाज की संस्कृति से है जो अपने जीवन की प्रेरणा 'लोक' से ही प्राप्त करती थी। जिसका बौद्धिक विकास सामान्य धरातल पर ही था। इन दोनों संस्कृतियों के सम्बन्ध में डॉ० बलदेव उपाध्याय का यह कथन उल्लेखनीय है कि लोक-संस्कृति शिष्ट-संस्कृति की सहायक होती है। किसी देश के धार्मिक विश्वासों, अनुष्ठानों तथा क्रिया-कलापों के पूर्ण परिचय के लिए दोनों संस्कृतियों में परस्पर सहयोग अपेक्षित रहता है। इस दृष्टि से अथर्ववेद, ऋगवेद का पूरक है। ये दोनों संहितायें दो विभिन्न संस्कृतियों के स्वरूप की परिचायिकाएँ हैं। अथर्ववेद लोक-संस्कृति का परिचायक है तो ऋगवेद शिष्ट संस्कृति का। अथर्ववेद के विषयों का धरातल सामान्य जन-जीवन है तो ऋगवेद का विशिष्ट जन-जीवन है।[१]

हमारी भारतीय संस्कृति सम्पूर्णतः इस देश की साधारण जनता पर आधारित है जो यहां के गांवों, वनों एवं पर्वतों पर निवास करती है। उसमें भारतीय लोक-जीवन का आदर्श है। लोक-संस्कृति प्रकृति की गोद में पलती है। जन-साधारण के आचार-विचारों में वह प्रतिबिम्बित होती है। लोक-संस्कृति की श्रेष्ठता से समाज को बल एवं प्रेरणा प्राप्त होती है। 'लोक-संस्कृति वस्तुतः आदिम मानव की मनोवैज्ञानिक अभिव्यक्ति है; वह चाहे दर्शन, धर्म, विज्ञान, तथा औषधि के क्षेत्र में हुई हो, अथवा सामाजिक संगठन तथा अनुष्ठानों में, अथवा विशेषतः इतिहास, काव्य और साहित्य के उपेक्षाकृत बौद्धिक प्रदेश में सम्पन्न हुई हो।'[२] लोक-संस्कृति को तीन श्रेणियों में विभाजित किया जा सकता है[३]—

१. लोक-विश्वास और अंध-परम्पराएँ।
२. रीति-रिवाज तथा प्रथाएँ।
३. लोक साहित्य।

[१] काशी विद्यापीठ द्वारा प्रकाशित 'समाज' वर्ष ४, अंक ३ (१६५८) पृष्ठ ४४६।

[२] (i) ए हैंड बुक आव फोक लोर—सोफिया बर्न।
(ii) ब्रज लोक साहित्य का अध्ययन—डॉ. सत्येन्द्र, पृ. ४-५।

[३] सोफिया बर्न द्वारा 'ए हैंड बुक आव फोक लोर' में दिए गए वर्गीकरण पर आधारित।

साहित्य के पुनर्निर्माण का प्रयत्न चारों ओर से हो रहा है। यह शुभ लक्षण है। भारतीय आर्य भाषा के लब्धप्रतिष्ठ विद्वान ज्यूल ब्लॉक (Jwes Bloch) ने एक स्थान पर कहा था कि 'भारतीय आर्य भाषाओं के समक्ष जब आधुनिक शिक्षण-व्यवस्था की सार्वजनीन स्वीकृति के फलस्वरूप वैज्ञानिक विषयों की अभिव्यक्ति का प्रश्न उपस्थित हुआ तब एक कठिन समस्या खड़ी हो गई, क्योंकि देशी भाषायें तब तक ऐसे विषयों के पूर्णतया प्रकाशन के लिये संपूर्ण रूप से समृद्ध माध्यम न बन सकी थीं और उपयुक्त वैज्ञानिक और पारिभाषिक शब्दावली की कमी के साथ-साथ अधिकांश भाषाओं का लड़खड़ाता सा एवं अनिश्चित गद्य-विन्यास भी इस असामर्थ्य का कारण था।' इसके साथ ही डॉ० सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या का यह कथन नितांत सत्य है कि 'यदि नव्य भारतीय आर्य भाषाओं में एक सरल और शक्तिशाली गद्य शैली का आविर्भाव शीघ्र ही हो गया होता तो भारतीय चिन्तन के पुनर्निर्माण में बड़ी भारी सहायता मिलती और उनको लेकर भारतीय मानसिक जागृति का उदय भी कितना ही पहले हो गया होता।' राजस्थान एवं राजस्थानी गद्य के लिये भी ये कथन अक्षरशः सही उतरते हैं। फिर भी आधुनिक काल मे किये जा रहे प्रयत्नों को देखते हुए यह सहज ही कहा जा सकता है कि राजस्थानी गद्य साहित्य का भविष्य उज्वल है।



राजस्थानी लोक-साहित्य

राजस्थानी भाषा और तत्सम्बन्धी साहित्य के विवेचन के उपरान्त राजस्थानी लोक-साहित्य का भी संक्षिप्त विवेचन राजस्थानी संस्कृति एवं साहित्य के पूर्ण परिचय में सहायक सिद्ध होगा। हम यह बता आये हैं कि राजस्थानी साहित्य अत्यंत समृद्ध तथा विविधतापूर्ण है, परंतु यहाँ का लोक-साहित्य भी कम महत्वपूर्ण नहीं है। उसकी अपनी मौलिक विशेषतायें हैं जिसके अध्ययन के विना राजस्थानी भाषा के साहित्य का सम्पूर्ण चित्र हम प्रस्तुत नहीं कर सकते। इस लोक-साहित्य की महत्ता स्वीकार करते हुये श्री नारायणसिंह भाटी लिखते हैं 'कि मरुभूमि के सौरभ की जो ताजगी आज भी इस लोक-साहित्य में है वह न बड़े-बड़े प्रबंध-काव्यों के अलंकृत छंदों में और न इतिहास तथा ख्यातों की जिल्दों में ही ढूंढ़ने से मिल सकती है। यहां का लोक-साहित्य जन-जीवन से सिंचित उस कुसुम के समान है जिसका रंग समय के आतप से आज तक नहीं मुर्झाया, न जिसके सौरभ मे ही कोई कमी आई है। यह लोक साहित्य मरुभूमि के निवासियों की रागात्मक प्रवृत्तियों का वह कोश है जो लिपिबद्ध न होने पर भी सांस्कृतिक इतिहास की वास्तविकता को बड़ी खूबी के साथ अपने में संजोये हुए है।'[1] 'लोक' की वास्तविक संस्कृति उसके कंठस्थ साहित्य में निहित होती है। अतः 'लोक' शब्द की व्याख्या के अभाव में लोक-साहित्य का ज्ञान सर्वथा अपूर्ण है। यह 'लोक' शब्द अत्यन्त प्राचीन है जिसका प्रयोग वैदिक काल से निरन्तर रूप में होता चला आ रहा है। वेद, उपनिषद्, गीता आदि सभी में इसकी व्याख्या हुई है।[2] डॉ. वासुदेवशरण के शब्दों में 'लोक' हमारे जीवन का महा-समुद्र है; उसमें भूत, भविष्य, वर्तमान सभी कुछ संचित रहता है। 'लोक' राष्ट्र का अमर स्वरूप है; 'लोक' कृत्स्न-ज्ञान और सम्पूर्ण अध्ययन में सब शास्त्रों का पर्यवसान है। अर्वाचीन मानव के लिए 'लोक' सर्वोच्च प्रजापति है। लोक, लोक की धात्री सर्व भूतमाता, प्रथिवि और लोक का व्यक्त रूप मानव यही हमारे नए जोवन का अध्यात्म शास्त्र है। इसका कल्याण हमारी मुक्ति का द्वार और निर्माण का नवीन रूप है। लोक-पृथिवी-मानव, इसी त्रिलोकी में जीवन का कल्याणतम रूप है।'[3] स्पष्ट है कि 'लोक' भू-भाग पर व्याप्त साधारण जन-समाज है, जिसे आज हम संस्कृति की संज्ञा देते हैं वह 'लोक' से भिन्न नहीं है। भारतीय समाज में नागरिक एवं ग्रामीण दो भिन्न संस्कृतियों का उल्लेख किया जाता है परन्तु 'लोक' दोनों ही संस्कृतियों में

---

[1] हिन्दी साहित्य का वृहत् इतिहास, षोडस भाग—(राजस्थानी लोक-साहित्य) पृ० ४२७।

[2] (i) वही—प्रस्तावना, डॉ० कृष्णदेव उपाध्याय, पृ० १–२।
(ii) भारतीय लोक-साहित्य : डॉ० श्याम परमार, पृ० ६–१०

[3] सम्मेलन पत्रिका (लोक संस्कृति विशेषांक) सं० २०१० में पृ० ६५ पर प्रकाशित 'लोक का प्रत्यक्ष दर्शन' नामक लेख से।

जनता है, उसकी आशा-निराशा, हर्ष-विषाद, जीवन-मरण, लाभ-हानि, सुख-दुख आदि की अभिव्यंजना जिस साहित्य में प्राप्त होती है, उसी को लोक-साहित्य कहते हैं।' इस प्रकार लोक-साहित्य जनता का वह साहित्य है जो जनता द्वारा जनता के लिए लिखा गया हो।[1] वस्तुतः सर्व-साधारण जनता जो कुछ सोचती है, जिन भावों की अनुभूति करती है उसी की अपने विविध कार्य-कलापों में नानाविध रूप से अभिव्यक्ति इस साहित्य में उपलब्ध होती है। हम मोटे रूप से उपलब्ध होने वाले समूचे लोक-साहित्य को मुख्यतः निम्न पाँच भागों में विभक्त कर सकते हैं—

१. लोक गीत
२. लोक गाथा
३. लोक कथा
४. लोक नाट्य
५. लोक सुभाषित

लोक-साहित्य के अध्ययन की सुविधा हेतु हम उपरोक्त पाँचों विभागों का क्रमशः विवेचन करने का प्रयास करेंगे।

लोक गीत—किसी भी जाति या प्रांत के लोक गीत वहां की जनता की औसत रागात्मक प्रवृत्तियों का प्रतिनिधित्व करते हैं। उनकी सहज संगीतात्मक उर्मियों में वहां का जीवन-सागर तरंगित होता हुआ प्रतीत होता है। प्रारम्भ में मानव के उल्लसित मन से मधुर संगीत-लहरी के साथ जो भाव फूट पड़े होंगे वही उसके गीत हो गए। तभी से लेकर आज तक मनुष्य निरन्तर रूप से उल्लसित जीवन के आह्लाद को प्रकट करने, सुख की अनुभूति करने तथा जीवन में बढ़ती हुई विषाद-रेखा को क्षीण करने, दुख-दर्द को भुलाने, अपना समय सुहावना बनाने आदि के लिए अपने हृदयगत भावों को ऐसे ही गीतों की लड़ियों में संजो कर अभिव्यक्त करता आया है। राजस्थान इस दृष्टि से बहुत धनी है। 'जीवन के हर महत्त्व-पूर्ण कार्य में गीत का स्थान है। बच्चा गर्भ में होता है तभी से गीत गाये जाते हैं। जन्म की खुशी गीतों में ही व्यक्त होती है। बच्चा बीमार होता है तो गीतों के माध्यम से ही देवता मनाये जाते हैं और अनेक संस्कार गीतों के बिना संभव कहां हैं। विरह के क्षणों में व्यथित हृदय का बोझ इन्हीं गीतों में उँडेल कर हलका करते हैं। मरण के पश्चात् गंगा माता की अभ्यर्थना तक में गीतों के बिना काम नहीं चल सकता। कहने का तात्पर्य यह कि पूरा जीवन ही गीतमय है। जीवन के हर मार्मिक क्षण का स्पंदन इन गीतों की रागिनियों में मुखरित हो उठा है।'[1]

विभिन्न साहित्यकारों ने इन लोक गीतों का वर्गीकरण अपने-अपने दृष्टिकोण से किया है। कुछ विद्वानों के अनुसार किये गए निम्न पांच भेद वैज्ञानिक एवं उचित प्रतीत होते हैं—

(i) संस्कार सम्बन्धी गीत—

क— जन्म सम्बन्धी संस्कारों के गीत।

१ सीमंतोन्नयन के गीत, २ प्रसव सम्बन्धी गीत, ३ चरुवा गीत, ४ नामकरण, अन्नप्राश, झडूले तथा कर्ण-छेदन के गीत, ५ पलने के गीत।

ख— उपनयन तथा विद्यारम्भ संस्कारों के गीत।

ग— विवाह संस्कार के गीत।

१ सामान्य गीत, २ कन्या पक्ष के गीत, ३ वर पक्ष के गीत, ४ भांवरी पड़ने के गीत, ५ समधियों के गीत, ६ बना, ७ द्विरागमन के गीत।

घ— मृत्यु सम्बन्धी गीत।

(ii) व्यवसाय सम्बन्धी गीत—

क— जीविका सम्बन्धी गीत।

१ नृत्य तथा नाटच गीत, २ रातीजगा, कथा गीत, पौराणिक भजन, हरजस आदि, ३ पवाड़ा तथा अन्य विविध।

ख— व्यवसाय करते समय श्रम-परिहार निमित्त गाने के गीत।

१ कृषि सम्बन्धी, ऊँटवालों के, चरवाहों के, २ कुआ चलाने के बारेती गीत, कुए पर पानी भरने वालियों के गीत, ३ चक्की और चरखे के गीत,

---

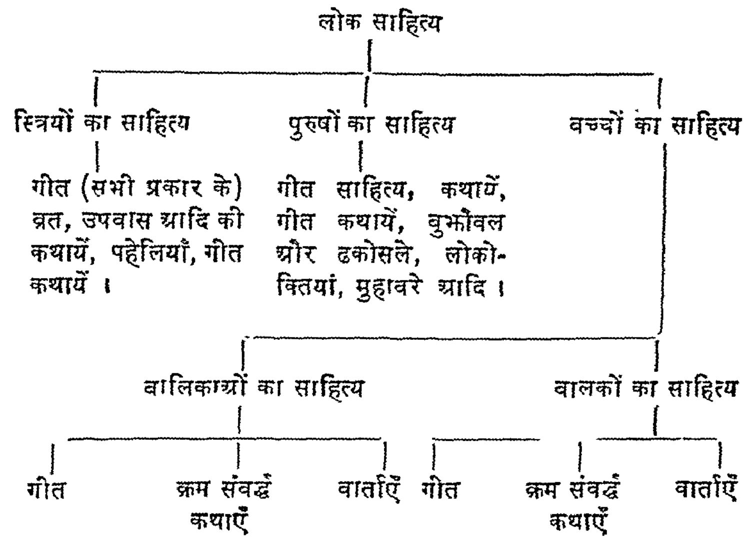
[1] हिन्दी साहित्य का वृहत् इतिहास—षोडश भाग, पृ० १६।

[1] हिन्दी साहित्य का वृहत् इतिहास, षोडश भाग, राजस्थानी लोक साहित्य—नारायणसिंह भाटी, पृष्ठ ४३६।

लोक-साहित्य लोक-संस्कृति का ही एक अंग है, उसका एक अंश है। हम जो कुछ सोचते हैं, करते हैं, गाते हैं, रोते हैं उन सबका प्रतिबिम्ब हमारे लोक-साहित्य में मिलता है। डॉ० सत्येन्द्र के अनुसार 'लोक साहित्य में पिछड़ी जातियों में प्रचलित अथवा अपेक्षाकृत समुन्नत जातियों के असंस्कृत समुदायों में अवशिष्ट विश्वास, रीति-रिवाज, कहानियाँ, गीत तथा कहावतें आती हैं। प्रकृति के चेतन तथा जड़ जगत के सम्बन्ध में, भूत-प्रेतों की दुनिया तथा उनके साथ मनुष्यों के सम्बन्धों के विषय में जादू, टोना, सम्मोहन, वशीकरण, तावीज, भाग्य, शकुन, रोग तथा मृत्यु के सम्बन्ध में आदिम तथा असभ्य विश्वास इसके क्षेत्र में आते हैं। और भी इसमें विवाह, उत्तराधिकार, बाल्यकाल तथा प्रौढ़ जीवन के रीति-रिवाज तथा अनुष्ठान और त्यौहार, युद्ध, आखेट, मत्स्य व्यवसाय, पशुपालन आदि विषयों के भी रीतिरिवाज और अनुष्ठान इसमें आते हैं तथा धर्म-गाथायें, अवदान (लीजेण्ड), लोक कहानियां, गीत, साके (वैलेड) किंवदन्तियां, पहेलियां तथा लोरियां भी इसके विषय हैं।'[1] इससे स्पष्ट है कि लोक-साहित्य के अंतर्गत स्त्रियों, पुरुषों एवं बच्चों का संपूर्ण गद्य तथा पद्य वाङ्मय आ जाता है। जीवन के विभिन्न बंटवारों के अवसर पर गाये जाने वाले गीत, ऋतु-परिवर्तन तथा खेतों की बोआई, निराई आदि के समय हृदय में उमड़ती हुई भावनाओं का पद्यमय लययुक्त प्रकटीकरण, प्रेम-व्यापार में कोमल भावनाओं की सरस अभिव्यक्ति, वृद्ध दादियों, नानियों, माताओं तथा बुजुर्गों द्वारा कही जाने वाली कहानियां एवं छोटी-छोटी कथायें जन-साधारण के अनुरंजन के लिए खेले गये सांग या नाटक, अपने दैनिक जीवन में जन-जन द्वारा प्रयुक्त कहावतें एवं मुहावरे, छोटे-छोटे बच्चों द्वारा खेल-खेल में गाई जाने वाली लययुक्त तुकबंदियां सभी कुछ लोक साहित्य के अंतर्गत आते हैं। इस दृष्टि से लोक-साहित्य का क्षेत्र अत्यन्त ही विस्तृत एवं व्यापक हो जाता है।

प्राचीन काल में जब कि मनुष्य पूर्णतया प्राकृतिक जीवन व्यतीत करता था, वह आडम्बर तथा कृत्रिमता से कोसों दूर था। वह सरल, सहज एवं स्वाभाविक वृत्ति का प्राणी था। उस समय भी उसका अपना साहित्य था जो स्वाभाविकता, स्वच्छंदता तथा सरलता से पूर्ण पगा हुआ था। वह आधुनिक साहित्य की भांति कथाओं के अनेक प्रकार के शिल्प-विधान तथा अलंकारों के भार से दबा हुआ न था। वह साहित्य उतना ही स्वाभाविक था जितना जंगल में खिलने वाला फूल, उतना ही स्वच्छंद था जितना आकाश में विचरने वाली चिड़ियां, उतना ही सरल तथा पवित्र जितनी गंगा की निर्मल धारा। उस साहित्य का अवशिष्ट तथा सुरक्षित अंश ही आज हमें लोक-साहित्य के रूप में उपलब्ध होता है।[1]

डॉ० श्याम परमार ने लोक-साहित्य का विस्तार निम्नलिखित रूप से प्रस्तुत किया है[2]—



यह सम्पूर्ण साहित्य प्रायः मौखिक होता है, अतः अनेक विद्वानों के मतानुसार इसे 'साहित्य' की संज्ञा न देकर वाङ्मय ही कहा जा सकता है। लोक-साहित्य न किसी व्यक्ति विशेष द्वारा ही निर्मित होता है और न किसी व्यक्ति विशेष की निधि होता है। उसके पीछे अटूट परम्परा होती है जो समाज से अविच्छिन्न होती है। उसकी अभिव्यक्ति सामूहिक होती है। लोक की मानसिक सम्पन्नता एवं समाज की आत्मा को अभिव्यक्त करने वाली मौखिक अभिव्यक्तियां ही लोक-साहित्य की निधि हैं। डॉ० उपाध्याय के शब्दों में 'सभ्यता के प्रभाव से दूर रहने वाली अपनी सहजावस्था में वर्तमान जो निरक्षर

[1] ब्रज लोक साहित्य का अध्ययन—डॉ० सत्येन्द्र, पृ० ४-५।

[1] हिन्दी साहित्य का वृहत् इतिहास—षोडश भाग, प्रस्तावना पृष्ठ १५।

[2] भारतीय लोक साहित्य—डॉ० श्याम परमार, पृष्ठ २१।

उनमें अभिव्यक्त भावों का रूप, औसत सामाजिक व्यक्ति की चेतना का अंश है। ढोली, ढाढ़ी, मिरासी, मांगणियार, फदाळी, कलावत, लंगा आदि अनेक जातियाँ इस प्रकार के गीतों के गाने का व्यवसाय करती हैं, यद्यपि आधुनिक समय में यह जातिगत व्यवसाय निरन्तर कम होता जा रहा है।

लोक-जीवन में श्रम का भी महत्वपूर्ण स्थान है। जीवन के अनेक कार्यों में मनुष्य को श्रम करना पड़ता है। श्रम करते समय परिश्रमजन्य क्लांति को दूर करने के लिये गीतों का आश्रय लिया जाता है। खेती या अन्य श्रम संबंधी सामूहिक आयोजनों में काम की निमग्नता के बीच सामूहिक ध्वनियों के रूप में कविता के बोल स्वयमेव मुखरित हो उठते हैं। राजस्थानी में 'भणत' बहुत प्रसिद्ध हैं। मानव-श्रम के साथ मानव-गीत संगीत का मधुर मिश्रण अनोखा है। कुँओं से पानी खींचते समय, हल जोतते समय और ऊँटों की लम्बी कतार तथा बैलों की बाळद के लम्बा रास्ता तय करते समय जो गीत गाये जाते हैं उनमें मानव श्रम एवं मानव का हृदय दोनों मिल कर गाते हैं। ऐसे गीतों को श्रम-सम्बन्धी गीतों के अंतर्गत रखा जा सकता है।

लोक गीतों का यह वर्गीकरण अंतिम नहीं है। जैसा कि पहले लिखा जा चुका है, विभिन्न लेखकों ने लोक गीतों का वर्गीकरण अपने-अपने दृष्टिकोण से किया है। श्री रामनरेश त्रिपाठी ने[1] ११ श्रेणियों में और श्री सूर्यकरण पारीक ने[2] २९ श्रेणियों में लोक गीतों का विभाजन किया है। डा० कृष्ण-देव उपाध्याय ने 'हिन्दी साहित्य का वृहत् इतिहास' षोडश भाग, की प्रस्तावना में लोक गीतों के श्रेणी-विभाजन का एक वृक्ष प्रस्तुत किया है।[3] अपने इस वर्गीकरण के लिए उनका मत है कि यह वर्गीकरण वैज्ञानिक है क्योंकि लोक गीतों की समस्त विधाएँ इनमें अंतर्भुक्त हो जाती हैं। इस देश के किसी भी प्रदेश के लोक गीतों के भेद तथा प्रभेद रखे जा सकते हैं।

संभवतया उनका यह वर्गीकरण ब्रज, मैथिल, भोजपुरी आदि उत्तरप्रदेशीय लोक गीतों को दृष्टिगत रख कर किया गया है। राजस्थानी लोक गीतों की दृष्टि से यह वर्गीकरण भी अधूरा ही कहा जायगा। लोक गीतों की दृष्टि से राजस्थानी बहुत समृद्ध भाषा है। उपरोक्त वर्गीकरण में यद्यपि अधिकांश राजस्थानी गीतों का समावेश हो जाता है, तथापि कुछ गीत ऐसे हैं जिनका उल्लेख इस वर्गीकरण में नहीं किया गया है। ऋतु-संबंधी वर्गीकरण में 'सियाळौ', 'सांवण' आदि अन्य ऋतुओं के गीत भी राजस्थान में बहुत लोकप्रिय हैं। व्रत सम्बन्धी गीतों में तीज, गणगौर, करवाचौथ आदि के गीतों का समावेश इसमें नहीं किया गया है। राजस्थान में अहीर, दुसाधों, चमारों, कहारों, धोबियों आदि के कोई विशेष गीत प्रचलित नहीं हैं। यहाँ लोक गीतों को गाने वाली कुछ पेशेवर जातियाँ हैं जिनका उल्लेख पहले किया जा चुका है। श्रम-संबधी गीत राजस्थान में 'भणत' के नाम से प्रसिद्ध हैं। फिर भी अन्य वर्गीकरणों की अपेक्षा उपरोक्त वर्गीकरण अधिक वैज्ञानिक है। अत: अब हम इन्हीं वर्णित पाँचों विभागों की क्रमश: विवेचना प्रचलित एवं प्रसिद्ध लोक गीतों का उदाहरण प्रस्तुत करते हुए करेंगे।

१—संस्कार सम्बन्धी गीत

भारतीय लोक-जीवन जन्म से मृत्यु तक विभिन्न कालों में विभाजित है। इन कालों के लिये विभिन्न संस्कारों का आयोजन किया गया है। हर संस्कार के साथ संगीत की मधुर स्वर-लहरियाँ हमारे साथ चलती हैं। गर्भाधान से लेकर मृत्यु तक षोडश संस्कारों का विधान किया गया है, तथापि इनमें पुत्र-जन्म, जनेऊ, विवाह, गौना, मृत्यु आदि प्रधान संस्कार माने जाते हैं।

(१) पुत्र-जन्म—इसके अंतर्गत गर्भाधान, गर्भिणी की शरीर-यष्टि, प्रसव-पीड़ा, दोहद, छठी आदि से सम्बन्धित गीत आते हैं। किसी नव-विवाहिता वधू के प्रथम बार गर्भाधान होना अत्यन्त मंगलमय माना जाता है। गर्भाधान से सम्बन्धित गीतों मे गर्भवती स्त्री के शरीर में होने वाले (नौ मास तक) परिवर्तनों का बड़ा वैज्ञानिक वर्णन होता है। गर्भवती स्त्री जिन अभिलषित वस्तुओं को खाने की इच्छा करती है, उनका भी बड़ा रोचक वर्णन राजस्थानी गीतों में पाया जाता है—

पं'लो मास उलरियो ए जच्चा वें रो आळसियं मन जाय
दूजो ए मास उलरियो ए जच्चा वेंरो थूंकतड़े मन जाय ए
अलवेलां ए जच्चा चांदी रे प्याले केसर पावसां ॥ टेक

[1] 'कविता कौमुदी' – पं० रामनरेश त्रिपाठी, भाग ५, पृष्ठ ४५।
[2] 'राजस्थानी लोकगीत' – श्री सूर्यकरण पारीक, पृष्ठ २२-२५।
[3] हिन्दी साहित्य का वृ. इतिहास, षोडश भाग, प्रस्तावना, पृ. ५५-५६।

४ अन्य व्यवसाय, मजदूरी आदि करने वालों के गीत।

(iii) आवसरिक गीत—

क— ऋतु सम्बन्धी गीत।

ख— मेले, त्यौहारों और व्रत सम्बन्धी गीत।

१ होली के, गवर के, घुड़ले के तथा आखातीज, श्रावणी तीज, कजली तीज आदि के गीत, २ कार्तिक और माघ स्नान के गीत।

ग— देवी देवताओं के गीत।

१ देव चरित तथा देवी चरित, २ पौराणिक और सिद्ध पुरुषों के गीत, ३ सतियों और पितरों के गीत।

घ— आस्था और भजन आदि के गीत।

१ भजन, हरजस, सबद, संतवाणी, २ तीर्थयात्रा-सम्बन्धी गीत।

(iv) पारिवारिक गीत—

क— श्रृंगार रस के गीत।

१ प्रोषित पतिका स्वकीया—काछबियौ, रांणौ, पिणियारी, कुरजां, भीणी केसर, ओळूं, मोरली आदि, २ उत्कंठिता स्वकीया—जलौ, बिलालौ आदि, ३ संयोगिता स्वकीया—कूकड़लौ, दारूड़ौ आदि, ४ वियोग पक्ष के गीत।

ख— भाई, बहन, ननद, भावज आदि सम्बन्धों के गीत।

ग— दाम्पत्य जीवन के गीत।

घ— भोज्य पदार्थों के गीत।

(v) फुटकर—

क— देश सम्बन्धी—जोधांणौ, बीकांणौ, उदियांणौ।

ख— ऐतिहासिक—नथमलजी, दूदा मेड़तिया, अमरसिह राठौड़, पाबू धांधल, हुड़िया कौ नन्द जी।

ग— बाल गीत।

घ— विविध—मूमल, मधकर, दिवलौ, ऊंट, सूवटौ, कूओ, नींबड़ी, केवड़ौ।

लोक गीतों में विभिन्न रसों की अभिव्यक्ति बड़ेसुन्दर ढंग से हुई है। राजस्थानी के काजळियौ, पिणिहारी आदि गीत श्रृंगार के अच्छे उदाहरण हैं। निहालदे नामक लोक गीत में करुण रस की निष्पत्ति हुई है। ओळूं एवं कुरजां आदि गीतों में करुण रस का प्रबल प्रवाह प्रवाहित होता है। पुत्री की विदाई का अवसर वस्तुत: बड़ा ही दुखदायी होता है। परिवार के आम्र-वन की मधुर कोयल माता-पिता, भाई बहिनों का प्यार छोड़ कर पति के साथ ससुराल के लिये विदा होती है तो गीत गाने वाले एवं सुनने वाले अनायास ही अश्रु विगलित हो उठते हैं। ऐसे गीत बड़े ही करुणापूर्ण तथा हृदय-विदारक होते हैं। 'आऊवा' संबंधी लोक गीतों में वीर रस का परिपाक हुआ है। लोक-देवी-देवताओं संबंधी गीत शांत रस के अच्छे उदाहरण हैं। इसी दृष्टि से विभिन्न रसों की अभिव्यक्ति करने वाले गीतों को रसानुभूति की प्रणाली के अंतर्गत रखा गया है।

लोक-जीवन का प्रकृति के प्रति वैयक्तिक नही, सामूहिक संबंध रहता है। अत: लोकगीतों में प्रकृति का चित्रण सामूहिक भावना का ही प्रतीक होता है। प्रकृति उनकी साहित्यिक अनुभूतियों को उभारती है। बरसाती बादलों को देख कर लोक जीवन में सामूहिक प्रतिक्रिया होती है। अत: खेती के समय बादलों की घन-घटाओं को देख कर उनकामन उल्लसित हो उठता है। ऐसे समय में गाये गये गीत ऋतु-संबंधी गीतों के अंतर्गत रक्खे जा सकते हैं। कृषि-कर्म, ऋतु-परिवर्तन, देव पूजा, प्रकृति पूजा, पशु पूजा, और वीर पूजा से संबधित अनेक उत्सव त्यौहारों के रूप में भी मनाये जाते हैं। गणगौर, घुड़लौ, लोटियौ का गीत, होली, लूअर आदि गीत ऐसी ही जन-भावनाओं को प्रदर्शित करते हैं। प्राय: ये सब जन-कल्याण की मांगलिक भावना पर आधारित होते हैं। इसके अतिरिक्त विभिन्न व्रतों के अवसर पर भी स्त्रियों द्वारा गीत गाये जाते हैं। इन गीतों को 'ऋतुओं तथा व्रतों के क्रम' के अंतर्गत रक्खा जा सकता है।

कुछ लोक गीत परंपरा से गाने वाली जातियाँ घर-घर जाकर त्यौहारों के अवसर पर या यों ही मनोरंजन के लिये सुनाया करती हैं। जाति या पेशेवर इन गायकों की गायन-शैली में और परिवार की गायन-शैली में काफी अंतर होता है। इन जातियों के गानों में केवल लोककला के ही तत्व समाहित नहीं होते अपितु शास्त्रीयता का भी पूरा पुट रहता है, फिर भी इन्हें लोकगीतों की श्रेणी में ही गिना जाना चाहिये, क्योंकि

पीळौ तौ ओढ़ म्हारी जच्चा महल पधारी जी
तौ कोई हे सपूती निजर लगाई गाढ़ा मारूजी !…

इसी प्रसंग में 'लोरी' सम्बन्धी लोक गीतों की विवेचना भी अप्रासंगिक न होगी। राजस्थानी लोक गीतों में 'लोरी' का भी अपना महत्वपूर्ण स्थान है। माता पालने में ही वीर-लोरियाँ सुना कर शिशु में शौर्य व बलिदान के संस्कारों का बीजारोपण करती है।[1] आसपास की प्रकृति, पशु-पक्षी, वनस्पति आदि से प्रथम वार परिचय कराती है—

गीगा ने खिलायी ए चिड़कली
गीगा ने खिलायी ऐ !
गीगा रोवै च्याऊं म्याऊं
गीगा ने हँसायी, ए चिड़कली, गीगा ने खिलायी ऐ !
पगां अक वांधूं घूघरणा थारै
गळ मोतीड़ा रौ हार, ए चिड़कली, गीगा ने खिलायी ऐ…

इस सम्वन्ध में 'गाडूलौ' नामक लोक गीत भी राजस्थान में वहुत प्रसिद्ध है। स्नेहमयी माता खाती से कह रही है कि मेरे पुत्र के लिये एक सुन्दर-सा गाडूला (गाड़ी—जिसके सहारे वच्चे चलना सीखते हैं) वना कर लाओ—

सुण सुण रे खाती रा वेटा, गाडूलौ घड ल्याय।
गाडूलौ घड़ ल्याव, म्हारै गीगा के मन भाय।
आंम कौ गाडूलौ घड़ ल्याव, चाँदी का पात चढ़ाय।
सोने की, खाती रा वेटा, कील ठोकाय।
सुण सुण रे खाती रा वेटा, गाडूलौ घड़ ल्याय।…

(ii) उपनयन संस्कार—

इसे 'जनेऊ' कह कर भी पुकारते हैं। 'जनेऊ' शव्द यज्ञोपवीत का अपभ्रंश रूप है। मनु ने द्विजों के लिये यज्ञोपवीत आवश्यक माना है। अन्य जातियों के लिये भी विभिन्न आयु तथा विभिन्न अवसर पर यज्ञोपवीत धारण करने का विधान है। जनेऊ के गीतों में उन विधि-विधानों का उल्लेख पाया जाता है जो संस्कार में पाये जाते हैं। यज्ञोपवीत संस्कार के समय यज्ञोपवीत धारण करने वाला पूजा-विधान के पश्चात् अपने निकट सम्वन्धियों से भीख मांगने की रस्म पूरी करता है। उसी समय स्त्रियों द्वारा गाया जाने वाला गीत देखिये—

गळे जनेऊ लाडा पाटके री डोरी
भिक्षा पुरसे वहू सुरजजी री गोरी
गळे जनेऊ लाडा पाटके री डोरी
भिक्षा पुरसे वहू ब्रह्माजी री गोरी
गळे जनेऊ लाडा पाटके री डोरी
भिक्षा पुरसे वहू ब्रह्माजी री गोरी
गळे जनेऊ लाडा पाटके री डोरी
भिक्षा पुरसे वहू महादेवजी री गोरी
गळे जनेऊ लाडा पाटके री डोरी
भिक्षा पुरसे वहू…सुखदे गोरी॥

(iii) विवाह—

विवाह संपूर्ण मानव जाति का एक पवित्र एवं प्रधान संस्कार माना जाता है। विभिन्न देशों में विवाह के भिन्न-भिन्न तरीके प्रचलित हैं। भारतीय संस्कृति के अनुसार राजस्थान में 'चँवरी' में वर-वधू द्वारा अग्नि के चारों ओर परिक्रमा करना (भाँवरे पड़ना) विवाह का सवसे मुख्य कार्य है।

राजस्थान में मंगलकारक देवता के रूप में गणेशजी का स्मरण किया जाता है अतः प्रत्येक मंगल कार्य के आरंभ में विनायक (गणपति) का आह्वान किया जाता है। विवाह-सम्वन्धी समस्त संस्कारों के पहले विनायकजी के गीत गाये जाते हैं। इस सम्वन्ध में क्षेत्र-भेद की दृष्टि से राजस्थान में अनेकों गीत प्रचलित हैं, किन्तु सभी में सकल सिद्धि और मंगलदायक विनायक का स्मरण किया जाता है जिससे समस्त संस्कार विना किसी विघ्न-वाधा के कुशलपूर्वक संपन्न हो सकें, क्योंकि श्री विनायक को 'विघ्नहरण एवं मंगलकरण' माना जाता रहा है—

गढ़ रणत भंवर सूं आवौ विनायक
करौ नी अणचींती विड़दड़ी।
विड़द-विनायक दोनूं जी आया
आय तौ उतरिया हरिये वाग में।
ढूंढ़त ढूंढ़त नगरी जी ढूंढ़ी
कोई, घर तौ वतावौ लाडले रे वाप रौ।
ऊँची सी मेडी, लाल किवाड़ी
केळ भवरकै लाडले रे वारणें।

---

[1] मि०—इला न देणी आपणी, हालरियै हुलराय।
पूत सिखावै पालणें, मरण वड़ाई माय॥—सूर्यमल मिश्रण

नखराळी ए जच्चा पांनां रे वरक चढ़ावसां
तीजौ मास उलरियौ ए जच्चा नींबूड़े मन जाय
चौथौ मास उलरियौ ए जच्चा लाडूड़े मन जाय ए ।। अल० ।

राजस्थानी में 'दोहद' के गीतों की यह परम्परा नवीन नहीं है। संस्कृत के प्रसिद्ध कवि कालिदास ने भी सुदक्षिणा के दोहद का बड़ा सुन्दर वर्णन प्रस्तुत किया है।[1] प्रायः सभी प्रदेशों के लोक गीतों में दोहद का रोचक वर्णन मिलता है। राजस्थान में गर्भवती की इच्छा-पूर्ति कराना बड़ा महत्वपूर्ण एवं पुण्य कार्य माना जाता है। गर्भावस्था के आठवें मास में स्त्रियाँ 'अजमौ' गाती हैं। नववधू गर्भवती है, पति कार्यवश परदेश जा रहा है। पति की अनुपस्थिति में अजवाइण आदि की व्यवस्था कौन करेगा ? क्या होगा ?

थेइज ओ केसरिया सायव गांव सिधाया ओळगणी,
सिधाया ओ अजमौ कुण मोलावे ओ राज !
थेइज ओ मांनेतण रांणी हालरियौ जिणजौ,
धेनडियौ जिणजौ ओ अजमौ म्हारा भावोसा मोलावे ओ राज !

पुत्र-जन्म से सम्बन्धित गीतों को दो भागों में बाँटा जा सकता है— (क) जन्म से पूर्व के गीत, एवं (ख) जन्म के बाद के गीत। पुत्र-जन्म से संबंधित उपरोक्त गीत जन्म से पूर्व के गीत कहे जा सकते हैं। पुत्र-जन्म का उत्सव सबसे मंगलमय उत्सव माना जाता है, अतः जन्मोत्सव बड़े हर्ष एवं उल्लास के साथ मनाया जाता है। राजस्थान के विभिन्न क्षेत्रों में पुत्र-जन्म से संबंधित अनेकों गीत प्रचलित हैं। जन्म से पूर्व प्रसव-वेदना से पत्नी व्याकुल हो रही है। पति बाहर चौपड़ खेलने में मस्त है। पत्नी पति को दाई बुलाने के लिये सूचना देना चाहती है। क्या कहे ? कैसे कहे ?—

ओ राजा सार रमता पीव थें पासा दूर धरौ वे हां
ओ राजा सार धरौ चित्रसाळ पासा रंग मे'ल धरौ वे हां
ओ राजा जाजम देवौ उठाय साथीडां ने सीख देवौ वे हां
ए म्हारी सदा सवागण नार थांरे कांई हयौ वे हां
ओ राजा लाज सरम री बात पियाजी ने कांई केवूं वे हां
ए गोरी थारौ म्हारौ जिवड़ौ एक दोनूं विच कोण सुणे वे हां
ओ राजा धसमस दूखै पेट कमर में चीस चले वे हां
ओ राजा होय घुड़लै असवार दाईजी ने लेण चालौ वे हां...

राजस्थान में पुत्र के जन्म पर उत्सव मनाया जाता है। किन्तु पुत्री का जन्म अधिक अच्छा नहीं माना जाता। पुत्रवती स्त्री का आदर अधिक होता है। लोक गीतों में इसकी झलक अनायास ही मिल जाती है। मोढ़े पर बैठे हुए पति-पत्नी बातें कर रहे हैं। पत्नी पूछ रही है कि अगर मेरे लड़की हुई तो तुम मेरा प्यार किस प्रकार करोगे ?—

जी ओ धण मुढलै पिव पालिगै
तौ दोय जणां ए मतौ उपाड्यौ
जी पिया जै म्हारै जलमेगी धीय
तौ किसड़ा लाड लडावस्यौ जी
जी गोरी जै थांरे जलमेगी धीय
तौ खाट पिछोकडै घलावस्यां जी
लाडू खारे लूण का जी
पड़दौ दां काळी कांमळी जी
मुख सें कदेय नीं बोलस्यां जी
ए म्हे सिधारांगा चाकरी जी
थांने भेजां थांरे बाप के जी ।।

पुत्र-जन्म के बाद कुछ दिनों तक लगातार गीत गाये जाते हैं। इस सम्बन्ध में अनेकों गीत प्रचलित हैं। जन्म के छठे दिन विशेष रूप से उत्सव मनाया जाता है। उस दिन सन्तानोत्सव से सम्बन्धित गीत गाये जाते हैं। विभिन्न लोक गीतों के संग्रहों में इस समय गाये जाने वाले कई गीत प्रकाशित हो चुके हैं।

जन्मोत्सव पर प्रसूता स्त्री को पीली चूनर ओढ़ाते हैं। इसे 'पीळौ ओढ़ाना' कहते हैं। राजस्थान में 'पीळौ' सौभाग्यवती एवं पुत्रवती स्त्री का मांगलिक परिधान है। बड़ी-बूढ़ी स्त्रियाँ नववधुओं एवं बहुओं को 'पीळा ओढ़ने' का आशीर्वाद देती हैं। लोक गीतों में भी इस पीळी चूनर की सुंदरता का वर्णन किया गया है—

उदयपुर से तौ सायवा पीळौ मंगाओ जी
तौ नांनी-सी बंधण बंधाओ गाढ़ा मारूजी !
पीळा तौ पल्ला साहेबा बंधण बंधावौ जी
तौ अदविच चांद छपावौ गाढ़ा मारूजी !
पीळौ तौ ओढ़ म्हारी जच्चा पोढ़ेजी
बड़ी तौ सराही सहर सराही गाढ़ा मारूजी !

---

[1] न मे ह्रिया शंसति किञ्चिदीप्सितं
स्पृहावती वस्तुषु केषु मागधी।
इति स्म पृच्छत्यनुवेलमादृतः
प्रिया सखीमुत्तर कोशलेश्वरः ।। रघुवंश—३।५

'कांमण' द्वारा वधू उसी समय वर को वश में करने का प्रयत्न करती है। आरंभ में ही किया गया प्रयत्न अधिक फलदायक होता है। 'कांमण' शब्द संस्कृत के 'कार्मण' का ही अपभ्रंश रूप है। कार्मण का अर्थ है—'जादू-टोना या वशीकरण'। इस अवसर पर 'कांमण' गीत गाने का अभिप्राय दूल्हे पर वशीकरण करना होता है। इसीलिए 'कांमण गीतों' के साथ साथ कुछ 'कांमण' क्रियायें भी की जाती हैं। संभवतया यहाँ प्रेम के जादू से मतलब है। 'कांमण' विभिन्न तरीकों से किया जाता है। कुछ जातियों में 'तोरण' स्पर्श करते समय वर के ऊपर वधू द्वारा मंत्रित 'कपासिया' आदि वस्तुयें फेंकी जाती हैं। वर के मित्र हाथ में ढाल लेकर उन वस्तुओं से 'वर' की रक्षा करते हैं जिससे 'वर' वधू के वशीभूत होने से बच जाय। इस समय स्त्रियाँ भी गाने लगती हैं—

तोरण में आया राईवर, थरहर कंप्या राज
बूझां सिरदार बनी ने, कांमण कुण करचा छै राज
म्हे नहिं जांणां, म्हां रा खाती कांमणगारा राज
खाती को नेग चुकास्यां, कांमण ढीला छोडो राज
छोड्यां न छूटै, राईवर, करड़ा घुळया छै, राज...

इस सम्बन्ध में यह उल्लेखनीय है कि "प्रकृतिस्वरूपा स्त्री प्रेम की आदि-शक्ति है। वह अपने प्रेम से पुरुष को वशीभूत कर लेती है। यही प्रेम का 'वशीकरण' है—जादू है। इसी को 'कांमण' कहा है, जिसके आतंक से पुरुष राईवर थर-थर कांपने लगता है। फिर यौवन की प्रथम आभा से स्त्री में एक और शक्ति का प्रकाश होता है, जिसके आगे पुरुष का पुरुषत्व मोम होकर पिघल जाता है। प्रेम और वशीकरण जितना ही ज्यादा प्रभावशाली हो, 'कांमण' जितना ही ज्यादा घुले उतना ही अच्छा।"[1]

इसी प्रकार विवाह के छोटे-मोटे प्रायः सभी रीति-रस्मों पर स्त्रियाँ गीत गाया करती हैं। इस संबंध में विभिन्न लोकगीतों के संग्रह भी प्रकाशित हो चुके हैं। इन रीति-रस्मों के अतिरिक्त विवाह संबंधी कुछ साधारण गीत भी प्रचलित हैं। कन्या अपने पिता से निवेदन करती है कि देश के बजाय भले ही मुझे परदेश में देना पर 'वर' मेरी जोड़ी का देना। वर न काला हो, न गोरा हो, न लम्बा हो, न ठिंगना हो—

काची दाख हेठे बनड़ी पांन चावै, फूल सूंघै
करै ए बावेजी सूं वीनती
बावाजी, देस देता परदेस दीज्यो
म्हांरी जोड़ी रो वर हेरज्यो
काळो मत हेरो, बावाजी, कुळ ने लजावै
गोरो मत हेरो, बावाजी, अंग पसीजै
लांबो मत हेरो, बावा सांगर चूंटै
ओछो मत हेरो, बावा बावन्यूं बतावै।
ऐसो वर हेरो, कासी रो बासी
बाई रे मन भासी, हसती चढ़ आसी
हँस खेल, ऐ बावेजी री प्यारी बनड़ी
हेरचो ए फूल गुलाब रो।

वर के प्रति कन्या की यह इच्छा कितनी स्वाभाविक है। आज कितने माता-पिता अपनी कन्या की इच्छा को ध्यान में रख कर उसका विवाह करते हैं ?

राजस्थान में 'चँवरी' में साधारणतया सात भाँवरे पड़ने की प्रथा नहीं है। इस समय यहां चार भाँवरे ही पड़ते हैं तथा प्रत्येक भाँवर (फेरा) के साथ स्त्रियाँ गा उठती हैं—

पँलो फेरो ले म्हारी लाडो बाई दादोसा ने लाडली
दूजो फेरो ले म्हारी लाडो बाई बाबोसा ने लाडली
अगणो फेरो ले म्हारी लाडो बाई वीरोसा ने लाडली
चोथो फेरो लियो म्हारी लाडो होइए पराई ए
हळवां हळवां चाल म्हारी लाडो हँसेला सहेलियां।

विवाह के अवसर पर 'भात' या माहेरा भरना' राजस्थान की एक महत्वपूर्ण प्रथा है। घर पर पुत्र या पुत्री का विवाह निश्चित होने पर बहन अपने भाई तथा माता-पिता को निमंत्रण देने के लिए स्वयं अपने पति के साथ पीहर जाती है। भाई बहिन का निमंत्रण स्वीकार कर विवाह-संस्कार के दिन अपने कुटुम्बी जनों को साथ लेकर अपनी बहिन के घर पहुँचता है और वहाँ अपनी शक्ति के अनुसार बहिन और बहिन के परिवार को पहरावनी देता है। इस अवसर पर वह कुछ नकद द्रव्य भी सहायता के रूप में देता है। भाई के न होने पर निकट सम्बन्धी ही माहेरा भरता है। विवाह-संस्कार के दिन प्रत्येक बहिन अपने भाई की तीव्र उत्कण्ठा के साथ प्रतीक्षा करती है। 'माहेरा' लेकर भाई के आने का समाचार

[1] 'राजस्थान के लोक गीत' – प्रथम भाग, संपादक–ठाकुर रामसिंह, सूर्यकरण पारीक, नरोत्तमदास स्वामी। पृष्ठ १५६ में दिया गया 'कांमण' गीत का भावार्थ व टिप्पणी।

प'लौ तौ वासौ सरवर वसियौ
सरवर भरियौ ठंडे नीर सूं ।
भरियौ तौ सरवर लेवै रे हिलोळा
नीर भरै पणिहारियाँ।
दूजौ तौ वासौ वाड़्यां जी वसियौ
वाड़्यां तौ छायी फळ फूलां सूं ।
अगणौ तौ वासौ ग्वाड़ां जी वसियौ
ग्वाड़ां तौ भरी धोळी धेनां सूं...!

विवाह के अधिकतर गीत वर एवं कन्या दोनों पक्षों में समान रूप से गाये जाते हैं। विनायक-पूजा के पश्चात् प्रति दिन रात्रि में वर की प्रशंसा में गीत गाये जाते हैं। ऐसे गीतों को 'बनड़े' कहते हैं। कहीं-कहीं बोली-परिवर्तन के कारण इन्हें सांझी के गीत भी कहते हैं। राजस्थानी में 'वनड़े' का अर्थ 'दूल्हा' होता है। इन गीतों में वधू की ओर से वर से अनेक प्रकार की प्रार्थनायें की जाती हैं—बारात कैसी हो ? बराती कैसे हों ?—

सिरदार वनांजी हस्ती थे लाइजौ हे कजळी देस रा
उमराव वनांजी घुड़ला थे लाइजौ हे खुरसांणी देस रा
सिरदार वनांजी सेवरिये झबूके ओ आभा बीजळी
उमराव वनांजी सोनी थे लाइजौ हे लंकागढ़ देस रौ
उमराव वनांजी रूपौ थे लाइजौ हे ऊजळपुर देस रौ...

विवाह के अवसर पर अनेक प्रकार के रीति-रस्म होते हैं। वर-वधू के तेल चढ़ाना, उवटन करना इनमें प्रमुख है। 'उवटन' को राजस्थानी में 'पीठी' कहते हैं। सोलह शृंगारों में उबटन का भी महत्वपूर्ण स्थान है। इससे शरीर की एवं मुख की कान्ति बढ़ कर रंग निखरने लगता है। विवाह के अवसर पर राजस्थान में 'पीठी' का आम रिवाज है। वर या कन्या के 'पीठी' करते समय स्त्रियाँ गीत गाया करती हैं—

गहूँ ए चिणां रौ ऊवटणौ, मांय चमेली रौ तेल
अब लाडौ बैठचौ ऊवटणे ॥ १
आओ म्हारी दाद्यां निरखलौ, आओ म्हारी मांयां निरखल्यौ
थां निरख्यां सुख होग, अब लाडौ बैठचौ ऊवटणें ॥ २
तो कर लाडा उबटणौ, थारा ऊवटणा में.वास घणी
थारी दादयां संजोयौ ऊवटणौ,थारी मांयां संजोयौ ऊवटणौ ॥ ३
कोई तेल फुलेल चम्पेल घणी, चम्पा री कळियां सुगंध घणी
लाडा रा मन में खांत घणी ॥ ४

गीतों में हास्य का पुट देने या वर के साथ विनोद करने का अवसर प्रायः स्त्रियाँ निकाल ही लिया करती हैं। ऐसी दशा में किसी गीत के साथ दो चार पंक्तियाँ वे अपनी ओर से भी जोड़ दिया करती हैं, यद्यपि विनोद के सिवाय उनका कोई विशेष महत्व नहीं होता—

चंपळे री चोसठ कळियां ए,
वनौ पूरै वनी री रळियां ए।
वनड़े रे हाथ पतासा ए,
वनौ करै वनी सूं तमासा ए।
वनड़े रे हाथ में डोरी ए,
वनड़े सूं वनड़ी गोरी ए।
वनड़े रे हाथ में कूंची ए,
वनड़े सूं वनड़ी ऊँची ए।

राजस्थान के विवाह संबंधी लोक गीतों में 'वनड़ौ', 'वनौ' 'लाडौ' आदि शब्द वर के लिये एवं 'वनड़ी', 'वनी', 'लाडी' आदि शब्द वधू के लिये प्रयुक्त होते हैं। प्रत्येक रस्म के लिये अनेकों गीत मिलते हैं, किन्तु प्रायः भाव उनमें एकसा ही पाया जाता है। वरात के चढ़ते समय दूल्हा घोड़े पर चढ़ता है, उस समय भी गीत गाये जाते हैं—

घोडी बाँधौ अगर रे रूँख, चंनण रे रूँख
मोड़ दरवाजे चंपे री दोय कळियाँ वे
घोड़ी चढसी वसदेवजी रौ नंद, पून्यौ री चंद
हीरां रौ हार, मथराजी रौ वासी वे
घन धन हो गोरा सीक्रस्न केसरियग कँवर
थाँरे सेवरौ बँधावाँ वे
ठाकुर आया, ठाकुर केळ करै किललोळ करै
थाँरे बावेजी री डोढ़ी वे
धन-धन ए वहू वसदेव री
केसरिया कँवर जिण स्रीक्रस्ण जायो वे।

इसी प्रसंग में इन गीतों की एक मुख्य विशेषता का उल्लेख कर देना आवश्यक है। राजस्थान में इन संस्कार-संबंधी सभी गीतों को स्त्रियाँ ही गाती हैं। गाने में पुरुषों का भाग नहीं होता।

बारात जब वधू के द्वार पर पहुँच जाती है तो वर 'तोरण' का अभिवादन करता है। इस अवसर पर दूल्हा तलवार एवं वृक्ष की टहनी से तोरण को स्पर्श करता है। विवाह के निमित्त औपचारिक रूप से आने का वर का यह प्रथम अवसर होता है, अतः

अपनी जीविका के लिए कठिन परिश्रम करना पड़ता है। कृषि ही यहाँ का मुख्य व्यवसाय होने के कारण यहाँ का 'लोक' सदैव से ही परिश्रम में पलता आया है। श्रम के साथ मानव-गीत-संगीत का साहचर्य अनोखा है। कठोर परिश्रम की अथक थकान को संगीत की मधुर लहरियाँ क्षण भर में दूर कर देती हैं। गीतों की स्वर-लहरी के साथ श्रमिक अपने अंगों के परिचालन को एक कर देता है और उसी आनन्द में बिना थकान महसूस किए लम्बे समय तक कार्य में जुटा रहता है। इसी अभिप्राय से खेतों में हल चलाते हुए, कुओं से पानी खींचते हुए, फसल को काटते हुए और उसी प्रकार श्रम का अन्य कार्य करते हुए लोग अपने गीतों की मधुर ध्वनि से ही अपने समय को रंगीन और सुखमय बनाते हैं। गीत की मधुर ध्वनि में वे अपने श्रम के कष्टों को भूल कर कार्य में लवलीन हो जाते हैं। राजस्थान में एक विशेष लय के साथ ही श्रमगीत गाये जाते हैं। ऐसे गीतों को यहाँ 'भणतें' कहते हैं। इन भणतों की संख्या राजस्थानी लोक साहित्य में बहुत ही कम है। जो कुछ है उसी को घुमा-फिरा कर श्रम के विभिन्न अवसरों पर गाया जाता है। नीचे दी गई एक भणत का एक उदाहरण देखिये—

रांमयौ भणाजौ रे भाई !
सांवण रा सरडाटा ओ भाई !
भादरवै रा लो'र ओ भाई !
सांवण पै'ली तीज ओ भाई !
सहियां राखी तीज ओ भाई !
महियां हीडो हीडै ओ भाई !
सीगाटी रा साठ ओ भाई !
पूठै रा पचास ओ भाई !
बूंदी री बंदूक ओ भाई !
सीरोही तरवार ओ भाई !
मेड़ासाही ढाल ओ भाई !

×

पुरुषों की भांति स्त्रियाँ भी श्रम के समय अपने गीतों द्वारा अपने श्रम को सरल बना देती है। घर तथा कृषि में अनेक प्रकार के कार्यों को करने के लिये श्रम में जुट जाती हैं। चरखा कातते समय उनके द्वारा गाया जाने वाला गीत देखिये—

चाल रे चरखला, हाल रे चरखला !
कातण वाळी छैल छबीली बैठी पीढ़ौ ढाळ।
म्हीं म्हीं पूणी कातै, लाम्बौ काढ़ै तार
चाल रे चरखला, हाल रे चरखला !

गीत की स्वर-लहरी के साथ चरखे का तकुआ घूमता रहता है और स्त्रियाँ पूणी पर पूणी कातती जाती हैं, अघाने का नाम तक नहीं।

श्रम-गीत की राग, श्रमिक एकाकी हो या सामूहिक रूप में, दोनों ही परिस्थितियों में अलापी जाती है, श्रम को हल्का बनाने के लिए। भणतें निश्चित रूप से श्रम के समय ही गाई जाती हैं परन्तु इनके अतिरिक्त श्रृंगारिक, धार्मिक या ऋतु-सम्बन्धी गीत भी श्रमिक लोग अपने मन को बहलाने के लिए गा उठते हैं। इसी प्रकार स्त्रियाँ श्रम के समय भजन या हरजस भी गाती हैं, या फिर अपनी वय के अनुसार श्रृंगारिक, ऋतु-सम्बन्धी तथा प्रेम-सम्बन्धी गीत भी गा लेती हैं।

(ii) जीविका सम्बन्धी गीत—राजस्थान के कुछ लोक-गीत यहाँ के क्वचित लोगों की जीविका के साधन बन चुके हैं। यहाँ की कुछ विशेष जातियों के लोग, जिनका व्यवसाय ही लोक गीत गाना है, वे अपने यजमानों के यहां भिन्न-भिन्न अवसरों, उत्सवों या आयोजनों पर या एक स्थान से दूसरे स्थान पर घूमते हुए जन-समुदाय के समक्ष गीत गा कर अपनी जीविका उपार्जित करते हैं। ऐसे गीतों में धार्मिक, श्रृंगारिक और ऐतिहासिक गीतों का विशेष स्थान है। अवसर की उपयुक्तता के अनुसार ये लोग वैसे ही गीत गाते हैं। श्रृंगारिक गीतों में दाम्पत्य जीवन के संयोग एवं वियोग-श्रृंगार सम्बन्धी या लोक समाज में प्रचलित प्रणय-कथा सम्बन्धी गीत ही अधिक गाये जाते हैं जिनमे जलो, काजळियौ, मूमल, कसूंबो, मधकर, काछवियौ, नागजी, आभल खींवजी रा गीत, बाघौ-भारमली रा गीत, ढोला मारू रा गीत आदि प्रसिद्ध हैं। धार्मिक गीतों में भक्ति-सम्बन्धी हरजस, भजन तथा भक्त चरित्र के साथ पाबूजी रा गीत, बगड़ावतां रा गीत, रामदेवजी रा गीत, तेजाजी रा गीत भी गाये जाते हैं। इन गीतों में धार्मिक महत्व के साथ ऐतिहासिक घटनायें भी सम्बन्धित हैं। इसी प्रकार इन गाने वाली जातियों के ऐतिहासिक गीतों में डूगजी जवारजी, दूदो मेड़तियो, अमरसिंह राठौड़, रतन रांणो,

सुन लेती है तो वह अपने आपको बड़ी भाग्यशालिनी समझती है। विशेष प्रसन्नता के कारण प्रेमाश्रु रोके नहीं रुकते। माहेरा भरने के समय इसी सम्बन्ध के गीत गाये जाते हैं। विवाह के अवसर पर बहिन अपने भाई की प्रतीक्षा में कितनी उत्सुकता दिखाती है और भाई के आ जाने पर भाई के हाथ से चूनड़ी ओढ़ने की इच्छा कितने उल्लसित मन से प्रकट करती है, वह निम्न गीत में देखिये—

उड वायसड़ा म्हारा, पीयर जा, नूंत पियर रा भातवी जे।
×
झीणी-झीणी, रे वीरा, उडै छै खेह, वादळ दीसै धूंधळा जे।
वळदां री, रे वीरा, वाजी छै टाळ, गाड चरखता म्हे सुण्या जे।
म्हारे वीरेजी रा चमक्या छै सेल, भावजां रा चमक्या चूड़ला जे।
×
भारत रे वीरा भावज ने ओढाय, म्हांने घणा मोलां री चूनड़ी जे।
सुसराजी ने, वीरा, थिरमौ ओढाय, सासूजी ने साड़ी सांपड जे।
म्हारा जेठां ने, वीरा, साल दुसाल, देवरां ने पिचरंग मोळिया जे।
म्हारी नणद ने दिखणी रौ चीर, देराण्यां-जेठाण्यां ने पीळा पोमचा जे॥

(iv) गौना—'गौना' शब्द संस्कृत के 'गमन' का विकृत रूप है। प्रायः बड़ी आयु में विवाह होने पर कन्या को विवाह के दूसरे दिन ही विदा कर दिया जाता है किन्तु छोटी आयु में विवाह होने पर जब तक कन्या युवा नहीं हो जाती, उसे ससुराल नहीं भेजा जाता। कुछ जातियों में तो 'गौने' की प्रथा-सी हो गई है। उनमें कन्या चाहे जितनी बड़ी या छोटी हो—विवाह के कुछ अवसर बाद ही उसे ससुराल भेजा जाता है। विवाह के समान इसे भी धूमधाम से मनाया जाता है। राजस्थान में इसे 'मुकलावा' भी कहते हैं।

कन्या की विदाई का दृश्य वस्तुतः बड़ा करुणामय होता है। इतने वर्षों तक पाली-पोसी कन्या को अपने से अलग करना साधारण जन के लिये बड़ा ही कठिन होता है, फिर भी इस कार्य को तो उसे संपादित करना ही होता है। समाज का नियम ऐसा ही है। ऐसे समय गाये गये गीतों को राजस्थानी में 'ओळूं' कहते हैं। 'ओळूं' का शाब्दिक अर्थ है 'याद', यद्यपि 'याद' शब्द पूरा तरह से 'ओळूं' के भावों को प्रदर्शित नहीं करता। इन गीतों के भाव इतने करुण होते हैं कि सुन कर हृदय थाम कर आँसू रोकना कठिन हो जाता है। स्त्रियाँ गाती हुई प्रेम-विह्वल हो जाती हैं और उनकी आँखों से अश्रुओं की झड़ी लग जाती है। पुरुषों की आँखें भी छलछला आती हैं, क्योंकि गाने वाली स्त्रियों की सिसकियाँ, गीत के शब्द और संगीत को और भी हृदयस्पर्शी बना देती हैं और सुनने वाले भी अश्रुविगलित हो उठते हैं—

म्हे थाँ ने पूछां म्हारी धीवड़ी
म्हे थाँ ने पूछाँ म्हारी बाळकी
इतरौ बावजी री लाड, छोड'र बाई सिध चाल्या ?
म्हे रमती बावोसा री पोळ
म्हे रमती बावोसा री पोळ
आयौ सगेजी रौ सूवटौ, गायड़मल ले चाल्यौ।
म्हे थाँ ने पूछां म्हाँरी धीवड़ी
इतरौ माऊजी रौ लाड छोड'र बाई सिध चाल्या... ?

कई गीतों में कन्या की उपमा कोयल से दी जाती है। कोयल वसन्त की दूतिका है। कोयल के छोड़ जाने पर उपवन का वसन्त नहीं रहता। लाड़-प्यार से पाली हुई कन्या के पति-गृह चले जाने पर माता-पिता का घर सूना हो जाता है और समस्त वातावरण विषादमय हो जाता है। विवाहोपरान्त कन्या की विदाई के समय सखी-सहेलियाँ उदास हो रही हैं, क्योंकि उनके उपवन की कोकिला अब विदा ले रही है। सभी उस समय सजल नेत्र हो जाते हैं और विदा होती हुई कन्या को सम्बोधित कर गद्‌गद् कण्ठ से कहते हैं—मेरे उपवन की कोकिला, तू यह उपवन छोड़ कहाँ चली ?

वनखंड री ए कोयल, वनखंड छोड कठै चाली ?
थारी आळै दीवाळै गुडियाँ धरी
वनखंड की ए कोयल, वनखंड छोड कठे चाली ?
थारी साथ सहेल्यां उणमणी
वनखड री ए कोयल, वनखंड छोड कठै चाली ?
थारी माऊजी थारे बिन उणमणा
थारी छोटी बैनड़ रोवै अकेलड़ी
वनखड री ए कोयल, वनखंड छोड कठै चाली ?
थारौ वीरौ सा फिरै छै उदास
विलखत थारी भावजड़ी
वनखंड री ए कोयल, वनखंड छोड कठे चाली ?...

२—व्यवसाय सम्बन्धी गीत

(i) श्रम गीत— राजस्थान एक शुष्क प्रदेश होने के कारण यहाँ का जीवन बड़ा कठोर है। यहाँ के लोगों को

जोरजी आदि गीत प्रसिद्ध हैं। ऐसे गीतों के उदाहरण विषय-सम्बन्धी वर्गों में भी दिये गये हैं। यहाँ गाने वाली जातियों द्वारा गाया जाने वाला प्रसिद्ध 'मूमल' गीत प्रस्तुत करते हैं—

काळी रे काळी काजळिये री रेखड़ी रे
हाँ जी रे, काळोड़ी कांठळ में चमकै बीजळी
म्हांरी वरलाळै री मूमल हालै नी ए आलीजे रे देस।
म्हायो मूमल माथियो रे मेट सूं
हां जी रे, कड़ियां तो राळचा मूमल केसड़ा
म्हारी जग मीठी मूमल, हालै नी ए आलीजे रे देस।
सीसड़लो मूमल रो सरूप नारेळ ज्यूं
हां जी रे, केसडला माड़ेची रा वासग नाग ज्यूं
म्हांरी जग वाळी ए मूमल, हालै नी ए अमरांणे रे देस।
नाकड़लो मूमल रो खांडइये री धार ज्यूं
हाँ जी रे, दांतड़ला ऊजळ-दंती रा दाड़म बीज ज्यूं
म्हांरी हरियाळी ए मूमल, हालै नी ए रसीले रे देस।
पेटड़लो मूमल रो पींपळिये रे पांन ज्यूं
हाँ जी रे, हिवड़लो मूमल रो सांचे ढाळियो
म्हांरी हरियाली ए मूमल, हालै नी ए अमरांणे रे देस।
जाँघड़ली मूमल री देवळिये रे थंभ ज्यूं
हां जी रे, साथळड़ी सपीठी पींडी पातळी
म्हांरी मोड़ंची मूमल हालै नी ए आलीजे रे देस।
जायी रे मूमल इये लोद्रवांणे रे देस में
हां जी रे, मांणी रे मूमल ने रांणे महंदरे
म्हांरी जेसांणे री मूमल, हाले नी ए अमरांणे रे देस।

राजस्थान में मुख्यतया गाने वाली जातियां—ढोली, ढाढ़ी, मिरासी, मांगणियार, फदाळी, कलावत और कव्वाल, लंगा, पातर, कंचनी, नट आदि हैं। इन जातियों के लोग प्रायः किसी वाद्य-यन्त्र की धुन के साथ लोक गीतों को गा कर ही अपनी जीविका प्राप्त करते हैं। इन लोगों के द्वारा गाये जाने वाले गीतों में कुछ विशेष गीत विशेष जाति से ही सम्बन्ध रखते हैं। ढोली माताजी की रात जगाते हैं। लंगा जाति के लोग सुवह लाखा फूलांणी, वाघा कोटड़ा, दोपहर को 'सारंग' और संध्या को 'श्याम कल्याण' गाते हैं। इसी प्रकार का इनमें विधान है। थोरी, भील या नायक—पाबूजी, गोगाजी आदि के गीत गाते हैं। फदाळी लोग मुसलमानों के धार्मिक उत्सवों के समय हरे व लाल झंडे लेकर गाते हुए जलूस निकालते हैं। पीर और मीर आदि की आराधना के लिए जाते समय भी मुसलमान इनको गाने के लिए आमंत्रित करते हैं।

३—आवसरिक गीत

(i) ऋतु संबंधी गीत—विभिन्न ऋतुयें मनुष्य के आस-पास उल्लासमय वातावरण का सृजन करती हैं। वसंत एवं वर्षा ऋतु इनमें मुख्य है। वर्षा ऋतु में भी सावन का महीना लोक गीतों का प्रमुख विषय रहा है। उमड़ते-घुमड़ते बादल, उनमें चमकती बिजली, चारों ओर फैली हुई हरियाली अनायास ही मन मोह लेती हैं। गृहस्थ के सब सदस्य कृषि-कार्य में उल्लास एवं हर्ष के साथ लगे रहते हैं—

झिरमिर-झिरमिर मेहूड़ो वरसै, वादळियो घररावै ए !
जेठजी तो म्हांरा बोझा काटै
परण्यो हळियो वावै ए !
झिरमिर-झिरमिर मेहूडो वरसै, वादळियो घररावै ए !
देवर म्हांरो करै अळसोटी
जेठांणी रोटी ल्यावै ए !
झिरमिर-झिरमिर मेहूड़ो वरसै, वादळियो घररावै ए !
वाळकियो भतीजो म्हारो रेवड़ चरावै
नणदल गायां घेरै ए !
झिरमिर-झिरमिर मेहूड़ो वरसै, वादळियो घररावै ए...!

हे पपीहा ! तेरे बोलने का समय यही है। जेठ का महीना बीत गया है। लूएँ बंद हो गई हैं। आषाढ़ भी उतर गया है। सावन लग चुका है। काली घटाओं से आकाश आच्छादित हो रहा है। रे पपीहा, यही अवसर तेरे बोलने का है। लोक गीतों में इन भावों का बड़ा सुन्दर चित्रण मिलता है—

रुत आई रै पपइया थारै बोलण री रुत आई रै
जेठ मास री लूवां रै बीती, अब सुरंगी रुत आई
रुत आई रै पपइया थारै बोलण री रुत आई।
असाढ़ उतरियो, सांवण लाग्यो, काळी घटा घिर आई
रुत आई रै पपइया थारै बोलण री रुत आई।
कदेयक झोला चलै सूरियो, धीमी-धीमी पुरवाई
रुत आई रै पपइया, थारै बोलण री, रुत आई''' ।

श्रावण मास के तीज सम्बन्धी गीत (कजली) भी इसी के अंतर्गत आते हैं। इनमें शृंगार रस के उभय पक्ष—संयोग तथा वियोग को झांकी देखने को मिलती है। तीज के अवसर पर किसी पेड़ की डाल पर रस्सियों का भूला डाल कर लड़कियां भूला भूलती हैं। मद-मंद वहते समीर एवं पृथ्वी से उठती हुई सोंधी-सी सुगंध चारों ओर फैली हरियाली के बीच भूला भूलने का आनंद तो अवर्णनीय है। ऐसे समय प्रत्येक

की पूजा एवं व्रत करती हैं। इसमें काष्ठ या मिट्टी से बनी गौरी की मूर्ति की पूजा की जाती है। चैत्र शुक्ला तृतोया अथवा चतुर्थी को मेले के दिन 'गौरी' की सवारी किसी जलाशय पर ले जाई जाती है। लोक गीतों की मधुर झंकार के साथ सारा वातावरण हर्ष एवं आनन्द से परिपूर्ण हो जाता है—

हे गवरल, रूड़ौ है नजारौ तीखौ है नैणां रौ
गढां हे कोटां सूं गवरल ऊतरी
हो जी, वैरे हाथ कँवळ केरौ फूल
हे गवरल, रूड़ौ है नजारौ तीखौ है नैणां रौ।
सीस हे नाळेरां गवरल सारियौ
हो जी, वैरी वेणी छै वासग नाग
हे गवरल, रूड़ौ हे नजारौ तीखौ है नैणां रौ।
भँवारे हो भँवरौ गवरल हे फिरै
होजी, वैरी लिलवट आँगळ च्यार
हे गवरल, रूड़ौ है नजारौ तीखौ है नैणां रौ···।

उपयुक्त पति पाने के लिए कन्यायें गौरी का व्रत रखती हैं। लोक गीतों में उनको यह भावना स्पष्ट रूप से परिलक्षित होती है। उदाहरणस्वरूप एक लोक गीत देखिये जिसमें गौरी से प्रार्थना की गई है कि मुझे—मेड़ी पर बैठ कर मद पीने वाला, सुन्दर घुड़सवार, टेढ़ी पगड़ी बांधने वाला तथा मंद-मंद चाल चलने वाला सुन्दर सा वर देना। किन्तु—चूल्हे का चाँद, हँडिया का अमीर, नौ थाल भर कर रावड़ी पी जाने वाला, सोलह रोटियां खा जाने वाला पेटू वर मत देना—

मेडी बैठ्यौ मद पीवै ए, लीला केरौ असवार
खांगी बाँधै पागड़ी ए, मघरी चालै चाल
कड मोड़ घोड़ै चढै ए, चाल निरखतौ जाय
ओ वर देयी, माता गोरल ए, म्हे थां ने पूजण आय।
चूल्हे केरौ चांद ए, हांडी कौ हमीर
नौ थाळां पीवै रावड़ी ए, सोळा रोटी खाय
वो वर टाळी माता गोरल ए, म्हे थां ने पूजण आय!

गौरी-पूजन करने वाली कन्याये 'घुड़ला' भी घुमाती हैं। 'घुड़ला' एक छोटा सा छिद्रों वाला घड़ा होता है जिसमें दीपक जलता रहता है। इस घुड़ले को सिर पर रख कर स्त्रियां गीत गाती हैं। इन गीतों के पीछे एक ऐतिहासिक सन्दर्भ भी है। गौरी-पूजन को जाती हुई कन्याओं को 'घुड़ले खां' नामक यवन ने अपहरण करने की चेष्टा की थी। जोधपुर नरेश सातळजी ने घुड़लेखाँ को मार कर उन कन्याओं का उद्धार किया था, उसी की स्मृतिस्वरूप तीरों द्वारा छिदे हुए सिर के रूप में मिट्टी का छिद्रों वाला घड़ा लेकर गीत गाती हुई लड़कियां घूमती हैं—

घुडलौ घूमेला जी घूमेला, घुड़ले रे बांधौ सूत
घुडलौ घूमेला, सवागण बाहरे आय।-घुड़लौ घूमे॰
प्रतापजी रे जायौ पूत, घुडलौ घूमेला जी घूमेला
सवागण बारे आय, घुड़लौ घूमेला जी घूमेला
तेल बळै घी लाव, घुड़लौ घूमेला जी घूमेला
मोत्यां रा आखा लाव, घुडलौ घूमेला जी घूमेला।

वसंत ऋतु में आने वाला चैत्र मास युवकों एवं युवतियों के लिये मस्ती का संदेश लेकर आता है। चैत्र मास में अनेक त्यौहार मनाये जाते हैं। 'गणगौर' एवं 'घुड़ले' का वर्णन हम ऊपर कर चुके हैं। इसी मास में 'लोटियौं' का मेला भी भरता है। कुमारियाँ व विवाहिता स्त्रियाँ रिक्त कलश (लोटे) लेकर किसी सरोवर अथवा कुएँ पर जाती हैं। वहाँ जल देवता की पूजा करती हैं तथा जल से भरे हुए कलश लेकर वापिस लौटती हैं। उस अवसर पर निम्नलिखित गीत गाया जाता है—

वळ वादळ विच चमके जी तारा
सांज समै पिव लागै जी प्यारा
कांई रे जवाव करूं रसिया!
जाव करूंली, जवाव करूंली
आलीजे री सेजां में रीझ रहूंली
कांई रे मिजाज करूं रसिया। १
मांथा रौ रस मैंमद लीवौ
मैंमद रौ रस राजींदे लीयौ
कांई रे गुमांन करूं रसिया
कांई रे मिजाज करूं रसिया
हा रे मद-छकिया सेजां में रीझ रहूंली
कांई रे जवाव करूं रसिया। २

प्रत्येक मास में कोई न कोई पर्व आकर हमारी धार्मिक भावनाओं को जागृत किया करता है। विभिन्न पर्वों, उत्सवों, व्रतों आदि के अवसर पर प्रायः स्त्रियाँ मिट्टी के छोटे से कूंडे में गेहूँ या जौ वो देती हैं। इनके बढ़े हुए अंकुरों को 'जँवारा' कहते हैं। गौरी-पूजन तथा दुर्गा-पूजा के समय तो प्रायः 'जँवारों' की भी पूजा की जाती है। इन जँवारों से सम्बन्धित

आज भी पाये जाते हैं। राजस्थानी का ऐसा ही एक लोक गीत इस प्रकार है—

माथा में मैंमद हद के विराजे तौ रखड़ी की छिव न्यारी जी
म्हांरा झिलता जोवन पर किण डारी
पिचकारी जी म्हें तौ सगळी भींज गई, किण डारी
ज्यां डारी ज्यां ने मोहे वतावौ नींतर चोंगी मैं गाळी जी
म्हारा गोरा सा वदन पर किण डारी
बूजी-सा का जाया, बाई-सा का वीरा
तोरा जांन डारी पिचकारी जी मैं तौ सगळी भींज गई
ऐसी डारी कांनां ने कुंडळ, हद के विराजे तौ झुटणां की छिव न्यारी जी।...

लोक गीतों में 'वारहमासी' गीतों का भी अपना स्थान है। इन गीतों में प्राय: विप्रलम्भ श्रृंगार ही अधिक पाया जाता है। किसी विरहिणी नायिका के 'बारह मासों' में अनुभूत वियोगजन्य दु:खों का वर्णन इसमें रहता है। इनके नैसर्गिक सौन्दर्य के सामने कीट्स के हल्के पैर, गहरे नील रंग की वनफशा-सी आँखें, काढे हुए वाल, मुलायम पतले हाथ, श्वेत कंठ और मलाईदार वक्ष-प्रदेश वाली नायिका भी फीकी पड़ जाती है।[1] इन लोक गीतों का प्राकृतिक सौन्दर्य वस्तुत: प्रभावशाली है। इन 'वारहमासी' लोक गीतों का आरंभ विभिन्न समय में होता है। इनके गाने का कोई निश्चित नियम नहीं है। कुछ गीत आषाढ़ या श्रावण मास से आरम्भ होते हैं तो कुछ गीत चैत्र से। इस सम्वन्ध में कोई शास्त्रीय नियम भी नहीं है। डॉ० रघुवंश के अनुसार इनके आरम्भ करने की तीन प्रमुख रीतियाँ हैं—'एक में वर्णन चैत्र से आरम्भ होता है, दूसरी में आषाढ़ से और तीसरी में अवसर के अनुसार।'[2] राजस्थानी में 'बारहमासे' प्राय: पावस ऋतु से ही आरम्भ होते हैं।

राजस्थानी के अतिरिक्त हिन्दी, ब्रज, अवधी, बुंदेलखंडी आदि में बारहमासे' की यह परंपरा खूब प्रचलित है। सुप्रसिद्ध प्रेममार्गी कवि जायसी ने भी नागमती के विरह का वर्णन 'बारहमासा' के माध्यम से किया है।[3] दूसरी भाषाओं की अपेक्षा राजस्थानी में इन 'वारहमासों' का प्रचलन कुछ कम है। यह भी संभव है कि ब्रज के प्रभाव से ही राजस्थानी लोक गीतों में 'वारहमासे' आये हों। राजस्थानी लोक गीतों के सभी संग्रह में मिला कर भी एक या दो से अधिक 'वारहमासे' नहीं मिलते।

इन 'बारहमासी' गीतों में प्रत्येक मास का वर्णन क्रम से किया जाता है। हर मास की रूपरेखा संक्षेप में दी जाती है, किन्तु इस बात का अवश्य ध्यान रक्खा जाता है कि जिन उपकरणों से ऋतु-वर्णन की योजना की जाती है वे प्रचलित और सर्वानुभूत हों। विरहिणी उन्हीं को लेकर अपने प्रवासी प्रियतम को स्मरण करती है। इसी प्रकार ऋतुओं पर मानवी भावों का पूर्ण आरोप होता है।[1]

राजस्थानी 'बारहमासा' का एक उदाहरण देखिये जिसमें पावस से वसंत ऋतु तक का अत्यन्त मार्मिक वर्णन हुआ है—

भादू वरखा झुक रही, घटा चढ़ी नभ जोर
कोयल कूक सुणावती, बोले दादुर मोर
ए जी सिरकार पपैयो पिव पिव सब्द सुणावे मेरे प्रांण !
चमचम चमके बीजुली, टप टप वरसे मेह
भर भादू विलखत तजी, भलो निभायो नेह
जी सिरदार चतर चौमासे में घर आवो ओजी मेरे प्रांण !
आसोजां में सीप ज्यों, प्यारी करती आस
पिव पिव करती घण कहे, प्रीतम आए न पास
जी उमराव इंद्रजी ओलर ओलर आवे ओजी मेरे प्रांण !
करूं कड़ाई चाव से, तेरी दुरगा मांय
आसोजां में आय के, जो प्रियतम मिळ जाय
जी महारांणी थारे सुवरण छत्र चढाऊं मेरे प्रांण !
कातिक छाती कर कठिन, पिया बसे जा दूर
लालच के वस होय के, विलखत छोडी दूर
जी उमराव धण थारी ऊभी काग उडावे मेरे प्रांण !...

(ii) त्यौहार एवं पर्व सम्बन्धी गीत—

हमारे त्यौहार और पर्वो के तो लोक गीत प्राण हैं। गणगौर का त्यौहार राजस्थान में वड़े ठाट से मनाया जाता है। 'गौरी' को कन्या-जीवन का आदर्श माना गया है। चूंकि उपयुक्त पति की प्राप्ति के लिए 'गौरी' ने कठिन व्रत किया था, अत: उपयुक्त पति की प्राप्ति के लिये कन्याएँ भी गौरी

---

१ 'मैथिली लोक गीत'—रामइकवालसिंह 'राकेस' पृ० ३६०।
२ 'प्रकृति और हिन्दी काव्य'—डॉ० रघुवंश, पृ० ४०२।
३ 'पद्मावत'—मलिक मुहम्मद जायसी, नागमती, वियोग खंड।

१ 'भारतीय लोक-साहित्य'—डॉ० श्याम परमार, पृ० १११।

हैं। रामदेवजी का जागरण करने को 'कांमड़' आते हैं। ऐसे जागरण को 'जमो' कहते हैं। यह भांवियों द्वारा ही किया जाता है। 'माताजी' के भोपे माताजी की रात जगाते हैं। 'गोगाजी' की रात उनके भक्त 'गोगानवमी' को जगाते हैं। इन 'रातिजगों' में प्राय: सगुण एवं निर्गुण दोनों ही प्रकार की भक्ति के पद और भजन गाये जाते हैं।

प्राय: सभी प्रकार के रात्रि-जागरणों में सर्वप्रथम गणेशजी की स्तुति की जाती है—

गौरी को नंद गणेस मनावां
हिड़दै में सारद माई, रै'जी...
निवन करां म्हारै गुरां पीरां नै
गुरु म्हांनैं ग्यांन बताई
मेरे दिल का दाग परै कर भाई, रै जी···!

गणेशजी की स्तुति के बाद अपने इष्टदेव या देवी-संबंधी गीत गाये जाते हैं। कुछ जातियों में 'पितर' को भी मान्यता दी जाती है। शुभ अवसरों पर यथा—पुत्र-जन्म, विवाह, तीर्थयात्रा या कोई लाभ-प्राप्ति पर 'पितरेस्वर' के निमित्त भी रात्रि-जागरण किया जाता है। यह केवल स्त्रियों द्वारा ही किया जाता है एवं कुछ चुने हुए गीत ही गाये जाते हैं जो 'पितरों' से सम्बन्धित होते हैं। कुछ स्त्रियां इस प्रकार के गीत गाने का व्यवसाय ही किया करती हैं। कुछ पारिश्रमिक पर इन्हें रात्रि-जागरण के लिये बुला लिया जाता है।

गंगा-यात्रा के बाद किए गए रात्रि-जागरण में अधिकतर गंगाजी-संबंधी ही गीत गाये जाते हैं। इसी प्रकार हनुमानजी, रामदेवजी, पाबूजी, गोगाजी, भैरूंजी, माताजी आदि के निमित्त किए गये जागरण में इन्हीं देवताओं से सम्बन्धित गीत अधिकतर गाते हैं। अन्य भजन भी गाये जा सकते हैं किन्तु आरम्भ उन विशिष्ट गीतों से ही किया जाता है।

रात्रि-जागरण के समाप्त होने पर ब्राह्म मुहूर्त्त में प्रभातियां गाई जाती हैं। प्रभात के समय जब जागने का समय होता है, तब यह गाया जाता है। इस सम्बन्ध में भी अनेक गीत प्रचलित हैं। ऐसे ही एक गीत का उदाहरण देखिये—

अंबर जाग्या देवी-देवता
धरती जाग्यो बासग नाग
झालर तौ बाजी राजा रांम की।
मंडप में काळी माता जाग्या
पुरी में जगनाथ बाबो जाग्या
बंगळै में हणमांन बाबौ जाग्या
परींडे में पितर देवता जाग्या
मिंदर में सती माता जाग्या
मठ में भैरूं बाबौ जाग्या
पा'ड़ां में बदरीनाथ जाग्या
परवत में मालकेत जाग्या
जांके पीठ वसै सकराय
झालर तौ बाजी राजा रांम की।

रात्रि-जागरण के अतिरिक्त साधारण समय में भी देवी-देवताओं के गीत गाये जाते हैं। आदिम अवस्था में मानव का विश्वास था कि देवी-देवताओं के मनाने से प्राकृतिक बाधायें एवं रोग आदि से मुक्ति मिल जाती है। यही भाव थोड़े बहुत प्रभाव से अभी तक चला आ रहा है। चेचक की बिमारी को आधुनिक युग में खतम-सा ही कर दिया गया है तथापि आज भी स्त्रियों का विश्वास है कि शीतलादेवी की प्रार्थना करने से उसे शांत किया जा सकता है। चेचक की इस देवी के प्रति उसने अपनी पुत्र-भावना प्रगट कर के उसे माता के रूप में ग्रहण किया है और सामूहिक भाव से एक निश्चित वार तथा तिथि मुकर्रर कर के इसे त्यौहार के रूप में सामाजिक मान्यता प्रदान की है। बच्चे को माता (शीतला) निर्विघ्न निकल जाय, इसके लिये मां सेडळ माता (शीतला देवी) की अनेक बलइयाँ लेती हैं[1]—

जद म्हांरी माता तूठण लागी
बाजर को सो बीज, बला ल्यूं सेडळ माता ए!
जद म्हांरी माता भरणै लागी
मक्कै को सो बीज, बला ल्यूं सेडळ माता ए!
जद म्हांरी माता मांन लियो ए
सोयो सारी रात, बला ल्यूं सेडळ माता ए!
भरिये कूंडाळै धोकसी जी
नांनड़ियं री माय, बला ल्यूं सेडळ माता ए!

इस प्रकार अनेक देवी-देवताओं-सम्बन्धित गीत राजस्थान में प्रचलित हैं।

[1] परंपरा—वर्ष १, अंक १, अप्रैल १९५६, पृष्ठ १३२।

लोक गीत भी राजस्थान में प्रचलित हैं। ऊँचे टीले पर लहलहाते हुए हरे-हरे 'जँवारे' हैं, नीचे हरिण जौ चर रहे हैं। गौरी कहती है—हे ब्रह्मा जी के पुत्र ईसर जी, इन वन के हरिणों को हटाओ तो ! ईसर जी उत्तर देते हैं—हे मेरी सुन्दर गौरी, मैं क्यों हटाऊँ, मेरी वहन सुभद्रा तो ससुराल में है। पत्नी के प्रति यह विनोदपूर्ण सकेत है कि यदि उसको अपने 'जँवारों' को मृगों से बचाना है तो वह अपने भाई को क्यों नहीं बुला लेती। पति भाई का काम क्यों करे ?[1]

ऊँचे मगरे ए जी म्हाँरा हरिया जँवारा
लुळिया जँवारा, नीचे मिरगा जव चरै
मिरगा घेरौ नी, ब्रह्मांजी रा ईसरजी
घेरौ नी वन रा मिरगला !
म्हें क्यूँ घेरां, ए म्हाँरी गवर साँवळड़ी
गवर पातळड़ी, बाई म्हाँरी सोदरा सासरै
मिरगा घेरौ नी, वसदेवजी रा स्रीकिसनजी
घेरौ जी वन रा मिरगला !
म्हें क्यूँ घेरां, ए म्हाँरी रुकमण साँवळड़ी
रुकमण पातळड़ी, बाई म्हाँरी सोदरा सासरै।

(iii) देवी-देवताओं सम्वन्धी गीत—

भारतीय संस्कृति के आधार पर यह स्पष्ट है कि यहाँ का नारी जीवन धार्मिक वृत्ति से सदैव ओत-प्रोत रहा है, इसोलिए स्त्रियों को धर्म एवं संस्कृति की रक्षिका कहा गया है। भारत में व्याप्त संत-परंपरा का प्रभाव स्त्रियों पर भी स्पष्ट रूप से लक्षित होता है। नारी भावुक-हृदया होती है, अतः धार्मिक बातों का प्रभाव उस पर बहुत शीघ्र और अधिक होता है। राजस्थान के लोक-जीवन में भी धर्म का सब से अधिक प्रभाव है। आज के वैज्ञानिक युग में भी यहां का जन-जीवन धर्माभिमुख है। धार्मिक परम्परा को निरन्तर रखने में यहां की स्त्रियों का भी महत्त्वपूर्ण हाथ रहा है। स्त्रियों के धर्म-संवंधी हार्दिक उद्गार उनके गीतों के रूप में पीढ़ी दर पीढ़ी हस्तान्तरित होते रहे हैं। भिन्न-भिन्न देवी-देवताओं, जिनके प्रति जन-साधारण की थोड़ा-बहुत भी श्रद्धा रही है, के गीत आज भी परम्परा के रूप से गाये जाते हैं। इन गीतों में यहां के लोक की धार्मिक वृत्ति का बोध होता है।

राजस्थान में भिन्न-भिन्न देवी-देवताओं की मान्यता है। इनमें माताजी, भैरूंजी, बालाजी, सेडळ माता आदि अनेक लोक गीतों में प्रसिद्ध हैं। स्त्री-समाज में इनसे सम्बन्धित अनेक गीत प्रचलित हैं। उदाहरण के लिए बालाजी अर्थात हनुमानजी का एक गीत देखिये—

कुण चिणायौ, ओ बाला जी, थांरौ देवरौ जी ?
कुण दिरायी गज-नीव ?
बावा बजरंग जी रौ बंगळौ हद वण्यौ।
राजाजी चिणायौ म्हारौ देवरौ
सेवगा दिरायी गज-नीव
बाबा बजरंग जी रौ बंगळौ हद वण्यौ।
+
बाग विधूंस्या लंका दळमळी
सारचा राजा रांमचंद्र का कांम
बाबा बजरंग जी रौ बंगळौ हद वण्यौ।
धन माता अंजनी की कूख
उण जायौ हणवंत पूत
बाबा बजरंग जी रौ बंगळौ हद वण्यौ।

देवी-देवताओं के गीतों के सम्बन्ध में यहां रात्रि-जागरण का भी बहुत प्रचार है। इसे 'रातिजगा' कहते हैं। अनेक मांगलिक अवसरों तथा 'पुत्र-जन्म', 'विवाह' 'तीर्थयात्रा का प्रीति-भोज' 'व्रत आदि का उजवणा' आदि आवश्यक रूप से इसका आयोजन किया जाता है। इसके अतिरिक्त 'सती की मनौती' या किसी देव या देवी विशेष के लिए तिथि निश्चित कर रात्रि-जागरण का आयोजन किया जाता है। रात्रि-जागरण में पूर्ण रात्रि भर देवी-देवताओं सम्वन्धी गीत गाते हुए जगते रहने के कारण इसे 'रातिजगा' कहते हैं। साधारणतः 'रातिजगा' का आयोजन स्त्रियों द्वारा ही किया जाता है, फिर भी शनिवार, मंगलवार या अन्य किसी दिन अथवा ग्रहण, अमावस्या, पूर्णिमा आदि के अवसर पर उस दिन के इष्टदेव के नाम पर पुरुष भी किसी मंदिर में या घर पर ही एकत्रित होकर रात्रि-जागरण करते हैं।

कई वार लोग रामदेवजी, गोगाजी, भैरूंजी, माताजी आदि के जागरण अपने-अपने इष्टदेव के अनुसार करवाते

[1] 'राजस्थान के लोक गीत'—प्रथम भाग, सं० ठा० रामसिंह एम० ए०, सूर्यकरण पारीक एवं नरोत्तमदास स्वामी, पृ० ४७ पर दिये गये 'जँवारा' गीत का भावार्थ।

स्नान के अनन्तर वे पथवारी के चारों ओर एक साथ बैठ जाती हैं और वहां उनके गीतिमय स्तोत्रों की धारा प्रवाहित होती है—

पथवारी तूं पथ की ए रांणी, बाट चढ़ो जस देय
जस की माय कंवळ की रांणी, नारायण सें हेत
हेत बडौ क करतार बड़ो म्हांरो पिता बडो संसार
ऊगंतै सूरज मिळै चकवा मिळै चकवी—
गऊ बंबन छोडदयो
थारी करी सेवा स्यांमसुंदर राधा प्यारी किसन प्यारी !

इसके अतिरिक्त वट-पूजा, करवाचौथ, बछ-बारस, ऊब-छठ आदि अनेक व्रतों से सम्बन्धित लोक गीत राजस्थान में प्रचलित हैं।

४—पारिवारिक गीत

राजस्थान में पारिवारिक जीवन से संबंधित लोक गीत भी अनेकों प्रचलित हैं। इन लोक गीतों में पति-पत्नी के संबंधों को लेकर अतुलनीय एवं अनोखा साहित्य रचा गया। यह वस्तुतः सत्य है कि लोक गीत की एक-एक बहू के चित्रण पर रीतिकाल की सौ-सौ मुग्धाएँ, खण्डिताएँ और धीराएँ निछावर की जा सकती हैं, क्योंकि ये निरालंकार होने पर भी प्राणमयी हैं और वे अलकारों से लदी हुई होकर भी निष्प्राण हैं। ये अपने जीवन के लिए किसी शास्त्र विशेष की मुखापेक्षी नहीं हैं और अपने आप में परिपूर्ण हैं।[1] लोक गीतों के मुख्य विषयों में पति-पत्नी का कोमलतम और स्नेहपूर्ण सम्बन्ध भी है। राजस्थानी का प्रसिद्ध लोक गीत 'पणिहारी' इसी एकनिष्ठ प्रेम का सुन्दर उदाहरण है।

विवाह के पश्चात् सामाजिक उत्तरदायित्व को निभाने के लिए पति को नौकरी पर जाना पड़ता है। अगर नौकरी नहीं भी हो तब भी पत्नी से अलग होने का कोई न कोई अवसर तो आता ही है। राजस्थानी लोक गीतों में तो ऐसे अनेकों गीत मिल जाते हैं जिनमें पत्नी अपने पति को किसी प्रकार कुछ देर रोकने के लिए मिन्नतें करती है। 'एक थंभियौ महल' एवं 'कसूंबो' आदि लोक गीत दाम्पत्य जीवन के संयोग पक्ष की मधुरिमा को व्यक्त करते हैं। पत्नी अपने पति का नौकरी पर जाने से रोकना चाहती है किन्तु लाख मना करने पर भी पति कर्तव्य-पालन के लिए चला जाता है। ऐसे भी लोक गीत मिलते हैं जिनमें पत्नी अपने पति से निवेदन करती है कि तुम नौकरी कहीं पास में ही कर लो जिससे शाम होते ही घर लौट आया करो। तुम्हें किसने यह बात सुझाई ? नौकरी पर जाने की सीख तुम्हें किसने दी ? जिन साथियों ने तुम्हें ऐसी सीख दी उन पर बिजली गिरे, उन्हें काला साँप डसे। प्रश्नोत्तर का यह एक सुन्दर गीत है—

नैड़ी तौ नैडी करजो पिया चाकरी जी
सांझ पड़्यां घर आय, जावो गोरी रा बालमा जी !
कुणी तौ चाळा थांनै चाळिया जी, कुणी थांनै दीवी सीख
अब घर आय जावो गोरी रा बालमा जी !
साथीड़ा चाळा गोरी चाळिय्या जी, रावजी दीवी म्हांनै सीख
अब घर आय जावो गोरी रा बालमा जी !
साथीड़ां पै पड़जो ढोला बीजळी जी, रावजी नै खाज्यो काळो सांप
अब घर आय जावो आसा थांरी लग रही जी !......

अपने वैवाहिक जीवन में एकनिष्ठता के लिए स्त्री-पुरुष में परस्पर आकर्षण बनाये रखना होता है। अतः विवाह के आरंभ के दिनों में स्त्री के सौन्दर्य एवं पुरुष की पौरुष शक्ति का भी महत्व है। लोक गीतों में इन दोनों सुन्दरताओं का वर्णन हुआ है। 'रैणांदे' और 'मूमल' नामक लोक गीतों में स्त्री-सौन्दर्य का अत्यन्त सुदर वर्णन है। पति-पत्नी के एकनिष्ठ प्रेम का भी लोक गीतों में पर्याप्त वर्णन रहता है। उदाहरण के लिए एक लोक गीत देखिये जिसमें प्रेयसी अपने प्रिय से उपवन में आकर मिलने की प्रार्थना कर रही है। पपीहे की पुकार मिलनोत्कण्ठा को तीव्र कर रही है किन्तु प्रिय पूर्व विवाहित है। उसमें स्वकीया के प्रति निष्ठा है—

भँवर म्हारे बागां आजो जी
बागां फिरूं अकेली, पपैयो बोल्यौ जी !
सुंदर गोरी किस विध आवां जी
म्हांकी परणी करै लड़ाई, पपैयौ बोल्यौ जी !
भंवर थांकी परणी मरज्यौ जी
बागां फिरूं अकेली पपैयो बोल्यो जी
सुंदर गोरी के थेंई मरज्यो जी
म्हाकी परणी वंस बधावै, पपैयो बोल्यौ जी !
म्हांकी परणी पूत खिलावै, पपैयो बोल्यौ जी !

लोक गीतों में मुख्यतया स्त्री को ही केन्द्र समझ कर

[1] पं० हजारीप्रसाद द्विवेदी।

(iv) व्रत तथा उपासना सम्वन्धी गीत—

भारतीय शास्त्रों का ऐसा विश्वास है कि व्रतोद्यापन, स्नान, देव-दर्शन आदि पुण्य कार्य स्त्रियों को अवश्य करते रहना चाहिए। इससे उन्हें योग्य एवं मनचाहे पति तथा श्रेष्ठ घरबार मिलते हैं। तुलसी-व्रत का भी इस दृष्टि से बड़ा महत्व है। यद्यपि तुलसी वृक्ष का पूजन प्रायः सभी स्त्रियों द्वारा किया जाता है, तथापि कुमारी कन्याएँ तथा नवविवाहिता वधुएँ इसका विशेष रूप से व्रत रखती हैं। यह व्रत कार्तिक मास में किया जाता है। प्रति वर्ष कार्तिक शुक्ला एकादशी को समस्त भारत में तुलसी-शालिग्राम विवाह-समारोह भी मनाया जाता है। इस विवाह के सम्वन्ध में राजस्थान में अनेकों कथाएँ प्रचलित हैं। एक लोक गीत में शालिग्राम के प्रति तुलसी के विवाह की इच्छा प्रकट की गई है—

चाँद तौ वावुल घट वढ़ ऊगै तौ—
सूरजजी रै किरणां घणैरी हो रांम !
ईसर तौ सोळा दिन आवै तौ—
सिवजी कै जटा ए घणैरी हो रांम !
विरमा वावाजी वेद पढ़ावै तौ—
विनायक कै सूंड वडैरी हो रांम।
किसन वावाजी गायां चरावै तौ—
ए बर म्हांनै ना भावै हो रांम !
म्हांनै म्हारौ साळगरांम बर हेरौ तौ—
बै म्हारी ओड़ निभावै हो रांम !

राजस्थानी लोक गीतों में तुलसी वृक्ष का पीपल एवं वट-वृक्ष से भी अधिक महत्व माना गया है। आस्तिक नर-नारी प्रातःकाल स्नान के बाद तुलसी के दर्शन करना एवं तुलसी-पत्र लेना अपना परम धर्म समझते हैं। कार्तिक मास में हर शाम को बाला बालिकाएँ तुलसी के वृक्ष के चारों ओर परि-क्रमा करती हैं एवं दीपक जलाती हैं। सात्विक जीवन व्यतीत करने वाली कन्या को ही सुन्दर एवं श्रेष्ठ पति प्राप्त होता है, इसकी झलक अनायास ही लोक-गीतों में मिल जाती है। तुलसी कहती है कि हे वहनों—

चैतां में ए भैणां गौरल पूजी तौ
निरणी ऊठ संवारी हो रांम !
वैसाखां ए भैणां वड़ पीपळ सींच्या तौ—
स्यौ पर लोटौ ढाळयौ हो रांम !
जेठां में ए भैणां जेठुड़ा पाल्या तौ—
विन मांग्यौ पांणी पायौ हो रांम !
पगल्यां सूं ए भैणां पग ना धोयौ तौ—
दिवलै सूं दिवलौ न जोयौ हो रांम !
आलौ ए भैणां पीपळ न काट्यौ तौ—
वैठी गउ न सताई हो रांम !
भूखा विपर न ठाया ए भैणां तौ
कुंवरी कन्या न मारी हो रांम !
अतणां तौ ए भैणां जप तप कीन्या तौ—
जद ए किसन वर पायौ हो रांम !

कार्तिक मास में अनेक प्रकार के व्रत करने का विधान है। शास्त्रों में कार्तिक मास की पवित्रता के वर्णन के साथ ही स्नान का भी विशेष महात्म्य वताया है।[1] कहा जाता है कि ब्रह्मचर्यपूर्वक नियमित स्नान करने से बड़ा फल होता है। धार्मिक पर्व और त्यौहार मनाने में पुरुषों की अपेक्षा स्त्रियाँ विशेष उत्साह रखती हैं।[2] यद्यपि शास्त्रों में स्त्री एवं पुरुष वर्ग, दोनों के लिये ही कार्तिक स्नान की समान विधि निर्दिष्ट है, तथापि पुरुष तो कोई विरला ही चार घड़ी के तड़के उठ कर विधि के अनुसार स्नान करने का कष्ट करता होगा। शरद् पूर्णिमा से कार्तिक स्नान आरंभ किया जाता है। प्रति दिन ब्राह्म मुहूर्त्त में विभिन्न गीतों के साथ कार्तिक स्नान किया जाता है—

सात सयां रै झूमखै राधा न्हांवण चाली ओ रांम !
आडा किसन जी फिर गया, थांनै जांण न देस्यां ओ रांम !
थारा जी वरज्या न रै'वां, म्हारी सास खिनाया ओ रांम !
खोल्या जी स्याळू स्यावटा, राधा जळ में पधारी ओ रांम !
लीन्या किसन जी कापड़ा, जाय कदम चढ़ वैठ्या ओ रांम !
देद्यो किसन जी कापड़ा, लज्जा राखौ म्हारी ओ रांम !
थांरा जी कपड़ा जद देवां जळ सें होज्याओ न्यारा ओ रांम !
जळ सें न्यारा ना होवां, थें पुरख म्हे नारी ओ रांम !...

---

[1] न कार्तिकसमो मासो न काशी सदृशी पुरी।
न प्रयागसमं तीर्थं न देवः केशवात्परः
प्रातः स्नानं नरो यो वै कार्त्तिके श्री हरिप्रिये।
करोति सर्वतीर्थेषु यत्स्नात्वातत्फलं लभेत् ॥
कार्त्तिकं सकलं मासं नित्यस्नायी जितेन्द्रियः।
जपन् हविष्यभुक् शान्तः सर्वपापैः प्रमुच्यते ॥

[2] कार्तिक स्नान के राजस्थानी महिला लोक गीत—पं० झावरमल शर्मा, मरु भारती, वर्ष ६, अंक १, पृष्ठ २४।

ग्राम्य-जीवन से सम्बन्धित कुछ ऐसे लोक गीत भी पाये जाते हैं जिनमें किसी आभूपण अथवा घरेलू उपकरण की प्रशंसा की गई हो। 'गोरवंध' एवं ईंढ़ांणी' ऐसे ही लोक गीत हैं। 'गोरवंध' ऊँट के गले का एक आभूपण होता है। यह गीत उसी आभूपण का रूप चित्रण करता है—

डारा रे समंदां सूं कोडा मंगाया
जूने गढ़ गूंथाया रे, म्हारी गोरबंद लूंबाळो !
असी रे कोडां में तू उजळा
हडवी काच विड़ाया रे, म्हारी गोरवंद लूंबाळो !
असी रे लड़ां री म्हारी गोरवंधियौ नें
पची लड़ां री लूंवां रे, म्हारी गोरवंद लंबाळो !
जोधांणां सूं रेसम मंगायौ
गोरवंधियौ गूंथायौ रे, म्हारी गोरवंद लूंबाळो !

इसी प्रकार 'ईंढ़ांणी' नामक लोक गीत में 'ईंढ़ांणी' (पानी लाने के लिए सूत, मूँज अथवा नारियल की जट का बना एक उपकरण जिसे स्त्रियाँ सिर पर रख कर उस पर पानी का घड़ा रख कर लाती हैं) की प्रशंसा की गई है

म्हारी सवा पाव की ईंढूंणी
म्हारी सवा तार को सूत, गमगी ईंढूंणी !
म्हारी माळजी वणायी ईंढूंणी
म्हारी मामीजी कात्यौ सूत, गमगी ईंढूंणी !
मोतीड़ा जड़ी म्हारी ईंढूंणी
कोई हीरा जड़्यौ म्हारौ सूत, गमगी ईंढूंणी !
म्हारी सवा लाख री ईंढूंणी
म्हारी सवा लाख रौ सूत, गमगी ईंढूंणी !
ग्रौर वणाम्यां ईंढूंणी
म्हे ग्रौर कतास्यां सूत, गमगी ईंढूंणी !

५—विविध गीत

राजस्थानी के अंतर्गत कुछ गीत ऐसे भी मिलते हैं जिनका अंतर्भाव उपर्युक्त श्रेणी-विभाजन में नहीं होता। "लोक गीत के स्वर दूर से आते हैं। जाने ये स्वर कहाँ से फूट पड़ते हैं। युग-युग की पीड़ा-वेदना, युग-युग की हर्ष-श्री, रीति-नीति, प्रथा-गाथा, अनूक, सहज रूढ़िवार्त्ता, भौगोलिक एवं वाता-वरण-निर्मित संस्कृत परम्परायें सभी इन स्वरों में अपने नाम-धाम अथवा अंश आदि का परिचय देती प्रतीत होती हैं।"[1]

[1] देवेन्द्र सत्यार्थी।

(i) ऐतिहासिक गीत—राजस्थान में व्यावसायिक गायकों द्वारा गाये जाने वाले अनेकों गीत प्रचलित हैं। इन गीतों को प्रायः व्यावसायिक गायक ही गाते हैं। 'रतन रांणौ' ऐसा ही एक प्रसिद्ध ऐतिहासिक लोक गीत है। 'रतन' ऊमर कोट का एक सोढ़ा राजपूत था। किसी अंग्रेज की हत्या के अपराध में उसे तत्कालीन पोलिटिकल ऐजेन्ट द्वारा फाँसी दिलवादी गई थी। गीत बड़ा करुणापूर्ण है जिसमें सोढ़ा 'रतन रांणा' की पत्नी अपने मृत पति की याद कर रही है। यह एक प्रकार का मरसिया ही है—

म्हारा रतन रांणा, एकर तौ अमरांणे घोड़ौ फेर !
भटियल ऊभी छाजइये री छांह, हो जी हो
आंसूड़ा ढळकावे कायर मोर ज्यूं रे
म्हारा रतन रांणा एकर सूं अमरांणे घोड़ौ फेर
अमरांणे में घोर अंधार, हां रे म्हांरा सोढ़ा रांणा
अमरांणे में हो घोर अंधार, हो जी हो
विलखण नै लागै रे मैं'ल माळिया हो
म्हारा रतन रांणा, एकर तौ अमरांणे पाछौ आव !

राजस्थानी लोक गीतों में प्राचीन इतिहास प्रतिबिम्बित होता है। सन् १८५७ के प्रथम स्वातंत्र्य संग्राम में राजस्थान ने भी अपना योग-दान दिया। तत्कालीन लोक गीत सहस्रों नर-नारियों द्वारा गाये जाकर उस स्वातंत्र्य-संग्राम एवं बलिदान हुए वीरों का जयघोप करते रहते हैं। 'आऊवा' के ठाकुर खुशालसिंहजी इन सब में अग्रगण्य थे। 'आऊवा' ने अंग्रेजों के विरुद्ध विद्रोह कर दिया। आऊवे के साथ युद्ध में पॉलिटिकल एजेन्ट कैप्टेन मैशन मारा गया। लोक गीतों में इस भावना का सुन्दर चित्रण हुआ है—

ढोल वाजै थाळी वाजै भेळी वाजै वांकियौ
अजंट नै मार नै दरवाजे न्हांकियौ
जूझै आऊवौ !
हे ओ जूझै आऊवौ
आऊवौ मुलकां मे चावौ ओ के
जूझै आऊवौ !

निरन्तर आठ महिनों तक खुशालसिंहजी ने अंग्रेजों से मोर्चा लिया। मारवाड़ के आसोप, गूलर, लांबिया, वाजवास, आलनियावास, भिवाळिया, वांता और मेवाड़ के सलूम्बर, रूपनगर, लसानी आदि जागीरदारों ने भी आऊवे का साथ

उसको पीहर की परिस्थितियों में तथा ससुराल की परिस्थितियों में रखा गया है, जिससे कि सभी पारिवारिक सम्बन्धों पर लोक गीतों की मान्यताएँ स्पष्ट हो सकें। ससुराल में जहाँ वधू, भावज, माता, देवराणी, जेठाणी आदि के अनेक रिश्तेदारों के रूप में रहना पड़ता है, वहाँ पीहर में वह पुत्री, वहिन, नणद, भाणजी आदि के रूप में होती है। इन सम्बन्धों के पीछे समाज के विकास का तथा आर्थिक, नैतिक एवं वैधानिक मान्यताओं व धारणाओं का जाल-सा विछा रहता है। पीहर तथा ससुराल दोनों से सम्बन्धित अनेक गीत राजस्थान में मिलते हैं। उदाहरण के लिए 'घूघरी' नामक लोक-गीत को लिया जा सकता है। एक स्त्री के वच्चा हुआ। उसके घर 'घूघरी' वना कर वाँटी गई। नाई ने जली हुई पेंदी की घूघरी उसकी नणद के यहाँ भी भेज दी। स्त्री को मालूम होने पर वह पति से जिद करने लगी कि नणद के यहाँ भेजी गई घूघरी लौटा लाओ। तंग आकर वेचारा भाई अपन विहिन के ससुराल घूघरी लौटा लाने के लिए गया। सीधे सरल भाई ने कह दिया—'हे प्यारी वहिन, तुम्हारी भाभी ओछे घर की लड़की है। वह तुमसे घूघरी वापिस माँगती है।' वहिन को भी अपने भाई की प्रतिष्ठा का ख्याल है। घूघरी वच्चे खा चुके थे, अतः उसने सोने की घूघरी वनाई और उस पर चाँदी के वड़े-वड़े दाने रक्खे और भाई को देने पीहर गई और शिष्ट व्यंग कसा—

नीसर भावज वाहर आव
थारी पाछी ल्याया घूघरी, जी म्हांरा राज
लीनौ भावज पल्लौ ए पसार
कोई गज की काढ्‌यौ घूंघटौ, जी म्हांरा राज
जे म्हे होता निरधणियां घर नार
थारी किस विध ल्याता घूघरी, जी म्हांरा राज
थारी किस विध ल्याता घूघरी, जी म्हांरा राज

भाई-वहिन के मधुर प्रम-संवंधी चित्र भी राजस्थानी लोक गीतों में उपलब्ध होते हैं। वड़ी वहिन एव छोटे भाई के प्रेम एवं विनोद का एक सुदर उदाहरण देखिये—

मोरिया वागाँ वागाँ जाय नै
काची कुळियाँ लायी रे, धन मोरिया
काची नै कुळियाँ रा गजरा गुंथाया, रे धन मोरिया
गजरा गुंथाय नै गवराँ वाई-सा' रै मेली, रे धन मोरिया
वाई-सा' वड़ा है, म्हाँरा गजरा पाछा मेलै, रे धन मोरिया
गजरा गुंथाय नै सोदरा वाई-सा' मेली, रे धन मोरिया
वाई-सा' वड़ा है, म्हाँरा गजरा पाछा मेलै, रे धन मोरिया !

राजस्थान का एक प्रसिद्ध गीत है 'कुरजाँ'। इस गीत को विरहिणी नायिका अपने प्रियतम के लिए भी गाती है और इसी गीत के भाव वदल कर वहिन अपने भाई की प्रतीक्षा में भी गाती है। गीत के भाव इतने सवल, सशक्त और मनोहर हैं कि पीहर की याद में किसी भी वालिका के सहजात मन का सहज अनुभव किया जा सकता है।[1]

परिवार के कार्यो की अभिव्यक्ति भी इन लोक गीतों में वहुत ही सुन्दर ढंग से हुई है। राजस्थान में कृषि ही जीविका का रूप प्रमुख साधन है। परिवार के सभी सदस्य, चाहे पुरुष हो अथवा स्त्री, चाहे पुत्री हो अथवा वधू, छोटा हो या वड़ा, सभी कृषि-कार्य में उत्साह से अपना हाथ वँटाते हैं। कोई हल चलाता है तो कोई 'वोझा' काटता है, कोई कुआ चलाता है तो कोई फसल काटता है, कोई घर के मवेशी चराता है तो कोई भोजन ही लाता है। अनेक गीतों में इन्हीं कार्यो की अभिव्यक्ति हुई है। पुत्री द्वारा गाया जाने वाला एक लोक गीत देखिये—

आयौ आयौ सांवण भादवौ
कोई, काळी घटा घिर आय, आज म्हांरी वदळी वरसैगी
म्हां रौ वीरोजी वीजै वाजरौ
म्हां रा भाभीजी काटै फोग, आज म्हांरी वदळी वरसैगी
म्हां रा काकोजी चरावै टोड़िया
म्हां रा माऊजी लावै छकियार, आज म्हांरी वदळी वरसैगी

वधू अपनी सास के साथ-साथ खेत में अपने कार्य पर जाती है। धरा के स्वतंत्र प्रांगण में वह भी उल्लसित मन से गा उठती है—

सासू वहू म्हे चली खेत नै
लीनी गंडासी हाथ, वणायी झूंपड़ी
सासूजी तौ पूळा काटचा
कोई म्हे काटचा सर ए पचास, वणायी झूंपड़ी
म्हारे परण्यै छायी तिरणी
म्हारे देवरियै गूंथ्यौ पाल, वणायी झूंपड़ी
सासू वहुवां मिळ गारौ तौ ढोळचौ
कोई लीप्यौ-लोप्यौ सारौ पाल, वणायी झूंपड़ी
आ झूंपड़ी म्हांरौ माळियौ
स कोई आ झूंपड़ी म्हांरी मैं'ल, वणायी झूंपड़ी।

[1] परंपरा—वर्ष १, अंक १, अप्रेल १९५६, पृष्ठ ११७।

अन्यथा माताजी मारेंगी, बाबाजी गालियां देंगे, तब बड़ा भाई मना करेगा और कहेगा कि बहिन को गालियां मत दो, वह तो परदेसिन है, कुछ दिनों बाद जँवाई ले जायगा।" गीत का काव्य-सौन्दर्य भी द्रष्टव्य है—

चांद चढ़्यौ गिगनार
किरत्यां ढळ रहियाँ जी ढळ रहियाँ
अब बाई घरे पधार
माऊजी मारैला जी मारैला
कोई बाबोसा दैला गाळ
बडोड़ौ वीरौ बरजैला जी बरजैला
मत दौ म्हांरी बाई नै गाळ
बाई म्हारी परदेसण जी परदेसण
आ आज उडै परभात
तड़कलै उड ज्यासी जी उड ज्यासी
सांवणियै रा दिनड़ा चार
जँवाईड़ौ ले ज्यासी जी ले ज्यासी !

वर्षा काल में उमड़ते मेघों को देख कर छोटे-छोटे बालक और बालिकायें गा उठते हैं—

मेह बाबा आजा
घी ने रोटौ खाजा !
आयौ बाबौ परदेसी
अबै जमांनौ कर देसी !
ढाकणी में ढोकळौ
मेह बाबौ मोकळौ !

इसी प्रकार अनेकों तुकबंदियां मिलती हैं। कुछ तो केवल शिशुओं को बहलाने के लिये ही निर्माण की गई जान पडती हैं -

कांन्या मांन्या कुर्रर
जाऊं जोधपुर्रर
लाऊं कबूतर्रर
ऊडाय देऊं फर्रर

(iii) अन्य गीत—

लोक गीत लोक-हृदय के उद्गार हैं, जिन पर समाज की छाप स्पष्ट रूप से लक्षित होती है। इनका क्षेत्र जीवन के विस्तार के साथ सम्बन्धित है। आदि काल से ही मानव अपने जीवन की जिन-जिन गतिविधियों में जीवनानुभूति करता आया है उसका एक-एक क्षण और विविध कार्य-कलापों का एक-एक अंग इन लोक गीतों में अभिव्यक्त हुआ है। समाज की आत्मा के परिचायक, इन लोक गीतों को वर्गों की सीमा-रेखा में बांधना, उनके विस्तार और उनकी महत्ता को कम करना है। हमने अध्ययन की सुविधा के दृष्टिकोण से उपरोक्त विवेचन में लोक गीतों को कुछ वर्गों में विभक्त कर उनका संक्षिप्त परिचय देने का प्रयास किया है। परन्तु यह निर्विवाद सत्य है कि हम राजस्थान के लोक गीतों को इस रेखा में बांध ही नहीं सकते। कुछ लोक गीत तो निश्चयपूर्वक वर्णित वर्गों के अनुसार सम्बन्धित अवसरों पर ही गाये जाते हैं परन्तु बहुत से गीत किसी विशेष अवसर या वर्ग से सम्बन्धित होते हुए भी भिन्न-भिन्न समय पर भी गाये जाते हैं। जनेऊ संस्कार के समय प्रायः सभी गीत विवाह सस्कार के ही गाये जाते हैं। विशेष ऋतु-सम्बन्धी, पर्व-सम्बन्धी या शृंगारिक गीत श्रम के समय, मेलों आदि में तथा गाने का व्यवसाय करने वाले लोगों द्वारा किसी उत्सव या आयोजन विशेष के समय भी गाये जाते हैं। कुछ ऐसे भी गीत हैं जिनका व्यापक प्रयोग होने के कारण किसी वर्ग की सीमा में नहीं बँधते। जीवन में रस घोलने, वातावरण को उल्लासमय बनाने, दुख-दर्द को भुलाने, शृंगार के दोनों ही पक्षों को अभिव्यक्त करने के लिए विभिन्न जड़ पदार्थों, पेड़-पौधों, पशु-पक्षियों को ही अपने गीतों का विषय बना लिया है। इनमें कांगसियौ, गाडूलौ, दिवलौ, नींबड़ली, नींबूड़ौ, बड़लौ, मरवौ, केवड़ौ, तथा सूवटौ, पपिऔ, हिरणी आदि बहुत प्रचलित गीत हैं। इसी प्रकार अनेक ग्राम्य-गीत यथा—खीचड़ौ, हाळी, ऊंट, कूवौ, विणजारौ आदि गीतों की मधुर स्वर-लहरी भी बहुधा सुनाई पड़ती ही रहती है।

खीचड़ौ गीत में अकृत्रिम जीवन एवं सरल भावों की अभिव्यक्ति श्रोताओं को आकर्षित किए बिना नहीं रहती—

म्हारौ मीठौ लागै खीचड़ौ
म्हारौ चोखौ लागै खीचड़ौ
छुळक्यौ-छांट्यौ बाजरौ
म्हे दळी ए मूंगां की दाळ, मीठौ खीचड़ौ
ऊंखळ घाल्यौ बाजरौ
म्हे छल्ले घाली दाळ, मीठौ खीचड़ौ
म्हे नानूं कूट्यौ बाजरौ
म्हे मीठी छांटी दाळ, मीठौ खीचड़ौ

दिया। लोक गीतों में भी इस संगठन के लिए दी जाने वाली प्रेरणा का भाव मिलता है—

आऊवौ ने आसोप धणियां मोतीड़ां री माळा रे
क्यरे-म्हांको कूंचियां तुड़ावौ ताळा रे, झगड़ौ आदरियौ
वा'—वा' झगड़ौ आदरियौ टोळी रैं टीकायत माथैं
चढ़ नैं आया हो, झगड़ौ आदरियौ।
आऊवे वाळा बाग में वग्वलिये वाळौ घेरौ रे
माथैं फौजां आई नैं अंगरेज भेळी रे
भायां सांमल रीज्यौ वा'वा' भायां सांमल रीज्यौ
ठाकर नैं ठिकांणौ छूटैं रे के भायां सांमल रीज्यौ
एक तौ नगारौ धणियां रातेनाडे बाजे ओ
दूजोड़ौ नगारौ धणियां ठेठ बाजे ओ
के झडौ रोपियौ, वा'वा' झड़ौ रोपियौ
गोरां रा माथा कंवरां लीधौ ओ के झंडा रोपियौ......

लोक गीतों में तत्कालीन समाज की राजनैतिक एवं सामाजिक परिस्थितियों का सुन्दर चित्रण मिलता है। अंग्रेजों की कूटनीति का लोक गीतों ने पर्दाफाश किया है। 'अंग्रेज ने इस देश को क्या दिया ? भाइयों में फूट डाली, (यह फूट डालो और शासन करो की नीति की ओर संकेत करता है) बेगार की प्रथा आरम्भ की एवं आर्थिक दृष्टि से देश को निर्बल बना दिया। भारत के अतीत की समृद्धि और सुख-सम्पन्नता विलीन हो गई। दरिद्रता यहां तक बढ़ गई कि अनेक भारतीय रोटी-रोटी को मुहताज हो गये। अंग्रेजों ने जो यहाँ पर अपनी कूटनीति चलाई उसकी लोक-भावना में स्पष्ट अभिव्यंजना हुई है—

'मोडकी मगरी रौ पांणी ढाळीं ढाळ ढळियौ रे
आबू थारैं पा'ड़ां में अंगरेज बड़ियौ रे
काळी टोपी रौ देस में छांवणियां नाखैं रे, काळी टोपी रौ
देस में अंगरेज आयौ कांई-कांई लायौ रे
फूट नांखी भायां में बेगार लायौ रे
काळी टोपी रौ, वा'वा' काळी टोपी रौ।
घोड़ा रोवै घास नैं टाबरिया रोवै दांणा नैं
बुरजां में ठकुरांण्यां रोवै जांमण जाया नैं
के रोळौ वापरियौ, वा' वा' रोळौ वापरियौ
देस में अंगरेज आयौ रे, के रोळौ वापरियौ !

राजस्थान के निवासियों में अंग्रेज-सत्ता के खिलाफ असंतोष एवं उत्पीड़न था, अतः वे हृदय से अंग्रेजी सत्ता से मुक्ति की कामना करते थे। 'गोरा हट जा' ऐसा ही लोक-गीत है।

समय आने पर जन-जीवन की रक्षा करने तथा धर्म की रक्षा करने के लिए जिन-जिन वीरों ने अपने प्राणों का उत्सर्ग किया है वे भी यहां के लोक गीतों में प्रसिद्ध हो चुके हैं। अनेक वीरों के प्रति यहां के लोक-जीवन में विशेष आस्था और श्रद्धा होने के कारण उन्हें धार्मिक महत्त्व प्राप्त हो गया है। ऐसे वीरों में पाबूजी, गोगाजी, रामदेवजी, तेजाजी आदि प्रसिद्ध हैं जिनके गीत आज भी लोक-जीवन में विशेष सम्मान के साथ गाये जाते हैं। इन गीतों का धार्मिक महत्त्व के साथ-साथ ऐतिहासिक पृष्ठ-भूमि भी है। इनके अतिरिक्त अनेक ऐतिहासिक घटनायें तथा उनसे सम्बन्धित व्यक्ति भी लोक गीतों में गाये जाते हैं। गायों की रक्षा करने में अपना बलिदान देने वाले प्रसिद्ध गोगाजी का एक लोक गीत देखिये—

गिगन-भवन सूं कुरजां उतरी, कांई यक लाई वात ओ
कुण-कुण ठाकर झूझिया, कुण-कुण आया है कांम ओ
गोगौ नैं धरमी वेई जूझिया, गोगौ आयौ है कांम ओ
आठम रैं दिन जूझिया, नमैं लीधौ अवतार ओ
दसम रैं चिणावूं धरमी रे देवरौ, चवदस जातीड़ौ जाय ओ
बांधौ गोगाजी री धरमी राखड़ी, आठम री नव गांठ ओ
तूठै गोगोजी सांवण रमती तीजण्यां, ज्यांरौ अमर अहिवात ओ।
तूठै गोगोजी बूढ़ा ठाढ़ा डोकरां, तूठै भल मोटियारां ओ
गाय गवाड़ै सीखैं सांभळै, जिण री गोगोजी पूरैं छै आस ओ।

(ii) बाल गीत—

राजस्थानी लोक गीतों का क्षेत्र बड़ा विस्तृत है। जीवन के प्रत्येक पहलू पर लोक गीत मिलते हैं। बालक-बालिकाओं-संबंधी अनेकों गीत राजस्थानी में विद्यमान हैं। स्वर, ताल और लय के अतिरिक्त उनकी एक विशेषता है और वह उनकी मनोवैज्ञानिकता। बाल-मनोविज्ञान का उनमें सर्वत्र निर्वाह हुआ है।[1]

खेल ही खेल में रात हो जाने के कारण भाई अपनी छोटी बहिन से कह रहा है कि—"बहिन, शीघ्र चल, देख आकाश में चांद चढ़ आया है, किरतियां ढल रही हैं, जल्दी चल

[1] राजस्थानी लोक गीत—संग्रहकर्त्ता—श्री जगदीशसिंह गहलोत, सं० रामप्रसाद दाधीच, पृ० १३७।

का रचयिता जन-समुदाय (Das Volksdichter) ही है,[१] क्योंकि लोक गीतों एवं लोक गाथाओं में जन-समुदाय की आत्मा संपूर्ण रूप में प्रकाशित होती है। उनके अनुसार लोक गाथाओं की रचना किसी विशिष्ट या प्रसिद्ध कवि के द्वारा नहीं होती अपितु इनकी रचना स्वतः होती है और उसका प्रचार भी जन-साधारण में स्वतः ही हो जाता है।[२] डॉ० गूमर ने भी इसका प्रतिपादन करते हुए कहा है कि लोक गाथा जनता के द्वारा जनता के लिए जनता की कविता है।[३] देखा जाय तो जन-समुदाय का काव्य-निर्माता होना कोई असंभाव्य बात नहीं है। किन्तु इसके साथ यह भी निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता कि सभी लोक गाथाओं की रचना जन-समुदाय द्वारा ही हुई होगी। 'ढोला मारू' के विद्वान सम्पादकों ने भी 'समुदायवादी' सिद्धान्त को मान्यता दी है।[४]

इस सिद्धान्त के विरुद्ध कुछ विद्वानों का कथन है कि किसी कविता या गाथा का रचयिता कोई न कोई व्यक्ति अवश्य होता है। डॉ० स्टेंथल के मतानुसार किसी जाति (Race) के समस्त व्यक्ति मिल कर लोक गाथाओं का निर्माण करते हैं। स्टेंथल का यह मत व्यावहारिक प्रतीत नहीं होता क्योंकि किसी छोटी जाति के सम्बन्ध में तो यह मत समीचीन हो सकता है किन्तु किसी बड़े देश की बड़ी जाति के सम्बन्ध में यह मत नितांत अव्यवहार्य है। डॉ० उपाध्याय के अनुसार 'समस्त जाति' लोक गाथाओं का निर्माण करती है, उतनी ही हास्यास्पद है जितनी 'समग्र जाति' शासन करती है, उक्ति।[१] जिस प्रकार शासन का संचालन कुछ चुने हुए व्यक्तियों द्वारा होता है उसी प्रकार लोक गाथाओं की रचना कुछ विशिष्ट लोक कवियों का ही कार्य है। प्रो० चाइल्ड ने व्यक्तिवाद का समर्थन करते हुए उसमें इतना-सा और जोड़ दिया है कि उसमें लेखक के व्यक्तित्व का कुछ विशेष महत्व नहीं होता।[२] इस सम्बन्ध में यह सम्भव प्रतीत होता है कि समय-समय पर भिन्न-भिन्न व्यक्तियों द्वारा भिन्न-भिन्न परिस्थितियों में गाये जाने के कारण उनमें परिवर्तन एवं परिवर्द्धन होते रहने से मूल लेखक का व्यक्तित्व नष्ट या तिरोहित हो जाता हो। प्रो० चाइल्ड लोक गाथाओं को किसी व्यक्ति विशेष द्वारा रचित स्वीकार तो करते हैं किन्तु वे लेखक के व्यक्तित्व को कोई महत्व प्रदान नहीं करते। 'समन्वयवाद' के नाम से डॉ० कृष्णदेव उपाध्याय ने अपना नया मत प्रस्तुत किया है।[३] उनके मतानुसार सभी सिद्धान्तों में कुछ न कुछ सत्य का अंश विद्यमान है। सभी सिद्धान्त कारणीभूत हैं एवं इन सभी का सहयोग इन गाथाओं के निर्माण में उपलब्ध होता है।[४]

लोक गाथाओं में अनेक विशेषताएँ होती हैं। इनमें मुख्य-

---

१ "He (Grim) maintained that the poetry of the people 'sings itself'; it has no individual poet behind it and is the product of the whole folk"—Old English Ballads—Gummer, भूमिका Page 49-50

२ "Epic Poetry, He (Grim) says, is not produced by particular Rend recognized poets but rather springs up and spreads along time among the people themselves, in the mouth of the people"—Old English Ballads—Gummer, भूमिका, Page 51.

३ "The Poetry of the People, by the People, for the People"—Old English Ballads—Gummer.

४ ढोला मारू रा दूहा—सं० रामसिंह, सूर्यकरण पारीक एवं नरोत्तमदास स्वामी—नागरी प्रचारिणी सभा, काशी द्वारा प्रकाशित—प्रस्तावना, पृष्ठ ४६।

---

१ हिन्दी साहित्य का वृहत् इतिहास, षोडश भाग, प्रस्तावना—ले० डॉ० कृष्णदेव उपाध्याय, पृष्ठ ८१, ८२।

२ "Though they (ballads) do not write themselves as Villiam Grim has said, though a man and not a people has composed them, still the author counts for nothing, and it is not by mere accident but with best region that they have come down to us anonimous"—Jhonson 'Encyclopaedia' 1893 A.D.

३ हिन्दी साहित्य का वृहत् इतिहास, षोडश भाग, प्रस्तावना, पृष्ठ ८४।

४ हिन्दी साहित्य का वृहत् इतिहास, षोडश भाग, प्रस्तावना, पृष्ठ ८५।

खदबद सीजै बाजरी
कोई लथ-पथ सीजै दाळ, मीठो खीचड़ो
दूध-खीचड़ो खाबा बैठ्या
कोई तरसै म्हांरी जाड़, मीठो खीचड़ो

–राजस्थानी लोक गाथा

राजस्थानी लोक साहित्य में लोक गाथाओं का भी महत्त्वपूर्ण स्थान है। लोक गाथा अंग्रेजी शब्द Ballad का रूपान्तर मात्र है। Ballad की उत्पत्ति लैटिन शब्द Ballure से मानी जाती है, जिसका मूल अर्थ नाचना होता है। रोबर्ट ग्रेव्स के मतानुसार बैलेड में संगीत और नृत्य दोनों की प्रधानता रहती है।[१] डॉ० मरे ने अपने अंग्रेजी शब्द कोश में स्फूर्तिदायक या उत्तेजनापूर्वक वह कविता जिसमें कोई लोकप्रिय आख्यान सजीव रीति से वर्णित हो, को बैलेड कहा है।[२] संसार की प्रायः सभी भाषाओं में लोक गाथायें किसी न किसी रूप में अवश्य वर्तमान है। राजस्थानी के लिए लोक गाथा किंचित् नया शब्द है। प्रायः अंग्रेजी शब्द Ballad का रूपान्तर लोक गीत ही किया जाता है। ढोला मारू के विद्वान संपादकों ने भी प्रस्तावना में 'लोक गीत' शब्द का ही प्रयोग किया है।[३] अगर सूक्ष्म दृष्टि से देखा जाय तो 'लोक गीत' एवं 'लोक गाथा' दोनों में वड़ा अन्तर है। डॉ० कृष्णदेव उपाध्याय ने Ballad के लिए 'लोक गाथा' का प्रयोग किया है।[४] वस्तुतः यह रूपान्तर अधिक वैज्ञानिक है। उन्होंने लोक गीतों एवं लोक गाथाओं में मोटे तौर से दो भेद बताये हैं।[१] (१) स्वरूपगत भेद, एवं (२) विषयगत भेद।

लोक गीत प्रायः छोटे होते हैं तथा लोक गाथायें लम्बी होती हैं। यद्यपि कुछ लोक गीत भी लम्बे होते हैं तथापि लोक गाथाओं की लम्बाई से उनकी तुलना नहीं की जा सकती। राजस्थानी का 'ढोला-मारू' नामक काव्य एक लोक गाथा ही है। अंग्रेजी भाषा की प्रसिद्ध 'दी जेस्ट आव् रोबिनहुड' नामक लोक गाथा हजारों पंक्तियों में समाप्त होती है।

विस्तार के अतिरिक्त लोक गीत एवं लोक गाथा में विषयगत अन्तर भी निहित रहता है। लोक गीतों में जीवन की विभिन्न अनुभूतियों का प्रकाशन होता है। विभिन्न संस्कारों, विभिन्न ऋतुओं, उत्सवों, पर्वो एवं त्यौहारों पर अनेक प्रकार के लोक गीत गाये जाते हैं। लोक गाथाओं में इन विषयों का मुख्य रूप से समावेश नहीं होता। उनमें प्रेम का पुट होते हुए भी प्रायः युद्ध, वीरता, साहस, रहस्य और रोमांच आदि का पुट अधिक मिलता है। इन गाथाओं में चित्रित नायक प्रायः लोकत्राता या लोकरक्षक के रूप में सामने आता है। लोक गीत एवं लोक गाथाओं के उपरोक्त भेद के कारण दोनों को एक ही श्रेणी में रखना उचित नहीं है।

लोक गाथाओं की उत्पत्ति के सम्बन्ध में भी विद्वानों में मतभेद हैं। कुछ विद्वान इनकी रचना किसी समुदाय के द्वारा हुई मानते हैं, किन्तु कुछ विद्वान इन्हें किसी व्यक्ति विशेष की रचना स्वीकार करते हैं। इस सम्बन्ध में डॉ० ग्रिम का समुदायवादी, श्लेगल का व्यक्तिवादी, स्टेंथल का जातिवादी, चाइल्ड का व्यक्तित्वहीन व्यक्तिवादी, आदि अनेक सिद्धान्त प्रचलित हैं। भारतीय विद्वान डॉ० कृष्णदेव उपाध्याय ने अपना एक अलग मत 'समन्वयवाद' नाम से प्रस्तुत किया है।[२]

प्रसिद्ध कहानी लखक जेम्स ग्रिम के अनुसार लोक गाथाओं

---

१ "It is connected with the word 'Belle' and originally ment a song for refrain intended as accompanyment to dancing but later covered any song in which a group or people socially joined"—Robert Grabs, The English Ballad (Preface)

२ "A simple spirited poem in short stanzas in which some popular story is graphically told"—New English Dictionary. 'बैलेड' शब्द का अर्थ।

३ ढोला मारू रा दूहा—सं० रामसिंह, सूर्यकरण पारीक, एवं नरोत्तमदास स्वामी—नागरी प्रचारिणी सभा, काशी द्वारा प्रकाशित—प्रस्तावना, पृष्ठ ४१।

४ हिन्दी साहित्य का वृहत् इतिहास, षोडश भाग, पृष्ठ ७३।

---

१ हिन्दी साहित्य का वृहत् इतिहास—षोडश भाग, प्रस्तावना—ले० डॉ० कृष्णदेव उपाध्याय, पृष्ठ ७४।

२ वही—पृष्ठ ७७।

साथ-अनेक गाथायें गाई जाती हैं। इन लोक गाथाओं में लोक गीतों की भांति स्थानीयता का प्रचुर पुट रहता है। स्थानीय वातावरण, रहन-सहन, रीति-रिवाज, खान-पान, आचार-विचार, प्रकृति-वर्णन आदि का इनमें सजीव चित्रण रहता है। उदाहरण के लिए 'पाबूजी रा पवाड़ा' में उनकी वेश-भूषा का वर्णन देखिये—

सिर तौ बांध्यौ छै ठाकर हरियौ रूमाल
कोई अंगरखौ पैरचौ रैं भुरजाळ लांबी बांह कौ।
धोती तौ बांधी छै पाबू लाल कणी की खास
कोई लांबै तौ कूंटा री पहरी छै वंकै मोचड़ी।

इसी प्रकार 'ढोला मारू' नामक लोक गाथा में भी जगह-जगह पर स्थानीयता का पुट दीख पड़ता है। मालवा देश सजल है, अतः वहां की मालवणी 'मरु देश' के प्रति अनिच्छा प्रकट करती हुई कहती है कि ऐसे देश को जला दूं जहां पानी के लिए ही आधी रात को प्रिय का साथ त्यागना पड़ता है—

बाळउं बाबा देसड़उ, पांणी संदी ताति।
पांणी केरइ कारणइ, प्री छंडइ अधराति ॥
बाबा, म देइस मारुवां, वर कूंआरि रहेस।
हाथि कचोळउ सिरि घड़उ, सींचंती य मरेस ॥
मारु, थांकइ देसड़इ, एक न भाजइ रिड्ढ।
ऊचाळउक अवरखणउ, कइ फाकउ कइ तिड्ढ ॥
जिण भुइ पन्नग पीमणा, कमर कँटाळा रूँख।
आके फोगे छांहड़ी, हूँछाँ भांजइ भूख ॥

यह 'मरु देश' के ठेठ देहाती जीवन का सजीव चित्रण है। यह ऐसा सूक्ष्म निदर्शन है कि राजस्थान देश की आत्मा का चित्र स्पष्ट रूप से उभर आता है।

'लोक गीत' एवं 'लोक गाथाओं' का प्रयोग विशेषतः जन-जीवन में मनोरंजन की दृष्टि से ही किया जाता रहा है। लोक गाथायें 'लोक' के आमोद-प्रमोद का एक साधन बनी हुई हैं। जन-साधारण को उपदेश देने का सहारा इन गाथाओं से नहीं लिया गया है। यही कारण है कि उपदेशात्मक प्रवृत्ति का इनमें सर्वथा अभाव है। मनोरंजन एवं आमोद-प्रमोद हेतु लोक गाथाओं की अभिव्यक्ति होने के कारण इनकी वर्णन-शैली भी अत्यन्त सरल और सीधी होती है। जन-साधारण में व्याप्त बोली ही इन गाथाओं की भाषा है। चूंकि इनको जनता की कविता (Poetry of the people) कहा जाता है, अतः इनमें अलंकार-विधान तथा कृत्रिम साहित्यिक विधानों का सर्वथा अभाव रहता है। यदि कहीं कोई अलंकार या अन्य साहित्यिक गुण दृष्टिगोचर हो तो उसे अनायासपूर्वक संन्निवेश ही समझना चाहिए। वस्तुतः कथावस्तु एवं भावों का सरल वर्णन ही लोक गीतों एवं लोक गाथाओं की विशेषता है। लोक गीतों एव लोक गाथाओं की एक बड़ी विशेषता यह है कि इनमें रचिताओं के व्यक्तित्व का अभाव पाया जाता है। सिजविक तो व्यक्तित्वहीनता को ही लोक गाथा का सर्वश्रेष्ठ गुण मानता है।[1] लोक गाथा कहने वाले का उस कथा मे कोई विशेष भाग नहीं होता। गाथाओं का रचयिता या गायक इनमें न तो अपने निजी विचार ही व्यक्त करता है, न किसी वस्तु की आलोचना ही। प्रधान कथावस्तु की अभिव्यंजना मात्र ही लोक गाथा के रचयिता तथा गायक का सिद्धान्त होता है।

यह तो हम पहिले ही बता आये हैं कि लोक गीत एवं लोक गाथाओं में सगीत का अभिन्न साहचर्य्य है, परंतु इसमें भी विशेष आकर्षण एवं कर्णप्रियता लाने के लिए टेक पदों की पुनरावृत्ति की जाती है। लोक गाथा में पद के चरण-विशेष के साथ टेक पदों की आवृत्ति नियमित होती है। इन पदों का उद्देश्य लोक गीतों को जीवन प्रदान कर श्रोताओं के हृदय-पटल पर अमिट प्रभाव उत्पन्न करना होता है। श्रोतागण स्वयं आनन्दित होकर गायक के साथ-साथ टेक पदों को गाने लग जाते हैं। इसी के आधार पर सिजविक का यह मत है कि टेक पद लोक गाथाओं की वह विशेषता है जिससे पता चलता है कि ये गीत सामूहिक रूप से पहले गाये जाते थे।[2] वर्तमान काल में समवेत स्वर से गीत गाने की प्रवृत्ति इसी परम्परा को सूचित करती है।

---

१ "The first and the foremost quality of the ballad in any language is not its personality but its impersonality. There can be disagreement about"—The Ballad—Frenck Civizik, Page 11.

२ "The refrain is another peculiarity of the popular ballad that establishes its derivation from the chorus song."—Civizic—The Ballad, Page 27.

मुख्य विशेषताओं को प्रायः दस भागों में विभक्त किया जाता है[1]—

(१) रचयिता का अज्ञात होना
(२) प्रामाणिक मूल पाठ का अभाव
(३) संगीत और नृत्य का अभिन्न साहचर्य
(४) स्थानीयता का प्रचुर पुट
(५) मौखिक परम्परा
(६) उपदेशात्मक प्रवृत्ति का अभाव
(७) अलंकृत शैली की अविद्यमानता
(८) कवि के व्यक्तित्व की अप्रधानता
(९) लम्बे कथानक की मुख्यता
(१०) टेक पदों की पुनरावृत्ति

इन विशेषताओं की विवेचना करने से पहले यह समझ लेना आवश्यक है कि लोक गीतों एवं लोक गाथाओं में कोई स्थूल अंतर नहीं है। इतना अवश्य है कि लोक गीत आकार में छोटे होते हैं और उनमें कथानक का सर्वथा अभाव रहता है। लोक गीत सकांगी होते हैं। उनमें प्रायः विषयवस्तु का गीतिमय वर्णन होता है। गीतात्मकता ही इनकी प्रधान विशेषता है। लोक गाथा—लोक गीतों का ही दूसरा रूप है। लोक गाथायें गेय अवश्य हैं परन्तु ये आकार में दीर्घ होती हैं और विस्तृत कथानक ही इनकी मुख्य विशेषता है। लोक गीतों व गाथाओं में परस्पर निकट सम्बन्ध होने के कारण उपरोक्त विशेषताओं में से अधिकांश लोक गीतों में भी प्रचुर मात्रा में पाई जाती हैं।

यद्यपि लोक गीत एवं लोक गाथायें किसी व्यक्ति विशेष के द्वारा ही रची जाती हैं तथापि कालान्तर में उसके रचयिता का नाम लोगों को ज्ञात नहीं रहता। राजस्थानी में प्रचलित किसी भी लोक गाथा के रचयिता का नाम आज तक मालूम नहीं हो सका। कुछ लोक गाथाओं का रचयिता कोई व्यक्ति न होकर समुदाय होता है. अतः ऐसी अवस्था में वह रचना सारे समुदाय की कृति ही कही जा सकती है।

लोक साहित्य कंठस्थ साहित्य होने के कारण लोक गीतों की भांति लोक गाथायें भी मौखिक रूप से ही आगे की पीढ़ी में हस्तान्तरित होती रही हैं। इसीलिए लोक गाथाओं का मूल पाठ भी प्रामाणिक रूप से उपलब्ध नही होता। समय-समय पर भाषा में होने वाले परिवर्तनों का भी लोक गाथाओं पर प्रभाव पड़ता है। इसके साथ ही स्थान-दूरी के कारण जनवाणी में कुछ अन्तर होने के कारण भी प्रचलित गाथाओं में परिवर्तन आ जाता है। मूल रूप के अभाव में इनका सम्पादन भी एक कठिन समस्या है। वैसे इनका महत्त्व मौखिक रूप में ही अधिक है। लिपिबद्ध होने से इनका विकास एवं वृद्धि अवरुद्ध हो जाती है। राजस्थान के वीर पुरुषों के अद्भुत पराक्रम की अनकों गाथाओं को स्थायित्व देने का श्रेय यहां के भीलों, नायकों, थोरियों तथा जोगियों को प्राप्त है। बगडावतों, गोगाजी चौहान, दूल्हौ धाडवी आदि की वीर गाथाओं को यहां के लोक गायकों ने ही कालकलवित होने से बचाया है। वास्तव में इन गाथाओं ने ही अपनी मौखिक परम्परा को अक्षुण्ण बनाये रखा है। सत्य भी यही है कि लोक गाथा तभी तक सुरक्षित रहती है जब तक उसकी परम्परा मौखिक होती है। डॉ० सिवजिक का कथन है कि 'यदि आपने किसी लोक गाथा को लिपिबद्ध कर लिया तो यह निश्चित रूप से समझ लीजिये कि आपने उसकी हत्या में सहायता पहुंचाई है।'[1] प्रो० गूमर के अनुसार भी लोक गीतों व लोक गाथाओं की सच्ची कसौटी मौखिक परम्परा ही है।[2]

लोक गाथाओं में संगीत एव नृत्य का अभिन्न साहचर्य्य निहित रहता है। गांवों में 'पाबूजी की पड़' कई रातों तक लगातार गाई जाती रहती है। गायक 'पड़' को गाने के साथ-साथ आवश्यकतानुसार नृत्य भी करता है। इसी प्रकार राजस्थान में होली पर्व पर 'लूर' एवं 'घूमर' नामक नृत्य के

---

१ हिन्दी साहित्य का वृहत् इतिहास, षोडश भाग, प्रस्तावना, पृष्ठ ८७।

१ "In the act of writing each one (ballad) down, you must remember that you are helping to kill that ballad..... It lives only while it remains what the french with a charming confusion of ideas call oral literature "—Frank Cizvik—The Ballad, Page 39.

२ "These are the cardinal virtues of the ballad, with respect to its conditions critics unite in regarding oral transmission as its chief valuable test"—Old English Ballad—Gummar, Page 29.

३ लोक कथाएँ—

लोक साहित्य के अन्तर्गत लोक कथाओं का स्थान भी अत्यन्त महत्वपूर्ण है। इन कथाओं में प्राचीन लोक संस्कृति अभिनिहित है। राजस्थानी साहित्य में इन लोक कथाओं की संख्या अनन्त है। यद्यपि इनका कोई पूर्ण संग्रह प्रकाशित करने का प्रयास प्रकाश में नहीं आया है तथापि मरु भारती, वरदा आदि शोध-पत्रिकाओं में यत्र-तत्र ये लोक कथाएँ प्रकाशित होती रहती हैं। लोक कथाओं की दृष्टि से राजस्थानी बहुत ही समृद्ध है। कहा जाता है कि जिस प्रकार आदि काव्य का जन्म इस देश में हुआ, उसी प्रकार संसार की सब से प्राचीन कथाओं के निर्माण का श्रेय भी इस पुण्य-भूमि भारत को ही है। लोक कथाओं की यह परम्परा अत्यन्त प्राचीन है। वैदिक संहिताओं में भी इन कथाओं के बीज उपलब्ध हैं। उसके पश्चात् ब्राह्मण ग्रंथों और उपनिषदों में भी अनेक कथाएँ उल्लिखित हैं। संस्कृत का 'पंचतंत्र' तो लोक कथाओं का प्रसिद्ध संग्रह है।

राजस्थानी में लोक कथाओं के लिए ही प्रायः 'बातां' शब्द का प्रयोग कर दिया जाता है, किन्तु 'लोक कथा' एवं 'बात' में स्पष्ट अन्तर पाया जाता है। आधुनिक समय में प्रचलित कहानी एवं लघु कथा में जो अन्तर है वही साधारणतया 'बात' तथा 'लोक कथा' में माना जाना चाहिए। विभिन्न मूल अभिप्रायों को लेकर लोक कथाएँ चलती हैं। अगर इन मूल अभिप्रायों को अलग से छाँटा जाय तो इनकी संख्या सैकड़ों तक पहुँचेगी। डॉ० कन्हैयालाल सहल ने 'मरु भारती' में लोक कथाओं के कुछ मूल अभिप्रायों के सम्बन्ध में विभिन्न उदाहरण प्रस्तुत किये हैं।

यद्यपि सीधे तौर पर ये लोक कथाएँ जनसाधारण को उपदेश देने के लिए नहीं लिखी गईं, तथापि उनकी रचना में शिक्षा देने की मूल भावना निहित रहती है। प्राचीन पौराणिक एवं परियों की कथाएँ एवं लघु कथाएँ अनजाने में ही हमें शिक्षा प्रदान कर देती हैं।

"राजस्थानी कथाओं के पात्र प्रायः वर्ग प्रतिनिधि होते हैं। इन पात्रों में 'ब्राह्मण' विद्वान और ज्ञानवान होता है, परन्तु हाजिरजवाब नहीं। 'राजपूत' वीर योद्धा के रूप में चित्रित किया गया है जो अपनी प्रतिज्ञा अथवा उद्देश्य के लिए सर्वस्व बलिदान कर देता है। वह सीधे और सत्य मार्ग को अपनाता है, चाहे उसे हानि ही क्यों न उठानी पड़े। व्यापारी-वर्ग को 'बनिये' के रूप में वर्णित किया गया है जो प्रत्युत्पन्नमति है और आर्थिक विषयों में सदा चौकन्ना रहता है। किसान को 'जाट' के रूप में चित्रित किया गया है, जो सीधा-सादा लगता है परन्तु व्यावहारिक ज्ञान काफी रखता है। 'मियां' (मुसलमान) उस समय के शासक वर्ग का प्रतिनिधित्व करता है। वह अपने को चतुर प्रमाणित करने के लिए कुछ बुद्धि-प्रदर्शन करता है परन्तु मुंह की खाता है। शिल्पी वर्ग का निरूपण 'कुम्भकार' में किया गया है जो अधिक होशियार तो नहीं, पर उसका सद्भाग्य उसे पार कर देता है। इस प्रकार के पात्रों से लोक कथाओं का ताना-बाना बुना हुआ होता है। अधिकतर ये कथाएँ वीरता और बुद्धि से पूर्ण कार्यों का दिग्दर्शन कराती हैं। कुछ कथाएँ राजाओं और राजपूतों के वीर कृत्यों से परिपूर्ण हैं तथा कुछ में सदुपदेश दिये गये हैं। कुछ में हँसी और हाजिरजवाबी दिखलाई गयी है। बुद्धि-द्वन्द्व में जाट की विजय और बेचारे मियाँ की पराजय।"[1]

डॉ० कृष्णदेव उपाध्याय ने लोक कथाओं का वर्गीकरण छः प्रकार से किया है[2]—

१—नीति कथा
२—व्रत कथा
३—प्रेम कथा
४—मनोरंजक कथा
५—दंत कथा
६—पौराणिक कथा

लोक साहित्य के अन्तर्गत प्राप्त होने वाली अधिकतर लोक कथायें प्रायः नीति-कथायें ही होती हैं। यद्यपि इनका मुख्य उद्देश्य नीति-कथन ही होता है, तथापि यह प्रत्यक्ष रूप में न होकर परोक्ष रूप से ही सम्पादित होता है। भारतीय जीवन धर्म से अनुप्राणित होने के कारण यहाँ स्त्रियों द्वारा विभिन्न व्रतों के किये जाने का विधान है। प्रायः प्रत्येक व्रत के दिन कोई न कोई कथा कही जाती है, जिसमें उस व्रत को करने

---

[1] मरु भारती, वर्ष ९, अंक १, अप्रैल १९६१, पृष्ठ २ से उद्धृत।

[2] हिन्दी साहित्य का बृहत् इतिहास, षोडश भाग, प्रस्तावना, पृष्ठ ११३-११४।

२ लोक गाथाओं का वर्गीकरण—

भिन्न-भिन्न विद्वानों ने लोक गाथाओं का वर्गीकरण अपने-अपने दृष्टिकोण से विभिन्न रूपों में किया है। कहीं इनका वर्गीकरण आकार की दृष्टि से मिलता है तो कहीं विषय की दृष्टि से। आकार की दृष्टि से लोक गाथायें 'लघु' एवं 'वृहत्' दो रूप में प्राप्त होती हैं। लोक साहित्य के प्रसिद्ध विद्वान प्रो. गूमर ने लोक गाथाओं का वर्गीकरण निम्न छः रूपों में किया है—

(१) प्राचीनतम गाथायें (ओल्डेस्ट वैलेड्स)
(२) कौटुंविक गाथायें (वैलेड्स ऑव किनशिप)
(३) शोकपूर्ण एवं अलौकिक गाथायें (कोरोनेच एण्ड वैलेड्स ऑव दी सुपर नेचुरल)
(४) निजंधरी गाथायें (लीजेंडरी वैलेड्स)
(५) सीमांत गाथायें (बार्डर वैलेड्स)
(६) आरण्यक गाथायें (ग्रीनवुड वैलेड्स)

'ढोला मारू' के विद्वान सम्पादकों ने लोक गाथाओं के मुख्य रूप से चार विभाग किये हैं।[१]

(१) परंपरागत लोक गाथायें (Traditional ballads)
(२) चारणी लोक गाथायें (Minstrel ballads)
(३) विकृत लोक गाथायें (Broadside ballads)
(४) साहित्यिक लोक गाथायें (Literary ballads)

डॉ० कृष्णदेव उपाध्याय ने लोक गाथाओं का वर्गीकरण विषय की दृष्टि से किया है। गाथाओं के भिन्न-भिन्न विषयों के आधार पर उनका यह विभाजन समुचित प्रतीत होता है। उन्होंने लोक गाथाओं को निम्न तीन भागों में विभाजित किया है—

(१) प्रेम कथात्मक गाथायें (Love ballads)
(२) वीर कथात्मक गाथायें (Heroic ballads)
(३) रोमांच कथात्मक गाथायें (Romantic ballads)

भारतीय परिस्थितियों एवं राजस्थानी लोक गाथाओं को दृष्टिगत रखते हुए डॉ० उपाध्याय द्वारा किया गया वर्गीकरण ही उचित कहा जा सकता है। 'ढोला मारू' के सम्पादकों का वर्गीकरण स्वरूपगत किया गया है। राजस्थानी लोक गाथाओं को हम विषयगत वर्गीकरण के आधार पर ही ठीक स्पष्ट कर सकते हैं। डॉ० उपाध्याय के विषयगत वर्गीकरण के अनुसार सर्व प्रथम प्रेम कथात्मक गाथायें आती हैं। इन गाथाओं में उल्लिखित प्रेम साधारण परिस्थितियों में उत्पन्न नहीं होता। राजस्थानी की 'ढोला मारू' नामक लोक गाथा इसी के अंतर्गत मानी जा सकती है। इसमें मुख्यत: ढोला एवं मारवणी का प्रेम वर्णित है एवं अन्य सभी प्रासंगिक वृत्तांतों का सहायक के रूप में प्रवाह हुआ है। प्रेम गाथाओं में हीररांझा, वींजा सोरठ, पन्ना वीरमदे आदि प्रसिद्ध हैं।

दूसरे प्रकार की वे वीर रसात्मक लोक गाथायें हैं जिनमें किसी वीर के साहसपूर्ण और शौर्यसंपन्न कार्य का वर्णन रहता है। राजस्थान के लोक साहित्य के अंतर्गत गाये जाने वाले विभिन्न वीर पुरुषों से संवंधित 'पँवाड़े' इसी कोटि में रखे जा सकते हैं। इनमें प्राय: उन लोगों का यश-गान होता है जिन्होंने लोक कल्याण तथा वचन-निर्वाह के लिए अपने प्राणों की आहुति दे दी। यद्यपि ऐसे अनेक वीरों का यशगान साहित्यिक कृतियों में नहीं किया गया, तथापि जन-साधारण ने मौखिक रूप से गाई जाने वाली लोक गाथाओं के द्वारा उनके यश को सुरक्षित रखा। इन पँवाड़ों में राजस्थान के धार्मिक, राजनैतिक तथा सांस्कृतिक आदर्शों का प्रतिविम्व मिलता है। पावूजी का पँवाडा, नानड़िया का पँवाड़ा, गोगादे चहुआंण का पँवाड़ा, डूंगजी जवारजी री पड़ आदि लोक गाथायें ऐसी ही वीर रसात्मक गाथायें हैं। इस प्रकार की लोक गाथाओं के द्वारा राजस्थान का लोकहृदय इन वीरों के प्रति श्रद्धांजलि अर्पित करता है।

तीसरे प्रकार की रोमांचकथात्मक गाथायें हैं। इनमें प्राय: असाधारण एवं अलौकिकता का वर्णन रहता है। पढ़ते-पढ़ते या सुनते-सुनते सहसा रोमांच हो उठता है। इनमें जादू द्वारा तोता या मैना वना देना, वकरा वना देना आदि अनेक असामान्य घटनायें निहित रहती हैं। 'निहालदे सुलतांन' संवंधी लोक गाथा ऐसी एक लोक गाथा है।

खेद है कि राजस्थानी लोक गीतों पर काफी कुछ लिखा जाने के बावजूद लोक साहित्य का यह अंग लोक साहित्यकारों की लेखनी से अछूता रह गया है।

---

[१] ढोला मारू रा दूहा—सं० रामसिंह, सूर्यकरण पारीक, नरोत्तमदास स्वामी।

स्थान में विभिन्न स्थानों पर खेले जाने वाले ख्यालों में गोपीचन्द, भरथरी, चन्द्र मलयागिरी, रूप बसन्त, राठौड़ अमरसिंह आदि के ख्याल बहुत प्रसिद्ध हैं।

इसके अतिरिक्त समस्त भारत में खेली जाने वाली रामलीला एवं रासलीला भी एक प्रकार के लोक नाट्य हैं। दूसरे प्रान्तों की अपेक्षा इनका अभिनय राजस्थान में कम होता है। ठेठ राजस्थानी व्यक्ति प्रायः रासलीला नहीं करते।

राजस्थान में प्रचलित उपरोक्त लोक नाट्यों की विशेषताओं की ओर दृष्टिपात करना अप्रासंगिक न होगा। इन लोक नाट्यों में प्रायः वे ही कथायें होती हैं जिनका यहां के जन-जीवन में बहुत प्रचलन होता है। प्रायः ऐतिहासिक कथा-वस्तुओं में धार्मिक मान्यताओं का अनायास ही प्रवेश हो जाता है। संगीत एवं नाटक का चोली-दामन का साथ है। यह संगीत गांवों में प्रायः ढोलक, सारंगी या रावणहत्थे की सहायता से चलता है। इन लोक नाट्यों में नाटकीय तत्वों की ओर प्रायः ध्यान नहीं दिया जाता। जो कुछ नाटकीयता इनमें पायी जाती है वह स्वाभाविक एवं अनायास आई हुई ही समझ लेना चाहिये। लोक नाट्यों में राजस्थान के विभिन्न हिस्सों में विभिन्न बोलियों में प्रचलित हैं। लोक भाषा ही लोक नाट्यों का प्राण है। अपने ज्ञान के अनुसार इन लोक नाट्यों में वेश-भूषा का पर्याप्त ध्यान रखा जाता है। साधनों के अभाव में यद्यपि उनके वेश-भूषा संबंधी प्रयत्न अपूर्ण ही रहते हैं। साहित्यिक नाटकों की तरह इन नाटकों में विदूषक का भी बहुत महत्वपूर्ण स्थान होता है। विदूषक की वेश-भूषा, उसके हाव-भाव और कहने का ढंग सभी कुछ प्रायः हास्योत्पादक होते हैं।

आधुनिक सिनेमा एवं नाटकों ने इन लोक नाट्यों को बहुत हानि पहुँचाई है। आजकल इनका खेला जाना निरंतर कम होता जा रहा है। शहरों में इन्हें हेय दृष्टि से भी देखा जाने लगा है। सस्ते सिनेमाओं के कारण इन लोक नाट्यों में कई जगह अश्लीलता भी आ गई है। संगठित रूपों से इन लोक नाट्यों के विकास का प्रयत्न करना आवश्यक है। इन्हीं में राजस्थान की आत्मा बसती है।

लोक सुभाषित—

सुन्दर ढंग का कथन या वह उक्ति जिसमें चमत्कार हो सुभाषित कहलाती है। जन-साधारण अपने परम्परागत संचित ज्ञान एवं अनुभव के आधार पर अपने दैनिक व्यवहार में स्वाभाविक रूप से इसी प्रकार की अनेक उक्तियों का प्रयोग करता आया है। इस प्रकार के लोक साहित्य की सामग्री को हम निम्न तीन भागों में विभक्त कर सकते हैं—

(१) लोकोक्ति
(२) मुहावरे
(३) पहेलियाँ

(i) लोकोक्ति—लोक साहित्य में लोकोक्तियों का महत्वपूर्ण स्थान है। संसार के सभी देशों और जातियों में कहावतों का महत्वपूर्ण स्थान है। वस्तुतः लोकोक्ति जनता-जनार्दन की उक्ति है। साहित्य की दृष्टि से भी कहावतों का महत्व कुछ कम नहीं है। कहावतें भाषा का शृंगार हैं। लोकोक्ति एक संक्षिप्त व चुभता हुआ जीवन का सुंदर सूत्र है जो जनता की जिव्हा पर निवास करता है तथा जो व्यावहारिक जीवन के निरीक्षण, शाश्वतिक अनुभूति या जीवन के सच्चे नियम को प्रकाशित करता है। इस प्रकार लोकोक्तियों में मानव जीवन के विभिन्न क्षेत्रों की अनुभूति पुंजीभूत रूप में उपलब्ध होती है।[1] डॉ० वासुदेवशरण के शब्दों में लोकोक्तियां मानवी ज्ञान के घनीभूत रत्न हैं, जिन्हें बुद्धि और अनुभव की किरणों से फूटने वाली ज्योति प्राप्त होती है।

लोकोक्तियों का प्रयोग अत्यन्त प्राचीनकाल से होता आया है। लोकोक्ति के लिये संस्कृत में भी सुभाषित या सूक्ति शब्द का प्रयोग हुआ है।[2] विभिन्न योरोपीय एवं भारतीय भाषाओं में लोकोक्तियों के संग्रह एवं संपादन का बड़ा सुंदर कार्य हुआ है। राजस्थानी में 'राजस्थानी कहावतें, एक अध्ययन' नामक डॉ० सहल का शोध-प्रबन्ध प्रकाशित हो चुका है। इसमें राजस्थानी कहावतों का पूर्ण एवं वैज्ञानिक

---

[1] हिन्दी साहित्य का बृहत् इतिहास, षोडश भाग, प्रस्तावना, पृष्ठ १३४।

[2] सुभाषितेन गीतेन, युवतीनां च लीलया।
मनो न रमते यस्य, स योगी अथवा पशुः॥

वालों को लाभ-प्राप्ति होने का प्रायः वर्णन रहता है। प्रेम-कथाओं के अन्तर्गत वे लोक कथाये आती हैं जिनमें बहिन के प्रति भाई का प्रेम, माता के प्रति पुत्र का प्रेम अथवा पुत्र के प्रति माता का प्रेम एवं दाम्पत्य प्रेम का वर्णन रहता है। दाम्पत्य प्रेम सम्बन्धी इन लोक कथाओं में बड़े पवित्र प्रेम की झाँकी मिलती है। काम-वासना की उसमें गन्ध तक नही रहती। बालकों को कही जाने वाली कथायें (यथा परियों की कथा, चिड़ा-चिड़ी की कथा) मनोरजक कथाओं के अन्तर्गत आती हैं। इनका उद्देश्य केवल बालकों का मनोरंजन करना होता है। परम्परा से आती हुई कथायें दन्तकथायें कहलाती हैं यथा पाबूजी री कथा, केसरिया कंवरजी री कथा आदि। पौराणिक कथायें भी राजस्थानी लोक साहित्य में प्रचुरता के साथ मिलती हैं। गणेसजी री कथा, पारवती री कथा आदि ऐसी ही लोक कथायें हैं।

प्रायः सभी लोक कथाओं में निम्नलिखित विशेपतायें प्रचुरता के साथ मिलती हैं—

(१) प्रेम का अभिन्न पुट
(२) अश्लील शृंगार का अभाव
(३) मानव की मूल वृत्तियों से निरंतर साहचर्य
(४) मंगल कामना की भावना
(५) सुखांतता
(६) रहस्य, रोमांच एवं अलौकिकता की प्रधानता
(७) उत्सुकता की भावना
(८) वर्णन की स्वाभाविकता

धार्मिक एवं अंधविश्वासों का भी प्रभाव इन लोक कथाओं पर स्पष्ट रूप से लक्षित होता है। एक छोटी-सी राजस्थानी लोक कथा में 'भाग्यवाद' का प्रभाव देखिये—

"एक आदमी या वात सुण राखी ही क दिन भर में आदमी रै मुंह सै नीकळचोड़ी एक बात जरूर सांची होवै। वी कै पां और क्यूंई हो कोयनी, एक पीतळ री टोकणी ही सो वी नै लेकर बैठग्यौ अर टोकणी नै कैवै लाग्यौ क होज्या सोनै की, होज्या सोनै की। कहतां-कहतां आखतौ होग्यौ जद झाळ मरतौ बोल्यौ क सोनै की नई होवै तौ लोह की ई होज्या। जद टोकणी झट लोह की होगी। करमहीण की चोखो वात सांची कोनी होवै, न्याऊ वात झट सांची हो ज्यावै।"

राजस्थानी लोक कथाओं का अपना विशेप महत्व है। यह बात अवश्य ध्यान देने योग्य है कि दूर-दूर जातियों के फैलने, बसने और सम्पर्क स्थापित करने से कथाएँ एक स्थान पर नहीं रह सकी। अनेक राज्यों में फैली लोक कथाओं मे बहुत सी समानताएँ मिलती हैं। जातक कथाओं, प्राचीन वेदों के आख्यान, कथा सरित सागर, वैताळ पच्चीसी, हितोपदेश आदि से संबंधित कथायें अनेक भाषाओं में अपने विगड़े रूप में उप-लब्ध हो जाती हैं। वस्तुतः भारत के अनेक राज्यों में एक ही कथा अपने विभिन्न रूपों में कैसे टिकी रहती है, इसका अध्ययन करना वड़ा मनोरंजक कार्य है।

लोक नाट्य—

आधुनिक समय में प्रचलित नाटकों का बीज भी प्राचीन लोक नाट्यों में निहित है। राजस्थान में प्राचीन समय से ही लोक नाट्य का प्रचलन था, चाहे उसका स्वरूप कुछ भिन्न रहा हो। राजस्थान में प्रचलित 'कठपुतली' का खेल वस्तुतः बहुत पुराना है। प्रायः चारपाई खडी कर के आगे के भाग में रंगीन वस्त्र से बना परदा टांग दिया जाता है, जिसके आगे सूत्रधार पुतलियां उतार कर राजपूती वीरता को प्रगट करने वाली अथवा अन्य किसी घटना का संचालन करता है। इसके साथ ही कोई व्यक्ति उससे संबंधित घटना का वर्णन करता रहता है।

विवाह के अवसर पर अनेक जातियों में स्त्रियां बारात विदा हो जाने पर स्वांग का अभिनय करती हैं। एक स्त्री पुरुष-वेश धारण कर 'वर' बनती है एवं दूसरी स्त्री 'वधू' बनती है, फिर विवाह के प्रायः सभी रीति-रस्मों का अभि-नय किया जाता है। बहुत सी जातियों में इसे 'टूंटियौ नाचणौ' कहते हैं। मनोरंजन के अतिरिक्त इसका कोई विशेप उद्देश्य नही है। इससे यह तो स्पष्ट है कि लोक जीवन से लोक नाट्यों का घनिष्ठ संबंध है।

'ख्याल' भी राजस्थान का एक लोक नाट्य है। इसके लिये साधारण मंच तैयार किया जाता है जो प्रायः चारों ओर से खुला होता है। इस पर पौराणिक तथा धार्मिक कथाओं के अतिरिक्त जनश्रुति पर अथवा ऐतिहासिक घटनाओं से संबंधित कथाओं को अभिनीत किया जाता है। इसमें स्त्री पात्रों का अभिनय भी पुरुषों द्वारा ही किया जाता है। राज-

में प्रहेलिकायें प्रचुर मात्रा में मिलती है। आज भी गांवों में अवकाश के क्षणों में पहेलिया बालकों, वूढ़ों और नौजवानों सभी के लिए मनोरंजन का उत्कृष्ट साधन हैं। स्त्रियाँ भी उन्हें अपना अस्त्र समझती हैं। ससुराल में जामाता की परीक्षा लेने के लिये स्त्रियाँ पहेलियों की झड़ी लगा देती हैं। डॉ० सत्येन्द्र के अनुसार 'लोक मानस इसके द्वारा अर्थ-गौरव की रक्षा करता है और मनोरंजन प्राप्त करता है। यह बुद्धि-परीक्षा का साधन है। भाव से इसका सम्बन्ध नहीं होता, प्रकृत को गोप्य करने की चेष्टा रहती है, बुद्धि-कौशल पर निर्भर करती है।'[१]

पहेलियों के अनेक भेद किये गये हैं जिसमें निम्नलिखित मुख्य हैं—

(१) खेती सम्बन्धी
(२) भोज्य पदार्थ सम्बन्धी
(३) घरेलू वस्तु सम्बन्धी
(४) जीव सम्बन्धी
(५) प्रकृति सम्बन्धी
(६) शरीर सम्बन्धी
(७) प्रकीर्ण

राजस्थानी लोक जीवन में इन पहेलियों का भी विशेप स्थान है। अवकाश के क्षणों में अपने मनोरंजनार्थ लोग इनका प्रयोग भी करते हैं। लोक जीवन में पहेलियों को बुद्धि के माप का एक साधन माना है। इन पहेलियों में कुछ तो इस प्रकार की हैं कि उनमें केवल प्रश्न ही किया गया है और इनका उत्तर बुद्धि के प्रयोग द्वारा बाहर से देना पड़ता है। अन्य प्रकार की पहेलियों में प्रश्न के साथ-साथ उत्तर भी श्लेपालंकार में दिया हुआ होता है। बुद्धि से विचार कर उसी में से उत्तर निकाला जाता है। राजस्थानी पहेलियों के उदाहरण देखिये—

१ चांर खूणां री बावड़ी, भरी झकोळा खाय।
हाथी घोड़ा डूब ग्या, पिणियारी खाली जाय॥
—कोच

२ एक भंडार नौ लख तारा, जिण में बैठ्या दो विणजारा।
अन खावै न पाणी पीवै, दुनिया देख देख कर जीवै॥
—चांद, सूरज

३ नारी पुरख न आदरै, तसकर वांधो जाय।
तेजी ताजणो खमै, कह चेला किण दाय॥
—गुरुजी तेज नहीं

इन पहेलियों के अतिरिक्त राजस्थानी लोक साहित्य में 'भूंगररासौ' और प्रचलित है। पहेलियों में तो प्रश्न एवं उत्तर दोनों सार्थक होते हैं किन्तु 'भूंगररासौ' में बे-सिरपैर, ऊटपटाँग एवं असंवद्ध बातें ही कही जाती हैं, जिनका उद्देश्य जनता का विशुद्ध मनोरंजन करना ही होता है। इन निरर्थक तुकवंदियों को सुन कर गंभीर प्रकृति के मनुष्यों के होठों पर भी मुस्कराहट खेल जाती है। हिन्दी भाषी क्षेत्रों में ऐसी ही उक्तियों को 'ढकोसला' कहते हैं।

'भूंगररासौ' के उदाहरण देखिये—

१ भाकर माथूं गीड़ो पड़ियो, मैं जांण्यो बडबोर।
हाथ में लेंर चाखियो, वाह रे ऊंला खीच॥

२ ऊबो ऊंट मींगणां करे, तड़ तड़ वाजै ताली।
लाव पड़ोसण कवाड़ियो, डोरा घालूं राली॥

३ रवड़क भैंस पींपळ चढ़ी, गिढ़क तोड़ायो नाथ।
डागळा माथा ऊं डूंम पडियो, भागो गांव भांभी रौ
सायळ माऊं हाथ॥

उपरोक्त विवेचन राजस्थानी लोक साहित्य की एक छोटी-सी झाँकी प्रस्तुत करने में सहायक होगा। लोक गीत एवं लोकोक्तियों को छोड़ दिया जाय तो राजस्थानी में लोक-साहित्य से सम्बन्धित बहुत कम सामग्री का प्रकाशन एवं समुचित सम्पादन हो पाया है। अतः इस सम्बन्ध में विशेप प्रयत्नों की आवश्यकता है। इसी के द्वारा प्राचीन राजस्थान की लोक-संस्कृति पर कुछ प्रकाश पड़ सकेगा।

—सीतारांम लाळस

[१] 'व्रज-लोक साहित्य का अध्ययन', डॉ० सत्येन्द्र, पृष्ठ ५२०।

विवेचन प्रस्तुत किया गया है।[1] विभिन्न विषयों से सम्बन्धित कहावतों का इसमें विषयानुसार वर्गीकरण प्रस्तुत किया गया है। राजस्थानी कहावतों के सम्बन्ध में पूर्ण ज्ञान प्राप्त करने के लिये यह पुस्तक प्रर्याप्त है।

राजस्थान में लोक जीवन का कोई भी अंग ऐसा नही रहा जिसके सम्बन्ध में लोकोक्ति का प्रयोग न होता हो। मनोरंजन, प्रहसन, शोक, दु:ख, व्यंग, श्रम, भोजन, पर्व आदि जीवन के सभी क्षेत्रों में लोकोक्तियो का प्रयोग होता है। इन लोकोक्तियों की स्वाभाविकता, इनका गूढ़ार्थ और इनमें पाया जाने वाला चमत्कार ही इनकी विशेषता है। राजस्थानी लोकोक्तियों का उदाहरण देखिये—

१—कागा कुत्ता कुमांणसा, तीन्यूं एक निकास।
ज्यां ज्यां सेरचा नीसरै, त्यां त्यां करै विणास।।

अर्थ—कौवे, कुत्ते, और दुर्जन तीनों समान ही स्वभाव के होते हैं; ये जिस मार्ग से निकलते हैं वही विनाश करते हैं।

२—म्हारी हुती नै म्है ही ल्याई,
बैंन हुती नै सौक कहाई,
सांमी बैंठी सुरमौ सारै,
माखी नही मुळकी मारै।

अर्थ—स्त्री के सन्तान न होने के कारण पति दूसरा विवाह करने के लिए तैयार हो गया तब पत्नी ने उचित समझ कर अपनी छोटी बहिन का ही विवाह अपने पति से करवा दिया। सोचा था कि दोनों बहिनें प्रेम से रहेंगी परन्तु वह तो उसके लिए शूल बन गई। युवा एवं सुन्दर होने के कारण पति की अधिक मानेता हो गई और श्रृंगार मे व्यस्त रहने लगी। छोटी बहिन के सभी कार्य बड़ी को व्यंग लगने लगे। इसी प्रकार कोई अपने ही व्यक्ति का भला चाहने के लिये उसे अपने साथ रखता है और जब वह उसी के लिए बाधक हो जाता है तब यह उक्ति कही जाती है।

३—माथा माथे बीटोरौ (मथारी) और कै' म्हनै तंबू में आवण दौ।

अर्थ—शिर पर तो कांटों का गट्ठर और कहता है मुझे शामियाने में प्रवेश करने दो। अपनी हस्ती, योग्यता और स्थिति के बाहर बात करने पर यह उक्ति उस आदमी के प्रति कही जाती है।

[1] भारती साहित्य मंदिर, फव्वारा, दिल्ली से प्रकाशित।

मुहावरा—

मुहावरा का इतिहास उतना ही प्राचीन है जितनी भाषा की उत्पत्ति। संस्कृत साहित्य मे इसका प्रयोग प्रचुरता के साथ मिलता है। श्री रामनरेश त्रिपाठी ने मुहावरो की परिभाषा करते हुए लिखा है कि मुहावरा किसी भाषा अथवा बोली में प्रयुक्त होने वाला वह वाक्य-खंड है जो अपनी उपस्थिति से समस्त वाक्य को सबल, सतेज, रोचक और चुस्त बना देता है। संसार में मनुष्य ने अपने लोक-व्यवहार मे जिन-जिन वस्तुओं और विचारों को बड़े कौतूहल से देखा है, समझा है, तथा बार-बार उनका अनुभव किया है उनको उसने शब्दों में बांध दिया है। वे ही मुहावरे कहलाते हैं।[1]

लोक जीवन में अनेक मुहावरे प्रचलित हैं। इन मुहावरों में जनता के जीवन की झाँकी देखने को मिलती है। मुहावरों की विशेषता बतलाते हुए डॉ० उपाध्याय कहते हैं।[1]—"मुहावरे की सबसे बडी विशेषता यह है कि यह किसी वाक्य का अंगीभूत होकर रहता है। जैसे 'आग लगाना' एक मुहावरा है। परन्तु इसकी कोई स्वतंत्र सत्ता नही है। जब तक इसका किसी वाक्य में प्रयोग नही होता तब तक इससे किसी अर्थ की व्यंजना नही हो सकती। मुहावरा अपने मूल रूप में ही सदा प्रयुक्त होता है। यदि मूल मुहावरों के स्थान पर उसके पर्यायवाची शब्दों का प्रयोग किया जाय तो उसकी अभि-व्यंजना शक्ति नष्ट हो जाती है।[2]"

लोक संस्कृति का स्पष्ट चित्रण इन मुहावरों में मिलता है अत: इनके वैज्ञानिक अध्ययन की अत्यन्त आवश्यकता है। यद्यपि राजस्थानी की विभिन्न पत्रिकाओं मे मुहावरों के अनेक छोटे-मोटे संग्रह प्रकाशित हो चुके हैं, तथापि इस सम्बन्ध में पूर्ण एवं संगठित प्रयत्न की आवश्यकता है। राजस्थानी शब्द-कोश में सम्बन्धित शब्दों के साथ आवश्यक जानकारी के लिये प्रचलित मुहावरे प्रस्तुत कर दिये गये हैं।

पहेलियाँ—

यह संस्कृत के प्रहेलिका शब्द का रूपान्तर मात्र है। पहेलियों की परम्परा अत्यन्त प्राचीन हैं। संस्कृत साहित्य

[1] पं० रामनरेश त्रिपाठी, त्रिपथगा, अंक ६ (मार्च १९५६), पृष्ठ ३०।
[2] हिन्दी साहित्य का वृहत्त इतिहास, षोडश भाग, प्रस्तावना पृष्ठ १४२।

संक्षिप्त रूप	पूर्ण रूप	रचयिता
गु० रू० वं०	गुण रूपक वंध	श्री केसोदास गाडण
गोर०	गोरादि	
गो० रू०	गोगादे रूपक	श्री पाहड़ खां आढो
ची०	चीनी	
चेत मांनखा	चेत मांनखा	श्री रेवतदांन कल्पित
चौवोली	चौवोली	संपादक डॉ० कन्हैयालाल सहल
ज० खि०	जग्गा खिड़िया रा कवित्त	श्री जग्गौ खिड़ियौ
जा०	जापानी	
ज्यो०	ज्योतिष	
डिं०	डिंगल	
डिं० को०	डिंगल कोश	कविराजा मुरारिदांन (बूंदी)
डिं० नां० मा०	डिंगल नांम माळा	श्री हरराज (कवि)
ढो० मा०	ढोला मारू[1]	संपादक श्री रामसिंह, श्री सूर्यकरण पारीक, नरोत्तमदास स्वामी
तु०	तुर्की	
द० दा०	दयाळदास री ख्यात	श्री दयाळदास सिंढ़ायच
दसदेव	दसदेव	श्री नाथूराम संस्कर्ता
द० वि०	दलपत विलास	सम्पादक श्री रावत सारस्वत
दुर्गादास	दुर्गादास	श्री नारायणसिंह भाटी
दे०	देखो	
देवि०, देवी०	श्री देवियांण	श्री ईसरदास बारहठ
द्रो० पु०	द्रोपदी पुकार	श्री रामनाथ कवियौ
नां० मा०	नांम-माळा	अज्ञात
ना डिं० को०	नागराज डिंगल कोस	श्री नागराज पिंगळ
ना० द०	नागदमण	श्री सांइया झूला
नी० प्र०	नीति प्रकाश	श्री सगरांम सिंह मुहणोत
नैणसी	मुहणोत नैणसी री ख्यात	सम्पादक, महामहोपाध्याय पं० रामकरण आसोपा
पं०	पंजाबी	
पर्याय०	पर्यायवाची शब्द	
पा०	पाली	
पा० प्र०	पावू प्रकास	कवि श्री मोडजी आसियौ
पिं० प्र०	पिंगळ प्रकास	श्री हमीर दांन रतनूं
पु०	पुल्लिंग	
पुर्त्त०	पुर्त्तगाली	
पृष०	पृषोदरादि	
पे० रू०	पेमसिंह रूपक	श्री प्रतापदांन गाडण

[1] इसके अतिरिक्त हमने 'ढोला मारू' की भिन्न-भिन्न लेखकों द्वारा लिखित हस्तलिखित वातों की प्रतियों में से शब्द लिये हैं, उनका भी संकेत-चिन्ह 'ढो० मा०' ही रखा गया है।

संकेताक्षरों का विवरण



संक्षिप्त रूप	पूर्ण रूप	रचयिता
अं०	अंग्रेजी	
अ०	अरबी	
अक०	अकर्मक	
अक० रू०	अकर्मक रूप	
अनु०	अनुकरण	
अनेक०, अनेका०	अनेकार्थी कोश	श्री उदयरांम बारहठ (गूंगा)
अप०	अपभ्रंश	
अमरत	अमरतसार	श्री महाराजा प्रतापसिंह (जयपुर)
अ० मा०	अवधांनमाळा	श्री उदयरांम बारहठ (गूंगा)
अ० रू०	अकर्मक रूप	
अल्प०, अल्पा०	अल्पार्थ	
अव्य०	अव्यय	
इब०	इब्रानी	
उ०	उदाहरण	
उप०	उपसर्ग	
उभ० लि०	उभयलिंग	
ऊ० का०	ऊमर-काव्य	श्री ऊमरदांन लाळस
एका०	एकाक्षरी नांम माळा	श्री वीरभांण रतनू, श्री उदयरांम बारहठ (गूंगा)
क० कु० बो०	कवि कुळ बोध	श्री उदयरांम बारहठ (गूंगा)
क० च०	करणी-चरित्र	ठा० किशोरसिंह बार्हस्पत्य
कर्म वा०, कर्म वा० रू०	कर्म वाच्य रूप	
कहा०	कहावतें	
कां० दे० प्र०	कांन्हड़दे प्रबन्ध	श्री पद्मनाभ
क्रि०	क्रिया	
क्रि० अ०	क्रिया अकर्मक	
क्रि प्र०	क्रिया प्रयोग	
क्रि० प्रे०	क्रिया प्रेरणार्थक	
क्रि० वि०	क्रिया विशेषण	
क्रि० स०	क्रिया सकर्मक	
क्व०, क्व० प्र०	क्वचित् प्रयोग	
क्षेत्र०	क्षेत्रीय प्रयोग	
ग० मो०	गजमोख	श्री हरसूर बारहठ
गी० रा०	गीत रांमायण	श्री अमृतलाल माथुर (कुचेरा निवासी)
गु०	गुजराती	

संक्षिप्त रूप	पूर्ण रूप	रचयिता
रां० रा०	रांमरासौ	श्री माधौदास दधवाड़ियौ
रा० रू०	राजरूपक	श्री वीर भांण रतनू
रा० वं० वि०	राठौड़ वंस री विगत	अज्ञात
रा० सा० सं०	राजस्थानी साहित्य संग्रह, भाग १	सम्पादक : श्री नरोत्तमदास स्वामी
रू० भे०	रूप भेद	
ल० पिं०	लखपत पिंगळ	श्री हमीरदांन रतनूं
ला० रा०	लावारासा	श्री गोपाळदांन कवियौ
लू	लू	कुं० चंद्रसिंह बीकौ
लें०	लैटिन	
लो० गी०	राजस्थांनी लोक गीत	
वं० भा०	वंश भास्कर	श्री सूरजमल्ल मीसण
व०	वर्तमान काल	
व० का० कृ०	वर्तमान कालिक कृदन्त	
वचनिका	वचनिका रतनसिंह महेसदासोत री	श्री जग्गौ खिड़ियौ
वरसगांठ	वरसगांठ	श्री मुरलीधर व्यास
वादळी	वादळी	कुं० चन्द्रसिंह बीकौ
वि०	विशेषण	
विलो०	विलोम	
वि० वि०	विशेष विवरण	
वि० स०	विड़द सिणगार	कविराजा श्री करणीदांन कवियौ
वी० दे०	वीसळदे रासौ	श्री वीसळदे
वी० मा०	वीरमायण	श्री बहादर ढाढ़ी
वी० स०	वीर सतसई	श्री सूरजमल्ल मीसण
वी० स० टी०	वीर सतसई टीका	श्री किसोरदांन बारहठ
वेलि.	वेलि क्रिसन रुकमणी री	महाराजा श्री प्रिथीराज राठौड़
वेलि टी०	वेलि क्रिसन रुकमणी री टीका	अज्ञात
व्या०	व्याकरण	
शक०	शकंदादि	
शा० हो०	शालि होत्र	अज्ञात
शि० वं०	शिखर वंशोत्पत्ति	श्री गोपाळ कवियौ
शि० सु० रू०	शिवदांन सुजस रूपक	श्री लालदांन बारहठ
सं०	संस्कृत	
सं० उ०	संज्ञा उभयलिंग	
सं० पु०	संज्ञा पुल्लिंग	
सं० स्त्री०	संज्ञा स्त्रीलिंग	
स०	सकर्मक	
स० रू०	सकर्मक रूप	
सर्व०	सर्वनाम	
सांझ	सांझ	श्री नारायणसिंह भाटी
सू० प्र०	सूरजप्रकास	कविराजा श्री करणीदांन कवियौ
स्त्री०	स्त्रीलिंग	
स्पे०	स्पेनिश	
श्री हरि पु०	श्री हरिपुरुषजी	
ह० नां०, ह० नां० मा०	हमीर नांम माळा	श्री हमीरदांन रतनू
ह० पु० वा०	श्री हरिपुरुषजी की वांणी	श्री हरिपुरुषजी
हं० प्र०	हंस प्रबोध	ठा० श्री हमीरसिंहजी राठौड़
ह० र०	हरिरस	श्री ईसरदास बारहठ
हा० झा०	हालां झालां रा कुंडळिया	श्री ईसरदास बारहठ

❁ [यह संकेत इस बात को सूचित करता है कि यह शब्द केवल कविता में प्रयुक्त हुआ है]

संक्षिप्त रूप	पूर्ण रूप	रचयिता
प्र०, प्रत्यय	प्रत्यय	
प्रा०	प्राकृत	
प्रा० प्र०	प्राचीन प्रयोग	
प्रा० रू०	प्राचीन रूप	
प्रे०	प्रेरणार्थक	
प्रे० रू०	प्रेरणार्थक रूप	
फा०	फारसी	
फ्रां०	फ्रांसीसी	
बहु०	बहुवचन	
बाँ० दा०	बाँकीदास ग्रंथावली, भाग १,२,३	श्री बाँकीदास
बाँ० दा० ख्या०	बाँकीदास री ख्यात	श्री बाँकीदास
बी० दे०	बीसळदे रासौ	श्री बीसळदे
भ० मा०	भगतमाळ	श्री ब्रह्मदास दादूपंथी
भाव०	भाव वाचक	
भाव वा०, भाव वा० रू०	भाव वाच्य रूप	
भू०	भूतकाल	
भू० का० कृ०	भूतकालिक कृदन्त	
भू० का० प्र०	भूतकालिक प्रयोग	
भृं० पु०	भृंगी पुराण	श्री हरदास
म०	मराठी	
मह०, महत्त्व०	महत्त्ववाची शब्द	
मा०	मागधी	
मा० म०	मारवाड़ मरदुमशुमारी रिपोर्ट	मुंशी श्री देवीप्रसाद
मि०	मिलाओ	
मीरां	मीरांबाई	
मुहा०	मुहावरे	
मेघ०	मेघदूत	श्री नारायणसिंह भाटी
मे० म०	मेहाई महिमा	श्री हिंगळाजदांन कवियौ
यू०	यूनानी	
यौ०	यौगिक	
र० ज० प्र०	रघुवर जस प्रकास	श्री किसनौ आढ़ौ
र० रा०	रसराज अंक, परम्परा	सम्पादक : श्री नारायणसिंह भाटी
र० रू०	रघुनाथ रूपक गीतां रौ	श्री मनछारांम (मंछ कवि)
र० हमीर०	रतना हमीर री वारता	महाराजा श्री मांनसिंह, जोधपुर
रांमकथा	श्रीरांमचंद्रजी से संबंधित कथा	
रा०	राजस्थांनी	
रा० ज० रासौ	राउ जैतसी रौ रासौ	अज्ञात
रा० ज० सी०	राउ जैतसी रौ छंद	श्री बीठू सूजौ नगराजोत
रा० दू०	राजस्थानी दूहा	सम्पादक : श्री नरोत्तमदास स्वामी
रा० प्र०	राजस्थांनी प्रत्यय	

राजस्थांनी सबद-कोस

अंकावणौ, अंकावबौ–क्रि०स० (अंकणी का प्रे०रू०) देखो 'अंकाणौ'।

अंकास–सं०पु० [सं० आकाश] गगन, आसमान, आकाश।

अंकित–वि० [सं०] १ चिन्हित, निशान किया हुआ. २ वर्णित. ३ लिखित, चित्रित।
 क्रि०प्र०—करणौ-होणौ।

अंकियोड़ौ–वि० (अंकणी का भू०का०कृ०) [सं० अंकित, प्रा० अंकिअ, अप० अंकिओ+ड़ौ–रा०प्र० अंकियोड़ौ, अंक्योड़ौ] (स्त्री० अंकियोड़ी) अंकित।

अंकुड़ी–सं०स्त्री०—१ हुक, कँटिया. २ झुकी हुई छड़. ३ बाँस के डंडे के छोर पर लगा हुआ हँसिया।
 यौ०—अंकुड़ीदार।

अंकुड़ीदार–सं०स्त्री०—१ कँटिया लगा हुआ, हुक लगा हुआ. २ गड़ारी।

अंकुड़ौ–सं०पु० [सं० अंकुर] लोहे का टेढ़ा काँटा जो बाँस के लम्बे डंडे में लगाया जाता है (इसके द्वारा वृक्षों की पत्तियाँ तोड़कर पशुओं को खाने के लिये डाली जाती हैं)

अंकुर–सं०पु० [सं०] १ डाभ, कल्ला, कनखा, कोंपल. २ अंखुआ नवोद्भव, प्ररोह।
 क्रि०प्र०—आणौ-उगणौ-जमणौ-निकळणौ-फूटणौ-फेंकणौ-फोड़णौ-लाणौ-लेणौ।
 ३ नोक. ४ कली. ५ जख्म भरते समय उत्पन्न होने वाले मांस के छोटे लाल-लाल दाने।

अंकुरणौ, अंकुरबौ–क्रि०अ० [सं०अंकुर] १ अंकुर निकलना (रा.रू.) २ ध्वनि करना, बजना। उ०—यों नेउर पग अंकुरे यों मक्कुन आया!—वं.भा.

अंकुरित–वि० [सं०] १ जिसमें अंकुर हो गया हो. २ (अंकुर) फूटा हुआ या निकला हुआ।
 क्रि०प्र०—करणौ-होणौ।

अंकुरितजोवणा–वि०स्त्री० [सं० अंकुरित+यौवना] नवयौवना, जिसके यौवन चिन्ह (यथा—कुच) स्पष्ट रूप से उभर आये हों।

अंकुरियोड़ौ–वि० [सं० अंकुरित, प्रा० अंकुरिअ, अप० अंकुरिओ+ड़ौ रा०प्र०] (स्त्री० अंकुरियोड़ी) जिसमें अंकुर हो गया हो, अंकुरित।

अंकुस–सं०पु० [सं० अंकुश] १ हाथी के हांकने का छोटा भाला या कांटा (अंकुसड़ौ, अंकुसियौ—अल्पा०)
 यौ०—अंकुसग्रह, अंकुसवारी।
 क्रि०प्र०—मारणौ-लगाणौ।
 २ प्रतिबंध, दबाव, रोक. ३ भय, डर.
 क्रि०प्र०—रामणौ-छोड़णौ।
 ४ एक सामुद्रिक चिन्ह।
 क्रि०प्र०—देखणौ।

अंकुसग्रह–सं०पु० [सं० अंकुश+ग्रह] फीलवान, महावत।

अंकुसदुरधर–सं०पु० [सं० अंकुशदुर्धर] उन्मत्त या मतवाला हाथी।

अंकुसदंतौ–सं०पु० [सं० अंकुश+दंत या दंती] वह हाथी जिसका एक दांत सीधा और दूसरा नीचे को झुका हो।

अंकुसधारी–सं०पु० [सं० अंकुश+धारिन्] महावत।

अंकुसमुख–सं०पु०—रथ (डि.नां.मा.)

अंकुसौ–सं०स्त्री० (अंकुश का अल्पा०) १ टेढ़ी कील, कँटिया, हुक. २ डर।

अंकूर–सं०पु० [सं० अंकुर] १ अंकुर, कोंपल. २ अंक, लेख।

अंकोड़–सं०पु०—१ मुंह पर मुड़ा हुआ लकड़ी का टुकड़ा. २ रहँट के अन्दर लगा हुआ लकड़ी का वह मोटा डंडा जिसके ऊपरी सिरे पर नीचे के छेद में रहँट का 'ऊवड़ियौ' (देखो-ऊवड़ियौ) घूमता रहता है। रहँट के घूमने वाले चक्र के बीच वाले लकड़ी के स्तम्भ के ऊपरी सिरे को अपने स्थान पर स्थिर रखने के लिए उपयोग में लाया जाने वाला उपकरण. ३ देखो 'अंकोड़ियौ'. ४ देखो 'अंकुड़ौ'।

अंकोड़ियौ–सं०पु०—१ कपाट बंद करने की चिटकनी या अर्गला. २ देखो 'अंकुड़ौ' (अल्पा०) ३ ऊंट या बकरी के बालों के कातने के उपकरण में फँसाई गई एक प्रकार की तकली जो लोहे या लकड़ी की बनी होती है।

अंकोड़ौ–सं०पु०—१ देखो 'अंकुड़ौ'. २ देखो 'अंकोड़' (१)

अंकोट–सं०पु०—देखो 'अंकोल' (अमरत)

अंकोल–सं०पु०—प्रायः सारे भारत में पहाड़ी जमीन पर पाया जाने वाला शरीफ के वृक्ष से मिलता-जुलता एक प्रकार का वृक्ष (अमरत)

अंकौ–सं०पु० [सं० अंक] भवितव्यता, होनी।
 मुहा०—इण सू आगे अंकौ है—भावी प्रबल है।

अंख–सं०स्त्री [सं० अक्षि, रा० आंख] आँख, नेत्र।

अंखड़ी–सं०स्त्री० [सं० अक्षि+ड़ी–रा०प्र०] आँख, नेत्र (अल्पा०)

अंखफोड़–सं०स्त्री०—एक प्रकार की लता विशेष (क्षेत्रीय)

अंखमींच–वि०पु०—(वह व्यक्ति) जिसे अपनी एक आँख कुछ मींच कर देखने की आदत हो।

अंखमींचणी–सं०स्त्री०—देखो 'आंखमींचणी'।

अंखि–सं०स्त्री० [सं० अक्षि] आँख, नेत्र। उ०—नीचे वेग में अंखि तारा न मावै, गजां डांण लागां बयानै गमावै।—वं.भा.

अंखियां–सं०स्त्री० [सं० अक्षि+यां रा०प्र०, बहु०] आँखें, नेत्र।

अंखी–सं०स्त्री०—देखो 'अंखी'।

अंग–सं०पु० [सं०] १ देह, शरीर. २ अवयव।
 क्रि०प्र०—मोड़णौ-लागणौ।
 ३ अंश, खंड, भाग, हिस्सा, टुकड़ा. ४ भेद, भांति. ५ उपाय. ६ पक्ष, तरफ. ७ अनुकूल, सहायक, मित्र. ८ प्रकृति, स्वभाव, आदत. ९ मन. १० छः की संख्या* ११ आठ की संख्या सूचक* १२ वेद के छः अंग. १३ सेना के चार अंग (देखो-'चतुरंगणी'). १४ पार्श्व, बगल. १५ राजनीति के सात अंग. १६ कार्य करने

राजस्थानी सबद-कोस

अ

अ–संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश व राजस्थानी [वर्णमाला] तथा देवनागरी लिपि का प्रथम अक्षर या स्वर है जिसका उच्चारण कंठ से होता है। बिना इसके व्यंजनों का स्वतंत्र रूप से उच्चारण नहीं हो सकता।

अं—सानुस्वार अ। सं०पु०—१ कमल. २ पूर्ण ब्रह्म. ३ शत्रु. ४ दुःख. ५ भक्ति. ६ श्रीकृष्ण (एका.)
वि०—१ विरक्त. २ श्रेष्ठ (एका.)

अंक–सं०पु० [सं०] १ होनहार, प्रारब्ध, भाग्य. २ चिन्ह, निशान, बैल आदि को दागने का चिन्ह. ३ दाग, धब्बा. ४ अक्षर. ५ गोद. (यौ०–अंकायत) ६ शरीर, अंग. ७ संख्या का चिन्ह ० से ६ तक. ८ पाप. ९ लिखावट. १० अपराध. ११ दुःख. १२ अध्याय नाटक का एक अंश. १३ एहसान। उ०—अंक करे जोधांण उदैपुर आस्रय देर झेलिया आतुर।—वं.भा. १४ जन्मांतर. १५ नौ की संख्या*।

अंकआड*–वि०—देखो 'आडे अंक'।

अंककार–वि० [सं०] अंकों का हिसाब करने वाला, गणितज्ञ।

अंकगणित–सं०स्त्री० [सं०] वह विद्या जिसके द्वारा संख्याओं की मीमांसा की जाय, संख्याओं का हिसाब।

अंकड़ी–सं०स्त्री० [सं० अक्षि] १ आंख। [सं० अंकुर] २ टेढ़ी नोक, कँटिया वृक्षों से फल-पत्ते आदि तोड़ने का बांस का लम्बा डंडा जिसके सिर पर लोहे का हँसिया लगा हुआ होता है, तीर का टेढ़ा फल।

अंकड़ौ–सं०पु० [सं०अंक+ड़ौ–रा०प्र०] १ अक्षर. २ प्रारब्ध, भाग्य*। उ०—कांमपताका काय उदै जे अंकड़ा, राजस तजि चित रोस क सोक्यां संकड़ा।—वां.दा. (अल्पा.)

अंकज–सं०पु० [सं०] वह जो अंक से उत्पन्न हो।

अंकणौ, अंकबौ–क्रि०स०—देखो 'आंकणौ'।

अंकधारण–सं०पु०यौ [सं० अंक+धारण] तप्त मुद्रा से चिन्ह करना, दगान, शंख चक्र आदि का चिन्ह।
क्रि०प्र०—करणौ।

अंकधारी–वि० [सं० अंकधारिन्] (स्त्री० अंकधारण) १ देव विशेष के नाम की तप्त मुद्रा धारण करने वाला. २ सांड, बैल या घोड़ा आदि जिसके पैर पर तप्त लोहे की त्रिशूल, शंख आदि के आकृति की छाप हो।

अंकपळई, अकपळाई–सं०स्त्री०[सं० अंकपल्लव] अंकों को अक्षरों के स्थान पर रख कर उनके समुदाय से वाक्य के समान अर्थ निकालने की एक प्रकार की विद्या विशेष।

अंकपाळी–सं०स्त्री० [सं० अंकपाली] १ धाय. २ मा, माता।
वि०—पालित कन्या।

अंकम–सं०पु० [सं० अंक] गोद, क्रोड़।

अंकमाळ–सं०पु० [सं० अंकमाल] १ आलिङ्गन, गले लगाना. २ अंक में माला की तरह धारण करना।

अंकरास–सं०पु०—समय, अवसर, मौका।

अंकवार–सं०पु० [सं० अंकमाल] १ कांख. २ गोद।

अंकवाळी–वि०—असीम, अधिक, बेहद। उ०—काळी नाचियौ ऊपरे नित्त काळी, वळी रंभ नाटारँभे अंकवाळी—ना.द.।

अंकविद्या–सं०स्त्री० यौ० [सं० अंक+विद्या] अंकगणित।

अंकस्थ–वि० [सं० अंक+स्थित] १ गोद में बैठा हुआ. २ गोद लिया हुआ, दत्तक—वं.भा.।

अंकहूंतलेखाळ–सं०पु० यौ० [सं० अंक+हूंत–रा०प्र०+सं०लेख+पाल] मंत्री, दीवान—(डि.नां.मा.)

अंका–सं०पु० [सं० आकाश] आकाश, आसमान। (यौ०–अंकागाडी)

अंकाई–सं० स्त्री०—१ कूंत, अटकल, वस्तु संख्या मूल्य या परिमाण का अनुमान या अंदाजा. २ खलिहान में (फसल में) काश्तकार और जागीरदार के हिस्से का ठहराव या अनुमान।
क्रि०प्र०—करणी-होणी।

अंकागाडी–सं०स्त्री० [सं० आकाश+रा० गाडी] हवाईजहाज, वायुयान।

अंकाणौ, अंकाबौ–क्रि०स० [सं० अंकन] १ अंकाना. २ मूल्य निर्धारित करवाना. ३ तौल कराना. ४ अंकित कराना, दाग लगवाना।
अंकाणहार-हारौ (हारी), अंकाणियौ, अंकावणियौ–वि०—अंकित कराने वाला। अंकायोड़ौ, अंकावियोड़ौ–भू०का०कृ०—अंकित कराया हुआ। अंकावणौ, अंकाववौ–अंकणौ का प्रे०रू० तथा अंकाणौ का रू०भे०। अंकिओड़ौ, अंकियोड़ौ, अंक्योड़ौ–भू०का०कृ०। अंकीजणौ, अंकीजबौ–भाव वा.।

अंकायत–वि० [सं० अंक+आयत–रा०प्र०] दत्तक, गोद लिया हुआ।
सं०पु०—दत्तक पुत्र।

अंकाळौ–सं०पु०—१ आक की सूखी लकड़ी के उपर का पतला छिलका जिसको बँटकर रस्सी बनाई जाती है. [सं०अंक+आळौ–रा०प्र०] २ गोद वाला।

अंगमरद—सं०पु० [सं० अंगमर्द] देखो 'अंगमरदण'।

अंगमरदण—सं०पु० [सं० अंगमर्द] १ हड्डियों का फटना, हड्डियों में दर्द होना (रोग)
क्रि०प्र०—होणौ।
२ हाथ-पैर दवाने वाला नौकर।
सं०स्त्री०—३ मालिश।
क्रि०प्र०—करणौ।

अंगमाठ—वि०—वलिष्ट, वलवान, दृढ़, मजवूत। उ०—लोह लाठ अंगमाठ लियां लडंगा भड़ लारां—भमाल।—महादांन महडू

अंगया—सं०स्त्री०—देखो 'अंगिया'।

अंगरक्षा—सं०स्त्री० [सं० अंग+रक्षा] शरीर की रक्षा।

अंगरख—सं०पु० [सं० अंग+रक्षक] अंगरक्षक, शरीररक्षक।

अंगरखि, अंगरखी—सं०स्त्री० [सं० अंगरक्षिका] एक प्रकार का सिला हुआ वस्त्र विशेष जो शरीर पर पहिनने के काम में आता है जिसमें वंध या वटन लगे रहते हैं।

अंगरखौ—सं०पु० [सं० अंग+रक्षक] एक प्रकार का सिला हुआ वस्त्र विशेष जो शरीर पर पहिनने के काम में आता है जिसमें वंध या वटन लगे हुए होते हैं। अंगा, अचकन।

अंग-रखौ—वि०—अपने स्वभाव का (व्यक्ति)

अंगरख्या—सं०स्त्री० [सं० अंग+रक्षा] शरीर की रक्षा।

अंगरण—सं०पु०—शरीर ढकने का वस्त्र।
यौ०—अंगरण-पंगरण।

अंगरळी—सं०स्त्री० [सं० अंग=अवयव+रा० रळी=उमंग] १ आनन्द, मौज. २ संभोग।

अंगरस—सं०पु० [सं०] १ किसी पत्ती या फली का कूट कर निकाला हुआ रस (वैद्यक) स्वरस. २ संभोग, सुरति।

अंगरह—सं०पु०—वह अखाड़ा जहाँ व्यायाम आदि किया जाय।

अंगराग—सं०पु० [सं०] १ केसर, कस्तूरी, कपूर आदि सुगंधित द्रव्यों से युक्त चन्दन का शरीर में किया जाने वाला लेप, उवटन. २ वस्त्र और आभूषण. ३ स्त्रियों द्वारा विभिन्न प्रकार से किया जाने वाला शरीर के पाँच अंगों का शृंगार, यथा—माँग में सिंदूर, माथे में रोली, गाल पर तिल की रचना, केसर का लेप और हाथ-पैरों में मेंहदी या महावर. ४ मुंह में लगाने की एक प्रकार की देसी सुगंधित वुकनी।

अंगराज—सं०पु० [सं० अंग+राज] १ अंग देश का राजा. २ दान-वीर कर्ण। (अ.मा.; ह.नां.मा.)

अंगरिख्या—सं०पु०—देखो 'अंगरख्या'।

अंगरी—सं०पु०—कवच।

अंगरू—सं०पु०—पुत्र, लड़का।

अंगरेज—सं०पु० [पुर्त० इंग्लेज] १ इंग्लैंड का निवासी. २ आंग्ल जाति।

अंगरेजड़ी—सं०स्त्री०—देखो 'अंगरेजी' (अल्पा.)

अंगरेजड़ौ, अंगरेजियौ, अंगरेजौ—सं०पु० [पुर्त० इंग्लेज] इंग्लैंड देश का निवासी (अल्पा.)

अंगरेजी—सं०स्त्री०—इंग्लैंड निवासियों की भाषा, अंग्रेजी।
वि०—अंग्रेजों का, अंग्रेजों संवंधी, विलायती।

अंगरेळ—सं०स्त्री०—अगरवत्ती, सुगंधित पदार्थों से वनी जलाने की एक प्रकार की वत्ती।

अंगरौ—सं०पु० [सं० अंगार] १ जलता या दहकता हुआ कोयला, चिनगारी. २ वैल के पैर का एक रोग।

अंगळ—सं०स्त्री० [सं० अंगुली] १ उँगली, अंगुली. २ हाथी की सूंड का अग्र भाग. ३ [सं० अंगुल] आठ जौ की लंवाई का नाप।

अंगळज—वि०—मूर्ख, अज्ञानी, अपठित। (ह.नां.मा.)

अंग-लीलंग—सं०पु०—हँस (अ.मा.)

अंगलेज—सं०पु० [पुर्त० इंग्लेज] देखो 'अंगरेज'।

अंगलेडौ—सं०पु०—उँगली या अंगूठे के ऊपर होने वाला विषैला फोड़ा। (क्षेत्रीय)

अंगवट—सं०पु०—स्वभाव, प्रकृति, शरीर का स्वाभाविक गुण।

अंगवारौ—सं०पु०—किसानों द्वारा कृषि-कार्य में एक दूसरे को पारस्परिक दी जाने वाली शारीरिक सहायता का एक रूप जिसमें आवश्यकता होने पर एक कृषक दूसरे कृषक का कार्य करने चला जाता है तथा उसके वदले उस कृषक के यहाँ भी आवश्यकता पड़ने पर कार्य करने के लिए वह पहुँच जाता है। इसमें मजदूरी नहीं देनी पड़ती।
पर्याय०—पिडवड़ी—हाडवड़ी।

अंगविकृति, अंगविक्रती, अंगविक्रिति—सं०स्त्री० [सं० अंग+विकृति] अपस्मार, मृगीरोग, मूर्च्छा, पक्षाघात, अंगों का टेढ़ा-मेढ़ा होना।

अंगविक्षेप, अंगविखेप—सं०पु० [सं० अंगविक्षेप] अंगों का मटकाना चमकाना, नृत्य, नर्तन में कलावाजी।

अंगविद्या—सं०स्त्री० [सं०] सामुद्रिक शास्त्र।

अंगवोट—सं०पु०—शरीर का गठन, ढाँचा, काठी, देह की उठान।

अंगसंग—सं०पु०—१ स्पर्श. २ संभोग।

अंगसंपेख—सं०पु० [सं० अंग संप्रेक्ष] अंग देश का एक नाम (प्राचीन)

अंगसंसकार—सं०पु० यौ० [सं० अंग+संस्कार] स्वभाव, प्रकृति।

अंगसी—सं०स्त्री० [सं० अंकुश] १ हल का फल. २ स्वर्णकारों की वंकनाल जिससे दीपक की लौ को फूंक कर छोटे व वारीक जोड़ जोड़े जाते हैं।

अंगहीण—सं०पु० [सं० अंगहीन] १ अंगरहित. २ कामदेव।
वि०—१ वह जिसका अंग खंडित हो।
२ अधूरा, जो सर्वांग-पूर्ण न हो।

अंगहोमा—सं०स्त्री०—अपने शरीर को अग्नि में होमने वाली स्त्री, सती।

अंगांगी (भाव)—सं०पु० [सं० अंगाङ्गी] अवयवों का पारस्परिक संवंध, अंश का पूर्ण के साथ संवंध।

का साधन. १७ बंगाल.का प्राचीन नाम. १८ विहार व उड़ीसा की सीमा के प्रदेश का एक प्राचीन नाम ।
वि०—प्रिय ।

अंगउधार–सं०पु०—विना किसी वस्तु के रेहन रखे अथवा विना किसी लिखापढ़ी के दिया या लिया गया ऋण ।
क्रि०प्र०—देणौ-लेणौ ।

अंगखंभ–सं०पु० [सं० अंग+स्तम्भ] हाथी (ना.डिं.को.)

अंगगथ–सं०पु०—कामदेव (अ.मा.)

अंगड़–सं०पु०—अग्नि, आग, अंगारा ।

अंगड़ाई–सं०स्त्री०—१ आलस्य या जम्भाई के साथ अंगों को तानना या फैलाना. २ देह टूटना. ३ करवट बदलना ।
क्रि०प्र०—लेणी ।

अंगड़ाणौ, अंगड़ाबौ–क्रि०अ० [सं० अंगअटन] आलस्य या जम्भाई के साथ अंगों को तानना या फैलाना, देह तोड़ना ।

अंगड़ाओड़ौ, अंगड़ायोड़ौ–भू०का०कृ०—अंगड़ाई लिया हुआ ।

अंगड़ावणौ, अंगड़ाववौ–क्रि०अ०—'अंगड़ाणौ' का रू०भे० ।

अंगचालन–सं०पु० [सं० अंग+चल] अंगों का संचालन, अंगों को चलाना या हिलाना ।

अंगज–सं०पु० [सं०] (स्त्री० अंगजा) १ पुत्र, लड़का. (वं.भा.) २ बाल, रोम. ३ पसीना. ४ कामक्रोध आदि विकार. ५ कामदेव. ६ मद, ७ रोग, ८ जूं. ९ 'हाव' 'भाव' और 'हेला' नामक स्त्रियों के यौवन सम्बन्धी सात्विक विकार (सा.)
वि०—शरीर से उत्पन्न ।

अंगजा, अंगजाई–सं०स्त्री०—वेटी, पुत्री । उ०—प्रथ्वीराज नूं आपरै अंतहपुर आंणि वेद मंत्रां रा विधानपूरवक **अंगजा** इच्छणी परिणाय दीधी ।—वं.भा.

अंगठ–सं०पु०—बैलगाड़ी में थाटे (मुख्य चौड़ा तख्ता) के नीचे लगाया हुआ वह चौड़ा तख्ता जो घोड़े के खुर की आकृति का होता है ।

अंगण–सं०पु० [सं०] आँगन, चौक, सहन ।

अंगणाई–सं०पु० [सं० आंगन] आँगन, सहन ।

अंगणा–सं०स्त्री० [सं० अंगना] १ सुन्दर देह वाली स्त्री. २ उत्तर दिग्वर्ती हाथी, सार्वभौम की हथिनी ।

अंगणि–सं०स्त्री० [सं० अंगण, सं० अंगना] १ देखो 'अंगण'. २ देखो 'अंगणा' (१)

अंगत्रांण–सं०पु० [सं० अंग+त्राण] १ शरीर-रक्षक. २ अंगरखा, कुरता. ३ कवच ।

अंगद–सं०पु० [सं०] १ बाहु का एक आभूषण. २ वालि वानर का पुत्र (रामचरित). ३ नूपुर ।

अंगदवार–सं०पु० [सं० अंग+द्वार] १ शरीर के द्वार, यथा–नाक, कान, मुख या मल-मूत्र मार्ग. २ नौ की संख्या*

अंगदांन–सं०पु० [सं०] १ पीठ दिखाना, युद्ध से पीछे भागना. २ तनु-दान, संभोग (स्त्री के लिए)
क्रि०प्र०—करणौ ।

अंगदार–वि०—अपने स्वभाव या प्रकृति के विरुद्ध आचरण को सहन न करने वाला ।

अंगदियौ, अंगदीयौ–सं०पु० [सं० अंगदीया] कारूपथ नामक देश की नगरी जो लक्ष्मण के पुत्र अंगद को मिली थी (रामकथा)

अंगद्वार–सं०पु०—देखो 'अंगदवार' ।

अंगधारी–वि० [सं० अंग+धारिन] शरीरधारी प्राणी ।

अंगन–सं०पु० [सं० आंगन] आँगन, चौक ।

अंगना–सं०स्त्री० [सं०] १ स्त्री (रू.भे.–अंगणा) उ०—नायक रै विदेश गमण आपरी **अंगना** रै समांन राजपुत्रियां भी कुळ रा धरम रै अनुसार पावक रा प्रवेस विनां ही उणाही विदेस में वसण री चाढ़ लागी ।—वं.भा. २ गाय (अ.मा.)

अंगनि–सं०स्त्री० [सं० अग्नि] अग्नि, आग । उ०—तिके सती **अंगनि** सनांन करि नै सरग भोग रा सुख मांणै छै ।—रा.सा.स.

अंगनिवांण–सं०पु० [सं० अग्नि+वाण] आग की ज्वाला प्रकटाने वाला बाण, अग्निवाण ।

अंगन्यास–सं०पु० [सं०] मंत्र पढ़ते हुए किसी अंग का स्पर्श करना (तंत्र शा.)

अंगपाळ–सं०पु० [सं० अंगपालक] १ अंग-रक्षक, शरीर-रक्षक. २ अंग देश का राजा ।

अंगफूटणी–सं०स्त्री०—शरीर में होने वाला एक प्रकार का दर्द विशेष (अमरत)

अंगवळ–सं०पु०—घी, घृत (अ.मा.)

अंगवूत–सं०पु०—(युद्ध में शस्त्रों द्वारा होने वाले) शरीर के टुकड़े

अंगभंग–सं०पु०यौ० [सं०] १ अवयव का टूटना या नाश होना. २ शरीर के अंग की हानि. ३ स्त्रियों की वशीभूत या मोहित करने की चेष्टा ।
क्रि०प्र०—करणौ-होणौ ।

अंगभंगी–सं०स्त्री० [सं०] स्त्रियों की वशीभूत या मोहित करने की शारीरिक क्रिया या चेष्टा ।
क्रि०प्र०—करणी ।
वि०—टूटे अंग वाला, अपाहिज ।

अंगभाव–सं०पु० [सं०] संगीत या नृत्य में आँखें, भृकुटि, हाथ-पैर आदि अंगों से किया जाने वाला मनोविकारों का प्रकाशन ।

अंगभू–सं०पु०—स्वामी कार्तिकेय, षड़ानन ।

अंगभूत–वि० [सं०] अन्तर्गत, भीतरी ।
सं०पु०—१ वंशज. २ पुत्र, वेटा ।

अंगमणौ, अंगमबौ–क्रि०स०—अधिकार में करना । उ०—ऊजड़ दसपुर अंगमूं वळै तिकांरै वैर, निज घर ये जावौ न तौ, खांन विचारौ खैर ।—वं.भा.

कहा०—भवेई अंगूर खाटा है—आसानी से प्राप्त न होने वाली वस्तु की निंदा कर उपेक्षा करने पर कहा जाता है।

अंगूरी–वि० [फा० अंगूर+ई] अंगूर के रंग के समान हल्का हरा।

अंगे-अंगेई–क्रि०वि०—१ बिल्कुल, नितांत, कतई. २ वास्तव में।

अंगेजणौ, अंगेजबौ–क्रि०स० [सं० अंग=शरीर+रा०=हिलना, कांपना +णौ] मंजूर करना, ग्रहण करना, स्वीकार करना।

अंगेजणहार-हारौ (हारी), अंगेजणियौ।

वि०—स्वीकार करने वाला। अंगेजियोड़ौ–भू०का०कृ०—स्वीकृत।

अंगेठी–सं०स्त्री०—देखो 'अंगीठी'।

अंगोअंग, अंगोअंगि–वि०—१ पूर्ण. २ ठीक।

क्रि०वि० [सं० अंग+प्रति+अंग] अंग-प्रत्यंग, संपूर्ण अंग, पूर्णरूपेण।

सं०पु०—किसी बात को पूर्णरूप से समझने का भाव।

अंगोछ–सं०पु०—देखो 'अंगोछौ'।

अंगोछी–सं०स्त्री०—१ छोटा तौलिया. २ उत्तरीय।

अंगोछौ–सं०पु० [सं० अंग+प्रोक्षण] १ तौलिया, शरीर पोंछने का वस्त्र, गमछा. २ उत्तरीय, उपवस्त्र। (अंगोछियौ–अल्पा.)

अंगोठी–सं०स्त्री०—देखो 'अंगूठी'।

अंगोठौ–सं०पु० [सं० अंगुष्ठ] अंगूठा।

अंगोळइणौ, अंगोळईबौ–क्रि०स० [प्रा०ह०] स्नान करना (डो.मा.)

अंगोळणौ, अंगोळबौ–क्रि०स०—स्नान करना, नहाना।

स्नान कराना, नहलवाना।

अंगोळिया–सं०स्त्री०—नाइयों का एक भेद।

अंगोळियौ–सं०पु०—१ स्नानघर. २ पेशाबघर. ३ 'अंगोलिया' शाखा का नाई।

अंगोळी–सं०स्त्री०—१ स्नान।

अंग्रेज–सं०पु० [पुर्त्त० इंग्लेज] देखो 'अंगरेज'।

अंघड–सं०पु० [सं० अंघ्रि] छोटी जाति की स्त्रियों के पैर के अंगूठे में पहिनने का जेवर विशेष।

अंघियौ–सं०पु०—नेकरनुमा पहिनने का वस्त्र, जांघिया।

अंघ्रप–सं०पु० [सं० अंघ्रिप] वृक्ष (अ.मा.)

अंघ्रि, अंघ्री–सं०पु० [सं० अंघ्रि] १ पैर, चरण. २ चौथा भाग. ३ वृक्ष, वृक्षों की जड़ (अ.मा.)

अंघ्रीयस–सं०पु० [सं० अंघ्रि] पैर, चरण।

उ०—अंघ्रीयस रंभ किरि थंभ ऊप, अनि भूप कोप वंचण अनूप।

—रा.रू.

अंचंभ–सं०पु०—१ देखो 'अचंभौ'।

क्रि०वि०—अकस्मात्, अचानक।

अंचळ–सं०पु० [सं० अंचल] १ वस्त्र या साड़ी का सामने रहने वाला छोर, पल्ला, आंचल. २ सीमा का समीपवर्ती भाग. ३ किनारा, तट. ४ वस्त्र।

अंचळबंध–सं०पु० [सं० अंचल+बंधन] गठजोड़ा, वर-वधु के वस्त्रों के छोरों को मिलाकर बांधना।

अंचळा–सं०स्त्री०—गठजोड़ा, ग्रंथिबंधन।

उ०—छूँडि चौरी हथळेवै छूटै, मन बंधे अंचळा मिसि—वेलि.

अंचळौ–सं०पु० [सं० अंचल] एक वस्त्र विशेष जिसे प्रायः साधु या संन्यासी शरीर पर डाले रहते हैं, जो ढीला और बिना आस्तीन या बाँहों के कुर्ते के समान होता है।

अंचित–वि० [सं० अंचित] पूजित, पूजा हुआ, आराधित (वं.भा.)

अंच्या–सं०स्त्री० [सं० इच्छा] इच्छा, कामना, चाह।

अंछर–सं०पु० [सं० अक्षर] १ अक्षर. २ जादू-टोना।

सं०स्त्री० [सं० अप्सरा] ३ अप्सरा।

अंछावाळौ–वि० [सं० इच्छा+वाळौ–रा०प्र०] इच्छुक, इच्छान्वित।

अंछ्या–सं०स्त्री० [सं० इच्छा] अभिलाषा, इच्छा।

अंछ्य। संपत–सं०पु०—कुबेर (अ.मा.)

अंजण–सं०पु० [सं० अंजन] १ सुरमा. २ काजल।

क्रि०प्र०—घालणौ-डालणौ-लगाणौ।

३ लेप।

क्रि०प्र०—करणौ-लगाणौ।

४ रात्रि. ५ एक दिग्गज. (वं.भा.) ६ एक वृक्ष. ७ एक पर्वत. ८ कद्रू से उत्पन्न होने वाले एक सर्प का नाम. ९ माया. १० काला या सुरमई रंग। [अं०—इंजिन] ११ रेल गाड़ी का इंजिन।

वि०—नेत्रों में काजल डालने वाला।

अंजणकेस–सं०पु० [सं० अंजनकेश] दीपक, दिया।

अंजणकेसी–सं०स्त्री० [सं० अंजनकेशी] अंजन के तुल्य श्याम केश वाली स्त्री।

अंजणसळाक, अंजणसळाका–सं०स्त्री० [सं० अंजनशलाका] वह सलाई जिससे सुरमा लगाया जाता हो।

अंजणा–सं०स्त्री० [सं० अंजना] हनुमानजी की माता और केशरी नामक वानर की स्त्री।

अंजणी–सं०स्त्री० [सं० अंजनी] १ देखो 'अंजणा'. २ गुहांजनी।

अंजणेव–सं०पु०—अंजनी पुत्र हनुमान।

अंजणौ, अंजबौ–क्रि०स०—अँजन लगाना, नेत्रों में काजल डालना।

अंजन–सं०पु०—देखो 'अंजण' (रू.भे.)

अंजनकंवार–सं०पु० [सं० अंजना+कुमार] अंजनी पुत्र हनुमान।

अंजना–सं०स्त्री०—देखो 'अंजणा'।

अंजनानंदन–सं०पु० [सं०] अंजनी पुत्र, हनुमान।

अंजनामिका–सं० स्त्री०—नेत्रों का एक प्रकार का रोग विशेष।

अंजनी–सं०स्त्री० [सं०] १ हनुमान की माता और केशरी नामक वानर की स्त्री। सं०पु० [रा०] २ एक प्रकार का घोड़े में होने वाला अशुभ चिन्ह. ३ एक प्रकार का अशुभ घोड़ा (शा.हो.)

अंजनीज–सं०पु०—अंजनी के पुत्र हनुमान।

अंजरूत–सं०पु०—गोंद (अमरत)

अंगा–सं०पु० [सं० अंग] देखो 'अंग'।

अंगाठी–सं०स्त्री०—वह गाय जिसके थनों में ग्रंथी हो। वि०वि० देखो 'अंगारी' (२,३)

अंगार–सं०पु० [सं०] १ अंगारा, जलता या दहकता हुआ कोयला, चिनगारी, निर्धूम या धुआँरहित आग।
सं०स्त्री०—२ अंगीठी।

अंगारक–सं०पु० [सं०] १ सूर्य (अ.मा.) २ मंगलग्रह (अ.मा.)

अंगारपुसप, अंगारपुसव–सं०पु० [सं० अंगार+पुष्प] १ अंगारे के समान लाल एक प्रकार का फूल, अंगारपुष्प. २ इंगुदी या हिंगोट का वृक्ष।

अंगारमण, अंगारमणी–सं०पु० [सं० अंगारमणि] लाल मणि, सूँगा।

अंगारमति–सं०स्त्री० [सं०] कर्ण की स्त्री।

अंगारवली–सं०स्त्री० [सं० अंगार-वल्ली] गुंजा, घुंघची, चिरमटी।

अंगारी–सं०स्त्री० [सं०] १ चिनगारी. [रा०] २ गायों के थनों में होने वाला एक प्रकार का रोग विशेष जिसमें स्तन का दूध वंद हो जाता है. ३ इस रोग से पीड़ित गाय।

अंगारौ–सं०पु०—देखो 'अंगार' (१)

अंगि–सं०—देखो 'अंगी'।

अंगिका–सं०स्त्री० [सं०] अंगिया, चोली, कंचुकी, स्त्रियों के पहनने की कुर्ती।

अंगिया–सं०स्त्री० [सं० अंगिका] १ अंगिका, चोली, कंचुकी।
सं०पु०—२ 'जामा' नामक पुरुषों के पहनने का अधोवस्त्र। वि०वि० देखो जामौ'।

अंगियौ–सं०पु० [सं० अंगा] अगरखा।

अंगिरस–सं०पु० [सं०] देखो 'अंगिरा' (अ.मा.)

अंगिरा–सं०पु० [सं० अंगिरस] १ दस प्रजापतियों में से एक प्राचीन ऋषि. २ वृहस्पति. ३ तारा. ४ ब्रह्मा के मानस पुत्र जो धर्मशास्त्र के प्रवर्तक ऋषियों में से हैं—'अंगिरा संहिता' इनका ग्रंथ है। ज्योतिष के ये आचार्य थे। देवगुरु वृहस्पति इनके पुत्र हैं।

अंगी–सं०पु० [सं० अंग+ई] १ शरीर, तन. २ नाटक का प्रधान नायक. ३ शरीरधारी।
सं०स्त्री०—४ आग, अग्नि।

अंगीकरणौ, अंगीकरवौ–क्रि०स०—१ स्वीकार करना. २ ग्रहण करना (कां.दे.प्र.)

अंगीकार–सं०पु० [सं०] स्वीकार, मंजूर, ग्रहण (वं.भा.)
क्रि०प्र०—करणौ।

अंगीकृत–वि० [सं० अंगीकृत] मंजूर, स्वीकृत, अपनाया हुआ (वं.भा.)

अंगीकृति–सं०स्त्री० [सं०] स्वीकृति, मंजूरी।

अंगिखट–सं०पु० [सं० षट्+अंग] वेद के छ अंग (डिं.को.)

अंगीठ–सं०पु० [सं० अग्निस्था, अग्निष्ठ प्रा० अंगिठा] १ अंगारा।
सं०स्त्री० २ अग्नि. ३ भोजन पकाने के लिए आग रखने का चूल्हा, अंगीठी।
वि०—अग्नि के समान लाल।

अंगीठी–सं०स्त्री० [सं० अग्निस्था, प्रा० अग्गिठा] आग जलाने का पात्र, भोजन पकाने के लिए आग रखने का चूल्हा। उ०—मीरां री प्रभु गिरधर नागर, दुरजन जळौ जा अंगीठी।—मीरां

अंगीठौ–सं०पु० [सं० अग्निस्था–अग्निष्ठा, प्रा० अग्गिठा] अंगारा, अग्निकरण। (अंगिठड़ौ, अंगीठियौ—अल्पा.)

अंगीरस–सं०पु०—देखो 'अंगिरा'।

अंगीरौ–सं०पु० [सं० अंगार] अग्निकरण, अंगार, चिनगारी।

अंगीलौ–सं०पु०—बुनने के निमित्त क्रमवद्ध किए हुए लम्बे सीधे सूत (तांणी) को बांधने का खूंटा या मेख।
वि०—अपने स्वभाव या प्रकृति के विरुद्ध आचरण को सहन न करने वाला। (पर्याय०–अंगदार)

अंगुछि–सं०स्त्री० [सं० अंग+प्रोक्षक] १ तौलिया, शरीर पोंछने का वस्त्र, गमछा. २ उत्तरीय, उपवस्त्र. (अंगोछियौ–अल्पा.)

अंगुठी–सं०स्त्री० [सं० अंगुष्ठ] पैर के अनवट के स्थान पर पहिना जाने वाला कांसे को ढाल कर वनाया हुआ गहना।

अंगुरी–सं०स्त्री०—अंगूरों द्वारा वनाई गई शराव।
वि०—अंगूरों के समान हरे रंग वाला।

अंगुळ–सं०पु० [सं० अंगुली] १ उँगली. २ हाथी की सूंड के आगे का भाग. ३ आठ जौ के वरावर लम्वाई का एक नाप. ४ ग्रास या वारहवाँ भाग (ज्योतिष, सूर्यग्रहण में)।

अंगुळी–सं०स्त्री० [सं०] १ उँगली. २ हाथी की सूंड का अग्र भाग।

अंगुळीत्रांण–सं०पु० [सं० अंगुलित्राण] प्राचीन समय में वाण चलाते समय पहिनने के काम आने वाला गोह के चमड़े का वना हुआ एक प्रकार का दस्ताना।

अंगुसट, अंगुस्ट–सं०पु० [सं० अंगुष्ठ] अंगूठा, हाथ या पैर की मोटी अंगुली।

अंगुस्ठासण–सं०पु० [सं० अंगुष्ठासन] योग के चौरासी आसनों में से एक—इसमें घुटने से दोनों पाँव मोड़ कर, एडियों को जंघा के निम्न भाग से लगा कर पंजे के ऊपर शरीर का समस्त भार देकर वैठा जाता है।
एक पाँव को पंजे पर वोझ देकर दूसरे पाँव को जिसके पंजे पर वैठे उसके घुटन पर चढ़ाकर वैठने से इसके दो भेद होते हैं।—दक्षिण तथा वांम अंगुस्ठासण।

अंगूठी–सं०स्त्री०—१ मुद्रिका, मुंदरी, छल्ला. २ देखो 'अंगुठी'. ३ सीने के समय दर्जियों के उँगली में पहिनने की लोहे या पीतल की टोपी, आरसी।

अंगूठौ–सं०पु० [सं० अंगुष्ठ] अंगूठा, हाथ या पैर की मोटी उँगली।

अंगूर–सं०पु० [फा०] रसीला और मीठा एक प्रकार का छोटा नरम फल जिसे सुखा कर प्राय: किशमिश, दाख या मुनक्का आदि भी वनाया जाता है। इसकी लता होती है।

अंणहार–सं०स्त्री०—सूरत, शक्ल, आकृति।
उ०—इण भांति री कांमणी त्यांरा उरस्थळ पाकी नारंगीयां सारीखी अंणहार पाके वरन कोमळ कठोर कुच अँसू भीड़िग्रां थकां रहै। —रा.सा.सं.

अंणियाळ–सं०पु० [सं० अणी=नोक] भाला—देखो 'अणियाळ'।

अंणि–सं०स्त्री० [सं० अनीक] १ फौज. २ बल. ३ नोक. ४ मान, प्रतिष्ठा। (यौ०—अंणीपांणी)

अंत–सं०पु० [सं०] १ समाप्ति, पूर्ति, इति, अवसान. २ अंतकाल, मौत, मृत्यु।
क्रि०प्र०—आंणौ-करणौ-होणौ।
कहा०—अंत चोखौ तौ सब चोखौ—जिसने अंतिम समय शांति से व्यतीत किया उसने सब कुछ पा लिया. ३ शेष या अंतिम भाग. ४ छोर, सीमा, हद. ५ परिणाम, नतीजा।
कहा०—अंत खुदा वैर है—हद से अधिक कोई काम अच्छा नहीं या अति सर्वत्र वर्जयेत्।
६ प्रलय, नाश। [सं० अंतर] ७ अन्तःकरण, हृदय. [रा०] ८ यम, (अ.मा.). ६ आंत, अन्त्र॰। उ०—गीध कळ जौ चील्ह उर, कंका अंत विलाय। तौ भी सौ घक कंत री, मूछां भ्रूंह मिळाय।—वी.स.
वि०—१ निकृष्ट, नीच। उ०—खांण चार खोहण घरा, जाया जिण दिन जंत, कीघा किण पावै करम, उत्तम मद्धम अंत।—ह.र.
२ असीम, अपार।
क्रि०वि०—अन्त में, निदान।

अंतआखर–सं०पु० [सं० अन्त्याक्षर] शब्द, पद या वर्णमाला का आखिरी वर्ण।

अंतक–सं०पु० [सं०] १ अन्त या नाश करने वाला. २ यमराज, यम (अ.मा.) ३ शिव, रुद्र. ४ सन्निपात ज्वर का एक भेद. ५ मृत्यु
उ०—जिहिं वळते वुंदी वहुरि चउ देस गुमाया, सौ हुलकर तेरौ कहां अब अंतक आया।—वं.भा.

अंतकर–सं०पु० [सं० अंतक] १ अन्त या नाश करने वाला. २ यमराज (डि.को.). ३ शिव, रुद्र।

अंतकरण–सं०पु० [सं० अन्तःकरण] हृदय, मन, अन्तःकरण।

अंतकरता–सं०पु० [सं० अंत+कर्ता] देखो 'अंतकर'।

अंतकरम–सं०पु० [सं० अंत+कर्म] अन्त्येष्टि क्रिया, मृत्यु के बाद किया जाने वाला क्रिया-कर्म, मृतक संस्कार।

अंतकराऐ–सं०पु० [सं० अंतक+राज] यमराज। उ०—केस जरा धोवण करे, धोळा अत ही धोय। अंतकराऐ ऐंचतां, हात न मैला होय —वां.दा.

अंतकलोक–सं०पु० [सं० अंतक+लोक] यमलोक।

अंतकापुर, अंतकापुरी–सं०स्त्री०—१ एक तीर्थस्थान. २ यमलोक, यमपुरी।

अंतकार. अंतकारक–सं०पु०—अन्त या संहार करने वाला, यमराज।

अंतकारी–सं०पु० [सं० अन्तक] १ अन्त करने वाला, संहारक।
सं०स्त्री०—२ अन्त्येष्टि क्रिया।

अंतकाळ–सं०पु० [सं० अन्त+काल] मृत्यु का समय, मौत, अवसानकाल।

अंतकिरिया–सं०स्त्री० [सं० अन्त+क्रिया] १ अन्त्येष्टि क्रिया, अन्त करने की क्रिया।
सं०पु०—२ यमराज, संहारक।

अंतकुटिल–वि०—कपटी, धोखेबाज, कुटिल।

अंतक्रत, अंतक्रित–सं०पु० [सं० अन्त+कृत] १ अन्त करने वाला, संहारक. २ यमराज।

अंतग–सं०पु०—१ पारंगत, निपुण। [सं० अन्तक] २ यमराज. ३ मारने वाला।

अंतगति–सं०स्त्री० [सं० अन्त+गति] १ अन्तिम दशा, अन्तर्गति, २ मौत।

अंतज–सं०पु० [सं० अन्त्यज] १ शूद्र, नीच कुल का व्यक्ति. २ अछूत, नीच. ३ अन्तिम अक्षर या वर्ण. [सं० अन्त्र] ४ आंत।
उ०—कोड़ां अंतज कढिया, पिंड थाकौ आपांण।
वि० [सं० अन्त्यज] अन्तका, अन्तिम (अक्षर या वर्ण के लिए)
उ०—वांका चौथा वरण में, अन्तज आखर एक। उणनूं अळगौ राख ही, नर वुधवंता नेक।—वां.दा.

अंतजया–सं०स्त्री०—डिंगल गीत-रचना का नियम विशेष जिसमें मुख्य वर्णन, आदि के द्वाले से आरंभ होकर क्रमशः अंत के द्वाले में स्पष्ट हो जाता है।

अंतड़ी–सं०स्त्री० [सं० अंत्र] आंत।

अंतत्त–सं०पु०—यमराज (अ.मा.)

अंतनि–सं०पु० [सं० अंत्र+नि] आंत।

अंतपर–सं०पु० [सं० अन्तःपुर] जनाना, भीतरी भाग, रनिवास।

अंतपाळ–सं०पु० [सं० अंतपाल] १ द्वारपाल, संतरी, दरवान. २ सीमांत, प्रहरी. ३ प्रतिहार।

अंतपुर–सं०पु० [सं० अन्तःपुर] जनाना, भीतरी भाग, रनिवास।

अंतपुळ–सं०पु० [सं० अंत=अंतिम+रा० पुळ=क्षण, समय] अंतिम समय, अंतकाल।

अंतवरण–सं०पु० [सं० अन्त्यज+वर्ण] शूद्र, अन्तिम वर्ण।

अंतमेळ–सं०पु०—वह दोहा छंद जिसके प्रथम व चतुर्थ पद के प्रत्येक पद में ग्यारह मात्रायें तथा दूसरे व तीसरे पद के प्रत्येक पद में तेरह मात्रायें होती है। इसे 'वडौ दूहौ' भी कहते है। इसमें तुक प्रथम एवं चतुर्थ पद के अन्त में मिलता है।

अंतरंग–वि० [सं०] १ भीतर का. २ 'वहिरंग' का विपरीत, मानसिक. ३ अभिन्न, घनिष्ठ (मित्र)
सं०पु०—दिली दोस्त, घनिष्ठ मित्र।
क्रि०वि०—बीच में।
उ०—आवै जितनै अंतरंग इम दिवस गुमाया।—वं.भा.

अंजळ–सं०पु०—१ देखो 'अंजळी'. २ अन्न-जल, दाना-पानी।
कहा०—अंजळ वड़ौ बळवंत है, काळ वड़ौ सिकारी है–भावी प्रवल है, होनहार अवश्य होता है, मनुष्य की इच्छा का कोई मूल्य नहीं।

अंजळिपुट–सं०पु० [सं०] दोनों हथेलियों को मिला कर वनाया हुआ संपुट।

अंजळी–सं०स्त्री० [सं० अंजलि] १ दोनों हथेलियों को मिला कर संपुट करना, हथेलियों से बना हुआ गड्ढ़ा।
क्रि०प्र०—देणौ-भरणौ।
२ अंजली में आने वाला परिमाण उतना अनाज या वस्तु जिससे एक अंजली भर जाय, प्रस्थ. ३ हथेलियों से निकला हुआ दान या दान का अन्न।

अंजळीउपेल–वि०—करवद्ध (वं.भा.)

अंजळीगत–वि०यौ० [सं० अंजलि+गत्] अंजली या हाथ में आया हुआ, प्राप्त।

अंजळीवंध–वि० [सं० अंजलि+वद्ध] करवद्ध, हाथ जोड़े हुए।

अंजस–सं०पु०—१ अभिमान, गर्व. २ खुशी, प्रसन्नता।
क्रि०प्र०—करणौ-होणौ।

अंजसणौ, अंजसवौ–क्रि०स०—गर्व करना, अभिमान करना।

अंजांम–सं०पु० [फा०अंजाम] १ अंत, परिणाम, फल. २ समाप्ति, पूर्ति।
क्रि०प्र०—होणौ।

अंजार–सं०पु०—एक तीर्थ-स्थान विशेष।

अंजीर–सं०पु० [फा०] गूलर के समान फल वाला एक वृक्ष तथा उसका फल जिसकी गिनती मेवों के अन्तर्गत होती है और पुष्टिकर माना जाता है।

अंजील–सं०स्त्री० [यू० इंजील] ईसाइयों की धर्म पुस्तक।

अंजुरणौ, अंजुरवौ–क्रि०अ०—अंकुरित होना।

अंजूळी–सं०स्त्री०—देखो 'अंजळी'।

अंट–सं०पु०—१ लेख, भाग्य लेख। उ०—विधाता अंट लिखिया वड़ा, भूपत "मानौ" भाग में।—चैनजी वणसूर. २ अधिकार (में), कब्जे (में). ३ धोती की कमर के ऊपर की लपेट. ४ पेंच, गाँठ. ५ शरारत, वदमाशी. ६ कलम का चाकू से निकाला हुआ वह नुकीला भाग जिससे लिखने का कार्य होता है. ७ इसके द्वारा लिखी गई लिखावट. ८ कड़ी (कवच)। उ०—सव सूर सनाहत्ति अंट जड़ी, हय हींस नगारन ठौर पड़ी।—लावारासा

अंट-संट–सं०पु०—१ व्यर्थ का प्रलाप. २ वेतरतीव, अस्तव्यस्त।

अंटाणौ, अंटावौ–क्रि०स०—धोखा देकर या छल से किसी का धन या वस्तु छीन लेना।
अंटाणहार-हारौ (हारी), अंटाणियौ, अंवावणियौ–वि०—धोखा देकर या छल से किसी का धन या वस्तु छीनने वाला।
अंटाओड़ौ-अंटायोड़ौ-अंटावियोड़ौ–भू०का०कृ०—छल से प्राप्त किया हुआ।
अंटावणौ, अंटाववौ–अंटाणौ का रू.भे.।

अंटायोड़ौ–भू०का०कृ०—धोखा या भूल से प्राप्त किया हुआ।
(स्त्री० अंटायोड़ी)

अंटावणौ, अंटाववौ–क्रि०स०—देखो 'अंटाणौ'।

अंटी–सं०स्त्री० [सं० अंड या अण्ठि, प्रा० अट्टि] १ उँगलियों के वीच की जगह. २ कमर पर रहने वाली धोती की लपेट या मंडलाकार ऐंठन जिसमें कभी-कभी लोग रुपया-पैसा रखते हैं।
क्रि०प्र०—देणी-मारणी-लगाणी।
कहा०—धन अंटे विद्या कंठै—धन वही काम आयेगा जो अपनी अंटी में है तथा विद्या वही काम आयेगी जो स्वयं के कंठों में स्थित है।
३ शरारत, वदमाशी. ४ तर्जनी या अंगूठे के पास की उँगली के ऊपर मध्यमा या वीच की उँगली चढ़ाकर वनाई गई एक मुद्रा (वालक). ५ भागते या चलते हुए पीछे से किसी के पैर में पैर द्वारा मारी गई टक्कर, लत्ती. ६ सूत या रेशम की गुंडी. ७ सूत लपेटने की लकड़ी. ८ विरोध, विगाड़, लड़ाई।

अंड–सं०पु० [सं०] १ अंडकोश. २ ब्रह्मांड. ३ सुवृत्त* (डि. को.) ४ कस्तूरी, मृगनाभि. ५ वह कलश जो शिखर पर रक्खा जाता हो. ६ मकानों की छाजन. ७ कामदेव. ८ कोश।

अंडकटाह–सं०पु०यौ० [सं० अंड+कटाह] ब्रह्मांड, विश्व।

अंडकोस–सं०पु० [सं० अंडकोश] फोता, वृषण, अंड।
पर्याय०—पोतवाळ फोता, अंडोळिया, आँड।

अंडज–सं०पु० [सं०] जीवों की वह जाति जो अंडों से उत्पन्न होती है, यथा–पक्षी, सर्प, मछली, गोह, गिरगिट आदि।

अंडजजळआधार–सं०स्त्री०—मछली। (अ.मा.)

अंडज्ज–सं०पु०—देखो 'अंडज'।

अंडवंड–सं०पु०—ऊटपटाँग या व्यर्थ का प्रलाप, वे सिर-पैर का वकना।
क्रि०प्र०—केणौ-वकणौ।
वि०—अस्त-व्यस्त, इधर-उधर का, असंवद्ध।

अंडवृधी, अंडव्रद्धि, अंधव्रधी–सं०स्त्री० [सं० अंडवृद्धि] एक प्रकार का रोग विशेष जिसमें अंडकोश वढ़ जाते हैं।

अंडकार, अंडाकृती–वि० [अंड+आकार या अंड+आकृति] अंडे की आकृति का, अंडे की शक्ल का।

अंडियौ–सं०पु० [सं० अंड] १ अंडकोश. २ अंडकोशधारी।

अंडी–सं०स्त्री० [सं० एरण्ड] १ एरण्ड का वृक्ष. २ रेंटी, रेंडी के फल का वीज. ३ एक प्रकार का रेशमी वस्त्र।

अंडौ–सं०पु० [सं० अंड] १ अंडज जन्तुओं (मादा) के गर्भाशय से उत्पन्न वह गोल पिंड जिनमें पीछे से वच्चे निकलते हैं।
क्रि०प्र०—देणौ-निकळणौ-फूटणौ।
२ शरीर, देह, पिंड।

अंढ़ौ–सं०पु०—दिन का तीसरा पहर।

अंणद–सं०पु० [सं० आनन्द] हर्ष, खुशी, प्रसन्नता।

अंतरलापिका—सं०स्त्री० [सं० अन्तर्लापिका] वह पहेली जिसका उत्तर उसीके शब्दों या अक्षरों से निकलता हो।

अंतरलीण—वि०—[सं० अन्तर्लीन] १ जो मन में ही मग्न हो, आत्म-विलीन. २ भीतर ही छिपा हुआ।

अंतरविकार—सं०पु० [सं० अन्तर्विकार] शरीर के भूख, प्यास आदि धर्म।

अंतरवेग—सं०पु० [सं० अन्तर्वेग] भीतर का वेग, यथा—छींक, पसीना आदि।

अंतरवेद—सं०पु० [सं० अन्तर्वेद] गंगा-यमुना के बीच में स्थित मथुरा के आसपास के प्रदेश का प्राचीन नाम जो यज्ञों की वेदियों के लिए प्रसिद्ध था।

अंतरवेदी—सं०पु० [सं० अन्तर्वेदी] 'अन्तरवेद' का निवासी।

अंतरवेर—सं०स्त्री०—देखो 'अंतरवेर'।

अंतरसंचारी—सं०पु० [सं०] प्रधान और स्थिर मनोविकारों में से किसी की सहायता व पुष्टि करके रस की सिद्धि के लिए मनुष्य के हृदय में बीच-बीच में आने वाले अस्थिर मनोविकार।

अंतरसंपाड़ो, अंतरसनांन—सं०पु० [सं० अंतर+स्नान] वह स्नान जो यज्ञ-समाप्ति पर किया जाय, अवभृथ स्नान।

अंतरातमा—सं०स्त्री० [सं०अन्तरात्मा] १ जीवात्मा. २ अंतःकरण. ३ ब्रह्म.

अंतराय—सं०पु० [सं०] १ विघ्न, बाधा. २ ज्ञान का बाधक. ३ योग सिद्धि के नौ विघ्न।

सं०स्त्री०—४ भेद, भिन्नता। उ०—ऊँचनीच अंतराय, कीरत कीधी किरतवां, मिनख जमारै मांय, रहै भलाई राजिया। ५ समय, अवधि। उ०—सामंतां री वेग कंठीरव झेलियौ जिण अंतराय में चालुक्यराज सावधांन थियौ।—वं.भा.

अंतरायांम—सं०पु० [सं० अन्तरायाम] एक प्रकार का वात रोग जिससे मनुष्य के नेत्र, हिचकी और पसली जकड़ जाती है और मुख से लार टपकती रहती है, शरीर भीतर की ओर कमान जैसा मुड़ जाता है। (अमरत)

अंतराळ—सं०पु० [सं० अंतराल] १ घेरा, मंडल. २ घिरा हुआ स्थान. ३ मध्य, बीच. ४ आकाश (डि.को.) [सं० अंत्र] ५ आंत।

अंतरावळ—सं०पु० [सं० अंत्र+अवलि] आंत, अंत्र।

अंतरि—क्रि०वि०—भीतर, अन्दर, में।

अंतरिक, अंतरिकख, अंतरिक्ष, अंतरिख, अंतरिच्छ, अंतरिछ—सं०पु० [सं० अंतरिक्ष] १ ग्रहों या तारों के बीच का शून्य स्थान, आकाश, आसमान. २ स्वर्ग लोक. ३ एक केतु. ४ एक प्रसिद्ध योगेश्वर. [रा०] ५ ऊँचा स्थान, झूला। उ०—रस दायिनी सुंदरी रमतां, सेज अंतरिख भूमि सम।—वेलि.

वि०—१ अंतर्धान, लुप्त. २ गुप्त, अप्रकट।

उ०—हरिणाखी कंठ अंतरिख हूंतौ, विवरूप प्रगटी वहिरि।—वेलि.

अंतरित—वि० [सं०] १ भीतर किया या रक्खा हुआ. २ अन्तर्धान. ३ ढका हुआ।

अंतरी—क्रि०वि०—दूर।

अंतरीक, अंतरीख—सं०पु० [सं० अंतरिक्ष] देखो 'अंतरिख'।

अंतरीज—सं०पु० [सं० अंतःकरण] अंतःकरण, हृदय। उ०—राखै तौ नांम जिके अंतरीज, वळै धख त्यांह न मारै बीज।—ह.र.

अंतरीप—सं०पु० [सं०] १ द्वीप, टापू. २ समुद्र मे दूर तक गया हुआ पृथ्वी का नुकीला भाग।

अंतरीय—सं०पु० [सं०] वह वस्त्र जो साड़ी के नीचे पहना जाय, अधोवस्त्र।

अंतरू—सं०पु० [सं० इत्र] इत्र, अतर।

अंतरे—क्रि वि०—देखो 'अंतरै' (रू.भे.)

अंतरेवौ—सं०पु०—लहँगे या घाघरे के अधिक नीचा हो जाने के कारण कुछ ऊँचा करने के उद्देश्य से की जाने वाली एक प्रकार की सिलाई या टाँका जो लहँगे का कपड़ा इस तरह मोड़ कर लगाया जाता है कि दूर से दिखाई नहीं पड़ता।

अंतरै—क्रि०वि० [सं० अंतर] १ बाद में। उ०—वहि मिळी घड़ी जाइ घणा वांछता, घण दीहाँ अंतरै घरि।—वेलि. २ मध्य में, बीच में। उ०—आयौ अंस खेड़ि अरि सेन अंतरै, प्रथिमी गति आकास पथ।—वेलि. ३ दूर, अन्तर पर. ४ अगाड़ी।

अंतरैतंत—सं०पु —अंत समय।

अंतरौ—सं०पु० [सं० अंतरा] १ किसी गीत या गायन का स्थायी टेक के अतिरिक्त अन्य पद या चरण. २ वह ज्वर जो एक दिन के अंतर से आता हो. ३ भेद, फर्क। उ०—हंस बगला हाल सूं जिम अंतरौ जणाय।—बां.दा. ४ दूरी. ५ विछोह, वियोग।

अंतर्विदारण—सं०पु० [सं०] सूर्य या चन्द्र ग्रहण के दस प्रकार के मोक्षों में से एक।

अंतस—सं०पु० [सं० अंतस्] अन्तःकरण, हृदय, चित्त, मन।

अंतसमय, अंतसमै, अंतसमौ—सं०पु० [सं० अंत+समय] अन्तिम समय, मृत्यु काल।

अंतस्थ—वि० [सं०] भीतरी, अन्दर की ओर स्थित।

अंतहकरण, अंतहकरण—सं०पु० [सं० अन्तःकरण] १ हृदय, अन्तरात्मा, मन। उ०—इण रीति सोमेस्वर री पाटरांणी कमळा वीसळदेव रा वर रै अनुसार आपरा अंतहकरण रौ आसय सफळ कीधौ।—वं.भा. २ विवेक, नैतिक बुद्धि।

अंतहपुर, अंतहपुरि, अंतहपुरी—सं०पु० [सं० अन्तःपुर] जनाना, भीतरी भाग, रनिवास।

अंताखरी—सं०पु० [सं० अंत्याक्षरी] १ वह दूसरा पद्य या छंद जो पहले कहे हुए श्लोक या छंद (पद्य) के अंतिमाक्षर से आरम्भ हो. २ उक्त रीति के अनुसार किया गया पद्य-पाठ।

अंतानुप्रास—सं०पु० [सं० अंत्यानुप्रास] तुकांत, तुकबन्दी।

अंताळ, अंतावळ—सं०स्त्री०—शीघ्रता, जल्दबाजी।

क्रि०प्र०—करणी-होणी (मि० उतावळ)

अंति—क्रि०वि० [सं० अंत] अन्त में, आखिर में। उ०—कोकिल निसुर

अंतरंगाधार–सं०पु० [सं० अन्तर्गाधार] संगीत का विकृत स्वर जो तीसरे स्वर के अन्तर्गत है।

अंतरंगी–वि०—अभिन्न, घनिष्ट, दिली।

अंतर–सं०पु० [सं०] १ भेद, फर्क, अलगाव, विभिन्नता।

क्रि०प्र०—करणौ-देणौ-पड़णौ-होणौ।

कहा०—मिनखां मिनखां अंतर, केई हीरा केई पत्थर—मनुष्यों में अच्छे व बुरे दोनों होते हैं।

२ मध्यम की दूरी, फासिला, अवकाश. ३ दो घटनाओं के बीच का काल. ४ ओट, आड़, व्यवधान।

क्रि०प्र०—करणौ-लाधणौ-पड़णौ।

५ समय. ६ परदा. ७ छिद्र, छेद, रंध्र (वं.भा.) [अ० इत्र] ८ इत्र। [सं० अंतस] ९ हृदय, अंतःकरण। उ०—जिको दोही पिता पुत्रां रौ मिळाप सुणि अंतर में एक जांणि तुरकां रौ तोम त्रासियौ—वं.भा. [सं०अंतःपुर] १० अंतःपुर, रनिवास (ना.डि.को.) [सं० अंत्र] आँत. [रा०] ११ पानी, जल।

वि०—अन्तर्धान, गायब।

क्रि०प्र०—करणौ-होणौ।

क्रि०वि०—अन्दर, भीतर, बीच में। उ०—डंकि निसीथ रुक्ख चढ़ि डाकी, अंतर दुरग गयौ एकाकी।—वं.भा.

अंतरअयण–सं०पु० [सं० अंतर+अयन] १. एक देशविशेष. २ तीर्थों की परिक्रमा।

अंतरख–सं०पु० [सं० अतरिक्ष] देखो 'अंतरिख'।

अंतरगत–वि० [सं० अन्तर+गत] १ भीतरी, अन्तर्भूत. २ गुप्त. ३ सम्मिलित. ४ अन्तःकरण स्थित।

अंतरगति–सं०स्त्री० [सं० अन्तर+गति] मन का भाव, चित्तवृत्ति, भावना, इच्छा।

अंतरगिरा–सं०स्त्री०—अन्तःकरण की ध्वनि, मन की आवाज।

अंतरग्यांन–सं०पु० [सं० अन्तर्ज्ञान] भीतरी ज्ञान, आत्मज्ञान।

अंतरघट–सं०पु० [सं० अन्तर्घट] अन्तःकरण, हृदय, मन।

अंतरचकर, अंतरचक्र–सं०पु० [सं० अन्तर+चक्र] १ दिग्विभागों में पक्षियों के शब्द श्रवण कर शुभाशुभ फल कहने की विद्या (शकुन शा.) २ तंत्रशास्त्रानुसार शरीर के आंतरिक मूलाधारादि कमलाकार छः चक्र।

अंतरछाळ–सं०स्त्री० [सं० अन्तर+चाल] वृक्ष के ऊपर की छाल के भीतर की कोमल छाल या झिल्ली।

अंतरजांमी–सं०पु० [सं० अन्तर्यामी] वह जो हरएक के मन की बात जानता है, ईश्वर।

अंतरदवार–सं०पु०यौ० [सं० अन्तर+द्वार] १ गुप्तद्वार. २ खिड़की।

अंतरदस–सं०स्त्री०यौ० [सं० अन्तर+दिशा] दो दिशाओं के मध्य की दिशा, कोण, विदिशा।

अंतरदसा–सं०स्त्री०यौ० [सं० अन्तर+दशा] १ मन की अवस्था. २ ज्योतिष शास्त्र में ग्रहों की चाल का विधान।

अंतरदांन–सं०पु० [फा० इत्रदान] इत्र रखने का पात्र।

अंतरदाह–सं०स्त्री० [सं० अन्तर्दाह] भीतरी जलन (एक प्रकार का रोग)

अंतरदिसा–सं०स्त्री०यौ० [सं० अन्तर+दिशा] दो दिशाओं के मध्य की दिशा, कोण, विदिशा।

अंतरद्रस्टी, अंतरद्रस्ठी–सं०स्त्री० [सं० अन्तर्दृष्टि] १ अन्तर्ज्ञान, प्रज्ञा. २ आत्मचिंतन।

अंतरधांन, अंतरध्यांन–सं०पु० [सं० अन्तर्द्धान] १ लोप, अदर्शन, तिरोधान, अदृष्ट. २ गुप्त।

क्रि०प्र०—करणौ-होणौ।

वि०—अलक्ष, अदृश्य, अन्तर्हित, लुप्त।

क्रि०वि०—१ दूर. २ अलग, पृथक्, विलग. ३ भीतर, अन्दर।

अंतरपट–सं०पु० [सं०] १ परदा, आड़, ओट. २ वह वस्त्र या परदा जो विवाह-मंडप में मृत्यु की आहुति के समय अग्नि और वर-कन्या के मध्य में डाला जाय. ३ छिपाव, दुराव. ४ कपड़ा लपेटने की वह विधि या क्रिया जो धातु या औषधि को फूंकने के प्रथम उसको संपुट कर गीली मिट्टी का लेप करते हुए की जाय। कपड़ कोट. कपड़ मिट्टी।

क्रि०प्र०—करणौ।

अंतरपुरख, अंतरपुरस–सं०पु० [सं० अंतर+पुरुष] १ आत्मा. २ ईश्वर, अन्तर्यामी।

अंतरपुरी–सं०स्त्री०—स्वर्ग।

अंतरबंध–सं०पु०—आत्मज्ञान, आत्मा की पहिचान, अध्यात्म ज्ञान।

अंतरबळी–वि०—जिसमें आत्मिक बल अधिक हो।

अंतरबेर–सं०स्त्री०—अंतिम समय, मृत्युकाल।

अंतरभाव–सं०पु० [सं० अन्तर+भाव] १ अन्तर्गत होना, मध्य में प्राप्ति. २ नाश. ३ तिरोभाव, विलीनता, छिपाव. ४ प्रयोजन, आशय।

अंतरभावणा–सं०स्त्री०—१ ध्यान. चिंता, सोच. २ गुणनफलान्तर से संख्याओं को सही करना (ज्यो.)

अंतरभूत–वि० [सं० अंतर्भूत] अन्तर्गत।

सं०पु०—१ जीवात्मा, प्राण. २ मध्यगत।

अंतरभेद–सं०पु०—देखो 'अंतरवेद'।

अंतरमुख–वि० [सं० अंतर्मुख] १ जिसका मुख भीतर की ओर हो।

सं०पु०—वह फोड़ा जिसका मुख या छिद्र भीतर की ओर हो।

क्रि०वि०—भीतर की ओर प्रवृत्त।

अंतरयांमी–सं०पु०—देखो 'अंतरजांमी'।

अंतररत–सं०स्त्री०—देखो 'अंतररति'।

अंतररति–सं०स्त्री० [सं०] कामशास्त्र के अनुसार स्त्री-प्रसंग के सात प्रकार के प्रमुख आसन, यथा—स्थिति, तियक, सम्मुख, अध, ऊर्ध्व और उत्तान।

कार. ४ एक मुनि. ५ कवियों के पथ के विरुद्ध चलने का काव्य सम्बन्धी दोष. ६ शिकारी, बहेलिया. ७ दक्षिण का एक प्रान्त आंध्र. ८ डिंगल-गीतों में उक्तियों के रूप के बिगड़ने से होने वाला साहित्यिक दोष—(र.रू.)

अंधक–सं०पु० [सं०] १ नेत्रहीन मनुष्य, अन्धा. २ कश्यप और दिति का पुत्र एक दैत्य।

अंधकरप, अंधकरिप–सं०पु० [सं० अंधक+रिपु] अंधक नामक दैत्य के शत्रु, महादेव।

अंधकरिप्र–सं०पु० [सं० अंधक+रिप] अंधक नामक दैत्य के शत्रु महादेव।

अंधकार–सं०पुं० [सं०] १ अंधेरा. २ पाताल (डि.नां.मा.) ३ शंकर (अ.मा.)

अंधकारी–सं०स्त्री० [सं०] एक रागिनी (संगीत)

अंधकाळ–सं०पु० [सं० अंध+काल] अंधेरे के समय।

अंधकूप–सं०पु० [सं० अंध+कूप] १ वह कुंआ जो सूखा हो व घास-फूस से ढका हो. २ एक नरक का नाम।

अंधखोपड़ी–सं०उ०लिं०—वृद्धिरहित मस्तिष्क वाला, मूर्ख, नासमझ।

अंधड़–सं०स्त्री० [सं० अंध+ड़–रा०प्र०] १ गर्द मिली हुई तीव्र झोंकेदार वायु, वेगयुक्त हवा. २ आंधी, तूफान।

अंधता–सं०स्त्री० [सं०] १ अंधापन, दृष्टिहीनता. २ नेत्रों का एक रोग विशेष (अमरत)

अंधतामिस्र–सं०पु० [सं०] इक्कीस नरकों के अंतर्गत घने अंधकार वाला नरक।

अंधताइत्त–सं०पु० [सं० अंधक+दैत्य] अंधकासुर नामक दैत्य।

अंधधुंध–सं०स्त्री० [सं० अंध+रा०–धुंध] १ अन्याय. २ गड़बड़ी. ३ धींगाधींगी।

क्रि०वि०—१ अंधाधुंध, विचाररहित. २ अधिकता से।

अंधन–सं०पु०—अंधा, नेत्रहीन।

अंधपरंपरा–सं०स्त्री० [सं० अंध+परंपरा] बिना किसी विचार के पुरानी चाल का अनुकरण, भेड़ियाधसान।

अंधपूतना–सं०स्त्री०—बालकों का एक रोग विशेष।

अंधबाई–सं०स्त्री [सं० अंध+वायु] १ अंधावत, एक रोग. २ आंधी, तूफान।

अंध-भाव–सं०पु०—अंधापन।

अंधळ–वि० [सं० अंध+ळ–रा०प्र०] अन्धा, नेत्रहीन।

अंधळो–वि० [सं० अंधळी] अन्धा।

अंधविसवास–सं०पु० यौ० [सं० अंधविश्वास] बिना विचार किए हुए किसी बात में विश्वास कर निश्चय करना, विवेकशून्य धारणा।

अंधसुत–सं०पु०—१ अन्धे का पुत्र. २ धृतराष्ट्र के पुत्र, यथा—दुर्योधन, दुःशासन आदि।

अंधातमस–सं०पु० [सं० अंधतामिस्र] अंधकार, अंधेरा। (डि.को.)

अंधाधुंध–क्रि०वि०—१ बेतहाशा. २ बिना विचारे. ३ अधिकता से।

अंधाबाळ–वि०—लोभी, लालची।

अंधायतर–सं०पु०—वेग (अ.मा.)

अंधार–सं०पुं० [सं० अंधकार] अंधार, तिमिर।

अंधारक–सं०पु० [सं०] अंधेरा, तिमिर।

अंधारखातो–सं०पु० यौ०—देखो 'अंधेरखातो'।

अंधारव–सं०पु० [सं० अंधकार] गहन अंधकार, गहरा अंधकार।

अंधारी–सं०स्त्री० [सं० अंधकार+ई–रा०प्र०] १ अन्धड़, आंधी. २ कृष्ण पक्ष की अंधेरी रात्रि. ३ अन्धेरा. ४ मूर्छा. ५ हाथी के कुम्भस्थल का आवरण। उ०—इभ कुम्भ अंधारी कुच सु कंचुकी, कवच संभु कामक कळह।—वेलि.

वि०—अन्धियारी।

कहा०—अंधारी रात में मूंग काळा—अन्धेरे में सब कुछ एकाकार हो जाता है।

अंधारु, अंधारूं, अंधारू–सं०पु० [सं० अन्धकार] अन्धकार, अन्धेरा।

अंधारो–सं०पु० [सं० अन्धकार] १ अन्धकार, अंधेरा।

क्रि०प्र०—करणो-पड़णो-होणो।

कहा०—अंधारै में किसो कांन में कवो जावै—स्वभाव, आदत अथवा प्रकृतिजन्य कार्य अन्धेरे में भी किए जा सकते हैं। उनके लिए रोशनी की आवश्यकता नहीं होती।

२ धुंधलापन।

अंधारोपख–सं०पु० [स० अंधार+पक्ष] कृष्णपक्ष (चंद्रमास)

अंधाहुली–सं०स्त्री०—एक प्रकार का पौधा, अर्कपुष्पी, सूर्यमाली।

अंधियार–सं०पु० [सं० अंधकार, प्रा० अंधआर, अप० अंधयार] अंधेरा, अंधकार।

अंधियारणो, अंधियारबो–क्रि०स० [सं० अंधकार] अंधेरा करना।

अंधियारणहार-हारो (हारी), अंधियारणियो–वि०—अंधेरा करने वाला।

अंधियारिओड़ो, अंधियारियोड़ो, अंधियारयोड़ो–वि०—अंधकार किया हुआ। अंधियारीजणो, अंधियारीजबो–भाव वा०रू०—अंधेरा होना।

अंधियारियोड़ो–भू०का०कृ०—अन्धकार किया हुआ।

अंधियारी–सं०स्त्री० [सं० अंधकार+ई–रा०प्र०] अंधेरा, अंधकार।

वि०—१ प्रकाशरहित. २ कृष्णपक्ष की, कृष्णपक्ष संबंधी।

अंधियारो–सं०पु० [सं० अंधकार] देखो 'अंधियार'। उ०—बिन पिया जोत मंदिर अंधियारो दीपक दाय न आवै।—मीरां

अंधियारोपख–सं०पु० [सं० अंधकार+पक्ष] कृष्णपक्ष।

अंधियावणो–वि० [सं० अंधकार] अंधकारपूर्ण, अंधकारयुक्त।

अंधीझाड़–सं०पु०—एक प्रकार की घास जो औषधि के प्रयोग में आती है।

अंधेर–सं०पु० [सं० अंधकार] १ अन्याय. २ उपद्रव. ३ गड़बड़ी. ४ कुप्रबन्ध. ५ अंधाधुंध।

प्रसेद ओसकरण, सुरति अंति मुख जिम सुत्री ।—वेलि.

अंतिक–क्रि०वि०—समीप, निकट । उ०—दुरग्गपुर रौ प्रतिनिधि इणरा अग्रज इंद्रसाळ रै अंतिक आलोचि उर द्रंग दीधौ ।—वं.भा.

अंतिम–वि० [सं०] १ सबसे पीछे का या बाद का, आखिरी ।
यौ०—अंतिम जात्रा ।
२ सबसे बढ़ कर ।

अंतिमजातरा, अंतिमयातरा, अंतिमयात्रा–सं०स्त्री० [सं० अंतिमयात्रा] मृत्यु, महाप्रस्थान, मरण ।

अंतेउर, अंतेउरी–सं०पु० [सं० अंतःपुरं] १ रनिवास, अंतःपुर, जनानखाना ।
सं०स्त्री० [रा०] २ अंतःपुर में निवास करने वाली स्त्री, रानी, ठकुरानी । उ०—धन धन जीवौ धणी, धनौ 'कुसियाळ' अंतेउर ।
—अरजुनजी बारहठ

अंतवेर–सं०पु० [सं० अंतिम+वेला] १ अंतिम समय, मृत्युकाल ।
[सं० अंतःपुर] २ देखो 'अंतेउर' (१)

अंतेवर, अंतेवरि–सं०पु० [सं० अंतःपुर] देखो 'अंतेउर' ।

अंतेवासी–सं०पु० [सं०] गुरु के समीप रहने वाला विद्यार्थी ।

अंतेस्टी–सं०स्त्री० [सं० अंत्येष्टी] शव-दाह से सपिंडन तक का कृत्य, मृतक कर्म, अंतिम संस्कार ।

अंतैपुर–सं०पु० [अंतःपुर] देखो 'अंतहपुर' ।

अंत्यज–सं०पु० [सं०] अंतिम वर्ण में उत्पन्न व्यक्ति, शूद्र ।
वि०—१ आततायी । उ०—इसड़ा अनरथ रा करणहार अंत्यज पुळियार होई जीवता रहि जावै ।—वं.भा. २ नीच ।

अंत्यविपुला–सं०स्त्री० [सं०] आर्याछंद का एक भेद विशेष जिसे अंत्यविपुला-महाचपला, अंत्यविपुला-जघनचपला या अंत्यविपुला-मुखचपला भी कहते हैं ।

अंत्याक्षरी–सं०पु० [सं०] देखो 'अंताखरी' ।

अंत्यानुप्रास, अंत्यानुपरास–सं०पु० [सं० अंत्यानुप्रास] १ किसी पद्य के चरणों में अंतिम अक्षरों का मेल, तुकांत. २ शब्दालंकार के अंतर्गत एक प्रकार का भेद विशेष ।

अंत्येस्टी–सं०स्त्री० [सं० अंत्येष्टि] देखो 'अंतेस्टी' ।
यौ०—अंत्येष्टी संस्कार ।

अंत्र–सं०पु० [सं०] आँत ।

अंत्रजांमी–सं०पु०—अन्तःकरण की प्रवृत्तियों को जानने वाला ।
(स्त्री०—अंत्रजांमण रू.भे.—अंतरजांमी)

अंत्रवधी–सं०स्त्री० [सं० अंत्र+वृद्धि] आँत उतरने का एक रोग विशेष (अमरत)

अंत्राळ–सं०पु० [सं० अंत्र] आँत, अंत्र ।

अंत्राळजी–सं०स्त्री० [सं० अंत्रालजी] प्रायः वात और कफ के प्रकोप से होने वाली पीब से भरी एक प्रकार की गोल फुंसी (वैद्यक; अमरत)

अंत्रावळि, अंत्रावळी–सं०स्त्री० [सं० अंत्रावलि] अंत्र, आँत ।

अंत्रावळ, अंत्रि–सं०स्त्री० [सं० अंत्र+अवलि] आँत, अंत्र ।

अंद–सं०पु०—पाप, पातक, दोष ।

अंद, अंदक–सं०पु० [सं० अंदु, अंदुक] हाथी का पैर बांधने का रस्सा ।
—वं.भा.

अंदऔ–सं०पु० [सं० अंदुक] हाथी के पैर में डालने का कांटेदार यन्त्र (रू०भे०—अंदुक) —वं.भा.

अंदक–सं०पु० [सं० अंधक] देखो 'अंधक' ।

अंदर–सं०पु० [सं० इंद्र] इन्द्र (डि.को.)
क्रि०वि० [फा०] भीतर ।

अंदरी–वि० [फा०] भीतरी, अन्दर का ।
सं०स्त्री० [सं० इन्द्रिय] इन्द्रिय ।

अंदरूणी, अंदरूनी–वि० [फा० अंदरूनी] भीतरी, अन्दर का ।

अंदलोक–सं०पु० [सं० इन्द्र+लोक] सुरलोक, स्वर्ग, देवलोक ।

अंदाज–सं०पु० [फा०] १ अटकल, अनुमान. २ नाप-जोख. ३ ढंग, ढब. ४ मटक, हाव, चेष्टा ।
क्रि०प्र०—करणौ-लगाणौ-होणौ ।

अंदाजन–क्रि०वि० [फा०] अनुमान से, लगभग, करीब ।

अंदाजौ–सं०पु० [फा० अंदाज] अटकल, अनुमान, तखमीना ।

अंदाता–सं०पु० [सं० अन्न+दातृ] अन्न देने वाला, अन्नदाता ।

अंदियारौ–सं०पु० [सं० अंधकार, प्रा० अंधआर, अप० अंधार] अंधेरा । अंधियारा ।

अंदु–सं०पु० [सं० इंदु] १ चंद्रमा. २ देखो 'अंदऔ'. ३ देखो 'अंदुक' ।

अंदुऔ–सं०पु० [सं० अंदुक] देखो 'अंदऔ' ।

अंदुक–सं०पु० [सं०] १ देखो 'अंदऔ'. २ स्त्रियों के पैरों में पहनने का एक आभूषण विशेष, पायजेब ।

अंदेस, अंदेसौ–सं०पु० [फा० अंदेशा] १ आशंका, भय. २ संशय, संदेह. ३ अनुमान. ४ सोच, चिंता, असमंजस. ५ आगा-पीछा ।
क्रि०प्र०—करणौ-होणौ ।

अंदोळणौ, अंदोळबौ–क्रि०स०—आंदोलित करना, विलोड़ित करना, इधर-उधर करना । **अंदोळिओड़ौ, अंदोळियोड़ौ, अंदोळयोड़ौ**–भू०का०कृ०—आंदोलित किया हुआ, विलोड़ित । **अंदोळीजणौ, अंदोळीजबौ**—कर्म वा० रू०—आंदोलित किया जाना । भाव वा०रू०—आंदोलित हुआ जाना ।

अंद्र–सं०पु० [सं० इंद्र] इंद्र, पुरन्दर, सुरपति—(डि.को.)

अंद्रजीत–सं०पु० [सं० इन्द्रजीत] इन्द्र को जीतने वाला, मेघनाद ।

अंद्रसस्त्र–सं०पु० [सं० इन्द्र+शस्त्र] इन्द्र का एक शस्त्र, वज्र ।

अंद्रासण–सं०पु० [सं० इन्द्रासन] १ इन्द्र का आसन. २ ऐरावत हाथी ।

अंद्री–सं०स्त्री० [सं० इन्द्रिय] इन्द्रिय, इन्द्री ।

अंध–वि० [सं०] १ नेत्रहीन, अन्धा. २ अज्ञानी, मूर्ख, अविवेकी. ३ अचेत, असावधान. ४ उन्मत्त, मत्त, मतवाला ।
सं०पु०—१ नेत्रविहीन प्राणी, अंधा, सूरदास. २ जल. ३ अन्ध-

अंबा-सं०स्त्री० [सं०] १ माता, जननी. २ पार्वती. ३ देवी, दुर्गा. ४ काशी नरेश की बड़ी कन्या जिसे भीष्मपितामह अपने भाई विचित्रवीर्य के लिए हर लाए थे और वह भीष्म से बदला लेने के लिए बाद में शिखंडी के रूप में उत्पन्न होकर भीष्म की मृत्यु का कारण हुई. ५ आम (अ.मा.) ६ शीतला रोग की अधिष्ठात्री एक देवी विशेष। वि. वि. देखो 'सीतळा'।

अंबाड़ी-सं०स्त्री०—१ एक प्रकार का पौधा जिसकी छाल के रेशे से रस्सियां बुनी जाती हैं। [अ० अमारी] २ हाथी की पीठ पर रक्खा जाने वाला हौदा।

अंबाजी-सं०स्त्री०—१ देखो 'अंबा' (१, २, ३,) २ दांता राज्य की कुल-देवी।

अंबानेर-सं०पु०—देखो 'अंववयर'।

अंबापोहण-सं०पु० [सं० अंबा=शीतलादेवी+रा० पोहण=सवारी] गधा (अ.मा.)

अंबाय-सं०स्त्री० [सं० अंबा] दांता राज्य की आराध्य देवी 'अंबा'।

अंबार-सं०पु० [फा०] १ ढेर, समूह, पुंज। उ०—आखै कवि ईसर तेज अंबार।—ह.र.

क्रि०वि० [रा०] अभी, अब।

अंबारत, अंबारथ-सं०स्त्री [अ० इमारत] बड़ा और पक्का मकान, विशाल भवन। उ०—मिल गया 'पाल' 'बूढ़ी' मुगत मोखतणी अंबारतां।—पा.प्र.

अंबारी-सं०स्त्री०—देखो 'अंबाड़ी'।

अंबारोह-सं०पु० [सं० अंबोरुह] कमल, पंकज।

अंबालिका-सं०स्त्री० [सं०] १ माता, मां. २ मालती लता. ३ काशी-राज की सबसे छोटी कन्या जिसे भीष्मपितामह अपने भाई विचित्र-वीर्य के लिए हर लाये थे और राजा पांडु के पीछे यह अपनी सास सत्यवती के साथ वन में चली गई थी।

अंबि-सं०स्त्री० [सं० अंबा] १ माता, जननी. २ दुर्गा. ३ धरती. ४ शक्ति. ५ उमा, पार्वती।

अंबिका-सं०स्त्री० [सं०] १ माता, जननी. २ देवी, दुर्गा, भगवती. ३ पार्वती. ४ जैनियों की एक देवी. ५ काशीराज की मध्यमा कन्या जिसे भीष्मपितामह अपने भाई विचित्रवीर्य के लिए हर लाए थे। यह धृतराष्ट्र की माता थी।

अंबिकालय-सं०पु० [सं० अंबिका+आलय] अंबिका देवी का मंदिर।

अंबिकावन-सं०पु० [सं० अंबिकावन] पुराण प्रसिद्ध इलावृत खंड जहां जाने से पुरुष स्त्री हो जाते थे।

अंबु-सं०पु० [सं० अम्बु] १ पानी, जल. २ चार की संख्या॰. ३ जन्म-कुण्डली के बारह स्थानों में से चतुर्थ स्थान।

सं०स्त्री०—४ कांति।

अंबुआळ-वि० [सं० अंबु=कांति] कांतिवान, तेजस्वी।

सं०पु० [रा०] वीर पाबू राठौड़ का एक नाम। उ०—भुजाळ अंबुआळ फेर भीच चंद्रभांण नै।—पा.प्र.

अंबुओ-वि०—देखो 'अंबुवौ'।

अंबुज-सं०पु० [सं०] १ वह जो जल से उत्पन्न हो. २ कमल. ३ बेंत. ४ शंख. ५ घोंघा. ६ ब्रह्मा. ७ वज्र. ८ एक सामुद्रिक चिन्ह।

अंबुजसुत-सं०पु०यौ० [सं० अंबुज+सुत] कमल से उत्पन्न, ब्रह्मा।

अंबुजा-सं०स्त्री० [सं०] एक रागिनी विशेष (संगीत)

अंबुजात-सं०पु० [सं०] कमल।

अंबुजासण, अंबुजासन-सं०पु० यौ० [सं० अंबुज+आसन] जिसका कमल पर आसन हो, ब्रह्मा।

अंबुद-सं०पु० [सं०] जल देने वाला, बादल, मेघ।

अंबुधर-सं०पु० [सं०] १ पानी को धारण करने वाला, बादल. २ इंद्र।

अंबुधि-सं०पु० [सं०] सागर, समुद्र। उ०—अंबुधि सात कहावत हे क्षिति, स्रोण को सिंधु नयौ कद सूझयौ।—पदमसिंह री बात

अंबुनाथ-सं०पु० [सं०] समुद्र सागर।

अंबुनिधि-सं०पु० [सं०] १ बादल, मेघ. २ समुद्र।

अंबुप-सं०पु० [सं०] १ समुद्र, वरुण. शतभिषा नक्षत्र।

अंबुपत, अंबुपति, अंबुपती-सं०पु० [सं० अंबुपति] समुद्र, सागर।

अंबुवाह-सं०पु० [स० अंबु+वाह] बादल।

अंबरासी-सं०पु० [सं० अंबु+राशि] समुद्र, सागर।

अंबुवाह-सं०पु०—देखो 'अंबुवाह'।

अंबुवौ-वि०पु०—गहरे खाकी रंग का सा।

सं०पु०—एक रंग विशेष जो गहरे खाकी रंग का सा होता है।

अंबुसायी-सं०पु० [सं० अंबुशायी] १ विष्णु. २ जल. ३ चार की संख्या॰ ४ असुर. ५ पितर।

अंबू-सं०पु० [सं० अंबु] देखो 'अंबु' (अल्पा०-अंबूड़ौ—रू.भे.)

उ०—आस धरंदा आज सौ, मिळियौ जोग दिखाय। हम भूखे तुझ नेह के, अंबूड़ा ज चराय।—जलाल बूबना री बात

अंबूवाळ-सं०पु०—देखो 'अंबुआळ'।

अंबोद-सं०पु० [सं० अंबुद] बादल, मेघ।

अंभ-सं०पु० [सं० अंभस्] १ जल, पानी. २ लग्न से चतुर्थ राशि. ३ चार की संख्या॰. ४ देव. ५ असुर. ६ राशि. ७ पितर. ८ बादल।

अंभनिधि-सं०पु० [सं० अंभ+निधि] सागर, समुद्र।

अंभोज-सं०पु० [सं०] १ कमल. २ चंद्रमा. ३ मोती।

अंभोद-सं०पु० [सं०] बादल, मेघ।

अंभोनिधि-सं०पु० [सं०] समुद्र, सागर।

अंभोरासि-सं०पु० [सं० अंभोराशि] समुद्र, सागर।

अंभोरुह, अंभोरु, अंभोरूह-[सं० अंभोरुह] कमल।

अंभोसह-सं०पु०—कमल।

अंमणीमांण-सं०पु०—देखो 'अमलीमांण' (ल.पि.)

कहा०—अंधेर नगरी अणबूझ राजा, टकै सेर भाजी और टकै सेर खाजा—बड़ा भारी अन्याय, अराजकता, जहाँ भले-बुरे सब के साथ एकसा वर्ताव हो।

अंधेरखातौ–सं०पु० [सं० अंधकार+फा०खातो] १ गड़बड़ हिसाव-किताव, व्यतिक्रम. २ अन्यथाचार, कुप्रबन्ध. ३ अविचार. अन्याय।

अंधेरी–सं०स्त्री० [सं० अंधकार+ई-रा०प्र०] १ अंधकार, तम. २ अंधेरी रात्रि. ३ आँधी, अँधड़।

वि०—१ अंधकारयुक्त. २ अंधकार के समान।

अंधेरौ–सं०पु० [सं० अंधकार] देखो 'अंधारौ'।

अंधौ–स०पु० [सं० अंध] देखो 'आंधौ'।

अंधौदरपण–सं०पु० [सं० अंध+दर्पण] धुंधला दर्पण।

अंधौधुंध–क्रि०वि०—देखो 'अंधाधुंध'।

अंध्यार–सं०पु० [सं० अंधकार] अंधेरा, अंधकार।

अंध्यारौ–वि० [सं० अंधकार] अंधकारयुक्त।

सं०पु० (स्त्री० अंध्यारी) अंधेरा।

अंध्र–सं०पु० [सं०] १ दक्षिण का एक प्रान्त, आन्ध्र. २ शिकारी (अ.मा.)

अंन–सं०पु० [सं० अन्न] अनाज, अन्न।

अव्यय [रा०] और।

वि० [रा०] अन्य।

अंनदाता, अंनदातार–सं०पु० [सं० अन्न+दातृ] १ अन्न दान करने वाला. २ पोषक, प्रतिपालक. ३ मालिक, स्वामी।

अंनपूरणा–सं०स्त्री० [सं० अन्नपूर्णा] १ अन्न की अधिष्ठात्री देवी. २ दुर्गा का एक नाम. ३ काशीश्वरी, विश्वेश्वरी. ४ चारण कुलोत्पन्न वरवड़ी देवी का एक नाम।

अंनार–सं०स्त्री० [फा० अनार] दाड़िम नामक फल तथा उसका वृक्ष-विशेष।

अंब–सं०पु० [सं०] १ शिव, महादेव (ना.डि.को.) [सं० अंबक] २ नेत्र, नयन, [सं० अंबुधि] ३ समुद्र (अ.मा) [सं० अंबु] ४ जल। उ०—नैण नीरज में अंब वहे रे गंगा वहि जाती।—मीरां ५ चंद्रमा [स० अंबुद] ६ वादल [सं० आम्र] ७ आम का वृक्ष या उसका फल। उ०—मारगि मारगि अंब मौरिया, अंबि अंबि कोकिल आलाप।—वेलि. [सं० अंबर] ८ आकाश. ९ वस्त्र।

सं०स्त्री० [सं० अंबा] १० उमा, पार्वती। उ०—अंब हुकम गई अंब अराधण, सुख-सागर दरसायौ हे माय।—गीत रां०। ११ दुर्गा. १२ धरती. १३ शक्ति. १४ माता, जननी। उ०—आज कहौ तो आप जाइ आवूं, अंब जात्र अंबिका तणी।—वेलि. [सं० अबु] १५ कांति।

अंबक–सं०पु० [सं०] आँख, नेत्र। उ०—समळी और निमंक भख, अंबक राह म जाह।—वी स.

अंबकास–सं०पु० [अ० आमखास] देखो 'अंबखास'।

अंबकेसर, अंबकेस्वर–सं०पु० [सं० अंबिकेश्वर] महादेव का एक नाम।

अंबखास–सं०पु० [अ० आमखास] महलों के भीतर का वह भाग जहाँ राजा या वादशाह बैठते थे।

अंबज–सं०पु० [रा०] १ श्वेत रक्त वर्ण* (डि.को.) [सं० अंबुज] २ कमल।

अंबध, अंबधि–सं०पु० [सं० अंबुधि] समुद्र, सागर। (अ.मा.; डि.नां.मा.)

अंबनयर–सं०पु०—जयपुर से छः मील दूर आमेर नामक कस्वा (प्राचीन)

अंबनिध–सं०पु० [सं० अंबु+निधि] समुद्र, सागर।

अंबपुर–सं०पु०—देखो 'अंबनयर'।

अंबर–सं०पु० [सं०] १ वस्त्र, कपड़ा, पट। उ०—धरती पड़ची ढिगास अंबर अंबर सूं अड़चौ, आयौ पूरण आस सही बजाजी सांवरौ।—रांमनाथ कवियौ २ आकाश, आसमान।

कहा०—१ अंबर दूझै भूत कमावै, आकासी धन आपे आवै—सब काम मुफ्त में होकर बिना प्रयास अर्थ-प्राप्ति होती है. २ कपास. ३ एक प्रकार का इत्र. ४ आमेर नगर. ५ अमृत. ६ उत्तरी भारत का एक प्राचीन प्रदेश. ७ बादल, मेघ [सं० आम्र] ८ आम का फल तथा उसका वृक्ष। उ०—'अंबर मोरीजै छै। कूपळां फूटीजै छै। वणराई मंजरी छै।—रा.सा. सं.

अंबरचर–वि० [अंबर+चर] आकाश में विचरण करने वाला, नभचर।

अंबरडंबर–सं०पु० [सं० अंबर+डंबर] १ सूर्यास्त का समय. २ संध्या की लालिमा।

अंबरवेलि–सं०स्त्री० [सं०] देखो 'अमरवेल'।

अंबरमणि–सं०पु० [सं० अंबर+मणि] सूर्य्य।

अंबररस–सं०पु० [सं० आम्ररस] आमों का रस।

अंबरसरीखौ–सं०पु० [सं० अंबर=आकाश रा० सरीखौ=समान] एक प्रकार का शुभ रंग का घोड़ा (शा.हो.)

अंबराळ–सं०पु०—आकाश, आसमान (डि.नां. मा.)

अंबरीक, अंबरीख, अंबरीस–सं०पु० [सं० अंबरीष] १ सूर्य. २ सूर्य-वंशी एक पौराणिक राजा. ३ भाड़।

अंबरीसक–सं०पु० [सं० अंबरीसक] भाड़।

अंबवेळा–सं०पु० [सं० अंबु+वेला] समुद्र, सागर।

अंबवौ–सं०पु०—देखो 'अंबुवौ'।

अंबस्ट–सं०पु० [सं० अंबष्ठ] कायस्थों का एक भेद।

अंबस्टा–सं०स्त्री० [सं० अंबष्ठा] मालती (अ.मा.)

अंबहर–सं पु० [सं० अंबु+घर] १ इन्द्र. २ बादल. ३ समुद्र (अ मा.) [सं० अंबु+हरति] ४ सूर्य. ५ अग्नि [सं० अंबर] ६ आकाश।

अंबहरि–सं०पु० [सं० अंबर] आकाश। उ०—राजति राजकुंअरि राय अंगण, उडीयण वीरज अंबहरि।—वेलि.

सं०स्त्री०—११ लक्ष्मी. १२ शिखा. १३ प्रजा (एका.)

अइ–अव्यय [सं० अयि] १ हे, अरे (संबोधनार्थ या विस्मय में) २ 'ओ' शब्द का बहुवचन (प्रा.रू.)

अइयौ–अव्यय [सं० अयि] हे, अरे (संबोधनार्थ या विस्मय अर्थ में)

अइराक, अइराकि–सं०पु०—ईराक देश में उत्पन्न घोड़ा. २ ईराक देशोत्पन्न। देखो 'एराक'।

अइहइ–क्रि०वि० [प्रा.रू.] ऐसा, ऐसी। उ०—अग-नयणी, अगपति मुखी, अग मद तिलक लिलाट। अग-रिपु कटि सुंदर वणी, मारू अइहइ घाट।—ढो.मा.

अई, अईज–क्रि०वि०—१ व्यर्थ, फिजूल. २ ऐसे ही।

अई–अव्यय [सं० अयि] १ हे, अरे (संबोधनार्थ या विस्मय अर्थ में) (रू.भे. अइ) २ वाह-वाह सूचक शब्द।

अईभाग–सं०पु०—अहोभाग्य।

अईयौ–अव्यय [सं० अयि] हे, अरे (संबोधनार्थ या विस्मय अर्थ में) उ०—अइयौ अकवरिया तेज तिहारौ तुरकड़ा।

अउ–सर्व०—१ 'ओ' का प्राचीन रूप 'वह'। उ०—सारीखी जोड़ी जुड़ी, आ नारी अउ नाह।—ढो.मा. २ यह। उ०—रांणी राजा सूं कहइ, कीजइ अउ विमांह।—ढो.मा.

अउगुण–सं०पु० [सं० अवगुण] १ दोष. २ बुराई. ३ अवगुण।

अउभकई–क्रि०वि० [प्रा.रू.] अचानक, अकस्मात। उ०—सउदागर राजा तिहां वइठा मंदिर मंझ, मारू दीठी अउभकइ, जांणि खिवी घण संभ।—ढो.मा.

अउभणई, अउभणउ—किसी अंगीकृत व्रत की समाप्ति पर किया जाने वाला उत्सव अथवा भोज। इसके पश्चात् उस व्रत को निरन्तर रखने की आवश्यकता नहीं होती (प्रा.रू.—मि० उभमणौ)

अउत–वि० [सं० अपुत्रक, प्रा० अउतअ] १ पुत्रहीन, निसंतान। [सं० अयुक्त] २ अयुक्त, अनुचित। उ०—अउत होइ घरि छोड़ां हो राय।—वी.दे.

अउथि, अउथी–क्रि०वि०—वहां, उस जगह। उ०—ईडर की घर अळगउँ जइ तूं कहइ तु जांह। अउथि घड़ाऊँ आभरण, माल्हवणी मेलांह।—ढो.मा.

अउब–वि० [सं० अद्भुत] अद्भुत। उ०—भिड़ियो 'मालो' अउब भत, रीदां सगत रही न। किळ तेरै तूंगा किया, त्रजड़ां तेरै तीन।—वां.दा. यौ०—अउबभत।

अउबगत्ति, अउबगत्ति, अउबभत–सं०स्त्री०—अद्भुत गति। क्रि०वि०—अद्भुत रीति से।

अउर–क्रि०वि० [सं० अपर] और, अन्य। सं०पु० [सं० उर] हृदय।

अउळगउँ, अउळगऊँ–क्रि०वि० [प्रा.रू.] १ दूर, अति दूर। उ०—ईडर की घर अउळगउँ, जइ तूं कहइ तु जांह। अउथि घड़ाऊँ आभरण, माल्हवणी मेलांह।—ढो.मा. २ अलग।

अउळगण–सं०पु० [प्रा.रू.] प्रवास। उ०—ईडर की घर अउळगण, हूँ तउ जांणण देसि। घरि वइठाई आभरण, मोल मुहंगा लेसि।—ढो.मा.

अउसर–सं०पु० [सं० अवसर] १ समय. २ अवसर, मौका।

अऊंनम–सं०पु०—ॐ नमः, प्रणव मंत्र।

अऊँळी–वि०स्त्री०—विरुद्ध, उलटा। उ०—प्री पूठइ असतरी परजळइ, पणि नारी पूठि पुरख नवि वळइ। आ तें मांडी अऊँळी रीति, वात न वेइसइ ढोला चीति।—ढो.मा.

अऊंळौ–वि०पु०—विरुद्ध, उलटा (स्त्री० अऊंळी)

अऊग्राहणौ, अऊग्राहवौ–क्रि०स०—१ बदला लेना. २ वसूल करना, उगाहना। उ०—गाहिया पिसण घणा वैर अऊग्राहिया।—द.दा.

अऊत–वि० [सं० अपुत्रक, प्रा० अउतअ] १ निःसंतान. २ कुपुत्र। उ०—कूड़ा निलज कपूत, हियाफूट ढांढ़ा असल, इसड़ा पूत अऊत, रांड जणै क्यूं राजिया। ३ बेवकूफ. ४ उजड्ड।

अऊती–वि०स्त्री० [सं० अपुत्रक, प्रा०अउतअ] निःसंतान, निपूती।

अऊव–वि०—देखो 'अउव'।

अओड़ौ–सं०पु०—१ टोकने का भाव. २ झिड़की, दुत्कार। (मि० ओड़ौ)

अकंटक–वि० [सं०] १ निर्विघ्न, बेखटके, बाधारहित. २ जिसका कोई विरोधी न हो, शत्रुहीन।

अकंपण–वि० [सं० अ+कंपन] कंपनरहित, दृढ़, स्थिर। सं०पु०—एक राक्षस जिसने खर के वध का वृत्तांत रावण से कहा था।

अक–सं०पु० [सं०] १ पाप. २ दुःख. ३ पीड़ा।

अकखड़पण, अकखड़पणौ–सं०पु०—देखो 'अक्खड़पणौ'।

अकखणौ, अकखवौ–क्रि०स०—कहना।

अकड़–सं०स्त्री०—१ ऐंठ, तनाव, मरोड़. २ बंध. ३ घमंड, अहंकार, ४ ढिठाई. ५ हठ, जिद. ६ बांकापन. ७ लड़ना।

अकड़णौ, अकड़वौ–क्रि०अ०—१ सूखने के कारण सिकुड़ जाना. २ टेढ़ा हो जाना. ३ कड़ा पड़ जाना. ४ ऐंठना, मरोड़ना. ५ सर्दी से ठिठुरना. ६ सुन्न होना. ७ शरीर को तानना. क्रि०स०—८ अभिमान करना, शेखी वघारना. ९ हठ करना. १० अड़ जाना. ११ गुस्सा दिखाना. १२ रौब दिखाना या धमकी देना।

अकड़णहार-हारौ (हारी), अकड़णियौ–वि०—अकड़ने वाला।

अकड़ाई–(स्त्री०)

अकड़िओड़ौ, अकड़ियोड़ौ, अकड़्योड़ौ–भू०का०कृ०—अकड़ा हुआ। यौ०—अकड़बाज, अकड़-मकड़।

अकड़वाई–सं०स्त्री०यौ०—१ वायु के प्रकुपित होने से शरीर के अकड़ जाने का एक प्रकार का वात रोग. २ देह की नसों का पीड़ा के साथ खिंचना या तनना, ऐंठन।

अकड़बाज–वि०—शेखीबाज, घमंडी।

अकड़बाजी–सं०स्त्री०—१ ऐंठ, शेखी. २ घमंड, गर्व।

अंम्रत–सं०पु० [सं० अमृत] १ दूध (अ.मा.) २ जल. ३ अमृत ४ दो दीर्घ के बीच लघु सहित पाँच मात्राओं का नाम ऽ।ऽ (डिं.को.)

अंम्हां–सर्व०—हम ।

अंवर–सं०पु० [सं० अंवर] वस्त्र (अ.मा.)

अंवळउ, अंवळऊ–वि० [प्रा०रू०] १ उलटा. २ टेढ़ा. प्रसवकाल में बच्चे का टेढ़ा होकर जन्म स्थान पर आना. ४ दुखी, व्यथित ।
उ०—सज्जण चाल्या हे सखी, पड़हउ वाज्यउ द्रंग ।
काँही रळी वधाँमणाँ, काँही अंवळउ अंग ।—ढो.मा.

अंवळाई–सं०स्त्री०—१ चक्कर, वक्र मार्ग, घूम २ वक्रता, टेढ़ापन. ३ कुटिलता ।

अंवळौ–वि०पु०—विरुद्ध, टेढ़ा । उ०—खिमत करै जिम खांन, वीरम जिम अंवळौ वहै ।—गो.रू.
कहा०—१ अँवळौ आडौ बैठणौ—खुद संकट में पड़ कर भी किसी की सहायता करना । २ जे सांई संवळौ होय तौ अंवळा होय अनेक—अगर ईश्वर अपनी सहायता पर है तो सब विरुद्ध हों तब भी क्या हो सकता है ।

अंवार–सं०स्त्री०—१ देरी, विलम्ब. २ अवसर. ३ झड़वेरी के कटे हुए झाड़ों के समूह का गोलाकार रखने का ढंग ।

अंवारणौ–सं०पु०—१ 'अंवारणौ' क्रिया का भाव या क्रिया. २ वह पदार्थ जिसके द्वारा यह क्रिया संपादित की जाय ।

अंवारणौ, अंवारबौ–क्रि०स०—प्रेत-बाधा या रोग-शांति के हेतु किसी व्यक्ति के शरीर के चारों ओर कोई पदार्थ घुमा कर किसी को दान में देना अथवा फेंक देना ।
अंवारणहार-हारौ (हारी), अंवारणियौ—वि० ।
अंवारीजणौ, अंवारीजबौ—भाव वा. ।
अंवारियोड़ौ-अंवारीयोड़ौ—भू.का.कृ. ।

अंवारियां, अंवारियें–सं०पु०—एक प्रकार का प्रचलित विश्वास जिसके अनुसार एक व्यक्ति इस क्रिया को करने पर एकांत में जाकर सो जाता है तथा मृत हो जाता है । एक अथवा अधिक दिन के पश्चात् उसकी आत्मा विभिन्न लोकों मे घूम कर उसके मृत शरीर में वापस प्रवेश कर जाती है तब वह पुनर्जीवित होकर अन्य लोगों को अपने विभिन्न लोकों के अनुभव सुनाता है । कई लोग इसे मिथ्या अंध-विश्वास या ढोंग भी मानते है ।
क्रि०प्र०—जाणौ ।

अंवारियोड़ौ, अंवारीयोड़ौ, अंवारयोड़ौ–भू०का०कृ०—वह व्यक्ति जिस पर 'अंवारणौ' की क्रिया संपादित की गई हो अथवा वह पदार्थ जिसके द्वारा यह क्रिया की गई हो । (स्त्री० अंवारियोड़ी)

अंविस्ट–सं०पु०—देखो 'अंवस्ट' ।

अंवेर–सं०स्त्री०—हिफाजत, निगरानी ।

अंस–सं०पु० [सं०अंश] १ भाग, हिस्सा, विभाग. २ भाज्य-अंक. ३ वह अंक जो कि भिन्न की लकीर के ऊपर हो (गणित) ४ भाग. (गणित). ५ सोलहवाँ भाग (कला). ६ वृत्त की परिधि का ३६०°वाँ हिस्सा (रेखागणित). ७ लाभ का हिस्सा. ८ बारह आदित्यों में से एक. ९ कंधा । उ०—धीर मेर रा खङ्ग प्रहार सूं कन्ह महर री **अंस** पंसुळी सूधौ झड़ियौ ।—वं.भा. १० किरण, रश्मि. ११ वंशज. १२ वीर्य. १३ शक्ति. १४ अक्षांस (भूगोल)

अंसकूट–सं०पु० [सं०] कूबड़, ककुद ।

अंसधारी–वि० [सं० अंश+धारिन्] १ देवशक्ति से युक्त. २ अवतारी. ३ हिस्सेदार. ४ वीर, बहादुर. ५ वंशज ।

अंसावतार–सं०पु० [सं० अंश+अवतार] परमात्मा का वह अवतार जो पूर्णावतार न हो किन्तु जिसमें उसकी शक्ति का कुछ अंश हो ।

अंसी–वि० [सं० अंशिन] देखो 'अंसधारी' ।

अंसु–सं०पु० [सं० अंशु] १ किरण, प्रभा (अ.मा.) २ लेशमात्र, भाग. ३ सूर्य्य. ४ तेज, दीप्ति, ज्योति [सं० अश्रु] ५ आँसू ।
उ०—प्राजळ चख वेगम **अंसुपात**, जमना जळ काजळ वहत जात ।
—वि.सं.

अंसुक–सं०पु० [सं० अंशुक] १ पतला या महीन वस्त्र. २ रेशमी कपड़ा ।

अंसुधर–सं०पु० [सं० अंशुधर] १ रश्मिधारी, सूर्य. २ अग्नि. ३ चन्द्रमा. ४ दीपक. ५ देवता. ६ ब्रह्मा. ७ प्रतापी या वीर पुरुष. ८ वंशज ।

अंसुपात–सं०पु० [सं० अश्रुपात] आँसू गिराना, रोना, अश्रुपात ।
क्रि०प्र०—करणौ-होणौ ।

अंसुमांण, अंसुमान–सं०पु० [सं० अंशुमान] १ सूर्य. २ चन्द्रमा. २ सागर के पौत्र और असमंजस के पुत्र अयोध्या के एक सूर्यवंशी राजा ।

अंसुमाळी–सं०पु० [सं० अंशुमाली] १ सूर्य. २ चन्द्रमा. ३ अग्नि. ४ दीपक. ५ देवता ।

अंसुवन–सं०पु० [सं० अश्रु] आँसू, अश्रु । उ०—इक विरहणि हम ऐसी देखी **अंसुवन** की माळा पोवै ।—मीरां

अंसू–सं०पु०—देखो 'अंसु' ।

अंसूपती–सं०पु० [सं० अंशु+पति] सूर्य्य ।

अंह–सं०पु० [सं० अंहस्] १ बाधा. २ दुःख ३ व्याकुलता. ४ अपमान. ५ पाप (डिं.को.)
सर्व०—मैं ।
अनु०—खाँसने की ध्वनि ।

अंहति–सं०स्त्री० [सं०] १ दान. २ त्याग. ३ पीड़ा ।

अ–उप०—शब्द के पूर्व आकर यह विपरीत या निषेधादि, समान या विशेष का अर्थ सूचित करता है; जैसे–अभागी, अधरम, असवार, अप्रवळ, असमर ।
सं०पु०—१ महादेव. २ ब्रह्मा. ३ कृष्ण. ४ सूर्य्य. ५ चंद्रमा. ६ पवन. ७ प्राण. ८ आनन्द. ९ काल. १० विष्णु ।

अकरमणय-वि० [सं० अकर्मण्य] १ आलसी. २ कुछ काम न करने वाला, निकम्मा, निठल्ला. ३ काम करने के अयोग्य. ४ पापी, दुष्कर्मी।

अकरम संन्यास-सं०पु०यौ० [सं० अक्रम+संन्यास] क्रम से न लिया गया संन्यास।

अकरमी-सं०पु० [सं० अकर्म्मिन्] १ बुरा काम करने वाला. २ पापी, दुष्कर्मी. ३ अपराधी। (स्त्री०—अकरमण)।

अकरम्म—देखो 'अकरम'।

अकरांइजणौ, अकरांइजबौ-क्रि०अ०—पथरीले मार्ग में चलने से पैरों का अकड़ना।

अकरांइजियोड़ौ—भू०का०कृ०।

अकरांइजियोड़ौ-वि०—पथरीले मार्ग में चलने से अकड़ा हुआ (पैर)। (स्त्री०—अकरांइजियोड़ी)

अकराळ-वि०—१ भयंकर, भयावह, विकराल. २ कठोर. [सं० अ+कराल] ३ जो भयंकर या भयावह न हो।

अकरिता—देखो 'अकरतौ'।

अकरुण-सं०पु० [सं० अ+करुण] करुणारहित, निर्दयी, निष्ठुर, क्रूर।

अकरूर, अकरूरि-सं०पु० [सं० अक्रूर] श्वफल्क और गान्दिनी के पुत्र एक यादव जो श्रीकृष्ण के चाचा थे।

अकरेलणौ, अकरेलबौ-क्रि०स०—१ खोद कर कोई गड़ी हुई वस्तु निकालना. २ खोदना। उ०—खेतां काढ़ै खाल, जोड़ कर ऊंट अलांणां, कसियां सूं अकरेल, नैण जळ भरा निनांणां।—दसदेव

अकळंक-वि० [सं० अकलंक] १ निष्कलंक. २ दोषहीन, निर्दोष।

अकळंकता-सं०स्त्री० [सं० अकलंकता] निर्दोषता, कलंकहीनता।

अकळ-वि० [सं० अकल] १ अपार, असीम। उ०—अजन प्रांण तप अकळ, देख खुरसांण दहल्ले।—रा.रू. २ अगम्य। उ०—अकळ अजन्म अलेख अप्रंप्रम क्रम मम कटै तूझ कथतां कम।—ह.र. ३ वीर, समर्थ। उ०—दोळा वीस हजार दळ, अकळ अजो नरपत्त। —रा.रू.

४ संपूर्ण, अखिल। उ०—अकळ तुहि ज कै कोइ अवर, वोहो नांमी वूझव्व।—ह र. ५ व्याकुलतारहित, दोषरहित। उ०—ज्यांरै धोरी बेगड़ो, ज्यांरा सींग वधंत। औ जूपै जिण रथ अकळ, सोही रण सोहंत।—वां.दा. ६ व्याकुल, बेचैन, घबराया हुआ।

सं०पु०—१ ईश्वर (नां.मा.) २ शिव (अ.मा.)

अकल-सं०स्त्री० [अ० अक्ल] बुद्धि, समझ, ज्ञान।

पर्याय०—ग्यांन, धी, बुद्धि, मति, समझ।

क्रि०प्र०—आणी, गमाणी, जाणी, देणी, रै'णी, होणी।

मुहा०—अकल खरच करणी—समझ से काम लेना. २ अकल घास चरण नै जावणी—बुद्धि का अभाव. ३ अकल चकराणी—हैरान होना. ४ अकल देणी—समझाना. ५ अकल दौड़ाणी—सोच-विचार करना, गौर करना. ६ अकल मांग खाणी—मूर्खता का काम करना. ७ अकल माथै भाटा पड़णा—बुद्धि भ्रष्ट होना. ८ अकल मारी जाणी—बुद्धि भ्रष्ट होना. ९ अकल री अजीरण होणी—बेवकूफ होना. १० अकल री दुसमण—बेवकूफ, मूर्ख. ११ अकल री पूतळी—मूर्ख (व्यंग्य) १२ अकल री पूरी (व्यंग्य) मूर्ख. १३ अकल सूं भारियां (बोझियां) मरै है—बेवकूफ होना।

कहा०—१ अकल उधारी ना मिळै, हेत न हाट बिकाय—बुद्धि उधार नहीं मिलती, वह अपनी ही काम देती है तथा प्रेम बाजार में पैसे से प्राप्त नहीं किया जा सकता। २ अकल ऊमर ऊपर नहीं है—बुद्धि का आयु से संबंध नहीं है अर्थात् कम आयु वाला व्यक्ति भी बुद्धिमान हो सकता है. ३ अकल तौ अड़नै ई कौ निकळी नी—नितांत बेवकूफ. ४ अकल वडी'क भाग—बुद्धि भाग्य से बड़ी है. ५ अकल वडी'क (कै) भैंस—भैंस से बुद्धि बड़ी है. ६ अकल रै लारै डांग (लट्ठ) ले'र दौड़णौ—बुद्धिमानी की बात न सुनना व मूर्खता का काम करना. ७ अकल री अजीरण—आवश्यकता से अधिक बुद्धि होना (व्यंग्य) मूर्ख होना. ८ अकल सरीरां ऊपजै दियी न आवै सीख—अकल अपनेआप आती है, सिखाने से नहीं आती. ९ अकल सरीरां ऊपजै दीया आवै (लागै) डांम—बुद्धि सिखाई हुई नहीं आती, दिये तो डांम (देखो डांम) लगते हैं. १० अकल सूं खुदा पिछाणीजै—बुद्धि से परमात्मा प्राप्त होता है अर्थात् बुद्धि से बड़ी से बड़ी समस्या समझी जा सकती है. ११ अकल हीयै ऊपजै दीयां लागै (आवै) डांम—बुद्धि सिखाई हुई नहीं आती; दिये हुए तो डांम (देखो डांम) लगते हैं. १२ आप री अकल नै घोड़ा ई नहीं नावड़ै (पूगै)—बहुत बुद्धिमान होना. १३ एक मण अकल सौ मण इलम—विद्या की अपेक्षा बुद्धि बड़ी है. १४ नकल में अकल री जरूरत है—बिना बुद्धि के नकल में भी काम नहीं चल सकता. १५ मूरख री अकल माथै में होवै—मूर्ख को पीटने पर ही बुद्धि आती है. १६ लुगायां में अकल व्है तौ जांन में क्योंनी ले जावै—अगर स्त्रियों में भी बुद्धि होती तो उन्हें बारात में ही साथ क्यों न ले जाते अर्थात् स्त्रियों में बुद्धि नहीं होती. १७ सूतौ खावै हिंगतौ गावै उण में अकल कदे नी आवै—जो आदमी सोता हुआ खाता है तथा शौच जाते गाता रहता है वह सदा मूर्ख होता है।

(रू०भे०—अक्कल, अक्कलि, अक्खल, अकलि, अकिल)

यौ०—अकलदार, अकलनघांन, अकलमंद, अकलवांन (अकलड़ी-अल्पा.)

अकलकरौ-सं०पु० [सं० आकरकरभ, अ० अक़रक़रहा] प्रायः उत्तर अल्जीरिया में होने वाला एक प्रकार का पौधा विशेष जिसकी जड़ें पुष्ट होती हैं। यह कामोद्दीपक औषधि है। इससे मुंह में जीभ पर चुनचुनाहट होकर थूक अधिक आता है (अमरत)।

अकळकुमारी-सं०स्त्री०—पृथ्वी, धरती (नां.मा.)

अकलखरौ, अकलखुरौ—देखो 'अकलकरौ'।

अकळगति-सं०स्त्री० [सं० अकल+गति] वह अवस्था या गति जिसका ज्ञान मनुष्य न लगा सके।

अकलदाढ, अकलदाढ़-सं०पु० [सं० अक्ल+सं० दंष्ट्रा] मनुष्य के वयस्क

अकड़-मकड़-सं०स्त्री०—१ ऐंठ. २ गर्व ।
अकड़ाई-सं०स्त्री०—१ गर्व, अभिमान. २ अकड़ने की क्रिया, ऐंठन ।
अकड़ाळ-वि०—जबरदस्त ।
अकड़ाव-सं०पु०—ऐंठन, खिंचाव ।
अकड़ियोड़ौ-भू०का०कृ०—अकड़ा हुआ (स्त्री० अकड़ियोड़ी)
अकड़ू-वि० उ०लिं०—१ अभिमानी. २ अकड़ने वाला, अकड़बाज ।
अकड़ूबाज—देखो 'अकड़बाज' ।
अकड़ैत-वि०—१ अकड़बाज, अकड़. २ बलवान ।
अकड़ौ—देखो 'अकडौ' ।
अकच-वि० [सं० अ+कच] बिना बाल का, रोमरहित ।
सं०पु०—जैन साधु ।
अकच्छ-वि० [सं० अ+कच्छ या कक्ष] १ नंगा, नग्न. २ व्यभिचारी, लम्पट ।
अकज-वि०—१ खराब. २ व्यर्थ । उ०—इकडंकी गिरा एकरी, भूले कुळ साभाव । सूरां आळस ऐस में, अकज गुमाई आव ।—वी.स.
सं०पु० [अ+कार्य] १ नाश. २ हानि ।
अकजौ, अकज्ज-वि०—१ व्यर्थ, निकम्मा. २ कायर, डरपोक ।
उ०—सूर वागा सझै, रौद्र हिंदू रजै । सोभगी सकजै, अमेळां अकजै ।—रा रू.
सं०पु० [अ+कार्य] १ अकाज. २ बिगाड़. ३ बुरा कार्य ।
अकठ-स०स्त्री०—वह गाय या भैंस जिसका दूध आसानी से निकलता हो ।
अकडोडियौ-सं०पु०—आक या मदार का फूल जो प्रायः शिव-पूजा में प्रयोग किया जाता है ।
अकढ़-सं०पु०—बिना गर्म किया हुआ दूध ।
अकढ़ियौ, अकढ़ियोड़ौ-सं०पु०—बिना गर्म किया हुआ दूध ।
अकण, अकणी-स०स्त्री०—गेहूँ की वे बालें जिनमें गेहूँ का बीज न पनपा हो, बिना करण या अनाज का ।
अकतार-सं०पु० [सं० इख्तियार] १ अधिकार, काबू, प्रभुत्व, स्वत्व. २ अधिकार क्षेत्र. ३ शक्ति, सामर्थ्य ।
अकत्थ, अकथ-वि० [सं० अ+कथ्] १ न कहने योग्य. २ कथन-शक्ति से परे या बाहर । उ०—अगम अगाध तू अगला अगवाणी, तू अवगत अनाथनाथ तू अकथ कहांणी ।—केसवदास गाडण
३ जो न कहा जा सके, अवर्णनीय । उ०—अकथ कहांणी प्रेम री, किणा सूं कही न जाय ।—ढो.मा.
अकथकथ-वि०—अकथनीय ।
अकथा-सं०स्त्री० [सं०] कुकथा, अपभाषा ।
अकथियोड़ौ-भू०का०कृ०—नहीं कहा हुआ (स्त्री० अकथियोड़ी)
अकथ्थ, अकथ्य—देखो 'अकथ' । उ०—पंथ असेंदौ पूगणौ, अळगौ घणौ अकथ्थ ।—वां दा.
अकनकंवार-सं०स्त्री०—१ आजीवन या कुछ काल तक कौमार्य व्रत धारण करने का भाव ।
वि०—देखो 'अकनकंवारौ' ।
अकनकंवारौ, अकनकुंवारौ-वि०—आजीवन कौमार्य व्रत धारण करने वाला, जिसने स्त्री-प्रसंग न किया हो (स्त्री० अकनकुंवारी)
अकपट-सं०पु० [सं० अ+कपट] कपटहीन, सरल, सीधा, छलहीन ।
अकबक-सं०पु०—१ व्यर्थ बकबक, असंबद्ध प्रलाप. २ धड़क, खटका. ३ चतुराई ।
वि०—१ अंडबंड. २ भौंचक्का । उ०—विरुदाळि वंदिन विथरे, अति वेग सम्मुह उप्परे, वजि कटक दमनक रचक धमचक, अटक दक तक मुलक अकबक, अछक छक भट ललक ।—वं.भा. ३ निस्तब्ध. ४ घबराया हुआ ।
अकबक्कणौ, अकबकबौ-क्रि०अ०—व्याकुल होना । उ०—भोगी भोग न झिलि सकें भूमि अकबक्कें ।—वं.भा.
अकबरी-सं०स्त्री०—१ एक प्रकार का प्राचीन सोने का सिक्का. २ एक प्रकार की मिठाई ।
अकबार-सं०पु० [अ० अख्बार] समाचार-पत्र, खबर का कागज ।
अकबाल-सं०पु० [सं० इकबाल] देखो 'इकबाल' ।
अकयथ्थ-वि० [प्रा०रू०] अकारथ, व्यर्थ । उ०—वालिभ गरथ वसीकरण, बीजा सहु अकयथ्थ । जिए चडचा दळ उत्तरइ, तरुणि पसारइ हथ्थ ।—ढो.मा.
अकर-वि० [सं०] १ न करने योग्य. २ कठिन. ३ जबरदस्त. ४ भयंकर. ५ बिना हाथ का. ६ बिना कर या महसूल का, कर मुक्त ।
अकरण-सं०पु० [सं०] १ इंद्रियों से रहित, परमात्मा. २ कर्म का फलरहित होना. ३ न करने योग्य कार्य, बुरा या आपत्तिजनक कार्य. ४ पाप [सं० अ+कर्ण] ५ बहिरा. ६ सांप ।
वि० [अ०+कारण] १ बिना कारण का. २ असंभाव्य. ३ अघटनीय ।
अकरणकरण-सं०पु०—ईश्वर, परमात्मा ।
अकरतौ-वि० [अ+कर्ता] १ कर्म न करने वाला, अकर्मण्य. २ जो कर्मों से निर्लिप्त हो, कर्म से पृथक ।
अकरब-सं०पु० [अ०] एक प्रकार का घोड़ा जिसके मुँह पर सफेद बाल होते है और उक्त सफेद बालों के बीच-बीच में दूसरे रंग के भी बाल होते हैं; ऐसा घोड़ा अशुभ माना गया है (शा.हो.)
अकरम-सं०पु० [सं० अ+कर्म] १ न करने योग्य कार्य. २ बुरा काम. ३ पाप, अपराध. ४ अधर्म ।
क्रि०प्र०—करणौ, होणौ ।
वि०—१ बेकार, कामरहित [सं० अ+क्रम] २ बिना क्रम के, क्रमहीन, उलटा-पुलटा ।
अकरमक-सं०पु० [सं० अकर्मक] व्याकरण के अनुसार क्रिया के दो मुख्य भेदों में से एक भेद जिसमें कर्म की आवश्यकता नहीं होती और कर्त्ता तक ही क्रिया का कार्य समाप्त हो जाता है ।

४ दुख, कष्ट, आपत्ति ।
क्रि०वि०—व्यर्थ, निष्प्रयोजन ।
अकाजी-वि०—कार्य हानि करने वाला, बाधक ।
अकाथ-वि०—१ अकारण, वृथा । [सं० अकथं] २ अकथ अकथनीय ।
अकाय-वि० [सं० अ+काय] १ काया या देहरहित, जन्म न लेने वाला, निराकार ।
सं०पु०—१ ईश्वर. २ कामदेव. ३ शक्ति, बल ।
अकार-सं०पु० [सं०] १ 'अ' वर्ण [सं० आकार] २ आकृति, स्वरूप, मूर्ति. ३ निशान ।
वि० [सं० अ=नहीं+रा० कार=कार्य] १ बेकार, बेकाम ।
[सं० अ=नहीं+कार=मर्यादा] २ मर्यादारहित ।
अकारज—देखो 'अकाज' ।
अकारण-वि० [सं० अ+कारण] १ बिना कारण, हेतुरहित ।
उ०—मेछ अकारण आप मुरादौ, संग अजीम वळे सहिजादौ ।
२ स्वयंभू । —रा.रू.
क्रि०वि०—व्यर्थ, बेसबब ।
अकारणीक, अकारनीक-वि० [सं० अ+कारण+ईक-रा०प्र०] देखो 'अकारण' । उ०—अकारनीक आप नांहि कारनीक हौ क्रतू ।—ऊ का.
अकारथ-वि० [सं० अकार्य्यार्थ, प्रा० अकारियत्थ] बेकार, व्यर्थ, फिजूल निष्प्रयोजन ।
क्रि०प्र०—करणौ, जाणौ, समाणौ, होणौ ।
अकारी-सं०स्त्री०—१ क़ाश्तकारों का कुए पर बैलों को बारी-बारी से जोतने का एक निर्धारित समय ।
वि०—१ देखो 'अकारौ' ।
२ बुरी, खराब. ३ दर्द करने वाली ।
उ०—सू मघ जेठ कळाधर सारी, आयौ रवि ज्यौं किरण अकारी ।
—रा.रू.
अकारो, अकारौ-वि० (स्त्री० अकारी) १ तीव्र, तेज. २ कड़ा. ३ जबरदस्त, बलवान, महातेजस्वी । उ०—उदै भड़ मेलिया अकारा, नीसरिया खळ छोड नकारा ।—रा.रू.
वि०—भयंकर । उ०—कळु काळ आवसी, पवन बाजसी अकारौ । सर नाडा सूकसी, घणी पलटसी धरा रौ ।—पहाड खां आढौ
अकाळ-वि० [सं० अकाल] अनुपयुक्त अवसर, बुरा समय, असमय ।
सं०पु०—१ मौत, मृत्यु. २ दुर्भिक्ष, दुष्काल. ३ घाटा, कमी ।
क्रि०प्र०—आणौ, पड़णौ, होणौ ।
अकाळकी-सं०स्त्री०—बिजली (ह.नां.)
अकाळकुसम-सं०पु० [सं० अकाल+कुसुम] बिना ठीक समय या बे-ऋतु फूलने वाला फूल ।
अकाळजळद-सं०पु० [सं० अकाल+जलद] असमय के बादल ।
अकाळणी-सं०स्त्री०—काली सर्पिणी । उ०—खणंकि खाग खग्गए, अकाळणी उमंगए ।—रा.रू.

अकाळपुरस, अकाळपुरुस-सं०पु० [सं० अकाल+पुरुष] सिक्खों के ग्रंथ में ईश्वर का एक नाम ।
अकाळपुसप, अकाळपुस्प-सं०पु० [सं० अ+काल+पुष्प] अकाल-कुसुम ।
अकाळमांत-सं०स्त्री० [सं० अकाल+मृत्यु] असमय की मृत्यु, असामयिक मृत्यु ।
अकाळमूरत-सं०पु० [सं० अकाल+मूर्ति] नित्य या अविनाशी पुरुष, ईश्वर ।
अकाळमौत, अकाळम्रतु—देखो 'अकाळमांत' ।
अकाळव्रस्टी, अकाळव्रस्ठी-सं०स्त्री० [सं० अकाल+वृष्टि] कुसमय की वर्षा, असमय की वर्षा ।
अकाळी-सं०पु० [सं० अकाल+ई] १ एक चक्र के साथ सिर पर काली पगड़ी वाले एक प्रकार के नानकपंथी साधु. २ नानक संप्रदाय की एक शाखा विशेष जो गुरु गोविंदसिंहजी को मानते हैं ।
वि०—१ भयंकर, भीषण, कराल, विकट. २ जो श्याम वर्ण का न हो, उज्ज्वल सफेद ।
अकास-सं०पु० [सं० आकाश] आकाश, आसमान । उ०—छत्र अकास एम औछायौ, घण आयौ किरि वरण घण ।—वेलि.
कहा०—अकास सूं पड़ी तौ खजूर में अटकी—एक विपत्ति से निकल कर दूसरी विपत्ति में पड़ना. २ अकास सूं पड़ी धरती झाली कोनी—भारी विपत्ति में पड़ना; ऐसी विपत्ति में पड़ना जिससे बचना संभव न हो ।
यौ०—१ अकासवांणी. २ अकासीविरत ।
अकासवांणी-सं०स्त्री० [सं० आकाशवाणी] देववाणी ।
देखो 'आकासवांणी' ।
क्रि०प्र०—करणी, होणी ।
अकासवेल-सं०स्त्री० [सं० आकाश+वेलि] अमरबेल ।
अकासि, अकासी-सं०स्त्री० [सं० आकाश+ई] १ आकाश से संबंध रखने वाली २ चील ।
सं०पु०—३ बादल (नां.मा.) [सं० आकाश] ४ आकाश ।
उ०—पानी पवन और धूर अकासि ।—वी.दे.
वि०—१ आकाश से संबंध रखने वाली. २ ईश्वरीय.
३ अनिश्चित (आय)
अकासीविरत-सं०स्त्री० [सं० आकाश+ई+वृत्ति] देखो 'आकासी-विरत' ।
अकिंचन, अकिंचनक-वि० [सं० अकिंचन] १ निर्धन, कंगाल, दीन.
२ कर्मशून्य. ३ असमर्थ. ४ तुच्छ ।
अकिल—देखो 'अकल' ।
अकिलज्योति-सं०स्त्री० [सं० अखिल+ज्योति] अखिल ज्योति ।
अकिलदाढ़—देखो 'अकलदाड' ।
अकीक-सं०पु० [फा० अक़ीक़] एक प्रकार का लाल पत्थर विशेष ।
अकीध, अकीधौ-क्रि०भू०का० [सं० अ+कृ] (स्त्री० अकीधी) 'करना'

पर बत्तीस दाँतों के अतिरिक्त निकलने वाला दाँत।

अकलदार-वि० [अ० अक्ल+फा० दार] बुद्धिमान, समझदार।

अकलनधांन-वि० [अ० अक्ल+सं० निधांन] १ बुद्धिमान, पंडित. २ चतुर।

अकळवकळ-वि०—१ व्याकुल, घबराया हुआ. २ अव्यवस्थित. ३ अस्तव्यस्त. ४ बेढंगा, अंटसंट. ५ बहुत. ६ मर्यादा से बाहर।

अकलमंद-वि० [अ० अक्ल+फा० मंद] १ बुद्धिमान, समझदार. २ चतुर।

कहा०—अकलमंद नै इसारौ घणौ—बुद्धिमान व्यक्ति थोड़े से इशारे से ही सब बात समझ लेता है।

अकलमंदी-सं०स्त्री० [अ० अक्ल+फा० मंद+ई-रा०प्र०] बुद्धिमानी, समझदारी।

अकलमस-वि० [सं० अ+कल्मष] निष्पाप।

अकळ-वकळ—देखो 'अकळवकळ'।

अकलवांन-वि० [अ० अक्ल+वांन-रा०प्र०] बुद्धिमान।

अकळविकळ—देखो 'अकळवकळ'।

अकळा-सं०स्त्री—बिजली (नां.मा.)

अकळाणौ, अकळावौ-क्रि०अ०—घबराना, व्याकुल होना। उ०—चुभै कपोळां आय भांमण जद अकळावै। नख बधतोड़ै हाथ सांवळी लट सिरकावै।—मेघ०

अकळायोड़ौ—भू०का०कृ०—व्याकुल।

अकळावणौ, अकळावबौ—प्रे०रू०—तथा क्रिया 'अकळाणौ' का रू.भे.

अकलाळौ-वि० [अ० अक्ल+आळौ-रा०प्र०] बुद्धिमान, दूरदर्शी।

उ०—जद पाछौ कह्यौ 'जसू' आगम अकलाळै।—वी.मां.

अकलि-सं०स्त्री० [अ० अक्ल] अक्ल, बुद्धि। देखो 'अकल'।

अकलीम-सं०पु० [अ० अक़्लीम] १ देश. २ बादशाहत, राज्य।

उ०—साह तणा खूनी सबळ, आय बचै इण ठौड़। औ सातूं अकलीम में, चावौ गढ़ चीतौड़।—वां.दा.

अकलीस-सं०पु० [सं० अक्ल+ईश] १ विष्णु. २ निराकार, परमात्मा. ३ शिव।

अकळीसट-वि० [सं० अक्लिष्ट] सुगम, सहज, आसान।

अकळेस-वि० [सं० अ+क्लेश] क्लेशरहित, सुखी।

सं०पु० [सं० अकल+ईश] देखो 'अखलेस'।

अकळेसर, अकळेसुर, अकळेस्वर-सं०पु० [सं० अखिलेश्वर] १ देखो 'अखळेस' २ श्रीकृष्ण (अ.मा.)

अकल्पत-वि० [अ+कल्पित] कल्पनारहित, सच्चा।

अकल्यांण-सं०पु० [सं० अ+कल्याण] अमंगल, अशुभ, बुरा, अशुकन।

अकवानंद-सं०पु०—भीम (अ.मा.)

अकस-सं०पु० [अ०] १ डाह, द्वेष। उ०—कविराजा सूं मंदकवि, अकस करै अविचार। अब जग करता सूं अकस, करसी घट करतार।—वां.दा.

२ बैर, विरोध, शत्रुता। उ०—राव करी तहिसौं अकसैं, फिर भाज गयौ रण भीम न आयौ।—वां.दा. [फा० अक्स] ३ छाया. ४ प्रतिबिंब. ५ तसवीर, चित्र।

सं०पु० [सं० आकाश] ६ आकाश, व्योम। उ०—सकसे का जैतवार अकसे का वाई।—रा.रू.

क्रि०वि०—१ सगर्व से, ऐंठ के साथ। उ०—अवदळखां चढ़ियौ अकस, कस वडफर केवांण।—रा.रू.

अकसणौ, अकसवौ—१ ईर्ष्या करना. २ कोप करना।

अकसमात-क्रि०वि० [सं० अकस्मात्] १ अकस्मात्, सहसा, यकायक, अनायास. २ संयोगवश।

अकसर-क्रि०वि० [अ०] प्रायः, बहुधा, अधिकतर।

अकसीर-सं०स्त्री० [अ० अक्सीर] किसी धातु को सोना या चाँदी का बना देने वाला रस या धातु, रसायन, कीमिया. २ सब रोगों को नष्ट करने वाली दवा।

वि०—अव्यर्थ, अचूक, अमोघ।

अकसौ-संपु० [अ० अकस] ईर्ष्या। उ०—छळ न वळै सौ अकसौ छोडै, इरांनी नह कौ वळ ओडै।—रा.रू.

अकस्मात—देखो 'अकसमात्'।

अकस्स-सं०पु० [अ० अकस] देखो 'अकस'। उ०—चढ़ियौ गढ़ तरवार गहि, ऊहड़ धारि अकस्स।—रा.रू.

अकस्सण-वि० [अ० अकस] १ कोप करने वाला. २ ईर्ष्या करने वाला।

अकस्सणौ, अकस्सबौ-क्रि०अ०—१ कोप करना। उ०—इंदावत सिवदांन अकस्सै, प्रसण गिळण भुज गयण परस्सै।—रा.रू. २ ईर्ष्या करना (रू.भे.—'अकसणौ, अकसवौ')

अकह—देखो 'अकथ'।

अकहौ-क्रि०वि०—विना कहा। उ०—न कदेई अकहौ कियौ।
—पलक दरियाव री बात

अकांपा-वि० [सं० अ+कंपित] १ न काँपने वाला, कंपनरहित. २ जितेन्द्रिय।

अकांम-क्रि०वि०—व्यर्थ, विना कारण, विना मतलब। उ०—कर मत सुपियारी कंवर, काली कळह अकांम।—पा.प्र.

सं०पु० [सं० अकाम] १ कार्य-हानि, नुकसान. २ विघ्न, बिगाड़. ३ नाश, ध्वंश। उ०—औ मेळू अवरां तणौ, असुरां करण अकांम।—रा.रू.

४ इच्छारहित, कामनारहित। उ०—अनांम अकांम अवास अवेस, आदेस आदेस आदेस आदेस।

अकांमी-वि० [सं० अ+कामिन्] १ कामनारहित, निस्पृह. २ कामरहित, जितेन्द्रिय. ३ व्यर्थ, बेकाम, निकम्मा।

अकाज-सं०पु० [सं० अ+कार्य] १ कार्य-हानि, नुकसान. २ विघ्न. ३ बिगाड़. ४ बुरा कार्य। उ०—औसर मांय अकाज, सांमौ बोल्यां सांपजै। करणौ जे सिध काज, रोस न कीजै राजिया। ३ मृत्यु.

ते सवद अवधारया ।—ह.र.

अक्रंम—देखो 'अकरम'।

अक्क-सं०पु०—१ नृत्य के समय पैरों को उठा कर वापिस भूमि पर रखने का ढंग विशेष. २ नृत्य की मुद्रा विशेष ।

अक्रत-सं०पु०—१ पाप २ कुकृत्य, दुष्कर्म । उ०—गरुडी गंधारीह, जिण नै पूछो जायनै । मो कहसी मारीह, क्रत अक्रत री मरवां ।
—रांमनाथ कवियो

३ बुरा कार्य । उ०—जांण अजांण वणे जोवनियो, कीवो अक्रत वर्णां करतार ।—अज्ञात

वि० [सं०अ+कृत] १ विना किया हुआ. २ बिगडा हुआ. ३ जो किसी का रचा हुआ न हो, स्वयंभू ।

अक्रतघण-वि० [सं० अकृतघ्न] जो उपकार माने, जो कृतघ्न न हो, कृतज्ञ ।

क्रि०प्र०—होणौ ।

अक्रति-सं०स्त्री० [सं० अ+कृति] बुरी कृति, बुरी करनी ।

अक्रतिम-वि० [सं० अकृत्रिम] प्राकृतिक, जो बनावटी न हो ।

अक्रम-वि० [सं०] क्रमहीन, बिना क्रम के ।

सं०पु० [सं अ+कर्म] १ देखो 'अकरम'। उ०—माहरा अक्रम मेटवा माहव ।—ह.र. २ समय (अ.मा.)

अक्रमणय—देखो 'अकरमण्य'।

अक्रमसंन्यास—देखो 'अकरमसंन्यास'।

अक्रमांदळूंत-वि०यौ०—पापों को नाश करने वाला (ईश्वर)

अक्रम्म—१ देखो 'अक्रम'। उ०—अक्रम्म न क्रम न आदि न अंत ।
—ह.र

२ देखो 'अक्रम' (१) उ०—नमौ अवधूत अक्रम्म अजीत ।—ह.र.

अक्रांत-सं०पु०—आक्रमण, हमला । उ०—इति स्री पालपोरसातने पुरबावरण विभागे आसिया मोटजी कृत अक्रांत री समी ।—पा.प्र.

अक्रित—१ देखो 'अक्रत'। उ०—मेटण अक्रित जगनहू समरथ ।
२ अकारथ, व्यर्थ । —गजमोख

अक्रिति, अक्रित्ती—देखो 'अक्रति'।

अक्रित्रिम—देखो 'अक्रतिम'।

अक्रूर—देखो 'अकरूर'।

वि०—जो क्रूर न हो, दयालु ।

अक्रूरियौ—देखो 'अकरूर' (अल्पा०)

अक्रोधा-वि०स्त्री० [सं० अ+क्रोध] शान्त, क्रोधरहित ।

अक्ष-सं०पु० [सं०] १ चौसर का खेल. २ धुरी. ३ रुद्राक्ष. ४ आंख. ५ पृथ्वी को आरपार कर दोनों ध्रुवों तक पहुंचने वाली मानी जाने वाली कल्पित रेखा (भूगोल) [अ० अक्स] ६ प्रतिबिंब, छाया. ७ तसवीर ।

अक्षक-सं०पु०—बेहड़ा (अ.मा.)

अक्षकुमार-सं०पु० [सं०] रावण का पुत्र अक्षयकुमार जो हनुमान द्वारा अशोकवाटिका में मारा गया था ।

अक्षत-वि० [सं० अ+क्षत] समूचा, विना टूटा हुआ ।

सं०पु०—पूजा के काम में आने वाले विना टूटे चावल ।

अक्षतजोनि, अक्षतयोनि-सं०स्त्री०—वह कन्या जिसका पुरुष से संसर्ग न हुआ हो ।

अक्षम-वि० [सं०] १ क्षमारहित. २ क्षमतारहित, अशक्त, असमर्थ. ३ असहिष्णु ।

अक्षमता-सं०स्त्री० [सं०] १ क्षमा का अभाव. २ असहिष्णुता. ३ असामर्थ्य. ४ डाह, ईर्ष्या ।

अक्षय-वि [सं०] क्षयहीन, अविनाशी, अमर । उ०—मेवा महंत, दीपत दिगन, आदांन ओध, अक्षय अमोघ ।—ऊ.का.

अक्षयकुमार—देखो 'अक्षकुमार'।

अक्षयवट-सं०पु० [सं०] गया में स्थित एक वड़ का पेड जिसका नाश प्रलय में भी नहीं माना जाता है ।

अक्षर-वि० [सं०] १ नित्य, नाश-रहित. २ सत्य. ३ निर्विकार ।

सं०पु०—१ अक्षर, वर्ण, हरफ. २ आकाशादितत्व. ३ आत्मा. ४ ब्रह्म. ५ शिव ६ सत्य. ७ इंद्रासन (नां.मा.)

अक्षरमुस्टिकाकथन-सं पु० [सं० अक्षर+मुष्टिका+कथन] चौसठ कलाओं के अंतर्गत एक कला ।

अक्षांस-सं०पु० [सं०] भूमडल पर पूर्व से पश्चिम की ओर जाने वाली पूर्ण वृत्त के आकार की कल्पित रेखा ।

अक्षि-सं०स्त्री० [सं०] आंख, नेत्र ।

अक्षिर—देखो 'अक्षर'।

अक्षी—देखो 'अक्षि'।

अक्षीण-वि० [सं०] जो क्षीण या कम न हो. २ अविनाशी ।

अक्षुण-वि० [सं० अक्षुण्ण] विना टूटा हुआ, समूचा ।

अक्षोभ-सं०पु० [सं०] १ दृढ़ता, स्थिरता. २ धीरता. ३ क्षोभ का अभाव ।

वि०—१ स्थिर. २ गंभीर. ३ शांत ।

अक्षोहिणी-सं०स्त्री०—पूरी चतुरंगिनी सेना जिसमें सेना के चारों अंग नियमित संख्या में पूरे होते थे । इसमें १०९३५० पैदल, ६५६१० घोडे, २१८७० रथ और २१८७० हाथी होते थे ।

अखंग-वि० [सं०] न चुकने वाला, अविनाशी ।

सं०पु० [रा०] वह पशु जिसके दाग लगा हुआ न हो ।

अखंड-वि० [सं०] १ जिसके टुकड़े न हों, समग्र, संपूर्ण. २ लगातार ; उ०—राम राम रटतौ रहै, आठूं पोहर अखंड ।—ह.र. ३ बेरोक, निर्विघ्न. ४ अजर-अमर ।

सं०पु०—१ ईश्वर ।

सं०स्त्री०—२ गिरिजा, पार्वती (अ.मा.)

अखंडत—देखो 'अखंडित'।

अखंडळ-सं०पु० [सं० आखंडल] इंद्र ।

का निषेधात्मक भूतकालिक रूप, नहीं किया (बहु० अकीधा)
उ०—जिम सिरणगार अकीधै सोहति, प्री आगमि जांणियै प्रिया।
—वेलि.

अकीनी—वि० [अ० यकीनी] १ विश्वासी. २ निश्चित।

अकीयारथ—वि०—व्यर्थ, निष्फल। देखो 'अक्यारथ'।

अकीरत, अकीरति, अकीरती—स०स्त्री० [सं० अकीर्ति] अयश, अपयश, बदनामी।

अकीरतिकर, अकीरतीकर—वि० [सं० अकीर्तिकर] अपयशकारी, अयशस्कर।

अकीरत्त—सं०स्त्री० [सं० अकीर्ति] देखो 'अकीरत'।

अकुंठ—वि० [स०] १ तीक्ष्ण, पैना. २ खुला हुआ. ३ तीव्र. ४ खरा, चोखा, उत्तम।

अकुंठत—वि० [सं० अकुंठित] जो कुंठित न हो, पैना।

अकुपार—सं०पु० [सं० अकूपार] सागर, समुद्र (ह.नां., डि.को.)

अकुळ—वि० [सं० अ+कुल] १ जिसके कुल में कोई न हो, परिवारहीन. २ नीच कुल का, कुलहीन, अकुलीन।

अकुळणी—वि०स्त्री०—व्यभिचारिणी, अकुलीन। उ०—नट ज्यौं नाचता, कुळचता, अकुळणी नेंण ज्यौं ऊछाछळा आपरी छाग्रां सूं डरपता।
—रा.सा.सं.

अकुळणौ, अकुळवौ, अकुळाणौ, अकुळावौ—क्रि०अ० [सं० आकुलन] व्याकुल होना, घबराना। उ०—आ सुणतां थांरौ अकळायौ. नूरमली जोधांणै आयौ।—रा.रू.

अकुळाणियौ—वि०—व्याकुल होने वाला।

अकुळावणौ, अकुळावबौ- 'अकुळाणौ' का रू.भे.।

अकुळीजणौ, अकुळीजबौ—अपने आप व्याकुल होना—भाव. वा.।

अकुळीजियोड़ौ—भू०का०कृ० व्याकुलित।

अकुळावणौ, अकुळावबौ—देखो 'अकुळाणौ'।—व्याकुलित

अकुळी—देखो 'अकुळीण'।

अकुळीण—वि० [सं० अकुलीन] (स्त्री० अकुळीणी) १ नीच कुल का, कुजाति. २ शूद्र, वर्णसंकर. ३ कमीना। उ०—कोड़ वचन खातर कियां, पातर करै न प्रीत। आथ देख अकुळीण नूं, माडै करले मीत।—बां.दा.

अकुसळ—वि० [सं० अकुशल] १ अमंगल, बुरा. २ जो चतुर न हो।

अकुसळता—सं०स्त्री० [सं० अकुशलता] १ अदक्षता, चतुरता या निपुणता का अभाव. २ अमंगलता, अशुभ।

अकुसळी—वि० [सं० अकुशली] १ कौशलहीन. २ अप्रसन्न, नाखुश।

अकूंणो, अकूंणौ—वि०—१ पूर्ण, पूरा. २ जो न्यून न हो। उ०—केहरि तण पण लड़ण अकूंणो, लीधां वरत जगपती लूंणौ।—रा.रू.

अकूठ, अकूत, अकूतण—वि०—जो कूंता न जा सके, अपरिमित, बहुत।

अकूतियोड़ौ—वि०—बिना कूंता हुआ, बेअंदाज। (स्त्री० अकूतियोड़ी).

अकूपार—सं०पु० [सं० सागर] समुद्र (डि.नां.मा; अ.मा.)

अकरड़ी—देखो 'उकरड़ी' (क्षेत्रीय)

कहा०—अकूरड़ी रौ हंस है—१ बेकार या गंदी वस्तु में भी उत्तम वस्तु की प्राप्ति अथवा दुष्ट, मूर्ख व निकृष्ट व्यक्तियों के समूह में भी उत्तम व्यक्ति मिल सकता है. २ वह निकृष्ट वस्तु या व्यक्ति जिसके आसपास की वस्तुएँ या व्यक्ति उससे अधिक निकृष्ट हो।

अकेल, अकेलौ—वि० [सं० एक+ल, लौ—रा०प्र०] १ एकाकी, बिना साथी के। उ०—थारी छोटी बैनड़ रोवै अकेलड़ी, वनखंड की ए कोयल, वनखंड छोड़ कठै चली।—लो.गी.
२ इकलौता. ३ अद्वितीय। (स्त्री० अकेली, अकेलड़ी)
सं०पु०—निर्जन, एकांत।

अकेवड़ियौ, अकेवड़ौ—वि०—१ इकहरा, एक परत का. २ देखो 'इकेवड़ियौ'।

अकेवळौ—वि० [सं० एक] १ अकेला, एकाकी. २ देखो 'अकेवड़ौ'।

अकोट—वि० [सं० आ+कोटि] करोड़ तक, करोड़ों। [सं० अ+कोटि] १ जो करोड़ न हो, उससे कम हो. २ बिना किले का।

अकोतर—वि० [सं० एकसप्तति, प्रा० एक्कसत्तरि, अप० इकोतरै] सत्तर और एक की संख्या का।
सं०स्त्री०—७१ की संख्या।

अकोतरसौ—वि०—एक सौ एक।
सं०स्त्री०—एक सौ एक की संख्या।

अकोतरौ—स०पु०—७१ वाँ वर्ष।

अकोर—स०पु०—भेंट, उपहार। उ०—मीरां रे प्रभु हरि अविनासी, देस्यूं प्रांण अकोर।—मीराँ

अकोविद—सं०पु० [सं०] १ मूर्ख. २ अदक्ष, अचतुर।

अक्क—सं०पु० [सं० अर्क] १ आक, मंदार। उ०—उत्तर आज स उत्तरउ, पल्लांणियां दरक्क। दहिसी गात कुंवारियां, धळ जाळी वळि अक्क।—ढो.मा. २ सूर्य। उ०—अक्क उदैगिरि आत कै, वारिज विकसाया।—वं.भा.

अक्कल—देखो 'अकल'।

अक्कळा—सं०स्त्री०—१ भयंकर रूप धारण करने वाली। उ०—देवी सक्कळा अक्कळा सव्व सिद्धि।—देवि. २ अंगहीन. ३ निराकार परमात्मा, निरावयव।

अक्खड़—वि०—१ उद्धत, उजड्ड, उच्छृंखल. २ झगड़ालू. ३ निर्भय, निडर ४ असभ्य, अशिष्ट. ५ स्पष्ट वक्ता, खरा।

अक्खड़पण, अक्खड़पणौ—सं०पु०—१ उद्दण्डता, उच्छृंखलता. २ अशिष्टता. ३ उग्रता।

अक्खड़ाई—सं०स्त्री०—१ उद्दंडता, उच्छृंखलता. २ अशिष्टता. ३ उग्रता।

अक्खणौ, अक्खबौ—क्रि०स० [सं० अ+ख्या] कहना। उ०—जरैं कुमर हठ जांणि जनक आगें इम अक्खी।—वं.भा.

अक्खर—देखो 'अक्षर'। उ०—पत्र अक्खर दळ द्वाळा जस परिमळ, नव रस तंतु विधि अहोनिसि।—वेलि.

अक्यारथ, अक्यारथौ—वि०—व्यर्थ, फजूल। उ०—रांम नांम बिना सबद,

अखळ-वि० [सं० अखिल] १ समस्त, सम्पूर्ण, अखिल [सं० अ+खल] २ जो दुष्ट न हो।

अखळीस, अखळेसवर, अखळेसुर, अखळेस्वर-सं०पु० [सं० अखिलेश्वर] ईश्वर, परमात्मा।

अखव-वि० [सं० अखिल] समस्त, सम्पूर्ण, अखिल।

अखसत—देखो 'अक्षत'।

अखा-सं०पु० [सं० अक्षत] बिना टूटा हुआ चावल, अक्षत (मि० आखा) उ०—मोती का अखा किया, अंतेवर सहुं जोवड़ छइ राई।- वी.दे.

अखाड़मल, अखाड़सिंघ-सं०पु०—१ योद्धा, वीर. २ पहलवान।

अखाड़ामंड-सं०पु०—योद्धा, वीर।

अखाड़ौ-सं०पु० [सं० अक्षवाट] १ कुश्ती लड़ने या कसरत करने का चौकोर स्थान। उ०—राघव उमंग हंस हंस 'रटै, खेलूं खगां खतंग रौ। रिम हणे आज पुरू'रळी जुडूं अखाड़ौ जंग रौ।—र.रू. २ साधुओं की साम्प्रदायिक मंडली. ३ तमाशा या गाने वालों की मंडली. ४ दल. ५ सभा, दरबार. ६ रंग भूमि, नाटचशाला. ७ युद्धस्थल. ८ युद्ध। उ०—हम्मीर री सभा हूं महराज पड़िहार ढाल तरवारि पकड़ि अखाड़ै आयौ।—वं.भा. ९ चमत्कारपूर्ण कार्य, यश के कार्य। उ०—धनौ धन्य मा आवड़ा धाड़ धाड़ा, अखीजै किसी जीह थारा अखाड़ा।—मे.म.

अखाज, अखाद्य-वि० [सं० अ+खाद्य] अखाद्य, न खाने योग्य। उ०—जला अखाज न खाइयै, केही पड़ै कुबांण। माथूं सूं विन तांणियै, मेहांणी पण जांण।—जलाल बूबना री वात

अखि-वि० [सं० अखिल] समग्र, पूरा, समस्त। सं०स्त्री० [सं० अक्षि] आंख, नेत्र।

अखिग्रात—देखो 'अखियात'।

अखिग्राति-सं०स्त्री० [सं० अख्याति] १ ख्याति, यश, कीर्ति. २ अपयश।

अखित—देखो 'अक्षत'। उ०—ऊछव हुआ अखित ऊछळिया, हरी द्रोब केसर हळिद्र।—वेलि.

अखियात-वि०—१ प्रसिद्ध, मशहूर। उ०—अखियातो वातां वचै, जरा काळ डर छड्ड।—बां.दा. २ अद्भुत, अनोखा। उ०—दाता-पण दातार सूं, वाखाणौ कवि पात। कीरत तांहरी कनकसुत, इळ मांहे अखियात।—पलक दरियाव री वात [सं० अक्षय] ३ जो नाश न हो सके। उ०—पलट ढूंढाड़ सूं गया पाछा पगां, जाय नहवात अखियात जाता जुगां।—महादांन महडू

सं०स्त्री० [सं० अख्याति] १ प्रसिद्धि. २ अपयश, बदनामी, अकीर्ति [सं० आख्यात] ३ आश्चर्यजनक बात। उ०—ए अखियात जु आउधि आउध सजै रुकम हरि छेदै सोजि।—वेलि. (रू०भे०—अखिग्रात)

अखिर-सं०पु० [सं० अक्षर] १ वर्ण, अक्षर। उ०—'नाल्ह' रसायण रस भणइ, मूनौ अखिर आणजौ ठाई।—वी.दे. [अ० अखीर] २ अंत, छोर, समाप्ति, आखिर।

क्रि०वि०—निदान, अंत में, आखिरकार।

वि० [सं० अखिल] १ समस्त, सम्पूर्ण. २ अक्षय।

अखिल, अखिलि-वि० [सं० अखिल] समस्त, सम्पूर्ण, अखंड। उ०—राज तणी इच्छा रघुराया, अखिल चराचर जीव उपाया।—ह.र.

अखिलेस-सं०पु० [सं० अखिलेश] ईश्वर, परमात्मा। उ०—नमौ अपरम्म नमौ अखिलेस।—ह.र.

अखी-वि० [सं० अक्षय] १ अमर, न मिटने वाला। उ०—ऐ कूरंम रहसी अखी, जुग जुग डूंग जुहार।—दूहा डूंगजी जवारजी रा २ विख्यात, प्रसिद्ध।

सं०स्त्री०—१ विजय, जीत। [सं० अक्षि] २ आंख, नेत्र।

अखीअमावस-सं०स्त्री० [सं० अक्षयामावस्या] वैशाख मास की अमावस्या।

अखीण-वि० [सं० अ+क्षीण] जो क्षीण या दुबला न हो।

अखीर—देखो 'आखीर'।

अखूंतौ-वि०—उतावला।

सं०पु०—योद्धा। उ०—कटारां छुरां धारि बानक्ख कूंतां, खिजे रुक बंदूक झाली अखूंतां।—हिंगळाजदांन कवियौ

अखूंनौ-सं०पु०—यवनों की एक जाति, मुसलमान। उ०—खुरसांणी रहमांन अखूंनी सीदी, हवस राफसी सूंनी। मीर पाक ऐराक मकाई, तुरक सगुर जमर्थांनी ताई।—रा.रू.

वि० [सं० अ+फा० खूनी] जिसने खून न किया हो।

अखूट, अखूठ-वि०—जो समाप्त न हो, बहुत अधिक, अपार। उ०—आथ अटूट अखूट अन, प्रजा घणी सुखपोस।—बां.दा.

अखेंग, अखेंगौ-सं०पु० (स्त्री० अखेंगी) वह पशु जिस पर पहिचान का कोई चिन्ह या दाग न हो।

अखे—देखो 'अक्षय'।

अखेकुमार—देखो 'अक्षयकुमार'।

अखेट-सं०पु० [सं० आखेट] शिकार, आखेट।

अखेटक-सं०पु० [सं० आखेटक] शिकारी।

अखेद-सं०पु० [सं० अ+खेद] आनन्द, प्रसन्नता।

वि०—खेदरहित, प्रसन्न।

अखेनम-सं०स्त्री० [सं० अक्षयनवमी] १ श्राद्ध पक्ष के अंतर्गत आने वाली नवमीं तिथि, जिस दिन सौभाग्यवतियों तथा माताओं का श्राद्ध किया जाता है. २ कार्तिक शुक्ला नवमी जो पुण्य तिथि मानी जाती है। त्रेता का आरम्भ इसी दिन से माना जाता है।

अखेपाद-सं०पु० [सं० अक्षय+पाद] एक दार्शनिक ऋषि जिन्हें गौतम भी कहते हैं, न्याय दर्शन के यही प्रणेता थे।

अखेवड़, अखेयवड़—देखो 'अक्षयवट'।

अखेल—देखो 'अखिल'।

अखेलौ-वि०पु० (स्त्री० अखेली) १ रुग्णावस्था से बेचैन, व्याकुल. २ नहीं खेल सके जैसा। उ०—खंचै भांण तमासै अखेला खेल खेल

अखंडित–वि० [सं०] १ निर्विघ्न, बाधा रहित. २ लगातार, अविच्छिन्न. ३ जो खंडित न हो, पूरा। उ०—मुकतमाळ दुलड़ी उर मंडित, अती भार सवसत्त अखंडित।—रा.रू.

अखंडी, अखंडौ—देखो 'अखंड'।

अख–सं०पु०—बाग, बगीचा।

अखगरियौ–स०पु० [फा० अखगरिया] वह घोडा जिसके मलते समय शरीर से चिनगारी पैदा होती हो (अशुभ)—शा.हो.

अखड़—देखो 'अक्खड़'।

सं०स्त्री०—१ पड़ी हुई जमीन जिसमें कृषि होती हो, कृषिरहित भू-भाग, परती।

सं०पु०—२ एक प्रकार का घोड़ा जो चलते समय ठोकर खाकर चलता है (अशुभ)—शा.हो.

अखड़पण, अखड़पणौ—देखो 'अक्खडपणौ'।

अखड़मूत–सं०पु०—घोड़े का एक रोग विशेष जिसके कारण घोड़े के पेशाब करने में अड़चन होती है (शा हो.)

अखड़ैत, अखड़ैत–वि०—१ अकड़ने वाला. २ झगड़ालू. ३ बलवान। उ०—जंगा जीत तपोवळ जालम, ओप वड़ै अखड़ैत।—रा.रू.

सं०पु०—१ वीर, योद्धा। उ०—जरू अखड़ैत वेहू जगजीत, सिंघ हिंदवांन वेहूं सुपवीत।—गो.रू. २ मल्ल, पहलवान।

अखज–वि० [सं० अ+खाद्य] न खाने योग्य पदार्थ।

अखज्ज—देखो 'अखज'।

अखट–सं०पु०—अकड़ता हुआ चलने वाला घोड़ा (शा.हो.)

अखण–सं०पु०—मुँह, मुख (अ.मा.)

अखणी–सं०स्त्री० [अ० यखनी] १ माँस का रस, शोरवा [सं० यक्षिणी] २ यक्ष जाति की एक देव-स्त्री।

अखणौ, अखबौ–क्रि०स० [सं० अ+ख्या] कहना। उ०—मुनेसर ध्यांन धरंत महंत, अखै जुग हेकौ ही नांम अनंत।—ह.र.

अखणियौ–वि०—कहने वाला।

अखियोड़ौ–भू०का०कृ०—कहा हुआ।

अक्खणौ, अक्खबौ—रू०भे०।

अखत—१ देखो 'अक्षत'. २ अटल, निश्चल। उ०—खेंच रथ अखत असमांण रहियौ खड़ौ। नखत नव लाख सूंघौ निसानाथ।
—अज्ञात

सं०पु०—१ अन्न, अनाज. २ बिना टूटा हुआ चावल। उ०—हरी द्रोव दधि अखत ओप दीपक आरत्तिय।—रा.रू.

क्रि०वि०—सरासर, बिल्कुल।

अखतजोण, अखतजोणी—देखो 'अक्षतयोनि'।

अखतपीळा–सं०पु० [सं० अक्षत+पीत] विवाहादि शुभ कार्यों पर निमंत्रण हेतु दिए जाने वाले पीले रंगे हुए चावल।

अखतियार–सं०पु० [फा० इख्तियार] १ अधिकार, स्वत्व, सामर्थ्य।

क्रि०प्र०—करणौ, राखणौ, देणौ, होणौ।

२ धारण, स्वीकार।

क्रि०प्र०—करणौ।

अखतीज—देखो 'आखातीज'।

अखत्यार—देखो 'अखतियार'।

अखत्यारपण, अखत्यारपणौ–सं०पु० [फा० इख्तियार+रा०प्र०-पणौ] अधिकार, स्वत्व की भावना।

अखत्र–वि० [सं० अक्षत] १ अखंड, अक्षत। उ०—अति छूटे गोळा रण अखत्र, नव लाख जांण तूटे नखत्र।—वि.सं. २ अक्षत। उ०—घावां वांणां सा तिलकां घू सावळां गंगाजळां धोक। बीलपत्रां अखत्रां कटारां गोळी वांण।—उम्मेदजी सांदू

अखन—देखो 'अखंड'।

अखनकंवारौ—देखो 'अकनकुंवारौ'। (स्त्री० अखनकंवारी)

अखबार–सं०पु० [अ०] समाचार पत्र।

अखबारनवीस–सं०पु० [अ०] पत्रकार।

अखम—देखो 'अक्षम'।

अखमता—देखो 'अक्षमता'।

अखमाळा–सं०स्त्री०—वशिष्ठ की पत्नी–अरुंधती।

अखय—देखो 'अक्षय'।

अखयकुमारी–वि०स्त्री०—अक्षतयोनि। उ०—माह मास सीय पड़े अति सार, रांमजती घन अखयकुमारि।—वी.दे.

अखयबड़—देखो 'अक्षयवट'।

अखया—१ देखो 'अखय' ('अखय' का स्त्री०)

सं०स्त्री०—२ दुर्गा, महामाया। उ०—स कालिका सारदा समया, त्रिपुरा तारणि तारा तनया। ओहं सोहं अखया अभया, आइ अजया विजया उमया।—देवि.

अखर—देखो 'अक्षर'।

अखरणौ, अखरबौ–क्रि०स०—१ अखरना, खलना, बुरा लगना. २ कष्टदायी होना।

अखरणौ–वि०—अखरने वाला।

अखरव–वि०—बहुत, अपार। उ०—सगरव न्याय सासनां उपासनां न आंन की। अखरव आस परव-परव सरव सक्तिमांन की।—ऊ.का.

अखरावळि, अखरावळी–सं०स्त्री० [सं० अक्षर+अवलि] अक्षरों की पंक्ति, अक्षर-समूह। उ०—प्रकटित प्रथिमी प्रथु मुख पंकज, अखरावळि मिसि थाइ एकत्र।—वेलि.

अखरौ–वि० [सं० अ+खरा] १ झूठा, जो खरा न हो. कृत्रिम, बनावटी।

सं०पु० [सं० अक्षर] अक्षर।

अखरोट–सं०पु० [सं० अक्षोट] १ एक प्रकार का फलदार ऊँचा पेड जो भूटान से अफगानिस्तान तक होता है. २ अंडाकार बेहड़े के आकार का इस वृक्ष का फल. ३ 'वयणसगाई' का एक नाम।

वि०वि०—देखो 'वयणसगाई'।

क्रि०वि०—अग्र, अगाड़ी। उ०—अकबर दळ रहियौ अगण, कळंक विरण कुंभेरण कळोवर।—दुरसौ आढ़ौ

अगणत, अगणित–वि० [सं० अगणित] जिसकी गणना न हो सके, बहुत, असंख्य, अपार। उ०—विदर पिदर जांणै नहीं, मादर विदरां मूळ। राजै अगणत रंग रा, दिल री कुसी दुकूळ।—बां.दा.

अगणौ–वि०—पूर्व का, आगे का, अग्रणी। उ०—अगणौ तौ वासौ ग्वाड़ां जी वसियौ, ग्वाड़ां तौ भरी बोळी वेनां सूं।—लो.गी.

अगत, अगति-सं०स्त्री० [सं० अगति] १ दुर्गति, बुरी गति, दुर्दशा. २ प्रेतयोनि। उ०—काल्ह पग पसार थे म्हे मरांस तौ अगत जायसै।—डाढ़ाळा सूर री वात

३ जिसकी गति या मोक्ष न हुआ हो. ४ दाहादि क्रिया।

क्रि०वि०—करणी, होणी।

५ नरक।

अगतियौ—देखो 'अगति' (३)

अगती—देखो 'अगति'।

अगतौ–सं०पु०—वह दिन जब जीव-हिंसा न की जाय और न साधारणतया भट्टी ही जलाई जाय। इस दिन प्रायः कारीगर या अन्य औजारों द्वारा काम करने वाले व्यक्ति भी अपना कार्य बंद रखते हैं (धार्मिक, सामाजिक). [फा० अज्यतः] २ वधिया किया हुआ घोड़ा (शा.हो.)

अगत्य, अगस्थि, अगथि–सं०पु [सं० अगस्त्य] अगस्त्य ऋषि।

उ०—तंबेरम कुंभ दुहाथळ तत्थ। आडागिरि मस्थक हत्थ अगत्थ।—मे.म.

अगद–सं०पु० [सं० अ+गद्] १ निरोग, स्वस्थ। उ०—करि उपचार अगद वपु कीधौ, दुळभ वित्त संचय नृप दीधौ।—वं.भा.

२ दवा, औषधि. ३ वैद्य।

अगदराज–सं०पु०—अमृत, सुधा (ह.नां.)

अगन–सं०स्त्री० [सं० अग्नि] १ अग्नि (डि.को.) उ०—खरराय उडी हय पदन खेह, मंडियौ अहमदपुर अगन मेह।—वि.सं. २ पूर्व और दक्षिण के मध्य की आग्नेय दिशा का नाम. ३ इस दिशा का दिक्पाल (डि.को.) ४ माया (अ.मा.)

वि०—सफेद व रक्तवर्ण के मिश्रित रंग वाला* (डि.को.)

अगनग–सं०पु०यौ०—ज्वालामुखी पर्वत। उ०—संपेख अगनग साख सी, रत रोस मारग राखसी।—र.रू.

अगनजंत्र–सं०पु०यौ० [सं० अग्नि+यंत्र] बंदूक या तोपादि अस्त्र।

अगनझाळ–सं०स्त्री०यौ० [सं० अग्नि+ज्वाला] अग्नि की लपट।

अगनवडवा–सं०स्त्री०यौ० [सं० वडवाग्नि] समुद्र के अंदर की आग, वडवानल।

अगनवाय–सं०पु०—घोड़े का एक रोग विशेष (शा.हो.)

अगनि–सं०स्त्री० [सं० अग्नि] अग्नि, ज्वाला।

अगनिउ–सं०पु० (अ०रू०) आग्नेय दिशा का नाम।

अगनियौ–सं०पु०—१ एक कांटेदार वृक्ष विशेष जिसके पत्ते आम से मिलते-जुलते होते हैं किन्तु तना काले रंग का होता है. २ एक रोग विशेष।

अगनिहोत्र—देखो 'अगनीहोत्र'।

अगनी–सं०स्त्री० [सं० अग्नि] १ अग्नि।

पर्याय०—अनळ, अपत, अरुचिख, अलियळ, आतस, आपित, आस्रयआस, उखर, क्रपीठ, क्रसांन, क्रस्न, जागवी, जाग्रवी, जातवेध, जातवेद, जाळानळ, जोनक्रपीठ, ज्वाळाजीह, झळमाळा, तमोघन, दावानळ, दहण, धनंजय, धोम, धूमधज, पावक, वैसंदर, वरहीमुख, मंगळ, महवर, मारुतसखा, रोहितांम, रोहितास, वरतमा, विध, विभावसु, वीतहोत, वैसंनर, सपतारची, सपती, सिखा, सिखावांन, सुखमा, सुरांमुख, हुतभख, हुतास, हुतासण।

क्रि०प्र०—घालणी-बाळणी-जळाणी-बुझाणी-लगाणी-सुळगाणी।

(रू०भे०-अग, अगन, अगनि, अगिन, अग्नि, आग।)

यौ०—अगनिजंत्र, अगनीवडवा, अगनीअस्त्र, अगनीकुंड, अगनीकण, अगनीकरम, अगनीकोण, अगनीक्रिया, अगनीगरभ, अगनीज्वाळा, अगनीजीभ, अगनीदाग, अगनीदाह, अगनीपरीक्षा, अगनीपुराण, अगनीबांण, अगनीबोट, अगनीमुख, अगनीसंसकार, अगनीहोतर (त्र).

२ जठराग्नि, पाचन शक्ति।

यौ०—अगनीदीपक, अगनीदीपण, अगनीमाद।

३ ताप, प्रकाश. ४ पंचमहाभूतों में से एक. ५ वेद के तीन प्रधान देवताओं में से एक. ६ पित्त. ७ तीन की संख्या* ८ चित्रक वृक्ष. ९ अग्निकोण का देवता. १० घोड़े के माथे पर की भौंरी।

वि०—काला, कृष्ण, श्यामवर्ण* (डि.को.)

अगनीअस्त्र–सं०पु०यौ० [सं० अग्नि+अस्त्र] आग फेंकने वाले अस्त्र, बंदूक, तोप, तमंचा आदि।

अगनीकंवर–सं०पु०यौ० [सं० अग्नि+कुमार] कार्तिकेय।

अगनीकण–सं०पु०यौ० [सं० अग्नि+कण] चिनगारी, अंगारे का छोटा टुकड़ा।

अगनीकरम–सं०पु०यौ० [सं० अग्निकर्म] १ अग्निहोत्र, हवन. २ शवदाह।

अगनीकीट–सं०पु०यौ० [सं० अग्निकीट] अग्नि में निवास करने वाला समंदर नाम का एक प्रकार का कीड़ा विशेष।

अगनीकुंड–सं०पु०यौ० [सं० अग्निकुंड] १ आग जलाने का कुंड. २ गरम जल का सोता, यज्ञकुंड, एक तीर्थ का नाम।

अगनीकुंवर–सं०पु०यौ० [सं० अग्निकुमार] कार्तिकेय।

अगनीकुळ–सं०पु०यौ० [सं० अग्निकुल] क्षत्रियों का एक कुल विशेष जिसकी उत्पत्ति अग्नि से हुई कही जाती है।

अगनीकोण–सं०पु०यौ० [सं० अग्निकोण] दक्षिण-पूर्व का कोना, आग्नेय दिशा।

अगनीक्रिया–सं०स्त्री०यौ० [सं० अग्नि+क्रिया] शव का दाह-कर्म, अंत्येष्टि संस्कार।

अगनीगरभ–सं०पु०यौ० [सं० अग्नि+गर्भ] १ सूर्यकान्त मणि।

लीधा ।—कंवर छत्रसिंह रौ गीत ३ विचित्र, अद्‌भुत ।
उ०—दीकरौ दलेली सिंघ री देखजौ, अखेली आळ आ खेल आयौ ।
—आसियौ बुधजी

अखेस–वि०—युद्धरहित, युद्ध से निर्लिप्त । उ०—अक्रेह अप्रेह अखेह अखेस ।—ह.र.

अखेह, अखेहय–वि० [सं० अक्षय] १ अक्षय, नाश रहित [रा० अ+खेह] २ विना धूलि का, निर्मल । उ०—१ अक्रेह अप्रेह अखेह अखेस ।—ह.र. उ०—२ मरजाद सर-सर सरिति अनुमिति छूटि जात अखेहयं ।—रा.रू.

अखैंग, अखैंगौ–वि० (स्त्री० अखैंगी) देखो 'अखेंग' ।

अखै—देखो 'अक्षय' (यौ० अखैमाळ)

अखैकुमार—देखो 'अक्षयकुमार' ।

अखैपाद—देखो 'अखेपाद' ।

अखैबट, अखैबड़, अखैबर—देखो 'अक्षयवट' ।

अखैमाळ–स०स्त्री० [सं० अक्षमाळा] रुद्राक्ष की माळा, अक्षमाला ।
उ०—मुकुट किरीट अखै गळमाळ ।—ह.र.

अखैरज–सं०पु०—रावण का पुत्र अक्षयकुमार जो अशोकवाटिका में हनुमान द्वारा मारा गया था ।

अखैवट—देखो 'अक्षयवट' ।

अखौ–वि० [सं० अक्षय] सम्पूर्ण, पूरा ।

अखोड़–वि० [सं० अ+खोड़=ऐब] १ भद्र, साधु प्रकृति का, सज्जन. २ सुंदर. ३ जिसमें कोई कलंक या ऐब न हो, निर्दोष ।

अखोण, अखोणी, अखोहिण, अखोहीणी, अखौहण, अखौहणी—देखो 'अक्षौहिणी' । उ०—दुसासण क्रन्न गंगेव दुजोण, खपे कुरखेत अढ़ार अखोण ।—ह.र.

अख्खणौ—देखो 'अखणौ' ।

अख्खर –देखो 'अक्खर' ।

अख्तावर–सं०पु० [फा० आख्तः] वह घोड़ा जिसके जन्म से ही अंडकोश की कोड़ी न हो (ऐबी)—शा.हो.

अख्यात–वि० [सं०] १ जिसे कोई न जानता हो, जो प्रसिद्ध न हो. २ देखो 'अखियात' ।

अख्याति, अख्याती—देखो 'अखियात' ।

अगंज, अगंजण–वि०पु०—वह जो जीता न जा सके । उ०—पैलां कटक्कां भाराथां मेलै पमंगां उछांटीपणै, वंका आंटीपणै गंजै अगंजां विसेस ।—रांमकरण महडू

अगंजणौ–वि०—वह जो किसी से जीता न जा सके, अजेय ।

अगंजणौ, अगंजवौ–क्रि०स०—जीतना, विजयी होना ।

अगंजणियौ–वि०—जीतने वाला ।

अगंजिओड़ौ, अगंजियोड़ौ, अगंज्योड़ौ–भू०का०कृ०—विजयी ।

अगंजी–सं०पु०—गढ़ (अ.मा.)
वि०—न दबने वाला, अजय, अपराजित । उ०—अडंड डंडण अगंजी गंजण, अनमी न्रमूत ताहि नमी भूत करण ।—रा.रू.

अगंजीगंज, अगंजीगंजणौ–वि०—अजेय या न दबने वाले योद्धाओं को भी दबाने वाला अत्यंत पराक्रमी ।

अगंजौ–वि०—अजय, अपराजित (मि० अगंज)

अगंड–सं०पु० [सं०] हाथ-पैर रहित धड़, कबंध, रुण्ड ।

अग–स०पु० [सं०] १ न चलने वाला, स्थावर. २ पर्वत । उ०—ढिग अकबर दळ ढाण, अग अग झगड़ै आथड़ै ।—दुरसौ आढ़ौ ३ वृक्ष. ४ सूर्य. ५ टेढ़ा चलने वाला, सर्प [सं० अघ] ६ पाप, दुष्कर्म ।
क्रि०वि०—आगे, अगाड़ी, सम्मुख ।
सं०स्त्री० [सं० अग्नि] १ अग्नि । उ०—संपेख अग नग साख सी, रत रोस मारग राखसी ।—रा रू. (यौ० अगनग)
[रा०] यश, कीर्ति, प्रशंसा ।

अगइं–क्रि०वि०—अगाड़ी । उ०—राजा पांडवौ लीयौ हौ बोलाई । अगइ बात कहौ समझाय ।—बी.दे.

अगउवौ—देखो 'अगुऔ' ।

अगक–वि०—मिथ्या, असत्य ।

अगड़–वि०—१ अग्रणी, अगाड़ी. २ अगम्य, भयंकर. ३ अनघड़ ।
सं०पु०—१ अकड़, दर्प, ऐंठ. २ देखो 'अगढ़' (वं.भा.)
उ०—एक पोहर जूटा भड़ ऐसा, जुध गजराज अगड़ विण जैसा ।
—रा.रू.

अगड़-बगड़–वि०—१ बे सिर-पैर का, क्रमहीन असंबद्ध. २ व्यर्थ ।
सं०पु०— असंबद्ध प्रलाप ।

अगच्छि–क्रि०वि०—अगाड़ी ।

अगज–वि० [रा० अग=पर्वत+ज] पर्वत से उत्पन्न ।
सं०पु०—१ शिलाजीत. २ हाथी । [सं० अंगज] ३ कामदेव ।

अगजीत–वि० [सं० अघ+जीत] १ पापों को जीतने वाला, धर्मात्मा. २ विजय प्राप्ति में अग्रणी । उ०—इसी वह तेग सदा अगजीत, सजे नर कम्मर 'पेम' सजीत ।—पे.रू.

अगझाळ–सं०स्त्री० [सं० अग्नि+रा० झाळ=लपट] अग्नि की लपट ।

अगड, अगड्ड–सं०पु०—१ रोक, बंध, प्रतिबंध, रुकावट । उ०—मारू रायांमालहरै, सारू खळां अगड्ड ।—रा.रू. २ देखो 'अगढ़' ।

अगढ़–सं०पु०—१ दो हाथियों के बीच की दीवार जिससे हाथी परस्पर लड़ न सकें. २ हाथी का बंधस्थल (वं.भा.)

अगढ़झाट–वि०—भयंकर, डरावना ।

अगढ़ाळ, अगढ़ाळियौ–सं०पु०—वह कोठरी जिस पर ढलुआं छप्पर लगाया हुआ हो ।

अगणंत—देखो 'अगणित' ।

अगण–सं०पु० [सं०] छंद शास्त्र के आठ गणों में से वे गण जो काव्य-रचना में अशुभ माने जाते हैं (र.रू.)
सं०स्त्री०—अग्नि, आग । उ०—घायल री गत घायल जांण्यां, हिवड़ौ अगण संजोय ।—मीरां
वि०—पापरहित, पवित्र ।

आसाम आदि पहाड़ी इलाकों से प्राप्त होता है, और जिसकी लकड़ी करीब २० वर्ष के पश्चात् पक कर खूब रसीली हो जाती है। इसके रस से ही लकड़ी की कीमत आंकी जाती हैं। इसकी अगरबत्ती बनती है और इत्र बनाने में भी काम आती है। उ०—अरणी अगनि अगरमै मै इंवण, आहूंति व्रत घणासार अछेह।—वेलि. २ एक औषधि. ३ चंदन. ४ डिंगल के वेलिया सांणोर छंद का एक भेद विशेष जिसके प्रथम द्वाले में ४० लघु १२ गुरु कुल ६४ मात्रायें हों तथा क्रम से शेष के द्वालों में ४० लघु ११ गुरु कुल ६२ मात्रायें हों. (पिंगळ प्रकास) ५ प्रथम एक नगण फिर दो तगण और अंत में ह्रस्व वर्ण का एक छंद विशेष (ल.पि.)

क्रि०वि० [फा०] १ यदि, जो. २ मगर. ३ आगे, अगाड़ी। उ०—जहां पहलवां जीभ सूं, केकाउस कहियोह। अंतक केहर अगर औ, रुस्तम नह रहियोह।—बां.दा.

अगरणी–वि० [सं० अग्रगण्य] १ प्रधान, मुखिया. २ श्रेष्ठ, उत्तम।

अगरगामी–सं०पु० [सं० अग्रगामी] आगे जाने वाला या चलने वाला, नेता।

अगरचे, अगरचै–अव्यय [फा० अगरचे] १ गोया. २ यद्यपि, बावजूद कि।

अगरचौ–सं०पु०—अगर से बना एक सुगंधित पदार्थ विशेष।

अगरजन्मौ, अगरजलमौ–सं०पु० [सं० अग्र+जन्मा] १ बड़ा भाई. २ ब्राह्मण. ३ ब्रह्मा. ४ पुरोहित. ५ नेता।

वि०—पहले उत्पन्न होने वाला।

अगरणी—देखो 'आगरणी'।

अगरदान–सं०पु०—सुगंधित अगर रखने का पात्र विशेप।

अगरभ–वि० [सं० अगर्व] गर्वरहित, अभिमानहीन।

अगरवत्ती–सं०स्त्री० [सं० अगरवर्तिका] अगर की बत्ती जिसे सुगंध के लिये जलाते हैं।

अगरभ—देखो 'अगरव'।

अगरवाळ–सं०पु०—वैश्यों की एक जाति विशेष।

अगराई—देखो 'अंगड़ाई'।

अगराजणी–क्रि०अ०—१ जोर का शब्द करना. २ गरजना, दहाड़ना। (रू०भे०–अग्राजणी, अग्राजवी)

अगरासण–सं०पु० [सं० अग्रासन] १ देवार्पित भोजन का प्रथम भाग. २ गो-ग्रास।

अगरि–क्रि०वि०—अगाड़ी।

अगरेजी–सं०पु०—एक प्रकार का घोड़ा विशेष (शा.हो.)

अगरेळ—देखो 'अगर'। उ०—संग वेळ सुरमा वास अगरेळ महक्की।
—रा.रू.

अगळ–क्रि०वि०—१ अगाड़ी, सम्मुख. २ पास।

अगळज–वि०—मूर्ख (अ.मा.)

अगळबंद–सं०पु०—एक प्रकार का आभूषण।

अगल-बगल–क्रि०वि० [फा०] १ इधर-उधर, आस-पास. २ दोनों ओर, दोनों किनारे।

अगलांणी–वि०—पूर्व की, पहले की।

अगलूणौ–वि० (स्त्री० अगलूणी) १ पुराना, प्राचीन. २ अगला, पूर्व का। उ०—जिण दिन ढोलउ आवियउ, तिण अगलूणी रात। मारू सुहिणउ लहि कहउ, सखियां सूं परभात।—ढो.मा.

अगलौ–वि० [सं० अग्र+लो–रा०प्र०] (स्त्री० अगली) १ सामने या आगे का. २ प्रथम या पहिला. ३ पूर्ववर्ती. ४ प्राचीन, पुराना. ५ आगामी (यौ०–अगली भौ) ६ अपर, अन्य, दूसरा. ७ अगुआ, प्रधान. ८ चतुर।

सं०पु०—पूर्वज, पुरखा।

अगवांण–सं०पु० [सं० अग्र+यान] १ अगुआ। उ०—खाग उनागियां खिवे मार्यं खळां, रांण रा दळां अगवांण नगराज।—अज्ञात
२ अगवानी करने वाला।

अगवांणी–सं०स्त्री०—आदरसहित, अतिथि से आगे बढ़ कर मिलना, स्वागत, पेशवाई।

सं०पु०—१ आगे चलने वाला। उ०—काळी अगवांणी करी, गोरी जैरी गैल। धमकै कटियां घूघरा, लटियां तेल फुलैल।—मे.म.
२ अग्रणी नेता, अगुआ। उ०—चतुर हुवो चहुवांण अनड़ संगर अगवांणी।—वं.भा.

अगवाई–सं०स्त्री०—आदरसहित अतिथि से आगे बढ़ कर मिलने का भाव।

अगवाड़ौ–सं०पु० [सं० अग्रवाट] घर के आगे का भाग।

अगवारै, अगवारै, अगवारौ–क्रि०वि०—अगाड़ी। उ०—सहर छोटी सी भाखरी री खांम, अगवारै वडौ मैदांन उनाळो निपट घणी, छोटा-मोटा ढीवड़ा ३०० हुवै।—नैणसी

अगस, अगस्त, अगसत्त, अगसथ्थ–सं०पु० [सं० अगस्त्य] १ एक ऋषि जिन्होंने समुद्र को सोख लिया था। ये मित्रावरुण के पुत्र माने जाते हैं। विन्ध्यपर्वत का गर्व खंडन करने के कारण अगस्त्य कहलाये। इनको कुंभज भी कहते हैं. २ एक तारा जो भादों में सिंह के सूर्य के १७ अंशों पर उदय होता है। इसके उदित होने पर जल निर्मल हो जाता है और वर्षा कम तथा शीत की वृद्धि हो जाती है तथा रास्तों आदि का जल सूख जाता है. ३ अंग्रेजी वर्ष का आठवां महीना. ४ एक वृक्ष जिसके फूल, छिल्के व पत्तियां औषधि के काम आते हैं। (रू.भे.–अगथ)

अगस्त, अगस्त्य—देखो 'अगसत'

अगस्तियौ, अगस्थियौ—देखो 'अगस्त' (४)

अगहण, अगहन–सं०पु० [सं० अग्रहायन] हेमन्त ऋतु का पहिला महिना, मार्गशीर्ष।

अगहर–वि० [सं० अघ+हर] (स्त्री० अगहरणी) पापों को हरण करने वाला। उ०—चर अचर चित, निस्चळ निचित, नहिं आदि

२ आतशी शीशा. ३ ज्वालामुखी पर्वत ।

अगनीजंतर—देखो 'अगनजंत्र' ।

अगनीज–सं०पु० [सं० अग्निज] १ जो अग्नि से उत्पन्न हो. २ एक कुल जो अग्नि से उत्पन्न माना जाता है. ३ सोना (अ.मा.)

अगनीजवाळा–सं०स्त्री०यौ० [सं० अग्नि+ज्वाला] आग की लपट ।

अगनीजीभ–सं०स्त्री०यौ० [सं० अग्निजिव्हा] आग की लपट (अग्नि की सात जिव्हायें मानी जाती हैं—असुलुहिता, सुवरणा (सुवर्णा), सुहिता, स्फुलिंगिनी, परिवह, विश्वमाया और बहुरूपा)

अगनीदाग, अगनीदाह–सं०पु०यौ० [सं० अग्नि+दाह] शव को अग्नि में जलाने की क्रिया, अंत्येष्टि संस्कार ।

अगनीदीपक, अगनीदीपण–सं०पु०यौ० [सं० अग्निदीपक] वह औषधि जो जठराग्नि को तीव्र करे ।

अगनीपंथौ–स०पु०यौ०—एक विशेष जाति का घोड़ा (शा.हो.)

अगनीपरीक्षा–सं०स्त्री०यौ० [सं० अग्नि+परीक्षा] १ प्राचीन विधान अनुसार झूठ-सच या दोषादोष की परीक्षा करने की क्रिया विशेष जिसके अनुसार जलती हुई आग पर चल कर या जलता हुआ कोयला, तेल, पानी या लोहा लेकर परीक्षा दी जाती थी. २ सोने या चांदी को आग में तपा कर परखना ।

अगनीपुरांण–सं०पु०यौ० [सं० अग्निपुराण] अठारह पुराणों में से एक पुराण विशेष ।

अगनीबांण–स०पु०यौ० [सं० अग्निबाण] आग की ज्वाला प्रकटाने वाला बाण ।

अगनीबीज–सं०पु०यौ० [सं० अग्निबीज] १ सोना. २ 'र' वर्ण ।

अगनीबोट–सं०पु०यौ० [सं० अग्नि+बोट] भाप के द्वारा चलने वाली नाव, स्टीमर ।

अगनीमणी–सं०स्त्री०यौ० [सं० अग्निमणि] १ सूर्यकान्त मणि. २ आतशी शीशा ।

अगनीमंथ–सं०पु० [सं० अग्निमंथ] यज्ञ के लिये अग्नि निकालने का अरणी नामक वृक्ष ।

अगनीमांद–सं०स्त्री० [सं० अग्निमांद्य] भूख न लगना, मंदाग्नि ।

अगनीमुख–सं०पु०यौ [सं० अग्निमुख] १ देवता. २ प्रेत. ३ ब्राह्मण (अ.मा.)

अगनीवंस–सं०पु०यौ० [सं० अग्निवंश] अग्निकुल ।

अगनीवीज–सं०पु०यौ० [सं० अग्निवीज] सोना (डिं.को.)

अगनीवीरज–सं०पु०यौ० [सं० अग्नि+वीर्य] सोना (ह.नां. पाठांतर)

अगनीसंसकार–सं०पु०यौ० [सं० अग्नि+संस्कार] १ शुद्धि के लिए अग्नि से किया गया स्पर्श, तपाना, जलाना. २ अंत्येष्टि संस्कार ।

अगनीसखा–सं०पुं०यौ०—१ अर्जुन (अ.मा.) [सं० अग्निसखा] २ वायु, हवा ।

अगनीसाळ–सं०स्त्री० [सं० अग्निशाला] अग्निहोत्र का स्थान ।

अगनीसुधी–सं०स्त्री०यौ० [सं० अग्नि+शुद्धि] अग्नि के स्पर्श द्वारा किसी वस्तु को शुद्ध करना, अग्निपरीक्षा ।

अगनीह–सं०पु० [सं० आग्नेय] उत्तर पूर्व के बीच का कोना, आग्नेय कोण ।

अगनीहोतर, अगनीहोत्र–सं०पु० [सं० अग्निहोत्र] वेदोक्त मन्त्रों से अग्नि में आहुति देने की क्रिया ।

अगनेउ—देखो 'अगनीह' ।

अगन्न–सं०स्त्री० [सं० अग्नि] अग्नि, आग । उ०—भीमाजळ रिण-छोड़ री, जोधौ सांम जतन्न । भाटी इंदी भीम तण, अहि त्रण काज अगन्न ।—रा.रू.

अगभू–सं०पु०—स्वामी कार्तिकेय (अ.मा.)

अगंभ–सं०पु० [सं० अ+गर्भ] गर्भ में न जन्म लेने वाला, परब्रह्म । उ०—अगंभ अछेह उदार अनोप ।—ह.र.

अगम–वि० [सं० अग्रिम] १ पहले सोचने वाला, दूरदर्शी । कहा०—१ अगम बुद्धी वांणियौ, पिच्छम बुद्धि जाट । तुरत बुद्धि तुरकड़ौ, बांमण सप्पमपाट—बनिये को पहिले सूझती है, जाट को पीछे मुसलमान को तुरंत और ब्राह्मण को बिलकुल नहीं. २ अगम बुद्धी वांणियौ, पिच्छम बुद्धि ब्रह्म. ३ अगम बुद्धी वांणियौ, बांमण सप्पमपाट—बनिये को पहले सूझती है और ब्राह्मण को पीछे या बिल्कुल नहीं सूझती ।
[सं० अगम्य] २ जहाँ कोई जा न सके. ३ दुर्गम । उ०—गिर भंगर तर अगम गथ, सिध चोर सरसद ।—अज्ञात ४ दुर्बोध. ५ न जानने योग्य. ६ कठिन. ७ दुर्लभ. ८ विकट. ९ बुद्धि से परे । उ०—अगम परब्रह्म गुण गत अपारै ।—र.रू. १० अथाह, अपार, बहुत गहरा ।
सं०पु०—१ मार्ग, रास्ता. २ भविष्यतकाल. ३ दूरदर्शिता. ४ वृक्ष. ५ पर्वत ।

अगमगस–सं०पु०—भीम (अ.मा.)

अगमद्रस्टी–वि० [सं० अगम+दृष्टि] दूरदर्शी ।

अगमबुद्धि, अगमबुद्धी, अगमंबधी–वि०—पहले सोचने वाला, दूरदर्शी । वि०वि०—देखो 'अगम' १ ।

अगमभाखी–वि०—भविष्यवक्ता ।

अगमांगम–वि०—१ अथाह, अपार. २ अगम, अगम्य-आगम । उ०—रमणीक दीप पावू रही, सिध अगमांगम सूझसी ।—पा.प्र.

अगमूं, अगम्म–वि० [सं० अगम्य] देखो 'अगम' । उ०—उमा तो पार अगम्म अलेख ।—ह.र.

अगम्मबुद्धी—देखो 'अगमबुद्धि' ।

अगम्य—देखो 'अगम' । उ०—महातम ध्येय रती नहिं गम्य, गती निगमागम गेय अगम्य ।—ऊ.का.

अगम्या–सं०स्त्री०—जिस स्त्री के साथ सम्भोग करना निसिद्ध हो, मैथुन करने के अयोग्य स्त्री, यथा—गुरुपत्नी आदि ।

अगर–सं०पु० [सं० अगरु] १ सुगंधित लकड़ी वाला वृक्ष जो भूटान,

सं०स्त्री० [रा० उगूणी] ४ पूर्व दिशा।

वि०—१ निर्गुणी. २ मूर्ख. ३ अनाड़ी. ४ अगुआ. ५ श्रेष्ठ।

अगुवांणो—देखो 'अगवांणी'।

अगुवौ—देखो 'अगुऔ'।

अगूंग-वि०—पहिले का, पूर्व का।

अगूझ-वि०—मूर्ख (अ.मा.)

अगूढ़-वि० [सं०] १ जो छिपा न हो, स्पष्ट, प्रकट। उ०—अटकाई नह आयवळ, आई जरा अगूढ़।—बां.दा. २ आसान, सरल।

अगूण-सं०पु० [रा० उगूणी] १ पूर्व दिशा। उ०—अगूण पासी थोड़ो उजास होवण लागतो।—वरसगांठ २ देखो 'अगुण'।

अगेंदर, अगेंद्र-सं०पु० [सं० अगेन्द्र] १ पर्वतराज हिमालय. २ सुमेरु पर्वत।

अगेभू-सं०पु०—स्वामी कार्तिकेय (ह.ना.)

अगेती-वि०—अग्रणी, अगाड़ी रहने वाला, अग्रगामी। उ०—कुळवट खेती कमवजां, खग सेती खेल। जेती पती न जांण दे, हरख अगेती हेल।—किसोरदांन बारहठ

अगेस-क्रि०वि०—आगे। उ०—लहै वैण इतो लेस, तांण भूह करै तेस। सालुळै अगेस सेन, राघवेस राघवेस।—र.रू.

अगै-वि०—पहिला, पूर्व का।

क्रि०वि०—१ पूर्वकाल में, अतीत में। उ०—भारी अगै अगै रै भारत, हेकण जीभ प्रताप हुवा।—बां.दा.

२ आगे, अगाड़ी, सम्मुख (रू.भे.—आगे)

अगेह-वि० [सं० अ+गृह] १ जिसका कोई घर न हो, बिना घर का।

सं०पु०—परब्रह्म।

अगोअगा-क्रि०वि०—१ पूर्व. २ अगाड़ी।

अगोखड़ो-सं०पु० [सं० अग्र+वाट] घर का आगे का भाग।

अगोचर-वि० [सं०] १ जो इन्द्रियों से अनुभव न हो सके, इंद्रियातीत. २ अप्रकट, अव्यक्त, अप्रत्यक्ष।

सं०पु०—विष्णु, परब्रह्म।

अगोणी-वि०—पूर्व दिशा की ओर का, प्राची का।

उ०—मारा जाट बांमी बात सारी जांण पाई। फौजाराव सेवा की अगोणी भूमि आई।—सि.वं.

अगोत-वि० [सं० अ+गोत्र] जिसके वंश का पता न चले, गोत्रहीन।

अगोनी—देखो 'अगवांणी'।

अगोरी-वि० [सं० अ+गौरा] जो गौर वर्ण न हो, श्याम वर्ण का।

अग्ग-क्रि०वि०—अगाड़ी, आगे, सम्मुख। उ०—पिरथल इम आयौ परगि, सम्मद पायौ सोम। अनळ अग्ग प्रतिहार अरि, हणि कीधा घण होम।—व.भा.

सं०स्त्री० [सं० अग्नि] अग्नि। उ०—प्रीत पुरांणी ना हुवै, जो उत्तम सौं लग्ग। सौ बरसां जळ में रहै, पथरी तजै न अग्ग।—अज्ञात

अग्गण-सं०पु० [सं० प्रांगण] आंगन। उ०—ढोलइ चलतां परिठव्यउ अग्गणि मोजां सल्ल।—ढो.मा.

अग्गणि-सं०स्त्री० [सं० अग्नि] अग्नि।

अग्गमबुद्धि, अग्गमबुद्धी-वि०—पहिले सोचने वाला, दूरदर्शी।

वि०वि.—देखो 'अगम' (१)

अग्गर-सं०पु० [सं० अगर] १ देखो 'अगर'। उ०—साळगरांम सिला-मुष सेविस, अग्गर चंदण धूप उखेविस।—ह.र.

[सं० आगार] २ महल, प्रासाद। उ०—अग्गर जेहा भूंपड़ा, तउ आसर्ग मोइ।—ढो.मा.

अग्गळ-सं०पु० [सं० अर्गल] लकड़ी का वह डंडा जो किवाड़ बंद करने के पीछे की ओर लगाया जाता है अरगला।

वि०—आगे, अग्रणी। उ०—सतरै सै सांमंत आंक आठै सुभ अग्गळ।—रा.रू.

क्रि०वि०—आगे, अगाड़ी। उ०—बर्दै 'जसो' जिण वार, कंवर अग्गळ जोड़े कर।—वं.भा.

अग्गलो, अग्गलौ-वि० [सं० अग्र+लो, लौ-रा०प्र०] (स्त्री० अग्गली) १ अगला, आगे का, अग्रणी (रू.भे.—अगलौ) उ०—तिण वेळा रिण अग्गला, जेता सूर समत्थ।—रा.रू. २ पुराना, प्राचीन।

अग्गस्त—देखो 'अगस्त'।

अग्गाळि, अग्गाळी-सं०स्त्री० [सं० अकाल] १ कुसमय, अनुपयुक्त समय २ अकाल, दुष्काल। उ०—थळ मथ्थइ जळ बाहिरी, तूं कांइ नीलां जाळ। कइ तूं सींची सज्जणां, कइ वूठउ अग्गाळि। ना हूं सींची सज्जणे, ना वूठउ अग्गाळि। मो तळि ढोलउ वहि गयउ, करहउ बांध्यौ डाळि।—ढो.मा.

अग्गि-सं०स्त्री० [सं० अग्नि] अभग्गि अग्गि के अग्ग, सुभग्ग भग्गते मुगे।—ऊ.का.

क्रि०वि० [सं० अग्र] आगे, अगाडी।

अग्गिआंन-सं०पु० [सं० अज्ञान] अज्ञान।

अग्गी—देखो 'अग्गि'।

अग्नि-सं०स्त्री०—१ देखो 'अगनी'. २ चौसठ प्रकार के वीरों में से एक वीर। उ०—सिद्ध री संगति सह महामंत्र रौ साधन करि अग्नि कोकिल नांम दोय वीर वसीभूत किया।—वं.भा.

अग्निक्रम—देखो 'अगनीकरम'।

अग्निकुळ—देखो 'अगनीकुळ'।

अग्निकुंड—देखो 'अगनीकुंड'।

अग्निकोण—देखो 'अगनीकोण'।

अग्निगरभ—देखो 'अगनीगरभ'।

अग्निज—देखो 'अगनीज'।

अग्निजुग—देखो 'अगनीयुग'।

अग्निज्वाळा—देखो 'अगनीजवाळा'।

अग्निभाळ-सं०स्त्री०यौ० [सं० अग्निज्वाला] १ आग की लपट.

अंत अगहर अनंत ।—ऊ.का.

क्रि०वि०—१ आगे. २ प्रथम, पहले ।

अगांणौ–सं०पु०—पत्थर की वह शिला जो रहँट के उस किनारे पर रक्खी जाती है जिधर से खाली माल (पानी की डोलियां) कुयें में जाती हैं ।

अगांम–वि० [सं० अ+ग्राम] गांवरहित ।

अगांळी–सं०स्त्री०—लीपने का एक प्रकार (क्षेत्रीय)

अगा–क्रि०वि०—१ पूर्व, पहले । उ०—उवारिय साप अगा अमरीख, सेवग्ग कियौ तै आप सरीख ।—ह.र. २ अगाड़ी, सम्मुख ।

अगाउ—देखो 'अगाऊ' ।

अगाउणी, अगाउनी–सं०स्त्री०—पूर्व दिशा ।

क्रि०वि० [सं० अग्र] आगे, अगाड़ी ।

अगाऊ–वि०—प्रथम या आगे आने वाला (व्यक्ति)

क्रि०वि०—१ पहले, पूर्व । उ०—हेरू एक सेवा ने अगाऊ खबरि दीनी । चांदी लूट सीकर का किला में नांख लीनी ।—शि.वं.

२ अगाड़ी । उ०—दूत रै साथ सत्कार रौ वरण दूत तौ अगाऊ भेजियौ ।—वं.भा.

अगाड़ी–क्रि०वि० [सं० अग्र, प्रा० अग्ग+आडी–रा०प्र०] १ आगे, भविष्य में. २ सामने, समक्ष. ३ पूर्व, पहिले. ४ पास ।

सं०पु०—१ आगे या सामने का भाग. २ घोड़े के अगले पैर का बधन. ३ सेना का पहिला धावा ।

अगाड़ी-पिछाड़ी–सं०स्त्री०—घोड़े के अगले और पिछले पैरों में बंधी हुई रस्सी या साँकल । उ०—जीण मांडजै छै केसवाळी रंग-रंग री गूंथजै छै, अगाड़ी-पिछाड़ी खोलजै छै ।—रा.सा.सं.

अगाजणौ, अगाजबौ–क्रि०अ०—गर्जन करना । उ०—चौमासै वादळां जिही फौजां रा समूह चालै, आगळी गयंद छाजै अगाजै अपार ।—अज्ञात

अगाढ़–वि०—१ गहरा, गंभीर. २ बलवान, शक्तिशाली ।

अगात–वि० [सं०] शरीररहित, निराकार । उ०—अगात असास अवात अवेस, आदेस आदेस आदेस आदेस ।—ह.र.

अगाथ, अकाध–वि० [सं० अगाध] १ अथाह, बहुत गहरा. २ अपार, असीम । उ०—उत्तर आज न जाइयइ, जिहां स सीत अगाध ।—ढो.मा.

३ समझ में न आने योग्य, दुर्बोध । उ०—अगम अगाध तू अगला अगवांणी । तू अवगत अनायनाथ तू अकथ कहांणी ।—केसोदास गाडण

अगार–सं०पु० [सं० आगार] १ समूह. २ खजाना. ३ घर, स्थान (अ.मा.) उ०—दूदौ इम भाखे दुमह आयौ ऊठि अगार ।—वं.भा.

[सं० अंगार] ४ अंगार ।

क्रि०वि०—आगे, अगाडी, पहिले ।

अगाळ–वि०—विशेष, अधिक ।

अगालग–क्रि०वि०—निरंतर ।

अगाळा–सं०स्त्री०—बरछी (डि.नां.मा.)

अगास–सं०पु० [सं० आकाश] आकाश, शून्य । उ०—जळ मंहि वसइ कमोदणी, चंदउ वसइ अगासि ।—ढो.मा.

अगासइ–सं०पु० [सं० आकाश] आसमान, आकाश । उ०—दीसि अगासइ तावड़ि दाझइ, रातइ वाइ ताढ़ि ।—कां.दे.प्र.

अगासुर—देखो 'अघासुर' ।

अगाह–वि० [सं० अगाध] १ अथाह, बहुत, गहरा [फा० आगाह] २ विदित, प्रकट [रा०] ३ जो नाश न किया जा सके । उ०—ऐसौ पातिसाह कौ परगाह, सग्गहां तै अगाह ।—रा.रू.

४ ग्रहण न किया जाने वाला । उ०—अलाह अगाह अवाह अजीत, अमात अतात अजात अतीत ।—ह.र.

सं०पु०—परब्रह्म ।

क्रि०वि०—१ आगे से, पहले से. २ अगाड़ी । उ०—एक राव अरवद्द वियौ सरणवै वयट्ठौ । एकाएक अगाह एक एकाह अपूठौ ।
—नैणसी

अगाहट–सं०पु०—दान या पुरस्कार में दी गई जागीर ।

अगाहि–वि०—वह जो विजय नहीं किया जा सके, अजय । उ०—'औरंग' 'जसौ' अगाहि, जूटा सूरिज राहू ज्यूं ।—वचनिका

अगिन–सं०स्त्री० [सं० अग्नि] अग्नि, आग (मीरां)

वि० [स० अज्ञान] मूर्ख, ज्ञानरहित (ह.नां. पाठांतर)

अगिभू–सं०पु०—स्वामी कार्तिकेय (ह.नां.)

अगियांन–स०पु० [सं० अज्ञान] अज्ञान, मूर्खता ।

अगिया वैताळ–सं०पु०—एक कल्पित वैताल ।

अगियार–वि० [सं० एकादशन, पा० एआरह, प्रा० एक्कारस, अप० एग्गारह] दस और एक, ग्यारह ।

स०स्त्री०—ग्यारह की संख्या ।

अगिलि–वि०स्त्री०— १ अगली. २ पहिले की, पूर्व की ।

अगिलौ–वि०—१ अगला. २ पहिले का ।

अगिल्ल–सं०पु०—पूर्वज, पुरखा ।

वि०—१ आगे का. २ पहिले का ।

अगिवांण–सं०पु०—अग्रगामी । उ०—तोहि लंबोदर वीनमूं, चउसठि जोगिनि का अगिवांण ।—वी.दे.

अगी–सं०स्त्री० [सं० अग्नि] अग्नि ।

अगीत–वि०— १ न गाये जाने योग्य । उ०—अलीत अदीत अरीत अराह, असीस अभीत अगीत अगाह ।—ह.र.

२ न गाया जाने वाला ।

अगीरणौ, अगीरबौ—देखो 'उगेरणौ' । उ०—गायां एवड़ ग्वाळ, अगीरै रागा छोरा ।—दसदेव

अगुऔ–वि०पु०—१ अग्रणी, आगे चलने वाला, मुखिया, नेता, प्रधान. २ मार्गदर्शक ।

क्रि०वि०—अग्र, अगाडी । उ०—आगळ सुरग कपाट अघ, दोजग अगुऔ देख । संपत लता कुठार मम, विगत लता घण वेख ।—बां.दा.

अगुण–सं०पु० [सं०] १ निर्गुण. २ दोष. ३ बुराई ।

अग्रणी–वि०—अग्रगण्य, अगुआ (वं.भा.)

अग्रतई–क्रि०वि०—सम्मुख, सामने।

अग्रभाग–सं०पु० [सं०] आगे का भाग या सिरा, नोंक, चोटी, छोर।

अग्रम–सं०पु०—बड़ा भाई (अ.मा.)

अग्रवळ—देखो 'अगरवाळ'।

अग्रवांण–वि०— अग्रणी, अगला। उ०—पड़े भगांण देस देस अग्रवांण पीडणी।—रा.रू.

अग्रवांणी–सं०पु०—अग्रगामी, मुखिया, नेता।

अग्रवाळ—देखो 'अगरवाळ'।

अग्रसण–सं०पु० [सं० अग्राशन] देवता या गौ के निमित्त भोजन करने से पूर्व निकाला गया भोजन का अंश।

अग्रसर–वि० [सं०] १ जो आगे जाय, अगुआ. २ जो आरम्भ करे. ३ मुख्य, प्रधान।

सं०पु०—१ अग्रगामी, आगे जाने वाला व्यक्ति. २ प्रधान व्यक्ति, मुखिया।

अग्रसोची–वि०—दूरदर्शी, पहले सोचने वाला।

अग्राज–सं०स्त्री०—गर्जना, दहाड़। उ०—अंबर री अग्राज सूं, केहर खीज करंत। हाक धरा ऊपर हुई, केम सहै बळवंत।—बां.दा.

अग्राजणौ, अग्राजबौ–क्रि०अ०—जोशीली आवाज करना, वीर ध्वनि करना, दहाड़ना। उ०—'मदा' रौ अग्राजे 'सेर' ऊभौ समर 'मदा' रा हरा रा आव मांझी।—पहाड़खा आढ़ौ

अग्राजणहार, हारौ (हारी), अग्राजणियौ–वि०—दहाड़ने वाला।

अग्राजिओड़ौ, अग्राजियोड़ौ, अग्राज्योड़ौ—भू०का०कृ०।

अग्रादन–वि० [सं० अग्राह्य] १ न ग्रहण करने योग्य. २ धारण करने के अयोग्य. ३ त्याज्य।

अग्राह्य–वि० [सं०] न ग्रहण करने योग्य।

सं०पु०—जो ग्रहण करने में न आवे, ईश्वर। उ०—बराबर दीस दिगंतर बाह्य, अगोचर गीप्ति अग्राह्य।—ऊ.का.

अग्राह्यारू–वि०—सर्व प्रथम रहने वाला। उ०—नमो अग्राह्यारू स्तवन पुट साम्ह सत नमो।—ऊ.का.

अग्रि–वि०—अग्र भाग, अगला, अग्रिम। उ०—नासा अग्रि मुताहळ निहसति, भजति कि मुक मुख भागवत।—वेलि.

अग्रिम–वि० [सं०] १ उत्तम. २ पेशगी. ३ आगे आने या जाने वाला, आगामी ४ प्रधान।

अग्रे–अव्यय [सं०] १ आदि में, पहले।

कहा०—१ अग्रे-अग्रे ब्राह्मणा—ब्राह्मण सब कामों में आगे रहते हैं. २ अग्रे-अग्रे ब्राह्मणा, नदी नाळा वरजंते—ब्राह्मण सब कामों में आगे रहते हैं पर आफत के कामों को छोड़ कर।

२ सामने।

अग्रेण–वि०—अगला भाग। उ०—मातहूंत अधिकी मया, करै जुगल विध केण। मळ धा कर नूं मेल्ही, श्री रमणा अग्रेण।—बां.दा.

अग्रेसुर, अग्रेस्वर–सं०पु० [सं० अग्र+सुर] देवों में जिसकी पूजा सबसे पहले की जाय, गणेश (अ.मा.)

अग्रेह–वि०—घररहित।

सं०पु०—ईश्वर, परब्रह्म। उ०—अलेह अदेह अनेह अनांम, अरेह अछेह अग्रेह अगांम।—ह.र.

अघ–सं०पु० [सं०] १ पाप, अधर्म, गुनाह। उ०—देवी तीरथ रै रूप अघ विखम टारै।—देवि. २ दुःख. ३ व्यसन. ४ कुकर्म. ५ कंस का एक सेनापति, अघासुर नामक राक्षस।

अघजीत–वि० [सं० अघ+जिति] पापों पर विजय पाने वाला, धर्मात्मा।

अघट–वि० [सं० अ = नहीं+घट = होना] १ जो कार्य रूप में परिणित न हो सके, न होने योग्य। उ०—एक डाळी झड़ै नराताळी अघट, नदी वही कराळी रुधर वाळी निपट।—किसनजी आढ़ौ

२ कठिन. ३ जो ठीक न उतरे. ४ अनुपयुक्त, अयोग्य, बेमेल. ५ अद्भुत। उ०—आयां तट सामंद रै, दीठौ अघट दुवार।—रा.रू. ६ स्थिर. ७ अपार, बहुत। उ०—हुयी घटिये कळू अघट बीकाहरौ।—आसियौ भोपत

सं०पु०—चारणों की जागीरी का गांव।

अघटवांन–वि०—अद्भुत, विचित्र, करामाती।

अघटणौ, अघटबौ–क्रि०अ०—चकाचौंध होना। उ०—दृग मिळत अमिलत चपल देखत अवनि पर जन अघटही।—रा.रू.

अघटित–वि० [सं०] १ जो घटित न हुआ हो. २ असंभव, अनहोनी. ३ अनिवार्य, अवश्य होने वाला. ४ अयोग्य, अनुपयुक्त, अनुचित।

अघट्ट—देखो 'अघट'। उ०—इसा व्यास प्रोहित्त मंत्री अघट्ट।—रा.रू.

अघट्टणौ, अघट्टबौ–क्रि०अ०—अद्भुत ढंग से ध्वनि करना, अद्भुत ढंग से उत्सव मनाया जाना। उ०—व्रति आदि सस्त्र विद्या वरण उच्चव वादि अघट्टियां।—रा.रू.

अघडंडी–सं०पु०—यम (अ.मा.)

अघण–सं०पु० [सं० अग्रहायण] अगहन मास (रू.भे.)

अघन–सं०पु० [सं० अग्रहायन] १ अगहन मास।

सं०स्त्री० [सं० अग्नि] २ अग्नि, आग (रू.भे.)

अघनासक–वि० [सं० अघ+नाशक] १ पाप को नाश करने वाला।

सं०पु०—१ मंत्र. २ जप. ३ विष्णु. ४ दान. ५ पुण्य।

सं०स्त्री०—६ गंगा।

अघबकादिहंता–सं०पु०—श्रीकृष्ण (अ.मा.)

अघमोचण, अघमोचन–वि०—पापों को काटने वाला।

सं०पु०—१ विष्णु. २ श्रीकृष्ण।

सं०स्त्री०—३ गंगा (अ.मा.)

अघरायण–सं०स्त्री०—अत्यधिक गर्म व तेज वायु, तेज लू।

वि०—भयंकर।

अघलौ—देखो 'अगळौ' (रू.भे.)

२ जल पिप्पली का वृक्ष. ३ धव का वृक्ष जिसके लाल फूल लगते हैं (अमरत)

अग्निदाह—देखो 'अगनीदाह'।

अग्निदीपक—देखो 'अगनीदीपक'।

अग्निपरीक्षा—देखो 'अगनीपरीक्षा'।

अग्निपुरांण-सं०पु०यौ० [सं० अग्निपुराण] अठारह पुराणों में से एक।

अग्निवांण—देखो 'अगनीवांण'।

अग्निवाव-सं०पु०—चौपायों तथा विशेष कर घोड़ों का एक रोग जिसमें उनके शरीर पर छोटे-छोटे आंवले निकल कर बढ़ते हैं और फूटते हैं (शा.हो.)

अग्निबीज-सं०पु०यौ० [सं०] १ सोना. २ अक्षर, वर्ण।

अग्निभू-सं०पु० [सं०] स्वामी कार्तिकेय।

अग्निमंथ—देखो 'अगनीमंथ'।

अग्निमणि-सं०स्त्री०यौ० [सं०] १ सूर्यकांत मणि. २ आतशी शीशा।

अग्निमांध—देखो 'अगनिमांद'।

अग्निमुख—देखो 'अगनीमुख'।

अग्नियुग-सं०पु०यौ०—ज्योतिष में माने गये पाँच-पांच वर्ष के युगों में से एक युग।

अग्निरोहणी, अग्निरोहिणी-सं०स्त्री०यौ० [सं०] बगल के किसी भाग में होने वाली ग्रंथी या फोड़ा। यह 'कांखोलाई' से भिन्न होता है (अमरत)

अग्निवंस-सं०पु०यौ० [सं० अग्नि+वंश] अग्निकुल।

अग्निव्रत-सं०स्त्री०यौ० [सं०] वेद की एक ऋचा का नाम।

अग्निसंस्कार—देखो 'अगनीसंसकार'।

अग्निसखा-सं०पु०यौ०—१ हवा, वायु. २ अर्जुन।

अग्निसाळ-सं०स्त्री० [सं० अग्निशाला] अग्निहोत्र का स्थान।

अग्निसिखा-स०स्त्री०यौ० [सं० अग्नि+शिखा] आग की लपट।

अग्निसुद्धि—देखो 'अगनीसुधी'।

अग्निहोतर, अग्निहोत्र—देखो 'अगनीहोतर'। उ०—स्रीमाली नां गिरुआं गोत्र, घरि घरि अवसथ अग्निहोत्र।—कां.दे.प्र.

अग्निहोतरी, अग्निहोत्री-सं०पु०—१ अग्निहोत्र करने वाला. २ ब्राह्मणों का एक जाति-भेद।

अग्नि—देखो 'अगनी'।

अग्निकरम—देखो 'अगनीकरम'।

अग्य-वि० [सं० अज्ञ] अज्ञानी, बेवकूफ।

अग्यता-सं०स्त्री० [सं० अज्ञता] मूर्खता, अज्ञानता, नासमझी।

अग्यांन-सं०स्त्री० [सं० अज्ञान] १ मूर्खता, जड़ता. २ न्याय में एक निग्रह स्थान. ३ अविवेक।

वि०—मूर्ख, अज्ञानी।

अग्यांनता-सं०स्त्री० [सं० अज्ञानता] मूर्खता, अविवेक, नासमझी।

अग्यांनपण, अग्यांनपणौ-सं०पु० [सं० अज्ञान+रा० प्र० पणो] १ मूर्खता, नासमझी. २ अज्ञानावस्था।

अग्यांनी-वि० [सं० अज्ञान+ई] मूर्ख, बेवकूफ, नासमझ।

अग्या-सं०स्त्री० [सं० आज्ञा] आज्ञा आदेश, हुक्म। उ०—राज अग्या म्हारै सिर राखिस, भूधर तूझ तणौ गुण भाखिस।—ह.र.

अग्यात-वि० [सं० अज्ञात] जो ज्ञात न हो, अपरिचित, गुप्त। उ०—लग्गी हांम विलास, वित्ती अग्यात प्रात मध्यांन।—रा.रू.

अग्यातजोवणा-सं०स्त्री० [सं० अज्ञातयौवना] मुग्धा नायिका का एक भेद जिसमें स्त्री को अपनी उभरती जवानी का भान न हो।

अग्यातवास-सं०पु० [सं० अज्ञातवास] अज्ञातवास, गुप्तवास, छिप कर निवास करना।

अग्येय-वि० [सं० अज्ञेय] १ न जानने योग्य. २ समझ में न आने योग्य. ३ ज्ञानातीत, दुर्बोध।

अग्र-सं०पु० [सं०] १ आगे का भाग, सिरा, नोंक. २ अवलम्बन, सहारा. ३ समूह. ४ शिखर. ५ एक राजा का नाम. ६ मुखिया. ७ स्मृति के अनुसार मोर के ४८ अंडों के बराबर अन्न की भिक्षा का एक तौल।

वि०—१ अगला. २ प्रथम. ३ श्रेष्ठ, उत्तम।

क्रि०वि०—१ अगाड़ी। उ०—तिल मातर भीत न बीत तणी, थंमि हालत अग्र कियां हथणी।—मे.म. २ सामने। उ०—तिका अग्र मो भड़ कीट पतंग, जिका जुड़ि जीत सकै नंह जंग।—मे.म.

अग्रकारी-वि०—१ अग्रणी, अगुआ। उ०—एते कवि वीरता के अग्रकारी।—रा.रू. २ अगला, आगे का।

अग्रगन्य-वि० [सं० अग्रगण्य] १ जिसकी गणना पहले की जावे। उ०—मरियाद मित्र, पावन पवित्र, धन्यास्ति धन्य, गुरु अग्रगन्य।
—ऊ.का.
२ नेता, मुख्य।

अग्रगांमी-सं०पु० [सं०] १ आगे चलने वाला. २ अगुआ, प्रधान व्यक्ति. ३ नेता।

वि०—जो आगे चले।

अग्रगाव-सं०पु०—पर्वत (डि.नां.मा.)

अग्रज-सं०पु० [सं०] १ जो भाई पहिले जन्मा हो, बड़ा भाई। उ०—अनुज ए उचित अग्रज इम आखै, दुसट सासना भली दई।
—वेलि.
२ अगुआ, नेता. ३ ब्राह्मण. ४ ब्रह्मा. ५ जोशपूर्ण आवाज।

वि०—श्रेष्ठ, उत्तम।

अग्रज स्यांम-सं०पु० [सं० अग्रज+श्याम] श्रीकृष्ण के बड़े भाई बलराम (नां.मा.)

अग्रजन्मा-सं०पु०यौ० [सं० अग्र+जन्म+आ] १ ब्रह्मा. २ ब्राह्मण. ३ बड़ा भाई।

अग्रजाति, अग्रजाती-सं०स्त्री० [सं० अग्र+जाति] ब्राह्मण।

अग्रज्ज—देखो 'अग्रज' (रू.भे.)। उ०—गुणादि अतीत लखण्ण अग्रज्ज।
—ह.र.

अड़कावणियो-वि०—सहारा देने वाला, रोकने वाला।

अड़काविप्रोड़ो, अड़कावियोड़ो, अड़कायोड़ो-भू०का०कृ०—सहारा दिया हुआ, अड़ाया हुआ।

अड़किओड़ो, अड़कियोड़ो, अडक्योड़ो-भू०का०कृ०—अड़ा हुआ।

अड़कियो-सं०पु०—विना वोए ही वरसात से उत्पन्न होने वाला अनाज का पौवा विशेष (मि० अड़क १)

अड़कियोड़ो-भू०का०कृ०—१ अड़ा हुआ, सहारा दिया हुआ. २ स्पर्श किया हुआ, छुआ हुआ। (स्त्री० अड़कियोड़ी)

अड़चण, अड़चन-सं०स्त्री०—वाधा, रुकावट, विघ्न, दिक्कत।

क्रि०प्र०—करणी, घालणी, हांणी।

अड़चल-सं०स्त्री०—१ कष्ट, तकलीफ, कठिनाई, दिक्कत।

उ०—मोखमपुरै विसन हुय मांदो, पूरण अड़चल पाई।—मे.म.

२ विमारी. ३ दर्द. ४ विघ्न।

अड़ड़, अड़ड़ाट-सं०स्त्री० [अनु०] १ क्रम से रक्खी हुई एक के ऊपर एक वस्तुओं के गिरने से उत्पन्न ध्वनि विशेष. २ लगातार अड़-अड़ के समान ध्वनि।

अड़णो, अड़वो-क्रि०अ०—१ रुकना, अटकना, ठहरना. २ हठ करना, टेक ठानना. ३ अकड़ना. ४ फँसना. ५ स्पर्श करना, छूना।

अड़णियो-वि०—अड़ने वाला।

अड़ाणो, अड़ावो, अड़ावणो, अड़ाववो-क्रि०स०—देखो 'अड़ाणो'।

अड़िओड़ो, अड़ियोड़ो, अड़्योड़ो-भू०का०कृ०—अड़ा हुआ।

अड़ताळीस-वि० [सं० अष्टचत्वारिंशत्, पा० अट्ठचत्तालीसा, अप० अट्ठतालीस] चालीस और आठ के योग के वरावर।

सं०पु०—चालीस और आठ के योग की संख्या।

अड़ताळीसमो-वि०—जो क्रम में सेंतालीस के वाद पड़ता हो, अड़तालीसवां।

अड़ताळीसेक-वि०—चालीस और आठ के योग के लगभग।

अड़ताळीसो, अड़ताळो, अड़ताळो-सं०पु०—अड़तालीसवां वर्ष।

अड़तीस-वि० [सं० अष्टत्रिंशत्, पा० अट्ठतींस, प्रा० अट्ठत्तीस, अप० अट्ठतीस] तीस और आठ के योग के वरावर।

सं०पु०—तीस और आठ के योग के वरावर की संख्या।

अड़तीसमो-वि०—जो क्रम में सेंतीस के वाद हो, अड़तीसवां।

अड़तीसेक-वि०—तीस और आठ के योग के वरावर।

अड़तीसो, अड़तीसो-सं०पु०—अड़तीसवां वर्ष।

अड़दार-वि०—१ रुकने वाला, अड़ियल. २ मस्त, मतवाला. ३ ऐंठदार।

अड़प-सं०स्त्री०—१ हठ, आग्रह. २ साहस, वल, शक्ति।

उ०—अड़पायतो अड़प आपांणी कविळ वराह संग्रांम करि।

३ होड़, स्पर्द्धा. ४ प्रभाव, रौब। —दूदो आसियो

यौ०—अड़पदार, अड़पति, अड़पाई, अड़पायत, अड़पायतो।

अड़पति, अड़पत्ति-वि०—१ जिद्दी, हठी. २ अकड़ने वाला, अकड़. ३ उद्दंड. ४ साहसी, वहादुर, वीर।

अड़पदार-वि०—साहसी, वहादुर, वीर. २ अकड़. ३ हठी।

अड़पाई-वि०—हठीला, जिद्दी, मान पर मरने वाला।

सं०स्त्री०—हठ, जिद्द।

अड़पायत, अडपायतो, अड़पायतो-वि०—१ वलवान, शक्तिवान, जोरावर।

उ०—वडा अड़पायत आंटीला राजा हुवा।—पदमसिंह री वात

२ निडर. ३ स्थायी, टिकाऊ. ४ अकड़. ५ जिद्दी।

अड़पायल, अड़पाल-वि०—१ वीर, वलवान. २ निडर. ३ योद्धा. ४ अकड़. ५ जिद्दी।

अड़पफणो, अड़पफवो-क्रि०अ०—भूमिसात होना।

अड़वंक, अड़वंग अड़वगो-वि०—१ टेढ़ा-मेढ़ा. २ ऊँचा-नीचा. ३ विकट, कठिन. ४ विलक्षण, अनोखा. ५ उद्दंड. ६ अपठित. ७ शक्तिशाली, वलवान। उ०—वडो अड़वंक महाजुद्ध जीपियो। दूजो रायसिंह परवाडां दीपियो।—पदमसिंह री वात

अड़वंव-सं०पु०—कब्जियत।

अड़व-वि० [सं० अर्वुद] अरव, सौ करोड़।

सं०पु०—१ अरव की संख्या. २ वह राग जिसमें पाँच स्वर आवें (संगीत)

अड़वड़-वि०—१ अटपटा. २ कठिन, दुर्गम।

सं०पु० [अनु०] एक ध्वनि विशेष।

अड़वड़णो, अड़वड़वो-क्रि०अ०—१ एक साथ चलना. २ हड़वड़ाना।

अड़वड़िओड़ो, अड़वड़ियोड़ो, अड़वड़्योड़ो—भू०का०कृ०।

अड़वड़णो—रू०भे०।

अड़वड़ाट-सं०स्त्री०—१ एक प्रकार की ध्वनि विशेष. २ कार्य या सामान की अधिक उलझन। उ०—घणो अड़वड़ाट चोखो नी लागे।

अड़वड़ियो-वि०—शीघ्रता करने वाला, उतावला।

अड़वड़ियोड़ो-भू०का०कृ०—एक साथ चला हुआ, हड़वड़ाया हुआ। (स्त्री० अड़वड़ियोड़ी)

अड़वड़ी-सं०स्त्री०—१ एकत्रित हो कर एक साथ चलने से उत्पन्न ध्वनि।

उ०—आपड़ी लंकपत्यां अठी, अठी सकत्यां अड़वड़ी।—मे.म.

वि०—शीघ्रता करने वाली।

अड़वपसाव-सं०पु०—एक अरव का दान। उ०—देतो अड़वपसाव दत, वीर गौड़ वछराज। गढ़ अजमेर सुमेर सूं, ऊंचौ दीसै आज।—वां.दा

अड़वी-सं०स्त्री०—१ वाधा, विघ्न, आपत्ति. २ हठ. ३ झगड़ा, वहस. ४ वैर, शत्रुता।

अड़वीलो-वि० (स्त्री० अड़वीली) १ हठीला. २ विघ्न डालने वाला, वाधक।

अड़वो-सं०पु०—वह वादल का टुकड़ा जो सूर्य को स्पर्श करता प्रतीत होता है (क्षेत्रीय)

अड़भंग-वि०—१ जवरदस्त. २ न भागने वाला. ३ हठी. ४ टेढ़ा-मेढ़ा. ५ विचित्र. ६ कठिन, विकट।

अघवांन–वि० [सं० अघवान] पापी ।
अघवारण–वि० [सं० अघ+वारण] पापों को रोकने वाला ।
संपु०—ईश्वर । उ०—अहर निपाप करिस अघवारण, मुळके तूझ प्रेम मधु-मारण ।—ह.र.
अघहट–वि०—पापों को हटाने वाला ।
अघहण–संपु० [सं० अग्रहायण] अगहन, मार्गशीर्ष का महीना (रू.भे.)
अघहर–वि० (स्त्री० अघहरणी) पापों को हरण करने वाला ।
अघहरणी–संस्त्री०—१ महादेवी. २ दुर्गा ।
अघहारी–वि०—पापों को मिटाने वाला ।
संपु०—ईश्वर, विष्णु ।
अघाट–संपु०—१ वह जमीन जिसको बेचने व दूसरों को देने का हक उसके मालिक को न हो. २ चारणों की जागीर का गांव ।
अघाणौ, अघावौ–क्रि०अ०—तृप्त होना, अघाना । उ०—अजे अघाया म्हे तौ नहीं हे, दोय क और दिराव ।—गी.रां.
अघायोड़ौ–भू०का०कृ०—तृप्त ।
अघावणियौ–वि०—तृप्त होने वाला ।
अघावणौ, अघाववौ, अघाहणौ, अघाहवौ—रू०भे० ।
अघात–संपु० [सं० आघात] चोट, घात, प्रतिघात । उ०—घात अघात टाळणी घटघट, मेहा सधू सेवगां मात ।—दौलतसिंह बारहठ
वि०—भयंकर । उ०—औ अन्याव अघात, सोहौ सारां भड़ सांभळौ । सक घावड़ पुत्र सात, वीरम खाग विहंडिया ।—गो.रू.
अघातौ–वि०—पूर्ण, तृप्त ।
अघायल–वि०—अपीड़ित, स्वस्थ जो घायल न हो ।
अघायौ–वि०—पूर्ण तृप्त, अघाया हुआ ।
अघायोड़ौ–भू०का०कृ०—पूर्ण तृप्त, अघाया हुआ ।
अघारि, अघारी–वि० [सं० अघ+अरि] पापनाशक ।
संपु०—अघासुर को मारने वाले, श्रीकृष्ण ।
अघावणौ, अघाववौ—देखो 'अघाणौ' (रू.भे.) ।
अघासुर–संपु० [सं०] पूतना का भाई, एक राक्षस जो श्रीकृष्ण द्वारा मारा गया था ।
अघाहणौ, अघाहवौ–देखो 'अघाणौ' (रू भे.)
अघि, अघी–वि० [सं० अघी] पापी, दुराचारी ।
अघोर–वि०—१ सौम्य, सुहावना. २ प्रिय. ३ पूर्ण. ४ अधिक. ५ भयंकर. ६ घोर । उ०—इतरै माळवणी तौ सूय रहीं सो अघोर निद्रा आय गई ।—ढो.मा.
संपु०—१ शिव का एक रूप, महादेव. २ एक पंथ विशेष जिसके अनुयायी नर-मांस व मद्य तो खाते ही हैं, यहां तक कि उन्हें मल-मूत्र आदि पदार्थो से भी घृणा नहीं होती. ३ इस पंथ का अनुयायी. ४ रुग्णावस्था की नींद, तंद्रा ।
अघोरकुंड–संपु०—एक तीर्थ का नाम ।
अघोरनाथ–संपु०—१ शिव, महादेव. २ अघोरपंथ का मुखिया ।
वि०—भयंकर, डरावना ।
अघोरपंथ–संपु०—अघोरियों का मत या संप्रदाय । देखो 'अघोर' (२)
अघोरपंथी–संपु०—अघोरपंथ का अनुयायी, अघोरी, औघड़ ।
वि०—घृणित, घिनौना (व्यक्ति)
अघोरी—देखो 'अघोरपंथी' ।
अघोस–वि० [सं० अ+घोष] १ शब्दरहित, नीरव. २ अल्प-ध्वनियुक्त ।
संपु०—१ व्याकरण में उस वर्ण-समूह का नाम जिसमें क्रमशः प्रत्येक वर्ग का प्रथम द्वितीय अक्षर और 'स' भी है । २ ग्वाला ।
अघौ–क्रि०वि०—दूर । उ०—रांम अघौ ऊगतां अघौ रवि, नाव जपै नवसहस नरेस ।—महाराजा करणसिंह रौ गीत
अघ्घ–संपु० [सं० अघ] पाप, कुकर्म । उ०—देवी अवंती अजोध्या अघ्घ हाता ।—देवि.
अघ्घहाता–विस्त्री०—पापों का नाश करने वाली, मोक्ष देने वाली ।
उ०—देवी मथुरा माईया मोक्षदाता, देवी अवंती अजोध्या अघ्घहाता ।
—देवि.
अघ्घोर—देखो 'अघोर' (रू.भे.)
अघ्घोरकुंड—देखो 'अघोरकुंड' । उ०—देवी कांमरू पीठ अघ्घोरकुंडे ।
—देवि.
अघ्घोरी—देखो 'अघोरपंथी' ।
अघ्रांण–वि०—१ गंधमय. २ गंधरहित । उ०—प्रछन्न प्रगट्ट पुरक्ख पुरांण, अखंडित ग्यांन प्ररम्भ अघ्रांण ।—ह.र.
संस्त्री०—सुगंध, गंध । उ०—पूजै पग विम्मळ वेद पुरांण, अलीयळ नाथ लिये अघ्रांण ।—ह.र.
अघ्रायण—देखो 'अघरायण' ।
अड़ंगौ–संपु०—१ विघ्न, रुकावट, अवरोध, अड़चन. २ हस्तक्षेप. ३ पाखंड, ढकोसला. ४ स्वार्थसिद्धि की युक्ति ।
अड़–संस्त्री०—१ वह सीधी लकड़ी जो कुयें से पानी निकालने के पाट के नीचे होती है. २ हठ, टेक, जिद्द ।
अड़क–वि०—उद्दण्ड, गंवार, बदमाश ।
संपु०—१ बिना बोये ही बरसात से उत्पन्न होने वाला अनाज का पौधा. २ अशुद्ध बीज का अनाज. ३ वर्णसंकर ।
अड़कणी–संस्त्री०—किसान स्त्रियों के बांह पर धारण करने का चांदी का बना एक आभूषण ।
अड़कणौ, अड़कबौ–क्रि०अ०—१ अड़ना. २ छूना, स्पर्श करना ।
उ०—विख ज्वाळा आंखियां, वोम चाचरौ अड़वकै ।—बखतौ खिड़ियौ
अड़कण, अड़कन–संस्त्री०—भारी या लुढ़कने वाली वस्तु को स्थिर या टिकाये रखने के लिये लगाया जाने वाला पदार्थ या वस्तु ।
अड़कमल–संपु०—भाटी वंश की एक शाखा या व्यक्ति ।
अड़कमालोत–संपु०—राठौड़ राव चूंडाजी के पुत्र अड़कमाल के वंशज, राठौड़ों की एक उपशाखा या इस शाखा का व्यक्ति ।
अड़काणौ, अड़कावौ, अड़कांवणौ, अड़कावबौ–क्रि०स०—१ सहारा देना. २ अड़ाना, रोकना ।

अड़ीयल—देखो 'अड़ियल'। उ०—वरघल कंगळ कड़ी वड़ड़ं। जुवमल वेहूं अड़ीयल जुड़ं।—गो.रू.

अड़ीलो—देखो 'अड़ियल'। उ०—जुड़ं वा माहोमाह जोवार, अड़ीला वेहूंय भींच उदार।—गो.रू.

अड़ीसल—देखो 'अड़साल'। उ०—अड़ीसल वीरम हूंता आज, सव्याजा लेसी खून सकाज।—गो.रू.

अड़ूड़, अड़ूड़मो, अड़ूड़ो-वि०—१ जबरदस्त. २ बहुत बढ़िया, श्रेष्ठ. ३ बहुत अधिक।

अड़ूवो, अड़ूसो-सं०पु० [सं० ग्राटरुप] १ एक प्रकार का वृक्ष. २ इसी वृक्ष के समान पत्तों वाला एक प्रकार का छोटा पौधा जिसकी पत्तियों को औषधि के रूप में भी प्रयुक्त किया जाता है (अड़ूग्रो-रू.भे.)

अड़ेगड़े, अड़ेगडे-क्रि०वि०—अड़ोस-पड़ोस, आस-पास, करीब।
वि०—समान, सदृश।

अड़ेच, अड़ेज-सं०पु०—१ विघ्न, रुकावट, बाधा. २ अत्यधिक जरूरत. ३ प्रतिबंध, परहेज।

अड़ेल, अड़ैल-वि०—हठी, जिद्दी। उ०—गाढ़ेल अड़ेल दोनूं रोसेल कसैल ग्रीठ।—चतुरजी खिड़ियो

अड़ो-सं०पु०—सहारा।

अड़ोघड़ो-सं०पु०—१ अंटसंट वस्तुओं का पूरा भार, समस्त बोझ. २ गड़बड़-घोटाला. ३ उलाहना।
कहा०—अड़ोदड़ो(वड़ो) बळ्ड़ी रै सिर पड़ो—अपराध कोई करे और दोष किसी के सिर मँढ़ा जाय।

अड़ोस-पड़ोस-क्रि०वि०—आस-पास, करीब, निकट।
सं०पु०—आस-पास का स्थान या वहाँ का निवासी।

अड़ोसी-पड़ोसी-सं०पु०—आस-पास के निवासी, समीप के रहने वाले।

अचंक-क्रि०वि०—अचानक, अकस्मात। उ०—अंगरेज येम जरणैल सा'व, आयो अचंक रुद्धयो नवाव।—ला.रा.

अचंचळ-वि०—जो चंचल न हो, धीर, गंभीर, स्थिर।

अचंचळता-सं०स्त्री०—स्थिरता, गंभीरता।

अचंचळपण, अचंचळपणो-सं०पु०—स्थिरता, गंभीरता।

अचंट-सं०पु०—रोकड़ रुपया।
वि०—१ उग्रताशून्य, शान्त. २ सुशील।

अचंड-वि०उ०लि० [सं०] १ उग्रताशून्य, शान्त. २ सुशील।

अचंती-वि०स्त्री०—१ अचिंत्य, अज्ञेय. २ कल्पनातीत, अतुल. ३ आकस्मिक। उ०—एही भली न करहला, कळहळिया कइकांण। का प्रिय संगां प्रांण करि, कांई अचंती हांण।—ढो.मा.

अचंतो-सं०पु०—एक प्रकार का घोड़ा (शा.हो.)

अचंबो, अचंबौ-सं०पु० [सं० असंभव] आश्चर्य, विस्मय।

अचंभ-वि०—१ चकित, विस्मित, आश्चर्यान्वित। उ०—समहर वळवाहतां असमर, छूटा फिरंग दळां रत छोळ। रातो देख अचंभ वंत रतनाकर, चामल किम कीवो रंग चोळ।—चंडीदांन मीसण
२ आश्चर्यजनक। उ०—ग्रिह-ग्रिह प्रति भींति सुगारि हींगळू, ईंट फिटकमै चुग्गी अचंभ।—वेलि.
सं०पु०—आश्चर्य, विस्मय। उ०—अचंभ लस्यो परचे घट एह, वस्यो हररांम स्वदेस विदेह।—ऊ.का.

अचंभणो, अचंभवो-क्रि०अ०—आश्चर्य करना। उ०—अचंभियो भांण मवकर हरा ऊपरै, धोम दुहवा इसी वाद धिखियो।—गोरधन गाडण

अचंभनि, अचंभनी-सं०पु०—आश्चर्य। उ०—मानहु कांमनि कांम, रंभ लखि होत अचंभनि।—ला.रा.

अचंभम, अचंभव-सं०पु० [सं० असंभव] आश्चर्य, विस्मय, अचंभा।
उ०—हुय धरा नरां नर हैमरां, उरध अचंभम अम्मरां।—रा.रू.

अचंभित-वि०—चकित, विस्मित, आश्चर्यान्वित।

अचंभो, अचंभौ-सं०पु० [सं० असंभव] विस्मय, आश्चर्य।

अचंभ्रम-सं०पु० [सं० असंभव] अचरज, आश्चर्य, विस्मय।
उ०—एक अचंभ्रम परखणै, अति छति सकति अजेव।—रा.रू.

अच-सं०पु०—१ हाथ, कर। उ०—करणी 'सेखो' काढ़ियो, ग्रहि अच लाई घर।—जुंझारसिंह मेड़तियो
देखो 'आच'। [सं० अच] २ स्वर।
क्रि०वि०—अचानक, अकस्मात।

अचकन-सं०पु०—बंद गले का एक प्रकार का कोट जो घुटनों तक लंबा होता है।

अचको, अचक्को-क्रि०वि०—१ अचानक, एकदम।
२ अनजान, अपरिचित।

अचक्षु-वि० [सं० अ+चक्षु] नेत्ररहित, अंधा।

अचगळ-वि०—१ उदार, दातार। उ०—परिखै गुण पिंगळ, आचि अचगळ, भोज रा भुज भार।—ल.पि. २ श्रेष्ठ, बढ़िया।

अचड़-सं०स्त्री०—१ उत्तम कार्य, श्रेष्ठ कार्य. २ कीर्ति, यश।
वि०—अचल, स्थिर। उ०—वैकुंठ गयो वीठल्ल रो, अजवसाह राखे अचड़।—रा.रू २ बड़ा, महान. ३ बढ़िया, श्रेष्ठ।
उ०—ऊवरी अचड़ वातां जग ऊपरै।—जसजी आढ़ो

अचड़पण, अचड़पणो, अचड़पणौ-सं०पु०—१ उत्तम कार्य. २ श्रेष्ठ कार्य का गुण या शक्ति. ३ उदारता. ४ शौर्य।

अचड़ांकरण-वि०—अचल कार्य करने वाला।

अचणो, अचवो-क्रि०स०—१ आचमन करना. २ खाना, भक्षण करना। उ०—अचै कवण जहर विण ईस।—र.रू

अचपड़ा-सं०पु०—शीतला रोग से मिलता-जुलता अधिकतर बच्चों को होने वाला एक रोग विशेष जो शीतला व ओरी के समान भयंकर नहीं होता।

अचपळ, अचपळउ-सं०स्त्री०—चंचलता।
वि०—चंचल, नटखट, चपल।

अचपळता-सं०स्त्री०—नटखटपन, चंचलता।

अचपळो, अचपळौ-वि०पु० (स्त्री० अचपळी) १ नटखट, चंचल,

अड़भंगी–वि० उन्मत्त. २ उद्दण्ड. ३ चंचल. ४ शक्तिशाली।
अड़व—देखो 'अड़व'।
अड़वड़–सं०स्त्री० [अनु०] १ एक साथ बहुत से आदमियों के चलने से होने वाली आवाज. २ देखो 'अड़वड़'. ३ आतुर।
अड़वड़णौ, अड़वड़वौ–क्रि०अ०—१ एक साथ चलना. २ हड़बड़ाना. ३ भीड़ में धक्का-पेल करना। उ०—हींचता वाछड़िया तांवाड़, मिळै जद गायां अड़बड़ जाय।—सांझ ४ शीघ्रता करना।
अड़वड़ाट—देखो 'अड़वड़ाट'।
अड़वौ–सं०पु०—चिथड़े एवं घास-फूस का बनाया हुआ वह पुतला जो खेत में चिड़ियों या अन्य कृषि-हानिकारक पशुओं को दूर रखने के लिए रक्खा जाता है।
कहा०—खेत में अड़वा ज्यूं कांई ऊभौ है—मूर्ति के समान खड़ा होकर (मूर्ख के समान) क्या देख रहा है?
अड़व्वड़—देखो 'अडवड़'।
अड़सट–वि० [सं० अष्टषष्टि, प्रा० अट्ठसट्ठि, अप० अठसट्ठि] साठ और आठ के योग के बराबर।
सं०स्त्री०—साठ और आठ के योग की संख्या।
अड़सटमौ–वि०—जो क्रम में सड़सठ के बाद पड़ता हो।
अड़सटे'क–वि०—लगभग अड़सठ।
अड़सटौ, अड़सठौ–सं०पु०—अड़सठवां वर्ष।
अड़सट्ठ, अड़सट्ठि—देखो 'अड़सट'।
अड़साल, अड़सालौ–वि० [सं० अरि+शल्यं] १ शत्रु के लिए शल्य रूप, बहादुर. २ ईर्ष्यालु। उ०—दळ असेस दुखेस सुणे विगती अड़सालां।—रा.रू. ३ हठी, जिद्दी।
अड़सूल–सं०पु०—खेत में बेकार के छोटे-छोटे पौधे, झाड़ियां आदि निकालने की क्रिया (क्षेत्रीय)
अड़ा–सं०स्त्री०—युद्ध, लड़ाई।
अड़ाई–सं०स्त्री०—अटकाव, बाधा, विघ्न, रुकावट। उ०—कसवा नोलगढ़ के तौ जमीं की सांकड़ाई। समर्थसिहजी का कैर कांकड़ की अड़ाई।—शि.वं.
अड़ाक, अड़ाकी, अड़ाकू–वि०—१ अकड़ने वाला, अकड़ू. २ जिद्दी. ३ अड़ियल। उ०—ईत तणौ नह भीत अगंजी, मांन दुजा मन मेर। आखेटां मजबूत अड़ाकी, जीत किया खळ जेर।—र.रू.
अड़ाखड़ी–सं०स्त्री०—१ टंटा, फिसाद, लड़ाई. २ वैमनस्य, द्वेष।
अड़ाग–वि०—१ जबरदस्त, बलवान. २ अड़ने वाला, लड़ने वाला।
अड़ाड़–सं०पु० [अनु०] १ चलने की आवाज. २ तेज वायु की ध्वनि।
अड़ाझड़–सं०स्त्री० [अनु०] ध्वनि विशेष।
क्रि०वि०—निरंतर, लगातार।
अड़ाणौ, अड़ावौ–क्रि०स० [अड़णौ का स.रू.] १ अटकाना, रोकना. १ उलझाना, फँसाना. ३ ठूंसना, भरना. ४ रुकावट डाल कर गति रोकना. ५ स्पर्श कराना।
अड़ाणियौ–वि०—अड़ाने वाला।
अड़ायोड़ौ–भू०का०कृ०—अड़ाया हुआ।
अड़ावणौ, अड़ाववौ—रू०भे०।
अड़ापड़ी–वि०—साधारण (बात), मामूली।
अड़ाभड़–सं०स्त्री० [अनु०] एक ध्वनि विशेष। उ०—घूमर घालै गोह स्याळिया संख अड़ाभड़।—दसदेव
अड़ाभड़ी–सं०स्त्री०—बहुत से मनुष्यों का समूह, जमघट भीड़।
अड़ाभीड़–वि०—अस्त्र-शस्त्रों से सुसज्जित।
सं०स्त्री०—भीड़, देखो 'अड़ाभड़ी'।
अड़ायत, अड़ायतौ–वि० (स्त्री० अड़ायती) १ बलवान, शक्तिशाली. २ आड़ करने वाला, जो ओट करे. ३ अड़ने वाला, जिद्दी, दुराग्रही उ०—तद सूरौ तौ घणौ ही जांणी जे राजूखां सरीखौ सरदार इतरी आजीजी नोहरा करै छै तौ टिकणौ वाजिव छै पण खींवौ अड़ायत पूरौ सो रहै नहीं।—सूरे-खींवे कांधळोत री वात
अड़ाळ–सं०पु०—एक प्रकार का नृत्य, मयूर नृत्य।
वि०—जिद्दी, हठ करने वाला।
अड़ाव–सं०पु०—१ प्रतिबंध, विघ्न, बाधा, परहेज, रोक. २ झुण्ड, समूह ३ आवश्यकता, जरूरत. ४ वह खेत जो लगातार जोते जाने के कारण कमजोर हो गया हो और फिर उपजाऊ शक्ति ग्रहण करने के लिए कुछ समय तक परती छोड़ दिया गया हो।
अड़ावणौ, अड़ाववौ—देखो 'अड़ाणौ'।
अड़ावियोड़ौ—वि०।
अड़ाविओड़ौ, अड़ावियोड़ौ, अड़ाव्योड़ौ—भू०का०कृ०।
अड़ियल, अड़ियल्ल–वि० उ०लि०—१ अकड़ कर चलने वाला, अकड़ू. २ बार-बार चलते समय हठपूर्वक रुक जाने वाला. ३ जिद्दी, हठी। उ०—भाय दाय क्रमि भरै पाय लंगर खरळक्कै। ऐंड वैंड अड़ियल्ल नीठ दोय पैंड सरक्कै।—रा.रू.
अड़ियाल–वि०—१ योद्धा. २ अकड़ू ३ उद्दंड, हठी। उ०—अड़ियाल लये केइ तुरस ओट, चड़ियाल करै केइ अंखळ चोट।—पा.प्र.
अड़ियोड़ौ–भू०का०कृ०—१ स्पर्श किया हुआ. २ अड़ा हुआ, अटका हुआ. ३ अकड़ा हुआ. ४ फँसा हुआ, उलझा हुआ।
(स्त्री० अड़ियोड़ी)
अड़ी–सं०स्त्री०—१ रोक, अड़ान. २ हठ, आग्रह, दुराग्रह।
मुहा०—अड़ी करणौ—मचलना।
३ गहरी आवश्यकता. ४ आवश्यक समय जुटने का भाव, मौका।
वि०—स्पर्श की हुई।
अड़ीखंभ–वि०—१ शक्तिवान, पुष्ट, जोरावर। उ०—खैरवे इंद्र जोधौ नहीं अड़ीखंभ।—सुरतौ बोगसौ २ अडिग, अचल, अटल।
उ०—मांझिया ऊवेड़ जाड़ा राड़ा जीत मारवाड़ा, आपै ऊपैहरा राजा घाड़ा अड़ीखंभ।—महादांन महड़ू
अड़ीजोध–वि०—बड़ा वीर, महावीर।

अचित-सं०पु० [सं० अचित्] १ रामानुजाचार्य के मतानुसार तीन पदार्थों में से एक, अचेतन, जड़, प्रकृति। क्रि.वि.-यकायक, चितारहित।

अचिरज, अचिरिज—देखो 'अचरज'। उ०—सांतळ नइ मनि साहण देखी, मोटउ अचिरज भावइ।—कां.दे.प्र.

अचींत—देखो 'अचित'।

अचींतियां-क्रि०वि० [सं० अचिंत्य] अकस्मात्, यकायक, एकाएक। उ०—आवी खबर अचींतियां, विसमें जैसी वृत्त।—रा.रू.

अचींती-देखो 'अचित'। उ०—असतखांन उर थयौ अचींतौ, विचित्रां तणौ सोच सुण वीतौ।—रा.रू.

अचीती-वि० [सं० अचिंत्य] कल्पनातीत, जो चिंतन करने योग्य न हो, अज्ञेय।

क्रि०वि०—दैवात्, सहसा। उ०—ओभळै अचीती रांन लागां उमंग, प्रतीती वडम याळां भमंग पूत।—लिछमणसिंह सीसोदिया रौ गीत

अचीती-वि० [सं० अचिंत] निशंक, अचिंतित। उ०—अबपत वर अजमेर अचीतौ आवसी, वातां सांमधरम तणी रह जावसी।—रा.रू.

अचीरज—देखो 'अचरज'।

अचूंकौ-वि०—१ अद्भुत अनोखा। उ०—ऊठि अचूंका बोलणा, नारि पयंपै नाह।—हा.झा. २ न चूकने वाला।

अचूंडौ-वि०—भयावह, डरावना। उ०—दवारां तणौ करै नत देखौ, चूंडो करै अचूंडा चाव।—रावत संग्रामसिंह चूंडावत रौ गीत

अचूंवौ, अचूंभौ-सं०पु० [सं० असंभव] आश्चर्य, अचंभा।

अचूक-वि० [सं० अच्युत] १ जिसमें भूल न हो, ठीक. २ भ्रमरहित. ३ न चूकने वाला अमोघ। उ०—मेणा तणी जड़ाळी समहरि, हुवतै चूक अचूक हुई।—कल्यांणदास जाडावत

अचूकाळ—देखो 'अचूगाळ'।

अचूकौ-वि० [सं० अच्युत] नहीं चूकने वाला।

अचूगाळ-सं०पु०—१ वह पशु जो स्वच्छता का विशेष ध्यान रखता हो, २ स्वच्छता का अत्यधिक ध्यान रखने वाला।

कहा०—अचूगाळ कीच मे पड़ै—अत्यधिक स्वच्छता रखने वाले व्यक्ति को मौका पड़ने पर कभी गंदे स्थान में भी रहना पड़ता है।

अचेत-वि० [सं०] १ चेतनारहित, बेसुध, संज्ञाशून्य।

क्रि०प्र०—करणौ, होणौ।

२ विकल. ३ असावधान, अनजान, बेखबर। उ०—आयुध अनीह-हय परच सेत, घन घाव मीर घूमत अचेत।—ला.रा.

४ नासमझ, मूर्ख. ५ जड़।

सं०पु०—१ निर्जीव पदार्थ, जड़. २ प्रकृति. ३ अज्ञान. ४ माया।

अचेतण, अचेतन-वि०—जिसमें चेतना का अभाव हो, चेतनारहित, ज्ञानशून्य। उ०—भूल्यौ इतरा भेद वींणती मेघ करंतां। न चेत अचेतण ग्यांन कांम कवांण चढ़ंतां।—मेघ.

अचेतौ-वि० (स्त्री० अचेती) १ अचेत. २ असावधान। उ०—सिखर ते धरती रहइ नीम्या, अंधला! असूरं! असती! अचेती।—वी.दे.

अचैन, अचैनूं-सं०पु०—१ व्याकुलता, बेचैनी, विकलता. २ कष्ट। वि०—विकल, बेचैन। उ०—भायां बंसकां सूं तौ जरमी कौ लोभ दायौ, सारी देसवास्यां भी अचैनूं जोरि पायौ।—शि.वं.

अचौ-सं०पु०—मवेशियों के रोमों में चिपक कर रहने वाला एक प्राणी (कीड़ा) जो उनके रक्त पर ही जीवित रहता है।

अचोट-सं०पु०—गढ़, किला (अ.मा.)

अचोळ-वि०—१ शिथिल, सुस्त। उ०—चोळा लेती भासै अंग, अचोळ सचोळा लेती भाव।—र. हमीर २ वह जो लाल न हो।

अच्चड़—देखो 'अचड़'।

अच्चजिणौ, अच्चजिवौ-क्रि०स० [सं० आश्चर्य, प्रा० अच्चरिय] अजरज करना, आश्चर्य करना। उ०—असपती सुणे अच्चजियौ, परम धांम किर प्रगड़ौ।—रा.रू.

अच्चळथांन-सं०पु० [सं० अचल+स्थान] जो स्थान अचल हो। उ०—दिया तैं वार किता वरदांन, थये ध्रू राजस अच्चळथांन।—ह.र.

अच्छ-वि० [सं०] १ उत्तम, भला. २ खरा. ३ साफ, निर्मल. ४ सुंदर।

सं०पु०—१ भालू (डि.को.) २ स्वच्छ जल (डि.को)

सं०स्त्री० [सं० अक्षि] ३ आँख, नेत्र।

अच्छकच्छक-वि०—१ अपार, बहुत (रू.भे.-अछकछक)

अच्छत—देखो 'अछत'।

अच्छर-सं०स्त्री० [सं० अप्सरा] १ अप्सरा, देवांगना। उ०—वरि थक्कै वरिहूर सूर वरि थक्कै अच्छर।—ला.रा.

२ वेश्याओं की एक जाति विशेष।

सं०पु० [सं० अक्षर] ३ देखो 'अक्षर'।

वि० [सं० अच्छ] अच्छा, उत्तम।

अच्छरा, अच्छरि, अच्छरी-सं०स्त्री० [सं० अप्सरा] अप्सरा, देवांगना। उ०—जठै हाडै कहियौ ए कुंकुम रा दुकूळ तौ अच्छरीगणां रै उचित जांणि कीधा।—वं.भा.

अच्छाई-सं०स्त्री० [सं० अच्छ+ई-रा०प्र०] अच्छापन, सुंदरता, सुघराई।

अच्छापण, अच्छापणौ-सं०पु० [सं० अच्छ+पण, पणौ-रा०प्र०] उत्तमता।

अच्छारौ-वि० [सं० अच्छ] अच्छा, बढ़िया।

अच्छि*, अच्छियउ-वि० (प्रा०रू०) [सं० अच्छ] अच्छा, बढ़िया, उत्तम, सुंदर। उ०—अंगि अभोखण अच्छियउ, तन सोवन सगळाइ।—ढो.मा.

अच्छूगाळ—देखो 'अचूगाळ'।

अच्छूतौ—देखो 'अछूतौ'।

अच्छेप—देखो 'अछेप'।

अच्छेहौ—देखो 'अछेहौ'।

अच्छौ-वि० [सं० अच्छ] १ अच्छा, बढ़िया. २ उत्तम, श्रेष्ठ. ३ सुघड़, सुंदर. ४ ठीक।

चपल। उ०—अचपळौ दिनड़ौ होसी रात, चांनणौ होसी घोर अंधार।—सांझ

कहा०—हालै न चालै म्हारौ नांम अचपळौ—न हिल सके, न चल सके, किन्तु नाम नटखट। जब नाम गुणों के विपरीत हो।

२ उत्पाती, बदमाश।

अचप्पळ—देखो 'अचपळ'। उ०—खइंगरू वहइ गति नंदघोख, मछराळ **अचप्पळ** पमण मोख।—रा.ज सी.

अचमन—देखो 'आचमन'।

अचर–सं०स्त्री०—१ अप्सरा। उ०—वर **अचर** विमं वर जेण वार, हूरां वर वरिया सर हजार।—वि.सं

सं०पु०—२ ऊँट को होने वाला एक रोग विशेष जिसके कारण वह खाना-पीना बंद कर देता है। यह रोग उसे कोई विषैला पदार्थ खाने से हो जाता है।

वि० [सं०] ठहरा हुआ, न चलने वाला, स्थावर।

अचरज–सं०पु० [सं० आश्चर्य] किसी नई, अभूतपूर्व या असाधारण बात के देखने, सुनने या ध्यान में आने से उत्पन्न होने वाला एक प्रकार का मनोविकार, आश्चर्य, विस्मय।

क्रि०प्र०—करणौ, होणौ।

अचरजणौ, अचरजबौ–क्रि०अ०—आश्चर्यान्वित होना।

अचरज्ज—देखो 'अचरज'।

अचरज्जणौ, अचरज्जबौ–क्रि०अ०—आश्चर्य करना विस्मित होना। (रू.भे. 'अचरजणौ') उ०—असपति निरख **अचरज्जियौ**, रूप परख कुळ राह मैं।—रा.रू.

अचरिज, अचरिज्ज—देखो 'अचरज'। उ०—लिखमी आप नमे पाइ लागी, **अचरिज** कौ लाधै अरथ।—वेलि.

अचळ–वि०—१ जो न हिले, निश्चल, चिरस्थायी. २ दृढ़।

सं०पु०—१ पर्वत (अ.मा.) २ सूर्य (क.कु.बो.) ३ पृथ्वी (डिं.को.) ४ इन्द्रासन (अ मा.) ५ यश. ६ ध्रुव. ७ सुमेरु पर्वत. (नां.मा.) ८ जैनियों का पहला तीर्थंकर. ९ श्रेष्ठ कार्य, महान कार्य. (मि० अचड़) उ०—अमरसिंह गजसिंह के, करी **अचळ** राठौड़। कांन वाढ़ बूचौ कियौ, गुन्हैगार छै गौड़।

—राठौड़ अमरसिंह री बात

१० सात की संख्या सूचक*। उ०—वरसि **अचळ** गुण अंग ससि संवति, तवियौ जस करि स्री भरतार।—वेलि.

अचळकीळा–सं०स्त्री० [सं० अचलकीला] पृथ्वी।

अचलतौ–वि०—चलचित्त।

अचळा–वि०स्त्री०—१ स्थिर, निश्चल. २ चिरस्थायी।

सं०स्त्री०—पृथ्वी (अ.मा., डिं.को.)

अचळेस, अचळेसर, अचळेसुरय*–सं०पु० [सं० अचलेश्वर] १ शिव. महादेव. २ आबू पर्वत का एक भाग जहाँ पर अचलेश्वर का मंदिर है।

अचळ्ळ—देखो 'अचळ'। उ०—रूकहथा हरदास रा, अजरा खरा **अचळ्ळ**।—रा.रू.

अचवन—देखो आचमन'।

अचांचक, **अचांण, अचांणक, अचांणचक, अचांणचूकौ, अचांणजक, अचांणी, अचांन, अचांनक, अचाक**–क्रि०वि०—अचानक, अकस्मात, यकायक। उ०—१ हमलौ कर आदमी हजार डेढ़ सूं **अजांणचक** गया सो गांव सूं एक कोस उरै जाय नौबत वजाई।—सूरे खीवे री बात

उ०—२ छोळ चढ़ै कैळास पाहुण जोग **अचांणी**। कुबदी रांवण हत्थ डूंगरां नींव हिलांणी।—मेघ. उ०—३ नटै निसांन नाद त्यूं तमांम धांम में तनै, वितांन आंन रेनु कौ, **अचांन** भांन के वनै।—ऊ का.

अचागळ अचागळो, अचागळौ–वि०—१ अडिग, अचल. २ उदार, दातार. ३ वीर. बहादुर (रू भे अचगळ) उ०—अमर अनइ पीथल्ल **अचागळ**, वरविय राइमल्ल अतुळीवळ।—रा.ज.सी.

अचाचूक–क्रि०वि०—अकस्मात, अचानक।

अचाणौ, अचाबौ—देखो 'अचणौ अचवौ'। उ०—यौं मुख वीरी आप, यौं गंगोद **अचाया**।—वं.भा.

अचार–सं०पु० [फा०] १ फल अथवा तरकारियो में नाना प्रकार के मिर्च मसाले डाल कर तैयार किया हुआ खाने का पदार्थ।

[सं० आचार] २ देखो 'आचार'।

अचारज–सं०पु० [सं० आचार्य] १ आचार्य. २ एक जाति विशेष जिसके व्यक्ति मृतक की अंत्येष्टि संस्कार की क्रिया आदि संपादित कराते हैं. ३ इस जाति का कोई व्यक्ति।

अचारवती–सं०स्त्री०—आचार-विचार से रहने वाली, शुद्ध आचरण करने वाली। उ०—ऐसी कहा **अचारवती**, रूप नहीं एक रती।—मीरां

अचाळ–वि०—१ बहुत अधिक. २ चालरहित. ३ तेज. ४ भयंकर, प्रचंड. ५ अटल अचल। उ०—आडो पर्बराट वीर वैराट **अचाळ** ऊभौ।—हुकमीचंद खिड़ियौ

सं०स्त्री० [सं० अचला] पृथ्वी, धरती।

अचावा, अचासा–सं०पु०—विवाह के पश्चात् ही वधू का कुछ रस्में पूरी करने वर के घर जाने का एक रिवाज (विशेष) (श्रीमाली ब्राह्मण)

अचाह–सं०स्त्री० [सं० अ+फा० चाह] अरुचि, अनिच्छा।

वि०—इच्छा न रखने वाला।

अचाही–वि० [सं० अ+फा० चाह+ई–रा०प्र०] किसी पदार्थ की इच्छा न करने वाला, निस्पृह।

अंचित–क्रि०वि०—अकस्मात, यकायक। उ०—आई खबर **अंचित** री, मिटगी तन री दाह। इम कासीदां अक्खियौ, मरगौ 'औरंगसाह'।

—अज्ञात

वि०—निश्चित (रू.भे.–अचींत)

अंचितणीय–वि० [सं० अचिंतनीय] जिसका चिंतन न हो सके, अज्ञेय, निर्बोध।

अंचित्य–वि० [सं०] वह जिसके विषय में सोचा न जा सके।

सं०पु०—ईश्वर।

अंचित्यौ–क्रि०वि० [सं० अचिन्त्य] १ विना सोचा हुआ. २ अकस्मात, सहसा।

४ अक्षय. ५ अखण्ड. ६ अपूर्व, अभूतपूर्व। उ०—अर भावती सुता रा स्वसुर आप विवाहिरिए री प्रारथना रैं प्रमांण विवाहण री वात विरुदां रा विसेस निवाहण री निहारि अछूतौ जस लीजैं।—वं.भा.

सं०पु०—स्पर्श करने का भाव। उ०—भगवान रैं अछूतौ करनैं खावणौ चाहीजै।

अछेक–वि०—छिद्ररहित, कटावरहित, अखण्ड। उ०—अतिक्रम विक्रम विक्रम आस्य, अछेक अनेकन ग्रंक उपास्य।—ऊ.का.

अछेद–वि० [सं० अछेद्य] १ जिसका छेदन न हो सके, अभेद्य. २ अखंड. ३ निष्कपट।

सं०स्त्री०—अभिन्नता, अभेद।

अछेप–सं०पु०—अस्पृश्य, अछूत।

वि०—अछूत।

अछेरौ–वि०पु० [सं० अच्छ] १ बढ़िया, अच्छा, श्रेष्ठ। उ०—देस-देस 'लाखा' हुवा, जस थारौ जेहल्ल। जावैं पिरा जावैं नहीं, एह अछेरा गल्ल।—वां.दा.

सं०पु०—१ आश्चर्य, विस्मय। उ०—रतन दिली सूं आंणियौ, सूरा है समरत्थ। ग्रहियौ म्हे चीतोड़गढ़, किसूं अछेरा कत्थ।—वां.दा. [रा०] २ आधा सेर तोल का एक बाट।

अछेह–वि० [सं० अछेद्य] १ अखंडित, छेदरहित. २ छेह न देने वाला, अथाह. ३ अनन्त। उ०—अगम्भ अछेह उदार अनोप।—ह.र. अत्यन्त, ज्यादा. ५ सीमा या मर्यादारहित। उ०—अनाथांनाथ अनंत अछेह।—ह.र.

सं०पु०—परब्रह्म।

क्रि०वि०—लगातार, निरंतर। उ०—अरणी अगनि अगर मैं इंधरा, आहुति घ्रत घणसार अछेह।—वेलि.

अछेहवं–वि०—१ अपार, अथाह, जो समाप्त न हो। उ०—मरजाद सर सर सरिति अनुमिति छूटि जात अछेहवं।—रा.रू. २ देखो 'अछेह'।

अछेहरी–वि०स्त्री०—बढ़िया, श्रेष्ठ। उ०—बेंडाकां सांमहां सत्रां ताके अछेहरी वागां।—रावत हिम्मतसिंह सक्तावत री गीत

अछेही–वि०स्त्री०—१ बढ़िया, सुन्दर. २ निर्दय, निष्ठुर. ३ निर्मोही।

अछेहौ–वि०—१ जिसे शीघ्र क्रोध न आवे, गहरा मनुष्य, गंभीर. २ अनन्त, अपार, जो समाप्त न हो। उ०—अछेहौ वदन्ना वांणी बोलतौ पुलस्त्य जैसौ, क्रोधाळ असूळ तसां तोलतौ करूर।—र.रू.

अछै—'है' क्रिया का प्राचीन रूप। उ०—अछै हरि तूंहिज आपो-आप, बुझां हिव तूझ विर्यां नहि बाप।—ह.र.

अछोड़ी–वि०—अच्छी, बढ़िया।

सं०स्त्री०—१ ज्वार. २ महीन रेत।

अछोतौ—देखो 'अछूतौ'।

अछोभ–वि० [सं० अक्षोभ] १ अचंचल, स्थिर. २ उद्वेगशून्य, खेद-रहित, क्षोभरहित. ३ माया-मोहशून्य. ४ निडर, निर्भय, ५ जिसे नीच कर्म से ग्लानि न हो, नीच. ६ लोभरहित. ७ गंभीर।

अछोर–वि० [सं० अ+छोर=सीमा] अनन्त, बहुत अधिक, जिसका छोर न हो।

अछोह–सं०पु० [सं० अक्षोभ, प्रा० अच्छोह] १ शांति, स्थिरता. २ निर्दयता।

अछ्यौ–वि० [सं० अच्छा] अच्छा, उत्तम।

अजंग–वि० [सं० अ+फा०जंग] १ जंगरहित, विना युद्ध। उ०—अभंग अपंग असंग असंन, अरंग अजंग अत्रंग अनंत।—ह.र. २ भयावह। उ०—जंगळ देस अजंग थळ, कोहड़ैं ऊंडा नीर। ढोलो खड़ै उतावळा, सैणां तणै ज सीर।—ढो.मा.

अजंगम–सं०पु०—छप्पय नामक मात्रिक छंद का ३३वां भेद जिसमें ३८ गुरु ७६ लघु से ११४ वर्ण या १५२ मात्रायें होती हैं।

अजंगी–वि०—भयंकर। उ०—राज रा अजंगी जंगां भागा आमुरांण।—सवाईसिंह री गीत

अजंट–सं०पु० [अं० एजेन्ट] १ किसी दूसरे की ओर से काम करने वाला अधिकृत व्यक्ति. २ प्रतिनिधि. ३ आढ़तिया, दलाल।

अजंटी, अजंठी–सं०स्त्री० [अं० एजेन्ट] १ प्रतिनिधि का कार्यालय. २ अजंट का कार्यालय, पुरानी रियासतों में ब्रिटिश काल में अंग्रेजों की ओर से रहने वाले प्रतिनिधि का कार्यालय।

अजंप–वि०—जो कहने में न आ सके, अकथनीय। उ०—गांमी गंवार कोई अचांणक देखै, उर मैं अजंप कंप उमर भर लेखैं।—रा.रू.

अजंसी—देखो 'अजंटी'।

अज–वि० [सं०] जिसका जन्म न हुआ हो, स्वयंभू। उ०—अलाव निरंजण अज अविकारी, व्याप रह्या सब जग मांहीं।—गी.रां. २ क्रूर। (डि.को.)

सं०पु० [सं०] १ देवता (अ.मा.) २ श्रीकृष्ण (नां.मा.) ३ ब्रह्मा. (डि.को.) ४ विष्णु. ५ शिव (अ.मा.) ६ कामदेव. ७ सूर्यवंशी राजा दशरथ के पिता. ८ बकरा, मेंढ़ा।

सं०स्त्री०—१ माया, शक्ति. २ ज्योतिष में शुक्र की गति के अनुसार तीन नक्षत्रों की एक वीथि।

क्रि०वि० [सं० अद्य, प्रा० अज्ज] १ अभी तक. २ अब. ३ आज। उ०—सुन स्वार विचार तजौ सब ही, अज कांम करौ सो करौ अब ही।—ऊ.का.

अजइपुर–सं०पु० (प्रा०रू०) अजमेर का एक नाम (रू.भे.)

अजक–वि० [सं० अ+जक=चैन-रा०] १ बेचैन, व्याकुल. २ चंचल. उ०—जसा हर करी मचकाय जकड़ीदणी। आठ पौहरां रहै अजक ओड़ीदणी।—महादांन महड़ू ३ सतर्क। उ०—वणी अजकां तणी रहै सजकी धरा।—महादांन महड़ू

क्रि०वि०—१ घबराया हुआ. २ चंचलता से। उ०—फौंजे अजक

क्रि०प्र०—करणी, होणी ।

अच्छोहीणी—देखो 'अक्षौहिणी' ।

अच्युत—वि० [सं०] १ जो गिरा न हो, अटल, दृढ़. २ अविनाशी. ३ जो न चूके ।

सं०पु०—१ विष्णु. २ श्रीकृष्ण (अ.मा.) ३ विष्णु का कोई अवतार. ४ चार श्रेणी के जैन देवताओं में वैमानिक श्रेणी के कल्पभव नामक देवताओं का एक भेद ।

अच्युताग्रज—सं०पु० [सं० अच्युत+अग्रज] श्रीकृष्ण के बड़े भाई बलराम

अच्युतानंद—वि० [सं० अच्युत+आनंद] जिसका आनंद नित्य हो ।

सं०पु०—परब्रह्म, नित्यानंद, ईश्वर । उ०—नमौ ब्रह्म-केवळ राखण-व्रज्ज, नमौ अच्युतानंद गोविंद अज्ज ।—ह र.

अचूज—देखो 'अचरज' ।

अछंट—वि०—अलग, पृथक, दूर । उ०—धीरण रा पांणि रा प्रहारण हू वीरमदेव रौ मुड अछंट उडि पड़ियौ ।—व.भा.

क्रि०वि०—अचानक, अकस्मात् । उ०—तेग वखांणौ कंत री, आडै वाज अछंट । वेखीजै जिम वाप रै, वेटां दो घर वंट ।—वी.स.

अछइ—'है' क्रिया का रूप । उ०—अहर-रंग रत्तउ हुवइ, मुख काजळ मसि वन्न । जांण्यउ गुंजाहळ अछइ, तेण न ढूकउ मन्न ।

—ढो.मा.

अछक—वि०—१ न छका हुआ, अतृप्त, भूखा. २ उन्मत्त, मस्त ।

उ०—अटक दक तक मुलक अकवक अछक छक भट ललक अति धक तुपक चलि हक ।—वं भा.

अछकछक—वि०—अपार । उ०—छिल वहत धक-धक अछक-छक, अंत-राळ गरळक ढुळ इधक ।—रा.रू.

अछक्कणौ, अछक्कबौ—क्रि०अ०—१ छकना, तृप्त होना । उ०—दोऊं ओर दुवाह यौं असि वाह अछक्कै ।—वं.भा.

२ अतृप्त रहना, न अघाना । उ०—खळकीय खग्ग हळकीय खाप, अछकिय छकिय संकर आप ।—गो रू.

अछक्कणहार, हारौ (हारी), अछक्कणियौ—वि०—१ तृप्त होने वाला. २ अतृप्त रहने वाला ।

अछकिओड़ौ अछकियोड़ौ. अछक्योड़ौ—भू०का०कृ०—१ तृप्त. २ अतृप्त ।

अछड़—सं०स्त्री०—श्रेष्ठ कार्य । उ०—अत अछड़ां करण माझियां मारण, कटकां अटक केवियां काळ ।—वां.दा.

अछड़ी—सं०स्त्री०—१ मामूली हलके दाने की ज्वार जो रंग में सफेद होती है तथा जिसका भुट्टा लम्बा होता है ।

अछत—वि०—गुप्त, छिपा हुआ, प्रच्छन्न ।

सं०स्त्री० [सं० इच्छा] १ अभिलाषा, कामना, चाह । उ०—ग्राह गह्यां गजराज ऊवर्यां, अछत करयां वरदांन ।—मीरां २ कमी ।

उ०—पैले भव रै पून, जिकौ इण भव मौ जुड़ियौ, पौह जिणरै परताप, अछत नह कु आभड़ियौ ।—पहाड़खां आढ़ौ

३ सम्मान. ४ विद्यमानता. [सं० अक्षत] ५ देखो 'अक्षत' ।

क्रि०वि०—१ रहते हुए, उपस्थिति में. २ सिवाय, अतिरिक्त ।

अछतौ—वि०—निर्बल । उ०—हार गयौ अछतौ हुऔ, छतौ थकौ ही छैल । २ गायब. ३ साधनहीन. ४ निर्धन । —वां.दा.

अछर—सं०स्त्री० [सं० अप्सरा] १ अप्सरा (अ.मा.) २ गनिका, वेश्या ।

सं०पु० [सं० अक्षर] ३ देखो 'अक्षर' ।

अछर-भवन—सं०पु०यौ० [सं० अक्षर+भवन] भाल, ललाट (अ.मा.)

अछरवर—सं०पु०—योद्धा (डि.नां.मा.)

अछरांबर—सं०पु०—अप्सराओं द्वारा वरण किया जाने वाला व्यक्ति, योद्धा, वीर । उ०—दोय सहस्र अरु दोयसै, अछरांबर यकसार । वरिया खाटू खेत विच, हूरां होय जुहार ।—शि वं.

अछरा—सं०स्त्री० [सं० अप्सरा, प्रा० अच्छरा] १ अप्सरा, देवांगना २ वेश्या, पतुरिया । (डि.को.)

अछरांणि—सं०स्त्री० [सं० अप्सरा, प्रा० अच्छरा] १ अप्सरा ।

[सं० अक्षर] २ देखो 'अक्षर' ।

अछरी—सं०स्त्री० [सं० अप्सरा, प्रा० अच्छरा] अप्सरा ।

अछरीक—वि०—बहुत, अधिक । उ०—अरि घड़ा गया था सोक अछरीक —वळवंतसिंह गोठड़े रौ गीत

अछळ—वि०—छलरहित, कपटरहित ।

अछांनौ—वि०पु० [सं० अ+रा० छांनौ=गुप्त] (स्त्री० अछांनी) १ गुप्त, छिपा हुआ, अपरिचित. २ अगुप्त, प्रकट, प्रसिद्ध ।

उ०—जगत अछांनी जांणणै, सो मांनी महाराज ।—रा.रू.

अछाड़—वि०—घायल, आहत । उ०—पड़िया गज खित जांणै पहाड़, उठिया आसुर धिक जुध अछाड़ ।—शि.सु.रू.

अछाय—वि०—कटु वचन न सहन करने वाला (डि.को.)

अछायौ—वि०—१ आच्छादित. २ भरे हुए, परिपूर्ण, पूर्ण । उ०—रोद्र अछाया रोस में, आया सीस अपार । कमधज्जे सांम्हा किया, तिण वेळा तोखार ।—रा.रू. ३ व्याप्त. ४ जोशीला । उ०—ऊपर खांन तणी दळ आया, अर निरदळता कमंध अछाया ।—रा.रू. ५ प्रसिद्ध, मशहूर. ६ कटु वचन सहन न करने वाला । उ०—चली फौज चावै, हुवौ लोक हावै । अठी ऐ अछाया, उठी खेंप आया ।—रा.रू.

अछिप—वि०—अगुप्त, प्रकट ।

अछी—सं०स्त्री० [सं० अप्सरा, प्रा० अच्छरा] अप्सरा, देवबाला ।

अछीज—वि०—जिसकी क्षति या कमी न हो ।

सं०पु०—ईश्वर ।

अछूत—वि० [सं० अ+छुप्त, प्रा० अछुत्त] १ विना छुआ हुआ. २ अस्पृश्य. ३ नया, कोरा, पवित्र ।

सं०पु०—अन्त्यज, निम्न कोटि का व्यक्ति या जाति, शूद्र ।

अछूतौ—वि० [सं० अ+छुप्त, प्रा० अछुत्त] १ नया, ताजा, नवीन. २ कोरा, विना छुआ हुआ, जो बरता न गया हो, पवित्र. ३ अस्पृश्य

सं०पु०—१ गौड़वंश के राजपूतों की उपाधि. २ गौड़वंशीय या चौहानवंशी राजपूत. ३ अजमेर की ओर होने वाले बैलों की एक नस्ल या इस नस्ल का बैल. ४ अजमेर का निवासी।

अजमो–सं०पु० [सं० यवानिका] १ अजवायन।

कहा०—कीरी मा अजमो खायो है—कठिन काम या मुकाबला कौन कर सकता है? (समर्थ व्यक्ति के लिए) २ पुत्र-जन्मोत्सव के अवसर पर गाया जाने वाला लोक गीत।

अजमोद–सं०स्त्री० [सं० अजमोदा] अजवायन के समान एक वृक्ष व उसके बीज जिसके सेवन से प्रायः अजीर्ण दूर होता है।

अजय–सं०पु० [सं० अ+जय] १ पराजय, हार. [रा०] २ छप्पय छंद के ७१ भेदों में से प्रथम भेद जिसमें ७० गुरु, १२ लघु से ८२ वर्ण या १५२ मात्रायें होती हैं।

वि० [सं० अजय्य] अजय, जो पराजित न किया जा सके।

अजयपाळ—देखो 'अजपाळ'।

अजया–सं०स्त्री० [सं०] १ विजया, भांग २ बकरी. ३ दुर्गा, देवी।

वि०स्त्री०—जो जीती न जा सके, अजय।

अजर–वि० [सं०] १ जो बूढ़ा न हो, जरारहित. २ परमेश्वर का एक विशेषण. ३ वह द्रव्य या संपत्ति जो हजम न हो सके (दान) उ०—भय न हुए कर भरांत, अजर दांगो जारण करै। खैरायत कर ख्यांत, नर खावै रे नोपला।—जालजी दववाड़ियौ

४ बलवान, जबरदस्त. ५ जो हराया न जा सके. ६ अच्छा, भला, सुंदर।

सं०पु०—१ देवता. २ महादेव. ३ विष्णु. ४ हनुमान. ५ श्रीकृष्ण (अ.मा.)

अजर-अमर–वि० [सं०] १ सदा युवा व जीवित रहने वाला।

सं०पु०—आशीर्वादात्मक शब्द विशेष।

अजरख–सं०स्त्री०—वह रंगीन कपड़ा जिसे सिंधी मुसलमान तहमद बांधने के काम में लेते हैं।

अजरट–वि०—जबरदस्त, बलवान।

अजरघोम–सं०पु०—१ असह्य धुंआ. २ अधिक क्रोध।

अजराइल–देखो 'अजरायल'। उ०—रोज गिणंदा दम गिणै, अजराइल डाकी।—केसोदास गाडण २ देखो 'अजरायल' (रू.भे.)

अजराग–वि०—जबरदस्त, बलवान. २ भयंकर।

अजरामर—देखो 'अजर-अमर'।

सं०पु०—ईश्वर।

अजरायल, अजराल, अजरावल–वि० [सं० अजर+आयल रा०प्र०] १ जो कभी पुराना न पड़े. २ सदा एक सा रहने वाला. ३ पक्का. ४ अमिट. ५ चिरस्थायी. ६ निडर, निर्भय, निशंक. ७ जबरदस्त, शक्तिशाली। उ०—मार पाड़ माचतौ गयौ अजरावल डाकी।—पा.प्र. ८ पहलवान. ९ चंचल, नटखट।

सं०पु०—योद्धा, वीर। उ०—नौ जिमां आयलां सिंह 'गोकळ' तणा घणी अजरायलां तणी धरती।—बदरीदास खिड़ियौ

अजरी–वि०स्त्री०—१ चंचल. २ जबरदस्त। उ०—कहजै धन पोंच कमंधज री, अजरायल आसंग की अजरी।—पा.प्र.

अजरेल, अजरैल—देखो 'अजरायल' (रू.भे.) उ०—अहै गिड़कंद तणौ कुण गैल। उडावत तुंड धकै अजरेल।—पा.प्र.

अजरौ–सं०पु०—वीर; बहादुर। उ०—नजरां गोरां निरखिया, अजरां पारख आज।—आउवा गदर रौ दूहौ

वि०—१ बलवान. २ लड़ाकू. ३ जोशयुक्त जोशीला।

उ०—यह सोमुख बोल सुणै अजरा। घर सेस तजै सुण वांवल रा। ४ चंचल, नटखट। —पा.प्र.

अजरोमर—देखो 'अजर-अमर'।

अजवरया–सं०स्त्री०—सीसोदिया वंश की एक शाखा।

अजवांण, अजवांणी अजवाइन, अजवायण, अजवायणि, अजवायन–सं०स्त्री० [सं० यवानिका] सारे भारत में, विशेष कर बंगाल में, लगाया जाने वाला एक पौधा विशेष। इसके बीजों में एक विशेष प्रकार की महक होती है तथा स्वाद में तीक्ष्ण होते हैं। ये मसाले और दवा के काम आते हैं। भभके पर उतारने से इनमें से अर्क (अमूम का पानी) और तेल निकलता है।

अजवाळ–वि० [सं० उज्ज्वल] १ उज्ज्वल. २ शुभ्र, स्वच्छ. ३ प्रकाशमान. ४ उज्ज्वल करने वाला।

सं०पु०—शुक्ल पक्ष।

अजवाळणौ, अजवाळबौ–क्रि०स०—१ उज्ज्वल करना. २ चमकाना. ३ प्रकाशित करना. ४ प्रतिष्ठा बढ़ाना। उ०—'जैतां' तणी रीत अजवाळी, खागां मुहै पाड़िया खळ।—तेजसी खिड़ियौ

अजवाळणियौ—वि०।

अजवाळिओड़ौ, अजवाळियोड़ौ, अजवाळयोड़ौ–भू०का०कृ०—उजला किया हुआ।

अजवाळियोड़ौ–भू०का०कृ०—१ उज्ज्वल किया हुआ, चमकाया हुआ. २ प्रकाशित (स्त्री० अजवाळियोड़ी)

अजवाळौ–वि०—प्रकाशयुक्त।

सं०स्त्री०—१ चांदनी. २ रोशनी, प्रकाश।

अजस–सं०पु० [सं० अयश] अयश, अपयश, बदनामी। उ०—चाल्यौ जग-जग तैं अजस को न चाख्यौ एक।—ऊ.का.

अजसी–वि० [सं० अयश+ई-रा०प्र०] अपयशी, यशहीन, अख्यात।

अजसुत–सं०पु० [सं०] शिव, महादेव (अ.मा.)

अजस्र–वि० [सं०] चिरस्थायी।

क्रि०वि०—निरंतर, सर्वदा। उ०—अजस्र अस्र घस्र-घस्र विस पीवतौ वह्यौ।—ऊ.का.

अजहति, अजहत्स्वारथा–सं०स्त्री० [सं० अजहत्स्वार्था] साहित्य में शब्द-शक्ति के तीन भेदों में लक्षणा-शक्ति का एक भेद विशेष। इसमें लक्षक शब्द अपने वाच्यार्थ को न छोड़ कर कुछ भिन्न अथवा अतिरिक्त अर्थ

गुलाल करंती कांम जतन रा ।—मेघ.

सं०स्त्री०—व्याकुलता । उ०— खुर सुचि झमक चकमक किलक डक लगि अजक चउ चक पुलक सक कर घमक पखरक अरक रज ढक आजि ।—वं.भा.

अजकणौ, अजकतौ–वि०—१ उद्यत. २ चपल, चंचल ।

उ०—अजकणा टावर तारा काज, करै जोवन जोवरळी घात ।—सांझ

अजकाणौ, अजकावौ–क्रि०अ०—बेचैन होना, चंचल होना ।

उ०—पखिया परदेसी अजकाय, आगमै असमांनी असमांन ।—सांझ

अजकौ–वि०—१ चचल, चपल, उतावला । उ०—तोरण जातां वाहरू, सुणियौ अजकै वीद । लाखा हुए लीधी सखी, मोटै पडवै नींद ।
—वी.स.

२ सतर्क । उ०—थाट घणा घणा रावतां आदवंका थहै, दुझड झल अरंदा प्राण सुभा दहै । कर दुरग रळमी कथ कामण कहै, रात दिन भूप लिछमण अजकौ रहै ।—अज्ञात ३ आतुर । उ०—जांणू अजकौ मेघ जावता कारज म्हारै, परवतिया फूलाळ अलेखां आडा थारै ।—मेघ.

सं०पु०—१ जागृत रहने का भाव, नीद का अभाव. २ वीर. ३ देखो 'अजक' ।

अजगंधा–सं०स्त्री० [सं०] अजवाइन ।

अजगर–सं०पु० [सं०] १ बहुत मोटी जाति का एक सांप । इसके दाँतों में विष नही होता किन्तु बकरी, हिरन आदि को समूचा निगल जाता है.

कहा०—अजगर करै न चाकरी, पंछी करै न काम । दास मलूका कह गये, सब के दाता रांम २ अजगर पडी उजाड मे, दाता देवणहार—अजगर कही परिश्रम करने नही जाता परन्तु दाता परमात्मा उसे खाद्य पहुँचा देता है—आलसी व्यक्ति पर व्यंग से ।

२ आलसी, उद्यमहीन व्यक्ति ।

अजगरी–सं०स्त्री० [सं० अजगरीय] अजगर के समान निरुद्यम वृत्ति ।

वि०—१ अजगर सी. २ विना परिश्रम की. ३ आलसी ।

अजगल्लिका–सं०स्त्री०—अमृत सागर के अनुसार एक क्षुद्र रोग ।

अजगव–सं०पु० [सं०] शिवजी का धनुष, पिनाक ।

अजड़–वि०—१ उद्दंड, अनम्र. २ मूर्ख. [सं०] ३ जो जड़ न हो, सजीव ।

सं०पु० [रा०] देखो 'अजडौ' ।

अजड़ो, अजड़ौ–सं०पु०—वह युवा बैल जो कृषि कार्य के लिए तैयार न किया गया हो ।

वि०—उद्दंड, अनम्र ।

अजटा–वि०स्त्री० [सं० अ+जटा] विना जटा की, जटारहित ।

अजडौ–वि०—उद्दंड, अनम्र ।

अजण–सं०पु०—१ राजा सहस्रार्जुन का नाम (डिं.को.) २ अर्जुन।

अजणदंती–सं०पु० [सं० अंजनदती] पश्चिम दिशा का दिग्गज (वं.भा.)

अजतन्न–सं०पु० [सं० अ+यत्न] विना यत्न, यत्नरहित ।

अजनंद–स०पु० [सं०] अज के पुत्र राजा दशरथ (र.रू.)

अजन–वि० [सं०] १ जिसका जन्म न होता हो, अजन्मा. २ निर्जन, सुनसान ।

सं०पु०—१ निर्जन स्थान. २ अर्जुन । उ०—ताकड़ा अज भीमेण ताय । खांगडा उरस थी भचक खाय ।—वि.सं. ३ सहस्रार्जुन ।

अजनवी–वि० [फा०] अपरिचित, अज्ञात, अनजान ।

अजनम, अजनमौ–वि० [सं० अजन्मा] १ जन्मरहित. २ नित्य अविनाशी अनादि ।

सं०पु०—१ ब्रह्मा. २ विष्णु. ३ शिव. ४ सूर्य (अ.मा.)

अजनी–सं०स्त्री० [स० अजा] बकरी ।

अजन्न–सं०पु० [सं० अर्जुन] १ अर्जुन. २ सहस्रार्जुन । (रू भे. 'अजन')

अजन्म—देखो 'अजनम' । उ०—अकळ अजन्म अलेख अप्रंग्रम, क्रम मम कटै तुझ कथतां क्रम ।—ह.र.

अजप, अजपा–स०पु०—१ तान्त्रिकों के मतानुसार एक मंत्र जिसका उच्चारण नही किया जा सकता, केवल श्वास के गमनागमन द्वारा जप किया जाता है. २ बुरा जाप या पाठ करने वाला व्यक्ति. ३ परब्रह्म, ईश्वर. ४ गायत्री मत्र ५ हंस मंत्र ।

अजपाळ–स०पु० [सं० अजा+पालक] १ वकरियाँ पालने वाला गडरिया. २ संगीत मे भैरव राग का पुत्र संपूर्ण जाति का एक राग (संगीत) ३ जमालघोटा. ४ देखो 'अजयपाळ' ।

अजपौ—देखो 'अजप' ।

अजप्पा—देखो 'अजप' । उ०—अजप्पा-जाप तणौ तूं ईस, अजप्पा तोरा जोग अधीस ।—ह.र. २ गायत्री मंत्र (रू.भे.)

अजब, ~जबीय, अजब्ब–वि० [अ० अजब] अद्भुत, आश्चर्यजनक, विलक्षण ।

अजभक्ष, अजभख–सं०पु० [सं० अजभक्ष] १ बबूल का वृक्ष. २ बेर का पेड या पत्ती जिसे बकरिया बड़े चाव मे खाती हैं ।

अजमत–सं०पु० [अ० अज़्मत] १ प्रताप. २ शान. ३ बडाई, महत्व. ४ चमत्कार ।

अजमाइस–सं०स्त्री० [फा० अजमाइश] अजमाइश, जांच, परख, परीक्षा.

अजमीढ़–सं०पु०—१ युधिष्ठिर. २ चली आती हुई वर्ष गणना का कोई वर्ष । उ०—गंधरवसेण सुत मन गहिर, पलटण सक अजमीढ़ पर ।—वं.भा.

अजमेरी–वि०—अजमेर का, अजमेर संबंधी ।

सं०पु०—१ अजमेर निवासी. २ गोड़वंशीय या चौहानवंशीय राजपूत ।

सं०स्त्री०—अजमेर की भाषा ।

अजमेरौ–वि०—अजमेर का, अजमेर संबंधी ।

सं०पु०—१ चौहान. २ गौड़ राजपूत ।

अजित-वि० [सं०] अपराजित, जो जिता न जा सके ।
सं०पु०—१ श्रीकृष्ण (अ.मा.) २ विष्णु. ३ शिव. ४ बुद्ध. ५ जैनियों के २४ तीर्थङ्करों में से दूसरा ।
अजितनाथ-सं०पु०—जैनियों के दूसरे तीर्थङ्कर का नाम ।
अजिता-सं०स्त्री०—१ भाद्रपद मास के कृष्ण पक्ष की एकादशी. २ इस दिन किया जाने वाला व्रत ।
अजितेंद्रिय, अजितेंद्रीय-वि० [सं० अ+जितेंद्रिय] जो इन्द्रियों के वशीभूत हो, विषयासक्त, इन्द्रियलोलुप ।
अजिन-सं०स्त्री० [सं० अजिनम्] मृगचर्म, मृगछाला ।
अजिया-सं०स्त्री० [सं० अजा] बकरी (अल्पा०) (रू.भे 'अजा')
अजिर-सं०पु० [सं०] आंगन, सहन। उ०—अजिर मारजण गुण ओपाया, महले नवरंग चित्र मंडाया ।—रा.रू.
अजिहमग-सं०पु० [सं० अजिह्मग] बाण, तीर (डिं.नां.मा.)
अजी-अव्यय [सं० अयि] संबोधनसूचक शब्द, अरे, जी ।
अजीज-वि० [अ० अज़ीज़] प्रिय, प्यारा, स्नेही ।
सं०पु०—१ सम्बन्धी, आत्मीयजन. २ मित्र ।
सं०स्त्री०—३ खुशामद, प्रार्थना । उ०—इसी भांति सूं वहोत अजीज कीवी ।—पलक दरियाव री बात
अजीत—देखो 'अजित' ।
अजीतनाथ—देखो 'अजितनाथ' (रू.भे.)
अजीब-वि० [अ०] विलक्षण, विचित्र, आश्चर्यजनक, अनूठा ।
अजीय-क्रि०वि० [सं० अद्य] आज तक, अभी तक, अद्यपर्यन्त ।
उ०—गूजरातिनउ खोखरउ भावउ, अजीय न आवइ पार ।—कां.दे.प्र.
वि० [सं० अजय] विजयी, अजेय ।
अजीया-सं०स्त्री० [सं० अजा] बकरी (अल्पा०) उ०—अजीया जेम आचार, रीझ कीधा गजराजां ।—बुधजी आसियौ (रू.भे. 'अजिया')
अजीरण-सं०पु० [सं० अजीर्ण] अन्न का अच्छी तरह से न पचना, अपच, बदहजमी ।
वि०—१ अविकला, वहुतायत. २ नया, जो पुराना न हो ।
अजीरनग्रह-सं०पु०—पारसियों का दिन में तीसरी बार नमाज पढ़ने का संध्याकालीन समय जो ३ बजे के पश्चात् आरंभ होता है ।
अजीव-वि० [सं०] १ चेतनाविहीन, विना प्राण का, मृत, निर्जीव । [अ० अजीब] २ अजनबी. ३ अद्भुत ।
अजीवन-सं०पु० [सं० अ+जीवन] मृत्यु, मौत ।
वि०—मृत, निष्प्राण ।
अजु-अव्यय—१ और. २ जो । उ०—अति अंब मौर तोरण अजु अंबुज कळी सु मंगळ कळस करि ।—वेलि.
अजुआळ-वि० [सं० उज्ज्वल] उज्ज्वल करने वाला ।
सं०पु०—१ प्रकाश, रोशनी, उजाला. २ चांदनी. ३ अपने कुल अथवा जाति में श्रेष्ठ व्यक्ति । उ०—चूंडा वीरम सळख, साख तेरह अजुआळा ।—वचनिका
अजुआळणौ, अजुआळबौ, अजुआळिणौ, अजुआळिबौ-क्रि०स० [सं० उज्ज्वल] उज्ज्वल करना, चमकाना, प्रकाशित करना । उ०—अणिआळी अणवीह, पंचहजारी पाड़ता । अजुआळै भारथि अमर, सोभा वीकमसीह ।—वचनिका
अजुआळो, अजुआळौ—देखो 'अजुआळ' । उ०—काळै अजुआळौ किओ, आवि दळां अविअट्ट ।—वचनिका
अजुक्त-वि० [सं० अयुक्त] १ अयोग्य. २ अनुचित. ३ युक्तिशून्य. ४ अमिश्रित, अलग. ५ आपदग्रस्त. ६ अनमना ।
अजुगत, अजुगति-सं०स्त्री० [सं० अयुक्ति] १ अयुक्तियुक्त, असाधारण बात. २ अनुचित या असंगत बात ।
अजुध्या-सं०स्त्री०—अयोध्या (अ.मा.)
अजुवाळणौ अजुवाळबौ—देखो 'अजुआळणौ' ।
अजुसार-सं०पु०—वेग (अ.मा.)
अजूं-क्रि०वि० [सं० अद्य] १ आज तक, अभी तक । उ०—जबर दूत मेले समुझावौ, रहम अजूं समजै तो रांवण ।—र.रू.
२ देखो 'अजु' (रू.भे.)
अजूंझौ-वि० [सं० अ+युद्ध+औ-रा०प्र०] भयंकर, डरावना ।
अजूंणौ-वि० [सं० अद्य+णौ-रा०प्र०] (स्त्री० अजूंणी) १ आज का. २ अभी का. ३ असार, साररहित. ४ अरुचिकर, कष्टप्रद ।
उ०—ढळतां मास असाढ़ अजूंणौ सांवण संभियौ ।—मेघ.
अजू-क्रि०वि० [सं० अद्य] १ अब, अभी. २ आज तक । देखो 'अजूं' ।
अजूआळ-सं०पु० [सं० उज्ज्वल] प्रकाश, रोशनी, उजाला । उ०—डूंगर तणां सिखर डगमगइ, थयूं अजूआळू सायर लगई ।—कां.दे.प्र.
अजूब-वि० [अ० अजीब] अनोखा, अजीब, अनूठा ।
अजूयाळ-देखो 'अजूआळू' ।
उ०—गमे गमे दीसइ अजूयाळां, म्लेछे छांडी छाक । आपोपरि अस-महीया ऊठइ, कटकि पड़ीउ वल काक ।—कां.दे.प्र.
अजूह-सं०पु०—१ युद्ध, लड़ाई. २ समूह, यूथ ।
अजे-क्रि०वि० [सं० अद्य] १ अब तक. २ अभी तक (रू.भे.-अजूं)
उ०—अजे वणी उजेण, भणजै वातां भोज री । जुग में दाता जेण, मरै न कीरत मोतिया ।—रायसिंह सांदू
वि० [सं० अजय] अजय ।
अजेगढ़-सं०पु०—अजमेर का एक नाम ।
अजेज-क्रि०वि० [रा० अ+जेज=विलंब] अविलम्ब, शीघ्र, जल्दी ।
उ०—कजाकरि डाकरि काढ़ि कळेज, जिमावत साकणि जूह अजेज ।—मे.म.
अजेजौ-वि०—विलम्ब न करने वाला, उतावला ।
अजेत-वि०—१ पराजित, हारा हुआ. २ न जीता जा सकने वाला ।
उ०—खंधार वळां खइरांण खेत, जुद्ध करै भुजवळ म्हे अजेत ।
—शि सु.रू.
अजेय-वि० [सं० अजय] जो जीता न जा सके ।

प्रकट करता है। इसका दूसरा नाम उपादान लक्षणा भी है।

अजहद–वि० [फा०] अपरिमित, अत्यन्त, बहुत अधिक।

अजां–अव्यय [सं० अद्य] १ अब तक, आज तक, अभी तक।
उ०—आवण कह गया **अजां** न आया, कर म्हांणै कौल गया।
२ अब। —मीरां

अजांचक–देखो 'अचाचक' (रू.भे.) उ०—एक कोई सिरदार माथै **अजांचक** री दुसमणां री फौज चढ़ आई।—वी स. टी.

अजांण–वि०—१ अनजान, अपरिचित, अनभिज्ञ।
कहा०—अजांण'र आंधौ बराबर हुवै—अनजान व्यक्ति अपने अज्ञान के कारण कोई मूर्खता या बुराई कर बैठे तो बुरा नही मानना चाहिए. २ अजांण निरदोस है। अजांण्यै नै दोस नहीं—अनजान आदमी को किसी बात का दोष नहीं दिया जा सकता. ३ अजांण्यां पांणी में नहीं उतरणौ—बिना गहराई मालूम किये अपरिचित जल में कभी नहीं उतरना चाहिये। अज्ञात स्थिति में कोई कार्य न करना चाहिये। देखो 'अणजांण'। २ मूर्ख। उ०—गात संवारण में गमै, ऊमर काय **अजांण**। आखर प्रांण प्रमूक ओ, खाक हुसी मळ खांण।—बां.दा.

अजांणक्रग—देखो 'अजांनक्रग'।

अजांणचक, अजांणजक, अजांणजख–देखो 'अचांचक' (रू.भे.)
उ०—ज्यूंहीं खीवे रा भालकां री चमक दीठी त्यूंहीं तुरत ऊठ ऊठे आय **अजांणजख** री होळै सी ऐक तीर पकड़ खेंच्यौ।
—सूरे-खीवे री वात

अजांणता–सं०स्त्री० [सं० अज्ञानता] मूर्खता, मूढ़ता, अज्ञानता।

अजांणपण, अजांणपणो, अजांणपणौ–सं०पु० मूर्खता, मूढ़ता, अज्ञानता, नासमझी।

अजांणियौ, अजांण्यौ–वि०—अपरिचित। देखो 'अजांण'।
क्रि०वि०—१ बिना जाने ही. २ अकस्मात्, अचानक। उ०—उण समै अकबर री फौज रा हरोळ हलकार करि **अजांणिया** तोपखांना माथै आय पड़िया।—बां.दा.

अजांणी–क्रि०वि०—बिना जाने ही, अकस्मात्, अचानक।
वि०—अपरिचित। देखो 'अजांणियौ'। उ०—**अजांणी** सरगपुरी री सार, राखलूं कुण-सी लालां तोल।—सांझ

अजांन–सं०स्त्री० [अ० अजान] मस्जिदों के मीनारों पर मुसलमानों को नमाज के समय की सूचना के लिये लगाई जाने वाली पुकार, बांग।
वि० [सं० अ=नहीं+फा० जान=प्राण] निर्जीव, प्राणरहित।

अजांनक्रग–वि० [सं० आजानु+कर] जिसके हाथ घुटनों तक लंबे हों, आजानुबाहु। उ०—कूंपावत कांन्ह **अजांनक्रग**, सुत एम मांम नृप छळ सुमग।—रा.रू.

अजांनबाह, अजांनबाहु–वि० [सं० आजानु+बाहु] लंबे हाथों वाला।
सं०पु०—जिसके हाथ घुटनों तक लम्बे हों, आजानुबाहु।
उ०—तोरी धाक मांन के जवाहर **अजांनबाह**। गोरे जीव जावन की आस तै छुट्यौ करै।—डूंगजी री कवित्त

अजांबिका–सं०स्त्री०—१ भाद्रपद के कृष्ण पक्ष की एकादशी. २ इस दिन किया जाने वाला व्रत।

अजा–सं०स्त्री० [सं०] १ बकरी. २ प्रकृति. ३ माया, शक्ति. ४ दुर्गा. ५ भाद्रपद मास के कृष्ण पक्ष की एकादशी का व्रत. ६ पार्वती।
वि०स्त्री०—१ जन्मरहित. २ जो उत्पन्न न की गई हो।

अजाएकादसी–सं०स्त्री० [सं० अजा+एकादशी] भाद्रपद मास के कृष्ण पक्ष की एकादशी (मि० अजांबिका)

अजाच, अजाचक, अजाची–वि० [सं० अ+याचक] वह व्यक्ति जिसे कुछ मांगने की आवश्यकता न हो, संपन्न व्यक्ति।

अजात–वि० [सं०] १ जन्मविहीन, अजन्मा, जिसका जन्म न हुआ हो. २ जिसकी जाति-पाँति का पता न हो (मि० कुजात)

अजातसत्र, अजातशत्रु–वि० [सं० अजातशत्रु] जिसका कोई शत्रु न हो, शत्रुविहीन।
सं०पु०—१ राजा युधिष्ठिर (अ.मा.) २ शिव. ३ एक काशी नरेश जिसका वर्णन उपनिषदों में आता है. ४ मगध नरेश बिंबसार का पुत्र।

अजाती–वि० [सं० अ+जाति] १ जाति से निकाला हुआ, जातिच्युत, पतित. २ दूसरी जाति का, विजातीय।

अजायर–सं०पु०—१ बोझा, वजन. २ संकट. ३ कलंक।

अजाप—देखो 'अजप' (रू.भे.)

अजामळ, अजामिळ, अजामीळ–सं०पु० [सं० अजामिल] एक पापी ब्राह्मण का नाम, जो मरते समय अपने पुत्र नारायण का नाम लेने मात्र से ही तर गया था।

अजामेध–स०पु० [सं० अजा+मेध] एक प्रकार का यज्ञ विशेष जिसमें बकरे की बलि दी जाती है। उ०—असमेध **अजामेध** हुवा आगं, घणूं सुणै नरमेध घणौ।—महारांणा सांगा रौ गीत

अजामेळ—देखो 'अजामळ'। उ०—**अजामेळ** जमदळ अगा, बिछट्यौ बिखमी वार।—ह.र.

अजायब–सं०पु० [अ०] आश्चर्यजनक पदार्थ।
वि०—'अजब' का बहुवचन।

अजायबखांनौ, अजायबघर–सं०पु०—वह भवन जहां कई प्रकार की आश्चर्यजनक वस्तुओं का संग्रह किया गया हो।

अजायौ–वि०पु०—अजन्मा, जन्म नहीं लेने वाला।
सं०पु०—१ ईश्वर। उ०—जगत कहै दसरथ रौ जायौ, अबिगत थारौ नाम अजायौ।—पीरदांन लाळस २ ब्रह्मा।

अजारो, अजारौ–सं०पु० [अ० इज़ारा] १ अधिकार. २ किसी पदार्थ को उजरत या किराये पर देना, इजारा, ठेका। उ०—क्रपण संतोस करै नहीं, लालच आडे अंक। सुपण बभीसण सूं मिळै, लिए **अजारे** लंक।—बां.दा.

अजिठा–सं०स्त्री०—मृगछाला, मृग का चमड़ा।

अज्योवा—देखो 'अजोविया'।
अझड़-वि०—न बरसने वाला, न गिरने वाला।
अझाळ-वि०—देदीप्यमान, तेजस्वी. २ पराक्रमी. ३ ज्वालास्वरूप।
अटंकणौ, अटंकबौ—देखो 'अटकणौ'।
अटंकौ-वि०—१ अधिक. २ निशंक, निडर। उ०—दीसै जोम अटंका बोलगा वैण बंका दूठ, डंका त्रंबागळां नीधसै धोळै दीह।
—हीमतौ आढ़ौ
अटक-सं०स्त्री०—१ रोक, रुकावट. २ उलझन. ३ बाधा, अड़चन. ४ हिचक. ५ संकोच।
क्रि०प्र०—पड़णौ।
६ पथ्य, परहेज. ७ सिंधु नदी (पाकिस्तान के अंतर्गत) पर स्थित एक छोटा नगर जहाँ प्राचीन तक्षशिला नगरी थी।
अटकण-सं०पु०—१ रोकने या बाधा डालने वाली वस्तु. २ सहारे के लिए लगाई जाने वाली कोई वस्तु या टुकड़ा. ३ सहारा।
अटकण-बटकण-सं०पु०—बच्चों द्वारा खेला जाने वाला एक प्रकार का खेल।
अटकणी-सं०स्त्री०—१ अर्गला. २ रोक।
अटकणौ, अटकबौ-क्रि०अ०स०—१ रुकना। उ०—अटकाई नह आयवळ, आई जरा अगूढ़। आसी जद तू अटकसी, मांन किसी विध मूढ़।
—बां.दा.
कहा०—कावरियां विनां किसा व्याव अटकै—छोटी-मोटी चीजों के अभाव में बड़े काम रुका नहीं करते।
२ अड़ना. ३ उलझना, फँसना। उ०—वारिज भवां अलक मतवारी, नैंण रूप रस अटकै।—मीरां
४ डिगना. ५ रोकना।
अटकणहार, हारौ (हारी)-वि०—अटकने वाला।
अटकणियौ-वि०—अटकने वाला।
अटकाणौ, अटकावौ—'अटकाणौ' का स०रू०।
अटकिओड़ौ, अटकियोड़ौ, अटक्योड़ौ—भू०का०कृ०।
अटकळ-सं०स्त्री०—१ अनुमान, अंदाज. २ उपाय, तरकीब, युक्ति. ३ कल्पना।
अटकळणौ, अटकळबौ-क्रि०स०—अनुमान करना, अंदाज लगाना, अटकल लगाना। उ०—सुकवि हुए सुदतार रौ, सुजस करै कर क्रोध। अटकळज पायौ अवस, कुकवी कनै कुबोध।—बां.दा.
अटकळणियौ-वि०—अनुमान करने वाला।
अटकळिओड़ौ, अटकळियोड़ौ, अटकळ्योड़ौ—भू०का०कृ०।
अटकळपच्चू-सं०पु०—अनुमान, मोटा अंदाज। उ०—पढ़यौ-लिख्यौ नंदौ 'ककौ' ई कोनी। हैंसाब अटकळपच्चू सूं कर लेतौ हौ।
—वरसगांठ
२ कपोलकल्पना।
क्रि०वि०—अनुमान से, अंदाज से।
अटकळियोड़ौ-भू०का०कृ०—अनुमानित (स्त्री० अटकळियोड़ी)
अटकाणौ, अटकावौ-क्रि०स०—१ रोकना। उ०—अटकाई नह आयवळ, आई जरा अगूढ़।—बां.दा.
२ अड़ाना, ठहराना, लगाना. ३ फँसाना, उलझाना।
उ०—सांकडै मारगिये सरमाय, घूंघटै ओळूंडी अटकाय।—सांझ
४ उठा रखना, पूरा करने में देर करना।
अटकाणहार, हारौ(हारी), अटकाणियौ-वि०—अटकाने वाला।
अटकावणौ, अटकावबौ—'अटकाणौ' का रू.भे.।
अटकायोड़ौ-भू०का०कृ०—अटकाया हुआ।
अटकायोड़ौ-भू०का०कृ०—अटकाया हुआ (स्त्री० अटकायोड़ी)
अटकाव-सं०पु०—१ रोक, रुकावट, बाधा, प्रतिबंध। उ०—चारण भाट नै अटकाव नहीं, और कोई हुकम बिनां जांण पावै नहीं।
—कहवाट सरवहिया री बात
२ विघ्न. ३ परहेज. ४ अड़चन।
अटकावणौ, अटकावबौ—देखो 'अटकाणौ' (रू.भे)।
अटकियोड़ौ, अटकीयोड़ौ-भू०का०कृ०—अटका हुआ। (स्त्री० अटकियोड़ी)
अटकौ—देखो 'अटकाव'।
अटक्क—देखो 'अटक'। उ०—मातौ घूम मुरद्धरा, तातौ जोस कटक्क। सोनंग रातौ वेध लख, जातौ साह अटक्क।—रा.रू.
अटक्कणौ, अटक्कबौ—देखो 'अटकणौ'। उ०—ऊपड़ै वहै नह ऊगतै, आलम रहै अटक्कियौ।—रा.रू.
अटखेल-सं०पु०—१ उलझाने वाला खेल, मन बहलाने वाला खेल, खिलवाड़, कौतुक. २ ढिठाई, चंचलता।
अटण-सं०पु०—पैर, चरण। उ०—थे अटण हूं चाल, हंगांमी ढोला रे।—लोकगीत
अटणौ, अटबौ-क्रि०अ०—१ चलना, घूमना, यात्रा करना।
उ०—उदर भरण घर घर अटै, रटै नहीं स्रीरांम।—बां.दा.
२ आड़ करना, ओट करना।
अटणहार, हारौ (हारी), अटणियौ-वि०—घूमने वाला।
अटपट—देखो 'अटपटौ'। उ०—चटपट पिजारण घट घट छुव्वैंठी, अटपट आंतां नै तांतां जिम ऐंठी।—ऊ.का.
सं०स्त्री०—देखो 'अटपटाई'।
अटपटाई-सं०स्त्री०—१ असुहानी. २ अड़चन।
अटपटाणौ, अटपटावौ, अटपटावणौ, अटपटावबौ-क्रि०अ०—१ अटपटाना. २ घबड़ाना. ३ हिचकना. ४ अंडबंड होना।
अटपटावियोड़ौ—भू०का०कृ०।
अटपटि, अटपटी-वि०स्त्री०—१ तिरछी. २ नटखट. ३ संकोचभरी, अनरीति. ४ विचित्र।
कहा०—ऐ विद्या तूं अटपटी, घट-घट मांय घड़ीह। किण-किण नै समझाइयै, कुवै ई भांग पड़ीह—जितने मनुष्य उतनी बुद्धि।

अजेव–वि० [सं० अ = नहीं + जीव] १ जीवरहित। उ०—अमात अतात अजात अजेव, अदीह अरात अभ्रत अभेव।—ह.र.
[सं० अजेय] २ अजेय, जो जीता न जा सके। उ०—परवत पई पछाड़िया, मेरौ चाचग देव। कुंभकरण रांणौ कियौ, अइयौ रयण अजेव।—वां.दा.

अजेस, अजैस–क्रि०वि० [सं० अद्य + स–रा०प्र०] अब तक, अभी तक (रू.भे.–अजे, अजूं)। उ०—काटियै माथै 'तोळै' पाछौ झटकौ, वाह्यौ, सो थांभौ कटांणौ, थांभौ अजैस है।—वां.दा.

अजै—देखो 'अजे'। उ०—अमर नांम उण री अजै, को जादा कहियांह।—वां.दा.

अजैगढ़–सं०पु०—अजमेर का एक नाम।

अजैपाळ—देखो 'अजपाळ'।

अजैपाळियौ–सं०पु० [सं० अजयपाल] जमालगोटा।

अजैपुर–सं०पु०—अजमेर शहर।

अजै-विजै–वि०—समान, सदृश, बराबर।

अजोग–वि० [सं० अयोग्य] १ जो योग्य न हो. २ बेकाम. ३ बेमेल. ४ अनुचित, अवांछित। उ०—करी अंगरेज अजोग इसी, फिरि लोक फटाय-फटाय के फांटै।—चैनसिंह रौ सवैयौ
५ अक्षम. ६ बुरा, भयंकर. ७ खोटा।
सं०पु०—न होने वाली बात।

अजोग्य-जोग्य-जथा–सं०स्त्री०—डिंगल में गीत (छंद) की वह रचना जिसमें अयोग्य के साथ योग्य का वर्णन हो (क.कु.बो.)

अजोड़ौ–वि०—१ जिसके बराबर दूसरा कोई न हो, अद्वितीय. २ जोड़ारहित. ३ विरुद्ध।

अजोणानंद–सं०पु०—१ जो उत्पन्न न हुआ हो, अजन्मा. २ शिव, महादेव।

अजोणिय—देखो 'अजोणिय' (रू.भे.)

अजोणी–वि० [सं० अयोनि] जो उत्पन्न न हुआ हो।
सं०पु०—'अजोणिय'।

अजोणीनाथ–सं०पु० [सं० अयोनि + नाथ] १ शंकर (डि.को.)
२ परब्रह्म।
वि०—अजन्मा।

अजोधिया, अजोधीया, अजोध्या–सं०स्त्री० [सं० अयोध्या] सरयू नदी के किनारे वैवस्त मनु द्वारा बसाया जाने वाला एक नगर जहाँ श्री रामचन्द्रजी का जन्म हुआ था। यह सूर्यवंशी राजाओं की राजधानी थी (रांमकथा)
पर्याय०—अवध, कोसला, साकेत।

अजोध्यानाथ–सं०पु० [सं० अयोध्या + नाथ] श्री रामचन्द्र।

अजोनी—देखो 'अजौणिय'। उ०—केसव क्रस्ण किलांण कह, अलख अजोनी ईस।—ह.र.

अजोनिपीर—देखो 'अजौणिय'।

अजोरौ–वि० [रा० अ = नहीं + फा० जोर = शक्ति] निर्बल, अशक्त।

अजौं–क्रि०वि० [सं० अद्य] अब तक, अब भी। उ०—कीच सो गलीच कांम भूलि तै भयौ। नीच कांम बीच अजौं नीच तू नयौ।—ऊ.का.

अजौ–वि० [सं० अज + औ–रा०प्र०] १ जिसका जन्म न हुआ हो, जन्म-रहित।
२ [फा० अजब] अजब, अनोखा, विलक्षण, अद्‌भुत।
सं०पु०—१ ब्रह्मा. २ बकरा।

अजौणिय–वि० [सं० अयोनि] न जन्म लेने वाला, अयोनि।
उ०—अजौणिय जौणिय जांणिय ईस, सुरासुर स्वांमिय को धर सीस।—ऊ.का.
सं०पु०—१ ईश्वर. २ शिव. ३ ब्रह्मा।

अज्ज–सं०पु० [सं० अज] १ ब्रह्मा। उ०—नमो अच्युतानंद गोविंद अज्ज।—ह.र. २ बकरा. [सं० आर्य] ३ आर्य।
उ०—अज्ज धरम रच्छक इतै रु जवनिस्ट उतै, घाट हळदी रण अमावै भट भालौं को।—बारहठ बालाबख्श पालावत
४ भारतवर्ष। उ०—अखंड ब्रह्मचरच के, सिखंड खंड अज्ज के। सधीर ही हमीर से, गंभीर भीर गज्जते।—ऊ.का.
सं०स्त्री० [सं० अजा] ५ बकरी।
क्रि०वि० [सं० अद्य] आज, इसी दिन। उ०—किण गळि घालूं घूघरा, किण मुख वाहूं लज्ज। कवण भले री करहलौ, मूंध मिळाऊं अज्ज।—ढो.मा.

अज्जण–वि० [सं० अ = नहीं + जन] निर्जन।
सं०पु० [सं० अर्जुन] १ अर्जुन. २ सहस्रार्जुन. ३ अजामिल।
उ०—हरि हरि करि उद्धरे, गजह सांमंद ध्रू अज्जण।—ज.खि.

अज्जमंडळ–सं०पु० [सं० आर्य + मंडल] भारतवर्ष।
(मि० अज्ज (४)) उ०—अटिकज्ज अज्जमंडळ असेस, दिगविजय कीध जिण तिण प्रदेस।—वं.भा.

अज्जांणचक, अज्जांणजक, अज्जांणजक्क–देखो—'अचांचक'। (रू.भे.)
उ०—जोध राइ सेन अज्जांणजक्क, कमराळ सींसि कीया कटक्क।—रा.ज.सी.

अज्जांणवौ–वि०—अज्ञानी, मूर्ख। उ०—आळसवां अज्जांणवां, दिल खोटंतां दूर। साहिब सांचां साधवां, है हाजरां हजूर।—ह.र.

अज्जा–सं०स्त्री० [सं० अजा] १ दुर्गा, देवी. २ बकरी।
उ०—इत्यादिक अज्जा कथितादक ऊणी। पहुंची प्रमदा पथ पर-मारथ पूणी।—ऊ.का.

अज्या—देखो 'अजा'। उ०—आंन देव रा दास सुणौ सब ही नर नारी। हरी नांम नै छोड पूंछ पकड़ली अज्या री।—सगरांमदास

अज्यास–सं०स्त्री०—१ अशान्ति। उ०—बात करण सुरतांण सूं, अरि घरि करण अज्यास।—रा.रू. २ अस्थिरता, चंचलता. ३ क्षोभ. ४ असंतोष. ५ उत्पात [सं० अविश्वास] ६ विश्वासशून्य. ७अनिश्चय।

अट्ठावन—देखो 'अठावन'।

अट्ठोत्तरसउ-वि० [प्रा०ह०] एक सौ आठ। उ०—पुण्यवंत घरि त्रिणि वार, अट्ठोत्तरसउ मंगळाचार।—कां.दे.प्र.

अठंतर-वि० [सं० अष्टसप्तति, पा० अट्ठसत्तरि, प्रा० अट्ठहत्तरि, अप० अठोतरि] सत्तर और आठ के योग के बराबर।

सं०पु०—सत्तर और आठ के योग की संख्या।

अठंतरमो-वि०—जो क्रम में सतहत्तर के बाद पड़ता हो।

अठंतरो, अठंतरौ—अठहत्तरवां वर्ष।

अठप-वि०—चंचल. २ दृढ़. ३ नहीं रुकने वाला।

अठ-वि० [सं० अष्ट, पा० अट्ठ] आठ।

अठकळ-सं०स्त्री०—१ देखो 'अटकळ' [सं० अष्ट+कल] २ आठ मात्रायें (छंद शास्त्र)

अठखेली-सं०स्त्री०—१ चपलता, चुलबुलापन. २ विनोद-क्रीड़ा।

क्रि०प्र०—करणी, होणी।

३ मादकता, मतवाली चाल।

अठठ-सं०पु०—चोट, प्रहार। उ०—अठठ पड़ डंडाळां चठठिया वांण अत।—वीरमियो मूळो

अठताळो-सं०पु०—१ अड़तालीसवां वर्ष. २ डिंगल का एक गीत (छंद) विशेष जिसमें तीन चरण चौदह-चौदह मात्राओं के और चौथा दस मात्राओं का (रघुवरजस प्रकास के अनुसार प्रत्येक चरण में चौदह-चौदह मात्रायें) होता है। तुकांत में गुरु लघु होता है। (रघुवरजस-प्रकास के अनुसार प्रत्येक चरण का अंतिम वर्ण दीर्घ होता है) इसी प्रकार चार चरण फिर कर एक द्वाला बनता है। चौथे व आठवें चरण का और प्रथम, द्वितीय, पंचम, षष्ठ व सप्तम का तुकांत मिलता है। प्रथम द्वाले के प्रथम पद में १८ मात्रायें होती हैं। (क.कु.बो. व र.रू.)

अठतीसो-सं०पु०—अड़तीसवां वर्ष।

अठत्तर—देखो 'अठंतर'।

अठत्तरमो-वि०—जो क्रम में सत्तर के बाद पड़ता हो।

अठत्रीस-वि० [सं० अष्टात्रिंशत्, पा० अट्ठतीस, प्रा० अट्ठतीस, अप० अट्ठत्रीस] तीस और आठ के योग के बराबर।

सं०पु०—तीस और आठ के योग की संख्या।

अठत्रीसमो-वि०—जो क्रम में सैंतीस के बाद पड़ता हो।

अठपेलू-वि०—१ आठ पहल या पार्श्व का, आठ कोने वाला।

सं०पु०—१ अठपहला. २ अष्टभुजा।

अठमासियो, अठमासो-सं०पु०—१ आठ मासे का तोल. २ आठ मास का उत्पन्न होने वाला गर्भ का बालक।

वि०—आठ महीने का।

अठयासियो-सं०पु०—अट्ठासी का वर्ष।

अठयासी-वि०—अस्सी और आठ का योग। देखो 'इठियासी' (रू.भे.)।

अठळायोड़ो-भू०का०कृ०—१ इतराया हुआ. २ गर्वित. ३ मतवाला। (स्त्री० अठळायोड़ी)

अठळावणो, अठळावबो-क्रि०अ०—१ इतराना, गर्व करना. २ चोंचला करना, नखरे करना. ३ मदोन्मत्त होना, मस्ती दिखाना।

इठळावणो—रू.भे.

अठळावणहार, हारौ (हारी), अठळावणियो—वि०।

अठळावियोड़ो—भू०का०कृ०।

अठवाड़ो-सं०पु०—१ आठ दिन का समय या काल, सप्ताह. २ आठवां दिवस।

अठवाळी-सं०स्त्री०—वह पालकी जिसे आठ आदमी उठाते हैं।

अठसठ, अठसठि—देखो 'अड़सठ'। उ०—अठसठ तीरथ संतां नै चरणे, कोटि कासी नै कोटि गंग रे।—मीरां

अठस्रवण-सं०पु० [सं० अष्ट+श्रवण] आठ कानों वाला व्यक्ति, ब्रह्मा। (डिं.को.)

अठांणवो-स०पु०—अठानवां वर्ष।

अठांणी-वि०—१ मजबूत, दृढ़, स्थान से न हटने वाला। [सं० अष्ट+रा.प्र. आंणी] २ आठ। उ०—कोपै कोल तुंडा कासवांणी छाय वाय कुडा। गै अठांणी भुसंडा भमाय भूलै गाज।—हुकमीचंद खिड़ियो ३ बलवान, शक्तिशाली. ४ अधिक, बहुत।

अठांणूं-वि० [सं० अष्टनवति, प्रा० अट्ठाणउइ, अप० अट्ठानवे] नब्बे और आठ के योग के बराबर।

स०पु०—नब्बे और आठ के योग की संख्या।

अठांणूंक-वि०—अट्ठानवे के लगभग।

अठांणूंमो-वि०—जो क्रम में सत्तानवे के बाद पड़ता हो।

स०पु०—अठानवां वर्ष।

अठांम-वि० [सं० अ+ठांम] स्थानरहित। उ०—आरांम अजांम अयांम अपक्ख, अठांम अगांम अधांम अलक्ख।—ह.र.

सं०पु०—ईश्वर।

अठांस-वि०—१ दृढ़, मजबूत. २ गंभीर. ३ वीर।

अठाइ—देखो 'अठाई'।

अठाइस—देखो 'अट्ठाइस'।

अठाई—देखो 'अट्ठाइस'।

सं०स्त्री०-आठ दिनों का उपवास। जैनमतावलंबियों का लोकप्रिय व्रत।

अठाईस—देखो 'अट्ठाइस'।

अठाईसमो-वि०—अट्ठाइसवां, जो क्रम में सत्ताइस के बाद पड़ता हो।

अठाईसेक-वि०—अट्ठाइस के लगभग।

अठाईसो-सं०पु०—अठाइसवां वर्ष।

अठाऊं-क्रि०वि०—१ यहां से. २ इधर से, इस ओर से।

अठार-वि० [सं० अष्टादशन्, प्रा० अट्ठारह] दस और आठ की संख्या के बराबर।

सं०पु०—१ दस और आठ के योग की संख्या, अठारह की संख्या।

सं०स्त्री०—देखो 'अटपटाई'।

अटपटौ–वि०पु० (स्त्री० अटपटी) १ टेढ़ा-मेढ़ा. २ कठिन, विकट, दुस्तर। उ०—मोजां दियण अटपटै मारग, कमधज तूं दपटै केकांण।
—दुरगादत्त बारहठ
३. गूढ़, गहरा, जटिल. ४ अनुचित. ५ अनोखा।

अटवट–वि०—ऊटपटांग।

अटम-सटम–वि०यौ०—१ बेतरतीब. २ अंट-संट. ३ हर प्रकार का अथवा कई चीजों का बिना किसी आधार के मिश्रण।

अटयासी–वि० [सं० अष्टाशीति, प्रा० अट्ठासीइ, अप० अट्ठासी] अस्सी और आठ के योग के बराबर।
सं०पु०—अस्सी और आठ के योग की संख्या।

अटयासी'क–वि०—अस्सी और आठ के योग के लगभग।

अटयासीमौ–वि०—जो क्रम में सत्तासी के बाद पड़ता हो।

अटयासीयौ–सं०पु०—अठासीवां वर्ष।

अटर-सटर–वि०यौ०—देखो 'अटम-सटम'।

अटळ–वि०—१ न टलने वाला, स्थिर, अचल, चिरस्थायी, पक्का, ध्रुव. २ नित्य. ४ अवश्यंभावी।

अटळज–सं०स्त्री०—भूमि, पृथ्वी (डिं.नां.मा.)

अटळळ–वि० [सं० अटल] देखो 'अटळ'। उ०—दोय उदैपुर ऊजळा, दुय दातार अटळळ।—हरिदास

अटवि, अटवी–सं०स्त्री० [सं० अटवी] १ वन, जंगल (अ.मा.) २ हिंस्र जन्तुओं के रहने का स्थान (वं.भा.)

अटव्यासण–सं०पु०—जंगल का निवास। उ०—दुरगघट अटव्यासण सोपट दुख दीखै। अज्जरा मज्जरा विरां सज्जरा सुख ईखै।—ऊ.का.

अटसट—देखो 'अड़सट'।

अटा–सं०स्त्री०—१ अटारी, कोठा (अ.मा.) २ अट्टालिका, महल। उ०—सरद घटा जिम ऊजळी, दिस दिस अटा विलंद।—वां.दा.
३ बादलों की घटा।

अटाटूट–वि०—१ बिल्कुल, नितान्त. २ अत्यधिक।

अटाटोप–वि०—१ देखो 'घटाटोप'. २ आवृत। उ०—अटाटोप बनां री चनणां कीवी मळै अद्र, संभू-निळै ऊजळै वचाळै गणां सैण। दीपै मांनताळा हंसां मंडळी निवास दीधौ, कवंदां मंडळी लीधां दूसरौ कुंभेण।—वां.दा.

अटारी–सं०स्त्री०—१ ऊपर के खंड पर बनी हुई कोठरी. २ महल। उ०—कितां पीठि हौदा लसे चित्रकारी, उघाड़ै जिकै तुंग सोभा अटारी, बड़े नाद भेरी कितां पीठि वाजै।—वं.भा.

अटाळ–सं०स्त्री० [सं० अट्टालिका] १ बुर्ज. २ ऊँचा स्थान. ३ विवाह के अवसर पर मांगलिक स्नान कराने के पूर्व वर अथवा वधू के सिर पर मला जाने वाला एक तरल पदार्थ जिसमें घृत, गेहूँ का चून, कुंकुम आदि मिले रहते हैं।
वि०—बदमाश, सैतान।

अटाळिका–सं०स्त्री० [सं० अट्टालिका] १ प्रासाद, महल, विशाल भवन। उ०—घुमंड मेघ की घटा यहां अटाळिका नहीं।—ऊ.का.
२ राजगृह. ३ अटारी।

अटाळौ–सं०पु० [सं० अट्टाल] १ बेकार की वस्तुओं का ढेर. २ ढेर, राशि। [सं० अट्टालिका] ३ महल, अट्टालिका। उ०—मन चढ़िया कवळास मेर क्या गोख अटाळा।—केसोदास गाडण

अटूट–वि०—१ न टूटने वाला, जिसका खंड न हो सके, अखंड. २ मज़बूत. ३ जिसका पतन न हो, अजेय. ४ अपरिमित, अपार। उ०—आथ अटूट अखूट अन, प्रजा घणी सुख पोख।—वां.दा.

अटै—देखो 'अठै'।

अटेर–वि०—१ नहीं मुड़ने वाला. २ विजयी। उ०—भूप हुआ जिण कुळ भला, थिर अटेर मुख थांन।—वं.भा.

अटेरण, अटेरणौ–सं०पु०—सूत को लपेट कर लच्छी बनाने का एक उपकरण।

अटेरणौ, अटेरबौ–क्रि०स०—१ अटेरना, अटेरन पर लपेट कर सूत की गुंडी बनाना. २ हद से ज्यादा नशा करना या भोजन करना।
अटेरणियौ–वि०—अटेरने वाला।
अटेरवाणौ, अटेरवावौ—प्रे०रू०।
अटेरिओड़ौ, अटेरियोड़ौ, अटेरयोड़ौ—भू०का०कृ०।

अटेरियोड़ौ–भू०का०कृ०—१ (सूत) लपेटा हुआ. ३ अत्यधिक भोजन या नशा किया हुआ। (स्त्री० अटेरियोड़ी)

अट्ट–सं०पु०—१ महल, अट्टालिका। उ०—इसा रंगभू द्रंग रा अट्ट ऊंचा, सिटावै जिकां हेठ पंखी समूंचा।—वं.भा. २ बाजार, हाट. ३ किले या गढ़ की बुर्ज।

अट्ट-सट्ट–क्रि०वि०—देखो 'अंट-संट'।

अट्टहास–सं०पु०—अत्यधिक जोर की हँसी, ठठा कर हँसने की ध्वनि।

अट्टी–सं०स्त्री०—१ अटेरन पर लपेटी हुई सूत की लच्छी. २ दमड़ी का आधा भाग।
क्रि०वि०—इधर (रू.भे.-अटी)

अट्टौ–सं०पु०—१ ताश का एक पत्ता जिसमें किसी रंग की एक सरीखी आठ बूंटियां हों. २ मचान, अट्टालिका. ३ अदल-बदल।
(य.०—अट्टौ-सट्टौ)
मुहा०—अट्टौ-सट्टौ करणौ—१ इधर-उधर से काम निकालना. २ अदल-बदल करना।

अट्ठ–वि० [सं० अष्ट] आठ। उ०—घुमाय लट्ठ अट्ठ जांम, हौं फिरौं धमां-धमां।—ऊ.का.

अट्ठाइस–वि० [सं० अष्टविंशति, पा० अट्ठावीसा, प्रा० अट्ठावीस, अप० अट्ठवीस] बीस और आठ के योग के बराबर।
सं०पु०—बीस और आठ के योग की संख्या।

अट्ठाइसमौ–वि०—जो क्रम में सत्ताइस के बाद पड़ता हो।

अट्ठाइसौ–सं०पु०—अट्ठाइसवां वर्ष।

अठोतरसौ–वि०—एक सौ आठ, १०८।

अठोतरो–वि०—एक सौ आठ।

सं०स्त्री०—१ एक सौ आठ की संख्या. २ एक सौ आठ मणियों वाली जपने की माला।

अठोर, अठोरिय, अठोरी–वि०—१ मजबूत, दृढ़. २ तीव्र, तेज।

उ०—कळ पांण अठोरिय श्रोफ करै, जिणवार वळांराय तीर जडै—पा.प्र.।

अट्टी–सं०स्त्री०—एक रंग की आठ बूंटियों वाला ताश का पत्ता।

अट्ठी–सं०पु०—डिंगल का एक वर्ण छंद (गीत) विशेष जिसमें प्रथम चार चरण अरध नाराच छंद (देखो 'अरध नाराच') के तथा अंत में एक दोहा होता है—र.ज.प्र.।

अडंगाबाज–वि०—१ पाखंडी, आडंबर रचने वाला, असत्यवादी. २ रुकावट डालने वाला, विघ्न उत्पन्न करने वाला [सं० अडंगाबाजी]

अडंगी, अडंगौ–सं०पु०—१ विघ्न, रुकावट, अवरोध, अड़चन. २ हस्तक्षेप. ३ पाखंड, ढकोसला. ४ स्वार्थसिद्धि की युक्ति।

वि०—न झुकने वाला, न मानने वाला, अनम्र।

अडंड–वि० [सं० अदंड] १ जिस पर किसी का दंड न लगे. २ निर्भय, अदंड। उ०—दिली रा नायबां डंडै अडंडां लगाडै डंड—अजीतसिंह री गीत। ३ देखो 'अदंड'।

सं०पु०—घोड़ा। उ०—सीस रै भूतेस सत्रां, रीस रै वेढाक-रंगी। 'ईसरै' ओरियावार तीसरी अडंड—ईसरदास खिड़िया री गीत।

अडंडणीय–वि० [सं० अदंडनीय] जो दंड पाने योग्य न हो अदंड्य।

अडंडा-डंट–सं०पु०—जिसको दंड देने की सामर्थ्य किसी में न हो उसे भी दंड देने वाला व्यक्ति, महान वीर।

अडंबर–सं०पु०—देखो 'आडंबर'। उ०—मेह अडंबर मंडती, रज अंबर ढकै—वं.भा.।

अडकारणौ, अडकारबौ–क्रि०स०—१ मारना, संहार करना. २ हजम करना, खा जाना। उ०—दिती सुत सुंभ निसुंभ विदारि। कई रतबीज गई अडकारि—मे.म.।

अडकारणियौ–वि०—मारने वाला, हजम करने वाला।

अडकारिओड़ौ-अडकारियोड़ौ-अडकारचोड़ौ–भू०का०कृ०—मारा हुआ, हजम किया हुआ।

अडग–वि० [अ+डिग] न डिगने वाला, अटल, अचल, अडिग।

उ०—अजोध्यानाथ दसमाथ रावण अडग, महा वे जोर भाराथ माती —र.रू.

अडगपण, अडगपणौ–सं०पु०—[अ+डिग+पण–पणौ–रा०प्र०] नहीं डिगने का भाव, अचलत्व, स्थिरता। उ०—विकळ मन हुवै नह समर वस परदुज कापण अडगपण—पा.प्र.।

अडगौ–वि०—१ भिड़न्त करने वाला, टक्कर लेने वाला।

२ नहीं डिगने वाला, अडिग।

अडपणौ, अडपबौ–क्रि०अ०—१ जिद करना। उ०—राव सांसण लेवण रीसांणौ, राखण काज अडपियौ रांणौ—दुरसौ आढ़ौ।

२ साहस करना।

अडपेंच–सं०पु०—पगड़ी की पड़ी लपेट। उ०—पाघ रा पेच चौकड़ी च्यार खोल···पछै च्यार अडपेंच देय पेच लेता—पदमसिंह री वात।

अडबंध–सं०पु०—१ कटिबंध. २ कोपीन बांधने की रस्सी।

अडब–सं०स्त्री० [अ० अदब] इज्जत, मान मर्यादा।

अडर–वि० [रा० अ+डर] निडर, निर्भय, वीर। उ०—उभै नर वरावर पाय रूपी अडर—पहाड़ खां।

अडरपण, अडरपणौ–सं०पु० [अ+डर+पण, पणौ–रा.प्र.] निर्भयता, निडरता, वीरता।

अडल–सं०पु०—जहां लघु दीर्घ का कोई नियम न हो, ऐसा १६ मात्रा का एक मात्रिक छंद विशेष (छंद-शास्त्र)

अडवांणी–सं०स्त्री०—१ सिंचाई की एक क्रिया। किसी तालाव या नहर से पानी लाकर किसी गहरे गड्ढे में डाला जाता है तथा फिर उस गडढ़े के पानी द्वारा सिंचाई की जाती है. २ वह भूमि जहां इस क्रिया से सिंचाई की जाय।

अडवाळणौ, अडवाळबौ–क्रि०स०—अधिकार में करना। उ०—अधपत उदक धरा, अडवाळै, रोहड़ ग्वाळ थकौ रुखवाळै—दुरसौ आढ़ौ।

अडवाळिओड़ौ-अडवाळियोड़ौ-अडवाळ्योड़ौ–भू०का०कृ०।

अडवाळियोड़ौ–भू०का०कृ०—अधिकार में किया हुआ, अधिकृत (स्त्री० अडवाळियोड़ी)

अडवाळोत–सं०पु०—राठौड़ राव रिड़मलजी के पुत्र अडवाळजी के वंशज राठौड़ों की एक शाखा अथवा इस शाखा का व्यक्ति।

अडांण–सं०पु०—१ मकान बनाते समय उस पर पत्थर आदि चढ़ाने के लिए काष्ठादि के लट्ठों को बांधकर बनाया जाने वाला ढलुवां रास्ता. २ दीवार या छत आदि को गिरने से रोकने वाली लकड़ी, अडांन।

अडांणू, अडांणौ–सं०पु०—गिरवी रखी हुई वस्तु।

उ०—थोड़ी-थोड़ी कर'र पांच सौ गज जमी अडाणे मेलीजगी जद घर वाळां नै दोरी लागी—वरसगांठ।

अडाई–वि० [सं० सार्द्ध+द्वितीय] ढाई, दो और आधे के योग के बराबर।

सं०स्त्री०—ढाई की संख्या।

अडायटौ–सं०पु०—ओढ़ने का सूती वस्त्र विशेष।

अडारगर, अडारगिर–सं०पु०—देखो 'अढ़ारगिर'।

अडारणौ, अडारबौ–क्रि०स०—देखो 'अडकारणौ'।

अडारौ–सं०पु०—अन्न न पचने से उत्पन्न विकार, अजीर्ण, अपच।

अडावौ–सं०पु०—देखो 'अड़वौ' (क्षेत्रीय)

अडाह–सं०स्त्री० [सं० अ+दाह] ईर्ष्यारहित भाव, प्रेम, स्नेह।

अडिग–वि०—[अ+डिग] न डिगने वाला, स्थिर, निश्चल, अटल। (रू.भे.–अडग)

उ०—आखर दग्ध अठार वदै कवसल वर वीरह—र.रू. ।
२ पुराणों की संख्या का सूचक. ३ चौसर का एक दांव ।

अठारटंकी–सं०पु०—देखो 'अढ़ारटंकी'। उ०—एकंकार करेवानू दिली भरत्तार आया, तुजीहां **अठारटंकी** आवढ्यिां तोण ।
—महारांणा जयसिंह रौ गीत

अठारमौ–वि०—जो क्रम में सत्रह के बाद पड़ता हो । अठारहवाँ ।

अठारभार–सं०पु०—अष्टादश भार वनस्पति ।

अठारह, अठारे–वि० [सं० अष्टादशन, पा० अट्ठारह] दस और आठ की संख्या के बराबर ।
सं०पु०—१ दस और आठ के योग की संख्या, १८. २ पुराणों की संख्या का सूचक शब्द. ३ चौसर का एक दाँव (रू.भे. 'अठार')

अठारे'क–वि०—अठारह के लगभग ।

अठारौ–सं०पु०—अठारहवाँ वर्ष ।
वि० [रा० अठ=यहाँ+रौ–रा०प्र०] यहाँ का (स्त्री० अठारी)

अठारोतरौ–सं०पु०—अठारहवाँ वर्ष ।

अठालग–क्रि०वि०—यहाँ तक । उ०—अर आप जिसा राजकुमार रौ इण तरह **अठालग** आवणौ अरथविहूणौ खटावै नहीं—वं.भा. ।

अठावन–वि० [सं० अष्टापञ्चाशत्, प्रा० अट्ठवण्णं, अप० अट्ठावन] पचास और आठ का योग ।
सं०पु०—पचास और आठ के योग की संख्या, ५८ ।

अठावनमौ–वि०—जो क्रम में सत्तावन के बाद पड़ता हो ।

अठावने'क–वि०—अट्ठावन के लगभग ।

अठावनौ–सं०पु०—५८वाँ वर्ष ।

अठावीस–वि०—देखो 'अट्ठाइस' ।

अठासी–वि० [सं० अष्टाशीति, प्रा० अट्ठासीइ, अप० अट्ठासी] अस्सी और आठ के योग के बराबर ।
सं०पु०—अस्सी और आठ के योग की संख्या ।

अठासीमौ–वि०—जो क्रम में सत्तासी के बाद पड़ता हो ।

अठासीयौ–सं०पु०—८८ वाँ वर्ष ।

अठि–वि० [सं० अष्ट] आठ ।
क्रि०वि०—१ इधर. २ यहाँ ।

अठिकांणी, अठिकांनी– क्रि०वि०—इधर, इस ओर ।

अठिनाऊँ–क्रि०वि०—१ यहाँ से. २ इधर से, इस ओर से ।

अठिसठि–वि०—देखो 'अड़सठ' ।

अठी–क्रि०वि०—इधर, इस ओर । उ०—अहंकार **अठी** अभमल अमांन खिलियार उठी सिर बिलंद खांन—वि.सं. । (वि० उठी)

अठी-अठी, अठी-उठी–क्रि०वि०—इधर-उधर ।

अठीक–सं०पु०—झूठ (अ.मा.)

अठीनलौ–वि० [स्त्री० अठीनली] इधर का, इस ओर का ।
कहा०—अठीनली छियाँ उठीनै आयां सरै—सुख-दुख बारी-बारी से सभी को आते हैं ।

अठीनै, अठीनैं–क्रि०वि०—१ इस तरफ, इधर. २ यहाँ ।

अठीफौ–वि०—हृष्ट-पुष्ट, मजबूत ।

अठीलौ–वि०—इस ओर का, इधर का ।

अठे–क्रि०वि०—यहाँ ।
कहा०—१ अठे कांई मकिया खावण नै पदारिया हौ—यहाँ आराम के लिए नहीं आये, कुछ काम कीजिए । २ अठे कांई धरने भूल गया हौ ?—बार-बार यहाँ क्यों आते हो, क्या यहाँ कोई वस्तु रख कर भूल गए हो ? ३ अठे कांई टक्का भांगण नै है—यहाँ पैसा खर्च करने की बात मत करो । ४ अठे कांई लोबौ लेवण ने पदारिया—यहाँ किस लाभ की आशा से आए हो ? यहाँ लाभ की आशा करना व्यर्थ है । ५ अठे किसा नागा नाचै है ?—यहाँ कौनसा असभ्य कार्य हो रहा है ? ६ अठे किसी बांदरी ब्याई है—यहाँ कोई अद्‌भुत कार्य थोड़े ही हो रहा है । ७ अठे किसा सोनय्या नीपजै—यहाँ सोने के सिक्के पैदा नहीं होते, यहाँ कोई विशेष लाभ नहीं है । ८ अठे किसौ रुळि री जोड है ?—देखो कहा० ११ । ९ अठे किसौ नाथी रौ वाड़ौ है—यहाँ कौनसा चकला समझ रखा है । १० अठे किसौ नांनांणौ है ? यहाँ कौनसा तुम्हारा ननिहाल है जो तुम कुछ भी करने या खाने-पीने के लिए स्वतन्त्र हो ? ११ अठे किसौ रुळि री जोड देखियौ—यहाँ कौनसा बिना मालिक का लावारिस माल देखा है, जो लेने का प्रयत्न कर रहे हो । १२ अठे की हेमांणी (गाडियोड़ी) गाडी है ? यहाँ क्या सोने का खजाना गड़ा है ? १३ अठे कीं आंना तूटै है—इस व्यक्ति में कुछ विशेष सार नहीं है । १४ अठे जोईजै जका उठै जोईजै—भले आदमियों की चाह लोक-परलोक में सर्वत्र होती है ।

अठै–क्रि०वि०—यहाँ, इस जगह पर (देखो 'अटे' रू.भे.)

अठेल, अठेलमौ–वि०—१ बलवान, जोरावर । उ०–जोगी जटा थटा हूँत खूटौ वीरभद्र जांणै । असी रीत आंण जूटौ नौ हत्यौ **अठेल** ।
—अज्ञात
२ वह जो पीछे न हटे, वीर, अविचलनीय, दृढ़ । उ०—लेवा आयौ छाक जके पाछौ भाग लागौ, ऊभौ जेत-खंभ हुआं (थकां) संभरी **अठेल**—कोठारिया रावत जोधसिंह रौ गीत । ३ बहुत, अधिक । उ०—ऊगै जिम दूणा अमल, लीजै आज **अठेल** । मरजाणी रा खेल में, घरजाणी रा खेल—वी.स. । ४ यथेष्ट ।

अठै—क्रि०वि०—देखो 'अटे' । उ०—**अठै** रहतां करतां बरस एक हुवौ ताहरां वचौ एक पाळियौ—चौबोली ।

अठैइज–क्रि०वि०—यहीं (निश्चयार्थ सूचक)

अठोकौ–वि०—मजबूत, दृढ़, शक्तिशाली । उ०—तेजवंत **अठोका** तुरंग तास, झट दौड़ गुण ग्रह कुरंग जास—शि.सु.रू. ।

अठोठ–वि० [रा०–अ+ठोठ] १ विद्वान. २ पढ़ा-लिखा ।

अठोतर–वि०—देखो 'अठंतर' ।

अठोतरमौ–वि०—अठहत्तरवाँ ।

अढ़ारगर, अढ़ारगिर–सं॰पु॰—१ अष्टादशभार युक्त वनस्पति वाला पर्वत. २ आबू पर्वत का एक नाम. ३ चौहान वंशीय राजपूतों की उपाधि। उ॰—'उदाहरा' ज तू उवरियौ। गुणां प्रसाद अढ़ारगिर।
—दुरसौ आढ़ौ

अढ़ार-कवांण–सं॰पु॰—देखो 'अढ़ारटंकी'। उ॰—गुणभार अढ़ार-कवांण ग्रहै—पी.रू.।

अढ़ारटंक, अढ़ारटंकी–सं॰पु॰—(वह धनुष) जिसका नाप अठारह टंकी हो (डि.को.)। वि॰वि॰ देखो 'टंकी'। उ॰—कसीस अढ़ारटंकां ऊवड़ी परीर कंकां, झड़ी वीर वंकां सीस असंकां भूलांण।
—बारहठ दुरगादत्त

अढ़ारदांनी–सं॰स्त्री॰—एक प्रकार का सीधा खड़ा दीपक जिसके आस-पास दीपक रखने के लिए भी कई स्थान होते हैं।

अढ़ारभार–सं॰पु॰—देखो 'अठारभार'। उ॰—अढ़ारभार वनस्पति भुक नै रही छै—रा.सा.सं.।

अढ़ारवन्न–सं॰पु॰—१ चारण, कवि। उ॰—वाचई सुजस्स अढ़ारवन्न
—रा.ज.सी.

अढ़ारह-भार–सं॰पु॰—देखो 'अठारभार'।

अढ़ारियौ–वि॰—लुच्चा, लफंगा (बाजारू)

अढ़ारे, अढ़ारै–वि॰ [सं॰ अष्टादश, अप॰ अट्ठारह] अठारह।
सं॰पु॰—अठारह की संख्या।

अढ़ीठ–वि॰—दृढ़, मजबूत।

अढ़ुग्रोत–सं॰पु॰—गहलोत वंश के क्षत्रियों की एक शाखा या इस शाखा का व्यक्ति (नैणसी)

अणं–सं॰पु॰ [सं॰ अणु] देखो 'अणु'। उ॰—अणं तें व्याणूं तें व्रहदळ विभू तें अति विभू—ऊ.का.।

अणंक–सं॰पु॰—गर्व अभिमान। उ॰—वैर हर अणंक तज सणंक सूया वहै—बद्रीदास खिड़ियौ।

अणंकळ–वि॰—१ निष्कलंक, कलंकरहित, दोषरहित। उ॰—एक देस औछाड़, इसा अनेक अणंकळ—रा.रू.। २ शुभ्र, पवित्र. ३ जबरदस्त, बलवान, निडर, वीर। उ॰—दळपति उदिअ।सिंघ माल गंगेव महाबळ, वाघा सूजा जोध, कमंध रिणमाल अणंकळ—वचनिका। ४ स्वाधीन, स्वतंत्र। उ॰—मगरै पहली अटक महाबळ, आद रांम नामंत अणंकळ—रा.रू.। ५ अपार।

अणंजर–सं॰पु॰—ईश्वर (ग.मो.)

अणंडर–वि॰—निडर, निर्भीक (रू.भे.–'अडर')

अणंत–वि॰ [सं॰ अनन्त] अनन्त, अपार। उ॰—कूदां जळ अंतर नांदरयौ ये एक बाहु अणंत—मीरां।

अणंतचौदस–सं॰स्त्री॰ [सं॰ अनंतचतुर्दशी] भाद्रपद शुक्ला चतुर्दशी। इस दिन बहुत से लोग प्रायः व्रत रखते हैं एवं बाहु पर चौदह गांठें लगा हुआ सूत का अर्चित गंडा बांधते हैं।

अणंद–सं॰पु॰ [सं॰ आनन्द] १ आनन्द, हर्ष, प्रसन्नता. २ मीसण गोत्र का ईश्वर भक्त चारण कवि।

अणंदह–सं॰पु॰ [सं॰ आनन्द] आनन्द, हर्ष, प्रसन्नता। उ॰—पाय सिंघ गळ अड़े, चक्र झळहळे चउदह; मंळे क्रोड तेतीस, उदौ सुरियंद अणंदह—ना.द.।

अण–क्रि॰वि॰—विना, वगैर।
वि॰—अन्य, दूसरा।
उप॰—राजस्थानी उपसर्ग जो शब्दों के पूर्व लग कर अधिक या निषेध का अर्थ प्रकट करता है।
सर्व॰—१ यह. २ इस। उ॰—जण गांम ऐवाळ रैंहतौ हुतौ अण गांम ऐक लुगाई रौ नांम मारूणी हुंतौ—ढो.मा.

अणअंजन–सं॰पु॰—ईश्वर (ग.मो.)

अणअपराध–वि॰ [सं॰ अन्+अपराध] निर्दोष, निरपराध।

अणअवसर, अणअसवर–सं॰पु॰ [सं॰ अन्+अवसर] १ फुरसत का न होना, अवकाश का अभाव. २ बेमौका, कुसमय। उ॰—पण रण पटैत भोज भाई करि भेळा, अणअवसर इम आइ केलि दीर्घा डर खेळा।
—वं.भा.

अणआंमय–वि॰ [सं॰ अनामय] रोगहीन, स्वस्थ. २ निर्दोष, दोष-रहित। उ॰—नमौ अणआंमय जोत अखंड—ह.र.।
सं॰पु॰—निरोगता, कुशलक्षेम।

अणइच्छा–सं॰स्त्री॰ [सं॰ अनिच्छा] १ इच्छा या अभिलाषा का अभाव, अनिच्छा. २ अरुचि।

अणउदम–सं॰पु॰ [सं॰ अनुद्यम] बेकारी, ठालापन। उ॰—उद्यम करौ अनेक अयवा अणउदम रहौ। होसी नहचे हेक, रांम करै सो राजिया।
—किरपारांम

अणउदमी–वि॰—बेकार, ठाला।

अणउद्योग–सं॰पु॰ [सं॰ अनुद्योग] उद्योग या परिश्रम का अभाव।

अणउद्योगी–वि॰ [सं॰ अन्+उद्योगी] उद्योग न करने वाला, परिश्रम न करने वाला।

अणउपयुक्त–वि॰ [सं॰ अनुपयुक्त] १ उपभोग या व्यवहार में न लाया हुआ, विना इस्तेमाल किया हुआ. २ अयोग्य. ३ असंगत, अनुचित।

अणउपयुक्तता–सं॰स्त्री॰ [सं॰ अनुपयुक्त+ता–रा॰प्र॰] अनुपयुक्तता, अयोग्यता।

अणउपयोगता–सं॰स्त्री॰ [सं॰ अनुपयोगिता] १ अयोग्यता. २ निर-र्थकता. ३ बेकारी।

अणउपयोगी–वि॰ [सं॰ अनुपयोगी] बेकाम, बेकार, व्यर्थ का, फजूल।

अणऊदम–सं॰पु॰—देखो 'अणउदम'।

अणक–वि॰—१ कुत्सित, निंदित. २ अधम, नीच।

अणकचोट–सं॰पु॰—गुस्सा।

अणकढ़, अणकढ़िओड़ौ, अणकढ़ियोड़ौ, अणकढ़चोड़ौ–वि॰—विना गर्म किया हुआ (दूध)।

अणकमाऊ–वि॰—निठल्ला, निकम्मा, बेकार, कुछ भी आमदनी नहीं करने वाला

अडिगासण, अडिगासन–वि० [सं० अडिग+आसन] दृढ़ आसन।
उ०—अडिगासन आसण अहेस्वर से, मद नाद अमद्य महेस्वर से।
—ऊ.का.

अडिल, अडिल्ला–सं०पु०—सोलह मात्राओं का एक मात्रिक छंद विशेष जिसमें जगण गण का निषेध है (पिंगलप्रकाश)

अडींग–वि०—जबरदस्त, बलवान। उ०—उतारै हदफां भ्रमां असंखी अडींग, तारीफ जाहरां प्रथी वाहरै धानंखी तसां—दुरसौ आढ़ौ।

अडीक–सं०स्त्री०—राह, प्रतीक्षा, इंतजार।

अडीकणौ, अडीकबौ–क्रि०स०—राह देखना, इंतजार करना, प्रतीक्षा करना। उ०—आठूं पो'र अडीकतां बीतै दिन ज्यूं मास। दरसण दे अब बादळी, मत मुरधर ने तास—बादळी।

अडीकणियौ–वि०—प्रतीक्षा करने वाला।

अडीकिओड़ौ-अडीकियोड़ौ-अडीक्योड़ौ–भू०का०कृ०—राह देखा हुआ।

अडीकाणौ-अडीकावौ—अडीकणौ का प्रे०रू०।

कहा०—अडीकतां को आवै नी—ऐसा विश्वास है कि जिसकी प्रतीक्षा की जाती है वह शीघ्र नहीं आता।

अडीठ–वि० [सं० अदृष्ट, प्रा० अदिट्ठ] १ अदृष्ट, जो दिखाई न पड़े २ लुप्त. ३ छिपा हुआ।

सं०पु०—प्रायः गरदन और पीठ के जोड़ पर होने वाला एक प्रकार का जहरीला भयंकर फोड़ा विशेष। इसका विष शरीर के भीतर ही भीतर अति शीघ्रता से फैलने लगता है। यह रक्त-विकार के कारण उत्पन्न होता है एवं (कई लोगों के विचार से) असाध्य माना जाता है।

अडीनै–क्रि०वि०—यहाँ (रू.भे. अठीनै)

अडीरळ–वि०—१ बहादुर, वीर, निर्भय. २ भयंकर, भयावह। उ०—जुध समै अडीरळ रूप जजराट रा खाट रा बाघ कुण फेट खावै
—गुलजी आढ़ौ

अडील, अडीलौ–वि०—१ बिना शरीर का. २ न डिगने वाला, दृढ़। उ०—उमंगे रढ़ाळा छूटे सोहड़ां काकुस्थवाळा, अताळा सजूटे तेण सामूहां अडील—र.रू.।

अडूर–वि०—१ निडर, निर्भय, निशंक। उ०—आरंभ कुंभ सुत खित अडूर—रा.रू.। २ बहुत, अधिक।

अडेल–वि०—१ निडर. २ बहुत. ३ अड़ियल. ४ जबरदस्त, योद्धा। उ०—मरदां अडेल आंम्हां-सांम्हां मुहाँ मांडीस—हुक्मीचन्द खिड़ियौ। ५ सुस्त।

अडोळ–वि०—१ न हिलने वाला, स्थिर, अटल। उ०—वीकौ गाजी-साह तण, वाह अडोळ कमंध—रा.रू.। २ स्तब्ध।

सं०पु०—१ बिना गढ़ा हुआ पत्थर. २ पहाड़ (अ.मा.) ३ वह ऊँट जिस पर चारजामा न कसा गया हो।

अडोळणौ, अडोळबौ–क्रि०अ०—१ भ्रमण करना।

क्रि०स०—२ मारना. ३ भक्षण करना। उ०—डाकण भखै न बाघ अडोळै—अज्ञात।

अडोळिओड़ौ-अडोळियोड़ौ-अडोळयोड़ौ–भू०का०कृ०।

अडोळियोड़ौ–भू०का०कृ०—भ्रमण किया हुआ (स्त्री० अडोळियोड़ी)

सं०पु०—१ बिना साफ की गई खुरदरी लकड़ी. २ वह ऊँट जिस पर चारजामा न कसा हुआ हो, किन्तु बैठने के लिए वैसे ही टाट आदि का टुकड़ा डाल दिया गया हो।

अडोळौ–वि०—१ देखो 'अडोळ' (स्त्री० अडोळी) २ आभूषणहीन उ०—पिण कंवर जगदेव नै अडोळौ दीठौ जद गहणा बगसिया।
—जगदेव पँवार री बात

अडौळ–वि०—१ भद्दा, कुरूप, बेढ़ंगा. २ वीर, धैर्यवान. ३ देखो 'अडोळ'।

अड्डर–वि०—देखो 'अडर' (रू.भे.)

अड्डौ–सं०पु०—१ ठहरने की जगह. २ मिलने या इकट्ठे होने का स्थान. ३ धूर्तों का मिल कर बैठने का स्थान. ४ दुराचारिणी या वेश्याओं के रहने का स्थान. ५ वह स्थान जहाँ पर पुरुष अथवा स्त्रियाँ कुकर्म हेतु आते हों, चकला. ६ बुरे अथवा कानून विरुद्ध कार्य करने वाले व्यक्तियों का उस कार्य के लिए मिलने का स्थान।

अढंगांण–वि०—विकट, जबरदस्त, दुर्गम। उ०—गंजै दुरंग अढंगांण मेवासा वंका गिरंद—हुक्मीचन्द खिड़ियौ।

अढंगी–सं०पु०—१ कामदेव. (डि.को.) २ देखो 'अढंगौ'।

अढंगौ–वि० (स्त्री० अढंगी) १ अद्‌भुत, अनोखा, विचित्र. २ भयंकर। उ०—लाखां तणा पटायत लड़िया, चूंडा झाला चंगा। एकण भूप उमेद ऊपरा, असमर बगा अढंगा—उम्मेदसिंह साहपुरा रौ गीत।

सं०पु०—कामदेव।

अढ़ढ़ढ़–अव्य० [अनु०] खेद, क्लेश, शोक या आश्चर्यसूचक शब्द।

अढ़तालीसौ–सं०पु०—अड़तालीसवाँ वर्ष।

अढ़तियौ–सं०पु०—आढ़त करने वाला, दलाल।

अढ़तौ–वि०—१ समान, बराबर. २ विशेष।

अढ़र–वि०—१ मजबूत, दृढ़. २ सुन्दर।

अढ़रह–वि०—अठारह।

अढ़ळक–वि०—उदार, दातार। उ०—बोलियौ बिसनर सांभळी बारठां बात थे कही सौ निपट बारू, चीत अढ़ळक सौ अठे ही चाहीजै मंगायौ पोतरौ म्हे राव मारु—अमरसिंह रौ गीत।

अढ़वौ–वि०—१ विशेष. २ अद्भुत. ३ अधिक (रू.भे. अढतौ)

अढ़हर-वरण—देखो 'वरण-अढ़ार'।

अढ़ाइटौ–सं०पु०—देखो 'अडायटौ'।

अढ़ाई–वि०—देखो 'अडाई'।

अढ़ायौ–सं०पु०—ढाई गुणा का पहाड़ा (गणित)

अढ़ार–वि०—१ बहुत, अधिक. २ अठारह। उ०—धरी दधि पाज पहाड़ां धार, पदम्म अढ़ार उतारे पार—ह.र.। ३ देखो 'अडारगिर' उ०—आदूधर धूजै गिर अढ़ार—वि.सं.।

अणगेम–वि०—पापरहित। उ०—सारगत साहरै वार भुजवळ सुपह, इंगळ वै कूंतरै अणी **अणगेम**।—किसोरदांन वारहठ

अणगौ–सं०पु०—श्रावण शुक्ला चतुर्दशी को आयोजित एक नागव्रत जिस दिन स्त्रियां नागपूजन के उपरांत घृत शर्करा मिश्रित बाजरी के आटे के मोदक और भिगोये हुए मोठों का सेवन करती हैं। (श्रीमाली ब्राह्मण)

अणघड़ी–क्रि०वि० [रा० इण=इसी+घड़ी] इसी समय, ठीक इसी समय।

वि०स्त्री० [रा० अण+घड़] विना गढ़ा हुआ।

अणचर–सं०पु० [सं० अचर] जड़ या जंगम वस्तु या पदार्थ।

उ०—औ तौ दया तणौ दरियाव, औ तौ वर **अणचर** रौ चाव।
—गी.रां.

अणचळ–वि० [सं० अचल] देखो 'अचळ'। उ०—इम मांणिक्यराज सुत अस्टम क्रलणराज संगर **अणचळ**।—वं.भा.

अणचायौ, अणचाह–वि०—१ इच्छा के विरुद्ध, नापसंद. २ अनिष्टकर।

अणचाहत–वि०—जो प्रेम न करे, न चाहने वाला। उ०—हाय दई कैसी करी, **अणचाहत** के संग। दीपक मन भावै नहीं, जळ जळ जात पतंग।—अज्ञात।

अणचाहौ–वि०—देखो 'अणचायौ'।

अणचिंत, अणचिंतवियौ, अणचिंतव्यौ, अणचिंतयौ, अणचींत–क्रि०वि०—अकस्मात, अचानक (रू.भे. अचित) उ०—१ हुरम रहै वस हिंदवां में जाऊं **अणचींत**। कतल कबीला जी करै तौ वस नाहि प्रतीत।—रा.रू. २ हिव किंव ढोलौ नीपजै, देवतणौ परभाव। लेख मिळै **अणचिंतव्यौ**, जांण म जांणै भाव।—ढो.मा.

अणचींता–वि० [सं० अचिंत्य] अविचारित, अचिंतित।

क्रि०वि०—अचानक, अकस्मात्।

अणचींतियौ–क्रि०वि०—अचानक, अकस्मात्। उ०—आवै केइक चींतिया **अणचींतिया** अनेक। वळै सलभ्भा होय सव, उर अदतारां छेक।
—वां.दा.

अणचींती, अणचींतौ, अणचींत्यौ–क्रि०वि० [सं० अचिंत्य] १ विना विचारा हुआ. २ अकस्मात्, अचानक। उ०—आई खवर जरां **अणचींती**, विहाग्यिां मैं करड़ी वीती।—रा.रू.

अणचूक–वि० अचूक, नहीं चूकने वाला। उ०—तद वही हक **अणचूक** पातल तणौ, मुगल वहलोलखां तणै माथै।—गोरधन वोगसौ।

अणचूकौ–क्रि०वि०—अकस्मात्, अचानक।

वि०—अमोघ।

अणचेत–वि० [सं० अन्+चेत] वेहोश, अचेत, मूर्छित। उ०—पड़या कई आमगा जोग उभैन, चढया असवार पड़या **अणचेत**।—मे.म.

अणच्चळ–वि० [सं० अचल] अचल, अटल। उ०—कहिम वीस ब्रहमंड गाट छेदै है कागळ। कहिम नपत पाताळ चलै जाय हूंत **अणच्चळ**। (रू.भे. अणाचळ)
—आसियौ करमसी सींवोसूरोत

अणछक–क्रि०वि०—अकस्मात्।

वि०—वैभवरहित।

अणछांणियौ, अणछांण्यौ–वि०—बिना छना हुआ।

अणछांनै–वि०—मशहूर, प्रसिद्ध।

अणछेह–वि० [सं० अन्+रा० छेह] अपार, अत्यन्त। उ०—इक कहै चीटी एह, छित लखौ सुख **अणछेह**।—रा.रू.

अणछेहड़ौ–वि० [रा० अण=नहीं+छेहड़ौ=किनारा] अपार, अत्यंत। उ०—गावै नवला गीत, वंदै वड वेहड़ां। मोहरां वरसै मेह छकै **अणछेहड़ां**।—रा.रू.

अणजांण–वि०—१ विना जाना-पहचाना हुआ, अज्ञात। उ०—खिण एक धरती अंवर वीच, अमूंजै सूनौपण **अणजांण**।—सांझ
२ भोला-भाला, नासमझ। उ०—कागद आखर गाळिया, कांइक थई कुवांण। कै पंथी भीना वुहा, लिखणहार **अणजांण**।—ढो.मा.
३ अनभिज्ञ, अपरिचित। उ०—जिकूं हेक भगवाट न जांणै, हेकै नाकारै **अणजांण**।—ईसरदास वारहठ।

क्रि०वि०—अकस्मात्।

सं०स्त्री०—नासमझी, अज्ञानावस्था।

अणजांणिउ–वि० [प्रा०रू०] अनजान, अपरिचित (कां.दे.प्र.)

अणजांणियौ अणजांण्यौ–वि०—अपरिचित।

अणजाचक–वि० [सं० अयाचक] याचना न करने वाला, न मांगने वाला, सन्तुष्ट, सम्पन्न।

अणजाची–वि० [सं० अयाची] जिसे मांगने की आवश्यकता न हो, संपन्न, धनी।

अणजीत–वि० [सं० अजित] अपराजित, विजयी। उ०—हठि चढ़ै पूठि असि पूठि जोवाहरै। जुतै गढ़ सनढ़ **अणजीत** जीता।—अज्ञात

अणजीमियौ–वि०—विना भोजन किया हुआ, भूखा।

अणजुकती–सं०स्त्री० [सं० अयुक्ति] १ युक्ति का अभाव, मेल न मिलना, अप्रवृत्ति। उ०—खूंद गधेड़ा खाय, पैलां री वाड़ी पड़ै। आ **अणजुगती** आय, रड़कै चित में राजिया।—किरपारांम

वि०—अनुचित, अयोग्य, अनुपयुक्त। उ०—कहो न मांनै काय, जुगती **अणजुगती** जगत। स्यांणां में सुख पाय, रहणौ चुप हुय राजिया।—किरपारांम

अणजेज–क्रि०वि० [सं० अन्+रा० जेज=विलंव] अविलंब, शीघ्र।

अणडड–वि० [सं० अदंड] १ अदंडनीय, जिसको कोई दंड न दे सके। २ जिसे दंड देना अपराध समझा जाता है।

अणडंडांडंड, अणडंडाडंड–वि०—जिसको कोई दंड न दे सके उसको भी दंड देने वाला व्यक्ति, अत्यन्त पराक्रमी।

अणडग–वि० [सं० अडिग] नहीं डिगने वाला, अडिग, अचल।

अणडर–वि०—निडर, निर्भय, निशंक। उ०—अमर राखण सुजस आवर डंवर लसकर पासि **अणडर**।—ल.पि

अणडीठ–वि०—विना देखा हुआ।

कहा०—कमाऊ पूत आवै डरतौ, अणकमाऊ आवै लड़तौ—कमाऊ को घर की चिन्ता बनी रहती है जब कि न कमाने वाले को कलह से ही मतलब होता है।

अणकळ–वि०—१ वीर, योद्धा। उ०—है गै दळ हल्लिया मिळै अणकळ अनिमंधी।—रा.रू. २ निर्दोष, बेऐब, जिस पर किसी प्रकार का कलंक नहीं हो, शुभ्र। उ०—केहरि सरगि पहूतौ अणकळ करनहरौ अखियात करि।—गीत चौहांण नाहरखांन किसनदासोत रौ ३ अपार, बहुत। उ०—कप कही रचना सकल अणकळ चित भ्रम मिट जाय निसचळ।—र.रू. [सं० अन्+रा० कल=चैन] ४ बेचैन।
क्रि०वि०—विना विचारे। उ०—आयौ दळ अजमाल रै, मन अणकळ कळ मूळ—रा.रू.

अणकळळ–सं०पु०—१ विष्णु. २ महादेव. ३ देखो 'अणकळ'।

अणकांणी, अणकांनी–क्रि०वि० [रा० अण=इस+कांनी=तरफ] इस तरफ।

अणकारी–वि०—१ जबरदस्त. २ तीक्ष्ण. ३ अनहोनी, अलौकिक।
उ०—विसतरी वात सारी विसव अणकारी उतपात सी।—रा.रू.
सं०पु० [सं० अनुकारी] १ नकलची, अनुकरण करने वाला. २ आज्ञाकारी।

अणकीलौ–वि०—१ शीघ्र चिढ़ने वाला. २ शीघ्र नाराज होने वाला. ३ द्वेष रखने वाला।
सं०पु०—मारवाड़ राज्यांतर्गत सिवाना कस्बा के किले का एक नाम (रू.भे. अणकिलौ)

अणकूंत–वि०—विना आँका हुआ, विना जाँचा हुआ। उ०—खळ गुळ अणकूंताय हेक भाव कर आदरै, ते नगरी हूंताय रोहीं आछी राजिया —किरपारांम।

अणख–सं०पु०—१ क्रोध, कोप, रिस. २ दुःख, खिन्नता. ३ ग्लानि. ४ ईर्ष्या, द्वेष, डाह. ५ भुंझलाहट।

अणखड़–वि०—विना जोता हुआ खेत या भूमि।

अणखणाट–सं०पु०—१ क्रोध, नाराजगी. २ उदासीनता. ३ भुंझलाहट।

अणखणौ, अणखबौ–क्रि०स० [सं० अनक्ष, प्रा० अनक्ख+रा०णौ] १ डाह करना, द्वेष करना, ईर्ष्या करना. २ टोकना. ३ चिढना. ४ तिरस्कार करना, झिड़कना। उ०—विरहण काय अणखजै, मारू हूंदौ देस।—ढो.मा. ५ थोड़े-थोड़े नुकसान पर डाँटना।
अणखणहार-हारौ (हारी) अणखणियौ–वि०—टोकने वाला।
अणखचोड़ौ–भू०का०कृ०—अणखाणौ–प्रे.रू.
अणखीजणौ–कर्म.वा.।

अणखरब–वि०—अपार, असीम, बहुत। उ०—अणखरब कळह तर कहै दुज अंकठा।—वाँ.दा.

अणखलौ–सं०पु०—मारवाड़ के सिवाना नामक कस्बे में स्थित एक किले का नाम (द.दा.)· (रू.भे. अणकीलो, अणकिलौ)

अणखांमणौ–वि०—देखो 'अणखावणौ'।

अणखादी, अणखाधी–क्रि०वि०—विना किसी कारण के, अकारण। उ०—खळ अणखाधी मेह मौ पित काकौ मारियां।·उणनै आधी देह करसूं दह कटारियां।—पा.प्र.

अणखावण, अणखावणौ–वि०—१ असुहावना, अप्रिय। उ०—आ सही, सिरोही आवू ले, वौ वात करी अणखावण री, पण रीत निभायाँ बडकाँ री, वैरी रौ घाव सरावण री।—कन्हैयालाल सेठिया
२ उदासीन, खिन्नचित्त, दुःखी।

अणखी–वि०—क्रोधी, कुपित, गुस्सावर।

अणखीलीयौ–वि०—स्वतंत्र, बंधनरहित।

अणखीलौ–वि०—देखो 'अणकीलौ'।

अणखूट, अणखूटइ, अणखूटी–वि० [सं० अन्+रा० खूट] अपार, बहुत।
उ०—रावत वट रांणाह, पिंड अणखूट प्रतापसी।—दुरसौ आढ़ौ
क्रि०वि०—१ बेमौत, अकाल (मृत्यु)। उ०—माधव भणइ करण जा नांसी कांई मरण अणखूटइ।—कां.दे.प्र. २ अकस्मात्.
३ विना टूटे। उ०—कौ लाहै लोभियां मौत चाहै अणखूटी, कमण पांण पाकड़ै वीज असमांण विछूटी।—रा.रू.

अणगंज–सं०पु०—१ वह जो किसी से जीता न जा सके. २ कामदेव (ह.नां.) ३ वीर, विजयी।

अणगंम–वि०—अगम्य, जो समझ में नहीं आवे। उ०—एक कहै आप रै, कियौ मन स्वारथ कज्जै। एक कहै अणगंम, रीत अणप्रीत सु रज्जै —रा.रू.

अणगणतौ–वि० [सं० अगणित] अगणित, असंख्य, अपार, जिसे गिना न जा सके।

अणगणिया, अणगणत–वि० [सं० अगणित] अगणित, असंख्य, अपार।

अणगम–क्रि०वि०—अचानक, एकबारगी, सहसा, अकस्मात्।
उ०—असुरांण दळ सिर असंख अणगम, विसख घण जिम वरसिया। —रा.रू.
वि० [सं० अगम्य] अगम्य।

अणगम्य–वि० [रा० अण+सं० गम्य] १ जहाँ कोई न जा सके, अगम, कठिन, गहन. २ जो साधारणतया समझ में न आवे।

अणगळ–वि०—विना छना हुआ। उ०—अणगळ पांणी में पड़ै प्रभातै ही जाय, मारै जीव असंख ही, पाछै रोटी खाय।—सगरांमदास

अणगा–सं०स्त्री०—भाटी वंश की एक शाखा।

अणगारौ–सं०पु० [स० अन्+अगार] १ साधु. २ त्यागी।
उ०—अै तौ जिन कल्पी अल्पी अणगारा, थीवर कल्पी जन नांखै थुथकारा।—ऊ.का.

अणगाळ–वि०—वीर, योद्धा। उ०—वहतां पंथ विचाळ, सूतौ तर दीधा सबद। गोगा दे अणगाळ, जड़ काढ़ै खिण जोइयां।—गो.रू.

अणगिण, अणगिणल, अणगिणतौ–वि० [सं० अगणित] अगणित, अपार, बेहद। उ०—चुभांणा उरसां अणगिण तीर, मिरगलै लागी नी इक बांण।—सांझ

ग्रणधीरज–सं०स्त्री० [सं० ग्रधैर्य] ग्रधैर्य्य, धैर्य का ग्रभाव, व्याकुलता, घबड़ाहट ।

ग्रणध्याय–सं०पु० [सं० ग्रनध्याय] छुट्टी का दिन ।

ग्रणनथौ–वि०—१ जिसके नाक में नाथ न हो. २ स्वतंत्र, ग्रंकुश-रहित ।

ग्रणनमियौ–वि०—१ ग्रनम्र. २ हठी, जिद्दी. ३ न झुकने वाला ।

ग्रणनांमी–वि०—न नमने वाला, वीर । उ०—ग्रकवर हूंत रहची ग्रणनांमी, सुरताणां बांथियां सारीख ।—दुरसौ ग्राढ़ौ ।

ग्रणनाथ–वि०—१ विना मालिक या स्वामी का । उ०—नाथ ग्रमी ग्रणनाथ, किम कीधी होसी किसूं ।—पा.प्र. २ निराश्रित, लावारिस, ग्रसहाय ।

ग्रणनींद–वि०—नींद न लेने वाला ।

ग्रणनीतौ–वि०—ग्रनीतिवाला, ग्रन्यायी ।

ग्रणनुनासिक–वि० [सं० ग्रन्+ग्रनुनासिक] मुंह तथा नाक से न वोले जाने वाले (ग्रक्षर), जो ग्रनुनासिक न हों ।

ग्रणपंखी–वि० [सं० ग्रन्+पक्ष] वह जिसका कोई पक्ष नहीं लेता हो । उ०—ग्रणपंखियां ग्राधार, सार लेग दुखियां तणी । इळ ऊपर इक वार, ग्राजे फतमल ग्राहड़ा ।—कविराव मोहनसिंह

ग्रणपटां–वि०—जिसके पास जागीरी न हो । उ०—पटां री लाज सहु कोइ ग्रावै प्रथम, ग्रणपटां घरा रै काज ग्राया ।—जगौ सांदू

ग्रणपढ़, ग्रणपढ़ियौ–वि०—१ ग्रपढ़, विना पढ़ा. २ मूर्ख, ग्रशिक्षित, निरक्षर ।

ग्रणपांण–वि०—ग्रत्यधिक शक्तिशाली, वलवान । उ०—ग्रणपांण ग्रधीर लड़ै ग्रसत्रां, सवळां तन पांण लड़ै ससत्रां ।—पा.प्र.

ग्रणपार–वि० [सं० ग्रपार] १ ग्रपार, ग्रसीम । उ०—वयण वूझण जपै जाचग मुजस, जग-जग पग रखण ग्रणपार ।—ल.पि. २ ग्रसंख्य, ग्रगणित । उ०—ग्रणपारां वेढ़ हिंदुग्रां ग्रसुरां, कळ वारां खेत कियौ । खगधारां वाहण नेड़ेचौ, गज भारां ऊपरा गयौ ।—ग्रज्ञात सं०पु०—सांख्य शास्त्रानुसार वह तुष्टि जो धनोपार्जन के परिश्रम ग्रौर निद्रा से छुटकारा पाने पर होती है ।

ग्रणपीणग–वि०यौ०—नहीं पीने वाला । उ०—गड़-गड़ राफ-राफ मेटे गह, रेग खत्रीध्रम लाज ग्ररेस । पंडरवेस नाद ग्रणपीणग, सेस न ग्रायौ पतौ नरेस ।—गोरधन बोगसौ

ग्रणफट–वि०—जो फटे नहीं, जो साधारण चोट से भी नहीं फटे । उ०—दसरावै दसरावै दीजै ग्रणफट खत मांमलौ ग्रसाव । सं०पु०—ग्रश्लील शब्द । —पदमसिंहजी री गीत

ग्रणफेर–वि०—न फिरने वाली, न मुड़ने वाली, न हारने वाली । उ०—फेरा लेतं फिर ग्रफिर, फेरी घड़ ग्रणफेर । सीह तणी हरववळ सुत, गहमाती गहडेर ।—हा.झा.

ग्रणबंछत–वि०—देखो 'ग्रणबंछक' । उ०—साखा वियौ मयंक पह सुभ्रम, मन ग्रणबंछत तूझ मग ।—महारांणा कुंभा री गीत

ग्रणबंध–वि०—ग्रपार, वहुत । उ०—ऊतरती वातां करै, ग्रौरां री ग्रणबंध । निज मुख पांणी ऊतरै, ईखै नैंह मद ग्रंध ।—बां.दा. ।

ग्रणबंधव–वि० [सं ग्रबंधु] बंधुरहित, मित्रहीन । उ०—'पाळह' पीरां पीर 'पाळ' ग्रणबंधवां बंधव ।—पा.प्र.

ग्रणवण, ग्रणवणाय–सं०स्त्री०—ग्रनवन, विगाड़, विरोध, झगड़ा, झंझट, द्रोह (ह.नां.)

ग्रणवींद, ग्रणवींध–वि०—देखो 'ग्रविंध' ।

ग्रणवीह–वि०—निडर, निर्भय (डिं.नां.मा.) सं०पु०—राजा, नृप (डिं.को.)

ग्रणवूझ–क्रि०वि०—विना किसी से सलाह लिए । वि०—१ किसी से सलाह न लेने वाला, नासमझ. २ वह जिसे पूछने की ग्रावश्यकता न हो. ३ वह जिसके लिए पूछने की ग्राव-श्यकता न हो ।

ग्रणवूझियोड़ौ, ग्रणवूझ्यौ–वि०—विना पूछा हुग्रा । (स्त्री० ग्रणवूझियोड़ी)

ग्रणवूढ–वि०—जो वूढ़ा न हो, जवान, युवा ।

ग्रणवेध–वि०— विना छेद किया हुग्रा, विना विधा हुग्रा ।

ग्रणवोल, ग्रणवोलियौ, ग्रणवोलौ–वि० (स्त्री० ग्रणवोली) १ मौन, न वोलने वाला चुप, गूंगा । उ०—इतरी सांभळ नादर ग्रणवोलियौ गयौ ।—जलाल वूवना री वात २ जो ग्रपना सुख-दुख वाणी द्वारा प्रकट न कर सके । उ०—मैंनत मजदूरी मासक घण मोला । विलखा विगताळू ग्रासक ग्रणवोला ।—ऊ.का.

ग्रणव्याहौ–वि०—ग्रविवाहित, कुंग्रारा (स्त्री० ग्रणव्याही)

ग्रणभंग, ग्रणभंगी, ग्रणभंगौ–वि० [सं० ग्रन्+भंग] १ ग्रखंड, पूर्ण. २ न मिटने वाला. ३ जिसका क्रम न टूटे. ४ वीर, वहादुर, ग्रटल । उ०—ग्रजर ग्रमर ग्रणभंग वजर ग्रायुध वजरंगी ।—र.रू. सं.पु०—१ सिंह, शेर (ना.डिं.को.) २ गरुड़ (ग्र.मा.)

ग्रणभग–वि०—नहीं भागने वाला, वहादुर, वीर ।

ग्रणभजियौ–वि०—जिसका ईश्वरभक्ति में विश्वास न हो । उ०—ग्रणभजिया भजिया तणी, दीखै प्रतख दुसाल ।—र.रू.

ग्रणभणियौ–वि०—ग्रपढ़, ग्रशिक्षित, मूर्ख । कहा०—ग्रणभणिया घोड़े चढ़ै भणिया मांगै भीख—ग्रनपढ़ घोड़े पर चढ़ते है जवकि पढ़े हुए भीख मांगते फिरते हैं । यह सब प्रारब्ध का खेल है । प्रायः यह कहावत ग्रपढ़ व्यक्ति कहते हैं ।

ग्रणभल, ग्रणभलौ–सं०पु० [सं० ग्रन्+रा० भलौ] १ बुराई. २ ग्रहित, हानि ।

ग्रणभाखी–वि०—विना कही हुई ।

ग्रणभाय, ग्रणभावतो, ग्रणभावतौ, ग्रणभावियौ–वि०—ग्रनचाहा, ग्रप्रिय, ग्ररुचिकर । उ०—भावियौ भगत चे देत ग्रणभावियौ । —ब्रह्मदास दादूपंथी

ग्रणभिग, ग्रणभिग्य–वि० [सं० ग्रनभिज्ञ] १ ग्रनाड़ी, मूर्ख. २ ग्रपरिचित, ग्रनजान ।

अणड़रम–वि०—निर्भय, निडर ।

अणडोल, अणडोलक–वि०—न हिलने वाला, स्थिर, अटल ।

उ०—अड़ण **अणडोल** जाटां पत आवियौ, तोल खग कपाटां खोल ताळा ।—वाँ.दा.

अणडुर–वि०—निर्भय, निडर । उ०—थई सु ओप येघए, मिळै समुद्र मेघए । उभै दिसा **अणडुर**, तुरंग कीध आतुरं ।—रा.रू.

अणढंक, अणढकियौ, अणढकियोड़ौ–वि०—विना ढका हुआ, ढक्कनरहित, खुला ।

अणत–सं०पु० [सं० अनन्त] १ खुदाई किये हुए ताँबे के तार पर सोने का चद्दर चढ़ाकर बनाया हुआ भुजा पर धारण करने का आभूषण. २ बाहु पर बाँधने का चौदह गाँठें लगा हुआ सूत का अर्चित गंडा । ३ विष्णु. ४ शेषनाग. ५ लक्ष्मण. ६ बलराम ।

वि० [सं० अनत] १ सीधा, जो झुका हुआ न हो. २ अविनाशी, अशेष ।

क्रिoवि० [सं० अन्यत्र] दूसरे किसी स्थान पर, और कहीं, अन्यत्र ।

अणतगोर–सं०पु०—स्वरभेद (संगीत शास्त्र)

अणतचवदस–सं०स्त्री०—देखो 'अणंतचौदस' ।

अणतमूळ–सं०पु० [सं० अनंतमूल] जंगली चमेली, एक औषधि का नाम ।

अणतविजय–सं०पु० [सं० अनंतविजय] युधिष्ठिर के शंख का नाम ।

अणताघ–वि०—अथाह, अपार, बहुत [रू.भे.–अणथाघ, अणथाह)

अणतियौ–सं०पु०—अनन्तचतुर्दशी का व्रत रखने एवं बाहु पर अर्चित अनन्त धारण करने वाला व्यक्ति ।

अणती–सं०स्त्री०—गाड़ी की नाभि के ऊपर मध्य में लगाया जाने वाला लोहे का कड़ा या छल्ला ।

अणतोल–वि०—१ शक्तिशाली, बलवान । उ०—चढ़े तिह बाज 'सिवो' **अणतोल**, वकै सव तांम जयौ जस बोल ।—गि.सु.रू. [सं०अन्+तौल] २ बहुत, अपरिमित. ३ जिसे तौला न जा सके. ४ वह जो तौला न गया हो ।

अणतोलौ–वि० (स्त्री० अणतोली) देखो 'अणतोल' । उ०—लखै रांम सुलिखमण बाळक, तेज रिखी **अणतोली** ।—र.रू.

अणथग, अणथाग–वि०—अथाह, बेहद, बहुत । उ०—परघळ घल पांणीह, भूपत हौद भरावियौ । जळ **अणथग** जांणीह कतरौही ऊंडौ कहूँ ।—पा.प्र.

सं०पु०—सागर, समुद्र (डि.नां.मा.)

अणथागड़ौ–वि०—जिसका कोई थाह न ले सके, वीर ।

अणथाह–वि०—देखो 'अथाह' ।

सं०पु०—सागर, समुद्र (ना.डि.को.)

अणथिर–वि० [सं० अस्थिर] चलायमान, चंचल, क्षणभंगुर ।

अणद–सं०पु०—देखो 'अणंद' (रू.भे.)

अणदगियौ–वि०—दागरहित, निष्कलंक, निष्पाप । उ०—**अणदागियै** तुरी ऊजळ असमर, चाकर होवण न डिगियौ चीत । सारा ही हिंदूसथांन तणै सिर, 'पातल' नै 'चंद्रसेण' प्रवीत ।—दुरसौ आढ़ौ

अणदरिद्र–वि०—धनवान, धनी ।

अणदव–वि०—विना जला हुआ ।

अणदाग, अणदागल–वि०—दागरहित, निष्कलंक । उ०—अकबरिये इक बार, दागल की सारी दुनी । **अणदागल** असवार, रहियौ रांण प्रतापसी ।—दुरसौ आढ़ौ. २ निष्पाप, पवित्र ।

अणदाद–वि०—१ अपार, अथाह, असीम. २ असंख्य । उ०—अरि जाळंधर आवियौ, मिळिया खळ **अणदाद** ।—रा.रू.

अणदायतण–सं०स्त्री०—आनन्द मीसण चारण नामक कवि की पुत्री देवल, जो देवी का अवतार कही जाती है ।

अणदिट्ठौ–वि०—१ अदृश्य. २ विना देखा हुआ । उ०—सखिए सज्जण वल्लहा, जइ **अणदिट्ठा** तोइ । खिण-खिण अंतर संभरइ, नहीं विसारइ सोइ ।—ढो.मा.

अणदी–सं०स्त्री०—कुयें के मोट के रस्से के छोर के साथ जुड़ा हुआ लकड़ी का वह खंड जिसमें कीली डाल कर रस्से को जूये के साथ जोड़ा जाता है ।

अणदीठ–वि०—देखो 'अडीठ' । उ०—दुहाड़ल सेर हल्या रणधीठ, देव्यां कर चक्र चल्या **अणदीठ** ।—मे.म.

अणदीठचकर–सं०पु० [सं० अदृश्य+चक्कर] अदृश्य, आपत्ति, ऐसा भयंकर कष्ट जिसके आने के पूर्व कोई चिन्ह न दिखाई दे ।
(रू.भे. अदीठचकर, अधीठचकर)

अणदीठौ–वि० [सं० अदृष्ट] अदृष्ट, जो दिखाई न दे (स्त्री० अणदीठी)
उ०—ऐंठे चूंठे नै मींठौ कर आंणै । दीठौ **अणदीठौ** दीठां कर जांणै ।
—ऊ.का.

अणदीध–वि०—नहीं दिया हुआ ।

अणदेह, अणदेही–सं०पु०—शरीररहित, निराकार । उ०—नमौ **अणदेही** व्यापक अनंत ।—ह.र.

अणदोस–सं०पु० [सं० अन्+दोष] दोष का अभाव ।

वि०—निष्कलंक, निर्दोष, दोषरहित, निरपराध । उ०—रहै रोस रै जोस **अणदोस** रूठा ।—रा.रू.

अणद्रोहौ–वि०—१ कभी द्रोह न करने वाला. २ जिसका कोई शत्रु न हो ।

अणधार–वि०—किसी की परवाह न करने वाला । उ०—धारण प्रवीण **अणधार** धीर ।—रा.रू.

अणधिकार–सं०पु० [सं० अनधिकार] अधिकारहीन, अधिकार का अभाव ।

अणधिकारचेस्टा–सं०स्त्री० [सं० अनधिकार+चेष्टा] अधिकारहीन इरादा या चेष्टा, विना अधिकार मिले ही किया जाने वाला कोई कार्य ।

अणधिकारी–वि० [सं० अनधिकारिन्] १ जिसे अधिकार न हो, स्वत्वहीन. २ अयोग्य, अपात्र, कुपात्र ।

अणधीर–वि० [सं० अधीर] देखो 'अधीर' । उ०—सफीखांन पतसाह सूं, अरज लिखी **अणधीर** । दुरगा भग्गा जंग में, लग्गा लोह सरीर ।
—रा.रू.

अणविद्या-सं०स्त्री०—ज्ञान का अभाव, अज्ञान, देखो 'अविद्या'।

अणविलोयौ-वि०—विना मथा हुआ (दही)

कहा०—मावां रै कंई सवाद, माई अणविलोया ई घाल—अगर छाछ न हो तो दही डाल दो, साधुओं के स्वाद कैसा? इच्छा न दिखाते हुए अप्रत्यक्ष रूप से अच्छी वस्तु की माँग करने पर।

अणवींदौ-सं०पु०—विवाह के समय दूल्हे के साथ रहने वाला अविवाहित सहचर (श्रीमाली ब्राह्मण)

अणवीह-वि०—देखो 'अणवीह'।

अणवोर-सं०उ०लि०—देखो 'अणवर'—१ (श्रीमाली ब्राह्मण)

अणसंक-वि०—१ निडर, निर्भय. २ निशंक, संदेहरहित।

उ०—सोनंग दुरग अणसंक सो, संक न कांई संभरे।—रा.रू.

सं०पु०—गरुड़ (रू.भे. अणसंख)

अणसंकण-वि०—१ निर्भय। उ०—अणसंकण जुव आरँभे, कूंपा कांकण हत्य।—रा.रू. २ निःशंक, निर्द्वन्द्व. ३ रक्षित।

(रू.भे. अणसंक)

अणसंका-वि०—देखो 'अणसंकण'।

सं०स्त्री०—आशंका, भय, डर।

अणसंकी-वि०—देखो 'अणसंक'।

अणसंख-वि० [सं० असंख्य] अगणित, असंख्य, अपार।

सं०पु०—गरुड़ (अ.मा) (रू.भे. अणसंक)

अणसंभ, अणसंभव-वि० [सं० असंभव] जो संभव न हो, अनहोना, असंगत।

अणसजण-सं०पु० [सं० अ+सज्जन] दुर्जन, दुष्टजन, खल।

उ०—सजण अणसजण हुआ ओह अळया भार। विरह महासि ऊलटे कंत न कीवी सार।—ढो.मा.

अणसमज, अणसमझ-वि०—मूर्ख।

सं०स्त्री०—मूर्खता।

अणसहणी,अणसहणौ-वि० [सं० असहनीय] असह्य, न सहने योग्य।

अणसहियौ-वि० [सं० असहन] जो सहन न करे, असहिष्णु।

सं०पु०—शत्रु, वैरी।

अणसाधु-वि०—असाधु, जो साधु या सज्जन न हो। उ०—सांई साधु तारिया अणसाधु वोया।—केसोदास गाडण।

अणसार-वि० [सं० असार] साररहित, तत्वःशून्य, निःसार, शून्य।

उ०—सार तया अणसार, थेटू गळ बंधियौ थकौ। वडां सरम चौ भार, राळ्यां मरै न राजिया।—किरपाराम

अणसुणियौ,अणसुणी,अणसुणौ-वि०—विना सुना हुआ, अनसुना, अश्रुत।

अणसुब्भ, अणसुभ-सं०पु० [सं० अशुभ] १ अमंगल, अकल्याण, अहित. २ पाप. ३ अपराध।

वि०—अशुभ, अमंगलकारी। उ०—वनड़ौ परणीजण 'पाळ' वण। देयवां अणसुब्भ सगून दये।—पा.प्र.

अणसूत-वि०—१ शैतान, वदमाश. २ जबरदस्त।

अणसूया-सं०स्त्री० [सं० अनसूया] ईर्ष्या न करना. २ नुकताचीनी न करना. ३ अत्रिमुनि की पत्नी. ४ शकुन्तला की एक सखी।

अणसोम-वि० [सं० असौम्य] १ असौम्य, अप्रिय, भद्दा, बदसूरत. २ क्रूर, भयंकर। उ०—अणसोम गुणां कोपे 'अभौ' करण मांम किलवायणां।—रा.रू.

अणहद-सं०पु० [सं०] १ देखो 'अनाहत'.

वि०—बहुत, अधिक, अपार। उ०—धण मो बीजौ जीव एकली चकवी सिरखी। वीछंतां भरतार जांणजे अणहद विलखी।—मेघ.

अणहदनाद-सं०पु० [सं० अनाहतनाद] देखो 'अनाहत' (३)।

अणहलपुरी-सं०पु०—गुजरात का एक प्राचीन नगर।

अणहार-सं०पु०—१ वह व्रत जिसमें कुछ न खाया जाय, उपवास, लंघन।

सं०स्त्री०—२ जय, विजय।

अणहारि, अणहारी-सं०पु०—१ लक्षण, चिन्ह। उ०—नगण तगण दुइ लघु, निरखि आखर दस अवधारि। रूप आठसौ आठ रौ, अगर छंद अणहारि।—ल.पिं. २ सूरत।

वि०—समान। उ०—तठा उपरांति करि नै राजांन सिलामति पचास टांक चिलेरीखा अणहारी कवांण रा धोकारा वाजि नैं रहिआ छै।—रा.सा.सं.।

अणहाल-सं०पु०—वेहाल। उ०—ईस तणी अणहाल विजोगण सेज सवंती।—मेघ.

अणहित-सं०पु० [सं० अहित] बुराई, अकल्याण।

वि०—१ शत्रु, वैरी, विरोधी. २ हानिकारक, अनुपकारी।

अणहितू-वि०—अशुभ चाहने वाला, शत्रु।

अणहिलवाड़ौ-सं०पु०—गुजरात का एक प्राचीन प्रान्त, अन्हिलवाड़ा (ढो.मा.)

अणहूंती, अणहूंत-सं०स्त्री०—अनहोनी। उ०—दुरजण केरा बोलड़ा, मत पातरजौ कोय। अणहूंती हूंती कहै, सगळी सांच न होय।

—ढो.मा.

वि०—१ अलौकिक. २ असंभव।

कहा०—अणहूंत भाटे नूंही काठी—असंभव कार्य या बात के लिए।

अणहूंते, अणहूंतौ-सं०पु० (स्त्री० अणहूंती) १ अनहोनी (मि० अणहुंती) २ अन्याय।

वि०—१ असंभव. २ चंचल, नटखट, शैतान. ३ अवांछनीय।

उ०—खिण एक धरती अंबर बीच, असूंजै सूनोपण अणजांण। छुळै ज्यूं अणहूंतौ अवनाद, फिरंता मन मूंगा दिन मांन।

—सांझ

क्रि०वि०—विना कारण, अकारण। उ०—तरै खवास कह्यौ अणहूंतौ किण री नांम कहूं।—वीरमदे सोनगरा री वात।

अणहूणी, अणहोणी-सं०स्त्री०—१ अनहोनी, न होने वाली, असंभव।

अणभिग्यता–सं०स्त्री० [सं० अनभिज्ञता] १ नादानी, मूर्खता, अनाड़ीपन. २ अनजानपन।

अणभेद–वि० [सं० अभेद] देखो 'अभेद'।

अणभेदी–वि० [सं० अभेद+ई] भेद न जानने वाला।

अणभेव, अणभै, अणभैव–वि०—१ प्रत्युत्पन्न, चमत्कारपूर्ण मानसिक उपज। उ०—जागै गोरख जोग तंत घट घट मंझाह। आतम **अणभै** ब्रह्म ग्यांन मधुरा अमीयाँह—केसोदास। २ निडर, निर्भय. ३ विचित्र। उ०—दुविध दातार **अणभैव** जगदीस री भलांई वदै गावै भलाई। दूध पाय'र तिरी जसोदा देवकी, पाय विख पूतना मोख पाई—ब्रह्मदास दादूपंथी।

सं०पु०—१ चमत्कारपूर्ण मानसिक उपज।

क्रि०प्र०—उपजणौ।

२ निर्भय व्यक्ति।

कहा०—अणभै रा नगारा घुरै—निर्भय व्यक्ति का सब जगह डंका बजता है।

अणमण, अणमणौ–वि०—१ उदास, खिन्न, सुस्त, अन्यमनस्क। उ०—**अणमणौ** करिया टेपा कांन, चोवटै ऊभौ हेकल सांड—सांभ। २ जिसको मनों में भी न तौला जा सके, अपार।

अणमांनैतण, अणमांनैती–सं०स्त्री०—वह स्त्री जिसका प्रियतम या पति उससे प्रेम न करता हो। उ०—जद राव रै रांणी वाघेली **अणमांनैती** तिण कह्यौ।—बाँ दा.

अणमा–सं०स्त्री० [सं० अणिमा] १ अति सूक्ष्म परिमाण. २ आठ सिद्धियों के अन्तर्गत प्रथम सिद्धि जिसमें योगी लोग अणु के समान सूक्ष्म शरीर धारण कर लेते है तथा दिखाई नहीं देते। (ह.नां.)

अणमाप, अणमापौ, अणमापै–वि०—१ जिसके परिमाण का अनुमान न हो. २ अपरिमित, असीम, अपार। उ०—रिणमाल जोध उण वार रां वळ **अणमाप** भुअव्वळां।—रा.रू.

अणमायौ–वि०पु०—अप्रमांण, नहीं समाने वाले। उ०—औ थांणै कांणाणै आया, मेवासियां उवर **अणमाया**।—रा.रू.

अणमाव, अणमावतौ–वि०—अधिक, बहुत, अपार। उ०—लाल सु चुप अग्रज लखै, ऊफणियौ **अणमाव**।—वं.भा.

अणमिणि–वि०—जो बहुत भारी हो, वजनी (द.दा.)

अणमिळणूं अणमिळणौ—सं०पु०—न मिलने का भाव, मिलने का अभाव। उ०—**अणमिळणूं** मौ हुऔ एम तो, मिटसी किम मोजाँ महाराँण।
—बाँ.दा.

अणमिळियां–क्रि०वि०—नही मिलने पर, बगैर मिले। उ०—मेछां वदन जोस **अणमिळियां**, पाळै जांण कमळ परजळियां।—रा.रू.

कहा०—अणमिळियां रा त्यागी रांड मरयां वैरागी—न मिलने पर त्यागी, स्त्री के मर जाने पर वैरागी—आजकल के साधु-सन्यासियों पर व्यंग।

अणमींत–वि०—अपार, असीम। उ०—अक्षां डाळी भांत भंतीली, फूल महक **अणमींतरी**।—दसदेव

अणमल–वि०—१ मिलावट का, विशुद्ध, खालिस. २ बेमेल, असंबद्ध, बेतुका, असंगत।

अणमोत–क्रि०वि०—बेमौत, अकाल (मृत्यु) उ०—क्यूं सारंग थारौ कंवर, महि **अणमोत** मरैह।—पा.प्र.

अणमोल, अणमोलौ–वि०—१ अमूल्य. २ मूल्यवान, बहुमूल्य. ३ सुंदर, उत्तम।

अणमौत–क्रि०वि०—बेमौत (रू.भे. अणमोत)

अणयुगतूं–वि० (प्रा०रू०) अनहोनी, असंभव। उ०—पुण्यइ **अणयुगतूं** संभवइ, रांमि राक्षस हणीया सवइ।—कां.दे.प्र.

अणरता–वि०—१ बिना रंगा हुआ, सादा. २ जिसने कभी प्रेम नहीं किया हो।

अणराई–सं०स्त्री०—देखो 'अणराय'।

अणरागी–वि०—माया-मोह से रहित, वैरागी। उ०—क्यूं करौ मोन री सोच किया सतगुरु **अणरागी**।—सगरांमदास

अणराय–सं०स्त्री०—याद, स्मृति। उ०—कांई करै **अणराय**, कांई मन पछतावौ करै, रहणहार थिर थाइ, जाणहार जावै 'जसा'।—जसराज

अणरुचि–सं०स्त्री० [सं० अरुचि] १ घृणा, नफरत. २ अरुचि, अनिच्छा।

अणरूप–वि०—१ रूपरहित, निराकार. २ कुरूप, भद्दा, बदसूरत।

अणरेस, अणरेह, अणरेहौ–वि०—१ अजय. २ विजयी. [सं० अन्+रेखा] ३ अपार, अत्यधिक। उ०—हेक प्रांण दुय देह, प्रीत **अणरेह** परसपर।—र.रू. ४ रेखारहित, निराकार। उ०—नमौ! **अणरेह** अनेह अनंत।—ह.र. ५ निष्कलंक। उ०—**अणरेह** अथग दूजौ अचळ मोटम दिढ़ गिरमेर री। निज समंद दुडंद चंद नहीं समवड़ साहिब सेर री।—पहाड़खाँ आढ़ौ। ६ पराजय, हार।

अणलेख, अणलेखे–वि०—१ अगोचर, अदृश्य, अलख. २ अपार, बहुत.

अणवंछक, अणवंछकी–सं०पु०—दुश्मन, शत्रु (अ.मा., ह.नां.)
वि०—नहीं चाहने वाला (रू.भे. अणवंछत[

अणवट–सं०पु०—एक प्रकार का चाँदी का छल्ला जिसको स्त्रियां पैर के अंगूठे में पहनती हैं, अनवट। उ०—बीछिया घूघरा रांमनारायण ना **अणवट** अंतरजामी रे।—मीराँ

अणवणत–सं०स्त्री०—अनबन, बिगाड़, वैमनस्य, विरोध, मनमुटाव। उ०—तिण नै रावत मेघ क्युंहीक **अणवणत** हुई; तरै उणनूं मेघ कहाड़ियौ।—नैणसी

अणवर–सं०उ०लिं० [सं० अनुवर] विवाह के अवसर पर दूल्हे के साथ रहने वाला पुरुष अथवा दुल्हिन के साथ रहने वाली स्त्री। उ०—बेली सहि विरदैत, जेठी गोवरधन जिसा, करनाजळ **अणवर** कन्है वड जांनी वांनैत।—वचनिका

अणवांसी–सं०स्त्री० [सं० अण्वंश] बिस्वांसी का बीसवां भाग, एक बिस्वे का एक बटे चारसौवां भाग।

अणवारीयाँ–क्रि०वि०—इस समय, अभी।

अणीपांणी-सं०स्त्री०—१ मान, मर्यादा, प्रतिष्ठा। उ०—चाकरी अव्वल तरह करै, आछी तरह करै। कनै का लोग नूं अणीपांणी सूं आछी तरह राखै।—राठौड़ अमरसिंघ री वात २ साहस, शक्ति, सामर्थ्य।

अणीभमर, अणीमल-सं०पु०—योद्धा, वीर (डि.नां.मा.)

अणीमेळ-सं०पु०—भाले आदि की नोकों के परस्पर मिलने का भाव। उ०—मुरचां रा मुकामला मंडाया छै, अणीमेळ हुआ छै। रायजादा भाला भळकि नै रहीआ छै।—रा.सा.सं.

अणीयाळ-सं०स्त्री०—१ कटारी। उ०—तोल अणीयाळ जळ चोळ चखतां तणां, रोस हिलोळिया दईंद राये।—नरहरदास बारहठ।

सं०पु०—२ भाला (रू.भे. अणियाळ)

अणीयाळो, अणीयाळी-वि०—देखो 'अणियाळी' (रू.भे.)

उ०—अंगोअंगि पटे अणीयाळै प्रांणइ पाखर फोड़इ।—कांदे.प्र.

अणीसमराय-वि०—१ सामर्थ्यशाली. २ मददगार. ३ युद्ध में कुशल।

अणुंताई-सं०स्त्री०—१ बदमाशी, शैतानी, शरारत. २ अन्याय।

अणु-सं०पु० [सं०] १ परमाणु से बड़ा तथा द्व्यणुक से छोटा, कण, टुकड़ा. २ रजकण. ३ संगीत के अनुसार तीन ताल के काल का चतुर्थांश समय, एक मुहूर्त्त का ५४६७५००० वां भाग।

वि०—१ बहुत छोटा, जो कठिनता से दिखाई दे, सूक्ष्म. २ थोड़ा, कम (रू.भे. अणूं)

अणुनासिक-वि०—वे अक्षर जो मुँह और नाक से उच्चारण किये जायें यथा—ञ, ण, न, म, अनुनासिक।

अणुपातक-सं०पु० [सं० अनुपातक] चोरी, झूठ बोलना, पर-स्त्रीगमन आदि का पाप जो ब्रह्महत्या के समान समझा जाता है।

अणुबंध-सं०पु० [सं० अनुबंध] १ बंधन, लगाव. २ आरम्भ, अनुसरण, होने वाला शुभाशुभ. ३ वात, पित्त, कफ में से जो प्रधान हो. ४ दो पक्षों में कोई कार्य करने के लिए होने वाला ठहराव या समझौता. ५ वस्तुओं, जीवों, अंगों आदि में अनिवार्य रूप से होने वाला पारस्परिक संबन्ध. ६ किसी विषय की सब बातों का विवेचन।

अणुमा-सं०स्त्री०—बिजली।

अणुराव-सं०पु० [सं० अनुकरण] १ नकल, अनुकरण।

उ०—ए सारस कहिजइ पभू, पंखी केरा राव। हवै बोल्या सर ऊपरइ, थां कीधी अणुराव।—ढो.मा. २ पीछे होने वाला शब्द।

अणुवाद-सं०पु० [सं०] १ दर्शनशास्त्र के अंतर्गत एक सिद्धान्त जिसमें जीव या आत्मा को अणु माना गया हो. २ वह शास्त्र जिसमें पदार्थों के अणु नित्य माने गये हों, वैशेषिक दर्शन।

अणुवादी-वि० [सं०] अणुवाद में विश्वास करने वाला।

सं०पु०—वल्लभाचार्य्य का अनुयायी वैष्णव।

अणुवीक्षण-सं०पु०—एक यन्त्र जिसके द्वारा सूक्ष्म पदार्थ देखे जा सकते हैं।

अणुहांणो-वि० (स्त्री० अणुहांणी) नंगे पैर, जूतेरहित।

अणुहार, अणुहारो-सं०पु० (स्त्री० अणुहारि, अणुहारी) सूरत, शक्ल।

उ०—ताहरां हरदांन बोलियौ—ऊभारी सरीर तौ आपां हाथां फूंकियौ पण अणुहारौ तौ सागी छै।—पलक दरियाव री वात

वि०—समान, तुल्य, बराबर। उ०—अगर तणै अणुहार, पीड़ातां परमळ करै। ते सज्जंन संसार, जोया पर जुड़िया नहीं।—ढो.मा.

अणूं-वि०—देखो 'अणु'। उ०—महा अणूं बचनीय जिकां री माधुरी। दै पिय, रसगां दाखि रती ही नां दुरी।—बां.दा.

सं०पु०—देखो 'अणु'।

अणूंत-सं०स्त्री०—१ असंभव कार्य, न होने वाला काम।

कहा०—अणूंत माटै सूं ई काठी है—असंभव कार्य करना बड़ा कठिन है।

(रू.भे. अणहूंत) २ शैतानी, बदमाशी. ३ घर में कुछ भी न होने की दशा।

सं०पु०—४ शैतान व्यक्ति।

कहा०—अणूंत रै बायोड़ी कौ ऊगै नी—अन्याय का अच्छा प्रतिफल नहीं मिलता।

वि०—बहुत, अधिक। उ०—उतरचा सूत अणूंत मूंत रेल न माया। —ऊ.का.

अणूंतो-वि० (स्त्री० अणूंती) १ बदमाश. २ अन्यायी, नालायक. ३ चंचल. ४ बुरा. ५ बहुत, अधिक।

अणू-वि०—तनिक (अ.मा.)

सं०पु०—देखो 'अणु' (रू.भे.) उ०—मुकुंद लहै कुण तोरा मम्म अणू मझ राखै कोटि आलम्म।—ह.र.

अणूतो-वि०—देखो 'अणूंतो' (रू.भे.)

कहा०—अणूतौ घास उकरड़ां ऊगै—व्यर्थ की वस्तु पर।

अणूहांणो-वि०—नंगे पैर। उ०— एक मांदा एक न सकइ ऊठी, एक अणूहांणा ऊघाड़ा। दांणा पांच लहइ नवि खावा, एक तणइ पाए लोहड़ां।—कां.दे.प्र.

अणूहार, अणूहारो-सं०पु०—सूरत-शक्ल। उ०—सारीखै अणूहारै सारौ मुलक भरियौ छै।—पलक दरियाव री वात

अणे-सं०पु०—रथ (डि.नां.मा.)

अणेती-वि०—असंभव (रू.भे. अणहूंत, अणहूंती)

अणेवर-सं०स्त्री०—वह स्त्री जो दुल्हिन के साथ उसके ससुराल जाय।

अणेसौ-सं०पु०—१ अभावावस्था में होने वाला दुःख या कष्ट, वियोग-जनित दुःख. २ शोक, दुःख. ३ बल, साहस. ४ आशंका, संशय।

उ०—देस विदेसां ना जावां म्हारी अणेसा भारी।—मीरां

५ संभावना (रू.भे. अनेस) ६ ईर्ष्या, डाह। उ०—तरै धरती री बेघ, राज रा अणेसा ऊपरां नागोर दोलतियाखांन पातिसाही करै। —जैतसी ऊदावत री वात

अणे-अव्यय—और।

अणोआई, अणोई-सं०स्त्री०—श्वासरोग, दमा (रू.भे. अणोहाई)

अणोखो-वि० (स्त्री० अणोखी) अद्भुत, अनोखा, अनुपम।

कहा०—अणहोणी होवै नहीं, होणी हौ सौ होय—प्रारब्ध पर किसी का वश नहीं चलता। २ अलौकिक।
सं०स्त्री०—१ अलौकिक घटना. २ असंभव बात।

अणहोती–सं०स्त्री०—देखो 'अणहोणी'। उ०—रैता गोपाळ वस गांवां दो च्यारि। सारी **अणहोती** बात सैता विचारि।—शि.वं.

अणह्वैती–सं०स्त्री०—अनहोनी। उ०—**अणह्वैती** व्हे आज, हुई न आगै होण री। कैरव करै अकाज, आज पितामह ईखता।—रांमनाथ कवियौ

अणागम–सं०पु० [सं० अनागम] १ आगमन का अभाव, न आना. २ अज्ञान, ज्ञान का अभाव।

अणाणौ, अणावौ–क्रि०स०—देखो 'अणावणौ'।

अणाद–वि० [सं० अनादि] जिसका आदि न हो, अनादि।

अणादर–सं०पु० [सं० अनादर] १ निरादर, अवज्ञा, अपमान, तिरस्कार २ पराजय।

अणाय–सं०स्त्री०—याद, स्मृति।

अणाळ–वि०—झूठ, असत्य (अ.मा.)

अणावड़ौ, अणावणौ–सं०पु०—स्मृति, याद, बच्चों का अपने प्रिय संबंधी को याद करने का भाव।

अणावणौ, अणाववौ–क्रि०स०—मंगाना, कार्य कराना। उ०—नेवळां रा पाट **अणावौ**, जेठ वैठा औ दसरथजी रा सीय।—लो.गी.

अणावणहार-हारौ (हारी), अणावणियौ–वि०—मंगाने वाला, कार्य कराने वाला।

अणाविओड़ौ-अणावियोड़ौ-अणाव्योड़ौ–भू०का०कृ०—मंगाया हुआ, कार्य कराया हुआ।

अणाणौ, अणावौ–क्रि० (रू.भे.)

अणावौ–सं०पु०—बुलावा।

अणास–सं०स्त्री०—कठिनाई।

अणि–सं०स्त्री० [सं०] १ नोक, धार. २ सीमा, किनारा. ३ फौज, सेना. उ०—डांखियौ सेर साजी **अणि** डाकरै।—जवानजी आढौ
सं०पु०—४ भाला।
सर्व०—इस, यह।

अणिआळी–सं०स्त्री०—कटार। उ०—**अणिआळी** अणवीह, पंचहजारी पाड़तौ—वचनिका।

अणिपांणी–सं०स्त्री०—साहस, वीरता।

अणिमा–सं०स्त्री० [सं०] १ अति सूक्ष्म परिमाण. २ आठ सिद्धियों में से प्रथम जिससे योगी लोग अणु के समान सूक्ष्म शरीर धारण कर लेते हैं (डि.को.)

अणिमादिक–सं०स्त्री०—अणिमा आदि आठ सिद्धियाँ—१ अणिमा. २ गरिमा. ३ महिमा. ४ लघिमा. ५ प्राप्ति. ६ प्राकाम्य. ७ ईशित्व. ८ वशित्व।

अणिय–सं०पु०—कानों का अग्र भाग। उ०—वृत्ति कांन सतीखण **अणिय** वंक—रा.रू.।

अणियांभंमर, अणियांभंवर–सं०पु०—१ सेनापति. २ योद्धा। उ०—भेजे इम **अणियांभंवर**, जेठी कँवर जनेस। वंसी हूँ चढ़ियौ वळै धन चय देण धनेस।—वं.भा. ३ शौकीन व्यक्ति. ४ मस्ताना व्यक्ति।

अणियार–वि०—नुकीला, पैना।
सं०स्त्री०—सूरत, शक्ल, आकृति।

अणियाळ–सं०पु०—१ ऊँट (डि.नां.मा.)। २ भाला। उ०—पेखे आपतणा पुरसोतम, रह **अणियाळ** तणै वलरांण।—पृथ्वीराज राठौड़

अणियाळा–सं०पु०—नेत्र, नयन। उ०—फूलां रा चौस पैहरियां थकां टोय **अणियाळां** काजळ ठांसिया थकां।—रा.सा.सं.

अणियाळी, अणियाळीह–वि०—१ नोकदार, तीखा, तीक्ष्ण, पैना। उ०—आँखड़ियां **अणियाळियां** काजळ रेख कियाँह। वीभळियां भावंदियाँ, लाज सनेह लियाँह।—बाँ.दा.
२ मान-मर्यादा को निभाने वाली (पु० अणियाळौ)
सं०स्त्री०—१ कटार (डि.को.) २ टिटहरी।

अणियाळौ–वि० (स्त्री० अणियाळी) १ नोकदार, तीखा, तीक्ष्ण, पैना। उ०—लागौ लोचण लाह, **अणियाळा** अळता तणी। सरसूं सेर थयाह, जोड़ी तोसूं जेठवा। २ मान-मर्यादा को निभाने वाला।
सं०पु०—१ ऊँट (डि.नां.मा.) २ भाला। उ०—वगतरां रा तवा फोड़-फोड़ पूठी परा **अणियाळा** अणी नीसरै।—रा.सा.सं.

अणियौ–सं०पु०—तराजू का पलड़ा।

अणिहारौ–सं०पु०—सूरत, शक्ल, आकृति (रू.भे. उणिहारो)

अणी–सं०स्त्री०—१ भाले की नोक। उ०—नर कायर आंणै नहीं, लूण लिहाज लगार। धोळै दिन छोड़ै धणी, **अणी** मिलै उण वार।—बाँ.दा.
२ सिरा, नोंक। उ०—खेलवौ पसंद कीनौ वाहणी **अणी** को तें।—ऊ.का.
[सं० अनीक] ३ फौज, सेना, हरावल। उ०—झाली सिहदेव तौ प्रथम **अणी** में हीं लोह छक होय प्रांणां रा पोखण।—वं.भा.
४ सीमा. ५ पत्थर की खुदाई करने का औजार विशेष. ६ खंड, विभाग, दल। उ०—कीधा दोय **अणी** कमधज्जां।—रा.रू.
७ धुरी. ८ शिखर. [रा०] ९ भाला, वरछा।
वि०—अग्रगण्य, आगे रहने वाला। उ०—वगा सिंधवी नाद कटकां **अणी** वीरवर।—रणसी सीसोदिया री गीत
सर्व०—यह, इस।

अणीआळौ–सं०पु०—देखो 'अणियाळौ'। उ०—तळयां सूखड़ा तोलइ मांन, नागरवेलि **अणीआळां** पांन।—कां.दे.प्र.
सं०पु०—भाला। (रू.भे. अणियाळौ)

अणीक–सं०पु० [सं० अनीक] १ फौज, सेना. २ झुंड, दल. ३ युद्ध।
वि०—बुरा, खराब।

अणीके–सर्व०—इस (क्षेत्रीय)

अणीखा–वि०—१ जिसके सामने देखा न जा सके. २ भयानक।

अणीपति–सं०पु० [सं० अनीक+पति] सेनापति।

अतवार-सं०पु०—१ इतवार, रविवार। [फा० एतवार] २ भरोसा, विश्वास।
वि० [रा०] अपार, वेहद। उ०—अतवार वहै आपै अनंत, सह विद्दु हुय जावैं सगा—जग्गी खिड़ियौ।
अतवेध-सं०पु०—युद्ध, समर।
अतस, अतसय-वि० [सं० अतिशय] अपार, अत्यंत (अ.मा.)
सं०पु०—१ आत्मा. २ अस्त्र. ३ वायु ४ वल्कल वस्त्र।
अतसोर-सं०पु० [सं० अति+फा० शोर] अत्यधिक आवाज व शोरगुल।
अतरह-सं०पु०—समुद्र, सागर (डि.नां.मा.)
अता-सर्व०—इतने, इतना। उ०—रजपूत महारज क्रीत रता, उणवार चढ़े सरदार अता—शि.सु.रू.।
अताई-वि०—अत्यधिक।
सं०पु० [सं० आततायी] १ आततायी, दुष्ट. २ अन्यायी।
अताक-वि०—गुप्त (अ.मा.)
अताग-वि०—१ न त्यागने वाला. २ अथाह।
अतागै-क्रि०वि०—जल्द, शीघ्र। उ०—आयौ नाग सूं झूझ लेवा अतागै।
—ना.द.
अतात-वि० [सं० अ+तात] अनाथ, निराश्रित।
सं०पु०—परब्रह्म (ह.र.)
अतार-सं०पु०—१ दवाओं को वेचने वाला, पंसारी. २ अत्तार।
३ देखो 'अतारां'।
अतारां-सं०पु०—१ मुसलमान. २ आततायी, दुष्ट। उ०—मिरजी तिण वारां मीर करारां साथि अतारां करि सारां—रा.रू.।
क्रि०वि०—इतने में।
अतारी-वि०—तेज, चंचल, शीघ्रगामी। उ०—तुरँग खेड़िया भांत अतारी। गुरड़ जांण चढ़ियौ गिरधारी—रा.रू.।
अतारू-वि०—जो तैरना नहीं जानता हो। उ०—वे हरि भजै अतारू वोलै, ते अव भागीरथी म तूं—वेलि.।
अतारो, अतारौ-वि०—अधिक, वहुत। उ०—तुरंगां वर्ण तेज अंगां अतारौ—रा.रू.।
अताळ-वि०—१ वहुत, अति, अत्यन्त. २ तेज, भयंकर।
उ०—'अभमाल' क्रोध देखे अताळ, महमंद साह दिये मुक्तमाळ।
—वि.सं.
अताळौ-वि० (स्त्री० अताळी) १ उतावला, जल्दवाज. २ आतुर. ३ वलवान, जोशीला. ४ मजवूत, दृढ़। उ०—'रूपमल' घोड़ असवार 'उमेद' हर अरांनी जोड़ वागां अताळौ—अज्ञात।
५ तेज, तीक्ष्ण. ६ भयंकर। उ०—एक दाळी झड़ै मेराताळी अघट, नदी वुही कराळी रुधिर वाळी निपट। वीर ताळी वजै अताळी रिण विकट नचै काळी सहत कमाळी जांण नट—किसनजी आढ़ौ।
क्रि०वि०—शीघ्रता से। उ०—उमंगे रढ़ाळा छूटे सोहड़ां काकुस्थवाळा, अताळा सजूटे तेग सामूहां अडील—र.रू.।

अति-वि०—वहुत, अधिक।
सं०स्त्री०—अधिकता, ज्यादती।
अतिकम, अतिकमण-सं०पु०—देखो 'अतिक्रम'।
अतिकांतभावनीय-सं०पु०—योगदर्शन के अंतर्गत चार प्रकार के योगियों में से एक योगी, वैराग्यसंपन्न योगी।
अतिकाय-वि० [सं० अति+काय] १ स्थूलकाय, मोटा. २ वलवान।
सं०पु०—रावण का वह पुत्र जिसको लक्ष्मण ने मारा था।
अतिक्रम-सं०पु० [सं०] १ नियम या मर्यादा का उल्लंघन, विपरीत व्यवहार, अन्यथाचरण। उ०—सौ राजकुमार रा आसय मैं तुलै तौ कन्या काळ रौ अतिक्रम जांणि अठै ही विवाह करूँ—वं.भा.।
२ अपमान. ३ पार होना, लांघना। उ०—अतिक्रम विक्रम त्रिक्रम आस्य, अछेक अनेकन अंक उपांस्य—ऊ.का.।
अतिक्रांत-वि० [सं० अति+कांति] १ चमकीला, अत्यंत कांतिवान।
उ०—किता सस्त्र अतिक्रांत जड़ित पन्ना सोव्रन्नां—रा.रू.।
[सं०] २ सीमा से वाहर गया हुआ, वीता हुआ।
अतिगंज-सं०पु०—ज्योतिष शास्त्र के २७ योगों में से एक योग।
(ज्योतिष वाळवोध)
अतिगति-सं०स्त्री०—१ अन्याय, अत्याचार। उ०—सदाई सवळा राजा निवळा राजा नै झालता आया छै, वंद मांहे सदाई राखता आया, पिण तौ ठाकुर ज्यूं कोई अतिगति मांडै नहीं।
—कहवाट सरवहिया री वात
२ उत्तम गति, मोक्ष।
वि० [सं० अतिगत] वहुत, अधिक।
अतिचार-सं०पु० [सं०] १ किसी ग्रह का विना किसी राशि का भोग-काल समाप्त किये दूसरी राशि में चले जाना. २ विघात, व्यतिक्रम (जैन). ३ ग्रहों की शीघ्र चाल।
अतिचारी-वि० [सं०] १ अन्यथाचारी. २ अति करने वाला।
अतिचाह-वि० [सं० अति+चाह] उत्सुक, इच्छुक, उत्कंठित। (डि.को.)
अतितीव्र-सं०पु०—संगीत में वह स्वर जो तीव्र से भी कुछ अधिक ऊँचा हो।
अतिथि-सं०पु० [सं०] १ मेहमान, अनिश्चित, आगंतुक. २ वह संन्यासी जो एक स्थान पर एक रात्रि से अधिक न ठहरे।
अतिथिपूजा-सं०स्त्री० [सं० अतिथि+पूजा] संन्यासी या महात्मा की सेवा।
अतिदरप-वि० [सं० अति+दर्प] घमंडी, अभिमानी (वं.भा.)
अतिदेव-सं०पु०—१ वड़ा देवता. २ शिव. ३ विष्णु।
अतिपराक्रम-सं०पु० [सं०] वड़ा प्रताप, वड़ा तेज, शौर्य।
अतिपांन-सं०पु० [सं० अतिपान] वहुत पीना, पीने का व्यसन।
अतिपात-सं०पु० [सं०] अव्यवस्था, गड़वड़ी।
अतिपातक-सं०पु० [सं०] धर्मशास्त्र में वर्णित नौ पातकों में वड़ा पातक—माता, वेटी या पतोहू के साथ गमन करने वाला पुरुष अथवा पिता, पुत्र व दामाद के साथ गमन करने वाली स्त्री।

अणोटपोल–सं०पु०—स्त्रियों के पैर का आभूषण विशेष (रा.सा.सं.)

अणोर–सं०पु०—विवाह में वर या वधू के सदा साथ रहने वाला उसका छोटा व कुंआरा भाई (पुष्करणा ब्राह्मण)

अणोहाई–सं०स्त्री०—श्वासरोग, दमा (रू.भे. अणोआई, अणोई)

अतंक–सं०पु०—१ आतंक. २ कष्ट।

अतंग–वि०—पारंगत, निपुण, पूरा जानकार।

अतंत–वि० [सं० अत्यंत] अत्यन्त, अधिक, बहुत ज्यादा।

अतंद्र–वि० [सं० अतंद्रिक] १ आलस्यरहित, चंचल। उ०—सहर अवंती जिण समय, चारुदत्त द्विजचंद्र। क्रम पढ़ियौ विद्या कळा, दुरविध भाव **अतंद्र**—वं.भा.। २ विकल, व्याकुल।

अत–वि० [सं० अति] बहुत, अधिक, अतिशय। उ०—**अत** परमळ पसर पसरिया आँवा, सुक पिक बोलै सुखद सराग—वाँ दा.।

सं०स्त्री० [सं० अति] १ अधिकता. २ शीघ्रता, जल्दी।

सं०पु०—३ ईश्वर, परब्रह्म। (ह.र.)

उप —शब्दों के पहले लगने वाला एक उपसर्ग जिससे अधिक के अर्थ का बोध होता है।

क्रि०वि० [सं० अत्र] यहाँ, इस स्थान पर।

अतएव–क्रि०वि० [सं] इसलिए, इस कारण।

अतखंभ–सं०पु [सं० अंतरिक्ष+स्तम्भ] भाला (डि.नां.मा.)

अतग, अतगी–वि० [सं० उतुंग] ऊँचा। उ०—**अगत** झाळ औराळ जगि विकराळ मांझि तेज जिण—भगवानजी रतनू।

अतट, अतड–सं०पु०—१ पर्वत का शिखर, चोटी. २ टीला।

अतण–सं०पु० [सं० अ+तन] १ बिना देह का व्यक्ति. २ कामदेव. ३ परब्रह्म।

वि०—बिना देह का।

अतताई–वि० [सं० आततायी] आततायी, दुष्ट, क्रूर, अत्याचारी।
उ०—तपसी रौ रूप धरे **अतताई**, अडंग कुटी गइ सीत उठाई
—र.रू.

अतदगुण–सं०पु० [सं० अतद्गुण] एक प्रकार का अर्थालंकार जिसमें एक पदार्थ का किसी ऐसे दूसरे पदार्थ के गुणों को न ग्रहण करना दिखाया जाय जिसके कि वह अत्यंत समीप न हो।

अतन, अतनौ–वि०—निर्बल, कमजोर, पुंसत्वहीन। उ०—मद मेटि कियौ **अतनौ** मरद जद मैं तोनैं जांणियौ—ऊ.का.।

सं०पु०—१ कामदेव (अ.मा.) २ देखो 'अतण'।

अतपराक्रम–सं०पु० [सं० अति+पराक्रम] बड़ा प्रताप, बड़ा तेज, पराक्रम

अतप्रसंग–सं०पु० [सं० अति+प्रसंग] १ अत्यंत मेल. २ अति विस्तार. ३ व्यभिचार।

अतप्रांण–वि० [सं० अति+प्राण] देखो 'अतिप्रांण'।

अतमभवन–सं०पु०—ब्रह्मा, विधाता (डि.नां.मा.)

अतरंग–वि०—तरंगरहित, शांत।

सं०पु०—शांत समुद्र।

अतर–वि० [सं० अति] बहुत, अधिक।

सं०पु० [सं० इत्र] १ फूलों की सुगन्धि का सार, निर्यास. २ सागर, समुद्र (अ.मा.)

अतरदांन–सं०पु० [अ० इत्र+फा० दान] इत्र रखने का पात्र।

अतराज–सं०पु० [अ० एतराज] १ विरोध, आपत्ति. २ संदेह।

अतरिख–सं०पु० [सं० अंतरिक्ष] आकाश।

अतरूज–सं०स्त्री०—देखो 'अतळूज'।

अतरे ,अतरै–क्रि०वि०—१ इतने में। उ०—**अतरै** मिरजौ आवियौ, गह छावियौ निराट—रा.रू.। २ इसके बाद. ३ अभी तक, अब तक, इसी अवसर में।

अतरौ–वि० (स्त्री० अतरी) इतना। उ०—रोटी चरखां रांम, **अतरौ** मुतलब आपरौ, की डोकरियां कांम, राज कथा सूं राजिया—किरपारांम (बहु० अतरा)

अतरोक, अतरोयक–वि०—इतना ही, इतना सा।

अतरौ–वि०—इतना अधिक (रू.भे. अतरो)

अतळ–सं०पु०—सात पातालों के अंतर्गत दूसरा पाताल (पौराणिक)

वि०—१ तळरहित, बिना पेंदी का [सं० अतुल] २ अतुल, अत्यधिक।

अतळबळ–वि० [सं० अतिबल] अत्यधिक शक्तिशाली।

अतळस–सं०स्त्री० [अ०] एक प्रकार का रेशमी वस्त्र जो बहुत नरम होता है। उ०—साल सूतरू चिकन शुभ, **अतळस** जरकस आंण। तो तट दी लाखै तराँ, पहरांमणी पुरांण—वाँ.दा.।

अतळसी–सं०पु०—१ ख्वाजासरों का एक भेद विशेष जो पुरुषाकार को अंडकोश सहित जड़ से ही काट डालते हैं। इनको संदली भी कहते हैं. २ देखो 'अतळस'।

अतळस्स–सं०स्त्री०—देखो 'अतळस'। उ०—दर परदे जरदोज, सयन **अतळस्सां** मुखमल—ला.रा.।

अतळा–वि०—सुंदर (नेत्रों की बनावट और सुंदरता के लिए प्रयुक्त किया जाने वाला शब्द)। उ०—लोयण **अतळा** जेह—र. हमीररावत्तं।

सं०स्त्री०—पृथ्वी। उ०—चले चक पत्त चळदळ भांति, तळातळ ज्यों **अतळा** विचळाति—ला.रा.।

अतळाग–सं०स्त्री०—याद, स्मरण (डि.को.)

अतळीबळ, अतळीबळि–वि० [सं० अतुल+बल] अत्यधिक बलवान, शक्तिशाली (डि.को.)

अतळूज–सं०स्त्री०—श्वास नली में यकायक जल या अन्न के अंश के चले जाने से होने वाली खरखराहट या सुनसुनी।

अतळौ–वि०—१ आधारशून्य. २ बुरा, निकृष्ट। उ०—अपने आसरियै **अतळौ** दिन ऊगौ, पीहर सासरियै पतळौ पुन्य पूगौ।
—ऊ.का.

अतवाद–सं०पु०—देखो 'अतिवाद'।

अतवादी–वि०—देखो 'अतिवादी'।

अतीव्रस्टी–सं०स्त्री० [सं० अतिवृष्टि] अत्यन्त वर्षा, अतिवृष्टि।

अतीर–सं०पु०—समुद्र, सागर (ह.नां., अ.मा.)

अतीव–वि०यौ० [सं० अति+इव] अधिक, अतिशय अत्यन्त।
उ०—तथा अतीव नम्रता करी सु नम्र में तुझें—ऊ.का.।

अतीस–सं०पु० [सं०] हिमालय के अंचल में होने वाला पौधा जो औषधि के काम में आता है—अमरत।

अतीसय–वि०—देखो 'अतिसय' (रू.भे.)

अतीसीळ–सं०पु०—हाथी हस्ती (डि.नां.मा.)

अतु–वि० [सं० अत्यन्त] अत्यन्त, बहुत, अधिक, अतिशय।

अतुर–वि० [सं० आतुर] व्याकुल, व्यग्र, घबड़ाया हुआ, उद्विग्न, दुखी।
क्रि०वि०—शीघ्र, जल्दी। उ०—आच नित जनक नृप लिखे कागद अतुर—र.रू.।

अतुराई–सं०स्त्री० [सं० आतुर] उतावलापन, जल्दबाजी।

अतुळ–वि० [सं० अतुल] १ जो तौला या कूंता न जा सके, असीम, अपार, बहुत, अधिक. [सं० अतुल्य] २ अनुपम। उ०—एक चंदाणा जाति रा हळखड़ रजपूत री पुत्री नूं बळ में अतुळ जांणि प्रसभपूरवक परणियौ।—वं.भा.
३ जबरदस्त।

अतुळनीय–वि० [सं० अतुलनीय] १ अपरिमित, अपार. २ अनुपम, बेजोड़।

अतुळबळ–वि० [सं० अतुल+बल] अत्यधिक शक्तिशाली, समर्थ।
उ०—ग्रह तै सत डोर जगा छत्रियां गुर, वोह मोजां विध अतुळबळ।—महारांणा जगतसिंह रौ गीत

अतुळित–वि० [सं०] १ बिना तौला हुआ, अपरिमित, अपार, असंख्य २ अनुपम, अद्वितीय, बेजोड़।

अतुळी–वि० [सं० अतुल्य] १ अनुपम, अद्वितीय. २ असमान।

अतुळीवळ–वि० [सं० अतुल्य+बल] अत्यन्त शक्तिशाली।
उ०—अतुळीवळ भाडै असरां री, खागां मार गमाड़े खोज—र.रू.।

अतुळ्य–वि० [सं० अतुल्य] १ अनुपम, अद्वितीय. २ असमान, असदृश।

अतू–वि०—अत्यन्त, बहुत अधिक, अतिशय।
सं०पु०—कर्ज के खाते जमा की जाने वाली रकम।

अतूठो–वि० (सं० अ+तुष्ट) अप्रसन्न। उ०—समांणी जसूं नागरांणी सुणायौ, लरूठौ अतूठो भले काज आयौ—ना.द.।

अतूळ–वि० [सं० अतुल्य] अतुल्य, अनुपम, अद्वितीय।

अतेज–वि० [सं० अ+तेज] १ तेजहीन, निस्तेज, मंद, मलिन.
२ अंधकारयुक्त।

अतेर–वि०—जो तैरना न जानता हो।
सं०पु०—सागर, समुद्र (डि.नां.मा.)

अतै–क्रि०वि०—तब तक, इतने में। उ०—अपछरां चडी रथ्थां अतै चंडधां नोहथ्थां चडी—मे.म.।

अतोट–सं०पु०—१ जो शीघ्र प्रसन्न न हो. २ वज्र (नां.मा.)

अतोर–वि०—न टूटने वाला, पुष्ट, दृढ़, अभंग।

अतोल, अतौल–वि० [सं० अतोल] १ जो तौला या कूंता न जा सके, अपरिमित, अपार। उ०—हव लड़य कइक दिन हुय हरोल, इळ पती फौज री बळ अतोल—पे.रू.। २ जो तौला हुआ न हो।
सं०पु०—पहाड़, पर्वत (अ.मा.)

अतोली, अतोलौ–वि० [सं० अतुल] बहुत (रू.भे. अतोल)
उ०—सांवण का दिनां में साल बरसा छी अतोली, सारां ही दिनां में इंद्र आंख्यां भी न खोलीं—शि.वं.।

अत्त–सं०स्त्री० [सं० अति] अधिकता।

अत्तर–सं०पु० [फा० इत्र] इत्र, पुष्पसार। उ०—वर्णं केसरां अत्तरां वोह वागां, प्रभा चंद्र मोहै भड़ां व्रंद पागां—रा.रू.।

अत्ता–सर्व०—इतने (रू.भे. 'अता')

अत्तार–सं०पु० [अ०] १ इत्र बेचने वाला, गंधी. २ यूनानी औषधियां बनाने तथा बेचने वाला।

अत्ति, अत्ती–वि० [सं० अति] बहुत, अधिक।
सर्व० [रा०] इतनी।
सं०पु० [सं० अति] अत्याचार।

अत्तीत–सं०पु०—देखो 'अतीत, अतीथ' (रू.भे.)

अत्तीव–वि० [सं० अतीव] देखो 'अतीव'। उ०—अवरंगी अत्तीव आपरंगी अणनीतौ—रा.रू.।

अत्तू–सं०पु०—कर्ज के पेटे खाते की अवधि व्यतीत होने के पूर्व जमा की जाने वाली रकम (रू.भे. अतू)

अत्तोतायौ–वि० (स्त्री० अत्तोताई) १ आततायी. २ छिछले स्वभाव का. ३ उतावला।
कहा०—१ अत्तोताई बेटौ जायौ नाळ पैं'ली नाक कटायौ—उतावले स्वभाव की स्त्री के पुत्र जन्मा तो अपनी आतुरता के कारण नाल के स्थान पर नाक काट डाली. २ अत्तोताई री मांटी आवै दोपारै री दीयौ जगावै—पति के आने पर उससे शीघ्र मिलने को आतुर उतावली स्त्री दुपहरी में ही सांझ समझ कर दिया जला देती है। उतावली स्त्रियों के लिये।

अत्थ–सं०पु० [सं० अर्थ] देखो 'अथ'। उ०—मंगळ री जणणी मही, अदतारां री अत्थ—वां.दा.।
क्रि०वि०—अब। उ०— हेम सेत मंझार न को हिव अत्थ न रावह, इत्थ चवत्थौ राव हुवत जंपियै सरोवह—लल्ल भाट।

अत्थड़ी–सं०पु० [सं० अर्थ] देखो 'अरथ'। उ०—ऊधम हत्थां अत्थड़ी, कांनां सुण निज क्रीत—वां.दा.।

अत्यंत–वि० [सं०] अतिशय, अधिक, बहुत।

अत्यंतागांमी–वि० [सं०] शीघ्रगामी।

अत्यंताभाव–सं०पु० [सं०] १ किसी वस्तु का पूर्णतया अभाव, सत्ता का पूर्ण रूप से न होना. २ वैशेषिक के मतानुसार पांच अभावों में से चौथा।

अतिप्रसंग–सं०पु० [सं०] अत्यन्त मेल, देखो 'अतप्रसंग'।

अतिप्रांण–वि० [सं० अतिप्राण] बलवान, शक्तिशाली, अत्यंत शक्तिशाली। (रू.भे. 'अतप्रांण') उ०—बाळ सा इणविधि वर विवेक, **अतिप्रांण** हुवा भूपति अनेक—वं.भा.।

अतिबरवै–सं०पु०—एक मात्रिक छंद विशेष जिसमें प्रथम व तृतीय चरण में १२ मात्राऐं तथा दूसरे चौथे चरण में नौ मात्राऐं होती हैं। विषम पदों के अंत में जगण नहीं होता तथा सम पदों के अंत का वर्ण लघु होता है।

अतिबरसण–सं०स्त्री० [सं० अति+वर्षण] अतिवृष्टि, अत्यन्त वर्षा (डिं.को.)

अतिबळ–वि० [सं० अतिबल] अत्यधिक बलवान, शक्तिशाली, महावीर। सं०पु०—एक राक्षस।

अतिबळा–सं०स्त्री० [सं० अतिबला] १ प्राचीन काल की एक प्रकार की युद्ध विद्या जिसके प्रभाव से श्रम और प्यास, भूख आदि बाधाओं का भय नहीं रहता। उ०—विद्या विलास **अतिबळा** रिख पढ़ाई रांम। —रांमरासौ

२ ककई नामक पौधा।

अतिमुसळ–सं०पु० [सं०] यदि किसी नक्षत्र में मंगल अस्त हो और उसके सत्रहवें नक्षत्र व १८ वें नक्षत्र से अनुवक्र हो तो इस वक्र को अतिमुसळ कहते हैं—फलित ज्योतिष के अनुसार इससे चोर और शस्त्र का भय रहता है तथा अनावृष्टि होती है।

अतिमूत्र–सं०पु० [सं०] अधिक मूत्र उतरने का एक प्रकार का रोग विशेष जिससे रोगी कमजोर हो जाता है (वैद्यक)

अतियोग–सं पु० [सं०] किसी मिश्रित औषधि में किसी द्रव्य का नियत मात्रा से अधिक मिल जाना।

अतिरंग–सं०पु०—१ अत्यन्त आनन्द, अत्यन्त प्रसन्नता। उ०—अति प्रगट रस थुड़ डाळ अदभुज(त) गाय **अतिरंग** आदरे—रा.रू.। २ अंतरंग, घनिष्ठ। उ०—सेज पधारी राव की, **अतिरंग** स्वामी सुं मीली राति—वी.दे.।

अतिरंजन–सं०पु० [सं०] १ बढ़ा-चढ़ा कर कहने का ढंग, अत्युक्ति. २ अत्यन्त प्रसन्नता।

अतिरथी–सं०पु० [सं०] वह जो रथ पर चढ़ कर अकेला बहुत से लोगों से लड़े, महारथी, रणकुशल।

अतिरय–सं०पु०—तीव्र वेग। उ०—विसमय प्रळय मय भय समय निरदय उदय रवि नयनिळय **अतिरय** अजय खयकर अखय—वं.भा.।

अतिरिक्त–क्रि०वि० [सं०] सिवाय, अलावा।
वि०—१ शेष, बचा हुआ. २ अलग।

अतिरेक–सं०पु० [सं० अति+रिच्+घ ञ्] आधिक्य, अतिशय।

अतिळीवर, अतिळीवरळ–वि० [सं० अतुल्य+बल] वीर, योद्धा, शक्तिशाली।

अतिवाद–सं०पु० [सं०] १ डींग, शेखी. २ खरी बात, सच्ची बात. ३ कटूक्ति।

अतिवादक, अतीवादी–सं०पु० [सं०] १ सत्यवक्ता. २ कटुवादी. ३ डींग मारने वाला।

अतिवस्टी–सं०स्त्री० [सं० अतिवृष्टि] अत्यधिक वर्षा।

अतिसय–वि० [सं० अतिशय] बहुत, ज्यादा, अत्यधिक। उ०—आसाढ़ जांणि डंडूळ, **अतिसय** गयण चढ़ि गैतूळ—रा.रू.।

अतिसयपांन–सं०पु० [सं० अतिशयपान] अत्यन्त मद्यपान, मद्याहार। (मि० अतिपांन)

अतिसयोकत्ती–सं०स्त्री० [सं० अतिशय+उक्ति] भेद में अभेद तथा असंबंध में संबंध दिखलाते हुए किसी वस्तु को बहुत बढ़ा कर प्रकट करने का एक प्रकार का अलंकार अथवा जहाँ प्रस्तुत की अत्यन्त प्रशंसा के लिए अतिशय अर्थात् लोक सीमा का उल्लंघन करके कोई बात कही गई हो।

अतिसामान्य–सं०पु० [सं० अति+सामान्य] बहुत ही साधारण, मामूली बात।

अतिसार–सं०पु० [सं०] १ पेट का रोग विशेष जिसमें रक्त मिश्रित आँव के अथवा पतले किन्तु अधिक दस्त आते हैं।
वि० [रा०] अतिशय, बहुत। उ०—माह मास सी पड़चौ **अतिसार,** जळ-थळ-महीयळ सहू कीया छार—वी.दे.।

अतिसै–वि० [सं० अतिशय] अतिशय, बहुत, अधिक (रू.भे. अतिसय)

अतिहसित–सं०स्त्री० [सं० अति+हसित] अट्टहास, जोर की हँसी।

अतींद्रय–वि० [सं० अतीन्द्रिय] अगोचर, अप्रत्यक्ष, अव्यक्त।

अती–सर्व०—इतनी। उ०—कहि **अती** बात सारी कथा, तवी राव सेखा तणी—मे.म.।
वि० [सं० अति] बहुत, अधिक (रू.भे. अति)

अतीचपळ–वि० [अति+चपल] अधीर, चलायमान।

अतीत–वि० [सं०] १ बीता हुआ, भूत, गत, पुराना। उ०—विछोड़ै रुद्र कपाळ ब्रहम्म, कियौ सुकदेव **अतीत** करम्म—ह.र.।
२ निर्लेप, विरक्त। उ०—स्रवगुण देव **अतीत** संसार, विभू अति गुज्झ परम्म विचार—ह.र.। ३ दरिद्र, कंगाल. ४ पृथक, अलग।
क्रि०वि०—परे, बाहर। उ०—नमौ धक पंख सहोवर धज्ज, गुणादि **अतीत** लखण्ण-अग्रज्ज—ह.र.।
सं०पु० [सं० अतिथि] १ विरक्त साधु, वीतराग, सन्यासी।
उ०—इतरै देवीदास बोलियौ—**अतीतां** क्यों खड़ा छौ? कासूं देखां भीखी नै मारग लागौ—पलक दरियाव री बात।
२ अतिथि. ३ परब्रह्म. ४ संगीत में सम से दो मात्राओं के उपरांत आने वाला स्थान. ५ तबले के किसी बोल या टुकड़े की सम से आधी वा एक मात्रा के पहले समाप्ति. ६ दसनामी संन्यासियों का एक नाम।

अतीतकाळ–सं०पु०यौ० [सं०] बीता हुआ समय, प्राचीन काल।

अतीत्य, अतीथ–सं०पु० [सं० अतिथि] १ अभ्यागत, मेहमान. २ संन्यासी, विरक्त साधु, गृहत्यागी. ३ जैन साधु. ४ गरीब व्यक्ति।

हैं। इन शाखाओं में से आजकल शौनकीय मिलती हैं, जिसमें २० काण्ड, १११ अनुवाक, ७३१ सूक्त तथा ४७९३ मंत्र हैं। धनुर्वेद इसका उपवेद है। (डि.को.)

अयरवसिर—सं०पु० [सं० अथर्वशिर] तैत्तरेय शाखा के समय यज्ञ की वेदी बनाने के लिए काम में लायी जाने वाली ईंट।

अयरवसिरा—सं०स्त्री० [सं० अथर्वशिरा] वेद की एक ऋचा का नाम।

अयरुज—सं०स्त्री०—श्वासनली में एकाएक जल या अन्न के अंश के चले जाने से होने वाली खरखराहट या सुनसुनी। (रू.भे. अतळूज)

अयळ—सं०पु०—किसान को लगान पर जोतने के निमित्त दी जाने वाली भूमि।

अयळस—सं०पु०—१ ऋतुमती घोड़ी के पास ले जाते समय घोड़े की कामाग्नि उत्तेजित करने के उद्देश्य से उसके लिङ्ग को सहलाने की क्रिया. २ हस्तमैथुन।

अयळूज—सं०स्त्री०—देखो 'अतळूज' (रू.भे.)

अयवा—अव्यय [सं०] या, वा, किंवा। एक वियोजक अव्यय।
उ०—जंतु भखै अथवा जळै, कै पड़ियौ रह जाय। किल भिसटा भसमी क्रमी, इण नर तन सूं थाय—वाँ.दा.।

अयहा—वि०—अथाह, अपार। उ०—काळ गिरंद अथहां कळोधर, प्रतपाळा वंचव महाराज—उम्मेदसिंह सीसोदिया रौ गीत।

अयांणु, अयांणी—सं०पु०—अचार (अमरत)

अयांमणो, अयांमवौ—क्रि०अ० [सं० अस्तमन] १ अस्त होना।
उ०—तिमिर मिटै पावक तुटै पावू भांण प्रकास। अइयौ 'चंद्र' अथामियां अइयां चंद उजास—पा.प्र.। २ मरना।
अयांमणहार-हारौ-(हारी), अयांमणियौ—वि०—अस्त होने या मरने वाला।
अयमणौ, अयमवौ—(रू.भे.)

अयाई—सं०स्त्री० [सं० स्थायी] १ सभा, बैठक. २ देखो 'हताई'।

अयाग, अयागौ, अयाघ, अयाव—वि०—बहुत, अधिक, अपार।
उ०—१ रोज सिकारां मेलणी, देखै बाग तड़ाग, हूंकळ दळ गज हैवरां, अमरख नरां अथाग—रा.रू.।
२ अनुरांण उठी अब्दुल नवाब, हिंदवांण अठी तपवळ अथाव।—शि.सु.रू.

अयार—सं०स्त्री०—योनि, भग।

अयाल—वि०—१ अथाह, अपार, अपरिमित, विरुद्ध. २ बढ़िया।
उ०—ईसँ अम मुद्रव चीज अथाल 'मालावत' लोभ धरै जगमाल।—गो.रू.

अयाह—वि०—१ जिसकी थाह न हो, अगाध, बहुत गहरा. २ जिसका कोई पार न पा सके, अपरिमित। उ०—जांणिक उलटइ समंद अथाह—बी.दे.। ३ गंभीर, गूढ़, कठिन।
सं०पु०—१ जलाशय. २ गहराई. ३ गड्ढा. ४ सागर, समुद्र।

अयि, अयी—सं०पु० [सं० अर्थ] १ संपत्ति, धन, द्रव्य.। उ०—असमर समर अथी ऊधमणी, मनड़ै अणै नयी अहमेव—जसजी आढ़ौ। २ धनाढ्य, धनी।

अयिर—वि० [सं० अस्थिर] अस्थिर, नाशवान, चलायमान, चल, जंगम।
उ०—अथिर आदि मंडांण न को दीसै थिरताई, काळ ग्रास संसार ग्रास जीवणै न काई—रा.रू.

अयूळ—वि०—१ स्थूल. [सं० अ+स्थूल] २ जो स्थूल न हो।

अयोग—वि०—अथाह, अपार। उ०—पाळो पड़ै अथोग, झड़ै लासूड़ा नीचै—दसदेव।

अदंक—सं०पु० [सं० आतंक] भय, डर, आतंक।

अदंग—वि० [सं० अदग्ध] १ बेदाग, शुद्ध, निर्दोष. २ बहुत घबराया हुआ. ३ अत्यधिक आश्चर्यान्वित।

अदंड—वि० [सं०] १ जो दंड के योग्य न हो अथवा जिसे दंड न दिया जा सके, अदंडनीय. २ जिस पर किसी प्रकार का कर न लगे, कर-रहित. ३ निर्भय।
सं०स्त्री०—बिना मालगुजारी की अथवा माफी की भूमि।

अदंडनीय, अदंडमांन, अदंड्य—वि० [सं०] १ जो दंड पाने के योग्य न हो. २ दंड से मुक्त. ३ करमुक्त. ४ निर्भय।

अदंत—वि० [सं०] १ बिना दाँत का, जिसके दाँत न निकले हों. २ दुध-मुहाँ. ३ अति वृद्ध जिसके दाँत न हों. ४ बिना युवावस्थासूचक दाँतों वाला ऊँट।
सं०पु०—वह ऊँट जिसके युवावस्थासूचक दाँत न निकले हों।

अदंतर—वि० [सं० अर्द्ध+अंतर] ऊँचा, मध्य में।

अदंतिका—सं०स्त्री०—एक देवी का नाम—वाँ.दा. ख्यात।

अदंद—वि० [सं० अद्वन्द्व] निर्द्वन्द्व, बाधारहित, शांत।

अदंभ—वि० [सं० अ+दंभ] बिना किसी आडंबर के, सच्चा, निश्छल, स्वाभाविक, स्वच्छ, शुद्ध।
सं०पु०—शिव।

अदंस—वि० [सं० अ+दंश] जो डंसा न गया हो, बिना काटा हुआ, घावरहित।

अद—सं०पु० [सं०] १ भोजन, आहार. (डि.को.) २ प्रतिष्ठा।

अदकर—वि०—१ प्रौढ़, अधेड़. २ अर्धभाग का, आधा।

अदकाली—वि०—बेसमझ।

अदक्ष—वि० [सं० अ+दक्ष] जो चतुर न हो, जो निपुण न हो।

अदखड़—वि०—देखो 'अदकर' (रू.भे.)

अदखिण—वि० [सं० अर्द्ध+क्षण] थोड़ा समय, अल्पकाल।

अदग—वि०—१ बेदाग, निष्कलंक, शुद्ध। उ०—दिन जीतगौ संसार देखतां रण जीतगौ सिधवै राग, दाग अदग खग त्याग देवड़ी, देवड़ौ गयौ अदागे दाग—जाडोजी महडू। २ निरपराध. ३ अछूता. ४ अस्पृष्ट. ५ बचा हुआ।

अदगध—वि० [सं० अ+दग्ध] १ जो दुखी न हो, सुखी. २ जो दग्ध या जला न हो।

अत्यंतिक–वि० [सं०] बहुत, अधिक।

अत्यत्कस्ट–वि० [सं० अति+उत्कृष्ट] अत्युत्तम, अतिश्रेष्ठ, बहुत बढ़िया।

अत्याकार–सं०पु० [सं०] हार, पराजय। (डिं.को.)

अत्याग–सं०पु० [सं० अ+त्याग] ग्रहण, स्वीकार।

अत्यागी–वि० [सं० अ+त्यागिन्] १ अवगुणों को न त्यागने वाला, दुर्व्यसनी. २ न त्यागने वाला।

अत्याचार–सं०पु० [सं०] १ सदाचार का उल्टा, आचार का अतिक्रमण, अन्याय, विरुद्धाचरण. २ ज्यादती. ३ आडंबर, ढकोसला।

अत्याचारी–वि० [सं०] अत्याचार करने वाला, अन्यायी, धर्मध्वजी।

अत्यानंदा–सं०स्त्री०—वह योनि जो अधिक मैथुन से भी संतुष्ट नहीं होती तथा जिससे स्त्री बंध्या हो जाती है। वैद्यक में इसे एक रोग कहा गया है।

अत्यावस्यक–वि०यौ० [सं० अत्यन्त+आवश्यक] जो बहुत ही जरूरी हो।

अत्युक्त–वि० [सं०] बहुत बढा चढा कर कहा हुआ।

अत्युक्ति, अत्युक्ती–सं०स्त्री० [सं० अत्युक्ति] वास्तविकता से बहुत बढा चढा कर वर्णन करने की एक रीति।

अत्युतकंठा–सं०स्त्री० [सं०] १ चिन्ता, मनस्ताप. २ उच्चाभिलाषा।

अत्र–क्रि वि० [सं०] यहाँ, इस स्थान पर। उ०—चहुँधा चरित्र वैसणवे विचित्र, त्रै लोक तत्र, वह मिलत अत्र—ऊ.का.।

अत्रपत, अत्रपती–वि० [सं० अतृप्त] असन्तुष्ट, भूखा, अतृप्त। सं०स्त्री० [सं० अतृप्ति] चित्त की अशांति, असंतोष, अतृप्ति।

अत्रय–सं०पु०—देखो 'अत्रि'। उ०—पिरभू किता वासर पाय, अत्रय तणैं आश्रम आय—र.रू.।

अत्रसण–वि०—निर्लोभी।

अत्रस्त–वि० [सं० अ+त्रस्त] भयरहित निडर।

अत्रस्थ–वि० [सं०] यहाँ का, यहाँ रहने वाला।

अत्रि–सं०पु० [सं०] १ सप्तऋषियों में से एक जो ब्रह्मा के पुत्र माने जाते हैं. २ एक तारा जो सप्तऋषिमंडल में है।

अत्रिगुण–वि० [सं०] सत, रज और तम नामक तीनों गुणों से पृथक, त्रिगुणातीत।

अत्रिज–सं०पु० [सं०] अत्रि मुनि के पुत्र—१ चन्द्रमा, २ दत्तात्रेय, ३ दुर्वासा।

अत्रिजात–सं०पु०यौ० [सं०] १ चंद्रमा. २ देखो 'अत्रिज'।

अत्रिप्रिया–सं०स्त्री० [सं०] अत्रि ऋषि की पत्नी—अनसूया।

अथ–सं०पु० [सं० अर्थ] १ शब्द का अभिप्राय. २ अभिप्राय, मतलब, प्रयोजन. ३ काम, इष्ट. ४ हेतु, निमित्त. ५ धन, संपत्ति। उ०—भर वत्थां *अथ काढजै, मंदिर जळतै मांय*—ह.र. (रू.भे. अरथ) ६ शब्द, स्पर्श, रस, रूप एवं गंध इंद्रियों के पाँच विषय [सं०] ७ एक मंगलसूचक शब्द जिससे प्राचीन काल में लोग किसी ग्रंथ या लेख का आरम्भ करते थे। उ०—अथ ओमकार, अक्षर उचार, निस दिवस नाम रट रांम-रांम—ऊ.का.।

अव्यय०—१ अब, इस समय. २ अनन्तर. ३ आरम्भ में।

अथइणौ, अथइबौ–क्रि०अ० (प्रा०रू०) [सं० अस्त] अस्त होना।

अथऊ–सं०पु०—सूर्यास्त होने के पहिले किया गया भोजन (जैन)

अथक–वि०—१ न थकने वाला, अश्रांत, परिश्रमी. २ बहुत, अधिक।

अथग–वि०—१ देखो 'अथाह'। उ०—अग धुन, व्यंग रस घाट, कवता अथग—क.कु.बो.। २ देखो 'अथक'।

सं०पु०—१ हाथी (ना.डिं.को.) २ समुद्र, सागर (अ.मा.)

अथगणौ, अथगबौ–क्रि०अ०—रुकना (सूर्य)। उ०—अथगियौ भांण मधुकराहर ऊपरा, धोम दुहुवा इसौ वाद धिखियौ—अज्ञात।

अथगूं–वि०—अथाह, अपार, (रू.भे. 'अथग')

अथग्ग–वि०—देखो 'अथग' (रू.भे.)

अथड़ाणौ, अथड़ाबौ–क्रि०अ०—१ लड़खड़ाना. २ टकराना, भिड़ना।

अथड़ाणहार-हारौ (हारी), अथड़ाणियौ–वि०—भिड़ने वाला।

अथड़िग्रोड़ौ, अथड़ियोड़ौ, अथड़्योड़ौ–भू०का०कृ०।

अथड़ीजणौ—भाव.वा.।

अथड़ियोड़ौ–भू०का०कृ०—लड़खड़ाया हुआ, टकराया हुआ।

(स्त्री० अथड़ियोड़ी)

अथमणी–सं०स्त्री० [सं० अस्तमन] पश्चिम दिशा।

अथमणौ, अथमबौ–क्रि०अ० [सं० अस्त] १ अस्त होना, डूबना, लुप्त होना. २ नष्ट होना, चला जाना।

अथमणहार-हारौ (हारी), अथमणियौ–वि०—अस्त होने वाला।

अथमावणौ—'अथमणौ' का सं०रू०—अस्त कराना।

अथमायोड़ौ, अथमिग्रोड़ौ, अथमियोड़ौ, अथम्योड़ौ–भू०का०कृ०—अस्त हुआ हुआ।

अथमावियोड़ौ—भू०का०कृ०।

(विलोम—उगमणौ, उगमबौ)

अथमावणौ, अथमावबौ–क्रि०अ०—देखो 'अथमणौ'।

क्रि०स०—१ अस्त करना. २ नष्ट करना।

(क्रि० 'अथमणौ' का स.रू.)

अथमियोड़ौ–वि०—अस्त (स्त्री० अथमियोड़ी)

अथर–वि० [सं० अस्थिर] १ अस्थिर। उ०—आ माया काया अथर रिध धरण छाया रीत—अज्ञात। २ अधीर, चंचल।

अथरव–सं०पु० [सं० अथर्व] १ एक वेद का नाम, अथर्ववेद. २ अथर्ववेद का एक मन्त्र।

अथरवण–सं०पु० [सं० अथर्वन] १ देखो 'अथरव'। २ शिव, महादेव।

अथरवणी–सं०पु० [सं० अथर्वनी] पुरोहित, कर्मकांडी, यज्ञ करने वाला।

अथरववेद, अथरवबेद–सं०पु० [सं० अथर्ववेद] ब्रह्मा के उत्तरमुख से निकलने वाला चार वेदों के अंतर्गत चौथा वेद जिसकी नौ शाखायें

अदमपैरवी–सं०स्त्री० [फा०] किसी मुकदमे में आवश्यक कार्यवाही न करने का भाव ।

अदमसबूत–सं०पु० [फा०] प्रमाणाभाव, सबूत का अभाव ।

अदमहाजरी–सं०स्त्री० [फा०] अनुपस्थिति ।

अदमु–वि० [सं० अदम्य] १ देखो 'अदम्य' [रा०] २ छोटा, तुच्छ. ३ नीच ।

अदमोलौ–वि०यौ० [सं० अर्द्ध+मूल्य] आधे मोल का ।

अदम्य–वि० [सं०] जिसका दमन न हो सके, प्रचंड, प्रबल ।

अदय–वि० [सं०] दयारहित, निर्दय, निष्ठुर ।

अदरंग–सं०पु.—घोड़े का एक रोग विशेष जिसके कारण से घोड़े का आधा अंग नष्ट हो जाता है । (शा.हो.)

अदर–सं०पु० [सं० अधर] १ देखो 'अधर'. [रा०] २ तीर, बाण (अ.मा.)

अदरक–सं०पु० [सं० आर्द्रक, फा० अदरक] एक प्रकार का पौधा विशेष जिसकी तीक्ष्ण और चरपरी जड़ मसाले और दवा के काम आती है ।

अदरकी–सं०स्त्री० [सं० आर्द्रक] वह टिकिया जो सोंठ और गुड़ मिला कर बनाई गई हो ।

अदरतियौ–सं०पु०—देखो 'अदरातियौ' ।

अदरस–वि० [सं० अदृश्य] अदृश्य, लुप्त, गायब, ओझल । उ०—अरस लगि पड़ि निहस ऊघस, सूर अदरस धूम सपरस—रा.रू. । (मि० 'अदरमगि')

अदरसण–सं०पु० [सं० अदर्शन] १ अविद्यमानता, असाक्षात्. २ लोप. ३ विनाश ।

क्रि०प्र०—करणौ-होणौ ।

अदरसणि–वि० [सं० अदृश्य] अदृश्य, लुप्त । उ०—ऊजळ अदरसणि निमि उजुवाळी, वर्णू किसूं वाखांण घणै—वेलि० ।

अदरसणीय–वि० [सं० अ+दर्शनीय] १ जो दर्शन या देखने के योग्य न हो. २ बुरा, कुरूप, भद्दा ।

अदरांणौ–वि०—न अधिक पुराना और न नया (स्त्री० अदरांणी)

अदरा–सं०पु० [सं० आर्द्रा] आर्द्रा नामक एक नक्षत्र ।

अदरातियौ–सं०पु०—१ दामाद को अर्ध रात्रि में दूसरी बार खिलाया जाने वाला भोजन. २ किसी व्रत की पहली रात्रि को अर्धरात्रि के बाद किया जाने वाला भोजन (विशेषकर भाद्रपद शुक्ला तीज के पहले द्वितीया की रात्रि को व्रत करने वाली स्त्रियों द्वारा किया जाने वाला भोजन). ३ वह व्यक्ति जो कुएँ द्वारा सींची जाने वाली कृषि भूमि पर पिछली रात्रि में कृषि सम्बन्धी कार्य करता हो ।

अदल–सं०पु० [अ०] न्याय, इन्साफ । उ०—राजा रांम री रसणांण, प्रानम अदल वरतो आण—र.रू. ।

वि०—१ बढ़िया । उ०—अदल लियौ बदळौ नकू रानी उधारी । —बां.दा.

२ मुख्य. ३ न्यायशील । उ०—सूरां तैं सूरा महापूरां से अदल । —रा.रू.

अदळद–वि० [सं० अ+दरिद्र] दारिद्र्य-रहित, धनवान । उ०—विप्र अदळद कीधा दुख वारै—रा.रू. ।

अदल-नसाफ–सं०पु०यौ० (अ० अदल+इंसाफ) अदल, इंसाफ, न्याय । उ०—सबळा पकड़ै जड़ै सांकळां, निबळां कीजै अदल-नसाफ । —जवानजी आढ़ौ

अदळबदळ–क्रि०वि० [अनु०] उलटफेर, हेरफेर, परिवर्तन ।

अदळिद्र–वि०—देखो 'अदळद' । उ०—अदळिद्र किया आसाउवां अभैसाह अजमाल रै—रा.रू. ।

अदळियापातसा–सं०पु०—देखो 'अदळीपातसा' ।

अदळी–वि० [सं० अ+दल] १ बिना पत्तों का. २ बिना सेना का ।

अदली, अदलीपातसा–सं०पु०—१ मस्त. २ ब्रह्मज्ञानी । उ०—अलख अदलीपातसा, कुण तौ जैवड़ा—केसोदास । [अ० अदली] ३ न्यायी ।

अदल्ल–सं०पु० देखो 'अदल' ।

अदव, अदवौ–वि०—१ कृपण, कंजूस । उ०—ऊंवांजळवळ कायरां, विदरां कुळ विवहार । नहीं दवां निरधूमतां, ज्यूं अदवां उपगार । —बां.दा.

२ बिना जला, अदग्ध ।

अदसेर–वि०—आधा सेर ।

अदसेरेक–वि०—आधा सेर के लगभग ।

अदस्टांण–सं०पु० [सं० अधिष्ठान] अधिष्ठान, नगर (अ.मा.)

अदांत–वि०—देखो 'अदंत' ।

अदांन–वि०—१ कंजूस, कृपण [सं० अ+फा० दाना] २ अनजान, नादान, नासमझ ।

अदांव–सं०पु० [अ० अ+दांव] १ बुरा दांव. २ असमंजस, कठिनाई ।

अदा–वि० [अ०] बेबाक, चुकता ।

सं०स्त्री०—१ हाव-भाव, नखरा. २ ढंग, तर्ज ।

अदाग, अदागी–वि०—१ बेदाग, साफ, निर्दोष, पवित्र, निष्कलंक । उ०—दिन जीतणौ संसार देखतां रण जीतणौ सिंधवै राग, दाग अदग खग त्याग देवड़ौ देवड़ौ गयौ अदागै दाग—जाडोजी महड़ू ।

२ संकेत चिन्ह रहित (पशु) । उ०—पमंग अदाग सुजस पड़ियागळ अकबर दळ रहियौ अगण । कळंक विना कुंभेण कळोधर, वाघ ज्ळोधर कळंक विण—दुरसौ आढ़ौ ।

अदात, अदाता, अदातार–वि० [सं० अदाता] कृपण, कंजूस । (मि० अदत, अदतार)

अदाप–वि० [सं० अ+दर्प] दर्पहीन, निरभिमानी । उ०—वडां वडौ अभिमांन विन, दांन महांन अदाप । महा वीर मन नांहि मद, तो धिन-धिन परताप—जैलदांन बारहठ ।

अदाब–सं०पु० [सं० अदब] देखो 'अदब' । उ०—आसीस नेक कहि कहि अदाब, सिरपाव साह बगसे सिताब—वि.सं. ।

अदगावळो, अदगावळौ–वि०पु० (स्त्री० अदगावळी) १ अंगविहीन, विकृत अंग वाला. २ निकम्मा. ३ नपुंसक ।

अदगेलो, अदगेलौ–वि० (स्त्री० अदगेली) १ पागल. २ मूर्ख ।

अदठ–वि०—कृपण, कंजूस । उ०—इळ अणवूठै कसौ अंवहर, अनड़ अदठ नै उहवै आय—महारांणा लाखा रौ गीत ।

अदत–वि०—कृपण, कंजूस । उ०—**अदता** टांणा ऊपरै, नांणां खरचै नांहि—वाँ.दा. ।

अदतार, अदतारौ–वि०—कृपण, कंजूस (मि. अदत)

उ०—आवै केइक चीतिया, अणचीतिया अनेक । वळै सलभा होय सव, उर **अदतारां** छेक—वाँ.दा. ।

अदती–सं०स्त्री० [सं० अदिति] १ प्रकृति. २ पृथ्वी. ३ दक्ष प्रजापति की कन्या जो देवताओं की माता है. ४ अंतरिक्ष. ५ माता-पिता ।

सं०पु० [सं० आदित्य] ६ अदिति के पुत्र यथा सूर्य, इन्द्र, वामन, वसु और हिरण्यकश्यपु ।

अदतीपूत, अदतीसुत–सं०पु० [सं० अदिति+पुत्र] अदिति के पुत्र—१ हिरण्यकश्यपु, २ देवता, ३ सूर्य (डि.को.)

अदतेव–सं०पु०—देवता, सुर (अ.मा.)

अदतो–वि०—कृपण, कंजूस (मि. 'अदत' रू.भे.)

अदत्त–वि० [स०] १ न दिया हुआ, असमर्पित, अप्रतिपादित. २ वह वस्तु जिसके दिये जाने पर भी लेने वाले को लेने और रखने का अधिकार न हो (स्मृति). ३ कृपण, कंजूस । उ०—ऊंमर लग ऊधार री, वांण न छोड़ै वत्त । जोर फिरावै जाचकां ऊधारियौ **अदत्त** ।
—वाँ.दा.

अदत्तदांन—सं०पु०—विना दी हुई वस्तु का ग्रहण, अपहरण, चोरी ।

अदत्तू–वि०—कृपण, कंजूस (रू.भे. अदत)

अदन–सं०पु० [सं० अद्+भक्षणे] १ भक्षण, भोजन, जेवनार, आहार, खाना. [सं० अ+दिन] २ बुरा समय, कुदिन, आपत्तिकाल ।

उ०—करि वेड़े वरवाद, वाद वारूद उडाये । हम तुम जुट्टे तदन, **अदन** अहिमति उर छाये—ला.रा. । [अ०] ३ अरव के किनारे पर एक वंदरगाह व नगर, जहाँ ईश्वर ने आदम को रक्खा था । यह स्वर्ग का उपवन भी माना जाता है ।

वि०—हतभाग्य । उ०—तिके पातां भड़ां **अदन** मुरधर तणै, पाट रा थंभ रिण वाट पड़िया—पहाड़खाँ आढ़ौ ।

अदनबदन–क्रि०वि०—इधर, उधर (लो.गी.)

अदनासियौ–वि०—१ दुखी, खिन्न चित्त. २ दुष्ट. ३ शत्रु ।

अदनीचीज–वि०—छोटी व तुच्छ वस्तु (डि.को.)

अदनो, अदनोह–वि० [अ० अदना] (स्त्री० अदनी) १ तुच्छ, साधारण । उ०—दोलत आंणै दूर सूं, अंग वर्णै **अदनाह** । वड़ा प्रपंची वांणिया, वाघ गऊ वदनाह—वाँ.दा. । २ क्षुद्र, नीच । उ०—वडा पुरुख री वांण **अदना** रो आदर करै, ओछां रा एलांण चुभता वोलै चकरिया—मोहनलाल साह ।

अदन्न–सं०पु० [सं० अदिन] वुरा दिन, कुदिन, आपत्तिकाल (रू.भे. अदन) उ०—मो काके पतरौ मरण, औ किम थयौ **अदन्न** । रिप किण कारण राज नै जींद दियौ जामन्न—पा.प्र. ।

अदपत, अदपति, अदपती–सं०पु० [सं० अधिपति] देखो 'अधिपति' ।

उ०—१ जगत रो 'मोकम' जिसौ ओठम कुळ **अदपत** ।
—किसनजी दधवाड़ियौ

२ अमर तेतीस कोड़तणौ **अदपती** मदपती डोळ भुलै मुरारी ।
—श्री किसन भगवांन रौ गीत

अदफर–सं०पु०—१ पहाड़ के मध्य का हिस्सा (मि. 'अधफर' रू. भे.) २ वालू रेत के टीवे के मध्य का हिस्सा ।

[सं० अधर] ३ अधर. ४ अंतरिक्ष. ५ वीच, मध्य ।

क्रि०वि०—१ वीच में. २ आधी दूरी पर ।

अदव–सं०पु० [अ०] १ शिष्टाचार, कायदा. २ आदर-सम्मान, मान, प्रतिष्ठा. ३ लिहाज ।

अदवदाकर–क्रि०वि०—१ हठ करके. २ अवश्य ।

अदविच–क्रि०वि०—वीच में, मध्य में ।

अदविचलो, अदविचलौ–वि०—वीच का, मध्य का । उ०—नां नारी नां नाह, **अदविचला** दीसै अपत । कारज सरै न काय, रांडोल्यां सूं राजिया ।
—किरपारांम

अदवी–वि०—अदव-कायदा संवंधी ।

अदवै–क्रि०वि०—संभवतया, अपेक्षाकृत (द.दा.)

अदव्भुत–वि० [सं० अद्भुत] अद्भुत, विलक्षण, विचित्र । (रू.भे. अदभुत)

अदभुज–सं०पु० [सं० उद्भिज] वृक्ष, पेड़ (अ.मा.)

वि० [सं० अद्भुत] अद्भुत, विचित्र (रू.भे. अदभुत) उ०—अति प्रगट रस थुड़ डाळ **अदभुज** गाय अतिरंग आदरे—रा.रू. ।

अदभुत, अदभूत–वि० [सं० अद्भुत] १ अद्भुत, विलक्षण, विचित्र, अनोखा । उ०—दान सरीखौ दूसरौ ओखद नह **अदभूत** । हेक थकौ सारा हरै, महारोग मजवूत—वाँ.दा. । २ सुंदर (अ.मा.) ३ विस्मय, आश्चर्य. ४ काव्य के नौ रसों के अंतर्गत एक रस विशेष जिसमें अनिवार्य विस्मय की पुष्टता होती है । इसका आलंवन अलौकिक पदार्थ, उद्दीपन, उसके गुणों का वर्णन तथा अनुभाव संभ्रमादिक है ।

अदभुतता–सं०स्त्री० [सं० अद्भुतता] विचित्रता, अनोखापन ।

अदभुतालय–सं०पु० [सं० अद्भुतालय] अजायवघर ।

अदभ्र–वि०—वहुत, अधिक, अपार ।

अदम–वि० [सं०] १ दमनरहित, इन्द्रिय-निग्रह न करने का भाव । [रा०] २ स्वतंत्र, स्वाधीन । [सं० अदम्य] ३ जिसका दमन न हो सके, प्रचंड, प्रवल । उ०—**अदमां** दांमणी छांन मांनांमणी सचाई ।
—वखतौ खिड़ियौ

खट जाति अदूखति, अगर कपूर घिरत जुत आहुति—रा.रू.। २ स्वतन्त्र।

अदुखन-वि० [सं० अदुषण] पवित्र, दोषरहित।

अदुतिय-वि० [सं० अद्वितीय] अद्वितीय, बेजोड़।

अदूंद-वि०—देखो 'अदुंद'

अदूर-क्रि०वि० [सं०] जो दूर न हो, निकट, पास, समीप।

अदूरदरसी-वि० [सं० अदूरदर्शी] दूर तक न सोचने वाला, स्थूल बुद्धि वाला, जो दूरंदेश न हो।

अदूरदरसीता-सं०स्त्री० [सं० अदूरदर्शिता] नासमझी, अदूरदर्शिता।

अदूसण-वि० [सं० अदूषण] निर्दोष, दोषरहित, शुद्ध, निष्पाप।

अदेख, अदेखी-वि०—१ जो देखा न गया हो. २ न देखने वाला. ३ छिपा हुआ. ४ अदृश्य, गुप्त. ५ ईर्ष्यालु।

अदेयदांन-सं०पु० [सं० अदेय+दान] अयोग्य व्यक्ति को दिया गया दान, अपात्र को दान।

अदेव-वि०—कृपण, कंजूस। उ०—मदमसत उड़ावै रेत करता मकर अदेवां तेथ घर दसत आवै—तिलोकजी बारहठ।

सं०पु०—१ मनुष्य। उ०—धड़ ऊपर सिर धारियौ जोध भलौ 'जगदेव', काट कंकाळी अप्पियौ, कीधौ देव अदेव—बाँ.दा.। २ मुसलमान. ३ वायु. ४ असुर, राक्षस (नां.मा.) ५ शिव, महादेव (क.कु.बो.)

अदेवाळ-वि०—१ नहीं देने वाला. २ कृपण, कंजूस। उ०—अदेवाळां दाझै छाती सांभळै कीरती हाका—अज्ञात।

अदेस-सं०पु०—१ अन्य देश, दूसरा देश. परदेश।

[सं० आदेश] २ आज्ञा, आदेश. ३ प्रणाम, दंडवत (साधु)।

अदेह-वि० [सं० अ+देह] १ बिना देह का, शरीररहित.

[रा०] २ नहीं देने वाला, कृपण, कंजूस।

सं०पु०—१ निषेधसूचक शब्द, नहीं। उ०—दाता सरवस दांन दे, ऊनर एक अदेह—बाँ.दा.। [सं० अ+देह] २ परब्रह्म. ३ कामदेव।

अदोख-वि० [सं० अदोष] १ निर्दोष, निष्कलंक. २ निरपराध. ३ निर्विकार।

सं०स्त्री०—अग्नि आग (ना.डि.को.)

अदोखी-वि० [सं० अ+दोष] १ निर्दोष, निरपराध. २ मित्र।

अदोड़ी-सं०स्त्री०—मरे हुए गाय या बैल का साफ-सुथरा किया हुआ आधा चमड़ा।

अदोत-सं०पु० [सं० उद्योत] १ प्रकाश. २ उन्नति, वृद्धि. ३ कांति, शोभा। उ०—पावै जळ धरीपाव जोत रा धारणा धारै, वैरियां वतावै संज मौत रा वैताळ। जठां कठां सारा सारा डंभ तोतरा विलाय जावै, ताळै अदोतरा राजा घुरावै त्रंबाळ—मानसिंहजी रौ गीत।

वि०—१ प्रकाशित, दीप्त. २ शुभ्र, उत्तम। उ०—लीधां नांम नीठ नीठ अनेक जनमां लागां। अभै धांम पावै ठांम वैकूंट अदोत।
—दादूपंथिया रौ गीत

अदोरो-वि०—जो आराम से हो, आनंदित।

अदोळी-सं०स्त्री०—१ तेल, घी, दूध आदि लेने के लिए छोटी कटोरीनुमा लोह का बना एक उपकरण जिसके एक पतला लंबा ऊंचाई की ओर छड़ लगा रहता है जो पकड़ने के काम आता है। २ कृषि में रबी की फसल में किया जाने वाला आधा हिस्सा. ३ देखो 'अदोड़ी'।

अदोस-वि०—देखो 'अदोख' (नं. १)

अदोसी-वि०—देखो 'अदोखी' (नं० १)

अदोह-सं०पु०—१ दुःख. २ शोक. ३ सोच, चिन्ता।

उ०—सुजांण वहोत अदोह कियौ—पलक दरियाव री बात।

४ पश्चाताप।

अद्दण-वि० [सं० अद्] खाने वाला (वं.भा.) उ०—'अजौ' हुवौ दक्खिणदळ अद्दण—वं.भा.।

अद्ध-वि० [सं० अर्ध] आधा, अर्ध। उ०—दिन जुध अत लग्गौ दुसह, अर भग्गौ निस अद्ध—रा.रू.।

अद्धरयण-सं०स्त्री० [सं० अर्द्ध+रजनी] अर्धरात्रि, आधी रात्रि। उ०—वनिता-पति विदेस गय, मंदिर-मझै अद्धरयणी। वाळा लिहइ भुयंगी, कहि सुदरि, कवण खुज्जेण—ढो.मा.।

अद्धिकारी-सं०पु० [सं० अधिकारी] १ अधिकारी, स्वत्वाधिकारी. २ उत्तराधिकारी।

अद्धियावणी-वि०—भयानक, भयंकर। उ०—उमड घटा अद्धियावणी, वीज छटा छिववाह। विस जिसड़ी लागै बुरी, तिस पावस विण नाह।
—र. हमीर

अद्धी-सं०स्त्री०—अर्धरात्रि। उ०—अद्धी के धरियार पै चर पत्र लगाया—वं.भा.।

अद्धो-सं०पु० [सं० अर्द्ध] १ किसी वस्तु का आधामान. २ वह बोतल जो पूरी बोतल की आधी हो।

अद्धोरुक-सं०पु०—लहंगा। उ०—यो अद्धोरुक उल्लसे यां दस दिपाया। यों आहूत विमांन के यां बाजि मँगाया—वं.भा.।

अद्य-क्रि०वि० [सं०] अब, आज, अभी।

अद्याप, अद्यावधि-क्रि०वि०—आज तक। उ०—अर वैताळ रा कीधा वाणी विलास नीतिसार प्रमुख ग्रंथ अद्यावधि चतुरां रा चित्त हरै।
—वं.भा.

अद्यूत-वि०—अद्वितीय। उ०—सोदागर मारवणी नै माहा अद्यूत देवंगना जिसी देखनै कह्यौ—ढो.मा.।

अद्र-सं०पु० [सं० अद्रि] १ पर्वत, पहाड़। उ०—महा वेग वहिया गनीम अद्र तणे मार्यै—तेजरांम आसियौ। २ सूर्य. ३ वृक्ष (नां.मा.)

अद्रक-सं०स्त्री० [सं०] देखो 'अदरक'।

अद्रकौ-सं०पु०—भय, डर, आतंक। उ०—दूठ मल मुणे उम्मेद थारा डंका, रिमां घर अद्रका पड़ै राजा—उम्मेदसिंह सीसोदिया रौ गीत।

अद्रजा-सं०स्त्री० [सं० अद्रिजा] १ गिरिजा, पार्वती (डि.को.) २ गंगा।

अदावद, अदावदी–सं०स्त्री०—१ होड़, ईर्ष्या। उ०—तिण दावै सीसोदियां हाडां रै वैर पड़ियौ घणा दिन **अदावद** वुही। घणौ वैर धुखियौ—नैणसी। २ तर्क-वितर्क. ३ वैमनस्य, शत्रुता।

अदायगी–सं०स्त्री० [अ०] वेबाकी, चुकता।

अदाळत–सं०स्त्री० [अ० अदालत] १ न्यायालय, कचहरी. २ न्यायाधीश। यौ० [अदा+लत] ३ हाव-भाव दिखाने की टेव या आदत।

अदाळतदीवांणी–सं०स्त्री० [अ० दीवानी+अदालत] संपत्ति या स्वत्व संबंधी मामलों के निर्णय की कचहरी।

अदाळतफौजदारी–सं०स्त्री० [अ० अदालत+फा०फौजदारी] भारतीय दंड संहिता के अंतर्गत अपराधों के मामलों के निर्णय की कचहरी।

अदाळत माल–सं०स्त्री० [अ०] लगान या मालगुजारी संबंधी मामलों का निर्णय करने वाली कचहरी।

अदाळति, अदाळती–वि० [अ० अदालत] न्यायालय संबंधी, अदालत सम्बन्धी।

अदाव–सं०पु०—कंजूस, कृपण, सूम। उ०—छत्र धारी वेहुँ दातार सोभाग प्रथी सीस छायौ, धुधड़ै **अदावां** मांण हटायौ धैधींग।
—जवांनजी आढ़ौ

अदावत–सं०स्त्री० [अ०] शत्रुता, दुश्मनी, वैर, विरोध।

अदावती–वि० [अ० अदावत] शत्रु, विरोधी, द्वेषी।
सं०स्त्री०—शत्रुता, दुश्मनी।

अदावदी–सं०स्त्री०—देखो 'अदावदी' (रू.भे.)

अदावांन, अदावौ–वि०—१ नखरा करने वाला. २ कृपण, कंजूस।

अदाह–सं०स्त्री० [अ० अदा] १ हाव, भाव, नखरा. [सं० अ+दाह] २ दाह या जलनरहित।

अदिठ–वि०—अदृष्ट।
सं०पु०—ईश्वर।

अदिति–सं०स्त्री० [सं०] १ प्रकृति. २ पृथ्वी. ३ दक्ष प्रजापति की कन्या और कश्यप की पत्नी जो देवताओं की माता है—इन्हीं से वामन भगवान भी उत्पन्न हुए थे।

अदितिनंदन, अदितिसुत–सं०पु० यौ० [सं०] १ देवता. २ सूर्य।

अदिन–सं०पु० [सं०] बुरा दिन, संकटकाल, अभाग्य, बुरा समय।

अदिपुरख–सं०पु० [सं० आदि+पुरुष] आदिपुरुष, परमेश्वर।

अदियण–वि०—कृपण, कंजूस। उ०—**अदियण** दयण तणा जग इधका, वडा वोलवे किया वस—सांवळ वीठू।

अदिव्य–वि० [सं०] १ लौकिक, साधारण. २ बुरा।
सं०पु०—तीन प्रकार के नायकों में से एक, लौकिक नायक।

अदिव्या–सं०स्त्री० [सं०] तीन प्रकार की नायिकाओं में से एक, लौकिक नायिका।

अदिस–वि०—दिशारहित।

अदिस्ट–वि० [सं० अदृष्ट] अदृष्ट, लुप्त।

अदिस्टी–वि०—१ अदूरदर्शी, मूर्ख. २ अभागा. ३ दृष्टिहीन।
सं०स्त्री०—१ बुरी दृष्टि. २ अंधापन. ३ अदूरदर्शिता।

अदीठ–वि० [सं० अदृष्ट, प्रा० अदिट्ठ] अदृष्ट, गुप्त, ओझल।
सं०पु०—१ मिटने या नाश होने का भाव। उ०—दीरघ-पीठ भयंकर देतां धीठ गरळ घुमै अन धाव। रीर **अदीठ** हुवै प्रजळै रिम, रीझ गरीठ अवै भुज राव—क.कु.बो.। २ देखो 'अडीठ'।

अदीठ चकर–सं०पु०—दैवी प्रकोप, किस्मत का चक्कर। उ०—वेहुए जळ पीवै सीह बाकरी, पण नह दाखै जवरपणौ। वहै **अदीठ चकर** अणवारां, तो वाळा परताप तणौ—जवांनजी आढ़ौ।

अदीठि, अदीठी–सं०स्त्री० [सं० अ+दृष्टि] १ बुरी दृष्टि. २ अंधापन. ३ अदृष्टि।

अदीठौ–वि० [सं० अदृष्ट, प्रा० अदिट्ठ] अदृष्ट, लुप्त, ओझल।

अदीत–वि०—न दिया जाने वाला। उ०—अलीत **अदीत** अरीत अराह, असीत अभीत अगीत अगाह—ह.र.।
सं०पु०—१ देवता. २ इंद्र. ३ वामन. ४ वसु. ५ अदिति के पुत्र एक मुनि. [सं० आदित्य] ६ सूर्य। उ०—उर नभ जितै न ऊगमै औ संतोख **अदीत**। नर तिसना किसना निसा, मिटै इतै नँह मीत—बाँ.दा.।
(यौ० अदीतवार)

अदीतवार–सं०पु० [सं० आदित्यवार] शनिवार के पश्चात् पड़ने वाला दिन। (मि० अदीत–६)
कहा०—१ आज साँप खायां अदीतवार कद आवै—समय या आवश्यकता पड़ने पर वस्तु न मिले तो बाद में उसकी प्राप्ति व्यर्थ है. २ साँप खाया नै अदीतवार कद आवै—अधिक पीड़ा या कष्ट में धैर्य्य धारण करना बहुत कठिन है।

अदीति–सं०स्त्री० [सं० अदिति] १ दक्ष प्रजापति की अदिति नामक कन्या. २ प्रकृति. ३ पृथ्वी। (मि० अदिति–रू.भे.)

अदीतिनंदण, अदीतिसुत, अदीतीसुत–सं०पु०यौ० [सं० अदितिसुत] १ देवता (नां.मा.) २ सूर्य।

अदीन–वि० [सं० अ+दीन] १ धनवान, संपन्न। उ०—देख काळ दीन कौं **अदीन** कौ डरचौ। नांम ही गरीव के निवाज कौ धरचौ—ऊ.का.। [अ० अ+दीन] २ नास्तिक. ३ अनम्र, उग्र, अविनीत।

अदीयण–वि०—न देने वाला, कृपण, कंजूस।

अदीस्टै, अदीस्ठै–वि० [सं० अधिष्ठित] अधिष्ठित। उ०—कूं कूं भरीय कचोळड़ी, बाघन-सेज **अदीस्ठै** जाई—वी.दे.।

अदीह–सं०पु० [सं० अ+दिवस] रात दिन का न होना।
वि० [सं० अदीर्घ] जो लंबा न हो, छोटा।

अदुंद–वि० [सं० अद्वन्द्व, प्रा० अदुन्द] १ द्वन्द्वरहित, निर्द्वंद्व, बाधारहित. २ शांत. ३ निश्चित. ४ अद्वितीय, बेजोड़. ५ कलहरहित, युद्धरहित। उ०—यी वरखा रित बौळवी, वीती सरद **अदुंद**
—रा.रू.

अदुखत्ति–वि० [सं० अदूषित] १ निर्दोष, शुद्ध। उ०—दिव्य कास्ट

अधकारी–सं०पु०—१ विशेषता. २ अधिकता. ३ मान, प्रतिष्ठा. ४ प्यार। उ०—सगळा मूंडो मचकोळ'र कैंता—वैन री **अधकारी** इज घणी मायें चाढ़ले—वरसगांठ।

अधकालौ–वि०—१ बेसमझ, मूर्ख. २ आधा पागल।

अधकाव–वि०—अधिक, ज्यादा। उ०—सुजड़ **अधकाव** जड़ कुरड़ परवाह सक, दूठ उमरड़ सत्रां होम देहा—करणीदांन कवियौ।

अधकावणौ, अधकाववौ–क्रि०स०—अधिक करना।

अधकि–सं०स्त्री०—अधिकता, विशेषता।

अधकी–वि०—देखो 'अधिक'।

अधको–वि०—विशेष, अधिक। उ०—हालियौ हंस सार्थ कियौ 'हरा' रौ, इते सुत 'सदा' रौ घणौ **अधको**—पहाड़खां आढ़ौ।

अधकोडौ–वि०—अधिक, बहुत।

अधकोस–सं०पु०—एक मील, दूरी का एक माप।

अधकोसेक–वि०—एक मील के लगभग।

अधक्ष–सं०पु० [सं० अध्यक्ष] स्वामी, मालिक, नायक, सरदार, अधिष्ठाता। (देखो 'अध्यक्ष')

अधखड़–सं०पु०—देखो 'अदखड़'।

अधखण–सं०पु० [सं० अर्द्ध+क्षण] आधे क्षण का समय।
वि०—अधेड़।

अधखरी–वि०—अर्द्ध रात्रि सम्बन्धी। उ०—सुख सूं वाजी सदन में सायंकाळ विचाळ वीजी खीची रै बुरी **अधखरी** घड़ियाळ—पा.प्र.।

अधखायौ–वि०—आधा खाया हुआ, आधा पेट।

अधखिलौ–वि० (स्त्री० अधखिली) आधा खिला हुआ, अर्द्ध विकसित।

अधखुलौ–वि० (स्त्री० अधखुली) आधा खुला हुआ।

अधगति, अधगती–सं०स्त्री० [सं० अधोगति] पतन, अधोगति, दुर्दशा, दुर्गति, अवनति।

अधगावळौ–वि० (स्त्री० अधगावळी) देखो 'अदगावळौ'।

अधगेलौ–वि० (स्त्री० अधगेली) देखो 'अदगेलौ'।

अधचरौ–वि०—आधा चराया हुआ, आधा खाया हुआ (चौपाया)

अधड़ची–सं०पु०—शत्रु, दुश्मन। उ०—भलौ रांण सगरांम इम **अधड़ची** मुख भणैं, दुजड़हत दससहंस वोल दीधौ।
—महारांणा सांगा री गीत

अधधपत–सं०पु० [सं० उदधि] सागर, समुद्र।

अधनो, अधनौ–वि०—अयोग्य, छोटा। उ०—क्या करंता क्या करै, हस्ती मार गरद में धरै। सुख जाके सपने नहीं, ता **अधना** सिर छत्र धरै।
—पलक दरियाव री वात

अधन्नी–सं०स्त्री०—आधे आने का सिक्का (पुराना)

अधप–सं०पु०—१ भूखा सिंह। [सं० अधिप] २ पति, स्वामी, मालिक. ३ राजा. ४ प्रभु. ५ सरदार (अ.मा.)
वि०—अतृप्त। उ०—मांन तण तणौ खग **अधप** अण माप।
—अज्ञात

अधपई–सं०स्त्री०—देखो 'अधपाई'।

अधपत–सं०पु०—देखो 'अधिपति'। उ०—आया अन **अधपत** आह्वान, भोपत भोयंग हुआ वळ भंग। रहियौ रांण खत्री ध्रम राखण, स्वेत उरंग कळोधर संग—दूरसौ आढ़ौ।

अधपतण, अधपतन–सं०पु० [सं० अधःपतन] नीचे गिरना, अवनति, अधःपात, दुर्दशा, दुर्गति।

अधपति, अधपती, अधपत्त,अधपपत्ती–सं०पु०—देखो 'अधिपति' (डि.को.)
उ०—आज रजपूत तणौ पंथ चूकिया **अधपति**, जुगां लग जिकी नह वात जासी—गोपालदांन खिड़ियौ।

अधपाई–सं०स्त्री०—एक सेर का आठवां भाग या उसके तौल की माप. २ छटांक का वाट (रू.भे. अधपई)

अधपात–सं०पु०—देखो 'अधपतन'।

अधप्पत–सं०पु०—देखो 'अधिपति'। उ०—दखै कर हाक सवै सिरदार, **अधप्पत** अग्र ग्रहौ असवार—पा.प्र.।

अधफर, अधफरौ–सं०पु०—देखो 'अदफर'। उ०—लोहरां लंगरां झाट लाग **अधफरां** गिरां तर झड़ै आग—वि.सं.।

अधविच–क्रि०वि०—मध्य में, बीच में। उ०—आडी समद अथाह, **अधविच** में छोडी अठै कहौ जी कारण काह, जोगण करगौ जेठवा।

अधविचलौ–वि०—बीच का, मध्य का (रू.भे. अदविचलो)

अधबीच–क्रि०वि०—देखो 'अधविच'।

अधबीठौ–वि०—१ अपूर्ण, कोई कार्य या वस्तु का पूर्ण न होना. २ पृथक, भिन्न। (स्त्री० अधबीठी) (रू.भे. 'अदबीठो')

अधबुध–वि० [सं० अर्द्ध+बुध=ज्ञान] अर्द्ध शिक्षित।

अधबूढ़–वि०—अधेड़, प्रौढ़।

अधभुत–वि०—देखो 'अदभुत' (रू.भे.)

अधम–वि० [सं०] १ नीच, निकृष्ट, बुरा। उ०—मोटां तणौ प्रसाद कहै महि. ऐठौ आतम सम **अधम**—वेलि.। २ पापी, दुष्ट।
उ०—धन दिवस आवण हुऔ **अधमां** करण पावन काज—रा.रू.।
३ निंदित।
सं०पु०—वह घोड़ा जिसका आधा रंग उसके शेष आधे रंग से भिन्न हो (अशुभ)—शा.हो.

अधमई–सं०स्त्री०—नीचता, अधमता।

अधमउधारण–सं०पु० [सं०अधम+उद्धारण] १ पतितों का उद्धार करने वाला. २ विष्णु, ईश्वर (डि.को.)

अधमता–सं०स्त्री० [सं०] अधम का भाव, नीचता, खोटाई, खोटापन, तुच्छता।

अधमरति–सं०स्त्री०—मतलब का प्रेम।

अधमरियौ, अधमरौ–वि०—अधमरा, मृतप्राय। उ०—**अधमरियां** प्रांण मती तड़फा, सूळी पर सेज चढ़ाती जा। चुंदड़ी री एक झपेटौ दै, ए लिछमी दीप बुझाती जा—रेवतदांन।

अद्रनि–सं०पु० [सं० अद्रि] पर्वत, पहाड़ । उ०—किधौं कुळ अद्रनि इंद्र हकारी, किधौं कुळ कद्र निपै पनगारि—ला.रा. ।

अद्रमणी–वि०स्त्री० (पु० अद्रमणौ) १ भयानक, भयंकर, भीषण । उ०—गोड़ करती घणी ढाहती मीरजां, उलट सुज पलट वहती वधाई । असुर सुरग करै आज अद्रमणी, आंवधां तणी एक नदी आई—महाराजा अभयसिंह रौ गीत । २ उदासीन ।

अद्रस्ट–वि० [सं० अदृष्ट] १ न देखा हुआ, अगोचर, अलक्ष. २ अंतर्द्धान, लुप्त ।

सं०पु०—१ भाग्य, किस्मत. २ अग्नि और जल आदि से उत्पन्न होने वाली आपत्ति. ३ दुर्भाग्य. ४ प्रकृतिजन्य उत्पात ।

अद्रस्टपुरख, अद्रष्टपुरस–सं०पु० [सं० अदृष्टपुरुष) १ किसी कार्य में स्वयंमेव कूद पड़ने वाला. २ विना वनाए वनने वाला. ३ ईश्वर ।

अद्रस्टपूरव, अद्रस्टपूरव–वि० [सं० अदृष्टपूर्व] १ जो पहले न देखा गया हो. २ अद्भुत, विलक्षण. ३ धर्माधर्म की संज्ञा (नैयायिक), अदृष्ट आत्मा का धर्म (वैशेषिक), बुद्धि धर्म (सांख्य पातंजलि)

अद्रस्टफळ–सं०पु० [सं० अदृष्टफल] १ पूर्वकृत कर्मों के फल, यथा सुख, दुख आदि. २ अज्ञात परिणाम ।

अद्रस्टवाद–सं०पु० [सं० अदृष्टवाद] परलोकादि परोक्ष वातों का निरूपण करने वाला सिद्धांत ।

अद्रस्टवादी–सं०पु०—अदृष्टवाद को मानने वाला ।

अद्रस्टौ–सं०पु० [सं० अदृष्ट] जो देख न सके. २ देखो 'अदृष्ट' ।

अद्रस्य–वि० [सं० अदृश्य] १ जो दिखाई न दे, अलख. २ इन्द्रियों से जिसका ज्ञान न हो सके, अगोचर. ३ लुप्त, गायव ।

अद्राजणौ, अद्रजवौ–क्रि०अ०—नगाड़ा वजना । उ०—देखै जोम भाजै अरी अद्राजै दमांम—अज्ञात ।

अद्रि–सं०पु०—देखो 'अद्री' (वं.भा.)

अद्रिन–सं०पु० [सं० अद्रि] पहाड़, पर्वत (रू.भे. अद्रनि)
उ०—मुनि सिंधुनि तोय ततौ उछरै, डुलि दीरघ अद्रिन अंग भिरै —ला.रा. ।

अद्रियांमणी, अद्रियांमणौ–वि०—१ भयंकर, भयानक । (मि० अध्रियांमणौ रू.भे.) २ उदासीन ।

अद्रिस्ट–वि० [सं० अदृष्ट] देखो 'अद्रस्ट' (रा.रा.)

अद्री–सं०पु० [सं० अद्रि] १ पर्वत, पहाड़ (अ.मा.) २ वृक्ष (अ.मा.) ३ सूर्य ।

अद्रियांमणौ–वि० (स्त्री० अद्रीयांमणी) भयानक, भयावना । (मि० अध्रियांमणौ रू.भे.) उ०—सहर जोध सुहावणौ जोधांण 'मांन' लागै जकौ, आज घणू अद्रीयांमणौ—वुधजी आसियौ ।

अद्वितिय, अद्वितीय, अद्वीत–वि० [सं० अद्वितीय] १ जिसके समान दूसरा न हो, वेजोड़, अनुपम, विलक्षण, अतुल्य । उ०—१ जिसौ रांम पुर जनक दरसि अभिरांम 'अद्वितिय—रा.रू. । उ०—२ अभैशाह अद्वीत ईश्वर समांन । —रा.रू.
२ एकाकी, अकेला. ३ प्रधान, मुख्य ।

अद्वेत–वि०—देखो 'अद्वैत' ।

अद्वेतवाद–सं०पु०—देखो 'अद्वैतवाद' ।

अद्वेस–वि० [सं० अ+द्वेष] द्वेषरहित ।

अद्वैत–वि० [सं०] १ एकाकी, अकेला. २ अनुपम, वेजोड़ ।
सं०पु०—१ भेदरहित, द्वैतरहित. २ शंकराचार्य का मत जो वेदांत के आधार पर है और जिसके अनुसार जीव और ब्रह्म में भेद नहीं, दोनों एक हैं, संसार मिथ्या है, व ब्रह्म ही सत्य है. ३ ब्रह्म, सत्य ।

अद्वैतवाद–सं०पु०—देखो 'अद्वैत' (सं पु० २)

अधंतर–सं०पु०—आकाश, आसमान । उ०—गिरमेर ठेल देहूँ गुड़ाय, अधंतर डिगतौ लेउँ उठाय—शि.सु.रू. । २ सुमेरु पर्वत ।

अधंस–सं०पु० [सं० अध्वंस] ध्वंस या नाशरहित ।

अध–अव्यय [सं० अघ] १ नीचे, तले, नीचे की ओर ।
वि० [सं० अर्द्ध, प्रा० अद्ध] १ 'आधा' शब्द का सूक्ष्म रूप, आधा. २ तुल्य या सम (भाग)
सं०पु०—तल, पाताल, नीचे की ओर की दिशा ।

अधआंनौ–सं०पु०—अधन्नी, दो पैसों के वरावर का सिक्का (पुराना)

अधक–वि० [सं० अधिक] अधिक, वहुत ।

अधकचरियौ, अधकचरौ–वि०पु० (स्त्री० अधकचरी) १ अधूरा. २ आधा कुटा, पिसा, दरदरा, आधा कुचला हुआ ।

अधकच्चौ–वि०—अधकच्चा, अपरिपक्व ।

अधकणौ, अधकवौ–क्रि०अ०—अधिक होना ।
अधकणियौ–वि० ।
अधकिओड़ौ, अधकियोड़ौ, अधक्योड़ौ–भू०का०कृ०—अधिक हुआ हुआ ।

अधकपाळी–सं०स्त्री०—आधे शिर का दर्द, इस रोग में शिर में केवल वायीं ओर अथवा दायीं ओर आधे भाग में वड़े जोर का दर्द रहता है । सूर्यावर्त्त ।

अधकमास–सं०पु०—देखो 'अधिकमास' ।

अधकर–सं०पु०—देखो 'अदकर' (रू.भे.)

अधकांणी–वि०—वहुत, अधिक । उ०—वाणी त्रिया हुवै रै वीरा, चित अधकांणी चिता—र.रू. ।

अधकाई–सं०स्त्री०—१ अधिकता, वाहुल्य । उ०—ज्याग हूंता अधकाई सवाई दिखाई जुधां, छांगिया रवते खळां वाजूजळां छेक, ताखा तणी आखी वंस आसती वचायौ तेण, आसुरांण जीवतौ न जाण पायौ एक—खीमराज वारहठ । २ महिमा, वड़प्पन ।

अधकायोड़ौ–भू०का०कृ०—अधिक हुआ हुआ (स्त्री० अधकायोड़ी)

अधकार–सं०पु० (सं० अधिकार) १ विशेषता. २ मान, प्रतिष्ठा. ३ देखो 'अधिकार' ।

अधकारी–सं०पु०—देखो 'अधिकारी' । उ०—अधकारी असुरां तणां, सुण वूजिया तरव्व—रा.रू. ।

अधसाय-सं०पु०—श्रीकृष्ण (अ.मा.)

अधसिरौ-सं०पु०—सूर्यवंशी त्रिशंकु नामक एक राजा, देखो 'त्रिसुंक'।

अधसेर-सं०पु०—आधा सेर का बाट।
वि०—आधा सेर।

अधसेरेक-वि०—आधा सेर के लगभग।

अधसेरौ-सं०पु०—दो पाव का मान, आधे सेर का बाट।

अधांम-वि० [सं० अ+धाम] १ स्थानरहित. २ सर्वत्र मिलने वाला।
उ०—आरांम अजांम अयांम अपक्ख, अठांम अगांम अधांम अलक्ख। —ह.र.
सं०पु०—परब्रह्म।

अधाक-सं०स्त्री—१ धाकरहित, आतंकविहीन।

अधाप-सं०पु० [सं० अधिप] राजा, नृप (अ.मा.)
वि०—अतृप्त। उ०—मोकळहरा अधाप मांमलां, पोरस धिनो खत्री वट पांण—महाराणा सांगा रौ गीत।

अधायउ, अधायौ-वि० [सं० अ+धायौ रा०] १ अतृप्त, असंतुष्ट, भूखा।
उ०—फतमाला पीथल्ल का, पीयल पारथ अंग। तत्ता ताए लोह सम, सदा अधाया जंग—रा.रू.। २ बिना दौड़ा हुआ।
सं०पु०—भूखा सिंह।

अधायोड़ौ-वि०—१ तृप्त (स्त्री० अधायोड़ी)। २ भूखा, अतृप्त।

अधार-सं०पु० [सं० आधार] १ तल, आधार. २ अवलंब, सहारा।
उ०—चैत्र मानां चतुरंगी नारि। प्रीय विण जीवूं कवण अधार। —वी.दे.
३ नींव, बुनियाद. ४ बिना आधार का स्थान, आकाश. ५ व्याकरण में अधिकरण कारक. ६ आत्मबल. ७ उपाय, तरकीब।
उ०—रांणी कह्यो राजा रिखीस्वरां पासै पधारौ। रिखीस्वर कोई अधार करै—चौबोली।

अधारणौ, अधारबौ-क्रि०स०—१ धारण करना। उ०—व्रत असतुत धर परम अधारै, चले विपिन तप चाहे—र.रू.। २ धनुष की प्रत्यंचा चढ़ाना. ३ उठाये रखना।
अधारणहार-हारौ (हारी), अधारणियौ-वि०।
अधारीजणौ-अधारीजबौ-कर्म० वा०।
अधारिओड़ौ-अधारियोड़ौ-अधारयोड़ौ-भू०का०कृ०।

अधारमिक-वि० [सं० अधार्मिक] १ पापी. २ दुष्ट. ३ नास्तिक. ४ धर्म से रहित।

अधारि-वि० [सं० आधार] देखो 'अधार'। उ०—तूं हिव पूगळ भणी पधारि, मान्‍ह जीवी मंत्र अधारि—ढो.मा.।

अधारियोड़ौ-भू०का०कृ०—धारण किया हुआ (स्त्री० अधारियोड़ी)

अधावणौ, अधावबौ-क्रि०अ०—१ दौड़ना. २ तृप्त होना।

अधावियोड़ौ-भू०का०कृ०—तृप्त (स्त्री० अधावियोड़ी)

अधि-उप० [सं०] शब्दों के पूर्व लगने वाला उपसर्ग जो ऊपर, ऊँचा आदि अर्थ ध्वनित करता है। इसका अपभ्रंश रूप राजस्थानी में अधपन, अधराज आदि में प्रयुक्त होता है।

अधिक, अधिकउ-वि० [सं० अधिक] १ बहुत, ज्यादा, विशेष।
उ०—प्रीय मुं अधिकउ प्रेम, रयणि दिवस रंगइ रमइ—ढो.मा.।
२ अतिरिक्त, फालतू. ३ घना, गाढ़ा।

अधिकत-वि०—अधिक, विशेष। उ०—जथा आप कविता जथा, कीरत पता कमंध। उभय संग मिळ अधिकत, सुवरन जथा सुगंध।
—जैतदांन बारहठ

अधिकतम-वि० [सं० अधिक+तम-प्रत्यय] अत्यन्त अधिक।

अधिकतर-वि० [सं० अधिक+तर-रा०प्र०] दूसरे की अपेक्षा अधिक, अति अधिक।
क्रि०वि०—प्रायः।

अधिकता-सं०स्त्री० [सं०] १ बहुतायत, विशेषता. २ बढ़ती, वृद्धि।

अधिकदंत, अधिकदंती, अधिकदंतौ-सं०पु०—एक प्रकार का घोड़ा जो अशुभ माना जाता है (शा.हो.)

अधिकमास-सं०पु० [सं० अधिक+मास] प्रति तीसरे वर्ष होने वाला मास, मल मास, लौंद का महीना, शुक्ल प्रतिपदा से अमावस्या तक ऐसा काल जिसमें संक्रान्ति न पड़े।

अधिकरण-सं०पु० [सं०] १ कर्त्ता और कर्म द्वारा क्रिया का आधार, व्याकरण में सातवाँ कारक. २ पाँच अवयवों वाला वेदान्त के अनुसार वह प्रकरण जिसमें किसी सिद्धान्त पर विवेचना की जाय।

अधिकांस-सं०पु० [सं० अधिकांश] अधिक भाग।
क्रि०वि०—ज्यादातर, विशेषकर

अधिकाई-सं०स्त्री०—१ अधिकता। उ०—सिरै हूंत भड़ पंत सवाई, आदर अदब नीत अधिकाई—रा.रू.। २ महिमा, बड़प्पन।
उ०—वन-वन बाजै बिया वंस री वधै वडाई। आज अगन नह जळ्, किसूं कुळ री अधिकाई—पा.प्र.। ३ विशेषता. ४ अधिकार।
उ०—परंतु आपरै रासि संचय करि सहायक नूं कण देण री अधिकाई मुणीजै—वं.भा.।

अधिकाधिक-वि० [सं०] अधिक से अधिक।

अधिकार-सं०पु० [सं० अधिक+कृ+घञ्] १ कार्यभार, आधिपत्य।
क्रि०अ०—चलाणौ-देणौ-सूंपणौ।
२ हक, स्वत्व।
क्रि०प्र०—देणौ-राखणौ।
३ सामर्थ्य, शक्ति. ४ जानकारी. ५ योग्यता।
६ कब्जा, दावा, प्राप्ति।
क्रि०प्र०—करणौ-जमाणौ।
७ प्रकरण।

अधिकारी-सं०पु० [सं० अधिकारिन्] १ स्वामी, स्वत्वधारी, हकदार (वं.भा.) २ योग्यता या क्षमता रखने वाला, उपयुक्त व्यक्ति.
३ नाटक का वह पात्र जिसे रूपक का प्रधान फल प्राप्त हो.
४ पुजारी, पंडा, स्थान या मठाधीशों के उत्तराधिकारी।

अधिकावणौ, अधिकावबौ-क्रि०स० [सं० अधिक] अधिक करना।

अधमा–सं०स्त्री०—१ नायक या नायिका को कड़ी व कटु बातें कह कर संदेशा पहुँचाने वाली दूती. २ प्रिय या हितकारी नायक के प्रति भी अहित या बुरा व्यवहार करने वाली स्त्री।
वि०स्त्री०—अधम, नीच (मि० 'अधम')

अधमाई–सं०स्त्री०—नीचता, अधमता।

अधमादूती–सं०स्त्री०—देखो 'अधमा' (१)

अधमाधम–वि० [सं०] बहुत नीच, अधम से अधम।

अधमींचौ–वि०—आधी मींची हुई (आँखें), अर्द्ध उन्मीलित।
उ०—छिली रहै जळ छाक मिळी आंख्यां **अधमींची**—ऊ.का.।

अधमुऔ, अधमुवौ–वि०—अधमरा। उ०—जे भूंडण रै धकै चढ़ै सौ जमपुरी जावै, नै चीलहरां रै धकै चढ़ै जिका जखमी **अधमुवा** हुइ जावै—डाढ़ाळै सूर री बात।

अधमोलौ–वि०—देखो 'अदमोलौ'।

अधरंग–सं०पु०—देखो 'अदरंग'।

अधर–सं०पु० [सं०] १ नीचे का होठ (अ.मा.)
पर्याय०—ओट, ओठ, ओपवणात, ओस्ट, दांतबसन, मुखअग्र, मुखरूप, रदघर, रदछद, रदछदन, रदडसण, रदधर, रदनछद, रदनसदन, होट, होठ आदि।
२ बिना आधार का स्थान. ३ अंतरिक्ष. ४ अधस्थल. ५ जो पकड़ में न आवे।
स्त्री०—६ आग, अग्नि (ना.डि.को.)
क्रि०वि०—बीच में, मध्य में।
वि०—लाल, रक्तवर्ण॰ (डि.को.)

अधरक-सं०स्त्री०—देखो 'अदरक' (रू.भे.)

अधरज–सं०पु० [सं० अधर+रज) ओठों की ललाई।

अधरत–सं०स्त्री० [सं० अर्द्ध+रात्रि] निशीथ, मध्यरात्रि।
उ०—**अधरत** री उतपात, बावळ कांठळ सूं वणी। विलखै वदन वरात, आंण वाग मझ ऊतरी—पा.प्र.

अधरतियौ–सं०पु०—देखो 'अदरातियौ'।

अधरपान–सं०पु० [सं० अधरपान] सात प्रकार की बाह्यरतियों के अंतर्गत एक रति, ओठों का चुम्बन।

अधरबंब–क्रि०वि०—न नीचे न ऊपर, न इधर न उधर. त्रिशंकु, अधर।
उ०—वे ऊंधा लटकै **अधरबंब**, नहिं झेलै अंबर नै धरती—रेवतदांन।

अधरबिंब–सं०पु०—बिंबफल के समान लाल ओठ।

अधरबुधी–वि० [सं० अधर+वुद्धि] नासमझ, मूर्ख।

अधरम–सं०पु० [सं० अधर्म] अधर्म, पाप, दुष्कर्म, धर्मविरुद्ध कार्य, अन्याय। उ०—सरम सांमध्रम हूंत सपग्गौ, **अधरम** हूंता रहै अलग्गौ—रा.रू.।

अधरमकाय–सं०पु० [सं० अधर्मास्तिकाय] १ पाप, अधर्म. २ द्रव्य के छः भेदों में से एक (जैनशास्त्र)

अधरमधु–सं०पु० [सं०] अधररस, अधरामृत।

अधरमाचार–सं०पु० [सं० अधर्म+आचार] दुष्कर्म, अधर्म, अधर्म का व्यवहार।

अधरमाचारी–वि० [सं० अधर्माचारी] नीच आचार वाला, दुष्कर्मी।

अधरमातमा–वि० [सं० अधर्मात्मा] पापी, दुराचारी, अन्यायी।

अधरमी–वि० [सं० अधर्मी] पापी, दोषी, दुराचारी, अधर्मी।

अधरस–सं०पु०—देखो 'अदरस'।

अधरसण–सं०पु०—देखो 'अदरसण'।

अधरांणौ–वि०—न नया और न पुराना (वस्त्र)

अधराज–सं०पु०—देखो 'अधिराज'। उ०—असंभ गजराज अधपति घड़ ऊपरा वरूथौ मयंद **अधराज** वखतौ—महाराज वखतसिंह रौ गीत।

अधराजियौ–सं०पु०—१ देखो 'अधिराज'। २ आधे हिस्से का स्वामी। उ०—राज थंभ दिली रा हुता **अधराजिया** दिली रा छळ वाजिया तोम दुजड़ां—नवाब खांनदौरा रौ गीत।
३ शासक कुल का बड़ा सरदार, बड़ा जागीरदार।
उ०—मंडोवर तणा **अधराजिया** मेड़ते वाजिया दहूँ धरती तणै वेध—पहाड़खां आढ़ौ।

अधरात, अधराति–सं०स्त्री० [सं० अर्ध+रात्रि] निशीथ, अर्द्धरात्रि।
उ०—वाळउँ वावा देसड़इ, पांणी........। पांणी केरइ कारणइ प्री छंडइ **अधराति**—ढो.मा.।

अधरातियौ–सं०पु०—देखो 'अदरातियौ'।

अधराधर–सं०पु०—नीचे का होठ।

अधराम्रत–सं०पु०यौ० [सं० अधर+अमृत] अधरसुधा, ओठों का रस।

अधरैणी–सं०स्त्री० [सं० अर्द्ध+रजनी] अर्धरात्रि, निशीथ।
*उ०—कमधज जीण करावियौ, **अधरैणी** रै ऊठ—पा.प्र.।*

अधल–सं०पु०—मुक्ति, मोक्ष, स्वर्ग। उ०—वीरबळ रौ जीव तन रूप मांगियोड़ौ पड़दौ त्यज **अधल** पड़दा में दाखल हुवौ—वाँ.दा.।

अधलोक–सं०पु०—पाताल (अ.मा.)

अधव–सं०पु० [सं० अध्व] मार्ग, पथ, रास्ता।
सं०स्त्री० [सं० अ+धव] विधवा।

अधवर–सं०पु० [सं० अध्वर] यज्ञ (अ.मा.) (मि० अध्वर)

अधवसन–सं०पु०—१ अधोवस्त्र, नीचे का कपड़ा. २ साड़ी के नीचे पहनने का वस्त्र. ३ जांघिया (डि.को.)

अधवा–सं०स्त्री० [सं० अ+धव+आ] १ विधवा। [सं० अध्वर] २ मार्ग, पथ, रास्ता (ह.नां.) (मि० 'अधव' रू.भे.)

अधवाचर–सं०पु०—भौंरा, भ्रमर (अ.मा.)

अधविच–क्रि०वि०—देखो 'अदविच' (रू.भे.)

अधविचलौ–वि०—देखो 'अधविचलौ'।

अधवीटौ, अधवीठौ, अधवीधौ–वि० (स्त्री० अधवीटी) अपूर्ण, असमाप्त। (रू.भे., अदवीठौ, अदवीटौ) उ०—रवि रथ रोक तमासै रीधौ, मिळ जोगण पीधौ रुद्र मोद। वदै महेस हार **अधवीधौ**, सिर कुटका कीधौ सीसोद—महादान महड़ू।

२ राजा. ३ अधीश्वर, चक्रवर्ती मंडलेश्वर. ४ अध्यक्ष।

अधीसर–सं०पु० [सं० अधीश्वर] देखो 'अधीस'।

अधुकंदौ–वि०—अग्नि की तरह धुकने वाला। उ०—किलँव दगंवां अधुकंदा—रा.रू.।

अधुना–क्रि०वि० [सं०] आजकल, इस समय।

अधुर–सं०पु०—देखो 'अधर'। उ०—अधुरां डसणां सूं उदै, विमळ हास दुतिवंत—बाँ.दा.।

अधूत–वि० [सं०] १ अकंपित, निर्भय, निडर. २ उचक्का. ३ सज्जन।

अधूर–सं०पु० [सं० अधर] अधर, होंठ (रू.भे. अधुर)

उ०—ऊभा मोरळी नाद लीवै अधूरैं, मारी जागसीसांम वादै मधूरैं।
—ना.द.

अधूरौ–वि०—(स्त्री० अधूरी) अधूरा, अपूर्ण, आधा, खंडित।

उ०—बोलै यां राजांन जौ आजांनवाह पूरा। ऐसे परहंस वंस खमै सौ अधूरा—रा.रू.।

सं०पु०—अपरिपक्व गर्भ का बच्चा जो अवधि के प्रथम ही जन्म लेकर मर गया हो।

क्रि०प्र०—देणौ, नांखणौ, पड़णौ, होणौ।

अधेड़–वि०—ढलती युवावस्था का, बुढ़ापे और जवानी के बीच की अवस्था वाला।

अधेली–सं०स्त्री०—रुपये का आधा सिक्का, अठन्नी, नये पचास पैसे का सिक्का।

अधेलो–सं०पु०—१ आधे पैसे का सिक्का (पुराना). २ एक तोले के लगभग का तौल विशेष।

अधो–अव्यय [सं० अधः] नीचे, तले।

सं०पु०—१ नरक. २ किसी वस्तु का आधा भाग, अद्धा. ३ पूरी बोतल के आधे नाप की बोतल. ४ आधे का पहाड़ा (गणित)

अधोक–सं०पु०—नमस्कार, प्रणाम।

अधोक्षज, अधोखज–सं०पु० [सं० अधोक्षजः] १ जिसका स्वरूप इंद्रियों ने प्रत्यक्ष नहीं हो। उ०—अधोखज अक्खर तुज्झ अभेव, दिनंकर चंद न जांणै देव—ह.र.। २ विष्णु. ३ कृष्ण (अ.मा.) ४ परब्रह्म।

अधोगत–वि० [सं०] अवनत, पतित।

सं०स्त्री०—देखो 'अधोगति'।

अधोगति, अधोगती–सं०स्त्री० [सं० अधोगति] पतन, अवनति, दुर्गति, अधःपतन।

क्रि०प्र०—करणी, होणी।

अधोगमण, अधोगमन–सं०पु० [सं० अधोगमन] पतन, नीचे जाना।

अधोगांमी–वि०पु० [सं० अधोगामिन्] नीचे जाने वाला, अवनति या पतन की ओर जाने वाला।

अधोड़ी–सं०स्त्री०—आधा चमड़ा, गाय या बैल का साफ किया हुआ आधा चमड़ा (रू.भे.–अदोड़ी)

अधोफर–सं०पु०—पहाड़ों के बीच का भाग, मध्य का भाग।

देखो 'अदफर'। उ०—तँवेरम कुंभ दुहाथळ तत्थ, आडागिरि मत्थ क हत्थ अगत्थ। प्ररोहत होफर खोफ अपार, अधोफर आभ डरै असवार—मे.म.।

अधोभवण, अधोभुवन–सं०पु० [सं० अधोभुवन] पाताल, बलिराजा के रहने का स्थान (डि.नां.मा.)

अधोमारग–सं०पु० [सं० अधोमार्ग) १ नीचे का रास्ता, सुरंग का मार्ग. २ गुदा।

अधोमुख–वि० [सं०] नीचे मुँह किए हुए, औंधा, उल्टा।

क्रि०वि०—औंधा, मुँह के बल।

अधोवाय, अधोवायु–सं०पु० [सं० अधोवायु] अपान वायु, पाद, गुदा की वायु।

अधौड़ी–सं०स्त्री०—देखो 'अधोड़ी' (रू.भे.)

अध्ध–वि०—देखो 'अद्ध' (रू.भे.)

अध्धे–वि० [सं० उर्ध्व] ऊपर। उ०—देवी अव्वळा सव्वळा वोम अध्धे।
—देवि.

अध्धो—देखो 'अद्धो'।

अध्य–क्रि०वि० [सं० अद्य] अब, आज, अभी।

सं०पु०—आरम्भ, शुरू। उ०—अनिच्छ जीव अध्यतैं हरीच्छ सौ बळीयसी—ऊ.का.।

अध्यक्ष–सं०पु० [सं०] स्वामी, मालिक, नायक, सरदार, अधिष्ठाता।

अध्यक्षर–क्रि०वि० [सं०] अक्षरशः, अक्षर-अक्षर।

अध्ययन–सं०पु० [सं०] पठन-पाठन, पढ़ाई, पढ़ना, अभ्यास।

अध्यवसाय–सं०पु० [सं०] १ सतत किया जाने वाला उद्योग या उपाय। परिश्रम, उत्साह. २ निश्चय, दृढ़तापूर्वक किसी काम में संलग्न. ३ उत्तम काम करने की उत्कंठा, कर्मदृढ़ता. ४ ज्ञान।

उ०—जिण अध्यवसाय कीवां सब्दरूप संसार रा पदारथ प्रछन्न न रहै—वं.भा.।

अध्यवसायी–वि० [सं० अध्यवसायिन्] अध्यवसाय करने वाला, परिश्रमी।

अध्यांमण, अध्यांमणौ–वि०—१ भयानक, डरावना. २ घोर, उदास।

अध्यातम–सं०स्त्री० [सं० अध्यात्म] १ आत्म विषयक ज्ञान, ज्ञानतत्व, ब्रह्मविचार। उ०—अध्यातम मरम विसतार बावन, अखर संसाश्रित प्राकृति विगति सूझै—ल.पि.। २ आत्मा, मन एवं देह संबंधी दुःख।

अध्यातमविद्या–सं०स्त्री० [सं० अध्यात्मविद्या] ब्रह्मविद्या, आत्मतत्व-विषयक शास्त्र।

अध्यातमिक–वि० [सं० अध्यात्मिक] अध्यात्म संबंधी, आत्मा संबंधी।

अध्यापक–सं०पु० [सं०] पढ़ाने वाला, शिक्षक।

अध्यापकी–सं०स्त्री० [सं०] पढ़ाने का व्यवसाय।

अध्यापण, अध्यापन–सं०पु० [सं० अध्यापन] अध्यापक का कार्य, शिक्षा-कार्य। उ०—माळव रै महीप व्याकरण रा अध्यापन में एक अब्द रौ अनध्याय मांनि पांणिनीय रौ प्रतिनिधि भट्टि नामक

उ०—झळक गया धननूं झुरै, हुया दया कर हीण। वित अधिकावै वाणियौ, नांणौ लीण अलीण—बाँ.दा.।

अधिकाणौ-अधिकाबौ—(रू.भे.)

अधिकाविग्रोड़ौ-अधिकावियोड़ौ-अधिकाव्योड़ौ—भू०का०कृ०—अधिक किया हुआ।

अधिकि—वि० [सं० अधिक] अधिक (रू.भे.)

अधिको, अधिकौ—वि० [सं० अधिक] अधिक, बहुत (रू.भे)

उ०—ताहराँ पंचां कह्यौ ईंडा ल्यायौ तेरौ **अधिकौ** हैंसौ—चौबोली।

अधिछिपत्र—वि०—तेंगड़ाया हुआ (डिं.को.)

अधिटौ—सं०पु०—मध्य (रू.भे. आधेटौ)

क्रि०वि०—मध्य में, आधी दूरी पर।

अधिदेव, अधिदेवता—सं०पु० [सं०] (स्त्री० अधिदेवी) इष्टदेव, कुलदेव।

अधिदैव—वि० [सं०] दैविक, आकस्मिक।

अधिदैवत—सं०पु० [सं०] पदार्थ संबंधी विज्ञान विषय वा प्रकरण।

अधिनाथ—सं०पु० [सं०] सबका स्वामी, सरदार।

अधिनायक—सं०पु० [सं०] सरदार, मुखिया, प्रधान व्यक्ति।

अधिप—सं०पु० [सं०] १ स्वामी, मालिक. २ राजा। उ०—जग जाडा जूझार, अकबर पग चांपै **अधिप**। गौ राखण गुंजार, पिंड में रांण प्रतापसी—दुरसौ आढ़ौ। ३ सरदार. ४ प्रभु, ईश्वर (डिं.को.) (मि० अधिपति)

अधिपत, अधिपति—सं०पु० [सं०अधिपति] १ नायक, नेता, सरदार, मुखिया. २ मालिक, स्वामी, प्रभु, राजा। उ०—**अधिपति** काज करण चित उज्जळ। —रा.रू.

अधिमास—सं०पु०—देखो 'अधिकमास' (रू.भे.)

अधियांमण, अधियांमणी—वि०स्त्री०—१ नाशकारी, ध्वंसकारी, संहारक. २ भयंकर, भयावह। उ०—तांमस **अधियांमण** भूप तांम, रांमण जुध दीठा जांण रांम—वि.सं.।

अधियाळ—वि०—आधा, अर्द्ध। उ०—सौ **अधियाळ** सूंडाळ सांवठा, नें दीधा 'कलियांण' तणा—महाराजा रायसिंह रौ गीत।

अधियावणो, अधियावणौ—वि०पु०—१ वीर. बहादुर। उ०—अठी कुळ उजाळण पाळ **अधियावणौ**, भुजाळौ झालियौ हाथ भालौ—गिरवरदांन. २ भयंकर।

अधियौ—सं०पु०—१ अर्द्धभाग, आधा हिस्सा. २ गांव में आधी पट्टी की जमीदारी. ३ खेती की एक रीति जिसके अनुसार उपज का आधा तो खेत के मालिक को और आधा श्रम करने वाले को मिलता है। ऐसे ही गाय के बच्चों के मूल्य का आधा गाय के मालिक को और आधा उसे चराने तथा रखने वाले को दिया जाता है। ४ आधी पट्टी का मालिक, आधे का हिस्सेदार।

अधिरति—सं०स्त्री०—अर्द्धरात्रि, मध्यरात्रि।

अधिरथ—सं०पु० [सं०] १ रथ हाँकने वाला, सारथी. २ वड़ा रथ. ३ कर्ण के पिता का एक नाम।

अधिराज—सं०पु० [सं०] राजा। उ०—रांणनगर **अधिराज** हल्ल विक्कम आयौ हणि—वं.भा.।

अधिरोहण—वि०पु०—१ चढ़ने वाला, सवार होने वाला. २ ऊपर उठने वाला।

सं०पु० [सं०] ऊपर चढ़ना या सवार होने का भाव।

अधिरोहणी, अधिरोहिणी—सं०स्त्री० [सं० अधिरोहिणी] सीढ़ी, निसैनी। उ०—प्रामार रै साथ अरबुदाचळ जाय तत्काळ ही अनेक **अधिरोहिणी** लगाय दुरग रै अंतर पूगा—वं.भा.।

अधिलोक—सं०पु० [सं०] संसार, ब्रह्मांड।

अधिवर—सं०पु० [सं० अध्वर] यज्ञ, होम (ह.नां.)

अधिवास—सं०पु० [सं०] १ रहने का स्थान, निवासस्थान. २ सुगंध, खुशबू।

अधिवासी—सं०पु० [सं० अधिवासिन्] १ निवासी, रहने वाला. २ बसने वाला।

अधिवेसन—सं०पु० [सं० अधिवेशन] सभा या जमाव।

अधिसथांन—सं०पु० [सं० अधिस्थान] शहर, नगर (ह.नां.)

अधिस्टाता, अधिस्ठाता—सं०पु० [सं० अधिष्ठाता] १ अध्यक्ष, मुखिया, प्रधान. २ ईश्वर. ३ रक्षक, पालन करने वाला (स्त्री० अधिस्ठात्री)

अधिस्टात्री, अधिस्ठात्री—सं०स्त्री० [सं० अधिष्ठात्री] १ मुखिया, प्रधान. २ रक्षिका, पालिका. ३ देवी, दुर्गा।

अधी—वि० [सं० अर्द्ध] आधा, आधी।

अधीठचकर—सं०पु०यौ० [सं०अदृष्ट+चक्कर] अदृश्य चक्र, दैवी प्रकोप, किस्मत का चक्कर, भाग्य का फेरा।

अधीत—वि० [सं०] पढ़ा हुआ, शिक्षित, पठित।

अधीन—वि० [सं०] देखो 'आधीन'।

अधीनता, अधीनत्ता—सं०स्त्री० [सं० अधीनता] देखो 'आधीनता'।

अधीर—वि० [सं०] १ घबड़ाया हुआ, जिसमें धैर्य न हो, उद्विग्न, व्याकुल, बेचैन। उ०—आइस दाखै सास **अधीरां**—रा.रू.। २ चंचल, आतुर, उतावला। उ०—बंदा बहोत **अधीर** है, तिल भर नहीं करार—ह.र.। ३ असंतोषी।

अधीरज—सं०स्त्री० [सं० अधैर्य] अधीरता, घबराहट, चंचलता। वि०—चंचल (अ.मा.)

अधीरता—सं०स्त्री० [सं०] धैर्यविहीनता, घबराहट, उतावली, आतुरता, बेचैनी।

अधीरा—वि०स्त्री० [सं०] अधीर, धैर्य-रहित, चंचल, विकल, विह्वल। सं०स्त्री०—नायक में अन्य नारी विलास सूचक चिन्ह देख कर अधीर हो प्रत्यक्ष कोप करने वाली नायिका।

अधीरौ—सं०पु०—देखो 'अधीर'।

अधीस—सं०पु० [सं० अधीश] १ स्वामी। उ०—ले लच्छी मरहट्टरी, गूजर खंड **अधीस**। आय महालच्छी चरण, सींग नमायौ सीस। —बाँ.दा.

अनंता–वि०स्त्री०—जिसका अंत या पारावार न हो।
सं०स्त्री०—१ पृथ्वी (नां.मा.) २ पार्वती. ३ अनंतमूल. ४ पीपल. ५ अनंत सूत्र।

अनंतापति, अनंतापती–सं०स्त्री०—१ भूमि, पृथ्वी (अ.मा.)
सं०पु०—२ राजा, नृप।

अनंद–सं०पु० [सं० आनन्द] १ आनन्द, सुख, आराम। उ०—छंद व्है सुछंद औ अनंद कौ कह्यौ—ऊ.का.। २ भोजन, खाना (ह.नां.)
सं०पु०—३ देखो 'आणंद' (छंदशास्त्र)
वि० [सं० अ+नंद] विना पुत्र का।

अनंदी–वि० [सं० आनन्दी] आनन्दयुक्त। उ०—रवि सिव दोऊ वंदी रहैज संदी, सदा अनंदी गिर वाया—पा.प्र.।

अनंद्री–सं०पु०—देवता (अ.मा.)

अनंद्रीपित–सं०पु० [सं० इंद्रियपति] देखो 'अनिंद्रीपित'।

अन–अव्यय [सं० अन्] १ प्रायः स्वर से आरम्भ होने वाले शब्दों के पूर्व लग कर अभाव या निषेधसूचक भाव बतलाता है. २ और।
उ०—सहँस दोय महिसी अन सुरभी, कंचन करहां भरी कतार।
—वारूजी सौदा बारहठ
वि० [सं० अन्य] दूसरा, भिन्न, पराया, पृथक, अन्य। उ०—मिळिया दळ कमँधां अणमापै, अन सिरजोर गिणी नहि आपै—रा.रू.।
सं०पु० [सं० अन्न] १ अन्न, अनाज, धान (डि.को.)
उ०—इक चिंता मनमैं वणी, नहीं ज पुत्र रतन, तिण पाखै लागै इसौ जांण अलूणौ अन—ढो.मा.।
सं०स्त्री०—देखो 'आंन'।

अनअवसर–सं०पु० [सं० अन्+अवसर] वे मौके, कुसमय, असमय।
उ०—अर जिसड़ी जांणी जिसड़ी अवसर अनअवसर भी जिण ठांम राजा होय तिण ठांम ही आय कहै—वं.भा.।

अनइ–क्रि०वि०—और। उ०—भाई मेहर अनइ ठाठीया, चालइ काहर कमांणी—कां.दे.प्र.।

अनइच्छा–सं०स्त्री० [सं० अन्+इच्छा] १ अरुचि, इच्छा का अभाव. २ निष्प्रयोजन।

अनकार, अनकारी–वि०—वीर, योद्धा। उ०—१ 'केहर' तणौ कहै अनकारां कळह न कीजै सुवप कटै।—दूदौ आसियौ।
उ०—२ कीरत एम कहै अनकारां, पत दूजो नह सूरत पाक। ऊ 'जीवराज' फेर जुग आवै, पहरावै भूखण पोसाक।—सगतौजी सौदौ

अनकूट–सं०पु० [सं० अन्नकूट] एक पर्व दिवस जो प्रायः दिवाली के दूसरे दिन माना जाता है, इसमें विविध प्रकार के अन्नों के भोजन बनाते हैं और उनका भोग भगवान को लगा कर खाते हैं। यह कार्तिक शुक्ला प्रतिपदा से पूर्णिमा तक किसी भी तिथि को मनाया जा सकता है।

अनकूळ–वि० [सं० अनुकूल] देखो 'अनुकूल'। उ०—जेहा मेहा जगत सूं मत विरचौ सुख मूळ। जीवाड़ै सारी जगत, अै अविरच अनकूळ—बां.दा.।

अनकोट–सं०पु०—देखो 'अनकूट'।

अनख–सं०पु० [सं० अनक्ष, प्रा० अनक्ख] १ क्रोध, रोष, नाराजगी. २ दुःख, खिन्नता. ३ ईर्ष्या, डाह. ४ ग्लानि. ५ झंझट।
वि०—विना खून या नख का।

अनग–सं०पु०—अचम्भा, आश्चर्य। उ०—गजारोही वाजी पदन हय आजी गत लगै। अयोसा योसा जी अनग जिम वाजीगर अगै।
—ऊ.का.

अनगढ़–वि०—१ विना गढ़ा हुआ. २ बेडौल, भद्दा. ३ बेतुका।

अनघ–वि० [सं० अन्+अघ] निष्पाप, निर्मल, पवित्र, पुण्यवान।
सं०पु०—पुण्य।

अनड़–वि० [सं० अदि बंधने। धातु। अन्दनं अन्दः भावे घञ्। न अन्दः अनन्दः=निर्बन्धन। अनन्दः=अनड़–राजस्थानी] १ अनम्र, उद्दंड. २ वीर, बलवान। उ०—ग्रामि संग्रामि झूंझार माल्है गहड़। अरि घड़ा खेसवै आप न खिसै अनड़—हा.झा.। ३ किसी के सामने न झुकने वाला। उ०—अगै जिण कुळ अनड़ हुवौ चहुवांण हरीमणि रांणनगर अधिराज हल्ल, विक्कम आयौ हणि—वं.भा.।
४ बंधनरहित, स्वतन्त्र।
सं०पु०—१ किला, गढ़। उ०—अनड़ तजै धरती अर आया, मिरजै फिर मोरचा मँडाया—रा.रू.। २ पर्वत, पहाड़ (अ.मा.) ३ राजा. ४ हाथी. ५ वह जो बंधन में रहने का अभ्यस्त न हो यथा—वृषभ, सांड (वं.भा.) [रा०] ६ अनड़पक्षी (देखो 'अनड़पंख')
उ०—ईंडा अनड़ तणाह, विन माळै मेले बुआै। उर अर पांख विनांह, जीवै किण विध जेठवा।

अनड़नड़–वि०—१ उद्दंड व्यक्तियों को भी झुकाने वाला. २ स्वभाव से ही स्वतंत्र प्रकृति वालों को भी बंधन में लाने की सामर्थ्य रखने वाला, पराक्रमी, वीर।

अनड़पंख, अनड़पंखेरू–सं०पु० [सं० अनलपक्ष] एक प्रकार की कल्पित चिड़िया जिसके विषय में कहा जाता है कि वह सदा आकाश में ही उड़ती रहती है और पृथ्वी पर नहीं आती। अपना अंडा आकाश से गिरा देती है किन्तु वह अंडा पृथ्वी पर गिरने से पूर्व ही फूट जाता है और बच्चा निकल कर आकाश में उड़ने लगता है। उ०—धर जहर देखिया गुरड़ धंख, पेखिया पटाभर अनड़पंख—वि.सं.।

अनड़पण, अनड़पणौ–सं०पु०—१ शौर्य्य, वीरता, बहादुरी। उ०—अर आपरा अनड़पणा रै अनुसार मंडोवर आपरी विवाहिणि नूं देण रौ सुजस चौतरफ ही चलायौ—वं.भा.। २ उद्दंडता. ३ स्वतंत्रता, आजादी।

अनड़-पै-राज–सं०पु०—सुमेरु पर्वत। उ०—उरड़ धमचाळ होतां वणै आपरा, अनड़-पै-राज तस गुरड़ येहा—करणीदांन कवियौ।

अनड़ांनड़–वि०—देखो 'अनड़नड़'।

अनड़ी–सं०स्त्री०—अनाड़ीपन, मूर्खता। उ०—आडौ नवकोट रौ नाथ आयौ अडर। आंवेर रा करै मत वात अनड़ी। सेवरां वीच कोई

काव्य वणाय पढ़ायौ—वं.भा.।

अध्यापणौ, अध्यापबौ–क्रि०स०—अध्यापन का कार्य करना, पढ़ाना। वं.भा.

अध्यारोप–सं०पु० [सं०] १ एक के व्यापार को दूसरे में लगाना. २ वेदांत के अनुसार अन्य में अन्य वस्तु के अभाव या भ्रम की झूठी कल्पना. ३ एक के व्यापार को अन्य में लगाना (सांख्य)

अध्याहार–सं०पु० [सं०] १ तर्क-वितर्क, बहस. २ वह क्रिया जिसके द्वारा अस्पष्ट वाक्य को दूसरे शब्दों में स्पष्ट किया जाय।

अध्येय–सं०पु० [सं० अध्ययन] अध्ययन, पठन-पाठन। उ०—कौ करत सरव **अध्येय** ग्रंथ, को लेत पार उतराद पंथ—ला.रा.।

अध्रम–सं०पु० [सं० अधर्म] देखो 'अधरम'। उ०—**अध्रम** खळ ओलंब, अक्रम कोटे आलूजिस, जम दढ़ढ़ा मझ पड़िस, खोड़ माया खोसाड़िस। —जगौ खिड़ियौ

अध्रयांमणौ, अध्रियांमण–वि०—डरावना, भयंकर। उ०—सूजहर मिळै **अध्रियांमण** साज सूं। जेत खंभ आज रौ किला जेरै—अज्ञात।

अध्रियांमणी–सं०स्त्री०—कटारी, कृपाण।
वि०—भयंकर, भयावह। (रू.भे. अध्रयांमणी, अध्रियांम्हणी, अध्रीयांमण)।

अध्रियांमणौ, अध्रियांम्हणौ, अध्रीमणौ–वि०—१ भयावना, डरावना। उ०—उकटे काट निराट **अध्रियांमणा**—पदमसिंह री बात। २ वीर, बहादुर, पराक्रमी। उ०—लोड़िधर वीर वर पराई लावणा। आपणी न दै भड़ जिकै **अध्रियांमणा**—हा.झा.।

अध्रीयांमण, अध्रीयांवणौ, अध्रीयांवणौ–वि०—देखो 'अध्रियांमण'। उ०—सालुळै रौद रोळा सरु। धणी चाड **अध्रीयांवणा**। —वखतौ खिड़ियौ

अध्व–सं०पु० [सं०] १ मार्ग, रास्ता. [सं० अध्वर] २ यज्ञ।
उ०—उण समय पाळा होय दो ही वीरां अजमेर मंडोवर रा सुहाग री लाज रा लंगर धीसँता अस्वमेध **अध्व** रा अवभ्रथ रौ तिरस्कार करता पेंड सांम्है ही लगाया—वं.भा.।

अध्वग–सं०पु० [सं०] १ पथिक, राही, बटोही। उ०—तहँ नहिं तमांम घण सीत घांम। फळ फूल फार **अध्वग** उदार—ऊ.का.। २ ऊँट. ३ सूर्य. ४ खेचर.

अध्वर–सं०पु० [सं०] १ यज्ञ। उ०—दिया रण **अध्वर** में बळिदांन। २ वसुभेद. ३ सावधान।

अध्वरयु–सं०पु० [सं० अध्वर्यु] वह ब्राह्मण जो यज्ञ में यजुर्वेद का मंत्र पढ़े।

अध्वासण, अध्वासन–सं०पु०—योग के चौरासी आसनों के अंतर्गत एक आसन जिसमें दोनों हाथ पांव लंबे करके उलटा सोया जाता है।

अन–अव्यय [सं० अन्] शब्दों के पहले लग कर अभाव या निषेध सूचित करने वाला उपसर्ग।

अनंक–सं०पु०—चिन्हरहित, परब्रह्म। उ०—**अनंक** न संक न वंक न धीस, अवास न वास न आस न ईस—ह.र.।

अनंग–वि० [सं०] अंगरहित, बिना देह का।
सं०पु०—१ आकाश. २ कामदेव (ह.नां., अ.मा.) ३ वह घोड़ा जिसकी बाँयीं बगल में भौंरी (चक्र) हो (अशुभ) —शा.हो.

अनंगक्रीड़ा–सं०स्त्री० [सं० अनङ्गक्रीड़ा] १ रति, संभोग, मैथुन. २ मुक्तक नामक विषम वृत्त का एक भेद (छंदशास्त्र)

अनंगवती–वि०स्त्री० [सं०] कामवती।

अनंगसेखर–सं०पु० [सं० अनंगशेखर] बिना लघु गुरु के क्रम का दण्डक नामक वर्ण वृत्त का एक भेद विशेष जिसमें ३२ वर्ण होते हैं।

अनंगसेना–सं०स्त्री० [सं०] राजा भर्तृहरि की पत्नी पिंगला का दूसरा नाम (वं.भा.)

अनंगह–सं०पु० [सं० अनंग] कामदेव (रू.भे.) उ०—संकर पवन सकत्ति, अवनि भ्रम लच्छि **अनंगह**—ह.र.।

अनंगारि, अनंगारी–सं०पु०यौ० [सं० अनंगारि] कामदेव के शत्रु, महादेव, शिव।

अनंगी–सं०पु० [सं०] १ कामदेव (डि.को.) २ ईश्वर।
वि०—अंगरहित, बिना देह का।

अनंजळ–सं०पु०यौ० [सं० अन्न+जल] अन्नजल (रू.भे.)

अनंजा–सं०स्त्री० [सं० अनुजा] छोटी बहिन।

अनंत–वि० [सं० अन्+अंत] १ अंतर या पाररहित, असीम, बेहद। उ०—सोभंतु जंतु **अनंत** सुखमय सुखद संपति सारए—रा.रू.। २ अविनाशी. ३ अशेष।
सं०पु०—१ विष्णु. २ शेषनाग. ३ लक्ष्मण. ४ बलराम. ५ आकाश। (डि.नां. मा.) ६ बाहु का एक भूषण. ७ सूत्र का एक गंडा जिसे भादौं शुक्ला चतुर्दशी के व्रत के दिन बाहु पर बाँधते हैं. ८ अनन्तजित नामक जैनाचार्य. ९ शिव, महादेव (अ.मा.)

अनंति–क्रि०वि०—पीछे। उ०—चौथे मंगळ रांमचंद सुर तरणि श्री रांम आगै क्रमि आणि **अनंति** सीता वांम सु अंग—रांमरासौ।

अनंतकाय–सं०पु० [सं०] वे वनस्पतियाँ जिनके खाने का निषेध है(जैन)

अनंतगीर–सं०पु० [सं० अनन्तगीर] स्वरभेद (संगीत शास्त्र)

अनंतचतुरदसी, अनंतचवदस–सं०स्त्री०—देखो 'अणंतचौदस'।

अनंतटंक–सं०पु० [सं०] मेघराग का पुत्र एक राग विशेष (संगीत)।

अनंतदरसण, अनंतदरसन–सं०पु० [सं० अनंतदर्शन] सम्यक दर्शन, सब बातों का पूरा ज्ञान (जैन)।

अनंतनाथ–सं०पु०—जैनों के चौदहवें तीर्थंकर।

अनंतमूळ–सं०पु० [सं०] एक पौधा या बेल जो रक्त-शोधक होता है, औषधि विशेष।

अनंतर–क्रि०वि० [सं०] १ पीछे, उपरांत, बाद। उ०—इण वात रै **अनंतर** कैमास भी सहोदर चामुंडराज समेत प्रस्थांन कियौ—वं.भा.। २ निरंतर, लगातार. ३ पास, समीप।

अनंतवात–सं०पु० [सं०] शिर में भयंकर पीड़ा होने का एक प्रकार का शिर का रोग विशेष (वैद्यक)।

सं॰पु॰—१ जिसको कोई बाँध नहीं सकता अर्थात जिसकी कोई समानता नहीं कर सकता, वीर। उ॰—मुकन तणी जोड़ै अनमंधै वोलै रांम मरण, पण वंधै—रा.रू.। २ परमेश्वर, ईश्वर (द.दा.) ३ शत्रु, दुश्मन।

अनमंधी, अनमंधौ–सं॰पु॰—देखो 'अनमंध'। उ॰—सांवळ आद खांन सकवंधी, ऐ 'ऊदा' मिळिया अनमंधी।—रा.रू.

अनम–वि॰ [सं॰ अनम्र] १ उद्धत, बली. २ उद्दंड, धृष्ट. ३ नहीं झुकने वाला। उ॰—झूक वहणी नह जांणियौ, दोयण वय मुख दक्ख। पातल हंदा उरध पण, संवा अनम सरक्ख।—जैतदान वारहठ

अनमख–सं॰पु॰ [सं॰ अनमिष] समय (अ.मा.)

अनमद–वि॰—मदरहित, अहंकारहीन, घमंड से रहित।

अनमांन–सं॰पु॰—देखो 'अनुमांन' (ल.पि.)

अनमांनांम–वि॰—उद्दंड व्यक्तियों को झुकाने की सामर्थ्य रखने वाला, वीर, शक्तिशाली। उ॰—अनमांनांम उनत्यांनायौ, दळवंत भरै गयण नूं वाथ।—कूंपा राठौड़ री गीत

अनमाई–सं॰स्त्री॰—अनम्रता। उ॰—मंथा साच तताई पण री गाई गवै सारै, अनमाई राडै तनां जणाई ओसाप।—पूरजी भादौ

अनमापौ–वि॰—१ न मापा जाने योग्य. २ जो मापा न जा सके।

अनमिख–वि॰ [सं॰ अनिमेष] निमेषरहित, टकटकी के साथ। (रू.भे. 'अनमेख')

क्रि॰वि॰—१ एकटक, अपलक. २ निरंतर।

सं॰पु॰—१ देवता (नां.मा.) २ मछली (अ.मा.) ३ सर्प (डि.को.)

अनमित, अनमिति–वि॰—अनंन्य, अपार। उ॰—आरंभ काज 'गज आरहै, अनमित सेन उलट्टियौ।—रा.रू.

अनमित्ती–वि॰—१ अप्रमाण, अनिदर्शन। उ॰—आवी फौज लखां अनमित्ती, जोवंतां मारग जगपत्ती।—रा.रू. २ बहुत, अधिक।

अनमियौ, अनमी–वि॰—१ अनम्र, उद्दंड. २ नहीं झुकने वाला, वीर। उ॰—धरवर वर्ने अनेक, नम-नम नीसरिया नृपति, अनमी रहियौ एक, पहुवी राण प्रतापसी।—दुरसौ आढौ

अनमीखंध–वि॰—जो अपना कंधा न झुकने दे, शक्तिशाली, बलवान। (मि. अनम्मीखंध रू.भे.)

अनमीपण, अनमीपणौ–सं॰पु॰—अनम्रता। उ॰—पाट रछपाळ रिड़-माल अनमीपणौ, गरट घोड़ा भड़ा नूर कीधा घणौ।—अज्ञात

अनमुगाद–सं॰पु॰—देवता (अ.मा.)

अनमुनी–सं॰स्त्री [सं॰ उन्मुनी] हठयोग मे अंग-विन्यास की मुद्रा विशेष।

अनमेख–सं॰पु॰—देखो 'अनमिख'। उ॰—अनमेख द्रस्ट पेखंत. छवि, मीन चंद्र प्रतिबिंब पर।—रा.रू.

अनमेळ–सं॰पु॰—शत्रु, वैरी। उ॰—अनमेळ कढ़ियव कोट नें, निजराज पद्धर थप्पियौ।—ला.रा.

अनम्म, अनम्मी–वि॰—जो नम्र न हो, अविनयी, अनम्र, उद्दंड। उ॰—भूप अनम्मी माळवा, घण रिपु करण संहार। ऐ कूरम डळ पर उभै, जनम्या डूंग जुहार।—डूंगजी जवारजी रा दूहा

अनम्मीखंध–वि॰—देखो 'अनमीखंध'। उ॰—पाथ ज्यूं अनम्मीखंध वंसनूं चाढ़ियौ पांणी, यूं पछै ऊमटां नाथ पोढ़ियौ आरांण।
—सूरजमल मीसण

अनम्र–वि॰ [सं॰ अ+नम्र] उद्दंड, ढीठ, धृष्ट, अविनीत।

अनय–सं॰पु॰—अनीति, अन्याय। उ॰—अकबर दळ अप्रमांण, उदैनयर घेरै अनय। खागां वळ खूमांण, साहां दळण प्रतापसी।
—दुरसौ आढ़ौ

अनयास–क्रि॰वि॰ [सं॰ अनायास] अनायास, अकस्मात, सहसा।

वि॰ [सं॰अन्+आशा] आशारहित, निराश। उ॰—अनयास होत मेवासपति, तुरक तोर तुट्टै तदन।—ला.रा.

अनरगळ–वि॰ [सं॰ अनर्गल] १ बेरोक, बेधड़क. २ व्यर्थ, अंडवंड। उ॰—वया वपु जाहिर पथ्य विवेक अनरगळ बाहिर भीतर एक।
—ऊ.का.

क्रि॰वि॰—अप्रतिहत, लगातार।

अनरत–सं॰पु॰ [सं॰ अनृत] झूठ, असत्य (अ.मा.)

अनरत्थ, अनरथ–सं॰पु॰ [सं॰ अनर्थ] १ अनर्थ, अनिष्ट, बिगाड. २ उपद्रव। उ॰—१ मूधी वाट कटक संग्रांम, अनरथ थास्यइ जाइमाँम।—ढो मा. उ॰—२ यह वत्त हुव अनरत्थ सी, सादूळ सिकुळतें जरयौ।—ला.रा. ३ विरुद्ध अर्थ, उलटा मतलब, असत्य, झूठ। उ॰—रहौ वीवरै रांमरस, अनरथ घणौ अलंत। याहिज है अम आतमा, ऐ तीरथ, ऐ तंत।—बां.दा. ४ अधर्म से प्राप्त किया गया धन. ५ अन्याय, अत्याचार। उ॰—कुमार कहियौ चोढ़ै चढि चालियां इसड़ा अनरथ रा करणहार अंत्यज पुळियार होइ जीवता रहि जावै।—वं.भा.

अनरथक–वि॰ [सं॰ अनर्थक] निरर्थक अर्थरहित, व्यर्थ, निष्प्रयोजन।

अनरथकारी–वि॰पु॰ [सं॰ अनर्थकारिन्] (स्त्री॰ अनरथकारणी) १ उलटा मतलब निकालने वाला। २ अनिष्टकारी, उपद्रवी, अनर्थ करने वाला।

अनरध–वि॰ [सं॰ अनिरुद्ध] १ जो रोका न गया हो, अबाध. २ बेरोक, जो रुका हुआ न हो।

सं॰पु॰—श्रीकृष्ण के पौत्र और प्रद्युम्न के पुत्र जिन्हें उषा ब्याही गई थी।

अनरस, अनरसा, अनरसो–सं॰पु॰—१ रसहीनता, शुष्कता, रुखाई. २ कोप. ३ मनोमालिन्य, फूट. ४ दुःख, खेद, रंज. ५ उदासी, विरसता [सं॰ अन्य+रस] ६ दूसरा रस। उ॰—रहै विलंबै रांमरस, अनरस गिणै अलप्प।—ह्.र.

अनरूप–वि॰—१ कुरूप, भद्दा, बदसूरत. २ असदृश।

अनळ–सं॰स्त्री॰ [सं॰ अनल] १ अग्नि, आग (अ.मा.) २ पित्त. ३ तीन की संख्या॰ [सं॰ अनिल] ४ वायु। उ॰—अनळ वळ प्रबळ

उपदरौ पावसौ, वैलसौ रात रा हाय बनड़ी ।
—महाराजा मांनसिंह रौ गीत

वि०—देखो 'अनाड़ी' ।

अनचार–सं०पु० [सं० अनाचार] १ अन्याय, अत्याचार. २ पापाचार, अनाचार । उ०—**अनचार** करंतौ देख एह भल मात 'करनला' लियौ भेव—रांमदांन लाळस ।

अनचाहत–वि०—जो प्रेम न करे, न चाहने वाला, निर्मोही ।

अनजळ–सं०पु०यौ० [सं० अन्न+जल] अन्न-जल । उ०—जिण रौ अनजळ खाय, खळ तिण सूं खोटी करै—किरपारांम ।

अनज्ज–वि० [सं० अनुज] देखो 'अनुज' ।

अनज्जवंस–सं०पु०—अनार्यवंश । उ०—कुकज्ज लज्जतौ करचौ अनज्जवंस अज्जकौ । लुलायु लज्ज भीतभज्ज लज्जनां निलज्जकौ ।
—ऊ.का.

अनडवांण–वि०—जिसे बंधन में रहने का अभ्यास न हो ।

सं०पु० [सं० अनड्वान्] बैल, सांड, वृषभ ।

अनडर–वि०—१ बलशाली, शक्तिशाली. २ निडर ।

अनडवांन–सं०पु० [सं० अनड्वान्] देखो 'अनडवांण' ।

अनडीठ–वि० [सं० अन्+दृष्ठ, प्रा० डिट्ठ] बिना देखा ।

अनडुह, अनडुहौ–सं०पु० [सं० अनुडुह्] बैल, वृषभ (डिं.नां.मा.)

अनढ़–सं०पु०—दुर्ग, किला, गढ़ । उ०—फाटक कोट, हुवौ जूफाऊ, रव भाराथ रढाळौ । पड़ियां सीस पछै पालटसी, **अनढ़** पळोधी आळौ
—आवड़दांन लाळस

अनतंडा–वि०—विरुद्ध, विपक्ष का ।

अनत–वि० [सं०] १ जो झुका हुआ न हो, सीधा. २ बेहद. ३ बड़ा ।

क्रि०वि० [सं० अन्यत्र, प्रा० अन्नत्त] अन्यत्र, कहीं और ।

सं०पु० [सं० अनंत] १ शेषनाग. २ ईश्वर, परमेश्वर । उ०—वहियौ नही वे न तत वहिया, **अनत** कह्यौ तै ऊगरिया ।
—माहारांणा कुंभा रौ गीत

अनता–सं०स्त्री०—पृथ्वी, भूमि (ह नां.)

अनत्थ–सं०पु० [सं० अनर्थ] १ देखो 'अनरथ' । देखो 'अनथ' ।

अनत्थांनत्थौ–देखो 'अनथांनथौ' ।

अनथ–सं०पु०—देखो 'अनरथ' ।

वि०—१ जिसके नाक में नाथ न हो. २ उद्दंड. ३ स्वतंत्र ।

अनथांनथौ–सं०पु०—१ अनाथों का नाथ, स्वामी, जिसकी कोई रक्षा करने वाला न हो उसकी रक्षा करने वाला. २ उद्दंड व्यक्ति को भी झुकाने की सामर्थ्य रखने वाला, वीर । उ०—सुज सांम ध्रमी समरथौ रै, नव सहंसौ **अनथांनथौ**—किसनजी आढ़ौ । ३ ईश्वर ।

अनथू–सं०पु०—देखो 'अनथ' ।

अनदांन–सं०पु० [सं० अन्न+दान] अन्न या भोजन का दान ।

अनदाता–सं०पु० [सं० अन्नदाता] अन्नदान करने वाला, पोषक, प्रतिपालक, स्वामी । उ०—जिण नवलक्खी सिंघ घर, दी दिन हेकै दांन । **अनदाता** उपमेय है, 'ऊनड़' है उपमांन—बाँ.दा. ।

अनदास–सं०पु० [सं० अन्नदास] पेट के लिए ही दास होने वाला, पेटू, खुदगर्ज ।

अनद्यतनभविस्य–सं०पु० [सं० अनद्यतनभविष्य] १ वह समय जो आने वाली आधी रात्रि के बाद आवे. २ व्याकरण के अन्तर्गत भविष्यकाल का एक भेद ।

अनद्यतनभूत–सं०पु० [सं०] १ बीती हुई आधी रात के पहिले का समय. २ व्याकरण के अन्तर्गत भूतकाल का एक भेद ।

अनधिकार–सं०पु० [सं०] १ अधिकार का अभाव बेबसी. २ अयोग्यता, अक्षमता ।

वि०—अधिकाररहित, अनुचित ।

अनधिकारचेस्टा–सं०स्त्री०यौ० [सं० अनधिकारचेष्टा] नाजायज या अनुचित चेष्टा ।

अनधिकारी–वि० [सं० अनधिकारिन्] जिसे अधिकार न हो, अयोग्य, अपात्र ।

अनध्याय–सं०पु० [सं०] वह दिन जिसमें शास्त्रानुसार पढने-पढाने का निषेध हो । उ०—माळव रै महीप व्याकरण रा अध्यापन में एक अब्द रौ **अनध्याय** मांनि पांणिनीय रौ प्रतिनिधि भट्टिनामक काव्य वणाय पढायौ—वं.भा. ।

अनन्नास–सं०पु०—राम बाँस की तरह का एक छोटा पौधा जिसके डंठलो के अंकुरों की गाँठें खट्टी-मीठी और खाने योग्य होती है ।

अनन्य–वि० [सं०] जो अन्य से संबंध न रक्खे, एकनिष्ठ, एक ही में लीन । उ०—अर **अनन्य** भक्ति रा प्रभाव करि जगदंबा रौ प्रसाद पाइ बारह वरस रा वय मे पाछौ आइ फूंफा समुद्रसिंह नूं मारि आप रा पिता विजैसूर रौ वैर लियौ ।—वं.भा.

अनन्यता–सं०स्त्री० [सं०] एकनिष्ठा, अन्य से संबंध रखने का अभाव ।

अनन्यपण, अनन्यपणौ–सं०पु०—देखो 'अनन्यता' ।

अनपच–सं०पु०—अजीर्ण, बदहजमी, अपच ।

अनपांणी–सं०पु० [सं० अन्न+रा० पांणी] देखो 'अन्नजळ' ।

उ०—आगै कमँधै आखियौ, सुण मछरीक मुकन्न । **अनपांणी** मन भावियां, पधरावियां अजन्न—रा.रू. ।

अनपूरण, अनपूरणा–सं०स्त्री० [सं० अन्नपूर्णा] १ अन्न की अधिष्ठात्री देवी । उ०—आठ सिद्ध नव निद्ध रही मौ पिता रसोड़ै, मौ कमळायत माय जिका **अनपूरण** जोड़ै—पा.प्र. । २ दुर्गा का एक रूप, काशीश्वरी, विश्वेश्वरी ।

अनबंधी–वि०—देखो 'अनमंध' ।

अनभै–सं०पु०—देखो 'अणभै' ।

अनमंद–सं०पु०—देखो 'अनमंध' । उ०—वाहतां तेग **अनमंदां** कंध विछूड़ै—जसवंतसिंहजी रौ गीत ।

अनमंध–वि०—अपार, बहुत, असंख्य । उ०—सितर खांन सकबंध, कटक **अनमंध** छिले कर । असपत हद सामंद, कीध अबंध प्रमेसर ।
—रा.रू.

अनाज–सं०पु० [सं० अन्नाद] अन्न, धान्य, गल्ला।

अनातप–सं०पु० [सं०] धूप का अभाव।
वि० [सं०] ताप से रहित, शीतल।

अनातम–वि० [सं० अनात्म] आत्मारहित, जड़।
सं०पु०—आत्मा का विरोधी पदार्थ, अचित्, जड़। उ०—**अनातम** आतम ठेल उठेल।—रा.रू.।

अनाथ–वि० [सं०] १ स्वामीरहित, जिसके कोई पालन-पोषण करने वाला न हो, असहाय, अशरण। उ०—**अनाथ** साथ हाथ आय अन्न पावतै नहीं।—ऊ.का. २ दीन, दुखी। उ०—अबै जु लाज नाथ हाथ 'ऊमरै' **अनाथ** की।—ऊ.का.
क्रि०प्र०—करणौ, होणौ।
सं०पु०—वह बैल जिसके नाक में नाथ न डाली गई हो।

अनाथांनाथ–सं०पु०—अनाथों के सहायक, ईश्वर, विष्णु (ह.र.)

अनाथालय, अनाथाश्रम–सं०पु० [सं० अनाथालय, अनाथाश्रम] दीन-दुखियों या असहायों के पालने-पोषने का स्थान, यतीमखाना, लावारिस बच्चों की रक्षा का स्थान।

अनाथो, अनाथौ–सं०पु०—नाक में बिना नाथ डाला हुआ बैल।
वि०—१ जिसके नाक में नाथ न डाली गई हो. २ उद्दंड. ३ बिना स्वामी का, अनाथ। उ०—**अनाथो** आत आया अठै आतम जांणी आपसी, कर्मेव केइ लोह कंचन किया पारस भूप प्रतापसी।—अज्ञात (रू.भे. अनथ)

अनाद–वि०—देखो 'अनादि'। उ०—वित जिम बांटै तिम वधै, आ है रीत अनाद।—बाँ.दा.

अनाद जुगाद–देखो 'अनादि'।

अनाद जोगी–सं०पु०यौ० [सं० अनादि+योगी] महादेव, शिव।
उ०—जटाधारी जोगधारी **अनाद जोगी**, पाणां नमी सींगी नाद पूरतां प्रकाम।—महाराजा मानसिंह

अनादर–सं०पु० [सं०] आदर का अभाव, अवज्ञा, अपमान, अवहेलना, तिरस्कार।

अनादरणीय–वि० [सं०] १ जो आदर के योग्य न हो. २ आदि-रहित, उत्पत्तिहीन।

अनादरणौ, अनादरबौ–क्रि०अ०—अनादर करना। उ०—अवाचि जांण आदरचौ उदीचि कों अनादरचौ।—ऊ.का.

अनादि, अनादी–वि० [सं०] १ आदिरहित, उत्पत्तिहीन, स्वयंभू, नित्य (ब्रह्म). २ बहुत दिनों से जो शिष्ट परंपरा से चला आया हो, चिरकाल से (मि० 'अनाद') उ०—ऐ राठौड़ **अनादि** आदि असिवर अनिमंघी।—रा.रू.

अनाधार–वि०[सं०] आधाररहित, बेसहारा।

अनाप–सं०पु० [सं० अन्न+आप] अन्न-जल। उ०—खुधा त्रिखा पिड़त पुरस, तन त्यागत अतीव। अभवी कह न **अनाप** दे, जे हीज अभवी जीव।—ऊ.का.

अनापसनाप–वि० [सं० अनाप्त] १ ऊटपटांग, अंडबंड. २ अत्यधिक, परिमाण से अधिक।
सं०पु०—निरर्थक प्रलाप।

अनापौ–वि०—बहुत, अधिक, अत्यधिक।

अनांमत–सं०स्त्री०—देखो 'अमानत' (रू.भे.)

अनांमय–वि० [सं० अनामय] रोगरहित, निरोग, तंदुरुस्त।
उ०—अनांमय अव्यय अक्षय आय, निरामय निरभय नाथ अनाय।—ऊ.का.
सं०पु०—निरोगता, स्वास्थ्य, कुशलक्षेम। उ०—अर **अनांमय** पूछण री व्याज करि पिता नूं वडा भाई समेत मारि साह होण री संकळप करि दिल्ली मायै आपरी चतुरंग चमू चलाई।—वं.भा.

अनायक–वि०—नायकरहित, रक्षकरहित, बिना स्वामी का।

अनायत–सं०स्त्री० [अ० इनायत] १ कृपा, दया, अनुग्रह, एहसान. २ दान. ३ बख्शीश (द.दा.)

अनायस–क्रि०वि०—देखो 'अनायास'।

अनायास–क्रि०वि० [सं०] १ बिना प्रयास, सहज. २ अकस्मात्, अचानक। उ०—करवाळ ढाळ दिस कर कयास, ओलंदे हैं नहिं **अनायास**।—ऊ.का.

अनार–सं०स्त्री० [फा०] एक प्रकार का वृक्ष तथा उसका फल जिसे दाड़िम भी कहते हैं।

अनारज–सं०पु० [सं० अनार्य] १ जो आर्य न हो, अनार्य. २ दस्यु या दास।
वि०—जो उत्तम या श्रेष्ठ न हो, नीच।

अनारदांणौ–सं०पु० [फा० अनारदाना] अनार नामक फल के सुखाये हुए दाने।

अनारी–वि०—१ देखो 'अनाड़ी'। उ०—उद्यम छोड़ रह्यौ अण उद्यम, आठूं ही पहर **अनारी**। रोटी २ करतौ रोवै, मूढ़ महा झक मारी।
—ऊ.का.
२ वह जिसके स्त्री न हो।

अनाळ–वि० [सं०अ+नाळ=मार्ग रा०] मार्गरहित, स्थानरहित, सर्वत्र। उ०—अचाळ अरद्ध अनाळ अनेस, आदेस, आदेस आदेस आदेस।
—ह.र.

अनाळसी–वि० [सं० अन्+आलस्य+ई-रा.प्र.] उद्योग करने वाला, उद्यमी। उ०—**अनाळसी** न आळसी न नाळसी निन्द्रयको।
—ऊ.का.

अनावस्यक–वि० [सं० अनावश्यक] जिसकी आवश्यकता न हो, गैर-जरूरी, अनुपयोगी।

अनावस्यकता–सं०स्त्री० [सं० अनावश्यकता] आवश्यकता का अभाव।

अनाव्रत–वि० [सं० अनावृत्त] जो ढंका न हो, खुला।

अनाव्रस्टि, अनाव्रस्टी–सं०स्त्री० [सं० अनावृष्टि] वर्षा का अभाव, जल-कष्ट।

वहतां अकळ अजावत, सखर उड़ पड़ै गजवज समेत।
—उम्मेदसिंह सीसोदिया रौ गीत

अनळकुंड–सं०पु० [सं०] अग्नि-कुंड। वि०वि० देखो 'अगनीकुंड'। उ०—वंस चहुवांण वखांण आंण सुरतांणां ऊपर। अनळकुंड उतपत्त मुद्रा की चाह महेसर।—मालौ आसियौ

अनळचूरण–सं०पु० [सं० अनल+चूर्ण] बारूद।

अनळपंख–सं०पु—देखो 'अनड़पंख'। उ०—कीड़ी नै कण पूरवै मण मैंगळ चारै। अनळपंख आकास कूं दिन चून दिराड़ै।
—केसोदास गाडण

अनळपंखचार–सं०पु०—हाथी (डिं.को.)

अनळपंखी–सं०पु०—देखो 'अनड़पंख'।

अनलप–वि० [सं० अनल्प] बहुत, अधिक।

अनळपुड़–सं०पु०—पहाड़, पर्वत। उ०—आयत इळा अनळपुड़ आग्रत, समँद आयतां वळेज सात।—महारांणा लाखा रौ गीत

अनळमुख–वि० [सं०] जो अग्नि द्वारा पदार्थों को ले।
सं०पु०—१ ब्राह्मण. २ देवता।

अनळस–वि० [सं०] आलस्यरहित, परिश्रमी।

अनळा–सं०स्त्री० [सं०] १ कश्यप ऋषि की पत्नियों में से एक जो दक्ष प्रजापति की कन्या थी. २ माल्यवान नामक राक्षस की एक कन्या. [सं० अनल] ३ अग्नि, आग. [सं० अनिल] ४ हवा, वायु।

अनलायक–वि०—नालायक, अयोग्य, मूर्ख।

अनलूणी, अनलूणौ–वि०—देखो 'अलूणी' (रू.भे.)

अनल्प–वि० [सं०] देखो 'अनलप' (रू.भे.) उ०—अनंत आप हैं. अनल्प आदि अंत अल्प में।—ऊ.का.

अनवय–सं०पु० [सं० अन्वय] १ वंश, कुल. २ वाक्य-रचना के नियमानुसार पद्यों के शब्दों को यथा-स्थान रखने का ढंग या क्रिया।

अनवाई–सं०स्त्री०—नहीं झुकने का भाव, अनम्रता।
वि०—नहीं नमने वाला।

अनवी–वि०—नहीं नमने वाला, वीर। उ०—अनवी मुरधर रै अदत, जोखमियौ घण जांण।—ऊ.का.। २ अनम्र।

अनवार–वि० [सं० अन्य] अन्य, दूसरा। उ०—महमा वढ़ि मयंक कुळ मंडण, पोह अनवारां प्रभत पढ़ो।—महारांणा उदैसिंघ रौ गीत

अनसन–सं०पु० [सं० अनशन] उपवास, निराहार व्रत।

अनसवर–वि० [सं० अनश्वर] १ नष्ट न होने वाला, अविनाशी, अटल. २ नित्य, सनातन।
सं०पु०—ईश्वर, परमात्मा।

अनसार–सं०पु०—भोजन (अ.मा.)

अनसूया, अनसोया–सं०स्त्री० [सं० अनसूया] १ दूसरों में दोष न देखने का भाव, ईर्ष्या का अभाव. २ दक्ष प्रजापति की कन्या तथा अत्रि मुनि की पत्नी. ३ शकुन्तला की एक सखी या सहेली।

अनस्व–सं०पु०—[सं० अनश्व] गधा। उ०—वामांग डक्कनिय पत्ति अस्व दक्खिन भुजांन हू क्यौ अनस्व।—ला.रा.

अनस्वार–सं०पु० [सं० अनुस्वार] देखो 'अनुस्वार'।

अनहद, अनहद्द–वि०—अपार, असीम। उ०—विरांण सब्द सुणिया विहद्द। नीसांण तूर अनहद्द नद्द।—वि.सं.
सं०पु० [सं० अनाहत] अनाहत नाद। उ०—सुन मंडळ मध्य पुरम-सुन. अनहद नीसांण। सबद बतावै एकठा तद होय कल्यांण।
—केसोदास गाडण

अनांम–वि० [सं० अनाम] विना नाम का, अप्रसिद्ध, नामरहित।

अनांमा, अनांमिका–सं०स्त्री० [सं०अनामिका] मध्यमा के बाद की उंगली।
वि०—अप्रसिद्ध, विना नाम का।

अनांमी–वि०—१ अप्रसिद्ध, विना नाम का. २ अनोखा, अद्भुत।
उ०—साख तणा सूरज सगतावत, आंरी रीत अनांमी। ठाकरं नांमी अवर ठिकांणा, नीवज राजा नांमी।—नीवज रौ गीत

अनाक–क्रि०वि०—अनाहक, नाहक, व्यर्थ। उ०—मनाक सौख्य छाक में मना अनाक व्है अटचौ।—ऊ.का. (रू.भे. अनाख)

अनाकर–वि०—निराकार, आकाररहित। उ०—अनाकर साकर आखर अंत, भलौ भव भाग भजे भगवंत।—ऊ.का.

अनाकांनी–सं०स्त्री०—अनसुनी करना, बहलाना, टालमटूल, आनाकानी।

अनागत–वि० [सं०] १ अनुपस्थित. २ होनहार, आगे आने वाला. ३ अज्ञात. ४ अनादि, अजन्मा. ५ अपूर्व, अद्भुत. ६ आगमन का अभाव।
सं०पु०—संगीत में लय एवं ताल की दृष्टि से मुख्य सम के पहिले ही सम दिखाना।

अनाग्रह–क्रि०वि०—विना आग्रह के। उ०—अनाग्रह भुल्लित आंन उपाय, प्रफुल्लित ज्यूं पतनी-पति पाय।—ऊ.का.

अनाघात–वि० [सं०] १ आघात या चोट से रहित. २ विना कारण, अकारण।

अनाड़–सं०पु०—पर्वत, पहाड़. २ वीर, योद्धा (रू.भे. अवनाड़) ३ राजा, नृप (द.दा.)

अनाड़वौ–वि०—१ अनाड़ी. २ अनम्र, उद्दंड, अभिमानी. ३ वीर, योद्धा।

अनाड़ी–वि०—१ नासमझ, नादान, मूर्ख।
कहा०—अनाडियां रा गुरु अनाड़ी है—गुरु व शिष्य दोनों मूर्ख हैं।
२ अकुशल, अपटु, अनभ्यस्त. ३ जिसके शरीर में नाड़ी की गति मंद हो गई हो।

अनाड़ीपण, अनाड़ीपणौ–सं०पु०—१ मूर्खता, नासमझी. २ उद्दंडता ३ अदक्षता, अपटुता।

अनाड़ो, अनाड़ौ–वि०—जो बंधन में न आवे, वीर, योद्धा। देखो 'अनड़'

अनाचार–सं०पु० [सं०] १ दुराचार, कुरीति, अशुद्धाचार, पापाचार. २ अंधेर. ३ अत्याचार।

अनाचारता–सं०स्त्री० [सं० अनाचारिता] दुराचारिता, कुरीति, कुचाल, बुरा आचरण।

अनिमिख—देखो 'अनमिख' (रू.भे.)

अनिमित—वि०—निमित्त या हेतुरहित, निष्कारण, विना निमित्त या कारण के।

अनिमिस, अनिमेख—वि० [सं अनिमेष] देखो 'अनमिख' (रू.भे.)

अनियत—वि० [सं०] १ जो नियत या निश्चित न हो, अनिश्चित. २ अस्थिर, अनित्य।

अनियम—सं०पु० [सं०] १ नियमाभाव, व्यतिक्रम. २ अनिश्चय।

अनियमित—वि० [सं०] नियमरहित, अव्यवस्थित, अनिश्चित, जो नियमानुकूल न हो।

अनियाई—वि० [सं० अन्यायी] अन्यायी, वदमाश, धूर्त्त। उ०—ईखैं दुरयोधन **अनियाई** सकळ पांडवां चींत संभाई।—रा.रू.

अनियाऊ—सं०पु० [सं० अन्याय] अन्याय, अनीति, देखो 'अन्याय'।

अनियायी, अनियायीयौ—वि० [सं० अन्यायी] अन्यायी। उ०—आइयौ **अनियायीय** घर पुड़ किणी न धारतौ।—पा.प्र.

अनियाव—सं०पु० [सं० अन्याय] अन्याय, अत्याचार, देखो 'अन्याय' (रू.भे.)

अनिरणय—सं०पु० [सं० अनिर्णय] द्विविधा, संदेह, संशय, अनिश्चय, दो वातों में से किसी का भी निश्चय न होना।

अनिरत, अनिरित—सं०पु० [सं० अनृत] झूठ, असत्य (ह.नां.)

अनिरुद्ध, अनिरुध—वि० [सं०] विना रुका हुआ, जो अवरुद्ध न हो।
सं०पु०—श्रीकृष्ण के पौत्र और प्रद्युम्न के पुत्र। ये उषा के पति थे। (वेलि.)

अनिरुध्ध—सं०पु० [सं० अनिरुद्ध] देखो 'अनिरुद्ध' (रू.भे.)

अनिळ—सं०स्त्री० [सं० अनिल] वायु, हवा, पवन। उ०—भाजि वळ खळ हुए खळभळ, चळ विचळ करि **अनिळ** दळ चळ।—रा.रू.

अनिळकुमार—सं०पु० [सं० अनिलकुमार] १ हनुमान. २ भीम।

अनिळसखा—सं०पु० [सं० अनल+सखा] वायु, हवा।

अनिळासी—सं०पु०यौ० [सं० अनिलाशिन्] १ सर्प. २ एक व्रत विशेष. ३ केवल वायु का सेवन करके रहने वाला प्राणी या तपस्वी।

अनिवारित—वि० [सं०] जो निवारण करने योग्य न हो, वारण न किया हुआ।

अनिस—क्रि०वि० [सं०] निरन्तर, लगातार। उ०—वट राज वंस-धारी प्रबळ, लाग **अनिस** जस लेण री।—वं.भा.
वि० [सं०] रात्रि का अभाव, निशारहित।

अनिसचित—वि० [सं० अनिश्चित] जिसका निश्चय न हो, अनियत, अनिर्दिष्ट।

अनिस्ट—वि० [सं० अनिष्ट] अवांछित, जो इष्ट न हो।
सं०पु०—अमंगल, अहित, बुराई, हानि।

अनिस्टकर, अनिस्टकार, अनिस्टकारी—वि० [सं० अनिष्टकर] अपकारक, अहितकर, हानिकर।

अनिस्ठुर—वि० [सं० अनिष्ठुर] जो निर्दयी न हो, दयावान, सरलचित्त।

अनिस्ठा—वि०स्त्री [सं० अनिष्ट+आ] जो इष्ट न हो, अवांछित।

अनिहद—देखो 'अनहद'। उ०—त्रिभुवन सार अपार, पार **अनिहद** अथाह।
—केसोदास गाडण

अनींद—वि०—निद्रारहित, जिसको नींद न आती हो।

अनींद्र—सं०पु०—देवता (ह.नां.) देखो 'अनिंद्रा' (रू.भे.)

अनी—सं०स्त्री०—१ देखो 'अणी'. २ सेना, फौज (अ.मा.) ३ समय (अ.मा.)

अनीक—सं०पु० [सं०] १ सेना, फौज, समूह। उ०—तिकण रै साथ कछवाह जयसिंह गोड़ अनिरुद्धसिंह नवाव दलेलखांन तीन ही मुख्य सामंत दे'र आपरौ उद्धत **अनीक** दियौ।—वं.भा. २ युद्ध. ३ योद्धा। उ०—सनिद्धि सुभट समरन समींक। इक्कतैं इक्क उद्धत **अनीक**।
—ऊ.का.
४ साथी भागी। उ०—जठै नरेस कह्यौ फौज रै और भोज रै साथ म्हांरा जावण में तौ पिता-पुत्रां रै दोही तरफ अपजस रौ **अनीक** है।
—वं.भा.
वि०—जो अच्छा न हो, बुरा।

अनीकनी—सं०स्त्री० [सं० अनीकिनी] १ सेना, फौज (ह.नां) २ अक्षौहिणी सेना का दशांश।

अनीच—वि०—किसी वात में जो कम न हो, ऊँचा, जो नीच न हो। उ०—नीचे किए नीचौं को **अनीचे** किए ऊंचौं की।—ऊ.का.

अनीठ—वि० [सं० अनिष्ट] १ जो इष्ट न हो, अप्रिय, बुरा. २ जो समाप्त न हो सके, अपार, बहुत।
क्रि०वि०—सरलता से, आसानी से।

अनीत, अनीतत, अनीति—सं०स्त्री० [सं० अनीति] १ अन्याय, बेईंसाफ, अंधेर। उ०—भाजगी सरब रीतां भली, हमैं **अनीतां** हालसी। नर लोक इंद 'मांना' नृपत, सैंगां दिन २ सालसी।—बुधजी आसियौ २ अत्याचार। उ०—विनीत नीतवांन जै **अनीत** बावतैं नहीं।
—ऊ.का.

अनीतौ—सं०पु०—१ अन्यायी. २ वदमाश। उ०—टावर लाड सूं वडौ **अनीतौ**।—सूरे खींवे री वात। ३ दुराचारी। उ०—**अनीता** चाल्ता जकै वदीता न आंणै कोई। दूठ सत्रां गोळ आड़ मचावै उमेद।—अज्ञात

अनीप—सं०पु०—सेनापति।

अनीम—वि० [सं० अनम्र] १ न झुकने वाला. २ वीर।

अनीयाव—सं०पु० [सं० अन्याय] देखो 'अन्याय'। उ०—आज हुवौ **अनीयाव** आज ध्रम पाजा फूटी।—बुधजी आसियौ

अनीलवाजी, अनीलवाजी—सं०पु०—१ जिसका घोड़ा श्वेत रंग का हो. २ अर्जुन।

अनीस—वि० [सं० अनीश] १ विना मालिक या स्वामी का, अनाथ. २ असमर्थ, असहाय. ३ सर्वश्रेष्ठ।

अनाव्रित–वि०—देखो 'अनाव्रत' (रू.भे.)

अनाव्रिस्टी–सं०स्त्री०—देखो 'अनाव्रस्टि' (रू.भे.)

अनास–सं०पु०—१ एक प्रकार का वृक्ष तथा उसका फल विशेष। उ०—अखोड़ **अनास** किरंजी अनूप। सिरै खारक तीन विधी सरूप। —क.कु.बो. २ देववृक्ष (अ.मा.) ३ वह जो वीर न हो, कायर व्यक्ति।

अनासती–वि०—१ दुःखमय, बुरा. २ कायर। सं०स्त्री०—१ वह स्त्री जो सतीत्वहीन हो. २ कुसमय।

अनासगर–सं०पु०—देखो 'आनासागर' (रू.भे.)

अनासिक–वि० [सं० अ+नासिक] नकटा, नाकरहित।

अनास्था–सं०स्त्री० [सं० अन्+आस्था] १ अश्रद्धा. २ अनादर, अप्रतिष्ठा।

अनाल्रम–वि० [सं०] १ आश्रयहीन. २ पतित. ३ बिना परिश्रम का।

अनाल्रमी–वि० [सं० अनाश्रमी] गृहस्थ आदि आश्रमों से रहित, आश्रम-भ्रष्ट, पतित।

अनाल्रय–वि० [सं० अनाश्रय] १ निराश्रय, निरवलंब. २ दीन, अनाथ।

अनाल्रित–वि० [सं० अनाश्रित] १ निराश्रय, निरवलंब. २ अनाथ।

अनाह–सं०पु० [सं० आनाह] कब्ज रोग, अफारे का रोग (अमरत) वि० [सं० अनाथ] बिना स्वामी का, दीन, दुखी।

अनाहक–क्रि०वि०—नाहक, व्यर्थ में। उ०—मौने आय अनाहक मारचौ सांम खूंन विण...।—र.रू.

अनाहत–वि० [सं०] आघातरहित, जो आहत न हुआ हो। सं०पु०—१ दोनों हाथों के अंगूठों से दोनों कानों के रन्ध्र बंद करने पर ध्यान करने से सुनाई पड़ने वाला शब्द (योग); २ योग के आठ कमल या चक्रों में से एक जिसका स्थान हृदय, ६००० जप, रंग लाल व पीला मिश्रित (मतांतर से कहीं श्वेत) और देवता रुद्र माने जाते हैं। इसके दलों की संख्या १२ तथा अक्षर क से ठ तक माने गये हैं। ३ किसी इष्ट, मंत्र या नाम की वह ध्वनि जो इन्द्रियों को अंतर्मुखी करने पर सुनाई दे। सिद्धि प्राप्त होने पर यह हर समय निरंतर सुनाई देती रहती है। निरंतर जाप अथवा ध्यान करने से इस स्थिति पर पहुँचा जा सकता है (योग)।

अनाहतनाद–सं०स्त्री०—प्रकृति में व्याप्त ध्वनि। देखो 'अनाहत'

अनाहद–सं०पु०—देखो 'अनहद'। उ०—जठै जम काळ जरा नहि जोर, घुरै घट नाद अनाहद घोर।—ऊ.का.

अनाहदवांणी–सं०स्त्री० [सं० अनाहत+वाणी] १ आकाशवाणी, देववाणी. २ देखो 'अनाहत'–१, ३।

अनाहार–सं०पु० [सं०] भोजन का अभाव या त्याग। वि०—१ निराहार, जिसने कुछ न खाया हो. २ (वह व्रत) जिसमें कुछ न खाया जाय. ३ विजयी।

अनाहारी–वि०—निराहार रहने वाला।

अनिंद–वि० [सं० अनिंद्य] १ जो निंदा के योग्य न हो, निर्दोष, उत्तम। २ जिसे नींद न आती हो।

अनिंदक–वि०—जो निंदा न करता हो।

अनिंदित–वि० [सं०] अगर्हित, उत्तम, प्रशस्त।

अनिंद्य–वि० [सं०] देखो 'अनिंद' (रू.भे.)

अनिद्रा–सं०पु०—१ देवता (नां.मा.) २ नींद न आने का रोग विशेष।

अनिद्रीपित–सं०पु०यौ० [सं० इंद्रियपति] मन (ह.नां.)

अनि–सर्व०—अन्य, दूसरा, भिन्न। उ०—(१) अस्व दुरद जेव अनेक, अनि छात ग्रह अनेक।—रा.रू. उ०—(२) चाप नमायौ रांमचंदि अनि दुनि भूप नमैं दुरि।—रांमरासौ

अनिअनी–क्रि०वि०—भिन्न-भिन्न, अन्य, तरह-तरह। उ०—**अनिअनी** भोग भुगतै इळा, तवै सु सुख हाजर तियां।—ज.खि.

अनिआई–वि० [सं० अन्यायी] शैतान, बदमाश, अन्यायी। उ०—'मोटल' सरखौ मारियौ जिण सकज जमाई। 'देउरो' घर डोबियौ इणहिज **अनिआई**।—वीरमायण

अनिकार–सं०पु०—वीर, योद्धा। उ०—ओढ़ण **अनिकारां** नरां हालां रा पण हाथ।—हा.भा.

अनिच्छ–सं०स्त्री०—१ इच्छा का अभाव (डिं.को.) उ०—**अनिच्छ** जीव अद्यतें हरीच्छ सौ बलीयसी।—ऊ.का. वि०—अनिश्चित। उ०—स्वइच्छ सिच्छ सूर वे **अनिच्छ** ऊंघते नहीं। —ऊ.का.

अनिच्छा–सं०स्त्री०—इच्छा का अभाव।

अनित्य–वि० [सं०] १ वह जो खुद कार्य रूप हो तथा जिसका कारण कोई हो, अर्थात् जो सदैव एक सा न रहे, जैसे संसार। उ०—ए संसार **अनित्य** आदि सविकार उचारै।—रा.रू. २ जो स्वयं कारण रूप हो और कार्य रूप न हो, असत्य, झूठा। उ०—निरवांण नित्य अंतर **अनित्य**।—ऊ.का. ३ विनाशी, अस्थायी, नश्वर, नाशवान।

अनित्यता–सं०स्त्री० [सं०] नश्वरता, अस्थिरता।

अनित्यवाद–सं०पु० [सं०] प्रत्येक पदार्थ को क्षणिक और नश्वर मानने तथा किसी पदार्थ को शाश्वत और नित्य न मानने वाला सिद्धान्त।

अनित्यवादी–सं०पु०—१ अनित्यवाद के सिद्धान्त का समर्थक. २ इस सिद्धान्त के समर्थक एक प्रकार के बौद्ध।

अनिप–सं०पु० [सं०] सेनापति।

अनिपुण–वि० [सं०अ+निपुण] जो निपुण न हो, अपटु।

अनिपुणता–सं०स्त्री० [सं०] अपटुता, अदक्षता।

अनिबंध, अनिबंधी–वि०—स्वतंत्र, देखो 'अनमंध'।

अनिमंध—देखो 'अनमंध'। उ०—करि अवस देस कमंध, महि मेळ दळ **अनिमंध**।—रा.रू.

अनिमंधी–वि०—स्वतंत्र, वीर, देखो 'अनमंध'। उ०—आरहियौ ईखवा साह दरगह सकबंधी, हैं गै दळ हल्लिया मिळै अणकळ **अनिमंधी**। —रा.रू.

अनुज्ज-सं०पु० (स्त्री० अनुज्जा) देखो 'अनुज' (रू.भे.)

अनुताप-सं०पु० [सं०] १ तपन, दाह, जलन. २ दुःख, रंज. ३ अफसोस, पछतावा। उ०—रजपूती पाताळ में गई जिणरी अनुताप आप रै बदळै ओरानूं आवै।—वं.भा.

अनुद्यमी-वि० [सं०] आलसी, उद्यमरहित।

अनुद्रुत-सं०पु० [सं०] संगीत के अनुसार ताल का एक भेद विशेष।

अनुधावण, अनुधावन-सं०पु० [सं० अनुधावन] १ अनुसरण, अनुकरण, नकल. २ अनुसंधान।

अनुनय-सं०पु० [सं०] विनय, विनती, प्रार्थना, विनम्रकथन।

अनुप-वि० [सं०] अनुपम, अतुल्य।

अनुपकारी-वि० [सं०] अहितकारी, अनुपकारक।

अनुपम-वि० [सं०] अनोखा, बेजोड़, अतुल्य, उपमारहित।

अनुपमता-सं०स्त्री० [सं०] अनुपम होना, बेजोड़पन।

अनुपयुक्त-वि० [सं० अन्+उपयुक्त] जो उपयुक्त न हो, अयोग्य, असंगत, अनुचित।

अनुपांन-सं०पु० [सं० अनुपान] औषधि के साथ या ऊपर से खाई जाने वाली वस्तु।

अनुपात-सं०पु० [सं०] तीन दी हुई संख्या के द्वारा चौथी संख्या को जानने की एक त्रैराशिक क्रिया (गणित)

अनुपातक-सं०पु० [सं०] बड़ा भारी पाप, ब्रह्महत्या के समान माने जाने वाले पाप।

अनुपादक-सं०पु० [सं०] आकाश से भी सूक्ष्म एक प्रकार का तत्व (तंत्र)

अनुप्रास-सं०पु० [सं०] एक प्रकार का शब्दालंकार विशेष जिसमें किसी पद का एक ही अक्षर बारबार आता है, वर्णावृत्ति—इसमें स्वरसाम्य होना आवश्यक नहीं अपितु केवल वर्ण-समानता ही मुख्य है।

अनुबंध-सं०पु० [सं०] १ बंधन, लगाव. २ व्याकरण के अनुसार वह इत्संज्ञक सांकेतिक वर्ण जो प्रत्यय का लोप होने वाला हो और जो गुण-वृद्धि आदि के लिये उपयोगी हो। ३ देखो 'अणुबंध'।

अनुभय, अनुभव-सं०पु० [सं० अनुभव] १ वह ज्ञान जो साक्षात करने से प्राप्त हो, परीक्षा से प्राप्त ज्ञान, तजरबा। उ०—सिव सक्ति सीम, अनुभव असीम, सिद्धान्त सार, नित निराकार।—ऊ.का.

२ समझ, ज्ञान।

अनुभवणो, अनुभववो-क्रि०अ०—अनुभव करना।

अनुभवी-वि० [सं० अनुभविन्] जिसे अनुभव हो, तजरबाकार, जानकार।

अनुभाव-सं०पु० [सं०] १ महिमा, बड़ाई. २ काव्य में रस के अंतर्गत एक अंग जिससे रस का बोध होता हो।

अनुभावी-वि० [सं० अनुभाविन्] देखो 'अनुभवी'।

अनुभूत-वि० [सं०] १ जिसका अनुभव या साक्षात ज्ञान हो चुका हो. २ परीक्षित, निश्चित। उ०—अर अगया रौ संवाद अनुभूत करि फौज में पाछा पधारण रौ निदेस लगायौ।—वं.भा.

अनुभूति-सं०स्त्री० [सं०] अनुभव, परिज्ञान, बोध।

अनुमत, अनुमति-सं०स्त्री० [सं० अनुमति] १ आज्ञा, हुक्म, सम्मति. २ वह पूर्णिमा जिसमें चंद्रमा पूर्ण कलायुक्त न हो अर्थात् वह पूर्णिमा जिस दिन चतुर्दशी का योग हो।

अनुमरण-सं०पु० [सं०] सहमरण, सती होना, एक साथ मरना।

अनुमांन-सं०पु० [सं० अनुमान] १ अटकल, अंदाजा. २ न्याय के चार प्रमाण भेदों में से एक, तर्क, हेतु के द्वारा निर्णय, विचार, कल्पना। देखो 'अनुमिति' (२)।

क्रि०वि०—अनुसार। उ०—तिहां परमेस्वर की गुणानुवाद आपणि मति के सारै स्रम कीधा विण केम सरै। बुद्धि कै अनुमांन कह्यौ चाहिजै।—वेलि.टी.

अनुमित-वि० [सं०] अनुमानित, अंदाजा किया हुआ।

अनुमिति-सं०स्त्री० [सं०] १ अनुमति, आज्ञा, स्वीकृति।

[सं० अनुमान] २ नवीन न्याय के अन्तर्गत प्रमाण के चार भेदों में से एक जिसमें प्रत्यक्ष साधन के द्वारा अप्रत्यक्ष अर्थात किसी अन्य वस्तु का अनुमान किया जाय. ३ अनुमान अंदाजा। उ०—मरजाद सर सर सरिति अनुमिति छूटि जात अछेहयं।—रा.रू.

अनुमोदक-वि०—अनुमोदन करने वाला, समर्थक।

अनुमोदन-सं०पु० [सं०] १ प्रसन्नता का प्रकाशन. २ समर्थन, प्रसन्नतापूर्वक स्वीकृति। उ०—कीधौ दुल्लह कंवर मिरा छकियै अनुमोदन।—वं.भा.

अनुमोदित-वि० [सं०] जिसका अनुमोदन कर दिया गया हो, समर्थित। उ०—मोरां अनुमोदित लोरां लड़ लागी, नीझर नवनीरद भमरां भव भागी।—ऊ.का.

अनुयायी-वि० [सं०] अनुगामी, अनुकरण करने वाला, पीछे चलने वाला।

सं०पु०—१ सेवक, अनुचर. २ शिष्य, अनुवर्ती।

अनुयोजन-सं०पु० [सं०] पूछने की क्रिया, जिज्ञासा, प्रश्न (डिं.को.)

अनुरंजण-सं०पु० [सं०] १ अनुराग, प्रीति. २ मनोरंजन।

अनुरक्त, अनुरत, अनुरति-वि०—अनुरागयुक्त, आसक्त, लीन, रत।

अनुराग-सं०पु० [सं०] १ आसक्ति, प्रेम, प्यार, मोह. २ रति, संभोग. ३ प्रशंसा. ४ हल्की लालिमा।

अनुरागी-वि० [सं० अनुरागिन्] (स्त्री० अनुरागणी) अनुराग रखने वाला, प्रेमी, अनुरक्त। उ०—रे जाया ! धन थारी बुध लाल. रांम अनुरागणी के हा।—मी.रां.

अनुराग्य-सं०पु०—देखो 'अनुराग'। उ०—अभ्यासी वैराग्य प्रनत अनुराग्य व्रत्ति वधें।—ऊ.का.

अनुराधा-सं०स्त्री०—सत्ताईस नक्षत्रों के अंतर्गत सत्रहवां नक्षत्र जिसमे सात तारे होते है।

अनुरूप-वि० [सं०] १ सदृश, समान रूप का, एक सा. २ उपयुक्त. ३ अनुकूल।

अनुरूपक-सं०पु० [सं०] सदृश वस्तु, प्रतिमूर्ति।

सं०पु०—१ विष्णु. २ जीव. ३ माया. ४ सेनापति।

अनीस्वर–वि० [सं० अनिश्वर] ईश्वर-भिन्न, नास्तिक।
सं०पु०—देखो 'अनीस'।

अनीह–वि० [सं०] १ इच्छा न रखने वाला, निर्लोभ, निष्काम. २ निश्चेष्ट, आलसी, बोदा।
सं०पु०—समय, वक्त।

अनुंद्यमी–वि०—देखो 'अन्युद्यमी'। उ०—करै प्रळाप जाप कै त्रताप में अनुंद्यमीं।—ऊ.का.

अनु–उपसर्ग—शब्दों के पूर्व लगने वाला एक उपसर्ग जो निम्नलिखित अर्थ देता है—पीछे, सह, सादृश्य, प्रत्येक, बारंबार, अनुसार, अधीन, समीप, आदि।
अव्यय—हाँ, ठीक।
क्रि०वि०—अब, आगे।
(रू.भे.–अणु)

अनुकंपा–सं०स्त्री०—१ दया, कृपा, अनुग्रह। उ०—तिणसौं दस गुणी सरीरसुख, दस गुणौं द्रविण दे दे'र वै भी सभ अवंती रै अधीस अनुकंपा में गहिया।—वं.भा.
२ सहानुभूति, करुणा।

अनुकथण–सं०पु० [सं० अनुकथन] १ वह कथन जो किसी के कहने के बाद कहा जाय. २ पारस्परिक वार्त्तालाप. ३ अनुकूल कथन. ४ पुनरुक्ति कथन।

अनुकरण–सं०पु० [सं०] १ देखादेखी कार्य, नकल, प्रतिरूपकरण, अनुरूप या सदृशकरण. २ वह जो पीछे उत्पन्न हो या आवे।
क्रि०प्र०—करणौ।

अनुकरणीय–वि० [सं०] अनुकरण करने के योग्य।

अनुकरता–सं०पु० [सं० अनुकर्त्ता] अनुकरण या नकल करने वाला।

अनुकार–वि०—बराबर, उपमा, सदृश, तुल्य, समान (वं.भा.)
उ०—जरै दोही सामंतां रा अहंकार रै ऊफांण भद्रकाळी रा कटाक्ष रै अनुकार चंद्रहासां रा संपात छूटिया।—वं.भा.
सं०पु०—देखो 'अनुकरण'।

अनुकूळ–वि० [सं० अनुकूल] १ मुआफिक, अनुसार। उ०—रति अनुकूळ विलास घणां रळियामणां। भीसग दीसै इंद्र लिवूं हूँ भाँमणां।—बाँ.दा.
२ प्रसन्न. ३ तरफदार।
सं०पु०—वह नायक जो एक ही विवाहिता स्त्री में अनुरक्त हो।

अनुकूळता–सं०स्त्री० [सं० अनुकूलता] पक्षपात, तरफदारी, विरुद्ध न होने का भाव. २ प्रसन्नता. ३ सहायता।

अनुकूळा–सं०स्त्री०—एक प्रकार का छंद विशेष जिसमें प्रथम एक भगण, एक तगण और एक नगण के पश्चात् अन्त में दो गुरु होते है। (पिंगळ)

अनुकोस–सं०पु० [सं० अनुक्रोश] कृपा, दया (अ.मा.)

अनुक्रम–सं०पु० [सं०] १ क्रमानुसार, सिलसिला, परिपाटी।
उ०—कही अनुक्रम सूं कथा, बिच वाराह पुरांण।—बाँ.दा.
२ यथाक्रम, आनुपूर्वी। उ०—रवि किरण अनुक्रम रेख, बाधंत तेज विसेख।—रा.रू.

अनुक्रमणिका, अनुक्रमणीका–सं०स्त्री० [सं० अनुक्रमणिका] १ क्रम, सिलसिला. २ सूची, फेहरिस्त, तालिका।

अनुक्रमणौ, अनुक्रमबौ–क्रि०अ० [सं० अनुक्रम] अनुक्रम से होना, क्रमवार होना। उ०—जग सीत प्रगटत पंथ चख जग अगनि दिसि असि अनुक्रमे।—रा.रू.

अनुक्रमि–क्रि०वि०—अनुक्रम से। उ०—दिन रात सम तुल रासि दिनकर सरकि अनुक्रमि सरवरी।—रा.रू.
सं०पु०—देखो 'अनुक्रम'।

अनुग–वि० [सं०] १ अनुयायी, अनुगामी. २ अनुकूल, मुआफिक।
सं०पु०—१ सेवक, दास, अनुचर (अ.मा.) (ह.नां.)
उ०—अर प्रभात हुवां केई गरभवती पत्नी आपरा अनुगांनूं काठां चाढण रौ निदेस दे'र धणी रा अंचळ हूँ अंचळ जोडियौ।—वं.भा.
२ पीछे चलने वाला। उ०—असुभ चले कौ अनुग मूतरौ भाई मोटौ।—ऊ.का.

अनुगत–सं०पु० [सं०] १ सेवक, अनुचर, नौकर। उ०—अग्रज रा आदेस रै अनुसार अब भावी रा भरोसा मैं भ्रम देखि प्राचीरापति सुजासाह ४०/२ रै नूं तजि आपरै देस आइ अनुगत भाव दिखाइ संभर सिरोमणि सत्रुसाळ रा पगां मैं प्रणांम कीधौ।—वं.भा.
२ गीत के साथ धीरे २ ताल वाद्य का वादन (संगीत)

अनुगमण–सं०पु० [सं० अनुगमन] १ पीछे चलना, अनुसरण, समान आचरण. २ स्त्री का सती होना, सहगमन।

अनुगांमी–वि० [सं० अनुगामी] पीछे चलने वाला, अनुगमन करने वाला, अनुयायी, सहकारी, अनुवर्त्ती। उ०—सब इण रा अनुगांमी रै। ब्रह्मा विष्णु महेस्वर इणनै नित ही कहै नमांमि रै।—गी.रां.

अनुग्या, अग्गिनुया–सं०स्त्री० [सं० अनुज्ञा] आज्ञा, हुक्म।
उ०—निकांम आंम भांम कौ अनुग्गिया भजै नहीं।—ऊ.का.

अनुग्रह–सं०पु० [सं०] १ कृपा, दया, अनिष्ट-निवारण, करुणा. २ प्रसन्नता।

अनुग्राहक–वि० [सं०] अनुग्रह करने वाला, कृपालु, दयालु, उपकारी।

अनुचर–सं०पु० [सं०] १ दास, नौकर, सेवक। उ०—तथापि साहस रै साथ असूया रै अनुचर आपरौ ही आदेस प्रवळ मांनियौ।—वं.भा.
२ अनुयायी, अनुगामी।

अनुचित–वि० [सं०] जो उचित न हो, नामुनासिब, बुरा, अयोग्य, नीतिविरुद्ध।

अनुज–वि० [सं०] (स्त्री० अनुजा) पीछे उत्पन्न होने वाला।
सं०पु०—छोटा भाई (ह.नां.)

अनुजीवी–वि० [सं०] १ पराधीन. २ आश्रित।
सं०पु०—दास, सेवक, नौकर।

अनूप-वि० [सं०] १ सुंदर, मनोहर। उ०—'लांबै' सर पांणी भरै गौरी गात अनूप, ज्यां आगै पांणी भरै रंभ अलौकिक रूप। —बां.दा.
२ अद्वितीय, अनुपम। उ०—अलख अजोनी आतमा, अचळ अनूप अनंत, तू मारै तारै तुही, भले भले भगवंत। —ऊ.का.
३ बढ़िया, अच्छा। उ०—यां आद विखै चांपा अनूप, भुज गयण धरै पण वयण भूप।—रा.रू.
सं०पु० [सं०] १ जल-प्लावित या सजल प्रांत। [सं० अनुपज] २ उपज का अभाव, फसल का मारा जाना [रा०] ३ डिंगल के चौरासी छंदों में से एक छंद विशेष (क.कु.बो.) ४ ग्यारह वर्णों का एक प्रकार का वर्णिक छंद विशेष जिसमें तीन यगण होते हैं और अंत में लघु गुरु होता है। (ल.पि.)

अनूपजथा-सं०स्त्री० [सं० अनूप+जथा-रा०] राजस्थानी गीत (छंद) रचना का एक नियम विशेष जिसमें गीत (छंद) की गति अर्थ व ज्ञान में अद्भुत हो एवं जिसका वर्णन निपुण उक्ति से किया जाय। (क.कु.बो.)

अनूपतर-सं०पु०—आम (अ.मा.)

अनूपम-वि० [सं०] अद्वितीय, बेजोड़, निरुपम। उ०—रूप अनूपम मारुवी, सुगुणी नयण सुचंग।—ढो.मा.

अनूपां, अनूपे, अनूपौ-वि०—अनुपम, अद्भुत। उ०—इकां एक वावू अनूपे अनूपां।—रा.रू.

अनूरौ-वि० (सं० अ+फा० नूर) तेजहीन, कांतिहीन।

अनै-अव्यय—और। उ०—पैदळ, घोड़ा, ऊंट अनै कफ, मंडचौ जुध मेदांनी।—ऊ.का.
सं०पु०—आदेश, हुक्म, आज्ञा।

अनेक-वि० [सं०] एक से अधिक, बहुत, अगणित।

अनेकता-सं०स्त्री० [सं०] १ भेद, विभेद, विरोध, मताविक्य. २ अधिकता, बहुलता।

अनेकप-सं०पु० [सं०] हाथी (ह.नां., डि.को.)

अनेकलोचन-सं०पु० [सं०] इंद्र।

अनेकांत-वि० [सं०] १ चंचल. २ जो एकांत न हो।

अनेकांतवाद-सं०पु० [सं०] जैनदर्शन, आर्हतदर्शन।

अनेकारथ-वि०यौ० [सं० अनेक+अर्थ] जिसके बहुत से अर्थ हों।

अनेकारथी-सं०पु०—वह कोश जिसमें एक शब्द के अनेक अर्थ दिये गये हों।

अनेकी-सं०स्त्री० [सं० अ+फा० नेकी] १ बुराई. २ अपकार. ३ अन्याय।

अनेकै-वि० [सं० अनेक] अनेक, बहुत। उ०—अनेकै अनोपै गजै रूप ऐनी।—रा.रू.

अनेड़-वि०—१ निकम्मा. २ टेढ़ा. ३ खराब, बुरा. ४ उद्दंड।

अनेत-वि० [सं० नेति] अंतहीन, नेति। उ०—वहै नेत नेति अनेति वखांणे।—अंगीपुरांण

अनेम-वि० [सं० अ+नियम] नियमरहित, बेकायदा।

अनेर-सर्व०—अन्य, दूसरा। उ०—अकबर उर मैं साल अहाड़ो, ओपणे सेवग भूप अनेर।—पीथौजी आसियौ

अनेरी-वि०—अन्य, दूसरी। उ०—रतड़ियां वहि जाइ, सुणतां सज्जण वत्तड़ी, 'जसा' सु नावै दाइ, कथा अनेरी चित्त मैं।—जसराज

अनेरण-वि०—नहीं झुकने वाला, अजेय।

अनेरौ-सर्व०—अन्य, दूसरा, अपर (मि. अनेर)
(बहु०—अनेरां) उ०—भाप करै सर सूभर भरिया, धरती रूप अनेरां धरिया।—आसौ बारहठ

अनेस-सं०पु० [सं० अ+स्नेह] १ स्नेहरहित. २ घररहित।
उ०—अचाळ अरद्ध अनाळ अनेस, आदेस, आदेस, आदेस, आदेस।
—ह.र.
वि०—अनेक। उ०—मीरां रै प्रभु स्यांम मिळण विण जीवनि जनम अनेस।—मीरां

अनेसी-सं०स्त्री०—खोटी बात, बुरी बात। उ०—करि आज हिंदूनि ऐसी अनेसी, तिहारे रही राज कै पाज कैसी।—ला.रा.

अनेसौ-सं०पु०—संदेह, शक (रू.भे. अणेसौ)
उ०—पव्वनौ नचंदौ दंडदौ प्रवेसं, अठे ऐहरा गम्मएही अनेसौ।
—ना.द.
वि०—देखो 'अनैसौ'।

अनेह-सं०पु० [सं० अ+स्नेह] १ प्रेम या स्नेह का अभाव।
उ०—पण तज देह अवेह पवारी एह अनेह अभावां।—ऊ.का.
२ विरक्ति। उ०—नमौ अणरेह अनेह अनंत।—ह.र.
३ समय, काल (मि० अनेहा) उ०—चहुआंण कन्न कहियौ 'सातूं ही भायां रौ वैर वाळण रा संकळप होय तौ इण संग्राम सवाय वळै किसड़ौ अनेह आवै छै।—वं.भा.

अनेहा-सं०पु० [सं०] समय, काल, अवसर (डि.को.)

अनेही-सं०पु० [सं० अ+स्नेहिन्] वैर रखने वाला, द्वेषी।

अनै-सं०पु० [सं० अनय] अनीति, अन्याय।
अव्यय—१ फिर, पुनः. २ और। उ०—पुरातन प्रीत जिसी हरि पथ। राजा लोमंज अनै दसरथ।—रांमरासौ

अनैस-सं०पु०—देखो 'अनेस'।

अनैसी-वि०—१ अद्भुत, अतुल्य। उ०—साहसूं अवाकी थकै नव साहसां आप बळ भुजा कीन्ही अनैसी।—द्वारकादास दधवाड़ियौ।
२ असमान, बेजोड़। उ०—ऊंचां लूंबां हूंत अनैसी, तर भड़ वळी वहीरां तैसी।—रा.रू. ३ अप्रिय, खराब।
सं०स्त्री०—बुरी बात, देखो 'अनेसी'।

अनैसौ-क्रिवि०—दूर, अपरिचित। उ०—एकंकार ज रहियौ अळगौ, अकबर सरस अनैसौ।—दुरसौ आढ़ौ।
सं०पु०—१ दुःख. २ शक, संदेह।
वि० [सं० अ+स्नेह] १ परवाह न करने वाला, लापरवाह।

अनुरूपता-सं०स्त्री० [सं०] १ समानता. २ अनुकूलता।

अनुरोध-सं०पु० [सं०] १ रुकावट, बाधा. २ प्रेरणा, उत्तेजना. ३ विनयपूर्वक आग्रह।

अनुलोम-सं०पु० [सं०] १ ऊँचे से नीचे आने का काम. २ उतार का सिलसिला. ३ स्वरों का क्रमशः उतार (संगीत), अवरोहण। वि०—सीधा, क्रम से, अविलोम, यथाक्रम।

अनुलोमज-सं०पु० [सं०] उच्चवर्ण के किसी पुरुष का अपने से नीचे वर्ण की स्त्री के विवाह से उत्पन्न संतान।

अनुलोमनी-सं०स्त्री० [सं० अनुलोमन] कब्जियत को दूर करने वाली रेचक या दस्तावर दवा।

अनुलोम विवाह-सं०पु०—उच्च वर्ण के किसी पुरुष का अपने से नीचे वर्ण की स्त्री से किया जाने वाला विवाह।

अनुवाचन-सं०पु० [सं०] विधि के अनुसार यज्ञों में किया जाने वाला मंत्रों का पाठ।

अनुवाद-सं०पु० [सं०] १ पुनरुक्ति, दोहराना. २ भाषांतर, उल्था, तर्जुमा. ३ वाक्य का वह भेद जिसमें कही हुई बात का फिर-फिर कथन हो (न्याय)

अनुवादक-सं०पु० [सं०] अनुवाद करने वाला, भाषान्तरकार।

अनुवादित-वि० [सं०] अनुवाद किया हुआ।

अनुवादी-वि० [सं०] संगीत के अंतर्गत स्वर का एक भेद विशेष जिसकी किसी राग में जरूरत न हो तथा प्रयोग करने से राग अशुद्ध हो जाय।

अनुवासन-सं०पु० [सं० अनुवाशन] १ वस्त्र आदि को सुगंधित रखने का भाव. २ पिचकारी द्वारा किसी तरल औषधि को शरीर में पहुँचाने की क्रिया (सुश्रुत)

अनुसंधान-सं०पु० [सं०] खोज, अन्वेषण।

अनुसयाना-सं०स्त्री० [सं० अनुशयाना] प्रिय के मिलने के स्थान के नष्ट हो जाने से दुःखी नायिका, परकीया नायिका का एक भेद विशेष।

अनुसर, अनुसरण-सं०पु० [सं०] १ पीछे चलना. २ अनुकरण, नकल। उ०—ग्रो हिज नेह निभावण हारौ, इण ही नै अनुसर लै पागलणी।—गी.रां.

अनुसरणौ, अनुसरबौ-क्रि०अ० [सं० अनुसरण] पीछे चलना, अनुसरण करना। उ०—रवि मकरराासि निवास राजत उतर मगहर अनुसरे।
—रा.रू.

अनुसरणहार, हारौ (हारी), अनुसरणियौ-वि०—अनुसरण करने वाला।

अनुसरवाणौ-प्रे०रू०। अनुसराणौ, अनुसरावौ-स.रू.

अनुसरिग्रोड़ौ-अनुसरियोड़ौ-अनुसरयोड़ौ-भू०का०कृ०।

अनुसराणौ, अनुसरावौ-क्रि०स० [सं० अनुसरण] पीछा कराना, अनुसरण कराना।

अनुसराणियौ-वि०—अनुसरण कराने वाला।

अनुसरीजणौ, अनुसरीजबौ-भा०वाच्य०—पीछे चला जाना।

अनुसरीजिग्रोड़ौ, अनुसरीजियोड़ौ-भू०का०कृ०—पीछे चला गया हुआ।

अनुसरियोड़ौ-भू०का०कृ०—अनुसरण किया हुआ। (स्त्री० अनुसरियोड़ी)

अनुसवार-सं०पु० [सं० अनुस्वार] वह अनुनासिक वर्ण या स्वर जो स्वर के पीछे उच्चरित होता हो, स्वर के ऊपर की बिन्दी।

अनुसार-क्रि०वि० [सं० अनु+सृ+घञ्] अनुकूल, सदृश, समान, मुआफिक, अनुरूप। उ०—मत अनुसारै मंछ कह, रचूं गीत कविराज।—र.रू.

अनुसासक-सं०पु० [सं० अनुशासक] १ आज्ञा देने वाला. २ शिक्षक. हकूमत करने वाला।

अनुसासण, अनुसासन-सं०पु० [सं० अनुशासन] १ आज्ञा, आदेश. २ शिक्षा, उपदेश।

अनुसीलन-सं०पु० [सं० अनुशीलन] १ चिंतन, मनन. २ अभ्यास।

अनुस्टप-सं०पु० [सं० अनुष्टुप्] आठ वर्ण के पद वाला एक प्रकार का वर्ण वृत्त विशेष जिसके चारों पदों में पाँचवा वर्ण लघु और छठा वर्ण गुरु हो। सम पदों में सातवाँ वर्ण भी लघु होता है। अन्य वर्णो के लिए कोई विशेष नियम नहीं है। (र.ज.प्र.)

अनुस्टांन-सं०पु० [सं० अनुष्ठान] किसी कार्य-सिद्धि के निमित्त देव विशेष या ग्रह की की जाने वाली पूजा।

अनुस्टुप-सं०पु०—देखो 'अनुस्टप'।

अनुस्ठांन-सं०पु० [सं० अनुष्ठान] देखो 'अनुस्टांन'।

अनुहार-वि० [सं०] १ सदृश, तुल्य, समान। उ०—ध्रुव जित तित टामंक ध्वनि, हुव इत हित अनुहार।—वं.भा.
सं०स्त्री०—२ आकृति, शक्ल।

अनूंतौ-वि० (स्त्री० अनूंती) १ बहुत. २ शैतान, बदमाश. ३ अन्यायी।

अनूकंपा-सं०स्त्री० [सं० अनुकंपा] देखो 'अनुकंपा'।

अनूग्रह-सं०पु० [सं० अनुग्रह] देखो 'अनुग्रह'। उ०—बांकैदास जांणियौ विध विध राज अनूग्रह जंगळराय।—बाँ.दा.

अनूठापण, अनूठापणौ-सं०पु०—१ विचित्रता, विलक्षणता, अनोखापन, २ सुंदरता. ३ स्वच्छता।

अनूठौ-वि० [सं० अनुत्य, प्रा० अनुट्ठ] (स्त्री० अनूठी) १ अनोखा, विचित्र. २ बढ़िया, अच्छा।

अनूढ़-वि०—कुंआरा, अविवाहित। उ०—जिणनूं अनूढ़ सुणि प्रहत जंग 'अग्रलदै' कीधौ भस्म अंग।—वं.भा.

अनूढ़ा-सं०स्त्री० [सं०] किसी पुरुष से प्रेम रखने वाली अविवाहिता स्त्री, एक प्रकार की नायिका (वं.भा.)

अनूढ़ागामी-सं०पु० [सं०] व्यभिचारी, लंपट, वेश्यागामी, अविवाहिता स्त्रियों से व्यभिचार करने वाला।

अनूतौ-वि० (स्त्री० अनूती) देखो 'अनूंतौ' (रू.भे.)

अन्नेक–वि०—देखो 'अनेक'। उ०—एक देस ग्रोछाड़, इसा अन्नेक अणंकळ।—रा.रू.
अन्य–वि० [सं०] दूसरा, ग्रौर, भिन्न, गैर, पराया।
अन्यक्रीत–वि० [सं०] दूसरे का खरीदा हुआ।
अन्यत्र–वि० [सं०] दूसरी जगह।
अन्यथा–वि० [सं०] विपरीत, उलटा, विरुद्ध, असत्य।
 सं०पु०—विपर्यय, भूठ।
 अव्यय—नहीं तो।
अन्यन–वि०—देखो 'अनन्य'।
अन्यपुरुस–सं०पु० [सं० अन्यपुरुष] १ पुरुषवाची सर्वनाम का तीसरा भेद (व्याकरण). २ दूसरा व्यक्ति।
अन्याई–वि० [सं० अन्यायी] अन्याय या अत्याचार करने वाला।
 उ०—पातसाह अणथाह कोप जळ थाह न काई, रतन रूप सुरधरम गिळण हटियौ अन्याई।—रा.रू.
अन्याय–सं०पु० [सं०] १ न्यायविरुद्ध आचरण. २ अनीति, जुल्म, अत्याचार. ३ बेईमानी।
अन्यायी–वि० [सं० अन्यायिन्] अन्याय करने वाला, अत्याचारी, जालिम।
अन्याव–सं०पु० [सं० अन्याय] देखो 'अन्याय'। उ०—तमायची रै सहर में, एक बड़ौ अन्याव। चंगौ माडू मारियौ, पूछै नहीं नियाव।
 —जलाल वूबना री बात
अन्युद्यमी–वि०यौ०—१ दूसरे का उद्यम करने वाला (मि० पैल) २ उद्यम न करने वाला (मि० अनुंद्यमी)
अन्योक्ति–सं०स्त्री० [सं०] वह कथन जिसका अर्थ कही गई वस्तु के अतिरिक्त अन्य वस्तुओं पर घटाया जाय। कई आचार्यो ने इसे अलंकार भी कहा है।
अन्योन्य–सर्व० [सं०] परस्पर, आपस में।
अन्योन्याभाव–सं०पु०यौ० [सं०] वह भाव जिसके अंतर्गत एक वस्तु दूसरी वस्तु नहीं हो सकती।
अन्योन्याश्रय–सं०पु०यौ० [सं०] १ एक दूसरे का परस्पर सहारा. २ सापेक्ष ज्ञान (न्याय)
अन्वय–सं०पु० [सं०] १ परस्पर संबंध. २ संयोग, मेल. ३ कार्य-कारण का संबंध. ४ कविता के शब्दों को गद्य रचना के नियमानुसार यथा स्थान रखने का कार्य।
अन्वेसक–वि० [सं० अन्वेषक] अन्वेषण या खोज करने वाला।
अन्वेसण–सं०पु० [सं० अन्वेषण] अनुसंधान, खोज, तलाश।
अन्हायतर–सं०स्त्री०—शीघ्रता (ह.नां. पाठांतर)
अपंग–वि०—१ अंगहीन. २ लंगड़ा, लूला। उ०—अपंग पंग अंध जिम बैठ जांणतै नहीं।—ऊ.का. ३ अशक्त, असमर्थ, असहाय, बेबस। उ०—'तगत' कौ कियौ तंग 'सज्जन' कौ अरयु संग, कोटापती कौ अपंग 'ऊमर' उचाड़' मैं।—ऊ.का. ४ देखो 'उपंगी' (१)।
अपंथ–सं०पु० [सं० अपथ] १ पथविहीन. २ कुमार्ग, कुपथ। उ०—अघ अपंथ मेट निज पंथ इण उजळै, भूमंडळ तणा हालै सकळ भूप।
 —उम्मेदसिंह सीसोदिया री गीत
 ३ विकट मार्ग, बीहड़ रास्ता।
अपंपर–वि०—अत्यधिक, अगणित, अपार, बहुत। उ०—धणर एक धारणा पारपरमोद अपंपर।—पा.प्र.
 सं०पु० [अपरंपार] १ अनंत. २ विष्णु, ईश्वर, जगदीश्वर।
अप–उप० [सं०] शब्दों के पहले लगने वाला एक उपसर्ग जो उलटा या विरुद्ध का अर्थ देता है।
 सर्व०—आप, अपने। उ०—खरी जिगरिया खांन जिकौ उत्तर अप जोरै, पूरव सादित प्रगट तकौ ऊब ज निज तोरै।—रा.रू.
 सं०पु० [सं० आप] पानी, जल (ह.नां.)
अपअप्प, अपआप–सर्व०—अपनेआप, स्वयं। उ०—शेपन तुड़ कछवाह-कुळ, मिळै आनि अपअप्प।—ला.रा.
अपइण–सर्व०—अपना। उ०—पंच सहेली मिळी धन साथ। चीरी म्हेली धन अपइण हाथ।—वी.दे.
अपकंठ–सं०पु०—बालक (अ.मा.)
अपक–सं०पु० [रा०] जल, पानी।
अपकज–क्रि०वि०—अपने लिए।
अपकरण–सं०पु०—दुराचार, अनिष्ट कार्य।
अपकरता–सं०पु० [सं० अपकर्ता] १ हानिकारक, बुरा करने वाला. २ पापी।
अपकरम–सं०पु० [सं० अपकर्म] दुष्कर्म, कुकर्म।
अपकाजी–वि०—स्वार्थी, खुदगरज, मतलबी।
अपकार–सं०पु० [सं०] १ बुराई. २ हानि, क्षति, अनिष्ट।
 उ०—अपकार उजार गुजार करै, कृपया उपकार अपार करै।
 —ऊ.का.
 ३ निरादर, अपमान।
अपकारक–वि० [सं०] १ विरोधी. २ दुष्कर्मी. ३ हानि पहुंचाने वाला, अपकार करने वाला।
अपकारी–वि० [सं० अपकारिन्] १ हानिकारक, अपकार करने वाला. २ विरोधी, द्वेषी।
अपकीरति, अपकीरती–सं०स्त्री० [सं० अपकीर्ति] अपयश, बदनामी, निंदा, अकीर्ति। उ०—जात जान्यौ जनन पै मनन मुरात जान्यो, व्रत्तहि निवाह्यौ अपकीरति विवाह्यौ नां।—सूरजमल मीसण
अपक्ख–वि० [सं० अ+पक्ष] पक्षरहित, असहाय। उ०—आरांम अजांम अयांम अपक्ख, अठांम अगांम अथांम अलक्ख।—ह.र.
अपकृति–सं०स्त्री० [सं० अपकृति] १ हानि, बुराई. २ अपकार. ३ अपमान।
अपक्षपात–सं०पु० [सं०] न्याय, बिना किसी पक्षपात के, पक्षपातरहित।
अपक्षपाती–वि०—जो किसी प्रकार का पक्षपात न करे, न्यायी।
अपक्षेपण–सं०पु० [सं०] फेंकना, गिराना।

उ०—तेजौ मुकन महावळ तैसा, अरिदळ भांजण प्रांण अनैसा।
—रा.रू.

२ निशंक. ३ बुरा, अप्रिय।

अनोअन, अनोअन्न–सर्व० [सं० अन्योन्य] परस्पर, आपस मे एक दूसरे से।
उ०—१ **अनोअन** मांय तुहाळा अंस, हमें न संदाय छती थयौ हंस।
—ह.र.

उ०—२ खगे अंग तूटै **अनोअन्न** खूटे।—रा.रू.

सं०पु०—एक प्रकार का अलंकार विशेष जिसमें दो वस्तुओं का किसी क्रिया या गुण एक दूसरे के कारण उत्पन्न होना कहा जाय।

अनोकह–सं०पु० [सं० अनोकहः] १ अपना स्थान न छोड़ने वाला, स्थावर. २ वृक्ष, पेड़ (ह.नां.)

अनोकी–वि०—देखो 'अनोखो' का स्त्री० (रू.भे. 'अनोखी')

अनोकुह–सं०पु० [सं० अनोकहः] वृक्ष, पेंड़ (ह.नां.)

अनोख–वि०—देखो 'अनोखो'।

अनोखापण, अनोखापणौ–सं०पु०—१ अनूठापन, निरालापन, विचित्रता. २ सुन्दरता।

अनोखो, अनोखौ–वि० (स्त्री० अनोखी) १ अनूठा, निराला, विलक्षण।
उ०—स्रम थोड़ै वोह नफौ सांपजै, वीसर मती **अनोखी** वात—वाँ.दा.
२ सुंदर।
कहा०—अनोखै हाथ कटोरा आया पांणी पी-पी आफरिया—ओनोखे व्यक्ति को कहीं से कटोरा मिल गया तो वस लगा पानी पीने और पेट फूल आया—मूर्ख अथवा तुच्छ व्यक्ति के लिए, जो कोई नई चीज मिलने पर साधारण वस्तु अथवा अधिकार की प्राप्ति पर इतराने लगता है।

अनोड़–वि०—न रुकने वाला, वीर, योद्धा। उ०—मछरीक 'फतौ' गज घड़ मरोड़, 'अजवेस' लाल पातल **अनोड़**।—रा.रू.

अनोप–वि० [सं० अनुपम] देखो 'अनुपम'। उ०—अगम्भ अछेह उदार **अनोप** अप्रम्म अथाह अगम्म अलोप।—ह.र.

अनोपम–वि०—देखो 'अनुपम'। उ०—चौसट कळा री जांण, बुध-निधांन, अगनयणी इसी **अनोपम** अस्त्री होय तौ म्हांनै परणीजण री खांत छै।—ढो.मा.

अनोपमता–सं०स्त्री० [सं० अनुपमता] अनोखापन, अनुपमता, चमत्कार-युक्त कार्य।

अन्न–सं०पु० [सं०] १ अनाज, धान, खाद्य पदार्थ, पका हुआ अन्न।
कहा०—१ अन्न खावै जिसी डकार आवै—जैसा अन्न खाता है वैसी ही डकार आती है। २ अन्न खावै जिसौ मन्न होवै—भोजन का प्रभाव मन पर अवश्य पड़ता है। ३ अन्न खावै जिसी नीयत हुवै—जैसा अन्न खाया जाता है वैसी ही वुद्धि होती है। ४ अन्न जी रा वाजा नै अन्न जी रा ही गाजा—संसार में सब अन्न की ही माया है, सब अन्न के पीछे दौड़ते हैं। ५ अन्न ज्यांरा पुन्न—पुण्य उसी को प्राप्त होता है जिसका अन्न होता है। ६ अन्न मुक्ता घी जुक्ता—अनाज के अनुपात से घी खाना चाहिए। ७ म्हारे वाप नै अन्न मत मिळजौ, म्हनै वळीता नै मेल देवेला—काम करने के वजाय भूखों मर जाना अच्छा है—आलसी व्यक्ति पर प्रायः कही जाती है। ८ अन्न रौ तौ आखौ ही कोनी, कड़ाव हलावण री वातां करै—अन्न का तो दाना ही नहीं है और वातें वड़ी-वड़ी करता है—व्यर्थ में वड़ी-वड़ी गप्पें मारना।
(रू.भे. अन)
यौ०—अन्नकूट, अन्नछेत्र, अन्नजळ, अन्नपांणी।

अन्नकूट–सं०पु० यौ० [सं०] देखो 'अनकूट'।

अन्नछेत्र–सं०पु०यौ० [सं० अन्नक्षेत्र] देखो 'अनसत्र'।

अन्नजळ–सं०पु० यौ० [सं०] देखो 'अनजळ'।
क्रि०प्र०—करणौ, छोड़णौ, होणौ।

अन्नजी, अन्नजीवाजी–सं०पु०—अनाज, अन्न (व्यंग)

अन्नड़–देखो 'अनड़'।

अन्नणचन्नण–सं०पु० [सं० इंधन+चन्दन] चंदन का ईंधन।
उ०—**अन्नणचन्नण** चिता चिणाई, नारेळां में दाग। आरवार फिर जाट लोटियै, लांपी दियौ लगाय।—डूंगजी जवारजी री पड़

अन्नथा–क्रि०वि० [सं० अन्यथा] देखो 'अन्यथा'।

अन्नदांन–सं०पु०यौ० [सं० अन्नदान] देखो 'अनदांन'।

अन्नदाता–सं०पु०यौ० [सं०] देखो 'अनदाता'।

अन्नदास–सं०पु०यौ० [सं०] देखो 'अनदास'।

अन्नपांणी–सं०पु०यौ० [सं० अन्न+रा० पांणी] अन्नजल, दानापानी, आवोदाना।

अन्नपूरण, अन्नपूरणा–सं०स्त्री० [सं० अन्नपूर्णा] १ देखो 'अनपूरणा'. २ श्री वरवड़ी देवी का दूसरा नाम।

अन्नप्रतग्या, अन्नप्रतन्या–सं०स्त्री० [सं० अन्न+प्रतिज्ञा] भोजन न करने की प्रतिज्ञा। उ०—वतइ भणइ पहिला घाउ ले सूं, **अन्नप्रतन्या** लीघी।—कां.दे.प्र.।

अन्नप्रासन–सं०पु०यौ० [सं० अन्नप्राशन] पहिलेपहल वच्चों को अन्न चटाने का एक संस्कार विशेष।

अन्नमयकोस–सं०पु०यौ० [सं० अन्नमयकोश] अन्न से निर्मित त्वचा से लेकर वीर्य्य तक का समुदाय। पंचकोशों में से प्रथम (वेदांत)

अन्नल, अन्नला–सं०स्त्री०—देखो 'अनल'। उ०—देवी **अन्नला** रूप आकास भम्मै, देवी मानवां रूप म्रतलोक रम्मै।—देवि.

अन्नसत्र–सं०पु०यौ० [सं०] भूखों को भोजन देने का स्थान।

अन्नसन–सं०पु० [सं० अनशन] देखो 'अनसन'।

अन्नाद–वि० [सं० अनादि] देखो 'अनादि'। उ०—देवी आद **अन्नाद** ओंकार वाणी।—देवि.

अन्नाहत–सं०पु०—देखो 'अनाहत'। उ०—उअंकार **अन्नाहत** अक्खर, सिद्धि वुद्धि दै सारद गुणेसर।—रा.जे.सी.

अन्निवंध–वि०—देखो 'अनमंद'।

अपटाव-सं०स्त्री०—रोग, बिमारी (ह.नां.)
अपटी-सं०स्त्री० [सं०] १ वस्त्र. २ आवरण. ३ तंबू, शामियाना।
अपटु-वि० [सं०] १ जो दक्ष या निपुण न हो, अकुशल, अचतुर. २ निर्बुद्धि. ३ रोगी, सुस्त, आलसी (डि.को.)
अपटुता-सं०स्त्री० [सं०] कुशलता या दक्षता का अभाव।
अपठ-वि० [सं०] १ जो पढ़ा हुआ न हो, अनपढ़. २ मूर्ख।
अपड-वि०—१ अजेय, वीर (द.दा.) २ देखो 'अपढ़'।
अपढ़-वि० [सं० अपठ] १ जो पढ़ा हुआ न हो, अनपढ़। उ०—प्रणमूं एक आव पढ़ै अपढ़ै—ऊ.का.। २ मूर्ख।
अपण-सर्व०—अपना। उ०—करि किरपा प्रतिपाळ मौ परि, रखौ न अपण देस।—मीरां
अपणउ-सर्व० (प्रा०प्र०) अपना, निजका।
अपणाइत, अपणाई-सं०स्त्री०—देखो 'अपणायत'।
अपणाणौ, अपणावौ-क्रि०स०—१ ग्रहण करना. २ अपने अनुकूल करना, अपनी ओर करना, अपना बनाना। उ०—म्हांनै दीन जन जांण अपणाय लीजौ। कै मनसा रै माफक ही वणाय दीजौ।
—गी.रां.

३ अपने अधिकार में करना। उ०—अजमल नवकोटी अपणाई।
—रा.रू.

४ सहारा देना. ५ संबंध जोड़ना, वश करना।
उ०—अपणायौ अपणोह पुरुस कद होय परायौ।—ऊ.का.
अपणाणहार-हारौ (हारी)-वि०—अपनाने वाला।
अपणाओड़ौ, अपणायोड़ौ-भू०का०कृ०।
अपणावणौ, अपणाववौ-रू.भे.।
अपणात-सं०स्त्री०—देखो 'अपणायत'।
अपणापण, अपणापन, अपणापौ,-सं०पु० (स्त्री० अपणायत) अपनापन, आत्मीयता, अपनत्व, भाईचारा, ममत्व। उ०—गोमती फीस पड़ी अर बमका भरती बोली—दुख अपणायत री ईज आवै है।—वरसगांठ
क्रि०प्र०—करणी, छोड़णी, तोड़णी, राखणी, होणी।
अपणायोड़ौ-भू०का०कृ०—अपनाया हुआ।
(स्त्री० अपणायोड़ी)
अपणावणौ, अपणाववौ-क्रि०स०—देखो 'अपणाणौ'।
उ०—हालां फालां होवसी, सीहां लत्थीवत्थ। घर पैलां अपणावसी, कै अपणौ घर हत्थ।—हा.झा.
अपणी-सर्व०—'अपणौ' का स्त्रीलिंग रूप, अपनी, खुद की।
कहा०—अपणी करणी पार उतरणी—कार्य के अनुसार फल मिलता है। करनी का फल भोगना ही पड़ता है।
अपणूं-सर्व०—अपना, खुद का। उ०—नासै दूव्है निलज ग्वास अपणूं घर खोवै।—ऊ.का.
अपणेस-सं०स्त्री०—ममत्व, अपनापन।
अपणै-सर्व०—अपना।
अपणौ-सर्व० [सं० आत्मन्, प्रा० अत्तणो, अप० अप्पणो] (स्त्री० अपणी) अपना, निज का, स्वकीय। उ०—ऊंट टाट खावै न अा, अपणौ जांण अभाग।
—ऊ.का.

सं०पु०—आत्मीय, स्वजन।
क्रि०स०—देखो 'आपणौ'।
अपतंत्र-सं०पु०—एक प्रकार का वात रोग जिससे शरीर टेढ़ा हो जाता है। (अमरत)
अपत-वि० [सं० अ+पत्र] १ पत्र या पत्तों से हीन, आच्छादनरहित, नग्न। उ०—वचन नृपति अविवेक, सुण छोड़ै सेणा मिनख। अपत हुवां तर एक, रहै न पंछी राजिया।—किरपारांम [सं०अपात्र] २ अधम, नीच। उ०—मांनै कर निज मीच, पर संपत देखै अपत। निपट दुखी व्है नीच, रीसां वळ-वळ राजिया।—किरपारांम [सं०अ+पत=लज्जा] ३ निर्लज्ज। उ०—नरक नै कमर बांधी, निठुर घिरै न किणरा घेरिया। अमलियां हूंत इधका अपत, हूकावारी हेरिया।—ऊ.का. ४ अविश्वासी. [रा०] ५ कायर, कमजोर नपुंसक। उ०—ना नारी ना नाह, अधविचला दीसै अपत। काज सरै ना काय, रांडोलां सूं राजिया—किरपारांम ६ विरुद्ध. ७ पतनोन्मुख। उ०—आगै खत्री अपत नसां कस हुअगा नांमी, कहां उगूणी कोर जाय आंथूणी जांमी।—ऊ.का.
सं०पु० [सं० अपत्य] १ पुत्र, संतान, औलाद. [रा०] २ आग, अग्नि (अ.मा.). ३ अप्रतिष्ठा। उ०—उरड़ अकुळाय आघा पड़ै आय अत। पड़ावै माजनू लाजनू खो अपत।—ऊ.का.
अपतर-वि०—१ नीच, पतित. २ कृतघ्नी।
सं०स्त्री०—बिना कृषि कार्य में उपयोग ली हुई भूमि, वह भूमि जो जोती न गई हो।
अपताई-सं०स्त्री०—१ निर्लज्जता. २ नीचता।
अपतानक-सं०पु० [सं०] स्त्रियों के गर्भपात से होने वाला एक रोग विशेष। (अमरत)
अपताप-सं०पु० [फा० आफताब] सूर्य्य।
वि०—नीच।
अपति-सं०स्त्री० [सं०] १ अग्नि, आग (अ.मा.) २ देखो 'अपती'।
वि०—१ कृतघ्न. २ पापी।
अपतियारौ-सं०पु०—अविश्वास।
अपतियौ-सं०पु०—१ जिसकी प्रतिष्ठा न हो, अविश्वस्त मनुष्य. २ नीच।
अपती-वि० [सं० अ+पति] १ विधवा, पतिविहीना।
[सं० अ+पत्ति=गति] २ पापी, दुष्ट, दुराचारी। उ०—धाड़ा वाड़ायत लूटणनै धावै, अपती कुळ हीणा कूटण नै आवै।
—ऊ.का.

३ प्रमादी. ४ कायर. ५ कृतघ्न. ६ आततायी।
सं०स्त्री० [सं० आपत्ति] १ दुर्गति, दुर्दशा. २ अनादर. ३ आपत्ति. ४ अग्नि, आग (नां.मा.)

अपगा–सं०स्त्री० [सं०] नदी, सरिता। उ०—अपटै **अपगा** ज्यूं हो, भभकै स्रोण धार आड़ा। मारवाड़ा हकी हकै वकै मार-मार।
—हुकमीचंद खिड़ियौ

अपगौ–वि० (स्त्री०अपगी) १ देखो 'अपंग'. २ लँगड़ा. ३ जिसके पैर न हो. ४ अविश्वासपात्र।

अपघात–सं०स्त्री० [सं०] १ हत्या, हिंसा. २ धोखा. ३ आत्महत्या, खुदकुशी। उ०—रैण अंधारी विरह घेरा, तारा गिणत निस जात। ले कटारी कंठ चीरूं, करूंगी **अपघात**।—मीरां

अपघातक, अपघाती–वि०—१ हिंसक. २ विश्वासघाती. ३ आत्म-हत्या करने वाला।

अपड़णौ, अपड़बौ–क्रि० स०—१ पकड़ना। उ०—एहड़ी सुणै माहा-राज कहियौ उठै। **अपड़** खीची उरौ भेज दीजौ अठै।—जसजी आढ़ौ २ रोकना, थामना. ३ बंदी करना. ४ दौड़ने, चलने या किसी और बात में बढ़े हुए के बराबर हो जाना।

अपड़णहार-हारौ(हारी), अपड़णियौ–वि०—पकड़ने वाला।

अपड़चोड़ौ–भू०का०कृ०—पकड़ा हुआ। **अपड़वाणौ**–प्रे.रू.–पकड़वाना।

अपड़वायोड़ौ–भू०का०कृ०—पकड़ाया हुआ।

अपड़ाणौ, अपड़ावौ, अपड़ावणौ, अपड़ावबौ–स०रू०।

अपड़िओड़ौ, अपड़ियोड़ौ, अपड़चोड़ौ–भू०काकृ०—पकड़ा हुआ।

अपड़ीजणौ, अपड़ीजबौ–कर्म वा०।

अपड़ीजियोड़ौ–भू०का०कृ०—पकड़ा गया हुआ।

अपड़ाणौ, अपड़ावौ–क्रि०स०—पकड़ाना।

अपड़ाणियौ–वि०—पकड़ाने वाला।

अपड़ाओड़ौ, अपड़ायोड़ौ–पकड़ाया हुआ।

अपड़ावणौ, अपड़ावबौ–रू.भे.

अपड़ायोड़ौ–भू०का०कृ०—पकड़ाया हुआ (स्त्री० अपड़ायोड़ी)

अपड़ावणौ, अपड़ावबौ–क्रि०स०—देखो 'अपड़ाणौ'।

अपड़ियोड़ौ–भू०का०कृ०—पकड़ा हुआ (स्त्री० अपड़ियोड़ी)

अपड़ीजणौ, अपड़ीजबौ–क्रि० कर्म वा०—पकड़ा जाना।

अपड़ीजिओड़ौ, अपड़ीजियोड़ौ–भू०का०कृ०—पकड़ा गया हुआ।

अपड़ीजियोड़ौ–भू०का०कृ०—पकड़ा गया हुआ, रोका गया हुआ। (स्त्री० अपड़ीजियोड़ी)

अपच–सं०पु० [सं०] १ अजीर्ण, कुपच, वदहजमी. [सं० अपथ्य] २ जो पथ्य न हो, वद-परहेज, अपथ्य।

अपचय–सं०पु० [सं०] संहार, नाश। उ०—सय पय हृदय **अपचय** कटय भट स्मय निचय हय गय मार हीन सुमार।—वं.भा.

अपचाल–सं०पु०—खोटाई, बुरी चाल।

अपचित–वि०—पूजित (डि.को.)

अपची–सं०स्त्री० [सं०] कंठमाला रोग का एक भेद विशेष—इसमें कंठ-माला की गाँठें स्थान-स्थान पर फोड़े होकर फूटने लगती हैं (अमरत)

अपचौ–सं०पु० [सं० अपच] अपच, वदहजमी। उ०—दमंगळ विण **अपचौ** दियण, वीर धणी री धांन।—वी.स.

अपच्छर–सं०स्त्री० [सं० अप्सरा] अप्सरा, देखो 'अपछरा'। उ०—खित हूर **अपच्छर** वीद खटै, किरमाळ वहै वरमाळ कटै।—रा.रू.

अपच्छरलोक–सं०पु० [सं० अप्सरा+लोक] वह लोक जहाँ वीर गति प्राप्त वीरों के साथ अप्सरायें रमण करती हों।

अपछर–सं०स्त्री० [सं० अप्सरा] १ देखो 'अपछरा'। उ०—रथै वैठौ कमंध मनां पूरै रळी। वरै **अपछर** कहर सुरग वसियौ।
—वीठल गोपाळदास रौ गीत

[अं० ऑफिसर] २ अफसर।

अपछररई–वि०—अप्सरा के समान, अप्सरा के तुल्य। उ०—मारुवणी पिंगळ सुधू **अपछररइ** उणिहार। वाळपणइ परणी पछइ भूल न कीन्ही सार।—ढो.मा.

अपछरलोक–सं०पु० [सं० अप्सरा+लोक] देखो 'अपच्छरलोक'।

अपछरवर–सं०पु० [सं० अप्सरा+वर] १ इन्द्र. २ योद्धा, वीर (ह.नां.)

अपछरा–सं०स्त्री० [सं० अप्सरा] १ अप्सरा, परी। उ०—पड़ै सोक सांमळां, सूर पड़ियां घमसांणां। पड़ै झणण जांझरां, वरण **अपछरां** विमांणां।—वखतौ खिड़ियौ।

पर्याय०—उरव्वसी, उरवसी, खी, घ्रताची, घ्रतायची, तिलतांम, त्रिलोचना, निरतंत, परी, पुरी, वारंग, मंजूघोसा, मेनक, मैनका, रंभ, सुकेसी, सुरगवेसां, सुरवेस्या, हूर।

(रू.भे.—अच्छर, अछर, अछरा, अछरी, अपछर, अपछरा)

अपजय–सं०स्त्री० [सं०] पराजय, हार।

अपजस–सं०पु० [सं० अपयश] अयश, अकीर्ति, निंदा। उ०—जाहर जस खुसवोह जुत, सुदता कुसम सुसोह। कांटा सूं भूंडौ क्रपण, वप **अपजस** वदवोह।—वाँ.दा.

वि०—कृष्णवर्ण, काला॥ (डि.को.)

अपजससोर–सं०पु०—अपकीर्ति का फैलना।

अपजोग–सं०पु० [सं० अपयोग] कुयोग, बुरा समय।

उ०—अपसकुन भयेउ आद्यांत एक, **अपजोग** पराजय के अनेक।
—ला.रा.

अपजोर–सं०पु०—अपना खुद का जोर, अपनी शक्ति। उ०—लोर वर इंद्र जिम कठठ फौजां लंगर वीर **अपजोर** वर गुमर वाँकै।
—वखतौ खिड़ियौ

अपजोरो, अपजोरौ–वि०—१ स्वतन्त्र रहने वाला. २ मनमानी करने वाला. ३ अपने वल हीं पर निर्भर रहने वाला।

अपट–वि०—वहुत, अधिक, अपार। उ०—दे दरसण दीनांह अनधन रिध-निध घ्रित **अपट**।—पा.प्र.

सं०पु० [सं० अ+पटक=वस्त्र] दिगंवर, नंगा।

अपटणौ, अपटबौ–क्रि०अ०—मर्यादा या हद से वाहर होना, उमड़ना। उ०—**अपटै** अपगा ज्यूं ही भभकै स्रोण धार आड़ा, मारवाड़ा हकी हकै वकै मार-मार।—हुकमीचंद खिड़ियौ

अपटां–वि०—वहुत, अधिक।

अपरावीड़ौ–वि०—देखो 'अपरावी' (अल्पा.)

अपरावीन–वि० [सं०] स्वाधीन, जो पराधीन न हो।

अपरिग्रह–सं०पु० [सं०] १ अस्वीकार. २ धन का त्याग. ३ मोह-त्याग (जैन)

अपरोगौ–वि०पु० [देश०] (स्त्री० अपरोगी) डरावना, भयंकर। उ०—आनिन अपरोगेह 'जींदै' नै मारै जिसी।—पा.प्र. २ अजनबी, अपरिचित. ३ मन न मिलाने वाला, हिलमिल कर नहीं रहने वाला, अनभिज्ञ, परहेज वाला, रूखी प्रकृति वाला।

अपळंग–वि०—निर्बल, अशक्त, असमर्थ।

अपल–वि०—बहुत, अत्यधिक, बेहद। उ०—कमठा गुण खाग खरा कनिया अपलां छक पायक ऊससिया।—पा.प्र.

सं०पु०—१ दातार, देने वाला (ह.नां.) २ योद्धा, वीर। उ०—'हरिभांण' ऊपरा तुरी मेल्हियौ अपलां जळा-वोळ जूटियौ, वीच घूमरां मुगल्लां—वखतौ खिड़ियौ।

अपलखणौ–वि० [अपलक्षण+ई-रा०प्र०] अपलक्षणधारी, बुरे लक्षण वाला।

अपलच्छ, अपलच्छण–सं०पु० [सं० अपलक्षण] कुलक्षण, बुरा चिन्ह, अवगुण। उ०—इतने अपलच्छ असंतन के, सुणिए अब लच्छण संतन के।—ऊ.का.

अपलांणियौ,अपलांणौ–सं०पु०—वह ऊंट जिस पर चारजामा कसा हुआ न हो।

अपलाप–सं०पु० [सं०] मिथ्यावाद, बकवाद, वाग्जाल।

अपल्ल–वि०—देखो 'अपल'। उ०—रीवौ माथां रेणवां जस गायां जेहल्ल। भारांणी वायां भरै आयां दिए अपल्ल।—बां.दा.

अपवरग, अपवरग्ग–सं०पु० [सं० अपवर्ग] १ मोक्ष, निर्वाण, मुक्ति। उ०—त्रिवरगा नां स्वरगा नहिन अपवरगा दिक तर्के।—ऊ.का.

२ त्याग, दान. ३ एक स्वर्ग का नाम (नां.मा.)

अपवरजित–वि० [सं० अपवर्जित] त्यागा हुआ।

अपवस–वि०—अपने वश का।

अपवाद–सं०पु० [सं०] १ अपकीर्ति. २ दोष, पाप. ३ वह नियम जो साधारण नियम के या व्यापक नियम के विरुद्ध हो।

अपवादक, अपवादी–वि० [सं०] खंडन करने वाला, अपवादकारक।

अपवार–सं०स्त्री०—अत्यधिक कार्य।

अपवाहक–वि० [सं०] एक स्थान से दूसरे स्थान को ले जाने वाला।

अपवाहुक–सं०पु० [सं०] वायु के प्रकोप से होने वाला एक रोग जिसमें बाहु की नसें मारी जाती हैं (अमरत)

अपवितर, अपवित्र–वि० [सं० अपवित्र] अशुद्ध, अशौच, जो पवित्र न हो।

अपवित्रता–सं०स्त्री० [सं०] अशुद्धि, नापाकी।

अपव्यय–सं०पु० [सं०] निरर्थक व्यय, फजूलखर्ची।

अपस–सं०पु०—१ अपस्मार, मृगी नामक एक प्रकार का रोग. २ डिंगल गीतों के अंतर्गत एक दोष जहाँ दृष्टिकूट पद योजना हो और उनका अर्थ साफ-साफ नहीं झलकता हो. ३ कार्य करने में असमर्थ व्यक्ति। [सं० अ=खराब+पशु] ४ कुत्सित पशु, गधा। उ०—करहउ कूड़इ मनि थकइ, पग राखीयउ जांण। ऊकरड़ी डोका चुगइ, अपस डँभायउ आंण।—ढो.मा.

वि०—सुस्त, आलसी।

अपसकुन, अपसगन, अपसगुन–सं०पु० [सं० अपशकुन] बुरा शकुन, अशुभ-सूचक चिन्ह, अमंगल लक्षण।

अपसद्दन–वि० [सं० अपशद] नीच, अधम। उ०—चतुरंगनि ठेलि खद्दन की, जुध संगरची अपसद्दन की।—ला.रा.

अपसब्द–सं०पु० [सं० अपशब्द] बुरा या अश्लील शब्द, दूषित शब्द, कुवाक्य।

अपसर–सं०स्त्री० [सं० अप्सरा] १ देवांगना, अप्सरा. २ एक देव जाति (अ.मा., नां.मा.) [अं० ऑफिसर] ३ देखो 'अफसर'।

अपसरा–सं०स्त्री०—देखो 'अपछरा'। उ०—किन्नर गंध्रव गुण गण गावै, निपुण अपसरा नाच रही।—गी.रां.

अपसवारथौ–वि०—खुदगर्जी, मतलबी।

अपसांण–सं०पु०यौ०—अपशकुन, बुरे शकुन। उ०—तुर आठ झलै सह झंप तटै, अपसांण हुवा चख देख उठै।—पा.प्र.

अपसूकन–सं०पु० [सं० अपशकुन] अपशकुन, बुरे शकुन। उ०—डावउ करेवउ कर करइ। महा अपसूकन होज्यौ ए भुवाळ।—वी.दे.

अपसोस–सं०पु० [फा० अफसोस] १ शोक, रंज, दुःख. २ पछतावा, पश्चात्ताप। उ०—तोस पोस ओस मारु काय अपसोस कोस, हाय दारु तेरे दोस कहांलौं पुकारूं मैं।—ऊ.का.

अपसोसणौ, अपसोसबौ–क्रि०स०—चिंता या अफसोस करना, रंज करना।

अपस्मार–सं०पु० [सं०] एक प्रकार का रोग विशेष जिसकी उत्पत्ति चिंता, शोक और भय के कारण कुपित त्रिदोष से मानी जाती है (वैद्यक)

अपस्मारी–वि०—अपस्मार रोग से ग्रस्त।

सं०स्त्री०—अपस्मार रोग।

अपहड़–सं०पु०—१ दातार, दानवीर, उदार पुरुष। उ०—वड दाता पातां वडां अपहड़ पूरै आस। मोताहळ हंसां मिळै पावासर रै पास। २ योद्धा, वीर. ३ राजा. ४ चित्त में ग्लानि या कायरता न लाने वाला, अप्रतिहत। उ०—क्यूं नह सूको कवर मैं, हातम हंदी हत्थ। हातम ले उण हत्थ सूं, अपहड़ वांटी अत्थ—बां.दा.

वि०—१ अजेय. २ पूर्ण. ३ जो धोखा न दे। उ०—अपहड़ अयग अरेह, जिको विनड़ियौ वरवतौ।—पहाड़ खां आढ़ौ

अपहरण–सं०पु० [सं०] १ लूट, छीनने का कार्य. २ छिपाव।

अपहरणौ, अपहरबौ–क्रि०स० [सं० अपहरण] छीनना, ले लेना, लूटना, चुराना, अपहरण करना।

अपहरता, अपहारी–सं०पु० [सं० अपहर्ता, अपहारिन्] अपहरण करने वाला।

अपहास–सं०पु० [सं०] उपहास, अकारण हँसी-मजाक, दिल्लगी, निंदा

अपथ–सं०पु० [सं०] १ पथविहीन, कुमार्ग। (यौ० अपथगामी, अपथचारी) २ कुपथ्य।
क्रि०प्र०—करणौ।

अपथगामी–सं०पु०यौ० [सं०] कुमार्गी, दुराचारी।

अपथचारी–सं०पु० [सं०] कुमार्गी, दुराचारी।

अपथ्य–सं०पु० [सं०] कुपथ (वि०वि०–देखो 'कुपथ्य')

अपद–सं०पु० [सं०] १ बिना पैर के रेंगने वाले जीव-जन्तु [सं० आपद] २ आपदा, विपत्ति।
वि० [सं०] १ पदरहित, पंगु. २ कर्मच्युत. ३ पैदल, बिना सवारी।
क्रि०वि०—अनुचित रूप से।

अपदत, अपदत्त–वि०—अपना दिया हुआ। उ०—हय फेरहि कछवाह धर, जीति करहि अपदत्त।—ला.रा.

अपधन–सं०पु०—अवयव, देहांग (डि.को.)

अपधांतस–सं०पु०—चंद्रमा (नां.मा.)

अपध्यांन–सं०पु०—चंद्रमा (अ.मा.)

अपध्वंस–सं०पु० [सं० अपध्वंश] १ अधःपतन. २ अपमान, अप्रतिष्ठा. ३ नाश।

अपनांम–सं०पु० [सं० अपनाम] बदनामी, निंदा, शिकायत।

अपनासण–सं०पु०—योग के चौरासी आसनों के अंतर्गत एक आसन जिसमें स्वस्तिकासन की तरह बैठकर दोनों हाथों के पंजों का मूल भाग जांघ के मूल में जोर से लगा कर शरीर को सीधा रखकर बैठना होता है। इससे अपानवायु का ऊर्ध्वभाग में आकर्षण होता है।

अपबरजन–सं०पु०—दान, उत्सर्ग (डि.को.)

अपबाहुक–सं०पु०—देखो 'अवबाहुक'।

अपभ्रंस–सं०स्त्री० [सं० अपभ्रंश] प्राकृत भाषा का वह विकृत रूप जिससे पुरानी राजस्थानी व हिंदी निकली है। एक भाषा विशेष।

अपभ्रंसी–सं०पु० [सं० अपभ्रंश] अपभ्रंश भाषा।
वि०—अपभ्रंश भाषा का, अपभ्रंश भाषा संबंधी।

अपमपर–वि०—जिसकी महिमा अपार हो।

अपमल, अपमल्लौ–वि०—१ मतवाला, मस्त. २ उद्दंड।

अपमांन–सं०पु० [सं० अपमान] अनादर, तिरस्कार, अवहेलना, दुत्कार (डि.को.)

अपमांनी–वि० [सं० अपमानिन्] निरादर या तिरस्कार करने वाला।

अपमारग–सं०पु० [सं० अपमार्ग] कुमार्ग।

अपरंच–अव्यय [सं०] और भी, पुनः।

अपरंपर–सं०पु०—ईश्वर। उ०—उदर पवित्र करिस अपरंपर, चरणाअ्रत तौ धरै चक्रधर।—ह.र.

अपरंपार–वि० [सं० अपरं+रा० पार] अपार, असीम, बेहद।

अपरंमपरू–सं०पु०—महादेव, शिव (अं०पु०)

अपर–वि० [सं०] १ इतर, अन्य, दूसरा, भिन्न. २ पूर्व का, पहिला, जो दूसरा न हो. ३ पिछला [रा०] ४ अपार। उ०—चालंत. कोट पयंपै चूंडो, ऐ पुरसातन तणा अपर।—चूंडा रौ गीत

अपरचन–वि०—गुप्त।

अपरचौ–सं०पु०—अविश्वास। उ०—ताहरां कुंवर हंसियो—थांनै हरदांन रौ अपरचौ पड़ियौ।—पलक दरियाव री बात

अपरण–सं०स्त्री० [सं० अपर्णा] गिरिजा, पार्वती (अ.मा.)

अपरणा–सं०स्त्री० [सं० अपर्णा] १ पार्वती, उमा (ह.नां.) २ देवी, दुर्गा (क.कु.बो.)
वि० [सं० अ+पर्णा] पर्ण या पत्र से रहित, पत्रविहीना।

अपरतो, अपरतौ–सं०पु०—१ स्वार्थ, बेईमानी. २ अविश्वास, शंका। कहा०—ओछा ठाकर नैं मुजरां रौ अपरतौ—छिछला आदमी सदा अभिवादन का ही भूखा रहता है।

अपरपक्ष–सं०पु० [सं०] १ कृष्ण पक्ष. २ प्रतिवादी।

अपरबळ–वि० १ बलवान, प्रचंड, शक्तिशाली।
उ०—कूंभा कांपळियारै घोड़ी एक निपट अपरबळ छै।—नैणसी
२ दूसरे का बल. ३ पराये बल पर आश्रित, जिसे दूसरे का बल या सहारा प्राप्त हो।

अपरम्म–सं०पु०—देखो 'अपंपर'। उ०—नमौ अपरम्म नमौ अखिलेस।—ह.र.

अपरलोक–सं०पु० [सं० अपर+लोक] परलोक, स्वर्ग, ऊर्ध्वलोक।

अपरवळ–वि०—देखो 'अपरबळ'।

अपरस–वि० [सं० अ+स्पर्श] १ जिसे किसी ने न छुआ हो. २ न छूने योग्य, अस्पर्श्य। उ०—महि सुई खट मास प्रात जळ मंजै, आप अपरस अरु जित इन्द्री।—वेलि. ३ पवित्र, शुद्ध उ०—सनांन कर अपरस होय गोविंद रौ दरसण कियौ—वां.दा.
सं०पु०—१ अछूत, शूद्र. २ हथेली और तलुओं का एक चर्मरोग।

अपरांठौ–वि०—पीठ फेर कर बैठने वाला. देखो 'अपूठो'।
क्रि०वि०—पीठ पीछे।

अपरा–सं०स्त्री० [सं०] १ अन्य प्रकार की विद्या जो अध्यात्म या ब्रह्म विद्या के अतिरिक्त हैं, लौकिक विद्या. २ पश्चिम दिशा।

अपरा एकादसी–सं०स्त्री०—ज्येष्ठ कृष्ण पक्ष की एकादशी।

अपराजित–वि० [सं०] १ विजयी. २ जो जीता न जा सके, अजेय।
सं०पु०—१ विष्णु. २ शिव।

अपराजिता–सं०स्त्री० [सं०] १ विष्णुकांता लता. २ दुर्गा. ३ कोयल।

अपराद, अपराध–सं०पु० [सं० अपराध] १ दोष, कसूर, जुर्म, चूक, गलती. २ अन्याय, अनीति।

अपराधक–सं०पु०—देखो 'अपराध' (डि.को.)

अपराधी–सं०पु० [सं०] (स्त्री० अपराधण, अपराधणि) कसूरवार, अपराध करने वाला। उ०—१ जन हरिदास निद्रा अपराधणि, गंगतरंग दिखावै।—ह.पु. २ मेछां अपराधियां मारणौ, भलां सेवगां आवै भाव।—वां.दा.

अपूरणभूत–सं०पु० [सं० अपूर्णभूत] क्रिया में भूतकाल का वह रूप जिसमें क्रिया की समाप्ति न पाई जाय (व्याकरण)
अपूरणौ, अपूरवौ–क्रि०स०—१ कम करना. २ पूर्ण करना.
क्रि०अ०—३ कम होना। उ०—श्रीरँग तणौ प्रताप इम, वर प्रगटचौ निरधार। हिंदू धरम अपूरियौ, भ्रम पूरियौ सँसार।—रा.रू.
अपूरणहार-हारौ (हारी), अपूरणियौ–वि०—कम करने वाला।
अपूरिओड़ौ-अपूरियोड़ौ-अपूरचोड़ौ—कम किया हुआ।
अपूरीजणौ-अपूरीजवौ—भाव वा०।
अपूरब, अपूरव–वि० [सं० अपूर्व] १ विलक्षण, अनोखा. २ अपूर्व।
उ०—तरै पिंगळ राजा बोलियौ, थे अतरा सहर दीठा छै त्यां मांहै कोई अपूरब वस्त दीठी होय सु कही।—ढो.मा.
३ उत्तम, श्रेष्ठ। उ०—देखै भवदरियाव, रची पगां सूं श्रीरमण। नरां अपूरव नाव, नाविक विण निरभर नदी।—बां.दा.
४ अपूर्ण, जो पूरा न हो. ५ पूर्व जन्म का, पहिले का।
उ०—पुनि पुन्य उदै भय पूरव के उघरे उर अंक अपूरव के—ऊ.का.
अपूरवता–सं०स्त्री० [सं० अपूर्वता] विलक्षणता, अनोखापन।
अपूरवरूप–सं०पु० [सं० अपूर्वरूप] पूर्व गुण की प्राप्ति का निषेध करने वाला एक काव्यालंकार।
अपूरवी–वि० [सं० अपूर्व+ई रा०प्र०] —अद्‌भुत, विलक्षण।
अपूरियोड़ौ–वि०—कम किया हुआ (स्त्री० अपूरियोड़ी)
अपूरीजणौ, अपूरीजवौ–क्रि०भाव वा०—अपूर्ण होना, कम होना।
देखो 'अपूरणौ'।
अपूरीजियोड़ौ–भू०का०कृ०—१ जो कम हो गया हो. २ कम किया हुआ। (स्त्री० अपूरीजियोड़ी)
अपेक्षा–सं०स्त्री० [सं०] १ आकांक्षा, अभिलाषा, इच्छा।
उ०—जिण जार री पण चित्त अनंगसेना री अपेक्षा करि एक बार विलासिनी मैं विसेस करि आसक्त रहै तिणनूं इण जाय दीधौ।—वं.भा. २ बनिस्बत, तुलना, मुकाबिला।
अपेक्षित–वि० [सं०] इच्छित, अभिलषित।
अपेय–वि० [सं० अ+पेय] न पीने योग्य। उ०—जरैं अपेय अचळ जळ जाणैं, तोड़ै अरर मुच्छ कर ताणैं।—वं.भा.
अपेल–वि०—अटल, स्थिर।
अपैठ–वि० [सं० अप्रविष्ट, पा० अपविट्ठ, प्रा० अपइट्ठ] १ दुर्गम, अगम।
सं०स्त्री०—अविश्वास।
अपोढ़ी–सं०उ०लिं० [रा० अ+पोढ़ी=शयन] निद्रा से जाग्रत होने की क्रिया।
अपोचणौ, अपोचियौ–वि०पु० (स्त्री० अपोचण, अपोचणी) परिश्रम करने की शक्ति से हीन, अशक्त, निर्बल।
अपोचौ–वि०पु०—अशक्त, असमर्थ, परिश्रम करने की शक्ति से हीन।
अप्प, अप्पण–सर्व०—अपना (रू.भे.)। उ०—शेषन तुट्ट कछवाह-कुळ, मिळै आंखि अप अप्प।—ना.रा.
अप्पणूं–सर्व० [सं० आत्मनो, प्रा० अत्तणो, अप० अप्पणो] निज का, अपना, स्वकीय। उ०—अप्पणूं बायोड़ी नव बीज न ऊगौ।—ऊ.का.
अप्पणै–सर्व०—अपने।
अप्पणौ–सर्व० [सं० आत्मनो, प्रा० अत्तणो, अप० अप्पणो] अपना।
अप्पणी, अप्पवौ–क्रि०स० [सं० अर्पण] देना, अर्पण करना।
उ०—काट कँकाळी अप्पियौ, कीधौ देव अदेव।—बां.दा.
अप्पनू–सर्व०—अपना। उ०—अप्पनू पोत करिए न उदोत।—ऊ.का.
अप्परमांण–सं०पु० [सं० अप्रमाण] अप्रमाण, अनिदर्शन, अदृष्टान्त।
वि० [रा०] १ जो प्रमाण न हो, प्रमाणाभाव. २ अपार, असीम, बेहद।
अप्पलांणियौ, अप्पलांणियोड़ौ, अप्पलांणौ–वि०—बिना चारजामा कसा हुआ ऊँट। उ०—अही नाथियौ पोयणीनाळ आणै, असवार आपै हुवै अप्पलांणै।—ना.द.
अप्पवासी–वि०—गुप्त रूप से रहने वाला।
सं०पु०—जलजंतु।
अप्पित्त–सं०स्त्री०—अग्नि। उ०—छुवंतां भळै ओभळै आप छाया, जिकै अंबु अप्पित्त के वायु जाया।—वं.भा.
अप्रंपर–वि०—अपार, अथाह। उ०—परम धरम कर जमण अप्रंपर, आयौ थांन जिहांन उजागर।—रा.रू.
अप्रंप्रम–सं०पु०—अप्रमेय, परब्रह्म, ईश्वर। उ०—अकळ अजन्म अलेख अप्रंप्रम, क्रम मम कटै तूझ कथतां क्रम।—ह.र.
वि०—बहुत।
अप्रकास–सं०पु० [सं० अ+प्रकाश] १ अंधकार. २ अज्ञान।
वि०—छिपा हुआ, गुप्त, अप्रकट। उ०—मिरचै मुहकम मारियौ कर छळ मिळ अप्रकास।—रा.रू.
अप्रकासित–वि० [सं० अप्रकाशित] १ गुप्त, छिपा हुआ.
२ जो प्रकाशित न हो, तिमिराच्छन्न।
क्रि०प्र०—करणौ-होणौ।
अप्रकास्य–वि० [सं० अप्रकाश्य] जो प्रकट करने योग्य न हो, गोप्य।
अप्रखर–वि० [सं०] मृदु, कोमल।
अप्रगल्भ–वि० [सं०] १ जो प्रौढ़ न हो. २ अपरिपक्व।
३ ढीला, सुस्त।
अप्रछन–वि०—१ गुप्त, अप्रकट। उ०—गढ़वांरी ली गाय, अप्रछन खीची आयनै।—पा.प्र. [सं० अ+प्रच्छन्न] २ प्रकट, जो प्रच्छन्न न हो. ३ दुष्ट।
अप्रजौ–वि०—अपार बल वाला। उ०—भांण मांण भजै ऊठियौ अप्रजै।—रा.रू.
अप्रतिग्रहण–सं०पु० [सं०] किसी वस्तु को ग्रहण न करना।
अप्रतिबंध–सं०पु० [सं०] स्वच्छंदता।
अप्रतिभ–वि० [सं०] १ प्रतिभाशून्य. २ चेष्टाहीन, उदास, स्फूर्ति-शून्य, सुस्त. ३ लज्जित। उ०—बूंदी रा नरेस हम्मीर री सासू

ठट्ठा। उ०—सिव सिव सुत हिमगिरसुता, विसनु दिवाकर वंद, अव कायर अपहास री, रचना रचूं अमंद।—वां.दा.

अपह्नुति—सं०स्त्री० [सं०] उपमेय का निषेध करके उपमान का स्थापन करने का एक काव्यालंकार।

अपांग—सं०स्त्री० [सं० आपगा] नदी।

सं०पु० [सं०] आँख की कोर, कटाक्ष। उ०—**अपांग** लोल गोलती इलोल में उठै नही।—ऊ.का.

वि०—अंगहीन, लूला-लंगड़ा।

अपांण—सं०पु०—वल, शक्ति। उ०—विदेही तणौ दिवांण, ईस चाप धरे आंण। तोड़वा अनेक तांण, ऊठिया करे **अपांण**।—र.रू.

वि० [सं० अ+पाणि] १ विना हाथ का [रा०] २ विना कलप लगा हुआ. ३ अशक्त. ४ वह पशु जो पूर्ण अघाया हुआ न हो।

अपांणे—सर्व०—अपने (रू.भे.)

अपांन—सं०पु० [सं० अपान] १ दस या पांच प्राणों में से एक, वह गुदास्थ वायु जो मल-मूत्र को वाहर निकालता है, तालु से पीठ तथा गुदा से उपस्थ तक व्याप्त वायु, गुदा में रहने वाली पवन. २ गुदा।

अपांनवायु—सं०स्त्री०यौ० [सं० अपानवायु] गुदा मार्ग में से निकलने वाली वायु, पाद।

अपा—वि०—दूर, पास या निकट का उल्टा, दूर होना।

उ०—जिकौ धोकवा काज जावै जमातां। **अपा** पाप थावै वजै सिद्ध आतां।—मे.म.

सं०स्त्री० [रा०] १ गर्व. २ आत्मभाव।

अपाटव—सं०पु० [सं०] १ अपटुता, अनिपुणता, वोदापन (डिं.को.) २ मूर्खता. ३ रोग।

अपात्र—वि० [सं०] कुपात्र, अयोग्य, मूर्ख।

अपादांन—सं०पु० [सं० अपादान] व्याकरण में एक कारक जिससे एक पदार्थ से दूसरे पदार्थ की क्रिया का आरंभ सूचित हो, जिससे किसी पदार्थ का किसी दूसरे पदार्थ से पृथकता प्रकट की जाय।

अपाप—सं०पु० [सं० अ+पाप] पुण्य, जो पाप न हो।

वि०—निष्कलंक, पापरहित।

अपामारग—सं०पु० [सं० अपामार्ग] चिचड़ा नामक एक झाड़ी जो औपधियों में प्रयुक्त होती है। (अमरत)

अपायत—वि०—वलवान, शक्तिशाली।

अपार—वि० [सं०] १ सीमा-रहित, अनंत, असीम, वेहद, अतिशय, अत्यधिक. २ दूर, जो नजदीक न हो। उ०—तव मिवाव उर तापियौ, फिर थापियौ विचार। अरज लिखी अवरंग सूं मोसूं पंथ **अपार**।—रा.रू.

अपारण—वि०—देखो 'अपार' (१) उ०—धूप अगर दीपक सुभ धारण, अन देवां घन सेव **अपारण**—रा.रू.

अपराथ—वि० [सं० अपार्थ] अर्थहीन, निरर्थक, व्यर्थ।

अपारांय, अपारां—वि०—अनेक, एक से अधिक, वहुत। उ०—कर मूछ धरे खग केत करे, धजराज **अपारांय** वीच धरै।—रा.रू.

अपारै—वि०—देखो 'अपार' (१) उ०—आखड विगत हुय सुचित सांभळ उमा, अगम परब्रह्म गुण गत **अपारै**।—र.रू.

अपाल—वि०—१ नहीं रुकने वाला। उ०—अठी दिखणाद दिसा 'अजमाल', प्रळै किर सागर मील **अपाल**।—रा.रू.

२ रोकने वाला। उ०—इते विचवाळी सूर **अपाल** मिणधर आयौ रावळ 'माल'।—गो.रू.

अपाळ—वि०—१ जिसका कोई पालन करने वाला न हो. २ विना पालन किया हुआ। उ०—अवाळ अव्रद्ध अकाळ अक्रम्म, **अपाळ** अलद्ध अभाळ अभ्रम्म।—ह.र.

अपाळौ—वि०—१ पैदल नहीं चलने वाला. २ अश्वारोही. ३ पैदल। उ०—वीर हाक वापरै, रीठ वाजियौ **अपाळां**।—वखतौ खिड़ियौ

अपावन—वि० [सं०] अपवित्र, अशुद्ध, मलिन। उ०—गळ मुंडमाळ मसांण ग्रह, संग पिसाच समाज। पावन तुझ प्रभाव सूं, संभू **अपावन** आज।—वां.दा.

अपाहिज—वि० [सं० अपभंज, प्रा० अपहंज] १ जिसका कोई अंग अपूर्ण या अशक्त हो. २ लूला-लंगड़ा. ३ असमर्थ, अशक्त, आलसी।

अपी—सं०पु०—सूर्य (डिं.को.)

अपीत—वि० [सं० अ+पीत] जो पीले रंग का न हो। उ०—अरत्त **अपीत** असेत असेस।—ह.र.

अपीतजा—सं०स्त्री०—अग्नि।

अपीधां—वि०—विना पिये हुए, तृषित, प्यासा।

अपील—सं०स्त्री० [अं०] विचारार्थ की गई प्रार्थना।

क्रि०प्र०—करणी-होणी।

अपीलांट—सं०पु० [अं० अपेलेंट] अपील करने वाला व्यक्ति।

अपीली—वि० [अं० अपील] अपील संवंधी।

अपुत्र—वि०पु० [सं० अ+पुत्र] सन्तानरहित, निर्वंश।

अपुत्री—वि० [सं० अ+पुत्र+ई रा०प्र०] १ वह जिसके पुत्री न हो, पुत्रीहीन. २ देखो 'अपुत्र'।

अपुनीत—वि० [सं०] अपवित्र, अशुद्ध, दूपित।

अपूठ—वि० [रा०] १ उल्टा, पीछे, पीठ की ओर का. २ अप्रसन्न।

अपूठो, अपूठौ—वि० [सं० अपृष्ठ] (स्त्री० अपूठी) १ पीठ घुमा कर, पीठ पीछे, उलटा, विमुख। उ०—कोई निंदौ कोई विंदौं, मैं चलूंगी चाल **अपूठी**।—मीरां २ देखो 'अफूटी'। (रू.भे.)

अपूणौ—वि०—पूर्ण, पूरा।

अपूत—वि० [सं० अपूत्र] १ पुत्रहीन. २ कुपुत्र, कपूत [सं०] ३ अशुद्ध, अपवित्र।

अपूर—वि० पूरा, भरपूर।

अपूरण—वि० [सं० अपूर्ण] कम होने वाला, जो पूर्ण न हो, अधूरा।

अपूरणता—सं०स्त्री० [सं० अपूर्णता] अधूरापन, कमी।

अफर–सं०स्त्री०—१ पृष्ठ भाग, पीठ । उ०—**अफर** खळां आंगरा नर अवरां, दीठौ जिकां बिलागौ दोख—तेजसी खिड़ियौ ।
२ शत्रुता, द्वेष । उ०—उदीयासींघ लियरा आगाहठ इहगां सूं मांडी **अफर** ।—दुरसौ आढ़ौ
वि०—१ वापस न मुड़ने वाला, न हारने वाला. २ नहीं फाड़ा जाने वाला ।

अफरांठौ–वि०—पीठ फेर कर या पीठ घुमा कर खड़ा या बैठा हुआ ।

अफरा–सं०स्त्री०—बड़ी सेना । उ०—**अफरा** पारंभ वाळा डिगै सीस सेस आळा ।—प्रभूदान मोतीसर

अफरास्याव–सं०पु० [फा० आफर्सयाव] फारस देश का बादशाह ।

अफरी–वि०स्त्री०—१ न मुड़ने वाली, पीछे न हटने वाली.
२ जबरदस्त, शक्तिशाली. ३ अधिक ।
सं०स्त्री०—फौज, सेना ।

अफरीदी–सं०स्त्री०—पेशावर की उत्तरी पहाड़ियों में रहने वाले पठानों की एक जाति ।

अफरूंटौ–वि०—देखो 'अफरांठौ' ।

अफल–वि० [सं०] फलहीन, विना फल का, निष्फल ।

अफलातू, अफलातून–वि०—१ बहुत अधिक अभिमान करने वाला.
२ बेपरवाह. ३ बहुत, अधिक, असीम.
सं०पु०—प्रसिद्ध दार्शनिक प्लेटो का एक अरबी नाम ।

अफवा, अफवाह–सं०स्त्री० [अ० अफवाह] झूठी खबर, उड़ती खबर ।

अफवाज–सं०स्त्री० [अ०] १ वीरता । २ फौज (फौज का बहु०)
उ०—अई चीतगढ़ ऊधरा, सकल गढ़ां सिरताज । तूं जूनौ परणै नवी असुरांरी **अफवाज** ।—बां.दा.

अफसर–सं०पु० [अं० ऑफिसर] अधिकारी, प्रधान कर्मचारी ।

अफसरी–सं०स्त्री०—प्रधानता, हुकूमत, अधिकार ।

अफसोस–सं०पु० [फा०] रंज, दुःख, शोक ।

अफारौ–वि०—१ अधिक, बहुत । उ०—चारै सहस ऊपना बारै, आवै मारग कोप **अफारै**—रा.रू. । २ शक्तिशाली, बहादुर. ३ क्रोध से भरा हुआ, क्रुद्ध । उ०—कर्मेंदां थांन हुवौ हलकारौ, उरा दिस आयो जवन **अफारौ** ।—रा.रू. ४ भयानक, भयंकर ।
उ०—कळ्काळ चोखूंट आज फैलियौ **अफारौ** । ३ शक्तिशाली, जबरदस्त, तेज । उ०—दक्खरा हसनअली दुरपारौ आगळ सूरां सैद **अफारौ** ।—रा.रू. ५ अपार, विस्तृत । उ०—देख मुगल अबदल्ल, फौज अरााचल्ल **अफारौ** ।—रा.रू.

अफाळणौ, अफाळबौ–क्रि०स०—१ देखो 'आफळणौ' (स.रू.)
२ तेजी से चलाना । उ०—दळनाथ हल्लै पंच देस दिसि अस 'धीर' **अफाळिय** कोस असी ।—गो.रू.

अफीण, अफीम–सं०स्त्री० [सं० अहिफेन, अ० अफयून, पु० ओपियन, अं० ओपियम] पोस्त के डोंड़ का गोंद जो कड़ुआ, मादक और विषैला होता है ।

अफीमची, अफीमी–वि०—अफीम खाने का स्वभाव वाला ।

अफुल्ल–वि० [सं०] १ विना फूला या खिला हुआ, अविकसित, उदास.
२ पुष्परहित ।

अफूटौ, अफूठौ–वि० (स्त्री० अफूटी) १ पीठ फेरने का भाव, पीठ पीछे का, विरुद्ध दिशा की ओर मुंह किए हुए. २ विरुद्ध । उ०—अणी मिळै अरि मुड़ै **अफूटा**—रा.रू. ३ उल्टा । उ०—अई कळा भोपाळ थारा नखत आज रै दिली भुज लाज रै दुखत दावै । सायजादा बेहुं कर साज रै **अफूटा** राज रै कनै आवै ।—हुकमीचन्द खिड़ियौ ।
क्रि०वि०—त्वरायुक्त, शीघ्र ।
उ०—राजा री रजपूतांणी नै मोटियार पीपड़ **अफूटा** आया ।
—जैतसी ऊदावत री बात

अफेर, अफेरौ–वि०—नहीं फिरने वाला, योद्धा । उ०—'सोनंग' 'दोलौ' मेड़तै, आसतखां अजमेर । जैतारण साहब्बदी, बेल अजीम **अफेर** ।
—रा.रू. ।

अफौ–सं०पु०—एक प्रकार का कंटीला क्षुप ।

अबंक–वि० [सं० अ+वक्र] सरल, सीधा, सादा, वक्रतारहित ।
उ०—बुंदी कोटो बीकपुर, सारा भूप **अबंक** । राज दिखावै हीरणता, ज्यां वन खावै रंक ।—रा.रू.

अबंद–वि० [सं० अबंध] बंधनरहित, प्रतिबंधहीन, मुक्त । उ०—बंळाकारी कांमां रा **अबंदां** देरा बंद ।—बखतौ खिड़ियौ

अब–क्रि०वि०—अभी, इस समय, इस क्षण (डि.को.) । अव्यय—तदुपरांत, तत्पश्चात् ।

अबक–वि० (सं० अ+वच्) अकथ्य, न कहने योग्य । उ०—राखौ आगै रसरा रै, राघव नांम रसाळ । मुख मांझल आंणौ मती, गिरणौ **अबक** ज्यूं गाळ ।—बां.दा.

अबकली, अबकलै—१ इस बार. २ दूसरी बार । उ०—आयगी ऊंची ? **अबकलै** तौ लदियोड़ै ऊंठ ऊपर छेकड़लौ तिणखोई समझौ ।
—बरसगांठ

अबकाई–सं०स्त्री०—१ कठिनता, मुश्किल, कष्ट, तकलीफ. २ अड़चन, आपत्ति. ३ रजोदर्शन (स्त्रियां)

अबकी–क्रि०वि०—१ इस बार. २ दूसरी या अगली दफा ।
वि०—देखो 'अबकौ' ।

अबकै, अबकै–क्रि०वि०—१ इस बार. २ दूसरी या अगली दफा ।
उ०—साह दिलासा मोकळी, झूठी आसा धार । तूं मेरै सबकै सिरै, **अबकै** आवै मार ।—रा.रू.

अबकौ–वि० (स्त्री० अबकी) टेढ़ा, मुश्किल, कठिन, दुरूह ।

अबखाई–सं०स्त्री०—देखो 'अबकाई' (रू.भे.)

अबखो, अबखौ–सं०पु० (स्त्री० अबखी) कठिन, मुश्किल, कष्ट, संकट, आपत्ति (डि.को.) उ०—यतनी कहा आंरा वरणी **अबखौ** ।
—पा.प्र.
वि०—बुरा, दुखमय, दुरूह, कठिन, जैसे 'अबखी वेळा' ।

मंडोउर ही द्विजांनूं देण री जगाइ आपरा अप्रतिभ तनुज नूं तरजियौ।—वं.भा.

अप्रतिम–वि० [सं०] अद्वितीय, बेजोड़, जिसके समान कोई दूसरा न हो।

अप्रतिस्ठ–वि० [सं० अप्रतिष्ठ] जिसकी प्रतिष्ठा न हो, तिरस्कृत।

अप्रतिस्ठा–सं०स्त्री० [सं० अप्रतिष्ठा] अनादर, अपमान, अपकीर्ति।

अप्रतिस्ठित–वि० [सं० अप्रतिष्ठित] जिसकी प्रतिष्ठा न हो, तिरस्कृत।

अप्रतीत–सं०पु०—काव्य रचना का एक दोष। उ०—**अप्रतीत** निज थांन ऊघड़ै, ग्राम्य गंवार वचन मति ग्रेह।—बां.दा.
वि०—अविश्वस्त, विश्वास के अयोग्य।

अप्रत्यक्ष–वि० [सं०] जो प्रत्यक्ष न हो, परोक्ष।

अप्रधांन–वि० [सं० अप्रधान] जो प्रधान न हो, गौण।

अप्रबळ–वि० [सं० अ+प्रबल] बहुत प्रबल, महान पराक्रमी, बलवान।
उ०—हुई मुरद्धर ऊपर हल्लां, महा **अप्रबळ** जोर मुगल्लां।—रा.रू.
सं०पु०—दैत्य (अ.मा.)

अप्रभिसी–सं०स्त्री० [सं० अपभ्रंश] अपभ्रंश भाषा (अ.मा.)

अप्रमांण–स०पु० [सं० अप्रमाण] जो प्रमाण न हो, प्रमाणाभाव, अनिदर्शन, अदृष्टान्त। उ०—विधूंसण जांणक हांणक भूप। रच्या **अप्रमांण** सुदस्सण रूप।—मे.म.
वि०—बहुत अधिक, असीम, बेशुमार। उ०—मिश्री ले **अप्रमांण**, सीचौ घोळै घी सहित। विख सौ नीम वखांण, मीठौ होवै न मोतिया।
(रू.भे. अप्परमांण) —रायसिंह सांदू

अप्रमाद–वि० [सं० अ+प्रमाद] प्रमाद व घमंडरहित, आलस्यरहित।
उ०—सदा **अप्रमाद** जोगाणंद सिद्ध।—ह.र.

अप्रमित–वि० [सं० अपरिमित] अपार, अपरिमित। उ०—कवण चतुर गणिका, चारुदत्त घर चित्त, तजि दळिद्र भजि मुज्झ तूं विलसि **अप्रमित** वित्त।—वं.भा.

अप्रमेह–वि० [सं० अप्रमेय] अथाह, अपार, जो नापा न जा सके।
उ०—**अप्रमेह** गुण ग्रंथ, औखद आचारय भारी।—दसदेव

अप्रम्म–वि० [रा० अ+सं० परम] परब्रह्म, ईश्वर।

अप्रयुक्त–वि० [सं०] जो काम में न लाया गया हो, अव्यवहृत।
सं०पु०—साहित्य का एक दोष विशेष। उ०—**अप्रयुक्त** सुध सदन आघ्यौ, अरथ कहण असमरथ अत।—बां.दा.

अप्रवांणी–सं०पु० [सं० अप्रमाण] अनिदर्शन, अदृष्टांत, अप्रमाण।
उ०—अगे **अप्रवांणी** बजै खग्गवांणी, कवाड़ी सकट्टां कटै जांण कट्टां।
—रा.रू.
वि०—बहुत, अधिक।

अप्रवीत–वि० [सं० अ+पवित्र] अपवित्र, दूषित, कलंकित, अशुद्ध।
उ०—पल तौकर हाकल मांड पगं। विण छौत मिटै नह सूर वगं। सुप्रवीत महोजत सूर सरौ। कमधेस पड़ै **अप्रवीत** करौ।—पा.प्र.

अप्रसन, अप्रसन्न–वि० [सं० अप्रसन्न] उदास, सुस्त, खिन्न, असंतुष्ट।
उ०—अरि न **अप्रसन्न** ह्वै प्रसन्न में वडौ विभौ।—ऊ.का.

अप्रसन्नता–सं०स्त्री० [सं०] नाराजगी, असंतोष, उदासी, खिन्नता।

अप्रस्तुत–वि० [सं०] जो प्रस्तुत या उपस्थित न हो, अप्रासंगिक, गौण।

अप्रस्तुत-प्रसंसा–सं०पु० [सं० अप्रस्तुत-प्रशंसा] अप्रस्तुतार्थ के वर्णन द्वारा प्रस्तुतार्थ का वर्णन किया जाने वाला एक प्रकार का अर्थालंकार विशेष।

अप्राप्त–वि० [सं०] जो प्राप्त या सुलभ न हो, अप्रस्तुत।

अप्रिय–वि० [सं०] जो प्रिय न हो, अरुचिकर।

अप्रीति–सं०स्त्री० [सं०] प्रेम का अभाव, विरोध, शत्रुता।

अप्रेह–वि०—अप्रतिम, अद्भुत। उ०—अक्रेह, **अप्रेह** अखेह, अखेस।
—ह.र.

अप्रौगी, अप्रौगौ–वि० [सं० अप्रयोगी] १ जिसका पहले प्रयोग नही किया गया हो, नया। उ०—रीत **अप्रौगी** रूकहथ, मोहण जोगीदास।
—रा.रू.
२ अप्रिय, अरुचिकर. ३ अजनवी, देखो 'अपरोगौ'।

अप्रौढ़–वि० [सं०] जो प्रौढ़ या पुष्ट न हो, नाबालिग।

अप्सर–सं०स्त्री० [सं० अप्सरा] देखो 'अप्सरा'।

अप्सरा–सं०स्त्री० [सं०] इन्द्र की सभा में नाचने का कार्य करने वाली स्वर्ग की वेश्या। देखो 'अपछरा'।

अफंड–सं०पु०—१ धूर्तता, ठगी, पाखण्ड, ढकोसला। उ०—आदू खटरस ऊपरां, मांडी नवरस मंड। कुकवि कहै विध सूं कियौ, आचारजां **अफंड**।—बां.दा. २ स्वांग. ३ अड़ंगा, टंटा. झगड़ा. ४ बवंडर।
क्रि०प्र०—करणौ-रचणौ-होणौ।

अफंडी–वि०—१ धूर्त, ठग, पाखंडी. २ झगड़ा करने वाला।

अफंद–सं०पु०—१ फंद या बंधनरहित। उ०—मही प्रमार री थिरू, हुती धुराद मंड सू। अरोग भोम भूप आय, हौ जकौ **अफंद** सूं।
—पा.प्र.
२ देखो 'अफंड'।

अफगांन, अफगांनी–सं०पु०—अफगानिस्तान का निवासी, काबुली, आगा।

अफड़णौ, अफड़बौ–क्रि०स०—भिड़ना, टक्कर लेना।
उ०—दळ **अफड़े** दळां दुहुं दुजड़ी, कमळ कळहै वाखांण करै।
—कल्यांणदास महडू

अफट–वि०—नहीं फटने वाला।

अफताव–सं०पु० [फा० आफ़ताब] सूर्य।

अफतावी–वि० [फा० आफ़ताब+ई-रा०प्र०] सूर्य संबंधी।

अफछर, अफछरा–सं०स्त्री० [सं० अप्सरा] अप्सरा, देवांगना।
उ०—वाजिया समरां घड़ा अवधि वरै। चाव कर **अफछरां** वधाया चौसरै, अैमदावाद जेठी मरै ऊवरै कणेठी रहची अजमेर साकौ करै।—हरिसिंह चांदावत री गीत

अफफर–वि०—न मुड़ने या फिरने वाला (द.दा.)

सं०पु०—२. अस्त्र-शस्त्र से सुसज्जित योद्धा ।

अवळापण, अवळापणौ–सं०पु० [सं० अबला+पणौ–रा०प्र०] निर्बलता, कमजोरी, स्त्रीत्व । उ०—द्रौपद दुखियारीह, पुकारी अवळापणै ।
—रामनाथ कवियौ

अवलाकि–वि० [सं० अभिलाषी] १ अभिलाषा करने वाला.
२ उदासीन ।

अवळासेन–सं०पु०—कामदेव, रतिपति (डि.को.)

अवळी, अवळौ–वि० [सं० अ+बल+ई] कमजोर, अशक्त ।
उ०—अबळी सबळी नै सबळी उर आंणै, गोरी गुणवंती गोरी गुण जांणै ।—ऊ.का.

अववेल–सं०स्त्री०—सहायता, मदद, रक्षा ।

अवात–वि० [सं०] १ निर्वात, वायुहीन [रा० अ+वात] २ वार्तालाप-रहित, बिना बात या वृत्तांत के । उ०—अगात, असास, अवात अचेस ।—ह.र.

अवाबील–सं०स्त्री० [फा०] काले रंग की एक प्रकार की चिड़िया ।

अवार, अवारू–क्रि०वि०—अभी, अभी तक, इसी समय (डि.को.)
उ०—ताहरां वहू कह्यौ—हे हरमाळा, अवार तूं जाय देख, औ डेरौ छै कै कोई छळछिद्र छै ।—पलक दरियाव री बात ।

अवाळ–वि०—बिना बालक के. २ बाल्यावस्था से रहित ।
उ०—अवाळ अवद्ध अकाळ अक्रम्म ।—ह.र.
क्रि०वि०—बालकपर्यंत ।

अवास–सं०पु० [सं०आवास] निवास-स्थान, रहने का मकान, भवन ।
वि० [सं० अ+वास] १ निवास-स्थान से रहित । उ०—अवास न वास न आस न ईस ।—ह.र. [रा० अ+वास] २ किसी प्रकार की गंध से रहित, सुगंधिरहित ।

अवाह–वि०—वाहुरहित, निर्वाहु । उ०—अलाह अगाह अवाह अजीत ।
—ह.र.

अविणास–सं०पु०—हानि, नाश ।

अविणासी–वि० [सं० अविनाशी] देखो 'अवनासी' ।

अविरच–वि०—१ प्रसन्न, खुश । उ०—जेहा मेहा जगत सूं, मत विरचौ मुख मूळ । जीवाड़ै सारौ जगत, औ अविरच अनकूळ ।—बां.दा.
२ अनुकूल ।

अविरचणौ अविरचबौ–क्रि०अ०—१ प्रसन्न या खुश होना.
२ अनुकूल होना ।
अविरचणहार-हारौ (हारी), अविरचणियौ—प्रसन्न या खुश होने वाला, अनुकूल होने वाला ।

अविरळ–वि० [सं० अविरल] देखो 'अविरळ' ।

अवींद–वि० [सं० अविद्ध] १ बिना छेद किया हुआ, बिना वेधा हुआ, अक्षत. २ निष्कलंक ।

अवीज–सं०पु०—जो बिना बीज ही उत्पन्न हो । उ०—तू सरव बीज अवीज, बीज सौ तू सुभैयांणी ।—केसोदास गाडण

अवीढ़ौ–वि० (स्त्री० अवीढ़ी) १ अद्भुत, अनोखा । उ०—१ सुणण ललच्चे स्रोण अवीढा आखरां ।—किशोरदांन
उ०—२ कहां अवीढ़ी जलम भोम, कहां मरण उपाई ।—वीरमायण
२ दुरूह, कठिन, दुर्गम्य, भयंकर, टेढ़ा ।
उ०—भीम के भुजाट पाणां हैजम्मां लाट के भंज अवीढ़ा थाट के भड़ां थाट के थाणांस ।—गीत डूंगजी री
३ बहादुर, जोशीला, ओजस्वी, वीररसपूर्ण । उ०—सारा जां दिनां में रैणवायलि गांम रैता, सारा पूत स्यामां का अवीढ़ा जोरि वैता ।
शि.व.

अवीर–सं०पु० [अ०] गुलाल या अवरक का चूर्ण जिसे होली में लोग एक दूसरे पर डालते हैं व देव-पूजा में भी काम आती है । रंगीन बुकनी । उ०—पैंडा जितना छै तितना सघळां ही रंग रंग का अवीर बिछाया छै ।—वेलि.

अवीरमई, अवीरमयी–वि०—१ अवीरयुक्त, रंग गुलाल से आच्छादित.
२ कायरतायुक्त ।

अवीरी–वि०—अवीर के रंग का, कुछ श्यामता लिए लाल रंग का ।
सं०स्त्री०—अवीर । उ०—ल्याल गुलाल अवीरी खेलण, अजन प्रताप परख रस आयौ ।—रा.रू.

अवीह, अवीहौ–वि०—१ जबरदस्त, महान । उ०—लोह लाठ जेतखंभ गिरंदां गढां चौ लाडौ दळां लाखां मांण गाढ़ौ वोलै धोळै दीह । जाज्वळी वीरांण मांडै विखमी पड़ंतां जाडी, आडौ नवां कोटां कोट दस्समौ अवीह ।—हुकमीचंद खिड़ियौ [अ+वीह=डर रा०]
२ निडर, निर्शक, निर्भय । उ०—निज कग्मसोत पेंडै न वीह, उदावत ऐंडेंगे अवीह ।—ऊ.का.
सं०पु०—चौहान वंश की अवीहा शाखा का व्यक्ति ।

अवीहा–सं०स्त्री०—चौहान वंश की एक शाखा ।

अवुंबा–सं०पु०—एक रंग विशेष ।
वि०—इस रंग संबंधी या इस रंग का ।

अवुध–वि० [सं०] अज्ञानी, मूर्ख, अनाड़ी ।

अवूज, अवूझ–वि०—१ अबोध, नासमझ, नादान ।
उ०—काली मत दाखव कुवच, बोल विचार अवूझ ।—पा.प्र.
२ जो बूझा या जाना न जा सके ।
सं०पु०—बिना पूछे या बिना मुहूर्त्त दिखाए किया जाने वाला (लग्न)

अवूझणौ, अवूझबौ–क्रि०स०—१ देखो 'वूझणौ' । २ दम घुटना ।
उ०—अहीरावनै दावकाढ़न सूझै, असा भीड़ियौ सहेस नासे अवूझै ।
—ना.द.

अवूझौ–सं०पु०—१ मूर्छा, रोग ।
वि०—जो कार्य करने में दक्ष न हो, अपटु, अदक्ष ।

अवेध–वि० [सं० अविद्ध] बिना छेदा हुआ, जो छिदा न हो ।

अवेर–सं०स्त्री० [सं० अवेला] १ विलंब, देर । उ०—धन ले वीरा धाड़वी, अव कीजै न अवेर ।—वी.स. २ कुसमय. ३ सम्हालना क्रिया का भाव ।

क्रि०वि०—मुश्किल से, कठिनता से। उ०—धरणियां पग लूंबी धरा, अवखी ही घर आय।—वी.स.

अवगात–वि०—दागरहित, निष्कलंक (मि० अवगात)

उ०—तुरी अवगात खत्रीवट त्रजड़ै, खरहंड तणी न लागी खेह।

—महाराणा प्रतापसिंह रौ गीत

अवचळ–वि० [सं० अविचल] अटल, निश्चल, अविचल।

उ०—सचा अवचळ अंबरीख, धू अंबर तारे।—केसोदास गाडण

अवछर–सं०स्त्री० [सं० अप्सरा] अप्सरा। उ०—अवछर आभ अवर अरधंगा, पदमण धरिए पाछी।—ऊ.का.

अवछळ–वि० [सं० अविचल] अविचल, अटल। उ०—हमकै रांम सा' मांगूं ओ, पीर सा' मांगूं ओ सायवजी रौ राज अवछळ राखौ चूड़ौ-चूनड़ी।—लो.गी.

अवछांड–वि०—रक्षक, सहायक मददगार। उ०—नगांपत कूरमांनाथ चलतां नगां, खगांपत हुवौ अवछांड खुमांण।—हुकमीचंद खिड़ियौ

अवज*–वि०—१ श्वेत. २ रक्तवर्ण।

अवजात–सं०पु०—शत्रु, दुश्मन (ह.नां.)

अवझळणौ, अवझळवौ–वि०—जोश करना, आकाश को भी छूने की इच्छा करना।

अवझळणहार-हारौ (हारी), अवझळणियौ—जोशीला, आकाश को भी छूने की इच्छा करने वाला।

अवट–सं०पु०—बुरा रास्ता, ऊजड़, ऊवट, विकट मार्ग। उ०—लीक लीक गाडी वहै, कायर अनै कपूत। लीक तजै अवट वहै, सायर सिंह सपूत।

अवड, अवडौ–वि०—बलवान, साहसी, निडर। उ०—करण घड़चां घड़च घणां वगत्तर कड़ां, भूप कड़छां-कड़छां कवी अवडां भड़ां।

—माधोसिंह सीसोदिया रौ गीत

वि०—इतना (बहु० अवडा)

अवणासी–वि० [सं० अविनाशी] देखो 'अविनासी'।

अवदार–सं०पु०—शराब।

अवदाळ–सं०पु० [अ०] मुसलमानों द्वारा महान एवं ईश्वर भक्त माने जाने वाले महा पुरुष जो कुल तीस होते है। उ०—कुतब गोस अवदाळ सूफी अनै कळंदर।—अज्ञात

अवदूर–क्रि०वि०—समीप (अ.मा.)

अवद्ध–वि० [सं०] मुक्त, जो बंधन में न हो।

अवधू, अवधूत–सं०पु० [सं० अवधूत] देखो 'अवधूत'। उ०—बांका वेद पुरांण विच, सायद आछै सूत। सुख संतोख सराहियौ, आपदत्त अवधूत।—वां.दा.

(स्त्री० अवधूतण, अवधूतांणी)

अवध्य–वि० [सं०] १ न मारने योग्य, जिसे मारना शास्त्रसम्मत न हो. २ जो किसी से न मरे।

अवनमौ, अवनमौ–वि०—१ दूसरा, द्वितीय. २ अभिनव.

सं०पु०—वंशज, पौत्र। उ०—चक्रवत हुसी अवनमौ चूंडौ, घणू दाखवूं किसूं घणौ।—केसरीसिंह बारहठ

अवनाड़–वि०—१ अनम्र. २ वीर. ३ योद्धा। उ०—समर मझ धाड़ अवनाड़ उमेदसा, जैत जुध जोतां तीख सकळ आज।

—हुकमीचंद खिड़ियौ

सं०पु०—४ पहाड़, पर्वत।

अवनिमौ, अवनीमौ–सं०पु०—देखो 'अवनमौ' (रू.भे.)

अवरक–सं०पु०—देखो 'अभ्रक' (रू.भे.)

अवरके, अवरकै–क्रि०वि०—१ अब, इस समय, इस बार।

उ०—अवरकै रचे रणजीत फौजां अणी, रज करी सरी गत धणी राखी।—वां.दा.

२ अगली दफा। उ०—अवन अणाथाह जातां अवरकै, दुरग री तेग वाराह री दाढ़।—भोजराज महियारियौ

अवरख–सं०पु०—देखो 'अभ्रक' (रू.भे.)

अवरण–वि० [सं० अ+वर्ण] १ बिना रूप-रंग का. २ जातिरहित। उ०—अवरण वरण ऊंच क्या नीचा, परपूरण सब मांही।

—श्री ह.पु.

सं०पु०—ईश्वर, परब्रह्म।

अवरस–सं०पु० [फा०] घोड़े का एक रंग विशेष जो खुलते हुए सफेद रंग के समान होता है। (शा.हो.)

अवरी–सं०स्त्री०—१ देखो 'अभरी' २ देखो 'अवरी'।

अवरोसियौ–वि०—अविश्वासी, संदेहशील।

अवळ–वि० [सं०] निर्बल, कमजोर, कृश, दुर्बल। उ०—अरजुण हारियौ होय अवळ उदासी।—सिवदांन बारहठ

सं०स्त्री० [सं० अबला] १ स्त्री, औरत [सं० अवलि] २ पंक्ति, कतार।

अवलक, अवलकी–सं०पु० [सं० अवलक्ष] सफेद और काले या सफेद और लाल रंग का (घोड़ा)।

वि०—चितकबरा (घोड़ा)।

अवलका–सं०स्त्री० [सं० अभिलाषा] अभिलाषा, इच्छा।

अवलख, अवलखी–वि० [सं० अवलक्ष] देखो 'अवलक' (रू.भे.)

अवलखा–सं०स्त्री०—देखो 'अवलका' (रू.भे.)

अवळण–वि०—१ सत्य. २ अटूट. ३ घमंडी।

सं०स्त्री०—१ एक गति. २ लौटना क्रिया का भाव. ३ न लौटना।

अवलांबकी–सं०पु०—जो निर्बलों का सहारा या शक्ति हो।

वि०स्त्री०—निर्बल, अशक्त, कमजोर।

अवळा–सं०स्त्री० [सं० अबला] स्त्री, औरत, नारी (ह.नां., अ.मा.)

कहा०—अवळा नै सतावे (दुखावै), ज्यांनै रांम दुखावै—अबलाओं (स्त्रियों) को दुख देना बहुत बुरा है।

अवळाफूल–सं०स्त्री०—१ सोलह शृंगारों से सुशोभित महिला.

३ अनापशनाप। उ०—अभंग अलिंग अद्रंग अदेस।—ह.र.

सं०पु०—१ सिंह (अ.मा.) २ एक प्रकार के पद या भजन जिनका व्यवहार मराठी में भी होता है।

अभंगपद—सं०पु० [सं०] श्लेष अलंकार का एक भेद विशेष।

अभंगी, अभंगीय—वि० [सं० अभंगिन्] १ वीर, बहादुर, जिनका भंग न हो। उ०—१ लंक दिस सुण इती हालै, अभंगी आगां।—र.रू. उ०—२ अभंगीय रोम हुवौ असवार, दिपै चहुवांण सु कान उदार।—शि.सु.रू.

२ पूर्ण, अखंड. ३ नहीं भगने वाला। उ०—सांचां राड़ रौ मिळायौ सूत पालटै अभंगी संगी, आचां उडाड़ रौ भेद न पायौ अनूप।—मानसिंहजी

अभंगुर—वि०—दृढ़, जो न मिटे, जो न टूटे।

अभंजन—वि० [सं०] जिसका भंजन न किया जा सके, अटूट, अखंड।

अभ—सं०पु० [सं० अभ्र] आकाश (अ.मा.)

अभक्त—वि० [सं० अ+भक्त] जो भक्त न हो।

अभक्ख, अभक्ष, अभक्ष्य, अभख, अभखज—वि० [सं० अभक्ष] अखाद्य, अभोज्य, न खाने योग्य, धर्म शास्त्र में जिसके खाने का निषेध हो। उ०—भख अभखज वाघ कूं दे दूध मंजारे।—केसोदास गाडण

अभग्गौ—वि० [सं० अभाग्य+औ] (स्त्री० अभग्गी) अभागा, भाग्यहीन, बदकिस्मत। उ०—अभग्गि अग्गि के अगे सुभग्ग भग्गते सुनें।—ऊ.का.

अभड़छेट, अभड़छोत—सं०स्त्री०—अस्पृश्य व्यक्ति को स्पर्श करने का भाव, अशौच।

अभड़ीजणौ, अभड़ीजवौ—क्रि०अ०—१ अस्पृश्यों के स्पर्श से अशौच लगना। उ०—ढेढ़ तौ हूं, पण है तो मिनख-ई महाराज! छाती पर हाथ धर'र कैया—कांई मिनख मिनख रै पल्लौ लागतै-ई अभड़ीज जावै।—बरसगांठ

अभड़ीजियोड़ी—वि०—रजस्वला (स्त्री०)

अभड़ीजियोड़ौ—वि०—जिसका अस्पृश्यों से स्पर्श हो गया हो। (स्त्री० अभड़ीजियोड़ी)

अभधूत—सं०पु०—देखो 'अवधूत' (रू.भे.)

अभनम—सं०पु०—वंशज, पौत्र या प्रपौत्र।

अभनमौ, अभनमौं, अभनवौ—सं०पु०—अपने पूर्वजों के अनुरूप गुण धारण करने वाला, वंशज, पौत्र या प्रपौत्र। उ०—कोपिया थकै काकोधरा काढ़िया, अभनमौ 'भीम' ओठामियां आज।

वि०—१ दूसरा, द्वितीय. २ अभिनव. ३ सदृश, समान।

अभभूप—सं०पु०—कवि (अ.मा.)

अभम—सं०पु० [सं० अभिमान] अभिमान, घमंड (अ.मा.)

अभमांन—सं०पु० [सं० अभिमान] अभिमान, घमंड, अहंकार। उ०—जागौ छै जागौ छै जागौ ममभौ जे भीतर वे स्यांन। वेदिन वाज जहर मत बोवौ मरदां दूर करौ अभमांन।—ओपौ आढ़ौ

क्रि०प्र०—करणौ-होणौ-छोडणौ।

अभमांनव—सं०पु० [सं० अभिमन्यु] अर्जुन का पुत्र, अभिमन्यु। उ०—अभमांनव जुद्ध भीमेण इसा, सतवादि जुधिस्टर द्रोण जिसा।—शि.सु.रू.

अभमांनी—वि०—देखो 'अभिमांनी' (ह.नां.) (रू.भे.)

अभमाती—सं०पु० (सं० अभ्यमित्र) शत्रु, दुश्मन (अ.मा.)

अभय—वि० [सं०] निर्भय, निडर, बेखौफ, कुशल।

सं०पु०—१ भयविहीनता. २ शरण. ३ कुशलता (अ.मा.) (यौ० अभयदांन, अभयपद)

अभयधांम—सं०पु०यौ०—१ मोक्ष. २ स्वर्ग, वैकुण्ठ।

अभयपद—सं०पु० [सं०] मोक्ष, मुक्ति, निर्भय पद। उ०—यूं धरै ध्यांन दिन रात अभयपद पासी प्रांणी।—सगरांमदास

अभयवचन—सं०पु०यौ० [सं०] रक्षा का वचन।

क्रि०प्र०—देणौ-लेणौ।

अभया—सं०स्त्री० [सं०] १ दुर्गा, भगवती। उ०—ओहं सोहं अखया अभया आइ अजया विजया उमया।—देवि.

२ हरीतकी, हर्रे (नां.मा., अ.मा.)

वि०स्त्री०—निडर, निर्भय।

अभयास—सं०पु० [सं० अभ्यास] देखो 'अभ्यास'।

अभर—वि० [सं० अ+भर=भार] १ निहाल, कृतकृत्य।

[सं० अ+भार] २ जो उठा कर ले जाया न जा सके, दुर्भर, दुर्वह, उ०—दांन दिया जिस अरब का कब दरब अभर का।—दातारमाळा

अभरण—सं०पु०—१ अंत गुरु की चार मात्रा का नाम (डिं.को.) [सं० आभरण] २ आभूषण।

क्रि०वि०—कृतकृत्य।

अभराभरण—वि० उ०लिं०—१ भूखों को भोजन देने वाला. २ अपूर्ण को पूर्ण करने वाला। उ०—करतार तू ही करणा-करणी भव रूप तूं ही अभराभरणी।—क.कु.बो.

अभरी—वि० [सं० आभरी गौ.] १ धनाढ्य, संपत्तिशाली। उ०—फौज धन सूं अभरी हुई फतै कर पाछी वळी।—वां.दा.

२ वह जिसकी समस्त कामनाएँ पूर्ण हो गई हों, संतुष्ट।

३ परिपूर्ण। उ०—अभरी थावै आथ सूं, चित सरसावै चाव। जावै दाता द्वार जे, पावै पाँच पसाव।—वां.दा.

सं०स्त्री०—जिल्दसाजी के काम आने वाला रंगीन अथवा छींटदार पतला कागज।

अभरोसौ—सं०पु०—अविश्वास, शक।

अभल—वि०—अश्रेष्ठ, बुरा, जो भला न हो।

अभलाक, अभलाख—सं०स्त्री० [सं० अभिलाप] इच्छा, अभिलाषा (रू.भे.) उ०—रिम हर चित वरण कहै यमरांणी, हळदी घाट हुई रण हाक चौळ करण रहगी मांहि चित, अंग अहवात तणी अभलाक।—महारांणा प्रताप री गीत

क्रि०वि०—अविलम्ब, शीघ्र ।

अबेरणौ, अबेरबौ–क्रि०स०—१ सम्हालना. २ सँवारना, ठीक ढंग से रखना, सुव्यवस्थित रखना ।

अबेरणहार-हारौ (हारी) अबेरणियौ–वि०—सम्हालने वाला, सँवारने वाला ।

अबेराणौ–प्रे.रू. ।

अबेरिओड़ौ, अबेरियोड़ौ, अबेरयोड़ौ–सम्हाला हुआ, सुव्यवस्थित किया हुआ ।

अबेराणौ, अबेराबौ–क्रि०प्र०—१ सम्हलाना. २ सुव्यवस्थित कराना ।

अबेराणहार-हारौ (हारी) अबेराणियौ–सम्हलाने वाला, सुव्यवस्थित कराने वाला ।

अबेरायोड़ौ–सम्हलाया हुआ, सँवारा हुआ ।

अबेरावणौ, अबेराववौ–रू.भे. ।

अबेरावणौ, अबेराववौ–क्रि०स०—देखो 'अबेराणौ' (रू.भे.)

अबेरियोड़ौ–भू०का०कृ०—१ सम्हाला हुआ. २ सुव्यवस्थित किया हुआ । (स्त्री० अबेरियोड़ी)

अबेरौ–सं०पु०—सम्हालने या सुव्यवस्थित करने की क्रिया व उसका भाव ।

अबेस–वि० [फा० वेश] १ अधिक, बहुत। [रा०] २ आयुरहित ।

उ०—अगात असास अबात अबेस ।—ह.र.

सं०पु० [सं० आवेश] जोश ।

अबेह, अबै–क्रि०वि०—१ विना समय. २ अब, इस बार ।

कहा०—१ अबै किसा मीयां मरग्या क रोजा घटग्या—अब कौनसा मौका निकल गया कि यह काम नहीं हो सकता ।
२ अबै तौ ओछी दांई में आगया हौ—अब वृद्ध होगए हो तथा आयु बहुत कम बची है अतः धर्म व सत्कर्म की ओर ध्यान दीजिए ।
३ अबै तौ मोटां घरां ही भूख आय गई है—आजकल दरिद्रता सब ओर छा गई है. ४ अबै नींद जागी है—अब सचेत हुए हो ।

अबोट–वि०—१ पवित्र, साफ. २ अछूता. ३ अखंड. ४ विना सिर पैर की (बात), तथ्यहीन (गप्प)

अबोटी–सं०पु०—१ भोजक जाति के वे व्यक्ति जो राज-मंदिरों के पुजारी होते हैं. २ रसोई या पूजा के समय पहना जाने वाला पवित्र वस्त्र ।

वि०—विना कटा हुआ ।

अबोद, अबोध–वि०—अबोध, मूर्ख, अज्ञानी ।

उ०—महा अबोध साधनी सुबोध मंडळी नहीं ।—ऊ.का.

अबोल–वि०—मौन, चुप, शांत । उ०—सो साथ रौ मांणस कोई बोलै नहीं । अबोल अबोल ही वहै ।—डाढ़ाळा सूर री वात ।

अबोलणौ–वि०—नहीं बोलने वाला, मूक । उ०—अबोलणा जुग बीतण लागौ, कायां री कुसळात ।—मीरां

सं०पु०—१ शत्रु. २ पशु. ३ वैरभाव, शत्रुता, मनमुटाव ।

अबोलौ–वि०—१ देखो 'अबोल' । उ०—इतरौ कह अबोलौ रह्यौ ।—सूरे खींवे री वात

२ जिसके विषय में बोल या कह न सके ।

सं०पु०—कटुवाणी, बुरा कथन ।

क्रि०वि०—विना बोले हुए, चुपचाप ।

अब्ज–सं०पु० [सं०] जो जल से उत्पन्न हो, यथा—कमल, शंख, चंद्रमा, कपूर ।

अब्द–सं०पु० [सं०] १ मेघ. २ आकाश. ३ वर्ष, साल ।

उ०—माळव रै महीप व्याकरण रा अध्यापन में एक अब्द रौ अनध्याय मांनि पांणिनीय रौ प्रतिनिधि भट्टि नामक काव्य बणाय पढ़ायौ ।—वं.भा.

अब्धि–सं०पु० [सं०] समुद्र, सागर ।

अब्बल–वि०—देखो 'अव्वल' । उ०—पछै हाथ लगाय अब्बल तरह सू संपड़ाई ।—सूरे खींवे री वात ।

अब्बळा–सं०स्त्री०—देखो 'अबळा' । उ०—देवी अब्बळा सब्बळा वोम अध्धे ।—देवि.

अब्बहि–वि०—निडर, निशंक ।

अब्बास–सं०पु० [अ०]मुहम्मद साहब के चचा का नाम ।

अब्बी–सं०पु० [फा० आब] पानी । उ०—जांणक तत्ते तेल में बूंदै परि अब्बी ।—ला.रा.

क्रि०वि० [रा०] अभी, इसी समय ।

अब्बीर–सं०स्त्री० [सं० अबीर] अबीर, गुलाल । उ०—खेह गरद्दी मेहलौं अब्बीर उडाया ।—वं.भा.

अब्बू–सं०पु०—आबू पर्वत । उ०—सो सुरतांण हणे फोजां सह, अब्बू विदित कियौ रण आग्रह ।—वं.भा.

अब्भ–सं०पु० [सं० अभ्र] आकाश, गगन । उ०—कान भनक तब तें परी चढ़ि कुंभ चलाया । तबतें संभर तंडि कै सिर अब्भ लगाया ।
—वं.भा.

अब्भिमांन–सं०पु० [सं० अभिमान] अभिमान (रू.भे.)

उ०—गिरं कंध अंबा छिदै अग्गिआनं, मरे मारि जांणै जिके अब्भिमांनं ।—वचनिका

अब्याई–वि०स्त्री०—जिसने प्रसव न किया हो (पशु) उ०—जंगळ में चरै छी सो अब्याई छूटी आई । 'मोकळ' का कर्ना सू सेख चीपी में दुहाई ।—शि.वं.

अब्यागत–वि० [सं० अभ्यागत] गरीब, दीन, दुर्बल ।

अब्रक–सं०पु० [सं० अभ्रक] सात उपधातुओं में से एक (अ.मा.)

अब्रद्ध–वि० [सं० अवृद्ध] जो वृद्ध न हो, युवा । उ०—अबाळ अब्रद्ध अकाळ अक्रम्म ।—ह.र.

अभंग–वि० [सं०] १ वीर, निश्चयी, बहादुर, निडर (डि.को.)
२ अखंड, अटूट, पूर्ण । उ०—सुणे पढ़ै नह सासतर सेवै नह सत संग, सुखदायक किम सांपजै उर संतोख अभंग ।—बां.दा.

अभिधेय–वि० [सं०] १ नाम लेने योग्य. २ अर्थ।

अभिनंदन–सं०पु० [सं०] १ प्रशंसा. २ स्वागत. ३ बधाई. ४ जैनियों के चौथे तीर्थंकर का नाम।

अभिनंदनीय–वि० [सं०] वंदनीय, जो प्रशंसा के योग्य हो।

अभिनंदित–वि० [सं०] वंदित, प्रशंसित।

अभिन–वि० [सं० अभिन्न] देखो 'अभिन्न' (रू.भे.) उ०—विधि सहित बधावै वाजित्र वावै, भिन भिन अभिन वांणी मुख भाखी। —वेलि.

अभिनमौ–सं०पु० [सं० अभिन्न+मौ–रा०प्र०] देखो 'अभनमौ' (रू.भे.)

अभिनय–सं०पु० [सं०] स्वांग, नकल, किसी अन्य व्यक्ति के भाषण तथा चेष्टा को कुछ समय के लिए धारण करना।

अभिनव–वि० [सं०] नया, नवीन।

अभिन्न–वि० [सं०] जो पृथक न हो, मिला या सटा हुआ।

अभिन्नता–सं०स्त्री० [सं०] पृथकता का अभाव, संबंध, लगाव।

अभिप्राय–सं०पु० [सं०] आशय, मतलब, अर्थ, तात्पर्य।

अभिप्रेत–वि० [सं०] अभिलषित, इच्छित।

अभिवादन–सं०पु० [सं० अभिवादन] प्रणाम, नमस्कार, वंदना (डिं.को.)

अभिभव–सं०पु० [सं०] पराजय, हार, नीचा देखना (डिं.को.)

अभिमंत्रण–सं०पु० [सं०] मंत्रों द्वारा किया जाने वाला संस्कार, आह्वान।

अभिमंत्रित–वि० [सं०] जो मंत्रों द्वारा पवित्र किया हुआ हो।

अभिमत–सं०पु० [सं०] आशय। उ०—आपरी अंगना रौ इसड़ौ अभिमत जांणि रौपाळ झाकरा सौड़ा दामां री दुहिता सुगुणां नांम इसड़ी आपरी पत्नी नूं।—वं.भा.

अभिमनपूत–सं०पु०यौ० [सं० अभिमन्यु+पुत्र] अभिमन्यु का पुत्र परीक्षित नामक राजा।

अभिमन्न, अभिमन्यु–सं०पु० [सं० अभिमन्यु] सुभद्रा के गर्भ से उत्पन्न अर्जुन का पुत्र, अभिमन्यु। (रू.भे.)

अभिमांण, अभिमांन–सं०पु० [सं० अभिमान] अहंकार, गर्व, घमंड, मद अहंभाव। (डिं.को.) उ०—हद डाँण अगां अभिमांण हरै, प्रळै वी कुरवांण उडांण परै।—मे म.

अभिमांणी, अभिमांनी—वि० [सं० अभिमानिन्] अहंकारी, घमंडी, अभिमान करने वाला।

सं०पु०—शत्रु, दुश्मन (ह.नां.—पाठांतर)

अभमाती–सं०पु० [सं० अम्यमित्र] शत्रु, वैरी (अ.मा.)

अभिमुख–क्रि०वि० [सं०] सामने, आमने-सामने।

उ०—नागणी लेती तोप रै अभिमुख धकावै जिण तरह काळेजा करां में लीधा प्राणां रौ दुरभिक्ष पटकता चहुवांण रा सामंत वीच हुवा।—वं.भा.

अभिया–सं०स्त्री० [सं० अभया] हरड़े, हरें (अ.मा.) (रू.भे. अभया)

अभियागत–वि० [सं० अभ्यागत] गरीब, कंगाल, दरिद्र, याचक। (रू.भे. अभ्यागत)

अभियास–सं०पु० [सं० अभ्यास] देखो 'अभ्यास' (रू.भे.)

अभियासी–वि० [सं० अभ्यासी] देखो 'अभ्यासी' (रू.भे.)

अभियुक्त–सं०पु० [सं०] दोषी, अपराधी, मुलजिम।

अभियोग–सं०पु० [सं०] अपराध, मुकदमा।

अभियोगी–वि० [सं०] नालिश करने वाला, अभियोग चलाने वाला।

अभिरांम, अभिरांमा–वि० [सं० अभिराम, अभिरामा] मनोहर, सुंदर, रम्य, प्रिय। उ०—१ निज वासक कहियौ निसा, इम सासक अभिरांम।—वं.भा. २ रांमा अभिरांमा कामातुर रोवै, हड़मल हुड़दंगी सेजां में सोवै।—ऊ.का.

सं०पु० [सं० अभिराम] १ आनन्द, प्रमोद. २ अंत गुरु की चार मात्रा का नाम। (डिं.को.)

अभिरांमी–वि० [सं० अभिरामिन्] रमणकर्त्ता (वं.भा.)

अभिरुचि–सं०स्त्री० [सं०] चाह, पसंद।

अभिरुता–सं०स्त्री० [सं०] संगीत की एक मूर्च्छना।

अभिरूप–वि० [सं०] मनोहर, सुंदर।

सं०पु०—१ पंडित, विद्वान (डिं.को., ह.नां.) २ कामदेव. ३ शिव. ४ चंद्रमा. ५ विष्णु. ६ वीर।

अभिलाख–सं०स्त्री० [सं० अभिलाष] देखो 'अभिलासा' (रू.भे.)

उ०—सबरी वन मांहि प्रीत सूं सांची, उबर जठै दरसण अभिलाख। —र.रू.

अभिलाखणौ, अभिलाखबौ–क्रि०स०—देखो 'अभिलासणौ'।

उ०—आखी जगदीस्वर सांवण अभिलाखी, राखी वांवण री ईस्वर नह राखी।—ऊ.का.

अभिलाखा–सं०स्त्री० [सं० अभिलाष] देखो 'अभिलाख'।

उ०—घूम'र आव 'जसू' पूरण घणा, 'ऊमर' री अभिलाखा।—ऊ.का.

अभिलाखी–वि० [सं० अभिलाषिन्] देखो 'अभिलासी'।

अभिलाखुक–वि० [सं० अभिलाषुक] अभिलाषा करने वाला, लोभी।

अभिलाप–सं०पु० [सं०] कथन, वाक्य।

अभिलास–सं०स्त्री० [सं० अभिलाष] १ देखो 'अभिलासा'।

उ०—तिती अभिलास सह कथा सुणवा तणी, महेसुर यथारथ दाख मोनैं।—र.रू. २ शृंगार के अन्दर दस दशाओं में से एक, प्रिय से मिलने की इच्छा।

अभिलासक–वि० [सं० अभिलाषक] अभिलाषी, इच्छुक।

अभिलासणौ, अभिलासबौ–क्रि०स० [सं० अभिलाष] अभिलाषा करना।

उ०—कोमळ राता पातळा, अधर जिकां रा ईख, अभिलासै पीवण अमर, सुधा जांम दे सीख।—बां.दा.

अभिलासा–सं०स्त्री० [सं० अभिलाष] इच्छा, कामना, चाह, आकांक्षा।

अभिलासी–वि० [सं० अभिलाषिन्] अभिलाषा रखने वाला, इच्छुक, आकांक्षी।

अभिवादन–सं०पु० [सं०] प्रणाम, वंदना, नमस्कार।

अभिव्यक्ति–सं०स्त्री० [सं०] स्पष्टीकरण, साक्षात्कार।

अभलाखी–वि० [सं० अभिलाषिन्] इच्छुक।

अभलेखा, अभलेखौ–सं०पु० [सं० अभिलाष] देखो 'अभिलासा' (रू.भे.)
उ०—नीचौ नैणां सूं धोवां जळ धावै, ऊंची ईखण री **अभलेखौ** आवै।—ऊ.का.

अभवनमत–सं०पु० [सं०] काव्य का एक दोष विशेष। उ०—दळ दूजा री पद दळ दूजै, जांण अवै **अभवनमत** जोग।—वां.दा.

अभवहार–सं०पु० [सं० अभ्यवहारः] भोजन (अ.मा.)

अभवी–वि० [सं० अभव्य] १ न होने योग्य. २ विलक्षण, अद्भुत. ३ भद्दा, बुरा, अशुभ। उ०—खुधा त्रिखा पीड़ित पुरख तन त्यागत अतीव, **अभवी** कह न अनापदे, जेही ज **अभवी** जीव।—ऊ.का.

अभाए–वि० [सं० अभात, प्रा० अभायो] असुहावना, अरुचिकर।
उ०—**अभाए** सवद्द वजे अप्रमाणं कळा सोर प्रांणं सवांण कवांण।
—रा.रू.

अभाग–सं०पु० [सं० अभाग्य] दुर्भाग्य, मंदभाग्य, बदकिस्मती।
उ०—ऊंट टाट खावै न आ अपणी जांण **अभाग**। अपणी जांण **अभाग** गजब नहिं खाय गधेड़ौ।—ऊ.का.

अभागियो, अभागियौ, अभागी, अभागौ, अभाग्यौ–वि०पु० [सं० अभागिन्] (स्त्री० अभागण) भाग्यहीन, बदकिस्मत।
उ०—हरि पधारचां आंगणां गयी मैं **अभागण** सोय।—मीरां
मुहा०—अभागियैरी खोपड़ी—अभागा मनुष्य।
कहा०—१ असाढ़ां रा तौ मेह अभागियै रै ही करै—आषाढ़ मास में तो वर्षा अवश्य होती है, अन्यथा बाद में वह निरर्थक होती है। २ आंदी नाग अभागियौ मदवौ मायादार. इतरा नां चालै पाधरा समझावौ सौ वार—अंधा सर्प, अभागा व्यक्ति, शराबी तथा धनवान, इनको कितनी बार ही समझाइए परन्तु कभी अच्छी राह पर नहीं चलते।

अभाळ–वि० [सं० अ+भाल्य] अप्राप्त। १ नहीं देखा जा सके। २ नहीं देखा जाने योग्य।
सं०स्त्री०—ललाट (क.कु.बो.)

अभालौ–वि०—बिना शस्त्रधारी, बिना भाले का।

अभाळौ–वि०—बिना देखा।

अभाव–सं०पु० [सं०] १ अविद्यमानता, न होना, असत्ता. २ त्रुटि, कमी, घाटा, टोटा. ३ विरोध, बुरा भाव।

अभावण–वि०—अरुचिकर, अप्रिय। उ०—भरचौ पूर अघ जगत **अभावण**, आगम म्रत कीधौ फिर आवण।—रा.रू.

अभावणौ–वि०—अप्रिय, असुहावना।

अभावणौ, अभाववौ–क्रि०अ०—१ असह्य होना। उ०—**अभावै** ईढ़ रां हिए लाखां धूप टावैं आथां।—रांमकरण महडू
२ अरुचिकर होना। उ०—विसतरी कत्थ जण जण वदन अरि मति घणां **अभावियौ**।—रा.रू.
अभावणहार-हारौ (हारी), अभावणियौ–वि०—अरुचिकर होने वाला
अभाविओड़ौ, अभावियोड़ौ, अभाव्योड़ौ–भू०का०कृ०—अरुचिकर, अप्रिय, असुहावना।

अभावियौ, अभावियोड़ौ–भू०का०कृ० [सं० अभात+ड़ौ–रा.प्र.] अनचाहा, अरुचिकर। (स्त्री० अभावियोड़ी)

अभावी–वि० [सं०] न होने वाली बात।

अभावो, अभावौ–वि० [सं० अभात] अप्रिय, अरुचिकर, भयावह।
उ०—१ देवळियौ वंसनयर अनैं पुर डूंगर, त्रिहूं ऐ भूप **अभावौ** तांम।—पतौ आशियौ
उ०—२ **अभावौ** बहादर सुतन साहब उरां।
—बळवंतसिंह गोठड़ा री गीत

अभितरेण–क्रि०वि० [सं० अभ्यंतर] अभ्यंतर, भीतर। (ढो.मा.)

अभि–उप० [सं०] एक उपसर्ग जो शब्द के पहले लग कर सामने, बुरा, इच्छा, समीप, बारंबार, अच्छी तरह, दूर, तथा ऊपर का अर्थ देता है।
क्रि०वि०—अभी, अब (रू.भे.)

अभिअंतर–क्रि०वि० [सं० अभ्यंतर] भीतर।

अभिचार–सं०पु० [सं०] छः प्रकार का तंत्र का प्रयोग—मारण, मोहण, स्तंभन, विद्वेषण, उच्चाटण और वशीकरण।

अभिचारक–सं०पु० [सं०] तंत्र मंत्र द्वारा किए जाने वाले कर्म।
वि०—इन तंत्र मंत्रों का प्रयोग करने वाला।

अभिच्छ–वि० [सं० अभिक्षा] याचनारहित।

अभिजण–सं०पु० [सं० अभिजन] १ कुल, वंश (डि.को.)
२ पूर्वजों का निवास-स्थान।

अभिजांणण–वि० [सं० अभिज्ञ] कुशल, पटु, दक्ष (डि.को.)

अभिजित–वि० [सं०] विजयी।
सं०पु०—१ श्रवण नक्षत्र के प्रथम चार दंड तथा उत्तराषाढ़ा नक्षत्र के अंतिम पन्द्रह दंड. २ एक नक्षत्र का नाम जिसमें तीन तारे होते हैं और उसका आकार सिंघाड़े जैसा होता है।

अभिणासी–वि० [सं० अविनाशिन्] देखो 'अविनासी' (रू.भे.)

अभित्ति–वि० [सं० अ+भीति] निर्भय, निडर, निशंक।
उ०—भिरे **अभित्ति** भित्ति को सवुज्ज के भवावनी।—ऊ.का.

अभिधांन–सं०पु० [सं०] १ कथन. २ शब्दकोश. ३ नाम।
उ०—एक रुचिर गणिका उठै, सुभगुण सीळ समांन। कवि वसंत सेना कहै, उचित जास **अभिधांन**।—वं.भा.

अभिधांनकोस-छंदोग्यांन–सं०पु० [सं० अभिधान+कोष+छंदोज्ञान] काम-शास्त्र की ६४ कलाओं के अंतर्गत एक कला, देखो 'कळा'।

अभिधांनी–वि० [सं० अभिधान+ई–रा०प्र०] नामधारी, नाम का।
उ०—इण कुळ ही देवट **अभिधांनी**, महीभुजंग हुवौ रणमांनी।
—वं.भा.

अभिधा–सं०स्त्री० [सं०] १ शब्द शक्ति के तीन भेदों में से एक भेद जिससे शब्द के वाच्यार्थ को प्रकट किया जाता है. २ नाम।

अभेदवादी–वि० [सं० अभेदवादिन्] जो परमात्मा व जीवात्मा में भेद न करे। अद्वैतवादी।

अभेधांम–सं०पु० [सं० अभयधाम] मोक्ष। उ०—लीधां नांम नीठ नीठ अनेक जनमां लागां। अभेधांम पावै वैकूंठ अदोत।
—दादूपंथियां री गीत

अभेळिणौ, अभेळिबौ–क्रि०स०—न लूटना। उ०—आसुर गांम अभेळियां गौ भेळियां कटक्क।—रा.रू.

अभेळिणहार-हारौ (हारी), अभेळिणियौ—न लूटने वाला।

अभेव–वि० [सं० अभेद] १ देखो 'अभेद'। २ जिसका भेद कोई न जाने। उ०—अधोखज अक्खर तुज्झ अभेव, दिनंकर चंद न जांणै देव।—ह.र.

अभै–[सं० अभय] देखो 'अभय' (रू.भे.) उ०—सरण अभै कीधौ मियां, लीधौ वीत संभाळ।—रा.रू.

अभैदांन–सं०पु० [सं० अभयदान] १ भय से बचाने का वचन देना, शरण देना, रक्षा करना. २ क्षमादान, मुआफी. ३ बड़ा योगी, महादेव (रा.रा.)

अभैपद–सं०पु० [सं० अभयपद] अभयपद, निर्भय स्थान।
उ०—सांई सतगुरु खोजिया, लाभै अपाह। परम अभैपद पाइए, भ्रम भंजै तांह।—केसोदास गाडण

अभैपुरा–सं०पु०—राठौड़ क्षत्रियों की तेरह शाखाओं में से एक शाखा।

अभैमुनि–सं०पु० [सं० अभिमन्यु] अर्जुन का पुत्र अभिमन्यु (रू.भे.)

अभोक्ता–वि० [सं०] जो भोग या व्यवहार न करे।

अभोखण–सं०पु० [सं० आभूषण] आभूषण, गहना। उ०—अंगि अभोखण अच्छियउ, तन सोवन सगळाइ। मारू अंबा-मउर जिम, कर लग्गइ कुंमळाइ।—ढो.मा.

अभोग–वि० [सं०] १ फैलाव, विस्तार. २ भोग-विलासरहित. [सं० अभोग्य] ३ जिसका भोग न किया गया हो, अनुपभोग।
उ०—महामुनी समांन में महांन हानि मुक्ति में। अभोग रोग ना अरै जरै न जोग जुक्ति में।—ऊ.का.

अभोगत–वि० [सं० अभुक्त] जो काम में लाया हुआ न हो, अव्यवहृत, नया। उ०—अलाहिदौ महिल एक अभोगत पैली करायौ थौ तिण मांहि राखी।—वीरमदे सोनगरा री वात

अभोगी–वि० [सं०] इंद्रिय-सुख से उदासीन, विरक्त।

अभौ–सं०पु० [सं० अभ्र] आकाश, आसमान (रू.भे.–अभ, अभौ, अम्भ)

अभौतिक–वि० [सं०] अगोचर, जो भौतिक न हो।

अम्भ–सं०पु० [सं० अभ्र] १ आकाश, आसमान। उ०—नेता मारू मांहि गुण, जेता तारा अम्भ।—ढो.मा. २ बादल, मेघ।
उ०—उपज्जै जेम अकाशां अम्भ।—ह.र.

अम्भरी–देखो 'अभरी' (रू.भे.)

अभ्यंतर–सं०पु० [सं०] १ मध्य, बीच. २ हृदय।
क्रि०वि०—भीतर। उ०—जंतर जर हरणूं अभ्यंतर जड़ियौ, पीतम प्यारी नै परहरणूं पड़ियौ।—ऊ.का.

अभ्यसणौ, अभ्यसबौ–क्रि०स०—अभ्यास करना। उ०—वेद पुरांण सास्त्र अभ्यसइ, इस्या विप्र तिणि नयरी वसइ।—कां.दे.प्र.

अभ्यस्त–वि० [सं०] १ जिसको अभ्यास हो गया हो. २ दक्ष, निपुण।

अभ्यागत–सं०पु० [सं०] १ मेहमान, अतिथि. २ संन्यासी।
वि०—गरीब, दरिद्र। उ०—अतिथी अभ्यागत टोळा टुळ आवै झोळी झंडा ले पोळी पधरावै।—ऊ.का.

अभ्यागम–सं०पु० [सं० अभि+आगम] युद्ध (ह.नां.)

अभ्यामरद–सं०पु० [सं०अभ्यामर्द] युद्ध, दंगल (अ.मा.)

अभ्यास–सं०पु० [सं०] १ कोशिश, परिश्रम, पूर्ण ज्ञान प्राप्ति के लिए बार बार किसी काम को करने की आदत। उ०—नहीं उगत अभ्यास नह, गुर सूं लियौ न ग्यांन।—बां.दा.
क्रि०प्र०—करणौ-पड़णौ-होणौ।
कहा०—अभ्यास वर्डो है—अभ्यास से सब हो सकता है।
२ टेव, आदत. ३ युद्ध, समर। (ह.नां.)

अभ्यासकळा–सं०स्त्री० [सं० अभ्यासकला] विविध योगांगों के मेल से बनने वाली योग की चार कलाओं में से एक।

अभ्यासी–वि० [सं०] १ अभ्यस्त जिसे अभ्यास हो। उ०—अभ्यासी वैराग्य प्रणत अनुराग्य व्रति वर्वे।—ऊ.का. २ दक्ष, निपुण।
उ०—अठासी अभ्यासी दरब्बार आठूं, सखी देख बैठा लखंलख्ख साठूं।—ना.द.
३ अभ्यास करने वाला। उ०—बिगड़ी किसमत री पारायण बांचै, नाड़ी नाड़ी में नारायण नाचै। बणग्या वैदेही वेही अभ्यासी, संका देही नहिं गेही संन्यासी।—ऊ.का.

अभ्युदय–सं०पु० [सं०] १ उदय, प्रादुर्भाव. २ तरक्की।

अभ्र–सं०पु० [सं०] १ मेघ, बादल (ना.डिं.को.)
२ आकाश। उ०—घटा घुमंडी घोरिके आसाढ़ अभ्र लौं घिरची।
—ला.रा.
३ अभ्रक धातु. ४ स्वर्ण (डिं.को.) ५. घन।
वि०—श्वेत॰।

अभ्रक–वि० [सं०] श्वेत-कृष्ण, हल्का कालापन लिए श्वेत॰ (डिं.को.).
सं०पु०—१ अबरक, भोडल. २ एक रस जो सन्निपातादि रोगों पर दिया जाता है (वैद्यक)

अभ्रत, अभ्रत्त–वि० [सं०अभृत] १ पालन-पोषणरहित। २ भाईरहित.
उ०—अमात अतात अजात अजेव। अदीह अरात अभ्रत्त अभेव।
—ह.र.
३ सेवकरहित. ४ अपार। उ०—रंग सुरंग वण गजराज, क्रिति अभ्रत होत अकाज।—रा.रू.

अभ्रमांण, अभ्रमांन–सं०पु० [सं० अभिमान] अभिमान, अहंकार।
उ०—गरब कियौ ले ग्रांम पासि अभ्रमांण रहै पिणि।
—पीरदांन लाळस

अभिसप्त–वि० [सं० अभिशप्त] १ जिसे शाप दिया गया हो. २ मिथ्या दोष से आरोपित।

अभिसव–सं०पु० [सं० अभिषव] १ एक प्रकार की शराब विशेष (डिं.को.) २ अभिषेक।

अभिसाप–सं०पु० [सं० अभिशाप] १ बददुआ. २ झूठा दोषारोपण।

अभिसार–सं०पु० [सं०] युद्ध। उ०—पावस आयां जक पड़ै, पैलां दहल अपार। भाजड़ री घर-घर भणै, हुआं लोह **अभिसार**।—वी.स.

अभिसारिका, अभिसारिणी–सं०स्त्री० [सं०] वह नायिका जो अपने प्रेमी से मिलने के लिए संकेत स्थान पर जाय अथवा अपने प्रेमी को संकेत स्थान पर बुला ले। उ०—चन्द्रकिरणी कुळटा सु निसाचर, द्रवड़ित **अभिसारिका** द्रिठ।—वेलि.

अभिसेक, अभिसेख–सं०पु० [सं० अभिषेक] १ जल से सिंचन, छिड़काव. २ ऊपर से जल डाल कर स्नान. ३ किसी बाधा आदि की शांति के लिए मंत्र पढ़ कर दूर्वा और कुश से जल छिड़कना. ४ विधि-पूर्वक मंत्र द्वारा अभिमंत्रित जल छिड़क कर राज पद पर निर्वाचन. ५ यज्ञादि के पश्चात् शांति के लिए स्नान. ६ शिव लिंग पर ऊपर से जल टपकाने का कार्य।

अभिस्ट–वि० [सं० अभीष्ट] अभिलषित, इच्छित। देखो 'अभिस्ट' (रू.भे.) उ०—सुवरण रासि सदा ही संपादन होय योंही **अभिस्ट** वर चंडिका सूं पाय प्रच्छन्न ही आपरै नगर गियौ।—वं.भा.

अभी–क्रि०वि०—ठीक इसी समय इसी क्षण।

अभीच–वि० [सं० अभ्यञ्च] वीर, योद्धा, सुभट। उ०—सुभ वार महूरत जांग दिन तत **अभीच** साधै तरां।—रा.रू.

अभीड़ौ–वि०—१ असुहावना, अरुचिकर. २ कटु. ३ जोशपूर्ण। उ०—चगे नथी पावां वीरताई ऊफणी रै चखां। वातां हुई गणी रै **अभीड़ा** बोलै बोल।—कमजी दधवाड़ियौ

अभीढ़ौ–वि० (स्त्री० अभीढ़ी) देखो 'अबीढ़ौ'।

अभीत, अभीति–वि० [सं० अ+भीति] निडर, निर्भय, साहसी। उ०—१ उन्हें न भीत और **अभीत** व्हेन त्यां अगे।—ऊ.का. २ **अभीति** वीति कूड देय चंड मुंड ज्यों अरे।—ऊ.का.

सं०पु०—शत्रु (अ.मा.)

अभीतौ–वि० [सं० अ+भीति] निडर, निशंक।

अभीनमौ–सं०पु०—देखो 'अभनमौ' (रू.भे.)

अभीमत–सं०स्त्री० [सं० अभिमत] १ देखो 'अभिमत' (रू.भे.) २ मनचाही बात।

वि०—मनोनीत, वांछित।

अभीमता–सं स्त्री० [सं० अभिमान्यता=अभिम्मता] घमंड, अभिमान।

अभीमांन–सं०पु० [सं० अभिमान] देखो 'अभिमांन' (रू.भे.)

अभीमुख–क्रि०वि० [सं० अभिमुख] देखो 'अभिमुख' (रू.भे.)

अभीयास–सं०पु० [सं० अभ्यास] देखो 'अभ्यास' (रू.भे.) उ०—जोबन कारमौ विहांणौ उठ जासी, एकी भजन तणौ **अभीयास** प्रांणिया ए दिन कदै पांमणां वळै न बीजै वागड़ वास।—ओपौ आढ़ौ

अभीर–वि० [रा० अ+भीर=सहायता] जिसका कोई सहायक न हो। उ०—'पालह' पीरां पीर 'पाल' अण बंधवां बंधव। 'पाल' **अभीरां** भीर 'पाल' पित माता संधव।—पा.प्र.

सं०पु० [सं०] १ गोप, अहीर. २ प्रत्येक चरण में ग्यारह मात्राओं वाला काव्य का एक छंद विशेष। किसी के मत से अंत में जगण भी होता है (र.ज.प्र.)

अभीरूप–सं०पु०—देखो 'अभिरूप' (रू.भे.)

अभीसप्त–वि०—देखो 'अभिसप्त' (रू.भे.)

अभीस्ट–वि० [सं० अभिष्ट] १ वांछित, अभिप्रेत, आशयानुकूल. २ इच्छित, मनोनीत, पसंद, चितचाहा।

सं०पु०—३ मनोरथ, कामना।

अभुक्तमूळ–सं०पु०यौ० [सं० अभुक्तमूल] मूल नक्षत्र के आदि की तथा ज्येष्ठा नक्षत्र के अंत की दो घड़ी।

अभुत–वि०—देखो 'अभूत'।

अभूखण, अभूखन–सं०पु० [सं० आभूषण] आभूषण, जेवर।

अभूत–वि० [सं०] १ अद्भुत, विचित्र। उ०—देख देख सगळी गत दाखी, भूप **अभूत** रूप छत भाखी।—रा.रू. २ अपूर्व, जैसा पहले कभी नहीं हुआ हो। उ०—**अभूत** रीस पूत साह जूत दांह अंग में। हुलै अभंग रूप माग धू लगै निहंग में।—रा.रू.

अभूतपूरव–वि०यौ० [सं० अभूतपूर्व] अनोखा, विलक्षण, अपूर्व।

अभूती–वि० [सं० अभूत] १ अपूर्व, जो पहले कभी न हुई हो। उ०—भई घात रण वात **अभूती** रांण वडी गिणजी रजपूती—रा.रू. २ अद्भुत, अनोखा, विचित्र।

अभूनौ–वि०—१ सुनसान. २ बिना भुना हुआ।

अभूमो, अभूमौ–वि०—१ विचार-शक्ति-शून्य, मूर्ख, अज्ञानी. २ वह व्यक्ति जो कोई काम ढंग से न कर सके।

अभूलणौ, अभूलबौ–क्रि०स०—याद रखना, स्मरण रखना। उ०—फबै मोगरौ सेवती जाय फूली भ्रंगी पंति सेवति भूली **अभूली**।—रा.रू.

अभूलणहार-हारौ (हारी), **अभूलणियौ**—याद रखने वाला।

अभूलिओड़ौ, अभूलियोड़ौ, अभूल्योड़ौ—भू०का०कृ०।

अभूलियोड़ौ–भू०का०कृ०—याद रक्खा हुआ। (स्त्री० अभूलियोड़ी)

अभेख–सं०पु० [सं० अ+भेष] असाधु, दुष्ट (देखो 'भेख') उ०—सब भेख **अभेख** सुधार करै।—ऊ.का.

अभेडौ–वि०—कठिन, मुश्किल।

अभेद–सं०पु० [सं०] १ एकत्व, अभिन्नता, जहाँ भेद या दुराव न हो. २ रूपक अलंकार का एक भेद।

वि०—अभिन्न, एक।

अमर–सं०पु० [सं०] १ देवता। उ०—अमर वडे तेतीस कोड़, जस नांम जपंदे।—केसोदास गाडण (डि.को.) २ पारा. ३ कुलिग. ४ ईश्वर (नां.मा.) ५ गंधर्व (अ.मा.) ६ आकाश (अ.मा.) ७ वृक्ष. ८ अमरकोश. ९ पृथ्वी (डि.नां.मा.) १० लिंगानुशासन नामक प्रसिद्ध कोश के रचयिता अमरसिंह जो विक्रमादित्य की सभा के नवरत्नों में थे. ११ उनचास पवनों में से एक. १२ राजस्थानी के वेलिया सांणोर छंद का एक भेद विशेष जिसके प्रथम द्वाले में ३८ लघु १३ गुरु कुल ६४ मात्राएँ तथा इसी क्रम से शेष द्वालों में ३८ लघु, १२ गुरु कुल ६२ मात्राएँ होती हैं। (पिं.प्र.) १२ छत्तीस मात्रा का एक मात्रिक छंद-विशेष (ल.पिं)

वि०—जो न मरे, चिरंजीवी, नित्य, चिरस्थायी।

उ०—आतम पियां अजांण ही, अमर करै अमरत्त।—ह.र.

अमरकंटक–सं०पु० [सं०] सोन और नर्मदा नामक नदियों का संगमस्थल जो विंध्याचल पहाड़ पर स्थित है तथा जिसकी गिनती तीर्थों के अंतर्गत होती है।

अमरकोट–सं०पु०—सिन्ध प्रांत का एक प्रदेश तथा उसका प्रमुख नगर जो पाकिस्तान में स्थित है।

अमरकै–क्रि०वि०—१ इस वार। उ०—अमरकै कियौ रिड़माल पणौ उजळौ, भाग मोटै खड़ग जैत भाळै।—चंडावळ लछमणसिंह री गीत २ अगली दफा।

अमरक्ख–सं०पु० [सं० अमर्ष] १ देखो 'अमरख'। [रा०] २ एक वृक्ष तथा उसका फल जो खट्टमिट्ठे होते है, इसे कमरख भी कहते हैं।

अमरक्खणौ–वि० [सं० अमर्षण+औ–रा०प्र०] क्रोध करने वाला।

अमरक्खणौ, अमरक्खबौ–क्रि०अ० [सं० अमर्षण] क्रोध करना, अमर्ष करना। उ०—अमरक्खे हरक्खे अजौं यौं दाखे महाराज।—रा.रू.

अमरख–सं०पु० [सं० अमर्ष] १ क्रोध, कोप, गुस्सा (अ.मा)

उ०—हरनेत्र जळै ज्वाळा विहद श्रीकजि अमरख संमिळै।—रा.रू. २ जोश। उ०—माँ नै वाधण उदर मझ, वाध अंस कुळवाट। अमरख लीधां ऊछळै, घण हूंदे धरराट।—बां.दा. ३ असहिष्णुता। ४ अपना तिरस्कार करने वाले का कुछ भी बिगाड़ सकने की सामर्थ्य न होने के कारण तिरस्कृत व्यक्ति में होने वाला दुःख या क्रोध।

उ०—अतळीवळ 'अमर' न सहियौ अमरख साह आलम आगळी सनाढ़।
—अज्ञात

५ रस के अंतर्गत एक संचारी भाव–(सा.)

अमरखी–वि० [सं० अमर्षिन्] १ क्रोधी. २ बुरा मानने वाला. ३ दुखी।

अमरगिर–सं०पु० [सं० अमरगिरि] १ जयपुर के निकट स्थित आमेर का किला. २ आमेर का पर्वत. ३ सुमेरु पर्वत।

अमरट–सं०पु०—देखो 'अमरत्व'।

अमरण–सं०पु० [सं०] अमर होने का भाव, अमरत्व।

अमरत–सं०पु० [सं० अमृत] १ वह पदार्थ जिसके पीने से प्राणी अमरत्व प्राप्त करता है।

क्रि०प्र०—देणौ-पीणौ-लेणौ।

पर्याय०—अगद, अगदराज, अमर, अम्र, अम्रति, दधसुत, देवभख, पयूख, पियूख, मधु. मार, रतन, समंदसुत, सुधा, सोम।

रू०भे०—अम्मरत, अम्रत, अम्रति।

यौ०—अमरतकर, अमरतचरण।

२ वह सामग्री जो यज्ञ के पीछे बच गई हो. ३ अन्न. ४ दूध. ५ औषधि. ६ विष. ७ वच्छनाग. ८ पारा. ९ धन. १० स्वर्ण. ११ मीठी वस्तु. १२ धन्वंतरी. १३ देवता. १४ वनमूंग।

वि० [सं० अ+मृत] जो मरा न हो, मृत्युरहित।

अमरतकर–सं०पु० [सं० अमृतकर] चंद्रमा (ह.र.)

अमरतका–सं०स्त्री० [सं० अमृता] हरीतकी, हर्रे (अ.मा.)

अमरतदांन–सं०पु० [सं० अमृत+आधान] १ सुधादान, अमृत का दान. २ भोजन व घी आदि खाद्य पदार्थ रखने का गहरा चीनी मिट्टी का ढक्कनदार बर्तन। (मि० अमरतवांण, अम्रितवांण)

अमरतधारा–सं०स्त्री०—देखो 'अम्रतधारा'।

अमरतधुन, अमरतधुनि–सं०स्त्री० [सं० अमृत+ध्वनि] एक प्रकार का चौबीस मात्राओं वाला यौगिक छंद-विशेष जिसके आदि में एक दोहा होता है और प्रत्येक चरण में झटके के साथ अर्थात द्वित्व वर्णों से युक्त तीन यमक रहते हैं। इसमें दोहे को मिला कर छः चरण होते हैं। प्रायः यह छंद वीर रस के लिए प्रयुक्त होता है।

अमरतवांण–सं०पु० [सं० अमृत भाजन] देखो 'अम्रितवाण'।

अमरता–सं०स्त्री० [सं० अमृता] १ गिलोय. २ दूर्वा. ३ तुलसी. ४ अमरत्व। उ०—एक उपावणहार का अणभै **अमरता**।
—केसोदास गाडण

५ मदिरा. ६ आमलकी. ७ हरीतकी. ८ पिप्पली. ९ अमरत्व, देवत्व।

वि०—जो मरे नहीं. २ न मरने वाली।

अमरति, अमरती–सं०स्त्री० [सं० अमृता] १ एक प्रकार की मिठाई. वि०वि०—देखो 'इमरती'।

वि०—नहीं मरने वाला, अमर। उ०—अमरति नांम अलाहदा दूनियांन दिनाई!—केसोदास गाडण

अमरत्त–सं०पु०—देखो 'अमरत' (रू.भे.) उ०—आतम पियां अजांण ही, अमर करै अमरत्त।—ह.र.

अमरनांमौ–सं०पु०यौ०—१ यश, प्रशंसा, कीर्ति. २ वह जिसका नाम अमर हो गया हो (ल.पिं.)

अमरनाथ–सं०पु० यौ० [सं०] १ काश्मीर की राजधानी श्रीनगर से ७ दिन के मार्ग पर हिन्दुओं का एक तीर्थ। यहाँ श्रावण की पूर्णिमा को बर्फ से ढके शिवलिंग के दर्शन होते हैं. २ जैनों के १८ वें तीर्थङ्कर।

अमरपख–सं०पु०यौ० [सं० अमरपक्ष] पितृपक्ष।

अमरपति–सं०पु० [सं०] १ इंद्र. २ विष्णु (पिं.प्र.)

अभ्रमारग–सं०पु० [सं० अभ्रमार्ग] आकाश, आसमान (डिं.नां.मा.)
अभ्रम्म–वि० [सं० अभ्रम] भ्रमरहित, भ्रांतिविहीन ।
उ०—अपाल अलद्ध अभाळ **अभ्रम्म** ।—ह.र.
अभ्रय–सं०पु० [सं० अभ्र] बादल (अ.मा.)
अभ्रस्यांम–सं पु० [सं० अभ्रस्वामी] इन्द्र (अ.मा.)
अभ्रांत–वि० [सं०] भ्रम से रहित, स्थिर ।
अभ्रांति–सं०स्त्री० [सं०] १ स्थिरता, अचंचलता. २ भ्रम का अभाव ।
अभ्रावा–सं०स्त्री०—चौहान वंश की एक शाखा (वं.भा.)
अमंख–सं०पु० [सं० आमिष] १ मांस, गोश्त । उ०—वहरी **अमंख** हित पंख वळ, गहै कुळंक असंक गत ।—रा.रू.
अमंखांचरेल–सं०पु० [सं० आमिष+रा० चरेल] १ पलचर, मांसाहारी. उ०—छायौ धूंये अयास धमंका सोर भंकां छूट, घोर तोपां **अमंखां चरेल** पंखां घांण ।—दुरगादत्त बारहठ २ सिंह. ३ गिद्ध ।
अमंग–वि०—१ न मांगने योग्य, जो मांगा न जा सके ।
उ०—**अमंग** अपंग असंग असंन, अरंग अजंग अवंग अनंत ।—ह.र.
२ अयाचक ।
अमंगण–वि० [सं० अमार्गण] अयाचक, जो मांगने वाला न हो, याचनारहित । उ०—हुवा **अमंगण** पाय धन, दुज दिन मंगणहार ।—रा.रू.
अमंगळ–वि० [सं० अमंगल] मंगलशून्य, अशुभ, अनिष्ट ।
सं०पु०—अकल्याण, दुख अशुभ, अनिष्ट । उ०—मणि मंत्र तंत्र वळ जंत्र **अमंगळ** थळि जळि नभसि न कोई छळन्ति ।—वेलि.
अमंद्ध–सं०पु०—ईश्वर (नां.मा.)
अमंत्रंद–सं०पु० [सं० अमित्र+इंद्र] शत्रु, रिपु ।
अमंत्र–सं०पु० [स० अमित्र] शत्रु, दुश्मन (अ.मा.)
अमंद, अमंदी–वि० सं०] १ उद्योगी, जो मंद बुद्धि का न हो.
२ जो धीमा या हल्का न हो, तेज । उ०—अब कायर अपहास री रचना रचूं **अमंद** ।—वां.दा. ३ उत्तम, श्रेष्ठ । उ०—अद्भुत **अमंद**, सोभासमंद, श्रुति सकळ सार वरजित विकार ।—ऊ.का.
४ वड़े जोर की । उ०—अरज **अमंदी** मोकळी, औरंग हंदी ओर ।
—रा.रू.
५ तेज, वेगपूर्वक । उ०—मेड़तिया महाराज दळ किया मुदै करतार, दुंद **अमंदी** सालुळै, त्यां हंदी तरवार ।—रा.रू.
६ स्वस्थ, निरोग ।
अमंध–वि०—देखो 'अमंद' (रू.भे.)
अमंलीमांण–वि०—१ ऐश्वर्य या अधिकारों का उपभोग करने वाला ।
उ०—अइयौ **अमलीमांण**, असुरां सूं भारथि अमर । करतौ घाउ कटारिआं, चटाँ लटाँ चहुआँण ।—वचनिका
२ दातार ।
अम–सर्व० [सं० अस्मद्] हमारा, मेरा । उ०—माठा दिन मिटिया हुवै, सेवक थयां सनाथ । सफळी सेवा चाकरी, आज थई अम नाथ ।
—ढो.मा.
अमआवस–सं०स्त्री० [सं० अमावस्या] देखो 'अमावस्या' (रू.भे.)
अमईणौ–सर्व० [सं० आस्माकीन] हमारा, मेरा । उ०—घीचीवियूं घोडेह, **अमईणौ** वत आतळै ।—पा.प्र.
अमकै–क्रि०वि०—१ इस समय । उ०—पटहत्था सिंह सुरतांण रा पोतरा, उडाया तोतरा अखर **अमकै** ।—छत्रसिंह नींबाज रौ गीत
२ अगली बार ।
अमख–सं०पु० [सं० आमिष] देखो 'अमंख' । उ०—फणां अह वड़ड़ धड़ वाज नासा फड़ड़ लियां पंख भड़ा फड़ **अमख** लूदा ।
—पहाड़ खां आढ़ौ
अमखचरौ–सं०पु० [सं० आमिष+चर] देखो 'अमंखांचरेल'
उ०—रिख नारद रीझियां, जिकां हासा रस छायौ, हूर अछ रीझिया महासूरा वर पाया । सांमळां ग्रीव रीझायसकी **अमखचरौ** चर उचरा ।—वखतौ खिड़ियौ
अमग्ग–सं०पु० [सं० अ+मार्ग] १ कुमार्ग, बुरा मार्ग. २ अधर्म ।
अमड़ौ–सं०पु०—वृक्ष विशेष (मेवात)
अमचूर–सं०पु० [सं० आम्र+चूर] १ सुखाई गई कच्चे आम की फाँकें.
२ इन फाँकों का चूर्ण ।
अमट–वि०—देखो 'अमिट' । उ०—वळ **अमट** ऊवट गयण वट, द्रढ़ दनुज दहवट कज दपट ।—र.रू.
अमटणौ, अमटबौ–क्रि०अ०—नहीं मिटना ।
अमटणहार-हारौ (हारी), अमटणियौ–नहीं मिटने वाला ।
अमट्ट–वि०—देखो 'अमिट' । उ०—रजवट वट घट रावतां, उप्रवट उछट **अमट्ट** ।—किशोरदांन वारहठ
अमठ–वि०—१ जो कृपण न हो, दातार. २ देखो 'अमिट' ।
उ०—मन जांणै सहल दीयण वित मौजां, ऐ दौ पण घरियां **अमठ** । वैंडा री वातां ईज वैंडी रै, वैंडा रा पैंडा ईज विकट ।
—वीर रौ गीत
अमणौ–सर्व० [सं० आस्माक] १ हमको, हमें । उ०—कुखत्री कमध कपूत । वीर वचन **अमणौ** वदै ।—पा.प्र. २ हमारा ।
उ०—पाड़ चकारां पांण अमणौं वित्त ले हेंडियौ ।—पा.प्र.
अमत्र–सं०पु० [सं०] पात्र, वर्तन । उ०—छत्रै गरळ **अमत्र** इक मतिमंद मँगाया ।—वं.भा.
अमद–वि० [सं०] विना मद या गर्व के, मदरहित ।
अमदूत–सं०पु० [सं० यमदूत] १ वह घोड़ा जिसके होंठ परस्पर न मिलते हों. (शा.हो.) २ वह घोड़ा जिसका शरीर सफेद हो, किन्तु चारों पैर श्याम रंग के हों । यह अशुभ माना गया है (शा.हो.)
३ देखो 'जमदूत' (रू.भे.)
अमन–सं०पु० [अ०] १ शांति, चैन, आराम । (यौ० अमन-चैन)
उ०—धरती सारी **अमन** चैन हुई, जैंजैंकार हुवौ ।
—जलाल वूबना री वात
२ रक्षा, बचाव ।
वि० [रा० अ+मन] विना मन ।

अमलड़ौ—सं०पु०—अफीम (अल्पा०) उ०—भेख बिगाड़ै जगत नैं, जगत बिगाड़ै भेख। औ लै बाबा अमलड़ौ दुनियां में सुख देख।
—ऊ.का.

अमलतास—सं०पु०—एक वृक्ष जो बहुत बड़ा होता है। इसके पत्ते लाल चंदन के पत्तों से मिलते-जुलते होते हैं। फली के आकार के व डेढ़ हाथ लम्बे फल होते हैं।
पर्याय०—आरगवध, करमाळौ, गरमाळौ।

अमलतासियौ—वि०—अमलतास के फूल के समान।

अमलदस्तूर—सं०पु०—राज्याधिकार देने की रस्म। उ०—चाकरी खूब करावौ पण बादसाहां रौ अमलदस्तूर दुरस्त करियौ चाहौ तौ म्हारे मुरातबा माफक मनसब देवौ।—जलाल बूबना री वात

अमलदार—सं०पु०—अफीमची।
पर्याय०—अफीणची, अफीमची अमली खेखी, डैंळ, माखौ।

अमलदारी—सं०स्त्री०—१ अधिकार, शासन, राज्य।

अमलपट्टौ—सं०पु०—किसी प्रतिनिधि या कारिंदे को किसी कार्य में नियुक्त करने के लिये दिया जाने वाला अधिकार-पत्र या दस्तावेज।

अमलपित—सं०पु० [सं० अम्लपित्त] पित्त के प्रकोप से होने वाला एक रोग विशेष जिसमें भोजन खट्टा होकर अपच उत्पन्न कर देता है। (अमरत)

अमलबेत—सं०स्त्री०—देखो 'अमलवेत' (रू.भे.)

अमलबेल—सं०स्त्री०—भारत के प्रायः सभी गरम प्रदेशों में पाई जाने वाली एक प्रकार की लता (रू.भे. अमरवेल)

अमल री चिट्ठी—सं०स्त्री०—अफीम के खर्च के निमित्त प्रजा से लिया जाने वाला सरकारी लगान।

अमल रौ कोट—सं०पु०—१ बड़ा अफीमची. २ अफीम खिलाने वाला।

अमलवेत, अमलवेद—सं०पु० [सं० अम्लवेतस] १ एक प्रकार की लता जिसकी सूखी टहनियां खट्टी होती हैं और चूर्णों में डाली जाती हैं। २ एक प्रकार का खट्टे फलों वाला वृक्ष तथा इसका फल (अमरत)

अमलांचाक—सं०पु०—अफीम के नशे में चूर। उ०—आपां विनां कदे ऐकलौ नहीं जातौ, नैं अमलांचाक पोसाक कर आज एकलौ हां मुळकतौ थकियौ चालियौ सौ भली नहीं।—जलाल बूबना री वात

अमळा—सं०स्त्री०—१ पृथ्वी (नां.मा.) [सं० अमला] २ लक्ष्मी. [सं० आमलक] ३ आंवला।
वि० [सं० अमला] मलरहित, स्वच्छ, निर्मल। उ०—विमळा कमळा-सी अमळा वेसां री कड़ियां रळकंता कमळां केसां री।—ऊ.का.

अमलिक—वि०स्त्री० [सं० अम्लिका] इमली।

अमलियौ—सं०पु०—अफीमची। उ०—न्यात मेतरां मिळ निपुण पांमर सांसी परजिया, अमलियां देख भारी अधम होका।धारीं हरखिया।
—ऊ.का.

अमली—सं०पु०—१ अमल या अभ्यास करने वाला. २ नशेबाज, अफीमची। उ०—म्हांनै गिणज्यौ मूढ़ अमलियां ओगणगारां।
—ऊ.का.

सं स्त्री०—२ इमली. ३ आम का पौधा या पेड़।
वि०—उल्टी। उ०—अमळी समळी आरती। जाई बघेरड़ दियौ मिलांण।—वी.दे. (यौ०—अमळी-समळी)

अमलीड़, अमलीड़ौ—सं०पु०—अफीमची।

अमलीमांण—वि०—देखो 'अमलीमांण'। उ०—पुर दिल्ली पाधारियौ मारू अमलीमांण। जोवै बाजारां जुड़ै हिंदू मुस्सलमांण।—रा.रू.

अमलौ—सं०पु० [अ०] १ कार्याधिकारी, कर्मचारी, कचहरी में काम करने वाला [सं० आम्र] २ आम, आम्र। उ०—अमले री जागां तमलौ ऊग्यौ, सींचूं दूध मळाई रे।—लो.गी.

अमल्ल—सं०पु०—देखो 'अमल' (रू.भे.)
उ०—तीस बरस कुसर्ता करी, पड़ गुड़ उथल पथल्ल, तैं दीधौ गोडां तळै, अइयौ मींत अमल्ल।—ऊ.का.

अमवौ—सं०पु० [सं० आम्र] आम का वृक्ष अथवा उसका फल।
उ०—म्हांरै आंगण में अमवा रौ पेड़।—लो.गी.

अमां—सर्व० [सं० अस्मद्] १ हमारे। उ०—मैं तौ जोगी सारखा, जोगी म्हांरै लाग। कोइक जोगण परणस्यां, अमां सरीखी आज।—ढो.मा. २ हमको। उ०—वेदु जटवर चवै वीणती, निरखै मधुवन तणौ निवास। व्रजवासी कवळास वसावौ, विसन अमां दीजै व्रजवास।
—अज्ञात

अमांण—वि०—१ बिना हिलाये-डुलाये सीधा. [सं० अप्रमांण] २ बहुत, अपार. [सं० अ+मान] ३ मानरहित।
सर्व०—१ हमारा. २ मेरा.

अमांणौ—सर्व० [सं० अस्मद्] (बहु—अमांणा) मेरा, हमारा।

अमांन—वि० [सं० अमान] १ बहुत, बेशुमार। उ०—मदे अमांन मांन तें विमांनु ढप्पती वहै।—ऊ.का. [रा०] २ मजबूत, दृढ़। उ०—थित सहर लाडणूं राजथांन, अत सहर कोट रच गढ़ अमांन।
—शि.सु.रू.

३ स्थिर, अटल। उ०—अमांन थांन आंन तें प्रमांन अस्त्र तें परें।—ऊ.का. [सं०] ४ निरभिमान, गर्वरहित। उ०—अहँकार अठी 'अभमल' अमांन खिलियार उठी सिर विलंद खांन।—वि.सं. [सं० अप्रमाण] ५ अप्रमाण, प्रमाणरहित। उ०—मनवुध अमांन पहुँचे न प्रांन, वाचक न वाच्य वह पद अवाच्य।—ऊ.का. [सं० अ+मान=प्रतिष्ठा] ६ तिरस्कृत, मानरहित, तुच्छ।
सं०पु०—१ पांडु पुत्र भीम (अ.मा.)
सं०स्त्री० [अ० अमानत] २ अमानत, धरोहर। उ०—रांणा रतनसी री कंवर घड़सी दोय जणा तौ अै नैं जणा तीन दूजा जुमलै पांच तुरकां नूं अमांन सूंपी।—बां.दा. [सं०अ+मान=प्रतिष्ठा] ३ बेइज्जती अपमान, अप्रतिष्ठा। उ०—थिरा नभ थावर जंगम थांन, महा पद आपद मांन अमांन।—ऊ.का. [अ०] ४ रक्षा, शरण, पनाह।

अमांनत—सं०स्त्री० [अ० अमानत] कुछ काल के लिए अपनी वस्तु किसी दूसरे के यहां रखना, धरोहर, थाती।

अमरपद–सं०पु०यौ० [सं०] १ मुक्ति, मोक्ष. २ देवपद. ३ वैकुंठ, स्वर्ग (नां.मा)। उ०—हुवै मुवाँ विन मुकत नँह, भै विन हुवै न प्रीति। सुवा पियाँ विन अमरपद, हूँ न दियाँ. विन क्रीत।—वां.दा.

अमरपसाव–सं०पु०—एक प्रकार का घोड़ा (शा.हो.)

अमरपुर, अमरपुरी–सं०पु० [सं०] अमरावती, देवलोक, स्वर्ग। उ०—लार नृप ऊभै सतियां लियां अमरपुरी में आविया।—पा.प्र.

अमरपुरौ–सं०पु०—१ देखो 'अमरपुर'. २ देखो 'अमरकोट'. ३ अमरकोट का निवासी सोढ़ा राजपूत।

अमरवेल–सं०स्त्री० [सं० अंवरवल्ली] विना जड़ों और पत्तों वाली एक पीली लता या वौर, आकाश वौर।

अमरभुवण–सं०पु०यौ० [सं० अमर+भुवन] स्वर्ग, वैकुण्ठ।

अमरभेंट–सं०स्त्री०—नारियल (अ.मा.)

अमरमुख–सं०पु०—अग्नि (अ.मा.)

अमरलोक–सं०पु०यौ० [सं०] देवलोक, स्वर्ग, इंद्रपुरी।

अमरवंस–सं०पु० [सं० अमर+वंश] देववंश, जो वंश अमर हो। अमरवंस आपांण जांण लंका छळवंदर।—रा.रू.

अमरवेल–सं०स्त्री०—देखो 'अमरवेल' (रू.भे.)

अमरस–सं०पु० [सं० आम्र+रस] १ अमावट, आमों का रस. २ देखो 'अमरख'। उ०—अमरस वेइतवार, निरदयता मन नासतिक, नर सम सार असार, पैलां घर वांछै पिसण।—वां दा.

अमरसुहाग–सं०पु० यौ०—सदा अखंड रहने वाला सुहाग।

अमरसुहागण–सं०स्त्री० यौ०—१ वह स्त्री जो पूरे जीवन भर सुहागिन वनी रहे. २ सती. ३ वेश्या।

अमरांण, अमरांणौ–सं०पु०—देखो 'अमरकोट'।

अमरांमाळ–सं०पु०—१ देववृन्द, देव समूह. २ देव पंक्ति।

अमरांलोक–सं०पु० यौ० [सं० अमरलोक] स्वर्ग, अमरलोक।

अमराई–सं०स्त्री० [सं० आम्रराजि] १ आम का वाग, आमों के वृक्षों का झुरमुट. २ अमरत्व।

कहा०—अमराई रा वीज खा'र कोई आया नी—कोई भी अमर नहीं हैं।

अमराखि–सं०पु० [सं० अमर्ष] देखो 'अमरख' (रू.भे.)

अमरांपुरी, अमरापुर–सं०पु० [सं० अमर+पुर] देखो 'अमरपुर' (अ मा.)

अमराभुज–सं०पु०—दैत्य (अ.मा.)

अमरालय–सं०पु० [सं०] स्वर्ग, देवालय।

अमराव–सं०पु० [अ० अमीर] १ सरदार। उ०—अमराव अमीरळ वळ अथाह। सांमहा मेलिया पातसाह।—वि.सं. २ धनाढ्य. ३ प्रतिष्ठित व्यक्ति, अमीर. ४ राजा या वादशाह के कृपापात्र व्यक्ति।

अमरावत–सं०पु०—वीका राठौड़ों की एक शाखा।

अमरावती–सं०स्त्री० [सं०] देवपुरी, स्वर्ग, इंद्रपुरी (अ.मा.)

अमरित–सं०पु० [सं० अमृत] अमृत (रू.भे.)

अमरी–सं०स्त्री० [सं०] १ देवता की स्त्री, देवपत्नी. २ देवकन्या. ३ अप्सरा। उ०—रतनां री रासि, अंधारै रौ आदीत, अरस री अमरी, सरग री झांप···घणौं हाट नै चीरमां लपेटी थकी विराजमांन होइ नै रही छै।—रा.सा.सं. ३ एक वृक्ष. ५ आसन. ६ दूव, दूर्वा. ७ गिलोय. ८ राजस्थानी की वहत्तर कलाओं में से एक।

अमरीक, अमरीख–सं०पु० [सं० अमरीष] अमरीष नामक एक पौराणिक सूर्यवंशी राजा जो वड़ा ईश्वर-भक्त था।

अमरु, अमरू—देखो 'अमर'।

सं०पु० [अ० अहमर] १ एक प्रकार का रेशमी वस्त्र।

अमरूद–सं०पु०—१ सफरी, जामफल नामक एक फल. २ इस फल का वृक्ष।

अमरेस, अमरेस्वर–सं०पु० [सं० अमरेश] १ देवराज, इंद्र। [सं० अमर्ष] २ देखो 'अमरख'।

अमरौ–वि० [रा० अ+मरा] अमर, जो मरा न हो।

सं०पु० [सं० अमरा] १ दूव. २ सेहुंड, थूहर. ३ काली कोयल. ४ गर्भ के वालक पर लिपटी रहने वाली झिल्ली, ५ आंवला.

अमळ–वि० [सं० अ=रहित+मल] १ मलरहित, स्वच्छ, निष्कलंक। उ०—दिव रूप आंगण तरणि दरसी, अमळ दळ पट अंवरे।—रा.रू. २ पवित्र। उ०—धुज उजळ देवळ अमळ निरख नमै नरयंद।—रा.रू.

अमल–सं०पु० [अ०] १ अधिकार, शासन। उ०—भोमिया रावळ माला री अमल मांनै छै।—नैणसी।

क्रि०प्र०—करणौ-जमाणौ-होणौ।

यौ०—अमलदस्तूर, अमलदारी, अमलवरामद।

२ व्यवहार, कार्य, आचरण का साधन. ३ नशा, आदत, लत. ४ प्रभाव, असर. ५ समय, वक्त। उ०—हिवै तीजै पहर कै अमल राजा वोलियौ।—चौवोली ६ नीला रंग. ७ आरम्भ. [रा०] = सिंह (ना.डि.को.) ६ थकान मिटाना, दम लेना, विश्राम। उ०—१ ताहरां विजाणंद रै डेरै सयणी आयी, विजाणंद साम्हौ आयौ, आइनै रांम रांम कियौ, कह्यौ हालो राज अमल करौ। ताहरां वीजाणंद सयणी नै डेरै ले गयौ।—सयणी री वात

उ०—२ किउं ठाकुर अळगा वहउ, आवउ अमल करांह, म्हे पिण जास्यां नरवरइ, एकण साथ खड़ांह।—ढो.मा.

१० अफीम नामक एक मादक द्रव्य।

पर्या०—अफीण, अफीम, आफू, कसनागरौ, काळागर, काळियौ, काळौ, किसनागर, कैफ, क्रस्नागर, तिजारसी, दांणवत, नागझाग, नागफैण, पोसत, सांवळियौ, सांवळौ।

क्रि०प्र०—खाणौ-गळणौ-गळाणौ-जमाणौ-देणौ-लेणौ।

अल्पा०—अमलड़ौ। (रू.भे.-अमल्ल)

यौ०—अमलदार, अमल री चिट्ठी, अमल रौ कोट।

वि० [सं० अम्ल] खट्टा, तुर्स (यौ०-अमलपित्त)

अमित्र–वि० [सं०] शत्रु, वैरी। उ०—चरित्र में विचित्र ज्यूं, पवित्र में पवित्र जे। अमित्र के अमित्र त्यूं, सुमित्र के सुमित्र जे।—ऊ.का.

अमित्रता–सं०स्त्री० [सं०] शत्रुता। उ०—अर्यांन तैं अमित्रता विचित्रता विचित्र की, महांन मित्र मित्रता पवित्र तैं पवित्र की।—ऊ.का.

अमिय–सं०पु० [सं० अमृत] अमृत, सुधा। उ०—तिहारी न्रस्टी पें अमिय कर ब्रस्टी तन तजूं। कुद्रस्टी दिस्टी को भसम कर इस्टी हरि भजूं।—ऊ.का.

अमिरत–सं०पु० [सं० अमृत] अमृत, सुधा (रू.भे.)

अमिरतवांण–सं०पु० यौ०—देखो 'अम्रतवांण'।

अमिरति, अमिरती–सं०पु० [सं० अमृत] अमृत (रू.भे.)

अमिळणौ, अमिळवौ–क्रि०स०—नहीं मिलना। उ०—द्रग मिळत अमिळत चपळ देखत अवनि पर जन अघटही।—रा.रू.

अमिळी–वि०—न मिलने योग्य, बेमेल, बेजोड़।
सं०स्त्री०—इमली।

अमिळियोड़ौ, अमिळीयोड़ौ–भू०का०कृ०—नहीं मिला हुआ।
(स्त्री० अमिळीयोड़ी)
सं०पु०—वह बैल जिसके दाँत पूरे नहीं आये हों।

अमी–सं०पु० [सं० अमृत, प्रा० अमिअ] १ अमृत, पीयूष। उ०—विख हळाहळ बोय के, कोई अमी उपावै।—केसोदास गाडण. २ थूक, ष्ठीवन. ३ दूध। उ०—देवी मात रे रूप तूं अमी स्रावै।—देवि. ४ पानी। उ०—देवी सागरे सीप में अमी स्रावै।—देवि.
सर्व०—मैं, मेरा, मुझे, हमारा, हम।

अमीठौ–वि० [रा० अ+मीठौ] जो मीठा न हो, कडुआ, कटु।

अमीणि, अमीणिय–सर्व०—१ मेरी. २ हमारी। उ०—लग वेघ अमीणिय धेन लए।—पा.प्र.

अमीणौ–सर्व० [सं० आत्माक] १ हमारा. २ मेरा। उ०—सखी अमीणा कंत री अंग ढीलौ आचंत।—हा.झा.

अमीणौय–सर्व०—हमारा, मेरा। उ०—वत जाय अमीणौय वार वही, नरनाह थरां आज 'पाल' नहीं।—पा.प्र.

अमीत–वि० [सं० अ+मित्र] शत्रु, वैरी।

अमीन–सं०पु० [अ०] १ कचहरी या अदालत का वह कर्मचारी या अहलकार जिसके सुपर्द बाहर का काम हो. २ जागीरी सेटिलमेंट विभाग का एक कर्मचारी।

अमीय (ह)–सं०पु० [सं० अमृत, प्रा० अमिअ=रा० अमी] अमृत। उ०—आतम अरणभै ब्रहम ग्यांन मुखरा अमीयाह।—केसोदास गाडण

अमीर–सं०पु० [अ०] १ शासनाधिकारी, सरदार। उ०—जिसौ लाय जाळियौ, फजर मिळ जाय फकीरां। साह दहण मेकियौ, इसौ पेखियौ अमीरां।—रा.रू. २ धनाढ्य, दौलतमंद. ३ अफगानिस्तान के राजा की उपाधि।

अमीरपण, अमीरपणौ–सं०पु०—१ अमीर होने का भाव. २ अमीरों का सा स्वभाव।

अमीरळ–सं०पु०—देखो 'अमीर'। उ०—आया मिळण अमीरळ एता, जवनां दळ मुदायत जेता।—रा.रू.

अमीरस–सं०पु० [सं० अमृत+रस] अमृत। उ०—बारैई मास अमीरस बरसै, परसे तन परसावै।—ऊ.का.

अमीरांनौ–वि०—१ अमीरों के समान. २ अमीरी प्रकट करने वाला।

अमीरी–सं०स्त्री०—रईसी, धनाढ्यता, उदारता। उ०—सड़कां ऊपर करै मजूरी, मोटा सेठ सेठांणी। करसां नै मजदूरां आगै, भरै अमीरी पांणी।—रेवतदान

अमुक–वि०—फलाँ, ऐसा-ऐसा।

अमुख–सं०पु० [सं० आमिष] माँस। उ०—अमुख अमुखचर नारद औसर, त्रिपति पांच मिळि पांच तत।—गोरधन बोगसी
(यौ० अमुखचर)

अमुखचर–सं०पु० [सं० आमिष+चर] माँसाहारी।

अमूंजणी–सं०स्त्री० [सं० आमूर्च्छन] १ वात-विकारजनित एक रोग, मूर्छा. २ दम घुटने का भाव।

अमूंजौ–सं०पु०—१ उमस की कड़ी गर्मी. २ दमघुटन।

अमूक–वि० [सं०] जो गूंगा न हो, वक्ता, चतुर।

अमूकणौ, अमूकवौ–क्रि०स० [सं० आमुक्त] निकालना, काढ़ना।

अमूकयौ, अमूकयोड़ौ–भू०का०कृ०—निकाला हुआ।
(स्त्री० अमूकयोड़ी)

अमूकवाणौ, अमूकवावौ–क्रि० [प्रे०रू०] निकलवाना।

अमूकवायोड़ौ–भू०का०कृ०—निकलाया हुआ। (स्त्री० अमूकवायोड़ी)

अमूकाणौ, अमूकावौ–क्रि० [प्रे०रू०] निकलाना, कढ़ाना।
(रू.भे. अमूकावणौ)

अमूकायोड़ौ–भू०का०कृ०—निकलवाया हुआ (स्त्री० अमूकायोड़ी)

अमूकावणौ, अमूकाववौ–क्रि०स०—देखो 'अमूकाणौ'।

अमूकावियोड़ौ–भू०का०कृ०—निकलवाया हुआ (स्त्री० अमूकावियोड़ी)

अमूकियोड़ौ–भू०का०कृ०—निकाला हुआ (स्त्री० अमूकियोड़ी)

अमूजणौ, अमूजवौ–क्रि०अ०—देखो 'अमूभणौ'।

अमूजौ–सं०पु०—देखो 'अमूभौ'।

अमूभणी–सं०स्त्री०—१ मूर्छा. २ दमघुटन।

अमूभणौ–सं०पु०—१ मूर्छा. २ दमघुटन।

अमूभणौ, अमूभवौ–क्रि०अ०—१ दम घुटना. २ दिल घबराना। उ०—सौ राव आंमण दुमण अमूभियौ ही ऊभौ छै, बोलै क्यूं ही नहीं छै।—डाढ़ाळा सूर री वात
३ मूर्छित होना।
अमूभणहार-हारौ (हारी), अमूभणियौ–वि०—मूर्छित होने वाला, जिसका दम घुटता हो।
अमूभाणौ-अमूभावौ-अमूभावणौ-अमूभाववौ–स०रू०।
अमूभिओड़ौ-अमूभियोड़ौ-अमूभयोड़ौ–भू०का०कृ०।
अमूभीजणौ, अमूभीजवौ–भाव वा०।

अमांनतदार–सं०पु० [अ० अमानतदार] जिसके पास कोई धरोहर या अमानत रक्खी हो।

अमांनी–वि०— जिसे अभिमान न हो।

अमांनुस–वि० [सं० अमानुष] जो मनुष्य की सामर्थ्य से बाहर हो।

अमांनुसी–वि० [सं० अमानुषीय] मानव स्वभाव के विपरीत।

अमांनेतण–सं०स्त्री०—वह स्त्री जिसका पति उसे हृदय से न चाहता हो।

अमांनेतणपण, अमांनेतणपणौ–स०पु०—पत्नी या नायिका का मान न रखने का भाव।

अमांम–वि०—१ बढ़िया श्रेष्ठ। उ०—चाळागारा भूपाळा ऊमरांमाळा मेर चंपा, उजाळा दीपक्कां ढाळा विरदां **अमांम**।
—गीत आउवा रौ

[सं० अप्रमाण] २ बहुत, तमाम। उ०—बाजराज बारण रथां, अवर समाज **अमांम**। हाजर तिण वारी हुआ, त्यारी करै तमांम।
—र रू.

अमांमदस्तौ–सं०पु०—देखो 'हमांमदस्तौ' (रू.भे.)

अमांमो, अमांमौ–वि०—१ देखो 'अमांम'। उ०—१ आव सुमत खग सकत **अमांमी** सनि गुण हुवै जगत चौ सांमी।—रा.रू.

उ०—२ किलम **अमांमौ** कमधजां सांमौ वग्गौ आय।—रा.रू.

(स्त्री० अमांमी)

२ बहुत, अधिक। (मि० अमांम)

अमांस–वि० [सं० अ+मास] जिसके शरीर पर माँस बहुत थोड़ा हो, दुर्बल।

अमा–सं०स्त्री० [सं०] १ अमावस्या। उ०—ईस्वरीसिंह सिटाय सुनि, भयौ **अमा** संसि भाय।—वं.भा.

२ माता, माँ। उ०—कळह **अमा** धी कायरां वीर भड़ां सुखवांम (भूमि)

अमाई–वि०—१ अप्रमाण। उ०—यां दाखे तरवार उठाई मौरां प्रगटी पीड़ **अमाई**।—रा.रू. २ बहुत, अधिक। उ०—विसनदास वालौ वरदाई, मोकळसर उर खळां **अमाई**।—रा.रू. (रू.भे. अमांम)

अमाडौ–सं०पु०—युद्ध।

अमात–वि० [सं० अ+मातृ] मातृहीन। उ०—अलाह अगाह अवाह अजीत, **अमात** अतात अजात अतीत।—ह.र.

अमात्य–सं०पु० [सं०] मंत्री। उ०—प्रांणप्रिया छोटी कुमरांणी गोडि मदनावती नूं बुलाइ अनेक उचित वाड़ा वणाइ आपरा **अमात्य** नूं बंबावदै वरणदूत दे'र उपयम रै उचित उपहार एकठौ कराइ लग्न पूछियौ।—वं.भा.

अमाप, अमापियौ, अमापी–वि०—जिसका माप या तौल न किया जा सके। अपार, असीम, बेशुमार। उ०—१ लोहलाट लंगरी **अमाप** फौजां ले'र।—गीत डूंगजी रौ

उ०—२ नळी कटाड़ूं नीली लप, घी **अमापियौ** खाय। हाथ बैंत रै आंतरै, ऐ कोटड़िया जाय।—बां.दा.

अमाय–वि०—१ मातृहीन. २ बहुत, बेशुमार। उ०—जस करै एम दुनियांण जाय, महरांण जेम गरवत **अमाय**।—वि.सं.

अमार–क्रि०वि०—अभी, अब (रू.भे.-अबार)

अमारग–सं०पु० [सं० अ+मार्ग] कुमार्ग, बुरी राह।

अमारड़ी–सर्व० (प्रा०रू०) हमारी। उ०—कइवा देवळ-पुतळी (?) ईसीय छइ प्रभुजी **अमारड़ी** नार।—वी.दे.

अमारी–सं०स्त्री०—देखो 'अंबाड़ी' (रू.भे.)

अमारू–वि०—दूसरा, अन्य।

क्रि०वि०—अभी, अब।

अमारौ–सर्व०—१ हमारा. २ मेरा (रू.भे.)

अमाव–वि०—बहुत, अधिक, असीम। उ०—उरां दाभ्रां वैरी हरां दिलेसां **अमाव**।—रामकरण महडू

सं०पु०—१ योद्धा, सुभट।

सं०स्त्री० [सं० अमावस्या] २ अमावस्या की तिथि।

अमावड़–वि०—नहीं समाने वाला, असीम। उ०—**अमावड़** वनां में हुई लोथां अनंत।—बां.दा.

अमावणौ, अमावबौ–क्रि०सं०—न समाना।

अमावतौ–वि० (स्त्री० अमावती) अपार, बहुत, अधिक।

अमावस, अमावस्या, अमावास्या–सं०स्त्री० [सं० अमावस्या] कृष्ण पक्ष की अन्तिम रात्रि, अमावस्या।

कहा०—१ अमावस री रात भैंसारात गिणीजै—अमावस्या की रात्रि भैंसा (यमदूत) की रात्रि है। अमावस्या की रात्रि मांगलिक कार्यों के लिए अच्छी नहीं समझी जाती।

अमावियोड़ौ–भू०का०कृ०—१ नहीं समाया हुआ. २ आजमाया हुआ. (स्त्री० अमावियोड़ी)

अमास–सं०पु० [सं० आवास] आमखास, सभाभवन, आवास, निवास-स्थान। उ०—लाजवरद सीळ सुपेद, जंघाळ जुगत व्रत। रचि **अमास** नवरंग, करे मधि चित्र देवकृत।—रा.रू.

अमासव–सं०स्त्री० [सं० अमावस्या] देखो 'अमावस'।

उ०—दिन में रात जगावती, बादळियां बरसात। कदे **अमासव** सी करै, चट पूनम री रात।—बादळी

अमास्ती–सर्व०—हम।

अमिट, अमिट्ट–वि०—नहीं मिटने वाला, स्थायी, निश्चित, नित्य, दृढ़।

उ०—अमिट भड़ां वळ अंग में, कोठारां सामांन। सांमध्रमी ठाकुर सकौ, दिए रंग दुनियांन।—बां.दा.

अमित–वि० [सं०] अपरिमित, असीम, अपार। उ०—अदभूत रेख सोभा **अमित**, कळप तरोवर सेवकां।—रा.रू.

सं०पु०—१ अमृत। उ०—जोगी जगत संन्यासी जेता, अन घ्रत **अमित** लहै पुर एता।—रा.रू. २ थूक [सं० अ+मित्र] ३ शत्रु, दुश्मन (मि० अमित्र)

अमित्ती–वि० [सं० अमित] अपरिमित, अपार, असीम।

अम्यांन-वि०—विना म्यान, म्यानरहित, नंगी (तलवार)।
उ०—लोह लाठ हतावेंय ढाल लियां, कर दूजेय खाग अम्यांन कियां—पा.प्र.

अम्रकोस-सं०पु०—१ अमरकोश. २ मृग की नाभि।

अम्रत-सं०पु० [सं० अमृत] १ अमृत, पीयूष, देखो 'अमरत' २ हरीतकी, हड़, हर्रे (अ.मा.) ३ फलित ज्योतिष के अट्ठाइस योगों में से एक योग (ज्योतिष वाळबोध)।

अम्रतकर-सं०पु० [सं० अमृतकर] देखो 'अमरतकर' (ह.र.)

अम्रतकुंडळी-सं०स्त्री० [सं० अमृत+कुंडली] प्लवंगम या चांद्रायण के अंत में हरिगीतिका के दो पद मिलाने से बनने वाला एक छंद विशेष (पिंगळ)

अम्रतगति-सं०स्त्री० [सं० अमृतगति] प्रत्येक चरण में क्रमशः भगण जगण नगण तथा अंत में गुरु वर्ण का छंद विशेष (र.ज.प्र.)

अम्रतगीत-सं०पु० [सं० अमृतगीत] पिंगल प्रकाश के अनुसार एक वर्णिक वृत्त विशेष।

अम्रतचरण-सं०पु० यौ० [सं०] वह जिसकी अस्खलित गति हो, गरुड़ (नां.मा)

अम्रतदांन-सं०पु० यौ० [सं० मदाधान अथवा अमृत+आधान] १ शराव रखने का वर्तन विशेष. २ देखो 'अम्रतवांण'।

अम्रतधारा-सं०स्त्री० यौ० [सं० अमृत+धारा] अजवायन का सत, पोदीना (पीपरमेंट) के फूल और कपूर तीनों को समभाग मिलाने से बनने वाली एक औषधि विशेष जो ज्वर, हैजा व नेत्र, कान, नाक आदि के अनेक रोगों की दवा है।

अम्रतधुनि, अम्रतध्वनि-सं०स्त्री०यौ० [सं० अमृतध्वनि] चौवीस मात्राओं का एक यौगिक छंद विशेष। देखो 'अमरतधुन'

अम्रतवंधु-सं०पु० यौ० [सं० अमृत+वंधु] देवता।

अम्रतवांण-सं०पु० यौ० [सं० अमृत+भाजन] प्रायः चीनी मिट्टी का बना हुआ गहरा वर्तन विशेष जिसमें शराव मुरब्बा, घी आदि रक्खे जाते हैं। (अमरत)

अम्रतमई-सं०पु० यौ०—चंद्रमा (अ.मा.)

अम्रतयोग-सं०पु० यौ० [सं० अमृतयोग] फलित ज्योतिष के अंतर्गत एक शुभ फलदायक योग।

अम्रतरस्स-सं०पु० यौ० [सं० अमृतरस] देखो 'अमरतरस'।
उ०—सदा नित आनंद नांम सहस्स, रघूपति उच्चित अम्रतरस्स।
—ह.र.

अम्रतलोक-सं०पु० यौ० [सं० अमृतलोक] स्वर्ग, वैकुंठ।

अम्रतसिद्धियोग-सं०पु० यौ० [सं० अमृतसिद्धियोग] एक प्रकार का शुभ योग जिसके अनुसार रविवार को हस्त नक्षत्र का होना, गुरुवार को पुष्य नक्षत्र, बुधवार को अनुराधा नक्षत्र, शनिवार को रोहिणी नक्षत्र, शुक्रवार को रेवती नक्षत्र और मंगलवार को अश्विनी नक्षत्र हो।

अम्रताभख-सं०पु० यौ० [सं० अमृतभक्ष्य] देवता (नां.मा.)

अम्रतास-सं०पु० [सं० अमृताश] देवता (डिं.को.)

अम्रताहरण-सं०पु० यौ० [सं० अमृतभरण] गरुड़।

अम्रतिमय-सं०पु० [सं० अमृतमय] चंद्रमा (ह.नां.)

अम्रतेस-सं०पु० [सं० अमृत+ईश] देवता (ह.नां., नां.मा.)

अम्रित-सं०पु०—देखो 'अमरत'। उ०—अति सीतळ अम्रित जिसौ पायौ परघळ नीर।—ढो.मा.

अम्रितवांण-सं०पु०—देखो 'अम्रतवांण' (रू.भे.)

अम्रितवैणी-वि० यौ० [सं० अमृत+वचन+ई-रा०प्र०] मधुरभाषिनी
उ०—आगैं म्रिगानैणी,- अम्रितवैणी कांमणी सिणगार सझिया छै।
—रा.सा.सं.

अम्लपित्त-सं०पु० यौ० [सं०] एक प्रकार का रोग विशेष जिसमें किया जाने वाला भोजन पित्त के दोष से खट्टा हो जाता है। (अमरत)

अम्ह-सर्व० [सं० आस्माक, अस्मदीय] हम, हमारी, हमारे, मेरे, मेरी। मैं, मैंने। उ०—१ वसिस्ट रांम कुमार वय, औ अम्ह घरौ आदेस। क्यूं मेल्हूं रघुकुळ कमळ दुस्ट निसाचर देस।—रांमरासौ
उ०—२ सौ लेजावण सदन पुणे मीसण वाटी प्रति। उठै सिद्धपळ अम्ह मंगि जीमण चहियौ मति।—वं.भा.

अम्हक-वि० [अ० अहमक] मूर्ख, उद्दंड।

अम्हतणी-सर्व० [सं० अस्मदीय] हमारी, मेरी। उ०—एक वीनती हिव अम्हतणी, संभळि तूं सोवनगिरि-धणी।—ढो.मा.

अम्हनइ-सर्व० (प्रा०रू०) हम। उ०—अम्हनइ मोकळिया इणि ठाइ, कुमरि तुम्हारी मांगइ राइ।—ढो.मा.

अम्हनि-सर्व०—मेरी, हमारी। उ०—वळी वचन वोलइ सुरतांण, अम्हनि इणि परि करज्यौ जांण।—कां.दे.प्र.

अम्हस्यूं-सर्व०—हमसे। उ०—अम्हस्यूं प्रीति आंणेज्यौ घणी, आंणइ जमारइ मोकळावणी।—कां.दे.प्र.

अम्हां-सर्व०—हमारा, मेरा, हमको। उ०—कही गुण केहि गोरड़ी विघ दाखवौ अम्हां।—ढो.मा.
सं०स्त्री० [फा० अम्मा] माता।

अम्हारउ-सर्व० (प्रा०रू०) हमारे, मेरे।

अम्हारी-सर्व०—हमारी।

अम्हि-सर्व०—हम। उ०—वेटी वचन ऊचरइ इसूं, देवलोक अम्हि वे पामिसूं।—कां.दे.प्र.

अम्हिणो-सर्व० [सं० आस्माकीन] १ मेरा. २ हमारा।

अम्हीणा, अम्हीणी, अम्हीणो-अम्हीणौ-सर्व०—१ मेरा. २ हमारा, हमारी। उ०—१ ढाढ़ी जो ढोलो मिळै, कहे अम्हीणी वत्त।
—ढो.मा.
उ०—२ राघव अम्हीणौ आतम रांम।—ह.र.

अम्है-सर्व० [सं० अस्मद] १ हम। उ०—१ कइ अम्है नीच संग आचरियउ कनक चोरीया कापी।—कां.दे.प्र.

अमूझाणौ, अमूझावौ–क्रि०अ०—१ दम घुटना. २ मूर्छित होना।
क्रि०स०—१ दम घुटाना. २ मूर्छित करना।
अमूझणहार-हारौ (हारी), अमूझाणियौ–वि०।
अमूझायोड़ौ–भू०का०कृ०। **अमूझावणौ, अमूझावबौ**–रू०भे०।
अमूझायोड़ौ–भू का०कृ०—१ दम घुटा हुआ. २ दिल घबराया हुआ। (स्त्री० अमूझायोड़ी)
क्रि०स०—१ दम घुटाया हुआ. २ मूर्छित किया हुआ।
अमूझावणौ, अमूझावबौ–क्रि०स०—देखो 'अमूझाणौ' (रू.भे.)
अमूझियोड़ौ–भू०का०कृ०—मूर्छित, जिसका दम घुटा हुआ हो, जिसका दिल घबराया हुआ हो। (स्त्री० अमूझियोड़ी)
अमूझौ–सं०पु०—१ दम घुटने का भाव. २ वर्षाकाल में उमस की कड़ी गर्मी।
पर्याय०—आड़ंग, उमस हुड़तपौ।
क्रि०प्र०—होणौ।
अमूढ़–वि० [सं० अ+मूढ़] जो मूढ़ न हो, चतुर।
अमूमन–क्रि०वि० [अ०] प्रायः, बहुधा, अक्सर।
अमूळ–वि० [सं० अमूल] १ जड़ या मूलरहित कारणरहित।
उ०—विना वपु रूप अनंत विथार, **अमूळ** विरक्ख सु विस्वाधार। —ह.र.
[रा०] २ जड़ या मूलसहित।
अमूल–वि० [सं० अमूल्य] अमूल्य। उ०—जउ भरि वूठउ भाद्रवउ, मारू देस **अमूल**।—ढो.मा.
अमूल्य–वि० [सं०] १ जिसका मूल्य निर्धारित न किया जा सके, अनमोल. २ बहुमूल्य।
अमे–सर्व०—१ मेरा. २ हम। उ०—**अमे** राठौड़ राजां तणा उमरा, जुड़ेवा पारकी छट्टी जागां।—अमरसिंह राठौड़ री वात।
क्रि०वि०—अब (रू.भे. अमै, हमै)
अमेद–सं०स्त्री० [फा० उम्मीद] उम्मीद, आशा, इच्छा।
अमेध–सं०पु० [सं० अमेध] १ मूर्ख (अ.मा.) [सं० अमेध्य] २ विष्ठा, मल-मूत्र, अपवित्र वस्तु।
वि० [सं० अमेध्य] १ अपवित्र। उ०—जिण समै महामारी रै मंडाण नरां रौ नांम देखि कोई'क कच्चा मंत्र रा देणहार आहवरा **अमेध** सामंतर सूचिया घोड़ै चढ़ण री हूँस धारी।—वं भा.
अमेळ–सं०पु० [रा० अ+मेळ=मित्रता] १ मेल या मैत्री से रहित। मनमुटाव, विरोध, अनमेल, शत्रुता। उ०—१ ए जो पांडव यथा **अमेळा**, विठळ धाव तौ जिसी वेळा।—सिवदांन वारहठ
उ०—२ उदैपुर रांणा जैसिंघजी रै नै कंवर अमरसिंघजी रै **अमेळ** हुवौ।—वां.दा.
२ राजस्थानी के छोटे सांणोर गीत (छंद) का एक भेद विशेष जिसमें विषम पदों में १६ मात्राएँ और समपदों में यदि अंत में गुरु हो तो १४ व लघु होने की अवस्था में १५ मात्रायें होती हैं किन्तु इसके पदो का तुक नही मिलता।
वि०—बेढंग, बेतरतीब, भद्दा। उ०—हळ वळ करै कादरी पहरै ऊपर वांधै पाघ **अमेळ**, वर तर हार जिसौ वाड़ी रौ मूठी अनै ताड़ी रौ मेळ।—कूत रौ गीत
अमेव–वि० [सं०] १ असीम. २ अज्ञेय, जो जाना न जा सके.
सं०पु० [सं० अहमेव] अभिमान, घमंड।
अमेह–क्रि०वि०—अब, अभी।
अमै–क्रि०वि०—अब अभी। उ०—आंमंख डळा **अमै** कुण आपै, खेचर व्रथा भमै चहुँखूंट।—सांगा रौ गीत
सर्व०—हम।
अमोगौ–वि०—१ बढ़िया, समर्थ। उ०—वकसी लोग मुनसी राय लिखवा में **अमोगौ**।—शि.वं. २ पूरा।
अमोघ–वि० [रा०] १ अपार। उ०—आखंतां नांम टळै अघ ओघ, उपज्जै आणंद सुख **अमोघ**।—ह.र. [सं०] २ अव्यर्थ, अचूक।
उ०—इसड़ौ **अमोघ** उपाइ बिचारि कपट रै प्रपंच वाणियां री वरात वणाई।—वं.भा.
सं०पु०—समुद्र (ना.डि.को.)
अमोघौ–वि०—बहुत, भरपूर। देखो 'अमोघ'।
अमोड़ौ–वि०—नही मुड़ने वाला, पीछे न हटने वाला, योद्धा, वीर।
उ०—अई अरोड़ा रांण झाला अचळ अखाड़ा, जैतखंभ **अमोड़ा** खळां जारै।—झाला जालमसिंह कोटा रौ गीत।
अमोल, अमोलक, अमोलख, अमोलिक, अमोल्य–वि०पु० [सं० अमूल्य, अमूल्यक] देखो 'अमूल्य'। उ०—१ वाल्हौ रूंख मंदार सवखे फूलां भरियौ। ऊभौ जेथ **अमोल**, मौ घण वाछल हरियौ।—मेघ.
उ०—२ खग जड़ाव भारिया कितांई सिरपाव **अमोलक**।—रा.रू.
३ ओगण मेटणहार, **अमोलख** ओखद इणमें।—दसदेव
४ तठा उपरांति करि नै सराफ वजाज जोहरी दलाल भांति भांति रा वाव, भांति भांति रा पदारथ, भांति भांति री **अमोलिक** वसतां मोलावीजै छै।—रा.सा.सं.
५ रिध सोव्रन मोती रतन, वसन **अमोल्य** विसाह।—रा रू.
अमौघ–वि० [सं० अमोघ] देखो 'अमोघ' (क.कु.वो.)
अम्मर–सं०पु०—१ देखो 'अमर'। उ०—१ परवाड़ा थारा इळ ऊपर **अम्मर** करै वखांण।—रा.रू.
उ०—२ तपै भूम **अम्मर** हुय ताता।—ऊ.का.
अम्मरांईसर–सं०पु० [सं० अमरेस्वर] देवेश, इन्द्र (डि.को.)
अम्मरी–सं०स्त्री०—देखो 'अमरी'। उ०—देवी भूतड़ां **अम्मरी** वीस भुजा।—देवि.
अम्मलीमांणि—देखो 'अमंलीमांण' (रू.भे.) उ०—जइतसी राइ मच्चावि जंग **अम्मलीमांणि** टाळिय न अंग।—रा.ज.सी.
अम्मा–सं०स्त्री०—माता, जन्मदात्री।
अम्मांमौ–सं०पु० [अ०अमामा] प्रायः मुसलमानों द्वारा वांधा जाने वाला एक प्रकार का साफा। देखो 'अमांमौ'।

वि०—१ आनन्दरहित. २ विना रंग का, रंग का अभाव।
उ०—मधुर अरंग अभंग नियंग नमौ।—ह.पु.वा. ३ भयावह।
अरंगी–वि०—१ विना रंग का. २ वह जो किसी में आसक्त या अनुरक्त न हो। उ०—असंग अभंग अरंगी रांमा पूरण पर-ब्रह्म परम सुख धांमा।—ह.पु.वा.
अरंड–सं०पु० [सं० एरंड] एरंड या रेंडी का वृक्ष। उ०—सूरां अर सतवादियां वीरां एक मनाह, दई करेसी कांमड़ा अरंड फळ सी तांह।
—चौबोली
अरंडोळी, अरंडोळया–सं०स्त्री० [सं० एरंडफली] ऐरंड के बीज (अमरत)
अरंढ़ौ–सं०पु०—दिन का तीसरा प्रहर।
अरंत–वि० [सं० अरि+अंत] अड़ने वाला, युद्ध करने वाला, शत्रुओं का नाश करने वाला।
अरंद, अरंदौ, अरंद्र–सं०पु० [सं० अरि+इंद्र] शत्रु, दुश्मन (डि.को.)
उ०—१ निजदळ गवण अगम कर दीरघ घेरत नगर अरंदा है—र.रू.
२ सागरा का मूरडंडां अरंद्रां खांगास।—गिरवरदांन सांदू
अर–अव्यय—और। उ०—सूरां अर सतवादियां वीरां एक मनांह।
—चौबोली
सं०पु० [सं० अरि] १ अरि, शत्रु, दुश्मन। उ०—माड़ेचौ रांमौ मुकनांणी, अर मारे तेगां ऊवांणी।—रा.रू.
सं०स्त्री०—२ शीघ्रता। उ०—करौ दया मौ सीस दयाकर, आपौ सार चार गुण अर कर।—रा.रू.
वि०—पीला।
अरकंमद्रण–सं०पु० [सं० अरिकुमुदिनी] सूर्य, भानु (क.कु.बो.)
अरक–सं०पु० [सं० अर्क] १ सूर्य (डि.को., अ.मा.) २ इंद्र. ३ तांबा. ४ स्फटिक. ५ पंडित. ६ ज्येष्ठ भ्राता. ७ रविवार. ८ आकवृक्ष, मंदार. उ०—कट डडियांण लियां डमरू कर भांग धतूरा भोगी, अरक फूल जळ चौम उपासू जय-जय संकर जोगी।
—क.कु.बो.
९ विष्णु. १० बारह की संख्या. [अ०] ११ उतारा, निचोड़ा या भभके से उतारा हुआ रस।
क्रि०प्र०—आणौ-उतारणौ-काढ़णौ-खींचणौ-निचोड़णौ-पड़णौ।
१२ शराब। उ०—पीयाला साथियां अरक पावण पीयण।—अज्ञात
१३ नदी (अ.मा.) १४ एक पुष्प विशेष (अ.मा.)
वि०—तेज।
अरकगीर–सं०पु० [फा०] घोड़े की पीठ पर रखकर जीन खींचने का नमदे का बना हुआ टुकड़ा।
अरकज–सं०पु० [सं० अर्कज] १ सूर्य्य-पुत्र यम. २ शनि. ३ अश्विनी-कुमार. ४ सुग्रीव. ५ कर्ण. ६ सावर्णि मनु।
अरकसुत–सं०पु०यौ० [सं० अर्क+सुत] सूर्य पुत्र यथा—यम, शनि, अश्विनीकुमार, सुग्रीव, कर्ण व सवर्णि मनु (मि० अरकज)
अरकाद–सं०पु० [सं० अर्क] सूर्य्य। उ०—नमौ असगांन नमौ अरकाद
—सूरज असं०

अरकासार–सं०पु०यौ० [सं० अर्क+आसार] तालाब, बावली।
अर-कुमंदण–सं०पु० [सं० अरि+कुमुदिनी] सूर्य, भानु।
उ०—रवि विधि नयण अरुण तमचर रिप अर-कुमंदण—क.कु.बो.
अरक्क–सं०पु०—देखो 'अरक'। उ०—चढ़ै गजां दांतूसळां रण रीभवै अरक्क।—वां.दा.
अरखी–क्रि०वि०—फौरन, शीघ्र।
अरग–सं०स्त्री० [सं० आरिग] तलवार। उ०—तें भाड़ी मद्दूतणै अरग आ अहूटी बूंदां पड़ै कत्यीक ज्यां ऊक जांणक छूटीय—वी.मा.
अरगजा–सं०स्त्री०—एक प्रकार का सुगंधित पदार्थ जो केसर, चंदन, कपूर आदि सुगंधित पदार्थों के मिलाने से बनता है, उवटन। उ०—अमित गुलालां अरगजां केसर अतर फुलेल।—रा.रू.
अरगजौ, अरगजौ–सं०पु०—देखो 'अरगजा'। उ०—किहि करि पांन अरगजौ किहि करि, धूप सखी किहि करगि धरि।—वेलि.
अरगणौ, अरगबौ–क्रि०स०—देखो 'अरघणौ'।
अरगत–सं०पु०—लोहा छीलने का औजार।
अरगती–सं०स्त्री०—फौलाद का बना एक औजार विशेष जो कि लोहे के बने औजारों को घिसकर ठीक करने के काम आती है, रेती।
अरगती–सं०पु०—बढ़ई का अथवा लोहार का औजार विशेष, देखो 'अरगती'।
अरगनी–सं०स्त्री० [सं० आलग्न] किसी घर में कपड़े आदि रखने के लिये बांधी या लटकाई जाने वाली बांस, लकड़ी या रस्सी।
अरगळा–सं०स्त्री० [सं० अर्गला] १ कपाट बंद करने की लकड़ी, व्योंडा, अर्गला. २ रोक, संयम।
अरघ–सं०पु० [सं० अर्घ] १ षोडशोपचारों के अंतर्गत पूजन का एक उपचार, अर्घ्य, हाथ धोने के लिये जल, पूजा के निमित्त अंजली में जल लेकर अर्पित करना। उ०—अरघ दीध अरक नूं जयौ जगमण तम जारण।—भगवांनजी रतनू २ सम्मान प्रदर्शनार्थ गिराया जाने वाला जल।
क्रि०प्र०—करणौ-देणौ।
अरघणौ, अरघबौ–क्रि०स० [सं० अर्ह] पूजा करना, अर्घ्य देना, अर्चन करना। उ०—जस कज अरघौ रुपक जोड़ा दूजा करौ कजोड़ा दूर।
—बाघोर महाराज सिवदांनसिंह
अरघणहार-हारौ (हारी), अरघणियौ–वि०—अर्घ्य देने वाला।
अरघाणौ–प्रे०रू०। अरघायोड़ौ–भू०का०कृ०—पूजित।
अरघिग्रोड़ौ-अरघियोड़ौ-अरघ्योड़ौ–भू०का०कृ०—पूजित।
अरघीजणौ-अरघीजबौ–कर्म० वा०।
अरघीजियोड़ौ–भू०का०कृ०—पूजित।
अरघपात्र–सं०पु०यौ० [सं० अर्घ्य+पात्र] अर्घ्य का जल रखने का पात्र।
अरघयोड़ौ–भू०का०कृ०—अर्घ्य दिया हुआ, पूजित, अर्चित।
(स्त्री० अरघयोड़ी)
अरघळ-परघळ, अरगळौ-परगळौ, अरघळौ-परघळौ–वि० (स्त्री० अरघळी-परघळी) प्रचुर, बहुत।

२ मेरे। उ०—हे ब्राह्मण पुरतौ अम्है कहतां मेरे आगे जिहां पठयौ हुइ।—वेलि. टी.।

अय–सं०पु० [सं० अयस्] १ शस्त्र, हथियार। उ०—**अयबळ** तपबळ बाहुबळ बळधन को बळराज।—ला.रा. २ लोहा (अ.मा.) ३ आगे आने वाला। उ०—उदय रवि नयनिलय अतिरय अजय खयकर अखय जय **अय** उभय सय पय हृदय अपचय कटय भट स्मय निचय।—वं.भा.

सं०स्त्री० [सं० अज] ४ अग्नि।

अयणौ–सर्व०—अपना। उ०—वगसै तनै गुनी इण वारै, चित **अयणौ** जौ विरुद विचारै।—र.रू.

अयत–सं०पु० [सं० अयुत] दस हजार की संख्या का स्थान या उस स्थान की संख्या। उ०—ईसरनै द्रव दस **अयत** जस गाहक घण जांण। चाकर दे चारणां कमधज राव कल्यांण।—अज्ञात

अयथा–वि० [सं०] १ झूठा, मिथ्या. २ अयोग्य।

अयण, अयन–सं०पु० [सं० अयन] १ गति, चाल. २ दिन (नां.मा.) ३ उत्तर या दक्षिण की ओर सूर्य या चन्द्रमा की गति या प्रवृत्ति. ४ राशि चक्र की गति. ५ ज्योतिषशास्त्र. ६ आश्रम, स्थान, घर. ७ काल, समय. ८ अंश. ९ दो की संख्या* १० पैर, चरण।

अयनक–सं०पु० [सं०] मार्ग, रास्ता।

अयनकाळ–सं०पु०यौ० [सं० अयनकाल] एक अयन में लगने वाला लगभग छः मास का समय।

अयनसंक्रम, अयनसंक्रांति–सं०स्त्री०यौ० [सं०] १ मकर और कर्क राशि की संक्रांति. २ हरएक संक्रांति के २० दिन पहले का काल।

अयपांन–सं०पु०यौ० [सं० अयःपान] एक नरक का नाम।

अयबळ–सं०पु०यौ० [सं० अयस्+बल] १ शस्त्रबल।

उ०—**अयबळ** तपबळ बाहुबळ बळधन को बळराज।—ला.रा.

२ आयुबल।

अयराक–सं०पु० [सं० हयराज] १ घोड़ा। उ०—डगै न भगौ म वजै हक डाक। उपाड़िये वाग यसी **अयराक**।—पा.प्र.

२ शराब (तेज शराब जो तीसरी बार औटाया गया हो।)

मि० 'ऐराक'

वि०—जबरदस्त।

अयरापति–सं०पु० [सं० ऐरावत] १ ऐरावत. २ हाथी।

उ०—**अयरापति** चढ़ि चाल्यौ राय, ली अस्त्री अरधंग बइसाय।—वी.दे.

अयस–सं०स्त्री०—१ आज्ञा, हुक्म (ह नां.) [सं० आकाश]

२ आसमान।

अयांण, अयांन–वि० [सं० अज्ञान] अज्ञान, मूर्ख। उ०—हर हर करतौ हरख कर, आळस मकर **अयांण**।—ह.र.

सं०पु०—अज्ञान, अज्ञानता। उ०—चित प्रथम चेत, उल्लू अचेत, यह तन **अयांन**, न स्थिर निदांन।—ऊ.का.

अयांणौ, अयांनौ–वि० [सं० अज्ञानी] (स्त्री० अयांणी) मूर्ख, अज्ञानी।

उ०—आसुर प्रतिदिन चित ललचानौ, मन ही मन गुनि भयौ **अयांनौ**।—ला.रा.

अयाचक, अयाची–वि० [सं० अयाचिन्] जिसे कुछ माँगने की आवश्यकता न हो, समृद्ध, न माँगने वाला। उ०—ताहरां श्री भगवांन फुरमायौ—औ हाथ **अयाची** छै। म्है किहीं कन्है हाथ मांड्यौ नहीं, सारां ही नै देऊं छूं।—पलक दरियाव री बात

अयार–वि० [रा० अ=नहीं+फा० यार=मित्र] शत्रु, दुश्मन (डिं.को.)

अयाळ–सं०स्त्री० [तु० याल] घोड़े या सिंह के गरदन के बाल।

अयास, अयासि–सं०पु० [सं० आकाश] १ आकाश, आसमान।

उ०—१ छायौ धूंध्रै **अयास** धमंकां सोर भंकां छूट।—दुरगादत्त बारहठ

२ वणवीर चडिय तेवहि व्रहासि, अहिकारि थम्भ आडइ **अयासि**।—रा.ज.सी.

२ चिन्ह, लक्षण। उ०—प्रेम प्रीत संभोग सुख, ए सिणगार **अयास**। (रू.भे. आयासि)—ढो.मा.

अयी–अव्यय [सं० अयि] १ संबोधनसूचक शब्द, अरे! हे!

२ आश्चर्यसूचक शब्द।

अयुक्त–वि० [सं०] अयोग्य, अनुचित, असंबद्ध।

अयुत–सं०पु० [सं०] १०००० की संख्या, इस संख्या का स्थान।

वि० [सं०] १ दस हजार। उ०—**अयुतं** सर ऊंटन सोर भरे, सत सोडस तोप तयार करे।—ला.रा. २ देखो 'अयुक्त'।

अयोग–सं०पु० [सं०] १ योग का अभाव, पाप या दुष्ट ग्रहों का बुरे नक्षत्रों के साथ एकत्रित होना अथवा जन्मकुंडली के स्थानों में पड़ना, कुसमय. २ दुष्काल. ३ संकट, कठिनाई. ४ वह वाक्य-विन्यास जो सुगमता से अर्थ न दे।

वि० [सं०] १ अप्रशस्त, बुरा [सं० अयोग्य] २ अयोग्य, अनुपयुक्त, अपात्र, निकम्मा। उ०—**अयोग** हूं कुयोग में यथा नियोग कीजिये।—ऊ.का.

३ अनुचित, नामुनासिब. ४ असमर्थ, अक्षम।

अयोग्य–वि० [सं०] १ अनुपयुक्त, जो योग्य न हो, अपात्र. २ अनुचित, नामुनासिब। उ०—यह पत्र विचित्रित चित्र योग्य, आरण्य-रुदन वत भौ **अयोग्य**।—ऊ.का. ३ असमर्थ, अक्षम।

अयोध्या–सं०स्त्री० [सं०] देखो 'अजोध्या'।

अयोनि, अयोनी–वि० [सं०] १ जो उत्पन्न न हुआ हो, अजन्मा. २ नित्य. उ०—**अयोनी** योनी की विरति चित होनी रचि यही।—ऊ.का.

सं०पु०—१ शिव. २ ईश्वर. ३ विष्णु. ४ ब्रह्मा।

अयोसा–सं०पु० [सं० अयोषा] मर्द, नर, पुरुष। उ०—**अयोसा** योसा जी अनग जिम बाजीगर अगे।—ऊ.का.

अरंग–सं०पु०—सुगंधि का झोंका।

अरच्चणौ, अरच्चवौ-क्रि०स०—देखो 'अरचणौ' (रू.भे.)
उ०—उवारे घणां आप आपे अरच्चे, मुद चंदण कासमीरी चरच्चे।
—ना.द.

अरज-सं०स्त्री० [अ० अर्ज] १ विनय, निवेदन, प्रार्थना।
उ०—सुणं नवाव इनायत सारी, औरंग दिस लिख अरज अफारी।
—रा.रू.

२ चौड़ाई।
सं०पु०—३ राजा (अ.मा.) ४ अर्जुन। उ०—अरज भीम जिसा आलीजा रेसै वेदिल किया रंग। जरै तूझ विन कमण जोजरी, नव पण जिसा अमोलक नग।—ओपौ आढ़ौ

अरजण-वि०—१ काला, श्याम॥ २ श्वेत, सफेद (डि.को)
सं०पु०—१ देखो 'अरजुण' २ स्वर्ण. ३ चाँदी।
उ०—विप्र मूरति वैद रतन मै वैदी, वंस आद्र अरजुन (ण) मै वेह।
—वेलि.

अरजणौ, अरजवौ-क्रि०स० [सं० अर्जन] उपार्जन करना।
अरजणहार-हारौ (हारी), अरजणियौ-वि०—उपार्जन करने वाला।
अरजिओड़ौ, अरजियोड़ौ, अरज्योड़ौ-भू०का०कृ०—उपार्जित।

अरजदास्त-सं०स्त्री०यौ०—निवेदनपत्र।

अरजन-सं०पु०—देखो 'अरजुण'। उ०—सांची मित्र सचेत. कह्यौ कांम न करै किसौ। हर अरजन रै हेत, रथ कर हांकयौ राजिया।
—किरपारांम

अरजनपता-सं०पु०यौ० [सं० अर्जुन+पितृ] इंद्र (डि.को.)

अरजन्न-सं०पु० [सं० अर्जुन] देखो 'अरजुण'।

अरजमा-सं०पु० [सं० अर्यमा] सूर्य (नां.मा.)
वि०—अजन्मा (क.कु.वो.)

अरजळ-वि०—घायल, व्याकुल। उ०—अक्काई रै वांह में तीर लागौ तिकौ वैऊं वाहां फोड़ि नांखौ, अरजळ हुवौ पड़ियौ।
—जखड़ा मुखड़ा भाटी री वात

सं०पु०—वह घोड़ा जिसका एक पाँव सफेद रंग का हो।
(अशुभ—शा.हो.)

अरजाऊ-वि०—अर्ज, प्रार्थना या पुकार करने वाला।

अरजित-वि० [सं० अर्जित] १ संग्रह किया हुआ, संग्रहीत. २ कमाया हुआ।

अरजियोड़ौ-भू०का०कृ० [सं० अर्जित] उपार्जित किया हुआ।
(स्त्री० अरजियोड़ी)

अरजी-सं०स्त्री० [फा० अर्जी] प्रार्थनापत्र, निवेदनपत्र, प्रार्थना।

अरजीदावौ-सं०पु०यौ० [फा० अर्जीदावा] वह निवेदनपत्र जो अदालत में दीवानी मुकदमें से संबंधित दिया गया हो।

अरजुण-सं०पु० [सं० अर्जुन] १ देवराज इन्द्र के औरस (पांडु के क्षेत्रज) और कुंती के गर्भज पुत्र, पांच पांडवों में से एक जो श्रीकृष्ण के बहनोई और मित्र थे। द्रौपदी, चित्रांगदा तथा सुभद्रा नामक इनके तीन प्रधान स्त्रियां थी।

पर्याय०—अगनीसखा, अरजुन, अरिजन, कपीधज, कपीधाय, करण-सत्र, कलिफालगुन, कारमुख, काळमूक, किरीट, किरीटी, गुडाकेस, जय, जग्हाथ, जिसन, जिसुन, दांनीरिप, दैंतार, धनंजय, धनुजय, नर, निर, पंडवमध, पंडसुत, पाथ, पारथ, पाराथ, फालगुण, ब्रहनट, मधिपंडव, मरदांमरद, महासूर, महीसूर, माक, मोक, यंद्रजीत, रावावेधा, रावावेधी, रिपकैरवां, वहनट, विभच्छ, वीभव, वेधीसवद, वैवीकरण, व्रखसेन, व्रखसोन, सक्रनंद, सक्रनंदन, सगतिविलंद, सवद-वेव, सरअजीत, सरवनुवार सवसाची, सव्यसाची, सुगत, सुनर, सुभट सुभद्रेस, सुभ्रदेस, सेतअसनयसेन, सेतअस्व, हरीसखा।
२ स्वर्ण. ३ चांदी. ४ अर्जुन काठी नामक एक दातार राजा।
वि०—श्वेत, सफेद॥ (डि.को.)
रू०भे०—अरजण, अरजुन, अरज्जण, अरज्जन।

अरजुणवंसी-सं०पु० यौ०—अर्जुन वंश के राजपूत।

अरजुणियौ-सं०पु० [सं० अर्जुन] अर्जुन वृक्ष (अरजुण का अल्पा०)

अरजुन-सं०पु० [सं० अर्जुन] देखो 'अरजुण'

अरजुनसखा-सं०पु० यौ० [सं० अर्जुन+सखा] श्रीकृष्ण (अ.मा.)

अरजुनी-सं०स्त्री० [सं० अर्जुनी] गाय (अ.मा.)

अरजुनोत-सं०पु०—१ राठौड़ राव चूंडाजी के पुत्र अर्जुन के वंशज, राठौड़ों की एक उपशाखा या इस उपशाखा का व्यक्ति. २ भाटी वंश की एक शाखा या इस शाखा का व्यक्ति।

अरज्ज-सं०स्त्री०—देखो 'अरज' (रू.भे.) उ०—जद भूमत जांमैये चाळ भली। भणियू फिर राव अरज्ज भली।—पा.प्र.

अरज्जण, अरज्जन, अरज्जुण-सं०पु० [सं० अर्जुन] देखो 'अरजुण'।
उ०—१ भीमाजळ वळ आगली, भीम अरज्जण जेम।—रा.रू.
२ अत आवव तास अभास इसा, जुध इंद्र दुजेस अरज्जन सा।
—गि.सु.रू.
३ सेवै पग सन्नक जन्नक सूर, अरज्जुण उद्धव औ अकरूर।
—ह.र.

अरट-सं०पु० [सं० अरघट्ट, प्रा० अरहट्ट, अप० रहट्ट] १ कुयें से पानी निकालने का मालाकार यंत्र, रहँट २ डिंगल का एक गीत (छंद) विशेष जिसके विषम पदों में चार चौकल सहित १६ मात्रायें होती हैं किन्तु आदि का चरण अपवाद है जिसमें १८ मात्रायें होती हैं। सम चरणों में दो चौकल और अंत में गुरु-लघुसहित ११ मात्रायें होती हैं। इस प्रकार कुल चार या चार से अधिक द्वाले होते हैं। (र.रू.) कविकुल-बोध के अनुसार प्रत्येक चरण में चार भगण तथा अंत में गुरु का एक (गीत) छंद विशेष. ३ एक प्रकार की बंदूक।

अरटियौ-सं०पु०—१ रहँट (अल्पा.) २ सूत कातने का रहँटा, चरखा. ३ सूत कातने के चरखे की प्रशंसा में गाया जाने वाला एक मारवाड़ी लोकगीत. ४ डिंगल का एक गीत (छंद) विशेष जिसके विषम पदों में चार चौकल सहित १६ मात्रायें होती हैं। किन्तु आदि का चरण अपवाद है जिसमें ४, १० और ५ पर विश्राम सहित १९ मात्रायें

अरघाणौ, अरघावौ—क्रि०स०—पूजा कराना, अर्घ्य दिलाना।
अरघाणहार-हारौ (हारी), अरघाणियौ—अर्घ्य दिलाने वाला।
अरघावणौ-अरघाववौ—(रू.भे.)
अरघाग्रोड़ौ-अरघायोड़ौ—भू०का०कृ०—अर्घ्य दिलाया हुआ।
अरघायोड़ौ—भू०का०कृ०—पूजा कराया हुआ, पूजित, अर्घ्य दिलाया हुआ। (स्त्री० अरघायोड़ी)
अरघावणौ, अरघाववौ—क्रि०स० [सं० अर्ह] देखो 'अरघाणौ' (रू.भे.)
अरघियोड़ौ—भू०का०कृ०—पूजित, अर्घ्य दिया हुआ (स्त्री० अरघियोड़ी)
अरघौ—सं०पु० [सं० अर्घ्य] अरघ का जल रखने का एक पात्र।
अरड़—सं०स्त्री०—१ बलात् धँसने का भाव या क्रिया. २ भय, आतंक. [अनु०] ३ ध्वनि-विशेष।
अरड़णौ, अरड़बौ—क्रि०अ०—१ चिल्लाना, चीखना. २ ऊँट द्वारा दर्दभरी आवाज करना. ३ धँसना, फँसना।
अरड़णहार-हारौ (हारी), अरड़णियौ—वि०—चीखने वाला।
अरड़वाणौ-अरड़वावौ—प्रे०रू०। **अरड़वायोड़ौ**—भू०का०कृ०—चीखा या चिल्लाया हुआ।
अरड़ाणौ, अरड़ावौ—क्रि०स०।
अरड़िग्रोड़ौ-अरड़ियोड़ौ-अरड़्योड़ौ—भू०का०कृ०—चीखा या चिल्लाया हुआ।
अरड़ीजणौ-अरड़ीजबौ—भाव वा०।
अरड़ांण—सं०पु०—रुदन, विलाप।
अरड़ाट, अरड़ाटौ—सं०पु०—१ तीव्र वेग की आँधी की ध्वनि. २ दुःख या दर्दभरी आवाज. ३ ध्वनि विशेष।
अरड़ाणौ, अरड़ावौ—क्रि०अ०—देखो 'अरड़णौ'।
क्रि०स०—धँसाना।
अरड़ावणौ, अरड़ाववौ—रू०भे०। **अरड़ायोड़ौ**—भू०का०कृ०—चिल्लाया हुआ।
अरड़ावीजणौ, अरड़ावीजबौ—भाव वा०।
अरड़ायोड़ौ—भू०का०कृ०—चिल्लाया या चीखा हुआ। (स्त्री० अरड़ायोड़ी)
अरड़ाव—सं०स्त्री०—१ ध्वनि विशेष. २ दर्द भरी चीख।
अरड़ावणौ, अरड़ाववौ—क्रि०अ०—देखो 'अरड़ाणौ, अरड़ावौ' (रू.भे.)
उ०—खेहाडंबर खर अंबर अरड़ावै, धरणीतळ घूणैं गरदव गरड़ावै।
—ऊ.का.
अरड़ियोड़ौ—भू०का०कृ०—चिल्लाया हुआ, चीखा हुआ। (स्त्री० अरड़ियोड़ी)
अरड़िंग, अरड़ींग, अरड़ींगौ—वि०—१ बलवान, जबरदस्त।
उ०—१ हिंदू तांम हकारिग्रा सिंघ जसौ जैसिंघ। किग्रा विदा कूरिम कमंध, ए वेवै अरड़िंग।—वचनिका
२ तरत मुख खड़भड़ै सहर तरसींग रा, उजड़ै भाक आथुण अरड़ींग रा। धरहरै धमंक धाका पड़ै धींग रा, सीसकिण रीस आज री गजसींग रा।—महादांन महडू
२ योद्धा, शूर। उ०—रेवा सागर अमल में, आगै ही अरड़ींग। हमैं सिघ सागर हठी, अपणायौ तैं सींग।—बां.दा.
अरड़ूसौ, अरड़ूसौ—सं०पु० [सं० अटरूप, प्रा० अडरूप] देखो 'अड़ूसौ'।
अरड़ौ—वि०—बलात धँसने वाला। उ०—वडै वेद रस खेद वाई ज तू वीरवर अभंग भड़ मांगवा वडा अरड़ा। ताहरी वणी अंग ऊपर 'बुड़ा' तणा झूलती रुधर जम डाढ़ 'झरड़ा'।—झरड़ा राठौड़ री गीत (रू.भे. अरड़)
सं०पु०—बलात् धँसने का भाव। उ०—ऊंणा ऊरणियां खरसणियां ओळै, डरड़ा नरड़ा विण अरड़ा दे टोळै।—ऊ.का.
अरचणौ, अरचबौ—क्रि०स० [सं० अर्चन] पूजा करना, अर्चन करना।
उ०—अहड़ौ सूर मसीत न अरचै, अरचै देवळ गाय उभै।
—दुरसौ आढ़ौ
अरचणहार-हारौ (हारी), अरचणियौ—वि०—अर्चना करने वाला।
अरचयोड़ौ-अरच्योड़ौ—भू०का०कृ०—अर्चित, पूजित।
अरचवाणौ-अरचवावौ—प्रे०रू०—पूजा कराना।
अरचाणौ-अरचावौ, अरचावणौ-अरचाववौ—प्रे०रू०—पूजा कराना, अर्चन कराना।
अरचायोड़ौ-अरचावियोड़ौ—भू०का०कृ०—पूजा कराया हुआ, अर्चना कराया हुआ।
अरचावीजणौ-अरचावीजवौ—पूजा कराया जाना।
अरचीजणौ-अरचीजबौ—कर्म वा०—पूजा या अर्चित किया जाना।
अरचीजिग्रोड़ौ-अरचीजियोड़ौ-अरचीज्योड़ौ—भू०का०कृ०—अर्चित, पूजित।
अरचन—सं०पु० [सं० अर्चन] पूजन, अर्चन।
अरचा—सं०स्त्री० [सं० अर्चा] १ पूजा, अर्चन, सम्मान, प्रतिष्ठा।
उ०—आप जिम करग नग थपै दर उचत ऐ, ऊथपै पुरंदर तणी अरचा।—बां.दा. २ चर्चा, विवरण। उ०—चित भव भांडां री चरचा नहिं चावै। लिपळी रांडां री अरचा नहिं लावै।
—ऊ.का.
अरचाणौ, अरचावौ—क्रि०स० (प्रे०रू०) [सं० अर्चन] पूजा कराना, अर्चन कराना।
अरचणहार-हारौ (हारी), अरचाणियौ—वि०—पूजा कराने वाला।
अरचायोड़ौ—भू०का०कृ०—पूजा कराया हुआ, अर्चन कराया हुआ।
अरचावणौ, अरचाववौ—रू०भे०
अरचावीजणौ, अरचावीजवौ—कर्म वा०।
अरचायोड़ौ—भू०का०कृ०—पूजा कराया हुआ, अर्चित। (स्त्री० अरचायोड़ी)
अरचावणौ, अरचाववौ—क्रि०स०—देखो 'अरचाणौ' (रू.भे.)
अरचित—वि० [सं० अर्चित] अर्चित, पूजित (डिं.को.)
अरचियोड़ौ—भू०का०कृ० [सं० अर्चित] अर्चित, पूजित। (स्त्री० अरचियोड़ी)

अरथांतरन्यास–सं०पु० यौ० [सं०] एक प्रकार का काव्यालंकार जिसमें प्रस्तुत अर्थ का अप्रस्तुत अर्थांतर के न्यास (स्थापन) से समर्थन किया जाता है।

अरथाणौ, अरथाबौ–क्रि०स० [सं० अर्थापन] १ अर्थ करना. २ अर्थ समझाना।

अरथाणहार-हारौ (हारी), अरथाणियौ–अर्थ करने वाला।

अरथाम्रोड़ौ-अरथायोड़ौ–भू०का०कृ०—अर्थ समझाया हुआ।

अरथात–अव्यय [सं० अर्थात्] यानी, मतलब यह है कि, अर्थात, फलतः विवरण सूचक शब्द।

अरथाभास–सं०पु० [सं० अर्थाभास] १ शब्दार्थ, आभास, अर्थ का प्रभाव। उ०—तन वीरा रस तमक पढ़ण वुन चमतकार पर। ओजे अरथाभास 'पाल' दुत दरस तात पर।—पा.प्र.

अरथालंकार–सं०पु० [सं० अर्थालंकार] साहित्य का एक प्रकार का अलंकार जिसमें अर्थ का चमत्कार दिखाया जाय।

अरथि–क्रि०वि० [सं० अर्थ] १ देखो 'अरथ'. २ लिए, निमित्त। उ०—अब रति कौ सहंसकार करिवा कै अरथि सखियां उद्यम कीयौ छै।

अरथी, अरथीन–सं०स्त्री० [सं० रथ] १ बांस का बना हुआ सीढ़ी के आकार का वह ढांचा जिस पर रखकर मुर्दे को ले जाते हैं।

सं०पु०—२ वादी, प्रार्थी, मुद्दई. ३ सेवक. ४ याचक (अ.मा.) ५ धनी।

वि० [सं० अर्थिन्] १ इच्छा रखने वाला, चाह रखने वाला, प्रयोजन वाला, याचक [सं० अ+रथी] २ पैदल।

अरथ्य–सं०पु० [सं० अर्थ] देखो 'अरथ' (रू.भे.)

अरथ्य–सं०पु०—१ देखो 'अरथी'. २ देखो 'अरथ' (रू.भे.)

अरद–वि० [सं० अर्द्ध] आधा, अर्द्ध।

सं०पु० [सं० अरि+इंद्र] शत्रु, दुश्मन।

अरदगोखौ–सं०पु०—देखो 'अरधगोखौ' (रू.भे.)

अरदचंद, अरदचंद्र–सं०पु०यौ० [सं० अर्द्धचंद्र] देखो 'अरधचंद'।

अरदनाराच–सं०पु०—देखो 'अरधनाराच'।

अरदनिसा–सं०स्त्री०यौ० [सं० अर्द्ध निशा] अर्द्ध रात्रि, आधी रात, निशीथ।

अरदपुंड–सं०पु० [सं० अर्द्धपुंड्र] देखो 'अरधपुंड'।

अरदभाल–सं०पु०—देखो 'अरधभाल'।

अरदभालड़ी–सं०स्त्री०—देखो 'अरधभालड़ी'।

अरदभुजंगी–सं०पु०—देखो 'अरधभुजंगी'।

अरदली–सं०पु० [अं० ऑर्डरली] किसी कर्मचारी के सदा साथ रहने वाला सेवक, सेवक।

अरदसावभड़ौ–सं०पु०—देखो 'अरधसावभड़ौ'।

अरदास–सं०स्त्री० [सं०अर्द=याचने] १ प्रार्थना, विनती, स्तुति, विनय। उ०—पाल तणी ग्रहं पागड़ी आखी म्है अरदास।—पा.प्र.

अरदित–वि० [सं० अर्दित] पीड़ित।

सं०पु०—एक प्रकार का वात रोग जिसमें मुंह टेढ़ा हो जाता है तथा जीभ से बोलना रुक जाता है, लकवा (अमरत)

अरद्धंग–सं०स्त्री०यौ० [सं० अर्द्धांगिनी] स्त्री, पत्नी। उ०—अबकी सज्जण जे मिळै, कबहुं न छोडूं संग। पी हरणां हरणांख ज्यूं, होय रहूं अरद्धंग।—जलाल बूबना री बात

अरद्ध–वि० [सं० अर्द्ध] आधा, अर्द्ध।

अरद्धचंद्र–सं०पु० यौ० [सं० अर्द्ध+चंद्र] १ आधा चंद्रमा. २ एक प्रकार का त्रिपुंड. ३ किसी को निकाल कर बाहर करने के उद्देश्य से गले में हाथ लगाने की मुद्रा।

अरद्धनारीस्वर–सं०पु०यौ० [सं० अर्द्धनारीश्वर] शिव व पार्वती का रूप (तंत्र)

अरद्धमागधी–सं०स्त्री०यौ० [सं०अर्द्धमागधी] प्राकृत भाषा का एक भेद, एक प्राचीन भाषा।

अरद्धव्रत्त–सं०पु०यौ० [सं० अर्द्धवृत्त] वृत्त का आधा भाग।

अरद्धसमव्रत्त–सं०पु०यौ० [सं० अर्द्धसमवृत्त] एक प्रकार का वर्ण वृत्त जिसका पहला चरण तीसरे के बराबर और दूसरा चौथे के बराबर हो।

अरद्धांगणी, अरद्धांगिणी–सं०स्त्री०यौ० [सं० अर्द्धांगिनी] पत्नी, जोरू।

अरद्धाळी–सं०स्त्री०यौ० [सं० अर्द्धाली] दो चरण की चौपाई, आधी चौपाई।

अरधंग–सं०स्त्री०यौ० [सं० अर्द्धांगिनी] १ स्त्री, सहधर्मिणी, जोरू। उ०—चवसट्ट अखाड़ं रंग चाय, अरधंग सहत सिव खड़ह आय।

—वि.सं.

२ इंद्रानी, शची (अ.मा.) ३ गंगा (अ.मा.)

सं०पु०—४ शिव. ५ पक्षाघात या एक विशेष प्रकार का लकवा या वायु रोग जिसमें आधा शरीर बेकाम और शून्य होकर जड़ीभूत सा हो जाता है, फालिज।

अरधंगा, अरधंगि, अरधंगी–सं०स्त्री०यौ० [सं० अर्द्धांगिनी] स्त्री, जोरू, सहधर्मिणी। उ०—१ तूं अरधंगा ईसवर माया पटरांणी।

—केसोदास गाडण

२ अरधंगी रा अंग मनां में आप मिळावै। विश्वना बांध्यौ पंथ सांइणों किण विध आवै।—मेघ.

अरध–वि० [सं० अर्द्ध] आधा। उ०—अरध निसा भागा कछवाहा साख भरै जग सारौ।—भवानीसिंह उदावत री गीत

क्रि०वि० [सं० अधः] नीचे, अंदर, भीतर।

अरधकूरमासण–सं०पु०यौ० [सं० अर्द्धकूर्मासन] योग के चौरासी आसनों के अंतर्गत एक आसन। दोनों हाथ की केहुनी को भूमि पर रखकर कलाई को सामने लंबा करके, पंजे की हथेली सूधी रखके घुटने पर गिरकर मुख को आगे बढ़ाकर बैठने से अर्धकूर्मासन होता है।

अरधगोख–सं०पु०यौ०—डिंगल का एक गीत (छंद) विशेष जिसके प्रथम

होती हैं। सम पदों में अंत में दो गुरु सहित तीन चौकल होते हैं। इसमें नगण का निषेध है। (र.रू.) पिंगल शिरोमणि के अनुसार इसे अरहट भी कहते हैं. ५ एक प्रकार की बंदूक।

अरट्ठ–सं०पु०—रहँट, देखो 'अरट' (१), (रू.भे.)। उ०—कितेक जात व्योम कौ मनौ **अरट्ठ** को घरी।—ला.रा.

अरडींग–देखो 'अरड़ींग'।

अरड़ूवौ, अरड़ूसौ–सं०पु०—देखो 'अड़ूसौ' (रू.भे.)

अरण–सं०पु० [सं० अरण्य] १ अरण्य, वन, जंगल (अ.मा.) उ०—**अरण** आग्या करी मुझ नायक अवध, अवध बीताय नै वेग आवां।—र.रू. [सं० अरुण] २ सूर्य्य (अ.मा.) उ०—किप हड़मत विना समंद कुण कूदै, **अरण** विना कुण गमै अंधार।
—तेजसी खिड़ियौ

३ सूर्य के सारथी जो गरुड़ के ज्येष्ठ भ्राता हैं—संपाति और जटायु इनके पुत्र थे. ४ गुड. ५ संध्याराग. ६ आक, मंदार. ७ अव्यक्त राग. ८ कुष्ट भेद. ९ गहरा लाल रंग, कुंकुम, सिंदूर. १० माघ मास का सूर्य [रा अ+सं० रण] ११ युद्ध. उ०—ईस अरधंग सहत खड़ा जोवा **अरण**।—जवांनजी आढ़ौ

सं०स्त्री०—१२ रौप्य चाँदी। उ०—वेदी छै सु रतन जड़ित छै। नीला बांस छै। अरजन (**अरण** ?) कहतां रूपा का कळसां कौ वेह छै।
—वेलि. टी.

१३ लोहे की बनी एक चौकोर छोटी चौकी जिस पर आग में तपाकर धातु को पीटा जाता है।

वि० [सं० अरुण] लाल, सुर्ख। उ०—आग झाळ चख **अरण**, निमख नह कोप निवारै।—आसौ बारहठ

अरण्य–सं०पु० [सं० अरण्य] वन, जंगल (नां.मा.)

अरणव–सं०पु० [सं० अर्णव] १ समुद्र, सागर (डिं.को., अ.मा.) २ इंद्र. ३ सूर्य।

अरणव मंदिर–सं०पु० यौ० [सं० अर्णव+मंदिर] वरुण, जलदेव (डिं.को.)

अरणा, अरणी–सं०स्त्री० यौ०—देखो 'अरणी'

अरणि, अरणी–सं०स्त्री०—१ टहनियांदार एक गुल्म विशेष जो औषधियों में प्रयुक्त होता है (अमरत). २ काष्ठ से उत्पन्न की जाने वाली यज्ञ की अग्नि अथवा इस अग्नि को उत्पन्न करने का काष्ठ। देखो अरणी (२) उ०—जिके वेद मूरति ब्राह्मण छै सु **अरणी** अगनि लगाड़ि होम करै छै।—रा.सा.सं. [सं० अरुण] ३ सूर्य. [रा०] ४ एक मारवाड़ी लोक गीत।

अरणी-अगनी–सं०स्त्री० यौ० [सं० अरण्य+अग्नि] यज्ञाग्नि, दावानल।

अरणौ–सं०पु० [सं० अर्ण=पानी] १ जोधपुर से दक्षिण पश्चिम में दस मील की दूरी पर स्थित एक तीर्थ स्थान। यह तीर्थ कुंड है। कहा जाता है कि इसी कुंड में स्नान करने पर मैनका अप्सरा से शापग्रस्त तपस्वी (जिसके कारण वह वृद्ध हो गया था) वापिस तरुण हो गया। [सं० अरणी] २ एक प्रकार का वृक्ष जिसके तना नहीं होता। इसकी लकड़ी से चमारों की नलियां बनती हैं। इसके पत्ते ऊँट बड़े चाव से खाते हैं।

अरणोद, अरणौद–सं०पु० [सं० अरुण+उदय] उषाकाल, ब्राह्म मुहूर्त, सूर्योदय। उ०—इह बीच **अरणौद** होण लागौ, मुरगौ बोलि उठ्यौ।
—वेलि. टी.

अरण्य–सं०पु० [सं०] १ एक वन विशेष. २ जंगल, वन. ३ कायफल. ४ संन्यासियों के १० भेदों में से एक भेद विशेष।

अरण्यसस्ठी–सं०स्त्री०यौ० [सं० अरण्यषष्ठी] ज्येष्ठ मास के शुक्ल पक्ष की षष्ठी का एक व्रत-विशेष।

अरण्यु, अरण्यू–सं०पु०—एक औषधि का नाम, अग्निमंथ (अमरत) देखो 'अरणी' (२)।

अरत–सं०पु० [सं० अराति] शत्रु, वैरी। उ०—गुमर **अरत** तजै वसै गिरवर।—क.कु.बो.

वि० [सं० आर्त्त] दुखी, कष्ट, पीड़ित। उ०—जन हरिदास अरचित **अरत** हरि समरथ सरजणहार।—ह.पु.वा.

अरतिमर–सं०पु०यौ० [सं० अरि+तिमिर] सूर्य। उ०—दिनकर चत्र-भांण क्रम साखी **अर-तिमर**।—क.कु.बो.

अरत्त–वि०[सं०] १ विरक्त, जो लीन न हो, अलिप्त. [सं० अ+रक्त] २ जो रक्तवर्ण न हो। उ०—**अरत्त** अपीत असेत असेस।—ह.र.

अरत्थ–सं०पु०—देखो 'अरथ' (रू.भे.) उ०—आखर सूधा आंणनै, आखूं ख्यात **अरत्थ**।—पा.प्र.

अरत्थि–सं०पु०—देखो 'अरथ' (रू.भे.)

वि० [सं० अर्थिन्] चाहने वाला, इच्छुक, धन का इच्छुक। उ०—सेघ निवाहां सूरमां, राहां वेध **अरत्थि**।—रा.रू.

अरथ–सं०पु० [सं० अर्थ] १ शब्द का अभिप्राय. २ प्रयोजन, मतलब, अभिप्राय. ३ काम, इष्ट, हेतु, निमित्त।

कहा०—अरथ आवै सौ आपणौ—समय पर काम आने वाला व्यक्ति ही अपना है।

४ इंद्रियों के विषय. ५ धन, संपत्ति। उ०—लिखमी आप नमै पाइ लागी, अचरिज कौ लाधै **अरथ**।—वेलि. ६ कुंडली में लग्न से दूसरा घर।

क्रि०वि०—लिये, निमित्त, हेतु। उ०—आंना अघ आंना **अरथ** तुरत विगाड़ैं तांन, वदळै तुसरै वांणियौ वुर गोड़ा लै धांन।—बां.दा.

अरथकर–वि० [सं०] लाभकारी, धन उपार्जन में फायदेमंद।

अरथग–क्रि०वि० [सं० अर्थ] लिए। उ०—आहाड़ा कर नवी ऊपनौ ताई **अरथग** ज्याग तणौ।—महारांणा मोकळ री गीत

अरथमंत्री–सं०पु० यौ० [सं० अर्थमंत्री] आय-व्यय की व्यवस्था करने वाला मंत्री, वित्त मंत्री।

अरथवाद–सं०पु०यौ० [सं०] तीन प्रकार के वाक्यों में से एक (न्याय)।

अरथसचिव–सं०पु० यौ० [सं०] आय-व्यय की व्यवस्था करने वाला मंत्री, वित्त मंत्री।

अरवदगिर–सं०पु०यौ० [सं० अर्बुद+गिरि] आबू पहाड़।

अरवदियौ, अवरदीयौ–सं०पु० [सं० अर्बुद] आबू पर्वत (अल्पा.) उ०—बादळ लूंदियौ वीह पालर वूठा चहूं दिस बादळ छायौ। मेहाजळ वाळौ मतवाळौ अरवदियौ मद आयौ।—आबू परवत रौ गीत

अरवद्दह–सं०पु० [सं० अर्बुद] आबू (नैणसी)

अरवद्ध–सं०पु० [सं० अर्बुद] १ आबू पहाड़. २ अरावली पहाड़ का एक नाम. ३ शरीर में एक प्रकार की गाँठ वाला रोग. ४ गणित में दसवें स्थान की संख्या।

अरविंद–सं०पु० [सं० अरविंद] १ कमल. २ सारस।

अरविस्तांन–सं०पु० [फा० अरविस्तान] अरब देश जो ऐशिया के दक्षिणी-पश्चिमी रेगिस्तानी प्रदेश में स्थित है।

अरवी–वि०—अरब देश का, अरब देश संबंधी।
सं०स्त्री०—१ अरब देश की भाषा।
सं०पु०—२ अरब देशोत्पन्न घोड़ा।

अरवुद–सं०पु० [सं० अर्बुद] देखो 'अरवद्ध'।

अरवुदाचळ–सं०पु०यौ० [सं० अर्बुद+अचल] आबू पर्वत।

अरवुद्धनि–सं०स्त्री०—देखो 'अरवद्ध' (३) (अमरत)

अरवूद, अरव्वद–सं०पु०—देखो 'अरवद' (रू.भे.)। उ०—वीटियौ रवद कमंधां वणै, जांणा अरव्वद वद्दळां।—रा.रू.

अरव्वी—देखो 'अरवी' (रू.भे.)

अरभ–सं०पु० [सं० अर्भक] बालक (अ.मा.)
वि० [सं० अर्द्ध] अर्द्ध। उ०—पाया कुळतणीगत पावै, यौं पालवणी अरभ उपावै।—क.कु.वो.

अरभक–सं०पु० [सं० अर्भक] १ बालक। उ०—किसूं गरभ जरमन करै, अरभक हि न उर्ध्वंत।—किशोरदांन वारहठ

अरभरम–सं०पु०—स्वर्ण, सोना (अ.मा.)

अरमांन–सं०पु० [तु० अरमान] चाह, इच्छा, अभिलाषा।

अरमोड़ौ–वि० [सं० अरि=शत्रु+रा०–मोड़ौ=मोड़ने वाला] शत्रुओं को पीछे हटाने वाला, वीर, बहादुर।

अरयंद–सं०पु० [सं० अरि+इंद्र] सबसे बड़ा शत्रु, महाशत्रु।
उ०—चित नृप 'अभौ' पयंपै 'चिमनौ', ऊपर खड़ आया अरयंद।
—जादूराम आढ़ौ

अरय्यमा–सं०पु० [सं० अर्यमन] बारह आदित्यों के अंतर्गत एक आदित्य।

अरर–अव्यय—१ शोक व दर्द सूचक मुँह से निकलने वाली इस प्रकार की ध्वनि. २ विस्मयबोधक शब्द. ३ अत्यन्त व्यग्रता का सूचक शब्द।
सं०पु० [सं०] कपाट, किवाड़। उ०—नाह न छोडै बीच हौ, दड़ियां जिम दोटाय। घर घाते रण हूंसिया, आभी अरर जुड़ाय।—वी.स.

अरराट–सं०पु० [अनु०] १ घोर ध्वनि. घोर मंथन व दर्द की आवाज। उ०—जांणी सागर खीर रै मंदर री अरराट।—वी.स.
[सं० अरि+राट्] २ शत्रु राजा।

अरळ–सं०स्त्री० [सं० अर्गला] १ अर्गला, ब्योंड़ा। उ०—निकळिया फळसां सरा जिम अरळ जड़ांणी।—वीरमायण [सं० अरि] २ शत्रु, वैरी।

अरळावणौ, अरळाववौ–क्रि०अ०—देखो 'अरड़ावणौ'।

अरळु–सं०स्त्री०—१ एक औषधि का नाम (अमरत) २ एक फल विशेष (अमरत) ३ कड़वी लौकी (अमरत)।

अरवंत–सं०पु० [स० अरि] शत्रु।

अरवजियौ–सं०पु०—काँटेदार एक प्रकार का वृक्ष विशेष जिसकी लकड़ी बड़ी मजबूत होती है। इसकी लकड़ी की प्रायः बैलगाड़ी के पहिये की नाभि बनती है।

अरवत–सं०पु० [सं० अर्वन] घोड़ा, अश्व (डि.नां.मा.)

अरवळ–सं०पु०—घोड़े के कान की जड़ में गर्दन की ओर होने वाली भौंरी। अगर यह दोनों ओर होती है तब शुभ तथा केवल एक ओर होने की अवस्था में अशुभ मानी जाती है। (शा.हो.)

अरवा–[सं० अर्वन] घोड़ा, अश्व (अ.मा.)

अरवाचीन–वि० [सं० अर्वाचीन] आधुनिक, नवीन (अ.मा.)

अरविंद–सं०पु० [सं०] कमल (ह.नां.)

अरविंदनयन–सं०पु०यौ० [सं०] १ वह जिसके नेत्र कमल के समान हों. २ विष्णु।

अरविंदनाभ–सं०पु०यौ० [सं० अरविंद+नाभि] विष्णु।

अरविंदबंधु–सं०पु०यौ० [सं०] सूर्य्य।

अरविंदयोनि–सं०पु०यौ० [सं०] ब्रह्मा।

अरविंदलोचन, अरविंदाक्ष–सं०पु०यौ० [सं०] देखो 'अरविंदनयन'।

अरवी–सं०स्त्री०—तरकारी के रूप में खाया जाने वाला एक प्रकार की कंद या जड़।

अरस–सं०पु०—१ आकाश। उ०—चलकर मजल निकट गिर पहुँचिय, चढ़ रज अरस फरक धुज चाहि।—र.रू. [सं० अर्श] २ बवासीर (अमरत). ३ छत, पटाव. ४ महल।
वि०—१ नीरस, फीका, शुष्क. २ अरसिक, असभ्य।

अरस-परस–वि० [सं० आदर्शस्पर्श] १ दर्शन, साक्षात्कार।
सं०स्त्री०—२ आँख-मिचौनी का खेल।
क्रि०वि०—प्रत्यक्ष, रूबरू।

अरसाय–सं०पु० [सं० अरि+रा० साथ] अरिदल, शत्रुदल।

अरसादनी–सं०स्त्री० [सं० अरिसादिनी] सेना (अ मा.)

अरसाल–सं०पु० [सं० अरि+शल्य] १ गढ़, कोट, किला (डि.को.)। २ शत्रु के हृदय में शूल की तरह खटकने वाला, वीर, योद्धा। उ०—आपां तौ जांनेती वणल्यां, बीन वणै भोपाळ। दोय जणां जांगड़िया वणकै, सिवू नै अरसाळ।—डूंगजी जवारजी री पड़ ३ राजा कर्ण (अ.मा.)

अरसालौ–सं०पु० [सं० अरिशल्य] देखो 'अरसाल' (२)। उ०—भोम

तीन चरणों के प्रत्येक चरण में रगण, जगण और अंत में गुरु और लघु इस क्रम से आठ वर्ण होते हैं तथा चौथे चरण में रगण व जगण सहित छः वर्ण होते हैं। चारों चरणों के अंत में तुकांत होता है। (र.ज.प्र.)

अरधगोखौ—सं०पु०यौ०—डिंगल का एक गीत (छंद) विशेष जिसके चार चरण होते हैं। प्रत्येक चरण में २० मात्राएं होती हैं तथा चौथे चरण में वीप्सा अलंकार होता है। चारों चरणों के अंत में तुकांत होता है (र.रू.)

अरधचंद, अरधचंद्र—सं०पु०यौ० [सं० अर्द्ध+चंद्र] १ आधा चंद्रमा. २ किसी को निकाल कर बाहर करने के उद्देश्य से बाहर किये जाने वाले व्यक्ति के गला पकड़ते समय हथेली की बनने वाली अर्द्धचंद्राकार मुद्रा। उ०—**अरधचंद** हेकां दिये, हेकां गाळ हजार। हेकां कुतकी हे दुवै, एह दुस्ट अदतार।—वां.दा.

अरधनाराच—सं०पु०—नाराच नामक छंद विशेष का एक भेद जिसके चार चरणों में से प्रत्येक चरण में प्रथम ह्रस्व व फिर लघु के क्रमानुसार ८ वर्ण एवं १२ मात्रायें होती हैं।

अरधनिसा—सं०स्त्री०यौ० [सं० अर्द्ध+निशा] आधी रात, निशीथ।

अरधपादासण-सं०पु०यौ [सं० अर्द्धपादासन] योग के चौरासी आसनों के अंतर्गत एक आसन। यह खड़ी अवस्था में बाँये पैर के पंजे को दाहिने पैर के घुटने के उत्तर भाग में आडा स्थापित करने से होता है। पाँवों की स्थिति वदलने से इसका दूसरा प्रकार भी हो सकता है।

अरधपुंड—सं०पु०—वैरागी संन्यासियों के भाल पर किया जाने वाला खड़ा तिलक।

अरधभाख—सं०पु०—डिंगल का एक गीत (छंद) विशेप जिसके लक्षण 'भाख' गीत (देखो 'भाख') के अनुसार ही होते हैं किन्तु तुकांत दो-दो चरणों का मिलता है (र.रू.)

अरधभाखड़ी, अरधभाखरी—सं०पु०—डिंगल का एक गीत (छंद) विशेष जो भाखड़ी गीत (छंद) का आधा चार चरणों का होता है। इसके प्रथम दो चरण भाखरी गीत (छंद) के तथा तीसरे पद में सिंहावलोकन कर वैताल छंद के दो पद रक्खे जाते हैं (र.रू.)

अरधभुजंगी—सं०पु०—एक छंद विशेप जिसके चार चरणों में से प्रत्येक चरण में दो यगण होते है।

अरधसरीरी—सं०स्त्री०यौ०—अर्द्धांगिनी. स्त्री, पत्नी। उ०—ताहरां रांणी कही तौ हूं थांहरी **अरधसरीरी** किसी विध छूं।—चौबोली

अरधसवासण—सं०पु०यौ० [सं० अर्द्धशवासन] चौरासी आसनों के अंतर्गत एक आसन जिसे पर्यकासन भी कहते है। पीछे दोनों पावों को घुटने से लौटाकर पंजों को जंघा के निम्न भागों के नीचे लाकर सोने और दोनों हाथों को लंबा करके जांघ पर रखने से यह आसन होता है। कहा जाता है कि इस आसन से वंधकुष्ठ का नाश होता है।

अरधसावझड़ौ—सं०पु०—डिंगल का एक गीत (छंद) विशेष जिसमें शुद्ध सावझड़े गीत के चारों चरणों के समान ही इस गीत (छंद) के भी चारों चरण होते हैं, किन्तु 'अरध सावझड़े' में दो-दो चरणों के तुकांत मिलते है (र.रू. व र.ज.प्र.), किन्तु मतांतर से चारों चरणों के प्रत्येक चरण में सोलह मात्रायें होती है तथा चारों चरणों में तुकांत होता है (क.कु.बो.)

अरधांग, अरधांगि—सं०स्त्री०यौ० [सं० अर्द्धांगिनी] पत्नी, स्त्री।
उ०—वरसै गळवांह कियां विहरै, **अरधांग** मनू हरि नृत्य करै।
—ला.रा.

अरधाभेदक—सं०पु० [सं० अर्द्धाभेदक] केवल आधे शिर में पीड़ा होने का शिरका एक रोग विशेष (अमरत)

अरधियौ—सं०पु०— १ देखो 'अधराजियौ'. २ देखो 'अधौ'।

अरधी—वि० [सं० अर्द्ध] आधा।

अरधूंस—सं०स्त्री० [सं० अरिध्वंश] सेना, फौज (अ.मा.)

अरधौ—वि० [सं० अर्द्ध] आधा (अमरत)

अरनांमणौ—वि०—शत्रुओं को झुकाने वाला, वीर, योद्धा।

अरनाद—सं०पु०—सूर्य। उ०—नमौ अरनाद अकास अनाद।
—सूरज अस.

अरनी—सं०स्त्री—१ विद्युत (ह.नां.) [सं० अरणी] २ देखो 'अरणी'।

अरपण, अरपन—सं०पु० [सं० अर्पण] देना, दान, नजर, भेंट, समर्पण।
उ०—तन मन धन सब **अरपन** ईस हूके।—जैतदांन वारहठ

अरपणौ, अरपवौ—क्रि०स० [सं० अर्पण] अर्पण करना, सौंपना।
उ०—कोई तन मन धन सरवस **अरप्या** भाव सूं हो राज।—गी.रां.
अरपणहार-हारौ (हारी), अरपणियौ—वि०—अर्पण करने वाला।
अरपयोड़ौ—अर्पित।
अरपाणौ-अरपावौ—स.रू.।
अरपिओड़ौ-अरपियोड़ौ-अरप्योड़ौ—भू०का०कृ०—अर्पित।
अरपीजणौ-अरपीजवौ—कर्म वा०—अर्पित किया जाना।

अरपाणौ-अरपावौ—क्रि०स० [प्रे०रू०] अर्पण कराना।
अरपाणहार-हारौ (हारी), अरपाणियौ—वि०—अर्पण कराने वाला।
अरपायोड़ौ—अर्पण कराया हुआ।
अरपावणौ-अरपाववौ—रू०भे०।

अरपाल—सं०पु०—युद्ध (अ.मा.)

अरपियोड़ौ—भू०का०कृ० [सं० अर्पित] अर्पित, अर्पण किया हुआ। (स्त्री० अरपियोड़ी)

अरब—सं०पु० [सं० अर्वुद] १ सौ करोड़ की संख्या। उ०—काळी वीसळदे कियौ दरव सिला तळ दे'र, विमळ कियौ वछराज पह **अरब** समपी अजमेर।—वां.दा. [अ०] २ ऐशिया महाद्वीप के दक्षिण पश्चिमी भाग में स्थित एक रेगिस्तानी प्रदेश. ३ इस देश का मनुष्य. ४ इस देश का घोड़ा. ५ घोड़ा।

अरवजियौ—सं०पु०—साधारण कांटेदार वृक्ष, इसकी लकड़ी मजबूत होती है।

अरवद—सं०पु० [सं० अर्वुद] १ अरावली पहाड़ का एक हिस्सा. २ आबू पहाड़।

अंरिद—सं०पु० [सं० अरि+इन्द्र] शत्रु, दुश्मन, रिपु।

अरि—सं०पु० [सं०] १ शत्रु, वैरी. २ लग्न से जन्मकुंडली में छठा स्थान (फलित ज्योतिष). ३ मनुष्य के आंतरिक शत्रु यथा—काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद और मात्सर्य. ४ पहिया, चक्र।
अव्यय—और। उ०—देखि जठांणी लागी छइ जेठ। सूखी कुंमळाणी अरि सूकइ छइ होठ।—वी.दे.

अरिअण—सं०पु० [सं० अरि+जन] अरिजन, शत्रुगण।
उ०—रवि रिपु भवन जकौ सुखरासी, अरिअण कुळ बळ करण उदासी।—रा.रू.

अरिक—सं०पु० [सं० आरेक] संदेह, शंक, शंका।

अरिकेसी—सं०पु० [सं० अरि+केशी] केशी नामक असुर का शत्रु, श्रीकृष्ण।

अरिघड़—सं०स्त्री० [सं० अरि+घटा=दल] शत्रुदल।

अरिघन—सं०पु०—शत्रुघ्न। उ०—इक मांडवी वर भरथ अरिघन सतुत कीरत कोय।—रांम रासौ

अरिजण, अरिज्जण—सं०पु० [सं० अरिजन] १ देखो 'अरिअण' [सं० अर्जुन] २ देखो 'अरजुण'। उ०—दुरजोधन जिसड़ा दूसासण जुधिठिळ अरिजण भीम जिसा।—गोरधन बोगसौ

अरिथंड, अरियाट—सं०पु० [सं० अरि=शत्रु+रा० थाट=समूह, दल] शत्रुदल।

अरिंद—सं०पु० [सं० अरि+इन्द्र] शत्रु। उ०—प्रवाड़ा अछूता खाटै मारयां अफेर पीठ, देर रीठ खागां यळां अरिदां दावूत।
—रावत हिम्मतसिंह सक्तावत री गीत

अरिदम—सं०पु० [सं० अरिंदम] शत्रुओं का दमन करने वाला।

अरिदळ—सं०पु० [सं० अरि+दल] शत्रुसेना।

अरिभंजण—वि०—शत्रुओं का संहार करने वाला।

अरियण, अरियांण—सं०पु०[सं० अरि+जन] शत्रुगण, वैरी। उ०—सवळ बोलियौ 'प्राग' समोभ्रम, अरियण विहर करां खग उत्तम।—रा.रू.

अरिया—सं०स्त्री०—तरककड़ी नामक एक प्रकार की ककड़ी (क्षेत्रीय)

अरियौ—सं०पु०—फोड़ा, फुंसी।

अरिराज—सं०पु०—१ शत्रु. २ शत्रुओं का नेता।

अरिल्ल—सं०पु०—एक प्रकार का मात्रिक छंद विशेष जिसके प्रत्येक चरण में सोलह मात्रायें तथा अंत में दो लघु होते हैं।

अरिसाल—सं०पु० [सं० अरि+शल्य] शत्रु के हृदय में शूल की तरह खटकने वाला, वीर, योद्धा। उ०—महाराजा 'अभमाल' वडौ अरिसाल विवनौ।—रा.रू.

अरिस्ट—सं०पु० [सं० अरिष्ट] १ दुःख, पीड़ा, आपत्ति। उ०—दिन-दिन नखत्र गिरै दरसावै। अरिस्ट निरख आमुर अकुळावै।—रा.रू.
२ दुर्भाग्य, अमंगल, पापग्रहों का योग. ३ एक प्रकार का आसव या मद्य जो धूप में औषधियों का खमीर उठाकर बनाया जाता है.
४ वृषभानुर राक्षस. ५ उत्पात, उपद्रव।
वि०—१ दृढ़. २ अविनाशी. ३ बुरा. ४ मृत्युयोग्य।

अरिस्टनेमि—सं०पु० [सं० अरिष्टनेमि] १ कश्यप प्रजापति का नाम. २ जैनियों के एक तीर्थङ्कर।

अरिस्टा—सं०स्त्री० [सं० अरिष्टा] दक्ष प्रजापति की पुत्री जो गंधर्व की माता एवं कश्यप ऋषि की स्त्री थी।

अरिहंत—सं०पु०—जैनियों के एक तीर्थङ्कर। उ०—कै पूजै श्रीकंत नू कै पूजै अरिहंत। वांका मत विसवास कर, ए सह वणक असंत—वां.दा.
वि० [सं० अरि+हन्] १ शत्रुओं को नष्ट करने वाला.
[सं० अर्हत्] २ पूज्य, पूजनीय, स्तुति के योग्य। उ०—निमौ देव अरिहंत पुरिखि परवांन पुरातुम।—पीरदांन लाळस

अरिहंतनर—सं०पु०यौ० [सं० अरि+हंत+नर] १ ईश्वर. २ काम, क्रोध, लोभ आदि विकारों को नष्ट करने वाला. ३ शत्रुओं का संहार करने वाला. ४ जैन-तीर्थङ्कर।

अरिहण, अरिहन—सं०पु०—देखो 'अरिघन'।

अरिहर, अरिहरि, अरिहरौ—सं०पु०—शत्रु के वंश का व्यक्ति, शत्रु। उ०—सावळां ऊजळां बीजळां सांफळी, बीव दे अरिहरां सीस घायौ।
—कछवाहा खंगारोत रौ गीत

अरिहा—सं०पु० [सं० अरिघ्न] शत्रुघ्न। उ०—भरथ अरिहा लछण भ्रात अग्रज सुभग।—र.ज.प्र.

अरी—सं०पु० [सं० अरि] शत्रु, वैरी (ह.नां.—रू.भे.)
अव्यय [सं० अयि] १ स्त्रियों के लिए एक सम्बोधन. [रा०] २ और उ०—रूप अपूरव पेखियौ, लावण लांडु अरी पकवांन।—वी.दे.
क्रि०वि०—इधर बुलाने के लिए प्रयुक्त (पु० अरौ)

अरीअंधार—सं०पु०यौ० [सं० अरि+अंधकार] अंधेरे का शत्रु, सूरज, सूर्य (डि.को.)

अरीकुळ—सं०पु०यौ० [सं० अरि+कुल] शत्रु का वंश।
उ०—अरीकुळ आरा भयौ प्यारा सुभ आरा तैं।—ऊ.का.

अरीझ—वि०—वह जो प्रसन्न न हो। उ०—अजरा जरै अरीझ रिझावै।
—ह.पु.वा.

अरीठौ—सं०पु०—रीठे का वृक्ष तथा उसका फल।

अरीढ़—वि०—पीठ न दिखाने वाला, वीर। उ०—मिळै न मीढ़ मीढ़ के अरीढ़ रीढ़ ते अरी।—ऊ.का.

अरीत—वि०—बिना किसी प्रकार की रीति का। उ०—अलीत अदीत अरीत अराह।—ह.र.
सं०स्त्री० [सं० अरीति] अनरीति, कुरीति, बुरी रस्म। उ०—ऐही भुजे अरीत, तसलीमज हींदू तुरक। मायै निकर मजीत, परसाद कै प्रतापसी।—सूरायच टापरचौ

अरीन—सं०पु० [सं० अरि] अरि, वैरी, शत्रु।

अरीनिकंदण—वि०यौ० [सं० अरि+निकंदन] शत्रुओं को मारने वाला।
उ०—निरख छठै रिपु ग्रह ससिनंदण, कुळ मातुळ सुख अरीनिकंदण।
—रा.रू.

विगाड़ूं भोमिया आया अरसाला ।—पा.प्र.

अरसि–सं०पु०—आकाश । उ०—उणि वेळा लागौ अरसि, वंस वधारण-वांन ।—वचनिका

अरसिक–वि० [सं०] जो रसिक न हो, अरसज्ञ, रूखा ।

अरसुरयोत–सं०पु०—भाटी वंश की एक शाखा या इस शाखा का व्यक्ति ।

अरसौ–सं०पु० [अ० अर्सा] समय। उ०—दिन पांच-छै अरसा पड़ीया । —चौवोली

अरस्स, अरस्सए, अरस्सि–सं०पु०—देखो 'अरस' (रू.भे.) । उ०—हुए रिणि हक्क किलक्क हमस्स, उडै रत छौळि दिसेह अरस्स । —वचनिका

अरहंत–सं०पु० [सं० अर्हत] जैनियों के पूज्य देवता ।

अरहट, अरहठ–सं०पु० [सं० अरघट्ट, प्रा० अरहट्ट, अप० रहट्ट] कुयें से पानी निकालने का रहँट । उ०—अरहट कूप तमांम, ऊमर लग न हुवै इती । जळहर एकी जांम, रेळै सव जग राजिया ।—किरपारांम

अरहटणौ–वि०—शत्रुओं का नाश करने वाला ।

अरहटणौ, अरहटवौ–क्रि०स०—शत्रुओं का नाश करना । उ०—देतौ परदक्षणा आव दिल्ली अरहट्टै ।—आसियौ मालौ ।

अरहड–सं०पु०—अरहर नामक द्विदल (अमरत)

अरहण–वि० [सं० अरि+हन्] शत्रुओं का संहार करने वाला, वीर, योद्धा ।

अरहणा–सं०स्त्री० [सं० अर्हणा] पूजा, अर्चना (डि.को.)

अरहत–सं०पु०—१ पूजा. २ जिनदेव ।

अरहर–सं०पु० [सं० आढकी, प्रा० अड्ढकी] १ एकद्विदल अनाज जिसकी दाल वनाई जाती है, तूर । [सं० अरि+रा० हर] रिपु, वैरी, शत्रु । उ०—*दंत दुहत्था ज्यांह हाथियां सवळ दळ । आवधां अरहरां चूर* करणौ अकळ ।—हा.भा.

अरहित–वि० [सं० अर्हित] पूजित, अर्चित (डि.को.)

अरहौ–सं०पु० [सं० अर्ह] अत्यन्त आवश्यक कार्य ।

अरांणि–सं०पु० [सं० रण] युद्ध । उ०—पातळउ चड़िय हरि सज्जि पांणि, असुरांह थाट भेळण अरांणि ।—रा.ज.सी.

अरांन–सं०पु० [सं० अरि] शत्रु, रिपु ।

अरांन, अरांनौ–सं०पु०—वह घोड़ा जो चलते चलते सवार के नीचे से जांघों के बीच में से होकर आगे निकल जाय (ऐंवी)

अरांनौ–सं०पु०—वहादुर, वीर । उ०—*छक वळ रांण दळां नह छांना,* भीच अरांना भड़ज भला ।—जवांनजी वारहठ

अरांम–सं०पु० [सं० आराम] वाग, उपवन ; [फा० आराम] १ चैन, सुख, मौज. २ विश्राम, थकावट मिटाना. ३ सुविधा. ४ शान्ति ।

अरांमखोर–वि०यौ० [फा० आराम+खोर] आरामतलव, आराम करने वाला । उ०—हूं जहां अरांमखोर तूं जहां तरचौ ।—ऊ.का.

अराई–सं०स्त्री० [सं० अहार्य] घास-फूस की वनी गेंडुरी जिस पर जलपात्र आदि रखते हैं, इंडुरी ।

अराक–वि०—१ अकड़ने वाला, अड़ने वाला । उ०—अरें न और के अगें अराक तें अरचा करें ।—ऊ.कां. २ देखो 'ऐराक' (रू.भे.)

अराड़ौ–वि०—१ वहुत, अत्यधिक. २ वढ़िया, सुंदर ।

अराज–वि०—विना राज्य का ।

अराजक–वि० [सं० अ+राज+वुञ्] जहाँ राजा न हो, राजारहित, शासनरहित ।

सं०पु०—उपद्रव, अशान्ति, अराजकता ।

अराजकता–सं०स्त्री० [सं०] शासनाभाव, अंशाति, अंधेर, विप्लव, क्रांति ।

अराट–सं०पु० [सं० अरि+राट्] १ शत्रु-राजा । उ०—खग झाट निलाट पछाट खळां, दियै काट निराट अराट दळां ।—पा.प्र. २ देखो 'अरराट' ।

अरात–वि० [सं० अ+रात्रि] रात्रिरहित ।

सं०पु० [सं० अराति] शत्रु, दुश्मन । उ०—विख लहराय विया समवादी रोर जाय म्रत दाह अरात ।—क.कु.वो.

अराति, अराती–वि० [सं० अ+रात्रि] १ रात्रिरहित । [सं० अराति] २ शत्रु, वैरी (ह.नां.) । उ०—धरा प्रचार धूर में समग्ग वग्ग कौ घरै, मुरै अराति मग्ग में न पग्ग अग्ग में परै ।—ऊ.का.

३ दुष्ट, आततायी ।

सं०पु० [सं० अराति] १ फलित ज्योतिष में कुंडली का छठा स्थान. २ मनुष्य के आंतरिक शत्रु यथा—काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद और मात्सर्य्य ।

अरातौ–वि०—विरक्त, उदासीन ।

अरादौ–सं०पु० [अ० इरादः] १ विचार, [रा०] २ दोस्ती, मित्रता ।

अराधणा–सं०स्त्री० [सं० आराधना] १ आराधना, पूजा, उपासना. २ विनय, प्रार्थना ।

अराधणौ, अराधवौ–क्रि०स० [सं० आराधन] आराधन करना, प्रार्थना करना । उ०—समाधी साधू मैं अवर न अराधूं उर अरू ।—ऊ.का.

अराधणहार-हारौ (हारी), अराधणियौ—आराधन करने वाला ।

अराधिओड़ौ-अराधियोड़ौ-अराध्योड़ौ–भू०का०कृ०—आराधन किया हुआ ।

अराधियोड़ौ–भू०का कृ०—आराधन किया हुआ (स्त्री० अराधियोड़ी)

अरापत–सं०पु०—देखो 'ऐरावत' (डि.को.)

अराव–सं०पु० [फा०] १ छोटी तोप । उ०—वोम अरावै गाजियै ढोल हुवा सव ठौड़ ।—रा.रू. २ सेना, फौज । उ०—अरावां तणौ असवाव अपणावियौ, भट किलकता तणौ भग्गौ ।—वां.दा.

अरावा–सं०स्त्री०—१ तोप रखने की वैलगाड़ी. २ फौज की टुकड़ी ।

अरावौ–सं०पु०—देखो 'अराव' । उ०—अरावौ छोड दै आव री अठी नैं, हमें हूं सांमहौ खड़ै आयौ ।—पहाड़खां आढ़ौ

अरावळ–सं०पु० [फा० हरावल] सेना का अग्रभाग ।

अरांवौ–सं०पु०—सांप की कुंडली मारकर वैठने की मुद्रा (क्षेत्रीय–द.दा.)

अराह–सं०पु० [सं० अ+राह] कुमार्ग ।

वि०—मार्गरहित ।

सं०पु०—अरेटे का वृक्ष, देखो 'अरेटी'।

अरेटी, अरेठी–सं०पु०—एक प्रकार का वृक्ष तथा उसका फल विशेष जिसको पानी में भिगोकर सोने-चांदी के आभूषणों को साफ किया जाता है।

अरेत–सं०स्त्री० [अ० अ+रैय्यत] दूसरों की प्रजा। उ०—विजेत वांन जेत के निसांन घोरते वहे। रसा अरेत रेत को मुखग्ग टोरते रहे।—ऊ.का.

वि० [रा० अ+रेत=धूलि] धूलिरहित, बिना धूलि का।

अरेध–सं०स्त्री० [सं० आराधन] देखो 'आराधना'। उ०—तरै अरेध कर नागणेची नूं ल्यायौ।—रा.वं.वि.

अरेस–वि०—दागरहित, निष्कलंक। उ०—गढ़ गढ़ राफ राफ मेटै गह रेण खत्रीध्रम लाज अरेस।—गोरधन बोगसौ

सं०पु०—१ आकाश, आसमान। उ०—कपोळं गजां चोळ सिंदूर कैसं ओपै इंद्रबांनख जैसा अरेसं।—वचनिका

[रा० अ+रेस=पराजय] २ विजय, जीत।

अरेह–वि०—१ देखो 'अणरेह'. २ निष्कलंक। उ०—अपहड़ अथग अरेह, जिकौ बीनड़ियौ वरवंतौ।—पहाड़ खां आढ़ौ

सं०पु०—पुत्र, बेटा। उ०—रांण उदैसिंह तणौ अरेहण, राव मालदेव तणौ अरेह।—दुरसौ आढ़ौ

अरेहण–वि०—१ योद्धा, वीर, नहीं नमने वाला। उ०—अरेहण वेहण जेम निगेम करै पख उजळा।—ल.पि. २ बाधा डालने वाला।, उ०—सांमि घरम चित सरम, आदि रज करम अरेहण।—रा.रू.

सं०पु० [सं० रेह=शोक+हन्=नाश] पुत्र, बेटा (रू.भे. अरेह) उ०—रांण उदैसिंह तणौ अरेहण राव मालदेव तणौ अरेह।
—दुरसौ आढ़ौ

अरेहौ–वि० [सं० अरि+हन्] पीछे न हटने वाला, वीर, जो हार न माने। उ०—आद नाथ लखधीर अरेहा, ऐ मछरीक ढाल दळ एहा।
—रा.रू.

सं०पु०—दुश्मन, शत्रु।

अरौ–सं०पु०—बैलगाड़ी के पहिए की गडारी और पुट्ठे के बीच में जड़ी रहने वाली लकड़ी की चौड़ी पटरी, आला।

क्रि०वि०—इधर बुलाने के लिए प्रयुक्त।

अरोग–वि० [सं० आरोग्यता] रोगरहित, नीरोग, भला-चंगा।

सं०पु०—सुख (डि.को.)

अरोगणौ–वि०—भोजन करने वाला, भक्षण करने वाला।
(स्त्री० अरोगणी)

उ०—असुर सुर सोतरै मेद्ध अरोगणी, जोगणी जोत रै रूप जागै।
—खेतसी बारहठ

अरोगणौ, अरोगबौ–क्रि०स०—भोजन करना, भक्षण करना।
उ०—पहरण छाल अरोगण वन फळ।—गी.रां.

अरोगणहार-हारौ (हारी), अरोगणियौ–वि०—भोजन करने वाला।

अरोगाड़णौ-अरोगाड़बौ, अरोगाणौ-अरोगाबौ, अरोगावणौ-अरोगाववौ–रू०भे०—भोजन कराना।

अरोगिओड़ौ-अरोगियोड़ौ-अरोग्योड़ौ–भू०का०कृ०—भक्षण किया हुआ।

अरोगियोड़ौ–भू०का०कृ०—भोजन किया हुआ, भक्षण किया हुआ।
(स्त्री० अरोगियोड़ी)

अरोगी–वि०—नीरोगी।

सं०स्त्री०—चिता। उ०—तद अरोगी चिणा सत्य करायी तिका सत्यलोक पोंहती।—जखड़ा मुखड़ा भाटी री वात

अरोड़–वि०—१ जबरदस्त, बलवान, नहीं रुकने वाला। उ०—दीठौ जोड़ दुरग्ग री, वंधव खेम अरोड़। भारथ मांहै भीमसी, जांणै पारथ जोड़।—रा.रू. २ बहुत। उ०—वां दीध वगस दौलत अरोड़।
—वि.सं.

सं०पु०—समुदाय, झुंड। उ०—रिमां धू मरोड़ थाट खगाटां पाथरै रूप सुभट्टां अरोड़ लीधा साथ रहै सदीव।—रांमकरण महडू

अरोड़णौ–वि०—रोकने वाला। उ०—सिरताज धराज वहै छिब सायक यूं खगराज अरोड़णा है।—क.कु.बो.

अरोड़ा–सं०पु० [सं० अरूढ़] खत्रियों के अंतर्गत पंजाब की एक जाति विशेष।

अरोड़ी–सं०पु०—एक प्रकार की अफीम विशेष। देखो 'आरोड़ी'।
उ०—केसरिया पोतां रूमालां में घालजै छै, अरोड़ी गाळजै छै।
—रा.सा.सं.

अरोड़ौ, अरोड़ौ–वि०—देखो 'अरोड़'। उ०—घणा मोला स खरीदौ घोड़ा समर अरोड़ा राखौ सूर।—बाघोर महाराजा सिवदांनसिंह

अरोपा–वि०—मजबूत, दृढ़। उ०—गांठ मखतूल अर मियां-वर बांण गिण, मेर ज्यूं अरोपा कीध माई। भांण रै ऊगवण थया वज्र लीक भल, 'अमर' नै दिया ग्रै वचन आई।—खेतसी बारहठ

अरोम–वि० [सं०] रोम या बालरहित, निलोम।

अरोळी–सं०पु० [सं० हरावल] फौज का अग्र भाग, हरावल।

अरोहक–सं०पु०—सवार। उ०—अमरसी वाह मांणक तणां अरोहक वाह मांणक तुरंग अमरसी वाला।

अरोहण–सं०पु० [सं० आरोहण] १ आरोहण, चढ़ना, सवार होना।
उ०—गुण पति आग्या सांहणी, अस्व अरोहण कज्जि।—रा.रू.
२ सीढ़ी, सोपान. ३ अंकुर का प्रादुर्भाव।

अरोहणौ, अरोहबौ–क्रि०अ० [सं० आरोहण] चढ़ना, सवार होना।
सं०—चढ़ाना।

अरोहित, अरोही–वि० [सं० आरोही] १ अंकुरित. २ सवारी किए हुए, सवार। उ०—सिरी घटियाल अरोहित सेर, सस्यां महताहळ माळ सुमेर।—मे.म.

अरौड़–सं०पु०—१ वेग (अ.मा.) २ देखो 'अरोड़' (रू.भे.)

अलंकार–सं०पु० [सं०] १ आभूषण, जेवर, गहना।
उ०—सुणीजै अलंकार झंकार सूतां, हुवै नींद विक्षेप ताकीद हूंतां।
—मे.म.

अरीपुलोम–सं०पु०यौ० [सं० अरि+पुलोम] इंद्र (डिं.को.)
अरीबंधु–सं०पु०यौ०—चंद्रमा ।
अरीयण, अरीयांण–सं०पु०—देखो 'अरिअण' । उ०—आप न मुड़ियै जाय अरीयण, तौ आगै पाछै मुड़ैयर ।—रावत चूंडा लखावत रौ गीत
अरीस–वि०यौ० [सं० अरि+ईश] बड़ा शत्रु ।
अरीहण–सं०पु० [सं० अरि] शत्रु, दुश्मन (मि. अरिअण)
वि०—शत्रु का नाश करने वाला ।
अरीहरि–सं०पु० [सं० अरि+रा० हरि] शत्रु के वंशज, शत्रु ।
उ०—वाजुवा कमंध रवि पहां वोलावतौ, अरीहरि गांजतौ भुज पुकारै ।
—राठौड़ महाराजा जसवंतसिंह रौ गीत
अरुंखिका–सं०स्त्री० [सं० अरुंषिका] सिर के बाल उड़ने का एक रोग विशेष जो कफ और रक्त के विकार या कृमि के प्रकोप से होता है । यह इन्द्रलुप्त नामक रोग का एक भेद माना जाता है (अमरत) भाव प्रकाश के अनुसार इस रोग में शिर में अत्यन्त क्लेदयुक्त व्रण हो जाते हैं ।
अरुंधती–सं०स्त्री० [सं०] १ वशिष्ठ मुनि की स्त्री का नाम. २ दक्ष की एक कन्या जो धर्म को व्याही गई थी. ३ वशिष्ठ तारे के समीप सप्तर्षि मंडल में रहने वाला एक छोटा तारा (ऐसी किंवदंती है कि मृत्यु के छः मास पूर्व यह तारा नहीं दिखता). ४ नासिका का अग्र भाग ।
अरुंधतीस–सं०पु० [सं० अरुंधती+ईश] वशिष्ठ मुनि ।
अरु–अव्यय—१ और. २ पुनः, फिर ।
अरुख–वि०—विरुद्ध, विमुख (एकाक्षरी)
अरुचि–सं०स्त्री० [सं०] १ रुचि का अभाव, अनिच्छा. २ घृणा, नफरत, वितृष्णा. ३ मंदाग्नि जिसमें भोजन की इच्छा नहीं होती ।
अरुचिकर–वि० [सं०] जिससे अरुचि उत्पन्न हो, जो रुचिकर न हो ।
अरुचिख–सं०स्त्री०—आग, अग्नि (नां.मा.)
अरुज–वि० [सं०] नीरोग, रोगरहित ।
अरुजण, अरुजन–सं०पु० [सं० अर्जुन] १ अर्जुनवृक्ष । उ०—वट तमाळ पीपळ विरख, अरुजन समी अपार ।—रा.रू. २ अर्जुन, पार्थ ।
अरुझणौ, अरुझबौ–क्रि०अ०—उलझना, फँसना ।
अरुझाणौ, अरुझाबौ–क्रि०स०—उलझाना, फँसाना ।
अरुझियोड़ौ–भू०का०कृ०—उलझा हुआ, फँसा हुआ ।
(स्त्री० अरुझियोड़ी)
अरुठौ–वि०—देखो 'अरुठ' ।
अरुण–वि० [सं०] लाल, रक्त (डिं.को.)
सं०पु०—१ सूर्य । उ०—दुज जळ मांभळ सांपड़ै, अरुण उदै री वार । गावै कै दातार गुण, कै गावै करतार ।—वां.दा.
२ सूर्य का सारथी. ३ गुड़. ४ शब्दरहित, अव्यक्त राग. ५ कुष्टभेद. ६ कुमकुम, गहरा लाल रंग, सिंदूर. ७ संध्या-राग. ८ माघ मास का सूर्य ।
अरुणचूड़–सं०पु०यौ० [सं०] कुक्कुट, मुर्गा ।
अरुणता–सं०स्त्री० [सं०] ललाई, लालिमा । उ०—पहिलैं मुख कै विखै अरुणता दीसण लागी ।—वेलि. टी.
अरुणप्रिया–सं०स्त्री०यौ० [सं०] अप्सरा, सूर्य्य की स्त्री ।
अरुणसिखा–सं०पु०यौ० [सं० अरुणशिखा] मुर्गा, कुक्कुट ।
अरुणा–सं०स्त्री०—१ मजीठ. २ इंद्रायण. ३ उषा ।
अरुणाई–सं०स्त्री० [सं० अरुण] लालिमा, ललाई । उ०—अरुणाई महाउर सी दरसै ।—ला.रा.
अरुणानुज–सं०पु०यौ०—गरुड़ (इनके बड़े भाई सूर्य्य के सारथी थे) (अ.मा.) उ०—जस छळ जागणहार, घरपुड़ त्यागणहार धिन । अरुणानुज असवार. कर छाया ज्यां सिर करै ।—बां.दा.
अरुणावरज–सं०पु० [सं०] गरुड़ (ह.नां., अ.मा.)
अरुणी–सं०स्त्री०—१ ललाई. २ मेहँदी ।
अरुणोद–सं०पु०यौ० [सं० अरुणोदय] उषाकाल, ब्राह्ममुहूर्त्त, तड़का, भोर ।
अरुणोदधि–सं०पु०यौ० [सं०] मिश्र और अरब के बीच में स्थित एक समुद्र, लालसागर ।
अरुणोदय–सं०पु०यौ० [सं०] सूर्योदय, उषाकाल, भोर, तड़का ।
उ०—कै अरुणोदय कांति रही मिळि राजही ।—बां.दा.
अरुणोदयसप्तमी, अरुणोदयसातम–सं०स्त्री०यौ०—माघ मास के शुक्ल पक्ष की सप्तमी जिसमें सूर्योदय के समय स्नान करने का बड़ा महात्म्य है ।
अरुथ–सं०पु० [सं० अर्थ] १ धन, वित्त. २ अर्थ ।
अरू–अव्यय—और ।
अरूड़–वि०—१ बहुत, अधिक. २ बढ़िया । उ०—अति आय थांन धीणा अरूड़ ।—रामदान लाळस
अरूड़णौ, अरूड़बौ–क्रि०अ०—एक के ऊपर एक अधिक संख्या में गिरना ।
अरूच–सं०स्त्री० [सं० अरुचि] देखो 'अरुचि' (रू.भे.)
अरूठ–वि०—१ क्रुद्ध, नाराज. २ बलवान, जबरदस्त ।
अरूढ़णौ, अरूढ़बौ–क्रि०अ० [सं० आरूढ़] चढ़ना, सवार होना ।
उ०—इंद्र गै अरूढ़ गिरवांण फूल सामां आया ।—चावंडदांन महड़ू
अरूप–वि० [सं० अ+रूप] १ जिसका कोई रूप न हो, निराकार ।
उ०—अभंग अथाह अप्रेय अरूप, छछोह वदन्न मदन्न सरूप ।—ह.र.
२ बदसूरत, कुरूप ।
सं०पु०—विष्णु (ह.नां.)
अरूहणौ, अरूहबौ–क्रि०अ०—सवार होना, सवारी करना ।
अरूहणहार-हारौ (हारी), अरूहणियौ–सवारी करने वाला ।
अरूहिओड़ौ-अरूहियोड़ौ-अरूहयोड़ौ–भू०का०कृ०—सवार ।
अरूहियोड़ौ–वि०—सवार हुआ हुआ, आरूढ़ (स्त्री० अरूहियोड़ी)
अरै–अव्यय [सं०] आश्चर्य या संबोधनार्थक अव्यय ।

२ पानी या कीचड़ में अधिक समय तक रहने से होने वाला पैरों या हाथों का रोग (अमरत). ३ देखो 'अलक्ख' नं० २। उ०—भटकै कर भेख, घर घर अलख जगावता। दुनियां रा ढंग देख, मिळसी पनिया मोतिया।—रामसिंह सांदू

वि०—देखो 'अलक्ख' (रू.भे.)

अलखधारी, अलखनांमी–सं०पु०यौ०—गोरखनाथ के अनुयायी एक प्रकार के साधु।

अलखपुरख–सं०पु०यौ० [सं० अलक्ष्य+पुरुष] अदृश्य व्यक्ति, ईश्वर। उ०—अलखपुरख घट घट रह्या भरपूर समाई।—केसोदास गाडण

अलखभुवण–सं०पु०यौ० [सं० अलक्ष्य+भुवन] स्वर्ग। उ०—जस वाखांण राजपंख वाजै, अलखभुवण घण सुणे इम।

—महारांणा जगतसिंह री गीत

अळखांमण–सं०स्त्री०—१ शरारत, उद्दंडता। उ०—अतरी अणहूंतीह अळखांमण न चलै अठै, वळ हळ वापोतीह जठै तुज्ज पतरी जमीं।

—पा.प्र.

२ उदासीनता, खिन्नता (मि० अळखांमणौ)

अळखांमणौ, अळखांवणौ–वि०—१ खराब, बुरा, अप्रिय. २ खिन्नचित्त। उ०—ऐता होग्रै अळखांमणा, जो मांडै घर वास।—ढो.मा. ३ उद्दंड, शरारती, भयावह। उ०—बूडा री बेटोह, अत घेटी अळखांमणी। खीची सूं खेटोह, करसी वेगौ इज कमध।—पा.प्र.

अळखेलियौ–वि०—योद्धा, जबरदस्त। उ०—लड़ै गढ़ कोठिया वणहड़ौ ले लियौ, वकारै रखै सीसोद अळखेलियौ।—हुकमीचंद खिड़ियौ

अलग–क्रि०वि० [सं० अलग्न] १ पृथक. २ दूर, अति दूर। देखो 'अलग्ग' (रू.भे.)

अलगगीर–सं०पु० [अ० अरकगीर] घोड़े की पीठ पर रक्खा जाने वाला वह कम्बल या नमदा जिस पर जीन या चारजामा कसते हैं।

अलगचौ–सं०पु०—देखो 'अलगोजौ' (रा.सा.सं.)

अलगरज, अलगरजी–वि० [अ० अलगरज] मस्त, उन्मत्त, वेपरवाह। उ०—भल अलगरजी ओड, आसरौ रासै प्यारौ। करै न दूजो कांम, नियां जो डैरो लारौ।—दसदेव

अलगरद–सं पु० [सं० अलगर्द] जल में रहने वाले विषहीन सर्प व मेंढ़क उ०—परंतु इसड़ा राग रा रिझवार अलगरद विलेसय तौ कठै न जांणिया।—वं.भा.

अळगां, अळगा–क्रि०वि० [सं० अलग्न] दूर, अलग, फासले पर।

अलगूंजौ–सं०पु०—देखो 'अलगोजौ' (रू.भे.)

अळगी–क्रि०वि० (स्त्री० अळगी) १ दूर. २ पृथक।

अलगोजौ–सं०पु० [अ० अलगोजा] एक प्रकार की बांसुरी। उ०—रोजा निसवासर संठां में साजै, वैंकति कंठां में अलगोजा वाजै।—ऊ.का.

अळगौ, अळग्ग, अळग्गौ–क्रि०वि०—१ अलग, पृथक, दूर। उ०—सरम सांनभ्रम हूंत सपग्गौ। अधरम हूंता रहै अळग्गौ—रा.रू.

२ दूर, बहुत फासले पर। उ०—ढोलइ चित्त विमासियउ, मारु देस अळग्ग। आपण जाए जोइयउ, करहां हुंदउ वग्ग।—ढो.मा.

अळघी, अळघौ–क्रि०वि०—१ अलग, पृथक. २ दूर, फासले पर। (रू.भे. अळगौ)

अलड़–सं०पु०—वह जो लड़ा न हो। उ०—अलड़ अलंगे ओदकै, भारथ खग भिड़वाव। तौ ऊभां करनेस तण, पण न लागै दाव।

—पदमसिंह री वात

अलड़-बलड़–वि०—अंड-बंड, अंट-संट, अव्यवस्थित।

अलड़ौ–वि० [स्त्री० अलड़ी] अल्हड़, मनमौजी, लापरवाह, भोला। कहा०—अलड़ौ जोवण भींतां रै लगावण नै को हुवै नी—अल्हड़ यौवन दीवारों के लगाने को नहीं होता, किसी वस्तु का आधिक्य होने पर भी वह व्यर्थ नहीं गँवाई जाती।

अलज–वि०—बुरा, खराब। उ०—इंद्र गौतम अहिलिआ अलज चारित्र अनंत, रांम सुणि ए राजा रिख पाप सराप परसंग।

—रांमरासौ

देखो—'अलिज्ज'।

अळजउ–सं०पु०—मनमुटाव। उ०—भाऊ भाट संदेसड़उ, दिसि सयणां कहियाह। कीयउ मारू अळजउ, वांहां दे मिळियाह।—ढो.मा.

अळजगउ–क्रि०वि०—१ अलग, पृथक. २ दूर, फासले पर। (मि० अळजयउ)

अळजयउ–क्रि०वि०—१ अलग, पृथक. २ दूर, फासले पर। उ०—ढोलउ मारू अळजयउ, साईं दे मिळियाह।—ढो.मा.

अलज्ज–वि० [सं०] निर्लज्ज, लज्जाहीन। उ०—ए अपराधी आतमा, औगुण एह अलज्ज।—ह.र.

अळजौ, अळजौ–वि०—उद्विग्न, चिंतित, उत्कंठित। उ०—अलवेला अळजौ घणौ, देखण पीय दीदार।—ढो.मा. सं०स्त्री०—उत्कंठा, अभिलाषा। उ०—चित मिळवारी चाहि, राति दिवस अळजौ रहै। आऊं भुंड अवगाहि, जाणू सयण कन्है 'जसा'।

—जसराज

अलटौ–सं०पु०—जुर्म, कलंक।

अलता–सं०स्त्री० [सं० अलक्तक] मेंहदी. महावर। उ०—पाय लाखीणी वरमी रै मोचड़ी, अलतां राता छै पांव ओ।—लो.गी.

अलतो-अलतौ, अळतो-अळतौ–सं०पु० [सं० अलक्तक] १ मेंहदी, महावार। [रा०] २ व्यंग्य, नाश।

अळथा–वि० [सं० अल्] बहुत, अधिक। उ०—सजण अण सजण हुआ, आंह अळथा भार। विरह महासिर उलटे, कंत न कीवी सार।

—ढो.मा.

अलद्ध–वि० [सं० अलब्ध] भिन्न, पृथक, अलग। उ०—अवाळ अव्रद्ध अकाळ अक्रम्म, अपाळ अलद्ध अभाळ अभ्रम्म।—ह.र.

अलप–वि० [सं० अल्प] अल्प, थोड़ा, किंचित्। उ०—रोग अग्नि अरु राड़, जांण अलप कीजै जतन, वधियां पछै विगाड़, रोक्यां रहै न राजिया।—किरपारांम

२ किसी बात को चारु चमत्कार चातुर्य के साथ कहने का ढंग या रुचिर रोचकतापूर्ण प्रकाशन रीति (काव्य). ३ संगीत के अभ्यास के लिए स र ग म का विभिन्न तरीकों से प्रयोग। संगीत-रत्नाकर के मत से ६३ अलंकार माने जाते हैं. ४ वे हाव-भाव या आंगिक चेष्टाएँ जो नायिका के सौन्दर्य को बढ़ावें (साहित्य). ५ राजस्थानी की बहत्तर कलाओं के अंतर्गत एक कला. ६ छंदशास्त्र में प्रथम गुरु सहित चार मात्रा का नाम (डिं.को.)

अलंकृत, अलंक्रित–वि० [सं० अलंकृत] १ अच्छी तरह से सजाया हुआ, विभूषित। उ०—जदूकुळ-नायक सामिय-जग्ग, पदम्म-पताक-**अलंकृत** पग्ग।—ह.र. २ चारु, चमत्कृत, काव्यालंकारयुक्त।

उ०—अरुच **अलंकृत** अरथ सूं, निरगुण मन निरवाह। कुकवि ब्रह्म ग्यांनी तणौ, रात दिवस इक राह।—बां.दा.

अलंक्रिती–वि० [सं० अलंकृती] अलंकार जानने वाला। उ०—आयां सुपन **अलंक्रिती** होण तणी नह होस।—बां.दा.

अलंग–क्रि०वि०—१ ऊपर या दूर। उ०—हासंग पेख महराज रंग, उडगयण बाज, तुर रा **अलंग**।—वि.सं. २ तरफ, ओर।

सं०स्त्री०—१ सेना का पक्ष. २ दिशा।

वि०—१ बहुत. २ ऊंची, उत्तंग। उ०—सफीलां **अलंग** आडावळा सरोतर सधर बुरजां गिरां नाग सांमांन।—उमेदजी सांदू।

अलंगणौ, अलंगवौ–क्रि०स०—आलिंगन करना।

अलंगाणौ. अलंगावौ–प्रे०रू०।

अलंगतौ, अलंगां, अलंगांण–क्रि०वि०—दूर। उ०—बरमा कावळ वीर महाजुध मंडिया, अर भग्गा **अलंगांण** आथांण उछंडिया।

—किसोरदांन बारहठ

अलंगाणौ, अलंगावौ–क्रि०स० (प्रे०रू०) आलिंगन कराना।

देखो 'अलंगणौ'।

अलंगार–सं०पु०—योद्धा, वीर, बहादुर। उ०—कांनी कांनी भड़ज हूँकळै अणकांनी ऊभां **अलंगार**।—अज्ञात

अलंगी–क्रि०वि०—दूर।

अलंत–वि०—व्यर्थ। उ०—रही बीबरै रांमरस, अनरस घणौ **अलंत**। याहिज है ध्रम आतमा ऐ तीरथ ऐ तप।—ह.र.

अळंबै–वि० [सं० अवलंबित] अवलंबित, आश्रित। (देवि.)

अळ–सं०स्त्री० [सं० इला] १ पृथ्वी, धरती (डिं.को.). २ विष।

अल–वि० [सं० अलम्] व्यर्थ, निरर्थक। उ०—संयम सहाय **अल** अंतराय।

—ऊ.का.

सं०पु० [सं० अलि] १ भौंरा। [रा०] २ पानी, जल (ना.डिं.को.) ३ वंश, गोत्र (कायस्थ). [सं०] ४ विच्छू का डंक। उ०—या बात करण गोचर पड़तां ही गढ़ रा सिपाह प्रामारवी अली रा अंग री स्परस करतां **अल**-रा चालवा में विलंब न होय तिण रीति सुणतां ही समीप आया।—वं.भा.

अलअळी–वि०—काला, श्याम (अ.मा.)

अळआर, अळआरौ–सं०पु०—निस्सार या निरर्थक शब्द।

उ०—ऊसर वैणां सूं स्रवती **अळआरां**, धूसर नैणां सूं ध्रवती जळधारां।—ऊ.का.

अलक–सं०स्त्री० [सं०] १ मस्तक के इधर-उधर लटकने वाले बाल, केश, लट, घुंघराले बाल। उ०—स्रम स्वेद कपोलन में झलकें, **अलकें** दुहू नागिन सी तलकें।—ला.रा. २ हरताल. ३ मंदार. [सं० अलक्ता] ४ महावर।

अलकनंदा–सं०स्त्री० [सं०] गंगोत्री के आगे भागीरथी की धारा से मिलने वाली गढ़वाल की एक नदी।

अलकमध्य–सं०पु० [सं०] भाल, ललाट (अ.मा.)

अलकलडैतौ–वि०—दुलारा, प्यारा।

अलका–सं०स्त्री० [सं०] १ कुबेर की पुरी (यौ० अलकापति)

अलकाधारी–सं०पु० [सं० अलकाधारिन्] १ अलकावलि धारण करने वाला. २ श्रीकृष्ण। उ०—मोर मुगट माथ्यां तिलक, विराज्यां कुंडळ **अलकाधारी** जी।—मीरां

अलकानगरी–सं०स्त्री० [सं०] कुबेर की पुरी।

अलकापत, अलकापति–सं०पु०यौ० [सं० अलकापति] १ कुबेर। (अ.मा., डिं.को.) २ आठ दिग्पालों में से एक।

अलकापुरी–सं०स्त्री० [सं०] कुबेर की पुरी।

अलकावळ, अलकावळि–सं०स्त्री०यौ० [सं० अलकावलि] केशों का समूह, लटों की राशि। उ०—ईढी कवडाळी माथै पर ओडी, छैली **अलकावळ** मुखड़ै पर छोडी।—ऊ.का.

अलक्क–सं०पु०—देखो 'अलक' (रू.भे.)

अलक्ख–वि० [सं० अलक्ष] १ जो लक्ष या लाख के बराबर न हो। [सं० अलक्ष्य] २ जिसका लक्ष्य न किया गया हो, न देखा हुआ, अदृश्य। उ०—**अलक्ख** आकार अणलेप अवगत अनंत संतहित रूप साकार सारे।—र.रू. (यौ० १ अलक्खनिरंजन. २ अलक्खपुरख) ३ जिसका लक्षण न कहा जा सके। उ०—**अलख** पुरस आदेस, देश बचाय दयानिधे। वरणन करूं विसेस, सुह्रद नरेस प्रतापसी।

—दुरसौ आढ़ौ

सं०पु०—१ ईश्वर, परब्रह्म (डिं.को.) (क्रि०प्र० जगावणौ)

कहा०—१ अलख पुरस री माया, कठै धूप कठै छाया—कहीं सुख, कहीं दुःख, यही ईश्वरीय लीला है। २ अलख भरोसे ऊकळै आधण ईसरदास—सब कार्य ईश्वर के भरोसे चलते हैं, सब प्रभु की माया है।

२ भिक्षार्थ भिक्षाटन करते समय दशनामी संन्यासियों द्वारा उच्चारण किया जाने वाला शब्द। (रू.भे. अलख)

अलक्षण–सं०पु० [सं०] अशुभ या बुरा लक्षण।

वि०—चिन्ह या संकेतरहित।

अलक्ष्य–वि० [सं०] देखो 'अलक्ख'।

अलख–सं०पु०—१ तीर (डिं.नां.मा.)

अळसणौ, अळसबौ—क्रि०अ० [सं० अलस] आलस्य करना।

अळसणहार-हारौ (हारी), अळसणियौ—आलस्य करने वाला।

अळसाणौ, अळसावौ—रू०भे०

अळसिओड़ौ, अळसियोड़ौ, अळस्योड़ौ—भू०का०कृ०

अळसाक—सं०पु०—आलस्य। उ०—तजी अळसाक अलप है जीवन, समभि देखि अभिमांनी वे।—ह.पु.वा.

अळसाणौ, अळसावौ—क्रि०अ०—१ आलस्य करना, अलसाना। उ०—विस कसाय अणखाय, मोह पाय अळसाय मति। जनम इस्यारथ जाय, रांम भजन विन राजिया।—किरपारांम २ कुम्हलाना, मुरझाना। उ०—वेगी वावड़ वावळी, थांन रह्यौ अळसाय, पांनां मुख पीळीजीयौ, झुर झुर नीचा जाय—बादळी।

अळसियौ—सं०पु०—केंचुआ नामक बरसाती कीड़ा जो एक बालिश्त लंबा होता है (एकाक्षरी)

अळसियोड़ौ—भू०का०कृ०—१ आलस्य किया हुआ। २ कुम्हलाया हुआ। (स्त्री० अलसियोड़ी)

अलसी—सं०स्त्री० [सं० अतसी] एक पौधा विशेष तथा इस पौधे के बीज।

अळसीड़ौ—सं०पु०—घास-फूस, कूड़ा-कचरा, अव्यवस्थित सामान (क्षेत्रीय)

अळसेट—सं०पु० [सं० अलस] ढिलाई, व्यर्थ की देर, टालमटूल, चकमा (क्षेत्रीय)

अळमोटौ—सं०पु—खेत में फसल के साथ होने वाला घास-फूस (क्षेत्रीय)

अळह—वि० [सं० अलफल] १ वृथा, फजूल, व्यर्थ। उ०—ओ माद्रळी ऊळळै, छर ऊछज कर छोह। गाजै जळहर गयण में, जाय अळह तै जोह।—बां.दा. २ अलग, पृथक।

अलहणपुर—सं०पु०—अन्हिलवाड़ा जो राजा जयसिंह सिद्धराज की राजधानी थी (इति.)

अलहदा—वि० [अ०] अलग, भिन्न, जुदा।

अलहिया—सं०स्त्री०—सब कोमल स्वरों की एक रागिनी जो हिंडोल राग की स्त्री कही जाती है (संगीत)

अलहैरी—सं०पु० [अ०] एक ही कूबड़ वाला एक प्रकार का अरबी ऊँट।

अलांण, अलांन—सं०पु० [सं० आलान] १ हाथी के बाँधने का खूंटा या सिक्कड़. २ एक प्रकार का पौधा जिससे झाड़ू बनाए जाते हैं. [अ० इअलान] ३ घोषणा, मुनादी।

अलांणौ—वि०—बिना सारजामा कसा हुआ ऊँट। उ०—लेना वाढ़ै लाल, जोड़कर ऊँट अलांणा।—दमदेव

अलांबु—सं०पु० [सं०] एक फल विशेष, देखो 'अरलु' (अमरत)

अलांम—वि० [अ० अल्लामा] १ बदमाश, दुष्ट, नटखट। उ०—रटै रहीम न रांम, भेस बदल भमता फिरै। इसड़ा वुरा अलांम चरण पुजावै चकरिया।—मोहनलाल साह २ नीच. ३ कोरी बातें बनाने वाला. ४ चोर (ह.नां., अ.मा.)

अळा—सं०स्त्री० [सं० इला] इला, पृथ्वी, भूमि। उ०—घाट थंभ अभंग मारंग नाहरां थाहरां, अळा तौ सारखां हाथ आवै। —रावत सारंगदेव री गीत

अला-आयु—सं०पु०—वह घोड़ा जिसकी पीठ मयूर के रंग की हो। (अशुभ-शा.हो.)

अळाई—सं०स्त्री० [सं० अलाती] १ छोटी फुन्सी, पिटिका. २ आफत, अलावला। उ०—आज वेढ रै दिन म्हारै माथै छत्र मांडौ, आ अळाई मोनूं प्रिथीराज री लागै।—नैणसी ३ सुस्ती, आलस्य. ४ घोड़े की एक जाति-विशेष। वि० [सं० आलस्य] आलसी, सुस्त, काहिल।

अलाखौ—सं०पु० [अ० इलाका] रियासत, कई गाँवों की जमींदारी (रू.भे.) उ०—काटचा कैर वैरी वां अलाखा काट लीनां। देवै उदैपुर का ग्रांम साटै काट लीना।—शि.वं.

अलाग—सं०स्त्री०—वह बंदूक जो लक्ष्य पर ठीक न लगे। वह बंदूक जिसकी मार तेज न हो। वि०—१ भिन्न, पृथक। उ०—हूं सेवक प्रिथीदास तणौ हरि, अवरां देवां लाग अलाग। रूड़ौ तिकौ प्रसाद रावळौ, भूंडौ तिकौ अभीणौ भाग।—प्रिथीराज राठौड़ २ आसक्ति-रहित। क्रि०वि०—दूर, पृथक।

अलागलाग—सं०पु०—नृत्य या नाचने का एक ढंग।

अलागीर—सं०पु० (अ० अल्लाह + फा० गीर) मुसलमान।

अलागौ—वि०—१ नहीं लगने वाला. २ बिना लगाव।

अलाचारी—सं०स्त्री० [सं० आलापचारी] देखो 'आलापचारी'। उ०—सनमुख कलावंत अदंग ले अलाचारी करै। पाखती नागड़द पैमारौ लोग ऊभौ रहै।—कहवाट सरवहिया री वात

अलाज—वि० [सं० अलज्ज] बेशर्म, निर्लज्ज।

अलात—सं०पु० [सं०] १ अधजला, जलता हुआ काठ या अन्य कोई पदार्थ २ देखो 'अलातचकर'। उ०—चक्र बंबै मिस सूर कै, जिम आव्रत जांणं। गोळाकार अलात गत, पूरब पिछमांणं।—मोडजी आसियौ ३ चक्र (डिं.को.) ४ पलीता। उ०—अलात दे दे'र गोळां रौ गजर लगायौ।—वं.भा.

अलातचकर, अलाचक्र—सं०पु० [सं० अलातचक्र] १ किसी जलते हुए पदार्थ या लकड़ी को चारों ओर घुमाने से बनने वाला आग का एक चक्र, आग का घेरा, गोला या वृत्त. २ एक प्रकार का नृत्य-विशेष।

अलादौ—वि० [फा० अलाहिदा] पृथक, भिन्न, दूसरौ। उ०—तिण वास्तै म्हांनूं आ वात दीवांण रै कहै छै नहीं नै रतनसीजी फुरमावै तौ वात अलादी तरै रांणै रतनसी मांमौ जोयौ।—नैणसी

अलाप—सं०पु०—देखो 'आलाप'

अलापणौ, अलापबौ—क्रि०स० [सं० आलापन] १ अलापना, तान लगाना, स्वर देना या उठाना। उ०—वीणा अलापी देखि समि, किसे गुण मेल्ही वीण।—ढो.मा. २ बोलना।

अलपता, अलपताई–सं०स्त्री० [सं० अल्पता] १ कमी, न्यूनता. २ छोटाई, सूक्ष्मता। उ०—बाहिर भीतर सुनि थूळ आछै अलपता। —केसोदास

[रा०]—३ शैतानी, बदमाशी।

अलपतौ–वि०—चंचल, बदमाश, शैतान।

अलप्प–वि० [सं० अल्प] देखो 'अलप'। उ०—रहै विलंबे रांमरस, अनरस गिणे अलप्प।—ह.र.

अलफ–सं०पु०—अ० अ—अगले दोनों पैर उठा कर पिछली टांगों पर घोड़े का खड़ा होना।

अलफौ–सं०पु० [अ० अलफा] प्रायः मुसलमान फकीरों के पहनने का एक प्रकार का ढीला-ढाला बिना बाँह का बहुत लंबा कुरता, गुदड़ी।

अलबत, अलबता, अलबत्ता–क्रि०वि० [अ० अलबत्ता] १ अलबत्ता, निसंदेह, बेशक। उ०—कठण पड़े जद कांम, हांम पकड़ गाढ़ौ रहै। तौ अलबत ही तांम, रांमभली ह्वै राजिया।—किरपारांम

२ किन्तु, लेकिन। उ०—रहै भूखौ बन राव, अलबत घास न आचरै। घालै हाथळ घाव, मैंगळ ऊपर मोतिया।—रायसिंह सांदू

वि०—कुछ, किंचित। उ०—नव द्वारां रा रसिक नवेला, अलबत भग अधिकाई—ऊ.का.

अलबतौ–वि०—१ देखो 'अलपतौ'।

२ घुमाया हुआ, हिलाया हुआ (रा.रा.)

अलबेलापण, अलबेलापणौ–सं०पु०—बाँकापन, सजधज, छैलापन, सुंदरता. २ अनोखापन, विचित्रता. ३ अल्हड़पन, बेपरवाही।

अलबेलियौ–वि०—देखो 'अलबेलौ'। उ०—आलीजा अलबेलिया हौ हंजा हुसनाक।—बां.दा.

स०पु०—एक अश्लील मारवाड़ी गीत।

अलबेलौ–वि० [सं० अलभ्य+ला] (स्त्री० अलबेलण) १ बाँका, छैल-छबीला, बना-ठना, सुंदर। उ०—बिरछां बेलां पर चढ़णै बुधि चाही, उर में अलबेलां बेलण सुध आई।—ऊ.का.

२ अनूठा, अनोखा. ३ अल्हड़, मनमौजी, तरंगी।

अलबेस–सं०पु० [सं० अल] पहनावा। उ०—करे आदेस आरोहिया केसरी, मरद अलबेस री जोगमाया।—मे.म.

अलभ्य–वि० [सं०] न मिलने योग्य, अप्राप्य, जो कठिनता से मिल सके, दुष्प्राप्य, दुर्लभ, अमूल्य। उ०—गाय किसी'क अलभ्य वस्तु भगवांन दुनियां रै लाभ रै वास्तै बणायी है—वरसगांठ

अलम–सं०पु० [अ०] १ रंज, दुःख. २ झंडा, पताका. [रा०] ३ पहाड़, पर्वत. ४ समूह, भीड़. ५ सामर्थ्य. ६ निषेध।

अव्यय० [सं० अलम्] यथेष्ट, पर्याप्त, पूर्ण।

वि०—१ व्यर्थ, निरर्थक. २ बहुत।

अलमिति–अव्यय [सं० अलम्+इति] बस, काफी। उ०—भमियां भूगोळक नभगोळक भ ᐟ कविजण करुणारस अलमिति अधिकाई। —ऊ.का.

अलमसत–वि० [फा० अलमस्त] निर्द्वन्द, बेफिक्र, मस्त। उ०—गोदड़ कानफाड़ जोगी जंगम...अलमसत फकीर जिके संसार नूं भागा थका फिरै।—रा.सा.सं.

अलमारी–सं०स्त्री० [पुर्तगाली–अलमारियो, अं० अलमिरा] वस्तुओं आदि के रखने के लिए खाने या दर बनी दीवार में जड़ी अथवा धरती पर ऊंचाई में खड़ी रहने वाली बड़ी संदूक, आलमारी।

अलमित्र–सं०पु०—गरुड़ (नां.मा.)

अलरक–सं०पु० [सं० अलर्क] १ पागल कुत्ता. २ सफेद आक।

अलल–सं०पु०—१ घोड़ा। उ०—पारख गुण करै ठिकांणै पूछै, उच्छळता बगसै अलल।—हुकमीचंद खिड़ियौ

२ भाला (ना.डि.को.) (रू.भे. अलल्ल)

अललटप्पू–वि०—१ अंट-संट, अंड-बंड. २ बिना अंदाज, बिना उचित लक्ष्य साधे. ३ बेठौर-ठिकाने का. ४ थोड़ा।

अललहिसाब–क्रि०वि०—बिना हिसाब किये, योंही, बिना सोचे-समझे. अटकलपच्चू।

अलल्ल, अलल्लौ–सं०पु०—देखो 'अलल'। उ०—उरं ढाल सारीख चौड़ा अलल्ला, भिड़जां बांहं जंघ वे पक्ख भल्ला।—वचनिका

अलवतौ–वि०—देखो 'अलपतौ'।

अलवदो, अलवदौ–सं०पु०—आफत। उ०—आ बात सुणि रावळजी नै घणी सोच हूवौ नै कह्यौ, म्हां तौ सोनिगरां सूं भलौ कीयौ थौ पिण मांहिजै गळै अलवदौ छोकरी रौ नांखियौ। —वीरमदे सोनगरा री बात

अळवळाट–सं०पु०—१ व्यर्थ का कार्य. २ बकवाद।

सं०स्त्री०—३ व्यर्थ की भीड़, चंचलता।

अलवलियौ–वि०—शौकीन। उ०—बाकरां नूं बरको करण रै पगां अलवलियां मोटचारां नूं हुकम कीजै छै।—रा.सा.सं.

अळवांणौ–वि० [सं० अनुपानह] नंगे पैर, बिना जूती पहने हुए उ०—झगड़ै गाढ़ा अळवांणा पगां ऐक वेंत च्यार आंगळ भाळ तार री अढ़ाई आंगळ भोई।—बां.दा.

अलवि–वि०—चंचल। उ०—खांडां पटा तणा गजवेलि, अलवि आगिला हींडइ गेलि।—कां.दे.प्र.

अलवी–सं०पु०—१ अली की वह संतान जो हसन और हुसैन से उत्पन्न न होकर अन्य बेटे या बेटियों से उत्पन्न हुई थी।

२ देखो 'अलवि' (रू.भे.)

अलवेलौ–वि०—देखो 'अलबेलौ'। उ०—जिके अलवेला ठाकुर जुवांन तिके केसरिया वागा पहिरे बैठा था त्यां वेगि सघळां ही बगतर पहिरया।—वेलि. टी.

अलवौ–वि०—१ अनावश्यक बातें करने वाला. २ अविश्वासपात्र. ३ चंचल, नटखट।

अलस–सं०पु०—एक प्रकार का अजीर्ण रोग (अमरत)

अलसक–सं०पु०—एक प्रकार का कुष्ट रोग (अमरत)

भंवर महलां रंग मांणेह ।—महादांन महड़ू

अली-सं०पु० [सं० अलि] १ देखो 'अलि' ।

सं०स्त्री० [सं० आलि सं०] २ सखी-सहेली । उ०—हरि हिवड़ै री हार अली हे म्हांरी प्रांणां री प्रांण आधार ।—मी.रां.

सं०पु० [अ०] ३ मुहम्मद साहब के चचेरे भाई [रा०] ४ बैल ।

उ०—तुली ढाल रूड़ी घनी काळ ओपां, अली जोट जूड़ी हली ज्वाल तोपां, कहे एम दीठां प्रळै नेम कोपां ।—वं.भा.

अलीक-वि० [सं०] १ मिथ्या, झूठ, मर्यादारहित (अ.मा., डिं.को.) २ अप्रतिष्ठित. ३ अप्रिय ।

सं०पु० [सं० अ+लीक] १ कुमार्ग. २ अमर्यादा ।

अलीण-वि० [सं० अ+लीन] १ अग्राह्य । उ०—मादक अलीण मेलै न मुख वांरा नेडै वारणा ।—ऊ.का. २ अनुपयुक्त. ३ नाजायज, अनुचित ।

अलीत-वि०—न लिया जाने वाला, अलिप्त । उ०—अलीत अदीत अरीत अराह, असीत अभीत अगीत अगाह ।—ह र.

अलीन-वि०—देखो 'अलीण' ।

अलीप्रभ-वि०—श्याम (ह.नां.)

अलीबंध-सं०पु०—पीठ पर ढाल बाँधने के बंधन जो वक्षस्थल से जकड़े जाते थे । उ०—तठा उपरांति करि नैं राजांन सिलामति अतरा मांहै ढालां रा अलीबंध छूटै छै ।—रा.सा.सं.

अलीमन-सं०पु०—यवन, मुगल । उ०—अलीमन सूर रौ वंस कीधौ असत, रेस टीपू विजै अंवट रुड़िया ।—बां.दा.

अलीयळ-सं०पु० [सं० अलि] भौंरा (रू.भे. अलियळ)

उ०—पूजै पग विम्मळ वेद पुरांण, अलीयळ नाय लियै अरांण ।
—ह.र.

अलील-सं०पु०—सागर, समुद्र (ना.डिं.को.)

अलीलौ-सं०पु०—जो लीला या क्रीड़ारहित हो, ईश्वर ।

उ०—अलीलौ लील करंत अदेस ।—ह.र.

वि०—वह जो हरा न हो, सूखा ।

अळुजाड़-सं०पु०—देखो 'अळूझाड़' । उ०—सळुभाय खळां अळुजाड़ सुणी, तद आवरा सौ परधांन तणौ ।—पा.प्र.

अळुज्झ-वि०—१ उलझा हुआ. २ व्यापक, फैला हुआ ।

उ०—अछै सब मांहि ज आप अळुज्झ । गोविंद तुह्मीणो लीधौ गुज्झ ।—ह.र.

अळुझाड़, अळुझाड़ौ-सं०पु०—१ बिखरा हुआ सामान, बिना सुलझा हुआ सामान, अव्यवस्थित सामग्री. २ विघ्न, बाधा. ३ गुत्थी, उलझन ।

अळुवावणौ, अळुवाववौ-क्रि०अ०—निद्रायुक्त होना, आकुल ।

उ०—आलस अंग अपार नयन निद्रा अळुवाया ।—अज्ञात

अळूंझाड़ौ-सं०पु०—देखो 'अळूझाड़ौ'

अलूक-सं०पु० [सं० उलूक] उल्लू नामक पक्षी (अ.मा.)

वि०—क्रूर (डिं.को.)

अलूकी-सं०स्त्री० [सं० उलूपी] मछली (ह.नां.)

अळूज-सं०स्त्री०— उलझन ।

अळूजणौ, अळूजबौ-क्रि०अ०—उलझन में फँसना, देखो 'अळूझणौ'

अळूजाणौ, अळूजावौ-क्रि०स०—देखो 'अळूझाणौ' ।

अळूझणौ, अळूझबौ-क्रि०अ०—१ उलझना, फँसना । उ०—ओझक ऐंठी में आवेस अळूझै सीळी रेळी में चीसळियां सूझै ।—ऊ.का.

२ भिड़ना, लड़ना. ३ अटकना ।

अळूझणहार-हारौ (हारी), अळूझणियौ-वि०—उलझने वाला ।

अळूझाणौ, अळूझावौ, अळूझावणौ, अळूझाववौ—स०रू०

अळूझिओड़ौ, अळूझियोड़ौ, अळूझयोड़ौ-भू०का०कृ०—उलझा हुआ ।

अळूझीजणौ, अळूझीजबौ—भाव वा०

अळूझाड़, अळूझाड़ौ-सं०पु०—देखो 'अळुझाड़' ।

अळूझाणौ, अळूझावौ-क्रि०स०—१ उलझाना, फँसाना. २ भिड़ाना, लड़ाना. ३ अटकाना ।

अळूझाणहार-हारौ (हारी), अळूझाणियौ-वि०—उलझाने वाला ।

अळूझायोड़ौ—भू०का०कृ० ।

अळूझावणौ, अळूझाववौ—रू०भे० ।

अळूझायोड़ौ-भू०का०कृ०—उलझाया हुआ । (स्त्री० अळूझायोड़ी)

अळूझावणौ, अळूझाववौ-क्रि०स०—देखो 'अळूझाणौ' (रू.भे.)

अळूझियोड़ौ-भू०का०कृ०—१ उलझा हुआ, फँसा हुआ. २ भिड़ा हुआ. ३ अटका हुआ । (स्त्री० अळूझियोड़ी)

अलूणौ-वि० [सं० अलवण] (स्त्री० अलूणी) १ अलौना, नमकरहित, फीका । उ०—तिण पावै लागै इसौ, जांणि अलूणौ अन्न ।—ढो.मा.

कहा०—अलूणी सिला कुण चाटै—विना लाभ की आशा के कौन काम करे ।

[सं० अ+लावण्य] २ लावण्यरहित, कांतिहीन, फीका ।

उ०—पिया विना मेरी सेज अलूणी, जागत रैण विहावै ।—मीरां

[सं०अ+लून्=छेदन] ३ विना छेदा हुआ, विना काटी हुई (ऊन-भेड़)

अळूघणौ, अळूघबौ-क्रि०अ०—फंदे में फँसना, उलझना । उ०—हारि जीति भ्रकी पड़ी, तहां अळूघा जीव ।—ह.पु.वा.

अलूघणहार-हारौ (हारी), अलूघणियौ-वि०—फंदे में फँसने वाला ।

अळूघाणौ, अळूघावौ—स०रू० ।

अळूघाणौ, अळूघावौ-क्रि०स०—फंदे में फँसाना ।

अळूघियोड़ौ-भू०का०कृ०—फंदे में फंसा हुआ ।
(स्त्री० अळूघियोड़ी)

अलूप-वि० [सं० लुप्त] लुप्त, लोप, छिपा हुआ ।

अलूल-जलूल-क्रि०वि० [अनु०] ऊटपटांग, अंडबंड, अंटसंट ।

अलेख-वि० [सं० अ+लिख्] १ जिसके सम्बन्ध में कोई भावना या विचार न हो सके, दुर्बोध, अज्ञेय । उ०—उमा तौ पार अगम्म अलेख, लखम्मी बूझ न जाणै लेख ।—ह.र. [सं० अलेख्य] २ जो लिखने के योग्य न हो. ३ अगणित, अपार, असंख्य. ४ अदृश्य, जिसे देखना सहज न हो ।

अलापियोड़ौ–भू०का०कृ०—अलापा हुआ।
(स्त्री० अळापियोड़ी)

अलाव–सं०पु०—१ आग का ढेर. २ अलाव।
वि०—क्रोधित, लाल। उ०—लिखिया खत धिखिया चख **अलाव**।
—वि.सं.

अला-बला–सं०स्त्री०—देखो 'अलाय-वलाय'।

अलाय–सं०स्त्री०—१ इल्लत।
(यौ० अलायवलाय)
कहा०—आयी अलाय, दी चलाय—उधर से आया, इधर दे दिया।
२ बेकारी. ३ एक छोटा काँटेदार पौधा जिसे ऊँट बड़े चाव से खाता है। इसकी टहनियाँ बहुत पतली होती है। (क्षेत्रीय)

अलायची–सं०स्त्री०—देखो 'इलायची'।

अलायदौ–वि० [अ० अलहदा] (स्त्री० अलायदी) पृथक, जुदा, भिन्न, विलग। उ०—आयनै कोटड़ी में एक **अलायदौ** नोरौ छै तिणमें डेरौ दिरायौ।—जैतसी ऊदावत री वात
क्रि०वि०—एक तरफ, एक ओर, पृथक। उ०—मारवणी जी **अलायदा** ढोलिया सूं ऊतरि वैठा छै।—ढो.मा.
वि० [अ० अल्लाह+पं०—दा] अल्लाह, अल्लाह संबंधी।

अलाय-वलाय–सं०स्त्री० [फा० वला=आपत्ति] इल्लत, आफत, व्यर्थ की आफत।

अलाव–सं०पु० [सं० अलात] १ तापने के लिए जलाया हुआ अग्नि का ढेर, अग्नि-राशि। उ०—कोपत हुल कर विनु करै अंखिन धकत **अलाव**।—वं.भा. २ कुम्हार का आवाँ।
उ०—जठै गजारूढ़ चालुक्यराज सामुहौ धकाय **अलाव** धकतां लोयणा मिळाय आपरा पखरैतां नूं प्रेरणा रै काज अनेक प्रसंसा रा प्रपंच भणियौ।—वं.भा.

अलावा–क्रि०वि० [अ०] अतिरिक्त, सिवाय।

अलास–सं०पु०—गले का एक रोग (अमरत)

अलाह–वि० [सं० अ+लाभ] लाभरहित, विरक्त, वैरागी।
उ०—**अलाह** अगाह अवाह अजीत, अमात अतात अजात अतीत।
—ह.र.

सं०पु० [अ० अल्लाह] खुदा, अल्लाह। उ०—कैरव ज्यूं आया कमंध, पांडव ज्यूं पतिसाह। यां हरिनांम उचारिऔ, वां रहिमांण **अलाह**।—वचनिका

अलाहिदौ–वि० [अ० अलाहदा] पृथक, एकान्त, विलग।
उ०—**अलाहिदौ** महिल एक अभोगत पैली करायौ थौ, तिण मांह राखी।—वीरमदे सोनगरा री वात

अलिंग–वि० [सं०] लिंगरहित, चिन्हरहित, विना लक्षण का।
उ०—अभंग **अलिंग** अद्रंग अदेस।—ह.र.
सं०पु०—१ ईश्वर (वेदांत) २ ऐसा शब्द जो दोनों लिंगों में प्रयुक्त होता हो।

अलि–सं०पु० [सं०] १ भौंरा, भ्रमर (डिं.को.) २ कोयल. ३ गरुड़ (अ.मा.). ४ वृश्चिक राशि. ५ विच्छू, वृश्चिक।
सं०स्त्री० [सं० आलि] सखी, सहेली (डिं.को.)
वि०—१ अतिशय, बहुत, अति (अ.मा.) २ चंचल।

अलिअळ–सं०पु० [सं० अलि] भ्रमर, भौंरा (नां.मा.)
देखो 'अलियळ' (रू.भे.)

अलिक–सं०पु० [सं०] ललाट, माथा, मस्तक। उ०—वभूति की टीकी निज **अलिक** नीकी नित वसै।—मे.म.
वि० [सं० अलीक] निष्कलंक, पवित्र, शुद्ध।

अलिकावळि–सं०स्त्री० [सं० अलकावलि] वालों का समूह, केशों की लट, अलका। उ०—केसरिआ **अलिकावळि** काळा नाग ज्यौं चिटुला ज्यौं चिळक नै रही छै।—रा.सा.सं.

अलिकेंदु–सं०पु० [सं० अलिक+इंदु] महादेव, शिव। उ०—**अलिकेंदु** विंदु अदेव मरदण वारिधी विस जारणं।—ला.रा.

अलिप–वि० [सं० अलिप्त] अलिप्त, निर्लेप।

अलिपद*–वि०—छः।

अलियळ–सं०पु०—१ समुद्र, सागर (ना.डिं.को.) उ०—आचां **अलियळ** विरद उदार।—क.कु.वो.
२ भ्रमर, भौंरा। उ०—**अलियळ** सहज सुवास वस, रहै निकट दिन रात।—वां.दा.
सं०स्त्री०—३ अग्नि, आग (ना.डिं.को.)

अलियार–सं०पु०—योद्धा (अड़ियल)
वि०—मस्त।

अलियावळि–सं०स्त्री०यौ० [सं० अलि+अवलि] भौंरों की पंक्ति।
उ०—झर लागि सुगंध मनौ झपटी, **अलियावळि** अंगन की लपटी।
—ला.रा.

अळियौ–वि०—१ चंचल, नटखट, शरारती। उ०—मा वाजण नै वळियौ मूंढौ, औ **अळियौ** सुत जाई नै।—ऊ.का.
कहा०—१ अळियौ सांप काटै नीं तौई फूंफाड़ा करै—शरारती सर्प को काटने का अवसर नहीं मिलने पर भी वह फुंफकारा करना नहीं छोड़ता। २ सवसूं अळियौ नै नांम सैणौ—व्यक्ति का नाम प्रकृति या स्वभाव के विपरीत होने पर।
२ व्यर्थ, वेकार। उ०—औ उमराव म्हांरौ जोवन **अळियौ** जावै म्हांरा राज उमरावजी हो रसिया।—लो.गी.
३ खराव। उ०—इत्यादिक मोथी आदति रा **अळिया**, योथी थळ-वट रा थळिया वेथळिया।—ऊ.का.
सं०पु०—१ खेत के अंदर उत्पन्न होने वाला घास।
उ०—ऊगौ **अळियौ** घास अणूंतौ, आयूणौ भरेत।
२ वह नाज जिसमें कंकड़, पत्थर आदि हों. ३ केंचुआ. ४ फोड़ा, फुंसी। देखो 'अरियौ'

अलियौ, अलियौभंवर–वि०यौ०—शौकीन। उ०—भीमाजळ **अलियौ**

अल्ला—सं०पु० [अ०] ईश्वर, खुदा। उ०—मालिक नहीं खालिक मुसलमीन, अलाह है रब्बल आलमीन।—ऊ.का.

कहा०—१ अल्ला-अल्ला खैर सल्ला—खैर जो हुआ सो अच्छा। २ अल्ला री मां री चाळीसौ—अल्ला की माँ का चालीसवाँ दिन, वेइंतजामी कार्य के लिए कहा जाता है। ३ मियां साव रोवौ क्यूं, के अल्ला मुख ऐसाइज किया—कुरूपता भी ईश्वरीय देन है। ४ राम सूं चोडू अल्ला ई कोयनी—अमुक व्यक्ति भी आपसे कम नहीं है या अमुक व्यक्ति भी अमुक से कम नहीं है।

अल्लाह—सं०पु०—देखो 'अल्ला'। उ०—अल्लाह मुहम्मद सिर उठाय, मगरिब मक्के मन्नत मनाय।—ऊ.का.

अल्लील—सं०पु०—एक बड़े जल-कुंड का नाम जो हिंगलाज देवी के मंदिर के पास है।

अल्लू—सं०पु० [सं० उलूक] उल्लू, उलूक।

अल्हड़—वि० [सं० अल=बहुत+लल=चाह] मनमौजी, उद्धत [रा०] २ अनगढ़।

अल्हड़पण, अल्हड़पणौ—सं०पु०—१ वेपरवाही. २ लड़कपन, भोलापन. ३ उजड्डपन, अनाड़ीपन।

अल्हड़बल्हड़—वि० [अनु०] अंटसंट, अंडबंड।

अवंकौ—वि० [सं० अ+वंक] १ सीधा, सरल, वंकरहित। २ निवड़क, वीर।

अवंत, अवंति. अवंतिका, अवंती—सं०स्त्री० [सं० अवंती] मालव प्रदेश की प्राचीन ऐतिहासिक राजधानी जो क्षिप्रा नदी के तट पर है, उज्जैन. उज्जयिनी (यह सात प्रधान पुरियों में से एक है।—प्राचीन)

अव—उप० [सं०] एक उपसर्ग जो प्रायः निश्चय, अनादर, ईषत्, नीचाई, व्याप्ति आदि अर्थों में प्रयुक्त होता है।

अवअत्त—वि० [सं० अव्यक्त] देखो 'अव्यक्त' (रू.भे.) उ०—नमौ अवअत्त भगत्त अछेह, नमौ सतरूप भरत्त सनेह।—ह.र.

अवकर—सं०पु० [सं०] कचरा, कूड़ा-करकट।

अवकार—सं०पु० [सं० अविकार] वह जिसमें कोई विकार न हो, ईश्वर। उ०—अजर अवकार अज अमर अंगी।—क.कु.बो.

अवकास—सं०पु० [सं० अव+काश+अल्] १ अवसर, समय। उ०—श्रीमनूं प्रांण बचावण रै काज अभीस्ट आगार जावण रौ अवकास दियौ।—वं.भा.

२ सुभीता, छुट्टी का समय, विश्राम काल, खाली वक्त. ३ आकाश, शून्य स्थान।

सं०स्त्री०—४ दूरी, फासिला।

अवकीरण—वि० [सं० अवकीर्ण] १ फैलाया या छितराया हुआ. २ ध्वस्त, नष्ट।

अवकीरणी—वि० [सं] व्रत तोड़ने वाला।

अवक्कोवांणरो—वि० [सं० अवाच्यवचन] नहीं कहने योग्य वचन कहने वाला। उ०—वीकरिया ववरैल अवक्कोवांणरा। वंधव पूहड़ वीर वणी जोवांण रा।—सर प्रताप री झमाळ

अवक्तव्य—वि० [सं०] १ जो कहने योग्य न हो, निषिद्ध. २ झूठ।

अवक्र—वि० [सं० अ+वक्र] सीधा, जो टेढ़ा न हो। उ०—विवक्रि वक्र व्हे अवक्र चक्र चेंठते वहे।—ऊ.का.

अवखळणौ—सं०पु० [सं० अपस्खलन] देखो 'ओखळणौ'

अवखांण, अवखांणौ—सं०पु० [सं० उपख्यान] कहावत, लोकोक्ति। उ०—जिण दीन्हा सौ उबरिया आदू अवखांणा।—केसोदास गाडण

अवखाळणौ—वि०—प्रसिद्ध, वहादुर (रू.भे. अवखळणौ)

अवगत—वि० [सं०] १ विदित, ज्ञात, जाना हुआ, परिचित। उ०—तू अवगत अनाथनाथ तू अकथ कहांणी।—केसोदास गाडण २ नीचे गया हुआ, गिरा हुआ. ३ जो न जाना जा सके। देखो 'अवगति'। ४ विचित्र।

सं०पु०—१ विष्णु. २ ईश्वर (ह.नां.)। उ०—निंदा नेता री भव भव में भूंडी, विद्या वेता विण अवगत गत ऊंडी।—ऊ.का.

३ वेग (अ.मा.) ४ लीला, रचना। उ०—रांण राजड़ जिसा मरै वरसां हुय सतर, देखौ अवगत देव, हुए थारा दिन इतरा।
—अरजुणजी वारहठ

अवगति—सं०स्त्री० [सं०] १ वुद्धि, धारणा, समझ, ज्ञान, वोध। [सं० अपगति] २ वुरी दशा, वुरी गति। उ०—ईस असपति किसी उन्नति, करै अवगति जिकूं सिर क्रति।—रा.रू.

सं०पु० [सं० अवगति] ३ जिसकी गति का पार न पा सके, ईश्वर। उ०—पादाकांती पदकांती विन पावै आरचावरती जन अन विन अकुळावै, वह तौ अखळेस्वर अवगति अनदाता तत सत जग-पाळक जग भाळक त्राता।—ऊ.का.

४ विचित्र, अद्भुत। उ०—देही देवळ चिरणहार अवगति चेजारा, आपौ मझे देवता आपौ पूजा रा।—केसोदास गाडण

अवगत्त—वि०—१ देखो 'अवगत' २ देखो 'अवगति' उ०—पड़ नांम रिदै करता पुरस, 'जगा' एक अवगत्त जग।—ज.वि.

अवगन—सं०पु० [सं० अपगुन] निर्गुण, ईश्वर। उ०—सास्वत स्वरूप अवगन अनूप भव गगन भूरि सव साक्षी सूरि।—ऊ.का.

अवगाढ़—सं०पु० [सं०] युद्ध, समर। उ०—'अमर' अवगाढ़ जमडाढ़ जम आछटै।—नरहरदास वारहठ

वि०—१ वलवान, वीर, वहादुर। उ०—सोळै सै इक्काणवै सुद पूनम आसाढ़, देवलोक ऊदौ गयौ, गंग हरौ अवगाढ़।—वां.दा. [सं० अव+गाह+क्त] २ निमज्जित. ३ छिपा हुआ. ४ घना, निविड़, गाढ़ा।

अवगात—वि०—निष्कलंक. २ वेदाग। (मि० अवगात)

अवगाळ—सं०पु० [सं० उद्गार] १ ताना, व्यङ्ग. २ कलंक, दोष। उ०—आ मोटी अवगाळ, मारू घर रहती मुदै। 'केहरिया' करमाळ, जो न जुड़त 'जै साह' सूं। ३ शर्म, लज्जा. ४ निंदा।

अवगाह—सं०पु०—१ हाथी का ललाट. २ स्नान (मि० अवगाहण)

सं॰पु॰—१ बुरा लेख. २ ईश्वर। उ॰—खपै काळा दाग सूं अलेख वाळा लेख।—हणूदांनजी कवियौ। ३ संन्यासियों द्वारा भिक्षार्थ उच्चारण किया जाने वाला शब्द। उ॰—पीछै रांवण आय कर अलेख जगाया।—केसोदास गाडण

अलेखां–वि॰ (बहु॰) [सं॰ अलेख] १ असंख्य, अगणित।
उ॰—जांणू अजकौ मेघ जावतां कारज म्हांरै। परवतियां फूलाळ अलेखां आडा थारै।—मेघ॰ २ व्यर्थ।

अलेखी–वि॰—१ अंधेर करने वाला, अन्यायी. २ असंख्य, अगणित।

अलेखै–वि॰ (बहु॰) [सं॰ अलेख] १ देखो 'अलेखां' (रू.भे.)
२ व्यर्थ। उ॰—देवी तौ दरसण विनां हे! जनम अलेखै जाय।
—गी.रां.

अलेप–वि॰ [सं॰] १ निर्लिप्त, अलिप्त. २ निर्दूषण, निर्दोष।
उ॰—पहलीं छंद प्रबंध मे लघु गुरु दगध अलेप।—र.रू.

अळेवण–सं॰पु॰ [सं॰ आलेपन] १ सामग्री, सामान. २ वैभव. ३ शरीर की बनावट. ४ ढंग।

अलेह–वि॰—लेन-देनरहित, विरक्त। उ॰—अलेह अदेह अनेह अनांम, अरेह अछेह अग्रेह अगांम।—ह.र.

अलैया–सं॰स्त्री॰—एक राग विशेष (संगीत)

अलोईजणौ, अलोईजबौ–क्रि॰अ॰— देखो 'अलोवीजणौ, अलोवीजबौ'।

अलोक–वि॰ [सं॰ अलोक्य] १ जो इस लोक से संबंध न रक्खे, अपूर्व, अनोखा. २ अद्‌भुत, विचित्र, जो देखने में न आवे।
उ॰—जड़ावरी लड़ी दांवणी भूंटणा भूंवरा अलोक वण रह्या छै।
—रा.सा.सं.

[सं॰ अ+लोक] ३ निर्जन।
सं॰पु॰—१ पातालादिलोक. [सं॰ आलोकक] २ प्रकाश, प्रभा, कांति, दीप्ति, प्रभा।

अलोकिक–वि॰—देखो 'अलौकिक'। उ॰—की हीरा कणियांह अलोकिक कांतरी। पूछै कौ कथ कुंदकळी रै पांतरी।—बांदा.

अलोच–सं॰पु॰ [सं॰ आलोच] विचार।

अलोज–वि॰—स्वस्थ। उ॰—अजै सिव आद्र पांण अलोज। हुतौ ज हुतौ ज हुतौ ज।—ह.र.

अलोणौ, अलोबौ–क्रि॰स॰—देखो 'अलोवणौ'

अलोप–वि॰ [सं॰ आलुप्त] लुप्त, अंतर्धान, अदृश्य।
उ॰—तद रंभा बोली—अबै म्हांरौ मुजरौ छै, हूं जावूं छूं, म्हांरी बात कांने कांने हुई म्है आपसूं कोल कीन्हौ थौ। रावजी घणा ही नो'रा किया पिण अलोप हुई नै जाती कहियौ...।
—वीरमदे सोनगरा री वात

[सं॰ अलुप्त] २ प्रकट, जो लुप्त न हो।
क्रि॰प्र॰—करणौ-होणौ।
सं॰पु॰ ईश्वर, परब्रह्म। उ॰—अगम्भ अछेह उदार अनोप, अप्रम्म अथाह अगम्म अलोप।—ह.र.

अलोम–वि॰ [सं॰] लोमरहित, निर्लोम, बालरहित।
उ॰—जंघ अलोम अनूप जुग, नाजुक पणै निधात।—बां.दा.

अलोय–वि॰ [सं॰ अ+लोचन] १ नेत्ररहित, बिना आँख का. [सं॰ अलोक] २ अनुचित।

अलोळ–वि॰ [सं॰ अलोल] १ अचंचल, स्थिर, दृढ़।
उ॰—गज मंगळ गज खूब गुमांनी, वैरीसाल अलोळ सुवांनी।
—रा.रू.

२ युवा, जवान। उ॰—लंका धजर अलोळ वजरमणि गोल बिचोती।—मे.म.

अलोवणौ, अलोवबौ–क्रि॰स॰ [सं॰ आलेपन] मिलाना, मिश्रित करना।
अलोवणहार-हारौ (हारी), अलोवणियौ–वि॰—मिलाने वाला।
अलोविओड़ौ, अलोवियोड़ौ, अलोव्योड़ौ—भू॰का॰कृ॰।
अलोवीजणौ, अलोवीजबौ—कर्म वा॰—मिश्रित हुआ जाना।

अलोवियोड़ौ–भू॰का॰कृ॰—मिश्रण किया हुआ, मिश्रित।
(स्त्री॰ अलोवियोड़ी)

अलोवीजयोड़ौ, अलोवीजीयोड़ौ–भू॰का॰कृ॰—मिश्रित, मिलाया हुआ।
(स्त्री॰ अलोवीजीयोड़ी)

अलोह–वि॰—१ बिना शस्त्र के घाव या चोट खाया हुआ. २ बिना शस्त्र वाला।

अलोहित–सं॰पु॰ [सं॰ आलोहित] लाल कमल।

अलौकिक–वि॰ [सं॰] १ जो इस लोक से सम्बन्ध न रक्खे, लोकोत्तर।
उ॰—अलौकिक लौकिक सार असार हरिजन जांणत जोणणहार।
—ऊ.का.

२ अनोखा, अद्‌भुत, अपूर्व। उ॰—करग मसळै उरज तोड़ै अंगियां कसा, चित चलै अलौकिक करै चाळौ।—बां.दा.
३ अमानुषी, दैवी, दिव्य।

अल्प, अल्पक–वि॰ [सं॰ अल्प] थोड़ा, कम, न्यून, छोटा।

अल्पग्य–वि॰ [सं॰ अल्पज्ञ] कम बुद्धि वाला, नासमझ।

अल्पग्यता–सं॰स्त्री॰ [सं॰ अल्पज्ञता] नासमझी, ज्ञान की कमी।

अल्पजीवी–वि॰यौ॰ [सं॰ अल्पजीविन्] थोड़ा जीने वाला, अल्पायु।

अल्पता–सं॰स्त्री॰ [सं॰] कमी, न्यूनता, छोटापन।

अल्पप्रांण–सं॰पु॰यौ॰ [सं॰ अल्पप्राण] वर्णमाला का वह वर्ण जिसके उच्चारण में प्राणवायु का अल्प व्यवहार हो।

अल्पायु–वि॰यौ॰ [सं॰] जिसकी आयु थोड़ी हो।

अल्पी–वि॰ [सं॰ अल्प] देखो 'अल्प'।

अल्यंग–सं॰पु॰ [सं॰ आलिंगन] आलिंगन। उ॰—हठि गोरी अल्यंग न लेहि। पल्यंग बइसइ नवि पांन न लेहि।—वी.दे.

अल्ल–सं॰पु॰ [सं॰ आल] देखो 'अल'।

अल्लमगल्लम–क्रि॰वि॰ [अनु॰] अनापशनाप, अंडबंड, अंटसंट।
सं॰पु॰—व्यर्थ की बकवाद।

अल्लांम–वि॰ [अ॰ अल्लामा] देखो 'अलांम'।

होने वाला निशान। उ०—अवज्भड़ त्रिज्भड़ भड़इ असंव, वटै कर कोपर काछिज कंव।—वचनिका

अवभाड़–सं०पु०—प्रहार, चोट, तलवार का तिरछा प्रहार।

उ०—विजड़ अवभाड़ खळ पाड़ जमदाढ वन्न, विडै अवसांण कीधौ वडाळौ।—गोरधन गाडण

अवभाड़णौ, अवभाड़वौ–क्रि०स०—तिरछा प्रहार करना, मारना, काटना।

अवटंक–सं०पु० [सं०] १ देखो 'उपटंक'। २ ब्राह्मणों का उपगोत्र। उ०—श्रीमाळी ब्राह्मण ज्यारा चवदै गोत्र चौरासी अवटंक है। —बां.दा.

अवट–वि० [सं० अवाट] १ विना रास्ते, बे-रास्ते। उ०—रजवट रूप अैसैं हट घर जोधपुरै, भज्जहि अवट अरी कपट विमारकै। —जैतदान बारहठ

[सं० अवंट] २ जो बाँटा न जा सके, जिनके हिस्से न किए जा सकें। उ०—अनन्त भंडारा अवट है, त्रिम वंट न हदा।—केसोदास गाडण

सं०पु० [सं०] १ पाताल (डि.नां.मा.)

२ आयु, उम्र। उ०—खोयौ म्हैं घर में अवट, कायर जंबुक कांम, सीहां केहा देसड़ा, जेथ रहै सो धाम।—बी.स.

३ छिद्र, सद्वृत्ति से जीवन विताने वाला. ४ गर्व, गरूर.

[सं०] ५ गड्ढा, गढ़ा। उ०—मिळि थट पुरट छटपट कुघट घट परि अवट वट कट रूपट तट अनि भपट रन अट उवट वट—वं.भा.

६ तृण आदि से आच्छादित करके बनाया हुआ हाथियों को फँसाने का गड्ढा. ७ कुमार्ग. ८ वापिस मुड़ने का भाव या क्रिया। उ०—मांदवै 'पाल' काळ सूरजमल थोभै राधव जसैं थट, थट भाजवातणी वट धायैं वसुहा पावां री अवट। —सूरजमल चांपावत री गीत

क्रि०वि०—शीघ्र, जल्दी। उ०—मद विद्या धन मांन, ओछा सो उरूझै अवट। आघण ूरै उनमांन, रैवै विरळा राजिया। —किरपाराम

अवटणौ, अवटवौ–क्रि०स०—१ युद्ध करना।

क्रि०अ०—२ घूमना, फिरना, चक्कर लगाना।

अवटणहार-हारौ (हारी), अवटणियौ—युद्ध करने वाला, घूमने वाला।

अवठावणौ, अवठाववौ–क्रि०स०—पराजित करना, हराना।

उ०—पर चंट-चंट कर होम पाठ, अवठाय दिया पतसाह आठ। —वि.सं.

अवठौ–सं०पु०—चट ुआ, रद्द उपालंभ, रद्द शब्दों का दिया गया उत्तर। उ०—माता रे, अवठा मा वोल न वोल, परणी तो पर्डेळी जो मामू नणद कै।—लो.गी.

अवड–वि०—देखो 'अवट', देखो 'अवडौ'

अवडौ, अवडीह–वि०—ऊनर्गी। उ०—जोड़ण विन अनजान मे अवल नहीं अवडीह, वित नित जोड़ै वांणियौ, कर कवडी कवडीह।—बां.दा.

अवडौ, अवडौ–सर्व०—१ ऐसा। उ०—अवडौ मायर नही उडवण। —किसनौ आढ़ौ

२ इतना। उ०—अवडौ मेर न ऊचपण।—किसनौ आढौ

वि०—१ बहुत बड़ा। उ०—अवडां गजां श्रजां आरावां जूह हूह गै जूह जुआ होद नवाव रोद हेकारू हीलौ हळ गरकाव हुआ। —महेमदास आढौ

२ भयंकर, जबरदस्त। उ०—अवडो भार सहै सिर ऊपर वहतां त्रम भाटा बौछाड़, व्रज जिम राख दिली दळवांसै पडियौ चंद तणौ पहाड। ३ विचित्र, अनोखा।

अवढ़–सं०पु०—वह (पौधा, घास आदि) जो काटा नहीं गया हो। (मि० अवढ़ियौ)

अवढ़ियौ–वि०—विना काटा हुआ (घास व पत्ते आदि)

उ०—खेतां पालौ रुटै, अवढ़ियौ ऊभौ खोड़ां, बाड़ां लामा वधै, वेजटा सू जुड जोटा।—दसदेव

अवढ़ी–वि०—१ भयंकर, भयावह, कठिन। उ०—विसमी अवढ़ी जाडगा री चाकरी करस्यू।—जगदेव पंवार री वात

२ संकटमय ३ असहनीय।

अवणासी–वि० [सं० अविनाशिन्] देखो 'अवणासी'।

उ०—अवणासी अवगत अविकारी, असरणसरण रांम अवतारी। —रा.रू.

अवणि, अवणी–सं०स्त्री० [सं० अवनि] पृथ्वी, भूमि, धरा (रू.भे.)

अवतंस–सं०पु० [सं०] १ भूषण, अलंकार. २ शिरोभूषण, टीका, सिरपेंच ३ श्रेष्ठ व्यक्ति। उ०—वच्छळ कुळ वळभद्र नृप वळू प्रवाचक वंस। अडर हुवा नृप ए उभय, इतर कुळा अवतंस—वं.भा.

४ दूल्हा ५ सबसे उत्तम हार. ६ मुकट।

अवतमस–सं०पु० [सं०] अंधेरा (नां.मा., अ.मा.)

अवतरण–सं०पु० [सं०] १ उतरना, पार होना. २ जन्म ग्रहण करना। उ०—आप कळा मम अवतरण, मनौ कियौ महाराज। —रा.रू.

३ अवरोहण. ४ नमूना ५ नकल, प्रतिकृति. ६ प्रादुर्भाव।

अवतरणी–सं०स्त्री० [सं० अवतरणिका] १ ग्रन्थ की प्रस्तावना के लिए लिखी जाने वाली भूमिका, उपोदघात. २ परिपाटी।

अवतरणौ, अवतरवौ–क्रि०अ० [सं० अवतरण] १ प्रकट होना, उत्पन्न होना, जन्म लेना। उ०—धज बंध 'सेर' रिया धणी, एक वेर फिर अवतरै।—पहाड़खां आढौ. २ प्रकाशित होना. ३ अवतार लेना।

अवतरणहार-हारौ (हारी), अवतरणियौ–वि०—प्रकट होने वाला।

अवतरिओड़ौ-अवतरियोड़ौ-अवतरयोड़ौ–भू०का०कृ०—अवतरित।

अवतारणौ, अवतारवौ—रू०भे०

अवतारियोड़ौ–भू०का०कृ०—उत्पन्न किया हुआ।

अवतरि–सं०पु०—देखो 'अवतार'।

३ युद्ध । उ०—सुर नर साह अवगाह सारां सिरै, घात तौ धांण घमसांण घेरै । रौद दळ झाड़तौ पाड़तौ खाग रिम, डांण भर गयौ सुरतांण डेरै —पतौजी बारहठ ४ गहरा स्थान, संकट का स्थान. ५ कठिनाई, कठिनता ।

अवगाहण, अवगाहन—सं०पु० [सं० अवगाहन] १ स्नान, निमज्जन. २ जल में पैठ कर नहाना, विलोड़न, डुबकी, गोता । उ०—जळ **अवगाहन** जीवणौ, दूर हुग्रां अति दीन । तूं गंगा तौ जळ तणौ, मीं कद करसी मीन ।—वां.दा. ३ खोज, छानबीन. ४ लीन होकर विचार करना. ५ ग्रहण करने की क्रिया का भाव । उ०—एक पंथ त्रिण काज अठै इळ, जिण **अवगाहण** भाग जगै ।—वां.दा. ५ अथाह जल, गहरा स्थान, जिसके तल का पता न हो ।

अवगाहणौ, अवगाहबौ—क्रि०अ० [सं० अवगाहन] १ पैठ कर जल में नहाना, निमज्जन करना, स्नान करना । उ०—अड़सट धांम पहल **अवगाहे** 'पीठवौ' गौ समियां न पछै ।—पीठवौ २ छानबीन करना. विचलित करना. ३ हलचल मचाना, मारना, चलाना । उ०—सेद विलंद परि वीड़ौ साहौ, गुज्जर धर आसुर **अवगाहौ** । —रा.रू. ४ देखना, सोचना, विचारना. ५ पार करना । उ०—चित मिळवा री चाहि, रात दिवस अळजौ रहै । आऊं भुंइ **अवगाहि**, जाणूं सयण कन्है 'जसा' ।—जसराज

अवगाहणहार-हारौ (हारी), अवगाहणियौ—अवगाहन करने वाला ।

अवगाहिग्रोड़ौ, अवगाहियोड़ौ, अवगाहचोड़ौ—भू०का०कृ० —अवगाहन किया हुआ ।

अवगहियोड़ौ—भू०का०कृ०—अवगाहन किया हुआ । (स्त्री० अवगाहियोड़ी)

अवगुंठन—सं०पु० [सं०] १ घूंघट, पर्दा. २ ढकना, छिपाना ।

अवगुण—सं०पु० [सं०] दोष, ऐब, बुराई, दुर्गुण । उ०—गुण अवगुण जिण गांव, सुणै न कोई सांभळै । उण नगरी विच नांव, रोही आछी राजिया ।—किरपारांम

कहा०—अवगुण तौ कागलौ देखै—दुष्ट व्यक्ति की दृष्टि हमेशा दूसरों के अवगुणों पर पड़ती है ।

अवगुणी—वि० [सं० अवगुण+ई] दुर्गुणी, बुरा, सदोष, कुकर्मी । उ०—काफर साहां **अवगुणी**, गौ आंणी करतुत्त ।—रा.रू.

अवग्या—सं०स्त्री० [सं० अवज्ञा] १ अपमान, अनादर, तिरस्कार । २ उपेक्षा, अवहेलना । उ०—घट घट घण नांमी स्वांमी सूराई, अंतरजांमी हुय ओळज नह आई, इतरी **अवग्या** ईस्वर क्यूं आंणी, बूढ़ी हुयग्यौ कै ग्रग्या विसरांणी ।—ऊ.का. ३ पराजय, हार. ४ एक प्रकार का अलंकार जिसमें एक वस्तु के गुण-दोष से दूसरी वस्तु के गुण-दोष न प्राप्त होना सूचित किया जाय ।

अवघट—वि० [सं० अव+घट्ट=घाट] १ विकट, दुर्गम, कठिन. २ ऊंचा-नीचा, उबड़-खाबड़. ३ टूटा-फूटा ।

अवड़ौ—सं०पु०—देखो 'अवोड़ौ' (रू.भे.)

अवचळ—वि०—देखो 'अविचळ' । उ०—**अवचळ** मंडप करै आगाहट, सुर जिम थापै कवेसुर ।—दुरसौ आढ़ौ

अवचार—सं०पु० [सं० आचार] १ आचार, व्यवहार, चालचलन । उ०—मचै **अवचार** 'धूकळ' जगत मचायौ, बचायौ 'मांन' हरचंद वारौ ।—बारहठ त्रिलोकजी २ देखो 'अविचार' (रू.भे.)

अवचीत—वि०—अचिंतित ।

क्रि०वि०—अचानक, अकस्मात् ।

अवच्छेद—सं०पु० [सं०] १ अलगाव, भेद. २ अवधारण, निश्चय. ३ परिच्छेद ।

अवच्छेदक—वि० [सं०] १ छेदने वाला. २ अवधारक, निश्चय करने वाला ।

अवछन—वि० [सं० अवच्छिन्न] १ अलग किया हुआ, पृथक. २ सीमाबद्ध, अवधिसहित. ३ विशेषणयुक्त. [सं० अवच्छन्न] ४ गुप्त । उ०—संभ घोर अंधकार कळिराज छायौ सत, जोर सत कियौ **अवछन** गवन जास ।—उमेदसिंह सीसौदिया रौ गीत

अवछर—सं०स्त्री०—देखो 'अपछरा' । उ०—अमरांणी पर ऊपनी **अवछर** मौ ऊर आंण ।—पा.प्र.

अवछळ—वि० [सं० अविचल] १ अटल, अविचल । उ०—सदा जोड़ी थांरी **अवछळ** होय, अमल्यां पर ऊभी दो जणी ।—लो.गी. [रा०] २ कपट-रहित, छल-रहित ।

अवछाड़—सं०पु० [सं० अवच्छाद] १ रक्षक । उ०—नगांपत कूरमांनाथ चलतां नगां, खगांपत हुग्रौ **अवछाड़** खूमांण । —अनूपरांम कवियौ २ किसी खाद्य-पदार्थ पर कपड़े आदि का ढक्कन डालना ।

अवछाह—सं०पु० [सं० उत्साह] उत्साह । उ०—जिण वार नृप जैसाह. छति (वि) निरखि धरि **अवछाह** ।—रा.रू.

अवजाती—सं०पु० [सं० अपजात] शत्रु, वैरी (ह.नां.)

अवजासणौ, अवजासबौ—क्रि०अ० [सं० उद्भाप] प्रकाशित होना, प्रकाश देना ।

क्रि०स०—प्रकाशित करना ।

अवजासिग्रोड़ौ-अवजासियोड़ौ-अवजास्योड़ौ—भू०का०कृ०—प्रकाशित ।

अवजासियोड़ौ—भू०का०कृ० [सं० उद्भाषित] प्रकाशित । (स्त्री० अवजासियोड़ी)

अवजीत—सं०पु० [सं० अपजाति] शत्रु (अ.मा.) (रू.भे. अवजाती)

अवज्ज—सं०स्त्री० [फा० आवाज] आवाज, ध्वनि, शोर, बोली । उ०—**अवज्ज** बुज्ज के अरें सु बुज्ज बुज्ज बेरला ।—ऊ.का.

अवज्झड़, अवझड़—सं०पु०—तलवार का तिरछा प्रहार या ऐसे प्रहार से

२ समाधि. ३ सावधानी, चौकसी [सं० आधान] ४ गर्भ, पेट. [सं० अभिधान] ५ नाम। उ०—संख्या भेद समान सूं विध अनेक अवधांन, पिंगळ मत विदवांन पढ़ ग्यांन जथा यण ग्यांन।
—क.कु.बो.

अवधा—सं०पु० [सं० अभिधा] नाम। उ०—धुर द्वाळै अवधा धरै गुण थांणै गणगीत, अन क्रम गुण दूहा उकत आद जथा इण रीत।
—क.कु.बो.

अवधार—सं०पु० [सं० अवधारण] १ सहायक, रक्षक. २ निश्चय, शंकारहित निर्णय।

अवधारण—सं०पु० [सं०] निश्चय, विचारपूर्वक निर्धारण या निर्णय।

अवधारणौ, अवधारबौ—क्रि०अ० [सं० अवधारण] १ धारण करना ग्रहण करना। उ०—परम सनेही परम प्रीय अवधारौ अरदास, महलें आवौ मोहनां साहिब पूरण आस।—ढो.मा.

२ मानना, स्वीकार करना। उ०—वचन अवधारउ असपतिराइ. जै जै वीतुं समकर मांहि।—कां.दे.प्र. ३ पूजना, नमस्कार करना. उ०—बेकर जोड़ी करी वीनती, आसापुरी अवधारि।—कां.दे.प्र.

४ विचार करना, निश्चय करना। उ०—राउळ एक अवधारउ वात, भेजवालि गढ़ कीधउ घात।—कां.दे.प्र. ५ सहायता करना, रक्षा करना।

अवधारणहार-हारौ (हारी), अवधारणियौ—वि०—अवधारण करने वाला।

अवधारिओड़ौ, अवधारियोड़ौ, अवधारयोड़ौ—भू०का०कृ०।

अवधारियोड़ौ—भू०का०कृ०—१ धारण किया हुआ. २ निश्चय किया हुआ. ३ अवधारण किया हुआ। (स्त्री० अवधारियोड़ी)

अवधि—सं०स्त्री० [सं०] १ समय, मियाद, निर्धारित समय।
उ०—कुंअरी भगइ अवधि मइं कही, तिणि दिनि गढ़ भेळासइ सही।
—कां.दे.प्र.

२ अंत समय, अंतिमकाल. ३ सीमा, हद।
अव्यय [सं०] तक, पर्यन्त, लौं।

अवधिग्यांन, अवधिदरसण—सं०पु० [सं०] १ सीमित, अपार ज्ञान।
२ वह ज्ञान जिससे आत्मा का भी ज्ञान हो तथा जिसके द्वारा पृथ्वी, जल, अग्नि, पवन, अंधकार और छाया आदि से व्यवहित द्रव्यों का भी प्रत्यक्ष हो (जैन)

अवधिमांन—सं०पु०—सागर, सिन्धु।

अवधी—सं०स्त्री० [सं० अयोध्या] १ अयोध्यापुरी। उ०—जांणक अवधी अरची, रांम रायंगण।—रा.रू.
[सं० अवधि] २ देखो 'अवधि'।
अव्यय—तक, पर्यन्त, लौं।

अवधीच—सं०पु० [सं० औदीच्य] ब्राह्मणों के कुल विशेष (गुजरात के सोलंकी राजा मूलराज ने रुद्र महान नामक बड़ा शिव-मंदिर बनवाया और उसकी प्रतिष्ठा के समय उत्तरी भारत से ब्राह्मणों को बुलाकर उनको वहीं रक्खा। उनकी संतान औदीच्य ब्राह्मण कहलाई। यह मंदिर सं० ९९९ से १०५२ वि० में बनाया गया था।

अवधीरणा—सं०स्त्री० [सं०] तिरस्कार, अवज्ञा।

अवधू—सं०पु०—देखो 'अवधूत' उ०—अवधू जोगी जुगतै न्यारा, पद निरवांण निरंतर वैण।—ह.पु.वा.

अवधूत—सं०पु० [सं०] (स्त्री० अवधूतण) १ योगी, संन्यासी।
उ०—निसचर म्हैं जांण्यौ अवधूत है; रांवण तूं तौ निकळ्यौ धूत।
—गी.रां.

२ (तन्मतानुयायी) साधु विशेष, वर्ण और आश्रमोचित धर्मों को छोड़ कर केवल आत्मा को ही देखने वाले योगी अवधूत कहलाते हैं, यती।
वि०—१ कंपित, कंपायमान. २ उदासीन।

अवधूतांणी—सं०स्त्री०—दशनामी संन्यासियों में स्त्री साधु।

अवधेस—सं०पु० [सं० अवध+ईश] १ अवधपति, दशरथ.
२ श्रीरामचंद्र।

अवधेसर—सं०पु० [सं० अवधेश्वर] श्रीरामचंद्र (डि.को.)

अवध्यौ, अवध्य—वि० [सं० अवध्य] १ बिना आहत किया हुआ, अवध्य।
उ०—चढ़ै सिंध चामुंड, कमळ हूंकारव कध्यौ, डरौ चरंतौ देख, असुर भागियौ अवध्यौ।—देवि. २ वध के अयोग्य, न मारने लायक।

अवध्वंस—सं०पु० [सं०] १ परित्याग, छोड़ना. २ निंदा. ३ चूर-चूर करना ४ संहार, नाश।

अवन—सं०स्त्री० [सं० अवनि] पृथ्वी, भूमि (अ.मा.)—रू.भे.
उ०—सिव अवन कन्या हूंत संभव अगनि जोति अनोप ए, सुभ अस्ट भूप निहारि प्रज सहि अघट किरि सुख ओप ए।—रा.रू.

अवनत—वि० [सं०] १ झुका हुआ, गिरा हुआ, पतित. २ नम्र, विनीत. ३ दुर्दशाग्रस्त।

अवनति, अवनती—सं०स्त्री० [सं० अवनति] १ घटती, न्यूनता, कमी.
२ अधोगति, पतन, हीन दशा. ३ दुर्दशा, दुर्गति।

अवनाड़—वि०—योद्धा, वीर, बलवान, जबरदस्त, देखो 'अनड़'।
उ०—सीमाड़ थयौ अवनाड़ सिव अघ मठौ ऊंधां चला।—पा.प्र.

अवनि, अवनी—सं०स्त्री० [सं०] पृथ्वी, धरा (डि.नां.मा.)
उ०—अवनी आंदोळण ओळा ओसरिया, पिड़ि भिड़ि प्रासी पै गोळा जिम गिरिया।—ऊ.का.

अवनी-अमर—सं०पु० [सं० अवनि+अमर] ब्राह्मण, भूदेव।

अवनीता—वि० [सं० अ+विनीता] कुलटा।

अवनीनाथ—सं०पु० [सं० अवनि+नाथ] पृथ्वीपति, राजा।

अवनीप, अवनीपक—सं०पु० [सं०] राजा, नृप।
उ०—रुद्रदत्त जिण निरत पुत्र जणिया कुळदीपक। मात जिकै रणसूर प्रथम ईस्वर अवनीपक।—वं.भा.

अवतरियोड़ौ–भू०का०कृ०—अवतरित (स्त्री० अवतरियोड़ी)

अवतार–सं०पु० [सं०] १ नीचे आना, उतरना. २ जन्म. ३ ईश्वर या किसी देवता का मनुष्यादि सांसारिक प्राणियों का शरीर धारण कर संसार में आना। धर्मस्थापन के उद्देश्य से ऐसे २४ बार अवतार लिया गया जिनमें प्रमुख दस अवतार ये है—मत्स्य, कच्छप, वराह, नृसिंह, वामन, परशुराम, रामचन्द्र, श्रीकृष्ण, बुद्ध और कल्कि। इनके अतिरिक्त निम्नलिखित चौदह और माने जाते है—ब्रह्मा, नारद, नरनारायण, कपिल, दत्तात्रेय, यज्ञ, ऋषभ, पृथु, धन्वन्तरि, मोहिनी, वेदव्यास, बलराम, हंस और हयग्रीव। इस प्रकार कुल चौवीस अवतार माने गए है. ४ दस की संख्या* ५ चौवीस की संख्या*।

अवतारणौ, अवतारबौ–क्रि०स० [सं० अवतारण] उत्पन्न करना, रचना करना।

अवतारी–वि० [सं०] १ अवतार ग्रहण करने वाला. २ अलौकिक, दिव्य शक्तिसंपन्न। उ०—कर दर कूच अजन अहंकारी, आयौ धरि दिल्ली **अवतारी**।—रा.रू.

अवतोका–सं०स्त्री० [सं०] स्त्री या गौ जिसका किसी विशेष कारणवश गर्भ-पात हो गया हो। उ०—इक नही आक्रांता कांतातुर आडी, डाई **अवतोका** सोकाकुळ डाडी।—ऊ.का.

अवत्थी–सं०स्त्री० [सं० अपस्थान] पराजय, हार। उ०—एक राड़ भव मांह **अवत्थी** ओरस आंणै केम उर।—जमणोजी बारहठ

अवथरि–क्रि०वि० [सं० उद्+तरस] तीव्र वेग से। उ०—अह सुरतांण आवियउ **अवथरि** करन तणा ऊठिय गज केसरि।—रा.ज.सी.

अवदंस–सं०पु० [सं० उपदंस] मद्यपान के तत्काल पश्चात् अच्छी लगने वाली नमकीन व चरपरी वस्तु, गजक।

अवदांन–सं०पु० [सं० अवदान] १ अच्छा कार्य, शुद्ध आचरण. २ खंडन, तोड़ना. ३ त्याग, उत्सर्ग [सं० अपदान] ४ कुत्सितदान ५ वध, मार डालना।

अवदात–वि० [सं०] १ शुक्ल वर्ण, गौर। उ०—गोमती जळ करी गात, दिव चत्र वरण **अवदात**।—रा.रू. २ शुभ्र, उज्वल, निर्मल (अ.मा.) उ०—धिन मात पिता कुळ जात धिन, सत **अवदात** महासती।—रा.रू. ३ शुद्ध उ०—केहर रा नख रंध्र सूं, गज मोतियां निपात। सूरत कीरत वेल रा, बीज ववै **अवदात**। —वां.दा.

४ पवित्र, विमल, उज्वल। उ०—अत सीतळ **अवदात**, संकर मन भावै सदा, वांका साची वात, सुरसरी जळ राकेस सम।—वां.दा.

५ पीत, पीला।

सं०पु०—१ हंस. २ लखपत पिंगल के अनुसार प्रत्येक चरण में २३ मात्रा का एक मात्रिक छंद विशेष।

सं०स्त्री०—३ श्रेष्ठता। उ०—इण हीं सूं **अवदात**, कहणी सोच विचार कर। वे मोसर री वात, रुड़ी न लागै राजिया।—किरपारांम

अवदातचळ–सं०पु० [सं० अवदात+चल=पक्ष] हंस (अ.मा.)

अवदारक–वि०—विदारण या विभाग करने वाला।

अवदारण–सं०पु० [सं०] विदारण करना, विभाग करना।

अवदाळ–वि०—उदार, महान (मुसल०)। उ०—खित साल खळां, तम माळ तिसौ, भ्रम ढाल धरा **अवदाळ** इसौ।—क.कु.बो. (मि० अवदाळ–रू.भे.)

अवदिसा–सं०स्त्री० [सं० विदिशा] १ दिशा. २ विरुद्ध दिशा। उ०—देवी निरभरै तरवरै नगै नेसै, देवी दिसै **अवदिसै** देसै विदेसै। —देवि.

३ दो दिशाओं के बीच का कोना. ४ भेलसा नामक एक प्राचीन शहर।

अवदीक–सं०पु०—युद्ध (ह.नां.)

अवदीत–वि०—देखो 'अवदात'।

अवदोह–सं०पु०—दूध, दुग्ध, दोहन '

अवद्द–सं०पु०—भ्रू, भौंह। उ०—आंखड़ियां रतनाळियां, मूंछ **अवद्दां** फेर।—नैणसी री ख्यात

अवद्ध–वि० [सं०] बंधनरहित, अनियंत्रित, स्वच्छंद।

अवद्या–सं०स्त्री० [सं० अविद्या] देखो 'अविद्या'। उ०—इत्याद **अवद्या** दुख अक्ळ सकळ विरोधी सुरधम्म।—क.कु.बो.

अवध–सं०पु०—१ एक प्राचीन प्रांत। इसकी राजधानी अयोध्या थी। [सं० आयुध] २ अस्त्र-शस्त्र। उ०—तिण में रुड़ा रजपूत तिकै सरग रा उतावळा वैकूठां लोड़ाऊ **अवधां** विरदां रा वहणहार। —डाढ़ाळा सूर री बात

सं०स्त्री० [सं० अवधि] ३ अवधि। उ०—आविया उमड़ घणस्यांम बीती **अवध**। आविया नहीं घणस्यांम आली।—वां.दा.

४ अयोध्या नगर। उ०—एडी **अवध** उजाड़ मती, सियावर ने तू वन म्हां निकाळ मती।—गी.रां.

क्रि०वि०—अल्प समय के लिए, कुछ काल के लिए।

उ०—ज्यारत करण वासतै विधवा अन्य पुरख सू **अवध** करि निकाह पढ़लै।—वां.दा.

अवधईस–सं०पु०—अवधेश, श्रीरामचंद्र (डि.को.)

अवधधिराज–सं०पु०—अयोध्यापति, श्रीरामचंद्र।

अवधनरेस–सं०पु० [सं० अवध+नरेश] १ अवध के महाराजा दशरथ. २ श्रीरामचंद्र।

अवधपति, अवधपती–सं०पु० [सं० अयोध्यापति] १ राजा दशरथ। उ०—कांई **अवधपती** रै घर अवतार लियौ हो राज—गी.रां.

अवधपुर, अवधपुरी–सं०पु०—देखो 'अजोध्या'।

अवधांन–सं०पु० [सं० अवधान] १ मनोयोग, चित्त का लगना, चित्त की वृत्तियों का निरोध कर चित्त को एक ओर लगाना। उ०—चौसट **अवधांन** तणी चतुराई, बोलण माहराजा विरद। —वां.दा.

अवळौ–वि०—विरुद्ध, शत्रु, कष्ट देने वाला। उ०—सांई जो सँवळौ हुवै, (तौ) **अवळा** हुवौ अनेक।—ह.र.। दुष्ट, घमण्डी।
सं०पु०—१ प्रसव के समय बच्चे का टेढ़ा या तिरछा हो जाना। २ गिरवी रक्खा हुआ माल।

अवल्ल–वि०—देखो 'अवल'। उ०—चंपा मांणै निर चढ़ै, आंवा भखै **अवल्ल**।—डाढ़ाळा सूर री वात।

अववेल–सं०स्त्री०—सहायता। उ०—सभै सूर असुरांण दळ पूर आयौ सिखर, किणी नह वियै **अववेल** कीजै।—राव जैतसी रौ गीत

अवस–वि० [सं० अवश] १ विवश, लाचार. २ पराधीन. ३ अवाध्य, असमर्थ. [सं० अ+वश] ४ जो वश में न किया जा सके।
क्रि०वि० [सं० अवश्य] १ अवश्य, निसंदेह, निश्चित, जरूर।
उ०—आ काठां चढ़सी **अवस**, धरणीधर दे धोक। सठ मन मानै सुधरसी, पातर सू परलोक।—बां.दा.

अवसता–सं०स्त्री० [सं० अवस्था] १ अवस्था, हालत, दशा. २ समय, काल, परिस्थिति. ३ आयु, उम्र।

अवसर–सं०पु० [स०] १ समय, मौका। उ०—इण **अवसर** मत आळसै ईसर आखै एम।—ह.र. २ अवकाश, विश्राम, विराम, फुरसत. ३ प्रस्ताव. ४ मंत्र विशेष, वर्पण. ५ बार. दफा।
उ०—कै **अवसर** तोपां सिर काछी, असह ठेलि कीधी रण आछी।
—वं.भा.

अवसरप–सं०पु० [सं० अपसर्प] गुप्त दूत (डि.को.)

अवसरपिणी–सं०स्त्री० [सं० अवसर्पिणी] जैन शास्त्र के अनुसार गिराव का समय, अवरोह।

अवसरवाद–सं०पु० [सं० अवसर+वाद] मौका देख कर कार्य करने का भाव।

अवसरवादी–सं०पु० [सं० अवसर+वादी] मौका देख कर कार्य करने वाला।

अवसरि–सं०पु० [सं० अवसर] देखो 'अवसर' (प्रा रू.)
उ०—तिणि **अवसरि** बोल्यउ सुरतांण, सुकन बोल ताहरउ प्रमांण।
—कां.दे.प्र.

अवसांण–सं०पु०—१ अवसर, मौका, समय। उ०—उण ठांम आय **अवसांण** पाय, आसुर अभीत तिण हरी सीत।—र.रू.
[सं० अवसान] २ विराम, ठहराव, समाप्ति. ३ अंत, सीमा. ४ मरण, मृत्यु. ५ सायंकाल. ६ होशहवास, संज्ञा, चेतनता।
उ०—पछै फेर असवारां मांही आई सी **अवसांण** खता कर दिया।
—डाढ़ाळा सूर री वात
[अ० अहसान] ७ ऐहसान। उ०—समभणहार सजांण, नर औसर चूकै नहीं। औसर रौ **अवसांण**, रहै घणां दिन राजिया—किरपाराम
८ युद्ध। उ०—गिरवांण बीमांण केकांण कटै, जमरांण 'गोगौ' **अवसांण** जुटै।—गो.रू.

अवसांणसद, अवसांणसध, अवसांणसिद्ध, अवसांणसिध्ध, अवसांणसुध–सं०पु० [सं० अवसान+सिद्ध] १ अवसर या समय पर कार्य सिद्ध करने वाला या काम आने वाला। उ०—**अवसांणसिद्ध** रहमांण अंस। वाखांण करूं नृप भांण वंस।—वि.सं. २ युद्ध में विजयी वीर। उ०—जुध करि पिरिआं जेम सादाउत **अवसांणसिध**।—वचनिका
३ युद्ध में वीर गति प्राप्त करने वाला। उ०—१ हेकला कमंध सिर महाभारत हुवौ धव करै चत्र पहर फूल धारां। सुरग दिस कुंजरां नरां **अवसांणसिध**, हालियौ वाह कर वहणहारां।—राजसी बारहठ
उ०—२ भोळिआं ऊपड़िआ छै। जिकै **अवसांणसुध** खत्री छै, तांहरी अरोगी विखै छै।—रा.स.सं.

अवसांणौ–सं०पु०—देखो 'अवसांण'। उ०—सौ लद्धौ **अवसांणौ**, सद्धौ धीर वीर चतुरेस।—रा.रू.

अवसांन–सं०पु०—१ देखो 'अवसांण' (रू.भे.) २ भोजन (अ.मा.) ३ युद्ध (मि० अवसांण)

अवसाऊ–वि० [सं० आवश्यकीय] जरूरी, आवश्यकीय, अवश्य।
क्रि०वि०—१ अवश्य. २ अकस्मात्।

अवसाद, अवसादन–सं०पु० [सं०] १ नाश, क्षय. २ दीनता. ३ विषाद, दुख, थकावट। उ०—घुळै ज्यूं अणहूंती **अवसाद**, फिरंतां मन मूंगा दिन-मांन।—सांझ

अवसाप–सं०पु०—१ बल, सामर्थ्य. २ वदान्यता, उदारपन।
उ०—सरण साधार **अवसाप** रा यंद सम।—दुरगादत्त बारहठ
३ यश, कीर्ति। उ०—बीजां वगै नही ए बातां सर सातां पूगौ **अवसाप**। हूंम तणौ भूखण वड हाथां वगसै तूं पातां...।
—उमेदसिंह सीसोदिया रौ गीत
४ देखो 'ओसाप'।

अवसायिता–सं०स्त्री०—अष्ट सिद्धियों में से एक सिद्धि (डि.को.)

अवसि–क्रि०वि० [सं० अवश्य] अवश्य, जरूर, निसंदेह।
उ०—संदेसे ही घर भरंचउ, कइ अंगणि कइ वार। **अवसि** ज लग्गा दीहडा, सेई गिणइ गंवार।—ढो.मा.

अवसिस्ट–वि० [सं० अवशिष्ट] शेष, बचा हुआ।

अवसी–क्रि०वि०—देखो 'अवसि' (रू.भे.)
उ०—आधाइक मालण सू आनै **अवसी** भेळा हुआ नहीं।—बां.दा.

अवसेख–क्रि०वि०—अवश्यमेव।
वि० [सं० अवशेष] बचा हुआ।

अवसेचण–सं०पु० [सं०] १ सींचना, पानी देना. २ पसीना निकलना।

अवसेस–सं०पु० [सं० अवशेष] १ अन्त, शेष, बाकी, समाप्ति।
[सं० अभिषेक] २ अभिषेक, तिलक।
वि०—१ बचा हुआ। उ०—अर **अवसेस** सारा ही सामंत प्रमारराज सळख रै साथ अरबुदाचळ रै ऊपर चलाया।—वं.भा.
२ धर्मरहित. ३ भेदक. ४ तुल्य, समान।

अवस्कंद–सं०पु० [सं०] सेना की ठहरने की जगह, शिविर, डेरा।

अवस्ता–सं०स्त्री०—१ पारसियों की धार्मिक पुस्तक, जिंद अवस्था. २ देखो 'अवस्था' (रू.भे.)

अवनीस, अवनेस–सं०पु० [सं० अवनी+ईश] राजा, नृप।
उ०—१ नमौ करनल्ल वळ अवनीस, तोक्यां कर पत्र ससत्र छतीस।
—मे.म.
उ०—२ हुवा देस भैचक्क हुवा अवनेस भयंकर।—रा.रू.
अवन्न, अवन्नि–सं०स्त्री० [सं० अवनि] अवनि, पृथ्वी (रू.भे.)
उ०—१ अग जातै भायौ मनै, आयौ पोस अवन्न।—रा.रू.
उ०—२ कीरत 'अजन' कमंध री, अति विसतरी अवन्नि।—रा.रू.
अवप–सं०पु० [सं० अवपु] अनंग, कामदेव (ह.नां.)
अवपाटिक–सं०पु० [सं०] पुरुष का लिंगेन्द्रिय संबंधी रोग विशेष।
(अमरत)
अवपात–सं०पु० [सं०] १ तृणादि से आच्छादित किया हुआ हाथियों को फँसाने का गड्ढा. २ पतन, अधःपतन।
अवबाहुक–सं०पु०—एक रोग विशेष जिससे हाथ की संचालन शक्ति रुक जाती है। (अमरत)
अवबेल–सं०स्त्री०—देखो 'अववेल'
अवबोध–सं०पु० [सं०] १ जागना. २ बोध, ज्ञान।
अवभामिनी–सं०स्त्री०—ऊपर की त्वचा (अमरत)
अवभ्रथ–सं०पु० [सं० अवभृथ] १ मुख्य यज्ञ के समाप्त होने पर किए जाने वाले शेष कर्म जिनका विधान है. २ यज्ञांत स्नान। उ०—अस्वमेध अध्वर रा अवभ्रथ रौ तिरस्कार करता पेंड साम्हैं ही लगाया।
—वं.भा.
अवमतिथि–सं०स्त्री०यौ० [सं०] वह तिथि जिसका क्षय होगया हो।
अवमरद–सं०पु० [सं० अवमर्द] लड़ाई, युद्ध।
उ०—पहिली चंडासिराज प्रथ्वीराज १ रौ छोटौ पुत्र सामंतसिंघ २ दिल्ली रा अवमरद हूँ बाळक थकौ कढ़ियौ जिकरण नूं पातसाह कुतबुद्दीन मेवात देस रौ कितो'क प्रांत दीधौ।
—वं.भा.
अवमरदग्रहण–सं०पु०—सूर्य या चंद्रग्रहण का एक भेद।
अवमांन–सं०पु० [सं० अपमान] निरादर, तिरस्कार, अपमान (रू.भे.)
अवमांनना–सं०स्त्री० [सं० अवमानना] अनादर, अपमान।
अवयदिव–सं०पु० [सं०] (वह स्वर्ग जहां अवस्था नहीं बदलती) स्वर्ग (नां.मा.)
अवयव–सं०पु० [सं०] १ अंश, भाग, हिस्सा. २ शरीर का अंग, देहांग. ३ तर्कपूर्ण वाक्य का एक अंश या भेद (न्याय)
अवरंग, अवरंगी–वि०—बादशाह औरंगजेब का एक नाम।
उ०—अवरंगी अतीव आपरंगी अणनीतौ, कियौ भंग लड़ि कुणै जंग जुड़ि बावन जीतौ।—रा.रू.
२ बदसूरत, कुरूप. ३ उदासीन, खिन्न चित्त।
अवर–वि० [सं० अपर] १ अन्य, दूसरा। उ०—जसवंत गुरड़ न उड्डही ताळी अजड़ तणेह। हाकलियां ढूला हुवै पंछी अवर पुणेह।
—हा.झा.
२ अधम, नीच, मंद, अश्रेष्ठ [सं० अवल] ३ निर्बल।
अव्यय [सं०] १ और। उ०—जग ईख स्वाद पी ऊख रस जिम अवर चार अनारयं।—रा.रू. २ अगला।
अवरइ–क्रि०वि०—अन्य की, दूसरों की, औरों की। उ०—सभई भूमइ अवरइ नांम, कहइ अवर मुझ अवरे कांम।—ढो.मा.
अवरकज, अवरज–सं०पु० [सं० अवरज] १ छोटा भाई (अ.मा.,ह.नां.) २ शूद्र, नीच।
अवरण–वि० [सं० अवर्ण] १ वर्णरहित. २ बदरंगा।
३ अवर्णनीय। उ०—वैराट रूप अवरण वरण असकल तंत अगुवा।
—अज्ञात
४ जिसका कोई रंग न हो। उ०—रत्त न पीत न स्वेत स्यांम अवरण ऊंकारा।—केसोदास गाडण
अवरणवरण–सं०पु०—ईश्वर, ब्रह्म।
अवरणी–वि० [सं० अवर्णनीय] जिसका वर्णन न किया जा सके, अवर्णनीय। उ०—मीढ़ जग परवा उदार, आप करतार अवरणी।
—करणीरूपक
अवरती–सं०स्त्री० [सं० अर्वती] घोड़ी। उ०—आपरा अनेक प्रत्युपकार चीताइ आवरत प्रमुख अनेक अनुकरण रा नाच करती अवरती नूं विश्राम री बोल दे'र जोइये।—वं.भा.
अवरळ–वि० [सं० अविरल] १ मिला हुआ, अपृथक. २ अभिन्न, घना, सघन. ३ उज्वल, निर्मल।
क्रि०वि०—लगातार, धाराप्रवाह। उ०—सकळ सुरासुर सामिणी, सुण माता सरसत्त। विनय करे नै वीनवूं, मूझ दौ अवरळ मत्त।
—ढो.मा.
अवरसणउ, अवरसणौ–सं०पु० [सं० अवर्षण] अवर्षा, अनावृष्टि, दुष्काल
उ०—१ मारू थांकइ देसड़इ, एक न भाजइ रिड्ड, ऊचाळउ क अवरसणउ, कइ फाकउ कइ तिड्ड।—ढो.मा.
पाठांतर। उ०—२ मारवाड़ के देस मैं, एक न जावै पीड़। कबही हुवै अवरसणौ, कबही फाका तीड।—ढो.मा.
अवराधन–सं०पु० [सं० आराधन] उपासना, पूजा (रू.भे.)
अवराधी–वि० [सं० आराधनी] उपासक, पूजक।
अवरापण, अवरापणौ–सं०पु०—परायापन, दूसरे या अन्य का होने का भाव।
अवरी–सं०स्त्री० [सं० अ+वर+ई] १ कुमारी, अविवाहिता.
२ बिना युद्ध किए हुए सुसज्जित सेना। उ०—धरण निज धांम सलता विकट निज धरण, जोध अवरी वरण करण कण जोट पताखण प्रसण मडता मगज गळ पड़ै, चल पड़ै नाव गजवी गरंद चोट।—अज्ञात ३ एक नागकन्या-विशेष. ४ अप्सरा।
उ०—तरण रथ थिकत घण वहै लागां अतर, अडर कर कर मरै वरण अवरी। पड़ै धड़ गजांणण, कहै इम पंचाणण गजांणण कढै विण सोझ गवरी।—पीथौ सांदू

अवीअट–देखो 'अविअट' (रू.भे.)

अवीचि–सं०पु० [सं०] एक नरक का नाम (पौराणिक)

अवीदात–वि०—देखो 'अवदात' (ह.नां.—रू.भे.)

अवीदौ–वि०—१ दुर्गम. २ टेढ़ा, तिरछा. ३ बाँकुरा।

अवीयाट–देखो 'अवियाट' (रू.भे.)

अवीहड़–देखो 'अविहड़' (रू.भे.) उ०—रांणी इम रूड़ी परैं, धरती अवीहड़ प्रीत।—ढो.मा.

अवूठणौ–क्रि०अ० [सं० अवृष्ट, प्रा० अवुट्ठ] अवर्षण होना, वर्षा न होना। उ०—अवूठेइ इंद्र घटै त्रिण अन्न।—रांमरासौ

अवेखणौ, अवेखवौ, अवेखिणौ, अवेखिवौ–क्रि०स० [सं० अवेक्षण] देखना, ध्यान लगाना। उ०—पूगैं जे हरथांन सांझ रै पैलां वादळ, रहे अवेखण अरक होवतौ आंख्यां ओझल।—मेघ.

अवेखणहार-हारौ (हारी), अवेखणियौ—देखने वाला।

अवेखिओड़ौ, अवेखियोड़ौ, अवेख्योड़ौ—भू०का०कृ०।

अवेखियोड़ौ–भू०का०कृ० [सं० अवेक्षित] देखा हुआ (स्त्री० अवेखियोड़ी)

अवेढ़ौ–वि०—१ प्रतिकूल. २ एकान्त (द.दा.)

अवेर–सं०स्त्री० [सं०] १ देरी, विलम्ब. [रा०] २ सम्हालने की क्रिया, ध्यान रखने का भाव।

मुहा०—हाथ री अवेर वत्ती है—स्वयं के द्वारा देख-सम्हाल करना सदैव अच्छा होता है।

अवेरणौ, अवेरबौ–क्रि०स० [सं० अवेरण] १ किसी कार्य को सुचारु रूप से करना. २ संभालना. ३ समेटना। उ०—मालिक रा माथा री उसीसौ हुवौ आपरौ वामेतर वाहू अवेरियौ।—दं.भा.

अवेरणहार, हारौ (हारी) अवेरणियौ–संभालने या समेटने वाला।

अवेराणौ-अवेरावौ, अवेरावणौ-अवेरावबौ–क्रि० प्रे०रू०।

अवेरिओड़ौ-अवेरियोड़ौ-अवेरयोड़ौ–भू०का०कृ०।

अवेरीजणौ-अवेरीजवौ–कर्म वा०—संभाला या समेटा जाना।

अवेरीजिओड़ौ-अवेरीजियोड़ौ-अवेरीज्योड़ौ–भू०का०कृ०—संभाला या समेटा गया हुआ।

अवेराणौ, अवेरावौ–क्रि०प्रे०रू०—१ सम्हलाना. २ समेटाना. ३ सँवारने का काम कराना।

अवेराणहार, हारौ (हारी) अवेराणियौ–वि०—सम्हलाने या समेटाने वाला।

अवेरावणौ-अवेरावबौ–रू०भे०।

अवेराविओड़ौ-अवेरावियोड़ौ-अवेराव्योड़ौ–भू०का०कृ०—समेटा, सम्हलाया या सँवारा हुआ।

अवेरायोड़ौ–भू०का०कृ०—सम्हलाया या समेटाया हुआ। (स्त्री० अवेरायोड़ी)

अवेरावणौ, अवेरावबौ–क्रि०प्रे०रू०—देखो 'अवेराणौ' (रू.भे.)

अवेरियोड़ौ–भू०का०कृ०—समेटा, सम्हाला या सँवारा हुआ। (स्त्री० अवेरियोड़ी)

अवेरो, अवेरौ–सं०पु०—१ कार्य को पूर्ण करने का भाव. २ सम्हालने, समेटने या सँवारने की क्रिया का भाव।

क्रि०वि० [अ+बेर] बेवक्त। उ०—इम परखे राजा आंबेरौ, आवै हित घर वेर अवेरौ।—रा.रू.

यौ०—वेर-अवेर।

अवेळौ–वि० [सं० अवेला] देर, विलम्ब।

कहा०—१ आयमियां पछै अवेळौ कैड़ौ, खांसियां पछै डर कैड़ौ। सूर्यास्त के पश्चात देर कैसी। लुट जाने के पश्चात भय कैसा। २ आप मरियां पछै अवेळौ नई नै खोयां पछै भौ नईं—अपनी मृत्यु के बाद अथवा संपत्ति के लुट जाने पर किसकी चिंता की जाय। ३ सवेळी पणियार नै अवेळौ मेह—समय पर पानी भरने वाली पनिहारिन तथा रात्रि का मेह सदैव उत्तम होता है।

अवेव–सं०पु०—भेद, रहस्य। उ०—दीठी तौ ही गत्ति न जांणां देव, अनंत तुहाळा कोटि अवेव।—ह.र.

वि०—निर्बल, दुर्बल, कमजोर।

अवेस–वि० [सं० अ+वेश] १ वेशरहित. [सं० अ+वयस] २ आयु-रहित, अनादि। उ०—अनांम अकांम अवास अवेस।—ह.र.

सं०पु० [सं० आवेश] जोश, आवेश।

अवै–सर्व०—उस। उ०—इसौ कहि बीड़ौ लीधौ, अवै पोठ भरियौ नै भांति-भांति री चीजां लीधी।—कहवाट सरवहिया री वात

क्रि०वि०—अब। उ०—तद रंभा बोली, अवै म्हांरी मुजरौ छै, हूं जाऊं छूं।—वीरमदे सोनगरा री वात

अवैतनिक–वि० [सं० अ+वेतन] जो विना वेतन काम करे।

अवोड़ौ–सं०पु० [सं० अवहेल] सम्मान किये जाने योग्य व्यक्ति को उसकी बात का दिया जाने वाला कड़ुवा उत्तर, कटूक्ति।

अवोचण–सं०पु० [सं० अवंचन] पर्दानशीन स्त्रियों के पर्दा के निमित्त यात्रा में सिर पर ओढ़ने का श्वेत वस्त्र (मि० मुकनौ)

अव्यक्त–वि० [सं०] १ जो व्यक्त न हो, अगोचर, अप्रत्यक्ष, अदृष्ट. उ०—नमौ अव्यक्त नमौ सरवेस।—ह.र. २ अज्ञात. ३ अनिर्वचनीय, अकथनीय. ४ अस्पष्ट. ५ जिसमें रूप गुण आदि न हों. ६ अप्रकाशित।

सं०पु० [सं०] १ विष्णु. २ कामदेव. ३ शिव. ४ प्रकृति (सांख्य). ५ आत्मा, परमात्मा. ६ क्रियारहित ब्रह्म, जीव, सूक्ष्म शरीर।

अव्यय–वि० [सं०] १ सदा एक सा रहने वाला, जिसमें विकार उत्पन्न न हो। २ नित्य, आद्यंतहीन, अनश्वर। उ०—अनामय अव्यय अक्षय आथ।—ऊ.का. ३ प्रवाह रूप से नित्य रहने वाला। उ०—औगण मेटणहार, अमोलख औखद इणमें। गूद गणौ गुणकार, अव्यय सक्ति है जिणमें।—दसदेव

४ सदैव एक ही या समान रूप से प्रयुक्त होने वाले वे शब्द जिनके रूप, लिंग, वचन और कारकों के प्रभाव से बदलते नहीं हैं (व्याकरण)

अवाळ–सं०पु०—१ रहँट के कंगूरेदार दोनों चक्रों को आपस में मिलाने की क्रिया। रहँट पर घूमने वाले दोनों चक्र के सिरे जो एक दूसरे में फंसकर लाठ को घुमाते हैं। (रू.भे.–उग्राळ). २ नदी के जल-प्रवाह के साथ आने वाला कूड़ा-करकट जो दोनों तटों पर पड़ा रह जाता है।

अवाळौ–सं०पु०—१ देखो 'अवाड़ौ' (रू.भे.)
२ देखो 'ऊवाड़ौ' (रू.भे.)

अवास–सं०पु० [सं० आवास] १ वास, घर, निवासस्थान, भवन।
उ०—पोळ प्रवाह करै पग पूजन, वड़ा **अवास** छोळ द्रव वेग। सिंधुर सात दोय दस सांसण, नाग ग्रहै दीधा इम नेग।
—वारूजी सौदा

[सं० आभास] २ चमक-दमक। उ०—वरखा रितु लागी आभा झरहरै वीजां **अवास** करै।—रा.सा.सं. [सं० उपवास] ३ व्रत, उपवास, लंघन।
वि० [सं० अ+वास] १ निवासस्थानरहित. २ गंधरहित।
उ०—अनांम अकांम **अवास** अवेस आदेस आदेस आदेस आदेस।—ह.र.

अवास्य–सं०पु० [सं० आवास] वास, घर, निवासस्थान।
उ०—राई **अवास्यां** संचरचौ, सेज पधारचौ सांभरचौ राव—वी.दे.

अवाह–सं०पु० [सं० अबाध] १ जिस पर प्रहार न हो सके।
उ०—या दोळी अजमेर रै अकबर चमू अपार। औरंगसाह सनाह कर, थयौ **अवाह** प्रहार।—रा.रू.
२ भट्टी., ईंटों आदि से बना बड़ा चूल्हा। उ०—अति कळमळै प्रांण आपांणै। जळै **अवाह** छादियौ जांणै।—रा.रू. ३ कुम्हार के बर्तन पकाने का स्थान, आवां. ४ योगिनी का खप्पर।
उ०—खपिया जठै अठारै खोयण, आधी रहिया तेण **अवाह**। चोसट खपर पूरिया चुळवळ, हेकण कमंध तणीं हथवाह।
—प्रिथीराज जैतावत रौ गीत

अवाहण–सं०पु० [सं० आह्वान] आह्वान, बुलावा। उ०—आया अन भूपत **अवाहण** भुजंगे भुजंग तजे वळभंग।—महारांणा प्रताप रौ गीत

अविद, अविध–वि०—छिद्रहीन, बिना छेदा हुआ (अमरत)
उ०—सउ सहसे एकोतरै, सिरि मोतीहरि सुध्ध। नदी नित्रासउ उत्तरइ, आणूं एक **अविध**।—ढो.मा.

अवि–सं०पु० [सं०] १ बकरा. २ भेड़।

अविग्रट, अविग्रट्ट, अविग्रट्ठ, अविग्राट–सं०पु०—[सं० अट्ट=अतिक्रमण हिंसनयोः अभि+अट्ट=अविग्रट्ट] १ युद्ध। उ०—काळै अजुआळी किओ, आवि दळां **अविग्रट्ट**।—वचनिका २ वीर, योद्धा।
उ०—समराट, पतिपाट, **अविग्राट** खत्रवाट साची—पि.प्र. ३ झुंड, समूह, दल। उ०—वीजळां झाट **अविग्राट** भांजण विढै।
—अनोपसिंह सांदू

सं०स्त्री०—४ तलवार, कृपाण। उ०—गोगा वीरम वैर कज्ज यूं वाही **अविग्रट**—वी.मा.

वि० [सं० अविकट] ललित, मनोहर। उ०—कलीआंण सोरठ कनड़ौ वज परज कालंग वहंगड़ौ, अघड नट थट करत **अविग्रट** चपट चटपट वाज चट चट।—मुरादास बारहठ

अविकळ–वि० [सं० अविकल] १ ज्यों का त्यों, बिना परिवर्तन या हेर-फेर के. २ पूर्ण, पूरा. ३ निश्चल, शांत. [रा०] ४ व्याकुल, घबराया हुआ. ५ वीर, बहादुर।

अविकार–वि० [सं०] १ निर्विकार, विकाररहित. २ परिवर्तनरहित, अविकल. ३ अविनाशी, जन्ममरणादि से रहित।
सं०पु० [सं०] १ विकाराभाव. २ ईश्वर, ब्रह्म।

अविकारी–वि० [सं० अविकारिन्] १ जिसमें विकार या परिवर्तन न हो, निर्विकार, विकारशून्य। उ०—जेहल ताळ खड़ीण व्है तरवर लाकड़ होय। हरम ढहे ढूंढा हुवै जस **अविकारी** जोय।—बां.दा.
यौ०—अविकारी सब्द (व्याकरण)।
सं०पु०—सदैव एक सा रहने वाला, ईश्वर, ब्रह्म। उ०—अलख निरंजण अज **अविकारी**, व्याप रह्या सब जग मांही।—गी.रां.

अविगत–वि० [सं०] जिसकी गति का पता न चल सके, जो नष्ट नहीं हो, नित्य।
सं०पु०—ईश्वर (ह.नां.) उ०—१ मांणै मांणै पाव महेसर पगां तणी दै सेव प्रमेसर। **अविगत** नाथ पूरजै आसा। उ०—जगत कहै दसरथ रौ जायौ, **अविगत** थारौ नांम अजायौ।—पीरदांन लाळस

अविगति–सं०पु०—ईश्वर (नां.मा.)

अविग्रह–वि० [सं० अ+विग्रह] निराकार, जो स्पष्ट रूप से न जाना जा सके।

अविचळ–वि० [सं०] १ अचल, अटल, अमर। उ०—और देवी राठा-सण छै, तिणरी तूं घणी सेवा करजै। राज ताहरौ **अविचळ** रहसी।—नैणसी ३ स्थिर। उ०—जळ भूप प्रिस्ट धारै जुगळ वामै ध्रू **अविचळ** वणै।—रा.रू. [सं० अ+विचल] ३ निडर, धीर, दृढ़, वीर।

अविचार–सं०पु० [सं०] १ विचार का अभाव, अविवेक. २ अन्याय।

अविचारित–वि० [सं०] बिना विचारा हुआ।

अविचारी–वि० [सं० अविचारिन्] अविवेकी, अज्ञानी।

अविच्छिन्न–वि० [सं०] अविच्छेद, अटूट, लगातार, अभंग।

अविच्छेद–वि० [सं०] अटूट, लगातार।

अविच्चळ–वि०—देखो 'अविचळ' (रू.भे.) उ०—ऊजळा चउंर ढळकइ अवीह, सिरि छत्र **अविच्चळ** जइतसीह।—रा.ज.सी.

अविढ़ौ–वि०—१ दुर्गम, टेढ़ा-मेढ़ा. २ बांकुरा, वीर (मि० अवीढ़ौ)

अविणास–सं०पु० [सं० अविनाश] १ विनाश का अभाव, अक्षय, नाश-रहित. २ ईश्वर, परब्रह्म।

अविणासी–वि० [सं० अविनाशी] जिसका नाश न हो, अनाशवान, अनिश्वर, अक्षय, नित्य, शाश्वत। उ०—अगम अगोचर अलख अचळ **अविणासी** ईस्वर।—रा.रू.

२ विनती, प्रार्थना, स्तुति । उ०—१ राजा इसी **असतूती** करी छै ।
—पलक दरियाव री बात

उ०—२ ब्रहमा विसन महेस सेस **असतूत** करंदै ।—केसोदास गाडण

असतोत्र—सं०पु० [सं० अस्तोत्र] १ गुण, कर्म और समावादी से स्तुति करना. २ किसी देवता का छंदोवद्ध स्वरूप कथन या गुण कीर्तन, स्तुति, स्तवन । उ०—प्रसन्न करण निज किरणपति सत. **असतोत्र** उचार ।—सूरज असतूत

असतौ—सं०पु०—निर्लेप । उ०—भूपर भालाळाह हेक तूंह **असतौ** हुवौ ।
—पा.प्र.

असत्कार—सं०पु० [सं०] अपमान, तिरस्कार, निरादर ।

असत्य—वि० [सं०] मिथ्या, झूठ ।

असत्यता—सं०स्त्री० [सं०] झूठाई, मिथ्यापन ।

असत्यवाद—सं०पु० [सं०] झूठ बोलना ।

असत्यवादी—वि० [सं०] झूठ बोलने वाला, झूठा ।

असत्र—सं०पु० [सं० अस्त्र] १ अस्त्र, हथियार । उ०—सोह ससत्र **असत्र** तुटा सकाज, कई माह मल जुद्ध करण काज ।—शि.सु.रू.
[रा०] २ सूअर (अ.मा.)
वि० [सं० अ+शस्त्र] १ निशस्त्र, निहत्था । उ०—अणपांण अधीर लड़ै **असत्रां** । सवळां तन पांण लड़ौ ससत्रां ।—पा.प्र.
[सं० अ+शत्रु] २ जो शत्रु न हो, मित्र ।

असत्र-ससत्र—सं०पु०यौ० [सं० अस्त्र+शस्त्र] अस्त्र-शस्त्र, हथियार । देखो 'असत्र' (१)

असत्री—सं०स्त्री० [सं० स्त्री] १ स्त्री, महिला, नारी ।
उ०—सूतौ धारै सांत सांभळ **असत्री** रा सवद ।—पा.प्र.
२ पत्नी, जोरू । उ०—अंग री **असत्री** अंग रौ भरतार पाईजै छै ।
—रा.सा.सं.

असथन—सं०पु०—अस्थि, मज्जा (डिं.को.)

असथळ—सं०पु० [सं० स्थल] देखो 'असतळ' (रू.भे.)

असथांन—सं०पु० [सं० स्थान] स्थान । उ०—उनमनि **असथांन** इसौ दाता, अवर नांही अभै आपैदांन ।—ह.पु.वा.

असथी—सं०स्त्री० [सं० अस्थि] अस्थि, हड्डी ।

असथीपंजर—सं०पु०यौ० [सं० अस्थि+पंजर] हड्डियों का ढांचा, कंकाल (डिं.को.)

असदगति—सं०स्त्री०यौ० [सं० असद्गति] अधोगति ।

असद—वि० [सं०] दुष्ट, नीच । उ०—**असद** गुरु सद्गुरु लच्छण ईख ।
—ऊ.का.

असन—सं०पु० [सं० अशनि] देखो 'असण' (अ.मा.)
उ०—उर तरुणि सुख धनवंत जण अति **असन** गरम अनेक ए ।
—रा.रू.

असनांन—सं०पु० [सं० स्नान] स्नान, नहाना । उ०—सफरा **असनांन** खाग धारां, उतरा रिव क्रम क्रम असमेद ।
—हुकमीचंद खिड़िया

असनि—सं०पु० [सं० अशनि] १ वज्र, विद्युत (डिं.को.)
उ०—मनहु वूंद वस वात, **असनि** असमांन विल्लुट्टिय ।—ला.रा.
२ देखो 'असणि' ३ ओला । उ०—तोप-सव्द घनघोर तुपक भख **असनि** वरक्खिय ।—ला.रा. ४ अंत गुरु की चार मात्रा का नाम (डिं.को.)

असनिकुमार—सं०पु० [सं० अश्विनीकुमार] देवताओं के वैद्य माने जाने वाले सूर्य के दो पुत्र जो त्वष्ठा की पुत्री प्रभा नाम की स्त्री से उत्पन्न हुए थे । उ०—**असनिकुमार** अगनि वन आखौ, देवनाथ महि वांमण दाखौ ।—रा.रू.

असनी—सं०पु०—१ देखो 'असणि' (अ.मा.) [सं० अश्विनी]
२ सत्ताइस नक्षत्रों में से एक (नां.मा.)

असनेह—सं०पु० [सं० अस्नेह] १ शत्रुता, दुश्मनी, स्नेह का अभाव ।
उ०—१ जुड़वा रण पातुअ जींद जुआ । हट लाग सगा **असनेह** हुआ ।
—पा.प्र.

२ अळगौ ही उर मैं वसै नींद न आवणदेह । ससि वदनी रौ साहिवौ कै दोयण **असनेह** ।—वां.दा.

असन्न—वि० [सं० आसीन] आसीन, वैठा हुआ । उ०—आडवळै आघौ फरइ, एवड़ मांहि **असन्न** । तिण अजांण ढोलइ तणइ, मूरख भागइ मन्न ।—ढो.मा.
सं०पु० [सं० अशन] आहार, भोजन । उ०—नारायण भजियौ नहीं, भजिया अवर भजन्न, ज्यां तजियौ मांनव जनम, सभिया तन्न **असन्न** ।
—ह.र.

असन्नु—सं०पु० [सं० अशन] १ भोजन (मि० असन, असण—रू.भे.)
सं०पु० [सं० अ+सज्जन=असज्जन, अप० असयण=असन्नु] असुर, राक्षस । उ०—दुस्टी **असन्नु** वेद छिन्नु वहु रुदन्नु अज्जु ए—करुणासागर

असप—सं०पु० [सं० अश्मन्] १ प्रस्तर, पत्थर (अ.मा.)
[सं० अश्व] २ घोड़ा [सं० अश्व+पति] ३ देखो 'असपति' (१२)

असपत—सं०पु० [सं० अश्वपति] देखो 'असपति' (१, २)

असपति, असपतो—सं०पु० [सं० अश्व+पति] १ घोड़े का स्वामी, रिसालदार. २ वादशाह । उ०—उण वक्त खवर गुजरात आय । **असपती** अमल दीन्हौ उठाय ।—वि.सं. ३ आसपास में लघु व मध्य में गुरु की चार मात्रा का नाम ।ऽ। (डिं.को.)

असपतिराइ, असपतिराय, असपतिरावि, असपतीराइ, असपतीराय—सं०पु० वादशाह । उ०—वोल न मांन्यउ **असपतिराइ**, गढ़ जाळहुर भणी दळ जाइ ।—कां.दे.प्र.

असपत्त, असपत्ति, असपत्ती—सं०पु०—देखो 'असपति' (१, २)
उ०—उर झुकमा **असपत्त** सूं, तुकमा लेवण त्यार । पाछा करण प्रताप ज्यूं, वेढ़ नृपत वैपार ।—किसोरदांन वारहठ

असपथ—सं०पु० [सं० अश्वत्थ] पीपल (ह.नां., पाठांतर)

असपरा—सं०पु०—१ देवता (अ.मा.)
सं०स्त्री० [सं० अप्सरा] २ अप्सरा, स्वर्ग की वेश्या ।

[सं० असंभव] ४ अजन्मा, अज, स्वयंभू। उ०—आदि अनादि असंभ आप मुद्रा ऊपाए, ओंकार अप्पार पार भ्रम ही नहिं पाए।
—मालौ आसियौ

[सं० असंभव] ५ वीर, बहादुर। उ०—असमांनि जइत उठियउ असंभ थिड़तइ संसारि दे आभि थंभ।—रा.ज.सी.

६ अद्वितीय। उ०—इहै वर राजा तूझ असंभ, थियैं चत्र पुत्र उभै कुळ थंभ।—रांमरासौ

सं०पु० [रा०] १ युद्ध। उ०—असंगां भमाड वाळां खगाटां असंभ।
—महाराजा रणमी रौ गीत

२ जन्म व उत्पत्ति से रहित। उ०—नमौ रुसि तापस रूप रिखंभ, नमौ अवतार उदार असंभ।—ह.र. [सं० असंभव] ३ देखो 'असंभव'।

असंभम, असंभव–वि० [सं० असंभव] जो संभव न हो, नामुमकिन।
उ०—नाहर मलिक ऊसरिउ पाछउ हूई असंभम वात।—कां दे प्र.
सं०पु०—एक प्रकार का अलंकार विशेष जिसमें किसी पदार्थ की असंभवता बतलाई जाती है।

असंभावना–सं०स्त्री० [सं०] १ संभावना का अभाव, अनहोनापन।
उ०—सो असंभावना है समत्थ, वद कांड भरत ब्रह्मांड वत्थ।
—ऊ.का.

२ एक प्रकार का अलंकार विशेष।

असंभाव्य–वि० [सं०] १ न कहने योग्य, जिसका उच्चारण करना अनुचित हो, बुरा. २ जिसकी संभावना न हो।

असंभै–वि० [सं० असंभव] असंभव, नामुमकिन।

असंम–वि०—रागरहित (ह.र.)

असंसय–वि० [सं० असंशय] संशयरहित, निर्विवाद, यथार्थ।

असंसारी–वि० [सं०] १ विरक्त. २ अलौकिक।

अस–वि० [सं० ईदृश] १ ऐसा, इस प्रकार का। उ०—अस अप्रबळ भवस कळप तरु आयस जीवन गयौ समेत जड़।—रिवदांन महड़ू
२ तुल्य, समान।
क्रि वि०—इस तरह, इस भांति, ऐसे। उ०—तिरगे हम ज्यूं तस और तिरे, फिरगे हम ज्यूं अस ओर फिरे।—ऊ.का.
सं०पु० [सं० अश्व] १ घोड़ा, अश्व। उ०—लाखां दे तोपां जूट लार, कुंजर अस वगसे खग कटार।—वि स. २ सात की संख्या*।

असइ–सं०स्त्री० [सं० अ+सती] कुलटा, व्यभिचारिणी।
उ०—वाणिजां वधू गौ वाछ असइ विट चोर चकव विप्र तीरथ वेळ।—वेलि.

असकंदर–सं०पु०—यूनान का एक बादशाह, सिकंदर।
(वि०वि०—देखो 'सिकंदर') (रू.भे.—इसकंदर)
उ०—असकंदर जे आवही सुलेमांन दळ साज: तौ पी नह सूंपां तुनै अकवर कांहू आज।—बां.दा.

असकत–वि० [सं० अशक्त] १ अशक्त, अक्षम, असमर्थ, निर्बल।

असकन्नौ–सं०पु० [सं० असि+करण] लोहे का एक खुरदरा व दानेदार दो अंगुल चौड़ा और जौ भर मोटा एक औजार जिससे तलवार के म्यान के भीतर की लकड़ी साफ की जाती है।

असकाज–सं०पु०—भाला, बरछा (ना.डि.को.)

असकुन–सं०पु० [सं० अशकुन] बुरा शकुन या लक्षण।

असक्त–वि० [सं० अशक्त] निर्बल, कमजोर।

असक्ति–सं०स्त्री० [सं० अ+शक्ति] निर्बलता, कमजोरी।

असखपणौ–सं०पु०—धनुष से तीर चलाने की क्रिया या काम।
उ०—जैसें वाउ थंभै तौ मेह वरसै त्यां अठै असखपणौ दूरि हुऔ।
—वेलि. टी.

असखेल–सं०पु० [सं० हसखेल] हँसी, मजाक, दिल्लगी। उ०—तैसूं थे इसी बात क्यूं कहौ छौ। बेटी म्हांरौ छै। वांणियौ असखेल करै छै।—पलक दरियाव री बात

असगंध–सं०पु० [सं० अश्वगंधा] गर्म प्रदेशों में होने वाली एक सीधी झाड़ी।

असगुन–सं०पु०—देखो 'असकुन' (अमरत)

असगौ–वि०—१ जिससे संबंध या रिश्ता न हो. २ संबंध या रिश्ता न रखने वाला।

असग्गौ–वि०—देखो 'असगौ' (रू भे.)
सं०पु०—शत्रु।

असड़ो, असड़ौ–वि० [सं० इदृश] ऐसा (स्त्री० असड़ी)
उ०—अंग असळाक मोड़तौ आयौ दुल्हावत असड़ौ दरसायौ।
—वरजू बाई

असज्जन–वि० [सं०] जो सज्जन न हो, खल, दुष्ट।

असज्य–वि० [सं० असह्य] जो सहन न किया जा सके, असह्य।
उ०—सहियौ नँह जैसिंघदे, सज्य असज्य प्रताप।—बां.दा.

असटंग–वि० [सं० अष्टांग] देखो 'असटांग'।

असटंगी–वि०—आठ अंगों या अवयवों वाला।

असट–वि० [सं० अष्ट] आठ। उ०—कोस असट डेरा किया, प्रगट त्रिवेणी पार।—रा.रू.
सं०पु०—आठ की संख्या।

असटकुळ, असटकुळी–सं०पु० [सं० अष्टकुल] सर्पों के माने जाने वाले आठ कुल—शेष, वासुकि, कंवल, कर्कोटक, पद्म, महापद्म, शंक, और कुलिक (पुराण)

असटपद–सं०पु० [सं० अष्टापद] १ स्वर्ण, सोना (अ.मा.) २ सिंह (मि० अष्टपात)

असटपदी–सं०स्त्री० [सं० अष्टपदी] १ आठ पदों या चरणों का गीत या छंद. २ मकड़ी।

असटपात–सं०पु० [सं० अष्टपाद] १ शरभ, शार्दूल. २ मकड़ी (ह.नां)

असटपौ'र–सं०पु० [सं० अष्टप्रहर] अष्ट प्रहर, आठ पहर।

असटमी–सं०स्त्री० [सं० अष्टमी] शुक्ल या कृष्ण पक्ष की आठवी तिथि।

असाधि–वि० [सं०असाध्य] असाध्य। उ०—उत्तर आज स उत्तरइ, वाजइ लहर **असाधि**।—ढो मा.

असाधु–वि० [सं०] दुष्ट, खल, बुरा, असज्जन।

असाधुता–सं स्त्री० [सं०] अशिष्टता, दुष्टता, खोटाई, नीचता।

असाध्य–वि० [सं०] १ कठिन, न आरोग्य होने योग्य। उ०—जांण **असाध्य** व्याध जगदंबा, अंबा वांसै आई।—मे.म. २ जो साधा या सिद्ध न किया जा सके, दुष्कर। उ०—जटाधर वचँ दैंत जळाय, बिमोहै रूप **असाध्य** बणाय।—ह.र. ३ कठोर, तेज। उ०—दुहूं ओर तोप दग्गी कराळ, जंगी **असाध्य** मनु जेठ ज्वाळ।—ला.रा.

असायच–सं०पु०—गहलोत वंश की एक शाखा या उस शाखा का व्यक्ति।

असार–वि० [सं०] १ साररहित, निःसार, तत्वरहित। उ०—'ऊमरा' **असार** मांहि सार का धरयौ। रांम नांम सार है **असार** सौ सरयौ।—ऊ.का. २ तुच्छ. ३ बेमतलब [अ० आसार] ४ दीवार की चौड़ाई. ५ चिन्ह, लक्षण।

असारता–सं०स्त्री० [सं०] निस्सारता, तुच्छता।

असारौ–सं०पु० [फा० इशारा] इशारा, संकेत।

असालत–सं०स्त्री० [अ०] कुलीनता, सचाई।

असालतन–क्रि०वि० [अ० असालतन] स्वयं रूप में, खुद में।

असाळियौ, असाळयू–सं०पु० [सं० अहालिम] चंद्रसूर, हाली।

असावधांन–वि० [सं० असावधान] जो सावधान न हो, जो सचेत न हो, गाफिल, बेखबर। उ०—सदीव सत्य सावधांन, सावधांन की सुनूं। ग्रुमांन ग्यांन गरहणां, **असावधांन** की गुनूं।—ऊ.का.

असावधांनता, असावधांनी–सं०स्त्री० [सं० असावधानी] बेपरवाही, असावधानी, सतर्कता का अभाव।

असावरी–सं०स्त्री० [सं० आशावरी] १ भैरव राग की स्त्री एक रागिनी (संगीत). २ एक प्रकार का धूप।

असास–वि०—श्वासरहित। उ०—अगात **असास** अवात अवेस—ह.र.
सं०स्त्री० [सं० आशिष] आशीर्वाद। उ०—तिसै देवै आरोग नै **असास** कीधौ थौ।—जखड़ा मुखड़ा भाटी री बात

असाह–वि० [रा० अ+फा०शाह] १ निर्धन, कंगाल। उ०—साह व्हें **असाह** चाह दाह तें सह्यौ।—ऊ.का. २ ऐसा।
सं०पु०—वायु, पवन (अ.मा.)

असि–सं०पु० [सं० अश्व] १ अश्व, घोड़ा। उ०—अगसाखा **असि** अगा पवन उडांण डांण झापंदा पाळि हरि विलि पगा दादुरिया नैव कुदंति।—रांमरासौ
सं०स्त्री० [सं०] २ तलवार, खड्‌ग (डि.को.)
वि० [सं० अ+श्वेत] १ काला, श्याम* (डि.को.)
[सं० ईदृश) २ ऐसा।

असिक्षित–वि० [सं० अशिक्षित] अनपढ़, उजड्ड, अनाड़ी।

असित–वि० [सं०] १ काला, श्यामवर्ण। उ०—स्यांम ताज कफनी **असित**, सुवरण जिसौ सरीर।—शि.वं. २ दुष्ट, बुरा, कुटिल।
सं०पु० [रा०] कृष्ण पक्ष। उ०—सुचि नवमी कुज **असित** मांन वसू चउ तेरह मत।—वं.भा.

असितांग–वि०यौ० [सं० असित+अंग] काले रंग का, श्याम वर्ण का।

असिता–वि०—देखो 'असित'।
सं०स्त्री०—यमुना नदी।

असिद्ध–वि० [सं०]. १ जो सिद्ध न हो. २ व्यर्थ, अप्रमाणित।

असिद्धि–सं०स्त्री० [सं०] १ अप्राप्ति. २ कच्चापन. ३ अपूर्णता।

असिधावक–वि० [सं० असि+धावक] तलवार को साफ करने वाला, सिकलीगर। उ०—**असिधावक** आविया, सस्त्र मांजिया सतावी।—मे.म.

असिधावण–सं०पु०—तलवार की धार तेज करने वाला, सिकलीगर। उ०—**असिधावण** तौ पीव पर, वारी वार अनेक। रण झाटकतां कंत रै, लागै झाटक न एक।—वी.स.

असिनी–सं०स्त्री० [सं० अश्विनी] १ घोड़ी. २ एक नक्षत्र विशेष, अश्विनी।

असिपति, असिपत्ति–सं०पु० [सं० अश्वपति] देखो 'असपति' (१, २) उ०—**असिपत्ति** सेन सउं खेलि आळि। दाढ़ाळ जेम आंख्यउं दिखाळि।—रा.ज.सी.

असिबर–सं०स्त्री०—तलवार (मि० असिमर रू.भे.) उ०—सोहत धणियां सीस मिळै **असिबर** फणियां मुख।—वं.भा.

असिमर, असिमरि–सं०स्त्री० [सं० असि] तलवार, खड्‌ग। उ०—१ इम कहै महेस वडै प्रव आये, गहि **असिमर** दाखिये गहि।—सांखला महेस कल्याणमलोत री गीत
२ आहणिय अंकि **असिमरि** उलाळि पहटिया विया गमिया पयाळि।—रा.ज.सी.

असिमेध–सं०पु० [सं० अश्वमेध] देखो 'अस्वमेध'।

असिम्म–वि०—देखो 'असीम' (रू.भे.) उ०—धुनंति सोर घोर तें **असिम्म** अग्गि उच्छरै।—ऊ.का.

असिम्मर–सं०स्त्री० [सं० असि] तलवार, खड्‌ग। उ०—आहवि वाहि वहाड़ि **असिम्मर**, महाराज ले जाज्यौ मधुकर।—वचनिका

असिय–सं०पु० [सं० अश्व] घोड़ा।
सं०स्त्री०—अस्सी की संख्या।
वि०—अस्सी।

असियौ–सं०पु०—अस्सीवां वर्ष।

असिव–सं०पु० [सं० अशिव] अमंगल, अशुभ।

असिवर–सं०स्त्री०—१ तलवार। उ०—पहली **असिवर** पाछटै, अरियां लोह विछोड़, पाछै अजका भूप रा, दळ भड़ पूगै दौड़।—वी.स.
सं०पु० [सं० असि+वर] २ वीर, वहादुर, योद्धा।
उ०—अै राठौड़ अनादि आदि **असिवर** अनिमंधी।—रा.रू.

असिसेत–सं०पु० [सं० असिसेतु] गरुड़।

वि० [सं० अ+शर] शररहित, बिना बाण के ।
असरचौ-सं०पु०—तकरार, झगड़ा, टंटा । उ०—जितरै आपस में **असरचौ** हुवौ । आपस में बोलणै लागा । ताहरां खींवै काढ़ि कटारी नै वाही ।—चौबोली
असरण-वि० [सं० अशरण] निराश्रय, निरावलंब, अनाथ, जिसे कहीं शरण न हो । (यौ० असरण-सरण)
उ०—१ त्रिभुवन-तारण-तरण, सरण-**असरण** साधारण ।—ह.र.
२ **असरण** सरण कह्यां गिरधारी, पतित उधारण पाज ।
—मीरां
असरण-सरण-वि०यौ० [सं० अशरण-शरण] निराश्रय व अनाथों को शरण देने वाला । उ०—परमेस्वर अणपार परम पूरण परमातम । श्रीपति **असरण-सरण** तरण-तारण त्रिगुणातम ।—रा.रू.
सं०पु०—ईश्वर ।
असरधा-सं०स्त्री० [रा०] १ कमजोरी । उ०—ग्रै पंच तौ समाज री गरीबी अर **असरधा** ऊपर नहीं देय'र ।—वरसगांठ
[सं० अश्रद्धा] २ अश्रद्धा, श्रद्धा का अभाव ।
असरफी-सं०स्त्री० [फा० अशरफी] १ सोने का एक सिक्का, स्वर्ण-मुद्रा, मोहर ।
सं०पु० [रा०] २ पीले रंग का एक फूल ।
असरम, असरम्म-वि० [रा० अ+फा० शर्म] वेशर्म, वेहया ।
असरांण-सं०पु०—१ असुर. २ यवन, मुसलमान [सं० असुर+राट्] ३ बादशाह ।
असराफ-वि० [अ० अशराफ] शरीफ, भद्र, सज्जन । उ०—जुंगूं कै जैतवार सिपाह बुलाए । दौ पक्खी विरदेत **असराफों** के जाए ।
—रा.रू.
असरायळ-वि०—शक्तिशाली, जोरावर (द.दा.)
(रू०भे०—अजरायळ, असराळ)
असरार-सं०पु० [सं० असुरारि] देवता (अ.मा.)
असराळ [सं० आशरारु] देखो 'अस्सराळ' (रू०भे०) उ०—काळ दुकाळ संभाळ करै करुणा के सागर, झाळ **असराळ** त्रिकाळ टरै हरि जासु कृपा कर ।—करुणासागर
असल-वि० [अ०] १ वास्तविक, जो झूठा या बनावटी न हो ।
उ०—कूड़ा निलज कपूत, हियाफूट ढांढ़ा **असल** ।—किरपारांम
२ खरा, सच्चा, विना मिलावट का, खालिस. ३ कुलीन ।
सं०पु०—१ जड़, मूल, बुनियाद. २ मूलधन ।
असलस-सं०पु० [सं० आलस्य] आलस्य । उ०—सखी **असलस** लावइ मौं स्रावण मास ।—वी.दे.
असळ-सळ-सं०स्त्री०—सेना के घोड़ों द्वारा चलने व दौड़ने पर उत्पन्न ध्वनि । उ०—ग्रीध हळवळ समर गळळ पळ मळगरां **असळ-सळ** वळोवळ कळळ हुकळ तुरा । महादांन महड़ू

असळाक, असळाख, असळाग-सं०पु० [सं० आलस्य] आलस्य, सुस्ती, शिथिलता, अनुत्साह । उ०—१ अंग छागी **असळाख**-लाखां मांख्यां मुख लागी ।—ऊ.का. उ०—२ अंग **असळाक** मोड़तौ आयौ, दुल्हा-वत असड़ौ दरसायौ ।—वरजूबाई
उ०—३ उडै नहिं **असळाग** मांखियां बैठे मूंडे ।—ऊ.का.
असलियत-सं०स्त्री० [अ०] १ वास्तविकता. २ बुनियाद. ३ सार, तत्व ।
असली-वि० [अ० असल] सच्चा, खरा, विना मिलावट का, शुद्ध, अकृत्रिम ।
कहा०—१ असली गुण कूं ना तजै, गुण कूं तजै गुलांम—असली गुण को नहीं त्यागता, वर्णशंकर गुण को त्याग देता है ।
असलीजदा-कुलीन, श्रेष्ठ । उ०—उत्तिम मद्धिम गुलांम कुण, कुण **असलीजदा** ।—केसोदास गाडण
असलीन-वि० [अ० असल] १ देखो 'असली' [सं० अश्लील] २ अश्लील, भद्दा, असभ्य ।
असलीयत-सं०स्त्री० [सं० असलियत] देखो 'असलियत' (रू.भे.)
असलील-वि० [सं० अश्लील] भद्दा, असभ्य, अशिष्ट ।
असलेखा-सं०स्त्री० [सं० अश्लेषा] सत्ताइस नक्षत्रों में से एक (नां.मा.)
कहा०—१ असलेखा वूठा वैदां घरै वधांमणा—अगर अश्लेषा नक्षत्र में वर्षा हो तो वैद्यों के घर वधाई के बाजे बजेंगे और रोग खूब फैलेगा. २ असलेखा साव देसा—अश्लेषा नक्षत्र में सर्वत्र वर्षा होती है ।
असल्ली-वि० [अ० असल] देखो 'असली' उ०—ऊंधे पाघड़े काळ रूपी **असल्ली** बोलै पारसी ऐरसी गल्लवल्ली ।—वचनिका
असव-सं०पु० [सं० अश्व] घोड़ा, घोटक, तुरंग (नां.डिं.को.)
असवत-सं०स्त्री० [सं० अश्वत्थ] पीपल (अ.मा.)
असवनी-सं०स्त्री० [सं० अश्विनी] एक नक्षत्र विशेष का नाम ।
असवां-सं०पु० [सं० अश्रु] आंसू । उ०—**असवां** जळ सींच सींच प्रेम वेल बूयां । दध मथ घ्रत काढ़ लयां डार दया छूयां ।—मीरां
असवांन-सं०पु० [फा० आसमान] आसमान (द.दा.)
असवार-सं०पु० [फा०] १ सवार, चढ़ना । उ०—अरुणानुज **असवार** कर छाया ज्यां सिर करै ।—वां.दा. २ अश्वारोही. ३ चढ़ाई करना । उ०—पछै सीहोजी खोड ऊपर **असवार** हुआ, गेहलां नूं मारिया नै खोड लीनी—रा. वं.वि. ।
असवारगी-सं०स्त्री०—१ फैलने का भाव. २ सवारी ।
असवारी-सं०स्त्री० [फा० सवारी] देखो 'सवारी' । उ०—**असवारी** कजि आणियौ ऊपरि लूंण उतारि ।—रा.रू.
असवेत-वि० [सं० अ+श्वेत] जो श्वेत न हो, काला ।
असव्वार-सं०पु० [फा० असवार] देखो 'असवार' । उ०—जै जैकार जीहा हरीरांम जप्पै, **असव्वार** हूआं मूंछां पांणि अप्पै ।—वचनिका

अस्टाध्यायी–सं०स्त्री० [सं० अष्टाध्यायी] आठ अध्यायों वाला पाणिनीय व्याकरण का प्रधान ग्रंथ।

अस्टापद–सं०पु० [सं० अष्टापद] १ देखो 'असटापद'। (अ.मा.)
वि०—१ पीला, पीत *। (डि.को.) २ सफेदी लिए हुए पीला* (डि.को.) ३ आदि गुरु की चार मात्रा का नाम ऽ।। (डि.को.)

अस्टावक्र–सं०पु०यौ० [सं० अष्टावक्र] १ टेढ़े-मेढ़े अंगों वाला व्यक्ति. २ एक ऋषि (प्राचीन)

अस्टावधांन–देखो 'असटाविधांन' (२)

अस्टावसेस–सं०पु० [सं० अष्टावशेष] आठवां हिस्सा (अमरत)

अस्टीलौ–सं०पु० [सं० अष्टीला] एक प्रकार का रोग विशेष (अमरत)

अस्त–सं०स्त्री० [सं० अस्थि] १ हड्डी, अस्थि. [सं० अस्त] २ पतन. ३ अवसान. ४ लोप, अदर्शन. ५ अधिकता।
वि०—१ छिपा हुआ, तिरोहित, अंतर्हित. २ डूबा हुवा (सूर्य चंद्र आदि)

अस्तबळ–सं०पु० [अ० अस्तबल] घुड़साल।

अस्तमननक्षत्र–सं०पु० [सं०] जिस नक्षत्र पर कोई ग्रह अस्त हो, वह नक्षत्र उस ग्रह का अस्तमननक्षत्र कहलाता है।

अस्तमित–सं०पु०—अस्त होने की क्रिया या भाव। उ०—सूरज **अस्तमित** हुऔ धरां कै विखै गहमहाट होइ रह्यौ छै।—वेलि. टी.

अस्तमुख–सं०पु०—कुत्ता, श्वान। (अ.मा.)

अस्तर–सं०पु० [फा०] १ नीचे या भीतर की तह, नीचे व ऊपर रख कर बीच में सिला हुआ कपड़ा. २ बारीक साड़ी के नीचे पहनने का स्त्रियों का अंतरपट।

अस्तरी–सं०स्त्री०—देखो 'असतरी'।

अस्तव्यस्त–वि०यौ० [सं०] तितर-बितर, अव्यवस्थित, छिन्न-भिन्न।

अस्तस्वू–सं०पु०—एक प्रकार का शुभ रंग का घोड़ा। (शा.हो.)

अस्ति–सं०स्त्री० [सं०] भाव, सत्ता, विद्यमानता।

अस्तिकेतुसंग्या–सं०पु० [सं० अस्तिकेतु संज्ञा] पश्चिम भाग में उदय होकर उत्तर भाग में फैलने वाला केतु (ज्यो०)।

अस्तु–अव्यय [सं०] १ खैर, अच्छा. २ चाहे जो हो. ३ ऐसा ही हो.

अस्तुति–सं०स्त्री० [सं० स्तुति] देखो 'असतूती'। उ०—**अस्तुति** कर सब देव सिधाया, जग में जय जय धुन छाई।—गी.रां.

अस्तेय–सं०पु० [सं०] योग के नियम नामक एक अंग का तीसरा भेद।

अस्त्र–सं०पु० [सं०] देखो 'असतर'।

अस्त्रकार–सं०पु० [सं०] हथियार बनाने वाला।

अस्त्रचिकित्सा–सं०स्त्री०यौ० [सं०] चीर-फाड़ द्वारा की जाने वाली चिकित्सा।

अस्त्रवेद–सं०पु०यौ० [सं०] अस्त्र बनाने एवं उसके प्रयोग करने के ढंग का शास्त्र।

अस्त्रसाळा–सं०स्त्री०यौ० [सं० अस्त्रशाला] अस्त्र-शस्त्रों के रखने का स्थान।

अस्त्रिय, अस्त्री, अस्त्रीय–सं०स्त्री०—देखो 'असतरी'।
उ०—१ एक **अस्त्रिय** छइ रतन संसार।—वी.दे.
२ अयरापति चढ़ि चाल्यौ राय, लीं **अस्त्री** अरधंग बइसाय।—वी.दे.
३ **अस्त्रीय** चरित्र उलिखई ही गंवार।—वी.दे.

अस्थळ, अस्थळि–सं०पु० [सं० अ+स्थल] १ बुरा स्थान, बुरी जगह, कुठौर. उ०—अय्यांन **अस्थळि** पाँच रस वसि मोह महल में मनसौबै।—ह.पु.वा. २ दादूपंथी संन्यासियों के रहने का स्थान।

अस्थांनस्थनपद–सं०पु०—काव्य का एक दोष। उ०—कहिणा जोग अरथ पण नहि कह, **अस्थांनस्थनपद** निज श्रोक।—बां.दा.
क्रि०वि०—अनुचित स्थान में।

अस्थाई–वि० [सं० अस्थायी] जो स्थायी न हो, अस्थिर।

अस्थिकुंड–सं०पु०यौ० [सं० अस्थि+कुंड] एक नरक का नाम जिसमें हड्डियाँ भरी हुई हैं (पौराणिक)।

अस्थिर–वि० [सं०] जो स्थिर न हो, चलायमान।

अस्थिरा–वि स्त्री० [सं० अस्थिर] चंचला, जो स्थिर न रहे।
सं०स्त्री०—लक्ष्मी। उ०—अवर ग्रहे **अस्थिरा** इंदिरा, रांमा हरि-वल्लभा रमा।—वेलि.

अस्थि-संचय–सं०पु०यौ० [सं०] अंत्येष्टि के बाद का वह संस्कार जिसमें जली हुई हड्डियां एकत्रित की जाती हैं।

अस्बाब–सं०पु० [फा० असबाब] देखो 'असबाब'।

अस्मरी–सं०स्त्री० [सं० अश्मरी] मूत्रेन्द्रिय का एक रोग विशेष, पथरी (अमरत)।

अस्मिता–सं स्त्री० [सं०] योग के अनुसार पाँच प्रकार के क्लेशों में से एक।

अस्र–सं०पु० [सं० असृज] रक्त, रुधिर। उ०—असस्र **अस्र** घलघल विल पीवतौ वह्यौ।—ऊ.का.

अस्रांनिका–सं०पु० [सं० अश्रमिक] बलभद्र (अ.मा.)

अस्रु–सं०पु० [सं० अस्रु] देखो 'आंसू'।

अस्रुत–वि० [सं० अश्रुत] बिना सुनी हुई, अनसुनी। उ०—अदिठ **अस्रुत** किम कहणौ आवै, सुख तें जांणणहार सुजि।—वेलि.

अस्रुपात–सं०पु०यौ० [सं० अश्रुपात] आँसू गिराना, रुदन।

अस्रुपीवणी–सं०स्त्री०यौ० [सं० असृज+रा०पीवणी] जोंक।

अस्ली–वि० [अ० असल] देखो 'असली'।

अस्लील–वि० [सं० अश्लील] देखो 'असलील'।
उ०—पूरण रस निरस्थक व्है पढ़, लै **अस्लील** समझ विघ लोग।—बां.दा.

अस्लीलता–सं०स्त्री० [सं० अश्लीलता] १ फूहड़पन, भद्दापन. २ घृणा. ३ लज्जा, लज्जास्पदता. ४ असभ्य सूचक बातों या शब्दों का काव्य में प्रयुक्त करने का दोष विशेष, यह शब्दगत दोष है।

अस्लेस–सं०स्त्री० [सं० अश्लेष] सत्ताइस नक्षत्रों के अंतर्गत एक नक्षत्र।

असुरगुरु–सं०पु० [सं०] असुरों के गुरु, शुक्राचार्य ।

असुरपत, असुरपति–सं०पु० [सं० असुर+पति] १ राक्षसपति, दानवेन्द्र. २ रावण. ३ कंस. ४ हिरण्यकश्यप [रा०] ५ यवन-बादशाह ।

असुरपिरोहित–सं०पु० [सं० असुर+पुरोहित] दैत्यगुरु, शुक्र ।
उ०—असुरपिरोहित सुत ग्रह आयौ, दिन चढ़तैं सुत लाभ दिखायौ।
—रा.रू.

असुरलोक–सं०पु०—राक्षसों का लोक । उ०—सु राज किसउ विराजै छै, नागलोक का राजा सिरहर, नरलोक, देवलोक, असुरलोक, सब ही तइ अधिक सोभति छै ।—वेलि. टी.

असुरवहण–वि०—असुरों का संहार करने वाला ।
सं०पु०—१ श्रीकृष्ण. २ विष्णु. ३ श्रीरामचन्द्र ।

असुरसेन–सं०पु० [सं०] एक राक्षस ।

असुरांड–सं०पु० [सं० असुर] असुर, राक्षस । उ०—हूल असुरांड पड़ भूल सुध मांण हट, फिरैं चित्त डूल जिम चाक फेरा ।—र.रू.

असुरांण, असुरांमण, असुरांयण, असुराइण–सं०पु० [स्त्री० असुरांणी] १ मुसलमान, यवन । उ०—१ मदफरां डांण नीसांण मौज । फरहरां वांण असुरांण फौज ।—वि.सं. उ०—२ हिन्दू असुराइण लड़सी ।—वचनिका
२ असुर, राक्षस । उ०—हुवै असुरांण तणा हलकार, पुणै जमदग्गन मुक्ख पुकार ।—ह.र. ३ यवन-बादशाह ।

असुराई–सं०पु० [सं० असुर+राज] १ असुर व यवन-बादशाह । उ०—ससमथ जरदि न संमवइ, असुराई थट्टि न माइ ।—रा.ज.सी.
सं०स्त्री०—२ खोटाई, शरारत ।

असुरायण–सं०पु०—यवन, बादशाह । उ०—असुरायण विप्र ग्रहा अहयूं पड़ दादोय जूंज कटै पहयूं ।—पा.प्र.

असुरारि, असुरारी–सं०पु० [सं० असुरारि] १ देवता. २ विष्णु, हरि. ३ लक्ष्मण (नां.मा.)

असुरी–सं०पु० [सं० असुर] १ यवन, मुसलमान । उ०—रायां राउ ऊपरि असुरी राइ ।—रा.ज.सी.
सं०स्त्री०—२ राक्षसी (एकाक्षरी) ३ राई, सरसों जैसा एक तिलहन ।

असुरेसुर–सं०पु० [सं० असुरेश्वर] १ दैत्याधिपति, दानवेन्द्र. २ यवन, बादशाह । उ०—आदर कियौ मिळै असुरेसुर दियौ नांम नृप तेग बहादुर ।—रा.रू.

असुहर–सं०पु० [सं० असु+हर] शत्रु, रिपु, वैरी (डि.को.)

असुहाई–सं०स्त्री० [सं० अशोभित] बुरी बात, मन के विपरीत बात । उ०—अत लड़तां प्रगटी असुहाई, दोय बेटी पकड़ी दरसाई ।—रा.रू.
वि०—असुहावनी, दुःसह । उ०—ऊपर तिण वसंत रित भाई, सीत वितीत हुई असुहाई ।—रा.रू.

असुहाणौ–वि० [सं० अशोभन] १ अप्रिय, दुखद. २ अरुचिकर ।

असुहाणौ, असुहाबौ–क्रि०स०—न सुहाना, अरुचिकर होना ।

असुहायोड़ौ–भू०का०कृ०—अप्रिय, असुहावना (स्त्री० असुहायोड़ी)

असुहावणौ, असुहावबौ–क्रि०स०—देखो 'असुहाणौ' ।

असुहावियोड़ौ–भू०का०कृ०—अप्रिय, असुहावना (स्त्री० असुहावियोड़ी)

असुहावत, असुहावतो, असुहावतौ–वि०—१ अप्रिय, दुखद. २ मन को प्रिय न लगने वाला, असुहावना । उ०—संक साह संपणै वयण न भखै असुहावत ।—रा.रू.

असू–सं०स्त्री० [सं० अंशु] १ किरण, प्रभा, रश्मि । [सं० असु] २ देखो 'असु' (रू.भे.)

असूक–सं०पु० [सं० अंशुक] १ वस्त्र. २ शृंगार (ह.नां., पाठांतर)

असूया–सं०स्त्री० [सं०] १ दूसरे के गुण में दोष लगाना. २ ईर्ष्या, डाह । उ०—तथापि साहस रै साथ असूया रै अनुचर आपरौही आदेस प्रबळ मांणिया !—वं.भा. ३ निंदावाद. ४ औद्धित्य के कारण दूसरे के गुण स्मृद्धि को सहन न करने का एक प्रकार का संचारी भाव (साहित्य)

असूर–सं०पु० [सं० अशूर] जो शूर न हो, कायर । उ०—सिखर तैं धरती रहइ नीम्या, अंधला ! असूर ! असती ! अचेती—वी.दे.

असूल–सं०पु०—देखो 'उसूल' (रू.भे.)

असेंदौ, असेंधौ–वि० [सं० अ+संधि] अपरिचित, अजनबी ।
उ०—तिण सूं सूराचंद रै गोखै चौताळै असेंधा असवार देखै तरै पूछण री गाढ़ घणी करै ।—जैतसी ऊदावत री बात

असेख–वि० [सं० अशेष] १ पूरा, समूचा. २ सब, समस्त. ३ अधिक, बहुत । उ०—पिण भावी अति प्रबळ सकळ बस प्रांण असेखां ।—रा.रू. ४ जो शेष न रहे ।

असेत–वि० [सं० अश्वेत] जो श्वेत न हो, काला, श्याम ।
उ०—अरत्त अपीत असेत असेस ।—ह.र.

असेयौ–वि० [सं० असह्य] असह्य ।
सं०पु०—शत्रु, वैरी ।

असेर–सं०पु० [सं० अश्रेणिक] किल', गढ़ । उ०—अच्छरां बधावै राग रंगां, गावै मोद अंगां । अढ़ंगा उवारैं, हवकां प्रभती असेर ।
—वुधसिंह सिढ़ायच

असेवतौ, असेवौ–वि०—गहरा, अगाध ।

असेस–वि० [सं० अशेष] देखो 'असेख' । उ०—१ वारलौ असेस सोध बोध तैं करयौ ।—ऊ.का.
उ०—२ कूड़ कपट मन केळवी, आया नळवर देस । नळवर कुंअर भेटस्यां, मन में चिंता असेस ।—ढो.मा.

असैं–क्रि०वि०—ऐसे । उ०—असैं राव सेखै अमरसर का राज पाया ।
—गि.वं.

असैंदौ–वि०—अपरिचित । देखो 'असेंदौ'
कहा०—सैंदौ मसांण असैंदौ निवांण—परिचित श्मशान में (भूत-प्रेत का) तथा अपरिचित जलाशय में (फिसलने व डूबने का) सदा भय रहता है ।

अहवाळ–सं०पु०—१ चिन्ह, निशान, लक्षण (अमरत) [अ०] २ वृत्तांत कथा, चरित्र, 'हाल' का बहु०। उ०—रांणा रतनसेन रौ नै पदमावती रौ **अहवाळ** फारसी में करायौ—दारा सिकोह। नांम किताब रौ रतनसेन-पदमावती।—वां.दा.

अहवास–सं०पु० [सं० आवास] आवास, मकान, भवन।
उ०—**अहवास** है व्योम अदंतर रौ। उड धांण रह्यौ यक अंतर रौ।
—पा.प्र.

अहवि–सं०पु० [सं० आहव] युद्ध (रू.भे. अहव)
उ०—कसन नहं लगौ सिंघ कळोधर। **अहवि** घाव मनाड़ि इसौ।
—गोपाळदास चूंडावत रौ गीत

अहवौ–वि०—ऐसा। उ०—मरुधर देस रै विखै सगळा ही सहरां प्रसिद्ध पुंगळ नांमे **अहवौ** नगर।—ढो.मा.

अहसकर–सं०पु० [सं० अहस्कर] सूर्य्य (अ मा.)

अहसांन–सं०पु० [अ० अहसान] किसी के साथ भलाई करना, उपकार, अनुग्रह कृतज्ञता।

अहसांन-मंद–वि० [अ० अहसानमंद] कृतज्ञ, अनुग्रहीत।

अहह–अव्यय [सं०] आश्चर्य, खेद, क्लेश या शोकसूचक एक शब्द, अरे, हाय। उ०—**अहह** सोचै न अति दुरव्यसन दुसह उर।
—ऊ.का.

अहा–अव्यय [सं० अहह] १ आह्लाद और प्रसन्नतासूचक एक शब्द. २ हे! अरे! हाय! शोकसूचक शब्द।

अहाड़ा–सं०पु०—सीसोदिया वंश की एक शाखा.

अहाड़ी–सं०पु०—१ एक प्राचीन नगर का नाम जहाँ पर गहलोत वंश का राज्य था. २ गहलोत वंश का क्षत्रिय।

अहातौ–सं०पु० [अ० अहाता] १ घेरा, अहाता. २ प्राकार, चहारदीवारी.

अहार–सं०पु० [सं० आहार] भोजन, आहार। उ०—अकेल करण अहार, दंतावळ ज्यां दूसरा। पळ भर पाळणहार, प्रगट्यौ सिंघ प्रतापसी।—फतहकरण ऊजळ।

अहारणौ, अहारबौ–क्रि०स०—१ आचमन करना। उ०—'मांन' गुना जारिया, जिता नृप केहौ जारै। अगसत विनां उदध, अवर रिख कवण **अहारै**।—बुधजी आसियौ. २ आहार करना।
उ०—**अहारै** दुरदां हौदां डकारै धरा रै आंटै सात्रवां वकारै मारै नाहरां सीसोद।—पहाड़खां आढ़ौ

अहारी–सं०पु० [सं० आहारिन] आहार करने वाला, भोजन करने वाला।
उ०—भूखा मांस **अहारी** भाखै, विलखै रंग उचारै वांणी।
—सुखजी खिड़ियौ

अहिंकारि, अहिंकारी–सं०पु० [सं० अहंकार] अहंकार, अभिमान।
उ०—वणवीर चडिय तेवहि व्रहासि। **अहिंकारि** थंभ आडइ अयासि।—रा.ज.सी.
वि०—अहंकारी, अभिमानी।

अहिंसक–वि० [सं०] जो हिंसा न करे, जिससे किसी को पीड़ा न पहुँचे।

अहिंसा–सं०स्त्री० [सं०] किसी को दुःख न देना, किसी जीव को न सताने या न मारने का भाव।

अहिंस्र–वि० [सं०] जो हिंसा न करे, अहिंसक।

अहि–सं०पु० [सं०] १ सांप, सर्प। उ०—**अहि**भूखन विजया भखी, जय जय जय त्रिपुरारि।—ला.रा. २ शेषनाग।
उ०—फणां काळा सफेद असवाज नासा फड़ड़ लिए पंखडड़ा, फड़ अमंख लूंदा।—पहाड़खां आढ़ौ
३ सूर्य (अ.मा.) ४ राहु. ५ वृत्तासुर. ६ खल, वंचक. ७ इक्कीस अक्षरों के वृत्तों का एक भेद. ८ मात्रिक गणों के अंतर्गत ठगण अर्थात् छः मात्राओं के समूह का छठा भेद ।SS। (डिं.को.)
सं०स्त्री० ९ पृथ्वी. १० आठ की संख्या*
वि०—कुटिल (डिं.को.)

अहिकर–सं०पु० [सं० अहन्+कर] सूर्य (अ.मा.)

अहिक्षेत्र–सं०पु०—दक्षिण पांचाल की राजधानी।

अहिगण–सं०पु०यौ० [सं०] १ पाँच मात्राओं के गण, ठगण का सातवां भेद का नाम. २ सर्पगण. ३ विष्णु (डिं.नां.मा.). ४ डिंगल के वेलिये सांणोर गीत का एक नाम।

अहिगणवंद–सं०पु०—विष्णु (डिं.नां.मा.)

अहिगतजथा–सं०स्त्री०यौ०—डिंगल गीतों (छंदों) की रचना का निगम या रीति विशेष जिसमें सर्प की चाल के अनुसार वर्णन हो।

अहिगति–सं०स्त्री०यौ० [सं०] साँप की चाल, टेढ़ी-मेढ़ी चाल।

अहिगाह–सं०पु०—गरुड़ (अ.मा.)

अहिग्राव–सं०पु०—शिव, महादेव (नां.मा.)

अहिग्रीव–सं०पु० [सं०] शंकर (अ.मा.)

अहिच्छत्र–सं०पु०यौ० [सं०] १ देखो 'अहिक्षेत्र'. २ नागौर का एक नाम।

अहित–वि० [सं०] १ शत्रु, वैरी (अ.मा.) २ हानिकारक।
सं०पु० [सं०] १ बुराई, अकल्याण. २ हानि. ३ शत्रुता।

अहितू–वि०—अहित चाहने वाला।

अहिधर–सं०पु० [सं०] शंकर, महादेव।

अहिधरण–सं०पु०यौ० [सं० अहि+धारण] १ शंकर. २ शेषनाग।

अहिनांण, अहिनांणहु, अहिनांणी–सं०पु० [सं० अभिज्ञान] चिन्ह, निशान।
उ०—सहिए साहिव आविस्यइ, मौ मन हुई सुजांण। आगम वाधाऊ हुया, अंग-तणा **अहिनांण**।—ढो.मा.
क्रि०वि०—संकेत से।

अहिनाथ, अहिनाह–सं०पु० [सं० अहि+नाथ] शेषनाग।

अहिनिस, अहिनिसि–क्रि०वि० [सं० अहर्निश] रात-दिन, निरंतर, हर समय। उ०—भल सोहड अर हास भल, भली राज गति रीत। राजलोक रांणी भली, पाळै **अहिनिस** प्रीत।—ढो.मा.

अहिपत, अहिपति–सं०पु०यौ० [सं० अहर्पति] १ सूर्य (अ.मा.) [सं० अहिपति] २ शेषनाग।

अहंता–संस्त्री० [सं०] १ अहंकार, घमंड ।

अहंवाद–सं०पु० [सं०] डींग, शेखी, लंबी-लंबी बातें करना ।

अहंसी–देखो 'आहंसी'। उ०—अहंसी उजाळा वीर छुना वाघ संधि आळा, काळा तूझ वाळा मांनां किसी रीत काळ ।—हुकमीचंद खिड़ियौ

अह–सं०पु० [सं० अहन्] १ दिन (डिं.को.) उ०—अह छट्ठ विहायां सातम आयां सूर अछायां दरसायां ।—रा.रू.
[सं० अह=दीप्तौ] २ विष्णु [सं० अहि] ३ सूर्य.
४ सांप, सर्प. [सं० अहिराज] ५ शेषनाग । उ०—अह माथै रांग आभ लग ऊंचौ, नव खंडे जस झालर नाद ।—दुरसौ आढ़ौ
[सं० अहि] ६ राहु. ७ वृत्तासुर. ८ हाथी.
संस्त्री०—९ वेणी, चोटी ।
अव्यय [सं० अहह] आश्चर्य, खेद या क्लेशादि को सूचित करने वाला शब्द, अरे, हे ! उ०—पिंड वियां वण गरढ़ पण, हुवण पराक्रम हांण । पण वय वधन प्रतापसी, अह वण घण आपांण ।
—जैतदांन बारहठ

सर्व०—यह । उ०—जा रुखमणी छै सु लिखमी । तूं अह सगाई वरजि मां ।—वेलि. टी.

अहक–सं०पु० [सं० ईहा] इच्छा, आकांक्षा ।

अहकर–सं०पु० [सं० अहन्+कर] सूर्य, भानु ।

अहकांम–सं०पु०—नियम, हुक्म ।

अहकार–सं०पु०—देखो 'अहंकार' (ह.नां.)

अहड़स–सं०पु०—वैमनस्य, मत्सरता । उ०—च्यारांई भायां आंटी करी, अहड़स हुई, तरै बीच मांणसे फिरनै कह्यौ ।—नैणसी

अहड़ो, अहड़ौ–क्रि०वि० (स्त्री० अहड़ी) ऐसा । उ०—वांचै हर हर वांण कनक न रांचै कांमणी, जोगी अहड़ा जांण, मन सैं जीता मोतिया ।—रायसिंह सांदू
सं०पु०—देखो 'अउड़ौ' ।

अहचळ–सं०पु० [सं० अहि+चल] शेषनाग (रू.भे.)
वि०—१ अचल. २ निश्चल ।

अहछुनौ–वि०—चंचल । उ०—अलल जैता अहछुना थंभ पाव जंग थाट चाट गजगीर सचूना ।—महादांन महड़ू

अहटाणौ, अहटाबौ–क्रि०अ० [सं०] पता लगना, आहट लगना ।

अहड–सं०पु० [सं० आखेट] शिकार ।

अहण–सं०पु०—राठौड़ वंश की एक उप शाखा अथवा इस उप शाखा का व्यक्ति ।

अहत्य, अहथ–सं०पु० [सं० अहित] बुरा काम, अनर्थ । उ०—सांझ पड़ी नह आवियौ, कोय'क हुयौ अहथ । सर चूके पाराध ज्यां, मूंध मरोड़ै हत्थ ।—ढो.मा.

अहद–सं०पु० [अ०] प्रतिज्ञा, वादा, संकल्प ।

अहददार–सं०पु० [फा०] राज्य की ओर से कर का ठेका दिया जाने का मुसलमानी राज्य का एक अफसर ।

अहदनांमौ–सं०पु० [सं० अहदनामा] इकरारनामा, प्रतिज्ञा-पत्र ।

अहदी–वि० [अ०] १ आलसी. २ अकर्मण्य, निठल्ला ।
उ०—बादसाह चाकरी बदळै अहदी मेलिया सो भली तरह जापतौ करावता ।—पदमसिंहजी री बात ३ दृढ़प्रतिज्ञा ।
सं०पु०—४ बादशाह का वह सेवक जो बादशाह की आज्ञा से किसी को लेने जाता है और साथ लेकर दरबार में उपस्थित होता है । (रू.भे. ऐदी) उ०—अहदी डेरिन पै अधम आय, दुख देत खुदौखुद लगत दाय ।—ऊ.का.

अहदेव–सं०पु० [सं० अहिदेव] १ शेषनाग । उ०—रटै अहदेव गणां रिखराज करै सिध संकर कीरत काज । [सं० अहन्+देव] २ सूर्य ।

अहनांण–सं०पु०—चिन्ह, निशान, संकेत । उ०—भीम गदा जुध भिड़ण का, जिम आर सुजांणै । कर ओडव करवाळ मैं 'अभमन' अहनांणै ।
—मोडजी आसियौ

अहनाथ–सं०पु० [सं० अहि+नाथ] १ शेष नाग. [सं० अहन्+नाथ] २ सूर्य ।

अहनायतर–संस्त्री०—शीघ्रता, जल्दी । (ह.नां.)

अहनिस, अहनिसा, अहनिसि–अव्यय [सं० अहर्निशि] दिन-रात, सदा, नित्य । (रू.भे. अहरनिस, अहोनस, अहोनिसि)

अहपंखाळ, अहपंखाळौ–सं०पु०—उड़ने वाला सांप, पंखधारी सर्प ।

अहपर–सं०पु०—देखो 'अहपुर' (रू.भे.) । उ०—वीरोचंद सुत अहपर वारौ, रवसुत तणौ अमरपुर राज । निध दातार 'कलावत' नरपुर, अनंत रोर कही गत आज ।—दुरसौ आढ़ौ

अहपव–सं०पु० [सं० अहिपति] शेष नाग ।

अहपुर–सं०पु० [सं० अहिपुर, अहिपुरी] १ नागौर का एक नाम ।
२ नागपुर नगर का एक नाम. ३ पाताल लोक. ४ नाग लोक.
५ दिल्ली नगर का नाम. ६ हस्तिनापुर का एक नाम ।

अहफीण, अहफीन–सं०पु०—अफीम । उ०—अहफीण गळै नित मोद अंध, चवरै चढ़ आवत 'पाल' सिधं ।—पा.प्र.

अहफेण–सं०पु० [सं० अहि+फेण] १ सर्प के मुख की लार. २ अफीम ।

अहवेणी, अहवैणी–संस्त्री० [सं० अहि+वेणी] सांप के समान वेणी रखने वाली स्त्री ।

अहवेल–संस्त्री० [सं० अहिवलि] नागवलि, नागलता ।
उ०—केवड़ा अहवेल करोर अणकळ, कंज समूळिए पार किसौ ।
—नवलजी लाळस

अहमक–वि० [अ०] बेवकूफ, मूर्ख ।

अहमकर, अहिमकर–सं०पु० [सं० अहिमकर] सूर्य, सूरज ।
उ०—है नभ जितै अहिमकर हिमकर, नरपुर अतै रहण री नीम ।
महत सुजस विसतार न मावै, भरतखंड मझ रांणा 'भीम' ।
—महाराजा मांनसिंह

अहमण–सं०पु० [सं० अहर्मणि] सूर्य ।

अहमह–सर्व० [सं० अहमस्मि] मैं । उ०—मह मह सुगंध निक्कस

आना. ७३ आंख में काजळ घालणी—शृंगार करना. ७४ आंख में छनीछर वळै—अशुभ दृष्टि होना. ७५ आंख में पांणी नहीं होणी—लज्जाहीन होना, आँखों का अश्रुरहित होना. ७६ आंख में फूलो पड़णी-पड़णौ—आँख का एक रोग विशेष होना जिसके कारण दिखाई नहीं देता. ७७ आंख में खटाई आवणी—खटरास उत्पन्न होना, वैमनस्य होना. ७८ आंख में मिरचां घातणी—चालवाजी से हानि करना, धोखा देना. ७९ आंख में मैल आवणी—दिल खट्टा होना या करना. ८० आंख में लूण घातणी (नांखणी)—चालवाजी से हानि करना, धोखा देना अथवा करना. ८१ आंख में राखणी—बड़े यत्नपूर्वक रखना. ८२ आंख मोड़णी—देखो 'आंख फेरणी'. ८३ आंख राखणी—ख्याल रखना, मुहब्बत रखना. ८४ आंख राती करणी—गुस्सा करना. ८५ आंख री पूतळी कर'र राखणी—बड़े यत्नपूर्वक दुलारसहित रखना. ८६ आंख रै नीचे आवणी—ध्यान या दृष्टि में आना. ८७ आंख री काजळ—बहुत प्यारा. ८८ आंख री तारी—बहुत प्यारा. ८९ आंख लागणी—नींद आना, प्रेम होना. ९० आंख लड़णी—मुहब्बत होना. ९१ आंख लड़ाणी—नजर मिलाना, मुहब्बत करना. ९२ आंख लजाणी—लज्जित होना. ९३ आंख ललचाणी—देखने को जी चाहना. ९४ आंख लाल करणी—गुस्सा करना. ९५ आंख लाल चुट्ट करणी—अत्यन्त क्रोधित होना. ९६ आंख लाल होवणी—क्रोधित होना. ९७ आंख लुकावणी—देखो 'आंख चुरांणी'. ९८ आंख बतावणी—डराना, भय दिखाना. ९९ आंख बदळणी—देखो 'आंख बदळणी' १०० आंख सीधी होणी—घमंड छोडना, मेल करना. १०१ आंख सूं आंख मिळणी—इशारा होना, मुहब्बत होना. १०२ आंख सूं आंख मिळावणी—इशारा करना, मुहब्बत करना १०३ आंख सूं आंख लड़णी—मुहब्बत होना १०४ आंख सूं आंख लड़ाणी—मुहब्बत करना. १०५ आंख सूं आंधी करणी—दृष्टिहीन करना. १०६ आंख सेंकणी—देखने का सुख लूटना. १०७ आंख होवणी—जानकारी होना. १०८ आंखियां आवणी—देखो 'आंख आवणी'. १०९ आंखियां उठणी—देखो 'आंख उठणी'. ११० आंखियां कठै ही नै दिल कठै ही—अपने प्रेमी के ध्यान में लीन रहना, ध्यान न देना. १११ आंखियां काढ़णी—गुस्से से देखना. ११२ आंखियां खुलणी—देखो 'आंख खुलणी'. ११३ आंखियां खोलणी—देखो 'आंख खोलणी'. ११४ आंखियां खोवणी—अंधा होना. ११५ आंखियां गमावणी—अंधा होना. ११६ आंखियां गुद्दी लारै आवणी—मूर्ख होना, दिखाई न देना. ११७ आंखियां गुद्दी लारै होवणी—मूर्ख होना, दिखाई न देना. ११८ आंखियां घालणी—आँखें डालना, कुदृष्टि फेंकना. ११९ आंखियां चढ़णी—गुस्सा करना, गर्व से ऐंठना. १२० आंखियां चरख चढ़णी—गुस्सा करना, गर्व से ऐंठना. १२१ आंखियां चार होणी—आँख से आँख मिलना, प्रेम होना. १२२ आंखियां चार करणी—प्रेम करना. १२३ आंखियां टेढ़ी करणी—गुस्सा करना. १२४ आंखियां ठंडी होणी (ठरणी)—देखो 'आंख ठरणी'. १२५ आंखियां ठारणी—किसी के दर्शन से तृप्ति करना. १२६ आंखियां तपणी—किसी की राह देखते थक जाना. १२७ आंखियां तरसणी—देखने के लिये लालायित होना. १२८ आंखियां दिखावणी—डराना, धमकाना. १२९ आंखियां दूखणी—बुरा लगना, किसी चीज को देखकर कष्ट होना. १३० आंखियां देखतां—सामने, जान-बूझकर. १३१ आंखियां नचावणी—इशारा या नखरे करना, इतराना. १३२ आंखियां नाचणी—इशारा या नखरे होना. १३३ आंखियां नीची करणी—लज्जित होना, संकोच आदि के कारण बराबर न देखना. १३४ आंखियां नीची होवणी—देखो 'आंख नीची होणी'. १३५ आंखियां फरूकणी—शुभ या अशुभ शकुन होना. १३६ आंखिया फाटणी—आश्चर्यचकित होना. १३७ आंखियां फाड़णी—देखो 'आंख फाड़णी'. १३८ आंखियां फिरणी—देखो 'आंख फिरणी'. १३९ आंखियां फूटणी—देखो 'आंख फूटणी'. १४० आंखियां फेरणी—देखो 'आंख फेरणी'. १४१ आंखियां फोड़णी—देखो 'आंख फोड़णी'. १४२ आंखियां बळणी—डाह पैदा होना, कष्ट होना, क्रोधित होना. १४३ आंखियां भरणी—आँखों में आँसू आना. १४४ आंखिया भरीजणी—आँखें अश्रुपूर्ण होना. १४५ आंखियां भीजणी—आँखें अश्रुपूर्ण होना. १४६ आंखियां मारणी—देखो 'आंख मारणी'. १४७ आंखियां मींचणी—देखो 'आंख मीचणी'. १४८ आंखियां मीच'र अंधारी करणी—बिना अधिक सोच-विचार किये कोई काय करना, बिना अधिक हानि लाभ के बारे में सोचे काम करना. १४९ आंखियां मींचीजणी—देखो 'आंख मींचीजणी'. १५० आंखियां में आवणी या खटकणी—दृष्टि मे आना, ईर्ष्या का कारण बनना. १५१ आंखियां में घालणी—अत्यन्त दुलार या प्रेम से रखना. १५२ आंखियां में घात'र राखणी—बड़े दुलार या प्रेम से रखना. १५३ आंखियां में घात्यौ नहीं रड़कणी—बहुत प्रिय, किसी को बुरा मालूम न होना. १५४ आंखियां में चुभणी—बुरा मालूम होना, ईर्ष्या का कारण बनना, पसंद आना. १५५ आंखियां में ठैरणी—नजर स्थिर होना, पसंद आना. १५६ आंखियां में डर न होणी—तनिक भी लाज या डर न होना. १५७ आंखियां में धूल घातणी (नांखणी)—चालबाजी से हानि करनी, धोखा देना. १५८ आंखियां में पांणी भरणी—रोना, आँसू लाना. १५९ आंखियां में पांणी भरीजणी—आँसू आना. १६० आंखियां में रड़कणी—बुरा मालूम होना, ईर्ष्या का कारण बनना. १६१ आंखियां में राखणी—अत्यन्त प्रेम से रखना. १६२ आंखियां में रात काढ़णी—रात भर जागते रहना. १६३ आंखियां री सरम राखणी—लोगों की दृष्टि से लज्जा महसूस करना. १६४ आंखियां री सोगन—यदि झूठ बोलूं तो आँखें फूट जांय. १६५ आंखियां रै आगै आवणी—दृष्टिगोचर होना, सामने

अहीणौ–सं०पु० [सं० अधेनुक] दूध देने वाले मवेशी का अभाव।
अहीत–सं०पु० [सं० अहित] देखो 'अहित' (ह.नां.)
अहीनाथ–सं०पु०यौ० [सं० अहि+नाथ] शेषनाग (पिं.प्र.)
अहीनार, अहीनारि, अहीनारी–सं०स्त्री०यौ० [सं० अहि+नारी] १ नागवंश की स्त्री. २ सर्पिणी. ३ शेषनाग की स्त्री। उ०—अहीनारि जंपे लही मोल उंची, प्रभू रे पहूँचे लटूके प्रहूँची। —ना.द.
अहीमुख–सं०पु०—वह घोड़ा जिसका मुंह सर्प के मुंह की आकृति का हो। यह अशुभ माना गया है।—शा.हो. (मि० अहिमुख)
अहीयांह–सर्व०—इन। उ०—जलाल हंदा हाथड़ा, न जोगा अहीयांह। सार पछंटरा वैरियां, का रमावरा सहियांह।—जलाल बूबना री बात
अहीर–सं०पु० [सं० आभीर] १ दूध दही आदि का रोजगार करने व गाय-भैंस रखने वाली एक जाति विशेष. २ इस जाति का व्यक्ति। (स्त्री० अहीरण, अहीरणी) पर्याय०—गोप, ग्वाला। ३ एक मात्रिक छंद विशेष जिसके प्रत्येक चरण में ग्यारह मात्रायें होती हैं किन्तु अंत में जगण होता है।
अहीराजा, अहीराव–सं०पु० [सं० अहि+राट्] शेषनाग, नागराज। उ०—अहीराव नै दावड़ा एह आड़ा, गुणां वेद जोतां कही क्रोड़ गाड़ा।—ना.द.
अहीरी–सं०स्त्री० [सं० आभीर+ई] अहीर की स्त्री, गोपिका, ग्वालिन उ०—इसा हर धकै चढ़ इसी कुण अहीरी, अंगूठी दिखावै घरां आवै।—वां.दा.
अहीरीयौ–सं०पु०—१ देखो 'अहीर'। २ श्रीकृष्ण (अल्पा०)
अहीवलभ, अहीवल्लभ–सं०पु०यौ० [सं० अहि+वल्लभ] १ हवा, वायु (ह.नां.) २ चंदन।
अहीस–सं०पु० [सं० अहि+ईश] शेषनाग।
अहीसुता–सं०स्त्री०यौ० [सं० अहि+सुता] नागकन्या।
अहुटणौ, अहुटबौ–क्रि०अ०—१ हटना, दूर होना, अलग होना. २ वापस लौटना। उ०—अहुटै दवळउजोर पंह, जियत रहै जे आय।—ला.रा.
अहुटाणौ, अहुटाबौ–क्रि०स०—हटाना, दूर करना, भगाना।
अहुठ–वि० [सं० अध्युष्ठ] तीन और आधा।
अहुड़णौ, अहुड़बौ–क्रि०स०—भिड़ना, लड़ना। देखो 'आहुड़णौ'
अहुणो–वि०—अनहोनी, असंभव।
अहुरमज्द–सं०पु०—पारसियों के अनुसार ईश्वर का एक नाम।
अहूं–सर्व० [सं० अहम्] मैं।
अहूत–वि० [सं० अपुत्र, प्रा० अपुतअ, अप० अउतअ] निःसंतान। उ०—बेटा जायां की गुण जे गर होय कपूत 'अळसी' घर लालर न हुती अळसी जात अहूत।—अज्ञात
अहेड़इ–सं०पु० [सं० आखेट] शिकार। उ०—राइ अहेड़इ चालियौ, उड़ीय खेह नइ सूझई भांण।—वी.दे.
अहेड़ी–सं०पु०—शिकारी। उ०—निरजळा करती एकादसी, एक अहेड़ी वनह मंझारी।—वी.दे.
अहेड़ी, अहेड़ौ–क्रि०वि०—ऐसा, ऐसे। उ०—लुकाइ वचाळै प्रभूलंक लागे, अहेड़ा सुणां साखराकेथ आगे।—ना.द.
अहेज–क्रि०वि०—१ इसी समय. २ स्नेह छोड़ कर।
अहेत–सं०पु०—१ शत्रु. २ अहितू. ३ अस्नेह, स्नेहाभाव।
अहेतु–वि० [सं०] १ बिना कारण का, निमित्तरहित. २ व्यर्थ, अकारण [रा० अ+हितू] ३ शत्रु, दुश्मन।
अहेर–सं०पु० [सं० आखेट] १ शिकार, मृगया (रू.भे. अहेड़) २ वह जन्तु जिसका शिकार किया जाय।
अहेरी–सं०पु० [सं० अहेर] शिकारी, आखेटक, व्याध। (रू.भे.-अहेड़ी)
अहेवौ–क्रि०वि०—ऐसे। वि०—ऐसा।
अहेस–सं०पु० [सं० अहीश] १ शेषनाग. २ लक्ष्मण का एक नाम। उ०—अत हेत अहेस सुकंठ अनै, करुणानिध श्री रघुवीर कनै। —र.रू.
[सं० अथ+ईश] गजानन, गणेश। उ०—सूंडाडंड अहेस राग रीझै ससमोसर. वणि सिंदुर चित्रवेस धार मदवेस पड़ै धर।—सू.प्र.
अहेसुर, अहेस्वर–सं०पु० [सं० अहि+ईश्वर] १ शेषनाग। उ०—अडिगासण आस अहेस्वर से, मद नाद अमद्य महेस्वर से। —ऊ.का.
[सं० अहन्+ईश्वर] २ सूर्य।
अहो, अहौ–अव्यय [सं०] संबोधकसूचक या विस्मय, हर्ष, करुणा, खेद, प्रशंसा आदि मनोविकारों का द्योतक शब्द। उ०—१ चिर सार यही सब प्यार चहौ, उपकार विनां नहि पार अहौ।—ऊ.का. उ०—२ अहौ जग तात सुणौ वंभ एवं दियौ दह कंध जु तैं वर देव। —रांमरासौ
अहोड़ौ–सं०पु०—१ टोकने का भाव, झिड़की. २ किसी सम्मान-योग्य व्यक्ति को उसके द्वारा कही गई कोई बात का दिया जाने वाला कटु उत्तर।
अहोणो, अहोणौ–वि०—१ अयोग्य। उ०—काज अहोणो ही करै, एह प्रव्रत खळ अंग। रांमण पठियौ रांम दिस, कर सोव्रनौ कुरंग। —वां.दा.
२ न होने वाला, असंभव। उ०—वैरी कड़छै 'वांकला' करै अहोणो काज, रांम तार गिरवर रची, पांणी ऊपर पाज।—वां.दा.
अहोनस, अहोनिस, अहोनिसि–क्रि०वि० [सं० अहर्निश] दिन-रात, सदा, नित्य। उ०—१ अहोनिस कागभुसुंड आराध, पढ़ै तो नांम सदा प्रहलाद।—ह.र. उ०—२ अरक अगनि मिसि धूप आरती नियतणु वारै अहोनिसि।—वेलि.
अहोभाग–सं०पु० [सं० अहोभाग्य] सौभाग्य, धन्य-भाग्य।

आंगनियौ—सं०पु०—स्त्रियों के कान की ऊपरी पट्टी में धारण करने का सोने या चाँदी का गहना ।

आंगम—सं०पु०—साहस, बल, उत्साह । उ०—उद्दम आंगम आखड़ो, ताप निडरता तंत । गाज मलफ एता गुणां, सीहां काज मरंत ।
—बां.दा.

आंगमण—सं०स्त्री०—हिम्मत, शक्ति, पराक्रम । उ०—तौ आंगमण नमौ सांगातण, रड़ रांवण मेवाड़ां राण ।—महाराणा उदयसिंह री गीत
२ अधिकार, कब्जा । उ०—कळह अदभूत जंगी वगी काळ रौ, आंगमण लाल रौ नकूं आयौ ।—गोपाळदास दधवाडियौ
वि०—दबाने वाला । उ०—एकौ लक्खां आंगमण, सक्खां तेरह सूर ।—किसोरदांन बारहठ

आंगमणौ—सं०स्त्री०—अधिकार, मातहती, अधीनता ।

आंगमणौ, आंगमवौ—क्रि०अ० [सं० अभ्युपगमन] १ निश्चय करना ।
उ०—आवी काळ आसरी मुवौ राजंद मंडोवर सांभळै वात उमा सती जादव आंगमियौ जळण ।—आसोजी बारहठ
२ साहस करना । उ०—भाइयां काज सिर आंगमै भारथां, भलाई कहाड़ै जिकै भाई ।—बुधजी आसियौ
३ सहन करना, बरदाश्त करना । उ०—करड़ौ कुच नूं भाखता, पड़वा हुंदी चोळ । अब फूलां जिम आंगमै, सैनां री घमरोळ ।
—बी.स.
क्रि०स०—साध्य समझना, गालिब होना । उ०—बादीला वनराव रै जितै कळायां जोर । इनै न कौ खळ आंगमै, देवै लांबी डोर ।
—बां दा.
५ पराजित करना, दबाना. ६ अंगीकार करना. स्वीकार करना । उ०—अड़सठ तीरथ किम्नूं आंगमौ दोरौ पंथ फळ लाधै दूरौ देखौ रै ! चहुआंण दिखाळै हरि-पुर मग-घड परै हजूरौ ।
—सादूळसिंह चौहांण री गीत
७ विचार करना. ८ अधिकार में करना । उ०—अठी रमजांन बेग पंजाव रौ विजय करि महमूद नूं निरबळ निहारी पाछौ जाइ आर्य्यावर्त्त नूं आंगमण रै काज तैमूर नूं अटक नदी रै वार आंणियौ ।—वं.भा.
आंगमणहार-हारौ (हारी), आंगमणियौ—वि०— अधिकार में करने वाला, पराजित करने वाला ।
आंगमिओड़ौ, आंगमियोड़ौ, आंगम्योड़ौ—भू०का०कृ० ।

आंगळ—सं०पु० [सं० अंगुल] १ आठ जव की इतनी लम्बाई, अंगुली की मोटाई का माप । उ०—जितै जसौ पह जीवियौ, थिर रहिया सुर थांण । आंगळ ही अवरंग सूं, पड़ियौ नह पातांण ।—वां.दा.
२ अंगुली (अल्पा०—आंगळड़ी) [सं० आंग्ल] आंग्ल भाषा, अंग्रेजी भाषा ।

आंगळड़ी—सं०स्त्री० [सं० अंगुल] उँगली (अल्पा०) उ०—संदेसा मत्ति मोकळउ. प्रीतम नूं आवेस । आंगळड़ी ही गळ गई, नयण न वांचण देस ।—ढो.मा.

आंगळी—सं०स्त्री० [सं० अंगुली] १ उँगली (पैर अथवा हाथ की)
पर्याय०—अंगळी, करपल्लव ,करसाख. करसाखा ।
कहा०—१ आंगळियां पुन लेणौ—अपने पास से बिना कुछ भी खर्च किए दूसरे का उपकार करने का यश लेना. २ आंगळी करणी (घालणी)—व्यर्थ का कष्ट देना, किसी कार्य के बीच में निरर्थक हस्त-क्षेप करना. ३ आंगळी पकड़ता पूंचौ पकड़ै—थोड़ा सा सहारा मिलते ही गले पड़ जाता है थोड़ा सा सिल-सिला जमते ही पूरा काम बना लेता है. ४ आंगळी पकड़'र पूंचौ पकड़णौ—धीरे'धीरे काम का सिल-सिला जमाना चाहिए, किसी से काम निकालना हो तो उसे धीरे-धीरे वश में करना चाहिए. ५ आंगळी सूं छोरा करणा—बिना उचित उपकरणों या साधनों के इच्छित वस्तु प्राप्त करना (असंभव). ६ आंगळी सूं बेटा की व्है नी—कोई कार्य उससे संबंधित उचित उपकरण या वस्तु से ही किया जा सकता है. ७ आंगळी सूज नै हाळ कितीक व्है—कोई वस्तु अपने अनुपात या सीमा में ही अधिक से अधिक बढ़ सकती है. ८ ऊबी आंगळी घी को निकळै नी—सीधी अंगुली से घी नहीं निकलता, कोई कार्य कराने के लिए सीधेपन से काम नही बनता. ९ कंई आपरी आंगळी किचरीजी—क्या मेरे कार्य मे आपको कोई कष्ट हुआ. १० गुळ डळियां, घी आंगळियां--डली डली करते गुड़ और उँगली-उँगली खाने घी शीघ्र समाप्त हो जाता है, थोड़े थोड़े निरन्तर व्यय से अधिक से अधिक वस्तु भी समाप्त हो सकती है. ११ हाथां पगां री आंगळियां भी सरीखी की हुवै नी—सब आदमी एक समान नहीं होते, सब वस्तुयें बराबर नही होतीं, समान वितरण में भी थोड़ा-बहुत फर्क रह ही जाता है ।
२ हाथी की सूंड का अग्रिम भाग ।

आंगळीभल—सं०पु० [सं० अंगुली+वर] पुर्नविवाह के पश्चात् पति-घर जाने पर अपने पहले पति द्वारा उत्पन्न साथ ले जाई गई संतान ।

आंगळीरोपेरौ—सं०पु०यौ० [सं अंगुलि+पर्व] अंगुलियों की गांठों के बीच का भाग ।

आंगवण—सं०स्त्री०—गर्व, घमंड । उ०—इसड़ी आंगवण मन मांह धरै नु रांणा रा आदमी बीच फिरिया ।—नैणसी

आंगवणी, आंगवांणी—सं०स्त्री०—वश, अधिकार, कब्जा, प्रभाव ।

आंगस—सं०पु० [सं० अंकुश] १ डर, भय. २ मर्यादा ।
उ०—औ हसती मरी न मांने आंगस राजा मरौ स चूके रीत ।
—अज्ञात

आंगिमिणि—सं०पु०—अधिकार, कब्जा । उ०—आंगिमिणि न आव अनंत रै हरि पातिग सां हारियौ ।—पीरदांन लाळस

आंगिरस—सं०पु०—देखो 'अंगीरस' ।

आंगी—सं०स्त्री०—१ अंगिया, चोली, कंचुकी ।
कहा०—आंगी में से बेस काटणौ—अनहोना, असंभव काम करना ।

आना. १६६ आंखियां रै आगै इंधारौ होणौ--संसार सूना दिखाई पड़ना, कमजोरी या अधिक कष्ट के कारण साधारण वेहोशी आ जाना. १६७ आंखियां रै आगै चांनणौ होणौ--आँखों से स्पष्ट दिखाई देना, न दिखाई देना. १६८ आंखियां रै आगै तारा छूटणां--कमजोरी या शिथिलता के कारण अत्यंत थकावट महसूस करना. १६९ आंखियां रै आगै नाचणौ--देखो 'आंखियां रै आगै फिरणौ'. १७० आंखियां रै आगै फिरणौ--हर समय याद रहना. १७१ आंखिया रै आगै राखणौ--हर समय साथ या सामने रखना. १७२ आंखियां रोऊं रोऊं करणी--रोनी सूरत होनी. १७३ आंखियां रौ पांणी जावणौ--वेशर्म होना, वेहया होना. १७४ आंखियां रो रो नै सुजावणी--अधिक रोना, रो रो कर आँखों को फुलाना. १७५ आंखियां लाल-पीळी करणी--अधिक नाराज होना. १७६ आंखियां लालपीळी होणी--अधिक नाराज होना. १७७ आंखियां वरसणी--आँखों से खूब आंसू बहना. १७८ आंखियां विछावणी--अधिक आदर-सत्कार करना. १७९ आंखियां सूं आघौ--दूर होना. १८० आंखियां सूं कांम करणौ--इशारों से ही काम चला लेना. १८१ भर आंख देखणौ--पूरी तरह से आंख खोल कर किसी की ओर ताकना।

कहा०--१ आंख तणै फरूकड़ै क्या जांणू क्या होय--पलक भर में न जाने क्या हो सकता है. २ आंख-कांन में च्यार आंगळ रौ आंतरौ है--सुनी और देखी वात में वहुत फर्क होता है। कान से सुनी वात की अपेक्षा आँख से देखी वात अधिक विश्वास के योग्य होती है. ३ आंख फूटी, पीड मिटी--हानि हुई पर कष्ट गया अच्छी वस्तु कष्टदायक हो तो उसका जाना ही अच्छा. ४ आंख में पड़यौ तुस, औ ही लाधौ मिस--काम के समय साधारण सा वहाना मिल जाय तो उसी को लेकर टालमटोल करना. ५ आंख रै परमांण तौ फूलौ पड़ै ही कोनी--आंख के प्रमाण फूला नहीं पड़ता, विल्कुल मनचाही वात नहीं होती. ६ आंखियां किसी गुद्दी लारै है--मूर्ख है, दिखाई नहीं देता. ७ आंखियां देखी परसरांम कदै न झूठी होय--परस-राम कहता है कि आँखों देखी बात कभी झूठ नहीं होती. ८ न आंखियां देखै न कुत्तौ भूंकै--न आँखों से देखै न कुत्ता भौंके. ९ आंखियां मींच'र अंधारौ करै जकेरौ कोई कांई करै--जो जान-बूझ कर वात को टाले उसका कोई उपाय नहीं हो सकता.

१० आंखियां मीची'र अंधारौ हुयौ--देखरेख हटी कि काम चौपट हुआ, मरने के बाद कुछ नहीं, मरने के वाद काम विगड़ गया. १२ आंखियां रौ आंधौ नाम नैणसुख--जव नाम के अनुसार गुण न हो. १३ आपरी आंखियां चांनणौ है--अव आपके द्वारा ही रास्ता दिखाया जायगा, सवकुछ आप पर निर्भर है. १४ काजळ सूं कांई आंख भारी है--भारी भरकम शरीर को छोटी व तुच्छ वस्तु का वोझ मालूम नहीं होता. १५ मोटी आख फूटण नै, नै घणा हेत तूटण नै--अत्यधिक प्रेम टूटता भी अवश्य है।

रू०भे०--अंख-अक्ख-आंखि।

अल्पा०--आंखड़ली, आंखड़िय, आंखड़ी।

महत्ता०--आंखड़।

२ नजर, दृष्टि।

आंखड़ली--सं०स्त्री०--१ आंख, नेत्र (अल्पा० प्यार)

आंखड़िय--सं०स्त्री०--नेत्र, नयन (अल्पा०)

आंखड़ी--सं०स्त्री०--नेत्र, नयन (अल्पा०)

(वहु०--आंखड़ियां, आंख्यां)

उ०--जौ जौ झांवड़ियां जाती जतनाळी, रौ रौ **आंखड़ियां** राती रतनाळी।--ऊ.का.

आंखड़ौ--सं०पु० [आंख+ढक] कोल्हू में जोता जाते समय वैल की आँख के ऊपर लगाया जाने वाला ढक्कन।

आंखफूटणी--सं०स्त्री०--एक प्रकार की लता विशेष तथा उसका फल.

आंखमींचणी--सं०स्त्री०यौ०--आँख-मिचौनी का खेल।

वि०वि०--एक लड़का अपनी आँखें वंद कर लेता है और अन्य लड़के छिप जाते हैं तब वह लड़का वंद आँखों से ही किसी खिलाड़ी को पकड़ने या छूने का प्रयत्न करता है। जिस लड़के को छू लिया जाता है, वह अपनी आँख वंद कर वापस खेल आरम्भ करता है।

आंखरातंवर--सं०पु०--ऊँट (ना.डि.को)

आंखांलाल--सं०स्त्री०--कमेड़ी, पंडुकी।

आंखि, आंखी--सं०स्त्री० [सं०अक्षि] नेत्र, नयन। उ०--**आंखि** तरच्छी ईखतां जीता समघा जांण।--वां.दा.

आंग--सं०पु० [सं० अंग] शरीर, अंग। उ०--उघाड़ी धरती छै सु तौ जांणै गोरा **आंग** हुऔ।--वेलि.टी.

आंगण, आंगणई, आंगणउ--सं०पु० [सं० अंगण] १ घर के भीतर का सहन, चौक। उ०--१ वैरण रसणां वस असणां तनताई, आभा **आंगण** री अंन मांगण आई।--ऊ.का. उ०--२ सावन नळ प्यंगळ हुई ओकई **आंगणई** सूकई चंपकी माळ।--वी.दे.

२ गुनाह, अपराध, कसूर।

आंगणारीडावड़ी--सं०स्त्री०--दासी, सेविका, परिचारिका।

आंगणियौ--सं०पु०--आँगन, चौक (अल्पा०) उ०--ऊभी **आँगणिये** वोळूड़ी आवै। गदगद मुरळी सुर ओळूड़ी गावै।--ऊ.का.

आंगणि--सं०पु० [सं० अंगण] आंगन। उ०--राजकुआंरि राय **आंगणि** कै विखै सखी विचि सोभा पावै छै।--वेलि. टी.

आंगणौ--सं०पु० [सं० अंगण] घर के भीतर का आंगन, चौक।

पर्याय०--अंगण, अंगन, आंगणू, अजिर।

कहा०--मांगणौ नै कोई तांगणौ, मोटौ मांचौ आंगणौ--प्रकृति द्वारा दी हुई वस्तुओं से ही संतोष करना।

आंगणौ, आंगवौ--क्रि०अ० [सं० अंगीकृत] १ स्वीकार करना।

उ०--खमा करण भगवांन नै, आंगी भूप उम्मेद।

--उदयराज ऊजळ

२ मन में विचार करना।

आंटड़ी—सं०स्त्री०—वैर, शत्रुता (अल्पा०)
उ०—लागी लगनि छूटण की नाहीं, अब क्यूं कीजै **आंटड़ियां**।

आंटण—सं०पु० [सं० अट्टन] १ गाँठ, ग्रंथि। २ पैर अथवा हाथ की अंगुलियों में अधिक कार्य या एक वस्तु के अधिक संघर्ष से पड़ने वाली ग्रन्थी जहाँ की चमड़ी कठोर एवं सुन्न होजाती है। उ०—रात-दिन तरवार कनै रहण सूं हाथ में तरवार री मूठ रा **आंटण** पड़ गया है।—वी.स.टी.

आंटरोकोट—सं०पु०—मान व गर्व का रक्षक, वीर, बहादुर। उ०—**आंटरा-कोट** मन-मोट मेरु अचळ। सूर तन ताप दे सोत सवायौ।
—जयसिंह राठौड़ री गीत

आंटल—वि०—१ शत्रु, द्वेषी. २ नीच, दुष्ट।

आंट-सांट—सं०पु०—साजिश, मेल-जोल, गुप्त अभिसंधि।

आंटा—क्रि०वि०—लिए, निमित्त।

आंटादार—वि०—१ घुमावदार, वक्र. २ लपेटदार, साफे को बाँधने का एक ढंग विशेष. ३ वीर, बहादुर।

आंटायत, आंटायतौ—वि०यौ० [आंट+आयत] दुश्मन, शत्रु।
उ०—वंटायत आवधां भाट खामंद बचा। दोयणां **आंटायत** खाग दूजी।—राव रतनसिंह री गीत

आंटियौ—सं०पु०—कवच को जोड़ने की कड़ी।

आंटी—वि०—वक्र, टेढ़ी, मुड़ी हुई।
कहा०—१ आंटी टूटी गवां री रोटी—यद्यपि रोटी आंटी-टेढ़ी है पर गेहूँ की है. २ कुत्ते की पूंछ दस बरस जमीं में राखी, निकाळी तौ फेर आंटी'र आंटी. ३ कुत्ते री पूंछ सदा आंटी री आंटी—जिस आदमी की बुरी आदत किसी प्रकार न छूटे।
सं०स्त्री० [सं० अंड] १ ईर्ष्या, वैर, शत्रुता। उ०—तिण रै च्यार बेटा, लायक सारीखै माथै, च्यारांई भायां **आंटी** करी, अहड़स हुई तरै बीच मांगणे फिरनै कह्यौ "सिंघासण छत्र बीच मेलौ, च्यांरै ही भाई सिंघासण री पाखती बैसौ।—नैणसी २ कुश्ती का एक पेंच विशेष। ३०—उलझन, फंदा। उ०—मूरख कूं समझाइये औगुण करि बूझे रे, आपा की **आंटी** पड़ी सति साच न सूझे रे।—ह.पु.वा.

आंटीपण, आंटीपणौ—सं०पु०—१ शक्ति। उ०—पैलां कटकां भारथां मेलै षमंगां उछांटीपणै, बंका **आंटीपणै** गंजै अगंजां असेन।
—रांमकरण महडू
२ शत्रुता, डाह। उ०—कुरमांनाथ जंगां बार **आंटीपणै**, सांमी फौजां फांटीपणै हरांमी सबीग।—महादांन महडू

आंटीलौ—वि०—१ गर्वयुक्त, अभिमानी। उ०—अनमी **आंटीला** वळिया बळ वाळा, विपदा वांटीला वळिया वळ वाळा।—ऊ.का.
२ मान-मर्यादा पर दृढ़ रहने वाला। उ०—बोलै बोल जिमा अतुळीबळ, निरवा है रजवट री नीम। की अचरज **आंटीला** 'केहर', कूंपां आहिज रीत कदीम।—वां.दा. ३ शत्रुओं से बदला लेने वाला, जबरदस्त। उ०—**आंटीला** ऊठ सतारा वाळा, तौ ऊपर वागा अंबाळा।—बरजूबाई

आंटे—क्रि०वि०—लिए वास्ते, निमित्त, हेतु।

आंटेल—वि०—१ घमंडी। उ०—छिलै छाकिया छछोहा छूटा छोगाळा छबीला छैल। आंटेल सछोहा जिलै जाकिया अमीर।—र. हमीर

आंटै—क्रि०वि०—लिए, कारण, निमित्त। उ०—उठयौ दिली हूँ ओरंगसाह ऐक राह तणै **आंटै**।—महाराणा जयसिंह री गीत

आंटौ—सं०पु० [सं० अट्ट] १ बदला। उ०—लागणौ लार लूंठी लियण **आंटौ** कोइक आगलौ।—ऊ.का.
क्रि०प्र०—काढ़णौ-लेणौ।
२ शत्रुता, वैर।
उ०—**आंटौ** सासू आप री, सौ लेवौ कुळसार। जायौ वरजौ जगत रा, आंटा लियण उधार।—वी.स. ३ लपेट।
क्रि०प्र०—देणौ-लगाणौ।
४ युद्ध। उ०—वीरमदेव चारण रावजी कने मेलियौ धरती रौ **आंटौ** छै पण राज मोटा छौ।
—रा.वं.वी.
वि०—१ जैसा का तैसा. २ टेढ़ा, घुमावदार, वक्र।
क्रि०प्र०—करणौ-देणौ-पड़णौ-होणौ।

आंटौ-अंवळौ—वि०यौ०—१ टेढ़ा-तिरछा. २ दुःखी, कष्टमय।
कहा०—**आंटौ-अंवळौ** होय नै भी कांम करणौ—काम अवश्य करना चाहिए, चाहे कितना ही कष्ट क्यों न उठाना पड़े।

आंटौ-टूंटौ, आंटौ-टेडौ—वि०—टेढ़ा-मेढ़ा, तिरछा. २ जीर्ण-शीर्ण।

आंठ-गांठ—वि०—१ पूर्ण, पूरा. २ सब तरह से बढ़िया।
उ०—आंठ-गांठ छिब अंगा।

आंठू—सं०पु०—१ ऊंट, घोड़े अथवा बैल के अगले पैर व छाती के जोड़ का स्थान। २ साहस, हिम्मत। उ०—गिरावै जिकै **आंठू** आं पांणि गज्जं।—वचनिका

आंठेव, आंठेव—सं०पु०—सहायक, रक्षक। उ०—छोगी भूपै हरां सारां मेवाड़ां **आंठेव** छत्री आपा उपेहरां बाड़ा दूसरी उमेद।
—रांमकरण महडू

आंड—सं०पु० [सं० अंड] अंडकोश।

आंडळ—वि०—१ बड़े अंडकोश वाला. २ बड़ा आलसी व सुस्त जो अपने काम को बड़ी कठिनाई से करता हो।

आंडिया—सं०पु०बहु० [सं० अण्ड] अंडकोश।

आंडू—वि० [सं० अण्ड] अंडकोशयुक्त, जो बधिया न हो।

आंढ़ू—सं०पु०—काले रंग का करील का फल जो उपयोग में नहीं लिया जाता है और प्रायः कठोर होता है।

आंण—सं०स्त्री०—१ शपथ, सौगंद। उ०—सांच कही सगरांम वे साहिबजी री सांच। रांमभजन विन नरपसु खोड़ीला री खांण।
—सगरांमदास
२ घोषणा, दुहाई। उ०—बूंदी अजे रावराजा भावसिंघजी री **आंण** कहीजै।—बां.दा. ख्या. ३ आज्ञा। उ०—अडर मूळ डर न धारै कंस री **आंण** रौ, पिता माता तणौ डर न पछै।—बां.दा.

२ चुननदार घेरे का पुरुषों का एक पहनावा। उ०—पछै एक दिन राघवदे दरबार आवतौ थौ, पैहरण नूं आंगी हुती।—नैणसी

आंगीठ–सं०पु० [सं० अग्निष्टा, प्रा० अग्गीठा] अंगारा। उ०—तरण तप जळण आंगीठ रा सरोतर, सत्रां रण रीठ रा खगां सालै।

—तिलोकजी बारहठ

आंगीरस–सं०पु०—देखो 'अंगीरस'।

आंगुळ–सं०पु०—देखो 'अंगुळ'।

आंगुठौ–सं०पु० [सं० अंगुष्ठ] अंगूठा। उ०—हथळेवौ क्रस्णजी आंगुठा सहित पकड़चौ।—वेलि. टी.

आंगुळी, आंगूळी–सं०स्त्री०—उंगली। उ०—१ आंगुळी गीणतां दिन गया, काग उडावतां दूखइ छइ वांह।—वी.दे. उ०—२ उलीगाणां की गोरड़ी, म्हां की आंगूळी देखतां गिळजे वांह।—वी.दे.

आंगौ–सं०पु०—१ स्वभाव, प्रकृति. २ कवच, बख्तर. ३ शरीर. ४ काम या कार्यक्षेत्र में हिस्सा (कृषि)

आंच–सं०स्त्री० [सं० अर्चिष्] १ संकट, आफत, कष्ट। उ०—सांम धरम घर सांच, चाकर जेही चालसी। ऊंनी ज्यांनै आंच, रती न आवै राजिया।—किरपारांम २ आग, आग की लौ. ३ ताप, गरमी। उ०—नींद न आवै विरह सतावे, प्रेम की आंच ढुळावै।

—मीरां

४ तेज, प्रताप. ५ चोट, प्रहार। उ०—मिट जोत प्रभाकर झंख-मणी, तन आंच लगी गुलियल्लतणी।—पा.प्र. ६ हानि। उ०—धणी थकां दौड़ता, लूट केई धन लाता, परवत झाड़ां वैस खोस केई नर खाला। मांन जकां महाराज आंच न दीधी आवा, गुना करै वगसीस खोस दांधा धन खावा।—बुधजी आसियौ

७ क्रोध. ८ भय, डर. ९ ढालों को रखने का ढंग अथवा वह स्थान जहाँ ढालें रखी जांय। उ०—इण भांति री कटारी बीड़ी वटवै समेत ए जदी पगां सूं लपेट नै उग्रांहीज ढालां री आंचां मां राखीजै छै।—रा.सा.सं.

वि०—किंचित्, थोड़ा। उ०—पति गंध्रप है पांच, धरतां पग धूजै धरा। आवै लाज न आंच, धर नख सूं कुचरै धवळ।

—रांमनाथ कवियौ

आंचभ–सं०पु० [सं० आश्चर्य] आश्चर्य, ताज्जुब।

आंचळ–सं०पु० [सं० अंचल] १ धोती दुपट्टे आदि के दोनों छोरों का एक भाग या कोना, पल्ला. २ सामने छाती पर रहने वाला स्त्रियों की साड़ी या ओढ़नी का छोर या पल्ला।

पर्याय०—अंचल, छेहड़ौ, पल्लौ, पटोली।

३ साधुओं का अंचला. ४ स्तन, उरोज। उ०—पुणै जोगणपुरी गुजरी पारखौ, गुडर गोखे चढ़ी गयण छायौ। बीबीआं आंचळां छोड़िया बाळकां, ईख सुरतांण गढ़ 'माल' आयौ।—अज्ञात

आंचळणौ, आंचळवौ–क्रि०स० [सं० अंचलित] आच्छादित करना। उ०—पावासर जळ पीय, पोयण हेम खिलावै। एरावत मुख आंचळतौ घण नेह जतावै।—मेघ०

आंचळी–सं०स्त्री०—आंचल। उ०—आंचळी गैहती वइसाड़ी छइ आंण, हंसि गळलाइ नई भांजिय कांण।—वी.दे.

आंचविहणौ, आंचविहवौ–क्रि०अ०—आचमन करना।

आंचातांणौ–वि०—ऐंचाताना, जिसकी पुतली देखने में दूसरी ओर को खिचती है। (स्त्री०—आंचातांणी)

आंचौ–सं०पु०—शीघ्रता।

आंजणी–सं०स्त्री०—आँख की पलकों पर होने वाली फुन्सी, गुहांजणी।

आंजणौ–सं०पु०—दहेज, यौतुक (जाट)

आंजणौ, आंजवौ–क्रि०स०—१ आँख में अंजन लगाना। उ०—ले पग धूड़ मधूर मन मांजू, औ तौ अंजण म्हांरा नयणां में आंजू।

—गी.रां.

२ साफ करना।

आंजणहार-हारौ (हारी), आंजणियौ–वि०—आँखों में अंजन लगाने वाला।

आंजळी–सं०स्त्री०—देखो 'अंजली'।

आंजस–सं०पु०—१ देखो 'अंजस'। २ गर्व, घमंड। उ०—कळजुग चलै न कार, अकबर मन आंजस युहीं।—दुरसौ आढ़ौ

आंजसणौ, आंजसवौ–क्रि०स०—गर्व करना।

आंजियोड़ौ–वि०—अंजन किया हुआ। (स्त्री० आंजियोड़ी)

आंजुळी–सं०स्त्री० [सं० अंजलि] देखो 'अंजळि'। उ०—आंजुळी पितर पोखिय उदक्कि।—रा.ज.सी.

आंट–सं०स्त्री०—१ हथेली में तर्जनी और अंगूठे के बीच का स्थान. २ शत्रुता, वैमनस्य, दुश्मनी। उ०—कोई आज पाछै आंट राखै वैर गावै। सौ ही खांप दोनां सूं निराळी होय जावै।—शि.वं.

३ हठ, जिद्द। उ०—कुमार प्रथीराज दुरमन होय काका री गरहा प्रकट करी और कान्ह वी मूछां विहाय आप री हवेली जाय पाछौ सभा आवण री आंट धरी।—वं.भा ४ कपट। उ०—अंग में राखै आंट करमां री पासी करै। जटा वधायां भांट महासिध होवै न मोतिया।—रायसिंह सांदू ५ निखावट, अक्षर, अंक। उ०—मन जांणै पीऊ मिसरी, छाछ सोवनी मिळै नह छांट। वळिया सौ पाछा कुण वाळै उण घर री लेखण रा आंट—ओपौ आढ़ौ।

६ गिरह, ऐंठन. ७ प्रतिज्ञा, संकल्प. ८ दाँव, वश. ९ बगतर की कड़ी. १० मोड़, घुमाव. ११ बाँकुरापन, वीरता।

उ०—पड़ै अमावड़ ओद छतरधर फिरंग पालटै, आंट धर क्रोध भुज गयण अड़िया।—कोठारिया रावत जोधसिह री गीत

१२ घमंड, गर्व। उ०—भांजै चौक हरोलां अरिण रा उतोळियां भालां धकै तणी मेलियां जणी री रीत धूत। रही आंट कणी री जींवार सिद्धांराज राखी, साजी वाजी नवां कोटां धणी री सवूत।

—नवलजी लाळस

१३ देखो 'अंटी'।

सं०स्त्री० [सं० अंत्र] २ आंत, अंत्र।

आंतिरी-सं०पु०—दूरी, फासिला, अंतर। उ०—वीस पैंड दोनां का घोड़ा बीच लागै। दोनूं हांकि थाक्या पणि आंतिरा न भागै।

—शि.वं.

आंती-क्रि०वि०—तंग, हैरान।

क्रि०प्र०—आंणौ-करणौ-होणौ।

सं०स्त्री०—कष्ट, आपत्ति।

आंतेरौ-सं०पु०—एक प्रकार का कांटेदार लाल वृक्ष जिसके पत्ते भी लाल होते हैं। इन पत्तों के बांधने से अंग की सूजन कम होती है।

आंतेलौ-सं०पु० [सं० अंतरिल] किसी वाहन पर (ऊँट, घोडा, गधा, भैंसा आदि) लादे हुए बोझ का एक तरफ अधिक भार के कारण झुक जाना, असंतुलन। (मि०-हूर)

आंथण-सं०पु०—सायंकाल। उ०—च्यार सेर गेहूँ री आटौ परभात रा, आंथण री दस सेर चांवळां री खीचड़ी।—सूरे खींवे री वात

आंदळघोटौ-सं०पु०—देखो 'आंधळघोटौ'।

आंदळियौ-सं०पु०—अंधा (अल्पा०)

आंदलौ-वि०—देखो 'आंधलौ' (अल्पा०)

आंदाउली-सं०स्त्री०—देखो 'आंधाउली'।

आंदाझाड़ौ-सं०पु०—देखो 'आंधाझाड़ौ'।

आंदाहोली-सं०स्त्री०—१ अर्कपुष्पी, सूर्यमुखी। २ देखो 'आंधाउली'।

आंदी-सं०स्त्री०—देखो 'आंधी'।

आंदीआरसी-सं०स्त्री०—देखो 'आंधीआरसी'।

आंदीखोपड़ी-सं०स्त्री०—देखो 'आंधीखोपड़ी'।

आंदीझाड़ौ-सं०पु०—देखो 'आंधीझाड़ौ'।

आंदीडंडूळ, आंदीडंबर-सं०पु०—देखो 'आंधीडंडूळ'।

आंदीवाई-सं०स्त्री०—देखो 'आंधीवाई'।

आंदोळण, आंदोळन-सं०पु० [सं० आंदोलन] वार-वार हिलना-डोलना, हलचल, उथल-पुथल करने वाला प्रयत्न, धूमधाम। उ०—अवनी आंदोळन ओळा ओसरिया। पिड़िभिड़ि प्लासी पै गोळा जिम गिरिया।—ऊ.का.

आंदोवाळौ-सं०पु०—एक प्रकार का नहरुआ रोग जिसका कीड़ा बाहर नहीं निकलता है।

आंदौ-वि०—देखो 'आंधौ'। (स्त्री० 'आंदी')

आंदौकाच-सं०पु०—देखो 'आंधौकांच'।

आंदौकूऔ-सं०पु०—देखो 'आंधौकूऔ'।

आंदचारी-सं०स्त्री०—देखो 'आंध्यारी'।

आंधयावणौ-वि०—अंधेरी।

आंधरौ, आंधल-वि०—अंधा (अल्प०) उ०—राज काज रीत नीत सूझतौ रह्यौ। वाट आंधरै की यार सूझतौ वह्यौ।—ऊ.का.

आंधळघोटौ-सं०पु०—एक प्रकार का खेल जिसमें एक व्यक्ति कपड़े द्वारा अपनी आँखें बंद कर दूसरों को पकड़ने का प्रयत्न करता है। अन्य खिलाड़ी आवाज के द्वारा अपनी उपस्थित दिशा की सूचना देते रहते हैं। प्रायः यह खेल अक्षय तृतीया पर लड़कियों द्वारा खेला जाता है।

आंधळियौ-सं०पु०—अंधा (अल्पा०) उ०—मैया रे दुवारे आंधळिया पुकारे ले'र नयण घर जाय मेरी काळी मैया।—लो.गी.

आंधळौ-वि०—अंधा, नेत्रहीन (अल्पा०) उ०—निंदा करसे नरक कुंड मां जासे थासे आंधळा अपंग रै।—मीरां

आंधाउली-सं०स्त्री०—एक प्रकार का वनों में होने वाला क्षुप जिसकी डंडी कुछ लाल, पत्ते लंबे, गोल व रोमयुक्त और फल आसमानी रंग का नीचे की ओर होता है। लटजीरा, चिचड़ा (अमरत)

आंधाझाड़ौ-सं०पु०—एक प्रकार का पौधा विशेष जिसे अपामार्ग भी कहते हैं।

आंधाहोली-सं०स्त्री०—अर्कपुष्पी, सूर्यमुखी (अमरत)

आंधी-सं०स्त्री०—प्रखर वायु जिसमें उड़ने वाली धूलि या गर्द से चारों ओर अंधेरा छा जाता है, तूफान, झंझावात।

पर्याय०—अंधारी, झंकड़, डूंज, वावळ।

कहा०—१ आंधी पछै मेह आवै—आँधी के साथ वर्षा आती है, कन्या के बाद पुत्र होता है. २ आंधी रांड मेहां री पाली रेवै—राजस्थान में आँधियाँ बड़े जोर से चलती हैं और घंटों चलती रहती हैं, पीछे मेह प्रायः आता है और मेह के आने पर ही वे दबती हैं, प्रकृति-निरीक्षण का अनुभव, दुष्ट व्यक्ति सभी की बात नहीं सुनते, जो उनसे जबरदस्त होता है उसीके मना करने पर बुरे काम से विरत होते हैं. ३ आंधी साथै मेह आया ही करै—आँधी के साथ वर्षा आया ही करती है. ४ आंधी में मोर चालै ज्यूं किया चालै—आँधी में मोर चलता है वैसे डगमगाता हुआ कैसे चलता है?

वि०—'आंधौ' शब्द का स्त्री लिंग, देखो 'आंधौ'।

आंधीआरसी-सं०स्त्री०—धुंधला दर्पण जिसमें प्रतिबिंब स्पष्ट न दिखाई देता हो।

आंधीखोपड़ी-सं०स्त्री०—बुद्धिरहित, मूर्ख, नासमझ, भोंदू।

आंधीझाड़ौ-सं०पु०—अपा मार्ग।

आंधीडंडूळ, आंधीडंबेर-सं०पु०—आँधी, तूफान, झंझावात।

आंधीवाई-सं०स्त्री०—१ नेत्रहीन स्त्री २ एक रोग विशेष।

आंधौ-स०पु० [सं० अंध] (स्त्री० आंधी) वह प्राणी जिसकी आँखों में ज्योति न हो, विना आँख का जीव।

वि०—१ दृष्टिरहित, विना आँख का. २ विवेकरहित; अज्ञानी जिसे भले-बुरे का विचार न हो।

पर्याय०—अंध, आंधलौ, दृष्टीहीण, सूरदास।

क्रि०प्र०—करणौ-वणणौ-वणाणौ-होणौ।

मुहा०—१ आंधौ दीवौ—धुंधले प्रकाश का दीपक. २ आंधौ वणणौ—आगा-पीछा कुछ न देखना, जानबूझ कर किसी के अन्याय

४ हकूमत। उ०—जोबन छत्र ऊंचाइया। इणि कंत! काया मांहि फेरी छइ **आंण**।—वी.दे. [सं० अधुना] ५ वर्तमान का वर्ष, चालू वर्ष. ६ वायु।

वि०—१ दूसरा, और, अन्य।

कहा०—घर का जोगी जोगिया आंण गांव का सिद्ध—घर के योगी जोगिये कहलाते हैं, बाहर गांव के जोगी भी सिद्ध कहे जाते हैं। अति परिचय से अवज्ञा होती है।

२ इस, यह।

आंण-डांण—सं०स्त्री०—१ दुहाई. २ शपथ, सौगंध।

आंणण—सं०पु० [सं० आनन] मुख, मुंह, चेहरा। उ०—अफर सत्रां **आंणण** नर अवरां, दीठां त्यांच ज लागौ दोख।—तेजसी खिड़ियौ

आंणण-पंच—सं०पु० [सं० आनन+पंच] सिंह (ना.डि.को.)

आंणणौ, आंणबौ—क्रि०स० [सं० आनयन] १ लाना। उ०—सहिए फिरि समझावियउ, सुहिणइ दोस न कोइ। सउ जोयण साहिब वसइ, **आंण** मिळावइ तोइ।—ढो.मा.

आंणणहार-हारौ (हारी), आंणणियौ—लाने वाला।

कहा०—आंणै नीं मांनै नीं नै हूं लाडै री भुवा—बिना बूझे या माने जबरदस्ती मध्यस्थ बन जाना।

आंणदवाई, आंणदांण, आंणदुआई, आंणदुवाई—सं०स्त्री०—दुहाई।

उ०—जिण री प्रथ्वी ऊपर **आंणदांण** फिरै।—नैणसी

आंण-मांण—सं०पु०—इज्जत, मान।

आंणा—सं०स्त्री० [सं० आज्ञा] हुक्म, आदेश, आज्ञा। उ०—प्रामार जैतकुमर जनक री **आंणा** रै अनुसार इच्छणी रै एवज उरवसी देण आयौ।—वं.भा.

आंणांणौ, आंणांवौ—क्रि०स० [सं० आ+नी धातु] मंगवाना।

आंणवावणौ, आंणवावबौ—प्रे०रू०।

आंणियोड़ौ—भू०का०कृ०—लाया हुआ। (स्त्री० आंणियोड़ी)

आंणीजणौ, आंणीजबौ—क्रि०स०कर्म वा०—लाया जाना।

उ०—अत जतनां माथै ऊपाड़ै, रंभा दौळी थकी रहै। आस कसी जेंरी **आंणीजै**, वैरी छोरा पास वहै।—ओपौ आढ़ौ

आंणीजियोड़ौ—भू०का०कृ०—लाया गया हुआ।

(स्त्री० आंणीजियोड़ी)

आंणेराव—वि०—१ लाने वाला। उ०—लूटी सामांन भंडारां आर-पारी डांणेराव लागी। सोभा **आंणेराव** खूटौ खजांना सचूंप।

—महादांन महड़ू

आंणौ—सं०पु०—१ मायके से बहू को अथवा सुसराल से बेटी को लाने का भाव. २ गौना, विवाह के बाद की एक रस्म जिसमें वरवधू को प्रथम बार अपने घर लाता है। उ०—**आंणा** लेवण नै ऐ धूला आया, दरसण देवण नै मोभी मुळकाया।—ऊ.का.

आंणौ-एढ़ौ, आंणौ-टांणौ—सं०पु०—१ मांगलिक दिन. २ उत्सव या विवाहादि अवसर. ३ देखो 'टांणौ'।

आंणौ-मुकलावौ—सं०पु०—गौना, द्विरागमन।

आंत, आंतड़, आंतड़ी, आंतड़ौ—सं०स्त्री० [सं० अंत्र] शरीर का मल या व्यर्थ पदार्थ बाहर निकलने के लिए बनी प्राणियों के पेट के भीतर की लम्बी नली जो गुदा तक रहती है, अंत्र।

उ०—१ **आंत** ग्रीज भेजी असत, नैण नळी भख नेह। आंमिख नर नांखै उदर, आंणै हरख अछेह।—क.कु.बो.

उ०—२ **आंतड़ां** तास पहरे उवर, दूर कियौ दुख दास रौ। राखजै नेक आलम रटै, एक उणी रौ आसरौ।—र.रू.

उ०—३ कुड़ कुड़ काया नै माया बिन मोसै, रोती कड़ियां दे **आंतड़ियां** रोसै।—ऊ.का.

(अल्पा०—आंतड़ी, आंतड़ौ) (महत्त०—आंतड़)

(बहु०—आंतड़ियां)

पर्याय०—अंत, अंतड़ा, अंत्रावळ।

आंतर—सं०पु० [सं० अंत्र] १ आंत, अंत्र। उ०—ढालां ढालांतर सांतर ढळियोड़ा. बैठा निरांतर **आंतर** वळियोड़ा।—ऊ.का.

[सं० अंतर] २ फासिला, दूरी. ३ अन्तर, भेद।

क्रि०वि०—१ बीच, मध्य. २ अंतर, भीतर।

उ०—रोगी **आंतर** वैद बसत है, वैद ही ओखद जांणै हो।—मीरां

३ दूर। उ०—भोज कुंवर मुकळावौ राय। **आंतर** वासौ दीयौ तिणि ठाय।—वी.दे.

आंतरउ—सं०पु० [सं० अंतर] १ दूरी. २ अंतर, फासला।

उ०—मारू त्रिहूं वरसां **आंतरउ**, आवौ ज्यंउ कीजइ नातरउ।

—ढो.मा.

आंतरगढ़ी, आंतरगूंथ, आंतरगेढ़ी—सं०पु०—आमिषहारी व्यक्तियों द्वारा सेंक कर खाये जाने के लिए उनके द्वारा गूंथी जाने वाली पशुओं की आंतें।

आंतराळ—सं०पु०—आंत।

आंतरियौ—सं०पु०—आंत, अंत्र. २ मध्य, बीच।

आंतरी—सं०स्त्री०—*आंत, अंत्र। उ०—रमेस री **आंतरचां** आसीस* देण लागी।—वरस गांठ

आंतरे. आंतरै—क्रि०वि० [सं० अंतर] दूर। उ०—विसुद्ध सुद्ध संथ तें **आंतरै** नहीं।—ऊ.का.

आंतरौ—सं०पु० [सं० अंतर] १ दूरी, फासिला। उ०—महाराज मांन मुरधरार माथै, चमू फिरंगी नांह चढ़ै। रै! जांणै सूरजवाळी रथ, कासी सूं **आंतरै** कढ़ै।—नाथूरांम लाळस

[सं० अंत्र+औ—रा०प्र०] २ अंत्र, आंत। उ०—जठै चावड़ी नूं सुपनौ आयौ जे म्हांरौ पेट फाटौ छै **आंतरां** झाड़ झाड़ हुय गया छै।

—रा.वं.वि.

३ विलम्ब, देरी। उ०—एक घड़ी **आंतरौ** दोरम सोई दिखातौ।

—पहाड़खां आढ़ौ

आंतारौ—सं०पु०—१ दूरी, फासिला, अंतर।

येम वण वायणी नेज आंनेक। मीर भख डायणी अंवखासांमही, यसी वरदायणी कटारी एक।—करणीदांन कवियौ

सर्व०—इनको। उ०—आंनै पंथ जातां एक गोलै रोक लीनां। आगै आंणि सारां कै ढकोळा नांख दीनां।—शि.वं.

आंनौ—सं०पु० [सं० आणक] १ रुपये के सोलहवें भाग का एक सिक्का. २ सेर का सोलहवां भाग, एक छटांक।

आंप—सर्व०—अपने। उ०—लोक आंप मांहि परस्पर बात कहण लागा।—वेलि. टी.

आंपणौ—सर्व०पु० (स्त्री०—आंपणी) अपना। उ०—इसौ ही कोई आंपणौ परघै रै मांहीं छै।—सूरे खींवे री बात

आंपां—सर्व० [बहु०] अपन, हम।

आंपांणौ—(स्त्री० आंपांणी) सर्व०—अपना।

आंपारौ—सर्व०—अपना।

आंपे, आंपै—सर्व०—१ अपन, हम. २ अपने-आप।

आंब—सं०पु० [सं० आम्र] १ आम, आम्र. [सं० अंबक] २ नेत्र, नयन।

आंबउ—सं०पु० [सं० आम्र] आम, आम्र। उ०—ढाढ़ी एक संदेसड़उ, कहि ढोला समझाई। जोवण आंबउ फळि रह्यउ, साख न खाअउ आई।—ढो.मा.

आंबखास—सं०पु० [अ० आमखास] महलों के भीतर का वह भाग जहां बादशाह वा राजा बैठ कर सलाह-मशविरा करते थे।

उ०—बद हुवौ घाल जळ मांन त्रास, खूंदाळम वाळी आंबखास।
—वि.सं.

आंबर—सं०पु० [सं० अंबर] आकाश, गगन।

आंबलवांणी, आंबलवांणौ—सं०स्त्री०पु० [सं० अम्लिका+पानीय] देखो 'आंमलवांणी, आंमलवांणौ'।

आंबली—सं०स्त्री० [सं० अम्लिका] १ इमली तथा उसका वृक्ष. २ देववृक्ष (अ. मा.)

आंबांण—सं०पु०—जयपुर से छः मील दूर आमेर नामक कस्बा।

आंबाड़ी—सं०स्त्री०—१ एक प्रकार का पौधा जिसकी पतली टहनियों की रस्सी बनाते हैं। इनके बीज चिकने होते हैं तथा मवेशियों को खिलाए जाते हैं. २ हाथी पर कसा जाने वाला चारजामा।

आंबानेर—सं०पु०—जयपुर से छः मील दूर आमेर नामक एक कस्बा।

आंबाहळद, आंबाहळदी—सं०स्त्री०—कपूरहल्दी जो दवाई के रूप में प्रयोग में लाई जाती है।

आंबीजणौ, आंबीजबौ—क्रि०अ०—१ अधिक शारीरिक कार्य करने या अधिक चलने से शरीर का ऐंठा जाना (श्रमरत)
[सं० अम्लित] २ नींबू, आम, अमचूर, इमली आदि खट्टे पदार्थों के खाने से दांतों का खट्टा हो जाना।

आंबीजियोड़ौ—भू०का०कृ०—१ वह जिसका शरीर अधिक शारीरिक कार्य करने या अधिक चलने से ऐंठ गया हो. २ वह जिसके दांत नींबू, आम, अमचूर, इमली आदि। खट्टे पदार्थों के खाने से खट्टे हो गये हों।

आंबीहळद—सं०पु०—देखो 'आंबाहळदी'।

आंबेर—सं०पु०—१ जयपुर से छः मील दूर एक कस्बा जो प्रसिद्ध ऐतिहासिक स्थान है. २ एक प्रकार की बंदूक।

आंबौ—स०पु० [सं० आम्र] १ आम, आम्र (अ.मा.)

कहा०—१ खावै आंबा नी हुइ जावै लांबा—अधिक आम खाने से मनुष्य रोगी होता है. २ निंबोळी खाई जिणनै कंई ठा कै आंबौ कैड़ौ होवै—घटिया वस्तु पाने वाला बढ़िया वस्तु का अनुभव कैसे कर सकता है।

२ पुत्री को विदा देते समय गाया जाने वाला एक गीत।

आंम—सं०पु० [सं० आम्र] १ एक प्रसिद्ध रसीला, मीठा और परम स्वादिष्ट फल तथा उसका वृक्ष रसाल।

कहा०—१ आंम खावण सूं कांम कै रूंख गिणण सूं—आम खाने से काम या पेड़ गिनने से २ आंम खावणा कै रूंख गिणणा—आम खाने या रूंख गिनने ? व्यर्थ की बातों में मगजपच्ची न करके सीधे अपना मतलब पूरा करना या जो चीज सामने आवे उससे लाभ उठाना चाहिए. ३ आंम फळै नीचौ तुलै, ऐरंड फळै इतराय—आम फलता है तो नीचे की ओर झुकता है, एरंड फलता है तो इतराता है (फैलता है।) ४ आंम फळै नीचौ लुळै ऐरंड अकासां जाय—आम फलता है तो नीचे झुकता है, ऐरंड आकाश की ओर जाता है। बड़ा आदमी संपत्ति या प्रभुता पाकर नम्र होता है और तुच्छ व्यक्ति इतराने लगता है।

(रू०भे०—आंवौ) [सं० आम] २ आमाशय रोग. ३ खाए हुए अन्न के कच्चा रहने से अपचकृत सफेद तथा लसीला मल, आँव.
वि० [सं०] १ कच्चा, अपक्व. [अ०] २ साधारण, मामूली.
[अ०] ३ प्रचलित, प्रसिद्ध।

आंमखांनौ—सं०पु० [सं० आमखास] दरबारआम, वह राज-सभा जिसमें सब आदमी जा सकें।

आंमखास—सं०पु०—देखो आंबखास'।

आंमटी—सं०स्त्री०—डर, आतंक. भय। उ०—अदावां बिसर विण लगे नह आंमटी तुरी वण चांमटी नवै ताता।—अज्ञात

आंमडणौ, आंमडबौ—क्रि०अ०—मिटना, नष्ट होना। उ०—खड़हड़ै इंद्र कालंतरै पड़ै रुद्र ब्रह्मा पड़ै। रूपक नांम रायसिंघ रौ तौही जरा न आंमड़ै।—नैणसी

आंमडणहार-हारौ (हारी), आंमडणियौ—वि०—नष्ट होने वाला।

आंमडिग्रोड़ौ-आंमडियोड़ौ-आंमड्योड़ौ—भू०का०कृ०—नष्ट, मिटा हुआ.

आंमडीजणौ, आंमडीजबौ—मिटा जाना, नष्ट किया जाना।

आमडीजियोड़ौ—मिटाया गया हुआ।

आंमडियोड़ौ—भू०का०कृ०—नष्ट, मिटा हुआ।
(स्त्री०—आंमडियोड़ी)

या गलती को न देखना. ३ आंधौ बणाणौ—धोखा देना, मूर्ख बनाना. ४ आंधौ होणौ—बेफिक्र होना, सामने की चीज का भी ध्यान न रखना. ५ आंधौ राज—ऐसा शासन या राज्य जहाँ अंधेर हो।

कहा०—१ आंधां री मार्‌यां रांम ही उडावै—निःसहाय व्यक्ति की सहायता भगवान ही करते हैं. २ आंधी ना देखै पितरां रा मूंढ़ा—अंधी पितरों का मुंह नहीं देख पाती, ऐसी जगह ले जाना जहां अपना कोई परिचित न हो. ३ आंधी पीसै कुत्ता खाय—अंधी पीसती है और कुत्ते खाते हैं—जहां अंधाधुंधी चलती हो। जब कोई व्यक्ति अपने लाभ या उपार्जित धन या संपत्ति की ठीक-ठीक व्यवस्था न करे और दूसरे लोग उसको उड़ावें. ४ आंधै आगै रोवै, नैण गमावै—जो सुने नहीं उससे आजिजी करना। जो समझे नहीं उसको अपना गुण बताना. ५ आंधै आगै रोवौ, भलां ही नैण गमावौ—देखो 'आंधै आगै रोवै, नैण गमावै.' ६ आंधी रौ जागण—अंधी स्त्री अगर जगती भी रहे तो भी उसका जागरण व्यर्थ होता है, वह पहरा नहीं दे सकती, अव्यवस्था व अंधाधुंधी चलने पर. ७ आंधै कुत्ते रै खोळण भी खीर—अंधा या विवेकहीन व्यक्ति बुरी वस्तु को भी अच्छी समझता है व उसे दुख या असंतोष नहीं होता. ८ आंधै नै कांई जोईजै ? दो आंखियां—अन्धे को क्या चाहिए, परमवांछित वस्तु की प्राप्ति पर. ९ आंधै नै काच देखावणौ है—गुणों को न समझने वाले व्यक्ति के आगे गुणों का प्रदर्शन करना व्यर्थ है. १० आंधै रौ तंदूरौ रांमदेवजी बजावै—निःसहाय की सहायता भगवान करते हैं. ११ आंधौ जांणै आंधै री बलाय जांणै—अंधा जाने, अंधे की बला जाने—किसी बात की कुछ भी परवाह न करने पर. १२ आंधौ नूंतै दोय जिमावै—जो अंधे को जिमाता है उसे दो को भोजन कराना पड़ता है—एक अंधा, दूसरा अंधे को लाने वाला। व्यर्थ की परेशानी मोल लेने पर. १३ आंधौ नै अजांण बराबर हुवै—अंधा व अविवेकी व्यक्ति अनजान व्यक्ति के समान होते हैं। अगर इनसे कोई भूल भी हो जाय तो विशेष ध्यान नहीं देना चाहिए. १४ आंधा नै आंधौ नहीं कैणौ—अंधे को अंधा नहीं कह कर सूरदास कहना चाहिए, अंधा कहने से उसे दुख होता है. १४ आंधौ भींत है कै भचीड़ौ खायां ठा पड़ै—मूर्ख आदमी समझाने से नहीं समझता ठोकर खाने पर ही समझता है. १६ आंधा में कांणा राव—गुणहीन मनुष्यों में थोड़े गुण वाला मनुष्य भी बड़ा समझा जाता है. १७ आंधौ बांटै सीरणी घर-घरां नै देय—अंधा देवता का प्रसाद बांटता है तो घर के व्यक्तियों को ही देता है। स्वार्थी के लिए जो सब चीजें अपने ही आदमियों को दे. १८ आंधा नै हीया फूटोड़ौ मिळणौ—जैसे को तैसा मिलना।

अल्पा०—आंधलियौ, आंधलौ, आंधियौ।

(महत्त०—अंध, आंघल। आदरसूचक—सूरदास)

३ जिसमें कुछ न दिखाई दे, धुंधला।

(यौ०—आंधौ काच, आंधौ कूऔ) (रू०भे०—अंध, आंदौ)

आंधौकाच—सं०पु०—धुंधला दर्पण जिसमें प्रतिबिंब स्पष्ट न दिखाई देता हो।

आंधौकूऔ—सं०पु० [सं० अंधकूप] सूखा कुआ।

आंध्यारी—सं०स्त्री०—अंधकार, अंधेरा (अमरत)

आंध्र—सं०पु०—दक्षिण भारत का एक प्रांत।

आंन—सं०पु०—१ मर्यादा. २ शान।

मुहा०—आंन री किरची—गर्वयुक्त, बड़ी शान रखने वाला।

३ अदब, लिहाज. ४ टेक, इज्जत।

वि०—अन्य, दूसरा। उ०—सुरपुरी अजोध्या दुवि समांन, एहवी पुरी बीजी न आंन।—रांमरासौ

आंनक—सं०पु० [सं०] १ डंका, नगाड़ा. २ भेरी, दुंदुभी. ३ गरजता हुआ बादल।

आंनद्ध आंनध—सं०पु०—१ नगारा, ढोल, मृदंग। उ०—घटा भद्द ज्यों नद्द आंनद्ध घोरै। धुवै ताळ कंसाळ सांगीत घोरै।—मे.म. वि०—कसा हुआ, मढ़ा हुआ, बद्ध, मिलित।

आंनन—सं०पु० [सं० आनन] मुख, चेहरा, वदन। उ०—आंनन रांम रांम सुण आंणै, अंतर आंणै रांम उर।—महाराणा कंभा री गीत

आंनन-पांच—सं०पु०—सिंह, पंचानन (ना. डिं. को.)

आंनबांन—सं०स्त्री०—सजधज, ठसक, तड़क-भड़क।

आंनर—सं०पु० [अं० ऑनर] सम्मान, प्रतिष्ठा।

आंनरेरी—वि०—केवल प्रतिष्ठा के उद्देश्य से बिना वेतन काम करने वाला, अवैतनिक।

आंनाकांनी—क्रि०वि० [सं० अनाकर्णन] टालमटूल, सुनी-अनसुनी करना, न ध्यान देना, हीलाहवाला, आगापीछा।

आंनाड़—सं०पु०—१ किला, गढ़. २ वीर, योद्धा। उ०—सुत कल्यांण साह भुज सुजड़ां, अर समहर जीपै आंनाड़। चुणती चोळ हुई चांचाळी पसरी, चोळ ज हुआ पाहाड़।—संकर बारहठ ३ देखो 'अनड़'।

आंनादेस—सं०पु० [सं० अन्य देश] अन्य देश, दूर। उ०—आओ कोई देर लगाई, कोई आंनादेसर गयौ हौ कांई ?—बरसगांठ

आंनासागर—सं०पु०—चौहान अर्णोराज का बनवाया हुआ अजमेर के समीप एक आनासागर नामक तालाब।

आंनी—सं०स्त्री०—देखो 'आंनी'।

आंनीकांनी—क्रि०वि०—इधर-उधर, सब जगह। उ०—कही ही छांनी कांन में, मांनी नहीं महाराज। बांणी पड़ी बिवेक में, आंनीकांनी आज।—ऊ.का.

आंनूं—सर्व०—इनको।

सं०पु०—देखो 'आंनौ'।

आंनूपरबी—वि० [सं० आनुपूर्वी] क्रमानुसार, एक के बाद दूसरा, क्रमानुगत, अनुक्रम।

आंनेक—वि०—अनेक, कई। उ०—पांण बुध अनावत तणै जस पावणी,

ग्रांमोद-प्रमोद–सं०पु० [सं० ग्रामोद-प्रमोद] १ भोग-विलास. २ हँसी-खुशी।
ग्रांम्नाय–सं०पु०—१ वेद-पाठ. २ वेद।
ग्रांम्रकूट, ग्रांम्रकूटगिरि–सं०पु०—एक पर्वत का नाम। उ०—वरखंतो ग्रगमाप बुझावै दावानळ नै। ग्रांम्रकूटगिरि ग्राप हरखसी मीत मिळण नै।—मेघ.
ग्रांम्रयग्रास–सं०स्त्री०—ग्रग्नि, ज्वाला (डि.को.)
ग्रांम्लपित, ग्रांम्लपित्त–सं०पु० [सं० ग्रम्लपित्त] एक रोग विशेष जिसमें जो कुछ भोजन किया जाता है पित्त के प्रकोप से खट्टा हो जाता है।
ग्रांम्ही-सांम्ही ग्रांम्हो-सांमा, ग्रांम्हीं-सांम्हीं–क्रि०वि०—ग्रामने-सामने, एक दूसरे के सम्मुख, मुकाबले में।
ग्रांयणी–वि०स्त्री०—वह गाय या भैंस जिसने दूध देना बंद कर दिया हो।
ग्रांर–सं०पु० [सं० ग्रश्रु] ग्रांसू, ग्रश्रु, नेत्रजल। उ०—साई दे दे सज्जना, रातड़ इंणि परि रून। उरि ऊपरि ग्रांर ढळइ, जांणि प्रवाळी चून।—ढो.मा.
ग्रांरै–सर्व०—इनके। उ०—थेटू घर संवर ऊंडा सर थागै। ग्रांरै माळागर मूंढा रै ग्रागै।—ऊ.का.
ग्रांरौ–वि०—दूसरा, ग्रन्य।
सर्व०—इनका।
ग्रांव–सं०पु० [सं० ग्राम] खाये हुए ग्रन्न के कच्चा रहने से ग्रपचकृत सफेद तथा लसीला मल।
ग्रांवण–सं०पु० [सं० ग्रामिक्षा] १ दूध से दही जमाने के निमित्त दूध में डाला जाने वाला खट्टा पदार्थ. २ लोहे की मामी जो बैलगाड़ी के चक्के के उस छेद के मुंह पर लगाई जाती है जिसमें से होकर धुरी का डंडा जाता है—मुहंदी।
ग्रांवरत–सं०पु०—१ युद्ध में सैन्य-दल का मंडलाकार घेरा. २ युद्ध उ०—ग्रांवरत फेरि संघारि भुंभारि ग्ररि।—हा.भा.
ग्रांवळ–सं०स्त्री० [सं० उल्व] १ वह झिल्ली जिसमें गर्भ का बालक लिपटा होता है. २ वह झाड़ीनुमा पौधा जिसके फूल पीले रंग के होते हैं. वह चमड़ा सींजने के काम ग्राता है।
वि०—सीधा, सरल।
ग्रांवळणो, ग्रांवळबौ–क्रि०स० [सं० ग्रामोटन] १ मरोड़ना. २ बट देना।
ग्रांवळणहार-हारौ (हारी), ग्रांवळणियौ–वि०—मरोड़ने वाला।
ग्रांवळनाळ–सं०स्त्री० [सं० उल्व] जरायु, जर।
ग्रांवळा–सं०पु०—१ स्त्रियों के पैरों में धारण किया जाने वाला जेवर विशेष. २ घोड़ी के पैर में पहनाने का जेवर. ३ गाड़ी के पहियों को खाल से बांधते समय नेह के चारों ग्रोर लगाए जाने वाले लकड़ी के छोटे डंडे।
ग्रांवळाइग्यारस–सं०स्त्री० [सं० ग्रामलक+एकादशी] फाल्गुण मास के शुक्ल पक्ष की एकादशी।
ग्रांवळाभूल–वि०—सुसज्जित, पूर्ण शृंगारयुक्त।
सं०पु०—सुसज्जित योद्धा। उ०—ग्रांवळाभूल रावत पड़ै ग्राविढ़ा, विढ़ा संग सांवळा सात वीसी।—गिरवरदांन सांदू
ग्रांवळानवमी–सं०स्त्री०—कार्तिक मास के शुक्ल पक्ष की नवमी।
ग्रांवळासार, ग्रांवळासारगंधक–सं०पु०—खूब साफ किया हुग्रा वह गंधक जो पारदर्शक हो गया हो।
ग्रांवळियोड़ौ–भू०का०कृ०—मरोड़ा हुग्रा।
(स्त्री० ग्रांवळियोड़ी)
ग्रांवळी–सं०स्त्री०—१ देखो 'ग्रांवण' (२)
२ गुदा की नली (ग्रमरत)
ग्रांवळीइग्यारस–सं०स्त्री०—फाल्गुन मास के शुक्ल पक्ष की एकादशी।
ग्रांवळीजणौ, ग्रांवळीजबौ–क्रि० भाव वा०—१ मरोड़ा जाना. २ मन ही मन कुढ़ा जाना।
ग्रांवळीजियोड़ौ–भू०का०कृ०—मरोड़ा गया हुग्रा, मन ही मन कुढ़ा हुग्रा।
(स्त्री० ग्रांवळीजियोड़ी)
ग्रांवळौ–वि०—टेढ़ा, बांका।
सं०पु०—१ पैरों में पहिनने का एक जेवर विशेष.
[सं० ग्रामलक, प्रा० ग्रामलग्रो] २ एक फल जो ग्रौषधि के काम ग्राता है ग्रांवला तथा इसका वृक्ष।
ग्रांवां, ग्रांवा–सं०स्त्री०—कुम्हारों का वह गड्ढा जहां वे मिट्टी के बर्तन पकाते हैं।
ग्रांसढ़ियौ–सं०पु०—एक प्रकार का घोड़ा विशेष जिसकी ग्रांख फरकने पर ग्रांख के पास की भौंरी भी फरकती है। (ग्रशुभ)—शा.हो.
ग्रांसू–सं०पु० [सं० ग्रश्रु] करुणा, शोक या प्रेम ग्रादि के कारण नेत्रों से निकलने वाला जल। उ०—ग्रांसू ग्ररु काजळ मिळि त्यांही मसि हुई तासु कागळ लिखै छै।—वेलि. टी.
क्रि०प्र०—ग्राणौ-गिरणौ-ढळकाणौ-नांखणौ-पीवणौ-पूछणौ-बवावणौ-भरणौ-लाणौ-सुखाणौ।
कहा०—१ ग्राठ-ग्राठ ग्रांसू रोवणौ—बहुत रोना. २ पीर मरी सासू नै ऐस ग्राया ग्रांसू—किसी कार्य की प्रतिक्रिया नियत समय के बहुत बाद में होने पर।
ग्रांसूड़ो, ग्रांसूड़ौ–सं०पु०—ग्रांसू, ग्रश्रु (ग्रल्पा०)
(स्त्री ग्रांसूड़ी) उ०—मुख भीज्यो ग्रंगिया चूयी, चुयचुय टपकी जाय। ग्रांसूड़ां री वार तनेयक डट जाए।—लो.गी.
ग्रांसूढ़ाग–सं०स्त्री०—घोड़े के नेत्रों के नीचे की भौंरी (चक्र) जो ग्रशुभ मानी गई। (शा.हो.)
ग्रांहां–ग्रव्यय—नहीं, जीभ हिलाने के श्रम से बचने के लिए किसी प्रश्न का नकारात्मक उत्तर देते समय बोला जाने वाला शब्द।
ग्रांहीणो–सं०पु०—देखो—'ग्रहीणौ'
ग्रा–ग्रव्यय—शब्दों के ग्रादि में ग्राने वाला उपसर्ग जो ग्रभिविधि, ग्रवधि, पर्यंत, सब प्रकार, न्यून ग्रौर विपरीत का ग्रर्थ देता है।

आंमणदूमण–वि०—खिन्न-चित्त, उदासीन । उ०—सौ राव **आंमणदूमण** अमूझियौ ही ऊभौ छै ।—डाढ़ाळा सूर री वात
(स्त्री० आंमणदूमणी)

आंमणदूमणा–सं०स्त्री०—उदासीनता । उ०—साहिब हंसउ न बोलिया मुझसूं रीसज आज । अंतरि **आंमणदूमणा**, किसउ ज इवड़उ काज ।
—ढो.मा.

आंमणदूमणौ–वि०—देखो 'आंमणदूमण' ।

आंमणाय–सं०पु० [सं० आम्नाय] देखो 'आंमनाय' ।

आंमद–सं०स्त्री० [फा० आमद] १ आना, आगमन. २ आय, आमदनी ।

आंमदरफत–सं०पु० [फा० आमदरफ्त] आना-जाना, आवागमन ।

आंमदांनी–सं०स्त्री० [फा० आमदनी] आय, प्राप्ति, आने वाला धन ।

आंमना, आंमनाय–सं०स्त्री० [सं० आम्नाय] १ इच्छा, चाह ।
उ०—सत वीस वरण चारण विख्यात, नर नकौ **आंमना** निज सनाथ ।—पा.प्र. २ प्रण, प्रतिज्ञा. [सं० आम्नाय] ३ वेद, श्रुति (डि.को.) ४ अभ्यास, परंपरा (डि.को.)
५ श्रीमाली ब्राह्मणों का किसी प्रदेश से संबंधित संघ ।

आंमने-सामने–क्रि वि० [अनु०] परस्पर एक दूसरे के सामने, प्रत्यक्ष ।

आंमनौ–सं०पु०—कोप, वैमनस्य । उ०—हूं सूंडौ राजपूत छूं, सेखा सूजावत रै वास वसूं छूं नै म्हारा धणी सूं **आंमनौ** कर दांणौ-पांणी अठै लायौ छै ।—जैतसी ऊदावत री वात

आंमनौ-सांमनौ–सं०पु० [अनु०] मुकाबला ।

आंममारग–सं०पु० [फा० आम+सं० मार्ग] राजपथ, सार्वजनिक रास्ता ।

आंमय–सं०पु० [सं० आमय] १ रोग, बिमारी, पीड़ा, व्याधि ।
उ०—१ पहली कियां उपाय, दव दुसमण **आंमय** दटै । प्रचंड हुवां वस वाव, रोभा घालै राजिया ।—किरपारांम
उ०—२ रोम रोम **आंमय** रहै, पग पग संकट पूर । दुनियां सूं नजदीक दुख, दुनियां सूं सुख दूर ।—वां.दा.
२ आघात, चोट (ह.नां.)
सर्व०—इसमें ।

आंमरख, आंमरस–सं०पु० [सं० आम्र+रस] आमरस, आमों का रस, अमावट । [सं० आमर्ष] दुःख, क्रोध ।

आंमरसतौ, आंमरासतौ–सं०पु०—राजपथ, सार्वजनिक रास्ता ।

आंमल–सं०पु०—१ भाला. २ राज्यकर्मचारी. [फा० अमला] ३ छोटी फौज ।

आंमलकी–स०पु० [सं० आमलकी] छोटी जाति का आंवला, आंवली ।

आंमलपित्त–सं०पु० [सं० अम्लपित्त] एक रोग विशेष जिसमें जो कुछ भोजन किया जाता है, पित्त के दोष से खट्टा हो जाता है ।

आंमलवांणी, आंमलवांणौ–सं०स्त्री०पु० [सं० अम्लिका+पानीय] इमली को भिगो कर निचोड़ा गया पानी जिसमें गुड़ अथवा शक्कर मिला कर मीठा भी बनाया जाता है ।

आंमलिय–सं०पु०—जोश, आवेश । उ०—ऊठिया कोपि **आंमलिय** अंग, आकासि अड़ाविय उत्तिमंग ।—रा.ज.सी.

आंमली–सं०स्त्री० [सं० अम्लिका] १ इमली, एक बड़ा वृक्ष जिसके लंबे फल खट्टे होते हैं और खटाई के काम में आते हैं. २ इसी वृक्ष के फल ।

आंमळी–वि०—निर्मल, विमल । उ०—आवी सब रत **आंमळी**, त्रिया करइ सिणगार । जिका हिया न फाटही, दूर गया भरतार ।—ढो.मा.

आंमलेट–सं०पु० [अं०] मुर्गी के अंडे के अन्दर के पदार्थ को प्याज, मिर्च व घी आदि के साथ तवे पर बनाया गया एक खाद्य पदार्थ ।

आंमवात–सं०पु० [सं०] एक प्रकार का रोग विशेष ।

आंमसांमहा–क्रि०वि०—आमने-सामने ।

आंमसूळ–सं०पु० [सं० आमशूल] एक प्रकार का रोग विशेष जिसमें आंव के कारण पेट में मरोड़े होने लगते हैं ।

आंमहौ-सांमहौ–क्रि०वि०—आमने-सामने, सम्मुख ।

आंमजीरण–सं०पु० [सं० आमाजीर्ण] एक प्रकार का अजीर्ण रोग ।
(अमरत)

आंमास–सं०पु० [सं० आवास] १ निवास, घर, आवास, महल ।
उ०—रत्तं चक्ख सहासं, **आंमासं** पासि रमणीयं ।—रा.रू.
२ आकाश । उ०—गैमर गोरी राय, तिण **आंमास** अड़ाविया ।
३ आमखास । —नैणसी

आंमासय–स०पु० [सं० आमाशय] किये हुए भोजन के पदार्थ एकत्रित होने व पचने की पेट के अंदर की थैली, आमस्थली ।

आंमासांमाह–क्रि०वि०—देखो 'आंमसांमहा' (रू.भे.)

आंमिक्ख, आंमिख–सं०स्त्री० [सं० आमिष] मांस, गोश्त ।
उ०—कुसूमल छोळ भरै नड खड्ड, करद्दम **आंमिख** हड्ड कवड्ड ।
—मे.म.

आंमिखचर, आंमिखहार–सं०पु०—मांसाहारी ।

आंमिल–सं०पु० [अ०] हाकिम, अधिकारी । उ०—**आंमिल** अमली रा नयण जुड़्या रह्या अठ जांम । अमल थकां उघड़्या नहीं, अब उघड़े केहि कांम ।

आंमीणौ–सर्व० [सं० अस्माकम्] देखो 'अम्हीणौ' (रू.भे)
उ०—सगत तणा हुकमी सुपह, ब्रन रा ओठंम वीर । यळ ऊपर रह जौ अमर 'पाल' **आंमीणा** पीर ।—पा.प्र.

आंमी-सांमी–क्रि०वि०—देखो 'आंमसांमहा' ।

आंमी हळदी–सं०स्त्री०—देखो 'आंबाहळदी' ।

आंमुख–सं०पु० [सं०] १ नाटयशास्त्र के अंतर्गत नाटक की प्रस्तावना । [सं० आमिष] २ मांस ।

आंमू–सं०पु०—आम । उ०—**आंमू** तौ पाक्या नींबू रस भरया, दूजौ बधावौ जी भंवरजी रा सहर में ।—लो.गी.

आंमेर–सं०स्त्री०—जयपुर से छः मील दूर एक प्राचीन ऐतिहासिक कस्बा ।

आंमोद–सं०पु० [सं० आमोद] १ आनंद, हर्ष, खुशी. २ दिल-बहलाव. ३ सौरभ, गंध ।

हले नद पूरह वहाळा आउगाळ उमंड मंडे वारह मेघमाळा ।
—पहाड़खां आढ़ौ

२ सत्ताइस नक्षत्रों के अन्तर्गत इक्कीसवां नक्षत्र उत्तराषाढ़ा ।

आउगो, आउगौ–वि०—पूरा, पूर्ण, अखंड (पि.प्र.)

उ०—सारी धर भोगवि दिन साजा, रिण आउगौ मूझ दे राजा ।
—वचनिका

आउट–वि० [अं०] खेल में हारा हुआ या बहिर्भूत ।

आउदौ–वि० (स्त्री० आउदी) देखो 'आसूधौ' ।

आउध–सं०पु० [सं० आयुध] शस्त्रास्त्र, हथियार । उ०—इतर सत्रु आयुधिक अट्ठ जुज्झे गाहि आउध ।—वं.भा.

आउधि–वि०—ताजा । उ०—आरुहिय अस्ति आउधि अयाळ मुगलां मळेवा 'जइतमाल' ।—रा.ज.सी.

सं०पु०—१ युद्ध. [सं० आयुध] २ अस्त्र-शस्त्र ।

आउधिक, आउधीक–वि० [सं० आयुध+ईक रा० प्र०] शस्त्र धारण करने वाला योद्धा । उ०—जरै विजैसूर भी भावी नूं दोस दे'र आपरा आउधीक पूंतारि साम्हौं ही आयौ ।—वं.भा.

आउवौ वि० (स्त्री० आउवी) देखो 'आसूधौ'

आउरदा–सं०स्त्री० [सं० आयुस] आयु । उ०—ज्यों ज्यों राति घटै छै सु जांणे आउरदा घटै छै ।—वेलि. टी.

आऊखांण–सं०पु०—१ पुराने समय में चमड़े पर लिया जाने वाला सरकारी कर. २ मवेशी का पूरा चमड़ा ।

आऊ–सं०स्त्री० [सं० आयु] आयु, उम्र, वयस । उ०—अर आपरी आऊ रै बळ ऊबरिया अंगनू कंवाड़ पणा मैं गाढ़ौ करण कलंव रूप कांटां मैं जड़ियौ ।—वं.भा.

आऊठांण–सं०पु०—देखो 'आइठांण' । उ०—जठै तारागढ़ हुवी जिण अद्रि पर चामुंडा तीन ही देवियां रा स्थांन सरणीस्वर, सिव को मंदिर, एक छोटौ तड़ाग, जैतसागर एक, ए मात ही मुख आऊठांण पाया ।—वं भा.

आएड़ौ–सं०पु०—१ आर्द्रा नक्षत्र का एक नाम ।

सं०पु० [सं० आखेटक] २ शिकारी, आखेटक ।

आकंप–सं०पु०—भय, घबराहट । उ०—ववै पूर हैलूर फौजां सवाई, प्रयौ भूप आकंप साकंप पाई ।—रा.रू.

(यौ०—आकंप-साकंप)

आकंपणौ, आकंपवौ–क्रि०अ०—कंपित होना, कंपकंपाना ।

आकंपियोड़ौ–भू०का०कृ०—कंपकंपाया हुआ, कंपित ।

(स्त्री० आकंपियोड़ी)

आक–सं०पु० [सं० अर्क, प्रा० अक्क] १ मंदार ।

क्रि०प्र०—चढ़णी-देणी-पावणी-लागणी ।

मुहा०—आक पावणौ—तंग करना, कष्ट देना ।

कहा०—१ आक धतूरा नींवड़ा–यांनै सींचौ घी सूं, ज्यांरा पड़्या सुभाव जासी जीव नूं—दुष्ट आदमी का कितना ही भला कीजिए किन्तु वह अपनी दुष्टता नहीं छोड़ता. २ आक में आंबौ नीपज्यौ—नीच कुल में अच्छा पुरुष पैदा हुआ, दुष्ट के सज्जन पुत्र जन्मा, असम्भव वात हुई. ३ आक री कीड़ी आक सूं राजी—प्रत्येक मनुष्य अपनी ही परिस्थिति को पसन्द करता है. ४ आळी चांमड़ी आक पावै—बहुत अधिक कष्ट देना. ५ मरतां मरतां ई आक पावै—अंत समय तक कष्ट देना. ६ मरतौ मरतौ ई आक पावै—मरते मरते भी दूसरों को कष्ट देना ।

(रू०भे० आकड़ौ, अक्क) (अल्पा० आकड़ियौ)

(महत्त० आकड़) [रा०] २ बैलगाड़ी में थाटे (मुख्य चौड़ा तख्ता) के नीचे लगाया हुआ वह चौड़ा तख्ता जो घोड़े के खुर की आकृति का होता है ।

(मि० अंगठ)

आकड़–सं०पु०—आक, मंदार ।

आकड़ा-काकड़ा–सं०पु०—छोटे बच्चों का रोग विशेष जिसमें शीतला के समान फफोले होते हैं । (क्षेत्रीय) (मि० अचवड़ा)

आकड़ियौ–सं०पु०—१ गेहुँओं की फसल में होने वाली एक प्रकार की घास. २ आक का छोटा पौधा (अल्पा०) ।

आकड़ौ–सं०पु०—आक, मंदार, देखो 'आक' (१)

मुहा०—१ आकड़ा रै लागणी—सर्वजनों को सहज ही किसी दुर्लभ वस्तु की प्राप्ति होने पर. २ आकड़ौ सींचणौ—उपयोग रहित व वेकार वस्तु या स्थान पर व्यय करना, निरर्थक परिश्रम करना ।

आकडोडियौ–सं०पु०—मंदार के फूल जो महादेवजी को चढ़ाए जाते हैं.

आकवत–सं०पु० [अ० आकिबत] १ परलोक. २ मृत्यु के बाद की अवस्था ।

आकबाक–वि०—देखो 'आकवाक' (रू.भे.)

आकर–सं०पु० [सं] १ खान, खदान । उ०—जग जंपत हम्मीर जिहि कहि आकर गुनकेर ।—वं.भा. २ झुंड, समूह. ३ खजाना. ४ भेद, किस्म, जाति. ५ तेज । उ०—ऊटां लीजइ आकरा, चालीय चतुरास्या सांमहां जांन ।—वी.दे. ६ तलवार चलाने का एक भेद ।

आकरखण–सं०पु० [सं आकर्षण] कामदेव के पांच बाणों में से एक ।

आकरखणौ, आकरखवौ–क्रि०स० [सं० आकर्षण] आकर्षित करना, खींचना । उ०—जैसे प्रऊढा नाइका नाइक कौं आकरखै मोड़ा छांडै ।—वेलि. टी.

आकरग्यांन–सं०पु० [सं० आकरज्ञान] चौसठ कलाओं के अंतर्गत एक कला, खानों की कला ।

आकरणांत–क्रि०वि०—कान तक । उ०—तेहे घोड़े किस्या स्त्रिया खिंची चडीया । पंचवीस वरस ऊपहरा । आकरणांत मूंछ, नाभिप्रमांण कूच ।—कां.दे.प्र.

आकरती–सं०स्त्री० [सं० आकृति] देखो 'आकृती' ।

सं०पु०—१ शिव. २ कल्प वृक्ष. ३ परिश्रम. ४ स्तुति. ५ घोड़ा. ६ हाथी. ७ चंद्रमा. ८ चाणक्य. ९ धाम. १० नेत्र. ११ ब्रह्मा. १२ पितामह।

सं०स्त्री०—१३ लक्ष्मी। (एका०–क.कु.बो.)

वि०—१ श्वेत. २ बड़ा या महान।

सर्व० स्त्री०—यह।

क्रि०वि०—१ और. २ इसको, इस बात को।

आग्ररौ–सं०पु० [सं० आश्रम] कच्चा घास-फूस का मकान।

आइंदा–सं०पु०—[फा० आइन्द या आयंद] भविष्य काल, आने वाला समय।

वि०—आगंतुक, आने वाला।

क्रि०वि०—आगे, भविष्य में।

आइ–सर्व०—यह।

आइइता–क्रि०वि०—१ इत्यादि, आदि. २ इसी प्रकार। उ०—**आइइता** कूंपा सह आया, सांमधरम खित करम सवाया।—रा.रू.

आइड़ौ–सं०पु०—वर्णमाला का 'अ' स्वर।

आइठांण–सं०पु० [सं० अधिष्ठान, प्रा० अहिट्ठाण, रा० आइठांण] १ पैर अथवा हाथ की अंगुलियों में अधिक कार्य या एक ही वस्तु के अधिक संघर्ष से पड़ने वाली ग्रंथी जहाँ की चमड़ी कठोर एवं सुन्न हो जाती है। उ०—छाळा पड़ग्या सूड़ करतां, हाथां **आइठांण**। कम्मर हुयगी वेवड़ी, जी करतां निदांण।—रेवतदांन

२ चिन्ह, संकेत। उ०—सांईणौ सालै नहीं, सालै **आइठांण**।

आइणौ–सं०पु० [फा० आइना] १ शीशा, दर्पण. २ दूध का अभाव. (मि० आंहीणौ)

आइयळ–सं० स्त्री० [सं० आर्या, प्रा० अज्जा आजा आजी, रा० आई] १ देवी, शक्ति. २ आवड़ देवी का एक नाम. ३ करणी देवी। ४ दुर्गा।

आइयौ–अव्यय० [सं० अयि] अय, अरे, हे। उ०—पाटोधर धर पौढ़ियौ **आइयौ** लेख अलेख।—ऊ.का.

आइस–सं०स्त्री० [सं० आदेश] १ आज्ञा, आदेश। उ०—राउळ कान्हड़ आइस दियउ, गढ़ अंबेरि मालदे गयउ।—कां.दे.प्र.

सं०पु० [सं० आदेशी] २ संन्यासी, फकीर। उ०—**आइस** देखि सगळां आदेस कीयौ, पिण किण ही ऊळख्यौ नहीं।
—जखड़ा मुखडा भाटी री वात

सं०स्त्री० [सं० आशा] ३ आशा।

आइसा–सं०स्त्री० [सं० आदेश] १ आज्ञा, आदेश. २ आयु।

आइसु–सं०स्त्री०—देखो 'आइस'।

आईदड़ौ–सं०पु०—एक प्रकार का बड़ा वृक्ष जिसकी पतली टहनियों से रेहंट की माला बनती है। इसके तने पर पपड़ी आती है।

आईरौ–सं०पु० [सं० आश्रम] सोने व सामान रखने का मकान।

आई–सं०स्त्री० [सं० आर्या, प्रा० अज्जा, अप० आजी, रा० आई, आयी] १ देवी, दुर्गा, शक्ति. २ करणी देवी का एक नाम, आवड़ देवी का नाम देखो 'आवड़' ३ एक देवी विशेष। यह बीका डावी की पुत्री थी। इसका असली नाम जीजी बाई था जो पीछे से आईजी हो गया। अत्यन्त सुंदरी होने के कारण माँडू के बादशाह ने इससे विवाह करना चाहा, किंतु इसने स्वीकार न किया। यह रैदास भगत की शिष्या थी। अपने पिता के साथ मालवे से मारवाड़ में आई और बीलाड़ा नामक ग्राम में अपना स्थान मुकर्रर किया। आज भी बीलाड़े में इसकी गादी और जलने वाली अखंड ज्योति के दर्शन करने हजारों लोग आते हैं। यहाँ का पुजारी दीवान कहलाता है। आजकल लगभग ५ या ६ लाख व्यक्ति इसके अनुयायी हैं जो आई पंथी या डोराबंद पुकारे जाते हैं। इसके संबंध में कई चमत्कारपूर्ण किंवदंतियां प्रचलित हैं. ४ शृंखला, साँकल. ५ बच्चों को दूध पिलाने तथा उनकी रक्षा करने वाली स्त्री, धाय, उपमाता।

सर्व०—यही, यह।

आईइता–क्रि०वि०—देखो 'आइइता'।

आईड़, आईड़ी, आईड़ौ–सं०पु० [सं० आखेटक] १ आर्द्रा नक्षत्र. २ भील. ३ शिकारी. ४ एक देशी खेल।

आईज–सर्व०—यहीं। उ०—उणांरी हमार तौ आईज इच्छा छै।
—सूरे खींवे री वात

आईजणौ, आईजबौ–क्रि०अ०—आया जाना।

आईजी–सं०स्त्री० (महत्व०) देखो 'आई'।

आईठांण–सं०पु०—देखो 'आइठांण'।

आईनाथ–सं०स्त्री०—देखो 'आई' (३)

आईनौ–सं०पु० [फा० आईना] दर्पण, शीशा।

आईपंथ–सं०पु०यौ०—आई देवी द्वारा चलाया हुआ पंथ विशेष, देखो 'आई' (३)

आईपंथी–सं०पु०—आई पंथ का अनुयायी।

आईयौ–अव्यय [सं० अयि] सम्बोधनसूचक शब्द, हे ! अरे !

आईरौ–सं०पु० [सं० आश्रम] घासफूस की कच्ची कुटिया या मकान।

आईवाळौ–सं०पु०—देखो 'आहीवाळौ'।

आईस–सं०स्त्री०—देखो 'आइस'। उ०—**आईस** दीधौ बीसळराई, प्रोहित मोकळाव्यौ तीणी ठाई।—वी.दे.

आउंस–सं०पु०—एक प्रकार का अंग्रेजी मान जो दो प्रकार का होता है। ठोस वस्तुओं को तौलने में १२ आउंस का एक पौंड और द्रव वस्तुओं को मापने में १६ ड्राम एक औंस होता है।

आउ–सं०स्त्री० [सं० आयु] जीवन, उम्र।

आउखौ–वि०—पूर्ण, पूरी, अखंड। उ०—पारसी रा बोलणहार, आउखी दाढ़ी राखाणहार, वालि बांधि कोडी रा मारणहार।
—रा.सा.सं.

आउगाळ–सं०पु०—१ वर्षा ऋतु का आरम्भ या आगमन। उ०—बरसाळा आग जमी मिट ग्रीखम ज्वाळा खाळा नाळा खळक

रिक्त कुछ न हो, इसकी गणना पंचभूतों के अंतर्गत मानी जाती है। पर्याय०—अंतरीक, अंतरीख अंबर, अनंत, अभ, असमांन, आभ, आभौ, आयास, उडपथ, खगपथ, गंगापथ, गगन, गयण, गैण, गैणाग, ग्रहनेम, नभ, निहंग, पयछाया, पवनमग, पुहकर, पौल, पौहकर, विसनपथ, वोम, मेघ, मेघपथ, वयद, विसनपद, वोम, सुन्य।

मुहा०—१ आकास खुलणौ—वदली न रहना. २ आकास छूणौ—गगनचुंवी होना, वहुत वढ़ कर वातें करना. ३ आकास पाताळ एक करणौ—कोई प्रयत्न न उठा रखना, वढ़-वढ़ कर वातें करना. ४ आकास पाताळ रौ फरक होणौ—वहुत वड़ा अन्तर होना. ५ आकास रा तारा तोड़णा—असंभव कार्य कर डालना. ६ आकास सूं वातां करणी—वहुत ऊँचा होना, वहुत वढ़-वढ़ कर वातें करना।

कहा०—१ आकास विना थांबै खड़ौ है—ईश्वर के कृत्य महान हैं, सत्य पर ही सव कुछ आधारित है। (रू.भे. अकास)

यौ०—आकासगंगा, आकासचारी, आकासनदी, आकासवेल, आकासवांणी, आकासमंडळ, आकासमुखी, आकासलोचण, आकासवांणी, आकासवेल, आकासव्रत्ति।

२ अभ्रक. ३ सूर्य, भानु। उ०—नमौ अरनाद आकास अनाद, नमौ कासव सुत क्रोध कीयंत।—सूरज असतोत्र

आकासगंगा–सं०स्त्री० [सं० आकाश गंगा] आकाश में उत्तर से दक्षिण तक फैला हुआ लम्बे रास्ते नुमा छोटे-छोटे तारों का समूह जो प्रायः अंधेरी रात्रि में स्पष्ट दिखाई देता है।

आकासचारी–वि० [सं० आकाशचारी] आकाश में विचरण करने वाला, आकाशगामी।

आकासनदी–सं०स्त्री० [सं० आकाश नदी] देखो 'आकासगंगा'।

आकासवांणी–सं०स्त्री० [सं० आकाशवाणी] आकाश से देवता लोगों द्वारा बोले जाने वाले शब्द, आकासवाणी, देववाणी।

आकासवेल–सं०स्त्री० [सं० आकाशवल्लि] अमरवेल नामक लता।

आकासमंडळ–सं०पु० [सं० आकाशमंडल] नभमंडल, खगोल।

आकासमुखी–सं०पु० [सं० आकाशमुखी] आकाश की ओर मुँह करके तप करने वाले एक प्रकार के साधु विशेष।

आकासलोचन–सं०पु० [सं० आकाशलोचन] ग्रहों की गति या स्थिति देखने का स्थान।

आकासवांणी–सं०स्त्री०—देखो 'आकासवांणी'।

आकासवेल–सं०स्त्री०—देखो 'आकासवेल'।

आकासवत्ति–सं०स्त्री [सं० आकाशवृत्ति] ऐसी आमदनी जो वंधी न हो, अनिश्चित आय।

आकासी–सं०स्त्री० [सं० आकाश+ई रा० प्र०] धूप आदि से वचने के लिए तानी जाने वाली चांदनी।

वि० [सं० आकाशीय] १ आकाश से संबंध रखने वाली. २ ईश्वरीय, दैवी। उ०—इण माटी में सौ सौ पीढ़ी, मरगी भूखी प्यासी। भाग भरोसै रह्यौ वावळा, प्रीत करी आकासी।—रेवतदान

सं०पु०—वादल, मेघ।

आकासीविरत–सं०स्त्री०—देखो 'आकासव्रत्ति'।

आकींद–क्रि०वि० [अ० यकीन] विश्वास।

आकीन–सं०पु० [अ० यकीन] विश्वास, एतवार।

आकीनदार–सं०पु०—विश्वासपात्र।

आकुरित–वि० [सं० अंकुरित] उत्पन्न, अंकुरित, अंकुर निकला हुआ।

आकुळ–वि० [सं०] १ व्यग्र, उद्विग्न, विकल. २ व्याकुल, क्षुब्ध।

आकुळणौ, आकुळवौ–क्रि०अ० [सं० आकुलित] १ घवराना, व्याकुल होना. २ मिलना, सम्मिलित होना, अपने कुल में मिलना। उ०—पुळियौ पच्चीसौ चोतींसौ चुळियौ। अढ़ताळीसौ भी अंतर आकुळियौ।—ऊ.का.

आकुळता–सं०स्त्री०—व्याकुलता, घवराहट, व्यग्रता।

आकुळियोड़ौ–भू०का०कृ०—१ व्याकुल, घवराया हुआ. २ अपने कुल में सम्मिलित।

आकुळी–वि० [सं० आकुल] १ विकल, व्याकुल। उ०—वात सहू ढोलई सांभळी, माळवणी हुई आकुळी।—ढो.मा. २ उतावली।

आकुळेव–वि० [सं० आकुलित] घवराया हुआ, व्याकुल।

आकूत–सं०स्त्री० [सं०] १ अंदर का आशय. २ वुद्धि।

आकूती–सं०स्त्री० [सं०] स्वायंभुव मनु की तीन कन्याओं में से एक।

आकूर–सं०पु०—अंकुर।

आकेलौ–वि०—एकाकी, अकेला।

आक्रंद, आक्रंदन–सं०पु० [सं०] रोना, चिल्लाना, रुदन, पुकार।

आक्रत, आक्रति, आक्रती–सं०स्त्री० [सं० आकृति] १ आकृति, वनावट, गठन, आकार, रूप। उ०—१ दूव नीर मिळ दोय, एक जिसी आक्रत हुवै।—किरपारांम उ०—२ भली आक्रति भाळ, घणी वणियां थुथकारै।—दमदेव २ मुख, चेहरा. ३ मुख का भाव, चेष्टा।

आक्रम–सं०पु० [सं०] पराक्रम, शूरता।

आक्रमण–सं०पु० [सं०] हमला वलात् किया गया सीमाउल्लंघन।

आक्रांत–वि० [सं०] १ जिस पर आक्रमण हो. २ घिरा हुआ, आवृत्त. उ०—इक नहि आक्रांत क्रांतातुर आडी, डाई अवलोक सोकाकुळ डाडी।—ऊ.का. ३ वशीभूत, पराजित।

आक्रित, आक्रिति, आक्रिती–सं०स्त्री०—देखो 'आक्रति'।

आक्षेप–सं०पु० [सं०] १ आरोप, दोष लगाना. २ कटूक्ति, व्यंग्य, ताना।

आक्षेपक–वि० [सं०] आक्षेप करने वाला।

आक्सिजन–सं०पु०—रूप, रस, गंधरहित एक गैस या सूक्ष्म वायु।

आखंडळ–सं०पु० [सं०] इन्द्र, सुरेश (डि.को., अ.मा.)

वि०—सम्पूर्ण।

आखंडळी–सं०पु० [सं० आखंडल+ई] इंद्र (ना.डि.को.)

सं०स्त्री० [सं० आखंडल+ई] इंद्राणी।

क्रि०वि०—अगाड़ी, आगे।

आकरस–सं०पु० [सं० आकर्ष] खिंचाव।

आकरसक–वि० [सं० आकर्षक] आकर्षण करने वाला।

आकरसण–सं०पु० [सं० आकर्षण] १ एक वस्तु का दूसरी वस्तु को अपनी शक्ति या प्रेरणा से पास लाया जाने का भाव, खिंचाव. २ कामदेव के पाँच बाणों में से एक।

आकरसणक्रीड़ा–सं०स्त्री० [सं० आकर्षणक्रीड़ा] चौसठ कलाओं के अंतर्गत पासा आदि फेंकने की एक कला।

आकरी–सं०स्त्री० [सं० आकर] खान खोदने का काम।
वि०—देखो 'आकरौ'। उ०—*कै या बोल की* **आकरी** ? *कौण दुख देवर ! उळग जाई।*—वी.दे.

आकरीरित, आकरीरुत–सं०पु०—ग्रीष्म ऋतु।

आकरौ–वि० (स्त्री० आकरी) १ बहुत, अत्यधिक।
उ०—सुरतांण साल भ्रंता सवद उर ते चिंता **आकरी**।—रा.रू.
२ अमूल्य. ३ खरा. ४ चोखा, श्रेष्ठ. ५ कठोर, क्रूर, भयंकर! उ०—ए दिव छइ पीउ ! **आकरा**। इण दिव थी सुर नर हुआ छार।—वी.दे.
कहा०—आकरै देव नै सै (सब) कोई नमै—क्रूर देवता को सब कोई नमस्कार करते हैं। बलवान से सभी डरते हैं।
६ हठी, जिद्दी. ७ बहादुर. ८ तेज। उ०—चोथौ रेढ़ौ फिरियौ सौ इसौ **आकरौ** आय फौज सूं भिळियौ सौ सागी कुंअर कन्हां गयौ।
—डाढ़ाळै सूर री वात

आकळ–वि० [सं० आकुल] व्याकुल, बेचैन। उ०—पेखीजै घणा **आकळ** देवत नीराजणती। दुरवळ मौ उणियार विजोगण चित्र संवरती।
—मेघ०

आकलकरौ–सं०पु० [सं० आकारकरभ] अकरकरा (अमरत)

आकळणौ, आकळबौ–क्रि०स० [सं० आकुल] १ दुखित होना, व्याकुल होना (मि० आकळ) २ युद्ध करना। उ०—अणी जटवाड़ वीरांतणी **आकळै**, विवध तीरां तणी मची वरखा।—वां.दा.
आकळणहार-हारौ (हारी), आकळणियौ–वि०—व्याकुल, युद्ध करने वाला, वीर।

आकवाक–वि०—हक्का-वक्का। उ०—काचां **आकवाक** साचां कटाधार छाजै करां ऊधरां कळकै भैरू छाक लेता।—अज्ञात
क्रि०प्र०—करणौ-होणौ।

आकसमात–क्रि०वि०—देखो 'अकसमात'।

आकांक्षा–सं०स्त्री० [सं०] १ अभिलाषा, इच्छा. २ जैनियों का एक अतिचार।

आकांक्षी–वि० [सं० आकांक्षिन्] इच्छुक, आकांक्षा करने वाला।

आकाडकळ–वि०—क्रोध में अपनी मर्यादा छोड़ देने वाला।
उ०—कटक चख चोळ घणबोल *आकाडकळ*, चोळ रंग चाढ़ एलम अचूंडी। आडवारांछिलत खळां सिर आवियौ, चवै जुववार जमरांण चूंडी।—बदरीदास खिड़ियौ

आकाय–सं०स्त्री० [सं०] १ साहस, हिम्मत। उ०—गढ़वां री ली गाय, अप्रछन खीची आयनै। 'बूढ़ौ' तज **आकाय** मिळ बैठौ 'जींदौ' मई।
—पा.प्र.
[सं०] २ शक्ति, बल। उ०—अई तूझ **आकाय** 'वखतेस' छत्रधर अभंग।—प्रथीराज सांदू. [सं०] ३ वीरता, शौर्य। उ०—अडर झोक **आकाय** रिण टला रा दियण अत।—महाराजा मानसिंह
वि० [सं०] १ वीर, बहादुर। उ०—घाय खळ सबळ दळ आभ माथा घसै। ओह **आकाय** 'माधव' कठी ऊससे।
—माधोसिंह साहपुरा रौ गीत
[सं०] २ भीमकाय, प्रबल शरीरधारी, जबरदस्त। उ०—छपी बडवा अगन लाय सौ छोकरौ डोकरौ वडौ **आकाय** डाकी।—फतेसिंह बारहठ

आकार–सं०पु० [सं०] १ स्वरूप, आकृति, सूरत। उ०—अति अदभुत सुंदर **आकार** तैं परणैवा हरख अपार।—ढो.मा.
[सं०] २ 'आ' अक्षर [सं०] ३ आह्वान, बुलावा (डिं.को.)
[सं०] ४ पाताल (ना.डिं.को.)

आकारग्यांन–सं०पु० [सं० आकार ज्ञान] चौसठ कलाओं के अंतर्गत खान विद्या की एक कला।

आकारणौ, आकारबौ–क्रि०स० [सं०] बुलाना।
आकारणहार-हारौ (हारी), आकारणियौ—बुलाने वाला।
आकारिओड़ौ-आकारियोड़ौ-आकारयोड़ौ—बुलाया हुआ।

आकारांत–सं०पु० [सं०] वह वर्ण जो अन्त में 'आ' स्वर सहित हो।

आकारा–सं०पु० [सं० आकार] आकृति, आकार, ढांचा।
उ०—दिन एकण पड़ जायगा धरिया **आकारा**।—केसोदास गाडण

आकारीठ–सं०पु० [सं० अखंड+अरिष्ठ, प्रा० आखारिट्ठ] १ युद्ध, संग्राम, लड़ाई। उ०—खुटा पराथी अनथां दीहां उरा थी ऊखेड़ खंभ। कपोळां वराथी छुटा मदा काळा कीट। जज्र दूत तणा साथी तूटा वज्र गैण जेम, रांण वाळा वेहु हाथी जुटा **आकारीठ**।
—महादांन मेहड़
२ शस्त्र-प्रहार या शस्त्र-प्रहार की ध्वनि। उ०—गोकळ जगौ गरीठ करि विहुँ वाजू 'केसउत' 'माल' हरै जुध मांडियौ रूकै **आकारीठ**।—वचनिका (मि०—आकारीठौ)
वि०—१ अत्यन्त तीक्ष्ण स्वभाव वाला. २ जबरदस्त, बलवान।
उ०—मिळै मूंछ भूहारां डोलती **आकारीठ** महां, गरीठ दोयणां हिया छोलतौ गरूर।—र.रू.

आकारियोड़ौ–भू०का०कृ०—बुलाया हुआ (स्त्री० आकारियोड़ी)

आकारीठौ–सं०पु०—१ महाघोर संग्राम, घमासान युद्ध।
(मि० आकारीठ) २. महाघोर शस्त्रों का प्रहार। उ०—निस गळती भूंदिमौ मत्रीठौ रूक तणौ मच **आकारीठौ**।—रा.रू.
आकारौ–सं०पु०—देखो 'आकारा' (रू.भे.)

आकाळकी–सं०स्त्री० [सं० आकालिका] बिजली (अ.मा.)

आकास–सं०पु० [सं० आकाश] १ शून्य, आसमान, जहाँ वायु के अति-

मित्र गुण तोल वरण गण कळ ववध चत्र असी गीत डिंगल चवै सौ चारण आखाढ़सिद्ध ।—क.कु.बो.

आखाणक-सं०पु०—देखो 'आखाणक'।

आखातीज, आखात्रीज-सं०स्त्री० [सं० अक्षय तृतीया] वैशाख मास के शुक्ल पक्ष की तृतीया। यह राजस्थान का प्रसिद्ध त्यौहार है। (इस दिन को सतयुग का आरम्भ हुआ था, ऐसा कहा जाता है।)

उ०—संवत सोळह सत्तोतरइ, आखात्रीज दिवस मन खरई।—ढो.मा.

कहा०—१ आखातीज तियवकै दिन, गुरु होवै संजोत, तौ भाखै यौं भड्डळी, निपजै नाज बहोत—यदि अक्षय तृतीया गुरुवार को हो तो भड्डली कहती है कि बहुत अनाज पैदा होगा।

कहा०—२ आखातीज दूज की रैण, जाय अचांणक जांचै सैण, कद्धक बिचे मांगी नट जाय, तो जांणीजै काळ सुभाय। हंस कर देय नटै नहिं कोय, मावा सही जमांनी होय—यदि अक्षय तृतीया के पूर्व की द्वितीया के दिन कोई किसी से वस्तु मांगे और उसे वह मिल जाय तो जमाना अच्छा होगा और यदि वह मना कर दे तो अकाल के लक्षण समझना चाहिए।

आखानवमी-सं०स्त्री० [सं० अक्षत+नवमी] कार्तिक मास के शुक्ल पक्ष की नवमी।

आखामंडळ-सं०पु०—द्वारिका के पास का ओखामंडल नामक एक स्थान।

आखारीठ—देखो 'आकारीठ'।

आखिर-वि० [फा०] देखो 'आखीर'।

आखिरकार-क्रि०वि० [फा०] देखो 'आखीरकार'।

आखिरी-वि० [फा०] अंतिम, सबसे पिछला।

आखी-वि० [सं० अक्षय, सं० अखिल] अखंड, पूर्ण, संपूर्ण, पूरी।

उ०—आखी उमर आंरी कम आयी। छळबळ मुतळब कर बसकर छिटकायी।—ऊ.का.

कहा०—आधी छोड़ आखी नै धाय, ऐसा डूबै थाह न पाय—वर्तमान की थोड़ी प्राप्ति को छोड़ कर जो भविष्य की अधिक प्राप्ति के लिए दौड़ता है वह वर्तमान की आधी प्राप्ति से भी हाथ धो बैठता है।

आखीअणी-वि०—१ अटल. २ सम्पूर्ण. ३ सर्वदा अग्रगण्य रहने वाला। उ०—आखीअणी रहे 'ऊदावत', साखी आलम कलम सुणी।

—दुरसौ आढ़ौ

आखीर-वि० [फा० आखिर] अंतिम, पिछला, पीछे का।

सं०पु०—१ अंत, परिणाम, फल. २ समाप्ति।

क्रि०वि०—अंत में, निदान, अंततोगत्वा।

आखीरकार-क्रि०वि० [फा० आखिरकार] १ अंत में, निदान, खैर. २ अवश्य।

आखु, आखू-सं०पु० [सं० आखु] १ मूसा, चूहा। उ०—सिवरात्री मैं सिव दरसण गयो सुकेरी। अवलोके आखू सिव जब हुओ उजेरी। २ सूअर. ३ चोर।

—ऊ.का.

आखेट-सं०स्त्री० [सं०] अहेर, शिकार, मृगया। (रू०भे०—आखेठ)

आखेटक, आखेटी-सं०पु० [सं० आखेटिन्] शिकारी, अहेरी।

आखेठ-सं०स्त्री०—देखो 'आखेट'।

आखेप-सं०पु० [सं० आक्षेप] १ दोषारोपण, अपवाद या इल्जाम लगाना. २ कटूक्ति, ताना. ३ फेंकना, गिराना. [रा०] ४ ग्रंथ का अध्याय या खंड. ५ इच्छा करने का भाव। उ०—सुजस लैण आखेप न साजै।—ऊ.दा. ६ परिश्रम, कोशिश, यत्न. ७ कटाक्ष। उ०—कामातुर आखेप करे।—ऊ.दा.

आखैटक-सं०पु०—अहेरी, शिकारी।

आखो, आखौ-वि० [सं० अखिल] पूरा, अखंड, अक्षय, समस्त। (स्त्री० आखी) उ०—सांमण खुड़द प्रगटिया सकती, आखौ जग दरसण आवै।—मे.म.

सं०पु०—१ अक्षत, अन्न के दाने। (बहु० देखो 'आखा')

२ बिना बधिया किया हुआ बैल या घोड़ा, आंडू।

आख्यांन-सं०पु० [सं० आख्यान] वर्णन, वृत्तांत, कथा, कहानी।

आख्यात-वि० [सं०] १ प्रसिद्ध, विख्यात. २ कहा हुआ।

आख्यानक-सं०पु० [सं०] देखो 'आख्यांन'।

आगंतुक-वि० [सं०] आने वाला।

सं०पु०—१ अतिथि. २ आने वाला व्यक्ति. ३ अचानक होने वाला रोग।

आगंध-सं०पु० [सं० अश्वगंधा] देखो 'आसगंध'।

आग-सं०स्त्री०—१ अग्नि, ज्वाला।

पर्याय०—देखो 'अगनी'।

क्रि०प्र०—करणी-जळाणी-देणी-निकाळणी-पड़णी-बरसणी-बाळणी-बुझणी-भड़कणी-लगणी।

मुहा०—१ आगबबूळी होणी—अत्यन्त क्रोधित होना. २ आग बुझणी—लड़ाई झगड़ा शांत होना, भूख शांत होना. ३ आग भड़कणी—लड़ाई पैदा होना. ४ आग में घी या पूळो नांखणी—कष्ट पर कष्ट देना, किसी के क्रोध को और भड़काना. ५ आग में कूदणी—आफत में पड़ना, जानबूझ कर आफत मोल लेना. ६ आग लगणी—डाह या कुढ़न होना, क्रोधित होना, हृदय के किसी उद्गार का उमड़ना, बरबाद होना. ७ आग लगाणी—उपद्रव मचाना, पेट में गर्मी पैदा करना, व्याकुल करना, त्याग देना, झगड़ा बढ़ा देना, चुगलखोरी करना, नष्ट-भ्रष्ट करना. ८ आग लगाय नै तमासौ देखणौ—झगड़ा पैदा करके अपना मनोरंजन करना या मौज लेना. ९ आग लगाय नै पांणी लावण नै दौड़णी—झगड़ा पैदा करके फिर उसे शांत करने की कोशिश करना।

२ ताप, जलन. ३ कामाग्नि। (रू०भे० अग्ग)

आगइ, आगई-क्रि०वि०—अगाड़ी। उ०—हूं किम चालू एकलौ, आगइ गोरी तीजइ परांण।—वी.दे.

आगकुंड-सं०पु०—यज्ञकुंड।

आखड़णौ, आखड़बौ—क्रि०अ० [सं० आस्खलन] १ ठोकर खाना।
कहा०—१ आखड़ियां चेतौ हुवै—ठोकर खाने पर चेत होता है, हानि उठाने पर आदमी सावधान होता है. २ आखड़िया जिसा पड़िया कोनी—ठोकर खायी वैसे गिरे नहीं, जैसी संभावना थी वैसी हानि नहीं हुई, जैसी संभावना थी वैसी बात नहीं हुई। ३ आखड़िया पण पड़िया नहीं—ठोकर खाने पर भी गिरा नहीं—कारण या संकट तो आया किंतु अधिक हानि नहीं हुई।
२ स्खलित होना, गिरना। उ०—प्रिसणां साथ कासळी पड़ियौ आंगम लखां दुग्रौ आखड़ियौ।—रा.रू.

आखड़ां—सं०स्त्री०—उदासीनता। उ०—साजां सोळ सिंगार, सोणा रौ राखड़ां। सांवळिया सूं प्रीत, औरां सूं आखड़ां।—मीरां

आखड़ियोड़ौ—भू०का०कृ० [सं० आस्खलित] ठोकर खाया हुआ।
(स्त्री० आखड़ियोड़ी)

आखड़ी—सं०स्त्री० [सं० अस्खलित] १ प्रण, प्रतिज्ञा।
उ०—अंग न छूटै आखड़ी, सीहां सापुरसांह। आखड़ियां अळगी रहै, कुतरां कापुरसांह।—वां.दा.
कहा०—तीजी फाळ न वावड़ै, भागां लार न जाय। सिंघां आ इज आखड़ी, पर मारियौ न खाय।
२ विरुदाने की बातें, जोश दिलाने की बातें।
(बहु० आखड़ियां)

आखणक—सं०पु० [सं० आखनक=भूदार] सूअर (ह.नां, अ.मा.)

आखणौ, आखबौ—क्रि०स० [सं० आख्यान, प्रा० अक्खान, रा० आखणौ] कहना, बयान करना (डिं.को.)। उ०—जिन्हां दीहां चा सौ वरस ब्रह्मा जीवाई, उस भी ब्रह्मा आखियौ, कुछ ऊमर नाहीं।—केसोदास गाडण

आखत—सं०स्त्री० [सं० आख्यात] बयान, कथन। उ०—रहिया जतरा मास जता दन हमै न रैवां। खमिया जम हीज खमी केम आखत कर कैवां।—पा.प्र.
क्रि०वि०—तेजी से। उ०—आखत पग ऊठतां, ऊठ साखत पखराळी।
—मे.म.

आखती-पाखती—क्रि०वि० [सं० आसन्न+पार्श्व] आस-पास, निकट।

आखतो, आखतौ—वि० [सं० अगतिक] १ इतना ऊबा हुआ कि धैर्य टूटने पर हो। उ०—ईस घणा जे आखता, तौ लीजै सिर तोड़। धड़ एकण धण रौ धणी, पड़सी वैर वहोड़।—वी.स.
२ दुखी। उ०—राजपूत सारा चावड़ां थी आखता हुय रह्या छै।
—नैणसी
३ क्रुद्ध. ४ उतावला। उ०—सुख सेज दैण ढीलौ सदा अमल लैण नै आखतौ।—ऊ.का. [फा०आस्त:] ५ वधिया किया हुआ।
क्रि०वि०—शीघ्र, तेज।

आखर—सं०पु० [सं० अक्षर] अक्षर, वर्ण, हरुफ। देखो 'अक्खर'।
उ०—कपळा कवळी नै वारै पुचकारै, लाखर लाखर अै आखर मनमारै।—ऊ.का.
क्रि०वि० [फा० आखिर] आखिर, अंत में।
कहा०—आखर जात अहीर—आखिर तो अहीर जाति का है, आखिर तो मूर्ख बना रहा, आखिर तो नीच ही है। श्रीकृष्ण के लिए भक्तों का प्रेमपूर्ण ताना।

आखरवंत—क्रि०वि०—अंतिम समय। उ०—रसायण रा सोना री लाखां मोहरां अकबर पड़ाय ऐक ही ओरिया में राखी हुती, आखरवंत दांन सारू अकबर अकसमात मर गयौ। मोहरां धरी हीज रही!
—वां.दा. ख्या.

आखरी—सं०स्त्री०—१ रात्रि में वह स्थान जहाँ पशु प्रायः विश्राम के लिए इकट्ठे हो जाते हैं। उ०—हिरणां झाली आखरी ताकै कूवा खेळ। तिस मरता थिगता फिरै, छूटचौ हिरण्यां मेळ।—बादळी
२ कुयें पर बैलों से पानी निकालने का निश्चित किया गया समय।
(रू०भे०—आखाड़ी, आखारी।
क्रि०वि०—अंतिम। (रू०भे०—आकरी)

आखळी—सं०स्त्री० [सं० आखनी] १ पत्थर रखने व बेचने का स्थान।
[सं० आस्खलित] २ पथरीले रास्ते में गड्ढा।

आखवांन—सं०पु०—देखो 'आवखांन'।

आखांणौ—सं०पु० [सं० अक्षवट=अखाड़ौ] युद्ध।
उ०—उवेळण गंग वैर आखांणै, असमर कर राठौड़ अभीय।
—द.दा.

आखा—वि० [सं० अक्षत] १ सब. २ देखो 'आखौ' (१)
सं०पु०—१ धान के वे दाने जो किसी मांगलिक व पवित्र अवसर या कार्य के निमित्त हों. २ ब्राह्मणों को भिक्षा में दिया जाने वाला अनाज. ३ अक्षय तृतीया।
कहा०—आखा रोहण वायरी राखी सरवन न होय, पोही मूळ न होय तौ, मही डूलती जोय—अगर अक्षय तृतीया पर रोहिणी नक्षत्र न हो रक्षा बंधन पर श्रवण नक्षत्र न हो और पौष की पूर्णिमा को मूला नक्षत्र न हो तो संसार में विपत्तियाँ उत्पन्न होती हैं।

आखाई—वि०—सम्पूर्ण, अखंड।
सं०पु०—वह योद्धा जिसने अनेक युद्धों में विजय प्राप्त की हो।

आखाड़मल—सं०पु०—बलवान, ताकतवर, योद्धा। उ०—माकड़ा झाड़ आखाड़मल, चाढ़चां मसती चालिया।—मे.म.

आखाड़सिद्ध—वि०—वह योद्धा जिसने अनेक युद्धों में विजय प्राप्त की हो, योद्धा, वीर। उ०—सूर रौ तपै नरनाह आखाड़सिद्ध, धजवड़ां पांण गैणाग धारै।—अज्ञात

आखाड़, आखाड़ौ—सं०पु०—१ देखो 'अखाड़ौ'।
उ०—अब बसंत कै आखाड़ौ होत है।—वेलि. टी.
२ युद्ध, संग्राम। उ०—ऊगां दन समैं करै आखाड़ा चोरंग भुवन हसत अणचूक।—प्रथीराज

आखाढ़—सं०पु० [सं० आषाढ़] देखो 'असाढ़'।

आखाढ़सिद्ध—वि०—देखो 'आखाड़सिद्ध'। उ०—सम विखम अरथ सम

आगर-सं०पु० [सं० आकर] १ खान, कोष, खजाना. २ घर, गृह. ३ समूह, पुंज । उ०—मांन वडापण मेर, मांन ऊंडापण सागर । मांन दुजोधन, मांन, गुण वदियौ आगर ।—दुवजी आसियौ

आगरणी-सं०स्त्री०—छः मास का गर्भ होने के वाद गर्भवती स्त्री को साव पुराने (इच्छा पूर्ति) का दिन, जब ससुराल की तरफ से उत्सव मनाया जाकर पौष्टिक भोजन बनाया जाता है । सीमतोन्नयन । (रू.भे. आघरणी) । उ०—सातमें महिने में आगरणी हुई । नव महिना पूरा हुवा ।—पलक दरियाव री बात

आगरबंध-सं०पु० (सं० आगलबंध] कंठमाला (अमरत)

आगराई-सं०पु०—आगरे का बना हुआ अफीम ।

आगळ-क्रि०वि०—अगाड़ी, आगे, सम्मुख । उ०—१ पदमणी आगळि घालइ छइ वाई । आगळ वइसी जीमावीयउ ।—वी.दे.
उ०—२ सौ मूरख संसार, कपट जिण आगळ करै ।—किरपारांम
वि०—१ रक्षा करने वाला, रक्षक. २ विशेष, अधिक ।
सं०स्त्री० [सं० अर्गला] १ अर्गला, रोक. २ देखो आगळी (२)

आगळकूंची-सं०स्त्री०—अर्गला खोलने की एक प्रकार की चावी जिसे कपाटों में बने एक छिद्र में डाल कर अन्दर की अर्गला खोली जा सकती है ।

आगळखूंटी-सं०पु०—बुनने के निमित्त क्रमबद्ध किए हुए लंबे सीधे सूत (तांणी) को बांधने का खूंटा ।

आगलड़ी-वि०—अगाड़ी का, आगे का । उ०—नागा नवळी नेह, जिण तिण सूं कीजै नहीं, लीजै आगलड़ा री छेह, आपतणी दीजै नहीं ।
—ना. बात

आगळणौ, आगळवौ-क्रि०अ०—ऊँट का कूदना ।

आगळतू-वि०—अधिक, आवश्यकता से अधिक ।

आगळसींगौ-सं०पु०—वह बैल जिसके सींग आगे की तरफ झुके हुए हों (अशुभ)

आगळि-क्रि०वि०—सामने, आगे, सम्मुख, अगाड़ी । उ०—सादल पीथल जोड़ सवाया, आगळि धणी वणी कळि आया ।—रा.रू.

आगळियार, आगळियाळ-वि०— अगुआ, अग्रगण्य, अग्रणी ।
उ०—१ आगळियार रुघावत ईखौ, सुरतौ विरतै सिंघ सरीखौ ।
—रा.रू.
उ०—२ दत मोटा दिये वंस री दीपग, रिमां पछाड़ै सूजस रतौ । औ रड़मालां तणौ आभरण, फौजां आगळियाळ फतौ ।
—तेजसी खिड़ियौ

आगळिहार-वि०—देखो 'आगळियार' ।

आगळी-सं०स्त्री० [सं० अर्गला] १ देखो 'आगळौ' (पु०)
२ पसली के दर्द पर लगाया जाने वाला एक प्रकार का लेप ।

आगळीयाळ-वि०—देखो 'आगळियार' ।

आगळू-वि०—१ अधिक. २ आवश्यकता से अधिक ।

आगले, आगलै-वि०—अगले, पूर्व के, पहिले के ।
क्रि०वि०—आगे, अगाड़ी ।

आगळौ-सं०पु० (स्त्री० आगळी) चिटकनी, अर्गला ।
वि०—१ विशेष, अधिक । उ०—ढोला आंमणदूमणी, नख सूं खोदै भींत, हमथी कुण छै आगळी, वसी तुहाळै चीत ।—ढो.मा.
कहा०—अेक अेक सूं आगळा ए पन्ना भुआ रा पूत—पन्ना बुआ के कुपुत्र एक एक से अधिक दुष्ट हैं, एक एक से बढ़ कर दुष्ट है ।
(बुरे व्यक्तियों के लिए)
२ अग्रणी, अग्रगण्य । उ०—थोड़ा बोलौ घण सहौ नहचै जो नेठाह, जौ परवाड़ा आगळौ मित्र करीजै नाह ।—हा.झा.
क्रि०वि०—अगाड़ी । उ०—चौमासे वादळा जिहीं फौजां रा समूह चालै, आगळौ गयद छाजै, अगाजै अपार ।—अज्ञात

आगलो, आगलौ-सं०पु० (स्त्री० आगली) (बहु० आगला) १ अगाड़ी का, आगे का, अग्रभाग का । उ०—ऊलटिया सिर आगरै अवदुल्ला 'अजमाल' । आगै पौहतै आगलै वारह खांन दुभाल ।—रा.रू.
२ जो क्रम में वर्तमान के वाद पड़ता हो, दूसरा, अपर ।
उ०—वायस वीजउ नांम तैं आगलि लल्लउ ठवइ । जइ तूं हुई सुजांण तउ तूं वहिलउ मोकळे ।—ढो.मा.
कहा०—१ आगले घर से खोटी वयूं व्हौ हौ—यहाँ क्यों व्यर्थ में समय नष्ट कर रहे हो, आगे जाने पर शायद कुछ प्राप्त हो सके.
२ सांमी लारलै गांव कूटीजनै जावै नै आगलै गांव सिद्ध—पाखंडी एक स्थान पर सजा पाकर भी अपने अवगुणों को छिपा कर दूसरे स्थान पर आदर प्राप्त कर सकता है। जो व्यक्ति एक स्थान पर बुरा समझा जाता है वह दूसरे स्थान पर अच्छा समझा जा सकता है ।
३ पूर्व जन्म का या पूर्व जन्म सम्वन्धी । उ०—कद मरै कुटिल औ काळ सूं कहे उडाऊं कागलौ । लागगौ लार लूंठौ नियम यांटो कोइक आगलौ ।—ऊ.का.
(यौ०—आगलौ भौ)
कहा०—१ आगला भौ रा वदळा किसा छूटै है ?—पूर्वजन्म में दूसरों को दुःख दिया है तो उसका बदला चुकाना ही पड़ता है.
२ आगला भौ रा वदळा नहीं छूटै—देखो कहावत. (१) ३ आगला भौ रा वदळा है—पिछले जन्म के बदले (बदला लेने वाले) हैं। जब कोई सताता है तब ऐसा कहा जाता है। जब सन्तान होकर या सुयोग्य होकर माता-पिता के पहले मर जाती है तब भी कहा जाता है.
४ आगलै भौतर की मांगत चूकणी—पूर्व जन्म की करणी का फल मिलना ।
४ पहिले का, पूर्ववर्ती, प्रथम, पिछला ।
कहा०—आगलौ पीसियौ खूट गियौ कंई—पहले का दुःख अथवा किसी बुरे काम का दिया हुआ दंड भूलने पर ।
५ विगत समय का, पुराना । (यौ० आगलौ समौ, आगलौ लोग)
६ आगामी, आने वाला, भविष्य ।
कहा०—आगली किणै ठा पड़ै है—भविष्य के सम्बन्ध में कौन कह सकता है ।

आगड़–सं०स्त्री०—चूल्हे के आगे का वह आयताकार भाग जहाँ राख एकत्रित होती है।

आगड़दि, आगड़दी–क्रि०वि०—आगे, अगाड़ी। उ०—भागड़दि भूत जोगण गण भैरव, **आगड़दि** अमर अपछर गण आंण।—र.रू.

आगड़ै–क्रि०वि०—अगाड़ी, सम्मुख।

आगड़ौ–क्रि०वि०—दूर। उ०—अगाड़ी थूं जा **आगड़ौ** फीटा पड़ै फिटोळवा, एक न एक देखौ अवे आपस देवै ओळवा।—ऊ.का.

(क्रि० पद—आगड़ौ जा, आगड़ौ वळ)

सं०पु०—१ पानी सींचते समय चक्की (गिर्री) के ऊपर रस्सी द्वारा पड़ने वाला चिन्ह. २ अनुमान, अंदाजा।

कहा०—कांटी रै वोविया री आगड़ां तक जोर—अगर कभी गौखरू (कांटी) पैर में चुभ भी जाय तो अपने छोटे कांटे की लंबाई से अधिक पैर में घुस कर नुकसान नहीं पहुँचा सकती, कोई व्यक्ति अपनी सामर्थ्य के अनुसार ही कार्य कर सकता है।

(मि० आंगळी सूज नै हाल कौ हुँनी)

आगजंतर, आगजंत्र–सं०पु० [सं० अग्नि+यंत्र] अग्नियंत्र, वंदूक, तोप.

आगझाळ, आगझाळा–सं०स्त्री० [सं० अग्नि+ज्वाला] १ अग्नि, ज्वाला. २ अग्नि की लपट।

आगण–सं०स्त्री० [सं० आग्रहायण] १ मार्गशीर्ष का महीना (डिं.को.) २ देखो 'आगड़'।

आगत–वि० [सं०] १ आया हुआ. प्राप्त. २ उपस्थित।

सं०पु०—वह फसल जो सबसे पहले बोई गई हो। (विलो० पाछत)

आगतरौ–सं०पु०—वह धान जो समय से कुछ पहले बोया हुआ हो। (विलो० पाछतरौ)

आगत-स्वागत–सं०पु०—देखो 'स्वागत'। उ०—तिहि भांति ब्राह्मण को आगत-स्वागत आतीथ ध्रम कीधौ।—वेलि. टी.

आगतौ–वि० (स्त्री० आगती) देखो 'आखतौ'।

आगन–सं०स्त्री० [सं० अग्नि] अग्नि।

आगना–सं०स्त्री० [सं० आज्ञा] १ आदेश, हुक्म (अ.मा.) २ आज्ञा, इजाजत।

आंगनि–सं०स्त्री० [सं० अग्नि] अग्नि। उ०—इहां आसोज मिळिया थें **आगनि** माहे जोति अधिक हुई छै।—वेलि. टी.

आगन्या–सं०स्त्री० [सं० आज्ञा] देखो 'आगना'।

आगवह–सं०पु० [सं० अग्निवह] धुंआ, धूम्र।

आगबोट–सं०पु० [सं० अग्नि+अं० बोट] भाप का जहाज अथवा नौका।

आगम–सं०पु० [सं०] १ आना, आगमन। उ०—सरसावै सारंगधर. मेले मारुत माय। भूप अवधचौ भरथ नूं, **आगम** कहियौ आय। —र.रू.

२ आमद, आमदनी, अर्थागम। उ०—चित सूं **आगम** चितवै, आ मजबूत उपाध, 'वंक' जुड़ै नंह वांछियौ, इण कारण व्है आध। —वां.दा.

३ भविष्य, आने वाला। उ०—जद पाछौ कहियौ जसु **आगम** अकलाळै, वूकण री घर बोड नै कंई राखै काळै।—वी.मा.

(मि० अगम)

यौ०—आगमग्यांन, आगमबुद्धि, आगमसोची।

कहा०—१ अत पित वाळौ आदमी, सोवै निंद्रा घोर, अणभणिया आगम कथै, रहै मेघ अति जोर—अधिक पित्त प्रकृति का व्यक्ति अगर अधिक एवं गहरी नींद सोता है तो (अपठित व्यक्तियों में यह प्रचलित है कि) वर्षा जोर की होगी. २ आगम सूझै सांडणी, दोड़ै थळां अपार, पग पटकै वैसे नहीं, जद मेह आवणहार—यदि ऊँटनी इधर-उधर दौड़ती फिरै, पैर पटके लेकिन बैठे नहीं तो वर्षा अवश्य आएगी. ३ विगड़ै वासण चाक पर, मट्टी अधिक उभार, आरख आगम समझ कैं, मेह कहै कुंभार—गीली मिट्टी के वर्तन चाक पर से नहीं उतरें किन्तु वहीं विगड़ जावें तो कुम्हार कहता है कि वर्षा आई समझो. ४ व्रक्षन फळ विपरीत जव, उलट-पुलट लागंत, पड़ै काळ भयभीत यौं, आगम लिखियौ मित—यदि वृक्षों पर फल-फूल एक दूसरे के विपरीत उलटे-सुलटे लगें या वे विना ऋतु फलें तो भयंकर अकाल पड़ेगा।

४ भवितव्यता, होनी. ५ शास्त्र। उ०—सेस कूरम जितै समरम, इळा सुर ध्रम निगम **आगम**।—रा.रू. ६ प्रकृति और प्रत्यय के बीच होने वाले कार्य अर्थात् पद सिद्धि में आया हुआ वर्ण (व्याकरण) जैसे—समहर. ७ पुरुषों की बहत्तर कलाओं के अंतर्गत एक कला।

वि० [सं०] प्रथम, पहले। उ०—पाळ तणौ परचार, कीधौ **आगम** कांमरौ। वरसंतां घण वार, रुके न पांणी राजिया।—किरपारांम

आगमई–वि०—अग्नियुक्त, अग्निमय।

आगमग्यांनी, आगमजांण, आगमजांणी–सं०पु० [सं० आगमज्ञानी] भविष्य का ज्ञाता, होनहार या भविष्य जानने वाला।

आगमण, आगमणौ–सं०पु० [सं० आगमन] आना, आगमन। उ०—नस कियौ **आगमण** तेरे औरंग नये छिलते मच्छर पैंखे अछाया।—द.दा.

आगमवांणी–सं०स्त्री० [सं० अग्रिमवाणि] भविष्यवाणी।

आगमदिसट, आगमदिसटी–सं०स्त्री० [सं० अग्रिम दृष्टि] दूरदर्शिता।

वि० [सं० अग्रिम दृष्टि] दूरदर्शी।

आगमन–सं०पु० [सं०] आना। उ०—श्री क्रिसणदेव ब्राह्मण ने संहस्क्रत भाखा करि पूछै छै। तुम्हारौ **आगमन** क्यां हुऔ।—वेलि. टी.

आगमवक्ता–वि० [सं०] भविष्यवक्ता, ज्योतिषी।

आगमसोची–वि० [सं० अग्रिमसोची] दूरदर्शी, अग्रसोची।

आगमयूं–वि —आगत, आया हुआ। यत हूं कंवळ् गढ़ **आगमयूं**। कर कागद सूंप जुहार कियूं।—पा.प्र.

आगमि–वि० [सं० आगामी] देखो 'आगांमी'। उ०—ससिपाळ कै **आगमि** भाग्य सुदी पाछै जाय रह्यौ थौ सु क्रस्णजी रै **आगमि** मांग कै पेंडै होय।—वेलि. टी.

आगम्म—देखो 'आगम'।

कहा०—१ आगै कुवौ (खाडौ) लारै खाई—आगे कुआ, पीछे खंदक दोनों ओर संकट है. २ आगै गधा आवै तौ लारै घोड़ां री आस कैड़ी—अगर आरंभ ही अशुभ हो तो अंत के शुभ होने की कल्पना कैसे की जा सकती है. ३ आगै धंधा पीछै धंधा, धंधै पर सिवरै ऊ साहब का बंदा—दुनिया में काम-काज तो लगा ही रहता है, काम-काज में फँसे रहने पर भी जो परमात्मा को नहीं भूले वही ईश्वर का सच्चा भक्त है।

५ पूर्व, पहले।

कहा०—१ आगै तौ बावाजी फूटरा घणा नै पछै लगायली भभूत—एक तो वैसे ही कुरूप है, उसके अनन्तर भस्मी और लगा ली, अब उसके रूप का क्या कहना ? (व्यंग). २ आगै ही सोर अपार फेर अंगीरा ऊरिया—पड़े हुए बारूद में अग्नि देना, आग लगाना, झगड़ा कराना. ३ आगै हूता जैड़ा लारै हुय गया—जैसे आगे थे वैसे ही पीछे हो गये—पूर्वजों के गुणों के समान संतान होने पर।

६ भविष्य में, आगे को।

कहा०—१ आगै आगै गोरख जागै—भविष्य की चिंता छोड़ वर्तमान की चिंता करो, आगे गुरु गोरखनाथजी समर्थ हैं. २ आगै एक घड़ी री ही को दीसै नी—भविष्य में घड़ी भर बाद भी क्या होगा सो अज्ञात है, भविष्य का कुछ पता नहीं, घड़ी भर बाद क्या होगा इसका भी पता नहीं. ३ आगै री आगै दीसै—भविष्य की चिंता क्यों की जाय, समय आने पर देखा जायगा।

मुहा०—१ आगै-आगै—शनैः-शनैः. २ आगै आवणौ—सामने आना. ३ आगै करणौ—सामने करना. ४ आगै धरणौ—अपना आदर्श बनाना, पेश करना. ५ आगै नांखणौ—बिना प्रेम से दे देना. ६ आगै-पीछै न होणौ—कुल में कोई न होना. ७ आगै-पीछै फिरणौ—सदा साथ रह कर खुशामद करना सदा साथ रहना. ८ आगै पीछै रैणौ—देखो 'आगै-पीछै फिरणौ'. ९ आगै-पीछै होणौ—कुल में और लोगों का होना. १० आगै बढ़णौ—पथ-प्रदर्शन करना, मुकाबिला करना, प्रगति करना, सामने आना. ११ आगै री पग लारै पड़णौ—अवनति होना. १२ आगै लारै न होणौ—कुल में कोई न होना. १३ आगै लारै फिरणौ—सदा साथ रह कर खुशामद करना, सदा साथ रहना. १४ आगै लारै रैणौ—देखो 'आगै लारै फिरणौ'. १५ आगै पीछै होणौ—कुल में और लोगों का होना. १६ आगै होयनै लेवणौ—अच्छी तरह आगे बढ़कर किसी आते व्यक्ति का स्वागत करना। (रू.भे. आगे, अग्ग)

आगै-पाछै—क्रि वि०—१ एक के पीछे एक, एक के बाद दूसरा, क्रम से. २ पहले या बाद को. ३ आसपास।

आगोतर—सं०पु०—१ अगला जन्म, भविष्य में होने वाला जन्म. २ पूर्व जन्म।

आगोर—सं०स्त्री०—१ जलाशय के पास की भूमि जहां वर्षा काल में पानी एकत्रित होकर उस जलाशय में आता हो. २ सारंगी में ठाठ के तार की ओर से तांत का पहिला तार।

आगौ—क्रि०वि०—देखो 'आघौ'। उ०—सारां ही नै देऊं छूं, लेणनै हाथ आगौ न करूं।—पलक दरियाव री बात

आगौ-कढ़ियौ—सं०पु०—१ बेगार. २ बिना मन किया हुआ उल्टा सीधा कार्य।

आगौ-पाछौ—सं०पु०—इधर-उधर करने की क्रिया या भाव।

आगौ-पीछौ—सं०पु०—१ आगा-पीछा, हिचक, दुविधा. २ शरीर का आगे और पीछे का भाग।

आगौलग, आगौलगा—क्रि०वि०—१ निरंतर, लगातार, अंतर रहित, क्रमशः। उ०—कहै दुनियांण ऐ आगौलगा कथन, रिडमलां थापिया जिकै राजा।—महाराजा मांनसिंह

आग्नेय—वि० [सं० आग्नेय] १ अग्नि का या अग्नि संबंधी. २ जिससे अग्नि निकले।

सं०पु०—१ अग्नि-पुत्र कार्तिकेय. २ ज्वालामुखी पर्वत. ३ एक प्रकार के अस्त्र जिनके चलाने पर आग निकलती थी। (प्राचीन)

४ पूर्व और दक्षिण के मध्य की एक दिशा।

आग्नेयास्त्र—सं०पु० [सं०] देखो 'आग्नेय' (३)

आग्या—सं०स्त्री० [सं०आज्ञा] १ आदेश, हुक्म. २ अनुमति. ३ शासन।

पर्याय०—आइस, आगिना, आदेस, जुसोई, जोग, नियोग, फुरमांण, हुकम, सासन।

क्रि०प्र०—करणी-केंणी-देणी-लेणी-होणी। (रू०भे० अगिया, अग्या)

यौ०—आग्याकारी, आग्याचक्र, आग्यापत्र, आग्यापाळक, आग्यापाळण, आग्याभंग।

आग्याकारी—वि० [सं० आज्ञाकारी] आज्ञा का पालन करने वाला, आज्ञा मानने वाला, सेवक, दास, आज्ञानुवर्ती।

आग्याचक्र—सं०पु० [सं० आज्ञाचक्र] राजस्थानी के अनुसार योग या तंत्र में माने गए आठ कमल या चक्रों में से छठा चक्र जो सुषुम्ना नाड़ी के मध्य दोनों भौंहों के बीच दो दल के कमल के आकार का माना जाता है। इसके जप १०००, रंग लाल तथा अक्षर दो होते हैं।

आग्यापत्र—सं०पु०—वह पत्र जिसमें किसी प्रकार का आदेश हो।

आग्यापाळक—वि०—आज्ञा का पालन करने वाला।

आग्यापाळण—सं०पु० [सं० आज्ञापालन] आज्ञा के अनुसार कार्य करना, फरमावरदारी।

आग्याभंग—सं०पु० [सं०] आज्ञा न मानना, हुक्म-उदूली।

आग्रह—सं०पु०—१ अनुरोध. २ हठ, जिद. ३ तत्परता।

आग्राज—सं०स्त्री० [सं० आगर्जन] जोशपूर्ण आवाज, गर्जना, दहाड़। उ०—कुमलिया पीड़ सिर विकट आग्राज कर कड़छियौ कांन नट राज काळौ।—वां.दा.

आग्राजणो, आग्राजवौ—क्रि०अ०—गरजना, दहाड़ना।

७ अगाड़ी, सामने, सम्मुख। उ०—आगळि पित मात रमंती अंगनि कांम विरांम छिपाड़ण काज।—वेलि.

कहा०—सासू आगली वहू है—इसे कोई कार्य करने के लिए दूसरे से आज्ञा लेनी पड़ती है। कोई कार्य करने में पूरी तरह से स्वतन्त्र नहीं है।

आगवण—देखो 'आगमण'।

आगवौ—वि०—अगुआ, मुखिया। उ०—तठै आगवौ खाग हूं छाग तोड़ै, चंडी काळिका मात रै स्रोण चोड़ै।—मे.म.

आगस—सं०पु०—१ अग्नि, आग. २ दोष, अपराध। उ०—वहुरि साह जसवंत बुलायौ, इहिं आगस सौ प्हीत न आयौ।—वं.भा. ३ पाप।

आगस्त, आगस्ति—सं०पु० [सं० अगस्त्य] देखो 'अगसत'।

आगह—क्रि०वि०—पहिले, पूर्व। उ०—रतन छिपायौ क्यूं रहई, आगह वाचा कौ हीणौ छइ पूरव्यौ राइ।—वी.दे.

आगांमि, आगांमी—वि० [सं० आगामिन्] आने वाला, होनहार, भविष्य का या भविष्य संबंधी।

आगाऊ—वि०—अगाड़ी का, प्रथम।
सं०पु०—हरावल।

आगाड़ी—क्रि०वि०—देखो 'अगाड़ी'।
कहा०—फौज में पिछाड़ी भोज में आगाड़ी—कायर व्यक्ति के लिये प्रयुक्त।

आगाज—सं०पु० [सं० आग्नि=आग] १ क्रोध, रोष।
उ०—कहियउ तुम्हे माहरउ करउ, मारू मुझ कीजउ नातरउ। आपुं तउ हूं आधौराज, इणि परि घणा कीया आगाज।—ढो.मा.
सं०स्त्री० [सं० गर्जना] २ गर्जना, ध्वनि। उ०—किलकिल नाळि छूटी सू गोळां री आगाज सूं धरती धमकि नै रही छै।—रा.सा.सं.

आगापाछौ—क्रि०वि०—देखो 'आगौ-पाछौ'।

आगार—सं०पु० [सं०] १ घर, मकान। उ०—अर आपरा सांमी चाळुक्यराज भीम नूं प्रांण वचावण रै काज अभीस्ट आगार जावण री अवकास दियौ।—वं.भा. २ स्थान, स्थल. ३ खजाना।

आगाळी—वि०—१ आगे का, अगला. २ अधिक, विशेष।

आगासि, आगासी—सं०पु० [सं० आकाश] आकाश। उ०—भेटचां पातिक जाइ नासि, धोत्ती ऊगाइ आगासि। साजां त्रंबाळू छइ हाथि, सख्य भणंता जाइ साथि।—कां.दे.प्र.

आगाहट, आगाहठ—सं०पु० [सं० अघात्य] वह भूमि जो किसी (प्रायः चारण) के अधिकार में चिरकाल के लिये हो और जिसे राजसत्ता पृथक न कर सके। चारणों के जागीरी के गांव। उ०—हजारां गयंद अव भिड़ज आगाहटां देसपत होड रां मांण दहिया—मांनसिंह रौ गीत

आगि—क्रि०वि०—१ अगाड़ी। उ०—त्रिणि फेरा लिधा तरणि आगि करि रघुनाथ।—रांमरासौ २ निकट, पास. ३ दूर।
सं०स्त्री० [सं० अग्नि] अग्नि, अनल। उ०—आग्या पाय अजीत री, लग्गा सूर धियागि। सिरि डेरां दळ सल्लळै, जळै प्रलै किरि आगि।—रा.रू.

आगित्र—क्रि०वि०—अग्र, आगे।

आगिन्या—सं०स्त्री० [सं० आज्ञा] आज्ञा (ह.नां.)

आगिमि—वि०—आगामी, आगे। उ०—आगिमि एके दीह असवार, मूंकेस्यां परिणवा विचार।—ढो.मा.

आगियाकारी—वि० [सं० आज्ञाकारी] आज्ञा का पालन करने वाला, आज्ञाकारी।

आगियौ—सं०पु०—१ जुगनु। उ०—तेजाळ जागिया कमंध तोर, आगिया दवे भूपाळ ओर।—वि.सं. २ छोटे बच्चों का एक रोग जिसमें शिर आदि पर फोड़े-फुंसी होते हैं. ३ एक प्रकार का पशुओं का रोग. ४ एक प्रकार की तांत्रिक या मंत्र-क्रिया जिससे दूरस्थ या निकट स्थान पर अग्नि पैदा की जाती है।

आगिलौ—वि०—१ देखो 'आगलौ'. २ विशिष्ट.

आगी—क्रि०वि०—देखो 'आगौ' (स्त्री०)
वि०—ऋतुमती, रजस्वला (स्त्री०)

आगीनै—क्रि०वि०—अगाड़ी, सामने।

आगीपाछ, आगीपाछी—सं०स्त्री०—१ चुगली, निंदा. २ इधर की बात उधर और उधर की बात इधर कहने का भाव।

आगीवांण—वि०—अगुआ, नेता। उ०—अठीनै स्वयंसेवकां रै दळ री रांमलौ कप्तांन तौ वठीनै हरी अर रांमलै दोनां री वहुवां स्त्री स्वयंसेविकावां री आगीवांण।—वरसगांठ

आगूंच—क्रि०वि०—पहले से, पेशगी, पूर्व। उ०—थूं आई थेट वरा आगूंच, पळकती राखड़ियां भर थाळ।—सांझ

आगू—क्रि०वि०—१ पहले से, पेशगी, पूर्व। उ०—कहतौ थूं आगू कथन 'पाल' अमीणा पीर।—पा.प्र. २ अगाड़ी।

आगूकथ—सं०स्त्री०—भविष्यवाणी। उ०—अजन अगंजी गजन हर, गाहया वपन गिरांह। चवियौ भोपै भाकचंद, आगूकथ अवरांह।—पा.प्र.

आगूतौ—क्रि०वि०—आगे, सामने।

आगूनै—क्रि०वि०—आगे वाला, अगला। उ०—कनै सूं मंगतवाड़ निकळी'र किणी कयौ—भाजौ-भाजौ, आगूनै चौक में चिणा वंटै है।—वरसगांठ.

आगे—क्रि०वि०—देखो 'आगै'।

आगेड़ी—वि०—अधिक, विशेष।
उ०—पूत सपूती आगेड़ी वहू सांवत दे लियौ है मोलाय, म्हारे नवल वनड़े रा सेवरा।—लो.गी.

आगेटी—सं०स्त्री०—वाजरी या ज्वार के कच्चे भुट्टे सेंकने वाली अग्नि जो हल्की हल्की जलती होती है।

आगेवांण—वि०—देखो 'आगीवांण'।

आगै—क्रि०वि० [सं० अग्र, प्रा० अग्ग] १ और अधिक दूरी पर. २ सम्मुख, सामने. ३ जीते जी, जीवन काल में. ४ इसके पीछे, इसके वाद, अगाड़ी।

आड़ी—सं०स्त्री०—१ जोड़ी, युग्म, बराबर की। उ०—१ सुंदर सकुळीणी भीणी साड़ी में। जुल्फां सपणीं जिम अपणी आड़ी में।—ऊ.का. उ०—२ वणी मौ रांम वखतौ तुझ धणी, उभै घर वरोबर समर आड़ी।—पहाड़खां आढ़ौ
२ तबला, मृदंग आदि बजाने की एक रीति या ढंग।

आड़ीगारौ—सं०पु०—कलहप्रिय, झगड़ालू। आड़ीगारा चावचंडां भू दंडां भाळता एहां। दूठ राड़ीगारा वाळा चालता देसोत।
—महाराजा मांनसिह

आड़ीवाळ—वि०—१ बराबर, समान. ३ समवयस्क, हमउम्र।

आडू—वि०—१ उद्दंड. २ हठीला. ३ गँवार।
सं०पु० [सं० अंड] एक प्रकार के खटमीठे स्वाद वाला एक फल।

आड़ै-पाड़ै—क्रि०वि०—१ आस-पास, अगल-बगल. २ समीप।

आड़ो-पंचताळ—सं०पु०—संगीतके अंतर्गत पांच आघात और नौ मात्राओं का एक ताल।

आड़ोस-पाड़ोस—सं०पु० [सं० आसन्न पार्श्व] देखो 'अड़ोस-पड़ोस'।

आड़ोसी-पाड़ोसी—सं०पु०—देखो 'अड़ोसी-पड़ोसी'।

आड़ौ—सं०पु०—१ किसी वस्तु की प्राप्ति के लिये किया जाने वाला वालहठ. २ युद्ध।

आचंत—वि०—शोभायमान।
क्रि०—है।

आच—सं०पु०—१ हाथ। उ०—आच निज जनक नृप लिखे कागद अतुर, अवधपुर अवधपुर अवधपुर अवधपुर।—र.रू.
२ समुद्र, सागर (ह.नां., ना.डि.को.)

आचगळ, आचगळौ—वि०—दृढ़, अटल, अडिग। उ०—वर तोमर खग धार पमंगां पाछटै। आचगळा अखड़ैत असंमर आछटै।
—किसोरदांन वारहठ

आचप्रभव—सं०पु०—राजपूत, क्षत्रिय (डि.को.)

आचमण—सं०पु०—देखो 'आचमन'।

आचमणौ, आचमवौ—क्रि०स०—आचमन करना, भक्षण करना।
उ०—बूकटा वटक गूधा गटक लिये वळ। सह कटक आचमै गजां सहतौ।—झाला राजा राघवदेव री गीत

आचमन—सं०पु० [सं०] पूजा या धार्मिक कार्य के प्रारम्भ में दाहिने हाथ से थोड़ा जल लेकर पीना, जल पीना।

आचमनी—सं०स्त्री०—कलछी के आकार का एक प्रकार का छोटा सा चम्मच जिसे पूजा के समय पीने से अर्घ्य देने के लिए पंचपात्र में रखते हैं।

आचमन—सं०पु०—देखो 'आचमन'।

आचरज—सं०पु०—आश्चर्य, अचरज, अचंभा। उ०—कवण मोद जुत जगत में कहु आचरज लखाय।—स्वरूपदास स्वांमी

आचरण—सं०पु० [सं०] १ अनुष्ठान, व्यवहार, वर्ताव, चाल-चलन, आचार-विचार, आचार शुद्धि। उ०—प्रम कमध्वज जिण वडिम पूजतौ आप वडिम सुजि आचरण।
—राठौड़ जैमल वीरमदेवोत री गीत
२ रीति-नीति. ३ चिन्ह, लक्षण।

आचरणौ, आचरवौ—क्रि०स० [सं० आ+चर] १ व्यवहार में लाना, उपयोग करना। उ०—भला भला ताजी चढ़ै। आचरै बीड़ा पाका पांन।—बी.दे.
२ खाना, भक्षण करना। उ०—रहै भूखौ वनराव, अलवत घास न आचरे। घाले हाथळ घाव, मैंगळ ऊपर मोतिया।—रायसिंह सांदू

आचरत—सं०पु०—१ जाना. २ व्यवहार करना।

आचरियोड़ौ—भू०का०कृ०—१ व्यवहार में लाया हुआ, उपयोग किया हुआ. २ खाया हुआ।

आचवणौ, आचववौ—क्रि०स०—आचमन करना।
आचवणहार-हारौ (हारी), आचवणियौ—वि०—आचमन करने वाला।

आचवियोड़ौ—भू०का०कृ०—आचमन किया हुआ (स्त्री० आचवियोड़ी)

आचार—सं०पु० [सं०] १ चाल-ढाल, रहन-सहन, व्यवहार।
उ०—कुळवंती सूं क्रीत री, उलटी है आचार। वा न तजै घर आपरी, जग इण री संचार।—बां.दा. २ चरित्र, शील। उ०—थारे सार आचार उमेदपणी राह थेटा 'लखा' मूंछां पळेटा दे रही आडी लीह।
—कमजी दधवाड़ियौ। ३ रीति-रस्म. ४ स्नान (अनुष्ठानादिक)
५ आचमन. ६ दान-पुण्य। उ०—समहर नै आचार, वेळा मन आघौ वधै, समझै कीरति सार, रंग छै ज्यांनै राजिया।—किरपारांम
७ नियम, लक्षण (मि.प्र.)
[फा० अचार] ८ मसालों के साथ तेल में रख कर खट्टा किया हुआ आम आदि फल, कचूमर। उ—घ्रत पुरित रस जेण घण, अन मिस्ठांन अपार। तरकारी सुथरी अतर, अति सुंदर आचार।—रा.रू.
९ शुद्धि, सफाई। उ०—जोवै न कुळ आचार अली है, औ तौ नहीं गुण रूप अपार। हां हे हरि रीझै नेह निहार, हां हे औ तौ भगति वस भरतार।—मी.रा.

आचारगळौ—वि०—१ विचारवान, बुद्धिमान. २ वीर साहसी.
३ दृढ़, मजबूत।

आचारज—सं०पु० [सं० आचार्य] १ आचार्य, गुरु, पंडित, विद्वान (ह.नां.)
उ०—मानम जोनी देखम व्यास, माघ आचारज कवि कालिदास।
—बी.दे.
२ *गुरुआचार्य.* ३ *कवि (अ.मा.).* ४ *मृत्योपरांत क्रिया-कर्म कराने* वाली एक जाति विशेष अथवा इस जाति का व्यक्ति।

आचारजी—सं०पु० [सं० आचार्य] १ पुरोहित, आचार्य. २ आचार्य का काम।

आचारणी, आचारवौ—क्रि०स०—१ उपभोग करना, इस्तेमाल करना।
उ०—रण भागा साह तणा दळ 'रांमा', जुग राखण अखियात जुई। उसरै घास मुखै आचरियौ, हरणी ताय दूबळी हुई।
—रुघौ मुहतौ

आघ–सं०पु० [सं० अर्घ=पूजा, प्रा० अग्घ] १ मान, प्रतिष्ठा, सत्कार, इज्जत। उ०—१ झिलाय राजावत ज्यांरै मनीजता। महाराज ईसरीसिंघजी री बेटी कछवाहीजी रौ **आघ** कम हुतौ।—वां.दा.ख्या. उ०—२ रावतियां पग रोपसी वतळासी थह वाघ। वौहळी पाटा बांधणां, आछी होसी **आघ**।—वां.दा. [सं० अघ] २ पाप, दुष्कर्म। उ०—पुहकर सुथांन काती सु प्रव, जास जात्र अहि नर जुड़ै। वाराह देव दीठां वदन, महा **आघ** दाळद मुड़ै।—जग्गौ खिड़ियौ

आघउ–क्रि०वि०—दूर, अलग, फासले पर। उ०—किम आवेस्यइ इक दिन माहि, लगन दीह वहि **आघउ** थाहि।—ढो.मा.

आघरत–सं०पु० [सं० अर्ह=पूजायाम्] आदर, सत्कार।

आघड़ौ–क्रि०वि० (स्त्री० आघड़ी) दूर, अलग।

क्रि०पद—आघड़ौ जा, आवड़ी वळ। उ०—नागड़ी तौई देखी निलज अमल न छोडै **आघड़ौ**।—ऊ.का.

आघण–सं०पु०—अगहन मास। उ०—**आघण** कर दिन छोटा होई, सखी संदेसौ मोकळेउ कोई।—वी.दे.

आघतौ—देखो 'आखतौ'।

आघमण, आघमणौ, आघमनौ–वि०—१ अग्रणी. २ उदारचित. ३ उमंगवाला, जोशीला. ४ स्वागत करने वाला।

आघरणी—देखो 'आगरणी'।

आघसणौ, आघसबौ–क्रि०अ०स०—घर्षण करना। उ०—ठहक गजाघंट वीर नासा पमंग हड़हड़ां त्रहक तासा तवल आभ **आघसतड़ा**।
—माधौसिंह सीसोदिया रौ गीत

आघसतड़ौ–सं०पु०—१ अगस्त्य ऋषि. २ अगस्त्य नक्षत्र।

आघांणगुण, आघांणघुण–स०पु०—भौंरा, भ्रमर (अ.मा.)

आघाट–सं०पु०—देखो 'आगाहट'।

आघात–वि०—भयंकर। उ०—हथनाळि, हवाई, कुहकवांण्यां कौ सोर आघात होण लागौ।—वेलि. टी.

सं०पु० [सं०] १ चोट, प्रहार, आक्रमण. २ ठोकर।
उ०—मेघ जु वरसण लागा। तांह का पांणी परवतां की कंदरा थे
अर नाळां थे पांणी चाल्यौ छै सु **आघात** सवद हुओ छै।
—वेलि. टी.

३ टक्कर, धक्का. ४ ध्वनि। उ०—हेक तरफ समुद्र की लहरी कौ आघात सुणै।—वेलि.टी.

आघार–सं०पु० [सं०] १ धूप. २ घृत (अ.मा.). ३ छिड़काव. ४ हवि, मंत्र विशेष से किसी देव विशेष को घृत देना।

आघेरि, आघेरी–क्रि०वि०—दूर। उ०—म्हे कुरझां सरवर-तणी, पांखां किणहि न देस। भरिया सर देखी रहां, उड **आघेरि** वहेस।
—ढो.मा.

आघै–क्रि०वि०—देखो 'आगै'। उ०—**आघै** गयौ आगै देखै तौ कासूं कोट छै।—चौबोली

आघौ–क्रि०वि० (स्त्री० आघी) (बहु० आघा) १ आगे, अगाड़ी।
उ०—उरड़ अकुळाय **आघा** पड़ै आय अत।
—ऊ.का.

कहा०—१ आघा पधारौ कूं कूं रा पगलियां—अपने कुंकुमचर्चित चरणों को दूर हटाओ, आपका शुभागमन न होना ही अच्छा है. २ आघौ दियौ पाछौ आवै (पड़ै)—दूर हटाने पर भी वापस लौट आता है (धन, संपत्ति), अत्यंत संपत्तिशाली के लिए.

२ दूर, फासले पर। उ०—घड़ी दोय उठै लागी, इतरै **आघौ** रह्यौ थौ।—पलक दरियाव री वात

कहा०—१ आघा नैड़ा ही की लागै नी—बिल्कुल संबंध न होने पर। २ आघा रह्यां सूं हेत वधै—दूर रहने से प्रेम बढ़ता है। विरह में प्रेम बढ़ता है।

३ पृथक, अलग। उ०—किम आवेस्यइ इक दिन माहि, लगन दीह वहि आघउ थाइ।—ढो.मा. ४ इस ओर, उस ओर. ५ निकट, पास। उ०—ठाकुर को प्रताप ज हुओ तिणि ही तौ सीत पाल्यौ **आघौ** आवण न दीयौ।—वेलि. टी.

आघ्रात–सं०पु० [सं०] ग्रहण का एक भेद जिसमें चंद्र मंडल वा सूर्य्य मंडल एक ओर मलिन दीख पड़ता है। कहा जाता है कि इससे अच्छी वर्षा होती है।

आड़ंग–सं०पु०—वर्षा के आगमन की सूचना देने वाली गर्मी, उमस।
उ०—१ दुसमण री क्रपा बुरी, भली सैण री त्रास।
आड़ंग कर गरमी करै, जद वरसण री आस।
२ सु मेघ को **आड़ंग** जांणै जोगिणी आवी छै।—वेलि. टी.

आड़त–सं०स्त्री०—१ किसी दूसरे व्यापारी के माल को रख कर उसके कहने के अनुसार ही उसकी बिक्री कराने की व्यवस्था करने का धंधा, आढ़त. २ वह स्थान जहाँ ऐसी आढ़त का माल रखा जाता हो. ३ इस प्रकार आढ़त के द्वारा बिक्री करने के बदले मिलने वाला धन, कमीशन, दस्तूरी. ४ पुराने समय में लिया जाने वाला सरकारी लगान जो केवल सांभर में ही वसूल किया जाता था. ५ गरज, आवश्यकता।

कहा०—आड़त मोटी आपरी, ज्यां घर मांदा पूत। भादां छाछ न घालता, जेठां घालै दूध।—जो कभी किसी की गरज न करता हो उसे भी आवश्यकता पड़ने पर बहुत खुशामद करनी पड़ती है।

आड़तियौ–सं०पु०—आड़त (देखो 'आड़त' [१]) का व्यवसाय करने वाला व्यक्ति। कमीशन लेकर किसी व्यापारी के माल की बिक्री कराने वाला।

आड़पियौ, आड़पीयौ–वि०—अप्राप्त, नहीं मिलने वाला। उ०—औ गढ़ कहै दुनी **आड़पियौ**, अणगढ़ रांण थयौ अदतार। खीजै गयौ खजानौ खोयौ, महमद सरखौ मांगणीयार।—अज्ञात

आड़ा-चौताळौ–सं०पु०—१४ मात्राओं की ताल।

आड़ाजीत–सं०पु०—योद्धा, वीर। उ०—**आड़ाजीत** कड़ाल ठहकै चाळ वांघपूरा खूंद चा त्रंबाळ खवां रणंकै अखंड।—पहाड़खां आढ़ौ
(मि. आडाजीत)

आछोड़ी-वि०—अच्छा, भला, ठीक, सुंदर (अल्पा०) (स्त्री० आछोड़ी) उ०—आछोड़ा हिग आय, यों आछा भेळा हुवै। ज्यूं सागर में जाय, रळै नदी जळ राजिया।—किरपाराम

आछौ, आछ्यौ-वि० (स्त्री० आछी) १ अच्छा, सुंदर, भला, उत्तम (डि.को.) उ०—वरणियौ नहीं आछौ कांम, वीर युंही वीती वेहड़ली।—ऊ.का.

मुहा०—१ आछी करी—अच्छा कार्य किया (व्यंग्य), बहुत बुरा किया। २ आछी पदराई—अच्छी रक्खी। (व्यंग्य)

कहा०—१ आछी जीण सूं घोड़ी आछौ को गिणीजैनी—अच्छी जीन से घोड़ा अच्छा नहीं गिना जाता, बाह्य वेश अच्छा होने पर भी निगुणी गुणवान नहीं समझा जा सकता. २ आछी वात लोकीक री है—उत्तम एवं भला वचन ईश्वरीय वचन के समान होता है, दुनिया को जो भली लगे वही बात उत्तम होती है. ३ आछा फूल महेस चढ़ै—अच्छे फूल महादेवजी पर चढ़ते हैं, भली वस्तुएं भलों को दी जाती हैं।

२ स्वस्थ, नीरोग।

क्रि०प्र०—करणी-होणी।

३ श्वेत, सफेद।

(अल्पा०—आछोड़ी)

आज-क्रि०वि० [सं० अद्य, पा० अज्ज] वर्तमान दिन में, जो दिन बीत रहा है उसमें, इन दिनों, वर्तमान समय में, अब।

कहा०—१ आज अमां नै काल तमां—देखो 'आज हमां तौ काल तमां'. २ आज मूंडौ देखीजै है सा—बहुत दिनों के बाद अब मिले हैं, अधिक समय के बाद मिलने पर. ३ आज मेरी मंगणी, कल मेरा व्याव, टूट गई टंगड़ी रह गया व्याव—आज मेरी मँगनी है, कल मेरा विवाह होगा, इस प्रकार सोचते-सोचते टांग टूट गई और विवाह धरा रह गया। मनुष्य सोचता है कुछ, होता है कुछ, भविष्य का कुछ पता नहीं. ४ आज सूं ही काल—क्या अब हम किसी कार्य के न रहे, किसी के द्वारा अवहेलना करने पर. ५ आज हमां तौ काल तमां—आज हमको तो कल तुमको (काम पड़ेगा), संसार में दूसरे से काम पड़ता ही रहता है।

सं०पु० [सं० आजि] घृत (अ.मा.), युद्ध।

आजकल, आजकाल-क्रि०वि०यौ०—इन दिनों में, वर्तमान समय में, कुछ दिनों में या कुछ समय में।

आजगव-सं०पु० [सं० अजगव] शिवजी का धनुष।

आजजुगाद-क्रि०वि०—परम्परा से।

आजन्म-क्रि०वि० [सं०] पूरे जीवन भर, जिंदगी भर, आजीवन।

आजम-वि० [अ० अजम] बहुत बड़ा, महान।

आजमाइस-सं०स्त्री० [फा० आजमाइश] परीक्षा, इम्तिहान।

आजमाणौ, आजमावौ-क्रि०स०—आजमाइश करना, परखना, जांच करना, परीक्षा करना।

आजमाणहार-हारौ (हारी), आजमाणियौ—आजमाने वाला।

आजमायोड़ौ-भू०का०कृ०—आजमाया हुआ।

आजमावणौ-आजमावबौ—(रू.भे.)

आजमायोड़ौ-भू०का०कृ०—आजमाइश किया हुआ, परीक्षित। (स्त्री० आजमायोड़ी)

आजमावणौ, आजमावबौ-क्रि०स०—देखो 'आजमाणौ' (रू०भे०)

आजमूदा-वि० [फा०] परीक्षित, आजमाया हुआ।

आजलूं-क्रि०वि०—आज लौं, आज तक। उ०—और की निहार ऐव आजलूं जियौ। आपने किये कि ग्रांर फोर तूं हियौ।—ऊ.का.

आजांन-वि० [सं० आजानु] १ जांघ या घुटनों तक लंबा. २ आजानुबाहु।

आजांनदेव-सं०पु० [सं० आजानदेव] सृष्टि के आदि में उत्पन्न होने वाले देवता।

आजांनबाह, आजांनबाहु, आजांनबाहू, आजांनभुज, आजांनबाळौ-सं०पु० [सं० आजानुबाहू] जिसके बाहु या हाथ जानु तक लम्बे हों, जिसके हाथ घुटनों तक पहुँचें, वीर, शूर, विशालबाहु।

आजांनु-वि०—देखो 'आजांन'।

आजांनुबाहु-वि०—देखो 'आजांनबाहु'।

आजाजीत-वि० [सं० आज्यजित] जो किसी से जीता न जा सके, अजेय। उ०—भांणौ नै सूरजमल दोय जणा हीज हुता सु सूर तौ हाथ नायौ नै दोय रींछ आजाजीत आगै-पाछै आया। इसड़ा कदै आंखियां ही दीठा नहीं।—नैणसी

आजाद-वि० [फा० आजाद] १ जो बद्ध या परतंत्र न हो, छूटा हुआ, मुक्त। उ०—भरोसे खुसाळ सक्ति भिड़ण, संभियौ सगळां साथ रै, आजाद हिंद करवा उमंग, निडर 'आजवा' नाथ रै।

—गिरवरदांन कवियौ

२ बेफिक्र, बेपरवाह. ३ निडर, निर्भय. ४ स्पष्टवक्ता.

५ स्वतंत्र विचार के सूफी फकीर।

आजादगी, आजादी-सं०स्त्री० [फा० आजादी] स्वतंत्रता, स्वाधीनता।

आजानेय-सं०पु० [सं०] १ घोड़े की एक जाति जो श्रेष्ठ गिनी जाती है. २ इस जाति का घोड़ा।—शा.हो.

आजार-सं०पु० [फा० आजार] १ रोग, बीमारी, व्याधि (डि.को.) २ लक्षण, चिन्ह (अमरत)

आजि-सं०स्त्री० [सं०] १ लड़ाई, समर, युद्ध। रू.भे. 'आजी') उ०—अच्छे वाजि उडायकै मन आजि मिळाया।—वं.भा. २ गमन, गति। [सं० आजि] घी, घृत (ह.नां.)

क्रि०वि० [सं० अद्य, प्रा० अज्ज] आज। उ०—राइ कहई भली हुई आजि। कोकि भतीजौ सौंप्यौ राज।—वी.दे.

आजिज-वि० [अ०] १ दीन, विनीत, नम्र. २ हैरान।

आजिजी-सं०स्त्री० [अ०] दीनता, नम्रता, विनीत भाव।

आजी-सं०स्त्री०—१ युद्ध, संग्राम। उ०—गजारोही वाजी पदन हय

२ आचरण करना।

आचारवांन–वि० [सं० आचारवान] १ पवित्रता से रहने वाला, सदाचारी. २ शुद्धाचरण या सुभाचार वाला।

आचार-विचार–सं०पु०यौ० [सं०] १ आचार और विचार, चरित्र और मन के सद्भाव. २ चाल-ढाल, रहने की सफाई. ३ शौच. ४ व्यवहार।

आचार-विरुद्ध–वि० [सं०] कुरीति, व्यवहार-विरुद्ध।

आचारवेदी–सं०पु० [सं०] भारतवर्ष (डि.को.)

आचारहीण–वि०—आचारभ्रष्ट, आचारहीन।

आचाराज–सं०पु०—देखो 'आचारज'।

आचारि–सं०पु०—१ दान. २ दातार होने का भाव। उ०—ऊंनड़ जेवही **आचारि** अपहड़ भड़ निवड़ भारी।—ल.पि.

आचारिज–सं०पु०—देखो 'आचारज'। उ०—त्रिकाळग्य तत जांण वांणि जोतिस ततवेता, **आचारिज** रिख उग्र जिकै इक्खज गुण जेता।—रा.रू.

आचारी–वि० [सं० आचारिन्] १ आचारवान, शास्त्रानुगामी. २ चतुर, दक्ष. ३ चरित्रवान, सच्चरित्र, सदाचारी. ४. दातार, दानी। [रा०] ५ समान, तुल्य, बराबर. ६ भोजन में छुआछूत का परहेज करने वाला।

सं०पु०—१ रामानुजाचार्य के सम्प्रदाय का वैष्णव. २ अन्त्येष्टी क्रिया कराने वाला व्यक्ति।

आचारीक–वि० सं० आचार+ईक रा० प्र०] १ आचार्य, दक्ष, चतुर. २ दातार। उ०—थारी रीझां सुणे सारै अचंभी जिहांन थाई। **आचारीक** भारी तैं उडाई भली आथ।

—रांमकरण महड़ू

आचारचविद्या-सं०स्त्री०—पुरुषों की बहत्तर कलाओं के अंतर्गत एक कला।

आचि–सं०पु०—हाथ (ल.पि.)

आचू–सं०पु०—हाथ। उ०—जिस सायत परदळ के विगारू......अंगू के ओनाड़ **आचू** के उदार काछवाचू के अडोल।—र.रू.

आच्छादन–सं०पु० [सं०] १ ढकना. २ वस्त्र, कपड़ा।

आच्छौ–वि०—देखो 'आछौ'।

आछंटणौ, आछंटबौ–क्रि०स०—दूर फेंकना। उ०—राती वरड़ी री पांडरौ नीर पवन री मारियौ फीण **आछंटतौ** थको झोला खाय रह्यौ छै।—रा.सा.सं.

आछ–सं०स्त्री०—छाछ (मट्ठा) को बिना हिलाए कुछ देर पड़ी रखने पर उस पर ऊपर आने वाला पानी या पानी के समान द्रव्य पदार्थ जो छाछ से अलग सा मालूम होता है। उ०—आछ रांमदे पीवण अटकी, दूभां नाभै घाली मटकी।—ऊ.का.

आछउ–वि०—अच्छा, सुंदर। उ०—थां सूतां म्हे चालिस्यां, एह निंचिती होइ। रइवारी ढोलउ कहइ, करहउ **आछउ** जोइ।

—ढो.मा.

आछट–सं०स्त्री०—झटका, धक्का, पछाट, आघात।

क्रि०वि०—एकदम बड़े वेग के साथ। उ०—इण **आछटनै** तरवार काढ़ी, सोर हुवौ।—नैणसी

आछटणौ, आछटबौ–क्रि०स०—पछाड़ना, प्रहार करना।

उ०—जेठांणी भूलौ हमें, खरच दिखांणी रीस। देखी देवर **आछटै**, हाथ्यां हाथळ सीस।—बी.स.

उ०—२ आच रै जोर मिरजा तणै **आछटी**। भाचरै चाचरै बीज भटकी।—गोरधन बोगसौ

आछटणहार-हारौ (हारी), **आछटणियौ**–वि०—पछाड़ने या प्रहार करने वाला।

आछटिओड़ौ-आछटियोड़ौ-आछटयोड़ौ–भू०का०कृ०।

आछटीजणौ, आछटीजबौ–कर्म वा०।

आछटियोड़ौ–भू०का०कृ०—पछाड़ा हुआ, प्रहार किया हुआ। (स्त्री–आछटियोड़ी)

आछत–सं०स्त्री० [सं० आच्छन्न] छिप कर रहने का भाव।

उ०—बारह मासां बीह, पांडव ही रहिया प्रछन। दुरगौ हेकौ दीह, **आछत** रह्यौ न आसवत।—अज्ञात

आछन्न–क्रि०वि० [सं० आसन्न] पास, निकट। उ०—ज्यां **आछन्ना** दूरि थकां भौ पासि।—हा.झा.

आछयौ–वि० [सं० अच्छ] १ अच्छा, उत्तम, ठीक (अमरत) २ स्वस्थ।

आछाद–वि० [सं० आच्छादित] ढका हुआ, आवृत्त, छिपा हुआ, तिरोहित।

आछादणौ, आछादबौ–क्रि०स०—आच्छादित करना, ढकना (पा.प्र.)

उ०—सूरय खेहि करी **आछाद्यउ**।—कां.दे.प्र.

आछादित–वि० [सं० आच्छादित] छाया या ढँका हुआ।

उ०—छत्र रंग रंग का इतना ऊभा हुआ छै सु आकास **आछादित** हुऔ छै।—वेलि. टी.

आछापण, आछापणौ–सं०पु०—अच्छापन, उत्तमता, अच्छाई।

आछी–सं०स्त्री०—१ भलाई. २ आवड़ देवी की बहिन तथा मामड़ की पुत्री जो देवी का अवतार मानी जाती है।

वि०स्त्री०—देखो 'आछौ' (स्त्री०) उ०—चतुरां क्यूं ऊंडी चिंता चांपां री, **आछी** ईसुर री भूंडी आंपां री।—ऊ.का.

आछीसिल–सं०पु० [आछी=श्वेत+सिल=सिला] १ स्फटिकमणि. २ स्फटिक सिला। उ०—बीच विचाळै मरकत-चौकी जेय सुहावै। **आछीसिल** पर कनक-छड़ी पळकीज लखावै।—मेघ०

आछेली–वि०स्त्री०—अच्छी, श्रेष्ठ। उ०—नारायणी सिला धू नाचेली नरत्याद पारायणी प्रवाड़ां **आछेली** दसादेण पातां।

—नवलजी लाळस

आछोड़ी–सं०स्त्री०—१ बालू, रेत. २ शक्कर, चीनी. ३ ज्वार (सफेद)

वि०—अच्छा, भला, ठीक, सुंदर (अल्पा०) (पु० आछोड़ौ)

उ०—ऐहळा जाय उपाय, **आछोड़ी** करणी अहर। दुस्ट किणी ही दाय, राजी हुवै न राजिया।—किरपारांम

कुमति उपजना. ६ आटा रै साथ घण पीसीजै—अपराधी के साथ निरपराधी का भी दंडित होना।

कहा०—१ आटा खूटा नै चेला न्हाटा—खाद्य सामग्री समाप्त होने पर उस पर अवलंबित व्यक्तियों का वहाँ से चला जाना, स्वार्थ मिटने पर स्वार्थी आदमी का अलग हट जाना. २ आटै की भींत अटारी को मरबौ—आटे की दीवार अच्छी नहीं, अटारी से गिर कर मरना अच्छा नहीं. ३ आटै जैड़ी रोटी हुवै है—जैसा आटा है वैसी ही रोटी बनेगी, सामग्री के अनुसार ही किसी वस्तु का निर्माण होगा. ४ आटै में लूण खटावै जित्तौ कूड़ खटावै—आटे में नमक चलता है उतना झूठ; थोड़ा-सा झूठ चल सकता है पर अधिक नहीं. ५ आटै री कसर खाटै में निकळ जाई—एक वस्तु की कमी की पूर्ति दूसरी वस्तु से की जा सकती है. ६ आटै री कटारी खाय नै मरणौ—आटे की कटारी बना कर उससे आत्महत्या का प्रयत्न करना, कायरता-पूर्ण बार-बार आत्महत्या करने की धमकी देने पर. ७ आटै लूण समातौ खाणौ—आटे में नमक जितनी ही घूस लेनी चाहिये. ८ आटौ भाटौ घी घड़ौ, खुला केसां नार, डावा भला न जीमणां, ल्याळी जरक सोनार—शकुनशास्त्र के अनुसार आटा. पत्थर, घी का घड़ा, खुले केशों वाली स्त्री, भेड़िया, लकड़बग्घा और स्वर्णकार—ये चाहे बायीं ओर मिलें चाहे दायीं ओर कभी शुभ नहीं होते. ८ घी तौ घिलोड़ी मुजब, आटै री घाटौ नहीं—स्वागत-सत्कार हमारी शक्ति एवं सामर्थ्य के अनुसार करने का प्रयत्न किया जायगा।

आटौ-साटौ—सं०पु०—एक वस्तु लेकर बदले में दूसरी वस्तु देना, अदल-बदल।

आठ—वि० [सं० अष्ट] चार का दूना, सात और एक का योग।
सं०पु०—८ की संख्या।
मुहा०—१ आठ-आठ आँसू रोवणौ—बहुत रोना. २ आठूं पो'र या आठूं पो'र चौसट घड़ी—हर समय, दिन-रात।
कहा०—१ आठ पूरबिया, नव चूल्हा—आठ पूरबिए ब्राह्मण और नौ चौके, जब आपस में एक मत न हों और सब का मत अलग-अलग हो. २ आठूं वळदां अरट यूं ही चालणौ—यों ही कार्य चलता रहना, अव्यवस्थित रूप से काम चलने पर।

आठआंनी—सं०स्त्री०—आधे रुपए के बराबर का एक सिक्का, अठन्नी।

आठक—वि०—आठ की संख्या के बराबर।
सं०पु०—आठ की संख्या।

आठकरम—सं०पु० [सं० अष्ट+कर्म] आठ प्रकार के कर्म—ज्ञानावर्णी, दर्शनावर्णी, मोहिनी, अंतराय, वेदनी, नाम, गोत्र, आयुस्य (जैन धर्मानुसार)

आठकि—सं०पु०—प्रहार। उ०—घड़्घड़ घेघड़ वज्जहि धार, कड़क्कड़ आठकि काठ कुठार।—रा.रू.

आठड़ौ—वि० [सं० अष्ट] आठ (न.पि.)

आठद्रगन—सं०पु० [सं० अष्ट+दृग] जिसके आठ आँखें हों, ब्रह्मा, विरंचि (डि.को.)

आठपग—सं०पु०—१ अष्टापद, सिंह। (मि०—अस्टापद) २ मकड़ी।

आठपुहर—क्रि०वि०यौ० [सं० अष्ट—प्रहर] आठों प्रहर, हर समय, दिनरात।

आठम—सं०स्त्री० [सं० अष्टमी] अष्टमी, चंद्रमास के प्रत्येक पक्ष की अष्टमी।

आठमासियौ—सं०पु०—१ आठ मास का गर्भस्थ शिशु. २ वह जिसने आठ मास गर्भ में रह कर जन्म ग्रहण किया हो।

आठमि, आठमी—सं०स्त्री०—देखो 'आठम' (पु० आठमी)।

आठमौ—वि०—जो क्रम में सात के बाद पड़ता हो, आठवाँ।

आठवाट—सं०पु०—नष्ट। उ०—काट जिकां कुळ ऊबटै, आठवाट इतफाक। वां सवळां ही पुरसड़ां, वैरी गिणै वराक।—बां.दा.

आठसिध—सं०स्त्री०—देखो 'अस्टसिद्धि'।

आठांजांम—वि० [सं० अष्ट+याम] हर-समय, रात-दिन।

आठांनी—सं०स्त्री०—देखो 'अठन्नी'।

आठांपोहर—सं०पु० [सं० अष्ट+प्रहर] हर समय, रात-दिन।

आठांभुजा—सं०स्त्री०—१ वह जिसके आठ भुजायें हों. २ देवी, दुर्गा (डि.को.) ३ पार्वती (डि.को.)

आठियौ—सं०पु०—१ बड़े मुँह वाली एक प्रकार की ऊँट पर कसी जाने वाली बंदूक. २ एक प्रकार की छोटी बंदूक जो पलीते से छोड़ी जाती थी।

आठी—सं०स्त्री०—१ देखो 'आटी'। २ आठ छिद्रों वाली 'पुंगी' नामक एक वाद्य विशेष। उ०—अनळ भरेण वाजती आठी, हरण भुअंगम दिये हिया।—उडणा प्रथीराज री गीत

आठूं—वि०—आठों। उ०—दुझल जिण भुजांवळ हूंत आठूं दिसा, लंघ सामंद कीधी लड़ाई—र.रू.

आठूंजांम, आठूंपहर—क्रि०वि०—आठों प्रहर, हर समय, रात-दिन।

आठूंवळां—क्रि०वि०—आठों दिशाओं की ओर, सब तरफ।

आठे'क—वि०—आठ के लगभग।

आठौ—सं०पु०—१ आठवाँ वर्ष. २ आठ का अंक. ३ ताश का वह पत्ता जिसमें आठ बूंटियाँ हों।

आडंगौ—सं०पु०—जूसर को गाड़ी से दृढ़ रखने के लिये चमड़े का गोल बंधन जिस पर नाड़ा भी बाँधा जाता है।

आडंबर—सं०पु० [सं०] १ गंभीर शब्द. २ तुरही की आवाज. ३ हाथी की चिंघाड़. ४ ऊपरी बनावट, दिखावा, ढोंग।
उ०—थोथा गैडंबर संबर विण थाया, छपने सूमांसा आडंबर छाया।
—ऊ.का.
५ तड़क-भड़क, टीम-टाम, चटक-मटक, ठाट-बाट। उ०—अति मोटै आटंबरां किधौ विवाह जेण। अरथ गरथ खरचा बहुत, पिंगळ नरवर जांण।—ढो.मा. ६ तंबू. ७ युद्ध में बजाने का बड़ा ढोल. ८ ललकार. ९ युद्ध की घोषणा।

आजी गत लागे । अयोसा योसाजी अनंग जिम बाजीगर अगे ।
—ऊ.का.

घी, घृत (ह.नां.)

आजीजी—सं०स्त्री० [अ० आजिजी] १ दीनता, विनम्रता.
२ खुशामद ।

आजीवका—सं०स्त्री० [सं० आजीवका] वृत्ति, रोजी, बंधान ।

आजीवन—क्रि०वि०—जिंदगी भर ।

आजीविका, आजुका—सं०स्त्री० [सं० आजीविका] रोजी, रोजगार, जीवन का सहारा ।

आजुत—सं०पु० [सं० आयुत] दस हजार ।
सं०स्त्री०—दस हजार की संख्या ।

आजुरदा—सं०पु० [फा० आजुर्दह] १ गुलाम. २ सताया हुआ, दुखी, चिंतित ।

आजूंणौ—वि० (स्त्री० आजूणी) आज का । उ०—तांत तणकै पीव पीयै, करहौ उगाळा लेह । भलां कढ़ेसी दीहड़ा, विह **आजूणी** टाळेह ।
ढो.मा.

आजू—सं०पु०—बेगार अनिच्छा से बिना पारिश्रमिक प्राप्त किये किया जाने वाला श्रम ।
क्रि०वि०—अभी तक । उ०—**आजू** हीलोहळ धू अटळ, वेद धरम वांणारसी ।—कम्मौ नाई

आजूणईं—वि०—आज का, नवीन ।
क्रि०वि०—आज । उ०—संपहुता सज्जण मिळिया, हूंता मुझ हीयाह । **आजूणईं** दिन ऊपरइ, बीजा वळि कीयाह ।—ढो.मा.

आजूणौ—वि० (स्त्री० आजूणी) १ आज की, आज का ।
उ०—धन **आजूणौ** दीहड़ौ, धन आजूणी रात ।—रा.रू.
२ जीवनपर्यन्त । .

आजूत—वि०—देखो 'आयुत' ।

आजूवाजू—क्रि०वि०—आस-पास, अगल-वगल ।

आजे—क्रि०वि०—आज ही । [सं० आज्य, प्रा० अज्ज] उ०—**आजै** रळी वधांमणां, आजै नवला नेह । सखी अम्हीणी गोठ मइं, दूथे वूठा मेह ।—ढो.मा.

आजौ—सं०पु० [रा०] १ बल, ताकत, साहस. २ विश्वास, भरोसा, सहारा । उ०—आपरौ **आजौ** आंण नै, आविया म्हे देहे एथ । एकंथ भोम वतायदी, जिम गोळ वांधां जेथ ।—पा.प्र. ३ आश्विन शुक्ला प्रतिपदा को दौहित्र द्वारा संपन्न किया जाने वाला अपने नाना का श्राद्ध ।

आजोळी—सं०स्त्री० [सं०] प्रकाश ।

आजोकौ—वि०—आज का ।

आज्यस्थाळी—सं०स्त्री० [सं० आज्यस्थाली] वटली के आकार का एक यज्ञपात्र जिसमें हवन के लिए घी रक्खा जाता है ।

आझ—सं०पु० [सं० आजि] युद्ध ।

आझा—सं०स्त्री०—इच्छा, कामना ।

आझाड़ौ—वि०—काटने वाला, मारने वाला, योद्धा ।
उ०—वांमी दिस वखतेस, जुड़-मेड़तिया जींमणौ । **आझाड़ा** सांम्हौ अभौ, राजा महण रवेस ।—रा.रू.

आझाळ—सं०स्त्री० [सं० ज्वाला] आग की लपट, ज्वाला ।

आझाळौ—सं०पु० [सं० आजि+ज्वाला] वीर, वहादुर, जोशीला, तेजस्वी । उ०—१ वंस छतीस वरंम गनीमां गाळणौ । **आझाळौ** अधपती भली द्रढ़ भाळणौ ।—किसोरदांन वारहठ
उ०—२ उदिया जग भांण कांन आझाळौ, रण चाचर करनेस रढ़ाळौ । उजेण रै झगड़ै री गीत

आझौ—सं०पु०—वीरता, साहस, शक्ति । उ०—सांम ध्रम कांम पूरी सुमति, खरै मतै **आझै** खरै ।—रांमरासौ
वि०—१ निकटतम, घनिष्ठ. २ वहुत, गहरा. ३ उदार, महान. ४ कलंक, दोष ।

आटइयौ—सं०पु०—आटा, चून (अल्पा०) उ०—गेहूंड़ा पीसीजै, **आटइयौ** रांणै रावरौ, रै म्हारा सायर सोढ़ा, एकर तौ अमरांणै घोड़ौ फेर ।—लो.गी.

आटपाटां, आटांपाटां—सं०पु०—पानी का नदी के दोनों तटों से भी ऊपर बहने का भाव । उ०—१ माचै खाग झाटां राचै तंवाई छः खंडां माथै, रत्रां **आटपाटां** नदी वहाई रौसाग ।—सूरजमल मीसण
उ०—२ तोय नहर आसू आवतां, छौळ सिमट थक नीर छजै । वट घाटां नद नांणा वाळी, आटां-पाटां वहे अजे ।
—महाराणा भीमसिंह री गीत
वि०—ओतप्रोत ।

आटवाट, आटवाट, आटवाटां—क्रि०वि०—इधर-उधर । उ०—१ निज थाट खोय फीटा निलज, साट न वूझै सार री । **आटवाट** भागै अकळ, चोट लगै विभचार री ।—ऊ.का.
उ०—२ देस निकंटक कर दिए, असमझ मर आरांण । काट जकां कुळ ऊवटै, **आटवाट** इतफाक ।—वां.दा.

आटी—सं०स्त्री०—१ अटेरण पर लपेटा हुआ सूत या सूत की गुंडी.
२ वेणी में डाली जाने वाली सूत या ऊन की मोटी डोरी.
३ वेणी । उ०—कर में कांकणियां जसदा गळ काठी, अदभुत मीरां पर लुढ़तोड़ी **आटी** ।—ऊ.का.
यौ०—आटी-डोरडौ, आटी-डोरी ।

आटीबंद—रहँट की माल के सिरे पर के वंध के समीप का वंध, इन दोनों वंधों के बीच दूसरी माल का सिरा डाल कर जोड़ा जाता है ।

आटौ—सं०पु०—१ किसी वस्तु का चूर्ण, बुकनी. २ किसी अन्न का चूर्ण, पिसान ।
मुहा०—१ आटा में लूण—इतना कम कि जाना न जा सके. २ आटा दाळ री फिकर होणी—जीविका की चिंता होना. ३ आटे दाळ री भाव ठा पड़णौ—होश ठिकाने होना. ४ आटौ वाड़ौ लगणौ—ठीक ढंग से काम न करना. ५ आटौ वादी करणौ—मस्तिष्क में

उ०—आडी ओळखियां खायोड़ा आधा, लाडां-कोडां में जायोड़ लाधा।—ऊ.का.

आडीओळ–वि०—समस्त, सम्पूर्ण, पूरा।

आडीटांग–सं०स्त्री०—एक का अपनी टाँग द्वारा दूसरे की टाँग में अड़ा कर वा प्रहार कर गिराने की चेष्टा, लत्ती।

आडीधार–सं०स्त्री०—तलवार की धार।

आडीमाळ–सं०स्त्री०—गाँव के सरहद की सब भूमि. २ भूमि का वह भाग जिस पर फसल एक ही प्रकार की होती है।

आडीयौ–वि०—१ बराबर, समान।
सं०पु०—२ देखो 'आडियौ'।

आडीलीक आडीलीह–अत्यन्त अधिक, हद से बाहर। उ०—चटठा भै भीत रठा दुघटा कोयणां चोळ ऊभै घटा जठा सक्र गाय में अनूप। लंगरां रटठा वे पनठा आडीलीह राणा वाळा भूठा फील जूटा असै रूप।—पहाड़खां आढ़ौ

आडू–सं०पु०—१ लोहे का बना बड़ा औजार जो कि लकड़ी व पत्थर को चीरने के काम आता है। [सं० आलु] २ एक प्रकार का फल जो खटमिठे स्वाद का होता है।
वि० [रा०] आगे, सम्मुख।

आडेअंक–वि०—बेहद, बहुत, अपार। उ०—क्रपण संतोस करै नहीं, लालच आडेअंक। सुपण बभीखण सु मिळै, लिए अजारे लंक।
—बां.दा.

आडेकट–वि०—सब, समस्त, पूर्ण।

आडेखंडे–वि०—१ बेरोक-टोक, खुला, स्वतंत्र. २ विरुद्ध।

आडेछाज–सं०पु०—एक प्रकार की नाज साफ करने की क्रिया।
उ०—ऊफणी आडेछाज कठैंक, उरसां सुगन चिड़ी री पोख।
—सांभ

आडेफरे–सं०पु०—१ रेतीले टीबे का मध्य भाग. २ पर्वत का मध्य भाग।

आडैअंक–वि०—देखो 'आडे अंक'। उ०—सींगड़ियां ऊगण समै, वाछड़ुवां री वंस। खबर पड़ै धुर खेंचसी, औ तो आडैअंक।
—बां दा.

आडोवळी–सं पु०—अरावली पहाड़ (रू०भे०)

आडोस-पाडोस–सं०पु०—पास का स्थान।
क्रि०वि०—पड़ोस में, आस-पास, करीब।

आडोसी-पाडोसी–सं०पु०—पास में रहने वाले, जिनका निवास-स्थान अपने निवास-स्थान के बिल्कुल पास में हो।

आडोहडि–क्रि०वि०—देखो 'आडौअडि'।

आडोहल्लणौ, आडोहल्लबौ–क्रि०अ०—१ मदद करना. २ विरुद्ध चलना।

आडौ–वि० (स्त्री० आडी) १ विरुद्ध, विमुख (बहु० आडां)
क्रि०प्र०—करणौ-पड़णौ-वेहणौ-हालणौ।
उ०—लोहां करंतौ झाटका फणां कंवारी घड़ां री लाडौ, आडौ जोधांण सूं खेंचियौ वहे अंट—सूरजमल मीसण
२ सहायक, मददगार।
क्रि०प्र०—आणौ-आवणौ।
मुहा०—आडौ आणौ—मदद करना, समय पड़ने पर या कष्ट में सहायता देना।
कहा०—आडौ आवै जिकौ ही सीरी—कष्ट पड़ने पर जो साथ दे वही वास्तव में साथी है।
३ आंखों के समानान्तर दाहिनी ओर से बाँयी ओर को, और बाँयी से दाहिनी ओर को गया हुआ वार से पार तक।
क्रि०प्र०—आणौ-आवणौ-करणौ-देणौ-पडणौ-वहणौ-लेणौ-होणौ।
मुहा०—१ आडा हाथां लेणौ—ताना देकर शर्मिन्दा करना, मीठे शब्दों में व्यंग्य करना. २ आडौ आवणौ—अवरोध डालना, व्याघात पहुँचाना।
कहा०—१ घी घालसी जका तौ आडा हाथां घालसी—मुक्तहस्त से दान करने वाला ही सच्चा दानी है। जिसका सहायता करने का स्वभाव है वह तो अवश्य भरपूर सहायता करेगा।
सं०पु० [रा०] १ द्वार, दरवाजा. २ कपाट, किंवाड़।
क्रि०प्र०—देणौ-लगाणौ-खोलणौ।
३ ओट, परदा।
क्रि०प्र०—आणौ-करणौ-देणौ-होणौ।
उ०—अंडज्ज स्वेदज्ज जरा उद्भिज्ज, माया सब तुझ म भूलव मुझ, म राख पड़द्दौ आडौ मुंह, जहां कुछ देखूं त्यां सब तूंह—ह.र.
४ निंदायुक्त कविता. ५ भूमि के समानान्तर किसी वस्तु या व्यक्ति का होना।
क्रि०प्र०—करणौ-पड़णौ-होणौ। (स्त्री० आडी)
मुहा०—आडौ-होणौ, सोना।
कहा०—ऊबी आई आडी जाऊं—विवाह करके इस घर में खड़ी-खड़ी आई हूँ किन्तु मृत्यु के उपरांत लेट कर ही वापस जाऊँगी।
क्रि०वि०—बीच में, राह में। उ०—आड़ा डूंगर दूरि घर, वणइ न जांणइ भत्त। सज्जण संदइ कारणइ, हियउ हिळूसइ नित्त।
—ढो मा.

आडौ अंवळौ–क्रि०वि०—१ इधर-उधर. २ जैसे-तैसे, ज्यों-त्यों।
सं०पु०—प्रसव के समय गर्भाशय में बच्चे का टेढ़ा-मेढ़ा हो जाना।
(अमरत)

आडौआडि–क्रि०वि०—बीच में अड़ कर, आडा आकर, रुकावट करके।
उ०—आडौअडि एकाएक आपड़ै, बाथ्यौ एम रुखमणी वीर।
—वेलि.

आडौ-खेमटौ–सं०पु०—संगीत के अंतर्गत मृदंग का साढ़े तेरह मात्राओं का एक ताल विशेष।

आडौ-धंस–सं०पु०—आँखों के समानान्तर बाँयी ओर से दाहिनी ओर या दाहिनी ओर से बाँयी ओर को गया हुआ मार्ग।

आडंबरी–वि० [सं०] आडंबर करने वाला, ऊपरी बनावट या दिखावा करने वाला, ढोंगी।

आड–सं०स्त्री०—१ ओट, परदा. २ रोक, बाधा। उ०—**आड** रोपी वज्रंद भीक वागी असंभ।–बां.दा. ३ आसरा, सहायता की आशा. ४ सहायता, मदद. ५ वहाना. ६ लम्बी टिकली. ७ स्त्रियों के कंठ का एक भूषण. ८ स्त्रियों के माथे का आडा तिलक. ९ रक्षा, शरण. १० अड़ान, आधार. ११ तालाब में पानी लाने के निमित्त बनाई गई एक प्रकार की कच्ची नहर. १२ एक प्रकार का पानी में रहने वाला पक्षी जिसका शिकार किया जाता है। (रा.सा.सं.)

कहा०—आड री वच्चौ तौ समुद्रां में ही तिरै—जन्म-जात गुण स्वयमेव आ जाते हैं उन्हें सीखना नहीं पड़ता।

१३ ईंट या पत्थर का टुकड़ा जिसे गाडी के पहिए के नीचे इसलिए अड़ाते हैं कि पहिया ढाल की ओर आगे न बढ़ सके।

१४ सेतु. १५ पाल (नाव का). १६ केसर व चंदन का तिलक. उ०—दुत केसर **आड** भभूत दीध।—वि.सं. १७ सहायक। उ०—जोध भयंकर जोधहर, अडर मुरद्धर **आड**। सरण छत्रधर सांप नै वणै अकव्वर चाड।—रा.रू.

१८ सन्यासियों के कोपीन के ऊपर कमर पर बाँधी जाने वाली जेवडी या उसका बंध. १९ फलसा में लगाई जाने वाली लंबी मोटी सीधी लकड़ी। (क्षेत्रीय)

क्रि०वि०—ओर, तरफ। उ०—करहा नै कांव वाही करहौ कूदे खेळी री पैली **आड** जाय पड़ियौ।—ढो.मा.

आडई–वि०—देखो 'आड'।

आडण–सं०स्त्री०—१ ढाल. २ आड।

आडणी–सं०स्त्री०—अन्तरपट। उ०—आडी तौ देस्यां **आडणी** जी, झवक परोसां जी थाळ।—मा.गी.सं.

आडणौ, आडवौ–क्रि०स०—जुआ आदि खेलों में बाजी पर रखना। उ०—तिकै दीवाळी रै दिन जूवै रमिया, तरै खाफरै तौ राजा जैसिंघदे री चढ़ण री पाटहड़ौ घोड़ौ कोड़ीधज **आडियौ** नै काळै कांई'क बीजी वस्त आडी छै।—नैणसी

आडपलांण, आडपिलांण–सं०पु०—ऊँट पर एक ओर दोनों पैर लटका कर सवारी करने का ढंग विशेष।

आडबंद, आडबंध–सं०पु०—१ लंगोटी. २ कटिबंध, कोपीन बाँधने की रस्सी। उ०—जट **आडबंध** सेली जड़ाव। आवधां वीर संजत अड़ान।—वि.सं. ३ वर की लाल पगड़ी या दुपट्टे पर लपेटा जाने वाला एक सफेद कपड़े का लंबोतरा टुकड़ा (बांभी)

आडबनोळौ–सं०पु०—श्रीमाली व पुष्करणा ब्राह्मणों में व्याह की एक रस्म जिसमें वधू को सजा कर घोड़ी पर बैठा कर वर के घर ले जाते हैं।

आडबाहरू–वि०—१ हद से बाहर. २ अपने आपको रोकने वाला. ३ मर्यादा को उलंघन करने वाला। उ०—अर कुमारपणै ही अनेक आहव जीति के ही वैरियां रा व्रात दक्षिण दिसा रा लोकपाळ री पुरी रै पंथ लगाइ धरा रौ धन घूपट तै **आडबाहरू** हुवौ तिकौ ही मारि दीधौ।—वं.भा.

आडवळारउ, आडवळौ–सं०पु० [सं० अर्बुदावलि] अरावली पर्वत उ०—अति आणंद ऊमाहियउ, वहइज पूगळ वट्ट। त्रीजइ पुहरि उलांघियउ, **आडवळारउ** घट्ट।—ढो.मा.

आडाअंक–देखो 'आडेअंक'।

आडागिरि–सं०पु०—विंध्याचल पर्वत। उ०—तंबेरम कुंभ दुहायळ तत्थ, **आडागिरि** मत्थ क हत्थ अगत्थ।—मे.म.

आडाचौताळौ—१४ मात्राओं का ताल।

आडाजीत–वि०—१ वीर, बहादुर, शक्तिशाली। उ०—भुजनाथ खळां सिर पारथ, भारथ **आडाजीत** असंकौ।—क.कु.बो.

आडाडंबर–सं०पु०—आडंबर, घमंड। उ०—डाकर डौर न **आडाडंबर**, चित चातुरी न बीजौ चोज। रिमदळ सबळ भांजिया रावळ, अण भांजवा-तणौ आलोज।—माली सांदू

आडायली–सं०पु० [सं० अर्गल] १ किवाड़ बंद करने पर लगाई जाने वाली आडी लकड़ी, अर्गल, व्योंडा. २ किवाड़. ३ अवरोध. ४ कल्लोल. ५ सूर्योदय या सूर्यास्त पर पूर्व या पश्चिमाकाश में दिखाई देने वाले रंग-बिरंगे बादल. ६ तलवार।

आडाराजपूत–सं०पु०—वे राजपूत वंश जिनमें पति की मृत्यु या पति के त्याग पर दूसरा पति करने की अनुमति है।

आडावळ–सं०पु०—अरावली पहाड़।

आडावाळौ–सं०पु०—१ अरावली पहाड़. २ चौहान वंशीय क्षत्रिय। उ०—जुड़ै सेन थंडां जाडावाळी घोम जाळा री सावात जागी, खंडां **आडावाळा** री लागी हाला री खुनास।
—बलवंतसिंह हाडा री गीत

आडि–सं०स्त्री०—देखो 'आड' (१२) उ०—**आडि** जु बोलै छै इहै तंति की सुर हुओ।—वेलि. टी.

आडिया-काठिया–सं०पु०—बाधक। उ०—पण बीजा **आडिया-काठिया** श्री मोकळा बळता हा। चार पूड़ियां ई टावरां तांई सुख सूं कौ देण दीनी।—वरसगांठ

आडियौ–सं०पु०—१ गाड़ी के अगले हिस्से में सामान लादने के निमित्त लगाया जाने वाला डंडा जो बाहर की ओर झुका रहता है. २ एक प्रकार का आरा. ३ बच्चे का हाथ की बाँह पर नाक पोंछने की क्रिया या भाव।

आडी–सं०स्त्री०—१ रोक, अवरोध। देखो 'आडौ'। २ परदा, ओट. ३ पहेली. ४ धरातल के साथ लम्बाई. ५ मदद, सहायता। उ०—ओसर मोसर माय व्यावड़ां **आडी** आवै।
—दसदेव

वि०—१ विरुद्ध. २ धरातल के साथ लम्बाई का।

चली न जाती. १७ आवै न जावै हूं लाडै री भुवा—आता है न जाता है, (कहती है कि) मैं दूल्हे की फूफी; जबरदस्ती पंच बनना. १८ आवो तौ घर है नं जावो तौ मारग है—आते हो तो घर है, जाते हो तो यह मार्ग रहा; प्रेमपूर्वक आते हो तो घर तुम्हारा ही है और अभिमान करके जाते हो तो खुशी से जाओ हमें कोई परवाह नहीं; प्रेमी का सत्कार करना चाहिए, अभिमानी की परवाह नहीं करनी चाहिए. १६ आवो भाई जीया, अवै घोटचा'र पीया—भाई जीया आओ अब घोटना और पीना; अब अपना खर्च करो और खाओ-पीओ. २० आवो भाई भूरा लेखा पूरा—हिसाब-किताब साफ है; अब न लेना है न देना। जब हिसाब-किताब साफ हो जाय अथवा जब लाभ-नुकसान बराबर हो तब कहा जाता है. २१ आवो मीयां खाणो खावो भिसमिल्ला हात धुलावो—आओ मियां खाना खालो, (मियां ने उत्तर दिया) मैं तैयार हूं हाथ धुलाइए; किसी कार्य के लिए तत्पर होने पर कहा जाता है. २२ आवो मीयां छांन उठावो हम बूढ़े कोई जवांन बुलावो—मियाजी आकर यह छांन उठा दो (मियां ने उत्तर दिया) हम तो बूढ़े हैं, किसी जवान व्यक्ति को बुलाओ। अपनी सामर्थ्य से बाहर कार्य करने के लिए कहने पर।

आतंक–सं०पु० [सं०] १ रौब, दबदबा, प्रताप, भय, शंका।

क्रि०प्र०—फैलणौ-राखणौ-होणौ।

पर्याय०—असंक, आर्तक, उद्रक, चमक, डर, बीह, भय, भंत, भीय, भ्रमक, संक।

२ रोग, पीड़ा, ज्वर (ह.नां.) ३ वेग, उपद्रव (अ.मा.)

आतंकरी–वि०—आतंक उत्पन्न करने वाला, भयंकर। उ०—वाह सुग्रीव रीस्या उठी बंकरी, उठी चोकी विरपाक्ष आतंकरी। —र.रू.

आतंख–सं०पु०—१ क्रोध, गुस्सा। उ०—लघू मध्य रगण फल अतक पत पवन लख, तात ऋतु जरा तन रगत आतंख।—र.रू.

२ देखो 'आतंक'।

आतंग–सं०पु०—देखो 'आतंक'।

आतंगी–सं०पु०—यमराज। उ०—तूटी वीज खूटी डाच आतंगी क्रोबार तणी। जाजुळी जोवार वाळी लूटी मेलजांण।—हुकमीचंद खिड़ियौ

आत–सं०पु० [सं० अर्ष] देखो 'आथ'।

आतण–सं०स्त्री० [सं० अस्त] १ देखो 'आथण'। उ०—धोकौ दे दिन रा घी जावै, आतण रा असवारयां।—ऊ.का. २ सूत कातने का चरखा। उ०—ऊठौ हे सहियां मांडौ आतण, वेग वणावौ नागौ। हाडां कटक कूरमां होसी, नाह आवसी नागौ।

—कायर री गीत

आतणी–सं०स्त्री०—१ देवपूजा चढ़ाने को जाने वाली। उ०—नार ज आवै वावा आतणी, सांवळिया मोटचार। सेवगां को ओ वावा भली करौ।—भेरुजी का लो.गी. २ देखो 'आयणी'।

आतताई, आततायी–सं०पु० [सं० आततायी] १ आततायी निम्नलिखित रूप से छः प्रकार से कहे जाते हैं—वधोद्यत, अनिष्टकारी, पातकी, आग लगाने वाला, विष देने वाला, धनापहारी, भूमि-परदार-अपहारक. २ हत्यारा. उ०—सौ भी आतताई नूं उवारि वापरो बचावणहार वाढ़ियौ तौ भी अद्वितीय वार हुवा सुणि किता'क कविलोकां तिकणराही प्रहार री प्रकरसण भणियौ।

—वं.भा.

३ डाकू. ४ खल, दुष्ट. ५ अत्याचारी।

आतप–सं०पु० [सं०] १ धूप, घाम। उ०—पाताळ लोक आतप पड़ै, अड़ै आभ भालां अणीं।—मे.म. २ गर्मी, उष्णता. ३ प्रकाश, रोशनी. ४ ज्वर।

आतपत्र–सं०पु० [सं०] १ छत्र, चँवर, छतरी। उ०—यौ सिर मौड़ रतनमय ओपै, ऊपरि आतपत्र आरोपै।—रा रू. २ कुकुरमुत्ता नामक एक पौधा।

आतपवारण–सं०पु०—छत्र, चँवर।

आतम–सं०पु० [सं० आत्मज] १ संतान। उ०—महमाया गिळिया परमातम आतम सिव उपजाया। [सं०] २ अन्धकार, अज्ञान. ३ आत्मा. देखो 'आत्मा'। उ०—तू आतम पर आतमा सवदे सहिनांणी।—केसोदास गाडण ४ मन। उ०—जुगत बिन सतरंज जीत न जांणी, आतम मूढ़ अजांनी।—ऊ.का. ५ अहंकार. ६ धर्म. ७ स्वभाव (अ.मा.) ८ बुद्धि, चित्त. ९ संसार. १० परमात्मा. ११ ब्रह्म, जीव।

वि०—आत्म, स्वकीय, निजी, अपने। उ०—मोटां तणौ प्रसाद कहे महि ऐंठौ आतम सम अधम।—वेलि.

आतमग्यांन–सं०पु० [सं० आत्मज्ञान] १ अपने स्वयं का जानना. २ जीवात्मा और परमात्मा के विषय में जानकारी।

आतमग्यांनी–सं०पु०—जिसे आत्म-ज्ञान हो।

आतमघात–सं०पु० [सं० आत्मघात] अपने हाथों अपने खुद को मार डालना, आत्म-हत्या।

आतमघातक, आतमघाती–वि० [सं० आत्मघातक, आत्मघाती] आत्म-हत्या करने वाला।

आतमज, आतमजात–सं०पु०—१ पुत्र, लड़का. २ कामदेव. ३ रुधिर. ४ शरीर (अ.मा.)

आतमजोणी–सं०पु० [सं० आत्मज १ पुत्र, लड़का. २ कामदेव. ३ रुधिर। [सं० आत्मयोनि] ४ ब्रह्मा, विष्णु. ५ शिव. ६ कामदेव (डिं.को.)

आतमत्याग–सं०पु०—अपने निज के लाभ की ओर ध्यान न देते हुए परोपकारी बुद्धि रखना।

आतमदरस, आतमदरसण–सं०पु० [सं० आत्मदर्शन] समाधि के द्वारा आत्मा और ब्रह्म को देखना। [सं० आत्म+दर्श] काँच, शीशा, दर्पण।

आतमद्रोही–वि० [आत्मद्रोहिन्] अपने को कष्ट या हानि पहुँचाने वाला।

आतमभु, आतमभू–वि० [सं० आत्मभू] अपने शरीर से उत्पन्न, आप ही आप उत्पन्न।

उ०—पछै रात आधी एक रौ अवदुल्ला रा लसकर ऊपर टूट पड़ियौ सु पेहली तौ आडैधंस...नोखिया ।—नैणसी

आडौ-चौताळ—सं०पु०—मृदंग का एक ताल विशेष (संगीत)

आडौ-ठेकौ—सं०पु०—संगीत के अंतर्गत नौ मात्राओं का एक ताल ।

आडौ-पंचताळ—सं०पु०—संगीत के अंतर्गत पाँच आघात और नौ मात्राओं का एक ताल ।

आडौमारग—सं०पु०—आँखों के समानान्तर वाँयी ओर से दाहिनी ओर और दाहिनी ओर से वाँयी ओर को गया हुआ मार्ग ।
(मि० 'आडौधंस')

आढ़त—सं०पु०—देखो 'आड़त' ।

आढ़तदार, आढ़तियौ—सं०पु०—देखो 'आड़तियौ' ।

आणंद—सं०पु० [सं० आनन्द] १ आनन्द, खुशी, हर्ष, उल्लास ।
क्रि०प्र०—करणौ-देणौ-मनाणौ-लेणौ-होणौ ।
पर्याय०—उछरंग, उमंग, परमसुख, प्रमुद, प्रमोद, महारस, मुद, मोद, विनोद, सामुद, हरखि, हुलास ।
यौ०—आणंद-उदभवन, आणंदकर, आणंदकारी, आणंदघण, आणंद-निध ।
२ मीसण गोत्र का एक ईश्वर भक्त चारण कवि. ३ ईश्वर, विष्णु (ह.नां) ४ वेलिये सांणोर का एक भेद विशेष जिसके प्रथम द्वाले में ४२ लघु ११ गुरु कुल ६४ मात्रायें होती हैं. इसी क्रम से शेष के द्वालों में ४२ लघु १० गुरु कुल ६२ मात्रायें होती हैं. (पिं.प्र) ५ एक वर्णिक छंद विशेष जिसमें प्रथम एक सगण फिर दो भगण, अंत में गुरु लघु होता है (ल पिं.) ६ प्रथम गुरु ढगण के भेद का नाम ऽ।

आणंद-उदभवन—सं०पु०—वीर्य्य (डिं.को.)

आणंदकंद—सं०पु० [सं० आनन्द+कंद] ईश्वर (अ.मा.)

आणंदकर—वि० [सं० आनन्दकर] सुखकर, हर्षप्रद ।

आणंदकार—वि० [सं० आनन्दकर] सुखकर, हर्षप्रद (पिं.प्र.)

आणंदकारी—वि०—सुखकर, आनन्द देने वाला या करने वाला ।

आणंदघण—सं०पु० [सं० आनन्दघन] १ ईश्वर. २ श्रीकृष्ण (ह.ना.) ३ विष्णु की एक मूर्ति का नाम जो पहले नागौर में थी किन्तु आज-कल जोधपुर के किले में विराजमान है ।

आणंदणौ, आणंदवौ—क्रि०अ०—आनंदित होना, प्रसन्न होना ।
उ०—नगर लोग आणंदिया, वांध्या तोरण वार । घर घर गुडी ऊछळी, जंपै जयजयकार ।—ढो मा.

आणंदनिध—सं०पु० [सं० आनन्द+निधि] सुख का सागर, अत्यधिक आनन्द ।

आणंदित—वि० [सं० आनन्दित] आनन्दित, खुश, प्रसन्न ।
उ०—तव धणी आणंदित होय ससिपाळ विवाहण चाल्यौ ।
—वेलि.टी.

आणंदियउ—वि०—आनन्दित, हर्षित । उ०—ढोलउ मन आणंदियउ, चतुर तणौ वचनेह । मारू-मुख सोरंभियउ, आवि भमर भणकेह ।
—ढो.मा.

आ'ण—सं०पु० [सं० आसन] देखो 'आसन' (१)

आणौ, आबौ—क्रि०अ०—१ आना, पहुँचना ।
आणहार-हारौ (हारी), आणियौ—वि०—आने वाला ।
कहा०—१ आई जिउं ही गई—जैसे आई वैसे ही चली गई. २ आई वहू आयौ कांम गई वहू गयौ कांम—आदमी के आने-जाने के साथ काम वढ़ता घटता है. ३ आई आई जाई—जो भी संसार में आया है वह एक दिन अवश्य जायगा; संसार की सब वस्तुएँ नश्वर हैं; जिसकी मृत्यु आ गई है उसे ही जाना पड़ेगा. ४ आ अे वाई अवां, आप आप रै ढवां—अपने अपने ढव वालों को देना; पक्षपात करना. ५ आया था हर भजन कूं, ओटण लग्या कपास—भगवान का भजन करने को आये थे पर कपास ओटने लगे; जो काम करना था उसे छोड़ कर दूसरा काम करने लगे. ६ आयी अलाय दी चलाय—उधर से आया, इधर दे दिया. ७ आयी मौज फकीर की, दिया झूंपड़ा फूंक—फकीरों के लिए जो सांसारिक वस्तुओं से मोह नहीं रखते; मौजी आदमी के लिए जो मौज में चाहे सो कर वैठता है. ८ आयी ही छाछ नै, वण वैठी घर री धणियांणी—आयी थी छाछ को और वन वैठी घर की मालकिन; अनधिकार चेष्टा करना. ९ आयोड़ौ मोसर नहीं चूकणौ—आया हुआ अवसर नहीं चूकना चाहिए. १० आरे म्हारा घर रा धणी, जट्टा थोड़ी जूंवां घणी—आ मेरे घर के मालिक जिसके जटा (वाल) तो थोड़ी है पर उसमें जुऐं वहुत हैं (किसी स्त्री का पति के प्रति कथन), मैले-कुचैले रहने वाले फूहड़ पुरुष के लिए. ११ आरे म्हारा घर रा धणी, मारी थोड़ी अर घींसी घणी—आ मेरे घर के मालिक, तूने मारा तो थोड़ा पर घींसा वहुत (अधमरा करके फिर घींस-घींस कर मार डाला । वहुत कष्ट से प्राण लिए); घृणित काम करने वाले फूहड़ पुरुष के लिए. १२ आरे म्हारा सपटपाट, हूं थनै चाटूं तूं मनै चाट—ओ मेरे सपटपाट, आ, मैं तुझे चाटूं और तू मुझे चाट; अत्यन्त गरीवी, अत्यन्ताभाव ।
१३ आरे राड्या राड़ करां, निकमां वैठा कांई करां—अरे रांड के वेटे आ, निकम्मे वैठे क्या करें, और कुछ नहीं होता है तो लड़ाई ही करें । निकम्मे को काम चाहिए और काम नहीं होता है तो लड़ाई-झगड़े की ही सूझती है. १४ आवतां रा भाई नै जावतां रा जंवाई—जो प्रेम के साथ हमारे यहाँ आते हैं उनके हम भाई के समान प्रेमी और सहायक हैं पर जो अभिमान के साथ हमारे यहाँ से चले जाते हैं उनके हम जमाई है । जो प्रेम करें उनके सेवक है और जो अभिमान करें उनको नीचा दिखाने वाले हैं. १५ आव वळद मनै मार—आ वैल मुझे मार; जानवूझ कर आपत्ति को वुलाना. १६ आवै तो जावैहीज क्यूं—अगर आना होता तो जाता ही क्यों; अगर किसी वस्तु की प्राप्ति भाग्य में लिखी होती तो प्राप्त वस्तु भी

आतीय-सं०पु० [सं० आतिथ्य] आतिथ्य, अतिथि-सत्कार।
उ०—तिहि भांति ब्राह्मण को आगत स्वागत आतीय ध्रम कीधौ। —वेलि.टी.

आतुर-वि० [सं०] १ व्याकुल, घबराया हुआ, उद्विग्न, बेचैन।
उ०—एक तौ हीं स्त्री अर प्रेम करि आतुर हुई।—वेलि. टी.
२ व्यग्र, उतावला। उ०—ताहरां मां पण आहीज कही—हालण रै वासते सारी लोक आतुर छै।—पलक दरियाव री वात
३ दुखी, कातर. ४ रोगी. ५ अस्थिर।
क्रि०वि० [सं० उच्छ्रक] शीघ्र, जल्दी। उ०—औ घट घुड़ली जांण 'ओपला' गोविंद क्यूं नह गावै, खळ दळ जिसी उघाड़ खांडै, आतुर कीधां आवै।—ओपी आढ़ी

आतुरता-सं०स्त्री० [सं०] १ घबराहट, बेचैनी, व्याकुलता.
२ शीघ्रता, उतावलापन।

आतुरी-वि०स्त्री०—आतुर, घबराई हुई।

आत्तोताई-वि०स्त्री०—१ इतराई हुई, पागल।
कहा०—आत्तोताई मांटी आवै, दोपारां रै दियौ जगावै—पगली स्त्री पति के आने पर दुपहरी में भी दिया जलाती है; असमय पर भी कोई काम करने पर कही जाती है।
२ सतायी हुई, दुखित।

आत्तोतायी-वि०पु०—देखो 'आत्तोताई'

आत्मज-सं०पु०—१ पुत्र. २ कामदेव. ३ रुधिर (अनेक०)

आत्मा-सं०स्त्री०—देखो 'आतमा'

आत्मिक-वि० [सं०] आत्मा का या आत्मा संबंधी, मानसिक, अपना।
उ०—मम अमिय मूरि, द्रगतें न दूरि। आत्मिक अधार, पाहुँन पवार।—ऊ.का.

आथ-सं०पु० [सं अर्थ] १ धन, दौलत, संपत्ति, वैभव, द्रव्य।
उ०—आथ अटूट अखूट अन, प्रजा घणी सुखपोस। धन बांका ऊ भ्रंगड़ी, साहिब जे संतोस।—बां.दा.
[सं० अर्थ] २ मतलब, प्रयोजन. [सं० हस्त] ३ हाथ.
[सं० अर्थ] ४ किसानों के कार्य करने वाले व्यक्तियों का वर्ष भर के लिए निश्चित किया हुआ दिया जाने वाला धान अथवा धन।

आथड़णौ, आथड़बौ-क्रि०अ०—१ युद्ध करना, लड़ना। उ०—ढिग अकबर दळ ढांण, अग अग झगड़ै आथड़ै। मग मग पाडै मांण, पग पग रांण प्रतापसी।—दुरसौ आढ़ौ २ लड़खड़ाना।
उ०—घूरण नयणां चळ काजळ जळ घूमै। लड़ थड़ आथड़ती प्रीतम गळ लूमै।—ऊ.का. ३ अंधाधुंध चलना।
उ०—दिसा भूल होयोड़ा दुसटी, आवण रा आथड़िया है। ग्यांन तुरी चढ़ि लोभ गवेड़ै, चौड़ैधाड़ै चढ़िया है।—ऊ.का.

आथड़णहार-हारौ (हारी), आथड़णियौ-वि०—युद्ध करने वाला, लड़खड़ाने वाला।

आथड़िओड़ौ-आथड़ियोड़ौ-आथड्योड़ौ—युद्ध किया हुआ, लड़खड़ाया हुआ।

आथड़ीजणौ, आथड़ीजबौ—भाव वा०।

आथड़ियोड़ौ-भू०का०कृ०—लड़खड़ाया हुआ, युद्ध किया हुआ।
(स्त्री० आथड़ियोड़ी)

आथण-सं०स्त्री०—संध्या, सांझ। उ०—मित मोरियौ तूझ आथण ओथ विराजै। नाचै ताळी-ताळ पुळां घण पुणची बाजै।—मेघ०
कहा०—दिन ऊगा गहडंवरां, आयण झीणी वाव, डंक कहै सुण भड्डळी, ए काळा तणा सुभाव—प्रातःकाल की उमस और सायंकाल की मंद वायु दुष्काल के लक्षण हैं।
२ निवासस्थान, घर।

आथणली-सं०स्त्री०—सांझ, संध्या (क्षेत्रीय)

आथणी-सं०स्त्री—१ दूध को जमाने निमित्त पात्र। उ०—आथणी वीसमी किसौ अब अवरचौ, समी घर सेख रै वणी सादी।
—गोपीनाथ गाडण
२ वह पात्र जिसमें दही जमा हुआ हो। उ०—खुली आथणियां सायणियां खाती, फूली-फूली फिर फूंग्याळी गाती।—ऊ.का.
कहा०—ओठी कदेई आथणी मिळै—मादा ऊँट का दूध कब जम कर दही बनता है? अर्थात् दूध होने पर भी वह जमता नहीं। किसी व्यक्ति के समय पर काम न आने पर कही जाती है।

आथध-सं०पु० [सं० अर्थ] लगान, कर। उ०—आथध का देवाळ छां। एक थांहरै रैत नै चैण सुणियौ, तैंरा थाका पावां आया छां।
—कहवाट सरवहिया री वात

आथमंण, आथमणउ-सं०स्त्री०—१ पश्चिम दिशा, अस्त होने की दिशा। उ०—पहिली होय दयामणउ, रवि आथमणउ जाइ। रवि ऊगइ विहसइ कंमळ, खिण इक विमणउ थाइ।—ढो.मा.
२ सायंकाल, संध्या। उ०—पंडव नांमी नीठ पाड़ियौ, लग उगमण आथमंण लग।—भीमसिंह सीसोदिया री गीत
३ अस्त, नाश, अवसान।

आथमणी-सं०स्त्री०—१ अस्त, नाश. २ संध्या, सायंकाल. ३ पश्चिम दिशा।

आथमणौ, आथमबौ-क्रि०अ० [सं० अस्तमन] अस्त होना, अवमान होना। उ०—तपै सूर परतापसिंह, सब कूकै संसार। आथमियां सूं ओळखे, उण विन घोर अंधार।—ऊ.का.
आथमणहार-हारौ (हारी), आथमणियौ—अस्त होने वाला।
आथमिओड़ौ-आथमियोड़ौ-आथमचोड़ौ—अस्त, अवसान हुआ हुआ।
आथमीजणौ, आथमीजबौ—भाव वा०।
आथम्मिणौ, आथम्मिबौ—रू०भे०।
कहा०—आथमियां पछै अवेळौ नईं नै खोयां पछै भौ नईं या आथमियां कांई अवेळौ है खोसियां पछै कांई डर है—जब तक वस्तु पास में रहती है तभी तक उसके खोने का भय रहता है.
२ ऊगै सौ तौ आथमै, जलमै सौ मर जाय—जो जन्म लेता है वह नाश को भी अवश्य प्राप्त होता है; संसार नश्वर है।

सं०पु०—१ कामदेव (अ.मा.) २ ब्रह्मा. ३ शिव. ४ विष्णु (ह.नां.) ५ पुत्र।

आतमरांम–सं०पु० [सं० आत्माराम] १ परमात्मा। उ०—ह्रदा में लाधौ **आतमरांम**, कहौ जौ देव करूं सौ कांम।—ह.र.

२ आत्मज्ञान से तृप्त योगी. ३ जीव, ब्रह्म. ४ तोता ५ अपने-आप, खुद।

आतमविद्या–सं०स्त्री० [सं० आत्मविद्या] अध्यात्मविद्या, ब्रह्मविद्या।

आतमसमुद्भव–सं०पु० [सं० आत्मसमुद्भव] १ ब्रह्मा. २ विष्णु. ३ शिव. ४ कामदेव।

आतमसाक्षी–सं०पु० [सं० आत्मसाक्षिन्] जीवों का द्रष्टा।

आतमसिद्ध–वि० [सं० आत्मसिद्ध] विना प्रयास ही अपने आप होने वाला।

आतमसिद्धि–सं०स्त्री० [सं० आत्मसिद्धि] आत्माभाव की प्राप्ति, मुक्ति।

आतमहत्या–सं०स्त्री० [सं० आत्महत्या] खुदकुशी, अपने आपको मार डालना।

आतमा–सं०पु० [सं० आत्मा] १ मन या अंतःकरण से परे उसके व्यापारों का ज्ञान कराने वाली एक विशेष सत्ता, द्रष्टा, रूह, जीव, जीवात्मा, मन, हृदय, दिल, चित्त। इसके लक्षण निम्न लिखित माने जाते हैं—१ प्राण. २ अपान. ३ निमेष. ४ उन्मेष. ५ जीवन. ६ मनोगत इन्द्रियान्तर विकार।

मुहा०—आतमा सताणी—दिल दुखाना।

कहा०—आतमा सौ परमातमा—प्रत्येक आत्मा में ईश्वर का अंश है; जैसा हमें सुख-दुख होता है वैसा ही दूसरों को भी होता है।

२ पुत्र. ३ कामदेव (अ.मा.)

आतमानंद–सं०पु० [सं० आत्मानंद] आत्मा का ज्ञान, आत्मा में लीन होने का अलौकिक सुख।

आतमारांम–सं०पु० [सं० आत्मा+राम] देखो 'आतमरांम'।

उ०—कोयल लाज करंत जगावै कांम नैं, रीझावै अदभूत **आतमारांम** नै।—वां.दा.

आतमासी–सं०स्त्री०—मछली (अ.मा.)

आतमिक–वि० [सं० आत्मिक] आत्मा संबंधी, अपना, मानसिक।

आतमीय–वि० [सं० आत्मीय] अपना, निजी, स्वकीय, अंतरंग।

सं०पु०—रिश्तेदार, संबंधी।

आतमौ–सं०पु० [सं० आत्मा] देखो 'आतमा'।

आतर–वि० [सं० आतुर] १ व्याकुल, व्यग्र, घबराया हुआ, उतावला, अधीर, उद्विग्न. २ उत्सुक. ३ दुखी, कातर. ४ रोगी।

क्रि०वि०—शीघ्र, जल्दी।

आतरपण, आतरपणौ–सं०पु०—जल्दबाजी, शीघ्रता।

आतलीबळ–वि० [सं० अतिबल] अतुल्य बलशाली, अत्यन्त बलवान।

आतळौ–वि०—दुष्ट, आततायी। उ०—धींगाविधूं घोड़ेह, अमईणौ वत आतळै।—पा.प्र. २ शीघ्रता करने वाला, हठ।

आतस–सं०स्त्री० [फा० आतश] १ अग्नि, आग (डि.को., अ.मा.) २ उष्णता, गर्मी. ३ सूर्यमुखी। उ०—मिळै जरदीजनि तैं मखतूल, सरासनपै मनु आतस फूल।—ला.रा. ४ क्रोध, गुस्सा।

उ०—पसर लसकर अतर थरर कायर पिंजर, लहर आतस अमर डमर लागौ।—सेरसिंह कुसळसिंह री गीत

सं०स्त्री० [सं० आतिशबाजी] ५ आतिशबाजी। उ०—आतस अपार उचार जस गैलाइत तवकं गळी। नीसार सोर पूरति निपट यौं जांणै पति आगळी।—रा.रू. ६ तोप, बंदूक।

उ०—घड़हड़ै आतसां पड़ै सहदां धकौ, जमस किम खाय खग धार वहतौ जकौ।—किसनजी आढ़ौ

आतसक–सं०स्त्री० [फा० आतशक] फिरंग रोग, उपदंश, गर्मी।

आतसखांनौ–सं०पु० [फा० आतशखाना] वह स्थान जहाँ अग्नि रक्खी जाय।

आतसबाज–सं०पु० [फा० आतशबाज] आतशबाजी बनाने का काम करने वाला।

आतसबाजी–सं०स्त्री० [फा० आतशबाजी] वे खिलौने जिसमें बारूद भरा हो और जो जलने पर आवाज या रंग-बिरंगी रोशनी आदि उत्पन्न करें।

आतसफूल–सं०पु०—सूर्यमुखी फूल।

आतसी–वि० [फा० आतशी] अग्नि संबंधी, अग्नि-उत्पादक।

आताप–सं०पु० [सं० आतप] तेज, प्रकाश,। उ०—कलि मचंड असात उठै मेचक कुहर रेण भेचक संक ही राव रांणै। बीथरतौ तेण दिन जाप 'सूजो' बिया जंग दुडिंदे तणै आताप जाणै।—अज्ञात

आतापी–सं०स्त्री० [सं०] १ एक असुर जिसे अगस्त्य मुनि ने अपने पेट में पचा लिया था. २ चील पक्षी।

आतापोती–सं०स्त्री०—संपत्ति, लक्ष्मी, वैभव, मिल्कियत्।

(मि०—आथा-पूंजी)

आताळ–वि०—तेज, शीघ्रगामी। (मि० आताळौ)

क्रि०वि०—तेजी से। उ०—आंसू नांखै आंख सूं, कर हूंता किरमाळ। भागळ नंह नाखै भिड़ज, असहां सिर आताळ।—वां.दा.

आताळौ–वि० [सं० उत्ताल] आतुर, उतावला, तेज-मिजाज उ०—साहै मांणक छटा कंवर ताजी आताळै, आवै ढांणां अगै वगफिर सांमी वाळै।—पा.प्र.

आतिथ–सं०पु० [सं० आतिथ्य] अतिथि-सत्कार, पहुनाई, मेहमानदारी. उ०—करि वंदण आतिथ ध्रम कीधौ। वेदे कहियौ तेणि विगेणि। —वेलि.

यौ०—आतिथ-धरम, आतिथ-ध्रम।

आतिम–सं०पु० [सं० आत्मा] देखो 'आतमा'।

आतिमि–सं०पु० [सं० आत्मा] देखो 'आतमा'।

आतिवाहिक–सं०पु० [सं०] वायुमय कहा जाने वाला मृत्योपरांत लिंग शरीर। कहा जाता है कि इसके द्वारा जीव यम लोकादि में भ्रमण करता है।

आदक–क्रि०वि० [सं० आदिक] १ आदि, प्रथम, पहला, शुरू का। उ०—अंवा इण आदक और अनेक, हिवै रण हेकण हूँ वढ़ि हेक। —मे.म.

२ नितांत।

सं०पु०—एक प्रकार का रोग।

आदक-वादक–अव्यय—इत्यादि।

आदकवि, आदकवी–सं०पु० [सं० आदिकवि] वाल्मीकि मुनि जिन्होंने सबसे प्रथम छंदोवद्ध काव्य को जन्म दिया था।

आदगौड़–सं०पु —भारद्वाज गोत्री ब्राह्मण जो बंगाल (गौड़) से प्रारंभ हुए।

आदजया–सं०पु०—डिंगल गीतों (छंदों) की रचना का एक नियम विशेष जिसमें नायक का नाम गीत के प्रथम द्वाले में हो और तत्पश्चात् क्रमशः वर्णन हो।

आदजुगाद, आदजुगादि, आदजुगादी–क्रि०वि०—१ सृष्टि के आरम्भ से अंत तक। उ०—जोगी आदजुगाद ही दीहंदा डडा। —केसोदास गाडण

२ परम्परा का। उ०—आदजुगाद अखाहर आगै, सार मरण घणघणौ सुख।—प्रथीराज जैतावत री गीत। ३ अति प्राचीन, अनादिकाल का।

आदण–सं०पु० [सं० आदहन=हिं० अदहन] १ उबलने के लिए रक्खा गया पानी, उबाल. २ आग पर चढा हुआ वह गर्म पानी जिसमें दाल, चावल आदि पकाते हैं, अदहन। उ०—रांम भरोसे ऊकळै, आदण ईसरदास। ऊकळता में और ही, वंदा राख विसास। —ह.र.

आदत, आदति–सं०स्त्री० [अ०] १ स्वभाव, प्रकृति. २ अभ्यास, टेव। उ०—इत्यादिक मोथी आदतिरा अळिया। थोथी थळवट रा थळिया वेथळिया।—ऊ.का.

आदतिया, आदत्या–सं०पु०—देवता (अ.मा.)

आददे–क्रि०वि०—आदि, इत्यादि।

आदपंखणी, आदपंखणी-चक्रेस्वरी–सं०स्त्री०—राठौड़ों की कुलदेवी।

आद-पख, आदम-पख–सं०पु०यौ० [सं० आदिपक्ष] आरम्भ का पक्ष, कृष्ण-पक्ष। उ०—ऊंच दिवस असटमी आदपख भाद्रव आयां।—रा.रू.

आदपुरस–सं०पु० [सं० आदि पुरुष] १ विष्णु, परमेश्वर (डिं.को) २ ब्रह्मा।

आदम–सं०पु० [अ०] १ मनुष्य जाति का सबसे प्रथम मनुष्य जिससे मानव सृष्टि चली, प्रथम प्रजापति जिनकी स्त्री का नाम हव्वा था—इन्हीं के कारण मनुष्य आदमी कहलाते हैं (इबरानी और अरबी मत) उ०—एक न चाहै और नूं, उभै दुखी व्है अंग। आदम नैं इळवीस रौ, प्रगट विचार प्रसंग।—वां.दा. [रा०] २ महादेव।

आदमचस्म–सं०पु० [अ० आदम+फा० चश्म] एक प्रकार का घोड़ा विशेष जिसकी आंख की स्याही मनुष्य के आंख की स्याही के समान हो। (शा.हो.)

आदमण–सं०स्त्री०—आदमी का स्त्री लिंग, स्त्री, नारी।

आदमी–सं०पु०— [अ०] १ आदम की संतान, मनुष्य।

मुहा०—१ आदमी बणणौ—सभ्यता सीखना, बड़ा नामी या गुणी बनना. २ आदमी बणाणौ—आदमी कहाने योग्य बनाना, लायक, शिष्ट, सभ्य, गुणी बनाना. ३ आदमी होणौ—सच्चे अर्थ में मनुष्य बनना, बालिग होना, गुणी, सभ्य या शिष्ट होना।

कहा०—१ आदमी जोईजै रूंवाळौ, लुगाई जोईजै सूंवाळी—आदमी शरीर में रोम वाला होना चाहिए और स्त्री रोमों से हीन. २ आदमी रा भाग पत्तै-नीचे है—आदमी का भाग पत्ते-के-नीचे है। जैसे पत्ता हिलता है वैसे ही मनुष्य का भाग्य परिवर्तित होता रहता है. ३ आदमी वाड़ में मूतता ही आया है—यह काम होता ही आया है कहाँ तक रोकोगे; पुरुष व्यभिचारी होते ही है. ४ आदमी है के घणचक्कर—आदमी है या घन-चक्कर; मूर्ख या नटखट के लिए. ५ कूवौ-कूवौ नईं मिळै पण आदमी आदमी सौ वार मिळै—एक स्थान का कुआ दूसरे स्थान के कुए से नही मिल सकता किन्तु आदमी आपस में कभी न कभी अवश्य मिल जाते हैं; आदमी का काम आदमी से कभी न कभी अवश्य पड़ता है।

यौ०—आदमियत।

२ पति।

आदर–सं०पु० [सं०] सम्मान, सत्कार, प्रतिष्ठा, इज्जत, खातिर, आस्था, शिष्टाचार।

आदरणीय–वि० [सं०] आदर के योग्य, सम्मान करने के योग्य, मान्य, माननीय।

आदरणौ, आदरबौ–क्रि०स०—१ प्रारम्भ करना, आरम्भ करना। उ०—मांयली तोपां तौ छूटै आडावळौ धूजै औ। आउवे रा नाथ तौ सुगाळी पूजै औ, झगड़ौ आदरियौ—झल्लै आउवौ। —लो.गी.

कहा०—आदरयां अधूरा रहै, हर करै सौ होय—आदमी जो करना चाहता है वह नहीं होता; भगवान करते हैं वही होता है।

२ आदर देना, सत्कार करना। उ०—१ आपरा वयण हूँ थांणी नह आदरूं। आदरूं वयण जो रांण वाळै। —जयसिंह राठौड़ री गीत

उ०—२ इण कारण कीरत आदरियौ, दह सोता मुगळ, औ देस। —क्षत्रिय प्रशंसा

३ स्वीकार करना। उ०—१ कठण रीत रजपूत कुळ, खाग कमाई खाय। और कमाई आदरै, गोली झगड़ै गाय।—वां.दा.

४ महत्व देना। उ०—जगमें रवि सुत जनम दांन कंचन आदरियौ। —अरजुणजी वारहठ

आदरणहार-हारौ (हारी), आदरणियौ–वि०—प्रारंभ करने वाला, आदर करने वाला।

आदरिओड़ौ-आदरियोड़ौ-आदरयोड़ौ—भू०का०कृ०।

सं०स्त्री०—१ पश्चिम दिशा. २ अस्त होने की क्रिया।

आथमांण—सं०पु०—१ अस्त. २ पश्चिम दिशा।

आथमांणी—वि०—द्रव्य का उपभोग करने वाला।

आथमियोड़ौ—भू०का०कृ०—अस्त, अवसान हुआ हुआ। (स्त्री० आथमियोड़ी)

आथम्मणौ, आथम्मबौ—क्रि०अ०—१ देखो 'आथमणौ' (रू भे०) उ०—विण जोर सोर पुर विस्तरै भड़ दरबार निहार भ्रत, ऊगतै भांण आथम्मियौ पूगै दिन जोधांण पत।—रा.रू.

आथर—सं०पु० [सं० आस्तर] १ सर्दी आदि से बचने के लिए मवेशियों पर डाला जाने वाला मोटा वस्त्र (उस वस्त्र के डाले जाने से उनके चलने की क्रिया में कोई रुकावट नहीं होती।). २ घोड़े व ऊँट के जीन के नीचे दिया जाने वाला वस्त्र। (अल्पा० आथरियौ) कहा —१ गधा तौ कूदै ई नंई नै आथरिया पै'ला कूदै—वह अफसर (या व्यक्ति जिस पर सब उत्तरदायित्व है) तो कुछ कहता ही नहीं किन्तु उसके साथ छुट-पुटे आदमी व्यर्थ ही डाँटने लगते हैं। संबंधित व्यक्तियों की उपस्थिति में असंबंधित व्यक्तियों का व्यर्थ में कुछ कहना-सुनना. २ गधौ तौ सागै पण आथरिया बदळियोड़ा—बनावट एवं टीमटाम से वास्तविकता नहीं छिपती. ३ आथर साटै बोरी पा'ड़ नै कांई थोरी—समान मूल्य या गुण की वस्तुओं के अदल-बदल पर।

आथवण—सं०स्त्री०—देखो 'आथमण'। उ०—घोघूंदो कोस नव आथवणं नूं जीमणै री घाटांनूं पेडी।—नैणसी

आथवणौ, आथवबौ—क्रि०अ०—देखो 'आथमणौ'। उ०—तद प्रथीरोज कुंभलमेर सूं चढ़ियौ दिन आथवतां री सु परभात जाय तोडै।—नैणसी

आथमियोड़ौ—भू०का०कृ०—देखो 'आथमिओड़ौ'। (स्त्री० आथमियोड़ी)

आथांण—सं०पु० [सं० स्थान अथवा आस्थान] १ स्थान, जगह। उ०—कुंजर जिण रै श्रीकळस अलहणपुर आथांण।—वां.दा. २ नगर, शहर (अ.मा.) ३ घर (मि० आथांणी) ४ गढ़, किला। उ०—आठ पोहर मोटा आथांणा। वाखांणां थारी वडम।—किसनौ आढ़ौ ५ सिंह की मांद. ६ राजधानी. (ह.र.) ७ पश्चिम दिशा। उ०—इसौ कुण अभंग लग उदै आथांण नूं प्रसण जंग आंगमै आज 'कूपांण' नू।—रांमलाल वारहठ

आथांणि, आथांणी—सं०पु०—घर, स्थान। उ०—महमंदखांन धाग्रे मनाइ। आपणइ 'क्रन्न' आथांणि आइ।—रा.ज.सी.

आथांपूंजी, आथापोती—सं०स्त्री० [सं० अर्थ+फा० पूंजी] १ संपूर्ण संपत्ति, जमा-पूंजी, धन-दौलत। उ०—अमरसी भूप सुरतांण अमोलक, सुपह वडां ची रीत सवै। सिवनाथा मुरधर धर संपत, आथांपूजी तूंज अवै।—सिवनाथसिंह चांपावत री गीत। २ घर संबंधी संपूर्ण सामान जिसमें धन-दौलत भी हो. ३ गृहस्थी के प्रयोग में आने वाला समस्त सामान (दहेज)

आथिभुक—सं०पु०—मोती (नां.मा.)

आथिमणौ, आथिमबौ—क्रि०अ०—देखो 'आथमणौ' (प्रा.प्र.) उ०—पूठि मिल्या तारूया तेजी, जई आथिमतइ सूरि।—कां.दे.प्र.

आथीड़ा-साथीड़ा—सं०पु०—दोस्त, मित्र, साथी।

आथीत—सं०पु०—आतिथ्य। वेलि.टी.

आथुड़णौ, आथुड़बौ—क्रि०अ०—देखो 'आथड़णौ'। उ०—खाग भड़ उरड़ पड़ ढालड़ा खड़भड़ै रोस चढ़ सोहड़ आथुड़ अग्रट रड़वड़ै। —किसनजी आढ़ौ

आथुड़ीजणौ, आथुड़ीजबौ—भाव वा०।

आथुड़ियोड़ौ—भू०का०कृ०—देखो 'आथड़ियोड़ौ'।

आथुण—सं०पु० [सं० स्थान] १ स्थान. २ नगर. ३ घर। उ०—मुख खड़भड़ै सहर तरसीग रा, ऊजड़ै भाक आथुण अरड़ींग रा।—महादांन महड़ू

सं०स्त्री०—४ पश्चिम दिशा।

आथुस—सं०पु०—लोहा (अ.मा.)

आथूंण, आथूंणी—सं०स्त्री०—पश्चिम दिशा। उ०—१ सांझ री किरण ढळै आथूंण, वळी यूं पीळीजी पिणिहार।—सांझ उ०—२ ऊगूंणी आथूंणी दै छौळ, सुखावै आखै अंबर मांय।—सांझ क्रि०वि०—पश्चिम की ओर।

आथूंणू—क्रि०वि०—पश्चिम की तरफ। वि०—पश्चिम का, पश्चिम दिशा संबंधी।

आथूंणौ—सं०पु०—पश्चिम दिशा। (मि० आथूंण)

आथू—सं०पु०—वह व्यक्ति जो वर्ष भर कृषक का कुछ कार्य करने के बदले अनाज वा धन प्राप्त करता हो।

आथूण—सं०स्त्री०—पश्चिम दिशा (रू०भे०) (मि० आथूंण)

आथोमण—वि०—प्रयोजन वाला। उ०—सामि ध्रम्मी सांमतण, सुणि पण गुणै सपूत। मिळिया तै आथोमणा, राव तणा रजपूत। —रा.रू.

आदंत—वि० [सं० आदि+अंत] आद्यंत, आदि से अंत पर्यन्त। उ०—गण त्रविध नह त्यांन छंद आदंत न छांणै।—क.कु.बो.

आद—वि० [सं० आदि] १ प्रथम, पहला, शुरू का, आरम्भ का, मूल, अग्र, उत्पत्तिस्थान। उ०—आदि न को तौ विण अनंत, आतम क्रम्म न आद।—ह.र. २ देखो 'आध'।

सं०पु०—१ परमेश्वर।

सं०स्त्री०—२ आरम्भ, बुनियाद. [फा० याद] ३ याद, स्मरण। उ०—अकबर कौना आद, हीदू नृप हाजर हुवा। मेदपाट मरजाद, पग लागौ न प्रतापसी।—दुरसौ आढ़ौ [रा०] ४ अदरख, अद्रक (मि० 'आदौ') ५ आद्रा नक्षत्र।

कहा०—पहली आद टपूकड़ै मासां पखां मेह—आर्द्रा नक्षत्र के आरंभ में बूंदें पड़ जांय तो महीने पन्द्रह रोज मे वर्षा हो।

गणत्रय में अपूर्ण पाद वाली आर्या जिसके दूसरे दल में दूसरा और चौथा गण जगण हो।

आदिसराध–सं०पु० [सं० आद्यश्राद्ध] मृत्योपरांत मृतक के पीछे ग्यारहवें दिन किए जाने वाले सोलह श्राद्धों में से पहला।

आदी–वि० [अ०] अभ्यस्त।

क्रि०वि० [सं० आदि] १ नितांत, बिल्कुल. २ इत्यादि।

आदीत, आदीता, आदीतौ–सं०पु० [सं० आदित्य] १ सूर्य।

उ०—आदीता हूं ऊजळौ, मारवणी मुख-ब्रन्न।—ढो.मा.

२ अदीति के पुत्र-इंद्र आदि देवता (अ.मा.) ३ वामन. ४ वसु. ५ विश्वेदेवा।

आदीपुरख–सं०पु०—देखो 'आदिपुरख'।

आदीस्वर–सं०पु० [सं० आदीश्वर] १ जैनियों के प्रथम तीर्थङ्कर, ऋषभदेव। उ०—१ नाम नंद आणंदनिध, भरत जनम करतार। सिद्धाचळ दरसण सुखद, आदीस्वर नौकार।—बां.दा.

उ०—२ भरत चक्रवर्ती आपरी हाथ री मूंदरी रा माणक में आदीस्वर री प्रतिमा खुदायी।—बां.दा. २ ईश्वर, आदिपुरुष।

आदूपंथी–वि०—१ आदिकाल या परम्परा से एक ही राह पर चलने वाला. २ रूढ़िवादी। (रू०भे० आदुपंथी)

आदू–सं०पु० [सं० आदि] १ मूल, जड़, नींव. २ पूंजी।

वि०—१ प्राचीन, आदि काल का, आदिम। उ०—घाट सुरंगी गोरियां, आदू कहवत एह।–पदमणियां हमरोट व्है, राख म संसौ रेह।—बां.दा.

२ प्रथम, शुरु का. ३ अनादि। उ०—आदू तिवार में सुगन श्री देख अमल विन दोघड़ा।—ऊ.का.

क्रि०वि०—१ आदि में, आरम्भ में। उ०—खसै तें साहि विना कंध लेघ, वचाड़िय देवां आदू वेध।—ह.र. २ आदि, इत्यादि।

आदूखण–वि०—निर्दोष, शुद्ध, स्वच्छ।

आदूणी–क्रि०वि०—परम्परा से।

वि०—आदिकाल के पूर्व का, प्राचीन समय का।

आदूनेत–सं०पु०—परम्परा से आती हुई नेत (देखो 'नेत')

आदूपंथी–वि०पु०—देखो 'आदुपंथी'। उ०—आदूपंथी खागवाहा भागांतठै ताक ओळी पठाणां सूं दादूपंथी वागा वरापूर।—दादूपंथी साधां री गीत

आदूपण, आदूपणौ–सं०पु०—शुरुआत, आदि।

आदेण–सं०पु०—एक प्राचीन राजपूत वंश।

आदेस–सं०पु० [सं० आदेश] १ आज्ञा, हुक्म (वं.भा.) २ उपदेश. ३ नमस्कार, प्रणाम। उ०—अक्रेह अप्रेह अखेह अलेस, आदेस आदेस आदेस आदेस।—ह.र. ४ ज्योतिषशास्त्र में ग्रहों का फल. ५ एक अक्षर का दूसरे के स्थान पर आना, अक्षर परिवर्तन, प्रकृति और प्रत्यय को मिलाने वाले कार्य (व्याकरण)

आदेसणौ, आदेसबौ–क्रि०स०—१ नमस्कार करना, अभिवादन करना। उ०—प्रथीनाथ पाई फतै सदाई 'जैसाह' पांण, वैरी ताई आदेसियौ रूकवाह वाह।—पहाड़ खां आढ़ौ २ आज्ञा देना।

आदेसि–सं०स्त्री०—आज्ञा (मि० आदेस—रू.भे.) उ०—राउळ कान्ह तणइ आदेसि, पाडइ सोर तोरकइ देसि।—कां.दे.प्र.

आदौ–वि० [सं० अर्द्ध] आधा, देखो 'आधौ'।

यौ०—आदौ-दूदौ।

सं०पु० [सं० अद्रक] अदरक, आद्रक।

आदोत–सं०पु० [सं० आदित्य] १ सूर्य। उ०—जनम नींवाज पावै परम जोत रा, दखां आदोत रा चहन दमकै।—अज्ञात २ प्रकाश।

आदोदूदौ–वि०यौ०—आधे भाग के बराबर या लगभग।

आदोफर–सं०पु०—१ पहाड़ के मध्य का भाग (मि० आधोफर) २ आकाश (अ.मा.)

आदोळौ–सं०पु०—माप लेने का एक उपकरण।

आद्र–वि० [सं० आर्द्र] १ गीला. २ हरा।

सं०पु०—आदिकाल। उ०—अजै सिव आद्र पांण आलोज, हुतौ ज हुतौ ज हुतौ ज हुतौ ज।—ह.र.

आद्रकणौ, आद्रकबौ–क्रि०अ०—भयभीत होना, डरना। उ०—आद्रक्कै आगरो हुई दिल्ली हलचल्ले, जाट-वाट जूजुवा देस वैराट दहल्ले।—रा.रू.

आद्रकियोड़ौ–भू०का०कृ०—डरा हुआ, भयभीत, दहला हुआ।

आद्रा–सं०स्त्री० [सं० आर्द्रा] सत्ताईस नक्षत्रों के अंतर्गत छठवें नक्षत्र का नाम जो आषाढ़ के प्रारंभ में ही लगता है। देखो 'आदरा'

उ०—इहि वीचि आद्रा वूठी छै, सु भुंइ सहु आली कीधी छै।—वेलि. टी.

आधंतर आधंतरि, आधंधर–वि०—१ आकाश के मध्य. २ वीच का, मध्य का। उ०—ऊपाड़ियै तूट आधंतर, जण जण पूंगौ जुवौ जुवौ।—दुरसौ आढ़ौ

सं०पु०—आकाश, आसमान। उ०—लागां वीर ताळी अच्छरां आधंतरां लूंबै।—जवानजी आढ़ौ।

क्रि०वि०—आकाश में, मध्य में, वहुत ऊंचे पर। उ०—गढ़ रै हूं गिरनार ग्रहूं मूंनव्रत निरंतर भरूं झांप भैरव चढ़ै गिरनेर आधंतर।—पहाड़खां आढ़ौ

आध–वि० [सं० अर्द्ध] दो वरावर भागों में से एक, आधा।

सं०पु०—कृषकों के कार्य करने वाले व्यक्तियों को कृषक द्वारा उनकी सेवाओं के वदले बारह मास के लिए दिया जाने वाला अनाज या धन। (मि० आथ)

सं०स्त्री० [सं० आधि] मानसिक चिंता, मानसिक व्यथा, फिक्र।

उ०—चित सूं आगम चितवै, आ मजवूत उपाय। 'वंक' जुड़ै नहीं वंछियौ, इण कारण व्है आध।—बां.दा.

आधख–सं०पु०—प्रभुत्व, अधिकार।

आदरभाव–सं०पु०—सम्मान, सत्कार, कदर, प्रतिष्ठा ।

आदरवंत–वि०—१ आदर देने वाला, सत्कार करने वाला. २ आदर या सत्कार प्राप्त करने वाला ।

आदरस–सं०पु० [सं० आदर्श] १ दर्पण, शीशा (अ.मा.)
उ०—इतरै एक आली ले आवी, आंनन आगळि आदरस ।—वेलि.
२ अनुकरणीय, नमूना ।

आदरा–सं०स्त्री० [सं० आर्द्रा] सत्ताईस नक्षत्रों के अंतर्गत एक नक्षत्र ।
कहा०—१ आदरा वाजै वाय झूंपड़ी झोला खाय—आर्द्रा नक्षत्र में वायु चले तो झोंपड़ी झोंका खाने लगती है. २ आदरा भरै खादरा पुनरवसु भरै तळाव—आर्द्रा नक्षत्र में अगर वर्षा हो तो वह थोड़ी होती है किन्तु पुनर्वसु नक्षत्र में वर्षा होती है तो वह काफी होती है जिससे तालाव आदि भर जाते हैं. ३ आदरा वरसै नई, म्रिगसरा पून न जोय, तौ जांणीजै भड्डळी, वरसा वूंद न होय—अगर आर्द्रा नक्षत्र में वर्षा न हो, मृगशिरा नक्षत्र में पवन न चलै तो निश्चय ही दुष्काल होगा. ४ कृतिका कोरी गई, आदरा मेह न वूंद, तौ यूं जाणै भड्डळी, काळ मचावै दूंद—अगर कृत्तिका और आर्द्रा नक्षत्र में वर्षा की बूंद भी न पड़ी तो निश्चय ही दुष्काल का उपद्रव होगा.
५ रोयण तपै नै मिरगला वाजै, तौ आदरा अणचित्या गाजै—अगर रोहिणी नक्षत्र में कड़ाके की गर्मी पड़े, मृगशिरा नक्षत्र में तेज वायु चले तो आर्द्रा नक्षत्र में अवश्य ही वर्षा होगी ।

आदरियोड़ौ–भू०का०कृ०—१ प्रारम्भ किया हुआ. २ आदर किया हुआ । (स्त्री० आदरियोड़ी)

आदरियौ–सं०स्त्री० [सं० आर्द्रा] आर्द्रा नक्षत्र । देखो 'आदरा' ।
कहा०—एक आदरियौ हाथ लग जाय पछै तौ करसौ राजी—आर्द्रा नक्षत्र में एक वार भी वर्षा हो जाय तो कृषक प्रसन्न रहता है ।

आदली–सं०स्त्री० [अ० अदल अथवा आदिल] न्याय, इन्साफ ।
उ०—वहादुरी, सखावत, आदली–ऐ तीन गुण अवस्य पातसाह में चाहिजै ।—वां.दा.

आदवराह–सं०पु० [सं० आदि+वाराह] १ शूकर, सूअर (ह.नां.)
२ वाराहवतार (अनेक०)

आदसगत–सं०स्त्री० [सं० आदि+शक्ति] आदि शक्ति, दुर्गा, महाकाली । उ०—आदसगत रीझियां, स्रोण कीधा तर व्याळा । रुद्र रीझिया उवर पहरै रुंडमाळा ।—वखतौ खिड़ियौ

आदसचजुगाद–क्रि०वि०—परम्परा से ।

आदांन–सं०पु० [सं० आदान] १ ग्रहण करना, लेना, स्वीकार करना ।
उ०—मेधा महंत, दीपत दिगंत । आदांन ओघ, अक्षय अमोघ ।
—ऊ.का.

आदांन-प्रदांन–सं०पु०यौ०—लेना-देना, लेन-देन, त्याग-ग्रहण, परिवर्तन ।

आदाव–सं०पु० [अ०] १ नियम, कायदा. २ लिहाज, इज्जत ।
उ०—जिणथी आपरौ सिविर ऊंचा स्थळ पर होइ तौ कुपुत्र नूं आदाब राखण री सुद्धि रहे ।—वं.भा.
३ नमस्कार, अभिवादन. ४ संयम. ५ ध्यान, ख्याल ।

आदावअरज–सं०पु०यौ० [अ० आदाव+अर्ज] नमस्कार, अभिवादन ।
उ०—आदावअरज उम्मेदवार, परवरिसि करहु परवरदिगार ।
—ऊ.का.

आदासीसी–सं०स्त्री०—अर्द्ध शिरोवेदना, आधे सिर में पीड़ा होना ।

आदि–वि० [सं०] १ प्रथम, पहला, आरंभ का ।
अव्यय—वगैरह, इत्यादि ।
सं०पु०—१ उत्पत्ति स्थान, आरम्भ, बुनियाद, कारण, मूलकारण.
सं०स्त्री० [रा०] २ अदरख. ३ पृथ्वी (डिं.नां.मा.)

आदिक–अव्यय—इत्यादि, वगैरह । उ०—अर झालां प्रमारां नूं प्रेचारि सीसोदियां भी केथोली सींघोली, जावद, अठांणां वींझोळी आदिक देस दुरग दावि वेधम रै मायै तोपां रौ ताव धमायौ ।—वं.भा.

आदिकवि–सं०पु० [सं०] १ वाल्मीकि ऋषि. २ शुक्राचार्य ।

आदिकारण–सं०पु० [सं०] सृष्टि का मूल कारण ।

आदिजुगाद–क्रि०वि०—आदि से, प्रारंभ से (पि.प्र.)

आदित–सं०पु० [सं० आदित्य] सूर्य (ह.नां.)

आदितपुत्र–सं०पु० [सं० अदिति+पुत्र] देवता (डिं.नां.मा.)

आदिता–सं०पु० [सं० आदित्य] सूर्य । उ०—कोट अनंत परकास ज्यूं सिसहर आदिता ।—केसोदास गाडण

आदित्त, आदित्य–सं०पु० [सं० आदित्य] १ सूर्य । उ०—मारुवणी मुंह वंन्न आदित्त हूँ उज्जळी ।—ढो.मा. २ देवता, इन्द्र आदि.
३ भोजक जाति के व्यक्तियों के अनुसार शाकद्वीप के मग वर्ण के अंतर्गत एक जाति विशेष ।

आदित्यवार–सं०पु०—रविवार ।

आदिन–सं०पु०—बुरे दिन, संकटकाल, वुरा समय ।

आदिपक्ख–सं०पु० [सं० आदि+पक्ष] आरम्भ का पक्ष, कृष्ण पक्ष ।
उ०—आदिपक्ख अस्टमी मास नभ सुभ गुण मंडित ।—रा.रू.

आदिपुरक्ख, आदिपुरस–सं०पु० [सं० आदिपुरुष] परमेश्वर ।
उ०—ब्रह्म नमौ प्रथु-राजा आदिपुरक्ख ।—ह.र.

आदिम–वि०—पहले का, पहला, प्राथमिक ।

आदियासगत–सं०स्त्री० [सं० आद्यशक्ति] देवी, दुर्गा । उ०—आदियासगत हिंगळाज आप ।—रामदांन लाळस

आदिरस–सं०पु [सं० आदर्श] दर्पण, शीशा । उ०—वहु दिवसे प्री आवियउ, सझिया त्री सिणगार । निजरि दिखाई आदिरस, किम सिणगार उतार ।—ढो.मा

आदिल–वि०— [अ०] १ उदार. २ न्यायी । उ०—सेरसाह सांचौ, सीळवंत, आदिल, नेक, नीतवंत, खवरदार अवलियौ रैत री पीहर ।
—वां.दा.ख्या.

आदिविपुला–सं०स्त्री० [सं०] प्रथमदल के प्रथम तीन गणों में अपूर्व पांद वाली आर्य्या, एक छंद विशेष ।

आदिविपुळा-जघनचपळा–सं०स्त्री०—एक छंद विशेष । प्रथम पाद के

आधुनिक-वि० [सं०] १ वर्तमान समय का, हाल का, आजकल का. २ नवीन, अभी का, नया। उ०—जिका आधुनिक पंडितां रै अवलंबन रूप समस्त विद्या समुद्र अनेक ग्रंथ बणाया।—वं.भा.

आधू-वि०—आधे हिस्से पर कार्य करने वाला।

आधूं-आध—देखो 'आधौआध'।

आधेअऊखै-सं०स्त्री०—आधी कीमत। उ०—क्यों आधेअऊखै जमी गुमावै ही ? कुंई सोच'र ती काम किया करौ ?—वरस गांठ

आधेटी-सं०पु०—किसी दूरी के बीच का स्थान, बीच, आधी दूरी। उ०—तिकै आधेटै पो'ता तठै दिन पोहर एक चढ़ियौ छै।

जखड़ा मुखड़ा भाटी री वात

कहा०—जाट वाळी आधेटी—मूर्ख हिसाब।

आधेपै-सं०पु०—देखो 'आधीपौ'।

आधेय-सं०पु०—किसी आधार पर टिकी हुई वस्तु।

आधोआध, आधोआधि-सं०पु०—आधा भाग, बराबर का आधा हिस्सा, समान दो भागों में से एक भाग।

आधो'केक-वि०—लगभग आधा। उ०—किल्लौ राज सोभा धांम सारौ पारि पायौ, रैणी कोट खाई सैर आधो'केक आयौ।—शि.वं.

आधोड़ी-सं०स्त्री०—गाय या बैल का साफ किया हुआ आधा चमड़ा। उ०—लोह री मूठ लोह रातै नाळ री तरवार गळडवै रहती। आधोड़ी री गळडवो रहतौ।—वां.दा.ख्या.

आधोफर, आधोफरइ, आधोफरौ-वि०—बीच, मध्य। उ०—१ अंबर रै आधोफरै, वणिया ढूक विहंग। उ०—२ उडै रज असमांण, आधोफर छायौ अरक।—गो.रू.

आधोफेर-सं०पु०—१ छज्जा। उ०—जळजाळ स्रवति जळ काजळ ऊजळ पीळा हेक राता पहन। आधोफरै मेघ ऊवसता, महाराज राजै महल।—वेलि. २ आकाश और पृथ्वी के बीच में, बहुत ऊंचे पर। उ०—गाडी नाळि गोळा नलै फौज गज्जं, धरा वोम आधोफरै ऊडि वज्जं।—वचनिका ३ ढालू जमीन, उपत्यिका। उ०—आटवळ आधोफरइ, एवड़ मांहि असन्न। तिण अजांण ढोलइ तणइ, मूरख भागइ मन्न।—ढो.मा.

आधोरण-सं०पु० [सं०] महावत। उ०—इण रीति दो ही गजां आप आपरा कलावां सूं आधोरणां नूं उडाय रोस में अंध होय समीप आवतां ही गोयण मिळाया।—वं.भा.

आधोळी-सं०स्त्री०—१ देखो 'आधोड़ी'. २ वढ़ई का लकड़ी की गोलाई देखने का एक औजार।

आधोसलै-क्रि०वि०—आर-पार, इस ओर से उस ओर तक। उ०—घणी तरवारियां रा वाढ़ ऊछळै छै। घणी वरछी आधोसलै नीसरी छै।—सूरे खींवे री वात

आधौ-वि० [सं० अर्द्ध, पा० अद्धो, प्रा० अद्ध] (स्त्री० आधी) किसी वस्तु के दो बराबर हिस्सों में से एक।

यौ०—आधीसीसी।

मुहा०—१ आधी वात कैणी—साफ न कहना, थोड़ा सा डांटना या कुछ कहना. २ आधे पेट रै'णौ—तृप्त होकर नें खाना. ३ आधौ आध—दो बराबर भागों में. ४ आधी होणौ—दुबला होना.

कहा०—१ आधी छोडै आखी नै धावै एड़ी डूबै थाह न पावै—वर्तमान की थोड़ी प्राप्ति को छोड़ कर जो भविष्य की अधिक प्राप्ति के लिए दौड़ता है वह वर्तमान की आधी प्राप्ति से हाथ धो बैठता है. २ आधी रोटी घर री भली—आधी रोटी घर की अच्छी है। पराधीन रह कर पेट भरने की अपेक्षा स्वाधीन रह कर किसी तरह से गुजारा करना अच्छा है। परदेश में खूब पेट भरे तो वहां के कष्टों को देखते हुए उसकी अपेक्षा अपने देश में रह कर साधारण गुजारा कर लेना अच्छा है। दूसरे के घर पेट भरता हो तो भी घर का आधा भोजन अच्छा, क्योंकि दूसरे के यहां अपमान होगा. ३ आधे माहे कांमळ वांहे—आधा माघ बीत जाने पर कंबल कंधे पर आ जाती है। आधे माघ के बीतने पर जाड़ा कम होने लगता है।

आधौआध, आधौआधि-क्रि०वि०—दो बराबर भागों में। उ०—दोनूं बंधवां कै भूमि आधौआधि वांटी। भादरसिंघजी सौं 'दोल' काढ़यौ वैर आंटी।—शि.वं.

आध्मांन, आध्यमांन-सं०पु० [सं० अध्मान] एक प्रकार का वायु रोग, वायु से पेट फूलना, अफारा (अमरत)

आध्यात्मिक-वि० [सं०] आत्मा सम्बन्धी, जिसमें आत्मा का संबंध हो।

आनंद-सं०पु० [सं० आनन्द] १ हर्ष, प्रसन्नता, खुशी, उल्लास।

क्रि०प्र०—करणौ-मनाणौ-लेणौ-होणौ।

मुहा०—आनंद रा ढोल वजावणा—प्रसन्नता मनाना, प्रसन्नता और मस्ती से जीवन बिताना।

२ फलित ज्योतिष का एक योग।

आनंदकंद-सं०पु०—१ आनन्द का मूल, ईश्वर. २ श्रीकृष्ण, गोपाल (अ.मा.)

आनंदता-वि०—आनन्द देने वाला।

सं०स्त्री०—प्रसन्नता।

आनंदवधाई-सं०स्त्री०—मंगल उत्सव।

आनंदभैरव-सं०पु० [सं०] ज्वरादि की चिकित्सा में काम आने वाला वैद्यक का एक रस विशेष।

आनंदभैरवी, आनंदभैरी-सं०स्त्री०—सब कोमल स्वरों वाली भैरव राग की रागिनी।

आनंदमंदिरासण-सं०पु०—योग के चौरासी आसनों के अंतर्गत एक आसन जिसमें दोनों पांव की एडी पर दोनों कलाइयों को रख कर पंजे के ऊपर शरीर का बोझ डाल कर दोनों घुटनों को पृथ्वी पर लगाया जाता है और दाहिने हाथ से दाहिने पांव की ओर बांए हाथ से बांए पांव की एडी को पकड़ा जाता है।

आनंदी-वि०—प्रसन्न, खुश।

आप-सर्व० [सं० आत्मन, प्रा० अत्तणो] १ स्वयं, खुद (तीनों पुरुषों में)

आधखड़–सं०पु०—अधेड़ ।

आधण–सं०पु० [सं० आदहन] देखो 'आदण' । उ०—मद विद्या धन मांन, ओछा सौ उकळ' अवट । **आधण** रै उनमांन रैवे विरला राजिया ।—किरपारांम

आधपति, आधपती–सं०पु० [सं० अधिपति] अधिपति, राजा, नृप । उ०—**आधपति** धारियौ आलेख व्रद दूजै 'अजै', 'अभै' राज करै करी तारियौ आंबेर—हुकमीचंद खिड़ियौ

आधमी–सं०स्त्री०—खेती की एक रीति जिसके अनुसार उपज का आधा भाग तो खेत का स्वामी ले लेता है तथा आधा भाग कृपक (परिश्रम करने वाले के पास) बचा रहता है। पशु भी पालन-पोपण के निमित्त दिए जाते हैं। उनकी भी यही रीति है।
(मि० आधिपौ)

आधरत, आधरत्ति–सं०स्त्री० [सं० अर्द्धरात्रि] निशीथ, अर्द्धरात्रि । उ०—आरंभ रांम जइतसी अत्ति आवियउ मीर सिरि **आधरत्ति** । —रा.ज.सी.

आधरै–क्रि०वि०—धीरे, आहिस्ता । उ०—अमल कीयौ घोड़ा रौ तंग लीयौ **आधरै** आधरै आइ, फोज मेवाड़ री भेळी हुवौ ।—नैणसी

आधव्याध–सं०पु० [सं० आधि-व्याधि] मानसिक और शारीरिक पीड़ा।

आधांतर–देखो 'आधंतर' ।

आधांन–सं०पु० [सं० आधान] १ स्थापना, रखना. २ गिरवी या बंधक रखना. ३ गर्भाधान, गर्भ । उ०—खाय तडच्छा खांन, थारा भय सी भारथा । असुरांणी **आधांन**, अवधि विहूणा ऊगळै । —ला.रा.

आधांनवती–सं०स्त्री० [सं०] गर्भवती ।

आधाईक–वि०—आधा, अर्द्ध, आधे के लगभग । उ०—कछ देस में कच्छी ओसवाळ करखसूरी किया, उवै हमैं **आधाईक** आंचळिया में वसै है आधाईक तपा में वसै है ।—बां दा. ख्या.

आधार–सं०पु० [सं०] १ आश्रय, सहारा, अवलंब । २ आलवाल, पात्र. ३ नींव, बुनियाद, मूलाधार. ४ आश्रय देने वाला, पालन करने वाला. ५ अधिकरणकारक (व्याकरण)

आधारणौ, आधारबौ–क्रि०स० [सं० आधार] १ लगाना (सती होने वाली स्त्रियों द्वारा सती होने के लिए जाते समय तोरण द्वार पर कुंकुम से भरकर अपने हाथ का चिन्ह लगाना । उ०—प्रथम सूरजपोळ, आच कुंकुम **आधारियौ** । २ सहारा या आधार देना, उठाना, उठाये हुए रखना । उ०—वेलियां बापू कारंतौ **आधारंतौ** भुजां आभ ।—देदौ सुरतांणोत वीठू

आधारा, आधारि–सं०पु० [सं० आधार] आधार, आश्रय । उ०—असमरा धारि **आधारि** दाढ़ां अगरि । वढ़ियौ गाढ़ फोजां विडांणी ।—रावत मांनसिंह सलूम्बर री गीत

आधारी–वि०—सहारे पर रहने वाला ।

आधासी, आधासीसी–सं०स्त्री० [सं० अर्द्ध+शीर्ष] आधे सिर की पीड़ा, अधकपाली । उ०—जान्हू डैरू जोय विगत दुख भेद बतावौ । **आधासीसी** आंखि जुवर कुण सूळ जतावौ ।—ऊ.का.
सूर्यावर्त नाम का सिर का रोग ।

आधि–सं०स्त्री० [सं०] १ मानसिक व्यथा, चिन्ता, दुख (डिं.को.) उ०—वुध व्याधिय **आधि** उपाधिय में, सुध लाधिय सुन्न समाधिय में ।—ऊ.का. २ देखो 'आदि' ।

आधिओ–सं०पु० [सं० अर्द्ध] १ किसी विषय में आधा हिस्सा लेने वाला. २ युद्ध में आधा भाग लेने वाला, योद्धा ।

आधिदेव, आधिदैव, आधिदैविक–सं०पु० [सं० आधि+दैविक] देवता, यक्ष, भूत प्रेतादि द्वारा प्राप्त दुःख । सुश्रुत में सात प्रकार के दुःख गिनाए गए हैं उनमें से निम्न लिखित तीन इस वर्ग के अंतर्गत हैं— १ ओले व वर्पादि से उत्पन्न दुःख. २ दैव वल कृत (बिजली पड़ना). ३ स्वाभाव वल कृत (भूख प्यास) उ०—आधिभूतक **आधिदेव** अध्यातम, पिंड प्रभवति कफ वात पित्त ।—वेलि.

आधिपत्य–सं०पु० [सं०] अधिकार, स्वामीपन । उ०—आप रा अनुज विक्रम रै उज्जइणी रा **आधिपत्य** रौ अभिसेक करि राजा भत्रहरि दुरगम परवतां में निवास धारियौ ।—वं.भा.

आधिभूतक, आधिभूतग, आधिभौतिक–सं०पु० [सं० आधिभौतिक] व्याघ्र सर्पादि जीवधारियों द्वारा प्राप्त दुःख, सुश्रुत में रक्त, शुक्र दोप अथवा आहार-विहार से उत्पन्न व्याधियों को भी **आधिभौतिक** कहते हैं । उ०—**आधिभूतक** आधिदेव अध्यातम, पिंड प्रभवती कफ वात पित्त ।—वेलि.

आधियौ–सं०पु०—जायदाद का आधे हिस्से का हिस्सेदार । उ०—ऊदा धरती **आधिया** आहव आध सिवाय ।—रा.रू.

आधी–वि०—१ आधा, अर्द्ध (पु० आधौ) देखो 'आधौ' २ अपूर्ण ।
सं०स्त्री०—१ देखो 'आधि' । २ अर्द्ध रात्रि । उ०—आवै **आधी** रौ (ह) सावळ हय सावळ सुणै ।—पा.प्र.

आधी'क–वि०—लगभग आधी ।

आधीन–वि० [सं०] १ आज्ञाकारी. २ वशीभूत. ३ स्वाधिकार युक्त. ४ आश्रित, दीन ।

आधीनता, आधीनी–सं०स्त्री०—१ वशवर्तित्व. २ नम्रता. ३ तावेदारी. ४ आज्ञाकारिता. ५ अधीनता । उ०—चीतमरण रण चाय; अकवर **आधीनी** विना । पराधीन दुख पाय, पुनि जीवै न प्रतापसी ।—दुरसौ आढ़ौ

आधीपौ–सं०पु०—खेती की एक रीति जिसके अनुसार उपज का आधा भाग तो खेत का स्वामी ले लेता है तथा आधा भाग कृपक (परिश्रम करने वाले के पास) बचा रहता है । पशु भी पालन-पोपण के निमित्त दिए जाते हैं उनकी भी यह रीति है ।

आधीरात–सं०स्त्री० [सं० अर्धरात्रि] जब रात का आधा भाग व्यतीत हो गया हो ।

चाहता है उसका नाश होता है. ३४ श्रापरी गऊ हूं—श्रापकी गैया हूं, मैं गाय के समान सीधा-सादा गरीब हूं, मेरी रक्षा करो; जब कोई व्यक्ति किसी के पास रक्षा या शरण की याचना करता है तब कही जाती है. ३५ श्रापरी गरज गधै नै बाप कुवावै (वरणावै)—अपनी गरज गधे को बाप कहलवाती है। अपना काम निकालने के लिए नीच आदमी की भी खुशामद करनी पड़ती है; स्वार्थ-सिद्धि के लिए बुरा काम भी करना पड़ता है. ३६ श्रापरी गळी में कुत्तो ही सेर—अपनी गली में कुत्ता भी शेर; अपने स्थान पर तुच्छ व्यक्ति भी बलवान होता है. ३७ श्रापरी जांघ (साथळ) उघाड़्यां श्रापनै ही लाज—अपनी जाँघ उघाड़ने से अपनेआप को ही लाज लगती है। अपने निकटस्थ संबंधियों की बुराई प्रकट करने से स्वयं ही लज्जित होना पड़ता है। (जब पुत्र आदि बुरा काम कर बैठते हैं तब बाप आदि का कथन) ३८ श्रापरी डाडी रै लसरकौ पैं'ली देवै—डाढ़ी जलने पर सबसे पहले व्यक्ति खुद की दाढ़ी बुझाने पर ध्यान देता है; अपना-अपना मतलब सबसे पहले बनाते हैं; अपने मतलब का सबसे अधिक ध्यान रखते हैं. ३९ श्रापरी गाय रौ घी सौ कोसां खाईजै—अगर आप किसी का स्वागत-सत्कार करते हैं तो वापस आपका भी स्वागत-सत्कार होगा ४० श्रापरी नरमाई (लायकी) पैले नै खावै—अपनी नम्रता सामने वाले को खा जाती है; नरमाई से सामने वाला व्यक्ति भी पिघल जाता है। नम्रता के व्यवहार की प्रशंसा.

४१ श्रापरी नींद सूवै श्रापरी नींद जागै—अपनी नींद सोता है अपनी नींद जागता है (अपनी इच्छानुसार सोता है और इच्छानुसार जागता है) स्वाधीन व्यक्ति के लिये. ४२ श्रापरी मा नै डाकरण कुण कैवै—अपनी माँ को डाइन कौन कहे; अपनी बुराई कोई प्रकट नहीं करता; अपने को कोई बुरा नहीं बताता. ४३ श्रापरी मारी हलाल—अपनी मारी (मुर्गी) हलाल; अपना ही किया काम ठीक समझना; अपना किया काम बुरा हो तो भी ठीक समझना.

४४ श्रापरी लाज श्रापरै हाथ में—अपनी लाज अपने हाथ में; अपनी लज्जा की रक्षा मनुष्य स्वयं कर सकता है. ४५ श्रापरी लापसी में सगळा घी घालै—अपनी अपनी लपसी में सब कोई घी डालते हैं; सब कोई अपने स्वार्थ के वशीभूत होकर लाभ के लिए कार्य करते हैं. ४६ श्रापरी लूळताई पैले नै खाय—देखो 'श्रापरी नरमाई पैले नै खाय. ४७ श्रापरी समज सूं हीज (बोकियां) मरै है— अपनी बुद्धि के भार से खुद ही दबना; अपनी बुद्धि का थोथा अभिमान; मूर्ख व्यक्ति के लिए जो अपने को बहुत बुद्धिमान कहता हो. ४८ श्रापरै घर में श्रौ हीज धोळौ जवारौ नीकळ्यौ—अपने घर में यही सफेद जँवारा निकला; अपने कुटुंब में यही प्रतापी या भाग्य वाला हुआ.

४९ श्रापरै नाक माथै माखी कुण बैठण दे—अपनी नाक पर मक्खी कोई नहीं बैठने देता; कोई व्यक्ति ऐसा काम नहीं करना चाहता कि जिससे उसको दूसरे लोगों के सामने नीचा देखना पड़े या लज्जा अनुभव करनी पड़े. ५० श्रापरै मूं'डै री माखी तौ श्राप सूं ही उडेला—अपने मुँह पर बैठी मक्खी तो अपने खुद के हाथों से ही उड़ाई जाती है; बिना स्वयं काम किये अपना काम पूरा नहीं होता. ५१ श्रापरै रूप रौ'र परायै धन रौ पार नहीं—अपने रूप का और पराये धन का पार नहीं दीख पड़ता, सबको अपना रूप सबसे ज्यादा दीख पड़ता है और इसी प्रकार दूसरे का धन सबसे ज्यादा दीख पड़ता है। सभी अपने को सबसे सुन्दर और दूसरों को सबसे धनवान समझते हैं.

५२ श्रापरी कायदौ श्रापरै हाथ—अपनी प्रतिष्ठा अपने हाथ; अपनी प्रतिष्ठा की रक्षा करना मनुष्य के हाथ की बात है (अच्छे काम करेगा तो प्रतिष्ठा रहेगी, बुरे काम करेगा तो नष्ट हो जायगी) नीच आदमी से झगड़ा करने वाले के प्रति. ५३ श्रापरौ घर नै हंग हंग नै भर—खुद का घर ही घर है चाहे जितना खराब कीजिये; अपनी वस्तु को चाहे जितना खराब या गंदा करो कोई उलाहना देने नहीं आता। अपने घर एवं वस्तुओं को बहुत गंदा रखने वाले के प्रति.

५४ श्रापरौ पेट (तौ) कुत्तौ ही भर लेवै—अपना पेट तो कुत्ता भी भर लेता है। केवल पेट भर लेना कोई बड़ी बात नहीं; मनुष्य जीवन तभी सार्थक है जब परोपकार किया जाय या कोई महान कार्य किया जाय ५५ श्रापरौ बळद कवाड़ियै सूं नाथौ—खुद का ही बैल है इसे चाहे कुल्हाड़ी की सहायता से नाक में छेद करके नाथिये, अगर हानि भी हुई तो उलाहना देने कोई नहीं आयेगा। अपनी वस्तु को चाहे जितना खराब या गंदा करो अथवा चाहे जितनी हानि पहुँचाओ कोई उलाहना देने नहीं आता. ५६ श्रापरौ बाळियौ नै पैले रौ सुधारियौ—अपना खुद का जलाया हुआ और दूसरे द्वारा अपना सुधारा हुआ बराबर है अर्थात दूसरे के द्वारा किया कार्य चाहे वह भला ही हो परन्तु अपने आपका किया अच्छा लगता है. ५७ श्राप रौ विगाड़्यौ नै परायौ सुधारियौ बराबर व्है है—खुद का कार्य बिगड़ने और दूसरे का सुधरने पर बराबर संतोष होता है। खुद का कार्य बिगड़ने पर संतोष इसलिए होता है कि चलो इससे किसी दूसरे की हानि तो नहीं हुई और दूसरे का कार्य सुधरने पर भी संतोष मिलता है। भले एवं परोपकारी व्यक्ति के लिये. ५८ श्रापरौ ब्रह्म कैवे जींमें फरक नहीं पड़ै—आत्मा की पुकार एवं मार्ग-दर्शन पर किसी प्रकार का अंतर नहीं पड़ता; आत्मा की आवाज सदा सत्य होती है. ५९ श्रापरौ माजनौ श्रापरै हाथ—देखो 'श्रापरी कायदौ श्रापरै हाथ'. ६० श्रापरौ माथौ थोड़ौ ही फोड़ीजै—अपने हाथों से अपना सिर नहीं फोड़ा जा सकता; जान-बूझ कर अपने हाथों कोई अपनी हानि नहीं करता. ६१ श्रापरौ सो श्रापरौ नैं परायौ सो परायौ—अपनी वस्तु अपनी एवं परायी वस्तु को परायी समझना; भोलेपन से ठगे जाकर न तो अपनी वस्तु दूसरे को देना और न पराई वस्तु लेने का प्रयत्न करना (नीति). ६२ श्राप व्यासजी बेंगण खावै औरां नै परमोद बतावै—देखो 'श्राप गुरुजी कांदा खावै दूजां नै परमोद बतावै'. ६३ श्राप समांन बळ नहीं मेघ समांन जळ नहीं—अपने समान बल नहीं, मेघ समान जल नहीं; सबसे बड़ा बल वही

२ तुम और वे के स्थान में आदरार्थक।

मुहा०—१ आपने भूलणौ—अपने को भूलना, होश में न रहना. २ आप सूं आप—अपने आप।

कहा०—आप आप की तांन में गध्धा भी मस्तांन—अपनी तान में गधा भी मस्त रहता है। अपनी मौज से क्या बड़े और क्या छोटे सभी मस्त रहते हैं. २ आप आप रा सीर-संस्कार (सेंसकार) है—अपने अपने पूर्व संस्कार और हिस्सा है। अपने अपने भाग्य के अनुसार सुख दुःख मिलते हैं. ३ आप आप री करणी नै पार उतरणी—खुद के कार्यों के फल खुद को ही मिलता है, दूसरे उसे प्राप्त नहीं कर सकते. ४ आप आपरी करणी रै कांठै—अपनी अपनी करनी के निकट हैं; अपने अपने कर्मों के अनुसार फल भोगते हैं. ५ आप आप री खैंचौ'र ओढ़ौ—अपनी अपनी चादर खैंचो और ओढ़ो; अपनी अपनी फिक्र करो; अपना अपना काम देखो; अपनी अपनी करनी का फल भोगो. ६ आप आप री रोटी हेटे खीरा देवै—अपनी अपनी रोटी सेंकने के लिए सब अंगारे रखते हैं; अपना-अपना स्वार्थ-साधन करते हैं; सब अपनी अपनी रोजी बनाये रखने का यत्न करते है. ७ आप आप रै घर में सारा ही (सै) ठाकर—अपने-अपने घर सभी ठाकुर; अपने घर में प्रत्येक व्यक्ति राजा के समान होता है. ८ आप आप रै थांनै-मुकांनै भला—अपने अपने स्थान और मुकाम में ही भले; अपने स्थान पर सभी अच्छे लगते हैं; इतने दुष्ट हैं कि इनका अपने ही स्थान में रहना अच्छा है (बाहर निकलना अच्छा नहीं). ९ आप आपरै भाग रौ सब (सै) खावै—अपने अपने भाग्य का सब खाते हैं; जिसके भाग्य में जितना लिखा है उतना वह भोगता है; सब अपने नसीब का खाते हैं, कोई किसी को भी नहीं खिलाता. १० आप-आप रौ जी सगळां नै प्यारौ है—अपना-अपना जीव सबको प्यारा है, अपनी रक्षा की फिक्र सभी को है. ११ आप कमाया कांमड़ा, किण नै दीजै दोस—अपने कमाये हुए काम हैं (अपने किये कामों का फल है), अब किसको दोष दें। जब अपने किये कर्मों का फल भोगना पड़ता है, तब कहा जाता है.

१२ आपकी (री) सौ लापसी, परायी नौ तुसकी—अपनी लपसी और पराई तुसकी होती है; अपनी खराब चीज भी अच्छी लगती है और दूसरे की अच्छी चीज भी खराब लगती है. १३ आप गुरांसा कांदा (बैंगण) खावै, दूजा नै परमोद (उपदेस) बतावै—गुरुजी स्वयं तो प्याज खाते हैं किन्तु दूसरों को प्याज न खाने का उपदेश देते हैं। जब कोई व्यक्ति स्वयं तो कोई काम करता है किन्तु दूसरों को वह काम बुरा बता कर न करने के लिए उपदेश देता है तब कही जाती है. १४ आप जैड़ी परायी होवै है—अपने समान ही दूसरों को समझना; जिससे अपने को कष्ट पहुँचता है उससे दूसरे को कष्ट पहुँच सकता है. १५ आप ठग्यां सुख ऊपजै, और ठग्यां दुख होय—स्वयं ठगाये जाने पर सुख होता है और दूसरे को ठगने से दुःख होता है। दूसरा हमें ठग लेता है तो हमें संतोष होता है कि हमने कोई बुरा काम तो नहीं किया। इससे आत्मा को शांति मिलती है किन्तु हम दूसरे को ठग लेते हैं तो हमारी ही आत्मा हमें धिक्कारती है जिससे हमें दुःख होता है. १६ आप डूबंतां बांमणा लै डूबै जजमांन—ब्राह्मण स्वयं तो डूबता ही है साथ ही यजमान को भी ले डूबता है। मूर्ख पुरोहित (ब्राह्मण) के लिए, आजकल के ब्राह्मणों पर व्यंग्य; जो व्यक्ति अपने साथ अपने से संबंध रखने वाले दूसरों को भी हानि कर बैठे उसके लिए.

१७ आप न जावै सासरै ओरां नै सिख (सीख) देय—स्वयं तो ससुराल जाती नहीं, दूसरों को जाने की शिक्षा देती है—जो दूसरों को उपदेश दे पर स्वयं व्यवहार न करे. १८ आप भला तौ जग (जुग) भला—भले को सब भले दिखते हैं; भले के साथ सब भलाई करते है. १९ आप मरतां बाप किणनै याद आवै—आप मर रहा हो तो बाप किसे याद आता है; स्वयं ही विपत्ती में पड़े हों तो दूसरों पर किसी का ध्यान नहीं जाता; पहले अपने-आपको बचाने की फिक्र होती है. २० आप मरियां पछै जुग प्रळै—अपने मरने के बाद चाहे प्रलय ही हो जाय; अपने मरने के बाद संसार में कुछ भी हो इससे हमें क्या लाभ; खुद के चले जाने के बाद पीछे लोग चाहे कुछ करें इससे अपने को कष्ट नहीं होता. २१ आप मरियां बिनां सरग कठै—खुद के मरे बिना स्वर्ग नहीं देखा जा सकता; स्वयं के द्वारा कार्य करने या कष्ट उठाने पर ही फल की प्राप्ति होती है. २२ आप मरियां सूं प्रळै है—देखो—'आप मरियां पछै जुग प्रळै'. २३ आप मरै (डूबै) जिण रै जग डूबौ—देखो—'आप मरियां पछै जुग प्रळै'. २४ आप मरचां जग परळै—देखो—'आप मरियां पछै जुग प्रळै'. २५ आप मरचां बिना सुरग कुण जाय—देखो—'आप मरियां बिना सरग कठै'. २६ आप मियां मंगता, बा'र खड़्या दरवेस—मियां स्वयं मंगते हैं और दरवाजे पर फकीर खड़ा है, धनहीन दानी के लिए; स्वयं धनहीन हों और दूसरा सहायता माँगने आवे तब. २७ आप मिळै सौ दूध बराबर, मांग मिळै सौ पांणी—जो स्वयं (बिना माँगे) मिले वह दूध के समान है और जो माँगने से मिले वह पानी के समान है, माँगने की निंदा. २८ आप मीयां मांगणा नै बाहर खड़ा दरवेस—देखो 'आप मियां मंगता, बा'र खड़्या दरवेस'. २९ आप रा कांटा तौ आप रै हीज भागै—खुद के बिछाये या डाले हुए काँटे खुद ही को चुभते हैं; अपनी करनी का फल खुद को ही भुगतना पड़ता है. ३० आपरा कीयोड़ा आप इज भोगसी—अपनी करनी का फल खुद को ही भुगतना पड़ता है. ३१ आपरा पादा नै वड़ा सवादा—आपका पाद (अपानवायु) भी बड़ा सुस्वादु है। जब कोई व्यक्ति किसी की खुशामद करता है तब कहा जाता है. ३२ आप री खाज हाथै भागै—अपनी खुजली अपने ही हाथों से मिटती है; बिना स्वयं काम किये काम पूरा नहीं होता. ३३ आपरी खा'र परायी तकै जाय हड़मांन बाबै रै (बजरंगबली रै) धक्कै—जो आदमी अपनी रोटी खाकर परायी को भी लेना चाहता है वह हनुमानजी के धक्के चढ़ता है; जो अपना हिस्सा पाने के बाद भी दूसरे की रोटी छीनना

आपती–सर्व०—अपन, स्वयं। उ०—आपती सकौ वडा ठाकुर मन खांच रखया। कोई दरबार आवै न छै।—नैणसी

आपत्ति–सं०स्त्री०—१ दुःख, क्लेश. २ संकट, विपत्ति. ३ विघ्न, बाधा. ४ कष्टकाल. ५ दोषारोपण. ६ उज्र, ऐतराज।

आपयो-आप–सर्व०—अपनेआप। उ०—फलांणा दिन सोवत रा घोड़ा छूट नै आपयो-आप आवसी।—नैणसी

आपद–सं०स्त्री० [सं०] दुःख, संकट, विपत्ति।

आपदयित–वि० [सं० आपदाग्रस्त] आपत्ति में फँसा हुआ।

आपदत्त–सं०पु०—दत्तात्रेय मुनि का एक नाम। उ०—वांका वेद पुरांण विच, सायद आछै सूत। सुख संतोख सराहियो, आपदत्त अवधूत।—वां.दा.

वि०—अपना दिया हुआ, अपना प्रदत्त।

आपदा–सं०स्त्री० [सं०] दुःख, विपत्ति, क्लेश, आफत, कष्टकाल। उ०—अब आपरै ऊपर महा संकट मांनि एक दीधौ तौ परमेस्वर दूजौ भी देसी ही परंतु आपदा में दिल्लीस भी इसौ व्याकुळ थियौ।—वं.भा.

आपद्धरम–सं०पु० [सं० आपद्धर्म] केवल आपत्काल में जिसका विधान हो।

आपनांमी–वि०—१ अपने नाम से प्रसिद्ध होने वाला। उ०—नवा कोटां नाथ रा सुभटां छोगा आपनांमी, वांमी-वंध लाखां पात आयरा वरीस।—गीत आउवा री

आपन्न–वि० [सं०] आपदग्रस्त, संकटापन्न, दुखी, पीड़ित।

आपपर–क्रि०वि०—आपस में, परस्पर। उ०—वसुदेव कुमार तणौ मुख विखै, पुरौं सुणौं जण आपपर।—वेलि.

आपबीच–क्रि०वि०—आपस में, परस्पर। उ०—सुवेड उठि वैठा हुवा। ताहरां चिहुं आपबीच झगड़ौ हुवौ।—चौबोली

आपभांण–सं०पु०—पक्षी। उ०—गहर मतवंत कुंण मेह छांटां गिणौं, भेदवै कवण नभ आपभांणे।—र.रू.

आपमणौ–वि०पु०—सतर्क, सचेत। उ०—'गूंजुए पर वोलत मोर घणा। मांझियां सह रैं'जोइ आपमणां।—पा.प्र.

आपमलौ–वि० [सं० आत्ममल्ल] १ अपनी इच्छा से कार्य करने वाला. २ स्वतन्त्र। उ०—मलराउ जिहीं जगि आपमला, भुज पूजै साहिजहांन भला।—वचनिका

आपमाहे–क्रि०वि०—परस्पर, आपस में। उ०—केई एक दोइ मनुस्य आपमांहे वातां करै छै।—वेलि. टी.

आपमुरादी, आपमुरादौ–वि०—१ स्वयं अपनी इच्छा से कार्य करने वाला. २ आजाद. ३ स्वेच्छाचारी। उ०—जिण दिनां पूगळ री राव सुदरसेण जगदेवोत आपमुरादौ हुवौ, अर देस में पण फिसाद कियौ।—द.दा.

आपयोड़ो–भू०का कृ० [सं० अर्पित] अर्पण किया हुआ। (स्त्री० आपयोड़ी)

आपरंगी–वि० [सं० आत्मरंगी] अपनी इच्छानुसार चलने वाला, मस्त. उ०—पेलै कवादी तिलंगां-वाड़ा जंगी राग वोरै पोख, महा जोम आपरंगी लीक सोवा मोड़।—वां.दा.

आपरूप–वि० [सं० आत्मरूप] मूर्तिमान, साक्षात् (केवल महापुरुषों के लिये)।

आपरौ–वि०—आपका। (स्त्री० आपरी) (बहु० आपरा)

आपस–सं०स्त्री०—१ परस्पर। उ०—'अमरा' नूं कहियौ उमरावां, सकतां चूंडां आपस भावां।—रा.रू. २ निज, संबंध, नाता. ३ भाईचार (जैसे—आपस रा लोग). ४ एक दूसरे का साथ. ५ अधिक परिश्रम करने का भाव।

आप-स्वारथी–वि०—केवल अपना स्वार्थ साधन करने वाला। उ०—आप-स्वारथी मरौ आदमी, सत छोड़ै सौ मरौ सती।—अज्ञात

आपहनांमी, आपहमलो, आपहमलौ–वि०—१ स्वतन्त्र, आजाद. २ अपने नाम से ही प्रसिद्ध होने वाला. ३ प्रभावशाली।

आपां–सर्व०—अपन लोग। उ०—उवै आयसै ताहरां आपां देस।—चौबोली

आपांण–सं०पु०—शक्ति, साहस, पराक्रम। उ०—जांणौ वाभी जेण गज, लटकंती नीसांण। तेथी औरं न संचरै, देवर री आपांण।—वी.स.

अपनापन। उ०—कोई विरला सूरमा आपांण छिपाई। मिळ वैठा रहमांण सूं लव चेतन लाई।—केसोदास गाडण

वि०—उन्मत्त, मस्त। (मि० आपांन)

आपांणी–वि०—१ बलवान, शक्तिशाली, पराक्रमी। उ०—ओढ़ै भुज डिगतौ अंबर, अहड़ा आपांणी।—वी.मा.

२ अपनी। देखो 'आपांणौ'।

आपांणौ–वि०—अपना। उ०—अंग अनंग गया आपांण, जुड़िया जिणि वसिया जठरि।—वेलि.

आपांन–वि०—उन्मत्त, मस्त। उ०—आसव छकि आपांन वणै जदुवंस जथा वस।—वं.भा.

आपाऊपेहर, आपाऊपेहरौ–वि०—१ अपने बल से अधिक कार्य करने वाला। उ०—छोगौ भूपैहर सारां मेवाड़ आठेव छत्री आपाउपेहरा वाड़ा दूसरा ऊमेद।—रांमकरण महड़ू. २ जोश-पूर्ण। उ०—अर प्रभात ही खीची १३ रा तोमर कपाट रै लागतां ही कुमार एकल असवार आपाऊपेहरौ आवतौ देखि आरांग में अगुभावतौ जांणि गंगदेव हेलौ भी न देण पायौ।—वं भा.

आपापंथी–वि०—१ कुमार्गी, कुपंथी. २ स्वार्थी. ३ मनमानी करने वाला।

आपापणइ–सर्व०—अपने-अपने। उ०—सीखि मांगि मिळि गळि मुखि घणइ, पहुंता देसे आपापणइ।—ढो.मा.

आपापणौ–सर्व०—अपने। उ०—पद्मनाभ कवि इणि परि भणइ, आव्या

जो अपने में हो क्योंकि समय पड़ने पर वही काम देता है, इसी प्रकार वर्षा का जल सर्वोत्तम होता है। स्वावलम्बन की प्रशंसा. ६४ आप सूं करै जकैरै बाप सूं टळणौ नहीं—जो अपने साथ दुष्टता करे उसके बाप के साथ भी (दुष्टता करने से) नहीं चूकना; कोई अपना बुरा करे तो उसका पूरा प्रत्युत्तर देना चाहिये. ६५ आप सूं लांठौ जम बराबर—अपने से शक्तिशाली व्यक्ति यम के समान होता है, उससे नहीं लड़ना चाहिये, हानि पहुँचाने की संभावना है. ६६ आप सूं व्है जिकौ कर लीजौ—आप जो कर सको कर लेना (ललकार) हमें उसकी परवाह नहीं है. ६७ आप ही रोटी लेय नै खाय लेवै ऐड़ौ गिनायत चाहीजै—ऐसा समधी होना चाहिए जो स्वयं ही भोजन परोस कर खा लेवे, दूसरे द्वारा परोसे जाने की राह न देखे; ऐसा समधी हो जो अपने स्वागत-सत्कार में अधिक कष्ट न दे।

यौ०—आपकरमी, आपघाती।

सं०पु० [सं०] जल, वारि।

आपकरमी–वि०—१ अपने भाग्य पर रहने वाला, भाग्यशाली।

आपगरजी–वि०—अपना स्वार्थ चाहने वाला, स्वार्थी।

आपगा–सं०स्त्री० [सं०] नदी, सरिता। उ०—**आपगां** दळण गीखम जळण आहौटी, विसे खटचलण कळिया कदमव्रंद।—वां.दा.

आपघात–सं०पु० [सं० आत्महत्या] अपने आपको मार डालना, आत्महत्या। उ०—**आपघात** आदरां इसौ मनड़ौ अकुळायौ।

—भगवांनजी रतनू

मुहा०—आप घात महा पाप—आत्महत्या भयंकर पाप है।

आपघाती–वि०—आत्महत्या करने वाला।

कहा०—आपघाती महापापी—आत्महत्या करने वाला सबसे बड़ा पापी माना जाता है।)

आपड़णौ, आपड़बौ–क्रि०स०—पकड़ना। उ०—अतरै मुकन कमंध आपड़ियौ, चंचळ सहित निजर खळ चड़ियौ।—रा.रू.

आपड़णहार-हारौ (हारी), आपड़णियौ–वि०—पकड़ने वाला।

आपड़ाणौ, आपड़ावौ—क्रि०स०।

आपड़िओड़ौ, आपड़ियोड़ौ, आपड़योड़ौ–भू०का०कृ०—पकड़ा हुआ।

आपड़ीजणौ, आपड़ीजबौ–भाव वा०—पकड़ा जाना।

आपड़ीजिओड़ौ, आपड़ीजियोड़ौ आपड़ीज्योड़ौ—पकड़ा हुआ।

(स्त्री०—आपड़ीजिओड़ी)

आपड़ाणौ, आपड़ावौ–क्रि०स०—पकड़ाना। (मि० आपड़णौ)

आपड़ायोड़ौ–वि०—पकड़ा हुआ। (स्त्री० आपड़ायोड़ी)

आपड़ियोड़ौ–भू०का०कृ०—पकड़ा हुआ। (स्त्री० आपड़ियोड़ी)

आपड़ीजणौ, आपड़ीजबौ–क्रि०अ०—पकड़ा जाना।

आपच–सं०पु०—आत्महत्या। उ०—तरै जखड़ै कह्यौ, माजी सांच हीज फुरमावौ नहीं तौ **आपच** करिस्यूं।—जखड़ा मुखड़ा भाटी री वात

आपचक–सं०स्त्री०—घबराहट। उ०—इसी सांभळ नै सगळै साथ दोड़ मची। वाहिरला-माहिलां री कोई खबर पड़ै नहीं। **आपचक** लागी।

—जैतमी ऊदावत री वात

आपण–सं०स्त्री० [सं०] १ दुकान।

सं०पु० [सं० अर्पण] २ श्रद्धा और भक्तिपूर्वक किसी को दान देना.

सर्व० [सं० आत्मन] अपना, अपने। उ०—गह भरियौ गजराज, मह मालै **आपण** मतै। कूकरियां वेकाज, रुगड़ भुसै किम राजिया।

—किरपारांम

आपणउ–सर्व०—अपना। (प्रा०प्र०) उ०—कउआ दिऊं वधाइयां, प्रीतम मेलइ मुज्झ। काढ़ि कळेजउ **आपणउ**, भोजन दिऊंली तुज्झ।—ढो.मा.

आपणड़ौ–वि०पु०—अपने का। (स्त्री० आपणड़ी)

आपणपूं–सं०पु०—अपनापन, ममत्व। उ०—लेइ भेट कइ मिळवा आवै, कइ पुरुसारथ दाखै। कइ ताहरूं भलपण जांणीसिइ घर **आपणपूं** राखै।—कां.दे.प्र.

आपणा–सर्व०—अपना। उ०—**आपणा** मन स्यूं आलोच ब्राह्मण आलोचै लागौ।—वेलि. टी.

आपणाणौ, आपणावौ, आपणावणौ, आपणाववौ–क्रि०स०—१ अपनाना. २ अधिकार में करना। उ०—जद रावळ 'मालौ' जैसलमेर **आपणावण** आपरी फौज मेलो।—वां दा.ख्या.

आपणि, आपणियां–सर्व०—अपनी। उ०—तिहीं परमेस्वर कौ गुणानुवाद **आपणि** मति कै सारै स्रम कीधा विण केम सरै।

—वेलि. टी.

आपणियौ–वि०—अर्पण करने वाला।

आपणी–सर्व०—अपनी। उ०—कवेसुर **आपणी** आपणी वारी दांन सनमांन पावै। स्री महाराज की कीरत उच्छव सूं गावै।—रा.रू.

आपणौ, आपबौ–क्रि०सं० [सं० अर्पण] १ देना। उ०—सूंप्या वागा सावटू, कोड़ीधज केकांण। आम्हां साम्हां आपिया, प्रीत चढ़ै परिमांण।—कां.दे.प्र.

२ अर्पण करना. ३ हुक्म देना. ४ धारण करना।

उ०—**आपौपै** हूंतां अनंत, आप्यौ तैं अवतार। पाप धरम चा पाहरू, लाया जीवां लार।—ह.र.

आपणावणौ, आपणावबौ—स०रू०।

सर्व०—अपना। उ०—प्रांण जितै जग **आपणौ**, प्रांण जितै तन पाक। प्रांण प्रयांण कियां पछै, व्है नर नांम हलाक।—वां.दा.

आपत–क्रि०वि०—आपस में, परस्पर।

सं०स्त्री० [सं० आपत्ति] आपत्ति, कष्ट। उ०—संपत **आपत** सुख नै दुख जांणू ए माय।—गी. रां.

आपतहार, आपतहारी–सं०पु०—आपत्ति मिटाने वाला, संकटहरण।

उ०—खुदा-खेजड़ी रूंख, जुदा भगवन अवतारी। मुरधर प्रगटचौ पीर, अकाळां **आपतहारी**।—दसदेव

आपताप–सं०पु० [फा आफताव] सूर्य, सूरज। उ०—असा वीर स्याल रा मंडांणी **आपताप** उठै, तठै रिमां सालरा 'सदांणी' वाळौ तोर।

—फतहरांम आसियौ

आफरीवाद, आफरीवाद-सं०पु०—धन्यवाद। उ०—सू मुकंद खांन नूं इण मारियौ अरु वडौ पराक्रम कियौ। तठै पातसाहजी श्री हाथां हमाल सूं खेह भाटकी अर फुरमायौ आफरीवाद है तुमारै तांई।
—द.दा.

आफरौ-सं०पु० [सं० आस्फार] १ अजीर्ण या वायु से पेट फूलना, आफरा आना।

आफळणौ, आफळबौ-क्रि०स०अ० [सं० आस्फारण] १ परिश्रम करना. २ यत्न करना. ३ हैरान या तंग होना। उ०—असि पायगा रह्या आफळता मद-भर खळहळता मैमंत।—प्रियीराज राठौड़
४ तड़फना। उ०—तन अखत रोड डोलै तिकै उर अंतर सूं आफळै।
—ऊ.का.

५ टक्कर लेना, भिड़ना, लड़ना। उ०—१ मघाउत कज्जि रतन मुगत्ति, प्रियि कजि आफलिया असपत्ति।—वचनिका
उ०—२ नह सादुळौ नींमजै, जुव जिण तिण सूं औ वाहरुआं आफळै, कुंजर हलकां काय।—वां.दा.

आफळणहार, हारौ (हारी)—परिश्रम या यत्न करने वाला, टक्कर लेने या भिड़ने वाला।

आफळिओड़ौ, आफळियोड़ौ, आफळयोड़ौ—भू०का०कृ०।

आफाळणौ, आफाळबौ-क्रि०स०।

आफाळीजणौ, आफाळीजबौ-क्रि० भाव वा०।

आफळियोड़ौ-भू०का०कृ०—१ परिश्रम किया हुआ. २ तंग, हैरान. ३ टक्कर लिया हुआ, भिड़ा हुआ (स्त्री० आफळियोड़ी)

आफाळणौ, आफाळबौ-क्रि०स०—१ अधिक परिश्रम कराना.
२ भिड़ाना, दो पदार्थों की परस्पर टक्कर या आघात कराना.
३ तेज गति से घोड़ा चलाना। उ०—तुरी आफाळतौ पेख अरवद तणी, मारवौ राव साराहियौ पदमणी।—द.दा.

आफाळणहार, हारौ (हारी), आफाळणियौ-वि०—अधिक परिश्रम कराने वाला, भिड़ाने वाला।

आफाळिओड़ौ, आफाळियोड़ौ, आफाळयोड़ौ—अधिक परिश्रम कराया हुआ, भिड़ाया हुआ।

आफाळीजणौ, आफाळीजबौ-क्रि०भा०।

आफाळियोड़ौ-भू०का०कृ०—अधिक परिश्रम कराया हुआ, भिड़ाया हुआ। (स्त्री० आफाळियोड़ी)

आफाळीजणौ, आफाळीजबौ-क्रि०भा०—अधिक परिश्रम कराया जाना, भिड़ाया जाना।

आफाळीजियोड़ौ—भिड़ाया गया हुआ, टकराया गया हुआ। (स्त्री० आफाळीजियोड़ी)

आफू-सं०पु०—अफीम। उ०—पातर हूंता प्रीत कर, आफूडळां अरोग। आखर पछताया अठै, लांगत दे दे लोग।—वां.दा.

आफूआफे, आफेई, आफै-सर्व०—१ स्वयं, खुद. २ अपने आप, स्वतः उ०—१ हमें तोनूं नहीं कहस्यां। आफे अरज करस्यां।
—राठौड़ अमरसिंह री वात

२ एक वीर स्त्री आपरा पती री वीरपणौ देख सत्रु ऊपर आवण री मती करै पण पग पाछा पड़ै है, छाती धड़कै है, चकै आवतां काळी पीळी दीसै छै। सांम्हां आवतौ कोई सुणै है तौ आंखियां भय री मारी आफई मींचीज जावै।—वी.स.टी.

आफ्रीवाद—देखो 'आफरीवाद'।

आबंद-सं०स्त्री०—आय, आमदनी।
कहा०—असी री आवंद, चौरासी री खरच—अस्सी की आमदनी चौरासी का खर्च। आमदनी से अधिक खर्च नहीं होना चाहिये।

आब-सं०पु०—१ आकाश. २ पानी, जल। उ०—'नींवै' तळौ निकाळयौ नेड़ौ, जिण री आब नांम रै जैड़ौ।—ऊ.का.
सं०स्त्री० [फा०] ३ चमक, आभा, कांति। उ०—ऊजळ जस मोती सौ म्हारौ इणरी आब उतार मती।—गी.रां.
४ शोभा, रौनक। उ०—करिय मीर भ्रकुटी कुटील, बोलै येह जुवाब। किय रजपूत हि रज्ज विन, किय नवाब विन आब—ला.रा.
५ प्रतिष्ठा, उत्कर्ष। उ०—१ कर घटाटोप चढ़ियौ किलम यूं कथ राखण आब री।—वखतौ खिड़ियौ
उ०—२ बूंदी रा फरमांण विच इम लिखियौ आदाव। भूप 'सता' थारै भुजां, अब म्हारै घर आब।—वं.भा.

कहा०—आब आब कर मर गया सिरहांणै रख्या पांणी—आब-आब करते हुए मर गये यद्यपि पानी सिरहाने के पास ही रक्खा था क्योंकि आस-पास के लोगों में 'आब' शब्द का अर्थ समझने वाला कोई न था और मियांजी 'पानी' कहना बुरा समझते थे क्योंकि वे फारसी पढ़े-लिखे थे। फारसी बोलने वालों पर व्यंग्य, जो घर में भी बाहरी भाषा का प्रयोग करते हैं (जैसे आजकल के शिक्षित) उनके लिए।

आबकार-सं०पु० [फा०] शराब बनाने या बेचने वाला, कलाल।

आबकारी-सं०स्त्री० [फा०] १ जहाँ शराब चुआई या बेची जाती है, शराबखाना. २ मादक वस्तुओं से सम्बन्ध रखने वाला महकमा।

आवखणौ, आवखबौ-क्रि०अ०—१ परिश्रम करना. २ युद्ध करना, टक्कर लेना (मि० आफळणौ)
आवखणहार, हारौ (हारी), आवखणियौ-वि०—परिश्रम करने वाला, टक्कर लेने वाला।
आवखाईजणौ, आवखाईजबौ-क्रि०भा०—परिश्रम अथवा युद्ध किया जाना।
आवखाईजियोड़ौ—भू०का०कृ०—परिश्रम किया गया हुआ।
आवखाणौ, आवखाबौ, आवखावणौ, आवखाववौ—क्रि०स०।

आवखाणौ, आवखाबौ, आवखावणौ, आवखाववौ-क्रि०स०—१ परिश्रम कराना. २ युद्ध कराना।

आवखियोड़ौ-भू०का०कृ०—१ परिश्रम किया हुआ. २ युद्ध किया हुआ। (स्त्री० आवखियोड़ी)

रायनगर आपणइ। वीजा छइ जै रांणा राय, आपापणे आवासै जाइ।—कां.दे.प्र.

आपावळी–वि०—वलवान, शक्तिशाली।

आपायत, आपायतौ–वि० [सं० आप्यायित] वलवान, शक्तिशाली, साहसी, जवरदस्त। उ०—१ नोपती करै उमंगां घरै नायता, आज किण सिर कमर कसै **आपायता**।—महादांन महड़ू

उ०—२ भड़ सिरे अतवाळ भड़थाट आंणियां भमर। चढ़े **आपायता** सीस ढुळतां चमर।—अज्ञात

आपाळणौ, आपाळवौ–क्रि०स०अ०—१ टकराना. २ परिश्रम करना। उ०—तठा उपरांति करि नै राजांन सिलामति हमैं राजांन कांमरा भूखिया, लांघणिया सीह ज्यौं **आपाळि** नै रहिया छै।
—रा.सा.सं.

आपित–सं०स्त्री० [सं० अप्पित] अग्नि, आग। (मि० अपत नं० २)

आपियोड़ौ—भू०का०कृ०—अर्पण किया हुआ, अर्पित। (स्त्री० आपियोड़ी)

आपीजणौ, आपीजवौ–क्रि०स०—अर्पण किया जाना।

आपीजियोड़ौ–भू०का०कृ०—अर्पण किया हुआ। (स्त्री० आपीजियोड़ी)

आपुपा–वि०स्त्री०—अपनेआप समस्त कार्य करने वाली अथवा कराने वाली। उ०—वकळा सकळा व्रजा, उपावण आप **आपुपा**।—देवि०

आपूआप, आपे, आपेज, आपैं–सर्व०—अपनेआप, स्वतः।

उ०—१ मढ़ में **आपूंआप** विराजौ, भळहळ ऊगौ भांण।
—भाखा राघवदास

२ जांणियौ कटारी सवळी लागी छै, **आपे** हेठौ पड़सी।
—नैणसी

३ नहीं तौ माय नहीं तौ वाप, **आपेज आपे** ज उपन्नौ आप।
—ह.र.

आपैटणकौ–वि०—१ वीर, योद्धा. २ साहसी। (स्त्री० आपेटणकी)

आपो-आप–सर्व०—अपनेआप, स्वतः। उ०—अछै हरि तूं हीज **आपो-आप**, वूंभा हिव तूझ वियां नहि वाप।—ह.र.

आपोक्लिम–सं०पु० [यू० एपोक्लिमा] जन्मकुंडली के अंतर्गत तीसरा, छठा, नवां और वाहरवां स्थान।

आपोपरि–क्रि०वि०—परस्पर, आपस में। उ०—गमै गमै दीसइ अजूयाळां, म्लेछै छांडी छाक। **आपोपरि** असमुहीया ऊठइ, कटकि पड़ीउ वळकाक।—कां.दे.प्र.

आपोपै–सर्व०—अपनेआप। उ०—**आपोपै** हूंता सो तूं आप, विसंभर भूत-सरव्व वियाप।—ह.र.

आपौ–सं०पु०—१ स्वत्व। उ०—न जावै तिहारी वातां जुगां-जुग याद करै, **आपौ** विजा 'कांन' धारी जांणियौ जहांन।
—गीत रावत जोधसिह री

२ अपनापन, अपनी सत्ता। उ०—खोयौ आसुरी धरम **आपौ** विगोयौ तैं मीरखांन।—नवलजी लाळस. ३ आत्मा।

उ०—सांई हंदी सिर रजा चित सांई सरणा घू धरणा निरखणा **आपा** उघरणा।—केसोदास गाडण ४ ब्रह्म। उ०—**आपा** मझ देवता आपौ पूजारी।—केसोदास गाडण.

५ भरोसा, विश्वास. ६ घमंड, गर्व. ७ जोश। उ०—आठ दिसां तापौ अंगरेजौ हीमत छापौ खळां हणां, वापौ आज सांभियौ वीजा, तैं **आपौ** राइयां तणां!—गोपाळजी दधवाड़ियौ

८ होश-हवास। उ०—अवै छोरै **आपौ** सांभ लियौ है!

९ शक्ति, वल। उ०—इसै चोट्ट लोह सूं ढह पड़ियौ, **आपौ** नांख दियौ, ऊठ खड़ौ रहि।—पदमसिहजी री वात. १० अवतार।

उ०—अवधेस्वर श्री रामचंद्र **आपौ** ईस्वर का।—दुरगादत्त वारहठ

आप्त–वि० [सं०] १ वड़ा। उ०—परिब्रह्म पूरण तत मग्न तूरण, परमात्म प्राप्त, वह पुरुष **आप्त**।—ऊ.का. २ प्राप्त. ३ कुशल, दक्ष. ४ किसी विषय को ठीक तरह से जानने वाला. ५ विश्वस्त। सं०पु०—ऋषि।

आफत–सं०स्त्री० [अ०] १ आपत्ति, विपत्ति, मुसीवत। उ०—**आफत** मोटी नै खोटी पुळ आई। रोटी रोटी नै रैय्यत रोवाई।—ऊ.का.

२ दुःख, कष्ट।

आफताव–सं०पु० [फा०] सूर्य्य। उ०—हाजरचा नै जांन झोका, **आफताव** नै विमांन रोका। निमक की सरीती पै सिर दिया, हूर कै विमांन वैठि आसमांन कौ गया।—ला.रा.

आफतावी–सं०पु० [फा० आफताव] सूर्य्य।

वि०—सूर्य सम्वन्धी।

आफरणौ, आफरवौ–क्रि०अ० [सं० आस्फार=आध्मान] वायु से पेट फूलना, आफरा आना।

कहा०—अनोखै हाथ कटोरा आया पांणी पी पी आफरिया—अनोखे व्यक्ति को कहीं से कटोरा मिल गया तो वस लगा उससे पानी पर पानी पीने और पीते पीते पेट फूल गया। मूर्ख अथवा तुच्छ व्यक्ति के लिए जो कोई नई चीज मिलने पर, साधारण वस्तु अथवा अधिकार प्राप्ति पर इतराने लगता है।

आफरणहार, हारौ (हारी), आफरणियौ—जिसका वायु से पेट फूलता हो।

आफरिओड़ौ, आफरियोड़ौ, आफरचोड़ौ–भू०का०कृ०—वायु से पेट फूला हुआ।

आफरीजणौ, आफरीजवौ—आफरा आ जाना।

आफरियोड़ौ–भू०का०कृ०—वायु से पेट फूला हुआ, आफरा आया हुआ। (स्त्री० आफरियोड़ी)

आफरीजणौ, आफरीजवौ–क्रि०अ०—वायु से पेट फूल जाना, आफरा आ जाना।

आफरीजिओड़ौ, आफरीजियोड़ौ, आफरीज्योड़ौ–भू०का०कृ०—आफरा आया हुआ। (स्त्री० आफरीजियोड़ी)

आभड़ाणी, आभड़ाबो, आभड़ावणी, आभड़ावबो—क्रि०म०।

आभड़िओड़ी, आभड़ियोड़ो, आभड़योड़ो—भू०का०कृ०।

आभड़ाणी, आभड़ाबो—क्रि०स०—१ स्पर्श कराना. २ लिपटाना. ३ भिड़ाना। (आभड़ावणी—रू०भे०)

आभड़ायोड़ो—भू०का०कृ०—१ स्पर्श कराया हुआ. २ भिड़ाया हुआ. ३ लिपटाया हुआ। (स्त्री० आभड़ायोड़ी)

आभड़ावणी, आभड़ावबो—देखो 'आभड़ाणी'।

आभड़ियोड़ो—भू०का०कृ०—१ स्पर्श किया हुआ. २ लिपटा हुआ. ३ भिड़ा हुआ। (स्त्री० आभड़ियोड़ी)

आभमंडळ—सं०पु० [सं० अभ्र=आकाश+मंडल] आकाश मंडल।

आभय—सं०पु०—१ बादल, मेघ। उ०—बीजुळियां चहळावहळि, आभय आभय कोडि। कद रै मिळउँली सज्जणां, कस कंचुकी छोडि।—ढो.मा. २ आकाश, आसमान।

आभरण, आभरणो—सं०पु० [सं०] १ गहना, आभूषण। उ०—अंतर नीलवर अवळ आभरण, अगि अंगि नग नग उदित।—वेलि.

आभा—सं०स्त्री० [सं०] चमक-दमक, कांति, दीप्ति, झलक, छाया, शोभा, ज्योति, प्रकाश। उ०—१ जमना जा गंग मिळी, गंग जा मिळी समंदां। आभा भरिया इंद, साख पूरी रव चंदां।

—महारांणा जयसिंह री गीत

उ०—२ आभा कहतां सोभा सु तो महल मांहे, अनेक अनेक रंग का चितरांम छै।—वेलि. टी.। उ०—३ अउं नमसते चंडका चंद्र भाळ री नवीन आभा।—नवलजी लाळस। उ०—४ आभा आंगण री अन मांगण नै आई।—ऊ.का.

आभानरां—सं०स्त्री०—तलवार (अ.मा.)

आभार—सं०पु०—एहसान, उपकार।

आभारी—वि० [सं० आभारिन्] एहसान मानने वाला, उपकार मानने वाला।

आभास—सं०पु०—१ चमक-दमक, कांति, लावण्य। उ०—वणै चारु आभास वदनारविंद, उरै ऊपजै वेस रेखा अणंद।—रा.रू. २ प्रतिबिंब, छाया, झलक। उ०—जिकण समय कुमार री प्रताप अरक रै आभास ऊगो।—वं.भा. ३ पता, संकेत, वह ज्ञान जिसमें सत्य की कुछ झलक मात्र हो। उ०—हुवौ 'पाल' आभास जंगी हिया में। पड़यौ जूंझ आंटै भुजंगी प्रिया में।—पा.प्र.

आभि—सं०पु०—आकाश। उ०—असमांनि जइत उठियउ असम्भ, विड़तइ संसारि दे आभि थंभ।—रा.ज.सी.

आभीर—सं०पु० [सं०] १ अहीर, ग्वाला. २ एक प्रकार का राग. ३ एक देश विशेष. ४ एक छंद विशेष जिसके प्रत्येक चरण में ११ मात्राएँ और अंत में जगण गण का तृतीय भेद होता है।

(र.ज.प्र.)

आभीरनट—सं०पु० [सं०] नट और आभीर से मिल कर बनने वाला एक संकर राग।

आभीरी—सं०स्त्री० [सं०] ईस्वी दूसरी या तीसरी शताब्दी में उत्तर-पश्चिम में प्रचलित भारत की प्राचीन भाषा।

आभील—सं०पु० [सं०] दुःख, क्लेश, कष्ट।

आभीसेख—सं०पु० [सं० अभिषेक] अभिषेक, तिलक। देखो 'अभिसेख'

आभुकण—सं०पु० [सं० आभूषण] देखो 'आभूखण'।

आभूखण—सं०पु० [सं० आभूषण] १ गहना, आभूषण, जेवर—ये मुख्यतः १२ माने जाते हैं—नूपुर, किंकणी, चूड़ी, अँगूठी, कंकण, विजायठ, हार. कंठश्री, वेसर, विरिया, टीका, सीसफूल (अ.मा.)

पर्याय०—आभरण, गहणो, जेवर, तावातीवौ, भूखण, सूत।

२ डिंगल के वेलिया सांणोर छंद का एक भेद विशेष जिसके प्रथम द्वाले मे ४६ लघु ९ गुरु कुल ६४ मात्रायें हों, अन्य द्वालों मे ४६ लघु ८ गुरु कुल ६२ मात्रायें हों। (पि.प्र.)

आभूखत—वि० [सं० आभूषित] अलंकृत, सजा हुआ, सुसज्जित, सँवारा हुआ। उ०—आभूखत तन आभरण, जकै आवता भूल।—पा प्र.

आभूसण—सं०पु०—देखो 'आभूखण' (१)

आभौ—सं०पु० [सं० अभ्र] आकाश, आसमांन। उ०—१ गोडै थळ गोडा पहुवी पोढणनै। गाभौ गळती निस आभौ ओढ़णनै।—ऊ.का. उ०—२ आभौ रातौ मेह मातौ। आभौ पीळौ मेह सीळौ।

कहा०—१ आभै पटकी'र जमी झाली—आकाश ने गिरायी और जमीन ने झेली; बहुत ही निर्धन और दुर्दशाग्रस्त व्यक्ति के लिए जिसको कोई नही पूछता. २ आभै सूं पड्या'र धरती झाल्या कोनी—आकाश से गिरे और धरती ने झेला नहीं; घोर संकट में पड़ना. ३ आभौ इतौ-सोक दीसै—आकाश इतना सा (बहुत छोटा) दिखाई देता है. ४ आभौ टोपसी-सी निजर आवै—आकाश नरेटी (नारियल के ऊपर के कठोर छिलके) जितना दिखाई पड़ता है. ५ आभौ रातौ मेह मातौ—आकाश लाल होगा तो मेह खूब होगा. ६ आभै री परी ज्यूं दीसणौ—आकाश की परी के समान मालूम पड़ना; बहुत सुन्दर मालूम पड़ना।

आभोग—सं०पु० [सं०] १ किसी वस्तु को लक्षित करने वाली सब बातों की विद्यमानता, पूर्ण लक्षण। उ०—मोनूं अब मारियां मिळै उचित सुजस आभोग।—वं.भा. २ किसी पद्य के बीच में कवि के नाम का उल्लेख. ३ भोगने की क्रिया या भाव। उ०—आभोग ऊरध मग जगत सूरध। साधन समग्र अखिलेस अग्र।—ऊ.का.

४ ध्रुपद गीत का चौथा भाग, इसमें वागेयकार का नाम होता है।

आमंक—सं०पु० [सं० आमिष] मांस।

आमंकचर—सं०पु०—मांसाहारी। उ०—चढ़ी गैणाक अणपार आमंकचर

—विसनदास बारहठ

आमंख—सं०पु० [सं० आमिष] मांस। उ०—आमंख डळा अमै कुण आपै। खेचर वृथा भमै चहुं खूंट।—सांगा री गीत

आमंखचर, आमंखभखण, आमंखी, आमंखीआहार—वि०—मांसाहारी।

आमंत्रण—सं०पु०—बुलाना, आव्हान, निमंत्रण।

आबखोरौ–सं०पु० [फा०] पानी पीने का पात्र ।

आबदस्त–सं०पु० [फा०] मल त्याग के बाद गुदा को जल से साफ करने की क्रिया ।

आबदार–वि० [फा०] चमकीला, कांतिमान, द्युतिमान ।

सं०पु०—पुरानी तोपों में सुंवा और पानी का पुचारा देने वाला आदमी ।

आबदारखानौ–सं०पु० [फा० आब+खानो] पीने के जल का स्थान ।

आबनूस–सं०पु० [फा०] प्राय: जंगलों में होने वाला एक प्रकार का पेड़ । बहुत पुराना होने पर इसकी लकड़ी का हीर बहुत काला हो जाता है ।

आबनूसी–वि० [फा०] १ आबनूस के समान काला. २ आबनूस की लकड़ी का ।

आबपासी–सं०स्त्री [फा० आबपाशी] सिंचाई ।

आबरी– वि०—प्रतिष्ठित, मानवाला ।

आबरू–सं०उ०ली० [फा०] इज्जत, मान, बड़ाई, प्रतिष्ठा ।

उ०—**आबरू** थावतौ वठै, पीवणौ सही छौ आक, जीवणौ नहीं छौ, घणी जावतां 'जसूंत' ।—दलजो महड़ू

क्रि०प्र०—उतरणौ-राखणौ-होणौ ।

(यौ०—आबरूदार) (वि० बेआबरू)

मुहा०—१ आबरू उतरणी—अप्रतिष्ठा होनी. २ आबरू उतारणी, अप्रतिष्ठा करनी, बेइज्जत कर देना. ३ आबरू खाक (धूल) में मिळणी—अपनी या दूसरे की इज्जत खराब होना. ४ आबरू मांथै पांणी फिरणौ—इज्जत खराब होना, प्रतिष्ठा में धक्का लगना. ५ आबरू मिट जाणी—इज्जत बरबाद हो जाना. ६ आबरू में फरक आणौ—इज्जत में धब्बा आना, प्रतिष्ठा में दाग लगना. ७ आबरू में बट्टौ लागणौ, लागबौ—प्रतिष्ठा में दाग लगना. ८ आबरू रैं'णी—इज्जत रहना ।

कहा०—आबरू उड़ियोड़ी मोती वाळी आब है—इज्जत उतरणी एवं मोती का पानी उतरना एक ही बात है । कांतिहीन होने पर मोती किसी काम का नहीं, इसी प्रकार अप्रितिष्ठित मनुष्य का कहीं आदर नहीं होता । एक बार अप्रतिष्ठा होने पर वापस इज्जत जमानी बड़ी कठिन होती है ।

आबरूदार–वि०—इज्जत वाला, जिसकी प्रतिष्ठा हो, प्रतिष्ठित ।

आबळ–सं०स्त्री० [सं० बल] शक्ति, बल, सामर्थ्य ।

आबळबायरौ–वि० [आबळ+रा० बायरौ=हीन] अशक्त, कमजोर.

आबवेचा–सं०पु०—१ चौहान क्षत्रिय. २ आबू का निवासी ।

आबहवा–सं०स्त्री० [फा०] सरदी, गर्मी स्वास्थ्य आदि के विचार से किसी देश की प्राकृतिक दशा, स्थिति या जलवायु ।

मुहा०—आबहवा बिगड़णौ—जलवायु या वातावरण दूषित होना ।

आबाद–वि० [फा०] १ बसा हुआ. २ प्रसन्न, कुशल-पूर्वक. ३ उपजाऊ, जोतने व बोने योग्य ।

आबादी–सं०स्त्री० [फा०] १ बस्ती, जन-स्थान. २ जन-संख्या. ३ खेती की भूमि ।

आबी–वि० [फा०] १ पीने का पानी संबंधी. २ हल्के रंग का, फीका. ३ पानी के रंग का, हल्का नीला या आसमानी ।

सं०स्त्री०—१ चमक-दमक. २ तलवार का पानी ।

आबू–सं०पु०—१ राजस्थान के पश्चिम में स्थित अरावली पहाड़ पर बसा एक नगर. २ अरावली पहाड़ का एक हिस्सा ।

आबूऔ–वि०—आबू का, आबू संबंधी ।

सं०पु०—१ आबू का अधिपति. २ देवड़ा चौहान ।

आबूड़ौ–सं०पु०—देखो 'आबू' । उ०—राव पीथल वाळौ गिर रूड़ौ **आबूड़ौ** लागै असमांन ।—आबू री गीत

आबूव–सं०पु० [सं० अर्बुद] १ आबू पहाड़. २ आबू पहाड़ के निवासी ।

आबेरणौ, आबेरबौ—देखो 'अबेरणौ' ।

आबौ–सं०पु० [सं० आभ] १ आकाश, आसमान. २ आना

क्रि०अ०—आना ।

आबौजाबौ–सं०पु०—आना-जाना ।

आभ–सं०स्त्री० [सं० आभा] १ शोभा, कांति, पानी, छवि ।

उ०—काळी कांणी कोभी कांमण, अपणी परणी आछी । अवछर **आभ** अवर अरधंगा, पदमण धरियै पाछी ।—ऊ.का.

[फा० आब] २ पानी (डि.को.)

सं०पु० [सं० अभ्र] ३ आकाश । (मि० आभौ) उ०—नांम गोविंद थयौ नमौ नंदराय नंद. अमंद जस गोरधन **आभ** अड़ियौ ।—वां.दा.

आभइयौ–सं०पु० [सं० अभ्र] आकाश, आसमान । उ०—गीरंगांण मेरा मीठा, **आभइयौ** घरराइयौ । अब घर आज्यौ वीर म्हांरा, मेह खेतड़ा आइयौ ।—लो.गी.

आभड़–सं०स्त्री०—अछूत के स्पर्श से लगने वाला कथित दोष, अशौच ।

आभड़चेट, आभड़छेट, आभड़छोत–सं०स्त्री०—देखो 'आभड़' ।

उ०—सवियांण कल्यांण तणौ व्रत सीधौ, अगै भेटिया असत अग्यांन, आज सह **आभड़छोत** उतरियौ, स्रोण गंगोदक हुऔ सनांन ।
—दूदौ आसियौ

आभड़णौ, आभड़बौ–क्रि०स०—१ छूना, स्पर्श करना । उ०—चंपौ चीतोड़ाह, पोरस तणौ प्रतापसी । सोरभ अकबर साह, अलियळ **आभड़ियौ** नहीं ।—सूरायच टापर्यौ. २ अशौच लगना ।

उ०—सर नांमियौ गंगाजळ स्रोणी, सत सीधौ कलियांण सकाज । असती पोहां तणौ **आभड़ियौ**, अनड़ प्रवीत हुऔ तण आज ।
—दूदौ आसियौ

३ लिपटना । उ०—मन संतोष प्रकासवै, वन स्रीखंड विकास । आळस उरग न **आभड़ै**, तौ की कहणौ तास ।—वां.दा. ४ भिड़ना टक्कर लेना । उ०—असहींस **आभड़ै** करण पटां, सोही संगीत सांचौ देश प्रेम चौ ।—दुरगादास

आभड़णहार, हारौ (हारी), आभड़णियौ–वि०—स्पर्श करने या भिड़ने वाला ।

आरंभ—सं०पु० [सं०] १ किसी कार्य की प्रथमावस्था का संपादन, शुरू, श्रीगणेश, प्रारम्भ। उ०—एकंत उचित क्रीड़ा चौ आरंभ दीठौ सु न किहि देव दुजि।—वेलि. २ बड़ा कार्य. ३ उपद्रव, युद्ध। उ०—दुरग तणौ सार्थ दुभल, करनहरा कुळ थंभ। कचरावत विजपाल सा, आदरियौ आरंभ।—रा.रू.
४ जलसा. ५ तैयारी। उ०—आज किण सीस आरंभ इसा।
—महादान महडू
६ वैभव। उ०—दया जहां आरंभ नहीं, आरंभ दया न होय।
—ह.पु.वा.

आरंभणौ, आरंभवौ—क्रि०स०—१ आरम्भ करना, शुरू करना। उ०—रुखमणीजी स्रंगार आरंभिया।—वेलि. टी.
२ युद्ध करना, चढ़ाई करना। उ०—अनिगढ़ां विखम भ्रम ऊपजै, खळ त्यां उद्यम खंभियौ। 'गजसाह' वियौ गुज्जर सिरै, 'अमैसाह' आरंभियौ। —रा.रू.
आरंभणहार, हारौ (हारी), आरंभणियौ—वि०—आरम्भ करने वाला, युद्ध करने वाला।
आरंभिओड़ौ, आरंभियोड़ौ, आरंभ्योड़ौ—भू०का०कृ०।

आरंभरांम—सं०पु०—वह व्यक्ति जो श्रीराम के समान ही कार्य आरम्भ करके समाप्त कर सकने की क्षमता रखता हो। उ०—दिल्लीस्वर ईस्वर छै अै आरंभरांम छै, करण मतै करै।—नैणसी

आरंभियोड़ौ—भू०का०कृ०—आरम्भ किया हुआ. २ युद्ध किया हुआ। (स्त्री० आरंभियोड़ी)

आर—सं०पु०—१ बिना साफ किया हुआ एक प्रकार का निकृष्ट लोहा. २ किनारा, कोना [सं० अर] ३ पहिए का आरा. ४ कांटा, पैना अंकुश. ५ हरताल. ६ शनि. ७ तांबा. ८ पीतल. ९ बैल के हांकने के डंडे के नीचे लगा कीला। उ०—बूंणौ सिर. पकड़ै वरा, असह सहै जे आर। बौहळियां विरदावियां, गरज सरै नह तार।
—बां दा.
[सं० अल=डंक] १० बिच्छू, भिड़ या मधुमक्खी का डंक।
[सं०] ११ मंगल ग्रह। उ०—उदैहाट की बंगड़ा दंत ईसा, सुहावै नियां आर राका ससी सा।—वं.भा.
[सं० आरी] १२ चमड़ा छेदने का सुआ या टेकुआ. [रा०] १३ जिद, टेक, हठ।

आरक, आरका—वि०—समान, बराबर, सदृश।

आरकगिरी—सं०पु०—सुमेरु पर्वत (ह.नां.मा.)

आरकूट—सं०पु० [सं०] पीतल।

आरक्ख—सं०पु०—१ चिन्ह, निशान (मि० आरख) २ परीक्षा, जांच।

आरक्तता—सं०स्त्री० [सं०] लालिमा। उ०—इसी मुख्रि विखै आरक्तता दीसइ छै।—वेलि.टी.

आरक्षक—सं०पु० [सं०] कुंभ के नीचे का भाग।

आरख, आरखइ—वि०—समान, तुल्य। उ० —सूज सिंघ सही सुज सिंघ सत एह न आरख आवरां। काय बात न मांनै पर किणी क्रग्ग दीध जळती करां।—मालौ आसियौ
सं०स्त्री०—१ हालत, अवस्था। उ०—इस आरखइ मारुवी, सूती सेज बिछाइ। साल्हकुंवर सुपनहुं मिळिउ, जागि निसासउ खाइ।
—ढो.मा.
[सं० आलक्ष] २ चिन्ह, निशान। उ०—सु प्रतखि महादेव का मुख का आरख कहतां चिहन।—वेलि. टी. ३ गुण। उ०—पारख स्री रांण करै अत प्रभता, अंग आरख दरसाय।
—साहपुरै अमरसिंह री गीत
४ जोश. ५ शक्ति, बल। उ०—समराटां उछळ अड़तौ मौदा, तू विमुहा खड़तौ रणताळ। गाढ़ां आरख भड़ां गई छी, पारख तो सात में पयाळ।—महाराजा बहादुरसिंह कृत। ६ परीक्षा. ७ प्रभाव।

आरखौ—वि०—समान, सदृश। उ०—इळा इण सीह रा चीठला आरखौ, बूढ़ला सारखौ नकौ वीजौ।—फतेसिंह बारहठ

आरगत्त—वि० [सं० आरक्त] लाल, आरक्त। उ०—आंवळइ मूंछ चख आरगत्त, सुरितांण जइत विढ़िस्यइ संप्रत्त।—रा ज.सी.

आरड़णौ, आरड़वौ—क्रि०अ०—चिल्लाना। १ कराहना. २ ऊंट का दर्दभरी आवाज करना। उ०—ते देखी करहउ आरड़इ, रंत्रि जांणि दुखियौ नर रड़इ।—ढो मा. ३ धंसना।
आरड़णहार, हारौ (हारी), आरड़णियौ—चिल्लाने या कराहने वाला, धंसने वाला।
आरड़िओड़ौ, आरड़ियोड़ौ, आरड़्योड़ौ—भू०का०कृ०—चिल्लाया या कराहा हुआ, धंसा हुआ।
आरड़ीजणौ—क्रि०—भाव वा०।

आरड़ियोड़ौ—भू०का०कृ०—१ चिल्लाया हुआ. २ कराहा हुआ. ३ दर्दभरी आवाज किया हुआ (ऊंट) ४ धंसा हुआ।
(स्त्री० आरड़ियोड़ी)

आरज—सं०पु० [सं० आर्य] १ श्रेष्ठ पुरुष, सत्कुलोत्पन्न. २ सबसे प्रथम सभ्यता प्राप्त कर प्रचलित करने वाली एक मानव जाति।
३ हिन्दू। उ०—लोपै हींदू लाज सगपण रोपै तुरक सूं। आरजकुळ री आज, पूंजी रांण प्रतापसी।—दुरसौ आढ़ौ
वि०—१ श्रेष्ठ, उत्तम. २ बड़ा. ३ श्रेष्ठ कुल में उत्पन्न।

आरजधरम—सं०पु० [सं० आर्य+धर्म] आर्यधर्म, हिन्दूधर्म।

आरजभोम—सं०स्त्री० [सं० आर्यभूमि] आर्यभूमि, भारतवर्ष।

आरजवंस—सं०पु० [सं० आर्यवंश] आर्य, आर्यवंश।

आरजवरत—सं०पु० [सं० आर्यावर्त] उत्तरी भारत का प्राचीन नाम जो आर्यों का निवास-स्थान माना जाता है।

आरजवरती—वि० [सं० आर्यावर्ती] आर्यावर्त में रहने वाला।

आरजियांजी—सं०स्त्री० [सं० आर्या] साध्वी (जैन)

आमांजीरण–सं०पु० [सं० आमाजीर्ण] एक प्रकार का अजीर्ण रोग (अमरत)

आमूभणौ, आमूभबौ–क्रि०अ०—देखो 'अमूभणौ'। उ०—जुदा हुअै जिद जीव, श्रिग खग आमूभे मरै।—वचनिका

आम्हो-साम्हो–क्रि०वि०—आमने-सामने।

आयंदा–क्रि०वि०—देखो 'आइंदा'।

आय–सं०स्त्री० [सं०] १ आमदनी, प्राप्ति. २ लाभ. [सं० आयु] ३ आयु, उम्र (र.ज.प्र.)

कहा०—आय लारै उपाय है—मृत्यु की कोई औषधि नहीं है।

आयटण–सं०पु०—देखो 'आईठांण'

आयण–वि० [सं० अज्ञान] मूर्ख, अज्ञानी।

आयणौ–वि० [स्त्री० आयणी] आने वाला। उ०—पळासै डायणी हाक डाक दे वायणी पासै, आयणी ग्रीधां'रा गूद गळासे अयास। —महादांन महड़ू

आयत–वि० [सं०] १ विस्तृत, लंबा-चौड़ा, विशाल। उ०—अवदुल्ला उर मंडळ आयत, वणी मिळण कज सांज विछायत।—रा.रू. २ लंबा, देखो 'आयति'। ३ छोटा, जिसकी सीमा हो। उ०—आयत इळा अनळपुड़ आयत, समंद आयतां वळे ज सात। —महारांणा लाखा री गीत

४ रुद्ध या मोड़ना 'देखो 'आयत्त'।

सं०पु० [सं०] १ समानान्तर, चतुर्भुज क्षेत्र जिसका एक कोण समकोण हो और लम्बाई चौड़ाई की अपेक्षा अधिक हो (रेखा गणित) [अ०] २ इंजील या कुरान का वाक्य. ३ घेरना, आवेष्टित करना (मि० आयत्त)

प्रत्यय०—शब्दों के पीछे लगने वाला प्रत्यय जैसे वंटायत, पंचायत आदि।

आयति–वि०—लंबा—देखो 'आयत'। उ०—भुज है अति आयति अमल भाळ, सुख विवध लखणं पट्टिय विसाळ।—रा.रू.

आयत्त–सं०पु० [सं० आयत] रुद्ध, मोड़ना। उ०—अरि नूं आयत्त करि समीप लीधौ।—वं.भा.

आयदा–सं०पु०—धनुष (अ.मा.)

आयवळ–सं०पु०—आयुवल।

आयवौ–सं०पु०—एक प्रकार का घास विशेष। उ०—सू किण भांत रा वकरा छै, रातड़िये रिण रा...आयवै रा चरणहार।—रा.सा.सं.

आयल–सं०पु०—१ वह पुंश्चली स्त्री जो किसी के साथ चली जाय। उ०—आयल रा वाजै अपत, कुळ कायल रा कंस। तन घायल रा नह तनूं, विगड़ायळ रा वंस।—ऊ.का. २ एक प्रकार का मरुभाषा का लोक गीत।

सं०स्त्री० [सं० आर्या] ३ आवड़ देवी का एक नाम, करणी देवी का एक नाम। उ०—आयल आप उवारसी, मिळियौ औ मोसर। —ठाकुर जुंभारसिंह मेड़तियौ

आयव–सं०पु०—शब्द, ध्वनि (ह.ना.)

आयवात–सं०पु०—एक प्रकार का रोग विशेष (अमरत)

आयस–सं०पु० [सं०] १ लोहा. २ लोहे का कवच. ३ नाथ संप्रदाय के संन्यासियों की पदवी, सिद्ध, तपस्वी. ४ जोगियों में नाथ नाम का एक भेद. [सं० आदेश] ५ आज्ञा, हुक्म, आदेश (अ.मा.) उ०—या तें आयस नन्ह का लहि कटक चलाया।—वं.भा.

आयात–सं०पु०—विदेशों से माल आदि मंगाने का कार्य, आगत।

आयास, आयासि–वि०—काळा, श्याम* (डि.को.)

सं०पु०—आकाश, व्योम (डि.को.) उ०—आयासि पंखि पाड़इ अमुल्ल, मांकड़ामुक्ख मुंडा मुग्गल्ल।—रा.ज.सी.

आयी–सं०स्त्री०—देखो 'आई' (१, ३)

आयु–सं०स्त्री० [सं०] १ वय, उम्र. २ जिंदगी, जीवनकाल।

क्रि०प्र०—खूटणी, पावणी, लेणी, होणी।

आयुख–सं०स्त्री० [सं० आयुष] आयु, उम्र (र.ज.प्र.)

आयुत–वि० [सं० आयत] विशाल, दीर्घ। उ०—उरं छिन्न आयुत काट मयंद।—अज्ञात

आयुद्ध, आयुध–सं०पु० [सं० आयुध] १ हथियार, अस्त्र-शस्त्र (अ.मा.) २ पाँच मात्रा का एक नाम (र.ज.प्र.) ३ उपस्थ, लिंग।

आयुधन–सं०पु० [सं० आयोधन] युद्ध, रण (अ.मा.)

आयुधाभ्यास–सं०पु० [सं०] अस्त्र-शस्त्र चलाने का अभ्यास जो वहत्तर कलाओं के अंतर्गत गिना जाता है।

आयुरवेद, आयुरवेद–सं०पु० [सं० आयुर्वेद] १ आयु संबंधी शास्त्र, चिकित्सा शास्त्र, धन्वन्तरि प्रणीत आयुर्विद्या. २ अथर्ववेद का उपवेद।

आयुस–सं०स्त्री०—१ आयु, उम्र। उ०—आयुस री किंही भरोसौ नहीं, तोसूं कमायोड़ी क्यूं गमावां।—डाढ़ाळै सूर री वात

२ आज्ञा, आदेश। उ०—फव्रतौ आयुस श्रीमाधव फुरमायौ। कांतीचंदर नै काळींदर खायौ।—ऊ.का.

आयुस्मांन–सं०पु० [सं० आयुष्मान्] ज्योतिष शास्त्र के २७ योगों में से एक योग (ज्योतिष वालवोध)

वि०—दीर्घजीवी, दीर्घआयु।

आयू–सं०पु० [सं० आयु] देखो 'आयु'।

आयेदिन–क्रि०वि०—नित्यप्रति, हमेशा।

आयोड़ौ–भू०का०कृ०—आया हुआ। (स्त्री० आयोड़ी) देखो 'आणौ'।

आयोधन, आयोधन–सं०पु० [सं० आयोधन] संग्राम, लड़ाई (ह.नां.)

आरंक–वि०—समान, सदृश।

आरंग-पुर–सं०पु० [सं०] मकान का ऊपरी भाग। उ०—गहकै आरंग-पुर सारंग सुर गावै, वांणिक दीठां ई नीठां वण आवै। —ऊ.का.

आरंवराय–सं०स्त्री०—राठौड़ों की कुलदेवी। उ०—जिण काज पाळ रिणराज जाय। आरंवराय कर वेल आय।—पा.प्र.

आरव-सं०पु० [सं० आरव] १ शब्द, आवाज, आहट। उ०—बीज सळाव खिवै वीजू जळ, कांठळ जरदां कळह कळ। जोधावत दीठौ जोड़ाळै, दळ घण आरव तूझ दळ।—चांनण खिड़ियौ
(मि० आरव-१) २ तोप रखने की गाड़ी।
३ तोप। उ०—उडै धोम आरवां आतस, खळ दळ सवळ लूंविया सूर।—आसिया दयारांम री गीत।
४ मुसलमान. ५ देखो 'आराव'।
आरवळ-सं०पु० [सं० आहार+वल] १ शक्ति, बल. [सं० आयुर्वल] २ आयु, उम्र।
वि०—अरब देश का, अरब से संबंधित। उ०—खेड़ैच लसावै असा आरवी तोखार।—चंडीदांन मीसण
आरवी-सं०पु०—१ अरब देश का घोड़ा (उत्तम)—शा.हो.
२ घोड़ा। उ०—अैराकी काठीवाड़ आरवी चेट चिना सुचंग।
—क.कु.वो.
(मि० आरवीय) ३ एक यवन जाति. (रू०भे० आरव्वी)
४ अरबी भाषा. ५ कुरान शरीफ. ६ युद्ध के समय बजाया जाने वाला वाजा। उ०—आरवी वंत्र मादळ उभै, धुवै नाद वादळ धजर। मोनूं वताय वेढ़ीमणा, नाह कठी टेढ़ी नजर।—मे.म.
आरवीय-सं०पु०—अरब देश में उत्पन्न घोड़ा, अरबी घोड़ा।
उ०—ईंगरी मसक्की वंसि दीय, अइराक ततारी आरवीय। खुरसांणी मकुरांणी खतंग, पतिसाह तणा छूटइ पवंग।
—रा.ज.सी.
वि०—अरब का, अरब संबंधी।
आरवौ-सं०पु०—युद्ध के समय बजने वाला बाजा। देखो आरवी नं० ६।
आरव्व-सं०पु०—१ युद्ध, संग्राम। उ०—अड़ाभीड़ रावत्त चेला अवीहा, सिधी त्रव्व आरव्व सौ अव्व सीहा।—रा.रू.
२ देखो 'आरव'।
आरव्वी-सं०स्त्री०—एक यवन जाति या इसका व्यक्ति।
(रू०भे० आरवी) उ०—ईरांनी तूरांनी ऐसे, जवन दुरास प्रळासी जैसे। सू मकरांण हरेवी सिवी, आरव्वी गखड़ै अनमंवी।—रा.रू.
आरमी-सं०स्त्री० [अं० आर्मी] फौज, सेना।
आरयामंडळ-सं०पु [सं० आर्य+मंडल] भारतवर्ष, आर्यावर्त।
आरयामत-सं०पु०—आर्य समाज की विचारधारा। उ०—चाल आयो घणौ-श्री देवण आळो तू तो आरयामत री है।—वरसगांठ
आरय्या-सं०स्त्री० [सं० आर्य्या] एक प्रकार का अर्धमात्रिक छंद विशेष जिनके प्रथम और तृतीय चरण में प्रत्येक में बारह-बारह तथा द्वितीय और चतुर्थ चरण में प्रत्येक में पंद्रह-पंद्रह मात्राएँ होती हैं। चार मात्राओं का गण इस छंद में समूह कहलाते हैं। इसके पहले तीसरे, पांचवें और सातवें गण मे जगण का निषेध है किन्तु छठे गण में जगण होना चाहिए।
आरय्यागीत-सं०स्त्री० [सं० आर्य्यागीति] विषम चरणों में बारह और सम चरणों में वीस मात्राओं का आर्य्या छंद का एक भेद।
आरय्यावरत-सं०पु० [सं० आर्य्यावर्त] उत्तरीय भारत का प्राचीन नाम।
आरव-सं०पु०—१ शब्द, आवाज, आहट. २ करुणाजनक आवाज। उ०—छपने घोरारव आरव रव छायौ, सूरज ससि मंडळ गरब्वित गहणायौ।—ऊ.का. ३ अरबी घोड़ा। उ०—के आरव ऊवरा हेक वजराज हरेवी। आरुहतां उत्तंग अंग जुगि लगै रकेवी।
—रा.रू.
वि०—भयंकर, कष्टजनक (अ.मा.)
आरवा-सं०पु०—१ वढ़िया चावल. २ कच्चे या उवाले चावलों से निकाले हुए चावल।
आरवार-सं०पु० [सं०] भोमवार, मंगलवार।—वं.भा.
आरस-सं०पु० [सं० आर्ष] ऋषिप्रणीत ग्रंथ। उ०—पद पदारथ संवंध पुनि, प्रत्यय आगम लोप। आरस पौरस सुभ असुभ, ग्रंथ हृदय धर गोप।—ऊ.का.
वि०—लाल, रक्त वर्ण*।
आरसि, आरसो-सं०स्त्री० [सं० आदर्श] १ शीशा, दर्पण।
उ०—बंध किलीरन कंधन के विधि, अंधन आरसि ओपत ऐसे।
—ऊ.का.
२ शीशा जड़ा हुआ चाँदी-सोने का स्त्रियों के गले का एक आभूषण।
वि०—कायर, आलसी।
आरहट-सं०पु०—१ युद्ध। उ०—खड़ै आरहटां रूस अच्छरां विमांण खाथा, सार भटां भड़ै माथा पड़ै वज्र सोह।—अज्ञात
२ तोप। उ०—गाजै वांण आरहट गोळां, वोळै दिन सावळां वमोड़। —वीठळ गोपाळदास री गीत
३ तोप का चक्र. ४ शत्रु, दुश्मन।
आरांक-सं०पु०—निशान, चिन्ह, संकेत।
आरांण-सं०पु०—१ युद्ध, संग्राम। उ०—पाय ज्यूं अनम्मी खंब वंसनूं चाढ़ियौ पांणी, यूं पछै ऊमटां नाथ पोढ़ियौ आरांण।
—सूरजमल मीसण
२ सागर, समुद्र ३ सूर्य (ना.डि.को.)
[सं० आरण्य] ४ श्मशान।
वि०—१ जंगल का. २ शून्य, निर्जन।
आरांणि, आरांणो-सं०पु०—युद्ध, संग्राम, समर। उ०—रिण सोहा रिण सूरमा, वीकौ सांम वखांणि। नायक पायक भड़ निवड़, अरि भंजण आरांणि।—हा.भा.
आरांणौ-सं०पु०—आँगण। उ०—तितरै 'आंटौ' हेठे आरांणै आयौ नै जांण्यौ सूता छै।—जखड़ा-मुखड़ा भाटी री वात
आरांन-सं०पु०—युद्ध, देखो 'आरांण'। उ०—दहू दीन आरांन में प्रांन भोंकै, लगे सेल विम्मांन को भांन रोकै।—ला.रा.
आरांम-सं०पु० [सं० आराम] १ उपवन, वाटिका। उ०—इसड़ा वेगड़ा मुहुम्मदसाह री अंगजा क्रीड़ा रै व्याज आरांम में आई तिकण नूं ले'र रजपूती रै उफांण मेहवै आई।—वं.भा.

आरट–सं०पु० [अं० आर्ट] शिल्पकला, दस्तकारी, कलाकौशल।

आरटिकिल–सं०पु० [अं० आर्टिकिल] १ कोई निबंध या लेख. २ वस्तु।

आरण–सं०पु० [सं० आ+रण] युद्ध, लड़ाई। उ०—गैदंतौ पाडा-खुरौ, आरण अचळ अघट्ट। भूंडण जणै सु भू भलौ, थोभै अरियां थट्ट।—हा.झा. २ लुहार की भट्टी। उ०—तट गंगा तपियौ नहीं, नह जपियौ नरसीह। जड़ तैं आरण धमण जिम. दम गमियां वहु दीह। [सं० आहरण] ३ लोहार का लोहे का बना एक उपकरण जिस पर गर्म लोहा रख कर पीटा जाता है। उ०—रुकमइयौ पखि तपत आरणि रणि, पेखि रुखमणी जळ प्रसन।—वेलि.

सं०पु० [सं० अरण्य] ४ वन, जंगल। उ०—हे! आरण रा हिरणां थे महर करो। सीता री वात सुणाय उपकार करौ।—गी.रां.

सं०स्त्री०—५ श्मशान भूमि में जागी हुई प्रेत टोली. ६ तलवार, कृपाण।

आरणियौ-छांणौ–सं०पु० [सं० आरण्य = वन+रा० छांणौ = कंडा] कंडा, सूखा हुआ गोवर (अमरत)

आरणौ–सं०पु०—१ कंडा, सूखा हुआ गोवर।

वि०—जंगली, जंगल सम्वन्धी।

आरणौ-छांणौ–सं०पु०—देखो 'आरणियौ-छांणौ'।

आरण्य–सं०पु० [सं०] दशनामी संन्यासियों की एक शाखा जो स्वामी शंकर के शिष्य पद्मनाग से अपनी परम्परा वतलाते है।

वि० [सं०] जंगली, वन का, वनसम्वन्धी।

आरण्यक–सं०पु० [सं०] वेदों के अंतर्गत वह भाग जिसमें वानप्रस्थों के लिए उपयोगी उपदेश लिखे हैं।

आरण्यरुदन–सं०पु० [सं० अरण्य+रुदन] जंगल में रोना, कानन रुदन. उ०—यह पत्र विचित्रित चित्र योग्य। आरण्यरुदन वत भौ अयोग्य। —ऊ.का.

आरत–सं०पु० [सं० आरक्त] १ क्रोध। उ०—खग तोलै मग आरत खरचै, चौड़ै दावी वान चकरचै।—रा.रू. [सं० आर्त] २ दुःख, पीड़ा, कष्ट। उ०—विप्र गया विन्हैं कहिया वयण, अत आरत उनमांन रा। धर कांन दुरग चित धारिया, पत्र सुजायत खांन रा। —रा.रू.

३ परिश्रम। उ०— परठी आभ गयण लग पूंहत, कीरत वाड़ी मोर कळी। सुतियागी आरत कर सींची, फळ किव वयणां सुफळ फळी। —महाराणा हम्मीरसिंह री गीत

४ करुणाजनक पुकार। उ०—आरत सुण नैं आव, डांवरै रै खेड़ै सूं। पीर अरज सुण पाळ, आव नेड़ै नेतड़ सूं।—पा.प्र.

५ आरती। उ०—रतन करां नेवछावरां, ले आरत साजां हो। —मीरां

वि०—१ दुखी, व्याकुल। उ०—मरचौ मुयोधन गौ भख मारत, आरचावरत को करगौ आरत।—ऊ.का. २ दीन। उ०—थांनै आरत व्है वालम अरज गुजारै मांनो हे! म्हांरी भामणी। —गी.रां.

आरतड़ी, आरतड़ौ–सं०स्त्री०—आरती, परिछन।

(आरतड़ी—अल्पा०)

वि०—दुखी, पीड़ित।

आरतवंत–वि०—दुखी, पीड़ित, आपद्‌ग्रस्त। उ०—समै कुसमै सुर सारत सार, पुकारत आरतवंत पुकार।—ऊ.का.

आरतव–सं०पु०—आर्तव (अमरत)

आरति, आरती, आरतौ–सं०स्त्री० [सं० आरात्रिक] १ किसी मूर्ति के सामने उसके चारों ओर दीपक घुमाना. २ कपूर या घी की वत्ती रख कर इस प्रकार घुमाने का पात्र. ३ आरती के समय पढ़ा जाने वाला स्तवन या स्तोत्र। ४ अभिलाषा, लालसा। उ०—ढोलइ मनि आरति हुई, सांभळि ए विरतंत। जे जिन मारू विण गया, दई न ग्यांन गिणंत।—ढो.मा. [सं० आर्त] ५ दुःख. ६ आर्त्तवाणी, पुकार। उ०—सीता आरति रांम सुणि, ईस पिनाक उपाड़ि। —रांमरासौ

वि०—१ व्याकुल, चिंतित. [सं० आरक्त] २ लाल, आरक्त। उ०—अनि जळ तीह थियै किम आरति, जमण-गंग तट वसिया जाइ।—ईसरदास वारहठ

आरत्त–वि० [सं० आर्त्त] पीड़ित, दुखित।

आरत्तनाद–सं०पु० [सं० आर्त्तनाद] दुःख या वेदना के कारण मुँह से जोर से होने वाला शब्द।

आरत्तव–सं०पु० [सं० आर्तव] स्त्रियों का रज।

वि०—ऋतु संवंधी।

आरत्ती–सं०स्त्री०—देखो 'आरती'। उ०—क्रत जीपक दुत कांम, ओप दीपक आरत्ती।—रा.रू.

आरदास–सं०पु० [सं० अर्द = याचने] प्रार्थना, विनय, स्तुति।

आरद्र–वि० [सं० आर्द्र] गीला, भीगा हुआ।

आरद्रक–सं०पु० [सं० आर्द्रक] अदरक।

आरद्रता–सं०स्त्री० [सं० आर्द्रता] गीलापन, नमी।

आरद्रा–सं०स्त्री० [सं० आर्द्रा] १ सत्ताइस नक्षत्रों के अंतर्गत एक नक्षत्र. २ सूर्य के आर्द्रा नक्षत्र में होने का समय।

आरधणौ, आरधवौ–क्रि०स०—आराधना करना, ध्यान करना।

उ—अहो निस काकभुसुंड आराध पढ़ै, तौ नांम सदा प्रहलाद। —ह.र.

आरनौ–सं०पु०—राख का वना एक पात्र जिसमें चाँदी तपा कर साफ की जाती है। [सं० आरण्य] जंगल, वन।

आरन्य—देखो 'आरण्य'।

आरपार–सं०पु०—यह किनारा और वह किनारा।

क्रि०वि—१ एक छोर से दूसरे छोर तक. २ एक तल से दूसरे तल का।

वि०—सीधा।

आरीयण-सं०पु० [सं० आर्यस्थान] १ भारतवर्ष। उ०—अकबर दळ अगन कड़ाव आरीयण, लाकड़ सोह वळै कुळ लाज। दूध कुसळ पोहतो खीची दळ, पांणी आवटियौ प्रिथीराज।—खेतसी लाळस

[सं० आर्यजन] २ आर्य हिंदू।

आरीस, आरीसउ-सं०पु० [सं० आदर्श] दर्पण, कांच।

उ०—१ जंगम्मं पसम्मं मुखमल्ल जेही, दिपै जांणि आरीस सारीस देही।—वचनिका। उ०—२ वहू कन्हा जणणी इक वार, आरीसउ मांग्यउ तिणि वार।—ढो.मा.

आरूढ, आरूढ़-वि० [सं० आरूढ] १ सवार, चढ़ा हुआ।

उ०—विसिस्ट रिख वैल आरूढ़ रस सांत वण, उजेणी सूद्र लोयण उभै भेख।—र.रू. २ सन्नद्ध, तत्पर. ३ दृढ़, स्थिर।

सं०स्त्री०—पार्वती, देवी, दुर्गा। उ०—सिंघवाहणी सार किल्यांणी संकरा. रुद्रांणी आरूढ़ दिख्यांणी सुंदरा।—क.कु.बो.

आरूढ़णौ, आरूढ़वौ-क्रि०अ०—आरूढ़ होना, सवार होना, चढ़ना।

आरूढ़णहार, हारौ (हारी), आरूढ़णियौ-वि०—सवार होने वाला।

आरूढ़िओड़ौ, आरूढ़ियोड़ौ, आरूढ़चोड़ौ-भू०का०कृ०।

(रू०भे० आरूहणौ)

आरूढ़हंस-सं०पु०—१ ब्रह्मा।

सं०स्त्री०—२ सरस्वती।

आरूढ़ियोड़ौ-भू०का०कृ०—आरूढ़ होने वाला, सवार होने वाला, चढ़ने वाला।

आरूहणौ, आरूहवौ-क्रि०अ०—देखो 'आरूढ़णौ'।

आरूहणहार, हारौ (हारी), आरूहणियौ-वि०।

आरूहिओड़ौ, आरूहियोड़ौ, आरूहचोड़ौ-भू०का०कृ०।

(रू०भे० आरूढ़णौ)

आरूहियणौ, आरूहियवौ—१ देखो 'आरूढ़णौ'।

उ०—वांसइ आरूहियउं देद वाज, कुळ लाज सुंवारण सांमि काज।

—रा.ज.सी.

२ आक्रमण करना, चढ़ाई करना। उ०—रांण पंचायण ऊपरा, राजा आरंभ रांम। आरूहियौ अणकळ 'अजौ' दळ वळ साज दुगांम।

—रा.रू.

आरूहियोड़ौ-भू०का०कृ०—सवार, चढ़ा हुआ। (स्त्री० आरूहियोड़ी)

आरे-सं०पु० [सं० ऊरीकृत] १ स्वीकार, मंजूर। उ०—बोलै साचा बोल, काचा न आरे करै। तिण मांणस रा तौल, मेर प्रमांणै 'मोतिया'।—रायसिंह सांदू. २ तट, किनारा. ३ अधिकार, वश। उ०—दात्र दातां पड़ै वाक चारूं दिसा, आपमां मांदियां करै आरे।

—महादांन महड़ू

आरेख-वि०—बराबर समान, तुल्य। उ०—निस वासर भज रै घणनांमी, अंतरजांमी एक अलेख। दुनियां सोक विसेख मती दिन, ग्रंथ वाळा फूलां आरेख।—ओपौ आढ़ौ

आरेटी, आरेठौ-सं०पु० [सं० अरिष्टक] एक प्रकार का बड़ा वृक्ष जो अधिकतर वनों में पाया जाता है। इसके एक डंडे में ६ या ७ पत्ते निकलते हैं। फल गोल गुच्छे में होते हैं। इसके फलों के झागों से रेशमी कपड़े व जेवर धोये जाते हैं। यह वृक्ष अथवा इसका फल।

आरेण-सं०पु०—युद्ध।

आरै-देखो 'आरे'।

आरैल-सं०पु०—एक प्रकार का मोटे दाने का नाज विशेष। इसके दाने का आकार मटर के दाने के जैसा होता है।

आरोगण-सं०पु० [सं० अरोग] भोजन, आहार (ह.नां., अ.मा.)

आरोगणौ, आरोगवौ-क्रि०स० [सं० अरोग] भोजन करना, खाना, सेवन करना (आदरसूचक) उ०—एक दिन राजा आरोगतौ हुतौ और रांणीजी मांख्यां उड़ावता हुता।—चौबोली

आरोगणहार, हारौ (हारी), आरोगणियौ—खाने वाला।

आरोगाड़णौ, आरोगाड़वौ—रू०भे०।

आरोगाणौ, आरोगावौ-क्रि०स० (प्रे०रू०)—भोजन खिलाना।

आरोगिओड़ौ, आरोगियोड़ौ, आरोग्योड़ौ-भू०का०कृ०।

आरोगीजणौ, आरोगीजवौ-कर्म० वा०।

आरोगाड़णौ आरोगाड़वौ-क्रि०स०—१ देखो 'आरोगणौ'।

२ देखो 'आरोगाणौ'।

आरोगाणौ, आरोगावौ-क्रि०स०—१ देखो 'आरोगणौ'।

(प्रे०रू०) २ भोजन कराना।

आरोगियोड़ौ-भू०का०कृ०—भोजन किया हुआ, खाया हुआ।

(स्त्री० आरोगियोड़ी)

आरोगी-सं०स्त्री०—चिता। उ०—पछै जमी आकास पवन पांणी चंद सूरिज नूं परणांम करि आरोगी, दोळी परिक्रमा दीन्ही, पछै आपरै पूत परिवार नै छेहली सीखमति आसीस दीन्ही।—वचनिका

आरोगीजणौ, आरोगीजवौ-क्रि०स०—भोजन किया जाना।

आरोग्यता-सं०स्त्री०—तन्दुरुस्ती।

आरोड़-वि०—बलवान, जबरदस्त, पराक्रमी, वीर। उ०—गढ़ लिखमण सारीसा गुड़िया, अड़सी कुळमंडण आरोड़।

—महारांणा गढ़लक्ष्मणसिंह री गीत

आरोड़ौ-सं०पु०—केशर-कस्तूरी के पुट से तैयार किया जाने वाला एक प्रकार का बढ़िया अफीम।—रा.सा.सं.

आरोध-सं०पु० [सं० आयुध] शस्त्र, हथियार। उ०—काळी चक्र हाथ री आरोध लीधां क्रोध।—हुकमीचंद खिड़ियौ

आरोधणौ, आरोधवौ-क्रि०स०—१ रोकना. २ छेंकना. ३ आड़ना।

आरोप-सं०पु० [सं०] १ स्थापित करना. २ लगाना. ३ जमाना, रोपना. ४ एक वस्तु से दूसरी वस्तु के लक्षणों का मढ़ना. ५ कल्पना, भ्रम. ६ कलंक, दोष।

आरोपक-सं०पु० [सं०] आरोप लगाने वाला। उ०—क्रत विरुद्ध मति विरुद्ध मति क्रत, आरोपक आरोप असेख।—वां दा.

आरोपण-सं०पु० [सं०] लगाना, स्थापित करना, रोपना।

२ मकान, आवास (अ.मा.) [फा०] ३ चैन, सुख, विश्राम, शांति.
कहा०—आरांम घड़ी री ही चोखौ—सुख थोड़ा हो तो भी अच्छा ही है।
४ चंगापन, मेहत।

आरांमतलब–वि०—सदा आराम की इच्छा रखने वाला, सुस्त, आलसी।

आरात–सं०पु०—निकट, नजदीक, पास। उ०—पूजा मिसि आविसि पुरखोतम, अंबिकालय नयर आरात।—वेलि.

आराति–सं०पु०—शत्रु। उ०—क्रम पुस्ट पाळ आराति काळ।
—वं.भा.

आराध–सं०स्त्री० [सं० आराधना] १ स्तुति, प्रार्थना। उ०—मोटा पहु आराध करै महि, मोटै गढ़ लीजतै मुवौ। जिण हरि भगत तुहाळौ 'जैमल', हरि सारिखा प्रताप हुवौ।
—जैमल वीरमदेओत रौ गीत

आराधक–वि० [सं०] आराधना करने वाला, उपासक। (वं.भा.)

आराधण–सं०स्त्री० [सं० आराधना] पूजा, सेवा, उपासना, आराधना।

आराधणौ, आराधवौ–क्रि०स०—१ प्रार्थना करना, स्तुति करना।
उ०—पीचासणि साकणि प्रतिवंबा, अथ आराधिजे अवलंबा—देवि.
२ रक्षा करना। उ०—चंद हरा विय चंद सम, दुंद वधारण कज्ज। बाधै दिन-दिन सांम छळ, आराधै कुळ लज्ज।—रा.रू.
३ वश में करना, अधीन करना। उ०—गढ़पत 'सूर' साह तिण गादी, एकौ छत्र धरा आराधी।—रा.रू.

आराधना–सं०स्त्री० [सं०] प्रार्थना। उ०—तरै गुरां श्रीदेवीजी री आराधना कीवी।—रा.वं.वि.

आराधियोड़ौ–भू०का०कृ०—आराधना किया हुआ।
(स्त्री० आराधियोड़ी)

आराधीजणौ, आराधीजवौ–क्रि०स०—आराधना किया जाना।

आराधै–सं०स्त्री०—प्रार्थना, पुकार।

आराब–सं०स्त्री०—१ गाड़ी पर रक्खी जाने वाली छोटी तोप।
उ०—मिळ दहूं दळां आराब गाज, सुज वरै जांण मेघा समाज।
—शि.सु.रू.
२ युद्ध का बाजा विशेष। उ०—वाज डाक आरावां त्रंबक गड़गड़ै त्रंबाळा।—अज्ञात

आरावा, आरावौ–सं०स्त्री०—१ गाड़ी या ऊंट पर लादी जाने वाली एक प्रकार की तोप। उ०—आतस आरावां हवायां रौ मारकौ पड़ि नै रहियौ छै।—रा.सा.सं. २ चक्केदार बड़ी तोप।
उ०—आरावां आतस भाळ, उन्हाळा प्रळै काळ।—वचनिका

आरालिक–सं०पु० [सं०] रसोईदार।

आराव–सं०स्त्री०—देखो 'आराव'

आरावौ–सं०पु०—१ देखो 'आरावौ' (१) २ गोला, बारूद।
उ०—तरै राव गांगोजी आरावौ सामांन सफ करि नै घणौ साथ सांमांन लेनै कूंच कीधौ।—जैतसी ऊदावत री वात

आरास–सं०पु० [सं० आदर्श] शीशा। उ०—आसपास आरास उजास उजाळियां।—महादांन महडू

आराहड़ौ–वि०—जबरदस्त, शक्तिशाली। उ०—हुवै वितेजी एकठा, केहौ काढ़ै कांन। अे हिंदू आराहड़ौ, तू मुग्गळ असमांन।
—रा.ज.रासौ.

आराहणौ, आराहवौ, आराहिणौ, आराहिवौ–क्रि०स०—१ आराधना करना. २ प्रार्थना करना। उ०—ताहरां च्यारां ही कह्यौ जु वाराही देवी रै जाइनै पूजा आहवांन करि देवी आराहिस्यां।—चौबोली

आरि–सं०स्त्री०—१ एक चिड़िया विशेष. २ झिल्ली। उ०—आरि तंतिसर भमर उपंगी, तीवट उघट चकोर तत्र।—वेलि.

आरिख, आरिखि, आरिखे–वि०—सदृश, समान, बराबर।
उ०—१ ऐसा वंस छत्रीस दरग्गह उंव रा, सामंद चंद दड़िदंक आरिख इंद रा।—वचनिका। उ०—२ आरिखे आज विभौ सुर इंद।
—रांमरासौ
सं०पु०—निशान, चिन्ह, संकेत। उ०—नायका कौ मुख पीळौ हुऔ सुरत कै अंति तैसे प्रिथी पीळाई की। कोकिळा बोलती रही सोई जांणी निसुर हुई। ओस का कण इहै मांनी प्रसेद का कण छै। इह आरिख करि प्रिथि नै नायका रौ द्रस्टांत कीयौ।—वेलि.टी.
[सं० आरक्ष] रक्षा-स्थान।

आरिज–सं०पु० [सं० आर्य] देखो 'आरज' (वं.भा.) उ०—आरिज राजां समय इण, जठी तठी अड़ि जुद्ध। आपस री दावे इळा, राखी अवसर रुद्ध।—वं.भा.

आरिजधर–सं०पु० [सं० आर्य+धर] आर्यावर्त, भारतवर्ष (वं.भा.)

आरितवंतय–वि० [सं० आर्त] १ दुखी, पीड़ित, कातर (रा.रा.)
२ अस्वस्थ।

आरियापंथ–सं०पु० [सं० आर्य+पथ] आर्यसमाज जो ऋषि दयानंद द्वारा चलाया गया।

आरियामत–सं०पु० [सं० आर्य+मत] आर्यसमाज की विचारधारा।

आरिस्ट–सं०पु० [सं० अरिष्ट] १ भयंकर आपत्ति २ मृत्युचिन्ह.

आरी–सं०स्त्री०—१ लकड़ी चीरने का एक औजार. २ छोटा आरा.
३ बैलों के हांकने के पैने की नोक पर लगाई जाने वाली नुकीली कील. ४ जूता सीने की सुतारी. ५ गेंडुरी. ६ सोने-चांदी को काटने की करोती।
सर्व०—इनकी।

आरीकारी–सं०स्त्री०—काम, व्यवस्था, ढंग। उ०—व्याह री आरीकारी मांडी पीठी कीधी, पीठी रा गीत गाया, वेह चौंरी बंधाई।
—जगमाल मालावत री वात

आरीख, आरीखै–वि०—समान, तुल्य, बराबर। (रू०भे० आरिख)
उ०—अस मेळौ आरीख, राग बाग मन रंजणौ। सपर पया सारीख, भोग न दूजौ गैरिया।—महाराजा बळवंतसिंह
सं०पु०—चिन्ह, निशान।

३ आलिंगन करना। उ०—अंग घणां आलंगियौ, अधर घणां री ऍठ। नर मूरख जांणै नहीं, पातरियां री पैंठ।—वां.दा.

आलंगियोड़ौ—भू०का०कृ०—स्पर्श किया हुआ, याद किया हुआ, आलिंगन किया हुआ। (स्त्री० आलंगियोड़ी)

आलंगीजणौ, आलंगीजबौ—क्रि०स०—१ छूआ जाना. २याद किया जाना. ३ आलिंगन किया जाना।

आलंबण, आलंबन—सं०पु० [सं० आलंबन] सहारा, आश्रय, अवलंब। उ०—धरम जुद्ध सौं मारियां तौ पलायन री आलंबन पाइ इसड़ा अधरमी समस्त ही मरण पावै नहीं।—वं.भा.

आलंभन—सं०पु०—छूना, पकड़ना. २ मिलना. ३ मारण, वध।

आळ—सं०स्त्री०—१ युद्ध, लड़ाई। उ०—दीकरी दलेलीसींघ री देखजी असेळी आळ औ खेल आयौ।—बुधजी आसियौ २ झंझट, बखेड़ा, झमेला। उ०—पुणै इम वीरमदे पूंछाळ, अठै थां खांन करै कुण आळ।—गो.रू.

कहा०—आळ करै कपाळ, टींचियौ पड़ै सामली लिलाड़—बुरे कार्य का बुरा परिणाम।

३ असत्य, झूठ। (यौ० आळजंजाळ)

उ०—आखै युधिस्ठर आळ, अरक सुत उत्तर आलै। ब्रह्म न वांचै वेद, पाप गंगा नहिं पालै।—चौथ विठू

४ खेल, केलि, छेड़, छेड़-छाड़। उ०—अंगूठै री आळ, लोभी लगाड़ै गयौ। रूनी सारी रात, जक न पड़ी रै जेठवा।

५ आलस्य. ६ मादा पशुओं का योनि-स्थान।

वि०—१ व्यर्थ, फिजूल।

उ०—जे गाव कवि तू धन्य जया, वर्यूं ग्रौर वखांणै आळ कथा। —र.ज.प्र.

२ सामान्य, साधारण।

आल—सं०स्त्री०—१ हरताल. २ एक प्रकार का पौधा जिसकी जड़ और छाल से लाल रंग बनता है। उ०—अकबर दळ आल सावळां ओलण, जूझ कळह मातै रण जंग। रवदां तणै रगत सूं रांणै, राता किया पहाड़ां रंग।—महारांणा अमरसिंहजी री गीत

३ उपरोक्त पौधे से बना हुआ रंग. ४ लौकी, घीया. ५ हिन्दुआंणी की जाति का किन्तु उससे कुछ लंबोतरा मरु-भूमि में होने वाला एक प्रकार का फल विशेष. ६ गीलापन, आर्द्रता, तरी।

उ०—स्वेद हुवौ रति सदन में, ओठ परट्टी आल। सुपने अरथी संभयौ, गोरी अवर गुलाल।—अज्ञात. ७ लड़की की संतान (यौ० आलऔलाद) उ०—महदी री औलाद सूं आल वहोत है। —वां.दा. ख्या.

८ आंसू।

आल-औलाद—सं०पु०यौ०—१ बाल-बच्चे, कुल-परिवार. २ वंश, खानदान. ३ एक कीड़ा।

आलका—सं०पु०—छिपने की क्रिया अथवा भाव।

आळग—क्रि०वि०—१ अलग, दूर। उ०—पंथी एक संदेसड़उ, भल मांणस नइ भक्ख। आतम तुझ पासइ अछइ, आळग रूड़ा रक्ख। —ढो.मा.

२ पृथक, भिन्न।

आळगणौ, आळगबौ—क्रि०अ० [सं० आलग्न] १ मन बहलना, मन लगना। उ०—धरा नूं आळगसी धणी, सुरियां वागौ सार। हालीजै उण देसड़ै, प्रांणां री व्यापार।—वी.स.

२ संतोष होना, चैन होना। उ०—१ अंग्रेजां घड़ सीस उतारूं, मारूं जद आळगै मनै।—चंडीदास मीसण

उ०—२ क्रोध झाळा विखम खगां रटकै कटक तोप सुरां सळक वांण ताळा। असा चाळा विनां तनै भूरा अभंग। आळगै नहीं भाराथ आळा।—उमेदसिंह सीसोदिया री गीत

३ अच्छा लगना. उ०—छाहणी धूप नूं आळगइ, कवियक झूंपड़ा होइ मसांण।—वी.दे.

आळचणौ—वि०—आलोचना करने वाला।

आळचणौ, आळचबौ—क्रि०स०—१ विचार करना. २ आलोचना करना।

आळजंजाळ—सं०पु०—झूठा माया-मोह। उ०—जगत आळजंजाळ, के तांणा-वेजा करै। कुळ में तीनूं काळ भजन सार हिक भैरिया। —महाराजा बळवंतसिंह

आळण—सं०पु० [सं० आद्रण] खीच पकाते समय खीच के साथ मिलाया जाने वाला द्विदल अनाज की दाल।

आळणौ, आळबौ—क्रि०अ०—१ आलस्य करना।

आलणौ, आलबौ—क्रि०स०—१ देना। उ०—जे जे मलिक राइ झालिया, ते कुंअरी नइ पाछा आलीया। आगेवांण दाखवइ वाट, साधि मोकळयउ बीजड भाट।—कां.दे.प्र.

२ गमन करना. ३ कहना। उ०—घणी माहरौ नह कूरम, रांणी घणी। अवरता वयण नह तूझ आलै। —ठाकुर जयसिंह राठौड़ मेड़तिया री गीत

४ छोड़ना, त्यागना। उ०—अस्वालंब गवालंब आल्यौ, झटकै गयौ सीतळा झाल्यौ।—ऊ.का.

आलत—सं०स्त्री०—हँसी-मजाक।

आलतौ—वि०—लाल* (डि.को.)

आलथी-पालथी—सं०स्त्री०—पलथी मार कर बैठने का ढंग।

आळपंपाळ—सं०पु०—देखो 'आळजंजाळ'।

आलपीन—सं०स्त्री० [पुर्त० आलफिनेट] एक प्रकार की घुंडीदार सुई जिसे कागज वगैरह नत्थी करने के काम में लिया जाता है।

आलवणौ, आलवबौ—क्रि०स०—आलंबन करना। उ०—चरित्र चउरासी हूं आलवूं बिल-बिलाती कांई मेल्है जाइ।—वी.दे.

आळ-बाळ—सं०पु०—पाखंड। उ०—आळ-बाळ करता फिरै, साव होण

आरोपणौ, आरोपबौ–क्रि०स०—१ आरोपित करना. २ धारण करना. ३ शोभायमान होना। उ०—यौं सिर मौड़'र तनमय ओपै, ऊपरि आतपत्र **आरोपै**।—रा.रू.

आरोपा–वि०—दृढ़, अटल। उ०—मेर ज्यूं **आरोपा** कीध माई।
—खेतसी वारहठ

आरोपित–वि० [सं०] १ लगाया हुआ। उ०—**आरोपित** आंखि सहू हरि आंननि, गरभ उदधि ससि मछै ग्रहीता।—वेलि. २ धारण किया हुआ। उ०—**आरोपित** हार घणौ थियौ अंतर, उरस्थळ कुंभस्थळ आज।—वेलि. ३ स्थापित किया हुआ, रोपा हुआ. ४ मढ़ा हुआ।

आरोपियोड़ौ–भू०का०कृ०—आरोपित किया हुआ। (स्त्री० आरोपियोड़ी)

आरोपीजणौ, आरोपीजबौ–क्रि० स०—१ आरोपित किया जाना. २ धारण किया जाना।

आरोपौ–सं०पु०—१ चमत्कार, देवप्रभा। उ०—थापै सोजत थांन पांणां वागै छत्रपती, जांणै सरव जेहांन **आरोपौ** भारी उठै—पा.प्र. २ आरोप, कलंक, दोष। उ०—ईडर राव तणौ **आरोपौ**, मेवाड़ा ऊपर मुणियौ। किरमर धार करग कोदाळै, 'खेत' कळोवर रिण खिणियौ।—कांधळ चूंडावत सीसोदिया रौ गीत
३ वड़ा कार्य, उत्तम कार्य।

आरोमार–सं०पु०—स्तनों से दूध सूख जाने की क्रिया या भाव।

आरोह–सं०पु० [सं०] १ चढ़ाव, चढ़ाई. २ आक्रमण. ३ घोड़े हाथी आदि पर चढ़ना, सवारी. ४ जीवात्मा की ऊर्ध्वगति (क्रमानुसार) या जीव का क्रमशः उत्तमोत्तम योनियों का प्राप्त करना (वेदा०). ५ विकास, उत्थान. ६ आविर्भाव. ७ नितंब. ८ स्वरों का चढ़ाव या नीचे स्वर के पश्चात् क्रमशः ऊँचा स्वर निकालना, स्वरों का सीधा क्रम-सा रे ग म प ध नि सा (संगीत). ९ सीढ़ी (अ.मा.) १० ग्रहण के दश भेदों में से एक. ११ सवारी करने वाला, सवार। उ०—**आरोह** न दीठौ दूजौ भूप माधोसिंह एहौ, हजारी कुमेत जेहौ न दीठौ हैराव।—रांमकरण महड़ू

आरोहक–सं०पु०—सवार, आरोही। उ०—**आरोहक** दूवौ 'भारत' नीली उडंड, हद घडै विधातानाथ हाथां।
—माधोसिंह सीसोदिया रौ गीत

आरोहण–सं०पु० [सं०] १ चढ़ना, सवार होना. २ सवारी, वाहन। उ०—रिखि कस्यप **आरोहण** कमठ स्रंगाररस, मगवपत दुज वरण नयण त्रिय मीत।—र.रू. ३ सीढ़ी, सोपान (अ.मा.) ४ अंकुर का प्रादुर्भाव। (स्त्री० आरोहणी)

आरोहणौ आरोहबौ–क्रि०अ०—आरूढ़ होना, सवार होना। उ०—वस घर फील कियौ फीलवांणै **आरोह्यौ** सीढ़ी पग आंणै।
—रा.रू.

आरोहणहार, हारौ (हारी), आरोहणियौ–वि०—आरूढ़ होने वाला। **आरोहिओड़ौ, आरोहियोड़ौ, आरोह्योड़ौ**—आरूढ़, सवार।

आरोहा–सं०स्त्री०—सवारी करने वाली, सवार। उ०—**आरोहा** लंकाळ री क सत्रां घू जाळ री आग, रमा रूप जयो काछ पंचाळ री राय।—नवलजी लाळस

आरोहित, आरोहियोड़ौ–वि०—सवारी किया हुआ, चढ़ा हुआ। उ०—गज **आरोहित** वड वड गढ़पति। चौसारां धरि वंदै चलण। 'वीर' तणौ अरचंतौ विसंभर। तिम अरचीजै आप तण।
—जैमल वीरमदेवोत रौ गीत

आरोही–वि०—१ चढ़ने वाला, सवार. २ ऊपर जाने वाला. ३ षड्ज से निषाद तक क्रमशः या उत्तरोत्तर चढ़ने वाला, स्वरसाध।

आरोहौ–सं०पु०—तीर, वाण। उ०—कवांणां **आरोहां** छूटै छछोहा कुंडळाव।—अज्ञात

आरोह्य–वि०—सवार, आरोही।

आरोह्यणौ, आरोह्यबौ–क्रि०स०अ०—१ चढ़ाना. २ सवारी करना, चढ़ना। (रू०भे० आरोहणौ)

आरौ–सं०पु० [सं० आर] १ लोहे की दाँतीदार पटरी जिससे लकड़ी (रेत कर) चीरी जाती है, करौत. २ चमड़ा सीने का टेकुआ. ३ छेद करने का आरा. [सं० आहर] ४ गेंडुरी. ५ भट्टी का चूल्हा. ६ सर्प का बैठते समय बनाया हुआ घेरा. ७ रस्सी कपड़े आदि का बना गोल घेरा जिसके ऊपर पानी आदि के भरे व भारी वर्तन रक्खे जाते हैं। यह गेंडुरी से वड़ा होता है, ऐंडुआ. ८ जैन मतानुसार समय का एक विभाग. [सं० आर] ९ लकड़ी की वह छोटी पटरी जो गाड़ी के पहिए की गड़ारी और पुठ्ठी के बीच में जड़ी रहती है. १० हल्ला, आवाज। उ०—सीरावण जीमण दो पैरां सारौ पीसण पोवण में '**आरौ**' पछलारौ।—ऊ.का. ११ समय। उ०—अरीकुळ आरा भयौ प्यारा सुभ **आरा** तें।
—ऊ.का.

आरयावरत–सं०पु० [सं० आर्यावर्त] भारतवर्ष। उ०—अर प्रतिदिन प्रतना रौ प्रस्थांन होतां आघात रै आतंक **आरयावरत** हाकार भणियौ।—वं.भा.

आरयावरती–सं०पु०—भारतवासी। उ०—पादाकांति पदकांति विन पावै, **आरयावरती** जन अन विन अकुळावै।—ऊ.का.

आलंकृत–सं०पु० [सं० अलंकार] भूषण, गहना। उ०—काज सुधारण सदा कविंदां हाटक रा **आलंकृत** होय।—नीवोल सरूपसिंह रौ गीत
वि० [सं० अलंकृत] शोभित, अलंकृत।

आलंग–सं०पु०—घोड़ी की मस्ती।
क्रि०वि०—दूर, जुदा, पृथक, भिन्न। (मि० आळग)

आलंगण–सं०पु० [सं० आलिंगन] १ सात प्रकार की वाह्य रतियों में से एक। उ०—वाच क्रिया गुण वक्र विध, सुख चुंबन सिणगार **आलंगण** चेष्टा उदत, विध अनुभाव विचार।—क.कु.वो.
देखो 'आलिंगन'।

आलंगणौ, आलंगवौ–क्रि०स०—१ छूना, स्पर्श करना. २ याद करना.

उ०—ताहरां सयणी बोली—'बीजाणंद' एक वार म्हांनूं **आलापचारी** सुणावो ।—सयणी री वात

आलापणी, आलापबौ–क्रि०स० [सं० आलापन] गाना, सुर खींचना, तान लगाना । उ०—**आलापै** राग गारडू अकबर, दै पैंतीस असट कुळ दाव ।—महारांणा प्रतापसिंह री गीत

आलापियोड़ौ–भू०का०कृ०—आलापा हुआ । (स्त्री० आलापियोड़ी)

आलापी–वि० [सं० आलापिन] गाने वाला, तान लगाने वाला ।

आलामुसाब–सं०पु० [अ० आला+मुसाहब] १ राजा का प्रधान मंत्री या सहवासी. २ श्रेष्ठ दरबारी ।

आळायोड़ौ–वि०—हराया हुआ ।

आळावणी, आळावबौ–क्रि०स०—१ हराना. २ मिटाना ।

आलावणी, आलावबौ–[सं० आलापन] १ बोलना. २ ऊँट का मुँह हिलाना । उ०—तनै दाखवै जोसवाळी तरक्कां करै दांत **आलावता** क्रासळक्कां । जमै गूगळा घोघ दोनूं जवाड़ै, कवी जांणि भागड़ लूंणी कराड़ै ।—रा.रू.

आलावरत–सं०पु० [सं० आद्रावर्त] पंखा, पंखी ।

आलावियोड़ौ–वि०—बोला हुआ । (स्त्री० आलावियोड़ी)

आलिंग–सं०पु०—स्पर्श करना या छूने का भाव । उ०—सायर अकळ अथाउ लहिरे गाडडंति गयण **आलिंग**, ता किम गांम तळाउ ।—रांमरासौ

क्रि०वि०—अलग, प्रवास में । उ०—प्रिय तिण रुति **आलिंग** रह्यां ताह सुं किसउ सवाद ।—ढो.मा.

आलिंगण, आलिंगन–सं०पु० [सं०] गले से लगाना, परिरंभण, सप्रीति परस्पर मिलन, अंग लगाने की क्रिया । उ०—ढोलउ मिळियउ मारवी, दे **आलिंगण** चित्त । कर ग्रह आंणी अंक मइ, सेज सुणेसी वत्त ।—ढो.मा.

आलिंगणी, आलिंगबौ–क्रि०स०—आलिंगन करना, भेंटना, लिपटना ।

आलिंगित–वि० [सं०] हृदय से लगाया हुआ ।

आलिंगी–वि०—आलिंगन करने वाला ।

आलि–सं०स्त्री०—१ सखी, सहेली । उ०—देखि सुरंगी डाळि, जांणूं जाइ विलगूं 'जसा' । आस करूं. हूं **आलि**, करम विना मिळवौ कठै ।—जसराज. २ बिच्छू. ३ भ्रमरी. ४ पंक्ति, अवली, रेखा । उ०—भुजाळि **आलि** भोलितें वहै विभा वनें ।—ऊ.का. ५ सेतु ।

आळि–सं०स्त्री०—खेल । उ०—सीहणि हेकौ सीह जणि, छापरि मंडै **आळि** ।—हा.भा.

आलिगणी, आलिगबौ–क्रि०अ०—मन लगना । उ०—मोहि न मंदिर **आलिगइ**, जाइ उडीसइ तइ राखस्यूं बोल ।—वी.दे.

आलिम–वि० [अ०] विद्वान, पंडित । उ०—मालुम मुलायजै करहु माफ, **आलिम** हैं आलमगीर आप ।—ऊ.का.

आळियौ–सं०पु०—१ छोटा ताका, छोटा आला. २ चंद्रसूर ।

आली–सं०स्त्री० [सं० आलि] १ सखी, सहेली । उ०—कौन जतन करां मोरी **आली**, चंदन लाऊं घंसिके ।—मीरां. २ देखो 'आलि' वि० [सं० आर्द्र] भीगी हुई, गीली । देखो 'आलो' (पु०) [अ०] १ बड़ा, उच्च. २ श्रेष्ठ, उत्तम ।

आलीगारौ–वि०—छैल, शौकीन । उ०—राजांन आलीजां **आलीगारां** नाह उला अलवेलिग्रां रा पदमणिग्रां रा रमण मांणें छै ।—रा.सा.सं.

आलीजापणौ–सं०पु०—कोमलता, सुकुमारता । (रू०भे० आलीजापण)

आलीजौ–वि०—अलवेला, शौकीन, रसिक ।

सं०पु०—प्यारा, पति, प्रेमी, प्रियतम । उ०—कांई ऐ करूं थांरै तेल नै म्हांरै **आलीजे** विना किसौ खेल ।—लो.गी.

आलीजोभंवर–वि०—१ शौकीन, रसिक, मस्त । उ०—रजपूत वट रा साभावां कछिया कंवर, मदछकिया अलवेलिया **आलीजाभंवर** ।—र. हमीर

२ कृपालु, उदार । उ०—जलाल वडौ **आलीजोभंवर** वादसाह थौ ।—जलाल बूवना री वात

आलीणौ–वि० [सं० आलीन] लीन, तन्मय, अनुरक्त, मग्न । उ०—**आलीणौ** हरनांम जांण अजांण जपै जो जीहा । सासतर वेद पुरांण सरव महीं तत्-अक्खर सारम् ।—ह.र.

आळीमाट–वि०—व्यर्थ, निरर्थक ।

आळीयोड़ौ–वि०—आलस्य किया हुआ । (स्त्री० आळीयोड़ी)

आलीसांन–वि० [अ० आलीशान] १ भव्य, भड़कीला, शानदार. २ उच्च, श्रेष्ठ, उत्तम. ३ विशाल ।

आलीह–सं०पु०—बाँयें पैर को पीछे करके और दाहिने को सामने टेक कर बैठने का बांण छोड़ने के समय का आसन ।

वि०—अशित, भुक्त ।

आलुक–सं०पु०—१ सर्प, शेषनाग । उ०—धड़कै उर कातर सोर धुखै, मच हक्क किलक्क अनेक मुखै । अतरै कमंधां दळ वाग उठी, छित काळ की **आलुक** ज्वाळ छुट्टी ।—रा.रू. २ छेड़-छाड़. ३ भोगी ।

आलूंभणी, आलूंभबौ–क्रि०स०—उलझना । उ०—जासूं कहियै जाय, कहियै सै कांनी थया, **आलूंभ्या** उर मांय, मावै नाहीं मेहउत ।—जेठवा

आलू–सं०पु०—एक प्रकार का गोल कंद या मूल जो तरकारी आदि के काम में आता है और खाया जाता है ।

आळूजणी, आळूजबौ–क्रि०अ०—उलझना ।

आळूजीजणी, आळूजीजबौ–क्रि०अ०—उलझाया जाना ।

आळूभ–सं०स्त्री० [सं० अवरुन्धन] १ अटकाव, फंसाव. २ गिरह, गाँठ. ३ बाधा, पेंच. ४ फेर, चक्कर. ५ समस्या, उलझन. व्यग्रता, चिंता ।

आळूभणी, आळूभबौ–क्रि०अ०—१ उलझना, फंसना, अटकना । उ०—जिकै आज जीवसी तिकां वा घड़ी दुहेली । आतम दम **आळूभि** पड़ै जम हत्थ अकेली ।—रा.रू. २ लपेट में पड़ना, लिपटना ४ काम में लीन होना. ५ तक़रार करना, लड़ना, रुकना ।

की सोभ। पैलै मनि देखै पतित, मन अपणां की खोभ।—ह.पु.वा.

आलम—सं०पु० [अ० आलम] १ दुनिया, संसार। उ०—अल्हा एकण ढांकणी, सब आलम टांकी।—केसोदास गाडण

२ दशा, अवस्था. ३ जन-समूह, जनता, संसार। उ—आलम हंदी हद है, अलाह बेहदा।—केसोदास गाडण. ४ खुदा, ईश्वर. उ०—आलम मोरा औगुणां, साहिब तूझ गुणांह। बूंद विरक्खा रैण कण, थाघ न लब्भो त्यांह।—ह.र.

५ तमाशा, नकल. ६ नगाड़ा-निशान. ७ ढोली।

८ स्वामी, बादशाह (र.ज.प्र.) ९ यवन, मुसलमान।

उ०—अस सपत.स आलमां ऊपर, खळ दळ रावस वहै खग।—अज्ञात

१० राजस्थान में पूजे जाने वाले एक देवता।

आलमखांनौ—सं०पु०—१ वह स्थान जहां ढोली अथवा गाने वाली वेश्याएं रहती हैं. २ नगारखाना।

आलमगीर—सं०पु० [अ०] १ संसारविजयी २ संसारव्यापी. ३ औरंगजेब बादशाह की पदवी। उ०—मालुम मुलायजे करहु माफ, आलिम है आलमगीर आप।—ऊ.का.

आलमड़ौ—सं०पु० [अ० आलम] १ ईश्वर. २ दुनिया (अल्पा०)

आलमपत, आलमपती—सं०पु०—१ बादशाह। उ०—परखिया निजर आलमपती सारा ही मतिमंद सूं, आदरै न को कइ मेर उर समहर सेर विलंद सूं।—रा.रू. २ ईश्वर।

आलमपना, आलमपनाह—सं०पु० [अ० आलम+पनाह] संसार को शरण देने वाला। उ०—देखिये दरद हम बेगुनाह, पेखिये विरद आलमपनाह —ऊ.का.

आलमीन—सं०पु० [अ० आलम] संसार 'आलम' का बहुवचन। उ०—मालिक नहिं खालिक मुसलमीन. अल्ला हे रव्वल आलमीन। —ऊ.का.

आलमोचा—सं०पु०—सोलंकी वंश की एक शाखा।

आलमौ—सं०पु० [अ० आलम] १ ईश्वर। उ०—तोनै मार राठौड़ां दगा सूं कासूं मूछां तांणी, आलमा जेहांन जांणी भावी जोरवांन। —हुकमीचंद खिड़ियौ

२ संसार।

आलम्म—सं०पु० [अ० आलम] १ संसार, जगत। देखो 'आलम' (१) उ०—अणू मझ राखै कोटि आलम्म।—ह.र. २ बादशाह।

आलय—सं०पु० [सं०] घर, मकान, वासस्थान (ह.नां.) उ०—सुण सुण बीरा बाड़वी, आलय देखो और। घर री खूणै झूरसी, चख मग आतां चौर।—वी.स.

आलर—सं०पु०—१ दान।

सं०स्त्री०—२ उदारता।

आलरणौ, आलरबौ—क्रि०अ०—वर्षा का शुरू होना। उ०—१ जला जेय न जाइये, खड़हड़िये नीवांण। आलरतौ ढहि पड़ै, जगहंसी घरहांण।—जलाल बूबना री वात. २ दान देना। उ०—असगज गघ आगाहट आलर, वेळ समंद बालर बदवाद। हाकौ सुजस हुऔ हालर रौ, सत्व धात झालर रौ साद।—महादांन महड़ू

आळवणौ, आळवबौ—क्रि०अ०—बोलना।

आळवाळ—सं०पु०—घेरा, मंडल (डिं.को.)

आळस—सं०पु० [सं० आलस्य] आलस्य, सुस्ती। उ०—कागळ नहीं क मसि नही, लिखतां आळस थाइ। कइ उण देस संदेसड़ा, मोलइ वडइ विकाइ।—ढो.मा.

कहा०—मरण रै आळस सूं जीवै है—बहुत ही आलसी व्यक्ति पर।

आळसणौ—सं०पु०—आलस्य।

आळसणौ, आळसबौ—क्रि०स०—१ आलस्य करना। उ०—बैर हमेस विसावणा, वाड़ विना वसणोह। वाघां रै क्यूं कर वणै, आरण आळसणोह।—बां.दा. २ विलम्ब करना। उ०—दसहरा लग आळसै, मालवणी वैणेह। मारू जिम जिम संभरै, जळ मूकै नयणेह। —बां.दा.

आळसवौ—वि०—आलसी, सुस्त। उ०—आळसवां अज्जाणवां, दिल खोटंतां दूर। साहिब सांचा साधवां, है हाजरां हजूर।—ह.र.

आळसियोड़ौ—वि०—आलस्य किया हुआ। (स्त्री० आळसियोड़ी)

आळसी—वि०—सुस्त, काहिल, अकर्मण्य।

आलसुवाय—वह गाय जिसके बच्चा हुए बहुत थोड़े ही दिन हुए हों।

आळसेट—क्रि०वि०—आनंद के लिए। उ०—गिरिमाळां ज्यूं गाळा जुड़ै, आळसेट ऊंचा वढ़ां। त्याग, तप, भगती, रजपूती, नीत पाठ सुरनर पढ़ां।—दसदेव

आलस्य—सं०पु० [सं०] सुस्ती। उ०—आलस्य के मोड़िवै मतवाळा हुआ।—वेलि. टी.

आलांण, आलांन—सं०पु०—हाथियों का बंधस्थल, हाथी बांधने का खूंटा या रस्सी। उ०—इभ चाकर माकर उछट, उडि आसण आया। बारी बाहर लेण कौ, आलांण छुड़ाया।—वं.भा.

आळाणौ—सं०पु०—१ स्थगित. २ रद्द. [सं० आलस्य] ३ आलस्य।

आळाणौ, आळाबौ—हराना, पराजित करना।

आला—वि० [अ० अअ्‌ला] श्रेष्ठ, बढ़िया। उ०—१ सीख्यौ बंकी पाठसाला आला एक डंकी सीख्यौ।—ऊ.का. उ०—२ कव 'ओपा' लाडी ले कीरत, भूपत बार भजाड़ै। अण मांडहड़ै आला आला, वळिया ढोल वजाड़ै।—ओपौ आढ़ौ

आलात—सं०पु० [सं०] जलती हुई लकड़ी।

आलाप—सं०पु० [सं०] १ कथोपकथन, संभाषण, बातचीत। उ०—फेरवियां रा फेत्कार, प्रेतां रा आलाप, राक्षसां रा रास, कुणपां रा कपाळां रा कटकटाहट।—वं.भा. २ सात स्वरों का साधन (संगीत) तान, रागविस्तार।

वि०—बोलने वाला। उ०—भवांनी नमो सत्य आलाप वाला, भवांनी नमो वंद विद्याविसाला।—मे.म.

आलापक—वि० [सं०] बातचीत करने वाला, गाने वाला।

आलापचारी—सं०स्त्री०—स्वरों के साधने या तान लगाने की क्रिया।

उ०—३ निस प्रथम जांम आलोभ नर, दारण 'सोनगिर' 'दुरग'।
कर वाच वाद अकवर कुसळ, वीद हरै सभिया विडंग।—रा.रू.

आळो-दीवाळो—सं०पु०यौ०—ताक।

आलोप—सं०पु० [सं० अलोप] अलोप, गुप्त, अदृश्य, गायब।

आळो-भोळो—वि०—नासमझ, मूर्ख। उ०—आळा-भोळा लोग, रोग सूं अणभिग भारी। सिरसिरदारी वेर, खेर पनड़ी खै खारी।—दसदेव

आलो-मलां—क्रि०वि०—चारों ओर। उ०—मरद घमसांण पुहु लिये आलो-मालां। वढ़ण कज वाढ़ झेरीजीये वीजळां।
—रावत सारंगदेव री गीत

आलोयण—सं स्त्री० [सं० आलोचना] १ आलोचना (जैन) २ देखना या वतलाना क्रिया का भाव (जैन)।

आळो-रोंटो—सं०पु०—विना पकी छोटी ककड़ी।

आलोळ—वि०—चपल, चंचल, अस्थिर।

आळो—सं०पु० [सं० आलय] १ ताक, आला। उ०—लेनै भीतर महल पधारिया नै वसत रूपै री डवी घाल ढोलियै रै पगांतिये आळो थो तें मांही कळ थी सिकै कळ मांही राखी।—पलक दरियाव री वात. २ घोंसला (क्षेत्रिय) उ०—लास, फोग'र, घिटाळ ऊंटां, कातीसरो हर मासरो से, सेळां, घुरी घरस्याळां आळां पंछयां आसरो।
—दसदेव

वि०—[रा०] ३ अपरिपक्व फल। (स्त्री० आळी)
कहा०—१ आळी चांमड़ी आक पावै—बहुत अधिक कष्ट देना।
वि०—विना शुद्ध किया हुआ (पशुओं का) चमड़ा।
उ०—देव कुळज नमि ऐ वचन, वदि आळा खालड़ ओढ़िया।
—ऊ.का.

अव्यय [सं० आलु] का।
प्रत्यय—राजस्थानी भाषा में क्रिया के अंत में लग कर कर्तृ-वाचक संज्ञा का अर्थ और पदार्थ या वस्तुवाचक के अंत में संयुक्त होकर संबंधवाचक संज्ञा का अर्थ देता है जैसे करणाळी-दूधाळो।
(रू०भे० वाळो)

आलो—वि० [सं० आर्द्र] १ गीला, आर्द्र। (स्त्री० आली)
मुहा०—आलै घोरै चालणो—साधारण कमाई होना।
कहा०—१ आली सूखी भेळा ही वळै—गीला और सूखा काठ साथ ही जलते हैं; सबके साथ एक सा व्यवहार होता है; सबको स्थान मिलता है. २ कैर आलो भी वळै सासू सीधी ई लड़ै—जिस प्रकार कैर के वृक्ष की लकड़ी जलाने में शीघ्र आग पकड़ लेती है, चाहे वह सूखी हो चाहे गीली, उसी प्रकार सास हमेशा वहू से लड़ती रहती है, चाहे वह सीधी हो या बुरी।
(विलोम—सूखो) [अ० आला] २ सबसे बढ़िया, अद्वितीय.
३ एक प्रकार का कीड़ा जिसे मवेशी खाते ही वेहोश हो जाता है। ४ आलस्य. ५ ताजा। उ०—दमांमी आणंद रै घाव या सो आला था, फूहा दीजता।—पदमसिंह री वात

आल्यंगन—सं०पु० [सं० आलिंगन] आलिंगन। उ०—सेज पहुंती राव की, देही आल्यंगन वीसळराय।—वी.दे.

आल्हा—सं०पु०—पृथ्वीराज चौहान के समय का मोहवे का एक प्रसिद्ध वीर पुरुष।

आवंण—सं०पु०—गाड़ी के चक्र के मध्य में लगाया जाने वाला लोह का उपकरण जिसमें गाड़ी की धुरी या अक्ष रहता है।
[सं० आमिक्षण] दूध जमाते समय दूध में डाला जाने वाला छाछादि अम्ल पदार्थ।

आवंतइ—वि०—आगामी, भावी। उ०—चंदा तो किण खंडियउ, मो खंडी किरतार। पूनिम पूरउ ऊगसी, आवंतइ अवतार।—ढो.मा.

आवंद—सं०स्त्री०—आय, आमदनी।

आव—सं०पु० [सं० अवरक्षादिपु घञ्=आव] १ उत्साह। उ०—रांण चढ़ै कस रोपरिण, येम धरै उर आव। सग वरणा करणूं सुजस, हैं मरणौ हीसाव।—र.रू. २ आवभगत, अतिथिसत्कार।
उ०—आव नहीं आदर नहीं, नहीं नैणां में नेह, जिण घर कबहु न
जाइये, कंचन वरसै मेह।—अज्ञात [सं० आयु] ३ आयु, उम्र। उ०—जीव दया पाळी जकां, उजवाळी निज आव। वनमाळी कीधी वळू, पड़ी सुराळी पाव।—वां.दा. [सं० आय] ४ आय, आमदनी।

आव-आदर—सं०पु०यौ०—आवभगत, आदरसत्कार।

आयकार—सं०स्त्री०—एक प्रकार का सरकारी लगान. २ सत्कार, सन्मान।

आवको—वि०—देखो 'आवखौ'।

आवखांन—सं०पु०—गाय या वैल का विना साफ किया हुआ पूरा चमड़ा (रा.रा.)

आवखो, आवखौ—वि०—१ वह पशु जो वधिया न किया गया हो.
२ पूरा।
सं०पु० [सं० आयुष्य] आयु, उम्र। उ०—जोवन में मर जावणौ, दळ खळ साजै दाप। एह उचित वोह आवखो, सिंहां वड़ो सराप।
—वां.दा.

आवगमण—सं०पु० [सं० आवा+गमन] १ आना-जाना, आमदरफ्त.
२ वार-वार जन्म लेना और मरना।

आवगो, आवगौ—वि०—पूरा, पूर्ण, संपूर्ण। उ०—किण दिन देवूं वाटड़ी, आतां पड़वै तूझ। घाव-भरंतां आवगो, वीत्यो जोवन मूझ।
—वी.स.

सं०पु०—आयु, उम्र। उ०—एकर मंख ऊपरै आयी, सोह आवगी डूंगरां साथ।—दुरसो आढ़ो. (स्त्री०—आवगी)

आवड़—सं०स्त्री०—एक देवी विशेष।
[वि०वि०—आठवीं शताब्दी में काठियावाड़ के वल्लभीपुर नगर में माडवा शाखा के चारण मामड़ के यहां इनका जन्म हुआ था। ये सात वहिनें थीं जो सब देवियां मानी जाती हैं। इन्होंने आजीवन

आळूझियोड़ौ—भू०का०कृ० [सं० आरुद्ध] उलझा हुआ।
(स्त्री० आळूझियोड़ी)

आळूझीजणौ, आळूझीजवौ—क्रि०अ०—उलझा जाना।
आळूझीजियोड़ौ—भू०का०कृ०।

आळूद, आळूदौ—वि०—बना-ठना, सजा हुआ। उ०—संभळत घवळ सर साहुळि संभळि। आळूदा ठाकुर अलल।—वेलि.

आळूधणौ आळूधवौ—क्रि०अ०—उलझना, फँसना। उ०—पहु गोघलिया पास, आळूधा अकवर तणी। रांणौ खिमै न रास, प्रघळी सांड प्रतापसी।—दुरसौ आढ़ौ
आळूधणहार, हारौ (हारी), आळूधणियौ—वि०—उलझने वाला।
आळूधिओड़ौ, आळूधियोड़ौ, आळूध्योड़ौ—भू०का०कृ०

आळूधियोड़ौ—भू०का०कृ०—उलझा हुआ। (स्त्री० आळूझियोड़ी)

आलूबुखारा—सं०पु०—आलूच नामक एक वृक्ष का फल जो सुखाया जाता है और कुछ खटमिठा सा होता है।

आले—क्रि०वि० [सं० अद्य+कल] आजकल।
वि० [अ० अव्वल] १ बढ़िया, श्रेष्ठ. २ प्रथम।

आलेख—सं०पु० [सं०] १ लिखावट, लिपि. [सं० अलक्ष्य)
२ दशनमी संन्यासियों की भिक्षा माँगते समय की जाने वाली आवाज. ३ ईश्वर। उ०—आघपति धारियौ आलेख व्रद दूजै 'अजै' 'अभै' राज करै करी तारियौ आंवेर।—हुकमीचंद खिड़ियौ

आलेड़ौ—सं०पु० [सं० आर्द्रता] गीलापन, तरी, नमी।

आलेप—सं०पु०—१ मलहम, लेप. २ लेप करने का पदार्थ।

आळेमाट, आळेयमाट—वि०—व्यर्थ, निरर्थक। उ०—थाया संपत थाट, भंवर कंवर सुख भोगवै। म्हैं की आळेमाट, करतव री गूंजी 'करण'।
—लक्ष्मीदांन

आळै—सं०पु०—१ उत्सर्ग. २ दान।
क्रि०वि०—पास। उ०—दातारां भूझारां रा नांम छै तिणसूं चारण-भाँट देस देस रा रूपक लै आळै आवै।
—जखड़ा मुखड़ा भाटी री वात

आळैनाहर—सं०पु० [सं० आलय+नाहरि] सिंह की मांद।
उ०—किलमवाळै काय, के चाळै लागौ कंवर। आळैनाहर आय, भाळै फेर न भारथा।—ला.रा.

आलोअण—सं०स्त्री० [सं० आलोचना] देखो 'आलोयण'। (जैन)

आलोक—सं०पु० [सं०] प्रकाश, चाँदनी, उजाला, चमक, ज्योति, द्युति, कांति, दीप्ति।

आलोकन—सं०पु०—दर्शन, अवलोकन।

आलोकभोमका—सं०स्त्री०यौ०—अलौकिक भूमि, लोकोत्तर।
उ०—आपरी जिनावरां जिसी जूण नैं भुला'र किणी बीजा-आलोक-भोमका में विचरतौ।—वरसगांठ

आळोच, आलोच—सं०पु० [सं० आलोच] १ सोच, चिंता।
उ०—जितूं करवा तणौ सोच न कियौ जितौ, इंद्र भरवा तणौ कियौ आलोच।—महारांणा राजसिंह री गीत. २ सोच-विचार, चिंतन, मनन। उ०—कियौ आपसूं आप आलोच कांनै, रमै साप खेघाउ सूधौ न मांनै।—ना.द. ३ मंत्रणा, सलाह.
उ०—चाचिगदे मनि पड़ियौ सोच, सोढ़ी साथि करइ आलोच। जउ जांणैस्यइ पिंगळराय, दीठइ कटकि छांडि किम जाय।
—ढो.मा.
५ हाल, वृत्तांत। उ०—अनेकां पहां पेखवा दूत आवै, वधै सोच आलोच ऐसी वतावै।—रा.रू. ६ विवेचन, गुण-दोष का विचार. ७ गुप्त रहस्य, दर्शन. [सं० अरोच] ८ उद्विग्नता।
उ०—चारण वरण निसोच, तौ पाछै रह छै 'पता'। आवै मन आलोच, भूलां किम भीमेण रा।—अंबादांन रतनू
[सं० आलुंचन] ८ खेतों में गिरा हुआ अन्न बीनना।

आलोचक—वि०—१ देखने वाला. २ आलोचना करने वाला।

आलोचण—सं०पु०—१ आलोचन, दर्शन. २ गुण-दोष विवेचन।

आलोचणौ, आलोचवौ—क्रि०स०—१ आलोचना करना. २ समझना।
उ०—सठ गनका री वात सुण, आलोचे नह एम। चाह घणां चरणां चढ़ी, काठां चढ़सी केम।—बां.दा. ३ विचार करना।
उ०—वदनारविंद गोविंद वीखियै, आलोचै आपौआप सूं।
—वेलि.
आलोचणहार, हारौ (हारी), आलोचणियौ—वि०—आलोचना करने वाला।
आलोचिओड़ौ, आलोचियोड़ौ, आलोच्योड़ौ—भू०का०कृ०।

आलोचना—सं०स्त्री० [सं०] किसी वस्तु के गुण-दोषों का निरूपण।

आलोचियोड़ौ—भू०का०कृ०—आलोचना किया हुआ, आलोचित।
(स्त्री० आलोचियोड़ी)

आलोज—सं०स्त्री० [सं० आलाप] १ वातचीत। (द.दा.)
२ देखो 'आलोज'।

आलोज, आलोझ—सं०पु०—१ संकल्प, प्रण, प्रतिज्ञा। उ०—डाकर डौर न आडाडंवर, चित चातुरी न वीजी चोज। रिमदळ सबळ भांजिया रावळ, अण-भाजवा तणौ आलोज।—मालौ सांदू
२ मन के भाव। उ०—मुख करि किसूं कहीजै माहव, अंतरजांमी सूं आलोज।—वेलि. ३ विचार। उ०—आधा कोस अंतरै कटक आपणौ चलावां। न कौ रहा अण सोज, न कूं आलोज उपावां।
—रा.रू.
क्रि०वि०—विचार करना। उ०—हितू जांण सुविहांण, खांन इतकाद आद अत। कियौ विदा आलोझ, सोझ सुख वात घात चित।
—रा.रू.

आलोजणौ, आलोजवौ, आलोझणौ, आलोझवौ—क्रि०स०—विचार करना, सोचना। उ०—१ पदमण महल पौढ़तां पहुंचौ, ऐरापत देते इक आग। इळपत रासै चित आलोझै, नग नग पैंड़ी दीना नाग।—द.दा.
उ०—२ रांणी श्री जसराज री, करमंद निवाहण कज्ज, अत सोचै आलोजतां, वारै मात वरज्ज।—रा.रू.

आवधमांजण–सं०पु०—सिकलीगर (डि.को.)

आवधी–वि०—शस्त्र रखने वाला।

आवधीक–सं०पु०—अस्त्र-शस्त्रधारी। उ०—एक रंगी प्रथी नैरा सेत तसां आवधीक सारा देवां सरै नूर सपूर सुमेद।
—माधोसिंह सीसोदिया री गीत

वि०—योद्धा, वीर। उ०—लोहलाट लीधां भडां सनूरा घयागां लागां। वजैकारी आवधीक पूरा जंगां बोम्र।—रांमकरण महडू

आवभगत, आवभाव–सं०स्त्री०—आदर-सत्कार।

आवबळ–सं०पु०—आयुबल, आयु।

आवर–सर्व० [सं० अपर] अन्य, दूसरा। उ०—सुज सिंघ सही सुज सिंघ सत एह न आरख आवरां।—माली आसियो

आवरण–सं०पु० [सं०] १ आच्छादन, ढकना. २ किसी वस्तु पर ऊपर से लपेटा हुआ वस्त्र. ३ परदा. ४ ढाल. ५ दीवार आदि का घेरा. ६ चलाये हुए अस्त्र-शस्त्र को निष्फल करने वाला. ७ अज्ञान।

आवरणसक्ति, आवरणसगती–सं०स्त्री० [सं० आवरण+शक्ति] आत्मा या चैतन्य की दृष्टि पर परदा डालने वाली शक्ति (वेदांत)

आवरत–सं०पु० [सं० आवर्त] १ पानी का भँवर. २ चक्र, फेर, घुमाव। उ०—आवरत जुद्ध परखै अमर, हरखै रिख नारद हर।—रा.रू. ३ न बरसने वाला बादल. ४ एक प्रकार का रत्न, राजावर्त, लाजवर्द. ५ सोचविचार, चिंता. ६ प्रलयकाल। उ०—आवरत मेघ सम ओवड़ै, घड़ी पंच वग्गी खड़ग। सिरदार इता भिड़िया समर, नीवड़िया जिम घाय नग।—रा.रू. [रा०] ७ संसार. ८ हस्ती, गज (ना.डि.को.) ९ झुंड, समूह, सेना, फौज। उ०—अरियां धार अनेक आवरत, पाड़े मूंछ पांरा गया। खड़ग पखांरा खेड़तै 'खेता', थाट रवद रण लोट थया।—महारांणा खेता री गीत १० समुद्र, सागर। उ०—लोहां लोड़ बोड़दळ लागा, सुर आवरत संभ्रमिया सार। काळै थाट तणै कलमायण, काळै वार अहार किया।—महेसदास आढ़ो

आवरतक–सं०पु०—आवर्तक। उ०—पुस्कर आवरतक मेघां री वंस निभावै। धीरे मन रा भेख राज री दूत कहावै।—मेघ.

आवरती–सं०स्त्री० [सं० आवृत्ति] १ बार-बार किसी बात का अभ्यास. २ पाठ करना, पढ़ना।

क्रि०प्र०—करणी-होणी

आवरत्त–सं०पु०—१ आवेष्टन, घेरा। उ०—मोटा मुगुल्ल मद्दोनमत्त, अभिळित्त दियइ अरि आवरत्त।—रा.ज.सी. २ देखो 'आवरत'।

आवरथ–सं०पु०—२ देखो 'आवरत'।

आवरदा–सं०स्त्री० [सं० आयु] उम्र, आयु। उ०—आहेड़ै जमरांण डांण मंडै दीहाड़ी। मर क्रम बंध संधिया चाप आवरदा चाड़ी।
—जग्गो खिड़ियो

आवरित–वि० [सं० आवृत] १ देखो 'आवृत'। २ मूर्तिमान।

आवरो, आवरौ–सं०पु० [सं० आय+द्वार] आय, आमदनी।

आवळ–सं०स्त्री०—१ छोटा टहनीदार एक प्रकार का क्षुप जिसका प्रयोग प्रायः चमड़े को रंगने में या औषधियों में किया जाता है। [रा० आ+सं० बल] २ शक्ति, बल, पुरुषार्थ।

आवळझूल–वि०—शृंगार और आभूषणों से सुसज्जित। उ०—सह आभरणां सोभही, आवळझूल तियांह। जांणै फूलां भार जुत, हाटक वेलड़ियांह।—वां.दा.

आवळणौ, आवळबौ–क्रि०स०—बट देना, बल देना, ताव देना। उ०—इम बोले मूंछां आवळतौ। 'वळवंत' चख झळतौ मजबूत।
—महाराज वळवंतसिंह री गीत

आवळियौ–वि०—अभिमान या गर्वरहित। उ०—थित पूगइ राज तणी थळियां। उणनूं कर पायक आवळियां।—पा.प्र.

आवळी–वि०—भयंकर। (यौ० आवळीघड़ा) उ०—हूतां हावळी समंद खळां आवळी चमू वहंड।
—मेघराज बारहठ

सं०स्त्री०—१ एक पारी (Trip). २ अभिलाषा. ३ आयु। [सं० अवलि] ४ पंक्ति, श्रेणी। उ०—उकतां सुकवि बोलै ऊंच विरदां आवळी। राजस भड़ां गहमह रूंस पूरण नित रळी।
—वां.दा.

५ वह विधि जिसके द्वारा विस्वे की उपज का अनुमान होता है।

आवळीघड़ा–सं०स्त्री०—सुसज्जित सेना, बिना युद्ध, विकट सेना। उ०—साह री आवळीघड़ा सर सावळां, झीक पड़ कावळी रोप झंडां। अर गजां खून काटै बिना आवळी, खुलै बांसावळी तेग खंडां।—अज्ञात

आवळौ–वि०—१ टेढ़ा. २ दृढ़। उ०—अइयो विरोळै खळां गनीमां दूसरा 'अजा' आवळा हिलोळै दळां आसमांन।
—हुकमीचंद खिड़ियो

सं०पु०—योद्धा।

आवस–क्रि०वि० [सं० अवश्य] अवश्य, जरूर। उ०—जळण मांही जाळूंह, अमपति वेली दही आ। आवस उजवाळूंह, पंड होमे चारूं पखां।
—पा.प्र.

[सं० आवास] आवास, मकान। उ०—तस हूंता ताळीह, दे 'पेमां' समचो दई। आवस उताळीह, हव सिघ 'झरड़ो' हालियो।—पा.प्र.

आवस्यक–वि० [सं० आवश्यक] आवश्यक, जरूरी, सापेक्ष (वं.भा.)

आवस्यकता–सं०स्त्री० [सं० आवश्यकता] जरूरत, प्रयोजन, मतलब।

आवह–सं०पु० [सं० आहव] युद्ध। उ०—मह कहर आवह साचियौ, खूंदाळ खित रवि खांचियौ।—र.रू.

आवा–सं०पु० [सं० आपाक] कुम्हारों के मिट्टी के बर्तन आदि पकाने का गड्ढा, भट्टी।

आवागम–सं०पु० [सं० आवा+गमन] आवागमन। उ०—क्रम तीजै क्रम्मलां जाइ अकरम्म अळग्गा, चौथै क्रम चालतां भुवण आवागम भग्गा।—जग्गो खिड़ियो

कौमार व्रत धारण किया था। तत्कालीन सिंध के राजा ऊमर ने इनकी सुंदरता पर मोहित होकर इनसे विवाह करने का हठ किया किन्तु इन्होंने अपने चमत्कार व कौशल से उसे मार कर वहाँ भाटी वंश के क्षत्रियों का राज्य स्थापित कर दिया। अतः ये भाटी वंश की कुलदेवी मानी जाती हैं। इनके विषय में अनेकों किंवदंतियाँ व चमत्कार प्रसिद्ध हैं।]

पर्याय०—आई, चाळगनेची, डूंगरेची, तेमड़ाराय, भादरेची, मांमड़ियाई, सांगियाजी (सांगियाई)

आवड़णौ, आवड़बौ—क्रि०स० [सं० आपटन] १ मन लगना, सुहाना।
उ०— तौ विन घड़िय न **आवड़ै** रै छैला, जीव उतै इत देह।
—लो.गी.

[सं० आपतन] २ युद्ध करना। उ०—१ धर कारण वेहु **आवड़ै** छत्रधर, पाछट खग दाखवियौ पांण।—अज्ञात

उ०—२ ऊजेण खेत घड़ा वेहूं **आवड़ै,** नाळ नीहाव गाज नीसांण। सूर हरौ माथै सायजादां, राजा उलटियौ महरांण।—महेसदास आढ़ौ

आवड़दा—सं०स्त्री० [सं० आयुष्य] आयु, उम्र। उ०—भूरी सूभर भर भावड़दा भांगी, मोटी झोटी री **आवड़दा** मांगी।—ऊ.का.

आवड़ा—सं०स्त्री०—देखो 'आवड़'।

आवड़ियोड़ौ—भू०का०कृ०—१ मन लगा हुआ, सुहाया हुआ. २ युद्ध किया हुआ। (स्त्री० आवड़ियोड़ी)

आवड़ी—सं०स्त्री० [सं० आवृति] १ खेत का उतना भाग जितना एक हल से एक दिन में जोता जा सके. २ खेत की कल्पित लम्बाई का नाप जो लगभग १२५ बीघा होता है. ३ उम्र, आयु।

आवड़ौ—वि०पु०—भयंकर। उ०—आज रौ मांन दस गुणौ **आवड़ौ** वियौ विजपाल वायां थकां वावड़ौ।—महाराजा मांनसिंह रौ गीत

आवट—सं०पु० [सं० आवर्त] १ नाश, संहार। उ०—असमर गहै कलम किय **आवट,** वढ़तै घड़ा कंवारी वंद।—महारांणा सांगा रौ गीत
सं०स्त्री० [सं० आवर्त] २ इच्छा, चाह। उ०—प्राव्रट प्राव्रट री **आवट** मन मारै, थर नै पापां रा थर लेग्या लारै।—ऊ.का.
३ सेना. ४ युद्ध। उ०—धमाधम **आवट** कुढ़ंगां रीठ, रुकां पड़ सायक सेलां रीठ।—गो. रू.

आवटकूट, आवटकूटौ—सं०पु०यौ०—१ संहार, नाश। उ०—तस दीठा कमधज तणा, प्रसणां न दीठी पूठ। काछेलां वत कारणै, कीन्हौ **आवट कूट**।—पा.प्र. २ युद्ध।

आवटणौ, आवटबौ—क्रि०अ० [सं० आवर्त्त, पा० आवट्ट] १ गर्म होना, उबालना, औटा जाकर मात्रा में घट जाना। उ०—सांम उवेलै सांकड़ै, रजपूतां आरीत। जब लग पांणी **आवटै,** तब लग दूध नचींत।
—प्राचीन

(मि० आवट्टणौ) २ जलना कुढ़ना, क्रोध करना। उ०—सु मेरै मुंहडै तौ क्यूं फेर कहै नहीं पिण मन मांहे **आवटै**।—नैणसी
३ जलना, भस्म होना। उ०—जिकै हाडां रा सस्त्र रूप अग्नि में अचांणक ही **आवटिया**।—वं.भा. ४ युद्ध में मरना या मारना, नष्ट होना. ५ समाप्त होना, खतम होना। उ०—१ इन्द्र चवदै **आवटै** दिन एकण मांई।— केसोदास गाडण

उ०—२ दिवस केतला रहिज्यौ मांडि, भांजी मन आवस्यु छांडि। असी सहस तुरक **आवटया,** त्रीस सहस हींदू दळि घटया।
—कां.दे.प्र.

उ०—३ सैदां मुंडां मंडै सेफळौ, झेलीजै दीजै खग झोड़ै। आंमां-सांमां कटै **आवटै,** रोद घटै न मिटै राठौड़।
—दुरगादास राठौड़ रौ गीत

आवटणहार, हारौ (हारी), **आवटणियौ**—वि०।

आवटिओड़ो, आवटियोड़ो, आवटयोड़ौ—भू०का०कृ०।

आवटीजणौ, आवटीजबौ—क्रि०भाव वा०(रू०भे० आवट्टणौ)

आवटना—सं०पु० [सं० आवर्त्त, पा० आवट्ट] १ हलचल, उथल-पुथल. २ डांवाडोलपन, अस्थिरता।

आवटियोड़ौ—भू०का०कृ०—१ उबला हुआ. २ कुपित. ३ युद्ध में नष्ट हुआ हुआ।

आवट्ट—सं०पु०—युद्ध। उ०—हुवै **आवट्ट** खपै खळ खट्ट।—रा.ज. रासौ

आवट्टणौ, आवट्टबौ—क्रि०अ०—१ औटना, उबलना। उ०—नदी कूप नद सूकि, कूक कातर उर फट्टिय। **आवट्टिय** जळ जोर, सोर दुहूं ओर उपट्टिय।—ला.रा.
२ देखो '**आवटणौ**' (२, ३)

आवढ़—सं०स्त्री०—खेत का उतना भाग जितना एक हल से एक दिन में जोता जा सके। उ०—झूसर घायां गळ **आवढ़** कढ़ झांखै। नम नम सावढ़ नै नायां कण नांखै।—ऊ.का.

आवणू—वि०—आने वाला।

आवणौ, आवबौ—क्रि०अ०—देखो 'आणौ' (रू.भे.)

आवणहार, हारौ (हारी), **आवणियौ**—वि०—आने वाला।

आवद—सं०पु०—देखो 'आवद्ध'।

आवदा—सं०स्त्री०—आयु, उम्र (शा.हा.)

आवद्ध—सं०पु० [सं० आयुद्ध] आयुध, हथियार, अस्त्र-शस्त्र। उ०-वाहइ खड़ग वेसै विरत्त, रिणठाह रत्त **आवद्ध** रत्त।—रा.ज.सी.

आवद्ध-नख—सं०पु० [सं० नखायुद्ध] सिंह, शेर (ना.डिं.को.)

आवद्धि—सं०पु० [सं० आयुद्ध] आयुद्ध, अस्त्रशस्त्र, हथियार। उ०—**आवद्धि** टोपि ऊभरी अग्गि, खींटिया थाट वेवे खड़ग्गि।—रा.ज.सी

आवध—सं०पु० [सं० आयुध] १ आयुध, हथियार, अस्त्र-शस्त्र।
उ०—जाय जोगण वंद जाजा, प्रजुण वन्ही करे प्राजा। वहण **आवध** होम वाजा, रुपी दराजा रोस।—र.रू. २ लिङ्ग, उपस्थ।
सं०स्त्री०—आय, आमदनी। उ०—क्यूं ज्यांसू समवड़ करौ, दांन समापण दांम। दी धर **आवध** क्रोड़दत, जिण घर उनड जांम।
—बां.दा

आवधपांण—सं०पु० [सं० आयुद्धपाणि] गणेश (क.कु.बो)

२ अनिष्ट की भावना. ३ त्रास. ४ आतंक ।

आसंग-सं०स्त्री० [सं०] १ साथ, संग, संसर्ग. २ लगाव, संबंध. ३ आसक्ति, अनुराग. [रा०] ४ हिम्मत, साहस ।

उ०—अंगरेजां हूंता कर आसंग, अड़ियौ दळां अमांमै। ध्रुव री सूरज चांद जेतला, 'नाथू' राखण नांमै ।

—देवड़ा नाथूसिंह री गीत

५ सामर्थ्य । उ०—जरै सेखेजी कह्यौ, स्यावास जैसा भतीज, तौ विना इसी आसंग कुण करै ।—जैतसी ऊदावत री वात

६ वल, शक्ति, पराक्रम ।

आसंगणौ, आसंगवौ-क्रि०स० [सं० आसंज+घञ] १ साहस करना । उ०—रामदासजी नै किण ही आसंग्या नहीं ।—रा.सा.सं.

२ मन लगना, दिल बहलना । उ०—सुणि करहा ढोलउ कहइ, साची आखै जोइ। अग्गर जेहा झूंपड़ा, तउ आसंगै मोइ ।—ढो.मा.

३ स्वीकार करना (द.दा.) ४ अधिकार या वश में करना ।

उ०—इण रीति रा रजोगुण रै प्रकास उण समय री हाडौ राव किण ही न आसंगियौ ।—वं भा.

आसंगरू-वि०—समर्थ, शक्तिशाली । उ०—कर मेर अकव्वर साहनूं, सेत जोम नेनै मरू । मुरतांण महण हल्लोळियौ, दुरगदास आसंगरू ।

—रा.रू.

आसंगगिरी-सं०स्त्री०—साहस । उ०—किहीं रै कांधै चढ़ै, किहीं रा हाथ खेंचै, चपळता आसंगगिरी करवी करै ।—सूरे खींवे री वात

आसंगीर-वि०—आशावान, इच्छान्वित ।

आसंगो, आसंगौ-सं०पु०—१ आशा । उ०—सजन वसंति दूरै चिति नेहेण हुंति आसंगौ ।—ढो.मा. २ साहस, हिम्मत । उ०—आडी झगड़ौ चालै आसंगौ, वोलण वरतण मिलण समंद ।

—फतैसिंह वारहठ

२ वल, पुरुषार्थ । उ०—आसंगौ वणी सूं करै ऊदावतां रह्या ज्यांनै करै गयौ रोटी ।—प्रतापसिंह ऊदावत री गीत

३ भरोसा । उ०—स्यावास मोटा सगां, भली किरपा करता. हूं तौ थांहरै आसंगे आयौ थौ तींसूं इतरी अरज लिखी थी सौ भली पीठ राखी ।—अमरसिंह राठौड़ री वात

आस-सं०स्त्री० [सं० आशा] आशा, उम्मीद, लालसा, कामना, भरोसा । कहा०—१ आसा अमर है—आशा कभी नहीं मरती; आशा सदा वनी रहती है. २ आसा, जठै करै भगवांन वासा ।

३ आसा जठै वासा—आशा में भगवान निवास करते हैं; आशा कभी नही मरती, सदा वनी रहती है. ४ आशा रैणी—गर्भ रहना. ५ आसा ही आसा में मिनख जीवै—आशा ही आशा में मनुष्य जीवे; मनुष्य को आशा सदा लगी रहती है; मनुष्य का जीवन आशा के ही आधार पर है. ६ खोळै मांयलै नै नांख नै पेट मांयलै री आस रागै—वर्तमान में जो प्राप्त है उसको छोड़ कर भविष्य की आशा करना ।

क्रि०प्र०—करणी, राखणी, पूरणी, रैणी, होणी ।

उ०—तज जग झूठी तास, आस राख राघव अठी । प्रभु मेटे भव पास, भजन कियां सूं भैरिया ।—राजा वळवंतसिंह

(रू०भे० आसा)

२ दिशा. ३ कांच ।

[सं० आस्य] ४ मुंह, मुख (अ.मा.) [रा०] ५ कमजोर या दुर्वल गाय के वछड़े का प्रसव होने के पश्चात् का गर्भाशय का भाग जो वाहर निकल जाता है. ६ छाछ (मट्ठा) को विना हिलाए कुछ देर पड़ी रखने पर उस पर ऊपर आने वाला पानी या पानी के समान द्रव्य पदार्थ जो छाछ से अलग सा मालूम पड़ता है.

७ वेग (अ.मा.) ८ लड़ाई, युद्ध (ह.नां.) ९ तांवा (अ.मा.) १० एक राग विशेष । उ०—सरी सरी सपोसयं, मुताल मालकोसयं। मिठास आस मंजरी, गरी गरी सगुज्जरी ।—रा.रू.

आसआस-सं०स्त्री० [सं० आश्रयाश] अग्नि (अ.मा.)

आसइखु-सं०पु०—धनुष ।

आसउदर-सं०स्त्री०—अग्नि (अ.मा.)

आसकंद-सं०पु० [सं० अश्वगंधा] एक प्रकार की घास विशेष जो छोटे-छोटे क्षुपों में होता है जो औषधि में प्रयुक्त होता है ।

आसक-सं०पु० [अ० आशिक] १ प्रेम करने वाला मनुष्य, अनुरक्त पुरुष, आसक्त । उ०—मेंनत मजदूरी मासक छणमोला । विलखा विगताळू आसक अणवोला ।—ऊ.का. २ पवन, वायु (अ.मा.)

आसकर-वि०—याचक । उ०—सागर भुज भूप आसकर संवर ।

—क.कु.वो.

आसका-सं०स्त्री० [सं० आस्यका] १ विभूति. २ सिद्ध महात्माओं के धूनी की राख अथवा देवी-देवताओं व भगवान के सामने रखे गये धूपदान की राख ।

आसकारियौ-वि०—आशा करने वाला । उ०—वाकी तीनूं ही भाई मुनसवदार हुवा । कोई किहीं भाई री चाकर आसकारियौ नहीं हुवौ ।—पदमसिंह री वात

आसक्त-वि० [सं०] अनुरक्त, लीन, लिप्त, मोहित, मुग्ध । (वं.भा.) उ०—अर वार-वार सिराहि भोगां में आसक्त आळसी और अवनीसां रा आसय में सूती वीररस जगायौ ।—वं भा.

आसक्ति-सं०स्त्री० [सं०] अनुरक्ति, लगन, इश्क ।

आसगंध-सं०पु०—अश्वगंधा (अमरत)

आसगीर-वि०—आशावान । (मि० आसागीर)

आसगिरी-सं०स्त्री०—आशा, उम्मीद ।

वि०—आशा या उम्मीद करने वाला ।

आसचरज-सं०पु० [सं० आश्चर्य] अपूर्व, विस्मय, अद्भुत, विचित्र, अलौकिक ।

आसण, आसन-सं०पु०—१ घोड़े व ऊंट की पीठ का वह स्थान जहां सवारी करते हैं अथवा जीण या चारजामे पर वैठने के स्थान पर रखा

आवागमण, आवागवण, आवागौन–सं०पु० [सं० आवागमन] १ आना-जाना, आमदरफ्त. २ बार-बार जन्म लेना और मरना ।

आवाचि, आवाची–सं०स्त्री०—दक्षिण दिशा (वं.भा.)

आवाज–सं०स्त्री०—१ शब्द, ध्वनि, नाद. २ बोली. ३ वाणी. ४ शोर ।

क्रि०प्र०—करणी, पड़णी, मारणी, होणी ।

आवाजणौ, आवाजबौ–क्रि०अ०—आवाज करना । उ०—अरावां आरंभ सोन आसमांन **आवाजियौ** ।—हुकमीचंद खिड़ियौ

आवाजांण–सं०स्त्री०—आना-जाना, बार बार जन्म लेना और मरना । आवागमन । उ०—रता तौ नांम जकै रहमांण, जिकां नह थाये **आवाजांण** ।—ह.र.

आवाजि–सं०स्त्री० [फा० आवाज] देखो 'आवाज' (प्रा.प्र.—रू०भे०)

आवाजियोड़ौ–भू०का०कृ०—आवाज किया हुआ । (स्त्री० आवाजियोड़ी)

आवांन–सं०पु [सं० आव्हान] आव्हान । उ०—रखेसरां जळ रौ कुंभ १ भरने रखेसर इंद्र रौ **आवांन** जपने मन्त्र भणने कियौ ।

—रा.वं.वि.

आवारागरद–वि० [फा० आवारागर्द] निकम्मा, व्यर्थ में इधर-उधर घूमने वाला ।

आवारागरदी–सं०स्त्री० [फा० आवारागर्दी] व्यर्थ में इधर-उधर घूमना, शोहदापन ।

आवारौ–वि० [फा० आवारा] १ निकम्मा, व्यर्थ में इधर-उधर घूमने वाला. २ शोहदा, लुच्चा. ३ गुंडा ।

आवास, आवासि–सं०पु० [सं०] १ महल, घर, प्रासाद । उ०—हाटकमय **आवास**, जटित मांणिक मोताहळ । दर परदे जरदोज, सयन अतलस्सां मुखमल ।—ला.रा. २ आसमान, आकाश (डि.नां.मा.) ३ निवास, रहने का भाव । उ०—सिला तखत केसर चमर, अनड़ दरी **आवास** । प्रगट लियां अगराज पद, सादूळा स्यावास ।—बां.दा. [सं० आभास] ४ आभास, चमक । उ०—वरखा रितु लागी, विरहणी जागी, आभा झरहरै, बीजां **आवास** करै ।—रा.सा.सं. ५ चिन्ह, लक्षण । उ०—रिखीस्वर की ओपमा कुचां ने दी । सु ए **आवास** तैं··· ।—वेलि. टी.

आवाह–सं०पु० [सं० आहव] युद्ध । उ०—अन मुड़तां जुड़तां **आवाहे**, सिरदारां मोहरे समसेर ।—गोकुळदास सक्तावत

आवाहण, आवाहन–सं०पु० [सं० आह्वान] १ आह्वान, बुलावा । उ०—आया अन भूपत **आवाहण**, भुजंगे भजंग तजे वळ भंग ।

—महारांणा प्रतापसिंह रौ गीत

२ मंत्र द्वारा किसी देवता को बुलाने का कार्य । उ०—होम कराड़ि भणाड़ि विप्रां हद, जपि **आवाहन** सूर इसट जद ।—वचनिका

आवाहणौ, आवाहबौ–क्रि०स०—१ आव्हान करना. २ प्रहार करना । उ०—अळै होवै भड़ भिड़ज रिणताळ लेखा परवै, खत्रीपत भीम **आवाहते** खाग ।—चतरौ मोतीसर. ३ घोषणा करना ।

आवाहणहार, हारौ (हारी), **आवाहणियौ**–वि०—आह्वान करने वाला, प्रहार करने वाला ।

आविढ़ा–वि०—टेढ़ा, बांकुरा, वीर । उ०—आंवळा भूल रावत पड़ै **आविढ़ा**, विढ़ा संग सांवळा सात वीसी ।—गिरवरदांन सांदू

आविद्धा–सं०पु०—तलवार को अपने चारों ओर घुमा कर विपक्षी का प्रहार रोकने का तलवार के बत्तीस हाथों के अंतर्गत एक हाथ ।

आवियोड़ौ–भू०का०कृ०—आया हुआ । (स्त्री० आवियोड़ी)

आविरभाव–सं०पु० [सं० आविर्भाव] प्रकाश, प्राकटच, उत्पत्ति ।

आविरहोतर–सं०पु० [सं० आविर्होत्र] प्रसिद्ध नौ योगेश्वरों में से एक योगेश्वर का नाम ।

आविल–वि० [सं०] गंदा, गदला ।

आविस्कार–सं०पु० [सं० आविष्कार] प्राकटच, किसी नई वस्तु को ईजाद करना ।

आविस्कारक–वि०—आविष्कार करने वाला ।

आविहोत्र–सं०पु० [सं० आविर्होत्र] प्रसिद्ध नौ योगेश्वरों में से एक योगेश्वर का नाम ।

आवेग–सं०पु० [सं०] १ जोश, मन की झोंक ।

क्रि०प्र०—आणौ, करणौ, होणौ ।

२ रस में एक प्रकार का संचारी भाव । उ०—**आवेग** हरखतां चपळ आस, तत सिमरण आळस मरण तास ।—क.कु.बो.

आवेदन–सं०पु० [सं०] निवेदन, प्रार्थना ।

आवेदनपत्र–सं०पु० [सं०] वह पत्र जिस पर लिख कर कुछ निवेदन किया जाय. प्रार्थना-पत्र ।

आवेरणौ, आवेरबौ–क्रि०स०—संभालना । उ०—अरु सं० १७३९ माराज पदमसिंघ जादमराय दखणी सूं झगड़ौ कर कांम आया तिण री खबर माराज नूं हुई तद उणारौ रसालौ सारौ **आवेरियौ** ।

—द.दा.

आवेस–सं०पु० [सं० आवेश] १ प्रवेश. २ चित्त की प्रेरणा, वेग, जोश. ३ भूत-प्रेतादि बाधा. ४ मृगी रोग. ५ अहंकार. ६ क्रोध ।

आव्रत, आव्रति–वि० [सं० आवृत्त] आवृत्त, छिपा हुआ, घिरा या लिपटा हुआ । उ०—ओखा मंडळ विमळ थळ, जळ **आव्रत** जगवंद ।

—रा.रू.

सं०स्त्री० [सं० आवृत्ति] १ बार-बार किसी वस्तु का आना । उ०—सरवग्य सेस **आव्रति** असेस, सब सक्तिमांन पूरन प्रधांन ।

—ऊ.का.

२ बार बार किसी बात का अभ्यास. ३ पढ़ना, पाठ करना ।

आसंका, आसंक्या–सं०स्त्री० [सं० आशंका] १ डर, भय, संदेह, शक । उ०—साहिब अधर धरचा सब दूजा, मिळता जांण्यां नाहीं, हमकूं कहौ पढ़ौ समझावौ या **आसंक्या** मन मांही ।—ह.पु.वा.

आसतीन-सं०स्त्री०—देखो 'अस्तीन'।

आसतीपण, आसतीपणौ-सं०पु०—१ बहादुरी। उ०—पेखै आप हुंता है उजीर री आसतीपणौ, उरां गुणां गंभीर री सोजवौ अगाघ।
—रांमदांन भादौ

२ सत्यता. ३ अस्तित्व. ४ आस्तिकता।

आसते-क्रि०वि० [फा० आहिस्ता] धीरे-धीरे, आहिस्ता, शनैः शनैः।

आसथांन-सं०पु० [सं० आस्थान] बैठने की जगह, सभा, समाज, ठौर। (अ.मा.)

आसया-सं०स्त्री०—देखो 'आसता'।

आसना-सं०स्त्री० [फा० आशना] चाहने वाली, प्रेमिका।

आसनाई, आसनाही-सं०स्त्री० [फा०] अनुचित प्रेम पर स्त्री से किया जाने वाला प्रेम। उ०—इसी सांची आसनाही थी सौ सांची निवाही।—पदमसिंह री वात

आसनौ-सं०पु० [सं० आश्रयण] आश्रयस्थल, शरणस्थल।
उ०—ऊगै तांतौ पगां आसनौ, सुत्रिख करै ते आप समौ।
—दुरसौ आढ़ौ

क्रि०वि० [सं० आसन्न] निकट, नजदीक। (मि० आसन्नौ)

आसन्न-वि० [सं० आ+सद्+क्त] १ निकट आया हुआ, समीपस्थ, पास बैठा हुआ. २ शेष. ३ निकटवर्ती। (मि० आसन्नौ)
क्रि०वि०—निकट, समीप।
सं०पु०—अवसान।

आसन्नता-सं०स्त्री०—सामीप्य, निकटता।

आसन्नौ-क्रि०वि० [सं० आसन्न] निकट। उ०—स्री आवै जिम जिम आसन्नौ, तिम तिम मुख धारण तक्रंति।—वेलि.

आसप-सं०पु० [सं० आसव] बढ़िया शराब विशेष। उ०—पीलचोसां अढ़ारदांनियां री रसनाई लागि रही छै। तेज पुंज आसप आरोगीजै छै।—रा सा.सं.

आसपण, आसपणौ-सं०पु०—आस्तिकपन, आस्तिक होने की क्रिया या भाव।

आसपद-सं०पु० [सं० आस्पद] घर, सदन (ह.नां.)

आसपास-क्रि०वि०—१ चारों ओर. २ इधर-उधर. ३ निकट, समीप, पास।

आसपूरणौ-सं०पु०—एक प्रकार का शुभ घोड़ा (शा.हो.)

आसव-सं०पु० [सं० आसव] १ शराब, मदिरा. २ अर्क।

आसमांण, आसमांन-सं०पु० [फा० आसमान] १ आकाश, गगन, व्योम।
कहा०—आसमांन में बीजळी चमकै अर गधेड़ी लात वावै—आसमान में बिजली चमकती है और गधी लात मारती है। असंबंधित कारण से जब कोई भय खाता है तब यह कहावत कही जाती है। स्वार्थ में क्षति पहुंचने की संभावना से अकारण ही भय खाना पड़ता है।
२ स्वर्ग, देवलोक।

आसमांणी, आसमांनी-वि० [फा० आसमानी] आकाश संबंधी, आकाश के रंग का हल्का नीला, दैवी।

आसमुद्र-क्रि०वि० [सं०] समुद्र तक, समुद्रपर्यन्त।

आसमेद, आसमेध-सं०पु० [सं० अश्वमेध] अश्वमेध। देखो 'अश्वमेध'।
उ०—आसमेद जाग रा अमाप पांव देत आघा, आछै खांप हूंत देत ओनागा अत्रीठ।—बदरीदास खिड़ियौ

आसमेघी-देखो 'आसमेध'। उ०—राजा पांडुवां भी आसमेघी धारि लीनां। लोही की सन्योडी भूमिका नै पिंड दीना।—शि.वं.

आसय-सं०पु० [सं० आशय] १ आशय, अभिप्राय, मतलब, तात्पर्य. २ नीयत. ३ वासना, इच्छा. ४ बुद्धि (नां.मा., ह.नां.)
[सं० आश्रय] ५ घर (ह.नां.)

आसर-सं०पु०—१ अंत. २ असुर. ३ श्मशान भूमि. ४ अवसर, मौका। उ०—घूम मुसांणां में निसवासुर धावै। अंतेष्ठी आसर टांणा लख आवै।—ऊ.का.

आसरम-सं०पु० [सं० आश्रम] आश्रम (वरसगांठ)

आसरित-वि० [सं० आश्रित] १ सहारे पर टिका या ठहरा हुआ. २ भरोसे पर रहने वाला. ३ अधीन व्यक्ति. ४ सेवक, नौकर।

आसरियौ-सं०पु० (अल्पा०) [सं० आश्रम+यौ-रा०प्र०] देखो 'आसरौ'
उ०—अपणै आसरियै अतळी दिन ऊगौ, पीहर सासरियै पतळी पुन पुगौ।—ऊ.का.

आसरीवचन, आसरीवाद, आसरीवाद-सं०पु० [सं० आशीर्वचन, आशीर्वाद] मंगल-कामना सूचक वाक्य, आशिष, दुआ, मंगल-प्रार्थना।

आसरौ-सं०पु० [सं० आश्रय] १ सहारा, आश्रय, अवलंब, भरोसा, आशा। उ०—१ क्या ओछै का आसरा, क्या दुरजण की प्रीत।
—अज्ञात

उ०—२ आंतड़ा तास पहरै उवर, दूर कियौ दुख दास रौ। राखजे नेक आलम रटै, एक उणी रौ आसरौ।—र.रू.
२ जीवन या कार्य-निर्वाह का हेतु. ३ किसी से सहायता पाने का निश्चय। [सं० आश्रम] ४ मकान, घर। उ०—टप-टप चूवै आसरौ, टप-टप विरही नैण। झप-झप पळका बीज रा, झप-झप हिवड़ौ सैण।—बादळी ५ आश्रयदाता, सहायक. ६ शरण, पनाह, ७ प्रतीक्षा, इन्तजार. ८ अनुमान, अन्दाजा (द.दा.)

आसल-सं पु०—१ राठौड़ राजपूतों की एक उप शाखा. २ हमला, आक्रमण। उ०—देवीदास जीवतौ जोधपुर गयौ तौ रावजी नूं आपां ऊपर जरूर ले आवसी, इणनूं मार लेणौ, आसल करौ। सरफुद्दीन जैमल फौज ले चढ़िया।—बां दा.
सं०स्त्री०—३ अग्नि (अ.मा.)

आसव-सं०पु० [सं०] १ भभके से चुवाया गया मद्य, केवल फलों के खमीर को निचोड़ कर बनाया गया, औषधियों के खमीर को छान कर बनाई गई औषधि, मदिरा। उ०—आंमिक्ख पांन कपूर आसव, पुहवि नृप सुख पेखए।—रा.रू. २ अर्क।

जाने वाला उपकरण। उ०—पड़्या कई आसण जीण उपेत। चढ़्या असवार पड़्या, अणचेत।—मे.म. [सं० आसन] २ स्थिति, बैठक, बैठने की विधि. ३ बैठने की वस्तु, वह वस्तु जिस पर बैठा जाय, पीढ़ा. ४ योगियों के बैठने की ८४ विभिन्न विधियां या रीतियां—

१ अंगुस्ठासण. २ अरधपादासण. ३ अव्वासण. ४ अरधकूरमासण. ५ अरधसवासण. ६ अपनासण. ७ आनन्दमंदिरासण. ८ उस्ट्रासण. ९ उरधवसंयुक्तासण. १० उत्थित विवेकासण. ११ उरधवधनुसासण. १२ उत्कटासण. १३ उपधानासण. १४ एकपाद व्रक्षासण. १५ कुक्कुटासण. १६ कूरमासण. १७ कंदपीड़नासण. १८ कोकिलासण. १९ कारमुकासण. २० क्षेमासण. २१ खंजनासण. २२ गोरक्षासण. २३ गरुड़ासण. २४ ग्रन्थिभेदनासण. २५ गरभासण. २६ चक्रासण. २७ ज्येस्ठिकासण. २८ ताडासण. २९ त्रिस्तंभासण. ३० त्रिकोणासण. ३१ दक्षिणपादअपानगमनासण. ३२ दक्षिणवक्रासण. ३३ दक्षिणसाखासण. ३४ दक्षिणतरकासण. ३५ दक्षिणचतुरथासपादासण. ३६ दक्षिणपादसिरासण. ३७ दक्षिणजान्व्हासण. ३८ द्विपादपारस्वासण. ३९ द्रढ़ासण. ४० धीरासण. ४१ धनुसासण. ४२ निस्वासण. ४३ पद्मासण. (i) बद्धपद्मासण (ii) अरधपद्मासण (iii) उरधपद्मासण (iv) वामारधपद्मासण. ४४ पवनमुक्तासण. ४५ पस्चिमतानासण. ४६ पूरणपादासण. ४७ पूरवतरकासण. ४८ प्रारथनासण. ४९ परवतासण. ५० प्राणासण. ५१ पवनासण. ५२ भुजंगासण. ५३ मंडूकासण. ५४ मयूरासण. ५५ मत्स्येंद्रासण. ५६ मत्स्यासण. ५७ योन्यासण. ५८ लोलासण. ५९ वांमहस्तचतुस्कोणासण. ६० वांमपादअपानगमनासण. ६१ वांमसाखासण. ६२ वांमजान्वासण. ६३ वांमवक्रासण. ६४ वांमअरधपादासण. ६५ वांमहस्तभयंकरासण. ६६ वांमभुजासण. ६७ वातायनासण. ६८ वांमदक्षिणस्वासगमनासण. ६९ वीरासण. ७० वांमदक्षिणपादासण. ७१ व्रक्षासण. ७२ वांमसिद्धासण. ७३ सवासण. ७४ सिद्धासण. ७५ स्थिरासण. ७६ स्वस्तिकासण. ७७ स्थितविवेकासण. ७८ सिंहासण (व्याघ्रासण) ७९ सलभासण. ८० सरवांगासण. ८१ समानासण. ८२ हस्तभुजासण. ८३ हस्तव्रक्षासण. ८४ हंसासण। उ०—पलकां रै ऊपर पग धर आजौ तौ हिवड़ा रै आसण आप विराजौ।—गी.रां. ५ कामशास्त्र के अंतर्गत सुरति (संभोग) की विविध रीतियां. ६ योग के अष्टांग योग का तीसरा अंग। उ०—अर जम नियम आसण प्रांणायाम प्रत्याहार धारणा ध्यांन सातूं ही अंगां रौ जय करि अस्टम अंग समाहित भाव में निस्चळ होय आपही निरुपाधिक ध्येय री रूप धार लीधी।—वं.भा. ७ निवास, डेरा. ८ चूतड़. ९ हाथी का कंधा जिस पर महावत बैठता है। उ०—इभ चाकर माकर उछट उठि आसण आया, वारी बाहर लेण कौ आलांण छुड़ाया।—वं.भा. १० सेना का शत्रु के सम्मुख डटा रहना. ११ कुश या ऊन का बना बैठक जिस पर बैठ कर पूजा की जाती है. (अल्पा० आसणियौ) १२ सवारी, वाहन। उ०—तंती नाद तंबोळ रस, सुरह सुगंधी जांह। पग मोजां आसण तुरी, किसौ दिसावर त्यांह।—ढो.मा.

आसणियौ—सं०पु०—देखो 'आसण'। उ०—धणियां तणै प्रव मरण सुधारण, रणदळ बीच प्रहारण रूक। रिम हणिया आसणियै वारण, चारण हूरम आयौ चूक।—करणीदांन गाडण रौ गीत

आसणोट—सं०पु०—घोड़े के पीठ का तंग। उ०—सचोड़ा उरां सांकड़ा आसणोटां, मंडै पीठ मंचा जिसा गात मोटां।—वं.भा.

आसत—वि०—आस्तिक। उ०—सहु नासत सीवन सोध करै, वहु आसत जीवन बोध करै।—ऊ.का.

सं०स्त्री० [रा०] १ शक्ति, बल। उ०—आसत अनै करांमत अधकौ भगीरथ सरखौ कुळ भांण। कर अखियात राखियौ कमधज, सुजड़ी रै ओळै सुरतांण—दुरगादास राठौड़ रौ गीत। २ अभिलाषा. [सं० आस्था] ३ सहारा, उम्मेद, विश्वास. [सं० अस्तित्व] ४ अस्तित्व, स्थिति। उ०—मही विच सही आसत अजै मोकळी। महीपत तौ जसा मही मांहे।—अज्ञात

क्रि० [सं० अस्ति] है। [सं० सत्ता] सत्ता। उ०—गाय दुहता आंगणे सुभ साह तारे सर, हाथ वधारे वीस हथ आसत इळ ऊपर।—क.च.

आसता—सं०स्त्री० [सं० आस्था] १ श्रद्धा, आदर (अ.मा.) २ विश्वास. ३ सभा, बैठक. ४ अंगीकार. आलंबन।

आसति—सं०स्त्री० [सं० आस्तिकता] १ आस्तिकता. [सं० आस्था] २ आस्था। उ०—आदर विण भगति, देव विण आसति, विण भायां संसार विखौ।—त्याग प्रसंसा रौ गीत. ३ शक्ति, बल, पराक्रम। उ०—अपूरब आसति लोवड़ियाळ, न्रपा तव तास न आसत काळ।—मे.म. ४ सत्यता। उ०—पह समराथ हाथ जग ऊपरि, क्यावरि करण करम रौ कोट। एकणि रहणि वडी मति आसति, सांमां सोह चढ़ावण साख।—ल.पि.

आसतिक—वि० [सं० आस्तिक] वेद, ईश्वर और परलोकादि पर विश्वास करने वाला, ईश्वर के अस्तित्व को मानने वाला।

आसती—क्रि० [सं० अस्ति] है। अस्तित्व का भाव।

वि०—१ समर्थ, शक्तिशाली (रा.रा.) २ आस्तिक. ३ अच्छी, सुंदर, उत्तम (डि.को.)

आसतीक—वि० [सं० आस्तिक] देखो 'आसतिक'।

सं०स्त्री०—शूरता, वीरता। उ०—लीधां आसतीक 'रेणसिंग', ऊचारै घड़ा री लाडौ। ऊवारौ भड़ाळां नांम, चाढ़ौ कुळां ग्रंथ।—कमजी दधवाड़ियौ

आसावरीयांम–सं०पु०—एक प्रकार का घोड़ा (शा.हो.)

आसिक–वि० [अ० आशिक] इश्क या प्रेम करने वाला, प्रेमी; अनुरक्त। उ०—फकीर की लड़की साहिबां से आसिक रह्या।—रा.सा.सं.

आसिका–सं०स्त्री०—देखो 'आसका'। उ०—पूजा करी कुसम नड नंदनि, एक राउत पाए लागइ। आस्यापुरी कान्हजी पाड़ै, कही आसिका मांगइ।—कां.दे.प्र.

आसिख–सं०स्त्री०—आशिष, आशीर्वाद। उ०—विरुदावळि इम अक्खि दे आसिख मुद पाय।—वं.भा.

आसि-पासि–क्रि०वि०—आसपास। उ०—जैसे मध्य नायका तौ मांणिक छै अर कुंदण रैं वीचि जड़ची छै, आसि-पासि हीरा लागा छै।—वेलि. टी.

आसिरवाद–सं०पु०—देखो 'आसिख'।

आसिरौ–सं०पु०—देखो 'आसरौ'। उ०—ग्रौर आसिरौ ना म्हारौ थां विण, तीनूं लोक मंझार।—मीरां

आसिस–सं०स्त्री० [सं० आशिष] देखो 'आसीस' (रू०भे०)

आसी–सं०स्त्री०—सर्प की दाढ़। (मि० आसीविख)

आसीगंणौ, आसिगंवौ–क्रि०अ०—मन लग ना, दिल वहलाना।

आसीन–वि० [सं०] १ बैठा हुआ, विराजमान. २ उपस्थित. ३ स्थित।

आसीरवाद, आसीरवाद–सं०पु० [सं० आशीर्वाद] किसी के कल्याण की इच्छा प्रकट करना. २ दुआ, आशिष।

आसीविख–सं०पु० [सं० आशीविष] सर्प, सांप (ह नां)

आसीस–सं०स्त्री०[सं० आशिष] किसी के कल्याण की इच्छा प्रकट करना, दुआ, आशीर्वाद। उ०—तांहरैं रांणियां पिण आसीस कहायनैं नाळेर पांन वीडा मेल्हिया।—ढो.मा.
(अल्पा० आसीसड़ी)

आसीसड़ी–सं०स्त्री०—देखो 'आसीस'। उ०—आव सुहागण लाकडी, तेरा पड़िया काज। माता दी आसीसड़ी, सो दिन आया आज।
—अज्ञात

आसीसणौ, आसीसवौ–क्रि०स०—आशीर्वाद देना। उ०—आसीसै रूपक-वंध उचारि।—रांमरासौ

आसीसियोड़ौ–भू०का०कृ०—आशीर्वाद पाया हुआ।
(स्त्री० आसीसियोड़ी)

आसु–क्रि०वि० [सं० आशु] जल्दी, शीघ्र, तत्काल, झटपट।
उ०—अभगि अगि के अगे सुभग भगते सुनें, उदग पग विरिग आसु पग लग्गते उनें।—ऊ.का.
सं०पु०—१ वर्षाकाल में उत्पन्न होने वाला एक प्रकार का धान्य. [सं० असु] २ प्राण. [सं० आश्विन] आश्विन मास। उ०—तोय नहर आसु आवंतां, छोळं समट थक नीर छजे। वट घाटां नद नांणां वाळी, आटां पाटां वहै अजे।—महारांणा भीमसिंह री गीत

आसुकवि–सं०पु० [सं० आशुकवि] तत्क्षण कविता करने वाला कवि।

आसुग–सं०पु० [सं० आशुग] १ वाण, शर (ह.नां.) २ वायु (ह.नां.) ३ मन।
वि०—द्रुतगामी।

आसुगासन–सं०पु० [सं० आशुगासन] धनुष। (मि० आसुग)

आसुती–सं०पु०—शरावविशेष, आसव।

आसुतोस–वि० [सं० आशुतोष] जो शीघ्र संतुष्ट हो जाय।
सं०पु०—महादेव का एक नाम।

आसुधर–सं०स्त्री०—तलवार (ना.डि.को.)

आसुपाळौ–सं०पु०—अशोक वृक्ष।

आसुर–सं०पु० [सं० असुर] १ असुर, राक्षस। उ०—आसण गूढ कहं पण आसुर, ज्याग विधुंसे जावे।—र.रू.
[सं० असुर] २ यवन, मुसलमान। उ०—खड़ौ कोई मुज्झतणौ रिण खेत, साझै औ आसुर पुत्र समेत।—गो.रू.
३ आठ प्रकार के विवाहों के अंतर्गत एक प्रकार का विवाह.
[सं० अस्त्र] ४ रक्त (अ.मा.)
वि०—असुर संबंधी।

आसुरांण–सं०पु०—१ मुसलमान, बादशाह। उ०—१ आसुरांण रोहता दोहता देवी 'वेद' आळी मोहता अभेदवाळी डाढ़ाळी नमांम।
—नवलजी लाळस
उ०—२ राजवंस खोय मत आसुरांण, इळ देह नास मत कर अजांण।—शि.सु रू.

आसुरी–वि० [सं०] असुर संबंधी, राक्षसी (रा.रा.)
उ०—असुरैं माया आसुरी, गरजंतैं घणगत्ति।—रांमरासौ
सं०स्त्री०—१ संध्या (अ.मा.) २ पिशाचिनी, राक्षसी।
उ०—रगता सेता रणा, नमौ मा क्रसना नीला, सीकोतर आसुरी, सुरी सुसिला गरवीला।—देवि.

आसुरीधरम–सं०पु०—१ इस्लाम धर्म। उ०—खोयौ आसुरीधरम आपौ विगोयौ तें मीरखांन।—नवलजी लाळस २ राक्षसी धर्म. ३ असुरता।

आसूं–सं०पु० [सं० आश्विन] आश्विन, क्वार का महिना।
उ०—भरियौ भादरवौ खाली पड़ भागौ। लगतां आसूं में आंसूं झड लागौ।—ऊ.का.
कहा०—सासू जितरैं सासरौ, आसू जितरैं मेह—जब तक सास तब तक ससुराल; जब तक आश्विन मास तब तक वर्षा की उम्मीद बनी रहती है।
क्रि०वि० [सं० आशु] जल्दी, शीघ्र, तुरंत।

आसूग–सं०पु० [सं० आशुग] देखो 'आसुग' (रू०भे०)

आसूदगी–सं०स्त्री०—संपन्नता, तृप्ति।

आसूदी–वि०—देखो 'आसूदौ'।

आसूदौ, आसूदोहौ–वि०—१ देखो 'आसूधौ' २ जिसे किसी प्रकार की थकान न हो। उ०—घोड़ी जाय संभाळी—आसूदी छै कै दौड़ियौ छै।—जलाल बूबना री वात

आसवार-सं०पु०—सवार। उ०—आसवारां छोगा झोका लागै आसवार।—रांमकरण महडू

आसवारी—देखो 'सवारी'।

आससणौ, आससबौ-क्रि०स०—आशीर्वाद देना, आशिष देना।

आसांण, आसांन-वि० [फा० आसान] सहज, सरल, सुगम।
उ०—औरां नै आसांण, हाकां हरवल हालणौ।—केसरीसिंह बारहठ
[फा० एहसान] एहसान, उपकार।

आसांणी, आसांनी-सं०स्त्री०—सरलता, सुगमता, सुभीता।
वि०—सरल, सुगम।

आसांम-सं०स्त्री०—असम, भारत के उत्तर-पूर्व में एक प्रान्त, कामरूप (प्राचीन)।

आसांमी-सं०पु० [फा०] १ अभियुक्त. २ देनदार. ३ काश्तकार. ४ धनवान या प्रतिष्ठित व्यक्ति। उ०—सुण नवकोट प्रगटियौ स्वांमी. ऐ भेळा मोटी आसांमी।—रा.रू. ५ वह जिसने लगान पर जोतने के लिये खेत लिया हो. ६ व्यक्ति। उ०—तरै राड़ हुई। तरै आसामियां कांम आई तिण री विगत।—रा.वं.वि.

आसांमीदार-सं०पु०—मुखिया, प्रधान। उ०—१२४२ आसांमीदार कांम आया ज्यांरा राजपूत ७०१ कांम आया, ३०० घोड़ा वढ़िया, ऐक हाथी मारांणौ।—वां.दा.ख्या.

आसा-सं०स्त्री० [सं० आशा] १ देखो 'आस' २ दिशा (अ.मा.) ३ दक्ष प्रजापति की एक कन्या. ४ एक देवी का नाम—आशापूर्णा। ५ गर्भ। उ०—वों समै भूंडण रितुमती हुई थी सौ भूंडण नै आसा रही। महीना पूरा हुआ जद चौल्हर पांच जाया।
—डाढ़ाळा सूर री वात

आसाआस-सं०स्त्री० [सं० आश्रयाश] अग्नि, आग (नां.मा.)

आसाऊ-वि०—आशावान, उम्मीदवार। उ०—चौकी संगार ढुळतां चमर, भलै भार गजवंध भति। 'अभसाह' वखत आसाउआं, वप अथाह आयौ तखत।—रा रू.

आसागज-सं०पु० [सं० आशागज] दिक्पाल, दिग्पाल। उ०—खूब वजाई खग्ग नै, धारा धमचक्कै, कुक्कै कोड़ कराहिकै कमठेस मचक्कै। नीसासा नासानुगी आसागज तक्कै, भोगी भोग न झिलि सकै भूमि अकवक्कै।—वं.भा.

आसागीर-वि०—देखो 'आसावांन'। उ०—नोछावर भूप की तमांम सैर कीनी। आसागीर पूरणय नांम रीझ लीनी।—शि.वं.

आसाढ़-सं०पु०—ज्येष्ठ मास के बाद और श्रावण मास के पहले आने वाला एक महीना।
कहा०—१ आसाढ़े धुर अस्टमी, चंद उगंतौ होय। काळौ व्है तौ करवरी, धोळौ व्है तौ सुगाळ—आषाढ़ मास के कृष्णाष्टमी को आकाश की ओर चंद्रमा को देखना चाहिये। अगर श्यामवर्ण है तो दुष्काल पड़ेगा और अगर सफेद है तो फसल अच्छी होगी. २ सावण तौ सूतौ भलौ, ऊभौ भलौ आसाढ—आषाढ़ शुक्ला प्रतिपदा के दिन का चंद्रमा जो उदय काल में सीधा खड़ा हो और श्रावण मास में यही चंद्रमा पड़ा उदय हो तो जमाना ठीक होने की संभावना रहती है।

आसाढ़ाऊ, आसाढ़ी-सं०पु०—आसाढ़ का महीना।
वि०—आषाढ़ मास का, आषाढ़ मास संबंधी।
सं०स्त्री०—आषाढ़ मास की पूर्णिमा।

आसापाळौ-सं०पु०—अशोक वृक्ष (रा.सा.सं.)

आसापुरा-सं०स्त्री—बरवड़ी देवी (चारण कुलोत्पन्न) का एक नाम।
उ०—हूं इज आसापुरा हुई 'पावड़ी' कहीजूं। हूं देवी हिंगळाज रैण डूंगरै रहीजूं।—पा.प्र.

आसापुरी-सं०पु०—१ देव-पूजन के लिये उपयोग किया जाने वाला एक धूप विशेष.
सं०स्त्री०—२ चौहान वंश की इष्ट देवी (वां.दा.ख्या.)
३ आशापूर्ण करने वाली देवी, दुर्गा। उ०—कान्हड़ देवि भगति आदरी, ततखिण तूठी आसापुरी।—कां.दे.प्र.

आसाभरी-वि०—आशापूर्ण, आशावान।

आसामुखी-वि०—आशावान, उम्मीदवार। उ०—आस धरै आसामुखी, जेता आया ज्याग। अभरी हुई वळिया इता, भांणूं दूणे भाग।
—रा रू.

आसायच-सं०पु०—गहलोत वंश की एक शाखा।

आसार-सं०पु० [अ०] १ चिन्ह, लक्षण। उ०—माधुरय्य मेह, आसार एह, सदगुरु समांन, जीवन जहांन।—ऊ.का. [अ०] २ दीवार के नींव की मोटाई. ३ दीवार की चौड़ाई. [सं०] ४ मूसलाधार वृष्टि, अतिवृष्टि। उ०—छूटी आसारां कासारां छिलती, पड़ती परनाळां पहुवी पिळपिळती।—ऊ.का. [सं० आश्रय] ५ आश्रय।
उ०—आसार दांन दातार अस्त्र, सव महा सूम सूंपत स्वसस्त्र।
—ऊ.का.

आसालुब्धी-वि०—आशान्वित। उ०—आसालुब्धी हूं न मुइय, सज्जन जंजाळेह। मारू से कइ हथ्यड़ा, झीणे अंगारेह।—ढो.मा.

आसालूंध, आसालूंधौ, आसाळू, आसालूत-वि०—१ आशावान, उम्मीदवार। उ०—आसालूंध उतारियौ, धण कंचुवौ गळेह। घूमै पड़िया हूंसड़ा, भूला मांनसरेह।—ढो.मा. २ आशालुब्ध, प्रेमातुर।
उ०—१ जदि जखड़ै कह्यौ—थे कहौ छौ सो सगळी तयार छै, पिण हूं आसालूंधौ झालां रै सासरै खड़वा कीधां जावूं छूं।
—जखड़ा मुखड़ा भाटी री वात
उ०—२ आसालूत गोखड़ै ऊभी, टोयां काजळ टीवी। गळती रात पुकारै गोरी, वावहिया ज्यूं बीवी।—सुंदरदास बीठू

आसावंत-वि०—आशावान, उम्मीदवार। उ०—जगत सूत मागध वंदीजण, आसावंत किया नृप ऊरण।—रा.रू.

आसावार-सं०स्त्री०—आशा को पूर्ण करने वाली देवी।

आसावरी-सं०पु०—१ एक प्रकार का सुगंधित पदार्थ. २ एक प्रकार का बढ़िया कपड़ा (रा.सा.सं.) ३ एक प्रकार का कबूतर.
सं०स्त्री०—४ श्री नामक राग की एक रागिनी।

आस्याभंग–वि०—आशाभंग, आशाहत, निराश। उ०—सूंप्या द्रोह कह अम्हे कीधा, कइ छांना विख दीधां। **आस्याभंग** कह अम्हे कीधा, कइ धन प्रांणि लीधां।—कां.दे.प्र.

आस्रम–सं०पु० [सं० आश्रम] १ जहाँ ऋषि मुनि आदि रहते हों, तपोवन। उ०—कोई प्रेम रा प्यासां ने दरसण देवता ही राज, दीठा प्रभूजी आस्रम अनेक हीं, प्रभूजी।—मी.रां. २ टिकने या ठहरने का स्थान विश्राम स्थान। उ०—छिपा तणै वळि **आस्रम** छूटी, तारी जांण गयण सूं तूटी।—रा.रू. ३ हिन्दुओं के जीवन की चार अवस्थायें—ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ तथा संन्यास.
४ मठ. ५ स्थान, कुटी. [रा०] ६ दशनामी संन्यासियों की एक शाखा या भेद जो स्वामी शंकर के शिष्य विश्वरूप से अपनी परम्परा बतलाते हैं. ७ चार की संख्या*।
वि०—चार*।

आस्रमचौथौ–सं०पु०यौ० [सं० आश्रम+चतुर्थ] चतुर्थाश्रम, वृद्धावस्था, संन्यासाश्रम।

आस्रम्म–देखो 'आश्रम'। उ०—आंबेरो जैसाह, सूरसागर **आस्रम्मे**। वरण दिसा वाग सूं, वणी बूंदी वड धम्मे।—रा.रू.

आस्रय–सं०पु० [सं० आश्रय] १ आधार, सहारा, अवलंब.
२ आधारवस्तु. ३ सरण, पनाह. ४ घर, मकान (अ.मा.)

आस्रयपास–सं०स्त्री० [सं० आश्रयाश] अग्नि, आग (ह.नां., डि.को.)

आस्रव–सं०पु० [सं० आश्रय] देखो 'आश्रय'।

आस्रित–वि० [सं० आश्रित] १ किसी आश्रय या सहारे पर टिका हुआ. २ सेवक, दास।

आस्रीवाद–सं०पु० [सं० आशीर्वाद] आशीर्वाद, आशिष।
उ०—महादेवजी देवी राठासण प्रसन्न हुवा, वर दीयौ, राज दीयौ, सु हमै रांणानूं **आस्रीवाद** दीजै छै तरै हारीत प्रसन्न कहीजै छै।—नैणसी

आस्वाद–सं०पु० [सं०] स्वाद, जायका।

आस्वादन–सं०पु० [सं०] चखना या स्वाद लेना।

आस्वापुरी–सं०स्त्री०—आशा पूर्ण करने वाली देवी।
देखो 'आस्यापुरी'।

आस्वासन–सं०पु० [सं० आश्वासन] दिलासा, तसल्ली, सांत्वना, ढाढ़स।

आस्विनीकुमार–सं०पु०—१ अश्विनीकुमार.
वि०वि०—देखो 'अस्विनीकुमार'। २ दो की संख्या*।

आहंचणौ, आहंचबौ–क्रि०अ० [सं० अभ्यंचन] १ झटका देना, धक्का देना. २ मारना, ध्वंस करना। उ०—आहंचि मीर आगरइ आड, रहड़िया देस वाजा रुड़ाइ।—रा.ज.सी.
आहंचणहार, हारौ (हारी), आहंचणियौ—झटका या धक्का देने वाला, मारने वाला।
आहंचिप्रोड़ो, आहंचियोड़ो, आहंच्योड़ौ–भू०का०कृ०—झटका दिया हुआ, मारा हुआ।

आहंचि–वि०—गर्व करने वाला, अभिमानी (रा.रा.)

आहंचियोड़ौ–भू०का०कृ०—१ मारा हुआ. २ झटका दिया हुआ।
(स्त्री० आहंचियोड़ी)

आहंस–सं०पु० [सं० अभ्यंश, प्रा० आहंस=अहंस] १ साहस, हिम्मत.
२ पराक्रम, शक्ति, बल। उ०—आयौ इंगरेज मुलक रै ऊपर, आहंस लीधा खैंचि उरा। धणियां मरै न दीधी धरती, धणियां ऊभां गई धरा।—वां.दा. (यौ० आहंसवर, आहंसधारी)

आहंसणौ, आहंसबौ–क्रि०अ०—साहस करना।
उ०—कर विन भ्रुह मूंछ सूं सज कर, अंग पौरस **आहंसियौ** गढ़ां। गळण आलम सा गौरी, हड़ हड़ 'दूदौ' हसियौ।—दूपौ सांदू

आहंसौ–वि०—१ साहसी. २ बलवान, शक्तिशाली। उ०—हीकां वरै साहंसी वैरियां घू चलाया हाथ, **आहंसी** नवोठा काछी, मळाया औसांण।—सूरजमल मीसण

आहंसीक–वि०—देखो 'आहंसी'।

आह–सर्व०—यह।
अव्यय [सं० अहह] पीड़ा शोक दुःख खेद ग्लानिसूचक शब्द, निश्वास। उ०—**आह** करूं तौ जग जळै, जंगळ भी जळ जाय। पापी जिवड़ो ना जळै, जामैं आह समाय।—अज्ञात
सं०पु०—१ कराहना, उसाँस भरना, ठंडी साँस.
२ कमजोर गाय के प्रसव के पश्चात गर्भाशय का बाहर निकलने वाला भाग।

आहड़, आहड़ा–सं०स्त्री०—सीसोदिया वंश के क्षत्रियों की एक शाखा। (वं.भा.)

आहड़ी–सं०पु० [सं० आखेट+ई] १ थोरी जाति के वे व्यक्ति जो अधिक गरीब होते हैं तथा जानवरों का शिकार करते हैं या मजदूरी कर पेट पालते हैं. २ भील।

आहड़ेनरेस, आहड़ेस–सं०पु०—१ सीसोदिया वंशी क्षत्रियों की शाखा 'आहड़ा' का व्यक्ति।

आहड़ै-पाहड़ै–क्रि०वि०—आस-पास।

आहड़ौ–सं०पु०—देखो 'आहड़ेस'।

आहचणौ, आहचबौ–क्रि०स०—छीनना, झपटना, बलात् पकड़ कर लाना।

आहचियोड़ौ–भू०का०कृ०—छीना हुआ, झपटा हुआ।
(स्त्री० आहचियोड़ी)

आहज–सं०पु० [सं० आज्य] घी, घृत (ह.नां.) (मि० आहिज)

आहट–सं०स्त्री०—वह ध्वनि और आवाज जो किसी वस्तु से उत्पन्न हो।
क्रि०प्र०—करणी, लेणी, होणी।

आहण–सं०पु० [सं० आहवन=आहण] युद्ध। उ०—खत्रवाट खत्री गुर होये खड़ग हय, **आहण** तैं साचवियैं इम।—हरीसूर बारहठ
२ आसरा। (रू०भे०)

आहणणौ, आहणबौ–क्रि०स०—१ वार करना. २ मारना।

आसूधौ–वि० (स्त्री० आसूधी) [फा० आसूद] १ परिश्रम न कर सकने वाला व्यक्ति. २ संतुष्ट, तृप्त. ३ संपन्न, धनाढ्य. ४ भरा-पूरा. ५ वह खेत जो काफी समय से बिना जोता पड़ा हो. ६ जिसे किसी प्रकार की थकान न हो।

आसूरण–सं०पु०—मुसलमान। उ०—इसी भांत आसूरण हिंदू अभंग, चुड़ै दस्सकंध जु होता सुजंग।—शि.सु.रू.

आसूसुखण–सं०स्त्री०—अग्नि, आग (ह.नां.)

आसे–सं०पु० [सं० आशय] देखो 'आशय'। उ०—जोग जुगत जगदीस्वर जपणां, अपणां जन्म उधारै। ऊमरदांन अनूपम आसे, विरळा वात विचारै।—ऊ.का.

आसेर–सं०पु० [सं० आश्रय] १ किला, गढ़। उ०—बुरज्जां चहूं जांण लोकेस वाका, प्रथी आभरी बीच भांगै पताका। पड़ै दीठ आसेर ज्यौं मेर पव्वै, दुती देखियां स्वरग रौ दुरग दव्वै।
२ एक राजपूत वंश (वं.भा.) —हुकमीचंद खिड़ियौ

आसोज–सं०पु० [सं० अश्वयुज] आश्विन मास जो भाद्रपद के बाद और कार्तिक के पहले आता है। (डिं.को.)
कहा०—१ आसोजां रौ तावड़ौ जोगी हुग्या जाट—आसोज की धूप से जाट भी जोगी हो गये (जैसे जोगी अग्नि तापते हैं, वैसे ही जाट लोग, जो अधिकतर किसान होते हैं, आसोज की तेज धूप में खेतों में खड़े रहते हैं।) आसोज की धूप बहुत तेज होती है. २ आसोजां रा तावड़ा जोगी हुग्या जाट। बांमण हुग्या वांणिया, वांण्या हुग्या भाट—आसोज की धूप से जाट जोगी हो गये, ब्राह्मण बनिये हो गये और बनिये भाट हो गये. ३ धुर आसोज अमावसां, जे आवै सनिवार, समौ होसी करवरौ, पिंडत कहै विचार—अगर आश्विन मास की अमावस्या को शनिश्चरवार हो तो पंडितों के विचार में वर्ष साधारण कोटि का होगा. ४ आसोजां रा मेहड़ा, दोय वात विणास। बोरड़ियां बोर नहीं, विणियां नहीं कपास—अगर क्वार मास में वर्षा हो तो दो प्रकार की क्षति होगी—एक तो बदरि वृक्ष फल-रहित रहेगा, दूसरा कपास की फसल मारी जायेगी. ५ सांवण मास सूरियौ वाजै, भादरवै परवाई। आसोजां में समदरी वाजै, काती साख सवाई—अगर श्रावण मास में सप्त ऋषि के अस्त दिशा से वायु चले, भाद्रपद मास में पूर्व का वायु चले और आश्विन मास में नैऋत्य दिशा से वायु चले तो उस वर्ष कार्तिक मास की फसल सवाई या अधिक होती है।

आसोजी–सं०स्त्री०—आश्विन मास की तिथि।
वि०—आश्विन मास की, आश्विन मास संबंधी।

आसौ–सं०पु० [सं० आसव] १ लाल रंग की एक शराब विशेष.
२ तपस्या या भजन करते समय रात्रि में वक्षस्थल के अग्र भाग तथा बाहुमूल में सहारे के रूप में लगाया जाने वाला काष्ठ का एक उपकरण विशेष जिसे प्रायः संन्यासी रखते हैं. ३ सोने या चांदी से मढ़ा हुआ डंडा जिसे छड़ीदार रखता है।
वि०वि०—देखो 'छड़ीदार'। ४ औषधियों का अर्क (अमरत)
५ बढ़ई का एक उपकरण. ६ एक प्रकार का विशेष बनावट का चाँदी या सोने से मढ़ा डंडा विशेष जिसे बादशाही दरबार में खड़े रहने के निमित्त सहारे के हेतु बड़े बड़े शाही दरबारी रखते थे।
उ०—'भांन' महाबड़ साख कर, आसौ किर बडवाय। साह सभा वन में खड़ौ, छाया सूं जग छाय।—बां.दा.
७ यमराज का पाश. ८ एक राग विशेष (रांमरासौ)

आस्त–सं०पु०—आपत्ति, कष्ट, विपदा, दुःख।
वि०—आस्तिक।

आस्तिक–वि० [सं०] जिसे ईश्वर, वेद या परलोक इत्यादि पर विश्वास हो।

आस्तिकता, आस्तिकपण, आस्तिकपणौ–सं०स्त्री० [सं०] ईश्वर, वेद व परलोक में विश्वास।

आस्तीक–सं०पु० [सं०] तक्षक सर्प के प्राण बचाने वाले एक ऋषि। (पौराणिक)

आस्तीन–सं०स्त्री० [फा०] बाँहों को ढँकने का पहिनने के कपड़े का भाग।

आस्थांन–सं०पु०—१ बैठने का स्थान. २ सभा, बैठक।
उ०—अर दौ ही तरफ रा वीरां आस्थांन रूप बाजार में प्रांण रा क्रय-विक्रय रूप व्यापार मचायौ।—वं.भा. ३ दरबार।

आस्था–सं०स्त्री०—श्रद्धा, भक्ति।

आस्थिसंस्कार–सं०पु० [सं० अस्थिसंस्कार] अपवित्र अवस्था में शरीर छूटने पर पुनः पुतला बना कर की जाने वाली दाह-क्रिया (ब्राह्मण)

आस्पद–सं०पु० [सं०] स्थान। उ०—अवंती रा अधीस प्रमारराज भरत्रीहरि रै रांणी पिंगळा जिकण रौ दूजौ नांम अनंगसेना कहीजै सो अद्वितीय प्रीति रौ आस्पद बणी।—वं.भा.

आस्फाळ–सं०पु०—भुजा ठोकना। उ०—जठै वैताळ रा आसफाळ डाकिणी गणांरा डमरू रा डात्कार।—वं.भा.

आस्य–सं०पु० [सं०] १ मुख, चेहरा। उ०—अतिक्रम विक्रम तिक्रय आस्य, अछेक अनेकन अंक उपास्य।—ऊ.का. [सं० आशय] २ तात्पर्य, मतलब, अभिप्राय। उ०—परिपूरण प्रेम, निज न्याय नेम, विग्यान विग्य, पूरण प्रतिग्य। गंभीर ग्यांन, विस्मय विग्यांन, उद्योग आस्य, एकौ उपास्य।—ऊ.का.

आस्यप–सं० उ०लि० [सं० आसव] शराब, मद्य। उ०—अमलां रा रंग तरंग मांणीजै छै। तेज पुंज आस्यप रा प्याला आरोगीजै छै।
—रा.सा.सं.

आस्या–सं०स्त्री० [सं० आशा] आशा, उम्मीद। उ०—जीवतव्यनी आस्या टळी, ए पांणी नहीं पीजइ पळी। रांणी वात विमासी घणी, लिख्या लेख कान्हड़दे भणी।—कां.दे.प्र.

आस्यापुरी–सं०स्त्री०—आशा पूर्ण करने वाली देवी। उ०—आस्यापुरी सकति कर जोड़ी, राउळि करीउ जुहार।—कां.दे.प्र.

आहीवाळौ-सं०पु० [सं० आधिपत्य, प्रा० आहिवच्च=आहिवाळौ] ऋणी और ऋणदाता के मध्य की परस्पर की लिखावट का वह शर्तनामा जिसके अनुसार ऋणी की चल संपत्ति (मनकूला) का इस लिखावट में उल्लेख हो और अगर ऋणी ऋण चुकता न कर सके तो ऋणदाता उसकी चल संपत्ति को जिसका उल्लेख लिखावट में किया गया हो, उसको बेच या बिकवा कर अपनी कर्ज की रकम वसूल कर सके। (रू०भे० आईवाळौ)

आहु, आहुई-सं०पु० [सं० आहव] आहव, युद्ध।

आहुड़-सं०पु०—युद्ध, संग्राम। (मि० आहुड़णौ)

आहुड़णौ, आहुड़बौ-क्रि०स० [सं० आ+हुड्=आहुड्न, आहुड़ण+औ] भिड़ना, टक्कर लेना, युद्ध करना। उ०—अणी चढ़ि खेती जसवंत सूं आहुड़ी। पिय नवै पौढ़सी नहीं पणिहारड़ी।—हा.झा.

आहुड़णहार, हारौ (हारी), आहुड़णियौ—भिड़ने या टक्कर लेने वाला।

आहुड़ियोड़ौ-भू०का०कृ०—टक्कर लिया हुआ, भिड़ा हुआ। (स्त्री० आहुड़ियोड़ी)

आहुट-सं०पु०—१ समर, युद्ध। उ०—अगन मार वरसै वर आहुट, नारद वेद पढ़ै नरवांण।—बलराम गौड़ री गीत

२ आहट, ध्वनि। उ०—अटल सेज द्वार विचि आहुटि, स्तुति दे हरि वरि समास्त्रित।—वेलि. ३ पता, सुराग, टोह।

आहुटणौ, आहुटबौ-क्रि०अ०—१ वीर गति को प्राप्त होना।

उ०—जुटै दुहूं दळ जंग, आहुटै हिन्दु असुर। रंग हो भारथ रंग, उण वेला दै आपने।—ला.रा. २ युद्ध करना।

उ०—हुवै बावनेस वीर विखमी हकार वाड़ा, धारां पार वाड़ा सरां सावळां सधोम। सिवु राग रेड़तै आहुटै सिगारवाड़ा, भुटक्कै मेड़तै मारवाड़ा वीर भोम।—अज्ञात. ३ मिटना, नष्ट होना।

उ०—सुजस बिगड़ बिगड़ी सभा, आहुट गई उमंग। गनका सूं राखै गुमट, रसिया तोनूं रंग।—बां.दा.

आहुटणहार, हारौ (हारी), आहुटणियौ-वि०—युद्ध करने या वीर गति प्राप्त करने वाला, मिटने वाला।

आहुटि-सं०स्त्री० [सं० आहट] आहट, खटका, आवाज, ध्वनि।

आहुति, आहुती-सं०स्त्री० [सं० आ+हु+क्ति] १ मंत्र पढ़ कर देवता के लिए अग्नि में होम के पदार्थ डालना। उ०—दिव्य कास्ट खट जाति अहूनति। अगर कपूर घिरत जुत आहुती।—रा.रू.

२ हवन, होम. ३ हवन की सामग्री. ४ एक बार में यज्ञ-कुंड में डाली जाने वाली हवन सामग्री की मात्रा।

आहूत-वि०—बुलाया हुआ। २ देखो 'आहुति'।

आहूतण-सं०स्त्री०—अग्नि, आग (ह.नां.)

आहूत, आहूति, आहूती-सं०स्त्री०—देखो 'आहुति'।

उ०—देवी जम्मणी मन्त्र आहूति ज्वाळा, देवी वाहनी मंत्र लीना विमाळा।—देवि.

आहे-क्रि०अ०—है।

आहेड़-सं०पु० [सं० आखेट] १ शिकार। उ०—धूहड़ एक मर्म छत्रधारी, आहेड़ चढ़चौ अवतारी।—गौ.रू.

[सं० आखेटक] २ शिकारी। उ०—आहेड़े जमरांण डांण मंडे दीहाड़ी, सर क्रम वंध संधिया चाप आवरदा चाडी।

—जग्गौ खिड़ियौ

३ भील जाति का व्यक्ति। उ०—भालाळ तणा भुरजाळ भाळ, कमठाळ खीचियां तणा काळ। आहेड़ भमर मजबूत अंग, रजपूत समर जमदूत रंग।—पा.प्र.

आहेड़ा-सं०स्त्री० [सं० आखेट] १ शिकार, आखेट। उ०—एक दिवस आहेड़ा आळि, नळ राजा चढ़ियौ पुहगाळि।—ढो.मा.

२ गहलोत वंश की एक शाखा। (रा.वं.वि.)

आहेड़ियौ-सं०पु० (अल्पा०) १ शिकारी. २ भील. ३ आर्द्रा नक्षत्र।

आहेड़ी-सं०पु०—शिकारी. २ भील (मि० आहेड़)

३ आर्द्रा नक्षत्र।

आहेड़इ-सं०पु० [सं० आखेट] शिकार (अल्पा०)

उ०—रयणि दीहि संगति ते रमइ, भूपति वे आहेड़इ भमइ।

—ढो.मा.

आहेस-सं०पु० [सं० अहीश] १ शेषनाग. २ नसा. ३. अफीम।

उ०—आहेसां छाकिया जड़ै प्रळै कांत वाळा आव रवताळा ऊभा झोख खावै आकारीठ।—हुकमीचंद खिड़ियौ

आहोड़ियोड़ौ-भू०का०कृ०—चलाया हुआ, निशान लगाया हुआ। (स्त्री० आहोड़ियोड़ी)

आहौटणौ, आहौटबौ-क्रि०अ०—मिटना, नाश होना। उ०—आपणां दळण गीखम जळण आहौटी, विसै खटचलण कळियां कदम-ब्रन्द।

—बां.दा.

(रू०भे० आहुटणौ)

आह्लाद-सं०पु० [सं०] आनंद, खुशी, हर्ष।

आह्वड़णौ, आह्वड़बौ-क्रि०स० [सं० आहव] आक्रमण करना।

उ०—असपत इंद्र अवनि आह्वड़िया, धारा झड़ियां सहै घका।

—दुरसौ आढ़ौ

आह्वन-सं०पु०—आने वाले, अतिथि। उ०—जग में जनक रै जी दरगह हुआ नृप समुदाय। आह्वन आदरै जी जोजन तणी नांमां जाय।

—र.रू.

आह्वय-सं०पु० [सं०] १ नाम। उ०—मेरी सच्ची स्वाव है टारै न टरैगा, जिसका आह्वय भारथा वो खून करेगा।— ला.रा.

२ तीतर, बटेर आदि जीवों की लड़ाई की बाजी।

आह्वांन-सं०पु०—१ पुकार, बुलावा। उ०—आया अन अवपत आह्वांन। भोपत भोयंग हुआ बळ भंग। रहियौ रांण खत्री ध्रम राखण, स्वेत उरंग कळोधर 'संग'।—दुरसौ आढ़ौ

२ यज्ञ आदि में मंत्रों आदि से देवताओं को बुलाना।

उ०—हेली घर घर की हुवै, पूंचां छक पैगांम । हाथी हाथळ आहणै, नाहर जिण रौ नांम ।—वी.स.

आहणहार, हारौ (हारी), आहणियौ–वि०—वार करने या मारने वाला ।

आहणियोड़ौ—भू०का०कृ० ।

आहणि, आहणिय—१ फौज, सेना । उ०—उठी हित आहणि भांजि अधार, खड़ग्गै खाफर खोसि खंधार ।—रा.ज. रासौ. २ युद्ध । उ०—आहणिय ऐकि असिमरि उलाळि, पहटिया विया गमिया पयाळि ।—रा.ज.सी.

आहणियोड़ौ–भू०का०कृ०—१ मारा हुआ. २ वार किया हुआ । (स्त्री० आहणियोड़ी)

आहणौ, आहबौ–क्रि०स०—१ मारना, हनन करना. २ जाना । (भि० आहणणौ)

आहत–वि० [सं०] घायल, जख्मी ।

आहतनाद–सं०पु०—आघात अथवा संघर्षण से उत्पन्न होने वाली संगीतोपयोगी ध्वनि (संगीत)

आहर–सं०पु० [सं० आहव] १ युद्ध, लड़ाई । [सं० अहः) २ समय, वक्त, काल. ३ दिन ।

आहरट–सं०स्त्री०—फौज. सेना (अ.मा.)

आहरट्ट–सं०पु०—संहार. २ युद्ध । उ०—१ घण घाइ मुगल्लां धड़िय घट्ट, रहचिवा थट्ट हुइ आहरट्ट ।—रा.ज.सी. २ देखो 'आहरट' ।

आहरण–सं०पु० [सं०] १ छीनना, हर लेना, लूटना-खसोटना. २ किसी पदार्थ को एक स्थान से दूसरे स्थान पर ले जाना । [सं० आभरण] आभूषण । उ०—श्रीखंड पंक कुमकुमौ सलिल सरि, दळि मुगता आहरण दुति ।—वेलि.

आहरौ–सं०पु० [सं० आश्रम] कच्चा घास-फूस आदि का बंद कमरा ।

आहव–सं०पु० [सं०] १ रण, युद्ध (ह.नां.) उ०—आहवां अजीत छांह हमांऊ पुनीत एही, रूक रीझां क्रीत यूं तिहारी राघवेस । —र.रू. २ यज्ञ ।

आहवांन–सं०पु० [सं० आ.ह्वान] आव्हान । उ०—तरै रिखेसरां इंद्र री आहवांन कीधौ ।—श वं.वि.

आहवि, आहवी–सं०पु० [सं० आहव] १ युद्ध, रण । उ०—१ चतुर फतौ माफी चहुवांणां, आहवि लड़ण खगां ऊवांणां ।—रा.रू. उ०—२ आहवि म्रितदिनि इम, पाळ हरं जांवळि पिता । —वचनिका

२ वीर, योद्धा । उ०—उछाह चाह आहवी, दुवाह दौड़ते नहीं । —ऊ.का.

आहा–अव्यय [सं० अहह] १ आश्चर्य, हर्षादिसूचक शब्द. २ खेद या आक्षेपार्थक शब्द ।

आहाड़–सं०पु०—१ मेवाड़ राज्य का प्राचीन नाम. २ सीसोदिया वंश का राजपूत. [सं० आषाढ़] ३ आषाढ़ मास । कहा०—गाज वीज नै वायरो, पांसम सुद आहाड़ । ढरवीदे जे थाय तो, मेह वरी नै पाड़—अगर आषाढ़ मास के शुक्ल पक्ष की पंचमी को मेघ गरजे, बिजली चमके तथा हवा भी चले तो बड़े जोर से वर्षा होगी जो पहाड़ों को भी गिरा देगी ।

आहाड़ा–सं०पु०—१ सीसोदिया वंश के राजपूतों की एक शाखा ।

आहाड़ा-खंड–सं०पु०—मेवाड़, मेदपाट ।

आहाड़ौ–सं०पु०—१ सीसोदिया वंश की शाखा 'आहड़ा' का व्यक्ति. उ०—कवि थारा एक दोय प्रवाड़ा गणावै कासूं । आहाड़ा दिहाड़ा जेता प्रवाड़ा उमेद ।—उमेदसिंह सीसोदिया रौ गीत

आहाट–सं०स्त्री०—देखो 'आहट' । उ०—वाट चाहै छै । एक वार तौ द्वारै आय कांन दे आहाट सुणै छै ।—वेलि. टी.

आहार–सं०पु० [सं० आ+हृ+घञ्] भोजन, खाना, खाने की वस्तु । कहा०—१ आहार मारै का भार मारै—या तो भोजन मारता है या भार मारता है; भोजन अच्छा न मिलने से या भार उठाने से मनुष्य दुर्बल होता है. २ आहार न मिलने से या भारी चीज के नीचे दबने से मौत होता है. ३ आहारे व्यौहारे लज्जा न कारे—आहार और व्यवहार में लज्जा नहीं करनी चाहिए । [सं० आघार] घी, घृत (ह.नां.)

आहारज्ज–सं०पु० [सं० अहार्य] पहाड़ (अ.मा.)

आहारथाळ–सं०पु०—विवाह के एक दिन पहले वधू के घर से वर के यहाँ भेजे जाने वाले परोसे हुए तीन थाल (पुष्करणा ब्राह्मण)

आहाराज, आहारिज–सं०पु० [सं० अहार्य] पहाड़ (ह.नां.)

आहाळ–सं०पु०—चिन्ह, निशान । उ०—कैहवत सारे ही कहै है जाहर आहाळ । कहूं जिकांरी कोटड़ी, धणी जिकांरै 'पाल' ।—पा.प्र.

आहावि–सं०पु० [सं० आहव] युद्ध ।

आहि–सं०पु० [सं० अहि] सर्प, साँप ।

आहिज, आहिजि–सर्व०—१ यही. २ वही (रू०भे० आहीज) उ०—वाट ज भूला जी ? क दिस दूजी लिवी, कोई आया दूजै देस आहिज अजोध्या रै पुरी के ओर ही ।—गी.रां. सं०पु० [सं० आज्य] घृत (अ.मा.)

आहिठांण–सं०पु०—देखो 'आइठांण' ।

आहिव–सं०पु०—देखो 'आंहव' ।

आही–सर्व०—यही । उ०—साहिब सूं दाखै सुखन, सत पुरखां उर साल । चुगलां आहिज चाकरी, चुगलां आही चाल ।—बां.दा.

आहीज–सर्व०—१ यही. २ वही. ३ इसी । उ०—तद राजा कही साबास आहीज आहीज वरीयां ले आवौ ।—चौबोली

आहीठांण–सं०पु०—देखो 'आइठांण' ।

आहीर–सं०पु० [सं० आभीर] गूजर, गोप, दूध दही का व्यवसाय करने वाली एक जाति । (मि० अहीर) उ०—ब्रह्मा सिव कहै सुणौ व्रजनायक, व्रज दीठां न करौ अवेर । अमरापुर दीजै आहीरां, हर म्हांनै कीजै आहीर ।—सिवदांन बारहठ

इंदलोक—देखो 'इंदरलोक' (डि.को.)

इंदव–सं०पु०—एक छंद विशेष जिसके प्रत्येक चरण में आठ भगण और अन्त में दो गुरु होते हैं।

इंदससतर–सं०पु० [सं० इंद्र+शस्त्र] इन्द्र का भाला जैसा एक शस्त्र विशेष, वज्र (डि.को.)

इंदसेन–सं०पु० [सं० इन्द्रसेन] वलि, विरोचन पुत्र।

इंदा–सं०पु०—परिहार वंश की एक शाखा।

इंदारी–सं०स्त्री० [सं० अंधकार] १ अंधेरा. २ चक्कर आने या आँखों के आगे अंधेरा छा जाने का भाव।

इंदारौ–सं०पु० [सं० अंधकार] अंधकार, अंधेरा।

इंदिरा–सं०स्त्री० [सं०] १ लक्ष्मी. २ शोभा, कांति।

इंदिरा एकादशी–सं०स्त्री०—आश्विन मास के कृष्ण पक्ष की एकादशी।

इंदीवर–सं०पु० [सं०] कमल।

इंदु–सं०पु०—१ चन्द्रमा। उ०—हालू कहियौ मंडोउर पूगियां भी द्रंग री देवी ती इंदु रा आदांन अरथ ऊंचौ कर कीवा।—वं.भा. २ देखो 'इंद'। १ की संख्या*।

इंदुक–सं०पु०—देखो 'अंदुक'।

इंदुजा–सं०स्त्री० [सं०] नर्मदा नदी।

इंदुमती–सं०स्त्री० [सं०] १ पूर्णिमा. २ राजा अज की पत्नी

इंदुवदना–सं०पु० [सं० इंदु+वदन] चन्द्रमुखी, सुदरी।

इंदुवार–सं०पु०—१ सोमवार. २ ज्योतिष के अंतर्गत वर्ष कुंडली के तीसरे, छठे, नवें और बारहवें घर में क्रूर ग्रह होने पर होने वाला एक योग जो सोलह योगों के अंतर्गत एवं अशुभ माना जाता है।

इंद्र–सं०पु० [सं०] १ एक वैदिक देवता जो देवताओं का राजा माना जाता है। इसका स्थान अंतरिक्ष है और यह पानी बरसाता है। इसकी स्त्री का नाम शचि है। जयंत इसका पुत्र है।

पर्याय०—आखंडळ, कोसक, गोत्रभिदी, जंभराति, तुखाट, दिवराज, दिवसत, नंदन, नाकपति, परजापति, पाकसामन, पुलमजापति, मघवांन, मघवा, मरुतराट, म्रतवांन, सचीपति, सतमन सुरेसर, सहसनैण।

(रू०भे० इंदर; अल्पा० इंदरियौ)

यौ०—१ इंद्र री परी—अप्सरा, अप्सरा के समान सुंदर स्त्री. २ इंद्र रौ अखाड़ौ—इंद्र की सभा जिसमें अप्सरायें नाचती हैं। बहुत सजी हुई सभा जिसमें खूब नाच रंग होता है।

कहा०—इंद्र री मां तिसी फिरै—इंद्र की मां प्यासी फिरती है। सम्पन्न व्यक्ति का बुरे हाल रहना या दूसरों से याचना करना।

२ स्वामी, पति। उ०—मम करिसि ढील छिव हुए हेकमन जाइ जादवां इंद्र जत्र।—वेलि.

वि०—सम्पन्न, श्रेष्ठ, महान, प्रतापी।

इंद्रगोप–सं०पु०—वीरबहूटी नामक कीड़ा।

इंद्रजव–सं०पु० [सं० इंद्रयव] लंबे-लंबे जव के आकार के कुरैया के बीज (अमरत)

इंद्रजाळ–सं०पु० [सं० इंद्रजाल] १ माया जाल, धोखा, जादूगरी, मायाकर्म. २ पुरुषों की बहत्तर कलाओं के अंतर्गत एक कला।

इंद्रजाळक–वि०—इंद्रजाल संबंधी, इंद्रजाल का।
देखो 'इंद्रजाळ'।

इंद्रजीत–सं०पु०—१ रावण का पुत्र मेघनाद जिसने एक बार इन्द्र को पराजित कर दिया था. २ गरुड़ (नां.मा.)

इंद्रजीत-जेत–सं०पु०—मेघनाद पर भी विजय प्राप्त करने वाला, लक्ष्मण (नां.मा.)

इंद्रताळ–सं०स्त्री०—पन्द्रह मात्राओं की ताल।

इंद्रधनुख, इंद्रधनुस, इंद्रधांनक–सं पु० [सं० इंद्रधनुष] वर्षाकाल में सूर्य की विरुद्ध दिशा की ओर बादलों या वाष्पकणों पर सूर्य-प्रकाश के प्रतिबिंब पड़ने के कारण बादलों में दिखाई देने वाला सात रंगों से बना हुआ एक अर्धवृत्त। उ०—कपोळ गजां चोळ सिंदूर कैसं, ओपै इंद्रधांनख जैसा अरेस।—वचनिका

इंद्रध्वज–सं०पु० [सं०] इंद्र की पताका।

इंद्रपुरी–सं०स्त्री०—इंद्र की नगरी, अमरावती, स्वर्ग।
पर्याय०—देवपर, देवलोक, देवोकस, सरग, सुरपुरी, स्वरग।

इंद्रप्रस्थ–सं०पु०—१ हस्तिनापुर नामक एक प्राचीन नगर जिसे पांडवों ने खांडव वन जला कर बसाया था. २ दिल्ली।

इंद्रवधू–सं०पु०—वीरबहूटी। उ०—मंहदी कर कोमळ बूंद धरी, मनु कंज में इंद्रवधू बिथुरी।—ला रा.

इंद्रमंडळ–सं०स्त्री०—सात नक्षत्रों का समूह जो अभिजित से अनुराधा तक होता है।

इंद्रलुप्त–सं०पु०—बाल उड़ जाने का एक रोग, गंज रोग (अमरत)

इंद्रलोक–सं०पु० [सं०] स्वर्ग, वैकुंठ, अमरावती।

इंद्रवज्रा–सं०स्त्री०—रघुवरजस प्रकाश के अनुसार एक प्रकार का छंद विशेष जिसके प्रत्येक चरण में प्रथम दो तगण फिर एक जगण तथा अंत में दो गुरु होते हैं।

इंद्रवाडी–सं०स्त्री० [सं० इंद्र+वाटिका] खंडीवन, इंद्र का बगीचा।

इंद्रविधु–सं०पु०—वीरबहूटी। (मि० इंद्रवधू)

इंद्रसावरणी–सं०पु० [सं०] चौदहवें मनु का नाम।

इंद्रसुत–सं०पु०—इंद्र का पुत्र, जयंत बालि।

इंद्रांण–सं०स्त्री [सं० इंद्राणी] १ देखो 'इंद्रांणी'। उ०—इण पर वारूं उरवसी, वारूं सिर इंद्रांण।—पा.प्र. २ इंद्रायण का फल. ३ देवी, दुर्गा।

इंद्रांणी–सं०स्त्री०—१ इन्द्र की पत्नी, शची।
पर्याय०—पुलमजा, मंद्रणी, सकप्रिया, सची।
२ इंद्रायण का फल या लता. ३ दुर्गा। उ०—देवी इंद्रांणी चंद्रांणी रतां-रांणी।—देवि.

इंद्रांणिक–सं०पु० [सं० इन्द्राणिक] शृंगार में एक आसन विशेष (कामशास्त्र)

इ

इ—वर्णमाला के स्वरों के अंतर्गत तीसरा स्वर या वर्ण जिसके बोलने का स्थान तालू है और प्रयत्न विवृत्त है। ई इसका दीर्घ रूप है।

ई—सर्व०—इस। उ०—इं गैले आयौ रजपूत दोय वार, आडा फिरि पूछ लीनां सारा संमचार।—शि.वं.
वि०—व्यर्थ, फजूल, बेकार।

इंउं, इंऊं—क्रि०वि०—इस प्रकार। उ०—इंउं कहतौ जमवंत अधिक विमळ विचार विचार, इळा सवळां रै आसरै निवळोड़ा नरनार।
—ऊ.का.

इंकलाब—सं०पु० [अ० इन्कलाव] जमाने का उलट-फेर, समय का फेर, बहुत बड़ा परिवर्तन, क्रांति। उ०—अंधकार मत जांण वावळा, इंकलाब री छाया है। इण भाग बदळिया लाखां रा, केई राजा रंक बणाया है।—रेवतदांन

इंग—सं०पु० [सं०] १ हिलना, कंपन. २ चिन्ह, संकेत।

इंगरेज—सं०पु०—अंग्रेज, इंग्लैंड का निवासी।

इंगळ—सं०पु० [सं० आंग्ल] १ अंग्रेज. २ इंगलिस्तान।

इंगळथांन, इंगळधर—सं०पु०—इंगलिस्तान, इंग्लैंड नामक देश।

इंगळस—सं०स्त्री०—१ देखो 'इंगळिस'। २ अंग्रेज।
उ०—आईयौ अंगरेजां अदभुत गतिवाळां, इंगळस नेसन रा देसन उजवाळां।—ऊ.का.

इंगळा—सं०स्त्री० [सं० इडा] वायीं ओर की इड़ा नामक नाड़ी (हठयोग)

इंगळिस—सं०स्त्री० [अं० इंगलिश] अंग्रेजी भाषा।
वि०—इंग्लैंड का, अंग्रेजों का।

इंगळिस्तांन—सं०पु०—अंग्रेजों का देश, इंग्लैंड। देखो 'इंगलैंड'।

इंगळिस्तांनी—वि०—अंग्रेजों का, अंग्रेजों संबंधी।

इंगलैंड—सं०पु०—यूरोप के उत्तर-पश्चिम का एक देश, इंगलिस्तान।

इंगार—सं०पु० [सं० अंगार] अंगार, अग्निकण। उ०—देही कण इंगार जू तपै। राज'र मांय भयउ उगतउ भांण।—वी.दे.

इंगित—सं०पु० [सं०] १ इशारा, संकेत, चिन्ह. २ चेष्टा।

इंग्ळस—सं०स्त्री०—देखो 'इंगळिस'।

इंच—सं०पु० [अं०] एक फुट के बारहवें हिस्से के बराबर का नाप।
वि०—बहुत थोड़ा।

इंजन—सं०पु० [अं० एंजिन] १ कल, पेंच, भाप या बिजली से चलने वाला एक यंत्र. २ रेल्वे ट्रेन का वह डिब्बा या गाडी जो भाप के जोर से और सब गाड़ियों को खींचता है और चलाता है।

इंजीनियर—सं०पु० [अं० एंजीनियर] १ यंत्र विद्या का पूरा जानकार. २ शिल्प विद्या में दक्ष, विश्वकर्मा. ३ सड़कों, इमारतों और पुलों आदि को बनवाने, सुधारने और देखभाल करने वाला एक सरकारी अफसर।

इंजील—सं०स्त्री०—ईसाइयों की एक धर्म पुस्तक।

इंठै—क्रि०वि०—यहाँ।

इंडिया-इंडी—सं०स्त्री०—भारतवर्ष, हिन्दुस्तान।

इंडौ—सं०पु० [सं० अंडा] १ अंडा। देखो 'अंडौ'। २ देवालय के शिखर के कलश। उ०—इयुं कहि इंडौ उतारि हाट मांहै बेसि रह्या।—चौबोली

इंढ़ाणी—सं०स्त्री०—देखो 'ईंढ़ाणी'।

इंणगत—अव्यय—इस ढंग से, इस प्रकार।

इंणि—सर्व०—इस। उ०—साई दे दे सज्जना, रातइ इंणि परि रूंन। उरि ऊपरि आंर ढळइ, जांणि प्रवाळि चूंन।—ढो.मा.

इंतकाळ—सं०पु० [अ० इंतकाल] १ मृत्यु, मौत, स्वर्गवास, देहांत।

इंतजांम—सं०पु० [अ० इंतजाम] प्रबंध, बंदोवस्त, व्यवस्था।

इंतजार—सं०पु० [अ०] प्रतीक्षा, रास्ता देखना, बाट जोहना (डि.को.)

इंद—सं०पु० [सं० इंद्र] १ इंद्र। देखो 'इंद्र' (डि.को.)
[सं० इंदु] २ चंद्रमा (डि.को.) ३ एक की संख्या*।
४ अष्ट दिक्पालों में से एक. ५ छप्पय छंद का बाहरवाँ भेद जिसमें ५९ गुरु ३४ लघु कुल ९३ वर्ण व १५२ मात्रायें होती हैं।

इंदअरी—सं०पु० [सं० इंद्र+अरि] इंद्र के शत्रु असुर, दैत्य।

इंदगोप—सं०पु० [सं० इन्द्र+गोप] १ वीरवहूटी नामक वर्षा ऋतु का लाल कीड़ा विशेष. २ खद्योत, जुगनूं।
वि०—लाल, रक्त वर्ण* (डि.को.)

इंदजव—सं०पु० [सं० इंद्रयव] कूड़े के बीज।

इंदण—सं०पु० [सं० इन्धन] देखो इंधण'।

इंदपुरी—सं०स्त्री० [सं० इन्द्रपुरी] इंद्र की नगरी, इंद्रपुरी, स्वर्ग।
उ०—कनां इंद्रपुरी सी निजरि आवै छै।—रा.सा.सं.

इंदपूत—सं०पु० [सं० इन्द्रपुत्र] इन्द्र का पुत्र, वालि, वानर, जयंत।

इंदरवधू—सं०स्त्री० [सं० इंद्र+वधू] वीरवहूटी।

इंदर—सं०पु० [सं० इन्द्र] देखो 'इंद्र'।

इंदरगढ़—सं०पु०—देखो 'इंदपुरी'।

इंदरजाळ—सं०पु० [सं० इद्रजाल] इंद्रजाल, मायाकर्म, जादूगरी, धोखा।

इंदरधनक—सं०पु०यौ० [सं० इंद्रधनुष] इंद्रधनुष। उ०—वो दीसै इंदर धनक, वांधी वार सुहातौ। पदम राग री छांह, रूप रा रेल वहातौ।
—मेघ०

इंदरप्रस्थ—सं०पु०—देखो 'इंद्रप्रस्थ'।

इंदरलोक—सं०पु० [सं० इद्र+लोक] स्वर्ग, देवलोक, इंद्रपुरी।

इंदरा—सं०स्त्री० [सं० इंदिरा] लक्ष्मी (ह.नां.)

इंदराउ—सं०पु०—कपाटों पर लगाने की आड़ी लकड़ी, जिस पर दिला लगता है।

इंदरावर—सं०पु० [सं० इंदिरा+वर] लक्ष्मीपति, विष्णु।

इंदरियौ—सं०पु०—इंद्र (अल्पा०)

सं०पु०—इकहत्तर की संख्या। देखो 'इकोतर'।

इकतरफा डिगरी—सं०स्त्री०—प्रतिवादी की अनुपस्थिति में वादी को प्राप्त होने वाली डिग्री।

इकतरफौ—वि० [फा०] एक पक्ष का, पक्षपात ग्रस्त, एक रुख।

इकता—सं०स्त्री०—ऐक्यता, मित्रता। उ०—तज मन सारी घात, इकतारी राखै अधिक। वां मिनखां री वात, रांम निभावै राजिया। —किरपारांम

इकतार—वि०—बराबर, एक रस समान। उ०—तपी तपत्तं सुरता इकतार, धपी रसनां रस अम्रतधार।—ऊ.का.

क्रि०वि०—लगातार, निरन्तर।

इकतारौ—सं०पु०—१ केवल एक ही तार लगा हुआ सितार के ढंग का एक वाजा. २ इकहरे सूत का हाथ से बुना जाने वाला एक प्रकार का कपड़ा।

इकताळ—सं०पु०—१ एक क्षण, एक पल। उ०—वोलइ पिंगळ कुमरी वाळ न रहइ मात पखय इकताळ।—ढो मा. २ बारह मात्राओं की ताल।

इकताळी—क्रि०वि०—जल्दी, शीघ्र।

वि०—चालीस और एक का योग।

सं०पु०—१ इकतालीस की संख्या। देखो 'इकतालीस'।

२ एक प्रकार का घोड़ा (शा.हो.)

इकताळीस—वि० [सं० एकचत्वारिंशत्, पा० एकचत्तालीसा, प्रा० एक-चत्तालीस, अप० एकतालीस] चालीस और एक के योग के समान।

सं०पु०—चालीस और एक के योग की संख्या।

इकताळीसमौ—वि०—जो क्रम में चालीस के बाद पड़ता हो। ४१ वां।

इकताळीसौ, इकताळौ, इकताळौ—सं०पु०—४१ वां वर्ष।

इकतियार—सं०पु० [अ० इख्तियार] अधिकार, सामर्थ्य।

इकतियारी—सं०स्त्री० [अ० इख्तियारी] अधिकार, प्रभुत्व।

इकतीस—वि० [सं० एकत्रिंशत्, पा० एक्कतीसा, प्रा० एक्कतीस, अप० एकत्रिस] तीस और एक के योग के बराबर।

सं०पु०—तीस और एक के योग की संख्या, ३१।

इकतीसमौ—वि०—जो क्रम में तीस के बाद पड़ता हो। ३१ वां।

इकत्तीसो, इकतीसौ—सं०पु०—१ ३१ वां वर्ष. २ सोलह और पंद्रह पर विश्राम वाला घनाक्षरी नामक दंडक छंद।

इकत्यार—सं०पु० [अ० इख्तियार] अधिकार, सामर्थ्य।

इकत्र—क्रि०वि०, वि०—एकत्र।

इकत्रीस—वि०—देखो 'इकतीस'।

इकदम—क्रि०वि० [फा० एकदम] एकदम, अकस्मात, यकायक, अचानक।

इकदरौ—सं०पु०—पुराने ढंग के बड़े-बड़े भवनों के नीचे का बना मकान, तहखाना (क्षेत्रीय)

इकदेसी—वि०—एकदेशीय।

इकधारौ—सं०पु०—जिसके केवल एक धार हो, एक धार का।

इकपदी—सं०स्त्री०—मार्ग।

इकपोत्यौ—सं०पु०—एक प्रकार का एक ग्रन्थि वाला लहसुन जिसके मूल की कुली एक ही होती है (अमरत)

इकवाळ—सं०पु० [अ० इक़्वाल] १ एक वाल, स्वीकार। (प्रायः अपराध स्वीकार करने के लिए प्रयुक्त होता है।)

२ किस्मत भाग्य। उ०—लागै मौ इकबाळ सूं, नीसरणी गयणांग। इण गढ़ क्यूं नहिं लागसी, खिविया मोकर खाग।—वां.दा.

३ प्रताप।

इकमनौ—वि०—एक मन, एक मत।

इकमात-भाई—सं०पु०—सहोदर भाई। उ०—अरु सूजौजी नै सातलजी इकमात-भाई हा।—द.दा.

इकमायौ—सं०पु० [सं० एक मातृक] सगा भाई, सहोदर भाई।

उ०—पछै राव वीकौ वीदौ इकमाया-भाई हा तिणां वीकानेर वसाई। —रा.वं.वि.

इकमायौ-भाई—सं०पु०—सहोदर भाई।

इकमोला—वि० (व०व०)—एक ही मूल्य के। उ०—इकमोला हजारी तिकी सुनहरी रूपहरी साखत दिरायजै।—जलाल वूबना री वात

इकयासियौ—सं०पु०—इक्यासी का वर्ष।

इकयासी—वि० [सं० एकाशिति, प्रा० एवकासीइ, अप० इकयासी] अस्सी और एक की संख्या के योग के वरावर।

सं०पु०—अस्सी और एक की संख्या के योग की संख्या, ८१।

इकयासीमौ—वि०—जो क्रम में अस्सी के बाद पड़ता हो।

इकरंगौ—वि०पु० (स्त्री० इकरंगी) एक जैसी, एक रंग की, एक समान। उ०—धरम सुकाय दयानन्द धारचौ, रात दिवस इकरंगौ।—ऊ.का.

सं०पु०—एक प्रकार का घोड़ा (शा.हो.)

इकर—क्रि०वि०—एक समय, एक वार।

इकरखौ—वि०—एक समान रहने वाला, सदा एक सा स्वभाव रखने वाला।

इकरथ—वि०—व्यर्थ, बेकार, निष्प्रयोजन।

इकरदन—सं०पु० [सं० एकरदन] गणेश, गजानन (डि.को.)

इकरवा, इकरवाचाप—सं०स्त्री०—दीवार में लगाया जाने वाला एक प्रकार का सीधा पत्थर।

इकरस—वि०—एक रंग का, एक समान।

इकरां—क्रि०वि०—एक दफे। उ०—इकरां रांमतणी तिय रावण, मंद हरेगौ दह कमळ।—महारांणा सांगा री गीत

इकरांणवौ—सं०पु०—एक्कानवे का वर्ष।

इकरांणू—वि० [सं० एक नवति, प्रा० एक्कणउइ, अप० एक्कानवे, नब्बे और एक के योग के बराबर।

सं०पु०—नब्बे और एक के योग की संख्या, ९१।

इकरांणू'क—वि०—एक्कानवे के लगभग।

इंद्रा-सं०स्त्री०—देखो 'इंद्राणी' (१)

इंद्रानुज-सं०पु०यौ० [सं०] १ विष्णु, नारायण, हरि. २ श्रीकृष्ण. ३ इन्द्र का छोटा भाई वामनावतार। उ०—इंद्रानुज री डंड जौ, आवै हरतां आंच। उणरी नीसरणी हुए, इण गढ़ लागै सांच। —वां.दा.

इंद्रायणी-सं०स्त्री०—१ शचि, इन्द्र की पत्नी। उ०—इण वयण सची विलखी उवरि, इंद्र लखी इंद्रायणी।—रा.रू.

इंद्रावध-सं०पु० [सं० इन्द्रायुध] वज्र (नां.मा.)

इंद्रावरज-सं०पु० [सं०] ईश्वर (नां.मा.)

इंद्रावाहण-सं०पु०—१ हाथी, गज. २ इन्द्र का वाहन, ऐरावत।

इंद्रासण-सं०पु० [सं० इंद्रासन] १ इन्द्र का सिंहासन। उ०—तिण इंद्रासण विण त्रिपत पियकर परसत पीठ।—वां.दा.

२ ऐरावत हाथी. ३ राजसिंहासन. ४ ठगण के प्रथम भेद का नाम जिसमें पाँच मात्रायें क्रमशः ।SS होती हैं (डिं.को.)

इंद्रि-वि०—पांच*।

सं०पु०—१ पांच की संख्या* २ देखो 'इंद्रिय'।

इंद्रिय, इंद्री-सं०स्त्री० [सं० इन्द्रिय] १ बाहरी विषयों का ज्ञान प्राप्त करने वाली शक्ति जो पांच मानी जाती है—चक्षु, श्रोत्र, रसना, नासिका और त्वचा. २ भिन्न भिन्न बाहरी कार्य करने के अंग या अवयव—वाणी, हाथ, पैर, गुदा, उपस्थ (ये कर्मेन्द्रिय कहलाती हैं) लिंगेन्द्रिय, मन, बुद्धि चित्त तथा अहंकार. ३ शिश्न, लिंग. ४ पांच की संख्या*।

इंद्रीजुलाब-सं०पु०—पेशाब लाने की दवा, मूत्र-विरेचन।

इंद्रोको-सं०पु०—एक बड़ा वृक्ष विशेष।

इंद्रो-सं०स्त्री० [सं० इन्द्रिय] १ देखो 'इन्द्रिय'।

सं०पु० [सं० इंद्र] २ देखो 'इंद्र'।

उ०—इंद्रो न घाते न मांसे न लोही।—ह.पु.वा.

इंधण-सं०स्त्री० [सं० इंधन] ईन्धन, जलाने की लकड़ी। उ०—आरणी अगनि अगर में इंधण आहुति घ्रत घण-सार अछेह।—वेलि.

इंधारी-सं०स्त्री०—१ अंधकार. २ आंखों के आगे अंधकार छा जाने का भाव, चक्कर आना।

वि०—अंधकारपूर्ण, अंधेरी।

कहा०—इंधारी रात में मूंग काळा—अंधेरी रात में मूंग काले (दिखाई देते हैं)। अज्ञान रूपी अंधकार में भले-बुरे सब एक से हो जाते हैं।

इंधारीजणो इंधारीजबो-क्रि०अ०—अंधकारमय होना।

उ०—देखतां देखतां वीजळी पळपळाटी मारियो। आभो इंधारीजण लागो।—वरसगांठ

इंधारो-सं०पु०—अन्धकार।

इंयुं-अव्यय—यों। उ०—इंयुं कहि इंडो उतारि नै हाट मांहे वैसि रह्या।—चौबोली

इंसाफ-सं०पु० [अ०] १ न्याय। उ०—खाविंद चहूत खुद खलक खैर, गफ्फूर गैर इंसाफ गैर।—ऊ.का. २ फैसला, निर्णय।

इंस्पेक्टर-सं०पु० [अं०] निरीक्षण करने वाला, निरीक्षक।

इंहकारी-वि०—अहंकारी, गर्व करने वाला। उ०—इळ अवतारी उपगारी, अवड़ रहावै भड़ इंहकारी।—ल.पिं.

इ-सं०पु०—१ भेद. २ कुपित. ३ अपाकरण. ४ अनुकम्पा. ५ खेद. ६ संताप, दुःख. ७ भावना. ८ कामदेव. ९ गणेश. १० शिव. ११ सूर्य्य. १२ स्वामी कार्तिकेय. १३ पवित्रता. १४ ब्रह्मा. १५ बकरी. १६ सर्प. १७ इन्द्र. १८ चंद्रमा. (एकाक्षरी)

सर्व०—इस, इन। उ०—जेठ मास कै विखै इ भांति जळ-क्रीड़ा श्रीकृष्णजी करै छै।—वेलि. टी.

क्रि०वि० [सं० एव] जोर देने का शब्द ही। उ०—पूत सासरै पांच पांडु इ मोनै सूंपिया। जिण कुळ री आ जांच, सरम कठै रै सांवरा।—रामनाथ कवियो

अव्यय—१ निश्चयार्थक सूचक शब्द। उ०—पहिलुं इ जाइ लगन लै पुंहतौ, प्रोहित चंदेवरी पुरी।—वेलि.

२ पादपूर्त्यर्थ अव्यय शब्द। उ०—त्रिधपणै मति कोइ वेसासौ, पांतरिया माता इ पिता।—वेलि.

वि०—व्यर्थ।

इअ. इए-सर्व०—यह। उ०—पूरे इतै प्रामिस्यो पूरो, इए ओछो अरथ।—वेलि.

अव्यय—इसमें, इतने में।

इउं, इऊं-क्रि०वि०—ऐसे, इस प्रकार।

वि०—व्यर्थ।

इकंत-वि० [सं० एकान्त] अकेला, शून्य, निर्जन।

स०पु०—एकांत।

इक-वि० [सं० एक] एक। उ०—सखी अमीणा कंथ रो, औ इक वडो सभाव।—हा.भा.

इकखरो-सं०पु०—डिंगल गीत (छंद) का भेद विशेष जिसके प्रत्येक चरण में अन्त में रगण युक्त १४ मात्राएँ होती हैं।

इकटक-क्रि०वि०—निस्पंद नेत्रों से देखना, टकटकी लगाना।

इकटकी-स०स्त्री०—टकटकी।

इकट्ठो. इकठो-क्रि०वि०—एकत्रित।

वि०—एकत्रित किया हुआ, जमा, एकत्र। (स्त्री० इकट्ठी)

इकडंकी-सं०स्त्री०—एकछत्रता। उ०—इकडंकी गिण एक री, भूलै कुळ साभाव। सूरां आलस ऐन में, अरज गुमाई आव।—वी.स.

इकडंडी-सं०पु०—एकाधिकारी, वह जो अकेला ही बहुतों को दंड देने में समर्थ हो।

इकढ़ाळियो-सं०पु०—एक तरफ ढाल् छत का बना घास-फूस का छोटा मकान।

इकतर-वि०—१ सत्तर और एक के योग के समान. २ इकट्ठा, एकत्रित।

इकेवड़ियौ-वि०—देखो 'इकेवड़ौ' (अल्पा०)

इकेवड़ीताजीम-सं०स्त्री०—राजा-महाराजा द्वारा दिया जाने वाला आदर या सत्कार विशेष।

इकेवड़ौ-वि० (स्त्री० इकेवड़ी) एक परत का, इकहरा।

सं०पु०—वह व्यक्ति जिसकी कन्या या बहिन से उससे ऊँचे वंश वाले व्यक्ति व्याह कर तो लेते हैं किन्तु उस व्यक्ति के वंश में अपनी लड़की का व्याह नहीं करते।

इकोतर-वि० [सं० एकसप्तति, प्रा० एक्कसत्तरि, अप० इकोतरि] सत्तर और एक के योग के बराबर।

सं०पु०—सत्तर और एक के योग की संख्या। उ०—चौकड़ियौ इकोतरां इंद्रराज कराई।—केसोदास गाडण

इकोतरमौ-वि०—इकहत्तरवां, जो क्रम में सत्तर के बाद पड़ता हो।

इकोतरे'क-वि०—इकहत्तर के लगभग।

इकोतरो, इकोतरौ-सं०पु०—इकहत्तरवां वर्ष।

इक्कौ-सं०पु०—देखो 'इक्की'।

वि०—एक।

इक्क-वि०—एक।

इक्कबाळ-सं०पु० [अ० एकबाल] एक ग्रहयोग। जिसका जन्म उस समय हो जब सब ग्रह कंटक (१, ४, ७, १०) या पन कर (२, ५, ८, ११) में हो तब राज्य व सुख बढ़ाने वाला होता है। (ताजक ज्योतिष)

इक्कल-वि०—एक। उ०—खग्ग बळ विस्तरि अकब्बर से शत्रु अग्ग, इक्कल निवाही जिहं वेदधरम नत्ताकौ।—बालाबक्स बारहठ

इक्काणमौ, इक्काणवौ-वि०—९१ वां, जो क्रम में नव्वे के बाद पड़ता हो।

सं०पु०—९१ वां वर्ष।

इक्कावन-वि०—देखो 'इक्यावन'।

इक्की-सं०स्त्री०—एक प्रकार की कटार रखने की चमड़े की पेटी (या सीमा) जिसका पट्टा गले में डाल लिया जाता है तथा वह पेटी कमर के पास स्थित रहती है। (मि० पड़दड़ी)

इक्कीस-वि० [सं० एकविंशति, प्रा० एगवीस, अप० एकवीस] बीस और एक के योग के समान।

सं०पु०—बीस और एक के योग की संख्या।

इक्कीसमौ-वि०—जो क्रम में बीस के बाद पड़ता हो।

इक्कीसे'क-वि०—इक्कीस के लगभग।

इक्कीसौ-सं०पु०—इक्कीसवां वर्ष।

वि०—पूर्ण विश्वासी, खरा।

इक्कौ-सं०पु०—१ शस्त्र विद्या में प्रवीण बादशाही जमाने का वह मुसलमान योद्धा जो अकेला बड़े-बड़े काम कर सकता हो। उ०—लसकर नूं न्यारी वहै, इक्कौ 'बेग खुसाळ'। हुवौ वकौ हरनाथ सूं, छड़ पण हाथ दुकाल।—रा.रू. २ अपने झुंड को छोड़ कर अलग हो जाने वाला पशु. ३ एक प्रकार की घोड़ा गाड़ी, ताँगा. ४ किसी रंग की एक ही बूँटी वाला खेलने का ताश का पत्ता।

वि०—एक ही, अद्वितीय, अनोखा, अनुपम, बेजोड़। उ०—मुरधर में पातल मरद, इक्कौ रतन अमोल। लोकां ने तो .लादसी, मरियां पाछै मोल।—ऊ.का.

इक्कोदुक्कौ-वि०—अकेला-दुकेला।

इक्खजणौ, इक्खजबौ-क्रि०स० [सं० ईक्षण] देखा जाना।

उ०—त्रिकाळग्य तत जांण वांणि जोतिस लखवेला, आचारिज रिख उग्र जिकै इक्खज गुण जेता।—रा.रू.

इक्खणौ, इक्खबौ-क्रि०स०—देखना। उ०—इक्खत जिम हिमकर उदै अंबुधि उफणाया।—वं.भा.

इक्यावन-वि० [सं० एकपंचाशत, प्रा० एक्कावण्ण, अप० एकावन] पचास और एक के योग के बराबर।

सं०पु०—पचास और एक के योग की संख्या।

इक्यावनमौ-वि०—जो क्रम में पचास के बाद पड़ता हो।

इक्यावनौ-सं०पु०—५१ वां वर्ष।

इक्यासी-वि०—देखो 'इकियासी'।

इक्ष्वाक, इक्ष्वाकु-सं०पु० [सं०] सूर्यवंश का एक प्रधान राजा जो वैवस्वत मनु के पुत्र थे। इन्होंने अयोध्या को राजधानी बनाया था (रामकथा)

इखणौ-क्रि०स०—देखना। उ०—वदन बिलोके रांमचंद्र, इखै भूप अपार।—रांमरासौ

इखत्यार, इखत्यारी-सं०पु० [अ० इख्तियार] अधिकार, काबू, प्रभुत्व, सामर्थ्य।

इखधाळ-सं०पु०—तीर (डि.नां.मा.)

इखळास-सं०पु०—देखो 'इकळास'।

इखवाकि-सं०पु० [सं० इक्ष्वाकु] देखो 'इक्ष्वाकु'।

इखाचळ-सं०पु०—एक पौराणिक पर्वत।

इखु, इखू-सं०पु० [सं० इषु] बाण, तीर (ह.नां.)

इख्तियार-सं०पु० [अ०] अधिकार, काबू, सामर्थ्य।

इख्य-सं०पु० [सं० इष्य] वसंत ऋतु (डि.को.)

इख्यारत, इख्यारथ-वि०—व्यर्थ, निष्फल। उ०—विसकमाय अणखाय, मोह पाय अळसाय मति। जनम इख्यारथ जाय, रांम भजन विन राजिया।—किरपारांम

इख्वाक-सं०पु० देखो 'इक्ष्वाकु'।

इगताळी, इगताळीस-वि० [सं० एकचत्वारिंशत्, प्रा० एक्कचत्तालीस, अप० एकतालीस] चालीस और एक के योग के बराबर।

सं०पु०—चालीस और एक के योग की संख्या।

इगताळीसमौ-वि०—जो क्रम में चालीस के बाद पड़ता हो, ४१ वां।

इगताळीसे'क-वि०—एकतालीस के लगभग।

इकरांणूमौ–वि०—जो क्रम में नव्वे के बाद पड़ता हो।

इकरार–सं०पु० [अ०] किसी काम को करने की स्वीकृति का निश्चय प्रतिज्ञा, वादा, ठहराव।

इकरारनांमौ–सं०पु० [अ० इकरार+फा० नामा] किसी प्रकार का इकरार और उसकी शर्तें लिखा हुआ पत्र, प्रतिज्ञा पत्र।

इकरारा–क्रि०वि०—एक दफा, एक वार। उ०—साईं सर सरिता आई इकरारा, धोळा जळधर सूं धाई जळधारा।—ऊ.का.

इकलंग–सं०पु०—देखो 'इकलिंग'।

क्रि०वि०—लगातार निरन्तर। उ०—छिल छिल भर जाय सरवर ताळ, छिनयक चालौ परवा भांण, दोय घड़ी जे इकलंग चालौ।
—लो.गी.

इकळवाई–सं०स्त्री०—स्वर्णकारों का अंगूठी को बड़ी करने का एक औजार विशेष।

इकलांण–क्रि०वि०—१ एकान्त, निर्जन। उ०—डीगोड़ा डूंगर धोरां मांझ, वरसती भीणोड़ौ विसरांम। जिकण में भींजै वा इकलांण, विराजी सांयत वण जजमांन।—सांझ. २ एक दफा।

इकळाई–सं०स्त्री०—१ बढ़ई का एक औजार. २ मोची का एक औजार. ३ एक तह वाला दुपट्टा या चद्दर. ४ अकेलापन. ५ देखो 'इकळायौ'।

इकळायौ–सं०पु०—देखो 'इकळासियौ'।

इकलाळियौ–वि०—समान स्वभाव वाले। उ०—सारै साथ नै सरव वसत रौ परीसारौ हुवै छै, पांच पांच दस दस इकलाळिया दांइदा भेळा बैठा छै।—रा.सा.सं.

इकळास–सं०पु० [अ० इख़्लास] मित्रता, मेल, प्रीति। उ०—मुख ऊपर मिठियास, घट मांही खोटा घड़ै। इसड़ां सूं इकळास, राखीजै नहि राजिया।—किरपारांम

इकळासियौ–सं०पु०—वह ऊँट जिस पर एक ही सवार बैठ सके। (रू०भे० इकळायौ)

इकलिंग–सं०पु०—एकलिंग, शिव का एक रूप जो मेवाड़ के आराध्य देव हैं (डि.को.)

इकलीम–सं०पु० [अ०] देश। उ०—मोलवी कराड़ै अरज काजी मुल्ला पाड़जै देव हर दळां कर पेल। मेछ वांछै जिका हिंद इकलीम मझ, खड़ौ राजा 'जसौ' वणै नह खेल।—राजा जसवंतसिंह री गीत

इकलोयण–सं०पु० [सं० एक+लोचन] कौआ (डि.को.)

इकलौतौ–सं०पु०—अपने माँ-बाप का इकलौता पुत्र। (स्त्री० इकलौती)

इकवीस–वि०—देखो 'इक्कीस'। उ०—हुरमखांनौ लूट इकवीस पालत वीज वाहण रा भरि महाराज डेरै आंणी।—वां.दा.ख्या.

इकसंग–वि०—एक संग या साथ।

इकस–सं०स्त्री०—गर्व, घमंड। उ०—मन री मन रै मांहि, अकवर रै रहगी इकस। नरवर कीधी नांहि, पूरी रांण प्रतापसी।
—दुरसौ आढ़ौ

इकसठ–वि० [सं० एकषष्टि, प्रा० इकसट्ठि, अप० एकसट्ठि] साठ और एक के योग के समान।

इकसठमौ–वि०—जो क्रम में साठ के बाद पड़ता हो।

इकसठे'क–वि०—इकसठ के लगभग।

इकसठौ–सं०पु०—६१ वाँ वर्ष।

इकसमच्चै–क्रि०वि०—अकस्मात्, अचानक, एक साथ।

इकसांसियौ–वि०—एक सांस में सब काम करने वाला।

क्रि०वि०—एक सांस से, बहुत तेज। उ०—तरै जखड़ै कह्यौ, दोड़ियौ इकसांसियौ कुं जायै छः।—जखड़ा मुखड़ा भाटी री वात

इकसाखियौ–वि० [इक+साख=फसल+यौ–प्रत्यय] वह प्रान्त, वह गाँव या स्थान विशेष जहाँ केवल एक ही फसल (खरीफ) होती हो।

इकसार–वि०—एक सा, एक समान। उ०—आद अंत इकसार, धार हियै द्रढ़ स्यांमध्रम।—जैतदांन बारहठ

क्रि०वि०—लगातार, निरन्तर।

इकसूत–वि०—एक साथ, इकट्ठा।

इकहतर–वि०—देखो 'इकोतर'।

इकांणमौ–वि०—१ ९१ वाँ. २ ९१ की संख्या का वर्ष।

इकांणू–वि०—नव्वे और एक के योग के बराबर।

सं०पु०—नव्वे और एक के योग की संख्या, ९१।

इकांणूमौ-वि०—देखो 'इकांणमौ' (१)।

इकांत–वि० [सं० एकांत] १ एकांत, निर्जन. २ अकेला।

इकांतरै, इकांतरौ–क्रि०वि०—एक दिन को छोड़ कर दूसरा दिन तथा निरन्तर यही क्रम।

सं०पु०—एक ज्वर का नाम जो एक दिन छोड़ कर आता है।

इकाबहादुर–वि०—परिवाररहित अकेला आदमी।

इकावणौ–सं०पु०—५१ वां वर्ष।

इकावन–वि०—देखो 'इक्यावन'।

इकावनौ–सं०पु०—५१ वाँ वर्ष।

इकयासियौ–सं०पु०—८१ वाँ वर्ष,।

इकियासी–वि० [सं० एकाशीति, प्रा० एक्कासीइ, अप० इकयासी] अस्सी और एक के योग के समान।

सं०स्त्री०—अस्सी और एक के योग की संख्या।

इकयासी'क–क्रि०वि०—इक्यासी के लगभग।

इकोयासीमौ–वि०—जो क्रम में अस्सी के बाद पड़ता हो।

इकीस–वि०—देखो 'इक्कीस'।

इकीसौ–सं०पु०—२१ वाँ वर्ष।

वि०—पूर्ण विश्वासी, खरा।

इकेलौ–वि० (स्त्री० इकेली) अकेला। उ०—अंचल गहतै धन रही, एक इकेली जोवनपुर।—वी.दे.

इकेवड़–सं०स्त्री०—एक धागे की रस्सी।

वि०—देखो 'इकेवड़ो'।

इजळकौ–सं०पु०—छलकने की क्रिया या भाव।

इजळास–सं०पु० [अ०] १ बैठक, हाकिम की बैठक. २ मुकदमों के फैसले करने का स्थान, कचहरी, न्यायालय।

इजवाळणौ, इजवाळबौ–क्रि०स०—उज्ज्वल करना, चमकाना।

इजवाळियोड़ौ–भू०का०कृ०—उज्ज्वल, उज्ज्वल किया हुआ, चमकाया हुआ। (स्त्री० इजवाळियोड़ी)

इजहार–सं०पु० [अ०] १ प्रकट करना, प्रकाशन। उ०—जल्लाल जुल्म इजहार जाव, होयगी कयामत में हिसाव।—ऊ.का.
२ अदालत के सामने दिया जाने वाला बयान या गवाही।

इजाजत, इजाजती–सं०स्त्री० [अ० इजाजत] १ आज्ञा, हुक्म. २ स्वीकृति, मंजूरी।
उ०—आपकी इजाजती चहत अग्ग, मुरधरा जांणकौ देहु मग्ग।
—ऊ.का.

इजाफे, इजाफै, इजाफौ–सं०पु० [अ० इजाफा] १ बढ़ती तरक्की. २ व्यय के पश्चात् बचा हुआ धन, बचत।

इजार–सं०पु० [फा० इज़ार] पायजामा, सूथन।

इजारदार–सं०पु० [अ० इजार+फा० दार] ठेकेदार।

इजारबंद–सं०पु० [अ०] पायजामे या लँहगे के नेफे में उसे कमर से बाँधने के लिये पड़ा रहने वाला सूत या रेशम का जालीदार या सादा बँधन, नाड़ा।

इजारेदार–सं०पु० [अ० इजारे+फा० दार] ठेकेदार।

इजारौ–सं०पु० [अ० इजारा] उदरथ या किराये पर देने का भाव, अधिकार, इख्तियार।

इजै-विजै–वि०—१ एक दूसरे से अधिक. २ बराबर का, समान, सदृश्य. ३ भिन्न-भिन्न प्रकार के।

इज्जत–सं०स्त्री० [अ०] मान, प्रतिष्ठा, आदर।
क्रि०प्र०—करणी, गमणी, गमावणी, जावणी, राखणी, रे'णी, होणी।
मुहा०—१ इज्जत उतारणी—मर्यादा को नष्ट करना. २ इज्जत करणी—सम्मान करना, मर्यादा करना. ३ इज्जत खोणी—बेइज्जत होना. ४ इज्जत गमाणी—आबरू खोना. ५ इज्जत जाणी—बेइज्जत होना. ६ इज्जत डुबोणी—इज्जत खराब करना, अप्रतिष्ठित करना. ७ इज्जत दो कौड़ी री करणी—अप्रतिष्ठा करना; इज्जत बिल्कुल बरबाद करना. ८ इज्जत पाणी—प्रतिष्ठा प्राप्त करना. ९ इज्जत बिगाड़ना—आबरू नष्ट करना, सतीत्व नष्ट करना. १० इज्जत मिळणी—बड़ा पद मिलना, प्रतिष्ठित होना. ११ इज्जत में बट्टो लागणौ—आबरू खराब होना. १२ इज्जत में बट्टो लगाणौ—इज्जत खराब करना. १३ इज्जत राखणी—इज्जत बचा लेनी. १४ इज्जत होणी—प्रतिष्ठा होना; आदर पाना।

इट्यासी–वि०—देखो 'इठियासी'।

इटीडांड, इट्टी–सं०स्त्री०—गुल्ली।

इठंतर–वि० [सं० अष्टसप्तति, प्रा० अट्ठहत्तरि, अप० अठोत्तरि] सत्तर और आठ के योग के बराबर।
सं०पु०—सत्तर और आठ के योग की संख्या।

इठंतरमौ–वि०—जो क्रम में सतहत्तर (७७) के बाद पड़ता हो।

इठंतरे'क–वि०—जो सत्तर और आठ के योग के लगभग हो।

इठंतरौ–सं०पु०—७८ वां वर्ष।

इठत्तर–वि०—देखो 'इठंतर'।

इठयासी–वि०—देखो 'इठियासी'।

इठांणमौ–वि०—जो क्रम में सत्तानवे के बाद पड़ता हो।

इठांणवौ–सं०पु०—९८ वां वर्ष।

इठणूं–वि० [सं० अष्टनवति, प्रा० अट्ठाणउइ, अप० अट्ठानवे] जो नव्वे और आठ के योग के बराबर हो।
सं०पु०—नव्वे और आठ के योग की संख्या।

इठांणूक–वि०—अट्ठानवे के लगभग।

इठासी–वि०—देखो 'इठियासी'।

इठियासियौ–सं०पु०—८८ वां वर्ष।

इठियासी–वि० [सं० अष्टाशीति, प्रा० अट्ठासीइ, अप० अट्ठासी] जो अस्सी और आठ के योग के बराबर हो।
सं०पु०—अस्सी और आठ के योग की संख्या।

इठियासी'क–वि०—अट्ठासी के लगभग।

इठियासीमौ–जो क्रम में ८७ के बाद पड़ता हो।

इठसूं–क्रि०वि०—इधर से।

इठै–क्रि०वि०—यहाँ, इस जगह।

इडकरी–वि०—मस्त। उ०—पण भूंडण दारू रै मतवाळै ज्यूं इडकरी हुई। लोहियां सूं पूर हुयोड़ा डाढ़ाळौ अर भूंडण दोनूं अरवद नूं हालिया।—डाढ़ाळै सूर री बात

इडग–वि० [सं० अडिग] अडिग, अटल, निश्चल। उ०—तौ पद अविधांन प्रवाड़ा सूरत अरविंद इडग तंत इधकार।—र.रू.

इडांणी–सं०स्त्री०—कपड़े की बनी हुई छोटी गोल गद्दी जिसे बोझ उठाते समय सिर पर रक्खा जाता है, गेंडुरी।

इढ़यासी–वि०—देखो 'इठियासी'।

इढ़ै–क्रि०वि०—यहाँ, यों।

इण–क्रि०वि०—इधर।
सर्व०—इस, यह।
कहा०—१ इण कांन सुणी नै उण कांन काढ़ी (गई)—इस कान से सुन कर उस कान से निकाल देना—सुनी हुई बात का कोई असर न होने पर. २ इण पार कै उण पार—इस पार या उस पार; अत्यंत जोखिम के कार्य करने में महान हानि व महान लाभ दोनों ही हो सकते हैं. ३ इण मूंडै मसूर री दाळ—यह मुंह और मसूर की दाल; इस अवस्था में अमुक वस्तु की प्राप्ति की

इगताळीसौ, इगताळौ–सं०पु०—४१ वाँ वर्ष ।
इगतियार–सं०पु०—देखो 'इखतियार' ।
इगतीस–वि० [सं० एकत्रिंशत्, प्रा० एक्कतीस, अप० एकत्रीस] तीस और एक के योग के बराबर ।
सं०पु०—तीस और एक के योग की संख्या ।
इगतीसमौ–वि०—जो क्रम में तीस के बाद पड़ता हो ।
इगतीसे'क–वि०—३१ के लगभग ।
इगतीसौ–सं०पु०—३१ वाँ वर्ष ।
इगत्यार–सं०पु० [अ० इख्तियार] अधिकार, सामर्थ्य, प्रभुत्व, काबू । (रू०भे० इखतियार)
इगलांम–सं०पु० [अ० इगलाम] लड़कों के साथ अप्राकृतिक मैथुन, लौंडेबाजी, गुदा मैथुन (मा.म.)
इगलांमी–सं०पु० [अ० इग्लाम] गुदा मैथुन करने वाला, लौंडेबाज (मा.म.)
इगसट–वि०—देखो 'इगसठ' ।
इग्यूं–सं०स्त्री०—दीर्घ ई की मात्रा ।
इकसठ–वि० [सं० एकषष्टि, प्रा० इकसट्ठि, अप० एकसट्ठि] साठ और एक के योग के बराबर ।
सं०पु०—साठ और एक के योग की संख्या ।
इकसठमौ–वि०—जो क्रम में साठ के बाद पड़ता हो ।
इकसठे'क–वि०—जो साठ और एक के योग के लगभग हो ।
इकसठौ–सं०पु०—६१ वाँ वर्ष ।
इगियार–वि०—देखो 'इगियारे' । उ०—राजा दित तिरा वरस वरस इगियार सिघ सुरा ।—अज्ञात
इगियारमौ–वि०—जो क्रम में दस के बाद पड़ता हो ।
इगियारस–सं०स्त्री० [सं० एकादशी] मास के कृष्ण अथवा शुक्ल पक्ष की ग्यारहवीं तिथि, एकादशी ।
कहा०—इगियारस रै घरै बारस पांवरणी—एकादशी के घर द्वादशी पाहुनी । एकादशी के दिन एक वक्त भोजन करने के बहाने खूब तर माल उड़ाना—व्रतादि के बहाने माल उड़ाने वालों के प्रति ।
इगियारे–वि० [सं० एकादशन्, प्रा० एक्कारस, अप० एग्यारह] ग्यारह, दस और एक के योग के बराबर ।
इगियारे'क–वि०—ग्यारह के लगभग ।
इगीयार–वि०—देखो 'इगियारे' ।
इगुणीस–वि०—देखो 'उगणीस' (वं.भा.)
इग्या–सं०स्त्री० [स० आज्ञा] आज्ञा, हुक्म, आदेश । उ०—पीछै वीकौजी श्री जी री इग्या प्रमांरा गांव चांडासर आया ।—द.दा.
इग्यार–वि०—देखो 'इगियारे' ।
इग्यारमौं–वि०—देखो 'इगियारमौ' ।
इग्यारस–सं०स्त्री०—देखो 'इगियारस' ।
इग्यारै–वि०—देखो 'इगियारै' ।
इग्यारौ–सं०पु०—ग्यारह की संख्या का वर्ष ।

इड़करी—देखो 'इडकरी' ।
इड़ा–सं०स्त्री० [सं०] १ शरीर के वाम भाग में रहने वाली इड़ा नाम की एक नाड़ी विशेष जो पीठ की रीढ़ से होकर नाक तक है । बाँयी श्वास इसी से होकर आती है । (योग) २ दक्ष प्रजापति की एक कन्या जो कश्यप ऋषि की पत्नी थी. ३ सरस्वती. ४ चंद्र पुत्र वधु की पत्नी जो वैवस्वत मनु की पुत्री और राजा पुरुरवा की माता थी. ५ दुर्गा, पार्वती ।
इड़ौ–क्रि०वि० (स्त्री० इड़ी) ऐसा ।
इचरज–सं०पु० [सं० आश्चर्य] आश्चर्य, अचंभा, विस्मय ।
उ०—सिव सूं उमंग पूछै सगत, इचरज अत आवत यहैं । ऊ कहौ मोहि प्रभु संत उर, रात दिवस किण विध रहैं ।—र.रू.
इचरजणौ, इचरजवौ–क्रि स०—आश्चर्य करना ।
इचरजवंत–वि०—आश्चर्यान्वित । उ०—इसी सुरिग राजा इचरजवंत हुवौ ।—पलक दरियाव री वात
इच्छ–सं०स्त्री० [सं० इच्छा] लालसा, इच्छा, चाह, रुचि अभिलाषा ।
इच्छणौ, इच्छवौ–क्रि०स०—इच्छा करना ।
उ०—इच्छै धन गणिका अवर, धनवंतां घर धाय ।—वं भा.
इच्छना–सं०स्त्री० [सं० इच्छा] इच्छा, अभिलाषा । उ०—तर सूरय कह्यौ—आंवाई देवी मेवाड़ ईडर में गड़ासंध छै, उठा जात वाळी, इच्छना करो, आधांन रहसी, तठा पछै जात करज्यौ ।—नैणसी
इच्छा–सं०स्त्री०—वह मनोवृत्ति जो किसी सुखद वस्तु की प्राप्ति की ओर ध्यान को ले जाने वाली हो । लालसा, अभिलाषा ।
इच्छाभेदी–सं०पु०—जुलाव के लिये काम में आने वाली औषधि । (अमरत)
इच्छु–सं०पु० [सं० इक्षु] ईख, गुड़, ऊख ।
इच्छुक–सं०पु० [सं० इक्षु] ईख ।
वि० [सं० इच्छुक] इच्छा करने वाला, अभिलाषा करने वाला ।
इच्छू—देखो 'इच्छु' ।
इज–अव्यय—निश्चयार्थक सूचक शब्द ही ।
इजगर–सं०पु० [सं० अजगर] बडा व खूब मोटा सर्प की जाति का एक जन्तु. अजगर ।
कहा०—१ इजगर करे न चाकरी, पंछी करे न कांम । दास मलूका कह गये, सब के दाता रांम—आलसी व्यक्ति के लिये. २ इजगर पूछै विजगरा, कहा करत हो मित । पड़ा रहत हां रेत में, हरी व रत है चित—आलसी व्यक्ति के लिये ।
इजतदार–वि० [फा० इज्जत+दार] प्रतिष्ठित, सम्मानित ।
इजरज–सं०पु० [सं० आश्चर्य] आश्चर्य, अचंभा ।
इजराय–सं०पु० [अ०] १ जारी करना. २ अमल में लाना, प्रयाग करना. ३ प्रचार करना ।
इजळकणौ, इजळकवौ–क्रि०अ०—छलकना, मर्यादा बाहर होना, तुच्छता प्रकट करना ।

इतर–वि० [सं०] १ अपर, दूसरा, अन्य । उ०—स्वइच्छा दिच्छा तें इतर नहि इच्छा सद सुखीं ।—ऊ.का.
२ नीच, पामर. ३ साधारण, सामान्य ।
सं०पु० [फा० इत्र] इत्र, पुष्पसार ।

इतरणौ, इतरबौ–क्रि०अ०—इतराना, घमंड करना, इठलाना, ऐंठना, ठसक दिखाना ।
इतरणहार, हारौ (हारी), इतरणियौ–वि०—इतराने वाला ।
इतराणौ, इतरावणौ, इतराववौ–(रू०भे०)
इतरिओड़ौ, इतरियोडो, इतरघोड़ौ–भू०का०कृ०—इतराया हुआ ।
इतरीजणौ, इतरीजबौ—इतराया जाना ।
इतरीजिओड़ौ, इतरीजियोड़ौ, इतरीज्योड़ौ–भू०का०कृ०—इतराया गया हुआ ।

इतरत–वि० [सं० इतर] पृथक, अन्य, अतिरिक्त, सिवाय ।

इतरदांन–सं०पु० [फा० इत्र+दान] इत्र रखने का पात्र ।

इतराज–सं०पु० [अ० एतराज] १ विरोध, विगाड़, नाराजी.
२ एतराज, आपत्ति ।

इतराजी–सं०स्त्री०—एतराज ।
वि०—एतराज संबंधी ।

इतरांणौ, इतरावौ–क्रि०अ०—देखो 'इतरणौ' ।

इतरायोड़ौ–भू०का०कृ०—इतराया हुआ, घमंड किया हुआ ।
(स्त्री० इतरायोड़ी)

इतरावणौ, इतराववौ–क्रि०अ०स०—देखो 'इतरणौ' ।

इतरावियोड़ौ–भू०का०कृ०—इतराया हुआ । (स्त्री० इतरावियोड़ी)

इतरियोड़ौ–भू०का०कृ०—इतरा हुआ, इठला हुआ ।
(स्त्री० इतरियोड़ी)

इतरे, इतरै–क्रि०वि०—इतने में । उ०—बाजोटां ऊतरि गादि वैठी, राजकुंअरि सिंगार रस । इतरै एक आली ले आवी, आंनन आगळि आदरस ।—वेलि.

इतरौ–सर्व० (स्त्री० इतरी; वहु० इतरा) इतना ।

इतरौ'क–वि०—इतना सा ।

इतळउ–वि०—इतना, इतनी मात्रा का । उ०—एकणि वहिलइ जेसळ साथ, इम गेवडि मांडी नरनाथ । इतळउ कहिइ मारहउ मांन, कहियउ चाचगदे राजांन ।—ढो.मा.

इतवरी–सं०स्त्री०—असती, पुंश्चली, कुलटा स्त्री ।

इतवारी–वि०—विश्वासपात्र, विश्वासयोग्य । उ०—ग्रे दिलगीर हुइ डेरे गया । पछै आपरा इतवारी चाकर खवास पासवानां साथै इण नूं घणा ओळभा कहाड़िया ।—नैणसी (मि० इतबारी)

इतां–वि०—१ इतने । उ०—सुजु करै अहीरां मरिम सगाई, ओळांडै राजकुळ इतां ।—वेलि.
सर्व०—इन्होंने । उ०—मुख इतां वणी छळ मारवां, मुहर अणी वध मेलिया ।—रा.रू.

इति–अव्यय०—समाप्तिसूचक शब्द ।
सं०स्त्री०—समाप्ति, अंत ।

इतियाचार–सं०पु० [सं० अत्याचार] अत्याचार, जुल्म ।

इतिहास–सं०पु० [सं०] १ पूर्व वृत्तांत. २ वह वर्णन जो किसी प्रसि घटना या उससे संबंध रखने वाले पुरुषों, स्थानों आदि का काल मे किया जाय । तवारीख. ३ पुरुषों की वहत्तर कलाओं के अंत एक कला ।

इतिहासी–वि०—१ ऐतिहासिक, इतिहास संबंधी । २ इतिहास जानने वाला ।
उ०—लीधी हर लूटैंह, भारत इतिहासी भवन । 'ओभा' विन ऊठैंह, हिंदवां रै ज्वाळा हियै ।—सांवळदांन आसियौ

इती–वि०स्त्री०—इतनी ।

इतेई–क्रि०वि०—इतने में ।

इतै–क्रि०वि०—इतने में. २ तब तक । उ०—सूर बाहर चढ़ै चारणां सुरहरी, इतै जस जितै गिरनार आवू ।—वां.दा.
३ अब तक. ४ इधर । उ०—अज्ज धरम रच्छक इतै रु जव-निस्ट उतै, घाट हल्दी रण अमावं भट भालां कौ ।
—बालावक्ष बारहठ

इतो'क–वि०—देखो 'इतोसोक' ।

इतोलणौ, इतोलवौ–क्रि०स०—शस्त्र उठाना । उ०—इम कहिय असुरि आउध इतोलि पसरिस्यां देस गढ़ रूंधि प्रोळि ।—रा.ज.सी.

इतोसो'क–वि०—इतना सा, जरा सा ।
कहा०—आभौ इतोसो'क दीसै—आकाश इतना-सा (बहुत छोटा) दिखाई देता है । संकुचित दृष्टि के लिये प्रयुक्त ।

इतौ–वि०—इतना । उ०—इतौ पुकारचौजी नारायणजी परमेसरजी ।
—मीरां.

इतौसौ–वि०—इतना सा ।

इत्तला–सं०स्त्री० [अ० इत्तलाअ] सूचना, खबर ।

इत्तेई–क्रि०वि०—इतने में ।

इत्तौ–वि०—इतना । (वहु० इत्ता)
कहा०—इत्ता वरस दिल्ली में रह'र भाड़ ही भूंजी—इतने वर्ष दिल्ली में रह कर भाड़ ही भूंजी; अच्छे स्थान में रह कर कोई लाभ नहीं उठाया ।

इत्यंतरी–अव्यय—इस समय, ऐसे समय पर । उ०—नव जळ भरिया मग्गाड़ा, गयणि घडक्कइ मेह । इत्यंतरी जइ आविसिउ, तउ रइ जांणिस्सिउ देह ।—हेम

इत्य–क्रि०वि० [सं०] ऐसे, यों, इस प्रकार, इस तरह । उ०—जिण राव त्रिणोंही भवणपति सिद्ध 'लल्ल' इम उच्चरै । इत्य चवत्थौ राव हुवै तौ दिव जळतौ कर धरै ।—लल्ल भाट

इत्यसाल–सं०पु० [अ०] कुंडली के सोलह योगों में से एक जब एक वेगगामी ग्रह मंदगामी ग्रह से अंश में कम हो और परस्पर मुंह

आशा व्यर्थ है (व्यंग्य). ४ इण सूं आगे तो काळी (पीळी) भींत है—इससे आगे जाना असम्भव है; इससे आगे सम्भव नहीं. ५ इण हात घोड़ौ नै उण हात गधौ—इस हाथ में घोड़ा और उस हाथ में गधा; स्नेह और डाँट दोनों प्रयोग करने पर; भला और बुरा दोनों कर सकने की सामर्थ्य रखने पर. ६ इण हाथ लेणौ नै उण हाथ देणौ—इस हाथ लेना तथा उस हाथ देना; जो व्यक्ति कुछ देता है वही लेने का अधिकार रखता है और जो व्यक्ति कुछ लेता है उसे कुछ देना भी चाहिये; कार्य का प्रतिफल तुरन्त मिलेगा; इधर कार्य करो तथा प्रतिफल तैयार; उसी को मिलता है जो कुछ देता है।

इणगत—क्रि०वि०—इस प्रकार।

इणगी—क्रि०वि०—इस ओर, इधर। उ०—इयुं करतां वजार मांहै फिरै, कपड़ा मोलावै। **इणगी** उणगी जोवै, खबरदारी करै।
—चौबोली

कहा०—इणगी कूवौ उणगी खाड, गत कठै ही कोयनी—इधर कुआ और उधर खाई, कहीं भी गति नहीं है; दोनों ओर विपत्ती या हानि।

इणघड़ी—क्रि०वि०—इस समय, ठीक इसी समय।

इणतोर—क्रि०वि०—इस प्रकार। उ०—तिण सकार **इणतोर** सतत गणिका समुझाई।—वं.भा.

इणभाय—क्रि०वि०—इस प्रकार, इस भांति। उ०—कुळवंती सूं क्रीत री, उलटी गति **इणभाय**।—बां.दा.

इणरीत—क्रि०वि०—इस तरह, इस प्रकार। उ०—रात दिवस **इणरीत** प्रगट घड़ियाळ पुकारै।—र.रू.

इणवार—इस वक्त, इस बार।

इणविचाळै—क्रि०वि०—इतने में।

इणविध—क्रि०वि०—इस तरह, इस प्रकार।

इणवीच—क्रि०वि०—इतने में।

इणहिज, इणहीज—सर्व०—१ यह ही. २ इसीके, इसके।
उ०—जोगिण जोगी सूं कहइ, सांभळि नाथ समथ्थ। का जीवाड़उ मारुवी, हूं पिण **इणहिज** सथ्थ।—ढो.मा.
३ इसने ही, इसने।

इणां—सर्व०—इन, इन्होंने। उ०—**इणां** तौ उहीज वेळा वंधुगढ़ री मारग लियौ सौ रात दिन कासीद खेय हालै ज्यूं चालिया।
—पलक दरियाव री बात

क्रि०वि०—यहाँ, इधर, इस ओर।

इणि—सर्व०—इस। उ०—डूंगरिया हरिया हुया, वणे झिंगोरचा मोर। इणि रिति तीनइ नीसरइ, जाचक चाकर चोर।—ढो.मा.
क्रि०वि०—इसमें।

इणिया-गिणिया—वि०—इने-गिने, कुछ, कतिपय।

इणियाळौ—वि०—तीखा, नोंकदार (आँख के लिए)
उ०—अस्त्रित वैणी कांमणी सिणगार सझिया छै, **इणियाळा** काजळ ठांसिया छै।—रा.सा.सं.

इणी—सर्व०—इस, इसी (मि० इणी) उ०—मिनख जमारै आय, रांमजी रा गुण भूला। कहै दास सगरांम, **इणी** सम कांई सूला।
—सगरांमदास

सं०स्त्री०—१ नोक, सिरा।
कहा०—इणी चूकी, धार भागी—अनी चूकी, धार टूटी; ध्यान हटा कि हानि हुई।
[सं० अनीक] २ सेना की टुकड़ी या सेना का भाग। उ०—सु दखण्यां री फौज री दो **इणी** है। प्यादां री इणी रै बीचै तौ सावंत-राय घोड़ै असवार हुवौ—द.दा. ३ सेना। उ०—सेना तौ पण आप नूं समाचार मेलूं छूं अरु मोयल डावी **इणी** में लड़सी नै जीवणी में तुरक रहसी।—द.दा.

इणी-पांणी—सं०स्त्री०—साहस, शक्ति, सामर्थ्य। उ०—१ न सकियौ आंगमण तरै 'औरंग' नमै छिलंतै मछर पेखे अछायौ। कमंध कमंधां धणी मळै असहां कमळ **इणी-पांणी** धणी हुअे आयौ।—द.दा.
२ देखो 'अणी-पांणी'।

इत, इतकू—क्रि०वि०—१ इधर, इस ओर. २ यहाँ। उ०—तठा उपरांति करि नै राजांन सिलांमति फेर पातसाहजी हुकम कियौ। हकीकत इत कहै छै।—रा.सा.सं.

इतणौ—सर्व०—इतनी।

इतफाक—सं०पु० [अ० इत्तफाक] १ मेल-मिलाप, सहमति, सहयोग। २ मौका, अवसर। उ०—आखर **इतफाक** असा हुवा कै पातसाहजी का खजांना लाहौर सूं आवता था।—द.दा.
क्रि०प्र०—पड़णौ-होणौ।

इतवार—सं०पु० [अ० एतवार] विश्वास, भरोसा। उ०—१ तद आप कही—म्हांनै थारौ **इतवार** छै।—पदमसिंह री वात
उ०—२ कोयक कहै कुसागड़ी, धवळ न खांचै भार। इण वायक री एक ही, उर न करै **इतवार**।—बां.दा.

इतवारी—सं०स्त्री०—विश्वास करने का भाव या क्रिया।
वि०—१ विश्वासपात्र। उ०—आळै री कूंची जवरदार मोहण कन्है छै सो मांग लीजौ, मोहण **इतवारी** छै।
—पलक दरियाव री वात
२ विश्वास योग्य। उ०—साहणी जैमल निपट वडौ आदमी हुतौ, **इतवारी** लायक।—नैणसी

इतमांम—सं०पु० [अ० एहतमाम] १ इंतजाम, व्यवस्था, प्रवन्ध.
सं०स्त्री०—२ वादशाह की सवारी के आगे नकीव से की जाने वाली ध्वनि।
वि०—रोकटोक विना। उ०—खासग्रांम **इतमांम** विण, तेड़ायौ 'अगजीत'। साह मनैं अंतर तई, वचने देखी प्रीत।—रा.रू.

इतमीनांन—सं०पु० [अ०] विश्वास, सन्तोष, भरोसा।

इतमीनांनी—वि०—भरोसे का, भरोसे संबंधी।

इवडो–वि० (स्त्री० इवडी) इतना, ऐसा। उ०—मंन्यासिए जोगिए तपनि तापसिए कांइ इवडा हठ निग्रह कीया।—वेलि.
(रू०भे० इवडो)

इवारत–सं०स्त्री० [अ०] लेख, लेख-शैली, लिखा हुआ।

इवारती–वि०—गद्यात्मक।

इब्राहीमी–सं०पु० [अ०] इब्राहीम लोदी के समय जारी एक सिक्का विशेष।

इभ–सं०पु० [सं०] हाथी (स्त्री० इभी)
उ०—इभ कुंभ अंबारी कुच सु कंचुकी, कवच संभु कांम क कळह।
—वेलि.

इभकोस–सं०पु० [सं० इभकोष] तलवार की म्यान, आवरण (डि.को.)

इभरमणो–सं०पु० [सं० इभ=हाथी+रा० रमणो=केलि करना]
हाथी से क्रीड़ा करने वाला सिंह। उ०—ऐ भल भड़ है आज रा, थाहर जासी थेट। चंगी साव चखावसी, इभरमणो आखेट।
— वां.दा.

इभीयाळियो, इभीयाळो, इभ्याळियो–सं०पु०—मातृहीन एवं दुर्बल व गरीब बच्चा।
वि०—अशक्त, दया करने योग्य।

इम–क्रि०वि०—इन प्रकार, इस तरह, ऐसे।
उ०—कंत सूं ओळंबो दियो इम कांमणी। ऐण घट आज रा केम सहिया अणी।—हा.झा.

इमचार–सं०पु०—गुप्तचर, गुप्तदूत।

इमतिहांन–सं०पु० [अ० इम्तहान] परीक्षा, जाँच।

इमदाद–सं०स्त्री० [अ०] मदद, सहायता।

इमदादी–वि० [अ० इमदाद] मदद पाने वाला।

इमरत–सं०पु० [सं० अमृत] अमृत, सुधा। उ०—पय मीठी कर पाक, जो इमरत सींचीजिये।—किरपारांम

इमरतियो–सं०पु०—एक प्रकार का घोड़ा (शा.हो.)

इमरती–सं०स्त्री० [सं० अमृत] एक प्रकार की जलेबी जैसी मिठाई।

इमरस–सं०पु० [सं० अमर्ष] क्रोध, अमर्ष। उ०—रावनूं वेटी परणाई सगर नूं इण वात रो घणो इमरस आयो, तरै सगर दरगाह गयो।—नैणसी

इमरित–सं०पु० [सं० अमृत] अमृत। उ०—मीरां के प्रभु गिरधर नागर, इमरित कर दियो जहर।—मीरां

इमली–सं०स्त्री०—१ लंबे एवं खट्टे फलों वाला एक बड़ा वृक्ष.
२ इसका फल जो खटाई के काम आता है।

इमांम–सं०पु० [अ० इमाम] १ वह व्यक्ति जो मुसलमानों के धार्मिक कृत्य कराता है. २ अली के बेटों की उपाधि. ३ अगुआ।

इमांमवाड़ो–सं०पु०—ताजिया रखने या उसे दफन करने का अहाता।

इमि–क्रि०वि०—ऐसे, यों, इस प्रकार, इस भांति।
उ०—अमि पंमि वंधे चक्रवाक असंधे, निसि संधे इमि अहंनिसि।
—वेलि.

इमिया–सं०स्त्री० [सं० उमा] पार्वति, गौरी।

इमी–सं०स्त्री० [सं० अमृत] अमृत।
कहा०—धणी री आंखियां इमी वसै।—सच्चा स्वामी वही है जिसकी आंखों से प्रेम वर्षा करता है।

इम्रत, इम्रति–सं०पु० [सं० अमृत] अमृत, सुधा।

इयां–क्रि०वि०—१ ऐसे, इस तरह। उ०—इयां वळै देखि नै कह्यो—भाभी जे हिवै ईंडो थाहरै मूंहडा आगै आंणिस्यां तौ थारै मूंडा आगै जीमस्यां।—चौबोली. २ इधर। उ०—इयां दिसरां रै, उवै दिसरां रै हूं मारूं छूं।—चौबोली
सर्व०—३ इन। उ०—हरि कहतां श्रीक्रस्ण। हर महादेव। इयां वेऊं नै सेवै छै।—वेलि. टी.
कहा०—१ इयां तिलां में तेल कठै (कोयनी)—इन तिलों में तेल कहाँ; जहाँ से कुछ मिलने की आशा न हो; कंजूस के लिये प्रयुक्त.
२ इयां में रांड नहीं जिण्या जिका ही चोखा है—इनमें जिन्हें रांड ने नहीं जना (जो पैदा नहीं हुए) वे ही अच्छे हैं; सभी दुष्ट हैं।

इयाजी–सं०स्त्री०—सगे-संबंधियों की दासी या परिचारिका।

इयाली–वि० (स्त्री० इयाली) इधर का, इस तरफ का।

इयूं, इयूं–क्रि०वि०—ऐसे, इस प्रकार।

इयै, इयै–सर्व०—इस। उ०—राजा नै कह्यो—ठाकुरां, इयै नै तौ म्हे भलीभांत जांणां छां।—पलक दरियाव री वात
कहा०—इयै कांन सुणी वियै कांन काढ़ी।—इस कान से सुनी उस कान से निकाली; सुनी हुई वात पर ध्यान नहीं देना.
२ इयै पार कै परलै पार—इस पार या उस पार; अत्यंत जोखिम के कार्य करने में महान हानि व महान लाभ दोनों ही हो सकते हैं.
३ इयै वात नै धूड़-बोवा—इस बात को धोवे भर कर धूळ (फेंको); इस बात को छोड़ो. ४ इयै रांम सूं मरै कोयनी—इस राम से नहीं मरता—अशक्त अथवा अवांछित व्यक्ति के लिये।

इरंडकाकड़ी–सं०स्त्री०—पपीता नामक एक प्रकार का फल या इसका वृक्ष।

इरकांणी–सं०स्त्री०—१ ऊँट के पैर का घुटने के ऊपर का भाग.
२ कोहनी।

इरकियो–सं०पु०—वह ऊँट जिसके अगले पैर के ऊपरी भाग से वक्षस्थल पर रगड़ आने से जख्मी हो गया हो।

इरकी–सं०स्त्री०—१ कोहनी. २ ऊँट के पैर के घुटनों का ऊपर का भाग। उ०—इण भांत रा रवारी ऊंठां नै झालै छै। सू ऊंठ किण भांतरा छै? थापवी तळी रा, मुपवी नळी रा, नाळेर गोडां रा, बीलफळ इरकी रा, हथाळियै ईंडर रा, ससा सेरी वगलां रा...।
—रा.सा.सं.

इरकुणी–सं०स्त्री०—हाथ और बाहु का संधिस्थल, कोहनी।
(मि० इरकी, इरकांणी)

इरखा–सं०स्त्री० [सं० ईर्ष्या] ईर्ष्या, डाह।

देखते हो तब यह योग होता है (ताजक ज्योतिष)

इत्याद, इत्यादि, इत्यादिक, इत्यादिका, इत्यादीक–अव्यय [सं० इत्यादि] प्रकार, अन्य, प्रभृति, आदि। उ०—१ इत्याद अवद्या दुख अकळ, सकळ विरोधी सुर धरम।—क.कु.बो.

उ०—२ इत्यादिक अज्जा कथितादिक ऊणी। पहुची प्रमदा पथ परमारथ पूणी।—ऊ.का.

इत्र–सं०पु० [अ०] अत्तर, पुष्पसार।

इथ–क्रि०वि०—यहाँ।

इथिये, इथियै–क्रि०वि०—यहाँ, इधर।

इदक–वि० [सं० अधिक] अधिक, ज्यादा।

इदकमास–सं०पु० [स० अधिक+मास] प्रति तीसरे वर्ष आने वाला अधिक मास जो चाँद्र वर्ष और सौर वर्ष को बराबर करने के लिये चाँद्र वर्ष में जोड़ लिया जाता है, इसमें शुक्ल प्रतिपदा से लेकर अमावस्या पर्यंत संक्रांति नहीं पड़ती; पुरुषोत्तम मास।

कहा०—काळ में इदक मास—अकाल में अधिक मास; विपत्ति में फिर आपत्ति आने पर।

इदकाई–सं०स्त्री०—अधिकता, विशेषता। (रू०भे० इधकाई)

इदकी–वि०—१ असाधारण, विशेष, बहुत। उ०—सांझड़ी दीसै घण रूपाळ, दुआरी वेळा इदकी जांण।—सांझ

(रू०भे० इधकी) २ विशेष (द.दा.)

इदकौ–वि० [सं० अधिक] (स्त्री० इदकी) अधिक, विशेष। उ०—गरभीजण असमांन बुगलियां मिळवा आई। इदका हुवा सुगन लेवतां मेघ विदाई।—मेघ०

इदत–वि०—प्रकाशमान।—पूगौ जसवास समंद सत, पाजा इदत रांजा सुकर अनूप। केलपुरा सारण पर काजा, राजा 'अमर' परीछत रूप।
—अज्ञात

इद्दत–सं०स्त्री० [अ०] चालीस दिनों का वह अशौच जो मुसलमान स्त्रियों को पति की मृत्यु के बाद रखना पड़ता है। इन दिनों वह दूसरे पुरुष से विवाह नहीं कर सकती।

इद्ध–वि०—प्रकाशित, दीप्त। उ०—सुत बीस हुवा जिण रै-प्रसिद्ध। अनुजात गुणां सत-केतु इद्ध।—वं.भा.

इधक–वि० [सं० अधिक] अधिक, बहुत। उ०—वन के विहार अंजन कंवार, धुर मिळे धाय चित इधक चाय।—र.रू.

इधकज्या–सं०स्त्री०—डिंगल गीत (छंद) रचना का एक विशेष अलंकार जिसमें रूपकालंकार द्वारा वर्णन करके उस पर व्यतिरेक अलंकार लगाया जाता है।

इधकताई–सं०स्त्री०—विशेषता, अधिकता।

इधकमास, इधकमासौ–सं०पु०—देखो 'इदकमास'।

इधकाई, इधकाय–सं०स्त्री०—अधिकता, विशेषता। उ०—लघु तें दीरघ पुन पुलित, यां मात्रा इधकाय। त्यां छोटन वड किय 'पता', वड़े महांन वढ़ाय।—जैंतदांन बारहठ

इधकार–सं०पु०—देखो 'अधिकार'। उ०—प्रसध नांम इधकार जगजांरै मांटी पणौ। अतुर दातार कीरत उजाळा।—र.रू.

इधकारी–सं०पु०—देखो 'अधिकारी'।

इधकारौ–सं०पु०—मान, प्रतिष्ठा, इज्जत।

इधकेरौ–वि०—अधिक, विशेष। उ०—आद तू हीज आतमध इधकां इधकेरौ।—केसोदास गाडण

इधकौ, इत्रकौ–वि० पु० (स्त्री० इधकी)—बहुत, अधिक, विशेष। उ०—नित नवली मौजां करै, नित नित नवली सेज। ढोली माळवणि एकठा, इधकै इधकै हेज।—ढो.मा.

इधणहार–सं०पु०—लकड़हारा। उ०—चाला चउरास्या न लावी छइ वार। आड़ी आवज्यौ इधणहार।—वी.दे.

इधराणौ, इवराबौ–क्रि०स०—उद्धार करना। उ०—इडर वळे वेद इधराया ताडै दळ सुरतांण तणा।—महारांणा सांगा रौ गीत

इधरायोड़ौ–वि०—उद्धार किया हुआ। (स्त्री० इधरायोड़ी)

इधरावणौ, इधराबबौ–क्रि०स०—देखो इधरांणौ'। (रू०भे०)

इनकम–सं०स्त्री० [अं०] आय, आमदनी, अर्थागम।

इनकार–सं०पु० [अ०] अस्वीकृति, नामंजूरी।

इनसांन–सं०पु० [अ० इंसान] मनुष्य।

इनसानियत–सं०स्त्री० [अ० इन्सानियत] मनुष्यता, मनुष्यत्व, भलमनसी।

इनसाफ–सं०पु० [अ० इंसाफ] १ न्याय, अदल. २ फैसला, निर्णय।

इनसालवेंट–वि०—दिवालिया।

इनांम–सं०पु० [फा० इनआम] पुरस्कार, पारितोषिक।

इनायत–सं०स्त्री० [अ० अनायत] १ कृपा, दया, अनुग्रह, एहसान। २ देना क्रिया का भाव। उ०—पातसाह जहांगीरजी मुनसब इनायत कीयौ।—द.दा.

इनायतनांमौ–सं०पु०—कृपापात्र, वह पत्र या लेख जिसमें कृपापूर्वक कोई वस्तु दी जाने का उल्लेख हो।

इनियाउ, इनियाव–सं०पु० [सं० अन्याय] अन्याय, अत्याचार। उ०—उभळियो इनियाव सुजळ डळ ऊपर। एकोउदम फिरै न आज।
—अज्ञात

इनेक–वि०—अनेक, बहुत, कई।

इनै–सर्व०—इसे।

क्रि०वि०—इस ओर, इस तरफ।

इन्यांम–सं०पु०—देखो 'इनांम'। उ०—राजमती इन्यांम दी। मढ़ी है थांनीक चांपानेर।—वी.दे.

इफरात–सं०स्त्री० [अ०] अधिकता, बाहुल्य, ज्यादती।

इव–क्रि०वि०—१ अब। उ०—भूंडण विचार कीयौ—जाया पूत मरिया छै, डाढ़ाळा सारीखौ खांविद मर गयौ इव कीसूं जीवणौ छै।
—डाढाळा सूर री बात

२ इस प्रकार, ऐसे। उ०—आवियौ हुकम जोधांण इव द्रढ़ सुरतांण दिलेस रौ। हित मूझ सवायौ होअवा कर चाह्यौ 'दुरगेस'।
—रा.रू.

पान के साथ या योंही खाये जाते हैं। एला
सं०पु०—३ एक प्रकार का घोड़ा।—शा.हो.

इळायचीदांणो–सं०पु०—इलायची के बीज।

इळायची–सं०पु०—एक विशेष प्रकार का बहुमूल्य कपड़ा (रा.सा.सं.)

इलालो-विलालो–वि०—रसिक, शौकीन, छैला।

इळावत–सं०पु०—१ देखो 'इरावत'।

इळाव्रत–सं०पु० [सं० इलावृत्त] जम्बू द्वीप के नौ खंडों में से एक। (गजमोख)

इलाही–सं०पु० [अ०] खुदा, ईश्वर।

इळि–सं०स्त्री० [सं० इला] पृथ्वी, धरती। उ०—आयौ इळि वसंत बधावण आई, पोइणि पत्र जळ एणि परि।—वेलि.

इली–सं०स्त्री०—१ कीटाणु विशेष जो बाजरी आदि अनाज या आटे में अधिक दिनों तक पड़ा रखने से उत्पन्न हो जाता है और इसे खराब कर देता है।

कहा०—इली पीस्यां पांणी नीकळै—अन्न कीट के पीसने पर पानी निकलता है (और कुछ हाथ नहीं आता) गरीब को सताने से कोई लाभ नहीं होता।

२ तलवार। उ०—इली वक्र पै रुद्र संख्या अंगारे ति ज्यां सिंह लंगूळ मूळ त्यौं मूळ तारे। —वं.भा.

इलूरो–सं०पु०—एक प्रकार का पत्थर विशेष (रा.सा.सं.)

इलोजी–सं०पु०—१ मनुष्य की वह बड़ी एवं विशाल मूर्ति जो प्रायः व्यंग्य के रूप में फाल्गुण मास के उद्देश्य से रक्खी हुई होती है.
२ मूर्ख व्यक्ति।
कहा०—१ इलोजी घोड़ा रा पारखू—मूर्ख व्यक्ति के लिये जो कि घोड़ों की पहिचान न कर सकता हो. २ इलोजी घोड़ै चढ़िया नै वेगा हीज पड़िया—कोई कार्य न आने पर भी कार्य में हाथ डाल कर असफल होने वाले व्यक्ति के प्रति।

इलोळ–सं०स्त्री०—१ ढंग, चाल। उ०—आवै नहीं इलोळ, बोलण चालण री विवध, टीटोड़्यां रै टोळ, राजहंस री राजिया।
—किरपारांम

२ गति, तरंग, हिलोर। उ०—अनंग न अंग उमंग इलोळ, हरी पद संगम गंग हिलोळ।—ऊ.का.

इल्जांम–सं०पु०—देखो 'इळजांम'।

इल्म–सं०पु० [अ०] देखो 'इलम'। उ०—काबिल कलांम कहियत करीम, रहमांन इल्म रय्यत रहीम।—ऊ.का.

इल्लत–सं०स्त्री०—१ रोग, बीमारी. २ झंझट, बखेड़ा. ३ दोष, अपराध।

इल्ली–सं०स्त्री०—देखो 'इली'।

इल्वल–सं०पु०—एक असुर विशेष जो अपने छोटे भाई को भेड़ बना कर ब्राह्मणों को खिला देता था और बाद में जब उसका नाम लेकर पुकारता तो वह ब्राह्मणों का पेट फाड़ कर निकल आता था। इसे अगस्त्य मुनि मार कर पचा गये थे।

इल्वला–सं०स्त्री० [सं०] पांच तारों का समूह जो मृगशिरा नक्षत्र के सिर पर रहता है।

इव–अव्यय [सं०] १ उपमावाचक शब्द जो समान, सदृश, तरह आदि का अर्थ देता है।

क्रि०वि०—२ ऐसा, ऐसे। उ०—इव करतां वरस दोय तीन नूं बादसाह री कूच लाहोर नूं हुवौ।—राठौड़ अमरसिंह री वात
३ अब।

इवड़उ, इवडो–वि० (स्त्री० इवडी) ऐसा। उ०—साहिब हूंसउ न बोलिया, मुझ सूं रीस ज आज। अंतरि आंमण दूमणा, किसउ ज इवड़उ काज।—ढो.मा.

वि०—इतना। उ०—रहिया हरि सही जांणियौ रुखमणि, कीध न इवड़ी ढील कई।—वेलि.

इवा–सर्व०स्त्री०—वह। उ०—इवा नायण देखै तौ कांसूं कुंवर तौ मुवौ ताहरां फूलमती विचारियौ—।—चौवोली

इवै–क्रि०वि०—अब। उ०—तद इयै कुंवर नूं कही इवै तूं बळ बांध अर राखस नूं मार नहीं तौ आपां दिह नूं मारसी।—चौवोली

इश्वाक–सं०पु० [सं० इक्ष्वाकु] राजा इक्ष्वाकु। देखो 'इक्ष्वाकु' (रा.रा.)

इस–सर्व०—शब्द का विभक्ति के पूर्व आदिष्ट रूप।
[सं० इष] आश्विन मास (डि.को.)

इसइ–अव्यय—ऐसे।
वि०—ऐसा, ऐसी। उ०—इसइ आरखइ मारुवी, सूती सेज विछाइ। साल्हकुंवर सुपनइं मिल्यउ, जागि निसासउ खाइ।—ढो.मा.

इसकंदर–सं०पु०[यू०]—यूनान के सिकंदर बादशाह का नाम।
वि०वि०—देखो 'सिकंदर'। (रू०भे० असकंदर)

इसक–सं०पु० [अ० इश्क] मुहब्बत, प्रेम, चाह।
कहा०—१ इसक री मारी कुत्ती कादै में लुटै—इश्क की मारी कुतिया कीचड़ में लौटती है। प्रेम के खातिर हानि उठाना।
२ इसक री मारियौ फिरै ठिकारियौ—इश्क का मारा-मारा फिरता है; इश्क का पागल गलियों में धक्के खाता फिरता है।
वि०—आशिक, माशूक।

इसकपेचौ–सं०पु० [अ० इश्कपेचां] एक प्रकार की बेल या लता जिसके फूल लाल रंग के होते हैं और पत्तियाँ सूत की तरह बारीक होती हैं। (रा.सा.सं.)

इसकी–वि०—प्रेमी, आशिक, रसिया, रसिक। उ०—भाड़ जोंक झक भेक, वारज में भेळा वसै। इसकी भंवरौ हेक, रस ले जांणै राजिया।
—किरपारांम

इसकेल–सं०स्त्री०—मौज, खेल, क्रीड़ा।

इसडै–क्रि०वि०—ऐसे, इस प्रकार। उ०—परब इसड़ै मुग्रौ नाथ री मांडि पग, ढीलड़ी तणा पग हुआ ढीला।
—हाडा राव सत्रसाळ री गीत

इसड़ैसै–क्रि०वि०—ऐसे। उ०—इसड़ैसै अहिनांण, चहुवांणी चौथै चरण। इख उखती दीवांण, सुजड़ी आयौ सोभड़ौ।—अज्ञात

इसड़ो, इसड़ौ–वि०—ऐसा। (स्त्री० इसड़ी; बहु० इसड़ा, इसड़ां)

इरद-गिरद–क्रि०वि० [अ० इर्दगिर्द] चारों ओर, आसपास, इधर-उधर।

इरमद–सं०स्त्री० [सं० इरंमद] मेघज्योति, बिजली।

इरांणी, इरांनी–वि०—ईरान देश का, ईरान देश संबंधी।

इरा–सं०स्त्री० [सं०] १ वृहस्पति और उद्‌भिज की माता, कश्यप की स्त्री. २ पृथ्वी. ३ वाणी. ४ भाषा. ५ जल. ६ महुआ आदि से बनाई गई एक नशीली वस्तु जो पीने के काम आती है, मद्य।

इराकी–वि० [अ० इराकी] ईराक देश का, इराक देश संबंधी।
सं०पु०—घोड़ों की एक जाति, ईराक का घोड़ा (वं.भा.)

इरादित–क्रि०वि०—इरादे से, विचार से।

इरादौ–सं०पु० [अ० इरादा] १ विचार, संकल्प, मंशा. २ मित्रता, प्रेम।

इरावत–सं०पु० [सं०] १ एक पर्वत का नाम. २ एक सर्प का नाम. ३ नाग कन्या. ४ उलोपी से उत्पन्न अर्जुन का एक पुत्र।

इरावती–सं०स्त्री०—१ कश्यप ऋषि की कन्या जो उनकी भद्रमदा नामक स्त्री से उत्पन्न हुई थी. २ रंगून के पास समुद्र में मिलने वाली ब्रह्मदेश की एक नदी।

इरिण–सं०स्त्री०—बंजर भूमि।

इळ–सं०स्त्री० [सं० इला] पृथ्वी, भूमि। उ०—मुगती तणी नीसरणी मंडी, सरग लोक सोपान इळ।—वेलि.

इलकाव, इलकाब–सं०पु०—पदवी, उपाधि। उ०—वतळायौ विगड़े विदर, और दियां इलकाब। वाट चलावण विदर नूं. कुतकौ वड़ी किताब।—वां.दा.

इलगार–सं०पु०—उत्साह, जोश, उमंग। उ०—उच्छब सूं इलगार सूं, आतुर सूं अनिमंघ, यूं खड़ियां आयौ 'अभौ', ग्रहि कूरमां कमंध।
—रा.रू.

इळगौ–वि० [सं० अलग्न] अलग, जुदा, पृथक, भिन्न, बेलाग।
उ०—'अजन' जोधपुर पांचम आयौ, असुरां अत सूं इळगौ अभायौ।
—रा रू.

इळचक्र–सं०पु०यौ० [सं० इलाचक्र] आकाश और पृथ्वी दोनों मिले हुए दृष्टिगोचर होने का वृत्ताकार स्थान, क्षितिज. २ घूमिल वेला. उ०—इळचक्र लगै उदियावरणौ, महा सूर भैचगमरणौ। भयंकर रूप लागै भुरज, दतन कोट भरे तरणौ।—पा.प्र.

इळजांम–सं०पु० [अ० इलजाम] दोष, अपराध, अभियोग, दोषारोपण।

इळजौ–सं०पु०—मेंहदी। उ०—वीर स्त्री रा वचन नायण प्रतै—हे नायण आज पग मत मांड, इळजौ मत दे—वी.स टी.—किसोरदांन

इळधणि–सं पु० [सं० इला=पृथ्वी+रा० धणी=स्वामी] अधिपति, राजा, नृप।

इळपत–सं०पु० [सं० इला+पति] राजा।

इलपतौ–वि०—वदमाश, उत्पाती।

इळपुड़–सं०पु०—पृथ्वी तल। उ०—बाधै सिखर वडै लाधै प्रब। इळपुड़ नाम वधै अनमंघ।—द.दा.

इलम–सं०पु० [अ० इल्म] १ विद्या, ज्ञान. २ जानकारी।

इळमदार, इलमी–वि० [अ० इल्म+फा० दार] १ विद्वान, पंडित ज्ञानी. २ चतुर।

इलम्म–सं०पु०—देखो 'इलम'। उ०—आवळी पढ़ै साफी इलम्म। कावळी गुसै भरिया किलम्म।—वि.सं.

इलल्ला, इलल्लाह–सं०पु० [अ० इल्लिल्लाह] हे ईश्वर! या खुदा! उ०—दियां हाथ दाढ़ी दिढं गाढ दक्खै, इलल्ला इलल्ला इलल्लाह अक्खै।—वचनिका

इलविला–सं०स्त्री० [सं०] १ कुवेर की माता व विश्वश्रवा की पत्नी का नाम. २ पुलस्त्य की स्त्री।

इळवीस–सं०पु०—१ वह शैतान जो आदम के पास रहता था, इसी ने आदम को बहकाया था और स्वर्ग से गिरवा दिया था। उ०—एक न चाहै और नूं, उभै दुखी व्है अंग। आदम नै इळवीस रौ, प्रगट विचार प्रसंग।—वां.दा.

इळा–सं०स्त्री० [सं० इला] पृथ्वी, धरती (अ.मा.)

इला–सं०स्त्री०—१ एक दूसरे को पकड़ने से संबंधित खेलों में किसी बच्चे द्वारा कुछ समय के लिए खेल से मुक्त होने का भाव अथवा इस हेतु उच्चारण किया जाने वाला शब्द। इस उच्चारण के बाद बच्चा वहीं बैठ जाता है और जब तक वापस खड़ा नहीं हो जाता उस पर खेल का कोई प्रभाव नहीं पड़ता. २ हठ योग के अनुसार बायें अंग की ओर मानी हुई एक नाड़ी—इड़ा। (ह.पु.वा.)

इळाकंत–सं०पु० [सं० इला+कंत] पृथ्वी का पति, पृथ्वीपति, बादशाह, राजा। उ०—इळाकंत उच्चरै, पुत्र बळवंत परक्खै।—रा.रू.

इलाकौ–सं०पु० [अ० इलाका] १ कई गांवों की जमींदारी, रियासत. २ अधिकार क्षेत्र।

इलाज–सं०पु० [अ०] १ चिकित्सा. २ युक्ति, तदवीर, उपाय। उ०—साहब लिखै सुजात सूं, करै सताबी काज। हुकम बरूं सिर सांमरौ, मैं फिर करूं इलाज।—रा.रू.
३ प्रबंध, इंतजाम।

इलाजी–सं०पु०—चिकित्सक, चिकित्सा करने वाला।

इळाथंभ–सं०पु० [सं० इला+स्तंभ] १ राजा। उ०—इळाथंभ अवतार अडर अणवीह अणंकळ, परम अंस सत पुरस आग रूपी दिल ऊजळ।—वखतौ खिड़ियौ २ शेष नाग।

इलापणौ, इलापवौ–क्रि०स० [सं० आलाप] देखो—'आलापणौ'। उ०—गूंगा राग इलाप कर कोई राव रीझावै।—केसोदास गाडण

इळापत–सं०पु० [सं० इला+पति] राजा, नृप।

इळायची–सं०स्त्री० [सं० एला+ची] १ बड़ी तीव्र सुगंध वाले बीजों के फल का एक सदा बहार वृक्ष. २ इस वृक्ष का फल जिसके बीज

इहंकारी–वि० [सं० अहंकारिन्] अभिमानी, अहंकारी ।

इह–क्रि०वि० [सं०] १ इस स्थान में, यहाँ. २ इस समय. ३ इस प्रकार । उ०—हयळेवो क्रस्णजी आंगूठा सहित पाकड़्यौ जैसे हाथी सूंड सूं कमळ पाकड़ै । इह द्रस्टांत ।—वेलि. टी.

सं०पु० [सं० अहि] १ सर्प. २ शेषनाग ।

सं०स्त्री० [सं० ईहा] ३ इच्छा. ४ उपाय, चेष्टा ।

सर्व०—१ यह । उ०—जड़ाव को टीको दीयो छै । मांनो इह टीको नहीं छै ।—वेलि. टी. २ इस । उ०—रुखमणीजी तौ इह भांति छै । अर क्रस्णजी छै सु खवास पासवांन सब दूरि कीया छै ।

—वेलि. टी.

वि०—ऐसी, ऐसा । उ०—माहरी लक्ष्मी इह सरीखी हुई ।

—रा.सा.सं.

इहग–सं०पु०—देखो 'ईहग' ।

इहड़ी–क्रि०वि०—इस प्रकार, ऐसे । उ०—कुळवंती पतीवरता किहड़ी, उधरै पख च्यारि जिसा इहड़ी ।—वचनिका

वि०—देखो 'इहड़ौ' ।

इहड़ो, इहड़ौ–वि० (स्त्री० इहड़ी) ऐसा ।

इहण–सं०पु०—देखो 'ईहरण' ।

इहनांण–सं०पु०—चिन्ह, संकेत, निशान ।

इहलौकिक–वि०—इस लोक संबंधी, सांसारिक ।

इहां, इह्यां–क्रि०वि०—यहाँ, इस ओर, इधर । उ०—दस मास उदरि धरि, वळे वरस दस जो इहां परिपाळै जिवड़ौ ।—वेलि.

सर्व०—इन । उ०—मैं तो इहां नू जोधपुर रै परगां संचिया था सौ हमें जोधपुर री आस तौ चूकी दीसै छै ।—राठौड़ अमरसिंह री वात

इहि–सर्व०—इस । उ०—इहि विधि की नंवि मु वयसंधि कहावै ।

—वेलि.

इहै–सर्व०—१ इस । उ०—अरजरण अर दुरजोधन सहाव मांगिवा कै काजि स्रीक्रस्णजी कन्है आया । तब परिण इहै विधि हुई ।

—वेलि. टी.

२ यह । उ०—बूठै उपरि वाह देरण री इहै वेळा छै ।—वेलि. टी.

इहौ–क्रि०वि०—ऐसा, इस प्रकार । उ०—जु बळि बंधरण इहौ जु मंत्र की बळि छै ।—वेलि. टी.

वि०—ऐसा । उ०—सु रुखमणीजी की नासिका इहौ ओप ।

—वेलि. टी.

सर्व०—यह ।

ई—वर्णमाला का चौथा स्वर जो 'इ' का दीर्घ रूप है । इसका उच्चारण स्थान तालू है ।

ई–सर्व०—१ इस । उ०—जो बादसाह रा हुकम ई तरह का हो जे है तो और कैमी जगां मेनें ।—अमरसिंह री वात

कहा०—१ ई हाथ दे ऊं हाथ ले—इस हाथ दे उस हाथ ले । जैसा करता है वैसा फल तुरंत मिलता है. २ ई आंगळी रै आ आंगळी नेड़ी रहसी—इस उँगली के यह उँगली नजदीक रहेगी । पराये पराये ही रहेंगे और घर वाले घर वाले ही रहेंगे. २ यह ।

वि०—व्यर्थ, योंही । उ०—ई जीर्णं सूं मरणौ चोखौ, बुरो कंद को कांम ।—डूंगजी जवारजी री पड़

ईंगुर–सं०पु० [सं० हिंगुल, प्रा० इंगुल] चीन आदि देशों में निकलने वाला चटकीली ललाई लिये हुए एक खनिज पदार्थ, हिंगुल ।

ईंट, ईंटोड़ी–सं०स्त्री० [सं० इष्टका, पा० इट्ठका, प्रा० इट्टआ] १ सांचे में ढला हुआ मिट्टी का लंबा चौकोर मोटा टुकड़ा जिसे जोड़ कर दीवाल बनाई जाती है. २ ईंट की आकृति का ताश का पत्ता ।

ईंठी–वि०—जूठा ।

ईंडुणी–सं०स्त्री०—देखो 'ईंढ़ांणी' ।

ईंडौ–सं०पु०—१ देखो 'अंडो' । २ देवालयों के ऊपर शोभा के लिए चढ़ाया जाने वाला चाँदी, सोना व पत्थर का गोलाकार पदार्थ ।

ईंढ–वि० [सं० ईदृश] समानता, बराबरी ।

ईंढांणी, ईंढ़ा, ईंढ़ो, ईंढ्णी–सं०स्त्री० [सं० इन्दु+धानी] बोझ उठाने हेतु सिर पर रक्खी जाने वाली गोल गद्देदार बनी एक वस्तु, इंडुआ । उ०—ईंढी कवडाळी माथै पर ओडी, छैली अलकावळ मुखड़ै पर छोडी ।—ऊ.का.

ईंत–सं०स्त्री०—एक प्रकार का कीट या कीड़ा जो प्रायः पशुओं के शरीर से चिपक कर रहता है । उ०—चींचड़ ईंता बुगदोळा चेंठोड़ा, आंगर्णं झोळी में टुकड़ा ऐंठोड़ा ।—ऊ.का.

ईंद–सं०पु०—देखो 'इंद्र' । उ०—वीकाहर राजा ईंद वग्गि, खाफरां सिरे खिविया खड़ग्गि ।—रा.ज.सी.

ईंदण–सं०पु०—देखो 'ईंधरण' ।

ईंदरापुर–सं०पु० [सं० इंद्र+पुर] इंद्रपुरी, स्वर्ग ।

ईंदा–सं०स्त्री०—परिहार राजपूतों की एक शाखा ।

ईंदावटी, ईंदावाटी–सं०स्त्री०—ईंदा परिहारों का राज्य अथवा भूमि, यह जोधपुर के पश्चिम में स्थित है ।

ईंदीवर–सं०पु०—कमल, जलज (ह.नां.)

ईंधण–सं०पु० [सं० इंधन] जलाने की लकड़ी या कंडा, जलावन ।

ईंधणी, ईंधणो–सं०स्त्री०—देखो 'ईंधरण' । उ०—१ जेथ मळै तर मेखचा, गडै मळै तर मेख । जळै मळै तर ईंधणा, दळ चालक रौ देख ।—बां.दा.

उ०—२ वेचरण बीनणियां ईंधणियां आंणै ।—ऊ.का.

ईंधारौ–सं०पु०—देखो 'इंधारौ' ।

ईंनै–क्रि०वि०—इधर, इस तरफ ।

सर्व०—इसे, इसको, इस ।

ईंमी–सं०पु० [सं० अमृत] देखो 'अमी' ।

ईंसू–सर्व०—इससे, उससे ।

ई–सं०पु०—१ कामदेव. २ महादेव. ३ ईश्वर (एकाक्षरी)

उ०—कूड़ा निलज कपूत, हियाफूट ढांढ़ा असल। इसड़ा पूत अऊत, रांड जणै क्यूं राजिया।—किरपारांम

इसट–वि० [सं० इष्ट] १ अभिलषित, चाहा हुआ. २ पूज्य, पूजित। सं०पु०—१ यज्ञादि कर्म, अग्निहोत्रादि शुभ-कर्म संस्कार. २ इष्टदेव। उ०—होम कराड़ि भणाड़ि विप्रां हद, जपि आवाहन सूर इसट जद।—वचनिका. ३ कुलदेव. ४ मित्र, प्रिय. ५ अधिकार।

इसतव–सं०स्त्री० [सं० ईशित्व] एक प्रकार की योग-सिद्धि।

इसपिरिट–सं०स्त्री०—एक प्रकार की खालिस शराब।

इसबगुळ–सं०पु० [फा० इसबगोल] फारसी की एक झाड़ी या पौधा जिसके गोल बीज हकीमी दवा के काम आते हैं।

इसलांम–सं०पु० [अ० इसलाम] देखो 'इस्लांम'।

इसांन–सं०पु० [अ० एहसान] अहसान, उपकार।

इसा–वि० [सं० इदृश] ऐसा, समान। उ०—प्रभुता मेरु प्रमांण, आप रहै रजकण इसा। जिकै पुरख धन जांण, रवि मंडळ विच राजिया।—किरपारांम

क्रि०वि०—देखो 'इसौ'।

इसाई–सं०पु०—देखो 'ईसाई'।

इसारत–सं०पु० [अ० इशारा] देखो 'इसारौ'। उ०—धेठां भड़ां इसारत धारै, वात करै उर घात विचारै।—रा.रू.

इसारौ–सं०पु० [अ० इशारा] १ संकेत, सैन. २ संक्षिप्त कथन, सूक्ष्म आधार. ३ गुप्त प्रेरणा।

इसिइं–वि०—ऐसी। उ०—परवत तउ नीझरण विछूटइं, भरिया सरोवर फूटइ। इसिइं वरसा काळि।—रा.सा.सं.

इसी–वि० [सं० इदृश] ऐसी। उ०—प्रभणंति पुत्र इम मात पिता, प्रति। अम्हां वासना वसी इसी।—वेलि.

इसु–सं०पु० [सं० इषु] बाण, तीर।

इसुध–सं०पु०—ठगण की पाँच मात्राओं के तृतीय भेद का नाम (।।ऽ) (डिं.को.)

इसुधी–सं०पु० [सं० इषुधि] तूणीर, तरकश।

इसूं–वि०—ऐसा। उ०—लिखमी तणउं इसूं वरदांन, एह घरि खूटइ नहीं निधांन।—कां.दे.प्र.

इसूपळ–सं०स्त्री० [सं० इषूपल] एक प्रकार की तोप विशेष जो किले के फाटक पर रहती थी और जिसमें कंकड़-पत्थर डाल कर छोड़े जाते थे।

इसै–क्रि०वि०—इस तरह, इस प्रकार, ऐसे। उ०—सुग्रीवसेन नै मेघ पुहप सम, वेग वळाहक इसै वहंति। खंति लागौ त्रिभुवनपति मेड़ै, घर गिरि पुर सांम्हा धावंति।—वेलि.

इसो, इसौ–वि० (स्त्री० इसी) (बहु० इसा) ऐसा। उ०—प्रभणंति पुत्र, इम मात पिता प्रति, अम्हां वासना वसी इसी।—वेलि. कहा०—१ इसा कांई वांन (व्याव) विगड़ै है—ऐसे कौन मंगल कार्य विगड़ते हैं; ऐसी कौनसी भारी हानि हो रही है कि उसकी आवश्यकता हो. २ इसौ चूतियौ सिकारपुर में लाधसी—ऐसे चूतिये शिकारपुर में मिलेंगे (मैं वैसा नहीं हूँ); शिकारपुर मूर्खों के लिए प्रसिद्ध है. ३ इसौ वाड़ नै कांटो ही ना दिया—ऐसा वाड़ को काँटा भी मत देना; ऐसी दुष्ट संतान किसी को भी न मिले।

इस्ट–सं०पु०—देखो 'इसट'। उ०—इणां रै पण श्री नरसिंहजी रौ इसट ही थौ।—पलक दरियाव री वात

इस्टकर–सं०पु०—एक प्रकार का घोड़ा (शा हो.)

इस्टकाळ–सं०पु० [सं० इष्टकाल] किसी घटना के घटित होने का ठीक समय (फलित ज्योतिष)

इस्टदेव, इस्टदेवता–सं०पु०—१ आराध्य देव, पूज्य देवता. २ कुल देवता।

इस्टांप, इस्टांम–सं०पु० [अं० स्टाम्प] १ मुद्रांक, मोहर, ठप्पा. २ सरकारी ठप्पा लगा हुआ कागज।

इस्टि, इस्टी–सं०पु० [सं० इष्ट+ई] १ इष्ट रखने वाला, जिसे इष्ट हो। उ०—तिहारी सस्टी पें अमिय कर व्रस्टी तन तजूं। कुद्रस्टी दिस्टी को भसम कर इस्टी हरि भजूं।—ऊ.का. २ पति (ह.नां.मा.)

इस्तहार–सं०पु० [अ० इश्तहार] १ विज्ञापन. २ नोटिस, सूचना।

इस्तिंजा–सं०पु० [अ०] मुसलमानों की वह प्रथा जिसके अनुसार वे पेशाब करने के बाद इंद्रिय पर लगी पेशाब की बूंदों को मिट्टी के ढेले से सुखाते हैं या पानी से धोते हैं।

इस्तिरी–सं०स्त्री०—धोए गए कपड़ों की सिलवटें दूर करने के लिए फेरा जाने वाला एक उपकरण जो गरम करने के बाद फेरा जाता है।

इस्तीफौ–सं०पु० [अ० इस्तअफा] नौकरी छोड़ने की अर्जी, त्याग-पत्र।

इस्तीयार, इस्तीहार–सं०पु० [अ० इश्तहार] १ विज्ञापन. २ नोटिस, सूचना।

इस्तेमाल–सं०पु० [अ०] उपयोग, व्यवहार।

इस्त्री–सं०स्त्री० [सं० स्त्री] स्त्री।

इस्दी–सर्व०—इसकी। उ०—इस्दी औरत वालदा खाला पकरेगा, ताई चच्ची आदि ले सब बंद करेगा।—ला.रा.

इस्पंज–सं०पु०—समुद्रों के छोटे कीड़ों से बना मुलायम रूई की तरह एक पिंड जो द्रव पदार्थ (पानी आदि) के सोखने के उपयोग में लिया जाता है।

इस्यूं–क्रि०वि०—इस प्रकार से। उ०—इस्यूं प्रधांन कहइ तिणि समइ, सुरतांणी दळ कुण आंगमइ। जास तणउ भूतळि भड़वाय, जिणि वसि कीधा रांणा राय।—कां.दे.प्र.

इस्यौ–वि०—ऐसा।

इस्लांम–सं०पु० [अ० इस्लाम] १ मुसलमानी धर्म. २ मुसलमान। उ०—दरगाह सदर दोलत दराज, ताला बुलंद इस्लांम ताज। —ऊ.का.

इहंकार–सं०पु० [सं० अहंकार] अहंकार, गर्व, अभिमान।

उ०—'मांन' छत्रवार रै आज छळते मछर, ईड (ड़) आचार रै कमरण आवै ।—मांनसिंहजी री गीत. २ द्वेष, शत्रुता ।
ईडक-सं०पु०—नगाड़ा, दुंदुभि (डि.को.)
ईडगरी-वि०—बराबर वाला, समान (मि० ईड़गरी)
ईडर-सं०पु०—१ ऊँट के वक्षःस्थल का स्थान विशेष जहाँ की चमड़ी खुरदरी एवं लगातार बैठने पर भूमि से रगड़ खाते खाते संवेदना-शून्य हो जाती है. २ एक पुरानी रियासत ।
ईडरियौ-सं०पु०—१ ईडर नगर निवासी । देखो 'ईडर' (२)
२ ईडर रियासत का राजा । देखो 'ईडर' (२)
३ वह ऊँट जिसके ईडर (देखो 'ईडर' (१)) में विकृति हो । (क्षेत्रीय)
ईडरौ-वि०—समान, बराबर ।
ईडै-क्रि०वि०—यहाँ (मेवात)
ईडौ-सं०पु०—१ ब्रह्मांड. २ हिरण्यगर्भ । देखो 'अंडौ' ।
ईड़-सं०स्त्री०—१ बराबरी । उ०—वट तमाळ पीपळ विरख, अरजन समी अपार । ईड़ तजै पत्र एक री, मूरत पांचेई सार ।—रा.रू.
२ चेष्टावाली । उ०—साह कहै मिळतां समी, अभैसाह महाराज । ईढ तेरी तरवार सूं, मेरी लाज सकाज ।—रा.रू.
३ ईर्ष्या, द्वेष, डाह. ४ शत्रुता । उ०—मिले न मीढ़ मीढ़ के अरीढ़ रीढ़ते अरी, करै न ईढ़ और की उन्हें न ईढ़की करी ।
५ हठ, जिद । —ऊ.का.
वि०—बराबर, तुल्य, समान ।
ईड़गरौ-वि०—बराबरी करने वाला, ईर्ष्यालु । उ०—कळिहरण ईड़गरा इवकेरा, जोधांपति व्रत जेसलमेरा । वणो हजूर लड़ण पण वारै, 'जेसा' आया इम्र जुहारै ।—रा.रू.
ईड़दार, ईड़रौ-वि०—बराबरी करने वाला, ईर्ष्यालु । उ०—देसोत देस देसाधिपति, एम छत्रपति ओळगै । पावै न भाग दरबार पह, ईड़दार भूपां अगै ।—रा.रू.
ईड़ांणी, ईड़ूणी-सं०स्त्री०—देखो 'ईडांणी' । उ०—छत्रकाळी ईड़ांणी धर सीस, चाली पिणघट ने पिणिहार ।—मांझ
ईण-सर्व०—इस । उ०—ए दिव [स] छइ पीड ! आकरा । ईण दिव धी नुर नर हुआ छार ।—वी.दे.
ईणभव-सं०पु०—इहजगत, इस जन्म, इहलोक । उ०—ऊमर देखैला अविनासी ईणभव मोज उड़ावै ।—ऊ.का.
ईणि, ईणी, ईणै-सर्व०—इस । उ०—१ ज्यूं राजा रांणी मीळइ यूं ईणि कळि मीळजै सब कोई ।—वी.दे. उ०—२ बारली मांडळी सांवणा, रास प्रगास ईणी विधि होई ।—वी.दे. उ०—३ भूली है बड्हनड़ी । ईणै वीसास । हूं नीव जांणू अळगा जास ।—वी.दे.
ईत-सं०स्त्री० [सं० ईति] १ वे उपद्रव जो खेती को हानि पहुँचाने वाले माने जाते हैं—१ अतिवृष्टि. २ अनावृष्टि. ३ टिड्डी दल. ४ चूहे. ५ पक्षियों की अधिकता. ६ दूसरे राजा की चढ़ाई. ७ अपने राजा द्वारा किया जाने वाला युद्ध ।
(मि० अतिवृष्टि अनावृष्टि मूषका सलभाः शुकाः । स्वचक्रं परचक्रं च सप्तते ईतयः स्मृताः ।) २ एक छोटा कीड़ा जो पशुओं के रोओं में धँस जाता है और उनका खून चूसा करता है ।
ईतर-वि०—१ इतराने वाला, शोख, गुस्ताख, ढीठ. २ नीच, निम्न श्रेणी का ।
सं०पु० [अ० इत्र] इत्र, अतर, पुष्पसार ।
ईतरणौ, ईतरबौ-क्रि०अ०—देखो 'इतरणौ' ।
ईतराणौ, इतराबौ, ईतरावणौ, इतरावबौ-क्रि०अ०—देखो 'इतरणौ' ।
क्रि०स०—बच्चे को इतराना ।
ईतरियोड़ौ-भू०का०कृ०—देखो 'इतरियोड़ो' (स्त्री० इतरियोड़ी)
ईति-सं०स्त्री०—[सं०] देखो 'ईत' (१)
ईद-सं०स्त्री० [अ०] मुसलमानों का रोजा खत्म होने पर एक त्योहार जो प्रायः द्वितीया या परिवा को होता है ।
ईदगा-सं०पु० [अ० ईदगाह] मुसलमानों के ईद के दिन एकत्रित होकर नमाज पढ़ने का स्थान, ईदगाह ।
ईदगावळौ-वि०—ईदगाह की, ईदगाह संबंधी । [रा०] अपंग ।
ईदगाह-सं०पु० [अ०] देखो 'ईदगा' ।
ईदी-सं०स्त्री० [अ०] किसी त्योहार के दिन दिया जाने वाला तोहफा या उस त्योहार की प्रशंसा में बनाई जाने वाली कविता (मा.म.)
ईदुलजुहा-सं०स्त्री० [अ. ईद-उल-जुहा] बकरीद का नाम जो मुसलमानों का एक पर्व है ।
ईदुलफितर-सं०स्त्री० [अ.ईद-उल-फितर] मुसलमानों का एक पर्व विशेष जिस दिन इनके रोजा समाप्त होते हैं ।
ईधकाई-सं०स्त्री०—अधिकता, विशेषता ।
ईधणहार-देखो 'इधणहार' (रू०भे) । उ०—चाल्यौ उलीगांणी नग्र मंझारी । आडी आवज्यौ ईधणहार ।—वी.दे.
ईनणी-सं०स्त्री० [सं० इन्धन+ई] जलाने की लकड़ी । उ०—पीस पीस पीसणौ हाय घस गया हाथा सूं । लाय लाय ईनणी बाळ उड गया माथा सूं ।—ऊ.का.
ईनलौ-वि० (स्त्री० इनली) इधर का, इस ओर का ।
कहा०—ईनली छायां ऊनै आयां सरै—इधर की छाया उधर आती ही है; दुख के पीछे सुख और सुख के पीछे दुख आता ही है.
२ ईनलो घाटो ऊनै गयो—इधर का नुकसान उधर गया; एक ओर घाटा हुआ तो दूसरी ओर लाभ हुआ ।
ईम-सर्व०—इस । (रू०भे०—इम)
क्रि०वि०—इस प्रकार । उ०—धन हरिणाखी ईम कहई ।—वी.दे.
ईमरति-सं०स्त्री०—देखो 'ईमरती' ।
सं०पु० [सं० अमृत] अमृत, पीयूष ।
ईमांन-सं०पु० [अ० ईमान] १ धर्म, विश्वास, आस्तिक्य बुद्धि.
२ चित्त की सद्वृत्ति, अच्छी नीयत । उ०—सुभ स्वामिधरम्म

४ कांच (एकाक्षरी) ५ टेढ़ापन (एकाक्षरी) ६ बगुला। सं०स्त्री० [सं०] ७ लक्ष्मी (एकाक्षरी डिं.को.) ८ पुत्रवती स्त्री (एकाक्षरी) ९ बांझ स्त्री (एकाक्षरी) १० शंका (एकाक्षरी) ११ दुःख (एकाक्षरी) १२ स्मृति (एकाक्षरी) १३ उदासी (एकाक्षरी) १४ देखो 'ईस' (८), (१०)

वि०—लाल, अरुण (एकाक्षरी)

सर्व०—यह, इस। उ०—दुख वीसारण मनहरण, जउ ई नाद न हुंति। हियड़उ रतन तळाव ज्यउं, फूटी दह दिसि जंति।
—ढो.मा.

२ यही। उ०—दैवग्य तेड़ि वसुदेव देवकी, पहिलौ ई पूछै प्रसन।
—वेलि.

अव्यय [सं० हि] १ जोर देने का शब्द, ही। उ०—चंदण पाट, कपाट ई चंदण, खुंभी पनां, प्रवाळी खंभ।—वेलि. २ जोर देने का शब्द, भी। उ०—पांखड़ियां ई किउं नहीं, दैव अवाडू ज्यांह। चकवी कइ हइ पंखड़ी, रयणि न मेळउ त्यांह।—ढो.मा.

ईऊ—क्रि०वि०—ऐसे। उ०—भरै खजांना धरती भेदे, चोर कटक लेसी घर छेदे। वांट वांट कहियौ ईऊ वेदे, दीह गणणीया ताळी दे दे।
—ओपौ आढ़ौ

ईऊज—क्रि०वि०—ऐसे।

वि०—व्यर्थ।

ईए—सर्व०—इस, इसी, ये। उ०—फिरि परिवार सकळ पहिरायौ, वरणि वरणि ईए वसत्र।—वेलि.

ईकंत—सं०पु० [सं० एकांत] एकांत, निर्जन, शून्य। उ०—पेख दळ दासरथ सेस नूं पयंपै सहोदर! सिया ले तूझ साथे, ऊभ ईकंत नूं।
—र.रू.

ईक—वि०—एक। उ०—सुणि! सहेली कहुं ईक वात। म्हाहरइ फरकइ छइ दांहिणौ गात।—वी.दे.

ईकड़—सं०स्त्री०—एक प्रकार का पौधा जिसकी छाल से रस्सियां बुनी जाती हैं। इसके बीजों को पीस कर प्रायः निमोनिया में पट्टी बांधते हैं।

ईकरकौ—क्रि०वि०—लगातार। उ०—इणरी नगारी ईकरकौ दहवारी सूं जगन्नाथरायजी रा मंदिर तांई वजती जाय। छत्र चमर ही उडता जावै।—वां.दा.ख्या.

ईकार—सं०पु०—'ई' अक्षर।

क्रि०वि०—एक वार, एक दफा।

ईकियासियौ—वि०—देखो 'इकियासियौ'।

ईकियासीमौ—वि०—जो क्रम में अस्सी के वाद पड़ता हो।

ईख—सं०स्त्री० [सं० इक्षु] मीठे रस वाले डंठलों वाली शर जाति की एक घास जिससे गुड़ और चीनी आदि पदार्थ वनाए जाते हैं।

ईखण—सं०स्त्री० [सं० ईक्षण] नेत्र, चक्षु। उ०—अरुण हुय मुख वरण ईखण, जुड़ण कजि भड़ वकै जण जण।—रा.रू.

ईखणौ, ईखबौ—क्रि०स० [सं० ईक्षण] देखना। उ०—ईखे पित मात एरिसा अवयव, विमळ विचार करै वीवाह।—वेलि.

ईखणहार, हारौ (हारी), ईखणियौ—वि०—देखने या समझनेवाला।

ईखिओड़ौ, ईखियोड़ौ, ईख्योड़ौ—भू०का०कृ०—देखा या समझा हुआ।

ईखद—वि० [सं० इषद] तनिक (अ.मा.)

ईखियोड़ौ—भू०का०कृ०—देखा हुआ। (स्त्री० ईखियोड़ी)

ईगीयार—वि०—देखो 'इग्यार'।

ईग्यारमउ—वि०—ग्यारहवां। उ०—दस वरस ईम नीगम्या। वरस ईग्यारमउ पहतऊ आई।—वी.दे.

ईड़ा—सं०स्त्री० [सं०] स्तुति, प्रशंसा (मि० ईला)

ईचरज—सं०पु० [सं० आश्चर्य] आश्चर्य, अचंभा।

ईच्छतणौ, ईच्छतबौ—क्रि०स०—इच्छा करना, अभिलाषा करना।

ईच्छतियोड़ौ—भू०का०कृ०—इच्छा किया हुआ। (स्त्री० ईच्छतियोड़ी)

ईच्छया—सं०स्त्री० [सं० इच्छा] इच्छा, तृष्णा।

ईछणौ, ईछबौ—क्रि०स०—देखो 'इच्छतणौ'। उ०—आवै जौ अकलीम, सात हेक सुरतांण रै। नहीं जिकां दे नीम, ईछै लेवा आठमी।
—वां.दा.

ईज—क्रि०वि०—निश्चयार्थक सूचक शब्द, ही।

ईजत—सं०स्त्री० [अ० इज्जत] प्रतिष्ठा, मान, इज्जत। उ०—ओथै तेरस ऊजळी माह उजाळै पक्ख, ईंदावत ईजत सटै, गौ वासटै वरक्ख।—रा.रू.

ईजतदार—वि० [अ० इज्जत+फा० दार] प्रतिष्ठित, सम्मानित।

उ०—जमींदार हुय जमीं करजदारी में कळगी। ईजतदार अंधार गरजदारी में गळगी।—ऊ.का.

ईजति—सं०स्त्री० [अ० इज्जत] मान, प्रतिष्ठा, इज्जत। उ०—जतन न करै रतन जिंद रा जुडंतौ, रतन ईजति तणा जतन राखै।
—पूरणदास महियारियौ

ईटकोळ—सं०स्त्री०—१ गेंद व वल्ले से खेलने का एक खेल विशेष। २ एक प्रकार का क्षुप. ३ एक प्रकार की अर्गला विशेष जो वाहर व भीतर दोनों तरफ से लगाई जा सकती है।

ईठ—सं०पु० [सं० इष्ट] १ सखा, मित्र. २ इष्ट, प्रिय (पति)।

उ०—सुण हाकौ रण आंगणै, क्यूं न मरै घण ईठ। मूझ भरोसौ दूध रौ, जहर भजाड़ै पीठ।—वी.स.

ईठि—सं०स्त्री०—मित्रता, दोस्ती।

ईठी—सं०पु०—भाला (अ.मा.)

ईठियासियौ—सं०पु०—८८ वां वर्ष।

ईठ्यासी—देखो 'इठियासी'।

ईठ्यासीमौ—वि०—जो क्रम में सत्तासी के वाद पड़ता हो।

ईठे—क्रि०वि०—यहाँ।

ईड—सं०स्त्री०—१ समानता, वरावरी, तुल्यता (मि० ईडगरौ)

स्त्री०—४ गिरिजा, पार्वती (अ.मा.) ५ उत्तर और पूर्व के मध्य की दिशा। (अल्पा० इसांनड़ी)

ईसांनका-सं०स्त्री०—देवी, दुर्गा, पार्वती। उ०—वीसहथी वरदत उमा ईसांनका, गवरी मात गणेस कळहंकार का।—क.कु.वो.

ईसा-वि०—जैसा (वं.भा.)

क्रि०वि०—ऐसा ही।

सं०पु० [अं०] ईसाई धर्म के प्रवर्तक ईसामसीह. २ हल में लगा हुआ वह लकड़ा जो जूआ तक लगा रहता है, हरीसा।

ईसाई-सं०पु०—ईसामसीह द्वारा चलाये धर्म को मानने वाला क्रिस्तान।

ईसार-सं०पु० [सं०ईश+अरि] कामदेव (अ.मा.)

ईसालय-सं०पु० [सं० ईश+आलय] शिवालय, शिव मंदिर (ला.रा.)

ईसिता-सं०स्त्री० [सं० ईशिता] १ देखो 'ईसता' (डि.को.)

२ प्रधानता, प्रभुत्व, महत्व।

ईसीय-वि०—ऐसी। उ०—ईसीय न खाती को घड़इ। इसी अस्त्री नहिं रवि तळै दीठ।—बी.दे.

इसुर-सं०पु० [सं० ईश्वर] देखो 'ईस्वर'।

ईसुरी-सं०स्त्री० [सं० ईश्वरीय] शक्ति, दुर्गा, देवी। उ०—ईसुरी छाक ऐराक आरोगता। चोगता दया द्रग कुसळ चाता।—मे.म.

ईसो-क्रि०वि०—देखो 'इसो'। (स्त्री० ईसी) (बहु० ईसा)

उ०—तुम विना यौ कोई और कोई भरतार म्हारे कारणै आंणसी। ईसौ अजोग्य छै।—वेलि. टी.

ईस्वर-सं०पु० [सं० ईश्वर] १ परमेश्वर, ईश्वर, क्लेश, कर्म, विपाक और आशय से पृथक पुरुष विशेष (योगशास्त्र)

पर्याय०—अंतरजांमी, अखिलविहारी, अगोचर, अच्युत, अजर, अनंत, अनंतर, अपरंपर, अमर, अवणासी, अविगति, असरण-सरण, असुरवहण, आणंदकंद, आणंदघण, आदिवराह, कमलापति, करुणाकर, करता, केसव, खरारि, गरुड़ध्वज, गोविंद, घणनांमी, चक्रपांणी, चिदानंद, जगकारक, जगकारण, जगदीस, जगमूरति, जगहरता, ठाकुर, तारकअसवारी, तारण, त्रिगुणनाथ, दयाळ, दांमोदर, दासरथी, द्वारकेस, देतांदुयण, देवकीनंदन, देवांदेव, धणी, धरभार-उतारण, निरलेप, निरविकार, पतितउधारण, पदमनाभ, परमेसर, पुंडरीकाक्ष, पुरसपुरांण, प्रभु, बळभुज, बहुनांमी, बाळमुकंद, भगतवछळ, भगवांन, भयहर, भवतारण मोचनअघ, मोहण, रिसीकेस, लोकेसू, वांमण, विखकसेन, विसंभर, वीठळ, वैकुंठविलासी, संकटहर, सरगुण, सारंगी, सुन्दर, स्रीधर, हरि।

कहा०—१ ईस्वर कीड़ी नै कण हाथी नै मण देवै—ईश्वर सब लोगों का पालन करता है. २ ईस्वर कूरी में भी घण नांखै—ईस्वर कूरी नामक कदन्न में घुन उत्पन्न कर देता है; ईश्वर बड़े व छोटे सबको आपत्ति में डाल कर परीक्षा लेता है।

२ शिव, महादेव. ३ स्वामी. ४ राजा. ५ धनी, धनवान.

६ समर्थ पुरुष। (रू०भे० ईसवर, ईसवर)

ईस्वरता-सं०स्त्री० [सं० ईश्वर+ता] प्रभुता, ईश्वरत्व। उ०—१ रचना ईश्वर री ईस्वरता रोचै। सम दम स्रद्धा विण संभव नहिं सोचै।—ऊ.का.

उ०—२ वेस्या सुख भोगै पतिवरता व्याधी। इण सूं ईस्वररी ईस्वरता आवी।—ऊ.का.

ईस्वरप्रणिधांन-सं०पु० [सं० ईश्वरप्रणिधान] योगशास्त्र के अनुसार पाँच नियमों में से अंतिम जिसके अंतर्गत ईश्वर में अत्यंत श्रद्धा और भक्ति रक्खी जाती है।

ईस्वरी-सं०स्त्री० [सं० ईश्वरी] १ दुर्गा, भगवती, महामाया (रा.रू.)

२ पार्वती (क.कु.वो.)

ईह-सं०स्त्री० [सं० ईहा] १ इच्छा। उ०—विस्रांम व्यूह गोतीत गूढ़। निरगुण निरीह, आधार ईह।—ऊ.का. (मि० ईहा)

२ चेष्टा यत्न, उपाय।

सर्व०—यह।

ईहग-सं०पु० [सं०] १ कवि (डि.को.) २ चारण (डि.को.)

ईहड़ो-वि०—ऐसा।

ईहण-सं०पु०—१ याचक (अ.मा.) २ कवि (ह.नां.)

३ चारण (वं.भा.)

ईहा-सं०स्त्री० [सं०] १ इच्छा। उ०—जड़ी कीलक अवळा निज जीहा, आंणे हणी धरै रण ईहा।—वं.भा. २ चेष्टा, यत्न, उपाय।

ईहित-वि० [सं०] इच्छित, अभिलषित।

सेवक सुसील, अनुसरण असुर ईमांन ईल ।—ऊ.का.

ईमांनदार–वि० [फा० ईमानदार] १ विश्वासपात्र. २ सच्चा, जो लेन-देन या व्यवहार में सच्चा और पक्का हो. ३ सद्वृत्ति वाला ।

ईमी, ईम्रत–सं०पु०—देखो 'अमरत' ।

ईया–सर्व०—इन ।

क्रि०वि०—१ ऐसे. २ यहां. ३ इधर ।

ईयेवळ–क्रि०वि०—इस तरफ ।

ईरखा–सं०स्त्री० [सं० ईर्ष्या] देखो 'ईरसा' ।

ईरखाळू, ईरखावाळ–वि०—देखो 'ईरसाळू' ।

ईरखौ–देखो 'ईरसा' ।

ईरण–सं०पु० [सं०] अग्नि, आग । उ०—दागै सम ईरण जीरण छद दाटै । कोरणप वित्थीरण संकीरण काटै ।—ऊ.का.

ईरसा–सं०स्त्री० [सं०ईर्ष्या] दूसरे का उत्कर्ष न देख सकने की वृत्ति, डाह, जलन, कुढ़न, वैमनस्य ।

ईरसाळू–वि० [सं० ईर्ष्यालु] ईर्ष्या करने वाला, दूसरे का उत्कर्ष देख कर जलने वाला ।

ईरां–सं०पु०—देखो 'ईरांन' ।

ईरांण, ईरांन–सं०पु०—मध्यपूर्व का एक देश, ईरान, फारस ।

ईरांणी, ईरांनी–वि०—ईरान देश का, ईरान संबंधी ।

ईल–सं०स्त्री०—मर्यादा । उ०—सुभ स्वांमिधरम सेवक सुसील, अनुसरण असुर ईमांन ईल ।—ऊ.का.

ईला–सं०स्त्री०—स्तुति ! उ०—हीलाकर हिरणके ईला हुय आधा, लीला भगवत री लीला नहिं लाधा ।—ऊ.का.

ईली–सं०स्त्री०—देखो 'इली' ।

ईलोजी–सं०पु०—देखो 'इलोजी' ।

ईव–क्रि०वि०—अव । उ०—ऐता दिन तुम कहां हूंता ? ईव किम वस सूं राज की खाट ।—वी.दे.

ईस–सं०पु० [सं० ईश] १ परमेश्वर (ह र.) २ शिव, महादेव (अ.मा.) ३ प्रधान, वड़ा नेता. ४ राजा (अ.मा.) ५ पारा.

सं०स्त्री०—६ आर्द्रा नक्षत्र. ७ ग्यारह की संख्या*

८ खाट की वह लम्बी पाटी जो वाजू में रहती है ।

कहा०—१ ईस जिसा पाया रांड जिसा जाया—जैसी (पलंग की) पटिया वैसे उसके पाये, और जैसी स्त्री वैसे उसके पुत्र । माता-पिता के अनुरूप सन्तान होती है. २ छोडौ ईस वैठौ वीस—चारपाई या पलंग की पटिया छोड़ कर वैठने पर चाहे वीस आदमी वैठिए टूटने का डर नहीं है किन्तु पटिया के ऊपर एक भी आदमी के वैठने से पटिया टूट सकती है ।

९ किसी चौकोर पदार्थ की लम्बाई । उ०—तळाव रै छेवड़ां कुंवळ फूल नैं रह्या छै । हजार पांवडा ईस छै । आठ सै पांवडा ऊपळी छै । इण भांत रौ तळाव छै ।—रा.सा.सं. १० गाड़ी का एक तरफ का लंबे भाग का हिस्सा ।

वि०—लंवा । उ०—इसा रंग भू द्रंग रा अट्ट ऊंचा, सिटावै जिकां हेट पंखी समूचा । उदै हाट की वंगड़ां दंत ईसा, सुहावै लियां आर राका ससी सा ।—वं.भा.

ईसउ–वि०—ऐसा । उ०—सूं दिन कहै रूड़ा जोवसी । चतुर नागर ईसउ आंणज्यौ चंद ।—वी.दे.

ईसकौ–सं०पु० [सं० ईर्ष्या] ईर्ष्या, द्वेष, डाह ।

क्रि०प्र०—करणौ, होणौ । उ०—थे इण रा रोजगार रौ ईसकौ करता जिकौ हमेस इणनै लाखां कोड़ां दीजै तोही इसौ रजपूत मिळै नहीं ।—जगदेव पंवार

ईसता, ईसति–सं०स्त्री० [सं० ईशित्व] आठ प्रकार की सिद्धियों में से एक जिससे साधक सव पर शासन कर सकता है (ह.नां.)

ईसत्स्प्रस्ट–सं०पु० [सं० ईषत्स्पृष्ट] वर्ण के उच्चारण में किया जाने वाला भीतरी प्रयत्न जिसके अनुसार जिव्हा, तालु, मूर्द्धा और दंत को कम स्पर्श करती है ।

ईसप–सं०पु०—राजा (अ.मा.)

ईसफुरति–सं०स्त्री० [सं० स्फूर्ति] स्फूर्ति, फुर्ती ।

ईसवगुळ, ईसवगोळ–सं०पु० [फा० इसवगोल] —देखो 'ईसवगुळ'

ईसवर–सं०पु०—देखो 'ईश्वर' (डि.को.)

ईसर, ईसरजी–सं०पु०—१ प्रसिद्ध वीर मोयलवंशीय राजपूत ईश्वरदास जो गो-रक्षा के निमित्त युद्ध करता हुआ वीर गति को प्राप्त हुआ. २ प्रसिद्ध राठौड़ वंशीय वीर जयमल का छोटा भाई ईश्वरदास मेड़तिया जो अकवर की सेना के साथ युद्ध करता हुआ वीरगति को प्राप्त हुआ. ३ ईश्वर (डि.को.) ४ शिव, महादेव (डि.को.) ५ स्वामी, मालिक. ६ ईश्वरभक्त महात्मा वारहट ईश्वरदास ।

ईसरता–सं०स्त्री०—देखो 'ईसता' (डि.को.)

ईसरि, ईसरी–सं०पु० [सं० ईश्वर] १ देखो 'ईस्वर' ।

सं०स्त्री० [सं० ईश्वरी] २ देवी, शक्ति, दुर्गा (डि.को.) ३ पार्वती (अ.मा.)

ईसरेस–सं०पु० [सं० ईश्वर] महादेव, शिव ।

ईसवर–सं०पु०—देखो 'ईश्वर' (अ.मा.)

ईसवरी–सं०स्त्री० [सं० ईश्वरी] पार्वती, उमा (रा.रा.)

ईसवरू–सं०पु० [सं० ईश्वर] देखो 'ईस्वर' (भ्रंगीपुरांण)

ईसवी–वि० [फा०] ईसा से संवंधित ।

सं०पु०—ईसा की मृत्यु के वाद प्रचलित सन् या संवत् ।

ईससख–सं०पु० [सं० ईशसखा] कुवेर (डि.को.)

ईससीस–सं०स्त्री० [सं० ईश–शीश] गंगा (अ.मा.)

ईसाणंद–सं०पु० [सं० ईश] १ शिव, महादेव (डि.को.) २ हरिरस के रचयिता ईसरदास नामक एक भक्त कवि ।

ईसांण, ईसांन–सं०पु०—१ शिव (डि.नां.मा., अ.मा.) २ राजा (अ.मा.) [फा० अहसान] ३ अहमान, उपकार ।

उकड़िओड़ौ, उकड़ियोड़ौ, उकड़्योड़ौ—भू०का०कृ० ।

उकड़ियोड़ौ—भू०का०कृ०—१ निकला हुआ. २ लटका हुआ। (स्त्री० उकड़ियोड़ी)

उकड़ू—सं०पु०—देखो 'उकडू'।

उकटणौ उकटबौ—क्रि०म०—१ कसिया जाना, कसाना. २ क्रोध करना. ३ वार वार कहना. ४ स्थान छोड़ कर निकलना. ५ भागना. ६ तलवार निकालना।

उकटणहार, हारौ (हारी), उकटणियौ—वि० ।

उकटियोड़ौ, उकटियोड़ौ, उकट्योड़ौ—भू०का०कृ० ।

उकटियोड़ौ—भू०का०कृ०—१ कसिया हुआ. २ क्रुद्ध. ३ भागा हुआ. ४ तलवार निकाला हुआ. ५ स्थान छोड़ कर निकला हुआ। (स्त्री० उकटियोड़ी)

उकट्ट—सं०पु०—१ जोश. २ एहसान। उ०—उण वेळा दळ आगळा, दळ कमधज्ज दुवाह। उकट्टां वळ ऊससै, सीस उलट्टां साह।—रा.रू.

उकठणौ, उकठबौ—क्रि०स०—कटार या तलवार को म्यान से बाहर निकालना। (मि० उकड़णौ)

उकठणहार, हारौ (हारी), उकठणियौ—वि०।

उकठयोड़ौ, उकठ्ओड़ौ, उकठ्योड़ौ—भू०का०कृ० ।

उकडू—सं०पु० [सं० उत्कुतोरु] बैठने की एक मुद्रा विशेष जिसमें घुटने मुड़े रहते हैं, तलवे जमीन से पूरे-पूरे सटे रहते हैं तथा चूतड़ एड़ियों से लगे रहते हैं।

उकढ़णौ, उकढ़बौ—क्रि०अ०—१ निकलना. २ चमकना. ३ आक्रमण करना। (मि० उकढ़णौ)

क्रि०म०—४ तलवार म्यांन से बाहर निकालना। उ०—आवरण कांम खाग उकढ़ियौ। चीता जिम कढ़ियौ चहुवांण।

—वळवंतसिंह गोठड़ा रौ गीत

उकढ़णहार, हारौ (हारी), उकढ़णियौ—वि०।

उकढ़िओड़ौ, उकढ़ियोड़ौ, उकढ़्योड़ौ—भू०का०कृ०।

उकढ़िओड़ौ—भू०का०कृ०—१ चमका हुआ. २ निकला हुआ. ३ तलवार म्यांन से निकला हुआ। (स्त्री० उकढ़ियोड़ी)

उकढ़्ढणौ, उकढ़्ढबौ—क्रि०अ०—१ आक्रमण करना. २ शस्त्र निकालना. ३ प्रहार हेतु शस्त्र उठाना। उ०—१ नरकनि ले सस्त्र हत्यौ उकढ़्ढे। किर्यौ कोटतें सांवठे सेर कढ़्ढे।—ला.रा.

उ०—चौहैं मेतां बीजा चौजां मध्यै तूं ही चढै। वीर फौजां मध्यै तूं ही उकढ्ढे वांणासा।—हुकमीचंद खिड़ियौ

उकत—सं०स्त्री० [सं० उक्ति] १ कथन, उक्ति, चमत्कृत कथन। उ०—उपमा इम व्यंग धुन उकत, जुगत अलंक्रत प्रकास।—क.कु.बो. (मि० उक्ति) २ साहित्य का एक अंग विशेष। उ०—रुळै उकत रौ रूप, अंध सौ नांम उचारै।—र.रू.

उकताणौ, उकताबौ—क्रि०अ०—१ ऊबना, उकताना. २ खीजना, अधीर होना. ३ जल्दी मचाना।

उकतणहार, हारौ (हारी), उकताणियौ—वि०—उकताने वाला।

उकतायोड़ौ—भू०का०कृ०।

उकतावणौ, उकताववौ—रू०भे०।

उकताओड़ौ—भू०का०कृ०—उकताया हुआ। (स्त्री० उकतायोड़ी)

उकतावणौ, उकताववौ—क्रि०अ०—देखो 'उकताणौ'।

उकति—सं०स्त्री० [सं० उक्ति] कथन, उक्ति चमत्कारपूर्ण कथन। (रू०भे० उकत, उगत)

उकतिवांन—वि० [सं० उक्तिवान] चमत्कारपूर्ण कथन कहने वाला, कथन करने वाला। उ०—कर लोल झुलत अति चपळ कांन, विखई मन जांणिक उकतिवांन।—रा.रू.

उकती—सं०स्त्री०—देखो 'उकति'।

उकतौ, उकतौ—वि०—तलवार लेकर हाथ उठाये हुए, प्रहार करते हुए। उ०—भभकियौ वळै भाराथ उकतौ भुजे, साथ हाकलि जंगळनाथ सारे।—दूदौ वीठू

उकत्ती—सं०स्त्री०—देखो 'उकति'। उ०—आंणै मति अनुसार उकत्ती अंकड़ा। 'बांकै' कही भमाळ, विहारी वंकड़ा।—वां.दा.

उकर—सं०पु०—तीर, वांण।

उकरड़ी, उकरड़ौ—सं०स्त्री० [सं० उत्करी] कचरा, फूस आदि गंदगी का ढेर, घूरा।

कहा०—उकरड़ी धन वदतां कांई जेज लागै—देखो (५)

२ उकरड़ी पर किसौ आंबौ को हुवै नी—घूरे पर कौनसा आम नहीं होता ? (घूरे पर भी आम हो सकता है); बुरी जगह पर भी अच्छी वस्तु पैदा हो जाती है; नीच कुल में भी सज्जन उत्पन्न होते है. ३ उकरड़ी पर मेह वरसै और महलां पर ही वरसै—घूरे पर भी मेह वरसता है और महलों पर भी वरसता है; सज्जन सबको समान दृष्टि से देखते हैं. ४ उकरड़ी पर सोवै'र महलां रा सपना आवै—घूरे पर सोता है और महलों के सपने आते हैं; असंभव बातों की इच्छा करना. ५ उकरड़ी वधतां कांई वार लागै—घूरे को बढ़ते क्या देर लगती है ? खराव या अनिष्ट वस्तु शीघ्र बढ़ती है. ६ उकरड़ी में रतन जनमै—घूरे में भी रत्न उत्पन्न हो सकते हैं; बुरी जगह पर भी अच्छी वस्तु पैदा हो सकती है; नीच कुल में भी सज्जन उत्पन्न हो सकते हैं. ७ वेटी उकरड़ी वन है—लड़की घूरे के समान ही है, जिस प्रकार घूरे को बढ़ते देर नहीं लगती उसी प्रकार लड़की को भी बड़ी होते देर नहीं लगती; शीघ्र ही उसके विवाह की फिक्र करनी पड़ती है. ८ वेटी उकरड़ी रौ ओटौ है—देखो 'वेटी उकरड़ी धन है'। (रू०भे० अकूरड़ी, उकरड़ी, उकूरड़ी, उखरड़ी)

उकरास—सं०पु० [सं० उत्कट+आशा, प्रा० उक्कडासा=उकरास]

१ उपाय, मौका, अवसर. २ 'चर-भर' नामक एक देशी खेल में आने वाला एक दाँव या अवसर।

उकळणौ, उकळबौ—क्रि०अ०—१ उबलना। उ०—मद विद्या धन मांन, ओछा सौ उकळै अवट। आछण रै उनमांन, रैवे विरळा राजिया।

—किरपाराम

उ—वर्णमाला का पाँचवाँ अक्षर जिसका उच्चारण स्थान ओष्ठ है।
उं-अव्यय—प्रायः अव्यक्त शब्द के रूप में प्रश्न, अवज्ञा, क्रोध, स्वीकृति आदि को सूचित करने के लिए प्रयुक्त होता है, हुं का सूक्ष्म रूप है।
उंगळ-सं०पु०—देखो 'आंगळ'।
उंगळी-सं०स्त्री० [सं० अंगुलि] अंगुली।
उंगीजणौ, उंगीजबौ-क्रि०अ०—ऊँघना, नींद लेना, झपकी लेना।
उंगीजियोड़ौ-भू०का०कृ०—ऊँघा हुआ। (स्त्री० उँगीजियोड़ी)
उंगणौ, उंगबौ-क्रि०अ०—देखो 'ऊंघणौ'।
उंघाणौ, उंघाबौ, उंघावणौ, उंघाववौ-क्रि०स०—देखो 'ऊंघाणौ'।
उंचणौ, उंचबौ-क्रि०स०—ऊँचाया जाना।
उंचाई, उंचास-सं०उ०लि०—ऊँचाई, बुलंदी, ऊँचापन।
उंछदंतौ-सं०पु०—वह घोड़ा जिसके एक दांत कम हो (अशुभ—शा.हो.)
उंठिया-सं०स्त्री०—शेर की एक जाति (अ.मा.)
उंठियौ-सं०पु०—१ ऊँट। २ उंठिया जाति का शेर।
उंडांण, उंडायत-सं०स्त्री०—गहराई।
उंडाळी-वि०—गहरी। उ०—नाभि उंडाळी छीण कटि चळ मिरगा नैणी। विधना रूप-गुमेज संवारी पे'ल सेलांणी।—मेघ०
उंडाई-सं०स्त्री०—गहराई।
उंण-सर्व०—उस।
उंणौ-वि० (स्त्री० उंणी) १ उदासीन, खिन्नचित्त। [सं० ऊन] २ देखो 'ऊंणौ'।
उंणौ-पूणौ-वि०—१ अपूर्ण. २ अपरिपक्व (वालक)
उंतावळ, उंतावळू-सं०स्त्री०—उतावली, जल्दवाजी।
उंतावळौ-वि०—उतावला, जल्दवाज, अधीर।
उंदायलौ-सं०पु०—१ प्रायः भट्टी पर रक्खा जाने वाला बड़ा तवा. २ खपरेलों पर नरिया के स्थान पर औंधा रक्खा जाने वाला एक खपरैल।
उंधाड़कौ-वि०— उल्टा कार्य करने वाला।
उंधायलौ-सं०पु०—देखो 'उंदायलौ'।
उंधाहड़ौ-सं०पु०—वह घोड़ा जिसके अगले पैर उसके पिछले पैरों की अपेक्षा कुछ अधिक लंबे हों (शा.हो.)
उंधीखोपड़ी-सं०पु०—बुद्धिरहित, मूर्ख, नासमझ, जिद्दी।
उंबरण-सं०पु०—सफेद तने वाला एक प्रकार का बड़ा वृक्ष जिसके फल नीबू के समान होते हैं।
उंबरी-सं०पु०—एक वड़ा कांटेदार वृक्ष जिसके पत्ते वड़े लंबे और आम के पत्तों के समान होते हैं।
उंबरौ-सं०पु०—१ हल चलाने से होने वाली बड़ी लकीर, सीता. २ देखो 'उमराव'। उ०—ऐसा वंस छत्रीस दरग्गह उंबरा। सामंद चंद दड़िदक आरिख इंदरा।—वचनिका
उंबी-सं०स्त्री०—देखो 'ऊंबी'। उ०—उंबी मिंबी अंगुळी वहु सेकि वटवकै। खाजे पूपी खल्लकै ताजे करि तवकै।—वं.भा.
उंवार-सं०स्त्री०—झड़वेरी के काटे हुए पौधों के गुच्छों का पृथक रूप से रक्खा हुआ समूह।
उंवारणौ, उंवारबौ-क्रि०स०—देखो 'अंवारणौ'।
उंहूं-अव्यय—हाँ या हूँ का विलोम, नहीं।
उ-सं०पु०—शिव. २ ब्रह्मा. ३ प्रजापति. ४ नारद. ५ आधीन. ६ सूर्य. ७ सार. ८ स्वामी कार्तिक. ९ आशीर्वाद. १० रावण. ११ त्रिकाल, त्रिसंध्या. १२ त्रिगुण. १३ काल. १४ विजली. १५ पार्वती (एकाक्षरी)
सर्व०—वह। उ०—मेघ पुहप सम उ वलाहिक (सम) महावेग सूं चालै छै।—वेलि.
अव्यय—संबोधनसूचक या रोषसूचक शब्द जिसका उपयोग अनुकम्पा, नियोग, पादपूरण प्रश्न और स्वीकृति में होता है।
उअंकार-सं०पु०—प्रणव मंत्र, ॐ, ओ३म्। (रा.ज.सी.)
उअर, उअरि, उअवर-सं०पु० [सं० उरस्] हृदय। उ०—१ लाखावत एक सारीखौ लाखां, महा सुवपे दाखै मच्छर। चूंडावत वाही चित्तौड़ा अणियाळी रणमल उअर।—अज्ञात
उ०—२ असपत राव तणै अमरावत, परिहंस इवडौ विहूं परि। ना आयौ तौ खटके नागद्रहौ, आयां नह मावै उअरि।
—कल्यांणदास सौदौ
उअह-सं०पु० [सं० उदधि] सागर, समुद्र। उ०—रांमण मुगुल्ल राउ जइत रांम, संकरइ दइत हुइसी संग्रांम। असपत्ति उअह जइतउ अगस्थि, सोखसी सत्र करिमाळ सत्थि।—रा.ज.सी.
उआं-सर्व०—अ का विकारी रूप, उन। उ०—पिण नहीं उआं राजा रा सुख कहीजै छै।—रा.सा.सं.
उआरण-वि०—रक्षा करने वाला, बचाने वाला।
उआरणौ-सं०पु०—वलैया, न्यौछावर। उ०—सेमनां नमौ नागेन्द्र सेख, उआरणा लियां थारा अलेख।—पीरदांन लाळस
उआरणौ, उआरबौ-क्रि०स०—१ बलैया लेना. २ रक्षा करना. ३ न्यौछावर करना। उ०—अर वसुदेव देवकी स्रीक्रस्णजी कौ मुख देखि वार-वार पांणी उआरि पीयै छै।—वेलि. टी.
उआरणहार, हारौ (हारी), उआरणियौ-वि०—वलैया लिया हुआ या रक्षा किया हुआ।
उआरिओड़ौ, उआरियोड़ौ, उआरयोड़ौ—भू०का०कृ०।
उआरियोड़ौ-भू०का०कृ०—१ वलैया लिया हुआ. २ रक्षा किया हुआ। (स्त्री० उआरियोड़ी)
उआळ-सं०पु०—देखो 'अवाळ' (१)
उईज-सर्व०—वही।
उकड़णौ, उकड़बौ-क्रि०अ०—१ निकलना. २ लटकना। उ०—रिम सिर उकड़िया रहै विच पमंग पलांणां।—अज्ञात
उकड़णहार, हारौ (हारी), उकड़णियौ-वि०—निकला या लटका हुआ।

उक्रयोड़ौ-भू०का०कृ०—जोश बतलाया हुआ। (स्त्री० उक्रयोड़ी)
उकसणौ, उकसबौ-क्रि०स० [सं० उत्कर्षण] ऊँचा करना।
उकसियोड़ौ-भू०का०कृ०—ऊँचा किया हुआ। (स्त्री० उकसियोड़ी)
उख-सं०पु० [सं० उक्षा] बैल (ह.नां., पाठांतर)
उखड़णौ, उखड़बौ-क्रि०अ० [सं० उत्कर्षण] १ किसी जमी या गड़ी हुई वस्तु का अपने स्थान से अलग हो जाना, उखड़ना, जड़ सहित अलग होना. २ किसी सुदृढ़ स्थिति से अलग होना, जमा या सटा न रहना. ३ चाल में भेद पड़ना (घोड़े के लिए।) ४ हटना, अलग होना. [सं० ऊपणम्] ५ क्रोध करना, आपे से बाहर होना. ६ स्वांस का यथोचित रूप से न चल कर अधिक वेग से और ऊपर नीचे चलना।
उखड़णहार, हारौ (हारी), उखड़णियौ-वि०—उखड़ने वाला।
उखड़ाणौ, उखड़ावौ-प्रे०रू० उखाड़णौ, उखाड़बौ-स.रू.।
उखड़िओड़ौ, उखड़ियोड़ौ, उखड़योड़ौ-भू०का०कृ०।
उखड़ियोड़ौ-भू०का०कृ०—उखड़ा हुआ। (स्त्री० उखड़ियोड़ी)
सं०पु०—वह ऊँट जिसके टखने में कुछ कसर या अवगुण हो।
उखड़ाणौ, उखड़ावौ-क्रि०प्रे०रू०—उखाड़ने के काम में प्रवृत्त करना।
उखणौ, उखबौ-क्रि०स०—बोझा सिर पर उठाना. २ ऊपर उठाना. ३ उत्तरदायित्व लेना. ४ नोचना. ५ प्रहार हेतु शस्त्र उठाना।
उ०—आयौ खांडि खडग उखणियें, जण जण वाहै जुवौ जुवौ।
—आसौ संढ़ायच
उखणाणौ, उखणावौ, उखणावणौ, उखणाववौ-स०रू०।
उखणा-सं०स्त्री० [सं० ऊषण] काली मिर्च (अ.मा.)
उखणाणौ, उखणावौ, उखणावणौ, उखणाववौ-क्रि०स०—१ बोझा सिर पर रखवाना. २ ऊपर उठवाना. ३ उत्तरदायित्व डालना।
उखणायोड़ौ-भू०का०कृ०।
उखणियोड़ौ-भू०का०कृ०—बोझा सिर पर रक्खा हुआ, ऊपर उठाया हुआ। (स्त्री० उखणियोड़ी)
उखध-सं०पु० [सं० औषधि] औषधि, दवा। उ०—चतुरविध वेद प्रणीत चिकित्सा, ससत्र उखध मंत्र तंत्र सुवि।—वेलि.
उखरबिध, उखरबुध, उखरविध-सं०स्त्री० [सं० उपर्बुध] अग्नि, आग (ह.नां.)
उखरांटी, उखराटी-वि०—बिना बिस्तर।
उखराळी-वि०—१ बिना बिस्तर की खाट. २ बिना बिस्तर बिछाये खाट पर सोने वाली स्त्री. ३ कुत्ते आदि पशुओं द्वारा अगले पैरों से रेत खोद कर बैठने के लिए किया गया गड्ढा।
उखळ-सं०पु०—देखो 'ऊखळ'।
उखळणौ, उखळबौ-क्रि०अ०—उखड़ना. २ क्रोध करना।
उखळणहार, हारौ (हारी), उखळणियौ-वि०—उखड़ने या क्रोध करने वाला।
उखळिओड़ौ, उखळियोड़ौ, उखळयोड़ौ-भू०का०कृ०।
उखलणौ, उखलबौ-क्रि०अ०—देखो 'उकलणौ'। देखो 'उखड़णौ'।
उखळमेळौ-सं०पु०—देखो 'ऊखळमेळौ'।
उखळियोड़ौ-भू०का०कृ०—उखड़ा या क्रोध किया हुआ।
(स्त्री० उखळियोड़ी)
उखलियोड़ौ-भू०का०कृ०—देखो 'उकलियोड़ौ'। देखो 'उखड़ियोड़ौ'।
उखांखियौ-वि०—१ जोशीला, जोशपूर्ण. २ वीर, साहसी. ३ क्रुद्ध।
उखांणौ-सं०पु० [सं० उपाख्यान] उक्ति, कहावत, दृष्टांत।
उखा-सं०स्त्री० [सं० उषा] १ प्रभात, सवेरा, तड़का (डि.को.) २ अरुणोदय की लालिमा. [सं० उस्र] ३ गाय (अ.मा.) [सं० उषा] ४ अनिरुद्ध की पत्नी जो बाणासुर की कन्या थी। ५ रात्रि (डि.को.)
उखाड़-सं०पु० [सं० उत्खात] १ उखाड़ने की क्रिया या भाव।
(यौ० उखाड़-पछाड़) २ पेंच रद्द करने की युक्ति या विधि, तोड़।
उखाड़णौ, उखाड़बौ-क्रि०स० [सं० उत्खातन] १ किसी जमी, गडी या बैठी हुई वस्तु को स्थान से अलग करना, जमा न रहने देना. २ हटाना, अलग करना. ३ क्रोध कराना. ४ नष्ट करना, ध्वस्त करना।
उखाड़णहार, हारौ (हारी), उखाड़णियौ-वि०—उखाड़ने वाला।
उखाड़िओड़ौ, उखाड़ियोड़ौ, उखाड़योड़ौ-भू०का०कृ०।
उखाड़-पछाड़, उखाड़-पिछाड़-सं०स्त्री०—१ उल्टी-सीधी बातें. २ उखाड़ने का भाव या क्रिया. ३ उपद्रव, उत्पात. ४ युद्ध. ५ उथल-पुथल (मि० भांगातोड़)
उखाड़ियोड़ौ-भू०का०कृ०—उखाड़ा हुआ। (स्त्री० उखाड़ियोड़ी)
उखापत, उखापति, उखापती-सं०पु० [सं० उषापति] १ कामदेव (अ.मा.) २ अनिरुद्ध।
उखारणौ, उखारबौ-क्रि०स०—देखो 'उखाड़णौ'।
उखारियोड़ौ-भू०का०कृ०—देखो 'उखाड़ियोड़ौ'।
(स्त्री० उखारियोड़ी)
उखि-सं०पु० [सं० उक्षा] बैल (ह.नां., पाठांतर)
उखेड़णौ, उखेड़बौ-क्रि०स० [सं० उत्खातन] देखो 'उखाड़णौ'।
उखेड़ाणौ, उखेड़वाणौ, उखेड़वावौ-प्रे०रू०।
उखेड़ियोड़ौ-भू०का०कृ०—उखाड़ा हुआ। (स्त्री० उखेड़ियोड़ी)
उखेळ-सं०पु० [सं० उत्खेल] १ युद्ध, उत्पात। उ०—मरहठा करै सिर विलंद मेळ। अहमदावाद मंडियौ उखेळ।—वि.सं.
२ देखो 'ऊखेळ'।
उखेल-सं०पु०—१ उखाड़ने की क्रिया या भाव।
कहा०—उखेल चीणा गऊं वावणौ—चने के पौधों को उखाड़ कर गेहूँ बोना; व्यर्थ की उखाड़-पछाड़ करना।
२ कलह। उ०—खत्रियां मत दाखौ उखेलां, चूंडां मगतां जोड़ी चेळां। भाई सगा हुआ सह भेळां, वसुधा राखौ जसड़ी वेळां।
—पनजी आढ़ौ
उखेलणौ, उखेलबौ-क्रि०स०—१ उखाड़ना। देखो 'उखाड़णौ'।

२ क्रोध करना. ३ ऊपर उठना. ४ अकुलाना. ५ विकट रूप से होना (युद्ध) उ०—किरण तपै छै सु बरछी किरण हुई कहि कहतां लडाई उकळिवा लागी ।—वेलि. टी.

उकळणहार हारौ (हारी) उकळणियौ— वि० ।

उकळिओड़ौ, उकळियोड़ौ, उकळ्योड़ौ—भू०का०कृ० ।

उकळाणौ, उकळावौ—क्रि०प्रे०—**उकाळणौ, उकाळबौ** —क्रि०स० ।

मुहा०—उकळता बूकरणौ—त्वरा करना, अधीर होना ।

उकलणौ, उकलबौ—क्रि०अ०—१ उधडना. २ दिमाग में शीघ्र चमत्कारपूर्ण उपज होना ३ लिखे अक्षरों का स्पष्ट उच्चारण करना ।

उकलणहार, हारौ (हारी), उकलणियौ— वि० ।

उकलिओड़ौ, उकलियोडौ, उकल्योड़ौ—भू०का०कृ० ।

उकलाणौ—(स.रू)

उकळाणौ, उकळावौ, उकळावणौ, उकळावबौ—क्रि०स०—१ उबालना. २ क्रोध कराना. ३ व्याकुल कराना ।

देखो 'उकळणौ, उकळबौ'—अ०क्रि० ।

क्रि०अ०—व्याकुल होना । उ०—आवण कह गये अजहु न आये, जिवडौ अति उकळावै ।—मीरा

उकलाणौ, उकलावौ, उकलावणौ, उकलावबौ—क्रि०स०—१ दिमाग में नई बात उपजाना २ उधडाना. ३ लिखे अक्षरों का स्पष्ट उच्चारण कराना ।

उकलीजणौ, उकलीजबौ—भाव वा० ।

उकळियोडौ—भू०का०कृ०—१ उबला हुआ. २ क्रोध किया हुआ. ३ व्याकुल । (स्त्री० उकळियोडी)

उकलियोड़ौ—भू०का०कृ०—१ उधडा हुआ. २ व्युत्पन्नमति से उत्पन्न। (स्त्री० उकलियोडी)

उकस—सं०पु०—१ जोश. २ अभिलाषा, लालसा ३ देखो 'ऊकस' ।

उकसणौ, उकसवौ—क्रि०अ० [सं० उत्कर्षण] १ उभरना, ऊपर को उठना. २ निकलना, अकुरित होना. ३ उधडना. ४ वर रखना, शत्रुता करना. ५ जोश आना ।

उकसणहार, हारौ (हारी), उकसणियौ—वि० ।

उकसाणौ, उकसाबौ—क्रि०स० ।

उकसाणौ, उकसाबौ—क्रि०स०—१ उभारना, ऊपर को उठाना. २ उकसाना, जोश दिलाना । (मि० उकसणौ) (रू भे. उकसावणौ)

उकसायोड़ौ—भू०का०कृ०—उकसाया हुआ । (स्त्री० उकसायोडी)

उकसावणौ, उकसाववौ—क्रि०स०—देखो 'उकसाणौ' ।

उकसावणहार, हारौ (हारी), उकसावणियौ—वि० ।

उकसावियोड़ौ—भू०का०कृ० ।

उकसियोड़ौ—भू०का०कृ०—१ उभरा हुआ. २ निकला हुआ, अंकुरित. ३ उधड़ा हुआ. ४ शत्रुता की हुई. ५ जोश आया हुआ । (स्त्री० उकसियोडी)

उकाब—सं०पु० [अ०] एक प्रकार का बडा गिद्ध, गरुड ।

उकाळणौ, उकाळबौ—क्रि०स०—१ उबालना. २ गिराना. ३ डिगाना.

उकाळणहार, हारौ (हारी), उकाळणियौ—उबालने, गिराने या डिगाने वाला ।

उकाळिओड़ौ, उकाळियोड़ौ, उकाळ्योड़ौ—भू०का०कृ०।

(क्रि अ रू. उकळणौ)

उकाळियोडौ, उकाळियौ—वि०—अकुलाया हुआ, व्याकुल ।

उ०—जी-री उकाळियौ असपताळ नाठौ। उठै गरीबां-री सुणाई कठै ही ।—वरसगाठ

(स्त्री० उकाळियोडी)

उकाळी—स०स्त्री०—किसी काष्ठादि औषधि का क्वाथ, काढा ।

उकाळौ—सं०पु०—१ उबाल. २ देखो 'अकालौ' (क्षेत्रीय)

उकासणौ, उकासबौ—क्रि०स०—१ उकसाना, जोश दिलाना, उत्साहित करना. २ तग करना । उ०—तठा उपरात करिनै राजान सिलामति माखि रा उकासिया सूअर भाखरा रा मोढा फाड फाड नै निकळिया छै ।—रा सा.सं

उकासियोड़ौ—भू०का०कृ०—उकसाया हुआ । (स्त्री० उकासियोडी)

उकीरौ—स०पु०—वर्षाकाल में गोबर मे पैदा होने वाला जीव ।

उकील—स०पु० [अ० वकील] देखो 'वकील' (रू.भे.)

उकुसणौ, उकुसबौ—क्रि०स०—१ उजाडना. २ उखेडना ।

उकेकळ—वि०—मुक्त । उ०—अमर उकेकळ करौ एकरा, वोहो नामी जपै वळराव ।—महाराणा सागा री गीत

उकेरौ—स०पु०—एक बरसाती कीडा जो गोबर मे उत्पन्न होकर उसे खराब कर देता है ।

उकेलणौ, उकेलबौ—क्रि०स०—१ तह वा पर्त से अलग करना, उखेलना, उधेडना. २ नोचना ।

उक्कंवणौ, उक्कंवबौ—क्रि०अ०—ऊँची गर्दन करना । उ०—उक्कंबी सिर हथ्थडा, चाहंती रस-लुब्ध । ऊची चढि चाग्गि जिउ, मागि निहाळइ मुध्ध ।—ढो मा

उक्कति, उक्कती—सं०स्त्री०—देखो 'उकति' ।

उक्त—वि० [सं०] कहा हुआ, ऊपर का कथित, पूर्वकथित ।

उ०—परंतु प्रथ्वीराज रौ मंत्री उण रा उक्त रूप इंद्रजाळ रा उद्वधरण मे न आयौ ।—वं भा.

सं०स्त्री० [सं० उक्ति] १ डिंगल साहित्य का छंद-रचना का एक नियम या ढग विशेष ।—र.रू. २ देखो 'उक्ति' ।

उक्रणौ, उक्रवौ—क्रि०अ०—१ जोश बतलाना. २ सिंह का दहाडना ।

उ०—सिंघ उक्रतै सांकळा मदन जडिया रिप सारू ।—पा.प्र.

उक्रणहार, हारौ (हारी), उक्रणियौ—वि०—जोश बतलाने वाला, दहाडने वाला ।

उक्रमणौ, उक्रमवौ—क्रि०अ [स० उत्+क्रम्] कूदना, नृत्य करना, छलाग भरना । उ०—धरती सिर पौड घणू भ्रमती। यम आवत केसर उक्रमती ।—पा.प्र

उगराहणो, उगराहबो—क्रि०स०—देखो 'उगरावरणो'। उ०—अजमेर रै थांनै री हकीकत सांभळ नै आदि वैर उगराह नूं असुरांण तुरकांण रा दळ राजांन ऊपरै विदा हुआ।—रा.सा.सं.

उगळ—सं०स्त्री० [सं० उद्गल] १ रुपये-पैसे की अधिकता. २ सामान की अधिकता. ३ आवश्यकता।

उगळणो, उगळबो—क्रि०अ० [सं० उद्गलन] १ किसी वस्तु को वापिस मुंह द्वारा निकालना, उगलना. २ उल्टी करना, कै करना।
उ०—परचौ व्याल ज्यौं कीलली वज्र किल्लौ मनूं भविख तारक्ष पीछे उगळचौ।—ला.रा.
३ छिपाने के लिए कही गई बात को प्रगट कर देना. ४ ग्रहण किया हुआ, पुनः लौटाना. ५ भीतर की वस्तु को बाहर निकाल देना।
उगळणहार, हारौ (हारी), उगळणियौ—उगलने वाला।
उगळाणो, उगळाबो—स०रू०—(प्रे.रू.)
उगळिग्रोड़ौ, उगळियोड़ौ, उगळयोड़ौ—भू०का०कृ०।

ऊगळांची—वि०स्त्री० [सं० उत्कंचुकि] बिना कंचुकी पहिने हुए, नंगे स्तन वाली (स्त्री०) उ०—आधी उगळांची कांचळियां आवी, विलिये चूड़ी बिन चींथरियां बांवी।—ऊ.का.

उगळांणौ—वि०—नंगा, बिना कपड़े पहिने हुए, निवस्त्र। उ०—आछा आछा जनवासी व्हैगा बनवासी। उठगा उगळांणा पाछा कद आसी।
—ऊ.का.

उगळाणो, उगळावौ—क्रि०स०—१ मुख से निकलवाना, उगलाना. २ इकबाल कराना, दोष को स्वीकार कराना. ३ पचे या हड़प किये हुए माल को निकलवाना।

उगळायोड़ौ—भू०का०कृ०—उगलाया हुआ। (स्त्री० उगलायोड़ी)

उगळियोड़ौ—भू०का०कृ०—उगला हुआ। (स्त्री० उगलियोड़ी)

उगळी—सं०स्त्री०—उल्टी, वमन। उ०—चुगली उगळी चीज है, चुगली है चरकीन। काग हुवै कै कूथरौ, इणरै रस आवीन।—बां.दा.

उगवणो—क्रि०वि०—पूर्व दिशा की ओर।
उ०—उदैपुर आयमणो पीछोलौ है उगवणै सहर बसै है।
—बां.दा.ख्या.

उगवणो, उगवबो—क्रि०अ०—देखो 'ऊगणौ'।
क्रि०वि०—पूर्व दिशा की ओर।

उगवियोड़ौ—भू०का०कृ०—देखो 'उगियोड़ौ'। (स्त्री० उगवियोड़ी)

उगसाणो, उगसाबो—क्रि०स०—उकसाना। देखो 'उकसाणौ'।

उगसायोड़ौ—भू०का०कृ०—उकसाया हुआ। (स्त्री० उगसायोड़ी)

उगहणो, उगहबो—क्रि०अ०—देखो 'ऊगणौ'। उ०—मारू सी देखी नहीं, अण मुख दो नैणांह। थोड़ी सी भोळै पड़इ, दणयर उगहंतांह।
—ढो.मा.

उगांची—देखो 'उगळांची'।

उगांण—सं०पु०—देखो 'ऊगांण'।

उगाई—सं०स्त्री०—१ वसूली. २ वसूल किया गया धन।

उगाड़—सं०पु०—१ समझ. २ खुलासा. ३ प्रकट करने की क्रिया या भाव. ४ उघाड़ने की क्रिया या भाव।

उगाड़णो—सं०पु० [सं० उद्घाटन] देखो 'उघाड़णौ'।

उगाड़ियोड़ौ—भू०का०कृ०—देखो 'उघाड़ियोड़ौ'। (स्त्री० उगाड़ियोड़ी)

उगाड़ौ, उगाड़ौ-पुगाड़ौ—वि० [सं० उद्घाटित] देखो 'उघाड़ौ'। [सं० उद्घाटितउद्गलह]

उगाणो, उगाबो—क्रि स०—१ उगाना, उत्पन्न करना. २ अंकुरित करना. ३ उदय करना. ४ प्रकट करना. ५ वसूल करना. ६ तानना।
उगाणहार, हारौ (हारी), उगाणियौ—वि०—उगाने वाला।
उगायोड़ौ—भू०का०कृ०। **उगावणौ**—(रू.भे.)

उगाळ—सं०पु० [सं० उद्गार, प्रा० उगाल] १ पीक, थूक, खंखार. २ निचोड़ा हुआ पानी. ३ कै, वमन।
सं०स्त्री०—४ जुगाली।

उगाळणो, उगाळबो—क्रि०स०—१ मुंह से (शब्द) निकालना।
उ०—गाळ लुगायां गावही, नर मुख उचत न गाळ। अमल गाळ मनवार कर, का सुभ वचन उगाळ।—बां.दा.
२ देखो 'उगळणौ' ३ जुगाली करना (चौपाये गाय आदि पशुओं का)

उगाळदांन—सं०पु०—पीक, थूक या खंखार आदि के गिराने का बरतन, पीकदान।

उगाळियोड़ौ—भू०का०कृ०—उगला हुआ। (स्त्री० उगाळियोड़ी)

उगाळी—सं०स्त्री०—१ सूर्योदय। उ०—पीथल रै खिमतां बादळ री, कुण रोके सूर उगाळी नै।—कन्हैयालाल सेठिया २ जुगाली।

उगाव—सं०पु०—१ उदय। उ०—तू आदत पलटै तरां, उलटै भांण उगाव।—मे.म. २ जुगाली।

उगावणो, उगावबो—क्रि०स०—देखो 'उगाणौ' (रू.भे.)

उगावियोड़ौ—भू०का०कृ०—देखो 'उगायोड़ौ' (रू.भे.)

उगाह—सं०पु०—एक प्रकार का छंद विशेष जिसके प्रथम चरण में १५ मात्रायें तथा बाद में ११ मात्रायें होती हैं।

उगाहणो, उगाहबो—क्रि०स०—देखो 'उगाणौ' (५)

उगाहा—सं०स्त्री०—एक छंद विशेष जिसके प्रथम एवं तृतीय चरण में बारह-बारह तथा द्वितीय व चतुर्थ चरण में अठारह-अठारह मात्रायें होती हैं। इस प्रकार कुल साठ मात्रायें होती हैं। इसे प्राकृत भाषा में उद्गाथा भी कहते हैं।

उगाहियोड़ौ—भू०का०कृ०—उगाहा हुआ, वसूल किया हुआ। (स्त्री० उगाहियोड़ी)

उगाही—सं०स्त्री०—१ वसूल करने की क्रिया या वसूल करने का काम। उ०—सारा देस गांवां में उगाही बांध लीनी।—शि.वं.
२ वसूल किया गया धन।

उगाहौ—सं०पु०—१ देखो 'उगाह' (र.ज.प्र.)

२ कपाट खोलना। उ०—ताहरां भांणेज मांनधाता दीठौ देखां अपछरांयां कह्यौ छै अे कोठार मतां खोलेज्यौ सु हूं कोठार एक **उखेलीस**।—चौवोली. ३ गडा हुआ पदार्थ खोद कर निकालना। उ०—द्रव्य **उखेलीयौ** छै। बारै काढि मांडचौ छै।—वेलि. टी.

उखेलियोड़ौ—भू०का०कृ०—१ उखाड़ा हुआ. २ खोला हुआ (कपाट) (स्त्री० उखेलियोड़ी)

उखेलौ—सं०पु०—देखो 'उखेल'।

उखेवणौ, उखेववौ—क्रि०स०—किसी देवता के यहाँ पूज्य व्यक्ति या वस्तु के सामने आग पर धूप आदि सुगंधित पदार्थ डाल कर धुआँ उठाना, धूनी देना। उ०—साळगराम सिला सुध सेविस, अग्गर चंदण धूप **उखेविस**।—ह.र.

उखेवीजणौ, उखेवीजवौ—क्रि० कर्म वा०—धूनी दिया जाना। उ०—आरती उतारीजै छै। केसरि-चंदण चरचीजै छै। अग **उखेवीजै** छै।—रा.सा.सं.

उखेवियोड़ौ—भू०का०कृ०—आग पर धूप आदि सुगंधित पदार्थ डाल कर धुंआ उठाया हुआ। (स्त्री० उखेवियोडी)

उखैळ, उखैळौ—सं०पु०—देखो 'ऊखैळ'।

उगटणौ, उगटवौ—क्रि०अ० [सं० उद्घटन] १ उदय होना. २ कसिया जाना। (मि० उघटणौ)

उगटणहार, हारौ (हारी), उगटणियौ—उदय होने वाला, कसिया जाने वाला।

उगटिओड़ौ, उगटियोड़ौ, उगटचोड़ौ—भू०का०कृ०।

उगटियोड़ौ—भू०का०कृ०—१ उदय हुआ हुआ. २ कसिया हुआ। (स्त्री० उगटियोड़ी)

उगटौ—सं०पु०—देखो 'उवटौ'।

उगट्ठि—वि०—प्रगट, प्रत्यक्ष, उत्पन्न। उ०—जौ थे देखी मारुई, तउ अहिनांण उगट्ठि।—ढो मा.

उगणचाळीस—देखो 'गुणचाळीस'।

उगणत्रीस—देखो 'गुणतीस'।

उगणसाठि—देखो 'गुणसठ'।

उगणाऊ—वि०—पूर्व दिशा का, पूर्व दिशा संबंधी। उ०—जखड़ै सोचियौ व्याह तौ तीन छः, तिकै उगूणाऊ कै उतराधा छै नै माजी दखणाधू सासरौ कह्यौ तिकौ किसी भांति।—जखड़ा मुखड़ा भाटी री वात

उगणिस, उगणीस—वि० [सं० ऊनविंशति या एकोनविंशति, प्रा० एगूणवीस, अप० एगुणविंस] दस और नौ के योग के समान।

सं०पु०—दस और नौ के योग की संख्या।

उगणीसमौ—वि०—जो क्रम में अठारह के बाद पड़ता हो।

उगणीसे'क—वि०—उन्नीस के लगभग।

उगणीसौ—सं०पु०—१९ वाँ वर्ष।

उगणौ, उगबौ—क्रि०स०—देखो 'ऊगणौ'।

उगणोतरि—वि०—देखो 'गुणंतर'।

उगत—सं०स्त्री० [सं० उद्गति] १ युक्ति, उपाय। उ०—मुक्त होवण री मन में मूरख **उगत** न आंणी रे।—ऊ.का. २ उद्भव, उत्पत्ति, जन्म. ३ न्याय, नीति, ढंग. ४ हेतु, कारण. [सं० उक्ति] ५ उक्ति, कथन। उ०—नहीं **उगत** अभ्यास नह, गुर सूं लियौ न ग्यांन! —बां.दा.

[रा०] ६ डिंगल साहित्य का छंद रचना का एक नियम या ढंग विशेष।

उगति, उगती—सं०स्त्री० [सं० उक्ति] देखो 'उकति'। उ०—सूर धीर निवाणे जळ ढूका, कहि दिखाई **उगति**।—वचनिका

उगम—सं पु० [सं० उद्गम] १ उदय, आविर्भाव २ अंकुरित होने की क्रिया. ३ उत्पत्ति स्थान. ४ सूर्योदय का समय या प्रकाश.

[रा०] ५ पशुओं में होने वाला एक प्रकार का रोग विशेष।

उगमण—सं०स्त्री०—१ सूर्योदय की दिशा, पूर्व दिशा।

२ देखो 'ऊगमण'।

उगमणियौ—देखो 'ऊगमणियौ'।

उगमणी—देखो 'ऊगमणी'।

उगमणूं—क्रि०वि०—पूर्व दिशा की ओर।

सं०पु०—पूर्व दिशा।

उगमणौ—सं०पु०— पूर्व दिशा।

वि०—पूर्व दिशा संबंधी।

उगमणौ. उगमवौ—क्रि०अ० [सं० उदयगमन] देखो 'ऊगमणौ, ऊगमवौ'। उ०—सूरज पछिम किम **उगमई**।—वी.दे.

उगमणहार हारौ (हारी), उगमणियौ—वि०—उगने वाला।

क्रि०वि०—पूर्व दिशा की ओर, पूर्व की दिशा में।

उगरणौ, उगरवौ—क्रि०अ०—१ बचना। उ०—पीहर हूंदी डुंबणी, घाले नवले घत्त। मारू ढोनौ **उगरै**, कहि समझावां वत्त।—ढो.मा.

२ उत्पन्न होना. ३ शेष रहना।

उगरांटौ, उगरांटी—वि०—देखो 'उग्राळी'।

उगरांमणौ, उगरांमवौ—क्रि०स० [सं० उद्ग्रहण] प्रहार हेतु शस्त्र उठाना।

उगरांमियोड़ौ—भू०का०कृ०—प्रहार हेतु शस्त्र उठाया हुआ। (स्त्री० उगरांमियोड़ी)

उगराणौ, उगरावणौ, उगराववौ—क्रि०स० [सं० उद्ग्रहण] १ वसूल करना. २ बदला लेना। उ०—थित अनरथ थायोह, पिड़ 'बूड़ौ' 'पाबू' पड़े। एकन **उगरायोह**, रै दावौ बांने रह्यौ।—पा.प्र.

३ प्रहार हेतु शस्त्र उठाना।

कहा०—उगराविवोड़ी तौ भंगी री ही कोनी रहै—उठाने के बाद तो शस्त्र का प्रहार पड़ेगा ही; विचारने के पश्चात कार्य पूरा होना ही चाहिये।

उगराविवोड़ौ—भू०का०कृ०—१ वसूल किया हुआ, बदला लिया हुआ. २ प्रहार हेतु शस्त्र उठाया हुआ। (स्त्री० उगराविवोड़ी)

उघड़ाणी, उघड़ावी—प्रे०रू०। उघड़ावणी, उघड़ावणी—प्रे०रू०।
उघड़िओड़ी, उघड़ियोड़ी, उघड़्योड़ी—भू०का०कृ०।
उघड़ीजणी, उघड़ीजवी—भाव वा०।

उघड़ाणी, उघड़ावी, उघड़ावणी, उघड़ाववी—क्रि०स० [सं० उद्घाटन] १ आवरणरहित कराना, खुलाना. २ प्रकट कराना, प्रकाशित कराना।
उघड़ाणहार, हारी (हारी), उघड़ाणियो—वि०।
उघड़ायोड़ी—भू०का०कृ०।
उघड़ावणी—(रू.भे.)

उघड़ियोड़ी—भू०का०कृ०—१ आवरण हटा हुआ, नग्न. २ प्रकट, प्रकाशित। (स्त्री० उघड़ियोड़ी)

उघट—सं०पु० [सं० उत्कथन] १ ताल देना, सम पर आना (संगीत में ताल की जाँच के लिये मात्राओं की गणना करके नियमानुसार बोल बोले जाते हैं और ताल दी जाती है, इसे उघटणी कहते हैं।) उ०—कळहंस जांगगर मोर निरतकार, पवन ताळधर ताळपत्र। आरि तंतिसर भमर उपंगी, तीवट उघट चकोर तत्र। —वेलि.
२ उछलने की क्रिया या भाव। उ०—मरीजीवउ पांणी तणउ, साल्ह उघट नइ खाइ। दुख सहणा पुहरा दियण, कंत दिसाउरि जाइ।—ढो.मा.

उघटणी, उघटवी—क्रि०अ० [सं० उत्कथन, प्रा० उक्कथन] १ उदय होना. २ उभरना. ३ कसिया जाना. ४ उछलना (मि० उघट (२)) ५ क्रोध करना। उ०—मुगट उतार सुघट दसमुख रा, लेकर उघट घुजाई लंका।—र.रू.
उघटणहार, हारी (हारी), उघटणियो—वि०।
उघटिओड़ी, उघटियोड़ी, उघट्योड़ी—भू०का०कृ०।

उघरणी, उघरवी—क्रि०स०—प्रवेश करना। उ०—ओदी उघरै मिनख खोदवै ल्यारां भारी। कोल्नै कंवळी रेत, खांण री सुरगां सारी। —दसदेव

उघराणी, उघरावी, उघरावणी, उघराववी—देखो 'उगरावणी'। उ०—वे मांडव रा पातसाह रा चाकर छै, जेजियो उघरावे छै। —नैणसी

उघरावियोड़ी—भू०का०कृ०—देखो 'उगरावियोड़ी'।
उघळणी, उघळवी—क्रि०स०—देखो 'उगळणी'।
उघाई—सं०स्त्री०—देखो 'उगाही'।
उघाड़—सं०पु० [सं० उद्घाट] देखो 'उगाड़'।
उघाड़ी—वि०—आवरणरहित, नंगा, नग्न। उ०—बीजळियां गळि वादळां, सिहरां माथै छात। कदै मिळै सूं सज्जना, करै उघाड़े गात। —जसराज

उघाणी, उघावी—देखो 'उगाणी'।
उघेरणी, उघेरवी—देखो 'उगेरणी'।

उघ्घड़—सं०पु०—१ बिना गढ़ा हुआ पत्थर. २ मूर्ख।
उड़द—सं०पु० [सं० ऋद, पा० उद्ध] एक पौधा जिसकी फलियों के दानों की दाल होती है।
उड़दपरणी—सं०स्त्री०—देखो 'उदयपरणी' (अमरत)
उड़दरेख, उड़दरेखा—सं०स्त्री० [सं० उर्ध्व रेखा] पैर के तलुवे की एक सीधी रेखा जो शुभ मानी गई है।
उड़दविगण, उड़दविभण, उड़दावेगण, उड़दावेगी—सं०स्त्री०—१ मुसलमानी काल की बादशाही दासी जो मर्दाने लिबास में रहती थी. २ उद्दंड स्त्री, शैतान स्त्री।
उड़दावी—सं०पु०—घोड़े का एक खाद्य पदार्थ विशेष। उ०—तरै साहणी कह्यौ, जौ घोडां री जावता, रातब उड़दावौ घास री जावतो करावौ तौ आपे भेळा रहां।—जगदेव पँवार री वात
उड़दी—सं०स्त्री० [अ० वर्दी] १ पोशाक, वेशभूषा. २ राज्य सरकार द्वारा किसी कर्मचारी वर्ग विशेष के लिये एक प्रकार का पहनावा विशेष।
उड़दू—सं०पु०—१ कोई बड़ा जलसा या कार्य. २ फारसी लिपि में लिखी जाने वाली, अरबी-फारसी-हिन्दी भाषाओं से उत्पन्न एक खिचड़ी भाषा. ३ लश्कर व छावनी का बाजार. ४ सेना, फौज।
उड़ांगर—सं०पु०—पक्षी। उ०—गगन मंडळ में वसै उड़ांगर ऊंचे आरंभ लागा।—ह.पु.वा.
उड़ी—क्रि०वि०—१ ऐसी. २ वैसी।
उड़ेदंड—सं०पु०—कसरत के अंतर्गत एक प्रकार का दंड जिसमें सपाट खींचते हुए दोनों पैरों को ऊपर फेंकते हैं।
उचंगी—वि०—१ अजनबी. २ उठाईगिर, उचक्का। उ०—उडगे उचंगे वंके लफंगे चंगे मारग लागे, अभागे सभागे भये टोर दीनें टुच्चां कौं।—ऊ.का.
उचंडणी, उचंडवी—क्रि०स०—ऊपर फेंकना, उछालना। उ०—कवन उरग मणि लेत, कवन असमांन उचंडै। कवन वात कर गहैं, कवन 'लावै' जुद्ध मंडै।—ला.रा.
उच—अव्यय [सं० उच्च] उच्च, ऊँचा। उ०—पुनरवसु रिख उच ग्रह पंच।—रांमरासौ
उचकणी, उचकवी—क्रि०अ०—१ उचकना, ऊपर उठना, उछलना।
उ०—एक फिरत आतुर अमित, विद्युत समचित वाग। उचकै पग पूगै अवनि, जांणिक लग्गै दाग।—रा.रू.
२ गुम होना, फरार होना। उ०—खीच मुफत रौ खाय, करड़ावण डकर घणां। लपर घणी लपराय, रांड उचकसी राजिया। —किरपाराम
उचकणहार, हारी (हारी), उचकणियौ—वि०—उचकने वाला।
उचकाणी, उचकावी, उचकावणी, उचकाववी—क्रि०स०।
उचकिओड़ी, उचकियोड़ी, उचकयोड़ी—भू०का०कृ०।
उचावणी, उचाववी—देखो 'उचाणी, उचावी'। उ०—कवन काळनि गहीं, कवन गिरि मेरु उचावैं।—ला.रा.

२ वसूल करने वाला, उगाहने वाला। उ०—एही तौ लेखागर हुआ अर भमर छै, एही उगाहा हुआ।—वेलि. टी.

उगियोड़ौ—भू०का०कृ०—१ उदय हुआ हुआ, उदित. २ उत्पन्न हुआ हुआ. ३ ऊगा हुआ। (स्त्री० उगियोड़ी)

उगुंणी, उगूणी, उगूणौ—देखो 'अगूणी'।

उगेरणौ, उगेरबौ—क्रि०स० [सं० उद्गीरण] (गीत या गायन) प्रारम्भ करना। उ०—धीवड़ियां घर बाळापण धीर, उगेरै 'वीरौ' ऊंची राग।—सांझ

उगेरणहार, हारौ (हारी), उगेरणियौ—वि०—(गीत या गायन) प्रारंभ करने वाला।

उगेराणौ, उगेरावौ—प्रे०रू०।

उगेरिग्रोड़ौ उगेरियोड़ौ, उगेरयोड़ौ—भू०का०कृ०।

उगेराणौ, उगेरावौ—क्रि०प्रे०—दूसरे को गाने के लिये प्रेरित करना।

उगेरियोड़ौ—भू०का०कृ०—(गीत या गायन) आरम्भ किया हुआ। (स्त्री० उगेरियोड़ी)

उगेरे, उगैरै—अव्यय—इत्यादि, वगैरह। उ०—तुलछीरांम दळपति किलांणसिंघ नांम। पालबास वींजासी उगेरे पांच गांम।—शि.वं.

उगेळ—सं०स्त्री०—१ रक्षा, मदद. २ अधिकता, बाहुल्य।

उगेळणौ, उगेळबौ—क्रि०स०—रक्षा करना, बचाना। उ०—भांज दावा-दारां केतां मेलिया काळ रै भेट। रूकां वाय के वारां झेलिया हारां रंभ उगेळिया केतां केतां ठेलिया अठेला अंग। खेलिया अखेला खेल सिंघी जेत खंभ।—चैनजी सांदू

उगोड़ौ—भू०का०कृ०—१ उदय हुआ हुआ, उदित. २ अंकुरित. ३ उत्पन्न हुआ हुआ। (मि० उगियोड़ौ) (स्त्री० उगोड़ी)

उग्गाह—सं०स्त्री० [सं० उद्गाथा, प्रा० उग्गाह] आर्या छंद का एक भेद जिसके विषम चरणों में बारह-बारह मात्रायें और सम चरणों में अठारह-अठारह मात्रायें होती हैं।

उग्र—वि० [सं०] १ प्रचंड, उत्कट, तेज, घोर। उ०—राजै दिन उग्र इसौ दसरथ, सुर नर सेव करै अहि सथ।—रांमरासौ
२ क्रोधी. ३ कठिन. ४ भयानक।
सं०पु०—१ शिव, महादेव (अ.मा.) २ बच्छनाग (वत्सनाभ) ३ सूर्य. ४ एक वर्णसंकर जाति जो क्षत्रिय पिता और शूद्र माता से मानी जाती है. ५ बहुत ऊँचा स्वर (संगीत) उ०—सवद उग्र करनाळ सवाई। सुर वरधू तुरही सहनाई।—रा.रू.

उग्रकारी—वि०—१ भयंकर. २ वीर. ३ जबरदस्त काम करने वाला।

उग्रगंध—सं०पु० [सं०] जिसमें किसी प्रकार की कोई तेज गंध हो। लहसुन, कायफल, हीग आदि।

उग्रगंधा—सं०स्त्री०—१ अजवाइन. २ अजमोदा. ३ वच।

उग्रगती—सं०पु०—हंस (नां.मा)

उग्रचंडा—सं०स्त्री० [सं०] भगवती देवी की एक मूर्ति विशेष जिसके अष्टादश भुजायें हैं और जो कोटि योगिनी परिवेष्ठित है, जिसकी पूजा आश्विन कृष्णा नवमी को होती है।

उग्रतप—सं०पु०—ऋषि, मुनि, तपस्वी (अ.मा.)

उग्रता, उग्रताई—सं०स्त्री०—१ तेजी, प्रचंडता. २ कठोरता. ३ शौर्य्य, तेज. ४ साहित्य में व्यभिचारी भावों के अंतर्गत एक भाव। उ०—निरवेद सपत संका निवार, मद-मोह उग्रता अपसमार।—क.कु.बो.

उग्रतारा—सं०स्त्री०—देवी की एक मूर्ति जिसका दूसरा नाम मातंगिनी है.

उग्रताळा—सं०पु० [सं० उग्र+अ० तालअ] भाग्यशाली, भाग्यवान।

उग्रधन, उग्रधनू—सं०पु० [सं०उग्र+धन्वन्] १ इंद्र (अ.मा.) २ शिव (ह.नां.)
वि०—तेज धनुषवाला।

उग्रतप—सं०पु० [सं० उग्रताप] ऋषि।

उग्रभ—सं०पु०—१ तेज. २ पराक्रम।
वि०—१ तेजस्वी. २ पराक्रमी।

उग्रभागी—वि०—भाग्यवान, तेजशाली, तेज भाग्य वाला।

उग्रसेण—सं०पु० [सं० उग्रसेन] आहुक का पुत्र और कंस का पिता मथुरा का राजा।

उग्रहणौ, उग्रहबौ—क्रि०स० [सं० उद्ग्रहणम्] १ छोड़ना, मुक्त करना। उ०—महदातार पयंपै माहव, बोल किसौ उचरां वियौ। ग्रहियां पछै उग्रहणौ गोविंद, कीजौ जिम सगरांम कियौ।—महारांणा सांगा री गीत
२ रक्षा करना। उ०—उग्रहण मंडोवर अहिपुरांह, छडावण अहिप्पुर छहतरांह।—रा.ज.सी. ३ बदला लेना।

उग्रा—सं०स्त्री० [सं०] १ दुर्गा. २ कर्कशा स्त्री. ३ अजवाइन. ४ वच. ५ धनियाँ।

उग्रावणौ, उग्राववौ—क्रि०स०—देखो 'उग्राहणौ'।

उग्राहणवैरी—सं०पु०—भाला (ना.डि.को.)

उग्राहणौ, उग्राहबौ—क्रि०स०—१ देखो 'उगरावणौ'। [सं० उदगरण] २ गर्जन करना। उ०—चउंड राउ उग्राहइ च्यारि चक्क, कोपिया साहि मेल्हइ कटक्क।—रा.ज.सी. [सं० उद्ग्राहण] ३ रक्षा करना. उ०—भेट दाव तणौ धकै आवै भिड़ण, चाळ वांधै नकी जुड़ण चाळौ। काळ दाढ़ां महा धरापुड़ काढ़तै कियौ गिड़ जेम उग्राह काळौ।—रावत मांनसिंह सलूंबर री गीत। [सं० उद्गाहण] ४ छोड़ना।

उघड़णौ, उघड़बौ—क्रि०अ० [सं० उद्घटन] १ खुलना, आवरण-रहित होना, नग्न होना। उ०—१ गोरी पींडी परै उघड़ता गोडा, लवी बीखा दे लेतोडी लोडा।—ऊ.का.
उ०—२ कूड़ौ किण नै रे! आपू अब ओळभौ कोई उघड़या संचित पांण।—गीत रांमायण २ प्रकट होना, प्रकाशित होना, भंडा फूटना. ३ अपना परिचय देना।
उघड़णहार, हारौ (हारी), उघड़णियौ—वि०—आवरणरहित होने वाला, प्रकट होने वाला।

उच्छवाह, उच्छाव, उच्छाह–सं०पु० [सं० उत्साह] १ उत्साह, जोश, हर्ष, उमंग। उ०—नांम नासुरुद्दीन साम्हैं चलावण रौ उच्छाह भी न ग्रारियौ।—वं.भा. २ धूम-धाम उत्सव। उ०—देवी संघ सुरतांण काज सीधा, देवी क्रोड़ तेतीस उच्छाह कीधा।—देवि०

उच्छित–वि०—ऊँचा, उन्नत।

उचकनखोरा वाय–सं०पु०—वह घोड़ा जिसके नेत्रों से आँसू गिरते हों (अशुभ—शा.हो.)

उचकाणौ, उचकावौ, उचकावणौ, उचकाववौ–क्रि०स०—१ चलते समय पैर उठाना, पैर ऊँचा करना। उ०—डोळा हींडोळा होकर हुचकाती, अणवट ठोकर दे एडी उचकाती।—ऊ.का. २ उचकाना, ऊपर उठाना, कुदाना. ३ गुम करना, फरार करना।

उचकाणहार, हारौ (हारी), उचकाणियौ–वि०—उचकाने वाला।

उचकायोड़ौ—भू०का०कृ०।

उचकीजणौ, उचकीजवौ–कर्म वा०।

उचकियोड़ौ–भू०का०कृ०—१ उचका हुग्रा, कूदा हुग्रा. २ गुमा हुग्रा, फरार। (स्त्री० उचकियोड़ी)

उचक्क–वि०—देखो 'उचक्कौ'।

उचक्कणौ, उचक्कवौ—देखो 'उचकणौ, उचकवौ'। उ०—खंड चटक्कै खुप्परी, लगि लुत्थि लटक्कं। सेलां मार सुमार व्है, असवार उचक्कै।—वं.भा.

उचक्कौ–वि०—१ ऊँची (आवाज या शब्द) तेज। उ०—अतरै चक-चक्कां सबद उचक्कां, आसुर कुक्कां ओद्रक्कां।—रा.रू.

स०पु०—१ उचक कर चीजें ले भागने वाला, उचक्का, चोर, ठग. २ बदमाश. ३ छली, पाखंडी।

उचड़णौ, उचड़वौ–क्रि०अ०—१ सटी या लगी हुई किसी वस्तु का अलग होना, किसी स्थान से हटना. २ पृथक होना. ३ जाना, भागना।

उचड़ियोड़ौ–भू०का०कृ०—उचड़ा हुग्रा। (स्त्री० उचड़ियोड़ी)

उचजणौ, उचजवौ–क्रि०अ०—उछल कर वार करना, झपटना। उ०—उचजी कुंभथळ थाप जड़की उरड़, तुरत कर एक नूं वजी ताळी।—वां दा.

उचजियोड़ौ–भू०का०कृ०—उछल कर वार किया हुग्रा, झपटा हुग्रा। (स्त्री० उचजियोड़ी)

उचझणौ, उचझवौ–क्रि०स०—१ तलवार से युद्ध करना. २ तलवार उठाना, तलवार को म्यान से बाहर निकालना।

उचट–सं०स्त्री०—देखो 'उचट'।

उचटणौ, उचटवौ–क्रि०अ० [सं० उच्चाटन] १ जमी हुई वस्तु का उखड़ना, उचड़ना. २ चिपका या जमा न रहना. ३ अलग होना, पृथक होना, छूटना. ४ बिचकना, भड़कना. ५ विरक्त होना, उदास होना, मन न लगना। उ०—चित फाटा मन ऊचटचा, रूठी गोरी रहइ गळिळाइ।—वी.दे. ६ भूलना। (स.रू. 'उचटाणौ')

उचटाणौ, उचटावौ–क्रि०स०—१ जमी हुई वस्तु को उखाड़ना. २ अलग करना, पृथक करना. ३ भड़काना, बिचकाना. ४ विरक्त करना, उदास करना. ५ भुलाना।

उचटियोड़ौ–वि०—उचटा हुग्रा। (स्त्री० उचटियोड़ी)

उचट्ट–सं०स्त्री० [सं० उच्चाट] १ मन का न लगना, विरक्ति, उदासीनता, उदासी। उ०—एक जं चारण पंथि सिरि, जोई करहा वट्ट। ढोलउ चलतउ देखि करि, तिणि मनि थयउ उचट्ट।—ढो.मा. २ उमंग, जोश. ३ उत्सव, जलसा।

उचणौ, उचवौ–क्रि०स०—१ उँचाया जाना, उठाना. २ कहना। उ०—मळयाचळ सुतनु मळै मन मोरे, कळी कि कांम ग्रंकुर कुच। तणी दखिण दिसि दखिण त्रिगुण में ऊरध सास समीर उच।—वेलि.

उचत–वि०—वढ़िया, श्रेष्ठ, सुंदर. [सं० उचित] वाजिब, ठीक। उ०—वाड़ लियाड़ै उचत पांच विध, न्याय कनक कर मिसर नखै। रोर वराह समंद पैली रुख, रांम रखा कर रांम राखै।—महारांणा हमीर रौ गीत

उचरंग–सं०पु० [सं० उत्सव] १ उत्सव, जलसा. २ खुशी। वि०—ऊँचा, उन्नत (मि० उछरंग)

उचरणौ, उचरवौ–क्रि०स०—उच्चारण करना। उ०—भाट विड़द तिहां उचरै।—वी.दे. (मि० 'उच्चरणौ' रू.भे.)

उचरी–सं०स्त्री०—कीर्ति, यश, प्रशंसा। उ०—कीरत पतै कमंध री, ते प्रसरी वड तौर। भरी सभा रु विलायतां, उचरी रुकै न ग्रोर।—जैंतदांन बारहठ

उचळणौ उचळवौ–क्रि०अ०—चलायमान होना, कंपित होना। उ०—धर डुल्लिय परिभार, पहुमि वसवांन उच्चळिळय। हल मिळिळय परि जोर, शेष अहि फन पर सल्लिय।—ला.रा.

उचस्ट–वि० [सं० उच्छिष्ट] जूठा, जूठन (एकाक्षरी)

उचाट–सं०स्त्री०—१ चिंता। उ०—अरंदां उचाट हेक, प्रळै वाट ऊक। २ कै, वमन।—क.कु.बो.

उचांत. उचांयत–सं०स्त्री० [सं० उच्च] ऊँचाई।

उचाकणौ, उचाकवौ–क्रि०स०—बिलगाना, अलग करना।

उचाट, उचाटण–सं०स्त्री० [सं० उच्चाट] १ वेदना, पीड़ा, व्यथा। उ०—इक जोगी आणंद मई, आव्यउ तिणहिज वाट। जांणे स्रीपति भेजिया, भांजण साल्ह उचाट।—ढो.मा. २ चिंता, व्याकुलता। उ०—अकबर हिये उचाट, रात दिवस लागी रहै।—दुरसौ आढ़ौ. ३ मन का न लगना। उ०—कुळ ने लागे काट खाट में जूता खावै। अंग में होय उचाट, जाट जोगी बण जावै।—ऊ.का. ४ विरक्ति, उदासीनता।

उचाटी–सं०स्त्री० [सं० उच्चाट] देखो 'उचाट'। उ०—भड़ मेळै दुज्जणसल भाटी, असुरां सेन्या रहै उचाटी।—रा.रू.

उचाणी, उचावौ–क्रि०स०—१ ऊँचा करना. २ ऊपर उठाना. ३ (बोझा) उठाना (रू.भे. ऊचाणौ)

उचासिरौ-सं०पु०—१ ऊँचा स्थान, उच्च श्रेणी. २ पूर्वजों का निकास-स्थान ।

उचित-वि०—१ योग्य, ठीक, मुनासिब, वाजिब. २ समीचीन ।

उचिता-सं०स्त्री०—प्रकृति (मि० उचितापति)

उचितापति-सं०पु०—ईश्वर । उ०—आपण दांन लंक **उचितापति**, भगत निवाजण वभीखण ।—ह.नां.

उचिस्रव, उचीस्रव-सं०पु० [सं० उच्चैः+श्रवस्] सफेद कानों और सात मुंह वाला इंद्र का सफेद घोड़ा जो समुद्र-मन्थन के समय निकला था (नां.मा.)

वि०—ऊँचा सुनने वाला, बहरा ।

उचूळ-वि० [सं० उच्चूल] ऊँचा । उ०—महा **उचूळ** मूळकै दुकूळ देह में नहीं । कहां सुगंध कंध वीचि गंध गेह में नहीं ।—ऊ.का.

उचेरौ-वि०—ऊँचा ।.

उचैश्रव-सं०पु० [सं० उच्चैःश्रवा] इन्द्र का घोड़ा (अ.मा.)

उचौ-वि० [सं० उच्च] देखो 'ऊँचौ' । उ०—**उचै** गोळइ लांवइ नाक ।
—वी.दे.

उच्चंडणौ, उच्चंडबौ-क्रि०स०—फेंकना ।

उच्चंडियोड़ौ-भू०का०कृ०—फेंका हुआ । (स्त्री० उच्चंडियोड़ी)

उच्च-वि० [सं०] १ ऊँचा, श्रेष्ठ, महान. २ उन्नत, उत्तुंग. ३ उत्तम. ४ बड़ा ।

उच्चता-सं०स्त्री० [सं०] १ ऊँचाई, श्रेष्ठता, महानता. २ उत्तुंग होने का भाव. ३ उत्तमता. ४ बड़ाई ।

उच्चमन, उच्चमनौ-वि०—ऊँचे या उन्नत मन वाला, उदार हृदयी, महामना ।

उच्चय-सं०स्त्री०—१ कटिबंध, नाड़ा. २ साड़ी या धोती. ३ लहँगा ।

उच्चरण-सं०पु० [सं०] कंठ, तालु, जिव्हा आदि से शब्द निकलना, मुंह से शब्द फूटना ।

उच्चरणौ, उच्चरबौ-क्रि०स०—उच्चारण करना, बोलना ।
उ०—**उच्चरचौ** खांन सोही करचौ यौं मति कीमत मांनखां ।
मीरखां दारु योसिता भयौ, तार गह्यौ असमांन खां ।
—ला.रा.

उच्चरणहार, हारौ (हारी), **उच्चरणियौ**-वि०—उच्चारण करने वाला ।

उच्चरिग्रोड़ौ, उच्चरियोड़ौ, उच्चरचोड़ौ-भू०का०कृ०—उच्चारण किया हुआ ।

उच्चरियोड़ौ-भू०का०कृ०—उच्चारण किया हुआ ।
(स्त्री० उच्चरियोड़ी)

उच्चळचित्तौ-वि० [सं० उच्चलचित्त] अस्थिर चित्त वाला । उ०—तेता मारू मांहि गुण, जेता तारा अम्भ । **उच्चळचित्ता** साजणां, कहि क्यउं दाखउं सम्भ ।—ढो.मा.

उच्चाट-सं०स्त्री०—देखो 'उचाट' । उ०—घोड़ां भड़ां वंका घाट, फोकरण खळां दळ खग फाट । असहां दळां देण **उच्चाट**, तौ रजवाटजी रजवाट ।—क.कु.बो. २ उखाड़ने या नोचने की क्रिया ।

उच्चाटण, उच्चाटन-सं०पु०—तंत्र का एक अभिचार या प्रयोग जिसके अनुसार किसी के चित्त को कहीं से हटाना होता है ।

उच्चातुर-सं०पु० [सं०] राक्षस (नां.मा)

उच्चार-सं०पु० [सं० उत्+चर्+घञ्] मुंह से शब्द निकलना, बोलना, कथन ।

उच्चारण-सं०पु० [सं०] कंठ, ओष्ठ, जिव्हा आदि के द्वारा मनुष्यों का व्यक्त और विभक्त ध्वनि निकाल मुख से सस्वर व्यंजन बोलना, वर्णों या शब्दों के बोलने का ढंग, उल्लेख, कथन । उ०—अरटीला रा वचन रौ तिरस्कार करि इण रीति **उच्चारण** री आरंभ कीधौ ।
—वं.भा.

उच्चारणौ, उच्चारबौ-क्रि०स०—उच्चारण करना (मि० उचारणौ)

उच्चारियोड़ौ-भू०का०कृ०—उच्चारण किया हुआ, उच्चरित ।
(स्त्री० उच्चरियोड़ी)

उच्चित-वि०—देखो 'उचित' ।

उच्चीश्रवा, उच्चैश्रवा-सं०पु०—देखो 'उचिश्रव' (अ.मा.)

उच्चोळ-सं०पु० [सं० उल्लोच] चंद्रातप, वितान (डिं.को.)

उच्छटणौ, उच्छटबौ-क्रि०अ०—टूटना, टूट कर दूर पड़ना ।
उ०—छिकि टोप वाहुल **उच्छटै** कटिकाळि कंटक की कटै ।—वं.भा.

उच्छरंग-सं०पु०—प्रसन्नता, हर्ष, खुशी (अ.मा.) (मि० उछरंग)

उच्छरणौ, उच्छरबौ-क्रि०अ०स०—१ बड़ा होना. २ पोषण पाना. (मि० उछरणौ) ३ उछलना. ४ उच्चारण करना. ५ उखाड़ना. ६ देखो 'उछरणौ' (४)

उच्छरणहार, हारौ (हारी), **उच्छरणियौ**—वि० ।

उच्छरिग्रोड़ौ, उच्छरियोड़ौ, उच्छरचोड़ौ—भू०का०कृ० ।

उच्छरियोड़ौ-भू०का०कृ०—१ बड़ा. २ पोषण पाया हुआ. ३ उछला हुआ. ४ उच्चारण किया हुआ, उच्चरित. ५ उखाड़ा हुआ. ६ देखो 'उछरियोड़ौ' ।

उच्छलग-सं०पु०—उत्सव । उ०—पैखवे सुर नर सयल पर धम धमंत सुर **उच्छलग** ।—नैणसी (रू.भे. उछलग)

उच्छळणौ, उच्छळबौ-क्रि०अ०—देखो 'उछलणौ' । उ०—वळै **उच्छळै** फेरियौ संख पांणी, पुळै पाप जे आप सूं हूंत प्रांणी ।—रा.रू.

उच्छळियोड़ौ-भू०का०कृ०—उछला हुआ । (स्त्री० उच्छळियोड़ी)

उच्छव-सं०पु०—१ उत्सव, मंगल कार्य, धूम-धाम, त्यौहार, पर्व ।
उ०—ना **उच्छव** ना हळक दूमणौ घणौ लखावै । भांण डूवतां पांण ग पोयण पंख खिलावै ।—मेघ.
२ खुशी, उमंग, आनन्द, उत्साह । उ०—**उच्छव** सूं इळगार सूं, आतुर सूं अनिमंध । यूं खड़ियां आयौ 'अभौ', ग्रहि कूरमां कमंध ।
—रा.रू.

उ०—उछरंग अत विध वेद उत्तम, रचे मंडप रीत। सुत चार दसरथ तरा साथे, परणियां कर प्रीत।—र.रू.

वि०—१ उत्सुक। उ०—उछरंग अंग रिड़मल अभंग, जोधाहर नाहर रूप जंग।—ऊ.का. २ ऊँचा, उन्नत। उ०—सीह छरा गजगाह सभ, मद भर हुवै मतंग। कुळवट 'पता' कमंधरी, आदू जुध उछरंग।—किसोरदान वारहठ

उछरंगणौ, उछरंगवौ–क्रि०म०—१ भयंकर युद्ध करना, पराक्रम दिखाना. क्रि०अ.—२ उच्छृंखल होना। उ०—इक पहर काळ उछरंगियौ प्रळै ज्वाळ वग्गी खड़ग। 'रिणछोड़' 'कुसळ' मिळिया रवद, पमंग जितां वळ रोस पग।—रा.रू. ३ प्रसन्न होना, हर्ष करना।

उछरंजण–सं०पु० [सं० उत्सर्जन] दान (ह.नां.)

उछरजण त्याग–सं०पु० [सं० उत्सर्जनत्याग] दातार (अ.मा.)

उछरणौ, उछरवौ–क्रि०अ०—१ जन्म लेना, उत्पन्न होना. २ उछलना, कूदना (रू.भे. ऊछरणौ) उ०—धरा धूम विस्तुरै, तोय ऊछरे सरोवर।—ला.रा. ३ पोपरण पाना (रू.भे. ऊछरणौ, ऊछरवौ)

उ०—कनक कटोरां राखजे, भल सूरत भरियोह। क्यूं निवळी व्है केहरी, उरण पय उछरियोह।—वां.दा.

[सं० उत्सर्जन] ४ चरने के लिए मवेशियों का जंगल में जाना।

उछरणहार, हारौ (हारी), उछरणियौ–वि०।

उछराणौ, उछरावौ–स०रू०।

उछरिओड़ौ, उछरियोड़ौ, उछरयोड़ौ–भू०का०कृ०।

उछराणौ उछरावौ–क्रि०स०—पशुओं को चराने निमित्त जंगल में हांकना। उ०—नांनै मांह गमाय कर एवड़ उछराया।

—केसोदास गाडण

उछरियोड़ौ–भू०का०कृ०—१ जन्म लिया हुआ, उत्पन्न. २ उछला हुआ. ३ पोपरण पाया हुआ, पोपित. ४ चरने के निमित्त जंगल में मवेशी गया हुआ। (स्त्री० उछरियोड़ी)

उछरेळ–वि०—बलवान, जबरदस्त।

उछळंग–वि०—देखो 'उच्छृंखळ'। उ०—नाचै रंग पूतळी एक वावै तिण पर सुर उछळंग संख सवदह ऊनावै।—नल्ल भाट

उछळ–सं०स्त्री०—१ छलांग, कुदान. २ लाभ वाला हिस्सा या भाग। वि०—वढ़िया, श्रेष्ठ। (यौ० उछळपांती)

उछळकूद–सं०स्त्री० [सं० उच्छलकूर्द] १ खेल-कूद. २ हलचल. ३ अधीरता, चंचलता. ४ गड़बड़ी।

उछळग–सं०पु०—उत्सव (मि० उच्छळग)

उछळणौ, उछळवौ–क्रि०अ० [सं० उच्छलन] १ वेग से ऊपर उठना और गिरना. २ झटके के साथ एक बारगी देह को इस प्रकार क्षण भर के लिए ऊपर उठा लेना जिससे पृथ्वी का लगाव छूट जाय. ३ कूदना. ४ अत्यंत प्रसन्न होना, खुशी से फूलना. ५ रेखा या चिन्ह का स्पष्ट दिखाई देना, उभड़ना. ६ जोश आना।

उछळणहार, हारौ (हारी), उछळणियौ–वि०—उछलने वाला।

उछळाणौ, उछळावौ–स०रू०।

उछळिओड़ौ, उछळियोड़ौ, उछळयोड़ौ—भू०का०कृ०।

उछाळणौ, उछाळवौ–स०रू०। **उछवाळणौ, उछवाळवौ**—(रू.भे.)

उछळपांती–सं०स्त्री०—लाभ वाला हिस्सा, अधिक मात्रा वाला अंश।

उछळवाणौ, उछळवावौ–क्रि०स० (प्रे.रू.)—उछालने में प्रवृत्त करना।

उछळाणौ, उछळावौ–क्रि०स० (प्रे.रू.)—उछालने में प्रवृत्त करना।

उछळायोड़ौ–भू०का०कृ०—उछालने में प्रवृत्त किया हुआ। (स्त्री० उछळायोड़ी)

उछळियोड़ौ–भू०का०कृ०—उछला हुआ। (स्त्री० उछळियोड़ी)

उछव–सं०पु० [सं० उत्सव] उत्सव, जलसा। उ०—राजा भीखमक कै अनेक उछव होरण लागा। अनेक वाजा वाजै छै।—वेलि. टी. रू०भे०—उच्छव, उच्छव, उच्छरंग, उछवाह, उछाव, उछाह।

उछवाळणौ, उछवाळवौ–क्रि०स०—फेंकना, उछालना, पराजित करना। उ०—असंख दळ दिली रा भुजां उछळावतौ। समर भर भीम दीठौ सवांही घेर विच वारहौ मंडोवर घातियौ मंडोवर घेर, आंवेर मांही—चुतरौ मोतीसर।

उछवाह–सं०पु० [सं० उत्सव] १ उत्सव, जलसा। २ उत्साह, उमंग। उ०—सज टोप सुभट सनाह, इम किये जुध उछवाह। घोड़ांस पाखर घाल, वप पीठ ढाल विसाळ।—पे.रू.

उछांछळौ–वि०—चंचल, चपल।

उछांट–सं०स्त्री०—१ उत्कंठा, अभिलाषा. २ प्रवलता. ३ वल, शक्ति. ४ वमन, उल्टी।

उछांवळौ–वि०—१ उन्मत्त, मस्त. २ मग्न. ३ नटखट।

उछाजणौ, उछाजवौ–क्रि०स०—उछालना। उ०—वाजता घंट विहूवै वळां, ऊरध सूंड उछाजता।—मे.म.

उछारक–सं०पु० [सं० उत्सारक] द्वारपाल, प्रतिहार (ह.नां.)

उछाळ–सं०स्त्री० [सं० उच्छाल] १ अनायास ऊपर उठने की क्रिया, फलांग, चौकड़ी, कुदान. २ वह ऊँचाई जहां तक कोई वस्तु उछल सकती है. ३ वमन, उल्टी, कै. ४ पानी का छींटा. ५ किसी पुण्य या शुभ कार्य के निमित्त न्यौछावर करके फेंके हुए रुपये का दान जो विवाह में दूल्हे के आगे-आगे उछाला जाता है। शोक के अवसरों पर यह बिना न्यौछावर किये फेंका जाता है।

उछाळणौ, उछाळवौ–क्रि०स० [सं० उच्छालन] १ उछालना, ऊपर की ओर फेंकना।

कहा०—१ उछाळ भाटौ करम में क्यौं लेवणौ। या भाटौ उछाळ नै करम में क्यूं लेवणौ—स्वयं पत्थर उछाल कर उसे अपने माथे क्यों लेना; स्वयं अपनी ओर से आफत सिर पर नहीं लेना चाहिये।

२ प्रकट करना, प्रकाशित करना।

उछाळणहार, हारौ (हारी), उछाळणियौ–वि०—उछालने वाला।

उचायोड़ौ–भू०का०कृ०—१ ऊँचा किया हुआ. २ ऊपर उठाया हुआ. ३ (बोझ) उठाया हुआ। (स्त्री० उचायोड़ी)

उचार–सं०पु० [सं० उच्चारण] उच्चारण।

उचारणौ, उचारबौ–क्रि०स० [सं० उच्चारण] १ उच्चारण करना, मुंह से शब्द निकालना, बोलना. २ बार-बार रटना, जपना।

उचारणहार, हारौ (हारी), उचारणियौ–वि०—उच्चारण करने वाला।

उचारिओड़ौ, उचारियोड़ौ, उचारयोड़ौ—भू०का०कृ०।

उचारिण–सं०पु० [सं० उत्तमर्ण (वहुरा) का कल्पित है–उच्च ऋण उसका अपभ्रंश] कुवेर (नां.मा.)

उचारियोड़ौ–भू०का०कृ० [सं० उच्चारण] उच्चरित, उच्चारण किया हुआ। (स्त्री० उचारियोड़ी)

उचाळउ–सं०पु०—देखो 'उछाळौ'। उ०—पूगळ देस दुकाळ थियं, किणहीं काळ विसेसि। पिंगळ ऊचाळउ कियउ, नळ नरवर चइ देसि।—ढो.मा.

उचाळणौ, उचाळबौ–क्रि०स०—उछालना (रू.भे.)

उचाळौ–सं०पु०—देखो 'उछाळौ'। उ०—राव सुरतांण आपरा उचाळा भरनै नीसरियौ।—नैणसी

उच्छिस्ट–वि० [सं० उच्छिष्ट] जूठा।

सं०पु०—जूठन, जूठी वस्तु।

उच्छेदणौ, उच्छेदबौ–क्रि०स०—१ छेदन करना. २ तोड़ना. ३ उखाड़ना. ४ मर्यादा उल्लंघन करना।

उ०—'अभौ' चालियौ आसुरां सीस ऐंसौ, जळनिद्ध उच्छेदियां बंध जैसौ।—रा.रू.

उच्छेदणहार, हारौ (हारी), उच्छेदणियौ–वि०—उखाड़ने या छेदने वाला।

उच्छेदिओड़ौ, उच्छेदियोड़ौ, उच्छेदयोड़ौ—भू०का०कृ०।

उच्छेदियोड़ौ–भू०का०कृ०—१ छेदा हुआ. २ उखाड़ा हुआ, सीमा से वाहर हुआ हुआ। (स्त्री० उच्छेदियोड़ी)

उच्छेर–सं०पु०—देखो 'उछेर'।

उच्छृंखल–वि० [सं०] १ जो क्रमवद्ध न हो, अंड-वंड, विशृंखल. २ स्वेच्छाचारी, निरंकुश. ३ उद्दंड, अक्खड़।

उच्छ्राय–सं०पु० [सं० उत्+श्रि+अक्] पर्वत, वृक्षादि की उच्चता, उच्च परिमाण।

उछंग–सं०पु० [सं० उत्संग] १ गोदी, क्रोड़, अंक। उ०—अधिपति उछंग सोभै 'अभौ' राजत ज्यौं कंचन रतन, उर दियण मोद किर ऊमरां, तात गोद प्रिय वरत तन।—रा.रू. २ मध्य भाग, वीच. ३ ऊपर का भाग।

वि०—निर्लिप्त, विरक्त।

उछंगति–सं०पु० [सं० उत्संग] गोद, क्रोड़। उ०—कुंवर मीळइ जाई वाप हुई। लई उछंगति भोज कुंवार।—वी.दे.

उछंछळौ–सं०पु० [सं० उच्चंचल] एक प्रकार का घोड़ा। (शा.हो.)

उछंटी–वि०स्त्री०—१ अधिक. २ वड़ी।

उछंडणौ, उछंडबौ–क्रि०स०—छोड़ना, त्यागना। उ०—वरमा कावुल वीर महाजुध मंडिया, अर भग्गा अलंगांण आथांण उछंडिया।

—किसोरदांन वारहठ

उछंडियोड़ौ–भू०का०कृ०—छोड़ा हुआ। (स्त्री० उछंडियोड़ी)

उछ–सर्व०—उस, वह (रू.भे.)

उछइ–वि०—थोड़ा, ओछा। उ०—आज नीरालइ सीय पड़चौ, च्यारि पहूर मांही नूं मीळी अंख। उछइ पांणी ज्यूं माछळी, जिव जागूं तिव उठु छूं झंखि।—वी.दे.

उछक-छाक–सं०पु०—लड़खड़ाने की क्रिया या भाव। उ०—सु कितरा एक तौ राजांन उछक-छाक, छकतां वकतां थड़थड़ता घूमता पड़ता घोड़ा आया छै।—रा.सा.सं.

उछकणौ, उछकबौ–क्रि०अ०—१ आक्रमण करना, छलांग मार कर प्रहार करना. २ नशा हटना, चेत में आना, होश में आना. ३ चौंक पड़ना (मि० 'उचकणौ')

उछकियोड़ौ–भू०का०कृ०—१ आक्रमण किया हुआ. २ नशा हटा हुआ, होश में आया हुआ. ३ चौंका हुआ।

(स्त्री० उछकियोड़ी)

उछजणौ, उछजबौ–क्रि०स०—देखो 'ऊछजणौ, ऊछजबौ'।

२ जोश में आना. ३ फूलना।

उछजियोड़ौ–भू०का०कृ०—१ जोश में आया हुआ. २ आक्रमण हेतु शस्त्र उठाया हुआ। (स्त्री० उछजियोड़ी)

उछज्ज–वि०—उद्धत, कटिवद्ध. २ पूर्ण जोश में, जोशीला।

उछट–सं०स्त्री०—१ तरंग, लहर. २ चाल, गति. ३ उदारता, दानशीलता। उ०—रजवट वट घट राजतां, उप्रवट उछट अमट्ट विकट पता ज्यूं करणवै, अर आथांण अवट्ट।

—किसोरदांन वारहठ

वि०—अधिक।

उछटणौ, उछटबौ–क्रि०स०—१ कूदना। उ०—इभ चाकर माकर उछट उडि आसण आया।—वं.भा. २ कटना, कट कर दूर पड़ना। उ०—विकट रहचट पलट नट गति, उलट झटपट उछट खगझट निपट अघ दट दपट।—वं.भा.

उछट–सं०स्त्री०—१ इच्छा, चाह. २ प्रसन्नता. ३ स्वीकृति. ४ शक्ति।

उछव–सं०पु० [सं० उत्सव] १ उत्सव, जलसा. २ खुशी, प्रसन्नता.

उछरंग, उछरंगि–सं०स्त्री०—१ इच्छा, अभिलाषा। उ०—वर 'साल-मेस' प्रांमण वळै, आहिज रहै उछरंग रै।—भगवांनजी रतनू

२ उत्सव, जलसा। उ०—आयौ भरथ अवध अभंग, मंडे पावड़ी उतमंग रइयत कीध अत उछरंग, इम आवास जाय उमंग।—र.रू.

३ हर्ष, आनन्द, प्रसन्नता (अ.मा.)

या उत्सव किया हुआ हो। (स्त्री० उजमियोड़ी)

उजयाळी–सं०पु० [सं० उज्ज्वल] १ चाँदनी, चंद्रिका, उजियाली. २ प्रकाश, रोशनी (रू.भे. उजुयाळी) (स्त्री० उजयाळी)

उजर–सं०पु०—१ विरोध, आपत्ति. २ विरुद्ध वक्तव्य, किसी बात के विरुद्ध सविनय कुछ कथन करना. ३ हक, स्वत्व, अधिकार, दावा।

उ०—हूं उजर करूं, रांणी वांसै साथ चाहूँ, वे कठैही उतरिया होय तौ काई कावाइत होय।—नैणसी

उजरत–सं०पु०—अपने अधिकार के प्रति उज्र न करने के लिए लिया या दिया जाने वाला द्रव्य।

उजरदारी–सं०स्त्री० [फा० उज्रदारी] किसी ऐसे मामले में उज्र पेश करना जिसके विषय में निर्णय हो चुका हो अथवा निर्णय होने वाला हो। ..

उजळ–वि० [सं० उज्ज्वल] १ दीप्तिमान, प्रकाशमान. २ श्वेत, शुभ्र (नां.मा.) ३ स्वच्छ, निर्मल. ४ यशस्वी।

यौ०—उजळखांप, उजळजात, उजळदंती।

सं०स्त्री०—सरस्वती, शारदा (अ.मा.)

उजळणौ, उजळबौ–क्रि०अ० [सं० उज्ज्वल] उज्ज्वल होना, चमकना.

क्रि०स०—उज्ज्वल करना, साफ करना, चमकाना।

उजळणहार, हारौ (हारी), उजळणियौ–वि०—उज्ज्वल होने या करने वाला।

उजळवाणौ उजळवावौ—प्रे०रू०। उजळाणौ, उजळावौ—प्रे०रू०।

उजळावणौ, उजळावबौ—प्रे०रू०।

उजळिग्रोड़ौ, उजळियोड़ौ, उजळ्योड़ौ–भू०का०कृ०—उज्ज्वल किया हुआ।

उजळता–सं०स्त्री० [सं० उज्ज्वलता] उज्ज्वलता।

उ०—नु पणि आपणी उजळता करि आकास सौं मिळि गयौ है।
—वेलि. टी.

उजळमौ–वि०—सफेद, उज्ज्वल (शा.हो.)

उजळवाणौ उजळवावौ–क्रि०स० (प्रे.रू.)—उज्ज्वल करवाना, साफ करवाना, चमकवाना।

उजळवायोड़ौ–भू०का०कृ०—उज्ज्वल कराया हुआ, चमकाया हुआ। (स्त्री० उजळवायोड़ी)

उजळाई–सं०स्त्री० [सं० उज्ज्वलता] १ शौचादि से निवृत्त होकर गुदा द्वार को स्वच्छ करने की क्रिया, आबदस्त। उ०—तठै दिन ऊगै पोहर भींवाजी टेवटा लेवण नै गया। तठै उजळाई करण नै जळ सोझै।—जखड़ा मुखड़ा भाटी री वात. २ उज्ज्वलता, चमक, सफेदी।

उजळाणौ, उजळावौ–क्रि०स० (प्रे.रू.)—उज्ज्वल कराना, चमकाना।

उजळाणहार, हारौ (हारी), उजळाणियौ–वि०—उज्ज्वल कराने वाला।

उजळायोड़ौ—भू०का०कृ०। उजळावणौ, उजळावबौ—रू.भे.।

उजळायोड़ौ–भू०का०कृ०—उज्ज्वल कराया हुआ, चमकाया हुआ। (स्त्री० उजळायोड़ी)

उजळावणौ, उजळावबौ–क्रि०स० (प्रे.रू.)—देखो 'उजळाणौ'।

उजळियोड़ौ–भू०का०कृ०—उज्ज्वल हुआ हुआ, उज्ज्वल किया हुआ। (स्त्री० उजळियोड़ी)

उजळौ–वि० [सं० उज्ज्वल] १ श्वेत, सफेद।

कहा०—उजळौ उजळौ ही दूध को हुवैनी—उजला उजला सभी दूध नहीं होता; ऊपर से अच्छे दिखाई पड़ने वाले सभी पदार्थ वास्तव में अच्छे हों यह बात नहीं होती।

२ स्वच्छ, निर्मल।

कहा०—१ उजळा रांम रांम करणा—केवल ऊपरी मन से अभिवादन करना। मन में वास्तविक आदर या स्नेह न रखते हुए अभिवादन करना।

३ प्रकाशमान।

पर्याय०—अवदात, उजळ, धमळ, पंडरु, पंडु, पिंड, विसद, सित, सिव, सुकल, सुचि, सुभ्र, स्वेत। (रू.भे. ऊजळौ)

उजळौ बग–वि०यौ० [सं० उज्ज्वल+वक] बगुले के समान श्वेत, अति उज्ज्वल।

उजळौ लोहड़ौ–सं०पु०—देखो 'ऊजळौ लोह'। उ०—पछै मांनसिंघ चांपा वाई नै उदैसिंघ री वैर गरभवंती नूं ऊजळे लोहड़े मारी।
—नैणसी

उजवणौ, उजवबौ—देखो 'उजमणौ'।

उजवळ, उजवाळ–वि०—देखो 'उजळ'। उ०—वित वरसाळ खटू रित वरसै, मौज राव उजवाळ मुख।—क.कु.वो.

उजवाळक–वि०—उज्ज्वल करने वाला। उ०—कमधां कुळ रा उजवाळक नै। विरदाबुंग्र जोगिय बाळक नै।—पा.प्र.

उजवाळणौ, उजवाळवौ, उजवाळिणौ, उजवाळिवौ–क्रि०स०—१ उज्ज्वल करना। उ०—कांन्ह हरी साकौ कियौ, उजवाळियौ उतन्न।
—रा.रू.

२ प्रकाशित करना. ३ चमकाना।

उजवाळणहार, हारौ (हारी), उजवाळणियौ—उज्ज्वल करने वाला।

उजवाळिग्रोड़ौ, उजवाळियोड़ौ, उजवाळ्योड़ौ—भू०का०कृ०।

उजवाळियोड़ौ–भू०का०कृ०—उज्ज्वल किया हुआ, प्रकाशित किया हुआ, चमकाया हुआ। (स्त्री० उजवाळियोड़ी)

उजवाळी–सं०स्त्री०—चाँदनी, ज्योत्स्ना।

वि०—१ उज्ज्वल, शुभ्र. २ शुक्ल पक्ष की, शुक्ल पक्ष सम्बन्धी।

उजवाळो, उजवाळौ–सं०पु०—१ उजाला, रोशनी, प्रकाश।

उ०—१ पंखौ घर में पवन सूं, बचै दीप दुतिवंत। दीप हूंत दरसंत, घर में उजवाळौ घणौ।—बां.दा.

उ०—२ 'याळो' जोगीदास रौ, उजवाळौ कुळ मत्त।—रा.रू.

२ तेज (अ.मा.)

वि०—१ श्रेष्ठ, उत्तम. २ उज्ज्वल करने वाला। उ०—ग्रोठी हालै अगै, पीठ घूमर पमंगाळी। आन थांन रौ उतन, साख तेरै उजवाळौ।
—पा.प्र.

उछाळिग्रोड़ौ, उछाळियोड़ौ, उछाळयोड़ौ—भू०का०कृ० ।
उछाळियोड़ौ–भू०का०कृ०—उछाला हुआ । (रू.भे. उछाळयोड़ौ) (स्त्री० उछाळियोड़ी)
उछाळौ–सं०पु०—१ उछालने की क्रिया या भाव । उ०—समदर देख्यौ सूरज कांनी, गरज्यौ तीर उछाळौ दै ।—रेवतदांन
२ इमारत की कुरसी. ३ जागीरदार या शासक पर किसी कारण से नाराज होकर प्रजा का सामूहिक रूप से शासक के गाँव से पलायन करना व एक साथ मिल्कियत लेकर रवाना होना ।
कहा०—१ गांम तौ उछाळै ग्रायौ नै डूम कै म्हनै तिवारी घालौ—गाँव तो शासक से नाराज होकर जा रहा है किन्तु डूम कहता है कि मेरा त्यौहार का नेग देते जाओ; हम पर तो विपत्ति आई है किन्तु नीच व स्वार्थी व्यक्ति अपना स्वार्थ ही सबसे पहले देखते हैं. २ पाडा नै उछाळा में ई लाभ है—भैंस के पाडे को इस उछाले में लाभ है क्योंकि वँधे न होने से उसे दूध मिलता है; किसी की विपत्ति में किसी को लाभ भी हो सकता है ।
४ कमजोर व्यक्ति का क्रोध में पलायन. ५ जोश क्रोध.
६ वमन, कै, उल्टी. ७ जल या खाद्याभाव के कारण एक स्थान से दूसरे स्थान को प्रयाण ।
उछाव, उछाह–सं०पु० [सं० उत्साह] १ उत्साह, उमंग ।
उ०—धमजग्र तोप उछाह की तंबूर त्रंबक वज्जयं ।—ला.रा.
२ हर्ष. ३ जोश । उ०- यौं सुनि राव उछाह के कर मुच्छ मिळाया ।—वं.भा. ४ उत्सव, जलसा, आनंदोत्सव ।
उ०—राजा प्रोहित तेड़ियउ, जांइ ढोलउ ल्याव । सखियां मारू नूं कहइ, हुवउ ग्रणंद उछाव ।—ढो.मा.
५ जैन लोगों की रथ-यात्रा । ६ इच्छा, उत्कंठा ।
उछाही–वि०—१ उत्साही. २ आनन्द मनाने वाला ।
उछिस्ट–वि० [सं० उच्छिष्ट] भोजनावशिष्ट, जूठा ।
उछीरौ–सं०पु० [सं० असृक] खून, रक्त । उ०—कांना रा करारा खमें हथ्थ थारा. उछीरा उधारा वहै वारवारा ।—ना.द.
उछेट–सं०पु०—सीना ।
उछेद–सं०पु० [सं० उच्छेद] खंडन, नाश ।
उछेर–सं०पु०—१ वंश. आल-औलाद, संतान. २ जंगल में मवेशियों के चरने जाने की क्रिया का भाव ।
उछेरणौ, उछेरवौ–क्रि०स०—चराने के निमित्त पशुओं को जंगल में हाँकना या ले जाना ।
उछेरियोड़ौ–भू०का०कृ०—चराने के उद्देश्य से जंगल में गये हुए (मवेशी) (स्त्री० उछेरियोड़ी)
उछ्रित–वि०—उच्च, ऊँचा । उ०—अर आगै देवराज रौ रचियौ ग्राठ हात उछ्रित, ग्राठ हात लंवायत, वत्तीस पूतळी सहित ।—वं.भा.
उजंक–वि०—१ निशंक, साहसी । उ०—नमौ सिसपाळ मनावण संक, जरासंध जीपण सेन उजंक ।—ह.र. २ उद्दंड ।
उजड़–वि०—देखो 'ऊजड़' ।
उजड़णौ, उजड़वौ–क्रि०ग्र०—१ उखड़ना. २ ध्वस्त होना, नष्ट होना ३ वीरान होना, जन-शून्य होना. ४ विखरना ।
उजड़णहार, हारौ (हारी), उजड़णियौ—उजड़ने वाला ।
उजड़वाणौ, उजड़वावौ—प्रे०रू० ।
उजड़ाणौ, उजड़ावौ—प्रे०रू० ।
उजड़िग्रोड़ौ, उजड़ियोड़ौ, उजड़योड़ौ—भू०का०कृ० ।
उजाड़णौ, उजाड़वौ—स०रू० ।
उजड़वाणौ, उजड़वावौ–क्रि०स० (प्रे.रू.)—किसी को उजाड़ने में प्रवृत्त करना ।
उजड़ियोड़ौ–भू०का०कृ०—उजड़ा हुआ । (स्त्री० उजड़ियोड़ी)
उजड़ौ–वि०—१ उजड़ा हुआ, वीरान. २ विनष्ट ।
उजड–वि० [सं० उज्जड] अप्रवीण, अदत्त ।
उजड्ड–वि०—१ वज्र, मूर्ख. २ असभ्य, अशिष्ट. ३ उद्दंड, निरंकुश ।
उजड्डपण, उजड्डपणौ–सं०पु०—१ उद्दण्डता. २ असभ्यता, अशिष्टता ।
उजदार–सं०पु०—वजीर, मंत्री । उ०—प्रधांनां उजदारां विचार नै राजा सूं वीनती की—चौवोली
उजवक, उजवकी–सं०पु०—१ तातारियों की एक जाति (वां.दा.ख्या.) २ एक प्रकार की घास. ३ एक प्रकार का घोड़ा (रा.सा.सं.)
वि०—१ उजड्ड, वेवकूफ, मूर्ख, अनाड़ी । उ०—कमळ ग्ररियां तणा घणा झटकां कटै । उजवकां दिसी जसवंत सी ऊलटै ।
२ उद्दण्ड, आततायी । —हा.झा.
क्रि०वि०—विचित्र ढंग से, अपूर्व ढंग से । उ०—वीर ग्रवसांण केवांण उजवक वहै, रांण हयवाह दुय राह रटियौ ।
—गोरधन वोगसौ
उजवक्क, उजवक्की–वि०—देखो 'उजवक' । उ०—कर मुच्छनि घल्ले किलम, यम वुल्ले उजवक्क । स्यांम काज पितु के वयर, हदपै मरना हक्क ।—ला.रा.
सं०पु०—देखो 'उजवक' ।
उजमणौ–सं०पु० [सं० उद्यापन, प्रा० उज्जवण] किसी अंगीकृत व्रत की समाप्ति पर किया जाने वाला भोज अथवा उत्सव जिसके पश्चात् उस व्रत को निरन्तर रखने की आवश्यकता नहीं होती ।
उजमणौ, उजमवौ–क्रि०ग्र०—१ वर्षा का होना, वर्षा की छटा छाना जिसके कारण अत्यन्त शीत हो । उ०—उतर ग्राज स उजमी, पाळौ पड़ै विहांण । भाजै गात्र कुमारिग्रां, देखै मुगळ पठांण ?—ढो.मा.
२ किसी अंगीकृत व्रत की समाप्ति पर भोज अथवा उत्सव करना, जिसके पश्चात् उस व्रत को निरन्तर रखने की आवश्यकता नहीं होती ।
उजमणहार, हारौ (हारी), उजमणियौ–वि० ।
उजमिग्रोड़ौ, उजमियोड़ौ, उजमयोड़ौ—भू०का०कृ० ।
उजियोड़ौ–भू०का०कृ०—(वह अंगीकृत व्रत) जिसकी समाप्ति पर भोज

उजासणी–सं०पु०—प्रकाश, रोशनी।

उजासणौ, उजासबौ–क्रि०स०अ०—१ प्रकाशित करना, चमकाना. २ प्रकाशित होना, चमकना। उ०—घिरत का कुंभ सींचै होम ज्यां उजासै।—रा.रू.

उजासणहार, हारौ (हारी), उजासणियौ–वि०—प्रकाशित करने या चमकने वाला।

उजासिओड़ौ, उजासियोड़ौ, उजास्योड़ौ—भू०का०कृ०।

उजासी–सं०स्त्री०—प्रकाश, रोशनी (अ.मा.)

उजियार–सं०पु०—उजाला, प्रकाश।

उजियारौ, उजियाळौ–सं०पु० (स्त्री० उजियारी, उजियाळी) १ उजाला, प्रकाश। उ०—भूप उदार तिलक रघुकुळको चहुं पुर कौ **उजियाळौ**। —समांन बाई। २ चांदनी, चंद्रिका.

वि०—कुल-कांतिवर्धक, रूप-गुणसम्पन्न।

उजियाळी-पाख–सं०पु०यौ० [सं० उज्ज्वल पक्ष] शुक्ल पक्ष।

उ०—चैत महीनौ **उजियाळी-पाख**, नव दिन बीज लुकाई राख।

उजियास–सं०पु० [सं० उदय+आगा] प्रकाश, रोशनी। उ०—बीत चुकी अंधियारी रातां, आया दिन **उजियास** रा, मंडता जावै घरती मार्थ, पग-मंडगा इतिहास रा।—रेवतदांन

उजीण, उजीणी–सं०स्त्री० [सं० उज्जयिनी] उज्जैन का एक नाम (अ.मा.) देखो 'उज्जयिनी'।

उजीर–सं०पु० [अ० वजीर] १ मंत्री, दीवान। उ०—निजदळ छोड़ उजीर, नीसरचौ कायर परदळ कांनी।—ऊ.का. २ शतरंज की एक गोटी (स्त्री० उजीरणी)

उजुआळ–वि० [सं० उज्ज्वल] उज्ज्वल करने वाला।

उजुयाळौ–सं०पु० [स्त्री० उजुयाळी] १ रोशनी, प्रकाश, उजाला. २ चांदनी। उ०—ऊजळ आदरसणि निसि **उजुयाळी**, घणूं किसूं वाखांणु घणै।—वेलि.

उजूर–सं०पु०—देखो 'उज्र'।

उजूवा–सं०पु० [अ० अजूवा] चमकदार छींटों वाला बैंगनी रंग का एक पत्थर।

उजेड़–वि०—बिगाड़ने वाला। उ०—एकलौ मुज्ज जांणै उजेड़, चढ़ आयौ खीची करै चेड़।—पा.प्र.

उजेड़णौ, उजेड़बौ—देखो 'उजाड़णौ'।

उजेड़ियोड़ौ–भू०का०कृ०—उजाड़ा हुआ (स्त्री० उजेड़ियोड़ी)

उजेणी–सं०स्त्री० [सं० उज्जयिनी] उज्जैन नगर का प्राचीन नाम। देखो—'उज्जयिनी'।

उजेर, उजेरा, उजेरौ–सं०पु०—उजाला, प्रकाश।

वि०—प्रकाशयुक्त।

उजेळणौ, उजेळबौ–क्रि०स०—देखो 'उजाळणौ'।

उजेळियोड़ौ–भू०का०कृ०—उज्ज्वल किया हुआ, चमकाया हुआ। (स्त्री० उजेळियोड़ी)

उजेळौ–सं०पु० [सं० उज्ज्वल] प्रकाश, चाँदनी।

उजैणी–सं०स्त्री० [सं० उज्जयिनी] उज्जैन का प्राचीन नाम। देखो 'उज्जयिनी'

उजौ–सं०पु०—हिम्मत, साहस।

वि०—शक्तिशाली।

उजोत–सं०पु०—प्रकाश।

वि०—उज्ज्वल (ल.पि.)

उज्जइणी, उज्जइणीपुर, उज्जयिनी–सं०स्त्री०—मालवा की प्राचीन राजधानी जो क्षिप्रा नदी के तट पर है (इसकी गणना सप्त पुरियों के अंतर्गत की जाती है (वं.भा.)

उज्जरौ–सं०पु०—एक जाति विशेष का घोड़ा। उ०—छत्रीस वरण तणा घोड़ा, किस्या-किस्या घोड़ा—**उज्जरा**, गहरा, कारा, तोरका, भारिजा। —कां.दे.प्र.

उज्जळ–क्रि०वि०—बहाव से उल्टी ओर, नदी के चढ़ाव की ओर।

वि०—१ उज्ज्वल, सफेद, उजला, दीप्तिमान। उ०—**उज्जळ** दंता घोटड़ा, करहइ चढ़ियउ जाहि। तंइ घर मुंघ कि नेहवी, जे कारणि मी खाहि।—ढो.मा. [सं० उज्ज्वल] २ निर्मल, स्वच्छ. ३ पवित्र, शुद्ध।

सं०पु०—शुक्ल पक्ष। उ०—सतरै संमत त्रिहोतरै, **उज्जळ** त्रीज प्रकास।—रा.रू.

उज्जळता–सं०स्त्री० [सं० उज्ज्वलता] १ कांति, दीप्ति, चमक. २ सफेदी. ३ स्वच्छता, निर्मलता।

उज्जळौ–वि० [सं० उज्ज्वल] (स्त्री० उज्जळी) उज्ज्वल, गौर वर्ण।

उ०—मारुवणी मुहवरन आदित्ता हूं **उज्जळौ**।—ढो.मा.

उज्जीण, उज्जेण, उज्जैण, उज्जैणि, उज्जैणी, उज्जैन, उज्जैनी–सं०स्त्री०—देखो 'उज्जयिनी' (वं.भा.)

उज्झड़–वि०—१ झक्की. २ मनमौजी. ३ उद्धत, मूर्ख।

उज्झेल, उज्झेलत–सं०स्त्री०—तरंग लहर। उ०—तिलां तेल पोहप फुलेल, **उज्झेलत** सायर। अगनि काठ जोवन्न घट्ट, भगवट्ट सु कायर। —ह.र.

२ चमक, दमक। उ०—घण माळ जिसी वण फौज घटा, छिव सेल **उज्झेळ** सिळाव छटा।—क.कु.बो.

उज्यागर–वि०—देखो 'उजागर'। उ०—**उज्यागर** भाल खग करगहर आभरण, 'अमर' अकबर तणी फौज आयी। —पदमां सांदू

उज्यास–सं०पु०—देखो 'उजास'।

उज्र–सं०पु०—देखो 'उजर'। उ०—**उज्र** हो जावै वो ग्राहक गुजरगी। —गणेस पुरी.

उज्रदारी–सं०स्त्री०—देखो 'उजरदारी'।

उज्वळ–वि०—देखो 'उजळ'।

उज्वळण–सं०पु०—१ प्रकाश, दीप्ति. २ जलना, ज्वाला का ऊर्ध्वगमन. ३ स्वच्छ करने का कार्य।

उजां–सं०पु०—साहस, हिम्मत, पुरुषार्थ।
वि०—साहसी, शक्तिशाली। उ०—उजां बहादुर नर अडर, सांम धरम दिल साफ।—चिमनदांन रतनूं

उजागर–वि० [सं० उज्जार] १ प्रकाशित, जगमगाता हुआ। उ०—रूप के उजागर मनोज मन मोहियत—शि.वं. २ प्रसिद्ध, विख्यात। उ०—थांन उजागर थापियौ, नाजर दौलतरांम।—रा.रू. ३ उज्ज्वल करने वाला, अपने नांम या वंश को प्रसिद्ध करने वाला। उ०—आयस पाय अवधपत आळौ, गौ लंका कपि वंस उजागर।—र.रू.
४ समर्थ, शक्तिशाली। उ०—कळजुग रै कीच कळै रथ कीरत, नारा दत वळ थाका नर। 'देसल' भूप दूसरा 'देसल', धमळ उजागर भाल धुर।—क.कु.बो.
वि०—उदार। उ०—सांमां भूप गुणां वुधसागर, मौज उजागर मेर मन। अचरज क्यूं रहिया गुण एता, अण साढ़ा कर भूप तन।
—क.कु.बो.
६ अद्भुत। उ०—एहवी उजागर पुरी एह, इक्ष्वाक वंस वाधै अछेह।—रांमरासौ
सं०पु०—१ प्रकाश। उ०—मांणक कण हीर अमीर मोकळा। जरद नील मण जुवा जुवा। अवर न तूझ सरीखौ 'ऊदा', देस उजागर 'जगा' दुवा।—अज्ञात. २ सूर्य (नां.मा.)

उजाड़–सं०पु०—१ उजड़ा हुआ स्थान, निर्जन, वीरान। उ०—नग्री सोनमेनी पछै गांम नांही। महा कासटा घोर उजाड़ मांही।—मे.म.
२ नुकसान, हानि (द.दा.)
वि०—१ ऊसर. २ निर्जन, वीरान. ३ ध्वस्त, गिरा-पड़ा, नष्ट-भ्रष्ट, बरबाद। उ०—उण दिनां में कछवाहा अर लाडखानी नागौर नूं उजाड़ करै।—राठौड़ अमरसिंह री वात

उजाड़णौ, उजाड़बौ–क्रि०स०—१ वीरान करना, जनशून्य करना. उ०—नें इम करड़ी तांण अंतक लोक उजाड़ियौ।—बां.दा.
२ ध्वस्त करना, नष्ट करना। उ०—जे थे रांम भवन सूं काढ़ सौ, तौ थे आणंद अवध उजाड़सौ।—गी.रां. ३ विगाड़ना, चौपट करना. ४ तितर-बितर करना. ५ उधेड़ना।
उजाड़णहार, हारौ (हारी), उजाड़णियौ–वि०—उजाड़ने वाला।
उजाड़िओड़ौ, उजाड़ियोड़ौ, उजाड़्योड़ौ–भू०का०कृ०।

उजाड़पण, उजाड़पणौ–सं०पु०—उजाड़, बियाबान, वीरान, बिना रास्ते।

उजाड़ियोड़ौ–भू०का०कृ०—उजाड़ा हुआ. (स्त्री० उजाड़ियोड़ी)

उजाथर–वि०—१ उजागर, प्रकाशमान. २ प्रसिद्ध. ३. वीर, बहादुर। उ०—चढ़िया हरि सुणि संकरखण चढिया, कटकबंध नह घण किध। एक उजाथर कळहि एहवा, साथी सहु आखाड़मिध।
—वेलि.
सं०स्त्री०—१ तलवार।
सं०पु०—२ भार, बोझा ३ संकट।

उजार–सं०स्त्री०—१ मऊ शहर के पास बहने वाली एक नदी (नैणसी) [सं० उज्ज्वल] २ प्रकाश, रोशनी (ह.नां.)

उजारौ–सं०पु० [सं० उज्ज्वल] उजाला, प्रकाश, रोशनी।
उ०—मधकर दयाळ का सौ साह भै न धारे, अंधकार ज्यूं जात जैरे भांण के उजारे।—रा.रू.

उजाळ–सं०पु०—१ उजाला या उज्ज्वल करने की क्रिया या भाव।
उ०—अखई अभंग जोधां उजाळ। जोधहर अवर रिण खळां ज्वाळ।
—रा.रू.
२ कीर्ति बढ़ाने वाला (ल.पिं.) ३ प्रकाशमान, प्रकाश, रोशनी। उ०—वडाळ भुजाळ उजाळ विसन्न।—ह.र. ४ चरितार्थ.
५ हंस (अ.मा.)

उजाळउ–सं०पु०—प्रकाश। उ०—चउथ अंधारी (दि) नई मंगळवार, चंद उजाळउ घरि घरि वारि।—वी.दे.

उजाळक–वि०—उज्ज्वल करने वाला।

उजाळणौ–वि०—उज्ज्वल करने वाला। उ०—आहव सूरां आगळा, सुरतांणी हटमल्ल। महियव रीत उजाळणा, अमर तणा पीथल्ल।
—रा.रू.

उजाळणौ, उजाळबौ–क्रि०स० [सं० उज्ज्वलन] १ उज्ज्वल करना, चमकाना। उ०—ऊंची रीत उजाळणौ, खीची सुंदरदास।—रा.रू.
२ प्रकाशित करना, जलाना. ३ नमकहलाल होना. ४ यश कमाना, कीर्तिवान करना।
उजाळणहार, हारौ (हारी), उजाळणियौ—उज्ज्वल करने वाला।
उजाळिओड़ौ, उजाळियोड़ौ, उजाळयोड़ौ—भू०का०कृ०—उज्ज्वल करने वाला।

उजाळदांन–सं०पु०—रोशनदान।

उजाळियौ, उजाळियोड़ौ–भू०का०कृ०—१ उज्ज्वल किया हुआ।
२ प्रकाशित. ३ चमकाया हुआ। (स्त्री० उजाळियोड़ी)

उजाळी–सं०स्त्री०—घोड़े के आंखों पर डाली जाने वाली जाली।
वि०—१ प्रकाशमान. २ शुक्ल पक्ष का, शुक्ल पक्ष संबंधी।
उ०—बीज उजाळी कारतिक, अड़तीसै कुज वार। अचळ कथा राखी 'अजै', साखी कियौ संसार।—रा.रू.

उजाळौ–सं०पु०—१ रोशनी, प्रकाश, उजाला. २ अपने कुल और जाति में सर्वश्रेष्ठ व्यक्ति. ३ एक प्रकार का घोड़ा (शा.हो.)
वि०—उज्ज्वल करने वाला, प्रकाशमान।

उजाळोपख–सं०पु०—शुक्ल पक्ष।

उजास–सं०पु०—१ प्रकाश, रोशनी (यौ० उजासपख)
उ०—बरस तयाळै चैत सुद पूनम परम उजास।—रा.रू.
२ कांति, दीप्ति (ह.नां.) ३ किरण (अ.मा.) ४ हंस (अ.मा.)
५ तेज (अ.मा.)

उजासड़ो, उजासड़ौ–सं०पु०—प्रकाश, रोशनी (अल्पा०)
उ०—मारू तू तौ मोहणी, सह सिणगार सपूर। महिलां मांहि उजासड़ो, जांण क ऊगौ सूर।—ढो.मा.

उठांण—सं०स्त्री० [सं० उत्थान] १ उठाना, उठने की क्रिया. २ बाढ़, बढ़ने का ढंग, वृद्धि. ३ गति की आरंभिक दशा. ४ आरम्भ. ५ खर्च, व्यय।

उठांणी—सं०पु०—मृत्यु के हेतु शांति के लिए किया जाने वाला एक संस्कार विशेष।

उठांतरी—सं०स्त्री०—१ उठाने की क्रिया का भाव. २ मौकूफ, खारिज, विसर्जित. ३ नाश. [सं० उत्थान्तरम्] ४ किसी जागीरदार की भूमि को राज्य द्वारा जब्त कर लिये जाने पर उस जागीरदार का प्रयत्न करके उस भूमि को वापस अपने अधिकार में लेने का तथा खालसा के आये हुए कर्मचारियों को हटाने के हेतु प्राप्त की हुई राजाज्ञा।

उठांमणी, उठांवणी—सं०स्त्री०—देखो 'उठावणी'।

उठाईगीर, उठाईगीरौ—वि०—आंख बचा कर चीजों को चुराने वाला, उचक्का, बदमाश, लुच्चा, ठग।

उठाउं—क्रि०वि०—वहाँ से, उधर से, उस ओर से।

उठाउ—वि०—उठाने वाला, उचक्का।

उठा—क्रि०वि०—उधर, वहाँ।

उठाक—वि०—१ उठाने वाला।

सं०पु०—शीघ्रतापूर्वक उठाने की क्रिया का भाव।

उठाड़णी, उठाड़बौ—क्रि०स० [सं० उत्थापनम्] १ उठाना। देखो 'उठाणी, उठावौ'। २ जोश दिलाना. ३ जीवित करना।

उठाड़णहार, हारौ (हारी), उठाड़णियौ—वि०—उठाने वाला।

उठाड़िओड़ौ, उठाड़ियोड़ौ, उठाड़्योड़ौ—भू०का०कृ०।

उठाड़ियोड़ौ—भू०का०कृ०—उठाया हुआ, जोश दिलाया हुआ। (स्त्री० उठाड़ियोड़ी)

उठाणौ, उठाबौ—क्रि०स०—१ उठाना, खड़ा करना, खड़ी स्थिति में करना. २ नीचे से ऊपर करना। उ०—सर धनुख उठाया धणी धाया रघुबर।—गी.रां. ३ धारण करना, शिरोधार्य करना. ४ जगाना, सचेत या सावधान करना. ५ निकालना. ६ कुछ समय तक ऊपर ताने या लिये रहना. ७ उत्पन्न करना.

उ०—तरह-तरह री बात मन में उठावै छै, भांजै छै।

—सूरे खींवे री बात

८ बढ़ाना, उन्नत कर आगे बढ़ाना. ९ चढ़ाना. १० आरम्भ करना. ११ तैयार करना, उद्यत करना. १२ (इमारत) बनाने के लिये उत्तेजित या उत्साहित करना. १३ नियमित समय पर किसी दूकान या कार्यालय का बंद करना. १४ समाप्त करना, खतम करना, बंद करना. १५ दूर करना (किसी प्रथा या रीति आदि का उठाना). १६ खर्च करना, लगाना. १७ भाड़े या किराये पर देना. १८ भोग करना. १९ अनुभव करना. २० (गंगाजल या कोई पुस्तक आदि) किसी वस्तु को हाथ में लेकर शपथ करना। उ०—तद मुरादसाह मुस खोल कर दिल्ली आया, कुरांन उठायौ, आंण सांमळ हुवा।—पदमसिंह री बात

२१ उधार देना. २२ लगान पर (खेत आदि) देना. २३ जिम्मेदारी लेना. २४ सहना, बर्दाश्त करना. २५ स्वीकार करना. २६ प्राप्त करना. २७ खोलना (दरवाजा) उ०—दक्खिण रै द्वारपाळ महामूद सलख रा पत्र सुणतां ही अरर उठाय माहि लीधा।

—वं.भा.

उठाणहार, हारौ (हारी), उठाणियौ—उठाने वाला।

उठणौ, उठबौ—अ.रू.।

उठावणौ, उठावबौ—रू.भे.।

उठाओड़ौ, उठायोड़ौ—भू०का०कृ०।

उठाव—सं०पु०—१ देखो 'उठाण' २ मिहराब के पाट के मध्य बिंदु और झुकाव के मध्य बिंदु का अंतर।

उठावण—देखो 'उठावणी'।

उठावणी—सं०स्त्री०—१ जोश में तेजी के साथ लपकने की क्रिया, आक्रमण, हमला। उ०—म्हें सारा जाय दोळा फिरिया सौ तिण में मुअरां इसी उठावणी कर आय भिळिया सो बंदूक तीर किंह रौ वहणे नहीं दियौ।—डाढ़ाळा सूर री बात.

उठावणौ—सं०पु०—१ मृत्यु के पश्चात शांति हेतु किया जाने वाला एक संस्कार विशेष. २ अंतिम संस्कार के बारहवें दिन में बिछाई जाने वाली बिछायत (जिस पर श्रद्धांजलि हेतु विभिन्न आने वाले लोग बैठते हैं) को १२ दिन बाद उठाना।

उठावणौ, उठावबौ—क्रि०—देखो 'उठाणौ'।

उठावणहार, हारौ (हारी), उठावणियौ—वि०—उठाने वाला।

उठाणौ, उठाबौ—रू.भे.।

उठाविओड़ौ, उठावियोड़ौ, उठाव्योड़ौ—भू०का०कृ०।

उठावियोड़ौ—भू०का०कृ०—उठाया हुआ। (स्त्री० उठावियोड़ी)

उठावौ—वि०—१ जिसका कोई स्थान नियत न हो. २ जो उठाया जाता हो।

उठी—क्रि०वि०—उस तरफ, उस ओर, वहाँ।

उठे—क्रि०वि०—उधर, वहाँ, उस तरफ।

कहा०—१ उठे कियौ नानांणौ हो—वहाँ क्या ननिहाल था? किसी ऐसे स्थान में जाने पर जहां पर सभ्यता एवं शिष्टता का ध्यान रखते हुए आचरण करना पड़े. २ उठे कियौ परसाद बंटतौ हौ—वहाँ क्या प्रसाद बँट रहा था? बिना लाभ के उद्देश्य से कहीं जाने पर।

उठेल—सं०पु०—फेंकने की क्रिया या भाव। उ०—समासम पेल धमाधम सेल, अनातम आतम ठेल उठेल।—रा.रू.

उठै—क्रि०वि०—वहाँ, उस ओर। उ०—उठै झाड़ कंटीर पाहाड़ ऐंडा। वणै मंथरां हालणां पंथ बैंडा।—म.मे.

उडंकू—वि०—१ जो उड़ सके, उड़ने वाला. २ चलने-फिरने वाला, डोलने वाला।

उज्वळता–सं०स्त्री०—देखो 'उजळता'।

उज्वळा–वि०स्त्री०—निर्मल, शुभ्र, उज्ज्वल।

उज्वाळणौ, उज्वाळबौ—देखो 'उजवाळणौ'।

उज्वाळियोड़ौ–भू०का०कृ०—देखो 'उजवाळियोड़ो'।

उझकणौ, उझकबौ–क्रि०अ०—१ उचकना, उछलना, कूदना. २ ऊपर उठना, उभड़ना. ३ चौंकना, चमकना। उ०—उर आसुर तायां सबद अभायां। उझकै पायां असुहायां।—रा.रू.

उझकणहार, हारौ (हारी), उझकणियौ–वि०—उचकने वाला, उभड़ने वाला, चौंकने वाला।

उझकिओड़ौ, उझकियोड़ौ, उझक्योड़ौ—भू०का०कृ०।

उझकियोड़ौ–भू०का०कृ०—१ उचका हुआ. २ ऊपर उठा हुआ. ३ चौंका हुआ। (स्त्री० उझकियोड़ी)

उझक्कणौ, उझक्कबौ–क्रि०अ०—देखो 'उझकणौ, उझकबौ'। उ०—काय उझक्कै के कटै झरि पाय झभक्कै।—वं.भा.

उझड़–वि०—१ उजाड़, निर्जन, वीरान. २ विना मार्ग, राहरहित। (रू.भे. उजड़)

उझड़णौ, उझड़बौ–क्रि०अ०—देखो 'उजड़णौ'।

उझड़ियोड़ौ–भू०का०कृ०—देखो 'उजड़ियोड़ौ'

उझटैल–वि० [सं० उद्भट] योद्धा, वीर। उ०—गैण उचीश्रवा भांण खंचायौ थटैल गीधां वंका रु जटैल पाठ बचायौ वीरांण। उझटैल पटा काळौ नचायौ चामंडा आळौ। पटैल वरूथां मारू मचायौ पीठांण।—हुकमीचंद खिड़ियौ

उझणौ–सं०पु० [सं० उपढौकन, अप० उवढ़ौयन] दहेज। उ०—आंणौ करी तद सांवतसी घणौ ही विचारियौ पिण बात बंधकाई बैसै नहीं। कुमरी नै उझणौ दे मेलीजे।—ढो.मा.

उझवक–सं०पु०—देखो 'उजवक'।

उझमणौ–सं०पु०—देखो 'उजमणौ'।

उझळ–सं०स्त्री०—देखो 'उझेळ'। (रू.भे. उज्झेल)

उझळणौ, उझळबौ–क्रि०अ०—१ छलकना, पानी का किनारों के ऊपर होकर बहना। उ०—सेन थाट चलै हमेसां उझळै जांणे सात सिंधू।—गिरवरदांन कवियौ

२ छिछोरापन करना. ३ आवेग में आना। उ०—ना उझळणं जोग, बाळका नृत कर खेलै। हिवड़ै सेवै चोट, कदे ना पाछी मेलै।—दसदेव

४ हद से अधिक होना, मर्यादा के बाहर होना। उ०—उझळियौ इनीयाव सुजळ इळ ऊपर, एकौ उदम फिरै नह आज। 'उदा' राव निभावौ आचां, जस जोड़ां वाळी हव ज्याज।—अज्ञात

५ पति को छोड़ कर अन्य पुरुष के साथ चले जाना।

मि० 'उघळणौ'।

उझळणहार, हारौ (हारी), उझळणियौ–वि०।

उझळिओड़ौ, उझळियोड़ौ, उझळ्योड़ौ—भू०का०कृ०।

उझळियोड़ौ–भू०का०कृ०—१ छलका हुआ. २ आवेग में आया हुआ. (स्त्री० उझळियोड़ी)

उझळौ–वि०—देखो 'उजळौ'।

उझळळ–सं०स्त्री०—तरंग, लहर।

उझवणौ, उझवबौ–क्रि०स०—देखो 'उजमणौ, उजमबौ'।

उझांकणौ, उझांकबौ–क्रि०स०—झांकना, ऊपर से झांकना, ऊपर सिर उठा कर देखना।

उझांकियोड़ौ–भू०का०कृ०—झांका हुआ। (स्त्री० उझांकियोड़ी)

उझाखौ, उझाखौ–सं०पु०—उजाला, प्रकाश। उ०—नळ जद निरखी मारवी, जांणै वियौ मयंक। उझाखौ आनीर अळि, कोई नहीं कळंक।—ढो.मा.

उझाळ–सं०स्त्री० [सं० ज्वाला] ज्वाला, आग की लपट।

उझाळणौ, उझाळबौ–क्रि०स०—बहाना, छलकाना। उ०—मेघ अवेखत पांण चखां तूं नीर उझाळे। देख पराई पीड़ मयाळू हिया पिघाळे।—मेघ०

उझेल, उझेल–सं०स्त्री० [सं० उत+हेलनम्=उद्धेलनम्=उझेल] तरंग, लहर। उ०—दानां री उझेळ वीक भोज ओळं जाय दुरै, वसू सिंध कानां री कीरती हुई वाद।—चैनजी

वि०—१ अपार, अधिक। उ०—१ काकै कुंभवालै वैर काजा, सक्र-जीत उझेळ साजा। कियण गौ खळ कुंभ काजा, जाग ताजा जोस।—र.रू.

उ०—२ चका वूह कूटै चढै, उडै सेल उझेळ। वीर फफूंडै वीस विध, खेंग हडूडै खेल।—क.कु.वो.

क्रि०वि०—पूर्ण जोश से। उ०—प्रहार सेल पिंजरै उझेळ खेंग पेलणी। सिल्लाव वेंग जांण मेघ दांमणी सकेलणी।—रा.रू.

उझोळ–सं०स्त्री०—उछलने की क्रिया या भाव। उ०—वीजळ-मीट उझोळ पळकतौ जुगनू जांणै, इतरौ खीण उजास मेघला मौ घर आंणै।—मेघ०

उटज–सं०स्त्री० [सं०] कुटिया, झोंपड़ी, पर्णकुटी।

उटड्या–सं०पु०—देखो 'ऊंटड़ौ'।

उटपटांग—देखो 'ऊटपटांग'।

उठंग–सं०पु० [सं० उत्तंभ] तकिया (अ.मा.)

उठंतरी—देखो 'उठांतरी'।

उठ–सं०पु० [सं० उष्ट्र] देखो 'ऊंट'। उ०—ताहरां साहूकार हूआ वडौ लवेस करि याहेरंस करि वहिल उठ त्यार करि।—चौवोली

उठणौ, उठबौ–क्रि०अ० [सं० उत्थान] देखो 'ऊठणौ'।

उठल्लू–वि०—१ ऐक स्थान पर न रहने वाला. २ आवारा. ३ बेठौर-ठिकाने का।

उठवाणौ, उठवावौ–क्रि०स० (प्रे.रू.)—किसी से उठाने का काम कराना।

उठवायोड़ौ–भू०का०कृ०—उठवाया हुआ। (स्त्री० उठवायोड़ी)

उडाणय–वि०—उड़ते हुए। उ०—असंख जात पंखि वांण वेधजे उडाणयं।—रा.रू.

उडाणी, उडावौ–क्रि०स०—१ किसी उड़ने वाली वस्तु या पक्षी आदि को उड़ने में प्रवृत्त करना. २ वायु में ऊँचा उठाना. ३ हवा में छितराना या फैलाना. ४ झटके के साथ अलग करना, काट कर अलग फेंकना। उ०—सत्रु री निर तौं चाचक उडायौ।—वं.भा. ५ हटाना, दूर करना. ६ गायब करना, चुराना. ७ हजम करना. ८ खाने-पीने की वस्तुओं को खूब खाना-पीना, भोग्य वस्तु को खूब भोगना, आमोद-प्रमोद की वस्तु का व्यवहार करना. ९ मारना, प्रहार करना. १० नष्ट या खर्च करना, बरबाद करना. ११ बात टालना, बातों में बहलाना. १२ चकमा देना, धोखा देना. १३ झूठ ही दोष लगाना. १४ निंदा करना, बुराई फैलाना. १५ वेग से दौड़ाना। उ०—अर केही वार वाजी नूं अठीरौ उठी उडाय बीच दीधौ।—वं.भा. १६ किसी विद्या या कला का उसके शिक्षक या आचार्य के न जानने पर सीख लेना. १७ गिराना, पटकना। उ०—इण रीति दौ ही गजां आप आपरा कलावां सूं आधोरणा नूं उडाय रोस में अंध होय समीप आवतां हीं लोयण मिळाया।—वं.भा. १८ नाश करना, ध्वंश करना। उ०—अस खुरताळां गिरंद उडावे। सिवू दाटण करज मही।—क.कु.बो.

उडाणहार, हारौ (हारी), उडाणियौ–वि०—उड़ाने वाला।

उडणौ, उडवौ–अ०रू०। **उडावणौ, उडाववौ**—रू०भे०।

उडायोड़ौ—भू०का०कृ०। **उडीजणौ, उडीजवौ**—भाव वा०।

उडायण–क्रि०वि०—द्रुत गति से घोड़े को दौड़ाना, घोड़े को हवा से बातें कराना।

उडायोड़ौ–भू०का०कृ०—उड़ाया हुआ। (स्त्री० उडायोड़ी)
कहा०—आं री उडायोड़ी चिड़यां रूंखां पर ही को बैठे नी—इनकी उड़ाई हुई चिड़ियां पेड़ों पर नहीं बैठतीं, (आकाश में ही उड़ती रहती हैं, या उनमें पेड़ों पर बैठने की सामर्थ्य नहीं क्योंकि असली नहीं होतीं) इनकी बड़ी बड़ी बातें कभी पूरी नहीं होतीं; ये कोरी बड़ी-बड़ी बातें बनाते हैं, उन्हें पूरी नहीं करते, अतः इनके कथन का भरोसा मत करो।

उडाळणौ, उडाळवौ–क्रि०स०—१ देखो 'उडेलणौ'। २ (कपाट) बंद करना।

उडाळणहार, हारौ (हारी), उडाळणियौ–वि०—उडेलने वाला या (कपाट आदि) बंद करने वाला।

उडाळिओड़ौ, उडाळियोड़ौ, उडाळयोड़ौ—भू०का०कृ०।

उडाळियोड़ौ–भू०का०कृ०—उडेला हुआ, कपाट आदि बंद किया हुआ। (स्त्री० उडाळियोड़ी)

उडावणौ, उडाववौ–क्रि०स०—देखो 'उडाणौ'।

उडावणहार, हारौ (हारी), उडावणियौ–(स्त्री० उडावणी) वि०—उड़ाने वाला।

उडाविओड़ौ, उडावियोड़ौ, उडाव्योड़ौ—भू०का०कृ०।

उडावियोड़ौ–भू०का०कृ०—उड़ाया हुआ। (स्त्री० उडावियोड़ी)

उडि–सं०पु०—१ पक्षी। उ०—उडि वेध अकास हुवै उड़ता, छिक जाय लुलाय पखाळ छता।—मे.म. २ देखो 'उडी'।

उडियण–सं०पु० [सं० उडुगण] तारे, नक्षत्र। उ०—पतिसाह सेन दीवी परिक्ख, उडियण किरि आवइ अंतरिक्ख।—रा.ज.सी.

उडियांण–सं०पु०—१ आकाश, आसमान। उ०—१ देवी थांण उडियांण समसांण ठांमै।—देवि० २ ओढ़ने का वस्त्र। उ०—२ कट उडियांण लियां डमरू कर भांग धतूरा भोगी, अरक फूल जळ धोम उपासू, जय जय संकर जोगी।—क.कु.बो.

उडियोड़ौ–भू०का०कृ०—उड़ा हुआ। (स्त्री० उडियोड़ी)
कहा०—उडियोड़ी आबरू पाछी नहीं आवै—एक बार प्रतिष्ठा चली जाने पर वापस उसे प्राप्त करना बहुत कठिन है।

उडी–सं०स्त्री०—आकाश में उड़ने वाली, धूलि, रज। उ०—कड़ी वागतां वरम्मां पीठ पनागां ऊधड़ी केत, मागां काळ धड़ी देत पैंडा आसमेद। छड़ालां अभागां लागां उडी आसमांन छायौ, ऊपड़ी त्राजंदां वागां यूं आयौ उमेद।—हुकमीचंद खिड़ियौ

उडीक–सं०स्त्री० [सं० उत्+ईक्षा=उदीक्षा] १ चिंता. २ इंतजार, प्रतीक्षा। उ०—सरव्वत चमूं जुरे परव्वतं सरं परे। उडीक मांनके पती, चढ्यौ न क्यों जगत्पती।—ला.रा. ३ पूर्व और आग्नेय के मध्य की दिशा जो सूर्योदय के समय ही इस नाम से पुकारी जाती है।

उडीकणौ, उडीकवौ–क्रि०स० [सं० उदीक्षण] प्रतीक्षा करना, राह देखना। उ०—१ पिवजी बैठा ऐ माळवे, कोई घरां ऐ उडीके नार, मारूजी घर आवौ।—रा.लो.गी.
उ०—२ अबब उडीके जी मोरयां ज्यूं मेह नै।—गी.रां.

उडीकणहार, हारौ (हारी), उडीकणियौ—प्रतीक्षा करने वाला।

उडीकियोड़ौ—भू०का०कृ०।

उडीकाणौ, उडीकावौ, उडीकावणौ, उडीकाववौ—स०रू०।

उडीकाणौ, उडीकावौ, उडीकावणौ, उडीकाववौ–क्रि०स० (प्रे.रू.)—प्रतीक्षा कराना।

उडीकियोड़ौ–भू०का०कृ०—१ प्रतीक्षा किया हुआ. २ प्रतीक्षित। (स्त्री० उडीकियोड़ी)

उडीनै–क्रि०वि०—वहाँ।

उडीयंद–सं०पु०—चंद्रमा (रा.रा.)

उडीयण–सं०पु०—तारे, नक्षत्र (रू.भे. उडियण) उ०—राजति राजकुंअरि राय अंगण, उडीयण बीरज अंब हरि।—वेलि.

उडीसौ–सं०पु०—भारत का पूर्व में बिहार के दक्षिण में स्थित एक प्रांत, उत्कल।

उडु–सं०पु० [सं०] १ तारा, नक्षत्र (मि० उडू) २ पक्षी। [सं० उदक] ३ जल, पानी (मि० उडुप २)

उडंग, उडंड–सं०पु०—घोड़ा (डिं.को.)

वि० [सं० अदंड्य] १ अदंड्य. २ जबरदस्त ।

उडंडांणी–सं०पु०—घोड़ा । उ०—पांणी पंथा काठीयांणी **उडंडांणी** चाक पींडा 'अड़सांणी' धार कीन्हा करांणी आरोह ।

—महादांन महड़ू

उडंत–सं०पु०—कुश्ती का एक पेंच विशेष ।

वि०—उड़ता हुआ ।

उडंबर–सं०पु० [सं० उदुंबर] गूलर ।

उडंबरी–सं०स्त्री० [सं० उडुम्बर] एक प्रकार का तार वाला बाजा ।

उड–सं०पु० [सं० उड्डु] तारा, नक्षत्र (अ.मा.)

उडगण, उडगन, उडगांण–सं०पु०—१ नक्षत्रगण, तारागण (डिं.को., ह.नां.)

उडगौ–वि०—उचक्का ।

उडण–सं०स्त्री०—उड़ने की क्रिया । उ०—अह **उडण** लेवाक अहाड़ौ ।

वि०—उड़ने वाला । —अज्ञात

उडणखटोलड़ौ, उडणखटोलणी, उडणखटोलौ–सं०पु०—उड़ने वाला खटोला, विमान । उ०—उठै एक रोही हंती तठै रोही मांहे एक सुथार घरवासीदार रहै सु **उडणखटोलणी** रौ हुनर जांणै ।

—चौबोली

उडणछू–वि०—चंपत, गायब ।

उडणौ–सं०पु०—एक प्रकार का घोड़ा (शा.हो.)

उडणौ, उडबौ–क्रि०अ० [सं० उड्डयन] १ वायु में होकर चिड़िया आदि पक्षियों का एक स्थान से दूसरे स्थान को जाना ।

कहा०—१ उड़ी'र फुर्र—उड़ी और फर्र; गप्प हाँकना; उड़ती बात कहना । २ उड़ो ऐ चिड़ियां सांवण आयौ—अब तो उड़ो चिड़ियों क्योंकि सावन आ गया है । अनुकूल परिस्थिति होने पर कही जाती है ।

२ वायु में ऊपर अकाश में उठना. ३ वायु में फैलना, छितराना. ४ फहराना, फरफराना. ५ इधर-उधर हो जाना. ६ तेज चलना, भागना. ७ झटके के साथ अलग होना, कट कर दूर जा पड़ना । (रू.भे. 'ऊडणौ') उ०—हौकरै विचै हेकल वापू कारै पासां वेली सिरीहथां वाहै सार **उडै** सतां अंग ।—जगौ सांदू । ८ उधड़ना. ९ अलग या पृथक होना. १० गायब होना, खो जाना ।

उ०—चुगल अपूरव चीज है, जिणनूं लीधौ जांण । अवरां कांने लागही, **उडही** अवरां प्रांण ।—बां.दा. ११ खर्च होना.

१२ भोग्य वस्तु का भोगा जाना, आमोद-प्रमोद की वस्तु का प्रयोग या व्यवहार होना. १३ रंग आदि का फीका पड़ना, धीमा पड़ना. १४ मार पड़ना, शस्त्र-प्रहार होना । उ०—घणी लोह **उडियौ** राठोड़ नीठ पड़ियौ ।—अमरसिंह री वात. १५ लगना.

१६ बातों में बहलाना, भुलावा देना, धोखा या चकमा देना.

१७ फलांग मारना, कूदना. १८ बारूद द्वारा मकान आदि का गिरना ।

उडणहार, हारौ (हारी), उडणियौ–वि०—उड़ने वाला ।

उडाणौ, उडाबौ—स०रू० ।

उडावणौ, उडावबौ—स०रू० ।

उडिओड़ौ, उडियोड़ौ, उड्योड़ौ—भू०का०कृ० ।

वि०—उड़ने वाला । उ०—रांणा रायमल री बेटौ प्रथीराज **उडणौ** कहांणौ ।—बां.दा.ख्या.

उडती बैठक–सं०स्त्री०—बैठने का एक भेद जिसमें दोनों पांवों को समेट कर उठते-बैठते हुए आगे बढ़ना या पीछे हटना ।

उडप–सं०पु०—१ नृत्य का एक भेद. २ नक्षत्रेश, चंद्र. ३ आकाश, नभ (ह.नां.)

सं०स्त्री० [सं० उडुप] ४ नौका, नाव ।

उ०—धोवै नीर **उडप** पग धरजै, रज सिल उठी किसूं वनदार ।

—र.रू.

उडपत, उडपति, उडपती–सं०पु० [सं० उडुपति] चंद्रमा, शशि ।

(ह.नां., अ.मा.)

उडपथ–सं०पु०—आकाश, व्योम (डिं.को.)

उडमाळ–सं०पु०—तारे, सितारे, उडुगण ।

उडराज–सं०पु०—चंद्रमा (अ.मा.)

उडळभरि, उडळभरी–सं०पु०—हाथी । उ०—**उडळभरि** पूजविया अंबर, भीम पहलका तणी भत ।—मालौ सांदू

उडली–सं०स्त्री०—देखो 'उडेल' ।

उडव–सं०पु० [सं० ओडव] रागों की एक जाति, वह राग जिसमें पांच स्वर लगें और कोई दो स्वर न लगें ।

उडांण, उडांन–सं०स्त्री० [सं० उड्डयन] १ उड़ने की क्रिया या भाव । उ०—सखी भरोसौ नाह रौ, सूनौ सदन म जांण । फूल सुगंधी फौज में, आसी भंवर **उडांण** ।—वी.स. २ छलांग, कुदान ।

३ एक दौड़ में तय की जाने वाली दूरी. ४ कवि तर्क ।

उडांणसी–सं०पु०—एक प्रकार का घोड़ा (शा.हो.)

उडाऊ–वि०—१ उड़ने वाला. २ उड़ाने वाला. ३ अधिक व व्यर्थ व्यय करने वाला, अपव्ययी ।

उडाक–वि०—१ उड़ने में निपुण, उड़ने वाला. २ देखो 'उडाऊ' ।

उडाड़णौ, उडाड़बौ–क्रि०स०—१ उड़ाना । देखो 'उडाणौ' ।

२ भगाना । उ०—उर कोप आंणे अप्रमांणे सिद्ध जांणे सद्दयं । आपै अखाड़ै गैं **उडाड़ै** रूक झाड़ै रद्दयं ।—रा.रू.

३ संहार करना, काटना । उ०—खिति पड़िओ मोटौ खित्री, आधौ दळ **उडाड़ि** ।—वचनिका

४ ध्वंस करना, नष्ट करना ।

उडाड़णहार, हारौ (हारी), उडाड़णियौ—उड़ाने वाला ।

उडाड़िओड़ौ, उडाड़ियोड़ौ, उडाड़्योड़ौ—भू०का०कृ० ।

उडाड़ियोड़ौ–भू०का०कृ०—१ उड़ाया हुआ. २ भगाया हुआ. ३ संहार किया हुआ । ४ ध्वंस किया हुआ । (स्त्री० उडाड़ियोड़ी)

उणी–सर्व०—१ उस । उ०—राय आंगणि रांणी फिरई । उणी सोळहसइ रांणी कउ उतारचौ मांन ।—वी.दे.
२ उसकी. ३ उसी ।

उणीयार, उणीहार, उणीहारइ, उणीहारउ–सं०पु०—आकृति, शक्ल । देखो 'उणियार' (रू.भे.) उ०—१ सत्रां सिर वीरम वाहै सार, आजी को काळ तणौ **उणीयार** ।—गो.रू.
उ०—२ जोगी कहइ सुणि धरह-नरेस । विण **उणीहारउ** कहांउ लहेस ।
वि०—समान, सदृश । उ०—हिव होसी काच की कांमळी । दीस भूलउ रे प्रभु **उणीहार** ।—वी.दे.

उणौ–सं०पु०—अपरिपक्व गर्भ ।
वि० [सं० ऊन] देखो 'ऊणौ' ।

उणौ-पूणौ–वि०पु०—अपूर्ण ।

उण्यारै–सं०पु०—देखो 'अंवारियां' ।

उण्यारौ–सं०पु०—१ देखो 'उणियारौ'. २ देखो 'उण्यारै' ।

उतंक–सं०पु० [सं० उत्तंक] १ वेद मुनि के शिष्य एक ऋषि. २ गौतम ऋषि के एक शिष्य ।
वि० [सं० उत्तुंग] ऊँचा ।

उतंग–वि० [सं० उत्तुंग] १ ऊँचा, बुलंद । उ०—घने **उतंग** अंग के मतंग घूमते नहीं ।—ऊ.का. २ श्रेष्ठ ।
सं०पु०—सूर्य्य (अ.मा.)

उतंगह–सं०पु०—घोड़ा (ना.डि.को.)

उत–उप० [सं०] एक उपसर्ग ।
क्रि०वि०—१ वहीं. २ उधर, उस ओर । उ०—**उत** होम भूम विलोक आया, निडर राकस नीच ।—र.रू.
सं०पु० [सं० पुत्र, प्रा० पुत्त] पुत्र, लड़का । उ०—मंडयौ नंदघर मेळ, व्रज में वंटै वधावणा । तट जमना रै तीर, रमियौ वसुदेराव **उत** ।—रांमनाथ कवियौ

उतकंठ, उतकंठा–सं०स्त्री० [सं० उत्कंठा] प्रवल इच्छा, तीव्र अभिलाषा । उ०—ढोल पधारचउ कूवा कंठ, पिंगळ मनि अधिक **उतकंठ** ।
—ढो.मा.

उतकंठित–वि० [सं० उत्कंठित] उत्सुक, उत्कंठायुक्त ।

उतकट–वि० [सं० उत्कट] १ तीव्र, विकट, उग्र. २ मस्त ।

उतकळ–सं०पु० [सं० उत्कल] १ उड़ीसा प्रांत. २ उड़ीसा का प्रधान नगर, जगन्नाथपुरी ।

उतकळिका, उतकळी–सं०स्त्री० [सं० उत्कलिका] १ उत्कंठा. २ तरंग, लहर (डि.को.) ३ फूल की कली (ह.नां.)

उतकस्ट–वि० [सं० उत्कृष्ट] उत्कृष्ट (अनेकार्थी)

उतकूं–क्रि०वि०—वहां ।

उतणौ–वि०—उस मात्रा का, उतना ।

उतथ्य–सं०पु० [सं०] १ अंगीरा के पुत्र एक मुनि विशेष. २ वृहस्पति के ज्येष्ठ सहोदर ।

उतन, उतन्न–क्रि०वि०—उस तरफ, उस ओर ।
सं०पु० [अ० वतन] वतन, जन्म-भूमि । उ०—पुन रा सदन वरण रा पाळक, देसल रतन **उतन** रा दीपक ।—क.कु.वो.

उतपत, उतपती, उतपत्ती–सं०स्त्री० [सं० उत्पत्ति] उत्पत्ति, उद्‌भव, जन्म, पैदाइश । उ०—आद चहुवांण अनळकुंड री **उतपत** ।
—नैणसी

उतपन, उतपन्न–सं०पु० [सं० उत्पन्न] उत्पत्ति, पैदाइश ।
वि०—जन्मा हुआ, पैदा हुआ ।

उतपनणौ, उतपनबौ, उतपन्नणौ, उतपन्नबौ–क्रि०अ०—उत्पन्न होना ।
उ०—रसतर संघण लील राज वक वाळ विवन्नौ । तेण पाट तुड़तांण पछै अखई **उतपन्नौ** ।—आसियौ मालौ
उतपन्नणहार, हारौ (हारी), उतपन्नणियौ–वि०—उत्पन्न होने वाला ।

उतपळ–सं०पु० [सं० उत्पल] नील कमल, नील पद्म (ह.नां.)

उतपाणौ, उतपान्नौ–क्रि०स०—उत्पन्न करना ।

उतपात–सं०पु० [सं० उत्पात] १ उपद्रव, अशांति, हलचल, ऊधम ।
उ०—इन दिल्ली **उतपात**, वात विपरीत प्रगट्टै ।—रा.रू.
२ आकस्मिक घटना. ३ आफत, दुःख (अ.मा.)
४ दंगा, शरारत. ५ दुष्टता ।

उतपाती–वि०—१ उत्पाती, उपद्रवी । उ०—और वळे नाहर **उतपाती**, महा सजोर खगे मेवाती ।—रा.रू. २ ऊधमी, शरारती ।

उतपायोड़ौ–भू०का०कृ०—उत्पन्न किया हुआ । (स्त्री० उतपायोड़ी)

उतफुल–वि० [सं० उत्फुल्ल] विकसित, खिला हुआ, प्रफुल्लित (डि.को.)

उतवंग, उतमंग–सं०पु० [सं० उत्तम+अंग] शिर, मस्तक (ह.नां. अ.मा.)
उ०—खेह नांख हैवर खुरां, अनराजां **उतवंग** । अलहणपुर आयौ अडर, श्री सिवराव अभंग ।—वां.दा.

उतम–वि० [सं० उत्तम] १ श्रेष्ठ, उत्तम, भला. २ प्रधान ।

उतमतर–सं०पु० [सं० उत्तम+तरु] चन्दन का वृक्ष (ह.नां.)

उतम-दसा–सं०पु० [सं० दशा+उत्तम] दीपक (अ.मा., ह.नां.)

उतम-रस–सं०पु०यौ०—दूध (ह.नां.)

उतमि–वि० [सं० उत्तम] देखो 'उत्तम' ।

उतरंग–सं०पु०—मकान के दरवाजे के ऊपर या नीचे लगाया जाने वाला पत्थर ।

उतर–सं०पु०—१ उत्तर, जवाब. २ वदला. ३ दक्षिण के सामने की वह दिशा जिस ओर ध्रुव तारा स्थित है । उ०—दखिणा निळ आवतौ **उतर** दिसि, सापराध पति जिम सरति ।—वेलि.

उतरण–सं०स्त्री०—उतरन, पहिने हुए पुराने कपड़े, उतरा हुआ वस्त्र ।
सं०पु०—उतरने का काम ।

उतरणौ, उतरबौ–क्रि०अ० [सं० अवतरण] १ ऊँचे स्थान से संभल कर नीचे आना । उ०—देखी भाट दीयौ दीरघायु, रेवंत थीं **उतरियौ** राय ।—ढो.मा. २ ढलना, अवनति पर होना. ३ ऊपर से नीचे आना. ४ शरीर के किसी हड्डी या उसके किसी जोड़ का अपने

वि०—सफेद, श्वेत* (डि.को.)

उडुप–सं०पु० [सं०] १ चंद्रमा (अनेकार्थ) २ नाव, डोंगी (अनेकार्थ) ३ बड़ा गरुड़. ४ पक्षी (अनेकार्थ) ५ तारा, नक्षत्र (अनेकार्थ) ६ नाव चलाने वाला, नाविक (अनेकार्थ)

उडुपत, उडुपति–सं०पु० [सं०] १ चंद्रमा (ह.नां.) २ प्रथम लघु फिर दो दीर्घ कुल पाँच मात्रा का नाम (ISS) (डि.को.)

उडुपथ–सं०पु० [सं०] आकाश, गगन (अ.मा.)

उडुराज–सं०पु० [सं०] चंद्रमा।

उडुस–सं०पु०—खटमल (डि.को.)।

उडू–सं०पु० [सं० उडु] तारा, नक्षत्र (डि.को.)

उडूपथ–सं०पु०—आकाश गगन (ह.नां.)

उडेल–सं०पु०—हल की हाल के पीछे से लगाई जाने वाली छोटी लकड़ी जिससे हाल निकले नहीं।

उडेलणौ, उडेलबौ–क्रि०स०—१ ढालना, डालना, गिराना. २ रिक्त या खाली करना (तरल पदार्थ)

उडेलणहार, हारौ (हारी), **उडेलणियौ**–वि०—उडेलने वाला।

उडेलिओड़ौ, उडेलियोड़ौ, उडेल्योड़ौ—भू०का०कृ०।

उडल–सं०पु०—घास-फूस (क्षेत्रीय)

उडेलभरी–सं०पु०—हाथी। उ०—**उडेलभरी** पूजि अंबर, भीमपहल का तणी भत।—मालौ सांदू

उडेलियोड़ौ–भू०का०कृ०—१ ढाला या डाला हुआ, उँडेला हुआ. २ रिक्त या खाली किया हुआ (तरल पदार्थ) (स्त्री० उडेलियोड़ी)

उडै, उडैं–क्रि०वि०—वैसे।

उड्डणौ, उड्डबौ–क्रि०अ०—देखो 'उडणौ'। उ०—जसवंत गुरड़ न उड्डही, ताळी त्रजड़ तणेह। हाकलियां ढूला हुवै, पंछी अवर पुणेह।
—हा.झा.

उड्डियोड़ौ–भू०का०कृ०—देखो 'उड़ियोड़ौ'।

उड्डीयन–सं०पु०—हठयोग की एक क्रिया। कहा जाता है कि इसके द्वारा योगी उड़ सकते हैं।

उढंग–वि०—अति ऊँचा।

उढंगौ–वि०—वेढंगा, ऊँचे शरीर वाला।

उढ–सं०उ०लिं०—नव-विवाहित पुरुष या कन्या (वं.भा.)

उढा–सं०स्त्री०—नव विवाहिता स्त्री, नव-युवती (वं.भा.)

उण–सर्व०—१ उस। उ०—कूट कटाड़ी दे छुरी **उणही** कर तिण तास।—ढो.मा. २ वह।

उणईसमौ–वि०—उन्नीसवाँ। उ०—मूळ वरण **उणईसमौ** इक्कवीस मय आंन।—वां.दा.

उणगी–क्रि०वि०—उस ओर, उधर। उ०—इणगी **उणगी** जोवै, खवरदारी करै।—चौबोली

उणत–सं०स्त्री० [सं० ऊनत्व] १ कमी। उ०—माळी घड़ा हजार सदा सींचे जिम जांणौ, रुत आयां फळ होय सुण्यौ अगलौ ऊखांणौ। यूं जांण करी सेवा अठै मम **उणत** अजहू न मिटी तम, दोस नहीं 'अणदेस' तण नहचे वात नसीब री।—साहेबोजी सुरतांणियौ २ याद, स्मृति. ३ अभिलाषा, इच्छा।

उणमण–वि० [सं० उत्+मानस्] १ चिंतित, व्याकुल. २ उन्मन, उदासीन।

उणमणियौ, उणमणौ–वि०पु० (स्त्री० उणमणी)—१ उदास, खिन्न चित्त. उ०—खांधां पर खड़िया मैला मांख्यां सूं। **उणमणियां** जोवै झरती आंख्यां सूं।—ऊ.का. २ चिंतित, व्याकुल।

उणमुखता–सं०स्त्री०—१ उदासीनता. २ दीनता, गरीबी। उ०—छपनूं गावै गळ नैणां जळ छावै। अपणी **उणमुखता** सनमुख दरसावै।—ऊ.का. ३ चिंता. ४ उत्सुकता।

उणमुखौ–वि०—उदासीन, चिंतित। (स्त्री० उणमुखी)

उणरउ–सर्व०—उसका। उ०—**उणरउ** जोबन वहिगयउ तूं किउं जोबनवंत।—ढो.मा.

उणहार–सं०पु०—देखो 'उणियार'। उ०—जवण हेक जेण री, आंख नाहर **उणहारै**।—मे.म.

उणां–सर्व०व०व०—उन। उ०—हां हे आली भला है **उणां** रा भाग।
—गी. रां.

उणारत–सं०स्त्री०—१ कमी, अभाव। [सं० ऊनत्व] २ चाह, इच्छा। उ०—थांरी भरतार तौ कने छै वीजी थांनै किण वात री **उणांरत** छै।
—ढो.मा.

उणि–सर्व०—१ उसी। उ०—जउ जीव्या तउ आविस्यां, मुया त **उणिहिज** देस।—ढो.मा. २ उस। उ०—ज्यूं थारइ सांभर उगहइ। राजा **उणि** घरि उगहइ हीरा-खांन।—बी.दे.

उणिज–सर्व०—१ उसी. २ वही।

उणियांरौ, उणियार–वि०—१ समान, बराबर, तुल्य। उ०—खत रिपिया लिख दे खेड़ेचा। अणलीधां लीधां **उणियार**।
—द.दा.

२ अनुकूल. ३ उपयुक्त।

सं०स्त्री०—शक्ल, सूरत। (मि० उणियारौ)

उणियारौ–सं०पु० [सं० अनुहार] १ सूरत, शक्ल, आकृति, मुखाकृति। उ०—आंख्यां **उणियारोह**, निपट नहीं न्यारौ हुवै, प्रीतम मौ प्यारोह, जोती फिरूं रे जेठवा।—जेठवे रा सोरठा

कहा०—उणियारे उणियारे देस (मुलक) भरियौ है—समान हुलियों (वाले व्यक्तियों) से देश भरा है। एक ही आकार वाले अनेक व्यक्ति हो सकते हैं।

२ समानता, सादृश्य।

उणिहार, उणिहारौ–सं०पु० [सं० अनुहार] आकृति, सूरत, शक्ल। उ०—इहि जोड़ा **उणिहार**, जगणी फिर जाया नहीं। निकमी नाजुक नार, झुरती रंगी जेठवा।—जेठवे रा सोरठा

उणहि, उणहिज–सर्व०—उसी, वही।

उतरियोड़ी—भू०का०कृ०—उतरा हुआ। (स्त्री० उतरियोड़ी)

उतरेस—सं०पु० [सं० उत्तर+ईश] कुबेर (अ.मा.)

उतरो, उतरोक—वि०—उतना।

उतळ—सं०पु० [सं० उत्+तल=प्रतिष्ठायां] उदारता का आव्याहार, उदारता की आकांक्षा। उ०—हर पंथ अघहर पंथ अहै हुय, प्रभा हुवंती समोप्रवाह। एक हमीर वहै कांकरियेे, आज तुहाळै उतळ तियाह।—महाराणा हमीरसिंह री गीत

उतवंग—सं०पु० [सं० उत्तमांग] देखो 'उतवंग'। उ०—भवसि घड़ा वळि भाळि, वांमण ज्यूं वीठळ वधै। उतवंग जाइ ब्रह्मंडि अड़ै, पग सातमै पयाळि।—वचनिका

उतसरजन—सं०पु० [सं० उत्सर्जन] दान, उत्सर्ग (डि.को.)

उतसारक—सं०पु० [सं० उत्सारक] प्रतिहार, द्वारपाल, चौबदार (डि.को.)

उतसाह—सं०पु० [सं० उत्साह] उत्साह।

उतसुक—वि० [सं० उत्सुक] उत्कंठित, अत्यन्त इच्छुक (डि.को.)

उतसूर—सं०पु० [सं० उत्सूर] संध्याकाल, शाम (डि.को.)

उतांन—वि० [सं० उत्तान] पीठ को पृथ्वी पर रख कर ऊपर सीधा (लेटना), चित।

उतांन-सहाय, उतांन-सहि, उतांन-सही—सं०पु० [सं० उत्तानशय] बालक (अ.मा., ह.नां.)

उतांनजात—सं०पु०—उत्तानपाद का पुत्र, ध्रुव।

उतांमळ, उतावळ—सं०स्त्री०—शीघ्रता, जल्दी।

क्रि०वि०—देखो 'उतावळी'। शीघ्र (ह.नां., अ.मा.)

उतांमळउ—वि०—उतावला, शीघ्रता करने वाला, जल्दबाज।

उ०—१ माहु मन चिंता घरइ, करहइ कंध लगाइ। करहउ उठ्यू उतांमळउ, साल्ह अचंभै थाइ। ढो मा.

उ०—२ देखतां पथिक उतांमळा दीठा।—वेलि.

उताग्रह—वि०—शीघ्रता करने वाला। उ०—रिण काज उताग्रह चाळ करा, धज बंध उछावसु मेर धरा।—शि.सु.रू.

उताप—सं०स्त्री० [सं० उत्ताप] १ पीड़ा (अ.मा.) २ देखो 'उतापौ'।

उतापौ—सं०पु० [सं० उत्ताप] १ ज्वर, बुखार. २ पीड़ा. ३ उष्णता, ताप।

उतायळ—वि०—आतुर, जल्दबाज।

उतायळी—सं०स्त्री०—शीघ्रता, जल्दबाजी।

उतार—सं०पु०—१ उतरने की क्रिया, क्रमशः नीचे की ओर प्रवृत्ति. २ उतरने योग्य स्थान. ३ किसी वस्तु की मोटाई या घेरे का क्रमशः कम होना. ४ घटाव, कमी. ५ नदी में चल कर पार करने योग्य स्थान. ६ समुद्र का भाटा. ७ ढालू भूमि, ढाल. ८ उतारन, त्यक्त. ९ उतरायल, उतारा, न्यौछावर, सदका. १० वह वस्तु या प्रयोग जिससे नशे या विष आदि का वेग कम हो या दोष दूर हो. ११ नदी के बहाव की ओर. १२ अवनति, पतन।

उतारण—वि०—१ उतारने वाला. २ मिटाने वाला। उ०—गोविंद दइत उतारण ग्रब्ब।—ह.र.

सं०स्त्री०—१ मंत्र तंत्र विद्या के अनुसार पानी को शिर के चारों ओर घुमाना. २ लकड़ी की दस्तकारी।

उतारणौ—वि०—उतारने वाला। उ०—ओपै वाड़ी अमल री, वैरी रंग विरंग, एकौ रंग उतारणौ, जेठ न दीठौ जंग।—वी.स.

उतारणौ, उतारबौ—क्रि०स०—१ ऊंचे स्थान से किसी नीचे स्थान में लाना. २ प्रतिकृति बनाना, (चित्रादि) खींचना, नकल करना. ३ लगी या चिपटी हुई वस्तु को अलग करना, उचाड़ना, उखाड़ना. ४ पहने हुए किसी वस्त्र को छोड़ना, पृथक करना. ५ ठहराना, टिकाना, डेरा देना, आश्रय दिलाना. ७ किसी वस्तु को मनुष्य के चारों चोर घुमा कर भूत-प्रेत की भेंट के रूप में चौराहे आदि पर रखना, उतारा करना. ७ निछावर करना, वारना. ८ वसूल करना. ९ किसी उग्र प्रभाव को दूर करना. १० पीना, घूंटना. ११ मशीन, खराद, सांचे आदि पर चढ़ा कर बनाई जाने वाली वस्तु को तैयार करना. १२ बाजे आदि की कसन को ढीला करना. १३ भभके से खींच कर तैयार करना या खौलते पानी में किसी वस्तु का सार निकालना. १४ निंदित या बदनाम करना, लोगों की नजरों से गिराना. १५ काटना, तोड़ना (फल-फूल आदि) १६ निगलना. १७ वजन में पूरा करना. १८ घी में सेंकना और निकालना (पूरी आदि) १९ उत्पन्न करना. २० हटाना, दूर करना। २१ पार ले जाना, नदी नाले के पार पहुँचाना। २२ राई नोन मिर्च इत्यादि को चारों ओर घुमा कर आग में डालना. २३ जागीरी जब्त करना. २४ पद से हटना. २५ धारण की हुई वस्तु या भाव को अलग करना।

उ०—मुरादसाह नूं पकड़, तखत बैठांण पछै जबेह करायी, कुरांन री सूंस उतारियौ।—पदमसिंह री वात

उतारणहार, हारौ (हारी), उतारणियौ—वि०—उतारने वाला।

उतरणौ, उतरबौ—अ०रू०।

उतारिओड़ो, उतारियोड़ो, उतारयोड़ौ—भू०का०कृ०।

वि०—उतारने वाला।

उतारियोड़ो—भू०का०कृ०—उतरा हुआ। (स्त्री० उतारियोड़ी)

उतारू—वि०—१ उद्यत, तैयार, तत्पर. २ उतरा हुआ. ३ उपयोग में लिया हुआ, उपयोग में आया हुआ। उ०—इसा करुणा रा वचन कहि घणी दीनता करी। स्त्री ठाकुरजी रै उतारू चंदण लगायौ।—पलक दरियाव री वात

उतारो, उतारौ—सं०पु०—१ किसी स्थान पर ठहरने, डेरा डालने या टिकने का कार्य। उ०—पहाड़ां रा मोरचा रै मार नूं अळगौ उतारौ लियौ।—जगमाल मालावत री वात. २ ठहरने, डेरा डालने या टिकने का स्थान. ३ नदी का पार करना. ४ किसी

स्थान से हट जाना. ५ कांति या स्वर का फीका पड़ना। उ०—लोगां घणी ही पूछी पण कही कांई ही नहीं। उणरौ चेहरौ उतर गयौ।—पदमसिंह री वात. ६ घट जाना, कम होना (प्रायः जल का) ७ उग्र प्रभाव या उद्वेग का दूर होना. ८ वर्ष, मास या नक्षत्र विशेष का समाप्त होना। उ०—करता मांचा दे लांचा कूतरिया। उतरता आसाढ़ां मूंढ़ा ऊतरिया।—ऊ.का.
९ थोड़े-थोड़े अंश में बैठ कर किये जाने वाले काम का पूर्ण होना.
१० पहिनने का उल्टा, शरीर से वस्त्रादि पृथक करना.
११ खराद या साँचे पर चढ़ाई जाकर बनाई जाने वाली वस्तु का तैयार होना. १२ भाव का कम होना या घटना. १३ डेरा करना, टिकना, बसना, ठहरना। उ०—छयण परै तळाव आय उतरियौ छै।—सयणी री बात. १४ नकल होना, खिंचना, अंकित होना. १५ बच्चों का मरना. १६ भर आना, संचारित होना (दूध उतरणौ) १७ भभके में खिंच कर तैयार होना.
१८ सफाई के साथ करना. १९ उचड़ना, उघड़ना. २० धारण की हुई वस्तु का अलग होना. २१ तौल में पूरा ठहरना.
२२ किसी बाजे की कसन का ढीला होना जिससे उसका स्वर विकृत हो जाय. २३ जन्म लेना, अवतार लेना. २४ आदर या शकुन के लिए किसी वस्तु का शरीर या सिर के चारों ओर घुमाना.
२५ वसूल होना. २६ एकत्रित होना. २७ पद से हट जाना.
२८ जागीरी जब्त होना।
कहा०—उतरियौ गांव डूंमां ने दीजै—राज्य द्वारा छीना हुआ गांव याचकों को दो (डूम=ऐक नाचने-गाने वाली याचक जाति, दमामी) कोई जाने वाली चीज दान करे तब। २९ अप्रिय होना।
क्रि०स०—३० पार करना (रू.भे. ऊतरणौ) उ०—अटक असरांण रा कटक सब ऊतरे, रहे तटवार हिंदवांण राजा।—देदौ.
उतरणहार, हारौ (हारी), उतरणियौ—वि०—उतरने वाला।
उतराणौ, उतरावौ—प्रे०रू०। उतारणौ, उतारबौ—स०रू०।
उतरिओड़ौ, उतरियोड़ौ, उतरयोड़ौ—भू०का०कृ०।

उतर-पडूतर—सं०पु० [सं० उत्तर-प्रत्युत्तर] उत्तर-प्रत्युत्तर।

उतरपती—सं०पु० [सं० उत्तर+पति] उत्तर दिशा का स्वामी कुबेर (ह.नां.)

उतराणौ, उतरावौ—क्रि०प्रे०रू०—उतरवाना, उतारने का काम कराना।
उतरणौ, उतरबौ—अ०रू०।
उतरवायोड़ौ—भू०का०कृ०।

उतरस—सं०पु०—कुबेर (अ.मा.)

उतरांण—सं०पु०—उत्तर दिशा, उत्तरायण। उ०—अड़ै वळ घटै दिखणांण दळ ज्यूं अरि। वडै उतरांण दिन विरद वधता।—क.कु.बो.

उतरा—सं०पु०—१ उत्तर दिशा. २ उत्तराषाढ़ा नक्षत्र।
सर्व०—उतने ही।

उतराई—सं०स्त्री०—१ ऊपर से नीचे आने की क्रिया. २ नदी के पार उतरने का कर या महसूल या मजदूरी (डिं.को.) ३ नीचे की ओर ढालू भूमि, ढाल।

उतराखाढ़ा—सं०स्त्री० [सं० उत्तराषाढ़ा] सत्ताइस नक्षत्रों में से एक नक्षत्र, उत्तराषाढ़ा।

उतराणौ, उतराबौ—क्रि०प्रे०रू० [सं० अवतारण] १ उतरने का काम कराना. २ उतराने का काम कराना.
क्रि०अ० [सं० उत्तरण] ३ पानी के ऊपर तैरना, पानी की सतह पर आना. ४ उफान या उबाल आना. ५ देख पड़ना, प्रकट होना। ६ सर्वत्र दिखाई पड़ना. ७ घमंड करना।

उतराणहार, हारौ (हारी), उतराणियौ—उतराने वाला।
उतरायोड़ौ—भू०का०कृ०—उतराया हुआ।

उतराद—सं०स्त्री० [सं० उत्तर] उत्तर दिशा। [सं० उत्तराहि] उत्तर दिशा की ओर।

उतरादौ—वि० [सं० उत्तराहि] उत्तर दिशा का, उत्तर दिशा संबंधी। उ०—उतरादे पासे एक मोटौ वड़ छै सौ थे वड़ ऊपर चढ़ज्यौ।
—पलक दरियाव री बात

उतराध—देखो 'उतराद'। उ०—दिस दिक्खण खेड़िया पीठ उतराध विचारे।—रा.रू.
वि० [सं० उत्तरार्द्ध] पीछे का आधा भाग।

उतराधी—सं०पु०—एक प्रकार का घोड़ा (अश्व-चिंतामणि)
क्रि०वि० [सं० उत्तराहि] उत्तर दिशा की ओर।

उतराधू, उतराधौ—वि० [सं० उत्तराहि] देखो 'उतरादौ'।
उ०—जखड़ै सोचियौ, व्याह तौ तीन छै तिके उगूणाऊ कै उतराधा छै नै माजी दखणाधू सासरौ कहौ, तिकौ किसी भांति।
—जखड़ा मुखड़ा भाटी री बात

उतराफाळगुणी, उतराफाळगुनी—सं०स्त्री०—सत्ताईस नक्षत्रों के अंतर्गत एक नक्षत्र विशेष (अ.मा.)

उतरायण—सं०पु० [सं० उत्तरायण] सूर्य के मकर रेखा से चल कर बराबर उत्तर की ओर बढ़ते रहने का छः मास का समय. २ देवताओं का दिन।

उतरायी—सं०स्त्री०—उतरना क्रिया या भाव, नाव आदि से उतारने या पार करने की मजदूरी (डिं.को.)

उतरारिव—सं०पु०—देखो 'उतरायण'।

उतराव—सं०पु०—उतार या ढालू भूमि।

उतरावणौ, उतरावबौ—क्रि०स०—देखो 'उतराणौ'।

उतरावियोड़ौ—भू०का०कृ०—उतराया हुआ। (स्त्री० उतरावियोड़ी)

उतरासण, उतरासणियौ—सं०पु०—मकान के द्वार पर छज्जे के नीचे लगाया जाने वाला सीधा व चौड़ा पत्थर जो प्रायः बाहर की ओर कुछ उठा हुआ होता है।

उतरासाडा—सं०स्त्री०—देखो 'उतराखाढ़ा'।

अडर जरिणवार। रण जंगां कारण हुवा, उत्तंगां असवार।—रा.रू.
वि० [सं० उत्तुंग] ऊँचा।

उत्तंगौ-वि०—१ ऊँचा. २ दीर्घ (अ.मा.)
सं०पु० [सं० उत्तुंग] देखो 'उत्तंग'।

उत्त-सं०पु० [सं० उत्] आश्चर्य, सन्देह (वं.भा.)।
क्रि०वि०—उत, उधर, उस ओर।

उत्तन-सं०पु० [अ० वतन] वतन, देश, जन्म-भूमि। उ०—आंबेरी उत्तन विना, अति मन रहै उदास। अरज करै 'अजमाल' सूं, उर सूं गरज वर आस।—रा.रू.

उत्तपत्त-सं०स्त्री० [सं० उत्पति] १ उत्पत्ति। उ०—हरिया माळी प्रगट हुय, पिड़ पहली उत्तपत्त।—पा.प्र. २ उत्पत्ति-स्थान।

उत्तप्त-वि० [सं०] १ खूब तपा हुआ, तप्त, संतप्त. २ दुःखी, पीड़ित, दग्ध ३ चिंतित।

उत्तमंग-सं०पु० [सं० उत्तमाङ्ग] शिर, मस्तक। देखो 'उत्तमांग'।
उ०—अर नरसिंहदेव नूं छिन्न-भिन्न होइ पड़ती देखि केही जवना नूं परेतपति री पुरी रा पाहुणा करि ऊही उत्तमंग आणि मुहम्मदसाह रै उपायन कीधौ।—वं.भा.

उत्तम-वि०—१ श्रेष्ठ, अच्छा, भला, पवित्र. २ प्रधान, मुख्य।
सं०पु०—१ श्रेष्ठ नायक. २ राजा उत्तानपाद का रानी सुरुचि से उत्पन्न पुत्र जिसे वन में एक यक्ष ने मार डाला था।

उत्तमगंधा-सं०स्त्री०—मालती (अ.मा.)

उत्तमतया-क्रि०वि०—भली-भांति, अच्छी तरह से।

उत्तमता, उत्तमताई-सं०स्त्री० [सं०] १ भलाई. २ उत्कृष्टता, श्रेष्ठता, खूबी।

उत्तमदसा-सं०स्त्री० [सं० उत्तम+दशा] १ ज्योति (अ.मा.) २ श्रेष्ठ दशा या हालत।

उत्तमपद-सं०पु० [सं०] श्रेष्ठ पद, मोक्ष।

उत्तम पुरुष-सं०पु०—सर्वनाम के अंतर्गत वह पुरुष जो कथन कर रहा हो, बोलने वाले पुरुष को सूचित करने वाला, सर्वनाम।

उत्तमरस-सं०पु०—दूध (अ.मा.)

उत्तम सग्रह-सं०पु० [सं०] १ सम्यक् संग्रह. २ एकांत में पर स्त्री से आलिंगन।

उत्तमांग-सं०पु० [सं० उत्तमाङ्ग] शिर, मस्तक। उ०—ख़तांग वांग वांग स्वांग सारथी सजै नहीं। महारथी न उत्तमांग भारथी भजै नहीं।—ऊ.का.

उत्तमा-वि०—अच्छी, भली।

उत्तमाई-सं०स्त्री०—१ उत्तमता, श्रेष्ठता. २ पवित्रता।

उत्तमादूती-सं०स्त्री० [सं०] नायक या नायिका को मधुरालाप से मना लेने वाली श्रेष्ठ दूती।

उत्तमानायिका-सं०स्त्री०यौ० [सं०] पति के प्रतिकूल होने पर भी स्वयं अनुकूल बनी रहने वाली स्वकीया नायिका।

उत्तमोत्तम-वि० [सं०] सर्वश्रेष्ठ, परमोत्कृष्ट।

उत्तर-सं०पु०—१ दक्षिण दिशा के सामने की दिशा जिधर ध्रुव तारा रहता है. २ वह बात जो किसी प्रश्न या बात को सुन कर तत्समाधानार्थ कही गई हो। जव्वाव. ३ किसी कार्य या माँग के वदले किया जाने वाला कार्य। उ०—दाता जग माता पिता, दाता सांप्रत देव। दाता सरवस दांन दे, उत्तर एक अदेह।—वां.दा.
कहा०—१ हाथ री उत्तर देणौ—कुछ न कुछ अवश्य देना चाहिये, उसकी मात्रा कितनी ही थोड़ी क्यों न हो।
४ वहाना, मिस, व्याज, हीला. ५ प्रतिकार, वदला. ६ नहीं, निषेधसूचक जव्वाव।
क्रि०प्र०—देणौ, लेणौ। उ०—कंपनी खून सुणियौ कहर, भड़ मुख उत्तर भाखियौ। पलटियौ देव दूजी दसा, जिणनै रावत जोवै राखियौ।—कोठारिया रावत जोधसिंह रा छप्पय
कहा०—छाछ घालतां छाती फाटै, दूध घालणौ दोरौ। रोटी देतां रोज आवै, उत्तर देणौ सोरौ—छाछ डालते छाती फटती है, दूध डालना कठिन है, दूध देने पर रोना आता है; सबसे आसान काम नकारात्मक उत्तर देना है; किसी के द्वारा कुछ माँगने पर नकारात्मक उत्तर देना सबसे आसान है। कंजूस के प्रति व्यंग्य।
७ एक प्रकार का अलंकार विशेष। इसमें उत्तर सुनते ही प्रश्न का अनुमान किया जाता है या प्रश्नों का अप्रसिद्ध उत्तर दिया जाता है।
८ अभिमन्यु का साला, उत्तरा का भाई एवं विराट का पुत्र.
९ उत्तर दिशा की वायु। उ०—उत्तर आज स वज्जियउ, सीय पड़ेसी पूर। दहिसी गात निरच्चणां, घण चंगी घर दूर।—ढो.मा.
वि०—१ पिछला, वाद का. २ ऊपर का. ३ वढ़ कर, श्रेष्ठ।
४ तेज, शीघ्र चलने वाला।
क्रि०वि०—पीछे, वाद, अनन्तर, पश्चात्।

उत्तरकळा-सं०स्त्री०—पुरुषों की वहत्तर कलाओं के अंतर्गत एक कला।

उत्तरकाळ-सं०पु० [सं० उत्तरकाल] १ पश्चात् काल. २ भविष्य, आगामी काल।

उत्तरकासी-सं०स्त्री० [सं० उत्तरकाशी] हरिद्वार के उत्तर में एक तीर्थ।

उत्तरकुरु-सं०पु० [सं०] जम्बू द्वीप के नव वर्षों में एक, एक जनपद या देश।

उत्तरकोसळ-सं०पु० [सं० उत्तरकोशल] अयोध्या के आसपास का देश, अवध प्रांत।

उत्तरकोसळा-सं०स्त्री० [सं० उत्तरकोशला] अयोध्या।

उत्तरक्रिया-सं०स्त्री० [सं०] १ अंत्येष्टि क्रिया. २ पितृ कर्म, श्राद्ध।

उत्तरणौ, उत्तरबौ-क्रि०अ०—देखो 'उतरणौ'। उ०—उत्तर आजस उत्तरउ, सही पड़ेसी सीह। बाळ घरि किमि छंडियइ, जां नित चंगा दीह।—ढो.मा.

उत्तरदाता, उत्तरदायी-सं०पु० [सं०] जिम्मेदार, जवावदेह, उत्तरदायी।

उत्तरदिकपति-सं०पु०—कुवेर (डि.को.)

व्यक्ति के शरीर के चारों ओर कुछ खाने-पीने की सामग्री अथवा अन्य कोई वस्तु घुमा फिरा कर चौराहे आदि पर प्रेत-बाधा या रोग की शांति आदि के लिए रखना। देखो 'ऊतारौ'।

५ इस उतारे की सामग्री. ६ पुस्तक की नकल, प्रतिकृति.

७ सूची, फेहरिश्त। उ०—तद कही-'थे जावौ, गांवां रौ **उतारौ** कर सताब मेलज्यौ, तिण माफिक लोगां नूं पटौ मेल देस्यां।
राठौड़ अमरसिंह री वात

उताळ—क्रि०वि०—१ ऊँचा, जोर से (आवाज या बोलना). २ शीघ्र, जल्द।

सं०स्त्री०—शीघ्रता, त्वरा। उ०—वाभी देवर नीद वस, बोलीजै न **उताळ**। चगतां घावां चौकसी जे सुणसी वंवाळ।—वी.स.

उताळै—क्रि०वि०—जल्दी, शीघ्र। उ०—आगै उर पीड़ियां **उताळै**, विचित्र वुलाया सेंभरवाळै।—रा.रू.

उताळो, उताळौ—वि०—१ आतुर. २ उतावला। उ०— सू लाहौर निवाव सचाळौ, आवै मगि इव रांम **उताळौ**।—रा.रू.

उतावणौ, उतावबौ—क्रि०स०—१ डालना. २ ग्रहण करना।

उतावळ—सं०स्त्री०—१ जल्दी, शीघ्रता, अधीरता.

क्रि०प्र०—करणी, होणी।

२ चंचलता (ह.नां.) ३ वेग (अ.मा.)

क्रि०वि०—जल्दी, शीघ्र।

उतावळि, उतावळी—सं०स्त्री०—१ जल्दी, शीघ्रता, जल्दबाजी (ह.नां.) उ०—घणी **उतावळि** सउ परवरचउ, सोवनगिरि नेडउ संचरयउ।
—ढो.मा.

२ व्यग्रता, अधीरता. ३ चंचलता।

कहा०—१ उतावळो दो वार फिरै (दोड़ै)—उतावली में किये कार्य को दुवारा करना पड़ता है; जल्दबाजी में कोई काम ठीक नहीं होता और किये गये कार्य को वापस करना पड़ता है।

क्रि०प्र०—करणी, खाणी, पड़णी, होणी।

उतावळो, उतावळौ—वि० [सं० उद+त्वर] (स्त्री० उतावळी) १ जल्दी मचाने वाला, जल्दबाज। उ०—वहता थहै जी **उतावळा** रे, वे तौ झटक वतावे छेह।—मीरां. २ व्यग्र, आतुर, चंचल, अधीर। कहा०—१ उतावळां री देवळ्यां हुवै, धीरां रा गांव वसै—जल्दी करने वालों के पीछे देहरियां (स्मारक-पत्थर) बनती हैं,धैर्य्य रखने वालों के पीछे गांव वसते हैं; जल्दी करने से काम अधूरा होता है या ठीक नहीं होता; धीरज से काम अच्छा बनता है और स्थायी रहता है। २ उतावळा सौ वावळा—जल्दवाज वावला होता है. ३ उतावळा सौ वावळा, धीरा सौ गंभीर—जल्दी में किया काम पागलपन जैसा होता है, धीरज का काम स्थायी रहता है. ४ उतावळौ सौ वार पाछौ आवै—जल्दवाज जल्दी के मारे प्रत्येक वार कोई न कोई चीज भूल जाने के कारण सौ वार वापिस आता है। जल्दवाजी की निंदा।

क्रि०वि०—शीघ्र। उ०—त्रिभुवन कहतां स्रीक्रसणजी खांति लागा, रथ घणी **उतावळा** खेड़ै छै।—वेलि. टी.

उतावियोड़ौ—भू०का०कृ०—१ डाला हुआ. २ ग्रहण किया हुआ। (स्त्री० उतावियोड़ी)

उतिम—सं०पु०—पांच सगण और अंत में ह्रस्व वर्ण का एक छंद विशेष (ल.पिं.)

उतीम—वि० [सं० उत्तम] उत्तम। उ०—गढ़ अजमेरां **उतीम** ठाई। राज करइ वीसळ-दे-राई।—वी.दे.

उतीमरस—सं०पु० [सं० उत्तम+रस] दुग्ध, दूध (ह.नां.)

उतै—क्रि०वि०—वहाँ, उधर, उस ओर।

सं०स्त्री० [सं० उत्तर] उत्तर दिशा।

उतोलणौ, उतोलबौ—क्रि०स० [सं० उत्तोलन] १ तौलना. २ प्रहार हेतु शस्त्र उठाना। उ०—भांजै चोक हरोळां अग्गि रा **उतोलियां** भालां, धकै तणौ मेलियां जणी री रीस धूत।—नवलजी लाळस

उतोलणहार, हारौ (हारी), उतोलणियौ—वि०।

उतोलिओड़ौ, उतोलियोड़ौ, उतौल्यांड़ौ—भू०का०कृ०।

उतोलियोड़ौ—भू०का०कृ०—तोला हुआ. २ प्रहार के हेतु शस्त्र उठाया हुआ। (स्त्री० उतोलियोड़ी)

उतौ—वि०—उतना।

उतौक, उतौसौ—वि०—१ उतना सा. २ उतना।

उत्कंठा—सं०स्त्री० [सं०] वड़ी प्रवल इच्छा, विना विलंब के किसी काम के करने की अभिलाषा, एक प्रकार का संचारी भाव।

उत्कंठित—वि० [सं०] उत्कंठायुक्त, चाव से भरा हुआ।

उत्कंठिता—सं०स्त्री० [सं०] संकेत स्थान पर प्रिय के न आने या न मिलने पर तर्क-वितर्क करने वाली नायिका, उत्सुका।

उत्कट—वि० [सं०] तीव्र, विकट, उग्र।

उत्कटासण—सं०पु०—योग के चौरासी आसनों के अंतर्गत एक आसन विशेष। दोनों पावों के अंगूठों को भूमि पर लगा कर दोनों एडियों को ऊँची रखने और दोनों पांवों के पंजे पर शरीर का वोझ आवे इस चाल से कुरसी पर वैठे हुये, इस प्रकार झुक कर खड़े रहने से उत्कटासन होता है।

उत्करस—सं०पु० [सं० उत्कर्ष] १ वड़ाई, प्रशंसा. २ श्रेष्ठता, उत्तमता। उ०—जठै मकुवांण कही जवनां रौ जाति स्वभाव आपरौ **उत्करस** जणावै।—वं.भा. ३ समृद्धि. ४ प्रभाव।

उत्करसता—सं०स्त्री०—१ देखो 'उत्करस' (१) (२) (३). २ प्रचुरता।

उत्कल—सं०पु०—उड़ीसा प्रांत का एक नाम।

उत्कळिका—सं०स्त्री० [सं०] देखो 'उतकळिका'।

उत्क्रमण—सं०पु० [सं०] १ क्रम का उल्लंघन. २ मृत्यु।

उत्क्रस्ट—वि० [सं० उत्कृष्ट] श्रेष्ठ, उत्तम, सर्वोत्तम।

उत्क्रस्टता—सं०स्त्री० [सं० उत्कृष्टता] वड़ाई, श्रेष्ठता, वड़प्पन।

उत्पात—सं०पु०—१ फलित ज्योतिष के अट्ठाइस योगों में से एक (ज्योतिष-वाळवोध) २ देखो 'उतपात'।

उत्तंग—सं०पु०—घोड़ा, अश्व। उ०—हुकम मुणे रिणमाल हर जोध

उत्यपणो, उत्यपवौ–क्रि०स०—मिटाना, नाश करना। देखो 'उथपणौ'।
उ०—निसि अरद्ध माधव नग्रते, राजाधि अमल उत्यपियो।
—ला.रा.

उत्यपणहार, हारौ (हारी), उत्यपणियौ–वि०—नाश करने वाला।
उत्यपिश्रोड़ौ, उत्यपियोड़ौ, उत्यप्योड़ौ—भू०का०कृ०।

उत्यपियोड़ौ–भू०का०कृ०—नाश किया हुआ, मिटा हुआ।
(स्त्री० उत्यपियोड़ी)

उत्यलणो, उत्यलवौ–क्रि०स०—देखो 'उथलणौ, उथलवौ'।
उ०—कवन भूमि उत्यलहि, कवन सर नीर मथावै।—ला.रा.
उत्यलणहार, हारौ (हारी), उत्यलणियौ–वि०।
उत्यलिश्रोड़ौ, उत्यलियोड़ौ, उत्यल्योड़ौ—भू०का०कृ०।

उत्यलियोड़ौ–भू०का०कृ०—देखो 'उथलियोड़ौ'। (स्त्री० उत्यलियोड़ी)

उत्यवणो, उत्यववौ–क्रि०स० [सं० उत्थापन] १ अनुष्ठान करना. २ आरम्भ करना।

उत्यवियोड़ौ–भू०का०कृ०—१ अनुष्ठान किया हुआ. २ आरम्भ किया हुआ। (स्त्री० उत्यवियोड़ी)

उत्यांन–सं०पु० [सं० उत्थान] १ उठने का कार्य, उठान. २ आरम्भ. ३ उन्नति, बढ़ती. ४ समृद्धि।

उत्यांन एकादसी–सं०स्त्री० [सं० उत्थान एकादशी] कार्तिक मास के शुक्ल पक्ष की एकादशी—इसी दिन शेषशायी जाग्रत होते हैं; देवउठान एकादशी।

उत्याप–सं०पु०—मिटाने या हटाने की क्रिया।
वि०—मिटाने वाला, उन्मूलन करने वाला।

उत्यापन–सं०पु० [सं०] १ ऊपर उठाना. २ तानना।

उत्थितविवेकासण–सं०पु० [सं० उत्थितविवेकासन] योग के चौरासी आसनों के अंतर्गत एक आसन विशेष जिसमें मर्यादापूर्वक हाथों की पलथी मार कर खड़े होना होता है।

उत्पतित–वि०—ऊपर गया हुआ, उठा हुआ, ऊपर उठा हुआ।

उत्पत्ति–सं०स्त्री० [सं० उत्+पत्+क्ति] १ जन्म, उद्गम, पैदाइश, सृष्टि. २ शुरू, आरम्भ।

उत्पत्ति एकादशी–सं०स्त्री० [सं० उत्पत्ति एकादशी] मार्गशीर्ष मास के कृष्ण पक्ष की एकादशी।

उत्पन्न–वि० [सं०] जन्मा हुआ, पैदा हुआ।

उत्पन्ना–सं०स्त्री० [सं०] अगहन मास के कृष्ण पक्ष की एकादशी। (मि० उत्पत्ति एकादशी)

उत्पळ–सं०पु० [सं० उत्पल] नील कमल, नील पद्म।

उत्पात–सं०पु० [सं० उत्+पत्+घञ्] १ उपद्रव, अशांति, हलचल. २ कष्टप्रद आकस्मिक घटना. ३ ऊधम, दंगा. ४ शरारत, दुष्टता।

उत्पातक–सं०पु० [सं०] कान में किसी भारी गहने के पहिन लेने से होने वाला एक रोग विशेष (अमरत)
वि०—उपद्रव या उत्पात करने वाला।

उत्पाती–वि० [सं० उत्पातिन्] उत्पात मचाने वाला, उपद्रवी, नटखट, शरारती, बदमाश, दुष्ट।

उत्पादक–वि० [सं०] उत्पन्न करने वाला, उत्पत्तिकर्ता।

उत्पादन–सं०पु० [सं० उत्+पद्+णिच्+अनट] उत्पन्न करना, पैदा करना, उपजाना।

उत्पीड़ण, उत्पीड़न–सं०पु० [सं० उत्पीड़न] तकलीफ, पीड़ा।

उत्प्रेक्षा–सं०स्त्री० [सं० उत्+प्र+ईक्ष+आ] १ उद्भावना. २ अनुमान. ३ आरोप. ४ उपेक्षा, सादृश्य. ५ साहित्य के अर्थालंकार का एक भेद विशेष जिसमें उपमान से भिन्न जानते हुए भी प्रतिभा बल से उपमेय में उपमान की संभावना की जाय।

उत्प्रेक्षोपमा–सं०स्त्री० [सं०] उपमा का भेद एक अर्थालंकार जिसमें किसी एक वस्तु के गुण का बहुतों में पाया जाना कहा जाता है।

उत्यम उजास–सं०पु०—दीपक (नां.मा.)

उत्यमतर–सं०पु० [सं० अति+उत्तम+तरु] चंदन (नां.मा.)

उत्रा–सं०स्त्री०—१ देखो 'उत्तरा'। उ०—रचै हथणापुर पंडवराज जळंती उत्रा ग्रभ मझार।—ह.र. २ सत्ताइस नक्षत्रों के अंतर्गत एक नक्षत्र (नां.मा.)

उत्राग्रभ–सं०पु० [सं० उत्तरा+गर्भ] उत्तरा का पुत्र परीक्षित (ह.र.)

उत्राधी–सं०पु०—एक प्रकार का घोड़ा (अश्वचितामणि)

उत्सरंग–सं०पु०—उत्सव, उमंग। उ०—इसउ एक स्त्री सत्रुंजय तणउ विचारु महिमा नउ भंडारु मंत्रीस्वर मन मांहि जांणी उत्सरंग आंणी।—रा.सा.सं.

उत्सरग–सं०पु० [सं०उत्सर्ग] १ त्याग, छोड़ना. २ दान. ३ न्यौछावर. ४ समाप्ति।

उत्सरजन–सं०पु० [सं० उत्सर्जन] १ त्याग, छोड़ना. २ दान. ३ वैदिक कर्म विशेष जो एक बार पौष में और एक बार श्रावण में होता है।

उत्सरपिणी–सं०स्त्री० [सं० उत्सर्पिणी] काल की वह गति या अवस्था जिसमें रूप, रस, गंध, स्पर्श इन चारों की क्रम से वृद्धि होती है (जैन)।

उत्सव–सं०पु० [सं०] १ उछाह, मंगल कार्य, धूमधाम, प्रमोद विधान, मंगल समय. २ त्यौहार, पर्व. ३ यज्ञ, पूजा. ४ आनन्द, आनंद-प्रकाश. ५ जलसा। उ०—नव महिना पूरा हुवा, कुंवर जायौ, बधाई बंटी, गुळ बांटियौ, नारेळ बांटिया, बड़ा उत्सव हुआ।
—पलक दरियाव री बात

उत्सादन–सं०पु०—उबटन लगाना और हाथ-पैर-सिर आदि दबाने का कार्य। यह चौसठ कलाओं के अंतर्गत एक कला मानी जाती है।

उत्साह–सं०पु० [सं०] १ उमंग, जोश. २ साहस की उमंग, हिम्मत, वीर रस का स्थायी भाव।

उत्साही–वि०—उत्साहयुक्त, हौसले वाला, उमंगी, साहसी।

उत्सुक–वि० [सं०] उत्कंठित, अत्यन्त इच्छुक।

उत्तरदिसपती–सं०पु०—१ उत्तर दिशा की वायु, वायु (डि.को.) २ कुवेर ।

उत्तरपंथौ–सं०पु०—एक खास जाति का घोड़ा (शा.हो.)

उत्तरपख–सं०पु० [सं० उत्तरपक्ष] न्याय के अंतर्गत वह सिद्धान्त जिसके अंतर्गत पूर्व पक्ष या प्रथम किये हुए निरूपण या प्रश्न का खंडन अथवा समाधान किया जाय । जवाब की दलील ।

उत्तरपति–सं०पु०—१ उत्तर दिशा की वायु (डि.को.) २ कुवेर ।

उत्तरपथ–सं०पु० [सं०] देवयान ।

उत्तरपद–सं०पु० [सं०] किसी यौगिक शब्द का अन्तिम शब्द ।

उत्तरफाळगुणी, उत्तरफाळगुनी–सं०स्त्री० [सं०] सत्ताइस नक्षत्रों के अन्तर्गत बारहवां नक्षत्र उत्तराफाल्गुनी ।

उत्तरभाद्रपद–सं०स्त्री०—सत्ताइस नक्षत्रों के अंतर्गत छव्वीसवां नक्षत्र, उत्तराभाद्रपद ।

उत्तरमंद्र–सं०पु०—संगीत की एक मूर्छना ।

उत्तरमानस–सं०पु०—गया तीर्थ में एक सरोवर विशेष ।

उत्तरमीमांसा–सं०स्त्री० [सं०] वेदान्त दर्शन (शास्त्र)

उत्तरमोड़–सं०पु०—१ उत्तर दिशा का रक्षक. २ उत्तर दिशा का सिरमौर. ३ हमालय पर्वत. ४ भाटी वंश अथवा भाटी वंश का व्यक्ति ।

उत्तरा–सं०स्त्री० [सं०] १ सताइस नक्षत्रों के अंतर्गत एक नक्षत्र २ विराट की एक कन्या जो अभिमन्यु को व्याही गई थी । परीक्षित इसका पुत्र था ।

उत्तराखंड–सं०पु०—भारत के उत्तर का हिमालय के समीप का भाग या प्रान्त ।

उत्तराद–सं०पु०—उत्तर दिशा । (रू.भे. उतराद)

उत्तरादो, उत्तरादौ–क्रि०वि०—उत्तर दिशा की ओर (द.दा.)

उत्तराध–सं०पु०—देखो 'उतराद' ।

उत्तराधिकार–सं०पु० [सं०] किसी के मरने पर उसकी धन-सम्पत्ति का स्वत्व, विरासत ।

उत्तराधिकारी–सं०पु०यौ० [सं०] किसी के मरने पर उसकी सम्पत्ति का मालिक, वारिस ।

उत्तराधी–वि०—उत्तर दिशा की ओर का ।

उत्तराफाळगुणी–सं०स्त्री०—सताइस नक्षत्रों के अंतरंगत एक नक्षत्र ।

उत्तराभाद्रपद–सं०स्त्री०—सताइस नक्षत्रों में से एक (अ.मा.)

उत्तराभास–सं०पु०यौ० [सं०] झूठा जवाब, अंड-बंड जवाब (स्मृति)

उत्तरायण–सं०पु० [सं०] देखो 'उतरायण' ।

उत्तरारध–सं०पु० [सं० उत्तरार्ध] पिछला भाग, पीछे का आधा भाग ।

उत्तरासाढ़ा–सं०स्त्री० [सं० उत्तराषाढ़ा] देखो 'उत्तराखाडा' ।

उत्तरी–सं०स्त्री०—उत्तर दिशा की वायु ।
सर्व०—१ इतनी. २ उतनी (मि० उतरी)

उत्तरोत्तर–क्रि०वि०यौ० [सं०] १ एक के बाद एक, क्रमशः, लगातार. २ एक के पश्चात् दूसरे का क्रम, आगे-आगे ।

उत्तांन–वि० [सं० उत्तान] ऊर्ध्वमुख, चित, पीठ के बल सीधा ।

उत्तांनपाद–सं०पु० [सं० उत्तानपाद] एक राजा जो स्वयंभुव मनु के पुत्र और प्रसिद्ध भक्त ध्रुव के पिता थे ।

उत्ताप–सं०पु० [सं०] १ गर्मी, तपन, उष्णता. २ कष्ट, वेदना, दुःख. ३ शोक, संताप ।

उत्तारणौ, उत्तारबौ–क्रि०स०—देखो 'उतारणौ' (रू.भे.)

उत्तारौ–सं०पु०—देखो 'उतारौ' ।

उत्ताळ–वि०—१ उत्कट. २ भयानक. ३ श्रेष्ठ. ४ त्वरित. ५ ऊँची । उ०—चलत लोह उत्ताळ, सूळ सरगदा परिघ्घन । चलत सोर सावत, मनहुं डंडूर बूंद घन ।—ला.रा.
सं०स्त्री०—उतावळी, शीघ्रता, त्वरा ।

उत्ताळौ–वि०—देखो 'उतावळौ' । उ०—भागे भीच गोरा सिंधांपरां रा जिहांन भाळौ, दावौ तेगां झाट दे उत्ताळौ दसू देस ।
—सूरजमल मीसण

उत्तावळौ–सं०पु०—एक प्रकार का घोड़ा (शा.हो.)
वि०—शीघ्रता करने वाला ।

उत्तिमंग–सं०पु० [सं० उत्तमाङ्ग] शिर, मस्तक ।
(मि० रू.भे. उतबंग, उतमंग, उतमांग, उतवंग)
उ०—ऊठिया कोपि आमळिय अंग, आकासि अड़ाविय उत्तिमंग ।
—रा.ज.सी.

उत्तमि–वि० [सं० उत्तम] उत्तम, श्रेष्ठ । देखो 'उत्तम' ।
उ०—राजा प्रोहित राखिजइ, जिणकी उत्तिम जाति । मोकळि घर रा मंगता, विरह जगावइ राति ।—ढो.मा.

उत्तीरण–वि० [सं० उत्तीर्ण] १ पार गया हुआ, पारंगत. २ मुक्त. ३ परीक्षा में कृतकार्य या सफल ।

उत्तुंग, उत्तुंगि–वि० [सं० उत्तंग] बहुत ऊँचा, उच्च, उन्नत ।
उ०—सात भूमि मंदिर उत्तुंगि, मारवणी वासी मन रंगि । दासी तास पंचसइ पासि, मारू मनि आत पूगी आस ।—ढो.मा.

उत्तू–सं०पु० [फा०] एक प्रकार का औजार या यंत्र जिसे गरम करके कपड़ों पर बेलबूटों या चुन्नट के निशान डालते हैं, इस औजार से किया गया बेलबूटों का काम ।

उत्तेजक–वि० [सं०] उभाड़ने, बढ़ाने या उकसाने वाला, प्रेरक, वेग को तीव्र करने वाला ।

उत्तेजन, उत्तेजना–सं०स्त्री० [सं०] प्रेरणा, बढ़ावा, प्रोत्साहन, वेगों को तीव्र करने की क्रिया ।

उत्तेजित–वि० [सं०] प्रेरित, उत्तेजनापूर्ण, प्रोत्साहित, पुनः पुनः आवेशित ।

उत्तौ–क्रि०वि०—१ उतनी दूरी तक, वहां तक २ उतने समय तक ।

उत्यथ–सं०पु०—उखड़ने की क्रिया या भाव । उ०—थिरा उत्यथ थत्थ तें, विथत्थ थत्थते वहें ।—ऊ.का.

उथापियोड़ौ-भू०का०कृ०—मिटाया हुआ, उन्मूलित।
(स्त्री० उथापियोड़ी)
उथापी-वि०—उलटने वाला।
उथाल-सं०पु०—उन्मूलन, नाश।
उथालणौ, उथालबौ-क्रि०स०—देखो-'ऊथालणौ'।
उथालणहार, हारौ (हारी), उथालणियौ-वि०—उथल-पुथल करने वाला।
उथालिओड़ौ, उथालियोड़ौ, उथाल्योड़ौ—भू०का०कृ०।
उथालियोड़ौ-भू०का०कृ०—उलटा हुआ, उलट-पुलट किया हुआ, उखाड़ा हुआ। (स्त्री० उथालियोड़ी)
उथालौ-वि०—१ उन्मूलन करने वाला।
सं०पु०—गर्भ गिराना (पशु)
उथि, उथियै-क्रि०वि०—वहां। उ०—हट्टम पट्टम वाणीयउ, उथि न जंप्पउ जाइ। मारू सदा सुवास छइ, अंगह तणइ सुभाइ।—ढो.मा.
उथेड़णौ, उथेड़बौ-क्रि०स०—गिराना, मारना। उ०—सांकरसी चडियउ लोह सज्जि, काविली उथेड़ण जडत कज्जि।—रा.ज.सी.
उथेल-वि०—उन्मूलन करने वाला।
सं०स्त्री०—देखो 'उथल'।
उथेलणौ, उथेलबौ-क्रि०स०—देखो 'उथालणौ'। उ०—बोल्यौ मूरख ऊभां आंगि परदा कूं उथेलै। धरती कौ भार सेसनाग नहीं झेलै।
—शि.वं.
उथेलियोड़ौ-भू०का०कृ०—देखो 'उथालियोड़ौ'। (स्त्री० उथेलियोड़ी)
उथेलौ-सं०पु०—१ उलटने की क्रिया. २ गिराना. ३ पुनः स्मरण करना या चर्चा करना. ४ देखो-'उथलौ'।
उथै-क्रि०वि०—वहां।
उथेलणौ—देखो 'उथेलणौ'। उ०—उथेलै मातंगां थके दुरंगां उराट।
—क.कु.बो.
उथोपणौ, उथोपबौ-क्रि०स०—१ छीनना, जब्त करना. २ मिटाना. ३ देखो 'उथापणौ'।
उथोपियोड़ौ-भू०का०कृ०—१ छीना हुआ, जब्त किया हुआ. २ मिटाया हुआ। (स्त्री० उथोपियोड़ी)
उदंगळ-सं०पु० [फा० दंगल] १ उत्पात, उपद्रव। उ०—सींवासरिण समेति पालड़ी का काट दीनां। सारो देस छूटचो जां उदंगळ फेरि कीनां।—शि.वं. २ युद्ध. ३ झमेला, टंटा, बखेड़ा।
उ०—निरालिय नीति उदंगळ नांय, मुनी किय मंगळ जंगळ मांय।
—ऊ.का.
उदंड-वि०—१ भयंकर, डरावना. २ प्रचण्ड [सं० उद्दंड] ३ जिसे दंड का भय न हो, अक्खड़, निडर, निर्भीक. ४ उजड्ड, उद्दंड।
उदंडौ-वि०—उद्दंड व्यक्तियों को दंड देने वाला। (स्त्री० उदंडा)
उ०—देवी दंडणी देव वैरी उदंडा, देवी वज्जया जया दैतां विखंडा।
—देवि.
उदंत-वि० [सं० अ+दंत] १ जिसके दांत जमे न हों, दांतरहित. २ (वह ऊँट) जिसके युवावस्था के दांत न आये हों. [सं० उद्दंत] ३ बृहद्दंत, दंतुला, निकला हुआ दांत।
सं०पु०—वृत्तान्त, विवरण (डि.को.) उ०—एक समय सभा में महाभारत री उदंत चालतां बडे भाई प्रतापसिंघ मूंछ रै माथै हाथ दियौ।—वं.भा.
उदंबर-सं०पु०—१ ब्राह्मणों का एक वंश (बां.दा.ख्या.) २ अठारह प्रकार के कुष्टों में से एक (अमरत)
उदंमर-सं०पु० [सं० उदुम्बर] तांबा (अ.मा.)
उद-सं०पु० [सं० युद्ध] युद्ध, लड़ाई (ह.नां.)
उदइगिरि-सं०पु०—उदयगिरि पर्वत। उ०—उदइगिरि जेम आदीत ओपि, कूंभिनी संभि आरुहिय कोपि।—रा.ज.सी.
उदई-सं०स्त्री०—चींटी के आकार का एक श्वेत कीड़ा जो लकड़ी कागज आदि में लग कर उसे खोखला और नष्ट कर देता है, दीमक।
कहा०—मूंडौ लियौ उदई रौ छाणौ व्है ज्यूं—उदई लगे कंडे के समान मुंह। कुरूप मुंह के लिये (व्यंग)।
उदकंजळि-सं०स्त्री०—जलांजलि, उदक क्रिया, जलतर्पण की क्रिया।
उ०—कजि उदकंजळि सुंज कराए, जमण सिनांन कियौ नृप जाए।
—रा.रू.
उदक-सं०पु० [सं०] १ जल, पानी, सलिल (डि.को.) उ०—ज्यां थारै तट जाय, उदर भर पीधौ उदक। मिनख जमारै है मांय, आया नह जगणी उदर।—बां.दा. २ शासन, पुण्य व दान में माफी की प्रदान की गई भूमि (डि.को.) ३ जल-संकल्प लेकर दी गई वस्तु।
उदक-अद्रि-सं०पु०—हिमालय पर्वत (डि.को.)
उदक क्रिया-सं०स्त्री० [सं०] मरे हुए मनुष्य को लक्ष्य करके जल देना, जल-तर्पण की क्रिया, तिलांजलि।
उदकघात-सं०पु०—पुरुषों की बहत्तर कलाओं के अंतर्गत एक कला।
उदकज-सं०पु० [सं०] १ मोती (अ.मा.) २ कमल।
उदकणौ, उदकबौ-क्रि०स०—१ किसी के निमित्त त्यागना. २ काम आना. ३ किसी धार्मिक कार्य के हेतु हाथ में जल लेकर संकल्प करना. ४ उछलना, कूदना।
उदकणहार, हारौ (हारी), उदकणियौ—वि०।
उदकिओड़ौ, उदकियोड़ौ, उदक्योड़ौ—भू०का०कृ०।
उदकधरा-सं०स्त्री०—जल संकल्प के द्वारा दी हुई दान की भूमि।
उदकपरीक्षा-सं०स्त्री०—शपथ देने की एक क्रिया विशेष जिसमें शपथ करने वाले को अपनी सत्यता को प्रमाणित करने के लिए पानी में डूबना पड़ता था, अब केवल गंगा जैसी पवित्र नदियों के जल को हाथ में ही लेना पड़ता है।
उदकवाद्य-सं०पु०—चौसठ कलाओं के अन्तर्गत एक कला।
उदकांणी-सं०स्त्री०—उदक (जल संकल्प) के द्वारा दी गई भूमि।
उदकियोड़ौ-भू०का०कृ०—१ जल-संकल्प द्वारा दिया हुआ.

उत्सुकता—सं०स्त्री० [सं०] १ आकुलता, इच्छा, उत्कंठा. २ इष्ट वात की प्राप्ति में विलम्ब न सह कर तत्प्राप्ति के लिए सद्य तत्पर होना। ३ एक प्रकार का संचारी भाव।

उथ, उथक—क्रि०वि०—वहाँ। उ०—राजा भोज अगर री वास सूं उथ आयौ।—चौवोली

उथकणौ—क्रि०अ०—कूदना, छलांग भरना। उ०—उथक हणमंत वहसिया आपा दिखळाया।—केसोदास गाडण

उथड़कणौ, उथड़कवौ—क्रि०अ०—१ गिरना, पड़ना। उ०—उथड़क उरक धड़क हिला।—गो.रू.
क्रि०स०—२ गिराना, पटकना।

उथड़णौ, उथड़बौ—क्रि०अ०—गिरना। उ०—खगहत्त खड़त्त सजोस खिजै। उथड़त्त पड़त्त सधीर अजै।—पा.प्र.
उथड़णहार, हारौ (हारी), उथड़णियौ—वि०—गिरने वाला।
उथड़िग्रोड़ौ, उथड़ियोड़ौ, उथड़्योड़ौ—भू०का०कृ०।

उथड़ियोड़ौ—भू०का०कृ०—गिरा हुआ। (स्त्री० उथड़ियोड़ी)

उथप—सं०पु०—देखो 'उत्थाप'।

उथपणौ, उथपवौ—क्रि०स० [सं० उथापन] देखो 'ऊथपणौ'।
उ०—मुगताहळ गजगांम समपै, थांन थांन पातां सिर थपै। यळ असहां गढ़ थांन उथपै, जग कव दवा जपै जस जपै।
—क.कु.वो.
उथपणहार, हारौ (हारी), उथपणियौ—वि०—मिटाने या नष्ट करने वाला, उखाड़ने वाला।
उथपिग्रोड़ौ उथपियोड़ौ, उथप्योड़ौ—भू०का०कृ०।

उथपथणौ, उथपथवौ—क्रि०स०—१ स्थापना करना २ उन्मूलन करना।

उथपियोड़ौ—वि०—मिटाया या नष्ट किया हुआ २ उखाड़ा हुआ। (स्त्री० उथपियोड़ी)

उथप्पणौ उथप्पवौ—क्रि०स०—देखो 'उथपणौ'।

उथप्पियोड़ौ—भू०का०कृ०—देखो 'ऊथपियोड़ो'। (स्त्री० उथप्पियोड़ी)

उथल—सं०स्त्री०—१ चाल, गति. २ मस्तिष्क में उपज की शक्ति।

उथलणौ, उथलवौ—क्रि०अ०—१ डगमगाना, डाँवाडोल होना, चलायमान होना. २ उलट-पुलट होना. ३ पानी का उथला या कम होना।
क्रि०स०—४ तले ऊपर करना, औंधाना, उलट देना, नीचे-ऊपर करना, इधर-उधर करना. ५ गिराना, मारना (रू.भे. 'ऊथल्लणौ')
उथलणहार, हारौ (हारी), उथलणियौ—वि०।
उथलिग्रोड़ौ, उथलियोड़ौ, उथल्योड़ौ—भू०का०कृ०।

उथलपथल, उथलपथल्ल, उथलपुथल, उथलपूथल—सं०स्त्री०—उलट-पुलट, उलट-फेर, क्रम भंग, इधर का उधर, हलचल।
वि०—उलटा-पुलटा, अंड-वंड। उ०—१ तीस वरस कुसती करी, पड़ गुड़ उथलपथल्ल।—ऊ.का.
उ०—२ वसुधा सिर घोर कळू वरतांणौ, प्रथमी उथलपुथल पुड़ै।
—जवांनजी आढ़ौ

उथलियोड़ौ—भू०का०कृ०—१ डगमगाया हुआ. २ उलट-पुलट हुआ. ३ नीचे-ऊपर या इधर-उधर हुआ. ४ गिरा हुआ, मारा हुआ। (स्त्री० उथलियोड़ी)

उथलौ—वि० [सं० उत्+स्थल] कम गहरा, छिछला।
मुहा०—उथलौ करणौ—खुलासा करना।
सं०पु०—१ उलटा गिराने का भाव. २ मादा पशुओं में नर-संगम से गर्भ न रहने पर पुनः होने वाली उत्कट मैथुनेच्छा।
क्रि०प्र०—करणौ, खाणौ, देणौ।

उथल्ल—सं०स्त्री०—१ गिराने का भाव। उ०—खळां उथल्लां खगां वणै वगतर वरघल्लां।—ऊ.का. २ प्रत्युत्पन्न बुद्धि. ३ वल,शक्ति।

उथल्लणौ, उथल्लवौ—क्रि.अ.स.—१ देखो 'उथलणौ' २ गिराना, मारना.
उ०—आहाड़ देस सगळउ उथल्लि, मेरा नइ चाचा मारि मल्लि।
—रा.ज.सी.

उथापण—वि०—उन्मूलन करने वाला। उ०—प्रथम पाखरिया विना रहणौ नहीं। दूजौ सवळां उथापण, तीजौ निवळां थापण।
—रा.सा.सं.

उथांमणौ, उथांमवौ—क्रि०स०—१ उँडेलना. २ उखेलना, उन्मूलन करना। उ०—सोवोजी खोळी उथांमण नै फौज ले आया।
—वां.दा.ख्या.
उथांमणहार, हारौ (हारी), उथांमणियौ—वि०—उँडेलने या उन्मूलन करने वाला।
उथांमिग्रोड़ौ, उथांमियोड़ौ, उथांम्योड़ौ—भू०का०कृ०।

उथांमियोड़ौ—भू०का०कृ०—१ उँडेला हुआ. २ उन्मूलित। (स्त्री० उथांमियोड़ी)

उथाप—सं०पु०—उन्मूलन, नाश। उ०—दुथणी जायौ कुण दिय, ऊभां पगां उथाप। तूं हिज आरंभै जिती, पार करै परताप।
—जैतदांन वारहठ

उथापण—वि०—स्थापित करने वाला। उ०—सवळ रायथांन उथापण, निरजोर राय सहाय करि थापण।—रा.रू.

उथापणौ, उथापवौ—क्रि.अ.स.—१ उन्मूलन करना, उलटना, मिटाना।
उ०—मन चिंता ढोला वसी, सांभळ ए कुवचन्न। हिव आयौ पाछौ वळै, इणै उथाप्यौ मन्न।—ढो मा.
२ जब्त करना, छीनना। उ०—ऐ दस गांव दियोड़ा चारणां नूं मोटै राजा उथापिया।—वां.दा.
उथापणहार, हारो (हारी), उथापणियौ—वि०—मिटाने या उन्मूलन करने वाला।
उथापिग्रोड़ौ, उथापियोड़ौ, उथाप्योड़ौ—भू०का०कृ०।

उथापना—सं०स्त्री०—नवरात्रि में अष्टमी का दिन।

उथापिथाप—वि०यौ०—स्थापित करने वाला व मिटाने वाला।
उ०—व्हौरौ एक स्योगढ़ में कुसाळीरांम होतौ। जैपुर कौ उथापिथाप पूगौ घांम मो तौ।—शि.वं.

उदनवांन–सं०पु० [सं० उदन्वान] समुद्र (अ.मा.)

उदनेर–सं०पु०—उदयपुर का एक नाम (रू.भे.)

उदवाह–सं०पु०—विवाह (डि.को.)

उदवुद–वि० [सं० अद्‌भुत] १ विचित्र, अद्‌भुत। उ०—जन हरिदास उदवुद कथा, परम गति गुरगमि लहिए।—ह.पु.वा.
[सं० उद्‌वुद्ध] २ विकसित. ३ प्रवुद्ध, चैतन्य।
सं०स्त्री०—माया-जाल। उ०—मंडणहारै मंड की उदवुद ऊपाई।
—केसोदास गाडण

उदवुदि, उदवुध–सं०स्त्री०—देखो 'उदवुद'। उ०—मन सज्जन तोसूं कहूं, समझि करौ विचार, यह कछु उदवुदि देखिये, दोय कहै करतार।—ह.पु.वा.

उदवेग–सं०पु० [सं० उद्वेग] १ घवराहट, भय. २ क्लेश।

उदभज–सं०पु०—देखो 'उद्भिज'। उ०—उदभज कहिजै रूंख, एही तौ प्रजा हुई। मुसिर जु रिति जैंका राज मांहे।—वेलि. टी.

उदभट–वि० [सं० उद्‌भट] १ प्रवल (ह.नां.) २ श्रेष्ठ (ह.नां.) ३ दातार (अ.मा., ह.नां.)

उदभव–सं०पु० [सं० उद्‌भव] १ उत्पत्ति, जन्म, प्रादुर्भाव, पैदाइश (अ.मा., ह.नां.) २ वढ़ती, वृद्धि (ह.नां.)

उदभव-रतन–सं०पु०यौ० [सं० उद्‌भव रत्न] समुद्र, सागर (अ.मा.)

उदभावना–सं०स्त्री० [सं० उद्‌भावना] १ कल्पना, मन की उपज. २ उत्पत्ति. ३ प्रकाश।

उदभास–सं०पु० [सं० उद्भास] १ प्रकाश, दीप्ति, आभा. २ मन में किसी वात का उदय।

उदभिज–सं०पु० [सं० उद्भिज] वृक्ष, लता, गुल्म, वनस्पति आदि जो भूमि को फोड़ कर निकलते है, पेड़-पौधे। उ०—प्रज उदभिज सिसिर दुरीस पीड़नौ, ऊतर ऊथापिया असंत।—वेलि.

उदभूत–वि० [सं० उद्‌भूत] उत्पन्न, निकला हुआ।

उदभेद, उदभेदन–सं०पु० [सं० उद्‌भेद] १ फोड़ कर निकलना (पौधों के समान) २ प्रकाशन, प्रकट होना. ३ उद्‌घाटन।

उदभ्रांत–वि० [सं० उद्‌भ्रान्त] १ घूमता हुआ या चक्कर लगाता हुआ. २ भूला या भटका हुआ. ३ चकित, भौचक्का. ४ भ्रांतियुक्त, भ्रमित।

उदम–सं०पु० [सं० उद्दाम] १ वह पशु जिसके पैरों में वंधन नहीं डाला गया हो. २ उद्योग, प्रयास, प्रयत्न। उ०—ऊफळियौ इनीयाव सुजळ इळ ऊपर, एकौ उदम फिरै नह आज। 'उदां' राव निभावौ आचां, जस जोड़ां वाळी हव ज्याज। [सं० उद्यम] ३ उत्साह। उ०—क्रिस्णजी को आगम सुणि नगर मांहि सहु किही लोगां नै उदम हुओ छै।—वेलि. टी. ४ अध्यवसाय. ५ काम-धंधा, रोजगार. ६ मेहनत, परिश्रम।
वि० [सं० उद्दाम] स्वतंत्र, वंधनरहित। उ०—उदम असत गया उलंडे, लाज वंधण पग लागौ लीह।
—रावत रतनसिंह चूंडावत री गीत

उदमणौ, उदमवौ–क्रि०स०—खूब खर्च करना, मौज करना।
उदमणहार, हारौ (हारी), उदमणियौ—वि०।

उदमहर–सं०पु० [सं० उदुंवर] तांवा (ह.नां.)

उदमाद–सं०स्त्री०—१ उन्मत्तता, मस्ती. २ पागलपन, उन्माद. ३ शैतानी, शरारत, वदमाशी. ४ हर्ष, प्रसन्नता, आनंद। उ०—१ ऊपनी चाव जग जग उवर, मापै कुण उदमाद रौ।
—रा.रू.
उ०—२ जोइयां भड़ वूहड़ राव जुवै हर हूर रंभा उदमाद हुवै।
—गो.रू.
५ इच्छा, अभिलाषा। उ०—कव पूछै एम वताओ कोई जावां कर उदमाद जठै। देसड़लै नर रहचा अदेवा, कीरत रा वर गया कठै।
—अज्ञात
६ उमंग, उत्साह। उ०—पळचर उदमाद गयौ अंत पायौ, थांन वडौ अहंकार थियौ। वांकौ भड़ 'सांगौ' खग वाहौ, ग्रीध धपावण हार गयौ।
—सांगा री गीत
७ कामक्रीड़ा। उ०—सेजड़ल्यां रमतां सजन अर करता उदमाद, वाल्हम कीजौ जी अवस, उण विळा ने याद।—अज्ञात
[सं० उद्यम] ८ उद्योग, परिश्रम. ९ उमंग, जोश। उ०—वड़ा वोलतौ वोल उदमाद करतौ विढ़ण। तोलतौ खाग भुज वढ़ण ताया।
१० एक प्रकार का घोड़ा विशेष (शा.हो.) —अज्ञात

उदमादणौ, उदमादवौ–क्रि०स०—व्यर्थ खर्च करना, द्रव्य लुटाना, दान करना।

उदमादियौ, उदमादी–वि०—१ उत्पाती, उपद्रवी. २ उन्मादी, मतवाला। उ०—अमल तूं उदमादिया, सैणां हंदा सैण। था विन घड़ी न आवड़ै, फीका लागै नैण।—अज्ञात ३ आमोद-प्रमोद करने वाला।

उदय–सं०पु० [सं०] १ निकलना, प्रगट होना (प्रायः ग्रहादि के लिये) २ वृद्धि, उन्नति, वढ़ती. ३ उद्‌गम स्थान. ४ उदयाचल. ५ उत्पत्ति. ६ प्रकाश. ७ मंगल. ८ उपज।

उदय अचळ–सं०पु० [सं० उदयाचल] उदयगिरी (डि.को.)

उदयकाळ–सं०पु०—प्रभात, प्रातःकाल।

उदयगिरि–सं०पु०यौ० [सं०] पूर्व की ओर एक कल्पित पर्वत जिस पर सूर्य प्रथम उदित होता है।

उदयणौ, उदयवौ–क्रि०अ०—उदय होना।

उदयनक्षत्र, उदयनखत्र–सं०पु० [सं० उदय नक्षत्र] अगर कोई ग्रह किसी नक्षत्र पर दिखाई पड़े तो वह नक्षत्र उस ग्रह का उदय नक्षत्र कहलाता है।

उदयनयर–सं०पु०—उदयपुर का एक नाम।

उदयपरणी–सं०स्त्री० [सं० उदयपर्णी] उरद के जैसे पत्तों वाली एक जड़ी विशेष जो औषधि के प्रयोग में आती है (अमरत) (रू.भे. उडदपरणी)

उदयपुर–सं०पु०—राजस्थान का एक प्रसिद्ध नगर।

२ विचार दृढ़ किया हुआ। (स्त्री० उदकियोड़ी)

उदकी-सं०पु०—जल संकल्प द्वारा दान में दी गई भूमि या वस्तु को ग्रहण करने वाला। उ०—ग्रांवादांन गांवां में किसांणां नै बसाया। उदकी भी यतांमी देसवासी चैन पाया।—शि.व.

उदक्क, उदक्कि-सं०पु०—जल, पानी। उ०—वाळियउ जांधि सुधरम्म वक्कि, ग्रांजुळी पित्तर पोखिय उदक्कि।—रा.ज.सी.

उदगणौ, उदगबौ-क्रि०स० [सं० उद्गरण] उगलना। उ०—गौ खीर स्रवति रस धरा उदगि रति, सर पोइणिए थई सुस्त्री।—वेलि.

उदगम-सं०पु० [सं० उद्गम] १ उदय, ग्राविर्भाव. २ उत्पत्ति स्थान. ३ किसी नदी के निकलने का स्थान. ४ पुष्प, सुमन. (ग्र.मा., ह.नां.)

उदगमन-सं०पु० [सं०] ऊपर जाना, ऊर्ध्वगमन।

उदगरगळ-सं०पु० [सं० उदर्गल] किसी स्थान पर कितने हाथ की दूरी पर जल है यह जानने की विद्या।

उदगरणौ,उदगरबौ-क्रि०स०—१ देने के लिए विचारना. २ संकल्प द्वारा छोड़ना।

उदगरणहार, हारौ (हारी), उदगरणियौ—वि०।

उदगरियोड़ौ—भू०का०कृ०।

उदगाता-सं०पु० [सं० उद्गाता] यज्ञ के चार प्रधान ऋत्विजों में से एक जो सामवेद के मन्त्रों का गान करता है, सामवेदज्ञ।

उदगाथा-सं०स्त्री० [स० उद्गाथा] ग्रार्या छन्द का एक भेद जिसके विषम पदों में तो १२ ग्रौर सम पदों में १८ मात्रायें होती हैं तथा विषम गणों में जगण नहीं रहता।

उदगार-सं०पु० [सं०] १ मन में काफी समय से रखी हुई बात को एकबारगी निकालना, मन की बातों को प्रकट करना. २ उबाल उफान. ३ वमन, कै. ४ डकार. ५ थूक. ६ बाढ़, ग्राधिक्य।

उदगारणौ, उदगारबौ-क्रि०स०—१ बाहर निकालना, बाहर फेंकना. २ उभाड़ना, उत्तेजित करना, भड़काना. ३ डकार लेना. ४ कै करना।

उदगारणहार, हारौ(हारी), उदगारणियौ—वि०।

उदगारी-सं०पु० [सं० उद्गारित] बृहस्पति के बाहरवें युग का द्वितीय वर्ष (ज्योतिष)

उदगीत, उदगीति-सं०स्त्री० [सं० उद्गीत] ग्रार्या छंद का एक भेद जिसके विषम पद मे १२, दूसरे में १५, तथा चौथे में १८ मात्रायें होती हैं।

वि० [सं०] उच्च स्वर से गाया हुग्रा।

उदगीरणौ-क्रि०स०—उगलना। उ०—गौ खीर स्रवति रस धरा उदगीरति।—वेलि.

उदग्ग उदग्गनि, उदग्गिनि-वि०—१ ऊँचा, उन्नत। उ०—दुहुं ग्रोर उदग्गनि खग्ग किये, दुहुं ग्रोर तुरंगन वग्ग लिये।—ला.रा.

२ नंगी (तलवार) उ०—उदग्ग खग्ग मग्ग में विलग्ग ग्रग्ग की गहे।—ऊ.का. ३ उग्र, प्रचंड।

उदग्रदंती-सं०पु०—लंबे दांतों वाला हाथी (डि.को.)

उदघटणौ, उदघटबौ-क्रि०ग्र०—१ प्रकट होना. २ उदय होना. ३ निकलना।

उदघटियोड़ौ-भू०का०कृ०— प्रगट हुग्रा, उद्घटित हुग्रा। (स्त्री० उदघटियोड़ी)

उदघाटक-वि० [सं० उद्घाटक] १ प्रकाशक. २ खोलने वाला. ३ प्रकट करने वाला. ४ उदघाटन करने वाला।

उदघाटणौ, उदघाटबौ-क्रि०स०—प्रकट करना, प्रकाशित करना, खोलना।

उदघाटणहार, हारौ (हारी), उदघाटणयौ—वि०—प्रकट करने वाला, खोलने वाला।

उदघाटिग्रोड़ौ, उदघाटियोड़ौ, उदघाटयोड़ौ—भू०का०कृ०।

उदघाटियोड़ौ-भू०का०कृ०—प्रकट किया हुग्रा, प्रकाशित किया हुग्रा, खोला हुग्रा। (स्त्री० उदघाटियोड़ी)

उदघातक-वि० [सं० उद्घातक] १ धक्का मारने वाला, ठोकर लगाने वाला. २ ग्रारम्भ करने वाला।

सं०पु०—नाटक में प्रस्तावना का एक भेद विशेष जिसमें सूत्रधार ग्रौर नटी ग्रादि की कोई बात सुन कर उसका ग्रौर ग्रर्थ लगता हुग्रा कोई पात्र प्रवेश करता है या नेपथ्य से कुछ कहता है।

उदणौ, उदबौ-क्रि०ग्र०—प्रकट होना, उदय होना। उ०—ग्राणंद सु जु उदौ, उहास हास ग्रति राजति रद रिखपंति रुख।—वेलि.

उदद, उदद्ध, उदध-सं०पु० [सं० उदधि] १ समुद्र (डि.को.)

उ०—१ ग्रागै पग राज खळक्क उदद्ध, गरज्ज पगां रज मोटा ग्रद्ध।
—ह.र.

उ०—२ ग्रगसत विना उदध ग्रवर रिख कमण ग्रहारै।
—बुधजी ग्रासियौ.

२ तालाब, झील (द.दा.)

उदधमत-वि० [सं० उदधि+मति] गम्भीर बुद्धि वाला। उ०—मजल के करे पूंहतौ नगर उदधमत, कही कागद समप हुतां मिळ हकीकत।
—रा.रू.

उदधि-सं०पु० [सं०] १ समुद्र, सागर।

उदधि खीर-सं०पु० [सं० उदधि+क्षीर] क्षीर समुद्र। उ०—मथे जवन दळ उदधिखीर मित, ग्रचळ हुवौ तिल तिल सुर ग्रंचित।
— वं.भा.

उदधिमेखळा-सं०स्त्री०—पृथ्वी, भूमि।

उदधिसुत-सं०पु० [सं०] समुद्र मे उत्पन्न वस्तु, यथा—चंद्रमा, ग्रमृत, शंख, धन्वंतरि, ऐरावत, कमल, कल्पवृक्ष, धनुष, ग्रादि।

उदधिसुता-सं०स्त्री० [सं०] समुद्र की पुत्री—श्री (लक्ष्मी), रंभा, कामधेनु, मणि, वारुणी, सीप।

उदद्ध, उदद्धौ-सं०पु० [सं० उदधि] समुद्र, सागर।

उदनमत, उदनवत-सं०पु० [सं० उदनवत्] समुद्र, उदधि (ग्र.मा.,ह.नां.)

सं॰स्त्री॰—४ खिन्नता, दुःख। उ॰—संकती कहै सुणौ सासूजी, इतरी कांय उदासी। मौ कंथ तणौ भरोसौ मोनै, ग्रौ कुसळै घर ग्रासी।—ग्रज्ञात

वि॰—उदासीन, खिन्न चित्त। उ॰—ग्ररजण हारियौ होय ग्रवळ उदासी। दुरजोधन करसी मोहि दासी।—सिवदांन बारहठ

उदासीन—वि॰—१ देखो 'उदास' २ ममतारहित. ३ वासनाशून्य।

उदासीनता—सं॰स्त्री॰ [सं॰] १ विरक्ति, त्याग. २ निरपेक्षता. ३ उदासी, खिन्नता।

उदासी बाजा—सं॰पु॰—एक प्रकार का फूंक कर बजाया जाने वाला बाजा।

उदाहरण—सं॰पु॰ [सं॰] १ दृष्टांत निदर्शन, उपमा, मिसाल. २ तर्क के पांच ग्रवयवों में से तीसरा जिसके साथ साध्य का साधर्म्य या वैधर्म्य होता है. ३ किसी सामान्य बात का उदाहरण से स्पष्टीकरण करने का एक प्रकार का ग्रलंकार विशेष।

उदिश्वित—सं॰स्त्री॰ [सं॰ उदश्वित] छाछ, तक्र (ह.नां.)

उदित—वि॰ [सं॰ उद्+इ+क्त] १ जो उदय हुग्रा हो, उद्गत, ग्राविर्भूत, प्रकट, निकला हुग्रा. २ प्रकाशित, ग्रालोकित।
उ॰—ग्रंतर निलंबर ग्रवळ ग्राभरण, ग्रंगि ग्रंगि नग नग उदित।
—वेलि.
३ उज्वल, स्वच्छ. ४ प्रफुल्लित, प्रसन्न. ५ कथित, कहा हुग्रा।

उदितजोवना—सं॰स्त्री॰ [सं॰ उदित+यौवना] मुग्धा नायिका का एक भेद जिसमें तीन भाग यौवन ग्रौर एक भाग लड़कपन हो। ग्रागलयौवना।

उदियणौ, उदियबौ—क्रि॰ग्र॰—उदय होना। उ॰—एकणि जीभ किसा कहूं, मारू-रूप ग्रपार। जे हरि दियइ त पांमियइ, उदियइ इण संसार।—ढो.मा.

उदियांणौ—सं॰पु॰—देखो 'उदयपुर'।

उदियांन—सं॰पु॰—विकट एवं ऊबड़-खाबड़ वन। उ॰—देखै सूरज री दरम, हूं छै पवन हिलोळ। ग्रौ बाळक उदियांन में, कै कै करै किलोळ।
—पा.प्र.

उदियागिर—सं॰पु॰—देखो 'उदयगिरि'।

उदियाचळ—सं॰पु॰—देखो 'उदयाचळ'।

उदियाड़ौ—सं॰पु॰—बुरा समय, बरबाद होने का समय।

उदियापुर—सं॰पु॰—देखो 'उदयपुर'।

उदियावणौ—वि॰ (स्त्री॰ उदियावणी) भयप्रद, भयानक, भयावना।
उ॰—ढळ चक्र लगै उदियावणौ महासूर मैचगमणौ।—पा.प्र.

उदियास—वि॰ [सं॰ उदास] खिन्न, उदासीन।

उदियासी—देखो 'उदासी'।

उदिर—सं॰पु॰ [सं॰ उदर] पेट, उदर।

उदीच—वि॰स्त्री॰ [सं॰उत्+ग्र] १ उत्तर दिशा का, उत्तर दिशा संबंधी। २ ब्राह्मणों की एक शाखा। उ॰—नै पुरब सूं बांभण उदीच वेदिया १००० तेड़ाइ नै गांव ५०० नूं सिद्धपुर दियो।—नैणसी

उदीचि, उदीची—सं॰स्त्री॰ [सं॰ उत्+ग्र] उत्तर दिशा (डि.को.)
उ॰—कह्यौ स्वकूच प्राचि कौ प्रतीचि पंथ तू परचौ। ग्रवाचि जांन ग्रादरचौ उदीचि कौ ग्रनादरचौ।—ऊ.का.

उदीपण, उदीपन—सं॰पु॰—देखो 'उद्दीपन'। उ॰—लटालूंब द्रुम वन लता, कुस सटा चहुंकोर। उदीपण भूखण ग्रटा, घटा मोर घणघोर।
—क.कु.बो.

उदीयापुर—सं॰पु॰—उदयपुर का एक नाम (रू.भे.)

उदीरण—वि॰—दातार (ग्र.मा, ह.नां.)
सं॰पु॰ [सं॰ उत्+इर्+ग्रनट्] कथन, उच्चारण, कहना, वाक्य (ह.नां.)

उदीस्ट—सं॰पु॰—१ कोई दिया हुग्रा. २ छंद मात्रा प्रस्तार के भेद बतलाने की क्रिया विशेष।

उदुंबर—सं॰पु॰ [सं॰] १ तांबा (डि.को.) २ गूलर. ३ देहली, ड्योढ़ी. ४ नपुंसक. ५ कुष्ट का एक भेद विशेष (ग्रमरत)

उदूखळ—सं॰पु॰ [सं॰ उदूखल] ग्रोखली, उखल (डि.को.)

उदूलहुक्मी—सं॰स्त्री॰ [फा॰] ग्राज्ञा न मानना, ग्राज्ञोल्लंघन, ग्रवज्ञा।

उदे—सं॰पु॰ [सं॰ उदय] उदयाचल पर्वत। उ॰—पह फाटिय सूर उदे यूं पर यूं। फजरे ग्रर 'पाळ' बरा फरि यूं।—पा.प्र.

उदेई—सं॰स्त्री॰—देखो 'उदई'।

उदेउदै—सं॰पु॰—रंग विशेष का घोड़ा (शा.हो.)

उदेक, उदेग—सं॰पु॰ [सं॰ उद्वेग] उद्वेग, दुःख, चिंता। उ॰—मन ग्रामय मोड़ उदेक मिटै। पढ़तां विप तेज कळा प्रगटै।—पा.प्र.

उदेतिलक—सं॰पु॰—रंग विशेष का घोड़ा (शा.हो.)

उदेतुरंग—सं॰पु॰—रंग विशेष का घोड़ा (शा.हो.)

उदेदिन, उदेदीन—सं॰पु॰—एक प्रकार का रंग विशेष का घोड़ा (शा.हो).

उदेनेर, उदेनैर—सं॰पु॰—देखो 'उदयपुर'।

उदेदाज—सं॰पु॰—एक प्रकार का विशेष रंग का घोड़ा (शा.हो.)

उदेभांण—सं॰पु॰—एक प्रकार का घोड़ा (शा.हो.)

उदेरूप—सं॰पु॰—एक प्रकार का घोड़ा।

उदेलसकर—सं॰पु॰—एक प्रकार का रंग विशेष का घोड़ा (शा.हो.)

उदै—सं॰पु॰ [सं॰ उदय] १ उदय, उत्पत्ति। उ॰—इक्खत जिम हिमकर उदै ग्रंबुधि उफणाया।—वं.भा. २ वृद्धि, बढ़ती, उन्नति। ३ प्रकट होना. ४ उद्गम स्थान. ५ प्रकाश. ६ उदयाचल।
सं॰स्त्री॰—७ पूर्वदिशा। उ॰—इसौ कुण ग्रभंग लग उदै ग्राथांण नूं। प्रसण जग ग्रांगमै ग्राज कूंपांण नूं।—रामलाल बारहठ
८ भूमि, पृथ्वी (ना.डि.को)

उदैग्रद्र—सं॰पु॰ [सं॰ उदय+ग्रद्रि] उदयाचल पर्वत। उ॰—उदैग्रद्र जौ ग्रारमौ भांण ऊगै। पवै ग्रस्त सी पूगियां नीठ पूगै।—मे.म.

उदैनयर, उदैनेर—सं॰पु॰—देखो 'उदयपुर'।

उदैसिघोत—सं॰पु॰—भाटी वंश की एक शाखा ग्रथवा इस शाखा का व्यक्ति (बां.दा.ख्या.)

उदयागिरि-सं०पु०—देखो 'उदयगिरि'। उ०—जग अरध प्रकासति अभ्र जुदै उदयागिरि जांणिक सूर उदै।—रा.रू.

उदयाचळ-सं०पु०—पूर्व की ओर एक कल्पित पर्वत जिस पर सूर्य प्रथम उदित होता है। उ०—भोज तणइ नउंतइ मिळचौ, जांणे उदयाचळ उगइ छइ भांण।—वी.दे.

उदयातिथि-सं०स्त्री० [सं०] सूर्योदय काल में होने वाली तिथि (इस तिथि में ही स्नान, ध्यान, एवं अध्ययन आदि कार्य होने चाहिएँ।)

उदयादीतइ-सं०पु०—सूर्योदय। उ०—उदयादीतइ जांणी वात, चाचिगदे इम खेली घात।—कां.दे.प्र.

उदयापुर, उदयापुरी-सं०पु०—१ देखो 'उदयपुर'. २ सीसोदिया वंश के राजपूतों का उपटंक या पदवाचक शब्द. ३ उदयपुर का, उदयपुर सम्बन्धी।

उदर-सं०पु० [सं०] १ पेट, जठर (ह.नां.)
कहा०—उदर री खाडी समुंदर सूं ऊंडी है—उदर का गड्ढा समुद्र से भी अधिक गहरा है; उदर को रोजाना भोजन द्वारा भरते हैं फिर भी दूसरे दिन खाली मिलता है। २ किसी वस्तु के मध्य का भाग, मध्य, पेटा. ३ गर्भ।

उदरक-सं०पु० [सं० उदर्क] १ भविष्यकाल. २ भविष्य-परिणाम। उ०—अर जळ जीमण आखेट आदि विहार क्रीड़ा में सांमिळ रहि स्नेह रा उदरक रा अनेक अमोघफळ चाखिया।—वं.भा.

उदरच-सं०स्त्री० [सं०] आग, अग्नि (नां.मा.,ह.नां.)

उदरज्वाळा-सं०स्त्री० [सं०] भूख, जठराग्नि।

उदरणी, उदरवौ—देखो 'उधरणौ'।

उदरत्रांण-सं०पु० [सं० उदर+त्राण] उदर-रक्षक पेटी, कमर पेटी (डि.को.)

उदराग्नि-सं०स्त्री० [सं०] जठराग्नि, जठरानल।

उदरि, उदरिल, उदरी-सं०पु० [सं० उदर] देखो 'उदर'।
उ०—दस मास उदरि धरि वळे वरस दस जो इहां परिपाळे जिवड़ी।—वेलि.
वि०—बड़े पेट वाला, तांदू (डि.को.)

उदवांत-सं०पु० [सं० उद्वान्त] मद उतरा हुआ हाथी (डि.को.)

उदवेग-सं०पु० [सं० उद्वेग] देखो 'उद्वेग'।

उदस-सं०पु० [सं० उदश्वित] १ दही, दधि (मि० उदस्त) २ सूखी खांसी।

उदसटियौ-वि०—बुद्धिहीन, मूर्ख।

उदस्त-सं०पु० [सं० उदश्वित] दही (अ.मा.)

उदांण-सं०पु०—१ उदावत शाखा के राठौड़. २ उदयपुर नगर।

उदांन-सं०पु० [सं० उदान] १ प्राणवायु का एक भेद विशेष जिसका स्थान कंठ कहा जाता है। इससे डकार और छींक आती है (अमरत) २ सर्प विशेष।

उदांम-वि० [सं० उद्दाम] १ उद्दंड, शैतान। उ०—१ नमो त्तव कारण सारण स्यांम, उवारण गोकळ इंद्र उदांम।—ह.र. २ बंधनरहित। उ०—२ आस उलंघ उलंघे अरवद, आवध चंद उलंघ उदांम। ३ महान। —सादूळ आढ़ौ
सं०पु०—वरुण।

उदात-वि० [सं० उदात्त] १ ऊँचे स्वर से उच्चारण किया हुआ. २ कृपालु, दयालु. ३ दाता, उदार (ह.नां.) ४ श्रेष्ठ (ह.नां.) ५ पवित्र, उज्वल। उ०—नाराजां उदात क्रीत भारामाल नंद। —क.कु.बो.
सं०पु०—१ वेदोच्चारण में स्वर का एक भेद जिसमें तालू आदि के ऊपरी भाग से उच्चारण किया जाता है. २ दान, त्याग. ३ दया।

उदाता-वि० [सं०] १ दाता. २ त्यागी. ३ उदार।

उदात्त-वि०—देखो 'उदात'।

उदाध्धि-सं०पु० [सं० उदधि] समुद्र, सागर। उ०—विहांगड़े ज उदाध्धचां, सर ज्यउं पंडुरियांह। कालर काभा कमळ ज्यउं, ढळिढळि ढेर थियांह।—ढो.मा.

उदायन-सं०पु० [सं० उद्यान] बाग, बगीचा।

उदार-वि०—१ दाता (अ.मा.) २ दानशील. ३ बड़ा, श्रेष्ठ(ह.र.) ४ ऊँचे दिल या हृदय का. ५ सरल, सीधा. ६ अनुकूल।
सं०पु०—१ शिव, महादेव (क.कु.बो.) २ एक काव्यालंकार जिसमें निर्जीव पदार्थों में श्रेष्ठता बतलाई जाती है. ३ प्रथम पांच ह्रस्व फिर एक लघु इस क्रम से २८ वर्ण का छंद विशेष (ल. पिं.)

उदारचरित-वि०—१ ऊँचे दिल वाला. २ उदार चरित्र वाला।

उदारचेता-वि० [सं० उदारचेतस्] १ उदार चित्त वाला. २ उच्च विचार वाला।

उदारता, उदारपण, उदारपणौ-सं०उ०लिं०—१ दानशीलता, फैय्याजी, वदान्यता. २ उच्च विचार. ३ कृपालुता (ह.र.)

उदाळौ-वि०—उन्मूलन करने वाला।

उदावत-सं०पु०—राठौड़ वंश के क्षत्रियों की एक उप शाखा या इस शाखा का व्यक्ति।

उदावरत, उदावरत्त-सं०पु० [सं० उदावर्त] १ गुदा का एक रोग जिसमें काँच निकल आती है अर मल मूत्र रुक जाता है, गुदा-ग्रह, काँच (अमरत) २ एक प्रकार का रंग विशेष का घोड़ा। (शा.हो.)

उदास-वि० [सं०] १ जिसका चित्त किसी वस्तु से हट गया हो, विरक्त. २ झगड़े से अलग, निरपेक्ष, तटस्थ. ३ दुखी, रंजीदा, खिन्न, उदासीन।

उदासत-सं०पु०—तेज (अ.मा)

उदासी-सं०पु० [सं० उदास+ई] १ विरक्त अथवा त्यागी पुरुष, संन्यासी. २ नानकशाही साधुओं का एक भेद विशेष. ३ वैरागी, एकांतवासी।

दांणव निरदळण, अव्व रांमण चौगाळण ।—जग्गौ खिड़ियौ
३ उद्धार करना. ४ अलग करना ।
क्रि०अ०—५ उद्धार होना, मुक्त होना । उ०—हरि हरि करि उद्धरे, वड़ो मेवग्ग वभीखण । हरि हरि करि उद्धरे, गजह सांमद धू अज्जण ।—जग्गौ खिड़ियौ
उद्धरणहार, हारौ (हारी), उद्धरणियौ—वि० ।
उद्धरयोड़ौ, उद्धरयोड़ौ, उद्धरयोड़ौ—भू०का०कृ० ।

उद्धरियोड़ौ—भू०का०कृ०—१ किया हुआ. २ वारण किया हुआ. ३ अलग किया हुआ. ४ उद्धार किया हुआ, मुक्त । (स्त्री० उद्धरियोड़ी)

उद्धरौ—वि०पु० (स्त्री० उद्धरी) १ उद्धार करने वाला. २ उच्च कोटि का. ३ निशंक ।

उद्धव—सं०पु० [सं०] १ उत्सव. २ यज्ञ की अग्नि. ३ आमोद-प्रमोद. ४ श्रीकृष्णजी के एक मित्र, ऊधो ।

उद्धार—सं०पु० [सं०] १ मुक्ति, छुटकारा, निस्तार. २ वचाव, रक्षण. ३ सुधार, उन्नति, दुरुस्ती. ४ देखो 'उधार' (डि.को.)

उद्धारक—वि० [सं०] उद्धार करने वाला । उ०—उद्धारक आरयावरत वीर अगवांणी । गुर विरजानंद समीप गयौ व्रह्मग्यांनी ।—ऊ.का.

उद्धारणौ, उद्धारवौ—क्रि०स० [सं० उद्धार] १ उद्धार करना, छुटकारा देना, मुक्त करना. २ अलग करना. ३ उवारना ।
उद्धारणहार, हारौ (हारी), उद्धारणियौ—वि०—उद्धार करने वाला ।
उद्धारिओड़ौ, उद्धारियोड़ौ—उद्धारयोड़ौ—भू०का०कृ० ।

उद्धारियोड़ौ—भू०का०कृ०—उद्धार किया हुआ । (स्त्री० उद्धारियोड़ी)

उद्धोर—सं०पु०—एक छंद विशेष जिसमें पहले दो जगण तथा एक लघु और फिर दो जगण व अंत में गुरु लघु होता है ।

उद्‌वंधण—सं०पु०—वंधन, फंदा, जाल । उ०—प्रथ्वीराज री मंत्री उणरा उक्त रूप इंद्रजाळ रा उद्‌वंधण में न आयौ ।—वं.भा.

उद्‌वोधक—वि० [सं०] १ वोध कराने वाला, चेताने वाला, जगाने वाला. २ प्रकाशित, प्रकट या सूचित करने वाला. ३ उत्तेजित करने वाला ।

उद्भिज—सं०पु० [सं०] देखो 'उदभिज' । उ०—अंडज्ज, स्वेदज्ज जरा उद्भिज, माया सव तूझ म भूलव मुज्झ ।—ह.र.

उद्‌भिद—सं०पु० [सं० उत्+भिद्+क्विप] देखो 'उद्‌भिज' ।
सं०स्त्री०—वृक्षादि लगाने की कला ।

उद्‌भेद, उद्‌भेदन—सं०पु० [सं०] देखो 'उदभेद' ।

उद्यत—वि० [सं०] १ तत्पर, प्रस्तुत. २ मुस्तैद, तैयार. ३ उठाया हुआ, ताना हुआ ।

उद्यम—सं०पु०—देखो 'उद्दम' । उ०—जस लाभ धीरज साहस धरण दया ग्यांन उद्यम करण । रिणि सूर दांन राजांन रा विधि वत्रीस लखण वरण ।—रा.सा.सं.

उद्यमी—वि०—उद्यम करने वाला, परिश्रम करने वाला ।

उद्यांन—सं०पु० [सं० उद्यान] १ वाग, वगीचा, उपवन. २ निर्जन वन.

उद्यापन—सं०पु०—१ किसी व्रत की समाप्ति पर किया जाने वाला कृत्य जैसे हवन गोदान आदि, समापन क्रिया. २ पल्लीवाल ब्राह्मणों के मृत्यु भोज में किया जाने वाला विष्णु यज्ञ ।

उद्यास—वि०—उदासीन, खिन्न चित्त, दुखी ।

उद्योग—सं०पु० [सं०] १ प्रयत्न, चेष्टा, प्रयास, परिश्रम. २ कामधंधा, रोजगार, अध्यवसाय. ३ उपाय ।

उद्योगी—वि०—१ प्रयत्नशील, परिश्रमी । उ०—दुरधर डंका दे वंका द्रढ़ धाया, उठिया उद्योगी उद्दिम उमगाया ।
२ उद्यम करने वाला ।

उद्योत—सं०पु० [सं०] १ प्रकाश, उजाला, चमक, झलक ।
उ०—जगमगत दीपक जोत, अति जोति पंति उद्योत ।—रा.रू.
२ सूर्य, भानु । उ०—कमल विकास उद्योत दिवाकर ।—क.कु.वो.

उद्योतवंत—वि०—जाज्वल्यमान, चमकयुक्त । उ०—प्रोहित मंत्रवी दीठौ तरै माथौ वूणियौ ज्योतिधारी कळावारौ उद्योतवंत दीसै छै ।
—जगदेव पंवार री वात

उद्योति, उद्योत—सं०उ०लिं०—चमक, रोशनी, कांति ।

उद्र—सं०पु० [सं०] १ उदविलाव [सं० उदर] २ उदर, पेट (डि.को.)
उ०—पह्लाद परतग्या राख्यां, हरणाकुस तणौ उद्र विदारण ।
३ गर्भ । —मीरां

उद्रक—सं०पु० [सं० उद्+रेक्र शंकायाम्+घञ्] १ भय, डर (ह.नां.)
[सं० उद्+रिच+घञ्] २ आधिक्य (ह.नां.)

उद्रवट—वि०—वहुत, अधिक ।

उद्रा—सं०पु० [सं० उदर] उदर । उ०—कौण ऊंच कौण है सुद्रा, जामें मरे स एकै उद्रा ।—ह.पु.वा.

उद्राव—सं०पु०—भय, आतंक ।

उद्रावणौ—वि०—भयानक, वुरा, शोकसूचक । उ०—विप आय खंड विहंड हुवौ सवद न हतौ सुहावणौ । गूंजुए 'पाळ' लागै जको आज घणौ उद्रावणौ ।—पा.प्र.

उद्रिआंमण—वि०—भयंकर, भयानक । उ०—भर सांमण जांमण भादव री । उद्रिआंमण दांमण आ थव री ।—पा.प्र.

उद्रियावणौ—वि०—देखो 'उद्रावणौ' । उ०—सज खाग सवैई तासरी आप हुवौ उद्रियावणौ । तोड़ जड़ राव वांधल तणी पूगी जायल पांमणौ ।—पा.प्र.

उद्रीधकौ—सं०पु०—वह वंदूक जो छूटने पर चलाने वाले के सीने में टक्कर मारती है । यह वंदूक का एक दोष माना जाता है ।

उद्रेक—सं०पु० [सं०] १ वढ़ती, अधिकता, वृद्धि, ज्यादती. २ उपक्रम. ३ उन्नति, उत्थान. ४ आरंभ ।

उद्वाह—सं०पु० [सं०] विवाह (डि.को.)

उद्विग्न—वि० [सं०] उद्वेगयुक्त, व्यग्र, व्याकुल ।

उदैसूर-सं०पु०—एक प्रकार का घोड़ा (शा.हो.)

उदोगर-सं०पु० [सं० उदयगिरि] उदयाचल पर्वत ।

उदोत-सं०पु० [सं० उद्योत] १ ज्योति (अ.मा.), प्रकाश ।
उ०—सु अंग अंग कै विखैं, सु नग रतन उदोत करै छै ।—वेलि.टी.
२ उन्नति, वृद्धि, बढ़ती. ३ कांति, शोभा ।
वि०—१ प्रकाशित, उदित, प्रकट । उ०—गळ फेरि छुरी जैचंद गोत, अप्पनूं पोत करियै उदोत ।—ऊ.का. २ शुभ्र, उत्तम. ३ दीप्त ।

उदोतकर-वि०—प्रकाश करने वाला, चमकने वाला ।

उदोत-धांम-सं०पु०यौ०—दीपक (अ.मा.)

उदोता-वि० [सं० उद्योत] प्रकाश करने वाला ।

उदोति-सं०पु०—१ प्रकाश, उजाला, चमक, आभा, आलोक ।
उ०—पिया समीप रूपरासि दासि आसि पासियं, भरे प्रकास स्त्री उदोति दीप जोति भासियं ।—रा.रू.
सं०स्त्री०—२ उदय, वृद्धि ।
वि०—१ प्रकाशित. २ उदित, प्रकटित ।

उदौ-सं०पु०—१ भवितव्यता, होनहार, प्रारब्ध. २ उदय ।
उ०—इहां तौ चंद्रमा का उदौ, रुखमणी जी कौ मंद हास्य छै ।
—वेलि. टी.

उद्दंड-वि० [सं०] १ जिसे दण्ड का कुछ भी भय न हो, अक्खड़, निडर, निर्भीक. २ उजड्ड ।

उद्दंत-वि० [सं०] वृहद्दंत, दंतुला, निकला हुआ दांत ।

उद्दम-सं०पु० [सं० उद्यम] १ काम-धन्धा, रोजगार । उ०—उत रेल तार उद्दम अपार, गौरव इत विद्या विन गिंवार ।—ऊ.का.
२ उत्साह. ३ अध्यवसाय. ४ उद्योग, प्रयास, प्रयत्न, मेहनत ।
उ०—हळियां हळ संजोड़िया, गळियौ ग्रीखम गाढ़ । आळसुवां उद्दम कियौ आयौ धुर आसाढ़ ।—पा.प्र.

उद्दमी, उद्दम्मी-वि० [सं० उद्यमी] १ उद्योगी, प्रयत्नशील ।
उ०—पतिसाह पेखियौ 'अभौ' नरनाह अनम्मी, छभा गरव छीजवै सरव दांमै उद्दम्मी ।—रा.रू. २ उद्यम करने वाला ।

उद्दांन-सं०पु०—बंधन (डि.को.)

उद्दांम-वि० [सं०उद्दाम] १ बंधनरहित, स्वतन्त्र. २ निरंकुश (डि.को.) ३ उग्र, प्रबल. ४ उद्दंड. ५ गंभीर. ६ महान. ७ बिना कहा हुआ ।
सं०पु०—१ वरुण. २ दंडक वृक्ष का एक भेद ।

उद्दालक-सं०पु० [सं०] १ एक प्राचीन आर्य ऋषि । इनका प्रकृत नाम आरुणि है, इनके पुत्र श्वेतकेतु थे. २ एक व्रत विशेष ।

उद्दित-वि० [सं० उदित] १ उदित. २ उद्यत, उद्धत ।

उद्दिम-सं०पु० [सं० उद्यम] १ प्रयत्न, परिश्रम. २ व्यवसाय. ३ पुरुषार्थ, उद्योग । उ०—दुरधर डंका दे वंका द्रढ़ धाया, उठिया उद्योगी उद्दिम उमगाया ।—ऊ.का.

उद्दिस्ट-वि० [सं० उद्दिष्ट] १ दिखलाया हुआ. २ इंगित किया हुआ, लक्ष्य. ३ अभिप्रेत, सम्मत ।
सं०पु०—पिंगल शास्त्र के अनुसार एक क्रिया विशेष जिसके द्वारा यह बतलाया जा सकता है कि कोई दिया हुआ छंद मात्रा प्रस्तार का कौनसा भेद है ।

उद्दीपक-वि०—उत्तेजना देने वाला, उद्दीपन करने वाला ।

उद्दीपन-सं०पु० [सं०] १ उत्तेजित करने की क्रिया या भाव, उभाड़ना, बढ़ाना, जगाना. २ प्रकाशन, उद्दीपन या उत्तेजित करने वाला पदार्थ. ३ रसों को उद्दीप या उत्तेजित करने वाले विभाव (बां.दा.)

उद्दीपित, उद्दीप्त-वि० [सं० उद्दीप्त] उत्तेजित ।

उद्देस-सं०पु० [सं० उद्देश्य] १ अभिलाषा, चाह, मंशा. २ हेतु, कारण. ३ अन्वेषण, अनुसंधान. ४ नाम निर्देशपूर्वक वस्तु-निरूपण । उ०—करता क्रिया जांण और करतव, विध एही उद्देस विधेय ।—बां.दा. ५ मतलब, प्रयोजन. ६ प्रतिज्ञा (न्याय शास्त्र)

उद्देस्य-सं०पु० [सं० उद्देश्य] १ लक्ष्य, इष्ट, इरादा, मंशा । उ०—साह कहियौ म्हांरा अनामय रौ उद्देस करि आवै तिकां नूं सांम्हे जाइ हूंहीं समुझाइ पाछा मोड़ि आऊं ।—वं.भा. २ प्रयोजन, मतलब, तात्पर्य. ३ वह वस्तु जिसके विषय में कुछ कहा जाय, अभिप्रेतार्थ वह वस्तु जिस पर ध्यान रख कर कुछ कहा जाय या किया जाय ।

उद्दोत-सं०पु० [सं०] १ प्रकाश. २ उदय, वृद्धि ।
वि०—प्रकाशित, उदित, प्रकटित ।

उद्ध-क्रिं०वि०—ऊपर । उ०—कढ़े हत्थि होदन के उद्ध कच्छी ।—वं.भा

उद्धणौ, उद्धबौ-क्रि०अ०—ऊपर उठना, फैल जाना ।

उद्धत-वि० [सं०] १ उग्र, प्रचण्ड. २ अक्खड़, धृष्ट, उजड्ड, प्रगल्भ, अनम्र । उ०—दलेलखांन तीन ही मुख्य सामंत दे'र आपरौ उद्धत अनीक दियौ ।—वं.भा. ३ निडर. ४ अभिमानी ।
सं०पु०—चालीस मात्रा का एक मात्रिक छंद विशेष जिसमें १०, १०, १०, १० पर यति होती है तथा इसमें गुरु लघु का नियम नहीं होता ।

उद्धतपण, उद्धतपणौ-सं०पु०—उद्‌डता, उद्धतता । उ०—उद्धतपण वीरम उठै, वहियौ हेत वुडोइ ।—वं.भा.

उद्धरण-सं०पु० [सं०] १ किसी लेख या पुस्तक में किसी दूसरे लेख या पुस्तक के किसी अंश को ज्यों का त्यों रखना या दोहरा देना, अविकल रूप से नकल करना. २ फँसे हुए को निकालना, त्राण, उद्धार ।
वि०—उद्धार करने वाला । उ०—खत्रियांण मांण महि उद्धरण एक छत्रि आलम कहे । गायत्रि मंत्र गहलोतगुर तिंहि प्रताप सरणै रहे ।—अज्ञात

उद्धरणौ, उद्धरबौ-क्रि०स० [सं० उद्धरण] १ करना । उ०—रीत विविध मनुहार री, अति उद्धरी अथाह ।—रा.रू. २ धारण करना । उ०—उरध अंबर उद्धरण वेद ब्रहमा गावाळण । दळ

तीरथां मुर्दं भारणी कळंक काट मांनवां उधारणी मुगत दाता माय ।
—गंगाजी रौ गीत

उधारणौ, उधारबौ–क्रि०स०—१ उद्धार करना । उ०—देवी तीरथ रै रूप अघ विखम टारै, देवी ईस्वरं रूप अधमं उधारै ।—देवि.
२ पावन करना, पवित्र करना ।
उधारणहार, हारौ (हारी), उधारणियौ–वि०—उद्धार करने वाला, पवित्र करने वाला ।
उधारिओड़ौ, उधारियोड़ौ, उधारयोड़ौ—भू०का०कृ० ।

उधारि–सं०स्त्री०—बाकी, कमी । उ०—एक दुरग उपेत आधी हूं अधिक इळा अपणाइ अपराध संग्रह में उधारि न राखी ।—वं.भा.

उधारियोड़ौ–भू०का०कृ०—१ उद्धार किया हुआ. २ पावन किया हुआ । (स्त्री० उधारियोड़ी)

उधारी–वि०—उद्धार करने वाला ।
सं०स्त्री०—१ उधार दी गई वस्तु. २ देखो 'उधार'.
३ बाकी, कसर (रू.भे. उधारि) ४ सुधार. ५ पीछे ।

उधाळ–वि०—औंधा । उ०—दयाळ क्रपाळ संभाळ करै, जिव भाळ कराळ विचाळ रखै । जठराळ उधाळ खुधाळ मरै, नभ नाभि माळ रसाळ भखै ।—करुणासागर
उधाळणौ, उधाळबौ–क्रि०स०—नाश करना, बरबाद करना, औंधा करना ।
उधाळणहार, हारौ (हारी), उधाळणियौ–वि०—नाश या बरबाद करने वाला ।
उधाळिओड़ौ, उधाळियोड़ौ, उधाळयोड़ौ—भू०का०कृ० ।

उधियार–सं०स्त्री०—देखो 'उधार' (२) उ०—रिड़मल नै हिंदाळ विचै रिण । आवां हथां न की उधियार ।
—राव रिड़मल रौ गीत

उधेड़णौ, उधेड़बौ–क्रि०स०—१ चीरना, काटना. २ लगाया हुआ वापस हटाना. ३ छितराना. ४ भंग करना. ५ मिला हुआ वापिस उखालना. ६ पर्त या तह को अलग करना. ७ खाल उतारना । उ०—तांह खाजरूआं उधेड़िआं रौ कासू एक बखांण बजाज रौ हाट वास्ते रा थांन रू री बरकी ।—रा.सा.सं ८ खोदना । उ०—आंणतै नीर पाताळ उधेड़िणौ कमठ वाराह चा मांण कळिया ।
—जोगीदास कवारियौ
उधेड़णहार, हारौ (हारी), उधेड़णियौ–वि०—उधेड़ने वाला ।
उधेड़ाणौ, उधेड़ाबौ, उधेड़ावणौ, उधेड़ावबौ—प्रे०रू० ।
उधेड़ीजणौ, उधेड़ीजबौ—कर्म वा० ।
उधेड़िओड़ौ, उधेड़ियोड़ौ, उधेड़योड़ौ–भू०का०कृ०—उधेड़ा हुआ । (स्त्री० उधेड़ियोड़ी)

उधेड़बुन–सं०स्त्री०—१ सोच-विचार, ऊहापोह. २ युक्ति बांधना, उलझन को सुलझाना ।

उधेड़ियोड़ौ–भू०का०कृ०—उधेड़ा हुआ । (स्त्री० उधेड़ियोड़ी)

उधेरणौ, उधेरबौ–क्रि०स०—१ देखो 'उधेड़णौ'. २ देखो 'उधरणौ'

उधेरियोड़ौ–भू०का०कृ०—देखो 'उधेड़ियोड़ौ' । (स्त्री० उधेरियोड़ी)

उधोर–वि०—उद्धार करने वाला ।
सं०पु०—१ श्रेष्ठ वीर [सं० उद्+धौरेय) उ०—कुळ उधोर प्रताप कहंतां, पोढ़ौ घणूं घणा ग्रद पाय ।
—महाराणा प्रतापसिंह रौ गीत
२ बारह मात्रा का एक छंद विशेष जिसके अंत में जगण होता है (र.ज.प्र.) । मतांतर से इसमें चौदह मात्रायें भी कही जाती हैं ।

उध्यांन–सं०पु० [सं० उद्यान] १ बाग, बगीचा, उपवन. २ निर्जन वन । उ०—कसमेरी कांनेह, कंथा नवरंगी कियां । एकल उध्यांनेह, 'पाव' विराजै पीपळी ।—पा.प्र.

उनंगणौ, उनंगबौ–क्रि०स०—प्रहार हेतु शस्त्र उठाना । उ०—पक्षपात विन महाप्रतापी निरभय तेग उनंगी ।—ऊ.का.

उनंगौ–वि० (स्त्री० उनंगी) [सं० नग्न] नंगा । उ०—१ अंगी रोस वे वे टूक फिरंगी करंतौ आयौ । जंगी कारखांना माथै उनंगी जनेव ।
—किसनजी आढ़ौ
उ०—२ खगां उनंगां पिसण पाड़ि ऊभौ खड़ौ । कहूं इण भांति ढीलौ सखी कंथड़ौ ।—हा.झा.

उनंद्र–वि० [सं० उन्निद्र] निद्रारहित । उ०—ईख लंका क्षेत्रां त्रेता जुगेतां संग्रांम असौ, उरधरेत केता वू त्रनेता उनंद्र ।
—बदरीदास खिड़ियौ

उनगौ–वि०—देखो 'उनंगौ' ।

उनज–सं०पु० [सं० अनुज] कनिष्ठ, छोटा भाई (ह.नां.)

उनताळिस, उनताळीस–वि० [सं० ऊनचत्वारिंशत्, प्रा० एगूणचत्तालीस, अप० एगुणचालीस] तीस और नौ के योग के समान ।
सं०पु०—तीस और नौ के योग की संख्या ।

उनताळीसमौ–वि०—जो क्रम में अड़तीस के बाद पड़ता हो ।

उनताळीसौ–सं०पु०—उनचालीसवां वर्ष या साल ।

उनतीनाह–सं०पु० [सं० उन्नतिनाथ] गरुड़, पक्षीराज (डि.को.)

उनतीस–वि० [सं० ऊनत्रिंशत्, प्रा० अउणत्तीस, अप० उणतीस] बीस और नौ के योग के समान ।
सं०पु०—बीस और नौ के योग की संख्या ।

उनतीसमौ–वि०—जो क्रम में अट्ठाइस के बाद पड़ता हो ।

उनतीसेक–वि०—उनतीस के लगभग ।

उनतीसौ–सं०पु०—२९ वां वर्ष ।

उनत्य–वि० [सं० उन्नाथ] बंधनरहित, स्वतंत्र । उ०—नाथिया उनत्यां नत्यां, बिरुद्दां बठोठ नाथ । सिंह्र टोळा साथियां, मवोळा लीधा संग ।
—डूंगजी जवारजी रौ गीत

उनथ–वि०—देखो 'उनत्य' (ल.पिं.)

उनयनय–वि०—१ बंधनरहित, स्वतंत्र. २ बिना बंधन वालों को भी बंधन में करने वाला ।

उद्विग्नता–सं०स्त्री० [सं०] आकुलता, व्यग्रता, घबराहट ।

उद्वेग–सं०पु० [सं०] १ मन की आकुलता, घबराहट, मनोवेग, चिंता. २ आवेश, जोश. ३ तीव्र वृत्ति, संचारी भावों में से एक ।

उद्वेगी–वि० [सं०] १ उद्विग्न, उत्कंठित. २ भावनायुक्त, जोशीला. घबड़ाया हुआ ।

उद्वेगौ–सं०पु० [सं० उद्वेग] देखो 'उद्वेग'। उ०—उर निस्वास प्रमुक्के भग्गौ ज्यास चीत साभ्रंम। यौ चिंता **उद्वेगौ**, लग्गी अग्ग वंस ग्रासांणं ।—रा.रू.

उधड़णौ, उधड़बौ–क्रि०अ०—१ सिले हुए का खुलना. २ जमा या लगा न रहना, उखड़ना. ३ उजड़ना ।

उधड़णहार, हारौ (हारी), उधड़णियौ—वि० ।

उधड़िग्रोड़ौ, उधड़ियोड़ौ, उधड़्योड़ौ—भू०का०कृ० ।

उधड़वाई–सं०स्त्री०—उधेड़ने की क्रिया या मजदूरी ।

उधड़ियोड़ौ–भू०का०कृ०—१ उधडा हुआ. २ उखड़ा हुआ. ३ उजड़ा हुआ । (स्त्री० उधड़ियोड़ी)

उधध, उधधपति–सं०पु० [सं० उदधि] उदधि, समुद्र (ह.नां.)

उ०—कुंजरां विभाड़ण झौक चक्रवत करां, रैण वक्र हुतौ विच जेण राह। समर रच पती नागांण हुय रूप सक्र, करै तक्र छांडियौ **उधध** कछवाह ।—प्रथीराज सांदू

उधम–सं०पु०—देखो 'ऊधम'।

उधमणौ, उधमबौ–क्रि०स०—देखो 'ऊधमणौ, ऊधमबौ'।

उधमणहार, हारौ (हारी), उधमणियौ—वि० ।

उधमिग्रोड़ौ, उधमियोड़ौ, उधम्योड़ौ—भू०का०कृ० ।

उधमौ–वि०—खूब खर्च करने वाला, दातार ।

उधर–क्रि०वि०—उस तरफ, दूसरी ओर ।

उधरणौ, उधरबौ–क्रि०अ०—१ मुक्त होना, उद्धार होना । उ०—पद परस ग्रहल्या **ऊधरी**, वण ग्रच्छर वपु कीरत वरी ।—र रू.

२ उद्धार करना । उ०—सांई हदी सिर रजा, चित साई चरणा। धू धरणा निरखणा, ग्रापा **उधरणा** ।—केसोदास गाडण

३ उधड़ना, उखडना. ४ निकल जाना. ५ उद्धार पाना ।

उधरणहार, हारौ (हारी), उधरणियौ–(स्त्री० उधरणी)—वि० ।

उधरिग्रोड़ौ, उधरियोड़ौ, उधरयोड़ौ—भू०का०कृ० ।

उधरत–सं०स्त्री०—वह ऋण जिसका हिसाब वहीखातो मे नही लिखा जाता हो ।

उधरती–सं०स्त्री०—उद्धार, मुक्ति, छुटकारा (ढो.मा.)

उधराणौ, उधराबौ–क्रि०अ० [स० उद्धरण] १ हवा के कारण छितराना. २ तितर-बितर होना, बिखरना. ३ ऊधम मचाना. ४ उन्मत्त होना ।

उधराणहार, हारौ (हारी), उधराणियौ—वि० ।

उधरायोड़ौ—भू०का०कृ० ।

वि०—१ मुक्त, छूटा. २ उखड़ा हुआ ।

उधरियोड़ौ–भू०का०कृ०—उद्धार किया हुआ । (स्त्री० उधरियोड़ी)

उधरौ–वि०—देखो 'ऊधरौ'।

उधळणौ, उधळबौ–क्रि०अ० [सं० उद्धेलन] देखो 'ऊधळणौ'।

उधसि, उधसी–सं०पु० [सं० ऊधस्यं], दूध (ह.नां)

उधांमणौ, उधांमबौ–क्रि०स०—१ वार करने के निमित्त शस्त्र उठाना. प्रहार करना । उ०—ऊधरै चाचरे सेल **उधांमियौ**, फौज रा थंभ पूठै अफेरा ।—पहाड़खां ग्राढ़ौ २ उँडेलना ।

उधांमणहार, हारौ (हारी), उधांमणियौ–वि०—प्रहार करने वाला.

उधांमिग्रोड़ौ, उधांमियोड़ौ, उधांम्योड़ौ—भू०का०कृ० ।

वि०—उदासीन ।

उधाड़–सं०पु०—कुश्ती का एक पेच विशेष ।

उधाड़णौ, उधाड़बौ–क्रि०स०—देखो 'उधेड़णौ'।

उधाड़णहार, हारौ (हारी), उधाड़णियौ–वि०—उधेड़ने वाला ।

उधाड़िग्रोड़ौ, उधाड़ियोड़ौ, उधाड़्योड़ौ—भू०का०कृ० ।

उधाड़ियोड़ौ–भू०का०कृ०—'उधेड़ियोड़ौ'।

उधात–सं०पु०—अशुद्ध धातु । उ०—वणावै **उधातां** सातां पचावै अनेक विध। ज्यांसू रोग जावै कै ताव धावै सुजांण ।—क.कु.बो.

उधार–सं०पु० [सं० उद्धार] १ उद्धार, मुक्ति । उ०—ग्रर पाताळ थे म्हारौ **उधार** कीयौ ।—वेलि. टी.

क्रि०प्र०—करणौ, होणौ ।

२ ऋण, कर्ज ।

क्रि०प्र०—करणौ, चूकणौ, देणौ, लेणौ, होणौ ।

कहा०—१ उधार घर री हार—उधार देना घर की हार है; उधार देना बुरा है. २ उधार दियो'र गिरायक (ग्राहक) गमायौ—दिया और ग्राहक गँवाया, क्योंकि तगादे के डर से वह ग्राहक फिर उस दूकान की ओर नही जाता. ३ उधार दीजै दुसमण कीजै—उधार दीजिये और दुश्मन कीजिये; उधार लेने वाला बराबर चुका नही सकता अतः उससे लड़ाई हो ही जाती है. ५ उधार देवणौ लडाई मोल लेवणौ है—देखो 'उधार दीजै दुसमण कीजै'. ६ उधार पुधार घरे सिधार—उधार-पुधार मांगते है तो अपने घर जा; उधार नही देना चाहिए ।

३ किसी की कुछ चीज का दूसरे के यहाँ केवल कुछ समय के लिए मंगनी के तौर पर व्यवहार में जाना । (रू.भे. उदार)

उधारक–वि० [सं० उद्धारक] उद्धार करने वाला । उ०—**उधारक** धारक लोक असेस, सुधारक तारक सेस विसेस ।—ऊ.का.

उधारण–वि०—समुद्र, सागर (डि.नां.मा.)

वि०—उद्धार करने वाला । उ०—पतित **उधारण** देव परम्म ।
—ह.र.

उधारणौ–वि० (स्त्री० उधारणी) उद्धार करने वाला । उ०—कारणौ

वि०—ग्रीष्म ऋतु की, ग्रीष्म ऋतु सम्बन्धी ।
उनाळू साख-सं०स्त्री०—१ रबी की फसल. २ रबी की फसल पर सरकार द्वारा प्रजा से लिया जाने वाला लगान विशेष ।
उनाळो-सं०पु० [सं० उष्णकाल] ग्रीष्म ऋतु ।
उनि-सर्व —उन । उ०—तव एक कों पूछियौ—जु हों कौरा ठौर छौं । तव उनि कह्यौ—जु देवता या स्त्री द्वारिकाजी छै ।—वेलि. टी.
उनींदो-वि० [सं० उनिद्र] नींद से भरा हुआ, ऊँघता हुआ ।
उन्नत-वि० [सं० उत्+नम्+क्त] १ ऊँचा, उत्तुंग, ऊपर उठा हुआ (डि.को.) उ०—अति उन्नत प्राकार भरत सामांन ग्रांन अत ।—ला.रा. २ श्रेष्ठ, उच्च ।
उन्नतांस-सं०पु० [सं० उन्नतांश] चंद्रमा का वह छोर जो दूसरे से ऊँचा हो (फलित ज्योतिष)
उन्नता, उन्नति-सं०स्त्री० [सं० उन्नति] १ वढ़ती, तरक्की, वृद्धि । उ०—ईस असपति किसी उन्नति करै अवगति जिकूं सिर क्रति ।
—रा.रू.
२ ऊँचाई, चढ़ाव. ३ समृद्धि ।
उन्नतोदर-सं०पु० [सं०] १ चाप या वृत्त के खंड का ऊपर का तल, ऊपर को उठा हुआ. २ गणेश ।
उन्नमित-वि०—उत्तोलित, ऊपर उठा हुआ, ऊर्ध्वकृत ।
उन्नयन-सं०पु० [सं०] ऊर्ध्वप्रयाण, उत्तोलन, ऊपर ले जाना ।
उन्नाब-सं०पु० [अ०] हकीमी दवाओं में डाला जाने वाला एक प्रकार का बेर ।
उन्नाबी-वि० [अ० उन्नाव] उन्नाव के रंग का, कालापन लिए हुए लाल ।
उन्नायक-वि०—ऊँचा करने वाला, उन्नत करने वाला ।
उन्नाळो-सं०पु० [सं० उष्णकाल] ग्रीष्म ऋतु (रू.भे. देखो 'उनाळो')
उन्नासियो-सं०पु०—उन्नासी का वर्ष ।
उन्नासी-वि० [सं० ऊनाशीति, प्रा० एगूणासीइ, अप० उगुणासी] सत्तर और नौ के योग के समान ।
सं०पु०—सत्तर और नौ के योग की संख्या ।
उन्नासी'क-वि०—उन्नासी के लगभग ।
उन्नासीमो-वि०—जो क्रम में अठहत्तर के बाद पड़ता हो ।
उन्नीसो-सं०पु०—१९०० की संख्या, १९ वां वर्ष ।
उन्मता-सं०स्त्री० [सं० उन्मत्तता] उन्मत्त होने का भाव, पागलपन, मतवालापन ।
उन्मत्त-वि० [सं०] देखो 'उनमत्त' (रू.भे.)
उन्मथ-सं०पु० [सं० उन्मंथ] कर्णलुंच का एक रोग (अमरत)
उन्मद-वि०—देखो 'उनमत्त' (रू.भे.)
उन्मनी-सं०स्त्री०—देखो 'उनमनी' (रू.भे.)
उन्मनो-वि०—देखो 'उनमनो' (रू.भे.)
उन्मांन-सं०पु०—देखो 'उनमांन' (रू.भे.)
उन्माद-सं०पु० [सं०] देखो 'उनमाद' (रू.भे.)
उन्मादक, उन्मादण-वि०—देखो 'उनमादक' (रू.भे.)
सं०पु०—कामदेव के पांच वाणों में से एक (वं.भा.)
उन्मादी-वि० [सं० उन्मादिन्] उन्मत्त, पागल, वावला ।
उन्मीलित-वि० [सं०] खुला हुआ, प्रस्फुटित ।
सं०पु०—एक प्रकार का अर्थालंकार जहां दो पदार्थों के गुरा (धर्म) समान हों और एक का गुरा दूसरे में विलीन होने पर भी किसी काररा से भेद की स्फुररा हो जाय, वहां यह अलंकार होता है ।
उन्मेस-सं०पु० [सं० उन्मेष] १ विकास, खिलना. १ थोड़ा प्रकाश. ३ ज्ञान, बुद्धि. ४ पलक ।
उन्याळो-सं०पु० [सं० उष्णकाल] ग्रीष्म ऋतु, गर्मी का मौसम (क्षेत्रीय) (मि० उनाळो)
उन्हउ-वि० [सं० उष्ण] उष्ण, गर्म । उ०—कपि जेम सुदिढ़ पइ तीख कन्न वाजिन्न जेम उन्हउ वहन्न ।—रा.ज.सी.
उन्हाळागम-सं०पु०—देखो 'उन्हाळ' ।
उन्हाया-सं०स्त्री०—उष्णता, गर्मी । उ०—सूरज घांम संजोया जिम अगनि उन्हाया ।—केसोदास गाडण
उन्हाळ, उन्हाळउ, उन्हाळसी-सं०पु० [सं० उष्णकाल] गर्मी की मौसम, ग्रीष्म ऋतु । उ०—१ नैरत दिसा री ऊनौ पवन वाजियौ छै, उन्हाळसी प्रगटिऔ छै । जेठ मास लागौ छै ।— रा.सा.सं.
उ०—२ महापित्रुनउ आलउ, आव्यौ उन्हाळउ । लूय वाजइ कांन पापड़ि दाझइ ।—रा.सा.स.
उन्हाळ, उन्हाळौ-सं०पु० [सं० उष्णकाल] उष्णकाल, ग्रीष्म ऋतु, गर्मी की मौसम । उ०—कहि दिखावँ किरिण भांति । आरावां आतस झाळ । उन्हाळा प्रळै काळ ।—वचनिका
उन्हू, उन्हौं-वि० [सं० उष्ण] (स्त्री० उन्हीं) उष्ण, गर्म (डि.को.)
उपंखी—पक्षी
उपंग-सं०पु०—१ एक प्रकार का वाजा (मि० उपंगी)
२ उद्धव के पिता का नाम ।
उपंगी-सं०पु०— १ नसतरंग बजाने वाला । उ०—कलहंस जांगगर मोर निरत कर, पवन ताळधर ताळपत्र । आरि तंतिसर भमर उपंगी, तीवट उघट चकोर तत्र ।—वेलि.
२ संगीत में एक प्रकार का तार वाद्य, इस वाद्य के नीचे तूंबे पर चमड़ा मंढ़ा होता है और चमड़े में से एक तार डांड पर आता है, डांड की खूंटी ढीली होती है जिसे मुट्ठी में पकड़ा जाता है और तार को कसा या ढीला किया जाता है । दूसरे हाथ से तार पर आघात करते हैं । इसमें स्वर और ताल दोनों का काम होता है ।
(रू.भे. अपंग, उपंग)
उप-उप०—शब्दों के पूर्व आकर उनमें अर्थान्तर या विशेषता कर देता है ।
क्रि०वि०—निकट, समीप (अ.मा.)
उ०—सीता मुरो हरि मौ संग अहदिस अनुसरे, रीता जाय उप अहि-राव सगळा कथ र रे ।—र.रू.

उनमंदा–वि०—श्रेष्ठ, उत्तम। उ०—वोहत करंदा वंदगी, अणभै **उनमंदा**।—केसोदास गाडण [सं० उत्=परमहंस] परमानन्दस्वरूप उ०—संपत विपत न सुख दुख अंतर **उनमंदा**।—केसोदास गाडण

उनमणौ–वि० [सं० उन्मन] उदास, चिंतित। उ०—थारी साथ सहेल्यां **उनमणी**, वनखंड की ऐ कोयल, वनखंड छोड कठै चाली।—लो.गी.

उनमणौ, उनमबौ–क्रि०अ०—१ देखो 'ऊनमणौ'। २ उठना. ३ जन्म लेना।

उनमणहार, हारौ (**हारी**). **उनमणियौ**—वि०।

उनमिओड़ौ, उनमियोड़ौ, उनम्योड़ौ—भू०का०कृ०।

उनमत, उनमत्त–वि० [सं० उन्मत्त] १ मतवाला, प्रमत्त, मदान्ध। उ०—मिळि समूह गायनी गमन **उनमत्त** करीसम। खरी भूप वसि-करन, आंनि सव इन्द्रपरी सम।—ला.रा.

२ पागल (डिं.को.) (स्त्री० उनमत्ती)

उनमद–वि०—देखो 'उन्मत्त'।

उनमन–वि० [सं० उन्मन] १ उदास. २ व्याकुल।

उनमनि, उनमनी–सं०स्त्री० [सं० उन्मनी] हठ योग की पाँच मुद्राओं में से एक।

वि०—शांत। उ०—अवधू पांच तत्व पलटिया, सहज घरि आंणिवा प्रांण पुरुस लेवा पाली अरध अस्थांन मन **उनमनि** रंहिवा।

—ह.पु.वा.

उनमनौ–वि०—१ उदास. २ व्याकुल. ३ उन्मत्त. ४ अस्थिर। उ०—अगम अथाह थाह नहिं कोई, थाह न कोई पावे रे। जैसा भजन तिसा सव कोई, मन **उनमनां** वतावे रे।—ऊ.का.

उनमांन–सं०पु० [सं० अनुमान] १ अंदाजा, अटकल। उ०—मोरिया में खेति पड़या सौ के **उनमांन**। हिंदू वाईस वीस और मुसलमांन।

—शि.वं.

२ न्याय के चार भेदों में से एक जिससे प्रत्यक्ष साधन के द्वारा अप्रत्यक्ष साध्य का भाव। देखो 'अनुमांन'।

वि०—१ समान, सदृश। उ०—मद विद्या धन मांन, ओछा सौ उकळे अवट। आधण रे **उनमांन**, रैवं विरळा राजिया।

—किरपारांम

कहा०—१ सांई हाथ कतरणी, राखैला उनमांन—ईश्वर के हाथ में कैंची है वह अनुचित किसी को वढ़ने नहीं देता; ईश्वर कर्मों के अनुसार फल देता है।

क्रि०वि०—अनुकूल, अनुसार। उ०—दे गज गांम कोंड हैंवर द्रव, अभपत दत वतवै **उनमांन**।—हरिदास केसरिया

उनमाद–सं०पु० [सं० उन्माद] १ पागलपन, चित्त-विभ्रम, विक्षिप्तता. [रा०] २ उल्लास, प्रसन्नता. ३ तेतीस संचारी भावों में से एक जिसमें वियोगादि के कारण चित्त ठिकाने नहीं रहता।

उ०—**उनमाद** अंसुआ ग्लांन अंग।—क.कु.वो.

उनमादक–वि० [सं० उन्मादक] उन्मत्त करने वाला, पागल करने वाला, नशा करने वाला, चित्त-विभ्रम उत्पन्न करने वाला।

सं०पु०—कामदेव के पांच वाणों में से एक। उ०—आकरखण वसीकरण **उनमादक** परठि द्रविण सोखण सर पंच। चितवणि हसणि लसणि गति संकुचणि, सुंदरी द्वारि देहरा संच।

—वेलि.

उनमादपण, उनमादपणौ–सं०पु०—उन्मत्तता, पागलपन (अमरत)

उनमुणौ–वि० (स्त्री० उनमुणी) [सं० उन्मन] १ उदास, चिंतित. २ मौन, चुप।

उनमुनी–सं०स्त्री०—हठयोग की एक मुद्रा।

उनमुनौ–वि० [सं० उन्मन] १ उदास, चिंतित (स्त्री० उनमनी)

उनमूळण–सं०पु०—देखो 'उनमूळन'।

उनमूळणौ, उनमूळबौ–क्रि०स० [सं० उन्मूलन] उखाड़ना, नष्ट करना।

उनमूळणहार, हारौ (**हारी**), **उनमूळणियौ**–वि०—उखाड़ने या नष्ट करने वाला।

उनमूळिओड़ौ, उनमूळियोड़ौ, उनमूळयोड़ौ—भू का०कृ०।

उनमूळन–सं०पु०—उखाड़ने की क्रिया या भाव।

उनमूळियोड़ौ–भू०का०कृ०—उखाड़ा या नष्ट किया हुआ। (स्त्री० उनमूळियोड़ी)

उनसठ–वि० [सं० ऊनषष्टि, प्रा० एगूणसट्ठ, अप० उगुणसट्ट] पचास और नौ के योग के समान।

सं०पु०—पचास और नौ के योग की संख्या।

उनसठमौ–वि०—जो क्रम में अट्ठावन के वाद पड़ता हो।

उनसठेक–वि०—उनसठ के लगभग।

उनसठौ–सं०पु०—उनसठवां वर्ष।

उनहणौ, उनहबौ–क्रि०अ०—उमड़ना, मेघघटा आना। उ०—आज घराऊ **उनह्यौ** आयौ घट घण पूर।—ढो.मा.

उनहीओ, उनहीओड़ौ–भू०का०कृ०—उमड़ा हुआ, वर्षा की घनघोर घटायें छाई हुई। उ०—**उनहीओ** वरसै नहीं, करे वपीहा संतोस। ते सजन अणदीठा भला, मिळतै लेत न सोस।—ढो.मा.

उनांम–सं०पु०—वह खेत जहां वर्षा के जल द्वारा गेहूँ या चना उत्पन्न होते हों।

उनाग–वि०—देखो 'उनंगौ'। (स्त्री० उनागी)

उ०—नारांजां उनागी ढाल अभागी तराळ तेजां। राठौड़ां गनीमां वागी नराताळ रीठ।—हुकमीचंद खिड़ियौ

उनारण–सं०पु०—उष्ण पदार्थ।

उनाळ–सं०पु० [सं० उष्ण काल] १ उष्ण काल. २ अग्नि, आग। उ०—१ पलीता उनाळ का सा लाय की लपटां।—क.कु.वो.

२ झुकै किरमाळ उनाळ री झाळ।—क.कु.वो.

उनाळी, उनाळ–सं०उ०लिं०—१ रवी की फसल. २ वह वायु जो दक्षिण और पश्चिम के बीच में चलती है। (मि० संमदरी, नैरतियौ) (समानार्थ—नागोरण—शेखावाटी)

६ दौड़ा हुआ। (स्त्री० उपड़ियोड़ी)

उपचय–सं०पु० [सं०] १ उन्नति, वढ़ती. २ आधिक्य, वृद्धि. ३ संचय, संग्रह।

उपचार–सं०पु० [सं० उप+चर्+घञ्] १ व्यवहार, प्रयोग. २ इलाज, चिकित्सा, सेवा। उ०—काया कजि **उपचार** करंतां, हुवै मु वेन्नि जपंति हुवि।—वेलि. ३ मुख्यत: सोलह माने जाने वाले पूजन के अंग या विधान। देखो वि०वि० 'सोड़सोपचार'।

उपचारक–वि०—१ उपचार करने वाला. २ सेवा या चिकित्सा करने वाला, चिकित्सक।

उपचारणौ, उपचारबौ–क्रि०स०—व्यवहार में लाना, काम में लाना, प्रयोग करना।

उपचारणहार, हारौ (हारी), उपचारणियौ–वि०—व्यवहार या काम में लाने वाला।

उपचारिओड़ौ, उपचारियोड़ौ, उपचारयोड़ौ—भू०का०कृ०।

उपचारियोड़ौ–भू०का०कृ०—व्यवहार या काम में लाया हुआ। (स्त्री० उपचारियोड़ी)

उपचारी–वि० [सं० उपचारिन्] उपचार या चिकित्सा करने वाला।

उपछंद–सं०पु०—चौवीस मात्राओं से अधिक मात्राओं के छंद विशेष। (र.ज.प्र.)

उपछर–सं०स्त्री० [सं० अप्सरा] अप्सरा, देवांगना। (रू.भे. देखो 'अपछरा'। उ०—चपळा गत चूंबीह, परी गई उपछर परै। आय आगळ ऊभीह। कमळादे नर वेखियां।—पा.प्र.

उपज–सं०स्त्री०—१ उत्पत्ति, उद्भव, पैदावार. २ सूझ. ३ मनगढंत वात. ४ स्फूर्ति, स्फुरण. ५ बंधी हुई तानों के सिवा गाने में राग की सुन्दरता के लिए अपनी ओर से कुछ तानों को मिला देना।

उपजण–सं०पु०—जन्म (ह.नां.)

उपजणौ, उपजबौ–क्रि०अ० [सं० उत्पदन] १ उत्पन्न होना, पैदा होना. उ०—जे हरि देखतां जु कोई आणंद **उपज्यौ**।—वेलि. टी. २ अंकुरित होना. ३ जन्म लेना। उ—दस कहतां सरीर ए जु वाळक जव **उपजै** छै तव कछि रौ जु वाउ लागी छै तव ही उह वाळक नूं भूख त्रिस लागी छै।—वेलि. टी.

उपजणहार, हारौ (हारी), उपजणियौ–वि०—उपजने वाला।

उपजाणौ, उपजाबौ, उपजावणौ, उपजाववौ—स०रू०।

उपजिओड़ौ, उपजियोड़ौ, उपज्योड़ौ—भू०का०कृ०।

उपजस–वि०—काला, श्याम*। (डि.को.)
सं०पु०—अपयश, अपकीर्ति।

उपजाऊ–वि०—जिसमें अच्छी और अधिक उपज हो, उर्वर।

उपजाणौ, उपजाबौ–क्रि०स०—उत्पन्न करना, पैदा करना, उगाना।

उपजाणहार, हारौ (हारी), उपजाणियौ–वि०—उपजाने वाला।

उपजणौ, उपजबौ—अ०रू०।

उपजायोड़ौ—भू०का०कृ०।

उपजायोड़ौ–भू०का०कृ०—उत्पन्न किया हुआ, उपजाया हुआ। (स्त्री० उपजायोड़ी)

उपजावणौ, उपजाववौ–क्रि०स० [सं० उत्पादन] देखो 'उपजाणौ, उपजाबौ'

उपजियोड़ौ–भू०का०कृ०—उपजा हुआ, उत्पन्न। (स्त्री० उपजियोड़ी)

उपजीविका-सं०स्त्री० [सं०] जीविकावृत्ति, जीवनोपाय, रोजी।

उपजीहा–सं०स्त्री०—दीमक (डि.को.)

उपज्जणौ, उपज्जवौ–क्रि०अ०—देखो 'उपजणौ'। उ०—सव्वां थी तुम्ह तुम्हां थी सब्भ, **उपज्जै** जेम अकासां अब्भ।—ह.र.

उपझूलण–स०पु०—एक प्रकार का छंद (र.ज.प्र.)

उपटंक–सं०पु०—पदवी, खिताव। उ०—इण कारण मौक्तिकराज चहुवांण सोनगिरा एही **उपटंक** पावै।—वं.भा.

उपट–सं०पु०—१ दान. २ उदारता, वदान्यता।
क्रि०वि०—ऊपर।

उपटणौ, उपटवौ–क्रि०अ०—१ आघात या दवाव या लिखने से पड़ने वाले चिन्ह या निशानों का आ जाना, उभरना. २ उखड़ना. ३ उमड़ना. उ०—ज्वाळा क्रोध **उपटी** चांपियौ काळा नाग जांणौ।—हुकमीचंद खिड़ियौ
४ मर्यादा या हद से वाहर होना. ५ उछल आना. ६ उत्पन्न करना।

उपटणहार, हारौ (हारी), उपटणियौ— वि०।

उपटिओड़ौ, उपटियोड़ौ, उपट्योड़ौ—भू०का०कृ०। (रू.भे. उपट्टणौ)

उपटयट–क्रि०वि०—ऊपर तक। उ०—सौ जाणौ पाउस काळ री नदियां में **उपटयट** वेग रै अनुसार तटां वारै छळतौ महानद आय मिळियौ।—वं.भा.

उपटां–क्रि वि०—ऊपर।
वि०—विशेष।

उपटियोड़ौ–भू०का०कृ०—१ उभरा हुआ. जोश में आया हुआ। (स्त्री० उपटियोड़ी)

उपट्टणौ, उपट्टवौ–क्रि०अ०—१ उत्पन्न होना। उ०—आवट्टिय जळ जोर, सोर दुहुं ओर **उपट्टिय**।—ला.रा. २ देखो 'उपटणौ'। उ०—**उपट्टी** आपगा यां वभक्कै श्रोण वारखाड़ा मारवाड़ा हक्को हक्के वक्कै मार मार।—हुकमीचंद खिड़ियौ

उपणणौ, उपणवौ–क्रि०स०—देखो 'उफणणौ, उफणवौ'।

उपणियोड़ौ–भू०का०कृ०—देखो 'उफणियोड़ौ'। (स्त्री० उपणियोड़ी)

उपणौ, उपबौ–क्रि०अ०—उत्पन्न होना।
क्रि०स०—पैदा करना।

उपत–सं०स्त्री० [सं० उत्पत्ति] १ उत्पत्ति। उ०—तन दुराचार **उपत** तास पीड़ा संचारी को विलास।—क.कु.वो. २ जन्म (अ.मा.)

उपकंठ, उपकंठइ–सं०पु०—किनारा, तट। उ०—संवत् १६६४ जेठ सुद ३ रवि रांम कह्यौ आगरै हवेली जमना रै उपकंठ।
—वां.दा.ख्या.

क्रि०वि०—निकट, समीप। उ०—आपरा धायनां रा जीवण रा जतन कराइ दक्खिण रा सहाय सहित दोही साहजादां अवंती रै उपकंठ केही मुकांम किया।—वं.भा.

उपकरण–सं०पु० [सं०] १ सामग्री, औजार. २ राज्य-सामग्री। उ०—समुद्रसेण री भेजियौ समस्त दंड री उपकरण वडाहरा दुक्ख रा जणावणहार उण ही बोध करनूं दीधौ।—वं.भा.
३ अप्रधान द्रव्य या वस्तु. ४ सोधक वस्तु. ५ राजाओं के छत्र आदि राज-चिन्ह. ६ परिच्छेद. ७ भोजन में चटनी आदि वाहरी पदार्थ. ८ पुष्प, धूप, दीप आदि पूजन की सामग्री।

उपकरता–सं०पु० [सं० उपकर्ता] उपकारक, उपकार करने वाला।

उपकार–सं०पु० [सं० उप+कृ+घञ्] १ भलाई, हित, नेकी. २ सलूक. ३ लाभ, फायदा।

उपकारक–वि० [सं०] उपकार करने वाला, उपकारी, हितकारक।

उपकारड़ौ–सं०पु०—देखो 'उपकार' (अल्पा०)

उपकारिका–वि०—उपकार करने वाली।
सं०स्त्री०—राजभवन, तम्बू।

उपकारिता–सं०स्त्री० [सं०] भलाई, हित, नेकी।

उपकारी–वि० [सं० उपकारिन्] उपकार करने वाला, हितकारक। (रू.भे. उपकारू)
क्रि०वि०—लिये, वास्ते। उ०—घड़ चील्हां ग्रीधण्यां, कमळक्षंकर उपकारू।—मे.म.

उपकूपक–सं०पु०—वापिका (डि.को.) बावड़ी, सीढ़ियोंदार कुआ।

उपकृत–वि० [सं० उपकृत] जिसके साथ उपकार किया गया हो, कृतोपकार, कृतज्ञ। उ०—लग्यौ खादी उपकृत प्रमादी नहीं लख्यौ।
—ऊ.का.

उपक्रम–सं०पु० [सं०] १ कार्यारम्भ के पहले का आयोजन या अवस्था, आरम्भ (डि.को.) २ अनुष्ठान, उठान, तैयारी, भूमिका।

उपक्रमणिका–सं०स्त्री०—किसी पुस्तक या ग्रंथ की विषय-सूची।

उपक्रमणौ, उपक्रमबौ–क्रि०अ० [सं० उप+क्रम] उछलना, कूदना, छलांग मारना।

उपखांन–सं०पु० [सं० उपाख्यान] उपाख्यान, कथा।

उपखीण–सं०पु० [सं० उपक्षीण] शोकसूचक वस्त्र। उ०—पीव लगो परदेसड़े घण तो धवळ हरेह, प्री उपखीणा पहरिया की कीजे ग्रहणेह।—ढो.मा.

उपगत–वि०—१ प्राप्त. २ स्वीकृत. ३ अंगीकृत. ४ ज्ञात, जाना हुआ.

उपगरणौ, उपगरबौ–क्रि०स०—१ ग्रहण करना, पकड़ना, लेना। उ०—उमंग न अमंगळ मंगळ आठे, ईस न उतवंग उपगरियौ। 'सांमा' तणौ सरीर सिगलड़ौ आवधधारां ऊतरियौ।
—ईसरदास वारहठ
२ उपकार करना।

उपगरणहार, हारौ (हारी), उपगरणियौ—वि०—ग्रहण करने वाला।
उपगरिओड़ौ, उपगरियोड़ौ, उपगरयोड़ौ—भू०का०कृ०।

उपगरियोड़ौ–भू०का०कृ०—ग्रहण किया हुआ, पकड़ा हुआ। (स्त्री० उपगरियोड़ी)

उपगार–सं०पु० [सं० उपकार] १ मेहरबानी, सहायता, अनुग्रह (ह.नां.) २ देखो 'उपकार'।

उपगारी–वि० [सं० उपकार+ई] देखो 'उपकारी'। उ०—उपगारी दिल उजळै जगही कूं चलै।—केसोदास गाडण

उपगीत, उपगीति–सं०स्त्री० [सं०] आर्या छंद का एक भेद जिसके विषम पदों में १२ और सम पदों में १५ मात्रायें होती हैं।

उपगूहन–सं०पु० [सं० उप+गूह+अनट्] आलिंगन, भेंट, अंक में भरना (डि.को)

उपग्रह–सं०पु० [सं०] १ जो प्रधान ग्रह न हो, किसी वड़े ग्रह के चारों ओर घूमने वाला छोटा ग्रह. २ छोटा ग्रह, राहु, केतु.
३ फलित ज्योतिष में सूर्य जिस नक्षत्र के हो उसके पांचवां (विद्युन्मुख) आठवां (शून्य) चौदहवां (सन्निपात) अठाहरवां (केतु) इक्कीसवां (उल्का) बाईसवां (कम्प) तेईसवां (वज्रक) और चौबीसवां (निर्घात) नक्षत्र भी उपग्रह कहलाते हैं. ४ उपद्रव। उ०—महा उपग्रह उपजइ, जै नर उलग इण महूरत जाई।
५ कैदी, बंदी (डि.को.) —वी.दे.

उपघात–सं०पु०—१ नाश करने की क्रिया. २ रोग, पीड़ा, व्याधि. ३ आघात. ४ आक्रमण। उ०—पातिसाहनी जोउ वात, देहरा सरि कीधउ उपघात। ब्राह्मण जई मूकावउं आज, जीवी किस्यूं करेवउ काज।—कां.दे.प्र. ५ कपट, छल।

उपड़णौ, उपड़बौ–क्रि०अ०—देखो 'ऊपड़णौ'। उ०—उत्तर दी भुइं जु उपड़इ, पाळउ पवन घणांह।—ढो.मा.
उपड़णहार, हारौ (हारी), उपड़णियौ—वि०।
उपड़ाणौ, उपड़ाबौ, उपड़ावणौ, उपड़ावबौ—स०रू०।
उपड़िओड़ौ, उपड़ियोड़ौ, उपड़्योड़ौ—भू०का०कृ०।
उपड़ीजणौ, उपड़ीजबौ—भाव वा०।

उपड़ांखियौ–वि०—जोशीला, वीर। उ०—आज रा दळ राज रा फठी उपड़ांखिया डांखिया केहरी 'अजन' दूजा।—मेघराज आढ़ौ

उपड़ाणौ, उपड़ाबौ–क्रि०स०—१ उमड़ाना. २ उन्मूलन करना. ३ उभारना. ४ भार उठाना. ५ दौड़ाना. ६ व्यय कराना. ७ खर्च कराना।
उपड़ाणहार, हारौ (हारी), उपड़ाणियौ—वि०।
उपड़णौ, उपड़बौ—अ०रू०।
उपड़ायोड़ौ—भू०का०कृ०।

उपड़ियोड़ौ–भू०का०कृ०—१ उमड़ा हुआ. २ उन्मूलित. ३ उठा या उभरा हुआ. ४ मूजा हुआ. ५ भार उठाया हुआ.

उपनाह—सं०पु० [सं०] १ सितार में तार बँधे रहने की खूंटी. २ मरहम पट्टी। उ०—ऋलुक्यराज रा सूरवीर लोहळक होय घूमता लाधा जिकां रै उपनाह कराय नृजांन आरूढ़ अणिहलपुर विदा किया।

उपनिभ—सं०पु० [सं०] कपट (ह नां) —वं.भा.

उपनिसत, उपनिसद—सं०पु० [सं० उपनिषद्] वेद की शाखाओं के ब्राह्मणों के वे अन्तिम भाग जिसमें ब्रह्म विद्या का निरूपण है (अ.मा.)

उपनीत—वि०पु० [सं०] जिसका उपनयन संस्कार हो गया हो।

उपनीसत—सं०पु० [सं० उपनिषद्] उपनिषद। उ०—मत भेदन खेद खुवी मत की, सत चूंप चुभी उपनीसत की।—ऊ.का

उपनी—वि०—उत्पन्न।

उपन्यास—सं०पु०—कल्पित कथा, कल्पित आख्यायिका।

उपन्नणौ, उपन्नबौ—क्रि०अ० [सं० उत्पन्न] *उत्पन्न होना, पैदा होना।* उ०—मारू देस उपन्नियां, तांहका दंत सुसेत। कूंझ बचां गोरंगियां, खंजर जेहा नेत।—ढो.मा.

उपन्नणहार, हारौ (हारी), उपन्नणियौ—वि०—उत्पन्न होने वाला।

उपन्निश्रोड़ौ, उपन्नियोड़ौ, उपन्योड़ौ—भू०का०कृ०।

उपपत—सं०पु०—देखो 'उपपति' (डि.को.)

उपपतनी—सं०स्त्री० [सं० उपपत्नी] १ वेश्या. २ रखैल।

उपपति—सं०पु० [सं०] वह पुरुष जिससे किसी दूसरे व्यक्ति की स्त्री प्रेम करे, जार, यार।

उपपुरांण—सं०पु० [सं० उपपुराण] पुराणों से छोटे और गौण पुराण। पुराणों के समान ये भी संख्या में अठारह हैं—सनत्कुमार, नारसिंह, नारदीय, शिव, दुर्वासा, कपिल, मानव, औशनस, वारुण, कालिका, सांब, नंदा, सौर, पराशर, आदित्य, माहेश्वर, भार्गव, वाशिष्ठ।

उपबन—सं०पु०—देखो 'उपवन'।

उपबरतन—सं०पु० [सं० उपवर्तन] देश (वं.भा.)

उपबसथ—सं०पु० [सं० उपवसथ] १ गांव, बस्ती। उ०—अठा थी एक जोजन अचळ री उपत्यका रै आधार उपबसथ ऊमरयूणी मंडप री मर्कान मरजी में मानियौ जाइतौ उठै रहियां।—वं.भा.

२ यज्ञ करने के पहिले का दिन जिसमें व्रत आदि करने का विधान है।

उपबाह्य—सं०पु० राजा की सवारी का हाथी (डि.को)

उपभोग—सं०पु०—१ किसी वस्तु के व्यवहार का सुख, मजा लेना, काम में लाना, बरतना. २ सुख की सामग्री. ३ विलास।

उपमंत्री—सं०पु० [सं०] मंत्री के नीचे कार्य करने वाला मंत्री।

उपमजाणौ, उपमजाबौ—क्रि०स०—१ उपमर्दन करना। उ०—स्वांमी हइ सांसौ पड्यौ। कीणी हरखांणी उपमजाई।—वी.दे.

२ उत्पन्न करना, पैदा करना।

उपमन्यु—सं०पु० [सं०] आपोदौम्य के शिष्य गोत्र प्रवर्तक एक ऋषि।

उपमांण, उपमान—सं०पु० [सं० उपमान] वह वस्तु जिससे किसी दूसरी वस्तु को उपमा दी जाय, जिसके समान या सदृश कोई वस्तु कही जाय। उ०—महा अदभूत जचै उपमांण, जसोमति पूत नचै फण जांण।—मे.म.

उपमा—सं०स्त्री० [सं०] १ समानता, तुलना, सादृश्य. २ एक प्रकार का अर्थालंकार। इसमें दो वस्तुओं में उनके बीच भेद रहते हुए भी समान धर्म बतलाया जाता है। उ०—१ व्यंग जमक उकती घुन वेता, जेहा जुगती जथा जमाव। अलंकार उपमा गुण एता, रसवेता भूखण मुजराव।—क.कु.बो.

उ०—२ उपमा कवि ऊमर दै अमोल, ततकाल समय टंकार तोल। —ऊ.का.

उपमेय—वि० [सं०] १ जिसकी उपमा दी जाय. २ वर्णनीय।

उपमेयोपमा—सं०स्त्री० [सं०] एक प्रकार का अर्थालंकार। जहाँ उपमेय *को जिस उपमान से उपमा दी जाय, उस उपमान को भी उसी* उपमेय से उपमा दी जाय अर्थात् जहाँ तीसरे समान पदार्थ का अभाव हो वहाँ यह अलंकार होता है।

उपयंद्र—सं०पु० [सं० उपेन्द्र] १ इन्द्र के छोटे भाई, उपेन्द्र. २ वामनावतार. ३ विष्णु. ४ श्रीकृष्ण (अ.मा.)

उपयम, उपयांम—सं०पु० [सं० उपयम्] विवाह (डि.को.)

उ०—१ उपयम दोय किया मुड़ि आतां, वसुधा अचळ करे जस वातां। —वं.भा.

उ०—२ अरु रोपाळ नूं न रुचै तौ कहणौ एक पत्नी रै एवज इच्छा रै प्रमांण उपयांम कीजै।—वं.भा.

उपयुक्त—वि० [सं० उपयुक्त] योग्य, उचित, ठीक, वाजिब।

उपयोग—सं०पु० [सं०] १ व्यवहार, प्रयोग, इस्तेमाल. २ लाभ, फायदा. ३ प्रयोजन. ४ आवश्यकता।

उपयोगिता—सं०स्त्री० [सं०] १ काम में आने की योग्यता या क्षमता. २ लाभकारिता।

उपयोगी—वि० [सं० उपयोगिन्] १ काम देने वाला. २ लाभकारी. ३ अनुकूल।

उपरंत—वि०—अधिक।

क्रि०वि०—उपरांत, पश्चात्, बाद में। उ०—लुगाई सूं रात में एक बार भोग करणौ, उपरंत करवा री आखड़ी।—रा.सा.सं.

उपर—वि० [सं० उपरि] ऊर्ध्व, ऊँचा।

उपरक्त—वि० [सं० उपरक्त] विपन्न, पीड़ाग्रस्त।

सं०पु०—राहुग्रस्त चंद्रमा या सूर्य।

उपरक्षण, उपरच्छण—सं०स्त्री० [सं० उपरक्षण] सेना की चढ़ाई (डि.को.) चौकी, पहरा।

उपरणा—सं०पु०—विशेष प्रकार से बाँधा जाने वाला बंधन जो एक विशेष प्रकार के बंध, देखो 'खिड़कियापाग' की रक्षा के लिए कसा जाता है।

उपरति—सं०स्त्री० [सं०] १ विषय से वैराग, विरति, उदासीनता, उदासी. २ मृत्यु, मौत. ३ त्याग, निवृत्ति, परित्याग।

उपतणौ, उपतबौ–क्रि०अ०—कष्ट पाना, दुखी होना।

उपताप–सं०स्त्री० [सं०] बीमारी, व्याधि (ह.नां.)

उपतारा–सं०स्त्री०—१ क्षुद्र नक्षत्र. २ नेत्रगोलक।

उपत्ति–सं०स्त्री० [सं० उत्पत्ति] १ उत्पत्ति। उ०—उपत्ति खपत्ति प्रकत्ति असंग, राजीवलोचन्न जांणौ ध्रुवरंग।—ह.र. २ उत्पत्ति स्थान।

उपत्यका–सं०स्त्री० [सं० उपत्यका] पर्वत के पास की भूमि, तराई, घाटी। उ०—जैत कहियौ कोणपकोण में अठा थी एक जोजन अचळ री उपत्यका रै आधार उपवसथ।—वं.भा.

उपदंस–सं०पु० [सं०] १ प्रायः लिंगेन्द्रिय पर दांत या नाखून लगने से होने वाला एक प्रकार का रोग जिसमें लिंगेन्द्रिय पर घाव हो जाता है, गर्मी, आतशक, फिरंग रोग. २ शराब के घूंट के बाद मुंह साफ करने व जायका ठीक करने के लिए खाये जाने वाले पदार्थ, गजक। उ०—ऊपर ही भेलि भद्रकाळी लोहित रूप आसव रा चसक रै साथ उपदंस करि पीधी।—वं.भा.

उपदरो, उपदरौ–सं०पु०—देखो 'उपद्रव' (रू.भे.) उ०—१ ताहरां देवीदास री वहू सासू कन्है जाय सरब हकीकत कही। इसौ सौ एक उपदरौ तूफान छै।—पलक दरियाव री वात

उ०—२ आडौ नव कोट रौ नाथ आयौ अडर, आंबेर रा करै मत वात अनडी। सेवरा वीच कोई उपदरौ पावसौ, वैलसौ रात रा हाय वनड़ी।—महाराजा मांनसिंह रौ गीत

उपदा–सं०स्त्री० [सं०] १ भेंट, उपायन, नजराना। उ०—अर आप आपरै उचित उपदा री भेंट करि राड़ि रौ रसिक जोरदार रक्षक जांणियौ।—वं.भा. २ दर्शन. ३ पीडा. ४ वाधा।

उपदिसा–सं०स्त्री० [सं० उपदिशा] दो दिशाओं के बीच की दिशा, कोण, विदिशा जो चार हैं—ईशान, आग्नेय, नैऋत्य, वायव्य।

उपदिस्ट–वि० [सं० उप+दिश+क्त] जिसे उपदेश दिया गया हो, जिसके विषय में उपदेश दिया गया हो, ज्ञापित, कृतोपदेश।

उपदूहो, उपदूहौ–सं०पु०—दोहा छंद का एक भेद विशेष जिसमें लघु गुरु का कोई नियम न हो (डिं.को.)

उपदेवता–सं०पु० [सं०] छोटे-मोटे देव (भूत-प्रेतादि)

उपदेस–सं०पु० [सं० उपदेश] १ हितकारी वात, शिक्षा, नसीहत, सीख. २ गुरु मंत्र।

उपदेसक–वि० [सं० उपदेशक] उपदेश करने वाला।

उपदेसकारी–वि०—१ उपदेशकर्ता. २ उपदेशप्रद।

उपदेसणौ, उपदेसबौ–क्रि०स०—उपदेश करना, उपदेश देना, सिखाना।

उपदेसणहार, हारौ (हारी), उपदेसणियौ–वि०—उपदेश करने वाला।

उपदेसिओड़ौ, उपदेसियोड़ौ, उपदेस्योड़ौ–भू०का०कृ०—उपदेश किया हुआ।

उपदेसियोड़ौ–भू०का०कृ०—उपदेश किया हुआ। (स्त्री० उपदेसियोड़ी)

उपदेस्य–वि० [सं० उपदेश्य] उपदेश के योग्य, उपदेशाधिकारी।

उपदेस्टा–वि० [सं० उपदेष्टा] १ उपदेशकर्ता. २ आचार्य, शिक्षक।

उपदेहिका–सं०स्त्री०—दीमक (डिं.को.)

उपद्रव–सं०पु०—१ उत्पात, हलचल, गड़वड़। उ०—भूत-प्रेत समस्त उपद्रव वेलि पढतां भाजै।—वेलि. टी. २ विप्लव, गदर. ३ दंगा-फसाद, झगड़ा-वखेड़ा. ४ किसी प्रधान रोग के बीच में होने वाले अन्य प्रकार के विकार. ५ अत्याचार, अंधेर।

उपद्रवी–वि० [सं० उपद्रविन्] उपद्रव या ऊधम मचाने वाला, उत्पाती.

उपद्वीप–सं०पु० [सं०] छोटा द्वीप, जलमध्यवर्ती स्थान।

उपध–सं०स्त्री०—१ उपाधि. २ देखो 'उपधा'।

उपधांन–सं०पु० [सं० उपधान] १ ऊपर रखना या ठहराना. २ सहारे की वस्तु. ३ तकिया, उसीसा, सिहराना (अ.मा.)

उपधांनासण–सं०पु० [सं० उपधानासन] योग के चौरासी आसनों के अंतर्गत एक आसन जिसमें एक पांव को लंवा रखा जाता है और दूसरे पांव को गरदन के नीचे तकिये की नाई रख कर सीधा सोना होता है।

उपधा–सं०स्त्री० [सं०] १ व्याकरण के अनुसार किसी शब्द के अंतिमाक्षर के पूर्व का अक्षर. २ छल, कपट (डिं.को.) ३ उपाधि।

उपधात, उपधातु–सं०स्त्री० [सं० उपधातु] १ अप्रधान धातु जो या तो लोहे, तांवे आदि धातुओं का विकार या मैल है वा उनके योग से वनी है अथवा स्वतंत्र खानों से निकलती है—जैसे कांसा, सोनामक्खी, तूतिया आदि. २ शरीर के अंदर रस से वना पसीना, चर्बी आदि (अ.मा.)

उपधि–सं०पु०—छल, कपट (ह.नां.)

उपधूमितयोग–सं०पु० [सं०] वह योग जिसमें यात्रा तथा शुभ कर्मो का निषेध होता है (फलित ज्योतिष)

उपनणौ, उपनबौ–क्रि०अ०—१ उत्पन्न होना, पैदा होना। उ०—वर प्राप्ति हुवां वर की वांछा करै छै तिहि समय परमेसर रा गुण भगि जिकाई इच्छा उपनी छै।—वेलि. टी. २ देखो 'उफणणौ, उफणबौ'।

उपनय–सं०पु०—१ उपनयन संस्कार। देखो 'उपनयण'। २ यज्ञोपवीत (डिं.को.)

उपनयण, उपनयन–सं०पु० [सं० उपनयन] द्विजों (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य) या त्रिवर्ग का यज्ञ सूत्र के धारण करने का संस्कार, उपवीत संस्कार।

उपनह–सं०पु० [सं० उपनाह] वीणा की खूंटी (डिं.को.)

उपनांम–सं०पु० [सं०] १ दूसरा नाम, प्रचलित नाम। उ०—नगर नाम उपनांम निज तै चाळक जैसींग। रुद्र महालय मूं किया, धर पुड़ सांचा धींग।—वां.दा. २ पदवी, उपाधि।

उपनाय–सं०पु० [सं० उपनयन] देखो 'उपनयण' (डिं.को.)

उपनायक–सं०पु० [सं०] नाटकों में प्रधान नायक या मित्र या सहकारी.

उपलेपण, उपलेपन–सं०पु० [सं०] लीपने या लेप लगाने का कार्य।

उपळी–सं०पु० [सं० उपरिल] देखो 'ऊपळी'। उ०—हजार पांवडा ईस छै। आठसै पांवडा उपळी छै। इण भांत री तळाव छै।
—रा.सा.सं.

उपलौ–वि०—ऊपर का। उ०—जीभ काटूं जिणी बोलियौ, थारी नाक मरीवा उपलौ होठ।—वी.दे.

उपव–सं०पु० [सं० उपमेय] उपमा के योग्य, उपमेय। उ०—पारस जात अद ग्रात 'समांपत', उपव भूपां ख्यात उदात। सेवै छांह सात सुख सरसै, परसै भुज दरसै कव पात।—क.कु.बो.

उपवन–सं०पु० [सं०] १ बाग, बगीचा, उद्यान (अ.मा.) २ छोटा जंगल, कृत्रिम वन।

उपवरतन, उपवरतनी–सं०पु० [सं० उपवर्तनम्] १ देश। २ राज्य। (अ.मा., ह.नां.)

उपवसत–सं०पु०—१ उपवास, व्रत (डिं.को.) २ यज्ञ करने का पूर्व का दिन जिसमें व्रत आदि करने का विधान है (वं.भा.)

उपवास–सं०पु० [सं०] भोजन का छोड़ना, फाका, लंघन, अनशन।

उपवासी–वि०—उपवासयुक्त, उपवास करने वाला, व्रती।

उपवाह्य–सं०पु० [सं०] १ युद्ध योग्य हाथी (डिं.को.) २ देखो उपवाह्य

उपविद्या–सं०स्त्री० [सं०] शिल्पादि विज्ञान, कलाकौशल।

उपविस–सं०पु० [सं०] हलका विष, कम तेज जहर जैसे अफीम, धतूरा, कुचेला।

उपविस्ट–वि० [सं० उपविष्ट] आसीन, बैठा हुआ, आसनस्थ।

उपवीत–सं०पु० [सं०] यज्ञ-सूत्र, जनेऊ, उपनयन (वं.भा.)

उपवीत उतार–सं०पु०—शस्त्र या तलवार का वह प्रहार जो कंधे के एक छोर से कमर के दूसरे छोर तक (जैसे जनेऊ बांधी जाती है ठीक वैसे ही) काट देता है। (मि० जनेऊवढ़) उ०—चहुवांण ऊठि मूंछां रा हाथ सहित दाहिणै खांधै खंग री प्रहार कियौ। प्रतापसिंघ तौ उपवीतउतार दोय टूक हुवौ।—वं.भा.

उपवेद–सं०पु० [सं०] विद्याओं के वे शास्त्र जो वेदों से निकले हुए माने जाते हैं। प्रत्येक वेद के उपवेद हैं जो चार हैं—१ धनुर्वेद. २ गंधर्व-वेद. ३ आयुर्वेद. ४ स्थापत्य।

उपसंव्यान–सं०पु०—१ अधोवस्त्र, नीचे का वस्त्र. २ साड़ी के नीचे का पहिनने का कपड़ा (डिं.को.)

उपसंपादक–सं०पु० [सं०] किसी कार्य में मुख्य कर्ता का सहायक या उसकी अनुपस्थिति में काम करने वाला व्यक्ति, सहकारी सम्पादक।

उपसंहार–सं०पु० [सं०] १ समाप्ति, नाश. २ निष्कर्ष. ३ शेष. ४ किसी ग्रन्थ का अंतिमाध्याय या भाग. ५ किसी ग्रंथ या लेख का अन्तिम अध्याय या भाग जिसमें उसका उद्देश्य या परिणाम संक्षेप में बतलाया गया हो।

उपसणौ, उपसबौ–क्रि०अ०—१ फूलना. २ उभरना।

उपसम–सं०पु० [सं० उपशम] १ इन्द्रिय-निग्रह, वासनाओं को दबाना. २ शांति. ३ प्रतीकार।

उपसमन–सं०पु० [सं० उपशमन] शांत रखना, शमन, दमन, दबाना, निवारण।

उपसय–सं०पु० [सं० उपशय] निदान पंचक के अंतर्गत रोगज्ञापक अनुमान।

उपसरग–सं०पु० [सं० उपसर्ग] किसी शब्द के पूर्व लगाया जाने वाला वह शब्द या अव्यय जिससे उक्त शब्द में किसी अर्थ में विशेषता पैदा होती हो. २ रोग भेद. ३ उत्पात, उपद्रव. ४ अशकुन. ५ दैवी आपत्ति. ६ पांच प्रकार के माने जाने वाले विघ्न (योग)

उपसरजन–सं०पु० [सं० उपसर्जन] १ ढालना. २ उपद्रव. ३ गौण वस्तु. ४ त्याग।

उपसरपण–सं०पु० [सं० उपसर्पण] १ उपासना. २ अनुवृत्ति।

उपसास–सं०पु०—श्वास भरना, आह, निश्वास। उ०—रघुपत जगत मिण उपसास राळै भांमणी, चिहुं ओर भाळै तन विचाळै जो वर।—र.रू.

उपसुंद–सं०पु०—सुंद नामक दैत्य का छोटा भाई।

उपस्त्री–सं०स्त्री०—उपपत्नी, रखैली।

उपस्थ–सं०पु० [सं० उप+स्था+क] १ नीचे या मध्य का भाग, पेडू। उ०—स्वारथ धरम न सिद्ध व्है, वणक मित्र कर लाख। व्है उपस्थ कच बाळियां, नहि अंगार नहि राख।—बां.दा. २ पुरुष चिन्ह, लिङ्ग. २ स्त्री चिन्ह, योनि।

उपस्थळ–सं०पु० [सं० उपस्थल] चूतड़, कूल्हा, पेड़ू।

उपस्थापण, उपस्थापन–सं०पु० [सं० उप+स्था+णिच्+अनट] उपस्थितकरणं, निकटआनयन।

उपस्थित–वि० [सं०] १ समीप बैठा हुआ, निकटस्थ. २ विद्यमान, हाजिर, मौजूद. ३ वर्तमान।

उपस्थिति–सं०स्त्री० [सं०] १ निकटस्थ होने का भाव. २ विद्यमानता, मौजूदगी।

उपहत–वि० [सं०] १ नष्ट, बरबाद. २ बिगड़ा हुआ. ३ क्षत, आघात प्राप्त।

उपहार–सं०पु० [सं०] १ भेंट, नजर, सौगात। उ०—प्रथ्वीराज नूं आप री पुत्री परिणाय लाखां रुपियां रा उपहार सहित विदा कियौ।
—वं.भा.

क्रि०प्र०—करणौ, देणौ, लेणौ, होणौ।

२ गीत, नृत्य. ३ सामग्री। उ०—उपयम रै उचित उपहार एक ठौ कराइ लग्न पूछियौ।—वं.भा.

उपहारीभूत–सं०पु० [सं० उपहार] भेंट, उपहार। उ०—अर नागोर द्रंग री देस यांहरै काज उपहारी भूत लियौ जावसी।—वं.भा.

उपहास–सं०पु० [सं० उप+हस्+घञ्] १ परिहास, हँसी, दिल्लगी, निंदा, बुराई। उ०—ससुर नहीं कोई सास, अंध सभा नृप अंध री। होणहार उपहास, देखौ भीखम द्रोण री।—रांमनाथ कवियौ

वि० [सं०] उपहास के योग्य, निंदनीय।

उपरत्न–सं०पु० [सं०] कम दाम के रत्न, घटिया रत्न जैसे सीप, मरकत, मणि आदि।

उपरम–सं०पु० [सं०] १ अंतर्ध्यान, विलीन। उ०—रात घड़ी दोय पाछली हुती, तरै नाटक पूरौ हुण लागौ, तरै देहुरौ देवता उपरम करण लागा।—नैणसी २ विरति, वैराग्य।

उपरमणौ, उपरमबौ–क्रि०अ०—विलीन होना, अंतर्ध्यान होना।

उपरमाड़ी–क्रि०वि०—ऊपर ही ऊपर।
सं०स्त्री०—महाजनी गणित का प्रश्न हल करने का नियम जिसके सहारे से गणित के प्रश्न गुरु द्वारा आसानी से व शीघ्र हल किये जाते हैं।

उपरमाड़ौ–सं०पु०—देखो 'उपरवाड़ौ'।

उपरमियोड़ौ–भू०का०कृ०—विलीन हुआ, अंतर्ध्यान।

उपरलियां, उपरल्यां–सं०स्त्री०—एक प्रकार की लोक देवियां जिनकी संख्या सात मानी जाती है, तथा जिनके प्रकोप से विभिन्न वात रोग होना माने जाते हैं।
पर्याय०—वायां (वायांसा), बीजासणियां (वीजासण्यां), मवाड़ियां (मावलियां), मैलड़ियां (मैलड़्यां, मैल्यां)।

उपरवाड़ौ–सं०पु० [सं० उपरि+वाट] ऊपर का मार्ग, गुप्त मार्ग।

उपरवार–सं०पु०—नदी के किनारे के ऊपर की भूमि, बाँगर जमीन।

उपरस–सं०पु० [सं०] पारे के समान गुण करने वाले पदार्थ जैसे गंधक (वैद्यक)।

उपरांठ, उपरांठउ, उपरांठियौ, उपरांठौ–वि० (स्त्री० उपरांठी) १ पीठ फेर कर खड़ा हुआ. २ विमुख। उ०—ढोलइ करइ पलांणियां सुंदरि सलूणी कज्ज। प्री मारुवणी सामुहउ, म्हां उपराठउ अज्ज।
—ढो.मा.
३ उल्टे पैरों पीछे हटना। उ०—लोह देखियां वदन लुकावै, उपरांठौ आवै आरांण।—अज्ञात

उपरांत, उपरांति–क्रि०वि०—१ अनंतर, बादमें, पश्चात्।
उ०—तठा उपरांत करि नै राजांन सिलामत घोड़ा दौड़ीजै छै।
२ ऊपर से (ल.पि.) —रा.सा.सं.
वि०—अधिक (अमरत) उ०—च्यार आदमी उपरांत राखण पावै नहीं।—कहवाट सरवहिया री वात

उपरांम–सं०पु० [सं० उपराम] निवृत्ति, विरति, उदासीनता, विराम, आराम।

उपरांयत–क्रि०वि०—देखो 'उपरांत'।

उपरा–क्रि०वि०—ऊपर। उ०—जोइ नै खणोतरा रै माथै हांडी देइ नै आधौ कीयौ। तितरै खोवै वेम भरी नै तरवार वाही सु हांडी उपरा वाजी।—चौबोली

उपराउपरी–क्रि०वि०—एक के पश्चात् एक, निरंतर (वं.भा.)

उपराचढ़ी–सं०स्त्री०—चढ़ाऊपरी, प्रतिद्वंदिता, स्पर्द्धा।

उपराध–सं०पु० [सं० अपराध] अपराध, दोष।

उपरायण–क्रि०वि०—१ ऊपर से. २ शीघ्रतापूर्वक।

उपराळो, उपराळौ–सं०पु०—१ पक्ष, हिमायत, सहायता, मदद
उ०—न तौ आंपणै जीव राखणी, न कोई उपराळौ तिण सूं आपां हवेली मांही लड़ां।—अमरसिंह री वात

उपरावटौ–वि०—१ गर्व से सिर ऊँचा करने वाला. २ अकड़ा हुआ, ऐंठा हुआ, जिसका सिर ऊपर तना हो।

उपरास–क्रि०वि०—ऊपर से ऊपरी। उ०—आई फौज उपरास, जिका आछी मत जांणौ। विळै साथ 'विसनेस', उणांरी खवरां आंणौ।
—पे.रू.

उपरि–क्रि०वि० [सं०] ऊपर। उ०—सूधी राव सेखाकी विछात्यां आंण लीनी। गादी कूंट उपरि खोलि वाळू मेल दीनी।—शि.वं.

उपरियाळ–वि०—एक से एक बढ़ कर।

उपरीजणौ, उपरीजबौ–क्रि०अ०—छोटे बच्चों का रोग विशेष से पीड़ित होना जिससे बच्चे को वमन भी होता है और दस्त भी लगते हैं।

उपरीजियोड़ौ–भू०का०कृ०—रोग विशेष से पीड़ित बच्चा।
देखो 'उपरीजणौ'। (स्त्री० उपरीजियोड़ी)

उपरेचौ–सं०पु०—दरवाजे पर लगाया हुआ काष्ट का डंडा।

उपरोक्त–वि० [सं० उपर्युक्त] ऊपर कहा हुआ, पूर्वकथित, उल्लिखित।

उपरोध–सं०पु० [सं०] अटकाव, रुकावट, आच्छादन, ढकना, आड।

उपलंगी–सं०पु० [सं० उपलांगी] पर्वत, पहाड़ (नां.मा.)

उपल–सं०पु० [सं०] १ पत्थर (ह.नां.) उ०—वानर री निरलज्जता, उपल कठणता लीध। वायस तणी कुकंठ ले, कुकवि विधाता कीध।—बां.दा. २ ओला. ३ रत्न. ४ बालू.
५ घास विशेष (डि.को.)

उपलक्ष–सं०पु० [सं०] १ संकेत, चिन्ह. २ दृष्टि. ३ उद्देश्य।

उपलक्षक–सं०पु० [सं०] वह शब्द जो उपादान लक्षणा से अपने वाच्यार्थ के द्वारा निर्दिष्ट होने वाली वस्तु के अतिरिक्त प्रायः उसी कोटि की अन्यान्य वस्तुओं का भी बोध करावे।

उपलक्षण–सं०पु० [सं०] १ वह संकेत या चिन्ह जो बोध कराने वाला हो. शब्द की वह शक्ति जिससे उसके अर्थ से निर्दिष्ट वस्तु के अतिरिक्त प्रायः उसी प्रकार की अन्यान्य वस्तुओं का भी बोध होता है।

उपलक्षित–वि०—सूचक, चिन्हयुक्त, सूचित।

उपलब्ध–वि० [सं०] १ प्राप्त. २ जाना हुआ।

उपलब्धि, उपलब्धी–सं०स्त्री० [सं० उपलब्धि] १ प्राप्ति. २ बुद्धि. ३ ज्ञान (डिं.को.) उ०—अर चोयौ हाथ कंठ रै लागौ देति आप आपरी उपलब्धि रै अनुसार सारां ही जुदौ जुदौ भाव कहियौ।
४ अनुभव। —वं.भा.

उपलवधी–सं०स्त्री०—देखो 'उपलब्धी'।

उपली–वि०—ऊपर की। उ०—जाई करी बैठी चौखंडी, पहली वांची उपली ओळी।—बी.दे.

उपलेप–सं०पु० [सं०] १ लेप लगाना, लीपना. २ वह पदार्थ जिससे लेप करे।

उ०—गांगौ गिरांक वूभ वुभाकड़ ऊंवी अकल उपाई नै। सेखसली नै कुण समभावै, वस इण पोपांवाई नै।—ऊ.का.

२ रचना करना, बनाना। उ०—१ विघ पिंगळ ससीकळ वतावै, धाया कुळक तणी गत पावै। यूं पालवणी अरभ उपावै, द्रुत डिंगळ आवै दरसावै।—क.कु.वो.

उ०—२ आदि पुरुस आदेस, आदि जिण स्त्रिस्ट उपाई।—ह.र.

३ उपार्जन करना। उ०—जुवारी जुवा खेल कर कोई गरथ उपावै।—केसोदास गाडण

उपावणहार, हारौ (हारी), उपावणियौ—वि०—उत्पन्न करने या रचना करने वाला।

उपाविग्रोड़ौ, उपावियोड़ौ, उपाव्योड़ौ—भू०का०कृ०।

उपावियोड़ौ—भू०का०कृ०—१ उत्पन्न किया हुआ. २ रचना किया हुआ। (स्त्री० उपावियोड़ी)

उपासंग—सं०पु० [सं०] तर्कश (अ मा.)

उपास—सं०पु० [सं० उपवास] उपवास, लंघन. [सं० उपास्य] इष्टदेव, उपासना के योग्य।

उपासक—वि० [सं०] पूजा या आराधना करने वाला भक्त। उ०—उपासक जळंधर तणौ प्रतपौ अचळ।—महाराजा मांनसिंह रौ गीत

उपासण, उपासन—वि०—उपासना करने वाला (पि.प्र.)

सं०पु०—शुश्रूषा, सेवा, आराधना।

उपासणा, उपासना—सं०स्त्री० [सं० उपासना] पास बैठने की क्रिया, आराधना, पूजा, टहल। उ०—सगरव न्याय सासनां उपासना न आंन की।—ऊ.का.

उपासणौ, उपासबौ—क्रि०स० [सं० उपासन] उपासना करना।

उ०—गुण प्रकास गुणराज आस जिण काज उपास।—अज्ञात

उपासणहार, हारौ (हारी), उपासणियौ—वि०।

उपासनीय—वि० [सं०] सेवा करने योग्य, सेव्य, आराधनीय पूजनीय।

उपासरौ—सं०पु० [सं० उपाश्रय] जैन यतियों का निवास-स्थान।

कहा—१ उपासरा में चौकनी—उपाश्रय में कृषि के उपकरण किस प्रकार मिल सकते हैं? कोई वस्तु उसी स्थान पर मिलेगी जहां उसके प्रयोग की संभावना हो. २ उपासरे में कांगसिया जोवै है—उपाश्रय में वालों में कंघी करने का उपकरण कैसे मिल सकता है क्योंकि जैन यतियों के तो वाल होते नहीं, तब वे उपकरण क्यों कर रक्खेंगे। कोई वस्तु उसी स्थान पर मिलेगी जहां उसके प्रयोग की संभावना हो।

उपासी, उपासीक—वि० [सं० उपासिन] उपासना करने वाला, सेवक, भक्त, आराधक। उ०—१ विद्या दस च्यार प्रताप विनायक, पावै चरण उपासी।—क.कु.वो.

उ०—२ हरसोळाव रा सूरतसिंघ राम उपासीक है।—वां.दा.ख्या.

उपासु, उपासू—वि०—उपासना चाहने वाला, उपासना करने वाला।

उ०—कट उडियांण नियां डमरु कर, भांग धतूरा भोगी। अरक फूल जळ धोम उपासू, जय जय संकर जोगी।—क.कु.वो.

उपास्य—वि० [सं० उप+आस+य] उपासना या पूजा के योग्य, आराध्य, सेव्य, पूजनीय।

उपाहौ—सं०पु०—उपालंभ। उ०—घणी उपाहौ उलगइं, राव चलावौ धरा अचेत।—वी.दे.

उपिंद्र—सं०पु० [सं० उपेंद्र] ईश्वर (नां.मा.)

उपियलगाह—सं०पु०—एक छंद विशेष, एक वृत्त, गाह छंद का भेद विशेष।

उपूठौ—वि० [सं० आपृष्ठ] पीठ फेरा हुआ।

क्रि०वि०—पीठ की ओर।

उपेक्षण—सं०पु० [सं०] १ विरक्त होना, उदासीन होना. २ किनारा खींचना. ३ घृणा करना, तिरस्कार करना।

उपेक्षा—सं०स्त्री० [सं० उप+ईक्ष+अ(आ)] १ अस्वीकार. २ त्याग. ३ उदासीनता, विरक्ति. ४ लापरवाही. ५ घृणा, तिरस्कार।

उपेक्षित—वि० [सं० उप+ईक्ष+क्त] जिसकी उपेक्षा की गई हो, तिरस्कृत, निंदित, त्यक्त।

उपेट—वि०—सहित, साथ।

उपेत—वि० [सं० उप+इ+क्त] १ युक्त, सहित। उ०—१ अर आप रा रजपूतां उपेत पाहुणां नूंत मांनण रौ दुंदुभी दिवाइ वडै वेग सांम्हौ चलायौ।—वं.भा.

उ०—२ स्वांमी सचेत, अति गुन उपेत। सेवक विसार, सौ लीन सार।—ऊ.का. २ एकत्रित।

उपेंद्रवज्रा—सं०पु०—रघुवरजसप्रकाश के अनुसार प्रथम जगण, तगण, जगण तथा अंत में दो गुरु वर्ण का एक छंद विशेष।

उपोदघात—सं०पु० [सं० उप+उत्+हन्+घञ्] १ किसी ग्रंथ के प्रारम्भ का वक्तव्य, प्रस्तावना, भूमिका. २ सामान्य कथन से भिन्न विशेष वस्तु के विषय में कथन।

उप्परि—क्रि०वि०—ऊपर।

उप्रवट, उप्रवाट—वि० [सं० उपरिवर्ती] अधिक, बहुत, विशेष।

उ०—१ कायरां चेत उड प्रेत जोगण किलक, उप्रवट भूभट विरदैत अड़िया।—तिलोकदांन बारहठ

उ०—२ घट सूं ओघट घाट, घड़ियौ अकवरिये घणौ। इळ चंनण उप्रवाट, परमळ उठी प्रतापसी।—दुरसौ आढ़ौ

उफ—अव्यय [अ०] ओह, अफसोस।

उवडांखियौ—सं०पु०—१ भूखा सिंह. २ लुटेरा।

वि०—उद्दंड। उ०—एकड़ां पांण उवडांखिया रोळिया, धोळिया धकाया दीह वोळै।—दल्लौ मोतीसर

उफणणौ, उफणबौ—क्रि०स० [सं० उद+फण=एतौ=उत्फणनम्] देखो 'ऊफणणौ, ऊफणबौ' (रू.भे.)

उफणतौ—सं०पु०—एक प्रकार का घोड़ा (शा.हो.)

उफणाणौ, उफणावौ—देखो 'ऊफणाणौ, ऊफणावौ (रू.भे.)

उफणियोड़ौ—भू०का०कृ०—देखो 'ऊफणियोड़ौ'। (स्त्री० ऊफणियोड़ी)

उपह्वर–सं०पु०—एकान्त, एकान्त स्थान । उ०—तिको मंत्र उपह्वर भी चार लोकांरा चतुरपणाथी चोड़ैं आयौ थकौ पहली ही इसौ घाट घड़ता तीजा साहजादा औरंगजेब रै सहायक बणियौ ।—वं.भा.

उपांग–सं०पु० [सं०] १ अवयव, अंग का भाग । उ०—जिकौ पण वळा विंध्य रा अधीस 'रांम' भूपाळ अंग उपांग सहित सुणीजै । २ प्राचीन काल का एक बाजा । —वं.भा.

उपांन उपांनत, उपांनह–सं०पु० [सं० उपानह] जूता (अ.मा., डिं.को.)

उपाअणौ, उपाअबौ–क्रि०स०—पैदा करना, उत्पन्न करना (ल.पिं.)
उपाअणहार, हारौ (हारी), उपाअणियौ—वि० ।
उपाइयोड़ौ—भू०का०कृ० ।

उपाऊ–सं०पु० [सं० उपाय] यत्न, उपाय ।
वि०—उत्पन्न करने वाला ।

उपाख्यांन–सं०पु० [सं० उपाख्यान] पुरानी कथा, वृत्तान्त ।

उपाड़–सं०पु०—१ फोड़ा, फुन्सी, ग्रन्थी. २ खर्च. ३ उपाड़नौ क्रिया का भाव. देखो 'ऊपाड़' ।

उपाड़णौ, उपाड़बौ, उपाड़िणौ, उपाड़िबौ–क्रि०स० [सं० उत्पादन] १ उठाना । उ०—ढाढी जइ प्रीतम मिळइ, यूं दाखविया जाइ । जोवण छत्र उपाड़ियउ, राज न बइसउ काइ ।—ढो.मा.
२ उखाड़ना, उन्मूलन करना । उ०—१ क्रोध चंडाळ सदा संगि खेलै, ताका मूळ उपाड़ौ ।—ह.पु.वा. उ०—२ औगुणग्राही जीव की, सुणौ संत इक वात । चंदण विरछ उपाड़ि, जहर तरवर जड़ राखै ।—ह.पु.वा.
३ खर्च करना. ४ अधिकार में करना, जीतना । उ०—सत हर सारि संघारि, उपाड़ण अन्नड़ां ।—महाराजा करणसिंह री गीत
५ आक्रमण करना. ६ बोझा उठाना. ७ भड़काना.
८ उचटाना । उ०—सुंदरि मौ सारी नही, कुंवर वहेसी मग्ग । साहिव चित्त उपाड़ियौ, जिम केकांणां वग्ग ।—ढो.मा.
उपाड़णहार, हारौ (हारी), उपाड़णियौ—वि० ।
उपाड़िओड़ौ, उपाड़ियोड़ौ, उपाड़्योड़ौ—भू०का०कृ० ।

उपाड़ियोड़ौ–भू०का०कृ०—१ उठाया हुआ. २ उखाड़ा हुआ. ३ खर्च किया हुआ. ४ अधिकार में किया हुआ, जीता हुआ. ५ बोझा उठाया हुआ. ६ भड़काया हुआ. ७ उचटाया हुआ ।
(स्त्री० उपाड़ियोड़ी)

उपाड़ू–वि० [सं० उत्पाटन] १ अधिक खर्च करने वाला. २ जोशीला ।

उपाड़ौ–सं०पु०—१ खर्च, व्यय. २ बोझ, वजन. ३ झड़बेरी के सूखे डंठलों का समूह जो काट कर सिर पर उठा कर ले जाया जाता है ।

उपाणो–सं०पु० [सं० उत्पन्न] १ आमदनी, आय. २ खर्च की गई रकम द्वारा उत्पन्न आय ।

उपाणौ, उपावौ–क्रि०स० [सं० उत्पादन] १ उत्पन्न करना, पैदा करना । उ०—वन मां आवि चोरिया ब्रहमा, त्रिकम नवा उपाया तार । —ह.नां.

२ उपार्जन करना, कमाना. ३ रचना । उ०—मंडणहारै मंडकी उदवुद उपाई ।—केसोदास गाडण ४ सोचना ।

उपादांन–सं०पु० [सं० उप+आ+दा+अनट्] १ स्वयंमेव कार्यरूप में परिणित होने वाला कारण. २ किसी वस्तु के तैयार होने की सामग्री ।

उपादेय–वि० [सं०] १ ग्रहण करने योग्य, लेने लायक, ग्राह्य. २ उत्तम, श्रेष्ठ ।

उपाध, उपाधि–सं०पु० [सं० उपधि] १ उपद्रव, अन्याय, छल-कपट । उ०—तिणां री सुरतांण रीसाय नैं आंख काढी और ही उपाध करै तरै बूंदी रा उमराव सारा रांणा उदैसिंह कनै आया । —नैणसी
२ युद्ध. [सं० उपाधि] ३ उपाधि, खिताब. ४ आफत, विघ्न, बाधा । उ०—चित सूं आगम चितवै आ मजवूत उपाध । 'बंक' जुड़ै नह बांचियौ, इण कारण है आध ।—बां.दा. ५ वह जिसके संयोग से कोई वस्तु और की और अर्थात् किसी विशेष रूप में दिखाई दे । उ०—बुध व्याधिय आधि उपाधिय में, सुध लाधिय सुन्य समाधिय में ।—ऊ.का. ६ उपनाम ।

उपाधिया, उपाध्याय–सं०पु० [सं० उपाध्याय] वेद-वेदांग का पढ़ाने वाला, अध्यापक, शिक्षक, गुरु. २ ब्राह्मणों का एक भेद ।

उपानह–सं०पु० [सं०] जूता, पनही, पदत्राण ।

उपाय–सं०पु० [सं०] १ पास पहुँचना, निकट आना. २ अभीष्ट तक पहुँचाने वाला. ३ युक्ति, तदवीर. ४ किसी दुश्मन पर विजय पाने की चार युक्तियाँ—साम, दाम, दण्ड, भेद. ५ उपचार, प्रयत्न. ६ चार* ।

उपायक–सं०पु० [सं० उपाय] साधन, युक्ति, तदवीर ।

उपायन–सं०पु०—भेंट, उपहार । उ०—परवत मेर रौ सीस खग री ओझाड़ दे'र भूतनाथ भैरव रै उपायन कियौ (वं.भा.)

उपारजण, उपारजन–सं०पु० [सं० उप+अर्ज+अनट्] १ लाभ करना, कमाना, पैदा करना. २ एकत्र करना, संचय करना ।

उपालंभ, उपालंभन–सं०पु० [सं०] उलाहना, शिकायत, निंदा । उ०—सो जांणू हालू नरेंद्र भी पावक में पत्नी रौ पहिली प्रवेस प्रमांण श्री विरुद्ध विचारि आपरा अनुज नूं उपालंभ दीधौ । —वं.भा.

उपाळौ–क्रि०वि०—नंगे पैर । उ०—वन है वेटा विकट पथ चालणौ उपाळौ ।—र.रू.

उपाव–सं०पु० [सं० उपाय] देखो 'उपाय' । उ०—पाटा पीड़ उपाव, तन लागां तरवारियां । वहै जीभ रा घाव, रती न ओखद राजिया ।—किरपारांम

उपावण–वि०—उत्पन्न करने वाला । उ०—अलख तुंहीज आदेस, अमर नर नाग उपावण ।—ह.र.

उपावणौ, उपावबौ–क्रि०स०—१ उत्पन्न करना, पैदा करना ।

२ शेष रखना, बचाना। उ०—सती वळै जूझै सुभट, करै ग्रंथ कविराज। दाता माया ऊवमै, नांम उवारण काज।—बां.दा.

उवारणहार, हारौ (हारी), उवारणियौ—वि०—उवारने वाला।

उवरणौ, उवरबौ—अ०रू०।

उवारिओड़ौ, उवारियोड़ौ, उवारयोड़ौ—भू०का०कृ०।

उवारियोड़ौ—भू.का.कृ.—उवारा हुआ। (स्त्री० उवारियोड़ी)

उवारू—वि०—१ रक्षक, बचाने वाला. २ शेष रखने वाला।

उवारौ—सं०पु०—१ बचा हुआ, शेष, अवशिष्ट. २ खर्च करने पर बचा हुआ सामान. ३ रक्षा, सहायता।

उवाळ—सं०पु०—१ जोश. २ उफान, उबलने का भाव।

उवाळणौ, उवाळबौ—क्रि०स०—१ आंच देकर किसी द्रव पदार्थ को खौलाना. २ जोश देना. ३ पसीजना। उ०—तउ पती न उवाळहौ। नीहंचइ सखी। ओळिग जाईणहार।—वी.दे.

उवाळणहार, हारौ (हारी), उवाळणियौ—वि०—उबालने वाला।

उवळणौ, उवळबौ—क्रि०अ०।

उवाळिओड़ौ, उवाळियोड़ौ, उवाळयोड़ौ—भू०का०कृ०।

उवाळियोड़ौ—भू०का०कृ०। उबाला हुआ (स्त्री० उवाळियोड़ी)

उवासी—सं०स्त्री०—मुंह के खुलने की एक स्वाभाविक क्रिया जो निद्रा या आलस्य के कारण प्रतीत होती है, जंभाई।

क्रि०प्र०—आणी, खाणी, लेणी।

उवाहणौ, उवाहबौ—क्रि०स०—१ ऊपर उठाना, प्रहार हेतु शस्त्र उठाना. २ पानी फेंकना, उलीचना. ३ उभरना।

उवाहणहार, हारौ (हारी), उवाहणियौ—वि०।

उवे—वि० [सं० उभय] दोनों, उभय।

उवेड़—सं०पु० [सं० उद्वेल्लनम्] कुये के पानी का उठाव, पानी का गहरापन।

उवेड़णौ, उवेड़बौ—क्रि०स०—१ उन्मूलन करना, उखाड़ना. २ सिले हुए कपड़े के टांके उखेलना. ३ तोड़ना. ४ चीरना।

उवेड़णहार, हारौ (हारी), उवेड़णियौ—वि०।

उवेड़िओड़ौ, उवेड़ियोड़ौ, उवेड़योड़ौ—भू०का०कृ०।

उवेड़ियोड़ौ—भू०का०कृ०—१ उखाड़ा या उन्मूलन किया हुआ. २ सिले हुए कपड़े के टांके उखेला हुआ. ३ तोड़ा हुआ. ४ चीरा हुआ। (स्त्री० उवेड़ियोड़ी)

उवेड़ौ—वि०—१ दाहिनी ओर से निकलने वाला (भेड़िया) २ दाहिनी ओर से बोलने वाला (तीतर)

उवेधा—वि०पु०—१ उद्दंड. २ उत्पाती. ३ दुष्ट. ४ असुर।

उवेल—सं०स्त्री०—१ मदद, रक्षा, (रू.भे. देखो 'ऊवेल')

उ०—वीकै दुरंग थापियौ वांकौ, कांटां सरण उवेल करौ।
—महाराजा करणसिंह

२ रक्षक, सहायक। उ०—हय हक्कि वीर आतुर यते, रज ढंबर नभ छावियौ। 'लावै' उवेल असुरां लड़ण, येम,'अरज्जन' आवियौ।
—ला.रा.

उवेलण—सं०स्त्री०—सहायता, मदद (मि० 'उवेल'१)

उवेळणौ, उवेळबौ—क्रि०स०—१ बँटी हुई रस्सी के रेशों को वापस पृथक्-पृथक् करना, खोलना, उधेड़ना. २ मर्यादारहित करना।

उवेळणहार, हारौ (हारी), उवेळणियौ—वि०।

उवेळिओड़ौ, उवेळियोड़ौ, उवेळयोड़ौ—भू०का०कृ०।

उवेलणौ, उवेलबौ—रक्षा करना। उ०—जिकण नूं बूडतौ देखि पाछै सूं कुमार देवीसिंह जेरवंद काटणौ चीतांइ नासादघ्न पांणी में पैसता नूं वाजी समेत उवेलियौ।—वं.भा.

उवेलणहार, हारौ (हारी), उवेलणियौ—वि०।

उवेलिओड़ौ, उवेलियोड़ौ, उवेल्योड़ौ—भू०का०कृ०।

उवेळयोड़ौ—भू०का०कृ०—१ उधेड़ा हुआ. २ मर्यादारहित किया हुआ. ३ घेरा हुआ। (स्त्री० उवेळयोड़ी)

उवेल्योड़ौ—भू०का०कृ०—बचाया हुआ, रक्षा किया हुआ।

उवेलू—वि०—मदद करने वाला, सहायता करने वाला। उ०—दोनूं गठोड़ रांण वीर ख्याल खेलू। दोनूं वगरू के खेति माधव का उवेलू।—शि.वं.

सं०स्त्री०—मदद सहायता। उ०—द्विज भयौ वेळू अजामेळू कांम-केळू वांम ए। जमदूत खेलू काळवेळू कंठमेळू ग्राम ए। सुत हेतहेलू नांमलेलू कर उवेलू सांम ए।—करुणासागर

उवै—वि० [सं० उभय] दो, दोनों।

उवैलौ—देखो 'उवेल'।

उव्वटणौ, उव्वटबौ—क्रि०अ०—१ देखो 'उवटणौ'। २ बिगड़ना, क्रोधित होना।

उव्वटणहार, हारौ (हारी), उव्वटणियौ—वि०।

उव्वटिओड़ौ, उव्वटियोड़ौ, उव्वटयोड़ौ—भू०का०कृ०।

उव्वटियोड़ौ—भू०का०कृ०—१ बिगड़ा हुआ, क्रोधित. २ देखो 'उवटियोड़ौ'। (स्त्री० उव्वटियोड़ी)

उव्भै—वि०—उभय, दोनों।

उभई—वि० [सं० उभय] दोनों, उभय।

उभड़णौ, उभड़बौ—क्रि०अ०—उभरना, आसपास की सतह से ऊँचा होना, बहकाना।

उभड़णहार, हारौ (हारी), उभड़णियौ—वि०।

उभड़िओड़ौ, उभड़ियोड़ौ, उभड़योड़ौ—भू०का०कृ०।

उभड़ियोड़ौ—भू०का०कृ०—उभरा हुआ। (स्त्री० उभड़ियोड़ी)

उभभत—वि० [सं० अद्भुत] विचित्र। उ०—बीजळ हरा जतै घर बहिया, अजड़ां मांहे जेण तथ्य। पळ वरसंतै ग्रीव पोहंती, भाकर राता उभभत।—राव सुरतांण सिरोही रौ गीत

उभय—वि० [सं०] दो, दोनों। उ०—गुण गंध ग्रहित गिळि गरळ ऊगळित, पवण वाद ए उभय पख।—वेलि.

उभयवादी—वि० [सं०] वह जो स्वर और ताल दोनों का बोध कराने वाला वाद्य यथा वीणा।

उफतणौ, उफतबौ–क्रि०ग्र०—देखो 'ऊफतणौ'।

उफतियोड़ौ–वि०—तंग ग्राया हुग्रा। उ०—पछे हूं उफतियोड़ौ दावौ ठकरावतीई होऊंला।—वरसगांठ (मि० ऊफतियोड़ौ)

उफरांटौ–वि०—१ पीठ फेरा हुग्रा. २ विरुद्ध (मि० उपरांठौ)

उफरांठउ–वि०—देखो 'ऊपरांठउ'। (रू.भे. 'ऊफरांठउ')

उफांण, उफांन–सं०पु० [सं० उत्+फेन] १ गर्मी पाकर फेन के साथ ऊपर उठना, उवाल. २ जोश, उवाल। उ०—नथी रजोगुण ज्यां नरां, वां पूरौ न उफांण। वे भी सुणतां ऊफणै, पूरा वीर प्रमांण। ३ ग्राडम्बर. —वी.स.

उफांणणौ, उफांणबौ–क्रि०स०—देखो 'ऊफणाणौ, ऊफणावौ'।

उफारवां–वि०—दिखावे में बड़ा दीखने वाला। उ०—सोनीजी ग्राया उफारवां गैणा घड़ावण री सला ठैरी।—वरसगांठ

उबंध–वि०—देखो 'ऊबंध'।

उबंबर, उबंबरौ–वि० [सं० उपांबर] १ ऊंचा. २ वीर, बहादुर। उ०—१ कुळवट खेती कमधजां, गज थट करण गहीर। उग्रवट 'पतौ' उबंबरौ, धर यूरप भट धीर।—किसोरदांन वारहठ उ०—२ वाहुड़िया वांहाळ वे हिंदु उबंबरा।—गो.रू. ३ देखो 'ऊबंबर'।

उबकणौ, उबकबौ–क्रि०ग्र०—देखो 'ऊबकणौ'।

उबकौ–सं०पु०—देखो 'ऊबकौ'।

उबक्कणौ, उबक्कबौ–क्रि०ग्र०—देखो ऊबकणौ'।
उ०—उबक्के ग्ररावां ग्राग, हूबक्के जोधार ग्रंग, (जठै) ताता जंगां पमंगां मेलिया निराताळ।—बुधसिंह सिढ़ायच

उबड़खाबड़–वि०—ऊंचा-नीचा, ग्रटपटा, विषम।

उबड़णौ, उबड़बौ–क्रि०ग्र०—देखो 'ऊबड़णौ'।

उबड़ाक–सं०स्त्री०—ग्रोकाई, मिचली, कै, जी की मिचलाहट।

उबड़ियौ–सं०पु०—रहँट के बीचोबीच का लोहे या लकड़ी का स्तम्भ। वि०वि०—देखो 'ऊबड़ियौ'।

उबट–सं०पु० [सं० उद्वाट] देखो 'ऊबट'।

उबटण, उबटन, उबटणौ–सं०पु० [सं० उद्वर्त्तन] शरीर पर मलने के लिए सुगन्धित लेप। उ०—सखी हिळमिळ मंगळ गावौ, बनाजी रै उबटणौ मसळावौ।—समांन बाई

उबटणौ, उबटबौ–क्रि०ग्र०स०—१ कसिया जाना, कसैला होना. २ रंग उड़ना (कपड़े का). उ०—ऊजळ मळ संकुळ पीठी उबटांणी, करड़े लोह साथे ऐरण कूटांणी।—ऊ.का. ३ उत्पन्न होना। ४ उवटन लगाना, मलना। देखो 'ऊबटणौ'।
उबटणहार, हारौ (हारी), उबटणियौ—वि०।
उबटिग्रोड़ौ, उबटियोड़ौ, उबटचोड़ौ—भू०का०कृ०।

उबटियोड़ौ–भू०का०कृ०—१ कसिया हुग्रा. २ रंग उड़ा हुग्रा (कपड़े का) ३ उवटन लगाया हुग्रा या मला हुग्रा। (स्त्री० उबटियोड़ी)

उबटौ–सं०पु०—ऊँट या घोड़े की जीन में तंग कसने के लिए बांधने की एक चमड़े की रस्सी। (मि० ऊबटौ)

उबद–सं०पु० [सं० ग्रर्बुद] देखो 'ग्ररबुद'।

उबरेलौ, उबरेड़ौ–सं०पु०—वर्षा का बंद होकर ग्राकाश का साफ होना। उ०—मेह वरसण लागो ग्रर उबरेलौ दीनो नहीं।—द.दा.

उबरांणणौ, उबरांणबौ–क्रि०स०—प्रहार हेतु शस्त्र उठाना।

उबळणौ, उबळबौ–क्रि०ग्र० [सं० उज्ज्वलम्] १ खौलना. २ उफनना।
उबळणहार, हारौ (हारी), उबळणियौ—वि०—उवलने या उफनने वाला।
उबळिग्रोड़ौ, उबळियोड़ौ, उबळचोड़ौ—भू०का०कृ०।

उबळियोड़ौ–भू०का०कृ० [सं० उज्ज्वलित] उवला हुग्रा, खौला हुग्रा, उफना हुग्रा। (स्त्री० उबळियोड़ी)

उबांणणौ उबांणबौ–क्रि०स० [सं० उद्भरण] १ प्रहार हेतु शस्त्र उठाना (रू.भे. 'ऊबांणणौ)' २ खड़ा करना।
उबांणणहार, हारौ (हारी), उबांणणियौ–वि०—प्रहार हेतु शस्त्र उठाने वाला।
उबांणिग्रोड़ौ, उबांणियोड़ौ, उबांण्योड़ौ—भू०का०कृ०।

उबांणौ–वि० (स्त्री० उबांणी) १ नंगे पैर। उ०—पातसा री हजूर ग्रमराव मंमूसाह, मीर गाभरू सु हरम री खुटक नै मुरगाव्यां पगां उबांणा सौ तीजै भाई नूं ग्रापड़ियौ थौ सु ग्रा घणी वात छै।
—नैणसी
२ नंगी तलवार किए हुए (रू.भे. ऊबांणौ) उ०—खेंगां खूर कीधां वंका सेखांणी उबांणै खांडै, ठांणै कंपूं गाहटै, उठांणै ठांम ठांम। ३ नग्न। —डूंगजी जवारजी रौ गीत

उबांबरौ–वि० [सं० उपांबर] देखो 'ऊबांबरौ'।

उबाई–सं०स्त्री०—जंभाई।

उबाक–सं०स्त्री०—वमन, कै। उ०—ग्रावै देख उबाक, थूक रा थेवा थाया। उतरया सूत ग्रणूंत, मूंत रेला नह माया।—ऊ.का.

उबाड़–सं०स्त्री०—१ फाड़ने या चीरने की क्रिया का भाव। (मि० ऊबाड़णौ) २ दरार।

उबाट–वि०—देखो 'उबट'।

उबार–सं०पु० [सं० उद्धारण] छुटकारा, उद्धार, निस्तार. २ रक्षा। उ०—जळंतौ उग्रा ग्रब्भ मझार, ग्रनंत परीखत संत उबार।—ह.र.

उबारकौ–वि०—१ उवारने वाला. २ रक्षक।

उबारण, उबारणौ–वि०—रक्षा करने वाला, रक्षक। उ०—नमो प्रह्लाद उबारण प्रम्म।—ह.र. उ०—२ रजवाट खळां भड़ मारणा है, ब्रद ईहग नांम उबारणा है। —क.कु.बो.

उबारणौ, उबारबौ–क्रि०स० [सं० उद्धारक] १ उद्धार करना, छुड़ाना, मुक्त करना। उ०—१ उबारिय स्राप ग्रगा ग्रमरीख, सेवग्ग कियौ तैं ग्राप सरीख।—ह.र.
२ रक्षा करना। उ०—हण विखधर विखधर बचौ, ग्राग बुझाय ग्रंगार। पिसण मार सुत पिसण रौ, ग्रसमझ लियौ उबार।—बां.दा.

उमगियोड़ौ-भू०का०कृ०—१ उमड़ा हुआ. २ उभड़ा हुआ. ३ उमंगयुक्त। (स्त्री० उमगियोड़ी)

उमड़-सं०स्त्री०—१ बाढ़, बहाव. २ भराव. ३ घिराव, धावा।

उमड़णौ, उमड़बौ-क्रि०अ०—१ द्रव पदार्थ का आधिक्य के कारण ऊपर उठना, उतरा कर वह चलना. २ उठ कर फैलना, छाना. उ०—अंबर में उमड़ी घटा, आभै अटकी आंख—बादळी। ३ घेरना. ४ आवेश में आना, जोश में होना।

उमड़णहार, हारौ (हारी), उमड़णियौ-वि०—उमड़ने वाला।

उमड़िग्रोड़ौ, उमड़ियोड़ौ, उमड़योड़ौ—भू०का०कृ०।

उमड़ियोड़ौ-भू०का०कृ०—उमड़ा हुआ। (स्त्री० उमड़ियोड़ी)

उमटणौ, उमटबौ-क्रि०अ०—उमड़ना। देखो 'ऊमटणौ, ऊमटबौ'। उ०—काळी ग्रे काळायण उमटी ग्रे पणिहारी ग्रेलौ।—लो.गी.

उमणौ-वि०—उदासीन, खिन्न चित्त। उ०—ग्राज दांन उमणौ, ग्राज सरसत दुचती।—पहाड़ खां ग्राढ़ौ

उमत-सं०स्त्री० [ग्र० उम्मत] १ किसी धर्म के विशेषत: पैगम्बर धर्म के समस्त अनुयायी. २ धर्म विशेष के अनुयायी। उ०—मोह सराव खराव है, छत उमत छाकी।—केसोदास गाडण

उमदगी-सं०स्त्री०—ग्रच्छापन, खूबी।

उमदा-वि० [फा० उम्दा] उमदा, श्रेष्ठ, बढ़िया, अच्छा। सं०पु०—ऊंट (ना.डि.को.)

उमम-सं०स्त्री०—उमंग, उत्साह। उ०—ग्राया पौढ़ी उमम घटा वद सोह धणीड़ं।—ग्रज्ञात

उमया-सं०स्त्री० [सं० उमा] पार्वती, गौरी। उ०—उमया ईस उमै ग्राहुड़िया 'किसनावती' तणै सिर काज।—गोरधन बोगसौ

उमयाइस्ट, उमयावर-सं०पु० [सं० उमा+इष्ट] शिव, उमापति (ग्र.मा.)

उमर-सं०स्त्री० [ग्र० उम्र] १ ग्रवस्था, वय, ग्रायु।

पर्याय०—ग्राव, ग्रावड़दा, ग्रावरदा, ग्रायुस, ग्रायू, ऊमर।

कहा०—उमर रा दिन ग्रोछा करै—व्यर्थ में ग्रायु गँवाता है। (ग्रल्पार्य—उमरड़ी)

उ०—वता किम वरणूं यन्नं ग्राज, उमरड़ी भोळी तणौ सुहाग।—सांभ

२ एक प्रकार का वृक्ष विशेष।

उमरांणौ-सं०पु०—ऊमरकोट का एक नाम। उ०—सेरसाह दिल्ली तग्वत, बैठौ वळ निज वाह। उमरांणे जद ग्रावियौ, सरण हमाऊ साह।—बां.दा.

उमराव-सं०पु० [ग्र० ग्रमीर का बहुवचन] १ सरदार. २ रईस. प्रतिष्ठित लोग। उ०—नन्हा मिनख नजीक, उमरावां ग्रादर नहीं। ठाकर जिण नै ठीक, रण में पड़मी राजिया।—किरपारांम

उमरौ-सं०पु०—देखो 'उमराव'। उ०—ग्रमे राठौड़ राजां तणा उमरा, जुड़ेवा पारकी छळी जागां।—ग्रमरसिंह री वात

उमली-वि०—ग्रफीमची। देखो 'ग्रमली'।

उमस-सं०स्त्री०—१ उष्णता, गर्मी. २ वर्षा के पूर्व की वर्षासूचक गर्मी।

उमा-सं०स्त्री०—पार्वती (डि.को.) २ दुर्गा (ग्र.मा.) ३ ग्रलसी (डि.को.)

उमाकवर, उमाकुमार-सं०पु० [सं० उमा+कुमार] १ कार्तिकेय (डि.को. २ गणेश (डि.को, ग्र.मा.)

उमागुरु-सं०पु० [सं०] हिमाचल पर्वत।

उमादे-सं०स्त्री०—एक मारवाड़ी लोक गीत।

उमाधव, उमापत, उमापति-सं०पु० [सं० उमा+पति उमा+धव] महादेव।

उमायौ-वि०—१ उत्कट ग्रभिलापा वाला, उमंगयुक्त. २ रुका हुग्रा।

उमाव-सं०पु० [सं०] उत्साह, उमंग (डि.को.) २ ग्रावेश, जोश।

उमावड़ौ-सं०पु०—किसी की स्मृति में दुखी या उदासीन होने का भाव.

उमावर-सं०पु० [सं० उमा+वर] शिव, महादेव (क.कु.बो.)

उमावौ-सं०पु०—१ उत्साह, उमंग। उ०—स्यांम मिलण रौ घणौ उमावौ, नित उठ जोऊँ वाटड़ियाँ।—मीरां

उमास-सं०स्त्री०—उमंग। उ०—भड़क्कै दुग्रासां सेल तमासा संपेखै. भांण। ग्रच्छरां हुलासां हास नारदां उमास।

—राजा रायसिंह झाला रौ गीत

उमाह, उमाहउ-सं०पु० [सं० उत्साह] १ उत्साह, जोश, उमंग, उल्लास (डि.को.)

उ०—ज झ वांनिदि ग्राखर जिके, ग्रांणौ सुकवि उमाह। ताहि मंझ कवि कहत हैं, न्यून मित्र निरनाह।—र.रू. २ याद, स्मरण (डि.को.) उ०—ग्राज उमाहउ मो घणउ, ना जांणूं किव केण। पुरुख परायउ वीर वड, ग्रहर फुरक्कइ केण।—ढो.मा.

उमाहड़, उमाहड़ौ-वि०—१ महत्वाकांक्षी. २ उत्सुक। उ०—पातसाही कटक मांहे घोड़ौ उपाड़ नांखियौ, कांनड़दे उमाहड़े मोहल बैठा देखै छै।—नैणसी

उमाहणौ, उमाहबौ, उमाहियणौ, उमाहियबौ-क्रि०अ०—१ उत्साहित होना। उ०—मूझ बोल नृपां मांह, ठीक ग्राप रखे ठांह। ग्रालमां कहे उमाह, वाह वाह वाह।—र.रू. २ उमंग से भरना, उमंगयुक्त होना। उ०—फागण मास सुहामणउ, फाग रमइ नव वेस। मो मन खरउ उमाहियउ, देखण पूगळ देस।—ढो.मा.

उमाहणहार, हारौ (हारी), उमाहणियौ-वि०—उत्साहित होने वाला, उमंग से भरने वाला।

उमाहिग्रोड़ौ, उमाहियोड़ौ, उमाहयोड़ौ—भू०का०कृ०।

उमाहियोड़ौ-भू०का०कृ०—१ उत्साहयुक्त. २ ग्रति उत्सुक, उत्कंठित।

उमाहौ-सं०पु०—१ उमंग. २ उत्साह. ३ ग्रभिलापा। वि०—१ उमंगयुक्त. २ उत्साह वाला।

उमियां-सं०स्त्री० [सं० उमा] उमा, पार्वती। देखो 'उमा'। उ०—तूं हमीर सारिसौ त्यागी, वर उमिया दीधौ सुवर।

—हरिदास केसरियौ

उभयविपुळा–सं०स्त्री० [सं० उभयविपुला] आर्य्या छंद का वह भेद जिसके दोनों दलों के प्रथम तीन गणों में पाद पूर्ण नहीं होते।

उभरण, उभरांणौ–वि०—नंगे पैर वाला। उ०—समरण उवरण चरण घण सियपत वहत चरण **उभरण** वनबाट।—र.रू.

उभांखरौ–वि०—घुमक्कड़, भ्रमणशील। उ०—पहिरण-ओढ़ण कंबळा, साठे पुरिसे नीर। आपण लोक **उभांखरा**, गाडर-छाळी खीर।
—ढो.मा.

उभांणौ, उभांणौ–वि० [सं० अनुपानह, प्रा० अणुवाण] (स्त्री० उभांणी) नंगे (पैर) उ०—फाटी तौ फूलड़ियां पांव **उभांणे**, चलतै चरण घसै।—मीरां

उभांवरौ–वि०—ओजस्वी, वीर, तेजस्वी।

उभाड़–सं०पु० [सं० उद्भिदन] १ उठान, ऊँचाई. २ ओज।

उभाड़णौ, उभाड़बौ–क्रि०स०—१ उत्तेजित करना. २ उभारना। देखो 'उभारणौ'।

उभाड़दार–वि०—भड़कीला, उभरा हुआ।

उभार–सं०पु०—उभाड़, उठान।

उभारणौ, उभारबौ–क्रि०स०—१ भारी वस्तु को धीरे-धीरे ऊपर उठाना. २ (तलवार आदि शस्त्र) उठाना। उ०—दक्खण सूं आयौ फतौ, साहजादौ पहुंचाय। काळै सार **उभारियां**, चाळै लग्गौ आय।—रा रू. ३ उकसाना, उत्तेजित करना. ४ बचाना, रक्षा करना (रू.भे. उवारणौ) ५ (मूंछों पर) ताव देना।
उ०—राजड़ कहै प्रताप रौ, भड़ क्यौं सहै अमग्ग। मूंछ **उभारै** हत्थ सूं, जौ कर धारै खग्ग।—रा.रू. ६ उठाये हुए रखना।
उ०—इसा सवेगा ऊठिया, मनु असमांन **उभारे**।—पदमसिंह री वात

उभारणहार, हारौ (हारी), उभारणियौ—वि०।

उभारिओड़ौ, उभारियोड़ौ, उभारयोड़ौ—भू०का०कृ०।

उभारियोड़ौ–भू०का०कृ०—१ उठाया हुआ. २ उकसाया हुआ, उत्तेजित. ३ बचाया हुआ, रक्षा किया हुआ. ताव दिया हुआ। (स्त्री० उभारियोड़ी)

उभीकील–सं०स्त्री०—जमीन में खड़ी सीधी जड़, मूसला जड़।
उ०—पीनणी अर पळूंड ऊंळी किरूं किवाड़ां। **ऊभीकील**. उखाड़ फेरणा जवर जुवाड़ा।—दसदेव

उभै–वि० [सं० उभय] उभय, दो, दोनों। उ०—**उभै** साचा अखर कहै रिख सिंभ अज। हरि भज हरि भज हरि भज हरि भज।—र.ज प्र.

उमंग–सं०स्त्री० [सं० उद्+मंग=चलना] १ चित्त का उभाड़, सुखद मनोवेग, उल्लास, उत्साह, जोश। उ०—साह की वातें सुणे त्यौं-त्यौं **उमंग** प्रकासै, घिरत का कुंभ सींचै होम ज्यां उजासै।—रा.रू.
२ अभिलापा, इच्छा. ३ आनंद (अ.मा.) ४ रघुनाथरूपक के अनुसार डिंगल का एक गीत (छंद) विशेष जिसके प्रत्येक चरण में सोलह सोलह मात्राऍं होती हैं और चारों तुकों का अंत में दीर्घ वर्ण सहित तुकांत मिलता है. ५ रघुवरजसप्रकास के अनुसार डिंगल का गीत (छंद) विशेष जिसके प्रथम चरण के आदि में सगण गण सहित सोलह मात्राऍं होती हैं और शेष दवालों में अंत में दो दीर्घ वर्ण सहित चौदह चौदह मात्राऍं होती हैं तथा प्रत्येक दवाला के चतुर्थ चरण में वीप्सा लाया जाता है। इसका दूसरा नाम उवंग भी है।

उमंगणौ, उमंगबौ–क्रि०अ०—१ उमंगयुक्त होना, प्रसन्न होना. २ आवेश में आना. ३ उमड़ना। उ०—खळां खोण रंगे वहै खग्ग खग्गे, अकासे घटा जांण माळा **उमंगे**।—रा.रू.

उमंगणहार, हारौ (हारी), उमंगणियौ—वि०।

उमंगिओड़ौ, उमंगियोड़ौ, उमंग्योड़ौ—भू०का०कृ०।

उमंगियोड़ौ–भू०का०कृ०—१ उमंगयुक्त, उल्लसित. २ आवेश में आया हुआ. ४ उमड़ा हुआ। (स्त्री० उमंगियोड़ी)

उमंगी–वि०—युवावस्था की तरंग से प्रभावित। उ०—पुमंल विद्या जोम **उमंगी**।

उमंडणौ, उमंडबौ–क्रि०अ०—१ उमड़ना, पानी आदि का ऊपर उठना. २ खौलना. ३ आवेश में आना. ४ बढ़ना, उभड़ना. ५ घटायें छाना।

उमंडणहार, हारौ (हारी), उमंडणियौ—वि०।

उमंडिओड़ौ, उमंडियोड़ौ, उमंड्योड़ौ—भू०का०कृ०।

उमंडियोड़ौ–भू०का०कृ०—१ उमड़ा हुआ, पानी आदि का ऊपर उठा हुआ. २ खौला हुआ. ३ आवेश में आया हुआ. ४ बढ़ा हुआ. ५ घन-घटाओं से आच्छादित। (स्त्री० उमंडियोड़ी)

उमत्त–वि० [सं० मत्त] मत्त, मदोन्मत्त, मदमस्त। उ०—मुखै वांधि खोलै किता रोस मत्ता, अनेके अने जोस दाखै **उमत्ता**।—रा.रू.

उमदा–वि० [फा० उम्दा] अच्छा, बढ़िया।

उमगणौ, उमगबौ–क्रि०अ०—१ उमड़ना. २ उभड़ना. ३ भर कर ऊपर उठना. ४ उमंगयुक्त होना। उ०—सादर सांई नी आदर **उमगाई**, उडती परियां सी वरियां घर आई।—ऊ.का.
उ०—१ **उमगे** दांन ऊधमैं आचां रांम रांम मुखहूंत रटै।—र.रू.
२ सांवण में **उमग्यौ** मेरी मनवा भणक सुणी हरि आवण की।—मीरां

उमगणहार, हारौ (हारी), उमगणियौ—वि०।

उमगिओड़ौ, उमगियोड़ौ, उमग्योड़ौ—भू०का०कृ०।

उमगाणौ, उमगाबौ–क्रि०स० (प्रे०रू०)—१ उमडाना. २ उभड़ाना. ३ भर कर ऊपर उठाना. ४ उमंगयुक्त करना।

उमगाणहार, हारौ (हारी), उमगाणियौ—वि०।

उमगायोड़ौ—भू०का०कृ० (रू.भे. उमगावणौ)
क्रि०अ०—उमंगयुक्त होना, प्रसन्न होना। उ०—माता रा कुच हूंत मुख, लड़कौ हरख लगात। मूरख कांन लगाड़ मुख, एम **उमगात**।
—वां.दा.

उमगायोड़ौ–भू०का०कृ०—१ उमड़ाया हुआ. २ उभाड़ा हुआ, उत्तेजित. ३ उमंगयुक्त किया हुआ। (स्त्री० उमगायोड़ी)

उमगावणौ, उमगावबौ–देखो 'उमगाणौ'।

आयौ उरड़, मुरड़ पतसाह वीकांरण मारू ।—देदौ. ३ साहस करना ।
उ०—उरड़ जाता वडा करेवा गरदवां, अभैं पद वसै वे राज री ओट ।
—महाराजा मानसिंह रौ गीत

उरडणहार. हारौ (हारी), उरड़णियौ—वि० ।

उरड़िओड़ौ, उरड़ियोड़ौ, उरड़्योड़ौ—भू०का०कृ० ।

उरड़ाउरड़–सं०स्त्री०—धींगा-धींगी, जबरदस्ती ।

उरड़ियोड़ौ–भू०का०कृ०—१ आगे बढ़ा हुआ. २ जोश से उमड़ा हुआ. ३ जबरदस्ती घँसा हुआ। (स्त्री० उरड़ियोड़ी)

उरड़ौ–सं०पु०—१ जबरदस्ती घँसने का भाव ।
वि०—जबरदस्ती घँसनेवाला ।

उरज–सं०पु० [सं० उरोज] १ स्तन, उरोज, कुच (अ.मा., डिं.को.)
उ०—करग मसळै उरज तोड़ै अंगियां कसां ।—वां.दा.
[सं० ऊर्ज] २ कार्तिक मास । उ०—उगणीसै बावन उरज, आठम कविवद ईस, चार वज्यां जसवंत चल्यौ, पूरा मिट पैंतीस ।
—ऊ.का.

उरजन–सं०पु० [सं० अर्जुन] देखो 'अरजुन' (रू.भे.)

उरजनोत–सं०पु०—भाटी वंश की एक शाखा ।

उरजस–सं०पु० [सं० ऊर्जस] १ अवसर, मौका (डिं.को.)
२ समर्थ, शक्तिशाली (वं.भा.)

उरण–सं०पु० [सं०] १ भेड़ा, मेंढ़ा. २ यूरेनस नामक ग्रह.
३ भेड़ के बाल, ऊन ।
वि० [सं० उऋण] ऋण से मुक्त, मुक्त, छुटकारा ।

उरणकी–सं०स्त्री०—छोटी भेड़, भेड़ (अल्पा०)

उरणियौ–सं०पु०—भेड़ का छोटा बच्चा, मेमना (अल्पा०) (क्षेत्रिय)

उरतळ–सं०पु० [सं० उर+तल] १ वक्षःस्थल के नीचे का भाग ।
उ०—उरतळ वैरी आहणै, विरचै वयण निवाह । हौदां ऊपर हंस गौ, वारी वालम वाह ।—वी.स. २ स्तन ।

उरद–सं०पु०—देखो 'उड़द' ।

उरदुत–सं०पु० [सं० उरोद्युति] स्तन (अ.मा.)

उरदू–सं०स्त्री० (तु० उर्दू) देखो 'उड़दू' ।

उरद्ध–सं०पु० [सं० उर्व्व] १ बहुत उन्नत, ऊंचा । उ०—दिन बुध अत लग्गौ दुसह, अर भग्गौ निस अद्ध । ऊगै दिन चढ़ियौ अजौ, अड़ियौ कोप उरद्ध ।—रा.रू. २ आकाश । उ०—अति वेध विरुद्धां परस उरद्धां, किलंब दगंबां अबुकंदां ।—रा.रू.

उरद्धर–सं०पु० [सं० उर] हृदय, दिल । उ०—माग मुरद्धर देस रौ, लियौ उरद्धर ज्यास । घाट अनेकन संचरे, एक प्रभू री आस ।—र.रू.

उरद्धलोक–सं०पु०—देखो 'उरधलोक' (रू.भे.)

उरध–वि० [सं० ऊर्ध्व] १ ऊँचा (रू.भे. उरध) उ०—केई करभ महिष अज नर कितेक । अध उरध उठै झाळां अनेक ।—पा.प्र.
सं०पु०—आकाश, आसमान । उ०—पळ आम उरध ढक गिरध पंख, मर तीर पूर रव नर असंख ।—रा.रू.
क्रि०वि०—ऊपर । उ०—उरध अंबर उद्धरण वेद ब्रहमा गावाळण दळ दाणव निरदळण अव्व रामण चौ गाळण ।—जग्गौ खिड़ियौ

उरधओक–सं०पु० [सं० उर्व्व+ओक] अट्टालिका (अ.मा.)

उरधगत–सं०स्त्री०—१ उर्व्व गति. २ स्वर्ग (अ.मा.) देखो 'ऊरधगति' ।
वि०—ऊँचा । उ०—मिळै सिंह वन मांहि, किरण मिरगां मग-पत कियौ । जोरावर अति जाह, रहै उरधगत राजिया ।—किरपाराम

उरधगांमी–वि०—उर्व्वगामी (अमरत)

उरधपिंड–सं०पु०—इन्द्र (अ.मा.)

उरधपुंड–सं०पु०—वैरागियों द्वारा सिर पर सफेद मिट्टी का लगाया जाने वाला खड़ा तिलक ।

उरधबाहू–सं०पु०—ऊँची भुजायें कर तपस्या करने वाला संन्यासी ।
उ०—माहे जोगेसर पवन रा साझणहार त्रिकुटी रा चडावणहार धूम्रपांन रा करणहार उरधबाहू ठाठेसरी दिगंबर सेतंबर निरंजनी आकास मुनी ।—रा.सा.सं.

उरधमूळ–सं०पु० [सं० उर्व्व+मूल] शिर (अ.मा.)

उरधरेख–सं०स्त्री० [सं० उर्व्व+रेखा] देखो 'उड़दरेख' ।

उरधलिंग–सं०पु० [सं० उर्व्व+लिंग] शिव, महादेव (अ.मा.)

उरधलोक–सं०पु० [सं० उर्व्व+लोक] स्वर्ग, देवलोक (नां.मा.)

उरधसास–सं०पु० [सं० उर्व्व+श्वास] ऊपर को चढ़ती हुई साँस ।

उरध्यांनी–सं०पु० [सं० उरो+ध्यानी] ऋषि (अ.मा.)

उरन–सं०स्त्री० [सं० उरण]–ऊन । उ०—जगत मात जनमी जग जानी, मदिरा रुधिर छाक मनमानी । वेस्टित अरुन उरन के अंबर, तप मुख मनहु प्रात रातंबर ।—मे.म.

उरनेम–सं०स्त्री०—सती (अ.मा.)

उरप–सं०पु० [सं० उडुप] एक प्रकार का नृत्य विशेष (गोलाकार नृत्य)
उ०—आंगरिण जळ तिरप उरप अलि पिअति, मरुत चक्र किरि लियत मरू ।—वेलि.

उरफ–सं०पु० [अ० उर्फ] चलता नाम, पुकारने का नाम ।

उरवरा–सं०स्त्री० [सं० उर्वरा] १ उपजाऊ भूमि (डिं को.)
२ पृथ्वी. ३ एक अप्सरा ।

उरवसी–सं०स्त्री० [सं० उर्वशी] १ नारायण की जंघा से उत्पन्न एक अप्सरा जिसे देख कर नर नारायण का तपोभंग करने वाली इन्द्र की अप्सरायें लौट गई थीं. २ अप्सरा (डिं.को.)

उरवाणौ–वि०—नंगे (पैर) उ०—जळ गजराज डूबती जांणे, आया किसन पगे उरवांणे ।—र.रू.

उरवी–सं०स्त्री० [सं० उर्वी] भूमि, पृथ्वी (नां.मा., डिं.नां.मा.)

उरव्वसी–सं०स्त्री० [सं० उर्वशी] १ देखो 'उरवसी' (१)
२ अप्सरा (डिं.नां.मा.)

उरव्विय–सं०स्त्री० [सं० उर्वी] पृथ्वी, भूमि (रू.भे. उरवी)
उ०—डुली मनि मत्य फनी फन चंपि, उरव्विय ताम थरत्थर कंपि ।
—ला.रा.

उमियापत, उमियापति, उमियावर–सं०पु० [सं० उमा+पति] महादेव, शिव।

उमिरायत–सं०स्त्री० [अ० अमीर] १ रईसी, धनवानपन. २ उदारता. ३ नजाकत।

उमीर–सं०पु० [अ० अमीर] १ अमीर, कार्याधिकार रखने वाला, सरदार। उ०—येम किलौ धारे सद्दढ़, मारे किते उमीर।—ला.रा. २ धनाढ्य. ३ उदार व्यक्ति. ४ नाजुक व्यक्ति।

उमीरी–सं०स्त्री०—१ अमीर होने का भाव, धनाढ्यता, ठकुराई। उ०—उमीरी फकीरी वड़े एक आंटे, खुदा ने दई है किसी के न वांटे।—ला.रा. २ उदारता. ३ नजाकतता।

उमेद–सं०स्त्री० [फा० उम्मीद] आशा, भरोसा, आसरा। सं०पु०—एक प्रकार का घोड़ा (शा.हो.)

उमेदवार–सं०पु० [फा० उम्मेदवार] १ वह व्यक्ति जो कोई काम सीखने या नौकरी पाने का प्रार्थी हो. २ वह व्यक्ति जो किसी पद पर चुने जाने के लिए खड़ा हो. ३ किसी परीक्षा में बैठने के लिए प्रार्थना-पत्र भेजने वाला प्रार्थी. ४ आशा या भरोसा रखने वाला. ५ एक प्रकार के रङ्ग विशेष का घोड़ा (शा.हो.)

उमेदवारी–सं०स्त्री० [फा०] उम्मीदवार होने का भाव।

उमेस–सं०पु० [सं० उमा+ईश] १ शिव, महादेव. २ गुमान, गर्व, घमंड।

उम्दा–वि०—देखो 'उमदा'।

उम्मया–सं०स्त्री०—देखो 'उमा'। उ०—देवी उम्मया खम्मया ईस नारी।—देवि.

उम्मयावर–सं०पु० [सं० उमा+वर] शिव, महादेव।

उम्मर–सं०स्त्री०—देखो 'उमर'।

उम्मी–सं०स्त्री० [सं० उम्बी] गेहूँ या जौ के पौधे की कच्ची बाल जिसमें हरे दाने होते हैं।

उम्मीद, उम्मेद–सं०स्त्री० [फा०] आशा, भरोसा, आसरा।

उम्मेदवार–सं०पु०—देखो 'उमेदवार'। उ०—आदाब अरज्ज उम्मेदवार। परवरिसि करहु परवरदिगार।—ऊ.का.

उम्मेदवारी–सं०पु०—देखो 'उमेदवारी'।

उम्र–सं०स्त्री०—देखो 'उमर' (१)

उम्हाणौ, उम्हावौ–क्रि०स०—१ उत्साहित करना. २ उमंगयुक्त करना, प्रसन्न करना। उ०—यौं मन फुल्ली मैंनका, यौं अमर उम्हाया।—वं.भा. देखो 'उमाहणौ, उमाहवौ'

उयवर–सं०पु०—तकिया (अ.मा.)

उयां–सर्व०—उन।

उयै–सर्व०—इस। उ०—उयै दिसरां रै हूं मारूं छूं।—चौवोली

उरंग–सं०पु० [सं० उरग] १ सर्प, सांप। उ०—कुरंग उरंग राता किण कारण, हाड वाजतै नाद हर।—उडणा प्रथीराज रौ गीत २ स्तन, कुच (अ.मा.)

उरंगम–सं०पु०—सर्प, सांप।

उर–सं०पु० [सं० उरस्] १ वक्षःस्थल, छाती (डि.को.) २ हृदय, मन। उ०—मर मर घर घर नह फिरे, उर धर गिरधर नांम।—ह.र.

उरक, उरख–सं०पु०—देखो 'वरक' (अमरत)

उरग–सं०पु० [सं०] सर्प, सांप (डि.को.) उ०—विख मुख जास वसंत, मीठा वोलां हूंस मरै। उरग तणौ कर अंत, मोर प्रकासै एह मत।—वां.दा.

उरगाद–सं०पु०—गरुड़।

उरगाधीप–सं०पु० [सं० उरग+अधिप] शेषनाग।

उरगारि–सं०पु० [सं० उरग+अरि] गरुड़।

उरगिणी–सं०स्त्री० [सं०] सर्पिणी, नागिन।

उरड़–सं०स्त्री०—१ युद्ध, लड़ाई। उ०—उरड़ मावै पहल सूरज ऊगै, सायजादौ पनौ खड़ै घोड़ा सहल।—महादांन महड़ू २ आक्रमण, टक्कर। उ०—आठ ही नगारावंध हेकण उरड़, हीक धर ले गयौ बिया 'हामू'।—रावत जसवंतसिंह चूंडावत रौ गीत ३ पराक्रम, साहस। उ०—उचजी कुंभथळ थाप जड़की उरड़, तुरत कर एकसूं वजी ताळी।—वां.दा. ४ जोश, आवेग। उ०—उरड़ आखरां थाट घण लाट अरथां उकत।—क.कु.वो. ५ उमंग। उ०—१ आवै चित जिण नै आदरतौ, अत रीझां देतां उरड़। 'वीरम' तणा जसौ इण वारै, भेक उतारै किसौ भड़।

—सगतौजी सौदौ

उ०—२ मिटै गांन गंद्रप, तांन स्रवणां रस तंताह, मिटै दांन सुन-मांन, उरड़ रीझां आडंवरह।—पहाड़ खां आढ़ौ

६ जवरदस्ती घँसने की क्रिया का भाव। उ०—विहद रावरा दुरंद सुसवद दुरद वादळा, उरड़ मदमसत विरदां उजाळा।—क.कु.वो. (मि० 'उरड़णौ, उरड़वौ') ७ ध्वनि विशेष। उ०—घड़ां गैघड़ां उरड़ वाज तोपां घड़क। केमरां सोक झड़ किलम कार्चा।—अज्ञात ८ निर्भीकता, निडरता। उ०—वीरां दरवार री, उरड़ दीठां वण आवै। नरनाहर नरनाह, सुभड़ नाहर दरमावै।—मे.म. ९ उत्कट इच्छा। उ०—रागां भागी रीझ, उरड़ भागी आसां री, असवारी भग आव, तेज भागी तासां री।—वुधजी आसियौ १० शक्ति, वल। उ०—धकायौ रांण हूं मळण वण करड़धज, भड़ां हड़वड़ उरड़ धाव भाळी। मिट गई किसनगढ़ नाथ वाळी मुरड़, उरड़ लख साहिपुर नाथ आळी।

वि०—अधिक, वहुत। —अमरसिंह सीसोदिया रौ गीत

उरड़णौ, उरड़वौ–क्रि०अ०—१ आगे वढ़ना। उ०—उरड़ सेन असपती पड़े झड़ सार अपारां, घड़ धारां ऊवड़ै, सेल व्हा वार प्रहारां।

—रा.रू.

२ जोश से उमड़ना। उ०—१ सांमी इणी उरड़यां सांमा, फौजां निरख न कीन्हा फेर।—द.दा. उ०—२ अटक सूं लियां हिंदवांण

अज 'पाल' है बाहड़मेर उरा ।—पा.प्र.

वि०—थोड़ा, कम ।

सं०स्त्री० [सं० उर्वी] पृथ्वी ।

उराट-सं०पु०—१ हृदय. २ छाती, वक्षःस्थल (डि.को.)

उराळ-सं०पु० [सं० उर+रा० प्र० आळ] उर, हृदय, वक्षःस्थल ।

उरासेव-सं०पु०—पाश, बंधन (रा.रा.)

उराह-सं०पु०—काली पिंडलियों वाला श्वेत घोड़ा (डि.को.)

उराहौ-सं०पु०—पाश, बंधन ।

उरि-सं०पु० [सं० उर] १ उर, हृदय, मन । उ०—जग पवन विना तर पत्र ज्यौं थिरि जुवान पण थप्पियौ, उरि तावि सही असपत्ति री पाछौ ज्याव न अप्पियौ ।—रा.रू. [सं० अरि] २ शत्रु ।

उ०—गढ़ां अगंजां गंजणा भिड़ भंजणा असंग, हैमर उरि घर हक्किया वेऊं थाट वरंग ।—महाराजा करणसिंह री गीत

उरिया-क्रि०वि०—इस तरफ, इस ओर ।

उरी-सं०पु० [सं० उरस्] उर, हृदय । उ०—मरण जीवन छै पगतळइं । कनक कचोळी उरी भयौ भार ।—वी.दे.

उरीस-सं०पु० [सं० उरस्] हृदय ।

उरु-वि० [सं०] १ विस्तीर्ण, विशाल. २ बड़ा ।

सं०पु० [सं उरु] जांघ, जंघा ।

उरुत्र-सं०पु० [सं०] घुटनों का कवच । उ०—सवाहुत्र उरुत्र जंघात्र संगी, चहै वंस चील्हा रहै एकरंगी ।—वं.भा.

उरुद्धि-सं०पु० [सं० उरोधि] १ वक्षःस्थल. २ हृदय ।

उ०—अचपळउ अउव उरळउ उरुद्धि, जांणइ जु पइसि नीसरिय जुद्धि ।—रा.ज.सी.

उरुस्तंभ-सं०पु०—एक रोग विशेष (अमरत)

उरू-सं०स्त्री० [सं० उरु] जांघ, जंघा (रू.भे. उरु)

उरे-क्रि०वि०—इस तरफ, इस ओर ।

उरेड़णौ, उरेड़िबौ-क्रि०स०—ढकेलना । उ०—आयौ उरेड़ियां जोम रौ पटेल मायै वारे आंटा रवतेस दूर हूं तेड़ियौ कायै राग ।

—बदरीदास खिड़ियौ

उरेड़ियोड़ौ-भू०का०कृ०—ढकेला हुआ । (स्त्री० उरेड़ियोड़ी)

उरेब-सं०पु० [सं० उर] हृदय, वक्षस्थल । उ०—उमंगे जोगणी काचां, धड़क्कै उरेब ।—दुरगादत्त बारहठ

उरै-क्रि०वि०—इस ओर, इस तरफ, इधर । उ०—ऊगी हजार १० घोड़ो लेनै कोयलापुर पाटण उरै कोस ६ दिखणावी डेरा उतारौ लीयौ ।—कहवाट सरवहिया री बात

उरैच-सं०पु०—देखो 'उरेब' ।

वि० [फा०] टेढ़ा, तिरछा, धूर्ततापूर्ण ।

उरोज-सं०पु०—स्तन, कुच (ह.नां.)

उरौ-क्रि०वि०पु० [सं० उररी, ऊरी] १ क्रियाओं के पूर्व प्रयुक्त होने वाला एक सांकेतिक क्रिया विशेषण जो वाक्य के मुख्य भाव की ओर संकेत करता हुआ क्रियाओं पर प्रभाव डालता है । यह संस्कृत के उररी और ऊरी का अपभ्रंश रूप है । उ०—१ तरै सीसोदियां जांणियौ राठोड़ धरती उरी लेसी ।—रा.वं.वि.

उ०—२ सोचै कंई, हाथ में पोथी उरी लै अर पढ़ ।—अज्ञात

२ वापस. ३ यहां, इधर ।

उरोड़ौ-वि०—जबरदस्त, बलवान ।

उलंगणौ, उलंगबौ-क्रि०स० [सं० उल्लंघन] १ लांघना, फांदना ।

उ०—धिप सूतोय नींद मुरद्धर रा, गउ घाट उलंग हली गिर रा ।

—पा.प्र.

२ न मानना, उल्लंघन करना. ३ यश-गान करना ।

उ०—कुंवरजी रै झरोखै नीचै ओळंगु रात रा घणा सवार उलंगिया

—पलक दरियाव री बात

४ गायन गाना, गीत गाना । उ०—ओळंगुवां नै हुकम हुवौ । चारि पहर रात झरोखै उलंगिया ।—पलक दरियाव री बात

उलंगणहार, हारौ (हारी), उलंगणियौ-वि०—लाँघने वाला, उल्लंघन करने वाला ।

उलंगिओड़ौ, उलंगियोड़ौ, उलंग्योड़ौ—भू०का०कृ० ।

उलंगियोड़ौ-भू०का०कृ०—१ उल्लंघा हुआ, फांदा हुआ. २ उल्लंघन किया हुआ. ३ यश-गान किया हुआ. ४ गायन गाया हुआ । (स्त्री० उलंगियोड़ी)

उलंघणौ उलंघबौ-क्रि०स०—देखो 'उलंघणौ' (रू.भे.)

उ०—आस उलंघ उलंघै अरवद, आवच चंद उलंघ उदांम । वळै कमंघ खेत्रवाटवधारी, सांमा साझविया हरसांम ।

—सादूळ दुरसावत आढ़ौ

उलंडणौ, उलंडबौ-क्रि०स०—१ त्यागना, छोड़ना । उ०—उदम असत गया उलंडे । लाज त्रंवण पग लागौ लीह ।

२ उलंघन करना । —रावत रतनसिंहजी री गीत

उलंडणहार, हारौ (हारी), उलंडणियौ-वि०—त्यागने वाला ।

उलंडिओड़ौ, उलंडियोड़ौ, उलंड्योड़ौ—भू०का०कृ० ।

उलंडियोड़ौ-भू०का०कृ०—१ छोड़ा हुआ, त्यक्त. २ उल्लंघन किया हुआ । (स्त्री० उलंडियोड़ी)

उलंदे-क्रि०वि०—इस तरफ । उ०—पूरब में गंगा रै तट किलकंधा सूं बारह कोस उलंदे जांच चौड़ौ सहर वसायौ ।—बां.दा.ख्या.

उलंभौ-सं०पु०—उपालंभ, उलाहना (शा.हो.)

उलक-सं०पु० [सं० उलूक] १ उल्लू, उलूक. २ अग्निपिंड, उल्का ।

उलकपात-सं०पु० [सं० उल्कापात] रेखा के रूप में रात्रि में आकाश से गिरा हुआ तेज का समूह. २ उत्पति, विघ्न ।

उलका-सं०स्त्री० [सं० उल्का] देखो 'उल्का' (डि.को.)

उलकापात-सं०पु० [सं० उल्कापात] १ किसी उल्का का टूटना, लूक गिरना. २ उत्पात, विघ्न । उ०—उलकापात हुइ विकराळ, विखम धूम धूंधड़ विराळ ।—कां.दे.प्र.

उरभांणौ-वि०—देखो 'उरवांणौ'।
उरमंडण, उरमंडन-सं०पु० [सं० उरोमंडन] स्तन (ह.नां.)
उरमळ-सं०पु०—अज्ञान। उ०—गाफिल जागी अभागन सोई, सास उसासे उरमळ धोई।—ह.पु.वा.
उरमळा-सं०स्त्री० [सं० उर्मिला] सीताजी की छोटी वहिन जो लक्ष्मण को व्याही थी, सीरध्वज जनक की पुत्री।
उरमांडण-सं०पु०—उरोज, कुच, स्तन (डिं.को.)
उरमिळा-सं०स्त्री० [सं० उर्मिला] देखो 'उरमला'।
उरळउ-वि०—१ उदार। उ०—अचपळउ अउव उरळउ उरुद्धि, जांणइ जु पइसि नीसरिय जुद्धि।—रा.ज.सी. २ विशाल, विस्तीर्ण। ३ हल्का, शांत। उ०—वावा वाळूं देसड़उ, जिहां डूंगर नहिं कोइ। तिणि चढ़ि मूकउं धाहड़ी, हीयउ उरळउ होइ।—ढो.मा.
उरळांण-सं०स्त्री०—१ अधिकता, विस्तृतता. २ खुला मैदान।
उरळाई-सं०स्त्री०—१ अवकाश, फुरसत। उ०—महाराज नूं उरळाई हुई तद हलकारां नूं पूछी।—पदमसिंह री वात। देखो-'उरळांण'
उरळी-वि०स्त्री०—देखो 'उरळौ' (पु०)
क्रि०वि०— इस तरफ की, इस ओर की।
कहा०—उरळी खुदा है—इस ओर पास में ही ईश्वर है, किसी सज्जन एवं उदार व्यक्ति के लिए।
सं०स्त्री०—हल के वीच के डंडे (हरिसा) के पीछे के छोर पर लगाई जाने वाली कीली।
उरलै-परलै-क्रि०वि०—इधर-उधर। उ०—वांटी जजमांन उरलै-परलै वाई कै ओज्या चालिया जी।—लो.गी.
उरळो, उरळौ-वि०पु० (स्त्री० उरली) चौड़ा, खुला।
मुहा०—उरळौ होणौ—रोने के वाद हृदय को कुछ शांति मिलना।
क्रि०प्र०—करणौ, होणौ।
सं०पु०—१ ढील देने का भाव। उ०—करहां ठुह फींण वंधै कुरळा। अस ढीलिय पंथ किया उरळा।—पा.प्र. २ छितराने की क्रिया या भाव। उ०—दुहुं हाथां सूं केस पास जु उरळा करि धूप देवै छै।—वेलि. टी.
क्रि०वि०—१ इधर का. २ नजदीक।
उरवड़-सं०स्त्री०—१ सन्नद्ध होने की क्रिया या भाव। उ०—हुअत वंका भड़ां उरवड़ हलोहल। कसं किण ऊपरै वीर सांगौ कंगळ।—अज्ञात २ देखो—'उरव्वड़'।
उरवर, उरवरा-सं०स्त्री० [सं० उर्वर] १ उपजाऊ (भूमि) २ पृथ्वी।
उरवसियौ-सं०पु०—हृदयेश्वर, प्रेमी, पति। उ०—प्यारा थांसूं पलक ही, वांछूं नहीं वियोग। उरवसिया मुहि आवज्यौ, रसिया थांरी रोग।—ऊ का.
उरवसी-सं०स्त्री०—देखो 'उरवसी' (अ.मा.)
उरवांणौ-वि०—देखो 'उरवांणौ'।
उरवि-सं०स्त्री० [सं० उर्वी] देखो 'उरवी' (रू.भे.)
उरविज-सं०पु० [सं० उर्वीज] मंगल ग्रह।
उरवी-सं०स्त्री० [सं० उर्वी] पृथ्वी (अ.मा.)
उरवीजा-सं०स्त्री० [सं० उर्वीजा] सीता, जानकी जिसके विषय में कहा जाता है कि वह पृथ्वी से उत्पन्न हुई थी।
उरव्वड़-सं०स्त्री०—पशु समूह या सेना के तेज चलने पर होने वाली ध्वनि।
उरव्वड़णौ, उरव्वड़वौ-क्रि०अ०—१ एक साथ भगना या घुसना। उ०—यम आवत जींद उरव्वड़ियूं।—पा.प्र.
२ शीघ्र चलना. ३ आक्रमण करना ४ तड़फड़ाना।
उरव्वड़णहार, हारौ (हारी), उरव्वड़णियौ—वि०।
उरव्वड़िओड़ौ, उरव्वड़ियोड़ौ, उरव्वड़्योड़ौ- -भू०का०कृ०।
उरव्वड़ियोड़ौ-भू०का०कृ०—१ एक साथ भगा हुआ. २ आक्रमण किया हुआ. ३ तड़फड़ाया हुआ. ४ सन्नद्ध. (स्त्री० उरव्वड़ियोड़ी)
उरस-वि० [सं० उदरस] फीका, नीरस।
सं०पु०—१ आकाश. २ स्वर्ग। उ०—वरण कजि अपछरा वाट जोवै खड़ी। ज्यां भड़ां तणी भिल्लै उरसां झूंपड़ी।—हा.झा.
२ छाती, वक्षःस्थल, हृदय (डिं.को.) ३ राक्षस, असुर [अ० उर्स ४ मुसलमान साधु या पीर आदि की निर्वाण तिथि या इस तिथि पर होने वाला उत्सव।
उरसथळी-सं०स्त्री० [सं० उर+स्थल+ई] वक्षःस्थल, सीना।
उ०—ऊंचा ऊससिया अदभुत उरज उरसथळी।—र.हमीर
उरसरीतेग-सं०पु० [सं० उरस=आकाश+री=की तेग=तलवार]
१ श्रेष्ठ, वहादुर, साहसी। उ०—जुड़े मुसायव 'मांन' नृप किया हेकण जमे, भै पड़ै अनेकां काळ केकां भमै। सरण खीची मरण जांण आतां समै, उरसरीतेग भाटी रखण आंगमै।—जसजी आढो
२ रक्षक।
उरसाळ, उरसाळौ-वि० [सं० उरशल्य] हृदय में शूल की तरह चुभने वाला उरशल्य। उ०—भुज भळ हळ भाळोह। खग जळ हळ खांधां खवै। वीसोतर वाळोह, दोयण उरसाळौ दुलह।—पा.प्र.
उरस्थळ, उरस्थळि-सं०पु० [सं० उर+स्थल] १ वक्षःस्थल।
उ०—१ अरोपित हार घणौ थियौ अंतर उरस्थळ कुम्भस्थळ आज।—वेलि.
उ०—२ हस्ती कै कुम्भस्थळि अर रुकमणीजी कै उरस्थळि। लिसौ ही मोत्यां कौ हार रुखमणीजी का कंठ कै विखै छै।—वेलि. टी.
२ कुच, स्तन। उ०—इण भांति री कांमणी त्यांरा उरस्थळ नारंगियां सारीखी अंणाहार पाके वरन कोमळ·कठोर।—रा.सा.सं.
उरहांणौ-सं०पु०—१ उलाहना, उपालंभ. २ देखो 'उरवांणौ'।
क्रि०वि०—इधर।
उरांणौ-वि०—नंगे (पैर)
उरा-क्रि०वि०—इधर की ओर। उ०—पह फाटिय लेसांय वित्तपरा।

ऊधूल-वि०—वीर, उदार। उ०—चउंडराउ दिय ऊधूल चाउ, राउत्त आप है आप राउ।—रा.ज.सी.

ऊधौ-सं०पु० [सं० उद्धव] श्रीकृष्ण के एक सखा, उद्धव।

कहा०—१ ऊधौ का लेणा न माधौ का देणा- -स्वाधीन मनुष्य जिसे किसी का लेना-देना नहीं. २ ऊधौ का लेणा न माधौ का देणा मगन रहणा—किसी से कोई लेन-देन या व्यवहार नहीं रखने वाला बेपरवाह और सुखी रहता है।

ऊध्वनी-सं०स्त्री० [सं० उद्ध्वनि] ऊँची ध्वनि, तेज आवाज।

उ०—धिमिद्ध भिद्ध ऊध्वनी न सिजनी सुनी नहीं।—ऊ.का.

ऊनंग-सं०पु०—नंगी। उ०—चढ़ ऊभा चंगां भीड़े अंगां आचे खग्गां ऊनंगां।—रा.रू.

ऊनंत-वि०—उन्नत, ऊँचा। उ०—बेटी राजाभोज की, ऊनंत पयोहर वाळी वेस।—वी.दे.

ऊन-सं०पु० [सं० उष्ण] १ जोश, आवेग, क्रोध. २ ज्वर, बुखार। सं०स्त्री०—३ भेड़-बकरी के बाल।

कहा०—लरड़ी माथै ऊन कुण भी को छोडै नी—जिस पर अधिकार होता है उससे लाभ उठाने में कोई नहीं चूकता; गरीब या शोषित से शासक अधिक कर आदि वसूल करते हैं।

ऊनअवोड़ी-सं०स्त्री०—एक प्रकार का सरकारी कर जो भेड़ रखने वालों से ऊन व मरे हुए पशुओं के चमड़े पर वसूल किया जाता था।

ऊनकूळ-वि० [सं० अनुकूल] मुताबिक, सहायक, दयालु।

ऊनड़-सं०पु०—१ राठौड़ों की एक उपशाखा. २ भाटी वंश की एक शाखा।

ऊनणौ, ऊनवौ, ऊनमणौ ऊनमवौ-क्रि०अ०—बादल, घटा आदि का उमड़ना। उ०—१ स्रावण मासि ऊनया दीसइ, जेहवा काळा मेह। गयवर ठाठ चालंता दीसइ, जोतां नावइ छेह।—कां.दे.प्र.

उ०—२ ऊनमियउ उत्तर दिसइं, गाज्यउ गुहिर गंभीर। मारवणी प्रिउ संभरयउ, नयणे वूठउ नीर।—ढो.मा.

उ०—३ चहूं दिसि जळहर ऊनम्यौ, चमकी वीजळियांह।—जसराज

ऊनमियोड़ौ-भू०का०कृ०—उमड़ा हुआ। (स्त्री० ऊनमियोड़ी)

ऊनमत-वि०—देखो 'उनमत'।

ऊनरौ-सं०पु०—देखो 'ऊंदरौ' (रू.भे.)

ऊनली-वि०—उधर की, उस ओर की।

ऊनवणौ, उनवबौ—देखो 'ऊनमणौ, ऊनमवौ' (रू.भे.)

ऊनवियोड़ौ-भू०का०कृ०—देखो 'ऊनमियोड़ौ'। (स्त्री० उनवियोड़ी)

ऊनांगी-वि०स्त्री०—देखो 'ऊनंग' (रू.भे.) उ०—जोम गाडा वाळी प्रळै काळा री ऊनांगी जटै। वागी हाडावाळी नराताळा री वांगास।

—दुरगादत्त बारहठ

ऊनांम-सं०पु०—वह खेत जहां वर्षा के पानी से गेहूँ व चने आदि होते हों।

ऊनागणौ, ऊनागवौ-क्रि०स०अ०—१ म्यान से तलवार निकालना।

उ०—खाग ऊनागियां खिवे माथे खळां, रांण रा दळां अगवांण नगराज।—राव घायभाई नगराज गूजर रौ गीत

२ नग्न होना, आवरणहीन होना।

ऊनागियोड़ौ-भू०का०कृ०—१ म्यान से निकाली हुई (तलवार) २ नग्न, आवरणहीन।

ऊनागौ-वि०पु० (स्त्री० ऊनागी) १ नग्न, आवरणहीन. २ बदमाश।

ऊनाळ-सं०पु० [सं० उष्ण+काल] १ उष्णकाल, ग्रीष्म ऋतु।

उ०—आभूखणां हुई झळमां झायंती भांण ऊनाळ सी।

२ रवी की फसल। —जवांनजी आढ़ौ

ऊनाळू-वि०—देखो 'उनाळू' (रू.भे.)

ऊनाळौ-सं०पु० [सं० उष्ण+काल] ग्रीष्म ऋतु। उ०—औ ऊपर ऊनाळौ आयौ, दीन जनां दोरौ दरसायौ।—ऊ.का.

ऊनियौ-सं०पु० [सं० ऊर्ण] भेड़ का बच्चा, मेमना।

ऊनी-वि०—ऊन का बना, ऊनसम्बन्धी (रू.भे. ऊंनी)

ऊनोतरतातप-सं०पु०—क्रमशः प्रति दिन एक एक ग्रास भोजन घटाते जाने का जैनियों का एक व्रत।

ऊनौ-वि० [सं० उष्ण] गर्म, तपाया हुआ, उष्ण। उ०—उर जेज घरौ म करौ उरड़, ऊनौ तेज अगन्न रौ।—रा.रू. (रू.भे. 'ऊंनौ') (स्त्री० ऊनी)

ऊन्हा-क्रि०वि०—उस तरफ। उ०—जोधौ ऊन्हा 'जैतसी', लोह वहंतौ लागि। किलि व भूठौ किमिरियौ, उहां व्है बळती आग।—रा.ज. रासौ

ऊन्हाळइ, ऊन्हाळउ-सं०पु० [सं० उष्णकाल] देखो 'उन्हाळ'।

उ०—कहिए माळवणी तणइ, रहियउ साल्ह विमास। ऊन्हाळउ ऊतारियउ, प्रगटयउ पावस मास।—ढो.मा.

ऊन्हाळागम-सं०पु० [उष्णकाल+आगम] ग्रीष्म ऋतु (डिं.को.)

ऊन्हाळौ, (ह)-सं०पु० [सं० उष्णकाल] १ उष्णकाल। देखो 'उन्हाळौ'। उ०—'ऊदा' धरती अधिया, आहव आध सिवाय। चाळै वावे सांम छळ, ज्यां ऊन्हाळे लाय।—रा.रू. २ गर्मी का सूर्य।

ऊन्हौ-वि० [सं० उष्ण] गर्म, उष्ण। उ०—ऊन्हां डांभ दिवारिसी, डांभां थी मरि जाउं।—ढो.मा.

ऊप-वि० [सं० उपम अथवा उपमित] सदृश, समान। उ०—अंभीयम खंभ किरि थंभ ऊप, अनि भूप कोप वंदण अनूप।—रा.रू. क्रि०वि०—ऊपर। उ०—सगत्तांणी सांगांणी सतारां हूंत आंणी सेना। तुरकांणी हिंदवांणी ऊप जैतमींग।

—ठाकुर जैतसिंह राठौड़ मेड़तिया रौ गीत

ऊपड़णौ, ऊपड़वौ-क्रि०अ०स०—१ उमड़ना। उ०—उत्तर आज स उत्तरइ, ऊपड़िया सी कोट। काय दहेसइ पोयणी, काय कुंवारा घोट।

—ढो.मा.

उलकापाती—वि०—उत्पाती।

उलक्कापात—सं०पु०—देखो 'उलकापात'। उ०—उलक्कापात री तारौ तूटौ आसमांण।—बुधसिंह सिढ़ायच

उळखणौ—वि०—प्रसिद्ध।

उळखणौ, उळखबौ—क्रि०स० [सं० उपलक्षण, प्रा० उवलक्खण] पहिचानना, जानना। उ०—एक दिन मूरखौ बाजार गयौ हुवौ ताहरां पहिल की कुंवरी री छोकरी उळखियौ।—चौबोली

उळखणहार, हारौ (हारी), उळखणियौ—वि०—पहिचानने वाला, जानने वाला।

उळखाणौ, उळखाबौ, उळखावणौ, उळखावबौ—स०रू०।

उळखिओड़ौ, उळखियोड़ौ, उळख्योड़ौ—भू०का०कृ०।

उळखीजणौ, उळखीजबौ—कर्म वा०।

उळखाणौ, उळखाबौ, उळखावणौ, उळखावबौ—क्रि०स०— पहिचान कराना।

उळखियोड़ौ—भू०का०कृ०—पहिचाना हुआ, जाना हुआ। (स्त्री० उळखियोड़ी)

उळखीजणौ, उळखीजबौ—क्रि०अ०—पहिचाना जाना।

उलख्खणौ, उलख्खबौ—क्रि०स०—देखो 'उळखणौ' (रू.भे.)

उलग, उलगइ उलगई—सं०स्त्री०—१ सेवा। उ०—तरै कंवर सगळी हकीकत कही नै हूं चाकरी करण नै नीकळियौ छूं। कोई मोटौ राजा, तिण री उळग करण सारू निकळियौ छूं।

—जगदेव पंवार री बात

२ विरुद, स्तवन, गुण-कीर्तन. ३ परदेश, विदेश।

उ०—१ जै नर उलग ईण महूरत जाई।—वी.दे.

२ कुंवर कहई सुणी! सांभरया राव! कांई स्वांमी तूं उलगई जाई।—वी.दे.

उलगणौ, उलगबौ—क्रि०स०—१ गाना, गायन करना. २ गुण वर्णन करना, वंशावली पढ़ना।

उलगाणौ—सं०पु०—वह प्रिय जो परदेश में हो, प्रवासी प्रियतम।

उ०—तरै वीजळी रा चमका सूं पिउसंघी दीठौ, जांणियौ उलगाणौजी पधारिया।—जखड़ा मुखड़ा भाटी री बात

उलगि, उलगी—सं०स्त्री०—१ परदेश, विदेश। उ०—१ कांमनि अंग न आळगेह, बरस दोई स्वांमी उलगि निवारि।—वी.दे.

२ एकान्त। उ०—पांडयौ ऊसारै तेड़यौ छइ राई। छीनी उलगी मांई सूं कही।—वी.दे.

उलच—सं०पु० [सं० उल्लोच] चंदोवा, वितान। उ०—सिंहासनि पाउ परठिउ छइ, मेघवना उलच बांध्या छइ।—कां.दे.प्र.

उलचणौ, उलचबौ—क्रि०स०—देखो 'उलीचणौ'।

उळजण—सं०स्त्री०—देखो 'उलझण'।

उळजणौ, उळजबौ—क्रि०अ०—देखो 'उळझणौ' (रू.भे.)

उळजणहार, हारौ (हारी), उळजणियौ—वि०—उलझने वाला।

उळजिओड़ौ, उळजियोड़ौ, उळज्योड़ौ—भू०का०कृ०।

उळजाणौ, उळजाबौ, उळजावणौ, उळजावबौ—स०रू०।

उळजाणौ, उळजाबौ—क्रि०स०—देखो 'उळझाणौ'। उ०—मांरौ थांरौ कर माया में, उळज्योड़ा उळजावे।—ऊ.का.

उळजायोड़ौ—भू०का०कृ०—उलझाया हुआ। (स्त्री० उलजायोड़ी)

उळझणौ, उळझबौ—क्रि०अ०—१ फँसना, अटकना। उ०—बाजी सांवळिया रा चरण डेरां रा तणावां उळझिया जांणि कुमार दूदा री चावक वहियौ।—वं.भा. २ लपेट में पड़ना, लिपटना।

उ०—सुक पिक मधुप अनंत सुर, सखी वसंत अनंत। तंत लता उळझंत तर, करै घाव रिण कंत।—क.कु.बो. ३ काम में लीन होना. ४ तकरार करना, लड़ना, झगड़ना. ५ कठिनाई में पड़ना। ६ रुकना, अटकना. ७ वल खाना, टेढ़ा होना. ८ प्रेम होना, आसक्त होना।

उळझणहार, हारौ (हारी), उळझणियौ—वि०—उलझने वाला।

उळझिओड़ौ, उळझियोड़ौ, उळझ्योड़ौ—भू०का०कृ०।

उळझाणौ, उळझाबौ, उळझावणौ, उळझावबौ—स०रू०।

उळझाड़—सं०स्त्री०—१ उलझन, फँसान. २ अटकाव. ३ फेर, चक्कर।

उळझाणौ, उळझाबौ—क्रि०स०—१ उलझाना, फँसाना, अटकाना।

उ०—ऊंधा चूंधा कर फेरा उळझावै, वनड़ौ वनड़ी वर मनड़ौ मुरझावै।—ऊ.का.

२ लिप्त रखना। उ०—उळझाया तन मन आप आप में, विहत सीत रुखुमिणी वरि।—वेलि. ३ आसक्त करना।

उळझाणहार, हारौ (हारी), उळझाणियौ—वि०—उलझाने वाला।

उळझायोड़ौ—भू०का०कृ०—उलझाया हुआ।

उळझावणौ, उळझावबौ—रू०भे०।

उळझायोड़ौ—भू०का०कृ०—उलझाया हुआ। (स्त्री० उळझायोड़ी)

उळझाव—सं०पु०—१ अटकाव. २ झगड़ा, बखेड़ा. ३ चक्कर।

उळझावणौ, उळझावबौ—क्रि०स०—देखो 'उळझाणौ' (रू.भे.)

उलट—सं०पु०—१ परिवर्तन. २ तब्दीली। उ०—क्रत उलट प्रगट किरि सुघट कंज।—रा.रू. ३ उलटने की क्रिया या भाव।

उलटणौ, उलटबौ—क्रि०अ०स०—१ नीचे का ऊपर और ऊपर का नीचे करना, औंधा होना. २ पलटना. ३ पीछे मुड़ना. ४ घूमना. ५ उमड़ना, टूट पड़ना। उ०—पै उलटचौ सामंद वीकपुरा, छात विया वहग्या गह छंड।—दुरसौ आढ़ौ ६ अस्त-व्यस्त होना। ७ विपरीत होना, विरुद्ध या क्रुद्ध होना, चिढ़ना. ८ नष्ट होना। ९ बेहोश या बेसुध होना. १० इतराना, घमंड करना. ११ गाय-भैंस आदि का जोड़ा खाकर गर्भ न धारण करना और फिर जोड़ा खाना. १२ नीचे का ऊपर और ऊपर का नीचे करना, औंधाना. १३ पलटना. १४ पटकना, औंधा गिराना, उंडेलना. १५ लटकी हुई चीज को समेट कर ऊपर चढ़ाना. १६ अंडबंड करना, और का और करना. १७ विपरीत या विरुद्ध करना. १८ उत्तर प्रयुत्तर

उ०—५ खेत कमाती जाट ज्युं। मई कांई सिरजी उलिगांणा घरि-नारि।—वी.दे.

सं०पु०—प्रवास, विदेश।

उळियोकाचर–सं०पु०—लड़कियों द्वारा गाया जाने वाला एक मारवाड़ी लोक गीत।

उलीग, उलीगांण, उलीगांणौ–सं०पु०—१ देखो 'उलिगांणउ'।

उ०—सूरज पछिम किम उगमई? उलीग चालतां क्युं रह्यौ आजि?—वी.दे. २ देखो 'उलिगांणौ'

उलीचणौ, उलीचबौ–क्रि०स० [सं० उल्लुंचन] पानी फेंकना, पानी उछालना।

उलीचणहार हारौ (हारी), उलीचणियौ–वि०—पानी फेंकने वाला।

उलीचिओड़ौ, उलीचियोड़ौ, उलीच्योड़ौ—भू०का०कृ०।

उलीचियोड़ौ–भू०का०कृ०—पानी फेंका हुआ, पानी उछाला हुआ। (स्त्री० उलीचियोड़ी)

उलीपैली–वि०—१ इधर-उधर की। उ०—पछै साल्हकंवर तौ उलीपैली वात करनै ढोलाजी नखा परी उठी।—ढो.मा.

२ ऐसी-वैसी। उ०—राजूखां सूं कजियौ छै। उलीपैली वात न छै।—सूरे खींवे कांधळोत री वात

उलीसुली–वि०—भली-बुरी। उ०—सूधी वात म्हे तौ कहां छां थे तौ मांनौ उलीसुली, इठै म्हांकै कीज्यौ मती कोडी की नी आस।—अज्ञात

उलुकी–सं०स्त्री०—मछली (ह.नां.)

उलुक्क, उलूक–सं०पु० [सं० उलूक] १ उल्लू नामक पक्षी. २ कणादि मुनि का एक नाम. ३ लूता के समान ही आकाश में फैला धूलि समूह या धूम्र। उ०—असि पाइ खेह ऊड़ी उलुक्क, गौ गइण विची मिळि गोवुळक्क।—रा.ज.सी.

उलूत–सं०पु० [सं०] अजगर की जाति का एक सांप।

उलूपी–सं०स्त्री०[सं०] एक नाग की कन्या जो अर्जुन की पत्नी और बभ्रुवाहन की माता थी।

उलेटणौ, उलेटबौ–क्रि०स०—देखो 'उलटणौ, उलटबौ'।

उलेटणहार, हारौ (हारी), उलेटणियौ—वि०।

उलेटिओड़ौ, उलेटियोड़ौ, उलेट्योड़ौ—भू०का०कृ०।

उलेटियोड़ौ–भू०का०कृ०—उलेटा हुआ। (स्त्री० उलेटियोड़ी)

उलेपासै–क्रि०वि०—इस ओर, इधर। उ०—हमें कोई नै उलेपासै मतां आवण देज्यौ।—पलक दरियाव री वात

उलेळ–सं०स्त्री०—उमंग, जोश, तरंग, हिलोर।

उलै–क्रि०वि०—इस ओर।

उलो–सं०पु० [सं० उर्ण] भेड़ का बच्चा, मेमना (क्षेत्रीय)

उलो-पैलो–वि०—१ इधर-उधर का (रू.भे. ऊलो-पैलो)

उल्का–सं०पु० [सं०] १ प्रकाश, चिराग, दीया. २ आकाश में चमकीले प्रकाश पिंड।

उल्कापात–सं०पु०—देखो 'उलकापात'।

उल्कामुख–सं०पु० [सं०] १ गीदड़. २ एक ऐसा प्रेत जिसके मुंह से अग्नि निकला करती है. ३ शिव।

उल्टी–वि०—देखो 'उलटी'।

सं०स्त्री०—वमन, कै।

उल्लंग–सं०स्त्री०—पंवार वंश के क्षत्रियों की एक शाखा।

उल्लंघणौ, उल्लंघबौ–क्रि०स०—देखो 'उलंघणौ'।

उल्लस–सं०पु० [सं० उल्लास] १ प्रकाश. २ हर्ष, आनन्द. ३ ग्रन्थ का एक भाग।

उल्लसण–सं०स्त्री०—हर्ष करना, रोमांच।

वि०—उत्कंठित, उल्लसित।

उल्लसणौ, उल्लसबौ–क्रि०स०—१ उत्कंठा करना। उ०—उमराव परस्सण उल्लसै, कोड़ां दरसण कारणै।—रा.रू. २ उल्लसित होना, प्रसन्न होना। उ०—अति मोद जुग्गिनि उल्लसै हर देवि।—अज्ञात

उल्लसणहार, हारौ (हारी), उल्लसणियौ—वि०।

उल्लसिओड़ौ, उल्लसियोड़ौ, उल्लस्योड़ौ—भू०का०कृ०।

उल्लसियोड़ौ–भू०का०कृ०—१ उत्कंठित. २ उल्लसित।

उल्लाळ–सं०पु०—एक मात्रिक अर्द्ध सम छंद। इस छंद में विषम चरणों में १५ और सम चरणों में १३ मात्रायें होती हैं।

उल्लाळौ–सं०पु०—वक्का। देखो 'उलाळौ'।

उल्लालौ–सं०पु०—प्रत्येक चरण में तेरह मात्राओं का एक मात्रिक छंद विशेष।

उल्लावणौ, उल्लावबौ–क्रि०स०—देखो 'उलावणौ, उलावबौ' (रू.भे.)

उल्लावियोड़ौ–भू०का०कृ०—देखो 'उलावियोड़ौ' (स्त्री० उल्लावियोड़ी)

उल्लास–सं०पु० [सं०] १ प्रकाश, चमक. २ हर्ष, आनंद।

उल्लासक–वि० [सं०] आनंदी, आनंद करने वाला।

उल्लू–सं०पु०—१ एक ऐसा पक्षी जिसे दिन में कुछ नहीं दीखता।

पर्याय०—अलूक, घूक, घूघू, दिवसअंध, रातराजा, राजा।

मुहा०—उल्लू बणाणौ=मूर्ख बनाना।

वि०—मूर्ख, बेवकूफ।

उल्लेख–सं०पु० [सं०] १ एक ही वस्तु का अनेक रूपों में दिखाई पड़ने के वर्णन का एक काव्यालंकार. २ चर्चा, जिक्र, वर्णन।

उल्लेखालंकार–सं०पु० [सं० उल्लेख+अलंकार] जहाँ एक पदार्थ का अनेक प्रकार से उल्लेख (वर्णन) किया जाय वहाँ यह अलंकार होता है (साहित्य)

उल्हण–सं०पु०—मध्य पात्र। उ०—उल्हण मींणा सौ पुरव्यौ। भोजन भगति करइ तिणी ठाई।—वी.दे.

उल्हरणौ, उल्हरबौ–क्रि०स०अ०—उमड़ना, बरसना। उ०—भरि पावस सयणां पखै, उल्हरियौ जसराज। जाणूं छूं ले जाइसी, काढ़ि कळेजौ आज।—जसराज

उल्हवण–वि०—१ उल्लसित करने वाला। उ०—चंदण देह कपूर रस, सीतळ गंग-प्रवाह। मन-रंजण तन उल्हवण, कदे मिळेसी नाह।—ढो.मा.

उलांगांणउ–वि०—प्रवासी, विदेशी। उ०—उलांगांणउ घरि चालियौ। सह संदेसी नया उपरि पांन।—वी.दे.

उलांघणौ, उलांघबौ–क्रि०स०—१ लांघना, फाँदना. २ अवज्ञा करना, न मानना, अवहेलना।

उलांघणहार, हारौ (हारी), उलांघणियौ—लाँघने या उलंघन करने वाला।

उलांघिश्रोड़ौ, उलांघियोड़ौ, उलांघ्योड़ौ—भू०का०कृ०।

उलांघियोड़ौ–भू०का०कृ०—१ लांघा या फाँदा हुआ. २ अवज्ञा किया हुआ, न माना हुआ। (स्त्री० उलांघियोड़ी)

उलांडणौ, उलांडबौ–क्रि०स०—उलंघन करना, लांघना। उ०—ऊंडा टूंक उळांडिया, चूंखें में चमकी। जांण वूझतां वीजळी, जोड़ी भल ढूंढी।—बादळी

उलांम–वि० [अ० अल्लाम] १ दुष्ट, बदमाश. २ नीच. ३ बातें बनाने वाला।

उला–क्रि०वि०—इस ओर। उ०—पैला खुदाय रसरा पढ़ें, उला सगत उचारसां।—बखतौ खिड़ियौ

उलाश्रलबेली–वि०—यौवनोन्मत्त। उ०—ऊवे राजांन आलीजां आलीगारा नाह उलाग्रलवेलिग्रां रा पदमणीश्रां रा रमण मांणै छै।
—रा.सा.सं.

उलाक–सं०स्त्री०—वमन, कै।

उलाकणौ, उलाकबौ–क्रि०अ०—उल्टी करना, वमन करना।

उलाट–सं०पु०—धक्का, झटका।

उलाटणौ–क्रि०स०—धक्का देकर औंधा गिराना, पटकना।

उ०—पचासे'क घके चढ़िया त्यांनूं तूंड सूं उलाळतौ घूड़ सूं भेळा करतौ पाधरौ ही राव रै घोड़ा कन्है गयौ सौ तींनूं तूंड सूं उलाट दीन्हौ।—डाढ़ाळा सूर री वात

उला पैला–क्रि०वि०—इधर, उधर।

उलारौ–सं०पु०—चौताल के अंत में गाया जाने वाला पद।

उलाळ–सं०पु०—बोझ के कारण (गाड़ी आदि का) पीछे झुकने का भाव।

उलाळणौ, उलाळबौ–क्रि०स०—१ झुकाना. २ डिगाना. ३ उल्टा करना. ४ नाश करना, दूर फेंकना। उ०—मांगणहारां सीख दी, ढोलइ तिणहि ज ताळ। सोवन जड़ित सिंगार दे, नांख्यउ दळिद उलाळ।—ढो.मा. ५ उठाना. ६ ऊँचा करना. ७ प्रहार हेतु शस्त्र फेंकना। उ०—ऊभां ही उलाळ विछूटी वरछी वाही।—डाढाळा सूर री वात. ८ तेज भगाना। उ०—थहै चटकै रटकै कंध थूळ, पमंग उलाळता ज्यां गज पूळ।—पा.प्र.

(रू.भे. ऊलाळणौ, ऊलाळबौ)

उलाळणहार, हारौ (हारी), उलाळणियौ—वि०।

उलाळिश्रोड़ौ, उलाळियोड़ौ, उलाळयोड़ौ—भू०का०कृ०।

उलाळियोड़ौ–भू०का०कृ०—१ झुकाया हुआ. २ डिगाया हुआ. ३ नष्ट किया हुआ. ४ ऊँचा किया हुआ. ५ प्रहार हेतु शस्त्र फेंका हुआ। (स्त्री० उलाळियोड़ी)

उलाळौ–सं०पु०—१ छलांग. २ पीछे को झुकने की क्रिया या भाव. ३ उछलने की क्रिया या भाव।

उलालौ–सं०पु०—देखो 'उल्लालौ'।

उलाळचौ–सं०पु०—चड़स या मोट को शीघ्र पानी में डुबाने के निमित्त उसके साथ बांधा जाने वाला वजनी पदार्थ विशेष।

कहा०—चड़सरै साथै उलाळचौ है—चड़स के साथ उसको डुबाने हेतु बँधा हुआ वजनी पदार्थ विशेष भी पानी में डूबता ही है। जिसका चोली-दामन का साथ है उसे हर स्थिति में सदैव साथ रहना ही पड़ता है।

उलावणौ, उलावबौ–क्रि०स०—१ पुकारना, बुलाना, आवाज देना।

उ०—न दै साद काय नारियण, साद दिये जो संत। आपण नांम उलावतां, धेनु (ही) कांन धरंत।—ह.र.

२ जपना, ध्वनि करना। (रू.भे. उल्लावणौ, उल्लावबौ)

उ०—रात दिवस हरि हरदै रहाविस, आठूं पहर अनंत उल्लाविस।
—ह र.

३ उपभोग करना, मौज करना।

उलावणहार, हारौ (हारी), उलावणियौ—वि०।

उलाविश्रोड़ौ, उलावियोड़ौ, उलाव्योड़ौ—भू०का०कृ०।

उलावियोड़ौ–भू०का०कृ०—१ पुकारा हुआ. २ जपा हुआ. ३ उपभोग किया हुआ। (स्त्री० उलावियोड़ी)

उलास–सं०पु० [सं० उल्लास] १ आल्हाद, प्रसन्नता या आनंद की उमंग।

उ०—पावस रुति झड़ मंडियौ, चातक मोर उलास। वीजळियां झबकै 'जसा', विरही अधिक उदास।—जसराज

[सं० आलस्य] २ आलस्य, सुस्ती।

उलासित–वि० [सं० उल्लसित] प्रसन्न, खुश, हर्षित, पुलकित।

उ०—वदन्न उलासित नेत्र विसाळ।—ह.र.

उलाहणौ, उलाहनौ–सं०पु० [सं० उपालंभन, प्रा० उवालहन] किसी के अपराध, भूल आदि को उसे दुखपूर्वक जताना, शिकायत, गिला।

उ०—जब वळिभद्रजी आइ उलाहणौ दियौ तब क्रस्णजी लजाय के नीची द्रस्टि करि।—वेलि. टी.

उलिगण, उलिगणउ, उलिगांणइ, उलिगांणउ, उलिगांणौ–वि०—प्रवासी, परदेशी।

उ०—१ जिण सिरजइ उलिगण घर नारि। जाइ दिहाड़ऊ झूरितां।
—वी.दे.

उ०—२ उलिगणउ घरि रावज्यो। जु म्हांको प्रीय पाछौ वाहुड़इ।—वी.दे.

उ०—३ ज्युं उलिगांणइ घरि मिल्यौ। गढ़ि उलिगाणइ कीधौ हो वास।—वी.दे.

उ०—४ उलिगांणउं होई संचरचौ। देस उड़ीसइं पहुंता जाई।
—वी.दे.

२ उस, उन। उ०—उवै समै सवालखी विणजारौ मुजांण नायक पण उवै पांण उठै आय वैठौ छै।—पलक दरियाव री वात
(रू.भे. उवे)

उवो, उवौ–सर्व०—१ वह। उ०—सौ उवौ उण में सूं रिपिया ३५ या ३७ खाणे पहरणे में खरच करै नै वाकी कनै राखै।
—सांई री पलक में खलक री वात
२ उस। उ०—म्हां सारी ही वेटे नै पूछियौ, तांहरै उवौ कह्यौ दोनूं ही म्हारा वाप छै।—पलक दरियाव री वात

उस–सर्व०—विभक्ति लगने पर होने वाला 'वह' शब्द का रूप।
सं०पु०—मादा पशुओं के स्तन।

उसड़ो–वि०—१ ऐसा. २ वैसा। उ०—कोई उसड़ौ कारीगर जुड़ै तौ देहरौ कराऊं।—नैणसी (विलोम—इसड़ौ)

उसण–वि० [सं० उष्ण] १ उष्ण, गर्म (डि.को.) उ०—वपि असह जळ सुख उसण, वल्लभ सूर कर हुइ सीतळ।—रा.रू.
२ देखो 'उसन' (रू.भे.)

उसणणौ, उसणवौ–क्रि०स०—उवालना, पकाना।
उसणणहार, हारौ (हारी), उसणणियौ–वि०—उवालने या पकाने वाला।
उसणाणौ, उसणावौ, उसणावणौ, उसणाववौ–स०प्रे०रू०।
उसणिओड़ौ, उसणियोड़ौ, उसण्योड़ौ–भू०का०कृ०।

उसणागम–सं०पु०—ग्रीष्म ऋतु (डि.को.)

उसणाणौ, उसणावौ, उसणावणौ, उसणाववौ–क्रि०प्रे०रू०—उवलवाना, पकवाना।

उसणियोड़ौ–भू०का०कृ०—उवाला हुआ, पकाया हुआ (स्त्री०उसणियोड़ी)

उसतरौ–सं०पु०—उस्तुरा, छुरा, वाल साफ करने का एक उपकरण।

उसताज–सं०पु०—१ युद्ध, लड़ाई। उ०—पड़ उसताज आहुणै असपत। दुजड़े दंतौ खळां दुख।—महारांणा अमरसिंह रौ गीत
[फा० उस्ताद] २ उस्ताद, गुरु। उ०—भावनगर कौ तुरक यम, सव तुरकन सिरताज। कुनती पटौ विनोट कृत, सव येलम उसताज।
—ला.रा.

उसताद–सं०पु० [फा० उस्ताद] १ गुरु, शिक्षक. २ रंडियों को गाने या वजाने की शिक्षा देने वाला व्यक्ति।
वि०—१ चालाक, धूर्त. २ निपुण, दक्ष।

उसन–सं०स्त्री० [सं०उष्ण] १ अग्नि (ह.ना., अ.मा.) २ गर्मी, उष्णता। उ०—सीत उसन विरखा कहूं, जेड़ चैतन वहौ जाति।—ह.पु.वा.
वि०—१ गर्म, तप्त. २ तेज, फुर्तीला।

उसनरसम–सं०पु० [सं० उष्णरश्मि] रवि, सूर्य्य (अ.मा.)

उसना–सं०पु० [सं० उशनस्] १ शुक्र, (अ.मा.) २ शुक्राचार्य।

उसमांन–सं०पु० [अ० उसमान] मुसलमानी धर्म के अनुसार मुहम्मद के चार सखाओं में से एक।

उसर—देखो 'ऊसर'

सं०पु० [सं० असुर] १ यवन, असुर। उ०—पुखत गुरगम मिळी सेन पण पांकियौ, भरतपुर फेर नह उसर भेटै।—वां.दा.
सं०स्त्री०—२ किरण, रश्मि।

उसरणौ, उसरवौ–क्रि०स०अ०—१ गर्म होते हुए या उवलते हुए पानी में पकाया जाने वाला अनाज का डालना. २ वर्षा का आना (रू.भे.) ओसरणौ. ३ हटना, टलना. ४ वीतना, गुजरना. ५ भूलना. ६ पानी में उतराना. ७ चक्की के घेरे से पीसा हुआ आटा निकाला जाना. ८ आक्रमण करना. ९ देखो 'उसीसरणौ'।
उसरणहार, हारौ (हारी), उसरणियौ–वि०।
उसारणौ, उसारवौ—स०रू०।
उसरिओड़ौ, उसरियोड़ौ, उसरयोड़ौ—भू०का०कृ०।

उसरांण, उसरायण–सं०पु० [सं० असुर] यवन, मुसलमान। उ०—दूर थकांई देखतां, जद म्है-लीना जांण। वर मुरवर रा वाड़वी, आपड़ि उसरांण।—पा.प्र.

उसरियोड़ौ–भू०का०कृ०—१ गर्म होते या उवलते हुए पानी में पकाने के उद्देश्य से डाला हुआ (अनाज आदि). २ जोर से वरसा हुआ (मेह). ३ हटा हुआ, टला हुआ. ४ वीता हुआ, गुजरा हुआ. ५ भूला हुआ. ६ पानी में उतरा हुआ. ७ चक्की के घेरे से पीसा हुआ (आटा आदि निकाला हुआ). ८ आक्रमण किया हुआ। (स्त्री० उसरियोड़ी)

उसरु–सं०पु० [सं० असुर] असुर, राक्षस।

उससणौ, उससवौ–क्रि०अ०—देखो 'ऊससणौ, ऊससवौ' (रू.भे.)

उसा–सं०स्त्री० [सं० उस्रा] १ गाय (अ.मा.). २ देखो 'ऊसा'।
वि०—वैसा। उ०—कुण जावै कांवोज, मिसर अरव ऐराक मफ। भुज जेहौ 'क्रन' भोज, अस रीफां वगसै उसा।—वां.दा.

उसाकाळ–सं०पु० [सं० उषाकाल] प्रभात, तड़का, भोर।

उसाड़ो–सं०पु०—थन, पशुओं के थन. देखो 'उआड़ौ' (रू.भे.)

उसापति–सं०पु० [सं० उषा+पति] अनिरुद्ध।

उसारणौ, उसारवौ, उसारिणौ, उसारिवौ–क्रि०स०—१ चक्की के घेरे में से पीसा हुआ आटा आदि वाहर निकालना।
कहा०—रात भर पीसियौ नै ढकणी में उसारियौ—रात भर पीसने पर भी ढक्कन में आटा निकाला; अधिक समय लगा कर वहुत कम काम करना।
२ खींचना, निकालना (प्राय: कुये से जल आदि)। उ०—तुम्ह जावउ घर आपणइ, म्हांरी केही वात। दीहेदीह उसारिस्यां, भरिस्यां मांभिम रात।—ढो.मा. ३ वनाना, रचना। उ०—दळपत कोट उसारिया, हुण तेरी वारी।—पेखरणौ ढाढ़ी
उसारणहार, हारौ (हारी), उसारणियौ–वि०।
उसारिओड़ौ, उसारियोड़ौ, उसारयोड़ौ—भू०का०कृ०।

उसारियोड़ौ–भू०का०कृ०—१ चक्की के घेरे से निकाला हुवा (आटा आदि) २ खींचा या निकाला हुआ (प्राय: कुये से जल आदि). ३ वनाया या रचा हुआ (स्त्री० उसारियोड़ी)

उल्हसणौ, उल्हसबौ–क्रि०स०अ०—१ प्रसन्न होना। उ०—सांभळतां सरीर उल्हसइ, चउपई बंध इसी इग्यारसइ। च्यारि खंड जिस्यां नवनीत, दूहा चउपई मधुरां गीत।—कां.दे.प्र.

२ छलांग भरना, चौकड़ी भरना। उ०—सु मोर ज्यूं तंडव करै छै, निकुली ज्यूं अंग भांजै छै, म्रग ज्यूं उल्हसै छै।—रा.सा.सं.

उल्हसणहार, हारौ (हारी), उल्हसणियौ–वि०—प्रसन्न होने वाला, छलांग भरने वाला।

उल्हसिओड़ौ, उल्हसियोड़ौ, उल्हस्योड़ौ—भू०का०कृ०।

उल्हसियोड़ौ–भू०का०कृ०—प्रसन्न हुआ, छलांग भरा हुआ।
(स्त्री० उल्हसियोड़ी)

उल्हास–सं०पु० [सं० उल्लास] १ हर्ष, आनंद (रू.भे. उल्लास)
उ०—थे सिध्धावउ सिध करउ, पूजउ थांकी आस। वीछुड़तां ही माणसां, मेळउ दियउ उल्हास।—ढो.मा. २ चमक, प्रकाश.
३ ग्रंथ का एक भाग। ४ एक अलंकार विशेष (साहित्य)

उवंध–वि०—स्वतंत्र।

उवंबर–वि०—देखो 'ऊवंबर' (रू.भे.)

उवटण–वि०—१ प्रकट करने वाला. २ रचने वाला. ३ मलने वाला।

उवटणौ–सं०पु०—देखो 'उवटणौ' (रू.भे.)

उवटणौ, उवटबौ–क्रि०स०—सुगंधित पदार्थो के योग से शरीर मलना, मालिश करना।

उवर, उवरि–सं०पु० [सं० उर] १ हृदय, अंतःकरण। उ०—थरहरै कायरां उवर ढीला थियां—हा.झा. उ०—२ उवरि ग्यांन हरि भगति आतमा, जपै वेलि त्यां ए जुगति।—वेलि. उ०—३ तिरचौ चहै भव पार तौ, उवर धार हरि एक—र.रू

क्रि०वि०—ऊपर। उ०—सत्रु वारस वीतां उवरि सभीता।—रा.रू.

वि०—१ ऊंचा. २ दूसरा, अन्य।

उवह–सर्व०—१ उसे। उ०—कुण उवह तागै उमंडै, प्रथम दीपावै पांवडै।—रा.रू.

२ वह। उ०—अर उवह सोहाग की कांति मुख कै विखै जैसें प्रगट होइ छै।—वेलि. टी.

सं०पु० [सं उदधि] समुद्र। उ०—नृपत सुकळांग कोमंड सर नीछटण, उवह पत लंदन ते रूप उभेल।—किसोरदांन बारहठ

उवां–क्रि०वि०—वहाँ। उ०—साल्ह चलंतउ हे सखो, गउखै चढ़ि मइं दीठ। हियड़उ उवां ही सूं गयउ, नयण वहोड़्या नीठ।—ढो.मा.

सर्व—उन्होंने।

उवांरणौ, उवांरबौ–क्रि०स०—न्यौछावर करना. देखो 'ग्रवारणौ'।
उ०—अगनि धूप कै मिसि सरीर उवांरै छै। सूरय दीपक कै मिसि सरीर उवांरै छै।—वेलि टी. (क्वचित प्रयोग)

उवां–सर्व०—१ उन। उ०—जैसिंघजी रै खरच पड़िया उता देणा किया महाराज अभैसिंघजी उवां रुपयां में भंडारी रतनसिंघ नूं नै मनरूप नूं ओळ में सूंपिया।—वां.दा.ख्या.

२ उस। उ०—उवां मांहे विस छै तै कहूं छूं।—चौबोली

३ उसी, उन्हीं। उ०—ज्यां पग दीधा पागड़इ, वांग उवां ही हथ्थ।—ढो.मा.

४ वह। उ०—थे सिध्धावउ सिध करउ, पूजउ थांकी आस। मत वीसारउ मन थकी, उवां छइ थांकी दास।—ढो.मा.

उवाड़–सं०पु०—१ पद-चिन्ह, पहिचानने के लिये लगाया जाने वाला चक्कर. २ विचार।

उवाड़ौ–सं०पु० [सं० ऊधस] १ थन, गाय के थनों का स्थान. २ कुए पर बना हुआ पशुओं के पानी पीने का कुंड विशेष।

उवारणा–सं०पु०—बलैया, न्यौछावर होने का भाव। उ०—कुंवर ऊठि मां कन्है गयौ। मां उवारणा लिया।—पलक दरियाव री वात

उवांरणौ, उवारबौ–क्रि०स०—१ न्योछावर करना, वारना. २ रक्षा करना। उ०—देसपति उवारइ का दईव, जीवासणि भागी लेय जीव।—रा.ज.सी.

उ०—२ वीकउ वाखांणी जेणि वडरायां, मोटा गढ़ राखइ मंडळि। अपणउ गोकळ तणा उवारियउ, कान्ह प्रवाड़उ किस्यउ कळि।—चौथ बारहठ

उवारणहार, हारौ (हारी), उवारणियौ–वि०—न्योछावर करने वाला, रक्षा करने वाला।

उवारिओड़ौ, उवारियोड़ौ, उवारयोड़ौ—भू०का०कृ०।

उवारियोड़ौ–भू०का०कृ०—१ न्योछावर किया हुआ. २ रक्षा किया हुआ।
(स्त्री० उवारियोड़ी)

उवारसी–सं०स्त्री०—मदद, सहायता।

वि०—मदद करने वाला, सहायक।

उवारौ–क्रि०वि०—रहित, विना। उ०—छ हजारी जात, छ हजार असवार, त्यां मांहे पांच हजार उवारा उरदी।—नैणसी

उवासी–सं०स्त्री०—जंभाई (रू.भे. उबासी)

उवे–सर्व०—१ उन. २ वे, वह. ३ उस। उ०—तिका उवी कळदार उवे आळे मांही राखी।—पलक दरियाव री वात

उवेलणौ, उवेलबौ–क्रि०स०—रक्षा करना, मदद करना। उ०—सांभळै वचन मन घिखै 'क्रन' समोभ्रम, घरै अत फोज घण मच्छर धायौ। 'जैतसी' वडै प्रव जाय गढ़ जोधपुर, उवेलण राव नै राव आयौ।—द.दा.

उवेलणहार, हारौ (हारी), उवेलणियौ–वि०—रक्षा करने वाला।

उवेलिओड़ौ, उवेलियोड़ौ, उवेल्योड़ौ–भू०का०कृ०।

उवेलियोड़ौ–भू०का०कृ०—रक्षा किया हुआ, मदद किया हुआ।
(स्त्री० उवेलियोड़ी)

उवेलौ–सं०पु०—१ रक्षा. २ सहायता, मदद. ३ विलंब, देरी।

उवै–सर्व०—१ वह, वे। उ०—राति सखी इणि ताळ मइं, काइज कुरळी पंखि। उवै सरि हूं घरि आपणइ, बिहूं न मेळी अंखि।—ढो.मा.

उहीज-सर्व०—१ वही, निश्चयार्थकसूचक शब्द । उ०—वसता हरिया वाग विच, होती रोस हजार । वसिया उहीज 'वांकला', माढू भ्रांम मझार ।—बां.दा.

२ उसी ।—उ०—इणां तौ उहीज वेळा वंबुगढ़ री मारग लियौ ।
—पलक दरियाव री वात

उहुळ-सं०स्त्री० [सं० उल्लोल] लहर, तरंग ।

उहै-सर्व०—उस । उ०—तौ रुखमणी जी छै सु चतुर छै, तिन रउ जु ऊरधसांसु उहै पवन हुवौ ।—वेलि टी.

उसास-सं०पु०—१ साँस, श्वास, शरीरस्थ नाक से बाहर निकलने वाली वायु, निश्वास। उ०— नांम तुम्हीणो हो ! धणनांमी, सास उसास संभारिस स्वांमी।—ह.र. २ दुःख वा शोकसूचक श्वास, उच्छ्वास, आह। उ०—१ कंवळा कूंपळ अधर कुम्हळिया धणी निसासां। कोरे मंजरिण लूखी लट मुख हिले उसासां।—मेघदूत उ०—२ आलम सौं बगलगीरी मिळ आदर किया, अमपती सनाह खोल उर उसास लिया।—रा.रू.

उसासौ-सं०पु०—देखो 'उसास' (रू.भे.) उ०—ज्यांनै देख परिणिहारियां रा सील सांमान खूटिया, कंवारियां जिके परणवा री हूंस करै है, परणियां जिके उसासा भरै है।—र. हमीर

उसीनर-सं०पु० [सं० उशीनर] १ शिवि का पिता एक चन्द्रवंशी राजा. २ गांधार देश।

उसीर-सं०पु०—१ तकिया (अ.मा.)

उसीरक-सं०स्त्री०—खसखस (डिं.को.)

उसीलौ-सं०पु० [फा० उसीला] १ वसीला, सम्बन्ध, जिससे कुछ लाभ या सहायता प्राप्त हो सके, जरिया. २ मदद, सहायता. ३ आश्रय।

उसीस-सं०पु०—तकिया (अ.मा.)

उसीसणौ, उसीसबौ-क्रि०स० [सं० उद्शीर्षण, उच्छीर्षण] किसी कामना-निहित संकल्पसिद्धि के उद्देश्य से देवता के प्रति कोई वस्तु या द्रव्य रखना जो संकल्प (व्रत) पूरा होने पर वापस उठा ली जाती है अथवा देवता के ही निमित्त किसी कार्य या वस्तु बनवाने में खर्च करदी जाती है।

उसीसियोड़ौ-भू०का०कृ०—किसी संकलपसिद्धि के उद्देश्य से किसी देवता के प्रति रखा हुआ (पदार्थ या वस्तु आदि)।
वि०वि०—देखो 'उसीसणौ, उसीसबौ'। (स्त्री० उसीसियोड़ी)

उसीसो, उसीसौ-सं०पु०—तकिया, सिरहाना। उ०—गोरण दिन सूती सखी, वागा ढोल विणास। बांह उसीसौ खींचियो, जागी पटक निसास।—बी.स.

उसूल-सं०पु० [अ०] सिद्धान्त।

उस्ट्र-सं०पु०—ऊँट।

उस्ट्रग्रीव-सं०पु०—एक प्रकार का भगंदर रोग (अमरत)

उस्ट्रासण-सं०पु० [सं० उष्ट्रासन] योग के चौरासी आसनों के अन्तर्गत एक आसन। इसमें उलटा सो कर दोनों पाँवों को पीठ पर लाया जाता है। पीछे दाहिने पाँव के अंगूठे को दाहिने हाथ से तथा बायें पाँव के अंगूठे को बायें हाथ से पकड़ा जाता है और मुख तथा उदर का सम्यक् प्रकार से आकुंचन किया जाता है। इससे गमन-शक्ति की वृद्धि होती है तथा भूख-प्यास सहन करने का बल आता है।

उस्ट्रस्रंगी-सं०पु० [सं० उष्ट्रश्रृंगी] एक प्रकार का घोड़ा (शा.हो.)

उस्ण-वि०—देखो 'उसण'।

उस्णकटिबंध-सं०पु० [सं० उष्ण+कटिबंध] कर्क और मकर रेखाओं के बीच का पृथ्वी का हिस्सा (भूगोल)

उस्णता-सं०स्त्री० [सं० उष्णता] गर्मी, ताप।

उस्णारस्म-सं०पु० [सं० उष्ण+रश्मि] सूर्य्य, भानु (नां.मा.)

उस्णासू-सं०पु० [सं० उष्ण+अंशु] सूर्य, भानु। उ०—क्रतध्वंसी त्रिस्णं कमलभव जिस्णूं स्तुति करै। हिमांसू उस्णासू पदम पद पांसू सिर धरै।—मे.म.

उस्तरी-सं०स्त्री०—धोबी या दर्जी का वह औजार जिसे गर्म करके कपड़े को धोने या सीने के बाद कपड़े की तह को जमा कर उसकी शिकन मिटाते हैं इस्त्री।

उस्तरौ-सं०पु०—बाल मूंडने का छुरा, उस्तुरा।

उस्तादी-सं०पु० [फा०] गुरुआई, चतुराई, चालाकी, धूर्त्तता।

उस्तुरौ-सं०पु०—देखो 'उस्तरौ'।

उस्त्रा-सं०स्त्री०—गाय (ह.ना.)

उह-सर्व०—वह।

उहकाळणौ, उहकाळबौ-क्रि०स०—१ उछालना. २ डिगाना। उ०—केहीज लोभ राखिया तणा पतसाह उहकाळे। केहीज रंक राखिया महारोरवे दुकाळे।—नैणसी ३ देखो 'उकाळणौ'।

उहड़-सं०पु०—राठौड़ राजपूतों की एक शाखा।

उहदेदार-सं०पु०—ओहदे पर स्थित व्यक्ति, ओहदेदार।

उहदौ-सं०पु०—ओहदा, पद, स्थान।

उहव-वि०—त्याज्य। उ०—उहव थयां नां कोई वह आवै, सुरियण मारग अन्य सह।—महारांणा हम्मीरसिंह री गीत

उहां-क्रि०वि०—वहाँ, उधर। उ०—इहां सु पंजर मन उहां, जय जांणइला लोइ। नयणां आडा बींझ वन, मनह न आडउ कोइ।
—ढो.मा.
सर्व०—१ उन। उ०—तद कुंवर उहां रजपूतां नुं कहो।—चौबोली
२ उन्होंने। उ०—तद उहां इण री वातां सुण इण रै पूरब जनम री वात जांण'र कही।—डाढ़ाळा सूर री वात

उहाळ-सं०पु०—बहती हुई जलधारा के साथ बहने वाला कूड़ा-करकट जो तट पर जम जाया करता है।

उहास-सं०पु० [सं० उद्+भास] १ प्रकाश, चमक। उ०—आणंद सु जु उदौ, उहासहास अति, राजति रद रिखपंति रुख।—वेलि.
२ विद्युत रेखा। उ०—ऊजळी दांमणी अणी बीजळी उहास।
—क.कु.बो.

उहासत-सं०पु० [सं० उद्भासित] तेज, प्रकाश (अ.मा.)

उहासहास-सं०पु०—हास-परिहास।

उहासियौ-वि०—१ उमंगयुक्त. २ जोश में आया हुआ।

उंहि, उहि, उही-सर्व०—१ वही, वह। उ०—१ अर उहि कौ कारीगर जड़णहारो कांमदेव हुओ।—वेलि टी. उ०—२ त्यूं राव री फौज ऐसी विजळवाई गई सौ बाजे-बाजे लोग आध कोस तांई गयो, उठा तांई मुंह सूं उही जवाब आयें आये री रहियौ।—डाढाळा सूर री वात
२ उस, उसी। उ०—अर उहो दुख तें दिन घटिवा लागो।—वेलि टी.
क्रि०वि०—वहीं।

ऊंचरतो-वि० [सं० उच्चरितः] १ भाग्यशाली. २ महत्वाकांक्षी (स्त्री० ऊंचरती)

ऊंचळ-सं०पु० [सं० उच्चल] मन, अंतःकरण (ह.नां.)

ऊंचलो-वि०—ऊपर का।

ऊंचवहो-वि०—१ उर्द्धस्कंध. उ०—घांणी मांभळ धातिया, जमसैदांणी जांम। ऊंचवहो ऊंनड़ हुवो, सिव तणी घर सांम।—बां.दा. २ बोझा उठाने वाला। ३ सहिष्णु।

ऊंचाई-सं०स्त्री०—१ उठान, ऊपर की ओर का विस्तार. २ बड़ाई, श्रेष्टता।

ऊंचाणो, ऊंचाबो-क्रि०स०—वजन उठाना, ऊँचा करना।

ऊंचणहार, हारो (हारी), ऊंचाणियो-वि०—वजन उठाने वाला, ऊँचा करने वाला।

ऊंचावणो, ऊंचाववो—रू.भे.। ऊंचायोड़ो—भू०का०कृ०।

कहा०—ऊंचायोड़ो कुत्तो कितो'क सिकार करै—किसी को ठेल-ठेल कर कितना कार्य कराया जा सकता है? कार्य मनुष्य अपनी इच्छा से करेगा तब ही ठीक होगा।

ऊंचापण-सं०पु०—१ ऊँचाई, बड़प्पन. २ उच्चकुल।

ऊंचास-सं०पु०—ऊँचाई।

ऊंचासरो-सं०पु० [सं० उच्चाश्रय] निकास-स्थान। उ०—कमंध जादवां वैर कदोकौ, ऊंचासरै उजाळै आय। 'सीहै' 'लाखौ' जांम साभियौ, जुग जासी पण वात न जाय।—राव सीहा री गीत।

वि०—वीर, उदार चित्त, श्रेष्ठ। उ०—कमर बांधियां तूण सारंग गहियां करां। सुकर खग दांन जेहांन ऊंचासरा।—रा.ज.प्र.

ऊंचासिरो-वि० [सं० उच्चशिरा] वह जिसका सिर ऊँचा रहता है, गर्वोन्नत। उ०—सुतन भाराथ जुध अनड़ ऊंचासिरां। लड़ण घड़ कुंवारी तू ज लाडी।—अज्ञात

ऊंचियांण-सं०स्त्री०—बहुत अन्तर से गर्भवती होने वाली गाय या भैंस।

ऊंचो-क्रि०वि०—ऊँचे पर, ऊपर।

ऊंचोतांण-सं०स्त्री०—महत्वाकांक्षा। उ०—है अकबर घर हांण, डांण ग्रहे नीची दिसट। तजै न ऊंचोतांण, पोरस रांण 'प्रतापसी'।

—दुरसौ आढ़ो

ऊंचोधरा-वि०—१ महत्वाकांक्षी. २ उदारचित्त।

ऊंचोयांण-सं०स्त्री०—देखो 'ऊंचियांण' (रू.भे.)

ऊंचोसरो-वि०—१ महत्वाकांक्षी. २ उदारमन, दातार।

(मि० 'ऊंचागिरो')

ऊंचोस्रवावाह-सं०पु० [सं० उच्चैश्रवः+वाह=घोड़ा] इंद्र, सुरेश (डि.को.)

ऊंचै-क्रि०वि०—१ ऊपर, ऊँचे पर. २ ऊपर उठा हुआ, ऊपर की ओर. ३ जोर से (ध्वनि)

ऊंचेरो-वि०—ऊँचा।

ऊंचो-वि० [सं० उच्च] १ ऊपर उठा हुआ, उन्नत, बुलंद. २ बड़ा, श्रेष्ठ।

कहा०—१ ऊंची दूकान फीका पकवान। २ ऊंचा मकान फीका पकवान—दीखने में बड़ी दूकान किन्तु छोटी सी वस्तु भी नहीं मिलती जिसका नाम एवं कार्य उसके रूप के अनुसार न हो। ३—घणो ऊंचो चढ़नै नीचै पड़ै जणै उण रै उती ही ज्यादा लागै—अधिक उन्नति के बाद पतन होने पर उतना ही अधिक दुःख होता है। ४—ऊंचा चढ़ चढ़ देखो घर घर ओही लेखो—सब जगह यही हाल है, सुख-दुख सबको भोगना पड़ता है।

३ जिसका छोर नीचे तक न हो. ४ कुलीन।

मुहा०—ऊंचो आवणो (आववो)—समृद्ध होना, तरक्की करना, गुस्सा करना, विरोध बढ़ना।

ऊंचोड़ो-वि०—ऊपर का, ऊँचा वाला।

ऊंझाडेह-वि०—औंधा। उ०—ऊचा हूं नीचा हुवै, जे करनार करेह। वावड़ हंदे फूल ज्यूं, आवे ऊंझाड़ेह।—जलाल बूबना री वात

ऊंट-सं०पु० [सं० उष्ट्र, पा० उट्ठ] लंबी गरदन वाला एक ऊँचा पशु जो सवारी और बोझा लादने के काम में आता है।

पर्याय०—अणियाळो, आंखरातंबर, उमदा, कंटकअसण, करह, करहो, करेलड़ो, काछो, कुळनास गध, गधराव, गय, गिड़ंग, जमाद, जमीकरवत, जाखोड़ो, जूंग, टोड, तोड़, दरक, दाशेरक, दुरंतक, पांगळ, पाकेट, पींडाढाल, प्रचंड, वासंत, भुणकमळो, भूणमत्यो, मयंद, सढ़ढो सळ, सांढ़ियो।

कहा०—१ ऊंट आरड़ताई पीलांणीजै है—ऊँट के दर्द से चिल्लाते हुए भी उस पर चारजामा कसा जाता है। जबरदस्ती काम कराना. २ ऊंट किसी घड़ बैठै—देखें ऊँट किस करवट बैठता है? देखें आगे चल कर क्या नतीजा होता है या कैसी परिस्थिति खड़ी होती है. ३ ऊंट कूदै ही कोयनी, बोरी पैं'ली ही कूदण लाग ज्यावै—ऊँट कूदता नहीं, बोरे उसके पहले ही कूदने लगते हैं। सम्बन्धित व्यक्तियों की मौजूदगी में असंबंधित व्यक्तियों का पंचायती करना ठीक नहीं होता. ४ ऊंट खुड़ावै, गधो डांभीजै—ऊँट खुड़ाता है, गधा दागा जाता है; अपराध कोई करे, फल कोई भोगे. ५ ऊंट खुड़ावै जद गधै रै डांभ देवै—ऊँट लँगड़ाता है तब गधे के दाग देते हैं; अपराध कोई करे, दंड किसी को दिया जाय. ६ ऊंट चढ़ी गुड़ खाय—ऊँट पर चढ़ी हुई गुड़ खाती है। सबको दिखाते हुए कोई काम करना. ७ ऊंट चढ़ी भीख मांगै—ऊँट पर चढ़ी हुई भीख मांगती है। पास में सम्पन्न वस्तुओं के होते हुए भी भीख मांगना। भीख मांगते हुए भी ठाट-बाट रखना. ८ ऊंट चढ़यै नै कुत्तो खाय—ऊँट पर चढ़े हुए को कुत्ता खा जाता है। ऊँट पर चढ़े हुए व्यक्ति तक कुत्ते का पहुँचना असम्भव है अतः असंभव बात; भाग्य खोटा होने पर असम्भव बात भी हो जाती है. ९ ऊंट चढ़यै नै दो दीसै—ऊँट पर चढ़े हुए को दो दिखाई देते हैं? थोड़ी सी उन्नति में कुछ का कुछ हो जाना. १० ऊंट छोडै आकड़ो बकरी छोडै कांकरो—ऊँट केवल मदार वृक्ष को छोड़ता है,

ऊ

ऊ-सं०पु०—वर्णमाला का छठवां वर्ण, इसका लघु रूप 'उ' है। इसका उच्चारण ओष्ठ से होता है।

ऊं-सर्व०—१ उस।
कहा०—ईं हाथ दे ऊं हाथ लें—इस हाथ से दे उस हाथ से ले। जैसा करता है वैसा फल तुरन्त मिलता है।
२ वह।
क्रि०वि०—१ ऐसे. २ उधर, उस तरफ।
सं०स्त्री०—१ छोटे बच्चों के रोने की ध्वनि।
सं०पु०—२ निषेधसूचक उच्चारित शब्द।
कहा०—ग्रेके ऊं सूं कांम सरै—एक सिर्फ निषेधात्मक ऊं करने से ही काम सफल हो जाता है। किसी काम के न करने के लिए अथवा वायदे में न फँसने के लिए प्रयुक्त होता है. ३ ब्रह्मा (ह.नां.)
अव्यय—से (करण व अपादान कारक का चिन्ह)

ऊंकार-सं०पु०—ॐ प्रणव मंत्र।

ऊंखळ-सं०पु०—देखो 'ऊंखळी' (डिं.को.)

ऊंखळकूटी-सं०पु०—ओखली में कूट कर निकाली जाने वाली बाजरी (अन्न विशेष)

ऊंखळी-सं०स्त्री० [सं० उलूखल] काठ वा पत्थर का बना हुआ गड्ढे-नुमा एक गहरा बरतन जिसमें धान वा किसी और अन्न को डाल कर भूसी अलग करने के लिए मूसल से कूटते हैं, ओखली (डिं.को.)
कहा०—१ ऊंखळी में माथौ दियौ पछै घावां री कांई गिणती—ओखली में सिर दिया फिर चोटों की क्या गिनती करना।
२ ऊंखळी में सिर घाल्यां पछै मूसळ (चोटां) री कांई डर? ओखली में सिर डाला पीछे मूसल की चोटों का क्या डर; जब किसी काम में हाथ डाल दिया तो फिर विघ्न-बाधा या कष्टों की क्या परवाह करना।

ऊंग-सं०स्त्री०—देखो 'ऊंघ'।

ऊंगट, ऊंगठ, ऊंगठौ-सं०पु०—देखो 'अंगठ'।

ऊंगड़-वि०—अधिक नींद लेने वाला, निद्रालु।

ऊंगण, ऊंगणियौ-सं०पु०—रहँट के जिस डंडे पर बैठ कर बैल हांके जाते हैं उस पर लगा हुआ सहारे का डंडा।
वि०—अधिक निद्रा लेने वाला, निद्रालु।

ऊंगणौ, ऊंगवौ-क्रि०अ०—देखो 'ऊंघणौ' (रू.भे.)

ऊंगळी-सं०स्त्री०—देखो 'उंगळी'।

ऊंगा-सं०स्त्री०—राठौड़ों की एक उप-शाखा।

ऊंगाळू-वि०—निद्रालु, ऊँघने वाला।

ऊंगियोड़ौ-भू०का०कृ०—देखो 'ऊंघिग्रोड़ौ'। (स्त्री० ऊंगियोड़ी)

ऊंगीजणौ, ऊंगीजवौ-क्रि०अ०—देखो 'ऊंघीजणौ, ऊंघीजवौ'।

उ०—वेल रै खोळै में घर सीस, कंवळा फूल रह्या ऊंगीज।—सांभ

ऊंगौ-सं०पु०—औंधे कांटेदार एक घास विशेष (क्षेत्रिय)

ऊंघ-सं०स्त्री०—हल्की नींद, झपकी, तन्द्रा।

ऊंघणौ-सं०पु०—नींद। उ०—विपत मन्त्र विपरीत, अधरम आळस ऊंघणौ। अपजस सोर अनीत, पैं'लां घर वांछै पिसण।—बां.दा.

ऊंघणौ, ऊंघवौ-क्रि०अ०—नींद में झूमना, तन्द्रालु होना, झपकी लेना।
उ०—अकबर घोर अंधार, ऊंघाणा हींदू अवर। जागै जग दातार, पोहरै रांण प्रतापसी।—प्रथ्वीराज राठौड़
ऊंघणहार, हारौ (हारी), ऊंघणियौ-वि०—ऊँघने वाला।
ऊंघाणौ, ऊंघावौ—स०रू०। ऊंघवणौ—रू०भे०।
ऊंघिग्रोड़ौ, ऊंघियोड़ौ, ऊंघ्योड़ौ—भू०का०कृ०।
ऊंघीजणौ, ऊंघीजवौ—भाव वा०।
कहा०—१ ऊंघती नै बिछावणौ लाधग्यौ—ऊँघती हुई को बिछौना मिल गया. २ ऊंघती नै मांचौ लाध्यौ—ऊँघती हुई को पलंग मिल गया; जो बातें चाहते हों वही हो जाना; इष्ट-कार्य करते समय अनुकूल साधन मिल जाना; काम करना नहीं चाहते हों उन्हें अनुकूल बहाना मिल जाना. ३ ऊंघियोड़ा व्है तौ जगावै पण औ तौ जागतौ घोरीजै—जो जान-बूझ कर नींद का बहाना कर रहा है उसे किस प्रकार से जगाया जाय।

ऊंघांणौ-वि०—निद्रित, ऊँघता हुआ। उ०—अर प्रथ्वीराज रा वीरां अचांणक काछी मिळाय ऊंघाणौ वीर रस तत्काळ जगायौ।—वं.भा.

ऊंघाई-सं०स्त्री०—नींद, झपकी, तन्द्रा, ऊँघ।

ऊंघाकळौ-वि०पु०—निद्रालु, निद्रित। (स्त्री० ऊंघाकळी)

ऊंघियोड़ौ-भू०का०कृ०—ऊँघा हुआ, निद्रा लिया हुआ।
(स्त्री० ऊँघियोड़ी)

ऊंघीजणौ, ऊंघीजवौ-क्रि०अ०—ऊँघा जाना, नींद लिया जाना।

ऊंच-वि० [सं० उच्च] १ उच्च, श्रेष्ठ. २ कुलीन।

ऊंचणौ, ऊंचवौ-क्रि०स० [सं० उच्चयन] बोझ उठाना। उ०—ऊंचण लागी नार नवेली, माथै ऊपर मटकी।—रेवतदांन
ऊंचणहार, हारौ (हारी), ऊंचणियौ-वि०—बोझ उठाने वाला।
ऊंचाणौ, ऊंचावौ-क्रि०स०।
ऊंचिग्रोड़ौ ऊंचियोड़ौ, ऊंच्योड़ौ—भू०का०कृ०।
ऊंचीजणौ, ऊंचीजवौ-कर्म०वा०—बोझ उठाया जाना।

ऊंचपण, ऊंचपणौ-सं०पु०—१ उच्चता, ऊँचाई। उ०—अवडौ सायर न ऊंडवण, अवडौ मेर न ऊंचपण।—किसनौ आढ़ौ
२ बड़प्पन का भाव।

ऊंचमोलौ-वि० [सं० उच्च+मूल्य] बहुमूल्य, कीमती। उ०—अत तुरंग ऊंचमोला अनेक, कछवाटभंज ता वंस केक।—गि.सु.रू.

मेर न ऊंचपण।—किसनौ आढ़ौ २ गम्भीरता। उ०—मांन वडापण मेर, मांन ऊंडायण सागर।—बुधजी आसियौ

ऊंडाळकी, ऊंडाळकौ—सं०उ०लिं०—१ वह नीची भूमि जहाँ वर्षा के दिनों में पानी एकत्रित हो जाता हो। पानी सूखने पर वहाँ प्रायः खेती की जाती है।

वि०—गहरा।

ऊंडियण—वि०—१ गहरा, अथाह।

ऊंडौ—वि० (स्त्री० ऊंडी) १ गहरा। उ०—आगै आवतां एक खाळ बारह हाथ की चोड़ी घणी ऊंडौ आडै आयौ जठै कुमार दूदौ।—वं.भा. २ गम्भीर. ३ अगाध (डि.को.)

सं०पु०—तहखाना।

ऊंडोड़ौ—वि०—जो गहरा व गंभीर हो। (स्त्री० ऊंडोडी)।

ऊंण—अव्यय [सं० अधुना, प्रा० अहुणा, पं० हुण, रा० आंण] इस वर्ष, वर्तमान वर्ष।

ऊंणत, ऊंणारत—सं०स्त्री०—अभाव, कमी (र.ज.प्र.) उ०—पहलै जलम भोगिया प्राछत, संगम करण न लीवौ स्वाद। पूरण हूंस एम भव पूरै, ऊंणारत वाळी उदमाद।

ऊंणौ—वि० (स्त्री० ऊंणी) १ प्राकृतिक जन्म अवधि से पूर्व जन्म लेकर मृत्युप्राप्त शिशु, अपूर्ण, अधूरा. २ छोटा बच्चा। उ०—ऊंणां ऊरणियां खरसणियां ओळै। डरड़ा नरड़ा विण अरड़ा दे टोळै।
—ऊ.का.

ऊंताळ—सं०पु० [सं० उत्ताल] देखो 'उताळ'। उ०—आयौ घणौ ऊंताळ, सरिया दे हेला समां। वणठां हेक न वाळ, मिनड़ी जाया मोतिया।—रायसिंह

ऊंतावळ—सं०स्त्री०—देखो 'उतावळ' (रू.भे.)

ऊंतावळौ—वि०—देखो 'उतावळौ'।

ऊंतोळणौ—क्रि०स०—संहार करना, मारना। उ०—सुरांपती हेके वज्र रोळिया पहाड़ सारा, सारा खळां हेके ऊंतोळिया चांदसींघ।
—हुकमीचंद खिड़ियौ

ऊंत्तावळ—सं०स्त्री०—देखो 'उतावळ'।

ऊंदर, ऊंदरियौ, ऊंदरौ—सं०पु० [सं० उंदुर] १ चूहा (अ.मा.)

कहा०—१ ऊंदरा थड़ियां करणौ—निर्धनता के लिये. २ (घर रा) ऊंदरा हीं राजी व्है तौ कांम करणौ—घर का प्रत्येक प्राणी राजी हो तो काम करना. ३ ऊंदरे रै बिल में कौ घुसीजै नीं. ४ ऊंदरे रौ बिल कौ जोईजै नीं—तुम्हारी इच्छित वस्तु लाने के लिए चूहे के बिल में तो घुसा नहीं जा सकता या ढूंढ़ा नहीं जा सकता; अनुचित कार्य कराने के बारे में या असंभव वस्तु की प्राप्ति के लिये.

५ ऊंदरौ आप भी बिल में कौ मावै नी नै लारै भळै कांटा बांध लै—एक तो चूहा वैसे भी बिल में नहीं समाता और अपने साथ कांटे भी बांध कर ले आता है; जहां स्वयं का भी प्रवेश कठिन हो वहां अपने साथ किसी और को ले जाना. ६ घर तौ घांचियां रा वळसी पण ऊंदरा ही सुख कांई पावसी—दूसरों को कष्ट में डालने वाला खुद भी सुखी नहीं रह सकता. ७ मिनी रै रोळ होवै अर ऊंदरां रै घर जावै—सशक्त व समर्थ व्यक्तियों की दिल्लगी में निर्बल को कष्ट उठाना पड़ता है।

२ ४६ लघु १ गुरु कुल ४७ वर्ण और ४८ मात्राओं का दोहा नामक छंद विशेष।

ऊंदरी—सं०स्त्री०—दाढ़ी मूंछें व शिर के बाल उड़ने का एक रोग विशेष (अमरत)

ऊंदिरा—सं०पु०—घोड़ों की एक जाति विशेष।

ऊंध—सं०स्त्री०—उत्तर और वायव्य के मध्य की दिशा जिस ओर सप्त ऋषि अस्त होते हैं।

ऊंधाड़कौ—वि०—उलटा काम करने वाला, विरुद्ध आचरण करने वाला.

ऊंधायलौ—सं०पु०—१ किसी मिट्टी आदि के पात्र में शकरकंद भर कर भूमि पर छोटे गडढ़े में उसे उलटा रख उस पर आग जला कर उन्हें पात्र के अंदर ही भाप से सेकने की क्रिया। यह क्रिया अधिकतर लोग रहट से पानी निकालने के पात्र डब्बू (घेड़) में अधिक करते हैं. २ वह बड़ा तवा जिसे बड़े चूल्हे पर उलटा रख कर रोटियाँ सेकी जाती हैं। इस पर एक साथ कुछ अधिक रोटियाँ सेकी जा सकती हैं।

ऊंधौ—वि०—१ औंधा। उ०—त्यां ऊपरि जोगण्यां का पत्र ऊंधा पड्या वह्या जाय छै।—वेलि. टी.

कहा०—ऊंधौ पड़्यौ अंबर चाटै—औंधे मुंह पड़ा है फिर भी आकाश छूने का प्रयत्न जारी है। असमर्थ होते हुए भी कठिन से कठिन कार्य करना; पराजित होते हुए भी विजय का लाभ लेना।

२ उलटा, विलोम। (स्त्री० ऊंधी)

ऊंधौ-चूंधौ—वि०—१ उलटा-पुलटा. २ अदल-बदल. ३ उलटा-सीधा। उ०—ऊंधा-चूंधा कर फेरा उळझावै, बनड़ी बनड़ी वर मनड़ी मुरझावै।—ऊ.का.

ऊंन—सं०पु० [सं० ऊर्ण] १ भेड़ के रोयें. [सं० ऊन]

२ स्त्रियों के लिए एक छोटी सी तलवार।

वि०—१ कम, थोड़ा, अल्प. २ छोटा।

ऊंनड़—सं०पु०—ऊंनड़ नाम का जामवंशीय (यादव) राजा जो अपने समय का महान दातार था और जिसने अपने राज्य (सिंध) के सात हीं भाग दान में दे दिये थे।

ऊंनतभद्रा—सं०स्त्री०—दक्षिण की एक नदी, तुंगभद्रा।

ऊंनाळू—वि० [सं० उष्णकाल+ऊ रा० प्र०] उष्णकाल का, गर्मी की ऋतु संबंधी।

सं०पु०—रबी की फसल।

ऊंनाळो, ऊंनाळौ—सं०पु० [सं० उष्णकाल] ग्रीष्म ऋतु। उ०—विण गंगा नय बार कमण बाधै ऊंनाळै।—रा.रू.

ऊंनियौ—सं०पु०—भेड़ का जन्मजात छोटा बच्चा।

किन्तु बकरी सब कुछ खा सकती है केवल कंकरों को छोड़ कर। उस व्यक्ति के लिए जो किसी बात से परहेज न करता हो ११ ऊंट तौ अरड़ावता हीज पलांणीजै (लादीजै)—मि० कहा० नं० (१) १२ ऊंट नै गुळ-पांणी सूं कांई हुवै ?—ऊँट को गुड़-पानी से क्या हो ? अधिक खाने वाले के लिये. १३ ऊंट नै ऊठतां ही ढांण नहीं घातणौ—ऊँट को उठते ही तेज नहीं चलाना। किसी काम के आरंभ में ही अधिक तेजी नही दिखाना क्योंकि यह तेजी बराबर नहीं रह सकती और बाद में काम ढीला पड़ने लगता है. १४ ऊंट फिटकड़ी दियां ही अरड़ावै, गुड़ दियां ही अरड़ावै—ऊँट फिटकड़ी देते भी अरड़ाता है और गुड़ देते भी अरड़ाता है। दुःख और सुख दोनों ही में असन्तुष्ट रहने वाले के लिये. १५ ऊंट मरै जद लंका सांमै जोवै—ऊंट मरता है तब लंका (लंकियौ) की ओर देखता है क्योंकि वह उसकी मातृ-भूमि है. १६ ऊंट री खोड़ ऊंट नै इज वोवै— १७ ऊंट री खोड़ ऊंट भुगतै—ऊँट की कमी या अवगुण स्वयं ऊँट को ही भुगतना पड़ता है क्योंकि ऊँट के दोष आदि का कुप्रभाव अन्य पशु घोड़ा, बैल, भेंस आदि के दोष की भांति ऊंट के खरीददार या मालिक पर नहीं होता। खुद का किया हुआ खुद को ही भुगतना पड़ता है. १८ ऊंट री नस आंटी व्हे तौ सीधौ देखियौ ही कंई— १९ ऊंट रै ऊंट तेरी कुणसी कळ सीधी—ऊँट की सब कलें या अंग टेढ़े-बांके ही होते हैं; सब प्रकार के अवगुणी मनुष्य के लिये.

२० ऊंट री पीठ पर नहीं लदै सौ गळै में बंधै—जो ऊँट की पीठ पर नहीं लद सकता वह भार स्वयं सवार को उठाना पड़ता है। मातहत में कार्य करने वाले यदि कार्य नहीं करते तो स्वयं स्वामी को ही कार्य करना पड़ता है। ऊंट की पीठ पर लदने के बाद यदि कुछ शेष रह भी जाता है तो बेचारे के गले में ही बंधता है। गरीब को हर तरह से काम में लिया जाता है. २१ ऊंट रै गळवांणी सूं कांई हुवै—मि० कहा० नं० (१२) २२ ऊंट रै पेट में जीरा रौ बघार—ऊँट रै पेट में जीरै रौ बघार—ऊंट के पेट में जीरे का बघार, बहुत खाने वाले को थोड़ी चीज देना. २३ ऊंट रौ पाद जमी रौ न आसमांन रौ—ऊंट का पाद न जमीन का न आसमान का; जो किसी के काम का न हो उसके लिये; निकम्मे आदमी के अधूरे काम के लिये. २४ ऊंट लदण सूं गयौ तौ कांई पादण सूं ही गयौ ?—ऊंट लदने से गया तो क्या पादने से भी गया; पूर्ण अधिकार छिन गया तो क्या साधारण अधिकार भी न रह गया ? २५ ऊँट लांबौ तौ पूंछ छोटी—ऊंट लम्बा पूंछ छोटी; सब बातें मनचाही नहीं-होतीं, कुछ कुछ कमी रह गई. २६ ऊंटां रै कुण छपरा छाया हा ?—ऊँटों के किसने छप्पर छाए थे अर्थात् वे तो खुले में ही रहते आये हैं; बिना वस्तु काम चलाने के लिये। (रू.भे. ऊँठ)

२ एक मारवाड़ी लोकगीत का नाम. ३ ओट, आड़, आश्रय।

उ०—हालां री ऊंट देनै जीवतौ निल्होहौ पकड़ि हजूर ले आवौ।

—वीरमदे सोनगरा री वात

ऊंटकंटाळी, ऊंटकंटाळउ, ऊंटकंटाळौ—सं०पु० [सं० उष्ट्रकंठ] एक कटारा नामक कँटीली झाड़ी जिसे ऊंट बड़े चाव से खाता है (अमरत)

ऊंटगाडी—सं०स्त्री—ऊँट द्वारा खींचा जाने वाला शकट या रथ।

ऊंटगाडीदलाली—सं०स्त्री०—एक प्रकार का सरकारी कर।

ऊंटड़ियामहादेव—सं०पु०—महादेव का एक तीर्थ-स्थान।

ऊंटड़ी—सं०स्त्री०—मादा ऊँट (अल्पार्थ)

ऊंटड़ौ—सं०पु०—१ गाड़ी के अग्र भाग में नुकीले भाग के नीचे लगाया जाने वाला लकड़ी का वह उपकरण जो उस समय जमीन पर टिका रहता है जब गाड़ी जमीन पर बिना बैलों आदि के छोड़ दी जाती है. २ ऊँट (अल्पा०) (रू.भे. ऊँटड़चौ, ऊँटहड़ौ)

ऊंटफोग—सं०पु०—जल वृक्ष के सहारे पसरने वाला एक प्रकार का फोग। वि०वि०—देखो 'फोग' (क्षेत्रिय)

ऊंटादेवी—सं०स्त्री०—एक देवी विशेष जिसकी पूजा प्रायः पुष्करणा ब्राह्मण करते हैं।

ऊंठ—सं०पु०—देखो 'ऊंट'।

ऊंठफंटाळौ—सं०पु०—देखो 'ऊंटकंटाळौ'।

ऊंठड़ौ—वि०—देखो 'ऊंट', 'ऊंटड़ौ'।

ऊंठियौ—एक प्रकार का जाति विशेष का सिंह (अ.मा.)

ऊंठेड़—सं०पु०—गौड़वंशी क्षत्रियों की एक उपशाखा।

ऊंठै—वि०—ऊँची। उ०—जहां कहीं ऊंठै ची भुंइ छै तठै भुंइ उघाड़ी छै।—वेलि टी.

ऊंठौ—सं०पु० (स्त्री० ऊंठी) १ जूठन. २ तीन और आधे के योग की गुणनफल की क्रमागत सौ तक की गुणन-सूची।

वि०—जूठा, उच्छिष्ट। उ०—मैं तौ विजय में केवळ प्रमांण पावण रै काज या कीधी जिण थी और री ऊंठी कीरति रौ भोगणौ बीती होत्र वसुधेस्वर रा वंस नूं।—वं.भा.

ऊंठचामणी—सं०पु० [सं० उच्छिष्टास्थानं] मकान के बाहर ऐंठे बर्तन साफ करने का स्थान (क्षेत्रिय)

ऊंठचावड़ी—सं०स्त्री० [सं० उच्छिष्टत्तिका] व्यभिचारिणी स्त्री (क्षेत्रिय)

उ०—क्यूं रे मोल्या उंठ्यावड़ा बूझवा वाळौ कुण छै रे तूं, म्हांकी खुसी होसे जेंडे जावांगा हमेस।—ऊ.का. (पु० उंठचावड़ौ)

ऊंड—सं०स्त्री०—१ गहराई. २ वह नाली जो सिंचाई करने वाली मुख्य नाली से निकलती हो।

ऊंडळ—सं०स्त्री०—१ मोट (चरस) के ऊपर लगा हुआ लकड़ी का वह टुकड़ा जिससे रस्सा बांधा जाता है।

वि० वि०—देखो 'कड़तू' नं० (२) २ बैलगाड़ी में नीचे लगाया जाने वाला लकड़ी का डंडा. ३ गोद। उ०—जोध वळे गजांन रौ, भळे खवां कुळ भार। आभ सभा है ऊंडळे, दीठे दळे कनार।

—रा.रू.

ऊंडवण, ऊंडांत, ऊंडांयण, ऊंडांयत, ऊडापण, ऊडापणौ—उ०नि०—गहराई.. २ नीची भूमि। उ०—१ अवड़ी मायर न ऊडवण अवड़ी

वेलां वेलां परिहरइ, एकल्लां मारेह ।—ढो.मा. ५ उत्पन्न होना, बढ़ना । उ०—ऊकटै खार धरवेढ़ डिगिया, सार फाटै गयण मेळ सांधौ ।—अज्ञात

ऊकटणहार, हारौ (हारी), ऊकटणियौ—वि० ।

ऊकटिओड़ौ, ऊकटियोड़ौ, ऊकटयोड़ौ—भू०का०कृ० ।

ऊकटियोड़ौ—भू०का०कृ०—१ आगे बढ़ा हुआ. २ कसिया गया हुआ. ३ प्रहार हेतु शस्त्र उठाया हुआ. ४ सूखा हुआ. ५ उत्पन्न हुआ हुआ. ६ बढ़ा हुआ । (स्त्री० ऊकटियोड़ी)

ऊकठिणौ, ऊकठिवौ—क्रि०अ०—देखो 'उकढ़णौ, उकढ़वौ' (रू.भे.) उ०—उत्तर आज स वज्जियउ, ऊकठियइ केकांण । कांमिण कांम कमेड़ि ज्यउं, हइ लागउ सींचांण ।—ढो मा.

ऊकठियोड़ौ—भू०का०कृ०—देखो 'उकठियोड़ौ' । (स्त्री० ऊकठियोड़ी)

ऊकठौ—सं०पु०—ऊँट के चारजामे के साथ कसा जाने वाला चमड़े का फीता ।

ऊकडणौ, ऊकडवौ—क्रि०अ०—देखो 'उकढ़णौ' ।

ऊकडणहार, हारौ (हारी), ऊकडणियौ—वि० ।

ऊकडिओड़ौ, ऊकडियोड़ौ, ऊकडयोड़ौ—भू०का०कृ० ।

ऊकडियोड़ौ—भू०का०कृ०—देखो 'उकठियोड़ौ' । (स्त्री० ऊकडियोड़ी)

ऊकड़ौ, ऊकड़ौ—वि०—देखो 'उकडू' । उ०—आधौ अंग अकास ऊकड़ौ गै जळ पीवै । तिण रौ करतां ध्यांन नीर जे थूं घण पीवै ।—मेघ.

ऊकढ़णौ, ऊकढ़वौ—देखो 'उकढ़णौ, उकढ़वौ' ।

ऊकढ़ियोड़ौ—भू०का०कृ०—देखो 'उकढ़ियोड़ौ' । (स्त्री० ऊकढ़ियोड़ी)

ऊकतौ—वि०—१ कहने वाला, वर्णन करने वाला, रचने वाला. २ देखो 'उकतौ' ।

ऊकरड़—सं०स्त्री०—जबरदस्ती घँसने का भाव । उ०—ऊकरड़ एक एकां पड़ै ऊपरै, नारि संभार सै कंत नाया ।—राव जैतसी रौ गीत

ऊकरड़ी—सं०स्त्री०—देखो 'उकरड़ी' (रू.भे.)

ऊकरड़ीखत—सं०पु०—गाँव का वह पंचायती खत जिसमें गांव के किसी सामूहिक कार्य के लिये खर्च व हिसाब लिखा जाता है ।

ऊकरड़ौ—सं०पु०—देखो 'उकरड़ी' (पु० महत्त्व०) । उ०—रे ढांढां करि छोहड़ी, करइ करहां री कांणि । ऊकरड़ै डोका चुणे, सौ आप डंभायौ आंणि ।—ढो.मा.

ऊकळ—सं०पु०—देखो 'ऊखळी' ।

ऊकळणौ, ऊकळवौ—क्रि०अ०—देखो 'उकळणौ, उकळवौ' । उ०—रांम भरोसै ऊकळै, आदण ईसरदास । ऊकळता में औ रहै, राख बंदा विसवास ।—ह.र.

मुहा०—ऊकळता बूकणौ—त्वरा करना, शीघ्रता करना ।

ऊकलणौ, ऊकलवौ—देखो 'उकलणौ, उकलवौ' ।

ऊकस—सं०पु०—उकसने की क्रिया या भाव । उ०—विहुं थाट ऊकस वंधे वरकस, मरस जस कजि तरस साहस ।—रा.रू.

ऊकसणौ, ऊकसवौ—क्रि०अ०—देखो 'उकसणौ, उकसवौ' ।

उ०—चोटियाळी कूदै चौसठि चाचरि, घू ढळियै ऊकसै घड़ ।—वेलि.

ऊकसियोड़ौ—भू०का०कृ०—देखो 'उकसियोड़ौ' । (स्त्री० उकसियोड़ी)

ऊकाळणौ, ऊकाळवौ—क्रि०स०—देखो 'उकाळणौ, ऊकाळवौ' (रू.भे.)

ऊकाळियोड़ौ—वि०—देखो 'उकाळियोड़ौ' ।

ऊख—सं०पु० [सं० इक्षु] १ शर जाति की एक घास जिसके डंठलों में मीठा रस रहता है जिससे गुड़ और चीनी आदि पदार्थ बनाये जाते हैं, गन्ना (डि.को) उ०—वेळा सायर वसत, दारु मभि अगिनि दिखावत । हवसि मांभि पै होय, ऊख मधु रस उपजावत ।
—ईश्वरदास बारहठ

२ वन, जंगल (ह.नां.) ३ मादा पशुओं का स्तन । उ०—धेनूं चरतोड़ी धोरां खड़ धाती, ऊखां भरतोड़ी लोरां भड़ आती ।
—ऊ.का.

ऊखड़णौ, ऊखड़वौ—क्रि०अ०—देखो 'उखड़णौ, उखड़वौ' (रू.भे.) ।

ऊखड़ियोड़ौ—भू०का०कृ०—देखो 'उखड़ियोड़ौ' । (स्त्री० ऊखड़ियोड़ी)

ऊखणणौ, ऊखणवौ, ऊखणिणौ, ऊखणिवौ—देखो 'उखणणौ, उखणवौ' (रू.भे.)

ऊखणौ, ऊखवौ—क्रि.अ. सं०—१ उखड़ना । उ०—किलवां सोवा कंपिया, मिटी सलाह सताव । ज्यास विना जोधांण में, ऊखे सास नवाव । २ देखो 'उखणौ, उखवौ' । —रा.रू.

ऊखध, ऊखधी—सं०उ०लि ०[सं० औषधि] १ औषधि । उ०—नायण फूलमती नुं कही एक हूं ऊखध जाणां छां तैसुं तैनुं वोहोत सुख हुसी ।—चौबोली २ वनस्पती । उ०—पीळांणी धरा ऊखधी पाकी ।—वेलि.

ऊखमल—सं०पु०—१ युद्ध । उ०—गळ भरै न ग्रीधण गूढ़ गळां, अजमल रौ करै न ऊखमलां । अजमल रौ करसी ऊखमलां, गळ भरसी ग्रीधण गुद गळां ।—करणीदांन कवियौ २ योद्धा, वीर ।

ऊखरस—सं०पु०—गन्ने का रस । उ०—अदतारां घर ऊख रस, नंह कारण मिसठांण ।—बां.दा.

ऊखळ—सं०पु० [सं० उदूखल या ऊलूखल] पत्थर या लकड़ी का पृथ्वी में गड़ा हुआ अलग पात्र जिसमें डाल कर भूसी वाले अनाजों की भूसी मूसल से कूट कर अलग करते हैं । उ०—हरै सदा नवनीत हद, पर घर दही सूं प्यार । बोलै ऊखळ बांधियौ, मधुरा वचन मुरार ।—क.कु.बो.
कहा०—ऊखळ में माथौ दियौ धमीड़ां री कांई डर—ओखली में सिर दिया तो अब चोट का क्या डर । साहसपूर्वक किसी कार्य को करने का विचार ही कर लिया है तो उपस्थित होने वाली बाधाओं या होने वाली क्षति का क्या भय ।

ऊखलणौ, ऊखलवौ—क्रि०अ०—देखो 'उखड़णौ' । उ०—कल्पतरु ऊखलि पड़ै 'जसौ' महा धू जांम । माळां गाळां ठांम महि तिकौ न सूझै तांम ।—हा.झा.

ऊखळमेळौ—सं०पु०—१ युद्ध. २ उपद्रव, उत्पात । उ०—अवपतौ भीम कुमंत्री आंटै, विरड़ै तीजी वेळा । 'माधव' जिसा खिजाया माभी, मंडिया ऊखळमेळा ।—नवलजी लाळस

ऊंनी-वि०—१ ऊन का बना, ऊन का। उ०—राती कांनी री पोतड़ियां रूड़ी। ऊंनी लोवड़ियां बगलां में ऊड़ी।—ऊ.का. २ गर्म, उष्ण। उ०—सांम धरम धर सांच, चाकर जेही चालसी। ऊंनी ज्यांनै ग्रांच, रती न ग्रावै राजिया।—किरपारांम

सर्व०—उसकी।

क्रि०वि०—उस ओर।

ऊंनै, ऊंनै-सर्व०—उसको।

क्रि०वि०—१ इस ओर, इधर. २ उस ओर, उस तरफ। उ०—ऊंनै राव सेखा कौ सतेजौ लोग ग्रायौ। ऊंनै खेत खूटयां तीर गोड़ां सांकड़ायौ।—शि.वं.

ऊंनौ-वि०—गर्म, उष्ण। उ०—संत दास रौ हुयगौ सूंनौ, ग्रांतां पांणी पायौ ऊंनौ।—ऊ.का.

ऊंब-सं०पु०—वर्षा ऋतु के वे बादल जिनमें बहुत कम जल होता है तथा क्वचित ही बरसते हैं। इनकी गति पश्चिम से पूर्व की ओर तथा दक्षिण से उत्तर की ओर होती है। उ०—ऊंबां जळ वळ कायरां, विदरां कुज विवहार। नहीं दवां निरधूमतां, ज्यूं ग्रदवां उपगार।—बां.दा.

ऊंबर-सं०पु०—१ एक प्रकार का वृक्ष या उसका फल.

२ देखो 'उमराव'।

ऊंबरउ-सं०पु०—देखो 'उमराव'।

ऊंबरण-सं०पु०—सफेद तने का एक बड़ा वृक्ष जिसके फल तने व शाखाओं पर लगते हैं। फलों का आकार नीबू के समान होता है और स्वाद में मीठे होते है।

ऊंबरौ-सं०पु० [फा० उमराव] १ देखो 'उमराव'। उ०—ग्रत सग्यांन ऊधरां सुमति ऊंबरां समापै।—रा.रू. २ जोती हुई जमीन में हल से खींची हुई लकीर।

कहा०—चोरां नै ग्राडै ऊंबरै ली कै साउकार किसौ ऊवै ऊंबरै ग्रावसी—चोर को हल की आड़ी रेख पर भगाओ किन्तु साहूकार को कौनसी सीधी रेखा भागना होना; अगुआ अगर कोई टेढ़ा कार्य करता हो तो पीछे आने वालों को भी वैसा ही कष्ट उठाना पड़ेगा।

ऊंबां-लूंबां-सं०स्त्री०—वे फूंदे (धागों के गुच्छे) जो ऊंटों के बाजू में चारजामे में लटकाये जाते हैं। उ०—ऊंबां-लूंबां हूंत ग्रनेसी, तर भड़ वळी वहीरां तैसी। ओपै पंथ कतारां ऐसी, जळधारां नदी सांवण जैसी।—रा.रू.

ऊंबी-सं०स्त्री०—गेहूं की बाल।

ऊंमच-सं०स्त्री०—तपन, गर्मी, ताप, उष्णता।

ऊंमट-सं०पु०—पँवार वंश की एक शाखा।

ऊंमर-सं०पु०—१ उमर या उमरसूमरा नामक एक जाति जिसने संवत् ११११ से १४०६ तक सिंध देश में राज्य किया (डो.मा.)

२ उदुंबर, एक फल विशेष।

ऊंमी-सं०स्त्री०—देखो 'ऊंबी' (डि.को.)

ऊंहौ-वि०—उल्टा। उ०—तीं पछै ऊंळा हाथ री ग्रोभड़ सूं नाहरराज सिपाह वळी री सीस उड़ायौ।—वं.भा.

ऊंही-सर्व०—उसी। उ०—इण रीति मूढ़ स्रगाळ सिंह रा सहाय सूं गजराज नूं गुड़ाय ग्रापरै ही ग्रधीन जांणि ऊंही गजराज रौ लूम विभाग में सिंह नूं देण चहै।—वं.भा.

ऊंहु, ऊंहू-ग्रव्यय—निषेधसूचक शब्द, नहीं।

ऊ-सर्व०—१ वह। उ०—जगदंबा कहियौ चाहै जिमौ कष्ट करो भावना सुद्ध न होय जरै ऊ कस्ट मातंग रा न्हांण जिम व्रथा फळ बतावै।—वं.भा. २ उस।

सं०पु०—१ रक्षा. २ शिव. ३ ब्रह्मा. ४ मोक्ष. ५ चंद्रमा. ६ प्रधान. ७ पवन. ८ सूर्य. ९ पूर्ण निर्धनता, दारिद्रय. १० प्रेत. ११ अग्नि. १२ आकाश. १३ कुत्ता. १४ शेषनाग. १५ मुनि. १६ स्थल. १७ भाव।

वि०—१ मूर्ख. २ दातार. ३ सुखी. ४ व्यभिचारी. ५ लघु. (एका०)

ग्रव्यय—करण एवं अपादान कारक का विभक्ति चिन्ह, से।

उ०—ग्राप जिसा वीर रक्षक हुवा तौ ग्रव म्हे ऊ प्रदेस लेण रौ संकळप तजियौ।—वं.भा.

ऊग्रर-सं०पु० [सं० उरस्] हृदय। उ०—वाह दे तुरां चढ़ राह न सकै वहण। 'विजावत' मांडियौ भाखरै वास। पाय तखत दिलीपुर नयर कीजै पहट। साह रै ऊग्रर मावै नहीं सास।—सुखजी खिड़ियौ

ऊग्रह-क्रि०वि०—स्पर्श करते हुए, छूते हुए। उ०—काछि काछि वन कीधी काया। ऊलमि ग्रंव ऊग्रहं धर ग्राया।—ग्रासौ बारहठ

ऊग्रारणौ, ऊग्रारबौ-क्रि०स०—१ बचाना, रक्षा करना। उ०—ग्रदल लियौ बदलौ नकूं, राखै उधारी, राव यम मारियौ जांणजै रांण। केहरी जड़ी 'कांधळ' ऊग्रर कटारी, चूक मझ ऊग्रारी ग्रचड़ चउवांण।

—हररांम ग्रासियौ

२ न्यौछावर करना। उ०—लाखां द्रव ऊग्रारै उतारै लूण जड़ै लोहां।—पहाड़ खां ग्राढ़ौ

ऊग्रारणहार, हारौ (हारी), ऊग्रारणियौ-वि०—बचाने या रक्षा करने वाला।

ऊग्रारिग्रोड़ौ, ऊग्रारियोड़ौ, ऊग्रारयोड़ौ—भू०का०कृ०।

ऊग्रारियोड़ौ-भू०का०कृ०—बचाया या रक्षा किया हुआ।

(स्त्री० ऊग्रारियोड़ी)

ऊईज-सर्व०—वही।

ऊएलै-ग्रव्यय—इधर के। उ०—धरकियौ ग्रचळ हिंदू धरम ऊएलै पह ग्राज रा।—रा.रू.

ऊक-सं०पु०—बंदर (नां.मा.)

ऊकटणौ, ऊकटबौ, ऊकटिणौ, ऊकटिबौ-क्रि०स०—१ आगे बढ़ना। उ०—ग्रनेक ऊकटै मिटै कटै तुटै सु ग्रंग में।—रा.रू. २ कमिया जाना. ३ प्रहार हेतु शस्त्र उठाना। देखो 'उकटणौ' (रू.भे.) ४ सूख जाना। उ०—उत्तर ग्राज स उत्तरउ, ऊकटिया मारेह।

उ०—२ सांय तड़च्छा खांन, थारा भयसां भारग्ग। असुरांणी आगांन, अचवि विहूणा ऊगळै।—ला.रा.

ऊगळियोड़ौ–भू०का०कृ०—देखो 'उगळियोड़ौ'। (स्त्री० ऊगळियोड़ी)

ऊगवण–सं०पु०—पूर्व दिशा। उ०—बूंदी कोस ६५ तथा ७०, ऊगवण था क्यूंई डावे री दमोर दिना हद।—नैणसी

ऊगवणौ, ऊगवबौ, ऊगव्वणौ–क्रि०स०अ०—१ देखो 'ऊगणौ'. २ सँवारना। उ०—करी सनांन ऊगव्या वाळ, कंठि वरी तुळसी नी माळ। —कां.दे.प्र.

ऊगवणहार, हारौ (हारी), ऊगवणियौ–वि०—उगने वाला, सँवारने वाला।

ऊगवियोड़ौ, ऊगवियोड़ौ, ऊगव्योड़ौ—भू०का०कृ०।

ऊगारणौ, ऊगारबौ–क्रि०स०—बचाना, रक्षा करना। उ०—रहौ रहौ नइ लीधा घाउ, जीव ऊगारचा छांडी ठाउ।—कां.दे.प्र.

ऊगारणहार, हारौ (हारी), ऊगारणियौ–वि०—बचाने वाला।

ऊगारिओड़ौ, ऊगारियोड़ौ, ऊगारयोड़ौ–भू०का०कृ०—बचाया हुआ, रक्षित। (स्त्री० ऊगारियोडी)

ऊगाळणौ, ऊगाळबौ–क्रि०स०—देखो 'उगाळणौ, उगाळबौ'। उ०—तंत तणक्कड पिड पियड, करहउ ऊगाळेह।—ढो.मा.

ऊगाळियोड़ौ–भू०का०कृ०—देखो 'उगाळियोड़ौ' (स्त्री० ऊगाळियोड़ी)

ऊगूण, ऊगूणी, ऊगूणौ–सं०उ०लि०—१ पूर्व दिशा, सूर्योदय की दिशा. २ नवजात पौधे के पनपने के लक्षण।

वि०—पूर्व दिशा का, पूर्व दिशा सम्बन्धी।

ऊगेळ–सं०पु०—देखो 'उगेळ' (रू.भे.)

ऊगोड़ौ–भू०का०कृ० (स्त्री० ऊगोड़ी) देखो 'उगोड़ौ'।

ऊघड़–वि०—१ नग्न, खुला. २ स्पष्ट, खुलासा।

ऊघड़णौ, अघड़बौ–क्रि०अ०—देखो 'उघड़णौ, उघड़बौ'। उ०—ऐ बक मूनी ऊजळा, मीठा बोला मोर। पूछौ सफरी पनग नूं, क्रत ऊघड़ै कठोर।—वां.दा.

ऊघड़ियोड़ौ–भू०का०कृ०—देखो 'उघड़ियोड़ौ' (स्त्री० ऊघड़ियोड़ी)

ऊघसणौ, ऊघसबौ–क्रि०अ० [सं० उद्घर्षण] किसी वृक्ष या पत्थर आदि से पशु का शरीर घर्षण करना, रगड़ना, घिसटना।

ऊघसणहार, हारौ (हारी), ऊघसणियौ—वि०।

ऊघसिओड़ौ, ऊघसियोड़ौ, ऊगसयोड़ौ—भू०का०कृ०।

ऊघाई—देखो 'उगाही' (रू.भे.)

ऊघाड़—देखो 'उगाड़' (रू.भे.)

ऊघाड़णौ–वि०—१ खोलने वाला. २ आवरणरहित करने वाला. ३ काटने वाला। उ०—ऊंगै दिन अरियां कमळ ऊघाड़णौ।—अज्ञात

ऊघाड़णौ, ऊघाड़बौ–क्रि०स० [सं० उद्घाटन] १ खोलना, आवरण हटाना, नग्न करना। उ०—मुनि पालै तप जोग वळ, नरग कपाटां हत्थ। वेहीं क्रपण कपाट नूं, ऊघाड़ण असमत्थ।—वां.दा. २ प्रकट करना. ३ भंडा फोड़ना।

ऊघाड़णहार, हारौ (हारी), ऊघाड़णियौ–वि०—उघाड़ने वाला।

ऊघाड़िओड़ौ, ऊघाड़ियोड़ौ, ऊघाड़योड़ौ–भू०का०कृ०—उघाड़ा हुआ।

ऊघाड़ऊ, ऊघाड़ौ–वि०—१ नग्न, नंगा. २ खुला।

ऊघाड़ियोड़ौ–भू०का०कृ०—१ आवरणरहित किया हुआ, उघाड़ा हुआ. २ प्रकट किया हुआ। (स्त्री० ऊघाड़ियोड़ी)

ऊड़दावेगण–सं०स्त्री०—देखो 'उड़दावेगण' (रू.भे.)

ऊड़ी–वि०—१ ऐसी. २ वैसी। उ०—राती कांनी री पोतड़ियां रूडी, ऊनी लोवड़ियां वगलां में ऊड़ी।—ऊ.का. ३ समान, तुल्य।

ऊड़ीयंद–सं०पु० [सं० उडु+इंद] चंद्रमा।

ऊचडणौ, ऊचड़बौ–क्रि०स०—ऊँचा फेंकना, उछालना। उ०—ऊचड़िया जु ते मरण प्रव 'ईसर' खळ खीजिये चढावे खाग। गज दळ अेक वरण दिस गुड़िया, गज दळ अेक गया गैणाग।—ईसरदास मेड़तिया रौ गीत

ऊचरणौ, ऊचरबौ–क्रि०स० [सं० उच्चारण] कहना, उच्चारण करना (डि.को.)

उ०—वारवधू ही हरण वित, नेह जणावै नैण। यूं सिर लेवा ऊचरै, वैरी मीठा वैण।—वां.दा.

ऊचरणहार, हारौ (हारी), ऊचरणियौ–वि०—कहने या उच्चारण करने वाला।

ऊचारिओड़ौ, ऊचारियोड़ौ, ऊचारयोड़ौ—भू०का०कृ०।

ऊचारियोड़ौ–भू०का०कृ०—कहा हुआ, उच्चरित। (स्त्री० ऊचरियोड़ी)

ऊचवहौ–वि०—देखो 'ऊंचवहौ'। उ०—ऊचवहौ राईसिंघ अंगोभ्रम, आखै राजकुमार इम। तूठा दाळिद जड़ां न तोड़ै, रूठा किम ओड़िनै रिम।—रुपसी सांखला

ऊचांर–वि०—१ बड़ा. २ ऊँचा, श्रेष्ठ। उ०—आतस अपार ऊचांर जस गैलाइत तक्कै गळी।—रा.रू.

ऊचाळउ, ऊचाळौ–सं०पु०—देखो 'उछाळौ' (३) उ०—मारू थांकइ देसड़इ, एक न भाजइ रिड्ड। उचाळउ क अवरसणउ, कइ फाकउ कइ तिड्ड।—ढो.मा.

ऊचीस्रव, ऊचीस्रवा–सं०पु० [सं० उच्चैःश्रवा] १ इन्द्र (अ.मा.) (मि० श्रवश्रवा) २ इन्द्र का घोड़ा (नां.मा., डि.को.) ३ सूर्य का घोड़ा। उ०—गैण ऊचीस्रवा भांण खंचायौ अटैल ग्रीवां। वंका रु जटैल पाठ पढायौ वीरांण। ऊभटैल पटा काळौ नचायौ चांमंडा आळौ। पटैल वरयां मारू मचायौ पीठांण। —महेसदास कूंपावत रौ गीत

ऊचेड़णौ, ऊचेड़बौ–क्रि०स०—१ उखाड़ना, उखेलना। उ०—सिधू परइ मन जोअणे, नीची खिवइ निहल्ल। उर मेदंती सज्जणां, ऊचेड़ंती मल्ल।—ढो.मा. २ उभारना, ऊपर उठाना।

ऊचेड़ियोड़ौ–भू०का०कृ०—१ उखाड़ा हुआ. २ उभारा हुआ। (स्त्री० ऊचेड़ियोड़ी)

ऊचैस्रव–सं०पु० [सं० उच्चैःश्रवा] १ इन्द्र का घोड़ा. २ देखो 'ऊचीस्रवा' (रू.भे.)

ऊखळी–सं०स्त्री०—१ देखो 'ऊखळ' २ चूल का पत्थर या लोहे की चूल।

ऊखांणौ–सं०पु०—कहावत, उक्ति। उ०—१ सुणीजे ऊखांणौ पुरांणौ सयांणौ।—ना.द. उ०—२ गोलां सूं न सरै गरज, गोला जात जबून, ऊखांणौ सायद भरै, सौ गोलां घर सून।—वां.दा.

ऊखांखणौ–क्रि०अ०—कोप करना। उ०—ऊभौ दिली सीस ऊखांखै 'जगा' तणौ कसियां जरद। महलां तणा मरद अन महपत, मेवाड़ौ मरदां मरद।—जोगीदास कुंवारियौ

ऊखा–सं०स्त्री० [सं० उषा] १ सवेरा, अरुणोदय. २ बाणासुर की कन्या जो अनिरुद्ध को व्याही गई थी (वेलि.)

ऊखाड़णौ, ऊखाड़बौ–क्रि०स०—देखो 'उखाड़णौ, उखाड़बौ'।

ऊखाड़ियोड़ौ–भू०का०कृ०—देखो 'उखाड़ियोड़ौ'।
(स्त्री० ऊखाड़ियोड़ी)

ऊखेड़णौ, ऊखेड़बौ, ऊखेड़िणौ, ऊखेड़िबौ–क्रि०स०—देखो 'उखाड़णौ' उ०—एकां मूळ ऊखेड़िया, हेकां किया निहाल।—रा.रू.

ऊखेड़ियोड़ौ–भू०का०कृ०—देखो 'उखेड़ियोड़ौ'।
(स्त्री० 'उखेड़ियोड़ी')

ऊखेळ–सं०पु०—१ युद्ध, समर। उ०—अत दिन चूक रचै मेवाड़ां, यम हल हुऔ हुऔ ऊखेळ। रिड़मल तेथ कह्यौ रायां गुर, मन भुज वळां कटारी मेळ।—चांनण खिड़ियौ २ झगड़ा, उपद्रव।
उ०—दिल साजनां दुमेळ, नीच संग ओछी निजर, अति सबळां ऊखेळ, पैलां घर वांचै पिसण।—वां.दा.

ऊखेलणौ, ऊखेलबौ–क्रि०स०—देखो 'उखाड़णौ, उखाड़बौ'।
उ०—पुहपां मिसि एक एक मिसि पातां, खाड़िया द्रव मांडिया ऊखेल।—वेलि.

ऊखेलियोड़ौ–भू०का०कृ०—देखो 'उखाड़ियोड़ौ'। (स्त्री० उखेलियोड़ी)

ऊखेलो, ऊखेलौ–सं०पु०—युद्ध, समर। उ०—भूप अजीत रहै भौ भेळी, इण वळ टळै खळां ऊखेलौ।—रा.रू. देखो 'उखेलौ'

ऊखोवा–सं०पु०—राठौड़ वंस की एक उपशाखा।

ऊगड़णौ, ऊगड़बौ–क्रि०अ०—देखो 'ऊघड़णौ, ऊघड़बौ'।

ऊगड़ियोड़ौ–भू०का०कृ०—देखो 'ऊघड़ियोड़ौ'।

ऊगट–सं०पु०—उबटन, सुगंधित लेप। उ०—सखिए ऊगट मांजिणउ, खिजमति करइ अनंत। मारू तन मंडप रच्यउ, मिळण सुहावा कंत।—ढो.मा.

ऊगटणौ, ऊगटबौ–क्रि०अ०—१ देखो 'उगटणौ'।
[सं० उत्कृष्ट] २ उत्कृष्टता करना। उ०—करतां बहु कागद मुकता कर, कव बोहरौ यह अरज करै। खूबी करां ऊगटां खावां, सदा सबळ धुर गरज सरै।—गोगादांन

ऊगटियोड़ौ–भू०का०कृ०—देखो 'उगटियोड़ौ'। (स्त्री० ऊगटियोड़ी)

ऊगटौ, ऊगठौ–सं०पु०—ऊंट या घोड़े के चारजामे के तंग कसने का चमड़े का चौड़ा फीता, रकाब बांधने का चमड़े का फीता।

ऊगणौ, ऊगबौ–क्रि०अ०—१ उदय होना, निकलना, प्रकट होना।
उ०—सींगड़ियां ऊगण समै, वाछड़ुवां री बंक। खवर पड़ै धुर खेंचसी, औ तौ आडै अंक।—वां.दा.
कहा०—१ ऊगतां ही कौ तप्यौ नी जकौ आथमतां कांई तपसी—उगते ही नहीं तपा, वह अस्त होते क्या तपेगा; जो बचपन में ही प्रतापी नहीं हुआ वह बुढ़ापे में क्या होगा. २ ऊगतौ सूरज तपै—उगता हुआ सूर्य ही तपता है; बचपन में जो प्रतिभा दिखाते हैं वही प्रतिभावान होते हैं. ३ ऊगसी जकौ आथमसी—उगेगा वह अस्त होग; उन्नति के बाद अवनति आती ही है. ४ ऊगा सूर भागा भूर—सूर्य उदय हुआ और अंधेरा मिटा. ५ ऊगै सौ आथमे, जनमै सौ मर जाय—देखो 'ऊगसी जकौ आथमसी'. ६ ऊगौ'र पूगौ. ७ ऊगौ सोई पूगौ—उदय हुआ और अस्त को पहुँचा; शीतकाल के दिन के लिये।
२ अंकुरित होना, उपजना।
कहा०—ऊगतै धांन री पनोळ भी दीसै—उगते धान की पहिचान उसके अंकुरित पत्ते देखने से ही हो जाती है; होनहार के पहले से ही लक्षण मालूम हो जाते हैं।
३ नशा आना. ४ उत्पन्न होना।
ऊगणहार, हारौ (हारी), ऊगणियौ–वि०—उगने वाला।
ऊगाणौ, ऊगाबौ, ऊगावणौ, ऊगावबौ–स०रू०।
ऊगिओड़ौ, ऊगियोड़ौ, ऊग्योड़ौ—भू०का०कृ०।

ऊगत–सं०स्त्री०—१ उदय होने की क्रिया या भाव. २ देखो 'उगत'।

ऊगम–सं०स्त्री०—देखो 'उगम'।

ऊगमण–सं०स्त्री०—१ उदय। उ०—१ ऊगमण भलौ आदीत आळौ।—अज्ञात
उ०—२ 'पातल' हरा ऊपरा पराभव, खळ खूटा तूटा खड़ग। पंडवनांमी नीठ पाड़ियौ, लग ऊगमण नै आथमण लग।
२ पूर्व दिशा। —भीमसिंह सिसोदिया रौ गीत

ऊगमणियौ–वि०—उदय होने वाला, उगने वाला, पूर्व दिशा या पूर्व दिशा सम्बन्धी, पूर्व दिशा का निवासी।

ऊगमणौ–वि०—पूर्व दिशा सम्बन्धी।
सं०पु०—पूर्व दिशा।

ऊगमणौ, ऊगमबौ–क्रि०अ०—१ उगना, अंकुरित होना. २ उदय होना। उ०—१ उर नभ जितै न ऊगमै, औ संतोस अदीत। नर तिसना किसना निसा, मिटै इतै नह मीत।—वां.दा.
उ०—२ म्लेछां सरिसु भिड़िउ घण घाए, पड़िउ ऊगमतइ सूरि।—कां.दे प्र.
ऊगमणहार, हारौ (हारी) ऊगमणियौ–वि०—उगने वाला।
ऊगमिओड़ौ, ऊगमियोड़ौ, ऊगम्योड़ौ—भू०का०कृ०।

ऊगरणौ, ऊगरबौ–देखो 'उगरणौ, उगरबौ'।

ऊगळ–सं०स्त्री०—देखो 'उगळ'।

ऊगळणौ, ऊगळबौ–देखो 'उगळणौ'। उ०—१ गुण गंध ग्रहित गिळि गरळ ऊगळित, पवण वाद ए उभय पख।—वेलि.

२ प्रकाश, रोशनी। देखो 'उजासड़ौ' (रू.भे)

ऊजासह, ऊजासौ-सं०पु०—ऊजियाला, प्रकाश। उ०—सोळह कळा समाइ गयौ ससि, ऊजासहि आप आपणै।—वेलि.

ऊझ-सं०स्त्री०—आँतड़ियों का वह मल जो शव के चीरने पर निकलता है। उ०—सौ बूकड़ा काढ़ि वारै ग्रीजां मैं दीधा ग्रौर आंत ऊझ भेळा करि पेटी नेठी वांधि ऊपरि हथियार बांध्या।
—वीरमदे सोनगरा री वात

ऊझड़-सं०पु०—उवट, ऊँचा-नीचा, विकट मार्ग। उ०—ऊझड़ चले न पंडे जाय, भूखा रहे न धापि न खाय।—ह.पु.वा.

ऊझटैल-वि०—विखरी हुई जटा वाला। उ०—गैण ऊचीलवा भांण खंचायौ थटैल ग्रीधां, वंकारू जटैल पाठ वंचायौ वीरांण। ऊझटैल पटा काळो नचायौ चांमंडा ग्राळौ, पटैल वरुथां मारू मचायौ पीठांण।
—महेसदास कूंपावत री गीत

ऊझणउ, ऊझणौ-सं०पु०—पुत्री के द्विरागमन के अवसर पर दी जाने वाली धन-संपति-वस्त्रादि वस्तुएँ। देखो 'उझणौ' (रू.भे.)

ऊझणउ, ऊझणौ, ऊझवौ-क्रि०स०—देखो 'उजमणौ' (रू.भे.)

ऊझळ-वि० [सं० उज्ज्वल] देखो 'ऊजळ'।

सं०पु०—हिलोर, तरंग। उ०—संत तारण सतोळण अगु सहण री, महण री ऊझळ महरांण री मौज।—अज्ञात

ऊझळणौ, ऊझळवौ-क्रि०अ०—१ देखो 'उझळणौ, उझळवौ'।
उ०—पंथ निहारै पाहुणा, गीध विहारै गैण। अमल कचोळां ऊझळै, नींद विछोड़ै नैण।—वी.स. २ उमड़ना, उफनना। उ०—जटा जूट सिर वन पट झलै, अंग अघट रजट ऊझळै।—र.ज.प्र.

३ वृद्धिप्राप्त होना, बढ़ना। उ०—ज्यां ज्यां वळ ऊझळया, उद्धव त्यां त्यां चित आया।—ऊ. अगेंद्र

ऊझळियोड़ौ-भू०का०कृ०—देखो १ उझळियोड़ौ. २ उमड़ा हुआ. उफना हुआ. ३ वृद्धि प्राप्त किया हुआ।

ऊझारियौ-वि०—उज्वल। उ०—नळ जद निरखी मारवी, जांणे वियौ मयंक। ऊझारचौ अनीर अलि, कोई नहीं कळंक।—ढो.मा.

सं०पु०—प्रकाश, रोशनी, चमक।

ऊझाळ-सं०स्त्री०—समूह। उ०—अहांपति गरद ऊझाळ छायौ गरक, थंडंवर रतनाळ नाग लाल थायौ।—अज्ञात

ऊझेळ-सं०स्त्री०—१ देखो 'उझेल'। उ०—दिली साल सीसोदिया ढाल हिंदू दळां। ऊमैं वातां भली पढी अणठेल। खाँज री धारी अमर वीज वाळी खटक, 'अमर' री रीझ दरियाव री ऊझेळ।
—किसनो दुरसावत आढ़ौ

२ तूफान, अंधड़। उ०—रवि ऊगै साहावदी, त्यांन इनायत वेल। आसुर आयौ नेड़ियां, ज्यां सागर ऊझेळ।—रा.रू.

३ टक्कर, प्रहार। उ०—पत मेड़ता समर पतसाहां, अणियां मह दीजतां ऊझेळ। वीरमदेव आवतां वांसै, अन रावां पावियौ ऊवेल।
—वीरमदेव मेड़तिया री गीत

ऊझेळणौ, ऊझेळवौ-क्रि०अ०—१ आनंद की तरंग में आना।
उ०—खट ग्रन सीस मोटौ खत्री, इंद्र छोळां ऊझेळियौ।
२ दान देना। —वुधजी आसियौ

ऊटपटांग-वि०—१ अटपटा, टेढ़ा-मेढ़ा, वेढंगा. २ वेमेल. असंबद्ध।

ऊठ-सं०पु० [सं० उट] १ तृण, तिनका. २ ऊर्ण, पत्ता. ३ शक्ति, बल। उ०—सथ ऊठ नकीवां सरल सद्द, रवि उदय आद सभिया रवद्द।—रा.रू. [सं० उष्ट्र] ४ ऊँट।

सं०स्त्री०—५ उठने की क्रिया या भाव. ६ कान्ति, आभा।

ऊठणौ, ऊठवौ-क्रि०अ०—१ किसी पदार्थ, वस्तु या व्यक्ति के विस्तार के पहिले की अपेक्षा अधिक ऊँचाई तक पहुँचने की स्थिति या दशा को होना, ऊँचा होना. २ खड़ी स्थिति में होना।

कहा०—१ ऊठ वींद फेरा लै हाय रांम मौत दे—उठ दूल्हे फेरे ले, तो उत्तर देता है—हाय राम मौत दे; सब तैयारी लोगों ने करदी केवल फेरे लेना बाकी रहा पर आलसी दूल्हा यह भी आप नहीं करना चाहता; महा आलसी के लिये. २ ऊठाया कुत्ता कीती'क सिकार करै—उठाये हुए (अपने आप न उठे हुए) कुत्ते कितनी शिकार करते हैं? जिसके मन में उत्साह नहीं वह दूसरों के जबर-दस्ती खदेड़ने से क्या काम करेगा।

३ हटना. ४ जगना, विस्तर छोड़ना. ५ उदय होना.
६ ऊँचाई तक ऊपर बढ़ना या चढ़ना ऊपर जाना या चढ़ना.
७ आकाश में छा जाना. ८ कूदना, उछलना. ९ सहसा आरंभ होना. १० जानना. ११ निकलना. १२ उत्पन्न होना, पैदा होना. १३ चैतन्य होना. १४ तैयार होना, उद्यत होना. १५ उन्नति करना. १६ किसी अंक या चिन्ह का स्पष्ट होना, उभड़ना. १७ उफनना, पांस वनना, खमीर आना, सड़ कर उफनाना. १८ किसी दूकान या कार्यालय का कार्य-समय पूरा होना या उसका बंद होना. १९ टूट जाना. २ चल पड़ना, प्रस्थान करना. २१ किसी प्रथा का दूर होना. २२ खर्च होना, काम में आना. २३ बिकना या भाड़े पर जाना. २४ याद आना, ध्यान पर चढ़ना. २५ किसी वस्तु का क्रमशः जुड़ जुड़ कर पूरी ऊँचाई तक पहुँचना, बनना (इमारत) २६ खतम या समाप्त होना, चलन या प्रयोग बन्द होना. २७ जवान (युवा) होना.

कहा०—ऊठी (ऊठती) जवानी मंझा ढीला—उठती जवानी में कमर ढीली; यौवन आने पर भी जो निर्बल और निरुत्साही हो उसके लिए कही जाती है।

२८ बढ़ना, कामोद्दीपन होना. २९ तन्दुरुस्त होना. ३० फल निकलना. ३१ देख पड़ना. ३२ फैलना. ३३ खिचना.
३४ कटना. ३५ हिलना।

ऊठणहार, हारौ (हारी), ऊठणियौ-वि०—उठने वाला।

ऊठाणौ, ऊठावौ, ऊठावणौ, ऊठाववौ—स०रू०।

ऊठिओड़ौ, ऊठियोड़ौ, ऊठयोड़ौ—भू०का०कृ०।

ऊठीजणौ, ऊठीजवौ—भाव वा०।

ऊच्छकणौ, ऊच्छकवौ–क्रि०अ०—देखो 'उचकणौ, उचकवौ'।
उ०—काळ चाळ खळां सिर ऊच्छकियौ, उरसां सुजांणे रा ऊतरियौ।
—गो.रू.

ऊच्छरणौ, ऊच्छरबौ–क्रि०स०—देखो 'उछरणौ, उछरबौ'।

ऊच्छरांवर–वि०—योद्धा, युद्ध में वीर गति को पाने वाला।

ऊच्छरियोड़ौ–भू०का०कृ०—देखो 'उछरियोड़ौ'।
(स्त्री० ऊच्छरियोड़ी)

ऊच्छेरणौ, ऊच्छेरबौ–क्रि०स०—देखो 'उछेरणौ, उछेरबौ'।

ऊछजणौ, ऊछजबौ–क्रि०स०—प्रहार हेतु (शस्त्रादि) उठाना।
उ०—१ खग ऊछजिये अभंग सांखलौ, वदे कलावत वीर वर।
—महेसदास कल्यांणदासोत सांखला री गीत
उ०—२ छोह घणै ऊछज छरा, केहर फाड़ै डाच। ऐरावत कुळ ऊपरा, मीच मंडोजै नाच।—वां.दा.

ऊछटणौ, ऊछटबौ–क्रि०अ०—उछल या कट कर दूर पड़ना।
उ०—जिण नूं नवनीत रा पिंड री उपमांन भूत भेजी ऊछटी तिकौ ऊपर ही झेलि भद्रकाळी लोहित रूप आसव रा चसक रै साथ साथ उपदंस करि पीधी।—वं.भा.

ऊछरणौ, ऊछरबौ–क्रि०स०—देखो 'उछरणौ उछरबौ'।
उ०—आगै गयां सिकार ऊछरै, औ भी नांखै तुरंग उपाड़ि। ऊठी बाग पागड़ौ उचकै, नीचौ पड़ै तुड़ावै नाक।—कपूत री गीत

ऊछरियोड़ौ–भू०का०कृ०—देखो 'उछरियोड़ौ'। (स्त्री० ऊछरियोड़ी)

ऊछळणौ, ऊछळबौ–क्रि०अ० [सं० उच्छलन] देखो 'उछळणौ, उछळबौ'
उ०—घणी तरवारियां रा वाढ़ ऊछळै छै।—सूरै खींवे री वात

ऊछव–सं०पु०—देखो 'उछव'। उ०—पहिरावणी राजा करी। ऊछव गुडी भोज दुवारि।—बी.दे.

ऊछाछळ–वि०—चंचल, नटखट। उ०—म्रिघ ज्यौं कूदता, नट ज्यौं नाचता, कुलचता, अकुलणी रै नैण ज्यौं ऊछांछळा, आपरी छायां सूं डरपता।—रा.सा.सं.

ऊछाळौ–सं०पु०—देखो 'उछाळौ' (७) उ०—पिंगळ ऊछाळौ कियौ, आयौ पो'कर नीर। खड़ पांणी परघळ तिहां, हुवौ ज सुख सरीर।
—डो.मा.

ऊछाह–सं०पु०—देखो 'उछाह' (रू.भे.)

ऊछेर–सं०स्त्री०—संतति, संतान। उ०—कम हीमत कुळ काट, माझी मरण मलीण मत। कुळ ऊछेर कुवाट, पैलां घर वांछै पिसण।
—बां.दा.

ऊजड़–वि०—जनशून्य, निर्जन, उजाड़, वीरान। उ०—ऊंडा जळ सूकै अवस, नाळो वन जळ जाय। चुगल तणां पगफेर सूं, वसती ऊजड़ थाय।—बां.दा.
कहा०—ऊजड़ गांव में एरंडियौ ही रूंख—ऊजड़ गांव में एरंड ही पेड़ गिना जाता है। विशेष योग्यता वाले व्यक्तियों के अभाव में थोड़ी योग्यता वाले भी आदर पाते हैं।

ऊजड़णौ, ऊजड़बौ–क्रि०अ०—देखो 'उजड़णौ, उजड़बौ'।
उ०—जाण्यउं राउ धणउ अम्हे नडीउ, माहू देस घणु ऊजड़िउ।
—कां.दे.प्र.

ऊजड़ियोड़ौ–भू०का०कृ०—देखो 'उजड़ियोड़ौ'। (स्त्री० ऊजड़ियोड़ी)

ऊजड़ौ–वि० [सं० उज्जडन] देखो 'उजड़ौ'।

ऊजटैल–वि०—चंचल, तेज।

ऊजड–वि०—देखो 'उजड्ड'।

ऊजडपण, ऊजडपणौ–सं०पु०—देखो 'उजड्डपण'।

ऊजम–सं०पु० [सं० उद्यम] कार्य, प्रयत्न, उद्योग, प्रयास।

ऊजमणौ, ऊजमबौ–देखो 'उजमणौ, उजमबौ'।

ऊजमियोड़ौ–भू०का०कृ०—देखो 'उजमियोड़ौ'। (स्त्री० ऊजमियोड़ी)

ऊजळ–वि० [सं० उज्ज्वल] १ उज्ज्वल, सफेद। उ०—मारू मारू कळइयां, ऊजळ दंती नार।—ढो.मा. २ निर्मल, स्वच्छ. ३ पवित्र।
सं०पु०—भाला।

ऊजळईपाख–सं०पु० [सं० उज्ज्वल+पक्ष] शुक्ल पक्ष।

ऊजळणौ, ऊजळबौ–क्रि०स०—१ उज्वल करना. उ०—पड़ै धारां पाधरै मौत रळगी अमरां-पुरां, ऊजळै गी गोत बूंदी समरां आथांण।
—दुर्गादत्त बारहठ
२ कीर्तिवान करना. ३ उद्धार करना।
क्रि०स०—४ देखो 'उजळणौ'।

ऊजळदान–सं०पु० [सं० उज्ज्वल+दान] कमरों में ऊपर की ओर दीवारों में बने झरोखे, रोशनदान।

ऊजळाई–सं०स्त्री०—देखो 'उजळाई'।

ऊजळियौ–वि०—देखो 'ऊजळौ' (स्त्री० ऊजळी)

ऊजळीनदी–सं०स्त्री०—लूनी नदी का एक नाम।

ऊजळौ–वि० [सं० उज्ज्वल] देखो 'उजळौ' (स्त्री० ऊजळी)

ऊजळोलोह–सं०पु०—१ तलवार. २ तेज तलवार का ऐसा प्रहार कि तलवार के रक्त लगे ही नहीं। उ०—फोज रौ घेरौ राखि दोइ-हजार वीरां थी दहिया बळराज नूं सांम्हां झेलि ऊजळोलोह चलायौ।
—वं.भा.

ऊजवणौ, ऊजवबौ–देखो 'उजवणौ' (रू.भे.)

ऊजवाळौ–सं०पु०—उजियाला, प्रकाश, उजाला।

ऊजाड़णौ, ऊजाड़बौ–देखो 'उजाड़णौ, ऊजाड़बौ'।

ऊजाड़ियोड़ौ–भू०का०कृ०—देखो 'उजाड़ियोड़ौ' (स्त्री० ऊजाड़ियोड़ी)

ऊजाळगर–वि०—१ उज्वल करने वाला, चमकाने वाला. २ निष्कलंक करने वाला।

ऊजाळणौ, ऊजाळबौ–क्रि०स०—देखो 'उजाळणौ'।

ऊजाळियोड़ौ–भू०का०कृ०—देखो 'उजाळियोड़ौ' (स्त्री० ऊजाळियोड़ी)

ऊजास—देखो 'उजास'।

ऊजासड़उ–वि०—१ उजाड़, निर्जन, सुनसान। उ०—बळ मध्धड़ ऊजासड़उ, ये इण केहइ रंग। धण लीजइ प्री मारिजइ, छांडि विडांणउ संग।—ढो.मा.

ऊतावळी—देखो 'उतावळी' (रू.भे.)। उ०—आवै तू ऊतावळी, पावै दास पुकार। धारण गिर ज्यूं धांमियौ, वारण तारण वार।
—र.ज.प्र.

ऊतिम-वि० [सं० उत्तम] उत्तम, श्रेष्ठ।

ऊतोलणी, ऊतोलवौ—देखो 'उतोलणी, उतोलवौ'
उ०—निहंग ऊतोल भड़ राड़ रा नेजायता, सदा अड़पायता घाड़ सेरा।—अज्ञात

ऊतोलियोड़ौ-भू०का०कृ०—देखो 'उतोलियोड़ौ'। (स्त्री० ऊतोलियोड़ी)

ऊतोल-वि०—अधिक, भरपूर (रू.भे. 'ऊताल')

ऊत्तर-सं०पु०—देखो 'उत्तर' (रू.भे.) उ०—जैसा हरी भंगवाट न जांणों, ऊत्तर करैं न जांणे एक।—ईसरदास बारहठ

ऊथ-क्रि०वि०—वहां। उ०—तद रावळजी भालो घड़ायो—'एथ बैठा ऊथ वैरें थां'।—वीरमदे सोनगरा री वात

ऊथपणी, ऊथपवौ-क्रि०स०—१ मिटाना, नष्ट करना। उ०—साहां ऊथप थप्पणी, पह नरनाहां पत्त। राह दुहूं हद रक्खणी, 'अभैसाह' छत्रपत्त।—रा.रू. २ पराजित करना। उ०—दळ पैलां ऊथपे तेज ब्रह्मांहि उत्पपे, उत्तर दक्षिण पछिम पूरवता पांण पणप्पे।
—अज्ञात

३ उखाड़ना। उ०—वयण सगाई वेस, मिळ्यां सांच दोसण मिटै। किणयक समैं कवेस, थपियौ सगपण ऊथपैं।—र.रू.

ऊथपणहार, हारौ (हारी), ऊथपणियौ—वि०।

ऊथपिओड़ौ, ऊथपियोड़ौ, ऊथप्योड़ौ—भू०का०कृ०।

ऊथपियोड़ौ-भू०का०कृ०—मिटाया हुआ, नष्ट, पराजित किया हुआ, उखाड़ा हुआ। (स्त्री० ऊथपियोड़ी)

ऊथळणी, ऊथळवौ-क्रि०स०—उलटना, पलटना।
क्रि०अ०—देखो 'उथळणी'। उ०—घोरां घोरां घर धूधळ धुरधाई। थळ थळ ऊथळती वळती बुरकाई।—ऊ.का.

ऊथल-पथल, ऊथल-पुथल, ऊथल-पूथल-सं०स्त्री०—देखो 'उथल-पुथल'।
उ०—कूरमा विहूं रण पूठ अणफेर करि, रेण ऊथल-पथल हुती राखी।—पूरौ महियारियौ

ऊथापणी, ऊथापवौ-क्रि०स०—देखो 'उथापणी'। उ०—१ कइ अम्हे माय बाप नवि मान्या, वेद वचन ऊथाप्यां।—कां.दे.प्र.
उ०—२ दिल्ली ईस जिसा नरां नूं फेर ऊथाप देणी। दीनानाथ 'मेणी' वीस करां नूं आदेस।—नवलजी लाळस

ऊथापियोड़ौ-भू०का०कृ०—देखो 'उथापियोड़ौ'। (स्त्री० ऊथापियोड़ी)

ऊथालणी, ऊथालबौ-क्रि०स०—१ उथल-पुथल करना, उलटना, पलटना। उ०—सांम तणै बळ सूरमा, रिमां गिणैं तिल रज्ज। ऊथाले 'अजमाल' छळ, भाले प्रांण सकज्ज।—रा.रू.
२ पटकना, गिराना। उ०—दिखण ऊथाल जसराज जिसड़ा दुरस, प्रकासै लाल झंडा वरण पूर।—महाराजा मांनसिंह री गीत
३ मारना. ४ उखाड़ना।

ऊथालणहार, हारौ (हारी), ऊथालणियौ-वि०—उथल-पुथल करने वाला, उलटने वाला, पटकने या गिराने वाला, मारने वाला, उखाड़ने वाला।

ऊथालिओड़ौ, ऊथालियोड़ौ, ऊथाल्योड़ौ—भू०का०कृ०।

ऊथालियोड़ौ-भू०का०कृ०—१ उथल-पुथल किया हुआ, उलटा हुआ. २ पटका हुआ, गिराया हुआ. ३ मारा या उखाड़ा हुआ।
(स्त्री० ऊथालियोड़ी)

ऊथि-क्रि०वि०—वहाँ।

ऊथेड़णौ, ऊथेड़वौ-क्रि०स०—गिराना, पटकना, मारना। उ०—वैरायां ऊथेड़ण 'बीकै' हेक रचे पह सबळ हियौ। आये सीह तणी थह ऊपरि कुंजर चिहुं ओडीर कियौ।—राव बीका री गीत

ऊथेलणी, ऊथेलवौ—देखो 'ऊथालणी, ऊथालवौ' (रू.भे.)
उ०—अन जींद वदक उर छूरा मेल, अर कियौ गुड़द अणियां ऊथेल।—पा.प्र.

ऊथेलणहार, हारौ (हारी), ऊथेलणियौ—वि०।

ऊथेलिओड़ौ, ऊथेलियोड़ौ, ऊथेल्योड़ौ—भू०का०कृ०।

ऊथेल्योड़ौ-भू०का०कृ०—देखो 'ऊथालियोड़ौ'। (स्त्री० ऊथेलियोड़ी)

ऊद-सं०पु०—१ देखो 'ऊदविलाव' २ गाड़ी का वह मुख्य अंग जिस पर समस्त गाड़ी का वजन आधारित रहता है. ३ डोंडी पिटवाने की क्रिया, घोषणा (क्षेत्रिय)

ऊदक-सं०पु०—१ आतंक। उ०—चूण जे दुरंग फौजां लड़ंग हिक धकां। असुरची धरा मझ पड़ै नत ऊदकां।
२ जल। —रावत सारंगदेव (द्वितीय) कांनोड़ री गीत

ऊदण—देखो 'ऊद' (२)

ऊदविलाव-सं०पु०—नेवले से कुछ बड़ा एक जंतु जो जल और स्थल दोनों में रहता है।

ऊदमाद—देखो 'उदमाद'। उ०—मिटै मोह ऊदमाद, मिटै आसय ऊधमवळ।—पहाड़ खां आढ़ौ

ऊदल-सं०पु०—महोबा नरेश परमाल के एक वीर सामंत।

ऊदळणी, ऊदळवौ-क्रि०स० [सं० उद्दलनम्] माता-पिता की इच्छा के विपरीत वयस्क अविवाहिता कन्या का या पति के विरुद्ध विवाहिता युवती का किसी पुरुष के साथ प्रेम-जाल में पड़ कर उसके साथ भागना या पलायन करना।
कहा०—१ ऊदळी रे लारै दायजौ—किसी युवती के पर पुरुष के साथ भाग जाने पर उसके घर वालों की ओर से उसे पुनः लाने की कोशिश में या अपनी मान-मर्यादा की रक्षार्थ किया जाने वाला खर्च। किसी हानिप्रद व्यय या अनिच्छा के व्यय के पीछे और किया जाने वाला खर्च. २ ऊदळी नै देस रळियामणौ—अपने कुटुम्ब या पति को छोड़ पर-पुरुष के साथ प्रेम-जाल में पड़ कर उसके साथ भाग जाने वाली युवती को समस्त देश सुन्दर प्रतीत होता है। मर्यादाहीन व्यक्ति को किसी प्रतिबंध का भय नहीं।

ऊठतड़–सं०पु०—फुर्ती से उठने वाला, त्वरायुक्त काम करने वाला।

ऊठबैठ–सं०पु०—उठना, बैठना, संगति, साथ।

ऊठमणी, ऊठवणी–सं०स्त्री०—आक्रमण, हमला। उ०—पहिली तुरक तणी ऊठवणी, रणि वाउला विछूटा। घोड़े साट देई हींदूनी, फोज मांहि जइ फूटा।—कां.दे प्र.

ऊठांणौ, ऊठावण, ऊठावणौ–सं०पु०—१ मृत्यु के पश्चात् शांति हेतु किया जाने वाला एक संस्कार विशेष. २ अंतिम संस्कार के बारह दिन में बिछाई जाने वाली बिछायत (जिस पर श्रद्धांजलि हेतु विभिन्न आने वाले लोग बैठते हैं) को १२ दिन बाद उठाना।

ऊठियोड़ौ–भू०का०कृ०—उठा हुआ (स्त्री० ऊठियोड़ी)

ऊठी–सं०पु०—ऊँट पर सवार व्यक्ति। उ०—तरै ऊठी मुजरौ करि कागज हाथ दियौ नै अरज करिनै हाथ जोड़िनै कह्यौ।

—वीरमदे सोनगरा री वात

ऊडंगळ–सं०स्त्री०—तेज ध्वनि। उ०—हुई कोस ऊडंगळे जोस राता, घटा जांणि आसाढ़ गाजै निघाता। मुखै बांधि खोलै किता रोस मत्ता, अनेके अने जोस दाखै उमंता।—रा.रू.

ऊडंड–सं०पु०—घोड़ा, अश्व (डि.नां.मा.)

ऊडण–वि०—उडने वाला।

सं०पु०—वायुयान।

ऊडणखटोलड़ौ–सं०पु०—वायुयान, उड़नखटोला।

ऊडणभ्रमण–सं०पु०—एक रंग विशेष का घोड़ा।

ऊडणौ, ऊडवौ–क्रि०अ०—देखो 'उडणौ, उडवौ'।

ऊडवणौ, ऊडववौ–क्रि०अ०—प्रहार करना। उ०—ऊडवतौ गुरिज गुरिज भुज आवहि, सत्र-घड़ जाजरतौ सनढ़।

—ईसरदास मेड़तिया रौ गीत

ऊढ़–सं०स्त्री०—१ देखो 'ऊढ़ा'।

सं०पु०—२ विवाहित पुरुष, दूल्हा. ३ विवाहित किन्तु पर-स्त्री से प्रेम करने वाला नायक।

ऊढ़णौ, ऊढ़वौ–क्रि०स०—देखो 'ओढ़णौ'। उ०—विणा अंकुर हुआं धरती नीली दीसै लागी सु मानो प्रथमी नीला वस्त्र ऊढ़्या छै।

वेलि. टी.

ऊढ़ा–सं०स्त्री० [सं०] १ विवाहिता स्त्री, दुलहिन। उ०—वैरी वाड़ै वासड़ौ, सदा खणंकै खाग। हेली कै दिन पाहुणी, ऊढ़ा भाग सुहाग।

—वी.स.

२ विवाहिता किन्तु दूसरों के पति से प्रेम करने वाली नायिका।

ऊण–सर्व०—उस। उ०—वैरी तणा वखांण, सुण नह अंग छिपावसी। पेमां किया पमांण, औ जो है ऊण ओध रौ।—पा.प्र.

ऊणत–सं०स्त्री०—१ अभिलाषा, इच्छा। उ०—वीदग कुण मूंहगा कर वेठै, ऊणत नह मेटै नृप आंन।—जवांनजी आढ़ौ

२ अभाव, कमी, निर्धनता (पि.प्र.)

ऊणमनौ–वि० [सं० उन्मन] उदास, दुखित, खिन्न।

ऊणारत–सं०स्त्री०—देखो 'ऊणत' (१)

ऊणिया–सं०पु०—१ भाले की नोंक. २ हरावल।

ऊणियारौ, ऊणीयारौ–सं०पु०—१ आकृति, सूरत-शक्ल।

उ०—पाड़ै पख प्रसण जीवां रौ पूठी, ईखै जार वदन ऊणीयार।
किसन कहै सत सूरत केहा, नर केही ताय केही नार।

—तेजसी खिड़ियौ

ऊणीयाळौ–सं०पु०—सूरत-शक्ल, आकृति।

ऊणीहार, ऊणीहारौ–सं०पु०—सूरत-शक्ल, आकृति।

ऊणौ–वि० (स्त्री० ऊणी) १ उदासीन, खिन्न। उ०—हिरदै ऊणा होत, सिर ऊणा अकवर सदा। दिन दूणा टैसोत, पूणा व्है न प्रतापसी। [सं० उष्ण] २ गर्म, उष्ण। —दुरसौ आढ़ौ

अव्यय—का।

सं०पु०—देखो 'ऊंणौ'।

सर्व० (बहु० ऊणा) उसका। उ०—अर ऊणां रा विवाहण रौ लोभी अंत्यज जांनूं एकठा बुलाइ सरवस ही मारूं।—वं.भा.

ऊतंग–वि० [सं० उत्तुङ्ग] बहुत ऊँचा, उत्तुङ्ग।

ऊत–वि० [सं० अपुत्र] १ निःसंतान, निपूता। उ०—भीम ऊत गयौ। भीम पछै कल्यांणमल हरराजोत जैसलमेर रावळ हुवौ।

२ मूर्ख, उजड्ड। —बां.दा.ख्या.

सं०पु०—निसंतान मर कर पिंडादि न पाने से भूत होने वाला।

ऊतक्रस्ट–वि० [सं० उत्कृष्ट] उत्कृष्ट, श्रेष्ठ, पवित्र, उच्च।

ऊतक्रस्टता–सं०स्त्री० [सं० उत्कृष्ट+ता] उत्कृष्टता, श्रेष्ठता, पवित्रता. उच्चता।

ऊतक्रस्टौ–वि०—देखो 'ऊतक्रस्ट'।

ऊतर–सं०पु०—देखो 'उत्तर'।

ऊतरणौ, ऊतरवौ–क्रि०अ०—देखो 'उतरणौ, उतरवौ'। उ०—१ आगै सयणी जी मूंछाळै मालदेव रै ऊतरिया।—सयणी री वात

उ०—२ उमंग न अमंगळ मंगळ आठे, ईस न उतवंग उपगरियो। 'सांमा' तणौ सरीर सिगलड़ौ, आवध धारां ऊतरियौ।

—ईसरदास बारहठ

ऊतळीबल–वि० [सं० अतुल्य+बल] अतुल्य बलशाली, वीर, पराक्रमी।

ऊतारणौ, ऊतारवौ–क्रि०स०—देखो 'उतारणौ'। उ०—राय अंगणि रांणी फिरइ। उणी सोळहसइ रांणी कउ ऊतारचौ मांन।—बी.दे.

ऊतारौ–सं०पु०—देखो 'उतारौ'। उ०—१ सांघे सीरोही तणी, नांमी लिखमावास। राजा ऊतारौ कियौ, परगह सहित प्रकास।—रा.रू.

उ०—२ ऊतारौ तिणनै दीयो, कियो पंचांग पसाव। वळि पूछै तिणि भाट नै, कहि कोई दाव उपाव।—ढो.मा.

ऊताळ–वि०—अधिक, अत्यधिक।

ऊतावळि–सं०स्त्री०—देखो 'उतावळी'। उ०—ऊमर ऊतावळि करे, पल्लांणिया पवंग। खुरसांणी मूधा खयंग, चढ़िया दळ चतुरंग।

—ढो.मा

ऊधूल-वि०—वीर, उदार। उ०—चउंडराउ दिय ऊधूल चाउ, राउत्त आप हे आप राउ।—रा.ज.सी.

ऊधौ-सं०पु० [सं० उद्धव] श्रीकृष्ण के एक सखा, उद्धव।

कहा०—१ ऊधौ का लेणा न माधौ का देणा- स्वाधीन मनुष्य जिसे किसी का लेना-देना नहीं. २ ऊधौ का लेणा न माधौ का देणा मगन रहणा—किसी से कोई लेन-देन या व्यवहार नहीं रखने वाला बेपरवाह और सुखी रहता है।

ऊध्वनी-सं०स्त्री० [सं० उद्ध्वनि] ऊँची ध्वनि, तेज आवाज।

उ०—धिमिद्ध मिद्ध ऊध्वनी न सिंजनी सुनी नहीं।—ऊ.का.

ऊनंग-सं०पु०—नंगी। उ०—चढ़ ऊभा चंगां भीड़े अंगां आचे खग्गां ऊनंगां।—रा.रू.

ऊनंत-वि०—उन्नत, ऊँचा। उ०—बेटी राजाभोज की, ऊनंत पयोहर वाळी वेस।—वी.दे.

ऊन-सं०पु० [सं० उष्ण] १ जोश, आवेग, क्रोध. २ ज्वर, बुखार।

सं०स्त्री०—३ भेड़-बकरी के बाल।

कहा०—लरड़ी मायँ ऊन कुण भी कौ छोडँ नी—जिस पर अधिकार होता है उससे लाभ उठाने में कोई नहीं चूकता; गरीब या शोषित से शासक अधिक कर आदि वसूल करते हैं।

ऊनअघोड़ी-सं०स्त्री०—एक प्रकार का सरकारी कर जो भेड़ रखने वालों से ऊन व मरे हुए पशुओं के चमड़े पर वसूल किया जाता था।

ऊनकूळ-वि० [सं० अनुकूल] मुताबिक, सहायक, दयालु।

ऊनड़-सं०पु०—१ राठौड़ों की एक उपशाखा. २ भाटी वंश की एक शाखा।

ऊनणौ, ऊनबौ, ऊनमणौ ऊनमबौ-क्रि०अ०—बादल, घटा आदि का उमड़ना। उ०—१ स्रावण मासि ऊनया दीसइ, जेहवा काळा मेह। गयवर ठाठ चालंता दीसइ, जोतां नावइ छेह।—कां.दे.प्र.

उ०—२ ऊनमियउ उत्तर दिसइं, गाज्यउ गुहिर गंभीर। मारवणी प्रिउ संभरयउ, नयणे वूठउ नीर।—ढो.मा.

उ०—३ चहुं दिसि जळहर ऊनम्यौ, चमकी बीजळियांह।—जसराज

ऊनमियोड़ौ-भू०का०कृ०—उमड़ा हुआ। (स्त्री० ऊनमियोड़ी)

ऊनमत-वि०—देखो 'उनमत'।

ऊनरौ-सं०पु०—देखो 'ऊंदरौ' (रू.भे.)

ऊनली-वि०—उधर की, उस ओर की।

ऊनवणौ, उनवबौ—देखो 'ऊनमणौ, ऊनमबौ' (रू.भे.)

ऊनवियोड़ौ-भू०का०कृ०—देखो 'ऊनमियोड़ौ'। (स्त्री० उनवियोड़ी)

ऊनांगी-वि०स्त्री०—देखो 'ऊनंग' (रू.भे.) उ०—जोम गाडा वाळी अळै काळा री ऊनांगी जठै। वागी हाडावाळी नराताळा री वांगास।

—दुरगादत्त बारहठ

ऊनाम-सं०पु०—वह खेत जहाँ वर्षा के पानी से गेहूँ व चने आदि होते हों।

ऊनागणौ, ऊनागबौ-क्रि०स०अ०—१ म्यान से तलवार निकालना। उ०—खाग ऊनागियां खिवे माथे खळां, रांण रा दळां अगवांण नगराज।—राव घायभाई नगराज गूजर रौ गीत

२ नग्न होना, आवरणहीन होना।

ऊनागियोड़ौ-भू०का०कृ०—१ म्यान से निकाली हुई (तलवार) २ नग्न, आवरणहीन।

ऊनागौ-वि०पु० (स्त्री० ऊनागी) १ नग्न, आवरणहीन. २ बदमाश।

ऊनाळ-सं०पु० [सं० उष्ण+काल] १ उष्णकाल, ग्रीष्म ऋतु। उ०—आभूखणां हुई भळमां भायंती भांण ऊनाळ सी।

२ रबी की फसल। —जवांनजी आढ़ौ

ऊनाळू-वि०—देखो 'उनाळू' (रू.भे.)

ऊनाळौ-सं०पु० [सं० उष्ण+काल] ग्रीष्म ऋतु। उ०—औ ऊपर ऊनाळौ आयौ, दीन जनां दोरौ दरसायौ।—ऊ.का.

ऊनियौ-सं०पु० [सं० ऊर्ण] भेड़ का बच्चा, मेमना।

ऊनी-वि०—ऊन का बना, ऊनसम्बन्धी (रू.भे. ऊंनी)

ऊनोतरतातप-सं०पु०—क्रमशः प्रति दिन एक एक ग्रास भोजन घटाते जाने का जैनियों का एक व्रत।

ऊनौ-वि० [सं० उष्ण] गर्म, तपाया हुआ, उष्ण। उ०—उर जेज धरौ म करौ उरड़, ऊनौ तेज अगन्न रौ।—रा.रू. (रू.भे. 'ऊंनौ') (स्त्री० ऊनी)

ऊन्हा-क्रि०वि०—उस तरफ। उ०—जोवौ ऊन्हा 'जैतसी', लोह वहंती लागि। किनि व भूठी किमिरियौ, उहौ व्है वळती आग।—रा.ज. रासौ

ऊन्हाळइ, ऊन्हाळउ-सं०पु० [सं० उष्णकाल] देखो 'उन्हाळ'। उ०—कहिए माळवणी तणइ, रहियउ साल्ह विमास। ऊन्हाळउ ऊतारियउ, प्रगटचउ पावस मास।—ढो.मा.

ऊन्हाळागम-सं०पु० [उष्णकाल+आगम] ग्रीष्म ऋतु (डिं.को.)

ऊन्हाळौ, (ह)-सं०पु० [सं० उष्णकाल] १ उष्णकाल। देखो 'उन्हाळौ'। उ०—'ऊदा' धरती अधिया, आहव आध सिवाय। चाळै बावै सांम छळ, ज्यां ऊन्हाळै लाय।—रा.रू.

२ गर्मी का सूर्य।

ऊन्हौ-वि० [सं० उष्ण] गर्म, उष्ण। उ०—ऊन्हां डांभ दिवारिसी, डांभां थी मरि जाइ।—ढो.मा.

ऊप-वि० [सं० उपम अथवा उपमित] सदृश, समान। उ०—अंभीयन खंभ किरि थंभ ऊप, अनि भूप कोप बंधण अनूप।—रा.रू.

क्रि०वि०—ऊपर। उ०—मगत्तांणी सांगांणी सतारां हूंत आंणी सेना। तुरक्कांणी हिंदवांणी ऊप जैतसींग।

—ठाकुर जैतसिंह राठौड़ मेड़तिया रौ गीत

ऊपड़णौ, ऊपड़बौ-क्रि०अ०स०—१ उमड़ना। उ०—उत्तर आज स उत्तरइ, ऊपड़िया सी कोट। काय दहेसइ पोयणी, काय कुंवारा बोट।

—ढो.मा.

ऊदळवाळी–वि०स्त्री०—वह सयानी अविवाहिता कन्या या विवाहिता युवती जो पर-पुरुष के प्रेम में पड़ कर उसके साथ भागने को तैयार हो जाती है।

कहा०—१ ऊदळवाळी रांड वळींडे सांप बतावै—माता-पिता की इच्छा के विपरीत कोई वयस्क अविवाहिता कन्या या विवाहिता युवती पति के विरुद्ध किसी एरे-गैरे के प्रेम में पड़ कर घर छोड़ भागने को उद्यत अपने घर के छज्जे में सांप ही बताती है अर्थात् भागने के लिए अनेक बहाने बना देती है। दुष्ट व्यक्ति एनकेन प्रकारेण अपने कार्य की सिद्धि के लिये धोखा देने को तैयार रहता है।

ऊदाळ, ऊदाळू–वि०—उद्योगी, परिश्रमी।

उ०—वाताळू री विगड़ै नै ऊदाळू री सुधरै—अज्ञात

ऊदावत–सं०पु०—देखो 'उदावत'।

ऊदेई–सं०स्त्री०—देखो 'उदई' (रू.भे.)

ऊदोत–सं०पु०—देखो 'उदोत' (रू.भे.)

ऊदोसू–सं०पु०—एक प्रकार का शुभ रंग का घोड़ा (शा.हो.)

ऊद्रमणौ–क्रि०अ०—दौड़ना, भागना। उ०—अळगी ही नैड़ी की ऊद्रमते देठाळो हुम्रो दळां दुह।—वेलि.

ऊधंगी–सं०स्त्री०—उत्पात या कलहप्रिय।

ऊध–सं०पु० [सं० ऊधस] १ मादा पशुओं के दूध देने का अवयव, थन। उ०—१ घां घां गुड़गी खा ऊधां री घेरी, विस में जुड़गी आ दूधां री वेरी।—ऊ.का.

उ०—२ लाडी लाखीणी धारां धूंधाती, पीवर ऊधां री पारां पय पाती।—ऊ.का. २ देखो 'ऊद' (२)

सर्व०—उस।

ऊधड़णौ, ऊधड़बौ–क्रि०अ०—१ देखो 'उधड़णौ, उधड़बौ'.

२ कटना, मरना। उ०—धम जगर मातौ धूधड़े, असमरां घड़चा ऊधड़ै।—अज्ञात

ऊधड़ियोड़ौ–भू०का०कृ०—देखो 'उधड़ियोड़ौ'। (स्त्री० ऊधड़ियोड़ी)

ऊधड़ौ–वि०पु० (स्त्री० ऊधड़ी) १ बहुत, अधिक. २ सब, पूर्ण. ३ ठेका (काम या रुपयों का)।

क्रि०वि०—बिना हिसाब, बिना भाव-तौल के।

कहा०—इतरा ऊधड़ा मत चालौ—बेकार खर्च करने वालों को दी जाने वाली सीख।

ऊधम–सं०पु०—१ उपद्रव, उत्पात शैतानी। उ०—केई रजपूत बंदूकां री चोटां करै छै, घणौ ऊधम हुय रह्यौ छै।—द.दा.

२ युद्ध, लड़ाई। उ०—विण ग्रांठ रीठ उड़ड़ै विखम, हम तम ऊधम हैमरां। सक फौज कीध रुकां सहित, जांण क लंका बंदरां।—रा.रू.

[सं० उद्यम] ३ परिश्रम, उद्योग। उ०—ऊधम करौ अनेक अथवा अण ऊधम रहौ। होसी नहचै हेक, रांम करै सौ राजिया।

—किरपारांम

ऊधमणौ–वि०—१ आमोद-प्रमोद या दानादि में धन खर्च करने वाला।

उ०—असमर समर अघी ऊधमणौ, मनड़ै अणै नथी अहमेव। वर्णं प्रथी साभाव 'जवाना', भागीरथी तणी जळ भेव।

—जसजी आढ़ौ

ऊधमणौ, ऊधमबौ–क्रि०स० [सं० उर्धमनन] १ दान करना।

उ०—सती वळै जूझै सुभट, करै ग्रंथ कविराज। दाता माया ऊधमै, नांम उबारण काज।—बां.दा.

२ आमोद-प्रमोद हेतु खूब खर्च करना। उ०—जिकां भलां धन जोड़ियौ, ऊधमियौ निज आच। कीरत पौहरै करन रै, बीदग ऊठै वाच।—बां.दा. ३ शुभाशुभ कर्मों के फलों के लिए दान करना।

उ०—उमगे दांन ऊधमै आचां, रांम रांम मुख हूंत रटै।—र.रू.

४ बहादुरी दिखाना। उ०—आप सरखा कमंध सेल मुंह ऊधमै, जोड़ चाहै खड़ग भीच जाकौ, 'पाल' रै ऊपरा काढियौ पागड़ौ, हचे जोगणपुरा करै हाकौ।—अज्ञात

ऊधमणहार, हारौ (हारी), ऊधमणियौ—वि०।

ऊधमा–सं०पु०—जलसा, मौज, आनंद।

ऊधमी–वि०—उधम करने वाला, उपद्रवी, उत्पाती।

ऊधरण, ऊधरणौ–वि०—१ उद्धार पाने वाला. २ उद्धार करने वाला।

उ०—मरम तैं झालियौ मेटि पंडर मतौ, मछर तैं राखियौ तखत कुळ-मौड़। धन आंगी गमण 'गंग' कुळ ऊधरण, रोम कस सकस धन राव राठौड़।—राव चंद्रसेण राठौड़ रौ गीत

ऊधरणौ, ऊधरबौ–क्रि०अ०—१ देखो 'उधरणौ' २ उन्नत होना।

उ०—नीची न्यातां रा ऊंचा ऊधरिया, ऊंची जातां रा नीचा ऊतरिया।—ऊ.का. ३ वीर गति प्राप्त होना।

उ०—असुरां रोळ चोळ व्रन अवध आवध, गहि आतम अरिया। आवध ध्रम धरती ऊदावत, धावध धारै ऊधरिया।

—महारांणा प्रतापसिंह रौ गीत

ऊधरौ, ऊधरौ–वि०—१ ऊँचा, उत्तुंग। उ०—अई चीत गढ़ ऊधरा, सकळ गढां सिरताज। तूं जूनौ परणै नवी, असुरां री अफवाज।

—बां.दा.

२ उत्कट, उन्नत। उ०—आया बाला ऊधरा, भाला झाल अभंग। रण पव्वै 'तेजै' जिसा, करंण फतै रण जंग।—रा.रू.

३ दानशील, दानी, उदार. ४ बड़ा, श्रेष्ठ. उ०—अरज मांन अजमाल स्वाल सुण कांन सबंधां, धरौ विखौ ऊधरौ करौ जिन ढाल कमंधां।—रा.रू. ५ सरल, सीधा, अनुकूल।

सं०पु०—मस्तिष्क ऊपर उठाये हुए चलने वाला बैल।

ऊधस–वि० [सं० उर्ध्व] ऊँचा, उर्ध्व, उच्च। उ०—अरस लगि पड़ि निहस ऊधस, सूर अदरस घूम सपरस।—रा.रू.

सं०पु० [सं० ऊधस्यं] १ दूध (अ.मा., डि.को.)

[सं०स्त्री०] २ सूखी खांसी. देखो उधार (रू.भे.)

ऊधारियौ–सं०पु०—उधार लेने या देने वाला। उ०—ऊमर लग ऊधार री, बांण न छोडै बत्त। जोर फिरावै जाचकां, ऊधारियौ अदत्त।

—बां.दा.

ऊपराऊपरी-क्रि०वि०—लगातार, एक के ऊपर एक। उ०—ग्रोयी ऊपर ऊपरा, सुणी खबर सुरतांण। उर अकुळाय पटक्कियौ, सीस खुदाय कुरांण।—रा.रू.

ऊपरवाड़-वि०—बढ़िया, श्रेष्ठ।

ऊपरि, ऊपरी-वि०—१ ऊपर का, ऊपर। उ०—पगि पगि पउळि पउळि हस्ती की गज-घटा, तीं ऊपरि सात-सात सइ धनक-धर सांवटा।—वचनिका अचळदास खीची. २ बाहरी, नुमाइशी, दिखावटी. ३ विदेशी, पराया।

सं०स्त्री०—मदद, सहायता। उ०—तुझ वीनवूं आदि योगिनी, पाछां कटक आंणि तूं अनी। हमीरराय नी परि आदरूं, नांम अम्हारउं ऊपरि करउं।—कां.दे.प्र.

ऊपरे, ऊपरै-क्रि०वि०—ऊपर, पर।

ऊपळी-सं०स्त्री०—१ बैलगाड़ी में मुख्य भाग चोड़े तख्ते के नीचे लगाये जाने वाले लकड़ी के बड़े दो डंडों में से एक जिस पर गाड़ी का चौड़ा तख्ता टिका हुआ रहता है. २ खाट में लगाया हुआ छोटे वाला डंडा. ३ स्थान विशेष का चौड़ा भाग (रू.भे.)

ऊपळौ-सं०पु०—किसी वस्तु या चारपाई की चौड़ाई वाली पाटी।

ऊपल्हांणौ-वि०—बिना जीन या चारजामा वाला ऊँट या घोड़ा।

उ०—चिहुं गमे ऊपल्हांणा धाया, पातिसाह फुरमांणि। रांणा राय मलिक मुडोवा, खांन बोलावी आंणइ।—कां.दे.प्र.

ऊपहरौ-वि०—विशेष, अधिक। उ०—तेहे घोड़े किस्या किस्या खित्री चढिया। पंचवीस वरस ऊपहारा।—कां.दे.प्र.

ऊपांत-वि० [सं० उपांत्य] अंत वाले के समीप का, अन्तिम से पहिले का।

ऊपांततित्थी-सं०स्त्री०यौ० [सं० उपान्त्य तिथि] मास की अन्तिम तिथि से पहिले की तिथि चतुर्दशी, चौदस। उ०—तिके भादवी माह ऊपांततित्थी, पड़ै माय रै पाय प्रयीप प्रत्थी।—मे म.

ऊपांन-वि०—क्रुद्ध, कुपित। उ०—ग्रर जद म्हाराजा ऊपांन हुई तद ए तीन्हे म्हारा छै।—चौबोली

ऊपाड़-सं०पु०—१ नाश. २ सूजन. ३ फोड़ा. ४ खर्च।

ऊपाड़णौ, ऊपाड़बौ—देखो 'उपाड़णौ, उपाड़बौ'।

उ०—बटपाड़ां घरपाड़ां वाळी, आभ जड़ां नांखै ऊपाड़। कोय न गांज सकै कनियांणी, भीभणियाळ तुहाळा भाड़।—वां.दा.

ऊपाड़ियोड़ौ-भू०का०कृ०—देखो 'उपाड़ियोड़ौ'। (स्त्री० ऊपाड़ियोड़ी)

ऊपाड़ौ—देखो 'उपाड़ौ' (रू.भे.)

ऊपाधिया-सं०पु०—एक ब्राह्मण जाति विशेष।

ऊपाव-सं०पु०—देखो 'उपाय'। उ०—वळि पूछै तिणि भाट नै, कहि कोई दाव ऊपाव।—ढो.मा.

ऊपावणौ, ऊपावबौ—देखो 'उपावणौ, उपावबौ'। उ०—सम्भीलण जग करण नवळ दैतां संघारण। नव्व नाथनिमधियण त्रिविध लोकां ऊपावण।—ज.खि.

ऊपावियोड़ौ-भू०का०कृ०—देखो 'उपावियोड़ौ'। (स्त्री० ऊपावियोड़ी)

ऊप्रवट—देखो 'उप्रवट' (रू.भे.)

ऊफणणौ, ऊफणबौ-क्रि०अ० [सं० उत्फणन] १ उबलना, उफान आना, उबल उठना. २ अनाज को हवा में उछाल कर साफ करना, फेन देना। उ०—ऊफणी आडै छाज कठैक ? उरसां सुगनचिड़ी री पांख।—सांझ ३ उमड़ना। उ०—खणिया न होइ नाडां खटै, ऊफणिया हाडां उदधि।—वं.भा. ४ जोश में आना. उ०—नथी रजोगुण ज्यां नरां, वां पूरी न उफांण। वे भी सुणतां ऊफणै, पूरा वीर प्रमांण।—वी.स. ५ क्रोध करना।

उ०—अति अंबु कोपि कंवर ऊफणियौ, वरसाळू वाहला करि।
—वेलि.

ऊफणणहार, हारौ (हारी), ऊफणणियौ—वि०।

ऊफणाणौ, ऊफणावौ—क्रि०स० (प्रे रू.)

ऊफणिओड़ौ, ऊफणियोड़ौ, ऊफण्योड़ौ—भू०का०कृ०।

ऊफणाणौ, ऊफणावौ-क्रि०स० (प्रे०रू०) १ उफनने के लिए प्रेरित करना।

क्रि०अ०—२ अगाड़ी बढ़ना। उ०—नारवंकां देवा निगळि अग्गे ऊफणाया। इत नरउर नृप के सचिव चाळुक चंपाया।—वं.भा.

ऊफणियोड़ौ-भू०का०कृ०—१ उबला हुआ, उफान आया हुआ. २ अनाज को हवा में उछाल कर साफ किया हुआ. ३ जोश में आया हुआ. ४ क्रोध किया हुआ। (स्त्री० ऊफणियोड़ी)

ऊफतणौ, ऊफतबौ-क्रि०अ०—तंग होना, हैरान होना, उकताना।

ऊफतणहार, हारौ (हारी), ऊफतणियौ—वि०।

ऊफतिओड़ौ, ऊफतियोड़ौ, ऊफत्योड़ौ—भू०का०कृ०।

ऊफतियोड़ौ-भू०का०कृ०—तंग या हैरान हुआ। (स्त्री० ऊफतियोड़ी)

ऊफरांठउ-वि०—देखो 'उपरांठउ'। उ०—बांधव पुत्र कळत्र, धन यौवन जांणे माया जाळ। जिणि दिनि हुइ दैव ऊफरांठउ, तिणि दिनि सहूइ आळ।—कां.दे.प्र.

ऊबंध, ऊबंधी-वि० [सं० उद्बंधन] १ बंधनरहित, मर्यादा तोड़ने वाला, उदण्ड। उ०—१ सितर खांन सकबंध, कटक अनमंध छिलै कर। असपत हद सांमंद, कीध ऊबंध परमेसर।—रा.रू.

उ०—२ 'सूजे' घर 'बाघौ' सकबंधी, बांधे पाय किया ऊबंधी।
—रा रू.

२ अपार, असीम। उ०—लखि फौज तुंग लड़ंग ऊबंध किर दधि अंग।—रा.रू.

ऊबंबर, ऊबंबरी, ऊबंबरौ-वि०—१ देखो 'उबंबर, उबंबरौ'। २ शक्तिशाली, समर्थ। उ०—आच फरस ओपंत, विघन बन हत ऊबंबर।—र.ज.प्र. ३ ओजस्वी, कांतिवान।

ऊब-सं०स्त्री०—१ कुछ समय तक एक ही दशा में रहने से चित्त की खिन्नता, उचाट. २ उद्वेग, घबराहट, आकुलता. ३ देखो 'ऊंब' ४ लगातार न्यून मात्रा में बरसने वाले वे बादल

२ उन्मूलन होना. ३ उठना, उभरना, निशान पड़ना, सूजन होना. ४ वापस उठना, उठना। उ०—पूरा घावां ऊपड़े, जुध सिरदार जवन्न। 'कांन्ह' हरी साकौ कियौ, उजवाळियौ उतन्न।—रा रू.
५ भार उठाना. ६ दौड़ना, तेज भागना। उ०—वागां ऊपड़ै विखमी वार वड़कै आकास घर। खरौ खेघ वाजी खरा वहसै दुवाह। —जगौ सांदू
७ व्यय होना, खर्च होना. ८ शब्दोच्चारण होना, बोलना।
उ०—ज्यांरी जीभ न ऊपड़े, सेणां मांही सेत। वांरा कर किम ऊपड़ै, खळां फिरचां रणखेत।—वां.दा.

ऊपड़णहार, हारौ (हारी), ऊपड़णियौ—वि०।

ऊपड़ाणौ, ऊपड़ाबौ, ऊपड़ावणौ, ऊपड़ाववौ—स०रू०।

ऊपड़िश्रोड़ौ, ऊपड़ियोड़ौ, ऊपड़्योड़ौ—भू०का०कृ०।

ऊपड़ियोड़ौ—भू०का०कृ०—१ उमड़ा हुआ. २ उन्मूलित. ३ उठा या उभरा हुआ, सूजा हुआ. ४ वापस उठा हुआ. ५ भार उठाया हुआ. ६ दौड़ा हुआ. ७ खर्च किया हुआ ८ शब्दोच्चारण किया हुआ। (स्त्री० ऊपड़ियोड़ी)

ऊपजणौ, ऊपजबौ—[सं० उत्पद्यते, पा० उप्पज्जइ] देखो 'उपजणौ'। उ०—परंतु मीणां रै ठाकुरपणौ रहियां तौ रजोगुण रा छक को न्हास ऊपजियौ।—वं.भा.

ऊपजस—सं०पु० [सं० अपयश] अपकीर्ति, निन्दा, अपयश (रू.भे. उपजस)

ऊपजाणौ,ऊपजावौ—क्रि०स०—देखो 'उपजाणौ, उपजावौ' (रू.भे.)

ऊपटणौ, ऊपटबौ—क्रि०अ०—१ देखो 'उपटणौ, उपटबौ'।
उ०—कुळ भ्रात मंत्री सुत कटे, उर क्रोध रांवण ऊपटे।—र.रू.
२ बढ़ना, वृद्धि होना। उ०—हटियौ वळ हिंदवांण, ऊपटियौ वळ आसुरां।—ला.रा.

ऊपटियोड़ौ—भू०का०कृ०—१ बढ़ा हुआ, वृद्धि पाया हुआ. २ देखो 'उपटियोड़ौ'। (स्त्री० ऊपटियोड़ी)

ऊपणणौ, ऊपणबौ—देखो 'ऊफणणौ, ऊफणबौ'।

ऊपणियोड़ौ—भू०का०कृ०—देखो 'ऊफणियोड़ौ'। (स्त्री० ऊपणियोड़ी)

ऊपनणौ, ऊपनबौ—क्रि०अ०स०—१ उत्पन्न होना, पैदा होना।
उ०—१ एक वरग में ऊपना, सूंम कहै इकसार। दोलत हरै दकारियौ, दोलत थंभ नकार।—वां.दा.
उ०—२ गजटलां गाहिजै छै, वीरा रस ऊपनौ छै।—रा.सा.सं.
२ उपार्जन करना, पैदा करना। उ०—घोड़ी वेची लाख लाख ऊपना, वैठा साहिवी कीजै छै।—चौवोली

ऊपनणहार, हारौ (हारी), ऊपनणियौ—वि०—उत्पन्न होने वाला, उत्पन्न करने वाला।

ऊपनिश्रोड़ौ, ऊपनियोड़ौ, ऊपन्योड़ौ—भू०का०कृ०।

ऊपनियोड़ौ—भू०का०कृ०—१ पैदा हुआ. २ पैदा किया हुआ, उपार्जित (स्त्री० ऊपनियोड़ी)

ऊपनौ, ऊवनौ—सं०पु०—माल के विक्रय की आय।
वि० (स्त्री० ऊपनी) जन्म लेने वाला, उत्पन्न होने वाला।

ऊपर—क्रि०वि० [सं० उपरि] १ ऊँचाई पर या ऊंचे स्थान पर. २ आकाश की ओर. ३ आधार या सहारे पर. ४ उच्च श्रेणी पर. ५ प्रकट में, देखने में।
कहा०—ऊपर माळा मांय कुदाळी—ऊपर से सज्जन भीतर हृदय में दुष्ट।
६ तट पर. ७ अतिरिक्त. ८ परे. ९ प्रतिकूल।
सं०स्त्री०—१ सहायता, मदद, रक्षा। उ०—सहि कूरम जैसाह सूं, मिळिया आय प्रयंम। ऊपर देख अजीत रौ, आलम लेख नरंम।
२ दया, कृपा, मेहरबानी। —रा.रू.
वि०—१ अधिक, ज्यादा। उ०—केई खोखर जागीरदार आदमी डेढ़ सौ सूं ऊपर कांम आया।—सूरे खींवे री वात
२ प्रथम, पहले।

ऊपरछूंटली, ऊपरछूंटौ—वि० उ०लिं०—ऊपर की, अतिरिक्त।

ऊपरट—वि०—विशेष, अधिक। उ०—राखण साथ भड़ां रवताळा, ऊपरट खग चाळा आचार।—माधोसिंह सीसादिया रौ गीत

ऊपरणी—सं०स्त्री०—१ पगड़ी के ऊपर बांधी जाने वाली वस्त्र की कम चौड़ी पट्टी. २ आबू के पास का एक प्रदेश (नैणसी)

ऊपरतळै—क्रि०वि०—लगातार, एक के ऊपर एक।

ऊपरनेत, ऊपरनैत—सं०स्त्री०—वह भेंट या धन जो इष्ट-मित्र, संबंधी आदि के यहां शुभ या अशुभ कार्य में सम्मिलित होने का निमंत्रण पाकर उसके यहां भेजा जाता है उसे 'नैत' कहते हैं किन्तु इसके बदले में निमन्त्रणकर्त्ता के यहां मौका पड़ने पर अगर इससे कुछ अधिक धन या भेंट वापस भेजा जाता है तो वह अतिरिक्त धन 'ऊपर नैत' कहलाता है।

ऊपरळीपुळ, ऊपरळीरुत—सं०स्त्री०—१ वर्षा ऋतु. २ वर्षा ऋतु के पहले या बाद का समय. ३ दैनिक अवसर।

ऊपरलौ—वि० १ (स्त्री० ऊपरली) १ ऊपर का। उ०—नारी दास अनाथ, पण माथे चढ़ियां पछे। हिय ऊपरलौ हाथ, राळचौ न जावै राजिया।—किरपारांम
मुहा०—ऊपरलौ जांणै—ईश्वर ही जानता है।
२ बलवान (अमरत)

ऊपरवट—सं०पु०—१ दोनों पक्षों में से एक पक्ष।
सं०स्त्री०—२ अधिकता।
क्रि०वि०—बढ़ कर।

ऊपरवाड़ी—सं०स्त्री०—देखो 'उपरमाड़ी'।

ऊपरवाड़ौ—सं०पु०—१ देखो 'उपरवाड़ौ' २ मकान आदि का पृष्ट भाग। उ०—ऊपरवाड़े हेलौ मारियौ थे जागौ महाजन लोग श्रो। —लो.गा.

ऊपरसांपर—सं०स्त्री०—१ निगरानी. २ मदद, सहायता।

ऊपरांठौ—देखो 'उपरांठौ'।

ऊवांणो, ऊवांणौ—देखो 'उवांणौ' (रू.भे.) उ०—चतुर फतौ माभी चहुवांणां, ग्राहवि लड़ण खगां ऊवांणौ।—रा.रू.

ऊवांवर, ऊवांवरौ–वि० [सं० उपांवर] १ वलवान, साहसी, शक्तिशाली (डिं.को.)

(मि० उवंवर, उवंवरौ–रू.भे.) उ०—१ विरद वारियां भुजां भड़ लियां ऊवांवरां। हुवै खळ ढाल पाखर जड़े हेमरां।

—रावत सारंगदेव (द्वितीय) कानौड़ री गीत

उ०—२ फजर वाग वूंतां गजर वंद कटकां फरा, साकुरां त्यार त्यारां फरै नांतरा, ग्राज तरवारियां पाण ऊवांवरा, धणी रतळांम वळवंत भोगे धरा।—जवांनजी ग्राढौ

ऊवाऊव–क्रि०वि०—१ खड़े खड़े. २ ग्रचानक, यकायक।

ऊवाड़णो, ऊवाड़बौ–क्रि०स० [सं० उत्पादन] १ उखेड़ना, उन्मूलन करना।

उ०—वांना ग्रंग धारणा भू जाहरां करेगो वातां, उधरेगी हाथा दंत वारणा ऊवाड़।—सूरजमल मीसण २ खड़ा करना।

ऊवाड़णहार, हारौ (हारी), ऊवाड़णियो–वि०—उखेड़ने या उन्मूलन करने वाला, खड़ा करने वाला।

ऊवाड़िग्रोड़ो, ऊवाड़ियोड़ो, ऊवाड़्योड़ौ—भू०का०कृ०।

ऊवाड़ियोड़ौ–भू०का०कृ०—१ उखाड़ा हुग्रा, उन्मूलित. २ खड़ा किया हुग्रा। (स्त्री० ऊवाड़ियोड़ी)

ऊवाड़ौ–वि०—१ कुवचन कहने वाला. २ कुवचन।

ऊवाणो, ऊवावौ–क्रि०स०—खड़ा करना (रू.भे. ऊभाणो)

उ०—जठै कुमार दूदौ तौ महज में सांवळिया नें भपाई खाळ रै वार ग्राड भालो ऊवाइ साम्हौ खड़ो रहियो।—वं.भा.

ऊवारको–वि०—उवारने वाला (रू.भे. उवारकौ)

ऊवारणो, ऊवारबौ—देखो 'उवारणौ' (रू.भे.)

ऊवारियोड़ौ—देखो 'उवारियोड़ौ' (स्त्री० ऊवारियोड़ी)

ऊवारौ—१ देखो 'उवारौ'. २ रक्षक। उ०—सींधां ग्रामतीक रेणमिग ऊचारै घडा री लाटी, ऊवारौ भड़ाळां नांम चाढ़ौ कुळां ग्रंव।

—कमजी दधवाड़ियौ

ऊवास, ऊवासी, ऊवासौ—देखो 'उवासी'। उ०—मूंछां गालड़ियां नेर्टें में भरिया, ऊवासा लेवै मावा ऊतरिया।—ऊ.का.

ऊवियोड़ौ–भू०का०कृ०—ऊबा हुग्रा, उकताया हुग्रा (स्त्री० ऊवियोड़ी)

ऊवियोवगार–सं०पु०—विना छौंका हुग्रा साग।

ऊवे छाज–सं०पु० [सं० उच्छूर्पण] नाज को साफ करने की एक क्रिया विशेष।

ऊवेड़खंभ–वि०—वलवान, शक्तिशाली। उ०—सूटा पगाथी ग्रमरवां दीरा ऊराथी ऊवेड़-खंभ। कपोळा वरा श्री छूटा मंदा काळा कीठ।

—पहाड़खां ग्राढ़ौ

ऊवेड़णो, ऊवेड़बौ–क्रि०स०—उखाड़ना, उन्मूलन करना।

उ०—घाड़ा रावत धुर धमळ, ग्रवनाड़ा ग्रणवीह। ऊवेड़ण जाड़ा ग्रमर, मुज थांभाड़ा सीह।—र.ज.प्र.

ऊवेड़णहार, हारौ (हारी), ऊवेड़णियौ–वि०—उखाड़ने वाला, उन्मूलन करने वाला।

ऊवेड़िग्रोड़ो, ऊवेड़ियोड़ो, ऊवेड़्योड़ौ—भू०का०कृ०।

ऊवेड़ियोड़ौ–भू०का०कृ०—उखाड़ा हुग्रा, उन्मूलन किया हुग्रा।

ऊवेड़ो—१ देखो 'उवेड़ो' (रू.भे.). २ विरुद्ध, विपरीत।

उ०—प्रमण वखांण करै जोधांपत, वडम तुहाळी साख वळै। ग्रै जो जके वहै ऊवेड़ा, खांडां तळा राखिया खळै।

—भैरूंदास खिड़ियौ

ऊवेल–सं०स्त्री०—१ मदद, सहायता। उ०—हरी पोकरी रै हुवौ जेम व्हीजै। कवी पात री मात ऊवेल कीजै।—मे.म.

२ शरण, रक्षा। उ०—वीरमदेव ग्रावतां वांसे। ग्रन रावां पायौ ऊवेल।—राठौड़ राव वीरमदेव मेड़तिया री गीत

३ रक्षक। उ०—सवळा विरद वहण सूजावत। ग्रवळा वळी ग्रचळ ऊवेल।—ग्रज्ञात

ऊवेलणो, ऊवेलवौ–क्रि०स०—१ उवारना, पार उतारना। उ०—उर दोनूं पख ग्रांणिया, मांई एकण सत्य। ग्रवरंग नूं ऊवेलणो, हिंदवांणी ग्रह हत्य।—रा.रू. २ रक्षा करना। उ०—डाकण भूत कुए पग डिगतां, कडकी बीज ग्रकासां। करता याद मेहा सुत करणी, देव ऊवेलौ वासां।—वां.दा.

ऊवेलणहार, हारौ (हारी), ऊवेलणियौ—वि०।

ऊवेलिग्रोड़ौ, ऊवेलियोड़ौ, ऊवेल्योड़ौ—भू०का०कृ०।

ऊवेळणो–क्रि०स०—देखो 'उवेळणौ, उवेळवौ' (रू.भे.)

ऊवेलियोड़ौ–भू०का०कृ०—१ उवारा हुग्रा, पार उतारा हुग्रा. २ रक्षा किया हुग्रा।

ऊवोड़ौ–भू०का०कृ०—खड़ा हुग्रा।

ऊव्हांणी–वि० (स्त्री० ऊव्हांणी) देखो 'उवांणी' (रू.भे.) उ०—प्रगट ऊव्हांणे पाय, ग्रायौ मोह जांणे यळा। मींढुर तणी सिहाय, कीधी घरणीधर 'किसन'।—र.ज.प्र.

ऊभ–सं०स्त्री०—देखो 'ऊब' (३)

ऊभणो, ऊभवौ–क्रि०ग्र०—१ खड़ा होना। उ०—वांणी सुण चहुवांण ग्रांण ऊभो राय ग्रंगण।—रा.रू. २ खड़ा रहना, ठहरना।

उ०—नाग कन्या समेत सरभ ही ग्राय ऊभे।—र.रू.

ऊभणहार, हारौ (हारी), ऊभणियौ–वि०—खड़ा होने वाला, ठहरने वाला।

ऊभिग्रोड़ौ, ऊभियोड़ौ, ऊभ्योड़ौ—भू०का०कृ०।

कहा०—१ ऊभा खेजड़ां वेभ थोड़ा ही पड़ै—खड़े हुए खेजड़ों की लकड़ी में छेद थोड़े ही बनाये जा सकते हैं, पहले उन्हें काटना होगा; जल्दी में कोई काम नहीं हो सकता. २ ऊभां पगां री सगाई है—खड़े पैरों की सगाई है; खड़े रह कर सामने काम करवाने से तुरंत हो जाता है नहीं तो हो भी सकता है और नहीं भी हो सकता. ३ ऊभी ग्राई ग्राडी जाऊं—खड़ी-खड़ी ग्राई हूं किन्तु लेट कर जाऊंगी; सती

जिनकी गति पश्चिम से पूर्व की ओर अथवा दक्षिण से उतर की ओर होती है। उ०—ऊवां जळ नदियां लहर, वक पंगत भर वाथ। मोरां सोर ममोलियां, सांवण लायौ साथ।—अज्ञात
५ खड़ा रहने का ढंग।

ऊवकणौ, ऊवकवौ–क्रि०अ०—१ वमन करना. २ जोश करना. ३ ऊँचा होना (रू.भे. उवकणौ) उ०—सहरा भी गहरा गुण भणां, सरै न थां विन एक छण। गांवां वाड़ां ऊवक देखौ, सदा प्रेम माइतपण।—वसदेव
४ उगलना (रू भे. उव्वकणौ, उव्वकवौ) ५ उमड़ना, द्रव वस्तु का आधिक्य के कारण ऊपर उठना, उतरा कर वह चलना।
उ०—तूटै सिर घड़ तड़फड़ै, जळ तुच्छै मछ जांण। सेल दुसारां नीसरै, केतां सह केकांण। केतां सह केकांण अटै रत ऊवकै, घट अंतर कढ घाव हजारां हूवकै।—किसोरदांन वारहठ
ऊवकणहार, हारौ (हारी), ऊवकणियौ—वि०।
ऊवकिश्रोड़ौ, ऊवकियोड़ौ, ऊवक्योड़ौ—भू०का०कृ०।

ऊवकियोड़ौ–भू०का०कृ०—१ वमन किया हुआ. २ जोश किया हुआ. ३ ऊँचा उठा हुआ. ४ उगला हुआ. ५ उमड़ा हुआ। (स्त्री० ऊवकियोड़ी)

ऊवकौ–सं०पु०—ओकाई, मिचली, वमन के पूर्व की अवस्था।

ऊबड़खावड़–वि०—ऊँचा-नीचा, अटपटा, विपम।

ऊवड़णौ, ऊवड़वौ–क्रि०अ०—१ उखडना, खुलना। उ०—वगतार कड़ियां ऊवड़, लड़ै भड़ं खग लाय।—अज्ञात २ फूलना, फूलने से टूटना. उ०—जिके सूर ढीला जरद ऊवड़ ही आरांण। मूंछ अणी भूहां मिळै, मुंहगी राखै मांण।—वां.दा. ३ उभरना ऊपर उठना। उ०—जिम जिम कायर थरहरै, तिम तिम फैलै नूर। जिम जिम वगतर ऊवड़ै, तिम तिम फैलै सूर।—वी.स.
४ फटना, दरार होना।
ऊवड़णहार, हारौ (हारी), ऊवड़णियौ—वि०।
ऊवड़िश्रोड़ौ, ऊवड़ियोड़ौ, ऊवड़्योड़ौ—भू०का०कृ०।
ऊवड़ियौ–सं०पु०—रहट से पानी निकालने के लिए वैलों के घूमने के चक्र के मध्य में खड़ा किया जाने वाला लोह या काष्ठ का कुछ मोटा व मजवूत डंड जो कंगूरेदार चक्र के वीच में होकर निकलता है।

ऊवड़ियोड़ौ–भू०का०कृ०—१ उभरा हुआ, ऊपर उठा हुआ. २ फूला हुआ, फूलने से टूटा हुआ. ३ फटा हुआ. ४ उखड़ा हुआ, खुला हुआ। (स्त्री० ऊवड़ियोड़ी)

ऊवड़ी–सं०स्त्री०—एक प्रकार की घास।

ऊवछठ–सं०स्त्री० [सं० ऊर्ध्वपष्ठी] भाद्रपद मास के कृष्ण पक्ष की पष्ठी तथा इस दिन स्त्रियों द्वारा किया जाने वाला एक व्रत। इस दिन स्त्रियां सायंकाल से चंद्रोदय तक खड़ी रहती हैं। चंद्र-दर्शन के वाद भोजन करती हैं. चंद्रपष्ठी।

ऊवट–सं०पु० [सं० उदवृत्त] विना मार्ग, विरुद्ध।
उ०—तौ भी महामूढ़ वारूणी रै वसीभूत अनेक उपद्रव मचाइ ऊवट ही वहियौ।—वं.भा. २ कठिन मार्ग, अटपटा रास्ता।

ऊवटणौ–सं०पु०—शरीर पर मलने के लिए तैयार किया हुआ उवटन, अभ्यंग। उ०—सखी हिळमिळ मंगळ गावौ, वनाजी नै ऊवटणौ मसळावौ।—समांन वाई

ऊवटणौ, ऊवटवौ—१ देखो 'उवटणौ, उवटवौ' २ उत्पन्न होना। उ०—काट जिकां कुळ ऊवटै, आठवाट इतफाक। वां सवळां ही पुरसड़ां वैरी गिणै वराक।—वां.दा.

ऊवटौ–सं०पु०—ऊँट या घोड़े की जीन में तंग कसने के लिए बांधने की एक चमड़े की रस्सी।

ऊवणौ, ऊववौ–क्रि०अ०—१ ऊवना, उकताना. २ घवराना. ३ देखो 'ऊभणौ, ऊभवौ'।
ऊवणहार, हारौ (हारी), ऊवणियौ—वि०।
ऊविश्रोड़ौ, ऊवियोड़ौ, ऊव्योड़ौ—भू०का०कृ०।

ऊवता–सं०स्त्री०—हाथ ऊपर उठा कर खड़े हुए मनुष्य के वरावर की ऊँचाई और गहराई का एक माप। (मि० ताळ १०)

ऊवाताळ–क्रि०वि०—यकायक। (रू.भे.–ऊभताळ) देखो–ऊवता।

ऊवर–सं०स्त्री०—देखो 'उमर'।

ऊवरणौ–सं०पु०—वचाव, रक्षा। उ०—भणी रयण रांणभड़ सवळ हाडां कुळ सरणौ। इण दुलही री ओट अनड़ 'हालू' ऊवरणौ।
—वं.भा.

ऊवरणौ, ऊवरवौ–क्रि०अ० [सं० उर्वरण] १ उद्धार पाना, निस्तार पाना, मुक्त होना। उ०—जठै अहराव जिम भूप भागै जिके, ऊवरै 'महेसर' मांन ओळै।—वां.दा. २ वचना, रक्षा पाना.
उ०—कह पंथी जिण गांम धण, फाटक घर न जुड़ाय। अव तौ चूडौ ऊवरै, सूर धणी समझाय।—वी.स. ३ अमर होना.
उ०—हव जेहल' रिख हाड, 'सोनंग' पळ जगदेव सिर। गुरु जस भंडा गाड, ऊवरिया इळ ऊपरा।—वां.दा.
४ शेप रहना, वाकी वचना।
ऊवरणहार, हारौ (हारी), ऊवरणियौ–वि०—उद्धार पाने वाला, शेप रहने वाला, वचने वाला, अमर होने वाला।
ऊवरिश्रोड़ौ, ऊवरियोड़ौ, ऊवरचोड़ौ–भू०का०कृ०।

ऊवराव–सं०पु०—देखो 'उमराव'। उ०—माया रा ऊवराव वहोड़ा वीजै छै, कविराजा नां विदा कीजै छै।—रा.सा.सं.

ऊवरियौ—देखो 'ऊवड़ियौ'. (रू.भे.)

ऊवरियोड़ौ–भू०का०कृ०—१ उद्धार पाया हुआ. २ रक्षा पाया हुआ. ३ अमर. अवशिष्ट, शेप।

ऊवरौ—देखो 'उमराव'। (मि० 'ऊवराव')

ऊवह–सं०पु० [सं० उदधि] समुद्र। देखो 'उवह' (रू.भे.)।

ऊवांणणौ, ऊवांणवौ–क्रि०स०—देखो 'उवांणणौ, उवांणवौ' (रू.भे.)
उ०—ऊवांणे खग्गे अंगो अंगे, आया जंगे उछरंगे।—रा.रू.

रण गेह री, केह री समोभ्रम डांखियौ केहरी ।—वदरीदास खिड़ियौ
उ०—२ सीसवर ऊरड़ भुज वारियां 'सेरसी' आग चख मख फड़ै रारियां एरसी, फौज कर तरवारियां जठी फरण फेरसी । खूनियां मार तरवारियां खेरसी ।—वदरीदास खिड़ियौ

ऊरण–वि०[सं० उऋण] ऋणमुक्त, उऋण । उ०—१ जगत सूत मागध वंदी जण, आसावंत किया नृप ऊरण ।—रा.रू.
उ०—२ वांसूं कव व्हां अव अगले भव ऊरण । च्यारूं वरणां री सरणागत चूरण ।—ऊ.का.
सं०पु० [सं० ऊर्ण] मैढा (डि.को.)

ऊरणनाभ–सं०स्त्री० [सं० ऊर्णनाभ] मकड़ी (अ.मा.)

ऊरणा–सं०स्त्री० [सं० ऊर्णा] १ ऊन. २ चित्ररथ नामक एक गंधर्व की स्त्री ।

ऊरणियौ–सं०पु०—भेड़ का वच्चा (अल्पा०) उ०—ऊणां ऊरणियां खरसणियां ओळै । डरड़ा नरड़ा विण अरड़ा दे टोळै ।—ऊ.का.

ऊरणी–सं०स्त्री०—१ भेड़. २ एक प्रकार का रोग विशेष जिससे होठों पर फुंसियां होती हैं ।

ऊरणौ, ऊरवौ–क्रि०स०—१ युद्ध में घोड़े को ठेलना. २ चक्की में पीसे जाने हेतु अनाज डालना. ३ खेत में हल द्वारा अनाज वोना. ४ आक्रमण करना. ५ डालना, गिराना ।
ऊरणहार, हारौ (हारी), ऊरणियौ—वि० ।
ऊरिओड़ौ, ऊरियोड़ौ, ऊरचोड़ौ—भू०का०कृ० ।
(रू.भे. 'ओरणौ')

ऊरदध्वलोक–सं०पु०—देखो 'ऊरधलोक' ।

ऊरध–वि० [सं० ऊर्ध्व] ऊंचा, उर्ध्व । उ०—ऊरध अकास पाताळ पास, सब ठौर सिद्ध परिकर प्रसिद्ध ।—ऊ.का.

ऊरधगति–सं०स्त्री० [सं० उर्ध्वगति] मुक्ति, ऊपर की ओर गति ।

ऊरधतिक्त–सं०पु० [सं०] चिरायता का एक नाम ।

ऊरधपाद–सं०पु० [सं० उर्ध्व+पाद] १ एक प्रकार का आसन विशेष. २ एक कीड़ा, शरभ ।

ऊरधपुंड–सं०पु० [सं० ऊर्ध्वपुंड्र] ललाट पर किया जाने वाला खड़ा तिलक (वैष्णवी)

ऊरधवाहु–सं०पु० [सं० ऊर्ध्ववाहु] अपनी एक वाहु ऊपर उठा कर तपस्या करने वाला तपस्वी ।

ऊरधरेखा–सं०स्त्री० [सं० उर्ध्वरेखा] हथेली की भाग्य-रेखा अथवा पैर के तलुवे पर खड़ी रेखा जो सौभाग्यसूचक मानी जाती है । (मि० उड़दरेखा)

ऊरधलोक–सं०पु० [सं० उर्ध्वलोक] आकाश, स्वर्ग, वैकुण्ठ (डि.को.)

ऊरधवधनुरासण–सं०पु० [सं० उर्ध्वधनुरासन] योग के चौरासी आसनों के अंतर्गत एक आसन जिसमें मुख को आकाश की तरफ रख कर दोनों हाथ और दोनों पैरों को जमीन पर लगा कर कमान जैसी आकृति की जाती है ।

ऊरध्वसंयुक्तासण–सं०पु० [सं० उर्ध्वसंयुक्तासन] योग का एक आसन विशेष जिसमें वृक्षासन की तरह स्थिति करके दोनों पांवों की तली को गुदा के पास लाकर आमने-सामने भिड़ाया जाता है । इसे ऊर्ध्व-संयुक्तपादासन भी कहते हैं ।

ऊरवौ–सं०पु०—१ उम्मेद, आशा, भरोसा. २ इज्जत ।

ऊरमि–सं०स्त्री०—देखो 'ऊरमी' ।

ऊरमिमाळी–सं०पु० [सं० उर्मिमाली] समुद्र ।

ऊरमी–सं०स्त्री० [सं० ऊर्मी] १ लहर, तरंग । उ०—दूरेना दे सुरमी दहन खट ऊरमी दुसमनां । रवींदु पारातें स्रवत सुभवारा सुखमनां ।—ऊ.का.
२ पीड़ा दुःख. ३ छः की संख्या* ४ शिकन, कपड़े की सलवट ।

ऊरवड़–सं०स्त्री०—१ देखो 'उरवड़' २ देखो 'उरव्वड़' (रू.भे.)

ऊरव्वड़णौ, ऊरव्वड़वौ–क्रि०अ०—देखो 'उरव्वड़णौ, उरव्वड़वौ' (रू.भे.)

ऊरस–सं०पु०—देखो 'उरस' ।

ऊरा–क्रि०वि०—देखो 'उरा' ।

ऊराहौ–सं०पु०—देखो 'उराह' (कां.दे.प्र.)

ऊरि–सं०पु० [सं० उरस] उरस्थल, वक्षस्थल । उ०—ऊरि चोड़ी कडि पातळी । मांहीलै कोयै जीमणी अंखी ।—वी.दे.

ऊरुज–सं०पु० [सं०] १ जंघा से उत्पन्न. २ वैश्य जाति ।

ऊरुत्र–सं०पु०—घुटने और कमर के वीच के अंग का कवच, रान का कवच । उ०—सवाहुत्र ऊरुत्र जंघात्र संगी, चहे वंस चील्हा रहै एक रंगी । —वं.भा.

ऊरू–सं०पु० [सं० उरु] जंघा (रू.भे.)

ऊरूज–सं०पु० [सं० ऊर्ज] १ वैश्य (डि.को.) २ वल, शक्ति. ३ कार्तिक मास. ४ देखो 'उरुज' ।

ऊरेड़ौ–सं०पु०—देखो 'उरड़ौ' (रू.भे.)

ऊळ–सं०स्त्री०—नेत्रों में होने वाला वातनाड़ी शूल ।

ऊल–सं०स्त्री०—१ चमड़े के ऊपर का वह भाग जो घर्षण से उतर जाय. २ जिव्हा पर जमा हुआ मैल. ३ ऊपर की चमड़ी, झिल्ली ।

ऊळखणौ, ऊळखवौ—देखो 'उळखणौ, उळखवौ' (रू.भे.)
उ०—देवीदास पण ऊभौ-ऊभौ देखि अर ऊळखिया ।
—पलक दरियाव री वात

ऊळगणौ, ऊळगवौ—देखो 'उळगणौ, उळगवौ')

ऊलजलूल–वि०—१ असंवद्ध, अंड-वंड. २ नासमझ. ३ वेअदव, अशिष्ट, अनाड़ी ।

ऊलटणौ, ऊलटवौ—देखो 'उलटणौ, उलटवौ' ।
उ०—माह महारस मयण सव, अति ऊलटै अनंग ! मौ मन लागौ मारवण, देखण पूंगळ ढ्रंग ।—ढो.मा.

ऊलफैल–सं०पु०यौ०—१ उत्पात, उपद्रव. २ नखरा ।
वि०—व्यर्थ, वहुत सा, वेकार ।

स्त्री मरने पर ही घर को छोड़ती है. ४ ऊभै लकड़े बेभ (सेल) कौ पड़ेंनी—देखो 'ऊभा खेजड़ां बेभ थोड़ा ही पड़ै'. ५ ऊभौ मूतै सूतौ खावै, जिणरौ दाळद कदे न जावै—खड़े-खड़े पेशाब करना और सोते-सोते खाना हानिकारक है. ६ ऊभौ कागलौ उडावणौ—जब दूसरे कार्य कर रहे हों तब उनके साथ खड़े होकर बेकार समय गँवाना।

ऊभसूक–वि०—वह वृक्ष जो खडा-खडा सूख गया हो।

ऊभाणौ, ऊभाबौ–क्रि०स०—खडा करना (रू.भे. ऊबाणौ)

ऊभापगां–क्रि०वि०—खड़े-खड़े, यकायक, उपस्थिति में।

ऊभियोड़ौ–भू०का०कृ०—खडा हुआ (स्त्री० ऊभियोड़ी)

ऊभीताळ–क्रि०वि०—तुरंत, उसी समय, शीघ्र, यकायक।

ऊभो, ऊभोड़ौ, ऊभौ–वि० (स्त्री० ऊभी, ऊभोड़ी) १ ऊपर को सीधा उठा हुआ. २ खड़ा। उ०—सुणे मांम आगम्म ऊभी सहेली, हरेवा हरेवा हवेली हवेली।—ना द.

ऊमंड–सं०स्त्री० [सं० उन्मंडन] १ बाढ, वढ़ाव. २ घिराव. ३ धावा. ४ आवेश।

ऊमंडणौ ऊमंडबौ—देखो 'उमड़णौ, उमड़बौ'।
उ०—मिरजी नूरमली बळ मंडे, आयौ भांण सिरै ऊमंडे।—रा.रू.

ऊमंडियोड़ौ–भू०का०कृ०—देखो 'उमड़ियोड़ौ' (स्त्री० ऊमंडियोड़ी)

ऊमंगणौ, ऊमंगबौ–क्रि०अ०—उमड़ना। उ०—सहेल्यां हे, आणंद ऊमंग्यौ, म्हारे छाया है मुद मंगळ माल।—गी.रां.

ऊमटणौ, ऊमटबौ–क्रि०स०—उमड़ा। उ०—ऊलंवे सिर हथ्थड़ा, चाहंदी रस लुध्ध। विरह महाघण ऊमटचउ, थाह निहाळइ मुध्ध।
—ढो.मा.

ऊमटणहार, हारौ (हारी), ऊमटणियौ–वि०—उमड़ने वाला।
ऊमटिग्रोड़ौ, ऊमटियोड़ौ, ऊमट्योड़ौ—भू०का०कृ०।

ऊमटियोड़ौ–भू०का०कृ०—उमड़ा हुआ। (स्त्री० ऊमटियोड़ी)

ऊमण–वि०—१ उत्कंठित, उत्सुक (डि.को.) २ उदासीन, खिन्न चित्त.

ऊमणदूमणौ, ऊमणौ–वि० [सं० उन्मन] उदास, खिन्न चित्त।
उ०—सज्जण हरख न बोलिया, मुझ सां रीसा आज। का थे ऊमणदूमणा, कहौ स के वड काज।—ढो.मा.

ऊमतौ–वि०—उन्मत्त, मस्त। उ०—वेखता घूमता मदां वरता अखाड़ै वागा छत्रधारी 'पता' वाळा ऊमता छंछाळ।—पहाड़ खां आढ़ौ

ऊमदा–वि०—देखो 'उमदा'।

ऊमर–सं०स्त्री०—१ देखो 'उमर'। उ०— आखी ऊमर आंरी कस आयौ। छळ बळ मुतलब कर बस कर छिटकायौ।—ऊ.का.
२ गूलर का वृक्ष, गूलर. ३ पंवार वंश की एक शाखा या इस शाखा का व्यक्ति. ४ देखो 'उमराव'।

ऊमरकोट–सं०पु०—१ पश्चिमी पाकिस्तान मे सिंध प्रांत में भारत की सीमा पर स्थित एक भू भाग। इस भूगोल के एक नगर का नाम।

ऊमरड़–वि०—१ जोशपूर्ण, बलवान, शक्तिशाली। उ०—वाज नामां ठड़ड़ साज चहुए वळा। ज्वाळ माळा धड़ड़ तोपखांनौ जळा। करी भेळी भरड़ मुरड़ चढती कळा। अधपती ऊमरड़ ऊरड़ मांणै इळा।
—जवांनजी आढ़ौ
२ विरुद्ध। उ०—जोधपुर नाथ सूं रहै ऊमरड़ जिता, चिता-नळ बाथ सूं भरण चाहै।—चिमनजी आढ़ौ
सं०पु०—साहस, हिम्मत।

ऊमरड़पण, ऊमरड़पणौ–सं०पु०—१ आतंक, जोश. २ निशंकता, निडरता। उ०—जोधपुर मांय ऊमरड़पणौ जमायौ अणायौ रिड़मलां मोद 'ऊदा'।—नीबाज छत्रसिंह री गीत

ऊमरदराज–वि० [फा०] दीर्घजीवी, चिरायु।

ऊमरवाळौ–वि०—१ जीवनभर का, जीवनभर संबंधी. २ बड़ी आयु का।

ऊमरौ–सं०पु०—१ रईस। देखो 'उमराव'। उ०—उर दियण मोद किर ऊमरां, तात गोद प्रियवरत तन।—रा.रू. २ हल की रेखा, सीता।
मुहा०—सूका ऊमरा काडणौ—विना लाभ का काम करना।

ऊमस–सं०स्त्री०— देखो 'उमस'। उ०—ऊमस कर घ्रत माट गमावै, इंडा कीड़ी बाहर लावै। तीर बिनां चिड़ियां रज नावै, तौ मेह वरसै घर मांह न मावै।—अज्ञात

ऊमहणौ, ऊमहबौ–क्रि०अ०—१ उमड़ना. २ उठना, उभरना. ३ उमंगित होना। उ०—जिण धण कारण ऊमह्यौ, तिण धण हुंदा वेस।—ढो.मा.
ऊमणहार, हारौ (हारी), ऊमणियौ–वि०—उमड़ने या उठने वाला।
ऊमहिग्रोड़ौ, ऊमहियोड़ौ, ऊमह्योड़ौ—भू०का०कृ०।

ऊमाणौ, ऊमाबौ–क्रि०अ०—उमंगयुक्त होना। उ०—जुड़ैवा उमाया केवी आया जीं वार जेता। हुवा काळ रै भेट राजकंवार रै हाथ।
—मोडजी आढ़ौ

ऊमाह, ऊमाहो, ऊमाहौ—देखो 'उमाहौ' (रू.भे.)

ऊमिया–सं०स्त्री०—पार्वती। उ०—सिव ऊमिया पेमां सुलोचना तुज तणां अवतार त्यां।—पा.प्र.

ऊमी–सं०स्त्री०—देखो 'उम्मी'।

ऊमीणौ–सर्व०—हमारा।

ऊरंग—देखो 'उरग'। [सं० उर] हृदय।

ऊरंगी–वि०—खिन्नचित्त, उदास।

ऊर–सं०पु० [सं० उर] देखो 'उर'।
अव्यय—और। उ०—गरब करि ऊभौ छइ सामरचौ राव। मो सरीखा नहीं ऊर भुवाळ।—वी.दे.
सं०पु०—१ जबरदस्ती. २ बहादुरी।

ऊरज–वि० [सं० ऊर्ज] बलवान, बली।

ऊरजस–सं०स्त्री० [सं० ऊर्जस] बल, शक्ति।

ऊरड़–सं०स्त्री०—देखो 'उरड़'। उ०—१ मिळण नोह थांकियौ ऊरड़ मेहरी, दुकळ रानांवियौ गुरड़ छत्र देहरी, गजब गत पांनियौ नाग

हुवौ जिण री तवां। भीम गजां भेळोह, करतौ जोय पावू करंध।—पा.प्र.

ऊवै—सर्व०—वे। उ०—ऊवै नर भलां मांनवै आया, ग्यांन ध्यांन हर रा गुण गाया।—अज्ञात

ऊवौ—सर्व० (बहु०—ऊवै) १ उस. २ वह। उ०—अभंग जंग भरत-खंड पारका ऊसर ऊवै।—बां.दा.

ऊस-देखो—'ऊवाड़ौ' उ०—वेवू बरतोड़ी बोरां खड़ वाती, ऊसां भरतोड़ी लोरां झड़ आती।—ऊ.का.

ऊसणागम—सं०पु० [सं० उष्णागम] ग्रीष्म ऋतु।

ऊसनउ—वि० [सं० अवसन्न] अवसन्न, उत्सुक, खिन्न। उ०—करहा वांमन रूप करि, चिहुं चलणे पग पूरि। तूं थाकउ हूं ऊसनउ, मुंई भारी घर दूरि।—ढो.मा.

ऊसमक—सं०पु० [सं० उष्मक] १ गरमी, ताप, तपन (डि.को.) २ ग्रीष्म ऋतु (डि.को.)

ऊसमेद—सं०पु० [सं० अश्वमेध] अश्वमेध यज्ञ।

ऊसर—सं०पु०—१ अनउपजाऊ भूमि (डि.को.) २ असुर।
उ०—अभंग जंग भरतखंड पारका ऊसर ऊवै, मारका वजंद्र रै दुरंग मिळिया।—बां.दा.
वि०—कटु, कड़वा। उ०—ऊसर वैणां सूं ववती अळआरां, घूसर नैणां सूं अवती जळधारां।—ऊ.का.

ऊसरणौ, ऊसरवौ—देखो 'उसरणौ, उसरवौ' (रू.भे.)
उ०—जग में ऊसरियौ खापरियौ जैं'री। बाल्हा बीछोड़ण बापरियौ बैरी।—ऊ.का.

ऊसरांण—देखो 'असुरांण'। उ०—रहच ऊसरांण दळ गया खग चढ़ै रव। सघर जसवास जुग च्यार सुगरा।—ज.खि.

ऊसरियोड़ौ—भू०का०कृ०—देखो 'उसरियोड़ौ'। (स्त्री० ऊसरियोड़ी)

ऊसस—सं०पु०—जोश, आवेग। उ०—वूड़ो ऊसस बोलियौ, असमर करग उठाय। तूं किण कज लेवै त्रिपट, हणियौ मैं वाराह।—पा.प्र.

ऊससणौ, ऊससवौ—क्रि०अ० [सं० उच्छ्वसन] १ जोश में आना।
उ०— ऊससिय वोमि लागउ अवोह, सांभळिअे कथिनै जइतसीह।—रा.ज.सी.
२ उठना (जोश अथवा उमंग व हर्षसहित) उ०—अंग दसरथ मिळे ऊससे मोद अत, महीपत, महीपत, महीपत, महीपत।—र.रू.

ऊससणहार, हारौ (हारी),ऊससणियौ—वि०—जोश में आने वाला, जोश या हर्ष में उठने वाला।

ऊससियोड़ौ—भू०का०कृ०—१ जोश में आया हुआ. २ जोश में या उमंग में आकर उठा हुआ। (स्त्री० ऊससियोड़ी)

ऊसा—सं०स्त्री० [सं० ऊषा] सूर्योदय के पहले की ललाई। उ०—विहांणै पोयण पंथ पयांण, उगूणी ऊसा धरती आय।—सांभ

ऊसाकाळ—सं०पु० [सं० ऊषाकाल] प्रातःकाल, तड़का, सवेरा।

ऊसारणौ, ऊसारवौ—देखो 'उसारणौ, उसारवौ'।

ऊसारियोड़ौ—भू०का०कृ०—देखो 'उसारियोड़ौ'। (स्त्री० ऊसारियोड़ी)

ऊसारौ—सं०पु० [सं० उत्सार] मकान का बरामदा। उ०—पांड्यौ ऊसारै तेड्यौ छड़ राई। छीनी उळगी मांई सूं कही।—वी.दे.

ऊसासणौ, ऊसासवौ—क्रि०स० [सं० उच्छ्वास] तटों या किनारों को फोड़ कर निकलना, जलाशय का बंध तोड़ना या फोड़ना।
उ०—भरयां सरोवर पाळि ऊसासी, पापलि दीधा घाउ।—कां.दे.प्र.

ऊस्मवरण—सं०पु० [सं० ऊष्मवर्ण] वर्णमाला के स और ह अक्षर।

ऊह—सं०पु०—तर्क, विचार। उ०—आहव उछाह उर अधिक ऊह। —ऊ.का.

ऊहड़—सं०पु०—राठौड़ों की एक शाखा या इस शाखा का व्यक्ति।

ऊहरण—सं०पु०—लोहार का एक उपकरण विशेष जिस पर गर्म धातु रख कर पीट कर औजार आदि बनाते हैं (अमरत)

ऊहविणौ, ऊहविवौ—क्रि०अ० [सं० ऊह=तर्क] विचार करना।
उ०—करि औछाव कहाव करि, ऊहवि पति आंवेर। उर भायौ दूलह 'अभौ', पधरायौ नारेळ।—रा.रू.

ऊहवियोड़ौ—भू०का०कृ०—विचार किया हुआ। (स्त्री० ऊहवियोड़ी)

ऊहा—अव्यय [सं० ऊह] क्लेश या दुःखसूचक शब्द, ओह, विस्मयसूचक शब्द।
सं०पु०—१ अनुमान. २ विचार. ३ तर्क, दलील।
उ०—अर रांणे हम्मीर इण ऊहा री रीझ पर आपरा पोळिपात बारू नूं सांसणां रा सप्तक समेत बारह लाख राजती मुद्रा री विभव दीधी।—वं.भा. ४ किंवदंती, अफवाह।

ऊहाड़ौ—सं०पु०—देखो 'ऊवाड़ौ'। उ०—माती ऊहाड़ां दरसै मादळ सी, देई बीलोई वरसै बादळ सी।—ऊ.का

ऊहाळ—सं०पु० [सं० ऊहावलि] जलधारा के साथ बहने वाला कूड़ा-कर्कट जो तट पर जम जाता है। उ०—'अजाहर' हुकम दरियाव दीधौ उमळ, अब जळ विचै पड़ नाव ऊंची। गडूथळ खावती ऊहाळां पड़ गयी, सतारा तणै ऊमराव सूची।—पिरवाग सेवग

ऊहिज—सर्व०—वही।

ऊहो—क्रि०वि०—उस तरफ।
सर्व० (स्त्री० ऊही) वह। उ०—अर नरसिंहदेव नूं छिन्न-भिन्न होइ पड़तौ देखि केही जवनां नूं परेतपति री पुरी रा पांहुणा करि ऊहो उत्तमंग आंणि मुहम्मदसा रै उपायन कीधौ।—वं भा.

ऊलरणौ, ऊलरबौ–क्रि०अ०—उमड़ना। उ०—घुमंट घटा ऊलर होई आई, दांमिन दमक डरावै।—मीरां

ऊलळणौ, ऊलळबौ—देखो 'उलळणौ, उलळबौ'।
उ०—वरहास खिड़इ ऊलळी वग्ग, कळहिवा क्रमइ कम्मांण क्रग्ग।
—रा.ज.सी.

ऊलळियोड़ौ–भू०का०कृ०—देखो 'उलळियोड़ौ'। (स्त्री० उलळियोड़ी)

ऊलसणौ, ऊलसबौ–क्रि०अ०—१ वर्षा का बरसना शुरू होना, बरसना। उ०—काछि काछि वन कीधी काया। ऊलसि अंब उग्रह घर आया। २ शोभित होना, सोहना। —आसो बारहठ

ऊलहणौ, ऊलहबौ–क्रि०अ०—१ उमड़ना। उ०—माह महारस मयण सब, अति ऊलहइ अनंग। मौ मन लागी मारवण, देखण पूगळ द्रंग। २ उठना, उभरना। —ढो.मा.

ऊलहियोड़ौ–भू०का०कृ०—१ उमड़ा हुआ. २ उठा हुआ, उभरा हुआ। (स्त्री० ऊलहियोड़ी)

ऊला–वि० —उल्टा। उ०—माया की छाया में बैठा, ऊला अरथ विचारै।—ह.पु.वा.

ऊलाळणौ ऊलाळबौ,ऊलाळिणौ,ऊलाळिबौ–क्रि०स०—१ देखो 'उलाळणौ'
उ०—१ प्रथम बोल परियां तण तेज सुध पाळिया। आज रा गैण लग कूंत ऊलाळिया।—सक्तावत करमसिंह रौ गीत
उ०—२ ऊलाळिया चढ़ाये अणियें, रोदज तै मेवाड़ा रांण।
—अज्ञात
२ फेंकना। उ०—आडा डूंगर वन घणा, तांह मिलीजइ केम। ऊलाळीजइ मूंठ भरि, मन सींचांणउ जेम।—ढो.मा.

ऊली–क्रि०वि०—इस ओर।
वि०—इस ओर की, इस तरफ की। उ०—रांम भजन सुख अगम है, ऐ सब ऊली दौड़।—ह.पु.वा.
सर्व०—इस। उ०—माराज फौज हजार ५००००० लेयनै आया सु तापी नदी री ऊली तरफ डेरा किया।—द.दा.

ऊलेप–सं०पु०—गर्व, दर्प। उ०—बीड़ै कै साथ गुजरात का पटा अमीरां का, ऊलेप अंबर सा फटा।—रा.रू.

ऊलौ–वि०—इधर वाले। उ०—ऐ राठौड़ हुवै ज्यां आगै, भिड़तां ऊला पैला भागै।—रा.रू.

ऊलोड़ौ–वि०—इधर वाला, इस तरफ का।

ऊलौ-पैलौ–वि०—इधर-उधर का। उ०—अरु कांधळजी रै नै सारंगखांन रै वडी जंग हुवौ, ऊलौ-पैलौ लोक पण कांम आयौ।
—द.दा.

ऊल्क–सं०पु —उल्कापात।

ऊवकणौ–क्रि०अ०—मेघ का गर्जना। उ०—चढती कंठळि वीज चमक्कै, झड़ माचंतै सुकवि भणक्कै। 'ऊनड़' हरा इंद्र ऊवक्कै, गुणियण मोकळ सिंहड़ गहक्कै।—ईसरदास बारहठ

ऊलेभोउ–सं०पु०—उपालंभ। उ०—आज ऊलेभोउ भांजवा, या घन वीरा! थारइ हियै न समाई।—वी.दे.

ऊवट—देखो 'ऊवट्ट'।

ऊवटणौ–सं०पु०—उबटन। उ०—उर उमंग उत्तम ऊवटणौ, पूरण हित सूं पीठी कराय।—गी.रां.

ऊवट्ट–सं०पु०—१ आयु, उम्र, वय। देखो 'अवट' २।
२ उत्पथ, अटपटा व ऊबड़-खाबड़ मार्ग। उ०—खरौ जिगरिया खांन जिकौ उत्तर अपजोरै, पूरब सादित प्रगट तकौ ऊवट्ट निजतो रै।
—रा.रू.
वि०—१ ऊबड़-खाबड़, बिना मार्ग। उ०—बारगिरी तेजी दिवराणा, चालइ ऊवट वाट।—कां.दे.प्र.

ऊवडणौ, ऊवडबौ—वर्षा का बरसना या उमड़ना। उ०—ऊजळियां धारां ऊवडियौ, परनाळै जळ रुहिर पड़ै।—वेलि.

ऊवर, ऊवरि–सं०पु० [सं० उर] हृदय,उर, वक्षस्थल।
उ०—१ केहरी जड़ी कांघल ऊवर कटारी। चूक मझ उवारी अचड़ चहुवांण।—अज्ञात
उ०—२ सुजि हरि समरि ऊवरि करि सोध।—ह.नां.

ऊवलणौ, ऊवलबौ–क्रि०अ०—१ बचना, शेष रहना। उ०—जे जे तुरक नासी ऊवळया, एक ठांमि जई जंगळि मिळया।—कां.दे.प्र.
२ देखो 'उवलणौ, उवलबौ' (रू.भे.)

ऊवलियोड़ौ–भू०का०कृ०—बचा हुआ, शेष। (स्त्री० ऊवलियोड़ी)

ऊवस्स–वि० [सं० उद्वस=उद्वास] निर्जन, जन-शून्य। उ०—वसती करै निवास, फेर ऊवस्स वसाड़ै, नटबाजी मंडवै, पवै ऊपर जळ चाडै।—ज.खि.

ऊवहणौ ऊवहबौ–क्रि०अ०—१ बचना, जीवित रहना. २ ऊँचा होना।
उ०—यळ न अनड़ ऊवहै आनका, नैणां दीसै सहै नवाय।
—महारांणा लाखा रौ गीत

ऊवहियोड़ौ–वि०—१ बचा हुआ, जीवित (युद्ध में) २ ऊँचा हुआ। (स्त्री० ऊवहियोड़ी)

ऊवां, ऊवा–सर्व०—वे, उन्हें।
क्रि०वि०—वहाँ।

ऊवाड़ौ—मादा पशुओं के थन तथा थनों के ऊपर की थैली जिसमें दूध रहता है। (मि० उवाड़ौ) (रू भे. उवाड़ौ, ऊआड़ौ, ऊहाड़ौ)

ऊवारणौ, ऊवारबौ—देखो 'उवारणौ' (रू.भे.)

ऊवाळ–सं०पु०—आदमी को गिरवी रक्खे जाने की प्रथा के अन्तर्गत गिरवी रक्खा गया मनुष्य। उ०—ऐ हिंदू है दगादार, जांणां आवै नावै, तिसै इण का चचा रांणकदे कूं ऊवाळ मांहे राखौ।
—वीरमदे सोनगरा री वात

ऊवेलणौ, ऊवेलबौ–क्रि०स०—रक्षा करना। उ०—ऊंचे हाथि धाहि पोकारइ, बोलावइ, किरतार। आंणीवार किम्हइ अवेलइ, करइ अम्हारी सार।—कां.दे.प्र.

ऊवेलियोड़ौ–भू०का०कृ०—रक्षा किया हुआ। (स्त्री० ऊवेलियोड़ी)

ऊवेलौ–वि०—उऋण, ऋण-मुक्त। उ०—मोसूं ऊवेलोह तुरत

रखे ? ३ एक आंख को कांई मींचणो नैं कांई ऊघाड़णो—एक आँख का क्या मींचना और क्या खोलना ? देखो 'एक आँख में किसी खोलै किसी मींचै'. ४ एक एक छांट (कण) सूं समुद्र भरीजै है—थोड़ा-थोड़ा करके भी वहुत सा किया जा सकता है. ५ एक काचर रो बीज सौ मण दूध बिगाड़ै—एक काचर का बीज सौ मन दूध बिगाड़ देता है; एक ही नीच वहुत बिगाड़ कर सकता है; छोटी सी चीज से बहुत हानि हो सकती है. ६ एक घड़ी री नकटाई (नीचताई) दिन भर री बादसाही—थोड़ी सी निर्लज्जता से बहुत समय के लिये आराम हो जाता है. ७ एक घर तो डाकण ही टाळै—एक घर तो डाकिनी भी टालती है; नीच से नीच व्यक्ति के भी कोई अपना होता है जिसको वह हानि नहीं पहुँचाता; नीच से नीच भी सबका नाश नहीं करता. ८ एक घर होळी नैं एक घर दिवाळी करणो—पक्षपात करना, भेद-भाव करना. ९ एक चंद्रमा नव लख तारा, एक सती नैं नगर सारा—एक चंद्रमा एक ओर है और नौ लाख तारे एक ओर हैं। इसी प्रकार सती एक ओर है और सारा नगर एक ओर है, दोनों बराबर हैं। नौ लाख तारों में एक ही चंद्रमा होता है और सारे नगर में एक ही सती मिलता (मिलती) है; अनेकों में कोई एक ही महात्मा या प्रतापी होता है. १० एक तवै री रोटी कांई छोटी कांई मोटी—एक ही तवे की रोटियों में क्या तो छोटी और क्या मोटी, सब एक सी होती हैं। एक ही पदार्थ के भिन्न-भिन्न भाग सब एक जैसे होते हैं; एक ही कुल या समूह के लोग बराबर होते हैं; एक माँ की संतान एक से स्वभाव वाली होती है; समान घरों के सब लोग मेरे लिये बराबर हैं; जब कोई एक ही कुल के लोगों या एक ही पदार्थ के विभिन्न लोगों में एक की निंदा और दूसरे की प्रशंसा करे तब कही जाती है. ११ एक दांत रोटी टूटणो—बहुत गाढ़ी मित्रता होना; अधिक प्रेम होना. १२ एक दिन पढ'र किसो पंडित हू जासी—केवल एक दिन पढ़ कर ही पंडित नहीं बना जाता उसके लिए लम्बे समय तक अभ्यास की आवश्यकता होती है; एक दिन नहीं भी पढ़ोगे तो कोई हानि नहीं होगी; एक दिन यह काम नहीं भी करोगे तो कुछ बिगड़ेगा नहीं. १३ एक दिन पांवणो दूजै दिन अणखावणो—मेहमान एकाध दिन ही अच्छा लगता है, अधिक समय तक रहे तो बुरा मालूम होने लगता है; अतिथि को अधिक दिन नहीं रहना चाहिये. १४ एक दिन रो पांवणो दूजै दिन पई, तीजै दिन रया नैं अकल कठै गई—पहले दिन मेहमान है; दूसरे दिन साधारण व्यक्ति है किन्तु अगर कोई तीसरे दिन भी ठहरता है तो उसकी अकल कहाँ चली गई ? अतिथि को अधिक दिन नहीं ठहरना चाहिये. १५ एक दिन पियो'र एक दिन तिसो, व्याव रो दिन किसो ?—एक दिन पानी पिलाता हूँ, एक दिन प्यासा रहता हूँ फिर बताओ विवाह का दिन कौनसा नियत करूँ (किस दिन विवाह करूँ) (वि०वि० दूर रेगिस्तान में जहाँ जल की अधिक कमी है और बड़ी कठिनाई से प्राप्त होता है वहाँ एक दिन जल एकत्र करने में लगाते हैं और पशुओं को भी पिलाते हैं फिर दूसरे दिन उनको प्यासा ही रखा जाता है। यह दिन 'तिस्या रो दिन' कहलाता है। इस प्रकार कठिनता से जीवन-क्रम चलता रहता है तो फिर वहाँ विवाह और उत्सव का दिन कौनसा हो सकता है) जिसको काम से अवकाश नहीं मिलता उसका कथन; जो अवकाश न मिलने का बहाना करते हैं उनके लिये. १६. एक नकारो सौ दुख हरै (टाळै)—एक बार इनकार कर देने से सब झंझट मिट जाते हैं, फिर लोग तंग नहीं करते; जो संकोचवश निश्चित उत्तर नहीं देता उसे लोग बराबर सताते हैं. १७ एक नन्नो सौ दुख हरै (टाळै)—देखो 'एक नकारो सौ दुख हरै'. १८ एक नारी ब्रह्मचारी—एक पत्नीव्रत पालन करना ब्रह्मचर्य पालन के समान ही है. १९ एक पंथ दो काज—एक काम को करते समय दूसरा काम भी साथ ही बन जाना; एक उपाय से दो काम बनना. २० एक बंदरिया रूठ जाय तो किसो वंदरावन खाली हो जाय—एक बंदरिया रूठ जाय तो कौनसा वृन्दावन खाली हो जाता है; एक व्यक्ति साथ न दे तो कौनसा काम नहीं बनता ? २१ एक बार कथा सुणी ग्यांन आग्यो सरड़, बार-बार कथा सुणैं, कांन है क दरड़ ?—ज्ञान आता है तो एक बार सुनने से ही आ जाता है; बार बार कथा सुने और ज्ञान भी न आवे तो सुनने वाले के कान हैं या खंदक ? कोई शिक्षा हृदय में बैठती है तो एक बार सुन कर ही बैठ जाती है, बार बार कहने-सुनने से क्या लाभ ? २२ एक विरती महा (सदा) वैर—एक पेशे वालों में परस्पर बड़ा विरोध होता है. २३ एक मछळी सारो समंद (तळाव) गींदावै (गींदो करै)—एक नीच सबका बिगाड़ करता है; एक नीच की संगति सबको बिगाड़ देती है; घर का या साथ का एक भी आदमी बदनाम हो तो सबकी बदनामी होती है. २४ एक मण अकल, सौ मण इलम—एक मन बुद्धि सौ मन विद्या के बराबर है; विद्या की अपेक्षा बुद्धि बड़ी है. २५ एक मसखरी सौ गाळ—एक मसखरी करने वाले को सौ गालियां खानी पड़ती हैं. २६ एक मूंग री दो फाड—एक मूंग के दो दल; समान गुण स्वभाव आदि के लिये; गाढ़े मित्रों के लिये प्रयुक्त. २७ एक मेह एक मेह करता वडेरा ही मर गया—एक वर्षा और हो तो अच्छा यह आशा बार बार करते हुए पूर्वज चले गए; आदमी को संतोष नहीं होता; संतोष ही परम धन है. २८ एक म्यांन में दो तरवार को खटावै नीं—एक ही स्थान पर समान स्वार्थ वाले दो प्राणी नहीं रह सकते. २९ एक रती बिन पाव रती—एक रती के बिना मनुष्य कौड़ी का है; एक प्रतिष्ठा के बिना मनुष्य किसी काम का नहीं; एक प्रतापी अथवा वांछित व्यक्ति के अभाव में सब घर शोभाहीन लगता है. ३० एक रो दवा दो—देखो 'एक रो इलाज दो, दो रो इलाज एक. ३१ एक रै पाप सूं नाव डूबै—एक के पाप से नाव डूबती है। एक दुष्ट सब किया-कराया नाश कर देता है. ३२ एक रो इलाज दो—देखो 'एक रो इलाज दो, दो रो इलाज

ए

ए—राजस्थानी वर्णमाला का सातवां अक्षर जो संयुक्त स्वर (अ+इ) है और कंठतालव्य है।

एंकारौ–सं०पु०—१ मनोमालिन्य। उ०—टीका रौ मालक तिकौ, जीकारौ मुख जास। उण सूं एंकारौ किसूं, मुख रैकारौ हास। —वां.दा.

२ तूं कह कर पुकारने का आदररहित शब्द (मि० रेंकारौ, वि० जीकारौ)

अनु०— ३ बोलते-बोलते पर स्वभावानुसार अटकने पर मुंह से ऐं ऐं का निकलने वाला शब्द।

सं०स्त्री०—१ ऐंट, गर्व. २ जूठन (रू.भे. ऐंठ)

कहा०—कावरियौ कुत्तौ मरियौ नै एंट सूं छूटा—हानि पहुँचाने वाले प्राणी के मरने पर या दूर हो जाने पर कही जाती है।

एंडाळ–वि०—बहुत बड़े शरीर वाला, विशालकाय।

एंडोवेंडो–वि०—उल्टा-सीधा, टेढ़ा-मेढ़ा।

मुहा०—एंडो-वेंडो सुणावणौ—फटकारना, भलाबुरा कहना।

ऐंबुलेंस–सं०पु० [अं०] घायलों व बिमारों को अस्पताल पहुँचाने वाली वह गाड़ी जो इसी उद्देश्य से बनाई गई हो।

ए–सं०पु०—१ विष्णु. २ शेष. ३ जीव. ४ सूर्य. ५ बालक. ६ द्विज ७ दानव. ८ बाण (एका०)

सं०स्त्री०—९ अनसूया. १० आमंत्रण. ११ अनुकंपा।

सर्व०— ये, यह, इस। उ०—वागरवाळ विचारयउ, ए मति उत्तिम कीध। साल्ह-महल हूं ढूकड़ा, ढाढी डेरउ लीध।—ढो.मा.

वि०—१ संबंधी. २ सिद्ध. ३ बुद्धिमान. ४ उद्यत. ५ द्वेपी.

अव्यय—संबोधनसूचक शब्द, अरे, हे। उ०—हर बीसारै तूं सुवै, हर जागै तौ कज्ज। ए! अपराधी आतमा, ओगुण एह अलज्ज।—ह र.

कहा०—१ ए मां माखी, कै बेटा उड़ाय दे। मां! मां!! दोय है—बेटा मां से कहता है कि अरी माँ-माँ मक्खी आ बैठी। माँ कहती है कि मक्खी आ बैठी तो उड़ा दे। बेटा फिर कहता है, माँ माँ ये तो दो हैं-मैं कैसे उड़ाऊँ? आलसी के लिए।

एकंकार–सं०पु०—एकाकार। उ०—एकंकार ज रहियौ अळगौ, अकबर सरस अनैसौ—दुरसौ आढ़ौ

एकंग–वि०—एकांग, अकेला।

एकंगी–वि०—जिसका स्वभाव सदा एक सा रहता हो।

एकंगौ–वि०—एक रंग का, एक स्वभाव का।

एकंत, एकंति, एकंय–वि० [सं० एकान्त] १ अकेला. २ निराला. ३ एकान्त। उ०—एकंत उचित क्रीड़ा चौ आरंभ, दीठौ सु न किहि देव दुजि।—वेलि. ४ निर्जन, सूना।

एक–सं०पु०—सब से छोटी व प्रथम संख्या।

पर्याय०—इक, पहल, मेक, हेक।

मुहा०—१ एक आंख सूं देखणौ—एक सा समझना, एक सा व्यवहार करना. २ एक आध—कुछ थोड़े से. ३ एक-एक—बारी-बारी, अलग-अलग, हरएक. ४ एक एक खूंणौ छांण मारणौ—सब जगह खोजना. ५ एक-एक रा दौ-दौ करणा—दूना लाभ लेना, बहुत लाभ लेना. ६ एक कैणी नै दस सुणणी—न तो किसी को भला-बुरा कहो न उसका सुनो. ७ एक जबांन—पक्का वायदा, ठीक या निश्चित बात. ८ एक जबांन होणौ—पक्का वायदा करना, ठीक या निश्चित बात करना. ९ एक जांन—बिलकुल हिलेमिले, बहुत बड़े मित्र. १०—एक जांन करणी—मरना और मारना; एक जीव राखणौ—मित्रता या मेल बनाए रखना. ११ एकटक—बिना पलक गिराए. १२ एक तार—बराबर. १३ एक नै एक इग्यारै होवणौ—मेल से बहुत बल बढ़ जाता है. १४ एक पगतणौ ऊबौ रहणौ—काम करने को हर वक्त तैयार रहना. १५ एक पेट रा—सहोदर. १६ एक बात—पक्का वायदा, ठीक या निश्चित बात. १७ एक मां बाप रौ होणौ—मिल कर रहना; असल का होना; एक मां बाप का होना. १८ एकमुस्त—एक साथ; इकट्ठे. १९ एक री दस सुणाणी—एक के उत्तर में दस कहना; एक ताने के बदले में दस कड़े शब्द कहना. २० एक री दौ कैवणी—दुगुना बदला लेना. २१ एक रै लारै दूजौ—धीरे-धीरे; बारी-बारी से. २२. एक रौ इक्कीस करणौ—बढ़ाना; तिल का ताड़ करना.

२३ एक लाठी सूं हांकणौ—सबके साथ एक सा व्यवहार करना; योग्य-अयोग्य, बड़ा-छोटा का विचार कर लेना चाहिये. २४ एक संचा में ढळणौ—एक ही शक्ल-सूरत के; एक स्वभाव के. २५ एक समांन हांणौ—बराबर होना. २६ एक सा दिन नीं जावणौ—दुख या सुख हमेशा नहीं रहना. २७ एक हाथ सूं ताळी नीं बाजणी—झगड़े में केवल एक पक्ष का दोप न होना. २८ एक ही भाव तोलणौ—सबको बराबर समझना. २९ एक होणौ—मेल कर लेना; अप्रतिम होना; एकला होना; अपने गुण और धर्म में अकेला होना।

कहा०—१ एक आंख आंख में नहीं नै एक पूत पूत में नहीं—एक आंख और एक पुत्र नहीं के बराबर होते हैं; अगर एक ही आंख हो और वह भी किसी कारणवश दृष्टिरहित हो जाय तो आदमी पूरा अंधा हो जाता है। इसी तरह एक पुत्र ही हो और किसी कारणवश वह मर जाय तो आदमी निपूता हो जाता है. २ एक आंख में किसी खोलै नै किसी मींचै—एक आंख होने पर कौनसी खोले और कौनसी बंद रखे; एक ही संतान हो तो किससे प्रेम और किससे द्वेप

एकडा–क्रि०वि०—एक स्थान पर । उ०—सचा सांई एकडा, जिण कीध पनारा ।—केसोदास गाडण

एक॰ाळ–सं०पु०—वह कटार जिसका बेंटा और फल एक ही लोहे का बना हो, एक लोहे का बना पूरा कटार ।

एकडो, एकडौ–वि०—१ अकेला, एकाकी. २ एकत्रित, एक साथ । उ०—आंक सरव गुरु एकडौ, जांणीजै विधि जोइ ।—ल.पि.

एकढाळ–वि०—एक मेल का, एक ही तरह का, समान, सदृश ।

एकढ़ाळियौ–सं०पु०—१ एक मंजिल का मकान (क्षेत्रीय) २—वह मकान जिसके एक तरफ ढाल हो ।

एकण–वि०—१ एक, एक ही । उ०—एकण रात विचै अनमंधां, कीधी तेड़ै नेड़ कमंधां ।—रा.रू. २ एक समान, तुल्य. ३ अद्वितीय ।

एकणमल्ल–वि०—बहुतों से अकेला ही युद्ध करने वाला । उ०—गयदंतौ पाडाखुरौ, एकणमल्ल अबीह । जिण वन कवळी संचरै, तिण वन फेरै सीह ।—डाढ़ाळा सूर री वात

एकणसाथ–क्रि०वि०—१ यकायक, अकस्मात्. २ एकदम, एकसाथ । उ०—झूठा विप्र शास्त्र सब झूठा, झूठा जगत झुठाई । कोप विवसथा करमकांट री, एकणसाथ उडाई ।—ऊ.का.

एकणि–वि०—एक । उ०—ढोला वाहि म कंवड़ी, दसिए एकणि पूरि । जे साजण वीहंगडे, वीहंगडड न दूरि ।—ढो.मा.

एकणिए–वि०—एक (ल.पिं.)

एकणी–वि०—एक (रू.भे. एकणि) उ०—पीवंती अंब एकणी पांणि, खडंगम्भ ताम ऊंचास खांणि ।—रा.ज.सी.

एकतरफौ–वि० [फा० इकतरफा] १ पक्ष का. २ पक्षपातग्रस्त. ३ एकरुखा ।

एकता–सं०स्त्री० [सं० ऐक्यता] १ ऐक्य, मेल । उ०—हेत एक जुग रूप हित, मधि विरूप स्वरूप । कारज में गुण एकता, भाव मंध कव भूप ।—क.कु.बो. २ समानता । वि०—अद्वितीय, अनुपम ।

एकतारौ–सं०पु०—एक तार का सितार ।

एकताळ–सं०पु० [सं० एकताल] समताल, एकस्वर ।

एकताळौ–सं०पु० [सं० एकताल] केवल तीन आघात वाला बारह मात्राओं वाला एक ताल ।

एकताळीस–वि० [सं० एकचत्वारिंशत, पा० एकचत्तालीसा] चालीस और एक के योग के बराबर । सं०पु०—चालीस और एक के योग की संख्या ।

एकताळीसमौ–वि०—जो क्रम में चालीस के बाद पड़ता हो ।

एकताळीसेक–वि०—चालीस और एक के योग के लगभग ।

एकताळीसौ–सं०पु०—४१ वां वर्ष ।

एकत्र–क्रि०वि० [सं०] इकट्ठा, एक जगह । उ०—करुणा सत्र अदभूत हास सिंगार एकत्र वरण ।—क.कु.बो. क्रि०प्र०—करणौ, होणौ ।

एकत्रित–वि० [सं०] जो इकट्ठा किया गया हो, संग्रहीत ।

एकथंभियौ–सं०पु०—वह महल जो एक स्तंभ के आकार का हो । वि०—एक थंबे के समान ऊंचा (रू.भे. इकथंभियौ)

एकदंडा–सं०पु० [सं० एकदंड] कुश्ती का एक पेंच ।

एकदंत, एकदंतौ–सं०पु० [सं०] गणेश, गजानन । उ०—एकदंतो ! करूं वीनती । रास प्रगासुं वीसळ-दे-राई ।—वी.दे.

एकदम–अव्यय—१ यकायक, एकाएक. २ बिना रुके, लगातार. ३ फौरन, उसी समय । उ०—दिल्ली हूंत दुल्ह, अकबर चढ़ियौ एकदम । रांण रसिक रणरुह, पलटै केम प्रतापसी ।—दुरसौ आढ़ौ ४ एक बारगी, एक साथ. ५ बिलकुल, नितान्त ।

एकदसन–सं०पु०—१ एक की संख्या* २ हाथी विशेष. ३ गजानन, गणेश ।

एकदांई–क्रि०वि०—एक बार, एक समय । वि०—समवयस्क, बराबर आयु का ।

एकदा–क्रि०वि० [सं०] एक बार । उ०—एकदा प्रस्ताव राव जोधाजी दरबार कियां विराजै है ।—द.दा.

एकनयन–वि० [सं०] काना, एकाक्ष । सं०पु०—१ कौआ. २ कुबेर. ३ शुक्राचार्य ।

एकपग, एकपिंग–सं०पु० [सं० एकपिंग] कुबेर (अ.मा., ह.नां.)

एकपटा–वि०—एक पाट का, जिसकी चौड़ाई में जोड़ न हो ।

एकपत–सं०स्त्री० [सं० एक+पति] एक ही पति को चाहने व प्रेम करने वाली, पतिव्रता, सती ।

एकपत्नीव्रत–सं०पु० [सं० एक+पत्नी+व्रत] केवल एक ही स्त्री(पत्नी) से सम्बन्ध रखने का भाव ।

एकपादव्रक्षासण–सं०पु० [सं० एकपादवृक्षासन] योग के चौरासी आसनों के अन्तर्गत एक आसन जिसमें वृक्षासन की तरह उलटा होकर एक पांव लम्बा रक्खा जाता है तथा दूसरे पांव को लंबायमान कर पांव की जंघा के मूल में स्थापन करके स्थिर किया जाता है ।

एकबारगी–क्रि०वि० [फा० यकबारगी] १ एक ही बार में, बिलकुल. २ अकस्मात् ।

एकबाळ सं०पु० [अ०] १ प्रताप, ऐश्वर्य. २ सौभाग्य. ३ इकबाल, स्वीकार । क्रि०प्र०—करणौ ।

एकमंडळ–सं०पु०—वह घोड़ा जिसके नेत्र की पुतली सफेद हो (अशुभ) (शा.हो.)

एकम–सं०स्त्री०—चन्द्रमास के प्रत्येक पक्ष की प्रथमा तिथि प्रतिपदा ।

एकमत–वि० [सं०] एक राय, समान परामर्श ।

एकमते, एकमतै–क्रि०वि०—एक सम्मति द्वारा, एकमत से ।

एकमनौ–वि०—एकमत, संघटित, मन से एक ही भाव वाला । उ०—वात वात छेहि करइ मलांम, केता मलिक न जाणउं नांम । एकमनौ मारइ रजपूत, हींदू नउ छोडाव्यउ भूत ।—कां.दे.प्र.

एक'. ३३ एक रौ इलाज (गुर) दौ, दौ रौ इलाज (गुर) चार (च्यार)—एक का इलाज दो दो का इलाज चार; कोई कितना ही मजबूत क्यों न हो अकेला दो की बराबरी नहीं कर सकता और इस प्रकार दो व्यक्ति चार की बराबरी नहीं कर सकते. ३४ एक रौ दारू दौ—देखो 'एक रौ इलाज दौ, दौ रौ इलाज चार'. ३५ एक लरड़ी तूय गई तौ कई व्है—भेड़ों के झुण्ड में अगर एक भेड़ का गर्भ गिर भी जाय तो क्या फर्क पड़ता है; बड़ी मात्रा के लाभ में अगर कुछ हानि भी हो जाय तो भी कुछ अंतर नहीं पड़ता. ३६ एक वार जोगी, दो वार भोगी, तीन वार रोगी—योगी एक बार, भोगी दो बार तथा रोगी तीन बार शौच को जाता है; दो बार से अधिक शौच को जाना रोग का लक्षण है. ३७ एक बार ठगायां सूं सैस बुध आवै—एक बार हानि सहने या ठोकर खाने पर ही आदमी भविष्य में अधिक सावधान बनता है. ३८ एक विरती महा वैर—देखो 'एक विरती महा वैर'. ३९ एक सूंठ रै गांठिया सूं पंसारी को हुईजै नी—एक सूंठ के टुकड़े से पंसारी नहीं बना जा सकता; थोड़े से गुण से बड़ा नहीं हुआ जा सकता. ४० एक से दौ भला—एक से दो अच्छे; एक आदमी की अपेक्षा दो आदमी काम को अच्छी तरह कर सकते हैं; यात्रा में साथ होना अच्छा है. ४१ एक सूं नहीं, दोनूं आंख्यां सूं देखणौ—एक से नही दोनों आँखों से देखना चाहिए; समान वर्ताव रखना चाहिए. ४३ एक हाथ में गधौ नैं एक हाथ में घोड़ौ—अधिक प्यार करने के साथ कभी-कभी झिड़क देना; निंदा करते करते कभी कुछ प्रशंसा भी कर देना. ४३ एक हाथ सूं ताळी कौ बाजै नी—एक हाथ से ताली नहीं बजती; कोई काम अकेले नहीं होता; लड़ाई-झगड़ा एक ओर से नहीं होता; एक ओर से अच्छा व्यवहार किए जाने पर ही दूसरी ओर से अच्छा व्यवहार किया जा सकता है; एक तरफा कोई बात नहीं बनती. ४४ एक घर में दौ (सातें) मता, कुसळ कांय कूं होय—एक घर में अनेक मत हों तो कुशल कैसे हो ? घर के सब लोग एक मत से न चलें तो घर नहीं चल सकता. ४५ एक डोरे पोयोड़ा—एक जैसी शिक्षा प्राप्त व्यक्तियों के लिए प्रयुक्त, समान मत वाले व्यक्तियों के लिये. ४६ एक पहिए रथ नहीं चालै—एक पहिए से रथ नहीं चल सकता; कोई काम अकेले नहीं होता।

(रू भे.—इक, हिक, हेक, हेकौ)

यौ०—एकटक, एकडंकी, एकतरफौ, एकतारौ, एकताळौ, एकथंभियौ, एकदंत, एकदम, एकनयण, एकपग, एकपत, एकपत्नीव्रत, एकवारगी, एकमत, एकमनौ, एकमेक, एकरंगौ, एकदम, एकरस, एकरूप।

२ अद्वितीय, अनुपम. ३ कोई, अनिश्चित. ४ एक ही प्रकार का, समान, तुल्य. ५ अकेला। उ०—एक उजाथर कळहि एहवा, साथी सहु आखाढ़सिध।—वेलि.

एकइ—(प्रा०रू०)—एक ने। उ०—वीसूं सुणि ढोलउ कहइ, एकइ कहियऊ एम। मारवणी वूढी हुई, कहि सांची तूं केम।—ढो.मा.

२ एक ही। उ०—अस्त्री-चरित-गति कौ लहइ ? एकइं आखर रः सबइ विणास।—वी.दे.

एकक—वि०—१ अकेला (डिं.को.) २ असहाय. ३ निराला।

एककारण—सं०पु०—शिव, महादेव (क.कु.बो.)

एककुंडळ—सं०पु०—शेषनाग (ह.नां.)

एकग—क्रि०वि०—एक साथ।

एकग्र—वि० [सं० एक+अग्+र] इकट्ठा। उ०—एकग्र होई नै हालिया।—चौवोली

क्रि०प्र०—करणौ, होणौ।

एकड़—सं०पु० [अ०] १ 1½ बीघे या ४८४० वर्ग गज के बराबर का एक भूमि का नाप. २ देखो 'इकड़'।

एकचक्र—सं०पु०—१ सूर्य. २ सूर्य का रथ।

वि०—चक्रवर्ती।

एकचक्रा—सं०स्त्री०—एक प्राचीन नगरी जहाँ बकासुर का राज्य था।

एकचख—वि० [सं० एकचक्षु] एक आँख वाला, काना।

सं०पु०—दैत्य-गुरु शुक्राचार्य (मि. चखएक)

एकचित—वि० [सं० एकचित्त] एकाग्रचित्त, स्थितचित्त।

एकछत्र—सं०पु० [सं०] वह राज्य जिसमें किसी दूसरे का अधिकार या राज्य न हो।

क्रि०वि०—एकाधिपत्य के साथ।

एकज—सं०पु० [सं०] १ जो ब्राह्मण न हो. २ शूद्र. ३ राजा।

वि०—एकमात्र। उ०—तूं एकज प्रभ थया तुम्ह अह्म, प्रपोटा अंबु तणा पर-प्रम्म।—ह.र.

एकटंगौ—वि०—जिसके केवल एक टाँग ही हो, लँगड़ा।

एकटक—क्रि०वि०—लगातार देखते हुए, अनिमेष।

एकटकी—सं०स्त्री०—टकटकी, स्तब्ध दृष्टि।

एकट, एकठ—वि०—इकट्ठा, एकत्र। उ०—अमर किया भड़ एकठा, लियौ उदैपुर लार।—रा.रू.

एकठड़ौ—वि०—एक साथ।

एकठा—वि०—१ एकत्रित। उ०—आदमी ठावा ठावा एकठा कर बड़ी जांन बणाय गयौ।—सूरे खींवे री वात

२ एक साथ। उ०—गोखां बैठा एकठा, माळवणी नै ढोल।—ढो.मा.

एकठो, एकठौ—वि० (स्त्री० एकठी) एकत्रित, इकट्ठा, शामिल।

उ०—गाआळ दोड़े करै एकठी गोपियां, चीर खांचै घणै हांस चाडै।—बां.दा.

क्रि०प्र०—करणौ, होणौ।

क्रि०वि०—एक साथ।

एकडंकी—सं०पु०—देखो 'इकडंकी' (रू.भे.) उ०—सीख्यौ वंकी पाठसाळा आला एकडंकौ सीख्यौ।—ऊ.का.

एकलौ–वि० (स्त्री० एकली) अकेला, एकाकी। उ०—रहिस निरालंब एकलौ, तज काया मझ वास।—ह.र.

कहा०—एकला दोकला री याग नहीं लागै—अकेले व्यक्ति से कोई काम आसानी से नहीं होता।

एकलोतौ–वि० (स्त्री० एकलोती) अपने माता-पिता का एक मात्र पुत्र।

एकल्लमल्ल—देखो 'एकलमल' (रू.भे.) उ०—एकल्लमल्ल दुझल्ल आंकल कहि कलहि अकळ'।—ल.पि.

एकल्लौ—देखो 'एकलौ'। उ०—उत्तर आज स उत्तरउ, ऊकटिया सारेह। वेलां वेलां परिहरइ, एकल्लां मारेह।—ढो.मा.

एकवचन–सं०पु० [सं०] व्याकरण में वचन का एक भेद जो केवल एक का बोध कराता है।

एकवासा–सं०पु० [सं० एकवासस्] एक प्रकार के दिगंवर जैन।

एकवेणी–वि०स्त्री० [सं०] १ एक ही वेणी में वालों को समेटने वाली। २ विरहिणी. ३ विधवा।

एकव्रती–सं०स्त्री०—समान व्यवसाय।

कहा०—एकव्रती सदा वैर—समान व्यवसाय वालों में शत्रुता होती है।

एकसंग–सं०पु० [सं० एक+संग] १ सहवास. २ विष्णु।

एकसंय–वि०—एकमत। उ०—सुकदेव व्यास जैदेव सारिखा, सुकवि अनेक ते एकसंय।—वेलि.

एकसठि–वि०—देखो 'इकसठ' (रू.भे.)

एकसत्तावाद–सं०पु० [सं०] सत्ता ही प्रधान वस्तु मानने का दर्शन का सिद्धांत।

एकसफ–सं०पु० [सं० एकशफ] विना फटे हुए खुरों वाले पशु यथा—घोड़ा गदहा आदि।

एकससियौ, एकसांस–क्रि०वि०—एक सांस से, बहुत जोर से या उग्र रूप से, बेतहाशा। उ०—छांह बांधा रहता, तिके एकससिया दौड़ता हांफण लागा।—जगमाल मालावत री वात

एकसौ, एकसौ–वि० [फा० यकसो] एक जैसा, एक समान।

एकांग–वि० [सं०] एक ही अंग का, एक पक्ष का।

एकांगी–वि०—१ एक पक्ष का, एक ओर का. २ हठी।

एकांण–वि०—एक।

एकांणव–सं०पु०—इक्यावनवां वर्ष।

एकांणि–वि०—एक।

एकांणो–सं०पु० [सं० एक+आसन] किसी विशेष त्यौहार, महत्वपूर्ण या इष्टदेव के नियत दिन पर केवल एक वार भोजन करने का एक व्रत। (रू.भे. एकासणो)

एकांत–वि०—१ बिल्कुल अलग, निर्जन, सूना २ पृथक, अलग. ३ अकेला.

सं०पु०—सूना स्थान।

एकांतरकोण–सं०पु० [सं०] एक ओर का कोना।

एकांतरौ–सं०पु०—१ एक दिन छोड़ कर दूसरे दिन आने वाला ज्वर, एकाहिक ज्वर. २ एक दिन छोड़ कर दूसरे दिन किया जाने वाला काम. ३ एक दिन को छोड़ कर दूसरा दिन।

एकांतवास–सं०पु० [सं० एकांतवास] सूने स्थान में अकेले रहना।

एकांतवासी–वि०—सूने स्थान में अकेला रहने वाला।

एकांतस्वरूप–वि० [सं० एकांतस्वरूप] निर्लिप्त, असंग।

एकांति–वि०—देखो 'एकांत'। उ०—एकांति कै विखै जु विधि छै।

सं०पु०—देखो 'एकंति' (रू.भे.) —वेलि. टी.

एकांती–सं०पु०—वह भक्त जो भगवत्प्रेम को अपने अंतःकरण में ही रखता है और प्रकट नहीं करता।

एकांयत–वि०—देखो 'एकांत'। उ०—अळगा एकांयत नीयत निरदावै, धूणी अवधूतां दूणी धुकावै।—ऊ.का.

एका–सं०स्त्री०—दुर्गा।

वि०—एक। उ०—वन्नरवाळ वंधांणी वल्ली, तरुवर एका विये तरि।—वेलि.

एकाई–सं०स्त्री०—१ एक का भाव, एक का मान. २ वह मात्रा जिसके गुणन या विभाग से दूसरी मात्राओं का मान ठहराया जाय. ३ अंक गणना में प्रथमांक या प्रथम स्थान।

एकाऊंट–सं०पु०—अकाउंट, लेखा।

एकाएक, एकाएकी–वि०—इकलौता, एकमात्र। उ०—सौ एकाएक बेटौ फेर कुंवर सरव राजा री भार संभाळ लियौ।

—पलक दरियाव री वात

क्रि०वि०—अचानक, अकस्मात्, यकायक। उ०—आडौ अडि एकाएक आपड़ै, वाग्यौ एम रुखमणी वीर। अवळा लेइ घणी भूमि आयौ, आयौ हूं पग मांडि अहीर।—वेलि.

एकाकार–सं०पु०—१ एक होने की दशा, एकमय होना. २ एकत्रित हो जाने की दशा।

एकाकी–वि० [सं० एकाकिन्] अकेला, तनहा। उ०—अरु मैं एकाकी थूरन मत थाकी इन अगें।—ऊ.का.

एकाक्ष–वि० [सं०] काना, एक आंख ही धारण करने वाला।

सं०पु०—१ कौआ. २ शुक्राचार्य।

एकाक्षरी–वि०—एक अक्षर का।

सं०पु०—एक वृत्त जिसमें एक ही अक्षर का प्रयोग होना है।

एकाख—देखो 'एकाक्ष'।

एकागर–क्रि०वि०—एकाग्र, स्थिर।

एकागार, एकागारक, एकागारी–सं०पु० [सं० ऐकागारिक] १ चोर (अ.मा., ह.नां.) २ दुष्ट, नीच, पतित।

एकाग्र–वि० [सं०] १ एक ओर स्थिर, अचंचल. २ एक ही ओर ध्यान लगा हुआ. ३ योग के अनुसार चित्त की वृत्ति (रू.भे. एकग्र)

एकाग्रचित्त–वि०यौ०—जिसका मन एक ही ओर लगा हो व इधर-उधर न जाता हो स्थिर चित्त। उ०—मन सुध एकाग्रचित्त करि रुकमणीजी कौ।—वेलि. टी.

एकमात्रिक–वि० [सं०] एक मात्रा का।

एकमुखी–वि० [सं०] एक मुंह वाला। (यौ० एकमुखी, रुद्राछ)
उ०—सुजांण ऊठ डेरै जाय, हरड़े एक सवा सेर री, समरणी एकमुखी रुद्राछ री ग्रांण भेंट कीवी।—पलकदरियाव री वात

एकमेक–वि०—१ बराबर, समान, तुल्य. २ मिला हुआ, परस्पर मिला हुआ।
क्रि०वि०—परस्पर मिला हुआ, दो या दो से अधिक व्यक्तियों या वस्तुओं आदि का मिल कर एक होना। उ०—तरै जलाल बांह घाल, आलिंगन कर चुम्बन कियौ। मांहीमांही एकमेक हुइया।
—जलाल बूबना री वात

एकरंग, एकरंगौ–वि०—१ समान, तुल्य। उ०—तीं पर जोधपुर में राजसिंह खींपावत कूंपावत परधांन थौ सौ सारा अमरावां नूं एकरंग राखिया।—अमरसिंह री वात २ कपटरहित. ३ सब ओर से एक सा. ४ एकीभूत, आनन्दित।

एकरंगीभ्रांतिजथा–सं०स्त्री०—डिंगळ का एक अर्थालंकार विशेष जिसमें भ्रांतिमान अलंकार का समावेश हो (क.कु.बो.)

एकरंगौ–वि०—सदा एक ही प्रकृति में रहने वाला।

एक'र–क्रि०वि०—एक दफा, एक समय (मि० एकररा)
उ०—आंसूड़ा ढळकावै कायर मोर ज्यूं, रै म्हारा रतन राणा, एक'र तौ अमरांणे घोड़ौ फेर।—लो. गी.

एकरखी, एकरखौ–वि०—१ निरन्तर एक ही प्रकृति या स्वभाव से रहने वाला. २ सदा एक ही रूप या अवस्था में रहने वाला।
उ०—आ काया कर अंब एकरखी किम जावै, दोय लागू जम जरा रा वैरी जुग खावै।—ज.खि.

एकरदन–सं०पु० [सं०] गणेश (अ.मा.)

एकररा, एकररचौ—एक दफा, एक बार, एक समय। उ०—एकररचौ मिळि आय, साजन भीड़ै सांहियां। थिर मौ मनड़ौ थाय, जाइ जसा दुख जूजुवा।—जसराज

एकरवा–सं०पु०—एक तरफ से गढ़ा हुआ पत्थर।

एकरस, एकरसउ–वि०—एक ढंग का, समान, बराबर।

एकरसी–क्रि०वि०—१ लगातार. २ एक बार, एक दफा।
उ०—दूजे चार ठावा मांणस मेल्ह कहायौ—भाई, ऐकरसी मिळौ।
—पदमसिंह री वात

एकरसूं–क्रि०वि०—एक वार। उ०—धूतारा जोगी एकरसूं हंसि बोल।—मीरां

एकरां–क्रि०वि०—एक बार, एक दफे। उ०—अमर उकेकल करौ एकरां, वोहौनांमी जंपै वळराव।—महारांणा सांगा री गीत

एकरार–सं०पु० [अ०] १ स्वीकार. २ स्वीकृति. ३ प्रतिज्ञा, वायदा, कौल।

एकरियै, एकरू–क्रि०वि०—एक वार, एक दफा। उ०—विलसा नै लागै महल-माळिया, हो म्हारा रतन रांणा, एकरियै अमरांणै पाछौ आव।—लो.गी.

एकरूप–वि०—१ समान आकृति का. २ ज्यों का त्यों, वैसा ही।
सं०स्त्री०—समानता, एकता।

एकलंगा–सं०पु०—कुश्ती का एक पेंच।

एकलंगाडंड–सं०पु०—एक प्रकार की कसरत या डंड।

एकल–सं०पु०—वड़ा सूअर, वराह (अ.मा.) उ०—सीह किसी साराह, सरभ रव सुणे सळक्कै, एकल की ओपमा, लड़ै भागै थह लुक्कै।—रा.रू.
वि०—१ अकेला ही, अनेकों से मुकावला करने वाला वीर।
उ०—भड़ण हुआ लाखां दळ भेळा। गढ साखी वागी गजर। आखी अणी भूप एकल री। धणी नाथ राखी धजर।—महादांन महड़ू
२ अकेला। उ०—हरराज डोड बूंदी रा मीणां रौ एकल असवार घणौ धरती रौ बीगाड़ करै।—नैणसी ३ अद्वितीय।

एकलउ–वि०—अकेला। उ०—जउ प्रद्युम्न आवइ एकलउ, पहिली आणउ कीधउ भलउ।—ढो.मा.

एकलखोरौ–वि०—१ सदा अकेला रहने वाला. २ स्वार्थी.
३ ईर्ष्यालु।

एकलगिड़–सं०पु०—वन में सदा अकेला ही विचरण करने वाला सूअर।
उ०—जांगड़िए वडा राग माहै दूहा दिया, परिजाऊ दूहा। वेगड़ा सांड धवळ रा दूहा। एकलगिड़ वाराह रा दूहा।—वचनिका

एकलड़ौ–वि० (स्त्री० एकलड़ी) अकेला। उ०—महि मोरां मंडव करइ, मनमथ अंगि न माइ। हूं एकलड़ी किम रहउं, मेह पधारउ माइ।—ढो.मा.

एकलत्तीछपाई–सं०स्त्री०—कुश्ती का एक पेंच।

एकलवैणौ–सं०पु०—डिंगल का एक गीत (छंद) विशेष जिसके विषम पद में १६ वर्ण और सम पदों में १४ वर्ण होते हैं। सम पदों के अंत में गुरु-लघु होता है और अन्य सब वर्ण लघु होते हैं। इसके प्रथम चरण में अठारह वर्ण होते हैं (र.रू.)

एकलमल–सं०पु०—परब्रह्म, विष्णु।
वि०—१ अकेला. २ अकेला ही कई योद्धाओं से लड़ने में समर्थ।

एकलवाड़–सं०पु०—वड़ा व शक्तिशाली सूअर। उ०—रिण रोहियौ घणौ राठौड़े, चीवौ एकलवाड़ वर।—नैणसी

एकलव्य–सं०पु० [सं०] द्रोणाचार्य की मूर्ति को गुरु मान कर शस्त्राभ्यास करने वाला एक भील।

एकलापौ–सं०पु०—अकेलापन, अकेला होने या रहने का भाव।
वि०—अकेला।

एकलिंग–सं०पु० [सं० एकलिङ्ग] शिव का एक रूप जो गहलोत व सीसोदिया राजपूतों के कुलदेव माने जाते है (रू.भे. इकलिंग)

एकलि–वि०—एक (ल.पि.)

एकलियौ–वि०—१ अकेला. २ एक से संबंधित।
सं०पु०—एक बैल से चलाया जाने वाला हल।

एकलीम–सं०पु० [अ० अकलीम] देश, राज्य (मि० अकलीम)

एकोतरौ—देखो 'एकोतरौ'।
एक्कावांन–सं०पु०—एक्का हांकने वाला।
एक्कावांनी–सं०स्त्री०—एक्का हांकने का कार्य या इस कार्य की मजदूरी।
एक्को—१ देखो 'इक्को' २ देखो 'एकौ'।
एगरउ–सं०स्त्री० [सं० एक] एक समय, एक बार। उ०—एगरउ कढे-वकरउ, ढोली मेल्हे वग्ग। दीवा वेळा संचरूं, तउ वाढे चारे पग्ग।
—ढो.मा.
एग्गारह—देखो 'अगियार' (रू.भे.) उ०—हुवा प्रकट मांणिक्क हूं, एग्गारह ए भेद।—वं.भा.
एड़णौ, एड़बौ–क्रि०स०—एकत्रित करना, झुंड बनाना। उ०—भुरजां भुरजां वापूकारिया अेड़िया भड़ां। हलै हलौ जनेवां झेड़िया ठांम ठांम, नवां कोटां नाथ रा छेड़िया काळा नाग नांई, तैं सीस नगारावंध तेड़िया तमाम।—गोपालजी दधवाड़ियौ
एड़ै-छेड़ै–क्रि०वि०—इधर-उधर, आस-पास, ओर-छोर।
एड़ौ-वेड़ौ–क्रि०वि०—ऊपर-नीचे।
सं०पु०—एक गगरी पर दूसरी गगरी रखने की क्रिया या ढंग, इसी प्रकार एक वस्तु पर दूसरी वस्तु रखने या जमाने का कार्य।
एछी–सं०स्त्री०—आवड़ देवी की एक बहन का नाम।
एजुकेसन–सं०पु० [अं०] शिक्षा।
एजुकेसनळ–वि० [अं०] शिक्षा का, शिक्षा संबंधी।
एजेंट–सं०पु० [अं०] ब्रिटिशकाल में किसी देशी रियासत में रहने वाला अंग्रेजी सरकार का प्रतिनिधि, प्रतिनिधि, दूत।
एडंक–सं०पु० [सं० एडक] मेंढ़ा, भेड़ा।
एड–सं०पु० [सं०] नर भेड़। उ०—मुख मंडि मिंदुरनि रत्त किये। अज एड महिख्खन भक्ख दिये।—ला.रा.
सं०स्त्री०—एडी उ०—तिरोहित रै राजा सिवसिंघ ऐराकी घोड़ा रै एड लगायौ।—वां दा.ख्या. (मि० एडी)
एडक–सं०पु० [सं०] मेंढ़ा, भेड़ा (डिं.को.)
एडगज–सं०पु० [सं०] पुवाड़, चकवड़ (डिं.को.)
एडवाइजर–सं०पु० [अं०] सलाहकार, परामर्शदाता।
एडवोकेट–सं०पु० [अं०] उच्च न्यायालय में बहस कर सकने वाला वकील।
एडवोकेट जनरल—उच्च न्यायालय में सरकार का पक्ष लेकर बोलने वाला वकील।
एडिटर–सं०पु० [अं०] सम्पादक।
एडिटरी–सं०स्त्री०—संपादक का कार्य, संपादन।
एडी–सं०स्त्री०—टखने के नीचे पैर के पीछे का गद्दीदार भाग, एड़।
क्रि०प्र०—घिसणी, देणी, मारणी, रगड़णी, लगाणी।
मुहा०—१ एडी देणी—घोड़े को ठोकर देकर चलाना, ठोकर मारना, व्याघात पहुँचाना, बाधा देना. २ एडी घिसणी—कष्ट सहना, बहुत दौड़ना, बहुत प्रयत्न करना. ३ एडी चोटी रौ पसीनौ एक करणौ—बहुत परिश्रम या प्रयास करना. ४ एडी रगड़णी—देखो 'एडी घिसणी'।
कहा०—ढूंगां रै एडियां लगाय नै जावणौ—बिना रुके शीघ्र चले जाना।
एडौ–सं०पु०—१ हर्ष या शोक के समय किया जाने वाला भोज. २ ईर्ष्या, डाह, वैर।
एढौ–सं०पु०—१ एक बड़ा अवसर, विशेष अवसर, मौका। देखो 'एडौ' (१)
एण–सं०पु० [सं०] १ एक खास जाति का हरिण जिसके पैर छोटे, आंखें बड़ी होती हैं. २ हरिण। उ०—राजति अति एण पदाति कुंज-रथ, हंसमाळ वंधि लास हय।—वेलि. ३ मृगचर्म।
सर्व०—यह, इस। उ०—एण समई यइ आवियउ, वीसू तिणहीं वार।
—ढो.मा.
सं०पु० [सं० अयन] घर, मकान (रू.भे. 'ऐण')
एणपताका–सं०पु० [सं०] चंद्रमा (डिं.को.)
एणसार–सं०पु० [सं०] कस्तूरी, मृगमद। उ०—सुगंध गंधसार एणसार मेघसार ए, सवास अंवरे लुवान डंवरे निसार ए।—रा.रू.
एणि–सर्व०—१ इस। उ०—विधि एणि ववावे वसंत वधाए, भालिम दिन दिन चढ़ि भरण।—वेलि. २ इसने। उ०—एणि कवण सुभ क्रम आचरतां, जांणियै वेलि जपंति जगि।—वेलि.
सं०पु० [सं० एण] हरिण (रू.भे एण)
एतत–सर्व० [सं०] यह।
एतबार–सं०पु० [अ०] भरोसा, विश्वास।
क्रि०प्र०—उठणौ, करणौ, जमणौ, होणौ।
मुहा०—१ एतबार उठणौ—विश्वास का हट जाना. २ एतबार जमणौ—विश्वास उत्पन्न होना।
एतराज–सं०पु० [अ०] विरोध, आपत्ति।
एतराजी–सं०पु० [अ० एतराज] १ विरोध, आपत्ति. २ विरोध, बिगाड़।
एतले, एतलै–वि०—इतने।
क्रि०वि०—तब तक, अब तक।
एतलौ–वि० [सं० इयत] (स्त्री० एतली, बहु० एतला) १ इतना। उ०—सूर अगटि एतला समपिया, मिळियां विरह विरहियां मेळ। —वेलि.
२ ऐसा।
एति, एती–सर्व०—इस। उ०—दीधा हीरा पाथरी, काल्ही आवही राजा एती वार।—वी.दे.
वि०—इतनी। उ०—सु परिण आपणी उजळता करि आकास सौं मिळि गयौ है। एती विगति नहीं लाभै छै।—वेलि. टी.
एतेह–वि०—इतना। उ०—सुणे रूप वीचार एतेह सूनी, ढोटौ रूप मोरारि निव्वांण धूनी।—ना.द.
एतो, एतौ–वि० [सं० इयत्] (स्त्री० एती) (बहु० एता, एतै) इतना।

एकाग्रता-सं०स्त्री० [सं०] चित्त की स्थिरता, मनोयोग, अचांचल्य, ध्यानस्थैर्य ।

एकातपत्र-वि० [सं०] सार्वभौम, एकछत्र, चक्रवर्ती ।

एकात्मा-सं०स्त्री० [सं० ऐक्यता] एकता, अभेद, अभिन्नता, एकरूपता ।

एकादस-वि० [सं० एकादश] ग्यारह ।

सं०स्त्री०—चंद्रमास के प्रत्येक पक्ष की ग्यारहवीं तिथि ।

सं०पु०—ग्यारह का अंक ।

एकादसरुद्र—हनुमान (नां.मा.)

एकादसी-सं०स्त्री० [सं० एकादशी] १ चंद्रमास के प्रत्येक पक्ष की ग्यारहवीं तिथि जो पवित्र दिवस माना जाता है। प्रायः इस दिन उपवास रखा जाता है।

एकाधपत-सं०पु० [सं० एकाधिपत्य, एकाधिपति] १ पूर्ण प्रभुत्व. २ चक्रवर्ती, सम्राट। उ०—ताप थारै 'पदम' कमध एकाधपत चोळ चख देख पतसाह चळियौ, साह दरगाह मैं वैर नव साहंसा व्याज लीधां थकां वैर वळियौ ।—राजा पदमसिंह बीकानेर री गीत

एकाबादर, एकाबाहदर-वि०—अकेला, एकाकी, जिसका कोई निकट सम्बन्धी न हो ।

एकार-सं०पु० [सं० एकाकार] देखो 'एकाकार'।

वि०—१ एक समान, एक आकार का. २ एकाचार, भेदभाव-रहित ।

क्रि०वि० [सं० एक-वार] एक समय, एक दफा। उ०—जासी हाट वात रह जासी जग, अकबर ठग जासी एकार। रे राखियौ खत्री ध्रम रांणौ, सारौ ले वरतौ संसार ।—प्रथ्वीराज राठौड़

एकारां, एकारूं-क्रि०वि०— एक समय, एक वार ।

एकावन-वि०—देखो 'इक्यावन'।

एकावळहार-सं०पु०—अद्वितीय मूल्यवान हार जिसकी समता कोई दूसरा हार न कर सके ।

एकावळि-सं०स्त्री०—१ एक अर्थालंकार विशेष जिसमें पूर्व २ वर्णित विशेष्य अर्थों में उत्तरोत्तर वर्णित अर्थों का विशेषण भाव से गृहीत-मुक्त-रीति पूर्वक स्थापन या निषेध किया जाय (साहित्य)

२ एक लड़ी की माला या हार. ३ एक से सौ तक गिनती ।

एकासणौ—देखो 'एकांणौ' (रू.भे.)

एकास्रित-वि०—एक ही पर आश्रित, एक ही पर आधारित ।

एकाकी-वि०—अकेला (डि.को.)

एकाहिक-वि०—एक दिन में समाप्त होने वाला, एक दिन का ।

एकी-सं०स्त्री०—१ गुरु के पास से पेशाब करने के लिए कनिष्ठिका अंगुली उठा कर संकेत से आज्ञा मांगने की क्रिया या भाव ।

२ इकाई। (यौ० एकीवेकी)

वि०—एक ।

एकीकरण-सं०पु० [सं०] मिला कर एक करना ।

एकीवेकी-सं०स्त्री०—इमली के चिंओं या बीजों अथवा कौड़ियों से खेला जाने वाला एक प्रकार का खेल या जुआ, चुंचुरी ।

वि०वि०—एक लड़का मुट्ठी में कुछ इमली के बीज (चिंआं) छिपा लेता है और दूसरे से पूछता है—'एकी या वेकी' जिसका अर्थ होता है कि मुट्ठी के भीतर वाले चिंओं की संख्या सम है या विषम? दूसरा लड़का ठीक-ठीक वतला देता है तो जीत जाता है और अगर सही नहीं वतला सकता तो हार कर उतने ही इमली के बीज जीतने वाले को देने पड़ते हैं जितने पहले वाले लड़के की मुट्ठी में होते हैं।

एकीस-वि० [सं० एकविंशति, प्रा० एक्कवीसा, अप० एकवीस] वीस और एक के योग के समान ।

सं०स्त्री०—वीस और एक के योग की संख्या, इक्कीस ।

एकीसमौ-वि०—इक्कीसवां, जो क्रम में वीस के वाद पड़ता हो ।

एकीसार-वि०—एकसा, एक समान ।

एकीसे'क-वि०—जो इक्कीस के लगभग हो ।

एकीसौ-इक्कीसवां वर्ष ।

एकूकी-वि०—प्रत्येक, हरएक.। उ०—एकूकी अभसाह री, गोठां उठै गरत्थ। प्रगट इतै वन और पह, सौ जिग करै समत्थ ।—रा.रू.

एकेंद्रिय-सं०पु०—१ उचित और अनुचित दोनों प्रकार के विषयों से इंद्रियों को हटा कर मनमें लीन करना (सांख्य शास्त्र)

२ वह जीव जिसके केवल एक ही इंद्रिय हो (जैन)

एके, एकै-वि०—एक। उ०—डार एकै पासै छै ।—रा.सा.सं.

एकोकार—देखो 'एकाकार'।

एकोछत्र— देखो 'एकछत्र'।

एकोज-वि०—एक ही ।

एकोतड़ौ-वि०—ऐक सौ एक ।

सं०पु०—१ एक सौ एक की संख्या. २ देखो 'एकोतरौ' (२)

एकोतर-वि० [सं० एकसप्तति, प्रा० एक्कसत्तरि, अप० इकोतरं] सत्तर और एक के योग के समान ।

सं०पु०—सत्तर और एक के योग की संख्या ।

एकोतरमौ-वि०—जो क्रम में सत्तर के वाद पड़ता हो ।

एकोतरसौ-वि०—एक सौ एक ।

सं०पु०—१ एक सौ एक की संख्या. २ सात हजार एक सौ एक की संख्या ।

एकोतरि—देखो 'एकोतर'।

एकोतरे'क-वि०—इकहत्तर के लगभग ।

एकोतरौ-सं०पु०—१ इकहत्तरवां वर्ष. २ एक रुपया प्रति सैकड़ा प्रति मास व्याज की दर ।

एकोळाई-सं०स्त्री०—वढ़ई का एक औजार

एकौ-सं०पु०—१ देखो 'इको' २ ऐक्यता, संगठन ।

वि०—१ देखो 'इक्कौ'. २ एक ।

उ०—एकौ ही नांम अनंतरौ पैलै पाप प्रचंड ।—ह.र.

कहा०—एवड़ में कुण जाई रै कै बापू वे तौ नारां सूं ही मूंडा—अधिक हानि पहुँचाने वाले के प्रति. २ भेड़ चराने वालों से लिया जाने वाला एक प्रकार का कर।

एवड़-छेवड़—क्रि०वि०—आसपास, इधर-उधर, किनारे पर, तट पर।
उ०—१ अेवड़-छेवड़ सात सिलांम, वारी वरण वारी औ हंजा। बीच लिखी है, गोरी राजाजी री नौकरी जी राज।—लो.गी
उ०—२ अेवड़-छेवड़ म्हारा कवर भतीजा, ज्यां बिच मेले रूड़ा भांणजा।—लो.गी.

एवज—सं०पु० [अ०] १ प्रतिफल. २ प्रतिकार, बदला. ३ दूसरे के स्थान पर कुछ समय के लिये काम करने वाला, स्थानापन्न।

एवजांनौ—सं०पु० [अ० एवज+रा०प्र०नौ] प्रतिफल, बदला, प्रतिकार, परिवर्त्तन।
क्रि०प्र०—देणौ, मिळणौ, लेणौ।

एवजी—सं०स्त्री० [अ० एवज+रा०प्र०ई] १ बदले में कार्य करने की क्रिया या भाव।
सं०पु०—२ किसी जगह पर कुछ समय के लिये कार्य करने वाला व्यक्ति।

एवड, एवडौ, एवडऊ, एवडु—वि०—१ इतना. २ ऐसा।
उ०—१ अलूखांन एवडु भडवाउ, किम चहूआंणे दीधउ दाउ।—कां.दे.प्र.
उ०—२ एवडऊ ताप गाढउ, भावइ करवउ टाढउ।—रा.ज.सी.

एवहो, एवहौ—वि०—ऐसा।

एवाड़ौ—सं०पु०— भेड व बकरी के समूह को रखने का स्थान।

एवाळ—सं०पु० [सं० अजपाल, प्रा० अयवाल=एवाल] १ भेडें चराने वाला, गडरिया। उ०—ढोलउ करह विमासियउ, देखे वीस वसाळ। ऊंचे थळड ज एकलौ, वच्चाळड एवाळ।—ढो.मा. २ किनारों पर आ जाने वाला पानी पर का कूड़ा-करकट, मैल आदि।

एवाळियौ एवाळौ—सं०पु० [सं० अजपाळ] देखो 'एवाळ' (१)
उ०—ग्वाळां हुवा कांनड़ा, एवाळां आधीन। वस चुगलां रै सरव विध, कान मठां इम कीन।—बां.दा.
कहा०—एवाळिये वाळी गूंज—निस्सार बात के लिये।

एवास—सं०पु० [सं० आवास] आवास, भवन।

एवासी—सं०पु० [सं० आवास+ई] निवास करने वाला, रहने वाला।
उ०—गाजिया नगारा गयण गाज। भूमि एवासी गया भाज।—वि.सं.

एवाहो—सं०पु०—नेता, प्रधान। उ०—एक उजायर कळहि एवाहा, साथी सह आल्हादसिध।—वेलि.

एवे—सर्व०—वे। उ०—कमधज लीनी काळवी, जपिया वयण अठेह। बापक तै नर बाहिया, एवे 'पाठ' अठेह।—पा.प्र.

एस—अव्यय—सर्व०—यह। उ०—सुरजन हू कहियौ मजे, अब मारौ मुत एस।—वं.भा.

एसरब—सं०पु०—मुसलमानों के तीर्थ मक्का नामक नगर का नाम (बां.दा. ख्यात)

एसिया—सं०पु०—पृथ्वी का वह भूखंड जिसमें भारत, चीन, अरब और कुछ रूस का पूर्वी हिस्सा है। एशिया।

एस्टीमेंट—सं०पु०—अंदाज, अनुमान, तखमीना।

एह—सर्व० [सं० एष] १ इस। उ०—लाजवती अंगि एह लाज विधि, लाज करंती आवै लाज।—वेलि. २ यह, ये।
उ०—सैसव नु जु मिसिर विलीत थयौ सहु गुण गति मति अति एह गिणि।—वेलि.
वि०—ऐसा। उ०—अंन दिन कियौ पराक्रम ईसर, एकण किणहि न कीयौ एह।—ईसरदास मेड़तिया रौ गीत

एहड़लौ—वि० (स्त्री० एहड़ली) १ ऐसा. २ व्यर्थ, फिजूल।
उ०—ग्यांन बिनां थें यूंही गमाई, ऊमर एहड़ली।—ऊ.का.

एहड़ौ—वि० (स्त्री० एहड़ी) ऐसा। उ०—धन पारेवा प्रीति, प्यारी विण न रहै पलक। ए मानवियां रीत, इखी 'जसा' न एहड़ी।—जसराज
क्रि०वि०—ऐसा, इस प्रकार। उ०—एहड़ी सुणे महाराज कहियौ उठै. अपड़ खीची उरी भेज दीजो अठै।—जसजी आढौ

एहज—वि०—१ इसी. २ सही।
सर्व०—यही।

एहतियात—सं०स्त्री० [अ०] १ सावधानी, चौकसी. २ परहेज।

एहवौ—वि०—ऐसा (रू.भे. एहवौ) उ०—देखतां एहबो जंग धड़क्कै आगरौ दिल्ली।—सूरजमल मीसण

एहलांण—सं०पु०—निशान, स्मृति, चिन्ह।

एहळौ—वि० [सं० अफल] निष्फल, व्यर्थ, फजूल (देखो 'ऐहळौ' रू.भे.)
उ०—घणा दिन एहळा गयाजी, दीठौ नहिं दीठौ नहिं दीदार।—मी.रा.

एहवउ, एहवां एहवूं, एहवो, एहवौ—वि०—ऐसा (प्रा०रू०)
उ०—१ एहवउ छळ चाचिगदे कीयउ, पिंगळ राजा परणावियउ।—ढो.मा.
२ पिय खोटांरा एहवा, जेहा काती मेह।—ढो मा.
३ भर स्रावणि भाद्रवि भोगविजे, रुखमिणि वर एहवी रुत।—वेलि.

एहसांण, एहसांन—सं०पु० [अ० अहसान] उपकार, कृतज्ञता। उ०—मांनै तौ एहसांण द्रमके भांमण डरती। हळफळती घव अंग मिळे गळबत्थां भरती।—मेघ०
क्रि०प्र०—करणौ, जताणौ, जमाणौ, मांनणौ, राखणौ, लेणौ, होणौ.
मुहा०—१ एहसांन उठाणौ—देखो 'एहसांन लेणौ'. २ एहसांन करणौ—ऐसा काम करना जिससे करने वाले के प्रति किसी को आभारी या एहसानमंद होना पड़े, किसी के साथ भलाई या नेकी करना. ३ एहसांन जताणौ—अपने किये उपकार या काम को

उ०—मारू घूंघटि दिट्ठ मइं, एता सहित पुणिंद। कीर, भमर, कोकिल, कमळ, चंद, मयंद, गयंद।—ढो मा.

एथ, एथि, एथियै, एथी, एथीयै–क्रि०वि०—यहां, इस ओर, इधर।

उ०—१ ते माटै उतावळा, राज पधारो एथ।—ढो मा.

कहा०—एथ बैठा ओथ मारै—यहा बैठे वहा मारते हैं। अत्यंत धूर्त्त के लिए, अत्यंत भोले के लिए (परिहास मे)

उ०—२ काछी करह विथूंभिया, घडियउ जोइए जाइ। हरणाखी जउ हसि कहइ, आणिसि एथि त्रिमाड।—ढो.मा.

उ०—३ मैंगळ एथी आव मत, वाधा केरी वाट। साप अगूठा मेळ ज्यूं, कदियक हुसी कुघाट।—बा दा.

एधस–सं०पु० [सं०] यज्ञ का ईंधन (डिं.को.)

एधूळौ–सं०पु०—देखो 'ऐधूळौ' (रू.भे.)

एन–सं०पु० [स० अयन] रास्ता (ह ना.) [सं० एनस्] पाप (अ.मा.)

क्रि०वि० [अ०] ठीक, उपयुक्त।

एनांण–सं०पु०—लक्षण, चिन्ह।

एम–क्रि०वि० (प्रा०रू०) ऐसे, इस प्रकार। उ०—अम्हां मन अचरिज भयउ, सखियां आखइ एम। तइ अणदिट्ठा सज्जणां, किउं करि लग्गा पेम।—ढो.मा.

एमन–स०पु० [सं० यवन] कल्याण और केदारा राग के मिलाने से बनने वाला सपूर्ण जाति का एक राग।

एम्रत–सं०पु० [सं० अमृत] देखो 'अमरत' (ह.नां.)

एरंडी–सं०पु० [स० एरंड] १ रेंट-रेंडी का पौधा. २ एक प्रकार का ओढ़ने का रेशमी वस्त्र विशेष।

एरंडोळी–सं०पु० [सं० एरंड+फली] एरण्ड का बीज (अमरत)

एरण–सं०पु० [सं० आहरण] लोहे का वह चौकोर खंड जिस पर लुहार या सुनार गर्म धातु को रख कर पीटते हैं।

देखो 'अहरण' (रू.भे. ऐरण)

मुहा०—करडे लौ'साथे एरण कूटाणी—बुरी संगत का बुरा फल मिलता है। दुष्ट व्यक्ति को साथ या सहारा देने पर सज्जन को भी कष्ट उठाना ही पडता है।

एरस, एरस, एरसौ–क्रि०वि०—ऐसे, इस प्रकार। उ०—चाहै धनेस निरखै चरस, इंद्र सराहै एरसा।—रा.रू.

वि०—ऐसा। उ०—अनंत वार भूखणे वणे वणाव एरसो।—रा.रू.

एराक–सं०पु० [अ०] देखो 'ऐराक' (रू भे.)

एराकी, एराकौ—देखो 'ऐराकी' (रू.भे.) उ०—१ ऊंमर दीठा जावता, हळ हळ करइ करूर। एराकी ओखंभिया, जइसइ केती दूर।—ढो.मा.

उ०—२ ऐसा एराका ऊपरै चढै नाथ चीतोड।—महादान महटू

एरापत–सं०पु० [सं०ऐरावत] देखो 'ऐरापति' (नां.मा.)

एरावति–सं०स्त्री० [सं० ऐरावती] देखो 'ऐरावती' (रू.भे.)

एरिसो, एरिसौ–वि०—१ इतना. २ ऐसा। उ०—ईखे पित मात एरिसा अवयव, विमळ विचार करै वीवाह।—वेलि.

एरी–वि०—ऐसी।

अव्यय—संबोधनसूचक शब्द।

एरेसौ–वि०—ऐसा।

एरोप्लेन–सं०पु० [अं०] वायुयान, हवाई जहाज।

एरौ–स०पु०—बाजरी के सिट्टे से मिलते जुलते सिट्टे वाली एक घास जिसके सिट्टे को फोड़े-फुन्सियों पर लगाते हैं। इस घास से रहँट की माल बनती है।

एळ–सं०स्त्री० (सं० एला) इलायची।

[सं० इला] पृथ्वी, भूमि (रू.भे.)

एळची–स०पु० [तु०] जो एक राज्य से दूसरे राज्य में सदेश ले जाता है, राजदूत।

स०स्त्री०—इलायची। उ०—सौ घणी काळपी मिसरी रा भेळ सू घणी एळची नै मिरचा रै भेळ बाह लागै थकै ऊजळा कपूरवासी गगोदक पांणी सूं ऊजळं गळणं मे झोळि झोळि झारीजै छै।

—रा.सा सं.

एलम–स०पु० [अ० इल्म] १ ज्ञान, विद्या, बुद्धि. २ हुनर।

उ०—कर चाप अठार टंकी करखै, परखासर एलम की परखै।

—मे.म.

एलमगीर–वि०—दक्ष, प्रवीण। उ०—टूंक मध्य आयौ तदन, सदन मदन परिमोर। एलमगीर अधीर उर, सब तुरकन पर तोर।

—ला.रा.

एलवळ, एलविळौ–सं०पु० [सं० ऐलविल] कुबेर (अ मा ,ह नां.)

एलांण–स०पु०—१ निशान, चिन्ह, लक्षण। उ०—वडा पुरख री वांण, अदना रौ आदर करै। ओछा रा एलांण, चुभता बोलै चकरिया।

—मोहनलाल साहू

एळा–स०स्त्री० [स० इला] पृथ्वी, भूमि। उ०—आलम कलम नवैखड एळा, केलपुरा री मीढ किसौ।—वारू सोदी बारहट

[सं० एला] इलायची।

एलाज–स०पु० [अ० इलाज] इलाज, उपाय, युक्ति, तदबीर।

एलावेला, एलावेलौ–सं०पु०—सामने व सम्मुख न आकर इधर-उधर या पार्श्व से निकल जाना।

एळायची–सं०स्त्री०—देखो 'इलायची' (रू.भे.)

एळियो, एळवौ–सं०पु० [अ० एलुवा] घी कुमार का दूध या रस जो कुछ विशिष्ट क्रियाओं से सुखाया या जमाया जाता है—इसका उपयोग प्राय: रेचन के लिए किया जाता है।

मुहा०—खारो जांणै एळियो—अत्यंत कडुवा के लिए।

एव, एव–क्रि०वि० [सं०] ऐसा ही, इसी प्रकार।

एवड़–सं०पु० [स० अजपटल, प्रा० अयवडल, अ० अयवड] १ भेड़ों या बकरियों का समूह। उ०—आडावळ आधोफरड, एवट माहि असम्र। तिण अजाण ढोलड तणइ, मूरख भागइ मम्र।—ढो.मा.

ऐ

ऐ—वर्णमाला का आठवां स्वर (संयुक्त स्वर) जिसका उच्चारण-स्थान कंठ-तालु है।

ऐं-ग्रव्यय—१ भली भांति न सुनी या समझी बात को फिर से कहलाने के लिये प्रयुक्त होता है. २ आश्चर्यसूचक शब्द।

ऐंचण-सं०स्त्री०—खिचाव।

ऐंचणौ, ऐंचबौ-क्रि०स०—१ खींचना, तानना। उ०—नटालि दे भटालि की जटालि ऐंचते नूभें।—ऊ.का.

ऐंचणहार, हारौ (हारी), ऐंचणियौ—खींचने वाला, तानने वाला।

ऐंचिग्रोड़ौ, ऐंचियोड़ौ, ऐंच्योड़ौ—भू०का०कृ०।

ऐंचतणौ, ऐंचतबौ—रू०भे०।

यौ०—ऐंचातांणौ।

ऐंचतणौ, ऐंचतबौ-क्रि०स०—देखो 'ऐंचणौ, ऐंचबौ' (रू.भे.)।

ऐंचातांणौ-वि०—तिरछी या सदा टेढ़ी निगाह से देखने वाला (क्षेत्रीय)

ऐंचियोड़ौ-भू०का०कृ०—१ खिंचा हुआ. २ ताना हुआ.

ऐंटौ-वि०—जूठा।

सं०पु०—जूठन।

क्रि०प्र०—करणौ, खावणौ, नांखणौ, फेंकणौ, रेणौ, लेणौ, होणौ।

रू०भे०—एंठ, ऐंठ।

यौ०—ऐंटो-चूंटौ।

ऐंठ, ऐंठण-सं०स्त्री०—१ अकड़, ठसक, गर्व. २ द्वेष, विरोध, दुर्भाव. ३ जूठन (मि० ऐंटौ) उ०—अंग घणां आलंगियां, अवर घणां री ऐंठ।—दा दा.

ऐंठणौ, ऐंठबौ-क्रि०स०—१ जूठा करना. २ चखना. ३ मरोड़ना, बल देना। उ०—चटपट सिजारण घट घट छुच्चैंठी। अटपट आंतां नै तांनां जिम ऐंठी।—ऊ.का.

अ०—१ घमंड करना, अकड़ना. २ बल खाना. ३ तनना. ४ खिचना।

ऐंठणहार, हारौ (हारी), ऐंठणियौ-वि०—ऐंठने वाला।

ऐंठाणौ, ऐंठावणौ, ऐंठावबौ—स०रू०।

ऐंठिग्रोड़ौ, ऐंठियोड़ौ, ऐंठ्योड़ौ—भू०का०कृ०।

ऐंठीजणौ, ऐंठीजबौ—भाव वा०।

ऐंठवाड़ौ, ऐंठोड़ौ, ऐंठौ-सं०पु० [सं० उच्छिष्ट] १ जूठा. २ जूठन, उच्छिष्ट।

क्रि०प्र०—करणौ, खाणौ, चाटणौ, नांखणौ, फेंकणौ, होणौ।

मुहा०—ऐंठवाड़ौ चाटणौ—खुशामद करना।

ऐंठाणौ, ऐंठाबौ, ऐंठावणौ, ऐंठावबौ-क्रि०स०—जूठा कराना।

ऐंठाणहार, हारौ, (हारी), ऐंठाणियौ-वि०—जूठा कराने वाला।

ऐंठणौ, ऐंठबौ—अ०रू०। देखो 'ऐंठणौ, ऐंठबौ'।

ऐंठित-वि० [सं० उच्छिष्ट] जूठन, जूठा। उ०—भख ऐंठित बोर करां कर भीलण।—र.ज.प्र.

ऐंठियोड़ौ-भू०का०कृ०—१ ऐंठा हुआ, अकड़ा हुआ. २ जूठा किया हुआ (स्त्री० ऐंठियोड़ी)

ऐंठौ-वि०—जूठा।

कहा०—ऐंठे हाथ ऊं कदे गिंडक. नीं मारियौ—कृपण व्यक्ति जूठे हाथ से कुत्ते को भी नहीं मारता—संभव है हाथ पर लगे हुए भोजन-कण गिर न जांय और उन्हें कुत्ता खा ले। किसी को कुछ न देने वाले के लिए यह लोकोक्ति कही जाती है।

सं०पु०—जूठन।

यौ०—ऐंठो-चूंठौ।

ऐंठोड़ौ-वि०—जूठा, उच्छिष्ट। उ०—चींचड़ ईंतां बुगदोळा चैंठोड़ा आंणें झोळी में टुकड़ा ऐंठोड़ा।—ऊ.का.

ऐंटो-चूंठौ, ऐंठो-चूंठौ, ऐंठो-छूंठौ-सं०पु०—जूठन, उच्छिष्ट पदार्थ। उ०—ऐंठे-चूंठे नै मीठौ कर आंणे, दीठौ अणदीठौ दीठौ कर जांणे।—ऊ.का.

ऐंडणौ, ऐंडबौ-क्रि०अ०—चलना। उ०—निज करमसोत पैंडै न वीह, उदावत ऐंडेंगे अबीह।—ऊ.का.

ऐंड-बैंड-वि०—१ अंड-बंड, असंबद्ध, ऊटपटांग-प्रलाप, अंट-संट। उ०—ऐंड-बैंड अड़ियल्ल नीठ दोय पैंड सरक्कै।—रा.रू. २ अनाप-सनाप. ३ अस्त-व्यस्त।

ऐंडौ, ऐंढ़ौ-सं०पु०—(स्त्री० ऐंडी) १ अनुमान, अंदाजा. २ भोजन के लिए साथ ले जाया जाने वाला बालक।

वि०—१ ऊंचा-नीचा, दुर्गम, विकट, भयावह। उ०—उठै झड़ कंडीर पाहाड़ ऐंडा, वणैं मंथरां हालणौ पंथ वैंडा।—मे.म. २ अकड़ा हुआ। उ०—स्यांम म्हांसूं ऐंटौ डोले हौ, औरन सूं खेलै धमाळ।—मीरां

ऐंण-सर्व०—इस। उ०—मर जाय जदे जोखौ मिटे, श्री वोकौ है ऐंण रो।—ऊ.का.

सं०पु० [सं० अयन] १ घर, मकान। उ०—मुणियां आगम मनु री, अरर जड़े निज ऐंण।—वं.भा. २ काल, समय।

सं०स्त्री०—गति, चाल।

ऐंद्र-सं०पु०—ज्योतिष शास्त्र के सत्ताईस योगों में से एक (ज्योतिष-बालबोध)

ऐंद्री-सं०स्त्री० [सं० ऐन्द्री] चौसठ योगिनियों में से अठावनवीं योगिनी.

ऐंळौ-वि०—व्यर्थ, फजूल (मि० एळौ)

ऐ-सं०पु०—१ ऊंट. २ कपि, बंदर. ३ असुर, राक्षस. ४ शिव. ५ कामदेव. ६ बालक. ७ आमंत्रण. ८ वचन. ९ बीज.

याद दिलाना. ४ एहसांन मांनणौ—शुक्रगुजार होना, आभारी होना. ५ एहसांन फरामोश होणौ—एहसान या आभार को भुला देने वाला होना. ६ एहसांन राखणौ—आभारी बनाना.

७ एहसांन लेणौ—शुक्रगुजार या ममनून बनना, एहसानमंद होना, आभारी होना।

यौ०—एहसानमंद।

एहसांनमंद–वि० [अ० अहसानमंद] उपकार मानने वाला, कृतज्ञ।

एहा–वि०—ऐसा। उ०—रांणी तौ कळजुग रौ रूप एहा अभिरूप अवनीस री तिरस्कार करि सुद्धांत···रै आस्रित अनेक जन रहै।

—वं.भा.

एहास–वि०—ऐसा। उ०—बहादुर अरिण रा एहास वीर धणी रै कांम साधणसधीर।—पे.रू.

एहि–वि०—इस। देखो 'एही' (रू.भे.)

एहिज–वि०—१ ऐसी. २ यही, निश्चयार्थसूचक। उ०—एहिज परि थई भीरि कजि आयां, धनंज अनै सुयोधन।—वेलि.

एही–वि०—१ ऐसा. २ यह, यही। उ०—जल-क्रीड़ा क्रीड़ंति जगतपति, जेठ मासि एही जुगति।—वेलि.

एहु–वि०—१ यह. २ ऐसा. ३ इस (में) उ०—निद्रावस जग एहु महानिसि, जांमिए कांमिए जागरण।—वेलि.

एहो, एहौ–वि०—१ ऐसा। उ०—१ रांण-महारांण एहो कियौ 'राजसी', तेण जळ न्हांण दुनियांण तरियौ।

—महारांणा राजसिंह रौ गीत

उ०—२ सांई एहा भीचड़ा, मोलि महूंगौ-वासि।—हा.झा.

अव्यय–संबोधनसूचक शब्द–हे, ए।

ऐयासी–सं०स्त्री० [अ०] विषया-सक्ति भोगविलास।
वि०—विलासी, भोगविलास में लिप्त।

ऐरण, ऐरन–सं०स्त्री०—देखो 'एरण'। उ०—लोहकार उताल, मनहु ऐरन घन गज्जिय। गजर मनहु घरियार, जांम पूरन प्रति वज्जिय। —ला रा.

ऐरपत, ऐरपात–सं०पु०—देखो 'ऐरापत' (अ.मा.), उ०—इंद्रलोक सूं तेत्रीस कोड़ि देवतांसहित इंद्रांणी अपछरां रै झूलरै इंद्र ऐरापत चढ़ि आया।—वचनिका

ऐरसौ–वि० (स्त्री० ऐरसा) ऐसा। उ०—१ ऊंचे पाघड़े काळरूपी असल्ली, बोलै पारसी ऐरसी गल्लवल्ली।—वचनिका
उ०—२ इंद सची नह ऐरसौ, जो सुख प्रिया नरिंद।—रा.रू.

ऐराक–सं०स्त्री०—१ तलवार (डि.को.) २ एक प्रकार का शराब, तीसरी बार औटायी जाने वाली शराब। उ०—सौ किण भांति रौ दारू—उलटै रौ पलटै, पलटै रौ ऐराक, ऐराक रौ वैराक वैराक रौ मंदळौ मंदळौ रौ कंदळौ।—रा.सा.सं.
सं०पु०—३ एक प्रकार का युद्ध का बाजा। उ०—गहकिया ग्रीध टोळा गरूर। अहकिया अंब ऐराक तूर।—वि.सं.
४ अरब देशोत्पन्न घोड़ा. ५ घोड़ा (डि.को.) ६ ईराक देश। उ०—जळनिध सहल जुआंण, सांमा तू वेड़ा सजै। भैचक पड़ै भगांण, मिसर अरब ऐराक मभ।—वां.दा. ७ मुसलमान।

ऐराक-राग–सं०पु०—सिंधु राग का एक नाम। उ०—रणं केव रूपा भेर धमक्कै, ऐराक-राग हुचक्कै गनीमां हूंत दूसरी हमीर। —पहाड़खां आढ़ौ

ऐराकी–वि०—१ ईराक देश का, ईराक देश संबंधी. २ अरबी।
सं०पु०—१ घोड़ा. २ ईराक देशोत्पन्न घोड़ों की एक जाति या इस जाति का घोड़ा।
कहा०—देत हिमायत की गधी, ऐराकी के लात—सुसंरक्षण में रखी जाने वाली गधी अपने गर्व में अच्छे घोड़े के लात लगाने का साहस कर लेती है। साधारण या बुद्धिहीन व्यक्ति जिसके किसी बड़े आदमी का पक्ष हो तो वह विद्वान या योग्य पुरुष का तिरस्कार कर देता है।

ऐरापत–सं०पु०—१ ऐरावत हाथी।
पर्याय०—अभ्रमातंग, अभ्रमुवल्लभ, ऐरापत, ऐरापति, ऐरावत, ऐरावण, गजराज, पटाभर, भौगोरारि, सक्रवाह, सुभ्रवुति।
२ प्रथम लघु एवं दो दीर्घ इस प्रकार पांच मात्राओं का नाम ।SS (डि.को.)
वि०—स्वेत, सफेद (डि.को.)*

ऐरापतड़ौ, ऐरापति–सं०पु० [सं० ऐरावत] १ इंद्र का हाथी, ऐरावत (नां.मा.) २ हाथी, गज। उ०—ऐरापति असवार डळ, सुजि सिणगार सिंदूर। पधरावौ गजराज सौ, श्री महाराज हजूर।—रा.रू.

ऐराव–सं०पु०—१ छोटी तोप. २ बादशाह को किस्त से बचाने के लिये किसी मोहरे को बीच में डाल देना (शतरंज)

ऐरावण–सं०पु० [सं०] ऐरावत हाथी। उ०—हस्ति चडिउ ऐरावण इंद्र, अंतरि देखइ सूरिज चंद।—कां.दे.प्र.

ऐरावत–सं०पु० [सं०] १ बिजली से चमकता हुआ बादल. २ इंद्र-धनुष. ३ पूर्व दिशा का दिग्गज. ४ इंद्र का हाथी. ५ हाथी।
उ०—पदमण महल पौढतां पहली, ऐरावत देतै इक आग।
६ बिजली (नां मा.) —महाराजा रायसिंह रौ गीत

ऐरावता, ऐरावती–सं०स्त्री० [सं० ऐरावती] बिजली, विद्युत (ह.नां.)

ऐरिसा–क्रि०वि०—एतादृश, इस प्रकार।

ऐरी भैंसौ–सं०पु० बिना बधिया किया हुआ भैंसा।

ऐरू–सं०पु०—छोटे-बड़े सब प्रकार के सर्प (यौ० ऐरू जांजरू)

ऐरू जांजरू–सं०पु०—सांप-बिच्छू आदि विषैले जंतु।

ऐरौ–सर्व०—इसका (रू.भे. एरे)

ऐळ, ऐल–सं०पु०—साधारण से साधारण क्षति मात्रा [सं० एल] १ इला नृप का पुत्र, पुरुरवा. २ बाढ़, प्रबल प्रवाह।

ऐलकार–सं०पु० [अ० अहल+फा० कार] कर्मचारी, सरकारी कर्मचारी।

ऐलकै–क्रि०वि०—इस समय। उ०—धुकतां वयर अर कोट वाढै धकै, तसां उसरां घणी दयंतौ आह। पैलकै गयौ ससपाळ मायौ पटक, पटक सर ऐलकै गयौ पतसाह।—कमोजी नाई

ऐलमंद–सं०पु०—किसी विभाग का प्रधान कर्मचारी।

ऐलांण–सं०पु०—निशान।

ऐळा–सं०स्त्री० [सं० इला] पृथ्वी, भूमि। उ०—ऐळा चीतौड़ सहै घर आसी, हूं थारा दोखियां हरूं।—बारूजी बारहठ

ऐळौ–वि० (स्त्री० ऐळी) [सं० अफल] व्यर्थ, फजूल, निरर्थक।

ऐल्या–सं०स्त्री०—देखो 'अहिल्या'।

ऐवहौ, ऐव्हौ–वि०—ऐसा (रू.भे.)

ऐवाकी–वि०—भयभीत करने वाला, शल्य रूप होने वाला शत्रु।
उ०—१ ऐराकी मागां किया, सुभट कजाकी सत्य। ऐवाकी साहां 'अभौ', नाकी हिंदू समरथ।—रा.रू.
उ०—२ धुजै केई धाड़वी, चोर घूजै चौताळै। ऐवाकी तज आंट, पड़या सारा पिंड पाळै।—पे.रू.

ऐवाळ—देखो 'एवाळ' (रू.भे.) उ०—एक ऐवाळ तठै छाळियां चरावै छै।—ढो.मा.

ऐवाळियौ—देखो 'एवाळियौ' (रू.भे.)

ऐवास–सं०पु० [सं० आवास] आवास, मकान, निवास-स्थान।
उ०—जंगळ में मंगळ जबर, ऐ ऊंचा ऐवास।—चिमनदांन रतनू

ऐवैहे, ऐवैहै–सर्व०—वे। उ०—ऐवैहै जासी आज भार गाडां सिर घाते। रूको···रावळो अवस परभाते आवत।—पा.प्र.

ऐवो, ऐवौ–सर्व० (स्त्री० ऐवा) वह। उ०—सांम हुइ तणी मांनै मरी ऐवा जौ तोनै अपै। जद कांम हुवोड़ौ जांणजै जद निढ गोरन जपै।—पा.प्र.
वि०—ऐसा।

१० राजा. ११ विश्व. १२ कुम्हार.
सं०स्त्री०—१३ सरस्वती. १४ मुक्ति (एका०)
वि०—१ मूर्ख. २ व्यापक. ३ विषम. ४ पूज्य (एका०)
सर्व०—यह, ये। उ०—धर हरिया चर धापिया, मातै सांवण मास, पिण बौहळिया बापड़ा, ऐं धुर हूंत उदास।—वां.दा.
कहा०—ऐ देखौ कुदरत रा खेल—प्रकृति के कार्य अजीबोगरीब हैं, नियति के नियम अटल हैं।
अव्यय—संबोधनसूचक, हे! अरे! उ०—ऐ जौ अकबर काह, सेंधव कुंजर सांवठा, वासैं तौ वहताह, पंजर थया प्रतापसी।
—दुरसौ आढ़ौ
वि०—एकत्रित, एकसाथ, इकट्ठा।
ऐके–सं०पु०—एकमत, एकराय।
ऐक्य–सं०पु० [सं०] एक का भाव, एकत्व, मेल, एकता।
ऐड़ियो, ऐड़ियौ–वि०—ऐसा।
ऐड़ौ–वि० (स्त्री० ऐड़ी) ऐसा, इस प्रकार का। उ०—अब ऐड़ौ दिहड़ौ कदे फेर होवैला के दरसण देवण री म्हां पर म्हेर होवैला।—गी.रा.
मुहा०—ऐड़ौ तेड़ौ अथवा ऐड़ौ वेड़ौ—साधारण तुच्छ नाचीज, ऐसा तैसा।
कहा०—१ ऐड़ी लाय कठै जो दीयौ कर देखै—सूर्य को दीपक दिखाना, प्रसिद्ध आदमी का परिचय देना. २ ऐड़ौ कांई लोह जड़ियौ है—बहुत मजबूत के लिए प्रयुक्त।
ऐजन–अव्यय [अ०] तथा, तदेव।
ऐजनगाळौ–(स्त्री० ऐजन-गाळी) नखराला, छैल-छबीला।
ऐठति, ऐठित–वि०—उच्छिष्ट, जूठा पदार्थ। उ०—अम्ह कजि तुम्ह छंडि अवरवर आंणे, ऐठित किरि होमै अगनि।—वेलि.
ऐठ-पैठ–सं०स्त्री०—१ परिचय, जानकारी. २ विश्वास।
ऐठौ–वि०—जूठा। उ०—मोटां तणौ प्रसाद कहै महि, ऐठौ आतम सम अधम।—वेलि.
सं०पु०—जूठन।
ऐढ़ौ–वि०—देखो 'ऐंडौ' (१)
सं०पु०—अवसर, मौका।
ऐढौ-मेढौ–वि०—तिरछा। उ०—बारै मास सांड टोरड़ा, ठोक धपटवौ धापियै। ऐढ़ा मेढ़ा आडी रवै, भेड़ खंजानौ खापियै।—दसदेव
ऐण–सं०पु० [सं० अयन] घर, मकान। उ०—भोळा की डर भागियौ, अंत न पहुड़ं ऐण। बीजी दीठां कुळ वहू, नीचा करसी नैण।—वी.स.
२ देखो 'एण'. ३ देखो 'ऐन' (रू.भे.) उ०—विरह विथा कासूं री कह्यां पेठां करवत ऐण।—मीरां
क्रि०वि०—इस प्रकार।
सर्व०—इस। उ०—कंत सूं ओळंबौ दियौ इम कांमणी। एण घट आज रा केम सहिया अणी।—हा.झा.
ऐतराज–सं०पु० [अ० एतराज] देखो 'एतराज' (रू.भे.)

ऐतौ, ऐता, ऐतौ–वि०—इतना। उ०—ऐता दिन तुम कहां हूंता।
—वी.दे.
क्रि०वि०—इतने में।
ऐथ, ऐथी–क्रि०वि०—यहाँ, इधर (रू.भे. 'एथ')
उ०—१ अत सीतल उतराद सूं, ऐथ बह्योड़ौ आय। जळ सुरसरि अघ जाळतौ, करे विलंबन काय।—वां.दा.
उ०—२ मैंगळ ऐथी आव मत, वाघां केरी वाट। साप अंघूटा मेळ ज्यूं, कदियक हुसी कुघाट।—वां.दा.
ऐदी, ऐधी–वि०—देखो 'अहदी'।
ऐधूत–वि०—उन्मत्त, युद्ध में बावला।
ऐधूळौ–वि०—शौकीन, छैल-छबीला, मस्त। उ०—आंणौ लेवण नै ऐधूळा आया, दरसण देवण नैं मोभी मुळकाया।—ऊ.का.
ऐन–सं०पु० [सं० अयन] घर, मकान (रू.भे. 'ऐण')
उ०—देखौ रांण 'लक्खन' अलाउदीन अंतकौ, ऐन दैन चाह्यौ पर रैन दैन चाह्यौ नां।—सूरजमल मीसण
वि०—१ अत्यंत ठीक, उपयुक्त. २ बिलकुल. ३ पूरा।
ऐनक–सं०स्त्री०—आँख में लगाने का चश्मा।
ऐनांण–सं०पु०—१ चिन्ह, निशान. २ लक्षण, गुण।
क्रि०वि०—संकेत से।
ऐफेण–सं०स्त्री० [अ० अफयून] एक मादक वस्तु, अफीम।
ऐब–सं०पु० [अ०] १ अवगुण, बुराई। उ०—ओर की निहार ऐब आजलूं जियौ। आपनें किये कि ओर फोर तूं हियौ।—ऊ.का.
२ कलंक. ३ गुनाह, दोष। उ०—उत्तर देवै छोकरी, उत्तर देय न जांण। लाग्या छै कर छैल का, दरजी ऐब लगांण।
—जलाल बूबना री वात
ऐब-गैब–क्रि०वि०—१ अचानक. २ गुप्त रूप से, अजब-गजब, अनोखा।
ऐबाकी–वि०—१ जबरदस्त। उ०—हिंदू लागै पागड़ै, असुरां पड़ै दहल्ल। हेवै पण नाकी हरण, ऐबाकी अजमल्ल।—रा.रू.
२ विशाल।
ऐवात–सं०पु०—अहिवात, सौभाग्य।
ऐबी, ऐबीलौ–वि० [अ०] १ जिसमें ऐब हो, अवगुणी. २ दुष्ट. ३ दोषी. ४ विकलांग।
ऐमक–सं०पु० [अ० अहमक] बेवकूफ, मूर्ख। उ०—जिस ऐमक सें वीरासन बैठा न गया, पिछाड़ी कौ हाथ टेक कर अगाड़ी पैर फैला दिया।—दुरगादत्त बारहठ
ऐमौ–क्रि०वि०—१ इधर, इस तरफ. २ ऐसे।
ऐयार–सं०पु० [अ० ऐय्यार] १ चालाक, धूर्त. २ छली, धोखेबाज. ३ मायावी।
ऐयास–वि० [अ०] १ ऐशो-आराम करने वाला, विलासी. २ विषयी, लंपट, इंद्रियलोलुप।
सं०पु०—विषय-विलास।

ओ

ओ—राजस्थानी वर्णमाला का नौवां संयुक्त (अ+उ) स्वर वर्ण जिसका उच्चारण कंठ और ओष्ठ है।

ओं-अव्यय—अर्धांगीकार या स्वीकृतिसूचक शब्द हां, अच्छा, तथास्तु।
सं०पु०—ओ३म् का सूक्ष्म रूप।

ओंकडो-सं०पु०—कोल्हू के चारों ओर चक्कर लगाने वाले बैल की आंख पर बांधा जाने वाला उपकरण जो प्रायः चमड़े का होता है।

ओंकार-सं०पु० [सं०] १ प्रणव मंत्र कहलाने वाला परब्रह्मवाचक शब्द। यह बहुत पवित्र माना जाता है। उ०—श्री ओंकार अनंत आदि अविकार अपंपर।—रा.रू. २ सोहन पक्षी।

ओंकारनाथ-सं०पु० [सं०] शिव के माने जाने वाले द्वादश लिंगों के अंतर्गत एक लिंग जिनका मंदिर मानधाता ग्राम (मध्यप्रदेश) में है।

ओंगणो, ओंगबो-क्रि०स० [सं० आंजन] गाड़ी की धुरी में चिकनाई लगाना ताकि पहिया आसानी से घूमे।

ओंगणहार, हारो (हारी), ओंगणियो-वि०—गाड़ी की धुरी में चिकनाई लगाने वाला।

ओंवली-सं०स्त्री०—१ इमली. २ गाड़ी की बाजू में लगाये जाने वाले हुक जिनमें रस्सा खींचते व बांधते समय अटकाया जाता है।

ओ-सं०पु०—१ ब्रह्मा. २ विष्णु. ३ शेषनाग. ४ बलराम (एका.)
सर्व०—वह।
अव्यय—संबोधनसूचक शब्द।

ओअंहकार-सं.पु० [सं०] देखो 'ओंकार' (१)। उ०—अमर स्रंघासण वइसणइ, जीण दिन कंठ न ओअंहकार।—वी.दे.

ओअरी-सं०स्त्री०—देखो 'ओरी'।

ओइंचणो, ओइंचबो—देखो 'ओहीचणी, ओहीचबो'।

ओइचियोड़ो-भू०का०कृ०—देखो 'ओहीचियोड़ो'।

ओईजाळो-सं०पु० [सं० अवधिजाल, प्रा० ओहीजाल] अस्त-व्यस्त पड़ी हुई काफी मात्रा में सामग्री अथवा वस्तुयें।

ओक-सं०पु० [सं०] १ घर, सदन (ह.नां.) उ०—वैर हर किदरां ओक वसिया।—भगवानजी रतनू
२ स्थान, जगह. ३ नक्षत्रों या ग्रहों का समूह।

ओकई-सर्व०—उसके। उ०—साधन नळ प्यंगळ हुई। ओकई आंगणई मूकइ चंपकी माळ।—वी.दे.

ओकसग-सं०पु०—वृक्ष (अ.मा.)

ओकड़-सं०पु०—सप्तर्षि के अस्त स्थान की तरफ से आने वाला वायु जो फसल को हानि पहुँचाता है।

ओकड़ो-सं०पु०—ऊँट के चारजामे के साथ कसा जाने वाला चमड़े का फीता (मि० ऊकठो)

ओकणो, ओकबो-क्रि०स०—१ तीर छोड़ना या शस्त्र-प्रहार करना.
२ क्रूर दृष्टि से देखना। उ०—जटी आक ओकबौ सवेस कौ भोकवौ जंगां। जती को मोकवौ नगां लंका सीस भाळ।
—हुकमीचंद खिड़ियौ

ओकर-सं०पु० [सं० अवकर] १ विष्टा, गू, गलीच (रू.भे. ओखर, ओखर) २ कुवाक्य, 'तू' कह कर पुकारने की क्रिया।
उ०—अतुळी वळ 'अमर' न सहियौ ओकर, साहि आलम आगळै सनाढ़।—केसोदास गाडण

ओकरणो, ओकरबो—पशुओं का विष्टा खाना।

ओकळ,ओकळी-सं०स्त्री०—१ अधिक भूखा रहने से बढने वाली उष्णता. २ हवा के कारण ओट के सहारे धूलि-कणों का लंबायमान एकत्रित होना। उ०—ऊजळी उत्तम रेत, ओकळी सूं ले आवै।—दसदेव

ओका-सं०पु०— देवी का खप्पर। उ०—१ वेदां वरन्नी अलोका भेदां तुलजा तरणी वाळा। रंगे सूळ तोका ओका भरन्नी रगत।
—हुकमीचंद खिड़ियौ
उ०—२ घणा वाढ भाजै गइंदां घटका घाव। ओका स्रोण लेत काळी घंटका अतोल।—ईसरदास खिड़िया रो गीत

ओकाई-सं०स्त्री०—वमन, कै (रू.भे. ओकारी)

ओकारांत-वि०—जिसके अंत में 'ओ' अक्षर या स्वर का समावेश हो।

ओकारी-सं०स्त्री०—वमन, कै।

ओकीरौ-सं०पु० [सं० अवकीट] गोवर में उत्पन्न होने वाला एक कीड़ा विशेष।
कहा०—ओकीरौ ही फण करै—अशक्त व्यक्ति सामना करने को तैयार हो जाय तब कही जाती है।

ओकूब-वि०—बुद्धिमान। उ०—चार भेद तिण रा चवै, कवियण वड ओकूब। समझ वेलियौ सोहणौ, खुड़द जांगड़ौ खूब।—र.रू.

ओकेळ-सं०स्त्री०—अधिक भूखा रहने से बढ़ने वाली उष्णता।

ओखंगी-वि०—टेढ़ा, तिरछा।

ओखंभणो, ओखंभबो-क्रि०स०—चलायमान करना, चलाना। उ०—ऊंमर दीठा जावता, हळहळ करइ करूर। ऐराकी ओखंभियां, जइसइ केती दूर।—ढो.मा.

ओखड़मल-सं०पु०—पराक्रमी, वीर पुरुष।

ओखडा-सं०पु०—नारियल का पुराना गूदा (गिरी) जिसका स्वाद बिगड़ जाता है।

ओखण-सं०पु०—ओखली में अनाज आदि कूटने का मोटा डंडा, मूसल।
उ०—अकबर दळ आळ सावळां ओखण, जूझ कळह मातै रण जंग।
—महाराणा अमरसिंह रो गीत

ओखद, ओखदि, ओखदी, ओखध-सं०पु०—औषधि, दवा।
उ०—१ पाटा पीड़ उपाव, तन लागां तरवारियां। वहै जीभ रा घाव, रती न ओखद राजिया।—किरपारांम

ऐस–अव्यय [सं० ऐषमः] इस वर्ष, वर्तमान वर्ष या समय।
सं०पु० [अ० ऐश] आराम, चैन, विषय-विलास। उ०—१ ऐस अमल आरांम, सुख उछाह भेळा सयण। होका विना हगांम, रंग रौ हुवै न राजिया।—किरपारांम
उ०—२ आळस जांणै ऐस में, वपु ढीलै विकसंत। सिधु सुणियां सौ गुणौ, कवच न मावै कंत।—वी.स.

ऐसे–वि०—इस प्रकार के। देखो 'ऐसौ'।
क्रि०वि०—इस प्रकार, इस तरह।

ऐसो, ऐसौ–वि०—इस तरह का, ऐसा, इसके समान। उ०—अंकुस सीस वर्ण गुण ऐसौ, जग वेधियौ मघा सनि जैसौ।—रा.रू.

ऐहड़ौ–वि०—ऐसा (रू.भे. ऐसौ)

ऐहढ़ौ–वि०—१ विकट, दुर्गम. २ भयानक। उ०—हाकी नाहर ऐहढ़ौ, राह न पूगै रेल। जी मेहाई थांरा बाईसा री करीजै उवेल।—मे.म.

ऐहमकाई–सं०स्त्री० [अ० अहमक+रा०प्र० आई] मूर्खता।
कहा०—घणी ऐहमकाई खोटी है—अधिक मूर्खता हानिकारक होती है।

ऐहरौ–वि०—ऐसा। उ०—पव्वनौ नचंदौ दड़ंदौ प्रवेसं, अठे ऐहरौ गम्म एही अनेसं।—ना.द.

ऐहलांण–सं०पु०—निशान, चिन्ह, लक्षण। उ०—देवी रै दीवांण, हव सह नर भेळा हुवा। इंद्र तणौ ऐहलांण, जाजम बैठौ जीदरौ।—पा.प्र.

ऐहळौ–वि० (स्त्री० ऐहळी) [सं० असफल] व्यर्थ, निष्फल, बेकार।
उ०—ऐहळा जाय उपाय, आछोड़ी करणी अहर। दुस्ट किणी ही दाय, राजी हुवै न राजिया।—किरपारांम
(बहु० ऐहळा)

एहवौ–वि० (स्त्री० ऐहवी) ऐसा। उ०—वैरी 'सलख' वहै ज्यां वांसै, ऐहवा तन री केही आस।—सलखा तीडावत रौ गीत

ऐहवात–सं०पु०—सौभाग्य-चिन्ह, अहिवात।

ऐहिक–वि० [सं०] इस लोक से संबंध रखने वाला, लौकिक, सांसारिक।

ऐहिज–सर्व०—यही, निश्चयार्थकसूचक। उ०—चूंडा हरा उवारण चौजां, मौजां ऐहिज 'मांन' महीप।—वां.दा.

ऐहौ–वि० (स्त्री० ऐही) ऐसा। उ०—१ सांम रै कांम ऐहा सधीर। रांम रै कांम हणवंत वीर।—वि.सं.
उ०—२ जग दुख हरण सरण जग जेहा, ऐहा रांम चरण अरव्यंद। (बहु० एहा) —र.ज.प्र.

ओघ–सं०पु० [सं०] १ समूह, ढेर। उ०—करि मिळियो अंतर कपट, ऊपर आदर ओघ।—वं.भा. २ संतोष. ३ बहाव, धारा।

ओघड़–सं०पु०—जोगियों का भेद विशेष जिसके व्यक्ति कान नहीं छिदवाते हैं. २ वह संन्यासी जो ज्ञान की परमावस्था को पहुँच चुका हो और अहं एको ब्रह्मोऽस्मि का पूर्ण रूप से अनुभव कर चुका हो।

वि०—निकृष्ट, घिनौना, घृणित।

ओघट–सं०स्त्री०—१ बुरी घटना. २ आपत्ति, विपत्ति. ३ मृत्यु। उ०—नारायण रै नांम सूं, प्रांणी करलै प्रीत। ओघट वणिया आतमा, चत्रभुज आसी चीत।—ह.र.

वि०—१ नहीं घटने योग्य, बुरा। उ०—घर घर ओघट घाट टाट निज दीह कुटावे।—ऊ.का. २ भयंकर, विकट। उ०—अर विखमदुरग्ग ओघट घाट रै कारण आपरा घोड़ा सिपाह पाछा ही फलाया।—वं.भा.

ओघसणौ, ओघसबौ–क्रि०स० [सं० अवघर्षण] १ वृक्ष, दीवार या इसी प्रकार की कोई अन्य कड़ी वस्तु के साथ खुजली मिटाने के उद्देश्य से शरीर का घर्षण करना। उ०—हाथीआं रा कूंभायळां भांजिआं सवामण मोती आंमल प्रमांण नीसरै, अढार भार वनसपती सूं ओघसतां थकां हमला खाईनैं रहीआ छै।—रा.सा.सं.

२ जोश में भरना। उ०—तदनंतर पिता रा निदेस रै प्रमांण पात्र लोकां री पूंतारियौ उरस हूं ओघसतौ राजकुमार वळै वूंदी आयौ।—वं भा.

ओघसणहार, हारौ (हारी), ओघसणियौ–वि०—शरीर घर्षण करने वाला, जोश में भरने वाला।

ओघसिओड़ौ, ओघसियोड़ौ, ओघस्योड़ौ—भू०का०कृ०।

ओघसियोड़ौ–भू०का०कृ०—१ घर्षण किया हुआ. २ जोश में भरा हुआ। (स्त्री० ओघसियोड़ी)

ओघौ–सं०पु०—जैनी साधुओं द्वारा हाथ में रक्खा जाने वाला झाड़न।

ओड़–क्रि०वि०—ओर, तरफ। उ०—पंसेरी इक पालड़ै, पुंगीफळ इक ओड़। ऊ तोल्यां सम कर उभैं, आ चतुराई खोड़।—बां.दा.

वि०—समान, बराबर। उ०—अहनर सूर कह कवण ओड़, जवहत नग जोड़।—र.ज.प्र.

ओड़ां–वि०—ऐसे। उ०—ब्रह्मचारी ओड़ां गिणां, नर थोड़ां में नेक। भेक नियोड़ा में भला, कोड़ां मांही केक।—ऊ.का.

ओड़ियाळ, ओड़ौ–सं०पु०—१ ऊंट का एक रोग विशेष जिसमें उसके टेरे (छाती परका खुरदरा चिन्ह) पर फोड़ा हो जाता है. २ इस रोग से पीड़ित ऊंट।

ओहू–सं०पु०—वह स्थान विशेष जहां रहेंट या मोट आदि के द्वारा कुवे से पानी निकल कर इकट्ठा होता है और वहां से खेत में सिंचाई हेतु जाता रहता है। बहुधा इस स्थान पर कुंड बना दिया जाता है।

ओड़े–वि०—सदृश, समान, तुल्य। उ०—'ऊदा' जुध आविया, वाघ वाढिया वरदाई। मांझी भारमलोत, सार गोयंद सवाई। आस कन दृढ मन 'जसू' गोवरधन जोड़ै, रुकहथो रघनाथ अभंग दुसासन ओड़ै।—रा.रू.

ओड़ौ–सं०पु०—देखो 'औड़ौ' (रू.भे.)

ओचक्कणौ, ओचक्कबौ–क्रि०अ०—उचकना, लपकना (रू.भे. उचकणौ)

ओचाळौ—देखो 'उछाळौ'।

ओचाव–सं०पु० [सं० उत्सव] जलसा (रू.भे. उछाह, ओछाव, ओछाह)

ओच्छौ–वि०—देखो 'ओछौ'।

ओछंडणौ, ओछंडबौ–क्रि०स०—त्यागना, छोड़ना। उ०—आंण आंण घुर तळ ओडविया, समजत ओछंडिया सकळ। जूना धमळ आंड भुज कूसर, बोहळिया छांडियौ बळ।—चतरभुज बारहठ

ओछंडणहार, हारौ (हारी) ओछंडणियौ–वि०—त्यागने वाला।

ओछंडिओड़ौ, ओछंडियोड़ौ, ओछंड्योड़ौ—भू०का०कृ०।

ओछंडियोड़ौ–भू०का०कृ०—त्यागा हुआ, छोड़ा हुआ। (स्त्री० ओछंडियोड़ी)

ओछ–सं०स्त्री०—१ ओछापन, छोटापन. २ कमी. ३ क्षुद्रता।

ओछइ, ओछउ–वि० (प्रा०रू०) १ देखो 'ओछौ'। उ०—१ ओछइ पांणी मच्छ ज्यउं, वेलत थयउ विहांण।—ढो.मा.

उ०—२ विवणउ वाधइ सज्जणां, ओछउ ओहि खळांह।—ढो.मा.

ओछणौ–वि०—क्षुद्रता प्रकट करने वाला। उ०—पाता वोधस अयाळा, बोले जोध 'मुकन्न'। स्यांम गरज्जां ओछणा, तिके अकज्जां तन्न।—रा.रू.

ओछव, ओछव–सं०पु० [सं० उत्सव] १ उत्सव, समारोह, जलसा। उ०—जोबा जैता कमा नै जादव, डळ मछरीक करे घव ओछव।—रा.रू.

२ प्रसन्नता, हर्ष। उ०—इम ओछव अधिको करी, आव्या निज आवास।—ढो.मा.

ओछांडणौ, ओछांडबौ–क्रि०स०—किसी वस्तु को खींच कर तानना, स्थित करना। उ०—ओपै हाट ओछांडिया, पाटंबर अणपार। वांणक वांणक वहळां, इंद्रधनुख उणहार।—रा.रू.

ओछाड़–सं०पु०—देखो 'औछाड़'। उ०—सगत सुखीकर सेवगां, अखिल जगत ओछाड़। महिसासुर ज्यूं मारजे, चुगल असुळां चाड़।—बां.दा.

ओछाड़णौ, ओछाड़बौ–क्रि०स०—देखो 'औछाड़णौ, औछाड़बौ'। उ०—अंग फूलां ओछाड़ि, दिया कसि मेघाडंबर।—मे.म.

ओछाड़ियोड़ौ–भू०का०कृ०—देखो 'औछाड़ियोड़ौ' (स्त्री० ओछाड़ियोड़ी)

ओछाज–प्रहार करने हेतु शस्त्र उठाने का भाव। उ०—आहाड़ा री रै माथै सेल री ओछाज।—रावत भीमसिंह री गीत

ओछापण, ओछापणौ–सं०पु०—१ ओछापन, हल्कापन. २ छोटापन. ३ कमी. ४ नीचता, क्षुद्रता।

ओछाबोलो–वि०—१ अपशब्द कहने वाला. २ तुच्छ या हल्के शब्दों का उच्चारण करने वाला। उ०—छाती छोला छोड़ दे, ओछाबोला एह। अब तौ ढोला चेति उर, गोला खावै गेह।—ऊ.का.

उ०—२ ऊभौ करौ ओखदी आंणे, धीर सांच मन जेम धरै।
—ईसरदास बारहठ

उ०—३ तूझ तणौ ओखध धानंतर, केहै पछै आविस्यै कांम।
—ईसरदास बारहठ

कहा०—वाटियै ओखद नै मूंडियै माथै रौ ठा को पड़ै नी—अपरिचित का कोई विश्वास नहीं।

ओखधपत, ओखधपति–सं०पु० [सं० औषधि+पति] चंद्रमा (डिं.को.)

ओखधी–सं०स्त्री० [सं० औषधि] देखो 'ओखध'। उ०—किता ओखधी वैद विद्या प्रकास।—अज्ञात

ओखधीस–सं०पु० [सं० औषधीश] चंद्रमा (ना.मा.)

ओखर–सं०पु०—विष्टा, गू (रू.भे. ओकर, औखर)

ओखराई–सं०स्त्री०—वह गाय जो विष्टा खाती हो या जो विष्टा खाने की आदी हो।

ओखरी–सं०स्त्री०—ओखली। देखो 'ऊखळ'।

ओखळणौ, ओखळबौ–क्रि०स०—प्रहार करना, चोट करना।
उ०—असवार एक जडिया उठै ओखळिया भालां अरर।—वं.भा.

ओखळी–सं०स्त्री०—१ देखो 'ऊखळ' २ पहाड़ों के पास के नाले गड्ढे आदि. ३ देखो 'ओकळी' (रू.भे.) उ०—आडी ओखळियां खायोड़ा आधा, लाडां-कोडां में जायोड़ा लाधा।—ऊ.का.

ओखांण, ओखांणौ–सं०पु०—कहावत, उक्ति।

ओखागिर–सं०स्त्री० [सं० अवखाता=अवखा=कंदरा] गिरि-कंदरा, पहाड़ी, गुफा। उ०—थंडा अनेकां चकारां सुरा नाहरां सांवरां थोका, जूना खोखा याहरां जाहरां, भाळै जात। ओखागिरां रहंता खगेल विना धोका आळा, पूगै तूं ही अनोखा सिकारी प्रथीनाथ।
—महकरण महियारियौ

ओखापुरी, ओखामंडळ–सं०उ०लिं०—द्वारिका का एक नाम।

ओखाळ–सं०पु० [सं०] १ युद्ध, रण. २ विरेचन।

ओखाळमल—देखो 'अखाड़मल' (रू.भे.) उ०—वदळै डार गई दस वाटां, हुई लार अण पार हल। धकै चाढ सरदार धकाया, मार घणां ओखाळमल।—महादांन महड़ू

ओखिद—देखो 'ओखध'। उ०—समंद सुतन, सुत-पवण, म्रिग सुत, ओखिद अ्रित आपौ ऊदार।—ईसरदास बारहठ

ओखौ–वि० (स्त्री० ओखी) १ अटपटा, भद्दा। उ०—कोठार री कूंची मेल्ह जावौ, आगै कूंची ओखी लखी लागै छै—चौवोली
२ विकट, भयंकर, कठिन। उ०—भौ समुंद अपार देखां अगम ओखी धार।—मीरां

ओग–स०स्त्री—१ दाह, जलन, उष्णता (रू.भे. ओघ)। उ०—सूज्या होसी नैण रैण दिन नीर व्रहंतां। भुळस्या अधर-मजीठ निसासां ओग सहंतां।—मेघ. २ देखो ओघ' (रू.भे.)

ओगड़-दोगड़–वि०—अस्त-व्यस्त, वेतरतीव।

ओगण–सं०पु० [सं० अवगुण] १ अवगुण, दुर्गुण। उ०—वोहळा ओगण तुछ गुण दिल मंझक मुधा।—केसोदास गाडण
२. दोष, अपराध. ३ हानि (औषधि या खाद्य पदार्थ के सेवन से). ४. बीमारी. ५ आफत, बाधा।
कहा०—नाकारौ सौ ओगण हरै—केवल एक नहीं कहने से अनेक तरह की आफत से वचा जा सकता है। मि० एक नन्नौ सौ रोग टाळै। (नन्नौ)

ओगणगारौ–वि० [सं० अवगुणकार] १ अवगुणी। उ०—म्हांनै गिणज्यौ मूढ अमलियां ओगणगारां।—ऊ.का.
२ बुरे कार्य करने वाला. ३ कृतघ्न।

ओगणी–वि०—१ अवगुणी. २ दोषी, अपराधी।

ओगणीस–वि० [सं० अनविंशति, प्रा० एकूनवीसइ, अप० एगुणविंस] देखो 'उगणीस।

ओगणौ–वि०—१ अवगुणी. २ कृतघ्न।
क्रि०अ०—१ तंग करना. २ घर्षण करना।

ओगत–सं०स्त्री०—अधोगति। देखो 'अगति'।

ओगतियो, ओगतियौ–वि०—अधोगति को प्राप्त।

ओगनियो, ओगनियौ–सं०पु०—स्त्री के कान का एक आभूषण विशेष, कर्णफूल। उ०—चळापळ ओगनियां री कोर, भोपणां किण भूलां री भार ?—सांझ

ओगम–सं०स्त्री०—१ पशुओं का एक रोग विशेष. २ अनाज के अंकुर निकलना।

ओगळी–सं०स्त्री०—बाजरी के कटे हुए पौधों का खेत में किया गया ढेर।

ओगां–सं०पु०—एक प्रकार का पौधा विशेष जिसे अपामार्ग भी कहते हैं।

ओगाजणौ, ओगाजबौ–क्रि०अ०—गरजना। उ०—दावा गिरां दीरद्दां जे ओगाजै वंदूकां दारू।—अज्ञात

ओगाळ–सं०पु०—१ सींगधारी पशुओं का खाए हुए चारे को फिर से मुंह में लाकर धीरे-धीरे चवाना, जुगाली. २ ताना, व्यंग.
३ कलंक, अपयश, वदनामी। उ०—तरै मुखड़ै नै पिउसंधी नै जखड़ा री घणी सोच हूवी, पिण भालीं दासीपणे, तिणरी ओगाळ री घणी फिकर हुई।—जखड़ै मुखड़ै भाटी री वात

ओगाळणौ, ओगाळबौ–क्रि०अ०—१ पशुओं द्वारा जुगाली करना.
२ वमन करना।
ओगाळणहार, हारौ (हारी), ओगाळणियौ–वि०—जुगाली या वमन करने वाला।
ओगाळिओड़ौ, ओगाळियोड़ौ, ओगाळयोड़ौ—भू०का०कृ०।

ओगाळियोड़ौ–भू०का०कृ०—१ पशुओं द्वारा जुगाली किया हुआ.
२ वमन किया हुआ। (स्त्री० ओगाळियोड़ी)

ओगाळौ–सं०पु०—मवेशी के चराने के पश्चात् पीछे छोड़ा हुआ घास-फूस (ओगाळी)

ओगुण–सं०पु०—देखो 'ओगण'। उ०—ए ! अपराधी आतमा, ओगुण एह अलज्ज।—ह.र.

ओगुणगारौ–वि०—देखो 'ओगणगारौ' (रू.भे.)

उ०—माई एहड़ा पूत जण, जेहड़ा रांण प्रताप। अकबर सूतौ ओझकै, जांण सिरांणै सांप।—प्रथ्वीराज राठौड़

ओझकियोड़ौ-भू०का०कृ०—चौंका हुआ (स्त्री० ओझकियोड़ी)

ओझकौ-सं०पु०—१ स्मृति. २ देखो 'ओजकौ' (रू.भे.)

उ०—ना बाबा रे! कुण नींद बेच'र ओझकौ मोल लेवै।—वरसगांठ

ओझख-सं०स्त्री०—लचक। उ०—वळवंत तक तोलिया, घर ओझख वळ खाया।—केसोदास गाडण

ओझड़-वि०—१ भयंकर। उ०—आहवि झड़ां ओझड़ां ऊडै, राव चहुवांण तणै सिरि रीठ।—सीकमदास खिड़ियौ

२ अपार, असंख्य, अथाह।

सं०पु०—प्रहार, चोट। उ०—तौ पछै ऊंधा हाथ री ओझड़ सूं नाहर-राज सिपाह वळी री सीस उडायौ।—वं.भा.

ओझड़ी-सं०स्त्री०—उदर. पेट. देखो 'ओझरी'। उ०—हुरलां खड़कां ओझड़ी, झवरक्कां फट्टै।—लूणकरण कवियौ

ओझड़ौ-सं०पु०—१ झटका. २ पेट की थैली। उ०—राव री जांघ तौ बच गई पण घोड़े रौ काळजौ बूकड़ा आंतड़ा ओझड़ा फाट काढ जावतौ नीसरियौ।—डाढाळा सूर री बात

ओझण, ओझणौ-सं०पु० [सं० उपवन] कन्या को गौने के समय अथवा अन्य महत्वपूर्ण अवसर पर सीख देते समय दिया जाने वाला सामान, गौने का सामान। उ०—तिकौ सासरै गयौ। घणी खुस्याळी हुई। बधाई बांटी...। घरां री सीख मांगी। तरै भालां ओझणां री तयारी कीनी।—जखड़ा मुखड़ा भाटी री बात

ओझर-सं०पु०—पेट, उदर।

ओझरी-सं०स्त्री०—१ पेट की थैली, पेट. २ उदरस्थ वह मल जो शव को चीरने पर निकलता है।

ओझळ-सं०पु० [सं० अवस्खल, प्रा० ओक्खलन] १ ओट, आड़।

उ०—जंपू हिव ओझळ राख जीव न, पोढचौ तूं साखां डाळां पत्र।

२ गुप्त. ३ अदृश्य। —ह.र.

ओझळणौ, ओझळबौ-क्रि०अ०—१ कूदना, फांदना। उ०—ओझळै अचींती गात लागां उमंग। प्रतीती वदन याळां भमंग पूत।

—लिछमणसिंह सीसोदिया रौ गीत

२ चौंकना। उ०—हसावै भड़ां तारूड़ां संधि हाथी, ऊडै पाव ज्यूं ताव दाझै इळा थी। छुवंता झळ ओझळै आप छाया, जिके अंबु अप्पित के बायु जाया।—वं.भा.

३ मिटना, नाश होना। उ०—सुर सुरलोक वदै सीसोदा, प्राछन सह ओझळै परा। होतां भेट समा सब हिन्दू, हुआ पाप संग्राम हरा।

—दुरसौ आढ़ौ

ओझळणहार, हारौ (हारी), ओझळणियौ-वि०—कूदने या फांदने वाला, मिटने वाला, नाश होने वाला।

ओझळा-सं०स्त्री०—अग्नि की लपट।

ओझलांणौ—देखो 'ओझण, ओझणौ' (रू.भे.)

ओझाड़-वि०—उबड़-खाबड़।

सं०पु०—१ प्रहार, चोट, टक्कर। उ०—इतरै में आप ओझाड़ वाही सौ उणरा दोय बटका हुवा और आप बागे रौ दावण खींच फाड़ नांखी।—पलक दरियाव री बात (रू.भे. ओझड़)

ओझाड़णौ, ओझाड़बौ-क्रि०स०—१ चीरना, फाड़ना। उ०—तुंड रै जोर हाथी पाड़िया, फेट दे घोड़ा सवार पाड़िया, डाढां सूं सूरवीरां नै ओझाड़िया, झटकौ दे हेटा न्हांकिया।—वी.स. टीका

२ प्रहार रोकना। उ०—ओझाड़ियौ ढाल हूंता, नाराज झाड़ियौ आचां।—फतेसिंह महडू

ओझाड़णहार, हारौ (हारी), ओझाड़णियौ-वि०—चीरने वाला, प्रहार रोकने वाला।

ओझाड़ियोड़ौ, ओझाड़ियोड़ौ, ओझाड़चोड़ौ—भू०का०कृ०।

ओझाड़ियोड़ौ-भू०का०कृ०—चीरा हुआ, प्रहार रोका हुआ। (स्त्री० ओझाड़ियोड़ी)

ओझाट—देखो 'ओझाड़'। उ०—तरै इकौ मण दोय री सांग वाही सौ सांग रांमदासजी ढाल सूं ओझाट सूं टाळ दीवी।

—रा.सा.सं.

ओझाळ-सं०स्त्री०—आग की लपट।

ओझावौ-सं०पु०—झलक। उ०—कहियौ यही ओझावौ पड़ियौ छै। खुण खाड नै बूरौ।—चौबोली

ओझौ-सं०पु०—खतरा।

ओट-सं०स्त्री०—१ आड़, रोक, जिससे सामने की वस्तु न दिखाई दे। उ०—१ लुकाती दिवली अंबर ओट, निरखवा आई औ संसार।

—सांझ

उ०—२ ओट उस ही की पकड़िए, उस ही का सरणा।

—केसोदास गाडण

२ बाधा, रोक, व्यवधान. ३ दोष (अ मा.) ४ शरण, पनाह, रक्षा, सहारा। उ०—१ तरै न लागै ताव, ओट तुहाळी आवियां। नदी हुई तूं नाव, भव सागर भागीरथी।—बां.दा.

उ०—२ क्रत दत कौट किया हूं यवकौ, हरि तग ओट रहांणी।

—र.ज.प्र.

५ किसी वस्त्र का वह छोर जो किंचित मोड़ कर सिलाई किया गया हो, गोट, किनार।

ओटणी-सं०स्त्री०—कपास और रुई को पृथक करने की चरखी का एक काष्ट का डंडा जिसके लोहे के डंडे के साथ घूमने से रुई पृथक होती है।

ओटणौ, ओटबौ-क्रि०स० [सं० आवर्तन] १ कपास का चरखी में दबा कर रुई और बिनौलों को अलग करना. २ पुनरुक्ति करना. ३ पीसना, दलित या चूर्ण करना. ४ कष्ट देना. ५ किसी वस्त्र के छोर को किंचित मोड़ कर सिलाई करना. ६ गाड़ना, धूलि, या राख आदि में दबाना. ७ ओढ़ना।

ओछाह–सं०पु० [सं० उत्साह] १ उत्साह, जोश, उमग. २ हर्ष, प्रसन्नता. ३ उत्सव, जलसा।

ओछाहणौ, ओछाहबौ–क्रि०स०—आच्छादित करना, ढँकना।

उ०—हैमरा हींस नर लसकरी क्रह हुई, वहै सिंधुर कहर समर वेडा। आहाडा खड रजमंडळ **ओछाहियौ**, पहाड़ा अगम सर सुगम पेंडा।

—महाराजा जसवतसिंह री गीत

ओछाहर–स०पु०—देखो 'ओछाह' (रू.भे.)

ओछाहियोड़ौ–भू०का०कृ०—ढँका हुआ, आच्छादित (स्त्री० ओछाहियोडी)

ओछी–वि०स्त्री०—छोटी। उ०—**ओछी** अंगरखियां दुपटी छिव देती, गोढै बरडी जे पूरा गामेती।—ऊ.का.

ओछीजणौ, ओछीजबौ–क्रि०अ० (भाव वा०) घटना, कम होना।

उ०—'ओपा' आ उमर **ओछाणी**, परवत हू त विछूटा पाणी।

—ओपौ आढौ

ओछीजियोड़ौ–भू०का०कृ०—कम या घटा हुआ। (स्त्री० ओछीजियोड़ी)

ओछीढांण–स०स्त्री०—ऊँट की चाल विशेष।

ओछी नजर–सं०स्त्री०—१ अदूरदर्शिता. २ दूसरे को अपने से क्षुद्र समझते हुए डाली जाने वाली नजर।

ओछौ–वि० (स्त्री० ओछी) १ जो गहरा न हो, छिछला. २ शक्तिहीन, कमजोर. ३ तुच्छ, क्षुद्र, छिछोरा। उ०—मद विद्या धन मान, **ओछा सो** उकळै अवट। आधण रै उनमान, रैवे विरळा राजिया।

—किरपाराम

४ ओछे रीं प्रीत नै वाळू री भीत—क्षुद्र व्यक्ति का प्रेम और बालू की दीवार एक समान होते है। क्षुद्र व्यक्तियो का प्रेम अधिक समय तक नही टिकता. ५ ठिगना, बौना. ६ छोटा। उ०—**ओछी** अंगरखिया दुपटी छिव देती।—ऊ.का.

क्रि०प्र०—करणौ, पडणौ, होणौ।

कहा०—१ ओछी ओजरी मे धान नही पचै—छिछले व्यक्तियो के मन में वात पचती नही, वे दूसरो द्वारा कही हुई कई गुप्त वातो को अन्य लोगो के सामने प्रकट कर देते है. २ ओछी गरदन दगैवाज—ओछी गरदन वाला दगावाज होता है.

६ कम, अपूर्ण। (क्रि०प्र०—करणौ, पड़णौ, होणौ)

उ०—विवरण जौ वेलि रसिक रस वंछौ, करौ करणि नौ मूझ कथ। पूरे इते प्रामिस्यौ पूरौ, इग्रे **ओछौ** अरथ।—वेलि.

मुहा०—ओछी काटणौ (वाढणौ)—विना पूरी तरह किये जल्दी जल्दी समाप्त करना, कम करना।

कहा०—ओछी पूंजी कसम (धन-धणी) नै खाय—थोडी पूंजी मालिक को खाती है। थोडी पूंजी से दुकानदारी या व्यापार मे हानि होती है। (यौ०—ओछौ-मोछौ)

ओछौ-मोछौ–वि०—१ देखो 'ओछौ' २ काम चलाऊ।

ओज–स०पु० [सं० ओजस्] १ वल, कौशल, प्रताप, पराक्रम।

उ०—या कुमणैती कंत री, और न पूगै **ओज**। चमठी खाली होवतां, नमठी चाली फौज।—वी.स.

२ उजाला, प्रकाश. ३ वीरता आदि का आवेश पैदा करने वाला एक काव्य गुण. ४ शरीर के भीतर के रसो का सार भाग, कांति [रा०] ५ पेट. ६ पशुओं के मरने पर उनके पेट में से निकलने वाला मैला. ७ उष्णता, गर्मी। उ०—जानि दिवाकर जेठ मैं वहु **ओज** वढाया।—वं.भा.

ओजक–स०स्त्री०—घवराहट, वेचैनी। उ०—साकुरां घमक पौडा घमक सावळं, लगी **ओजक** जजक अजक लाखां।

—सुरतांणसीग री गीत

ओजको, ओजकौ, ओजग–सं०पु० [सं० अवजागर, उजागर] रात्रि भर जागृत रहने पर उत्पन्न थकावट, जागरण।

कहा०—नीद वेच'र ओजको लेणौ—वह कठिन कार्य करना जिसका फल उस कार्य की तुलना मे वहुत कम मिले या बिल्कुल न मिले।

ओजगी–सं०पु०—रात्रि मे जागरण करने वाला व्यक्ति।

ओजगौ–सं०पु०—देखो 'ओजकौ'।

ओजणौ, ओजबौ–क्रि०स० [सं० ओजस्] १ उपयुक्त होना, फबना, शोभायमान होना. २ अधिक आंच लगने से तली में कुछ चिपक जाने से द्रव या गाढ़े पदार्थ का कडुआ होना।

कहा०—काळी वऊ नैं ओजियोडौ दूध तीन पीडी ताई लजावै—श्याम वर्ण की स्त्री तथा ओजा हुआ दूध का असर तीन पीढ़ी तक रहता है।

ओजर–स०पु०—पेट।

ओजरी–स०स्त्री [सं० अवजरी] पेट के अदर का वह अवयव जहां खाद्य पदार्थ खाये जाने के वाद रस वनने तक स्थित रहते है, पेट।

ओजरौ–सं०पु०—देखो 'ओजर' (रू.भे.)

ओजळा–सं०पु० (वहु व.) वे गेहूँ या जौ जो भूमि की तरी के कारण अपने आप विना पानी पिलाये ही अंकुर निकाल देते है।

ओजागणौ, ओजागबौ–क्रि०अ०—जागरण, जागृत रहना, नीद न लेना।

उ०—तिसियां टळवळियांह, आधी राति **ओजागियां**। लाधौ लू आथ्याह, जळ सरीखौ जेठवौ।—जेठवौ

ओजास–सं०पु० [सं० उद्‌भास, प्रा० उब्भास] १ प्रकाश, रोशनी।

उ०—अटक कटकां मनां अंतक अरक तक **ओजास**।—ल.पि.

क्रि०प्र०—करणौ, पडणौ, होणौ। २ स्पष्टता।

ओजासणौ, ओजासबौ–क्रि०स०—प्रकाश देना, प्रकाशित करना।

अ०—प्रकाश होना, प्रकाशित होना।

ओजासियोड़ौ–भू०का०कृ०—प्रकाशित (स्त्री० ओजासियोडी)

ओजूं–क्रि०वि०—१ फिर, पुनः, दुवारा. २ अव भी।

ओजौ–सं०पु०—मिस, वहाना, हीला।

ओजोळी–स०पु०—वटई का एक औजार।

ओभ–सं०स्त्री०—देखो 'ओज' (५), (६)।

ओभक–सं०स्त्री०—चौकन्ना होने का भाव।

ओभकणौ, ओभकबौ–क्रि०अ०—एकाएक डर जाने या पीडादि का अनुभव होने पर झटके से कांपना या हिलना, चौंकना।

ओठेभ—देखो 'ओठम'। उ०—कवळू पत लूंटण वेण कह्या। रवि अंसिय ओठेभ आय रह्या।—पा.प्र.

ओठै—क्रि०वि०—वहां। उ०—तद ब्राह्मण कही ओठै हूं एक विद्या सीखूं छूं।—चौवोली

ओठौ—सं०पु०—१ भाव, विषय. २ उद्देश्य, अभिप्राय. ३ अवसर, मौका. ४ ऊंट, दृष्टांत।

कहा०—१ ओठा ही कदेई जांवण पड़ै (ओठा कदेई आयणी मिळै ?)—ऊंटणी का दूवक भी जमता ही नहीं। उस व्यक्ति के लिए जो कभी किसी के काम न आवै. २ ओठौ ही अर ओखर हिलग्यौ—ऊंट सब वस्तुयें तो खाता ही है, एक गलीच बाकी था सो उससे भी हिल गया; पतित आदमी के और अधिक पतन पर कही जाती है।

५ उल्टे, विरुद्ध, विपरीत। उ०—ओठा दिन आयाह, खोटा मग कैरव खड़्या। जुध पंडव जायाह, सा'य जिताया सांवरा।
—रामनाथ कवियौ

ओडंडी—वि०—जो दंडित नहीं किया जाय।

ओडंडीस—वि० [सं० ऊद्दंडीश] बलवान, जबरदस्त। उ०—जोमंगी भंडीस ज्याग आयो ज्यूं चंडीस जायो. राजपत्री आयो ज्यूं थंडीस। व्याळरेस ओडंडीस असीसतो लांगड़ो कपीस आयौ, कोडंडीस कसीमतो आयो गुड़ाकेस।—हुकमीचंद खिड़ियौ

ओड—सं०पु०—१ कुए पर बैलों को बांधने के लिए बनाया हुआ घास-फूस का मकान. २ एक जाति विशेष जिसके व्यक्ति पत्थर निकालने या मिट्टी खोदने का कार्य करते हैं. ३ इस जाति का व्यक्ति।

कहा०—ओड खंदेटै हेटै कद आवै—ओड जाति का व्यक्ति कभी खदान में दबता नहीं क्योंकि वह मिट्टी या खदान खोदने में अभ्यस्त होता है। निपुण या होशियार व्यक्ति किसी के चंगुल में नहीं फँसता।

क्रि०वि०—तरफ, ओर (रू.भे. ओड़)

वि०—समान, तुल्य।

ओडकआवणौ, ओटकआवबौ—क्रि०अ०—गर्भ धारण करने के निमित्त भेड़ का ऋतुमती होना।

ओडण—सं०स्त्री०—१ ढाल। उ०—ओडण पुड़ येक येक पुड़ असमर, हाते मूंठज हात लिया।—महारांणा वेता री गीत

२ आलय, घर. ३ खजाना, निधि. ४ ओढ़ने का वस्त्र (रू.भे. ओढ़ण)

ओडणौ—सं०पु०—देखो 'ओढ़णौ'।

ओडणौ, ओडबौ—क्रि०स०—१ देखो 'ओढ़णौ'। उ०—धवळ पयंपे रे धणी, की दुमनो घर भार। ओडै घण री आवगो, करूं पहाड़ां पार।—बी.स. २ झेलना, सहन करना।

उ०—१ भल वाहो वाही भड़ां, आय खड़ो हूं एक। आवध म्हारो ओडियां, दणी न वार विवेक।—बी.स.

उ०—२ पूगै होदे पोढियौ, ओडै घाव अयाह। कुच भीऊं गजकुंभ नूं, नाहर मोड़ै नाह।—बी.स. ३ ओट लेना, आड़ लेना।

उ०—नागीजे तज भीतड़ा, ओडै जिम तिम अंत। किण दिन दीठा ठाकरां, काळा दरड़ करंत।—बी.स.

ओडणहार, हारौ (हारी), ओडणियौ—वि०।

ओटाणौ, ओडावौ, ओडावणौ, ओडाववौ—स०रू०।

ओडिओड़ौ,ओडियोड़ौ, ओड्योड़ौ—भू०का०कृ०।

ओडव—सं०स्त्री०—१ ढाल, फलक। उ०—कर ओडव करवाळ में, 'अभमन' ग्रहनांणै। चकर विसन कर चाळवण, पर पक्ख प्रमांणै।
—मोडजी आसियौ

२ रागों की एक जाति, पाँच स्वर वाला एक राग।

ओडवणौ, ओडवबौ—क्रि०स०—१ देखो 'ओढ़णौ' (रू.भे.)

उ०—ओडव चाप ऊठियौ नरअंद, जहंगम वायौ खांच जुओ। उड गयौ सांवळ कर-ओवी, मौत विना ववळंग मुओ।—नवलजी लाळस

२ रथ आदि में बैलों को जोतना। उ०—आंण आंण धुरतळ ओडविया, समजत ओछंडिया सकळ। जूना धमळ ओड भुज भूसर, बोहळिया छांडियौ बळ।—चतुरभुज बारहठ

ओडाणौ, ओडावौ—क्रि०स०—देखो 'ओढ़ाणौ' (रू.भे.)

ओडायोड़ौ—भू०का०कृ०—देखो 'ओढायोड़ौ'। (स्त्री० ओडायोड़ी)

ओडाळणौ, ओडाळबौ—क्रि०स०—१ कपाट बंद करना. [सं० अवधारणं] २ अधिकार में करना।

ओडाळणहार, हारौ (हारी), ओडाळणियौ—वि०—कपाट बंद करने वाला, अधिकार में करने वाला।

ओडाळिओड़ौ, ओडाळियोड़ौ, ओडाळयोड़ौ—भू०का०कृ०।

ओडाळियोड़ौ—भू०का०कृ०—(कपाट) बंद किया हुआ, अधिकार में किया हुआ। (स्त्री० ओडाळियोड़ी)

ओडांवणी, ओडावणी—सं०स्त्री०—कन्या के पिता व संबंधियों द्वारा दूल्हे के पिता, भाई व संबंधियों को दिया जाने वाला सिरोपाव या खिलअत।

ओडावणौ, ओडाववौ—क्रि०स०—देखो 'ओढ़ाणौ' (रू.भे.)

ओडावियोड़ौ—भू०का०कृ०—देखो 'ओढ़ायोड़ौ' (रू.भे.) (स्त्री० ओडावियोड़ी)

ओडियौ—सं०पु०—छोटी डलिया (अल्पा०)

ओडी—सं०स्त्री०—१ मवेशियों को चारा आदि डालने के लिए लोह अथवा वांस की बनी टोकरी, डलिया, टोकरी। उ०—ईंढो कवडाळी माथै पर ओडी। छैली अलकावळ मुखड़ै पर छोडी।—ऊ.का.

२ कुए पर बैलों को बांधने के लिए बनाया हुआ घास-फूस का गोलाकार मकान।

क्रि०वि०—तरफ, ओर।

ओडू—सं०पु०—देखो 'ओढ़ू' (रू.भे.)

ओडे, ओडै—सं०पु०—शरण में रहने का भाव, शरण। उ०—सिंध रा सावक, चहुवांणां रा पुत्र ओर कोई रै ओडै न रहसी।—वं.भा.

वि०—समान, बराबर। उ०—सळ नाग देखै खाग चंच तै सवाई, सूरजमल जगनाथ के सवाई पाय के से ओडे।—रा.रू.

ओडौ—सं०पु०—१ पशुओं के लिए चारा मापने का एक उपकरण, बड़ा टोकरा, खांचा (स्त्री० ओडी) २ आड़, शरण, पनाह।

ओटणहार, हारौ (हारी), ओटणियौ–वि०—ओटने वाला।
ओटवणौ, ओटवबौ—रू०भे०।
ओटाणौ, ओटावौ, ओटावणौ, ओटावबौ—क्रि०प्रे०रू०।
ओटिओड़ौ, ओटियोड़ौ, ओटयोड़ौ—भू०का०कृ०।

ओटपौ–वि०—विचित्र, अद्भुत, अनोखा। उ०—दंती हींडोळै झरोखां हेटै खुंभाळां झाटका देतां। फरै वाज हजारी धाटका फौजां फाड़। रोळा जीप चाळागारा ओटपा घाटका राजा। काळा झोक लागै मेद पाट का कवाड़।—माधोसिंह सीसोदिया रौ गीत

ओटवडांग–वि०—उटपटांग, अंटसंट।

ओटवणौ, ओटवबौ–क्रि०स०—१ देखो 'ओटणौ'। उ०—मग सागर तजि सुद्ध भंमर कुण वेड़ी घल्लै, अहि कसणा ओटवै कमण रसण कर झल्लै।—रा.रू. २ अधिकार में करना, दवाना। उ०—अतुळीवळ 'जैतै' आपांणी, धड़ां तळै ओटवी धर।
—सूजौ नगराजोत

ओटवौ–वि०—देखो 'ओटपौ' (रू.भे.)

ओटवियोड़ौ–भू०का०कृ०—१ ओटा हुआ २ दवाया हुआ. ३ अधिकार में किया हुआ। (स्त्री० ओटवियोड़ी)

ओटि–सं०पु० [सं० उट] १ घास-फूस. २ आड़, ओट, व्यवधान।

ओटी–सं०पु०—देखो 'ओठी'।

ओटीजट–सं०स्त्री०—ऊँट के वाल।

ओटौ–सं०पु०—१ जलाशयों में अधिक जल आ जाने से ऊपर छल कर वह निकलने की क्रिया।
कहा०—वेटी ऊखरड़ी रौ ओटौ है—लड़की घूरे और तालाव के ओटे के समान है। जिस प्रकार घूरे को बढ़ते और पानी आने पर तालाव को भर कर पानी वाहर बहने में देर नहीं लगती उसी प्रकार लड़की को भी बड़ी होते या यौवन से छलकते देर नहीं लगती, शीघ्र ही उसके विवाह की फिक्र करनी पड़ती है।
क्रि०प्र०—निकळणौ, वेणौ, होणौ।
२ जलाशयों का वह नियत स्थान जिधर से उनकी समाने की सामर्थ्य से अधिक जल आ जाने पर वह कर वाहर निकल जाया करता है, परिवाह. ३ परदे के उद्देश्य से वनाई जाने वाली पतली दीवार, आड़, ओट. ४ रक्षा, वचाव। उ०—वेद पढ़े विन समुझि वावरा, दे मत सूना दोटा। ऊमरदांन भला इक इसमें, अवरां सुभ का ओटा।—ऊ.का. ५ सहारा, शरण. ६ ऊँचा स्थान।
उ०—ग्रिह काज भूलिग्या ग्रहि ग्रहि ग्रहगति, पूछीजै चिंता पड़ी। मन अरपण कीधै हरि मारग, चाहै प्रज ओटै चडी।—वेलि.
७ विषय (रू भे. ओठौ) ८ देव विशेष का छोटा चवूतरा।

ओटंगौ–सं०पु० [सं० अवष्टम्भ] सहारा, अटकन।

ओटंभ–सं०पु० [सं० अवष्टम्भ] १ आश्रय. उ०—सिर ढूंढाहड़ थंभ, अनम समोवड़ नम्मिया। अधपतियां ओटंभ, भूलां किम भीमेण रा।
—अंवादांन रतनूं

२ सहायक, रक्षक। उ०—विरधां तरुण चेलकां वांसै, घर वाहर ओटंभ घांटाळ।—दोलौ वारहठ

ओठ–सं०पु० [सं० ओष्ठ] होंठ, अधर (ह.नां.)

ओठम–सं०पु०—१ आश्रय, सहारा. २ शरणास्थल, रक्षा का स्थान। उ०—कुरंद विभाड़ धाड़ कैलपुरा, आई पचे न रीझ उर। अडर···
न करन वीकम इम, पातां ओठम सायपुर।—अज्ञात
वि०—१ सहायक, मददगार. उ०—निरधारां ओठम घणनांमी।
—र.ज.प्र.
२ रक्षक। उ०—अमर सुजाव धरा रा ओठम, कळह अकारा फतेह करै। नरां तुरां थारा माधव नृप, सारा हिंदुसथांन सरै।
—माधोसिंह सीसोदिया रौ गीत

ओठारू–सं०पु०—ऊँट या सांडनी। उ०—गायां वा भैंसियां वो ओठारू वळध घणा आया।—द.दा.

ओठावणौ, ओठावबौ–क्रि०स०—ऐंठा करना, ऐंठाना, दृष्टांत देना।
ओठावणहार, हारौ (हारी), ओठावणियौ–वि०—ऐंठाने वाला।
ओठाविओड़ौ, ओठावियोड़ौ, ओठाव्योड़ौ—भू०का०कृ०।

ओठियौ–सं०पु०—ऊँट पर सवार व्यक्ति।
कहा०—ओठियै नै पोठियौ भोळायौ (ओठियां रा पोठिया कहीं भोळावौ हौ)—ऊँट पर सामान ले जाने वाले को सामान लदा वैल सौंप दिया। एक का दूसरे को और दूसरे का तीसरे को काम करने वाले के लिए।

ओठी–सं०पु० [सं० औष्ट्रिक] १ ऊँट पर सवारी करने वाला, ऊँट-सवार। उ०—या ही छै ओठी. राजाजी री सींव, तालर थोड़ा ओ ओठी सरवर मोकळौ।—लो.गी. २ राज्य सरकार द्वारा नियुक्त वह व्यक्ति जो ऊँट पर डाक, पत्र आदि लाने या ले जाने के लिए अथवा किसी व्यक्ति को वैठा कर लाने ले जाने के लिए नियुक्त किया गया हो। (मि० सुतरसवार) उ०—देस रा लोगां नूं फरमाय राखियौ थौ जे अहदी आवै तिण नूं खारा पांणी और भुरट वाळै मारग ल्यावणौ। पाछा लौटती वखतां दरवार सूं ओठी देता जिकां नूं आही जे फुरमावता।—पदमसिंह री वात. ३ ऊँट पर सवारी करने वाले डाकू, लुटेरे आदि। उ०—१ ओठी हाले अगे, पीठ घूमर पमंगळौ। आसथांन रौ उतन, साख तेरे उजवाळौ।—पा.प्र.
उ०—२ मुलतांन रै मारग री धाड़ी आवै सौ रात-दिन असवार ओठी दौड़वौ करै।—सूरे खींवे कांवळोत री वात
(ओठीड़ौ—अल्पा०)

ओठीपौ–सं०पु०—१ किसी राज्य सरकार का ऊँट पर डाक, पत्र अथवा किसी व्यक्ति को वैठा कर लाने ले जाने का कार्य या इस कार्य के लिए ऊँट के पालन-पोषण व सम्हालने का काम. २ लूट का माल।

ओठीवाळदौ–सं०पु०—वैल और ऊँटों का समूह (अस्वाभाविक)
कहा०—ओठी वाळदौ करणौ—अनमेल विवाह के लिए जिसमें वर और वधू की आयु में वहुत अधिक अंतर हो।

ओदन-सं०पु० [सं०] अन्न। उ०—भिच्छा मंगनहार का, जिन ओदन खाया। ते प्रभु कौं पहुँचै नहीं, असि त्रास डराया।—वं.भा.

ओदनिक-सं०पु० [सं० औदनिक] रसोईदार, रसोइया (डि.को.)

ओदरकणो, ओदरकबौ-क्रि०अ०—डरना, भयभीत होना।
(मि० ओद्रकरणौ)
ओदरकणहार, हारो (हारी), ओदरकणियौ-वि०—डरने वाला।
ओदरकिओड़ो, ओदरकियोड़ो, ओदरक्योड़ो—भू०का०कृ०।

ओदसा-सं०स्त्री० [सं० अपदशा] १ बुरी दशा। उ०—सुख-संपत अर ओदसा, सब काहू को होय। ग्यांनी काटै ग्यांन सूं, मूरख काटै रोय। २ फूहड़ स्त्री। —अज्ञात

ओदादार-सं०पु० [अ० उहृद+फा० दार] पदाधिकारी, ओहदेदार।
उ०—ओदादार आगै छा जकां नैं दूरि कीना मोटा कांम छोटा आदम्यां ने सौंप दीना।—शि.वं.

ओदी-सं०स्त्री०—शिकार करने के हेतु छिप कर बैठने का स्थान. २ युद्ध में खोदा गया गड्ढा. ३ सैंध। उ०—ओदी उधरै मिनख, खोदवै स्यारां भारी। कोळै कंवळी रेत, खांण री सुरंगां सारी। —दसदेव

ओदीच-सं०पु०—देखो 'अवधीच'।

ओदीचा-सं०पु०—पुरोहित ब्राह्मणों का एक भेद विशेष जो अपने को उद्दालिक ऋषि की संतान कहते हैं। ये देवड़ा क्षत्रियों के पुरोहित हैं।

ओदीजणो-क्रि०अ०—अधिक आँच लगने से तली में कुछ चिपक जाने से द्रव या गाढ़े पदार्थ का कड़ुआ होना (रू.भे. 'ओजणौ')
कहा०—हिलायां विनां ओदीजै—विना समुचित सावधानी के कार्य के बिगड़ने की संभावना रहती है।

ओदूं-देखो 'उदम' (१)

ओदो-सं०पु० [अ० उहृद] पद, अधिकार-पद।
वि० [रा०] अधिक आंच लगने से तली में कुछ चिपक जाने से द्रव या गाढ़े पदार्थ का कड़ुआ होने की क्रिया या भाव अथवा इस प्रकार कड़ुआ हुआ पदार्थ।

ओद्रकणो, ओद्रकबौ-क्रि०अ०—डरना, चौंकना, झिझकना।
उ०—१ उर ओद्रकै सास अभ्यास आंणे, वडा जूह पूंतारिआ पील वांणे। गंडां मारि बैसारिआ नीठ गर्ज्जं, रुग्रामाळ फेरै करै झाड़ि रज्जं।—वचनिका
उ०—२ कुदता उडता कूदता, ओद्रकता वप आप 'जेहो' तोखै जाचणां, साहण इसा समाप।—वां.दा.

ओद्रक, ओद्रको-सं०पु०—१ आतंक, भय, धाक। उ०—सामंत उहोळा ओद्रकां, जांण हिलोळां हल्लियो। आलम्म भड़ां अजमल्ल रा, धांण-मयांणे दल्लियो।—रा.रू.

ओद्रव, ओद्राव, ओद्रावो-सं०पु०—डर, भय, आतंक। उ०—१ जवनां रा जोर नूं हिंदुस्थान मैं ओद्राव पड़तां प्रतिहार नाहड़राज मंडोवर सूं सलाय प्रत्यंतराज रै अधीन बणियो।—वं.भा.
उ०—२ जिकां जिकां ओद्रावा पड़तां सारै जेण लागी, तिकां तिकां कायरां करेण लागी ताय।—सूरजमल मीसण

ओद्रास-सं०पु०—संहार, नाश।

ओद्राह-सं०पु०—भय, डर, आतंक।

ओघ-सं०पु०—१ देखो 'ओदण'। उ०—कट ओघ अरि त्रिय ईस कटी, धण हांसुअ थाळ कटै धरटी।—गो.रू. २ वंश, गोत्र।

ओघकणो, ओघकबौ-क्रि०अ०—एकाएक उठ बैठना, चौंकना।

ओघकियोड़ो-भू०का०कृ०—एकाएक उठ-बैठा हुआ, चौंका हुआ।
(स्त्री० ओघकियोड़ी)

ओघण-सं०पु०—देखो 'ओदण'। उ०—बड़कै ओघण बंधिया, पैसे पई पताळ। सोच करै नह सागड़ी, धवळ तणी दिस भाळ।—वां.दा.

ओघवार, ओघवाळ-वि०—उत्तम वंश का, श्रेष्ठ, कुलीन।
उ०—सलेस जोभड़ा हुमें, तमांम साख साख रा। पमंग ओघवाळ जंग-वाळ सीस पाखरा।—पा.प्र.

ओघ दार-वि० [अ० उहृद+फा० दार] पदाधिकारी।

ओघायत-सं०पु० [अ० उहृदः+रा० प्र० आयत] पदाधिकारी, ओहदे-दार, हाकिम। उ०—रयू के घमसांण जिरूकूं देख लजावै सुधाभुंजू के विर्माण, अवरही कारखांने तिस तिसके ओघायत अपनी-अपनी जिन सूं ले आय।—र.रू.

ओघार, ओघारो-सं०पु०—देखो 'उधार'। उ०—ओघार मिळसी जित्तै तो इयां ई गुड़कतो रैसी।—बरसगांठ
कहा०—ओघार पोवार, आरै घरे सिधार—उधार माँगता है तो तेरे घर जा; उधार व्यवहार नहीं करना चाहिये।

ओघि-वि०—चालाक, धूर्त्त।
सं०पु०—वंश, गोत्र। उ०—गड़दनी विकिरि सत्योर गत्त, सप्फरी छोह के लंक सत्त। जांवुअउ ओघि सापत्त जीह, आरुहिय तेणि आसउ अबीह।—रा.ज.सी.

ओघूळ, ओघूळो-वि०—१ वीर, उदार (रू.भे. 'ऊघूल') २ मस्त।
उ०—मीणां रा सौ ऊंठ पचास घोड़ा तिका इणहीज कांम ऊपर रहै। च्यारूं तरफां रो माल आवै सो खावै, घूपटा कीजै, ओघूळा वहै।—सूरे खींवे कांवळोत री वात

ओघे-सं०पु०—१ अधिकार. २ ठाकुरजी का रसोइया (वल्लभ संप्रदाय)

ओघौ-देखो 'ओदो' (रू.भे.)

ओनाड़, ओनाड़ो—देखो 'अनड़' (डि.को.) उ०—१ जिस सायत परदळ के विगाड़, निजदळ के किवाड़, जंग के जैतवार, अंगू के आचू के उदार।—र.रू.
उ०—२ राड़ो फैलतां सांमुद्र रूप अयरणां कूरमां फोजां। ओनाड़ो पटैल घुसे ग्राह ज्यां अठेल।—हुकमीचंद खिड़ियो

ओप-सं०स्त्री०—१ दीप्ति, चमक, कांति। उ०—चांत उदार जादमां चंवरी, आप तणै कुळ चाढ़ण ओप।—अज्ञात. २ शोभा, छवि. ३ पालिश. ४ उपमा धारण करने वाला। उ०—इम राज करै अज नंद अयोध्या, नेत बंधी निरतैत। जंगां जीत तपोवळ जालम, ओप वर्द्ध अखडैत।—र.रू. ५ जिरह, कवच.

उ०—पड़ै डहोळा छातियां, नजर पड़ंतां नाह। आवै आवै ऊचरै, ओडो हेर सिपाह।—वी.स.

ओढण—वि०—१ रक्षक। उ०—गढ़वी गांगी गाविजै, स्यांम न मेल्है साथ। ओढ़ण अनिकारां नरां, हालां रा पण हाथ।—हा.झा.

सं०पु०—१ ओढ़ने का वस्त्र। उ०—ग्रह पुहप तणौ तिणि पुहपित ग्रहणौ, पुहप ई ओढ़ण पाथरजि।—वेलि.

सं०स्त्री०—२ ढाल। उ०—खग रूपी भड़ दाहिणै, घणै पराक्रम जांण। भुज ओढ़ण भूपाळ रै, वांमै तिके वखांण।—रा.रू.

ओढणियौ—देखो 'ओढणौ' (अल्पा०) उ०—वावर वीखरिया ओढणिये आडै। डावर नयणां री टावर वय डाडै।—ऊ.का.

ओढणी—सं०स्त्री०—(प्रायः विधवा) स्त्रियों के ओढ़ने की चादर (वस्त्र) जो प्रायः रंगीन होती है, उपरैनी। उ०—सिघां सिर नीचा किया, गाडर करै गलार। अधपतियां सिर ओढणी, तौ सिर पाघ 'मलार'।
—अज्ञात

ओढणौ—सं०पु०—स्त्रियों के ओढने का वस्त्र।

ओढणौ, ओढवौ—क्रि०स० [सं० आ+वह+क्त=ओढ नाम धातु ओढणौ] १ शरीरांग को वस्त्र आदि से आच्छादित करना, पहिनना।
उ०—पहिरण-ओढण कंवळा, साठे पुरिसे नीर। आपण लोक उभांख रा, गाडर-छाळी खीर।—ढो.मा. २ धारण करना।
उ०—राजोधर वळरांम रौ, कांधौ धर कमधज्ज। थळ आये वळ ओढणौ, गढपत्ती छळ कज्ज।—रा.रू. ३ रक्षा करना.
४ अपने ऊपर लेना, जिम्मेदारी लेना।
ओढ़णहार, हारौ (हारी), ओढणियौ—वि०—ओढ़ने वाला।
ओढाणौ, ओढावौ, ओढावणौ, ओढाववौ—स०रू०।
ओढिओड़ौ, ओढियोड़ौ, ओढयोड़ौ—भू०का०कृ०।

ओढव—देखो 'ओडव' (१) (रू.भे.)

ओढवणौ, ओढववौ—क्रि०स०—देखो 'ओढणौ' (रू.भे. ओडवणौ)

ओढांमणी, ओढांवणी, ओढावणी—देखो 'ओडांवणी' (रू.भे.)

ओढाड़णौ, ओढाड़वौ—देखो 'ओढांणौ' (रू.भे)

ओढाणौ, ओढावौ, ओढावणौ, ओढाववौ—१ कपड़े से आच्छादित करना, पहिनना. २ ढांकना. ३ जिम्मेदारी देना।
ओढाणहार, ओढावणहार, हारौ (हारी), ओढाणियौ, ओढावणियौ—वि०—ओढ़ाने वाला।
ओढायोड़ौ, ओढावियोड़ौ—भू०का०कृ०।

ओढौ—वि०पु० (स्त्री० ओढी) १ विकट, टेढ़ा। उ०—ईढगरां कहियौ इम 'उदा', सुर न हालै मीढ सत। औ तौ पंथ तिहारौ ओढौ, गोकळ वाळा पंथ गत।—अज्ञात २ भयंकर, भयावना। उ०—ओढी थह गयंदां आफळती, असहां नह पलतौ अटल।—चांवंडदांन दधवाड़ियौ
सं०पु०—१ मौका, अवसर. २ देखो 'ओडौ'।

ओण—सं०पु०—१ देखो 'ओरण' २ देखो 'ओयण' (३)
उ०—महि मंडळ पदम पै ओपिया मंडळी। ओळगू अंत रै जिमी असमांण। रिख तणा ओण पाहार जिही रिदै, जवन जगदीस चै 'दलौ' जमरांण।—दळपतराय सींधोत रौ गीत

ओतपोत—वि०—इतना उलझा हुआ कि सुलझाना असंभव हो, बहुत मिला-जुला। उ०—अनंत वार भूखणें वणें वणाव एरसौ, जड़ाव जोति ओतपोत भूप रूप में जिसौ।—रा.रू.

ओतार—[सं० अवतार] देखो 'अवतार'।

ओतारौ—सं०पु०—पड़ाव, डेरा। उ०—पेखे पुर-वासियां घणी अगजीत धरा रौ, जादम 'गोयंद' तणै वाग कीधौ ओतारौ।—रा.रू.

ओताळ—सं०स्त्री०—जल्दी, शीघ्रता, उतावल। उ०—ज्यांरा द्रग कच जीतिया, सोह पंकज सींवाळ। पड़ही लहरां मिस पगां, त्यां हंदां ओताळ।—बां.दा.

ओताळिणौ, ओताळिबौ—क्रि०स०—प्रहार करना। उ०—हिन्दुवै राव ओताळियौ लोह हद, रगत मेछां तणै नदी राती।
—मांनसिंह सक्तावत रौ गीत

ओतु—सं०स्त्री० [सं०] बिलाव (डि.को.)

ओतोळणौ, ओतोळवौ, ओतोळिणौ, ओतोळिबौ—क्रि०स०—झोंकना।
उ०—वांकड़े भांण रै बळ रे वाळिया। उरां ऊपरी खेंग ओतोळिया।
करमसी सगतावत रौ गीत

ओथ—क्रि०वि०—वहाँ। उ०—साथ हुई नै हालिया। आगै जाळ रौ रूंख हुतौ ओथ जाइनै ऊभा रहिया।—सयणी री वात

ओथणौ, ओथवौ—क्रि०अ०—अस्त होना, अवसान होना।
२ बुरे दिन आना, दुर्भाग्य आना. [सं० असुत्थ, प्रा० अहुसत्थ, अ० अहुत्थ=अउत्थ] ३ उकता जाना, उवना।

ओथियै—क्रि०वि०—वहाँ, उस जगह (रू.भे. ओथ]

ओद—सं०पु०—वंश, खानदान, औलाद। उ०—कोड़ पसाव पेख जग कहियौ, अधपत यों दाखै इण ओद। स्रीमुख सपथ करे अडसी सुत, सोदां नह विरचै सीसोद।—वारूजी वारहठ

ओदक—सं०पु०—डर, भय, आतंक। उ०—मरहट्ठ मन भीरु हैं जब वाजि उठाया, तब ही पायन लग्गि है ओदक अकुळाया।—वं.भा.
वि०—भयभीत, डरा हुआ। उ०—ओदक अमीर पछटियौ एम तूटते तार नगहार जेम।—वि.सं.

ओदकणौ, ओदकवौ—१ चौंकना, चमकना, झिझकना। उ०—ठहरै जीव न ठाहि, आहि पुकारै ओदकै, मेछां रा घट मांहि, भाय लगाई 'भारथै'।
—ला.रा.

२ डरना, भयभीत होना। उ०—अलड़ अलंगे ओदकै, भारथ खग भिड़वाव। तौ ऊभां 'करनेस' तण, पण न लागे दाव।
—पदमसिंह री वात

ओदण—सं०पु०—गाड़ी के मुख्य (थाटे) तख्ते के नीचे लंबे लकड़ी के वे दो डंडे जिस पर समस्त गाड़ी का वजन आधारित रहता है।

ओदध—सं०पु० [सं० उदधि] समुद्र। उ०—ओदध कळूआर जळ नासत भरियौ जवर।—नवलजी लाळस

ओमाहिओड़ौ, ओमाहियोड़ौ ओमाह्योड़ौ—भू०का०कृ० ।

ओमाहौ—सं०पु०—उत्साह, उमंग, उत्सुकता । उ०—अमल मंगायौ अरज कर, मांग लई तरवार । मिरजौ ओमाहौ करै, चाहै नौ मनुहार । —रा.रू.

ओय—अव्यय—पीड़ा, खेद या शोकसूचक शब्द ।

ओयड़ौ—सं०पु०—१ खलिहान में अनाज को पूर्ण रूप से साफ कर लेने के बाद बंटवारे के समय जागीरदार व उसके द्वारा भेजे गये प्रतिनिधि जो बंटवारा करने तथा अपना लगान लेने जाता है, कृषकों द्वारा सब के लिए सम्मिलित रूप से की जाने वाली गोठ. २ खलिहान में अनाज की देख-रेख करने के लिए जागीरदार द्वारा भेजे जाने वाले व्यक्ति के लिये कृषकों द्वारा क्रम से दिया जाने वाला भोजन या भोज्य सामग्री. ३ गांवों में सरकारी कार्य हेतु आने वाले सरकारी छोटी श्रेणी के कर्मचारी के लिए गांव वालों की तरफ से अपनी अपनी बारी से दिया जाने वाला भोजन. ४ गांव की गायें आदि चराने वाले को रात्रि के समय गांव वालों द्वारा दिया जाने वाला भोजन ।

ओयण—सं०पु०—१ गूद्र. २ देखो 'ओरण' । उ०—लड़ालूम डालयां लमूटै, जांणै भवरख भूंटणा । ओयण में लसकर लुगायां, खाणा चुगणा चूंटणा ।—दसदेव ३ पैर, पांव, चरण (अ.मा.)

उ०—१ 'वीजा' हर हिदवां भांण ताळा विलंद, आंण सुण कमण ओयण उठावै । पांण राखै जिकै प्रांण छोडै प्रसण, पांण जोड़ै जिकै अभै पावै ।—चिमनजी आढ़ौ

ओयाळौ—वि० (स्त्री० ओयाळी) [सं० आजापाल] किसी से दब कर रहने वाला, दबैल (मि० हेटवाळियौ) (रू.भे. ओडयाळौ)

कहा०—ओयाळै नै ओळवौ नै दूखता नै ठे(ह)—दबैल व्यक्ति और दुःख चोट आदि से पीड़ित व्यक्ति को क्रमशः उपालम्भ और चोट आदि पर ठेस लगने का कष्ट सहन करना ही पड़ता है कारण कि दबैल को उपालम्भ और दुखी को ठेस अनायास प्राप्त हो ही जाती है ।

ओर—सं०पु०—१ नियत स्थान के अतिरिक्त शेष विस्तार, तरफ, दिशा. २ किनारा, पक्ष, छोर, सिरा. ३ आरंभ, आदि. ४ स्वीकार, मंजूर ।

क्रि०वि०—तरफ ।

वि०—दूसरा, अन्य । उ०—तेजाळ जागिया कमंध तोर, आगिया दबे भूपाळ ओर ।—वि.सं.

ओरडर—सं०पु० [अं० ऑर्डर] आज्ञा, आदेश, हुक्म ।

ओरड़ी—सं०स्त्री०—मकान में सामान रखने का छोटा कमरा ।

उ०—एक तो अंध्यारी ढोला ओरड़ी रे, कोई दूजी हो अंध्यारी दूजी हो अंध्यारी जी रात, हांजी ढोला रात, अब घर आव जा ।—लो.गी.

ओरठै—क्रि०वि०—और स्थान, अन्य स्थान, दूसरी जगह ।

उ०—घोरां रा कर ओरठै, पड़ियो पाड़ै बांग ।—वी.स.

ओरण—सं०पु० [सं० उपारण्य, प्रा० उवारण] एक प्रकार का वह जंगल अथवा गोचर भूमि जो किसी देवी या देवता के अर्पण करदी जाती है तथा उसके पश्चात् उस भूमि पर उत्पन्न वृक्ष की लकड़ी भी कोई नहीं काट सकता (धार्मिक)

ओरणौ—सं०पु०—१ स्त्रियों के ओढ़ने का वस्त्र, ओढ़नी. २ हल के साथ बांधी हुई बांस की नली जिसमें किसान अनाज बोने के लिए डालते हैं (क्षेत्रीय) ३ खेत में अनाज बोने का एक प्रकार का ढंग । देखो 'ओरणौ' ।

ओरणौ, ओरबौ—क्रि०स०—१ (युद्ध आदि में) झोंकना । उ०—पैला सुणिया पांचसै, घर में तीर हजार । आधा किण सिर ओरसी, जे खिजसी जोधार ।—वी.स. २ अनाज को पीसने के लिए चक्की में या पकने के लिए पकाए जाने वाले पात्र में डालना ।

ओरणहार, हारौ (हारी), ओरणियौ—वि० ।

ओरिओड़ौ, ओरियोड़ौ, ओरचोड़ौ—भू०का०कृ० ।

ओरतौ—सं०पु० [सं० उरस्ताप] १ पछतावा, पश्चात्ताप । उ०—वणक कहै वापार बिच, सीखी गुरु सूं सोभ । ऊंट मुआं नहि ओरतौ, कापड़ ऊपर बोझ ।—बां.दा. २ वहम, संदेह ।

ओरवणौ, ओरवबौ—देखो 'ओरणौ, ओरबौ' (रू.भे.)

उ०—चोधारां लाल, लाल खग चोरंग, वयंड थंडां ओरवै वाज । फौजां कहर तमर पर फाड़ै, रव जम जळहळियौ जसराज ।

—चावंडदांन बारहठ

ओरस—सं०स्त्री०—लज्जा, खेद । उ०—एक राड़ भव मांह अवत्थी, ओरस आंणै केम उर । 'माल' तणा केवा कज मांगा, 'सांगा' तूं सालै असुर ।—जमणाजी सोदौ

ओरिया—क्रि०वि०—इधर, इस ओर ।

ओरियौ—सं०पु०—१ देखो 'ओरौ' (अल्पा०)

२ देखो 'ओरीसौ' (अल्पा०)

ओरियोड़ौ—भू०का०कृ०—१ (युद्ध आदि में) झोंका हुआ. २ पीसने के लिये चक्की में या पकने के लिए पकाए जाने वाले पात्र में डाला हुआ अनाज । (स्त्री० ओरियोड़ी)

ओरी—सं०स्त्री०—१ सामान रखने का छोटा कमरा (पु० ओरौ)

२ बैठक का छोटा कमरा. ३ शीतला के समान हल्के दानों वाला प्रायः बच्चों को होने वाला एक रोग विशेष ।

ओरीसौ—सं०पु० [सं० अवघर्ष] पूजा के निमित्त केसर या चंदन आदि घिसने का पत्थर का छोटा चकला । उ०—सू केसर चंदण रा सूकड़ा सूं जेसळमेर रा ओरीसां में होसनाक जुवांन घसै छै ।

—रा.सा.सं.

ओरू—क्रि०वि०—और, फिर, पुनः । उ०—ओरूं अकल उपाय, कर आछी भूंडी न कर । जग सह चाल्यौ जाय, रेला की ज्यूं राजिया ।

—किरपारांम

ओरूणौ—सं०पु०—वर्षा के अभाव में कुये से पानी निकाल कर खेत की भूमि में तरी पहुँचाने की क्रिया जिससे भूमि आसानी से जोती जा सके ।

वि०—समान । उ०—लख हेली धरा री धणी, करै न जुड़ियौ कोप । पैंतीसां पग घींसतौ, आवै डूंगर ओप ।—वी.स.

ओपची–सं०पु०—कवचधारी योद्धा ।

ओपणंत–सं०पु०—ऊपर का होंठ (ह.नां.)

ओपण–सं०स्त्री०—कांति, दीप्ति, शोभा (मि० ओपण-धारा)

ओपण-धार–सं०पु०—दीपक (ह.नां.)

ओपणाणौ, ओपणावौ–क्रि०स०—१ चमकाना. २ शान पर चढ़ाना, धार पैनी करना । उ०—तिकां री भालोड़ आगले पासे सूं बाहर दीसै छै भळभळाट करती । इयां नूं खींवौ सातवें रै सातवें दिन ओपणी सूं ओपणावै छै तींसूं भळका मारै छै ।—सूरे खीवे कांधळोत री वात

ओपणी–सं०स्त्री०—१ एक विशेष प्रकार का पत्थर जिससे सोने पर चमक लाने हेतु घिसाई की जाती है. २ शस्त्र पैना करने का उपकरण, शान । उ०—तिकां री भालोड़ आगले पासे सूं बाहर दीसै छै, भळभळाट करती । इयां नूं खींवौ सातवें रै सातवें दिन ओपणी सूं ओपणावै छै तीसूं भळका मारै छै ।

—सूरे खींवे कांधळोत री वात

३ चमक, कांति. ४ शोभा. ५ कवच, जिरह ।

ओपणौ, ओपबौ–क्रि०स०—१ चमकाना, प्रकाशित करना. २ पालिश करना. ३ साफ करना ।

क्रि०अ०—झलकना, चमकना. २ शोभायमान होना, फबना, शोभा देना । उ०—१ ओपै वाड़ी अमल री, वैरी रंग विरंग । एकौ रंग उतारणी, जेठ न दीठौ जंग ।—वी.स.

ओपत–सं०स्त्री० [सं० उत्पत्ति] १ आय, आमदनी । उ०—कामेतियां कन्हां ओपत खपत सुणि नवौं वीमाह करि अर महल मांहै पधारै ।

—सयणी री वात

२ धन, संपत्ति । उ०—ओपत साथां मिळै अलेखै, लूट तणी विगती कुण लेखै ।—रा.रू.

ओपती–वि०स्त्री०—उचित, शोभित, फबती (पु० ओपतौ)

ओपन–सं०स्त्री०—एक प्रकार की अंगूठी जिसमें बहुमूल्य जवाहरात जड़े रहते हैं ।

ओपनी—देखो 'ओपणी' ।

ओपम–सं०स्त्री० [सं० उपमा] १ उपमा । उ०—मिथळेस कुंवरि सीता सुतन, कवि एती ओपम कहत ।—र.ज.प्र. २ शोभा, सुंदरता.

उ०—जप पात तूं अठ जांम, रिववंस ओपम रांम ।—र.ज.प्र.

३ आभूषण और जेवर । उ०—तोसूं कमण रमै तलवारां, कांकण हत्थ लोहमा कमाड़ । उजळ नूमळ नाक रौ ओपम, मोती पह लेगौ मेवाड़ ।—अज्ञात

वि०—सुंदर, शोभायमान ।

ओपमा—देखो 'उपमा' । उ०—जैसें रिखीस्वर राति अर दिन की संधि संध्या-वंदण उठया होइ । रिखिस्वर की ओपमा कुनां नूं दीं ।—वेलि. टी.

ओपमाणौ, ओपमावौ–क्रि०स०—उपमा देना । उ०—वेख छटा जिणवार दी कव ओपमाया, जांण ग्रहै मुख राती जुग चंद छुडाया ।

—द.दा.

ओपर–सं०स्त्री०—सहायता, मदद, रक्षा । मि० 'ऊपर' ।

क्रि०वि०—ऊपर, ऊँचे स्थान में ।

ओपरौ–वि०पु० (स्त्री०ओपरी) १ अजनबी, अपरिचित । उ०—जोगी हुय गळियें कोट गया, वे आगला ओपरा आदमी नें गांव में रहण दे नहीं सु वे चरचा सुण नै मास १ गांव एक रै वंस रह्या ।—नैणसी २ टेढ़ा, व्यंग्य. ३ भयंकर, भयावह । उ०—सजे ओपरा टोप सोभा सिघाळी, जिके भीड़ियां दंस नागोद जाळी ।—वं.भा.

ओपवणौ, ओपवबौ–क्रि०अ०—देखो 'ओपणौ' । उ०—दसतांन सारवट वंध दिया, ओयणे दोय मोजा ओपविया ।—गो.रू.

ओपवणत–सं०पु०—होंठ, ओष्ट (ह.नां.)

ओपहरौ–वि०—भयंकर, भयावह । उ०—जग थाट पंचायण देणगरौ, आयौ खिख माथै ओपहरौ ।—गो.रू.

ओपावणौ, ओपावबौ–क्रि०स०—चमकाना, शोभायुक्त करना, प्रकाशित करना ।

क्रि०अ०—शोभा देना, शोभित होना ।

उ०—जुग पार पखै गा मुझ जोवंतां, राजि कन्है रहती दिन राति ।
आज स हार विचै ओपावै. जूना देव नवी आ जाति ।

—ठाकुरसी जगनाथोत सांमोर

ओपियोड़ौ–भू०का०कृ०—शोभित । (स्त्री० ओपियोडी)

ओफ–अव्यय—पीड़ा, खेद व शोकसूचक शब्द ।

ओबरड़ौ, ओबरौ–सं०पु०—१ पक्की कोठरी । देखो 'ओरौ' ।

उ०—ओ रातौ मांय धरमी ओबरा, ओ रातौ पिलंग विछायओ, जठे गोगोजी धरमी पोढिया, मींडळ ढोळै छै वाव ओ ।—लो.गी.

२ दूध दही आदि रखने का पींजरा ।

ओबासणौ, ओबासबौ–क्रि०अ०—जँभाई लेना । उ०—जे बाळी तौ सीह, नळा आकासह नांखै । ओबासै ऊससै ढांण कोटां नुं धांखै ।

—मालौ आसियौ

ओबासी–सं०स्त्री० [सं० उच्छ्वास] जँभाई (मि० 'उबासी' रू.भे.)

ओम (ओ३म्)–सं०पु० [सं०] प्रणव मंत्र, ओंकार ।

ओमकार–सं०पु०—१ प्रणव मंत्र. २ ईश्वर, परब्रह्म ।

उ०—अथ ओमकार अक्षर उचार, निस दिवस नांम रट रांम रांम ।

—ऊ.का.

ओमदीचा, ओमबीच–सं०पु०—देखो 'अवधीच' ।

ओमली–सं०स्त्री०—इमली । देखो 'आंमली' ।

ओमाहणौ, ओमाहबौ–क्रि०अ०—१ उत्सुक होना । उ०—भूप छभा भूपाळ, वदन दरसण ओमाहै । मिळ भेटै मुख राग, 'सतौ' निज भाग सराहै ।—रा.रू. २ याद करना ।

ओमाहणहार, हारौ (हारी), ओमाहणियौ–वि०—उत्सुक होने वाला, याद करने वाला ।

क्रि०वि०—अलग, दूर। उ०—पंथी एक संदेसड़उ, भल मांणस नइ भरग। आतम तुझ पासइ अछइ, ओळग रूड़ा रत्न।—ढो.मा.

ओळगण–सं०स्त्री०—१ यश, विरुद, कीर्ति. २ प्रवास।

उ०—इस्‍र राजा ओळगण, थांने जांण न देस। एथ बैठा ही आभरण, मोल महंगा लेस।—ढो.मा.

वि०—यशगान करने वाली, कीर्ति-गायक।

ओळगणी, ओळगबौ–क्रि०स०—१ यशगान करना, स्तुति करना।

उ०—अहनांणी तोनैं ओळगियां, की नृप वियां ओळगण कांम।

—किसनो आढौ

२ (ढोली आदि द्वारा) गायन करना। उ०—आधा पड़वां ओळगण, जांगड़ जीमण जाग। रण झड़तां भड़ दूर कौ, सुणमी सींधू राग।

३ चलना, प्रवास करना। —वी.स.

ओळगणहार, हारौ (हारी), ओळगणियौ—वि०।

ओळगिओड़ौ, ओळगियोड़ौ, ओळग्योड़ौ—भू०का०कृ०।

ओळगि–सं०पु०—परदेश, विदेश, प्रवास। उ०—कुसळ ओळगि करि बाहुड़ां। अमावस को दिन पहुंतौ छइ आय।—वी.दे.

ओळगियोड़ौ–भू०का०कृ०—१ प्रशंसा या विरुद गाया हुआ. २ (ढोली आदि द्वारा) गायन किया हुआ. ३ प्रवास किया हुआ।

(स्त्री० ओळगियोड़ी)

ओळगियौ–वि०—१ प्यारा, परिचित. २ परदेशी।

उ०—म्हारा ओळगिया घर आज्यो जी।—मीरां

ओळगी–सं०पु०—देखो 'ओळगि'। उ०—सदी मतवाळा ज्यूं घलई, तिणी घरी ओळगी कांई करेसती।—वी.दे.

ओळगुवौ, ओळगू–सं०पु०—१ वंशावली के साथ वंश-कीर्ति पढ़ने वाला गायक, गवैया। उ०—तठा उपरायंत ओळगुवां वाजदारां नैं इनांम दीजै छै।—रा.सा.सं. २ स्तुति। उ०—वूठा मेह ओळगू वळिया, कनी हुलास वरछ कूंपळिया प्याला मद पीवण पातळिया, एक वार आवौ अलवलिया।—किसनजी आढ़ौ

ओळग्ग—देखो 'ओळग'। उ०—पखाळैं तीरथ अड़सठ पग्ग, इंद्रादिक देव करैं ओळग्ग।—ह.र.

ओळग्गणौ, ओळग्गबौ—देखो 'ओळगणौ' (रू.भे.)

उ०—ओळग्गै रांम ज आपौ आप, जिनैं त्यां पंच सकै नंह व्याप।

ओळग्गियोड़ौ–भू०का०कृ०—देखो 'ओळगियोड़ौ'। (स्त्री० ओळग्गियोड़ी)

ओलज, ओलज्ज–सं०स्त्री० [रा० ओ+सं० लज्जा] लज्जा, शर्म, लिहाज

उ०—घट घंट घणनांमी स्वांमी सुरराई, अंतरजांमी हुय ओलज नह आई।—ऊ.का.

ओलण–सं०पु० [सं० आलिपन] भोजन करते समय रोटी के साथ लगा कर खाया जाने वाला द्रव या गाढ़ा पदार्थ जैसे शाक, दूध, दही आदि। उ०—१ घर घर मांही घूम लाग विधि ओलण ल्यावै, इसै लालच सुख हेर पलक भर चैन न पावै।—ऊ.का.

उ०—२ कांनौ ओलण नै अंबक दक आयो।– ऊ.का.

ओलणौ, ओलबौ–क्रि०स०—१ मिलाना, मिश्रित करना. २ भोजन को द्रव पदार्थ या शाक, दूध, दही आदि में डुबाना या मिलाना.

क्रि०अ०—३ छिपना, गुम होना।

ओलणहार, हारौ (हारी), ओलणियौ—वि०।

ओलिओड़ौ, ओलियोड़ौ ओल्योड़ौ—भू०का०कृ०।

ओळवौ, ओळभौ, ओळमौ—देखो 'ओळंबौ' (रू.भे.)

उ०—१ अगाड़ी यूं जा आगड़ी फीटा पड़े फिटोळवा। एक ने एक देवौ अवैं आपस देवे ओळंवा।—ऊ.का. उ०—२ वीर पुरस री स्त्री लहारी नैं ओळभौ देती कह रही छै।—वी.स. टी.

उ०—३ महमद घड़ाचो जी सुमराजी सवा लाखां री रखड़ी म्हारी मामूजी के पास व्यांन दे'र सुणियौ जी थारी भवड़ देछै ओळमा।—लो.गी.

ओळमोळा–वि०—समान, तुल्य।

ओलरणौ, ओलरबौ–क्रि०अ०—बादल का झुक कर बरसना, वर्षा का शुरू होना, तेज वर्षा होना। उ०—धांसू ढोल्हरिया सखियां घणि-याळी। आंसू ओलरिया अंखियां अणियाळी।—ऊ.का.

ओलांडणौ, ओलांडबौ–क्रि०स० [सं० उल्लंघन] उल्लंघन करना, छोड़ना।

उ०—सजु करै अहीरां सरिस सगाई, ओलांडे राजकुळ इता।—वेलि.

ओळा, ओला–सं०पु० [सं० उपल] १ वृष्टि के हिम-पाषाण पत्थर, ओले (डि.को.)

उ०—केहर कुंभ विदारियौ, गजमोती खिरियाह। जांणे काळा जळद मूं, ओळा ओसरियाह।—बां.दा. २ बिनौला. ३ मिश्री के लड्डू। उ०—खुटिया लखनऊ का, गटा कनोज का, पेड़ा मथुरा का, ओळा सिकंदरा का अदभुत हुवै है।—बां.दा. ४ वज्र.

५ सहारा, आश्रय, मदद. ६ आड़, रोक, शरण। उ०—दारण 'कमा' लूंबिया दोळां, आंनैं लिया दिवाळां ओळा।—रा.रू.

कहा०—अबै ओळा (ओला) क्यूं लेवौ हौ—अब किसकी शरण लेते हो। अब डर कर किसी की आड़ क्यों लेते हो?

क्रि०वि०—इस तरफ, इधर। उ०—दळ ओला पैला दुहूं, नत्यौ-वत्य हुवाह। जेय मुवा जे जीविया, जे जीविया मुवाह।—बां.दा.

ओळा, ओळ–वि०—सब, समस्त।

ओलाटणौ, ओलाटबौ–क्रि०अ०—लौटना। उ०—एक नवि रहइ पुहर नइ घड़ी, एक ओलटइ आडी घड़ी।—कां.दे.

ओलाणौ–सं०पु०—मिस, बहाना।

ओलाणौ, ओलाबौ–क्रि०स० (प्रे०रू०)—मिलवाना, मिश्रित करवाना।

('ओलणौ' का प्रेरणार्थक रूप)

ओलाद–सं०स्त्री०—देखो 'औलाद'। उ०—असली री ओलाद, खून करयां न करै खता। बाहे बदबद बाद, रोड़ दुलातां राजिया।

—किरपारांम

ओळा-दोळा, ओळा-दौळा–क्रि०वि०—चारों ओर।

सं०स्त्री०—चौतरफ।

ओरेभ-सं०पु०—केवट (अ.मा.)

ओरौ-सं०पु० [सं० अपवरक, प्रा० अववरअ, अप० अउवर, रा० ओरो] १ सामान रखने के हेतु घर का स्टोर रूम. २ वह कमरा जिसमें रोशनी हेतु बहुत कम खिड़कियां हों। उ०—राव सुरतांण नुं सैहर बंद करि काळधरी गयौ नै आपरा रजपूत २ कन्हैं राख गयौ, कह गयौ—'सुरतांण नूं इण ओरा मांहे थी बारै नीसरण मत देज्यौ'। —नैणसी

ओळंग, ओळंगणौ-सं०पु०—१ पहिचान, जानकारी, परिचय. २ बुलावा (लड़की के ससुराल से या मायके से) उ०—१ पहली ओळंग हंजामारू, सुसरेजी ने मेल।—लो.गी. उ०—२ अबके ओळंगाणे पतामारू, देवरजी ने भेज। अब के चोमासे प्यारा अठे ही रहौ।—लो.गी.

ओळंगू-सं०पु०—गवैया, ढोली। उ०—सिरपाव दे कुंवर री सारां ही नै भळांवण दीवी। ओळंगू दिन बारह तांई मसांण में उळगिया। तेरवें दिन राजा तखत वैठौ।—पलक दरियाव री बात

ओलंडणौ, ओलंडबौ-क्रि०स०—उल्लंघन करना।

ओलंडियोड़ौ-भू०का०कृ०—उल्लंघन किया हुआ। (स्त्री० ओलंडियोड़ी)

ओळंदी-सं०स्त्री० [सं० उपनंदिनी] नववधू के प्रथम बार ससुराल जाने पर उसके साथ जाने वाली सखी।

कहा०—ओळंदी किणने पीसने घालै—महमान के रूप में आए हुए या मौज के लिए घूमने वाले व्यक्ति से किसी परिश्रम के कार्य में सहायता पाने की आशा रखना व्यर्थ है।

ओळंब-सं०पु० [सं० अवलंब] १ सहारा, आश्रय, अवलंब, आधार. २ देखो 'ओळुंबौ' (रू.भे.)

ओळंबौ, ओळंभ, ओळंभौ-सं०पु० [सं० उपालंभ] उलाहना, उपालंभ।

उ०—१ आज धरा-दस ऊनम्यउ, काळी घड़ सखरांह। उवा धण देसी ओळंबा, कर कर लांबी बाह।—ढो.मा.

उ०—२ कंत सूं ओळंबौ दियौ इम कांमणी। ऐण घट आज रा केम सहिया अणी।—हा.झा. २ कलंक। उ०—सातळ सोम पछै समियांणौ. कमधं दीध न कळह करि। हवड़ां निज कुळ तणौ ओळंभौ, माल हरै टाळियौ मरि।—दुरसौ आढ़ौ

ओळ-सं०पु०—१ वह व्यक्ति जो गिरवी रहे (प्राचीन मुगलकालीन प्रथा), जमानती व्यक्ति।

सं०स्त्री०—२ हल द्वारा जमीन में खींची गई रेखा, सीता।

उ०—थापै एक अवर नह थापै, सीह कटारी हाथ समापै। 'उदो' उदक धरा उथापै, 'अखवी' एको ओळ न आपै।—दुरसौ आढ़ौ

३ पंक्ति, रेखा, लकीर। उ०—चमू देख सो गुणी जै ऊपर चलां, वडंड नांखिया वांमी ओळ रा वानैत।—अज्ञात ४ पैतृक-संस्कार, वंश-गुण। उ०—आप रा थण री दूध पावण सूं घर री वीर ओळ वणी रहै।—वी.स. टी.

मुहा०—१ ओळ मत छोड़जौ—पैतृक गुण नहीं छोड़ना चाहिए. २ घर री ओळ—वंश-परंपरा का गुण।

५ लिखावट।

वि०—बराबर, समान, तुल्य। उ०—विसरावै कुण कंध कांमणी मेघ निरखतौ, जिकौ न परवस होय अमीणी ओळ विलखतौ।—मेघ०

क्रि०वि०—तरह, भांति।

ओळ, ओळइ-सं०स्त्री०—आड़, ओट, परदा।

क्रि०वि०—ओट में, आड़ में। उ०—कूंझड़ियां कुरळाइयां. ओळइ वडमि करीर। सारहनो जिउं सल्हियां, सज्जण मंझ सरीर।—ढो.मा.

ओळक्खणौ, ओळक्खबौ-क्रि०स० [सं० उपलक्षणम्] देखो 'ओळखणौ' (रू.भे.)

उ०—खीची कुमार नूं ओळक्खियौ जरैं ही पाछौ आइ कही—इसडा संकट सूं बचावै जिकौ मारण री तौ संकळप भी लावै नहीं।—वं.भा.

ओळख, ओळखण, ओळखणी-सं०स्त्री०—पहिचान, परिचय, जानकारी।

उ०—१ विचारिय जांण वलीध विसेख, अपे अंग ओळख लोहिय एक।—पा.प्र. उ०—२ ओळखणी आये नहीं, ताहरां आंख्या सूं ही सलांम कीवी।—पलक दरियाव री बात

ओळखणौ-वि०—प्रसिद्ध, मशहूर, परिचित।

ओळखणौ, ओळखबौ-क्रि०स०—पहिचानना, जानना। उ०—इतरा में फकीर आंण दुवा करी। सारा ऊठ रांम रांम करी। ओळखियौ तौ केही नहीं पण फकीर जाजळमांन नै तपस्या वाळौ मांणस छांनौ न रहै।—सूरे खींवे री बात

ओळखणहार, हारौ (हारी), ओळखणियौ-वि०—पहिचानने वाला।

ओळखाणौ, ओळखाबौ, ओळखावणौ, ओळखाववौ-क्रि०स०—पहिचान कराना, परिचित कराना।

ओळखिओड़ौ, ओळखियोड़ौ, ओळख्योड़ौ-भू०का०कृ०—पहिचाना हुआ, जाना हुआ।

ओळखांण, ओळखांणत-सं०स्त्री०—१ परिचय, जान-पहिचान, जानकारी. २ प्रसिद्धि।

वि०—परिचित।

ओळखाणौ, ओळखाबौ, ओळखावणौ, ओळखाववौ-क्रि०स० (प्रे०रू०) परिचित कराना, जानकारी कराना। उ०—पवन रूप पसरंत नहीं आपा ओळखावै, आप रहै एकंत पुरुष जांण न पावै।—पा.प्र.

ओळखणौ, ओळखबौ—स०रू०।

ओळखायोड़ौ—भू०का०कृ०।

ओळखिउ—रू०भे०—(प्राचीन)

ओळक्खणौ, ओळक्खबौ-क्रि०स०—देखो 'ओळखणौ' (रू.भे.)

उ०—मायइ सुंदरि जोगिणी, मारवणी सूं प्यार। तिण जोगी ओळक्खिया, ढोलउ मारू-नार।—ढो.मा.

ओळग-सं०स्त्री०—१ स्मृति, याद। उ०—इत न्यारा बैठा रहां, नाह लोग री काण। ओळग नैड़ी मज्जणा, भावै जांण म जांण। —जलाल वूबना री बात

२ यश, विरुद, कीर्ति. ३ स्तुति। उ०—आवै पग ओळग छाह अलाह।—ह.र. ४ टहल, सेवा (ह.नां., पाठांतर) ५ विदेश, परदेश। उ०—ओळग चाल्यौ धन कउ नाह, सहू अंतेवरी झूरई राउ।—वी.दे.

६ लज्जाजनक कार्य करने के पश्चात् मुंह छिपाने का भाव।

मुहा०—ओली लेणी—१ ओट लेना, आड़ लेना. २ शरण लेना।

ओळी-ओळ–मं०स्त्री० [अनु०] पंक्तिबद्ध, पूर्ण, पूरा (खेत)

ओल्यूं—देखो 'ओळू'।

ओल्हरणौ, ओल्हरबौ–क्रि०अ० [सं० उद+लहरी=उल्लहरणम्] तरंग का उठना, लहर उठना। उ०—एकौ समंद इसौ ओल्हरियौ, सात समंद जरा हुवा समास। देसी तौ आसीस घणा दिन, नूरजदेव तणौ सपताम।—महारांणा राजसिंह रौ गीत

ओल्हौ—देखो 'ओळौ' (रू.भे.)

ओवडणौ, ओवड़बौ–क्रि०अ०—१ पड़ना, गिरना। उ०—धर जांण सेहर अंब धारा ओवडै अणपार।—रा.रू. २ बरसना।

उ०—आवरत मेघ सम ओवडै, घड़ी पंच वम्मी खड़ग।—रा.रू.

ओवडियोड़ौ–भू०का०कृ०—१ गिरा हुआ. २ बरसा हुआ। (स्त्री० ओवडियोड़ी)

ओवण—देखो 'ओरण' (रू.भे.)

ओवरकोट–सं०पु० [अं०] प्राय: जाड़े में पहना जाने वाला घुटनों तक लंबा कोट।

ओवरसियर–सं०पु० [अं०] इमारतों, सड़कों आदि व इन पर कार्य करने वाले मजदूरों पर निगरानी रखने वाला इंजीनियरी मुहकमों का एक कार्यकर्त्ता।

ओवौ–सं०पु०—हाथी फंसाने का गड्ढा।

ओसंकणौ, ओसंकबौ–क्रि०अ०—पराजित होना, हारना। उ०—असुर ग्यादळ ओसंकै वण घावां वक्की।—वी.मा.

ओसंकणहार, हारौ (हारी), ओसंकणियौ–वि०—पराजित होने वाला. ओसंकिओड़ौ, ओसंकियोड़ौ, ओसंक्योड़ौ–भू०का०कृ०—पराजित, हारा हुआ।

ओस–सं०स्त्री० [सं० अवश्याय] १ हवा में मिली हुई भाप जो रात्रि में जलकणों के रूप में पदार्थों पर पड़ी हुई प्रातःकाल में दिखाई देती है. शबनम।

कहा०—ओस रौ पांणी है—ओस का जल है; अत्यन्त अल्प व निरर्थक वस्तु के लिए। [रा०] २ पर्व विशेष पर किसी अमांगलिक कार्य के हो जाने से पर्व के न मानने की प्रतिज्ञा।

क्रि०वि०—अवश्य। उ०—फौजां फेरौ राव री, हूं आयौ कर रोस। भाग्यां भड़ न कहावस्यौ, दूध लजास्यौ ओस।

ओसण–वि०—कड़ुआ, अप्रिय, कटु (डिं.को.)

ओसणणौ, ओसणबौ–क्रि०स०—(आटा आदि) गूंधना।

ओसणियोड़ौ–भू०का०कृ०—गूंधा हुआ।

ओसता, ओसथा–सं०स्त्री० [सं०] अवस्था, उम्र, आयु।

उ०—अब ज्यों ज्यों ओसता वडी, त्यों त्यों वप वाड़ा।

—हिंगळाजदांन कवियौ

ओसधि, ओसधी—देखो 'ओखधी'।

ओसधीस—देखो 'ओखधीस' (नां.मा.)

ओसर–सं०पु०—१ मृतक के पीछे बारहवें दिन किया जाने वाला भोज (यौ० ओसर-मोसर) [सं० अवसर] २ अवसर, मौका। उ०—कद आसी पाछौ भलै औ ओसर या बार।—सगरांमदास

कहा०—१ ओसर चूकी डूमणी गावै ताळ-बेताळ—अवसर चूकी हुई डूमनी ताल-बेताल गाती है; अवसर निकल जाने के बाद काम ठीक-ठीक उत्साह से नहीं होता. २ ओसर चूक्यां मोसर कोनी मिळै—गया हुआ समय दुबारा हाथ नहीं आता।

[सं० असुर] ३ असुर, राक्षस (मि० ओसुर)

ओसरणौ, ओसरबौ–क्रि०अ०—जोर से बरसना (मि० उसरणौ–रू.भे.)

उ०—१ आंखड़ी ओसरियौ नेह नीर, जांणियौ भूख भाग रौ मेळ।

—सांफ

उ०—२ फौजां तणा अबोळा फिरिया, ओळां जिम गोळा ओसरिया।

—बरजूबाई

ओसरियोड़ौ–भू०का०कृ०—देखो 'उसरियोड़ौ'। (स्त्री० ओसरियोड़ी)

ओसरौ–सं०पु०[सं०अवसर] १ एक दिन छोड़ कर आने वाला ज्वर (अमरत) २ किसी कार्य के लिए वह अवसर जो कुछ अंतर देकर क्रमशः प्राप्त हो, पारी।

ओसळ–वि०—बराबर, समान, तुल्य। उ०—मंगण मंगण सूं पद पद रद पीसै, डूमां देसोतां दळ ओसळ दीसै।—ऊ.का.

ओसळणौ, ओसळबौ–क्रि०अ०—भयभीत होना, भगना। उ०—असती नर ज्येता नर ओसळिया, चलिया अनळ हुवा चकचाळ। मेक भुजां मांडी मेवाड़ा, तौ विण कुण मांडै रंगताळ।—ओपौ आढ़ौ

ओसवाळ–सं०पु०—जैन धर्म को मानने और प्राय: व्यापार करने वाली एक जाति विशेष अथवा इस जाति का व्यक्ति।

ओसांण–सं०पु०—१ अहसान, अनुग्रह, उपकार। उ०—समझदार सुजांण, नर ओसर चूकै नहीं। ओसर रौ ओसांण, रहै घणा दिन राजिया।—किरपारांम

२ अवसर, मौका। उ०—सौ सगळो माथ छींट-छींट कण-कण कर दियौ। ओसांण खता हुइ गया। घोड़ौ मांगस जे धकै चढ़ियौ सोही गुड़ भेळो हुवौ।—डाढ़ाळा सूर री वात ३ विश्राम।

ओसाणौ, ओसाबौ–क्रि०स० (प्रे०रू०)—गूंधने के लिए प्रेरित करना, गूंधाना ('ओसणणौ' का प्रे०रू०)

ओसाप–सं०पु०—१ शौर्य, पराक्रम। उ०—ऊभळ अमाप भुजां ओसाप धराज आळौ, राजा आज वाळौ, खांपां न मावै आरांण।

—लिछमणसिंह सीसोदिया रौ गीत

२ साहस, हिम्मत। उ०—खींवौ, विजौ घाड़वी वटा दौड़ा वटा चोर। विजौ सोभित वसै। खींवौ नाडौळ वसै, बेहूं रा ओसाप वटा।

—चौबोली

३ शक्ति। उ०—ओसाप कायरां भागी, सूरां लाज लगी अगी।

—फतौ महडू

ओळा-भोळा–वि०—समान, बराबर, सदृश, तुल्य, समता।

ओलायोड़ौ–भू०का०कृ०—मिलवाया हुआ, मिश्रित कराया हुआ। (स्त्री० ओलायोड़ी)

ओलाळ–सं०पु०—वर्षा के दिनों में नन्ही-नन्ही बून्दों में होने वाली क्षणिक वर्षा (क्षेत्रीय)

ओळावौ–सं०पु०—बहाना, मिस। उ०—लादी भारी नै **ओळावौ** लेती, दुरभख बारी नै वोळावौ देती।—ऊ.का.

ओळि–सं०स्त्री०—देखो 'ओळी'। उ०—सात-सात **ओळि** पाइक की बैठी, सात-सात ओळि पाइक।—वचनिका अचळदास खीची री

ओळिया–सं०पु०—एक प्रकार का गेहूँ बोने का ढंग विशेष अथवा इस ढंग से बोये हुए गेहूँ।

ओलियोड़ौ–भू०का०कृ०—मिलाया हुआ, मिश्रित किया हुआ। (स्त्री० ओलियोड़ी)

ओळियौ–सं०पु०—१ लिखने के लिए कागज, कोरा कागज. २ लिखा हुआ लंबा कागज. ३ वह व्यक्ति जो ऋण के बदले किसी के यहां गिरवी रह जाता है या रक्खा जाता है (प्राचीन प्रथा-विशेष)
उ०—मेड़ता री लणियौ तिलोकचंद जिण रुपया तीन हजार आपरा घर सूं दिखणियां नूं देनै पुरोहित हरजीवण, भंडारी सोभाचंद नै मुहणौत ग्यांनमल, मुंहता बांकीदास वगेरै जोधपुर रा मुसद्दी आगरै **ओळिया** हुता ज्यांनूं छुड़ाया।—बां.दा.

ओलियौ–सं०पु० [अ० 'वली' का बहु०] संत और महात्मा लोग, सिद्ध। उ०—तोड़ जोड़ तदबीर में, कसर न राखे काय। आप अकबर **ओलियौ**, गढ़ वौ लियौ न जाय।—बां.दा.

ओळींचणौ, ओळींचवौ–क्रि०स०—१ देखो 'ओहींचणौ'. २ उलीचना। **ओळींचणहार, हारौ (हारी), ओळींचणियौ**—वि०। **ओळींचिओड़ौ, ओळींचियोड़ौ, ओळींच्योड़ौ**—भू०का०कृ०।

ओलींडणौ, ओलींडवौ–क्रि०स०—१ ऊपर चढ़ना. २ उल्लंघन करना, लांघना. ३ पशुओं का संभोग करना।

ओलींडियोड़ौ–भू०का०कृ०—१ ऊपर चढ़ा हुआ. २ उल्लंघन किया हुआ, लांघा हुआ. ३ पशुओं द्वारा संभोग किया हुआ। (स्त्री० ओलीडियोड़ी)

ओलींदी—देखो ओलंदी' (रू.भे.)

ओळी–सं०स्त्री०—१ पंक्ति, रेखा. २ लिखावट. ३ हल द्वारा भूमि पर खींची जाने वाली रेखा, सीता।

ओली–क्रि०वि०—इस ओर। उ०—**ओली** तट हिंदू असां, पिड़ सिंधू पारांह। किण सांमल करसौ कळह, सोडां सिरदारांह।—पा.प्र.

ओलीकांनी–क्रि०वि०—इस तरफ, नजदीक।

ओलीजणौ, ओलीजवौ–क्रि०स०—मिलाया जाना, मिश्रित किया जाना।

ओलीजियोड़ौ–भू०का०कृ०—मिलाया गया हुआ। (स्त्री० ओलीजियोड़ी)

ओळी-दोळी–क्रि०वि०—१ चारों ओर. २ आस-पास।

ओळुंबौ–सं०पु०—१ विच्छू के डंक मारने पर उत्पन्न वेदना. [सं० उपालंभ] २ उलाहना, उपालंभ।

ओळूं, ओळूंड़ी–सं०स्त्री० [सं० अवलय] देखो 'ओळू'।
उ०—१ मन तूटची आसा मिटी, नैणां खूटची नीर। **ओळूं** कर कर आपरी, सूक्यौ सकळ सरीर।—अज्ञात
उ०—२ ऊंची तौ खिवै ढोला वीजळी, नीची तौ खिवै छै निवांण, ओजी ओ गोरी रा लसकरिया **ओळूंड़ी** लगाय'र कोठै चाल्या।—लो.गी.

ओळूंदी—देखो 'ओलींदी' (रू.भे.)

ओळूंबौ—देखो 'ओळुंबौ' (रू.भे.)

ओळू, ओळूड़ी–सं०स्त्री [सं० अवलय] १ याद, स्मृति। (ओळूड़ी, ओल्यूड़ी—अल्पा०) उ०—१ सांकड़ै मोरगियै सरमाय, घूघटै **ओळूडी** अटकाय। गई धण सरवरियै री तीर, झुकी झट काळी लट छिटकाय।—सांझ उ०—२ ऊभी आंगणियै बोलूड़ी आवै, गद गद मुरळी सुर **ओळूड़ी** गावै।—ऊ.का. २ वियोग की अवस्था में गाया जाने वाला एक लोक गीत. ३ पुत्री को ससुराल विदा देने के पश्चात् गाया जाने वाला गीत।

ओळूवाळ, ओळूवाळौ–वि०—उत्कंठित, इच्छान्वित, उत्सुक (डिं.को.)

ओळे–क्रि०वि०—१ शरण में, आड़ में. २ ओट में, आड़ में। उ०—उत्तर आज स उत्तरउ, पड़सी वाहळियांह। उर **ओळे** प्री राखियइ, मुंधा काहळियांह।—ढो.मा.

ओलै–क्रि०वि०—देखो 'ओलै' (रू.भे.)
कहा०—ओलै सूवे नै ऊनौ खावे जिण घर वैद कदै नीं आवै—सदैव किसी छत के नीचे या किसी की ओट में सोने वाला और नित्य ताजा भोजन करने वाला कभी रोगी नहीं हो सकता।

ओलेड़ौ–वि०—१ जूठा. २ स्थान-स्थान पर जूठा करने वाला, खाने के उद्देश्य से जगह-जगह पर मुंह डालने वाला।

ओळे-दोळे–क्रि०वि०—१ चारों ओर. २ आस-पास।

ओळै–क्रि०वि०—देखो 'ओळे'। उ०—१ सखी अमीणौ साहिबौ, जमसूं मांडै जंग। **ओळै** अंग न राख ही, रण रसिया दे रंग।—बां.दा.

ओलै—इस ओर। उ०—दिल्ली में राज करतां इण तैमूर कावळ रै अधीस आपरौ विस्वासपात्र मुगल रमजांनवेग करतोया रै **ओलै** तट पेलियौ।—वं.भा.

ओळोदोळौ–क्रि०वि०—१ चारों ओर. २ आसपास।

ओळौ–सं०पु०—१ ओट, बचाव, आड़। उ०—धरा रौ लोभ नह रिदा में धारियौ, अंग रौ ताकियौ नही **ओळौ**। कंपनी कैद सूं भ्रात ने काढ़ियौ, रात आधी समै करै रोळौ।—बुधजी आसियौ
२ शरणस्थल, सहारा. ३ सर्दी की ऋतु में पशुओं को सर्दी से बचाने के निमित्त बनाया गया स्थान. ४ मिश्री का लड्डू. ५ वृष्टि के हिम-पाषाण पत्थर। उ०—उड दळां झळां बोळां अनेक, **ओळा** जिम गोळा रीठ एक।—वि.सं.
पर्याय०—असण, करक, गड़ौ।

सर्व०—निश्चयार्थकसूचक सर्वनाम, यही। उ०—मत जांणे प्रिउ नेह गयउ, दूर विदेस गयांह। विवणउ वाधइ सज्जणां, ओछउ ओहि न्हळांह।—ढो.मा.

ओहिज–सर्व०—निश्चयार्थकसूचक सर्वनाम, यही। उ०—ओहिज साहिब सब रौ सांमी, चरणां में चित धरले।—मी.रा.

ओही–सर्व०—यही।

ओहीचणौ, ओहीचबौ–क्रि०स०—किसी संकल्प-सिद्धि के लिए देवता के प्रति कोई वस्तु रखना, जो संकल्प (व्रत) पूरा करने या होने पर उठाली जाती है तथा उसके बदले रुपये जो संकल्प करते समय निश्चित कर लिए जाते हैं, देवता के अर्पण कर दिये जाते हैं।

ओहीचणहार, हारौ (हारी), ओहीचणियौ—वि०।

ओहीचिओड़ौ, ओहीचियोड़ौ, ओहीच्योड़ौ—भू०का०कृ०।

ओहीनौ–सं०पु०—कहावत, उक्ति, किंवदंती।

वि० [सं० अवहीन] न्यून। उ०—औरंग कपै सघरण ओहीनौ, करण तणा इम जगत कहै। रेणा(णां) अंब सुणै तैं राखै, राजा हिंदू धरम रहै।—राजा अनूपसिंह बीकानेर रौ गीत

ओहोड़ी—देखो 'ओहड़ी'।

ओहोसणौ, ओहोसबौ–क्रि०अ० [सं० उद्भास] उदय होना, प्रकाशित होना, उद्भासित होना। उ०—अखैराज अरक ओहोसियौ, नर नरंद भंजेव निस। कळकळै किरण दीपै कमळ, दस ही दस चरवार दिस।

—मालौ आसियौ

४ दान । उ०—सोव्रंन मौज समस्थण कविश्रणां दालिद्र कप्पणं, ओसाप तेज, प्रताप, अविचळ, पहवि जस पस्सरं ।—ल.पिं.

५ कीर्त्ति, महिमा । तनों मनों यार नै गखड़ौ ढाढ़ी गावै । श्रागै ओसाप परवाड़ा बूढ़ां रा, दातारां रा, मांगणगरां रा सुणावै ।
—जलाल बूबना री बात

६ एहसान, उपकार ।

ओसारौ–सं०पु०—दालान, बरामदा, ओसारा का छाजन, सायवान ।

ओसास–सं०पु०—निश्वास ।

ओसियाळौ–वि०—१ आश्रित, निर्भर । उ०—अशियाळा अमे, टोडा-भल टळियां नहि, मेणीयात राख्यां मे, जांमौकांमी जेठवा ।
२ दवेल (रू.भे. ओयाळौ)

ओसीजणौ, ओसीजबौ–क्रि० भाव वा०—गूंधा जाना ।

ओसीसौ–सं०पु० [सं० उपशीर्ष] सिरहना, तकिया (डिं.को.)
उ०—सोना रौ पिलंग कसणां कसियौ छै सौ कैसोहेक सोभायमांन दीसै छै ? जांणे खीर-समुद्र रा भाग छै । ओसीसा गींडवा कैसा विराजै छै ।—रा.सा.सं.

ओसुर–सं०पु० [सं० असुर] असुर, राक्षस । उ०—तज गया गहवळ खायतापां, भभक ओसुर भागिया । उण ठोड जिण रा रिखां, आश्रम जाग धूमर जागिया ।—र.रू.

ओसौ–सं०पु० [स० अवसव] आँखों में डालने का सुरमा, अंजन ।

ओहं–सर्व०—१ वही. २ मैं । उ०—ओहं मोहं अखया अभया, आइ अजया विजया उमया ।—देवि.

ओह–अव्यय—आश्चर्य, खेद या उपेक्षासूचक शब्द ।

ओहड़णौ, ओहड़बौ–क्रि०स० [सं० अवहिडनम्] १ हटाना, ठेलना ।
उ०—देख सखी धव री दया, पैलां उर दळ चाढ़ । आडै भालै ओहड़ै, आवै कांकड़ काढ़ ।—वी.स. २ रोकना, मना करना ।
क्रि०अ०—३ पीछे हटना, हार खाना । उ०—और मुवा सुण ओहड़ै, वरसां पांच विचाळ । घर में मायड़ घातियौ, वटकै पूचां वाळ ।—वी.स.
ओहड़णहार, हारौ (हारी), ओहड़णियौ—वि० ।
ओहड़िओड़ौ, ओहड़ियोड़ौ, ओहड़योड़ौ—भू०का०कृ० ।

ओहड़ियोड़ौ–भू०का०कृ०—१ हटाया या ठेला हुआ. २ रोका या मना किया हुआ. ३ पीछे हटा या हार खाया हुआ ।
(स्त्री० ओहड़ियोड़ी)

ओहड़ौ–सं०पु० [सं० अवहेडनम्] १ टोकना, टोकने की क्रिया या भाव ।
उ०—वाभी हेकण वैर में, वोळविया दस वीस । अब तौ देवर ओहड़ौ, संचै भार न सीस ।—वी.स. २ आदर योग्य पुरुष को किसी वात का दिया गया कटु उत्तर (रू.भे. अओड़ौ, अउड़ौ, अवड़ौ, ओड़ौ)

ओहट—देखो 'ओट' (रू.भे.)

ओहटणौ, ओहटबौ–क्रि०स० [सं० अवटंक] १ आच्छादित करना, ढंकना ।
उ०—जेसळगिर चाढ़ संसारी जांणे, सोहड़ तरंगम करे सज । उदया-सीह भला ओहटिया, रिम गढ़ कटकां तणी रज ।
—महारांणा उदयसिंह रौ गीत

२ हटाना । उ०—वांणां वांण वाजै गोळा चौसटां सवीर वकै, वाहाहरां मील भाजै छाजै पखां वोल । जठी तठी भार पड़ै मीरजां ओहटै जठी, तठी तठी राजा आडौ ओडजै सतोल ।—अज्ञात
३ (वर्षा आदि का) थमना, रुकना । उ०—आयौ आसोज मेह ओहटिया, व्रन थटिया पुरहेक वकी । जळ ची नदी रुकी भीमाजळ, रूपा नदियां नहीं रुकी ।—महारांणा भीमसिंह रौ गीत ४ पीछे लौटना (मि० ओहट्टणौ)
ओहटणहार, हारौ (हारी). ओहटणियौ—वि० ।
ओहटिओड़ौ, ओहटियोड़ौ, ओहटयोड़ौ—भू०का०कृ० ।

ओहटियोड़ौ–भू०का०कृ०—१ आच्छादित किया हुआ. २ हटाया हुआ.
३ (वर्षा आदि) थमा या रुका हुआ. ४ पीछे लौटा हुआ ।
(स्त्री० ओहटियोड़ी)

ओहट्टणौ, ओहट्टबौ–क्रि०स०—देखो 'ओहटणौ' (रू.भे.)
उ०—आंणे खबर फिरे ओहट्टां, वाटां दूत थया नट-वट्टा ।—रा.रू.

ओहथणौ, ओहथबौ—१ अस्त होना । देखो 'ओथणौ' (रू.भे.)
२ बुरे दिन आना. ३ भागना, पराजित होना (मि० औहथणौ) (क्वचित प्रयोग)

ओहथिओड़ौ–भू०का०कृ०—१ अस्त. २ बुरे दिनों से ग्रस्त.
३ भागा हुआ । (स्त्री० ओहथियोड़ी)

ओहदेदार–सं०पु० [अ० उहद+फा० दार] किसी अच्छे पद पर काम करने वाला, पदाधिकारी ।

ओहदौ–सं०पु० [अ० उहद] पद, स्थान, ओहदा ।

ओहरियौ–सं०पु०—१ देखो 'ओरियौ' (रू.भे.)
[सं० आश्रम] २ मकान, घर । उ०—पारकियै ओहरियै पड़िया, न मिळै वस्त्र न आवै नींद । वींद रुकमणी तणौ न वांदियौ, वांदे न्याय पराया वींद ।—ओपौ आढ़ौ

ओहसणौ, ओहसबौ–क्रि०अ० [सं० उद्भास, प्रा० उहास] प्रकाशमान होना, प्रकाशित होना । देखो 'ओहोसणौ' (रू.भे.)

ओहाड़ौ–सं०पु०—सीसोदिया वंश का आहाड़ा शाखा का व्यक्ति ।

ओहार–सं०पु० [सं० अवधार] वह कपड़ा या परदा जो रथ या पालकी के ऊपर डाला जाता है ।

ओहाळ–सं०पु० [सं० ऊहावलि अथवा ऊहालि] १ पानी के साथ वहने वाला कूड़ा-करकट. २ पानी के ऊपर का मैल, काई ।
उ०—अजड़ मेवाड़ रायजीप मालवतणा, तुरक दळ रहचिया रायमल तीर । असर घड़तोड़ ओहाळ मुंह ऊतरे, नदी नदियां मिळै रातड़ौ नीर ।—महारांणा रायमल रौ गीत

ओहासणौ, ओहासबौ–क्रि०स०—धूप आदि सुगंधित पदार्थ जलाना ।

ओहि–अव्यय—आश्चर्य या खेदसूचक शब्द । उ०—भागंतां दळ भाजिया, दारा कासिम दोहि । पुळिया टोडा जोधपुर, आदि घणां भड़ ओहि ।—वं.भा.

वन, जळ थळ महियळ अजर जरे। चेलक चाड आप रायां रण, करणी सदा सहाय करे।—चांनण खिड़ियो

वि० [सं० अव+घट्ट=घाट] १ अवघट, विकट, कठिन, दुर्गम।

उ०—१ उलट थट गिरवार औघट, सहल भूप सिकार।—क.कु.बो.

२ पाव न चालै पंथ दुहेलो, आडा औघट घाट।—मीरां

२ अद्भुत, विचित्र।

औघटघाट—देखो 'औघट' (१)

सं०स्त्री०—हिचकिचाहट, संकल्प-विकल्प।

औघड़—सं०पु० [सं० अघोर] १ देखो 'औघड़' (रू.भे.) २ देखो 'अघोरी' ३ शिव का एक रूप. ४ सोच-विचार न करने वाला, मनमौजी व्यक्ति।

वि०—अटपटा, अंटबंट, उलटा-पुलटा।

औघाट—सं०पु०—भयंकर स्थान। उ०—अरावां निवावां किया घट्ट अगैं, पवैं गाहिजैं घाट औघाट पगैं।—वचनिका

औघौ—सं०पु० [सं० ओघ] एक प्रकार का झाड़न विशेष जिसे जैनी संन्यासी प्रायः अपने पास रखते हैं।

औड़—देखो 'ओड़' (रू.भे.)

औड़ौ—सं०पु०—आदरणीय व्यक्ति को उसकी किसी बात के बीच बीच में टोकना, उपालंभ।

औचट—सं०स्त्री०—१ कठिनाई, विकट स्थिति, संकट।

क्रि०वि०—अचानक, भूल से, सहसा।

औचाळौ—देखो 'उछाळौ' (रू.भे.)

औछंटणौ, औछंडवौ—१ देखो 'ओछंडणौ' (रू.भे.) २ झूलना।

औछंडणहार, हारौ (हारी), औछडणियौ—वि०।

औछंटिओड़ौ, औछंडियोड़ौ, औछंडयोड़ौ—भू०का०कृ०।

औछ—वि०—तनिक, कम, किंचित (अ.मा.) उ०—औछ अघक तुक असम अे, वीदग गद्य वखांण।—र.ज.प्र.

सं०स्त्री०—१ अभाव. २ नीचता, लघुता, हीनता।

औछडणौ, औछडवौ—१ देखो 'ओछंडणौ' (रू.भे.)

२ गाडी के पहियों का स्थान से आगे खिसकना।

औछव—देखो 'उछव' (रू.भे.)

औछाड़—सं०पु० [सं० अवच्छद, प्रा० ओच्छट] १ उफान, उबाल. २ उमंग, तरंग. ३ भोग लगाते समय देवमूर्ति के समक्ष लटकाया जाने वाला परदा. ४ भोजन ढकने का वस्त्र, खानपोश, आच्छादन वस्त्र। उ०—महल पाठ चुणि विमळ पहल रूई घ्रत पूरित, ओप सबळ औछाड़ अमळ परिमळ आकूरित।—रा.रू.

५ रक्षा। उ०—एक देस औछाड़, इसा अनेक अणंकळ। अंम रूप अम्मरा, जोध रिणमाल महाबळ।—रा.रू.

सं०स्त्री०—६ छाया (मि० ओछाड़—रू.भे.)

औछाड़णी—सं०पु०—आच्छादन, ढक्कन।

औछाड़णौ, औछाड़वौ—क्रि०स०—१ आच्छादित करना, ढंकना।

उ०—झंडा औछाड़ै गयण, वसुधा पाड़ै वाह। तौ भी तोरण वींद तिम, धीरौ धीरौ नाह।—वी.स. २ रक्षा करना।

औछाड़णहार, हारौ (हारी), औछाड़णियौ—वि०।

औछाड़िओड़ौ, औछाड़ियोड़ौ, औछाड़चोड़ौ—भू०का०कृ०।

औछाडियोड़ौ, औछायौ—भू०का०कृ०—१ आच्छादित किया हुआ, ढंका हुआ। उ०—वीजळि दुति दंड मोतिए वरिखा, झालरिए लागा झड़ए। छत्रे अकास एम औछायौ, घण आयौ किरि वरण घणै।

—वेलि.

२ रक्षा किया हुआ। (स्त्री० औछाडियोडी)

औछारणौ, औछारवौ—क्रि०वि०—१ गुप्त रूप से उठाना, चुराना.

२ मन खराब करना, मन चुराना।

औछाह—सं०पु० [सं० उत्साह] १ उत्साह, जोश, उमंग २ प्रसन्नता, हर्ष. [सं० उत्सव] ३ उत्सव। उ०—१ उदयापुर आयौ अजन, 'अमर' कियौ औछाह। असुरां क्रम घटियौ इळा, सुण सुर धरम सलाह।—रा.रू. उ०—२ भावसिंघ 'मवळा' का 'मांडण' मवाई औछाह सी लागै जाकू 'साह' की लडाई।—रा.रू.

औज—सं०पु० [सं० ओजस्] १ देखो 'ओज' (रू.भे.)

[सं० अवद्य, प्रा० अउज्ज] २ मरे हुए जानवर के पेट में से निकला हुआ मल. ३ पशु की वे आंतें जो पका कर खाई जाती हैं।

उ०—आंत औज भेजौ असत, नैण नळी भख नेह। आमिख नर नारौं उदर, आंणै हरख अछेह।—बा.दा.

औजार—सं०पु० [अ०] लोहार या बढ़ई आदि कारीगरों के हथियार या उपकरण।

औजास—सं०पु० [सं० उद्भास] प्रकाश, उजाला, रोशनी।

उ०—जळै सहर पुर जास निसा औजास निहारे, साह प्रळै सपेखि सोच मद सोच संभारे।—रा.रू.

औजौ—देखो 'ओजौ' (रू.भे.) उ०—१ तई हुव दासूं औजौ तम, करे दत ऊपर देवण क्रम।—अज्ञात उ०—२ दिली थापै उथापै संग्रामां औजौ नथी आखै।—मायवी सुरतांणियो

औझड़—सं०पु०—१ तलवार का तिरछा प्रहार।

(मि० अवझड़, अवझाड़—रू.भे.) उ०—खांडां री खाटखड़ि झाट-खटि झाटझड़ि डंडाहड़ि मेलीजै। पातिसाहां री गजघड़ा झड़ां औझड़ां मारि ठेलीजै। पातिसाहां रै छत्र घाउ कीजै।—वचनिका

२ धक्का, मुठभेड़, टक्कर।

वि०—भयंकर। उ०—बेवड़ा चौवड़ा वेध पड़ बावरां। औझड़ां झड़ां तुटै छड़ां असम्मरां।—अज्ञात

क्रि०वि०—लगातार, निरंतर।

औझड़णौ, औझड़वौ—क्रि०अ० [सं० अवझट] तलवारों का तिरछा प्रहार होना, ऐसे तिरछे प्रहारों से युद्ध करना, भिड़ना। उ०—चोटियाळा कूदै चौसठि चाचरि, अ्र टळियै ऊकसे घड़। अनंत अनै सिसुपाळ औझड़ै, झड़ मातौ मांडियौ झड़।—वेलि.

औ

औ—राजस्थानी वर्णमाला का दसवां स्वर। अ+ओ का संयुक्त वर्ण जो कंठ और ओष्ठ से बोला जाता है।

औंकार-सं०पु०—भयानक स्थान। उ०—वजाजी प्रेत वूढ़ा वणै, केइ केइ निस चिरतां करै। देख **औंकरै** हस डैहकळा वाळक 'भरड़ौ' नह डरै।—पा.प्र.

औंगणौ, औंगवौ—देखो 'ओंगणौ' (रू.भे.)

औठभण—देखो 'ओठंभ' (रू.भे.)

औंस—देखो 'आउन्स' (रू.भे.)

औ-सं०पु०—१ परब्रह्म. २ अभिमान (एका०) ३ अनन्त, निस्वन अव्यय—[रा०] १ पशुओं को ठहराने के लिए उच्चरित शब्द अरे, औ. २ और. ३ आव्हाहन, संबोधन, विरोध, निर्णय-सूचक शब्द. ४ चिरविस्मृत विषय का यकायक याद आने पर उच्चारण किया जाने वाला शब्द।

सर्व०—१ वह. २ यह। उ०—रथ थंभि सारथी विप्र छंडि रथ, औ पुर हरि बोलिया इम।—वेलि.

कहा०—औ भौ मीठौ तौ आगलौ भौ किण दीठौ—इस जीवन में आराम से रहना चाहिए, अगले जन्म की परवाह नहीं करना चाहिए।

३ उस। उ०—वादळ छायौ है चंद्रमा। औ की गात उघाड़्या जोवन पूर।—वी.दे.

औकात-सं०स्त्री० [अ० 'वक्त' का वहुवचन] हैसियत, विसात, सामर्थ्य।

औखंगी-वि० [सं० अभिपङ्ग] १ देखो 'ओखंगी' (रू.भे.) २ भयंकर, भयावह। उ०—वीर नाद **ओखंगी** विहूंदा वाज वाहुड़ंदा, रोखंडी जुड़ंदा नां मुड़ंदा संधीरांण।—हुकमीचंद खिड़ियौ

औख-वि०—जवरदस्त, शक्तिशाली। उ०—भूखा मांस अहारी भाखै, विलखे रंग ऊचारै वांणी। वांकौ चालण फोज विहंडण, **औख** विडंग गयौ अमरांणी।—सुखजी खिड़ियौ

औखणणौ, औखणवौ-क्रि०स०—विना पानी डाले अनाज का कूटना जिससे उसका उपरि छिलका दूर हो जाय।

औखणहार, हारौ (हारी), औखणियौ—वि०।

औखणिओड़ौ, औखणियोड़ौ, औखण्योड़ौ—भू०का०कृ०।

औखद, औखध—देखो 'ओखद'। उ०—१ दांन सरीखौ दूसरौ, **औखद** नह अदभूत। हेक थकौ सारा हरै, महारोग मजवूत।—वां.दा.

उ०—२ विध चूका वैद न जांणै वेदन, **औखध** लहै न पीड़ अथाह।—महारांणा राजसिंह रौ गीत

औखधीईस, औखधीस-सं०पु० [सं० औपधि+ईश] चंद्रमा (अ.मा.)

औखर-सं०पु०—विष्टा, मल। देखो 'ओकर' (रू.भे.)

औखळणौ-सं०पु० [सं० अपस्खलन] भिड़ने वाला, टक्कर लेने वाला, वहादुर, वीर। उ०—सींगाळा **औखळणा** जिण कुळ हेक न थाय, जास पुरांणी वाड़ ज्यूं, जिण जिण मथै पाय।—हा.भा. (रू.भे. अवखलणौ)

औखांणौ-सं०पु० [सं० उपाख्यान] कहावत, उक्ति। उ०—अनै वडै विरध ऊपजतै भागा छै। तौ औ **औखांणौ** साचौ छै।—वेलि.

औग-सं०स्त्री०—उष्णता, गर्मी। देखो 'ओग' (रू.भे.)

औगण—देखो 'ओगण' (रू.भे.) उ०—मैं तौ हूं बहु औगणहारी, **औगण** चित मत दीजौजी।—मीरां

औगत-सं०स्त्री० [सं० अपगति] देखो 'अवगति'.

वि०—१ देखो 'अवगत.' २ अधोगति, दुर्गति।

औगाढ़-वि० [सं० उद्+गाढ़] १ प्रवल, समर्थ, शक्तिशाली।

उ०—१ वरस सितरियै वीततां, ऊतरतां आसाढ। जोगणपुर लेगौ जवन, अजन तणौ **औगाढ़**।—रा.रू. उ०—२ हवा मांण मता रौ कै मास भू मंदरां हतौ यंदरां मंदरां वास वसाया **औगाढ़**।—चैनजी सांदू

२ अथाह, वहुत गहरा. ३ दृढ़, मजवूत।

औगाळ—देखो 'ओगाळ' (रू.भे.)

औगाळणौ, औगाळवौ—देखो 'ओगाळणौ' (रू.भे.)

औगाळवंध-सं०पु०—पशुओं का एक रोग विशेप जिसमें वह जुगाली करना वंद कर देता है।

औगाळौ—देखो 'ओगाळौ' (रू.भे.)

औगाहणौ, औगाहवौ-क्रि०अ० [सं० अवगाहन] अवगाहना, पार पाना। उ०—जन हरिदास **औगण** यह त्रिविधि ताप तन ताहि, सव सुमिरत स्रवणां सुण्यां सव देख्या औगाहि।—ह.पु.वा.

औगुण-सं०पु० [सं० अवगुण] देखो 'ओगण' (रू.भे.)

उ०—गुण री नहि गरज चोज कर **औगुण** चुणस्यां।—ऊ.का.

औगुणगारौ-वि०—उपकार को न मानने वाला, कृतघ्नी।

उ०—**औगुणगारा** और, दुखदाई सारी दुनी। चोदू चाकर चोर, रांधे छाती राजिया।—किरपारांम

औगुणगाळौ-वि०—अवगुणों का नाश करने वाला, वीर। उ०—अव तौ मांन वहादर वाळा, रे **औगणगाळा** रजपूत।—वळवंतसिंह गोहड़े रौ गीत

औगुन—देखो 'ओगन' (रू.भे.)

औगौ-सं०पु० [सं० औघ] देखो 'ओघौ' (रू.भे.)

औघ-सं०स्त्री०—१ मकान के भीतर की गर्मी या उष्णता (मि० हुड़तपौ) सं०पु०—२ समूह, राशि (अ.मा.) उ०—अघ **औघ** खयंकर स्री सिव संकर, घ्यांन महेसुर धारियै जी।—क.कु.वो.

औघट-सं०पु०—दुर्गम पथ, भयंकर। उ०—वट वाटे घाट **औघटे** रण

ओनींदी–वि०—जागृत ।

ओपत—देखो 'ओपत' (रू.भे.) उ०—घात छात सब दिल्ली जांणी, संपत ओपत थई विहांणी ।—रा.रू.

ओपनी—देखो 'ओपणी' (रू.भे.)

ओपम–सं०स्त्री०—१ उपमा. २ सजावट, तैयारी । उ०—जादवां चोक जवांन, नमपण वित खाटण सुजस । सभै दलै सांमांन, जोइए ओपम जांन रा ।—गो.रू. ३ वह वस्तु जिसकी उपमा दी जाय, उपमेय । उ०—छप्पन कुळ ओपम छोगाळो ।—क.कु.बो.

वि०—उपमा के योग्य, जिसकी उपमा दी जाय । उ०—कुळ ओपम कोट करम री, धरिओ अवतार धरम री ।—ल.पि.

ओपमा—देखो 'उपमा' । उ०—ओपमा अनेक भाखा खटां रा उचार । —क.कु.बो.

ओमाह–सं०पु०—उत्साह, उमंग, उत्सुकता ।

ओमाहणो, ओमाहबो–क्रि०अ०—उत्साहित होना, उत्सुक होना । उ०—भूप छभा भूपाळ, वदन दस्सण ओमाहे । मिळ भेटे मुख राग, सतो निज भाग सराहे ।—रा.रू.

ओयण—देखो 'ओयण' । उ०—ओयण मत चौवीस होय जिण रोळा आखत ।—र.ज.प्र.

ओरंग–सं०पु० [अ०] सिंहासन ।

वि०—भिन्न रंग ।

ओ'र–सं०पु०—पशु का वह मल जो उसके मरने के बाद निकलता है ।

ओर–वि० [सं० अपर, प्रा० अवर] १ अन्य, दूसरा, भिन्न ।

कहा०—१ ओर बात खोटी, सिरे दाळ रोटी—और बात खोटी, सब से बड़ी दाल रोटी; पेट भरना सब से मुख्य है. २ ओर रंग कच्चा, मुश्की रंग पक्का—और रंग कच्चे, मुश्की रंग पक्का; मुश्की रंग की प्रशंसा; पक्की लगन वाले व्यक्ति के लिये. ३ ओर सांग मोरा, सती आळो सांग दोरो—दूसरे स्वांग सब आसान, सती वाला स्वांग कठिन; रुपयों का काम रुपयों से ही निकलता है बातों से नहीं ।

२ अधिक, ज्यादा ।

अव्यय—१ पुनः फिर. २ संयोजक शब्द, अरु ।

ओरठै–सं०पु०—अन्यत्र, अन्य स्थान । उ०—कमो मूसळ खड़ग सांमो मेलियो । डावड़ो ओरठै परणायो ।—बां.दा.

ओरणी–सं०पु०—१ ओढ़नी. २ रवी की फसल में बीज बोने का एक ढंग विशेष जो कठोर भूमि को प्रथम पानी पिला कर तर करने के बाद जोत कर बोया जाता है ।

ओरणो, ओरबो–क्रि०अ०—१ वर्षा का प्रारंभ होना ।

क्रि०स०—देखो 'ओरणो' (रू.भे.) उ०—वेटो रावळ सबळ रो, राजो धर तिण बार । अस जाडां विच ओरियो, मल्ले खग्ग दुधार । —रा.रू.

ओरत–सं०स्त्री० [अ०] १ स्त्री, औरत, पत्नी. २ नारी, महिला ।

ओरतो–सं०पु० [सं० उरस्ताप] पश्चाताप, दुःख ।

ओरस–सं०पु० [सं०] १ बारह प्रकार के पुत्रों में से सर्वश्रेष्ठ पुत्र जो धर्मपत्नी से उत्पन्न हो । सवर्णा स्त्री से स्वपुत्र. २ देखो 'ओरस' ।

ओरहकणो, ओरहकबो–क्रि०अ०—वीररसपूर्ण राग का होना । उ०—केई ढोल कंसाळ धरा ब्रहमंड धड़के, सूरणाये सालळै राग सींधू ओरहकै ।—अज्ञात

ओरां–क्रि०वि०—फिर ।

सर्व०—दूसरा, अन्य । उ०—मन सूं झगड़ै मोर, ओरां सूं झगड़ै पछै । त्यांरा घटै न तौर, राज कचेड़ी राजिया ।—किरपारांम

ओराळ–वि०—भयंकर, प्रचंड । उ०—अतग झाळ ओराळ, जगि विकराळ मांझि जिण ।—भगवांनजी रतनू

ओरावो, ओरासो–सं०पु० [सं० अवरोध] उद्दंड बैल, भैंस, भैंसा, गाय आदि को बाँधने का वह लम्बा रस्सा जिससे वे बाँध कर खेत आदि में चरने के लिए छोड़ दिये जाते हैं ।

ओरियो—देखो 'ओरीसो' (रू.भे.)

ओरूं–क्रि०वि०—और भी ।

ओरों–क्रि०वि०—फिर । उ०—ओरां पांच सातां तो दिनां भी फेरि जीमस्यां, ओरां देह दूजी पाय दारू फेरि पीस्यां ।—शि.वं.

ओळंगु, ओळंगू–सं०पु०—गायन आदि का व्यवसाय करने वाली ढोली आदि जाति का व्यक्ति । उ०—घणी आडंबर सूं जाय परणीज्यो । वडा रंगरळी हुवा । घणो धन खरचियो । कुंवरजी रै झरोखै नीचे ओळंगु रात रा घणा सवार उळंगिया । वडी निवाजस व्ही । लाख-पसाव कियो ।—पलक दरियाव री वात

ओळंभो–सं०पु० [सं० उपालंभ] उपालंभ । उ०—ऊभी दइ छइ ओळंभा, करि लागइ अरि मोड़ पूछइ बांह ।—वी.दे.

ओळ—देखो 'ओळ' । उ०—१ पछै पंवारां सूं सगाई देणी कीवी । २५ सांवठी दी । एक भाई ओळ रह्यो ।—नैणसी

उ०—२ नांज दिखावै नारियण, ओ दन वादळ ओळ । कथ सारै किरतार रै, बेटा पहल म बोल ।—पा.प्र.

ओळग–सं०पु०—परदेश, विदेश । देखो 'ओळग' (रू.भे.)

उ०—निहचई ओळग चालणहार । डावउ करेवउ करकरइ ।—वी.दे.

ओळगणो, ओळगबो–क्रि०स०—स्तुति करना, प्रशंसा करना ।

उ०—ओळगै चंद अने रवि इंद्र ।—रांमरासो

ओळगि, ओळगी—देखो 'ओळग' । उ०—१ सईभर वांणउ बइसणइ राई चहुवांण ! ओळगि नीवार ।—वी.दे. उ०—२ चंद्र वदन बिलखी फिरइ, स्नेह तुठी राजा ओळगी मेलही ।—वी.दे.

ओळभो–सं०पु० [सं० उपालंभ] उपालंभ (मि० ओळंबो-रू.भे.)

ओलरणो, ओलरबो—देखो 'ओलरणो' । उ०—छाती धड़कै छैल धराऊ ओलरै, वैरी पपइया पीउ पीउ मत बोलरै ।—महादांन महड़ू

ओलस–क्रि०वि०—इर्द-गिर्द, चौतरफ । उ०—सात तावड़ी साहजांनी तोल री खून भूंडण रा डील मांही रहियो । तठा पाछै सारोही साथ ओलस बैठ रहियो ।—डाढ़ाळा सूर री वात

ओझाड़णौ, औझाड़बौ–क्रि०स०—१ चीरना, काटना, संहार करना। उ०—तुंडां गज फेटां तुरी, डाढ़ां भड़ **ओझाड़**। हेकण कोळै धूंदिया, फौजां पाथर पाड़।—वी.स. २ आड करना, प्रहार या आक्रमण रोकना। उ०—**ओझाड़ियौ** ढाल हूंत नाराज झाड़ियौ आचां, मारू 'पते' फते पाई पाड़ियौ मयंद।—अज्ञात ३ अस्त-व्यस्त करना।

ओझाड़णहार, हारौ (हारी), ओझाड़णियौ—वि०।

ओझाड़िओड़ौ, ओझाड़ियोड़ौ, ओझाड़चोड़ौ—भू०का०कृ०।

ओझाड़चोड़ौ–भू०का०कृ०—१ चीरा या काटा हुआ, संहार किया हुआ. २ रोका हुआ (प्रहार). ३ अस्त-व्यस्त किया हुआ। (स्त्री० ओझाड़ियोड़ी)

ओटणौ, ओटबौ–क्रि०स०—१ दूध आदि को आँच पर चढ़ा कर गाढ़ा करना, खौलाना, उबालना। २ देखो 'ओटणौ' (रू.भे.)

ओटणहार, हारौ (हारी), ओटणियौ—वि०।

ओटाणौ, ओटावौ, ओटावणौ, ओटावबौ–स०रू० (प्रे०रू०)

ओटिओड़ौ, ओटियोड़ौ, ओटचोड़ौ—भू०का०कृ०।

ओटीजणौ, ओटीजबौ—भाव वा०।

ओटाणौ, ओटाबौ—देखो 'ओटणौ' का प्रे०रू०।

ओटाळ–वि०—बदमाश, धूर्त।

ओटावणौ, ओटावबौ—देखो 'ओटणौ' का प्रे०रू०।

ओटियोड़ौ–भू०का०कृ०—ओटाया हुआ। (स्त्री० ओटियोड़ी)

ओटौ–सं०पु०—देखो 'ओटौ' (रू.भे.) २ मकान की चौड़ी दीवार जिस पर सामान रखा जा सके (क्षेत्रीय)

ओठम—देखो 'ओठम' (रू.भे.)

ओठौ–सं०पु०—१ सहारा. २ देखो 'ओहड़ौ' (रू.भे.)

ओड–क्रि०वि०—१ तरफ, ओर। उ०—१ सित चमर ढुळै दहूं **ओड** सूं लाखां दरब लुटाविया।—अज्ञात उ०—२ जब क्रसणजी रुखमइयै **ओड** देख्यौ छै।—वेलि. २ प्रकार, तरह। उ०—महिपत घणां जोड़ गढ़ माया, हय गय बांधै **ओड** हजार।—क.कु.बो.

सं०पु०—देखो 'ओड़, ओड' (रू.भे.)

ओडव–सं०पु०—पाँच स्वरों का एक राग (संगीत)

ओडीसौ–सं०पु०—उड़ीसा नामक एक प्रांत।

ओढ़र–वि०—जिधर मन आवे उधर ही ढल जाने वाला, मनमौजी।

ओढ़ाळ–सं०पु०—गाड़ी का ढलुवां भाग।

ओढ़ौ–वि०पु० (स्त्री० ओढ़ी)—देखो 'ओढ़ौ' (रू.भे.)
उ०—१ बीजां कलां पांतरै अमीरदोलौ गेर बैठौ, न जावै भळियो **ओढ़ौ** कलौ रायां नेर।—बां.दा. उ०—२ अमर किया भड़ एकठा, लियौ उदैपुर लार। रांणौ राठौड़ां कनैं, आयौ **ओढ़ौ** वार।—रा.रू.

ओण–सं०पु० [सं० अयन] १ देखो 'ओरण' २ देखो 'ओयण' (रू.भे.)
उ०—गैल **ओण** रज परसत रीझी नारी गोतम।—र.ज.प्र.

ओतार—देखो 'अवतार' (रू.भे.) उ०—१ दस **ओतार** दसूं ए देसी, औरां ओर चढ़ावै। सौ बाजीगर भला क नाहीं, एक कूं करे गमावै।
—ह.पु.वा.

उ०—२ रतन कुंवर सिर रांणियां, 'अनो' कांन **ओतार**। जोड़ी अविचळ करोड़ जुग, कर कायम करतार।—पदमसिंह री वात

ओतारी—देखो 'अवतारी'। उ०—ओ सुरगुण रौ घाट धणी, निरगुण **ओतारी**। कहै दास सगरांम, गुरां की महिमा भारी।
—सगरांमदास

ओतारौ—देखो 'उतारौ' (रू.भे.) उ०—यौं गढ़ सिर राजै 'अजन', निज घर घर नूर। **ओतारौ** जैसिंघ रौ, दीनौ सागर पूर।
—रा.रू.

ओत्तमि–सं०पु० [सं०] चौदह मनुओं में से तीसरा मनु।

ओथि–क्रि०वि०—वहाँ, उस तरफ।

ओदनिक–सं०पु० [सं०] सूपकार, रसोइया।

ओदसा–वि०—फूहड़ स्त्री, कुभार्या।

ओदात–वि० [सं० अवदात] श्वेत, गौर।

ओदादार [अ० उहद+फा० दार] देखो 'ओदादार'।

ओदायत—देखो 'ओदायत' (रू.भे.)

ओदीच—देखो 'ओमधीच' (मा.मा.)

ओदीच्य–सं०पु० [सं०] गुजराती ब्राह्मणों की एक जाति।

ओदुंबर–सं०पु०—अठारह प्रकार के कुष्टों में से एक (अमरत)

ओदौ–सं०पु० [अ० उहद] ओहदा, काम, पद, अधिकार।

ओद्रकणौ, ओद्रकबौ—देखो 'ओद्रकणौ'। उ०—थकै जीह चुकै कंध कायरां **ओद्रकै** थोक, जरकै बरकै जमो थरकै जंजीर।
—पहाड़खां आढ़ौ

ओद्राह, ओद्राहौ–सं०पु०—भय, आतंक। उ०—अरि **ओद्राहां** उड गया, कई ताळ बिमाळा।—वी.मा.

ओध–सं०स्त्री०—१ अवध, अयोध्या (र.ज.प्र.) २ अवधि, सीमा, निर्धारित समय।

ओधकणौ, ओधकबौ–क्रि०अ०—डरना, चौंकना, चमकना (मि० ओद्रकणौ)
उ०—धीर नगारौ राज रौ, गह भरियौ गाजै। दोख्यां रा मन **ओधकै**, सोख्यां रा छाजै।—अज्ञात

ओधकियोड़ौ–भू०का०कृ०—डरा हुआ, चौंका हुआ। (स्त्री० ओधकियोड़ी)

ओधमोहरौ–सं०पु०—ऊँचा मुंह करके चलने वाला हाथी।

ओधूळियौ–वि०—१ मस्त, उन्मत्त. २ बेपरवाह।

ओधेदार–सं०पु० [अ० ऊहद+फा० दार] अफसर, ओहदेदार।

ओधेस–सं०पु०—श्री रामचंद्र (र.ज.प्र.)

ओधौ—देखो 'ओदौ'।

ओनाड़, ओनाड़ौ—देखो 'अनड़' (रू.भे. ओनाड़)
उ०—१ धरै धोक खत्रवाट खुरसांण चाढ़ै धकै। एक एकाध पत वडो **ओनाड़**।—रावत मांनसिंह सलूंबर रौ गीत
उ०—२ इतरा भड़ **ओनाड़**, पड़िया राजा पाखती। राजा ऊभौ 'रतनसी', पाखैतरां पहाड़।—वचनिका

क

क—संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश व राजस्थानी वर्णमाला तथा देवनागरी लिपि का प्रथम व्यन्जन जिसका उच्चारण कंठ से होता है। इसे स्पर्श वर्ण कहते हैं।

कं—सं०पु० [सं०] १ कार्य, काम. २ कामदेव. ३ शिर (ह.नां., अ.मा.) ४ सुख ५ जल (ह.नां.) ६ स्वर्ण (अ.मा.) . ७ कमल. ८ दूध. ९ दुःख. १० विष.
सं०स्त्री०—११ अग्नि (एकाक्षरी)
वि०—शुभ (एकाक्षरी)

कंइ—सर्व०—देखो 'कंई' (रू.भे.) उ०—आ कंइ देरी आज, करी इती ते कांनड़ा।—अज्ञात

कंइयां—क्रि०वि० [सं० कियन] १ कब तक. [सं० कथम] २ कैसे।
उ०—कंइयां हूं कुमारड़ी, कंइयां हूं परिणेसि। सासू संदै आंगणै, बीजा बहू वहेसि।—सयणी री वात

कंई—सर्व० [सं० किम्] जिज्ञासासूचक एक प्रश्नवाचक सर्वनाम, क्या।
उ०—हित अमल कियां भूंडी हुई, अकल कठेगी आप री। इण मांय कंई गाडी अहीं, वडी हेमांणी वाप री।—ऊ.का.
मुहा०—१ कंई कहणौ (कै'णौ) है?—प्रशंसासूचक वाक्य, क्या कहना है. २ कंई चीज है—नाचीज अथवा तुच्छ वस्तु के लिये अथवा उत्तम वस्तु की प्रशंसा के संबंध में. ३ कंई जांणूं—ज्ञात नहीं, कुछ नहीं जानता. ४ कंई जावै—क्या हानि होती है, कुछ नुकसान नहीं. ५ कंई पड़ी है—कुछ गरज नहीं, क्या जरूरत है?
कहा०—कंई वांवळिया खांगा कर लेई—मेरा क्या बिगाड़ लोगे; मेरा कुछ भी नुकसान नहीं किया जा सकता। चिढ़ कर किसी रुष्ट हुए व्यक्ति के प्रति।
वि०—१ बहुत अच्छा. २ कितना. [सं० किंचित्] ३ जरा, तनिक, थोड़ा (रू भे. कंईक)
कहा०—कंई घोड़े री घट्टी तौ कंई सवार री ई घट्टी—परस्पर अन्योन्याश्रित वस्तुओं में से एक को हानि पहुँचने पर दूसरे को भी अवश्य कुछ न कुछ हानि पहुँचती है।

कंईक—वि०—जरा, तनिक, थोड़ा।
सर्व०—क्या।

कंक—सं०पु० [सं० कंकि=गतौ] १ श्वेत चील। (स्त्री० कंकी)
उ०—भिनत ग्रीध मंडळी खिलत झुंड खेचरी, करंत कंक कुंडळी भजंत स्रोण भूचरी।—अज्ञात २ एक प्रकार का मांसाहारी पक्षी जिसके पर प्रायः तीर में लगाये जाते हैं। उ०—कंक कंकी ग्रत चील कुलंगां, अंबरधर नर छेदे अंगां।—रा.रू.
३ बक, बगुला. ४ यमराज. ५ नरकंकाल। उ०—दुबळी हुइ खरीय कंक।—वी.दे. ६ बाण, तीर। उ०—कसीस अढ़ार टंकां ऊपड़ी परीर कंकां, झड़ी वीर वंकां सीस असंकां झूसांण।—दुरगादत्त बारहठ
७ क्षत्रिय (राजा) उ०—सळ सळै कमठ पीठ फण लचक सेसरा, दहल पड़ कंक हक त्रकै दमूं देस रा। पांण तज संक अनमी भरै पेसरा, नमक किण सिर बंधै कमर 'सगतेस'रा।—रांमलाल बारहठ
८ शृगाल. ९ कौआ. १० युद्ध. ११ सूर्य (नां.मा.) १२ शिव, महादेव (क.कु.बो) १३ युधिष्ठिर का एक नाम जब वे राजा विराट के यहाँ ब्राह्मण बन कर रहे थे (अ.मा.) १४ कंस के एक भाई का नाम।
वि०—१ तग. २ थका हुआ. ३ एक की संख्यासूचक*।

कंकआळण—देखो 'कंकाळण' (रू भे.) उ०—लटियाळिय जोगण साथ लियां। कंकआळण रूप विरूप कियां।—पा.प्र.

कंकड़—सं०पु० [सं० कर्कर] १ पत्थर का छोटा टुकड़ा, कण, रवा. २ जवाहरात का अनगढ टुकड़ा।

कंकड़ीलौ—वि०पु० (स्त्री० कंकड़ीली) [सं० कर्करिल] कंकड़युक्त (भूमि या रास्ता) कंकरीला।

कंकट—सं०पु० [सं०] १ कवच (डि.को.) २ असुर, राक्षस।
उ०—महामाया मा मडयळी, कंकट करण अकाज। जिके कोप लंका जळी, राकस बिगड़े राज।—र.ज.प्र.
वि०—दुष्ट, आततायी।

कंकण—सं०पु० [सं०] १ हाथ में कलाई पर धारण करने का एक भूषण विशेष, कड़ा. २ लोहे का एक कड़ा जिसे अकाली लोग पहनते हैं. ३ दूल्हे के दाहिने तथा वधू के बायें हाथ और पैर में धारण करने का सूत का रंगीन डोरा जिसमें कोड़ी, लाख, लोहे की कड़ी, मरोड़फली व जायफल बंधे रहते हैं (रीति-रस्म) ४ एक प्रकार का षाडव राग. ५ छंद-शास्त्र में चार मात्राओं का समूह, चौकल (पि.प्र.) ६ डिंगल का वेलिया सांणोर गीत का एक भेद जिसके प्रथम द्वाले में ४८ लघु ८ गुरु कुल ६४ मात्रायें तथा शेष के द्वालों में ४८ लघु ७ गुरु कुल ६२ मात्रायें होती हैं (पि.प्र.)
वि०—कुटिल* (डि को.)

कंकणी, कंकणीय—सं०स्त्री० [सं० कंका] ग्रीवनी। उ०—काय उत्ताळी कंकणी, जे मद पीवण जेज। कंत समप्पे हेकलो, कटकां दाहि कळेज।—वी.स.
(रू.भे. कंकनीय)

कंकतक—सं०पु० [सं०] सींग या धातु आदि की दांतेदार वस्तु जिससे बाल सुलझाये व सँवारे जाते हैं। केश-मार्जक (डि.को.)

कंकनीय—देखो 'कंकणी' (रू.भे.) उ०—हरामखोर चोर को कुहक्क दे हरावनी। कराळ कंठ कंकनीय डंक्कनी डरावनी।—ऊ.का.

कंकपत्र—सं०पु० [सं०] तीर, बाण (अ.मा., डि.को.)

ओलाडणौ, औलाडबौ–क्रि०स०—उलटना । उ०—घरहरै पाखरां वाजते घूघर, दीह सूझे नहीं खेहरै डंवरे । रूधियौ वळी रायसीघ रै लसकरै, डूंगरै घणा औलाडिया डूंगरै ।—राजा रायसिंह रौ गीत

औलाद–सं०स्त्री० [अ०] संतान, संतति, नस्ल ।

उ०—१ इण री मां दरियाव कन्है चरै थी सो दरियायी घोड़ा री औलाद थी ।—सूरे खींवे री वात

कहा०—खेत विगड़ै तौ खाद देवै पण औलाद विगड़ै तौ किसौ खाद देवै—खेत विगड़ने पर उसमें अच्छी खाद द्वारा सुधार किया जा सकता है किन्तु संतान के विगड़ने पर कोई इलाज नहीं; विगड़ी हुई संतान कुल को ले डूबती है ।,

औलियौ–सं०पु०—सिद्ध पुरुष (मुसल०) देखो 'ओलियौ' (रू.भे.)

औळि–सं०स्त्री० [सं० अवलि] पंक्ति, लाइन । उ०—जाई करी वेंठी चौखंडी, पेहली वांची उपली औळि ।—वी.दे.

औलूंदी—देखो 'ओलुंदी' ।

औळू—देखो 'ओळू' (रू.भे.)

औळै–क्रि०वि०—आड़ में । उ०—वांका मेहासधू म वीसरै, संकट हरै सांभळै साद । गढ़वाड़ा गढ़ औळै गाजै, मढ रै औळै गढ़ां अजाद ।
—वां.दा.

औल्यूंड़ी—देखो 'ओळू' (अल्पा०)

औवनाड़—देखो 'औनाड़' (रू.भे.)

औवात–सं०पु०—वियोग । उ०—राज पिछं हूं पिण जीवती रहूं नहीं नै दो तीन पौ'र रौ औवात देखूं नहीं । पिण माथौ देस्यूं । तरै जगदेव कह्यौ—टावरां रौ किसौ सूल होसी ।
—जगदेव पंवार री वात

औसणणौ, औसणबौ—देखो 'ओसरणौ' (अमरत–रू.भे.)

औसत–सं०पु० [अ०] वरावर का पड़ता, समष्टि का सम विभाग ।

वि०—सामान्य, माध्यमिक, साधारण ।

औसध—देखो 'ओखध' (रू.भे.)

उ०—एक तौ ससत्र करम जासों चीरे । पाछै दागै । दूजौ प्रकार औसध अनेक प्रकार का ।—वेलि. टी.

औसर–सं०पु० [सं० अवसर] देखो 'ओसर' (रू.भे.)

उ०—समझणहार सुजांण, नर औसर चूके नहीं । औसर रौ अवसांण, रहै घणां दिन राजिया ।—किरपारांम

औसरणौ, औसरबौ—देखो 'ओसरणौ' (रू भे.)

औसरि, औसरी—१ देखो 'ओसारौ' [सं० अवसर] २ अवसर, मौका। उ०—तिळोतमा मैंणका सची उरवसी सरोतरि सुरपत्ती सेवतां ईढ़ न धरै तिण औसरि ।—रा.रू.

औसांण, औसांन–सं०पु० [सं० अवसर] १ अवसर, मौका ।

(मि० ओसांण–रू.भे.) उ०—दादाजी आज उदास कठै हुआ । तद वीरमदेजी सारी हकीकत कही तठै भीमराजजी कयौ थे 'औसांण चूका ।
—द.दा

कहा०—१ औसांण आवै जकौ ही हथियार—वक्त पर याद आवे वही हथियार है । वक्त पर याद आई हुई वात या कार्य ही काम आता है. २ औसांण वड़ी चीज है—अवसर वड़ी चीज है; सुन्दर अवसर पर वेढ़ंगी वात भी वन जाती है । [अ० एहसान] २ एहसान, उपकार । उ०—अधपसुता पति हूंत कहै कथ औसांन रा । सवागण दांन रा दयण सागे ।—रामलाल आसियौ

कहा०—औसांण वड़ी चीज है—उपकार करना उत्तम कार्य है ।

औसाप—१ देखो 'ओसाप' (रू.भे.) उ०—'वूडौ' अर 'जींदौ' वहू यळ मोटै औसाप । आगै आगै कुखत्रियां, सगतां दियौ सराप ।—पा.प्र. २ उपकार, एहसान । उ०—वाळ वदळौ कळस चाढ़ ज वीकपुर, मीढ़ नह मिटायौ थयौ अणमाप । चंद दुडियंद लग वात रहसी अछड़, अवनपत कियौ हद औसाप ।—देवराज रतनू

औसार–सं०पु० [अ० आसार] दीवार की मोटाई या चौड़ाई (रू.भे. असार)

उ०—कोट री सफील ऊंची गज १६ औसार गढ़ रौ महलायत हेठै गज २० और गज १० कोट और पड़कोटै रै वीच छै ।
—द.दा.

औसास—देखो 'ओसास' (रू.भे.) उ०—औसास भुयंग झड़तां के अथग ।—भगवांनजी रतनू

औस्या–सं०स्त्री० [सं० अवस्था] अवस्था, आयु, उम्र । उ०—गोपाळ पूछियौ—छोरी री क्या औस्था है ?—वरसगांठ

औहथणौ, औहथबौ–क्रि०अ० [सं० अपस्थित] १ भगना, पराजित होना, हारना । उ०—माटीतण तणौ अरी घाइ मिळतां हुविऐ समहरि अंतर हुवौ । अरिजण गोपि-ग्रहणि औहथियौ, महिराउणि गो-ग्रहणि मुवौ ।—भरमौ रतनू २ अस्त होना, मिटना ।

औहथणहार, हारौ (हारी), औहथणियौ–वि०—भगने या पराजित होने वाला ।

औहथिअोड़ौ, औहथियोड़ौ, औहथ्योड़ौ—भू०का०कृ० ।

औहथियोड़ौ–भू०का०कृ०—भयभीत, पराजित, अस्त ।

(स्त्री० औहथियोड़ी)

औहरी—देखो 'ओरी' (रू.भे.)

औहिज–सर्व०—निश्चयार्थकसूचक सर्वनाम, यही । उ०—आडौ अंवळौ क्यूं फिरै, धवळौ वापूकार । औहिज पार उतार ही, धळ मांमै औ भार ।—वां.दा.

कंचणी–सं०स्त्री० [सं०] १ वेश्या, नर्तकी। उ०—वांगा प्रभु कंचणी संचणी पतवरत, लाय अति अंचणी भेल लीघी। नंचणी जात परपंचणी हुई नहं, कंचणी वात अखियात कीघी।—अज्ञात

२ एक जाति जिसकी स्त्रियां प्रायः वेश्यावृत्ति की होती हैं अथवा इस जाति की स्त्री।

कंचन–सं०पु०—१ मुसलमान कंचनी वेश्याओं के बाप व भाई।

२ देखो 'कंचण' (डि.को.)

सं०स्त्री०—३ देखो 'कंचणी'।

कंचनगिर–सं०पु० [सं० कंचनगिरि] १ सुमेरु पर्वत (ह.नां.)

२ जालोर में स्थित एक पर्वत का नाम।

कंचनवरन–वि० [सं० कांचन+वर्ण] सुनहरा।

कंचनसिखर- सं०पु० [सं० कांचनशिखर] सुमेरु पर्वत (अ.मा.)

कंचनी–सं०स्त्री०—देखो 'कंचणी' (रू.भे.) [सं० कांचनी] २ हल्दी (अ.मा.)

सं०नपु०लिं०—३ नामर्द, नपुंसक, नाजर (मा.म.)

कंचरी–सं०स्त्री०—मुसलमान वेश्याओं का एक भेद।

कंचळी, कंचवउ—देखो 'कांचळी' (रू.भे) (रू.भे. कंचुवउ)

कंचवौ–सं०पु० [सं० कंचुकी] देखो 'कंचुकी'। उ०—घट तज गयौ घरेह, जोवन रा करती जतन। कंचवौ कंच घरेह, महळ फिरौ पग मौकळे।—अज्ञात

कंची–सं०पु०—१ कौआ। २ देखो 'कंचकी'।

कंचु–सं०स्त्री० [सं० कंचुकि] कंचुकी।

कंचुक–सं०स्त्री० [सं०] १ कंचुकी। उ०—मैलो अत अदतार मन, रुच जस तणीं रहै न। तन काळी विसहर तणी, कंचूक सेत सहै न।
—बां.दा.

२ अंगिया (डि.को.) ३ घुटने तक होने वाला कंचुक के आकार का कवच (डि.को.) ४ अचकन।

कंचुकी–सं०स्त्री० [सं०] १ अंगिया, चोली।

सं०नपु०लिं० [सं०] २ वे नपुंसक या हिजड़े व्यक्ति जो प्रायः अंतःपुर की रक्षा के लिये नियुक्त किये जाते हैं. ३ सांप, भुजंग (ह.नां.)

४ वह घोड़ा जिसका घुटने पर का एक पैर सफेद हो (अशुभ–शा.हो.)

कंचुळी—देखो 'कांचळी' (डि.को.)

कंचुवउ–सं०स्त्री० [सं० कंचुकि] कंचुकी, अंगिया।

उ०—१ मज्जण चाल्या हे सखी, नयणे कीयो सोग। सिर साड़ी गळि कंचुवउ, हुवउ निचोवण जोग।—ढो.मा.

कंचुवौ—देखो 'कंचुकी' (रू.भे.)

कंचुवौ–सं पु० [सं० कंचुकि] कंचुकी, चोली, अंगिया (डि.को.)

उ०—वीजळियां दचुकि चिवे, डावा डूंगर मज्झ। गळा उतारै कंचुवौ, नयर्गे लोपी लज्ज।—जसराज

कंचूकी—देखो 'कंचुकी'। उ०—विजुळियां चहळावहळि, आभय आभय कोडि। कद रे मिळउंसी सज्जना, कस कंचूकी छोडि।—ढो.मा.

कंज–सं०पु० [सं०] १ ब्रह्मा. २ कमल (ह.नां., डि.को.)

३ चरण की एक रेखा. ४ अमृत. ५ सिर के बाल. ६ दीप. ७ महादेव. ८ फूल (अ.मा.)

वि०—लाल, रक्तवर्ण (डि.को.)

कंजकल्यांणी–सं०स्त्री० [सं० कंजकलिका, प्रा० कंजकलिआ] कमलकली।

कंजज–सं०पु० [सं०] ब्रह्मा, विधि (नां.मा.)

कंजर–सं०पु०—१ पिछड़ी एवं परिगणित जातियों के अंतर्गत गिनी जाने वाली एक भारतीय जाति विशेष। इस जाति के व्यक्ति प्रायः गाने-बजाने का कार्य करते हैं. २ इस जाति का व्यक्ति।

कंजरी–सं०स्त्री०—१ मुसलमान वेश्याओं का एक प्राचीन नाम (मा.म.)

२ कंजर जाति की स्त्री। देखो कंजर'।

कंजविकास–सं पु० [सं०] सूर्य्य (ना.मा.)

कंजारी–सं०पु० [सं० कंजारि] चंद्रमा (अ.मा.)

कंजासण–सं०पु० [सं० कंजासन] ब्रह्मा, विधि (नां.मा.)

कंजुलिक–सं०पु० [सं० किंजल्क] किंजल्क। उ०—कमळ सरूपी या मुख मांहे। कमळ मांहे कंजुलिक हुऐ तैसें ए मांहे दंत। दुति कहतां सोभा कांति।—वेलि. टी.

कंजूस–वि०—कृपण, सूम।

कंझ–सं०पु०—क्रौंच पक्षी। देखो 'कुंज'।

कंझणी, कंझवौ–क्रि०अ०—शौच पूरी तरह साफ न आने के कारण की जाने वाली जोर की ध्वनि जो शौच लाने के लिए की जाती है।

उ०—अमल री पिक लागी अटळ, सुख लूटै वे सुलखणां। सवेरा सांझ दोनूं समै, कांझ कंझ नै कुलखणां।—ऊ.का.

कटक–सं०पु० [सं०] १ कांटा. २ बाधा. ३ कष्ट. ४ किसी पेड़ या पौधे का कड़ा तथा नुकीला अंकुर. ५ ज्योतिषियों के अनुसार जन्म-कुण्डली में पहला, चौथा, सातवां व दसवां स्थान. ६ अंकुर. ७ लोहे का अंकुर. ८ असुर, राक्षस (वि.प्र.) ९ रावण (अ.मा.) १० वाम मार्ग का विरोधी व्यक्ति: ११ शत्रु।

वि०—१ दुष्ट। उ०—विहद हंदी रहम देख जमदूत दहलें, कटक काळ न काप हीं सांई सांभहळे।—केसोदास गाडण २ नास्तिक. ३ दयाहीन, कठोर हृदय. ४ छोटा. ५ बाधक।

कंटकअसण–सं०पु०—१ ऊंट (डि.को.) २ विष्णु.

सं०स्त्री०—३ देवी।

कंटकारी–सं०पु०—१ श्री रामचंद्र का एक नाम (अ.मा.)

सं०स्त्री०—२ उपानह, जूती।

कंटकि, कंटकी–सं०पु० [सं० कंटक] १ कांटा. २ राक्षस, असुर (रा.रा.) ३ कांटे वाला वृक्ष।

वि०—१ दुष्ट. २ पापी. ३ दुरात्मा।

कंटाळउ, कंटाळौ–वि०—कंटीला, कांटे वाला।

सं०पु०—देखो 'ऊंटकंटाळौ'। उ०—करहा नीरु जउ चरइ, कंटाळउ नइ फोग। नागरवेलि किहां लहइ, थारा थोवड़ जोग।—ढो.मा.

कंटाळियौ–सं०पु०—बोझा ढोने का ऊंट का एक प्रकार का चारजामा—क्षेत्रीय (मि० भारपिलांण)

कंकर–सं०पु०—१ देखो 'कंकड़'। [सं० किंकिर] २ नौकर, दास, सेवक।

कंकरीट–सं०स्त्री० [अं० कांक्रीट] १ छोटे-छोटे कंकरों का समूह. २ प्रायः गच पीटने के लिए छत पर डाला जाने वाला एक प्रकार का मसाला जो कंकड़ों से युक्त होता है।

कंकरीलौ—देखो 'कंकड़ीलौ' (रू.भे.)

कंकला–सं०स्त्री० [सं० कम्+कला] शोभा (अ.मा.)

कंकांणी—देखो 'कंकणी' (रू.भे.) उ०—कंकांणी चंपै चरण, गीधांणी सिर गाह। मौ विण सूतौ सेज री, रीत न छंडै नाह।—वी.स.

कंका–सं०स्त्री० [सं०] १ एक मांसाहारी पक्षी, गीधनी (मि० कंकणी) २ एक प्रकार की सफेद चील जिसके पंख प्रायः बाणों में लगाये जाते थे (मि० कंक) उ०—गीध कळ जौ चील्ह उर, कंका अंत बिलाय। तौ भी सौ धक कंत री, मूछां भ्रूंह मिळाय।—वी.स. ३ राजा उग्रसेन की लड़की जो कंस की बहिन थी एवं वसुदेव के भाई को व्याही गई थी।

कंकाड़ौ—देखो 'ककेड़ौ' (रू.भे.)

कंकाळ–सं०पु० [सं० कंकाल] १ अस्थिपंजर, ठठरी। उ०—भूख भचीड़ा फिरै खावती, नाचै झूमै सौ सौ ताळ। सुगन-चिड़ी सूरज ने पूछ्यौ, गिरजां मै पूछ्यौ कंकाळ।—रेवतदांन २ युद्ध, कलह. ३ सिंह (ना.डिं.को.)

कंकाळण–सं०स्त्री०—दुर्गा का एक रूप (मि० कंकआलण-रू.भे.) वि०—कलहप्रिय, झगड़ालू।

कंकाळमाळी–सं०पु० [सं० कंकालमालिन्] महादेव, शिव। सं०स्त्री० [सं० कंकालमालिनी] पार्वती, दुर्गा।

कंकाळी–सं०स्त्री०—१ कलहप्रिय स्त्री, झगड़ालू स्त्री. २ दुर्गा, भैरवी (डिं.को.) ३ जगदेवपँवार के समय की एक विदुषी स्त्री।

कंकाळौ–सं०पु०—कलहप्रिय व्यक्ति। (स्त्री० कंकाळण, कंकाळी)

कंकूपत्री–सं०स्त्री० [सं० कुंकुमपत्री] विवाह आदि शुभ अवसरों पर दिया जाने वाला मांगलिक निमंत्रण पत्र (रू.भे. कूंकूंपत्री)

कंकूदमांन, कंकूदवांन–सं०पु० [सं० ककुदमान्] बैल (ह नां., पाठांतर)

कंकेड़, कंकेड़ौ–सं०पु०—मध्यम ऊँचाई का एक प्रकार का कांटेदार वृक्ष (अल्पा० कंकेड़ियौ)

कंकेळी–सं०पु० [सं० कंकेलि] अशोक वृक्ष (डिं.को.)

कंकोड़–सं०पु०—नागों के नव वंशों में से एक या इस वंश का नाग।

कंकोळ–सं०पु०—एक प्रकार का वृक्ष जो शीतल चीनी के वृक्ष का भेद माना जाता है। इसके फल शीतल चीनी से बड़े व कठोर होते है (अमरत)

कंखणी–सं०स्त्री०—१ कलहप्रिय स्त्री. २ देवी का एक रूप जो भयानक माना जाता है।

कंखवर–सं०पु०—पीले वस्त्र। उ०—चाल्यौ प्रोहित मालगिर देस, वस्त्र कंखवर अरि भला वेस।—वी.दे.

कंग–सं०पु० [सं० कङ्कट] कवच, जिरहवख्तर (डिं.को.)

कंगड़ारीराय–सं०स्त्री०—कांगड़ा की ज्वालामुखी, देवी का एक नाम।

कंगड़ौ–सं०पु०—पंजाब प्रान्त का एक पहाड़ी प्रदेश जहां एक छोटा ज्वालामुखी पर्वत है। यह ज्वालामुखी देवी के नाम से प्रसिद्ध है।

कंगण, कंगन–सं०पु०—१ हाथ में कलाई में पहिनने का एक आभूषण, कंकण. २ तलवार की मूठ के सबसे ऊपरी गोल गुम्बजदार भाग के नीचे उठे हुए गोल भाग को संकड़ा कर गर्दननुमा बना हुआ भाग।

कंगार, कंगारौ–सं०पु०—१ दीवार का ऊपर का किनारा (क्षेत्रीय)

कंगळ–सं०पु० [सं० कङ्कट] कवच। उ०—दमंगळ विण दुमनौ रहै, जड़ै न कंगळ जंत। सखी वधावौ त्यां भड़ां, जेथ जुड़ीजै कंत। —वी.स.

कंगलौ–वि० [सं० कंकाल] १ कंगाल, निर्धन, दरिद्र। उ०—गदगद वाणी द्रग पांणी गळळाटा। कंगला वंगळां में कीना कळळाटा। २ असक्त, कमजोर। —ऊ.का.

कंगवौ–सं०पु०—खड़ी फसल में पौधे में ही अनाज के दानों के विकीर्ण होने की क्रिया। पौधे में अनाज के विकीर्ण होने का एक रोग विशेष।

कंगस–सं०पु०—१ कवच. उ०—कसमस कंगस तुरस कटै, छड़ उध्रस आतस तीर छूटै।—गो.रू. २ मांसाहारी पक्षी।

कंगसी—देखो 'कांगसी'।

कंगाल–वि० (स्त्री० कंगालण) [सं० कङ्काल] निर्धन, दरिद्र, अकाल से पीडित।

कहा०—कंगाल रौ काळजौ पोलौ (काचौ)—कंगाल का कलेजा कच्चा; गरीब को हिम्मत नहीं होती।

कंगाली–सं०स्त्री०—निर्धनता, गरीबी, दरिद्रता।

कंगी–सं०स्त्री० [सं० कंकती] १ कंघे के आकार का कपड़ा बुनने का एक उपकरण जो कपड़ा बुनते समय मजबूती के लिए ठोकने के काम आता है। (रू.भे. कांघसी). २ देखो 'कांगसी'।

कंगूर–सं०पु०—१ मुकटमणि. २ आभूषण पर कंगूरे के आकार का दाना, गहनों में छोटा रवा. ३ देखो 'कंगूरौ'। उ०—अन भुरजाळां भुरज सा, गढ़ चीतौड़ कंगूर।—वां.दा.

कंगूरौ–सं०पु० [फा० कुंगरा] १ शिखर, चोटी. २ थोड़े थोड़े फासले से किले की दीवार पर बने हुए बुर्ज जहां से सिपाही लड़ते हैं।

कंगो, कंगौ, कंघो, कंघौ–सं०पु० [सं० कंकतक] १ बाल साफ करने की लकड़ी, सींग या धातु की दांतेदार वस्तु।

पर्याय०—कंकतक, कांघसियौ, केसमारजन, प्रसाधन।

२ करघे में भरनी के तागों को कसने का एक यंत्र।

कंचकी–सं०पु० [सं० कंचुकि] १ सर्प, सांप (अ.मा.) सं०स्त्री०—२ अंगिया, चोली।

कंचण–सं०पु० [सं० कंचन] १ स्वर्ण, सोना। उ०—कोई कुकवि जीभ सूं, वांछै रसमय वांण। कंचण वांछै काढ़णौ, सौ लोहा री खांण। —वां दा.

मुहा०—कंचण वरसणौ—बहुत धन प्राप्त होना, शोभा देना.

२ धतूरा।

आंगमे, मेटी कर कंडूय ।—वी स. उ०—३ इण रीति अनेक थूंकळ करि भुजा री कंडूया भागि न जांणि जगमाल कुमार अहमदाबाद रा अधीस नूं पांहुणी नूंतियौ ।—वं.भा.

कंण—देखो 'कण' ।

कंणदोरौ-सं०पु०—करधनी, मेखला ।

कंणयर-सं०स्त्री० [सं० कनियर] कनेर का गुल्म अथवा उसका पुष्प । उ०—पहि भवंतौ जो मिळै, तौ ये कहिजौ वत्त । घण कंणयर री रे कंब ज्यूं, सूखी तोहि सूरत्त ।—ढो.मा.

कंत-सं०पु० [सं० कांत] १ पति । उ०—सेल धमोड़ा किम सह्या, किम सहिया गजदंत । कठिन पयोहर लागतां, कसमसतौ तू कंत ।—हा.झा.

२ ईश्वर (ह.नां.) ३ स्वामी. ४ सात मात्राओं का एक मात्रिक छंद विशेष जिसके प्रत्येक चरण के अंत में जगण होता है ।

कंतड़ौ-सं०पु० [सं० कांत] पति । उ०—सखी अमीणौ कंतड़ौ, अंगि दीनौ आचंत । कड़ी ठमंकै बगतरां, नड़ी नड़ी नाचंत ।—हा.झा.

कंतहरख-सं०स्त्री० [सं० कांत+हर्ष = आनंद] शय्या (अ.मा)

कंता-सं०स्त्री० [सं० कांता] स्त्री, पत्नी । उ०—निमिख पळ वसंति नारिखौ अहोनिसि, एकण एक न दाखै अंत । कंत गुणे वसि थायौ कंता, कांता गुणि वसि थायै कंत ।—वेलि.

कंतारक-सं०पु० [सं० कांतार] वन, जंगल (अ.मा., नां.मा.)

कंतुकी-सं०स्त्री०—केतकी । उ०—मुखमनि परम सिव में झूले, ता रति कंवळ कंतुकी फूले ।—ह.पु.वा

कंतेर-सं०पु०—१ खलिहान में अनाज के पौधों को कुचल कर उन्हें साफ करने के लिए बनाये गये ढेर के नीचे जमा हुआ भूसा. २ एक कंटीला वृक्ष विशेष जिसके पत्ते नींबू के पत्तों के सदृश होते हैं ।

कंतौ—देखो 'कंत' (रू.भे.)

कंथ-सं०पु० [सं० कांत] १ पति, स्वामी । उ०—विहसतै सहस वळ कड़ी जाय ऊवड़ै । घाट घड़ कंथ रै जरद ढीलौ घड़ै ।—हा.झा. (अल्पा० कंथड़ौ) २ देखो 'कंत' (रू.भे.) ३ शिव ।

कंथकोट-सं०पु०—पश्चिमी पाकिस्तान का एक स्थान विशेष ।

कंथड़-सं०पु०—१ नाथ सम्प्रदाय का एक सिद्ध संन्यासी (अलूदास) २ देखो 'कंथ' ।

कंथड़ौ, कंथड़ौ-सं०पु०—पति ('कंथ' का अल्पा०) उ०—कंथड़ा झालि किरमाळ केड़ौ करां, सारझड़ वरण सौ सोक सैलां मरां ।—हा.झा.

कंथा-सं०स्त्री० [सं०] पुराने चिथड़ों को जोड़ कर बनाया हुआ पहिनने का वस्त्र विशेष जिसे प्रायः गरीब व्यक्ति अथवा संन्यासी पहिनते हैं, गुदड़ी । उ०—दुत केसर आड भभूत दीध । कंथा नवरंगी सिन्दह कीध ।—वि सं.

कंथाधार-सं०पु०—१ संन्यासी. २ शिव, महादेव ।

कंथौ—देखो 'कंथ' (रू.भे.)

कंद-सं०पु० [सं०] १ बिना रेशे की गूदेदार जड़ यथा—शकरकंद, गाजर, मूली आदि । उ०—मास दोय रा हुवा और डूंगर में आग लागी । वनस्पती, कंद मूळ, घास व फळ फूल सह बळिया ।

—डाढ़ाळा सूर री वात

(यौ० आणंदकंद, कंदमूळ, मकरकंद) २ जमाई हुई चीनी, मिश्री. (यौ० कळाकंद, गुळकंद) ३ दुख, उदासीनता (पिं.प्र.) [सं० स्कंध] ४ कंधा. उ०—कर कोप दैत चौ मुरड़ कंद ।

—करणीरूपक.

[सं० कंद] ५ प्रत्येक चरण में चार यगण और एक लघु सहित तेरह वर्ण का वर्णिक वृत्त विशेष (पिं.प्र.) ६ छप्पय छंद के ७१ भेदों में से २९ वाँ भेद जिसमें ४२ गुरु ६८ लघु ११० वर्ण और १५२ मात्रायें होती हैं । इसका दूसरा नाम कमल भी है. [सं० कुंद] ७ नौ निधियों के अंतर्गत एक निधि. ८ कलंक. ९ श्यामता, कालापन । उ०—केम कळंक लागै निकळंक, 'जालम' तूझ तणा रव जेम । कंद वाळा न हुए समंद कण, हुए न दागळ अंग हेम ।

—चतुरोजी सौदौ

१० मेघ, वारिद (मि० जलद) । उ०—तन कंद स्यांम सुभावनं । पट पीत विद्युत पावनं ।—र.ज.प्र. ११ जड़-मूल । उ०—विमुहा करण माह वळ, मुहकम का हरियंद । सोच निवेडण नियदळां, खळां उखेलण कंद ।—रा.रू. १२ समूह (ह.नां, अ.मा.)

वि०—मूर्ख (ह.नां, अ.मा.) (मि० जयाजात)

कंदक-सं०पु०—वितान, चंदोवा (डि.को.)

कंदचर-सं०पु०—सूअर (अ.मा.)

कंदण, कंदन-सं०पु० [सं० कंदन] १ नाश, ध्वंश. २ शिव, महादेव (क.कु.बो.). ३ युद्ध (ह नां, अ.मा.)

कंदप-सं०पु० [सं० कंदर्प] कामदेव (एकाक्षरी)

कंदपीड़नासण, कंदपीड़नासन-सं०पु०—चौरासी आसनों के अंतर्गत एक आसन । इसमें दोनों पाँवों के पंजों के पार्श्व को मिला कर नाभि के नीचे कंद दबे इस चाल से रक्खा जाता है और दोनों घुटनों को सटा कर जंघा के निम्न भाग को भूमि पर लगा कर बैठा जाता है । इससे कुंडलिनी जागृत होती है और सुषुम्ना का मार्ग शुद्ध होकर प्राण वायु का संचार होता है । सावधानी न रखने से इस आसन में पैर उतर जाने की संभावना है ।

कंदमूळ-सं०पु० [सं० कंदमूल] १ लंबी, मोटी और गूदेदार जड़ वाला तीन चार हाथ ऊँचा एक पौधा. २ कंद और मूल ।

कंदर—देखो 'कंदरा' ।

कंदरप-सं०पु० [सं० कंदर्प] १ कामदेव (ह.नां.) २ प्रद्युम्न का पुत्र, श्रीकृष्ण के पौत्र अनिरुद्ध का एक नाम (वेलि.)

वि०—कुत्सित दर्प वाला, अभिमानी ।

कंदरपग्रह-सं०पु०यौ० [सं० कंदर्प+ग्रहन] त्रयोदशी । उ०—सम चत-दह सग्रह समै, सिसिर चरण अवनांग । अमित तपा कंदरपग्रह, चढ़ियौ इम चहुवांण ।—वं.भा.

कंटी-सं०स्त्री०—भूमि पर छितराने वाला एक प्रकार का क्षुप विशेष ।

कंटीली-वि०स्त्री० [सं० कंटक] कंटकायुक्त, काँटेदार, कँटीली ।

कंटेस्वरी-सं०स्त्री०—सोलंकी वंश की एक कुल-देवी का नाम (वां.दा.)

कंटोळिया-सं०पु०—गोखरू या कंटी का फल जिस पर काँटे होते हैं ।

कंठ-सं०पु० [सं०] १ गला, ग्रीवा, टेंटुग्रा, कंठगत वह नली जो भोजन जाने अथवा ग्रावाज निकालने के लिये प्रयुक्त होती है ।

उ०—गंठ जोड़ ग्रछर भूलाल गंठ, कदमां ग्रंत्रावळ वरमाळ कंठ ।
—वि.सं.

मुहा०—१ कंठ करणौ—कंठस्थ कर लेना. २ कंठ खुलणौ—ग्रावाज निकलना. ३ कंठ फूटणौ—ठीक-ठीक शब्द निकलना, गले की घाँटी का निकलना. ४ कंठ बैठणौ—ग्रावाज भारी होना, गले का बैठ जाना. ५ कंठ राखणौ—याद रखना. ६ कंठ री हार बणणौ. ७ कंठ री हार होणौ—बहुत प्रिय होना, सदा साथ रहना. ८ कंठ सूखणौ—गला सूखना ।

२ ग्रावाज, शब्द-स्वर, ध्वनि. ३ स्वर. ४ ग्रनुप्रास. ५ तलवार की मूठ पर पकड़ने के स्थान के ऊपर लगाई जाने वाली वृतालु चकरी, तलवार के कटोर के नीचे का गर्दननुमा गोल भाग। देखो 'कटोर' (२)

वि०—१ सुस्वर* (डिं.को.) २ बैंगन के समान रंग का* (डिं.को.)

कंठक—देखो 'कंठ' ।

कंठत्राण-सं०पु० [सं०] युद्ध में रक्षा के लिए गले में लगाई जाने वाली लोहे की जाली या पट्टी ।

कंठपाहिड़ा-सं०पु०—सोलंकी वंश की एक शाखा ।

कंठमणि-सं०स्त्री० [सं०] घोड़े के कंठ में गले के बगल में होने वाली भौंरी (चक्र) यह शुभ मानी जाती है ।

कंठमाळा-सं०स्त्री०—गले में होने वाला एक रोग विशेष जिसमें गले में लगातार छोटी फुड़ियाँ निकलती हैं; कुछ विद्वानों के ग्रनुसार बगल, पेडू या जंघों में भी ग्रंथियाँ हो जाती हैं (ग्रमरत)

कंठळ, कंठळि, कंठळी-सं०स्त्री०—१ घनघटा, मेघघटा ।

उ०—ऊनमियउ उत्तर दिसइ, काळि कंठळि मेह। हूं भीजूं घर-ग्रंगणइ, पिउ भीजइ परदेह ।—ढो.मा.

२ कंठ का एक ग्राभूषण ।

कंठलौ-सं०पु०—गले का ग्राभूषण विशेष ।

कंठसरी-सं०स्त्री० [सं० कंठश्री] १ गले में स्त्रियों के पहनने का एक ग्राभूषण । उ०—हरिणाखी कंठ ग्रंतिरख हूंती, विंब रूप प्रगटी वहिरि । कळ मोतियां सुसरि हरि कीरति, कंठसरी सरसती किरि ।
—वेलि.

कंठसूळ-सं०स्त्री०—घोड़े के कंठ या गले में होने वाली भौंरी (ग्रशुभ)

कंठस्थ-वि० [सं०] १ कंठाग्र, जबानी याद. २ गले में ग्रटका हुग्रा, कंठगत ।

कंठाग्र, कंठाग्रहण-सं०पु०—ग्रालिंगन । उ०—जिउं मन पसरइ चिहुं दिसइ, जिम जउ कर पसरंति । दूरि थकां ही सज्जणां, कंठाग्रहण करंति ।
—ढो.मा.

वि० [सं० कंठाग्र] कंठस्थ, जबानी याद ।

कंठाळ, कंठाळक-सं०पु० [सं० कंठाल] ऊँट ।

कंठाळौ-वि०—१ बलवान. २ गवैया, सुंदर व मीठी ग्रावाज वाला. ३ देखो 'कंठाळक' (रू.भे.)

कंठि, कंठिय-सं०स्त्री०—१ तट, कगार । २ देखो 'कंठी' (रू.भे.)

कंठिराव-सं०पु० [सं० कंठिरव] सिंह, व्याघ्र । उ०—प्रगल्भ कंठ पेल देत कंठ कंठिराव कौ, दुहत्थ हत्थ ठेल देत हत्थलै प्रदाव कौ ।
—ऊ.का.

कंठी-सं०स्त्री० [सं.] १ कंठ का एक ग्राभूषण. २ तुलसी ग्रादि के मनियों की छोटी माला जिसे प्रायः वैष्णव पहिनते हैं. ३ रक्त-चंदन के छोटे दानों को सूत के धागे में बांधा जाने वाला गुरु का चिन्ह ।

मुहा०—१ कंठी देणी—चेला मूंडना. २ कंठी बांधणी—चेला बनाना; संसार से विरक्त होना; बिना सोचे-विचारे चेला बनाना. ३ कंठी लेणी—चेला बनाना, साधू बनाना ४ तोते ग्रादि पक्षियों के गले की रंगीन रेखायें. ५ तलवार के म्यान का ऊपर का वह भाग जो मुंहनाल के नीचे होता है ग्रौर कुछ उठा हुग्रा सा होता है ।

कंठीबंध-सं०पु०—वह व्यक्ति जो अपने गुरु के चिन्ह-स्वरूप गले में कंठी धारण करता हो ।

कंठीर-सं०पु० [सं० कंठीरव] सिंह, व्याघ्र (ह.नां.)

कंठीरण, कंठीरणी-सं०स्त्री० [सं० कठीरव] सिंहनी ।

कंठीरल-सं०पु० [सं० कंठीरव] सिंह । उ०—पटायत लाख रा ज्युंही यहै वजेपुर, उदेपुर भाकरां गुमर ग्रांणे । कंठीरल 'मघा' थारे जसा ठाकरां, तीसं खट साख रा मूंछ तांणे ।—ग्रज्ञात

कंठीरव, कंठीरोग्रौ-सं०पु० [सं० कंठीरव] सिंह (ग्र.मा.)

कंठौ-सं०पु०—१ बड़े बड़े मनिकों वाला कंठ में धारण करने का एक ग्राभूषण विशेष. २ देखो 'कंठी' ३. गला, कंठ ।

कंड-वि०—१ चालाक, धूर्त्त. २ ग्राडंबर से रहने वाला, ढोंगी. ३ सुवृत्त* (डिं.को.)

कंडाळ-सं०पु० [स० करनाल, फा० करनाय] तुरही नामक वाद्य ।

कंडीर-वि०—१ भयंकर, भयानक. २ अधिक खाने वाला, पेटू. ३ बड़ा ग्रफीमची ।

कंडील-सं०स्त्री० [ग्र० कंदील] मिट्टी, ग्रबरक व कागज की बनी ऊपर के मुंह वाली लालटेन ।

कंडुकर-सं०पु०—कपिकच्छु नामक लता, कंउच (ग्र.मा.)

कंडू, कंडूय, कंडूया-सं०स्त्री० [सं० कंडूया] खुजली (ग्रमरत)

उ०—१ घाड़वियां ग्रजकौ घणी, भागौ भड़ न भिड़ाय । जे कर कंडू ऊतरै, पौढै ग्रंग भिड़ाय ।—वी.स.

उ०—२ सुणतां हाकौ धव सखी, मूंछ मुहारां छूय । एकण नासां

कंपणौ, कंपवौ—क्रि०अ०—१ कांपना. २ भयभीत होना, आतंकित होना।
कंपणहार, हारौ (हारी), कंपणियौ—वि०—कांपने वाला।
कंपिओड़ौ, कंपियोड़ौ, कंप्योड़ौ—भू०का०कृ०।
कांपणौ, कांपवौ—(रू.भे.)

कंपत—देखो 'कंपित' (रू.भे.)

कंपन—सं०पु०—कंपित होने की क्रिया या भाव, थरथराहट, भय, आतंक।
उ०—तोरी धाक मांन के जवाहर अजांणवाह, गोरे जीव जीवन की आसते छुटयौ करै। चौंक उठै रैण चैन नींद नांहीं, कंपनी कळैजे मांय कंपन उठयौ करै।—डूंगजी री कवित्त

कंपनी—सं०स्त्री—बहुत से मनुष्यों का एक साथ व्यापार या व्यवसाय के निमित्त संस्था के रूप में बद्ध होने की क्रिया या भाव।

कंपाणौ, कंपावौ—क्रि०स० ('कंपणौ' का प्रे.रू.) १ हिलाना, डुलाना. २ डराना।
कंपाणहार, हारौ (हारी), कंपाणियौ—वि०—हिलाने डुलाने या डराने वाला।
कंपायोड़ौ—भू०का०कृ०।

कंपादे—सं०स्त्री०—पँवार वंशोत्पन्न एक देवी का नाम (बां.दा. ख्या.)

कंपाळ—सं०पु० [सं० कपाल] सिर के ऊपर का हिस्सा, कपाल।
उ०—विमाळ गोळ कावळी, कंपाळ झंपती वहै।—ऊ.का.

कंपावणौ, कंपाववौ—देखो 'कंपाणौ' (रू.भे.)

कंपास—सं०पु० [अं०] १ दिशाओं का ज्ञान कराने का एक प्रकार का यंत्र विशेष. २ एक प्रकार का अन्य यंत्र विशेष जिसमें पैमाइश में लैन डालते हैं. ३ बढ़ई का एक औजार विशेष।

कंपित—वि० [सं०] १ कांपता हुआ, चंचल। उ०—वेदोगत धरम विचारि वेदविद, कंपित चित लागा कहण। हेकणि सुत्री सरिस किम होवै, पुनह पुनह पांणिग्रहण।—वेलि. २ भयभीत, डरा हुआ ('कंपत' रू.भे.)

कंपियोड़ौ—भू०का०कृ०—कांपा हुआ, कंपित। (स्त्री० कंपियोड़ी)

कंपी—सं०स्त्री०—१ कंपन, थरथराहट. २ कँपकँपी. ३ घास की महीनतम धूलि।

कंपु, कंपू—सं०पु०—१ सेना, फौज। उ०—१ कंपू मार तेगां तीजी ताळो सो कुरंगी कीधा, जका बाद नौरंगी प्रजाळी भुजां जोम।
—गिरवरदांन कवियौ
उ०—२ लाग खाई पूरे पाटां खहै कंपू खेध लागा, वहै खाटां घायलां निराटां भीमवार।—बां.दा. २ सेना का खेमा या पड़ाव. ३ जनसमूह, समुदाय. ४ धूलि-कण।

कंब—सं०स्त्री०—१ छड़ी। उ०—पही ममंतउ जउ मिळउ, कहै अम्हीणी वत्त। घण कंणयर री कंब ज्यउं, सूकी तोड सुरत्त।
—ढो.मा.

कंबड़ी—सं०स्त्री०—छड़ी (रू.भे. कंब) उ०—सड़-सड़ वाहि म कंबड़ी, रांगां देह म चूरि। विहुं दीपां विचि मारुई, मो थी केती दूरि।
—ढो.मा.

कंबर, कंबळ, कंबळि, कंबळी—सं०उ०लि० [सं० कंबल] ऊन का बना ओढ़ने का मोटा वस्त्र, कम्बल। उ०—१ परवाह न पाट पटंबर की, अब चाह सु कंबर अंबर की।—ऊ.का. उ०—२ पहिरण-ओढण कंबळा, साठे पुरिसे नीर। आपण लोक उभांखरा, गाडर-छाळी खीर।
—ढो.मा.
उ०—३ कोई कोमळ वसत्र कोई कंबळि, जण भारियौ रहंति जगि।
—वेलि.
(अल्पा० कंबळियौ, कांबळियौ)

कंबाइय—सं०स्त्री०—छड़ी, बेंत। उ०—सांझी वेळा सांमहळि, कंठळि थई अगासि। ढोलइ करह कंबाइयउ, आयउ पूगळ पासि।—ढो.मा.

कंबु, कंबू—सं०पु० [सं० कंबु] १ शंख (ह.नां.) उ०—१ रसा भारहारी भुजा च्यार राजै। सरोजादि कंबू गदा चक्र साजै।—रा.रू.
उ०—२ ग्रीवा कंबु कपोत गरव्वां गाळही।—बां.दा.
२ हाथी (अ.मा., ह.नां.) ३ घोंघा।

कंबोज—सं०पु० [सं०] १ घोड़ा (डि.को.) २ प्राचीन काल में इस नाम से पुकारा जाने वाला अफगानिस्तान का एक भाग. ३ इस भाग में उत्पन्न घोड़ा।

कंभ—सं०स्त्री०—हाथ में रखने की पतली चुटकनिया, छड़ी। उ०—कव गयौ जदन वन कंभ काज। मन अभय एकलौ ड्यांन माज।—पा.प्र.

कंभी—सं०स्त्री०—पिघले हुए सोने या चाँदी का बनाया हुआ वह ठोस रूप जो लोहे के पात्र (रेजे) में डाल कर लंबी डंडी के समान बनाया जाता है।

कंमधेस—सं०पु० [सं० कवंध+ईश] राठौड़वंशी क्षत्रिय।

कंमन—वि० [सं० कमनीय] सुन्दर, मनोहर (ह.नां)

कंमळा—सं०स्त्री०—देखो 'कमळा'। उ०—प्रति छांह वधै मधि दिन पछै, ऋति सनीति ग्रह कंमळा। गुण रूप एम 'अगजीत' ग्रह, कुँवर 'अभौ' वाधै कळा।—रा.रू.

कंमाळ—सं०स्त्री०—मुण्डमाला। उ०—किलकारी काळी किलकिलै, कंमाळ धारक विळकुळै।—र.रू.
[अ० कमाल] कमाल।

कंमास—सं०पु०—पृथ्वीराज चौहान का कैमास नामक एक प्रसिद्ध सामंत।

कंमेड़ौ—सं०पु०—कपोत। उ०—जैसे कपोत कहतां कमेड़ा का कंठ की स्याह लीक देखीयै।—वेलि. टी.

कंमेर—देखो 'कुबेर'।

कंवर—सं०पु० [सं० कुमार] १ लड़का, बेटा, पुत्र। उ०—दीवे मूं निज कंवर देखियौ, हियौ लियौ दुलराई नै।—ऊ.का.
२ वह लड़का जिसका पिता जीवित हो. ३ स्वामी कार्तिकेय.
४ राजकुमार।

कंवरकलेवौ—सं०पु०—१ विवाह के समय तोरण-द्वार पर दूल्हे के आने पर उसे कराया जाने वाला भोजन. २ विवाह के दूसरे दिन प्रातः-काल दूल्हे को कराया जाने वाला भोजन।

कंदरा–सं०स्त्री० [सं०] गुफा, गुहा (डि.को.)

कंदराकर, कंदराकार–सं०पु० [सं०] पर्वत, पहाड़ (डि.को.)

कंदरी–सं०स्त्री० [सं० कंदरा] गुफा, कंदरा, गुहा।

कंदळ–सं०पु०—१ नाश, संहार, विध्वंश। उ०—अजमेर हुवा नर एतला, नवलक्खी उग्रह लिया। सीलंत पांण सुरतांण सूं, कंदळ सुरतांणी किया।—मालो आसियौ २ युद्ध, कलह। उ०—कांणांणौ कंदळ हुवौ, जांणै सकळ जिहांन। ऊवरियौ मांझी अखौ', मारै पड़दळ खांन —रा.रू. ३ शोरगुल. ४ सोना, स्वर्ण (नां.मा.) ५ टुकड़ा. ६ भाटी वंश की एक शाखा या इस शाखा का एक व्यक्ति (बां.दा.) ८ समूह (ह.नां.)

कंदळी–सं०स्त्री० [सं० कंद] १ ध्वजा (अ.मा., ह.नां.) २ देववृक्ष (अ.मा.) ३ छठी बार निकाला गया बहुत तेज शराब। उ०—तठा उपरांति करि नै राजांन सिलामति दारू री पांणीगो मंडियौ छै सौ किण भांति री दारू–ऊलटै री पलटै नै पलटै री ऐराक, ऐराक री वैराक, वैराक री संदळी, संदळी री कंदळी, कंदळी री कहर।—रा.सा.सं. ४ एक प्रकार का हरिण. ५ युद्ध, समर। उ०—केहरी तणा जमरांण मचंतं कंदळी, दुम्रे कर जोड़ियां खड़ी दोहां। पुकारै जवांनी नेस दिस पधारौ, लाजि आखै हमै वाजि लोहां।—लिखमीदास व्यास

कंदारौ–सं०पु०—पथ, रास्ता। उ०—वण साधू निज नांम विसारौ, छळ धारौ मद छाक। नरक पधारौ देय नगारौ, तिरण कंदारौ ताक। —ऊ.का.

कंदाळ–सं०पु० [सं० स्कंधालय] धनुष (नां.मा.)

कंदीजणौ–क्रि०अ०—किसी गीली वस्तु यथा घास, कटी हुई फसल, मिर्च, फल आदि जो एक स्थान पर एकत्रित हों या इनकी सुखी अवस्था में कारण विशेष से इनमें नमी प्रवेश होने पर उपयुक्त ताप और हवा के अभाव में विकृत होना, सड़ान उत्पन्न होना।

कंदीजियोड़ौ–भू०का०कृ०—नमीयुक्त पदार्थ जो उपयुक्त ताप और हवा के अभाव में विकृत हुआ हो, सड़ा हुआ।

कंदुक–सं०पु० [सं०] गेंद। उ०—जिण अरभक लाड में मत्त, एकण दिन कंदुक री क्रीड़ा करतां आघात री अपराध मांनि कोई ग्राम्य स्त्री रा कहण हूं फूंफा समुद्रसिंह नूं आप रा बाप री मारणहार जांणियौ। —वं.भा.

कंदुकतीरथ–सं.पु० [सं० कंदुकतीर्थ] ब्रज का वह स्थान जहाँ श्रीकृष्णजी गेंद खेला करते थे, कंदुकतीर्थ।

कंदूड़ौ–सं०पु०—ग्वार या तिलहन के पौधों अथवा घास का गंज।

कंदोई–सं०पु० [सं० कांदविक] हलवाई।

कंदोरावंद–वि०—१ वह जिसके कंदोरा (मेखला) धारण की हुई हो. २ प्रति पुरुष और बालक, प्रति व्यक्ति। वि.वि.—सामूहिक भोज आदि के अवसर पर केवल पुरुषों और बालकों को आमंत्रित करने के लिए कंदोरावंद निमंत्रण दिया जाता है। इसका अभिप्राय यह होता है कि कंदोरा बांधने वाले अर्थात् पुरुष और बालक, क्योंकि करधनी बालक के ही बांधी जाती है, इस भोज में सम्मिलित हो सकते हैं। कहीं-कहीं विवाह-भोज आदि के शुभ अवसर पर कंदोरावंद अर्थात् करधनी धारण करने वाले को दक्षिणा या भेंट भी दी जाती है। —(हिंदू)

कंदोरो, कंदोरौ—देखो 'कणदोरौ' (रू.भे.)

कंदौ–स०पु०—बंदूक के पीछे का चौड़ा लकड़ी का हिस्सा।

कंद्रप–सं०पु० [सं० कंदर्प] १ कामदेव (डि.को.) २ पौरुष, पुंसत्व। उ०—विना पूंजी वौपार, विना ओळखियां धीजै। क्रीत सुणै विन दांन, विना कंद्रप परणीजै।—ओपो आढ़ौ

कंध–सं०पु० [सं० स्कंध] १ कंधा। उ०—विसरियां विसर जस वीज बीजिजै, खारी हाळाहळां खळांह। त्रूटै कंध मूळ जड़ त्रूटै, हळधर कां वाहतां हळांह।—वेलि. [सं०] २ गर्दन, ग्रीवा (अ.मा.) उ०—तन धरि धरि मरि मरि गया, हरि हरि भजै न भेद। सद्गति सुख जांणै नहीं, तहां कंध का छेद।—ह.पु.वा. ३ डाली।

कंधक–सं०पु०—१ गर्दन, गला (ह.नां.)

कंधड़क–सं०पु० [सं० स्कंध] कंधा। उ०—कंधड़क दड़क वड़क कड़ी, सिधुड़क सड़क वहै सुजड़ी।—गो.रू.

कंधर–सं०पु० [सं० स्कंध] १ कंधा। उ०—जब लग पातल खाग झल, सिर कंधर उससंत।—किसोरदांन बारहठ [सं०] २ तालाब (अ.मा.)

कंधरूढ़ा–सं०स्त्री० [सं० स्कंधरूढ़ा] स्कंधरूढ़ा नामक एक देवी। उ०—काळीका जग क्रतौ कंधरूढ़ा कौमारी। कमळा वाळा कळा पळा प्रमहंस पियारी।—नैणसी

कंधाळधुर–सं०पु०—बैल (डि.नां.मा.)

कंधुर, कधौ–सं०पु० [सं० स्कंध] कंधा। उ०—लसै पति पद्धर पिट्ठ निसंक कसै कर वग्गनि कंधुर वंक। गुहैं कच यालन के भरि वत्थ, सितासित पीत कनादिक सत्य।—ला.रा.

मुहा०—१ कंधौ देणौ—मदद करना, लाश की टिकटी कंधे पर रखना. २ कंधौ पकड़ नै चालणौ—दूसरों के सहारे काम करना, बहत कमजोर होना. ३ कंधा सूं कंधौ भिड़णौ—बहुत भीड़ होना, एक मत या एक राय होना।

कंनीर–सं०स्त्री० [सं० कणेर] एक प्रकार का फूलदार वृक्ष (डि.को.)

कंप–वि० [सं० कम्प्र] १ अधीर, चंचल (अ.मा.) सं०पु०—१ दोष, कलंक (ह.नां.) २ कंपकंपी ३ घाम की महीनतम धूलि. ४ लश्कर, डेरा. ५ शृंगार के सात्विक अनुभावों में से एक. ६ भय, डर. ७ कंपायमान होने की क्रिया या भाव।

कंपकंपी–सं०स्त्री०—१ कांपने की क्रिया या भाव, थरथराहट. २ महीनतम धूलि-कण।

कंपट्टयण–सं०पु०—कपिकच्छु नामक लता, कंउच (अ.मा.)

कंपण—देखो 'कंपन' (ह.नां.) (रू.भे.)

कंपणी–सं०स्त्री० [अं० कंपनी] १ देखो 'कंपनी' (रू.भे.)। २ अंग्रेजों की ईस्ट इंडिया कंपनी (ऐतिहासिक) ३ कंपकंपी, थरथराहट।

कंसविध्वंसी-सं०स्त्री० [सं० कंस+विध्वंशी] बिजली, विद्युत (नां.मा.)

कंसार-सं०पु० [सं० कं=जल=सारं यत्र] १ देखो 'कसार'।

कहा०—घी विना लूखौ कंसार, टावर विना लूखौ संसार—घी बिना कसार रूखा, सन्तान विना संसार रूखा; संतान ही संसार का सच्चा आनन्द है [सं० कंस+अरि] २ श्रीकृष्ण (अ.मा.)

कंसाळ-सं०पु०—काँसी नामक मिश्रित धातु का बना हुआ युद्ध में बजाने का बाजा। उ०—पड़ी मेळ प्रासाद देव नइ, भागां कूंची ताळां। हळहळ करी पोळि मांहि पइठा, लीया ढोल कंसाळां।—कां.दे.प्र.

कंसास—[सं० कं=सुख=स्यति] देखो 'कंस'। उ०—वळि भरियउ वासा करइ वेड़ि, कन्नूहवउ जांणि कंसास केड़ि।—रा.ज.सी.

कंसासुर—देखो 'कंस' (१) उ०—नमौ मुर-मेघ-मरद्दण मल्ल, कंसासुर काळ संखासुर सल्ल।—ह.र.

क-सं०पु० [सं०] १ ब्रह्मा. २ विष्णु. ३ सूर्य्य. ४ अग्नि. ५ प्रकाश. ६ कामदेव. ७ दक्षप्रजापति. ८ वायु. ९ राजा. १० यम. ११ आत्मा. १२ मन. १३ शरीर. १४ काल. १५ धन. १६ मोर. १७ शब्द. १८ जल. १९ ग्रंथि, गांठ. २० शिर, मस्तक. २१ सुख. २२ केश. २३ वन. २४ निवास. २५ दास. २६ ज्योतिषी (डि.को., ह.नां.मा., ऐकाक्षरी)

अव्यय—१ अथवा, या। उ०—१ तैं अहल्या तारीह, सिला हुती पति स्राप सूं। वरती मौ वारीह, सोवै क जागै सांवरा।

—रामनाथ कवियौ

उ०—२ वाघ क नाग क छेड़िया, आग वजाग क खग्ग।—रा.रू. ३ संबंधकारक का चिन्ह, का, के, की. ४ बिना, रहित।

कअण-सं०पु० [सं० कथन] कथन।

कइ-अव्यय—१ संबंधकारक का चिन्ह, का, के, की। उ०—पांखड़ियां ई किउं नहीं, दैव अबाडू ज्यांह। चकवी कइ हइ पंखड़ी, रयणि न मेळउ त्यांह।—ढो.मा. २ अथवा, या। उ०—कागळ नहीं क मसि नहीं, लिखतां आळस थाइ। कइ उण देस संदेसड़ा, मोलइ वडइ विकाइ।—ढो.मा.

क्रि०वि०—कब। उ०—दैवग्य तेड़ि वसुदेव देवकी, पहिलौ ई पूछै प्रसन। दियो लगन जोतिख ग्रंथ देखे, कइ परणै रुखमणि क्रिसन।—वेलि.

सर्व० [सं० किम्] क्या। उ०—संदेसे ही घर भरयउ, कइ अंगणि कइ बार। अवसि ज लग्गा दीहड़ा, सेई गिणइ गंवार।—ढो.मा.

कइक-वि०—कई, बहुत। उ०—आवै कइक चीतिया, अणचींतिया अनेक।—बां.दा.

कइकांण-सं०पु०—घोड़ा। उ०—एही भली न करहला, कळहळिया कइकांण। कां प्री रांगां प्रांग करि, कांइ अचंती हांण।—ढो.मा.

कइबा-वि०—कैसा। उ०—कै वा देवी देवां यरी? कै वा चंद्र वदन उणीहार? कइबा देवळ-पूतळी? ईसीय छइ प्रभुजी अमारड़ी नार।

—बी.दे.

कइयक-सर्व०—किसी। उ०—सांवण पहले पाख में, जे तिय ऊणी काय। कइयक-कइयक देस में, टावर वेचै माय।—वर्षा-विज्ञान

क्रि०वि०—कहीं।

कइयां-क्रि०वि०—कैसे, क्यों।

सर्व०—कई। उ०—पांच पांन कौ वीड़ौ फेरचौ, ज्वारसिंघ सिरदार। कयां चढ़ायो तेजरो, कइयां रै चढ़गी ताप।

—डूंगजी जवारजी री पड़

कइर-सं०पु० [सं० करील] रेगिस्तान की एक कँटीली झाड़ी, करील। उ०—करहा इण कुळि गांमड़इ, किहां स नागरवेलि। करि कइरां ही पारणउ, अइ दिन यूंही ठेलि।—ढो.मा.

कईक-वि०—१ थोड़ा, नाम मात्र, कुछ। उ०—कर जांणो तो कईक भलाई कीजो, लाभ मिनख तन लीजो लोय।—ओपो आढ़ौ २ कई, अनेक।

कई—१ देखो 'कइ' (रू.भे)

क्रि०वि०—२ कभी। उ०—रहिया हरि सही जांणियौ रुखमणी, कीध न इवड़ी ढील कई। चिंतातुर चित इम चितवती, थई छीक तिम धीर थई।—वेलि.

सं०स्त्री०—खेतों में निराई करने तथा भूमि खोदने का एक औजार विशेष (कृषि)

कईक—देखो 'कइक' (रू.भे.) उ०—सुरतांण रै कईक दिन परगणौ मलहारणौ पिण रह्यौ।—वां.दा.

कईवरत, कईवरतक-सं०पु० [सं० कैवर्तक] मल्लाह। उ०—ओदध कळू आर, जळ नासत भरियौ जवर। पातां वेड़ा पार, कईवतरक 'मामौ' करै।—अज्ञात

कउंण-सर्व०—१ क्या. २ कौन। उ०—पुत्रै जाग्रे कउंण गुण, वाजइ तूर अनंत।—रा.ज.सी.

कउ-सं०स्त्री०—१ वह छोटा सा कुंड जिसमें तापने के लिए आग जलाई जाय, अलाव, कौड़ा. २ संन्यासियों की धूनी।

सर्व०—१ क्या। उ०—लोभी ठाकर आवि घरि, कांई करउ विदेसि। दिन दिन जोवण तन खिसइ, लाभ किसा कउ लेसि।—ढो.मा.

२ कोई। उ०—मेहां वूठां अन वहळ, थळ ताढ़ा जळ रेस। करसण पाका कण खिरा, तद कउ वळण करेस।—ढो.मा.

अव्यय—संबंधकारक का चिन्ह, का, के, की। उ०—तिहीं राजा रै पांच पुत्र छठी पुत्री। एक कउ नांम रुकम।—वेलि. टी.

कउओ-सं०पु० [सं० काक] कौआ। उ०—कउआ दिऊं वधाइयां, प्रीतम मेळइ मुज्झ। काढ़ि कळेजउ आपणउ, भोजन दिउंली तुज्झ।—ढो.मा.

कउण-सर्व०—कौन। उ०—रहि रहि मूरख न बोलि अयांण। कउण देसी तोहि मंडव धार।—बी.दे.

कउतिग, कउतिग्ग-सं०पु० [सं० कौतुक] १ कुतूहल. २ कौतुक, विनोद। उ०—ढाल कजि कियउ धड़धड़ढ ढोइ, जगतोड़ रहड़ कउतिग जोइ।

—रा.ज.सी.

कंवरपद, कंवरपदौ—देखो 'कुंवरपदौ' । उ०—श्रै पदमसिंघजी भाई केसरीसिंघजी थेट सूं ई श्रालमगीर रै तावै हुता कंवरपदै थकां ।—द.दा.

कंवरांणी—सं०स्त्री०—१ वह पुत्र-वधू जिसका श्वसुर जीवित हो. २ राजकुमार की पत्नी ।

कंवरांपति—सं०पु०—राजकुमार । उ०—यर दसूं दसा रा छोड़ भागै उतना, करै कुण समर फरंगांण मांनै कथन । महाबळ श्राज रौ यसौ घोळै मथन । 'रतन' कंवरांपति कडण चवदै रतन ।—जवांनजी श्राढ़ौ

कंवराईपणौ—सं०पु०—कुमारावस्था । उ०—कंवराईपणौ में तौ हमीरौ धांम पूगौ । जैंकी पूठि भैरूंसिंह फेरचौं भांण ऊगौ ।—शि.वं.

कंवरियौ—सं०पु०—कुमार । देखो 'कुंवर' का श्रल्पा०

कंवरी—सं०स्त्री० [सं० कुमारी] १ अविवाहिता कन्या. २ पुत्री । उ०—कंवर सिनांन करइ किरमाळां, कंवरी झाळां न्हांण करइ ।
—श्रज्ञात

३ राजकन्या. ४ बारह वर्ष तक की कन्या. ५ दुर्गा ।

उ०—देवी कंटकां हाकणी वीर कंवरी ।—देवि.

कंवळ—सं०पु० [सं० कमल] १ कमल (डि.को.) उ०—परदेसां प्री श्रावियउ, मोती श्रांण्या जेण । घण कर कंवळां झालिया, हसि करि नांख्या केण ।—ढो.मा. २ मस्तक. ३ सूश्रर ।

वि०—कोमल । उ०—सांघ प्रभात ठोरडू ठरै, कंवळ धंवळ कंवळासड़ा । गटामाटी गुड़ै बाळका, हरख बरफ हिवळासड़ा ।—दसदेव

कंवळाइजणौ, कंवळाइजबौ—क्रि०श्र०—मुरझाना, कुम्हलाना ।

उ०—छोटेड़े वीरै री, गवरां दे, नानकड़ी सी नार, राय श्रभूतड़ी कंवळाइजै कंवळ केरे फूल ज्यौं ।—लो.गी.

कंवळापति—सं०पु० [सं० कमला+पति] विष्णु, लक्ष्मीपति । उ०—निज पुरि नगर वसै कंवळापति, सकळ सिरोमणि स्वांमी ।—ह.पु.वा.

कंवळासड़ौ—वि०—कोमल । उ०—सांघ प्रभात ठोरडू ठरै, कंवळ धंवळ कंवळासड़ा । गटामाटी गुड़ै बाळका, हरख बरफ हिवळासड़ा ।—दसदेव

कंवळियौ—सं०पु०—कामला रोग ।

कंवळी—सं०स्त्री०—१ दरवाजे या खिड़की के चौखट के सहारे उसकी मजबूती के लिये दीवार में लगाया जाने वाला गढ़ा हुश्रा खड़ा पत्थर. २ मुख्य दरवाजे के श्रांतरिक श्रन्य दरवाजे या खिड़कियों के श्रगल-बगल में भीतर की श्रोर लगाया जाने वाला पत्थर ।

कंवळौ—सं०पु० (स्त्री० कंवळी) १ बड़े दरवाजे की चौखट के श्रगल-बगल में बाहर की श्रोर लगाया जाने वाला सीधा खड़ा पत्थर या द्वार के दोनों तरफ की दीवार का भाग । उ०—कंवळै ऊभौ काळ, श्राठ पहर चौसठ घड़ी । देव दनुज दिगपाळ, चलता होवै चकरिया ।
—मोहनलाल साह

२ सफेद रंग का गिद्ध विशेष जिसकी चोंच पीली होती है. ३ बिना मात्रा का श्रक्षर ।

वि०—कोमल, मुलायम । उ०—सांझ री रातौ श्रांचळ छोड, चांनणी में कुण मांडै रास । कवळी किरणां चोकर भेख, करै किम परियां धरा विलास ।—सांझ

कंवाड़—सं०पु० [सं० कपाट] १ कपाट, दरवाजे के पल्ले (डि.को.) । उ०—श्रर श्रातंक री श्रवाई सूं जठी तठी रा गढां रा कंवाड़ां रै माथै जंजीर घलाया ।—वं.भा. २ रक्षक । उ०—१ दंती हींडोळै झरोखां हेठै खुंभाळां झाटका देता । फरै बाज हजारी घाट का फौजां फाड़ रोळा जीप चाळागारा श्रोटपा घाटा का राजा । काळा झोक नागै मेद पाटका कंवाड़ ।—माधोसिंह सीसोदिया रौ गीत । उ०—२ जिण रीति भाई नै पाळौ हुवौ देखि मारवधरा रौ कंवाड़ कनक प्रतिहार श्रसि रौ श्राघात दे'र प्रथीराज रा श्रस्व रौ श्रंस उड़ायौ ।—वं.भा.

कंवाड़ी—सं०स्त्री०—१ छोटी कुल्हाड़ी. २ छोटा कपाट, छोटा दरवाजा ।

कंवार—सं०स्त्री—१ कुमारावस्था । २ देखो 'कंवर'. ३ कुमारी ।

कंवारछळ—सं०पु० [सं० कौमारांचल] कुमारावस्था, (यह केवल वेश्याश्रों की लड़कियों के लिये प्रयुक्त होता है)

मुहा०—कंवारछळ उतारणौ—किसी वेश्या की लड़की के साथ किसी पुरुष का प्रथम बार समागम किया जाना ।

कंवारड़ौ—देखो 'कंवारौ' (श्रल्पा०) ।

कंवारपणौ—सं०पु० [सं० कुमार+रा० प्र० पणौ] कुमारावस्था ।

कंवारी—वि०स्त्री०—१ अविवाहित. २ देखो 'कुमारी' ।

कंवारीघड, कंवारीघड़ा—सं०स्त्री० [सं० कुमारी+घटा] युद्धारम्भ के पूर्व की सुसज्जित सेना । उ०—कंवारी-घड़ा झेलणा जंग काळा, रिसाला श्रछी श्रच्छ रा बच्छ वाळा ।—मेगया श्रगेंद्र

कंवारीजांन—सं०स्त्री—विवाह के पहले (प्रायः एक दिन पहले) वधू के यहाँ जाने वाली बारात श्रथवा इस बारात को दिया जाने वाला भोज (पुष्टिकर ब्राह्मण)

कंवारीभातौ—सं०स्त्री०—कन्या के पिता द्वारा कन्या के पाणिग्रहण के पूर्व बरातियों को दिया जाने वाला भोज ।

कंवारीलापसी—सं०स्त्री०—कन्या के पिता द्वारा कन्या के पाणिग्रहण के पूर्व बरातियों को दिया जाने वाला वह भोज जिसमें लपसी बनाई गई हो ।

कंवारौ—वि० [सं० कुमार] (स्त्री० कंवारी) १ अविवाहित ।

उ०—१ खाटी कुळ री खोवणा, नेपै घर घर नींद । रसा कंवारौ रावतां, वरती कौ ही बींद ।—बी.स.

कंवारौ भात—देखो 'कंवारी भात' ।

कविंद—सं०पु० [सं० कवीन्द्र] श्रेष्ठ कवि, महाकवि ।

कंस—सं०पु० [सं०] १ उग्रसेन का पुत्र व श्रीकृष्ण का मामा, मथुरा का एक राजा जो श्रीकृष्ण द्वारा मारा गया था. २ कांसे का पात्र. ३ पीने का पात्र. ४ झांझ-मंजीरा. ५ कसीस नामक धातु (डिं.को.)

कंसनिकंदण, कंसनिकंदन—सं०पु०यौ० [सं० कंस+निकदन] १ श्रीकृष्ण. (श्र.मा.) २ विष्णु (ह.र.)

कंसरौ—सं०पु०—कांसी-पीतल के बर्तन बनाने का व्यवसाय करने वाली एक जाति विशेष का व्यक्ति (कां.दे.प्र.)

कंसळौ—सं०पु०—कनखजूरा (क्षेत्रीय)

कड़कड़ी-सं०स्त्री०—१ जोश, आवेग या क्रोध के पूर्ण आवेग में दाँतों को परस्पर टकराने की क्रिया का नाम। उ०—इतरणी वात सुणी जद लोटची, तन-मन लागी लाय। छिणी-हथोड़ा लेय लोटियौ, पड़चो कड़कड़ी खाय।—डूंगजी ज्वारजी री पड़। २ शक्ति।

कड़कणौ, कड़कबौ-क्रि०अ०—१ क्रोध में दाँत पीसना. २ क्रोध में गरजना। उ०—वे बुनियाद कुबोल कहि बकवाद बधारै, तामें कणेठी कड़कियौ बळ जेठी वारै।—पदमसिंह री वात

कहा०—मुळकतौ नर नै कड़कती नार खराब घणी व्हे है—बार बार हँसने वाला आदमी तथा क्रोधीले स्वभाव की स्त्री बुरी होती है।

३ गरजना। उ०—गात सुहातां नीर हठीली लार म छोड़े। कड़क घमकां मांड टरपती दड़कं दौड़ें।—मेघ० ४ बिजली का गरज के साथ चमकना। उ०—दुसमण कड़कै दांमणी, छाती धड़कै छैल।
—महादांन महडू

५ तेज आवाज मे बोलना। उ०—कड़कै निघातां हाक जहेड़ी कपीस कीसी, वणै मावोसींघ हाथां एहड़ी बंदूक।
—मावोसींघ सीसोदिया री गीत

कड़कणहार, हारौ (हारी), कड़कणियौ—वि०—कड़कने वाला।

कड़काणौ, कड़काबौ—स०रू०—प्रेरणार्थक प्रयोग।

कड़किओड़ौ, कड़कियोड़ौ, कड़क्योड़ौ—भू०का०कृ०।

कड़कनाळ-सं०स्त्री०—शत्रु सेना को भयभीत करने के लिए छोड़ी जाने वाली एक प्रकार की तोप जिससे बड़ा भयानक शब्द होता है।

कड़कम-सं०स्त्री०—पुरुषों के कान में पहिना जाने वाला एक आभूषण।

कड़काणौ, कड़काबौ-क्रि०स०—'कड़कणौ' का प्रे०रू०। देखो 'कड़कणौ' उ०—उलटौ काय न मार ही, पंचायण मैमंत। कड़तळ दळां उपाड़ि, करि कड़काय कंत।—हा.झा.

कड़कियोड़ौ-भू०का०कृ०—१ कड़का हुआ. २ कुपित. ३ गर्जना किया हुआ (स्त्री० कड़कियोड़ी)

कड़केत-सं०पु—भाटों की एक शाखा (मा.म.)

कड़कोल्यौ-सं०पु० [सं० कटु+कुल्य] १ देखो—'ठोलौ'। २ देखो—'कड़कौ' (१) (रू.भे.)

कड़कौ-सं०पु०—१ अंगुलियों को चटखाने मे होने वाली आवाज. २ ताकत, बल. ३ जोर का शब्द. ४ युद्ध के समय गाया जाने वाला गीत. ५ बिजली. ६ साधारण दोहा कविता. ७ लंघन, उपवास (अमरत) (रू.भे. 'कड़ाकौ')

कड़क्क-सं०स्त्री०—देखो 'कड़क' उ०—दूठ घणोई दाखियौ, पूठ न दी पर पक्क। मूंछ खड़ग हथ मेलतां, कीधी ऊठ कड़क्क।
—भगतमाळ

कड़क्कड़-सं०स्त्री०—१ देखो 'कड़कड़' [अनु०] २ एक ध्वनि विशेष। उ०—कड़क्कड़ वाजि घड़ां किरमाळ, बड़व्वड़ भाजि पड़ंत बंगाळ।
—वचनिका

कड़क्कणौ, कड़क्कबौ-क्रि०अ०—देखो 'कड़कणौ' (रू.भे.)

उ०—१ हैजमां कड़क्कै वीज जंगी हौदां रंगी हाडै, जड़क्कै फरंगी सीस वरंगी जनेव—दुरगादत्त वारहठ। उ०—२ कड़क्कै कंध कह कह काळ, रुळै पळ खोण मचै रिणताळ।—रा.ज. रासौ

कड़ख-सं०स्त्री०—किनारा, तट।

कड़खणौ, कड़खबौ-क्रि०स०अ०—१ आक्रमण करना. २ हल्ला करना। उ०—कात्रिली थाट भुंय गासिया कड़खिया, किनौ कूरौ कटक जगत कहियौ।— राव चन्द्रसेण राठौड़ री गीत।

कड़खणहार, हारौ (हारी), कड़खणियौ—वि०।

कड़खीजणौ, कड़खीजबौ—भाव वा०।

कड़खीजियोड़ौ—भू०का०कृ०।

कड़खिओड़ौ, कड़खियोड़ौ, कड़ख्योड़ौ—भू०का०कृ०।

कड़खौ-सं०पु०—१ नदी का कुछ ऊँचा उठा हुआ तट. २ एक छंद विशेष (र.ज.प्र.)

कड़ड़-सं०स्त्री० [अनु०] बड़े काष्ठ के धीमे-धीमे टूटने पर होने वाली आवाज या ध्वनि. २ बिजली की गर्जना। उ०—पड़ड़ पड़ड़ बूंदां पड़ै, गड़ड़ गड़ड़ घण गाज। कड़ड़-कड़ड़ वीजळ करै, घड़ड़-घड़ड़ घर आज।—बादळी

कड़ड़णौ-क्रि०अ०—कड़कड़ाहट की तेज आवाज का होना।

उ०—अड़ड़ वाज गोळां उरड़ थळ चां ऊपरा, भड़ाभड़ वळोवळ खाग भड़की। अरि घड़ ऊपरां 'दळै' अम ओरियौ, कड़ड़ियौ आभ काय वीज कड़की।—वीरमियां मूळी

कड़ड़ाट—देखो 'कड़ड़'।

कड़च-क्रि०वि०—शीघ्र, जल्द। उ०—कोळू मूं आया कड़च, रूक बजावण राड़। तूटा सांवत तीन सौ, ओला पैला आड़।—पा.प्र.

कड़चणौ, कड़चबौ—देखो 'कड़छणौ' (रू.भे.)

कड़चणहार, हारौ (हारी), कड़चणियौ—वि०।

कड़चीजणौ, कड़चीजबौ—भाव० वा०।

कड़चीजियोड़ौ—भू०का०कृ०।

कड़चिओड़ौ, कड़चियोड़ौ, कड़च्योड़ौ—भू०का०कृ०।

कड़च्छा-सं०पु०—वंध।

वि०—सुसज्जित, सन्नद्ध।

कड़च्छा-सं०स्त्री०—कटाक्ष। उ०—नेउर पक्खर नाद त्यों. त्रि वि और बढाया। तिक्ख कड़च्छा सज्ज यों, सित भल्ल सजाया।—वं.भा.

कड़छणौ-सं०पु०—कमरबंद. २ अस्त्र-शस्त्रों से सुसज्जित होने का भाव।

कड़छणौ, कड़छबौ-क्रि०अ०—१ कटिबद्ध होना, तैयार होना, सन्नद्ध होना। उ०—वैरी कड़छै बांकला, करै अहोणौ काज। गंभ तार गिरवर रची, पांणी ऊपर पाज।—बां.दा. २ प्रहार करने हेतु या मारने हेतु तेजी से लपकना। उ०—कुमळिया पीठ सिर विकट आग्राज कर, कड़छियौ कांन नटराज काळौ।—बां.दा.

कड़छलौ, कड़छल्यौ-सं०पु०—१ बड़ा करछुल (अमरत) २ छोटा कड़ाहला।

कउतेय–सं०पु० [सं० कौंतेय] कुंती पुत्र—युधिष्ठिर, भीम, अर्जुन, नकुल, सहदेव व कर्ण । (अ.मा.)

कउवौ—देखो 'कउग्रौ' (रू.भे.)

कऊ—देखो 'कउ' (रू.भे.)

कऊवौ—देखो 'कउग्रौ' (रू.भे.)

ककखट–वि०—कड़ा, कठोर, सख्त, दृढ़ ।

ककड़ौजोग—देखो 'करकटजोग' ।

ककड़ौ–सं०पु०—१ दाढ़ी या मूंछों के लाल रंग के बाल. २ ज्योतिष में एक योग ।

ककट–सं०पु०—१ क्रोध में दांत किटकिटाने का भाव ।

ककसौ–सं०पु० [सं० कक्ष, कक्षा] १ ग्रहों का भ्रमण करने का मार्ग, २ परिधि. ३ बराबरी, समान, तुलना. ४ श्रेणी. ५ देहली, ड्योढ़ी. ६ कांछ-कँछोटा ।

वि०—बराबर, तुल्य समान ।

ककी–सं०पु० [सं० केकी] १ मादा कौआ. २ मोर, मयूर (डि.को., ह.नां.)

ककीलक–सं०पु०—कवच (वं.भा.)

ककुद–सं०पु० [सं० ककुद्] बैल के कंधे का कूवड़, डिल्ला ।

ककुदमांन–सं०पु०—बैल (अ.मा.)

ककुभ–सं०स्त्री०—दिशा (अ.मा.) (रू.भे. ककुभा)

ककुभा–सं०स्त्री० [सं०] १ दिशा. २ धर्म की पत्नी जो दक्ष की पुत्री थी. ३ संपूर्ण जाति की मालकोंस राग की पाँचवीं रागिनी (संगीत)

ककुभाळी–वि०—दिशाओं से आने वाली (आँधी) । उ०—काळी पीळी सह सीळी ककुभाळी, कांठळ कावळती बावळ बळवाळी ।—ऊ.का

ककेड़ौ–सं०पु०—१ कर्कोटक, कती का गूंद (अमरत) २ देखो ककेड़ौ' (रू.भे.)

ककोड़ौ–सं०पु० [सं० कर्कोट] १ एक प्रकार का लता-फल जिसका शाक बनाया जाता है (अमरत)

ककौ, कक्कौ–सं०पु०—क वर्ण ।

कहा०—१ कक्कै री टांग ऊंची व्है कै नीची—अक्षर-ज्ञान के अभाव वाले व्यक्ति के लिए प्रयोग में लाई जाती है. २ तेरै कका भेळा व्है जणै सिरमाळी रोटी भेळो व्है—श्रीमाली ब्राह्मण बहुत देरी से भोजन करते हैं ।

सर्व०—कोई । उ०—वरळदंतौ ककौ मूरख, ककौ निरधन ताल कौ ।

कक्खट–वि०—कठोर, कड़ा (डि.को.)

कक्ष–सं०स्त्री० [सं०] १ बगल, कांख. २ दर्जा, श्रेणी ।

सं०पु०—३ वन, जंगल (डि.को.)

कख–सं०पु०—१ आंख का कोना । उ०—कख काजळ जळ चलै रार डांसियां रतंबर ।—पा.प्र.

[सं० कक्ष] २ जंगल (ह.नां.) ३ कसौटी, जांच, परीक्षा. ४ एक पत्थर विशेष ।

कखती-मगरी–सं०स्त्री०—एक प्रकार की तलवार ।

कखवा–सं०पु० [सं० कक्षवान या कक्षवाह] वन, जंगल (अ.मा., नां.मा.)

कग–सं०पु० [सं० काक] कौआ । उ०—इण सनमंध संसार दा, जिम कोयल कगे ।—केसोदास गाडण

कगड़ौ–सं०पु०—एक प्रकार का घोड़े का रंग विशेष या इस रंग का घोड़ा

कगण्ण–सं०पु०—कर्ण । उ०—अरिजण जेम कगण्ण असाध, अनमी जोध तणा उतराध ।—रा.ज.रासौ

कगन–सं०पु० [सं० काक] काग, कौआ ।

कगल्ल–सं०पु० [सं० कंकट] कवच, जिरहवख्तर । उ०—दुंद सुणे मगरे दिसा, सैंद तणौ अत सल्ल । नूरमली जोधांण सूं, चढ़ियौ भीड़ कगल्ल ।—रा.रू.

कगवा–सं०स्त्री०—१ एक प्रकार की ज्वार जो रंग में सफेद होती है किंतु उसका आटा श्याम रंग का होता है (क्षेत्रीय) २ ज्वार की फसल का एक रोग विशेष जिसमें ज्वार का दाना विकृत हो जाता है । पीसने पर उसका आटा काले रंग का होता है ।

कग्ग–सं०पु० [सं० काक] कौआ (रा.रा.) (मि० कग्गौ)

कग्गर–सं०पु० [फा० कागज] कागज, पत्र । उ०—बुल्लौ दै कग्गरहिं छत्र भग्गत भुव भग्गी । अब निवारि निंदरिय पिक्खि पव्वय दव लग्गी ।—वं.भा.

कग्गळ–सं०पु० [फा० कागज] १ कागज-पत्र । उ०—लिखि कग्गळ कछवाह दिय, लय धावन निज हत्थ । आतुर धावन आंनि के, दिय नवाब के हत्थ ।—ला.रा. २ कवच (मि० कगल्ल)

कग्गौ–सं०पु० [सं० काक] कौआ । उ०—हंसां घर हंसा हुए, कग्गां कग्गा होय ।—हंसप्रबोध

कड़–सं०स्त्री० [सं० कटि] १ कटि, कमर (अ.मा.) उ०—सज्जण चाल्या हे सखी, दिस पूगळ दोड़ेह । सायधण लाल कवांण ज्यउं, ऊभी कड़ मोड़ेह ।—ढो.मा. २ करवट, पक्ष । उ०—झालौ पूछै ठाकुरां, पड़ियौ की कड़ न्याय । कासुं दिखावां मुंहडौ, राव कन्है इब जाय ।—डाढ़ाळा सूर री बात । ३ तट, किनारा । उ०—१ कीरत पूगी समंद कड़ां—नवलजी लाळस । उ०—२ कड़ दब जिण सुजस कहजै, भिड़ै खळ भंजे ।—र.ज.प्र.

कड़क–सं०स्त्री०—१ क्रोध, कोप, गुस्सा । उ०—सभै भड़ सनह चख हुवां अमलां सड़क, जोड़ रा काळजा धड़क जावै । सुण कड़क कठीनै पातळा सिंह री, खळ जठी तठीनै धड़क खावै ।—महादांन महड़ू २ बिजली (डि.को) ३ बिजली की आवाज या बंदूक की गर्जना । उ०—नाळियां कड़क भुज भड़ाळां अड़क नभ, धरा पुड़ धड़क ग्रह घड़ै धुरा । कड़ा बरमां वड़क रुड़क बंत्र कावळा, भमर किण सिर असी कड़क भूरा—रावत अमरसिंह रौ गीत । ४ शक्ति, सामर्थ्य. ५ कड़ापन. ६ हड्डियों के टूटने व मोड़ने से होने वाली आवाज ।

कड़कड़–सं०स्त्री०—१ देशी ढंग से तैयार की गई बड़े-बड़े ढेलों वाली शक्कर, खांड (मुस्ती खांट—क्षेत्रीय) २ देखो—कड़क्कड़ ।

कड़ाकड़-सं०स्त्री० [अनु०] ध्वनि-विशेष ।

कड़ाछी-सं०स्त्री०—कलछी, बड़ा व गहरा चम्मच (अमरत)

कड़ाजूड़, कड़ाझूड़, कड़ाजूझ, कड़ाझूझ-वि०—१ युद्धार्थसन्नद्ध. २ सुसज्जित कटिबद्ध । उ०—१ लईवा अड़ै गैण अर्कैण लीवा, दुवाहां भड़ां पागड़ै पाव दीवा । तयारी हुवां सिंह आखेट तांई, कड़ाजूड़ ऊभा कहै जेज कांई ।—अगया अगेंद्र । उ०—२ संवत् १७६५ रा काती सुद १ आठ हजार कड़ाजूझ सिपाही घोड़ा सवार हों सय्यद गैरत खां हसन खां हुसेन खां सहे आया ।—वां.दा.ख्या.

कड़ाबंध-वि०—१ घिरा हुआ, आवेष्टित. २ घेरा हुआ. ३ सुसज्जित । उ०—लोह लाठ कड़ाबंध संधी खड़ै आभ लागा, नागां घड़ा धड़ाबंध आहुटै नघात ।—हुकमीचंद खिड़ियौ

कड़ावीणौ, कड़ावीन-सं०स्त्री० [तु० कुरावीन] एक प्रकार की चौड़े मुंह वाली बंदूक । उ०—हाथियां माथै जंगी हौदा, जंगी हौदां में तमंचा कड़ावीणा, तीर, कवांण, जाळियां सिपाह बैठा ।—वां.दा. ख्या.

कड़ाभीड़-वि०—कवचादि से सुसज्जित ।

सं०स्त्री०—जमघट, भीड़-भाड़ ।

कड़ाय-सं०पु० [सं० कटाह] लोहे का खुला चौड़े मुंह का छिछला बरतन विशेष जिसके किनारे पर पकड़ने के लिए कड़े लगे रहते हैं । प्रायः उसमें हलुवा आदि बनाया जाता है । (अल्पा० कड़ायलौ)

कड़ायलियौ, कड़ायलौ-सं०पु०—१ छोटी कड़ाही. २ मिट्टी का बना छोटा दीपक ।

कड़ायौ-सं०पु०—१ छोटी कड़ाही. २ एक प्रकार का बड़ा वृक्ष जिसके तने का रंग लाल होता है । इसके गोंद का रंग सफेद होता है । इसकी लकड़ी से तलवार व छुरियों के म्यान आदि बनते हैं ।

कड़ाळ-सं०पु०—कवच । उ०—ऊथईत कड़ाळा प्रनाळा हल्ले खळक्कै खोगा बाळा । अटक्कै छड़ाळां भुजां गैणागां अड़ैत ।—अज्ञात

कड़ाव-सं०पु० [सं० कटाह] देखो 'कड़ाय' (रू.भे.) उ०—तथा रिण नर्म हाथी चाचरा माथै ढाल बांधै छै सौ वा कड़ाव होवै जेड़ी होवै छै ।—वी.स.टी.

कहा०—राम ! मौत दे तो मीरा रै कड़ाव में—हे ! ईश्वर, मृत्यु यदि दे भी तो हलवे के कड़ाव में देना । अर्थात मौत यदि हो भी तो आनन्द उपभोग करते हुए ही हो । आनन्द-काल में ही मृत्यु को प्राप्त हो जाना अच्छा लगता है । कारण कि विपदा या यातना सहन करना बड़ा कठिन होता है ।

कड़ावलौ-सं०पु० [सं० कटाह+रा० प्र० लौ] छोटी कड़ाही ।

कड़ावौ—देखो 'कड़ाय' (रू.भे.) उ०—देखै क्या है, भट्ट खुदिया खुदाया त्यार है । कड़ावा पड़िया है, पंच अर रसोइया खड़ा है ।
—बरसगांठ

कड़ाह, कड़ाहौ—देखो 'कड़ाय' उ०—तेल री कड़ाहौ उफळै छै ।
—चौबोली

कड़ि-सं०स्त्री० [सं० कटि] १ कटि, कमर ।

उ०—१ जाती पिंगळराइ नैं गयौ अंतेवर मांहि । सूती ऊमा देवड़ी, कड़ि नीचैं बहि जाय ।—ढो.मा. उ०—२ उरि चोड़ी कड़ि पातळी । माहीलै कोयै जीमणी आंखी ।—वी.दे.

२ अधखिला पुष्प, कलि । उ०—कस्तूरी कड़ि केवड़ी, मस्तक जाय महक्क । मारू दाड़म फूल जिम, दिन-दिन नवी डहक्क ।—ढो.मा.

३ कंकण, कड़ा । उ०—घोड़ा वैमर्ज्यौ हांसला, कड़ि नोनहरी हाथे जोड़ी ।—वी.दे.

कड़िबांधी-सं०स्त्री०—कटार जो कमर पर बांधी जाती है ।

उ०—कड़िबांधी तणौ भरोसौ करता, तीन च्यार लागी तरवारि ।
—कल्याणदास जाडावत

कड़िय-सं०स्त्री०—कटि, कमर ।

कड़ियल—देखो 'कड़ियाळ' ।

कड़ियां-सं०स्त्री०—१ स्त्रियों द्वारा पैरों में पहनने का एक जेवर विशेष । [सं० कटि] २ कमर । उ०—खटकै खांवंद रै अड़ियां उर खारी, पतळी कड़ियां री कड़ियां बिन प्यारी ।—ऊ.का.

३ गोद । उ०—पछै आप आय मोहनसिंहजी नूं संभाळ कड़ियां चाढ़ लिया, ड्योढ़ी रै बाहिर लेय आया ।—पदमसिंह री बात

४ लोहे की कड़ी ।

कड़ियाळ-सं०पु०—१ कवचधारी योद्धा । उ०—घणा कटै समर कड़ियाळ वांण । पड़ियाळ पखै पांडीस पांण ।—पा.प्र.

२ कवच (डि.को.)

कड़ियाळी-सं०स्त्री०—१ हाथ में रखने का लोहे की कड़ियों से युक्त एक प्रकार का डंडा या शस्त्र विशेष. २ घोड़े की लगाम ।

कड़ियाळौ-सं०पु०—अमलतास का वृक्ष ।

कड़ियौ-सं०पु०—१ पत्थर की चुनाई का कार्य करने वाला व्यक्ति. उ०—कवि कड़िया रोपै काळा थिरि, रिध मांडै ताइ मथिर रहै ।
—यादव लाखा फूलांणी रौ गीत

२ छोटा (प्रायः गेहूँ का) खेत ।

कड़िहि-सं०स्त्री० [सं० कटि] कमर, कटि । उ०—तरुआरां रै सोनहरी मूंठि, करड़ां खेड़ां घालइ पूंठि । कड़िहि कटारी हीरे जड़ी, पाइमूत्रनी छड दावड़ी ।—कां.दे.प्र.

कड़ी-सं०स्त्री०—१ हाथों या पैरों में पहिनने का धातु का जेवर विशेष. २ वस्त्र अटकाने के लिए लम्बी कील में लगा पतला गोला. ३ लगाम. ४ गीत या छंद का एक पद या चरण. ५ कवच. ६ कमर । ७ हुक्का. ८ एक प्रकार का मोटा रस्सा ।

वि०—१ कठोर. २ भयंकर. ३ तेज । देखो 'कड़ौ' ।

कड़ी-कड़ी-सं०स्त्री० [अनु०] दो बकरों या मेढ़ों को परस्पर लड़ाने के निमित्त जोश दिलाने का शब्द ।

कड़ीड़-सं०पु०—१ प्रहार, चोट. [अनु०] २ प्रहार से उत्पन्न ध्वनि ।

कड़ीरुत-वि०—१ ग्रीष्म ऋतु. २ शीत ऋतु ।

कड़ूंब-सं०पु० [सं० कुटुम्ब] कुल, वंश, खानदान (डि.को.)

कड़छियोड़ौ–भू०का०कृ० [सं० कटिच्छन्न] १ सन्नद्ध. २ प्रहार करने हेतु लपका हुआ। (स्त्री० कड़छियोड़ी)

कड़जोड़ौ–सं०पु०—कवच, सनाह।

कड़ढ़िणौ, कड़ढ़िबौ–क्रि०स०—(म्यान से तलवार आदि) निकालना। क्रि०अ०—निकलना।

कड़ढ़िणहार, हारौ (हारी), कड़ढ़िणियौ—वि०।

कड़ढ़िओड़ौ, कड़ढ़ियोड़ौ, कड़ढ़्योड़ौ—भू०का०कृ०।

कड़ढ़ियोड़ौ–भू०का०कृ०—निकाला या निकला हुआ। (स्त्री० कड़ढ़ियोड़ी)

कड़ढ़ीजणौ, कड़ढ़ीजबौ–क्रि०अ०—निकाला जाना या निकला जाना।

कड़ढ़ीजियोड़ौ–भू०का०कृ०—निकाला गया या निकला गया हुआ। (स्त्री० कड़ढ़ीजियोड़ी)

कड़ढ़ौ–सं०पु०—खड्ड, गर्त।

कड़तल–सं०स्त्री० [सं० कटि+तल] १ तलवार, खड्ग. २ झाला राजपूतों का विरुद। उ०—उलटौ काय न मार ही, पंचायण मैमंत। कड़तळ दळां उपाड़ि करि, कड़काय चाळौ कंत।—हा.झा.

कड़तू–सं०स्त्री०—कटि, कमर। देखो 'कड़' (रू.भे.)

कड़तोड़ौ–सं०पु०—१ ईश्वर, परमात्मा. २ वह बैल जिसके कमर पर एक विशेष प्रकार की भौंरी (चक्र) हो (अशुभ) वि०यौ० [कड़=कटि. तोड़ौ=तोड़ने वाला] कमर तोड़ने वाला। उ०—सिवाणे गढ़ सीह लंकौ है, सरापियळ जायगा है। औ किलौ कड़तोड़ौ है जिणसूं राजवियां रै रहण योग्य नहीं।—वां दा. ख्या.

कड़थल–सं०पु०—१ संहार, नाश. २ देखो 'कड़तल' (रू.भे.)

कड़दौ–सं०पु०—१ कीचड़. २ किसी द्रव पदार्थ के नीचे तली में जमने वाला कीच. ३ सोने-चाँदी के साथ मिलाया जाने वाला विजातीय धातु।

कड़पौ–सं०पु० [सं० कर-प्राप्त] गेहूँ की फसल कटने के समय मजदूरों को मजदूरी के अतिरिक्त दिया जाने वाला कटे हुए गेहूँ का पुआल जो हथेलियों के संपुट में समा सके।

कड़प्रोथ–सं०पु० [सं० कटि+प्रोथ] नितंब, कूल्हा (डिं.को.)

कड़बंध–सं०पु० [कड़=कटि+बंध] १ कमर में पहनने का एक भूषण। उ०—छक कड़बंध सुचंगां छाजै, पट अंगां राजै पुण पीत। —र.रू.

सं०स्त्री०—२ करधनी. ३ कमरबंध. ४ तलवार।

कड़ब–सं०स्त्री०—ज्वार के पके हुए डंठल जो गाय भैंस को चराने के लिए ही काटे जाते हैं। कड़बी।

कड़बचेन–सं०स्त्री०—अलग-अलग टुकड़े जोड़ कर बनायी जाने वाली जंजीर।

कड़बांध–सं०स्त्री०—१ मूंज की करधनी जो यज्ञोपवीत के समय ब्रह्मचारी लंगोटी के साथ धारण करता है. २ कमरबंध. ३ तलवार।

कड़बोड़ी–सं०स्त्री०—ज्वार के सूखे डंठलों की भरी हुई गाड़ी।

कड़ब्बणौ, कड़ब्बबौ–क्रि०अ०—प्रकुपित होना। उ०—नमटटचौ भुज्ज खग्री निरवांण। कड़ब्ब्यौ कोप सफी केवांण।—रा.ज. रासौ

कड़ब्बणहार, हारौ (हारी), कड़ब्बणियौ–वि०—प्रकुपित होने वाला।

कड़ब्बिओड़ौ, कड़ब्बियोड़ौ, कड़ब्ब्योड़ौ—भू०का०कृ०।

कड़ब्बीजणौ, कड़ब्बीजबौ—भाव वा०।

कड़मूळ–सं०स्त्री० [सं० कलि-मूल] सेना, फौज (अ.मा.)

कड़लियौ–सं०पु०—१ मिट्टी का बना बर्तन विशेष. २ मिट्टी का बना दीपक। उ०—ठोड़ ठोड़ ठांवड़ा वरतै, वणिया कूंडा कड़लिया। रूप विगाड़ै लेण माटी, खुणिया ऊंडा दरड़िया।—दसदेव

कड़लोला–सं०पु० [सं० कटिलोलन] थकावट के बाद कुछ कमर सीधी करने का भाव, विश्राम। उ०—तिण सूं अठै घोड़ां नै सास खवावां नै म्हे पिण घड़ी येक कड़लोला करां। पछै आघा चढ़िस्यां। —जैतसी ऊदावत री वात

कड़लौ–सं०पु० [सं० कटक] स्त्रियों द्वारा पैरों में धारण करने का एक आभूषण विशेष।

कड़वाई–सं०स्त्री०—कडुआपन, कठोरता। उ०—सोकड़ल्यां चख मांहि करै कड़वाइयां।—बां.दा.

कड़ापण, कड़वापणौ–सं०पु०—१ कड़ुआ होने का भाव या धर्म. २ कटुता। उ०—धूंध न चूकै डूंगरां, कड़वापण नींबांह। प्रीत न चूकै सज्जणा, देस विदेस गयांह।—अज्ञात

कड़वास–सं०पु०—१ कडुआपन. २ कटुता। उ०—सम्मण वै फळ कूण सा. जौ पाकै कड़वास। काचा लगै सुवावणा, गड्डर करै मिठास।—समन

कड़वीरोटी–सं०स्त्री०—वह मोटे आटे की रोटी जो किसी के यहाँ मृत्यु होने के दिन बनाई जाती है। उस दिन भोजन नहीं बनता। प्रायः वह पड़ौसियों या संबंधियों के यहाँ से आ जाता है।

कड़वौ—देखो 'कड़ुवौ' (रू भे.) उ०—पेंड पेंड ज्यांरा पिसण, त्यां रा कड़वा वैण।—बां दा.

कड़वौ तेल–सं०पु०—सरसों का तेल (अमरत)

कड़ाई–सं०स्त्री० [सं० कटाह] १ लोहे का खुला चौड़े मुंह का छिछला बरतन विशेष जिसके किनारे पर पकड़ने के लिए कड़े लगे रहते हैं। प्रायः इसमें हलुआ आदि बनाया जाता है।

मुहा०—१ कड़ाई करणी—कड़ाही में कोई पदार्थ बनाना

२ कड़ाही में पकाया या बनाया गया पदार्थ। उ०—करूं कड़ाई चाव से, तेरी दुरगा माय।—लो.गी. [सं० कटु] ३ कठोरता। ४ देखो 'कराई' (रू.भे.) ५ पैर के तलुए का एक फोड़ा विशेष. (मि० छुणाई)

कड़ाऊ–सं०पु०—दीवार की चुनाई में लगाया जाने वाला खड़ा, सीधा व चौड़ा पत्थर।

कड़ाकंद—देखो 'कळाकंद' (रू.भे.) उ०—मनें तो बाबूजी! खाली कड़ाकंद ही दिया। देखियो क बेटो किसो क चोखो खाऊ है।—वरसगांठ

कचरिम्रोड़ौ, कचरियोड़ौ, कचरचोड़ौ—भू०का०कृ० ।
कचरीजणौ, कचरीजवौ—भाव वा० ।

कचरावो(ह)-सं०पु०—संहार, ध्वंश । उ०—कंध कवंध पड़ांं रगि दीसइ, कीधउ कचरवोह । सोमनाथ मूकाव्यउ राउळि, पद्दइ पखा-ळियां लोह ।—कां.दे.प्र.

कचरियोड़ौ-भू०का०कृ०—१ मसला हुआ. २ कुचला हुआ, रौंदा हुआ. (स्त्री० कचरियोड़ी)

कचरोळौ—१ देखो 'कचरौ'. २ शोरगुल, हल्ला-गुल्ला ।

कचरौ-सं०पु० [सं० कच्चर] १ कूड़ा-करकट. २ बिना पका खरबूजा ।

कचलूण-सं०पु०—एक प्रकार का नमक (अमरत)

कचहड़ी-सं०स्त्री०—१ अदालत, न्यायालय. २ राज सभा, दरबार ।

कचाई-स०स्त्री०—१ कच्चापन. २ कमजोरी. ३ अनुभवहीनता ।

कचारा-सं०स्त्री०—कांच की चूड़ियां बनाने का व्यवसाय करने वाली एक जाति विशेष (मा.म.)

कचारौ-सं०पु०—कचारा जाति का व्यक्ति ।

कचिया-सं०स्त्री०—कंचुकी । उ०—कुरती कचिया मखतूलन की, उर माळ चमेलिय फूलन की ।—ला.रा.

कचीनकल-सं०स्त्री० [कच्ची+नकल] वह बही जिसमें माल के क्रय-विक्रय का हिसाब होता है (वाणिज्य)

कचीरोकड़-सं०पु० [कच्ची+रोकड़] वह बही जिसमें व्यापारी अपनी दैनिक आय-व्यय का हिसाब रखता है ।

कचूर-सं०पु०—हल्दी की जाति का एक पौधा जो औषधियों में प्रयुक्त होता है. नरकचूर (अमरत)

कचेड़ी, कचैड़ी-सं०स्त्री०—१ न्यायालय, अदालत. २ राजसभा, दर-बार, कचहरी ।

कचोट-वि०- बुरी चोट, कुघात । उ०—छटा सतकोट कचोट छड़ाळ, विमारत चेतन नेत विड़ाळ ।—मे.म.

कचोळ, कचोळउ, कचोळड़ी-सं०स्त्री० (स्त्री० कचोळड़ी) [सं० क+ चोलक] १ कटोरा, प्याला । उ०—१ कनक काया घट कूं कू लोल । वर्ठांग पयोहर हेम कचोळ ।—बी.दे. उ०—२ बाबा म देसइ मारुवां, वर कूंआरि रहेसि । हाथि कचोळउ सिरि घड़उ, सीचंतीय मरेसि ।—ढो.मा. २ निंदा, अपवाद ।

कचोळी-सं०स्त्री०—१ तश्तरी. २ कटोरी. ३ एक प्रकार का हथियार । उ०—फिरे डम्भरी सेन नाही फररसी, कचोळी कटारी न कस्सी सकस्सी ।—ना.द. ४ चिलम के नीचे के भाग में लगाया जाने वाला धातु का हिस्सा. ५ काच की बनी चूड़ी विशेष ।

कचोळौ-सं०पु० [सं० क+चोलक] १ कटोरा । उ०—१ भाग नाग मारिया, कई ऊमळे कचोळा । घण केसर घोळिया, होद लेवै हीलोळा ।—मे.म.

कचौ—देखो 'कच्चौ' ।

कच्चर-वि० [सं०] १ मलिन, दूषित (डि.को.) २ अस्वस्थ ।
३ देखो 'कचर' ।

कच्ची कुड़क, कच्ची कुड़की-सं०स्त्री०—प्रायः महाजनों द्वारा मुकदमे के फैसले से पहले जारी कराई गई कुड़की जो इसलिए कराई जाती है कि मुद्दालेह अपना माल-असबाब इधर-उधर न कर दे।

कच्चौ-वि० (स्त्री० कच्ची) १ कच्चा, अपक्व, अपरिपक्व ।
उ०—तेरा एक भाला हींगा नोऊं म्होर कच्ची, तेरा एक भाला की सही से गाव सच्ची ।—शि.वं.
२ कायर, डरपोक (मि० 'काचौ' रू.भे.)

कच्छ-सं०पु० [सं० कक्ष] १ कांख, बगल. २ सूखी घास. ३ जंगल. ४ भूमि. ५ घर. ६ कांख का फोड़ा. ७ पाप, दोष. ८ कांछ, कछौटा. [सं० कच्छ] ९ जलप्राय देश, अनूप देश. १० नदी आदि के किनारे की भूमि, कछार. ११ गुजरात के समीप का एक प्रदेश. १२ इस प्रदेश का घोड़ा. १३ बोली की जांग. १४ छप्पय का एक भेद जिसमें ५३ गुरु ४६ लघु ९ वर्ण और १४२ मात्रायें होती हैं. [सं० कच्छप] १५ कछुआ. १६ विष्णु के चौबीस अवतारों में से एक । उ०—मच्छ कच्छ वाराह महमहणी नारसिंह वांमन नारायण ।—ह.र. १७ कुबेर की नव-निधियों में से एक निधि. [सं० कच] १८ बाल, केश । उ०—नमणी खमणी बहु-गुणी, सुकोमळी जु सु कच्छ ।—ढो.मा. १९ तट, कूल (डि.को.)

कच्छकुळ-सं०पु०—कछवाह वंश, क्षत्रियों का एक वंश ।

कच्छप-सं०पु० [सं०] १ कछुआ. २ विष्णु के चौबीस अवतारों के अंतर्गत एक अवतार. ३ कुबेर की नौ निधियों में से एक निधि । (डि.को.)

कच्छपवंस-सं०पु०—क्षत्रियो के अंतर्गत कछवाहा वंश।

कच्छपी-सं०स्त्री०—सरस्वती की वीणा, कच्छुवी । उ०—भवांनी नमो कच्छपी स्वांन भासा । भवांनी नमो ऐन ईसांन आसा ।—मे.म.

कच्छियौ-सं०पु०—देखो 'कच्छप' (१) उ०—कच्छियौ कार कर रच्छी रुळ जावै ।—ऊ.का.

कच्छी-सं०स्त्री०—१ जांघिया. २ एक प्रकार की तलवार.
सं०पु०—३ कच्छ देश का निवासी. ४ कच्छदेशोत्पन्न घोड़ा ।

कछ-सं०पु० [सं० कच्छप] १ कच्छप, कछुआ । उ०—मछ कछ होय जळां डोल्यौ, तौ कूं अजहुं न आई लाज ।—ह.पु.वा.
२ देखो 'कच्छ'. ३ जांघ, पैरों व पेट का संधि-स्थल. ४ दोहा नामक छंद का १५ वां भेद जिसमें ८ गुरु और ३२ लघु होते हैं (पि.प्र.) ६ वन, जंगल (ह.नां.)
वि०—कुछ, तनिक ।

कछणौ-सं०पु०—चमड़े की रस्सी । उ०—नै भैरूं हेला टमका करतां मांहे जगदेव आपरा कछणा सूं भैरूं नै अपूठी मसकां बांधियो नै थिरमां मांहे गांठड़ी बांधि कांधौ करिनै आपरै डेरै ल्याया ।
—जगदेव पंवार री वात

कछणौ, कछवौ-क्रि०अ०—अस्त्र-शस्त्र से सुसज्जित होना, कसना ।

उ०—बाप गयौ ले माहिरौ, काको जात कड़ूंब। तोहि मचाई छोकरै, वैरी रै घर बूंब।—वी.स.

कड़ूंब-वाळ—सं०पु०—१ किसान, कृषक (डि.को.) २ वह व्यक्ति जिसका कुटुम्ब बड़ा हो।

कड़ूंबौ—देखो 'कड़ूंब' (रू.भे.)

कड़ुग्रौ—वि० [सं० कटु] (स्त्री० कड़वी) १ कटु, अप्रिय। उ०—मारू देस उपन्नियां, सर ज्यउं पध्धरियांह। कड़ुवा बोल न जांणही, मीठा बोलणियांह।—ढो.मा. २ स्वाद में तीक्ष्ण, छः प्रकार के रसों में से एक. ३ तीक्ष्ण प्रकृति वाला. ४ एक बड़ा वृक्ष।

कड़ेचा—सं०पु०— सीसोदिया वंश की एक शाखा।

कड़ेली—सं०स्त्री—वह बकरी जिसके पैर सफेद हों।

कड़ै—क्रि०वि०—पास, नजदीक, निकट। उ०—कळ मेलांय कीरत सिध कड़ै। सत्रवां पिड़ राड़ रचौ चवड़ै।—पा.प्र.

सं०पु०—समय। उ०—बगतर कड़ियां उवड़ै, लड़ै झड़ै खग लाय। तिण दिन देवां तेमड़ा, संगट कड़ै सहाय।—अज्ञात

कड़ैली—सं०स्त्री०—बाजरे-मक्की की रोटी सेंकने के लिए मिट्टी का बना एक प्रकार का तवा विशेष (मि० कैलूड़ी)

कड़ोलियौ—सं०पु०—१ कड़ा (अल्पा०) २ एक प्रकार का बैल जिसकी दोनों आँखों में वलय के आकार की कुंडली हो (अशुभ)

कड़ौ—सं०पु०—१ अर्द्धमंडलाकार बनाने के उद्देश्य से किया जाने वाला दो पत्थरों का जोड़. २ आवेष्टन. ३ पैर या हाथ में पहना जाने वाला धातु का मंडलाकार आभूषण. ४ मोच करोत का एक भाग अथवा उपकरण. ५ मकान की छत के ऊपर डाले जाने वाले कंकड़ों के साथ मिलाया जाने वाला चूना. ६ समूह, झुंड। उ०—ह्निय आगळ दोवड़ तोड़ हड़ौ। कूंदियळ वळावळ बांध कड़ौ।—पा प्र. ७ तट, किनारा। उ०—तै करी इसी ऊर्फेल 'साहिब' तणा, अघट चित राख तैं अछड़-ऊगी। परवरी बात अखिआत सारी प्रथी, पांगळी समंद रा कड़ां पूगी।—आईदांन लाळस जुडियौ

वि० (स्त्री० कड़ी) १ कटु, अप्रिय।

मुहा०—१ कड़ी कड़ी कैणी. २ कड़ी कडी सुणाणी—खरी-खोटी सुनाना. ३ कड़ौ बोलणौ—कठोर शब्दों में कोई कटु बात कहना।

२ कठोर, कड़ा।

मुहा०—१ कडी निजर (आंख) राखणी—कठोर दृष्टि रखना, अच्छी तरह देखभाल करना. २ कड़ौ पड़णौ—कठोर दिल बनना; अभिमान करना. ३ सहनशील, धीर. ४ तेज. ५ कर्कश. ६ असह्य।

कड़ोट—सं०पु०—पंक्ति के उलटने की क्रिया या भाव (र.ज.प्र.)

कड़ोमो—देखो 'कड़ूंबो'। उ०—जोधो मंद्रभांणूं एम बोल्यो ऊठि जावो। सारां लाडखान्यां का कड़ोमां नैं सुणावो।—शि.वं.

कच—सं०पु० [सं०] १ केश, बाल, रोम (अ.मा., डि.को.)

उ०—वेध्यो मल्ल जिण बार, मांण दुजोधन मेटियो। खेंचे कच उण वार, थां पारथ वैंड्यां थकां।—रांमनाथ कवियौ

२ चोटी (क.कु.बो.) ३ सूखा फोड़ा या जख्म. ४ झुंड. ५ अँगरखे का पल्ला [अनु०] ६ कुचलने का शब्द।

[सं० कुच] ७ स्तन, थन- (ह.नां.)

वि०—१ श्याम* (डि.को.) २ कच्चा। उ०—फुट वांनरेण कच नाळिकेर फळ, मज्जा तिकरि दधि मंगळीक।—वेलि.

कचकबरी—सं०स्त्री०—बालों में श्रृंगार के उद्देश्य से पुष्प गूंथने की क्रिया।

कचकोळी—सं०स्त्री०—स्त्रियों द्वारा हाथ पर धारण करने की कांच की चूड़ी।

कचनार—सं०पु० [सं० कांचनार] १ एक प्रकार का बड़ा वृक्ष। लाल व सफेद फूलों के हिसाब से इसके दो भेद होते हैं (अमरत)

२ इस वृक्ष का पुष्प। उ०—किलंगी पर कचनार, सीस बनड़ा के सोवै।— लो.गी.

कचत्री—सं०स्त्री०—देवी, महामाया। उ०—धवा धवळगर धव धू धवळा, क्रसना कुबजा कचत्री कमळा।—देवि.

कचबोड़ी—सं०स्त्री०—स्त्रियों (प्राय: जाट स्त्रियों) द्वारा हाथ में पहनने का एक गहना विशेष जिसमें लाक्षा के संयोग से कांच के टुकड़े जड़े रहते हैं। उ०—चूड़ौ चमकीलो कचबोड़ी चमकै। दांमण दमकीली दांमणि सी दमकै।—ऊ.का.

कचमेड़ी—सं०स्त्री०—रंगमहल।

कचर—सं०स्त्री०—१ कुचलने, पीटने या चूर-चूर करने का भाव।

उ०—करै घर पार की आपणी जिकै नर। केवियां सीस खग-पांण करणा कचर।—हा.झा. २ कूड़ा-कचरा।

कहा०—कचरै सूं कचरो वधै—कूड़े से कूड़ा बढ़ता है; सफाई रखनी चाहिए।

३ कोल्हू में अध-कचरे किए हुए तिल।

कचरकौ—सं०पु०—कचूमर, चकनाचूर।

कचरघण कचरघन—सं०पु०— १ संहार, नाश (रू.भे. 'कचरघांण')

२ कीचड़।

वि०—कीचड़मय।

कचरघांण—सं०पु०—१ अत्यंत कीचड़. २ संहार, नाश, ध्वंस।

उ०—१ महमूद मीर निरखे निवळ, कचरघांण घमसांण करि। मंडियौ तखत दिल्ली मुगळ, कातर वंस पठांण करि।—वं.भा.

उ०—२ जठै घणा रा कचरघांण में आपरा अनीक रा पट द्रव रा प्रवाह में पड़ियौ। नवाब कासिमखांन समेत कुमार दारासाह भी ठहरण न पायौ।—वं.भा.

कचरणौ, कचरबौ—क्रि०स०—१ मसलना. २ कुचलना। उ०—कोड़ भड़ कचरिया राजमल कोपिये, जुड़ण मोटा करे कुंभ जायौ।

—महारांणा रायमल रौ गीत

कचरणहार, हारौ (हारी), कचरणियौ—वि०—कुचलने या मसलने वाला।

नीच टवी भर लेवै टाकी, वैठ सभा रै बीच करै मनवार कजाकी ।
—ऊ.का. २ देखो 'कजाक'। उ०—बंदूकां छूटतां मेह वूठतां गोळियां वाळा, प्रांण काचां रांघड़ां खूटतां ब्रेहुं पास । कजाकी संभायौ घणी जोवांण रुठतां किलौ । आरांण तूटतां थांभौ लगायौ अयास ।
—गोपाळजी दधवाड़ियौ ।

कजावौ–सं०पु० [फा० पजाव] १ ईंट पकाने की भट्टी. २ ऊँट का वह चारजामा जिसके दोनों ओर आदमी बैठने की जगह और असबाब रखने की जाली लगी रहती है ।

कजि–सं०स्त्री० [सं० कार्य] १ काम, कार्य । उ०—होलउ किम परचइ नहीं, सहु रहिया समभाइ । के पुळिया पूगळ दिसि, के कोही कजि काइ ।—ढो.मा. २ युद्ध, झगड़ा टंटा (मि० कजियौ)
वि०—लाचार, वेबस ।
क्रि०वि०—लिए, निमित्त । उ०—१ धरती कजि वडा वडा धरपति करता आया तिसौ कियौ ।—राजा गांगा वाधावत री गीत
उ०—२ वरण कजि अपछरा वाट जोवै खड़ी, ज्यां भड़ां तणी झिल्लै उरसां झूंपड़ी ।—हा.झा.

कजियाखोर–वि०—लड़ाई-झगड़ा करने वाला, कलहप्रिय ।

कजियौ–सं०पु०—१ युद्ध । उ०—इतरै में नागोर ओर बीकानेर आपस में कजियौ हुवौ ।—राठौड़ अमरसिंह री वात २ झगड़ा-फिसाद, कलह । उ०—१ गंवारां एकल रै खग होसी, इण रै तो खग नहीं दीसै । काल्ह थे इण सूं ही कजियौ कर भागिया ?
—डाढ़ाळा सूर री वात
उ०—२ कजिया रो कोजै मुंह काळौ, कजिया में नित नवौ कळेस ।
—बां.दा.

कजी–वि०—लाचार, वेवस । उ०—तरै सुजांणसाह आयौ । कजी होय नै सुखपाळां के रथां मांहि सांखलियां वैसांण नै मभ्रनीयौ ।
—कहवाट सरवहिया री वात
सं०पु०—१ देखो 'कजि'. २ हानि, नुकसान. ३ दोष ।
उ०—किले 'रैण' वाळै माया आमुरां न लागै कजी, एवजी फाटकां था पाहली चखियांण ।—बां.दा.

कजे, कजै—देखो 'कज्जै'। उ०—कर साज सिभू रुंडमाळ कजे, विकराळ तुरी खुरताळ बजै ।—गो.रू.

कज्ज–सं०पु० [सं० कार्य] काम, कार्य । उ०—जेहा सज्जण काल्ह था, तेहा नांही अज्ज । माथि त्रिमूळउ नाक सळ, कोइ विणट्ठा कज्ज ।
—ढो.मा.
क्रि०वि०—लिए, वास्ते । उ०—गुपत्ती कती संगि गद्दा गुरज्जं, कसै आवधां श्रीनदै झूझ कज्जं ।—वचनिका

कज्जळ–सं०पु० [सं० कज्जल] १ देखो 'काजळ' (अ.मा.)
उ०—पळ कज्जळ सरजीव कना असताचळ अग्रज, कना सेव कारणै देव सुत आया दिग्गज ।—रा.रू.
२ कदली. केला का वृक्ष (मि० कज्जळ वन)

कज्जळ वन—देखो 'कजळी वन'। उ०—मारू चाली मंदिरां, चंदउ वादळ मांहि । जांणे गयंद उलट्टियउ, कज्जळ-वन महं जाहि ।
—ढो.मा.

कज्जा—देखो 'कज्ज' (रू.भे) उ०—साहिब आया हे सखी, कज्जा सहु सरियांह । पूनिम-केरे चंद ज्यूं, दिसि च्यारे फळियांह ।—ढो.मा.

कज्जि—देखो 'कज्ज'। उ०—सांकरसी चडियउ लोह सज्जि, कावळी उवेड़ण जइत कज्जि ।—रा.ज.सी.

कज्जै–सं०पु०—कार्य ।
क्रि०वि०—लिये, निमित्त । उ०—कर सिलह गोगोय' वैर कज्जै, सिव जांणि सिघंतर भेख सज्जै । —गो.रू.

कट–सं०स्त्री० [सं० कटि] १ कमर, कटि (अ.मा.)
उ०—१ क्रम हंस गत अगराज कट, रम उरज नख कपोल रट । गह गंध धज चख एण गुण, अळ भ्रकुट यंदु अभाळ ।
—क.कु.बो.
उ०—२ परगट कट तट तड़त पट, सरस सघण तन स्यांम ।
—र.ज.प्र.
२ मेखला, करधनी. ३ हाथी की कनपटी, हाथी का गंडस्थल (डि.को.) ४ कटने की क्रिया या भाव. ५ चटाई.
६ शव, मुर्दा ।

कटक–सं०पु० [सं०] १ सेना, फौज । उ०—कारण कटक न कीध, सखरा चाहीजै सुपह । लंक विकट गढ़ लीध, रींछ-वांनरां राजिया ।
—किरपारांम
२ कंकण, कड़ा (टि.को.) ३ समूह, झुंड ।
उ०—आ ओपमा देवै है सारा ही कव लोकां रो कटक, पिण इण मुख री कठै चंद्रमा में चटक ।—र. हमीर
४ लुटेरों का गिरोह. ५ राज-शिविर. ६ समुद्री नमक.
७ पहिया, चक्र. ८ मेखला. ९ नितम्ब, चूतड़ (डि.को.)
१० इस नाम का उड़ीसा में स्थित एक नगर (ऐतिहासिक)
११ पहाड़ के बीच का भाग (डि.को.) १२ चूड़ीदांत का गहना.
१३ सेंधा नमक. १४ घास की चटाई. १५ काबुल की एक नदी का नाम (बां.दा.ख्या.)

कटक ईस–सं०पु० [सं० कटक+ईस] सेनानायक, सेनापति ।

कटकटाहट–सं०स्त्री० [अनु०] ध्वनि विशेष ।
उ०—राक्षसां रा रास कुणपां रा कपाळां रा कटकटाहट वितारा अंगारां करि चित्र विचित्र वडो अद्‌भुत चरित देखियौ ।
—वं.भा.

कटकड़ी–सं०स्त्री० [सं० कटक] फौज, सेना (अल्पा०)

कटकड़ौ–सं०पु०—सोने चांदी के तारों पर खुदाई करने का सांचा ।

कटकण–वि०—क्रोधी (स्त्री०)

कटकणौ, कटकवौ–क्रि० अ०—१ कड़कना । उ०—ओप झाळा विषम रागां रटके, कटके तोप सूरां सळक वांग ताळा । असा चाळहा विना

उ०—सिलहखानां ऊघड़ै, वह भड़ कछै दुवाह। कटकां विहूं हुंकळ कळळ, हुए सनाह सनाह।—वचनिका

कछदाद—सं०पु०—पेडू के संधिस्थल व अण्डकोश पर होने वाला एक प्रकार का दद्रू रोग (अमरत)

कछनी—सं०स्त्री०—१ कछौटा. २ जांघिया।

कछप—१ देखो 'कच्छप' (रू.भे.) (अ.मा., ह.नां.) २ दोहे का एक भेद (र.ज.प्र.) ३ नव-निधियों में एक निधि (ह.नां.)

कछर—सं०पु० [सं० कृच्छ्र] १ दुःख, क्लेश, पीड़ा (डिं.को.) [सं० कृच्छ्र] २ पामा का दुःख।

कछव—देखो 'कच्छप' (रू.भे.) उ०—तदि हुवौ मांन हर अडिग 'माहव' तणौ, साह सेना तदि पड़ै सांसै। कछव वांसै पलट करै किम, वसुह ची मांड विहूं भड़ां वांसै।—पूरौ महिहारियौ

कछवाह—सं०पु०—क्षत्रियों की एक शाखा, वंश या इस वंश का एक व्यक्ति।

कछवौ—सं०स्त्री०—चोटी पर कंधे के पीछे प्रकट होने वाला घोड़े का एक रोग विशेष (शा.हो.)

कछाट—सं०स्त्री०—कठिनता से दूध देने वाली गाय या भैंस।

कछियांणी—सं०स्त्री०—देवी, देवी का एक अवतार।

वि०—कच्छ प्रदेश की, कच्छ प्रदेशसंबंधी।

कछियौ—सं०पु०—जांघिया, कच्छा।

वि०—रसिक। उ०—झुकती माळ झलेव क तुर रा टांकिया, लटकण छोगा लूंब दुसाला नांखिया। कळह झगाम गहणौ जोतक सावरी, जांणै कछियौ कांन क मुगट जड़ाव रौ।—महादांन महडू

कछौ—सं०पु०—कच्छ प्रदेश का उत्पन्न घोड़ा।

कछौ—सं०पु०—ऊँट (मि० 'काछौ')

कछोटियौ, कछोडियौ—सं०पु०—१ पँवार या पँवार वंश की कछोटिया शाखा का व्यक्ति। उ०—कछोटिया लोग ओछा अधका बोल बोलै।—राठौड़ अमरसिंह री वात

कछ्छ—देखो 'कच्छ'। उ०—साहिव कछछ न जाइयइ, तिहां परेरउ द्रंग। भीभळ नयण सुवंक घण, भूलउ जाइसि संग।—ढो.मा.

कज—क्रि०वि०—लिये, वास्ते, निमित्त। उ०—१ दोय निखंग अभंग जुध, दोग कवाण खड़ग्ग। अंग अप्रवळ जंग कज, संग न चल्लै मग्ग।—रा.रू. उ०—२ रण भाजै कर रेव, जीवण कज केता जिकौ। दीधौ सिर जगदेव, मही जस राखण मोतिया।—रायसिंह मांदू

सं०पु० [सं० क+ज] १ बाल, केश, रोम (डिं.को.) २ ब्रह्मा, विधि. उ०—राघव रट-रट हरख कर, मट-मट अघ दळ महत। जनम-मरण भय हरण जन, कज भव हर रिख कहत।—र.ज.प्र.

[फा०] ३ टेढ़ापन, दोष. ४ काम, कार्य।

कज-जोनी—सं०पु० [सं० कंजयोनि] ब्रह्मा, विधि (नां.मा.)

कजड़ौ—सं०पु० [सं० कार्य+रा० प्र० ड़ौ] कार्य, काम।

कजळ—सं०पु० [सं० कज्जल] दीपक के धुये की जमी हुई कालिख जो प्रायः आँखों में लगाई जाती है। काजल, अंजन। उ०—आठम प्रहर संभा समै, धण ठव्वै सिणगार। पांन कजळ पाखर करै, फूलां की गळिहार।—ढो.मा.

कजळअंक—सं०पु०—दीपक, चिराग, ज्योति (अ.मा., नां.मा.)

कजळियौ—वि०—श्याम, काला।

सं०पु०—देखो 'काजळ'

कजळी—सं०स्त्री० [सं० कदली] १ केला, कदली (डिं.को.) २ केले की फली. ३ एक प्रकार का हिरन. ४ एक साथ पिसे हुए पारे और गंधक की बुकनी. ५ ठंडे अंगारे के ऊपर की राख. देखो 'कजळी वन'।

कजळीजणौ, कजळीजवौ—क्रि०अ०—(अंगारों का) ठंडा पड़ना, दहकते हुए कोयलों के ऊपर राख का जमना।

कजळीजियोड़ौ—भू०का०कृ०—ऊपर राख आदि जमा हुआ बुझा हुआ अंगारा। (स्त्री० कजळीजियोड़ी)

कजळीतीज—सं०स्त्री०—भाद्रपद मास के कृष्ण पक्ष की तृतीया जिस दिन स्त्रियाँ प्रायः उपवास रखती हैं।

कजळी वन, कजळी वन—सं०पु० [सं० कदली वन] १ केले का जंगल. २ आसाम का एक वन जहाँ हाथी बहुत होते हैं। उ०—कजळी वन अळगौ घणौ, अळगौ सिंघळ दीप। किम इण वन लै केहरी, कुंभाथळ रौ कीप।—वां.दा.

कजळौ—देखो 'कजळ' (रू.भे.)

कजा—सं०स्त्री० [अ० कज़ा] १ मृत्यु, मौत. २ बदकिस्मत, दुर्भाग्य. ३ आफत। उ०—मजा हीण अनभड़ हूंता चळ विचळ चित मरम कजा खबवट पड़ी नरम कांटै।—रावत अरजुणसींघ रौ गीत

कजाई—सं०स्त्री०—घोड़े के चारजामे और साज का एक उपकरण।

कजाओ—सं०पु०—ईंट पकाने की भट्टी।

कजाक—वि० [अ० कज़ाक] १ मारने वाला, हिंस्र। उ०—तन गरुड़ जव अस ताक, क्रिति काळ सुभट कजाक। हित सुहड़ प्रति खग हूंत, कळ सोर धानुख कूंत।—रा.रू. २ आततायी। उ०—कोधी घण परदेस कजाकां, दळलाखां सिर घाव दिया। तौ जुध विना अमावड़ तौ ने, बावड़ आवे भोज विया।—अज्ञात

३ लुटेरा। उ०—ऊगौ दिन अंधाधुंध आक, किहं ताक र घर दक्खे कजाक। अहदी डेरिन पै अवम आय, दुख देत खुदा खुद लगत दाय।—ऊ.का. ४ बलवान। उ०—वदी जो करै तौ खुदा की सजा है, सदा नेक रहना इनों में मजा है। मियां एक मस्सूरखां नांम जाकै, वड़े तेजवांन सबों में कजाके।—ला.रा. ५ भयंकर. ६ योद्धा। उ०—भुटै क्रोध मारहट्टां पनागां डांणां रा भाज, कंठीर डांखिया 'जगा' रांण रा कजाक।—अज्ञात

कजाकणि, कजाकणी—सं०स्त्री०—साकिनी, पिशाचिनी।

उ०—कजाकणि डाकणि कड्ढि कळेज, जिमावत साकणि जूह अजेज।—मे.म.

कजाकी—वि० [अ० कज्जाकी] १ नीच, पतित। उ०—नवी हूओड़ा

तिण तास। चारण तूं देखइ जिसा, कहिज्यउ ऊमर पास।—ढो.मा.

कटाच्छ, कटाछ, कटाछि–सं०पु० [सं० कटाक्ष] १ तिरछी चितवन, भावपूर्ण दृष्टि, नेत्रों से संकेत। उ०—१ करण हाव कटाछ नार सर हूंत समी निज।—पा.प्र. उ०—२ ति माहि एक वार कटाछि करि देखै छै अर वहुड़ि द्रस्टि दुरावै छै।—वेलि. टी.

२ वक्र दृष्टि. ३ व्यंग्य, आक्षेप।

वि०—अति तीक्ष्ण* (डिं.को.)

कटाणौ, कटाबौ–क्रि०स० (प्रे०रू०)—कटाना। देखो 'कटणौ' का सकर्मक व प्रेरणार्थक रूप।

कटाणहार, हारौ (हारी), कटाणियौ—कटाने वाला।

कटायोड़ौ—भू०का०कृ०।

कटायत–वि०—वीर गति को प्राप्त होने वाला। उ०—वंटायत श्रावयां झाट खांवद विया, दोयणां श्रांटायत खाग दूझै। जटायत थळा रण कटायत हुयजै, पटायत पटहत्था पाट पूजै।—राव रतनसिंघ री गीत

कटायोड़ौ–भू०का०कृ०—कटाया हुआ। (स्त्री० कटायोड़ी)

कटार–सं०स्त्री०—१ देखो 'कटारी'. २ ढोलियों की एक शाखा विशेष (मा.म.)

कटारड़ौ–सं०पु०—प्रायः वर्षा ऋतु में होने वाला पौधा विशेष जिसे ऊंट अधिक खाता है (क्षेत्रीय)

कटारडढ़, कटारडढ़ौ–सं०पु०—१ कटार. २ कटार के समान पैने दांतों वाला यथा–सिंह, सूअर। उ०—सवदां गैणाग जमी गुंजाड़ै पाहाड़ सारा, पछाड़ै ममूदानाथ नौ हत्था पर्टत। डाला मया वावरैल जोसेल कटारडढ़ा, वुवै प्रळै काळ चखां याहरां सचींग।—देवीसिंघ रौ गीत

कटारमल–सं०पु०—१ कटारी रखने वाला योद्धा. २ एक प्रकार का घोड़ा (शा.हो.)

कटारियाभांत–सं०पु०—नीले रंग पर लाल वूटियों वाला एक कपड़ा विशेष जो प्रायः घाघरा या लहंगा आदि के काम आता है।

कटारी–सं०स्त्री० [सं० कट्टार] एक वालिश्त लम्बा, तिकोना और दुधारा हथियार।

पर्याय०—अणियाळी, अग्नियांमणी, कटार, कुंतळमुखी, कोरट, जमदाढ़, त्रिजड़, दुजड़ी, दुधारी, दुवजीह, दुवधारी, धाराळी, वाढ़ाळ, वाढ़ाळी, विजड़ी, महिखजीह, सुजटी, हव्वहेक।

कटाळी–सं०स्त्री०—भूररिंगणी, भटकटैया (अमरत)

देखो 'कटचाळी' (रू.भे.)

कटाव–सं०पु०—१ काटने या कटने की क्रिया या भाव. २ भूमि का क्षरण. ३ नवमीं वार उतार कर भट्टी से निकाला हुआ अत्यन्त तेज शराव (रा.सा.सं.) ४ देखो 'कटणौ' २।

कटाह—देखो 'कड़ाव' (रू.भे.)

कटि–सं०स्त्री० [सं०] कटि, कमर। उ०—घर घर शृंग, नयर सुपीन पयोधर, घणी मीण कटि अति सुघट। पदमणि नाभि प्रियाग तणी परि, त्रिवळि त्रिवेणी सोणि तट—वेलि.

कटिकाळी–सं०स्त्री०—कड़ियों की पंक्ति (वं.भा.)

कटिग्रह–सं०पु०—कमर में होने वाला एक रोग विशेष (अमरत)

कटिबंध–सं०पु०—कमरबंध। उ०—हड्डोति हाजरि भई कटिबंध कसाया।—वं.भा.

कटिमेखळा–सं०स्त्री०—करधनी, मेखला।

कटियोड़ौ–भू०का०कृ०—कटा हुआ। (स्त्री० कटियोड़ी)

कटियौ–सं०पु० [सं० कर्तन] १ काटने की क्रिया का भाव. २ छोटा वारदाना।

कटिसजियौ–वि० [सं० कटि+सजितः] कटिवद्ध, सन्नद्ध, तैयार।

कटी–सं०स्त्री० [सं० कटि] देखो 'कटि' (अ.मा.) (रू.भे.)

उ०—कटी सु छीन केहरी प्रवीन पायका नहीं।—ऊ.का.

कटीजणौ, कटीजबौ–क्रि०अ०—१ कटा जाना. २ कमिया जाना. ३ अपने आप जंग का लगना. ४ पेट में ऐंठन चलना, मरोड़ा चलना। (मि० 'कटणौ')

कटीजियोड़ौ–भू०का०कृ०—१ कटा हुआ. २ कमिया हुआ. ३ अपने आप जंग लगा हुआ। (स्त्री० कटीजियोड़ी)

कटीर–सं०स्त्री० [सं० कटि] कटि, कमर (अ.मा.) (अल्पा०)

कटु, कटुक–वि० [सं०] १ कडुआ. २ कसैला. ३ अप्रिय, कठोर।

उ०—भूप म्है नटै जद कटुक कथ भाखिया।—र.ज.प्र

कटूंबर–सं०पु०—मध्य आकार का एक वृक्ष जिसके फल खट-मीठे होते हैं और फलों की चटनी बड़ी स्वादिष्ट होती है, कवीठ कैथा (अमरत)

कटूंबरी—देखो 'कटूंबर' (रू.भे.)

कटूकफळ–सं०पु०—वेहड़ा नामक फल या वृक्ष (अ.मा.)

कटूम–सं०पु०—कुटुम्ब।

कटेड़ौ–सं०पु० [सं० काष्ठ+डिंड] १ वच्चों को सुलाने का झूला. २ हाथी का चारजामा (क्षेत्रीय) ३ प्रायः खिड़कियों पर लगने वाला झूलता हुआ तख्ता (पाटिया) जो अंदर की तरफ होता है और वैठने के काम आता है।

कटेल–वि०—१ कटे हुए. २ वीरगति प्राप्त।

कटैड़ौ–सं०पु०—कठघरा (रू.भे. 'कटहड़ौ')

उ०—'करण' रै पदम जिम माहरै कटैड़ै, वदूं जो कोई तरवार वाहै।—द.दा.

कटैत–वि०—१ वीर, योद्धा. २ वीर गति प्राप्त।

कटोर–सं०पु०—१ कटोरा। देखो 'कटोरौ'। उ०—सज्जणिया ववळाइ कइ, गउमे चढ़ी लहक्क। भरिया नयण कटोर ज्यउं, मुंघा हुई डहक्क।—ढो.मा. २ तलवार की मूठ पर पकड़ने के स्थान के ऊपरी भाग पर लगाई जाने वाली गोल वृताकार चकरी जिससे मजवूती से पकड़ने के लिए हाथ को सहारा मिलता है।

कटोरड़ौ–सं०पु०—कटोरा, प्याला (अल्पा०)

कटोरदांन–सं०पु०—भोजन आदि रखने का धातु या मिट्टी का ढक्कनदार वर्तन विशेष।

तने भूरा अभंग, आळगे नही भाराथ आळा ।—हुकमीचंद खिड़ियौ
२ विजली का कौंधना. ३ क्रोध करना. ४ आक्रमण करना, हमला करना ।

कटकणहार, हारौ (हारी), कटकणियौ—वि० ।

कटकाणौ, कटकावौ, कटकावणौ, कटकावबौ—स०रू० ।

कटकिओड़ौ, कटकियोड़ौ, कटक्योड़ौ—भू०का०कृ० ।

कटकीजणौ, कटकीजबौ—भाव वा० ।

कटकवंध–सं०पु०—सुसज्जित सेना या समुदाय । उ०—चढ़िया हरि सुणि संकरखण चढिया, कटकवंध नह घणा किध ।—वेलि.

कटकारी–सं०पु०—'कहाँ' शब्द का भाव (कठे जावौ हौ) प्रायः कही रवाना होते समय इसका उच्चारण अशुभ समझा जाता है ।

कटकि–सं०स्त्री० [सं० कटक] कटक. सेना । उ०—परदळ पिण जीपि पदमणी परणे, आणंद उभै हुआ एकार । वहतै कटकि मांहि वादौ वदि, वाघण लागा वधाइहार ।—वेलि.

कटकिया–सं०पु०—व्यवसाय के निमित्त वजन उठा कर ग्राम-ग्राम घूमने वाली जाति विसाती ।—कां.दे.प्र.

कटकियोड़ौ–भू०का०कृ०—१ कड़का हुआ. २ क्रोध किया हुआ. ३ आक्रमण किया हुआ । (स्त्री० कटकियोड़ी)

कटकेस–सं०पु०—सेनापति (वं.भा.)

कटकौ–सं०पु०—१ अंगुलियाँ या किसी अंग के चटखाने से उत्पन्न शब्द । उ०—आंगळियां कटका करूं, पाई तळां सू गाभीअ रात ।—वी.दे.
२ टुकड़ा, खंड, हिस्सा । उ०—कटका कादव नाह, नीर विजोगे जे हुआ । फिट काळजा काळा, सजन विन साजा रह्या ।—ढो.मा.

कटक्क—देखो 'कटक' (रू.भे.) उ०—दीवांण तणा फिरिया दरक्क, कळळिया ठाहि ठाहे कटक्क ।—रा ज.सी.

कटक्कट–सं०स्त्री०—दाँतों को कटकटाने की ध्वनि । उ०—रट्टकत एकल हौफर मूर । कटक्कट वाजत डाढ करूर ।—पा.प्र.

कटक्कि–सं०स्त्री० [सं० कटक] सेना, फौज (रू.भे. 'कटक')

कटखड़ी–सं०स्त्री०—काठ का वना कुये से पानी निकालने का एक प्रकार का वर्तन (क्षेत्रीय)

कटणी–सं०स्त्री०—१ आभूषणो की खुदाई में गहरा छिद्र खोदने का औजार विशेष. २ पेट के ऐंठन को पीड़ा, मरोड़ा ।

कटणौ, कटवौ–क्रि०अ०—१ किसी धारदार औजार से टुकड़े होना. २ मोहित होना. ३ समाप्त होना, वीतना. ४ दूर होना. ५ गलत सिद्ध होना. ६ जलन होना ।
मुहा०—कट कट नै मरणौ—जान देना, आपस में झगड़ना ।
७ झेपना. ८ व्यर्थ व्यय होना. ९ लिखावट का रद्द होना ।

कटणहार, हारौ (हारी), कटणियौ–वि०—कटने वाला ।

कटाणौ, कटावौ, कटावणौ, कटावबौ—स०रू० ।

कटिओडौ, कटियोड़ौ, कट्योड़ौ–भू०का०कृ०—कटा हुआ ।

कटीजणौ, कटीजवौ–भाव वा०—कटा जाना ।

कटफाड़–सं०पु० [सं० काष्ठ+रा० फाड़] जलाने के उद्देश्य से कुछ लंवोतरी चीरी हुई लकड़ी ।

कटमी–सं०स्त्री०—निंदा, बुराई ।

कटमेखळा–सं०स्त्री०—करधनी, मेखला । उ०—कट-मेखळा जड़ाव री सोहै छै ।—रा.सा.सं.

कटवण–वि०—वुरा करने वाला । उ०—सौ वैरी कटवण मिळै, मस्तक लिख्या सौ होय । लेख लिख्या कूं वाळका, मेट न सक्कै कोय ।
—अज्ञात

सं०स्त्री०—किसी की वात काटने का भाव या क्रिया ।

कटवळ–सं०पु०—मूंग, मोठ, ग्वार आदि वे अनाज या द्विदल जो कठोर माने जाते है और वाजरे के वाद वोये जाते हैं ।

कटवाड़–सं०स्त्री०—काँटों का अहाता । उ०—एकह पुत्र कलित्र मावीत्र कटवाड़ संवंधा ।—केसोदास गाडण

कटवी–सं०स्त्री०—निंदा, वुराई ।

कटसेली–सं०स्त्री०—कटसरैया (अमरत)

कटहड़ौ–सं०पु०—१ कठघरा (रू भे.) २ राजा महाराजा या वादशाह के सिंहासन के इर्द-गिर्द वनी काष्ठ की प्रवेष्टिनी । उ०—साह रौ जोध जोतां समंद, कठहड़े चढ़ण मलफै कमंद ।—वि.सं.

कटहळ–सं०पु०—१ वड़े भारी व काँटेदार फलों वाला एक वृक्ष विशेष जिसमें फूल नही आते. २ इस वृक्ष का फल ।

कटांकड़ि–सं०स्त्री०—प्रहार की ध्वनि । उ०—रणि राउत वावरइ कटारी, लोह कटांकड़ि ऊडइ । तुरक तणा पाखरिया तेजी, ते तरूआरे गूडइ ।—कां.दे.प्र.

कटा–सं०स्त्री०—१ कटारी. २ कत्लेआम (मा.म.)

कटाईजणौ, कटाईजवौ–क्रि०अ०—१ कटा जाना. २ पीतल आदि के वरतनों मे अम्ल पदार्थ का कसिया जाना. ३ अपनेआप जंग लगना ।

कटाईजियोड़ौ–भू०का०कृ०—१ कटा हुआ. २ कसिया हुआ. ३ जंग लगा हुआ । (स्त्री० कटाईजियोड़ी)

कटाकट–सं०स्त्री०—१ सर्दी अनुभव होने से दाँत की कटकटाहट । उ०—ठंड सूं अंग थरत्थरै, दंत कटाकट थाय ।—किसोरसिंह
२ कटना या काटना क्रिया का भाव ।

कटाकटि–सं०स्त्री०—१ प्रहार की ध्वनि । उ०—रणि राउत वावरइ कटारी, लोह कटाकटि ऊडइ । तुरक तणा पाखरिया तेजी, ते तरूआरे गूडइ ।—कां.दे.प्र. २ देखो 'कटाकट' ।

कटाक्ष—१ देखो 'कटाच्छ' (रू.भे.) उ०—गवाक्ष तैं अगाक्ष की कटाक्ष तै गिरै नही । धिराभ चंद्रसाळ चंद्रसाळ पै धिरै नही ।
२ नेत्र, नयन (ना.डि.को.) —ऊ.का.

कटाड़णौ, कटाड़वौ—देखो 'कटाणौ' (रू.भे.) उ०—कूटि कटाड़ी इणि करह, हिव नरवर नेड़ेह ।—ढो.मा.

कटाड़ी–सं०स्त्री०—कटारी । उ०—कूट कटाड़ी दे छूरी, उणहीं कर

कठांई–क्रि०वि०—कहीं भी। उ०—वात कठांई जाहिर मतां करौ। —पलक दरियाव री वात

कठांजरौ, कठांतरौ–सं०पु०—१ काठ का पिंजरा. २ रसोईघर में खाद्य पदार्थ आदि रखने के लिए लोहे या लकड़ी का हवादार पिंजरा।

कठा–क्रि०वि०—कहाँ। उ०—आया तौ कठा सूं कठी नै फेरि जावौ। पूछ्यौ लाडखान्यां गांव नांव तौ बतावौ।—शि.वं. २ कैसे।

कठाई–सं०स्त्री०—उष्णता के कारण ओठों पर जमने वाली पपड़ी। यह प्रायः गरमी या खुश्की से जम जाती है।

क्रि०वि०—कहीं, कहीं भी (रू.भे. 'कठांई')

कठाऊं–क्रि०वि०—कहाँ से (रू.भे.)

कठातक, कठातांई–क्रि०वि०—कहाँ तक। उ०—इच्छां जिकां वात अरस सूं आंणै, कयां कठातक जीव हीज जांणै।—र.रू.

कठातौ–क्रि०वि०—कहाँ से (क्षेत्रीय)

कठामठौ–सं०पु०—कृपण, कंजूस।

कठालग–अव्यय—कहाँ तक।

कठासूं–क्रि०वि०—कहाँ से।

कठाही–क्रि०वि०—कहीं। उ०—घोड़ौ छै, रथ पालकी छै। कठाही रौ राजा छै। सोने रूपे रा छड़ीदार छै।—पलक दरियाव री वात

कठि–क्रि०वि०—देखो 'कठी'।

कठिण, कठिन–वि०—देखो 'कठण'। उ—१ कठिण वेयरिए कोकिल मिसि कूजति, वनसपती प्रसवती वसंति।—वेलि.

उ०—२ कांमिणि कुच कठिन कपोल करी करि, वेस नवी विधि वांणि वखांणि।—वेलि.

कठिनाऊं–क्रि०वि०—कहाँ से, किधर से।

कठियळ–सं०पु०—खड़ाऊ। उ०—कठियळ दिय सिर धरिय प्रणम कर, भिळ गय वळ निज नगर मभार।—र.रू.

कठियारा–सं०पु०—१ एक पिछड़ी हुई जाति विशेष जिसके व्यक्ति लकड़ी काटने व बेचने का व्यवसाय करते हैं. २ मुसलमानों के अंतर्गत मुर्दा जलाने के लिये लकड़ियाँ बेचने वाली एक जाति विशेष (मा.म.)

कठियारौ–सं०पु०—कठियारा जाति का व्यक्ति (स्त्री० कठियारी)

कठियावाड़ौ–सं०पु०—काठियावाड़ में उत्पन्न घोड़ा। उ०—दिखरण-वाढ़ौ देस रा, कठियावाड़ौ खास। खेराड़ी वड़ खेत रा, वैराड़ौ वरहास। —पे.रू.

कठी–क्रि०वि०—कहाँ, किस तरफ, किधर। उ०—पीनौ धारै पांण, हेकण चळ्ए हाकड़ौ। रे कछ धरणी रांण। आज कठी गी आवड़ा। —पा.प्र.

कठीक–क्रि०वि०—१ कहाँ. २ कहीं. ३ किधर। उ०—ऊदा नूं मित करनै कठीक दिन च्यारेक सिकार नूं ले नीसरौ।—नैणसी

कठीड़–सं०पु०—काठ का हुक्का।

कठीण—देखो 'कठण' (रू.भे.)

कठीनै–क्रि०वि०—किस तरफ, किधर कहाँ। उ०—आया तौ कठा सूं कठीनै फेरि जावौ. पूछ्यौ लाडखान्यां गांव नांव तौ बतावौ।—शि.वं.

कठीयांणौ–सं०पु० (स्त्री० कठीयांणी) काठियावाड़ में उत्पन्न घोड़ा।

कठूकड़ा–सं०पु०—सोलंकी वंश के क्षत्रियों की एक शाखा।

कठूमर–सं०पु०—जंगली गूलर जिसके फल छोटे-छोटे और फीके होते हैं।

कठै–क्रि०वि०—कहाँ, किधर। उ०—तद पूछियौ जसोधर कहे कठै ऊतरियौ छै।—रा वं वि.

कहा०—कठै राजा भोज कठै गांगलौ तेली—जब दो व्यक्तियों या वस्तुओं में बहुत अंतर हो।

कठैई, कठैईक–क्रि०वि०—१ कहीं २ कहीं भी। उ०—नहीं हर-दांन रै सरीखौ सांच रौ बोलण वाळौ मैं दूजौ कठेई नहीं देखूं छूं। —पलक दरियाव री वात

कहा०—१ कठैई जावौ पईसां री खीर है—सभी जगह पैसे की जरूरत पड़ती है. २ कठैई वावै कठैई ऊगै—कहीं बोता है कहीं उगता है; ऐसे व्यक्ति के लिए जो अभी एक और जगह थोड़ी देर पीछे दूसरी जगह तथा और थोड़ी देर पीछे तीसरी जगह दिखाई पड़े। अस्थिर अथवा चंचल आदमी के लिए।

कठैक–क्रि०वि०—१ कहीं २ कहीं पर। उ०—ऊफणी आडै छाज कठैक ? उरसां मुगत-चिड़ी री पांख।—सांझ

कठैयी–क्रि०वि०—१ जहाँ कहीं भी। उ०—जीत लीधी जमी कठैयी जेण री, पराजै हुई नांह फतै पाई।—र.रू.

कठैय–क्रि०वि०—कहीं। उ०—खेतां औ खेता, मां मेरी, मैं फिरी, कठैय न लाध्यौ खेत।—लो.गी.

कठोड़–सं०पु०—चंद्रवंशी क्षत्रियों की एक शाखा या इस शाखा का व्यक्ति (बां.दा. ख्यात)

कठोर–वि०—१ कड़ा, कठोर, सख्त, दृढ़. २ निष्ठुर, निर्दय. ३ तीक्ष्ण।

कठोळ–सं०पु०—देखो 'कटवळ' (रू.भे)

कठोंतरौ–सं०पु० [सं० काष्ठान्तर] रसोईघर में भोजन या खाद्यपदार्थ रखने का जालीदार पिंजरा।

कठोती–सं०स्त्री० [सं० काष्ठपात्री] काठ का बना आटा गूंधने का बर्तन. परात।

कढ़–सं०पु०—१ पानी का बहाव. २ पानी के बहाव से बनने वाला नाला. ३ जंगल. ४ खलिहान में गेहूं निकालते समय भूसी के गिरने का स्थान.

सं०स्त्री०—५ कच्चा घास-फूस का मकान. ६ नमकीन ऊसर भूमि।

कढ़णौ, कढ़बौ–क्रि०स०अ०—१ निकलना। उ०—तद फेर आगै कढ़िया, फेर ही पहुंच वळै बीजे रेडै घेरियौ।—दाढ़ाळा सूर री वात

२ निकलना. ३ म्यान से तलवार निकालना. ४ खेत की लकड़ी आदि काट कर साफ करना। उ०—वाढ़ै फोग नेतड़ा कढ़ै, सोवां वाड़ बणावता। टापी टाटा टेर वाती, फळसां छांट छवावता। —दमदेव

कटोरी-सं०स्त्री०—१ पुष्पदल के बाहर की ओर हरी पत्तियों की प्यालीनुमा आकृति. २ देखो 'कटोरौ'।

कटोरौ-सं०पु० (स्त्री० कटोरी) चौड़ी पेंदी, खुले मुंह का गहरा बर्तन विशेष जो प्रायः धातु का होता है। बड़ा प्याला।

कट्ट-स०स्त्री० [सं० कटि] कटि, कमर। उ०—सही न दीठी मारवी, एठां सहित प्रगट्ट। हंस चलणी सस वदनी, केहर जेही कट्ट।—ढो.मा.

कट्टक—देखो 'कटक'। उ०—कट्टकां राम रै माथै आयौ कुंभ क्रन। —र.रू.

कट्टणौ कट्टबौ—देखो 'कटणौ' (रू.भे.)

कट्टाधार-वि०—कटारी धारण करने वाला, योद्धा।

कट्टार—देखो 'कटार'।

कट्टि-सं०स्त्री० [सं० कटि] देखो 'कटि' (रू.भे.)
उ०—जौ थे देखी मारुइ, तउ अहिनांण उगट्टि। चंदा जेहइ मुख कमळि, केहरि जेहइ कट्टि।—ढो.मा.

कट्टिणौ, कट्टिबौ—देखो 'कटणौ'।

कट्टण-वि०—कृपण, कंजूस। देखो 'कठिण'।

कटयाळी-सं०स्त्री०—भटकटैया नामक छोटा और कांटेदार क्षुप जो औषधि-प्रयोग में काम आता है (अमरत)

कठंजरौ-सं०पु० [सं० काष्ठपंजर] काठ का बना कटघरा या पिंजरा। उ०—तद भाट मेंगळ जठै कठंजरौ छै तठै गयौ। —कहवाट सरवहिया री वात

कठ-सं०पु० [सं० काष्ठ] काठ, काष्ठ।

कठकारौ—देखो 'कटकारौ' (रू.भे.)

कठकालर-सं०स्त्री०—कठोर और कंकरीली भूमि जहाँ घास-फूस तथा खेती न होती हो।

कठचित्र, कठचीत्र-वि०—काठ में चित्रित। उ०—आरंभ मैं कियौ जेणि उपायौ, गावण गुणनिधि हूं निगुण। किरि कठचीत्र पूती निज करि, चीत्रारे लागी चित्रण।—वेलि.
सं०पु० [सं० काष्ठचित्र] लकड़ी मे खुदा हुआ चित्र।

कठट्ठणौ, कठट्ठबौ—देखो 'कठठणौ' (रू.भे.)
उ०—कतारां कठट्ठै चलै जूंग काळा, वहै वादळा जांणि भाद्रव्ववाळा। —वचनिका

कठठ, कठठठ-सं०स्त्री० [अनु०] सेना के प्रस्थान या बोझ से लदे हुए शकट आदि के चलने से होने वाली ध्वनि विशेष (मि० 'कठठणौ')
उ०—कठठ दळ कूच खैराड़ पर करायौ।—स्यांमजी वारहठ

कठठणौ, कठठबौ—क्रि०अ०—१ निकलना. २ बाहर आना. ३ कठठठकी ध्वनि करते हुए चलना. ४ जोश में आकर चलना। उ०—कठठी नै घटा करे काळाहणि, समुहे आंमहो सामुहे। जोगिणि आवी आडंग जांणे, वरसै रत वेपुड़ी वहै।—वेलि.
कठठणहार, हारौ (हारी), कठठणियौ—वि०।
कठठिओड़ौ, कठठियोड़ौ, कठठ्योड़ौ—भू०का०कृ०।
कठठीजणौ, कठठीजबौ—भाव वा०।

कठठौ-*वि०—१ बलवान।* उ०—*मरहठा कठठा हठा जठा तठा* हूंत मिळै, तूजीहां वछठा… सांमठा नत्रीठ।—पहाड़ खां आढ़ौ
२ कठोर।

कठठ्ठणौ—देखो 'कठठणौ' (रू.भे.) उ०—विजड़ी जड़ भायळ बांध विनै कड़ भीड़ कठठ्ठत 'पाल' कनै।—पा.प्र.

कठण-वि० [सं० कठिन] १ कठिन, कड़ा, दृढ़। उ०—वड़ौ कठण पण पिता कियौ, कोई रंच न कियौ विचार।—गी.रां.
२ कठोर, मजबूत (डि.को.) ३ निष्ठुर. ४ मुश्किल।
उ०—कठण रीत रजपूत कुळ, खाग कमाई खाय।—बां.दा.
४ तीक्ष्ण।

कठणकांचळी-सं०पु०—नारियल (अ.मा.)

कठणता-सं०स्त्री०—कठिनता, कठोरता। उ०—वांनर री निरलज्जता, उपल कठणता लीध। वायस तणी कुकंठ ले, कुकवी विधता कीध। —बां.दा.

कठणी-सं०स्त्री० [सं० कठिनी] सफेद मिट्टी (डि.को.) खड़िया मिट्टी।

कठन—देखो 'कठण' (रू.भे.) उ०—प्रीत निभावण कठन है, प्रीत करो मत कोय। भांग भखण है सहज पण, लहरां मुसकल होय। —अज्ञात

कठपींजरौ-सं०पु० [सं० काष्टपंजर] काठ का बना पिंजरा।
उ०—मैंगळ 'ऊगा' नै कहै, कठपींजरै 'कंवाट'। छाती ऊपर सेलड़ा, माथा ऊपर वाट।—कहवाट सरवहिया री वात

कठपूतळी-सं०स्त्री० [सं० काष्टपुत्तली] १ कठपुतली, काठ की बनी *पुतली. २ तार द्वारा नचाई जाने वाली गुड़िया।*

कठपूतळौ-सं०पु० (स्त्री० कठपूतली) १ दूसरे के कहने पर काम करने वाला व्यक्ति. २ देखो 'कठपूतळी'।

कठबंध, कटबंधण-सं०पु०—हाथी के गर्दन का रस्सा (डि.को.)

कठमडळ, कठमंदिर-सं०पु०—चिता (रा.रा.) उ०—पति संग 'कुमाळ' दृढ़ धार पण, सतवंतसील सलूलवा। कठमंडळ धसण जिण दिन कियौ, जिण ज्वाळा मभ भूलवा।—अरजुणजी वारहठ

कठरूप-वि०—बदसूरत, कुरूप।

कठवर—देखो 'कटुंबर' (अमरत)

कठवळ—देखो 'कटवळ' (रू.भे.)

कठसरी-सं०स्त्री० [सं० कंठश्री] गले में बांधने का एक प्रकार का जेवर विशेष, कंठी।

कठसेडी-सं०स्त्री०—वह गाय या भैंस जिसका दूध दुहते समय कठिनता से निकले। उ०—काया कठसेडी मठसेडी कांपै, ढांगी वेलां नै तेलां नै ढांपै।—ऊ.का.

कठसेली-सं०स्त्री०—काले व पीले पुष्प का पौधा विशेष (अमरत)

कठहड़ौ-सं०पु०—देखो 'कटहड़ौ' (रू.भे.)

कठां-क्रि०वि०—कहाँ।

सर्व०—१ किम। उ०—फजर ताता भड़ज भांप खाता फरै। कवर कण (किण) ऊपर कमरबंधी करै।—जवांनजी आढ़ो २ कौन।

कणइट्ठ, कणएठिय, कणएठी–सं०पु० [सं० कनिष्ठ] अनुज, छोटा भाई।

उ०—१ कळि काळि परीक्रम ए करन्न, देखियइ दुवापुर दिस्या दन्न। कणइट्ठ कन्हा घर 'लूणकन्नि', मारुग्रइ राइ ली मोटरमन्नि। —रा.ज.सी.

उ०—२ कणएठी जांणै भिड़त का, जिण जेठी छूटी जगत जळा। —पा.प्र.

कणक–सं०स्त्री०—१ गेहूँ की एक किस्म।

सं०पु०—[सं० कनक, प्रा० कणग्र] २ सोना, स्वर्ण।

उ०—कणक कटोरां इम्रत भरयां, पीवतां कूण नटचा री। मीरां रै प्रभु हरि ग्रविनासी, तण मण स्यांम पटचा री।—मीरां

कण-कण–सं०पु०—टुकड़े-टुकड़े, खंड-खंड।

ग्रनु० [सं० क्वण] ध्वनि विशेष।

क्रिवि०—तितर-बितर। उ०—कोप करै कीधा ग्ररि कण-कण, 'नींबा' हरा निकळंक नरेस।—दुरगादास री गीत

कणकती–सं०स्त्री०—देखो 'कंदोरी' (रू.भे.)

कणकतीवंद—देखो 'कंदोरावंद' (रू.भे.)

कणकामण–सं०पु०यौ०—जादू-टोना, वशीकरण।

कणको–सं०पु०—१ किनका, रवा, जर्रा, ग्रति सूक्ष्म टुकड़ा. २ योग्यता. ३ साहस. ४ शक्ति, बल। मि० 'कण' (नं. ५,१५)

कणक्कण—देखो 'कण-कण'। उ०—पिण ग्रै वचन प्रमांण. पांण खग तोल धरां पण। ग्रालम दळ ग्रागै, करां रण खळै कणक्कण। —रा.रू.

कणगज–सं०पु०—गज का, करंज, कंट कफला (ग्रमरत)

कणगती–सं०स्त्री०—स्त्रियों के कटिप्रदेश पर धारण करने का ग्राभूषण, करधनी।

कणगिर–सं०पु० [सं० कनकगिरि] १ सुमेरु पर्वत. २ जालोर का पर्वत।

कणगूगळ, कणगूगळी–सं०उ०लिं०—दानेदार एक प्रकार का गुग्गुल विशेष (ग्रमरत)

कणगेट्यो–सं०पु०—छिपकली की जाति का जंतु जो दिन में कई बार रंग बदलता है, गिरगिट (डि.को.)

कणचाळ–सं०पु०—युद्ध।

कणछणो, कणछबो–क्रि०स०—१ काटना मारना. २ जोश में ग्राक्रमण करना।

क्रि०ग्र०—देखो 'कंकणो'।

कणज–सं०पु०—एक प्रकार का छोटा वृक्ष विशेष जिसके तने का रंग सफेद होता है। इसके पत्ते पीपल के पत्ते के समान होते हैं किन्तु उनके समान नोंकदार नहीं होते।

कणडोर–सं०पु०—विवाह के समय दूल्हे ग्रौर दुल्हिन की रक्षा के उद्देश्य से उनके हाथ ग्रौर पैर में बांधा जाने वाला धागा। उ०—दासियां दौड़ ग्रागू दखे, साथ विराजौ सांगणे। कणडोर छोड पूजा करण, 'पाल' पधारो ग्रांगणै।—पा.प्र.

कणणंकणो, कणणंकबो, कणणणो, कणणबो–क्रि०ग्र०स०—१ वीरों को युद्धार्थ उत्तेजित करने के लिए जोशपूर्ण ध्वनि करना, विरुदाना। उ०—ठणणंक घंट गदळां ठहे, गणणंकै पळचर गयण। हणणंक हींस हैंगांम हय, जय कणणंकै वदिजण।—वं.भा.

२ सिंह का पूर्ण मस्ती में चलते हुए जोशपूर्ण ध्वनि विशेष करना, दहाड़ना। उ०—तठा उपरांत करिनै राजांन सिलामति वडा सिकारी सिंघळी, साद्ळ, पटाळा, केहरी, नवहथा, कंठीरीग्रा, रींछीग्रा, तेलिग्रा, तींदूळा, लकीरिग्रा, वबेरिग्रा, चीतरा, भांति भांति रा, जाति जाति रा नाहर सांकळै जडिग्रा। रहड़ग्रे गाडै बैठा, कसता, कणणता, बूंबाडा करता वहै छै।—रा.मा.सं. ३ वीरों का जोशपूर्ण ध्वनि करना।

उ०—१ मतवाळा घूमै नहीं, नह घायल कणणाय। बाळूं सखी उ द्रंगडो, भड़ बापड़ा कहाय।—हा.भा. उ०—२ सूरा वचन सुणेह, 'दला' तणा 'देपाळदे'। केहर ज्यूं कणणेह, ग्राभ छिबंतो ऊठियोह। —गो.रू

कणणाट–सं०स्त्री०—१ सिंह की क्रोध या जोशपूर्ण दहाड़. २ वीरों की जोशपूर्ण ग्रावाज. ३ बक-झक।

कणदोरावंद—देखो 'कंदोरावंद' (रू.भे.)

कणदोरो–सं०पु० [सं० कटि+दोरक=प्रा० कडिदोरग्र] १ चांदी या सोने का बना शृंखलानुमा जेवर जो स्त्रियों के कटि प्रदेश पर धारण किया जाता है। मेखला, करधनी. २ छोटे लड़कों की कमर में बांधा जाने वाला धागा।

कणपांण–वि०—श्रेष्ठ, बढ़िया।

सं०स्त्री०—बहुत ग्रधिक पैनी बढ़िया लोहे वाली तलवार विशेष।

कणमणणो, कणमणबो–क्रि०ग्र०—हिलना, डोलना, कुनमुनाना, गुनगुनाना। उ०—मारू तौ इण कणमणइ, साल्हकुमर बहुसाद। दासी तद दीवाधरी, सांभळिया पड़साद।—ढो.मा.

कणमुठी–सं०स्त्री०—मुट्ठी भर वह ग्रनाज जो ग्रनाज पीसते समय निकाल लिया जाता है। इसका उपयोग धर्मार्थ किया जाता है। (सीरवी)

कणय–सं०पु० [सं० कनक, प्रा० कणग्र] स्वर्ण, सोना। उ०—तुलि बैठी तरणि तेज तम तुलिया, भूप कणय तुलता भू भांति।—वेलि.

कणयर–सं०स्त्री०—कनेर का पौधा या पुष्प। उ०—जंघ सुपत्तल करि नरि कुंग्रळ, भीणी लंब प्रलंब। ढोला एही मारुई, जांणि क कणयर कंब।—ढो.मा.

कणयाचळ–सं०पु० [सं० कनकाचल] १ सुमेरु पर्वत, स्वर्णगिरि. २ मारवाड़ राज्यान्तर्गत जालोर के पास का एक पर्वत का नाम।

उ०—कणयाचळ ग्रगि जांगड, ठांम तणउं जावालि। तहीं लगइ जगि जाळहुर, जण जंपइ इणि कालि।—कां.दे.प्र.

[सं० क्वथ] ५ दूध औटाना।
कढ़णहार, हारौ (हारी), कढ़णियौ—वि०।
कढ़ाणौ, कढ़ावौ, कढ़ावणौ, कढ़ाववौ—प्रे०रू०।
कढ़िओड़ौ, कढ़ियोड़ौ, कढ़चोड़ौ—भू०का०कृ०।
कढ़ीजणौ, कढ़ीजवौ—कर्म वा०; भाव वा०।
कढ़मांणी–सं०स्त्री० [सं० क्वथ] दूध गरम करने का बर्तन।
कढ़ाई–सं०स्त्री० [सं० कटाह, प्रा० कडाह] १ आंच पर चढ़ाने का लोहे का बड़ा गोल बरतन. २ इस बरतन में बनाया हुआ भोजन।
कढ़ाणौ, कढ़ावौ–क्रि०स० (प्रे०रू०)—१ निकलवाना. २ दूध को औटवाना (मि० 'कढ़णौ')
कढ़ार–सं०पु०—कोल्हू के ऊपर चारों ओर लगे हुए चार तख्ते।
कढ़ावणी—देखो 'कढ़ांमणी' (रू.भे.) उ०—घट घड़कलिया माट, मंगळिया मटकी हांडा। भोवा कूंज कुंडाळ, कढ़ावणी ढकण खांडा। २ निकलवाना क्रिया का भाव। —दसदेव
कढ़ावणौ, कढ़ाववौ–क्रि०स०प्रे०रू०—देखो 'कढ़ाणौ' (रू.भे.)
कढ़ियोड़ौ, कढ़ियौ–भू०का०कृ०—१ निकला हुआ. २ औटाया हुआ (दूध, मट्ठा आदि). ३ निकाला हुआ (स्त्री० कढ़ियोड़ी)
कढ़ी–सं०स्त्री० [सं० क्वथिता] बेसन, छाछ या दही को औटा कर बनाया जाने वाला साग।
मुहा०—कढ़ी बिगाड़णी—काम बिगाड़ना।
कहा०—कढ़ी में कोयला—अनमेल वस्तुओं का संयोग; अच्छे के साथ बुरे का संयोग।
कढ़ीजणौ, कढ़ीजवौ–क्रि०अ० [सं० क्वथ] १ निकाला जाना. २ औटाया जाना। देखो 'कढ़णौ'।
कढ़ीणौ–सं०पु०—कढ़ाई में तल कर निकाले गये पकवान आदि।
कणंकण—देखो 'कण-कण'।
कण–सं०पु० [सं०] १ अनाज का दाना। उ०—जिकां न दीधौ जनम घर, हेकौ कण दुज हत्थ। नहिं बैसीजै नाव में, सायर सूंमां सत्थ। —बां.दा.
मुहा०—कण खूटणौ—१ आयु कम होना. २ बुद्धि का ह्रास होना. ३ निर्धनता आना।
कहा०—१ कण देखियां मण री ठा पड़ै—अनाज के ढेर में से केवल एक कण को देख कर पूरे ढेर की किस्म के बारे में जानकारी हो जाती है. २ कीड़ी ने कण नै हाथी ने मण सांवरियौ देवै—चींटी को अनाज का दाना जो उसका पर्याप्त आहार है और हाथी को मन भर अर्थात् उसके लिए पर्याप्त आहार ईश्वर दे ही देता है। ईश्वर प्रत्येक को उदरपूर्ति के लिए आवश्यक आहार दे ही देता है. ३ कीड़ी ने कण ही भारी व्है है—चींटी के लिए अनाज का एक दाना उठाना भी कठिन होता है। गरीब व्यक्ति को साधारण व्यय का बोझ भी असह्य होता है. ४ घणा जायां कुळ मैलियां घणा वूठां कण हांण—अधिक संतान होने से कुल उज्ज्वल नहीं होता बल्कि कलंकित होने की पूर्ण सम्भावना होती है तथा अधिक वृष्टि से फसल सुधरती नहीं परंतु नष्ट ही होती है अतः अति सर्वत्र वर्जयेत्। २ अनाज। उ०—खेती नींपजै तहां तौ कण आवै। सु वडा वडा जोधा मारचा सु एही मानुं कण लीया।—वेलि. यौ० कणकोठार ३ सार, तत्व।
मुहा०—कण बायरौ होणौ—सारहीन होना, बुद्धिहीन होना.
४ गुंजाइश. ५ खंडित अंश, किनका, रवा। उ०—आलम मोरा औगुणां, साहिब तूझ गुणांह। बूंद-विरक्खा रैण कण, थाघ न लब्भौ त्यांह।—ह.र.
कहा०—१ कण कण जोड़चां मण जुड़ै—थोड़ा थोड़ा करने से बहुत अधिक हो जाता है. २ गधै री गूण में कणां री फरक रै मणां रौ कौ रैनी—थोड़ी वस्तु के अनुमान या तोल में थोड़ा ही फरक हो सकता है अधिक नहीं।
६ बूंद, कतरा, सीकर। उ०—भूरै मुखड़ै पर स्वेदण कण भारी। पहुंची पोळछ में प्रीतम री प्यारी।—ऊ.का. ७ जैसलमेर राज्य में भाटीवंशीय शासकों द्वारा कृषि उपज में से लिया जाने वाला अनाज का निश्चित भाग. ८ मोती, हीरा आदि जवाहिरात।
उ०—बाजु सोई बाज डसण विध बिजड़ी, बेध चंच साबळ वढ़ण। हंस जेम गाळिया राव हाडै, कछवाह कोड़िक कण।—अज्ञात
९ राजा कर्ण. १० चावल का महीन टुकड़ा, अंश. ११ भाग, हिस्सा। उ०—परंतु आपरै रासि संचय करि सहायक नूं कण देण री अधिकाई मुणीजै।—वं.भा. [सं० कनक] १२ सोना, स्वर्ण।
उ०—१ कंकर पथर वींटियौ कुनण, जिण तिण पूछै तोछ जळ। सुरावत तूं है कण साचौ, आभूखण नव कोट इळ।
—सिवसिंघ उदावत रौ गीत
उ०—२ कणै कळस भळ हळै, डंड ऊडंड संभारै।—लल्ल भाट
यौ०—कणगढ़, कणगिर, कणगढ़।
[सं० रणकण शब्दे] १४ बांण, तीर (अ.मा.) उ०—घरै रोस घज घमळ आचकां कण आछटै।—प्रतापसिंघ म्होकमसिंघ री वात
१४ युद्ध, रण. १५ साहस, हिम्मत। उ०—जुड़ण भूप जुध काज चख चोळ धीठी निजर, समर सिरताज भड़ विमुख सरकै। कटारी जड़ै महाराज धारै कण, थरहरै अरि अगराज थरकै।
—क.कु.बो.
[सं० क्वण] १६ पायल की ध्वनि. १७ भिक्षा, भिक्षा में प्राप्त वस्तु। उ०—कर एक कणं कर बियै कटारी, सुचवै 'झरड़ौ' 'जींद' सना। बावौ हीं मांगूं वाहि विनै कर, काकौ हीं मांगूं तूझ कन्हा।
—झरड़ा राठौड़ रौ गीत
१८ वृद्धि. १९ उत्तम किस्म का वह नाज जो बोने के लिए ही बीज के रूप में सुरक्षित रखा जाता है। उ०—झूसर बायां गळ आवड़ कढ़ झांखै, नभ नभ सावढ़ नै नायां कण नांखै।—ऊ.का.
यौ०—कणलांबौ।

कर्णगिरी—देखो 'करणियाचळ'।

कर्णठी—देखो 'करणेठी' (रू.भे.) उ०—राजा राव दोनूं हरीपुर के खेत पांटचा। राजा के कणेठी वीर 'ऊदे' खेत छोडचा।—शि.वं.

कणी–सं०पु०—१ सीमा, हद (खेत आदि की) २ खेत की सीमा पर डाले जाने वाले कँटीले भटकटैया के डंठल. ३ सिंचाई की सुविधा के लिए खेत में क्यारियाँ बनाने के लिए हल से खींची हुई रेखा जो पूरे खेत में लगभग बराबर फासले पर होती है।

वि०वि०—इस रेखा को खींचते समय हल के साथ भूमि से लगता हुआ गोल चपटा पत्थर बांधा जाता है जिससे कि हल से खुदती हुई रेत की छोटी मेंढ बनती है। (यौ० कणपीच)

क्रि०वि०—कब।

कण्णउज्ज–सं०स्त्री० [सं० कन्नौज] कन्नौज का प्राचीन नाम (प्रा.रू., वं.भा.)

कत–क्रि०वि०—१ कहाँ. २ कब।

सं०पु०—१ मूंढ की कतरन विशेष. २ कतावट।

कतई–क्रि०वि०—नितांत, बिलकुल (रू.भे. 'कतेई')

कतक–सं०पु०—केतकी का पुष्प। उ०—प्रीय मुं अविकड प्रेम, रयणि दिवस रंगय रमड। मोह्य (उ) मधूकर जेम कुस्मम जांणि कतक तणय।—टो.मा.

कतखुदाई–सं०स्त्री० [फा०] पारसी धर्म के अनुसार की जाने वाली सगाई।

कतरण–सं०पु०—१ कटे हुए कपड़ों के छोटे टुकड़े. २ काटने (प्रायः कपड़ा, कागज आदि) की क्रिया या भाव। उ०—कतरण, सीवण, केवटण, लै दरजी चित चोर। रजवांनी तंबू रचै, ते नरनायक और।—अज्ञात

कतरणी, कतरनी–सं०स्त्री०—कैंची (डि.को.)

मुहा०—जीभ कतरणी ज्यूं चालणी—बहुत जल्दी जल्दी बोलना, सबको काटते चलना।

कतरणौ, कतरबौ–क्रि०स०—१ काटना (प्रायः कपड़ा, कागज आदि) २ मारना, संहार करना।

कतरणहार, हारो (हारी), कतरणियौ—वि०—काटने या संहार करने वाला।

कतराणौ, कतराबौ, कतरावणौ, कतरावबौ—प्रे०रू०।

कतरिग्रोड़ौ, कतरियोड़ौ, कतरयोड़ौ—भू०का०कृ०।

कतरीजणौ, कतरीजबौ—कर्म वा०—काटा जाना, संहार किया जाना।

कतराक–वि० [स० कियत्] कितने।

कतराणौ, कतराबौ, कतरावणौ, कतरावबौ—क्रि०प्रे०रू०—कतरने या काटने के लिए प्रेरित करना। देखो 'कतरणौ'।

कतराहेक–वि०—कितने। उ०—इण भांत कतराहेक नीसरणियां चढे छै, तिका नूं माहिला भाला नूं सामे छै।

—प्रतापसिंघ म्होकमसिंघ री वात

कतरीक–वि०स्त्री०—कितनी (पु० कितरोक)

कतरीजणौ–कर्म वा०—१ कतरा जाना, काटा जाना. २ संहार किया जाना।

कतरीजियोड़ौ–भू०का०कृ०—काटा या संहार किया गया हुआ। (स्त्री० कतरीजियोड़ी)

कतरेकहेक–वि०—कितने। उ०—सूरजवंस रै विखै स्री रामचंद्र रौ अवतार तिण थी कतरेकहेक पाढियां इणां री गहरवार गोत्र कहाणौ।—नैणसी

कतरौ–स०पु० (बहु० कतरा) १ काटा हुआ, टुकड़ा या खंड. २ बूंद। वि०—जितना। (स्त्री० कतरी) उ०—गुण कतरा पातल गुणा, मत सत रा महाराज। सुधरिया जतरां सुभट, अतरां फरक न आज।

—अज्ञात

कतळ–सं०स्त्री० [अ० कत्ल] वध, हत्या, संहार। उ०—१ हुरम रहै बस हिंदवां, मैं जाऊं अणचीत। कतळ कबीला जो करै, तौ बस नाहि प्रतीत।—रा.रू. उ०—२ कर हमकर कीधा कतळ, पार पखै परमार। डूबा रुढै देवरज, धारा काळीवार।—बां दा.

कतळ-ग्राम—देखो 'कतळे-ग्राम'। उ०—मुल्ला काजी मंगह मयाद, फतवा लीजै मेटन फसाद। सबकी है मालेकम सलांम, अब जल्दी कीजै कतळ-ग्राम।—ऊ का.

कतळत–स०पु०—वध, संहार। उ०—जगपत जोम जिहाज, कुळ जोइयां कतळत करत। है विमटाळु आज, दाखै कुण मेलत दला' (गो.रू.)

कतळे-ग्राम–सं०पु०यौ० [अ० कत्लेआम] सर्वसाधारण का वध।

कतळळ–स०स्त्री० [अ० कत्ल] वध, हत्या। उ०—हुई अप्रमांण अचांणक हल्ल। कुंभी हय सैयद सेख कतळळ।—मे.म.

कतवारी–सं०स्त्री०—सूत कातने वाली। उ०—नागजी, तड़क-तटक मत तोड़, रे ! वैरी, कतवारी रै तार ज्यूं, ओ नागजी।—लो.गी.

कताई–वि०—कितने। उ०—टेक 'छीपा' तणी देस दुस टाळियौ, छान वधवाळियौ नकूं छांना। बरतियौ रह्यौ मेदण चिंता बाणियौ, कताई करूं वाखाण कांना।—ब्रह्मदास दादूपंथी

स०स्त्री०—सूत कातने का कार्य अथवा इस कार्य की मजदूरी।

कतार–सं०स्त्री० [अ० कितार] १ पंक्ति, लाइन. २ काफला। उ०—१ ऊंठां री कतार धोरै वनै सूं हो'र निकळ रही ही।

—वरसगांठ

उ०—२ बळ कतार लांवण घटै, ले जिहाज जळ अंत। भोळीढाळी बांणणी, बेटा धूत जणंत।—बां दा.

कतारियौ–स०पु०—वह व्यक्ति जो ऊँटों के काफिलों द्वारा एक देश से दूसरे देश में माल लाने ले जाने का कार्य करता हो।

कतियाणी–स०स्त्री० [स० कात्यायनी] १ आठ प्रकार की रणपिशाचिनी योगिनियों में से एक. २ कत गोत्र में उत्पन्न स्त्री. ३ दुर्गा. ४ गिरजा, पार्वती (अ.मा.) ५ कषाय वस्त्र धारण करने वाली अधेड़ विधवा।

कणलांचौ–सं०पु०—१ देखो 'कण' (१६) २ देखो 'लांचौ'।

कणलाल–सं०पु०—अनार (अ.मा.)

कणवार–सं०स्त्री०—'कणवारिया' का पद तथा उसको मिलने वाला वेतन, शहनगी। देखो 'कणवारियौ'।

कणवारियौ–सं०पु० [सं० कणवारक या कणवारी] जागीरदार की ओर से नियुक्त वह व्यक्ति जो जागीरदार के अधीनस्थ भूमि में बोई जाने वाली खेती व उसकी उपज की देखरेख रखता है व जागीरदार के यहाँ छोटे-मोटे कार्य करता है।

कणसारौ–सं०स्त्री०—अनाज भरने के लिए बाँस की खपच्चियों का बना हुआ वह कोठा जो ऊपर से गोबर या मिट्टी से लेप दिया जाता है।

कणसि, कणसी—एक प्रकार का शस्त्र विशेष। उ०—खेड़ां खांडां पड़चां जूजूआं, भाला सांगि कटारी। भागे **कणसि** पड़ी तरुयारि, म्लेछ मांकड़ा मारी।—कां.दे.प्र.

कणां–क्रि०वि—कब।

कणांई–क्रि०वि०—कभी। उ०—छोरा **कणांई** सांड पासी दौड़े **कणांई** लकड़ियां सांभै।—वरसगांठ

कणांकलौ–वि०—कभी का।

कणा–सं०स्त्री० [सं० कृष्णा] पीपल (अ.मा.)

कणाउळि–सं०स्त्री०—भिक्षा का पदार्थ, भिक्षा। उ०—वांमै पांणि **कणाउळि** वाळै, पांणि वियौ जमदढ़ परठेय।—झरड़ा राठौड़ रौ गीत

कणाद–सं०पु०—वैशेषिक शास्त्र के रचयिता एक मुनि जिनको उलूक भी कहते हैं।

कणापीच–सं०पु०यौ०—बोई हुई फसल में सिंचाई कार्य के पूर्व सिंचाई की सुविधा के लिए क्यारियाँ व उनमें पानी पहुँचाने के लिए बनाई जाने वाली नालियों का कार्य।

कणारी–सं०स्त्री०—झींगुर।

कणारौ—देखो 'कणसारौ' (रू.भे.)

कणिअागरौ–सं०पु०—क्षत्रियों की चौहान वंश की सोनगरा शाखा का व्यक्ति। उ०—वीरति खाग वजाइ, वन अरितर बाळै वडा। गौ 'मधुकर' **कणिअागरौ**, सुरिज जोति समाइ।—वचनिका

कणियर–सं०स्त्री०—कनेर का पौधा तथा उसका पुष्प (अ.मा.)

कणियांणू–वि०—शक्तिशाली, बुद्धिमान।

कणियागर, कणियागरौ, कणियागिर–सं०पु०—१ देखो 'कणिअागरौ'। उ०—अणी भंवर वाजियौ कवर, खींवड़ौ फतांणी। रिण लड़ै पड़ै **कणियागरौ**, विकट जोध दोलौ वळै।—वखतौ खिड़ियौ
२ जालोर के पर्वत का नाम. ३ सुमेरु पर्वत।

कणियाचळ–सं०पु० [सं० कनकाचल] देखो 'कणियागर' (२, ३)

कणियौ–सं०पु० (बहु० कणिया) १ पतंग का वह डोरा जिसका एक छोर कांप और ठड्डे के मेल पर और दूसरा पुछल्ले के कुछ ऊपर बांधा जाता है। इस तागे के ठीक बीच में उड़ाने वाली डोरी बांधी जाती है, कन्ना. २ पाये में लगी आडी लकड़ी के सहारे व मजबूती के लिए लगाया जाने वाला लोहे का कीला विशेष. ३ कुयें से पानी निकालने की गिर्री के मध्य में लगी लोहे की कील जो धुरी का काम करती है। इसके सहारे गिर्री गोल घूमती है।

कणी–सं०स्त्री०—१ लकड़ी का वह गोल मोटा लंबा लट्ठा जो खपरैल या छाजन की लंबाई के बल रहता है. २ कनेर का वृक्ष अथवा उसका पुष्प (अ.मा.) ३ चावलों के छोटे-छोटे टुकड़े. ४ चूल्हे पर जौ को कूट कर पकाया जाने वाला खाद्य विशेष. ५ टुकड़ा, किनका। उ०—खोटै टोटै नग कणियां वीखरगी। माहव मोटै दुख जाटणियां मरगी।—ऊ.का.
मुहा०—कणियां बिखरणी—अस्त-व्यस्त होना।
सर्व०—१ किस। उ०—मैं अवळा वळ नांहि, गोसाईं राखौ अबकै लाज। राव री होइ **कणी** रे जाऊं, हे हरि हिवड़ा रौ साज।—मीरां
२ कौन।

कणीक–सर्व०—किसको।

कणी-कुंड–सं०पु०—एक तीर्थ-स्थान विशेष (क.कु.बो.)

कणीसक–सं०पु० [सं० कणिश] भुट्टा, बाल (गेहूँ आदि की) (डि.को.)

कणूकौ–सं०पु० (बहु० कणूका) १ अनाज का कण। उ०—आनंद सहत एक रस पीवे, करम **कणूका** डारै।—ह.पु.वा.
२ अनाज. ३ शक्ति, बल. ४ बुद्धि. ५ कण, छोटा टुकड़ा, रवा। वि०वि०—देखो 'कण'।

कणे–क्रि०वि०—कब।
सर्व०—किस।

कणेई–अव्यय—कभी। देखो 'कणांई' (रू.भे.)

कणेगढ़–सं०पु०—१ जालोर का किला. २ सुमेरु पर्वत।

कणेठिय, कणेठी, कणेठौ–सं०पु० [सं० कनिष्ठ] छोटा भाई (डि.को.)
उ०—१ गघ राव उडावत खेंग घणा, तिण वार **कणेठिय** 'पाल' तणा।—पा.प्र. उ०—२ विडंगाळ झांप आडावळै, कर पावै अंगार वळ। **कणेठौ** 'पाल' रूपक करण, आगौ जेठी आप वळ।—पा.प्र.
वि०—१ हीन, निकृष्ठ. २ छोटा। उ०—वे बुनियाद कुबोल, कहि बकवाद वधारै, तामें **कणेठी** कड़किया, वळ जेठी वारै।
—गोरधन लक्ष्मीदासोत चारण

कणेर–सं०स्त्री०—एक प्रकार का बड़ा पौधा। इसकी पत्तियां लंबोतरी होती हैं। लाल व सफेद फूलों के कारण इसके दो भेद होते हैं। कनेर। यह देववृक्ष भी माना जाता है (अ.मा.)

कणेरी-पाव–सं०पु० [सं० कृष्णपाद] नाथ संप्रदाय के एक महात्मा का नाम।

कणेई–क्रि०वि०—कभी। उ०—इयां गम मोकळी ही पण **कणेई-कणेई** तौ छेड़ते ही कपड़ां सूं वारै आय जातौ।—वरसगांठ

कणेगढ़–सं०पु०—१ जालोर का किला. २ लंका। उ०—वभीखण जोय **कणेगढ़** वैठौ, मारु सूं प्रसन्न थियौ मुरार। वडां मेव कीधां राव वीका, मेवग वडा हुवै संसार।—राव वीका रौ गीत

कथा-सं०स्त्री० [सं०] १ किस्सा, कहानी, वार्ता. २ विवरण, वृत्तान्त. ३ धर्म विषयक चर्चा.
क्रि०प्र०—करणी, वांचणी, सुणणी।
४ व्याख्यान, प्रसंग।

कथित-वि०—कहा हुआ।

कथियोड़ौ-भू०का०कृ०—कहा हुआ। (स्त्री० कथियोड़ी)

कथीजणौ, कथीजबौ-कर्म वा०—कहा जाना। देखो 'कथणौ'।

कथीर-सं०पु०—जस्ता नामक एक प्रसिद्ध धातु (अ.मा.)

कथ्थ—देखो 'कथ' (रू.भे.) उ०—सउदागर राजा सुं कहै, सुणउ हमारी कथ्थ। गारवणी छांनी रही, से माळवणी तथ्थ।—ढो.मा.

कथ्थणौ, कथ्थबौ—देखो 'कथणौ'। उ०—कहि सूवा, किम आवियउ, किहींक कारण कथ्थ। तूं माळवणी मेल्हियउ, किनां अम्हीणइ सथ्थ।—ढो.मा.

कदंच-क्रि०वि०—कभी। उ०—कवळ कियौ जिण में कसर, राखी रती न रंच। आलीजौ अळसै अज्यूं, कतौ दईव कदंच।—र. हमीर

कदंब-सं०पु० [सं० कंद्+अंब] १ एक प्रसिद्ध सदा बहार पेड़, कदम। पर्याय०—कदम, गंध, तूल, देवांनिलंग, नींप, मदरा, सुवासमद, हरप्रिय।
२ समूह, ढेर, झुंड (अ.मा.) उ०—गंगा री सहस्र धारा रै समांन केही धाराधरां री ऊजळी धारा कंकटां रा कदंब में कढ़ण लागी।
३ सेना, फौज। —वं.भा.

कदंबरी-सं०स्त्री० [सं० कादंबरी] मदिरा।

कद-क्रि०वि०—कब। उ०—१ दीवाळी होळी दसरावै, गौरि लहूर गवाड़ा। असवारी थारी कद आसी, मिणधारी मेवाड़ा।—अज्ञात
२ कभी। उ०—पौढ़िया रयण जेम प्रतमाळी, कद ही न सक्रियौ काढ़ि।—वरसौ
सं०पु० [अ० कद] ऊँचाई।

कदई-क्रि०वि०—कभी। उ०—रांणी मन रूड़ोह, विध यण तरह विचारियौ। कंथौ तौ कूड़ोह, हव कदई साचौ हुवै।—पा.प्र.

कदक-सं०पु० [सं० कदकं] १ तंबू, डेरा, खेमा (डि.को.) २ चंदोवा, वितान (डि.को.)

कदकोई-वि०—कभी का।

कदकौ-वि०—कभी का।

कदच-क्रि०वि०—कदाचित्, शायद।

कदतांणी-क्रि०वि०—कब तक।

कद-धव-सं०पु० [सं० कदध्वा] कुमार्ग, कुपथ (डि.को.)

कदन-सं०पु०—१ दुख (अ.मा.) २ युद्ध (अ.मा.) ३ नाश, ध्वंस। उ०—सकुनी जीतै सार, घण अम्रत विख घोळियौ। होणहार री हार, करनी भारत री कदन।—रांमनाथ कवियौ

कदम-सं०पु० [अ०] १ डग, पांव (डि.को.) २ गति. ३ घोड़े की एक चाल विशेष. ४ देखो 'कदंब' (१) ५ राजस्थानी का एक छंद विशेष जिसके प्रत्येक चरण में सगण, नगण, रगण होते हैं और अंत में लघु होता है (ल.पिं)

कदमखंडिया-सं०पु०—रामावत साधुओं की एक शाखा विशेष (मा.म.)

कदमूं—देखो 'कदम' (रू.भे.) उ०—कळ कदमूं के लंगर भारी, कनक की हूंस, जवाहर के जेहर, दीपमाळा की रूस, भालू के आडंबर चहुं तरफ कूं भाखे।—र.रू.

कदम्म—देखो 'कदम'। उ०—वह हरोळ जळ बीज, कीच चंदोळ कदम्मां। थाट जांण थाटियौ, पुनः दस आठ पदम्मां।—मे.म.

कदयक—देखो 'कदियक' (रू.भे.)

कदयांई-वि०—कभी का।

कदर-सं०स्त्री० [अ० कद्र] १ मान, प्रतिष्ठा. २ हाथ या पैर में कांटा या कंकड़ चुभने से होने वाली गांठ (अमरत)

कदरज-वि० [सं० कदर्य] १ नीच कुलोत्पन्न, पतित (क.कु.बो.) २ कायर. ३ कृपण। उ०—अरथात कायर सूंब कदरजां रुपिया भेळा कीधा है। प्रजा री खून चूसने और वांरा गहणा कराया है।' —वी.स. टी.
सं०स्त्री० [सं०] धूलि, मिट्टी। उ०—धर कदरज कदरज त्रिरछ, भी कदरज फळ पात। जन हरिदास ता विरछ कुळ, विपति नदी वहि जात।—ह पु.वा.

कदरदांन-सं०स्त्री० [अ० कद्र+फा० दां] कदर जानने या करने वाला, गुणग्राहक।

कदरदांनी-सं०स्त्री० [अ० कद्र+फा०दां रा०+नी] गुणग्राहकता।

कदळीखंड—देखो 'कजळी वन'। उ०—पट्टकूळ पट्टणी देस मोगी धर दक्षण। कुंजर कदळीखंड विप्र तेरोतरी विचक्षण।—ढो मा.

कदळी-सं०पु० [सं०] केले का पेड़ या केला। उ०—१ गिर नीलम पसवाड़ किलोळां हेत सुहावै। हेम कदळिया चौफेरी में रुड़ी लखावै। —मेघ.
उ०—२ हंस चलण कदळीह जंघ, कटि केहर जिम खीण। मुग सिसहर खंजर नयण, कुच स्रीफळ कंठ वीण।—ढो.मा.

कदवद-वि० [सं० कद्वद] मूर्ख (ह.नां.)

कद-क्रि०वि०—१ कब २ कभी. उ०—कहै मुझ मिटै नह सोच कदा, सुज जींद सरांणै साल सदा।—पा.प्र.

कदाक-क्रि०वि०—कदाचित्, शायद। उ०— राहू कदाक न आयौ तौ, चकोर तौ आवसी। जावसी न आग माथै, चहरा ने चूंथ जावसी। —अज्ञात

कदाच, कदाचित-क्रि०वि० [सं० कदाचित्] कभी, शायद। उ०—त्यांह कै संकोचि पूछ्यौ न जाय अर मन मांहि डर छै कदाचित यौं वहै जु नाया। ज्यौं-ज्यौं ब्राह्मण नजीक आवै छै त्यौं-त्यौं रुखमणीजी ब्राह्मण का मुख की धारणा तार्क छै।—वेलि टी.

कदापि-क्रि०वि० [सं० कदा+अपि] किसी समय भी, हरगिज।
उ०—निरापराध लोक पै कदापि कोपते नहीं, कृपाळ लोक-नीक ठीक लीक-लीक लोपते नहीं।—ऊ.का.

कतिया-सं०स्त्री०—एक प्रकार की छुरी ।

कतियौ-सं०पु०—धातु काटने का लोहे का एक औजार विशेष ।

कती-वि०—कितनी । उ०—वरिट्ठ में वरिट्ठ जे बहेक तिन्न साळि तें, गरिट्ठ में गरिट्ठ ते गुरे कती गजाळि तें ।—ऊ.का.

सं०स्त्री०—१ एक प्रकार का शस्त्र । उ०—कसै हाथळां टोप मोजा कगल्लं, जमद्दाढ़ वांमै जिकै खाग ढल्लं । गुपत्ती कती संगि गद्दा गुरज्जं, वसै आवधां त्रीस छै भुज्झ कज्जं ।—वचनिका

२ छोटी तलवार. ३ कटारी. ४ एक प्रकार की कतरनी जिसका उपयोग सोनार करते हैं ।

कतीन-सं०पु०—एक प्रकार का शस्त्र विशेष जो कती या कातीन से बनावट में भिन्न होता है ।

कतीयांणी—देखो 'कतियांणी' (रू.भे.)

कतीरांमपुरी-सं०स्त्री०—एक प्रकार की तलवार ।

कतूळ, कतूहळ-सं०पु० [सं० कुतूहल] १ कौतुहल, उत्सुकता ।
उ०—कवर कतूहळ केळ, केळ चढ़त चौगणौ चाव ।—र. हमीर
२ आश्चर्य, अचंभा । उ०—यादव रावळ स्री हरिराज, जोड़ी तास कतूहळ काज ।—ढो.मा.

कतेई-अव्यय [अ० कतई] नितांत, बिल्कुल ।

कतेड़-वि०—सूत आदि कातने में निपुण ।

कतेब-सं०पु० [सं० कात् ब्रह्मण: तेपते क्षरतीति कतेपो वेद:] वेद ।
उ०—१ उर पतसाह उचाट अत, वाट अटक्की देख । मिरच हुतासण होमिया, मंत्र कतेब विसेख ।—रा.रू. उ०—२ सिधां आगम चार वेद कतेब कहंदे ।—केसोदास गाडण

कतोदई, कतोदईव-क्रि०वि०—१ शायद. २ कदाचित् ।
उ०—कवळ कियां जिण में कसर, राखी रती न रंच । आलीजौ अळसै अज्यूं, कतोदईव कदंच ।—र. हमीर

कतौ-वि०—कितना ।

कत्तरणी, कत्तरनी—देखो 'कतरनी' (रू.भे.)

कत्तळी-सं०स्त्री०—संहार, ध्वंश ।
उ०—छछोहां भड़ाळां पेखै, आभै गिरवांण छायौ । कत्तळी वार में आयौ करंतौ कुवाद ।—गीत डूंगजी रौ

कत्तिन-सं०स्त्री०—एक प्रकार का शस्त्र विशेष (मि० 'कती')
उ०—जडे छक्कडी टोप नाही जरद्दा, गुपत्तिन कत्तिन छत्तिन गद्दा ।—ना.द.

कत्तियांणी—देखो 'कतियांणी' । उ०—देवी व्रज्ज विमोहणी वोम वांणी, देवी तोतळा गूंगळा कत्तियांणी ।—देवि.

कत्ती—देखो 'कती' (रू.भे.)

कत्तीचिमतदार-सं०स्त्री०—एक प्रकार का शस्त्र ।

कत्तौ-वि०—कितना (मि० 'कतौ')

कत्थ—१ देखो 'कथ' (रू.भे.) उ०—आया दूत उतावळा, सुणी अर्ज समरत्थ । भ्रम पड़ियौ मोटां भड़ां, कोटां पूगी कत्थ ।—रा.रू.
२ कहावत ।

कत्थणौ, कत्थबौ—देखो 'कथणौ' (रू.भे.)

कत्य-सं०पु० [सं० कृत्य] अंतिम संस्कार तथा उसके बाद के कृत्य ।
उ०—राजा नुं सत्यां सायै मजल पहुंचायौ, राजा रौ कत्य कीयौ ।—चौबोली

कत्यांणी—देखो 'कतियांणी' ।

कत्रदाकी-सं०पु०—वह घोड़ा जिसका रंग पीला हो किन्तु चारों पैर सफेद हों ।—शा.हो.

कथ-सं०स्त्री [सं० कथा] १ कथा, बात । उ०—१ कूड़ा पुजारी कूड़ी कथ कीन्ही, देवण कांनां में पंजीरी दीन्ही ।—ऊ.का. उ०—२ सरस पुरांणां बीच सुणी थी, किसन सुदामा तणी कथ ।—वां.दा.
२ वृतान्त, हाल, विवरण । उ०—कहे 'महेस' 'महेस' सुणौ कथ, गात अडोळै फिरूं गळै । विच माळा रुंड मेर वणाऊं, मसतक जौ साबूत मिळै ।—उम्मेदजी सांदू ३ वचन, शब्द । उ०—काहिल वांण कूक अग कीधी, दौड़ 'लछण' आग्या मौ दीधी । भूप मैं नटे जद कटुक कथ भाखिया ।—र.ज.प्र. [सं० कथश्लाघायाम्] ४ कीर्ती, यश ।
उ०—१ राखण कथां वीच दोय राहां, मांगण चित वधारण मोद ।—रणसिंह सीसोदिया रौ गीत ।
उ०—२ पंच पुत्र ताइ छठी सुपुत्री, कुंअर रुकम कहि विमळ कथ । रुकम बाहु अनै रुकमाळी, रुकम केस नै रुकम रथ ।—वेलि.
[सं० कत्थ्य] ५ धन, द्रव्य (ह.नां) ६ कहावत. ७ बकझक ।

कथक-वि० [सं०] १ नाचने गाने वाला (मा.म.) २ कथा करने वाला ।
उ०—कवि पंडित गायक कथक, मंत्री गज भड़ मल्ल । तौ दरबार जिता तिता, जग चावा 'जेहल्ल' ।—वां.दा.

कथण—देखो 'कथन' ।

कथणी-सं०स्त्री—१ कहने की क्रिया या भाव, उक्ति, कथन । उ०—जरै मनसा मथणी मथ जांण, करै कथणी कथ कै गुजरांण ।—ऊ.का.
कहा०—कथणी सूं करणी दोरी—कहने से करना कठिन होता है ।
२ बातचीत. ३ कहने का ढंग या रीति. ४ बकवाद, हुज्जत ।

कथणौ, कथबौ-क्रि०स०—१ कहना । उ०—स्रीपति इसी कुण की कत्ति छै जु तुहारौ गुण कथै ।—वेलि टी. २ जपना. ३ वर्णन करना । उ०—कथूं केम ईसर कहै, खांण सकळ व्रत खेत । बांणी स्रवणां मन वसी, निगम अगोचर नेत ।—ह.र.
४ काव्य-रचना करना ।

कथणहार, हारौ (हारी), कथणियौ—वि० ।

कथिओड़ौ, कथियोड़ौ, कथ्योड़ौ—भू०का०कृ० ।

कथीजणौ, कथीजबौ—कर्म वा० ।

कथन-सं०पु०—१ कथा, वृतांत, बात. २ वचन, शब्द, बोल ।
उ०—रहणा इकरंगाह, कहणा नहि कूड़ा कथन । चित उज्ज्वळ चंगाह, भला ज कोइक भैरिया ।—राजा बलवंतसिंह
३ हुक्म । उ०—करै कुण समर फरंगांण मांनै कथन ।—जवांनजी आढ़ौ

सं०पु० [सं० कर्ण] १ कान. २ राजा कर्ण. ३ श्रीकृष्ण ।
उ०—करतो कहा न हुवै कन, नारायण पंकज नयण ।—अलूदाम

कनअज्ज, कनउज्ज, कनओज—देखो 'कन्नौज' ।

कनओजी–वि०—कन्नौज नगर का, कन्नौज नगर संबंधी (प्रायः यह राठौड़ क्षत्रियों के लिए प्रयुक्त होता है)

कनक–सं०पु०[सं०] १ स्वर्ण, सोना (अ.मा.) २ धतूरा (डि.को.) ३ एक प्रकार का घोड़ा ।—शा.हो. ४ छप्पय छंद का एक भेद जिसके अनुसार २१ गुरु और ११० लघु से १३१ वर्ण या १५२ मात्रायें होती हैं (र.ज.प्र.) ५ एक वर्णिक छंद जिसमें एक रगण एवं एक जगण के क्रम से १४ वर्ण होते है तथा अंत में लघु होता है (ल.पि.) ६ वेलिया सांणोर नामक छंद का एक भेद विशेष जिसके प्रथम द्वाले में ४४ लघु व १० गुरु सहित ६४ मात्रायें होती हैं तथा शेष द्वालों में ४४ लघु ९ गुरु सहित कुल ६२ मात्रायें होती हैं (पि.प्र.)
वि०—पीला, पीत# (डि.को.)

कनककेसर–सं०पु० [यौ०] एक प्रकार का रंग विशेष का घोड़ा । (शा.हो.)

कनकगढ़–सं०पु०यौ०—१ जालोर का किला या गढ. २ लंका ।

कनकगिर–सं०पु०यौ० [सं० कनक+गिरि] १ सुमेरु पर्वत (अ.मा., नां.मा.) २ जालोर का पर्वत (मि. 'कणियाचळ')

कनकपसाव–सं०पु०—एक प्रकार का घोड़ा विशेष (शा.हो.)

कनकप्यार–सं०पु०—एक प्रकार का घोड़ा (शा हो.)

कनकबीज–सं०पु०—एक प्रकार का घोडा (शा.हो.)

कनकलता–सं०स्त्री०यौ० [सं० कनक+लता] स्वर्णलता नामक एक लता ।

कनकवरीसण–सं०पु०यौ० [कनकवर्षण] सूर्य पुत्र कर्ण ।
(मि० 'कनकव्रवण')

कनकवेलि, कनकवेली–सं०स्त्री०यौ०—स्वर्णलता नामक एक बेल ।
उ०—रांमा अवतार नांम ताइ रुखमणि, मान-सरोवर मेरुगिरि ।
बाळकति करि हंस चौ बाळक, कनकवेलि बिहुं पांन किरि ।
—वेलि.

कनकव्रवण–सं०पु०यौ०—सोने का दान करने वाला राजा कर्ण ।
उ०—रयण दियण पाताळ न राखै, कनक व्रवण रुधो कविलास ।
महि-पुटि गज-दातार ज मारै, विसन किसै पुड़ि मांडूं वास ।
—दुरसौ आढौ

कनकाचळ–सं०पु०—१ सुमेरु पर्वत (अ.मा., नां.मा.) २ जालोर का पर्वत ।

कनखळ–सं०पु०—१ हरिद्वार से तीन मील दूर एक तीर्थ स्थान. २ कोलाहल, शोरगुल ।

कनड़–सं०पु० [सं० कृष्ण] श्रीकृष्ण ।

कनड़ी–सं०स्त्री०—एक राग विशेष (मीरां)

कनड़ौ–सं०पु०—१ वस्त्र का छोर. २ देखो 'कन्हड़ौ' (रू.भे.)
[सं० कर्ण] ३ कान ।

कनन–वि० [सं०] जिसके केवल एक आंख हो, काना (डि.को.)

कनपड़ी–सं०स्त्री०—कान और आंख के बीच का भाग, कनपटी ।

कनपटौ—देखो 'कनफड़ी' ।

कनपट्टी, कनफड़ी–सं०स्त्री०—कान और आंख के बीच का भाग, कनपटी
उ०—फीका चैं'रा पड फीका द्रग फेरै, हाहा ऊंडा दिन भूंडा भय हेरै ।
किडकी कारायण कनफड़ियां कूटी, तिडगी तारायण सौ पुरसां तूटी ।
—ऊ.का.

कनफड़ौ–सं०पु०—१ कानों को छिदवा कर उनमें बिल्लौर की मुद्रा पहिनने वाले गोरखपंथी योगी । कनफटा साधु. २ देखो 'कनपट्टी' ।

कनफूल–सं०पु० [सं० कर्णफूल] कर्णफूल के समान ही किन्तु उससे कुछ भिन्न बनावट का ललाट से कान तक का धारण करने का स्त्रियों का आभूषण ।

कनवज्ज–सं०पु०—कन्नौज का एक पुराना नाम ।

कनमूळ–सं०पु०—कान के पास होने वाली ग्रंथि (रोग)

कनलौ–वि०—पास का, निकट का । उ०—हुमायूं दिल्ली आय तखत बैठौ । कितौईक कनलौ देस जवत कियौ । सिकंदरसाह लाहौर रा पहाडां में पैठौ ।—बां.दा. ख्यात

कनवज–सं०पु०—कन्नौज नगर का प्राचीन नाम ।

कनवजियौ–सं०पु०—कन्नौज का, कन्नौज संबंधी, राठौडवंशी क्षत्रिय ।

कनवज्ज–सं०पु०—कन्नौज का प्राचीन नाम विशेष ।

कनवत–सं०पु०—घोड़े के कान, घोड़े के कानों के रहने का ढंग ।

कनसट–वि० [सं० कनिष्ट] छोटा ।
सं०पु —छोटा भाई ।

कनसळाई, कनसळौ—देखो 'कांनसळाई' ।

कनसूरि, कनसूरौ–सं०पु०—कान के पास का हिस्सा, कनपटी ।

कनस्ट–सं०पु [सं० कनिष्ट] छोटा भाई (अ.मा.)

कनात—देखो 'कनात' । उ०—जूंनी ले कनातां तेल सीचो आगि जाळी ।
हुई राळ सारी तेल घी सौं सीचि राळी ।—गि व.

कना–क्रि०वि०—१ पास, निकट (देखो 'कनै') । उ०—तिकै राजावां कनां सूं मूंडा सूं चुगावै नै चुगतौ जेज करै तौ लांबा पिराणौ ।
[सं० किंवा] २ या, अथवा. —कहवाट सरवहिया री वात.
उ०—कोप रुद्र-माळ का विहगां नाथ जूटौ कना, रूठौ गौरां माथै प्रळै काळ की सौ रूप ।—गिरवरदांन कवियौ. ३ मानों ।
उ०—मनु सजुति लोकेस, कना रवि हूंत प्रजापति । कै रघुवीर कुंवार, लियां अवधेस प्रभा जुति ।—रा.रू.

कनाअण–सं०पु०—घोड़े के कान । उ०—प्रिसण ज्यौं मुख बांकौ कीआ थका कनाअण मिळी आंजार सूं छिनाळ मुख वांकौ करि रह्यौ ।
रा.सा.सं.

कनाई–सं०पु०—कन्हाई, श्रीकृष्ण । उ०—वधाई-वधाई जसोदा वधाई, करै मोरली नाद ठाढौ कनाई ।—ना.द.

कनात–सं०स्त्री [तु० कनात] १ किसी जगह को घेर कर आड़ करने

कदास–क्रि·वि०—कदाचित्, कभी, शायद (रू.भे.) उ०—आंखियां अकास सांमी लागोड़ी, कदास भगवांन अवैई निवाजे, गउवां रै भाग री वरसै, कदास अवैई इंदर राजा तूठै।—वरसगांठ

कहा०—कदास डाळी निव जाय—कदाचित् डाली झुक जाय; संभव है सफलता मिल जाय; संभव है अच्छे दिन लौट आवें।

कदि—देखो 'कदि' (रू.भे.)

कदियक–क्रि०वि०—१ कब. २ कभी। उ०—मैंगळ ऐथी आव मत, वाघां केरी वाट। साप अंगूठा मेळ ज्यूं, कदियक हुसी कुघाट।- -वां.दा.

कदियाड़ै–क्रि०वि०यौ०—किस दिन, कब।

कदी–क्रि०वि०—१ कभी, किसी दिन। उ०—किसूं गणावै पीढ़ियां ख्यात सारी कहे. दुनी प्रव प्रव प्रगट सुजस दीधौ। कदी ही कियौ नह रूसणौ, कुचांमण सांमध्रम सदा कीधौ।—वां.दा. ख्यात

२ कब. उ०—बीजुळियां चहळावहळि, आभइ आभइ एक। कदी मिळूं उण साहिबा, कर काजळ की रेख।—ढो.मा.

कदीक–क्रि०वि०—कभी।

कदीकौ–वि०—कभी का।

कदीम–क्रि०वि० [अ० बहु० क़ुद्मा] प्राचीन काल से, परंपरा से, सदैव।

उ०—यळ सारी यम ऊचरै, कमसळ औध कदीम। म्हां ऊभां इज म्हांह री, सारंग दावै सीम।—पा.प्र.

वि०—पुराना, प्राचीन।

कदीमी–वि० [अ० कदीम] प्राचीन, परंपरा का, पुराना।

उ०—जणां सगळा अरज करी–सरकार हम तौ कदीमी नौकर हैं, ऐसा आज क्या हुवा ?—पदमसिंह री वात

कदीरौ–वि०—कभी का।

कदीसेक–क्रि०वि०—कभी, प्रायः, कभी-कभी।

कदू–सं०पु० [फा०] लौकी या घीया नामक तरकारी, कद्दू।

कदे, कदेइक, कदेई—देखो 'कदै' (रू.भे.) उ०—मारू सनमुख तेड़िया, दियण संदेसा कज्ज। कहउ कदे थे चालिस्यउ, कांइ विहांणइ अज्ज।—ढो.मा.

कदेईन–क्रि०वि०—कभी भी।

कदेक–क्रि०वि०—कब तक। उ०—कदेक सपनां मांय, सायधण आंण मिळांणी। धण लेतौ गळबत्थ, पसारूं उरसां पांणी।—मेघ.

कदेकण–क्रि०वि०—कभी।

कदेकरौ, कदेकौ–वि०—कभी का।

कदेय–क्रि०वि०—कभी। उ०—कदेय न आवै सायबौ म्हारौ कदेय न आवै वीर। मारौ ए रतना दासी कागलिया रै तीर।—लो.गी.

कदेरोई, कदेरौ–वि०—कभी का।

कदेव–सं०पु०—कृपण, कंजूस।

कदेहिक, कदेहीक–क्रि०वि०—कभी। उ०—तरै कैवाटजी कह्यौ, भांणेज, म्हांरी देह, म्हारा रजपूत, ज्यांसूं जोर कर अमल करणौ किसी भारी वात छी, पिण कदेहीक वणसी जद कहिस्यां।—कहवाट सरहविया री वात

कदै–क्रि०वि०—कभी। उ०—१ जनक सुता रै स्नांन जेथ रौ निरमळ पांणी। गहरी विरछां-छांह जाय न कदै वखांणी।—मेघ.

उ०—२ कदै इणे पण म्हारौ कथन न लोपियौ। एक पलक म्हांसूं आघौ न रह्यौ।—पलक दरियाव री वात

कहा०—१ कदैई सुपनौ साचौ करणौ'क नहीं ?—कभी सपना सच्चा करना या नहीं। अनेक वार कहने पर काम न कर दिखलाने वाले के लिये। जब कोई अनेक वार कहने के बाद एक वार काम करदे। २ कदै गाडी चीलां पर तौ कदै खरबूजां में ही सही—अच्छे और बुरे समय आते ही रहते हैं। ३ कदै गाडी नाव पर तौ कदै नाव गाडी पर। कदै गाडी नाव में नै कदै नाव गाडे में—कभी गाड़ी नाव पर तो कभी नाव गाड़ी पर; जब विभिन्न परिस्थितियों के व्यक्ति परस्पर सहायता करें; दो भिन्न परिस्थितियों के व्यक्तियों का परस्पर भाग्य-परिवर्तन; कभी एक का दोष तो कभी दूसरे का। ४ कदै घी घणां, कदै मुट्ठी चिणा—कभी खूब घी से चकाचक माल और कभी केवल मुट्ठी भर चने; संसार में सभी दिन एक से नहीं होते; जो कुछ ईश्वर दे उसी से संतोष करना चाहिये। ५ कदै तौ मरिया न कदै सुरग गया—कब मरे और कब स्वर्ग गये; बिना करनी के केवल कथणी करने पर। ६ कदै दिन वडा, कदै रात वडी—कभी दिन वड़े और कभी रात वड़ी; समय सदा एक-सा नहीं रहता; कभी एक का दांव, कभी दूसरे का। ७ कदै न घोड़ा हीसिया कदै न खांच्या तंग, कदै न रांडचां (गांडू) रण चढ़चा, कदै न वाजी वंब—कायर और डरपोक आदि से सहायता की आशा न रखनी चाहिये। दान न मिलने पर कंजूस यजमान के लिये याचक जातियों के लोगों का कथन।

कदैई–क्रि०वि०—कभी।

कदैईसेक–क्रि०वि०—कभी-कभी।

कदैक–क्रि०वि०—कभी।

कदोकोई, कदोकौ–वि०—कभी का। उ०—कमंध जादवां वैर कदोकौ, ऊंचा सरै उजियाळै आय।—अज्ञात

कदौ–वि०—काला, श्याम, कृष्ण।

कद्दन–वि० [सं० कदन] कटा हुआ, नष्ट, ध्वस्त। उ०—गरद्दन कद्दन केक मुगल्ल। छटे खग वेख क मेख छगल्ल।—मे.म.

कद्रदांन–वि० [अ० कद्र+फा० दांन] गुणग्राहक (रू.भे. 'कदरदांन')

कद्रदांनी—देखो 'कदरदांनी' (रू.भे.)

कधरा–सं०स्त्री०—परिहार वंश की एक शाखा।

कधी–क्रि०वि०—कभी। उ०- -कंत मचाड़ै नह कधी, काचां रै घर कूक। मुड़ै विरोळै माझियां, रोळै सोणित रूक।—वी.स.

कध्धौ–भू०का०प्र०—'करणौ' क्रिया का भू०का०प्र०, किया।

उ०—चढ़ै सिंघ चामूंड कमळ हूंकारव कध्धौ, डरौ चरंतौ देख असुर भागियौ अवध्धौ।—अज्ञात

कन–अव्यय—१ या, अथवा। उ०—भूपां मिण जेहौ भाराणौ, लाखौ कन लाखौ फूलांणी।—क.कु.वो. २ ओर, तरफ।

द्वारा किया जाने वाला उपवास। रात्रि को पाणिग्रहण संस्कार के बाद ही भोजन किया जाता है। उ०—लाख जग्य राजसू लाख असमेध करीजै। लाख भार मोवना, लाख कन्यावळ लीजै।—अलूदास

कन्ह—सं०पु [सं० कृष्ण] १ श्रीकृष्ण। उ०—कन्ह आरती कन्ह आरती, मंढ़ हुवै नैयर द्वारामति।—ईसरदास बारहठ २ पृथ्वीराज का चाचा, एक सामंत (ऐतिहासिक) या, अथवा।

कन्हइ—क्रि०वि०—१ पास, नजदीक। उ०—मइं घोड़ा वेच्या घणा, रहियउ मास चियारी। राति दिवस ढोलई कन्हइ, रहतइ राज-दुवारि।—ढो मा. २ अगाड़ी। उ०—सउदागर राजा कन्हइ, कहियउ एक विचारि—ढो.मा.

कन्हड़, कन्हड़ौ—सं०पु०—१ एक राग विशेष। उ०—कलंग परज कन्हड़ां, सुरांमवाद सुग्घड़ां। निवास सात नाळियं, त्रिग्रांम मूळ ताळियं।—रा.रू. २ श्रीकृष्ण

कन्हर—सं०पु० [सं० कृष्ण] श्रीकृष्ण। उ०—कियौ मनु वाडव सिंधु प्रलोप, कियौ मनु कंस पै कन्हर कोप। भरी मनु सिंध करीनि पै डग्ग, अरज्जन येम लग्यौ जुध मग्ग।—ला.रा.

कन्हा—क्रि०वि०—पास, निकट, नजदीक। उ०—दुरवेस कन्हा गरहावि देस। नमि कोट विची न रहिय नरेस।—रा.ज.सी.

कन्है—क्रि०वि०—समीप, निकट, पास। उ०—कमधां धणी हुकम नव कोटां, मिळिया सुपह कन्है पह मोटां।—रा.रू.

कन्हैयौ—सं०पु०—१ एक पक्षी विशेष। (रू.भे. 'कनैयौ') २ श्रीकृष्ण।

कप—सं०पु० [सं० कपि] १ वंदर, लंगूर (अ.मा.) उ०—जे वनवास हराय महाछळ, कप हैज्जम अणपार कस।—र.रू.
[अं० कप] २ प्याला।

कपड़—सं०पु०—देखो 'कपड़ौ' (डि.को.) उ०—हुसनाकां तरकसां सूं मेण कपड़ री खोळी उतारि लीधी छै। कवांणा चाक कीजै छै।
—रा.सा.सं.

कपड़कोट—सं०पु०यौ०—१ पहिनने के कपड़े या वस्त्र. २ खेमा, तंबू।

कपड़छांण—सं०पु०—किसी बारीक कुटे-पिसे चूर्ण को कपड़े से छानने की क्रिया या भाव, कपड़छन।

कपड़णौ, कपड़बौ—क्रि०स०—देखो 'पकड़णौ' (रू.भे.)
कपड़णहार, हारौ (हारी), कपड़णियौ—वि०—पकड़ने वाला।
कपड़ाणौ, कपड़ाबौ, कपड़ावणौ, कपड़ावबौ—स०रू०।
कपड़िग्रोड़ौ, कपड़ियोड़ौ, कपड़्योड़ौ—भू०का०कृ०।
कपड़ीजणौ, कपड़ीजबौ—कर्म वा०।

कपड़दार—सं०पु०—कपड़े सीने वाला दर्जी।

कपड़माटी, कपड़मिट्टी—सं०स्त्री०—औषधि व धातु फूंकने के लिए उस पर कपड़े से गीली मिट्टी लपेटने की क्रिया (अमरत)

कपड़-विदार—सं०पु०—दर्जी (डि.को.)

कपड़ा—सं०पु०—१ कपड़े का बहुवचन। देखो 'कपड़ौ'. २ रजस्वला स्त्री का दूषित रक्त. ३ रक्त-प्रदर नामक स्त्रियों का रोग विशेष।
क्रि०प्र०—'पड़णा'।

कपड़ाआयोड़ी—वि०स्त्री०—रजस्वला, ऋतुमती।

कपड़ाणौ, कपड़ाबौ—क्रि०स०—१ पकड़ाना। देखो 'पकड़णौ'. २ कपड़ा लपेट कर पलंग की पट्टी को पाये में फंसा कर मजबूत करना।

कपड़ारीकोठार—सं०पु०—राजा-महाराजाओं का वह विभाग जिसके अंतर्गत कपड़ों की देखभाल एवं उनका संग्रह रक्खा जाता था।

कपड़ियोड़ौ—भू०का०कृ०—पकड़ा हुआ (स्त्री० कपड़ियोड़ी)

कपड़ौ—सं०पु० [सं० कर्पट] १ वस्त्र, पट।
पर्याय०—अंबर कपड़, करपट, चीर, चैल, दुकूल, पट, पूंगरण, बसतर, वसण।
२ सिला हुआ वस्त्र, पोशाक।
क्रि०प्र०—उतारणौ, पैरणौ, फाटणौ, होणौ।
मुहा०—१ कपड़ा उतरवाणौ— सबकुछ ले लेना; बेइज्जत करना. कपड़ा उतारणा—कुछ भी न छोड़ना. सबकुछ ले लेना.
कहा०—१ कपड़ा सपेत'र घोड़ा कमेत—कपड़ा सफेद और घोड़ा कमेती रंग का उत्तम होता है. २ कपड़ा फाट गरीबी आई, जूती फाटी चाल गमाई—कपड़े फटे और गरीबी आई, जुती फटी और चाल बिगड़ी. ४ कपड़ो कै तूं म्हारी इज्जत राख हूं थारी राखूं—कपड़ा कहता है कि तुम मेरी इज्जत रक्खो, मैं तुम्हारी रक्खूंगा; कपड़ों को खूब सावधानी से रखना चाहिये क्योंकि ऐसा करने से कपड़े अच्छे रहते हैं और अच्छे कपड़ों से आदमी की इज्जत होती है।
यौ०—कपड़ा-लत्ता।

कपट—सं०पु० [सं० क+पट्+अल्] १ अपने इष्ट-साधन के हेतु हृदय की बात छिपाने की वृत्ति, छल, प्रतारण, दुराव, छिपाव।
२ धोखा।
पर्याय०—कूट, कूड़, कैतव, छदंभ, छंद, छदम, छळ छेतरण, ठग, तोत, दंभ, द्रोह, परवाद मनद्रं ह, विपद, विपदेस, व्याज।
क्रि०प्र०—करणौ, राखणौ।
३ बहत्तर कलाओं के अंतर्गत एक कला।

कपटता—सं०स्त्री०—धूर्तता, छल, धोखा।

कपटी—वि०पु० (स्त्री० कपटण) छली, धोखेबाज, कुटिल (डि.को.)
पर्याय०—अनजु, कुहक, जाळिक, धूरत, निकत, वंचक, सठ।

कपणियौ—सं०पु०—मिट्टी का बना कच्चा पात्र जिसे दीपक पर रख कर काजल बनाया जाता है।

कपणौ—वि०—देखो 'कप्पणौ'।

कपणौ, कपबौ—क्रि०अ०—१ कटना। उ०—किरमाळ झड़े तन आंण कपै, झळके किर दांमण मेघ वपै।—रा.रू. २ कम होना.
३ नाश होना, मिटना। उ०—धन मात पिता जिण बंस धर, कळुख तिकां दरसण कपै। कवि किसन कहै धन नर तिकै, जिके रसण रघुवर जपै।—र.ज.प्र. [सं० कंप] ४ कंपायमान होना.
क्रि०स०—५ नाश करना, मिटाना।

वाला मोटे कपड़े का पाल, पर्दा करने का कपड़ा। उ०—घड़च कनातां धार सूं, गौ रहवास मझार। नूरमली लख ल्हासतै, मौर झली तलवार।—रा.रू. २ छोर, किनारा।

कनाय—देखो 'कनात'। उ०—कनाणं पड़दां तांणीजै छै। चोहवचा मांहै जळ केळरा रंग तरंग मांणीजे छै।—रा.सा सं.

कनार–सं०स्त्री०—१ घोड़े का एक रोग विशेष जिसके कारण खांसते समय नाक में से गाढ़ा या पतला श्लेष्मा निकलता है, घोड़े का जुकाम। (शा हो.) २ देखो 'किनार', या 'किनारी'।

कनारी–सं०स्त्री०—देखो 'किनारी' (रू.भे.) उ०—लाल चोभणै मांमा मोचा, लाल कनारी जोड़ौ। लाल पाघड़ी रातौ वागौ, रातै मद्दियै चोड़ौ।—डूंगजी जवारजी री पड़

कनारौ–सं०पु० [फा० किनारा] १ तीर, तट (डि.को.) २ छोर. ३ हाशिया।

कनिश्रांन–सं०पु०—छोटा भाई (ह.नां.)

कनियरसौ–सं०पु० [सं० अकनीयस्] तांबा (अ.मा.)

कनियांण, कनियांणि, कनियांणी–स०स्त्री०—करनी देवी का एक नाम। उ०—मेलै फौज कामरां मिरजो, ऊ जंगळधर आयौ। केवी तै भांजै कनियांणी, जैतराव जीतायौ।—बां दा.

कनियांन–सं०पु०—छोटा भाई (ह.नां.)

कनिसट, कनिस्ट–सं०पु० [सं० कनिष्ट] छोटा भाई (ह.नां.)

कनी–सं०स्त्री०—१ देखो 'कणी'. २ सेना, फौज (अ.मा.) [सं०] ३ कन्या, पुत्री। उ०—काका अजय तणी कनी प्रभावती करिपेस वूंदी नृप बरसिंह अपणायौ नए एस।—वं.भा. [रा०] ४ हीरे का बहुत छोटा टुकड़ा।

कनिअस–सं०पु० [सं० अकनीयस्] ताम्र, तांबा (ह.नां.)

कनीपाव–सं०पु० [सं० कृष्णपाद] नाथ संप्रदाय की काळबेलिया जाति के गुरु कृष्णपाद।

कनीयस–सं०पु०—तांबा (ह.नां.)

कनीर–सं०पु०—कनेर का वृक्ष या उसका पुष्प (अमरत)

कनूर, कनूरौ–सं०पु० [सं० कर्ण] १ कर्ण, कान. २ कनपटी।

कनेठ–सं०पु० [सं० कनिष्ठ] अनुज छोटा भाई। उ०—की कह भ्रात कनठ! नांम रेखा की लहजे।—र.ज.प्र.

कनै–क्रि०वि० [सं०-कर्ण] १ पास। उ०—वाघ विधूंसै वाह रां, आरण छूरा उपाड़। सीलाया सूणिया नहीं, वाघां कनै विगाड़।—बां.दा. कहा०—कनै कौड़ी कोनी, नांव किरोड़ीमल—पास में तो कौड़ी ही नहीं और नाम करोड़ीमल; नाम के अनुसार गुण नहीं हो तो व्यंग में यह कहावत कही जाती है।
२ साथ, साथ में। उ०—असवार १५० विजै कनै था, रावत कनै तौ साथ घणौ थौ पिण विजौ जीतौ।—नैणसी ३ निकट, समीप।

कनैयौ–सं०पु० [सं० कृष्ण] १ श्रीकृष्ण. २ एक प्रकार का छोटा पक्षी जो अपना घोंसला बड़े विशेष ढंग से बनाता है। यह प्रायः सायंकाल को झुंड बना कर आकाश में उड़ता है। उ०—जळहर ऊंचा आविया, बोल रह्या जळ काग। देण वधाई मेहरी, रह्या कनैया भाग।—बादळी

कनोई—देखो 'कंदोई' (रू.भे.)

कनोजियौ, कनोजौ–सं०पु० (स्त्री० कनोजी) १ कान्यकुब्ज ब्राह्मण. २ राठौड़ क्षत्रिय।
वि०—कन्नौज का, कन्नौज संबंधी।

कनोती, कनौती–सं०स्त्री०—घोड़े के कान या कान की नोंक। उ०—वरचि दीप वेत्रड़ा, कळी केवड़ा कनोती। लंकी धजर अलोळ, वजरमणि मोल विचोती।—मे.म.

कन्न–सं०पु० [सं० कर्ण] १ कान, कर्ण। उ०—वेसे विचित्र सिंदूर व्रन्न, कूंडी कपाळ के छाज कन्न।—रा.ज.सी. [सं० कृष्ण] २ श्रीकृष्ण [सं० कर्ण] ३ कुंतीपुत्र कर्ण। उ०—समासम पेल धमाधम सेल, अनातम आतम ठेल उठेल। अमाप तठै वळ खाग अजन्न, कनोज घणौ जु कळा जिम कन्न।—रा.रू.

कन्नि, कन्नी–सं०पु० [सं० कर्ण] कान, कर्ण। उ०—केसरि कथिन्न सांभळि कन्नि, वाउळि कि वन्नि लागउ वहन्नि।—रा.ज.सी.

कन्नौज–सं०पु०—उत्तर प्रदेश का एक प्रसिद्ध शहर (ऐतिहासिक) पर्याय०—कन्याकुब्ज, कानकुवज, पांडवनगर।

कन्नौजियौ—देखो 'कनोजियौ' (रू.भे.)

कन्नौती—देखो 'कनोती'।

कन्न–सं०पु० [सं० कर्ण] कान। उ०—करहा लंब कराड़िआ, वे वे अंगुळ कन्न। राति ज चीन्ही वेलड़ी, तिण लाखीणा पन्न।—ढो.मा.

कन्यका—१ देखो 'कन्या' (अ.मा.) (रू.भे.) उ०—कन्यका तरुण वड़ चमतकार। धर लियौ कठण पण हृदय धार।—पा.प्र. २ पृथ्वी (अ.मा.)

कन्या–सं०स्त्री० [सं०] १ बेटी, पुत्री. २ लड़की, अविवाहिता स्त्री. अक्षतयोनि बालिका. ३ बारह राशियों के अंतर्गत एक राशि. मुहा०—कन्याराशी होणौ—चौपट या निकम्मा होना। ४ पांच की संख्या. ५ दिशा (अ.मा.)

कन्याकाळ–सं०स्त्री० यौ०—१ कन्या का कुंआरा रहने तक का समय. २ रजोदर्शन से पूर्व की अवस्था। उ०—आपरा पुत्रां री संबंध कियौ चाहै सौ राजकुमार रा अ'सय में तुलै तो कन्याकाळ रौ अतिक्रम जांणि अठै ही विवाह करूं।—वं.भा. ३ कन्याओं का अभाव जिससे पुरुष अविवाहित रह जाय।

कन्याकुवज–सं०पु० [सं० कान्यकुब्ज] १ कन्नौज (डि.को.) २ ब्राह्मणों की जाति विशेष, कनवजिया. ३ कान्यकुब्ज देश में वास करने वाला।

कन्यादांन–सं०पु०यौ० [सं० कन्यादान] १ विवाह में वर को कन्या देने की रस्म. २ इस अवसर पर कन्या को दिया जाने वाला दान या संकल्प। उ०—म्हांरै कन्यादांन रा काळ री चाह जांणि गमार अत्यंत ही आणंद में ऊफणिया न मावसी।—वं.भा.

कन्यावळ–सं०पु० [सं० कन्यावलि] कन्या के विवाह के दिन बड़े-बूढ़ों

कपासी-सं०स्त्री०—एक प्रकार का झाड़ या छोटा वृक्ष।

कपिंद-सं०पु०—सिंह। उ०—राड़ीगारो रूक वागां लेखै खळां तूछ रैंळ। जोरावर दूछरैंळ कपिंद गैं जूह।—हुकमीचंद खिड़ियौ

कपि-सं०पु० [सं०] १ बन्दर. २ हनुमान (नां.मा.) ३ सुग्रीव।

कपिकेत-सं०पु०यौ० [सं० कपिकेतु] अर्जुन जिसके रथ की ध्वजा पर हनुमानजी विराजते हैं। उ० सायर जळ कपिकेत सर, पंचाळी चय चीर। यांसूं मौजां आप री, वधती 'जहेळ' वीर।—वां.दा.

कपित्थ-सं०पु० [सं०] कैथे का वृक्ष (डि.को.)

कपिधाय-सं०पु०यौ०—अर्जुन (अ.मा.)

कपिधुज, कपिधुजा-सं०पु०यौ० [सं० कपिध्वज] १ अर्जुन (मि. 'कपिकेत', ह.नां.) २ अर्जुन के रथ की पताका।

कपिपत्त-सं०पु० [सं० कपि+पति] सुग्रीव (रा.रू.)

कपिरथ-सं०पु०यौ०—१ अर्जुन (मि. 'कपिकेत') २ श्रीराम।

कपिराय-सं०पु० [सं० कपि+राट्] १ सुग्रीव. २ हनुमान।

कपिळ-वि०—पीलापन लिए हुए मटमैला रंग का।
सं०पु०—१ पीलापन लिए हुए मटमैला रंग (डि.को.) २ अग्नि. ३ कुत्ता. ४ चूहा. ५ शिव, महादेव ६ वानर, कपि. ७ देखो 'कपळ' (१) (ह.नां.) ८ सफेद रंग की गाय. ९ दक्ष कन्या जो पुंडरीक नामक दिग्गज की पत्नी है. १० कामधेनु. ११ शिलाजीत।

कपिळा-सं०स्त्री० [सं० कपिला] १ सफेद रंग की गाय. २ पीलापन लिए हुए मटमैले रंग की गाय। उ०—देइस हाथ कउ मूंदड़उ, सोवनसिंगी नई कपिळा गाई।—वी.दे.

कपिळेसु, कपिळ्ळ—देखो 'कपळ' (१) (रू.भे.) (ह.र.)

कपी-सं०पु०—१ सूर्य, भानु (डि.को.) २ देखो 'कपि'।

कपीकेत—देखो 'कपिकेत' (ह.नां., पाठांतर)

कपीमुखी-वि०—जिसका मुख बंदर के समान हो। उ०—जोड़ाळ मिळइ जमदूत जोध, काइरा कपीमुक्खी रूक्रोध। कुवरत्त केवि काळा किरिट्ट, गड़दनी गोळ गांजा गिरिट्ट।—रा.ज.सी.

कपीराज, कपीराय-सं०पु० [सं० कपि+राट्] १ हनुमान. २ सुग्रीव. ३ वालि. ४ सूर्य (रू.भे. 'कपिराय')

कपीळ-सं०पु०—बंदर। उ०—कवीळा हणू देवां दळां सिव सगत, नाग दळ सेस सिर भार न सहियौ। गरब गाळण तणी ठौड़ ग्रब गाळियौ, कुळी खट तीस धिन 'पदम' कहियौ।—द.दा.

कपीळा-सं०स्त्री०—१ मध्यप्रदेश की एक नदी. २ देखो 'कपळा'।

कपीस, कपीस्वर-सं०पु० [सं० कपीश, कपीश्वर] वानरों का राजा यथा-सुग्रीव, अंगद, हनुमान आदि (डि.को.)

कपूत-वि० [सं० कुपुत्र] बुरा लड़का, दुराचारी पुत्र।
कहा०—कपूत बेटो खांद नै तो अरथ आवेला. २ कपूत पूत खांद नै कांम आवै—कपूत बेटा बाप की अरथी को कन्धा देने के काम में आता है; कपूत और किसी काम का नहीं होता। नालायक आदमी भी कभी न कभी कुछ न कुछ काम आता ही है. ३ कुळ में कपूत एक ही घणौ—एक कपूत पुत्र अपने कार्यों से सारे कुल को कलंकित कर देता है।

कपूती-सं०स्त्री० [सं० कुपुत्र+रा०प्र०ई] कपूत का कार्य, दुष्टता, कपूत होने का भाव।

कपूर-सं०पु० [सं० कर्पूर] १ दालचीनी के जाति का पेड़ों से निकला हुआ एक सफेद रंग का जमा हुआ सुगंधित ठोस पदार्थ।
पर्याय०—करपूर, करपूरक।
कहा०—पेट पूर मांगै कपूर नी मांगै—पेट सबसे पहले रोटी चाहता है।
२ कपूर के रंग से मिलते-जुलते रंग का घोड़ा (शा.हो.)
३ *लखपत पिंगल के अनुसार सोलह वर्ण का एक छंद विशेष जिसमें* प्रथम एक गुरु फिर दो लघु और अंतिम वर्ण दीर्घ हो।
वि०—१ श्वेत* २ काला* (डि.को.)

कपूरियौ-सं०पु० (बहु० 'कपूरिया') अंडकोश का मांस।

कपूरी-सं०पु०—१ एक प्रकार का सुगंधित कड़ुआ पान जिसे प्रायः मनुष्य खाया करते हैं। उ०—अरोगे अवाये किया आचमन्नं, कपूरी ग्रहे पांन वीड़ा क्रसन्नं।—नां.द. २ एक प्रकार के शुभ रंग का घोड़ा (शा.हो.)

कपेलौ-सं०पु०—लाल मिट्टी (अमरत)

कपेस—देखो 'कपीस'।

कपोत-सं०पु० [सं०] १ कबूतर (डि.को.) २ पंडुकी. ३ चिड़िया पक्षी।
वि०—बैंगनी रंग का*।

कपोतवाय-सं०स्त्री०—घोड़े का एक रोग विशेष जिसके कारण घोड़े के नलों (मूत्र थैली) में सूजन आ जाता है (शा.हो.)

कपोळ-सं०पु० [सं० कपोल] गाल। उ०—१ कपोळे मिळै रूप ओपै अलक्कां। प्रभू पेखतां मेख भूलै पलक्कां।—रा.रू. २ हाथी की कनपटी, गंडस्थल।

कप्पड़, कप्पड़ौ—देखो 'कपड़ौ'। उ०—कप्पड़ जीण कमांण-गुण, भीजइ सब हथियार। इण रुति साहिब ना चलइ, चालइ तिके गिमार।
—ढो.मा.

कप्पणौ-वि० [सं० कल्पनः] काटने वाला, नष्ट करने वाला। उ०—वया वरि भोज करन पर दुक्ख कप्पणौ, सासण साहण लाख पसाव समप्पणौ।—ल.पि.

कप्पणौ—देखो 'कप्पणौ' (रू.भे.)
कप्पणहार, हारौ (हारी), कप्पणियौ—वि०।
कप्पिओड़ौ, कप्पियोड़ौ, कप्योड़ौ—भू०का०कृ०।

कप्पाट—देखो 'कपाट' (रू.भे.)

कप्पाळ—देखो 'कपाळ'। उ०—सत्त लोक उप्पर सिकै धरसत्त धमक्कै। परि अट्ठौ दिकपाळ के कप्पाळ कसक्कै।—वं.भा.

कपहार, हारौ (हारी), कपणियौ—वि० ।

कपाणौ, कपावौ, कपावणौ, कपावबौ—क्रि०स०—प्रे०रू० ।

कपिश्रोड़ौ, कपियोड़ौ, कप्योड़ौ—भू०का०कृ० ।

कपीजणौ, कपीजबौ—कर्म वा० ।

कपतांन-सं०पु० [अं० कैप्टेन] देखो 'कप्तांन'। उ०—कायमखां कपतांन से करि बातें चव्वी, सेख इनायत खांन के भुज पलटण ढव्वी। —ला.रा.

कपरदी, कपरदोस-सं०पु० [सं० कपर्दी और दोषकर्पर] शंकर, शिव (अ.मा., क.कु.बो.)

कपरौ-सं०पु०—१ नमक पैदा होने की भूमि. २ पानी के पड़ाव का स्थान।

कपळ-सं०पु० [सं० कपिल] सांख्य शास्त्र के प्रवर्तक एक मुनि जिन्होंने राजा सगर के साठ हजार पुत्रों को भस्म कर दिया था। इनको विष्णु का पाँचवा अवतार भी माना जाता है।

वि०—पीला, पीत।

कपळदेव, कपळमुनि—देखो 'कपळ'।

कपळरंग-सं०पु०यौ० [सं० कपिल+रंग] पीला रंग।

कपळा-सं०स्त्री० [सं० कपिला] १ काले रंग की सीधी गाय. २ सफेद, पीली या गोर वर्ण की गाय। उ०—कपळा कवळी नै वारै पुचकारै, लाखर लाखर ऐ आखर मन मारै।—ऊ.का.

३ गाय (ह.नां.)

कपसाथ-सं०पु०—बंदरों के साथ रहने वाले, श्रीराम (अ.मा.)

कपांण-सं०स्त्री० [सं० कृपाण] १ कृपाण, कटार. २ तलवार, खड्‌ग (ह.नां.)

कपाट-सं०पु० [सं०] १ पट, द्वार, किवाड़, दरवाजे के पल्ले। उ०—चंदण पाट कपाट ई चंदण, खुंभी पनां प्रवाळी खंभ। —वेलि.

२ रक्षक। उ०—जठै संगर रौ भार आपरै माथै ओढि गुरजर धरा रौ कपाट होय आपरा बारह सै वांनैतां समेत काठी कल्याणदेव चंद्रहासां रा चौड़ा वाढ़ चखावण रै काज प्रथ्वीराज रा वीरां रै थोभ लगाय लड़ियो।—वं.भा.

कपाणौ, कपावौ—देखो 'कपावणौ' (रू.भे.)

कपायौ-सं०पु० [सं० कर्पास] १ कपास का बीज जो दूध बढ़ाने के निमित्त मादा मवेशियों को खिलाते हैं. २ पैर के तलवे में होने वाला क्षत या रोग कष्टसाध्य माना जाता है. ३ मस्तिष्क के अंदर का सार भाग।

कपाळ-सं०पु० [सं० क+पाल्+अण] सिर के ऊपर का हिस्सा, मस्तक (डि.को.)

मुहा०—१ कपाळक्रिया करणी—चिता के कुछ जल जाने पर सिर फोड़ कर एक क्रिया करना जिसमें कपाळ पर घी की धारा भी उंडेली जाती है. २ कपाळ खुलणौ—सिर फट जाना; भाग्य खुलना. ३ कपाळ फूटणौ—सिर फूट जाना; अभाग्य आना.

(यौ० कपाळक्रिया) २ ललाट, भाल. ३ भाग्य. ४ घड़े आदि के नीचे या ऊपर का भाग. ५ मिट्टी का भिक्षा-पात्र। उ०—अरण नेत कपोळ आंगण, भसम धूसर उरग भूषण। गणपति सुत देवतागण, करग जास कपाळ।—केसोदास गाडण

६ यज्ञों में देवताओं के लिये पुरोडाश पकाने का वर्तन।

कपाळकिरिया, कपाळक्रिया-सं०स्त्री—चिता के कुछ जल जाने पर सिर फोड़ कर की जाने वाली एक क्रिया जिसमें घी की धारा भी उंडेली जाती है।

कपाळभ्रत-सं०पु० [सं० कपालभृत] शिव, महादेव (अ.मा.)

कपाळिया-सं०पु०—राठौड़ वंश के क्षत्रियों की एक शाखा। —बां.दा. ख्यात

कपाळियौ-सं०पु०—राठौड़ वंश की कपाळिया शाखा का व्यक्ति।

कपाळी-वि०पु०—जो हाथ में कपाल धारण करता है।

सं०पु०—शिव, महादेव (डि.को.) उ०—सेल भचक्कं संकुळं, अति धाय उबक्कं, सीस कपाळी संग्रहै, काळी सु किलक्कं।—वं.भा.

२ देखो 'कपाळ' (पु०)

कपाळेस्वर-सं०पु० [सं० कपालेश्वर] मारवाड़ के चौहट्टन ग्राम में स्थित एक शिवलिंग।

कपालोंडी-सं०स्त्री०—ऊंट के सिर में होने वाली ग्रंथी का एक रोग विशेष।

कपावणौ, कपावबौ-क्रि०स०—१ कटाना।

कपावणहार, हारौ (हारी), कपावणियौ—वि०।

कपणौ—क्रि०अ०।

कपिश्रोड़ौ, कपियोड़ौ, कप्योड़ौ—भू०का०कृ०।

कपावियोड़ौ-भू०का०कृ०—१ कटाया हुआ (स्त्री० कपावियोड़ी)

कपास-सं०पु० [सं० कर्पास] १ एक पौधा जिसके डोडे से रूई निकलती है. २ इस पौधे से निकाली गई रूई जिसमें बिनौले भी होते हैं।

कहा०—१ कातियौ पींजियौ कपास हुयग्यौ—किया कराया सब बेकार चले जाने पर. २ पराये मांस सुई कपास सूं ई सोरी जावै—दूसरों को पीड़ा पहुंचाना सहज है किन्तु पीड़ा सहन करना कठिन है। ३ बिनौला।

कहा०—कुत्तौ कपास में कांई समझै—कुत्ते को कपास का क्या ज्ञान। जो जिस वस्तु का कभी उपयोग नहीं करता उसे उस विषय में पूर्ण ज्ञान नहीं होता। जो व्यक्ति किसी वस्तु का उपयोग नहीं करता उसके विषय में बातचीत करता है तब अन्य व्यक्ति उसके प्रति व्यंग में यह कहावत कहते हैं।

कपासिया-सं०पु०—देखो 'कपासियौ' (१)

कपासियारंग-सं०पु०—कपास के फूल के रंग से मिलता-जुलता रंग।

कपासियौ-सं०पु०—१ कपास के बीज, बिनौला (बहु० कपासिया)

२ मस्तिष्क के अंदर का सार भाग. ३ हाथ या पैर में बेर के आकार की होने वाली ग्रंथी या गांठ विशेष।

उ०—अगै अप्रवांणी वजै खग्ग वांणी, कवाड़ी सकट्टां कटै जांण कट्टां ।—रा.रू. २ बेकाम रद्दी वस्तुओं का व्यापारी. ३ होशियार, निपुण. ४ प्रपंची. ५ चतुराई व कौशल से कुछ प्राप्त करने वाला ।

कवाड़ो–सं०पु०—१ मकान या कृषि संबंधी काष्ठ की सामग्री. २ बेकार की रद्दी सामग्री. ३ होशियारी व धूर्तता का कार्य. ४ प्रपंच. ५ उपद्रव, गड़बड़ ।

कवाब–सं०पु०—सींखों पर भुना हुआ मांस । उ०—छळती हिक मूंगिण सराब छकै । भर वूंण पुलाव कवाब भखै ।—मे.म.

कवाबी–वि०—सींखों पर भून कर मांस बेचने या खाने वाला ।

कवाबौ–सं०पु०—देखो 'कवाब' । उ०—उभै दुंव आचरै एक करि कंव कबाबे, चंपै चंगुळ ग्रीव तजै दुर जीव सिताबे ।—रा.रू.

कवाय–सं०पु०—प्राचीन काल का एक प्रकार का कपड़ा विशेष (मा.म.)

कवि–सं०पु० [सं० कवि] १ काव्यकार, कवि. २ ब्रह्मा (डिं.को.)

कविका–सं०स्त्री० [सं०] लगाम । उ०—कविका देत कुरंग गति छविका छक छाया । रवि का मन रिझवाय कै पविका जब पाया ।—वं.भा.

कवी–क्रि०वि०—कभी ।

सं०स्त्री० [सं०] १ लगाम । उ०—कवी नेह जे राचिया रेह कूदै, मजै डांण लंबा अगां मांण मूदै ।—वं.भा.

सं०पु०—२ कवि (रू.भे.)

कवीर–सं०पु०—एक प्रसिद्ध निर्गुणपंथी महात्मा जो जाति के जुलाहे माने जाते हैं ।

कवीरपंथ–सं०पु०—महात्मा कबीरदास द्वारा चलाया हुआ मत ।

कवीरपंथी—महात्मा कबीर के अनुयायी, कबीरपंथ को मानने वाला ।

कवीरी–सं०स्त्री०—उदरपूर्ति के लिये किया जाने वाला छोटा-मोटा कार्य, धंधा ।

कवीलौ–सं०पु०—१ कुल, वंश । उ०—कवीले रा आदमी चाळीस कांम आया ।—मूरे खींवे री वात. २ कुटुम्ब । उ०—म्हारे कवीले रा मारा जांणौ छै । सगाई कर परणाया छै नु संसार जांणै छै ।

—पलक दरियाव री वात

३ रनिवास की स्त्रियां रानी के सहित (रू.भे. 'कवीलौ')

४ एक प्रकार का गूलर से मिलता-जुलता वृक्ष ।

कवुदी–क्रि०वि०—कभी ।

कवुद–सं०पु०—शुभ रंग का घोड़ा (शा.हो.)

कवू–क्रि०वि०—कब ।

कवूड़ो–सं०पु० [सं० कपोत] कबूतर (अल्पा.)

कवूठाण–सं०पु० [सं० कुंभिस्थान] हाथी को बांधने का स्थान ।

कवूतर–सं०पु० [फा०] (स्त्री० कवूतरी) १ एक प्रसिद्ध निरामिष पक्षी, कपोत.

पर्याय०—अंगोलाल, कलरव, डेकड़, परेवड़ो, पारावत, होलड़ ।

मुहा०—कवूतर नै कूवौ ही दीसै—टेव पड़ जाने पर फिर मनुष्य वही काम करता है ।

२ कवूतर के रंग का घोड़ा ।

कवूतरखांनौ–सं०पु०—१ वह स्थान जहां कबूतर पाले जाते हों. २ अनाथआश्रम ।

कवूतरियाछींट–सं०स्त्री०—प्रायः स्त्रियों के लहंगा आदि बनाने के काम आने वाला एक प्रकार का कपड़ा विशेष ।

कवूल–वि० [अ० कुबूल] स्वीकार, अंगीकार, मंजूर । उ०—सुळ डाळी तर लोभ रै, भूलै रहिया भूल । देणौ दांन कवूल नहं, क्रपणां मरण कवूल ।—बां.दा.

कवूलणौ, कवूलबौ–क्रि०स०—स्वीकार करना, मंजूर करना, अंगीकार करना । उ०—पगे लगायौ नै चाकरी कवूली ।

—कहवाट सरवहिये री वात

कवूलणहार, हारौ (हारी), कवूलणियौ–वि०—स्वीकार करने वाला ।

कवूलिओड़ो, कवूलियोड़ो, कवूल्योड़ो—भू०का०कृ० ।

कवूलायत–सं०स्त्री०—कवूल करने की क्रिया, स्वीकृति । उ०—उहां छैलां री कवूलायत कर पाछौ हांसी रा पीरां री जारत करणे नूं आयौ ।

—मूरे खींवे री वात

कवूलियोड़ो–भू०का०कृ०—स्वीकार किया हुआ ।

(स्त्री० कवूलियोड़ी)

कवूली–सं०स्त्री० [अ० कबूल] १ स्वीकृति. २ चावलों के साथ नमकीन मसाले तथा आलू, रताळू, मांस आदि डाल कर बनाया जाने वाला खाद्य-पदार्थ विशेष ।

कवोल–सं०पु० [सं० कु+वोल] कुवाक्य, दुर्वचन ।

कव्वर—देखो 'कबर' (रू.भे.)

कव्जौ–सं०पु० [अ० कब्जा] १ अधिकार, स्वत्व, कब्जा ।

मुहा०—कब्जौ ऊठणौ—अधिकार चला जाना, अधिकार न रहना ।

क्रि०प्र०—करणौ, राखणौ, गमाणौ, जाणौ, लेणौ, होणौ ।

२ मेहराब. ३ स्त्रियों के पहनने का ब्लाउज. [अ०] ४ मूठ दस्ता ।

मुहा०—कब्जा माथै हाथ धरणौ—तलवार पकड़ना, दूसरे को तलवार न निकालने देना ।

५ किवाड़ या संदूक में जड़े जाने वाले लोहे या पीतल के दो चौखूंटे टुकड़े, पकड़ ।

कव्व—देखो 'कव्य' । उ०—नमो सेस सांयत नमो हव कव्व हुतासण ।

—ह.र.

कव्वरौ–वि०—चितकबरा ।

कमंडळ–सं०पु० [सं० कमंडलु] धातु, मिट्टी, तुमड़ी, दरियाई नारियल आदि का बना संन्यासियों का जल-पात्र ।

कमंद, कमंदज–सं०पु० [सं० कबंध] १ राठौड़ वंश के क्षत्रिय । (रू.भे. 'कमध्वज') उ०—जिण वंस मही सिध पाल जगा । चहुंआंण कमंदज आद सगा ।—पा.प्र.

२ एक राक्षस जिसको श्रीराम ने जीवित ही भूमि में गाड़ दिया था ।

कप्पोळ—देखो 'कपोळ' (रू.भे.)

कफ—संपु० [सं०] १ वैद्यक के अनुसार शरीर में एक धातु जिसके रहने का स्थान आमाशय, हृदय, कंठ, सिर और संधियां है। यह एक दोष माना जाता है। उ०—आधिभूतक, आधिदेव, आध्यातम, पिंड प्रभवति कफ वात पित।—वेलि. २ खांसने पर मुंह में आने वाला बलगम।

कफणि, कफणी—संस्त्री० [सं० कफोणी] १ देखो 'कफोणी' (डि.को., रू.भे.) २ देखो 'कफनी'।

कफत—वि० [अ० कफ्त] अयोग्य।

कफन—संपु०—शव पर ओढ़ाने का कपड़ा।

कफनी—संस्त्री० [फा०] बिना सिला हुआ साधुओं के पहनने का एक कपड़ा जिसके बीच में सिर जाने के लिये एक छेद रहता है। उ०—कर कफनी कोपीन कर, कर करवा भर आव। अब मवका जैवौ उचित, नवणौ नहीं नवाव।—ला.रा.

कफळ—संस्त्री० [सं० कफल] सुपारी (अ.मा.)

कफोणी—संस्त्री० [सं० कफोणि] हाथ और बाहु के जोड़ की हड्डी, कुहनी। उ०—फटै मुंडन फांक ज्यों दारिम दरक्कै। कंध कफोणी कर कटै करकोच करक्कै।—वं.भा.

कबंज—संपु० [अ० कब्जा] देखो 'कब्जौ' (रू.भे.)

कबंध—संपु० [सं० कबंध] १ युद्ध में शिर कट जाने पर भी युद्ध करते रहने वाला धड़। कहा जाता है कि इस समय वक्ष-स्थल पर नये नेत्र खुल जाते हैं। उ०—बिना सिर सत्रुदळ काट न्हांखियौ सौ आंरै आंखियां सीस पर ही कै हियां में उघड़ी ही जिणनै कवंध कहै छै।—वी.स.टी. २ जल, पानी (ह. नां., अ. मा.) ३ एक दानव का नाम जो देवी का पुत्र था। इसका मुंह इसके पेट में था। कहते हैं कि इन्द्र ने इसको एक बार वज्र से मारा इससे इसके शिर और पैर पेट में घुस गये। इसे पूर्व जन्म का विश्वासु गंधर्व लिखा है। रामचंद्रजी से दण्डकारण्य में इसका युद्ध हुआ था। रामचंद्रजी ने इसको मार डाला।

कब—संपु० [सं० कवि] कवि, काव्यकार।

क्रिवि०—किस समय।

कबज—देखो 'कब्जौ'। उ०—घूंघटडौ हट सूं धणी, खोलंतां कर स्यांत। केसरिये ली कवज में, भुवन मदन प्रिय भांत।—अज्ञात

कबजी—संस्त्री० [अ० कब्ज] मलावरोध, मल के रुकने का एक रोग।

कबजौ—संपु० [अ० कब्जा] देखो 'कब्जौ'।

कबडाळौ—संपु०—एक प्रकार का सर्प जिसके शरीर पर काले और सफेद धब्बे होते हैं. २ कौड़ियों से युक्त बना ऊंट का एक आभूषण. वि०—चितकबरा।

कबडियौ—संपु०—एक प्रकार का पक्षी विशेष।

कबडी—संस्त्री०—१ लड़कों का एक खेल विशेष जो दो दल बना कर खेला जाता है। कबड्डी। [सं० कपर्दिका] २ कौड़ी (रू.भे. 'कवडी') ३ छाती के नीचे बीचों-बीच की वह छोटी हड्डी जिस पर नीचे की दोनों पसलियां मिलती हैं।

कबडौ—संपु० [सं० कपर्दिका] बड़ी कौड़ी।

कबर—संस्त्री० [अ० कब्र] वह चबूतरा या स्थान पर लगा पत्थर जिसके नीचे जमीन में कोई मुर्दा दफनाया गया हो (मुसल०) उ०—के गोळां के गोळियां, के तरवारां धार। मरै पड़ै कबरां मही, बीवा मंसबदार।—वां.दा.

कबरसतांन—संपु० [अ० कब्रिस्तान] वह स्थान जहां पर मुर्दे गाड़े जाते हों (मुसल०)

कबराजा—संपु० [सं० कविराज] १ कविराजा, कवीन्द्र (डि.को.) २ वैद्यों की उपाधि. ३ चारणों की उपाधि।

कबरी—संस्त्री० [सं०] चोटी, वेणी (संवारी हुई) उ०—गिणका री जे नर ग्रहे, कबरी डंड करेण। खाग ग्रहे किमि दळण खळ, तेज विहीणा तेण।—बां.दा.

कबरौ—संपु०—एक पक्षी विशेष।

वि०—चितकबरा।

कब्ल—संपु०—ग्रास, कौर (डि.को)

कब्लेजिहांन—संपु० [अ० क़िबलेजिहांन] विश्व में पूजनीय, विश्ववंद्य। उ०—कब्लेजिहांनिश्रां पातसाह सिलांमति राजांनकुमार खट भाखा निवास छै। चवदै विद्यां री जांणहार छै।—रा.सा.सं.

कबल्लौ—संपु०—१ घोड़ा. २ सूअर (मि० 'कवळौ')

कबांण—संपु०—१ लंबी टहनियों वाला एक क्षुप. २ धनुष। उ०—वे वे कबांण भूयांण बंध, असमांन छिवत रोसांण अंध।—वि.सं.

३ पत्थरों या ईंटों के जोड़ की धनुपाकार गोल महराव।

कबांणी—संस्त्री०—१ बढ़ई के रियार नामक औजार को घुमाने का एक उपकरण, कमानी।

कबांणीकतियौ—संपु०—बढ़ई का एक औजार।

कबांणीदार—वि०—धनुपाकार।

कबांणीदारछाजौ—संपु०यौ०—मकान के दरवाजे के ऊपर लगाये जाने वाले वे पत्थर जो दीवार से कुछ बाहर निकले हुए होते हैं और जिनका आकार धनुपाकार होता है।

कबाइ—संपु०—चोगा। उ०—दीधा ताजी मात गयंद। कबाइ पइहराइ नव लखी।—वी.दे.

कबाड़णौ, कबाड़बौ—क्रिस० [सं० कपाटनम] चतुराई व कौशल से कुछ प्राप्त करना।

कबाड़णहार, हारौ (हारी), कबाड़णियौ—वि०—चतुराई व कौशल से प्राप्त करने वाला।

कबाड़ो—वि०।

कबाड़िओड़ौ, कबाड़ियोड़ौ, कबाड़चोड़ौ—भू०का०कृ०।

कबाड़ी—वि०—१ बेचने के उद्देश्य से जंगल से लकड़ी काटने वाला।

कमन–वि० [सं०] १ विषयी, कामुक, कामी (डिं.को.) २ सुंदर, बढ़िया (अ.मा., ह.नां.)

सं०पु०—१ कामदेव (अ.मा., ह.नां.) २ ब्रह्मा (डिं.को.)

कमनसीब–वि० [फा०] हतभाग्य। उ०—और आपरा नौकर ऐसा कुरा कमनसीब छै जो ऐसी बात सुणनै पाछा रहै।

—पलक दरियाव री बात

कमनीय–वि० [सं०] सुंदर (अ.मा., ह.नां.)

कमनेत, कमनैत–वि० [फा० कमान+ऐत] तीर चलाने वाला, तीरंदाज, योद्धा। उ०—१ क्या अच्छे कमनेत थे तीरां सिर तुट्टै, फिर उलदे तूनीर तें सब तीरनि खुट्टै।—ला.रा. उ०—२ ढुंढारै वळ दाहिवे वळ अप्प बनाया। वे वे तुगस बंधि के कमनेत कसाया।

—वं.भा.

कमबोलौ–वि०—कम बोलने वाला, मितभाषी।

कममिख्यण–सं०पु० [सं० कर्माबीक्ष्ण या कर्माभीक्ष्ण] यम (अ.मा.)

कमर–सं०स्त्री० [फा०] १ पेट और पीठ के नीचे पेडू तथा चूतड़ के ऊपर का भाग, देह का मध्य भाग, कटि।

मुहा०—१ कमर कसणी—प्रस्तुत होना, तैयार होना, दृढ़ निश्चय करना। २ कमर नै कस नै बांधणी—दृढ़ निश्चय करना। ३ कमर खोलणी—अपने दृढ़ निश्चय को बदलना, हिम्मत हारना, आराम करने लगना। ४ कमर झुकणी—वृद्ध हो जाना, थक जाना। ५ कमर टूटणी—उत्साहहीन होना, असहाय होना, भारी दुख पड़ना। ६ कमर ठोकणी—हिम्मत बांधना। ७ कमर तोड़णी—सहारा छीन लेना, बहुत बड़ी विपति में डालना। ८ कमर पकड़ नै ऊठणी—बहुत निर्बल होना। ९ कमर पकड़ नै बैठणी—विपत्ति-ग्रस्त होना, अति दुखी होना। १० कमर बांधणी—काम के लिये तैयार होना। ११ कमर लचकणी—कमर का लचकना, नखरे करना। १२ कमर सीधी करणी—आराम करना, कमर टेढ़ी कर या कमर झुका कर देर तक काम करने के बाद खड़ा होकर या बैठ कर कमर को आराम देना।

कहा०—कमर रो मोल है तरवार रो मोल कोयनीं—तलवार का कोई मूल्य नहीं किन्तु मूल्य उस तलवार को बांधने वाले व्यक्ति का है। अच्छी वस्तु भी कभी बुरे व्यक्ति के हाथ में पड़ कर बेकार हो जाती है। बेकार वस्तु के अच्छे हाथों में पड़ने पर उसका मूल्य या उप-योगिता बढ़ जाती है।

कमरकोह–सं०पु०—अफ्रीका का एक पर्वत जहां से नील नदी निकलती है (बां.दा. ख्यात)

कमरखोलाई–सं०स्त्री०यौ०—किसी हाकिम के द्वारा किसी गांव में दौरा करते समय हाकिम के निजी खर्च के लिये जनता से वसूल किया जाने वाला एक प्रकार का प्राचीन कर विशेष।

कमरचाप–सं०स्त्री०यौ०—कमर तक ऊंची उठी हुई दीवार में लगाया जाने वाला चौड़ा पत्थर।

कमरदुकूळ–सं०पु०यौ० [सं० कमर+दुकूल] कटिबंधन, कमरबंद (डिं.को.)

कमरपटौ, कमरपट्टौ–सं०पु० [फा० कमर+सं० पेटिका] कमरबंध, कमरकस, पेटी।

कमरपेटी–सं०स्त्री०—कटि प्रदेश पर धारण करने का कवच।

कमरबद—देखो 'कमरबंध' (रू.भे.)

कमरबंदौ–सं०पु०—१ देखो 'कमरबंध'. २ सिर पर बांधने का बड़े अरज का साफा।

कमरबंध–सं०पु०—कटिबंधन, कमरकस, पेटी। उ०—केसरिया, बादळाई पारची, कबळ, बागा, कपड़ी, कमरबंध पाग सब नूं बंधाई।—जलाल बूबना री बात

कमरबंधी–सं०स्त्री०—१ कटिबद्ध होने का भाव। उ०—फजर ताता भिडज भाफ खाधा फिरै, कंवर किण ऊपरै कमरबंधी करै।

—जवांनजी आढ़ौ

कमरबंधौ–सं०पु०—१ देखो 'कमरबंध' (रू.भे.) २ सिर पर बांधने का बड़े अरज का साफा।

कमरांसचोका–वि०—कटिबद्ध, तैयार।

कमरी–सं०पु०—१ वात रोग. २ ऊंट को होने वाला एक प्रकार का वात रोग जिससे ऊंट बड़ी कठिनता से उठता-बैठता है. ३ इस रोग से पीड़ित ऊंट।

सं०स्त्री० [फा०] ४ एक प्रकार की कुरती. ५ अंगरखी।

कमरौ–सं०पु० [लैटिन-कैमेरा] हवादार बैठक की कोठरी, कोठरी।

कमळ–सं०पु० [सं० कमल] १ जल का एक सुंदर फूल वाला पौधा तथा उसका फूल।

पर्याय०—अंबज, अंबुज, अरविंद, इंदीवर, उतपळ, कंज, कंवळ, कुवळय, कुसेसय, कोकनद, खरदंड, जळज, जळजनम, जळरुट, जळ-रुह, तांमरस, नळणी, नाळीम, नीरज, पंकज, पंकेरुह, पदम, पुंडरीक, पोयण, पोहकर, महोतपळ, राजीव, वारज, विसप्रसून, सतपत्र, सरसीरुह, सरोज, सारंग, सुधारस।

मुहा०—कमळ खिलणौ—प्रसन्न होना।

२ कमल के आकार का पेट के दाहिनी ओर होने वाला एक मांस-पिंड. ३ ब्रह्मा. ४ शिव. ५ मस्तक (ह.नां.) उ०—कमळ अरियां तणा घणा झटकां कटै। उजबकां दिसी जसवंतसी ऊलटै।

—हा.झा.

६ जल (ह.नां.) ७ आकाश. ८ एक प्रकार का मृग. ९ राज-स्थानी में योग और तंत्र के माने जाने वाले चक्र को कमल कहते हैं। ये संख्या में आठ होते हैं यद्यपि हिंदी-संस्कृत में ये छः माने जाते हैं। राजस्थानी में माने जाने वाले आठ कमल निम्नलिखित हैं—अनाहत, आग्याचक्र, ब्रह्मरंध्र, भंवरगुफा, मणिपुर, मूळाधार, विसुद्ध, स्वाधीष्ठांन. १० डिंगल का एक गीत (छंद) विशेष जिसके प्रथम चरण में १६ मात्राएँ होती हैं। तत्पश्चात् दो चरण प्रत्येक १४ मात्राओं का होता है। अंतिम चतुर्थ चरण में दस मात्रायें होती

कमंघज—१ देखो 'कवंध'। उ०—जुध जूंभ हुवौ, घड़ सीस जुग्रौ। हव पाल कमंधज रूप हुग्रौ।—पा.प्र. २ राठौड़ वंश के क्षत्रिय।

कम-वि०—थोड़ा, न्यून, ग्रल्प।

सर्व०—१ कौन. २ किस।

क्रि०वि०—कैसे। उ०—मुरडाळा दीसै मुरभांणा, हरियौ डाळ रह्यौ कम हेक।—रघुनाथ भादासींगोत रौ गीत

कमग्रसल-वि० [फा० कम+ग्रसल] वर्णसंकर, दोगला।

कमक-सं०पु०—ग्राभूपरा (ग्र.मा.)

कमकमौ—देखो 'कुमकुमौ' (रू.भे.)

उ०—कमकमौ गुलाव तै कै पांणी तळाउ भरचौ छै।—वेलि. टी.

कमख-सं०पु० [सं० कल्मष, प्रा० कम्मख] पाप (ग्र.मा.)

कमखरची, कमखरचीलौ-वि०—कम खर्च करने वाला, मितव्ययी।

कमखाव-सं०पु० [फा०] एक प्रकार का रेशमी कपडा जिस पर वेल-बूटे हो।

कमचीरी-सं०स्त्री०—एक प्रकार का धारदार शस्त्र जो तलवार से कुछ मिलता-जुलता होता है।

कमजोर-वि० [फा० कमजोर] ग्रशक्त, दुर्वल, निर्वल। उ०—जां दिनां खंडेले भूप ऊदौ कमजोर। कासली ठिकांणै राव दीपां कौ तोर।—शि.वं.

कहा०—कमजोर गुस्सा ज्यादा, मार खांणे का इरादा—कमजोर को ग्रधिक गुस्सा ग्राता है ग्रौर परिणामतः हानि उठाता है. २ कम-जोर गुस्सौ घणौ, कमजोर नै गुस्सौ भारौ—कमजोर को बहुत क्रोध ग्राता है। कमजोर वात-वात में क्रोध करता है. ३ कमजोर री जोरू सगळां री भाभी—कमजोर व्यक्ति की स्त्री से सव मजाक करते हैं क्योंकि उससे कोई नहीं डरता; कमजोर को सव सताते हैं।

कमजोरी-सं०स्त्री० [फा० कमजोरी] निर्वलता, ग्रशक्ति।

कमज्या-सं०स्त्री० [सं० कर्मार्जन] १ कर्म। उ०—पाप पुत्र रौ पूर ग्रनादी चलियौ ग्रावै, कमज्या जेड़ी करे भली भूंडी भुगतावै।—ऊ.का.

२ पूर्व जन्म कृत कार्य, प्रारव्ध। उ०—मूंछां सेडे मांय भरी चिपके भीनोड़ी, ग्रगली कोई ऊघड़ी कठरा कमज्या कीनोड़ी।—ऊ.का.

कमट्ठ, कमठ-सं०पु० [सं० कमठ] १ कच्छप, कछुग्रा (ह.नां.)

उ०—चहूं चक्क चळचळिय सेस चळचळिय सहस सिर। कमठ पीठ कळमळिय थहरा दळमळिय सुचर थिर।—र.रू.

२ धनुप, कमान (मि० 'कमठौ') उ०—चढ़े सिव के भावनग्री मुसल्ले, करां ले कमट्ठे वयं केक भुल्ले।—ला.रा. ३ एक दैत्य. ४ एक प्रकार का वाजा।

कमठांण, कमठांणौ-सं०पु० [सं० कुंभिस्थान] १ मकान ग्रादि वनाने का वड़ा कार्य। उ०—ग्रसारांरा राजेस कमठांण कीधा ग्रकळ, कोड़ जुग लगां नह जाय कळिया। पाळ जोय हेम रा गरभ गळिया पहल, टाळ जोय समंद रा गरभ टळिया।—जोगीदास कवारियौ २ हाथी वांधने का स्थान. ३ शरीर का ढांचा, शरीर की वनावट।

उ०—एह विचारी ग्रातमा पर हाथ विकांणा, भांजै गाफल हेक में काया कमठांणा।—केसोदास गाडरा

कमठाकृत-हरी-सं०पु०—विष्णु का कच्छपावतार। उ०—हित सूं कमठाकृत-हरी, सेवै पुळक सरीर। वदन छिपावरा देह विच, ते मांगै तदवीर।—वां दा.

कमठाधररूप-सं०पु०—विष्णु का कच्छपावतार (ह.र.)

कमठाळ-सं०पु०—१ हाथी. २ धनुपधारी, योद्धा, वीर।

उ०—कमठाळ हटाळ डळां कळता। वह लावैय पीठ वसै वळता। ३ भील। —पा.प्र.

कमठाळय—देखो 'कमठाळ'। उ०—दुल्हे परणेचित वोध दिया, कमठा-ळय ग्राप जुहार किया।—पा प्र.

कमठासुर-सं०पु० [सं० कमठ] कच्छप (जिसकी पीठ पर भूमि का स्थित होना माना जाता है)

कमठौ-सं०पु० [सं० कमठ] १ कच्छप, कूरम। उ०—मचकै फुरणाटां चैल लचकै कमठी मोर।—ग्रज्ञात २ छोटा धनुष।

कमठेस-सं०पु०—विष्णु का कच्छपावतार।

कमठौ-सं०पु० [सं० कमठ] १ धनुप. २ मकान ग्रादि वनाने का कार्य।

कमण-सर्व०—कौन। उ०—राखियौ निजपुर राय, सुरराय जेरा सुहाय। जग कमण फेरै जाव, कळ ग्रकळ सेर नवाव।—रा.रू.

२ किस। उ०—१ ग्राई ग्रावौ ज्यूं व्रन वाहर ग्रावीजै, देवी साद समरियां दीजै। वळ तज कमण पुकारूं वीजै, काछराम मो ऊपर कीजै। —पिरथीराज राठौड़

उ०—२ राठवड़ उरड़ दीसै ज जजर रूप रा, पांरा केवांरा धारै कमण ऊपरा।—ग्रज्ञात

वि०—कितनी।

कमणीगर-सं०पु०—धनुप वनाने वाला।

कमणैत—देखो 'कमनैत'। उ०—छीदा छीदा ग्राछा ग्राछा कमणैता रा हाथां सूं तीर सरणकै छै।—प्रतापसिंघ म्होकमसिंघ री वात

कमत-सं०स्त्री० [सं० कुमति] कुमति, दुर्वुद्धि।

कमतर-सं०पु०—१ धंधा, कार्य, पेशा, व्यवसाय। उ०—ग्राग्रो भाभी ग्राघा ग्राग्रो, ग्रठे कमतर हुवौ चावौ।—र. हमीर २ सामग्री।

कमतरी-सं०पु०—धंधा करने वाला, मजदूर, काम करने वाला।

उ०—धमक धमक घरा वजै हथोड़ा, कमतरियां रा वाजा। काची नींद भिचक मत जाजे, ऐ सपनां रा राजा।—रेवतदांन

कमती-वि०—कम, ग्रल्प। उ०—ग्रवै ग्रापां-नै कुरा हीरा समभ नकै है? ग्रवै किरणी सूं कमती कौ रैवां नीं।—वरसगांठ

कमदणी-सं०स्त्री० [सं० कुमुदिनी] रात्रि में खिलने वाला कमल, कमलिनी। उ०—पंथी एक मंदेसडउ, लग ढोलइ पैहचाइ। घरा कंमळांणी कमदणी, मिसहर ऊगइ ग्राइ।—ढो.मा.

कमद्धज, कमधज, कमधजियौ, कमधज्ज, कमधांणी, कमध्वज-सं०पु०—राठौड़वंशी क्षत्रिय। उ०—नरनाथ रमरिग सनेम, परगत कमधज प्रेम।—रा.रू.

वल्लहा, नागर चतुर सुजांण। तुझ विरण वरण विलखी फिरइ, गुण विन लाल कमांण।—ढो.मा. २ कमाई। उ०—बांका बीरज धरण सूं, व्है नहि कुंज्र हांण। की घर घर भटका करै, कूकर अधिक कमांण।
—बां.दा.

३ मेहराब. [अं० कमाण्ड] ४ आज्ञा, आदेश. ५ फौजी नौकरी।

कमांणी–सं०स्त्री०—राजस्थान की एक प्राचीन जाति (कां.दे.प्र)

कमांन—देखो 'कमांण' (रू.भे.) उ०—दिली को नांम सुण कमांन कूं खांचै, मोरे फुरमांण हासी तें वाचै।—रा.रू.

कमांमी–सं०पु० [अं० कमांडर] फौज का अफसर। उ०—फरासीस कोम की फिरंगी एक नांमी, जंगी हज्जार बीस फोज की कमांमी।
—शि.वं.

कमा–सं०स्त्री०—करमसोत नामक राठौड़ों की शाखा।

कमाई–सं०स्त्री०—१ कमाने का कार्य, व्यवसाय. २ कमाया हुआ धन। उ०—करै कमाई कोय, दीपक ज्यूं सांमी दियै। जीमण मीरा जोय, मुलमुल पैरण मोतिया।—रायसिंह सांदू

वि०—उपार्जित। उ०—कटण रीत रजपूत कुळ, खाग कमाई खाय। और कमाई आदरै, गोली भगड़ै गाय।—बां.दा.

कमाऊ–वि०—कमाई करने वाला, उपार्जन करने वाला।

कहा०—१ कमाऊ पूत आवै डरतौ, अणकमाऊ आवै लड़तौ—कमाऊ बेटा डरता-डरता घर में आता है और न कमाने वाला लड़ता-लड़ता आता है। कमाऊ को घर की चिंता बनी रहती है कि कहीं पीछे से कुछ अनिष्ट न हो गया हो और अणकमाऊ को कलह से ही मतलब होता है। २ घणा खाऊ नै कम कमाऊ री नहीं बावड़ै—अधिक व्यय करने वाले व कम कमाने वाले मनुष्य को कष्ट उठाना पड़ता है।

कमागर–सं०स्त्री०—एक जाति विशेष जो शस्त्र बनाने का काम करती है।

कहा०—काकर कूट कमागरां, तसकर वेजारांह। ऊंट लदण कवेसरां, तोटौ छै घरांह—पत्थर का कार्य करने वाला, शस्त्र बनाने वाला, चोर, बुनकर, ऊंट पर लकड़ी बेचने या ऊंट को किराये फेरने वाला और कवि ये छः सदा निर्धन ही रहते हैं।

कमाड़–सं०पु० [सं० कपाट] १ कपाट (डि.को.) २ रक्षक।

कमाणी, कमाबौ–क्रि०स०—१ उपार्जन करना, रुपया कमाना।

कहा०—आप कमाया कांमड़ा किणनै दीजै दोस—अपने किये गये कार्यों के प्रति दूसरों को दोष देना व्यर्थ है। २ कमावै तौ वर नहीं तौ आघड़ौ मर—कमाता है तो पति है, नहीं तो दूर जाकर मर। स्त्री को कमाऊ पति ही अच्छा लगता है। ३ कमावै तौ वर, नहीं जणै माटी री ही ढळ—कमाता है तो पति है, नहीं तो मिट्टी का ढेला है। ४ कमावै धोती आळा खा ज्याय टोपी आळा—कमाते है धोती वाले, खा जाते हैं टोपी वाले। हिन्दुस्तानी कमाते है और उनका रुपया अंगरेज ले जाते है. ३ सुधारना, काम लायक बनाना।

कहा०—गम्योड़ी खेती नै कमायोड़ी चाकरी बराबर—बिगड़ी हुई खेती और सुधरी हुई नौकरी दोनों बराबर हैं। नौकरी कितनी ही अच्छी तरह क्यों न की जाय लाभकारिणी नहीं होती।

३ कम कराना, घटाना। ४ मांस पकाने के लिये साफ-सुथरा करना। ५ सुधारना या काम के योग्य बनाना (चमड़ा)

कमाणहार, हारौ (हारी), कमाणियौ–वि०—कमाने वाला।

कमायोड़ौ—भू०का०कृ०।

कमावणौ, कमावबौ—रू०भे०।

कमायचौ–सं०पु०—एक प्रकार का वाद्य विशेष।

कमायी—देखो 'कमाई' (रू.भे.) उ०—औ धंधौ थे छोडौ भंवरजी और कराला कमायी।—लो.गी.

कमायोड़ौ–भू०का०कृ०—उपार्जित, कमाया हुआ। (स्त्री० कमायोड़ी) उ०—आयुस रौ किही भरोसौ नहीं तौसू कमायोड़ौ क्यूं गमावौ।
—डाढ़ाळा सूर री वात

कमाळ–सं०पु० [अ०] १ परिपूर्णता, पूरापन, पर्याप्तता. २ निपुणता, कुशलता. ३ अद्भुत कर्म. ४ कारीगरी।

वि० – अद्भुत।

कमालालया–सं०पु०—विष्णु।

कमाळौ–सं०पु०—१ मुसलमान, मुगल व्यक्ति. २ शिव, महादेव (डि.को.) उ०—जुटै जद्दुरांण उभै अप्रमांण, हुई वीरहक्कं कमाळौ किलक्कं।
—रा.रू.

३ भैरव. ४ ठीकरा लेकर भीख मांगने वाला. ५ द्वार के ऊपर का काठ।

कमावणौ–वि० (स्त्री० कमावणी) कमाने वाला।

कमावणौ, कमावबौ—देखो 'कमाणौ' (रू.भे.) उ०—समभाऊं सौ वार, समज री घाटी मांई। जगत कमावण जाय, मुरड़ बैठौ घर मांई।—ऊ.का.

कमी–सं०स्त्री० [फा० कम] १ न्यूनता. २ हानि, घाटा।

कमीज–सं०पु० [फा० कमीज] एक प्रकार का कुर्ता जो प्रायः लंबी बाहों का होता है।

कमीण–सं०पु०—१ कुछ जातियां विशेष अथवा इन जातियों के व्यक्ति जो कुछ विशेष संस्कारों जैसे विवाह, जन्म, मरण इत्यादि पर नेग के अधिकारी होते हैं और उसके बदले हमेशा नेग देने वाले व्यक्ति को अपनी सेवायें प्रदान करते हैं। (गो० कमीण-काम)

वि०—१ नीच, शूद्र. २ तुच्छ बुद्धि वाला।

कमीहण—देखो 'कमीण' (रू.भे.)

कमुद–सं०पु० [सं० कुमुदिनी] चंद्रमा को देख कर खिलने वाला कमल, कमोद। उ०—कमुद-जन विकस मकुचै कमळ कंस कुभ, भावकां चकोरां नयण भायौ।—बां.दा.

कमेड़ी–सं०स्त्री०—१ पंडुक जाति की एक चिड़िया जो सफेद कबूतर और पंडुक से उत्पन्न होती है। फाखता. २ पशुओं के सींग का एक रोग विशेष।

हैं. ११ छप्पय छंद का २६ वाँ भेद जिसमें ४२ गुरु ६८ लघु सहित ११० वर्ण या १५२ मात्राएँ होती हैं (र.ज.प्र.) १२ प्रत्येक चरण में सत्रह मात्राओं का एक छंद विशेष (ल.पिं.) १३ डिंगल के वेलिया सांणोर छंद का भेद विशेष जिसके प्रथम द्वाले में २४ लघु २० गुरु कुल ६४ मात्रायें होती हैं। इसी क्रम से दूसरे द्वालों में २४ लघु १९ गुरु कुल ६२ मात्रायें होती हैं (पिं.प्र.) १४ मछली (अनेकार्थी) १५ चंद्रमा (अनेकार्थी) १६ शंख (अनेकार्थी) १७ मोती. १८ समुद्र (ना.डिं.को.) १९ एक प्रकार का घोड़ा (शा.हो.) सं०स्त्री०—२० पृथ्वी (मि० 'कमळि')

वि०पु० (स्त्री० कमळा) श्वेत* (डिं.को.) २ रक्त वर्ण, लाल* ३ कोमल (डिं.को.)

कमळकोसरौ–वि०—पीत, पीला* (डिं.को.)

कमळगट्टौ–सं०पु०—कमल के बीज, कमलगट्टा (अमरत)

कमळज–सं०पु०—ब्रह्मा (ह.नां.)

कमळजूण, कमळजोण, कमळोजणी, कमळजोनौ—देखो 'कमलयोनि'।

कमळणी–सं०स्त्री० [सं० कमलिनी] १ कमल का फूल. २ छोटा कमल। उ०—जिम मधुकर नइ कमळणी, गंगासागर वेळ। लुबधा ढोलउ-मारुवी, कांम-कतूहळ केळ।—ढो.मा.

कमळतनभीतू–सं०पु०यौ० [सं० कमल+तन] १ चन्द्रमा, (डिं.को.)

कमळदळ–सं०पु०—देखो 'कमल' (१०) उ०—काया मांही कमळदळ, तहां वसै भगवंत। जन हरिदास खेलै तहां, कोइ-कोइ विरळा संत।—ह.पु.वा.

कमळनयण, कमळनियण–सं०पु०यौ० [सं० कमलनयन] १ जिसके कमल के समान आँखें हों. २ विष्णु (ह.नां.)

कमळपूजा–सं०स्त्री०—देवी को प्रसन्न करने के निमित्त अपना स्वयं का सिर काट कर अर्पण करने की क्रिया। उ०—म्हारा बाप रौ वैर वळै गैचंद हाथ आवै तौ हूं कमळपूजा करनै स्री सचियायजी नूं माथौ चढ़ाऊं।—नैणसी

(रू.भे. 'कँवळपूजा')

कमळभव, कमळभू–सं०पु०—ब्रह्मा। उ०—१ क्रतध्वंसी विस्णू कमळ-भव जिस्णू स्तुति करै।—मे.म. उ०—२ कमळनयण कमळाकर कमळा प्रांणेस कमळकर केसौ। तन कमळ भातेसं जे मुख चार कमळा कमळभू जंपै।—र.ज.प्र.

कमळयोनि–सं०पु०यौ० [सं०] ब्रह्मा। उ०—दोऊ दयत महादुख दीनौ, कमळयोनि तव सुमरन कीन्हौं।—मे.म.

कमळरंग–सं०पु०—एक प्रकार का घोड़ा (शा.हो.)

कमळविकास, कमळविकासण–सं०पु०यौ०—सूर्य जो कमल को विकसित करता है (ह.नां., क.कु.बो.)

कमळसनाळ–सं०स्त्री०यौ०—कमल की डंडी।

कमळसुतन–सं०पु० [सं० कमल+सुत] ब्रह्मा (डिं.को.)

कमळसुरंग–सं०पु०—रंग विशेष का घोड़ा। (शा.हो.)

कमळा–सं०स्त्री० [सं० कमला] १ लक्ष्मी. (अ.मा.) २ देवी, शक्ति. उ०—काळीका जग क्रतौ कंधरूढ़ा कौमारी। कमळा वाला कळा पळा प्रमहंस पियारी।—मालौ आसियौ. ३ धन-संपत्ति, ऐश्वर्य. ४ महा-माया. ५ एक वर्णिक वृत्त. ६ एक नदी का नाम. ७ अंत गुरु की चार मात्रा का नाम ।।ऽ (डिं.को.) ८ वधू के छिवकी आने पर औरतों द्वारा वधावे के स्वरूप गाये जाने वाले गीत (पुष्करणा ब्रा.)

कमळाएकादशी–सं०स्त्री०यौ०—चैत्र शुक्ला एकादशी।

कमळाकंत–सं०पु०यौ० [सं०] १ श्रीकृष्ण. (अ.मा.) २ विष्णु ३ राजा

कमळाकर–सं०पु०—१ विष्णु। उ०—कमळनयण कमळाकर कमळा प्रांणेस कमळाकर केसौ—र.ज.प्र. २ छप्पय छंद का ४६ वां भेद जिसमें २५ गुरु और १०२ लघु से १२७ वर्ण या १५२ मात्रायें होती हैं।

कमळाणौ, कमळावौ–क्रि०अ०—कुम्हलाना, मुरझाना।

कमळाणहार, हारौ (हारी), कमळाणियौ–वि०—कुम्हलाने या मुरझाने वाला।

कमळायोडौ—भू०का०कृ०।

कमळीजणौ—भाव वा०।

कमळापत, कमळापति–सं०पु०यौ० [सं० कमला+पति] १ विष्णु. २ श्रीकृष्ण।

कमळावणौ, कमळावबौ—देखो 'कमळाणौ' (रू.भे.)

कमळासण, कमळासन–सं०पु०यौ० [सं० कमलासन] ब्रह्मा (डिं.को.)

कमळि–सं०स्त्री०—१ कमल. २ पृथ्वी। उ०—पीथल हरौ अभंग मोटै पह, छळ पह परियां तणै छळि। पग देसी 'मधकरौ' पयंपै, कमळां पाळटियै कमळि।—अज्ञात

कमळि-चख–सं०पु०यौ० [सं० कमल+चक्षु] १ जिसके नेत्र कमल के समान हों. २ विष्णु (पिं.प्र.)

कमळिणी, कमळिनी–सं०स्त्री०—१ कमल. २ छोटा कमल। (मि० 'कमळणी'—रू.भे.)

कमळियौ–सं०पु० [सं० कामला] रक्त की कमी के कारण होने वाला एक रोग विशेष, कामला।

कमळीक–सं०पु०—नागों के नौ वंशों में से एक वंश या इस वंश का नाग (गजमोख)

कमळीजणौ, कमळीजबौ–क्रि० भाव वा०—कुम्हला जाना।

कमळौ–वि० [सं० कोमल] १ कोमल, मुलायम. २ देखो 'कंवळौ'।

कमसल–वि०यौ० [कम+असल] वर्णसंकर, दोगला।

कमसीस–सं०पु० [शीश+कम्] शिरस्त्राण, शिर का कवच। उ०—कोटां कूटां अर कमसीसां, जुड़ै न 'चांदौ' जगीसां। जे जुड़सी चांदौ जगीसां, कोट न कूट न कमसीसां।—चांदा मेड़तिया री गीत

कमहत–सं०पु०—वादन (अ.मा.)

कमांण–सं०पु० [फा० कमान] १ धनुष, कमान। उ०—वहिलउ आए

करंचित–सं०पु० [सं० निकुरम्बित] फूलों का ढेर, फूलों का गुच्छा। उ०—कबरी किरि गुंथित कुसुम करंचित, जमुरा फेरा पावन्न जग। —वेलि.

कर–सं०पु० [सं०] १ हाथ. (अनेकार्थी). [सं० करी] २ हाथी. (डि.को.) [सं०] ३ हाथी की सूंड. (डि.को.) ४ झरना. (डि.को.) ५ किरण (अ.मा.ह.नां) ६ कर, महसूल, लगान। उ०—दीजै तिहां डंक न दंट न दीजै, ग्रहणि म वरि तरु गांनगर। करग्राही परवरिया मधुकर, कुसुम गंध मकरंद कर।—वेलि. ७ विषयवासना (अनेकार्थी) ८ रहंट का लकड़ी का मोटा उपकरण जो चक्र के मध्य चक्र के ऊपरी हिस्से को रोकने में सहायक होता है।

अव्यय०—से। उ०—जब निजाममूळ नैं हैसार की तरफ से बहुत सा लस्कर अेकठा किया अरु बडा किला कू जोर दिया जिस कर सामांन बंधा हुवा।—द.दा.

करकंधू–सं०पु० [सं० कर्कंधू या कर्कंधू] बदरी वृक्ष या उसका फल। उ०—रबुवर भीली कर रे, बिलकुल सीतावर रे। रुचि करकधू फळ रे, जमि हमि पीधौ जळ रे।—र.ज.प्र.

करक–सं०पु० [सं०] १ कमंडलु, करवा. २ दाड़िम, अनार. ३ मौलसिरी. ४ कचनार. ५ नारियल की खोपड़ी. ६ करील का वृक्ष. ७ पृथ्वी के विषुवत्‌रेखा के उत्तर या दक्षिण में २३½ अक्षांश पर निकलने वाली कल्पित रेखायें (भूगोल). ८ बारह राशियों के अंतर्गत एक राशि. ९ एक लग्न. १० दर्पण. ११ अग्नि. १२ केंकड़ा. [सं०] १३ वृष्टि के हिमपाषाण, ओला (नां.मा., डि.को.) १४ शक्ति, बल। उ०—कंथा करक न छोडिये, हिरण किसा पी खाय। आक बटूकै पवन भखै, घोड़ां आगळ जाय।—अज्ञात

[सं० सर्क] १५ श्वेत रंग का घोड़ा (डि.को.) १६ खेत. १७ रह रह कर उठने वाली पीड़ा, चीस, दर्द. १८ खटक, खटकन. [सं० करंक] १९ सूखी हड्डी। उ०—कुत्ते दीठो करक जरख दिस खर रुख खांची। ढोल पड्यौ ढोर कागलां दीठी कांची।—ऊ.का.

करकड़ो–सं०पु०—१ रीढ़ की हड्डी. २ अस्थिपंजर। उ०—ढोला मिळीस ना वीसरै मनां आवी ननेम, मारूतणे करकड़ो, वाडन ऊवाळेम।—ढो.मा.

करकट–सं०पु० [सं० कर्कट] १ केंकड़ा, गिरगिट (डि.को.) २ कर्कराशि. ३ एक प्रकार का सारस. ४ लौकी, घीया. ५ कमल की मोटी जड़. ६ कूड़ा-करकट. ७ घास-फूस।

करकटणो, करकटबौ–क्रि०अ०—कटना, मरना। उ०—घड़ी बिच्चारि घगाटं दळ योन्यरं, वीर वावरड नोह। तुरक वचा मूंगळ करकटिया, ऊपरि पड्या समोह।—कां.दे.प्र.

करकटजोग, करकटयोग–सं०पु०—फलित ज्योतिष के अंतर्गत एक योग जिसमें षष्ठी शनिवार को, सप्तमी शुक्रवार को, अष्टमी गुरुवार को, नवमी बुधवार को, दशमी मंगलवार को, एकादशी सोमवार को और द्वादशी रविवार को हो।

करकटिका, करकटी–सं०स्त्री०—ककड़ी (डि.को.)

करकणौ, करकबौ–क्रि०अ०—१ कराहना, दर्द से चिल्लाना. २ फटना। उ०—वैदां मरम न जांणां री म्हारौ हिवड़ौ करको जाय। मीरां व्याकुळ विरहणी री, प्रभु दरसण दीन्यौ आय।—मीरां

३ कमकना, दर्द करना। उ०—पेच मुदचाड़ पर 'वादरौ' पिलाड़ी, कवर रै नीलाड़ी मांय करकै। हार गा वियां सुं हिलै न हिलाड़ी, सिलाड़ी तौ विना नहीं सिरकै।—ऊ.का.

करकणहार, हारौ (हारी), करकणियौ—वि०।

करकाणौ, करकावौ—स०रू०।

करकिअोड़ौ, करकियोड़ौ, करक्योड़ौ—भू०का०कृ०।

करकर–सं०स्त्री० [सं० कर्कर] १ समुद्री नमक. २ हड्डी (डि.को.) ३ कंकर सहित महीन धूलि। उ०—कच्छीयौ करकर रच्छी रुळि जावै। तडफै मच्छी तळ पच्छी पुळ जावै।—ऊ.का.

४ करीर का वृक्ष (डि.को.)

करकस–वि० [सं० कर्कश] १ कठोर, कड़ा (डि.को.) २ क्रूर, तेज।

करकाळ–सं०पु०—सर्प, सांप।

करकाक—सर्फद, श्वेत (डि.को.)

करकारु–सं पु०—कुम्हड़ा (डि.को.)

करकियोड़ौ–भू०का०कृ०—१ कराहा हुआ. २ फटा हुआ. ३ दर्द किया हुआ, कसक किया हुआ।

(स्त्री० करकियोड़ी)

करकोच–सं०पु० [सं० कर+कवच] हाथ का कवच, दस्ताना। उ०—फट्टै मुडन फांक ज्यौं दारिम दरक्कै। कंध कफोणी कर कटै करकोच करक्कै।—वं.भा.

करक्कणौ—देखो 'करकणौ' (रू.भे.) उ०—कंध कफोणी कर कटै, करकोच करक्कै।—वं.भा.

करख–सं०पु० [सं० कर्ष] १ खिचाव. २ हठ. ३ क्रोध. ४ एक तौल. ५ दुःख (डि.को.)

करखणौ—देखो 'करसणौ' (रू.भे.)

करखधज–सं०पु०—दीपक (नां.मा)

करखिणौ–क्रि०स० [सं० कर्ष] खींचना। उ०—करखि प्रांण केवियां दना अमरखि दुरवंछां। मुरिख वांण सासत्र जांण मुरं नारिख वंछां।—रा.रू.

करखिणहार, हारौ (हारी), करखिणियौ—वि०।

करखिअोड़ौ, करखियोड़ौ, करख्योड़ौ—भू०का०कृ०।

करग–सं०पु०—१ हाथ, कर (ह.नां., अ.मा.) उ०—कांमणि करग मु वांण कांम रा, दो सु वरुण तण किरि डोर।—वेलि. २ महसूल, कर. ३ कटारी. ४ तलवार।

करगसा–सं०स्त्री० [सं० कर्कशा] झगड़ालू, कलह-प्रिय।

कहा०—मरदां नैं बोया जरदै, बळदां बोदी चार। घर नैं बोयो करगसा नै वरमप्रसवणी नार—मर्दों को तंबाकू ने डुबोया तथा घर

कमेड़ौ-सं०पु०—१ एक प्रकार का पौधा विशेष जिसके सफेद फूल आते हैं और जिसे ऊँट बड़े चाव से खाता है. २ नर पंडुक पक्षी. ३ चक्कर आना।

कमेत-सं०पु०—कमेत रंग का घोड़ा (शुभ)

कमेदूधारी-सं०स्त्री०—एक प्रकार की तलवार।

कमेतपिलंग-सं०पु०यौ०—एक प्रकार का शुभ रंग का घोड़ा (शा.हो.)

कमेतसोनहरी-सं०पु०—एक प्रकार का शुभ रंग का घोड़ा (शा.हो.)

कमेतीय-सं०पु०—लाल रंग का घोड़ा।

कमेर-सं०पु० [सं० कुबेर] कुबेर। (ह नां.)

कमैत-देखो 'कमेत' (रू.भे.)

कमैरौ-सं०पु०—किसान के कृषि संबंधी कार्य करने वाला मजदूर या नौकर (क्षेत्रीय)

कमोद—१ देखो 'कुमुद'। उ०—तिण सहर री पाखती सलिता सरोवर कमोद जळ कमळ संजुगत विराजमांन दीसै छै।—वचनिका

सं०पु०—२ एक रंग विशेष का घोड़ा. ३ तेरहवीं बार उलट कर बनाया गया एक प्रकार का शराब (रा.सा.सं.) ४ एक प्रकार का बढ़िया चावल। उ०—तथा उपरांयत सीरौपुड़ी वणै छै। सोहिते सारु देवजी भी जोयजै छै। विरंजै सारु चोखा मंगायज छै। पुलाव सारु कमोद वीणीजै छै।—रा.स.सं.

कमोदण—देखो 'कमुद' (रू.भे.)

कमोदणहितू-सं०पु० [सं० कुमुदिनी+हितू] चंद्रमा (डि.को.)

कमोदणि, कमोदणी, कमोदनी—१ देखो 'कमुद' (रू.भे.) २ चांदनी।

कमोदी-सं०पु० [सं० कुमुदिन्] चंद्रमा, चांद (ना.डि.को.)

कम्मर-सं०स्त्री० [अ० कमर] कटि, कमर। उ०—इसी वह तेग सदा अगजीत, सजे नर कम्मर पेम सजीत।—पे.रू.

कम्मरसूत-सं०पु० [अ० कमर+सं० सूत्र] करधनी (डि.को.) (मि० 'कणदोरौ')

कम्मल—देखो 'कमळ' (रू.भे., ह.नां.)

कम्मांण—देखो 'कमांण' (रू.भे.)

कम्मेड़ी-सं०स्त्री०—देखो 'कमेड़ी' (रू.भे., डि.को.)

कम्युनिजम-सं०पु०—एक सिद्धान्त जिसके अनुसार किसी संपत्ति आदि पर समष्टि का अधिकार हो, साम्यवाद।

कम्युनिस्ट-सं०पु०—किसी संपत्ति आदि पर समष्टि के अधिकार होने के सिद्धान्त का अनुयायी, साम्यवादी।

कय-सं०स्त्री०—कनपटी।

कयकांण-सं०पु०—घोड़ा, अश्व। मुड़े विसनेस तजै भड़ मांण, कमंध जहांक गयौ कयकांण।—पे.रू.

कयर-सं०पु० [सं० करील] करील का वृक्ष। उ०—जिण भुइ पन्नग पीयणा, कयर कंटाळा रूंख। आके फोगे छांहड़ी, हूंछां भांजइ भूख। —ढो.मा.

कयळास—देखो 'कैळास' (रू.भे.)

कयळी-सं०स्त्री [अ० काहिली] शराब पीने के पश्चात् उत्पन्न थकान, सुस्ती।

कयां-क्रि०वि०—क्यों, कैसे।

कयांहीक-वि० [सं० कीदृश] १ कैसा. २ कितने। उ०—जद स्रीजी बोलिया—कयांहीक दिनां फळ भुगतियौ। विण तौ प्रतापसिंघजी कह्यौ।—वां.दा. ख्यात

कयागरौ-वि०—आज्ञाकारी।

कयामत-सं०स्त्री० [अ०] १ मुसलमानों, ईसाइयों और यहूदियों के मत के अनुसार सृष्टि का वह अंतिम दिन जब सब मुर्दे उठ कर खड़े होंगे और ईश्वर के सामने उनके कर्मो का लेखा रखा जायगा. ३ प्रलय. ३ हलचल, खलबली।

कयास-सं०पु० [अ०] १ अनुमान. २ सोचविचार. ३ ध्यान। उ०—करवाळ ढाल दिस कर कयास, ओळं दे है नहिं अनायास। —ऊ.का.

कयाहिक-क्रि०वि०- -कभी।

कयूंयेक-वि०—कुछ (अमरत)

कयौ-सर्व०—कौनसा।

करंक-सं०पु०—अस्थिपंजर। उ०—दादू हंस मोती चुगै, मानसरोवर न्हाय। फिर-फिर बैसे बापड़ा, काग करंकां आय।—दादूदयाळ

करंकउ-सं०पु० [अनु०] पशु के बोलने का शब्द या ध्वनि। उ०—सजि कसणा करि लाज ग्रहि, चढ़ियउ साल्हकुमार। करह करंकउ स्रवण सुणि, निद्रा जागी नार।—ढो.मा.

करंकडइ, करंकडौ-सं०पु०—१ अस्थिपंजर। उ०—ढोला मिळिसि म वीसरिसि, नवि आविसि नालेसि। मारू-तणइ करंकडइ, वाइस ऊडावेसि।—ढो.मा. २ रीढ़ की हड्डी।

करंगळ-सं०पु०—कवच (मि० 'कग्गळ')

करंड-सं०पु० [सं०] १ बांस की पिटारी (छबड़ा)। उ०—कंत न छेड़ ठाकुरां, काळी जांण करंड। इण भोगी रा जहर थी, दूजी की जमदंड। —वी.स.

(अल्पा० 'करंडियौ') २ लकड़ी की पिटारी जिसमें देवी की मूर्ति रक्खी जाती है। उ०—कनवज हूंता करंड लाग हट 'पेथड़' लायौ। थप नागांणै थांन पाट पत इय वर पायौ।—पा.प्र.

करंडव-सं०पु० [सं० कारंडव] हंस या बतख की जाति का एक पक्षी। उ०—प्रगट्यौ वरम पंचोतरौ, मांवण सघण मराय। साह करंडव पंखि पर, दुमुखि रहे चख लाय।—रा.रू.

करंडियौ-सं०पु० [अल्पा०] १ देखो 'करंड'. २ मिठाई या फल आदि रखने की बांस या घास की बनी पिटारी।

करंडी—देखो 'करंड' (रू.भे.)

करंद्रराज-सं०पु०यौ [सं० करि+इंद्र+राज] १ एरावत. २ हाथी, गजराज। उ०—दियै घूमै मचोळा मातंगां व्रंद व्रंद दोळा, वहंतां करंद्रराज दोळा भ्रंग व्रंद।—वां.दा.

३ दुष्ट मनुष्य. ४ कट्टर नास्तिक।

करठाळ, करठाळग–सं०स्त्री०—१ तलवार (अ.मा.)

सं०पु०—२ माला। उ०—१ घर खावड़ बूढ़ोय राज धरै। करठाळ पवू धकचाळ करै।—पा.प्र. उ०—२ काळ लंकाळ करठाळ जड़ियौ कमंध, वहै विकराळ रगताळ वांई। भाळ छकडाळ चगताळ चुनाळ भिद ताळ गौ भाळ भर घरण तांई।—तेजसी खिड़ियौ

करडंड–सं०पु०—तीर (डि.नां.मा.)

करडांण—देखो 'करड़ांण'।

करडाई—देखो 'करड़ाई'।

करडाणौ, करडाबौ—देखो 'करड़ावणौ'।

करडापण, करडापणौ—देखो 'करड़ापण'।

करडावणौ, करडावबौ—देखो 'करड़ावणौ'।

करडावणहार, हारौ (हारी), करडावणियौ—वि०।

करडायोड़ौ—भू०का०कृ०।

करडू—देखो 'करड़ू' (रू.भे.)

करडौ—देखो 'करड़ौ' (रू.भे.)

करडौलकड़, करडौलक्कड़—देखो 'करड़ौ-लक्कड़' (रू.भे.)

करण–सं०पु० [सं०] १ हथियार. २ इंद्रिय. ३ देह (डि.को.) ४ क्रिया. ५ कार्य. ६ स्थान. ७ हेतु. ८ कायस्थों का एक भेद (मा.म.) [सं० कर्ण] ९ कान (अ.मा., डि.को.) १० कुन्ती के गर्भ से कुमारावस्था में उत्पन्न सूर्य का पुत्र।

पर्याय०—अंगराज, अरकज, करन, चंपाधिप, भांणसुतन, रविसुत, राधातनय, राधेय, सूततनय।

११ डिंगल कोष के अनुसार दो गुरु मात्रा का नाम ऽऽ.

१२ हाथ. १३ छप्पय छंद का एक भेद जिसमें ६७ गुरु १८ लघु से ८५ वर्ण या १५२ मात्रायें होती हैं. १४ व्याकरण में तीसरा कारक. १५ ज्योतिष में तिथियों का एक विभाग. १६ धनुष। १७ गणित ज्योतिष की एक क्रिया. १८ सूर्य की रश्मि, किरण. १९ समूह (अ.मा.)

करणअस्त्र–सं०पु० [सं० कर्णास्त्र] धनुष (अ.मा.)

करणकंडू–सं०पु० [सं० कर्ण+कंडू] कान का एक रोग (अमरत)

करणाकार–सं०पु० [सं० करुणाकार] ईश्वर। उ०—जोई जिसौ फळ मांगै छै तैनें तिसौ दे छै। करणकार केसु कहतां।—वेलि. टी.

करणकारण–सं०पु०—कारणरूप, ईश्वर। उ०—नम सच्चिदानंद भक्त-वत्सल भय हरता, सास्वत असरण सरण करणकारण जगकरता।
—ऊ.का.

करणत्रांण–सं०पु० [सं० करण=शरीर+त्राण=रक्षक] सिर, मस्तक। (डि.को.)

करणनाद–सं०पु० [सं० कर्णनाद] कान का एक रोग जिसमें कान में निरंतर एक ध्वनि सुनाई पड़ती है (अमरत)

करणपत्रभंग–सं०पु०—कानों में पहनने के गहने बनाने का कार्य। ६४ कलाओं के अंतर्गत एक कला।

करणपसाव–सं०पु० [सं० कर्ण+प्रसाद] सुनने का भाव, ध्यान देने का भाव। उ०—अरज एक ऊचरण, चरण छूवण हूं चाऊं। पाऊं करणपसाव, समर न करण समझाऊं।—मे.म.

करण-पांण–सं०पु०—तीर, बाण (अ.मा.)

करणपाक–सं०पु० [सं० कर्णपाक] कान का एक रोग (अमरत)

करणपित–सं०पु० [सं० कर्णपिता] सूर्य, भानु (क.कु.बो.)

करणपिसाचिनी–सं०स्त्री० [सं० कर्णपिशाचिनी] एक प्रकार की साधना जिसमें साधक से कोई प्रश्न करने पर तुरंत उसका समाधान वहीं उसी समय कर दिया जाता है।

करण-पुरी–सं०स्त्री०—चंपापुरी का एक नाम (डि.को.)

करणपोत–सं०पु० [सं० पोत-करण] भाला (ना.डि.को.)

करणफूल–सं०पु० [सं० कर्णफूल] १ कान में पहना जाने वाला स्त्रियों का एक आभूषण विशेष (अ.मा.) २ एक प्रकार का पुष्प विशेष। (अ मा.)

करण-बिवाह–सं०पु०—पति (डि को.)

करणमूळ–सं०पु०—कान के मूल में होने वाली ग्रंथि या गाँठ विशेष। (अमरत)

करणरस–सं०पु०—देखो 'करुणारस' (रू.भे.) उ०—तिके सती अंगनि सनांन करि नै सरग भोग रा सुख मांणै छै। पूठै करणरस कीजै छै। जगवासी लोग छै त्यांनां करणरस ऊपनौ छै।—रा.सा.सं.

करणरोगवाय–सं०पु०—घोड़े का एक रोग विशेष जिसके कारण उसके कान में सूजन आ जाती है (शा.हो.)

करणलंब–सं०पु०यौ० [सं० कर्ण+लंब] लंबे कानों वाला, गधा। (अ.मा., ह.नां.)

करणसत्र–सं०पु०यौ० [सं० कर्ण+शत्रु] अर्जुन (अ.मा.)

करणसूळ–सं०पु० [सं० कर्णशूल] कान का रोग विशेष जिससे कान में शूल चलता है (अमरत)

करणसोच–वि०—कायर, डरपोक (डि.को.)

करणस्राव–सं०पु० [सं०] कान का एक रोग विशेष जिसमें कान के भीतर पीव बहने लगता है (अमरत)

करणहार–वि०—करने वाला।

सं०पु०—ईश्वर। उ०—उदार पारब्रह्म करणहार करतार जगतगुरु अंतरजांमी।—ह पु.वा.

करणानिधांन–सं०पु० [सं० करुणानिधान] १ दयासागर, दया करने वाला. २ ईश्वर। उ०—करणानिधांन जगिगौ कहै, वहनांमी वह बूझि इण। कळजुग्ग इसा मांहे किसन, राखे पत्त राधारमण।
—ज.खि.

करणामई, करणामय–सं०पु० [सं० करुणामय] करुणामय, ईश्वर। २ एक प्रकार का वृक्ष व उसका फल (डि.को.)

करणाकर–वि० [सं० करुणाकर] दया करने वाला। उ०—द्रोपत दुखियारीह, पुकारी अबळापणै। मदती हर म्हारीह, करणाकर करस्यौ करां।—रांमनाथ कवियौ

को कलहप्रिय या प्रति वर्ष प्रसव करने वाली स्त्री ने डुबोया । कलहप्रिय स्त्री या प्रति वर्ष प्रसव करने वाली स्त्री घर का नाश कर देती है ।

करगि, करग्गा—देखो 'कर' (१) । उ०—१ गहड़ घड़-कांमणी करै पांणै-ग्रहण, करगि खग वाहतौ जुवा जूसण कसण ।—हा.झा.

उ०—२ पिंड प्रांण छूटसी नाड़ तूटसी करग्गां, धरा सेज धारसी करे सुख सेज अळग्गां ।—ज.खि.

करग्राही—वि०—कर (हाथ) ग्रहण करने वाला । उ०—दीजै तिहां डंक न दंड न दीजै, ग्रहणि म वरि तरु गांनगर । करग्राही परवरिया मधुकर, कुसुम गंध मकरंद कर ।—वेलि.

करड़—सं०स्त्री०—१ एक प्रकार का घास विशेष जिसे घोड़े चाव से खाते हैं २ कटि, कमर । उ०—चौड़ी पीठ सांकड़ी छाती, करड़ उघाड़ी लूधा कांन ।—अज्ञात

वि०—मजबूत । उ०—नाह नीठि पड़िसी खेत मांझी निवड़ । गयंद पड़िसी गहर करड़ घड़ भड़ गहड़ ।—हा.झा.

करड़को—सं०पु०—१ किसी कठोर वस्तु को या कंकर को दांतों से चबाने से होने वाली आवाज. २ दांतों से काटने की क्रिया या भाव. ३ इस प्रकार काटा हुआ स्थान ।

करड़दंतौ—वि०—कठोर दांतों वाला । उ०—वांधलौ तजारौ सौ किण नूं जी पाकां पाकां वरीआंमां जोधारां करड़दंतां, अजराइळां खीवरां डांणां दूलोडा कीआं लोह घरड़ां लोहानां लोली लेतां काट रै ऊगरै है ।—रा.सा.सं.

करड़धज—वि०—१ जबरदस्त, बलवान, शक्तिवान । उ०—धकायौ रांण हूं मिळण वण करड़धज, भड़ां हड़वड़ उरड़ घाव भाळी । मिट गई किसनगढ़नाथ वाळी मुरड़, उरड़ लख साहपुर नाथ आळी ।
—अमरसिंघ सीसोदिया रौ गीत

२ ऐंठ कर चलने वाला, अभिमानी ।

करड़पटीलौ, करड़वटीलौ—वि०—चितकबरा । उ०—पतळी केळू कांमड़ी है, सरस सुवांणी डाळियां । छांट छोळ लै'रां लपेटां, करड़पटीली वाळियां ।—दसदेव

करड़मरड़—सं०स्त्री० [अनु०] १ चूं चरमर की ध्वनि. २ रौब. ३ गर्व, अकड़ ।

करड़वाळ—सं०पु० दाढ़ी के वे बाल जो कुछ श्वेत तथा कुछ काले हों ।

करड़ांण—सं०स्त्री०—१ गर्व, अभिमान. २ कठोरता ।

करड़ाई—सं०स्त्री०—१ कटुत्व, कड़वापन. २ घमंड, अभिमान ।

करड़ाट—सं०स्त्री०—१ एक ध्वनि विशेष ।

सं०पु०—२ गर्व, घमंड. ३ कड़ापन ।

करड़ाणौ, करड़ावौ—क्रि०अ०स०—१ अकड़ना, ऐंठना. २ दांतों से काटना, कुचलना (रू.भे.)

करड़ापण, करड़ापणौ—सं०पु०—१ कठोरता. २ गर्व, अभिमान ।

करड़ावण—सं०स्त्री०—देखो 'करड़ापण' । उ०—पड़वै पोढ़तांह, करड़ावण सै कोई करै । धारां में धंसतांह, आंसू आवै ईलिया ।
—लाखणसी चारण

करड़ावणौ, करड़ावबौ—क्रि०अ०स०—१ अकड़ना, ऐंठना. २ दांतों से काटना, कुचलना ।

करड़ीछाकां—अव्यय—रात्रि में १० या १०½ बजे का समय (क्षेत्रीय)

करड़ू—वि०—अनाज का वह दाना जो पकाने से अन्य दानों के साथ पूरी तरह पक न सके अथवा भिगोने से अन्य दानों के साथ भीग न सके ।

करड़ीमूठ—सं०स्त्री०—१ कृपणता, कंजूसी. २ कठोरता ।

वि०—कृपण, कंजूस ।

करड़ौ—वि०पु० [सं० कृड घनत्वे कर्त्तरि अच्=कर्ड=करड़ौ] १ कठोर । उ०—ऊजळ मळ संकुळ पीठी उवटांणी । करड़ै लौ साथै ऐरण कूटांणी ।—ऊ.का. २ कठिन । उ०—जोड़ै तांणी जगत में, कर कर करड़ा काम । विवनौ जोवै वांणियौ, नांणा रौ सुण नांम ।—वां.दा. ३ भयंकर, संकटापन्न । उ०—वीसहत सहायक वर्णं करड़ी वगत । मावड़ी सदामद जोगमाया ।—नंदजी मोतीसर ३ गहन. ४ ठोस. ५ दृढ़, ६ रूखा, उग्र. ७ निष्ठुर. ८ क्लिष्ट, मुश्किल. ९ कसा हुआ, चुस्त ।

सं०पु०—१ एक प्रकार का घोड़ा विशेष जो अरबी और तुरकी जाति के जोड़ से उत्पन्न होता है । २ सुर्ख व सफेद रंग का घोड़ा ।
—वां.दा.ख्या.

३ एक प्रकार का सर्प । उ०—काळा पटा कावरां करड़ां, परड़ां टाळै गोगा पीर ।—आसौ गाडण ४ हाथ की उंगलियों से पकड़ा जाय उतना घास या वस्तु ।

करड़ौलकड़, करड़ौलक्कड़—वि०यौ०—१ लकड़ी के समान कड़ा. २ ऐंठा हुआ ।

करज—सं०पु० [सं०] १ नाखून, नख (ह.नां., अ.मा.)

[अ० कर्ज] २ उधार, ऋण, कर्ज । उ०—हरि हीरौ घर मांही भूलौ, करज वहोत सिर कीयौ ।—ह.पु.वा.

[सं०] ३ प्रकाश (नां.मा.)

करजड़ौ—देखो 'कर्ज' (अल्पा०)

करजदार—सं०पु० [फा० कर्जदार] जिसने कर्ज लिया हो, ऋणी ।

करजदारी—सं०स्त्री०—कर्ज लेने या देने का भाव, लेनदारी, ऋण । उ०—जमीदार हुय जमी करजदारी में कळगी ।—ऊ.का.

करजवांन—वि० [अ० कर्ज+फा० वान] कर्जदार, ऋणी ।

करजायत—सं०पु० [अ० कर्ज+रा० प्र० आयत] लेनदार, ऋण देने या लेने वाला ।

करजेरीरसम—सं०स्त्री०—एक प्रकार का सरकारी टैक्स ।

करजौ—देखो 'करज' । उ०—निस दिन निरभै नींद, सपने में आवै न सुख । दुनिया में नर दीन, करजे सूं हुवै किसनिया ।—अज्ञात

करझड़ी—सं०स्त्री०—क्रौंच पक्षी ।

करट—सं०पु० [सं०] १ कौआ (ह.को.) २ हाथी का कपोल (डिं.को.)

किस्मत को रोयेंगे। संसार में धर्म की अपेक्षा कुछ समय के लिए अधर्म से कमाई हो सकती है। ६ करेगा सो पावेगा, वंदा रोटी खावेगा—जो बुरा काम करेगा वही उसका फल भोगेगा, हम तो मौज उड़ावेंगे। जो स्वयं बुरा काम नहीं करता उसकी उक्ति। जो दूसरों से बुरे काम करा कर उसके बल पर स्वयं मौज करता है उसके लिये। १० करै जिसा भुगतै—जैसा करता है वैसा भोगता है। करनी के अनुसार फल मिलता है। ११ करै तौ डर नहीं करै तौ कांय का डर —जो बुरा काम करता है उसी को दंड मिलता है, जो नहीं करता वह दंड से क्यों डरे। १२ करै तौ डर, नहीं करै तौ डर—क्योंकि कभी-कभी नहीं करने पर भी धोखे से दंड मिल जाता है (अथवा न करने पर भी दुनिया बुराई करने लगती है) १३ करै सो भरै—देखो कहावत (६) १४ करौ पाप, खाओ बाप—देखो (८) १५ करौ बेटा फाटका वेचौ घर का बाटका—हे बेटे, फाटका (जुआ) करो और (फलस्वरूप) घर के थाली लोटे भी बेच डालो। फाटके (जुए) की निंदा। १६ करौ मेवा पावो मेवा—सेवा कार्य की प्रशंसा। १७ करौला वंदगी तौ पावौला चंदगी—किसी की सेवा करने से कुछ न कुछ लाभ अवश्य प्राप्त होगा।

१८ कर्यो सो कांम, भज्यो सो रांम—किया वही काम और भजा वही राम-भजन। काम को और राम भजन को तुरंत कर डालना चाहिये। १९ कर्यो स कांम, वींध्यो स मोती—किया सो काम, बेधा सो मोती। काम कर डाला सो हो गया, नहीं किया सो रह गया। काम को तुरंत कर डालना चाहिये।

भूतकालिक प्रयोग—कीध, किधौ (कीधौ)।

कध्धी, कध्धौ (क्वचित् प्रयोग)

कनि, कन्हौ, कीनौ, कीन्ह, कीन्हा, कीन्हौ—रू०भे०भू० प्रयोग।

करणहार, हारौ, (हारी), करणियौ—वि०—करने वाला।

कराणौ, करावौ, करावणौ, करावबौ—क्रि०स०—कराना।

करायोड़ौ, करावियोड़ौ—भू०का०कृ०।

करिओड़ौ, करियोड़ौ, कर्योड़ौ—भू०का०कृ०।

करीजणौ, करीजबौ—कर्म वा०—किया जाना।

करणील—सं०पु० [अं० कर्नल] फौज का बड़ा अफसर।

करतब—सं०पु० [सं० कृ=करना+तव्य कर्तव्य] १ कर्तव्य।

उ०—१ दतब करतब ये दोढ़ा दरसाता। सारी प्रथवी ये मोटा गरसाता।—ऊ.का. उ०—२ मेछां आगळ माथ, निवै नहीं नरनाथ रौ। सौ करतब समराथ, पाळै रांण प्रतापसी।—दुरसौ आढ़ौ

२ किये हुये कार्य, काम, प्रारब्ध। उ०—भगवत करता ने करतब भुगतावे। पिछला पापां रा पांमर फळ पावै।—ऊ.का.

३ धर्म. ४ उपाय. ५ जादू. ६ हुनर.

[सं० कृ=हिंसा करना+तव्य, कर्तव्य] ७ छल, कपट, पाप कर्म।

उ०—माया संपत माट, भंवर कंवर सुख भोगवै। म्हे की आछे माट, करतब री नूंभी 'कन्न'।—अज्ञात. ८ दान। उ०—मोसेर किम भूलै राव मारू, तौ सिरखा देसोत तिके। जोड़ै करतब तणौ न जूता, जोड़ै घोड़ा खड़ै जके।—ओपौ आढ़ौ

[सं० कृ० = छितराना+तव्य, करितव्य] ९ विस्तार, फैलाव।

करतमकरता—सं०पु०—सर्वाधिकारी। उ०—तैसें परमेस्वर करतम-करता मुनें उपायो।—वेलि.

करतरी—सं०स्त्री०—१ कैंची (डिं को.) उ०—मिळै मोहरां चोहरां पंति मोती, कळा करतरी जीत पावै कनोती।—वं.भा. २ कटारी. (वं.भा.) ३ वाण का अंतिम या पिछला भाग जिसमें पर लगे रहते हैं (डिं.को.) ४ एक प्रकार का शस्त्र विशेष (अ.मा.)

करतळ—सं०पु०—१ सिंह का पंजा. २ अंत गुरु की चार मात्रा का नाम ॥ऽ ३ छप्पय छंद का ४५ वाँ भेद जिसमें २६ गुरु और १०० लघु से १२६ वर्ण या १५२ मात्रायें होतीं हैं (र.ज.प्र.)

करतव्व—देखो 'करतव'। उ०—रढ़रांगा भांण रतन्न, करतव्व भारथ क्रन्न। नरनाह जे मुख नीर, ग्रहवंत ग्यांनगहीर।—वचनिका

करता—सं०पु० [सं० कर्ता] १ काम करने वाला. २ रचने या बनाने वाला, निर्माता. ३ ईश्वर। उ०—करता जो लिखिया फूंकूं रा, काजळ तणा करै नहि कोय।—भीखजी रतनू. ४ व्याकरण के अंतर्गत प्रथम कारक जिससे क्रिया के करने वाले का बोध हो.

५ श्रीकृष्ण (अ.मा.)

सं०स्त्री०—६ देवी, दुर्गा (क.कु.बो.) ७ पार्वती।

वि०—करने वाला। उ०—भगवंत करता ने करतब भुगतावै। पिछला पापां रा पांमर फळ पावै।—ऊ.का.

करतापण, करतापणौ—सं०पु०—१ कर्तृत्व, रचना। केहर रै हाथळ करी, कीधी रात वराह। सूर काज कीधौ सुजड़, विध करतापण वाह।—बां.दा. २ प्रभुता, अधिकार, स्वामित्व. ३ कारीगरी, दक्षता।

करतापुरस, करतापुरिस, करतापुरुस—सं०पु० [सं० कर्ता+पुरुष] रचना करने वाला, ईश्वर। उ०—१ काळ हरण करतापुरिस, सुमरतां गुण एह। चित मांहि चित ले रहौ, ज्युं वहोरि न धरियै देह।—ह.पु.वा. उ०—२ क्रम अक्रम भ्रम्म अधरम कपट, ऐं नेड़ा मत आंण अंग। पढ़ नांम रिदै करतापुरस, 'जगा' एक अवगत जग।—ज.खि.

करतार—सं०पु० [सं० कर्त्तार] १ ईश्वर. २ विधाता.

वि०—३ रचना करने वाला।

करताळ, करताळीक—सं०स्त्री० [सं० करताड] १ तलवार, खड्ग (ह.नां.) उ०—आंण किलै मां ऊतरै, कमंध पेम किरनाळ। इतरै वागी आवतां, काळां री करताळ।—पै.रू. २ प्रथम गुरु ढगण के भेद का नाम ऽ।. ३ एक प्रकार का वाद्य विशेष।

करताळी—सं०स्त्री०—हाथ द्वारा बजायी जाने वाली ताली।

उ०—छोह करताळियां चिड़कला छूटहीं। अभंग जसवंत जुध गुरड़ नह ऊडहीं।—हा.झा.

करतावर—सं०पु०—ईश्वर। उ०—'ओभा' भज ओप्पीह, हीये भारत

सं०पु०—१ विष्णु (नां.मा.) २ ईश्वर (ह.नां.)

करणाटक–सं०पु०—१ दक्षिण भारत का एक प्रदेश. २ ब्राह्मणों का एक भेद विशेष (मा.म.)

करणाधपत–सं०पु० [सं० किरणाधिपति] सूर्य, भानु। उ०—पिता जमराज खटतीस करणाधपत, ओपियौ जगत कीधां उजाळौ। धोयती खाग वरियांम जोधां धणी, प्रसण प्रघळै चलै ज्यूं हिज पाळौ। —नाथौ सांदू

करणामय—देखो 'करुणामय' (रू.भे.) उ०—अर पाताळ थे म्हारो ऊधार कीयौ। करणामय कहौ तौ तदि थांनै कुणै सीख दीधी हुती। —वेलि. टी.

करणाळ–सं०पु०—१ सूर्य (रू.भे. 'करनाळ') २ करनी देवी. ३ एक वाद्य विशेष। उ०—वींद चढ़े जीमें वळां, वज करणाळ सुवेस।—र.रू.

करणावटी–सं०पु०—१ बीकानेर राज्य का एक प्रदेश।

करणि–सं०पु० [सं० कर्णिका] १ कर्णिकार पुष्प, कनेर का फूल। उ०—कणियर तरु करणि सेवंती कूजा, जाती सोवन गुलाल जत्र। —वेलि.

२ कनक. ३ कार्य, करनी। उ०—विवरण जौ वेलि रसिक रस वंछौ, करौ करणि तौ मूझ कथ।—वेलि.

क्रि०वि०—करने के लिए। उ०—मूळ ताळ जड़ अरथ मंडहे, सुथिर करणि चढ़ि छांह सुख।—वेलि.

करणिका–सं०स्त्री० [सं० कर्णिका] १ सूंड के आगे की नोंक (डि.को.) २ उँगुली का सिरा।

करणिकार–सं०पु०—१ कनेर का वृक्ष (डि.को.) २ कनक चंपा पेड़।

करणियौ—देखो 'किरणियौ' (रू.भे.)

वि०—करने वाला। देखो 'करणौ'।

करणी–सं०स्त्री०—१ कार्य, करतूत, करनी। उ०—विद्या वेदों में वैदिक विध वरणी अपणी करणी सूं जग पार उतरणी।—ऊ.का.

कहा०—१ करणी आपो-आप री, कुण वेटा कुण वाप—अपनी-अपनी करनी है, कौन तो वेटा है और कौन वाप है। कोई किसी का वाप या वेटा नहीं, सब अपनी-अपनी करनी के अनुसार जन्म लेकर उसका फल भोगते हैं। सब अपनी करनी का फल भोगते हैं, वेटा या वाप कोई भी उसमें हिस्सा नहीं बँटा सकते। अपनी करनी काम देती है, वेटे की करनी वाप के या वाप की करनी वेटे के काम नहीं आ सकती. २ करणी जिसी भरणी—जैसी करनी वैसी भरनी—करनी के अनुसार फल भुगतना पड़ता है। जैसा करता है वैसा पाता है।

२ खुरपी. ३ लीला, रचना। उ०—कुदरती किरतार की करणी वळिहारै।—केसोदास गाडण ४ मृतक-संस्कार. ५ हथिनी. ६ जीवन को सार्थक बनाने की दिनचर्या। उ०—ऐड़ी करणी कर चलौ, लारै हसी न होय।—अज्ञात ७ चाल-चलन, व्यवहार। उ०—करणीं सूं क्या काम है, दरसण सूं है कांम।—अज्ञात

८ चूने का कार्य व पलस्तर लगाने का एक औजार जिससे लिपाई का भाग समतल किया जाता है, करनी। उ०—नीर पड़ लोही सौ लागै, घावां गारौ माझवै। करणी सूं कारीगर कूटै, दाझचोड़ा नै दाझवै।—दसदेव ९ एक वृक्ष विशेष। उ०—कणेर व्रक्ष करणी सेवंत्री, कूजा जाय सोवन जाइ।—वेलि. टी. १० एक देवी जिसका प्रमुख मंदिर बीकानेर से १६ मील दूर देशनोक नामक गाँव में स्थित है।

वि०वि०—इसका जन्म संवत् १४४४ में 'सुवाप' गाँव के निवासी मेहा चारण के यहाँ हुआ था। इसका विवाह 'साठीका' गाँव के वीठू चारण देपा के साथ हुआ था। इसका स्वर्गवास संवत् १५९५ में माना जाता है।

पर्याय०—आयी, कनियांणी, करणी, देसणोकपत, महिमासघू।

करणीगर–सं०पु०—करने वाला, कर्त्ता, ईश्वर, प्रभु। उ०—१ जांण प्रवीण 'विजौ' जस-ग्राहग, करणीगर सह विधि कियौ। क्रम कायरां लखण कृपणां रा, सु तौ न जांणै सरवहियौ।—ईसरदास वारहठ उ०—२ करणीगर रूड़ा करै, करत विलंब न काय। मार उपावै मेदिनी, मुहुरत हेकण मांय।—ह.र.

करणेजप–वि० [सं० कर्णेजप] १ दुष्ट, खल. २ चुगलखोर (डि.को.)

सं०पु०—सर्प, सांप।

करणोत–स०पु०—राठौड़ों की एक उपशाखा या इस शाखा का व्यक्ति।

करणोद— देखो 'करणाद' (रू.भे.)

करणौ–वि०—करने वाला। उ०—दळां खेंगरणौ करणौ नांम जगि दाखां।—ल.पि.

सं०पु०—एक प्रकार का वृक्ष व उसका फल।

करणौ, करबौ–क्रि०स०—किसी कार्य को करना, निवटाना या समाप्ति की ओर ले जाना।

कहा०—१ करंता सो भुगंता, खिणंता सो पड़ंता—जो जैसा कार्य करता है उसको वैसा ही फल मिलता है। बुरे कामों का फल बुरा ही होता है। २ कर भला तौ व्है भला—जो दूसरों का भला करता है उसका भला अवश्य होता है। अच्छे कामों का फल सदा अच्छा होता है। ३ करण मत्तै होवै जिणरै सारा सैंज है—दृढ़ निश्चय से हरएक काम सरल हो जाता है। ४ करणा है सो करलो भाई, काळा केसां तांई—जब तक वाल काले हैं तब तक जो कार्य करना है वह करलो। युवावस्था में ही कार्य कर लेना चाहिये अन्यथा बुढ़ापे में कुछ भी नहीं किया जा सकेगा। ५ करता उस्ताद न करता मागिरद—अभ्यास ही बड़ी चीज है। ६ करसी सो भरसी—करेगा सो भरेगा। जो काम करता है वही उसका फल पाता है। ७ करौ पाप खाओ धाप—इस युग में पापकर्म से पेट सहज भरता है। मेहनत से व ईमानदारी से पैसा कठिनता से कमाया जाता है। ८ करेगा पाप सो खावेगा धाप, करेगा धरम सो फोड़ेगा करम—जो पाप करेंगे उन्हें पूरा खाने को मिलेगा और जो धर्म करेंगे वे अपनी

करवीरक–सं०पु० [सं०] श्मशान (डि.को.)

करवुर–वि० [सं० कर्बुर] १ चितकबरा (डि.को.)
सं०पु०—१ धतूरा (डि.को.) २ सोना, स्वर्ण (अ.मा., ह.नां.)
३ राक्षस (डि.को.)

करवो–सं०पु० [सं० करम्भ] दले हुए अनाज को पका कर छाछ के मिश्रण से बनाया जाने वाला एक प्रकार का पेय पदार्थ।

करभ–सं०पु० [सं० कलभ] १ ऊँट (अ.मा.) २ हाथी, हाथी का बच्चा. ३ हथेली का मणिबन्ध से कनिष्ठिका तक का भाग।
उ०—नितंबणी जंघ सु करभ निरूपम, रंभ खंभ विपरीत रुख।—वेलि.
४ दोहा नामक एक छंद विशेष जिसमें १६ लघु १६ गुरु कुल ३२ वर्ण और ४८ मात्रायें होती हैं (र.ज.प्र.)
वि०—१ बैंगनी रंग का (डि.को.) २ क्रूर।

करभाजन–सं०पु०—नौ योगेश्वरों में से एक योगेश्वर।

करभूसण–सं०पु० [सं० कर+भूषण] हाथ या कलाई में पहनने का एक प्रकार का गहना, कंगन।

करमंदी–सं०पु०—छोटा कांटेदार एक प्रकार का क्षुप जिसका फल मीठा होता है।

करम–सं०पु० [सं० कर्म] भाग्य, प्रारब्ध।
मुहा०—१ करम टेढ़ो होणो—भाग्य बुरा होना, बदकिस्मत होना २ करम ठोकणो—भाग्य को दोषी ठहराना. ३ करम फूटणो—भाग्यहीन होना, बुरे दिन आना. ४ करम उदै होणो—भाग्य चेतना।
कहा०—१ करम कारी नहीं लागण दै जद कांई हुवै?—भाग्य पैबंद नहीं लगने देता तब क्या हो सकता है? भाग्य साथ न दे तो क्या हो सकता है? भाग्य भलाई न होने दे तो प्रयत्न व्यर्थ है. ३ करम की ढोलकी बाजी—भाग्य विपरीत होने पर गोपनीय कार्य भी प्रकट हो जाता है. ४ करम छिपे न भभूत रमायां (लगायां)—राख रमाने पर भी (साधु हो जाने पर भी) करम नहीं छिपता। साधु हो जाने पर भी भाग्य पीछा नहीं छोड़ता। साधु हो जाने पर भी भले-बुरे काम करने की जो प्रकृति पड़ जाती है वह नहीं छिपती.
५. करम फूट नै कांकरा निकळिया—भाग्यहीन के सदा विफलता ही हाथ लगती है. ६ करम नै छांवळी तो साथे री साथे है—मनुष्य के कर्म और छाया सदैव साथ रहती है। कर्मों का फल भोगना ही पड़ता है, वे मिट नहीं सकते. ७ करम फूट नै चोटाळ हुय गया है—भाग्यहीन होना। बुरे दिन आना. मूर्खता का कार्य करने पर व्यंग्य. ८ करम फूटां नै कारी नीं लागे—हर एक चीज को सुधारा जा सकता है किन्तु प्रतिकूल भाग्य को अनुकूल नहीं बनाया जा सकता. ९ करम फूटयोड़ै नै भाग-फूटयोड़ो सौ कोसां री अंवळाई ला'र मिळै—कर्म फूटे के पास भाग फूटा सौ कोस का चक्कर लगाकर भी पहुँच जाता है। भाग्यहीन के पास भाग्यहीन अपने आप सहज में ही पहुँच जाता है। जैसे को तैसा सहज में ही मिल जाता है. १० करम फूटयो रै केमचा, गूंदी रै लाग्या लेसवा—गूंदी जैसे छोटे फल वाले पेड़ पर भी जब लिसोड़े लग जाते हैं तब कैसे काम चल सकता है। थोड़ी हैसियत पर बड़ा आडम्बर नहीं चल सकता। ११ करम में कांकरा लिखियोड़ा नै हीरा चावै—भाग्यहीन व्यक्ति का अच्छी वस्तु की आशा करना व्यर्थ है. १२ करम में तो कागला रो पग (पंजो) है—भाग्य तो विपरीत है, अतः कैसे अच्छी वस्तु की प्राप्ति की आशा की जा सकती है. १३ करम रा कोढ़ कठै जाय—दुष्कर्म के फलस्वरूप प्राप्त होने वाली यातना भुगतनी ही पड़ती है. १४ करम रेख ना मिटै करो कोई लाखूं चतराई—भाग्य की रेखा नही मिटती, चाहे कोई लाखों चतुराई करले। कितनी ही चतुराई हो भाग्य में जो लिखा है सो तो होता ही है। १५ करम ही रांडचो तो कई करै बापडो पांडचो—किसी व्यक्ति का भाग्य ही ठीक न हो तो ज्योतिषी आदि क्या कर सकते हैं. १६ काळा करम रा धोळा धरम रा है—जो कुछ अच्छी वस्तु की प्राप्ति है वह धर्म के कारण है तथा बुरा फल बुरे भाग्य के कारण है. १७ गावां फाटां कारी लागै, करम फूटां नै कारी नीं लागै—फटे हुए कपड़े के पैबंद लगाये जा सकते हैं किन्तु विपरीत भाग्य को अनुकूल नहीं बनाया जा सकता. १८ जाट पढ़ियोड़ो है 'क हाते करम फोड़ जैड़ो है—अधूरी विद्या भी कभी-कभी हानि या बुरे भाग्य का कारण बन जाती है. १९ फूटा करम फकीर रा भरी चिलम गुड़ जाय—भाग्य विपरीत होने पर भरी हुई चिलम भी उलट जाती है। बुरे भाग्य के कारण अच्छी वस्तु भी बुरी हो जाती है. २० बिगड़िये कांम नै कारी लागै पण फूटोड़ै करम नै नीं लागै—बिगड़ा हुआ कार्य सुधारा जा सकता है किन्तु विपरीत भाग्य को अनुकूल नहीं बनाया जा सकता. २१ रूप रोवै करम खाय, रूप री धणियांणी पांणी नै जाय—रूपवती स्त्री रोती है किन्तु भाग्यवती बैठी-बैठी खाती है। रूपवान से भाग्यवान होना अच्छा है।
२ दुष्कर्म, पाप। उ०—संगत कीजै साध की, हठ कर कीजै मोह।
करम कटै 'काळू' कहै, तिरै काठ संग लोह।—काळू
३ संचित कर्म। उ०—चेतन बंध्या मन सूं मन करमे बंध्या।
—केसोदास गाडण
४ काम, कार्य. ५ मृतक-संस्कार. ६ ललाट, माथा।
मुहा०—करम खुलणो—प्रारब्ध खुलना, सिर टूटना।
कहा०—करम में खाज हालै है—सजा के योग्य कार्य करने पर।
७ मनोरथ, अभिलाषा. ८ कर्तव्य. ९ यज्ञ. १० वह शब्द जिसके वाच्य पर क्रिया का फल गिरे।
सं०स्त्री०—लक्ष्मी (अ.मा., नां.मा.)

करमक—वि०—अच्छे चाल-चलन या कर्म वाला।
सं०पु०—शुद्धाचरण (डि.को.)

करमकमाई–सं०स्त्री०यौ०—१ भाग्य और परिश्रम. २ पूर्व संचित अच्छे कर्मों का फल।

करमकर–सं०पु०—दास, सेवक, अनुचर (डि.को.)

हार ज्यूं। करतावर कोप्योह, हार हरचौ इतिहास रौ।
—सांवळदांन आसियौ

करतूत, करतूति, करतूती–सं०स्त्री० [सं० कर्तृत्व] १ काम, कार्य। उ०—तौर मजवूत मजवूत दौर भूमितळ, गौर मजवूत मजवूत करतूती में।—ऊ.का. २ कर्तव्य. उ०—कुळ करतूति कहां लौ करिहौ, जांमि जांमि जांमू फिरि मरिहौ।—ह.पु.वा. ३ कपट, धोखा, चाल, छल।

करतोया, करतोयार–सं०स्त्री० [सं०] जलपाईगोड़ी के जंगलों से निकलने वाली एक नदी जो बहुत पवित्र मानी जाती है (वं.भा., डि.को.)

करद–सं०पु० [सं० कर्दम] १ कीचड़। उ०—धकधके स्रोण मिळ करद धूर, हकबकै कात्र वकवकै हूर।—पे.रू. २ कर देने वाला. ३ सहारा देने वाला।

सं०स्त्री० [सं० कर+दाप=लवने] ४ तलवार। उ०—पटकूं मूंछां पांण, कै पटकूं निज तन करद। दीजै लिख दीवांण, इण दौ महली वात इक।—प्रथवीराज राठौड़ २ कृपाण, कटार।

करदम–सं०पु० [सं० कर्दम] १ कूड़ा-करकट. २ कीचड़ (डि.को.)

करदमेस्वर–सं०पु०—काशी में स्थित शिव का एक मंदिर (वां.दा.ख्या.)

करद्द—देखो 'करद' (रू.भे.) उ०—गळां गूघ भखै गीध उडै के अंत्राळां ग्रहे। कराळां बराळां भाळां सेलाळां करद्द।—अज्ञात

करद्दम—देखो 'करदम' (रू.भे.)

करधणी, करधनी–सं०स्त्री० [सं० कटि+धुनी=कड+धुनी] मेखला. कमर में पहनने का गोलाकार भूषण। उ०—करधणियां री भणक सांझ नित नाच करंतां। थाकी कंवळी वांह रतन-जुत चंवर ढुळंतां।
—मेघ.

पर्याय०—कंदोरौ, कटक, कम्मरसूत, कळाप, मेखळा, रसण।

करधार–सं०स्त्री० [सं०] शस्त्र। उ०—पड़िया करधारां जहर पाय, इंद्र रा वज्र कोड़ेक आय।—वि.सं.

करन–सं०पु० [सं० कर्ण] देखो 'करण' (रू.भे.) उ०—कुरंद विभाड़ धाड़ केलपुरा, आई पछे न रीझ उर। अडर हवर न करन वीकम इम, पातां ओठम सायपुर।—हुकमीचंद खिड़ियौ

करनाटकीघोप–सं०स्त्री०—एक प्रकार की तलवार।

करनल, करनला, करनल्ल–सं०स्त्री०—करणी देवी का एक नाम (रू.भे.) उ०—नखायुध हाकलियौ करनल्ल। चराचर सृष्टि थई हल्चल्ल।
—मे.म.

करनाद–सं०पु०—एक प्रकार का वृक्ष (क.कु.वो.)

करनादे–सं०स्त्री०—करणी देवी का एक नाम।

करनाळ–सं०पु० [अ० करनाय] १ एक प्रकार का वाद्य विशेष, भोंपू उ०—सवद उग्र करनाळ सवाई, सुर वरधू तुरही सहनाई।—रा.रू. २ एक प्रकार का वड़ा ढोल. ३ एक प्रकार की तोप. ४ सूर्य (डि.को.) ५ पंजाब का एक प्रसिद्ध नगर।

करनाळि, करनाळी–सं०स्त्री०—१ वाद्यविशेष। उ०—सही जांगि गाजै सघण, वरधू दमांम करनाळि वह—स्या.च.

करनी—देखो 'करणी' (रू.भे.)। उ०—विरदाय बडे सतियां वरनी, कहि जाय नहीं जिनकी करनी।—ऊ.का.

करनैल–सं०पु० [अं० कर्नल] १ फौज का एक अफसर.

सं०स्त्री०—२ करणी देवी का एक नाम।

करनौ–सं०पु०—एक प्रकार का वृक्ष विशेष (ग.मो.)

करन्न–सं०पु०—१ देखो 'करण'। उ०—गढ़पति मिळै उजेणिगढ़, राजा 'जसौ' 'रतन्न'। रांम लक्खमण राठवड़, किर दुरजोध करन्न। २ धनुष। —वचनिका

करन्नला–सं०स्त्री०—श्री करणी देवी का एक नाम (रू.भे.) उ०—तुही हुई करन्नला तरण त्यारनी, नरिंद्र सेख वंदी फंद तू निवारनी।—मे.म.

करन्नी—देखो करणी' (रू.भे.)। उ०—जिका आवड़ा देख जेसांण जिल्ले, करन्नी तिका द्रंग देसांण किल्ले।—मे.म.

करपट–सं०पु० [सं० कर्पट] १ पुराना कपड़ा। उ०—पत्थ्या पाटण दे भिक्ष्याटण भाजी, रत्थ्या करपट ले चरपटवत राजी।—ऊ.का. २ कपड़ा, वस्त्र (डि.को.)

करपण–सं०पु०—कपड़े सीते समय कपड़े के बचे हुए छोटे टुकड़े।

वि० [सं० कृपण] कंजूस, कृपण (डि.को.) उ०—करपण नृप रहै ताकता कैहा, पट्ट सांसै हाकता पड़ै। कीरत राह डाकता काछी, खेड़ेचौ आखता खड़ै।—दुरगादत्त वारहठ

करपणता–सं०स्त्री [सं० कृपणता] १ कंजूसी. २ दीनता (डि.को.)

करपत–सं०पु०—लकड़ी चीरने का लोहे का एक औजार जिसमें दांते लगे रहते है, आरा।

करपत्रक—देखो 'करपत' (रू.भे.) (डि.को.)

करपत्री–सं०स्त्री०—एक प्रकार का शस्त्र विशेष (अ.मा.)

करपर–सं०पु०—कंजूस, सूम (डि.को.)

करपल्लव–सं०पु० [सं०] हाथ की उंगली। उ०—करपल्लव कहतां हाथां की आंगुळी किसी छै नरम जिसा फूल इसी।—वेलि. टी.

करपहिणणौ–सं०पु०—गौना (श्रीमाली ब्राह्मण)

करपांण, करपांन–वि० [सं० कृपण] कृपण, कंजूस।

सं०पु० [सं० कलपान अथवा कृपाण] वाण, तीर (अ.मा.)

करपा–सं०स्त्री० [सं० कृपा] कृपा, दया, अनुग्रह (डि.को.)

करपाळ–वि० [सं० कृपालु] दयालु, कृपालु।

करपास–सं०पु० [सं० कर्पास] कपास (डि.को.)

करपूर, करपूरक–सं०पु० [सं०] १ कर्पूर (डि.को.) २ चंद्रमा।

करव–सं०पु० [सं० करें भाति इति करभ] वन (ह.नां.)

करवळ–सं०पु०—शिकार के निमित्त सिंह की खबर देने वाला।

करवळौ–सं०पु० [अ० करवला] १ अरब का वह स्थान जहां हुसैन मारे गये थे. २ वह स्थान जहां ताजिये दफनाये गये हों (मुसल०)

करवाळ–सं०स्त्री०—तलवार। उ०—करवाळ ढाल दिस कर कयाम। ओनंदेहै नहि अनायास।—ऊ.का.

करळावणौ, करळाववौ—देखो 'करावणौ'।

करळौ-सं०पु०—१ देखो 'कड़पौ' २ युवा ऊँट (क्षेत्रीय) उ०—झूठी मूठी जांन वणाली, झूठी जांन रौ वींन। चुग चुग करलां कूंची मांडी, चुग चुग घुड़लां जीण।—डूंगजी जवारजी री पड़
३ देखो 'कुल्ला'।

करवट-सं०स्त्री० [सं० करवर्त] पार्श्व पर हाथ के बल लेटने की मुद्रा।

करवत, करवती-सं०स्त्री० [सं० करपत्र] लोहे का बना लकड़ी चीरने का बढ़ई का एक औजार, आरी। उ०—कूंभड़ियां करळव कियउ, धरि पाछिलै दरंगि। सूती साजण संभरया, करवत वूही अंगि। —ढो.मा.

कहा०—करवत आवती वैरै न जावती वैरै—आरी जाते और आते दोनों समय काटनी है। सब प्रकार से हानिप्रद वस्तु के प्रति।

करवतीमगरी-सं०स्त्री०—एक प्रकार की तलवार विशेष जिसके दोनों ओर पैनी धार होती है परंतु एक ओर आरा की धार जैसी दाँतेदार धार होती है।

करवत्त—देखो 'करवत' (रू.भे.)

करवर—देखो 'करवरौ' (रू.भे.)

करवरसणौ-वि०—जिसका हाथ अधिक बरसता हो, जिसके हाथ से अधिक खर्च होता हो, अधिक दान देने वाला। उ०—काछ दृढा करवरसणा, मन चंगा मुख मिट्ठ। रण सूरा जग वल्लभा, सौ मैं विरळा दिट्ठ।—ऊ.का.

करवरौ-सं०पु०—साधारण फसल का जमाना।
कहा०—आसाढ़े धुर अस्टमी, चंद्र उगंतौ जाय। काळौ व्है तौ करवरौ, धोळौ व्है तौ सुगाळ।—आषाढ़ कृष्णा अष्टमी के चंद्रमा को देखो। यदि वह काले बादलों में आवृत्त है तो साधारण जमाना होगा। यदि सफेद बादलों में है तो जमाना अच्छा होगा। २ धुर आसोज अमावसां जे आवै सनिवार। समौ होसी करवरौ पिंडत कहै विचार—यदि आश्विन की अमावस्या को शनिश्चर हो तो पंडितों की राय है कि वर्ष साधारण होगा।

करवलौ-सं०पु०—ऊंट। उ०—लूंग लुळी डाळियां हेरैं, एवड़ आयां झट झड़ै। घणा धाड़वी करवलां नैं, लूंग लुटा झीणी पड़ै।—दसदेव

करवांण-सं०स्त्री०—तलवार (डि.नां.मा.)

करवांन, करवांनक-सं०पु०—एक प्रकार का पक्षी विशेष (रा.सा.सं.)

करवाचौथ-सं०स्त्री०—कार्तिक मास के कृष्ण पक्ष की चतुर्थी। इस दिन स्त्रियां सौभाग्य के लिये व्रत करती हैं और सायंकाल को मिट्टी के करवे से चंद्रमा को अर्घ्य देती हैं।

करवाळ-सं०स्त्री० [सं० कृपाण] तलवार (डि.नां.मा.) उ०—पूगौ नांठ पिछांणियौ, किसूं बुलायौ काळ। कै पग मंडौ ठाकुरां, कै छंडौ करवाळ।—वी.स.

करवाळक, करवाळा-सं०स्त्री०—तलवार (ह.नां., डि.नां.मा.)

करवीराक्ष-सं०पु० [सं०] खर राक्षस का एक सेनापति जिसे श्रीराम ने मारा था (राम कथा)

करवौ-सं०पु० [सं० करक] १ धातु या मिट्टी का जल-पात्र विशेष, शिकोरा। उ०—कर कफनी कोपीन कर, कर करवा भर आव। अब मक्का जैवौ उचित, नवणौ नहीं नवाव।—ला.रा.
२ देखो 'करवरौ' (रू.भे.) ३ ऊंट। उ०—करवा चाल उतावळौ रै दिन थोड़ौ घर दूर।—लो.गी. ४ बाजरी के सिट्टे में होने वाला एक कीड़ा विशेष जो बाजरी के कच्चे दानों को ही खा जाता है।

करस-सं०पु०— [सं० कर्ष] १ तौल, बाट (डि.को.)
वि० [सं० कृश] २ दुबला, पतला, क्षीण (डि.को.) ३ अल्प, सूक्ष्म।

करसक-सं०पु० [सं० कृषक] कृषक, किसान (डि.को)

करसण-सं०स्त्री० [सं० कृषि] १ खेती, कृषि, कपि-कार्य। उ०—पोह कीरत बीज खेत रजपूती, दाह सत्रां उर खात दियौ। हळ भालौ करतां वड हाळी, करसण आरंभ गजब कियौ।—बरजूबाई
कहा०—करसण जठै ई दरसण—कृषि सब कार्यों में उत्तम है।
२ बागवानी का कार्य. ३ कृषक की स्त्री। उ०—करसण करसणियां किलकारी करियौ।—ऊ.का.
सं०पु० [सं० कृषक] ४ कृषक, किसान. ५ खींचने की क्रिया या भाव। (मि० 'करसणौ')

करसणियौ-स०पु०—कृषक, खेतिहर।
वि०—खींचने वाला।

करसणी-सं०स्त्री—१ किसान की स्त्री।
सं०पु०—२ किसान, कृषक, काश्तकार। उ०—गुजरात में करसणी ···गिणै।—वां.दा. ख्यात

करसणीक-सं०पु० [सं० कृषक] कृषक, किसान।

करसणौ, करसबौ [सं० कर्षणम्] १ मनमुटाव होना (द.दा.)
२ खींचना, तानना। उ०—नीठि छुडै आकास पोस निसि, प्रौढ़ा करसणि पंगुरिणि।—वेलि.

करसपति-सं०पु०—इन्द्र।

करसल-सं०स्त्री०—१ पत्थर की चौकियों की फर्श. २ दीवार की नींव के ऊपर का वह हिस्सा जो भूमि से सटा हुआ होता है।

करसलौ-सं०पु०—ऊँट, शुतुर। उ०—वींझा काचा करसला, म्हे छां कड़वी वेल। म्हे नीरां थे चर जावसौ, निपटे जासी खेल।
—वींझा सोरठ री वात

करसांण-सं०पु०—कृषक, किसान (डि.को.)

करसाख-सं०स्त्री० [सं० करशाखा] उँगली (ह.नां.)

कर-सीकर-सं०पु० [सं० कर-शीकर] हाथी की सूंड का पानी (डि.को.)

करसुक, करसूक-सं०पु०—१ नाखून (ह.नां., अ.मा.) २ किसान, कृपक (डि.को.)

करसोड़ी-सं०स्त्री०—१ ऊँटनी।

करसौ-सं०पु०—१ ऊंट. २ बाजरी के सिरटे में होने वाला एक कीड़ा विशेष, जो बाजरी के कच्चे दानों को ही खा जाता है।
[सं० कृपक] ३ कृपक, किसान (डि.को.)

करमकल्ला–सं०स्त्री०—एक प्रकार की बंद गोभी जिसमें केवल कोमल पत्तों का बंधा हुआ संपुट होता है। इसकी प्राय: सब्जी बनाई जाती है।

करमकांड–सं०पु० [सं० कर्मकांड] १ यज्ञादि के विधान का शास्त्र. २ जप यज्ञ आदि धार्मिक कृत्य।

करमकांडी–सं०पु०—१ यज्ञ, जप आदि धार्मिक कृत्य करने वाला. २ ब्राह्मण।

करमगत–सं०स्त्री०—कर्म-गति, भाग्य की गति, भवितव्यता।
उ०—दुतिया चांद मजीठ रंग, साध-वचन प्रतिपाळ। पाहण रेख'र करमगत, ऐ नहिं मिटत जमाल।—जमाल

करमचंदियौ–सं०पु०—१ सिर, मस्तक, ललाट. २ भाग्य।

करमचड़ी, करमछड़ी–सं०स्त्री०—तलवार (डिं.को.)

करमजाळ–सं०पु०यौ०—कर्म के बंधन। उ०—रांम-रस प्यालै रा पीवणहार, दया धरम रा पाळणहार, करम-जाळ रा भांजणहार, तापस अस्टांग जोग रा साझणहार सांत-रस मांहे गळतांण होइनै रहिया छै।—रा.सा.सं.

करमजोग–सं०पु० [सं० कर्मयोग] १ सिद्धि और असिद्धि में समान भाव रख कर कर्तव्य कर्म का साधन. २ भावी, भवितव्यता, दैवयोग।

करमट–वि० [सं० कर्मठ] कार्यकुशल, कर्मनिष्ठ। उ०—सिहमल सिळकिया करमट कूदिया, कटकां हुई ज हालोहाल।—अमरसिंह री बात

करमट्ठौ—देखो 'करमठौ' (रू.भे.) (डिं.को.)

करमठ—देखो 'करमट'।

कर-मठ–वि०—कृपण, कंजूस।

करमठोक–वि०—हतभाग्य, बदनसीब।

करमठौ–वि०—कंजूस, कृपण, सूम (रू.भे. 'करमट्ठौ')

करमणा–सं०स्त्री० [सं० कर्मन्] कार्य, काम।

करमदौ–सं०पु०—छोटा झाड़ीदार एक प्रकार का गुल्म।

करमध्वज–सं०पु० [सं० कर्मध्वज] १ अपने कर्म से पहिचाना जाने वाला. २ राठौड़ों के लिए प्राय: प्रयुक्त होने वाला एक शब्द।

करमबंध–सं०पु० [सं० कर्मबंधन] कर्म से जन्म ग्रहण करने के भाव।
उ०—जीहा जप जगदीसवर, धर धीरज मन ध्यांन। करमबंध निकरम-करण, भव-भंजण भगवांन।—ह.र.

करमर–सं०स्त्री०—तलवार (डिं.को.)

करमसाखी–सं०पु० [सं० कर्म-साक्षी] दिनेश, सूर्य्य (ह.नां., डिं.को.)

करमसियेत, करमसीहोत, करमसोत—राठौड़ों की एक उपशाखा अथवा इस उपशाखा का व्यक्ति।

करमहीण–वि० [सं० कर्म+रा० प्र० हीण] हतभाग्य, अभागा, भाग्यहीन।
कहा०—१ करमहीण कौ नहीं मिळै भली वस्तु को भोग. पके दाख वैसाख में होत काग गळ रोग—भाग्यहीन को अगर अच्छी वस्तु मिल भी जाय तब भी वह उसका उपयोग नहीं कर सकता। वैशाख मास में किशमिश पकती है किन्तु उसी समय कौए के गले में रोग हो जाता है इससे वह किशमिश नहीं खा सकता. २ करमहीण खेती करै बळद (ध) मरै कै काळ (कन सुखाड़ो) पड़ै—भाग्यहीन खेती करता है तो या तो बैल मर जाते हैं या अकाल पड़ता है। भाग्यहीन जिस किसी भी काम में हाथ डालता है उसी में असफलता मिलती है।

करमांतरी–सं०पु०—मृत्योपरांत क्रियाकर्म करने वाला ब्राह्मण, महाब्राह्मण।

करमांबाई–सं०स्त्री०—ईश्वरभक्त एक जाटनी।

करमाळ–सं०स्त्री०—१ तलवार। उ०—वाजतां त्रंबाळां के मरमाळां झाळां बीच। नेज बाजां नराताळां संभरी नरेस।—हुकमीचंद खिड़ियौ

करमाळी–सं०स्त्री० [सं०] १ तलवार। उ०—निराटां सोर झाळां भटक नाळियां, ठेल अस कटक चौड़ै मंडण ठाळियां। तड़छ खल वाढ़िया खाय रणताळियां, कर फतै बावड़ै रंगे करमाळियां।
सं०पु०—२ सूर्य्य। —रावत संग्रांमसिंघ री गीत

करमाळौ–सं०पु०—एक प्रकार का बड़ा वृक्ष जिसके पत्ते लाल चंदन के पत्तों के समान होते है। इसके फूल पीले तथा फल फली के आकार के होते हैं। फली का गूदा विरेचक होता है। अमलतास।

करमी–वि० [सं० कर्मिन्] १ कार्य करने वाला, कार्यनिष्ठ, कर्मठ. २ अन्याय और अत्याचार करने वाला। उ०—स्यांमध्रमी नृप री सदा, करूं न नरमी काय। करमी आया काळिया, (ज्यांरी) गरमी देहुं गमाय।—पे.रू. ३ भाग्यशाली (ल.पि.)

करम्म—देखो 'करम' (रू.भे.) उ०—कवि जगा राखि द्रिढ़ जीव करि, मिटै न लेख करम्म री।—ज.खि.

करम्माळ–सं०स्त्री०—१ तलवार (डिं.को.) (रू.भे. 'करमाळ', 'किरमाळ')
सं०पु०—सूर्य, भानु।

करम्मोत—देखो 'करमसोत'।

कररावणौ, कररावबौ–क्रि०अ०—१ कराहना। उ०—घुरराय अलू करतां घुरियां। कररा़य वडां लड़ कोचरियां।—पा.प्र.
२ चिल्लाना।

करळ–वि० [सं० कराल] भयंकर। उ०—धुवै मैंगळ अकळ कांठळां सरळ धर, अरळ सबळ भरळ करळ ऊगौ।—अज्ञात
सं०पु० [सं०] १ हथेली का अग्र भाग. २ मुष्टिका में समा सकने वाला पदार्थ, मुष्टिका भर। उ०—स्यांम कटि कटिमेखळा समरपित किसा अंग मापित करळ। भावी सूचक थिया कि भेळा, सिघरासि ग्रहगण सकळ।—वेलि.

करळव–सं०पु०यौ० [सं० कलरव] १ मृदु, मधुर स्वर. २ जनसमूह का अस्पष्ट शब्द. ३ कूजन, गुंजन. ४ करुणाजनक ध्वनि।
उ०—कूंझड़ियां करळव कियउ, धरि पाछिले वणेहि। सूती साजण संभरया, द्रह भरिया नयणेहि।—ढो.मा.

करामत—देखो 'करामात'।

करामति, करामती, करामतीवत–वि०—देखो 'करामाती'।

सं०पु०—सिद्ध, जिसमें कुछ चमत्कार हो (ल.पि.)

करामात–सं०स्त्री० [अ० करामत का बहु०] चमत्कार, करिश्मा।
उ०—पातिसाह ईश्वर की जात, चौरासी पीरां की करामात। हिंदू मुसलमान सलाम कर ठाढे, एक तें एक सुमेर से गाढे।—रा.रू.

करामाती, करामातीक–वि०—करामात या चमत्कार करने व दिखलाने वाला सिद्ध। उ०—तठै 'बूड़ो' तौ राज करै अर पाबू बरस पांचेक मांही पण करमातीक।—पाबूजी री वात

करायोड़ो–भू०का०कृ०—कराया हुआ (स्त्री० करायोड़ी)

करार–सं०पु० [अ०] १ कौल, इकरार, वादा। उ०—तद रावजी कयौ—हूं जोधपुर जाय पूजनीक चीजां मेल देसूं। पाछे पूजनीक चीजां री करार कर रावजी जोधपुर पधारिया।—द.दा. २ नदी का किनारा. ३ ताकत। उ०—करि मन धीर करार, बिलवै कांइ विरही थयौ सयणं न लही सार, जावण दै परहा जसा।—जसराज
४ धैर्य। उ०—नैण भरया जावै नहीं, तज्यौ न जाय करार। दोय पुरस री प्रीत रै, एकण ऊपर भार।—अज्ञात

करारमदार–सं०पु०यौ०—कौल-करार, इकरार, वादा।

करारौ–वि० (स्त्री० करारी) १ समर्थ, शक्तिशाली, जबरदस्त।
उ०—किसनावत रण कुंभ करारौ, रांम सुजाव सुजांण अकारौ।
—रा.रू.

२ दृढ़चित्त. ३ जोशीला. ४ कड़ा, कठोर। उ०—करारा जाब पतसाह सूं करंतो छाकियौ वैर असमांन छायो।—बलू चांपावत री गीत
५ दृढ़, मजबूत। उ०—मेवाड़ थकां पूरब खंड मालहे, आइयौ सगत हरा उनमांन। जग परदेस जीतवा जावै, मरवा गयौ करारौ 'मांन'।
—मांनसिंह रो गीत, दुरसौ आढ़ौ
६ भयानक, भयंकर। उ०—'कला' हराजुध वार करारी, जुध जीपण अवसांण जिता। पिता कहै सावास पूत नै, पूत कहै सावास पिता।
—वळरांम गौड़ री गीत
७ कठिन, दुस्तर। उ०—कहतां गरथ न लागै कोई, करतां घकौ करारौ। नाव इसो भोळौ बीसरनै, चाखौ तो चितारौ।—अज्ञात
सं०पु० (स्त्री० करारी) १ मजबूती, दृढ़ता. २ विश्वास ३ किनारा ४ कौआ. ५ खूब अधिक सेंकने से जो कड़ा हो गया हो।

कराळ–वि०—भीषण, भयानक। उ०—हाग्गडदि हुवै आलम हैकंपे, फाग्गड्दि कयामत जांण कराळ।—र.रू.
सं०पु०—१ गाड़ी या छकड़े का अग्र भाग. २ देखो 'कराळदंतौ'।

कराळक–सं०पु० [सं० करालक] वृक्ष (नां.मा., अ.मा.)

कराळकुमळ–सं०पु०—वह घोड़ा जिसका नीचे का जबड़ा लम्बा हो। (शा.हो.)

कराळतेज–सं०पु०—वह घोड़ा जिसके मुंह की ठुड्डी मोटी और लंबी हो (अशुभ, शा.हो.)

कराळदंतौ–सं०पु०—बड़े-बड़े दांतों वाला घोड़ा जो अशुभ माना जाता है (शा.हो.)

कराळिक–सं०पु०—वृक्ष (ह.नां.)

कराळी–वि०स्त्री०—भयावना, भयंकर, कराल।
सं०स्त्री०—भूमि को समतल बनाने के लिये धातु या लकड़ी का चौकोर उपकरण।

कराळू, कराळ—वि० [सं० कराल] भयंकर, कराल। उ०—कोपे कराळू अंध जाळू बंध वाळू बोल ए। सब में गोपाळू है दयाळू मार डाळू कोल ए।—दयाळदास

कराळौ–वि० [सं० कराल] १ कराल, भयंकर। उ०—धमक बाज घर धूज सौर वाळी धधक, यळा धक अताळी वहोत लीधौ। कमाळो चंद री तरह 'वखतै' कमंध, कराळौ सेन विच दुरंग कीधौ।
२ विकट. ३ कठोर। —पीरदांन आढ़ौ

करावणौ, करावबौ–क्रि०प्रे०रू०—देखो 'कराणौ' (रू.भे.)

करावनौ–वि०—भयंकर, भयानक। उ०—डरै न सिंध डोल तें स्व डोलते डरावने, करोळ टोळ-टोळ कोळ-कोळ ते करावने।—ऊ.का.

करावळ–सं०पु० [तु० करावळ] सेना के मध्य का भाग (द.दा.)

करिंद–सं०पु०—हाथी (डिं.को.)

करि–सं०पु० [सं० कर] हाथ। उ०—जंग सुपत्तळ करि कुंअळ, झीणी लंब-प्रलंब। ढोला एही मारुई, जांणि क कणयर-कंब।—ढो.मा.
अव्यय—करण या अपादान कारक का विभक्ति चिन्ह से।
उ०—१ सुंदर सूळ सील कुळ करि सुध, नाह किसन सरि सूझै नाह।
—वेलि.
उ०—२ राजा युवनास्वर रै पुत्र नहीं। तीयै करि राजा सचीत रहै।
—चौबोली
उ०—३ जिण घोर समय में सस्त्रां रा प्रहार करि व्याकुळ हुवौ नवाब रण मस्तखांन तौ कुमार भोज नूं ले'र एक गरत्त में अस्त्रां रा समूह रै हेठै दबौ रहियो।—वं.भा.

करिगि—देखो 'कराग'।

करिछय–सं०पु०—कामदेव (अ.मा.)

करिणी–सं०स्त्री०—हथिनी (वं.भा.)

करिवत–सं०स्त्री०—करौत, आरा।

करिमरि–सं०स्त्री०—१ कृपाण. २ तलवार। उ०—समचै एम सधर नर सीहो, करिमरि धूणंतो मु-करि।—सीहा-निरवांण री गीत

करिमाळ–सं०स्त्री०—तलवार, खड्ग (मि० 'करमाळ') उ०—सोहिली भोमि वांका सुभट्ट। झूझार दियइ करिमाळ भट्ट।—रा.ज.सी.

करिया–सं०पु०—[व.व.] कुए में चड़स उतारने व निकालने के लिये उसके वजन को संतुलित रखने व मोट को कुए की दीवार से दूर रखने के लिए कुए के बाहर लगाये जाने वाले ढांचे के आजू-बाजू लगे लम्बे लट्ठे। ये दो होते हैं जिनके ऊपरी सिरे पर मोट निकालने की गिर्री लगी हुई होती है।

करहंचा-सं०पु०—प्रथम चार लघु और फिर एक जगण का छंद विशेष (पि.प्र.)

करह-सं०पु० [सं० कलभ] १ ऊँट (ना.डि.को.) २ ऊँट का बच्चा। उ०—काछी करह बिथूंभिया, घड़ियउ जोइण जाइ। हरणाखी जउ हसि कहइ, आंणिसि एथि बिसाइ।—ढो.मा.

[सं० कलभ] २ हाथी का बच्चा. ३ फूल की कली. ४ दोहा नामक छंद का सातवां भेद जिसमें १६ गुरु वर्ण और १६ लघु वर्ण सहित ४८ मात्रायें होती हैं (पि प्र.)

करहउ-सं०पु०—देखो 'करह' (१,३)। थां सूतां म्हे चालिस्यां, एह निचिंती होइ। रइबारी ढोलउ कहइ, करहउ आछउ जोइ।—ऊ.का.

करहलउ-सं०पु० [सं० करभ] ऊँट। उ०—किणि गळि घालूं घूघरा, किणि मुखि वाहू लज्ज। कवण भलेरउ करहलउ, मूंघ मिळावइ अज्ज।—ढो.मा.

करहलौ-सं०पु० [सं० करभ] ऊँट। उ०—काची कळी न हेळियो, गुणे न रीझवियोह। हेली थारो करहलौ, गहमाती गमियोह। —जलाल बूबना री बात

करहा-सं०स्त्री०—राठौड़ों की तेरह शाखाओं में से एक शाखा।

करहौ-सं०पु० [सं० करभ] ऊँट (डिं.को.) उ०—कांकर करहौ गार गज, थळ हैंवर थाकंत। अहूं ठौड़ हेकण तरह, चंगो धवळ चलंत। (स्त्री० करही) —बां.दा.

करां-क्रि०वि०—कब। उ०—द्रोपत दुखियारीह, पूकारी अवळापणैं। मदती हर म्हारीह, करणाकर करस्यो करां।—रांमनाथ कवियो

करांई-वि०—कभी का।

क्रि०वि०—कभी।

(यौ०—करांई-करांई)

करांक-सं०स्त्री०—कांख में होने वाली ग्रंथी (क्षेत्रीय)

क्रि०वि०—कब।

करांकियौ-सं०पु०—बाजरी के पौधे के डंठल की ग्रंथी में से निकलने वाला अंकुर जहां सिरटा उत्पन्न होता है।

करांगणी-सं०स्त्री०—कंगनी नामक एक अन्न।

करांगी-सं०पु०—एक प्रकार का कवच (कां.दे.प्र.)

करांचणौ, करांचबौ-क्रि०स०—मारना, संहार करना।

करांचणहार, हारौ (हारी), करांचणियौ— मारने या संहार करने वाला।

करांचाणौ—क्रि०स०।

करांचिओड़ौ, करांचियोड़ौ, करांच्योड़ौ—भू०का०कृ०।

करांचाणौ, करांचाबौ-क्रि०स०—मरवाना, संहार कराना।

करांचियोड़ौ-भू०का०कृ०—मारा या संहार किया हुआ (स्त्री० करांचियोड़ी)

करांचीजणौ, करांचीजबौ-कर्म वा०—मारा जाना, संहार किया जाना।

करांचीजियोड़ौ-भू०का०कृ०—मारा गया हुआ (स्त्री० करांचीजियोड़ी)

करांछ-सं०स्त्री०—छलांग।

करांमत, करामत, करामात-सं०स्त्री० [अ० करामात] करामात, चमत्कार। उ०—आसत अनै करांमत अधको, भागीरथ सरखो कुळभांण। कर अखियात राखियौ कमधज, सुजड़ी रै ओळै सुरतांण —दुरगादास रो गीत

करा-सं०स्त्री०—सीसोदिया वंश की एक शाखा।

कराइयोड़ौ-भू०का०कृ०—कराहा हुआ, चिल्लाया हुआ। (स्त्री० कराइयोड़ी)

कराई-सं०स्त्री०—१ घास का वह ढेर जो सुरक्षित रखने के उद्देश्य से कांटों या खपच्चियों आदि से ढक दिया गया हो. २ कराने की क्रिया या मजदूरी. ३ देखो 'कड़ाई' (रू.भे.)

कराखी-सं०स्त्री०—आदमी के पहनने के वस्त्र में वह भाग जो बगल में लगाया जाता है।

कराग-सं०पु० [सं० कराग्र] १ हाथ का अगला भाग. २ उँगलियों का सिरा।

करागी-सं०स्त्री०—तलवार (मि० 'करग')

कराड़-वि०—१ तेज. २ अधिक, बहुत।

सं०पु० [सं०] १ वनिया, वैश्य, महाजन (डिं.को.)

२ देखो 'कराड़ौ (रू.भे.)

सं०स्त्री०—३ हद, सीमा। उ०—इण कह्यौ, 'हूं क्यूं जाट पटेल थो नहीं सु चारण दिया ? हमें पाछा मांगियां दूं' तरे बात कराड़ां वारै हुई।—नैणसी

कराड़णौ, कराड़बौ-क्रि०स० [प्रे.रू.] करवाना (करणौ का प्रेरणार्थक रूप)

कराड़ौ-सं०पु०—१ किनारा, तट। उ०—१ सौ किण भांति तळाव जांणे दूसरौ मांनसरोवर रातासीएके रड़ि रै माथै पांड रो नीर पवन रो मारिओ कराड़ै फीण आछंटतौ ठेपां खाइनै रहिया छै। —रा.सा सं.

उ०—२ थळ ची सरत सरद रत आगम। ठहर किया जळ ठांम थळे। वसु रूपा धार मेवाड़ा। वहै कराड़ा तोड़ वळे।

—महारांणा भीमसिंह रो गीत

कराटौ-सं०पु०—अग्नि पर अधिक सेंकी हुई रोटी।

कराणौ-क्रि०स०—करवाना।

कराणहार, हारौ (हारी), कराणियौ—वि०।

करायोड़ौ—भू०का०कृ०।

करावीण, करावीणी, करावीन-सं०स्त्री० [तु० करावीन] १ चौड़े मुंह की पुरानी बंदूक. २ कमर में बांधने की एक छोटी बंदूक। उ०—तीर तोपां करावीणां दूरबीणां लाया तोल, बोल फेर उड़ाया पाखांण तेल बांण।—बां.दा.

उ०—२ सेर बच्चा करावीणी खंजर कटार। सिरोही असील तेग वाहे असवार।—वि.वं.

३ कठोर। उ०—पदमासण आसण जोगपूर, क्रोध में हुतासण तप कहर—वि.सं.

करे–क्रि०वि०—कब।

करेको–वि०—कभी का।

करेजो–सं०पु० [अ० कलेजा] कलेजा, यकृत।

करेणपती–सं०पु० [सं० करी+पति] हाथी (डि.को.)

करेणू–सं०स्त्री० [सं०] हथिनी (डि.को.) उ०—सुणी कीरती छाकवाळै सवादी, बिनां नारि हालै नयी कील वादी। करी गैल तौ एक दीधी करेणू, वळे डाकदारां सजे लंब वेणू।—वं.भा.

करेणूपती–सं०पु०—हाथी (डि.को.)

करे-री-रोग–सं०पु०—पशुओं का एक रोग विशेष जिससे उनके अगले पैरों के मूल स्थान पर दर्द होता है। इसके कारण पशु घास खाना व पानी पीना तक छोड़ देते हैं।

करेलड़ी–सं०पु०—१ ऊंट (डि.को.) २ एक राजस्थानी लोक गीत।

करेलियौ, करेलौ–सं०पु०—१ करील का वृक्ष। उ०—करहा चरौ करेलिया, पांन चीतारि म रोय। सरवर लाभै सिरजियौ खूहडीय मुंह खोय।—ढो.मा. [सं० करेला] २ तरकारी के काम में आने वाला एक प्रकार का कटु फल।

कहा०—करेलौ नै नीम चढ़ियौ—करेला और नीम चढ़ा। स्वयं दुष्ट तो है ही और उन पर फिर दुर्गुणों का साथ। इससे अधिक दुष्ट होने की ही संभावना होती है।

करेवौ–सं०पु०—कौआ। उ०—घन हरिणाखी ईम कहई, निहचई ओळग चालणहार। डावउ करेवउ करकरई, महा अपसूकन होज्यौ ए! मुंवाळ।—वी.दे.

करैं–क्रि०वि०—कब (रू.भे. 'करे')

करैंक–क्रि०वि०—१ कभी. २ कभी-कभी. ३ कब तक।

करैवौ–सं०पु०—१ एक प्रकार का घोड़ा (शा.हो.) २ देखो 'करेवौ'

करोई–सं०स्त्री०—वक्षःस्थल की हड्डी। उ०—करोई काळजो छेद भटकी कहर, खळ सवळ ढाहियौ अचळ खीची।

—झरड़ा राठोड़ री गीत

करोट–सं०पु०—१ सहायता, रक्षा। उ०—नरपत दळ भारत निरख, करवा देस करोट। आयौ जोधांणै 'अभौ', मन भायौ नवकोट।

—रा.रू.

२ करवट (रू.भे. 'करौट')

करोटि–सं०स्त्री० [सं०] मस्तक की हड्डी (डि.को.)

करोड़–वि० [सं० कोटि] सौ लाख की संख्या के बराबर।

मुहा०—करोड़ां में एक—अमूल्य, चुनी हुई।

कहा०—करोड़ दिवाळ्यां राज करौ—बहुत दिन जिवो और सुखी रहो का आशीर्वादात्मक वाक्य।

सं०पु०—सौ लाख की संख्या, १०००००००।

करोड़पती–सं०पु० [सं० कोटिपति] जिसके पास करोड़ों रुपये हों, अत्यन्त धनी व्यक्ति।

करोड़ी–सं०पु०—बादशाही कर वसूल करने वाला व्यक्ति (प्राचीन) उ०—हजरत रै दाय आवै तिण जागीरदार नूं दीजे, भावै करोड़ी भेजीजै, राव हुकमी चाकर छै।—नैणसी

करोड़ीधज, करोड़ीमल–सं०पु०—करोड़पति।

करोत–सं०पु० [सं० करपत्र] लोहे का बना लकड़ी चीरने का एक दांतेदार औजार विशेष। उ०—घर करोत अवधूत, बहुत मजबूत महावळ।—मे.म.

कहा०—करोत, कुलाड़ी, कपटी नर, मिळ्यां नै विछड़ावै। सुई, सवागी, चतुर नर बिछड़्यां नै मिळावै—करोत और कुल्हाड़े की तरह कपटी मनुष्य मिले हुए मनुष्यों में फूट डालता है। सुई, सुहागे की तरह चतुर व्यक्ति लड़ने वालों में मेल स्थापित कराता है। (अल्पा० 'करोतियौ')

करोतियौ—देखो 'करोत' (अल्पा.)

करोती–सं०स्त्री०—देखो 'करोत'।

करोतौ— देखो 'करोत'।

करोल–सं०पु० [तु० क़रौली] १ वह आदमी जो शिकार को घेर कर लाता है। उ०—दूसरे ही दिन बादसाह सिकार नूं हालियौ और जलाल नूं आपरै साथ लियौ। करोलां रै साथ सिकार खेलै छै।

—जलाल बूबना री बात

२ वन-रक्षक (डि.को.)

वि० [सं० कराल] भयंकर, डरावना।

करोली—सं०स्त्री० [तु० क़रौली] एक प्रकार का छुरा जिससे जानवरों का शिकार करते हैं या शत्रुओं को मारते हैं।

करौ–सं०पु० [सं० कृषक] (स्त्री० करी) १ किसान, कृषक. २ एक प्रकार का कीड़ा जो बाजरी व ज्वार के सिट्टे में अनाज के दानों को नाश कर देता है. ३ मोट खींचने के लिये काष्ठ के लम्बे लट्ठों के सिरे पर जो कुए के ऊपर रहते हैं गिर्री की धुरी रखने के लिये किया जाने वाला गड्ढा।

करौट–सं०पु०—करवट (मि० 'करोट'—रू.भे.) उ०—कांकड़ त्र्यंबक अहकिया, ऊठौ खुलियौ कोट। सुणतां नाहर आळसी, सूतौ बदल करौट।—वी.स.

करौळ–सं०पु० [तु० क़रौली] देखो 'करोल' (रू.भे.) उ०—हलौ करौलां तबलां, बाज घेरियौ गिरंद हिंदू।—अज्ञात

वि० [सं० कराल] भयंकर, डरावना।

करौली–सं०स्त्री० [तु० क़रौली] १ शिकार का पीछा करना. २ एक प्रकार का छुरा जिससे जानवरों का शिकार करते या शत्रु को मारते हैं।

कळंक–सं०पु० [सं० कलंक] १ दाग, धब्बा, अपयश, लांछन।

मुहा०—१ कळंक लागणौ—बदनाम होना. २ कळंक लगाणौ—बदनाम करना, लांछन लगाना।

कहा०—कळंक री टीकौ लागणौ ही है—जब लाचारी से कोई बुरा

करियोड़ौ–भू०का०कृ०—किया हुआ (स्त्री० करियोड़ी)
करियौ–सं०पु०—ऊँट का बच्चा या छोटा ऊँट।
करिवांण–सं०स्त्री० [सं०कृपाण] कृपाण, तलवार।
उ०—ग्रीय तोउ चाल्यौ तुरीय पलांण। सीगणि जोड़लियां करिवांण।
—वी.दे.
करिसण–सं०स्त्री०—देखो 'करसण'। उ०—सरवर नदि सघण कोडि वहु करिसण, मांडै माप अधिक मंडळ।—हरिसूर बारहठ
करींद–सं०पु०—हाथी, गज। उ०—जळि बळि तन मन छार, अंत दोन्यूं पख छीजे। कांम करींद करि कुबुधि के, जि वह कीया कै काजै।
—ह.पु.वा.
करी–सं०पु० [सं०] हाथी, गज (डि.को.) २ छत पाटने की शहतीर. ३ कृषक की स्त्री (क्षेत्रीय) ४ पथ्य, परहेज।
अव्यय—करण या अपादान कारक का विभक्ति चिन्ह, से।
उ०—रानि रुळंतां थया दिन घणा, ढीली नयरि गया उलगाणा।
अलूखांन अंधारूं करी, वस्त्र एक मुखि अंतरि धरी।
—कां.दे.प्र.
करीजणौ, करीजबौ–क्रि० कर्म वा०—किया जाना।
करीजियोड़ौ–भू०का०कृ०—किया गया हुआ। (स्त्री० करीजियोड़ी)
करीट–सं०पु० [सं० किरीट] शिरोभूषण, मुकुट, ताज (डि.को.)
करीटी–सं०पु० [सं० किरीटी] १ अर्जुन (डि.को.) २ इन्द्र (ह.नां.)
करीठ–वि०—अत्यंत काला। उ०—अंग बळीठं रोस धीठं रत्रदींठं नैण ए। काळा करीठं ढाल पीठं खाग रीठं दैण ए।—पा.प्र.
करीनि, करीनी—देखो 'करिणी' (रू.भे.) उ०—विमांन व्योम तै भुरै अनेक रंभ उत्तरै। महेस मुंडमाळ कौ, चल्यौ करीनि खाल कौ।
—ला.रा.
करीब–क्रि०वि० [अ० क़रीब] १ पास, समीप। उ०—हौ गरीब वह गरीब हीय तै हरचौ। काळ कौ गरीब कौ करीब नां करचौ।
२ लगभग। —ऊ.का.
करीबी–वि० [अ० करीब] पास का, निकट का।
करीम–सं०पु०—ईश्वर का एक विशेषण, ईश्वर।
वि०—१ दयालु, कृपालु. २ उदार, दाता। उ०—काविल कलांम कहियत करीम, रहमांन इल्म रय्यत रहाम।—ऊ.का.
करीमार–सं०पु०— हाथी आदि को मारने वाला, सिंह (डि.को.)
उ०—खरेस सार रे मूंढै काळ हेत फेट खावै, हार करीमार रै। मरे स घालै हाथ।—रावत भीमसिंह सळूंवर रौ गीत
करीमौ—देखो 'करीम'।
करीर, करीरौ–सं०पु०—१ बाँस का नया बल्ला. २ करील का वृक्ष (डि.को.) उ०—कूभड़ियां कुरळाइयां, ओळड वइसि करीर। सारहली जिउं सलिहियां, सज्जण मंझ सरीर।—ढो.मा.
करील–सं०पु० [सं० करीर] बिना पत्तियों का एक कांटेदार वृक्ष।
करीवर–सं०पु० [सं० करी] हाथी, गज (डि.नां.मा.)
करीस–सं०पु० [सं० करीष] १ उपला, कंडा (डि.को.)
[सं० करीश] २ हाथियों में श्रेष्ठ हाथी, गजराज।
करीसाग–सं०स्त्री० [सं० करीषाग्नि] उपलों की अग्नि (डि.को.)
करु–सं०पु०—१ खेत में लगाया जाने वाला हिंदवाणी व इंद्रायण के फलों का ढेर. २ एक प्रकार का घास विशेष।
करुण–सं०पु० [सं०] १ दूसरों के दुःख के ज्ञान से उत्पन्न होने वाला मनोविकार या दुःख. २ साहित्य के नौ रसों के अंतर्गत एक प्रमुख रस. देखो 'करुणारस' ३ ईश्वर, परमेश्वर।
करुणा–सं०स्त्री० [सं०] १ देखो करुण'. २ कृपा, मेहरबानी (अ.मा.) ३ दया. ४ प्रियजनों का वियोगजनित दुःख।
करुणाकर, करुणाकरण, करुणाकरि–सं०पु०—करुणानिधान, अत्यंत दया करने वाला। उ०—१ दुज्ज राम रघुराम दमोदर, क्रसन बुद्ध कळकी करुणाकर।—ह.र उ०—२ रामा अवतारी वहे रणि रावण, किसी सीख करुणाकरण।—वेलि.
करुणानिधांन, करुणानिध, करुणानिधि–सं०पु०—१ दया के सागर, दयानिधि. २ ईश्वर। उ०—वारज द्रग वारद वरण, गहर धरण गुणगाथ, करुणानिध अकरण करण, नमो नमो रघुनाथ।—र.रू.
करुणानिलय–सं०पु० [सं०] दया के घर, ईश्वर का एक विशेषण।
उ०—नित निरविकार निरभय निपुण, नारायण करुणानिलय।
—ऊ.का.
करुणामय, करुणामै–वि०—करुणाकर, दयालु, कृपालु। उ०—हरि हुए वराह, हुए हरिणाकस, हूं ऊधरी पताळ हूं। कहो तई करुणामै केसव,सीख दीध किण तुम्हां सूं।—वेलि.
करुणारस–सं०पु० [सं०] साहित्य के नौ रसों के अंतर्गत एक रस जिसका आलंबन बंधु वा इष्ट मित्र का वियोग, उद्दीपन मृतक का दाह वा वियुक्त पुरुष की किसी वस्तु का दर्शन, उसका गुण श्रवण आदि तथा अनुभाव भाग्य की निंदा, ठंडी सांस निकालना, रोना-पीटना आदि है।
करुणासागर—देखो 'करुणानिधांन'।
करुप, करुपक–वि० [सं० कुरूप] १ कुरूप, बदसूरत. २ बेढंगा. बेडौल।
करुवौ— देखो 'करवौ' (रू भे.)
करूंदौ–सं०पु०—छोटे बेर के समान खट्टे फलों वाला एक कटीला झाड़।
करू—देखो 'करु' (रू.भे.)
करूकणौ, करूकबौ–क्रि०अ०—कौए का बोलना। उ०—नित निन आय करूकै म्हारी नीमड़ली रै बीच, मारौ ए रतनादे दामी कागलिया रै तीर—लो.गी.
करूर–वि० [सं०क्रूर] १ भयंकर, भयानक। उ०—ऊतरियौ राजा 'अजन', कोपी राड़ करूर। उवर हल्वखै आपरां, नरां परक्खै नूर।
—रा रू.
२ निर्दयी, क्रूर, निष्ठुर। उ०—अछेहो वदनां वांणी बोलतो पुलस्त्य अंसी, क्रोधाळ त्रमूळ तमां तोलतो करूर।—र.रू.

कळकणौ, कळकबौ–क्रि०अ०—१ प्रकाशमान होना. २ गर्म होना. ३ खौलना. ४ आवाज करना. ५ कड़कना, गरजना. ६ संतप्त होना।
कळकणहार, हारौ (हारी), कळकणियौ—वि०।
कळकिग्रोड़ौ, कळकियोड़ौ, कळक्योड़ौ—भू०का०कृ०।
कलकतौ–सं०पु०—कलकत्ता नामक शहर।
कहा०—कलकत्तै री धारौ, बाप सूं बेटौ न्यारौ—बड़े शहरों में बेटा बाप से भी अलग रहता है। आधुनिक सभ्यता का यही ढंग है।
कळकळ–सं०स्त्री०—१ गर्म होने या खौलने की क्रिया या भाव. [अनु०] २ खौलते हुए पदार्थ से उत्पन्न ध्वनि. ३ कोलाहल, शोर, चिल्लाहट, अशान्ति। उ०—चाळक्यराज रा एक भाई दोय पुत्र मारि गुजर रा कटक में कळकळ मचायौ।—वं.भा.
कलकल–सं०स्त्री० [अनु०] १ मधुर अस्पष्ट ध्वनि. २ पानी के प्रवाह से उत्पन्न ध्वनि।
कळकळणौ, कळकळबौ–क्रि०अ०—१ चमकना। उ०—१ कळकळिया कुंत किरण कळि ऊकळि, वरजित विसिख विवरजित वाउ। घडि-घड़ि ववकि धार वाळजळ, सिहरि सिहरि समखै सिळाउ।—वेलि. उ०—२ तरु संतोस तरणह, नर छाया वैठा नहीं। कळकळती किरणेह, वांका भटके लोभ वन।—वां दा. २ देखो 'कळकणौ' (रू.भे.) ३ कष्ट से पीड़ित होना।
कळकळाट–सं०पु०—१ कलह लड़ाई. २ दुःख, कष्ट, संकट।
कळकळाणौ, कळकळाबौ–क्रि०स०—१ चमकाना. २ गर्म करना, खौलाना. ३ तंग करना, कष्ट देना. 'कळकळणौ' का स०रू०।
कळकळौ–सं०पु०—कलह, लड़ाई, टंटा।
वि०—उष्ण, गर्म।
कळका–सं०स्त्री० [सं० कलिका] कौंच नामक लता या उसकी फली (अ.मा.)
कलकार–सं०स्त्री०—१ हर्ष-ध्वनि. २ आवाज, चिल्लाहट, ध्वनि, शोर। उ०—कलकार वीर वांणी कजाक, हलकार हुई बळ वाज हाक।—वि.सं. ३ पुकार।
कळकाळ–सं०स्त्री०—कटारी।
कळकी–सं०पु० [सं० कल्कि] विष्णु का चौबीसवां अवतार जो कलियुग के अंत में संभल (मुरादाबाद) में कुमारी कन्या के गर्भ से होगा (पौराणिक)
कळकौ–सं०पु०—द्रव पदार्थ का आंच पर पूर्ण गर्मी प्राप्त करने का शब्द।
कलक्क–सं०स्त्री०—ध्वनि, आवाज। देखो 'कलक' (रू.भे.)
कळक्कणौ—देखो 'कळकणौ' (रू.भे.) उ०—हव मुक्ख ललक्क कळक्क हुनी। नव लक्ख थई चख लक्ख लनी।—पा.प्र.
कळगारी–वि०—झगड़ालू, कलहप्रिय। उ०—कायर नैत कपूत हळ, घर कळगारी नार। मैला जिण रा कापड़ा, नरक-निसांणी च्यार।
कळचाळ–सं०पु०—देखो 'कळचाळौ' (रू.भे.) उ०—चहकीय चील पंखी कळचाळ। महकीय रंभ गळै चंप माळ।—गो.रू.
कळचाली–सं०स्त्री०—दासी (अ.मा.)
कळचाळौ–सं०पु० [सं० कलि+रा० चाळौ] १ युद्ध। उ०—चांपा करण मुर्दै कळचाळा। साथ वळै राठौड़ सिघाळा।—रा.रू. २ युद्धप्रिय, योद्धा, वीर। उ०—१ कळचाळो कळ अग्गळो, रूपौ रांमचंदोत। अमी उवारण आपणौ, मेछां कारण मोत।—रा.रू. उ०—२ दमंगळ पळ धावां वद देतौ, झाटक प्रसण मेल खग झाळ। चितारै तोने कळचाळा, किलव रंभ बाबर किरणाळ।
—रूपसींग पीपाड़ा रौ गीत
३ छेड़छाड़. ४ उत्पात, उपद्रव।
कळजुग–सं०पु० [सं० कलियुग] १ चार युगों में से अंतिम युग, कलि-काल. २ बुरा समय।
कळजुगियौ, कळजुगी–वि० [सं० कलियुगी] १ कलियुग का, कलियुग-संबंधी। २ दुराचारी, पापी।
कळझळ–सं०स्त्री०—कलह। उ०—हंसा उडग्या, घर री लाज डूबगी, टेबकी टूटगी, घर में कळझळ मचगी।—वरसगांठ
कळण–सं०स्त्री०—१ 'कळणौ' क्रिया या भाव। देखो 'कळणौ'. २ मूंग मोठ, उर्द आदि द्विदल अनाज की दाल जो भिगो कर पीसने के काम ली जाती है। उससे हलुवा, वड़ियां आदि बनाये जाते हैं। ३ कष्ट, दुःख. ४ दलदल, वह महीन बालू रेत जहां कोई वस्तु या पैर अंदर धंस जाय। उ०—सरधा घटगी सेंग, वेग विरधापण वळियौ। निकळण रौ रथ नहीं कळण ऊंडी में कळियौ।—ऊ.का.
कळणौ, कळबौ–क्रि०अ०—१ नाश होना, मिटना। उ०—१ आंण तैं नीर पाताळ उवेड़िया, कमठ वाराह चा मांण कळिया। सेस गळिया गुमर गंगजळ सालुळै, महण परवाह परवाह मिळिया।
—जोगीदास कवारियौ
उ०—२ असौ रांण राजेस कमठांण कीधौ अकळ, कोड़ जुग लगां नह जाय कळिया। पाळ जोय हेम रा गरब गळिया पहल, टाळ जोय समंद रा गरब टळिया।—जोगीदास कवारियौ
२ दल दल या कीचड़ में फंसना। उ०—कळियां कूंळां री कादे में कळगी। बिसहर संगत सूं पीपळियां बळगी।—ऊ का.
क्रि०स० [सं० कलनम्] ३ भीगे हुए द्विदलों को पीसना. ४ डूबना, बराबोर होना। उ०—कळिया दुख सागर जन काढ़ै, विपत रोग अघ आगर बाढ़ै।—र.ज.प्र.
कळणहार, हारौ (हारी), कळणियौ—वि०।
कळिग्रोड़ौ, कळियोड़ौ, कळ्योड़ौ—भू०का०कृ०।
कळीजणौ, कळीजबौ—भाव वा०, कर्म वा०।
कळत–सं०स्त्री० [सं० कलत्र] देखो 'कळत्र' (अ.मा.)
कळतकंठ–सं०पु० [सं० कलित कंठ] पपीहा (अ.मा.)
कळतरी–सं०पु०—लोहे की तगारी।

काम करना पड़े, तब चाहे अच्छा काम करो चाहे बुरा, कलंक तो लगेगा ही।

२ दोष. ३ पाप (अ.मा.)

वि०—काला, श्याम# (डिं.को.)

कळंकी–वि० [सं० कलंकित] १ दोषी, दोषयुक्त। उ०—मिळण धरै पण जैतमाल सवियांण सहर का। पात कळंकी पीठवी निकळंकी करका।—दुरगादत्त बारहठ. २ अपराधी, पापी।

सं०पु० [सं० कल्कि] विष्णु का अंतिम चौबीसवां अवतार। कल्कि-पुराण के अनुसार यह कलियुग के अंत में होगा। उ०—कळंकी निकळंक नाथ तू सब कळज पांगइ।—केसोदास गाडण

कलंग–सं०स्त्री०—१ एक राग विशेष (संगीत) २ एक पक्षी विशेष. ३ हिंदवानी. ४ कलिंग देश. ५ एक वर्षा ऋतु के अंत में होने वाला पतिंगा जैसा कीट जिसका दूसरा नाम राजस्थानी में भींगी है (डिं.को.)

कलंगी–सं०स्त्री०—पगड़ी में सजाने का एक आभूषण, शिरोभूषण।

कलंडर–सं०पु०—अंग्रेजी तिथि-पत्रक।

कलंदर–सं०पु० [अ०] १ सूफी शाखा के एक प्रकार के मुसलमान वियोगी साधू। उ०—कुतब गौस अवदाळ सूफी अनै कळंदर पीरजादा मिळै सांझ परभात।—महाराजा जसवंतसिंह रौ गीत

२ योगी. ३ रीछ बंदर आदि को नचाने वाला. ४ दारिद्रय, निर्धनता।

कलंदरी–सं०पु०—एक प्रकार का तीर विशेष (अ.मा.) उ०—कलंदरी तीर सूं जाजम रौ डोरी कट जाय (क.कु.बो.)

कलंब–सं०पु० [सं०] १ बाण, तीर (ह.नां., डिं.नां.मा.) २ लोहे के वे नुकीले कीले जो कपाटों में जड़े रहते हैं। उ०—अर आपरी आऊरे बळ ऊवरिया अंग नुं कंवाड़पणा में गाढ़ौ करण कलंब रूप कांटां में जडियौ।—वं.भा.

कळ–सं०पु० [सं० कल] १ यश. २ शान्ति, चैन, सुख। उ०—प्रीत कियां सुख ना मोरी सजनी, जोगी मित न कोई। राति दिवस कळ नाहिं पड़त है, तुम मिळियां बिन मोई।—मीरां

मुहा०—कळ पड़णौ—चैन होना, शान्ति से बैठना।

३ संतोष. ४ विश्राम. ५ यंत्र, पुर्जा. ६ दुःख, संकट (अ.मा.) ७ कळह, झगड़ा (अ.मा.) उ०—कळ चडै जोय चंदजसनांमौ करै। मरद साचा जिकै आय अवसर मरै।—हा.भा.

८ प्रभाव, दबाव।

कहा०—कळ सूं कळ दबै—किसी आदमी से कोई काम कराना हो तो उस पर जिनका दबाव पड़ता हो उनसे दबाव डलवाना चाहिये तभी काम बन पाता है।

९ युद्ध, रण। उ०—भुज दुहवां वळ बीस भुज, कळ दस माथा काट। तैं दीधौ दसरथ तणा, दस सिर घर दहवाट।—बां. दा.

१० कलियुग। उ०—जोवरणों इंद कहै गुण जाडां, खिण वरखै विखरै खिण। 'जसवंत' हरा तूझ चित जोतां, कळ विच दीजै मीढ़ किसै।
—अज्ञात

११ कथा, वृत्त, वृतान्त. १२ शत्रु, दुश्मन। उ०—पातल हरा निमौ पुरसातन, कळ दळ सबळ कळासै। उरड़ै फौज धजा विच आघी, गुण की गजां गरासै।—नाहरसिंह आसियौ

१३ वीर्य. १४ राक्षस, दैत्य, दानव—(अनेका.)

१५ संसार, जगत। उ०—१ कळमें वुधवंता करै, सांपड़ विमळ सरीर। पांण न मूढ़ पखाळही, नदी वहंते नीर।—बां.दा.

उ०—२ कळ माया खाया केतां ही, खांन 'कमाले' माया खाही।
—कमा विहारी रौ गीत

१६ वंश, कुल. १७ 'रघुवर जस प्रकास' के अनुसार टगण के ९ वें भेद का नाम (रू.भे. 'कलि') १८ कपट, छल (ह.नां.) १९ उपद्रव (अनेका.) २० कामदेव (अ.मा.) २१ योद्धा (अ.मा.) २२ अव्यक्त मधुर ध्वनि, कल-कल की ध्वनि. २३ कला. २४ तरकीब, युक्ति, ढंग।

कहा०—कळ सूं होवै सो बल सूं नहीं होवै—जो.कार्य तरकीब से होता है उसमें शक्ति-प्रयोग व्यर्थ है। शक्ति मात्र से ही हरेक कार्य नहीं हो सकता, उपाय की भी जरूरत होती है।

२५ कांति, दीप्ति। उ०—अवधेस उभंग जीपण जंग कोटि अनंग धारि कळ।—र.ज.प्र. २६ कृपा, दया (अ.मा.) २७ समय, वेला. २८ शक्ति, बल, ताकत। उ०—आंणे आयोड़ी जळ में जळ पीणी। कांणी घूंघट में कळपै कब हीणी।—ऊ.का.

२९ बंदूक का घोड़ा। [सं० कला] ३० छंद शास्त्रानुसार मात्रा यथा त्रिकळ, चौकळ।

वि०—१ मनोहर, सुन्दर, प्रिय। उ०—छैल छबीले नवळ कांन्ह संग स्यांमा प्रांण पियारी, गावत चार धमाळ. राग तंह दे दे कळ करतारी।—मीरां २ मधुर. ३ तंदुरुस्त, स्वस्थ. ४ काला, श्याम।

क्रि०वि०—प्रकार, तरह भांति। उ०—ग्रहतै सत डोर 'जगा' छत्रिमां गुर, वोह मोजां विध अतुळ वळ। ऊडी जग ऊपर आहाड़ां, कीरत गूडी तणी कळ।—महारांणा जगतसिंह रौ गीत।

कल–क्रि०वि० [सं० कल्य] १ आगामी या आने वाला दूसरा दिन. २ बीता हुआ दिन।

कळअगळौ, कलआगळौ–वि० [सं० कलि+रा० अगळौ] युद्ध में अग्रणी, सेनापति। उ०—कळ चाळौ कळअगळौ, रूपौ रांगचंदोत। अमी उबारण आपणां, मेछां कारण मौत।—रा.रू.

कळकंठ–वि०—मधुर कण्ठ वाली, मधुरभाषिनी।

सं०स्त्री०—कोयल। उ०—रवि बैठौ कळसि थियौ पालट रितु, ठरे जु डहकियौ हेम ठंठ। ऊडण पंख समारि रहे अलि, कंठ समारि रहे कळकंठ।—वेलि.

कळकंठी–सं०पु०—पक्षी (अ.मा.)

कलक–सं०स्त्री०—१ आवाज, ध्वनि, हल्ला-गुल्ला। उ०—कलक भैरूं सगत पियण काळ रा, दलेसां साल रा ताप देणा।—रांमलाल आढ़ौ

कळपाणहार, हारो (हारी), कळपाणियो—वि० ।

कळपायोड़ो—भू०का०कृ० ।

कळपायोड़ो—भू०का०कृ०—१ सताया हुआ. २ कुढ़ाया हुआ ३ संकल्प कराया हुआ । (स्त्री० कळपायोड़ी)

कळपित—वि० [सं० कल्पित] जिसकी कल्पना की गई हो, मनगढ़ंत, नकली ।

कळपियोड़ो—भू०का०कृ०—१ विलाप किया हुआ, सताया हुआ, दुखित. २ कुढ़ा हुआ. ३ संकल्पित । (स्त्री० कळपियोड़ी)

कळपीजणो, कळपीजबो—क्रि० भाव वा०—१ विलाप किया जाना, सताया जाना. ३ कुढ़ा जाना. ४ संकल्प किया जाना ।

कळवल्ली—वि०स्त्री०—करुणाजनक पुकार, कोलाहल । उ०—कळवल्ली वांणी कढ़ै, भ्रमि भीरु भटक्कै । पाय अटक्कै पग्गड़ां, लागि लुत्थि लटक्कै ।—वं.भा.

कळवांणी—सं०स्त्री०—देखो 'कळवांणी' (रू.भे.)

कळवी—सं०पु०—एक जाति विशेष जिसके व्यक्ति प्रायः खेती करते हैं । (रा.रू., मा.म.)

कळव्रच्छ—सं०पु० [सं० कल्पवृक्ष] कल्पवृक्ष । उ०—कळव्रच्छ म्हाराज रा सेवकां को । वण्यौ राखीजै बूडसू भूप बांको ।—मे.म.

कळव्रच्छपता—सं०पु० [सं० कल्पवृक्षपिता] समुद्र (डि.को.)

कलभ—सं०पु० [सं०] १ करभ, हाथी या ऊँट का बच्चा. २ हाथी (डि.को.) ३ धतूरे का पेड़. ४ धीव्रता (अनेका) ५ आश्रय (अनेका) ६ शकुन (अनेका.) ७ पाप (अनेका.) ८ आकाश (अनेका.) ९ भादों मास (अनेका.)

कलम—सं०पु० स्त्री०—१ किसी पेड़-पौधे की वह टहनी जो कहीं अन्यत्र लगाने के लिये काटी जाय ।

मुहा०—कलम करणी—काटना, छांटना ।

२ लेखनी ।

मुहा०—१ कलम घिसणी—बराबर लिखते रहना. २ कलम चलणी—लिखना, अच्छा कलम होना जो ठीक लिखे. ३ कलम चलाणी—लिखना, तेज लिखना. ४ कलम तोड़णी—मार्मिक बात लिखना, ज्यादा लिखना. ५ कलम फेरणी—गलत लिखे हुए को काटना. ६ कलमबंद करणी—नोट कर लेना, लिख लेना. ७ कलम में जोर होणी—लिखने में प्रभाव होना. ८ कलम री जीभ—कलम का वह भाग जिससे लिखते हैं. ३ मान, प्रतिष्ठा. ४ कलमा पढ़ने वाला मुसलमान (डि.को.) उ०—रंजै कर चूंकळ रखवाळी, अर हायळ भंजै अलम । सजै जाय जठी माद्ळी, कुण गंजै हिंदू कलम ।—नवलजी लाळस. ५ सोने के आभूषणों में नगीना जड़ने के लिए स्थान बनाने का औजार. ६ रंग भरने की बालों की कूंची. ७ कान के ऊपर के कनपटियों के पास के बाल ।

कलमकसाई—सं०पु०यौ० [अ०] लिख पढ़ कर या अपनी लेखनी द्वारा दूसरों को हानि पहुंचाने वाला ।

कलमख—सं०पु० [सं० कल्मष] १ पाप (ह.नां.) २ मैल. ३ नरक का एक भेद ।

वि०—१ पापी. २ मैला ।

कळमत—सं०पु०—युद्ध । उ०—वित देवळ वाळोह, नागू 'जींदो' लेवसी । वीरो मौ वाळोह, कळमत (य) घणौ करावसी ।—पा.प्र.

कळमळणी, कळमळबो—क्रि०अ०—१ झुंझलाना. २ कुलबुलाना. ३ कराहना. ४ अपने अंगों को घुमाना ।

कळमस—सं०पु० [सं० कल्मष] १ देखो 'कलमख' (डि.को.)

वि०—२ श्याम, काला, मैला । उ०—भूरा भाखर भीजिया, कळमस काळा स्याह । जांणे हाथी राज रा, छूटचा रोही मांह ।—वादळी

कलमांछात—सं०पु०—बादशाह । उ०—देव तालियां रांम जुध देखे, गजवट वरद विनै रखपाळ । कलमांछात छात कूंपा री, छूटा पटां लड़ै छंछाळ ।—जग्गौ खिड़ियौ

कलमांण—१ देखो 'कलमौ' २ बादशाह. ३ मुसलमान (डि.को.)

कलमायण—सं०पु०—मुसलमान । उ०—लोहां लोड़ वोड़ (छो) दळ लागा, सुर आवरत संभ्रमिया मार । काळै थाट तणे कलमायण, काळै वार अहार किया ।—महेसदास आढ़ौ

कळमास—वि० [सं० कल्माष] कबरा, श्यामवर्ण का (डि.को.)

कलमी—सं०स्त्री०—१ श्याम रंग की घोड़ी । उ०—कलमी अस देवळ देण कीयूं । लोवड़ी प्रतपाळ यूं वैण लियूं ।—पा.प्र.

सं०पु०—२ एक प्रकार का आम जो काट कर खाया जाता है ।

कलमीसोरो—सं०पु०—साफ किया हुआ शोरा जिसमें कलमें होती हैं । यह शोरा साधारण शोरे से अधिक साफ और तेज होता है ।

कलमुख—देखो 'कलमख' (अ.मा.)

कळमूळ—सं०पु० [सं० कलिमूल] १ सेना, फौज (ह.नां.)

२ कलह का मूल, झगड़े का मुख्य कारण, योद्धा । उ०—वात गरै विचित्रां तणै, मेड़तियौ मादूळ आयौ दळ अजमाल रै, मन अणकळ कळमूळ ।—रा.रू. ३ युद्ध का मुखिया, सेनापति । उ०—हाथां मछर केवांण हुवियां, सुरतांणां मार्यं सर मूळ । ऊसरां थाट काट आवटियौ, मंगळ जुध ठरियौ कळमूळ ।—केसोदास गाडण

कलमेपाक, कलमेपाख—सं०पु०—१ पवित्र कलमा. २ कलमा पढ़ कर पवित्र होने वाला (मुसल०)

कलमौ—सं०पु० [अ० कल्मः] १ वह वाक्य जो मुसलमान धर्म का मूल मंत्र है यथा—'ला इला लिल्लिल्लाह । मुहम्मद उर्रसूलिल्लाह ।' उ०—पठांण, सैद, मुगळ, उजवका मुसलमांन आकीनदार, श्रीस मीपारा रा पढ़णहार, पांच वक्त निमाज रा करणहार, सुध कलमै रा पढ़णहार ।—रा.सा.सं.

२ कलमा पढ़ने वाला मुसलमान । उ०—धान्या धण सघळां ही वक्ष घमोड़, (जांणे) कलमा मिळ ताज्यां में छाती कूटवै ।

—किसोरसिंह बारहठ

कळतांन—सं०पु०—१ महीनतम पीसने की क्रिया. [सं० कलित+स्थान] २ कपड़ा।

कळतीतर—पं०पु०—तीतर से बड़ा एक प्रकार का पक्षी विशेष जिसके वक्षःस्थल का रंग श्याम होता है।

कळत्त, कळत्र—सं०स्त्री० [सं० कलत्र] १ स्त्री, पत्नी (अ.मा.) (रू.भे.) उ०—तु अजमेरां राजियौ। पुत्र कळत्र सह्र परिवार।—वी.दे. २ कटि, कमर (अ.मा.)

कळदार—वि०—यांत्रिक जिसमें कुछ यंत्र आदि या कल-पुरजे हों। उ०—कुंवरजी वसतां महल रै आळै कळदार में राखी। —पलक दरियाव री बात

सं०पु०—चाँदी या धातु का बना रुपए का सिक्का। उ०—कळजुग में कळदार विन, भायां पड़ियौ भेव। जिण घर भायौ जोर में, दरसण आवै देव।—ऊ.का.

कळधन—सं०पु० [सं० कला=वत्ती+इंधन=कलेन्धन] ज्योति, दीपक (अ.मा.)

कळधारण—सं०पु०—इंद्र।

कळधूत, कळधोत, कळधौत—सं०पु० [सं० कलधौत] १ सोना (ह.नां., अ.मा.) २ चाँदी (अ.मा.)

कलन—सं०स्त्री०—कटि, कमर (अ.मा.)

कळपंत—सं०पु०—देखो 'कळपांत'। उ०—१ कूरमां समै कळपंत ज्यौं प्रांण देण परवारिया। म्रत वार जेम अम्रत मिळै 'अजै' तेम ऊबारिया। —रा.रू.

उ०—२ जग कळपंत तणी पर जसवंत, फेरा लहर कहर फिरियौ। लोह धार गैणाग लागतां, औरंग घू जिम ऊत्रियौ। —महेसदास आढ़ौ

कळपंतणौ, कळपंतवौ—क्रि०अ० [सं० कल्पन] रोना, विलाप करना, विलखना (मि० 'कळपणौ') उ०—रांणी रोवंतीय, सुपियारी सांमी चर्ला। कंवरी कळपंतीय, ऐवासा सूं ऊतरै।— पा.प्र.

कळपंतणहार, हारौ (हारी), कळपंतणियौ—रोने या विलखने वाला।

कळपंतिओड़ौ, कळपंतियोड़ौ, कळपंत्योड़ौ—भू०का०कृ०।

कळपणौ, कळपबौ—रू०भे०।

कळपंतियोड़ौ—भू०का०कृ०—रोया या विलखा हुआ, विलाप किया हुआ। (स्त्री० कळपंतियोड़ी)

कळप—सं०पु० [सं० कल्प] १ कलफ. २ वेद के छः अंगों में से एक (डि.को.) ३ रोग निवृत्ति की एक युक्ति. ४ ब्रह्मा का एक दिन या समय का एक विभाग जो ४३२०००००० वर्षो का माना जाता है। उ०—वीते पल ही कळप वरावर, जिके दिवस किमि जावै।—र.रू ५ खिजाव. उ०—केस कळप तजियौ सकळ, भजियौ कजियौ भूप। वजियौ इण गुण ब्रद्ध वय, सजियौ तरण सरूप।—वं.भा. ६ कल्पवृक्ष (अनेका.) उ०—धुरै सुहांणी गाज, म्रदंगां ताळ घमंकै। कळप तणा रसराज, पियंतां कांम दमंकै। —मेघ.

७ कपट (अनेका.) ८ दिन (अनेका.) ९ बुद्धि (अनेका.) १० प्रकाश (अनेका.) ११ युद्ध (अनेका.) १२ रथ (अनेका.) [सं० कल्प] १३ प्रलय (डि.को.)

कळपणौ, कळपबौ—क्रि०अ० [सं० कल्पन] १ विलाप करना, विलखना, रोना। उ०—आंणै आयोड़ी जळ में जळ पीणी। कांणै घूंघट में कळपै कळहीणी। २ दुखी होना, कुढ़ना, चिढ़ना। कहा०—गायां चूंगे गांम री, सोच करै स्यारी। धांन धणी री ऊपड़ै, कळपै कोठारी।—जो पराये दुख दुवला होता है।

कळपणहार, हारौ (हारी), कळपणियौ—विलखने या रोने वाला, कुढ़ने वाला, संकल्प करने वाला।

कळपाणौ, कळपावौ, कळपावणौ, कळपाववौ—स०रू०।

कळपिओड़ौ, कळपियोड़ौ, कळप्योड़ौ—भू०का०कृ०।

कळपीजणौ, कळपीजबौ—भाव वा०।

कलपणौ कलपबौ—क्रि०अ० [सं० कल्पन] कल्पना करना।

कलपणहार, हारौ (हारी), कलपणियौ—वि०।

कलपिओड़ौ, कलपियोड़ौ, कलप्योड़ौ—भू०का०कृ०।

कलपत—सं०पु०—दोष, कलंक।

कळपतर, कळपतरु, कळपतरू, कळपतरोवर, कळपद्रुम—सं०पु०यौ० [सं० कल्पतरु] कल्पवृक्ष (अ.मा.,नां.मा.) उ०—कळपतरु ऊखलि पड़ै, 'जसौ' महा धू जांम। माळां गाळां ठांम महि, तिकौ न सूझै तांम। —हा.झा.

कलपना—सं०स्त्री० [सं० कल्पना] अध्यारोप, रचना, कल्पना, उद्भावना। उ०—१ ए वध्या सी कलपना तिस आतम दधा।—केसोदास गाडण उ०—२ आसा त्रसना कलपना केतां आग लगाई।—केसोदास गाडण

कलपनी—सं०स्त्री० [सं०] कैंची, कतरनी (डि.को.)

कलपवेलि—देखो 'कलपवेलि'।

कलपविरख—सं०पु०यौ० [सं० कल्पवृक्ष] कल्पवृक्ष (रू.भे.)

कलपवेलि—सं०स्त्री०यौ०—कल्पवृक्ष। उ०—कळि कलपवेलि वेळि कांमधेनुका, चिंतामणि सोमवल्लि चत्र।—वेलि.

कळपव्रक्ष, कळपवख, कळपविख, कळपविछ—सं०पु०यौ० [सं० कल्पवृक्ष] कल्पवृक्ष। उ०—१ आप जसा करतौ नह अंजसै, वेल अमै तू कळपवख।—संकर वारहठ। उ०—२ कळपव्रक्ष संतान पारिजाति हरिचंदण। तर मंदार दुवार, आंण ऊगा सुख अप्पण।—रा.रू.

पर्याय०—कलपतर, कलपद्रुम, द्रुमप्त, पत्रीस, पारजात, मंदार, सुखस्यायक, सुरतर, सुरसंपति, स्वगसुखदा, हरिचंदण।

कळपांत, कळपांतर—सं०पु०यौ० [सं० कल्पांत] प्रलय, युगांतकाल. ब्रह्मा का दिवसावसान। उ०—पुरांण में कळपांतर मांनै, पूरव मीमांसा में होणहार मांनै, वेदान्त में ईस्वरेच्छा मांनै।—वां.दा.

कळपाणौ, कळपावौ—क्रि०स० [सं० कल्पन] १ विलाप कराना, सताना, दुःख देना। उ०—१ निसचर! तूं कळपासी जो म्हने, रावण! तूं कळ पासी नांय।—गी.रां. उ०—२ करसा कळपाया करना नहि बूठी।—ऊ.का. २ कुढ़ाना. ३ संकल्प कराना।

कळह-सं०पु० [सं० कलह] १ झगड़ा, लड़ाई, युद्ध (अ.मा.)
उ०—तास वरणागियै दीठि मन हतणौ। मलफियौ सामहौ कळह वेड़ीमणौ।—हा.झा.
कहा०—१ कळह रौ मूळ—झगड़ालू व शरारती व्यक्ति के लिये।
२ कळह सूं कळसा रौ पांणी जाय परौ—कलह की निंदा।
२ विवाद ३ रास्ता. ४ कपट, छल (ह.नां.)
वि०—५ काला, श्याम* (डि.को.)

कळहक्रित-सं०स्त्री० [सं० कलहकीर्ति] युद्ध-प्रशंसा, युद्ध की कीर्ति।

कळहगुर-वि० [सं० कलह+गुरु] युद्ध-वीर, योद्धा। उ०—कळहगुर दांनगुर हालियौ 'कल्याण', लाख ऊपर कवण वाग लेसी।
—दुरसौ आढ़ौ

कळहण, कळहणि-सं०पु० [सं० कलह+रा० प्र० ण, णि] १ देखो 'कळह' (अ.मा., डि.को.) उ०—१ मुहता प्रवांन घाअे मिळेय, कुरखेत कीध कळहण करेय।—रा.ज.सी. उ०—२ सूजा जेम अभनमौ 'सूजौ', कळहण गजां कळैगौ। घड़ धजवड़ां भळैगौ, मनसा जीत मळैगौ।—अज्ञात २ दलदल, कीचड़।

कळहप्री-वि० [सं० कलहप्रिय] जो कलहप्रिय हो।
सं०पु०—नारद।

कळहप्रेमा-सं०स्त्री०—युद्धप्रिया, महाकाली, रणपिशाचिनी।
उ०—देवी खेचरी भूचरी भद्रखेमा, देवी पद्मणी सोभणी कळहप्रेमा।
—देवि.

कळहवरीस-सं०पु० [सं० कलह+वर्षी] योद्धा। उ०—साहण समद सेन सीसोदा, रांणा तोमूं राय रिम। अरथ वरीस करै सिर ऊपर, कळहवरीस न करै किम।—महारांणा कुंभा रौ गीत

कळहळ—सं०पु०—कोलाहल, हलागुल्ला। उ०—१ छिन छिन वाट हेरता छाया, हुय कळहळ घोड़ा हींसाया।—वरजूबाई उ०—२ आज नहीं 'जोरौ' घर ऊपरै, कळहळ कांकळ हुवै कठै।
२ कलकल की ध्वनि। —जोरजी चांपावत रौ गीत

कळहळणौ, कळहळबौ-क्रि०अ०—१ कोलाहल करना। उ०—एही भली न करहला, कळहळिया कइकांण। का, प्री, रागां प्रांण करि, कांइ अचेती हांण।—ढो.मा. २ चमकना, दमकना। उ०—कळहणै वगतरी टोपरी झरहरी, घमघमै घूघरां पाखरां छरहरी।—द.दा.

कळहारी-सं०स्त्री०—एक विषैला पौधा जिसका प्रयोग औषधियों में किया जाता है (अमरत)

कळहि-सं०पु० [सं० कलह] युद्ध। उ०—एकणि हणे अनेक, किसना उत मातै कळहि।—अज्ञात

कळहिल-सं०पु० [सं० कटुहिल] शत्रु, दुश्मन। उ०—लखपति विरदाळ, कळहिळ काळ।—ल.पि.

कळहिवा-सं०पु०—योद्धा। उ०—वरहास खिड़इ ऊलळीवग्ग, कळहिवा झगड़ कम्मांण झग।—रा.ज.सी.

कळही—देखो 'कळसी' (रू.भे.)

कळहीणौ-वि०पौ० [सं० कला+हीन] अशक्त, कमजोर, दुर्बल।
उ०—कांणै घूंघट में कळपै कळहीणी।—ऊ.का.

कलां-वि० [फा०] वड़ा (प्राय: गांवों के नाम के साथ प्रयुक्त होता है।)
उ०—खुड़द छोटा नूं कहै, कलां वडा नूं कहै।—बां.दा.ख्यात

कलांतर-सं०पु०—व्याज, रुपये का महसूल (डि.को.)

कलांम-सं०पु० [अ० कलाम] १ वातचीत, कथन। उ०—काबिल कलांम कहियत करीम, रहमांन इल्म रय्यत रहीम।—ऊ.का.
२ वाक्य, वचन. ३ प्रतिज्ञा, वादा. ४ उज्र, एतराज।

कळा-सं०स्त्री० [सं० कला] १ अंश, भाग. २ चंद्रमा का सोलहवां भाग: चंद्रमा की सोलह कलायें निम्नलिखित हैं—१ अम्रता (अमृता), २ मानदा, ३ तुस्ठि (तुष्ठि), ४ पुस्टि (पुष्टि), ५ प्रीति, ६ रति, ७ ज्योत्मना, ८ स्री (श्री) ९ पूरणा (पूर्णा), १० लज्जा, ११ स्वधा, १२ हंसवती, १३ रात्रि, १४ छाया, १५ वांमा (वामा) १६ आभा (कांति) अंतिम सात कलाओं के स्थान पर। कहीं-कहीं निम्नलिखित कलायें भी पायी जाती हैं—१० पूसा (पूषा) ११ घ्रति (घृति) १२ ससनी (शशनी) १३ चंद्रिका, १४ अंगदा, १५ पूर्णाम्रता और १६ कांति।
३ सूर्य का बारहवां भाग। सूर्य के बारह नाम कहे जाते हैं। (वि०वि० देखो 'सूरज') जिनके तेज को कला कहते हैं ये भी बारह हैं—१ तपणी (तपिनी), २ तापणी (तापिनी), ३ बोधनी (बोधिनी), ४ संविनी ५ कालंदी (कालिंदी), ६ सोसणी (शोषणी), ७ वेरणी, ८ आकरसणी (आकर्षणी), ९ वैसणवी (वैष्णवी), १० विस्णुविद्या (विष्णु विद्या), ११ ज्योत्सना, १२ हिरण्या। अंतिम नौ कलाओं के स्थान पर कहीं-कहीं पर निम्नलिखित कलायें भी मिलती हैं—४ धूम्रा, ५ मरीचि, ६ ज्वालिनी, ७ रुचि, ८ सुषुमा, ९ भोगदा, १० विस्वा (विश्वा), ११ धारिणी और १२ क्षमा।
४ सामर्थ्य, शक्ति। उ०—अड़ाभीड़ वंका भड़ां कोप ओपै, कळा जांणि त्यांरी न को प्रांण कोपै।—रा.रू. ५ कामदेव (ह.नां.) ६ विभूति, तेज. ७ चंद्रमा (नां.मा.) ८ शोभा, छटा, प्रभा, कांति (ह.नां.) उ०—१ कलाहरौ चढ़ती कळा, जीपण जंग भाराथ। केहरी अटक न ऊतरै, साहजहां रै साथ।—रा.रू.
उ०—२ विसवामित्र किसोर वय, अनंग रूप अपार। कहै जनक अदभुत कळा, कुण ए राजकुमार।—रांमरासौ. ९ स्त्री का रज. १० शरीर की सात विशेष झिल्लियां जो मांस, रक्त, मेद, कफ, मूत्र, पित्त और वीर्य को अलग-अलग रखती हैं (चिकित्सा शास्त्र) ११ तीस काष्टा का समय का एक विभाग (ज्यो.) १२ राशि के तीसवें अंश का साठवां भाग (ज्यो.) १३ वृत्त का डिग्री १८०. वां भाग (ज्यो.) १४ कौतुक, लीला, खेल. १५ छल, धोखा, कपट.
१६ अग्नि-मंडल का एक भाग। अग्नि-मंडल के कुल दस भाग होते हैं। इसके दस भागों के नाम ये हैं—१ धूम्रा, २ अरचि (अर्चि) ३ उस्मा (उष्मा), ४ ज्वलिनी, ५ ज्वालिनी, ६ विस्फुलिंगिनी,

कलम्म—देखो 'कलम'।

कळयुग—देखो 'कलजुग'। उ०—प्रधानां उजदारां विचार नै राजा सु' वीनती की। महाराज हिवै कळयुग आयौ।—चौबोली

कल-रव–सं०पु०—१ कपोत, कबूतर (डि.को.)
सं०स्त्री०—२ सुन्दर आवाज, कल-ध्वनि (डि.को.)
३ ऊसर भूमि।

कळळ–सं०स्त्री०—१ युद्ध का कोलाहल। उ०—ऊठि अढंगा बोलणा, कांमणि आखै कंत। ऐ हल्ला तौ ऊपरां, हूंकळ कळळ हुवंत।
—हा.झा.
(यौ० हूंकळ-कळळ) २ ध्वनि विशेष. ३ नक्कारा, युद्ध का बाजा. ४ घोड़ों के हिनहिनाहट की आवाज। उ०—१ हैदळ कळळ पायदळ हूंकळ, सीसोदै खड़तै संनढ़।
—महारांणा लाखा रौ गीत
उ०—२ घूघरमाळ घोडां री वाज रही छै, हींस कळळ होफ हुइनै रही छै।—रा सा सं.

कळळणौ कळळवौ–क्रि०अ०स०—१ सेना का कोलाहल होना। उ०—भड़ां भड़िज विलहीजइ भारी, काविल कळळइ सेन कंधारी।—रा ज.सी.
२ घोडों का हिनहिनाना, सेना का कोलाहल करनो। उ०—हिन्दुआं तुरक्कां दुविय हक्क, करिमाळ वाजि कळळिय कटक्क।—रा.ज.सी.

कळळस—देखो 'कळळ'। उ०—तीर अखत ढाल गज तोरण। चहूं दिस कळळस मंगळोचार। चवरी वडौ पेखियौ चखतै। 'करण' कळो-धर राजकवार।—किसनजी आढौ

कळळ-हूंकळ—देखो 'हूंकळकळळ' (रू.भे.)। उ०—कळळ-हूंकळ अवसि खेति सूरा करै। धीरपै सुहड़ रिण चलण धीरा धरै।
—हा झा.

कळळाट, कळळाटौ कळळाहट–सं०पु०—शोकसूचक ध्वनि, हाहाकार। उ०—१ गदगद वांणी द्रग पांणी गळळाटा। कंगला वंगलां में कीना कळळाटा—ऊ.का.। उ०—२ थिर आसोज वेद मग थाटौ, लंपट वालि रावण कुळ लाटौ। भंवंतां करम जोग पड़ भाटौ, काती में मचगौ कळळाटौ।—ऊ.का.। उ०—३ दुख वीचख ऊतर राव दियौ। कळळाहट चारण साद कियौ।—पा.प्र.

कळवकळ–वि०—घबराया हुआ, भयभीत। उ०—कळवकळ सवळ दळ भळळ सावळ करां, येळापत कीध जळ किसा ग्मळ ऊपरां।
—महादांन महडू

कळवणौ, कळववौ—देखो कलपणौ' (रू.भे.)

कलवर–सं०पु० [सं० कलेवर] शरीर।

कळवरी–सं०स्त्री०—रहंट के माल की दोनों लड़ों को समान दूरी पर रखने के लिये उनमें लगाई जाने वाली काष्ठ की पतली कीलियां। 'कलोरी' (रू.भे.)

कळवांणी–सं०स्त्री०—१ गंदा पानी. २ लोहे की किसी वस्तु को जल के अंदर कई बार घुमा कर मंत्रित किया हुआ जल, यह प्रायः रोग-मुक्ति के लिये पिलाया जाता है (टोटका). ३ जल पात्र में हाथ डाल कर पानी को गंदा करने की क्रिया।

कळव्रख, कळव्रच्छ, कळव्रछ–सं०पु० [सं० कल्पवृक्ष] कल्पवृक्ष–(रू.भे.)

कळव्रच्छकेळी–सं०पु०—इन्द्र (ना.डि.को.)

कळस–सं०पु० [सं० कलश] १ घड़ा, गगरा, कुंभ। उ०—अति ग्रंब मोर तोरण अजु अंबुज, कळी सु मंगळ कळस करि।—वेलि.
२ मंदिर, चैत्य आदि का शिखर जो प्रायः पीतल या पत्थर आदि का होता है. ३ चोटी, सिरा. ४ प्रधान अंग. ५ श्रेष्ठ व्यक्ति. ६ कोहल मुनि के मत से नृत्य की एक वर्तना. ७ काव्य या काव्य ग्रंथ की समाप्ति पर उपसंहार के ढंग पर रची हुई कविता या काव्य. ८ देवी का अर्चित जल जो भक्त लोग पान करते हैं. ९ प्रत्येक चरण में २० मात्रा का मात्रिक छंद विशेष (ल.पि.)
१० डिंगल का एक छंद जिसके प्रथम द्वाले में २० लघु, २२ गुरु कुल ६४ मात्रायें होती हैं तथा इसी क्रम से शेष द्वालों में २० लघु और २१ गुरु कुल ६२ मात्रायें होती हैं (पिं प्र.) ११ सुवृत्त* (डि.को.)
१२ कुंभ राशि। उ०—रवि बैठौ कळसि थियौ पालट रितु, ठरे जु डहकियौ हेम ठंठ।—वेलि.

कळसभव–सं०स्त्री० [सं० कलशभव] घट से उत्पन्न कहे जाने वाले अगस्त्य ऋषि।

कळसाजोन–सं०स्त्री०—विवाह में कन्या पक्ष की ओर से दिया जाने वाला भोज विशेष जिसमें कलसे के जल द्वारा वरातियों को स्नान कराने के पश्चात भोजन कराया जाता था। आजकल यह प्रथा उठ सी गई है। (पुष्करणा ब्राह्मण)

कळसियौ–सं०पु०—१ लोटे के आकार का पानी पीने का छोटा जल-पात्र २ बैलों की पीठ पर का उठा हुआ गोल भाग, ककुद. ३ तल-वार की मूठ के ऊपर गोल आकृतियुक्त लगाया जाने वाला एक उपकरण।

कळसी–सं०स्त्री०—१ देखो 'कळसियौ'. २ आठ मन अनाज का एक माप. ३ मिट्टी का बना बड़ा जल-पात्र जिसमें करीब तीन कळस जल समा जाता है।

कळसौ–सं०पु०—१ देखो 'कळसियौ'. २ देखो 'कळस'।

कळहंस, कळहंसक–सं०पु० [सं० कलहंस] १ हंस। उ०—वनमय सदन वसंत अलोक वणाविया। गुण सुक पिक कळहंस मोरां गाविया।
—बां.दा.
२ राजहंस। उ०—कळहंस जांणगर मोर निरतकर, पवन ताळधर ताळ पत्र।—वेलि. ३ श्रेष्ठ राजा. क्षत्रियों की एक शाखा.
५ परमात्मा. ६ ब्रह्मा।
वि०—सुस्वर* (डि.को.)

कळहंत–सं०पु० [सं० कलि+हंत] युद्ध। उ०—किये नरूकन किम्मत भिड़ि, किते जुद्ध उन्मत्त। प्रथम 'मांन' 'जगतेन' की, कहूं केळि कळहंत।—ला.रा.

कळाइणो, कळाइवौ–क्रि०अ०—१ कोलाहल करना. २ जोर जोर से विलाप करना, रोना । उ०—मारू-मारू कळाइयां, उज्जळदंती नारि । हसनइ दे हुंकारड़उ, हिव्रड़उ फूटणहारि ।—ढो.मा.
कळाइणहार, हारौ (हारी), कळाइणियौ—वि० ।
कळाइग्रोड़ो, कळाइयोड़ौ—भू०का०कृ० ।
कळाइयोड़ौ–भू०का०कृ०—१ कोलाहल किया हुआ. २ जोर जोर से विलाप किया हुआ । (स्त्री० कलाइयोड़ी)
कलाइयौ–सं०पु०—न्योछावर ।
कळाई–सं०स्त्री [सं० कलाची] १ हाथ की कोहनी के नीचे का वह भाग जो हथेली के ठीक ऊपर होता है । मणिबंध, गट्टा ।
मुहा०—कळाई पकड़णी—१ पत्नी बनाना; किसी स्त्री का सतीत्व नष्ट करने के लिये उसका हाथ पकड़ना ।
३ कोठरी. ४ वह बड़ा आंगन जिसके चारों ओर कोठरियाँ हों ।
क्रि०वि० [रा०] तरह, प्रकार, भाँति । उ०—१ संध कळाई नयण सर, गुण पापेणि ताणेह । मारू मीर च बाव ज्यूं, नह चूकै वांणेह ।—ढो.मा.
उ०—२ रुठियां धुंधळीनाथ कळाई ऊजळी रुकां, मारवाड़ां दिल्ली नै मिळाई धूड़ मांय ।—नवलजी लाळस
कळाकंद–सं०पु०यौ० [फा०] खोये और मिश्री की बनी बरफी, एक मिठाई ।
कलाक–सं०पु० [अं० क्लॉक] १ समय का विभाग ।
सं०स्त्री०—२ घड़ी ।
कळातरौ–सं०पु०—१ मकड़ी. २ देखो 'कानरौ' ।
कलाद–सं०पु० [सं०] स्वर्णकार (डि.को.)
कळाधर–सं०पु० [सं० कलाधर] १ चंद्रमा. २ शिव. ३ कलावंत, कलाविद् ।
वि०—१ बलवान, शक्तिशाली. २ वंशज (मि. 'कळोधर')
कळाधारी–वि०—१ कलाविद्, कलावंत. २ शक्तिशाली (द.दा.) ३ वंशज ।
कळाधिप–सं०पु०—चंद्रमा । उ०—कळदार कळाधिप भेट किए, दिल सूं निज सीन प्रसाद दिए ।—ऊ.का.
कळानिध, कळानिधि, कळानिधी–सं०पु०—१ चंद्रमा (ह.नां.,अ.मा.) उ०—कित गयौ कळानिधि हिय कुमदणी हितकारी ।—ऊ.का.
२ कलाविद् ।
कलानूतमंडी–सं०पु०—मोर, मयूर (नां.मा.)
कळाप–सं०पु० [सं० कलाप] १ समूह, ढेर, झुंड (ह.नां., अ.मा.) २ मोर की पूंछ. ३ पयान. ४ मुट्ठा. ५ तीर, बाण. ६ कमरबंद, पेटी. ७ करधनी (डि.को.) ८ चंद्रमा. ९ भौंरा, भ्रमर (नां.मा.) १० वेद की शाखा. ११ अर्द्धचंद्राकार एक प्रकार का अस्त्र. १२ भूषण (डि.को.) १३ प्रपंच, प्रयत्न । उ०—हा हा दिये घरोघर हेला, पुरजण हिये प्रळापा । जिये जकै नहि जिये जांण जग, किये अनेक कळाप ।—ऊ.का. १४ विलाप । उ०—अवही मेली हेकली, करही करइ कळाप । कहियउ लोयां सांमि-कउ, सुंदरि लहां सराप ।—ढो.मा. १५ तर्कश, तूणीर (अनेका.)
कलापक–सं०पु०—हाथी की गर्दन पर महावत के पैर रखने का रस्सा । (डि.को.)
कळापाती–वि०—उत्पाती, नटखट. २ चंचल ।
कळापी–सं०पु० [सं० कलापिन्] मोर, मयूर (नां.मा., अ.मा.)
कलाबतू–सं०पु० [तु० कलाबतून] एक प्रकार का तार जो सोने चांदी आदि से मढ़ कर रेशम पर चढ़ा कर बटा जाय । उ०—लाहौर री पिसौरी घरां बनात मुखमल री लपेटी थकी, घरां कळाबतू सूं गुंथी थकी पैंहरजै छै ।—रा.सा.सं.
कळाबाज–वि०—कला करने वाला, नट ।
कळाबाजी–सं०स्त्री०—नट-क्रिया, खेल कला ।
कलाबातू—देखो 'कलाबतू' (रू.भे.)
कलाबौ–सं०पु०—१ कपाट के ऊपर की चूल फँसाने का गड्ढ़ा. २ देखो 'कुलाबौ' ।
कलायखंज–सं०पु०—एक प्रकार का वात रोग जिसमें रोगी के संधि-स्थानों की नसें ढीली पड़ जाती हैं (अमरत)
कळाय, कळायण, कळायर—देखो 'कळाइण' (रू.भे.)
उ०—१ बत्तीस आखड़ी रौ निवाहणहार. वैरियां विभाड़णहार, परभोमपंचायण, घणदियण, ज्सलियण, कळाय रौ मोर मूंछै भीनै गात ।—रा.सा.सं. उ०—२ आज कळायण ऊमटी, छोडै खूब हलूम, सौ सौ कोसां वरससी, करसी काळ विधूंम ।—बादळी.
कळायस–सं०पु० [सं० कालायस] देखो 'काळायस' (रू.भे.)
कलार–सं०स्त्री०—घास का संग्रह करने के उद्देश्य से किया गया लंबोतरा ऊँचा ढेर जिससे प्रायः कांटों या खपच्चियों आदि से ढँक दिया जाता है. २ देखो 'कलाळ' (रू.भे.) उ०—रंगकार तेलार विनु, विनु कलार दरवेस । सारबंध 'लावे' असुर, पुर नहि करत प्रवेस ।—ला.रा. ३ एक प्रकार का वृक्ष विशेष (क.कु.बो.) ४ एक प्रकार का पुष्प (अ.मा.)
कलारी–सं०स्त्री०—जमीन को खोद कर समतल बनाने का एक उप-करण । देखो 'कराळी' (रू.भे.)
कलाळ–सं०पु०—१ एक जाति जो हिन्दुओं व मुसलमानों दोनों में पाई जाती है । इसके व्यक्ति प्रायः शराब बेचने का व्यवसाय करते हैं । २ इस जाति का व्यक्ति (डि.को.)
कलाळी–सं०स्त्री०—१ कलाल जाति की स्त्री ।
कहा०—कलाळी रै घरै दूध पीवै तोई कैवे के दारू पीवै—नीच व्यक्ति की संगत से प्रायः भला व्यक्ति भी बुरा या नीच समझ लिया जाता है ।
[सं० कलवान] २ एक प्रकार का सुगंधित पौधा । यह उन स्थानों

७ स्त्री (श्री), ८ सुरूपा, ९ कपिला और १० हव्यकव्यवहा। १७ छंदशास्त्र में मात्रा (पिंगल) १८ मनुष्य के शरीर के सोलह आध्यात्मिक विभाग जो पांच ज्ञानेंद्रियाँ, पाँच कर्मेंद्रियाँ, पाँच प्राण और मन या बुद्धि से कहे जाते हैं. १९ तंत्र के अनुसार वर्ण या अक्षर. २० नटों की एक कसरत जिसमें वह सिर नीचे करके उलटता है.

(यौ० कळाबाजी)

२१ ढंग, युक्ति, करतब, चतुराई। उ०—चुप मत साधै बादळी, कह दे सागण बात। म्हैं लखली तेरी **कळा**, सैण सिखाई घात।—बादळी

२२ किसी कार्य को उत्तम ढंग से करने का कौशल, हुनर, फन।

उ०—अमाप तठै वळ खाग 'अजन्न', कनौज घणी जु कळा जिम 'क्रन्न'।—रा.रू.

वि०वि०—पुरुषों के विविध वैभवपूर्ण प्रतिभा-वैचित्र्य के प्रकार जिनकी संख्या ७२ मानी जाती है—१ लेखन, २ पठन, ३ गणित, ४ गीत, ५ नृत (नृत्य), ६ वाद्य, ७ व्याकरण, ८ काव्य, ९ छंद, १० अलंकार, ११ नाटक, १२ साटक, १३ नखच्छेद्य, १४ पत्रच्छेद्य, १५ आयुधाभ्यास, १६ गजारोहण, १७ तुरगारोहण, १८ गजशिक्षा, १९ तुरगमशिक्षा, २० रत्नपरीक्षा, २१ पुरुस (पुरुष) लक्षण, २२ स्त्री लक्षण, २३ पसु लक्षण (पशु लक्षण), २४ मंत्रवाद, २५ यंत्र-तंत्रवाद, २६ रसवाद, २७ विसवाद (विषवाद), २८ गंधवाद, २९ विद्यानुवाद, ३० युद्धवाद, ३१ नियुद्धवाद, ३२ तरकवाद (तर्कवाद), ३३ संस्क्रत (संस्कृत), ३४ प्राक्रत (प्राकृत), ३५ उत्तर कला, ३६ प्रत्युत्तर कला, ३७ देस-भासा, ३८ कपट, ३९ वित्तग्यांन (वित्तज्ञान), ४० विग्यान (विज्ञान), ४१ सिद्धांत, ४२ वेदांत, ४३ गारुड़, ४४ इन्द्रजाल, ४५ विनय, ४६ आचारिविद्या (आचार्य विद्या), ४७ आगम, ४८ दान, ४९ ध्यान, ५० पुराण, ५१ इतिहास, ५२ दरसन संस्कार (दर्शन संस्कार), ५३ खेचरी, ५४ अमरी, ५५ वाद, ५६ पातालसिद्धि, ५७ धूरत संवल (धूर्त शंबल) ५८ वृक्ष चिकित्सा, ५९ सरवकरणी (सर्वकरणी), ६० कास्ठघटन (काष्ठघटन), ६१ क्रतिम मणि करम (कृत्रिम मणि कर्म), ६२ वांणिज्य (वाणिज्य), ६३ वैस्य करम (वैश्य कर्म), ६४ चित्र करम (चित्र कर्म), ६५ पासांण करम (पषाण कर्म), ६६ नेपथ्य करम (नेपथ्य कर्म), ६७ धरम करम (धर्म कर्म), ६८ धातु करम (धातु कर्म), ६९ रसवती करम (रसवती कर्म), ७० हसित, ७१ प्रयोगोपाय, ७२ केवली विधि कला।

कामशास्त्र के अनुसार ६४ कलायें मानी गई हैं जो निम्नलिखित हैं। १ गीत, २ वाद्य, ३ नृत्य, ४ नाटय, ५ आलेख्य, ६ विसेसकच्छेद्य, ७ तंडुलकुसुमवलिविकार, ८ पुस्पास्तरण (पुष्पास्तरण), ९ दसनवसनांगराग (दशनवसनांगराग), १० मणिभूमिका करम (मणिभूमिका कर्म, ११ सयन रचना (शयन रचना), १२ उदक वाद्य, १३ उदक घात, १४ चित्रयोग, १५ माल्यग्रंथविकल्प, १६ केससेखरापीड़-योजन (केश-शेखरापीड-योजन), १७ नेपथ्य योग, १८ करण पत्र भंग (कर्ण पत्र भंग), १९ गंधयुक्त, २० भूसण भोजन (भूषण भोजन), २१ इंद्रजाल, २२ कौचुमार योग, २३ हस्तलाघव, २४ चित्र साकापूप भक्ष्य विकार क्रिया (चित्र शाकापूप भक्ष्य विकार क्रिया, २५ पांनकरसरागासव भोजन, २६ सूची करम (सूची कर्म), २७ सूत्र करम (सूत्र कर्म), २८ प्रहेलिका, २९ प्रतिमाला, ३० दुरवाचक योग (दुर्वाचक योग), ३१ पुस्तक वाचन, ३२ नाटिकाख्यायिका दरसण (नाटिकाख्यायिका दर्शन), ३३ काव्यसमस्यापूरति (काव्य-समस्यापूर्त्ति), ३४ पट्टिका-वेत्र-वाणविकल्प, ३५ तरक करम (तर्क कर्म), ३६ तक्षण, ३७ वास्तु, विद्या, ३८ रूप्यरत्नपरीक्षा, ३९ धातुवाद, ४० मणि राग ग्यांन (मणि राग ज्ञान), ४१ आकार ग्यांन (आकार ज्ञान), ४२ व्रक्षायुरवेद योग (वृक्षायुर्वेद योग), ४३ मेप-कुक्कुट-लावक-युद्धविद्या, ४४ सुक-सारिका-प्रळापण (शुक-सारिका-प्रलापन), ४५ उत्सादन, ४६ केसमारजन कौसळ (केसमार्जन कौशल) ४७ अक्षर मुस्टिका कथन (अक्षर मुष्टिका कथन), ४८ म्लेच्छित कला-विकल्प, ४९ देस भासा ग्यांन (देश भाषा ज्ञान), ५० पुस्प सकटिका निमित्त ग्यांन (पुष्प शकटिका निमित्त ज्ञान), ५१ यंत्र मात्रिका (यंत्र मातृका), ५२ धारण मात्रिका (धारण मातृका), ५३ संपाठ्य, ५४ मानसी काव्य-क्रिया, ५५ क्रियाविकल्प, ५६ छलितक योग, ५७ अभिधांन कोस छंदोग्यांन (अभिधान-कोष-छंदोज्ञान), ५८ वस्त्रगोपना, ५९ द्यूत विसेस (द्यूत विशेष), ६० आकरसण क्रीड़ा (आकर्षण क्रीड़ा), ६१ बाल क्रीड़ा करम (बाल क्रीड़ा कर्म), ६२ वैनायिकी विद्या-ग्यांन (वैनायिकी विद्या-ज्ञान), ६३ वैजयिकी विद्या-ग्यांन (वैजयिकी (विद्या-ज्ञान), ६४ वैतालिकी विद्या-ग्यांन (वैतालिकी विद्या-ज्ञान)।

यौ०—कळाकुसळ, कळावंत।

२३ बंदूक चलाने के प्रकार जो बारह माने गये हैं—१ पहले देख कर फिर 'माखी' मिला कर बंदूक का निशाना लगाना, २ दौड़ते हुए पर निशाना लगाना, ३ उछलते हुए पर निशाना लगाना, ४ रात्रि में निशाना लगाना. ५ तेज हवा में निशाना लगाना, ६ छिप कर लक्ष्यवेध करना, ७ शब्द पर निशाना लगाना, ८ नेत्र बंद कर निशाना लगाना, ९ दर्पण में देख कर निशाना लगाना, १० बंदूक को कंधे पर रख कर पीठ की ओर निशाना लगाना, ११ आकाश में फेंके हुए किसी पदार्थ को वापस भूमि पर गिरने से पहले निशाना लगाना, १२ दौड़ते हुए किसी ऐसे व्यक्ति पर निशाना लगाना जो स्वयं दौड़ रहा हो।

२४ कन्नी। उ०—जाई सहर के राजा री कुंवरी पंचकळी नै मिल्यौ, चंपै री कळा सूं तुलती।—चौबोली. २५ दीपक की बत्ती (मि० 'कळेधन') २६ दीपक (अ.मा.) २७ व्याज (डिं.को.)

कळाइण—सं०स्त्री०—काली मेघ की घटा। उ०—ऊपर बगला पावस बैठा छै सु किसाहेक सोहे छै, जांणै कळाइण कागोलइ नाचती आवै छै।—रा.सा.सं.

कळिम–सं०पु०—१ कलियुग. उ०—ससनेही सयणां तणां, कळिमां रहिया बोल ।—ढो.मा. २ पाप ।

कळमळणौ, कळमळबौ–क्रि०अ०—कंपायमान होना । उ०—कमठ पीठ कळमळिय यहग दळमळिय सुचर थिर ।—र.रू.

कळियंक—देखो 'कळीयंक' (रू.भे.)

कळियळ–सं०पु०—१ कलरव. २ क्रौंच पक्षियों का कलरव । उ०—तिणि दिन जाए प्राहुणउ, कळियळ कुरभड़ियांह ।—ढो.मा.

कळियसी–वि०—कलियुग का, कलियुग संबंधी, कलियुगी । (मि० कळीयसी—रू.भे.)

कलियांण–सं०पु० [सं० कल्याण] १ विष्णु (डि.को.) २ ईश्वर (डि.को.) ३ कल्याण, मोक्ष (डि.को.) [रा०] ४ एक घोड़ा विशेष । उ०—रायमहल दीयउ छइ कलियांण, भमर पलारांयी देव हइं ।—वी.दे. ५ एक राग विशेष. ६ जल, पानी ।

कळियार–सं०स्त्री० [सं० कलिचार] सेना (अ.मा.)

कळियुगि–सं०पु०—कलियुग । उ०—कळियुगि मांहि कांन्हा चहूआंण, तुं ते अलावदीन सुरतांण ।—कां दे.प्र.
वि०—कलियुग संबंधी, कलियुग का, कलियुगी ।

कळियोड़ौ–भू०का०कृ०—१ फँसा या धँसा हुआ. २ सराबोर । ३ नष्ट. ४ लुप्त । (स्त्री० कळियोड़ी)

कळियौ–सं०पु०—'कळसौ' का अल्पार्थ, छोटा जल-पात्र ।

कळिरव–सं०स्त्री० [सं० कलरव] कलरव, मधुरव । उ०—एक भरड बीजी कळिरव करइ, तीजी घरी पीवजे ठंडा नीर ।—वी.दे.

कळिराज–सं०पु०—कलियुग । उ०—संभ घोर अंधकार कळिराज छायो सत, जोर सत कियौ अवछत गवन जास ।
—उम्मेदसिंह सीसोदिया रौ गीत

कलिळ–सं०पु०—पाप (ह.नां.)

कळिहण–सं०पु० [सं० कलह] युद्ध, कलह । उ०—कर सत्र ग्रहे डसण खळ कळिहण, काढ़ी अणियाळी कुळ-भांण ।—हरिसूर बारहठ

कळिहारी–वि०स्त्री० [सं० कलह+रा०प्र० हारी] कलहप्रिय, झगड़ालू । उ०—लूखो भोजन भू सुवण, घर कळिहारी नार । चौथा फाटचा कापड़ा, नरक निसांणी च्यार ।—अज्ञात

कळी–सं०स्त्री० [सं० कलिका] १ बिना खिला हुआ पुष्प, कलिका ।
उ०—१ कळी कळी कुसमां कडावै, वांण पाय कळी ।—अज्ञात
उ०—२ संग सखी सीळ कुळ वेस समांणी, पेखि कळी पदमणी परि ।—वेलि.
[सं० कलिता] २ पत्थर का फूंका हुआ भाग जो प्रायः दीवारें आदि पोतने के काम आता है । उ०—महि मंडळ भीतड़ा क्रीत सूं मीड़तां । कळी पालट हुवै जाहि केता ।—अज्ञात. ३ नाइयों का नाक के बाल उखाड़ने का एक उपकरण. ४ छवि, शोभा. ५ वृक्ष (अ.मा.) ६ गप्प । उ०—टावर भाठौ नीर होवै, कर कलोळ मेलै कळी । लंघेड़ा थारी माटी सूं, राजी दुनियां दूवळी ।—दसदेव. ७ मिट्टी का बना बड़ा पात्र जो प्रायः गाड़ी पर लाद कर पानी लाने के काम आता है. ८ बीज. ९ बाल, केश. १० छंद में टगण का एक भेद ऽऽ।। (डि.को.) ११ शिव. १२ युद्ध. १३ स्त्रियों के लहंगे का एक पाट या हिस्सा. उ०—चंपा चंपेली की चतुर, सोहै माळी साथ । केसर लंहगां की कळ्यां, हिलू छैल के हाथ ।—अज्ञात
कहा०—जीजी नाचै, हूं ई नाचूं; जीजी रै तौ साढ़ा तीन सौ कळी रौ गागरो नै थारै भूआजी भुरराट करै—अपनी अवस्था भूल कर सामर्थ्य से बाहर दूसरे की नकल करने का प्रयत्न करना ।
१४ कीर्ति. १५ प्रकाश. १६ छंद शास्त्र में माया का नाम. १७ कला. १८ जस्त या रांगे का बना हुक्का ।
वि०—१ अनर्थ करने वाला. २ अद्भुत कार्य करने वाला. ३ काम-क्रोधादि-विकारग्रस्त. ४ काला, श्याम. ५ समान, सदृश. उ०—मुरधरी माला कुरळावै कुरजां कळी ।—उदयराज उज्ज्वल
क्रि०वि०—तरह, प्रकार, भांति । उ०—काळ अगन व्रत कळी पिंड इक दिन पीघळसी ।—ऊ.का.

कली–सं०स्त्री०—१ चमक-दमक. २ वह लेप जो चमकाने या रंग चढ़ाने के लिये किसी वस्तु पर चढ़ाया जाय, कलई, जैसे—बर्तनों पर कली, काच पर कली ।

कळीकोठार–सं०पु० [सं० कलिता+कोष्ठागार] वह सरकारी महकमा जिसमें मकानों की मरम्मत व सफेदी का जमाखर्च रहता था ।

कळीजणौ, कळीजबौ–क्रि०भाव वा०—१ दलदल या कीचड़ में फँसा या सराबोर हुआ जाना. २ भीगे हुए द्विदलों का पीसा जाना. ३ नष्ट होना, नाश होना, लुप्त होना । उ०—जस देसंतर आवही, रूपंतर वळवंत । काळंतर न कळीजणी, जेहा तूं जांणंत ।—बां.दा.

कळीजणहार, हारौ (हारी), कळीजणियौ—वि० ।

कळिजिओड़ौ, कळिजियोड़ौ, कळिज्योड़ौ–भू०का०कृ०—देखो 'कळणौ' ।

कळीट–वि०—काला-कलूटा ।

कळीदार–वि०—१ जिसमें कळी हो । देखो 'कळी' २ (स्त्रियों का वह लहँगा) जो पाट या हिस्सेवार काट कर सिलाई किया गया हो ।

कलीदार–वि०—जिसमें कलई की हुई हो ।

कळीयंक–सं०पु० [सं० कलंक] दोष, कलंक । उ०—कोप करै कीधा अर करा कग, 'नींबा' हरा निकळंक नरेस । कळीयंक सबद न लागो कोई । अमुरे नूरे कियौ आदेस ।—दुरगादास राठौड़ रौ गीत

कळीयसी—देखो 'कळियसी' (रू.भे.) । उ०—कवी प्रभाव कल्पना, कुजल्पना कळीयसी । अनिच्छ जीव अद्यते हरीच्छ सो वळीयसी ।
—ऊ.का.

कलीळ–सं०पु० [सं० कलिल] पाप (ह.नां.)

कलीलिया–सं०स्त्री०—१ पंवार वंश की एक शाखा ।

कलीव–सं०नपु० [सं० क्लीव] नपुंसक, हिजड़ा (अनेका.)

कळूंदौ—देखो 'कळोंदरौ' ।

कळुग्रार–सं०पु०—कलियुग । उ०—ओदय कळुग्रार जळनानत भरियौ जवरा ।—अज्ञात

पर होता है जहां वर्षा में गड्ढों में पानी भर जाता है (रा.सा.सं.) ३ एक मारवाड़ी लोकगीत । यह प्रायः दामाद के आने पर गाया जाता है। ४ शराव, मद्य (रा.सा.सं.)

कळालीक–सं०पु०—भ्रमर, भौंरा (अ.मा.)

कळावंत–सं०पु० [सं० कलावान] १ कलाकार. २ संगीतज्ञ, गवैया. ३ कलावाज, नट।
वि०—कलाओं का ज्ञाता।

कलाव–सं०पु० [सं० कलापक, प्रा० कलावअ] १ हाथी की गरदन। उ०—वीर महावत वंदि, पीर पैगंबर पावां। ऊचकि वंदर एम, कूद वैठिया कलावां।—मे म.। २ मोर का पंख फैलाना। उ०—सुरंगा मोरां किया कलाव, सायघण हिवड़ौ घूमर खाय।—सांभ

कळाव, कळावण–सं०स्त्री०—वह रेतीली भूमि जहां कोई पैर रखते ही अंदर वंसने लगता हो, दलदल।

कलावत–सं०पु०—१ देखो 'कलावंत'. २ देवडा वंश के क्षत्रियों की एक शाखा का व्यक्ति (वां दा. ख्यात)

कळावांन–वि० [सं० कलावान्] १ देखो 'कलावंत'. २ शक्तिशाली, समर्थ। उ०—विध करणी धिनधिन कळावांन।
—करणीरूपक

कलावौ—देखो 'कलाव'। उ०—सिंह रौ वार होतां ही इणरा कुंभी रै कलावै चामुंडराज रौ चंद्रहास झड़ियौ।—वं.भा.

कळास–वि०—समान, तुल्य।
सं०पु० [सं० कलास] कछुआ (अ.मा.)

कळासणौ, कळासबौ–क्रि०अ०स०—१ कुश्ती लड़ना, मल्लयुद्ध करना. २ मारना, संहार करना। उ०—पातल हरा निमौ पुरसातन, कळदळ सवळ कळासै।—नरसिंह ग्रासियौ

कळाहीण–वि०—१ निर्वल, अशक्त. २ कलारहित।

कलिंग–सं०पु०—१ पुरुषों के सिर का आभूषण विशेष, कलंगी। उ०—कंवरजी री कलिंग एक नजर कीवी।—पलक दरियाव री वात २ एक प्रदेश का नाम. ३ एक पक्षी विशेष. ४ भ्रमर. ५ हिंदवानी नामक फल. ६ तरवूज।

कलिंगड़ा–सं०पु०—एक राग विशेष (संगीत)

कलिंद–सं०पु० [सं०] सूर्य। उ०—सांपड़ि खीरसमंद, दुरंग संवारिया। धारा फेण कलिंद, तनूंजा धारिया।—वां.दा.
(यौ० कलिंद-तनूजा) २ वह पहाड़ जहां से यमुना नदी निकलती है।

कलिंदा–सं०स्त्री० [सं० कलिंद+जा] यमुना नदी।
वि० [रा०] शीतल* (डि.को.)

कळि–क्रि०वि०—१ लियें. २ भांति, तरह।
सं०पु० [सं० कला] १ छंदशास्त्र के अनुसार मात्रा का नाम. २ कला (पिं.प्र.) ३ कलह, युद्ध, लड़ाई (अ.मा.)। उ०—कळि टोडौ चाळुक वस कीधौ, लल्ला जवन मारि जिण लीधौ।—वं.भा. ४ कलियुग। उ०—रावां रावत धीरपौ, नाही भाजै जाव। करस्यूं साकौ एकलौ, राखूं कळि में नांव।—डाढ़ाळा सूर री वात ५ क्लेश, दुःख. ६ शिव. ७ पाप. ८ योद्धा, सूरमा (ह.नां.) ९ देखो 'कळी' (रू.भे.) १० टगण की छः मात्राओं के नवें भेद का नाम ऽऽ।। (डि.को.) ११ वहेड़ा का वृक्ष (अ.मा.)
वि०—काला, श्याम* (डि.को.)

कळिअळ–सं०पु०—१ करुण रव. २ मधुर ध्वनि। उ०—कुंझड़ियां कळिअळ कियउ, सुणी ज पंखइ वाइ। ज्यांकी जोड़ी वीछड़ी, त्यां निसि नींद न आइ।—ढो.मा.

कळिकछ–सं०पु०—एक प्रकार का घोड़ा जिसका मुख तथा चारों पैर श्वेत तथा अन्य शरीर काले रंग का होता है (शा.हो.)

कळिकरणोत–सं०पु०—भाटी वंश की एक शाखा या इस शाखा का व्यक्ति।

कळिका–सं०स्त्री०—१ एक वर्णिक छंद जिसके प्रत्येक चरण में ८ लघु वर्ण और अंत में एक गुरु कुल नौ वर्ण होते हैं (पिं.प्र.) २ कली।

कळिकारक–सं०पु०—नारद मुनि (डि.को.)
वि०—कलहप्रिय।

कळिचाळ, कळिचाळौ–वि०—योद्धा, वहादुर, वीर। उ०—वांकिम वीद मेड़ता वाळा, चक्रवति जतनि चढे कळिचाळा।—रा.रू.
सं०पु०—युद्ध।

कळिजुग—देखो 'कळजुग'। उ०—कळिजुग पाप ज अवतरयौ, राजि के कारण विणसस लंक।—वी.दे.

कळिजुगि, कळिजुगी–सं०पु०—कलियुग। देखो 'कळजुग'। उ०—असतां भड़ां तखत इम आवै, कळिजुगि अमर न हूवौ कोइ।—अजात
वि०—कलियुग का, कलियुग संवंधी।

कळिज्जणौ, कळिज्जवौ–क्रि०स०—पहिचानना। उ०—दीसइ विवहचरीयं, जांणिज्जइ सयण दुज्जण सहावौ। अप्पांण च कळिज्जइ, हुंडिज्जइ तेण पुहवीए।—ढो.मा.

कळित–वि० [सं० कलित] १ सुंदर, मनोहर, विकसित।
[सं० कलत्र] २ स्त्री। उ०—पूत कळित परवार में, सकळ रहे उळझाय। सूवारथ का सब कौ सगा, अंति अकेला जाय।—ह.पु.वा. ३ कटि, कमर (अ.मा.)

कळित-कंठ–सं०पु० [सं० कलितकंठ] चातक (अ.मा.)

कळित्र–सं०स्त्री० [सं० कलत्र] १ पत्नी. २ स्त्री (ह.नां.) उ०—एकह पुत्र कळित्र मावात्र कटवाड़ संवंधा।—केसोदास गाडण. २ कटि, कमर (ह.नां.)

कळिपंत–सं०पु० [सं० कल्पांत] देखो 'कळपांत'। उ०—जांणै कळिपंत काळ रौ समद उलटीयौ छै।—रा.सा.सं.

कळिपतर–सं०पु० [सं० कल्पतरु] कल्पवृक्ष। उ०—ज्योति अति घरिघरि जागी, डळी नींनी अति अंव। केई ऊगा कळिपतर, अन निपिज्जै मै अंधि।—ग्या.च.

कळिद्रुम, कळिव्रख–सं०पु० [सं० कलिद्रुम, कलिवृक्ष] वेहड़ा (अ.मा.)

वि०—कल्पना किया हुआ।
कल्पी–वि० [सं०] १ कल्पना करने वाला. २ काव्यशास्त्र का रचयिता।
कल्मों—देखो 'कलमों' (रू.भे.) उ०—कल्मां नहि भरि है पांन कांन, मारेहु न व्है हैं मुसलमांन।—ऊ.का.
कल्यांण–सं०पु० [सं० कल्याण] १ मोक्ष। उ०—सबद बतावै हेकठा तव होय कल्यांण।—केसोदास गाडण २ एक प्रकार का छंद (ल.पिं.) ३ एक शुद्ध राग जो संपूर्ण जाति का होता है। यह श्री राग का सातवां पुत्र माना जाता है। उ०—भणंत स्त्री विनोदयं, कल्यांण केक मोदयं। खंभायची पटं गयं, बगेसरी विहंगयं।—रा.रू.
कल्यांण-कळस–सं०पु०यौ० [सं० कल्याणकलश] मांगलिक कलश (जैन)
कल्यांणकुंवर–सं०स्त्री०—पंवारवंशोत्पन्न एक देवी का नाम। (बां.दा. ख्यात)
कल्यांणी–सं०स्त्री० [सं० कल्याणी] सौभाग्यवती स्त्री, सधवा।
कल्यांणोत–सं०पु०—कछवाहा वंश की एक शाखा या व्यक्ति। (बां.दा. ख्यात)
कल्ल–सं०पु०—एक प्रकार का घास विशेष।
कल्लयांण–सं०पु० [सं० कल्याण] देखो 'कल्यांण'। उ०—पयपै ईसर जोड़ पांण, क्रपा हिव मूझ करो कल्लयांण।—ह.र.
कल्लर–सं०स्त्री०—१ एक प्रकार का छोटा कीड़ा जो शकरकंद की फसल, मिट्टी के बर्तन और मिट्टी के बने अन्य पदार्थों को खराब या नष्ट कर देता है २ खट्टा और पतला छाछ मिला एक प्रकार का पेय पदार्थ। उ०—माहव मूम मिळाव मत, ऐड़ा घरां हिमाव। के हल्लर फल्लर करै, पावै कल्लर राव।—बां.दा. ३ युद्ध में बजाया जाने वाला बाजा विशेष (वं.भा.) उ०—बंब ग्रहक्कै कल्लरै बर बंब बजाया; सहनाइन लग्गी ललक सिंधु सुणवाया।—वं.भा.
कल्लौ—देखो 'किलौ'।
कल्हण–सं०पु०—१ युद्ध (मि० 'कळहण' रू.भे.) २ संस्कृत का एक प्रसिद्ध प्राचीन पंडित।
कल्हार–सं०पु० १ पुष्प (ह.नां.) २ श्वेत कमल. ३ सुगंधित कमल।
कळहै–सं०पु० [सं० कलि] कलह, युद्ध (रू.भे.)
कल्होड़ौ–सं०पु०—छोटा बैल। उ०—डरिण परि बांदिवा आव्यां कुणही जौ तस्या वहिलई कल्होड़ा कुण ही पल्लांण्या आसण होड़ा।
—रा.मा.सं.
कवंद–सं०पु० [सं० कवींद्र] कविराज, श्रेष्ठ कवि (अ.मा.) उ०—सरब कवंद सिहाय, हौ अट्टार वरणा। रावळ राजा रज्जिया, अन राजा राणां।—लूणकरण कवियौ
कवंध—देखो 'कबंध'।
कव–सं०पु० [सं० कवि] १ देखो 'कवि' (अ.मा) २ बृहस्पति (अ.मा.) [सं०] ३ घोड़ा (अ.मा.)
कवक–सं०पु० [सं० कवल] १ ग्रास, निवाला. २ वादा, वचन। क्रि०वि०—१ कभी. २ कब. ३ कैसे।
कवच–सं०पु० [सं०] १ आवरण. २ छाल. ३ योद्धाओं के पहनने का लोहे की जाली का एक पहिनावा, जिरहवख्तर। उ०—इम कुंभ अंबारी कुच सु कंचुकी, कवच संभु कांम क कळह।—वेलि.
कवचदीप–सं०पु० [सं० क्रौंच-द्वीप] पुराणों के अनुसार पृथ्वी के सात बड़े खंडों में से एक, क्रौंच-द्वीप (रा.रू.)
कवजौ—देखो 'कबजौ' (रू.भे.)
कवडाळौ–वि० (स्त्री० कवडाळी) १ कपर्दिकाओं (कौड़ियों) से युक्त। उ०—ईंढी कवडाळी माथे पर ओढी, छैली अलकावळ मुखड़े पर छोडी।
—ऊ.का.
२ उमंगयुक्त (मि. 'कोडाळौ' रू.भे.)। उ०—सिर सेली वाळी हीर जड़ची, मुख कवडाळौ रतन जड़ची।—लो.गी.
सं०पु०—एक पक्षी विशेष।
कवडियौ–सं०पु०—कौडियों के आकार की छोटी-छोटी छितियों वाला सर्प विशेष।
कवडी–सं०स्त्री०—१ देखो 'कवड्डी' (रू.भे.) २ कौड़ी, कपर्दिका। उ०—प्रीतम-हूतौं बाहिरी, कवडी ही न लहांइ। जव देखूं घर आंगणाइ लाखे मोल लहांइ।—ढो.मा.
कवडौ, कवड्ड–सं०पु०—१ कपर्दिका के रंग का घोड़ा विशेष (शा हो.) २ कौड़ी, कपर्दिका। उ०—कसूमल छोळ भरै नड खड्ड, करद्दम आमिख हड्ड कवड्ड।—मे.म.
कवड्डी—देखो 'कवडी'। उ०—एकइ वन्न वसंतड़ा, ए वड अंतर काय। सिंघ कवड्डी ना लहै, गयवर लाख विकाय।
—अचळदास खीची री वचनिका
कवण–सर्व०—कौन, क्या, प्रश्नवाचक सर्वनाम जिसके द्वारा अभिप्रेत व्यक्ति या वस्तु पूछी जाती है। उ०—१ कवि पार तूझ ईसर कहै, काळीका जांणै कवण।—देवि. उ०—२ कर जोड़ एम ईसर कहै, कर पूजा जांणै कवण।—ह.र.
कवत–सं०पु० [सं० कवित्त] दंडक के अंतर्गत ३१ अक्षरों का एक वृत्त (छंदशास्त्र)। उ०—रिझाइ गावै नृप कवत कर, केइ गावै करतार
—पा प्र.
कवता–सं०स्त्री० [सं० कविता] कविता।
कवरजा–सं०पु० [सं० कविराजा] कविराजा, श्रेष्ठ कवि।
कवररस–सं०पु० [सं० कमल-रस] हंस (अ.मा.)
कवरागुर–सं०पु० [सं० कुमार+गुरु] १ प्रधान राजकुमार. २ राजकुमार का गुरु।
कवरांणी–सं०स्त्री०—राजकुमार की धर्मपत्नी।
कवरांपत, कवरांपति–सं०पु०—युवराज। उ०—यर दसूं दसा रा छोड भागै उतन, करै कुण समर फिरंगांण मांनै कथन। सहाबळ आज री असी घोळै सथंग, 'रतन' कवरांपति कढ़ण चवदै रतन।
—जवांनजी आढ़ौ
कवराय, कवराज, कवराजा–सं०पु० [सं० कवि+राट्] कविराजा, श्रेष्ठ

कळुख-सं०पु० [सं० कलुष] १ कलंक, दोष (डि.नां.मा.) २ पाप (ह.नां., अ.मा.) ३ मलिनता ।

कळुखी-वि०—१ पापी. २ दुष्ट ।

सं०पु०—कलियुग ।

कलुल-सं०पु०—पाप (ह.नां.)

कळुस-सं०पु० [सं० कलुष] १ देखो 'कळुख' (रू.भे., डि.को.) २ गदला पानी (डि.को.)

कळुंजी-सं०पु० [सं० कालाजाजी] प्रायः दक्षिण भारत में होने वाला एक पौधा विशेष जो मसाले के महीन काले दाने की कलियों का होता है । स्याहजीरा ।

कळुंबौ-सं०पु० [सं० कुटुम्ब] कुटुम्ब, कबीला (मि० 'कडूंबौ' रू.भे.)

कळू-सं०पु० [सं० कलि] १ कलियुग । उ०—झोले पवन कळू झपटांणौ, धन संचण अभळाख धरै । सुजस लेण आखेपन साझै, कांमातुर आखेप करै ।—अज्ञात २ बुरा समय ।

कळूकाळ-सं०पु० [सं० कलि+काल] कलियुग ।

कलूरौ-सं०पु—एक घास विशेष ।

कळूस—देखो 'कळुख' (ह.नां., रू.भे.)

कळेधन-सं०पु० [सं०कला+इन्धन] दीपक (अ.मा.)

कळेज, कळेजउ-सं०पु० [सं० कलेजा] देखो 'काळजौ' । उ०—काय उताळी कंकणी, जे मद पीवण जेज । कंत समप्पै हेकलौ, कटकां ढाहि कळेज ।—वी.स. उ०—२ कउआ दिऊं वधाइयां, प्रीतम मेळइ मुज्झ । काढ़ि कळेजउ आपणउ, भोजन दिऊंली तुज्झ ।—ढो.मा.

कळेजी-सं०स्त्री०—१ कलेजा. २ कलेजे का मांस जो विशेष स्वादिष्ट व सुपाच्य माना जाता है ।

कळजौ—देखो 'काळजौ' । उ०—भरि पावस सयणां पखै, उलहरियौ जसराज । जांणू छूं ले जाइसी, काढ़ि कळेजौ आज ।—जसराज

कलेवड़ौ-सं०पु०—कलेवे का अल्पार्थ । देखो 'कलेवौ' । उ०—लुळी लुगायां भेळा करै, आखे साल कलेवड़ौ । वाळक वीजां साथ खोड़ी खै, मुरधर रौ मेवड़ौ ।—दसदेव

कलेवर-सं०पु० [सं०] १ शरीर, देह (अ.मा.) । उ०—कमळ समांन कलेवर कोमळ, कठण वाट वन री भारी ।—गी.रां. २ आकृति, आकार ।

कलेवौ-सं०पु० [सं० कल्यवर्त, प्रा० कल्लवट्ट अथवा कल्यवाह] १ प्रातःकाल किया जाने वाला हल्का भोजन, जलपान, नाश्ता ।

क्रि०प्र०—करणौ, होणौ ।

२ यात्रा के लिये घर से चलते समय साथ में बांधा जाने वाला भोजन, पाथेय ।

कळेस-सं०पु० [सं० क्लेश] १ दुःख, वेदना । उ०—कजिया रौ मुंह काळौ, कजिया में नित नवौ कळेस ।—वां.दा. २ कलह, झगड़ा. ३ परिश्रम. (डि.को.)

कळै—देखो 'कळह' (रू.भे.)

कळैगारौ-वि०पु० (स्त्री० कळैगारी) [सं० कलहकार] कलहप्रिय, झगड़ालू ।

कलोंदरौ-सं०पु०—लोहे का एक उपकरण जो बैलगाड़ी के तख्ते के पीछे की ओर दोनों बाजू में नीचे लगा रहता है जिसके सहारे चक्र के बाहर की ओर धुरी के सहारे के लिये लगाई जाने वाली पैंजनी के सिरे को खींच कर बांधा जाता है ।

कलोड़ौ-सं०पु० [सं० कलोढ़] छोटा बैल (मि० 'किलोड़ौ', 'किल्होड़ौ' रू.भे.) उ०—कमळ झाड़ै पड़ै न चालै कलोड़ा, छांड भाजै भरै जीव छेला । 'अजा' रा पूजीया भांड कांधी अवै, वेगड़ा तांड तौ जिसी वेळा ।—हरनाथसिंह चांपावत री गीत

कळोधर-सं०पु०—१ कुल या वंश को धारण करने वाला, पुत्र (डि.को.) उ०—भालां तणौ पांणगी भारी, कुंभ कळोधर ज तैं कियौ । तण अपहार वेवलां तोड़े, गोरी सेन अचेत गियौ ।

—उडणा प्रथीराज री गीत

कलोरी—देखो 'कलवरी' (रू.भे.)

कलोळ-सं०पु० [सं० कल्लोल] आमोद-प्रमोद, क्रीड़ा, केलि । उ०—१ टावर भाठौ नीर ढोवै, कर कलोळ मेलै कळी ।—दसदेव उ०—२ अनेक भांत रा पसु पक्षी कलोळ करै छै ।

—डाढ़ाळा सूर री वात

कलोळिया-सं०स्त्री०—पँवार वंश की एक शाखा (वां.दा.ख्यात)

कळौंजी—देखो 'कळूंजी' (रू.भे., अमरत)

कलौ-सं०पु०—१ हाथों के सोने या चांदी के गहने बनाने का एक औजार विशेष. २ फेफड़ा (डि.को.) ३ युद्ध (रू.भे. 'कळह')

कल्ड-सं०स्त्री—एक प्रकार की उत्तम घास जिसे घोड़े बड़े चाव से खाते है ।

कल्ड़ू-सं०पु०—१ रहंट की माल के सिरों को गूंथने के लिये काम में लाया जाने वाला लकड़ी का गुटका २ देखो 'करड़ू'

कल्पंत—देखो 'कळपांत' । उ०—किता तैं वार विखै कल्पंत । वांधी ले संग प्रथी वळवंत ।—ह.र.

कल्प-सं०पु० [सं०] १ वेद का एक अंग जिसमें यज्ञादि करने का विधान है. २ वैद्यक के अनुसार रोग निवृत्ति की एक युक्ति. ३ एक प्रकार का नृत्य. ४ समय का एक विभाग । इसे ब्रह्मा के एक दिन के बराबर माना जाता है जो १४ मन्वंतर या ४३२०००००० वर्ष का होता है ।

कल्पणौ, कल्पवौ—देखो 'कळपणौ' (रू.भे.) उ०—हरि सुख छांडि साहि सुख कोड़ी, कल्पत गया किता सिर कूटि ।—ह.पु.वा.

कल्पत-सं०पु०—१ द्वेष, वैर । उ०—खून कियां जांणै खलक, हाउ वैर जो होय । वणै सगाई वयण तौ, कल्पत रहै न कोय ।—र रू.

कल्पण, कल्पना-सं०स्त्री० [सं० कल्पना] १ रचना, वनावट, मनगढ़ंत वात. २ इंद्रियों के सामने अनुपस्थित वस्तुओं के स्वरुप को उपस्थित करने की एक शक्ति ।

कल्पांत-सं०पु० [सं०] देखो 'कळपांत ।

कल्पित-सं०पु०—दुष्ट हाथी (डि.को.)

कवि की कल्पना पहुँच जाती है। कवि की प्रशंसा के लिये।
२ वाल्मीकि (अ.मा.) ३ व्यासदेव. ४ सूर्य (डि.को.) ५ पंडित. ६ शुक्र, शुक्राचार्य (अ.मा.) ७ ब्रह्मा (रू.भे. 'कवि')

कविग्रण–सं०पु० [सं० कवि+जन] कवि, कविजन (रू.भे.)। उ०—ग्रणकळ विमळ कहै तवि कविग्रण, घरण सत व्रतंत दंत महंत घरण।—ल.पि.

कविईलोळ–सं०पु०—डिंगल का एक गीत (छंद) जिसके प्रत्येक पद में १६ मात्रायें तथा अंत में सगरण होता है। बाद के दो तुक प्रथम दो तुकान्त के उलट-पलट शब्द होते हैं।

कवित–सं०पु०—१ देखो 'कविता'. २ छप्पय छंद का नाम. ३ इकतीस अक्षरों का एक वृत्त। इसमें ८,८,८,७ के विराम से ३१ वर्ण होते हैं। अंत में गुरु होता है। इसे मनहरन भी कहते हैं।
कहा०—कवित सोवै भाट नै, खेती सोवै जाट नै—जो जिसका कार्य हो वह उसी को शोभा देता है।

कविता–सं०स्त्री०—मनोविकारों पर प्रभाव डालने वाला रमणीय वर्णन, काव्य-रचना की शक्ति।
कहा०—कविता तौ कूवं पड़ी, चूल्है पड़ी चतुराई। 'राघो' चेतन यूं कहै, कमाई जिकौ खाई—कविता व चातुर्य्य सब बेकार है, मनुष्य का पेट पैसा कमाने से भरता है। कविता पर व्यंग।

कविताई—देखो 'कविता'

कविति–सं०पु०—१ देखो 'कवित'
सं०स्त्री०—२ देखो 'कविता'

कवियण–सं०पु० [सं० कविजन] कवि, कविजन (रू.भे.)
उ०—पायौ किण धनवंत पद, दांमै डावड़ियांह। कवियण किण पायौ कुरब, मांगै मावड़ियांह।—वां.दा.

कविरजा, कविराज, कविराजा, कविराव–सं०पु० [सं० कवि+राट्] १ श्रेष्ठ कवि. २ राजा-महाराजाओं द्वारा चारण कवियों को दिया जाने वाला पद या उपाधि. ३ इस पद या उपाधि को पाने वाला कवि. ४ श्रेष्ठ वैद्य।

कविळास, कविळासि, कविळासी–सं०पु० [सं० कैलास] १ तिब्बत की सीमा में स्थित कैलाश पर्वत जो शिव का निवास-स्थान माना जाता है। उ०—१ माथै मुकट सोना तणौ, राजा इंद्र सभा मांहे कविळास।—वी.दे. उ०—२ कविळास सूं सिंघवाहणी चंडी सहित ईसर व्रिखभ चढ़ि आया।—वचनिका
२ कैलास पर्वत पर निवास करने वाला शिव. ३ कैलास पर्वत का स्वामी, कुबेर. (ह.नां.,नां.मा.)

कविळौ—देखो 'कवळौ' (रू.भे.)

कवींद, कवींद्र–सं०पु० [सं० कवींद्र] श्रेष्ठ कवि। उ०—नाहर तणौ अगंजी नूभै नर, करै न समजत दूजा कोय। काज सुधारण सदा कवींदां, हाटक रा आलंकृत होय।—नींबोळ सरूपसिंह रौ गीत

कवी—१ देखो 'कवि' (रू.भे.)
सं०स्त्री० [सं०] २ घोड़े की लगाम। उ०—धकेतो कवी अव्वतै अब्भ यावै, विसाखा सुची रिच्छका खाव नावै।—वं.भा.

कवीग्रण—देखो 'कविग्रण' (रू.भे.)

कवीट—देखो 'कटूंवर' (अमरत)

कवीयंद–सं०पु० [सं० कवींद्र] श्रेष्ठ कवि, कवींद्र। उ०—जिसा हाका मालम सोह जांणौं, तू राखै कवीयंदां तीख।
—नींबोळ सरूपसिंह रौ गीत

कवीयण, कवीयांण–सं०पु०—देखो 'कवियण' (रू.भे.)। उ०—पनंग तणौ दूर कर पासौ, कवीयण 'आसौ' एम कहै।—आसौ गाडण

कवीलौ–सं०पु०—१ रनिवास की स्त्रियां। उ०—पदमसिंघजी रा कवीला वसी घणाले कूंपावतां रै गया।—वां.दा.ख्यात
२ देखो 'कबीलौ' (रू.भे.)

कवीसर–सं०पु० [सं० कवीश्वर] कवीश्वर, कविराज।

कवू—देखो 'कऊ' (रू.भे.)

कवेरजा–सं०स्त्री०—दक्षिण की कावेरी नदी। उ०—कांठै नदी कवेरजा, खेमा खड़ा कियाह।—वां.दा.

कवेल–सं०पु० [सं०कैवल्य] श्रीकृष्ण (अ.मा.)

कवेळा–सं०स्त्री० [सं० कु+वेला] बुरा समय, कुसमय।

कवेलू–सं०पु०—खपरैल।

कवेळौ–सं०पु०—बुरा समय, कुसमय।

कवेस, कवेसर, कवेसुर–सं०पु० [सं० कवि+ईश, ईश्वर] कवींद्र, कविराज, श्रेष्ठ कवि (अ.मा.) उ०—पंगी काज कवेसां पमंगी करै पेस।
—अज्ञात

कवौ–सं०पु०—कौर, ग्रास, निवाला।
क्रि०प्र०—देणौ, लेणौ।
कहा०—मूंडै आयौ कवौ नहीं गमावणौ—मुंह तक आया हुआ कौर नहीं छोड़ना चाहिये। जो वस्तु मिलने को हो उसको छोड़ना उचित नहीं।

कव्यंद–सं०पु० [सं० कवीन्द्र] महाकवि, कवीन्द्र। उ०—वरवीरं छंद कहै यम कव्यंद।—र.ज.प्र.

कव्य–सं०पु०—वह अन्न जो पितरों के निमित्त दिया जावे।
उ०—द्विजन्म पाय हव्य कव्य हव्य वाट में दहे।—ऊ.का.

कव्वाल–सं०पु०—१ मुसलमानों में गाने-बजाने वाली एक जाति विशेष. २ कव्वाली गाने वाला।

कव्वाली–सं०स्त्री०—१ एक गीत जो प्रायः सूफियों की मजलिस में गाया जाता है. २ इस धुन में गाई जाने वाली कोई गजल। यह प्रायः समूह में गाई जाती है. ३ मुसलमान पीरों की स्मृति में गाये जाने वाले विशिष्ट पद्धति के सामूहिक गीत।

कस–सं०पु०—१ सार, निचोड़, तत्व। उ०—आखी ऊमर आंरौ कस आयौ, छळ बळ मुतळब वस कर छिटकायौ।—ऊ.का.
क्रि०प्र०—काढ़णौ, खींचणौ, लेणौ।

कवि (अ.मा.) उ०—कांम पड़ै कढ़ कोट, आग जद व्है अमरावां। कांम पड़ै कायवां, आग जद व्है कवरावां।—वि.सं.

कवल-संपु०—१ वादा, प्रतिज्ञा, कौल, इकरार। उ०—म्हे तौ लीयौ कवल कराय हो रघुनंदजी, अब देतां फाटे हीयौ हो रघुवरजी। —गी.रा.

२ कौर, ग्रास। उ०—नीला मौ पहली पड़ै, कीध उतावळ कांय। वाल्हा कवलां पाळियौ, पड़लौ मूझ पुगाय।—वी.स.

कवळ-संपु० [सं० कमल] १ कमल। उ०—मीरां के प्रभु गिरधर नागर, चरण ही कवळ रखाय।—मीरां २ सूअर (डिं.को.) (मि. कवळौ) ३ वराहावतार। उ०—आखा दखण सुमेळ उखेलै, ताखा लियां सांमध्रम तीख। धणी ज तूं फवियौ राखण धर, स्रीवर कवळ रदन सारीख।—किसनौ आढौ ४ सफेद रंग का सूअर।

कवळधात-संपु० [सं० कमलधाता] सूर्य्य (अ.मा.)

कवळापति-संपु० [सं० कमला+पति] विष्णु। उ०—ससिहर कै घरि सूर समावै उलटि, उलटि कवळ कवळांपति पावै।—ह.पु.वा.

कवलास-संपु० [सं० कैलास] कैलास पर्वत (रा.रा.)

कवलियौ-संपु०—सोने चाँदी के आभूषणों पर खुदाई करने का स्वर्णकारों का एक औजार विशेष।

कवळी-संस्त्री०—१ एक प्रकार की गाय। यह शुभ मानी जाती है (ह.नां.) उ०—कपळा कवळी ने वारै पुचकारै लाखर-नाखर ऐ आखर मन मारै।—ऊ.का. २ देखो 'कंवळौ'।

कवळौ-संपु० १ देखो 'कंवळौ' २ बैल। [सं० कोल] ३ सूअर। उ०—इण कवळै (वाराह) तूंड रै जोर हाथी पाड़िया, फेट दे घोड़ा सवार पाड़िया, डाढ़ां (दातड़ी) सूं सूरवीरां नै ओझाड़िया, झटकौ दे हेटा न्हांकिया।—वी.स.टी. ४ वीर, योद्धा, सूर। उ०—मांटीपणौ तुहाळौ 'माना', रहियौ घणूं घणा दिन रोस। कोस हेक मरवा जावै कुण, कवळौ गयौ हजारां कोस।—दुरसौ आढ़ौ

वि०—देखो 'कंवळौ'।

क्रिवि०—पास, निकट।

कवल्सी-संपु० [सं० कैलास] कुबेर (ह नां.)

कवसळ-संस्त्री० [सं० कौशल्या] कौशल्या (रू.भे.)

कवसळेंद-संपु० [सं० कौशलेंद्र] श्री रामचन्द्र (र.ज.प्र.)

कवसल्या-संस्त्री० [सं० कौशल्या] दशरथ की पटरानी जो श्री रामचंद्र की माता थी (र.रू.)

कवांण, कवांन-संपु० [फा. कमान] १ धनुष। उ०—सुणतांई जोधारपुर चोगड़द तूटे, कवांण के चल्ले तें सायक से छूटे।—र.रू.

२ एक प्रकार का फैलने वाला कांटेदार पौधा (अमरत)

कवांरपाठौ-संपु०—एक प्रकार का क्षुप जो खारी रेतीली भूमि व नदी के किनारे पर अधिक होता है, घी-कुंवार

कवाड़-संपु० [सं०कपाट] कपाट (डिं.को.)

कवाड़पण, कवाड़पणौ-संपु०—रक्षकपन, रक्षा करने का भाव। उ०—अर आपरी आऊरे वळ ऊबरिया अंग नूं कवाड़पणा में गाढ़ौ करण कलंक रूप कांटा में जड़ियौ।—वं.भा.

कवाड़ियौ-संपु० [सं० कुठार] १ छोटी कुल्हाड़ी (अल्पा.)

कहा०—१ इण कवाड़िया माथै ओई डांडौ—बुरे स्वभाव वाले समान व्यक्तियों के मिलने पर।

२ कीं तौ कवाड़ियौ भोंटो अर कीं थव चीकणौ—कुछ तो कुल्हाड़ा ही भोंटा है और कुछ कटने वाली लकड़ी भी चिकनी है अतः कट नहीं सकती। थोड़ी बहुत कमी दोनों ओर होने पर कही जाने वाली कहावत। ३ पग में कवाड़ियौ क्यों बावणौ—अपने हाथों अपनी हानि करना अच्छा नहीं।

२ छोटा कपाट (अल्पा०)

कवाड़ी-संस्त्री०—१ छोटी कुल्हाड़ी (अल्पा.) २ छोटा कपाट. ३ आडी व खड़ी लकड़ियों को जोड़ कर बनायी गयी रोक।

कवाड़ौ-संपु०—कुल्हाड़ी।

कवाज-संस्त्री [अ० कवायद] १ सेना का युद्धाभ्यास, लड़ने वाले सिपाहियों की युद्ध नियमों के अभ्यास की क्रिया, कवायद. २ नियम, कायदा।

कवाद-संपु०—१ देखो 'कवाज' (रू.भे.) बंकौ भारायां पाराध गाथ असत्रां जुगाद वेता, ससत्रां कवाद जेता धारियां सधीर।—क.कु.बो. [सं० कवि] २ कवि.

[रा०] ३ सींग के टुकड़ों का बना धनुष या कमान। उ०—उस विरयां मुलतांन खां मूंछां कर थल्लै। ऐंचि कवादे टंक तोलि जन्नू कहि बुल्लै।—ला.रा.

कवादु, कवादू-वि०—जिसे कवायद का अभ्यास हो। उ०—संथा वीर विद्या कवादू ससत्रां आभ लागा सूर। जवां दूजमयी जोम अथागा जरूर। —दादूपंथीया रौ गीत

कवार-संपु० [सं० कुमार] १ कुमार। उ०—रिम वीर सहायत कौ रण रौ, अत दीह कवार लिछम्मण रौ।—पा.प्र.

[सं० कुंभकार] २ कुम्हार, कुंभकार।

कवारपाठौ-संपु०—घी-कुंआर (अमरत)

कवारी-घड़ा—देखो 'कंवारी-घड़ा' (रू.भे.)

कवारौ-विपु० [सं० कुमार (स्त्री० कवारी) अविवाहित। (रू.भे. 'कंवारौ')

कविंद-संपु० [सं० कवि+इंद्र] काव्यकार, श्रेष्ठ कवि (पि.प्र.)

कवि-संपु० [सं०] १ काव्यकार, कविता बनाने वाला।

कहा०—१ कवि, चतारौ, पारधी, नृप, वेस्या अर भट्ट यां से कपट न कीजिये, यांरा रच्या कपट्ट—कवि, चित्रकार, शिकारी, राजा, वेश्या और कथाभट्ट इनसे कभी कपट नहीं करना चाहिए, क्योंकि ये स्वयं इतने कपटी होते हैं कि मानो कपट ही इनका रचा हुआ हो। २ जठै न पोंछै रवि उठै पोंछै कवि—जहां सूर्य भी नहीं पहुँचता वहां

कसाणौ, कसावौ, कसावणौ, कसाववौ—स०रू० ।

कसिग्रोड़ौ, कसियोड़ौ, कस्योड़ौ—भू०का०कृ० ।

कसीजणौ, कसीजबौ—कर्म वा० भाव वा० ।

कसतूरियौ–वि०—१ कस्तूरी का, कस्तूरी संबंधी. २ कस्तूरा के रंग का ।

सं०पु०—कस्तूरी के रंग से मिलता-जुलता एक प्रकार का घोड़ा । —शा हो.

कसतूरियोम्रग, कसतूरियोम्रघ–सं०पु० [सं० कस्तूरीमृग] वह मृग जिसकी नाभि में कस्तूरी निकले ।

कस्तूरी–सं०स्त्री० [सं० कस्तूरी] एक प्रसिद्ध सुगंधित द्रव्य जो एक विशेष प्रकार के मृग की नाभि से निकलता है । मृगमद ।

कसन–सं०पु० [सं० कृष्ण] १ श्रीकृष्ण (डि.को.) २ विष्णु (डि.को.) वि०—श्याम, काला* ।

कसनाग, कसनागर, कसनागरौ–सं०पु०—अफीम (डि.को)

कसनावास–सं०पु० [सं० कृष्ण+वास] पीपल का पेड़ (डि.को.)

कसप–सं०पु० [सं०कश्यप] एक वैदिककालीन ऋषि जो महर्षि मरीचि के पुत्र और सृष्टि के पिता थे । दिति और अदिति इनकी स्त्रियां थीं । उ०—सुरपत रै अजन कसप रै सूरज, तमहर रै क्रन ऊंची तांण ।—मेवराज आढ़ौ

कसपतन–सं०पु०यौ० [सं० कश्यप+तनु] गरुड़ (ना.डि.को.)

कसपरजवाळी–सं०स्त्री०—भूमि, पृथ्वी (डि.को.)

कसब–सं०पु०—पेशा, धंधा. २ व्यभिचार से पैसा कमाने का कार्य. ३ वेश्यावृत्ति ।

कसबन–सं०स्त्री०—वेश्यावृत्ति करने वाली स्त्री ।

कसबी–सं०स्त्री०—ऊँट पर चारजामा कसने के लिये पट्टा या मोटा फीता । उ०—ढोलउ करहउ सज कियउ, कसबी घात पलांण । सोवन-वांनी घूघरा, चालणरइ परियांण ।—ढो.मा.

कसबोई, कसबोय, कसबोह–सं०स्त्री० [फा० खुशबू] सुगंध (डि को.) उ०—झुक-झुक गोडी लार झमक रमझोळ की, पटा छूट कसबोह भमर भणंकै परां ।—महादांन महडू

कसबौ–सं०पु० [अ० कसबा] १ बड़ा गांव, कस्बा । उ०—कसबा नोल-गड कै तौ जमीं की सांकड़ाई, मत्रअर्थसिंघजी का कैर कांकड़ की अड़ाई ।—शि.वं.

२ एक प्रकार का सरकारी लगान. ३ देखो 'कसबोय' (रू.भे.)

कसम–सं०पु० [अ०] १ शपथ, सौगंध ।

क्रि०प्र०—काढ़णी, खाणी, घालणी, देणी, लेणी ।

[अ० खसम] २ शौहर, पति ।

कसमल–सं०पु० [सं० कश्मल] पाप (ह.नां.)

कसमलप्रिय–सं०पु०यौ० [सं० कुसुम+प्रिय] भौंरा (ह.नां.,अ.मा.)

कसमसणौ, कसमसबौ–क्रि०अ०—१ हिचकिचाना. कसमसाहट करना, कुलबुलाहट करना । उ०—सेल घमोड़ा किम सह्या, किम सहिया गजदंत । कठिण पयोहर लागतां, कसमसतौ तू कंत ।—हा.झा.

२ किसी कार्य को करने में असमर्थता प्रकट करना. ३ उत्कंठित होना. ४ बेचैन होना, घबराना ५ दबना. ६ कंपायमान होना, कांपना ।

कसमसणहार, हारौ (हारी) कसमसणियौ—वि० ।

कसमसाणौ, कसमसावौ—स०रू० ।

कसमसिग्रोड़ौ, कसमसियोड़ौ, कसमस्योड़ौ—भू०का०कृ० ।

कसमसाट–स०पु०—१ हिचकिचाहट. २ कसमसाहट ।

कसमस्सणौ, कसमस्सबौ—१ देखो 'कसमसणौ' (रू.भे.)

उ०—कसमस्से कौ रंभ सेस नागिंद्र सलस्सलि । सात समंद गिर आठ, तांम धर मेरु टळट्टळि ।—वचनिका

कसमार–स०पु०—किसी बंधन के दो सिरों को मिला कर बांधने या कसने की अंकुसी, बकसुआ (मि० 'बक्कल' अं०)

कसमीर–सं०पु०— भारत के उत्तर में स्थित एक प्रदेश, काश्मीर ।

कसमीरज–सं०स्त्री० [स० काश्मीरज] काश्मीर में उत्पन्न होने वाली केसर (ह.नां.,अ.मा.)

कसमीरसी–सं०स्त्री०—सरस्वती, शारदा (अ.मा.)

कसमीरी–सं०स्त्री०—सरस्वती (अ.मा.)

वि०—काश्मीर का, काश्मीर संबंधी ।

कसमेरि, कसमेरिय, कसमेरी–वि०—काश्मीर का, काश्मीर संबंधी ।

कसर–सं०स्त्री० [अ०] १ कमी, न्यूनता । उ०—कसरां करता में राई नह काई, कसरां करमां में भुगतां रे भाई ।—ऊ.का.

क्रि०प्र०—आणी, करणी, घालणी, पड़णी, राखणी, रैणी, होणी ।

मुहा०—कसर काढ़णी, कसर निकाळणी—कमी को पूरी करना ।

कहा०—सींग री कसर पूंछ में निकळणी—एक की कमी दूसरे से पूरी होने पर ।

२ वैर, द्वेष ।

क्रि०प्र०—राखणी, होणी ।

मुहा०—१ कसर काढणी, कसर निकाळणी—बदला लेना. २ कसर पड़णी—मनमुटाव होना ।

३ हानि, घाटा ।

क्रि०प्र० —करणी, होणी ।

४ नुक्स, दोष ।

क्रि०प्र०—करणी, होणी ।

कसरत–सं०पु० [अ०] शरीर को बलवान बनाने के लिए दण्ड-बैठक आदि परिश्रम के कार्य, व्यायाम ।

वि०—अधिकता, ज्यादती ।

कसरायत–सं०स्त्री० [अ० कसर] १ कसर ।

सं०पु०—२ एक प्रकार का सरकारी कर ।

वि०—किसी प्रकार की कमी न रखने वाला ।

कसरियौ–सं०पु०—लकड़ी की चौड़ाई, ऊँचाई या समतल देखने का एक औजार (बढ़ई)

२ किसी आर्द्र पदार्थ को पीस कर निकाला हुआ सार।
क्रि०प्र०—काढ़णौ, खींचणौ।
३ एक सुगंधित तृण विशेष, खस (रू.भे., डिं.को.) ४ प्रायः प्रातः-काल या सायंकाल होने वाले छोटे छोटे छितराये हुए बादल-खंड। उ०—हुवौ थिर समदर आभौ जांण। कसां में घुळै कसुंवल रंग। —सांझ
५ शक्ति, ताकत। उ०—जैमल घणौ 'कस मांहे कहै 'मसालां' घणी करौ, मसालां हाथियां ऊपर झालनै चडौ।—नैणसी
[सं० कसा] ६ चाबुक, कोडा।
सं०स्त्री० [सं० कषः] ७ कसौटी. ८ कंचुकी बांधने की डोरी। उ०—बीजुळियां चहळावहळि, आभय आभय कोडि। कद रे मिळऊंली सज्जनां, कस कंचूकी छोडि।—ढो.मा.
वि०—थोड़ा, कम।

कसक—सं०पु०—१ कासीस नामक धातु (डिं को.) २ दर्द।

कसकणौ, कसकबौ—क्रि०अ०—१ कसकना, दर्द करना। उ०—जग 'राजड़' अलंग सूं जडियौ पंजर, कसकै पंजर पसार। हाथ न लागो जठै हाड़की, साज इलाज नहीं संसार।—महारांणा राजसिंह री गीत
२ भागना. ३ खसकना ४ लचकना। उ०—वेतरफ भड़ वेढिग रा जूटा हुंगांमी जंग रा, धसमसक धरणी कसकै कूरम, ससक नासा सेस।—र.रू.
कसकणहार, हारौ (हारी), कसकणियौ—वि०।
कसकाणौ कसकावौ—स०रू०।
कसकिओड़ौ, कसकियोड़ौ, कसक्योड़ौ—भू०का०कृ०।

कसकत—सं०पु०—कसक, पीड़ा, चुभन।

कसकाणौ, कसकावौ—क्रि०स० ('कसकणौ' का स.रू.) १ कसकाना. २ भगाना. ३ खसकाना. ४ लचकाना।
कसकाणहार, हारौ (हारी), कसकाणियौ—वि०।
कसकायोड़ौ—भू०का०कृ०।
कसकावणौ, कसकावबौ—रू०भे०।

कसट—सं०पु० [सं० कष्ट] १ कष्ट, पीड़ा (डिं.को.) २ संकट। उ०—कसट सहियौ जिको हाल मालुम कियौ, हाल कहियौ अतै व्हाल हुयगौ।—मे म. ३ प्रसव-वेदना।

कसटणौ, कसटबौ—क्रि०अ०—१ कष्ट से पीड़ित होना. २ प्रसव-पीड़ा में ग्रस्त होना।
क्रि०स०—३ कष्ट देना।
कसटणहार, हारौ (हारी), कसटणियौ—वि०।
कसटिओड़ौ, कसटियोड़ौ, कसटयोड़ौ—भू०का०कृ०।

कसटि—देखो 'कसट'। उ०—पूजियै कसटि भंगि वनसपती, प्रसूतिका होळिका प्रव।—वेलि.

कसटियोड़ी—भू०का०कृ०स्त्री० [सं० कष्टित] प्रसव-पीड़ा से ग्रस्त।

कसटियोड़ौ—भू०का०कृ०—कष्ट से पीड़ित। (स्त्री० कसटियोड़ी)

कसण—सं०पु० [सं० कृशानु] १ आग, अग्नि, हुतासन। उ०—विण रवि वोम कसण ज्योति विण, धाराहर विण जसी धर।—अज्ञात
२ कंचुकी का बंधन। उ०—नाग फणां का तड़कली, छोटि कसण पयोहर खींची।—बी.दे. ३ बंधन, कसन। १ उ०—गहड़ घड़ कांमणी करै पांणी ग्रहण, करगि खग वाहतौ जुवा जूसण कसण।—हा.झा.
उ०—२ कांमणियां तणै तांणियै कसणै मोहै दूजां तणा मण(न), 'राजड़' रांण रहै रळियावत, कसियां जरदाळै कसण।—जोगीदास कवारियौ

कसणका, कसणक्क—सं०पु०—कवच। उ०—कसणक्क झणक्क बड़क्क कड़ा, पिंडक्क थड़क्क दड़क्क पुड़ा।—पा.प्र.

कसणा, कसणियौ—देखो 'कसण' (२, ३)

कसणी—सं०स्त्री०—१ रगड़ कर परीक्षा करने का काला पत्थर विशेष, कसौटी। उ०—जन हरिदास अहरणि घण कसणी, तब हरि हाथ पसारै।—ह.पु.वा. २ कष्ट, तकलीफ. ३ ऊंट के चारजामे के ऊपर का बंधन (क्षेत्रीय) ४ बंध. ५ कंचुकी बांधने की डोरी।

कसणौ—सं०पु०—१ देखो 'कसणी'। उ०—कांमणियां तणै तांणियै कसणै। मोहै बीजां तणा मण (न)। 'राजड़' रांण रहै रळियावत, कसियां जरदाळै कसण।—जोगीदास कवारियौ २ गरदन, सिर. ३ कवच का हुक।

कसणौ, कसबौ—सं०पु०—वह रस्सी या फीता जिससे किसी वस्तु को कस कर बांधते हैं। कसन, कसना। उ०—सजि कसणा करि लाज ग्रंहि, चढ़ियउ साल्हकुमार।—ढो.मा.

कसणौ, कसबौ—क्रि०स०—१ मजबूत बांधना। उ०—कसिया जरद धणी धर कारण, जस रसिया रूकां जमरांण।—आंबेर प्रतापसिंह री गीत
२ कसौटी पर कसना, कसौटी पर लेना। उ०—घड़ अहरण रतन 'जसौ' घण धाअे, दोमझि कसे कसवटी दीध। सोव्रन जड़त जिसा नह सोभा, लोह लगा अंग सोभा लीध।—रांमौ आसियौ
३ भींचना, दवाना. ४ कटिवद्ध होना, सन्नद्ध होना। उ०—काळ सकळ जग काटवा, कस ऊभौ केवांण।—ह.र. ५ कसमसाहट करना। उ०—भांति भांति रा जाति जाति रा नाहर सांकळै जड़िया रहड़ए गाडे वैठा कसता, कणणता, वूंबाड़ा करता वहे छै। —रा.सा सं.
६ धनुष पर प्रत्यंचा चढ़ाना। उ०—करे पंच निवाज वाचै कुरांण कुलाधम्म रत्ता कसंता कबाणं।—वचनिका ७ साज आदि रख कर सवारी तैयार करना. ८ पुरजों को मजबूती से वैठाना. ९ रस्सी, तार आदि के खिचाव से तन कर तैयार होने वाले वाद्यों को चढ़ाना, वजाने के लिए तैयार करना।
क्रि०अ०—१० कसैला होना, कसिया जाना. ११ बंधन के तनने से बंधी हुई वस्तु का अधिक दब जाना।
कसणहार, हारौ (हारी), कसणियौ—वि०।

उ०—सीतारांम आरति सुणि, ईस पिनाक उपाड़ि। लीला पांणी अखै दळे, चाप कसीसै चाडि।—रांमरासौ

कसुंबौ–सं०पु०—१ पानी में गलाया हुआ अफीम. २ लाल रंग।

कसुटी—देखो 'कसौटी'। उ०—सालिहोत्र जेहनी कसुटी, तेहवा कोडि केकांण। गढ़ जाळहुर भणी सांचरीउ. साव दळइ सुरतांण। —कां.दे.प्र.

कसूंवल–वि०—लाल।

सं०पु०—लाल रंग। उ०—हुवौ थिर समदर आभौ जांण, कसां में घुळै कसूंवल रंग।—सांझ

कसूंवलिया–सं०पु०—राठौड़वंशीय क्षत्रियों की एक उपशाखा (बां.दा.ख्यात)

कसूंवौ–सं०पु०—१ पानी में गलाया हुआ अफीम (रू.भे. 'कसुंवौ') उ०—इतरै में सारां कसूंवौ पीयौ, कुरळा कर बैठिया, गल्हां करै छै।—सूरे खींवे री वात २ लाल रंग। उ०—माटा फूट मजीठ कसूंवा कढ़िया, चोड़ै सूता खेत सुरंग रंग चढ़िया। —किसोरदांन बारहठ

३ एक प्रकार का क्षुप जिससे लाल रंग निकाला जाता था.

४ एक प्रकार का रंग विशेष का घोड़ा (शा.हो.)

वि०—लाल रंग का।

कसूंभी–वि०—कुसुम के समान लाल रंग का।

कसूंभौ—देखो 'कसूंवौ'। उ०—इण भांति री मेळवणी जोळी जोळी मंगाड़ीजे छै, कसूंभै रै वास्तै मिसरी कोरा मांटां में गळीजै छै।—रा.सा.सं.

कसूंमल–वि०—कुसुम के समान लाल। उ०—अलमित देखि'र जळै अंग में, रांड कसूमल रंग।—ऊ.का.

कसूंणी–सं०पु० [सं० कु+शुकुन] अपशुकुन। उ०—पहली तौ पग 'जोरै' पागड़ै में दीनौ रै, काळै मूं की कोयलड़ी कसूंणी बोली रे। —लो.गी.

कसूत–वि०—सीधा न चलने वाला। उ०—कालर खेत कसूत हळ, घर कळखारी नार। मैला जिण रा कापड़ा, नरक निसांणी च्यार। —अज्ञात

कसूम–सं०पु० [सं० कुसुम] फूल, पुष्प।

वि०—लाल (मि० 'कसूंमल')

कसूमल–वि०—देखो 'कसूंमल' (रू.भे.) उ०—कहौ कसूमल साड़ी रंगावां, कहौ तौ भगवां भेस।—मीरां

कसूर–सं०पु० [अ० कुसूर] १ गुनाह, अपराव. २ दोष, बुराई, अवगुण।

कसेल–वि०—योद्धा, वीर।

कसोणौ, कसोबौ–क्रि०स०—१ विछाना। उ०—महल मांहे पैठौ आगै ढोलियौ विछायौ छै। ऊपरि सेज विछावणा कसोया छै।—चौवोली २ कसना।

कसौ–सं०पु०—चमड़े सूत रेशम ऊन आदि की पतली डोरी या फीता जो प्रायः कंचुकी बांधने या चारजामा कसनें आदि के काम आता है।

सव०—कौनसा।

वि०—कैसा।

कसौटण–सं०पु०—१ कसौटी पर कसने का भाव. २ दुःख।

कसौटी–सं०स्त्री०—१ सोने-चाँदी आदि धातुओं की जाँच करने का एक प्रकार का काला पत्थर विशेष. २ परख, जांच। उ०—श्री तौ नेह कसौटी सांवरौ, सुख सोन लकीटी सीय।—गी.रां.

कसौटौ–सं०पु०—१ कष्ट, दुःख. २ संकट।

कस्ट–सं०पु० [सं० कष्ट] १ दुःख, कष्ट, पीड़ा (अ.मा.) २ संकट, आपत्ति।

कस्टणौ, कस्टवौ–क्रि०अ०—देखो 'कसटणौ' (रू.भे.) उ०—सूल सामांन मामूर कुं न छै सु उठै थारू री मा कस्टी रात री।—नैणसी

कस्टणहार, हारौ (हारी), कस्टणियौ—वि०।

कस्टिओड़ौ, कस्टियोड़ौ, कस्टयोड़ौ—भू०का०कृ०।

कस्टम–सं०पु०—चुंगी।

कस्टम ड्यूटी–सं०स्त्री०—विदेश से आने वाले माल पर लगने वाला महसूल।

कस्टाणौ, कस्टावौ–क्रि०स०—दूसरों को कष्ट देना, पीड़ा पहुँचाना। 'कस्टणौ' का सकर्मक रूप।

कस्टाणहार, हारौ (हारी), कस्टाणियौ—वि०।

कस्टायोड़ौ—भू०का०कृ०।

कस्टियोड़ौ–वि०स्त्री०—देखो 'कसटियोड़ौ' (रू.भे)

कस्टी–वि०—दुखित, पीड़ित। उ०—भई कस्टी यांमा व्यसन मन भांमा सुत भरै—ऊ.का.

कस्टीजणौ, कस्टीजवौ–क्रि०भाव वा०— १ कष्ट पाया जाना. २ प्रसव-वेदना से पीड़ित हुआ जाना। 'कसटणौ' का भाव वा०य रूप।

कस्टीजणहार, हारौ (हारी), कस्टीजणियौ—वि०।

कस्टीजिओड़ौ, कस्टीजियोड़ौ कस्टीज्योड़ौ—भू०का०कृ०।

कस्टीजियोड़ौ–भू०का०कृ०—प्रसव वेदना से पीड़ित।

कस्टीजियोड़ौ–भू०का०कृ०—कष्ट पाया हुआ, पीड़ित। (स्त्री० कस्टीजियोड़ी)

कस्तूरियौ–वि०—देखो 'कसतूरियौ' (रू.भे.) उ०—इतरै कस्तूरिया म्रग जिसा लाल नेत्र कियां घूमतौ थकौ आवै छै।—जलाल बूबना री वात

कस्तूरी–सं०स्त्री—देखो कसतूरी' (रू.भे.)

कस्तौ–वि०—कम।

कस्मेर–सं०पु० [सं० काश्मीर] देखो 'कसमीर'।

उ०—देवी कांमरू पीठ अघ्घोर कूंडै, देवी खखरै मेर कस्मेर खंडै। —देवि.

कस्यप–सं०स्त्री० [सं० कशिपु] शय्या, पर्यंक (अ.मा.)

कस्यपसुत, कस्यपसुतन–सं०पु०—१ सूर्य, (नां.मा.) २ गरुड़ (अ.मा.)

कसरौ–सं०पु०—निशान, चिन्ह ।

कसवटी—देखो 'कसौटी' । उ०—घड़ ग्रहरण रतन 'जसौ' घण घाये, दोमझि कसे कसवटी दीध । सोव्रन जड़त जिसौ नह सोभा, लोह लगा ग्रंग सोभा लीध ।—रांमौ ग्रासियौ

कसवर–सं०पु० [सं० कस=गतौ=कस्वर] द्रव्य, धन (नां.मा.)

कसस्सणौ, कसस्सबौ–क्रि०ग्र०—जोश में एक साथ चलना । उ०—भड़ भिड़ज्ज गज धज्ज घड़ा चतुरंग कसस्सै ।—वचनिका

कसा–सं०स्त्री०—घमंड, ग्रभिमान । उ०—दोयणां च्यार दिन चहौ जीवण दसा, तज कसा रहौ महाराज तावै—विमनजी ग्राढ़ौ

कसाइलौ–सं०पु०—१ कसैला होने का भाव । उ०—मीठा मोळा खाटा खारा कडुग्रा कसाइला भांति भांति रा खटरस सवाद लीजै छै ।
—रा.सा.सं.

२ निर्धनता (मि. 'कसालौ' रू.भे.)

कसाई–सं०पु० [ग्र० कसाई] १ वधिक, बूचड़ ।

मुहा०—कसाई रै खूंटा सूं बांधणौ—निर्दयी के ग्रधिकार में देना ।

कहा०—१ कसाई नै गाय वेचणी—दुष्ट के हाथ में सीधे व्यक्ति को सौंप देना. २ कसाई रोवै मांस नै बकरी रोवै जीव नै—इस संसार में सब ग्रपने स्वार्थ को रोते हैं, दूसरे के हित-ग्रहित का उन्हें कोई ध्यान नहीं रहता. ३ कसायां रै घर में तौ मांस इज हात ग्राई—बुरे व्यक्तियों के पास तो बुरी बातें ही मिलती हैं. ४ विगड़ियोड़ौ वांणियौ कसाई बराबर—ग्रगर बनिया बुरा हो जाता है तो ग्रासामियों को वधिक के समान चूस-चूस कर मार डालता है ।

२ मुसलमानों की एक जाति विशेष जिसके व्यक्ति प्रायः मांस का व्यवसाय करते हैं ।

वि०—क्रूर, निर्दयी ।

कसाईखांनौ–सं०पु०—वह स्थान जहा पशु काटे जाते हों, बूचड़खाना ।

कसाईवाड़ौ–सं०पु०—१ कसाइयों का मुहल्ला. २ बूचड़खाना ।

कसाणौ, कसाबौ–क्रि०स० १ कसाना, 'कसणौ' क्रिया का स.रू. । देखो 'कसणौ' ।

क्रि०ग्र०—२ कटिबद्ध होना, सन्नद्ध होना । उ०—गोवद्धन कर लेण की, जिम कन्ह कसाया । जांणि जटासुर जंग पै, भुज भीम बजाया ।
—वं.भा.

कसाणहार, हारौ (हारी), कसाणियौ—वि० ।

कसायोड़ौ—भू०का०कृ० ।

कसाय, कसायलौ–वि० (स्त्री० कसायली) [सं० कषाय+रा० प्र० लौ] कसैला. कसिया हुग्रा ।

कसार–सं०पु० [सं०] गुड या चीनी मिला घी में भुना हुग्रा ग्राटा । उ०—लाडू करूं कसार कौ, करड़ी में राखूं पात । दिन-दिन तौ दुख से काढ़ूं हूं, वैरिन हो गई रात—लो.गी.

कसारा–सं०स्त्री०—कांसी, पीतल ग्रादि धातुग्रों के बर्तन बनाने व वेचने का व्यवसाय करने वाली एक जाति, ठठेरा ।

कसारी–सं०स्त्री०— झींगुर ।

कसारौ–सं०पु०—१ देखो 'कसार' । उ०—ग्रासोजां में खीर न खायी, काती कियौ कसारौ हो राम ।—लो.गी. २ कसारा जाति का व्यक्ति ।

कसालदार–वि०—निर्धन, कंगाल ।

कसालौ–सं०पु०—१ निर्धनता (डिं.को.) उ०—बापड़ी छोरी काळीघार डूबगी, बापं ग्रांधौ ग्रर सासरै पी'रै दोनूं घरां में कसालौ—वरसगांठ २ संकट । उ०—वनस्पति, कंदमूळ, घास व फळ-फूल सह बळिया । नीली पाती न रही । डाढ़ाळी नै भूंडण दिन बड़ा कसाला में काढ़ै ।
—डाढ़ाळा सूर री वात

कसिपु–सं०पु० [सं कशिपु] शय्या, पलंग (डिं.को.)

कसियौ–सं०पु०—देखो 'कस्सी' (ग्रल्पा.) उ०—कसी क्वाड़ गंडासी कसिया, डांडा दांती दांतियां । ग्याता क्याड़ी गाड पंजाळी, खेव खूब पड़ै खातियां ।—दसदेव

वि०—कटिबद्ध, तैयार, सन्नद्ध । उ०—कुळ थारौ रण पोढ़णौ, मोनूं कहती माय । प्राणां गाहक पेखियौ, कसियौ वरजै काय ।
—वी.स.

कसियोड़ौ–भू०का०कृ०—१ कसा हुग्रा. उ०—निरबळ चोरां डर बसियोड़ा नैड़ा, दुरबळ मोरां पर कसियोड़ा डेरा ।—ऊ.का.

२ सन्नद्ध, कटिबद्ध ।

कसी–सं०स्त्री०—१ सोना चांदी ग्रादि धातुग्रों की जांच के लिए एक प्रकार का काला पत्थर. २ देखो 'कस्सी'. ३ एक प्रकार का शस्त्र ।

[ग्र० खस्सी] ४ वधिया होने या करने का भाव (प्रायः पशुग्रों के)

सर्व०—१ कैसी. २ कौनसी ।

कसीजणौ, कसीजबौ–क्रि०ग्र०—१ कसैला होना, कसिया जाना.

क्रि०स० (भाव वा०) २ देखो 'कसणौ' । उ०—राज री जोधपुर ऊपर नकारौ कसीजै; का चित्तौड़ ऊपर कसीजै, का ग्रणहिलवाड़ा ऊपर, का भुजकछ ऊपर, का थटभखर पर, का जाळौर ऊपर नकारौ कसीजै ।—डाढ़ाळा सूर री वात

कसीजणहार, हारौ (हारी), कसीजणियौ—वि० ।

कसीजिग्रोड़ौ, कसीजियोड़ौ, कसीज्योड़ौ—भू०का०कृ० ।

कसीजियोड़ौ–भू०का०कृ०—१ कसिया गया हुग्रा. २ कसा गया हुग्रा । (स्त्री० कसीजियोड़ी)

कसीनाळी–सं०पु०—दीवार के सहारे नीचे उतरने वाला वह नल जो छत का पानी बाहर निकालने के लिए लगाया जाता है (क्षेत्रीय)

कसीस कसीसक–सं०पु०—१ स्त्रियों के ग्रोढ़ने का वस्त्र । उ०—मूंघौ तो बिका दयूं ग्वाळा वीरा काळचो रै कसीस, सूंघौ तो करा दयूं रे चुड़लौ हसतौ दांत रौ ।—लो.गी. [सं० कासीस] २ एक रंग विशेष. ३ कासीस नामक धातु विशेष (डिं.को.)

कसीसणौ, कसीसबौ–क्रि०स०—१ कसा जाना. २ प्रत्यंचा चढ़ाना

ऊपरा औरे तेज तुरंग। कहर वरिणयरण 'चंद' को, मुहर श्रणी रण जंग।
१६ वीर हाक, जोशपूर्ण ध्वनि। उ०—हणतौ मेंगळ हाथि, करतौ मुख हाकां कहर। कुंभकरण सिर केविश्रां, भाटी गौ भाराथि।
—वचनिका

वि०—१ भयावह, भयंकर। उ०—है हैकार पुकार व्हइ, रांम-रांम भणि रांम। धणूं कहर वीती धड़ी, जहर लहर विधि जांम।
—वचनिका

उ०—२ कहर सुरपत कोप कीनौ, सात दिन असराळ। नीर बूठौ हुवौ नेक न, विरज वंको वाळ।—भगतमाळ

२ जबरदस्त, महान। उ०—जग कळपंत तणी पर जसवंत, फेरा लहर कहर फिरियौ। लोह धार गैणाग लगातां, 'औरंग' यूं जिम ऊतरियौ।—महेसदास राठौ. ३ बहुत अधिक, अत्यधिक।

उ०—१ कहर भूख काढ़णी, गिणै दुख किसा गुणीजै। कहूं वात यह कंवर स्रवण वे भ्रात सुणीजै।—र.रू.

उ०—२ करि कोप दळां प्रारंभ कहर, वेधींगर आगे घरे। मांडिश्रौ मुगल्ल मारुग्रे, रिण 'ओरंग' जमराज रे।—वचनिका

४ तीव्र, तेज. ५ उग्र। उ०—ओछो केम कहां ऊदावत, अकबर कहर तणी तप ईख। अकबर सूं रहियौ अणनमियौ, सुरतांण आंहियां सारीख।—महाराणा प्रतापसिंह री गीत

कहरवा-सं०पु०—आठ मात्रा का ताल विशेष (संगीत)

कहरौ-सं०पु०—एक प्रकार का शुभ रंग का घोड़ा (शा.हो.)

कहवत-सं०पु०—१ देखो 'कहावत' (रू.भे.)

उ०—कहवत दुनियां मांझ कहांणी, एक पंथ दोय काज अगैं।
२ कथन, वचन (डि.को.) —बां दा.

कहवौ-सं०पु० [अ० कहवा] एक पेड़ का बीज जिसके चूरे को चाय की तरह पीते हैं (अमरत)

कहांणी, कहांनी-सं०स्त्री० [सं० कथानिका] १ किस्सा, आख्यायिका, गल्प। उ०—भगळ भागवत पेट भरण री कुटिळ कहांणी रे।
२ झूठी वात, मनगढंत वात। —ऊ.का.

कहांरेक, कहांरेके-क्रि०वि०—१ कभी. २ कभी न कभी।

उ०—ताहरां हरदांन फेर अरज कीवी तौ म्हांरी थकी कोठार में राजजी, म्हे डूंब छां, कहांरेके म्हे भांग पी नै सोय रहसां, गमाय देवां।—पलक दरियाव री वात

कहाड़णौ, कहाड़बौ-क्रि०स० (प्रे०रू०) कहलवाना। उ०—मैंचके वात सुण जेहवां भाइयां, कायरां सरै नह गरज कांई। भाइयां काज सिर आंगमै भारयां, भलांई कहाड़े जिकै भाई।—बुधजी आसियौ

कहाणौ-क्रि०अ०—कहलाना।

कहार-सं०पु०—एक जाति विशेष जिसके व्यक्ति प्रायः पालकी आदि उठाने या पानी भरने का कार्य किया करते हैं।

कहाव-सं०स्त्री०—१ कहावत, उक्ति। उ०—काली हंदा कळस री, करमंघां भड़ां कहाव। सांमहां भालां संचरै, पाछा धरै न पाव।
—किसोरदांन बारहठ

२ संदेश, खबर। उ०—पीछै पांडू बेटै नकोदर नूं बुलाय नै कयो कै म्हांरी तौ अवस्था ब्रद्ध है अरु मलकी री कहाव आयी है, सू तू जाय लाव।—द.दा. ३ वचन, शब्द. ४ अपयश, कलंक।

कहावत, कहावति-सं०स्त्री०—१ कही हुई वात, लोकोक्ति, उक्ति।
उ०—या कहावति छै। जैरै लाख द्रव्य होइ तेहरै लाख ऊपरि दीवौ बळै छै। अर कोड़ि द्रव्य होइ तैरै कोड़ि ऊपरि धजा बंधाई छै।—वेलि. टी

कहा०—कहावतां री काकौ—कहावतों में प्रवीण व्यक्ति के लिए।
२ वचन, ३ अपयश, कलंक।

कहि-सर्व०—किस।

कहिम-अव्यय—चाहे। उ०—कहिम मेर डोलहै, कहिम जळ हळ है, सायर। कहिम चंद लुक्कि है, कहिम छैहल देवायर। कहिम बीस ब्रहमंड गाट छेडै है कागळ। कहिम सपत पाताळ चळै जाय हूंत अणाच्चळ। खड़हड़ै इंद्र काळं तरै, पड़ै रुद्र ब्रहमा पड़ै। रूपक्क नांम रायसिंघ रौ तौ ही जरा न आंमड़ै।—खींवौ सूरोत आसियौ

कहिर-सं०पु० [सं० क+धर=कंधरा] गर्दन। उ०—सजन मिळिया हे सखी, कासुं भगत करेस। अहिरां कहिरां पयोहरां, रमतां आड न देस।—ढो.मा.

कही-सर्व०—१ कई. २ किसी। उ०—सगुणी तणा संदेसड़ा, कही जु दीन्हा आंणि। ससिवदनी कइ कारणइ, हुई पलांणि पलांणि।
—ढो मा.

कहीका-क्रि०वि०—कहीं। उ०—कहीका अजरायलां रावतां हाय री छूटी वरछी वाही।—डाढ़ाळा सूर री वात

कहीजणौ, कहीजबौ-क्रि०कर्म वा०—कहा जाना। उ०—कछवाहो राजावत फतैसिंघ मूळी कहीजतो।—बां.दा. ख्यात

कहीयौ-भू०का०कृ०—१ कहा हुआ, कथन, कहना।
सं०पु०—२ आज्ञा, हुक्म।

कहुं-क्रि०वि०—कहीं। उ०—धुनि वेद सुणति कहुं सुणति संख धुनि। नद भल्लरि नीसांण नद—वेलि.

कहूकणौ, कहूकबौ-क्रि०अ० [सं० कुहूक] १ पक्षी का मधुर स्वर में बोलना. ऊंट का बोलना। उ०—रैबारण रा कह्या सूं ढोलोजी राजी हुवा। वळै आगा खड़िया जाता थका करहा नैं कांब वाही तद करहौ कहूकियौ।—ढो मा.

कहूवौ-सं०पु०—देखो कहवौ' (अमरत)

कहूं-क्रि०वि०—कहीं (रू.भे. 'कहुं')

कहूकणौ, कहूकबौ—देखो 'कहुकणौ' (रू.भे.)

कहूको-सं०पु० [सं० कुहूक] १ पक्षी का मधुर स्वर. २.कोयल की बोली। उ०—घूमळा खळक्कै नीर प्रवळा असंखां नाळा, वळोवळी कूंजां तणा जहूका वणंत। नांचती अंब रा डाळ कोयलां कहूका नाद, सिखंडी टहूका जठै नित रा सुणंत।—महाराजा मांनसिंह

कहूर-सं०पु०—मोठ, ग्वार आदि के फूल।

कस्यपस्यातमज, कस्यपातमज-सं०पु०—१ सूरज (अ.मा.) २ गरुड़ (नां.मा.)

कस्स-सं०स्त्री० [अ० कसर] कसर, कमी, न्यूनता।

कस्सतूरी—देखो 'कसतूरी' (रू.भे)

कस्सारी—देखो 'कसारी' (रू.भे.)

कस्सी—देखो 'कसी' (रू.भे.) उ०—१ फिरै डम्मरी सेन नाही फरस्सी, कचोळी कटारी न कस्सी सकस्सी।—ना.द.

उ०—२ स्वारथ परै खंधेड़ खईसा खदका झेलै। कस्सी सेलै संबे पीड़ विन पइसै घेलै।—दसदेव

कह-सं०पु०—१ कोलाहल, शोरगुल। उ०—१ हेका कह हेका हीलोहळ, सायर नयर सरीख सद।—वेलि. उ०—२ हेक तरफ द्वारिकाजी कौ कह कहतां सोर नगर रा लोकां सुणै।—वेलि. टी.

२ कलकल की ध्वनि. ३ कथा।

कहक-सं०स्त्री० [सं० कुहुक] १ मोर, कोकिल, चकोर आदि पक्षियों का कूजन, कलरव, ध्वनि विशेष. २ विजली का कौंधना।

उ०—साकुरां घमक सुरतांण तण सतां सिर, चमक आकास अक कहक चपळा।—वीरमियौ मूळी

कहकहाहट-सं०स्त्री०—जोर की हँसी, ठट्ठा। उ०—चौकि चौकि ऊपरि चित्रसाळी हुई रहियौ कहकहाहट।—वेलि.

कहड़ौ-वि० (स्त्री० कहड़ी) कैसा। उ०—ताहरां देवीदास सांभळ नै पूछियौ स्वांमीजी औ दूहौ कहड़ौ कह्यौ।—पलक दरियाव री वात (रू.भे. 'कं'ड़ौ')

कहण-सं०स्त्री० [सं० कथन] १ कहना क्रिया का भाव।

उ०—कहण सुणण हय चढ़ क्रमण, साहंस धरण समझ्झ।

—जैतदांन वारहठ

२ उक्ति, कथन, वचन, वाक्य (डिं.को.) ३ कहावत।

कहणनुं-क्रि०वि०—किसलिए, क्यों। उ०—सीरोही रा धणी रावळा चाकर छै, सगां नै अगताऊ दीवांण वात कहणनुं करै।—नैणसी

कहणार-वि०—कहने वाला (रू.भे. 'कहणहार')

कहणावत-सं०स्त्री०—कहावत्त, लोकोक्ति।

कहणी-सं०स्त्री०—१ कहने का भाव या ढंग। उ०—कहणी प्रभु रीझै न कछु रहणी रीझै रांम।—ऊ.का.

कहा०—कहणी सूं करणी दोरी—कोई वात कह देना सरल है किन्तु उसको क्रियात्मक रूप देना कठिन है. २ कहावत।

कहणौ-सं०पु० [सं० कथन] १ अपयश. २ डांट-फटकार. ३ आज्ञा, हुकुम. ४ कथन।

कहणौ, कहवौ-क्रि०स० [सं० कथ] १ वोलना, व्यक्त या प्रगट करना, उच्चारण करना। उ०—रहवौ हिम्मतहार, कहवौ औ कारज कठण।

—जैतदांन वारहठ

मुहा०—१ कहणा में आणौ—वहकावे में आना, आज्ञा मानना.

२ कहणौ-सुणणौ—डांटना-फटकारना, समझाना-वुझाना।

कहा०—१ कयां किसौ कूवे में पड़ीजै—दूसरों के कहने के अनुसार नहीं चला जा सकता. २ कयां सूं कुंभार गधै माथै थोड़ी ही चढ़ै—दुराग्रही, कहना न मानने वाले के लिये. ३ कहणौ सोरौ करणौ दोरौ—कोई वात कह देना सरल है किन्तु उसको क्रियात्मक रूप देना कठिन है. ४ कहत हूं धीयड़ली नै सुणै है भउड़ली—आदमी को किसी अन्य आदमी को सुनाने के उद्देश्य से कोई वात कहने पर. ५ कह'र घूड़ में नांखणौ है—जिस पर कहने-सुनने का कोई असर न हो उसके लिये. ६ कह वात ज्यूं कटै रात—नींद न आने पर कहानी कहने से रात्रि आसानी से कटती है, लोक-कथाओं में पक्षियों के वार्तालाप का अनुप्रास. ७ कह्यौ नहीं मांनै, जके रौ काळौ मूंढौ लाल पग—जो किसी का कहना नहीं मानता उसके प्रति घृणा।

२ समझाना (रू.भे. 'कं'णौ') (यौ० कहणौ-सुणणौ—डांट-फटकार)

कहणहार, हारौ (हारी), कहणियौ—वि०।

कहाणौ, कहावौ—स०रू०।

कहावणौ, कहाववौ—स०रू०।

कहिओड़ौ, कहियोड़ौ, कह्योड़ौ—भू०का०कृ०।

कहीजणौ, कहीजवौ—कर्म वा०।

कहनांण-सं०पु०—कहने योग्य वचन. २ कथन।

कहवत-सं०पु०—१ वचन, कथन (डिं.को.) कथा, वार्ता. ३ दृष्टान्त. अपयश कलंक।

कहर-सं०स्त्री० [अ० कह्र] १ विपत्ति, आफत. २ प्रलय।

उ०—सहर लूटंतौ सदा तूं देस करतौ सरद, कहर नर पड़ी थारी कमाई। उज्यागर झाल खग जैत'हर आभरण, अमर अकवर तणी फौज आई।—पदमा सांदू. ३ पीठ की हड्डी, रीढ़ की हड्डी।

उ०—हट करै प्रसण रै आज 'घांघल' हरा, सुकर लग जतु प्रतमाळ सीची। करोई काळजौ छेद भटकी कहर, खळ सवळ ढाहियौ अचळ खीची।—झरड़ा राठौड़ री गीत

[सं० क=सुखं, हृ=हरणं] ४ दर्द, कष्ट. ५ युद्ध. उ०—कलम तणौ दळ घणौ कटांणौ, सारौ कचवांणौ सहर। वूंवाड़ौ पड़ियौ वाजारै, कीधौ राजा रै कहर।—दुरगादास राठौड़ री गीत. ६ कोप, क्रोध। उ०—केलपुर जगत जस समंद सातां कथां, दसहतां भड़ां तोड़ण समर दांत। 'भीम' तण कहर वजराग वाळी भटक, भीम तण महर सांमंद लहर भांत।—किसनौ आढ़ौ. ७ विष, जहर. ८ रोब. उ०—कहर रांणा तणौ वार मझ एकठा प्रसण राखै नको हंस पांणी।—महारांणा प्रतापसिंह री गीत. ९ तलवार. १० दुर्भिक्ष, अकाल. ११ शत्रु, दुश्मन. १२ कुआ. १३ नक्कारा नामक वाद्य. १४ सातवीं वार उलटा कर वनाया गया शराव।

उ०—तठा उपरांति करि नै राजांन सिलामती दारू री पांणीगौ मंडिओ छै सो किण भांति री दारू, उलटै री पलटै, पलटै री ऐराक, ऐराक री वैराक, वैराक री संदली, संदली री कंदली, कंदली री कहर, कहर री जहर...।—रा.सा.सं. १५ भय। उ०—तेजौ नेजां

कांख–सं०स्त्री० [सं० कुक्षि] १ बगल, बाहुमूल. २ उदर. ३ गर्भाशय।

कांगड़ो–सं०पु०—पंजाब का एक पहाड़ी जिला।

कांगणी–सं०स्त्री०—१ 'मालकांगणी' नामक एक बेल जिसके बीजों से तेल निकाला जाता है. २ 'मालकांगणी' नामक एक कदन्न।

कहा०—मत वायजौ कांगणी, घर घर मिट्टी मांगणी—ऐसा कार्य नहीं करना चाहिए जिससे बाद में कठिनाई उठानी पड़े।

वि०वि०—कांगणी नामक अनाज बोने के बाद में हानि उठानी पड़ती है क्योंकि वह अत्यंत सस्ता होता है।

कांगणौ–सं०पु० [सं० कंकण] देखो 'कांकण' (१) उ०—तूं तौ बांधै लाडा कांगणौं, सोनी कौ घड़ियौ कांगणौ।—लो.गी.

कांगरू, कांगरूदेस–सं०पु०—देखो 'कामरूप' (डि.को.)

कांगरौ–सं०पु० [सं० कंगुरू] १ बुर्ज। उ०—कै दरवाजां कांगरां, ऊभा भड़ अरड़ींग, भला चीत भुरजाळ रा, आभ लगाया सींग।—बां.दा. २ कंगूरा। उ०—परवळां आसणां रा कांगरै घूवरा मोटे पूठै रा छोटै पींडां रा छै।—रा.सा.सं.

कांगसियौ–सं०पु०—१ कंघा. २ कंघे की प्रशंसा में गाया जाने वाला एक मारवाड़ी लोक गीत. ३ तबली में वह स्थान जहाँ चमड़े का हिस्सा फटा रहता है।

कांगसी–सं०स्त्री० [सं० कङ्कती] स्त्रियों के बालों को सँवारने के लिये एक विशेष प्रकार का बना कंघा, कंघी। उ०—किया रवाना दोलती, बीसलनंद विगोय। क्रपण हिया मंह कांगसी, नहि फेरे नर-लोय।
—बां.दा.

मुहा०—हिया में कांगसी फेरणी—हृदय में सोच-विचार करना।

कहा०—उपासरे में कांगसिया जोवै—जहां किसी वस्तु के मिलने की बिल्कुल संभावना न हो, वहाँ उस वस्तु को ढूंढना या पाने की आशा करना।

कांगाई–सं०स्त्री०—१ दरिद्रता, कंगालपन. २ याचकता. ३ नीचता. ४ बुरा स्वभाव. ५ झगड़ा।

कांगापण, कांगापणौ–सं०पु०—१ दरिद्रता, कंगालपन. २ याचकता. ३ नीचता।

कांगीरोळौ–सं०पु०यौ०—फिसाद, झगड़ा-टंटा, कलह।

कांगौ–वि० [सं० कंकाल] १ कंगाल, दरिद्र. २ बुरे स्वभाव वाला. ३ याचक, भिखारी।

कहा०—घणां कांगां माळवौ ई मूंगौ—भिखमंगे बहुत हो जाने पर मालवा जैसे उपजाऊ प्रांत में भी भिक्षा अप्राप्य हो जाती है। मांग बहुत अधिक बढ़ने पर प्रचुर मात्रा में उपलब्ध वस्तु की भी कमी अनुभव होने लगती है।

४ कलह करने वाला।

कांग्रेस–सं०स्त्री० [अं०] वह महासभा जिसमें विभिन्न स्थानों के प्रतिनिधि एकत्र होकर परस्पर विचार-विनिमय करते हैं।

कांग्रेसी–सं०पु० [अं० कांग्रेस+रा०प्र०ई] महासभा का सदस्य।

वि०वि०—देखो 'कांग्रेस'।

कांच–सं०स्त्री० [सं० कक्ष, प्रा० कच्छ] गुदेंद्रिय का वह भीतरी भाग जो किसी किसी के टट्टी जाते समय बाहर निकल आती है।

मुहा०—१ कांच निकळणी—किसी आघात या परिश्रम से बुरी दशा होना. २ कांच निकाळणी—अथक परिश्रम कराना, बेदम करना।

कहा०—गी तौ गळौ करावण नै नै कांच कडाय नै आई—एक विपत्ति मिटाने के उद्देश्य से कहीं जाकर दूसरी विपत्ति मोल लेने पर।

कांचणियौ–सं०पु०—वह जो कब्ज के कारण टट्टी जाते समय जोर लगावे।

कांचणौ, कांचवौ–क्रि०अ०—कब्ज के कारण शौच के समय कुछ जोर लगा कर पाखाने उतारने का प्रयत्न करना।

कांचळ–सं०स्त्री० [सं० कञ्चुकः] छोटे कीटाणु व सर्प आदि के तन पर से उतरने वाली खोली। उ०—फाकौ टांगां टिरै कातरौ तारै कांचळ, चरचरियां रौ चांद फिड़कलां फबती हांचळ।—दसदेव

कांचळ-अचळ–सं०पु०यौ० [सं० काञ्चन+अचल] सुमेरु पर्वत (ह.नां.) २ देखो 'कांचळी' (रू.भे)

कांचळियौ—देखो कांचळी' (अल्पार्थ) उ०—भीनै कांचळियै धम धम डग भरती, धमळां देतोड़ी धम धम पग धरती।—ऊ.का.

कांचळियौपंथ–सं०पु० [सं० कंचुकीपथ] वाम मार्ग का एक भेद।

वि०वि०—ऐसा कहा जाता है कि इस पंथ के अनुयायी स्त्री-पुरुष एक स्थान पर इकट्ठे होकर माँस-मद्य का सेवन करके सब उपस्थित स्त्रियों की कंचुकी इकट्ठी करके एक घड़े में डाल देते हैं। उपस्थित समुदाय का प्रत्येक अनुयायी पुरुष उस घड़े में हाथ डाल कर एक कंचुकी निकाल लेता है। जिस पुरुष के हाथ में जिस स्त्री की कंचुकी आती है वह उसीके साथ संभोग करता है। इसे चोली मार्ग भी कहते हैं।

कांचळी–सं०स्त्री० [सं० कञ्चुकः] १ सर्पादि के शरीर का ऊपर का वह झिल्लीदार चमड़ा जो प्रति वर्ष गिर जाता है। केंचुली।

उ०—जरै हाथ वाळा पड़्या माया जाचां, पड़ी सांप री कांचळी सूत्र काचां।—ना.द. [सं० कञ्चुलिका] २ स्त्रियों के वक्षःस्थल पर पहिनने का एक वस्त्र जिसमें वे अपने स्तन कसती हैं, कंचुकी।

उ०—अंग में नहीं मावै पिया कांचळी जी हिवड़ै नहीं मावै हार।
—लो.गी.

कांचळौ, कांचवउ, कांचवौ–सं०पु० [सं० कंचुक] देखो 'कांचळी' (महत्व०) (रू.भे.) उ०—१ सासू पूछै हे बहू, तोहि न आवै लाज। काल सिवायौ कांचळौ, सो क्यूं फाट्यौ आज।
—जलाल बूबना री बात

उ०—२ उठी उठी गोरि करि सिंगार, लाखणउ कांचवउ नवसर हार।—बी.दे. उ०—३ सर्ना माता तेरी कांचवौ रांणी सींम्यौ छै मंगळ वारां जी।—लो.गी.

कां–अव्यय—का, के आदि संयोजक अव्यय। उ०—त्रूटै कंध मूळ जड़ त्रूटै, हळधर कां वाहतां हळांह।—वेलि.

कांइ–सर्व० [सं० किम्] क्या (रू.भे 'कांई') उ०—संन्यासिए जोगिए तपसि तापसिए, कांइ इवड़ा हठ निग्रह किया।—वेलि.

क्रि०वि०—क्यों, कैसे। उ०—मारू नूं आखइ सखी, आज स कांइ उदास। कांम-चित्रांम जु दिट्ठ मइं, रूप न भूलइ तास।—ढो.मा.

वि०—कुछ।

कांइक–सर्व०—क्या।

क्रि०वि०—कुछेक, तनिक।

कांइणी–सं०स्त्री०—प्लेग की गांठ।

कांइणौ–सं०पु०—किसी अंग का झटके आदि के कारण जोड़ के स्थान से किसी ओर तन जाना या किसी ओर ऐसा मुड़ जाना कि शीघ्र सीधा न हो। मुरक, मोच, मुरड।

कांई—देखो 'कांई' (रू.भे) उ०—राजा दोनां री हकीकत पूछी सौ आगै झगड़िया तिकौ हीज झगड़ौ ठीक कांई पड़ै नहीं।
—पलक दरियाव री वात

कांईक–वि०—कुछ। उ०—ताहरां राजा ब्रहदभांण कह्यौ—तूं ही कांईक पुण्य कर।—पलक दरियाव री वात

कांक—देखो 'कंक' (१) (रू.भे.) २ देखो 'कांख' (रू.भे)

कांकड़–सं०पु० [सं० कंकट] १ सीमा, सरहद। उ०—पैलां कांकड़ पीव घर, बीच बुहारे खेत। पण पग पाछा देण रौ, हुलसै अच्छर हेत।—वी.स. २ जंगल, वन।

कहा०—१ कांकड़ कौ गोटियौ गांम में माजनौ पाड़ै—जंगल में रहने वाले आदमी से मित्रता करने पर वह असभ्यतापूर्ण व्यवहार कर प्रतिष्ठा भंग करता है. २ कांकड़ वाण्यां फारगती अर गांव में ज्यूं का त्यूं—महाजन डरपोक व्यक्ति होता है अतः कहीं कर्जदार व्यक्ति से डराये धमकाये जाने पर तो नम्रता से कह देता है कि मेरा कोई लेन-देन बाकी नहीं परन्तु ज्यों ही अपने सुरक्षित स्थान पर आता है तो फिर वही कर्ज पूरा का पूरा मांगने के लिए तैयार हो जाता है। प्रतिकूल परिस्थिति में जो बहुत सीधा व भला बनता है पर अनुकूल परिस्थिति में उद्दंड हो जाता है, ऐसे स्वार्थी व डरपोक व्यक्ति के लिए प्रयुक्त होने वाली कहावत।

३ क्षेत्रफल।

कांकड़-डोरड़ी, कांकड़-डोरणौ–सं०पु० [सं० कंकणदोरक] देखो 'कांकण' (२)

कांकड़ेल–सं०पु०—१ सरहद पर रहने वाला. २ वीर, योद्धा।

कांकण–सं०पु० [सं० कंकण] १ कंगन, कंकण. २ दूल्हे व दुल्हिन के पैर व हाथ में बांधा जाने वाला रंगीन सूत का वह मांगलिक धागा जिसमें लोहे की छोटी कड़ी, लाख व कपर्दिका आदि गुंथी रहती हैं। (यौ० कांकणडोरौ) ३ युद्ध। उ०—कांकण समै कुवेलियां, सरकण तणौ सुभाव। निगणा फिर रोपै नहीं, पाव घड़ी ही पाव।
—वां.दा.

कांकणछोड, कांकणछोडणौ–सं०पु०—विवाह की वह रस्म जब वर वधू का एवं वधू वर के हाथ व पैर में बंधा सूत का धागा खोलती है। (देखो 'कांकण')

कांकड़डोरड़ी, कांकणडोरौ–सं०पु० [सं० कङ्कण-दौरक] देखो 'कांकण' (२)

कांकणस, कांकणियौ–सं०पु०—स्त्रियों की चोटी में गुंथी ऊन की डोरी। उ०—एक नमायां तुंड असि, उर लगि चिबुक अनोप। वण कांकणस जवार विधि, पांन कलंगी ओप।—रा.रू.

कांकणी–सं०स्त्री० [सं० कंकण] प्रायः चांदी का बना एक आभूषण जिसे स्त्रियां कलाई में धारण किया करती हैं (ऊ.का.)

कांकर–सं०स्त्री० [सं० कर्कर] १ कँकड़ीली भूमि। उ०—कांकर करही गारगज, थळ हैंवर थाकंत। अहुं ठौड़ हेकण तरह, चंगौ धवळ चलंत।
—वां.दा.

२ देखो 'कांकरौ'। उ०—ताळ सूक परपट भयौ, हंसा कहूं न जाय। प्रीत पुरांणी कारणै, चुग-चुग कांकर खाय।—अज्ञात

३ मीठे फलों वाला झाड़ीनुमा एक प्रकार का छोटा पौधा, इसके फूल गुलाबी रंग के होते हैं।

क्रि०वि०—कैसे। उ०—इसी वात म्हांसूं कही न जावै, म्हां तौ परतख्ये दरसण किया सौ इसी वातां कांकर कहां।
—पलक दरियाव री वात

कांकरड़ी–सं०स्त्री०—कंकरी, छोटा कंकर। उ०—पांणीड़ै जातां गोरी का साथवा घण पर कांकरड़ी कुण वायी म्हारा राज।—लो.गी.

कांकरी–सं०स्त्री० [सं० कर्कर] छोटा कंकर (अल्पा०)

कांकरोली–सं०स्त्री०—नाथद्वारे से नौ मील दूर उदयपुर डिविजन में स्थित एक कस्बा जो तीर्थ-स्थान माना जाता है।

कांकरौ–सं०पु० [सं० कर्कर] पत्थर या चिकनी ठोस मिट्टी का छोटा टुकड़ा, कंकड़। उ०—औ कुंवर खरच करतौ देखै क्युं नहीं, रुपीयौ कांकरौ बराबर कर खरचै।—चौबोली

कहा०—१ करम फूट नै कांकरा निकळिया—किसी की मूर्खता या बदकिस्मती पर. २ कांकरा कंवळा हुवै तौ स्याळिया कद छोडै—अगर कोई लाभ सहज में ही प्राप्त होता तो उसे कौन छोड़ेगा? ३ कांकरां नै हाथ घालतां रुपिया हाथ आवै—किसी भाग्यवान आदमी को बिना परिश्रम स्वतः धन मिलता है, भाग्यवान आदमी अगर हानिकारक वस्तु में भी हाथ डालता है तो वह भी लाभकारक हो जाती है ४ कांकरै री देसी जकौ पंसेरी री खासी—जो दूसरे को हानि या चोट पहुँचाता है उसे वापस बड़ी हानि या चोट अवश्य मिलती है।

कांकळ–सं०पु० [सं० किकाल अथवा कंकालय] १ युद्ध। उ०—मचियै कांकळ मदत री, वीर न देखै वाट। एक अनेकां नूं हिचै, छाती वजर कपाट।—वां.दा. २ सरहद (रू.भे. 'कांकड़')

कांकी, कांकै–सर्व०—किसकी, किसके।

तराजू जिसमें ऐसी सुई लगी रहती है।

मुहा०—१ कांटै री तोल—ठीक-ठीक, न कम न वेश. २ कांटै में तुलणी—बहुत मँहगा होना।

८ स्त्रियों के नाक में पहनने का एक आभूषण विशेष(मि० 'लूंग' (२), ९ बाधा. १० कष्ट. ११ राक्षस।

वि०—दुष्ट, आततायी। उ०—वीके दुरंग थापियौ वांकौ, कांटौ सरण उवेळ करौ।—महाराजा करणसिंह

कां'टौ—सं०पु०—१ दरवाजे की कुंडा।

कांटौ काढ़णियौ—सं०पु०—१ एक प्रकार का चिमटे के आकार का छोटा औजार जिसके आजू-बाजू में नुकीले सुइये लगे रहते हैं। इसकी सहायता से शरीर में गड़ा कांटा निकाला जाता है. २ कांटा निकालने वाला।

कांठळ—सं०स्त्री०—घनघटा, बादलों की घटा। उ०—काळी कांठळ में दामणियां दमकी। चित में कांमणियां विरहानळ चमकी।—ऊ.का.

कांठळि—सं०स्त्री०—१ देखो 'कांठलौ' (रू.भे.) २ देखो 'कांठळ'। उ०—काळी करि कांठळि ऊजळ कोरण धारे स्रावण धरहरिया।—वेलि.

कांठलियौ—सं०पु० [सं० कंठल] सोने की कंठी (मि० 'कांठलौ')
उ०—म्हारी बूढ़की नै तो कांठलियौ घणौ सुहावै है।—बरसगांठ

कांठळी—देखो 'कांठळ' (रू.भे.) उ०—काळी-काळी कांठळी, उजळी कोरण जोय। उत्तर दिस में ऊठियौ, जांण हिंवाळौ होय।—बादळी

कांठलौ—सं०पु० [सं० कंठल] स्त्रियों के गले में पहिनने का एक प्रकार का आभूषण, कंठुला। उ०—आगै बहुली जोगणी वैठी हुती तिण आपरा गळा री कांठलौ एक जड़ाव रौ 'मालदे' नूं दीयौ।—नैणसी

कांठायत—वि०—१ नदी के किनारे पर रहने वाला. २ अरावली पहाड़ पर निवास करने वाला।

कांठै—क्रि०वि०—पास, नजदीक, निकट। उ०—१ भाखर कांठै वाघ भड़ाला। डाकर सुण मेवास डरै।—इन्दरसिंघ राठौड़ री गीत
उ०—२ सूतौ बाहर नींद सुख, सादूळौ बळवंत। वन कांठै मारग वहै, पग-पग होल पड़ंत।—बां.दा.

कांठैलियौ—सं०पु० [सं० कंठ=पास] पहाड़ों के निकट रहने वाली एक जाति का व्यक्ति। यह जाति प्रायः लूट-खसोट से जीवन-निर्वाह करती है।

कांठौ—सं०पु०—१ सरहद, सीमा. २ किनारा, तट (नदी)
उ०—उरै गजराज रेवा नदी रै कांठै दूह ऊपरै पांच सै हाथी रै हलकै लीजां मोड़ी खबर करि नै रहीआ छै।—रा.सा.सं.
क्रि०वि०—पास, नजदीक।

कांड—सं०पु० [सं०] १ घटना, बुरी घटना. २ किसी ग्रंथ का विभाग जिसमें एक पूरा प्रसंग हो, खंड, प्रकरण, परिच्छेद. ३ धनुष के बीच का मोटा भाग. ४ बांण, तीर (डि.को.) ५ हाथ या पैर की सीधी लंबी हड्डी (अमरत)

वि०—कुत्सित, बुरा।

कांड-पट—सं०पु० [सं० काण्डपटः] पर्दा, यवनिका (डि.को.)

कांडी—सं०पु० [सं० काण्डीर] १ भील आदि जाति के व्यक्ति जो प्रायः धनुष-बांण रखते थे. २ धनुष।

कांडौ—सं०पु० [सं० काण्ड] १ कलह, टंटा, लड़ाई. २ देखो 'कांडी'।

कांण—सं०स्त्री०—१ मान, प्रतिष्ठा इज्जत। उ०—हुवै प्रथम धन हांण, घणौ तन पांण घटावै। कोई न राखै कांण, मांण परतीत मिटावै।—ऊ.का. २ लोकलज्जा, मर्यादा। उ०—गोला सूं कीजै गुसट, ऊभी गिणका आंण। लोपी छाकां लेण नूं, काका वाळी कांण।—बां.दा.

[सं० काण] ३ तराजू में पदार्थों को तोलते समय खाली तराजू में किसी एक तरफ पलड़े का झुकाव।

४ वडाई, महत्व। उ०—प्रांण छते जीवै पुरुस, कासूं ज्यांरी कांण। प्रांण गयां जीवै पुरुस, ज्यां जीवणौ प्रमांण।—बां.दा.

५ किसी मृत प्राणी के संबंधियों से नियत अवधि के अंदर समवेदना प्रकट करने के निमित्त जाना (यौ० कांण-मकांण) ६ एक आंख से काना होने का भाव. ७ एक आँख वाला (डि.को.) ८ संकोच. ९ हद, सीमा. [सं० कर्णक] १० लकड़ी तथा फल आदि में कीड़े पड़ जाने का वनस्पति का एक रोग विशेष जिससे लकड़ी व फल खोखले होकर तथा सड़ कर बेकाम हो जाते हैं।

[सं० काण] ११ फलित ज्योतिष के अट्ठाईस योगों में से एक योग (ज्योतिषबालबोध)

क्रि०वि०—लिये, वास्ते।

कांणकुरब—सं०पु०यौ०—मान, प्रतिष्ठा। उ०—अर बेटा नूं कहीया मांणसां री जसौ हूं मांन करतौ तींसूं सवायौ कांण-कुरब राखज्यौ—सूरे खींवे री वात

कांणणरांण—सं०पु० [सं० कानन+राट्] वनराज, सिंह। उ०—महाबळ कांणणरांण मलंग, दारू भख जांण ऋसांण दमंग।—मे.म.

कांणम—देखो 'कांण' (३)

कांणाद—सं०पु०—१ कणाद ऋषि (वं.भा.) २ वैशेषिक शास्त्र (वं.भा)

कांणि—सं०स्त्री०—मान, प्रतिष्ठा। उ०—काळौ नाग री कांणि राखी न काई, वकी वाळ मूंछी चढावेन वाई।—ना.द.

कांणियर—सं०पु०—१ कनियर या कनेर का पौधा. २ कनक चंपा का पौधा।

कांणी—सं०स्त्री०—देखो 'कांणि' (रू.भे.) 'कांणौ' का स्त्री० लिंग।

कां'णी—सं०स्त्री—कहानी।

कांणी दीवाळी—सं०स्त्री०—दीवाली का पहला दिन, रूपचतुर्दशी।

कांणठौ—सं०पु०—दाढ़ और चौके के मध्य का दांत विशेष। चौप्पड़

कांणौ—वि० (स्त्री० कांणी) [सं० कण=निमीलने+घञ् काण] १ एक नेत्र वाला।

मुहा०—१ कांणी रै व्याव नै सौ जोखा—जहां कोई भी त्रुटि हो

कांचि, कांची–सं०पु०—१ कौआ. २ कर्धनी, मेखला (अ.मा.) ३ सप्तपुरियों के अंतर्गत एक पुरी। उ०—देवी कहां द्वारामती कांचि कासी देवी सातपुरी परम्मां निवासी।—देवि.

कांचीपद–सं०स्त्री० [सं०] कमर, कटि (डिं.को.)

कांचु, कांचुओ, कांचू–सं०पु० [सं० कंचुक] कंचुकी, चोली (डिं.को.) उ०—१ गळि पइहरचौ टंकाउळि हारि, पहिरि पदारथ कांचु वड।—वी.दे.

उ०—२ सुरतांत-समय हुवौ छै, महलां री हवा मांणीजै। कांचुआं री कस छूटी—रा.सा.सं. उ०—३ सोपारी सा कठोर कुच वाटळा तीखा कांचू वीच विराजि छै।—रा.सा.सं.

कांचौ–सं०पु०—कौआ।

कांछा–सं०स्त्री० [सं० कांक्षा] १ इच्छा अभिलाषा, चाह (डिं.को.) २ लोभ।

कांजर, कांजरियौ–सं०पु० (स्त्री० कांजरी) कंजर नामक जाति का व्यक्ति।

कहा०—कांजर की कुत्ती कठै जावती व्यावै—कंजर की कुतिया न जाने कहां जाकर प्रसव करे। अनिश्चित स्वभाव वाले व्यक्ति के लिये।

कांजिक, कांजी–सं०स्त्री० [सं० कांजिकम्] मट्ठा मिला कर खट्टा किया हुआ एक प्रकार का पेय पदार्थ जो मंदाग्नि व अजीर्ण के रोगियो के लिये औषधि के रूप में प्रयुक्त होता है (डिं.को.) उ०—पुरख स्रवण प्याली भरै, चुगली कांजी चाड। मन पय हिय प्याला महां, वेगी दिये विगाड़।—बां.दा.

कांजणौ, कांजवौ–क्रि०अ०—देखो 'कंझणौ, कंझवौ' (रू.भे.)

कांझर–वि०—नीच।

सं०पु०—देखो 'कांजर' (रू.भे.)

कांट–सं०स्त्री० [सं० कंटक] १ 'भुरट' नामक घास के महीन कांटे. २ ग्वार, मोठ आदि निकालने के वाद शेष रहा फली का भूसा। (क्षेत्रीय)

कांटकटीलौ–वि० अनु०—कँटीला।

कांटकांटाळी, कांटकिटाळी–वि०—कांटों से परिपूर्ण। उ०—सांड टोरड़्या टोड, कोड कर कांटकिटाळी। लफलफ लेता वुगाळ, सूंत खेजडली डाळी।—दसदेव

कांटरखी–सं०स्त्री०—पगरक्षिका, जूती (अ.मा.)

कांटा काढ़णियौ—देखो 'कांटौ काढ़णियौ' (रू.भे.)

कांटाळ, कांटाळौ–सं०पु० [सं० कंटक] १ एक प्रकार का घास जिसे प्राय: ऊँट खाते हैं. २ सिंह। उ०—आळ भयंकर कांन अलवै टाळै नहीं, कांई कांटाळ खळ नाहरां हिये खेड़ेचौ आठ् पोहर करे गढ़ आळा।—राव रायपाळ रो गीत ३ वीर, योद्धा। उ०—परगह घट लियां सीघ रै प्राक्रम, रवताळै गाढ़ा पग रोप। कियौ अमल रजवट कांटाळै, आंटाळै ठाकुर आसोप।—गिरवरदांन सांदू

४ सांप, विच्छु आदि।

वि०—कंटीला, कांटों से युक्त।

कांटावेढ़–सं०पु०—वह मकान जिसके चारों ओर कांटों का अहाता वना हुआ हो। उ०—सायर तणी सरस साई दळ, मरिवा चलण मांडियां मेढ़। माझी मेर 'नगौ' मोरवळी, विढ़ियौ रहियौ कांटावेढ़।—दूदौ आसियौ

कांटियौ–सं०पु०—लोहे का एक उपकरण जो नीचे से दोनों ओर हुक के आकार में मुड़ा होता है और गाड़ी के ऊपरी मुख्य चौड़े तख्ते (थाटे) के दोनों ओर लगे डंडों की वाजू में लगाया जाता है. २ हँसली की हड्डी. ३ हँसिया. ४ हृदय, दिल. ५ कफन।

कांटी–सं.स्त्री०—१ एक प्रकार का भूमि पर छितराने वाला क्षुप, इसके फूल पीले व वेंगनी होते हैं। उ०—साटौ घास सिनावड़ौ जी, वेकरियौ नें कांटी। सळियौ खेत करै नी जद तक, खेती वधै न लांठी।—रेवतदांन

२ वहुमूल्य पदार्थ तथा औषधियां तोलने का छोटा तराजू. ३ मांडी। वि०—समान, सदृश, वरावर। उ०—रूपसिंह केहर का केहर के कांटे, लड़ाई के पाये धन वधाई वांटे।—रा.रू.

कांटौ–सं०पु० [सं० कंटक] १ पेड़-पौधों या घास का कड़ा तथा नुकीला टुकड़ा, कंटक, कांटा।

क्रि०प्र०—गडणौ, चुभणौ, धँसणौ, निकळणौ, नीसरणौ, लागणौ। मुहा०—१ कांटा विछावणा. २ कांटा वोना—अनिष्ट करना, वाधा पैदा करना. ३ कांटा सौ खटकणौ—वुरा लगना, अखरना. ४ कांटां माथै रैवणौ (लोटणौ)—कष्ट में दिन विताना. ५ कांटां में उळझणौ—संकट में पड़ना. ६ कांटां में खींचणौ—आवश्यकता से अधिक प्रशंसा करना, वहुत कष्ट देना. ७ कांटां में घसीटणौ—देखो 'कांटां में खींचणौ'. ८ कांटां में फसणौ—कठिनाई में पड़ना. ९ कांटां में हाथ जाणौ—झंझट या उलझन में फँसना. १० कांटौ खटकणौ—संदेह होना, वुरा लगना, अखरना. ११ कांटौ चुभणौ—परेशान होना. १२ कांटौ चुभोणौ—परेशान करना. १३ कांटौ निकळणौ—वाधा या वेदना का मिटना. १४ कांटौ निकाळणौ (काढ़णौ)—संदेह दूर करना, पीड़ा कम करना।

कहा०—१ आपरा कांटा आपनै ईज भागै—खुद के विछाए हुए कांटे खुद को ही चुभते हैं। दूसरों का वुरा करने वाले का खुद का वुरा पहले होता है. २ कांटै सूं कांटौ निकळै—देखो 'कांटौ कांटै नै काढ़ै'. ३ कांटै सूं कांटौ काढ़णौ—जैसे का तैसा उत्तर देना। जैसे का इलाज तैसे से ही हो सकता है. ४ कांटौ कांटै नै काढ़ै—कांटे से कांटा निकलता है, जैसे का इलाज तैसे से ही हो सकता है। २ लोहे का नुकीला टुकड़ा. ३ लोहे का मुड़ा हुआ अंकुड़ा. ४ सर्प-विच्छू आदि विषैले जन्तु. ५ विच्छू का डंक. ६ वह सुई जो तराजू की डांडी के मध्य भाग में लगाई जाती है और जिसके विल्कुल सीधे रहने से तौल वरावर ठीक माना जाता है. ७

कांधमल–वि० [सं० स्कंध+मल्ल] १ योद्धा, वीर। उ०—'मालदे' दूसरा तूझ भय कांधमल, जीव हात लहरण हीये जकिये। केवियां देवड़ै किया घर कंदरे, तन रहण अतीतां तणै तकिये।—दुरसौ आढ़ौ
२ सहायता करने वाला, सहायक।

कांधल–सं०पु०—१ सोलंकी वंश के क्षत्रियों की एक शाखा अथवा इस शाखा का व्यक्ति. २ राठौड़ वंश की एक उप-शाखा या इस उप-शाखा का व्यक्ति (बां.दा. ख्यात)

कांधलोत–सं०पु०—राठौड़ों की एक उप-शाखा जो राव रिड़मल के पुत्र कांधल से आरम्भ हुई मानी जाती है या इस शाखा का व्यक्ति।

कांधाळ–वि० [सं० स्कंध+आलु] बड़े कंधे वाला, बहादुर, वीर।
उ०—धुणियाळ वांहाळ वेटाळ धुवं, हटियाळ कांधाळ अकाळ हुवं।
—पा.प्र.

कांधिया–सं०पु० [सं० स्कंध+रा० प्र० या अथवा स्कांधिक] १ गिरासिया जाति के मृतक के उद्देश्य से बारहवें दिन दिया जाने वाला भोज जिसमें मक्की का दलिया और बकरे का मांस बनाया जाता है.
२ देखो 'कांधियौ'।

कांधियौ–सं०पु० [सं० स्कांधिक] वह व्यक्ति जो किसी के शव को श्मशान ले जाने के उद्देश्य से सीढ़ी में अपना कंधा लगाता हो।
(बहु० 'कांधिया')

कांधी–सं०स्त्री० [सं० स्कंध] कंधा (अमरत)

कांधेलौ, कांधोटौ–सं०पु०—१ सर्दी के समय घोड़े की पीठ पर ओढ़ाया जाने वाला एक वस्त्र विशेष. २ कंधे का सहारा।

कांधोधरौ–वि०—१ बड़े कंधों वाला, वीर. २ सहायक (रा.रा.)

कांधौ–सं०पु० [सं० स्कंध] कंधा। उ०—गळियोड़ा सब गात, गजब कांधा गळियोड़ा।—ऊ.का.
कहा०—कांधा माथै छोरौ नै गांव में ढंढोरौ—कंधे पर बालक के होते हुए भी उसे गांव में ढूंढते फिरना। बेखबर व्यक्ति को अपने पास की वस्तु का भी ध्यान नहीं रहता है।

कांन–सं०पु० [सं० कर्ण] १ श्रवणेन्द्रिय, कर्ण, कान।
पर्याय०—करण, कांनड़ा, गोस, घुनिग्रह, धुनीग्रह, पिंजूस, वाड्कवर, सबदग्रह, सरवण, सांभळण, सुणण, सुरति, स्रव, स्रवण, स्रुति, स्रोत।
मुहा०—१ कांन उठाणा—सुनने के लिए तैयार होना, होशियार होना. २ कांन कतरणा—होशियारी में खूब बढ़ा-चढ़ा होना, धोखे में डाल देना. ३ कांन काटणा—देखो 'कांन कतरणा'.
४ कांन खड़ा करणा—होशियार होना. ५ कांन खड़ा होणा—ध्यान आना, होशियार होना. ६ कांन खाणा (खावणा)—बार-बार कहना, हल्ला करना. ७ कांन खुलणा—सचेत होना, भविष्य के लिए सावधान होना. ८ कांन खोलणा—सचेत करना, सावधान करना. ९ कांन दवणा—दबाव पड़ना. १० कांन दबाणा—दबाव डलाना. ११ कांन देणा—ध्यान से सुनना. १२ कांन पकड़णौ—सावधान करना, न करने का प्रण लेना, अपराध स्वीकार करना, साधारण सजा देना, जबरदस्ती कराना, दबाव डालना. १३ कांन पकड़'र निकाळ देणौ—अपमान से निकालना, डांट-डपट कर निकालना. १४ कांन पड़ी अवाज नी सुणीजणी—बड़ा शोर होना. १५ कांन पाकणा—सुनते सुनते ऊब जाना.
१६ कांन फाटणा—तेज आवाज से परेशान होना १७ कांन फूंकणा—शिकायत करना, चेला बनाना. १८ कांन भरणा—शिकायत करना. १९ कांन माथै जूं नी रेंगणी—तनिक भी ध्यान न देना, लापरवाह होना. २० कांन माथै हाथ धरणौ (रखणौ)—सहम जाना, अजानकारी बतलाना. २१ कांन में ठेठी लगाणी—न सुनाई देना. २२ कांन में डालणौ (घालणौ, न्हांखणौ)—लापरवाही से बता देना, कह देना. २३ कांन में तेल डाल'र बैठणौ—सुनी-अनसुनी करना, लापरवाह होना. २४ कांन में पड़णौ—सुनाई देना. २५ कांन में फूंकणौ—देखो 'कांन भरणा'. २६ कांन में रूई घाल'र बैठणी—सुनी-अनसुनी करना, लापरवाह होना.
२७ कांन लगाय नैं सुणणौ—प्रत्येक शब्द को ध्यान से सुनना.
२८ कांन लगाणा—ध्यान देना, ध्यान से सुनना. २९ कांनाफूंसी करणी—धीरे-धीरे बात करना, छिप-छिप कर आलोचना करना.
३० कांनां में आंगळी घालणी—जान-बूझ कर न सुनना.
३१ कांनां रा पड़दा फाटणा—तेज आवाज से परेशान होना.
३२ कांनां रौ काचौ होणौ—सुनी बात या शिकायत का जल्दी विश्वास करने वाला होना, सुन कर कह देने वाला होना. ३३ कांनां री मैल निकळवाणौ—सुनने योग्य होना (व्यंग्य) ३४ कांनां सूं कांम लेणौ—इधर-उधर सुन कर अपना हित-अहित समझ कर निर्णय या कार्य करना. ३५ कांनोकांन खबर नी होणी—बिल्कुल पता न चलना।
कहा०—१ अंधारै में किसौ कांन में कवौ जावै—अंधेरे में कौनसा ग्रास मुंह के बजाय कान में चला जायगा। अभ्यास हो जाने पर कोई काम अंधेरे में भी किया जा सकता है। उचित वस्तु या विशेष अंग अपना उचित स्थान स्वयं खोज लेते हैं. २ कांन अर आंख में च्यार आंगळ रौ फरक है—सुनी हुई बात का कम विश्वास करना चाहिए क्योंकि सुनी हुई बात व देखी हुई बात में बहुत फर्क होता है.
३ कांनां खूस'र हाथ में आग्या—मूर्खता का काम करने पर.
४ कांन फड़ावौ तौ लाडूवास जावौ—जो कार्य जिस जगह का होता है वह वहीं ठीक तरह से संपन्न हो सकता है. ४ कांन लिया है रतोर रा व्है ज्यूं—बड़े कानों के प्रति व्यंग्य. ६ कांनां मांयै कंइ बांदरा मूत्या है—आवाज देने पर भी किसी के नहीं सुनने पर.
७ कांनां में कंइ ठेठी घाल राखी है—आवाज देने पर भी किसी की नहीं सुनने पर. ८ कांनां री लोळ अर पेट की झोळ बढ़ावौ जतरी बढ़ै—कान के नीचे का भाग और पेट की झोल जितनी बढ़ाई जायगी उतनी ही बढ़ जायगी. ९ कांनिया मांनिया कुरर, यूं चेला

वहाँ बड़ा भय रहता है. २ कांणी कोडी नी होणी—बिल्कुल कंगाल होना।

कहा०—१ एक तिल तिकोई कांणी—थोड़ी तो वस्तु वह भी खराब. २ कांणा कांणा राड़ काहे री कै आंख रै डोळै री—ओछे आदमी निरर्थक वस्तुओं के लिए लड़ पड़ते हैं. ३ कांणा कुचमादी व्है—काना मनुष्य चालबाज होता है. ४ कांणा खोड़ा कायरा, सिर सूं गंजा होय—काना, लँगड़ा, भूरी आंखों वाला एवं गंजा व्यक्ति कभी भले नहीं होते. ५ कांणा नैं कांणौ नी कीजै, कह बतळाजे सैण। हळवै हळवै पूछजै, थांका कांसूं फूटचा नैण—काने को काना नहीं कहना चाहिए, बल्कि उसे मित्र कह कर संबोधन करना चाहिए तथा धीरे-धीरे उसे पूछना चाहिए कि आपकी आंख किस तरह चली गई। सदा मृदु आचरण से काम निकालना चाहिए. ६ कांणा नैं कैवै अर बाडौ लाजै—काने को कहते हुए टेढ़ा देखने वाला भी लज्जित होता है अर्थात् बड़े अपराध वाले को उसका अवगुण कहने पर छोटे अपराध वाला स्वयं लज्जित होता है. ७ कांणी पीठ में पड़ै—किसी स्थान के लिए प्रयोग होने वाला जो रास्ते से बहुत दूर कोने में पड़ता हो. ८ कांणी बाई छाछ घाल. ९ कांणी रांड छाछ घाल, मीठौ घणौ बोल्यौ नेटा दूध घाल सूं—जिससे काम निकालना हो उससे कड़वे वचन बोलने से बात नहीं बनती। उससे मीठा बोलना चाहिये १० कांणी रौ काजळ भी सरायौ—किसी के साधारण पहनावे या लाभ की भी काफी प्रशंसा करने पर. ११ कांणी रौ काजळ ही कौ सुवावै नी—किसी के साधारण पहनावे को या लाभ को जब कोई टोके तब कही जाती है. १२ कांणौ कागलौ कद कुंड में पड़ै—चालाक व धूर्त व्यक्ति अपनी हानि कभी नहीं होने देता. १३ कांण्यौ कजरौ कायरौ, चपट मुखौ मुख भूर। ओछी गरदन दांतलौ, तासूं रीजै दूर—काना, कजरी आंखों वाला, भूरी आंखों वाला, चपटे मुँह वाला, भूरी मूंछों वाला, ओछी गरदन वाला तथा जिसके दाँत बाहर निकले हुए हों इनसे सदा दूर रहना ही उचित है।

यौ०—कांणी-कोचर, कांणी-कोचरौ, कांणी-कोजौ, कांणी-कोलर, कांणी-घूंघटौ।

२ जिसका कुछ भाग कीड़ों ने खा लिया हो, कन्ना (फल आदि के लिये)

यौ०—कांणौ-काचौ, कांणौ-कुरलौ, कांणौ-कोचर, कांणौ-कोचरौ, कांणौ-कोजौ, कांणौ-कोलर।

सं०पु०—१ शुक्राचार्य. २ देखो 'कांइणौ'।

कांणौघूंघट, कांणौघूंघटौ—सं०पु०—दो अंगुलियों की मुद्रा से घूंघट को इस प्रकार से स्थित करना कि आंख के अतिरिक्त चेहरा बिल्कुल न दीखे। उ०—आंणौ आयोड़ी जळ में जळ पीणी, कांणघूंघट में कळपै कळहीणी।—ऊ.का.

कांणौसूकर—वि०—शुक्राचार्य के समान एक आंख वाला, काना।

कांण्हड़ौ—सं०पु० [सं० कृष्ण, प्रा० कण्ह+रा० प्र० ड़ौ] श्रीकृष्ण।

उ०—जनम जनम री कांण्हड़ौ म्हारी प्रीति बुझाय।—मीरां

कांत—वि० [सं०] सुंदर, अच्छा (ह.नां.)

सं०स्त्री० [सं० कांति] १ शोभा, प्रभा। उ०—कौ हीरा कणियांह अलौकिक कांत री, पूछे कौ कथ कुंद कळी रैं पांत री।—बां.दा. २ यश।

सं०पु० [सं०] ३ पति, प्रियतम। उ०—हालू रा अनुज रोपाळ री पत्नी आपरा कांत नूं इण रीति भणियौ।—वं.भा.

कांतमणि—वि०—श्वेत॰ (डि.को.)

कांतर—सं०पु०—वरुण (ह.नां.)

कांतलोह—सं०पु०[सं०] एक प्रकार का बढ़िया लोहा। उ०—तुरंग दोय गजराज पैंताळीस कांतलोह मय खग, च्यारि रंगदार चांमर साथ दे'र सारंगदेव नूं गजनवी बिदा कीधौ।—वं.भा.

कांता—सं०स्त्री०—१ सुंदर स्त्री. २ पत्नी (डि.को.)

कांतार—सं०पु० [सं०] सघनवन, महावन (ह.नां.)

कांति—सं०स्त्री० [सं०] १ रोशनी. २ दीप्ति, शोभा। उ०—अर उबह सोहाग की कांति मुख के विखैं जैसे प्रगट होइ छैं।—वेलि. टी.

कांतिलोह—सं०पु०—देखो 'कांतलोह'।

कांती—सं०स्त्री० [सं० कांति] १ देखो 'कांति' (रू.भे.) उ०—सुंदरता लज्जा, प्रीति, सरसती, माया, कांती, क्रिपा मती।—वेलि. टी.

२ रुकमणी की एक सहचरी (वेलि.)

कांतिर—सं०स्त्री०—एक प्रकार की कांटेदार झाड़ी।

कांतिरण—सं०स्त्री०—एक प्रकार की फैलने वाली कांटेदार झाड़ी।

कांतौ—सं०पु०—देखो 'कांत' (३)

कांथड़ी—सं०स्त्री० [सं० कंथा] संन्यासियों के पहिनने-ओढ़ने की गुदड़ी जो चिथड़ों को जोड़ कर बनाई जाती है, कंथड़ी। उ०—जे पहिरइ मुद्रा कांथड़ी, आवइ जती जोगी कापड़ी।—कां.दे.प्र.

कांदसीक—वि० [सं० कान्दिशीक] भयभीत, भयद्रुत। उ०—प्रहरणता कांदसीक प्रतिपच्छी बने, पदग्रस्त बुल्लत बिलोकि रक्त नाळों को।—बालाबक्श बारहठ

कांदौ—सं०पु० [सं० कंद] प्याज (डि.को.) उ०—ओगण सह कर एकठा, विदुर वणायौ वेह। जा मझ कांदा छोत जिम, छिदरां री नह छेह।—बां.दा.

कहा०—१ कांदे रा छूंतरा उतारणा चोखा कोनी—तकरार या विवाद को बढ़ाने से कोई लाभ नहीं होता, उसको शीघ्र निपटा देना अच्छा होता है. २ कांदे रा छूंतरा उतारै जिता ही उतर जावै—चाहने पर तकरार या विवाद को बढ़ाना सरल है।

[सं० स्कंध] २ कंधा (रू.भे.)

कांध—सं०स्त्री० [सं० स्कंध] १ कंधा. २ शवयात्रा में शव के ले जाने के उपकरण में कंधा लगाने का भाव। उ०—पातसाह आपरी जणणी नूं कांध दियौ।—बां.दा.

मुहा०—कांध देणी—मृत व्यक्ति की अर्थी को उठाने में सहयोग देना, शवयात्रा में शामिल होना।

ही होता है; प्रायः दोषी व अपराधी व्यक्ति द्वारा येन केन प्रकारेण कागजों में अपनी निर्दोषिता की खानापूरी करवा लेने पर.
कानून की कार्यवाही केवल कागजों में ही चलती है। केवल अपनी मनमानी करने वाले और उजड्ड व्यक्ति की धारणा ऐसी होती है। उसे कानून के महत्व में विश्वास न होकर उसे अपनी मनमानी में विश्वास होता है।

कानूनन–क्रि०वि०—कानून के अनुसार, नियमानुसार।

कानैं–क्रि०वि०—१ तरफ, ओर. २ पास. ३ दूर। उ०—विरह दरद उरि अंतरि मांही, हरि बिन सब सुख कानैं हो।—मीरां

कानोता–सं०पु०—मिरासियों की एक जाति विशेष (मा म.)

कानौ–सं०पु०—१ 'आ' की मात्रा का चिन्ह. २ बरतन के मुँह का छोर. ३ पार्श्व, बगल, किनारा। उ०—राजड़ कियौ रांण छळ रूड़ौ, कानौ दे नीसरूं कठै। अरि घोड़ौ फेरण किम आवै, तोरण घोड़ौ लियौ तठै।—नरु अमरावत बारहठ रौ गीत
मुहा०—१ कानौ देणौ—दूर करना, अलग करना या छोड़ना.
२ कानौ लेणौ—दूर होना, किनारा करना, अलग होना।
कहा०—मूरख रौ कांनौ लेणौ चोखौ है—मूर्ख व्यक्ति से दूर रहना ही अच्छा है।
[सं० कृष्ण] ४ श्रीकृष्ण। उ०—टेक छौंपा तणी देख दुख टाळियौ, छांन बंधवाळियौ नहीं छांना। वरतियौ रह्यौ मेटण चिंता वांणियै, किताई करूं वाखांण कांना।—ब्रह्मदास दादूपंथी
क्रि०वि०—दूर, अलग, पृथक।

कान्सल–सं०पु० [अं० कांसल] १ राजदूत. २ वाणिज्य-दूत।

कान्ह–सं०पु० [सं० श्रीकृष्ण] (रू.भे.) उ०—अपणउ गोकुळ तणउ उवारियउ, कान्ह प्रवाड़उ किस्यउ कळि।—चौथ बारहठ
वि०—श्याम वर्ण, धूमिल, हल्का काला* (डि.को.)

कान्ह कंवर–सं०पु०यौ० [सं० कृष्ण+कुमार] श्रीकृष्ण।
उ०—कान्ह कंवर सौ वीरौ मांगां, राई सी भोजाई।—लो.गी.

कान्हड़–सं०पु० [सं० कृष्ण] श्रीकृष्ण (पिं.प्र.) उ०—मुजि बळिभद्र कान्हड़ सकज।—ह.नां.

कान्हड़ी–सं०स्त्री०—दीपक राग की पत्नी मानी जाने वाली एक रागिनी (संगीत)

कान्हड़ौ–सं०पु० [सं० कृष्ण] श्रीकृष्ण (रू.भे.) उ०—रटियौ हरि गजराज, तज खगेस धायौ तठै। आ कंइ देरी आज, करी इती तैं कान्हड़ा।—रांमनाथ कवियौ [सं० कर्णाट] एक राग जो मेघ राग का पुत्र माना जाता है। इसमें सातों स्वर लगते हैं (संगीत)

कान्हरौ, कान्हौ–सं०पु० [सं० कृष्ण] १ श्रीकृष्ण। उ०—जमना किनारै कान्हा धेनु चरावां, बंसी बजावां मीठी वांणी।—मीरां
२ श्रीकृष्ण के वंशज, यादव।

कान्हावत–सं०पु०—राठौड़ों की एक उपशाखा जो राव चूंडा के पुत्र कान्ह से आरंभ हुई मानी जाती है।

कान्हीं–क्रि०वि०—तरफ, ओर (रू.भे. 'कांनी') उ०—तद मोहनसिंह नूं छोड़ कईंक तखत री पूठ कान्हीं खड़ा था।—पदमसिंह री वात

कान्ह–सं०पु० [सं० कृष्ण] श्रीकृष्ण (डि.को.)

कान्है–क्रि०वि०—१ पास, निकट. २ तरफ, ओर।

कान्हौ–सं०पु० [सं० कृष्ण] १ श्रीकृष्ण. २ 'आ' की मात्रा का नाम (मि० 'कांनौ')

कांप–सं०स्त्री०—तालाबों का पानी सूखने पर ऊपर पपड़ी की तरह जमी रहने वाली बहुत महीन मिट्टी (क्षेत्रीय)

कांपणी–सं०स्त्री०—१ कँपकँपी। उ०—पाखती नेत्र झळमळाट करै छै राव नै कांपणी छूटी।—डाढ़ाळा सूर री वात २ एक रोग विशेष जिसके कारण शरीर हमेशा कांपता रहता है।

कांपणौ, कांपबौ–क्रि०अ० [सं० कंप] १ हिलना कांपना. २ डरना, थर्राना। उ०—कांपिया उर कायरां असुभ कारियौ गाजंते नीसांणे गड़ड़ै।—वेलि.
कांपणहार, हारौ (हारी), कांपणियौ—वि०।
कांपाणौ, कांपावौ—प्रे०रू०।
कांपिओड़ौ, कांपियोड़ौ, कांप्योड़ौ—भू०का०कृ०।

कांपळिया–सं०स्त्री०—चौहान वंश के क्षत्रियों की एक शाखा (नैणसी)

कांपाणौ कांपावौ–क्रि०स० (प्रे०रू०)—१ हिलाना, कंपाना.
२ डराना, भयभीत करना।

कांपियोड़ौ–भू०का०कृ०—हिलाया हुआ, कांपा हुआ, डरा हुआ।
(स्त्री० कांपियोड़ी)

कांपीजणौ, कांपीजबौ–क्रि० भाव वा०—१ हिला जाना, कांपा जाना.
२ डरा जाना, भयभीत हुआ जाना।

कांब–सं०स्त्री० [सं० कंब] हरे वृक्ष की ताजी छड़ी। उ०—लांबी कांब चटक्कड़ा, गंय लंबावइ जाळ। ढोलउ अजे न वाहुड़इ, प्रीतम मो मन साल।—ढो.मा.

कांवड़–सं०पु०—चमार जाति का याचक।

कांवड़ी–सं०स्त्री०—छड़ी (मि० कांब' रू.भे.) उ०—बांवळि कांई न सिरजियां, मारू मंझ थळांह। प्रीतम वाढ़त कांवड़ी, फळ सेवंत करांह।
—ढो.मा.

कांवड़ौ–सं०पु०—कपड़ा बुनने के निमित्त उपयोग में ली जाने वाली लंबी, पतली, हल्की लकड़ी, छड़ी या सरकंडा।

कांवळ—देखो 'कंवल'। उ०—कोई कोमळ नरम वसत्रां करि अर कोई कांवळा करि।—वेलि. टी.

कांवळियौ, कांवळो—सं०पु०स्त्री०—देखो 'कंवळ' (अल्पा०)
कहा०—ज्यूं ज्यूं भीजै कांवळी त्यूं त्यूं भारी होय—ज्यों ज्यों कंवल भीगता है त्यों त्यों भारी होता है; संपत्ति बढ़ने के साथ लालच या अभिमान भी बढ़ता है। किसी बात या विवाद को अधिक बढ़ाने से वह उत्तरोत्तर अधिक हानिकारक या कष्टदायक होता जाता है।

कांवळी—देखो 'कंवळ' (महत्व०)

हम गुरर्—किसी को वहकाने या अपने प्रभाव में लाने पर, वच्चों को वहकाने के लिए।

[सं० कृष्ण] २ श्रीकृष्ण। उ०—तूं ही ज कांन गवाळियौ, तूं कंस कहांणा।—केसोदास गाडण

३ वंदूक की नली के ऊपर का लोहे का अवयव जिस पर टोपी रखी जाती है, लूंग. ४ वह गाय जो वच्चा न देती हो (पवित्र) (मि० 'कांन गाय')

कांनकुचरणियौ—सं०पु०—धातु का बना छोटी कलछीनुमा कान से मैल निकालने का एक उपकरण।

कांनकुब्ज—सं०पु० [सं० कान्यकुब्ज] १ कन्नौज (डिं.को.) २ ब्राह्मणों का एक भेद।

कांनखजूरौ—सं०पु०—कनखजूरा नामक एक कीड़ा (अमरत)

कांनगाय—सं०स्त्री०—वह गाय जो ऋतुमती नहीं होती व गर्भ धारण नहीं करती (पवित्र)

वि०—वुजदिल कायर।

कांनड़. कांनड़ौ—सं०पु० [सं० कृष्ण] १ श्रीकृष्ण, ईश्वर (ह.नां.) उ०—मांनस अंतहकरण ह्रदै मझि सदा समरि कांनड़ समथ। —ह.नां.

[सं० कर्ण+रा० प्र० ड़ौ] २ कान, कर्ण। उ०—छाळी हुंदा कांनड़ा, एवाळां आधीन। वस चुगलां रै सरव विध, कांन सठां इम कीन। —वां.दा.

३ वस्त्र का छोर।

कांनजी—सं०पु० [सं० कृष्ण] श्रीकृष्ण। उ०—गाज ऊंडौ करै मेघ आया गयण, नागरी कांनजी घरे नाया।—वां.दा.

कांनजी आटम, कांनजी आटम—सं०स्त्री० [सं० कृष्ण+अष्ठमी] भाद्रपद मास के कृष्ण पक्ष की अष्ठमी। इस दिन श्रीकृष्ण का जन्म हुआ माना जाता है।

कांनझड़—सं०स्त्री०—कानों से सुन कर याद की गई कविता।

वि०—श्रुतिनिष्ठ।

कांनन—सं०पु० [सं० कानन] वन, जंगल (अ.मा.)

कांननचारी—सं०पु० [सं० काननचारिन्] ऋषि (अ.मा.)

वि०—वन में विचरण करने वाला।

कांननभूखी—सं०पु०—हरिण (अ.मा.)

कांनपसाव—सं०पु० [सं० कर्णप्रसाद] 'सुनना' क्रिया का भाव, कर्ण-गोचर। उ०—कीरत थारौ कुळ किसौ, सगी गोत सुभाव। कुळ म्हारौ कमळा कहै, कीजै कांनपसाव।—लछमी कीरत संवाद

कांनफाड़—सं०पु०—१ वह संन्यासी जो कान छिदवा कर उनमें मुद्रा या कुंडल धारण करता हो। उ०—गोदड़ कांनफाड़ जोगी जंगम सोफी संन्यासी संसार नूं भागा थका फिरै।—रा.सा.सं.

२ नाथ संप्रदाय का संन्यासी।

कांनली—क्रि०वि०—ओर की, तरफ की। उ०—दरवार कांनली तो थे जमाखातर राखजो।—द.दा.

कांनवौ, कांनव्हौ—सं०पु० [सं० श्रीकृष्ण] श्रीकृष्ण (रू.भे.) उ०—किण न दीठौ कांनवौ, सुण्यौ न लीला संध। आप वंधांणा ऊखळै, वीजा छोडण वंध।—ना.द.

कांनस—सं०स्त्री०—१ अर्द्धवृत्ताकार का भाव. २ लोहे को साफ व चिकना वनाने का एक औजार. ३ मकान की दीवार के वाहर व भीतर दोनों ओर निकाली हुई लगभग तीन चार इंच चौड़ी पट्टी।

कांनसळाई, कांनसळायौ—सं०स्त्री०पु०—कनखजूरा नामक एक विषैला कीड़ा।

कांनहीयौ—सं०पु० [सं० कृष्ण] श्रीकृष्ण (रू.भे.)

कांनाकड़मत—सं०स्त्री०—ओ की मात्रा।

कांनाफूसी—सं०स्त्री०—१ धीरे-धीरे की जाने वाली वातें. २ छिप-छिप कर की जाने वाली आलोचना. ३ फुसफुसाहट।

कांनामात—सं०स्त्री०—व्यंजनों के लगाई जाने वाली खड़ी पाई की मात्रा यथा—ा

कांनावत—सं०पु०—सीसोदिया वंश के क्षत्रियों की एक शाखा या इस शाखा का व्यक्ति (वां.दा.ख्यात)

कांनासरिया—सं०स्त्री०—राठौड़ों की एक उपशाखा जो राव मल्लिनाथजी के पुत्र जगमालजी से आरंभ हुई मानी जाती है।

कांनिया—क्रि०वि०—तरफ, ओर। उ०—खसै चहुं कांनिया असारै। —वखतौ खिड़ियौ

कांनियौ—देखो 'कांन' (अल्पा.)

कांनी—क्रि०वि०—१ तरफ, ओर। उ०—समदर देख्यौ सूरज कांनी, गरज्यौ तीर उछाळी दे।—रेवतदांन

सं०स्त्री०—१ किनारा. २ वस्त्र का छोर।

कांनू—सं०पु० [सं० कृष्ण] १ श्रीकृष्ण (रू.भे.) उ०—कै वाई, थांने ईसर वर हेरां, तौ कै कांनू वर हेरां औ रांम।—लो.गी.

२ किनारा. ३ अलग, पृथक होने का भाव। उ०—लिछमीवर छांनूं कांनूं ले लीनूं। दीनन वंधू हुय दीनन दुख दीनूं।—ऊ.का.

कांनूगोई—सं०स्त्री०—१ कानून जानने का भाव. २ कानून का कार्य या पद।

कांनूगौ—सं०पु०—१ जमीन के वंदोवस्त विभाग का एक कर्मचारी विशेष. २ कानून जानने वाला व्यक्ति।

कांनूड़ौ—सं०पु० [सं० कृष्ण+रा० प्र० ड़ौ] श्रीकृष्ण। उ०—सखी म्हारै कांनूड़ौ काळजे की कोर।—मीरां

कहा०—कानूड़ौ कुळ में आयौ, रात वड़ी दिन छोटौ लायौ—भाद्रपद मास की कृष्ण जन्माष्ठमी से रातें वड़ी होने लगती हैं तथा दिन घटने लगता है।

कांनून—सं०पु० [अ०] राज्य के नियम, विधि, विधान, कानून।

कहा०—१ कांनून न कायदौ अर वडा हुकम में फायदौ—नियम कानून को दूर रख कर खुशामद से काम वनाने पर (मेवाड़)

२ कानून रा पग कागदां तांई—कानून का महत्व केवल कागजों पर

क्रि०प्र०—करणौ, चलणौ, होणौ।

मुहा०—१ कांम खुलणौ—कोई नया रोजगार या कारोबार आरंभ होना. २ कांम चमकणौ—किसी कारोबार में वृद्धि व प्रसिद्धि होना. ३ कांम बिगड़णौ—रोजगार नष्ट होना, व्यापार में घाटा आना. ४ कांम माथै जाणौ—अपने रोजगार की जगह जाना. ५ कांम सीखणौ—किसी रोजगार या व्यवसाय की शिक्षा लेना।

कहा०—कांमां ज्यांरा वांमा, करै ज्यांनै छाजै—जिस कार्य का जो अभ्यस्त है अथवा जिसका जो काम है वह उसी में सफलता पाता है, नया व्यक्ति हानि उठाता है।

१३ रचना, कारीगरी. १४ बेल-बूटे आदि नक्काशी का कार्य. (यौ० कांमदार)

१५ पदवी. १६ बादल (अ.मा.) १७ पृथ्वी (डिं.नां.मा.) १८ वीर्य्य. १९ यथेष्ट वार्ता. २० स्वीकार. २१ विष्णु. २२ तृष्णा (अनेका०) २३ छड़ी (दसदेव)

वि०—काला।

कांमअंकुर, कांमअंकूर-सं०पु०—स्तन, कुच जो कामदेव के अंकुर-स्वरूप माने जाते हैं. कामदेव को जाग्रत करने वाले स्थान।

उ०—मळयाचळ सुतनु मळै मन भौरै, कळीकि **कांमअंकूर** कुच।
—वेलि.

कांमकला-सं०स्त्री० [सं० कामकला] १ कामदेव की स्त्री. २ मैथुन, रति।

कांमकांता-सं०स्त्री० [सं० कामकान्ता] कामदेव की स्त्री, रति।

कांमकांमा-सं०स्त्री०—भवानी, दुर्गा जो सब इच्छाओं की पूर्ति करने वाली है।

कांमका-सं०स्त्री०—कामिनी, स्त्री (ह.नां.)

कांमकाळ-सं०पु० [सं० कामकाल] महादेव, शिव।

कांमकी-सं०स्त्री०—१ गनिका, वेश्या (अ.मा.) २ स्त्री, नारी (ह.नां.)

कांमकेळि-सं०स्त्री०यौ० [सं० कामकेलि] रति, मैथुन।

कांमकेळू-सं०पु०—कामलोलुप, विषयी। उ०—द्विज भयौ वेळू अजा-मेळू **कांमकेळू** वांम ए। जमदूत खेलू काळ वेळू, कंठमेळू ग्रांम ए।
—करुणासागर

कांमकौतूहळ-सं०पु०—रति-क्रीड़ा, संभोग। उ०—जलाल हमेसां महल गयौ रहै, खूब कांम-कौतुहळ करै।—जलाल बूबना री बात

कांमख-सं०पु०—पति, भर्ता (अ.मा.)

कांमखांनी-सं०पु०—एक मुसलमान जाति जो पहले हिन्दुओं के अंतर्गत थी।

कांमगा-सं०स्त्री० [सं० कामगा] कामधेनु (रू.भे.)

कांमड़िया-सं०स्त्री०—१ चमड़े को कमाने व शुद्ध करने का व्यवसाय करने वाली एक जाति विशेष. २ तंदूरे पर गाने-बजाने का कार्य करने वाली एक याचक जाति विशेष (मा.म.)

कांमड़ी-सं०स्त्री० [सं० कंबिका] छड़ी। उ०—इतरै में खींवे रै हाथ में **कांमड़ी** थी सौ अपूठे हाथ सूं वाही सौ टावर कूकियौ।
—सूरे खींवे री बात

कांमड़ीकसौ-सं०पु०—वह ऊँट जो चुटकनिया के प्रहार से चलता हो।

कांमचलाऊ-वि०—जिससे किसी प्रकार का काम निकल सके, कुछ अंगों में काम देने वाला।

कांमचोर-वि०—काम से जी चुराने वाला।

कांमछंद-सं०पु०—प्रत्येक चरण में दो गुरु वर्ण का वर्णिक छंद विशेष (पिं.प्र.)

कांमजुर-सं०पु० [सं० काम+ज्वर] अत्यधिक कामेच्छा के कारण एक प्रकार का होने वाला ज्वर, कामातुर होने का भाव।

कांमठ-सं०पु०—धनुष। उ०—कांमठां सूं तीर छूटियां मुंह आगै आंगा-आंगा पड़णै लागिया।—डाढ़ाळा सूर री वात

कांमठक-सं०पु० [सं० कामठक] धृतराष्ट्र के वंश का एक नाग जो जनमेजय के सर्प यज्ञ में मारा गया था।

कांमठड़ी, कांमठी-सं०स्त्री० [सं० कंबिका] चाबुक, छड़ी।

उ०—१ **कांमठड़ी** मत वाया औ पातळिया, गवरल रा दिन च्यार।
—लो.गी.

उ०—२ आली तोड़ी **कांमठी** लूंदारची लै, सड़कायी दोय'र च्यार जाजौ मरवौ लै।—लो.गी.

कांमठौ-सं०पु०—धनुष का वह भाग जो चंद्राकार होता है और जिस पर प्रत्यंचा चढ़ाने से पूरा धनुष बनता है। उ०—सब आदमी भला भला तीरमदाज वणी जळंध री घांमण रा **कांमठा** मुही रा तीर छै।—डाढ़ाळा सूर री वात

कांमड़उ, कांमड़ौ-सं०पु० [सं० कर्म] १ काम, कार्य. २ प्रयोजन।

उ०—१ मारवणी तूं अति चतुर, हीयइ चेत गिमार, जउ कंता सूं **कांमड़उ**, करहउ कांवे मार।—ढो.मा.

उ०—२ सूरां अर सतवादियां, धीरा एक मनांह। दई करेसी **कांमड़ा**, अरंड फळेसी तांह।—चौबोली

कांमण-सं०स्त्री० [सं० कामिनी] १ कामवती स्त्री, सुंदरी, युवती स्त्री (अ.मा.) उ०—नागा फिरै निराट, लोहड़ां री सांकळ लगै। छाती मिटै न छाट, माया **कांमण** मोतिया।—रायसिंह सांदू

[सं० कार्मणं] २ दूल्हे के विवाह-मंडप में आने पर गाया जाने वाला एक मारवाड़ी लोकगीत. ३ किसी को वश में करने का एक प्रकार का वशीकरण मंत्र (अ.मा.)

कहा०—बाई रा कांमण किया सवाग नै, पड़ गया दुवाग नै—भला करने के उद्देश्य से किये गये किसी कार्य का बुरा फल निकलना।

४ मालकोश राग की एक रागिनी (संगीत) ५ कड़ी उमस के कारण धातु के पात्र में पड़ने वाली श्यामता लिए हुए हल्की झांई। यह वर्षासूचक मानी जाती है। उ०—कांसी **कांमण** दौड़, आभौ लील रंग लावै।—वर्षा-विज्ञान ६ गुड़, नमक आदि पदार्थों में उमस के कारण नमी आने का भाव।

कांवीजणौ, कांवीजबौ–क्रि० अ०—१ पशुओं के पेट में मरोड़ा चलना. २ मादा पशुओं का ऋतुमती होना व प्रबल कामेच्छा करना।

कांवोज–सं०पु० [सं०] १ घोड़ा. २ एक देश का नाम।

कांवोजौ–सं०पु०—कांवोज प्रदेश का घोड़ा (डिं नां.मा.)

कांम–सं०पु० [सं० काम] १ कामदेव। उ०—वादळ काळा वरसिया, अत जळ माळा आंण। कांम लगौ चाळा करण, मतवाळा रंग मांण।
—वां.दा.

यौ०—कांमकळा, कांमकांता, कांमकेळि, कांमक्रीड़ा कांमदहण, कांमवांण, कांमरिपु, कांमसखा, कांमसर, कांमशास्त्र, कामारि।

२ शिव, महादेव. ३ इच्छा, मनोरथ (अनेकार्थ)

यौ०—कांमतरु, कांमधेनु।

४ इंद्रियों की स्व-विषयों की ओर प्रवृत्ति (कामशास्त्र)

५ मैथुनेच्छा (अनेका०).

मुहा०—कांम में आंधौ होणौ—कामेच्छा को विवेकहीन होकर पूर्ण करने का प्रयत्न करना।

यौ०—कांमज्वर, कांमवती, कांमवांन, कांमातुर, कांमी, कांमुक, कांमोद्दीपन।

६ चार पदार्थों में से एक. ७ आशा.

[सं० कर्म, प्रा० कम्म] ८ वह जो किया जाय, कार्य, व्यापार।

क्रि०प्र०—करणौ, देणौ, लेणौ, होणौ।

मुहा०—१ कांम अटकणौ—कार्य में वाधा उपस्थित होनी, हर्ज होना. २ कांम आंणौ—युद्ध में मारा जाना. ३ कांम करणौ—असर करना, संभोग करना, प्रयत्न में कृतकार्य होना. ४ कांम चलणौ—काम चालू रहना. ५ कांम चलाणौ—कार्य चालू रखना, किसी न किसी तरह करते रहना. ६ कांम तमांम करणौ—मार डालना, कार्य पूरा करना. ७ कांम तमांम होणौ—मारा जाना, मरना, कार्य पूरा होना. ८ कांम देखणौ—कार्य की देखभाल या जाँच करना. ९ कांम वणणौ—मामला या कार्य सधना. १० कांम विगड़णौ—मामला या कार्य विगड़ जाना. ११ कांम लागणौ—काम जारी होना. किसी कार्य में नियुक्त होना किसी वस्तु के निर्मित करने का अनुष्ठान होना. १२ कांम लेणौ—कार्य्य कराना।

कहा०—१ कांम करणौ मन री जांणियौ—अपने मन और विवेक के अनुसार ही कार्य करना चाहिये. २ कांम करवू आपणा हाथ में है, आळवू रांम ना हाथ में है—काम का फल ईश्वर के भरोसे छोड़ कर ही काम करना चाहिये. ३ कांम करै ऊधौदाम, जीम ज्याय माधोदास—जब कार्य कोई करता है और लाभ कोई उठाता है. ४ कांम करौ जोई विचारी ने करौ—सोच-विचार करके ही कार्य करना उचित है. ५ कांम करचा जकै कांमण करचा—कार्य करने वाला सबको वशीभूत कर लेता है. ६ कांम की वेळयां लाकड़ी खावा ने अर चावै छै ताकड़ी—जो कार्य कुछ न करे किन्तु खाने के लिए बहुत मांगे उसके लिए. ७ कांम के दो कूंचौ अर नांन्या ने लौ ऊंचौ—काम छोड़ो और बच्चे को लो (व्यंग्य), अधिक कामकाजी मनुष्य बच्चों को खिलाने में अधिक समय नहीं दे सकता. ८ कांम प्यारौ (वालौ) है चांम प्यारौ कोयनी—काम करने वाला आदमी अच्छा लगता है, केवल रूप-रंग अच्छा होने से अच्छा नहीं लगता। सब काम को प्यार करते हैं, शरीर को कोई प्यार नहीं करता. ९ कांम भोळायौ जांणै माथै में सोट री दी है—काम करने में अनिच्छा प्रगट करने वाले के प्रति. १० कांम मां कांम नी वदावणौ—हाथ में लिए हुए काम को शीघ्र समाप्त कर देना चाहिए, अधिक नहीं वढ़ाना चाहिये. १० कांम मोटौ है नांम मोटौ नी—कार्य्य से ही किसी व्यक्ति का महत्व आंका जाता है. १२ कांमरै नांव ताव चढ़ै—कार्य करने से जी चुराने वाले व्यक्ति के लिये. १३ कांम हुवण सूं पहली ही सिकोतरा वोल जाय—कार्य संपादन (पूर्ण) होने से पहले ही सफलता अथवा असफलता के चिन्ह प्रकट होने पर. १४ किणौ सोई कांम नैं भजियौ सोई रांम—काम करने से ही होता है। काम को शीघ्र निपटाना अच्छा होता है. १५ थोथै कांम कूटीजै थाळी कळजुग राळी भांग कुवै—वेकार के निरर्थक कार्य के प्रति।

यौ०—कांमकाज, कांमचलाऊ, कांमचोर, कांमदार, कांमधंधौ, कांमधांम।

९ प्रयोजन, मतलब, उद्देश्य।

मुहा०—कांम करणौ—मतलब निकालना, अर्थ साधना।
२ कांम चलणौ—कार्य-निर्वाह होना, अर्थ सिद्ध होना. ३ कांम निकळणौ—अपना प्रयोजन पूरा होना, जरूरत पूरी होना. ४ कांम निकाळणौ—अपना मतलव साधना. ५ कांम पड़णौ—जरूरत होना. ६ कांम वणणौ—मतलव सिद्ध होना. ७ कांम रौ—जो मतलब का हो, जिससे कोई उद्देश्य सिद्ध हो. ८ कांम होणौ—जरूरत पूरी होना, मतलव सिद्ध होना.

१० सरोकार, गरज, वास्ता, लगाव।

मुहा०—१ किं'री सूं कांम पड़णौ—किसी से वास्ता होना. २ कांम राखणौ—सरोकार या लगाव रखना. ३ कांम सूं कांम राखणौ—केवल अपने कार्य से सरोकार रखना।

कहा०—१ कांम जतरै काकोजी दूज्यूं आगा वळौ दारीजी—लोग जब तक अपनी गरज समझते हैं तव तक ही खुशामद करते हैं. २ कांम सरचां दुख वीसरचा वैरी हुय्ग्या वैद—गरज निकल जाने पर अपना उपकार करने वाले के प्रति कृतघ्न न होने पर।

११ व्यवहार, उपयोग, इस्तेमाल।

मुहा०—१ कांम आंणौ—उपयोग में आना, सहायक होना. २ कांम देणौ—उपयोगी होना. ३ कांम लेणौ—इस्तेमाल करना. ४ कांम में लेणौ—उपयोग करना. ५ कांम रौ—उपयोगी (वस्तु)

[सं० कर्म] १२ रोजगार, कारोबार।

कांमळा-सं०पु०—एक वर्णिक छंद विशेष जिसके प्रत्येक चरण में प्रथम पांच लघु फिर एक रगण सहित कुल आठ वर्ण होते हैं (पिं.प्र.)

कांमळियौ-सं०पु०—छोटा कंवल (अल्पा०)

कांमळी-सं०स्त्री०—१ कम्बल (अल्पा०) २ एक बड़ा वृक्ष. ३ एक प्रकार का घोड़ा (शा.हो.)

कांमळौ-सं०पु०—१ ऊन का एक वस्त्र विशेष, कम्बल. २ रक्त-विकृतिजन्य एक रोग विशेष (अमरत)

कांमवन-सं०पु० [सं० कामवन्] वह वन जहाँ महादेव ने कामदेव को भस्म किया था।

कांमवांन-वि० [सं० कामवान्] कामी, विषयी।

कांमवाळ-वि०—विषयी, कामी (डिं.को.)

कांमव्रच्छ-सं०पु० [सं० काम+वृक्ष] कल्पवृक्ष। उ०—उमा तात अंदु हेम पर्व मळै यंद्र ईस, देव ताळ वव दांणां छूटियां दंताळ। कांमव्रच्छ जात सौ कहांणा बीच च्यारुं कूंटां, प्रतपै छत्रन्नां पाळ रांणै चढ़ौ छौ पाळ।—वां.दा.

कांमसखा-सं०पु० [सं० काम सखा] वसंत ऋतु।

कांमसास्त्र-सं०पु० [सं० काम शास्त्र] वह विद्या या ग्रन्थ जिसमें स्त्री पुरुषों के परस्पर समागम, क्रीड़ा व आलिंगन आदि व्यवहारों का वर्णन हो, कोक शास्त्र।

कांमसुत-सं०पु० [सं० कामसुत] प्रद्युम्न के पुत्र अनिरुद्ध का एक नाम।

कांमही-सं०स्त्री०—एक चारणकुलोत्पन्न देवी जो गौड़ वंश के राजपूतों की कुल देवी मानी जाती है।

कांमांग-सं०पु०—आम वृक्ष (अ.मा.)

कांमाखी-सं०स्त्री० [सं० कामाक्षी] १ आसाम में स्थित देवी की एक मूर्ति (तंत्रशास्त्र) २ दुर्गा।

कांमागनि, कांमागनी, कांमाग्नि, कांमाग्नी-सं०स्त्री० [सं० कामाग्नि] काम की ज्वाला। उ०—कांमिणि कांमि तणी कांमागनि, मन लाया दीपकां मिनि कांमागिन।—वेलि.

कांमातुर-वि० [सं० कामातुर] काम-पीड़ित, संभोग की इच्छा से व्याकुल। उ०—रांमा अभिरांमा कांमातुर रोवै, हड़गल हुड़दंगी सेजां में सोवै।—ऊ.का.

कांमारि-सं०पु० [सं० काम+अरि] महादेव, शिव।

कांमवांन-वि० [सं० कामवान्] संभोग या समागम की इच्छा करने वाला, समागम का अभिलाषी। (स्त्री० कांमवती)

कांमि-वि० [सं० कामी] १ कामी, कामुक, विषयी। उ०—कांमि कांमि तणी कांमागनि, मन लाया दीपकां मिसि।—वेलि. २ लंपट, व्यभिचारी।

सं०पु०—१ चकवा. २ कबूतर. ३ चंद्रमा. ४ सारस।

कांमिकाएकादसी-सं०स्त्री०—श्रावण मास के शुक्ल पक्ष की एकादशी।

कांमिण, कांमिणी-सं०स्त्री० [सं० कामिनि] देखो 'कांमणी' (रू.भे.) उ०—गढ़ नरवर अति दीपता, ऊंचा महल अवास। घरि कांमिण हरणाखियां, किमठ दिसावर तास।—ढो.मा.

कांमिनी-सं०स्त्री० [सं० कामिनी] देखो 'कांमणी' (रू.भे.) उ०—क्रस्णजी का जुदा जुदा रूप देखण लागा, कांमिनी कहई काम आयौ, मन्त्र कहण लागा काळ आयौ।—वेलि. टी.

कांमियौ-वि०—विषयी, कामी।

कांमी-वि०—देखो 'कांमि' (रू भे) उ०—१ जांणै घर कुच निरख देव मन कांमी जागा।—मेघ. उ०—२ कांमी फिर बांमी क्रपण, जादूगर नर चार। रात दिवस पड़दे रहै, पड़दां सूं हिज प्यार।—बां.दा.

सं०पु०—१ देखो 'कांमि'. २ एक प्रकार का शुभ लक्षण का घोड़ा (शा.हो.) ३ पति (ह.नां.)

कांमुक-वि० [सं० कामुक] १ विषयी, कामी. २ इच्छुक।

सं०पु० [सं० कमुक] १ बादल (नां.मा., ह.नां.) २ पति (ह.नां.)

कांमू-वि०—१ कार्य-कुशल. २ काम-काज वाला, जिसके पास कार्य अधिक हो. ३ उपयोग में आने वाला. ४ कामुक, विषयी. ५ गर्भ धारण करने वाली (गाय)

कांमेड़ौ-वि०—कार्य करने वाला।

कांमेट तेज-सं०पु०—एक प्रकार का अशुभ घोड़ा (शा.हो.)

कांमेत, कांमेती, कांमंती-सं०पु० (स्त्री० कांमेतण] प्रधान, कामदार, प्रबंधक (मि० कांमदार (१)) उ०—ठग कांमंती ठोठ गुर, चुगल न कीजे सैण। चोर न कीजे पाहरू, ब्रहसपती रा वैण।—बां.दा.

कांमोद-सं०पु० [सं० कुमुद] १ देखो 'कमोद' २ विष्णु. ३ संपूर्ण जाति का एक राग जो मालकोस का पुत्र माना जाता है (संगीत)

सं०स्त्री०—३ चांदी, रूपा।

कांमोद्दीपण, कामोद्दीपन-सं०पु०—संभोग की इच्छा का उत्तेजन।

कांमौ-सं०पु०—काम, कार्य। उ०—साख रौ संणगार सांमी, निघु राखण अमर नांमी करै। खत्रवट तणौ कांमौ, राजहंस राजांन।—ल.पिं.

कांयगियौ-सं०पु०स्त्री०—कंघा।

कांय-क्रि०वि०—किसलिए। उ०—भरमै तौ लागै नहीं, लगै तौ भरमै कांय।—ह.पु.वा.

सर्व०—१ किस. २ क्यों। उ०—वप तौ वेहरियाह, हरिया कय दाखै हमैं। कांय रे केहरियाह', रज रज सरिया कर रखे।—अज्ञात

अव्यय—या। उ०—जी मांहरौ जिव जाय है, कीरप नेक करोह। काय ही काढ़ौ काळजी, हौ कांय प्रांण हरौ।—र. हमीर

सं०पु०—एक प्रकार का देशी खेल (क्षेत्रीय) उ०—कांय खेलता खूब हरखता बाळ हठीला, चढ़ता पड़ता प्रेम छोटका छैल छबीला। २ कौए की आवाज। —दसदेव

कांयक-वि०स्त्री०—कुछ, किंचित।

कांयगो-सं०पु०—रहँट की माल के साथ घूमने वाले घेरे में लगी हुई पटड़ी का वह भाग जो चंद्राकार लकड़ी के बाहर निकला हुआ होता है।

कांमणगर, कांमणगारी–वि०स्त्री० [सं० कार्मणकारी] पुरुषों पर वशीकरण मंत्र का प्रयोग करने वाली। उ०—प्रीतम कांमणगारियां, थळ थळ वादळियांह। घण बरसंतइ सूकियां, लू सूं पांगुरियांह। —ढो.मा.

कांमणगारौ–सं०पु० [सं० कार्मणकार] स्त्रियों पर वशीकरण मंत्र का प्रयोग करने वाला। उ०—म्हे नहिं जांणां म्हांरा ग्वाळया कांमणगारा राज।—लो.गी.

कांमणहार–वि०—१ जादू-टोना आदि करने वाला. २ वशीकरण मंत्र का प्रयोगकर्ता।

कांमणि, कांमणी–सं०स्त्री० [सं० कामिनी] १ सुन्दर स्त्री, कामवती स्त्री (ह.नां.) उ०—१ ऊठि अद्धंगा बोलणा, कांमणि आखै कंत। ऐ हल्ला तो ऊपरां, हूंकळ कळळ हुवंत।—हा.झा. उ०—२ वांचै हर हर वांण, कनक न रांचै कांमणी। जोगी अहड़ा जांण, मन सै जीता मोतिया।—रार्यसिह सांदू

कांमणीमोहणा–सं०पु०—चार रगण(ऽ।ऽ)युक्त वीस मात्रा का छंद विशेष।

कांमतर, कांमतरु–सं०पु० [सं० कामतरु] कल्पवृक्ष (डि.को.)

कांमतिथ–सं०स्त्री० [सं० कामतिथि] त्रयोदशी (इस तिथि को कामदेव का पूजन होता है)

कांमद–वि० [सं० कामद] मनोरथ पूर्ण करने वाला।

कांमदक, कांमदमणी–सं०पु०—एक मणि का नाम।

कांमदहण–सं०पु० [सं० कामदहन] शिव, महादेव (डि.को.)

कांमदांनी–सं०स्त्री०—वह बेल-बूटा जो बादले के तार या सलमे-सितारे से बनाया जाय।

कांमदा–सं०स्त्री० [सं० कामदा] कामधेनु।

कांमदार–सं०पु० [अ० कामदार] १ बड़े जागीरदार, सेठ, राजा के यहां प्रबंधकर्ता।
पर्याय०—कांमेती, दीवांण, मंत्री, मुसायब, सचिव।
२ प्रमुख कर्मचारी, कारिंदा।
वि०—कारचोबी, जिस पर जरदोजी या तार के कसीदे का काम हो, जिस पर कलाबत्तू आदि के बेल-बूंटे हों।

कांमदुधा, कांमदुहा–सं०स्त्री०—कामधेनु।

कांमदेव–सं०पु० [सं० कामदेव] १ नर व मादा को संभोग की प्रेरणा करने वाला एक देवता।
पर्याय०—अकाय, अणगंज, अतन, अतळीवळ, अनंग, अनिनज, अवप, आतमज, कंदरप, कळा, कांम, जराभीर, दिनदूलह, दरपक, नवरंग, पंचसर, पुसपचाप, प्रद्युमन, मदन, मनमथ, मधुदीप, मनसिज, मनहर, मनोज, मनोद्रव, मीनकेतन, रमानंदन, रितपती, विसमांजुध, संवरारि, समर, हरि।

कांमधंधौ–सं०पु०यौ०—काम, रोजगार, व्यवसाय।

कांमधज–सं०पु०यौ० [सं० कामध्वज] वह जो कामदेव की पताका पर हो, मछली।

कांमधनि–सं०स्त्री० [सं० कामधेनु] कामधेनु (रू.भे.)

कांमधरम–सं०पु०यौ० [सं० काम+धर्म] विषय-वासना।
उ०—स्यांम धरम कुळ धरम न साजै, कांमधरम अभियास करै। भरमा भरमी पीड़ भोगवै, मांचै गरमी हूंत मरै।—बां.दा.

कांमधीठ–सं०स्त्री० [सं० कामदृष्टि] नेत्र, नयन (ना.डि.को.)

कांमधुक, कांमधेन, कांमधेनि, कांमधेनू, कांमधेनुका–सं० स्त्री०—कामधेनु नामक देव गाय (अ.मा., ह.नां.)

कांमना–सं०स्त्री० [सं० कामना] इच्छा। उ०—ताहरां स्री लक्ष्मीजी फेर अरज कीवी, इये रै मन में कांईक कांमना छै।
—पलक दरियाव री वात

कांमनि—देखो 'कांमणी' (रू.भे.) उ०—किल कंचन कांमनि त्याग करै, धन संच प्रपंच न रंच धरै।—ऊ.का.

कांमपाळ–सं०पु०—१ वलराम (अ.मा., ह.नां.) २ श्रीकृष्ण।

कांमबळ–सं०पु०—एक प्रकार का घोड़ा (शा.हो.)

कांमबांण–सं०पु० [सं० कामबाण] कामदेव के पांच वाण—मोहन, उन्मादन, संतपन, शोषण और निश्चेष्टकरण। वंश भास्कर के अनुसार कामदेव के पांच वांण ये हैं—आकरसण (आकर्षण), मोहण (मोहन) द्रावण, उनमादण, वसीकरण। किन्तु वेलि क्रिसन रुकमणी री में इनको इस प्रकार दिया गया है—आकरसण (आकर्षण), वसीकरण (वशीकरण), उन्मादक, द्रविण, सोखण। कामदेव के फूलों के पांच वाण ये हैं—लाल कमल, अशोक, आम, चमेली और नील कमल।

कांमभूरुह–सं०पु० [सं० कामभूरुह] कल्पवृक्ष (डि.को.)

कांमयाव–वि० [फा० कामयाव] सफल, कृत-कृत्य, कृतकार्य।

कांमयावी–सं०स्त्री० [फा० कामयावी] सफलता, कृतकार्यता।

कांमरस–सं०पु० [अं० कॉमर्स] व्यापार, वाणिज्य।

कांमरिपु–सं०पु०यौ० [सं० काम+रिपु] शिव; महादेव।

कांमरिया–सं०स्त्री०—रामावत साधुओं की एक शाखा (मा.म.)

कांमरी–सं०स्त्री०—कम्बल (अल्पा.)

कांमरुचि–सं०पु०—एक शस्त्र जिसे विश्वामित्र ने श्रीरामचंद्र को दिया था। इसके द्वारा ही श्रीराम शत्रुओं के अस्त्रों को विफल कर देते थे।

कांमरू–सं०पु०—१ आसाम का प्राचीन नाम, कामरूप.
सं०स्त्री०—२ आसाम की एक प्रसिद्ध देवी।

कामरूदेस–सं०पु०—आसाम का प्रदेश जिसका प्राचीन नाम कामरूप था (मा.म.)

कांमरूप–सं०पु०—१ देखो 'कांमरूदेस' (डि.को.) २ देवता।

कांमरूपी–वि०—इच्छानुसार रूप धारण करने वाला।

कांमळ–सं०स्त्री० [सं० कम्बल] १ देखो 'कांवळ'. २ गाय-बैल आदि की गरदन के नीचे लटकने वाला चमड़ा। उ०—बैठी वाछड़ियां चाखड़ियां चाटै, कांमळ नै चकियां चकियां नूं काटै।—ऊ.का.

कांमलता–सं०स्त्री० [सं० कामलता] १ कांमवल्लरी नामक एक लता विशेष।

२ किसी। उ०—सु उवे च्यारै ही वीर काई पातिसाहरी चोरी गया हुंता।—चौवोली

काउ—सर्व०—१ कौन. २ क्या।

काक—सं०पु०—१ कौआ (डि.को.) उ०—कुकड़ा रौ गुण कांम, काक गुण भक्षण कीनौ।—ऊ.का. २ बोतल का ढक्कन, काग, कार्क. ३ काका, चाचा।

वि०—श्वेत, काला* (डि.को.)

काककंट*—वि०—धूम्रवर्ण (डि.को.)

काकड़—सं०पु०—१ कंकर. २ कच्चे बद्रीफल।

काकड़ा—सं०पु०—कपास के बीज।

काकड़ासिंगी—सं०स्त्री० [सं० कर्कटशृंगी] 'काकड़ा' नामक पेड़ में लगा हुआ एक प्रकार का टेढ़ा पीला अंकुर जो दवा के काम में लिया जाता है।

काकड़ियौ—सं०पु०—१ छोटा कंकर (अल्पा०)

मुहा०—काकड़ियौ काडणौ—लाभ प्राप्त करना।

२ छोटी ककड़ी।

काकड़ी—सं०स्त्री० [सं० कर्कटी] ककड़ी।

कहा०—१ काकड़ी फाटै ज्यूं फाटणौ—शरीर में खूब हृष्ट-पुष्ट होने पर. २ काकड़ी रै चोर नै मुक्की री मार—साधारण अपराधी को दंड भी साधारण दिया जाना चाहिए।

काकड़ौ—सं०पु० [सं० कर्कट, प्रा० कक्कड] १ एक वृक्ष विशेष (अमरत) २ एक प्रकार का हरिण।

काकनदी—सं०स्त्री०—जैसलमेर के लुद्रवा नामक गाँव के पास बहने वाली एक नदी।

काकपद—सं०पु० [सं०] वह चिन्ह जो छूटे हुए शब्दों के स्थान को बतलाने के लिए पंक्ति के नीचे लगाया जाता है।

काकपुसट—सं०स्त्री० [सं० काकपुष्ट] कोयल, कोकिला (डि.को.)

काकब—सं०पु०—आँच पर औटा कर खूब गाढ़ा किया हुआ गन्ने का रस जो गुड़ से पतला किन्तु शहद के समान होता है।

काकबळी—सं०स्त्री० [सं० काकबलि] भोजन का वह अंश जो श्राद्ध के दिनों में कौवों को खिलाया जाता है।

काकबांझड़ी—सं०स्त्री० [सं० काकवंध्या] वह स्त्री जो केवल एक संतान प्रसव करने के बाद सदैव के लिए वंध्या हो गई हो।

काकभुसुंडी—सं०पु० [सं० काकभुशुंडि] एक ब्राह्मण जो लोमश के शाप से कौआ हो गये थे और राम के बड़े भक्त थे।

काकर—सं०स्त्री० [सं० कर्कर] १ कपड़े धोने की सिला।

सं०पु०—२ कंकर (रू.भे.)

काकरी—सं०स्त्री०—१ छोटी व महीन कंकरी. २ पत्थर के छोटे-छोटे टुकड़े।

काकरेची—सं०पु०—एक प्रकार का घोड़ा (शा.हो.)

काकरौ—सं०पु० [सं० कर्कर] कंकड़ (रू.भे.)

काकळ—सं०पु०—युद्ध, संग्राम। उ०—ऊदौ हरी तणी दळ आगळ, करमसीयोत जीपवा काकळ।—रा.रू.

काकलहरी—सं०स्त्री०—एक जड़ी विशेष।

काकस—सं०स्त्री०—पति या पत्नी के चाचा की स्त्री, चचेरी सास (क्षेत्रीय)

काकसरौ—सं०पु०—पति या पत्नी का चाचा, चचेरा ससुर (क्षेत्रीय)

काका—सं०स्त्री०—१ भाटी वंश की एक शाखा. २ मसी. ३ काकोली।

काकाई—वि०—चचेरा।

काकातुओ—सं०पु०—तोते की जाति का एक प्रकार का सफेद रंग का बड़ा पक्षी।

काकालका—सं०स्त्री० [सं० काकालिका] हरड़ै (अ.मा.)

काकाह—सं०पु०—सफेद घोड़ा (डि.को.)

काकींडौ—सं०पु०—गिरगिट नामक जन्तु। उ०—माभळि भूथ मतंगा घणा मद मोख खोख घूमंता, ताकि वाडि विलगा काकींडा नैव डोलंति।—रांमरासौ

काकी—सं०स्त्री०—१ चाचा की स्त्री, चाची (पु०—काकौ) २ कौए की मादा।

काकीवडियां—सं०स्त्री०—पिता के छोटे या बड़े भाई की स्त्रियाँ। उ०—मल नूंती रे म्हारे काका बावां री जोड़, काकी-वडियां री झाझौ झूलरौ जे।—लो.गी.

काकीसासू—सं०स्त्री०—पति या पत्नी के चाचा की स्त्री, चचेरी सास।

काकीसुसरौ—सं०पु०—पति या पत्नी का चाचा, चचेरा ससुर।

काकुसथ, काकुस्त, काकुस्थ—सं०पु० [सं० काकुस्थ] श्री रामचन्द्रजी। उ०—काकुसथ खळदळ भसम कर, साधार सरण सभेव।—र.ज.प्र. २ सूर्यवंशी एक राजा (रांम कथा)

काकुस्थकुळ—सं०पु० [सं० काकुस्थ+कुल] श्री रामचंद्र (अ.मा.)

काकूं—सर्व०—१ किससे. २ किसको। उ०—अपणे करम कौ वौ छै, काकूं दीजै रे ऊधौ।—मीरां

काकोजी—सं०पु०—चाचा (मि. 'काकौ')

काकोदर, काकोधर—सं०पु० [सं० काकोदर, स्त्री० काकोदरी] साँप, सर्प (ह.नां., अ.मा., डि.को.) उ०—काकोदरां मायै खगांबीस ज्यूं, काढ़वा केवा, लागी केड़ै बाढ़वा हजारां जंगी लाठ।

—गिरधरदांन कवियौ

काकोरौ—सं०पु०—छोटा कंकर (रू.भे. 'कांकरौ')

काकौ—सं०पु०—१ पिता का छोटा भाई, चाचा।

कहा०—१ काका नी खाटकाई खावा सारू साराई आंख्यां में खटकै—काका की संपत्ति को खाने के लिये सबकी आँखें लगी रहती हैं. २ काका हाथ केड़ा (केरड़ा) नी वळावणा—बछड़ों को वापिस फेरने के लिये चाचा से नहीं कहना चाहिये; बड़े लोगों से नीचे दर्जे का कार्य न कराना चाहिये अपितु उसे स्वयं कर लेना चाहिये. ३ काकौ करै भतीज नै गांड फाटती गोठ—जब संकट आता है तब

कांयणौ—देखो 'कांइणौ' (रू.भे.)

कांयरौ–सर्व०—१ क्या. वि० २ किस काम का। उ०—वै पंच कांयरा है, पंच हुवै जका तौ समाज नै चोखै रस्ते चलावै।—वरसगांठ

३ काहे का। उ०—तरै वीरमजी कयौ—वारै कोस ढोल सुणीजै छै सौ कांयरौ ढोल छै।—रा.वं.वि.

कांव–सं०स्त्री०—१ लंबी-पतली टहनी, छड़ी, चुटकनिया।

उ०—अर ऊंची छींछ ऊछळै छै सु जांणै प्रवाळी की कांवां छै।

—वेलि. टी.

अनु०—कौवे के बोलने का शब्द।

कांवर–सं०पु०—कुमार। उ०—एक एक सूं आगळा कांवर आठूं किरणाळा।—भगवांन रतन्

कांवळी–सं०स्त्री०—चील ('मि० कांवळौ') (डिं.को.)

कांवळौ–सं०पु० (स्त्री० कांवळी) १ एक प्रकार का सफेद रंग का गिद्ध जिसकी चोंच पीली होती है (रू.भे. 'कंवळौ')

२ एक प्रकार का बड़ा कौआ। उ०—ऊपर उडता फेरी फिरै, गगन चीलड़ी-कांवळा।—दसदेव

कांस-सं०पु० [सं० काश] एक घास विशेष जो प्रायः ढालू भूमि में होती है (अमरत)

कांसी–सं०स्त्री० [सं० कांस्य] तांबे और जस्ते के सम्मिश्रण से बनी एक धातु जिसके प्रायः बर्तन, घंटे व घड़ियाल आदि बनाये जाते हैं।

कांसु, कांसू–क्रि०वि०—कैसे। उ०—लोक वाहुड़ियौ, खीमौ बोलीयौ—साहजी घोड़ी री कांसु सूल।—चौबोली

सर्व०—१ किससे. २ कौनसा।

कांसखीज–सं०स्त्री०—विजली (अ.मा)

कांसौ–सं०पु० [सं० कांस्य] १ देखो 'कांसी'. २ कांस्य-पात्र.

३ किसी भोज में आमंत्रित व्यक्ति के न आने पर उसके घर पर परोस कर भेजा जाने वाला भोजन. ४ भोजन का भाग।

कांहि, कांहिक–क्रि०वि०—कैसे।

वि०—कुछ।

कांहिणनू–क्रि०वि०—किसलिये। उ०—तरै रांणी कह्यौ—ये अठै कांहिणनू रहो, उरा आवौ।—नैणसी

कांही–वि०—कुछ। उ०—वाघ छाळी विन्है घाट सूधा वहै, कोई मारै नहीं जोर कांही।—मंकर वारहठ

सर्व०—१ क्या। उ०—तथा हे काल्ही (वावळी) आज म्हारौ पती जुद्ध करसी सो लोही पीणौ, औ छोटौ खप्पर कांही लीवौ।

—वि.स.टी.

२ किसी।

क्रि०वि०—कहीं। उ०—सज्जण चाल्या हे सखी, पड़हउ वाज्यउ द्रंग। कांही रळी वधांमणा, कांही अवंळउ अंग।—ढो मा.

का–सं०पु०—१ शेषनाग (क.कु.बो.) २ दिन (क.कु.बो) ३ रथ (क.कु.बो.) ४ प्रकाश (क.कु.बो.) ५ निरादर (क.कु.बो.)

सं०स्त्री०—६ पृथ्वी।

वि०—१ अल्प. २ कायर।

सर्व०—१ क्या। उ०—वळि माळवणी वीनवइ, हुं प्री दासी तुज्झ। का चिंता चित अंतरै. सा प्री दाखउ मुज्झ।—ढो.मा. २ कोई।

उ०—कइ मारुवणी सुधि सुणी, कइ का नवली वत्त।—ढो.मा.

अव्य०—या, अथवा। उ०—साहिव रहउ न राखिया, कोड़ि प्रकार कियांह। का थां कांमिण मन वसी, का म्हां दूह वियाह।—ढो.मा.

कहा०—का केई नै कर लेणौ का केई रौ हो रै'णौ—या तो किसी को अपना बना लेना चाहिए या किसी का बन जाना चाहिए। इसके बिना संसार में गति नहीं।

काअंतार–सं०पु० [सं० कांतार] १ गहन वन, जंगल (ह.नां.) २ भयानक स्थान. ३ एक प्रकार की ईख।

काअंति, काअंती–सं०स्त्री० [सं० कांति] १ एक छंद विशेष जिसके चारों चरणों में मिला कर २५ लघु और १६ दीर्घ वर्णों से कुल ५७ मात्रायें होती हैं (ल.पिं) २ कांति, शोभा।

काइ–सर्व०—१ क्यों। उ०—ढाढ़ी जइ प्रीतम मिळइ, यूं दाखविया जाइ। जोवण छत्र उपाड़ियउ, राज न वइसउ काइ।—ढो.मा.

२ कोई। उ०—सीयाळइ तउ सी पड़इ, ऊन्हाळइ लू वाइ। वरसाळइ भुइं चीकणी, चालण ग्ति न काइ।—ढो.मा.

काइक–सर्व०—कोई। उ०—वावहिया प्रिउ प्रिउ न कहि, प्रिय को नांम न लेह। काइक जागइ विरहणी, प्रीउ कह्यां जिउ देह।

—ढो.मा.

काइव–सं०पु० [सं० काव्य] काव्य, कविता।

काइम–वि०—देखो 'कायम' (रू.भे.)। उ०—काइम कमंध व्रिद धजावंद, मौजां समंद आचार इंद।—वचनिका

स०पु०—लखपत पिंगल के अनुसार एक छंद विशेष।

काइमौ, काइम्मौ–वि०—१ स्थिर करने वाला, कायम करने वाला.

२ असक्त, निर्बल।

सं०पु०—ईश्वर।

काइरत, काइरता–सं०स्त्री० [सं० कातरता] कायरता। उ०—किरण तपै छै सु बरछी किरण हुई कहि कहतां लड़ाई उकळिवा लागी। काइरता थी सु दूरी करी।—वेलि. टी.

काइर, काइरौ—१ देखो 'कायर' (रू.भे.) २ देखो 'कायरौ' (रू.भे.)

उ०—जोडाळे मिळइ जमदूत जोध, काइरां कपीमुखखी सक्रोध।

—रा.ज.सी.

काई–सं०स्त्री०—१ जल में होने वाली बारीक घास. २ पानी पर आने वाला मैल. ३ मैल, पंक। उ०—चपटा दांतां पर काई चढ़ियोड़ी।—ऊ.का.

वि०स्त्री०—१ थकित, क्लांत. २ तंग. ३ कुछ। उ०—अथिर आदि मंडांण, न को दीसै थिरताई। काळ ग्रास संसार, आस जीवणी न काई।—केसोदास गाडण

सर्व०—१ कोई। उ०—चोटी वाळी चमक लोयणां लागणी, फण-धर जिसड़ै फैल नवी काई नागणी।—र. हमीर

२ करम में तौ कागला रौ पंजौ है—बदकिस्मत व्यक्ति के लिए. ३ काग पड़ै कुत्ता भुसैं—सूने घर या गांव के लिये. ४ काग मोती दै नहीं नै चिड़ी रोती रै' नहीं—दोनों पक्षों द्वारा अपने हठ पर दृढ़ रहने पर. ५ कागलां री दुरासीस सूं ऊँट थोड़ा ही मरै—किसी के बुरे चिंतन करने से बुरा नहीं होता. ६ कागलां रै कीं हुवै तौ उड़तां दीखै ही नी— देखो कहा० (२०) ७ कागलां रै ही कोई हंस होवै—बुरे व्यक्ति के संसर्ग से बुरा व्यक्ति ही उत्पन्न होगा; बुरे वातावरण में पल कर कोई व्यक्ति अच्छा नहीं होता; जब पिता व पुत्र दोनों बुरे हों तब कही जाती है. ८ कागलां री मूंडी सदा भिस्टा में हीज रैवै—उस व्यक्ति के प्रति जो सदा दूसरों की निंदा ही करता रहता है. ९ कागलौ ई दाखां नै मुंडौ वोवै—अलभ्य या असंभव वस्तु की प्राप्ति की निरर्थक आशा रखने पर कही जाती है. १० कागलौ कोयल एक वरण कुंण किणनै कै—कौआ और कोयल एक ही रंग के होते हैं अतः कौन किसको कह सकता है। दो समान बुरे व्यक्तियों के प्रति. ११ कागलौ कोयल ने कैवे के थूं काळी है—कौआ कोयल से कहता है कि तू तो काली है। दोषपूर्ण लोगों द्वारा दूसरों के दोष बताने पर १२ कागलौ छः महीना सूं बोलै पण कांव कांव इज बोलै—दुष्ट या बुरा व्यक्ति कभी दुष्टता या बुराई नहीं छोड़ता. १३ कागलौ तीर नूं डरै ज्यूं डरै—बहुत डरने पर. १४ कागलौ नाक लेय गयौ—किसी व्यक्ति द्वारा स्वयं की मानहानिजनक कार्य किया जाता है और दूसरों के समक्ष सिर ऊंचा नहीं कर सकता तब अन्य लोगों द्वारा उसके प्रति व्यंग्य के रूप में यह कहावत कही जाती है. १५ कागलौ हंस री चाल चालै—अयोग्य व्यक्ति के द्वारा योग्य व्यक्ति की बराबरी करने पर.

१६ कागलौ हंस री चाल सीखतौ सीखतौ घर री चाल भूलग्यौ—कौवा हंस की चाल चलने गया पर अपनी स्वयं की चाल भूल गया। अयोग्य व्यक्ति द्वारा योग्य व्यक्ति की नकल करने पर.

१७ कागा किसका धन हरै, कोयल किसकूं देत, मधुर शब्द के कारणै जुग अपणौ कर लेत—मीठे वचनों से सारे संसार को वश में किया जा सकता है. १८ कागा कुत्ता कुमांणस घणा—कौए और कुत्ते दोनों बुरे होते हैं। दुनियां में बुरे व्यक्ति अधिक होते हैं, सज्जन थोड़े होते हैं. १९ कागां रै बागा होवै तौ उड़तां ही धेर पड़ै—निर्धन व्यक्ति के पास कुछ धन-संपत्ति होने की आशंका की जाती है तब वह स्वयं कहता है कि यदि कुछ माल होता तो चाल ढाल से ही स्पष्ट प्रतीत हो जाता है : धन-सम्पत्ति का पास में होना किसी की चाल-ढाल प्रकट कर देती है. २० काश्मीर में किसा कागला की होवे नी—काश्मीर में कौनसे कौए नहीं होते अर्थात् गंदगी और दुष्ट-जन सर्वत्र ही मिलते हैं. २१ कुटिया में काग पड़ै—जन-शून्य या सुनसान स्थान के लिये. २२ कुळ में कागलौ पैदा हुवौ—अच्छे कुल में बुरे व्यक्ति के जन्म लेने पर. २३ जठै देखै जठै ई कागला काळा ईज व्है—कौए सब जगह काले होते हैं (रू.भे. काग)

कागल्यौ—१ देखो 'कागलियौ' (रू.भे.) २ देखो 'कागोलड़' (रू.भे.)
उ०—कांठळ ऊठी एकै पाखती, कागल्या नांखती दीठी जोईजै घटा री बणाव।—र. हमीर

कागवांज, कागवांझ—देखो 'काकवांझड़ी' (रू.भे.)

कागवाय, कागवाव—सं०पु०—ऊँटों में होने वाला एक प्रकार का रोग जिसके कारण ऊँट बेचैनी से बार-बार उठता-बैठता है।

कागवौ—सं०पु०—गाड़ी के अगाड़ी का तीखा नोंकदार वह भाग जो लोहे से जड़ा होता है और जिसके चौड़े भाग पर जूआ बाँधा जाता है। (मि० 'मुगनी')

कागारोटी—सं०स्त्री०—एक प्रकार की बरसाती घास विशेष।

कागोलड़—सं०पु०—मेघ-घटा के अगाड़ी के सफ़ेद छोटे-छोटे बादल।
उ०—ऊपर बगला पावस बैठा छै सु किसाहेक सोहै छै, जांणै काळाइण कागोलड़ नांखती आवै छै।—रा.सा.सं.

कागौ—सं०पु०—१ कौआ। उ०—गौरी'ए बैठी झूरै मेड़ियां, स्यांम समंदरां जी पार। काळा रै कागा एक सनेसौ पिव ने जाय कहौ।—लो.गी.
२ जोधपुर नगर के पास काकभुशुंडी का एक स्थान। यहां शीतला माता का मंदिर है।
कहा०—कागै री कोढ़ियी बैठै ज्यूं कांई बैठौ है—सुस्त एवं बुरे ढंग से बैठने वाले व्यक्ति के प्रति।

कागोळ—सं०स्त्री०—भोजन का वह अंश जो श्राद्ध पक्ष में कौओं को खिलाया जाता है।

काड़ालौ—सं०पु०—कटाह। उ०—करि भुंजाई चाढ़ि काड़ाला, विधि-विधि सह भोजन्न वडाळा।—वचनिका

काच—सं०पु० [सं०] १ दर्पण, आतशी शीशा, आरसी। उ०—आणंद वर्ण काच मैं अंगि, भांमिणी मोतिए थाळ भरी।—वेलि.
कहा०—काच, कटोरा, नैण, धन, मन, मोती, फूटै टूटै ज्यांका सांधा नी लागै—काच, बड़ा प्याला, आँख, धन, मन और मोती के टूट जाने या फूट जाने पर इनके जोड़ नहीं लग सकती।
२ जांघ. ३ नेत्रों का एक रोग विशेष जिसमें नेत्रों की रोशनी के आगे एक पर्दा सा छा जाता है।
वि०—कृष्ण वर्ण, काला॥ (डि.को.)

काचड़कूटौ काचड़गारौ—वि०यौ० (स्त्री० काचड़कूटी काचड़गारी) चुगलखोर, पिशुन, निंदक। उ०—काचड़गारां ऊपरा, रांम तणी है रीस। काचड़गारा कूड़चा, बिगड़ै बिसवावीस।—बां.दा.

काचड़ौ—सं०पु०—१ निंदा, अपयश. २ चुगली। उ०—करै चाड पर काचड़ा, अठी उठी सूं ईख। पग विच हाडक परछियां, तिणसूं स्वांन सरीख।—बां.दा.
यौ०—काचड़कूटौ।

काचबीड़ी—सं०स्त्री०—काच के छोटे-छोटे टुकड़े लगा कर लाख का बना एक प्रकार का गहना जिसे प्रायः जाट जाति की स्त्रियां अपने हाथों में पहनती हैं।

वड़ा आदमी भी छोटों की खुशामद करने लगता है।
२ कौआ (डिं.को.)

काख-सं०स्त्री० [सं० कक्ष] वग्हुमूल, देखो 'कांख' (रू.भे.) उ०—छोटी दीवड़ियां काखां तळ छालै।—ऊ.का.
कहा०—काख उठायां काळजो दीखणो—दरिद्र होना।

काखविलाय-सं०स्त्री० [सं० कक्ष+अलात्] बगल (काँख) में होने वाला फोड़ा (मि. 'काखोळाई')

काखेयक-सं०स्त्री० [सं० कौक्षेयक] तलवार (अ.मा.)

काखोळाई-सं०स्त्री० [सं० कक्षालात] काँख में होने वाला एक प्रकार का फोड़ा, वगलगंध, कंखवार।

काग-सं०पु० [अं० कॉर्क] १ वोतल या शीशी आदि के मुंह वंद करने का कॉर्क या ढक्कन।
[सं० काक] २ देखो 'काक' (रू.भे., डिं.को.)
[फा० कागज] ३ पत्र, चिट्ठी.
वि०—सतर्क।

कागड़ो-सं०पु०—१ एक प्रकार के विशेष रंग वाला घोड़ा (शा.हो.)
२ गाड़ी के आगे का नुकीला भाग।

कागज-सं०पु० [फा० कागज] देखो 'कागद' (रू.भे.)

कागजीनींवू-सं०पु०—१ नींवू की एक जाति. २ इस जाति का नींवू।

कागजीवादाम-सं०पु०—वादाम की एक किस्म अथवा इस किस्म का वादाम।

कागजीसवूत-सं०पु० [फा०] लिखित प्रमाण।

कागड़दि, कागड़दी-वि०—कठोर। उ०—हागगृडदि हुवै आलम हैकंप, कागड़दि कयामत जांण कराळ।—र.रू.

कागडोड-सं०पु०—द्रोण काक।

कागण-सं०स्त्री०—१ ज्वार की फसल में होने वाला एक रोग विशेष जिसमें ज्वार के भुट्टे पर सफेद-सफेद पदार्थ दिखाई देता है और भुट्टे में दाना नहीं पड़ता. २ कागज, पत्र। उ०—कागण गळि लेखण भगी, मसि ढुळि हुई खुवार। मारू हंदा साल्ह पिव, अजेन पूछी सार।—ढो मा.

कागणी-सं०स्त्री०—मालकांगणी नामक औषधि (अमरत)

कागद-सं०पु० [फा० कागज] १ सन, रूई, पटुए आदि को सड़ा कर वनाया हुआ महीन पत्र जिस पर अक्षर लिखे या छापे जाते हैं।
कहा०—१ कागद री किस्ती किता दिन चालै—क्षणभंगुर वस्तु या न टिकने वाली चीज अधिक नही चलती। झूठी वात अधिक नहीं निभती. २—कागद री हांडी चूल्हे को चढ़ै नी—धोखे का कार्य सफल नहीं होता।
२ प्रामाणिक लेख, दस्तावेज.
मुहा०—१ कागद काळो करणो—व्यर्थ का कुछ लिखना. २ कागदी घोड़ा दौड़ाना—लिखापढ़ी करना।
कहा०—कागद होवै तो वांच लूं, औ करम न वांच्यो जाय—भाग्य को पढ़ा नहीं जा सकता, भाग्य का पता नहीं चलता।
३ जामाता को गाया जाने वाला लोक गीत।

कागदवाई-सं०स्त्री०—कागजों पर की जाने वाली लिखा-पढ़ी (द.दा.)

कागदियो-सं०पु० [फा० कागज] देखो 'कागद' (अल्पा०)

कागदी-वि०—कागज का, कागज से सम्वन्धित।
सं०पु०—१ देखो 'कागजीनींवू'. २ देखो 'कागजीविदांम'।

कागदीजवांन-सं०पु०—कमजोर पुरुष, निर्वल व्यक्ति।

कागदीनींवू—देखो 'कागजीनींवू' (रू.भे)

कागदीविदांम—देखो 'कागजीविदांम' (रू.भे.)

कागनर-सं०पु०—प्राय: अरावली पहाड़ के पास होने वाला एक पौधा जिसका दांतुन वढ़िया होता है।

कागवांझ, कागवांझड़ी-सं०स्त्री० [सं० काकवंध्या] देखो 'काकवांझड़ी' (रू.भे.)

कागभसुंड, कागभुसंड, कागभुसुंड-सं०पु० [सं० काकभुशुंड] एक ब्राह्मण ऋषि जो लोमश के शाप से कौआ हो गये थे और राम के वड़े भक्त थे। उ०—अहो निस कागभुसुंड आराध, पढ़ै तो नांम सदा प्रहळाद।—ह र.

कागमुखीसंडासी-सं०स्त्री०—एक प्रकार की संडासी जिसके अगले दोनों भाग आपस में नहीं मिलते।

कागमुखो, कागमुहो-सं०पु०—वह मकान जो आगे से तीखा व लंबा हो।
वि०—कौये के मुख के समान।

कागर-सं०पु० [फा० कागज] कागज, पत्र (रू भे.)

कागळ-सं०पु० [फा० कागज] देखो 'कागद' (रू.भे.) उ०—कागळ नहीं क मसि नहीं, लिखतां आळस थाइ। कुण उण देस संदेसड़ा, मोलइ वड़इ विकाय।—ढो.मा.

कागलिया-सं०पु० (व.व.) घन घटा के अग्र भाग में चलने वाले छोटे-छोटे वादल के खंड जो वड़ी तेजी से चलते हैं।

कागलियो-सं०पु० [सं० काकलक] १ मुंह के भीतर तालू और गले के वीच में ऊपर उठा हुआ मांसल भाग। यह कुछ मुड़ा हुआ होता है तथा इसका वढ़ जाना एक रोग है। गलतुंडिका. २ कौआ (अल्पा०) उ०—नित नित आय करूकै म्हारी नीमड़ली रे वीच, मारो ए रतनादे दासी कागलिया रै तीर।—लो.गी.

कागळी-सं०स्त्री०—चिट्ठी, पत्र, कागज। उ०—जीवन घड़ीय ते नवि रहई, जिण सूं कागळी हुआ वैहार।—वी.दे.

कागलो-सं०पु० [सं० काक] कौआ, वायस (डिं.को.)
मुहा०—१ कागला उडाणा—वेकार कार्य करना, किसी की प्रतीक्षा करना. २ कागला ज्यूं नजर राखणी—वहुत तेज नजर रखना. ३ कागला वोलणा—सुनसान होना, जन-शून्य होना. ४ कागलै आळी सीख—सिखाने वाले से सीखने वाले का अधिक चतुर होना.
कहा०—१ अवगुण तो कागलो देखै—कौए की दृष्टि हमेशा बुरी वस्तु पर रहती है। सदा दूसरों के अवगुण देखने वाले के प्रति.

काछिवौ-सं०पु०—१ देखो 'काछवौ' (रू.भे.) (ह.नां.)
२ कच्छप के पीठ के रंग से मिलता-जुलता घोड़ा (शा.हो.)

काछियौ-सं०पु०—घुटनों के ऊपर तक पहिना जाने वाला पाजामानुमा अधोवस्त्र।

काछी-वि०—कच्छ देश का, कच्छ देश संबंधी।
सं०स्त्री०—१ एक जाति विशेष.
सं०पु०—२ घोड़ा (डि.को.) उ०—करपण नृप रहै ताकता केई, पह सांसै हाकता पड़ै। कीरत राह डाकता काछी, खेड़ेचौ ग्राखता खड़ै।—दुरगादत्त वारहठ ३ ऊँट (ना.डि.को.)

काछीकुरंग-सं०पु०—कच्छ प्रदेश में उत्पन्न हरिन के रंग का घोड़ा विशेष (शा.हो.)

काछीकुरियौ-सं०पु०—ऊँट।

काछीमंगळ-सं०पु०—वह घोड़ा जिसका रंग जामुन के सदृश हो और पाँव सफेद हों (शा.हो.)

काछु-सं०पु०—१ पड़ू और जाँघ के जोड़ या उसके नीचे तक का स्थान. २ जाँघों के पीछे ले जाकर खोंसा जाने वाला धोती का छोर, लाँग। उ०—रंग देऊं वां नरां काछु रा पूरा काठा, रंग देऊं वां नरां माछ देवण हिय माठा।—ऊ.का.

काछेल-सं०स्त्री०—काछेला चारणों में जन्म लेने वाली देवी विशेष।
वि०—कच्छ देश का, कच्छ देश संबंधी।

काछेला-सं०स्त्री०—१ चारणों की एक शाखा (मा.म.)
२ कच्छ देश की, कच्छ देश संबंधी।

काछौ-सं०पु०—डिंगल का एक गीत (छंद) विशेष जिसके प्रथम द्वाले के प्रथम चरण में ४४ मात्रायें क्रमशः १८, १४ और १२ के विराम से होती हैं। प्रत्येक विराम के अंत का वर्ण लघु एवं तुकांत होता है। दूसरे चरण में क्रमशः ६, ७, १० के विराम से कुल छाईस मात्रायें होती हैं। तीसरे और चौथे चरण में क्रमशः अट्ठाईस व छाईस मात्रायें होती हैं। प्रथम द्वाले के अतिरिक्त अन्य द्वालों में ४०, २६, २८ और २६ के क्रम से कुल चार चरण होते हैं।

काज-सं०पु० [सं० कार्य] १ कार्य, काम। उ०—ग्रिह काज मूलिग्या ग्रहि ग्रहि ग्रह गति, पूछीजै चिंता पड़ी।—वेलि. २ व्यवसाय. ३ प्रयोजन, मतलब, उद्देश्य. ४ पहिनने के वस्त्र में वह छेद जिसमें बटन या घुंडी आदि फँसाई जाती है. ५ सोलह संस्कारों के अंतर्गत संपन्न किया जाने वाला कोई संस्कार।
यौ०—काजकिरिग्रावर।
क्रि०वि०—लिये, निमित्त। उ०—ग्रागळि पित मात रमंती ग्रंगणि, कांम विरांम छिपाड़ण काज।—वेलि.

काजकिरयावर-सं०पु०—सोलह संस्कारों के अंतर्गत विभिन्न संस्कार संबंधी महत्वपूर्ण कार्य।

काजकिरयावरौ-वि०—सोलह संस्कारों के अंतर्गत विभिन्न संस्कार संबंधी महत्वपूर्ण कार्य करने वाला।

काजक्यावर-सं०पु०—देखो 'काजकिरयावर' (रू.भे.)

काजमैन-सं०पु०—मुसलमानों का एक तीर्थ-स्थान (वां.दा. ख्यात)

काजळ-सं०पु० [सं० कज्जल] १ दीपक के धुंये की जमी हुई कालिख जो आँखों में लगाई जाती है, अंजन। उ०—ग्राजळ चख वेगम ग्रंसुपात, जमना जळ काजळ वहत जात।—वि.सं.
पर्याय०—ग्रंजण, कज्जळ, दीय-सुत, नैणसनेह, पाटणमुखी, मोहणगती।
क्रि०प्र०—करणौ, घालणौ, देणौ, पाड़णौ।
कहा०—१ कांणी री काजळ नहीं सुवावै—दूसरे का जरा भी उत्कर्ष न देख सकने वाले के प्रति. २ काजळ सूं कांई ग्रांख भारी हुवै है—बड़ी वस्तु के लिये छोटी सी वस्तु का भार नगण्य है।
२ श्यामता लिये रंग विशेष की गाय। उ०—बूरी सींणी सुर झीणी वतळावै, माडी काजळ लख ग्राजळ मतळावै।—ऊ.का.
वि०—काला, कृष्ण वर्ण* (डि.को.)

काजळकर-सं०पु०—काजल उत्पन्न करने वाला, दीपक (डि.को.)

काजळगिर, काजळगिरि-सं०पु० [सं० कज्जलगिरि] काला पहाड़ नामक एक काल्पनिक पर्वत।

काजळधुजा-सं०पु०यौ० [सं० कज्जलध्वज] दीपक (डि.को.)

काजळियातीज-सं०स्त्री०—भाद्रपद मास के कृष्ण पक्ष की तृतीया जिस दिन प्रायः स्त्रियां सुहाग के उद्देश्य से व्रत रखती हैं। उ०—जइ तूं ढोला नावियउ, काजळिया री तीज।—ढो.मा.

काजळियौ-वि०—श्यामल, कृष्ण वर्णका।
सं०पु०—१ ओढ़ने का एक काला वस्त्र. २ शृंगार-रसपूर्ण एक लोक गीत. ३ आँख का अंजन, सुरमा, काजल (अल्पा.)
उ०—किणी दिस साज सजावै रैण, ऊघड़ै काजळियै री कोर।
—सांझ

काजळी-सं०स्त्री०—१ काली घन-घटा. २ देखो 'काजळियातीज'।
उ०—तीजे घरि घरि मंगळचार चिहुं दिसी कांमनी करई हो सयंगार। रमइ सहेली काजळी घरि घरि, कांमनी मंडइ छइ खेल।—वी दे.

काजळीतीज—देखो 'काजळियातीज' (रू.भे.)

काजा, काजि—देखो 'काज' (रू.भे.)
उ०—१ दिखावै कसा नागवाळा दिवाजा, वणी वात साका वंधी कोय काजा।—ना.द. उ०—२ मुगति काजि संभरियौ माहव, कीरति काजि संभरै कवि।—ग्रजात

काजियांरीकजा-सं०स्त्री०—मुसलमान कसाइयों से लिया जाने वाला एक प्रकार का प्राचीन कर।

काजी-सं०पु० [ग्र० क़ाज़ी] मुसलमानों के धर्म-कर्म, रीति-नीति एवं न्याय की व्यवस्था करने वाला अधिकारी। उ०—मुल्ला काजी मंगहु मयाद, फतवा लीजै मेटन फसाद।—ऊ.का.
कहा०—काजीजी ! दुबळा क्यों? सहर रै सोच में—दुनिया भर

कांचमै-वि० [सं० काच+मय] काच का बना हुआ। उ०—आणंद वणे काचमै अंगणिए, भांमिणी मोतिए थाळ भरि।—वेलि.

काचर-सं०पु०—छोटी ककड़ी जो प्रायः स्वाद में कुछ खट्टी होती है।
उ०—काचर, केळौ, आंमफळ, पीव, मित्र, परधांन। इतरा तौ पाका भला, काचा ना'वै कांम।—अज्ञात
कहा०—१ काचर रौ बीज मणांवंध दूध बिगाड़ै—थोड़ी सी बुराई सारी अच्छाइयों का नाश कर देती है; एक मछली सारे तालाब को गंदा कर देती है. २ काचर रौ बीज है—महादुष्ट एवं बुरे व्यक्ति के लिये. ३ दीवाळी रा दीया दीठा, काचर बोर मतीरा मीठा—दीपावली के बाद काचर, बेर और तरबूज (हिंदवानी) मीठे होते हैं तथा हानिप्रद नहीं होते।

काचरियौ-सं०पु०—१ देखो 'काचरी' (अल्पा.) २ वर्षाकाल में बाजरी आदि के खेतों में होने वाली छोटी ककड़ी। उ०—सांवण महिने बाजर लागी, नींनांणा रौ नाह। काचरियां री बेलां टाळौ, वाह रे सांई वाह।—लो.गी.
कहा०—काचरियां विनां किसा व्याव अटकै—छोटी-मोटी वस्तुओं के लिये बड़े काम नहीं अटका करते।

काचरी-सं०स्त्री०—१ छोटी-छोटी खट्टी ककड़ियों को काट कर सुखाये गये छिलके। इनका प्रायः शाक भी बनाया जाता है।
२ देखो 'काचर'।

काचरौ—देखो 'काचर'।

काचळ-वि०—काच का, काच संबंधी। उ०—काचळ कातरिया बाजू में काठा, भुजतळ मेटै जां मेटै अघ माठा।—ऊ.का.
वि०—कायर, डरपोक।

काचौ-वि०—१ अपरिपक्व, जो पूरा पका न हो. २ अपूर्ण, अधूरा. ३ नीच, पतित. ४ कमजोर. ५ अस्थिर, जो दृढ़ न हो. ६ जो आंच पर पकाया न गया हो. ७ कायर, डरपोक।
उ०—कंत मचाड़ै नंह कधी, काचां रै घर कूक। मुड़ै विरोळै मांझियां, रोळै सोणित रूक।—वी.स.
८ असत्य, झूठ। उ०—१ बोलै सांचा बोल, काचा न आरै करै। तिण मांणस रा तौल, मेर प्रमांणै मोतिया।—रायसिंह सांदू
उ०—२ साचा लेख लिख्या उण सांई, काचा करणहार न दीसै कोई।—ओपौआढ़ौ
९ निकृष्ट। उ०—ना कीजौ सैणां नरां, काचौ बीजो कांम। राखे लाजा संत री, राजा साचौ रांम।—र.ज.प्र.

काचौकुररौ-सं०पु०यौ०—वह वर्ष जिसमें फसल कुछ कम हो अथवा अच्छी न हो।
वि०—अधपका, कच्चा।

काच्छिलौ-वि०यौ०—कच्छ देश का, कच्छ देश संबंधी।
सं०पु०—कच्छ देश का निवासी चारण। उ०—चारण कच्छ देसां जाति काच्छिला कहाया।—गि.वं.

काछ-सं०पु०—१ धड़ और जांघ का संधि-स्थल जो सामने की ओर पेड़ू के नीचे होता है। उ०—घोड़े रौ काळजौ बूकड़ा आंतड़ा ओझड़ा फाट काछ जावतौ नीसरियौ।—डाढ़ाळा सूर री वात
२ लंगोट। उ०—काछ दृढ़ा कर बरसणा, मन चंगा मुख मिट्ठ। रण सूरा जग वल्लभा, सौ हम चाहत दिट्ठ।—ऊ.का.
३ अंडकोश. ४ जांघों के पीछे ले जाकर खोंसा जाने वाला धोती का छोर, लांग. ५ घुटनों के ऊपर तक पहना जाने वाला पाजामा-नुमा कपड़ा. ६ जल के पास की भूमि. ७ कच्छ देश।
उ०—जेहल आज जुहारियौ, काछ नरेस कुंवार।—वां.दा.
८ कच्छ देशोत्पन्न आवड़ देवी का एक नाम. ९ सैणी देवी का एक नाम. १० कच्छ देश का घोड़ा।

काछड़ियौ-सं०पु०—नवजात गाय का बच्चा।
उ०—बैड़ां व्यायोड़ी खेड़ां में खासैं, कोमळ काछड़िया वाछड़िया वासैं।—ऊ.का.

काछजती-वि०—जितेन्द्रिय।

काछणौ, काछबौ-क्रि०स०—पहनना। उ०—पीतांबर कट काछनी काछे, रतन जटित माथे मुकट कस्यौ।—मीरां

काछद्रढ़, काछद्रढ़ौ-वि०—जितेन्द्रिय। उ०—काछद्रढ़ा कर बरसणा, मन चंगा मुख मिट्ठ। रण सूरा जग वल्लभा, सौ मैं विरळा दिट्ठ।
—ऊ.का.

काछनी-सं०स्त्री०—१ छोटी कछिया, धोती, कछोटा। उ०—पीतांबर कट काछनी काछे, रतन जटित माथै मुकट कस्यौ।—मीरां
२ कटि, कमर (ह.नां.)

काछपंचाळ, काछपंचाळी-सं०स्त्री०—१ एक देवी विशेष जिसका जन्म कच्छ प्रदेश में हुआ माना जाता है. २ देवी, दुर्गा।

काछपाक-वि०—जितेन्द्रिय (मि० 'काछवाचू')

काछब-सं०पु० [सं० कच्छप] देखो 'काछबौ'। उ०—काछब पूछयौ माछळी, कांई चूक पड़ी कै घाटौ पड़ियौ।—रेवतदांन

काछबियौ-सं०पु० [सं० कच्छप] १ देखो 'काछबौ' (अल्पा.)
उ०—काछबियौ कूद कूवै पड़ै जी म्हांरा राज।—लो.गी.
२ दामाद के आने पर गाया जाने वाला एक लोक गीत।

काछबौ-सं०पु० [सं० कच्छप] १ कछुआ।
पर्याय०—कच्छप, कमठ, काछिबौ, कूरम, कोड़पग, गुपतिपंचअंग, चतुरगति, पांणीजीवा।
२ एक लोकगीत जो ऊमरकोट के पंवार राजा काछब की प्रशंसा में गाया जाता है. ३ देखो 'कच्छप' (२)।

काछराय-सं०स्त्री०—१ कच्छ देश की सैणी देवी जो शक्ति का अवतार मानी जाती है. २ आवड़देवी का एक नाम।

काछवाचू-वि०—जितेंद्रिय। उ०—जंगू के जैतवार, अंगू के ओनाड़, आचू के उदार, काछवाचू के अटोळ, धणी के मोहरै।—र.रू.

काछवौ-सं०पु०—देखो 'काछबौ' (रू.भे.)

काठकाट—सं०पु०—१ लकड़ी काटने वाला, लकड़हारा. २ बढ़ई (डि.को.) १ जंग खाने वाला।

काठगढ़—सं०पु०—लकड़ी का बना किला। उ०—करी वाळि वांध्या केकांण, पालड़ दीधां मयगळ ठांण। ठांमि ठांमि फौज राहवी, भला काठगढ़ खाई नवी।—कां.दे.प्र.

काठगणगोर—सं०पु०—एक प्रकार का छोटा वृक्ष विशेष।

काठगुणौ—सं०पु०—दीवार की चुनाई करने वालों का एक मापदंड जो समकोण की आकृति का होता है।

काठड़ियौ—सं०पु०—भैंस का बच्चा (क्षेत्रीय)

काठपैरी—सं०स्त्री०—काष्ठ की बनी चकरी। उ०—अचळ जुव कुंजरां ढाल ऊथाळणौ, अरां करणौ तंडळ प्रथी आदीत। 'अजा' हर तनै चसमां दियै अखंडळ, रख मंडळ काठपैरी तणी रीत।—जवांनजी आढ़ौ

काठभखण—सं०स्त्री० [सं० काष्ठ+भक्षण] लकड़ी को भक्षण करने वाली अग्नि (डि.को.)

काठभ्रमणी—देखो 'काठपैरी'। उ०—बीजळां झाट थर थाट भांजण वढ़ै, लाख खत्रवाट भुज वरद लीधां। असी लख थाट चौ खूंद फेरै प्रगट, काठभ्रमणी तणी भांत कीधां।—तेजसी खिड़ियौ

काठमंदिर—देखो 'काठमंदर' (रू.भे.)

काठमांडू—सं०पु० [सं० काष्ठ+मंडप, प्रा० कट्ठ+मंडप] नैपाल की राजधानी जहाँ लकड़ी के मकान अधिक बनाये जाते हैं।

काठसेडी, काठसेढ़ी—सं०स्त्री०—वह गाय या भैंस जिसका दूध कठिनता से निकलता हो।

काठा—सं०पु०— १ बादाम की एक किस्म. २ गेहूँ की एक किस्म जिसका प्राय: दलिया बनाया जाता है। (मि. 'काठिया') ३ ढोलियों की एक शाखा विशेष (मा.म.)

काठि—सं०पु०—काठियावाड़ की एक जाति विशेष।
वि०—काठियावाड़ की, काठियावाड़ संबंधी।

काठियांण, काठियांणौ—सं०पु०—काठियावाड़ का घोड़ा।
वि०—काठियावाड़ का, काठियावाड़ संबंधी।

काठिया—सं०पु०—अधिक वर्षा होने से वर्षा के पानी को भूमि के सोख लेने के पश्चात् उस भूमि में बोया जाने वाला गेहूँ या इस प्रकार बोने से फसल के रूप में उत्पन्न होने वाला गेहूँ।

काठियावाड़—सं०पु०—१ गुजरात का एक भाग. २ घोड़ा (डि.को.)

काठियावाड़ी—वि०—काठियावाड़ का, काठियावाड़ संबंधी।
सं०पु०—काठियावाड़ में उत्पन्न घोड़ा।

काठियौ—देखो 'काठिया'।

काठी—सं०स्त्री०—१ घोड़े, ऊँट आदि के पीठ पर कसने का चारजामा. २ सिर पर उठाया जा सके उतना लकड़ी का गट्ठा (क्षेत्रीय) ३ शरीर का गठन. ४ लकड़हारा. ५ तलवार या कटार की म्यान. ६ काठियावाड़ की एक जाति. ७ एक राजपूत वंश अथवा इस वंश का व्यक्ति (द.दा.)
वि०स्त्री०—देखो 'काठौ' (पु०)

काठीयांण—सं०पु०—काठियावाड़ में उत्पन्न घोड़ा।

काठीवाड़—देखो 'काठियावाड़' (रू.भे.)

काठोड़ौ—वि०—१ मजबूत. २ कठोर. ३ तंग. ४ संकुचित।

काठोतरी—सं०स्त्री०—आटा गूंदने की लकड़ी की परात।

काठौ—सं०पु०—१ कृपण, कंजूस. २ देखो 'काठा' (२)
वि० (स्त्री० काठी) १ पूरा, पूर्ण।
मुहा०—काठौ धापणौ—पूर्ण तृप्त होना, अघाना।
२ मजबूत, दृढ़। उ०—सींगण कांइ न सिरजियां, प्रीतम हाथ करंत। काठी साहंत मूठि-मां, कोडी कासी-संत।—ढो.मा.
३ कठोर। उ०—तजै नाग री सेज ईस जद मिळण करावै। करती काठौ जीव इता दिन वांम वितावै।—मेघ०
मुहा०—दिल काठौ करणौ—दिल को कठोर बनाना, शीघ्र दयार्द्र न होना।
कहा०—काठै में भाठौ'र गीलै में गोबर—बिना व्रत-नियम वाले सर्वभक्षी पर व्यंग्य।
४ तंग। उ०—कर में कांकणियां जसदा गळ काठी। अदभुत मोरां पर लूटतोड़ी आठी।—ऊ.का. ५ मोटा (कपड़ा)
६ संकुचित।

काड—सं०पु०—शिश्न, उपस्थ।

काडणौ, काडबौ—क्रि०स०—१ निकालना. २ आवरण हटा कर किसी वस्तु को प्रकट करना. ३ खोल कर दिखाना. ४ किसी वस्तु को अन्य वस्तु से अलग करना. ५ कढ़ाई में तल कर निकालना. ६ ऋण लेना।
काडणहार, हारौ (हारी), काडणियौ—वि०।
काडाणौ, काडाबौ, काडावणौ, काडावबौ—स०रू०।
काडिओड़ौ, काडियोड़ौ, काड्योड़ौ—भू०का०कृ०।
काडीजणौ, काडीजबौ—कर्म वा०।

काडियोड़ौ—भू०का०कृ०—निकाला हुआ। (स्त्री० काडियोड़ी)

काडीजणौ, कडीजबौ—क्रि० कर्म वा०—निकाला जाना।

काडीजियोड़ौ—भू०का०कृ०—निकाला गया हुआ। (स्त्री० काडीजियोड़ी)

काडौ—सं०पु० [सं० क्वाथ] काष्ठादि औषधियों को पानी में उबाल कर या औटा कर बनाया हुआ पेय पदार्थ, क्वाथ।

काढ़—सं०स्त्री०—निकालने की क्रिया या भाव।

काढ़णौ, काढ़बौ—क्रि०स०—१ देखो 'काडणौ' (रू.भे.)
उ०—ऊंडा पांणी कांहरे, दीसइ तारा जेम। ऊसारंतां थाकिस्यइ, कहउ काढ़िस्यइ केम।—ढो.मा. २ बेल-बूटे बनाना या नक्काशी का काम करना।
काढ़णहार, हारौ (हारी), काढ़णियौ—वि०।
काढ़ाणौ, काढ़ाबौ, काढ़ावणौ, काढ़ावबौ—स०रू०।
काढ़िओड़ौ, काढ़ियोड़ौ, काढ़्योड़ौ—भू०का०कृ०।
काढ़ीजणौ, काढ़ीजबौ—कर्म वा०।

की व्यर्थ की चिंता करने वाले के प्रति. २ काजीजी री कुत्ती कैनैठा (किराने ठा) कठै जावती व्यावसी—घर-घर भटकने वाले मनुष्य या ग्राहक पर. ३ काजीजी री कुत्ती मरी जद सगळा वैठरण गया, काजीजी मरया जद कोय कौ गयौ नी—जब तक मनुष्य के पास अधिकार होता है तभी तक लोग उसका आदर करते हैं।

काजू–सं०पु०—एक प्रकार का वृक्ष व उसका फल जिसे भून कर लोग खाते हैं। इसकी गिनती सूखे मेवों में की जाती है।

काजैं–क्रि०वि०—लिए। उ०—घड़जै घसजै बप्पड़ा, तौ काजै हथियार। —डाढ़ाळा सूर री वात

काट–सं०पु० [सं० किट्ट] १ जंग, लोह-कीट, मुरचा. २ कलंक, दोष। उ०—कुळ मे लागै काट, खाट में जूता खावै। अंग मे होय उचाट, जाट जोगी वरा जावै।—ऊ.का. २ ऐब, अवगुरा।

उ०—कमनीय करे कूं कुं चौ निज करि, कळंक धूम काढे वे काट। —वेलि.

३ कपट, छल ४ वैर. ५ क्रोध. ६ ताश के खेल में तुरप का रंग. ७ किसी वस्तु में कमी-वेशी. ८ खंडन. ९ पाप।

उ०—कारणी तीरथां मुदै भारणी कळंक काट, मांनवां ऊधारणी मुगत दाता माय।—गंगाजी री गीत

काटक–सं०पु० [सं० कटक] १ सेना, फौज. २ वेग से किया गया आक्रमण. ३ क्रोध, कोप। उ०—कावरड़ी काटक करै, कुळ दी भाटक कांण। ताखा दाटक वखत तरा, जस खाटक घरा जांण। —कविराजा करणीदांन

वि०—१ क्रोधी. २ जवरदस्त, शक्तिशाली।

काटकड़ि–सं०स्त्री० [अनु०] कटाकट की ध्वनि। उ०—लोहड़ां तरगी काटकड़ि ऊडी, यंत्रि पुहतउ सूर। समरंगणि नीसांण ध्रूसक्यां, रणकाहल रणतूर।—कां.दे.प्र.

काटकणौ, काटकबौ–क्रि०अ०—१ कड़कना. २ क्रोध करना.

३ तेज गति से आक्रमण करना। उ०—मदां भूतां गजां हाथळां भाटकै कुंवाथळां माथै, काटकै सांमहा घूतां अवाहां करूप।—अज्ञात

काटकणहार, हारौ (हारी), काटकणियौ—वि०।

काटकिओड़ौ, काटकियोड़ौ, काटक्योड़ौ—भू०का०कृ०।

काटकीजणौ, काटकीजबौ—भाव वा०।

काटकीजणौ, काटकीजबौ–क्रि० भाव वा०—१ कड़का जाना.

२ क्रोध किया जाना. ३ तेज गति से आक्रमण किया जाना।

काटकूटौ–सं०पु०—युद्ध, लड़ाई, मारकाट। उ०—काटकूटौ मचै जोगणी किलकिलै, तपटां थटां अरि मार आयौ।—मूळौ वीरमियौ

काटखड़ी—देखो 'कटखड़ी' (रू.भे.)

काटण–सं०स्त्री० [सं० कर्त्तन] काटने की क्रिया या भाव।

वि०—१ काटने वाला. २ नीच, दुष्ट।

काटणौ, काटबौ–क्रि०स० [सं० कर्त्तन, प्रा० कट्टन] १ काटना, कतरना. २ पीसना. ३ किसी शस्त्र से खंड करना. ४ रगड़ना. ५ निकालना. ६ कम करना. ७ छिन्न-भिन्न करना. ८ घाव करना. ९ डंक मारना. १० डसना. ११ भाग लगाना (गणित, भिन्न में) १२ फाड़ना. १३ रद्द करना।

काटणहार, हारौ (हारी), काटणियौ–वि०—काटने वाला।

काटाणौ, काटाबौ—स०रू० (प्रे०रू०)

काटिओड़ौ, काटियोड़ौ, काट्योड़ौ—भू०का०कृ०।

काटीजणौ, काटीजबौ—क्रि० भाव वा०।

काटळ–वि०—१ जंग लगा हुआ, मुरचायुक्त। उ०—सूरा रण साकै नहीं, हुवै न काटळ हेम। टूक करै तन आपणौ, काच कटोरां जेम।

२ कपटी. ३ नीच, दुष्ट।

काटियोड़ौ–भू०का०कृ०—काटा हुआ। (स्त्री० काटियोड़ी)

काटौ–सं०पु०—१ तगड़ा व हृष्ट-पुष्ट वैल. २ जंग, मुरचा।

उ०—पांडव क्रस्ण समीप था, गळचा हिमाळै जाय। लोहां कूं पारस मिळै, तौ क्यूं काटौ खाय।—ह.पु.वा.

काटीजणौ, काटीजबौ–क्रि० कर्म वा०भाव वा०—१ काटा जाना.

२ कसीजा जाना, कसैला होना।

काटीजियोड़ौ–भू०का०कृ०—१ काटा गया हुआ. २ कसीजा हुआ, कसैला हुआ। (स्त्री० काटीजियोड़ी)

काटौ–सं०पु०—वह धन या रुपया जो ऋण देते समय ऋण की लिखा-वट के समय ही मूलधन में से काट लिया जाता है। उ०—सब धन जाटां री काटां रै सारू, वौ'रा चोरां री कोई नहीं वा'रू।—ऊ.का.

काठ–सं०पु० [सं० काष्ठ] सूखी लकड़ी काष्ठ। उ०—संगत कीजै साध की, हठ कर कीजै मोह। करम कटै काळू कहै, तिरै काठ संग लोह।—काळू कवि

कहा०—१ काठ री हांडी एक ही वार चडै—कपट या धोखा एक ही वार हो सकता है, फिर मनुष्य सचेत हो जाता है. २ काठ समांणौ छोडो पड़ै—जैसी लकड़ी होगी वैसा ही उसका छिलका उतरेगा। जैसा आदमी होगा वैसा ही उसका कार्य होगा। कम धन वाले से अधिक धन दान में मिलने की आशा करना व्यर्थ है.

२ शव को जलाने के लिए इकट्ठी की जाने वाली लकड़ियां.

३ चिता। उ०—१ आ काठां चढ़सी अवस, धरणीधर दे धोक। सठ मन मांनै सुधरसी, पातर सूं परलोक।—वां.दा.

उ०—२ सठ गणका री वात सुण, आलोचै नह एम। चाह घणां चरणां चढी, काठां चढ़सी केम।—वां.दा.

४ देववृक्ष (अ.मा.) ५ कैदी या अपराधी को शारीरिक यातना पहुंचाने के लिए सजा देने का काष्ठ का मोटा भारी लट्ठा जिसके एक सिरे पर गड्ढा वना होता है जिसमें अपराधी का पैर फंसा दिया जाता है और इस प्रकार दृढ कर दिया जाता है कि वहां से वह किसी भी प्रकार से निकल नहीं सकता (मि० 'गोड़ौ' (१))

६ नाव, डोंगी (डि.को.)

वि०—कठोर# (डि.को.)

कायरटी—देखो 'काठोतरि' (रू.भे.)

कायरौ–वि०—१ शीघ्रता करने वाला. २ स्थिर रहने वाला।

उ०—सेसादि अंगद सायरा, कप हाकेल जुध कायरा।—र.रू.

कायली–सं०स्त्री०—मटकी, मिट्टी का घड़ा (क्षेत्रीय)

कायौ–सं०पु०—खैर की लकड़ियों का काढ़ा जो सूखा कर जमा लिया जाता है। यह प्रायः पान में खाया जाता है।

वि०—१ जबरदस्त, बलवान। उ०—धनूप किय भंग मद मलै फरसा धरण, कौसपत वाळसा ढळै काया।—र.रू.

२ शीघ्रता करने वाला. ३ तेज। उ०—ईख भांण आरांण तमासौ तूटी तांण ऊभौ, बारंगां विवांण हक्कै, काया मगां वोम।

—बुधजी सिढ़ायच

४ व्यग्र, उतावला। उ०—दक्षणियां री ग्रामद सुण महाराजा बखतसिंघजी काया पड़िया तद महाराज गजसिंहजी नूं बुलाया।

—मारवाड़ रा ग्रमरावां री बारता

क्रि०वि०—शीघ्र, तेज। उ०—कांत ग्रंगां तायौ एम चलायौ मक्रोध कायै।—महाराजा कल्यांणसिंह रौ गीत

कादंब–सं०पु० [सं०] १ कदंब का वृक्ष. २ मेघ, बादल. ३ राजहंस. ४ बाण, तीर. ५ ईख. ६ एक प्राचीन राजवंश।

कादंबनी–सं०स्त्री०—मेघमाला।

कादंबरी–सं०स्त्री० [सं०] शराब (डि.को.)

कादंबांणी, कादंबिणी, कादंबिनी–सं०स्त्री०—मेघमाला (डि.को.)

उ०—जिकण महापातक माथै लेर ग्रावी पातसाही री लोभ दे प्रतीची रा पति आपरा अनुज मुरादसाह नूं मिळाइ पाउस री कादंबिनी रै अनुकार आपरी अनीक तणियौ।—वं.भा.

कादम–सं०स्त्री० [मं० कादम्बिनी] १ मेघमाला। उ०—दस गोरख नांम जपै दन में, झमियौ सिध वाळक कादम में।—पा प्र.

सं०पु० [सं० कर्दम] २ कीच, कीचड़, पंक। उ०—वमू मांस कादम मचै असत परवत वर्णं, रुधिर मिळ सरतपत हुवौ रातौ।—र.रू.

कादमियौबुखार–सं०पु०—एक प्रकार का जीर्ण ज्वर।

कादमी–सं०स्त्री०—१ कमजोरी के कारण अथवा बुखार की अवस्था में होने वाला पसीना. २ वह रकम जो किसी अच्छे खेत को केवल रबी की फसल के लिए किसी को देने पर ली जाती है। हासिल (देखो 'हासिल') वसूल करने के नियम इस पर ज्यों के त्यों लागू होते हैं।

कादर–वि० [सं० कातर] कायर, डरपोक, भीरु (डि.को.)

कादरिया–सं०स्त्री०—मुसलमान सूफियों का एक संप्रदाय विशेष।

कादरी–सं०स्त्री०—पहिनने का एक वस्त्र विशेष। उ०—हळवळ करै कादरी पहरै, ऊपर बांधै पाघ ग्रमेळ। वरतहार जिसी वाड़ी री, मूठी अनै ताड़ी री मेळ।—कपूत री गीत

कादव–सं०पु० [सं० कर्दम] कीचड़, पंक (मि० 'कादम' रू.भे.)

उ०—१ भागां झाड़ वीड़ थिड पाधर, कादव कीधां पांणी। डूंगर तणां सिखर जिम चालइ, तिम हाथी मुरतांणी।—कां.दे.प्र.

उ०—२ कटका कादव नाह, नीर विछोगे जे हुआ। फिट काळजा कालाह, सज्जन दिन साजा रह्या।—ढो.मा.

कादागो–सं०स्त्री० [सं० कर्दम+गोधा] गोह के आकार का मोटा एक प्रकार का जंतु जो कीचड़ में रहना पसंद करता है।

कादिम–सं०पु० [सं० कर्दम] कीचड़, पंक (मि० 'कादम' 'कादव' रू.भे.)

उ०—नदियां, नाळा, नीझरण, पावस चढ़िया पूर। करहउ कादिम तिळकस्यइ, पंथी पूगळ दूर।—ढो.मा.

कादू, कादौ–सं०पु० [सं० कर्दम] कीचड़, पंक (डि.को.)

उ०—१ माया का कादू मंड्या, कळ्या सु निकसै नांहि। ग्ररस परस होय मिळि रह्या, ज्यूं माखी गुड़ मांहि।—ह पु.वा.

उ०—२ कळियां कूळां री कादे में कळगी। विसहर संगत सूं पीपळियां वळगी।—ऊ का.

काद्रवेय–सं०पु० [सं०] नाग, सर्प (डि.को)

काप–सं०पु०—वस्त्रादि काटने का कार्य।

कापड़–सं०पु०—कपड़ा (रू.भे.) उ०—कापड़ चोपड़ पांन रस, दे सह खांचे दांम। वणक मित्र जद बांकला, कीधौ इणसूं कांम।—बां.दा.

कापड़छांण–वि०—महीन कपड़े से छना हुआ (चूर्ण) (ग्रमरत)

कापड़िया–सं०स्त्री०—भाटों की एक शाखा जो मजीरे बजा-बजा कर अपने यजमानों की पीढ़ियाँ गाते हैं (मा.म.)

कापड़ी–सं०स्त्री०—१ गनगौर का उत्सव मनाने वाली अविवाहिता कन्या। उ०—थारै बाहर गावै कापड़ी, भीतर गावै गीत।—लो.गी.

२ भाटों की एक शाखा (मा.म.)

वि०—कपड़े पहिने हुए। उ०—मारवणी तुझ कारणै, तजिया देस विदेस। पहलां हूता कापड़ी, हवै जोगी रै वेस।—ढो.मा.

कापड़ौ–सं०पु०—१ कपड़ा, वस्त्र। उ०—लूखौ भोजन भू सुवण, घर कळिहारी नार। चौथा फाटचा कापड़ा, नरक-निसांणी च्यार।

—ग्रज्ञात

२ टुकड़ा। उ०—ग्रथीपुड़ सांकड़ी मेर है कापड़ौ, वोहळौ जाम सुवास वहै।—ग्रज्ञात

कापण–वि०—१ काटने वाला। उ०—मन रा महरांग समापण मोजां, कापण दीनां तणां कुरंद।—र.रू.

२ मिटाने वाला. ३ संहार करने वाला।

कापणी–वि०—काटने वाला (पि.प्र.)

कापणौ, कापबौ–क्रि०स०—१ मारना, संहार करना। उ०—उथापै गनीमां थांणा सूरां सीम थाप ऊभौ। जोधपुरा काप ऊभौ भीम झाड़ झोड़।—वदरीदांन खिड़ियौ २ काटना। उ०—संभारियां संताप, वीसारियां न वीसरइ। काळजा विचि काप, परहर तूं फाटइ नहीं।—ढो.मा. ३ मिटाना, नष्ट करना। उ०—कापै रोर कवंदां मामंद तटां कौत।—दुरगादत बारहठ ४ कम करना. ५ खंड-खंड करना. ६ व्यय करना, खर्च करना। उ०—रांमण नह सोनौ दियौ, लहि सोना री लंक। कुन दिन सोनौ कापियौ, जिण हीं लंका बंक।—बां.दा.

काढ़ाक–वि०—निकालने वाला। उ०—बखतेस वाळा दळां वाढ़ाक वांण सा वागौ हुवौ बूंदी हूंतौ दलौ काढ़ाक ही कोट।
—चांवंडदांन महड़ू

काढ़ेचौ–वि०—निकालने वाली।
सं०स्त्री०—एक देवी विशेष।

काढ़ौ—देखो 'काडौ' (रू.भे.)

काणंखी–सं०स्त्री०—जिसके केवल एक ग्रांख हो, कानी।

कात–सं०स्त्री०—१ धातु या लोहा काटने का एक प्रकार का औजार जिसे कतिया भी कहते हैं।
सं०पु०—२ भेड़ों की ऊन कतरने का लोहे का एक औजार विशेष. ३ काटने का ढंग या क्रिया. ४ कातने का ढंग या क्रिया. ५ काता हुआ धागा।

कातक–सं०पु० [सं० कार्तिक] कार्तिक मास। देखो 'काती'।
उ०– कातक सुद एकादसी, बादळ बिजळी होय। तौ असाढ़ में भड्डली, बरखा चोखी होय।—वर्षाविज्ञान

कातकसांम–सं०पु०—स्वामी कार्तिकेय। उ०—पगां हणुमंत करंत प्रणांम, सोहै पग आगळ कातकसांम।—ह.र.

कातकी–वि०—कार्तिक मास की, कार्तिक मास संबंधी।
सं०स्त्री०—कार्तिक मास की पूर्णिमा।

कातणौ, कातबौ–क्रि०स०—चरखे, तकली या अन्य किसी उपकरण से रुई या ऊन बंट कर तागा बनाना। उ०—माय तौ कातै ए बाई कातणौ, कात बणावै थारै बौ' रंग चूंनड़ी।—लो.गी.
कहा०—१ काती-कपासी सांन पूरणी करदी—कियेकराये कार्य को बिगाड़ने पर. २ काती-पींजी सांन कपास करदी—कियेकराये कार्य को बिगाड़ने पर. ३ कात्या ज्यांरा सूत, जाया ज्यांरा पूत—सूत उसी का है जो उसे कातता है और पुत्र उसी का है जिसे जिसने जन्म दिया है। दूसरे लड़कों की अपेक्षा अपना खुद का पुत्र ही अधिक सेवा कर सकता है। ४ कात्योपींज्यौ (बींख्यौ) कपास हुयग्यौ—कियेकराये कार्य के बिगड़ने पर।
कातणहार, हारौ (हारी) कातणियौ—वि०।
कातणौ, कातावौ, कातावणौ, कातावबौ—म०रू०।
कातिओड़ौ, कातियोड़ौ, कात्योड़ौ—भू०का०कृ०।
कातीजणौ, कातीजबौ—कर्म वा०।

कातर—१ देखो 'कतियौ' (रू भे.)
सं०स्त्री०—२ कैंची. ३ ऊँट या भेड़ आदि के बाल काटने का एक उपकरण।
वि०—१ कायर, डरपोक (डि.को.) उ०—भयौ दुहुं ओर भयानक सद्द, परयौ उन्मत्त मतंगनि मद्द। भयौ उर सूरन के उछरंग, थरत्थर कंपिय कातर अंग।—ला.रा. २ अधीर, व्याकुल।

कातरठौ—देखो 'काठोतरौ' (रू.भे.)

कातरियौ–सं०पु०—१ स्त्रियों के भुजा पर धारण करने का एक आभूषण विशेष। उ०—काचळ कातरिया बाजू में काठा, भुजतळ भेटै जां मेटै अघ माठा।—ऊ.का. २ गाड़ी के पहिये में लगाया जाने वाला वृत्ताकार लोहे का घेरा।

कातरौ–सं०पु०—वर्षा में उत्पन्न होने वाला एक जन्तु विशेष जो फसल को हानि पहुँचाता है। उ०—फाको टांगां टिरै कातरौ तारै कांचळ। चरचरियां रौ चांद फिड़कलां फबतौ हांचळ।—दसदेव

कातरचा–सं०पु०—हजामत (डि.को.)

कातळ–वि० [अ० क़ातिल] हत्यारा। उ०—आगरै हवेली साहजहां अटकियौ, हुवौ कुळ कातळ करण हेवा। इसौ चकतौ जिकौ मन मही आवटै, कमंघ सूं सकै नहीं मांड केवा।—महाराजा जसवंतसिंह रौ गीत
सं०स्त्री०—१ बनजारा जाति के व्यक्तियों द्वारा हाथ में रखने का लकड़ी का एक शस्त्र विशेष (मा म.) २ पर्त, परत. ३ पत्थर का चपटा खंड।

कातळौ–सं०स्त्री०—शरीर की बनावट, शरीर का ढांचा।

कातिक, कातिग, कातिग्ग–सं०पु० [सं० कार्तिक] कार्तिक मास।
(रू.भे., डि.को.) उ०—दीधा मणि मंदिरै कातिग दीपक, सुत्री समांणियां मांहि सुख।—वेलि.

कातियोड़ौ–भू०का०कृ०—काता हुआ (स्त्री. कातियोड़ी)

कातियौ, कातीयौ–सं०पु०—जबड़े की हड्डी, जबड़ा।

काती–सं०पु० [सं० कार्तिक] आश्विन के बाद और मार्गशीर्ष के पहले पड़ने वाला कार्तिक मास (डि.को.)
कहा०—१ काती दिन बाती—कार्तिक मास का दिन बातें करते-करते ही बीत जाता है। कार्तिक मास में दिन छोटे होते है.
२ काती नं सगरघू सारू कांम आवै—कार्तिक मास का संग्रह किया हुआ सब काम आता है।

कातीन–सं०पु०—एक प्रकार का शस्त्र विशेष।

कातीरौ, कातीसरौ–सं०पु०—वह फसल जो कार्तिक में काटी जाय, खरीफ की फसल।

कात्यांणी, कात्यायणी–सं०स्त्री० [सं० कात्यायिनी] १ कषाय वस्त्र धारण करने वाली स्त्री. २ अधेड़ आयु की विधवा. ३ नौ दुर्गाओं के अंतर्गत मानी जाने वाली एक दुर्गा. ४ पार्वती, ऊमा (ह.नां.) ५ चौसठ योगिनियों के अंतर्गत नवीं योगिनी।

कात्र–वि० [सं० कातर] कायर। उ०—धकधकै स्रोण मिळ करद धूर, हकवकै कात्र वकवकै हूर।—प्रे.रू.

काय–सं०पु०—१ शरीर। उ०—दीधौ धन उपदंस लें, कीधौ काय कुढंग। गणिका सूं राखै गुसट, रसिया लोने रंग।—बां.दा.
[सं० कथा] २ वृत्तांत, कथा। उ०—करण अप्रवळां नहुं मंडळ काय।—अज्ञात ३ चरित्र. ४ शीघ्रता. ५ वैभव। उ०—पोटी नाय ठगीजियौ, वेह रा आखरां पांण। केई दिलौ घरांणा वीगैर देतौ काय।—नवलजी लाळस
क्रि०वि०—शीघ्र।

काविज–वि० [अ० काविज़] जिसका किसी वस्तु पर अधिकार या कब्जा हो, अधिकारी।

काविल–सं०पु०—१ कावुल नगर (रू.भे.) उ०—दीठी सगळउ दक्षरण देस, चतुर नारि तनि चंचळ वेस। माळव नइ काविल, मुकरांण, कासमीर, हुरमुज, खुरसांण।—ढो.मा.

वि०—१ योग्य, लायक। उ०—काविल कलांम कहियत करीम। रहमांन इल्म रय्यत रहीम।—ऊ.का.

२ विद्वान, पंडित।

काविली—देखो 'कावली'। उ०— काविली थाट भूंय ग्रासिया कड़खिया, कितौ कूड़ी कटक जगत कहियौ।—अज्ञात

काविलीयत–सं०स्त्री० [अ०] १ योग्यता, लियाकत. २ विद्वता, पांडित्य।

कावी–सं०स्त्री० [फा० कावा] कुश्ती का एक पेंच जिसमें खिलाड़ी विपक्षी के पीछे जाकर एक हाथ से उसके जाँघिये का पिछौटा पकड कर तथा दूसरे हाथ से उसके एक पैर की नली पकड़ कर खींच लेता है।

कावुक–सं०पु० [फा०] कवूतरों का दरवा, कवूतरखाना।

कावुल–सं०स्त्री०—१ अफगानिस्तान की राजधानी, एक नगर. २ इस नगर के पास बहने वाली एक नदी।

कावुली—देखो 'कावली'।

कावू–सं०पु० [तु०] अधिकार, वश, जोर।

मुहा०—कावू करणौ— अधिकार में करना, वशवर्ती करना. २ कावू पाणौ—स्वत्व होना, अधिकार होना. ३ कावू होणौ— देखो 'कावू पाणौ' अधिकार में आना, वशवर्ती होना।

कामंख्या–सं०स्त्री [सं० कामाक्षा] आसाम की एक प्रसिद्ध देवी, कामाख्या।

कामंदक–सं०पु०—एक प्राचीन मुनि जो शास्त्रों के ज्ञाता एवं नीतिकार थे (वं.भा.)

कामांग–सं०पु० [सं०] आम (अ.मा.)

काय–सं०स्त्री०—१ देखो 'काया'। उ०—काय निपाप करिस इम केसव, दंडवत करे तूझ दयतां-दव।—ह.र. २ मूलधन. ३ समुदाय।

क्रि०वि० [सं० किम्] क्यों। उ०—वहै वनास तूं काय रातै वरण, जळ अथक पूछियौ गंग जमरण।—अज्ञात

अव्यय—१ या, अथवा। उ०—उत्तर आज स उत्तरइ, ऊपड़िया सीकोट। काय दहेसइ पोयणी, काय कुंवारा घोट।—ढो.मा.

२ क्योंकि। उ०—कळपै अकवर काय, गुण पूंगीधर गोड़िया। मिणवर छावड़ मांय, पड़ै न रांण प्रतापसी।—दुरसौ आढ़ौ

सर्व० [सं० किम्] १ क्या। उ०—उलटौ काय न मार ही, पंचायण मैमंत्त। कड़तळ दळां उपाड़ि करि, कड़ काय चाळी कंत।—हा.झा.

[सं० कोऽपि] २ कोई। उ०—गात सवारण में गये, ऊमर काय अजांण। आखर प्रांण अमूक हौ, खाख हुसी मळ खांण।—वां.दा.

३ किस, कौनसा, कौनसी। उ०—काय वात री फिकर है।

वि०—थोड़ा-बहुत, कुछ। उ०—हियौ ज डुळ डुळ जाय, वेकर री वेरी ज्यूं। कारी न लागै काय, जीव डिगायां जेठवा।

वि०—काया संबंधी, दैहिक (अमरत)

कायजै–वि०—सवारी के लिए पूर्ण सज्जित (घोड़ा)

वि०वि०—यह शब्द उन घोड़ों के लिये प्रयुक्त होता है जो सवारी के लिये पूर्ण रूप से सज्जित हों और उनकी लगाम उनके चारजामे में अटकादी गई हो जिससे सवार होते ही व्यक्ति लगाम को शीघ्र हाथ में ले सके।

उ०—१ दासी दास रणं पद दंती, कोतल चंचल कायजै।—र.रू.

उ०—२ घोड़ा कायजै ही खड़ा छै।—जलाल वूवना री वात

कायथ–सं०पु० [सं० कायस्थ] १ लेखक का व्यवसाय करने वाली एक प्रसिद्ध जाति विशेष, कायस्थ (मा.म.) २ काया में स्थित जीवात्मा।

कायथण–सं०पु०— १ मलवा. २ वैभव, ऐश्वर्य।

सं०स्त्री०—३ कायस्थ जाति की स्त्री।

कायथा–सं०स्त्री० [सं० कायस्था] हरीतकी, हरें (ह.नां.)

कायदाई–सं०स्त्री० [अ० कायद+ई] कायदा संबंधी, नियमानुसार।

उ०—जैपुर आंणि सेवैं कायदाई वात कीनी। जैपुर भूप 'जैसे' तीन वारी दादि दीनी।—शि.वं.

कायदौ–सं०पु० [अ० कायद:] १ नियम, चाल, दस्तूर, विधान. २ क्रम, करीना. ३ मान, प्रतिष्ठा, इज्जत। उ०—सु राजाभोज रै घरे आया, घणा कायदा किया, अनेक भांति री भक्ति हुई।—चौवोली

कहा०—आपरौ कायदौ आपरै हाथ— अपनी इज्जत की रक्षा करना मनुष्य के ही हाथ की वात है। अगर अच्छा कार्य या वर्ताव करोगे, तो प्रतिष्ठा होगी और वुरा कार्य करोगे तो प्रतिष्ठा चली जायगी।

कायदौ-कुरव–सं०पु०यौ०—मान, प्रतिष्ठा इज्जत, आदर। उ०—खास चौकी मांहि राखिया, बड़ी महरवांनी। कायदौकुरव, मुलाहिजौ दीयौ।—डाढ़ाळा सूर री वात

कायफळ–सं०पु० [सं० कट्फल] एक वृक्ष जिसकी छाल दवा के काम आती है। यह हिमालय के आसाम की पहाड़ियों में तथा वर्मा में वहुत होता है।

कायव–सं०पु० [सं० काव्य] १ देखो 'काव्य' (रू.भे.) उ०—ओगण इरांणी कटक, कुकवी नादरसाह। कायव हुंदी दळ कटै, रसण तेग वदराह।—वां.दा २ शुक्र (अ.मा.) ३ कवि. ४ वह रोला छंद जिसके चारों पदों में ११ वीं मात्रा ह्रस्व हो।

कायवौ–सं०पु०—१ काव्य. २ कविता।

कायम–वि० [अ०] १ स्थिर, ठहरा हुआ. २ मुकर्रर, निश्चित. ३ स्थापित, निर्धारित।

क्रि०वि०—अधिकार में। उ०—अरु सारंगखांन कांधळजी आगै भाज नीसरियौ नै कवरजी स्री वीकेजी री फते हुई। अरु जाय द्रोण-पुर कायम कीयौ।—द.दा.

कायममुकांम–वि०—१ देखो 'कायम' २ स्थानापन्न, एवजी।

कापणहार, हारौ (हारी), कापणियौ—वि० ।
कापाणौ, कापाबौ, कापावणौ, कापावबौ—क्रि०स० प्रे०रू० ।
कापिग्रोड़ौ, कापियोड़ौ, काप्योड़ौ—भू०का०कृ० ।
कापीजणौ, कापीजबौ—कर्म वा० ।

कापथ–सं०पु० [सं०] कुपथ, कुमार्ग (डि.को.)

कापरौ–सं०पु०—कपड़ा, वस्त्र (रू.भे.)
वि०—मिटाने वाला, नाश करने वाला । उ०—करण पसावां लाख पातां कुरंद कापरा, सुजस ग्रणमाप रा हेक साथै ।
—तिलोकजी बारहठ

कापाळ–सं०पु० [सं० कापाल] ग्रठारह प्रकार के कुष्ठों के ग्रंतर्गत एक कुष्ठ रोग (ग्रमरत)

कापाळिक–सं०पु०—मद्य-माँस खाने वाले व नर-कपाल रखने वाले एक प्रकार के तांत्रिक साधु, ग्रघोरी । उ०—द्वादस गुरु, द्वादस सिस्य, जुमलै चौवीस कापाळिक हुवा है ।—वां.दा. ख्यात

कापियोड़ौ–भू०का०कृ०—१ काटा हुग्रा. २ संहार किया हुग्रा. ३ कम किया हुग्रा. ४ टुकड़े-टुकड़े किया हुग्रा. ५ व्यय किया हुग्रा, खर्च किया हुग्रा । (स्त्री० कापियोड़ी)

कापिल—देखो 'कपिल' (वं.भा.)

कापुर–वि०—१ तुच्छ । उ०—उरण पुळ ग्रमरापुर कापुर उर ग्रायौ, मुरधर मंडळ तळ महिमंडळ मायौ ।—ऊ.का. २ नीच ।

कापुरख, कापुरस, कापुरुस–वि०—१ कायर । उ०—सीहरिण हेकौ सीह जणि, छापरि मंडै ग्राळि । दूध विटाळण कापुरस, वोहळा जणै सियाळि ।—हा.झा. २ कृपण, कंजूस । उ०—ग्रासव झड़ी न लगही, भड़ां छकावण भाळ । कर नह जांणै कापुरस, मावड़िया मतवाळ ।—वां.दा. ३ नीच, पतित । उ०—ग्रर नीच क्रव्याद रा कुळ नूं दुहिता देण री किण मूढ़ कही छै । जिण रीति भुकुंद रा मंदिर नूं विहाय खेत्रपाळ पूजण री स्रद्धा किसौ कापुरस चित धरै ।—वं.भा.

काफर–वि० [ग्र० काफिर] १ मुसलमानों के ग्रनुसार उनसे भिन्न धर्म को मानने वाला । उ०—सहर में रोळाटौ ! हिन्दु मसळमानां री दंगौ कांनी कांनी ।......लारै मारौ काफर नै, मारौ काफर नै री हाकौ ।—वरसगांठ २ ईस्वर को न मानने वाला, नास्तिक ।
उ०—मीर ग्रकव्वर साह सूं, वोले ग्यांन संजुत्त । काफर साहां ग्रव-गुणी, गौ ग्रांणी करतुत्त ।—रा.रू.

काफरी–सं०स्त्री०—एक प्रकार की वहुमूल्य वंदूक । उ०—काफरी वंदूकां दूरपला री दिखण में वोह-मोली ठावा वहादुरां कनै पावै ।
वां.दा. ख्यात

काफलौ–सं०पु० [ग्र० काफिलः] कहीं जाने वाले यात्रियों का समूह ।
उ०—डाकू–ठहरौ यारां ! वौ देखौ सामनै सूं काफलौ ग्राय रयौ है ।—वरसगांठ

काफी–सं०पु० [ग्रं०] १ कहवा. २ एक राग विशेप (ह.पु.वा.)
वि०—प्रचुर, वहुत ।

काफूरी–सं०न०पु०—ख्वाजासरों का एक भेद विशेप जिसके ग्रंडकोश वचपन में ही मसल डाले जाते हैं (मा.म.)

कावर–सं०स्त्री०—एक प्रकार का पक्षी विशेप ।
कहा०– कावर रा कुण सुगन पूछै—साधारण व्यक्ति की गिनती कौन करे ।

कावरड़ौ–सं०पु०—चितकबरा साँप । उ०—कावरड़ा काटक करै, कुळ दी झाटक कांण । ताखा दाटक 'वखत' तण, जस खाटक घण जांण ।
—कविराजा, करणीदांन
वि०—चितकवरे रंग का ।

कावरियौ–वि०—चितकवरे रंग का ।
सं०पु०—१ कवरा कुत्ता ।
कहा०—कावरियौ मरियौ नै ऐंठ सूं छूटा—कवरा कुत्ता मर गया ग्रौर जगह जगह जूठन से हम वच गये क्योंकि सब जगह मुँह लग कर जूठा कर देता था । हानिकर व्यक्ति के मरने पर ।
२ एक प्रकार का सर्प ।

कावरी–सं०स्त्री०—१ हल्की श्यामता लिए लाल रंग ग्रौर सफेद रंग की गाय. २ काले रंग की छोटी चिड़िया जिसका मध्य भाग सफेद होता है (क्षेत्रीय)
वि०—चितकवरे रंग की ।

कावरौ–वि०—१ देखो 'कावरियौ' २ चितकवरा ।
सं०पु०—एक प्रकार का चितकवरा सर्प विशेप । उ०—काळां पटां कावरां करड़ां परड़ां टाळै गोगा पीर । -ग्रांसौ गाडण

कावल–सं०स्त्री०—१ ग्रटक के पास सिंधु नदी में गिरने वाली कावुल नदी. २ ग्रफगानिस्तान की राजधानी कावुल ।

कावलियौ–सं०पु०—१ मुसलमान, यवन । उ०—पड़ै लड़ै ग्रणपार, ग्रड़ै चडै सांम्है ग्रणी । कमंधे कावलिये किग्रौ, ग्राहिव घोर ग्रंधार ।
—वचनिका
२ कावुल का निवासी । उ०—चोइस तौ पूरविया काटचा, सोळा चोकीदार । सित्तर तौ कावलिया काटचा, ठारा मुगळ पठांण ।
—डूंगजी जवारजी री पड़
वि०—कावुल का, कावुल संवंधी ।

कावली–वि०—कावुल का कावुल संवंधी ।
सं०पु०—कावुल देशोत्पन्न घोड़ा ।

कावा–सं०स्त्री०—१ पँवार वंश की एक शाखा (नैणसी)
२ एक जाति विशेप जो लूट-खसोट का कार्य करती थी । ग्रर्जुन के साथ गोपियों को इनके द्वारा लूटने की कथा प्रसिद्ध है (प्राचीन)
३ चूहों की एक जाति विशेप । इस जाति विशेप के चूहे प्रायः देशनोक के करनी माता के मंदिर में ग्रधिक पाए जाते हैं.
४ छोटा वच्चा (स.मं.)

कावाड़ी—देखो 'कवाड़ी' । (रू.भे.) उ०—कावाड़ी नित काटता, भींक कुहाड़ां झाड़ । हव नाहर वसणै हुई, वन कुदरत री वाड़ ।—वां.दा.

कारकदीपक—सं०पु० [सं०] एक प्रकार का अर्थालंकार जिसमें कई क्रियाओं का अन्वय एक ही कर्ता के साथ प्रकट किया जाय।

कारकून—सं०पु० [फा० कारकुन] १ इंतजाम करने वाला, प्रबंधकर्ता. २ कारिंदा।

कारख—सं०स्त्री० [सं० कालुष्य] राख, भस्मी, कारिख। उ०—कुंवरसी कही जे फेर वरजियो तो हूं पेट खाय मरस्यूं, कारख घाल स्यामी हुय जावसूं।—कुंवरसी सांखला री वारता

कारखांनौ—सं०पु० [फा० कारखानः] १ वह स्थान जहां व्यापार के लिये कोई वस्तु बनाई जाती हो।

क्रि०प्र०—खोलणौ।

२ कारबार, व्यवसाय।

क्रि०प्र०—फैलाणौ।

३ खजाना, कोष, धनागार। उ०—१ अरु पातसाहजी भींवराजजी ऊपर वडा महरबांन हुवा नै खरची रा रिपिया कारखांनै सूं हजार तीन दराया।—द.दा. उ०—२ साह कह्यौ—चाळीस हजार-रौ गहणौ थौ, डबा था, राजा कह्यौ—चाळीस थैली कारखांनै सूं काढ़ देवौ, माल सारौ पैदास कर देयीस तौ मांग लेयीस, अर सीरौ मंगाय ज्यूं म्हे देखां।—राजा भोज अर खापरचा चोर री वात ४ वह राजकीय स्थान जहां रत्न, जवाहिरात व आभूषण आदि रक्खे जाते हों अथवा बनाये जाते हों। जवाहिरखाना (द.दा.) ५ किसी सरदार, रानी आदि का वह निजी मकान जहां उसका निजी स्टाफ रहता हो। यह मकान व्यक्ति के तात्कालिक निवास-स्थान से अलग ही होता है, जहां स्टाफ के साथ उसके स्वयं की ठहरने की भी व्यवस्था होती है (मि. 'नौहरा') उ०—१ तिणसूं नापौ वांणक लगाय वहण वणाई, राखी बंधाई, वेस दिया, हमेसां आप उणरै महल रै कारखांनै जावै छै, वातां करै छै सो राजी कर लीन्ही—नापै सांखले री वारता। उ०—२ थांन दोय बाफते रा, थांन दोय मामूली सेल्हा पांच अव्वल ले आई। दरजी नूं भरमल रै कारखांनै में बैसाणिया।

—कुंवरसी सांखला री वारता

६ विभाग, डिपार्टमेंट। उ०—कह कारखांना गिणत कुण-कुण, संभ्रमै तिहु लोक सुण-सुण। विसद जग उजवाळ विरदां, सत्रां साभ्रण सूर।—र.रू.

कारगर—वि० [फा०] प्रभावजनक, असर करने वाला।

कारगुजार—वि० [फा०] १ अपने कर्तव्य का भली प्रकार पालन करने वाला. २ कार्यकुशल।

कारचोभ—सं०पु० [फा० कारचोब] जरी के तारों से कसीदा निकालने का कार्य (रा.सा.सं.)

कारचोभी—वि० [फा० कारचोबी] जरदोजी का। उ०—मडौंची बाफते री घणै कलाबूत रेसम रै कारचोभी रै कांम री।—रा.सा.सं.

कारज—सं०पु० [सं० कार्य्यं] १ काम, कार्य (रू.भे.) उ०—लोग घरां रा कारज भूलिगा—वेनि.टी. २ मृत्युभोज. ३ कर्तव्य. ४ अंतिम संस्कार। उ०—सारा लोक-अमराव भेळा होय जाय उण देह री कारज कीयौ।—पलक दरियाव री वात

कारजियौ—देखो 'कारज' (अल्पा.)

कारट—सं०पु०—१ एक जाति विशेष जिसके व्यक्ति मृतक व्यक्ति के क्रियाकर्म-संस्कार आदि कराते हैं और मृत्यु-कृत्यों का दान भी ग्रहण करते हैं। ये अपने को ब्राह्मणों के अंतर्गत मानते हैं (मा.म.) २ इस जाति का व्यक्ति (अल्पा. 'कारटियौ') (मि० 'तारक') कहा०—कारटिया री टक्को ठाकुरद्वारै नी चढ़ै—बुरे व्यक्ति की कमाई का पैसा भगवान भी ग्रहण नहीं करते। बुरी कमाई की निंदा। ३ बच्चों द्वारा खेल में परस्पर धोखा या भुलावा देने की क्रिया, रोंगटी।

[अं० कॉर्ड] ४ पोस्ट कार्ड।

कारटियौ—सं०पु०—देखो 'कारट'(२) (अल्पा.)

कारटून—सं०पु०—वह हास्यपूर्ण कल्पित बेढंब चित्र जिससे किसी घटना या व्यक्ति के संबंध में किसी गूढ़ रहस्य का ज्ञान होता हो।

कारड—सं०पु०—देखो 'कारट' (४) (रू.भे.)

कारण—सं०पु० [सं०] १ वजह, सबब, हेतु (डि.को.) २ जिसके विचार से कुछ किया जाय या जिसके प्रभाव से कुछ हो (डि.को.) ३ जिससे कार्य की सिद्धि हो. ४ प्रयोजन. ५ निदान (डि.को.) ६ प्रमाण. ७ तांत्रिकों की परिभाषा में पूजन के उपरांत का मद्यपान. ८ विष्णु. ९ शिव. १० श्रीकृष्ण (अ.मा.) ११ मान, प्रतिष्ठा। उ०—वडी रीझ-मौजां सिरपाव पावै, कुंवर री वडी मेहरबांनी, वडौ कारण राखै।—पलक दरियाव री वात १२ गौरव। उ०—कारण कीरतसिंघ रौ, स्त्री 'अगजीत' निहाळ। सरण अभै कीधौ मियां, लीधौ वीत संभाळ।—रा.रू.

कारणइ—देखो 'कारणै' (रू.भे.) उ०—पर-मन-रंजन कारणइ, भरम म दाखिस कोइ। जेही दीठी मारुवी, तेही आखे मोइ।

—ढो.मा.

कारड़ी—सं०स्त्री०—मजदूरी। उ०—निकमाळै निकमा फिरै, ना लगै कूवटां कारड़ी।—दसदेव

कारणकरण—सं०पु०यौ०—सृष्टि का कारणस्वरूप, ईश्वर।

कारणमाळा—सं०स्त्री०—काव्य में एक अर्थालंकार जहां एक पदार्थ का दूसरा पदार्थ उत्तरोत्तर (शृंखला-बद्ध विधान-पूर्वक) कारण भाव से वर्णित किया गया हो।

कारणसरीर—सं०पु०यौ०—वेदांत में अणुवाद के अनुसार सुषुप्तावस्था का वह कल्पित शरीर जिसमें इन्द्रियों के विषय-व्यापार का अभाव रहता है, पर अहंकार आदि का संस्कार मात्र रह जाता है जिससे जीवात्मा केवल सुख ही सुख का अनुभव करता है। यह शरीर वास्तव में अविद्या ही है, इसे आनन्दमय कोश भी कहते हैं।

करणि—देखो 'कारण'। उ०—खांन भणइ-कुणि कारणि आव्या, कहउ तुम्हारउं काज। कहइ प्रधांन-रावळ आएसइ, कटक जोएस्यूं आज।—कां.दे.प्र.

कायमांन–सं०स्त्री० [सं० कायमान] घास-फूम की झोंपड़ी (डि.को.)
कायमौ–वि०—१ अशक्त, अयोग्य. २ दुर्बल निर्बल. ३ कायर।
कायम्म—देखो कायम' (रू.भे.) उ०—जप आसिस पद्धरि छंद जोड़, कायम्म राज नृप जुग करोड़।—वि.सं.
कायर–वि० [सं० कातर] १ कमजोर. २ डरपोक, भीरु।
पर्याय०—करणसोच, काचौ, कातर, कादर, डरपण, पसकण, पोच, भीरु। अल्पा० 'कायरड़ौ।'
कायरड़ौ—देखो 'कायर' (अल्पा.) उ०—सूर छतीसी सांभळै, सूरां तणौ सकाज। 'बांका' रा वायक सुणै, कायरड़ा किण काज।
—बां.दा.
कायरता–सं०स्त्री० [सं० कातरता] भीरुता, डरपोकपन। उ०—कायर छाती रा डूंगजी! थूं कायरता मत लाव, सात दिनां के भीतर थांनै, घर ले ज्याऊं छुडाय।—डूंगजी जवारजी री पड़।
कायरी–सं०स्त्री०—१ कायरता. २ कोप, क्रोध। उ०—खाय कायरी फिरंगी बोल्यौ, सुणौ संतरयां वात। ए मोडा तौ कपटी कोनी, नांय कपट की घात।—डूंगजी जवारजी री पड़
कायरौ–सं०पु०—एक प्रकार का घोड़ा (शा.हो.)
वि० (स्त्री० कायरी) भूरी आंखों वाला।
कहा०—कांणा, खोड़ा, कायरा नै सिर सूं गंजा होय, इण सूं जब बात करौ, तब हाथ में डंडा होय—काना, लंगड़ा, भूरी आंखों वाला और गंजा व्यक्ति कभी अच्छे नहीं होते।
कायल–सं०पु० [अ०] १ जो तर्कवितर्क से सिद्ध बात को मान ले। कबूल करने वाला. २ किसी बात या सिद्धान्त का मानने वाला। उ०—थादै गज कायल खाय सथाप, झुकै घट घायल आय झुवाप।
वि०—१ डरपोक. २ तंग, हैरान। उ०—कोई सिरदार रै लघु भाई बिखौ कर नीकळियौ सो ठिकांणा नै कायल कीयौ।
—वी.स.टी.
३ पीड़ित।
कायली–सं०स्त्री० [अ० काहिली] १ सुस्ती, आलस्य. २ थकावट. ३ कमजोरी. ४ लज्जा, ग्लानि। (मि० 'काहिली')
[सं० काहेऽऽलय] ५ मटकी (डि.को.)
कायस–सं०स्त्री०—१ चिढ़ने से होने वाला दुख या कष्ट. २ डाह, जलन. ३ बकझक।
कायसथा–सं०स्त्री० [सं० कायस्था] हरीतकी, हर्रे (ह.नां.)
कायस्थ–सं०पु०—१ लेखक का व्यवसाय करने वाली एक जाति विशेष अथवा इस जाति का व्यक्ति।
सं०स्त्री० [सं० कायस्था] २ हरीतकी, हर्रे (अ.मा.)
कायस्था–सं०स्त्री० [सं०] हर्रे, हरीतकी (ह.नां.)
काया–सं०स्त्री०—१ शरीर, तन, देह (ह.नां.)
कहा०—१ काया नै भी कूटण रौ, माया नै भी लूटण रौ—शरीर को मार का डर होता है तथा माया को लुटने का डर रहता है। शरीर मार से डरता है. २ काया राख धरम—शरीर की रक्षा करने के उपरांत ही धर्म करना उचित है।
२ एक प्रकार की छुरी विशेष।
कायाकल्प–सं०पु० [सं०] औषधि के प्रभाव से वृद्ध शरीर को भी सुंदर एवं युवा बनाने की क्रिया।
काया-गद-हरणी–सं०स्त्री०—हर्रे, हरीतकी (नां.मा.)
कायाचाळौ–सं०पु०—युद्ध।
कायाजळ–सं०पु०—नेत्र, नयन (ना.डि.को.)
कायाघर, कायाधार–सं०पु०—मनुष्य (अ.मा., ह.नां.)
कायापलट–सं०पु०—१ भारी हेर-फेर, बहुत बड़ा परिवर्तन. २ शरीर का नया रूप धारण करना।
कायालज–सं०स्त्री०—नेत्र, नयन (ना.डि.को.)
कायौ–वि०पु० (स्त्री० कायी) तंग, हैरान। उ०—पांणी ग्यांन किणी नहिं पायौ. कूकै लोक हुऔ अति कायौ।—ऊ.का.
कारंजौ–सं०पु०—एक वृक्ष विशेष।
कारंड–सं०पु० [सं०] हँस की जाति का एक पक्षी।
कार–सं०स्त्री० [सं० कारा] १ सीमा, मर्यादा। उ०—कळजुग चलै न कार, अकबर मन आंजस युहीं। सतजुग सम संसार, परगट रांण प्रतापसी।—दुरसौ आढ़ौ
मुहा०—१ कार खींचणी—मर्यादा बांधना. २ कार छोडणी—मर्यादा छोड़ना. ३ कार लोपणी—मर्यादा लांघना।
कहा०—बाड़ बांधियोड़ी नहीं रैवै कार बांधियोड़ी रै'सी—रक्षा की अपेक्षा रक्षा करने के विचार को मान्यता देना। मर्यादा की प्रशंसा।
२ काम, कार्य।
कहा०—कार नै कार सिखावै—काम करने से ही मनुष्य काम करना सीखता है।
३ लकीर, रेखा। उ०—जिण घर धवळ धार री कार, करूं मिनखां रौ कितरौ मोल।—सांझ ४ मदद, सहायता. ५ दूत, चर, हरकारा. ६ एक शब्द जो वर्णमाला के अक्षरों के आगे लग कर उनका स्वतंत्र बोध कराता है जैसे चकार, लकार, मकार इत्यादि।
[अनु०] ७ एक अनुकरणात्मक शब्द जो अनुक्त ध्वनि के साथ लग कर उसका संज्ञावत बोध कराता है—जैसे फूत्कार, फुफकार, सिसकार आदि।
वि०—लाभप्रद।
कार-आमद–वि०—उपयोगी, काम में आने वाला।
कारक–सं०पु०—१ व्याकरण में संज्ञा या सर्वनाम शब्द की वह अवस्था जिसके द्वारा किसी वाक्य में उसका क्रिया के साथ संबंध प्रकट होता है. २ विधाता, विधि। उ०—कांनकटी नकटी कुळटा फर, कारक नै नथ कुंडळ कीनै।—ऊ.का.
प्रत्यय—शब्दों के पीछे लगने वाला एक प्रत्यय जो करने वाले का अर्थ देता है—जैसे हांणीकारक

कारी नहीं लगती है; घर में फूट पड़ जाने से उसका नाश हो जाता है. ३ थांरा सूं कारी लागै तौ लगाग्रौ नी—अगर आप कुछ उपाय कर सकते हो तो कीजिये. ४ विगड़ियै कांम नै कारी लागै पण फूटोड़ै करम नै नी लागै—बिगड़ा हुआ काम सुधारा जा सकता है किंतु बिगड़ी हुई तकदीर को नहीं सुधारा जा सकता; भाग्य प्रबल है. २ टूटे-फूटे बर्तन, वस्त्र या किसी अन्य वस्तु को दुरुस्त करने के लिए लगाया जाने वाला तुर्प या पैबंद.

क्रि०प्र०—देणी, लगाणी, लागणी।

यौ०—कारीकुरपण, कारीकुरपौ।

३ आँख का ऑपरेशन।

क्रि०प्र०—करणी, होणी।

४ एक प्रत्यय जो शब्दों को आगे लगा कर शब्द का कर्ता अर्थ बनता है (ल.पिं)

५ हस्तकौशल में दक्ष व्यक्ति (डि. को.) मि० 'कारीगर'।

कारीगर-वि० [फा०] हाथ से काम बनाने में दक्ष, निपुण।

उ०—कीर्व सवि मांणिक हीरा कुंदण, मिळिया कारीगर मयण।
—वेलि.

सं०पु०—१ हाथ से अच्छा कार्य करने वाला व्यक्ति. २ पत्थर, लकड़ी, धातु आदि से अच्छी व विशाल वस्तुऐं बनाने वाला शिल्पकार।

कारीगरी-सं०स्त्री० [फा०] हाथ से अच्छे अच्छे कार्य करने की कला. २ पत्थर, लकड़ी, धातु आदि से अच्छी व विशाल वस्तुऐं बनाने की कला। हाथ से काम बनाने की दक्षता।

कारीस-सं०स्त्री० [सं० कारीष] उपलों का चूरा (डि.को.) (रू.भे. 'कारा')

कारुणसिंध-वि० [सं० करुणा+सिंधु] करुणासागर, दयानिधि।

उ०—नृप दासरथनंद, सौ कारुणसिंध।—र.ज.प्र.

सं०पु०—ईश्वर।

कारु-सं०पु० [सं० कार] १ भील, चमार, मीना आदि छोटी गिनी जाने वाली जातियों के व्यक्ति।

वि०—१ कार्य करने वाला (डि.को.) २ नीच, पतित।

कारुनारु-सं०पु०यौ०—देखो 'कारु'। उ०—कमारा आंबहिडा सवई, चालइ कारुनारु नवई।—कां.दे.प्र.

कारौ-सं०पु०—१ कलह, झगड़ा-फिसाद। उ०—दिन रात दार कारा करै, वहै कळेजा बीच रे। जो पैला हूं जांणतो, नेड़ौ न जातो नीच रे।
— ऊ.का.

२ निंदा, अपकीर्ति। उ०—भारी सिरहर डूगरां, कारी बेकाणांह। मांझी खेंगी वंकड़ो, नमै न तुरतांणांह।—दां.दा.स्यात

३ शिकायत. ४ एक जाति विशेष का घोड़ा (कां.दे.प्र.)

काळंतर-क्रि०वि०यौ० [सं० कालांतर] कुछ काल के अनन्तर, काफी समय के बाद। उ०—खड़हड़ै इंद्र काळंतरै. पड़ै न्द्र ब्रह्मा पड़ै। रूपक नांम रायसिघ रौ, तोहीं जरा न आंमड़ै।—नैणसी

काळंदार-सं०पु०—काला सर्प। उ०—हे ठाकुरां म्हारां सामंद नै मत छेड़ौ, श्री किरंड में दवियोड़ौ काळंदार छै सो इण भोगी (फण वाळा) रा जहर-क्रोध सूं बचनै दूजी कोई जमदंड मरण री उपाय वध नै नहीं छै।—वी.स.टी.

काळंदी-सं०स्त्री० [सं० कालिंदी] यमुना नदी (डि.को.)

काळंद्री-सं०स्त्री० [सं० कालिंदी] १ यमुना नदी जो कलिंद पर्वत से निकली हुई मानी जाती है। उ०—जु सुमेर पाखती काळिंद्री फिरै छै। २ श्रीकृष्ण की एक पत्नी। —वेलि. टी.

काळंद्री सोदर-सं०पु० [सं० कालिंदी+सहोदर] यमराज (ह.नां.)

काळ-सं०पु० [सं० काल] १ यमराज, महाकाल (डि.को.)

कहा०—१ अंजळ वडौ बळवंत है, काळ वडौ सिकारी है—भावी प्रबल है, होनहार अवश्य होता है; मनुष्य की इच्छा का कोई मूल्य नहीं. २ वैरी आवतौ दीसै पण काळ आवतौ कौ दीसै नी—शत्रु को आता हुआ देखा जा सकता है परन्तु यमराज को आता हुआ नहीं देख सकते। मृत्यु का कोई भरोसा नहीं, न मालूम कब आ जाय।

२ मौत, मृत्यु।

मुहा०—१ काळ आणौ—मृत्यु आना. २ काळ करणौ—मरना।

उ०—१ काळ कणी देख्यौ है?—मौत को किसी ने नहीं देखी। उससे कोई बच कर नहीं रह सकता. २ काळ कणी ने आडौ आवै है?—मौत किसी की सहायता नहीं करती, वह सब को खाती है. ४ काळ के ताळ नी लागै—मौत आने में समय नहीं लगता; मृत्यु को कोई नहीं रोक सकता. ५ काळ सिकार—शिकार का होना शिकारी पर नहीं बल्कि जानवर की मृत्यु होने पर निर्भर है।

३ अंतिम समय. ४ शनि ग्रह. ५ शिव. ६ विष्णु. ७ लोहा. ८ सर्प, साँप (ह.नां.) ९ अकाल, दुष्काल।

कहा०—१ काळ को पड़बौ अर बाप कौ मरबौ—मुसीबत पर मुसीबत का आना बड़ा कष्टदायक होता है. २ काळ पड़ै जणै पी'र नै सासरै साथै पड़ै—बुरा समय आता है तब चारों ओर से आता है। ३ काळ में इधक मास—अकाल में अधिक (मल) मास होने पर; विपत्ति में विपत्ति आने पर. ४ काळ रा काचरा'र सुकाळ का बोर—अकाल में तो काचरे (एक प्रकार की छोटी ककड़ी) और सुकाल में बेर बहुत होते हैं, क्योंकि झाड़ियों को जंगल में भी पर्याप्त पानी मिल जाता है. ५ काळ वागड़ सूं ऊपजै बुरौ बांमण सूं होय—मरुभूमि से अकाल उत्पन्न होता है और ब्राह्मण से बुराई उत्पन्न होती है। ब्राह्मणों की निंदा. ६ काळ विगोवै कोनी, बाळ विगोवै—अकाल अर्थात् अभाव में बदनामी नहीं होती किन्तु छोटे बच्चे शीघ्र रोटी न मिलने पर बदनामी करने लगते हैं.

१० समय (ह.नां.) ११ सिंह (ना.डि.को.)

वि०—१ काला (ह.नां.) २ क्रूर. ३ तीन की संख्या* (डि.को.)

काल-सं०पु० [सं० कल्य] आगामी आने वाला दूसरा दिन।

कहा०—१ काल कण देखी है—'कल' किसने देखा है; भविष्य की

कारणीक-वि०—१ बुद्धिमान, चतुर। उ०—वडौ अनरथ हूंण लागौ, तरै लाखा रै घर मांहै कारणीक मांणस था तिकां जाड़ेची नूं घणौ हठ कर वळती नूं राखी।—नैणसी २ काम करने वाला. ३ कारण उत्पन्न करने वाला. ४ विचित्र, अद्भुत, विख्यात। उ०—स्रीकळस हाथी सिधराव जैसिंघ रै दळ बादळ आसुफदौळा रै स्रीप्रसाद नैपाळ रा राजा रै जस तिलक उदयपुर फते मुभारख जोधपुर अै हाथी वडा कारणीक हुआ।—वां.दा. ख्यात

कारणै-क्रि०वि०—हेतु, निमित्त, कारण से, वास्ते। उ०—मन अग चै कारणै मदन चौ, वागुरि जांणै विसतारण।—वेलि.

कारणोपाधि-सं०पु० [सं०] ईश्वर (वेदान्त)

कारतक-सं०पु० [सं० कार्तिकेय] १ स्वामी कार्तिकेय. [सं० कार्तिक] २ कार्तिक मास। उ०—कारतक महिना मांय, सौनै सियाळौ सांभरै। टाढड़ीयुं तन मांय, ओढ़ण दे आभप रा धणी।—जेठवे रा सोरठा

कारतवीरज, कारतवीरज-सं०पु०—कृतवीर्य का पुत्र सहस्रबाहु (डि.को.)

कारतिक-सं०पु० [सं० कार्तिक] १ कार्तिक मास (डि.को.) २ स्वामी कार्तिकेय।

कारतूस-सं०पु०—बंदूक में भर कर चलाने की एक नली जिसमें गोली-बारूद भरा रहता है। उ०—कारतूस घन युद्ध कर सुम्भा लगं थग्गे, एक पलीती काळिका दहूं ओर नि दग्गे।—ला.रा.

कार्त्तिक-सं०पु० [सं० कार्तिक] कार्तिक मास। देखो 'काती'। [सं० कार्तिकेय] स्वामी कार्तिकेय।

कारनीक-वि०—देखो 'कारणीक' (रू.भे.) उ०—नरेंद्र के सुरेंद्र के धराधरेंद्र के ध्रतू। अकारनीक आप नांहि कारनीक ही क्रतू।—ऊ.का.

कारबार-सं०पु० [फा०] १ काम-काज. २ व्यवसाय. पेशा, व्यापार।

कारबारी-वि०—१ कामकाज करने वाला. २ व्यवसाय या पेशा करने वाला।

कारमी-वि०स्त्री०—१ कमजोर, अशक्त. २ कायर. ३ व्यर्थ, बेकार, असत्य। उ०—मन्है जांणतै मेलियौ, विसहर ऊपर पाव। होवौ माया कारमी, भावै सांची थाव।—वां.दा. ख्यात। (पु०—कारमौ)

कारमुकासण, कारमुकासन-सं०पु० [सं० कार्मुकासन] योग के चौरासी आसनों के अंतर्गत एक आसन विशेष। इसमें पांवों की स्थिति पद्मासन की तरह रख कर दोनों हाथों को सीधा कर दाहिने हाथ से दाहिने पांव के अंगूठे को तथा बांयें हाथ से बांयें पांव के अंगूठे को पकड़ा जाता है। पीछे शरीर, गरदन तथा शिर को समान रख के बैठा जाता है। इससे शरीर में उष्णता आती है तथा अपानवायु का उर्ध्व आकर्षण होता है।

कार-मुख-सं०पु० [सं० कार्मुक] १ अर्जुन (अ.मा.) २ धनुष।

कारमौ-वि०पु०—१ व्यर्थ, निकम्मा। उ०—जोवन कारमौ विहांणै उठ जासी।—ओपौ आढ़ौ २ कायर, डरपोक। उ०—देठाळौ हुआं कारमा डिगिया, पूगा कुसळ पगां रै पांण।—तेजसी खिड़ियौ सं०पु०—कुपुत्र।

कारय, करय-सं०पु० [सं० कार्य] १ कार्य, काम. २ कारण. ३ प्रयोजन, उद्देश्य।

कारयारथी-वि०—अपना कार्य सफल करने की इच्छा रखने वाला। उ०—कुलीन क्षितप्य साधू कारयारथी सामोपाय करणौ।—वां.दा.ख्यात

कारवांन-सं०पु० [फा० कारवां] यात्रियों का दल या समूह, काफिला। उ०—कतार कारवांन के अगार आवती नहीं, प्रजा पुकार द्वार पै पगार पावती नहीं।—ऊ.का.

कारस-सं०स्त्री० [सं० कारीष] देखो 'कारा' (४)

कारसकर-सं०पु० [सं० कारस्कर] पेड़, वृक्ष (ह.नां., नां.मा.)

कारसाजी-सं०स्त्री० [फा० कारसाज़ी] १ काम बनाने या सँवारने की क्रिया. २ भीतरी या छिपी हुई कार्रवाई, चालाकी।

कारा-सं०स्त्री०—१ बंधन, कैद। उ०—इण रीति केही जवनां रा प्रांण देह रूप कारा सदन रा बंदीवांन छुडाय सहाबुद्दीन री सभा मैं सारंगदेव टूक टूक होय झड़ियौ।—वं.भा. २ कारागार, कैदखाना. ३ पीड़ा, क्लेश. [सं० कारीष] ४ पशुओं के बंधने के स्थान पर उनके पैरों से बन जाने वाला गोबर का महीनतम चूर्ण (क्षेत्रीय)

कारागार, काराग्रह-सं०पु० [सं० कारागृह] बंदीगृह, कैदखाना, जेल।

काराग्रह-राक्षस-सं०पु०—इन्द्र (ना.डि.को.)

कारायण-सं०पु०—१ मस्तिष्क. २ भाग्य, नसीब। उ०—किड़की कारायण कनफड़ियां कूटी, तिड़गी तारायण सौ पुरसां तूटी।—ऊ.का.

कारासदन-सं०पु०यौ० [सं०] बंदीगृह, कारागृह जेलखाना। मि० 'कारा' (१)

कारिंदौ-सं०पु०—दूसरे की ओर से काम करने वाला कर्मचारी, गुमाश्ता।

कारिज-सं०पु० [सं० कार्य्य] देखो 'कारज' (रू.भे.) उ०—सुवेस्या कारिज सिधस होइ, मुनेसर मन बंधै फंद मांहि।—रांमरासौ

कारिमौ-वि०—देखो 'कारमौ' (ह नां.) उ०—अवसर बुहौ जात आतमा। करि कारिमा फिटा सह कांम। राघव तणा जोडि गुण रूपक, मारण दळिद्र वधारण मांम।—ह.नां.

कारियौ—एक प्रत्यय जो शब्दों के आगे लग कर शब्द का कर्ता अर्थ बनाता है; करने वाला। उ०—कांपिया उर कायरां असुभकारियौ गाजंते नीगांणै गड़ड़ै।—वेलि

कारी-सं०स्त्री०—१ इलाज, समाधान, उपाय, तरकीब। उ०—हियौ ज डुळ डुळ जाय, बेकर री बेरी ज्यूं। कारी न लागै काय, जीव डिगायां जेठवा।
क्रि०प्र०—लागणी, होणी।
कहा०—१ कारी करम सारी—भाग्य के अनुसार ही इलाज या उपाय होता है. २ घर फाट्यां ने कारी नी लागै—घर फटे को

प्यारी चीज का जाना. २३ काळजौ पत्थर (भाटौ) करणौ—कठोर बनना, हिम्मत करना. २४ काळजौ पत्थर (भाटा) रौ होणौ—दिल कड़ा होना, कठोर हृदय होना. २५ काळजौ पसीजणौ—दया आना. २६ काळजौ पांणी होणौ—दया आना. २७ काळजौ फाटणौ—डाह होना, हृदय में दुःख होना. २८ काळजौ बधणौ—उत्साह होना. २९ काळजौ बळणौ—दुःख होना. ३० काळजौ बाळणौ—कष्ट देना, चुभती बात कह कर दुःख पहुँचाना. ३१ काळजौ बैठणौ—हृदय में दहशत होना, जोश का कम होना. ३२ काळजौ सुन्न होणौ—हृदय धक से हो जाना. ३३ काळजौ हाथ भर रौ होणौ—उत्साह होना, हिम्मत वाला होना, सहन शक्ति होना. ३४ काळजा रौ टुकड़ौ—अति प्यारा. ३५ काळजै सूं लगाणौ—मारे प्यार के छाती से लगा लेना।

कहा०—काळजौ मोरां लारे सूं काड लेणौ—आतंक प्रकट करने के लिए कही जाने वाली कहावत।

काळभांपो—सं०पु०—मृत्यु से झड़प करने वाला, योद्धा, वीर, सुभट।

उ०—झालै किसौ तौ विनां पयाळ जाती काळभांपा, लाडली पंगुळी 'चांपा' अंगुळी लगाय।—सूरजमल मीसण

काळणि—सं०स्त्री०—अंधकार। उ०—करम काळणि कानैं करे, ब्रह्म अगनि में जारि। जन हरिदास अमावस बरत, कोई करसी साथ विचारि।—ह.पु.वा.

काळदंड—सं०पु०—फलित ज्योतिष का एक योग।

काळदार—सं०पु०—१ सांप (डिं.को.) २ काला सर्प।

काळदूत—सं०पु०यौ०—यमदूत।

काळद्री—सं०स्त्री० [सं० कालिन्दी] यमुना नदी (रू.भे.)

काळनाळ—सं०पु०—वह घोड़ा जिसका तालु श्याम रंग का हो—(शा.हो.) (अशुभ)

काळप—सं०स्त्री०—१ अकाल या दुष्काल होने का भाव या अवस्था।

उ०—काळप चावी कर भावी भुज भेटी, मोटा मोटां री मावीती मेटी।—ऊ.का.

२ दगा, करुणा।

कालप—सं०स्त्री०—पागलपन।

काळया—सं०स्त्री०—ईंदा पड़िहार वंश की उपशाखा।

काळपी—सं०स्त्री०—मिश्री का एक भेद। यह बढ़िया किस्म की मानी जाती है। उ०—आधूंआध काळपी मिसरी मिळायोड़ी, कोरी गागरां मांही घालियां थकां राजेस्वरां रैं मूंहडै आगै मनुहारां नूं पायजे छै।—रा.सा.सं.

काळपूंछियौ—वि०—शैतान, जबरदस्त।

सं०पु०—१ काली पूंछ का सर्प. २ पूंछ के काले बालों का बैल (अशुभ)

काळपूंछी—सं०स्त्री०—वह भैंस जिसके पूंछ के छोर के बाल काले रंग के हों (अशुभ)

वि०—काली पूंछ वाली।

काळब—सं०पु०—१ वह घोड़ा जिसका समस्त शरीर सफेद हो किंतु पैरों का रंग श्याम हो (शा.हो.) २ यमदूत।

काळबूट—सं०पु० [फा० कालबुद्र] चमारों का लकड़ी का वह ढांचा जिस पर चढ़ा कर जूता सीते हैं।

काळबेलियौ—सं०पु०—१ एक जाति विशेष का व्यक्ति जो सर्प पकड़ने या उनका जहर निकालने का व्यवसाय करता है. २ सँपेरा।

काळब्रंतक—सं०पु० [सं० कालवृन्तक] उरद की तरह का एक मोटा अन्न विशेष (डिं.को.)

काळम—सं०स्त्री०—कालिमा, दोष, कलंक।

कालम—सं०स्त्री०—पागलपन। उ०—काला जीव मती कर कालम, कालम कियां सरैं की कांम। देणहार हाथे दे देसी, राजी हुवै जिकण दिन रांम।—भीखदांन रतनू

काळमा—सं०स्त्री०—१ पँवार राजपूतों की एक शाखा विशेष। [सं० कालिमा] २ कलंक।

काळमी—सं०स्त्री०—श्याम रंग की घोड़ी। (प्रायः यह वीर पाबू राठौड़ की घोड़ी के लिए प्रयुक्त होता है।) उ०—करण अखियात चढियौ भलां काळमी, निवाहण वैण भुज बांधियां नेत।—वां.दा.

काळमुंह, काळमुखी—सं०पु०—वह घोड़ा जिसका शरीर और कान सफेद रंग के हों और मुंह और मस्तक का रंग काला हो (शा.हो.) (अशुभ)

काळमुहा—सं०स्त्री०—१ पँवार वंश की एक शाखा (वां.दा.ख्यात)

काळमुहौ—देखो 'काळमुखी' (शा.हो.)

काळमूक—सं०पु० [सं० कालमूक अथवा कालमुक्] अर्जुन (अ.मा.)

काळमेछ—सं०पु०यौ०—हरिवंश के अनुसार यवनों का एक राजा जिसने जरासंध के साथ मथुरा पर आक्रमण किया था। कालयवन

उ०—लाखां बीच 'आपा' नूं भूपाल 'विजै' भार लीवौ। गोपाळ ज्यूं कीधौ काळमेछ ने गुड़द।—हुकमीचंद खिड़ियौ

कालमोख—सं०स्त्री०—दाख, द्राक्ष (अ.मा.)

काळयौ—वि०—काला, श्यामवर्ण। उ०—मूंधौ तौ विकादचूं रे, ग्वाळा वीरा, काळयौ रे कसीस, सूंघौ तौ करादचूं रे चुड़लौ हसती दांत रौ।—लो.गी.

कालर—सं०स्त्री०—१ घास आदि के संग्रह का सुरक्षित रखने के उद्देश्य से किया गया ढेर. २ एक प्रकार का कीड़ा जो प्रायः पत्थर या मिट्टी में लगता है. ३ स्त्रियों के पैरों में धारण करने का एक प्रकार का चाँदी का या सोने का बना आभूषण. ४ खराब जमीन।

उ०—देख विरांणे निवांण कूं, क्यूं उपजावै खीज। कालर अपणौ ही भली, जामे निपजै बीज।—अज्ञात. ५ कीचड़, पंक।

उ०—विहांगड़े ज उदाथ्यां, सर ज्यउं पंडुरियांह। कालर कान्हा कमळ ज्यउं, ढळि ढळि ढेर थियांह।—ढो.मा.

काळरयण—सं०स्त्री०यौ० [सं० काल रात्रि] १ दीपावली की रात.

कोई नहीं जानता. २ काल करै सो आज कर आज करै सो अब—किसी भी कार्य को शीघ्र कर डालना चाहिये, उसे भविष्य पर नहीं छोड़ना चाहिये. ३ काल की जोगण पत्तर में पादै—नये व्यक्ति द्वारा पुराने व्यक्तियों की बराबरी या नकल करने पर. ४ काले कठी उच्छेग्रौ—बेकार की अनिश्चित बात पूछने पर. ५ काले री कालै देखीसी (गई)—भविष्य की चिंता वर्तमान में करना उचित नहीं। आलसी व्यक्तियों के प्रति।

काळ-अंजनी—सं०पु०—एक प्रकार का घोड़ा जिसके सीने पर श्याम रंग की भौरी होती है—शा.हो. (अशुभ)

काळआखरी—सं०पु०—१ मृत्यु-संदेश लाने वाला व्यक्ति. २ वह पत्र जिसमें किसी के मरने की खबर हो।

काळउ—वि० (प्रा० रू०) देखो 'काळौ'। उ०—सज्जणियां वउळाइ कइ, मंदिर बइठी आइ। मंदिर काळउ नाग जिउं, हेलउ दे दे खाइ।—ढो.मा.

काळकंधता—सं०पु० [सं० कालस्कंध] तमाल पत्र (अ मा.)

काळक—सं०स्त्री० [सं० कालिका] १ दुर्गा, देवी।
सं०पु०—२ यमराज. ३ काल, मृत्यु, मौत।

काळकड़ी—वि०स्त्री०—काले रंग की।

काळका—सं०स्त्री० [सं० कालिका] १ कालिका देवी। उ०—प्याला ले कराळ काळका सी स्रोण पीध।—हुकमीचंद खिड़ियौ
२ कश्यप ऋषि की पत्नी जो दक्ष प्रजापति की पुत्री थी. ३ हरीत की, हरें, हड (नां.मा.)
वि०स्त्री० [सं० कालिका] श्याम रंग की। उ०—उंची नीची सरवरिया री पाळ, जठे नैं मिळै टोडी-टोडडा। साथीड़ां रै चढ़ण टोड, पावू धणी रै चढ़ण केसर काळका।—लो.गी.

कालकी—वि०स्त्री०—पगली।

काळकी—वि०स्त्री०—श्याम रंग की।

काळकूट—सं०पु० [सं० कालकूट] १ विष, जहर (डि.को.) २ एक महा भयंकर विष. ३ काला वच्छ नाग. ४ सींगिया जाति का एक पौधा।

काळक्रीट—सं०पु०—यमराज। उ०—काळक्रीट ऊपांजतौ ऊठियौ लोयणां कोप, नरवेधा दोयणां खंभ गांजतौ नृसींग।—बदरीदास खिड़ियौ

काळख—सं० स्त्री० [सं० कलुष] कालिमा, कलंक, दोष।
क्रि०प्र०—लगाणी, लागणी।

काळग—सं०स्त्री० [सं० कलुष] १ कल्मष, पाप। उ०—नमो निकळंकिय नाथ नरेह नमो कलि काळग नास करेह।—ह.र.
२ देखो 'काळख'।

काळगत—सं०स्त्री०यौ०—समय की गति, समय का फेर।

काळ-चकर, काळचक्र—सं०पु०यौ० [सं० कालचक्र] समय का चक्र, समय का फेर।

काळचाळहौ, काळचाळौ—सं०पु०यौ०—१ युद्ध। उ०—जीवणौ चहै धव तद मन भागड़ै। चसासी खांगड़ौ काळचाळौ।
—रांमलाल आसियौ

२ युद्धोन्मत्त योद्धा। उ०—थूरहथ धवळ री थाट मैंवट थियौ। काळचाळौ चखां चोळबोळां कियौ।—हा.झा.

काळचिड़ी, काळचीड़ी—सं०स्त्री०—काले रंग की एक चिड़िया विशेष।

काळज—सं०पु०—कलेजा। देखो 'काळजौ' (रू.भे.) उ०—जरदाळ बंधावत गाढ़ जठै, उर में धिक काळज झाळ उठै।—पा.प्र.

काळजवन—सं०पु०यौ०—१ कालयवन. २ गोपाली नामक एक अप्सरा के गर्भ से महर्षि गर्ग के संयोग से उत्पन्न तथा यवनराज द्वारा पालित पुत्र। यह जरासंध का मित्र था और श्रीकृष्ण से लड़ा था।
उ०—क्रन मरतै दुरजोध गयौ क्रमि, त्रीकम काळजवन आगै तिमि।
—वचनिका

काळजियौ—सं०पु०—कलेजा (अल्पा०)

काळजीपण—सं०पु०—मृत्यु को जीतने वाला।

काळजीबौ, काळजीभौ—सं०पु०—वह व्यक्ति जिसकी जिव्हा काली हो (अशुभ)
वि०—सदा अशुभ बातें कहने वाला। जिसकी कही अशुभ बातें प्रायः सच हो जांय।

काळजौ—सं०पु० [सं० कलेज] शरीर में रक्त संचालन को नियंत्रण में रखने वाला बांयी ओर का एक अवयव दिल, कलेजा, जिगर।
मुहा०—१ काळजौ उछळणौ—घबड़ाहट होना, मुग्ध होना.
२. काळजौ कटणौ—आंतो में छेद होना, मार्मिक चोट होना, बुरा लगना, डाह भरना. ३ काळजौ काढ़णौ—अमूल्य या प्रिय वस्तु ले लेना, माहित करना, सर्वस्व ले लेना, बहुत दुःख देना.
४ काळजौ काढ नैं देणौ—सबसे प्रिय या बहुत बड़ी वस्तु देना.
५ काळजौ खाणौ—बहुत तकाजा करना, परेशान करना.
६ काळजौ चीर नैं दिखाणौ—पूर्ण विश्वास देना, कोई कपट न रखना, स्पष्ट कहना. ७ काळजौ छळणी होणौ—व्यथा के कारण हृदय का निर्बल होना. ८ काळजौ छेदणौ—कटु बात कहना, चुभती कहना, कुछ कह कर किसी का जी दुखाना. ९ काळजौ जळाणौ—कष्ट देना, चुभती बात कह कर दुःख पहुँचाना.
१० काळजौ टूटणौ—उत्साहहीन होना. ११ काळजौ ठंडौ करणौ—संतोष पहुँचाना, शांति देना. १२ काळजौ ठंडौ होणौ—संतोष होना, शांति मिलना. १३ काळजौ तर होणौ—तरावट आना, हृदय को शांति मिलना. १४ काळजौ तोड़'र कमाणौ—परिश्रम से रोजी कमाना. १५ काळजौ थर थर कांपणौ—हृदय धड़कना, डरना. १६ काळजौ दाब'र बैठणौ—जी मसोस कर रह जाना, सब्र कर लेना १७ काळजौ दाब'र रोणौ—हृदय को दबा कर रोना, रुक रुक कर रोना. १८ काळजौ दाबणौ—विपत्ति पड़ने पर दिल कड़ा करना, धैर्य धारण करना. १९ काळजौ धक धक करणौ—भयभीत होना. २० काळजौ धड़कणौ—दिल का डर से थर्राना. २१ काळजौ धड़काणौ—डरा देना. २२ काळजौ निकळणौ—बहुत दुःख होना, बहुत कष्ट कर परिश्रम करना, बहुत

प्यारी चीज का जाना. २३ काळजौ पत्थर (भाटौ) करणौ—कठोर बनना, हिम्मत करना. २४ काळजौ पत्थर (भाटां) रौ होणौ—दिल कड़ा होना, कठोर हृदय होना. २५ काळजौ पसीजणौ—दया ग्राना. २६ काळजौ पांणी होणौ—दया ग्राना. २७ काळजौ फाटणौ—डाह होना, हृदय में दुःख होना. २८ काळजौ ववणौ—उत्साह होना. २९ काळजौ वळणौ—दुःख होना. ३० काळजौ वाळणौ—कष्ट देना, चुभती बात कह कर दुःख पहुँचाना. ३१ काळजौ बैठणौ—हृदय में दहशत होना, जोश का कम होना. ३२ काळजौ सुन्न होणौ—हृदय धक से हो जाना. ३३ काळजौ हाथ भर रौ होणौ—उत्साह होना, हिम्मत वाला होना, सहन शक्ति होना. ३४ काळजा रौ टुकड़ौ—ग्रति प्यारा. ३५ काळजै सूं लगाणौ—मारे प्यार के छाती से लगा लेना।

कहा०—काळजौ मौरां लारे सूं काड लेणौ—ग्रातंक प्रकट करने के लिए कही जाने वाली कहावत।

काळभांपी—सं०पु०—मृत्यु से झड़प करने वाला, योद्धा, वीर, सुभट।
उ०—झालै किसो तौ विनां पयाळ जाती काळभांपा, लाडली पंगुळी 'चांपा' ग्रंगुळी लगाय।—सूरजमल मीसण

काळणि—सं०स्त्री०—ग्रंधकार। उ०—करम काळणि कानै करे, ब्रह्म ग्रगनि में जारि। जन हरिदास ग्रमावस वरत, कोई करसी साथ वित्रारि।—ह.पु.वा.

काळदंड—सं०पु०—फलित ज्योतिष का एक योग।

काळदार—सं०पु०—१ सांप (डि.को.) २ काला सर्प।

काळदूत—सं०पु०यौ०—यमदूत।

काळद्री—सं०स्त्री० [सं० कालिन्दी] यमुना नदी (रू.भे.)

काळनाळ—सं०पु०—वह घोड़ा जिसका तालु श्याम रंग का हो— (शा.हो.) (ग्रशुभ)

काळप—सं०स्त्री०—१ ग्रकाल या दुष्काल होने का भाव या ग्रवस्था।
उ०—काळप चावी कर भावी मुज भेटी, मोटा मोटां री मावीती मेटी।—ऊ.का.
२ दया, करुणा।

कालप—सं०स्त्री०—पागलपन।

काळया—सं०स्त्री०—ईंदा पड़िहार वंश की उपशाखा।

काळपी—सं०स्त्री०—मिश्री का एक भेद। यह वढ़िया किस्म की मानी जाती है। उ०—ग्राधूंग्राध काळपी मिसरी मिळायोड़ी, कोरी गागरां मांही घालियां थकां राजेस्वरां रै मूंहडै ग्रागै मनुहारां सूं पायजे छै।—रा.सा.सं.

काळपूंछियौ—वि०—शैतान, जबरदस्त।
सं०पु०—१ काली पूंछ का सर्प. २ पूंछ के काले वालों का बैल (ग्रशुभ)

काळपूंछी—सं०स्त्री०—वह भैंस जिसके पूंछ के छोर के वाल काले रंग के हों (ग्रशुभ)
वि०—काली पूंछ वाली।

काळव—सं०पु०—१ वह घोड़ा जिसका समस्त शरीर सफेद हो किंतु पैरों का रंग श्याम हो (शा.हो.) २ यमदूत।

काळवूट—सं०पु० [फा० कालवुद्र] चमारों का लकड़ी का वह ढांचा जिस पर चढ़ा कर जूता सीते हैं।

काळवेलियौ—सं०पु०—१ एक जाति विशेष का व्यक्ति जो सर्प पकड़ने या उनका जहर निकालने का व्यवसाय करता है. २ सँपेरा।

काळवंतक—सं०पु० [सं० कालवृन्तक] उरद की तरह का एक मोटा ग्रन्न विशेष (डि.को.)

काळम—सं०स्त्री०—कालिमा, दोष, कलंक।

कालम—सं०स्त्री०—पागलपन। उ०—काला जीव मती कर कालम, कालम कियां सरै की कांम। देणहार हाथे दे देसी, राजी हुवै जिकण दिन रांम।—भीखदांन रतनू

काळमा—सं०स्त्री०—१ पँवार राजपूतों की एक शाखा विशेष। [सं० कालिमा] २ कलंक।

काळमी—सं०स्त्री०—श्याम रंग की घोड़ी। (प्रायः यह वीर पाबू राठौड़ की घोड़ी के लिए प्रयुक्त होता है।) उ०—करण ग्रखियात चढियौ भलां काळमी, निवाहण वैण भुज वांधियां नेत।—वां.दा.

काळमुंह, काळमुखौ—सं०पु०—वह घोड़ा जिसका शरीर ग्रौर कान सफेद रंग के हों ग्रौर मुँह ग्रौर मस्तक का रंग काला हो (शा.हो.) (ग्रशुभ)

काळमुहा—सं०स्त्री०—१ पँवार वंश की एक शाखा (वां.दा.ख्यात)

काळमुहौ—देखो 'काळमुखौ' (शा.हो.)

काळमूक—सं०पु० [सं० कालमूक ग्रथवा कालमुक्] ग्रर्जुन (ग्र.मा.)

काळमेछ—सं०पु०यौ०—हरिवंश के ग्रनुसार यवनों का एक राजा जिसने जरासंध के साथ मथुरा पर ग्राक्रमण किया था। कालयवन
उ०—लाखां बीच ग्रापा' नूं भूपाल 'विजै' भार लीधौ। गोपाळ ज्यूं कीधौ काळमेछ नै गुड़द।—हुकमीचंद खिड़ियौ

कालमोख—सं०स्त्री०—दाख, द्राक्ष (ग्र.मा.)

काळयौ—वि०—काला, श्यामवर्ण। उ०—मूंधौ तौ विकादयूं रे, ग्वाळा वीरा, काळयौ रे कसीस, सूंघौ तौ करादयूं रे चुड़लौ हसती दांत रौ।—लो.गी.

कालर—सं०स्त्री०—१ घास ग्रादि के संग्रह का सुरक्षित रखने के उद्देश्य से किया गया ढेर. २ एक प्रकार का कीड़ा जो प्रायः पत्थर या मिट्टी में लगता है. ३ स्त्रियों के पैरों में धारण करने का एक प्रकार का चाँदी का या सोने का बना ग्राभूषण. ४ खराब जमीन।
उ०—देख विरांणे निवांण कूं, क्यूं उपजावै खीज। कालर ग्रपणौ ही भली, जामे निपजै चीज।—ग्रज्ञात. ५ कीचड़, पंक।
उ०—विहांगड़ै ज उदाध्यां, सर ज्यउं पंडुरियांह। कालर काभा कमळ ज्यउं, ढळि ढळि ढेर थियांह।—ढो.मा.

काळरयण—सं०स्त्री०यौ [सं० काल रात्रि] १ दीपावली की रात.

२ शिवरात्रि, कालरात्रि. ३ ब्रह्मा या प्रलय की रात जिसमें सब सृष्टि लय की दशा में रहती है. ४ भयावनी अंधेरी रात्रि।

काळरात, काळरात्री–सं०स्त्री०यौ०—१ देखो 'काळरयरण'।

२ चौसठ योगिनियों के अन्तर्गत बाईसवीं योगिनी।

कालरीजणौ–क्रि०अ०—कालर नामक कीड़ा लगने से मिट्टी, पत्थर आदि की बनी दीवार व वस्तुओं पर से पपड़ी उतरना।

काळ-रौ-चरखौ–वि०—वह जो मरने मारने में तनिक भी हिचकिचाता न हो।

काळव–सं०पु० [सं० काल] महाकाल, मृत्यु, मौत। उ०—कलमां काळव ग्रहणे कोटां, ईखे मोकळ आयौ।—महाराणा मोकळ रौ गीत

कालवा–सं०स्त्री०—घोड़े की एक जाति विशेष (रा.ज.सी.)

काळवी–सं०स्त्री०—देखो 'काळमी' (रू.भे.) उ०—काळवी पर त्यार पलांण कियौ, दुत वाल समार लगांम दियौ।—पा.प्र.

काळवौ–सं०पु०—एक प्रकार का घोड़ा (शा.हो.)

काळस–सं०स्त्री० [सं० कालुष्य] कालिमा, कलंक, दोष।

उ०—आळस न राख्यौ अंग, निराळस चाल्यौ नेक। काळस न लागी काय, सालस सफाई तें।—ऊ.का.

काळसेय–सं०पु० [सं० कालेशयम्] १ दही (नां.मा.)

सं०स्त्री०—२ छाछ (अ.मा., ह.नां.)

काळांण–सं०पु०—१ एक प्रकार का छोटा वृक्ष जिसकी लकड़ी मजबूत होती है। इसके फूल गुलाबी रंग के होते हैं।

सं०स्त्री०—२ मेघघटा, घनघटा।

काळा–सं०स्त्री०—१ पँवार वंश की एक शाखा (बां.दा.ख्यात)

काळाआखरियौ, काळाआखरी–सं०पु०—मृत्यु की सूचना देने वाला पत्र या व्यक्ति। उ०—पग अगा मन पूर्ठ, काळौ वदन कियेह। आयौ काळाआखरी, ओठीड़ौ अइयांह।—पा.प्र.

कालाई–सं०स्त्री०—१ पागलपन. २ मूर्खता।

काळाकंबळ–सं०स्त्री०—१ श्री करणीदेवी का एक नाम. २ काली ऊन का बना कम्बल।

काळाकेस–सं०पु०—१ गुप्तेन्द्रिय के पास उगने वाले बाल. (मि० 'काळावाळ') २ युवावस्था के बाल।

काळाखरी, काळाखरियौ—देखो 'काळाआखरी' (रू.भे.)

काळागर–सं०पु०—अफीम (डिं.को.)

काळानळ, काळाग्नी–सं०स्त्री०—१ योगियों के अग्निकुंड की आग. २ मृत्यु की अग्नि. ३ काल, मौत।

कालापणौ–सं०पु०वि०—पागलपन (अमरत)

काळावाळ–सं०पु०यौ०—गुप्तेन्द्रिय के आसपास के केश, गुप्तेन्द्रिय के बाल। उ०—इतरै में सेरसिंह बरछी उहां वाही सो काळावाळां बगल लागी।—मारवाड़ रा अमरावां री वारता

काळायण–सं०पु०—१ प्रायः वर्षा ऋतु में गाया जाने वाला एक लोक-गीत.

सं०स्त्री०—२ श्याम मेघघटा।

काळायस–सं०पु० [सं० कालायस] लोह (ह.नां., डिं.को.)

काळाहणि–वि० [सं० काल+अयन] प्रलयकारिणी। उ०—कठठी वे घटा करे काळाहणि, समुहे आंमहो सांमुहौ।—वेलि.

सं०स्त्री०—श्याम रंग की मेघ-घटा।

काळिगड़ौ, काळिगौ–सं०पु०—१ एक राग विशेष (ऊ.का.)

२ तरबूज के आकार का वर्षा ऋतु में होने वाला मरुस्थल का एक लता-फल विशेष, हिंदुआनी. ३ पक्षी विशेष।

उ०—काळिगडौ कू कू करै, करत कोयलड़ी सोर। पपैया तू बोल रे, जित म्हारे आलीजे भंवर री मुकाम।—लो.गी.

काळिंदार–सं०पु०—काला सर्प।

काळिंद्री–सं०स्त्री० [सं० कालिन्दी] यमुना नदी (ह.नां.) उ०—कंठ पोत कपोत किकर्हु नीलकंठ, वडगिरि काळिंद्री वळी।—वेलि.

काळिका–सं०स्त्री०—१ शक्ति, देवी, चंडिका, काली देवी. २ दुर्गा. ३ कालिख. ४ स्याही मसि. ५ शराब. ६ आंख की पुतली. ७ चार वर्ष की कन्या. ८ दक्ष की कन्या. ९ हर्रे, हरीतकी (ह.नां.)

काळिक्का—देखो 'काळिका' (रू.भे.)

काळिज, काळिजौ—देखो 'काळजौ' (रू.भे.) उ०—अवज्झड़ भिज्झड़ भड्ड असंध, कटै कर कोपर काळिज कंध।—वचनिका

काळियार–सं०पु०—काले रंग का हरिण, कृष्ण मृग।

वि०—कपटी, धूर्त।

काळियौ–सं०पु०—१ अफीम। उ०—ऊठगी उम्मेद बैंठण ऊठण भेद न पैला भालियौ। बहु गरथ दे'र बांधी विषय करणौ अनरथ काळियौ।—ऊ.का. २ काली नाग। उ०—इण चरण काळियौ नाथ्यौ, गोपलीला करण।—मीरां ३ श्रीकृष्ण. ४ शिरीष जाति का एक बड़ा वृक्ष. ५ साधारण घास।

वि०—काला, श्याम वर्ण (अल्पा०) उ०—करहा काछी काळिया, भुइं भारी घर दूर। हयड़ा कांइ न खंचिया, राह गिळंतइ सूर।—ढो.मा.

कालियौ–वि०—देखो 'कालौ' (अल्पा०)

काळींगड़ौ, काळींगौ—देखो 'काळिगड़ौ' (रू.भे.)।

काळींदर–सं०पु०—काला सर्प। उ०—फबतौ आयुस स्रौ माधव फुरमायौ, कांतीचंदर नै काळींदर खायौ।—ऊ.का.

वि०—श्याम रंग का, काले रंग का।

काळी–सं०पु०– १ कालीदह का सर्प जिसे श्रीकृष्ण ने नाथा था।

उ०—कांन न जपियौ नायण काळी, ठौड़ बिन पग हाथ ठरै।

२ अफीम (डिं.को.) —ओपौ आढ़ौ

सं०स्त्री०—३ भवानी, काली माता (अ.मा.)

वि०—१ काला, कृष्ण वर्ण (डिं.को.) उ०—काळी कंठळि बादळी, वरसि ज मेल्हइ वाउ। प्री विण लागइ बूंदड़ी, जांणि कटारी घाउ।—ढो.मा.

२ जबरदस्त । उ०—नार तणै काजळ नीलांबर, हरख करै अन राव हियै। मूछां वळ घातै मेवाड़ो, काळी घड़ा वराव कियै।

—महारांणा राजसींघ रौ गीत

काली–वि०स्त्री० (पु० कालौ) पगली, पागल।

काळीकंठौ–सं०पु०—एक जाति विशेष का घोड़ा (कां.दे.प्र.)

काळीकांठळ–सं०स्त्री०यौ०—श्याम घटा। उ०—काळीकांठळ में दामणियां दमकी, चित में कांमणियां विरहानळ चमकी।—ऊ.का.

काळीचकर–सं०स्त्री० [सं० कालिका+चक्र] कालिका देवी का एक अस्त्र विशेष।

काळीजीरी–सं०स्त्री० [सं० वनजीरक] एक पेड़ की बोंडी के बीज जो दवा के काम आते हैं।

काळीताली–सं०स्त्री०—एक प्रकार की लाग विशेष जो अकाल पड़ने पर भी वसूल की जाती थी।

काळीदमण–सं०पु०—काली नाग को दमन करने वाले श्रीकृष्ण। उ०—करी मुख रदन काळीदमण काढ़िया। मही मूळी कढ़ी जांण माळी।—वां.दा.

काळीदह, काळीदाह, काळीदौ, काळीद्रह–सं०पु०—वृन्दावन के पास यमुना नदी का एक दह या कुंड जिसमें काली नामक नाग रहा करता था।

काळीधार, काळीध्रह—देखो 'काळीदह'। उ०—काळीध्रह काळी नथे, क्रसना तीर क्रसन।—अ.मा.

काळीनदी–सं०स्त्री०—एक नदी का नाम।

काळीपीळी–वि०—१ अशुभ एवं भयंकर. २ तेज एवं गहरी आंधी के लिए प्रयुक्त विशेषण जिसके आगे पीलापन होता है तथा पीछे कालापन।

काळीबूई–सं०स्त्री०—काले रंग की बुई, एक घास विशेष।

काळीबोळी–सं०स्त्री०—भयंकर तूफान, झंझावात। वि०—१ अंधेरी. २ अशुभ एवं भयंकर।

काळीमिरच–सं०स्त्री०—गोल मिर्च।

काळीमूसळी–सं०स्त्री०—एक प्रकार का क्षुप जिसमें बहुत छोटे-छोटे फूल होते हैं (अमरत)

काळीरात–सं०स्त्री०—१ कालरात्रि. २ अंधेरी रात्रि। उ०—मूरख भगतां सोर मचायौ, काळीरात जरख कुरळायौ।

—ऊ.का.

काळीसिंध–सं०स्त्री०—चंबल की एक सहायक नदी का नाम।

काळीसीतळा–सं०स्त्री०—एक प्रकार की चेचक जिसमें फुन्सियों का रंग पहले लाल और पीछे काला होता है।

काळीसुतन–सं०पु०—गणेश, गजानन (डि.को.)

कालुओ–सं०पु०—एक जाति विशेष का घोड़ा (कां.दे.प्र.)

काळूंडी–सं०स्त्री० [सं० कालतुण्ड+रा०प्र०ई] कलंक, बदनामी, अपयश।

कालूंभा–सं०स्त्री०—मांगणियार जाति का एक भेद विशेष (मा.म.)

कालूओ—देखो 'कालुओ' (रू.भे.)—शा.हो.

काळूस–सं०स्त्री० [सं० कालुष्य] १ कलंक. २ गदलापन. ३ पाप।

काले–क्रि०वि०—देखो 'काल' (रू.भे.)

कालेज–सं०पु०—१ पंवार वंश की एक शाखा. २ इस शाखा का व्यक्ति. [अं० कॉलेज] ३ वह पाठशाला जहाँ प्रवेशिका से आगे स्नातक आदि की पढ़ाई की व्यवस्था हो।

काळेजौ—देखो 'काळजौ' (रू.भे.) उ०—नागणी लेती तोप रै अभिमुख धकावै जिण तरह काळेजा करां में लीधां प्रांणां री दुरभिक्ष पटकता।—वं.भा.

कालेट–सं०पु०—ढोली (मिरासी) जाति की एक शाखा (मा.म.)

कालेयक–सं०पु०—[सं०] केसर (ह.नां., अ.मा.)

काळेरौ–सं०पु०—काले रंग का हरिण।

कालै–क्रि०वि०—कल।

काळोवा', काळोवाव–सं०पु०—पशुओं में होने वाला एक प्रकार का वात रोग जिसमें उनका खून सूख जाता है और पशु मर जाता है।

काळौ–सं०पु०—१ काला सर्प। उ०—भागीजै तज भीतड़ा, ओडै जिम तिम अत। किण दिन दीठा ठाकरां, काळा दरड़ करंत।

—वी.स.

कहा०—काळा री पूंछ माथै पग देवणौ—काले सांप की पूंछ पर पैर रखना; किसी भयंकर एवं क्रोधी व्यक्ति को छेड़ने पर।

२ हाथी (डि.को.) ३ काला रंग। उ०—पट दे साबू पूर, खूब चढ़ाय सोधन करै। धोयां होवै न दूर, काळौ लागौ किसनिया।

४ अफीम (डि.को.) उ०—काळा में कोडाय, चाहि खायौ कर चाळा। मोड़ा उघड़्या मींत, चिरत थारा चिरताळा।—ऊ.का.

५ काले रंग का पदार्थ. ६ श्रीकृष्ण. उ०—अब छोगाळा ऊठ, काळा तू प्रतपाळ कर। पांचाळी री पूठ, चढ़ रखवाळी सांवरा।

—रांमनाथ कवियौ

७ कलंक. उ०—दूवां बोतल भरेह, दुनियां सह दारू कहै। संगत रा फळ एह, काळौ लागै किसनिया। ८ कृष्ण वर्ण का, भैरव देव. ९ अपयश का कार्य। उ०—काळौ वीसळदे कियौ, दरब सिला तळ दे'र। विमळ कियौ वछराज पह, अरब समपि अजमेर।—वां.दा.

वि०—१ योद्धा, वीर, बहादुर। उ०—भागै भीच गोरा सिघां परा रा जिहांन भाळी, दावौ तेगां झाट दे उत्ताळौ दसूं देस। तीसूं नींद न आवै, कंपनी लगाड़ै ताळा, काळौ हिये न मावै अगंजी 'कुसळेस'।

—सूरजमल मीसण

२ कपटी, धूर्त. ३ श्याम रंग का, काले रंग का, काले रंग संबंधी।

मुहा०—काळा कोसां—बहुत दूर, लम्बा मार्ग. २ काळौ पीळौ होणौ—क्रोधित होना।

कहा०—१ इण सूं आगै काळी भींत है—किसी बात की हद या सीमा निर्धारण पर. २ काळा काळा किसनजी(बाप) रा साळा—

२ शिवरात्रि, कालरात्रि. ३ ब्रह्मा या प्रलय की रात जिसमें सब सृष्टि लय की दशा में रहती है. ४ भयावनी अंधेरी रात्रि ।

काळरात, काळरात्री—सं०स्त्री०यौ०—१ देखो 'काळरयण' ।
२ चौसठ योगिनियों के अन्तर्गत वाईसवीं योगिनी ।

कालरीजणौ—क्रि०अ०—कालर नामक कीड़ा लगने से मिट्टी, पत्थर आदि की बनी दीवार व वस्तुओं पर से पपड़ी उतरना ।

काळ-रौ-चरखौ—वि०—वह जो मरने मारने में तनिक भी हिचकिचाता न हो ।

काळव—सं०पु० [सं० काल] महाकाल, मृत्यु, मौत । उ०—कलमां काळव ग्रहणे कोटां, ईखे मोकळ आयौ ।—महाराणा मोकळ रौ गीत

कालवा—सं०स्त्री०—घोड़े की एक जाति विशेष (रा.ज.सी.)

काळवी—सं०स्त्री०—देखो 'काळमी' (रू.भे.) उ०—काळवी पर त्यार पलांण कियौ, दुत वाळ समार लगांम दियौ ।—पा.प्र.

काळवौ—सं०पु०—एक प्रकार का घोड़ा (शा हो.)

काळस—सं०स्त्री० [सं० कालुष्य] कालिमा, कलंक, दोष ।
उ०—आळस न राख्यौ अग, निराळस चाल्यौ नेक । काळस न लागी काय, सालस सफाई तें ।—ऊ.का.

काळसेय—सं०पु० [सं० कालेशयम्] १ दही (नां.मा.)
सं०स्त्री०—२ छाछ (अ.मा., ह.नां)

काळांण—सं०पु०—१ एक प्रकार का छोटा वृक्ष जिसकी लकड़ी मजवूत होती है । इसके फूल गुलावी रंग के होते हैं ।
सं०स्त्री०—२ मेघघटा, घनघटा ।

काळा—सं०स्त्री०—१ पँवार वंश की एक शाखा (वां.दा.ख्यात)

काळाग्राखरियौ, काळाग्राखरी—सं०पु०—मृत्यु की सूचना देने वाला पत्र या व्यक्ति । उ०—पग अगा मन पूठनैं, काळौ वदन कियोह । आयौ काळाग्राखरी, ग्रोठीड़ौ अइयांह ।—पा.प्र.

कालाई—सं०स्त्री०—१ पागलपन. २ मूर्खता ।

काळाकंवळ—सं०स्त्री०—१ श्री करणीदेवी का एक नाम. २ काली ऊन का वना कम्वल ।

काळाकेस—सं०पु०—१ गुप्तेन्द्रिय के पास उगने वाले वाल. (मि० 'काळावाळ') २ युवावस्था के वाल ।

काळाक्खरी, काळाखरियौ—देखो 'काळाग्राखरी' (रू.भे.)

काळागर—सं०पु०—अफीम (डि.को.)

काळानळ, काळाग्नी—सं०स्त्री०—१ योगियों के अग्निकुंड की आग. २ मृत्यु की अग्नि. ३ काल, मौत ।

कालापणौ—सं०पु०वि०—पागलपन (अमरत)

काळावाळ—सं०पु०यौ०—गुप्तेन्द्रिय के आसपास के केश, गुप्तेन्द्रिय के वाल । उ०—इतरै में सेरसिंह वरछी उहां वाही सो काळावाळां वगल लागी ।—मारवाड़ रा अमरावां री वारता

काळायण—सं०पु०—१ प्रायः वर्षा ऋतु में गाया जाने वाला एक लोक-गीत.
सं०स्त्री०—२ श्याम मेघघटा ।

काळायस—सं०पु० [सं० कालायस] लोह (ह.नां., डि.को.)

काळाहणि—वि० [सं० काल+अयन] प्रलयकारिणी । उ०—कठठी वे घटा करे काळाहणि, समुहे आंमही सांमुहौ ।—वेलि.
सं०स्त्री०—श्याम रंग की मेघ-घटा ।

काळिंगड़ौ, काळिंगौ—सं०पु०—१ एक राग विशेष (ऊ.का.)
२ तरवूज के आकार का वर्षा ऋतु में होने वाला मरुस्थल का एक लता-फल विशेष, हिंदुग्रानी. ३ पक्षी विशेष ।
उ०—काळिंगडौ कू कू करै, करत कोयलड़ी सोर । पपैया तू वोल रे, जित म्हारे आलीजे भंवर रौ मुकाम ।—लो.गी.

काळिंदार—सं०पु०—काला सर्प ।

काळिंद्री—सं०स्त्री० [सं० कालिन्दी] यमुना नदी (ह.नां.) उ०—कंठ पोत कपोत किकहुं नीलकंठ, वडगिरि काळिंद्री वळी ।—वेलि.

काळिका—सं०स्त्री०—१ शक्ति, देवी, चंडिका, काली देवी. २ दुर्गा.
३ कालिख. ४ स्याही मसि. ५ शराव. ६ आंख की पुतली.
७ चार वर्ष की कन्या. ८ दक्ष की कन्या.
९ हर्रे, हरीतकी (ह.नां.)

काळिक्का—देखो 'काळिका' (रू.भे.)

काळिज, काळिजौ—देखो 'काळजौ' (रू.भे.) उ०—अवज्झड़ त्रिज्झड़ भड़ असंध, कटै कर कोपर काळिज कंध ।—वचनिका

काळियार—सं०पु०—काले रंग का हरिण, कृष्ण मृग ।
वि०—कपटी, धूर्त ।

काळियौ—सं०पु०—१ अफीम । उ०—ऊठगी उम्मेद वैठण ऊठण भेद न पैला भालियो । वहु गरथ दे'र वांधी विपथ करणौ अनरथ काळियौ ।—ऊ.का. २ काली नाग । उ०—इण चरण काळियौ नाथ्यौ, गोपलीला करण ।—मीरां ३ श्रीकृष्ण. ४ शिरीष जाति का एक वड़ा वृक्ष. ५ साधारण घास ।
वि०—काला, श्याम वर्ण (अल्पा०) उ०—करहा काछी काळिया, भुइं भारी घर दूर । हथड़ा कांइ न खंचिया, राह गिळंतइ सूर ।
—ढो.मा.

कालियौ—वि०—देखो 'कालौ' (अल्पा०)

काळींगड़ौ, काळींगौ—देखो 'काळिंगड़ौ' (रू.भे.) ।

काळींदर—सं०पु०—काला सर्प । उ०—फवतौ आयुस स्री माधव फुरमायौ, कांतीचंदर नै काळींदर खायौ ।—ऊ.का.
वि०—श्याम रंग का, काले रंग का ।

काळी—सं०पु०—१ कालीदह का सर्प जिसे श्रीकृष्ण ने नाथा था ।
उ०—कांन न जपियौ नाथण काळी, ठौड़ विन पग हाथ ठरै ।
२ अफीम (डि.को.) —ग्रोपो आढ़ौ
सं०स्त्री०—३ भवानी, काली माता (अ.मा.)
वि०—१ काला, कृष्ण वर्ण (डि.को.) उ०—काळी कंठळि वादळी, वरसि ज मेल्हइ वाउ । प्री विण लागइ वूंदड़ी, जांणि कटारी घाउ ।
—ढो.मा.

कावड़ियौ–सं०पु०—१ कावड़ (देखो 'कावड़' (१)) दिखाने वाला अथवा दिखाते समय कविता पढ़ने वाला. उ०—रात दिवस भीची रहै, मूठी मावड़ियांह। ज्यांरै धन किण विध जुड़ै, कीरत कावड़ियांह।—बां.दा.
२ वह व्यक्ति जो तराजू के आकार के ढांचे में बोझा उठा कर ले जाय।
कावतरौ–सं०पु०—कपट, छल, धोखा।
कावय—देखो 'काव्य' (रू.भे.)
कावर–सं०स्त्री०—एक पक्षी विशेष जिसका मांस कुक्कर खांसी वाले को खिलाया जाता है (डि.को.)
कावरजाळौ–वि०—१ कपटी, चालाक। उ०—सज्जण सेरी सांकडी, कावरजाळौ लोग। नैणां मुजरौ मांनजे, नांहि मिळण रौ जोग।
२ धूर्त। —जलाल बूबना री वात
कावळ–वि०—बुरा, निकृष्ट। उ०—बाइयां मत कावळ वैण बकौ, धुर आज हुसी मोय हूंत धकौ।—पा.प्र.
यौ०—आवळ-कावळ।
मुहा०—आवळ-कावळ बोलणौ—अपशब्द कहना, अश्लील गालियाँ निकालना।
कावळयार–वि०—१ कपटी. २ चालाक, धूर्त।
कावळयारी–सं०स्त्री०—चालाकी, धूर्त्तता।
कावळाई–सं०स्त्री०—१ बदमाशी. २ कुटिलता।
कावळियार, कावळियाळ–वि०—१ उत्पात करने वाला, विघ्न करने वाला. २ कुटिल, बदमाश. ३ पाखंडी. ४ दोषी. ५ खोटा।
कावळियौ–वि०—१ उल्टा, विरुद्ध. २ देखो 'कावळियाळ'।
कावळी–सं०पु०—१ काबुल देशोत्पन्न एक प्रकार का घोड़ा (शा.हो.)
सं०स्त्री०—२ तरंग, हिलोर (ह.नां.)
कावळौ–वि०—१ भयंकर. उ०—नाळियां कड़क भुज भडाळां अड़क नभ, धरा पुड़ धड़क ग्रह धड़ै धूरा। कड़ा बरमां बड़क रुड़क अंव कावळा, भमर किण सिर असी कड़क भूरा।
—रावत अमरसिंह री गीत
सं०पु०—युद्ध में बजाया जाने वाला बाजा विशेष। उ०—कांम रा जोध वांना भरर कुंजरां, विकट झाट कावळां सबद वागौ। अरियणां पछट सीमाड़ धर ऊचंडै। अरि नह मंडैसी सार आगै।—अज्ञात
काविल—१ देखो 'काबिल' २ देखो 'काबुल' (रू.भे.)
कावेरी–सं०स्त्री०—१ एक नदी का नाम (अ.मा.) २ वेश्या.
३ हल्दी. ४ संपूर्ण जाति की एक रागिनी (संगीत)
कावौ–सं०पु० [फा० कावा] घोड़े को एक वृत्त में चक्कर देने की क्रिया या ढंग. २ चक्कर, फेरा। उ०—जत धार जावौ करे कावौ खबर लावौ खोद।—र.रू.
काव्य–सं०पु० [सं०] १ वह वाक्य या रचना जिससे चित्त किसी रस या मनोवेग से पूर्ण हो. २ वह पुस्तक जिसमें कविता हो.
३ चौवीस मात्राओं का एक छंद विशेष जिसके प्रत्येक चरण की ग्यारहवीं मात्रा लघु होती है (डि.को.) ४ बहत्तर कलाओं के अंतर्गत एक कला।
कास–वि०—श्वेत, सफेद॰ (डि.को.)
सं०स्त्री०—१ खाँसी का रोग।
सं०पु०—२ एक तृण विशेष।
कासग–सर्व०—किसकी। उ०—सरग इंद्र सलहियै राव पायाळै वासग। मात लोक नूं राव कहां ओपम कासग।—नैणसी
कासगर–सं०पु०—पूर्वी तुर्किस्तान का एक शहर।
कासटिया—देखो 'कसारा' (मा.म.)
कासत—देखो 'कास्त' (रू.भे.)
कासतकार—देखो 'कास्तकार'।
कासप—सं०पु०—कश्यप ऋषि।
कासपी–सं०पु० [सं० काश्यपि] १ गरुड़ (डि.को.) २ सूर्य।
कासव—देखो 'कासप' (रू.भे.)
कासव-सुतन–सं०पु०यौ०—सूर्य, भानु (डि.को.)
कासवांणी–सं०पु०—१ सूर्य्य। उ०—ईसरांणी चढ़चौ पांणी सादांणी मेवाड़ आतां, कासवांणी हींदवै जंगांणी तोल कीग।—अज्ञात
२ गरुड़. ३ गरुड़ का बड़ा भाई।
कासमिर, कासमीर–सं०पु०—काश्मीर।
कासमीरी–वि०—काश्मीर का, काश्मीर प्रदेश संबंधी।
सं०पु०—काश्मीर देश में उत्पन्न घोडा (शा.हो.)
कासमेरी–वि०— देखो 'कासमीर'।
सं०स्त्री०—१ एक देवी का नाम. २ एक प्रकार का मोटा ऊनी कपड़ा जो काश्मीर में बुना जाता है।
कासर–सं०पु० [सं० कासार] तालाब (अ.मा.)
कासळक, कासळकौ–सं०पु०—वह ऊँट जो मस्ती में हो और दाँतों को परस्पर टकरा कर ध्वनि करता हो।
कासलीवाळ–सं०पु०—दधीचि ब्राह्मणों का एक भेद (मा.म.)
कासार–सं०पु० [सं०] तालाब। देखो 'कासर' (डि.को.)
उ०—छूटी आसारां कासारां छिलती। पड़ती परनाळां पहुवी पिलपिलती।—ऊ.का.
कासारी–सं०स्त्री० [सं० कासर+ई] भैंस, महिषी। उ०—सुरभी कासारी सुख लेगी, देई बीलोई दोई दुख देगी।—ऊ.का.
कासि—देखो 'कासी' (रू.भे.)
कासिका–सं०स्त्री०—वामन और जयादित्य रचित पाणिनीय व्याकरण पर एक प्रसिद्ध वृत्ति ग्रंथ।
कासिद–सं०पु०—१ पत्रवाहक, संदेशवाहक (डि.को.) उ०—अमरसिंहजी कन्है कासिद गया सौ सारा समाचार मालूम हुवा।
—अमरसिंह री वात
२ इरादा करने वाला (मा.म.)

जब काले आदमी की बुराई की जाती है तो उसके द्वारा कहा जाता है. ३ काळां की लारां धोळौ रैवै तौ रूप नहीं तौ गुण तौ लेवै—काले के साथ सफेद रहता है तो रूप नही किन्तु गुण तो अवश्य ही आ जाते हैं। संगत के असर पड़ने पर. ४ काळा माथै दूजौ रंग को चढ़ैनी—काले रंग पर दूसरा रंग नही चढ़ता। उस व्यक्ति के प्रति जिस पर किसी दूसरे का प्रभाव न पड़े. ५ काळा मूंडा री कूंतरी, हम हम लावा लेय। मौ बीती तौ बीतसी, काती आवण देह—किसी की विपत्ती मे हँसने वाले के प्रति; आफत कभी न कभी सब पर आती है. ६ काळियौ गोरियै कनै बैठै, रंग नही अकल तौ आवै ही—देखो कहावत नं० ३. ७ काळी ऊन कुमांणसा चढ़ै न दूजौ रंग—काली ऊन और दुष्ट व्यक्तियो पर दूसरा रंग नही चढता; दुष्ट की दुष्ट प्रकृति नही बदल सकती. ८ काळी कयां ही ढीकै अर गोरी कया ही ढीकै—दोनो ओर हाँ मे हाँ मिलाने वाले व्यक्ति पर. ९ काळी कुत्ती काळौ मूंत थनै भींटै थारौ मूंत—कुत्ते से सम्बन्ध रखने वाला उसका ही बेटा होता है। जब किसी से पूर्ण असहयोग करने की बात होती है तब यह कहावत कही जाती है. १० काळी चीज खाया सूं पेट काळौ थोडौ ईज व्है—काली वस्तु खाने से पेट काला नही होता अर्थात् जो वस्तु निकल जाने वाली है उसका असर स्थायी नही रहता. ११ काळी वऊ नै ओजियोड़ौ दूध तीन पीढी तांई लजावै—काली बहू और ओजा हुआ दूध तीन पीढ़ी तक लजाता है. १२ काळी रातां काळा तिळ खादा है, जे एवां पूरा करवा है—काली रात्रि में काले तिल खाये जिसे अभी पूरा करना है। किसी का कष्टपूर्ण कार्य जब स्वीकार करना ही पडता है तब तब यह कहावत कही जाती है. १४ काळौ आखर भैंस बरोबर—अनपढ व्यक्ति के लिए. १५ काळौ तौ किसन भगवांन रौ रंग है—काले रंग की प्रशसा. १६ काळौ मूंडौ लीला पग—बुरे काम करने वाले का तिरस्कार. १७ काळौ सांप आडौ आयौ है—अपशकुन हो जाने पर यह कहा जाता है. १८ जठै देखै जठै ई कागला काळाइज व्है—कौये सब जगह काले होते हैं. १९ धोळै ऊपर काळा मंडणा—सफेद के ऊपर काले अक्षर लिखे जाना, अनपढ व्यक्ति के ऋण लेने पर बनिये द्वारा ऋण-पत्र लिखने के प्रति।

४ नीना. ५ अशुभ या भयंकर (यौ० काळौ ऊन्हाळौ)

६ जबरदस्त, महान। उ०—वारघेम जोम गाज गाळिया त्रकूटवासी, राजचील जाळिया तारखी तेज ऱ्हंस। कुमंग्री कुळेसां इद्र टाळिया गिरंद काळा, वीर 'सिवा' वाळै रिगां राळिया विधूंस।

—हुकमीचंद खिडियौ

कालौ—वि०—उन्मत्त, पागल। उ०—तीर लागियां मूं इमी कालौ हवौ सो राव रै हाथी रै आगलै पग रै मुरचै री सांध में लग री दीवी सो मुरचै री खालड़ौ मांस हाड जाय रडकियौ।

—टाढ़ाळा सूर री बात

काळौकट, काळौकीट काळीकीट, काळौकुट—वि०यौ०—अत्यंत काला। उ०—कपडा काळाकीट नीठ उठ उठ नीरोधै।—ऊ.का.

काळौ खेत—सं०पु०यौ०—वह कृषि भूमि जहाँ सिंचाई के साधनों का अभाव हो तथा केवल वर्षा के कारण ही फसल उत्पन्न होती हो।

काळौ जीरौ—सं०पु०यौ०—श्याम वर्ण का जीरा—(अमरत)

काळौ जुर—सं०पु०यौ०—काला ज्वर (अमरत)

काळौ तुड—वि०—अत्यन्त गहरा काला।

काळौ धतूरौ—सं०पु०यौ०—काले बीज व फलों वाला एक प्रकार का बहुत विषैला धतूरा।

काळौ ध्रह—वि०यौ०—अत्यन्त गहरा काला।

सं०पु०—कालीदह नामक यमुना का कुंड।

काळौ नमक—सं०पु०—काले रंग का एक प्रकार का बनावटी नमक।

काळौनी—स०स्त्री०—काले मुँह वाली भेड़।

काळौ पांणी—स०पु०—१ अग्रेजी काल मे दिया जाने वाला एक कठोर दंड जिसके अनुसार दंडित व्यक्ति को अंडमान व निकोबार द्वीप समूह में भेज दिया जाता था। उ०—सात दिनां की बोली लिखदी, काळै पांणी ले जाय, मिळणौ व्है तौ मिळौ रावजी, फेर मिळण का नाय।—डूंगजी जवारजी री पड़

कालौ पांणी—सं०पु०—शराब, मदिरा।

काळौ भजरंग, काळौ भूंछ, काळौ मिट—वि०—अत्यन्त गहरा काला।

उ०—काळा भूंछ तेड़िया भोई, गाडे लिंग चडाव्यउ। आगळि घणी जोतरी त्रीयळ, ढीली भणी चलाव्यउं।—कां.दे.प्र.

काळौ मूंडौ—सं०पु०यौ०—काला मुँह, कोई बुरा कार्य करने का कलंक।

मुहा०—१ काळौ मूंडौ करणौ—कुकर्म या पाप या कलंककारी कार्य करना. २ काळौ मूंडौ होणौ—कलंकित या बदनाम होना।

काळौ लूण—देखो 'काळौ नमक'।

काल्ह, काल्हि, काल्है—देखो 'काल' (रू.भे.) उ०—१ जेहा सज्जण काल्ह था, तेहा नांही अज्ज। माथि त्रिसूळउ नाक सळ, कोइ विणट्ठा कज्ज।—ढो.मा. उ०—२ करहा, चरि चरि म चरि, चरि चरि चरि म भूर। जे वन काल्हि विरोळियउ, ते वन मेल्हे दूर।

—ढो.मा.

उ०—३ बीज हुकम प्रमांण कियौ, देस रजपूत छै, तिणनै काल्है फेरा दिरावस्यां।—जगदेव पंवार री वात

काल्हौ—वि० (स्त्री० काल्ही) पागल। उ०—ठाला भूला ठोठ कुबुध नहिं छोडै काल्हा। पुण्य गया परवार, व्यसन जद लागा वाल्हा।

—ऊ.का.

कावड़—सं०स्त्री०—१ पुस्तक के आकार की काष्ठ की पट्टियो का बना वह ढाँचा जिसमें प्राचीन सिद्धि प्राप्त पुरुष व धर्मात्माओं की प्रतिमायें होती हैं. २ इन प्रतिमाओं को दिखाये जाते समय पढी जाने वाली कविता. ३ बोझा उठा कर ले जाने के लिए तराजू के आकार का एक ढाँचा. ४ कुबडा।

वि०—१ कुटिल. २ बुरा।

कावड़ि—सं०स्त्री०—एक जाति विशेष (कां.दे प्र.)

काहस्यां—सं०पु०—१ पँवार या पँवार वंश की एक शाखा. २ इस शाखा का व्यक्ति।

काहाड़णौ, काहाड़वौ—क्रि०स०—कहलाना। उ०—सुरतांणोत लियण ब्रद सवळो। सवळां खळां उतारण सीस। मुड़वा तूझ तणौ मेड़तिया, दुवयण न कहाड़े जगदीस।—वां.दा.

काहिक—सर्व०—कौनसी, किस। उ०—आपै तो सपूत छां, ज्यूं त्यूं कर पेट भरां छां, पिण काहिक ठौड़ छौ।—नैणसी

काहिल—क्रि०वि०—तंग, परेशान। उ०—मैं बादसाह सलामत री मरजी देख अरज करसूं, तुम काहिल मतां करौ।—अमरसिंह री वात

वि० [अ० काहिल] १ सुस्त, आलसी. २ घायल। उ०—काहिल वांण कूक अग कीघी, दौड़ लछण आग्या मौ दीघी।—र.ज.प्र.

काही—सर्व०—किसी।

काहुल—देखो 'काहल' (रू.भे.) उ०—खिवै फळ सावळ नागा खाग, रुड़ै दळ काहुल सिंधवराग।—वचनिका

काहुळणौ, काहुळवौ—क्रि०अ० [सं० क्रोध विह्वलम्] १ भिड़ना, युद्ध करना। उ०—लिए रस जोधा जोम लंकाळ, कमधज काहुळिया किरणाळ।—गो.रू. २ कोप करना, क्रोध करना।

उ०—१ समरै न जिके नर सांमळियौ, क्रत अंत जिकां सिर काहुळियौ। क्रत अंत करै की काहुळियौ, समरै जिके नर सांमळियौ।—र.ज.प्र. उ०—२ सक भड़ वचन सुणेह, काहुळियौ 'वीरमा' कमंध। मयंद तणै सिर मेह, आवै जांण अगाजियौ।—गो.रू.

काहू—सर्व०—१ क्या। उ०—सांभळ वित समपै नहीं, वडकां तणां वखांण। काहू जिकां कुलीणता, उर मांझल तू आंण।—वां.दा. २ कैसा. ३ कोई. ४ किसी।

वि०—कुछ। उ०—कोई काहू पाव ही, देही काहू दांन।—वां.दा.

काहूल—देखो 'काहल' (रू.भे.) उ०—चौरंग वार अचळ चूंडावत, वागौ काहूल चारूं वळ।—अज्ञात

काहे, काहेर—क्रि०वि०—क्यों। उ०—१ तौ वादसाह फरमाई—मना कर देवौ। अभी काहे कौ सीख देणी है।—अमरसिंह री वात

उ०—२ मुंहता रा वेटा राति चार पहर मारग चालिया। काहेर नहीं सुं किसी संचीताई।—चौबोली

काहेली—सं०स्त्री० [सं० काहेऽलय] १ मटकी (डि.को.) २ शराब का नशा उतरने के बाद की कमजोरी अथवा खुमारी।

कि—सर्व० [सं० किम्] क्या। उ०—कि कहिसु तग्सुं जसु अहि थाकौ, कहि नारायण निरगुण निरलेप।—वेलि. टी.

किउंकि—वि०—१ कुछ। उ०—तिण करि नै सुरसरि वेलि वरावर नहीं किउंकि वेलि अधिकी।—वेलि. टी. २ क्योंकि।

किंकण, किंकणी—सं०स्त्री० [सं० किंकिणी] करधनी, मेखला (अ.मा.) उ०—किंकण रणकै कमर , ससि वदनी री सेज।—र. हमीर

किंकर—सं०पु० [सं० किङ्कर] १ दास, सेवक (अ.मा.) उ०—जगपत दीघी जोय, रूपनगर 'नवलेस' रै। किणी ठिकांणै कोय, मींढ न किंकर मोतिया।—रायसिंह सांदू २ राक्षसों की एक जाति।

क्रि०वि०—कैसे (रू.भे. 'कीकर')

किंकरि, किंकरी—सं०स्त्री०—दासी, सेविका (अ.मा.) (पु० 'किंकर')

किंगार—सं०स्त्री० [सं० कगार (कगाल)] कगार, किनारा, तट (किसी जलाशय या नदी का) उ०—जळ थळ थळ जळ हुइ रह्यउ, वोलइ मोर किंगार। स्रांवण दूभर हे सखी, किहां मुझ प्रांण आधार।—ढो.मा.

किंचित—वि०—थोड़ा, कुछ।

किंचुळ—सं०पु० [सं० किञ्चुलुक] केंचवा (डि.को.)

किंजळक, किंजळिक—सं०पु० [सं० किञ्जुल्क] १ केसर. २ पराग, पुष्परज। उ०—१ कुंकुम अखित पराग-किंजळक-प्रमुदित अति गायति पिक।—वेलि. उ०—२ कुंकु अर अखित चाहीयै तहां पराग अर किंजळिक।—वेलि. टी.

किंदर—सं०पु० [सं० किन्नर] १ देखो 'किन्नर' (रू.भे.)

सं०स्त्री० [सं० कंदरा] २ कंदरा, पहाड़ी-गुफा।

किंदरग्रह—सं०पु०यौ० [सं० कंदरा+गृह] १ वह जिसका घर कंदरा में हो. २ सिंह (ना.डि.को.)

किंदू—सं०पु०—कटे हुए अनाज के पौधों का या घास का गोलाकार वनाया हुआ ढेर (अल्पा० 'किंदूड़ौ')

किंदूड़ौ—देखो 'किंदू' (अल्पा०)

किंघू—अव्यय—१ या, अथवा. २ मानो।

किंनरेस—सं०पु० [सं० किन्नर+ईश] कुवेर (ह.नां.)

किंना—देखो किना' (रू.भे.) उ०—कोपै हणूं आसुरां विभाड़वा आगियौ किंना, सिंधुरां पाड़ेवा, सूतौ जागियौ सादूळ।—सूरजमल मीसण

किंपाक—सं०पु०—एक प्रकार का वृक्ष विशेष। उ०—वैरी रा मीठा वचन, फळ मीठा किंपाक। वे खावां वे मांनियां, हुवा अतांत खुराक।—वां.दा.

किंपुरखेस, किंपुरखेसर, किंपुरुख—सं०पु० [सं० किंपुरुषेश] कुवेर (ह.नां.) [सं० किंपुरुषेश्वर] किन्नर (ह.नां.)

किंपुरुस—सं०पु०—किन्नर। देखो 'किन्नर' (डि.को.)

किंपुरुसेस—सं०पु० [सं० किंपुरुषेश] कुवेर (डि.को.)

किंवाड़ी—सं०स्त्री० [सं० कपाट+रा०प्र०ई] १ कपाट (अल्पा०) २ वंधन। उ०—प्रकट परम गुरु पारब्रह्म, परम सनेही सोय। आप दिखावै आप कूं, करम किंवाड़ी होय।—ह.पु.वा.

किंवदंती—सं०स्त्री०—दंतकथा, जन-श्रुति।

किंवाड़—सं०पु० [सं० कपाट] १ द्वार की चौखट पर जड़े हुए लकड़े के पल्ले, कपाट. २ रक्षक। उ०—वज्रंगी किंवाड़ भू मेवाड़ भुजा डंड वंका, वरव्यां विभाड़ वीरभद्र सौ वैद्याड़।—हुकमीचंद खिड़ियौ

कासिप—सं०पु० [सं० कश्यप] १ कश्यप ऋषि (रू.भे.) [सं० कच्छप] २ कछुआ।

कासिप-सुतन, कासिपी—सं०पु० [सं० कश्यप-सुत] १ सूर्य. २ गरुड़ (ह.नां.)

कासिव—देखो 'कासिप' (१)

कासींद—देखो 'कासिद' (रू.भे.) उ०—कमंध अगंजी वमनैं कहियौ, वड दाता कीरत चौ वींद। वाक तुहाळी करंडी वाळौ, काळौ भूंवाऊं कासींद।—ओपौ आढ़ौ

कासींदी—सं०स्त्री०—१ संदेशवाहक अथवा पत्रवाहक का पद. उ०—करी हमाली कौल, कासींदी वावन करी। तें 'मांना' नभ तोल, अवी जिका घर वीदगां।—अज्ञात २ इस कार्य की मजदूरी

कासी—सं०स्त्री०—१ वाराणसी नामक शहर का प्राचीन नाम जिसकी गिनती तीर्थों के अंतर्गत की जाती है (अ.मा.)
पर्याय०—वाणारस, वाणारसि, वाराणसी, सिवपुरी।
२ कास रोग, खाँसी।
वि०—खूब, बहुत। उ०—सींगण कांइ न सिरजियां, प्रीतम हाथ करंत। काठी साहंत मूठि-मां, कोडी कासी संत।—ढो.मा.

कासीकरवट, कासीकरवत, कासीकरोत—सं०पु० [सं० काशी करपत्र] १ काशी का एक तीर्थस्थान। यहाँ प्राचीन समय में लोग आरे से अपने को चिराया करते थे. २ वह आरा जिससे मनोरथ या मोक्ष के लिए बनारस में जाकर महादेव के समक्ष कटा जाता था।

कासीका—देखो 'कासी' (१)

कासीद, कासीदक—देखो 'कासिद' (रू.भे.) (डि.को.) उ०—कासीदां अगाऊ आंणि सेवा ने सुणाई।—शि.वं

कासीदी—देखो 'कासींदी'।

कासीदौ—देखो 'कासिद' (रू भे)

कासीपत, कासीपति—सं०पु०—शिव, महादेव।

कासीफळ—सं०पु०—कुम्हड़ा, कद्दू।

कासीस, कासीसक—सं०पु० [सं०] कासीस नामक धातु (डि.को.)

कासुं, कासूं—क्रि०वि०—१ कैसे, किस प्रकार। उ०—करहा कहि कासूं करां जो ए हुई जकाह। नरवर-केरा मांणसां, कारं कहिस्यां जाह।—ढो.मा. २ किस कारण। उ०—वहु घंधाळू आव घरि, कासूं करइ वदेस। संपत सघळी संपजे, आ दिन कदी लहेस।—ढो मा.
३ क्या? उ०—१ हमें जो रावजी रै स्यांत लागी तौ इण पसू रौ कासूं।—डाढ़ाळा सूर री वात उ०—२ तद इण आपरा घुरमा रौ दुसालौ ढोलिये सूं उठाय ओढ़ायौ। पायल आपरी उतारी पड़ी थी सो उठाय पग में घाली। तद कुंवरसी कही—कासूं करौ छौ।—कुंवरसी सांखला री वारता

कासू—क्रि०वि०—देखो 'कासूं' (रू भे.)
सं०स्त्री०—१ बरछी (वं.भा.) २ शक्ति नामक शस्त्र (डि को.)

कासौ—सं०पु० [फा० कास:] प्रायः मुसलमान फकीरों के पास रहने वाला दरियाई नारियल का भिक्षा-पात्र (मा.म.)

कास्टघटन—सं०पु०—बहत्तर कलाओं के अंतर्गत एक कला।

कास्टफळ—सं०पु० [सं० काष्टफलं] दाख, द्राक्षा (अ.मा.)

कास्टा—सं०स्त्री०—१ देखो 'कस्ट'. २ दिशा (अ.मा.)
वि०—कष्टदायक। उ०—नग्री सोनमेनी पछै गांम नांही, महा कासटा घोर ऊजाड़ मांही।—मे.म.

कास्ठ—सं०पु० [सं० काष्ठ] १ लकड़ी, काठ. २ ईंधन।

कास्ठा—सं०स्त्री० [सं० काष्ठा] १ अवधि, हद. २ उत्तम. ३ चोटी या ऊँचाई. ४ उत्कर्ष. ५ अठारह पल का समय या कला का ३० वाँ भाग ६ चंद्रमा की एक कला. ७ दिशा (वं.भा.)

कास्त—सं०स्त्री० [फा० काश्त] कृषि, खेती।

कास्तकार—सं०पु० [फा० काश्तकार] कृषक, खेतिहर, किसान।

कास्मीरौ—देखो 'कासमीरौ' (शा.हो.)

कास्यावंत—सं०पु०—एक प्रकार का घोड़ा जो अशुभ माना जाता है। (शा.हो.)

काह—सं०स्त्री० [सं० काश] नदियों के किनारे कीचड़ में उत्पन्न होने वाला एक प्रकार का घास।
क्रि०वि०—१ कहाँ से। उ०—महातत तुझ न जांणौं माह, कियौ तुझ केण अयौ तू काह।—ह.र. २ या, अथवा।
सर्व०—कौनसा। उ०—आडौ समद अथाह, अधविच में छोडी अठै। कहोजी कारण काह, जोगण करगौ जेठवा।

काहण—क्रि०वि०—क्यों, किसलिए।

काहर—सं०पु०—कहार नामक एक जाति जिसके व्यक्ति प्रायः पालकी उठाने का कार्य करते हैं, इस जाति का व्यक्ति।

काहरऊ—सं०पु०—काढ़ा, क्वाथ। उ०—पंच सखी मिळी वइठी छइ आई। काहरऊ पीवौ न ऊखद खाई।—वी.दे.

काहरां—क्रि०वि०—कब। उ०—राजा सूं काहरां मेळिस्यौ, कह्यौ जी, वेगौ ही मेळिस्यां।—सयणी री वात

काहल—सं०पु०—१ युद्ध के समय बजाया जाने वाला एक प्रकार का बड़ा ढोल। उ०—भिड़यां कटक रिण काहल वाजइ, वाहइ खांडाधार। सांतळसीहि सांफळउ जीतूं, मारिया म्लेच्छ अपार।—कां.दे.प्र.
२ दो लघु के गगण के द्वितीय भेद का नाम (डि.को.)
३ शीघ्रता। उ०—हालण रै वासते सारौ लोक आतुर छै। महाराज निपट काहल करै छै।—पलक दरियाव री वात

काहळणौ—क्रि०अ०—१ भयभीत होना (र.ज.प्र.)
२ कम्पायमान होना।

काहलाई—सं०स्त्री०—पागलपन। उ०—घड़ी दोय रात गयां हूं हाते ही आऊं छूं। थे काहलाई मतां करज्यो।—पलक दरियाव री वात

काहलि—वि० [अ० काहिल] १ डरपोक, कायर. २ काहिल, सुस्त. ३ अधीर।

किचरिग्रोड़ौ, किचरियोड़ौ, किचरचोड़ौ—भू०का०कृ० ।
किचरीजणौ, किचरीजवौ—कर्म वा० ।
कहा०—कंई ग्रापरी ग्रांगळी किचरीजी—क्यों ग्रापको कोई पीड़ा पहुँची ?
किचरियोड़ौ—भू०का०कृ०—कुचला हुग्रा । (स्त्री० 'किचरियोड़ी')
किचळावणौ, किचळाववौ—क्रि०ग्र०—रद्द होना । उ०—कर कर हूं भांडा मासण किचळावै, वाजै भूंभाड़ा वासण विचळावै ।—ऊ.का.
किटकड़ौ—सं०पु०—शिर, मस्तक, खोपड़ी (क्षेत्रीय) ।
किटकिट—देखो 'किचकिच' (रू.भे.)
किटिभ—सं०पु०—मत्कुण (डि.को.)
किट्टी—सं०स्त्री० [सं० किट्ट] कान का मैल (क्षेत्रीय)
किठड़ै—क्रि०वि०—कहाँ, किस जगह । उ०—किठड़ै सूं बीज मंगावियौ ए है के...भोळी किठड़े रे बाग लगावियौ ए ।—लो.गी.
किण—सर्व० [सं० किम्] १ किस । उ०—किण संग खेलूं होळी, पिया तज गये हैं ग्रकेली ।—मीरां
कहा०—१ किण-किण रै मूंडै हाथ दे—दुनिया बहुत बड़ी है, कोई कुछ ग्रालोचना करता है कोई कुछ, किसी को ग्रालोचना करने से रोका नहीं जा सकता. २ किण री तेलण नै किण रौ पळी—किस की तेलन ग्रौर किस का टीपरा । विशेष कोई संबंध न होने पर.
३ किण री मा ग्रजमौ खायौ है—कौन मेरे मुकावले में ग्रायगा ग्रथवा मेरे मार्ग में बाधा उपस्थित करेगा, इतनी हिम्मत किसमें है.
४ किण रै ही छात चूवै, किण रै ही छपरौ चूवै—किसी की छत टपकती है तो किसी का छप्पर टपकता है; कुछ न कुछ कमजोरी प्रायः प्रत्येक मनुष्य में हो सकती है क्योंकि ग्राखिर मनुष्य मनुष्य है.
५ किण री ही हाथ चालै नै किण री ही मूंडौ चालै—किसी का हाथ चलता है व किसी का मुँह चलता है; कोई मुँह से गालियाँ निकालता है तो किसी को पीटने का ग्रभ्यास होता है. ६ किणी बात री मार खोटी—चुभते हुए शब्द ग्रधिक तकलीफ देते हैं ।
२ किसने । उ०—कहौ तई करुणामै केसव, सीख दीध किण तुम्हां सूं ।—वेलि.
कहा०—किण पीळा चावळ दिया हा—किसने ग्रापको निमंत्रण दिया था । बिना कहे या बिना निमंत्रण ग्राने के बाद किसी प्रकार का झगड़ा हो जाने पर ।
३ कौन ।
सं०पु० [सं० किण] किसी वस्तु के लगने, चुभने व रगड़ पहुँचने का चिन्ह या निशान (मि० 'ग्राईठांण') उ०—हथळेवै ही मूठ किण, हाथ विलग्गा माय । लाखां वातां हेकलौ, चूड़ौ मो न लजाय ।—वी.स.
४ जखम ठीक होते समय ग्राने वाला कठोर भाग (डि.को.)
किणकती—सं०स्त्री०—करधनी ।
किणकौ—सं०पु०—१ कण, खंड, टुकड़ा. २ पतंग (रू.भे.) ३ शक्ति, बल ।
किणचणौ, किणचवौ, किणचावणौ, किणचाववौ—क्रि०ग्र०—रोनी सूरत लिए बार-बार चिढ़ना. २ कृपणता दिखाना. ३ पछतावा करना ।
किणजणौ, किणजबौ—क्रि०ग्र०—कब्ज या किसी ग्रन्य कारण से मल न उतरने पर टट्टी जाते समय कुछ जोर लगाते हुए मुंह से टसक के समान ग्रावाज निकलना ।
किणयक—सर्व०—१ किसी । उ०—वोहरौ किणयक मुगळ रौ, वणक दिली मझ वास । दांम लियां उण वोल दस, ग्रसपत ग्रौरंग पास । २ कोई । —वां.दा.
क्रि०वि०—कभी । उ०—वयण सगाई वेस, मिळ्यां सांच दोसन मिटै, किणयक समै कवेस, थपियौ सगपण ऊथपै ।—र.रू.
किणसारी—देखो 'कसारी' (रू.भे.)
किणहिक—क्रि०वि०—किसी प्रकार । उ०—सांवरिया हंस पड्यौ है फंद में, लाल म्हारा रै किणहिक भांति निकाळ ।—गी.रां.
किणहेक—सर्व०—किसी । उ०—गंगोदक री कावण भरिनै ग्राणतौ हुतौ, सु किणहेक सहर वटाऊ थकौ ।—नैणसी
किणा—क्रि०वि०—किधर ।
किणारौ—सं०पु०—ग्रनाज का वखार जो बाँस या लकड़ी की खपच्चियों से बनाया जाता है । इसे प्रायः ऊपर से लेप दिया जाता है ।
किणि—सर्व०—१ किस. २ कौन ।
किणियन—सर्व०—किसी ने ।
किणियाणी—देखो 'किनियांणी' (रू.भे.)
किणियौ—सं०पु०—१ मोट के सूंड की रस्सी से घूमने वाली चकरी की धुरी २ लोहे का कीला ।
किणी—सर्व०—देखो 'किण' (रू.भे.) उ०—हलोज किणी रै नंहं हली हली न किण रै हत्थ । मूरति मेहाई तणी, ग्राई गयणे पत्थ ।—करणीरूपक
किणीक—सर्व०—१ किस । उ०—कारण किणीक वोल, मारै काय ग्रापण मरै ।—नैणसी २ कोई ।
क्रि०वि०—कभी ।
किणीयक—सर्व०—कोई । उ०—तिका हुई विसधी तरै, वसुधा हुग्रा वखांण । मूंडा ग्रागळ 'माल' रै, किणीयक कीधी ग्रांण । —वी.मा. (रू.भे. 'किणियक') ।
किणै—सर्व०—किस, किसको । उ०—किणै न दीठी कांनवौ, सुण्यौ न लीला संच । ग्राप बंधाणा ऊखळै, बीजा छोडण बंध ।—ना.द.
किणौ—सर्व०—किसका । उ०—लूटै साथ जांणै ग्रमीढ़ार लीधौ, किणौ वेणनादं सजीवन्न कीधौ ।—ना.द.
कित—क्रि०वि०—कहाँ, किधर । उ०—१ कित है बंबई उडिया कळकतौ, माढू मुरधरिया करियौ मिळ मत्तौ ।—ऊ.का.
उ०—२ कांई करूं कित जाऊं री सजनी नैण गुमाया रोय । —मीरां
वि०—कितने ।

किवाड़ी—१ देखो 'किवाड़' (१) (अल्पा०) २ देखो 'किमाड़ी'।
किसारी—देखो 'कसारी' (रू.भे.)
किंसुक—सं०पु० [सं० किंशुक] १ पलाश, ढाक (डि.को.) २ तोता, सुग्गा (अ.मा.)
वि०—लाल* (डि.को.)
किसुख—सं०पु०— देखो 'किसुक' (रू.भे.) उ०— कंत संजोगणि किंसुख कहिया, विरहणि कहे पळास वन।—वेलि.
वि०—कुछ।
किही—सर्व०—किसी। उ०—फतह कर ऊभा रहिया सो तौ कदेक किही री आसंग कोई हुई नहीं।—डाढ़ाळा सूर री वात
कि—सं०पु०—१ कृष्ण (एका०) २ इंद्र (एका०) ३ सूर्य (एका०) ३ शिकारी (एका०) ४ गुण (एका०) ५ विचार (एका०)
सं०स्त्री०—६ लक्ष्मी (एका०) ७ अग्नि (एका०) ८ निंदा (एका०) ६ जुगुप्सा (एका०)
वि०—१ प्रसन्न (एका०) २ तुच्छ (एका०) ३ वृथा (एका०)
सर्व०—क्या। उ०—" उज्जळ ता घोटड़ा, करहड चढ़ियउ जाहि। तइं घर मुंध कि नेहवी, जे कारणि सी खाहि।—ढो मा.
अव्यय—१ मानों। उ०—वाघ अचित किण हि वतळायो, प्रळै समौ किर अंतक आयौ। सिव चै नयण कि आग सिळगी, ज्वाळा सेस फणे किर जगी।—रा.रू. २ या अथवा। उ०—सरसती न सूझै ताइ तूं सोझै, वाउवा हुआ कि वाउळौ।—वेलि.
३ कैसे, किस प्रकार। उ०—जगदंबा जहं अवतरी, सो पुर वरणि कि जाय। रिद्धि सिद्धि संपति सुख, नित नूतन अधिकाय।—अज्ञात
किअइ—(प्रा०रू०)—'करणौ' का वर्तमानकालिक कृदंत रूप करते हुए। उ०—जिम जिम मन अमले किअइ, तार चढ़ती जाइ। तिम तिम मारवणी-तणइ, तन तरणापउ थाइ।—ढो.मा.
किआवरी—देखो 'किरियावरी' (रू.भे.)
उ०—कौंअर भोज करंत किआवरी पूर तपि परिपाळणौ।—ल.पि.

किउं, किऊ—क्रि०वि०—१ क्यों। उ०—तइं अणदिट्ठा सज्जणां, किउं कर लग्गा पेम।—ढो.मा.
कहा०—किउ पग छोडौ हौ—हार मान कर कार्य या स्थान छोड़ने पर. २ किउं भुंडा व्है भांणजा जियां रा मांमा मतवाळा—जिनके मामा मतवाले हों उनके भानजे क्यों बुरे हो सकते हैं.
२ कैसे, किस प्रकार।
वि०—कुछ। उ०—पांखड़ियां ई किउं नहीं, दैव अवाडू ज्यांह। चकवी कइ हइ पंखड़ी, रयणि न मेलउ त्यांह।—ढो.मा.
किकनौ—सं०पु०—पतंग (रू.भे. 'किनकौ')
किकर—क्रि०वि०—कैसे। उ०—यो खरड़ौ करड़ौ घणौ. किकर वर्णं वणाव।—समरांमदास (रू भे. 'कीकर')
किकौ—सं०पु०—१ लड़का, पुत्र।

किखि—सं०पु० [सं० कीश] बंदर। उ०—कहां जेठ दिनकर, कहां खद्योत खिसाया। कहां सिंह गजरिपु, कहां किखि दुब्बळ काया।—वं.भा.
वि० [सं० कृश] दुर्बल, कृश।
किड़क—सं०स्त्री०—१ पशुओं को हाकने के निमित्त की जाने वाली ध्वनि. २ ताकत, बल, शक्ति।
किड़कणौ, किड़कबौ—देखो 'कड़कणौ' (रू.भे.) उ०—अजंट अजकौ आवियौ, ताता खड़ै तोखार। काळा भिड़िया किड़क नै, धीव लियौ खग धार।—अज्ञात
किड़कणहार, हारौ (हारी), किड़कणियौ—वि०।
किड़काणौ, किड़काबौ—स०रू०। देखो 'कड़काणौ'।
किड़किओड़ौ, किड़कियोड़ौ, किड़क्योड़ौ—भू०का०कृ०।
किड़किड़ी—सं०स्त्री०—१ क्रोध में दाँत पीसने की क्रिया या भाव।
क्रि०प्र०—खाणौ, पड़णौ।
२ सर्दी के कारण दाँत किटकिटाने का भाव।
किड़कियोड़ौ—भू०का०कृ०—कड़का हुआ। देखो 'कड़कियोड़ौ' (स्त्री० किड़कियोड़ी)
किड़णौ, किड़बौ—क्रि०स०—घास-फूस की छत छाने के लिए पहले व्यवस्थित रूप से लकड़ियाँ या खपच्चियाँ लगाना।
किड़ी—देखो 'कीड़ी' (रू.भे.)
किड़ीनगरौ—देखो 'कीड़ीनगरौ' (रू.भे.)
किचकारी—सं०स्त्री०—१ पशुओं को हांकने के निमित्त मुंह से की जाने वाली किचकिच की ध्वनि. २ देखो 'किचकिच' (२)
किचकारौ—सं०पु०—(अनु०)—१ देखो 'किचकारी' (रू.भे.) २ देखो 'किचकिच'
किचकिच—सं०स्त्री० (अनु०)—१ पशुओं को हांकते समय की जाने वाली ध्वनि विशेष. २ लजालु स्त्रियों द्वारा नकारात्मक उत्तर देते या किसी का ध्यान अपनी ओर आकर्षित करने के उद्देश्य से की जाने वाली ध्वनि विशेष ३ विवाद, तकरार।
किचकिचावणौ, किचकिचावबौ—क्रि०स०—क्रोध में दाँत पीसना।
किचकिचाहट—सं०स्त्री०—१ क्रोध में दाँत पीसने की क्रिया या भाव. २ विवाद, तकरार।
किचकिची—सं०स्त्री०—१ अत्यन्त क्रुद्ध होने का भाव।
क्रि०प्र०—खाणी।
उ०—तरवार तांणी किचकिची खाई, पण कांई सोच'र पाछौ बैठ गयो।—बरसगांठ २ किसी वस्तु या पदार्थ (जिसमें घी की मात्रा कुछ अधिक हो) के बार-बार सेवन के उपरांत या अधिक सेवन से होने वाली अरुचि।
किचरणौ, किचरबौ—क्रि०स०—रौंदना, कुचलना।
किचरणहार, हारौ (हारी), किचरणियौ—वि०।
किचराणौ, किचराबौ, किचरावणौ, किचरावबौ—स०रू०—प्रेरणार्थक प्रयोग।

उ०—माय खट रे कमाय घर आविया, माय किथींयें सैंणां री धीव ।—लो.गी.

किथे, किथों–क्रि०वि०—कहाँ (क्षेत्रीय)

किदारा—देखो 'केदारा' (रू.भे.)

किधर–क्रि०वि०—किस ओर, किस तरफ, कहाँ ।

किधुं, किधूं, किधू–अव्यय—१ अथवा, या तो. २ मानो ।

उ०—मनु हंस का सा विलास, किधुं हरजू का हास, किधुं सरद पुंन्यूं का सा उजास ।—रा.सा.सं.

किन–सर्व०—कौन, 'किस' का बहुवचन ।

क्रि०वि०—१ कहाँ. २ अथवा, या । उ०—दूरा नयर कि कोरण दीसै, धवळागिरि किन धवळ हर ।—वेलि.

किनक–सं०स्त्री०—पतंग (रू.भे.)

किनको–सं०पु० [सं० कणिक] १ छोटा दाना. २ अन्न या चावल का टूटा हुआ दाना. ३ कणमात्र वस्तु. ४ देखो 'किनक' ।

किनर—देखो 'किन्नर' (रू.भे.) (अ.मा.)

किनरपत, किनरपती–सं०पु० [सं० किन्नर+पति] कुबेर (अ.मा.)

किनरेस–सं०पु०—कुबेर (नां.मा.)

किनां, किना–क्रि०वि०—१ या, अथवा । उ०—संप्रति ए किना, किना ए सुहिणौ, आयौ कि हूं अमरावती ।—वेलि.

२ मानो । उ०—१ उठावै करां पोगरां दे उछाळा, किनां लागणा नाग पैनाग काळा ।—वं.भा. उ०—२ चाप नमायौ रांमचंदि, दुनि अन भूप नमे दुरि । प्रभू खांचियौ पिनाक, किना मन जांनकी ।

—रांमरासौ

सर्व०—१ क्या । उ०—संप्रति ए किना, किना ए सुहिणौ ।—वेलि.

२ किसका ।

किनारी–सं०स्त्री० [फा० किनारा] सुनहला या पतला गोटा जो कपड़ों के किनारे पर लगाया जाता है ।

किनारो–सं०पु० [फा० किनारा] (स्त्री० किनारी) १ लंबाई के बल की कोर. २ नदी या जलाशय का तीर ।

पर्याय—कच्छ, कनारौ, कूल, तट, तीर, पुलिन, प्रतीर, रोधस ।

मुहा०—१ किनारो करणो—त्याग देना, अलग हो जाना.

२ किनारै करणो—दूर करना. ३ किनारै लागणो—पार होना, सफल होना ।

कहा०—नदी किनारै रूंखड़ां जद तद होय विणास—नदी के किनारे के वृक्ष कभी न कभी पानी द्वारा तट के काटे जाने के कारण अवश्य नष्ट होंगे; हानिकारक व्यक्ति के साथ रहने से कभी न कभी हानि अवश्य होती है ।

३ समान अथवा कम असमान लंबाई-चौड़ाई वाले पदार्थ के चारों ओर का वह भाग जहां से उसके प्रस्तार या फैलाव का अंत होता है. ४ कपड़े आदि में किनारे का वह भाग जो भिन्न रंग अथवा बनावट का होता है । हाशिया, बॉर्डर. ५ किसी ऐसी वस्तु का सिरा व छोर जिसमें चौड़ाई न हो, छोर. ६ पार्श्व, बगल ।

किनियांणी–सं०स्त्री०—श्री करनी देवी का एक नाम ।

किनिया—देखो 'कन्या' (रू.भे.)

कहा०—कूं कूं नें किनिया देणी—अत्यंत गरीबी के कारण केवल कुंकुम से सत्कार कर कन्या का पाणिग्रहण कर देना ।

किनियावळ—देखो 'कन्यावळ' (रू.भे.)

किनै–सर्व०—किसको ।

क्रि०वि० –किस तरफ ।

किन्नर–सं०पु०[सं०] १ घोड़े के समान मुख वाले एक देवता जो संगीत में अत्यंत कुशल होते हैं (डिं को.) उ०—कीचक वांसां मांझ पवनियौ मीठी जंपै, किन्नर-भामां कंठ जीत रा गीत पयंपै ।—मेघ०

पर्याय०—अस्वमुखा किंपुरुख, तुरंगवदन ।

२ गाने-बजाने का व्यवसाय करने वाली एक जाति ।

किन्नरी–सं०स्त्री०—किन्नर देव जाति की स्त्री । उ०—लखी वरत सुरी अचरज लगी नार पन्नगी किन्नरी ।—रा.रू. ३ एक प्रकार का तंबूरा. ४ सारंगी ।

किन्ना–सं०स्त्री० [सं० कन्या] कन्या, पुत्री । उ०—अभय करैं रख ओटं करवै विवाह किन्ना, किन्ना व्याहे कोडलो जु किन्यावळ लेवै ।

—र.रू.

अव्यय—या । उ०—काढ़ी दळा सी मंगळा प्रळै समंदां ऊजळी किन्ना । खळां धू अरुठी जज्र गे थंडां खाणास ।—तेजरांम आसियौ

किन्या–सं०स्त्री० [सं० कन्या] देखो 'कन्या' (रू.भे.) उ०—कोट एक जिग कियां कोट किन्या परणायां, कोट रिखब निमंत्रियां कोट दीनां विप्र गायां ।—जग्गौ खिड़ियौ

किन्यावळ—देखो 'कन्यावळ' (रू.भे.) उ०—किन्ना व्याहे कोडलो जु किन्यावळ लेवै ।—र.रू.

किन्यारास, किन्यारासी–सं०स्त्री० [सं० कन्या+राशि] १ बारह राशियों के अंतर्गत एक राशि ।

किन्यावळ—देखो 'कन्यावळ' (रू.भे.)

किप–सं०पु० [सं० कपि] देखो 'कपि' (रू.भे.) उ०—किप हड़मत विना समंद कुण कूदै ।—तेजसी खिड़ियौ

किपण—देखो 'कृपण' (रू.भे.)

किफायत–सं०स्त्री० [अ० क़िफायत] १ कमखर्ची, मितव्ययिता. २ बचत. ३ काफी या अलम् का भाव ।

किफायती–वि०—१ किफायत संबंधी, किफायत का. २ कम खर्च करने वाला, मितव्ययी ।

किबळाई–सं०स्त्री० [अ० क़िबला] पश्चिम दिशा ।

किबळा–सं०पु० [अ० क़िबला] १ वह दिशा जिधर मुँह करके मुसलमान नमाज पढ़ते हैं, पश्चिम दिशा. २ मक्का नामक पवित्र स्थान (मुसल०) ३ पूज्य व्यक्ति. ४ पिता ।

किबलानुमा–सं०पु० [फा० क़िबलानुमा] पश्चिम दिशा को बताने वाला एक यंत्र (प्राचीन)

कितएक–सर्व०—कितने ।
कितणा–वि०—कितने ।
कितनेक–वि०—कितने ही, बहुत ।
कितमक–सं०स्त्री० [फा० किस्मत] किस्मत, भाग्य । उ०—कितमक लीख्या सो भोगवो, विण भोग्यां नहीं छूटसी पाप ।—वी.दे.
कितरउ–सर्व०—कितना । उ०—सु बूढ़ा हुग्रां को वेसास को मत करो, देखो माता पिता कितरउ चूकं छै ।—वेलि.
कितराइक–वि०—१ कुछ. २ कितने ही । उ०—पछे कितराइक दिन ने राखायच हालीयो ।—रा.वं वि.
कितराई–वि०—कितने ही ।
कितराक, कितराहेक–वि०—कितने । उ०—यों सुख दिन कितराक आगळी मजल ।—सगरांमदास
कितरी–वि०—देखो 'कितरो' (स्त्री०)
कितरी'क–वि०—कितनी । उ०—रांमदासजी पूछियो सांढियां लारै कितरी'क छै ।—रा सा.सं.
कितरे'क–वि०—कितना, कितने ।
कितरोइक, कितरो'क–वि०—कितना । उ०—खबर मंगाई जे उहारै कितरो'क लोक कुण कुण कांम आयो ।—सूरे खीवे री वात
कितरौ–वि० (स्त्री० कितरी) कितना ।
कितव–सं०पु० [सं०] १ छली, कपटी. २ दुष्ट. ३ जुआरी ।
कितां, किता–वि०—कितने । उ०—दे दे दरसण दोड़, किता घर सूना कीना ।—ऊ.का.
किताइक, किताई, किताईक, किताएक, किता'क–वि०—कितने ही ।
उ०—१ टेक छीपा तणी देख दुख टाळियो, छांन बंधवाळियो नकू छांना । वरतियो मेटण चिंता वांणियो, किता'क करूं बाखांण कांना ।—ब्रह्मदास दादूपंथी उ०—२ उत्तर में कुंतळपुर जठै राज कियो किताइक पीढ़ी ।—वां.दा.
उ०—३ किता'क काळ पछै अठी बंबावदा रै नरेस हालू अनेक उपाय करि थाको ।—वं.भा.
किताब–सं०स्त्री० [अ०] १ पुस्तक ।
मुहा०—१ किताब चाटणी—प्रकांड विद्वान होना; किताब को बिल्कुल कंठस्थ करना. २ किताब रो कीड़ो—हर घड़ी पुस्तक पढ़ने वाला; केवल लिखी हुई बात जानने वाला ।
२ रजिस्टर. ३ बहीखाता. [अ० खिताब] ४ पदवी, खिलअत, उ०—फकीर कूं रीझै तो नांमदार की किताब वरै ।—रा.रू.
किताबी–वि० [अ० किताब+रा०प्र०ई] पुस्तक का, पुस्तक संबंधी ।
मुहा०—१ किताबी कीड़ो—हर घड़ी पुस्तक पढ़ने वाला, केवल लिखी हुई बात जानने वाला. २ किताबी ग्यांन—ऐसा ज्ञान जो प्रयोग, अनुभव या जीवन से न मिल कर किताबों से मिला हो ।
कितायक, किताहिक, किताहीक–वि०—कितने ही । उ०—पछै किताहीक वरसां 'माहोमांह' लड़ चांपा रै हाथ सजन रह्यो ।—वां.दा ख्यात.
कितिइक, कितिक, कितियक–वि०—कितनी । उ०—गुर प्रताप हरि जाप, धणी सेवग साधारे । मांनव कितिइक वात, तोय ऊपर गिर तारे ।—जग्गो खिड़ियो
किती–वि०—कितनी । उ०—सर सोय पड़े हुय हुंक भड़े, कळ सोर किधी जुध वोल किती ।—रा.रू.
कितीइक, कितीक, कितीयक–वि०—१ कितनी । उ०—१ केन कहतां कुण मोकळ्यो, कितीक दूर थें आयो छै ।—वेलि. टी.
उ०—२ विसन्न निपाय कितीइक बार, ब्रहम्मा हाथ दियो बौपार ।
—ह.र
उ०—३ अह नर सुर हाजर होय ऊभा, मह मांनव कितीयक मात ।
—ओपो आढ़ो
२ बहुत, कितने ही ।
कितूहळ—देखो 'कौतूहळ' (रू.भे.) उ०—मथुरा मांहि वरतिया मंगळ, घण कितूहळ घरोघरि ।—ह.नां.
कितेएक, कितेक, कितेयक, कितरेक—१ देखो 'कितीइक' (रू.भे.)
२ कितने । उ०—तद हरजी कितेएक एक सूं देसणोक आय नै स्री करणीजी रौ दरसण कियो ।—द.दा.
कितै कितैएक, कितैक–क्रि०वि०—कहाँ, किधर ।
वि०—कितने ।
कितौ–वि०—१ कितना । उ०—करण इक राह पतसाह खसियो कितौ, प्रथी जोगणपुरी दाखवै पांण ।—महाराज अनूपसिंह रौ गीत
२ कितने ही, बहुत ।
कितौइक–वि०—कितना ही । उ०—हुमायूं दिली आय तखत वैठो । कितौइक कनलो देस जवत कियो ।—वां.दा.ख्यात.
कितौएक, कितौ'क, कितौयक–वि०—कितना । उ०—१ तुम जळो हम उड चलें, जीणो कितौ'क काळ ।—अज्ञात
उ०—२ धवळघां री चाली ऊंतावळी, सहर बीकाणो कितौयक दूर ।
—लो.गी.
कितौसोक–वि०—थोड़ा सा, कितना सा ।
कित्त—देखो 'कित' (रू.भे.)
कित्ती–सं०स्त्री० [सं० कीर्ति] कीर्ति, यश, बड़ाई ।
वि०—कितनी (रू.भे.)
कित्तौ–वि०—कितना (रू.भे.) देखो 'कितौ' ।
कित्तौएक, कित्तौक, कित्तौयक–वि०—देखो 'कितौक' (रू.भे.)
उ०—वातां हुणै रै वाद गोपाळ मीठास सूं पूछियो–यारै मायें कित्तौक करजो है ।—वरसगांठ
किया–सर्व०—क्या । उ०—तज भरमल अरज कीवी जे आपनूं तो इण जीव सूं कांम छै, वीजा जीव म्हारै किया करणा छै ।—कुंवरसी सांखला री वारता
क्रि०वि०—कहाँ ।
किथिए, किथियै, कियोय, किथोय–क्रि०वि०—कहाँ (क्षेत्रीय)

किरकिर-संस्त्री० [सं० कर्कर] महीनतम, धूलिकण। उ०—करणी में किरकिर, धरणी में थिर-थिर फिर-फिर सिर फोड़दा है।—ऊ का.
कहा०—धणी सैणप में किरकिर पड़ै—आवश्यकता से अधिक होशियारी से हानि की सम्भावना रहती है। अधिक होशियारी से हानि होने पर कही जाती है।

किरकिरौ-वि० (स्त्री० किरकिरी) कँकरीला, कँकड़दार जिसमें महीन व पतले कड़े रवे हों। उ०—थे उस्ताद किसौ पीसणौ उठाय लाया, मजौ किरकिरौ कर दियौ।—वरसगांठ
मुहा०—किरकिरौ होणौ—कार्य खराब हो जाना, मजा बिगड़ जाना।
संपु०—बड़े व मोटे लोहे में छेद करने का लोहारों का एक औजार।

किरकोळ-संस्त्री०—परचून व फुटकर सामान।

किरकौ-संपु०—१ टुकड़ा, खंड, कण। उ०—उडै पग हात किरका हुवै अंगरा, वहै रत जेम सांवण वहाळा।—र.रू.
२ शक्ति, बल, ताकत. ३ साहस उ०—आक वटूकै पवन भखै, तुरियां आगळ जाय। किरकौ भलौ रे कंथड़ा, हिरण किसा घी खाय।

किरखी-संस्त्री० [सं० कृषि] खेती, कृषि।

किरग-संपु० [सं० करटी] हाथी।

किरड़कांट-संपु०—गिरगिट (क्षेत्रीय)

किरड़णौ, किरड़बौ-क्रिस०—दाँतों से काटना। उ०—रीसां बळती किरड़ खायगी, नैंनौ रूप कियौ विकराळ।—रेवतदांन

किरड़ा-संस्त्री० [सं० क्रीड़ा] खेल, क्रीड़ा। उ०—किरड़ा कर रिमझोळ डोळ डाळयां रंग घोळै।—दसदेव

किरड़ियौ—देखो 'किरड़ौ'। उ०— जांणै हीरा पनड़ा झड़ै, चोर रंग फोर किरड़िया।—दसदेव

किरड़ी-संपु०—१ गिरगिट. [सं० करटी] २ हाथी।

किरड़ू-संपु०—१ काष्ठ की वह कील जो रहट की पानी खींचने की माल या रस्से को जोड़ने के काम आती है. २ वे अन्न के दाने जो पकने पर भी कठोर बने रहते हैं।

किरड़ौ-संपु०—गिरगिट। उ०—किरड़ा कर रिमझोळ, डोल डोळयां रंग घोळै।—दसदेव (अल्पा० 'किरड़ियौ')

किरच-संस्त्री०—१ एक प्रकार की सीधी तलवार जो नोंक के बल सीधी भोंकी जाती है. २ नुकीला टुकड़ा या कण।
(यौ० किरच-किरच, खंड-खंड)

किरची-संस्त्री०—१ रेशम का लच्छा. २ लंबा टुकड़ा जो चौड़ाई में कम हो किन्तु लंबा काफी हो. ३ छोटा टुकड़ा या कण। उ०—तलवार मांणसां रै नीचै दबी, बीरौ म्यांन किरची किरची हो गयौ।—डाढ़ाळा सूर री वात
मुहा०—किरची-किरची होणौ—खंड-खंड होना।

किरचौ-संपु० (स्त्री० किरची) टुकड़ा, खंड, कण। उ०—पड़ै तौ काच री सीसी ज्यूं किरचा किरचा हुय जावै।—रा सा.सं.

किरट, किरठ-वि०—श्याम, काला (ह.नां., नां.मा., अ.मा.)

किरडू—देखो 'किरड़ू' (रू.भे.)

किरण-संस्त्री०—ज्योति की अति सूक्ष्म रेखायें जो प्रवाह के रूप में सूर्य, चंद्र, दीपक आदि प्रज्वलित पदार्थों से निकल कर फैलती हुई दिखाई पड़ती है, रोशनी की लकीर, प्रभा, रश्मि (डि.को.)
पर्याय—अंसु, अरितिमर, उजास, कर, किर, गौ, छवि, जोति, जोतर, दीपति, दुति, प्रभा, भानु. भा, भास, मयूख, मरीचि, मरीचिका, रसम, रुच, वसू, विभा।

किरण-उजळ-संपु० [सं० किरण+उज्ज्वल] चाँद, चंद्र (ना.डि.को.)

किरणकेतु-संपु० [सं०] सूर्य्य।

किरणझाळ-संपु०—तपता हुआ सूर्य। उ०—किरणझाळ झळहळै, अंब अंबर ओहासै। सपत दीप सारीख, वदन उद्योत विकासै।—नैणसी

किरणपत, किरणपति, किरणपती-संपु० [सं० किरण+पति] सूर्य्य।
उ०—१ किरणपत आथवियौ कहै सुण सुद तरण।—द.दा.
उ०—२ किरणपति सुवासव वर गिरपत कहां एतला थोक देवां अमेळा।—जैसळमेर रौ गीत

किरणवाळ-संपु०—एक प्रकार का घोड़ा (शा.हो.)

किरणमाळी-संपु० [सं० किरणमाली] सूर्य।

किरणरूप-संपु०—एक प्रकार का घोड़ा (शा.हो.)

किरण-सेत-संपु० [सं० किरण श्वेत] चंद्र. चाँद (ह.नां.)

किरणांपत, किरणांपति, किरणांपती, किरणांर-संपु० [सं० किरण+पति] सूर्य्य। उ०—१ दरसाव महासुर 'पाल' दियौ, किरणांपत जांण उद्योत कियौ।—पा.प्र. उ०—२ चले रत खाळ रणताळ दुंद माचियौ, खैंग किरणांर देखण समर खांचियौ।—र.रू.

किरणाळ-संपु०—१ योद्धा, वीर। उ०—सुकनी रा साद दलौ संभरै, किरणाळ सूतौ सुख नींद करै।—गो.रू.
[सं० किरण+आलु] २ सूर्य्य (रू. भे. 'किरणाळौ')
वि०—तेजस्वी। उ०—लिए रस जोधा जोम लंकाळ, कमधज काहुळिया किरणाळ।—गो.रू.

किरणालर-संपु०—सूर्य्य।

किरणाळौ-संपु०—सूर्य। उ०—सिघ अजा सांमल सलल पीवै इकथाळा, तसकर दवै उलूक ज्यूं ऊगां किरणाळा।—र.रू.
वि०—तेज वाला, तेजस्वी। उ०—साथै जोधाहरौ सचाळौ, फिरतावत 'सूजौ' किरणाळौ।—रा.रू.

किरणि-संस्त्री० [सं० किरण] देखो 'किरण'। उ०—पथिक वधू द्रिठि पंथ पंखियां, कमळ पत्र सूरिज किरणि।—वेलि.

किरणियौ-संपु०—१ छाता. २ संकेत करने का उपकरण।
उ०—सो जठै ठाकुरसिंह झालौ किरणिया दियां ललकार करै छै।—डाढ़ाळा सूर री वात

किवाड़ि–सं०स्त्री०—कपाट, किवाड़। उ०—सावन ऊभी टेकि किवाड़ि, रतन-कुंडळ केसिर तिलक लीलाड़।—वी.दे.

किम–सर्व०—क्या।

क्रि०वि०—कैसे। उ०—मन सरिसौ धावतौ मूढ़मत, पहि किम पूजै पांगुळौ।—वेलि.

वि०—कौनसा।

किमकरि–क्रि०वि०—कैसे।

किमत्र–क्रि०वि०—कैसे। उ०—धरिया सु उतारै नव तन धारै, कवि ते वाखांणण किमत्र।—वेलि.

किमाड़–सं०पु० [सं० कपाट] कपाट, किवाड़। उ०—कंठ जनोई पाटकी, रगत चंदन की पीळी किमाड़।—वी.दे.

किमाड़ी–सं०स्त्री० सं० कपाट+रा०प्र०ई] दरवाजे पर बनी हुई काष्ट व तारो की एक छोटी फाटक जो प्रायः कुत्ते आदि जानवरों को घर में प्रवेश न होने देने के लिए बनाई जाती है।

किमि–क्रि०वि० [सं० किम्] कैसे, किस प्रकार। उ०—गयण मग आकुळी फिरै किमि ग्रीभणी।—हा.भा.

वि०—कम। उ०—कहां वीस कळ एक किमि, मेर पाय मरजाद।—ल.पि.

किमेर—देखो 'कुबेर' (रू.भे.)

किम्मत—देखो 'कीमत' (रू.भे.)

किम्हइ–क्रि०वि०—कैसे। उ०—ऊंचे हाथि धाहि पोकारइ, वोलावइ किरतार। आंणीवार किम्हइ ऊवेळइ, करइ अम्हारी सार।—कां.दे.प्र.

कियंकर–सं०पु० [सं० किंकर] देखो 'किंकर' (रू.भे.)

उ०—त्रय ताप संताप दुखाप दुखंकर, पाप कियंकर लार लगा। ज्यि छाप कळाप विलाप भयंकर, वाफ हुतंकर त्रत्यु अगा।—करुणासागर

कियां–क्रि०वि०—१ क्यों. २ कैसे। उ०—चोपदार अरज कीवी–ईमी वात सुण महाराज कियां वैसि रहै।—पलक दरियाव री वात

कहा०—१ आंधी में मोर चालै ज्यूं कियां चालै है—डगमगाते एवं लड़खड़ाते हुए चलने पर. २ कियां करै,जांणै नातै आयोड़ी डेढ़णी करै—निर्लज्ज नखरे करने पर। वार-वार हँसने पर (स्त्रियों के लिए) ३ कियां देखै जांणै कागलो नींवोळी कांनी देखै—ललचाई हुई नजर से टकटकी लगा कर देखने वाले के प्रति (व्यंग्य). ४ कियां देखै जांणै गैलो वजार कांनी देखै—अज्ञानवश आश्चर्य-चकित होने वाले पर व्यंग. ५ कियां नाचै जांणै हंसराज री घोड़ी नाचै—अति चंचल पर व्यंग. ६ नियां फिरै जाणै विगड़ियोड़ै व्याव में नाई फिरै—असफल प्रयत्न करने वाले पर व्यंग।

३ किधर।

किया–क्रि०वि०—१ देखो 'कियां' (रू.भे.) २ किधर, कहां।

कियारथ–वि०—१ कृतकृत्य, सफल मनोरथ, संतुष्ट. उ०—स्री हरि नांम संभारि कांम अभिरांम कियारथ।—रा.रू. २ कुशल, निपुण, होशियार।

कियारी–सं०स्त्री० [सं० केदार] क्यारी। उ०—विमळ प्रवाह गंग गांम वासह, धणी कियारी कवत घणा।—महारांणा हमीरसिंह रौ गीत

कियारौ–सं०पु० [सं० केदार] क्यारी, केदार।

कियावर—१ देखो 'किरियावर' (रू.भे.) उ०—१ वीरम भाई वंकड़ौ, ज्यूं वेटौ जगमाल। दत कियावर चावा दुनी, साहां उर रा साल।—वी.मा. उ०—वैठौ सूर तखत गजवंधी, सीम जिते सांमंद्रां संधी। सार कियावर उरै सकोयी, क्रत सम विक्रम भोज न कोयी।—रा.रू.

कियाह–सं०पु०—लाल रग का घोड़ा (शा.हो.)

क्रि०वि०—कहाँ।

किये–क्रि०वि०—कहाँ।

कियोड़ौ–भू०का०कृ०—किया हुआ। (स्त्री० कियोड़ी)

कियौ–सं०पु०—१ कहने का कार्य. २ आदेश।

सर्व०—कौनसा।

किरटी–सं०पु० [सं० किरीटी] १ इंद्र. २ अर्जुन।

किरंड–स०पु० [सं० करड] देखो 'करंड' (रू.भे.) उ०—तब कह्यौ 'करनला' वचन ताप, औ किरंड उठाय रे धरौ आप।—रामदांन लाळस

किरंडौ–सं०पु०—सांप, सर्प।

किर–अव्यय—मानो। उ०—ओपै आय अनंत वळ, सुतन चियारूं साथ। किर सिव ऊपर आवियौ, जाळंधर भाराथ।—रा.रू.

सं०पु०—१ निश्चय। उ०—जिम धारौ खूनौ जिकौ, किर वळभद्र कवंध। अठै विवाहण आंणियौ, सरणै मैं वळ सिंध।—वं.भा.

[स० किरि] २ सूअर, वराह (नां.मा.)

सं०स्त्री०—३ किरण (नां.मा.) ४ पृथ्वी, भूमि।

किरइ–सं०स्त्री०—काष्ठ की वह लकड़ी जो पानी सींचने व अरहट की माल या रस्से को जोड़ने के काम आती है।

किरक–सं०स्त्री०—१ दर्द. २ अस्थियों की पीड़ा।

किरकटौ–सं०पु०—गिरगिट। उ०—स्याह लाल पीळी मधि रेख, यहु मन करै किरकटा भेख।—ह.पु.वा.

किरकर–सं०स्त्री० [सं० कर्कर] देखो 'किरकिर' (१) उ०—किरकर भोजन कर जोजन जुळ जावै। घर घर निरमळ जळ वेकळ घुळ जावै।—ऊ.का.

किरकांट, किरकांटियौ, किरकांटचौ, किरकांठियौ, किरकांठौ–सं०पु०—गिरगिट (डि.को.)

कहा०—किरकांटियौ वदले ज्यूं रंग वदळणौ—वार-वार रंग, स्वभाव या वर्ताव आदि वदलना, स्थिर होकर एक वात पर जमे नहीं रहना।

अनोप कोप वाहै किरवांणी। खासी नै सादूळ घड़ा चूरै चगथांणी।
—रा.रू.

किरसांण-संपु० [सं० कृपक] किसान, कृपक। उ०—वगत वटावा हेत, खेत किरसांणां तांई।—दसदेव

किरसांणी—देखो 'किरसांण'।

वि०—कृपक संवंधी, कृपक का।

उ०—किरसांणी वंघी करतां री हाथी री सी साथळां।—दसदेव

किरांणी-संपु० [सं० क्रयण] नमक, मसाले, हल्दी आदि वे चीजें जो नित्य के व्यवहार में आती और पंसारियों के यहाँ मिलती हैं।

किरांत-संस्त्री० [सं० क्रांति] शोभा, प्रकाश।

किरांनी-संपु० [अं० क्रिश्चियन] १ वह मनुष्य जिसके माता-पिता में से एक या दोनों ईसाई हों. २ अंग्रेजी दफ्तर का क्लर्क।

किराड़-संपु०—१ वैश्य वर्ण या इस वर्ण का व्यक्ति, वनिया, वनिया का निंदासूचक शब्द। उ०—तीडां करसण सूंपियौ, वांनरड़ां नूं वाग। माल कराड़ां सूंपियौ, ज्यांरा फूटा भाग।—वां.दा.

२ नदी का किनारा, तट। उ०—मेह मथारै वरसियौ, नदी किराड़ां मार। घोड़ा हींस न भल्लिया, सीस किराड़ां मार।—वां.दा.

किराड़ी-संस्त्री०—पशुओं का एक चर्म रोग विशेष जिससे पशु के शरीर पर छोटी-छोटी ग्रंथियां हो जाती हैं। (शा.हो.)

किराड़ू-संपु०—१ वाड़मेर के पास का एक स्थान विशेष २ वाड़मेर प्रदेश का एक प्राचीन नाम।

किराड़ौ-संपु०—किनारा, कूल, तट (किसी जलाशय या नदी का)

किरात-संपु० [सं०] १ एक प्राचीन जंगली जाति, भील।

उ०—केहर हाथळ घाव कर, कुंजर ढिगनौ कीध। हुंसां नग हर नूं तुचा, दांत किरातां दीध।—वां.दा. २ एक देश का प्राचीन नाम जो हिमालय के पूर्वीय भाग तथा उसके आसपास में माना जाता था.

३ चिरायता।

किरातपत, किरातपति-संपु० [सं० किरातपति] शिव।

किरातारजुणीय-संपु० [सं० किरातार्जुनीय] भारवि कृत १८ सर्गो का एक महाकाव्य।

किरातासी-संपु० [सं० किरताशी] गरुड़।

किरातिणी-संस्त्री०—१ किरात जाति की स्त्री. २ जटामासी।

किराती-संस्त्री० [सं०] १ किरात जाति की स्त्री. २ दुर्गा. ३ स्वर्ग की गंगा. ४ चंवर डुलाने वाली स्त्री।

किरायणौ, किरावबौ-क्रि०अ०—१ चिल्लाना. २ कराहना. ३ रोनी सूरत लेकर वार-वार चिढ़ना।

किरायतौ-संपु०—प्याज के वीज जो काले रंग के महीन दानों के समान होते हैं तथा आचार आदि में काम आते हैं (अमरत)

किरायेदार-संपु०—वह जो किसी की कोई वस्तु भाड़े पर ले। कुछ दाम देकर किसी दूसरे की वस्तु कुछ काल तक काम में लाने वाला।

किरायौ-संपु० [अ० किरायः] वह दाम जो दूसरे की कोई वस्तु काम में लाने के वदले में उस वस्तु के मालिक को दिया जाय, भाड़ा।

किरावर—देखो 'किरियावर' (रू.भे.)

किरावळ-संपु० [तु० करावल] १ लड़ाई का मैदान ठीक करने के लिये आने जाने वाली फौज. २ वंदूक से शिकार करने वाला आदमी।

किरि-अव्यय—मानो। उ०—१ वाळकति करि, हंस चौ वाळक। कनक वेलि विहुं पांन किरि।—वेलि. उ०—२ पतिसाह सेन दीवी परिक्ख, उडियण किरि आवइ अंतरिक्ख।—रा.ज सी.

संस्त्री०—१ परहेज. २ तने का मध्यवर्ती कठोर भाग।

किरिच रौ गोळौ-संपु०—एक प्रकार का जहाजी गोला जिसके भीतर लोहे के टुकड़े, कीलें या छर्रे भरे रहते हैं।

किरिट्ठ, किरिठ-वि०—अत्यंत काला। उ०—कुवरत्त केवि काळा किरिट्ठ, गड़दनी गोळ गांजा गिरिट्ठ।—रा.ज.सी.

किरिण-संस्त्री० [सं० किरण] रश्मि, किरण (ह.नां.)

किरियांणौ-संपु०—पौष्टिक पदार्थो का वना पाक, अवलेह, लड्डू आदि।

किरिया-संस्त्री० [सं० क्रिया] १ काम. २ कर्त्तव्य. ३ मृत व्यक्ति के उद्देश्य से श्राद्धादि कर्म। उ०—तीजै दिन तइयौ करि, फूल चुगाई गंगाजी में वहिर किया, किरिया कराई।

४ देखो—'क्रिया'। —पलक दरियाव री वात

किरियाकरम-संपु० [सं० क्रियाकर्म] अंतिम संस्कार, दाहकर्म।

उ०—म्हारै खनै कंई रुघौ-चुघौ हौ जिकौ दादी रै ओसर, वाप रै किरियाकरम अर चूंदरी जिंदोओ में लेखै लाग चुकौ हौ।—वरसगांठ

किरियावर-संपु० [सं० क्रिया+वर] १ एहसान. २ सोलह संस्कारों के अंतर्गत विभिन्न संस्कार संवंधी महत्वपूर्ण कार्य।

(मि. 'काजकिरियावर')

उ०—हूं भगती हररीह, किरियावर वंका करै। घरवट जिण घररीह, विगड़ै कदै न वसतिया।—समेळजी वारहठ

किरियावरौ-वि०—१ एहसान रखने वाला, या करने वाला। यशस्वी, कीर्तिवान. ३ सोलह संस्कारों के अंतर्गत विभिन्न संस्कार-संवंधी महत्वपूर्ण कार्ग करने वाला (मि. 'काजकिरियावरौ')

किरिराज-संपु०—१ वड़ा हाथी. २ दस दिग्गजों में से अंजन नामक दिग्गज।

किरी-संस्त्री०—१ तने का या काष्ठ का भीतर का ठोस भाग.

देखो 'किरि' (रू.भे.)

किरीट-संपु० [सं०] एक प्रकार का शिरोभूषण, मुकुट।

किरीटी-संपु० [सं० किरीट] १ मुकुट, किरीटी. उ०—किरीटी कुंडळ सोभै कांन।—ह.र. [सं० किरिटिन] २ इंद्र. ३ अर्जुन (ह.नां.) ४ राजा. ५ वह जो किरीट (मुकुट) पहने हो. ६ मुर्गा। उ०—क्रीड़ाप्रिय पोकार किरीटी, जीवित प्रिय घड़ियाल जिम।—वेलि. ७ मोर, मयूर. ८ प्रत्येक चरण में आठ भगण सहित २४ वर्णो का वर्णिक वृत विशेप (पिं.प्र.)

३ राजा महाराजाओं की सवारी निकलते समय या गद्दी पर दरबार में बैठते समय उनके सेवक द्वारा उनके पीछे रखा जाने वाला एक बड़ा वृतालुकार पंखा जिसका घेरा व डंडा बड़ा होता है और उसके मध्य में सूर्य की प्रतिमा चित्रित या अंकित होती है (द.दा.)

किरणौ, किरवौ—क्रि०अ०—परिपक्व बाजरी के सिरटों के आपसी संघर्षण से बाजरी के दानों का निकल कर गिरना।

किरत—वि० [सं० कृत] कृत किया हुआ।

सं०पु०—१ नितंब के ऊपर का हिस्सा। उ०—कट्टे किरत नितंब के जिम कच्छप जक्कें। कटि जंघा सत्थी कट्टे हत्थी हनि हक्कें।
—वं.भा.

२ कार्य, काम. ३ जाल, प्रपंच। उ०—कूड़ा घर रा कार, कूड़ा माया रा किरत। सार वसत संसार, वीठळ भजणौ वसतिया।
—समेळजी बारहठ

किरतगुणी—वि० [सं० कृतघ्नी] किए हुए उपकार को न मानने वाला।

किरतव—देखो 'करतव' (रू.भे.) उ०—ज्यांरा मोटा भाग जग, मोटा किरतव मन्न। यां हूंदी आसा करै, खैराती खट ग्रन्न।—वां.दा.

किरतवी—वि०—१ कर्तव्य करने वाला. २ छली, कपटी. ३ करतव संबंधी (देखो करतव')

किरतव्व—देखो 'करतव' (रू.भे.) उ०—वीराध वीर हेलां हमीर, मधुकर सुतन्न किरतव्व क्रन्न।—वचनिका

किरतार—देखो 'करतार' (रू.भे.) उ०—चंदा तौ किण खंडियउ, मौ खंडी किरतार। पूनिम पूरउ ऊगसी, आवंतइ अवतार।—ढो.मा.

किरतारथ—वि०यौ० [सं० कृतार्थ] सफल, कृतार्थ। उ०—उपकारी जीव रै दरसण सूं हिंदू आपनै किरतारथ हुया समझै।—वरसगांठ

किरति, किरतियां, किरती, किरतीयु—सं०स्त्री० [सं० कृत्तिका] सत्ताईस नक्षत्रों में से तीसरा नक्षत्र। इस नक्षत्र में छः तारे हैं, कृत्तिकाएँ। उ०—आभै ऊपर हंसै किरतियां मन विलमावै वीरौ।—रेवतदांन

कहा०—किरती एक झबूकड़ौ, ओगण सह गळियाह—कृतिका नक्षत्र में अगर एक बार भी बिजली चमक जाय तो अकाल नहीं होगा।

किरतू—सं०पु०—काष्ठ की वह कील जो दो रस्सों को जोडने के निमित्त उनके बीच में डाली जाती है।

किरत्यां—देखो 'किरतियां'। उ०—चांद चढ़चौ गिगनार सूरज किरत्यां ढळ रहियौ। महलां बैठी मोती पोती रात जगी री।
—लो.गी.

किरन—देखो किरण' (रू.भे.)

किरनाळ—सं०पु०—सूर्य्य, भानु (डि.को.) उ०—नमौ दिवसेस विचार ब्रहम्म, नमौ किरनाळ नमौ सुखरम्म।

किरपण—वि० [सं० कृपण] कृपण, कंजूस। उ०—किरपण मरै न मूकै माया, काठौ करि राखै कसि काच।—ह पु.वा.

किरपांण, किरपांणी—सं०स्त्री० [सं० कृपाण] तलवार, कृपाण।

वि०—मजबूत, दृढ़।

किरपा—सं०स्त्री० [सं० कृपा] कृपा, मेहरबानी, दया (ह.नां.. रू.भे.)

उ०—१ किरपा कर मोहि दरसण दीज्यौ, सब तक सीर बिसारी।
—मीरां

उ०—२ म्हारा मारू नै जाय कीज्यौ, म्हां अबळा पर किरपा कीज्यौ।—लो.गी.

किरपाळ—वि० [सं० कृपालु] कृपालु, दयालु। उ०—वांकौ एक न होवै वाळ, सुत चौ नांम लियां निसतारै, कर पर गिरधारै किरपाळ।
—भगतमाळ

किरवांण, किरवांन—सं०स्त्री० [सं० कृपाण] तलवार, कृपाण।

उ०—'बीजवार' गढ़पति लखै, कर झल्ली किरवांन।—ला.रा. (रू.भे. 'किरवांण')

किरम—सं०पु० [सं० कृमि] कीट, कीड़ा (डि.को.)

किरमची—वि०—मटमैला लिये हुए करोंदिया रंग की। उ०—अणथाग वेग केई भंवर अंग, रेसमी पोत किरमची रंग।—पे.रू.

सं०पु०—१ मटमैला लिये हुए करोंदिया रंग. २ स्याही लिये लाल रंग का घोड़ा।

किरमर—सं०स्त्री०—१ तलवार, कृपाण (ह.नां.)

उ०—'कूंपा' किरमर झल्लियां, फतमल विजपालोत। हटै न जंगे सांम छळ, मिटै न मेळां मौत।—रा.रू. २ मुसलमान।

किरमाळ—सं०स्त्री० [सं० करवालः] १ तलवार (डि.को.)

उ०—कंथड़ा झालि किरमाळ केड़ी करां। सार झड़ वरण सो सोक सैलां सरां।—हा.झा. २ सूर्य, भानु। उ०—१ आंगण किले मां ऊतरै, कमध 'पेम' किरमाळ। इतरै वागी आवतां, काळां री करताळ।
—पे.रू.

उ०—२ मह जैसे मेटै तिमिर, रसम परस किरमाळ।—र.रू.

किरमाळौ—सं०पु० [सं० कृतमाल] अमलतास (अमरत)

किरमिज—सं०पु०—१ एक प्रकार का रंग. २ किरिमदाने का चूर्ण. ३ किरमिजी रंग का घोड़ा (रू.भे. 'किरमची')

किरमिजी—वि० [सं० कृमिज] १ किरमिज के रंग का, मटमैलापन लिये हुए करोंदिया रंग का. २ चितकबरा।

किरमिर—सं०पु० [सं० किर्मीर] १ भीम का एक नाम (ह.नां.) मि. 'सबळ' (४)

[सं० किर्मीरः] २ एक राक्षस का नाम जिसको भीम ने मारा था।

किरम्माळा—सं०स्त्री०—तलवार। (मि० 'किरमाळ' रू.भे.)

किरळी—सं०स्त्री०—चीत्कार, चिल्लाहट। उ०—इसौ कहि किरळी कीधी।—जखड़ा मुखड़ा भाटी री वात

किरळक्क—सं०पु०—किलकारी, आवाज।

किरळावणौ, किरळावबौ—क्रि०अ०—चिल्लाना। ऊभी नै किरळावै कायर मोर ज्यूं जी म्हारी नार।—लो.गी.

किरवांणी—सं०स्त्री० [सं० कृपाण] तलवार, खग। उ०—गोपीनाथ

किळचू-सं०पु०—एक प्रकार का पक्षी ।

किलणौ, किलवौ—देखो 'कीलणौ' ।

किलव, किलवांइण, किलम-सं०पु० [अ० कलमा] कलमा पढ़ने वाला । यवन । देखो 'कलमौ' उ०—१ किलवां सोवा कंपिया, मिटी सलाह सताव । ज्यास विना जोधांण में, ऊखे सास नवाव ।—रा.रू.

उ०—२ किलवांइण चंचळ कळा. वव सोच खड़व्भड़ आठ वळा ।
—रा.रू.

उ०—३ खूम हुकम सिरदार खां, सोजत नयर सिहाय । किलम अमांमो कमधजां, सांमी वग्गौ आय ।—रा.रू.

किलमांण-सं०पु०—१ कलमा पढ़ने वाला, यवन । उ०—किलमांण मीर हिक मन्न कीध, दइवांण पांण जम डाढ़ दीध ।—वि.सं.
२ मुसलमान धर्म का धार्मिक मूल मंत्र ।

किलमांणनाथ, किलमांणपत, किलमांणपति, किलमांणराय-सं०पु०—यवन-सम्राट । उ०—१ डेरा वाग मझ जाय दीध, किलमांणनाथ ने खवर कीध ।—शि.सु.रू. उ०—२ किलमांपत भेटे कारीगर, कारी घाव निहाव कर ।—महारांणा अमरसिंह री गीत

किलमांयण—देखो 'किलमांण' (रू.भे.) उ०—जुलफ़कार कर मेलियौ, आवै जौ अभिरांम । किलमांयण आगै कदे, छोड़ूं नह संग्रांम ।—पा.प्र.

किलमी—देखो 'किलमांण' (रू.भे.) देखो 'किलम' (रू.भे.)

किलमीर-सं०पु०—मुसलमान, यवन । उ०—किलमीर मीर अमराव तांम, कीध सिलहत काज सांम ।—शि.सु.रू.

किलम्म-सं०पु०—१ कलमा पढ़ने वाला, यवन, मुसलमान ।
उ०—आवळी पढ़ै साफी इलम्म, कावळी गुसै भरिया किलम्म ।
—वि सं.
२ कलमा । देखो 'कलमौ' (रू.भे.)

किललोळ-सं०स्त्री०—केलि, क्रीड़ा । उ०—ठाकुर आया, ठाकुर केळ करै, किललोळ करै ।—लो.गी.

किलवांक-सं०पु०—कावुल देशोत्पन्न एक प्रकार का घोड़ा (शा.हो.)

किलवांण, किलवांणी-वि०स्त्री०—मुसलमानों की, यवनों की ।
उ०—कमंधां घड़ा पूरै किलवांणी, पड़ियौ चाढ़ मुरद्धर पांणी ।
—रा.रू.

किलवायण-सं०पु० [अ० कलमा+रा०प्र० आयण] देखो 'किलमांण' (रू.भे.)

किलविख-सं०पु० [सं० किल्विष] कल्मष, पाप (ह.नां.)

किलांण—१ देखो 'कल्यांण' । उ०—जप जीहा जगदीस, केसव क्रस्ण किलांण कह ।—ह.र. २ वादल (नां.मा., अ.मा.)

किलांणी-सं०स्त्री० [सं० कल्यांणी] १ पार्वती. २ देवी, दुर्गा (क.कु.बो.)

किलादार—देखो 'किलेदार' (रू.भे.)

किलाबंदी-सं०स्त्री० [फा०] १ दुर्ग-निर्माण. २ व्यूह-रचना. ३ शतरंज के खेल में बादशाह को सुरक्षित घर में रखना ।

किलावौ-सं०पु०—१ स्वर्णकारों का एक औजार. २ हाथी के गले में पड़ा हुआ रस्सा व बंधन जिसमें पैर फँसा कर महावत हाथी को चलने आदि का इशारा करता है ।

किलास-सं०स्त्री०—कक्षा (रू.भे.) उ०—छोरौ गुलाव री फूल है अर अंगरेजी री तीजी किलास में भणै है ।—वरसगांठ

किलि-अव्यय—निश्चय । उ०—जोवे ऊन्हा जैतसी, लोह वहंता लागि । किलि वे भूठौ किमिरियौ, ऊही वै वळती आगि ।—रा.ज. रासौ

किलिच्चि, किलिच्छ-सं०पु०—१ असुर, मुसलमान । उ०—१ कमध्य तणी धर कम्मर हीण । करेवा भंग किलिच्चि कुलीण ।
—रा.ज. रासौ
उ०—२ नमट्टचौ भुज्ज खत्री निरवांण । कड़व्व्यौ कोप सभी केवांण । तणी धर वाहर ऊंची तांण । किलिच्छा केसरि भंजण कांण ।
—रा.ज. रासौ

किलियांण—देखो 'कल्यांण' (रू.भे.)

किलिविख-सं०पु०—देखो 'किलविख' ।

किलेदार-सं०पु०—दुर्गाध्यक्ष, गढ़पति ।

किलोड़ौ-सं०पु०—छोटा वैल (मि० 'किळोहड़ौ' रू.भे.)

किलोळ-सं०स्त्री० [सं० कल्लोल] १ कल्लोल, मौज, आनंद, आमोद-प्रमोद । उ०—गिर नीलम पसवाड़, किलोळां हेत सुवावै ।—मेघ. २ केलि, क्रीड़ा । उ०—१ लहरीस सीस हिलोळ, केमच्छ कच्छ किलोळ ।—रा रू. ३ तरंग, हिलोर उ०—२ ढोल्यौ तौ डगमग करै जी वनां म्हारा तकियौ करै किलोळ ।—लो.गी.

किलोहड़ौ-सं०पु०—छोटी आयु का वैल (रू.भे. 'लो'ड़ौ, कल्होड़ौ') उ०—क्यूं नह धवळी जोतियौ, तैं सागड़ी गिंवार । काढ़ै जीभ किलोहड़ा, खंध न झालै भार ।—वां.दा. (मि० 'नारकियौ')

किलौ-सं०पु० [अ० किलाऽ] लड़ाई के समय वचाव का एक सुदृढ़ स्थान, दुर्ग, गढ़ (ह.नां.)
पर्याय०—अरसाल, आसेर, कल्लौ, वरण, वप्र ।
मुहा०—१ किलौ टूटणौ—कठिन काम आसान होना, वहुत कठिन काम होना. २ किलौ जीतणौ—वड़ा भारी काम करना, किसी कठिन कार्य या समस्या को हल कर लेना ।

किलौड़न, किलौरन—देखो 'किलोहड़ौ' (रू.भे.) उ०—बंध किलौरन वंधन के विधि, अंधन आरसि ओपत ऐसे ।—ऊ.का.

किल्यांण—देखो 'कल्यांण' (रू.भे.) (ह.नां.)

किल्लणौ, किल्लवौ-क्रि०स० [सं० कील] १ देखो 'कीलणौ'.
उ०—कै दारुन अहि किल्लि काळवेलिन वसि कीन्हौ ।—ला.रा.
२ देखो 'खीळणौ' (रू.भे.)

किल्लादार—देखो 'किलेदार' (रू.भे.) उ०—मोवतसिंघ नांमी राजवी का मैं कहा तौ, किल्लादार किल्ला 'सापरा' में रहा तौ ।—शि.वं.

किल्लाहर-सं०पु०—पुष्प (ह.नां.)

किल्लेदार—देखो 'किलेदार' (रू.भे.)

किरूं-सं०पु०—१ हिन्दुवाणी का ढेर. २ मकान के छाजन के नीचे सहारे के लिये लगाई जाने वाली लकड़ी। उ०—पीनड़ी ग्रर पळूंड ऊंखळी किरूं किवाड़ां, ऊभी कील उखाड़ फेरणा जवर जुवाड़ां।
—दसदेव

किरोई—देखो 'करोई' (रू.भे.)

किरोड़-वि० [सं० कोटि] देखो 'करोड़' (रू.भे.)

किरोड़ी-सं०पु०—बादशाह या सरकार की ओर से मालगुजारी उगाहने वाला या वसूल करने वाला। उ०—विजैराम कांम ग्रायौ, सांभर रा किरोड़ी सूं वेढ़ हुई तठै···।—नैणसी
वि०—करोड़, कोटि। उ०—ग्रब मोहवत कौण कांम की, गिरघर विना हुं नगोड़ी। लोग कहै काळी कांमळी वाळौ, म्हारै तो लाख किरोड़ी।—मीरां

किरोध-सं०पु०—देखो क्रोध' (रू.भे.)

किरोळी-सं०स्त्री०—रहँट की माल में लगाई जाने वाली लकड़ी की छोटी-छोटी कीलियां।

किरौ-सं०पु०—अंगारे व राख का मिश्रित ढेर।

किलंका-सं०स्त्री—किलकारी, आवाज।

किलंग-सं०पु०—१ विष्णु का चौबीसवां अवतार, कल्कि अवतार।
उ०—किता तैं फेरा जीत किलंग, जुगोजुग कीध दइत्तां जंग।—ह.र.
२ कलिंग देश का निवासी। उ०—सेन रिजमट असंख पलटणां तणै संग, भड़ तिलंग बंग किलंग तणा भिळिया।—वां.दा.

किलंगदईत-सं०पु० [सं० कलिंगदैत्य] कलिंगदैत्य नामक राक्षस।

किलंगी-सं०स्त्री०—१ एक शिरोभूषण, शिर का तुर्रा। उ०—ढोलाजी नै पिण कड़ा मोती जनेऊ किलंगी ग्रमोलक वसतां दीधी।—ढो.मा.
२ एक प्रकार का घोड़ा (शा.हो.)

किलंगौ-सं०पु०—एक प्रकार का पुष्प विशेष। उ०—तठा उपरांयत माळी फूलां री छावां आंण हाजर कीजै छै सु फूल किण भांत रा छै ? हजारा नौरंग तुररौ मेंहदी किलंगौ सोनजुही इसकपेचौ।
--रा.सा.सं.

किलंब, किलंबि-सं०पु० [ग्र० कलमा] यवन, मुसलमान। उ०—१ ग्ररज करै 'ग्रगजीत' सूं, पेस धरै लख पाग। कांकांणी ग्राए किलंब, वळिया पाए लाग।—रा.रू. उ०—२ किलंबी छात सुख कियौ राति मुख गुज्जर चायौ, प्रात गजर वज्जियां फजर दीवांण बुलायौ।—रा.रू.

किलंबांराइ, किलंबांराइ, किलंबांराय-सं०पु० [ग्र० कलमा+सं० राज] बादशाह, यवन-सम्राट (मि० 'किलंब')

किळ-ग्रव्यय—१ निसंदेह, निश्चय ही, जरूर। उ०—जंतु भखै ग्रथवा जळै, कै पड़ियौ रह जाय। किळ मिसटा भसमी कृमी, इण नर तन सूं थाय।—वां.दा. २ उसी प्रकार, वैसे ही। उ०—मेद्यां हुंदा मुलक में, जे मावड़ियौ जाय। महबूबां री मिसल में, किळ सरदार कहाय।—वां.दा.

किलक-सं०स्त्री०—१ किलकने की क्रिया, हर्ष-ध्वनि। उ०—घुमड़ै कांठळ ग्राय चडी घनघोर की, ललकां कोयल लार किलकां मोर की।—म.दा.फ्रा. २ कलरव. ३ किलकारी. ४ कोलाहल।

किलकणौ, किलकवौ-क्रि०ग्र०—१ किलकारी मारना, हर्षध्वनि करना, कलरव शब्द करना. २ किलोल करना, क्रीड़ा करना। उ०—चेली ग्ररु चेला मांडै मेळा, कांम विकळ किलकंदा है।—ऊ.का.

किलका-सं०स्त्री०—किलकारी।

किलकार, किलकारी-सं०स्त्री०—१ वह गंभीर और अस्पष्ट स्वर जिसे लोग आनंद और उत्साह के समय मुंह से निकालते हैं।
उ०—१ कळ में इव पातल कमंध, करै कांम किलकार। मन में ग्राछौ समज लै, सब रोवौ संसार।—ऊ.का. उ०—२ ढुळकिया एवड़ धोरे ग्रोट, सुणीजै किलकारी उण पार।—सांझ २ चीख, चिल्लाहट. ३ किसी को जोर से पुकारने के लिये की जाने वाली आवाज।

किलकारौ-सं०पु०—देखो 'किलकारी' (रू.भे.) उ०—हरकण छाई दिस चिळकारौ हरियौ, करसण करसणियां किलकारौ करियौ।—ऊ.का.

किलकिंचित-सं०पु० [सं०] संयोग शृंगार के ११ हावों में से एक।

किलकिलणौ, किलकिलवौ-क्रि०ग्र०—खिलखिलाना, हर्षध्वनि करना।
उ०—फिलै वीर भैरव भार किलकिलै भवांनी।—ग्रज्ञात

किलकिला-सं०स्त्री०—१ किलकारी, हर्षध्वनि. २ इसी नाम की एक बड़ी तोप। उ०—राजांन सिलांमती किलकिला नाळी छूटी सु गोळां री ग्रवाज सूं धरती धमकीनै रही छै।—रा.सा.सं.
३ समुद्र का वह भाग जहां की लहरें भयंकर शब्द करती हैं।
४ जलाशयों में मछलियों आदि पर झपट्टा मार कर आक्रमण करने वाली एक प्रकार की चिड़िया विशेष। उ०—१ ऊंडै द्रह किलकिला ज्यूं फूलधारां विचि उड़ि पड़ा।—वचनिका उ०—२ निज धणी धरै जकौ ग्राखर नीवटै, किलकिला जिसा ग्रमराव जुड़सी कठै। जुध फिरंग जाचसी फेर फौजां जठै, ऊदहर 'मांन' नै याद ग्रासी उठै।
--सुरतांणसींघ ऊदावत रौ गीत

किलकिलाहट-सं०स्त्री०—१ खिलखिलाहट, हँसी. २ हर्षध्वनि।

किलकिली-सं०स्त्री०—१ गुदगुदी। उ०—तेज घट ग्रमीरां नगं वदळी तरह, छिली खग्रवट निरख हिंदुग्रां छात। कमधजां धणी चढ़ी भुजां किलकिली, हलचली दिली जमदढ़ दियौ हाथ।
—वखतौ खिड़ियौ

किलकौ-सं०पु०—एक प्रकार का तीर, बाण विशेष (ग्र.मा.)
उ०—चंद्राकार ग्रांकड़ा गिलोलबंध बांण जुगगा, ताता गजां किलकौ गयंदां गंजै तोर।—क.कु.बो.

किलवक—देखो 'किलक' (रू.भे.) उ०—हुई किलवक वीर हाक पै उच्चक हैमरं।—रा.रू.

किलवकणौ, किलवकवौ-क्रि०ग्र०—देखो 'किलकणौ' (रू.भे.)
उ०—सेल भचक्कै संकुळै ग्रति घाव उवक्कै, मीस कपाळी संग्रहै काळी सु किलवक्कै।—वं.भा.

किसमिसी–वि० [फा० किशमिशी] १ किशमिश का. २ किशमिश के रंग का।
सं०पु०—१ देखो 'किसमिस'। उ०—पिस्तां सूं ना प्रेम, कोड काजू रौ कोनी। नोजा लागै निकांम, किसमिसी भावै कोनी।
—दसदेव
२ एक प्रकार का शुभ रंग का घोड़ा (शा.हो.)

किसव—देखो 'किसव' (रू.भे.)

किसांक–वि०—कैसा।

किसांण–सं०पु० [सं० कृपाण, प्रा० किसान] कृपक, किसान।
उ०—घटत घटत सब यूं घटचा, ज्यूं किसांण का लोह।—ह.पु.वा.

किसांणन–वि०—काला, श्याम।

किसांणनर॰–वि०—काला, कृष्ण वर्ण (डि.को.)

किसांन—देखो 'किसांण' (रू.भे.)

किसाक, किसाकउ–वि०—१ कौनसा। उ०—लोभी ठाकुर आवि घरि, कांई करइ विदेसि। दिन-दिन जोवण तन खिसइ, लाभ किसाकउ लेसि।—ढो.मा. २ किसका।
क्रि०वि०—कैसे।

किसायक–वि०—किस प्रकार का। उ०—गज घेर किसायक घाव घलौ, हय न्हांक भीलां घड़ खूंव हल्लौ।—पा.प्र.

किसारी—देखो 'कसारी' (रू.भे.)

किसाहिक, किसाहीक, किसाहेक–क्रि०वि०—कैसे। उ०—१ ऊपर बगला पावस वैठा छै, सूं किसाहिक सोहै छै।—रा.सा.सं.
उ०—२ रेसम री वाग डोरां सूं आंण हाजर कीजै छै सो किसाहेक घोड़ा छै।—रा.सा.सं.

किसी, किसीक, किसीयक—देखो 'किसौ'। उ०—१ ग्याति किसी राजवियां ग्वाळां किसी, जाति कुळपांति किसी।—वेलि.
उ०—२ तरै एक 'छत्रु' नांवै दासी तिण दिल री लगन जांणी वात री धुन पिछांणी तिका छत्रु किसीयक।—र. हमीर

किसीस–सं०पु० [सं० कीश] हनुमान। उ०—करां जोड रूप कीस, सांम पाय नांम सीस। वांध चाळ महावीर, कूदियौ किसीस।—र.रू.

किसूं–सर्व०—क्या। उ०—किसूं सफीलां भुरज री, काहू वजर कपाट। कोटां नूं निघड़क करै, रजपूतां रौ थाट।—वां.दा.
वि०—१ कैसा. २ कौनसा। उ०—की ईरां ऐराक की, किसूं केच मकरांण। पेत तुरंगा घाट जिम, वांका घाट वखांण।—वां. दा.
क्रि० वि०—किसी प्रकार, किसी तरह।

किसूक–सर्व०—कोई।

किसोइक, किसोईक, किसोक, किसोयक–वि०—१ कौनसा. २ किसका।

किसोर–वि० (स्त्री० किसोरी)[सं० किशोर] ग्यारह से पंद्रह वर्ष तक की अवस्था वाला या अवस्था से संबंधित। उ०—वय किसोर ऊतरै, जोर जोवन परगट्टै। अणमायौ अंग मैं ति, किरि रत्नाकर तट्टै।
—रा.रू.
सं०पु०—१ ग्यारह से पंद्रह वर्ष तक की आयु का बालक. २ पुत्र, वेटा (यौ. नन्दकिसोर) ३ घोड़े का वच्चा (डि.को.)
४ लखपत पिंगल के अनुसार प्रत्येक चरण में तीस मात्रा का एक मात्रिक छंद विशेष (ल.पिं.)

किसोरया–सं०पु०—१ एक पक्षी विशेष. २ एक जड़ी विशेष (अमरत)

किसोरस्यांसिघाड़–सं०पु०—एक प्रकार का सिंघाड़ा (अमरत)

किसौ–वि० (स्त्री० किसी) १ कौनसा, कौन। उ०—ताहरां राजा कहै छोड़ा मांहे किसौ गुण छै।—चौवोली
कहा०—१ किसी चोटी काटी है ?—किसी के अधीन थोड़े ही हैं, कौनसे किसी के शिष्य हैं २ किसी थारी खीर खायी है—किसी का लिहाज तभी किया जा सकता है जब कालान्तर में उसने भी अपना उपकार किया हो. ३ किसी देवर माथै बेटौ जिणी है—दूसरे के भरोसे कोई काम नही उठाया या रक्खा जाता.
४ किसी सांभर सूनी हुवै है—कौनसी कमी हुई जाती है.
५ किसी सिंघूड़ी सूनी हुवै है—कौनसी कम हुई जाती है. ६ किसौ चोरी रौ माल है—कौनसा चोरी का माल है; किसी वस्तु या माल के जायज मालिक होते हुए भी डरते रहने पर. ७ किसौ तमासौ है—हँसी-मजाक को छोड़ कर कार्य की गम्भीरता पर ध्यान देना चाहिए. ८ किसौ नानेरौ है—कौनसा ननिहाल है। किसी कार्य के सहज में ही बन जाने की मिथ्या आशा पर व्यंग्य।
२ किसको।
सर्व०—कैसा।
सं०पु० [अ० किस्स] देखो 'किस्सौ' (रू.भे.)

किसो'क–वि०—कैसा। उ०—देख सखी म्हारौ पती, किसोक अजकौ (चंचल) छै।—वी.स. टी.

किस्किंध, किस्किधा–सं०स्त्री० [सं० किष्किंधा] १ मैसूर के आस-पास के देश का प्राचीन नाम.
सं०पु०—२ इस प्रदेश का पर्वत, किष्कंध. ३ रामायण का एक कांड।

किस्टांन, किस्टांण–सं०पु०—ईसाई मत का अनुयायी। उ०—वेटा भणग्या अंगरेजी र वण गया किस्टांण।—वरसगांठ

किस्त–सं०स्त्री० [अ०] १ पूरा ऋण एक साथ न देकर कुछ विभागों व खंडों में दिया जाने का एक ढंग. २ इस प्रकार चुकाया जाने का एक भाग. ३ ऋण के किसी भाग को चुकाने का निश्चित समय।
[फा० किश्त] १ पराजय, हार। उ०—इनकी फौज किस्त खा गई।—राठौड़ अमरसिंघ री वात २ शतरंज के खेल में वादशाह का किसी मोहरे के घात में पड़ना, शह।

किस्तवंदी–सं०स्त्री० [फा०] थोड़ा-थोड़ा करके रुपया देने का ढंग विशेष।

किस्तवार–सं०पु० [फा० किश्त+वार] पटवारियों का वह कागज जिसमें खेतों का नम्बर, रकवा आदि दर्ज रहता है।
क्रि०वि०—१ किस्त के ढंग से. २ हर किश्त पर, प्रत्येक किश्त पर।

किल्लौ—देखो 'किलौ' (रू.भे.) उ०—पाछौ आरि किल्ला की बुरज में कैद कीनां ।—शि.वं.

किव-क्रि०वि०—क्यों, किस कारण । उ०—आज उमाहउ मौ घणउ, ना जाणूं किव केण ।—ढो.मा.

सं०पु०—कवि, काव्यकार (डिं.को., रू.भे.)

किवळौ-अव्यय—केवल ।

सं०पु०—विना मात्रा का व्यंजन । उ०—किवळौ पिच्छू कहैं लहू लघु अंक लहावै, गिणै छंद वस गुरू कवी लघुचार कहावै ।—र.रू.

किवांण-सं०स्त्री० [सं० कृपाण] खड्ग, तलवार । उ०—अठी सूं लोहांन आजांनवाहु किवांण झाडि बीर प्रतिहार रा । मतंगज रौ मस्तक करण ताळ हूलावतौ तोड़ियौ ।—वं.भा.

किवाड़—देखो 'किवाड़' (रू.भे., डिं.को.)

किवाड़ी—देखो 'किमाडी' (रू.भे.)

उ०—अब हम रांम भजन सुख पाया, कांम किवाड़ी जड़ी जलन सूं मोह मता मुरझाया ।—ह.पु.वा.

किस-सर्व०—विभक्ति लगने के पूर्व 'कौन' और 'क्या' का रूप ।

किसइ-वि०—कौनसा ।

क्रि०वि०—किस प्रकार ।

उ०—कागळ नहीं क मसि नहीं, नहीं क लेखणहार । संदेसा ही नाविया, जीवुं किसइ आधार ।—ढो.मा.

किसउ-वि०—१ कौनसा । उ०—अंतरि आंमणदूमणा, किसउ ज द्रवडउ काज ।—ढो.मा.

२ कैसा । उ०—हूं चालवूं बुद्धि आंपणी, जाळोरउ गढ़ नाखूं खणी । सूर ऊगतई दीवड किसउ, सांम्हा गुरड़ भुयंगम किसउ ।
—कां.दे.प्र.

किसड़ी, किसड़ीक-वि०—कैसी । उ०—भूंडण सारा समाचार पूछिया—जे डाढ़ाळा सो जायगा किसड़ीक छै ।—डाढ़ाळा सूर री वात

किसड़ै-वि०—१ कौनसा । उ०—तनै किसड़े गढ़ रौ मारग वालौ लागै रे धन मोरिया ।—लो.गी.

वि०—२ कैसा ।

किसड़ौ-वि० (स्त्री० किसड़ी) १ कैसा । उ०—१ देखो आद अनाद सूं, राजी व्है स्रीरांम । संतां रा संसार में, किसड़ा सारै कांम ।
—भगतमाळ

उ०—२ राई विना ए किसड़ौ रायतौ ।—लो.गी.

सर्व०—२ कौनसा ।

किसणौ-सं०पु०—कृष्ण (रू.भे., अल्पा.) उ०—पण भुरघर माखण ना मिळै, किसणै ओढ़ची कांमळी । अरज गरज विलखा करै, जद मुजरौ विरखां सांभळौ ।—दसदेव

किसत-सं०स्त्री० [फा० किश्त] देखो 'किस्त' । उ०—च्यार किसत कीधी चलू, दिवसण हंदै राह ।—रा.रू.

किसतूरियौ म्रग—देखो 'कसतूरियौ म्रग' (रू.भे.)

किसतूरी, किसयूरी-सं०स्त्री० [सं० कस्तूरिका] एक सुगंधित द्रव्य जो एक प्रकार के मृग की नाभि से निकलता है, कस्तूरी ।

उ०—१ अंवजसुत नूं ओळभौ, दुखी हुए जग दीध । जांणी जिण री जीभ में, किसतूरी नंह कीध ।—वां.दा.

उ०—२ दळ चंपक जाय तुळछी दम्मा, कपूर किसयूरी कुमकुम्मा ।
—वारहठ ईसरदास

किसन-सं०पु० [सं० कृष्ण] १ श्रीकृष्ण (रू.भे.) उ०—विप्र सुदामा वार, कोड़ां धन लायौ किसन । वधण चीर विसतार, सरदा घटगी सांवरा ।—रांमनाथ कवियौ २ अर्जुन. ३ ईश्वर. ४ विष्णु (डिं.नां.मा.) ५ एक असुर जो इंद्र द्वारा मारा गया था. ६ कोयल. ७ कौआ ।

वि०—श्यामवर्ण, काला ।

किसनताळ, किसनताळू-सं०पु०—१ वह घोड़ा जिसका तालु काला हो (अशुभ) २ काले तालू वाला हाथी ।

किसन-वरण-सं०पु० [सं० कृष्ण वर्ण] श्याम, कृष्ण, काला (ह.नां.)

किसनहर-सं०पु०—वर्षा ऋतु में गाया जाने वाला एक लोक गीत ।

किसना-सं०स्त्री० [सं० कृष्णा] १ कृष्णा नदी (रू.भे.) २ द्रौपदी. ३ दुर्गा, देवी ।

वि०—काली, श्याम । उ०—नर तिसना किसना निसा, मिटै इते नह मीन ।—वां.दा.

किसनागर-सं०पु० [सं० कृष्णाकार] अफीम (डिं.को.)

किसना-मिख-सं०पु० [सं० कृष्ण-मुख] लोह (ह.नां.)

किसनावत-सं०पु०—१ भाटी राजपूत वंश की एक शाखा (द.दा.) २ इस शाखा का व्यक्ति ।

किसनियौ—देखो 'श्रीकृष्ण' (अल्पा०)

किसन्न-सं०पु० [सं० कृष्ण] श्रीकृष्ण । उ०—नव उच्छव नर नार, नवल स्रिंगार वसन्न । गीता में अग भास, कह्यौ मम रूप किसन्न ।
—रा.रू.

किसब-सं०पु० [अ० कस्ब] १ वेश्यावृत्ति, व्यभिचार. २ वह धन जो वेश्यावृत्ति या ऐसे ही अन्य कार्यों द्वारा प्राप्त किया जाय. ३ गुण प्रकट करने का भाव, व्यवसाय, धंधा ।

उ०—खिलवत हास खुसामदो, मुरका दुरकी संग । किसब लियां ए कुकवियां, माहव हूंता मांग ।—वां.दा.

किसबण, किसबन-सं०स्त्री०—१ कस्ब कमाने वाली, पतुरिया, वेश्या । उ०—बडा वडा किसमणियां रा तायफा लारै है. तिके राग रंग उचारै है ।—र. हमीर ३ व्यभिचारिणी स्त्री ।

किसमत—देखो 'किस्मत' । उ०—फोरी किसमत सूं पग पग फेरौ ।
—ऊ.का.

किसमिस-सं०स्त्री० [फा० किशमिश] सुखाया हुआ छोटा लंबा बेदाना अंगूर, दाख । उ०—आंब ईख किसमिस विदांम, थाहर रसना नेर ।
—ह.पु.वा.

कहा०—१ की जेठ सारू हीज बेटी जाई है—दूसरे के भरोसे कोई काम नहीं उठाया या रक्खा जाता. २ की डोकरियां कांम, राज कथा सूं राजिया—बुड्ढियों को राज्यकार्य से कौनसा मतलब, बिना मतलब किसी कार्य में हस्तक्षेप करने पर।

कीउं, कीऊं–क्रि०वि०—क्यों।

वि०—कुछ। उ०—नहचळ अत कठण रहण नारे ना, आदम काळ नदी आरे आ। खाट म दाट कीऊं खारे खा, गिर जळ म दिहाड़ा गारे गा।—ओपो आढ़ो।

कीऊंक, कीऊक–वि०—कुछ।

कीकट–सं०पु० [सं०] निर्धनता, कंगाली (डि.को.)

वि०—निर्धन, कंगाल।

कीकर–सं०पु० [सं० किंकिराट] बबूल का पेड़ (अल्पा. 'कीकरियौ')

क्रि०वि०—कैसे, किस प्रकार। उ०—बोळी वगनौ हुयग्यो कीकर, धरती हेलो पाड़ै।—रेवतदांन

कीकरियौ–सं०पु०—१ देखो 'कीकर' (अल्पा.) २ अंग्रेजी बबूल का वृक्ष. ३ देखो 'कांकरियौ' (रू.भे.)

कीकस–सं०पु० [सं०] १ अस्थि, हड्डी (डि.को.) उ०—जहां अंब फळ अच्छ तहां नींब फळ न पांमस, जहां चीणी पकवांन तहां कीकस रय मांनस।—करमसी खींवो आसियो २ क्षुद्र कीट (डि.को.)

कीकौ–सं०पु० (स्त्री० कीकी) पुत्र, लड़का, शिशु।

कहा०—किण रा कीका री कणदोरी ढीलो हुवै है—किसी कार्य-विशेष में किसको गरज पड़ी है। किसका स्वार्थ है जो कार्य हो। अधिक स्वार्थ (गरज) के स्थान पर प्रयोग में आने वाली कहावत।

कीड़–सं०स्त्री० [सं० क्रीड़ा] केलि, क्रीड़ा। उ०—दादो ज सारंग देवरो, पतखोर पंजर पीड़। मरजाद तज प्रथिराज मेहलां, करी जिण रित कीड़।—पा प्र.

कीड़ापरवत–सं०पु० [सं० कीट पर्वत] दीमक द्वारा बनाया मिट्टी का भीटा, बल्मीक (डि.को.)

कीड़ी–सं०स्त्री० [सं० कीटी] १ चिउंटी, चींटी, पीपिलिका।

उ०—जवन अतक तन क्रमण धन, अनकण कीड़ी आंण। धरती में ऊंडो धरे, जांण भली निज जांण।—बां.दा.

मुहा०—कीड़ियां लागणी—जी उकताना, शरारत करना, शरारत करने की इच्छा होना, त्वरा करना।

कहा०—१ कीड़ी कैवै क मां गुड़ री भेली ल्यावूं, मा कैवै क बेटी थारी कमर हीं कैवै है नी—अपनी शक्ति के बाहर कोई कार्य करने के प्रयत्न पर. २ कीड़ी नै कण, हाथी नै मण—ईश्वर सबको निर्वाह के योग्य भोजन देता है. ३ कीड़ी नै पंसेरी बावणी—देखो कहावत ४. ४ कीड़ी नै पंसेरी री मारणी—कमजोर पर अधिक बल प्रयोग अथवा व्यंग्य कसना अच्छा नहीं. ५ कीड़ी नै मूत रो रेलो ही भारी व्है है—कमजोर एवं सामर्थ्यहीन पुरुष को छोटा सा एवं साधारण संकट भी सहन करना कठिन होना है. ६ कीड़ी संचै तीतर खाय, पापी को धन परळै जाय—चींटियों का इकट्ठा किया हुआ तीतर खाते हैं और पापी का धन दूसरे ले जाते हैं; पाप का कमाया हुआ धन पापी के काम नहीं आता; पाप का धन बुरे कामों में नष्ट होता है. ७ हाथी वेग चढ़ै नै कीड़ी वेग ऊतरै—बुखार के लिए प्रयुक्त जो प्राय: तेजी से चढ़ता है किन्तु चींटी की चाल के समान धीरे-धीरे उतरता है।

२ ज्वार के पौधों में लगने वाला एक कीड़ा।

कीड़ीनगरौ–सं०पु० [सं० कीटी+नगरम्] १ भूमि में बना हुआ चींटियों के रहने का स्थान जिसे चींटियाँ स्वयं भूमि खोद कर एवं पोली करके बनाती हैं. २ चींटियों का झुंड. ३ अंगुलिपर्व या पैर की तली पर होने वाला एक प्रकार का शोथयुक्त दीर्घस्थायी रोग। इसकी सूजन में चिकनाहट एवं एक समानता होती है जो संपूर्ण हड्डी को प्रभावित करती है किन्तु पीव पड़ने के लक्षण नहीं दिखते। प्राय: उस स्थान में से काले-काले दाने निकलते हैं।

कीड़ी-री-खाल–सं०स्त्री०—१ कुलांचें खाकर खेला जाने वाला एक प्रकार का बच्चों का खेल विशेष. २ असंभव अथवा कठिन कार्य।

मुहा०—कीड़ी री खाल निकाळणी—कठिन कार्य करना।

कीड़ौ–सं०पु० [सं० कीट, प्रा० कीड] १ छोटा उड़ने या रेंगने वाला जंतु, कृमि।

मुहा०—१ किताब रौ कीड़ौ—हर घड़ी किताब लेकर पढ़ने वाला, केवल लिखी हुई बात जानने वाला. २ कीड़ा पड़णा—बुरा फल मिलना, सड़ जाना. ४ कीड़ौ काटणौ—जी उकताना, शरारत करना, शरारत करने की इच्छा होना।

कहा०—करम रा कीड़ा नै धरम रा घसीड़ा—जो केवल ऊपरी बनाव-ठनाव से साधु या सज्जन मालूम पड़े उसके लिए।

२ मकोड़ा. ३ गिरगिट. ४ सांप. ५ जूं. ६ खटमल

७ थोड़े दिन का बच्चा. ८ पशुओं का रक्त विकार का एक रोग जो पहले फुंसी के समान होकर धीरे-धीरे नासूर बन जाता है। दो तीन वर्ष बाद प्राय: वह मिट जाता है।

कीच–सं०पु० [सं०] १ पंक, कीचड़, दलदल। उ०—कीच निहारयां कनै, भैंस री चळणूं भारी। बैल बळद पग प्रगट, खिसै नह दीठां सारी।

—ऊ.का.

२ वह पानी जिसे मेथी को भिगो कर तैयार किया जाता है। इससे सोने के आभूषणों पर सोने के कण चिपकाए जाते हैं.

३ देखो 'कीचक'।

वि०—काला, श्याम* (डि.को.)

कीचक–सं०पु० [सं०] १ राजा विराट का साला और उसकी सेना का नायक जिसे भीम ने अज्ञातवास के समय मार डाला था.

२ कीचड़, पंक।

वि० [सं०] खोखला बांस। उ०—कीचक बांसां मांझ पवनिगौ मीठी जंपै, किन्नर भांमां कंठ जीत रा गीत पयंपै।—मेघ.

किस्ती–सं०स्त्री० [फा० किश्ती] नाव, नौका।
कहा०—कागद री किस्ती किता दिन चलै—कागद की नाव भला कितने दिन चल सकती है। झूठी एवं बिना आधार की बात का स्थायी असर नहीं होता।

किस्तीनुमा–वि०—नौका के आकार का।

किस्म–सं०स्त्री० [अ० किस्म] १ प्रकार, भेद. २ तरह, भांति. ३ ढंग, तर्ज, चाल।

किस्मत–सं०स्त्री० [अ०] प्रारब्ध, भाग्य, तकदीर।
मुहा०—१ किस्मत उलटणी—अभाग्य आना, कुअवसर आना, काम में सफलता न मिलना. २ किस्मत खुलणी, किस्मत चमकणी—नाम फैलना. ३ किस्मत जागणी, किस्मत दौडणी—सुअवसर आना, भाग्य खुलना. ४ किस्मत पलटणी—भाग्य फिरना, भाग्य का अच्छे से बुरा या बुरे से अच्छा होना. ५ किस्मत फिरणी—देखो 'किस्मत पलटणी'. ६—किस्मत फूटणी—बुरा समय आना, अभागा होना. ७ किस्मत बिगड़णी—देखो 'किस्मत उलटणी'. ८ किस्मत में लिखियोड़ी पूरी होणी—भाग्य का लिखा बुरा या अच्छा फल मिलना. ९ किस्मत में लिखियोड़ी होणी—होनहार का होना, जो लिखा है वही होगा।
कहा०—किस्मत रौ घाटौ—बुरे दिन आना काम में सफलता न मिलना।

किस्मतवर–वि० [फा०] भाग्यवान।

किस्मती–वि०—१ भाग्यवान. २ किस्मत का, किस्मत संबंधी।
सं०स्त्री० देखो 'किस्मत'।

किस्यउ, किस्या–वि० (प्रा०रू०) १ कैसा (रू.भे.) २ कौनसा।
क्रि०वि०—कैसे। उ०—सुखासण चाल्या, कंठालीया किस्या, भंडार भरीया।—कां.दे.प्र.

किस्याक, किस्यूं, किस्योक—देखो 'किस्या' (रू.भे.) उ०—तव प्रधान पूछयां चहूआंण, किस्यूं वचन कहा क्यूं सुरतांण।—कां.दे.प्र.

किस्सौ–सं०पु० [अ० किस्सः] १ कहानी, कथा, आख्यान. २ वृतांत, समाचार, हाल. ३ कांड, झगड़ा, तकरार।

किहड़ी–वि० (स्त्री० किहड़ी) कौनसा, कैसा। उ०—कुळवंति पतीवरता किहड़ी, उधरै पख च्यार जिसी इहड़ी।—वचनिका

किहां–क्रि०वि०—कहां, किधर। उ०—स्रांवण दूभर हे सखी, किहां मुझ प्रांण आधार।—ढो.मा.

किहांण–सर्व०—किस। उ०—ताहरां कह्यौ राजपांणी मांहि किहांण नूं आऊं।—सयणी री वात

किहांणनूं–क्रि०वि० (प्रा०रू०) किसलिए।

किहाड़ौ–सं०पु०—घोड़े की एक जाति विशेष (कां.दे.प्र.)
उ०—पांणीपंथा नइ खुरसांणी, एक तुरकी तुरंग। सूडापंखा नइ किहाड़ा, एक नीलड़ा सुरंग।—कां.दे.प्र.
क्रि०वि०—कैसा।

किहिक–सर्व०—कोई।
वि०—१ कुछ, जरा। उ०—राखौ रे किहिक रजपूती, मरद हिंदू की मुस्सलमांण।—बां.दा. २ किस। उ०—कहि सूवा किम आवियउ, किहिक कारण कथ्य।—ढो.मा.

किहि–सर्व०—१ किसी। उ०—१ किहि करगि कुमकुमौ कुंमकुम, किहि करि, किहि करि कुसुम कपूर करि।—वेलि. उ०—२ एकंत उचित क्रीड़ा चौ आरंभ दीठौ सुन किहि देव दूजी।—वेलि. २ कोई।

किहिकै—देखो 'किहिक' (रू.भे.)

किहीक—देखो 'किहिक' (रू.भे.)

कीं–वि०—किंचित्, जरा।
सर्व०—किस। उ०—तद असवार दोय हलकारा चढ़ सांम्हां आय बात कीवी, कीं रौ साथ छै हो ठाकुरां।—सूरे खीवे री वात
कहा०—कींकी रांड मरै अरै कीके सपनेउ आवै—किसकी स्त्री मरे और किसके स्वप्न में आवे। अनावश्यक कष्ट किसी को नहीं सहना चाहिए।

कींक–वि०—कुछ, जरा, किंचित।

कींकर–क्रि०वि०—कैसे, किस प्रकार। उ०—१ भीखम मात अभाव, मात गंग कींकर मनै। सो पखहीण सभाव, सेवट सिटग्या सांवरा।
—रांमनाथ कवियौ
उ०—२ जीण मेरी बाई ये! मुखड़ौ दिखाऊं (जद) कींकर जाय।
जामण की ये जायी! कांई बताऊं ये मायड़ बाप नै।
—लो.गी.

कींकू–सं०पु०—कुंमकुम।

कींकूपत्री–सं०स्त्री०यौ०—विवाह का निमंत्रण-पत्र, कुंमकुम-पत्रिका।

कींजरौ, कींझरौ–सं०पु०—१ कलंक, दोष. २ कुल-कलंक. ३ लांछन।

कींट–सं०पु०—१ बच्चा, शिशु. २ फल।

कींठे, कींठै, कींडै–क्रि०वि०—कहां से (क्षेत्रीय) उ०—कींठै आया छो जावो छो कींठै।—ऊ.का.

कींद्र, कींद्रड़ी—देखो 'किंद्र' (रू.भे.) (स्त्री०कींद्रड़ी)

कींहीं–वि०—कुछ। उ०—दिनां नूं जावतां बेळा कींहीं नहीं लागै—डाढ़ाळा सूर री वात

की–सं०पु०—१ घोड़ा. २ हाथी. ३ सर्प. ४ वृषभ. ५ गुलाबी रंग. ६ व्यभिचारी पुरुष. ७ पुरुष. ८ बांस. ९ कुल. १० क्रोध (एका०)
सं०स्त्री०—११ पृथ्वी १२ कमला. १३ चींटी. १४ जिह्वा. १५ कुबुद्धि (एका.) [अं०] १६ किसी ग्रंथ की कुंजी।
अव्यय—विभक्ति 'का' का स्त्री०।
क्रि०—'करणौ' क्रिया के भूतकालिक रूप 'कियौ' का स्त्री०।
अव्यय–-या, अथवा।
सर्व०—क्या। उ०—केहरि छोटौ बहुत गुण, मोटै गयंदां मांण। लोहड़ वडाई की करै, नरां नखत परमांण।—हा.झा.
वि०—कौनसा, कौनसी।

उ०—महादिय मांन करी गुह मीत, तारे सह कीर कुटुंब सहीत।
—ह र.

३ पालकी आदि उठाने वाले कहार (मा.म.) ४ बहेलिया. [सं०] ५ शुक, तोता। उ०—मोती ग्रहियां चांच मझ, जांणक कीर जरूर।—वां.दा.

कीरड़णौ, कीरड़बौ–क्रि०स०— देखो 'किरड़णौ' (रू.भे.) उ०—परचौ सावत पाय, काचौ हुड दांतां कीरड़। आयस बैठौ आय, पाछौ आसण पीपळी।—पा.प्र.

कीरड़ियोड़ौ–भू०का०कृ०—दाँतों से चबाया या काटा हुआ। (स्त्री० कीरड़ियोड़ी)

कीरणी–सं०स्त्री०—कीर, धीवर या भील जाति की स्त्री।
उ०—सिसिया तें गौतम वडौ तपोतम, व्यास कीरणी निपजाया।
—पा.प्र.

कीरणीयूं–सं०पु०—छाता।

कीरतंभ–सं०पु० [सं० कीर्ति+स्तम्भ] कीर्ति-स्तम्भ, स्मृति-स्तम्भ।

कीरत–सं०स्त्री० [सं० कीर्ति] १ कीर्ति, यश, बड़ाई (डि.को.)
पर्याय०—कीत, कीरती, पंगी, पांगळी, प्रभता, प्रभा, सतरंगी, सुजस, सुसबंद, सेतरंगी, सोभा।
कहा०—कीरत रा कोटड़ा पाड़्या नहीं पड़ंत—कीर्ति के किले गिराने से नहीं गिरते;-यश का कभी नाश नहीं होता।
२ सीता की एक सखी. ३ राधा की माता।
वि०—१ श्वेत, सफेद# (डि.को.) २ उज्ज्वल।

कीरतका–सं०स्त्री० [सं० कृत्तिका] देखो 'किरतियां'। उ०—सम्मत सतरौ अड़सटौ, महिसुध फागुण मास। कहिज नखत्र किरतका, तिथ सप्तमी प्रकास।—पा प्र.

कीरतथंभ–सं०पु०—वह स्तम्भ जो किसी की कीर्ति को स्मरण कराने के लिये बनाया जाय। कीर्ति-स्तम्भ, स्मृति-स्तम्भ।

कीरतन–सं०पु० [सं० कीर्त्तन] १ कथन, यश, वर्णन. २ भगवान संबंधी भजन और कथा आदि। उ०—कहण तणौ तिणि तणौ कीरतन, स्रम कीधां विणु केम सरै।—वेलि.

कीरतनियौ, कीरतन्यौ–सं०पु० [सं० कीर्त्तन] १ ईश्वर संबंधी भजन और कथन सुनाने वाला. २ कीर्तन करने वाला। उ०—कीरतन्या काचै मतै, जपै न केवळ रांम।—ह.पु.वा. ३ एक वैष्णव मतावलंबी जाति विशेष जिसके व्यक्ति कृष्ण या रामलीला करते हुए एक स्थान से दूसरे स्थान को घूमते हैं (मा.म.)

कीरतवर–सं०पु० [सं० कीर्ति+वर] १ कीर्ति पाने वाला व्यक्ति, दातार। उ०—कीरतवर 'जेहो' कुंवर, जाड़ेचां घर जोत।—वां.दा.
२ त्यागी।

कीरतराय, कीरतवंत, कीरतवर–वि०—कीर्ति पाने वाला, यशस्वी।
उ०—इस लेखे औरु अनेक हुआ कीरतवर का। जिसदी गल्लां जवरी सव आलंम सिरका।—दुरगादत्त वारहठ

कीरति–सं०स्त्री० [सं० कीर्ति] देखो 'कीरती'। उ०—जोधांण प्रतपै छात जोधां, 'अभौ' कीरति ऊजळी।—रा.रू.

कीरतिथंभ—देखो 'कीरतथंभ' (रू.भे.) उ०—छत्री गढ़ चीतौड़ रौ, बेड़ी छै बळवंत। आदर सूं रहसी इळा, कीरतिथंभ कहंत।
—उदयराज ऊजळ

कीरतिवांन–वि० [सं० कीर्त्तिवान] १ यशस्वी, नेकनाम. २ विख्यात।

कीरतिस्तंभ—देखो 'कीरतथंभ' (रू.भे.)

कीरती–सं०स्त्री० [सं० कीर्ति] १ देखो 'कीरत' (रू.भे.) २ गाहा छंद का भेद विशेष जिसके चारों चरणों में १४ गुरु और १६ लघु वर्ण सहित ५७ मात्रायें हों (ल.पिं.)

कीरत्ती–सं०स्त्री० [सं० कीर्ति] कीर्ति, यश (रू.भे.) उ०—वरण इंद सिव व्रह्मा धरम नारद धवपत्ती, 'अजन' विन्न उच्चारि करै इण पर कीरत्ती।—रा.रू.

कीरथंब, कीरथंभ—देखो 'कीरतथंभ'।
कहा०—सूनी नाडी री कीरथंब व्है ज्यूं—आसपास के समाज से अलग अकेले खड़े व्यक्ति के लिए जो अस्वाभाविक व भद्दा मालूम देता हो।

कीरसव्दा–सं०स्त्री० [सं० कीरशब्दा] चतुर्दश ताल का एक भेद (संगीत)

कीरीटी–सं०पु० [स० किरीटी] देखो 'करीटी' (रू.भे.)

कीरीत–सं०स्त्री० [सं० कीर्ति] कीर्ति, यश।

कील–सं०स्त्री०—१ जड़। उ०—ऊभी कील उखाड़ फेरणा जवर जुवाड़ा।—दसदेव २ आटा पीसने की चक्की की खूंटी जो दोनों पाटों के बीच उनको अलग रखने के लिए होती है.

कीलक–सं०पु० [सं] १ कील. २ लोहे या काठ की मेख.
२ खूंटी. ३ कांटा. ४ खूंटा. ५ तंत्र के अनुसार एक देवता.
६ अन्य मंत्र की शक्ति को नष्ट करने वाला मंत्र।

कीलणौ, कीलबौ–क्रि०स० [सं० कील=बंधने] १ मंत्रों द्वारा वश में करना. २ मजबूत करना, बंधन में दृढ़ करना। उ०—गरथ जमी विच गाडिया, केते कांम कीलै।—केसोदास गाडण
३ देखो 'खीलणौ'।
कीलणहार, हारौ (हारी), कीलणियौ—वि०।
कीलिओड़ौ, कीलियोड़ौ, कील्योड़ौ—भू०का०कृ०।

कीला–सं०स्त्री० [सं० क्रीड़ा] १ केलि, क्रीड़ा, खेल, कौतुक।
उ०—लिया सार सिगार गोचार लीला, करै आज री जम्मुना तट्ट कीला।—ना.द. २ निसांणी छंद का भेद विशेष जिसके प्रत्येक चरण में ग्यारह गुरु और एक लघु हो (पिं.प्र.) ३ अग्नि, आग, आंच (डि.को.)

कीलानंद–सं०पु०—प्रत्येक चरण में छः यगण का वर्णिक वृत्त विशेष (पिं.प्र.)

कीलापति–सं०पु० [सं०] सूर्य, भानु। उ०—प्रभणै किरण पेखि कीलापति, देखै मीढ़ण तणौ दुह दाव। नंद 'हमाऊ' रीस न नांमै, सीस न नांमै 'सिंघ' सुजाव।—महारांणा प्रताप री गीत

कीचक-मारण-सं०पु०—भीम (अ.मा., डिं.को.)

कीचकरी, कीचकार, कीचकारि-सं०पु० [सं० कीचक+अरि] कीचक को मारने वाले भीमसेन (ह.नां., अ.मा.)

कीचड़-सं०पु०—गीली मिट्टी, पंक, कीची, दल-दल (अल्पा. 'कीचड़ौ')
उ०—चांपज्यौ मती वांरा चरण, कांप-कांप रौ कीचड़ौ। फांफ री दे'र मुख फेरज्यौ, खांप खांप री खीचड़ौ।—ऊ.का.
पर्याय०—करदम, कादौ, गारौ, चीखलौ, चीखिल्लक, जंबाळ, पंक।
मुहा०—कीचड़ में पड़णौ, कीचड़ में फसणौ—दुःख में पड़ना, गंदे मनुष्यों के व्यवहार में फँसना।

कीचल—देखो 'कीचड़' (रू.भे.)

कीट-सं०पु० [सं०] १ रेंगने या उड़ने वाला छोटा जंतु।
उ०—मकोड़ी कीट पतंग मुणाळ, भिखंग तुंही ज तुंही ज भुग्राळ।—ह.र.
२ बच्चा. [सं० किट्ट] ३ लोह पर लगने वाला जंग (मि. 'काट') ४ तैल या घी के बर्तन के ऊपर या पेंदे में जमने वाला मैल, जमी हुई मैल।

कीटी-सं०स्त्री०—१ दूध के द्वारा बनाया जाने वाला खोवा।
उ०—भूरी कीटी रा ग्रासी भव भटका, गुडळी छाछां रा सपने में गुटका।—ऊ.का. २ कीट-क्रीड़ा। उ०—दीपक वरत करै सो दीवौ, सो वरखा घण भरै सर। कीटी भ्रंग करै सो मधुकर, वरपत सो दत दुरद वर।—अज्ञात

कीटौ—देखो 'कीट' (रू.भे.)
वि०—काला, श्याम।

कीठ-सं०पु०—१ लोहे का शिरस्त्राण. २ देखो 'कीटी' (रू. भे.)
वि०—अत्यन्त काला या श्याम।

कीठे, कीठै-क्रि०वि०—कहाँ।

कीणौ-सं०पु० [सं० क्रयण] प्रायः देहात में शाक तरकारी आदि खरीदने के बदले दिया जाने वाला थोड़ा सा अनाज।

कीत-सं०स्त्री० [सं० कीर्ति] कीर्ति, यश।

कीतवर, कीतव्वर-वि०—उदार, यशस्वी। उ०—वसू साधार भोख लागै कीतवर, अभंग पारथ अत इळा राजो 'अमर'।—विसनदास बारहठ

कीतावत-सं०पु०—गहलोत वंश की एक शाखा या इस शाखा का व्यक्ति (नैणसी)

कीती-सं०स्त्री० [सं० कीर्ति] कीर्ति, यश। उ०—पूरब पछिम उत्तर दखिण कीती रेणी खळभळे, अखैराज अरक ओहासियौ हुय नरंद हाळोहळे।—मालौ ग्रासियौ

कीधौ-क्रि०—'करणौ' क्रिया का भूतकालिक रूप विशेष, 'कियौ' का पु० रूप, (स्त्री० कीधी) उ०—कापड़ चोपड़ पांन रस, दे सह खांचै दांम। बकण मिय जद बांकला, कीधौ इण सूं कांम।—बां दा.

कीन-क्रि०—'करणौ' क्रिया का भूतकालिक रूप, किया।

कीनास-सं०पु० [सं० कीनाश] १ यम, यमराज (ह.नां., नां.मा.) २ एक प्रकार का बंदर।
वि०—गरीब, निर्धन। उ०—समण ग्रास कीनास सरोसौ, भारी राघव तणौ भरोसौ।—र.ज.प्र.

कीनीयांणी-सं०स्त्री०—श्री करणीदेवी का एक नाम।

कीनूं-क्रि०—'करणौ' क्रिया का भू० का० रूप, किया। उ०—तन मन धन सब अरपण कीनूं, छाडी छै कुळ की लाज।—मीरां

कीनै-सर्व०—किसको।

कीनौ—'करणौ' क्रिया का भू० का० रूप—'किया'। उ०—अहो कांई जांणै गुवाळियौ, वेदरदी पीड़ पराई। जनमत ही कुळ त्यागन कीनौ, बन बन धेनु चराई।—मीरां

कीप-सं०पु०—१ कीचड़, पंक. २ रस, आनंद। उ०—कजळी बन आघौ घणौ, अळगौ सिंघळ दीप। किम इण बनले केहरी, कूंभायळ री कीप।—बां दा.
वि०—काला। उ०—काळा जळ रा कीप, वाहण आंणै पारविण।—बां.दा.

कीपला-सं०स्त्री० [सं० करपीठ, प्रा० करपीड=कीपला] छोटा सिक्का विशेष। उ०—स्री जी ऊमेदसिंघजी देसूरी सैल करण पधारता जद भमरा वा कीपलां री कावड़ां जळैव वैति गांव रा डावड़ा मांगता ज्यांनै कीपलां भमरा दिरीजता।—बां.दा.ख्यात

कीमखाव-सं०पु०—एक प्रकार का चमकीला वस्त्र विशेष। इसमें धागों के साथ सोने-चाँदी के पतले तार भी डाले जाते हैं। उ०—लुटै मेछ के तोप तंबू कनातं, लटै अंबरं कीमखाव बनातं।—ला रा.

कीमत-सं०पु० [अ०] दाम, मूल्य।
क्रि०प्र०—करणी-देणी-मांगणी-लेणी-होणी।
मुहा०—कीमत ठैराणी—दाम ठीक करना।

कीमति, कीमती-वि० [अ० कीमती] १ अधिक दामों का, बहुमूल्य।
उ०—बेकीमती कीमति कहा, भज परपंच पत्र तजि दोय।—ह.पु.वा.
२ परीक्षक (ल.पिं.)

कीमियागर-वि० [अ०+फा०] रसायन बनाने वाला, रासायनिक परिवर्तन में प्रवीण।

कीमियागरी-सं०पु० [अ०+फा०] रसायन बनाने की विद्या।

कीमियौ-सं०पु० [अ०] १ रासायनिक क्रिया.
२ देखो 'किमियागर'।

कीमौ-सं०पु० [अ० कीमा] बहुत छोटे-छोटे टुकड़ों में कटा हुआ खाने के लिये हड्डीरहित गोश्त।

कीयौ-वि०—कौनसा।
मुहा०—१ कीया मुसलमांनां रा हिंदू कर देहौ—किसी कठिन कार्य करने वाले के प्रति. २ कीयौ दूबळौ घर ब्याव है—किसी समर्थ एवं धनवान व्यक्ति के किसी कार्य के प्रति।

कीर-सं०पु०—१ धीवर. २ केवट, मेवटिया, पार लगाने वाला।

कुंजगळी-सं०स्त्री०—बगीचों में लताओं से छाया हुआ पथ. २ पतली तंग गली।

कुंजड़ा-सं०स्त्री०—सब्जी बोने व बेचने वाली एक जाति विशेष।

कुंजड़ो-सं०पु०—'कुंजड़ा' जाति का व्यक्ति।

कुंजटियो-सं०पु०—घिसा हुआ तिनकों का छोटा झाड़ू।

कुंजविहारी-सं०पु०—१ कुंजों में विहार करने वाले श्रीकृष्ण (डि.को.) २ ईश्वर (नां.मा.)

कुंजमाळा-सं०स्त्री० यौ०—वन-फूलों की माला-उ०—हाथ में सोने री चिटियो बूजी रमण खेलण नें चाल्या, पांव पीजणियां गळै कुंजमाळा।—लो गी.

कुंजर-सं०पु० [सं०] १ हाथी (डि नां मा.) २ एक नाग का नाम. ३ बाल, केश. ४ एक पर्वत (राम-कथा) ५ छप्पय का इक्कीसवां भेद, जिसमें ५० गुरु, ५२ लघु से १०२ वर्ण या १५२ मात्रायें होती हैं।
वि०—श्रेष्ठ, उत्तम।

कुंजर-असण, कुंजर-असन, कुंजरचार-सं०पु०यौ०—पीपल का पेड़ (डि.को, अ.मा.)

कुंजरच्छाय-सं०स्त्री०यौ० [सं०] ज्योतिष के अनुसार एक योग।

कुंजराराति, कुंजरारि-सं०पु०यौ०—सिंह।

कुंजरारोह-सं०पु० [सं० कुंजर+आरोह] हाथीवान, महावत।

कुंजरासन-सं०पु०यौ० [सं० कुंजराशन] अश्वत्थ, पीपल (डि.को.)

कुंजळ-सं०पु० [सं० कुंजर] १ हाथी (रू.भे) २ छाछ, मठा (डि.को.)

कुंजविहारी-सं०पु०यौ० [सं०] देखो 'कुंजविहारी' (अ.मा.)

कुंजी-सं०स्त्री० [सं० कुंचिका] १ चाबी, ताली. २ वह पुस्तक जिससे किसी दूसरी पुस्तक का अर्थ खुले।

कुंजो-सं०पु० [अ० कूजा] १ पुरवा, चुक्कड़. २ सुराही।

कुंझ-सं०स्त्री०—क्रौंच पक्षी। देखो 'कुंज' (रू.भे)
(अल्पा० 'कूंझड़ी, कूंझड़ी) उ०—१ कुंझड़ियां कळिअळ कियउ, सुणिऊ पंखड़ बाइ। ज्यांकी जोड़ी वीछड़ी, त्यां निसि नींद न आइ।
—ढो.मा.
उ०—२ कुंझां द्यउ नइ पंखड़ी, थांकउ विनउ वहेसि। सायर लंघी प्री मिळउं, प्री मिळि पाछी देसि।—ढो.मा.

कुंट-सं०पु० [सं० कुट] वृक्ष (ह.नां.)

कुंटव—देखो 'कुटंब' (रू.भे.)

कुंठ-वि० [सं० कुंठत्व] १ जो चोखा व तीक्ष्ण न हो. २ मूर्ख, स्थूल बुद्धि का (अ.मा.) [सं० कुट] ३ वृक्ष (ह नां.)

कुंठित-वि० [सं०] १ जिसकी धार तीक्ष्ण न हो, कुंद. २ मंद, बेकाम, निकम्मा।

कुंड-सं०पु०—१ चौड़े मुंह का गहरा बर्तन. २ छोटा जलाशय, हौज। ३ अग्निहोत्र करने का एक गड्ढा या धातु का पात्र. ४ लोहे का टोप जो युद्ध के समय सिर पर धारण किया जाता था, कूंड, खोद. ५ शिव. ६ एक नाग. ७ ज्योतिष के अनुसार चंद्रमा के मंडल का एक भेद. ८ अग्नि, आग. ९ वह संतान जो पति की जीवितावस्था में ही पर-पुरुष के संसर्ग से उत्पन्न हुई हो।

कुंडकीट-सं०पु० [सं०] १ चार्वाक मत को मानने वाला. २ पतित ब्राह्मणी का पुत्र।

कुंडदामोदर-सं०पु०—द्वारका के पास का एक तीर्थ-स्थान।

कुंडळ-सं०पु० [सं०कुंडल] १ सोने या चाँदी का बना हुआ कान का एक मंडलाकार आभूषण (अ.मा) २ बाली, मुरकी (कान की), संन्यासियों के कान का भूषण. ३ कोल्हू के चारों ओर लगा हुआ गोलबंद. ४ वह मंडल जो कुहरे व बादली में चंद्रमा वा सूर्य के किनारे दिखाई पड़ता हो. उ०—सारी सृस्टी मे कुंडळ छळ करियो, भारी हा हा रव भूमंडळ भरियो।—ऊ.का. ५ वह कुंडलाकार गोल लकड़ी या लोहे का छड़ जो मोट के मुँह पर बंधी रहती है। गोंडरा. ६ शेषनाग (अ.मा.) ७ सर्प (ह.नां.) ८ नाभि. ९ छंद में वह मातृक गण जिसमें केवल दो मात्राएँ हों पर अक्षर एक ही हो. १० बाईस मात्राओं का एक छंद. ११ आँख का गड्ढा। उ०—अेको न लावै चाचरै केस, आंखां रा कूंडळा ऊंडा।—अज्ञात

कुंडळणी-सं०स्त्री० [सं० कुंडलिनी] १ तंत्र और उसके अनुयायी हठयोग के अनुसार एक कल्पित वस्तु जो मूलाधार में सुषुम्ना नाड़ी की जड़ के नीचे मानी गई है. २ हाथी की सूंड. ३ डिंगल का एक छंद विशेष। इसमें प्रथम आर्या छंद होता है, बाद के चार पद काव्य छंद के होते हैं। आर्या के चौथे पद का अंतिम शब्द काव्य छंद के प्रथम पद में आता है और आर्या छंद का प्रथम पद काव्य छंद के चौथे पद के अंत में उलट कर आता है; अर्थात् आर्या का प्रथम शब्द और काव्य का अंतिम शब्द एक ही होना चाहिये।
(रू.भे.—कुंडळनी, कुंडळिनी)

कुंडळपुर-सं०पु० [सं० कुण्डिनपुर] विदर्भ देश का एक प्राचीन नगर।

कुंडळभद्द, कुंडळमहभद्द-सं०पु० [सं० कुंडलभद्र, कुंडलमहाभद्र] कुंडलदीप का अधिपति देवता का नाम (जैन)

कुंडळाकार-वि० [सं० कुंडलाकार] १ गोल, मंडलाकार, वत्ताकार. २ कूंडल के आकार का, चंद्राकार।

कुंडळिका-सं०स्त्री०—डिंगल का एक छंद विशेष जिसमें प्रथम एक दोहा तथा बाद में रोला छंद होता है।

कुंडळिणी, कुंडळिनी—देखो 'कुंडळणी' (रू.भे.)

कुंडळियो-सं०पु० [सं० कुंडळिका] १ मंडलाकार रेखा, गोल घेरा. २ डिंगल का एक छंद विशेष। यह चार प्रकार का माना गया है। (१) झड़उलट—इसमें प्रथम दोहा, फिर बीस-बीस मात्रा के चार पद होते है। चौथे पद को पाँचवें में उलट दिया जाता है। (२) राजवट—इसमें प्रथम दोहा, फिर २४ मात्रा के छः पद होते हैं। प्रथम और अंतिम पद का चौथे और पाँचवें पद का सिंहावलोकन होता है। (३) शुद्ध कुंडळियो—इसमें प्रथम एक दोहा और फिर २४ मात्रा के चार पद होते है। चौथे और पाँचवें पद में सिंहावलोकन होता है

कीलाल–सं०पु० [सं०] १ पानी, जल, वारि।
[सं०] २ अमृत।
[सं०] ३ शहद (मि. 'कीलालप')
कीलालप–सं०पु०—भ्रमर (ह ना.)
कीलित–वि० [सं०] १ कील से जडा हुआ (डि.को.) २ मंत्र से स्तंभित या बँधा हुआ।
कीलियौ–सं०पु०—मोट के बैलो को हाँकने वाला या जोतने वाला।
वि०वि०—जोतते समय वह मोट की कीली जोडता है अतः उसे कीलियौ कहते है।
उ०—थे तौ वरण जाज्यौ कीलिया मारूजी, मैं पातळड़ी पिरिणयार।
—लो.गी.
कीली–सं०स्त्री०—चक्र के मध्य की कील जिस पर वह घूमता है।
कीलोड़ौ–सं०पु०—सुन्दर छोटा बैल।
कीलौ–स०पु०—बडी कील।
कीवी—'करणौ' क्रिया का स्त्री. लि. भूतकालिक प्रयोग।
कीस–सं०पु० [स० कीश] १ बंदर (अ.मा.) २ चिडिया. ३ गाय या भैंस का प्रथम बार दूहा गया दूध (अमरत) (मि. 'गूतौ')
क्रि०वि०—कैसे, किस प्रकार। उ०—सूझ अचभौ हे सखी, कंत वखाणू कीस। विण माथै दळ वाढियौ, आख हियै कै सीस।
—वी स.
कीसउ–वि०—कैसा। उ०—राज-कुळी महूरत कीसउ, म्हा तौ ओळग चालस्या आज।—वी दे.
कीसक–सं०पु० [स० कीकस] हड्डी, अस्थि (डि.को.)
कीसवर–सं०पु० [सं० कीसवर] हनुमान। उ०—वंदवीर वजरंग कीसवर मगळकारी, समर मात सरसती विमळ कविता विसतारी।
—र.रू.
कीसुं–सर्व०—कैसा, क्यो।
कीसौ–वि० (स्त्री० कीसी) १ कैसा २ कौनसा। उ०—निरगुणा थारो कीसौ हो वेसास।—मीरा
कीहां–क्रि०वि०—कहाँ।
कीहुंक–वि०—कुछ, थोडा, जरा, किंचित।
कुं–क्रि०वि०—क्यो। उ०—तरै राजा कह्यौ, इणरी खबर ल्यावौ, कु गावै छै नै कु रोवै छै।—जगदेव पँवार री वात
वि०—कुछ। उ०—थारी वैहन नूं तौ वचिया रा घोडा री पूंछ वंधाईस, तरै इणही कुं कह्यौ।—नैणसी
कुंअर–सं०पु०—कुमार। उ०—पच पुत्र ताइ छठी सुपुत्रौ, कुंअर रुकम कहि विमळ कथ।—वेलि.
सं०स्त्री०—कुमारी (रू.भे.) उ०—कुंअर उभै कुसधज री, नत्र धन भरथ समध।—रामरासौ
कुंअरी–सं०स्त्री०—कुमारी। उ०—राजति राज कुंअरि राय अंगण, उदीयण कीरज मंव हरि।—वेलि.

कुंअळ–सं०पु० [सं० कमल] कमल। उ०—जंघ सुपसळ करि कुंअळ, झीणी लंब-प्रलंब।—ढो.मा.
कुंआर–सं०पु०—कुमार। उ०—कीयौ इण परण जांनकी, कंत दसरथ कुंआर।—रामरासौ
कुंआरमग–सं०पु० [सं० कुमार+मार्ग] १ आकाश गंगा।
उ०—उतमंग किरि अंवर आधौ आधि, मांग समारि कुआर मग।
—वेलि.
वि०वि०—कुछ लोगो का विश्वास है कि इस मार्ग से अविवाहित व्यक्ति रात्रि को नमक ढोते हैं. २ शिशुमार चक्र।
कुंआरी–वि० स्त्री० [सं० कुमारी] कुमारी, अविवाहिता। उ०—रही कुंआरी राइ कुंअरी, सुर नर खवै प्रसिद्ध।—रामरासौ
स०स्त्री०—पिंगल प्रकाश के अनुसार निसाणी छंद का एक भेद विशेष जिसके प्रत्येक चरण मे ८ गुरु और ७ लघु वर्ण हो।
कुंआरौ–वि०पु० [स० कुमार] जिसका विवाह न हुआ हो, अविवाहित।
कुंई–कुंईक वि०—कुछ। उ०—तोनै कुंईक कहणौ छै सु कहीस।
—नैणसी
कुंऔ—देखो 'कूवौ' (रू.भे.)
कुंकण–स०पु०—एक प्राचीन देश विशेष का नाम। उ०—कुंकण नै केदार दीप सिंघल मालै री।—नैणसी
कुंकम–सं०पु०—१ हाथी (ना.डि.को.) २ कुकुम (रू.भे.)
[स० कुकुम] ३ केसर (ह ना.)
कुंकलाग–सं०पु०—एक प्रकार का घोडा (शा हो)
कुंकुम–स०पु०—१ केसर (डि.को.) २ लाल रंग की बुकनी, रोली।
कुंकुमी–वि०—कुंकुम के रग का, केसरिया रंग का। उ०—केता छादन कुंकुमी रणमोद रचाया।—वं.भा.
कुगळ–सं०पु०—कवच, जिरहवस्तर (डि. को.) (रू.भे. 'कग्गाळ')
कुचवउ—कचुकी, चोली, अगिया। उ०—आसालूंघ उतारियउ, धण कुचुवउ गळाह। घूमइ पडिया हंसडा, भूला मानसराह।—ढो.मा.
कुंचित–वि०—वक्र, टेढा (डि.को.)
कुंज–सं०पु० [सं०] १ वह स्थान जिसके चारो ओर घनी लताये छाई हो। वक्ष-वीथि।
पर्याय०—कुजभवन, तरकुज, लुकवेस, विजुळ विदुळरथी, विटपतटी।
[स०] २ हाथी का दाँत. ३ नौ ग्रहो मे से एक, मंगल (ना मा)
४ कमल (अ मा.) ५ क्रौंच पक्षी। उ०—कड़िगा सुवै पाणी मैं पैठा पगा रा नख झारै छै, दूध रै भोळावै विलाव वासीजै छै। ऊपर कुंजा सारसा गहकतै रही छै।—रा.मा.म.
लाल, रक्त वर्ण॰।
कुंजक–सं०पु० [सं० कंचुकी] अंत.पुर मे आने-जाने वाला डचोढी पर का चौकीदार या चोवदार (डि.को.)
कुंजकुटीर–सं०स्त्री० [स०] वह कुटिया जो चारो ओर से लताओ से छाई हुई हो।

४ श्वेत, सफेद॰ (डि.को.)
कुंदण—१ देखो 'कुंदन' (रू.भे.) २ कुंदन के समान रंग वाला घोड़ा (शा.हो.)
कुंदणपुर, कुंदणपुरी—देखो 'कुंडळपुर' (रू.भे.)
कुंदन-सं०पु० [सं० कुंदन] स्वच्छ स्वर्ण, बढ़िया सोना। उ०—कड़ि सोहै तरवार कटारी, झलकि रहे मणि कुंदन भारी।—रा.रू.
वि०—१ खालिस. २ स्वच्छ, बढ़िया. ३ स्वर्णिम, सोने का बना। उ०—कुंदन तन होमैं कुळवंती, कीधा चंदनांमा कुळवंती।
—वचनिका
कुंदनपुर—देखो 'कुंडळपुर'।
कुंदनसाज-सं०पु०—सोने के स्वच्छ पत्तर बनाने या जड़ने वाला।
कुंदम-सं०पु०—कुंद का पुष्प. देखो 'कुंद'। उ०—लीला पोयण पांण केसड़ां कुंदम राजै, लोघ रजा भल भांमणियां रै मुखड़ै साजै।
—मेघ.
कुंदलता-सं०स्त्री० [सं०] छब्बीस अक्षरों की एक वर्णवृत्ति जिसे सुख भी कहते हैं।
कुंदाळ-सं०पु०—एक प्रकार का शस्त्र विशेष। उ०—अंबुवाळ छोगाळ खेंगाळ अणी, करवाळ कुंदाळ घनंक तणी।—पा.प्र.
कुंदी-सं०स्त्री०—१ धुले हुए या रंगे हुए कपड़ों को तह करके उनकी सिकुड़न और रुखाई दूर करने तथा तह जमाने के लिये उसे लकड़ी से कूटने की क्रिया. २ ठोंक-पीट. ३ देखो 'कुंदौ' (रा.सा.सं.)
कुंदीगर-सं०पु०—कुंदी (देखो 'कुंदी' (१)) करने वाला।
कुंदेरणौ, कुंदेरबौ-क्रि०स०—१ छीलना. २ खरोंचना. ३ कुरेदना।
कुंदेरियोड़ौ-भू०का०कृ०—१ छीला हुआ. २ खरोंचा या कुरेदा हुआ। (स्त्री० कुंदेरियोड़ी)
कुंदौ-सं०पु०—१ बंदूक के पीछे का लकड़ी का चौड़ा भाग, कुंदा. २ आभूषणों में मोती आदि पिरोने के लिये लगाया हुआ गोल घेरा।
वि०—मजबूत।
कुंनण—देखो 'कुंदन' (रू.भे.)
कुंबंध-बंधु-सं०पु० [सं० कुमुद-बंधु] चंद्र, चंद्रमा (नां.मा.)
कुंब-सं०पु०—१ रावण का भाई, कुंभकरण (अल्पा.)
२ देखो 'कुंभ' (रू.भे.)
कुंबांण-सं०पु० [अ० कमान] १ धनुष, कमान।
सं०स्त्री०—२ कुटेव, बुरी आदत।
कुंबाथळ-सं०पु० [सं० कुंभस्थल] हाथी का गंडस्थल। उ०—मदां भूतां गजां हाथळां झाटकै कुंबाथळां मार्थ, काटकै सांमहा धूता अबाहां करूप।—अज्ञात
कुंबारियौ—देखो 'कुंभारियौ' (रू.भे.) उ०—कुंबारिया कुळी बारै ज्यांनै लाज कासूं। मूछाळा राज सा काळा मांनै गीत मंत्र।
—करणीदांन कवियौ
कुंबी-सं०स्त्री० [सं० कुंभी] १ कायफल. २ कुंभी, जलकुंभी. ३ कुंभ नामक वृक्ष (देखो 'कुंभ')।
कुंबौ—देखो 'कुंब' (रू.भे.)
कुंभ-सं०पु० [सं० क = (जल) का उम्भ = (भरण)] १ मिट्टी का घड़ा, कलश। उ०—रखेसरां जळ री कुंभ चौक मांहे मेल्यौ छै।
—रा.वं.वि.
२ हाथी के सिर के दोनों ओर उभरे हुए भाग। उ०—इभ कुंभ अंधारी, कुच सु कंचुकी, कवच संभु कांम क कळह।—वेलि.
३ एकादसवीं राशि जो बारह राशियों के अंतर्गत मानी जाती है। ४ प्राणायाम के तीन भागों में से एक. ५ हर बारहवें वर्ष पर पड़ने वाला एक मेला जो हरिद्वार, प्रयाग, उज्जैन और नासिक चार स्थानों पर प्रति तीसरे वर्ष क्रम-क्रम से प्रत्येक स्थान पर भरता है और इस प्रकार प्रत्येक स्थान पर वह बारहवें वर्ष होता है। इनमें प्रयाग का सर्वाधिक महत्व है. ६ गुग्गुल. ७ वर्तमान अवसर्पिणी के उन्नीसवें अर्हत (जैन) ८ संपूर्ण जाति का संध्या समय गाया जाने वाला एक राग (संगीत) ९ प्रह्लाद का पुत्र एक दानव. १० कुंभकरण (रांमकथा) उ०—कुंभ उठया रीस करि सीस गयण लगाया—केसोदास गाडण ११ कुंभकरण का पुत्र एक राक्षस. १२ एक वानर (रांमकथा)
[सं० कुंभज] १३ अगस्त्य ऋषि. १४ मोर, मयूर (अ.मा. ह.नां.) १५ हाथी. १६ हाथी का मस्तक। उ०—फबै सवा मण मुकत-फळ, मैंगळ कुंभ मझार। पिण हाथळ बळ सूं हुवौ, सीह वणै सरदार।—बां.दा. १७ घन (अ.मा., ह.नां.) १८ आर्या गीत या खंधाण (स्कंधक) का भेद विशेष (पिं.प्र.)
कुंभकंदन-सं०पु०—श्री रामचंद्र (नां.मा.)
कुंभक-सं०पु० [सं०] सांस लेकर वायु को शरीर के भीतर रोक रखने का प्राणायाम का एक भाग।
कुंभकरण-सं०पु०—रावण का भाई एक राक्षस (रांमकथा)
कुंभकदन-सं०पु०—१ ईश्वर (नां.मा.) २ कुंभकरण को मारने वाले, श्री रामचंद्र।
कुंभकरन्न- -देखो 'कुंभकरण' (रू.भे.) उ०—रुदां रिणि भूकि करंत रतन्न', कपीदळ जांणि कि कुंभकरन्न।—वचनिका
कुंभकळस-सं०पु०—१ एक प्रकार का घोड़ा (शुभ)—शा.हो.
२ देखो 'कूंभकळस'।
कुंभकार-सं०पु० [सं०] १ मिट्टी के पात्र बनाने वाला कुम्हार (डि.को.)
२ कुक्कुट. मुर्गा।
कुंभकारी-सं०स्त्री०—१ कुलथी, मैनसिल. २ कुम्हार की स्त्री।
कुंभक्रन, कुंभकन्न—देखो 'कुंभकरण' (रू.भे.)
कुंभगढ़-सं०पु०—मेवाड़ का कुंभलमेर नामक किला।
कुंभज-सं०पु० [सं०] १ घड़े से उत्पन्न मनुष्य यथा—अगस्त्य, वशिष्ठ और द्रोणाचार्य। उ०—कुंभज कह कहैं जी सियावर सुण सहे, बंदे पग वहे जी गैलौ वन गहे।—र.रू. २ रावण का भाई कुंभकरण। कुंभज सूता नींद भर, किण सकस जगाया। नासै मांह गमाय कर, एवड़ उछराया।—केसोदास गाडण

और प्रथम पद के आदि के शब्द तथा अंतिम पद के अंत के शब्द एक से होते हैं। (४) कुंडळियौ दोहाळ—इसमें प्रथम एक दोहा तथा बाद में चौवीस-चौवीस मात्राओं के छः पद होते हैं। दोहे के चौथे पद का पांचवें पद में सिंहावलोकन होता है। प्रथम पद और अंतिम पद एक ही होते हैं। रघुवरजसप्रकाश के अनुसार 'शुद्ध कुंडळियौ' के बाद ही एक दोहा रख दिया जाय। दोनों के लक्षण मिलते-जुलते हैं।

कुंडळियौ-दोहाळ—सं०पु०यौ०—'कुंडळियौ' छंद का एक भेद. देखो 'कुंडळियौ'।

कुंडळी—सं०स्त्री० [सं० कुंडली] १ जलेबी. २ कुंडलिनी. (देखो कुंडळणी') ३ कचनार. ४ जन्मकाल के ग्रहों की स्थिति बतलाने वाला एक चक्र जिसमें बारह घर होते हैं, जन्मपत्री।
उ०—क्रपण हुए मर कुंडळी संपत वांटै नांहि। कहियौ चोड़ै कुंडळी, मरतां भारथ मांहि।—बां.दा. ५ सांप के बैठने की मुद्रा विशेष। [सं० कुंडलिन्] ६ सर्प, (अ.मा., ह.नां.) उ०—क्रपण हुए मर कुंडळी, संपत वांटै नांहि। कहियौ चोड़ै कुंडळी, मरतां भारथ मांहि।
—बां.दा
७ भैंस के सींगों की कुंडलीकार बनावट अथवा ऐसे बनावट वाले सींगों वाली भैंस। मुर्रा भैंस. ८ विष्णु. ९ मोर. १० धनुष. उ०—कुंडळी अढारटंकी नाळियां धमक्कै कोम।—हुकमीचंद खिड़ियौ ११ एक प्रकार का वाद्य विशेष। उ०—सुघा कुंडळी खंजरी चंग सोहै, बजे चंग मिरदंग सोभा विमोहै।—रा.रू.
१२ लोहे में छेद करने का औजार. १३ अंगूठी के ऊपर लगाया जाने वाला वह चौकोर घेरा जिसमें चौकोर नगीना लगाया जाता है. १४ मवेशियों के लगाया जाने वाला वृत्ताकार दाग विशेष. १५ वृद्धावस्था के कारण आंखों की पुतलियों के चारों ओर एक प्रकार की सफेद धारी पड़ जाने का रोग विशेष.

कुंडळीक—सं०पु०—सुदर्शन चक्र (नां.मा., अ.मा)

कुंडसूरज—सं०पु०—सूर्य कुंड नामक द्वारिका के पास का एक तीर्थ-स्थान।

कुंडापंथ—सं०पु०—वाम मार्ग के अंतर्गत एक संप्रदाय विशेष।

कुंडापंथी—सं०पु०—'कुंडापंथ' नामक संप्रदाय का अनुयायी। देखो 'कुंडापंथ'।

कुंडारौ—सं०स्त्री०—चंद्रमा के चारों ओर कभी-कभी पाया जाने वाला वृत्त विशेष जो वर्षागम का सूचक माना जाता है।

कुंडाळ—सं०स्त्री०—१ वृत्ताकार चिन्ह. २ चंद्रमा या सूर्य के चारों ओर होने वाला गोल चक्र। उ०—चाहे चाल भालाळ विचोळ लियौ, किरणालर भाळ कुंडाळ कियौ।—पा.प्र. ३ चौड़े मुंह का बना मिट्टी का बर्तन विशेष।

कुंडाळियौ, कुंडाळौ—सं०पु० [सं० कुंड] १ गोल चक्र, गोल घेरा, वृत्त। उ०—लोभ रै कुंडाळै में आज, उडाई आभै तांई खेह।—सांझ
२ घोड़े को वृत्ताकार गोल दौड़ाने की क्रिया (मि० 'कावौ') उ०—तरै खुरी कराय कुंडाळै फेरनै सिराड़ो दिरायौ।
—कहवाट सरवहिया री वात
३ किसी वस्तु के चारों ओर केवल मात्र अपना अधिकार जताने के लिए खींचा गया वृत्त. ४ मिट्टी का या लोहे का बना-हुआ-चौड़े मुंह का एक गहरा पात्र जिसमें पानी, अनाज आदि रखा जाता है. ५ नगारा, नक्कारा।

कुंडिक—सं०पु० [सं०] धृतराष्ट्र के एक लड़के का नाम।

कुंडियौ—सं०पु० [सं० कुंड] देखो 'कूंडियौ' (रू.भे.)

कुंडी—सं०पु०—१ घोड़ा (डिं.को.) २ मच्छी पकड़ने का यंत्र (अ.मा.)

कुंडोदर—सं०पु० [सं०] महादेवजी का एक गण।

कुंडौ—देखो 'कूंडौ' (रू.भे.)

कुंण—सर्व०—कौन। उ०—कवण देस तइं आविया, किहां तुम्हारउ वास। कुण ढोलउ कुंण मारवी, राति मल्हाया जास।—ढो.मा.

कुंत—सं०पु० [सं०] भाला, बरछी। उ०—कळ कळिया कुंत किरण कळि ऊकळि, वरजित विसिख विवरजित वाउ।—वेलि.

कुंतग्ग—सं०पु० [सं० कुंताग्र] भाले की नोंक या अनी।

कुंताग्रह—सं०पु० [सं० कुंतग्रह] योद्धा, वीर।

कुंतळ—सं०पु० [सं० कुंतल] १ सिर के बाल, केश (अ.मा.) २ बरछी (डिं.नां.मा.) ३ संपूर्ण जाति का एक राग (संगीत) ४ वेश बदलने वाला, बहुरूपिया. ५ एक देश का नाम जो कोंकण और बरार के बीच में था।

कुंतळमुखी—सं०स्त्री०—कटार (डिं.नां.मा.)

कुंता—१ देखो 'कुंती' (रू.भे.) उ०—किता वेर पांडव ऊपर कीध, लाखा-ग्रह कुंता काढ़ लीध।—ह.र. २ पंवार वंश की एक शाखा (वं.भा.)

कुंतिभोज—सं०पु० [सं०] कुंती (पृथा) को गोद लेने वाला एक राजा।

कुंती—सं०स्त्री०—[सं०] पांडु की पत्नी जो युधिष्ठिर, भीम और अर्जुन की माता थी, पृथा [सं० कुंत] भाला, बरछी।

कुंत्तळ—सं०पु० [सं० कुंतळ] देखो 'कुंतळ' (रू.भे.) उ०—लंक लचकि कुच उचकि, नृत्य गति वक सरळ चलि। डुलि कुंडळ चख चलित उरझि कुंत्तळ हारावळि।—ला.रा.

कुंथु—सं०पु० [सं०] वर्तमान अवसर्पिणी (काल) का सत्रहवां अर्हत् (जैन)

कुंद—सं०स्त्री० [सं०] १ कुबेर की नौ निधियों में से एक निधि
(डिं.को., ह.नां.)
२ जूही की तरह सफेद फूलों का एक पौधा। उ०—१ लसै अंद सानंद कुंद गुलाब, निरक्खे हुवै इंद्रवाड़ी निराब।—रा.रू.
उ०—२ केवड़ा कुसुम कुंद तणा केतकी, स्रम सीकर निरझर स्रवति।—वेलि. ३ एक पर्वत का नाम. ४ नौ की संख्या. ५ विष्णु।
वि०—[फा०] १ कुंठित, गुठला. २ स्तब्ध. ३ उदास, खिन्न।

कुंमळाणहार, हारौ (हारी), कुंमळाणियौ—वि० ।
कुंमळायोड़ौ–भू०का०कृ० ।
कुंमळायोड़ौ–भू०का०कृ०—कुम्हलाया हुआ (स्त्री० कुंमळायोड़ी)
कुंमुंद–सं०स्त्री० [सं० कुमुदिनी] कुमुदिनी। उ०—कंज कल्यांणी विकसण लागी, भंवराळी विकसण लागी। ओसकण वरसण लागा, कुंमुंद मंद दरसण लागा।—र. हमीर
कुंयरी–सं०स्त्री०—कुमारी। उ०—कुंयरी कोडाळी वेटड़ी, वळी मेळावउ कवण वळांमणि।—कां.दे.प्र.
कुंयुई–क्रि०वि०—क्यों।
कुंरव—देखो 'कुरव' (रू.भे.)
कुंवर–सं०पु०—१ राजकुमार. २ पुत्र, लड़का. ३ वह बालक जिसका पिता जीवित हो।
कुंवरकलेवौ—१ देखो 'कंवरकलेवौ' (रू.भे.)
२ इस अवसर पर गाया जाने वाला लोक-गीत ।
कुंवरपद, कुंवरपदौ–सं०पु०—कुमारावस्था (जबकि पिता जीवित हो)
कुंवरी–सं०स्त्री०—कुमारी (पु० कुंवर)
कुंवरेस–सं०पु० [सं० कुमार+ईश] ज्येष्ठ पुत्र। उ०—सूरां आगळ सांमरै भ्रूंझार हुवाई, नंद गुमांन 'विजैस'कै कुंवरेस कहाई।
—मोडजी आसियौ
कुंवळ–सं०पु०—१ कमल। उ०—तळाव रै छेवड़ां कुंवळ फूलनै रह्या छै।—रा.सा.सं. २ देखो 'कंवळौ' (रू.भे.) उ०—सपना में औ मारूजी दीपक जौ देख्यौ, कुंवळां री केळ रळावणी जी।
—लो.गी.
कुंवाड़–सं०पु०—कपाट, किवाड़ (डि.को.)
कुंवार–सं०पु०—१ एक ग्रह विशेष जिसका प्रभाव बालकों पर पड़ा करता है (अमरत)। २ अग्नि।
[सं० कुमार] ३ आश्विन मास। उ०—सुख लेतां मुरधर सुपह, वीतौ मास कुंवार।—रा.रू.
[सं० कुमार] ४ वह बालक जिसका पिता जीवित हो (डि.को.)
५ पाँच वर्ष का बालक. ६ पुत्र. ७ युवराज. ८ स्वामी कार्तिकेय. ९ तोता. १० सनत्कुमार. ११ क्वारपन, क्वारापन।
कुंवारी–सं०स्त्री० [सं० कुमारी] कुमारी, कन्या।
वि०—अविवाहिता। उ०—तद फूलमती कही, हूं कुंवारी छूं।
—चौबोली
कुंवारीघड़ा—देखो 'कंवारीघड़ा' (रू.भे.) उ०—सती रा नाळेर तोरण रा आखा कुंवारीघड़ा रा बींद गाहड़ रा गाडा।—रा.सा.सं.
कु–सं०स्त्री० [सं०कुः] १ पृथ्वी (डि.नां.मा.) उ०—कु अत्य भ्रमावत हत्य क्रपांन, दिखावत संकर कौ अति दांन।—वं.भा. २ तट।
सं०पु०—३ पोखर, ताल. ४ हृदय. ५ सरस शब्द (एका.)।
वि०—तनिक (एका.)।
उप० [सं०] एक उपसर्ग जो संज्ञा के पहले लग कर विशेषण का काम देता है, जिससे उसमें नीच, कुत्सित आदि का भाव आ जाता है।
कुअर–सं०पु० [सं० कु+अरि] १ वैरी, शत्रु. [सं० कुमार] २ राजकुमार. ३ देखो 'कुमार'।
कुअरि–सं०स्त्री० [सं० कुमारी] १ कुमारी, लड़की. २ कन्या, पुत्री. राजकन्या।
कुअवर–सं०पु० [सं० कुमार] कुमार।
कुआड़ियौ—देखो 'कवाड़ियौ'।
कुआड़ौ–सं०पु० (स्त्री० कुआड़ी) कुठार, कुल्हाड़ा।
कुआर–सं०पु० [सं० कुमार, प्रा० कुवार] १ देखो 'कुंवर (रू.भे.)
२ आश्विन मास।
कुआरउ–वि०—अविवाहित, कुमार। उ०—अजइ कुआरउ वप्पड़ा, नहीं ज कांमिण मोह।—ढो.मा.
कुआरौ–वि०—१ आश्विन मास का, आश्विन संबंधी.
(स्त्री० कुआरी) २ अविवाहित।
कुआळौ–वि०—कुये पर कार्य करने वाला।
कुइलौ–सं०पु०—कोयला (रू.भे.) उ०—ढाढ़ी एक संदेसड़उ, प्रीतम कहिया जाइ। सा धण वळि कुइला भई, भसम ढंढोळिसि आइ।
—ढो.मा.
कुईजवौ, कुईजवौ—देखो 'कुयीजणौ' (रू.भे.)
कुऔ—देखो 'कूवौ' (रू.भे)
कुकड़लौ–सं०पु०—१ दामाद को संबोधित कर गाया जाने वाला एक लोक गीत. २ देखो 'कूकड़ौ' (रू.भे.)
कुकड़ी–सं०स्त्री०—१ सूत की लच्छी. २ काले कानों वाली भेड़। ३ मुर्गी।
कुकड़ौ–सं०पु० [सं० कुक्कुट] १ मुर्गा। उ०—कुकड़ा रौ गुण कांम, काक गुण भक्षण कीनौ।—ऊ.का. २ एक राजस्थानी लोक गीत।
कुकर–सं०पु० [सं० कुक्कर] कुत्ता, श्वान (ह.नां.)
(अल्पा.–कुकरड़ौ, कुकरियौ)
कुकरड़ी–सं०स्त्री०—१ एक प्रकार का पौधा जिसका भुट्टा ऊपर से लाल और नीचे से सफेद होता है। इसके बीज श्याम रंग के अत्यंत महीन दानों के समान होते हैं (अमरत) २ कुतिया (अल्पा.)
कुकरम–सं०पु० [सं० कुकर्म] बुरा कार्य, खोटा काम, पाप, कुकृत्य।
कुकरमी–सं०पु० [सं० कुकर्मिन्] १ बुरे कार्य करने वाला, पापी, आचरणहीन. २ व्यभिचारी।
कुकरियौ–सं०पु०—कुत्ते का पिल्ला।
कुकरी-नेपाळी–सं०स्त्री०—एक प्रकार का शस्त्र विशेष।
कुकव, कुकवि, कुकवी–सं०पु० [सं० कु+कवि] १ बुरा कवि।
उ०—किल सोभरण मुख मूझ वयण केण, सुकवि कुकवि चालणी न सूप।—वेलि.
कुकस–सं०पु०—अभक्ष्य पदार्थ, निकृष्ट पदार्थ। उ०—कण संचइ कुकस भखइ, अति चतुराई राजा गढ़ ग्वाळेर।—वी.दे.

कुंभजात—देखो 'कुंभज'।

कुंभथळ-सं०पु०—कुंभस्थल, हाथी का गंडस्थल। उ०—उचजी कुंभथळ थाप जड़की उरड, तुरत कर एक सूं वजी ताळी।—वां.दा.

कुंभदासी-सं०स्त्री० [सं०] कुटनी, दूती, कुंभिका।

कुंभनरक—देखो 'कुंभीपाक' (पौराणिक)

कुंभनी-सं०स्त्री० [सं० कुम्भिनी] १ धरती, पृथ्वी (ह.नां., नां.मा.) २ मच्छी फसाने का यंत्र (अ.मा.)

कुंभला-सं०स्त्री० [सं०] गोरखमुंडी।

कुंभसंधि-सं पु० [सं०] हाथी के सिर के दोनों कुंभों के बीच में होने वाला गड्ढा।

कुंभसंभव-सं०पु० [सं०] अगस्त्य मुनि का एक नाम।

कुंभस्थळ कुंभस्थळि-सं०पु०—हाथी का गंडस्थल। उ०—यहां घणौ फरख पडयौ छै हस्ती कै कुंभस्थळि अर रुखमणीजी कै उरुस्थळि। —वेलि.

कुंभहनु-सं०पु० [सं०] रावण के दल के एक राक्षस का नाम।

कुंभांणी-सं०स्त्री०—कछवाहा वंश की एक शाखा (वां.दा. ख्यात)

कुंभायळ-सं०पु०—हाथी का गंडस्थल। उ०—कुंजर पाय बांधिया केवी, कुंभायळ चाढ़िया कवी।—अज्ञात

कुंभार-सं०पु० [सं० कुंभकार] १ एक जाति विशेष जिसके व्यक्ति प्राय: मिट्टी के वर्तन आदि वनाते हैं। (स्त्री० कूभारण कुंभारी) २ इस जाति का व्यक्ति, कुम्हार। उ०—खर पर लदै कुंभार, ऊंट भर भाड़े लावै।—दसदेव

पर्याय०—कुंभकार, कुलाळ, कूंभार, कोलाळी, घटकार, चक्कर-जीवत, परजापत।

कहा०—१ कुंभार कुंभारी सूं को नावड़ै (पड़पै) नी जरै गधेडा रा कांन मरोड़ै—वलवान से वश न चले तव निर्वल पर गुस्सा उतारने पर. २ कुंभार फूटा हांडां में हीज खावै है—वनाने वाला अपनी वस्तुओं का अधिक उपयोग नहीं करता। देखो कुभार फूटी में रांधै' ३ कुभार फूटी में रांधै—संपन्न व्यक्ति के घर में भी वेपर-वाही अथवा अविचार से अशोभनीय कार्य हो जाते हैं. कुंभार रै घरे फूटी हांडी—देखो कहावत २ और ३. ५ निकमो कुंभार घड़ै नै भांगै—निकम्मा आदमी वेकार के कार्य किया करता है; शून्य मस्तिष्क शैतान की उपज है।

कुंभारियौ-सं०पु०—१ सिंदूरी रंग का एक विषैला सर्प। २ देखो 'कुंभार' (अल्पा०)

कुंभि-सं०पु० [सं० कुंभी] १ हाथी (डिं.को.) २ मगर. ३ एक विषैला कीडा. कुंभ संक्रांति। उ०—सूरज वळसि वैठौ सु कुंभि आयौ।—वेलि. टी.

कुंभिक-सं०पु० [सं०] एक प्रकार का नपुंसक (अमरत)

कुंभिका-सं०स्त्री० [सं०] १ कुंभी. २ वेश्या. ३ कायफल. ४ आंख का एक रोग. ५ एक रोग जिसमें लिंग पर जामुन के वीज की तरह फुन्सियां होती हैं, मूक रोग।

कुंभिनी-सं०स्त्री० [सं०] भूमि, पृथ्वी (अ.मा.)

कुंभिला-सं०स्त्री०—राक्षसों की एक देवी।

कुंभी-सं०पु०—[सं०] १ हाथी (वं.भा., अ.मा.) उ०—सिंह रौ वार होतां ही इण रा कुंभी रै कळावै चांमुंडराज री चंद्रहास झड़ियौ।—वं.भा. २ मगर। उ०—नित गुघळावण नीर, कुंभी सम अकवर क्रमै। गोहिल राण गभीर, पण गुघळै न प्रतापसी।—दुरसौ आढ़ौ ३ एक विषैला कीड़ा. ४ वच्चों को क्लेश देने वाला एक राक्षस (रोग विशेष) ५ सर्प (अ.मा.) ६ कुंभीपाक, नरक. ७ कायफल का पेड. ८ छोटा घड़ा (ह.नां.) ९ हंडिया (डिं.को.)

कुंभीक-सं.पु० [सं०] १ एक प्रकार का नपुंसक. २ जलकुंभी. ३ पुन्नाग वृक्ष।

कुंभीधान्य-सं०पु० [सं०] घडा व मटका भर अन्न जिसे कोई गृहस्थ या परिवार ६ दिन (किसी के मत से साल भर) खा सके।

कुंभीधान्यक-सं०पु० [सं०] 'कुंभीधान्य' रखने वाला। देखो 'कुंभीधान्य'।

कुंभीनस-सं०पु० [सं०] १ क्रूर सांप (ह.नां.) २ एक प्रकार का विषैला कीडा. ३ रावण।

कुंभीपाक-सं०पु० [सं०] १ एक प्रकार का नरक जिसमें मांस भक्षण के लिये पशु-पक्षी मारने वाले लोग खौलते हुए तेल में डाले जाते हैं (ह.ना.) उ०—जिणरी संगति रै प्रभाव सूं स्वरग लोक रौ मारग मुद्रित कराय कुंभीपाक रौ निवास भाळियौ—वं.भा. २ एक प्रकार का सन्निपात।

कुंभीपाळक-सं०पु०—हाथीवान, फीलवान, महावत (डिं.को.)

कुंभीपुर-सं०पु० [सं०] हस्तिनापुर का एक प्राचीन नाम (ह.नां.)

कुंभीमुख-सं०पु० [सं०] चरक के अनुसार एक प्रकार का फोड़ा।

कुंभीर-सं०पु० [सं०] १ नक्र या नाक नामक जल जंतु, मगर. २ एक प्रकार का कीड़ा।

कुंभीरासण, कुंभीरासन-सं०पु० [सं० कुंभीरासन] योग में एक प्रकार का आसन जिसमे भूमि पर चित लेट कर एक पैर को दूसरे पैर पर और दोनो हाथों को माथे पर रख लेते हैं।

कुंभेण—देखो कुंभकरण'। उ०—हणे कुंभेणसा जोधपुर तौ हया, करै कुंण तेण परमांण काया।—र.रू.

कुंभेर-सं०स्त्री० [सं०] एक प्रकार का वड़ा वृक्ष जिसके पत्ते पीपल के पत्तों से मिलते-जुलते होते हैं। खंभारी, गंभारि (अमरत)

कुंभैण—देखो 'कुंभकरण' (रू.भे.) उ०—तव अहंकारी कोपियौ, कुंभैण जगाया।—केसोदास गाडण

कुंभोदर-सं०पु० [सं०] महादेव के एक गण का नाम।

कुंभोलूक-सं०पु० [सं०] एक प्रकार का उल्लू जो वहुत वडा होता है।

कुंभौ-सं०पु०—१ मिट्टी का वरतन. २ कुंभकर्ण. ३ अगस्त्य मुनि।

कुंमळाणौ, कुंमळावौ-क्रि०स०—१ कुम्हलाना, मुरझाना। उ०—सखियां रांमी सूं कहइ, मारू-मन-भांणी। मान्हकुंमर पाखइ विना, पदमिणि कुंमळांणी।—ढो.मा. २ सुस्त होना।

कुड़णौ, कुड़बौ–क्रि०अ०—१ झुकना (वृद्धावस्था से) उ०—मड़ियौ कुड़ियौ मेर संग सड़ियौ न सुहावै, पड़ियौ रहे परेत दैत ज्यूं दांत दिखावै।—ऊ.का.

२ अनाज के डंठलों का पक कर मुड़ जाना या झुक जाना।

कुड़ती–सं०स्त्री०—चोली के ऊपर कुर्ते की आकृति से कुछ मिलता-जुलता स्त्रियों का एक वस्त्र। उ०—अंगिया लेलो ब्वजा लेलो कुड़ती ले घर जावौ।—लो.गी

कुड़तौ–सं०पु०—कुर्ता, कमीज। उ०—मुलायद्यूं गी रेजी को सीद्यूं कुड़तो सटको लगाय द्यूं गी।—लो.गी.

कुड़वड़ौ–सं०पु०—चरस के बीच में लगाई जाने वाली लकड़ी।

कुड़मल–सं०पु०—१ कली, मुकुल. २ एक नरक।

कुड़ळपति–सं०पु० —कुंडिनपुर का राजा, शिशुपाल।

कुड़ियोड़ौ, कुड़ियौ–भू०का०कृ०—झुका हुआ (वृद्धावस्था या पकने से) (स्त्री० कुड़ियोड़ी)

कुड़ौ–वि०—झूठा, असत्यवादी, झूठा, मिथ्या।

कुचंदन–सं०पु० [सं०] १ रक्तचंदन. २ बक्कम, कुंकुम)

कुच–सं०पु० [सं०] स्तन, छाती उरोज।

वि०—१ संकुचित. २ अति तीक्ष्ण* (डि.को.) ३ कठोर ४ कृपण, कंजूस।

कुचक्र–सं०पु० [सं०] षड़यंत्र।

कुचक्री–सं०पु० [सं० कुचक्रिन्] षड़यंत्रकारी।

कुचमाद–सं०स्त्री०—१ चालाकी, धूर्तता. २ बदमाशी।

कुचमादी–वि०—१ चालाक, धूर्त. २ बदमाश।

मुहा०—कुचमादियां री कोथळी—बहुत धूर्त एवं बदमाश व्यक्ति के लिये।

कुचरकी, कुचरड़ी–सं०स्त्री०—छोटा या पतला ईंधन (अल्पा.)

कुचरड़ौ–सं०पु०—निंदा, अपयश, अपकीर्ति। उ०— इब हीं जे वहीर होग्रस्यां तौ सै लोक कुचरड़ो करस्यै जे रिजाळी थी सी किंही रै साथै परी गई।—कुंवरसी सांखला री वारता।

कुचरणौ, कुचरबौ–क्रि०स० खुरचना, करोंचना, करोना।

कुचरणहार, हारौ (हारी), कुचरणियौ—वि०।

कुचराणौ, कुचरावौ, कुचरावणौ, कुचरावबौ–क्रि०स०—प्रे०रू०।

कुचरायोड़ौ—भू०का०कृ०।

कुचरिग्रोड़ौ, कुचरियोड़ौ, कुचरयोड़ौ–भू०का०कृ०।

कुचरीजणौ, कुचरीजबौ—क्रि० कर्म वा०।

कुचरीजिग्रोड़ौ, कुचरीजियोड़ौ, कुचरीज्योड़ौ—भू०का०कृ०।

कुचराणौ, कुचरावौ–क्रि०स०—'कुचरणौ' का प्रेरणार्थक रूप। देखो 'कुचरणौ'।

कुचरियोड़ौ–भू०का०कृ०—खरोंचा हुआ, कुरेदा हुआ। (स्त्री० कुचरियोड़ी)

कुचरी–सं०स्त्री०—छोटा व पतला ईंधन।

मुहा०—कुचरी करणी, तंग करना।

कुचरीजणौ, कुचरीजबौ–क्रि० कर्म वा०—खरोंचा जाना, कुरेदा जाना. देखो 'कुचरणौ'।

कुचळणौ, कुचळबौ–क्रि०स०—किसी चीज पर सहसा ऐसी दाब पहुँचाना जिससे वह बहुत दब कर विकृत हो जाय, मसलना. २ पैरों से रोंदना।

कुचळणहार, हारौ (हारी), कुचळणियौ—वि०।

कुचळाणौ, कुचळावौ, कुचळावणौ, कुचळावबौ—क्रि०प्रे०रू०।

कुचळायोड़ौ—भू०का०कृ०।

कुचळिग्रोड़ौ, कुचळियोड़ौ, कुचळयोड़ौ—भू०का०कृ०।

कुचळीजणौ, कुचळीजबौ—क्रि० कर्म वा०।

कुचळीजिग्रोड़ौ, कुचळीजियोड़ौ, कुचळीज्योड़ौ–भू०का०कृ०।

कुचळियोड़ौ–भू०का०कृ०—कुचला हुआ। (स्त्री० कुचळियोड़ी)

कुचांमणी–सं०पु०—कुचामन का एक प्राचीन सिक्का विशेष।

कुचार–वि०—१ दुष्ट, नीच, उद्दंड. उ०—विष सुणत कोयणा चख विकार, चारणां सीस विकियौ कुचार।—रांमदांन लाळस

२ कुमार्गी। उ०—चले कुचार वार कौ सुचार मैं चलावनी।

—ऊ.का.

सं०स्त्री०—१ बदमाशी, शैतानी. २ कुचाल. ३ बुरा आचरण, दुष्टता।

कुचाल—देखो 'कुचार'। उ०—१ सालै निस दिन समझणो, चालै चाल कुचाल।—ऊ.का. २ उ०—दे घरणी दातार सूं, मांगै हठ कर माल। कूड़ा बोलै कृतघणी, कुकवि अनंत कुचाल।

—बां.दा.

कुचाली–वि०—१ कुमार्गी, बुरे आचरण वाला. २ दुष्ट, पाजी. बदमाश।

कुचाव–सं०पु०—बुरी उमंग, बुरी चाह। उ०—चित में दुस्ट कुचाव, ग्रौ निलज लायौ अठै। अब गिरवर झट आव, सोय करण नै सांवरा।—रांमनाथ कवियौ।

कुचित–वि०—१ वक्र, बाँका, टेढ़ा, तिरछा. २ कुटिल, छली।

कुचिल–वि०—कुचाल चलने वाला, कुमार्गी। उ०—हूं ब्रह्म कुचिल कुदरसनि, सकति सुहागन होय (ह.पु.वा.)

कुचील–वि० [सं० कुचेल] १ मैले वस्त्र वाला, मलिन. २ दुष्ट. ३ गंदा, मैला। उ०—सिवरी कुल भील कुचील सरीरी, चाग्वत बोर रसील संचे। गहावत ढील करी नह गोविंद, बीच अंगीर मंजार बंचे।—भगतमाळ ४ नीच, पतित। उ०—धूत बजारी घरम री, हिय न मांनै हील। मन चलाय खांपण मही, काढ़ै नफौ कुचील।

—बां.दा.

कुचीलणी–वि०स्त्री०—मैली-कुचैली, गंदी, मलिन। उ०—नीच कुल ग्रोछी जात, अति ही कुचीलणी।—मीरां

कुचीलौ–सं०पु०—एक प्रकार का मध्यम आकार का वृक्ष। इसका फल

कुकसाई-वि०—१ नीच. २ निर्दयी, निठुर. ३ वधिक, हत्यारा।
कुकांम-सं०पु० [सं० कु+कार्य] देखो 'कुकरम'।
कुकाई-सं०स्त्री०—चिल्लाहट, पुकार।
कुकाऊ-वि०—पुकारने वाला, चिल्लाने वाला। उ०—घरा ढोल कुकाऊ अरा घुरसी, फजरै पर 'जायलियौ' फरसी।—पा.प्र.
कुकुंदर-सं०पु० [सं०] १ चूतड़ पर का गड्ढा. २ कुकरौंधा।
कुकुदक-सं०पु० [सं० ककुद] कूबड़ (बैल का) (डि.को)
कुकुदवांन-सं०पु०—बैल, वृषभ (ह.नां.)
कुकुभ-सं०पु० [सं०] १ एक राग का नाम (संगीत) २ एक मात्रिक छंद जिसके सोलह और चौदह के विराम से तीस मात्रायें होती हैं। इसके अंत में दो गुरु होते हैं (पिंगळ)
कुकुभा-सं०स्त्री०—एक राग (संगीत) (मि. 'कुकुभ')
कुकुर-सं०पु० [सं०] १ यदुवंशी क्षत्रियों की एक जाति. २ एक प्रदेश जहाँ कुकुर जाति के क्षत्रिय रहते थे. ३ एक साँप. ४ कुत्ता।
कुकुरखांसी-सं०स्त्री०—सूखी खाँसी का बच्चों का एक रोग जिसमें कफ नहीं गिरता (मि. 'खुलखुलियौ')
कुकुळ-सं०पु० [सं० कुकूल] तुषाग्नि (डि.को.)
कुकुस्त-सं०पु० [सं० काकुत्स्थ] १ श्री रामचंद्र (नां.मा.) २ श्री रामेश्वर।
कुकोह-सं०पु० [सं० कु+क्रोध] १ बुरा या अनुचित क्रोध। उ०—कृतांत भांत कोह में, कुकोह कोहि कौ कढ़े।—ऊ.का.
[सं० कुध्] २ पर्वत (डि.को.)
कुक्क-सं०स्त्री०—१ कूक. २ त्राहि-त्राहि की पुकार। उ०—आसुर के अंतहपुरनि, परी अचांणक कुक्क।—ला.रा.
कुक्कटवाहणी-स०स्त्री०—बहीचरा देवी जिसका वाहन मुर्गा माना जाता है।
कुक्करखांसी—देखो कुकुरखांसी' (रू.भे.)
कुक्कुट-सं पु० [सं०] मुर्गा (डि.को.)
कुक्कुटकपाद-सं०पु० [सं०] एक पर्वत का प्राचीन नाम जो गया से आठ कोस उत्तर पूर्व में है।
कुक्कुटव्रत-सं०पु० [सं०] भादों शुक्ला सप्तमी को होने वाला एक व्रत।
कुक्कुटसिखा-वि० [सं० कुक्कुट+शिखा] लाल, रक्तवर्ण० (डि.को.)
कुक्कुटासण, कुक्कुटासन-सं०पु०—योग के चौरासी आसनों के अंतर्गत एक आसन जिसमें पद्मासन की तरह बैठ कर दोनों हाथों को जंघा और घुटनों के बीच में घुसा कर उसी के बल से समस्त शरीर को ऊँचा उठा कर तोला जाता है। पांव की स्थिति बदलने से इसका दूसरा प्रकार भी होता है। इससे आलस्य व तंद्रा का नाश होता है तथा जठराग्नि की वृद्धि होती है।
कुक्कुर-सं०पु० [सं०] १ कुत्ता. २ यदुवंशियों की एक शाखा। ३ एक मुनि।
कुक्त-सं०पु० [सं० कु+कृत्य] कुकर्म, पाप।
कुक्ष-सं०पु० [सं०] पेट, उदर।
कुक्षि-सं०स्त्री० [सं०] १ पेट. २ कोख।
कुक्षिभेद-सं०पु० [सं०] बृहत्संहिता के अनुसार ग्रहण के सात प्रकार के मोक्ष के भेदों में से एक।
कुख-सं०स्त्री० [सं० कुक्षि] १ कोख, बच्चादानी. २ उदर, पेट. ३ प्यास।
कुखि—देखो 'कुक्षि' (रू.भे.)
कुखिभेद—देखो कुक्षिभेद' (रू.भे)
कुखेत-सं०पु० [सं० कुक्षेत्र, प्रा० कुखेत्त] बुरा स्थान, कुठौर।
कुख्यात-वि० [सं०] निंदित, बदनाम।
कुख्याति-सं०स्त्री० [सं०] निंदा, बदनामी।
कुगंध-सं०स्त्री०—बदबू, दुर्गन्ध।
कुगति, कुगती-सं०स्त्री० [सं० कुगति] दुर्गति, दुर्दशा, बुरी हालत (डि.को.)
कुगात-वि०—बेडौल, बुरा शरीर।
कुघट, कुघाट-सं०पु० [सं० कु+घट] १ बुरा शरीर, बेडौल, बेढंगा, कुरूप. २ नाश। उ०—सांप अंगुठा मेळ ज्यूं, कदियक हुसि कुघाट।—बां.दा.
वि०—बुरा. कुरूप, भद्दा।
कुघाटौ-वि०—देखो 'कुघाट'।
कुघात-सं०पु० [सं० कु+घात] १ कुअवसर, बेमौका. २ छल-कपट।
कुड़-सं०पु०—एक प्रकार का लोहे का यंत्र जिससे हरिण आदि पकड़े जाते हैं, फंदा। उ०—कांकळ छोडै कूदियौ, भागळ पौरस भंग। कीधा जांणै काढमां, कुड़ नीसरै कुरंग।—बां.दा.
(मि० कुड़क' (४))
कुड़क, कुड़की-सं०स्त्री०—१ जुर्माना या कर्जा चुकाए जाने के लिए नियमानुसार ऋणी की संपत्ति को जब्त करने की क्रिया. २ अमर-बकरे के कान में डाली जाने वाली कड़ी. ३ कान का एक जेवर विशेष. ४ जानवरों को मारने के लिए फँसाने का एक प्रकार का फंदा (नटिया) (क्षेत्रीय) ५ मुर्गे के अंडे देना बन्द करने का भाव. ६ नागों के नौ वंशों में से एक या इस वंश का नाग (ग मो.)
कुड़की-अमीन-सं०पु०—वह राजकीय कर्मचारी जो नियमानुसार किसी की संपत्ति को कुर्क करे।
कुड़कुड़ती-सं०स्त्री०—एक प्रकार की चिड़िया। उ०—चटर्क चीर निचोय नारधां फुड़कुडती सी कांपती।—दसदेव
कुड़की-सं०पु०—१ किसी कठोर या कड़ी वस्तु के चबाने से उत्पन्न होने वाली ध्वनि. २ देखो 'कुड़क' (४)
कुड़चियौ-सं०पु०—चम्मच, करछुल (अल्पा०)
कुड़ची. कुड़च्छी, कुड़छी-सं०स्त्री०—बड़ा व गहरा चम्मच। (रू.भे. 'कुड़छियौ')

कुटणी—देखो 'कुटनी' (रू.भे.)

कुटनी-सं०स्त्री० [सं० कुट्टनी] १ स्त्रियों को वहका कर उन्हें पर-पुरुष से मिलाने वाली अथवा एक का संदेशा दूसरे तक पहुँचाने वाली स्त्री, दूती, चुगलखोर. २ वह हथियार जिससे कुटाई की जाय. ३ कूटे जाने की क्रिया।

कुटवहाड़ा-सं०पु०--सोलंकी वंश की एक शाखा।

कुटम—देखो 'कुटंव'।

कुटळ-वि० [सं० कुटिल] १ वक्र, टेढ़ा. २ कुटिल, कपटी, छली। उ०—अकवर कुटळ अनीत, ओर विटल सिर आदरै। रघुकुळ उत्तम रीत, पाळै रांण प्रतापसी।—दूरसौ आढ़ौ
४ पीत, श्वेत और लाल नेत्रों वाला।

कुटळपण-सं०स्त्री०—टेढ़ापन. २ खोटाई, छल, कपट।

कुटळांण, कुटळाई-सं०स्त्री०—कुटिलता, छल, कपट।

कुटाई-सं०स्त्री०—कूटने का कार्य अथवा इस कार्य की मजदूरी।

कुटाड़ौ-सं०पु०—लकड़ी का वह उपकरण जिस पर रख कर भूसा महीन-महीन काटा जाता है। अहुटण (क्षेत्रीय)

कुटाणौ, कुटाबौ-क्रि०स० (प्रे०रू०) १ कूटने की क्रिया कराना. २ कूटने में तत्पर करना।
कुटाणहार, हारौ (हारी), कुटाणियौ—वि०।
कुटायोड़ौ—भू०का०कृ०।
कुटावणौ, कुटाववौ—रू०भे०।
कुटावियोड़ौ—भू०का०कृ०।
कुटीजणौ—क्रि० कर्म वा०।

कुटायोड़ौ-भू०का०कृ०— कुटाया हुआ (स्त्री० कुटायोड़ी)

कुटार-सं०स्त्री०—समय पर दूध न देने वाली गाय या भैंस।

कुटावणौ, कुटाववौ—देखो 'कुटाणौ' (रू.भे.)

कुटावियोड़ौ—देखो 'कुटायोड़ौ'। (स्त्री० कुटावियोड़ी)

कुटास-सं०स्त्री०—खूब मार-पीट अथवा कूटने का भाव।

कुटि-सं०स्त्री०—१ गंडासा (क्षेत्रीय) २ देखो कुटी' (रू.भे.)

कुटिया-सं०स्त्री०—पर्णशाला, झोंपड़ी।
कहा०—कुटिया में काग पड़ै—विल्कुल निर्जन एवं सुनसान स्थान के लिए।

कुटियोड़ौ-भू०का०कृ०—कूटा हुआ। (स्त्री० कुटियोड़ी)

कटिळ-वि० [सं० कुटिल] १ वक्र टेढ़ा, तिरछा (डि.को.)
पारओड़ (डि.को.) ३ कपटी, दगावाज (अ.मा.)
कुचरीजणौ, डि.को.) ५ वह जिसका रंग पीला व आँखें सफेद हों।
कुचरीजिओड़ तगर का फूल (अ.मा.)
कुचराणौ, कुचरा [सं० कुटिल-कीट] सांप।
देखो 'कुचरणौ' सं० कुटिलता] १ टेढ़ापन. २ खोटाई.
कुचरियोड़ौ-भू०का० कपट।
(स्त्री० कुचरियोड़ी, कुटिला] १ सरस्वती नदी. २ एक प्राचीन
कुचरी-सं०स्त्री०—छोटा

कुटिळाई-सं०स्त्री० [सं० कुटिल+ई] देखो 'कुटिळता'।

कुटी-सं०स्त्री० [सं०] १ घास-फस से बनाया हुआ घर, पर्णशाला, कुटिया, झोंपड़ी. २ घास के कटे हुए छोटे-छोटे टुकड़े (मि. 'कूतर')

कुटुंब-सं०पु० [सं० कुटुम्व] परिवार।

कुटुंबी-सं०पु० [सं० कुटुम्विन्] परिवारजन, कुटुंब के लोग, नाते-रिश्तेदार।

कुटुम—देखो 'कुटुंब'।

कुटेव, कुटैव-सं०स्त्री०—बुरा अभ्यास, खराव आदत।

कुट्टण-वि०—१ पाजी, दुष्ट, बदमाश। उ०—जे जलाल कुसळ रह गयौ सो वादसाह फरास सूं रिसायौ—कुट्टण जलाल जैसा फेर कहां मिळता?—जलाल वूवना री वात २ मारने वाला. ३ सिंध के मुसलमानों में दी जाने वाली एक गाली।

कुट्टिम-सं०पु० [सं० कुट्टिमम्] १ वह भूमि जिस पर कंकड़, पत्थर वा ईंटें वैठाई गई हों, पक्का फर्श (डि.को.) २ अनार, दाड़िम।

कुट्टी-सं०स्त्री०—कूट-काट कर महीन किया हुआ भूसा (क्षेत्रीय)

कुठांम-सं०पु०—कुठौर, बुरा स्थान। उ०—विद्या विदु सनेह धन, नाखौ ऐ न कुठांम, ऐ उण ठोडां नाखिये, जे आवै फिर कांम।
—अज्ञात

कुठार-सं०पु०—१ देखो 'कुटार' (रू.भे.)
[सं०] २ कुल्हाड़ी। उ०—धड़द्धड़ वेघड़ वज्जहि धार, कड़क्कड़ आठकि काठ कुठार।—रा.रू. ३ परशु. ४ नाश करने वाला।

कुठोड़, कुठौड़, कुठौर-सं०स्त्री०—१ बुरा स्थान. २ गुप्तांग।
कहा०—कुठौड़ खायी नै सुसरौ जी वैद—गोप्य स्थान पर चोट या काटे जाने का ससुर से इलाज कैसे कराया जाय; जब साधन होते हुए भी उनसे काम लेना संभव न हो; अज्ञान वा धोखे से हानि उठाने तथा निरुपाय होने पर।

कुडंड-सं०पु०—कोदण्ड, धनुष। उ०—रमानाथ रीसं करंतं कसीसं, कुडंड अचूकं कियौ टूक-टूकं।—र.ज प्र.

कुड-सं०स्त्री०—चट्टान, शिला। उ०—पड़ै रिणि उच्छळि एम प्रवंग, कुडां चढ़ि जांणि विनांणि कुरंग।—वचनिका

कुडकौ—देखो 'कुड़कौ' (रू.भे.)

कुडचियौ, कुडचौ—देखो 'कुड़चौ' (रू.भे.)

कुडांदड़ी-स०स्त्री०—गेंद से खेला जाने वाला एक प्रकार का देशी खेल।

कुडाळी-सं०स्त्री०—मिट्टी का बना चौड़े मुंह का खुला वर्तन।

कुडाव-सं०पु०—बुरा अवसर, कुदाव। उ०—१ म्हे यम जांणियौ महाराजा, कोयक डाव कुडाव करूं। मार महेव बंध किया मिरजै, मिरजौ मारै पछै मरूं।—तेजसी खिड़ियौ उ०—२ चौपड़ रमवा लागियाजी म्हांरा राज, पड़ गया डाव कुडाव, मारवणीजी जीतिया जी म्हांरा राज।—लौ.गी.

कुडौ-सं०पु०—१ खलिहानों में रक्खी हुई साफ किए हुए अनाज की ढेरी.

नारंगी के सदृश होता है जिसमें आधा इंच व्यास के चिपटे गोल बीज होते हैं, इन्हें भी कुचीला कहते हैं (अमरत)

कुचुमार-सं०पु० [सं०] काम शास्त्र के एक प्रधान आचार्य (काम सूत्र)

कुचेन-सं०पु० [सं० कु+चैन] दुःख, व्याकुलता। उ०—चैन को कुचेन में गमावनो चह्यो।—ऊ.का.

कुचेला-स०स्त्री०—सीसोदिया वंश की एक शाखा।

कुचेलौ—१ देखो 'कुचीलौ' (रू.भे.) २ बुरा शिष्य।

कुचेस्ट-वि० [सं० कुचेष्ट] जिसकी चेष्टायें बुरी हों।

कुचेस्टा-सं०स्त्री० [सं० कुचेष्टा] १ बुरी चेष्टा, कुप्रयत्न, बुरी चाल. २ चेहरे का बुरा भाव।

कुचोप-वि०—खराब, बुरा। उ०—चवियो मुख वायक अत कुचोप, करणाला चढ़े ताय महा कोप।—रांमदांन लाळस

सं०पु०—असुर।

कुच्चडढ़ौ-वि०—कूंची के समान दाढ़ी वाला। उ०—चढ़े कुच्चडढ़े सिखा हीन मत्थे इरांनी अरव्वी तुरक्की चिगत्थे।—ला.रा.

कुछ-वि० [सं० किंचित्, प्रा० किंची] थोड़ी संख्या व मात्रा का, जरा, थोड़ा सा।

मुहा०—१ कुछ कैणौ—भला-बुरा कहना. २ कुछ न चलणौ—वश न चलना, कोई उपाय न लगना. ३ कुछ रौ कुछ—उलटा. ४ कुछ सूं कुछ हो जाणौ—बहुत बड़ा परिवर्तन हो जाना. ५ कुछ होणौ—किसी लायक हो जाना, विशेष बात।

सर्व० [सं० कश्चित्, प्रा० कोचि] कोई।

सं०पु० [सं० कुश] कुश।

कुछेक-वि०—कुछ, जरा सा।

कुज-सं०पु० [सं०] १ मंगल ग्रह (अ.मा.) २ वृक्ष. ३ नरकासुर।

सर्व०—कोई।

वि०—१ लाल, रक्त वर्ण* (डि.को.) २ कुछ।

कुजकोई-वि०—१ सामान्य, हरएक, साधारण. २ तुच्छ, छोटा निम्न। उ०—कुजकोई चुंमण करै, गणका हंदी गाल। कुजकोई खावण करै, मावड़ियां रौ माल।—बां दा.

कुजळपणा-सं०स्त्री०—बकवाद। उ०—कवी प्रभाव कल्पना, कुजळपना कलीयसी।—ऊ.का.

कुजवार-सं०पु०—मंगलवार। उ०—पाछौ ऊमर थूंणें जाइ आसाढ़ कृस्ण नवमी कुजवारां रा लगन पर गोळवाळ री पुत्रियां री विवाह चालुकराज रा कंवरां रै साथ कर दीधौ।—वं.भा.

कुजस-सं०पु० [सं० कु+यश] कुयश, अपयश, निंदा। उ०—बांकै ग्रंथ वणावियौ, कायर कुजस निकेत।—बां.दा.

कुजा-सं०स्त्री०—सीता, जानकी (डि.को.)

कुजात-सं०स्त्री०—१ बुरी जाति, ओछी अथवा नीच जाति।

उ०—१ काछवियै री जात कुजात, बाइजी म्हारा ओ।—लो.गी.

उ०—२ मिळ जात कुजात जमात महीं, निज घात कथा विन बात नहीं।—ऊ.का.

२ पतित पुरुष।

कहा०—कुजात मनायां माथै चढ़ै—नीच जाति का व्यक्ति मनाने से सिर चढ़ता है। नीच की खुशामद करने से वह और अकड़ता है।

३ बकरी।

कुजाव-सं०पु०—गाली, अपशब्द। उ०—सू लोदी रा आदमियां कुजाव कयौ तिण पर झगड़ौ हुवौ—द.दा.

कुजास्टम-सं०पु० [सं० कुजाष्टम्] फलित ज्योतिष के अनुसार एक योग जो जन्मकुंडली के चक्र में मंगल के आठवें स्थान पर होने से होता है (अशुभ)

कुजीव, कुजीवौ-सं०पु०—नीच, बुरा जीव। उ०—कुजीव कुसंग कहां कुसळात, विजोगण पीव सजोगण बात।—ऊ.का.

कुजोग-सं०पु० [सं० कुयोग] १ कुसंग, कुमेल, बुरा संयोग. २ बुरा अवसर, अशुभ योग। उ०—रोग कौ भवन ज्यूं, कुजोग कौ समन जांणै।—ऊ.का.

कुज्जौ-सं०पु० [फा० कूजा] १ मिट्टी का प्याला. २ मिश्री की बड़ी डली।

कुटंब-सं०पु० [सं० कुटुंब] १ परिवार, कुटुम्ब। उ०—महादिय मांन करी गुह मीत, तारे सह कीर कुटंब सहीत।—ह.र. २ वंश, कुल। (यौ० कुटंब-कबीलौ)

कुटंबजातरा, कुटंबजात्रा-सं०स्त्री०—संन्यास लेने के पश्चात् एक बार पुनः अपने कुटुंब में भिक्षार्थ जाने की क्रिया या प्रथा। उ०—म्हारौ राजस्थांन रौ पाटण गांव छै नै माता भाई छै, थे कहौ तौ कुटंबजात्रा करि आऊं।—जखड़ा मुखड़ा भाटी री बात

कुटंबविरोध-सं०पु०—एक प्रकार का घोड़ा (अशुभ)—शा.हो.

वि०—वंश या कुटुम्ब में विरोध उत्पन्न करने वाला।

कुट-सं०पु० [सं०] १ घर, गृह. २ कोट, गढ़. ३ कलश. ४ पत्थर तोड़ने का घन. ५ वृक्ष (अ.मा., ह.नां.) ६ पर्वत।

सं०स्त्री० [सं० कुष्ठ, प्रा० कुट्ठ] ७ एक बड़ी मोटी झाड़ी। इसकी जड़ें बहुत काम आती हैं।

कुटक-सं०पु०—१ विष, जहर, माहुर. २ एक औषधि विशेष. ३ हल के नीचे हलवानी के पीछे लगने वाली लकड़ी (डि.को.) ४ एक प्रकार की लता की जड़ (वैद्यक) ५ खट्टा टुकड़ा।

कुटकको—देखो 'कुटकौ' (रू.भे.)

कुटकणौ, कुटकबौ-क्रि०स०—कठोर व कड़ी वस्तुओं को चबाना।

कुटकी-सं०स्त्री० [सं० कटुका] १ पश्चिमी और पूर्वी घाटों में तथा अन्य पहाड़ी प्रदेशों में होने वाला एक क्षुप। इसकी जड़ों में गोल-मोल बेडौल गांठें पड़ती हैं जो औषधि के काम आती हैं. २ टुकड़ा।

उ०—मांणक मोती परत न पहरूं म्हैं तौ कबकी नटगी, गहणौ म्हारै माळा दोवड़ौ और चंदण की कुटकी।—मीरां

कुटकौ-सं०पु०—१ खंड विभाग. २ छोटा टुकड़ा, कण।

कुटज-सं०पु० [सं०] १ कुरैया, कर्ची. २ अगस्त्य मुनि. ३ द्रोणाचार्य का एक नाम।

कुतक-सं०पु०—डंडा। उ०—कुतक खिदर धव काठ रा, विदर पजावण वेस। तौ पिण हाजर राखणा, घणा मेखचा हमेस।—वां.दा.

कुतकौ-सं०पु० (स्त्री० कुतकी) छोटी लाठी, सोंटा, डंडा।

उ०—वतळायौ विगड़ै विदर, ग्रोर दियै इलकाव। वाट चलावण विदर नूं, कुतकौ वडी किताव।—वां.दा.

कहा०—कुतकौ वडी किताव के लाठां ही लटका करै—डंडे के भय से सब दबते हैं।

कुतड़ौ-सं०पु० (स्त्री० कुतड़ी) कुत्ता (ग्रल्पा०) उ०—कांजरां तणी कुतड़ी कदै 'मोकम' सूर न मारिया।—ग्ररजुणजी वारहठ

कुतदवी-सं०पु०—एक प्रकार का घोड़ा (शा.हो.)

कुतप-सं०पु० [सं० कुतुप] दिन का ग्राठवां मुहूर्त्त जो मध्यान्ह के समय में होता है।

कुतव, कुतब्ब-सं०पु० [ग्र० कुत्व] १ एक प्रकार के मुसलमान महात्मा या ऋषि जिनके सुपुर्द कोई बड़ा इलाका होता है। उ०—कुतव गौस ग्रवदाळ सूफी ग्रनै कळंदर। पीरजादा मिळै सांझ परभात।
—राजा जसवंतसिंह रौ गीत

२ कुतुवमीनार (रू.भे.) ३ ध्रुवतारा।

कुतर-सं०स्त्री०—१ एक प्रकार की कपड़ों में चिपक जाने वाली घास। उ०—कुकव हूंत ग्राछौ कुतर, ऊगै चंदण पास। लहि चंदण सोरभ लहै, चंदण रा गुण रास।—वां.दा. २ वाजरी या ज्वार के सूखे डंठलों को महीन-महीन टुकड़ों में काटने की क्रिया ग्रथवा महीन-महीन टुकड़ों में काटा हुग्रा घास (मि० 'कुटी')

वि०—नीच, दुष्ट। उ०—लियां रही दस मास लग, उदर दुखां उतरांह। दुख जिण जणणी नै दियै, काळौ मुह कुतरांह।—वां.दा.

कुतरक-सं०स्त्री० [सं० कुतर्क] १ वुरा तर्क, वेढंगी दलील. २ वकवाद वितंडावाद। उ०—कुतरक गरक चरक कौ ग्रलरक लौं मुसा करचौ।
—ऊ.का.

कुतरकी-वि० [सं० कुतर्की] व्यर्थ तर्क करने वाला वितंडावादी।

कुतरड़ौ-सं०पु० (स्त्री० कुतरड़ी) कुत्ता, श्वान (ग्रल्पा.)

कुतरवेड़-सं०पु०—कुत्तों का समूह।

कुतरौ-सं०पु० (स्त्री० कुतरी) १ कुत्ता, श्वान. २ नीच. कायर।

उ०—ग्राखड़ियां ग्रळगी रहै, कुतरां कापुरसांह।—वां.दा.

कुतवार-सं०पु०—१ वह पुरुष जो वँटाई के लिए खेत की फसल का कनकूत करे. २ कोतवाल।

कुतवारी-सं०स्त्री०—कोतवाल का कार्य या पद।

कुतारीफ-सं०स्त्री०—ग्रपयश, वदनामी।

कुतियौ-सं०पु० (स्त्री० कुत्ती) कुत्ता, श्वान।

कहा०—कुतियौ कादा में कळणौ—ग्रापत्ति या संकट में फँसने पर।

कुतुक—देखो 'कौतुक' (डि.को.)

कुतुवनुमा-सं०पु०—दिशा का ज्ञान कराने वाला एक यंत्र।

कुतूहळ-सं०पु०—१ कुतूहल, कौतुक (डि.को.) विनोदपूर्ण उत्कंठा. २ क्रीड़ा. ३ ग्राश्चर्य।

कुत्तौ—देखो 'कुत्तौ' (ग्र.मा.)

कुत्तर—देखो 'कुतर' (रू.भे.)

कुत्तौ-सं०पु०—भेड़िया, लोमड़ी ग्रादि की जाति का घर की रक्षा करने के लिए पाला जाने वाला एक हिंसक पशु, कुत्ता, श्वान। पर्याय०—ग्रस्तमुख, कुत्तौ, कुरकुर, कूकर, कूकरौ, कूतरौ, कौळेयक, खेतळग्रस, खेतळरथ, ग्रांमसीह, ग्रहग्रग, चक्र, जागर, जिभ्याप, जीभप, टेगड़ौ, तंदुख, पुरोगत, भुसण, मंजारखळ, मंडळ, ग्रगदंस, रतकील, रतपरम, रतसांई, रमनलिटि, रातजगण, रितपरस, रितसांई, लट्टो, लेखिराति, वळतपूंछ, वाळध सारमेय, साळावृक, सुन, सुनक, स्वांन।

मुहा०—१ कुत्ता री कपाळी होणी—सदा वकझक करने वाले के प्रति. २ कुत्ता री तरह चढ वैठणौ—गुर्रा कर या वहुत नाराज होकर टूट पड़ना. ३ कुत्ता री पूंछ—ग्रपना कटु स्वभाव न छोड़ने वाला. ४ कुत्ता री मौत मरणौ—वुरी मौत मरना. ५ कुत्ता रौ दिमाग (भेजौ) होणौ—वहुत वकझक करने वाले के प्रति. ६ कुत्तौ काटणौ—वेवकूफी करना, पागल होना. ७ कुत्तौ होणौ—वफादार होना, गंदा रहने वाला होना।

कहा०—१ ग्रांधी पीसै कुत्ता खावै—जहां ग्रंधाधुंधी चलती हो; जहां ग्रंधेरखाता हो; जब कोई व्यक्ति ग्रपने लाभ या उपार्जित धन या संपत्ति की ठीक-ठीक व्यवस्था न करे ग्रौर दूसरे लोग उसको उड़ावें. २ ऊंचाया कुत्ता कैड़ी'क सिकार करै—किसी को ठेल-ठेल कर कितना कार्य कराया जा सकता है; कार्य मनुष्य ग्रपनी इच्छा से करेगा तब ही ठीक होगा. ३ कागा कुत्ता कुमांणस घणा—कौए, कुत्ते ग्रौर दुष्ट व्यक्ति वहुत होते हैं; दुनिया में वुरे व्यक्ति ग्रधिक होते हैं, सज्जन थोड़े होते हैं. ४ कुतड़ौ कैवे क गाडी म्हारै ही पांण चालै—ग्रयोग्य व्यक्ति के इस कथन पर कि सब मेरा किया ही होता है, एक व्यंग. ५ कुत्तां रै संप हुवै तौ गंगाजी नहाय ग्रावै—जिन लोगों में परस्पर मतैक्य नहीं होता उन पर. ६ कुत्ता (कूतरां) कांच भाळल्यू, भची मुवौ दन्या मांय—कुत्ते ने काच देखा तो संसार भर में भोंकता-भोंकता मर गया; मूर्ख व्यर्थ की वातों से दुःख उठाते हैं. ७ कुत्ता थारी कांण कै थारै धणी री कांण—दुष्ट का कोई लिहाज नहीं रखता किन्तु उसके परिवार वालों की सज्जनता का लिहाज करके ही उसे क्षमा प्रदान की जाती है. ८ कुत्ता थारी कांण कै थारै मालक (धणी) री कांण—देखो कहावत (७) ९ कुत्ता (कूतरा) माते कूतरा पाड़ी नै चेटी हरकी जाहें—ग्रापस में लड़ा कर दूर चले जाने वाले के लिये यह कहावत कही जाती है. १० कुत्ता मारतौ फिरणौ—व्यर्थ घूमते फिरना; ग्रावारागर्दी करना. ११ कुत्ता रै पांण गाडी चालणी—दूसरों के भरोसे कार्य चलना; व्यर्थ ही ग्रपने व्यक्तित्व को महत्व देना. १२ कुत्तारोळ करणौ—छिछोरापन करना. १३ कुत्तालड़ाई करणी—व्यर्थ की वातों पर लड़ाई करनी. १४ कुत्ता ही खीर कौ खावैला नी—कोई भी नहीं पूछेगा;

२ देखो 'कुडांवड़ी' ३ इंद्रयव का वृक्ष, कुरैया (अमरत)
वि०—देखो 'कुड़ौ' (रू.भे.) उ०—तरै रावजी रा दिल में कुडौ खतरौ पड़ियौ ।—रा.वं वि.
कुडचापट्टी–सं०स्त्री०—१ घोड़े को गोल चक्र में दौड़ाने का ढंग विशेष। उ०—फटै कोट चोड़ा जिकां चोट फेटां, चलै सीम हूं कुडचापट्टी चपेटां ।—वं.भा. २ इंद्रयव का वृक्ष, कुरैया (अमरत)
कुढंग–सं०पु०—१ बुरा ढंग, कुचाल. २ खराब। उ०—दीधौ धन उपदंस ले कीधौ काथ कुढंग ।—ऊ.का.
वि०—१ बुरे ढंग का, वेढंगा, भद्दा, बुरा।
उ०—दोदा कपड़ा बहुत रग, सींवणहार कुढंग। घड़हड़ टांका ऊवड़े, घण मोड़ंती अंग ।—जलाल बूबना री बात
कुढंगौ–वि० (स्त्री० कुढंगण) १ कुमार्गी, चरित्रहीन. २ वेढंगा ।
उ०—ऊमरदांन निज अरथ उडावण, कर मत वात कुढंगी ।—ऊ.का.
३ कुरूप, भद्दा।
कुढ़–सं०स्त्री०—१ देखो 'कुढ़न' २ देखो 'कढ़'।
कुढ़ड़ी—देखो 'कुढ़'।
कुढ़ण–सं०स्त्री०—१ भीतर ही भीतर रहने वाला क्रोध, चिढ़.
२ वह दुःख जो दूसरे के अनिवार्य कष्ट को देख कर हो।
कुढ़णौ, कुढ़बौ–क्रि०अ० [सं० क्रुद्ध, प्रा० कुढो] १ भीतर ही भीतर क्रोध करना, मन ही मन खीजना। उ०—कुढ़ कुढ़ काया नै माया बिन मोसै, रोती कड़ियां दे आंतड़ियां रोसै ।—ऊ.का.
२ शरीर को समेट कर चलना। उ०—कुढ़ता उडता कूदता, ओद्रकता वप आप। जेहो तोखै जाचणां, साहण इसा समाप।
—वां.दा.
३ बुरा मानना. ४ डाह करना, जलना, चिढ़ना. ५ मसोसना।
कुढ़णहार, हारौ (हारी), कुढ़णयौ—वि०।
कुढ़ाणौ, कुढ़ाबौ—क्रि०स०।
कुढ़िओड़ौ, कुढ़ियोड़ौ, कुढ़योड़ौ—भू०का०कृ०।
कुढ़न—देखो 'कुढ़ण' (रू.भे.)
कुढ़ब–वि०—१ बुरे ढंग का. २ कठिन, दुस्तर।
कुढ़ाणौ, कुढ़ाबौ–क्रि०स०—१ क्रोध दिलाना, चिढ़ाना, खिजाना.
२ दुखी करना, कलपाना. ३ उँडेलने का कार्य कराना।
कुढ़ाणहार हारौ (हारी), कुढ़ाणियौ—वि०।
कुढ़ायोड़ौ—भू०का०कृ०।
कुढ़ायोड़ौ–भू०का०कृ०—१ क्रोध दिलाया हुआ, चिढ़ाया हुआ.
२ उँडेला गया हुआ। (स्त्री० कुढ़ायोड़ी)
कुढ़ावणौ, कुढ़ावबौ—देखो 'कुढ़ाणौ' (रू.भे.)
कुढ़ावियोड़ौ–भू०का०कृ०—देखो 'कुढ़ायोड़ौ'।
कुढ़ियौ–सं०पु०—कुयें पर काम करने वाला।
कुढ़ीजणौ, कुढ़ीजबौ–क्रि० भाव वा०—१ कुढ़ा जाना, खीझा जाना.
२ उँडेला जाना।
कुढ़ीजियोड़ौ–भू०का०कृ०—१ कुढ़ा हुआ. २ उँडेला गया हुआ।
(स्त्री० कुढ़ीजियोड़ी)
कुण–सर्व०—१ कौन। उ०—स्रीपति कुण सुमति तूझ गुण जु तवति।
—वेलि.
२ किस। उ०—ताहरां रांणी पूछियौ, जु महाराज कुण वास्ते हसिया ।—चौबोली
सं०पु० [सं० क्वण] ३ शब्द, आवाज (ह.नां.)
कुणका–सं०पु०—नाज, अनाज।
मुहा०—कोठी में कुणका होणां—आयु होना।
कुणकाई–सं०स्त्री०—माता, मां (व्यंग, अपमानसूचक)
कुणकियौ–सं०पु०—पिता (व्यंग, अपमानसूचक)
कुणकुण–सं०पु०यौ०—कुनकुनाहट।
कुणकुणाट–सं०स्त्री०—कलह (प्रायः कौटुम्बिक कलह)
कुणकुणौ–वि० [सं० कदुष्ण, प्रा० कउण्ह] कुछ गरम (पानी), गुनगुना।
कुणकुणौ, कुणकुणबौ–क्रि०अ०—विलाप करना, दुखी होना।
कुणकौ–स०पु०—अन्न का दाना। उ०—सेठजी कांम काढ़'र उत्तर दे दियौ, घर में कुणकौ ई कोयनी ।—वरसगांठ
कुणछल्यौ–सं०पु०—छोटी कढ़ाई। उ०—देणौ करदौ चिमचा मांस दुल्ह, कुलमी सूं मांग्या दो हांडी कुणछल्या ।—अज्ञात
कुणणाणौ, कुणणावौ–क्रि०अ०—भुनभुनाना।
कुणणायोड़ौ–भू०का०कृ०—भुनभुनाया हुआ (स्त्री. कुणणायोड़ी)
कुणद–सं०पु० [सं० क्वणन] शब्द (अ.मा.)
कुणप–स०पु० [सं०] मृत शरीर, शव (डि.को.) उ०—महीपणौ पाइ जीवता कुणप नूं सारोही संसार हाडां रौ दांन लेणहार कहै ।—वं.भा.
कुणवी–सं०पु०—एक जाति विशेष जिसका व्यवसाय खेती है।
(मि. कळबी, पटल)
कुणबौ–सं०पु० [सं० कुटुंब, प्रा० कूडुंब] कुटुम्ब, परिवार, खानदान।
कुणरिबौ–सं०पु०—बालक की दर्दपूर्ण आवाज (अमरत)
कुणसोड़ौ–वि० [स्त्री० कुणसोड़ी] कौनसा।
कुणि–सर्व०—कौन, किस। उ०—खांन भणइ कुणि कारणि आव्या, कहउ तुम्हारउ काज ।—कां.दे.प्र.
कुणीदरा–सं०स्त्री०—सोलंकी वंश की एक शाखा।
कुणे'क–सर्व०—कोई।
कुणेनूं–सर्व०—किसको। उ०—भाटी कहै कुणेनूं भाखूं, रहूं कुमळ तो भेळी राखूं ।—रा.रू.
कुणै–सर्व०—१ कौन. २ किसको।
कुण्यां–सर्व०—किस ('कुण' का बहु.) उ०—ओ अे बांदी बूझां थांनै बात, गीत कुण्यां घर गावै जी राज ।—लो गी.
कुत–सं०स्त्री०—१ वर्षा ऋतु में होने वाला एक प्रकार का छोटा मच्छर.
२ एक प्रकार का घास-विशेष।

[सं० कु+देव] २ राक्षस, दैत्य।
कुद्दाळ–सं०पु०—भूमि खोदने का औजार विशेष (डि.को.)
कुद्रस्टी—देखो 'कुदिस्टी' (रू.भे.)
कुधन–सं०पु० [सं० कु+धन] १ खोटा धन, बुरी कमाई का पैसा।
कुधर–सं०पु० [सं० कु:+ध्र] १ पहाड़, पर्वत (डि.नां.मा.)
[सं० कु:+धर] २ शेषनाग।
कुधांन–सं०पु० [कु+धान] बुरा अनाज।
कुधार–वि०—क्रुद्ध, क्रोधी। उ०—जवांनहि सीह जदीस जुवार, चढ़्यौ 'किनकेस' तरणेह कुधार।—शि सु.रू.
कुधिक–वि० [सं० क्रुद्ध] क्रुद्ध।
कुधी–वि० [सं०] मंदबुद्धि, मूर्ख।
कुनकवाज–सं०पु०—एक प्रकार का घोड़ा (शा हो.)
कुनख–सं०पु०—प्रायः नाखून के मध्य में होने वाला एक प्रकार का फोड़ा विशेष जिससे नाखून हमेशा के लिए नष्ट हो जाता है (अमरत)
कुनटी–सं०स्त्री० [सं०] मैनसिल, मनःशिल (डि.को.)
कुनण–सं०पु० [सं० कुंदन] १ स्वर्ण, सोना (ह.नां., अ.मा.) २ अच्छे और साफ सोने का पतला पत्तर जिसे लगा कर गहनों पर नगीने जड़े जाते हैं। खालिस सोना.
[अं० कुनैण] ३ कुनैन (औषधि) देखो 'कुनैन' (रू.भे.)
कुनणपुर, कुनणापुर–सं०पु० [सं० कुंदनपुर] १ एक प्राचीन नगर जो शिशुपाल की राजधानी थी (महाभारत) २ लंका का एक नाम (डि.को.)
कुनणेचा–सं०पु०—एक राजपूत वंश।
कुनफो–सं०पु०—नुकसान, हानि।
कुनबी–सं०पु० [सं० कुटुंबी] १ हिन्दुओं की एक जाति जो प्रायः खेती करके अपना पेट पालती है (मा म.) २ इस जाति का व्यक्ति। (रू.भे. 'कणबी')
कुनबो–सं०पु० [सं० कुटुंब] कुटुम्ब, परिवार, खानदान।
कुनर–सं०पु० [सं० कु+नर] बुरा एवं नीच व्यक्ति (वं भा.)
कुनांम–सं०पु०—अपयश, बदनाम। उ०—गांम गांम ग्रांम में कुनांम तैं करचौ, नांम को विदांम साथ वांम नां धरचौ।—ऊ.का.
कुनाभि–सं०पु०—धन, द्रव्य (डि.को.)
कुनार–सं०स्त्री० [सं० कु+नारी] पतिता स्त्री, व्यभिचारिणी। उ०—गुण बिन चंदण लाकड़ी, गुण बिन नार कुनार।—अज्ञात
कुनाव—देखो 'कुनांम'। उ०—रूप कूं कुनाव नाद नांव तो रह्यौ। —ऊ.का.
कुनै–क्रि०वि०—किस तरफ।
कुनैन–सं०पु० [अं० क्वनिन] एक अंग्रेजी औषधि जो मलेरिया की रामबाण दवा मानी जाती है।
कुन्नण—देखो 'कूनण' (रू.भे.)
कुन्याय–सं०पु० [सं० कु+न्याय] १ अन्याय. २ पक्षपातपूर्ण न्याय। उ०—बोल्यौ सादूळसिंघ भाई मांनुल्ला, बाळक पै तेग बाही सो कुन्याय सल्ला।—शि.वं.
कुपंथ–सं०पु०—कुमार्ग।
कुपंथी–वि०—कुमार्गी।
कुपड़ी–सं०स्त्री० [सं० कुतुपिका] देखो 'कुपी' (रू.भे.)
कुपछि–सं०पु० [सं० कुपथ्य] कुपथ्य। उ०—सो फीको पीवै नहीं कुपछि पड़्या सब कोय।—ह पु वा.
कुपथ–सं०पु० [सं० कुपथ्य] १ स्वास्थ्य के लिए हानिकारक भोजन. [स०] २ बुरा रास्ता, कुमार्ग।
कुपथ्य—देखो कुपथ' (१) (रू भे.)
कुपळी–सं०स्त्री०—कोंपल। उ०—दव का दाधा कूपळी मेल्ही, जीभ का दाधा नु पांगुरई।—बी.दे.
कुपह–सं०पु० [सं० कुप्रभु] १ दुष्ट राजा, अन्यायी राजा। उ०—जग मुगति भुगति दाता जगा, दांन मांन वंछित दिये। पारथै किसूं मेळग कुपह, प्रभू नाथ पारखिये।—ज.खि.
[सं० कुपथ] २ कुपथ, कुमार्ग। उ०—१ नर देही नर धारि कुपह उरझात है।—ह.पु वा. उ०—२ हरि पर हटि चाल्या कुपह गळी में ते दोय फंध।—ह.पु.वा.
कुपातर–वि०—१ अयोग्य, कुपात्र। उ०—कह-कह थाको थनै हाय मन हाय कुपातर।—सगरांमदास
२ कपूत। उ०—लड़ै माहेस हरियंद गया लाज हूं। रहा कुळ कुपातर विगाडण राज हूं।—महादांन महडू
३ वह जिसे दान देना शास्त्रों में निषिद्ध है।
कुपाती–वि०—कुपथगामी, नीच, पामर। उ०—थाट भड़ अगै नर सुरग वासी थिया। रांडिया कुपाती लंड लारै रह्या।—महादांन महडू
कुपात्र—देखो 'कुपातर' (रू.भे.)
कुपाळी–सं०स्त्री० [सं० कपाल] कपाल, खोपड़ी।
कुपि—देखो 'कुप्पी'।
कुपियोड़ो–भू०का०कृ०—क्रुद्ध, कुपित। उ०—दीठौ छै रावत रौ दूठ सुभाव कुपियोड़ो कुळवंत बिच करसी कावळी—किसोरसिंह बार्हस्पत्य
कुपियौ–सं०स्त्री०—१ देखो 'खुफिया' २ कुप्पी. ३ सुराहीनुमा मिट्टी का बना जल-पात्र विशेष।
कुपी–सं०स्त्री० [सं० कुतुप] १ छोटे संकरे मुंह वाला मिट्टी या धातु का बना एक पात्र विशेष. [अ० कीफ] २ द्रव पदार्थों को ठीक तरह से तंग मुंह के बरतन में डालते समय लगाई जाने वाली चोंगी।
कुपीच–सं०पु०—१ कष्ट, संकट, यातना। उ०—अठै मालजादियां रा घर था, यां माहे घणी कुपीच होसी।—चौबोली. २ कुपथ्य।
कुपुरिस–सं०पु०—कायर व्यक्ति (रू.भे. 'कापुरस')
कुप्पी—देखो 'कुपड़ी'।
कुफंड–सं०पु०—धूर्तता, पाखंड, ठगी।
कुफंडी–वि०—पाखंडी, ठग, धूर्त।

किसी के अडने पर उसके द्वारा भयंकर हानि पहुँचाने की धमकी. १५ कुत्ती आळा कूकरिया है—अधिक संतान होने पर. १६ कुत्ती गई नैं गळांमणी ई लेगी—कुत्ती स्वयं भी गई और साथ में गले का पट्टा भी ले गई। किसी के द्वारा दुहरी हानि पहुंचाने पर. १७ कुत्ती जाया कूकरिया एके डोरे ऊतरिया—किसी समाज के सभी व्यक्ति दुर्गुणी हों तब. १८ कुत्ती ही गई नै पटियौ ही ले गई—देखो कहावत (१७) १९ कुत्तं आळी जूण पूरी करणी—बेकार का जीवन व्यतीत करना. २० कुत्तं नैं नैं छोटं टाबर नैं दुरकारियोडी ही भली— कुत्ते और छोटे बालक दोनों को दुत्कारना ही अच्छा; मूर्खो को पास नही फटकने देना चाहिये. २१ कुत्तं नैं मूंढै लगावणो चोखो कोनी—कुत्ते को मुह लगाना अच्छा नही. २२ कुत्तं नै रोटी नाखी व्है तौ भुसतौ तो सहा— अगर कुछ उपकार करते तो उसका प्रतिफल अवश्य मिलता. २३ कुत्तं री पूंछ तौ वाकी री वाकी रैवै—जिस आदमी की बुरी आदत किसी प्रकार न छूटे. २४ कुत्तं री पूछ दस वरस जमी में राखी, निकाळी तौ फेर आटी'र आटी—देखो कहावत (२३) २५ कुत्तं री पूंछ सदा आंटी री आंटी—देखो कहावत (२३) २६ कुत्तं रै मूंडे मे जांणै कोई खळ पडी है—दुष्ट व्यक्ति का बोलना बन्द करने के लिए।

२७ कुत्तं रौ सिर खल्ले जोगौ—मूर्ख या ताडना के योग्य होने पर; जैसे को तैसा. २८ कुत्तं वाळी नींद—शीघ्र जगने या सावधान होने वाली नींद. २९ कुत्तौ कपास में कई समझै—कुत्ता कपास में क्या समझे? ३० कुत्तौ नारेळ री कांई करै—कुत्ता नारियल का क्या करे। बिना विशेषता समझे किसी वस्तु पर अधिकार या सपर्क रखने पर. ३१ कुत्तौ होय नैं को भूसियौ नी— कुत्ता होकर भी भौंकना नही; जब मनुष्य अपना कर्तव्य पूरा नही करता. ३२ पीळियौ कुत्तौ राजी व्है जणां तौ मूंडौ चाटै नैं रीस मे व्है जणै पीडी पकडै—पीला कुत्ता जब प्रसन्न होता है तब तो मुंह चाटता है किंतु गुस्से में होने पर काटने दौड़ता है। ऐसे व्यक्ति के लिये जो शीघ्र प्रसन्न होता हो और शीघ्र नाराज होता हो अथवा प्रसन्न होने पर खूब फायदा पहुंचाता हो किन्तु क्रुद्ध होने पर हानि भी खूब पहुंचाता हो. ३३ पेट तौ कुत्तौ ही पाळै है—पेट तो कुत्ता भी भर लेता है। निकम्मे व्यक्तियो के लिये।

रू०भे०—कुतरडौ, कूतरौ। (अल्पा. कुतडौ)

कुत्र—क्रि०वि०—कहाँ पर। उ०—कस्मात्-कस्मिन् किल मित्र किमरथ, केन कारण पग्यिागि कुत्र।—वेलि.

कुथ—सं०पु० [सं० कुथः] १ गिलाफ, खोल (डि.को.) २ कुश, दर्भ (डि.को.)

कुथपणौ, कुथपवौ—क्रि०अ०—१ विलोम होना, विपरीत होना. २ खराब होना।

कुथपियोड़ौ—भू०का०कृ०—१ विलोम हुआ हुआ, विपरीत. २ खराब। (स्त्री० कुथपियोडी)

कुथांन—स०पु० [सं० कु+स्थान] कुठौर, बुरी जगह। उ०—थांन कौ कुथांन थांन मांन नीसरयौ. होय सो सुथान हा विहांन वीमरयौ। —ऊ.का.

कुथाल—वि०—१ विपरीत, उल्टा. २ खराब।

कुथि—स०पु०—सूर्यवंशी एक राजा (रामकथा)

कुदतौ—सं०पु०—एक प्रकार का घोडा (शा.हो.)

कुदतार, कुदतौ—वि०—१ कृपण, कंजूस. २ नीच।

कुदरत—स०स्त्री०—१ शक्ति. २ प्रकृति, माया. ३ महिमा. ४ प्रभुत्व।

कुदरतपत, कुदरतपति—सं०पु०—ईश्वर, प्रभु।

कुदरता—स०स्त्री० [अ० कुदरत] माया, ईश्वरीय शक्ति। उ०—जिण राति पैदास की सो कायम कुदरता।—केसोदास गाडण

कुदरती—वि०—१ प्राकृतिक २ स्वाभाविक. ३ दैवी, ईश्वरीय। उ०—कुदरती किरतार की करणी वळिहारै।—केसोदास गाडण

कुदरसणी, कुदरसनी—वि०—देखने में अशुभ। उ०—हूं अहो कुचिल कुदरसनी, सकत सुहागन होय।—ह पु.वा.

कुदांन—सं०पु०यौ० [स० कु+दान] १ बुरा दान (लेने वाले के लिए) २ कुपात्र अथवा अयोग्य व्यक्ति को दान. ३ कूदने की क्रिया. ४ उतनी दूरी जितनी एक वार कूदने मे पार की जा सके. ६ पैर की जूती (अ मा.)

कुदाणौ, कुदावौ—क्रि०प्रे०रू०—कूदने के लिए प्रवृत्त करना।

कुदाणहार, हारौ (हारी), कुदाणियौ—वि०।

कुदायोडौ—भू०का०कृ०।

कुदात—वि०—कृपण, कजूस।

कुदार—सं०स्त्री० [सं० कु+दारा] १ वदचलन स्त्री, पतिता। उ०—कार कौ विगार सोच नार सैं कियौ, दार तैं कुदार पैर पोच मे दियौ।—ऊ वा.

कुदाळ—स०पु०—१ लोहे का बना खोदने का एक औजार जो प्रायः एक हाथ लबा और चार अंगुल चौडा होता है। २ वह घोडा जिसका ऊपर का जवडा लम्बा हो (शा.हो)

कुदाळतेज—देखो 'कुदाळ' (२)

कुदाळी—सं० स्त्री०—देखो कुदाळ' (१) (अल्पा०)

कुदाळौ—देखो 'कुदाळ' (१)

कुदाव—स०पु० [स० कु+दाव] १ बुरा दाँव, कुअवसर २ बुरा पेंच।

कुदिन—स०पु० [स०] १ आपत्ति का समय, बुरे दिन. २ एक सूर्योदय से लेकर दूसरे सूर्योदय के मध्य का दिन का परिमाण. ३ वह दिन जिसमे ऋतु-विरुद्ध या इसी प्रकार की और कष्ट देने वाली घटनाये हों।

कुदिस्टी—सं०स्त्री० [सं० कुदृष्टि] बुरी दृष्टि, बदनिगाह, पापभरी नजर।

कुदीळ—देखो 'कुदाळ' (अल्पा०) उ०—घर धूजत पाय धनंक धर, कर जोड कुदीळ खड़ग करं।—पा.प्र.

कुदेव—सं०पु० [स० कु+देव] १ भूदेव, ब्राह्मण.

कुभच्छ–सं०पु० [सं० कु+भक्ष्य] न खाने योग्य पदार्थ ।

कुभट–वि०—कायर, डरपोक । उ०—केइकां सुभटां विना कुभटां फगटां कीनी ।—अज्ञात

कुभरौ–सं०पु०—एक प्रकार का वृक्ष (रा.सा.सं.)

कुभारजा–सं०स्त्री० [सं० कु+भार्या] बुरी पत्नी, कलहप्रिय स्त्री ।

कुमंखी–वि०—क्रोध करने वाला । उ०—बारवेस जांम गाज गाळिया त्रकूटवासी । राजचील जाळिया तारखी तेज रूंस । कुमंखी कुळेसां इंद्र ढाळिया गिरंद काळा । वीर 'सिवा' वाळै रिमां राळिया विधूंस ।
—हुकमीचंद खिड़ियौ

कुमख्या–सं०स्त्री०—आसाम की कामाख्या देवी (रू.भे.)

कुमंत्री–सं०पु० [सं० कु+मंत्री] धूर्त्त एवं बुरा मंत्री, बुरा सलाहकार । उ०—आगै 'भीम' कुमत्री आंटै, विरड़ै तीजी वेळा । 'माधव' जिसा खिजाया रिड़मल, मंडिया ऊखळ मेळा ।—नवलजी लाळस

कुमंद—देखो 'कुमद' ।

कुमकी–सं०स्त्री० [तु० कुमक] वह हथिनी जो हाथियों को पकड़ने में सहायता करने के लिए सिखाई गई हो ।

कुमकुमई–सं०पु०—गुलाबजल । उ०—छांटा पांणी कुमकुमइं, वीभरण वीझ्या वाइ । हुई सचेती माळवी, प्री आगळि विलळाइ ।
—ढो.मा.

कुमकुमौ–सं०पु० [तु० कुमकुमा] १ लाख आदि का बना हुआ एक प्रकार का पोला, गोल या चिपटा लट्टू जिसमें अबीर और गुलाल भर कर होली पर लोग एक दूसरे पर मारते हैं. २ कुंकुम । उ०—पाग सुरंगी पीव री, साल प्रिय सूरंग । केसर भीना कुमकुमै. पुसवां भरिया पिलंग. ३ सिंदूर. ४ रंग विशेष का घोड़ा (शा.हो.) ५ गुलाब । उ०—वसत्र जु पहिरया छै सु कुमकुमौ कहतां गुलाब ।—वेलि. टी.

कुमकुमी–सं०स्त्री०—उन्मत्तता, मस्ती ।

कुमकुम्मौ—देखो 'कुमकुमौ' (रू.भे.) उ०—दळ चंपक जाय, तुळछी दम्मा, कपूर किसथूरी कुमकुम्मा ।—ईसरदास बारहठ

कुमख, कुमख–सं०स्त्री०—१ कोप, क्रोध, गुस्सा । उ०—पातल सुपह घपावसी, रातळ भूख म रक्ख । अरियां चा दळ ऊपरै, मारू तणी कुमक्ख ।—प्र.प्र. २ हीरा (अ.मा.)

कुमखा–सं०स्त्री०—कुदृष्टि, प्रकोप ।

कुमजा–सं०स्त्री० [सं० कर्म+जा वा कर्मन्+अजा, नक] भाग्य, प्रारब्ध उ०—गायां भेंस्यां रौ कर दीनौ गाटौ, लज्जा कुमजा रौ ले लीनौ लाटौ ।—ऊ.का.

कुमट, कुमटियौ–सं०पु०—एक प्रकार का कांटेदार वृक्ष जिसके फल फलीनुमा लगते हैं । उन फलियों के बीज को 'कुमट' या 'कुमटिया' कहते हैं । इनका शाक बनाया जाता है ।

कुमणा–सं०स्त्री०—कोप, क्रोध । उ०—किण कुमणा सूं ओ कारण, वेग वखांणौ हे ए माय ।—गी.रां.

कुमणैती–सं०पु०—कमनैती, बाण-विद्या में कुशलता । उ०—या, कुमणैती कंत री, और न पूगै ओज । चमठी खाली होवतां, नमठी चाली फौज ।—वी.स.

कुमत कुमति, कुमती–सं०स्त्री० [सं० कु+मति] दुर्बुद्धि, उल्टी मति । उ०—१ गयां कुमत लयां साधां संगत, स्यांम प्रीति जग सांची ।
—मीरां

उ०—२ अभिमांनी कुमती रे निसचर कुमती । म्हारा प्रांणां रा प्रीतम सूं बिछवौ थे कीयौ ।—गी.रां.

कुमद–सं०पु० [सं० कुमुद] १ कोका, लाल कमल. २ देखो 'कुमददंती' (वं.भा.)

कुमदणी—देखो 'कुमुदणी' (रू.भे.) उ०—आरसी उरसां निरखै रूप, कुमदणी हंस हंस पोवै हार ।—सांझ

कुमददती–सं०पु० [सं० कुमुद+दंतिन्] नैऋत्य दिशा का दिग्गज (ग.मो.)

कुमदनि, कुमदनी–सं०स्त्री०—रात्रि में चंद्रमा की रोशनी में विकसित होने वाली कोई, कुमुद ।

कुमदवंधु–सं०पु० [सं० कुमुदवंधु] चंद्रमा, चांद (ह.नां., अ.मा.)

कुमया–सं०स्त्री०—कोप, नाराजगी, गुस्सा । उ०—जु रांणौ इणसूं इतरी कुमया करै छै ।—नैणसी

कुमर–सं०पु०—कुमार, कुंवर, राजकुमार । उ०—संग रांम लक्ष्मण कूमर दसरथ, धरम-ध्रत रिण धीर ।—र.रू.

कुमरक–सं०पु० [सं० कुवरक] बुरा व भयानक गड्ढा । उ०—धुनाय धूलि अकरधां कुमरक में घसा करियौ ।—ऊ.का.

कुमरांणी–सं०स्त्री०—१ राजकुमार की धर्मपत्नी । उ०—चंदांणि कुमरांणी नूं आधांन सहित पिउहर ही मेल्हि आयौ ।—वं.भा. २ राजकुमारी ।

कुमरि—१ देखो 'कुंवरी' २ राजकन्या ।

कुमरिया–सं०स्त्री०—हाथियों की एक जाति जो उत्तम मानी जाती है ।

कुमरी—देखो 'कुंवरी' (रू.भे)

कुमलय–सं०पु०—कमल (अ.मा.)

कुमळाणौ, कुमळाबौ–क्रि०अ०—कुम्हलाना, मुरझाना, सूखना । उ०—ऊगतां अनेक कहतां उदार, प्रफूळत कमळ कवि मुख अपार । जोवतां कुमुद कुमळाइ जाइ, सुणतां ज कुकवि चख घर समाइ ।
—सू.प्र.

कुमळाणहार, हारौ (हारी), कुमळाणियौ—वि० ।

कुमळायोड़ौ—भू०का०कृ० ।

कुमळावणौ, कुमळाववौ—क्रि०स० (रू०भे०)

कुमळीजणौ. कुमळीजबौ—भाव वा० ।

कुमळीजियोड़ौ—भू०का०कृ० ।
(स्त्री० कुमळीजियोड़ी)

कुमळायोड़ौ–भू०का०कृ०—कुम्हलाया हुआ, मुरझाया हुआ ।
(स्त्री० कुमळायोड़ी)

कुवंग, कुवंगो–वि०—विरुद्ध। उ०—राजा आंगै पार री, जंग कुवंगां जीत। राजा पग वांधै रसा, राजा कुळ री रीत।—वी.स.

कुवड़ौ–वि० (स्त्री० कुवड़ी) जिसकी कमर झुकी हुई हो, जिसके कूवड़ निकला हुआ हो।

कुवज–वि०—१ नीच, नीचा. २ टेढ़ा, वक्र. ३ कुवड़ा (डि.को.)
सं०पु०—एक वायु रोग जिससे पीठ टेढ़ी हो जाती है, कुवड़ा रोग।

कुवजक–सं०पु०—कुंज, कूजा नामक वृक्ष विशेष। उ०—ताळ साळ मालिका वकुल कुवजक खरजूरी बोलसरी माधुरी निगर भरहरी सनूरी।—रा.रू.

कुवजका, कुवजा, कुवजीका, कुवज्जा, कुवज्या–सं०स्त्री० [सं० कुब्जिका] १ दुर्गा का एक नाम २ आठ वर्ष की कन्या. ३ कंस की एक कुवड़ी दासी जो श्रीकृष्ण पर प्रेम रखती थी। उ०—१ अहिल्या रेस दियौ तै अंग, सरीर कुवज्जा कीध सु चंग।—ह.र.
उ०—२ मीरां के प्रभु कव र मिलेंगे, कुवज्या आइ कांई याद।
—मीरां

कुवणंत–सं०पु०—वाण विद्या में निपुण धनुर्धारी। उ०—कढ़तौ कै दीठौ सखी, मिळतौ वांण समांण। कुवणंतां कर कंपिया, वळै न छूटा वांण।—वी.स.

कुवत–सं०स्त्री०—१ वुरी वात। उ०—कर कहिढय किरवांण, कुवत मुखते खळ कढ्ढिय।—ला रा. [अ० कुव्वत] २ वृद्धि।

कुवद–सं०स्त्री० [सं० कुबुद्धि] १ चालाकी, धूर्तता, नीचता।
उ०—परियां तणौ न हालै पेंडै। हालै कुवद विचार हीयै। दांनां मिनख न राखै डेरां, दांनां विण कुण सीख दियै।—वां.दा.
२ कुवुद्धि, मूर्खता।

कुवदी–वि० [सं० कुवुद्धि] १ धूर्त, चालाक. २ नीच, शैतान।
उ०—तामें खटके मामले सू सला संभारे, कुवदी क्या जांणे किया मियां मन हारे।—पदमसिंह री वात २ नटखट. ३ पाखंडी.

कुवदीड़ौ—देखो 'कुवदी' (अल्पा०)

कुवध–सं०स्त्री०—१ देखो 'कुवद' (रू.भे.) उ०—भेस धारतां कीदी भूंडी कुवधां केहड़लो।—ऊ.का.

कुवधमूळ–सं०पु०—चोर (ह.नां.)
वि०—वदमाश, कळहप्रिय, चालाक, धूर्त।

कुवधिड़ौ, कुवधी–वि०—१ देखो 'कुवदी' (रू.भे., अल्पा०)
२ चोर (अ.मा.)

कुवलय–वि०—नीला. आसमानी (डि.को.)

कुवळयापीड़–सं०पु०—एक हाथी का नाम। इसे कंस ने कृष्ण को मारने के लिए द्वार पर रक्खा था।

कुवळयासव–सं०पु० [सं० कुवलयाश्व] सूर्यवंशी राजा धुंधमार का एक नाम (सू.प्र.)

कुवस–वि०—अमांगलिक, अशुभ।

कुवांण–सं०स्त्री०—१ कुटेव, वुरी आदत. २ कुत्सित वाणी।
उ०—वांणी हर वीसार कर, वंचै आंन कुवांण।—ह.र.
सं०पु० [अ० कमान] ३ धनुष, कमान। उ०—पाथ धाटां जंग रूपी कुवांणां नवाई पांणां। सनाटां पौढ़ियौ थाटां सवाई 'सोभाग'।
—हुकमीचंद खिड़ियौ

कुवाक–सं०पु० [सं० कुवाक्य] कुवचन, टेढ़ा बोल, कटुवचन, गाली।

कुवाड़ौ–वि०—अपशब्द उच्चारण करने वाला।

कुविज्या—देखो 'कुवजा' (रू.भे.)

कुवुद—देखो 'कुवद' (रू.भे.)

कुवुध—देखो 'कुवुद' (रू.भे.) उ०—परमेस्वर आ किसी उपाध की, मोनूं किसी कुवुध आई।—नैणसी

कुवेणी–सं०स्त्री० [सं० कुवेनी] १ मछली फँसाने का यंत्र (डि.को.)
२ शिकार की मछली रखने की डलिया।

कुवेर–सं०पु० [स० कुवेर] यक्षों का राजा एक देवता। ये महर्षि पुलस्त्य के पोते और ऋषि विश्रवा के पुत्र थे। कुरूप होने के कारण कुवेर कहलाये। इनके ३० पैर व ८ दांत माने जाते हैं। ये चतुर्थ लोकपाल हैं तथा भारद्वाज की कन्या देववर्णिनी इनकी माता है। नौ निधियों के ये भंडारी हैं।
पर्याय०—अलकापत, उतरपत, उत्तरदिकपती, एकपिंग, एळविळी, कमळासी, कमेर, किंनरेस, किंपुरखेसर, कुमेर, कुवेर, जखराट, जखावीस, जच्छप, दसतोदर, धनईस, धनंद, धनाधिप, नरधरमा, नरवाहण, निधि-ईसवर, पौलस्त, वैश्रवण, सितोदर, हरसखा।

कुवेरतळाई–सं०पु०—एक प्रकार का अशुभ रंग का घोड़ा (शा.हो.)

कुवेरियां–सं०स्त्री०—कुसमय। उ०—करहौ कंथ कुवेरियां, सुगणी मारू सग। वांमै ऊमर सूमरौ, ताता खड़ै तुरंग।—ढो.मा.

कुवेरी–सं०स्त्री०—१ कुवेर की स्त्री. २ दुर्गा का एक नाम।
उ०—देवी कौमारी चामुंडा विजैकारी, देवी कुवेरी भैरवी क्षेमकारी।
३ लक्ष्मी। —देवि.

कुवेळा–स०स्त्री०—असमय, कुसमय।

कुवेनौ–वि०पु० (स्त्री० कुवेनण) १ वुरा आदमी. २ वैरी, दुष्ट।

कुवैण–सं०पु० [सं० कु+वचन] कुवचन, वुरे वचन। उ०—जिण कुवैण महियौ जिकौ, रहियौ वैठौ राव। लाल सु चुग अग्रज लगे, ऊफणियौ अणमाव।—वं.भा.

कुवोध–सं०पु० [सं० कु+वुद्धि] कुवुद्धि, मूर्खता, ज्ञानाभाव।
वि०—दुर्वोध।

कुवोल–सं०पु०—अपशब्द, कटुवचन, कुवचन। उ०—वे वुनियाद कुवोल कहि, वकवाद वधारे। तामें कणेठी कड़किया, वळ जेठी वारे।
—पदमसिंह री वात

कुवोलौ–वि०पु० (स्त्री० कुवोली) अपशब्द वोलने वाला (ह.नां.)

कुव्वौ–वि०—कुवड़ा, मुड़ा या झुका हुआ (अंग) (अमरत)

कुब्ज–सं०पु०—१ वायु-विकार से होने वाला एक प्रकार का रोग जिससे छाती या पीठ टेढ़ी होकर उभर जाती है. २ इस रोग का रोगी (अमरत)

कुमौत-सं०पु०—वेमौत, अकाल मृत्यु ।

कुम्म-सं०पु० [सं० कुर्म, प्रा० कुम्म] १ कच्छप, कछुआ.
२ कछवाहा वंश (वं.भा.)

कुम्मट—देखो 'कुमट'।

कुम्मांथळ—देखो 'कुंभायळ'। उ०—गौ काळी कुम्मांथळां, काळ गजां सिर काळ ।—वचनिका

कुम्मेद—देखो 'कुमैत' (रू.भे) उ०—घोड़ा सात सौ अवलख, समदा-भंवर गंगाजळ संजव कुम्मेद और गुलदारी फुलवारी तयार कराया ।—जलाल बूबना री वात

कुम्मेर—देखो 'कुबेर' (रू.भे.) उ०—आविया वरुण कुम्मेर इंद्र ।
—सू.प्र.

कुम्हळणौ, कुम्हळबौ-क्रि०अ०—कुम्हलाना, मुरझाना । उ०—कंवळा कूंपळ अवर कुम्हळिया घणी निसासां, कोरे मंजरि लूखी लट मुग्ध हिले उसासां ।—मेव०

कुम्हळाणौ, कुम्हळाबौ—देखो 'कुमळाणौ' (रू.भे.)
उ०—मुखड़ौ कुम्हळायौ भोजन विण भारी ।—ऊ.का.

कुम्हळायोड़ौ-भू०का०कृ०—कुम्हलाया हुआ । (स्त्री० कुम्हळायोड़ी)

कुम्हारियौ-सं०पु०—१ अत्यंत जहरीला एक सर्प विशेष.
२ देखो 'कुम्हार' (अल्पा०) उ०—वाई ओ म्हारै घरे है टीपरियां रौ कांम, कुम्हारिया रौ वेटौ वत्ती झेलसी ।—लो.गी.

कुयीजणौ, कुयीजबौ-क्रि०अ० [सं० कुय्-पूती भावे] सड़ना, खमीर उठना ।

कुयीजियोड़ौ-भू०का०कृ०—सड़ा हुआ, खमीर उठा हुआ ।
(स्त्री० कुयीजियोड़ी)

कुयोग-वि०—कुअवसर, बुरा अवसर, बुरा मौका । उ०—अयोग हूं कुयोग में यथा नियोग कीजिये ।—ऊ.का.
सं०पु०—बुरा संयोग, कुअवसर ।

कुरं-सं०पु०- -कोख (पि.प्र.)

कुरंग-सं०पु० [सं०] १ हरिन, मृग (अ.मा.) २ कुम्मैत रंग का घोड़ा (शा.हो.) ३ संसार (अनेका०) ४ पतंग (अनेका०)
वि०—१ बुरे रंग का, बदरंग । उ०—दळपति दोमभि हुय दुरंग, कियौ कमरौ' जिण भांजि कुरंग ।—रा.ज.रासौ
[सं० कु+रंग] २ असुहावना. उ०—हंस कर बोली माळवणि, सांभळ कहै कंत सुरंग । सगळा देस सुहांमणा, मारू देस कुरंग ।
३ चंचल* (डि.को.) —ढो.मा.

कुरंग, कुरंगाण-सं०पु० [सं० कुरंग] हरिण, मृग.
देखो 'कुरंग' (१) (रू.भे.)

कुरांग, कुरंगी—देखो 'कुरंग' (रू.भे.) उ०—१ सुंदरि सोवन वरण तसु, अहर अलत्ता रंगि। केसरि लंकी खीण कटि, कोमळ नेत्र कुरंगि ।
—ढो.मा.
उ०—२ लछी रा वचन सांभळे कमळ लोयणां, लोयणां कुरंगी लियां लारा ।—र.रू.

कुरंज-सं०पु० [सं० क्रौंच] क्रौंच पक्षी ।

कुरंद-सं०पु०—दारिद्रय, निर्धनता, कंगाली । उ०—मन रा महाराण समापण मोजां, कापण दीनां तणा कुरंद ।—र.रू.

कुरंदा, कुरंद्रा-सं०स्त्री०—दरिद्रता, निर्धनता ।

कुरंब-सं०स्त्री०—इज्जत, प्रतिष्ठा, सम्मान । उ०—पारख स्री राण करै अत प्रभता, अंग आरख दरसाय । धन धन भूप 'अमर' छत्रधारी, येळा कुरंब सदाय ।—अज्ञात

कुरंभ-सं०पु० [सं० निकुरंभ] समूह (अ.मा.)

कुरंभौ-सं०पु० [सं० कूर्म] १ कछुआ. २ कछवाहा वंश ।
उ०—लाखां हाडां गोड़ री, कुरंभा आडी लीक ।—नवलजी लाळस

कुरप-सं०पु०—१ क्षत्रियों के अंतर्गत कछवाहा वंश. २ इस वंश का क्षत्रिय. ३ कछुआ (अ.मा.)

कुरंमी-वि०—क्षत्रियों के कछवाहा वंश का या कछवाहा वंश संबंधी ।

कुरंम्म—देखो 'कुरम' (रू.भे.)

कुर-सं०पु०—कौरव (अल्पा.) उ०—कुर पंडव जीहा अमर, कळ रक्खण कथ्यां ।—द.दा.

कुरक—देखो 'कुड़क' (रू.भे.)

कुरकअमीन—देखो 'कुड़क-अमीन (रू.भे.)

कुरकनांमौ-सं०पु०—अदालत का वह परवाना जिसके अनुसार कुर्क अमीन किसी की जायदाद कुर्क करता है ।

कुरकांट, कुरकांठ-सं०पु०—फैले हुए अंगूठे और बंद मुट्ठी की लम्बाई का माप ।

कुरकी—देखो 'कुड़की' (रू.भे)

कुरकर-सं०पु०—१ कुत्ता, श्वान (डि.को.) [अनु०] २ किसी खरी वस्तु के दब कर टूटने का शब्द ।

कुरकुरी-सं०स्त्री०—घोड़े का एक रोग विशेष जिसमें उसका पाखाना और पेशाब बंद हो जाता है (शा.हो.)

कुरकुरौ-वि०—दरदरा, मोटा ।
कहा०—कुरकुरा पीसै झरझरा पोवै जिण रा मांटी रात्यूं रोवै—फूहड़ स्त्री के प्रति ।

कुरख-सं०पु०—१ क्रोध । उ०—समहर भर थटै 'बाहदर' असमर, कटै वैरहर भर कुरख । जगा खून आवटै त्रिया जां, सर चौसट ऊछटै नुरख ।—कविराजा करणीदांन
२ कवच को बंद करने के हुक ।
[सं० कुलक्षय] ३ शत्रु (अ.मा.) उ०—फैले दळ अकळ सवळ संघ फूटा, कांकळ बळ जूटा कुरख । राड़ी तेग डाढ़ धर राखी, राजा घर वाराह रुख ।—चांवंडदांन दधवाड़ियौ. ५ राजा, नृप (मि. 'भूपाळ')

कुरखेत, कुरखेतर-सं०पु० [सं० कुरुक्षेत्र] एक अति प्राचीन पुण्य-स्थान । यह अंबाला और दिल्ली के बीच में स्थित है । महाभारत का युद्ध यहीं हुआ था । कुरुक्षेत्र । उ०—कनक दांन कुरखेत, विरधि गुणि वासुर-वासुर ।—रा.रू.

कुमळावणौ, कुमळाववौ—देखो 'कुमळाणौ' (रू.भे.) उ०—कविजन व्रन्द कंवळ कुमळाया, गीत कुकवि जणु स्याळां गाया ।—ऊ.का.

कुमळावियोड़ौ—भू०का०कृ०—कुम्हलाया हुआ, मुरझाया हुआ । (स्त्री० कुमळावियोडी)

कुमळियापीड़—देखो 'कुवळियापीड़' । उ०—कुमळियापीड़ सिर विकट आग्राज कर, कड़छियौ कांन नटराज काळौ ।—वां.दा.

कुमांण—वि०—१ दुष्ट, क्रूर, निर्दयी. २ कपटी, बुरा ।

कुमांणस—सं०पु० [स० कु+मानस] १ बुरा मनुष्य, नीच व्यक्ति. २ अयोग्य या पतित व्यक्ति. ३ कुपात्र ।

कहा०—कुमांणस सूं पांनौ पड़ै जद कोड़ विघन हुवै—कुपात्र से प्रसंग पड़ने पर अनेक उत्पात या बाधाएँ उपस्थित होती हैं ।

४ राक्षस । उ०—उलिगणां गुण वरणतां कुकठ कुमांणसां जिण कहई रास ।—वी.दे.

· [स० कु+मौत] अकाल मृत्यु, बुरी मौत ।

कुमानेतण—वि०—वह स्त्री जिसका पति उसका मान न रखता हो ।

कुमाई—देखो 'कमाई' (रू.भे.) उ०—पियारी नार गोरी की कुमाई सूं पूरा ना पड़ै ।—लो.गी.

कुमाणी, कुमावौ—क्रि०स०—उपार्जन करना । देखो 'कमाणौ' (रू.भे.) उ०—जिकण रा सीलणां में सहियौ न जाइ इसड़ा अनेक अनरथ कुमाइ मनमत्तै वहै तिकण री अंत तौ इसड़ौ खटावै ।—वं.भा.

कुमायोड़ौ—भू०का०कृ०—कमाया हुआ, उपार्जित । (स्त्री० कुमायोड़ी)

कुमार—सं०पु० [सं०] १ पाँच वर्ष की आयु का बालक, बालक (ह.नां.) २ पुत्र, बेटा. ३ युवराज. ४ राजकुमार. ५ स्वामी कार्तिकेय (मिघ०) ६ सनक, सनंदन, सनत्, सुजात आदि ऋषि जो सदा बालक ही रहते हैं (पौराणिक) ७ एक ग्रह जिसका उपद्रव बालकों पर होता है (अमरत) ८ मंगल-ग्रह. ९ एक प्रजापति ।

वि०—अविवाहित, कुंआरा ।

कुमारक—देखो 'कुमार' ।

कुमारग—सं०पु० [सं० कुमार्ग] १ बुरा मार्ग, बुरी राह ।

पर्याय०—अपथ, ऊवट कदवव, कापथ, विपथ ।

२ अधर्म ।

कुमारगगामी—वि० [सं० कुमार्ग+गामिन्] १ कुपंथी, कुमार्गी. २ अधर्मी ।

कुमारगी—वि० [सं० कुमार्गिन्] १ बदचलन, कुचाली. २ अधर्मी ।

कुमारड़ी—सं०स्त्री०—१ अविवाहिता कन्या, कुमारी ।

उ०—कद हूं कवी कुमारड़ी, कहि नै कद परिणेसि । कदहूं वाजू कोटड़ै, बीजा वहू कहेसि ।—सयणी री वात ।

२ कुम्हार जाति की स्त्री (अल्पा०)

कुमारपण, कुमारपणौ—सं०पु०—१ कुमारावस्था. २ कौमार्यावस्था । उ०—पहली जैतारण रै सांखलै राजा महराज कुमारपणै नरवद हूं आपरी बड़ी पु ी रौ संबंध कीधौ ।—वं.भा.

कुमारमग—सं०पु०—आकाश गंगा ।

वि०वि०—देखो 'कुंआरमग' ।

कुमारमहि, कुमारमही—सं०पु०—मंगल (अ.मा.)

कुमारिका—सं०स्त्री०—कुमारी, कन्या ।

कुमारिकाखेत्र, कुमारिकामंडळ—सं०पु० [सं० कुमारिकाक्षेत्र] वह स्थान जहाँ वर्ण-व्यवस्था हो, भारतवर्ष । उ०—जिण समय रा कोविद लोग अवंती अधीस रा दीधा अन्न रा आस्रय विनां कुमारिकामंडळ कवण रहै ।—वं.भा.

कुमारिल भट्ट—सं०पु० [सं०] शंकर भाष्य और अन्य स्रोत सूत्रों के टीकाकार एक प्रसिद्ध मीमांसक ।

कुमारी—सं०स्त्री० [सं०] १ बारह वर्ष तक की कन्या. २ घीकुंआर । ३ श्यामा पक्षी. ४ सीताजी का एक नाम. ५ पार्वती (क.कु.बो.) ६ दुर्गा. ७ चमेली. ८ भारत के दक्षिण का एक अंतरीप ।

वि०—अविवाहिता ।

कुमारी पूजन—सं०पु०—एक प्रकार की पूजा जो देवी के पूजन के समय होती है और जिसमें कुमारी बालिकाओं का पूजन करके उन्हें मिष्ठान्न आदि दिया जाता है (तंत्र)

कुमारौ—देखो 'कुमार' (रू भे.)

कुमी—देखो 'कमी' (रू.भे.) उ०—जिण समय राठौड़ चंद्रहास चलावण में कुमी न कीधी ।—वं भा.

कुमीठ—सं०स्त्री०—कुदृष्टि ।

कुमुख—सं०पु० [सं०] १ रावण का दुर्मुख नामक एक योद्धा. २ सूअर ।

वि०—भद्दे चेहरे वाला, जिसका चेहरा देखने में अच्छा न हो ।

कुमुद सं०पु०—१ कोका, कमल २ विष्णु. ३ एक दैत्य. ४ एक द्वीप. ५ आठ दिग्गजों मे एक दिग्गज का नाम (वं.भा.) ६ एक केतु तारा ।

कुमुदणी—सं०स्त्री० [सं० कुमुदिनी] १ रात्रि में चंद्रमा की रोशनी में विकसित होने वाली कोई, कुमुद । उ०—दिपै अलील कुंड में खिली कुमुदणी, नमांमि मात इंदरा 'समंद' नंदणी ।—मे.म. २ वह स्थान जहाँ कुमुद हो ।

कुमेड़ियौ—सं०पु०—एक छोटी जाति का हाथी ।

कुमेत—देखो 'कुमैत' (रू भे.)

कुमेर—देखो 'कुबेर' (१) (रू.भे.) (ह.नां.) उ०—सोभन अवास सोभा सुमेर कोटक भंडार समसर कुमेर ।—सू.प्र. २ पाठ नामक एक लता (अ.मा.)

कुमेळ—सं०पु०—अनबन, द्वेष, दुश्मनी, वैमनस्य (ह.नां)

कुमैत—सं०पु०—१ घोड़ों का एक रंग जो स्याही लिए लाल होता है, लाखी. २ इस रंग का घोड़ा (शा.हो.)

कुमौज—सं०पु० [सं० कु+फा० मौज] १ नाखुशी. २ कष्ट. ३ मस्ता एवं बुरा मनोरंजन । उ०—विभीचारी विभचार, कर कुळ धरम गोप कुमौज । लूट गया इण मलक में, लुड़ातौ हुवौ न खोज ।—ऊ.का.

कुररि-संस्त्री० [सं० कुररी] १ मादा भेड़ (डि.को.) २ एक पक्षी विशेष।

कुररियौ—देखो कुरियौ-काचौ'।

कुररी-संस्त्री०—१ क्रौंच पक्षी. २ आर्या छंद का एक भेद जिसके चारों चरणों में मिला कर ४ गुरु और ४९ लघु वर्ण सहित ५७ मात्रायें होती हैं. ३ देखो 'कुररि'।

कुररौ—१ देखो 'कुरियौ-काचौ'. २ कटु, अप्रिय। उ०—दळपत कन्हीरांमोत बात डेरै बैठे कही सो विही जाय रांमसिह नूं कही जो कन्हीरांमोत वखतसिहजी सूं मिळियोड़ौ छै। तद रांमसिहजी कुररौ जवाब दियौ।—मारवाड़ रा अमरावां री वारता

कुरळ-वि०—लाल रंग का, लाल।

संपु०—लाल रंग।

कुरळणौ, कुरळबौ-क्रिअ०—१ कराहना, दर्द से व्याकुल होकर ध्वनि करना। उ०—राति जु सारस कुरळिया, गुंजि रहे सब ताळ। जिणकी जोड़ी बीछड़ी, तिणका कवण हवाल।—ढो.मा.

२ चीखना चिल्लाना। उ०—१ कुरळे केकी सी काया कुम्हळांणी।
—ऊ.का.

उ०—२ वीरपतियां मूती वणी, कुरळै चकवी काय। देखीजै मुण दीहरै, मुख दा जांम सिवाय।—वी.स. ३ कलह करना. ४ कलरव करना, किल्लोल करना. ५ रुदन करना, विलाप करना। उ०— वांह अटोळी कुरळै वीवी, वर सहु दूदै वहिया।
—राठौड़ दूदै जोधावत री गीत

७ व्याकुल होना (रू.भे. 'कुरळाणौ')

कुरळाट-संपु०—रुदन, विलाप, व्याकुल।

कुरळाणौ, कुरळावौ, कुरळावणौ, कुरळाववौ-क्रिअ०—देखो 'कुरळणौ'। उ०—मूरख भगतां सोर मचायौ, काळी रात जरख कुरळायौ।
—ऊ.का.

कुरळौ-संपु० [सं० कुरल:] कुल्ला, गरारा। उ०—दांतण कुरळा हूहूं ऊठि नह करै अभागी, अग छागी असळाख लाखां माख्यां मुख लागी।—ऊ.का.

कहा०—भैंस किसौ कुरळौ करै जिकौ सेर घी देवै—प्रायः प्रातःकाल दातुन-कुल्ला न करने वाले व्यक्ति कहा करते हैं।

कुरवंसी-संपु० [सं० कौरव+वंशी] कौरववंशी, कौरव।

कुरवावरत-संपु०— घोड़े का अशुभ चिन्ह (शा.हो.)

कुरसी-संस्त्री [अ०] १ एक प्रकार की चौकी जिसके पाये कुछ ऊँचे होते हैं और जिसमें पीछे की ओर सहारे के लिये पटरी या इसी प्रकार की कोई चीज लगी रहती है. २ वह चबूतरा जिसके ऊपर इमारत या इसी प्रकार की कोई चीज बनाई जाती है। यह आस-पास की भूमि से कुछ ऊँची होती है. ३ पीढ़ी, पुश्त (यौ. कुरसीनांमौ) ४ पद (रू.भे. खुरसी)

कुरसीनांमौ-संपु० [अ० कुरसीनामा] वह पत्र जिसमें वंश-परम्परा लिखी हुई हो, वंश-वृक्ष, पुश्तनामा।

कुरसीवंध-वि०—प्रतिष्ठित। उ०—थे सगळा भला मांणस छौ पखां पूरा छौ, कुरसीवंध छौ।—सूरे खींवे री वात

कुरस्तौ-संपु०—कुमार्ग, बुरी राह।

कुरहा-संपु०—राठौड़ों के प्रसिद्ध तेरह वंशों के अन्तर्गत एक वंश (वां.दा. ख्यात)

कुरहावणौ, कुरहाववौ-क्रिस० [सं० कुश्लाघनम्] १ नापसंद करना. २ बदनाम करना. ३ अपयश देना. ४ घृणा करना।

कुरांड-संस्त्री०— वदचलन स्त्री।

कहा०—कुरांड कांचळियां सूं ई मूंगी—व्यभिचारिणी स्त्री के प्रति; उस कार्य के प्रति जिसमें लाभ की अपेक्षा मूल पूंजी की भी जाने की या हानि की संभावना हो।

कुरांण-संपु० [अ० कुरान] अरबी भाषा में लिखा मुसलमानों का धर्म-ग्रन्थ कुरान। उ०—प्रमेसर तोरा पांय प्रळोय, कुरांण पुरांण न जांणै कोय।—ह.र

कुरांणिन, कुरांणी-संपु०—कुरान पर विश्वास करने वाला, मुसलमान उ०—कर पाठ कुरांणी सिलह कीध, चल चढ़े सकळ नीसांण दीध।
—शि.सु.रू.

कुरांपिंड-संपु०— चावल या आटे के बने पिंड (कर्मकांड)

उ०—फेर कंवर रा कुरांपिंड भराया, रोहणी कुंड तरपण किया।
—पलक दरियाव री वात

कुरावणौ, कुराववौ—देखो 'कुरहावणौ' (रू भे.)

कुराह-संस्त्री० [सं० कु+फा० राह] १ कुमार्ग, बुरी राह। उ०—वदलाह सलाह वधारत क्यूं, पद ताह कुराह पधारत क्यूं।
—ऊ का.

[सं० कु+श्लाघा] १ अपयश, अपकीर्ति २ निंदा।

कुराही-वि०—कुमार्गी, वदचलन, दुराचारी। उ०—कहै जसकरन द्रव्य हरन उपाय विन कुटिल कुराही गण दुरजन उदास भौ।
—जसकरण

कुरिंद, कुरियंद-संपु० [सं० कुध्र] १ पहाड़. २ दारिद्रय, कंगाली (डि.को.) उ०—घर अरि नांन्हा सिंघ घातिया, कुरिंद तठै जाइ वास करि।—दुरसौ आढ़ौ

३ भील. [सं० कुन्द्रेन्द्र] ४ रुद्र, महादेव। उ०—वे जुटाळा जोध तेगां चाळा नरा ताळा वागा, क्रोध ज्वाळा माळा जागा किरीटी कुरिंद।
—हुकमीचंद खिड़ियौ

वि०—दरिद्र, निर्धन।

कुरियौ—१ देखो 'कुरियौ-काचौ'।

संपु०—२ ऊँट का छोटा वच्चा।

कुरियौ-काचौ-विपु०यौ०—जव वर्षा की कमी के कारण अनाज बहुत कम या साधारण हुआ हो (वर्ष)

कुरी-संपु०—१ शत्रु। उ०—आंबानेर वीकपुर वेहूं अै, नर कुरीयां उतारण नीर।—अज्ञात २ वर्षा ऋतु में होने वाली एक घास विशेष।

कुरड़-सं०स्त्री०—१ पीठ। उ०—सुजड़ अघकाव जड़ कुरड़ परवाह सक, दूठ ऊमरड़ सत्रां होम देहा।—कविराजा करणीदांन
२ पंवार वंश की एक शाखा।

कुरड़ौ-सं०पु०—१ अरबी और तुर्की जाति के घोड़ा-घोड़ी के जोड़ से उत्पन्न एक दोगली जाति का घोड़ा (शा.हो.) २ देखो 'कुरळौ' (रू.भे.) उ०—संकर सागर हुयायौ सुरड़ा, करण मिळै नहीं पांणी कुरड़ा।
—ऊ.का.

कुरचणौ, कुरचबौ-क्रि०स०—देखो 'खुरचणौ' (रू.भे.)

कुरचिल-सं०पु० [सं० कुरचिल्ल:] केंकड़ा (डि.को.)

कुरछी-सं०स्त्री०—कलछी, चम्मच।

कुरज-सं०स्त्री०—१ क्रौंच पक्षी। उ०—सासूजी नै कहियौ कुरजां पगेलागणा, छोटे से देवरिये नै प्यार कहीज्यौ—ए उडती कूजरियां।
२ एक राजस्थानी लोक गीत। —लो.गी.

कुरजणियौ, कुरजणौ-सं०पु०—१ एक राजस्थानी लो.गी. २ एक प्रकार की बरसाती घास।

कुरजीत-सं०पु०—युधिष्ठिर (अ.मा.)

कुरझ-सं०पु०—देखो 'कुरज' (रू.भे.) (अल्पा. 'कुरझड़ी')
उ०—जिणि दीहे पाळउ पड़इ, माथउ त्रिड़इ तिलांह। तिणि दिन जाए प्राहुणउ, कळियळ कुरझड़ियांह।—ढो.मा.

कुरझण-सं०स्त्री०—१ क्रौंच पक्षी। उ०—पेखौ पड़ी पलंग पर कुरझण कुरळाती। कियौ गजब कांय कवरजी मूंधा मुरझाती।
२ देखो 'कुरजणौ' (रू.भे.) —र. हमीर

कुरझी-सं०स्त्री०—देखो 'कुरज'। उ०—चुगइ चितारइ, भी चुगइ, चुगि-चुगि चित्तारेह। कुरझी बच्चा मेल्हि कइ, दूरि थकां पाळेह।
—ढो.मा.

कुरट-वि०—काला, श्याम। उ०—काजळ सा बाळा कुरट, बादळ झबकै बीज। थळ पर थळ सयापणा, प्रेमासकत पमीज।—अज्ञात

कुरटणौ, कुरटबौ-क्रि०स०—कुतरना, दांतों से छोटा सा टुकड़ा काटना।
कुरटणहार, हारौ (हारी) कुरटणियौ—वि०।
कुरटाणौ, कुरटाबौ, कुरटावणौ, कुरटावबौ—प्रे०रू०।
कुरटायोड़ौ—भू०का०कृ०।
कुरटिग्रोड़ौ, कुरटियोड़ौ कुरटचोड़ौ—भू०का०कृ०।
कुरटीजणौ, कुरटीजबौ—कर्म वा०।

कुरटाणौ, कुरटाबौ, कुरटावणौ, कुरटावबौ-क्रि०स० [प्रे०रू०] कुतरने का कार्य कराना। देखो 'कुरटणौ'।

कुरटियोड़ौ-भू०का०कृ०—कुतरा हुआ, दांतों से छोटे-छोटे टुकड़े किया हुआ (स्त्री० कुरटियोड़ी)

कुरड—देखो 'कुरड़' (रू.भे.)

कुरडौ—'कुरड़ौ' (रू.भे.)

कुरणा-सं०स्त्री०—१ करुणा. २ हल्का बुखार।

कुरणाटौ-सं०पु०—१ बक-झक करने की क्रिया. २ दर्द में रह रह कर कराहना।

कुरत-सं०स्त्री० [सं० कु+ऋतु] बेमौसम।

कुरती—देखो 'कुड़ती'। उ०—कुरती कचिया मखतलन की, उर माळ चमेलिय फूलन की।—ला.रा.

कुरदसियौ-वि०—कुलक्षणों वाला। उ०—क्रूर उनाळै हरियां पतां, चिड़कोल्यां चग चग करै। कुरदसिया कुत्ता बिल्ला चढ़, रेळ रंग रळ भंग भरै।—दसदेव

कुरदांतळी-सं०स्त्री०—एक प्रकार का पक्षी विशेष। उ०—पंचे देखिनै कह्यौ कुरदांतळी रा ईडा ल्यावै तैरी वडाई।—चौबोली

कुरनस-सं०पु० [तु० कुर्नुश] झुक कर प्रणाम करना। उ०—तद पातिसाहजी वीरमदेजी नै फुरमायौ, कंवरजी, हम तुमारै तांई हमारी लड़की साह-बेगम दीघी, कुरनस करौ।
—वीरमदे सोनगरा री वात

कुरपण-सं०पु०—कपड़े या चमड़े का वह अनावश्यक भाग जो उपयोग करते समय छोटे-छोटे टुकड़ों में रह जाता है।
वि० [सं० कृपण] कंजूस।

कुरपत-सं०पु० [सं० कौरव+पति] कौरवपति दुर्योधन।
उ०—कुरपत के मेवा कहर, चित नाही धारे। विलकुल खाधी विदुर घर, भाजी भलकारे।—भगतमाळ

कुरपौ-सं०पु०—चमड़े या कपड़े का छोटा सा बेकार टुकड़ा।

कुरब-सं०पु०—इज्जत, प्रतिष्ठा, सत्कार। उ०—१ बावन पिड़गनां तौ रायसल नै साहि दीनां, सारा पंचझारी का मुनासब कुरब कीना।
—शि.वं.
उ०—२ अवल उकील नूं जी आदर कुरब दे अवधेस।—र.रू.

कुरबक-सं०पु० [सं० कुरवक] अड़ूसे की तरह का कांटेदार एक प्रकार का पौधा। उ०—कुरबक अच्छां वाड़ माधवी कुंज सुरागी।
—मेघ.

कुरबरा-सं०स्त्री०—इज्जत, प्रतिष्ठा (मा.म.)

कुरबांण-वि० [अ० कुरबान] जो न्योछावर किया गया हो, जो बलिदान हो गया हो अथवा किया गया हो। उ०—सुपियारी रानळ सहिज, भालाळी जिम भांण। इण जोड़ी रै ऊपरै, कोड़ करूं कुरबांण।
—पा.प्र.

कुरबांणी,कुरबांनी-सं०स्त्री०—१ किसी देवता आदि के लिए किसी जीव को बलिदान करने की क्रिया, कुरबान करने का काम।
उ०—लागी फेट किस्त की लखियै, हुई इते बड़ हाणी। तीजै पग रौ एक तोरड़ौ, कियौ प्रथम कुरबांणी।—ऊ.का.
२ त्याग, उदारता।

कुरब्ब—देखो 'कुरब' (रू.भे.)

कुरम—देखो 'कूरम' (रू.भे.) उ०—कुरमां नाप जगां धार आंटीपणै, नांमी फोजां फाटी पणै हरांमी नधीग।—महाराजा मांनसींघ रौ गीत

कुरमदन-सं०पु०—स्वर्ण, सोना (ह.नां.)

कुरराव-सं०पु० [सं० कुरुराज] कौरवराज, दुर्योधन।

कुलड़, कुलड़ौ–सं०पु० [सं० कुम्भक] (स्त्री० कुलड़ी) दूध-दही रखने का मिट्टी का पात्र विशेष। उ०—१ कुलड़ कटोरदांन कचोळा लोटां ऊखळ माटड़ी।—दसदेव उ०—२ नव लख सोरठ नाथ तैं, कीनो कुलड़ी ऋपत।—पा.प्र.

कहा०—१ कुलड़ी मांयै करण नी नै कागा भाचे नूतूं—कुल्हड़ी में तो करण भी नहीं है और कहता है कि मैं काका भाई को निमंत्रित करूं। अन्न के विना भोजन नहीं हो सकता. २ कुलड़ी में गुड़ गाळणौ—छिप कर कार्य करना. ३ कुलड़ी में गुड़ किताक दिन गळै—छिप कर कार्य कितने दिन तक किया जा सकता है? ४ कुलड़ी में गुड़ नी फोड़णी आवै—कोई वड़ा कार्य गुप्त रीति से नहीं किया जा सकता. ५ घी ढूळियौ तोई कुलड़ी रै परवांण—किसी की हानि उसकी सामर्थ्यानुसार होने पर।

(अल्पा० 'कुलड़ियौ')

कुलच–सं०पु०—बुरे लक्षण, कुलक्षण, अवगुण, ऐब।

कुळचाळौ–सं०पु० [सं० कुलाचार] १ कुल व वंश की मर्यादा के अनुसार किया जाने वाला कार्य. २ युद्ध। उ०—चढ़ असहां करणा कुळचाळा, घर दुमहां उर धोख।—अज्ञात

कुलचौ–सं०पु०—वह ऊँट जिसके पीछे के पैर का मुरचा उतरा हुआ हो और जो लंगड़ा चलता हो।

कुलच्छणवंत–वि०—देखो 'कुलखणौ' (रू.भे.) उ०—छोडे जे निज छांह नूं, चाळा बहु चाहंत। पवनां सूं बाथां पड़ैं, विदर कुलच्छणवंत।—वां दा.

कुलच्छणौ–वि० (स्त्री० कुलच्छणी) देखो 'कुलखणौ' (रू.भे.)
उ०—कड़कै वीज कुलच्छणी. गाजै घण गंभीर। – वादळी

कुलछ. कुलछण—देखो 'कुलखण' (रू.भे.)

कुळजा–सं०स्त्री०—पुत्री (अ.मा.)

कुलट–वि० [सं०] १ बहुत पुरुषों से प्रेम करने वाली, व्यभिचारिणी, वदचलन. २ नृत्य के समय पैरों को रखने का ढंग।
उ०—ग्रीवछड़ ग्रीवछड़ अक्र पग घरंती कुलट नट वटा ज्यूं मक्र करंती।—गिरवरदांन सांदू. ३ देखो 'कुलटा' (३)

कुलटा–सं०स्त्री० [सं०] १ बहुत पुरुषों से संभोग कराने वाली, पतिता व्यभिचारिणी स्त्री। उ०—चंद्रकिरणि कुलटा सु निसाचर, प्रवृित अभिसारिका द्रिठ।—वेलि. २ वेश्या, पतुरिया (डि.को.) ३ घोड़े की एक चाल विशेष. ४ टेढ़ी आकृति. ५ नाच, नृत्य. ६ जमीन, भूमि (अ.मा.)
वि०—चंचल (डि.को.)

कुलटाई–सं०स्त्री०—नीचता, कुटिलता, बुराई। उ०—रूपंने छोरा विधि कीनी कुलटाई, उलटा पलटी कर दुनियां उलटाई।—ऊ.का.

कुळणौ, कुळवौ–क्रि०अ०—टीस मारना, दर्द करना।

कुलत–सं०स्त्री०—१ बुरा स्वभाव, खराब आदत. उ०—भड़वा भड़वापणूं चुगलिया चुगली चामी, ठग ठग लेसी ठोठ कुलतिया कुलत करासी।—ऊ.का. २ बुरी आदत।

कुलतियौ–वि०—१ नीच, पतित. २ ऐबी. ३ बुरे स्वभाव या बुरी लत वाला।

कुळत्य. कुळथ–सं०पु० [सं० कुलत्थ] देखो 'कुळथी' (डि.को.)

कुलथवनौ–सं०पु०—जाति विशेष का घोड़ा (कां.दे.प्र.)

कुलथा–सं०स्त्री०—घोड़े की एक जाति विशेष (कां दे.प्र.)

कुळथी–सं०स्त्री०—उरद की तरह का एक मोटा अन्न जो प्रायः वरसात में ज्वार के साथ बोया जाता है।

कुळथौ–सं०पु०—देखो 'कुळथी' (रू.भे.) २ जाति विशेष का घोड़ा (कां.दे.प्र.)

कुळदातरी–सं०स्त्री०—श्याम रंग की एक चिड़िया विशेष।

कुळदीत–सं०पु० [सं० आदित्य कुल] सूर्यवंशी राजा रामचंद्र का एक नाम (डि.को.)

कुळदेव, कुळदेवता–सं०पु०यौ० [सं० कुलदेव] (स्त्री० कुळदेवी) वह देवता जिसकी पूजा किसी कुळ में परंपरा से होती आई हो।
उ०—कुळदेवी थापन करै, जात गया री जाय। सरव ठिकांणै विदर सै, कुळ में मूढ़ कहाय।—वां.दा.

कुळधर–सं०पु० [सं० कुलधर] कुल का नाम रखने वाला, पुत्र, वेटा (डि.को)

कुळधरम–सं०पु०यौ [सं० कुल+धर्म] वंश-मर्यादा, कुल का धर्म, कुल-कर्तव्य।

कुळधारक—देखो 'कुळधर'।

कुळध्रम—देखो 'कुळधरम' (रू.भे.) उ०—विभचारी विभचार कर, कुळध्रम खोय कुमोज।—ऊ.का

कुळनक्षत्र, कुळनखत्र–सं०पु०—तंत्र के अनुसार भरणी, रोहिणी, पुष्प, मघा उत्तरा-फाल्गुनी, चित्रा, विशाखा, ज्येष्ठा, पूर्वाषाढ़ा, श्रवण, उत्तर भाद्रपद—ये सव नक्षत्र।

कुळनायिका–सं०स्त्री०यौ० [सं० कुलनायिका] वाम मार्ग के अन्तर्गत वे स्त्रियाँ जिनकी पूजा कौल लोग चक्र में करते हैं यथा—नटी, कापालिनी, वेश्या, धोबिन, नाइन, ब्राह्मणी, शूद्रा, अहीरिन और मालिन।

कुळनास, कुळनास–सं०पु०—ऊँट (डि.को.)

कुळनासी–वि०पु०स्त्री०यौ०—कुल का नाश करने वाली। उ०—लोग कह्यां मीरां वावरी, सासु कह्यां कुळनासी री।—मीरां

कुलप—देखो 'कुलफ' (रू.भे.)

कुळपत, कुळपति–सं०पु०यौ० [सं० कुलपति] १ घर का मालिक, सरदार. २ वंश की मर्यादा व प्रतिष्ठा का रक्षक. ३ वह अध्यापक जो विद्यार्थियों का भरण-पोषण करता हुआ उन्हें शिक्षा दे. ४ विश्वविद्यालय का चांसलर। ५ महंत।

कुळपांति–सं०पु०—वंश, कुल। उ०—ख्याति किसी राजवियां ग्वाळां, किसी जाति कुळपांति किसी।—वेलि.

कुळपाजा, कुळपाजू–सं०स्त्री०यौ०—वंश की मर्यादा, कुल की प्रतिष्ठा।
उ०—सुमित्रा का मंत्री सद सहूरकार सागर लाजू का कोठार कुळपाजू के आगर।—र.रू.

कुरीजणौ, कुरीजबौ–कर्म वा०—खींचा जाना। उ०—रेवा नद रळकीज पड़ी है विंध्य पठारां, जांणै रेख वभूत कुरीजी गै सिंणगारां।—मेघ.

कुरीति–सं०स्त्री०—कुप्रथा। उ०—भलाई कंई कैवौ, कुरीति तौ घणी छायगी। 'कठै' है कुरीति? पिता-पूरबी रीत पर चालणी कोई कुरीति है।—वरसगांठ

कुरुईस–सं०पु०—१ युधिष्ठिर (डिं.को.) २ देखो 'कुरुईस' (रू.भे.)

कुरुख—१ देखो 'कुरख' (रू.भे.) २ नाराजगी।

कुरुखेत, कुरुखेत्र, कुरुखेत्रि—देखो 'कुरखेत'। उ०—जो फळ नारायण दीठइ नेत्रि, जे फळ हुइ दांनि कुरुखेत्रि।—कां.दे.प्र.

कुरुगट्ट–सं०पु० [सं० कुक्कुट] मुर्गा। उ०—कागारि कन्न कुरुगट्ट कंघ, वइंगरणा वेस लुहमरणीवंध।—रा.ज.सी.

कुरुजंगळ–सं०पु०—पांचाल देश के पश्चिम का एक देश (प्राचीन)

कुरुदेव, कुरुईस–सं०पु०—भीष्म (डिं.को.)

कुरुड़ौ–सं०पु०—कुये पर काम करने वाला।

कुरूप–वि० [सं०] बदसूरत, भद्दा, बेडौल।

कुरुपत–सं०पु०—कौरवपति, दुर्योधन। उ०—करण महाबळ करण अगै कुरुपत उच्चरणौ।—पा.प्र.

कुरूपता–सं०स्त्री०—कुरूप होने का भाव।

कुरेभौ–सं०पु०—व्यंजन। उ०—दे देसां नूं दड़ली डेरां लार, इकठी ही कुरेभौ थांनै आपसां।—किसोरसिंह बार्हस्पत्य

कुरेस, कुरेसी–सं०पु०—अरब के मुसलमानों की जाति विशेष (बां.दा.ख्यात)

कुरोगी–वि०—बुरे रोग से पीड़ित। उ०—भोगिय मोख कुरोगिय भोजन, जोगिय जोखत जोवत जैसे।—ऊ.का.

कुलंक–सं०पु० [फा० कुलंग] १ लाल सिर और मटमैले रंग के शरीर वाला एक पक्षी। उ०—बहरी अमख हित पंख वळ, गहै कुलंक असंक गत।—रा.रू.

कुलंग–सं०पु०—१ देखो 'कुलंक'. उ०—कंक कंकीअत चील कुलंगा अंबर चर सर छेदे अंगा।—रा.रू. २ कौआ। उ०—आज कुलंग भ्रमण तिण ऊपर, लाग जिनावर लोटे।—र.रू.

सं०स्त्री०—३ शैतानी, बदमाशी (वि. कुलंगियौ)

मुहा०—कुलंगियां रौ काकौ है—अत्यन्त शैतान व्यक्ति के लिये।

कुलंजन–सं०पु० [सं०] १ अदरक की तरह का एक पौधा जो बरमा, मलाया द्वीप और चीन आदि में होता है। इसकी जड़ मुख की दुर्गन्ध को दूर करती है. २ पान की जड़, नागरबेल का मूल (अमरत)

कुळ–सं०पु० [सं० कुल] १ वंश, घराना, खानदान, जाति।

उ०—सींगाळौ अवखल्लणौ, जिण कुळ हेक न थाय। जास पुरांणी वाड़ जिम, जिण-जिण मरयै पाय।—हा.झा.

यौ०—कुळ-ऊधोर, कुळ-कंटक, कुळ-करता, कुळ-कळंक, कुळ-कांण, कुळ-काट, कुळ-कुठार, गुळ-गुरु, कुळ-तिलक, कुळ-देव, कुळ-देवता, कुळ-देवी, कुळ-धर्म, कुळ-धारक, कुळ-पति, कुळ-भूखण।

२ समूह, समुदाय (अ.मा.)

यौ०—कविकुळतिलक, कविकुळभूखण।

३ तंत्र के अनुसार प्रकृति, काल, आकाश और वायु आदि पदार्थ। ४ संगीत में एक ताल. ४ तीन लघु के ढगण के तृतीय भेद के नाम (डिं.को.)

कुल–वि० [अ०] समस्त, सब, सारा, पूरा।

कुळ-ऊधोर–वि०—कुल का उद्धार करने वाला, वंश का मान बढ़ाने वाला। उ०—जांणै 'लाखौ' गुण जुगति, घरपति कुळ-ऊधोर।
—ल.पि.

कुळकंटक–सं०पु०—अपने कुकृत्यों से वंश वालों के लिए कंटक रूप होने वाला, अपने वंश वालों को दुखी करने वाला।

कुळक–सं०स्त्री०—खुजली, पीड़ा।

कुळकत–सं०स्त्री०—गायन की मधुर और सुरीली ध्वनि। उ०—रागां वारा राळ, खांमिंदां नै दे मोसा। ठंडी रूड़ी रात, सुणीजै कुळकत कोसां।—दसदेव

कुळकरता, कुळकरत्ता–सं०पु० [सं० कुलकर्त्ता] वंश का आदि पुरुष या संस्थापक, कुलपति।

कुळकांण–सं०स्त्री०—कुल की प्रतिष्ठा, कुल की मर्यादा।

कुळकाट–वि०—१ कुल में कलंक लगाने वाला। उ०—कम हीमत कुळकाट, मांझौ मरण मलीण मत। कुळ ऊधोर कुवाट, पैलां घर वांछै पिसण।—बां.दा. २ कुल का नाश करने वाला।

कुळ-किसब–सं०पु० [सं० कुलकश्यप] सूर्य वंश। उ०—राति दिन मांमला किया सजकौ रहै, दोयणा जळा भंज ढळा दाटी। दूठ कुळ-किसब री अजब दूजा 'दला'।—उम्मेदसिंह सीसोदिया री गीत।

कुळकुंडळिणी, कुळकुंडळिनी–सं०स्त्री० [सं० कुलकुण्डलिनी] तंत्र के अनुसार एक शक्ति, सारा संसार जिसका एक अंश है।

कुळकुळी—देखो 'खुळखुळी' (रू.भे.)

कुलखण—देखो 'कुलक्खण'।

कुलखणौ–वि०पु० [सं० कुलक्षण+रा०प्र० औ] (स्त्री० कुलखणी) १ बुरे लक्षण वाला, अवगुणी. २ दुराचारी। उ०—कुलखणां मांय मोटी कमर, आदत खोटी आंगणी।—ऊ.का.

कुळखय, कुळखयक, कुळखायक–सं०स्त्री०—१ मछली (ह.नां., अ.मा.)

वि०—अपने कुल का ही क्षय करने वाला।

कुलक्खण–सं०पु० [सं० कु+लक्षण] बुरा लक्षण, बुरा चिन्ह, कुचाल, अवगुण, ऐब।

वि०—देखो 'कुलखणौ' (रू.भे.)

कुळगांम, कुळगांव–सं०पु०—छोटा गांव।

(अल्पा० 'कुळगांमड़ियौ', 'कुळगांवड़ियौ')

कुळगुचियौ–सं०पु०—१ एक प्रकार का पौधा जिसका बीज कंकड़ के समान कठोर होता है. २ चिकना कंकड़।

कुळगुर, कुळगुरु–सं०पु०यौ० [सं० कुल+गुरु] १ वंश का गुरु. २ वंश की वृत्ति करने वाला ब्राह्मण।

कुळाछ—देखो 'कुळांच' (रू.भे.) उ०—पंजुरै उलटी कुळाछ खेल नै पाछ्रणा री हळवीसी लगाई।—नैणसी

कुळातरौ—सं०पु०—१ मकानों में दीवारों पर सफेद रंग का जाल बना कर रहने वाला पतली टांगों वाला एक प्रकार का जंतु, मकड़ी. २ देखो 'कातरौ' (रू.भे.)

कुळाध्रम, कुळाध्रम्म—देखो 'कुळवरम' (रू.भे.) उ०—करै पंच निवाज वाचै कुरांणं, कुळाध्रम्म रत्ता कसंता कवांणं।—वचनिका

कुळावौ—सं०पु०—१ कपाट के ऊपर की चूल को ठहराने का लोहे का बना कड़ा. २ हुक्के के जलपात्र के ऊपर लगाई जाने वाली सुराही-नुमा नलिका के ऊपरी गर्दननुमा पतले भाग पर लगाया जाने वाला बंध. ३ तलवार की मूठ पर 'थोला' और 'कटोर' को जोड़ती हुई एक तरफ लगाई जाने वाली धनुषाकार लोह-शलाका जो तलवार को पकड़ते समय हाथ के बाहर की ओर रहती है।

कुळायतौ—सं०पु०—मकड़ी (अ.मा.) (रू.भे. 'कुळातरौ')

कुलाळ—सं०पु० [सं० कुलालः] १ मिट्टी के बरतन बनाने वाला, कुम्हार (डि.को.) २ ब्रह्मा, विधाता (नां.मा.) ३ देखो 'कुलावळ' (रू.भे.)

कुलालच—सं०पु०—अत्यन्त लालच, अतिशय लोभ (बुरा)

कुलालची—वि०—अत्यन्त लालची, अतिशय लोभी (बुरा)

कुलाळी—सं०स्त्री०—१ दूरबीन (डि.को.) २ देखो 'कुलाळ' (रू.भे.)

कुळावळ—सं०स्त्री०—हाथ, टंगड़ी या गर्दन में कहीं दर्द होने के कारण उनको संचालित करने वाले संधि-स्थानों के पूर्ण खुल कर कार्य न कर सकने से संबन्धित उरमूल, कांख या कर्णमूल आदि में से किसी स्थान पर होने वाली ग्रंथी। दर्द मिटने या तपाने से वह प्रायः स्वयमेव मिट जाया करती है।

कुळाह—सं०पु० [सं० कुलाह] १ भूरे रंग का घोडा जिसके पैर घुटने से खुर तक काले हों (शा.हो.) २ डिंगल कोश के अनुसार घुटने श्वेत व पीत रंग का घोड़ा (डि.को.)

कुळाहळ—सं०पु०—कोलाहल, शोरगुल। उ०—ग्वाळ बाळ सब करत कुळाहळ, जय-जय सबद उचारे।—मीरां

कुलिंग, कुलिंगक—सं०पु०—१ एक प्रकार की नर चिड़िया जो चमकीली होती है. २ चटक चिड़ा (डि.को.)

कुलिंजन—देखो 'कुलंजन' (अमरत)

कुळि—वि० [सं० कुल] कुल, वंश। उ०—माहोमाह मूंफ मांटिस्यइ, कुळि कलंक,\माहरइ लागि स्यइ।—ढो मा.

कुळिकजोग—सं०पु० [सं० कुलिकयोग] फलित ज्योतिष का एक योग जिसके अनुसार प्रतिपदा को शनिवार, द्वितीया को शुक्रवार, तृतीया को गुरुवार, चतुर्थी को बुधवार, पंचमी को मंगलवार, षष्ठी को सोमवार तथा सप्तमी को रविवार होता है।

कुळिगांमड़ौ—सं०पु०—१ छोटा गांव (रू.भे. कुळगांम) उ०—करहा इण कुळिगांमड़इ किहां स नागरवेलि। करि कइरां ही पारणउ, अइ दिन येही ठेलि।—ढो.मा. २ अपने वंश का गांव।

कुळिमंड—वि०—कुलरक्षक।

सं०स्त्री०—अग्नि, आग (रू.भे. 'कुळमंड')

कुळियौ—सं०पु०—१ आकाश में आच्छादित धूल का गुब्बारा। उ०—जद नीसर दौड़ पाळ चढ़ियौ सो देखै तौ घोड़ी अजमेर सांम्ही जावै छै सो खेह रौ कुळियौ दीसणै लागियौ।—सूरे खीवे री वात २ स्त्री व पुरुष के गुप्तेन्द्रिय के आगे का उभरा हुआ भाग।

कुलिर—सं०पु० [सं०] देखो 'कुलीर'।

कुळिस—सं०पु० [सं० कुलिश] १ हीरा. २ वज्र (अ.मा.) ३ बिजली, गाज. ४ कुठार. ५ ईश्वरावतार रामकृष्णादि के चरणों का एक चिन्ह जो वज्र के आकार का माना जाता है।

कुळिसकोण—सं०पु०—छः की संख्या*।

कुळिसधर—सं०पु० [सं० कुलिशधर] इंद्र।

कुळिसी—सं०स्त्री० [सं० कुलिशी] आकाश के मध्य मानी जाने वाली एक वेदोक्त नदी।

कुळी—सं०पु० [तु० कुली] १ मजदूर, भारवाहक, बोझा ढोने वाला. [सं० कुल] २ कुल, वंश, गोत्र। उ०—गरब गाळण तणी, ठौड़ ग्रब गाळियौ। कुळी खटतीस धिन पदम कहियौ।—पदमसिंह री वात ३ पुष्प, फूल. ४ गूदा, ५ बीज, दाने। उ०—दंत जिसा दाड़म कुळी, सीस फूल सिणगार।—ढो.मा. ६ तरबूज के आकार के लता-फल (हिंदवानी) तथा इन्द्रायण नामक लता-फल के बीज जिनको शुद्ध कर के रोटी बना कर खाई जाती है।

कुळीक—वि० [सं० कुली+रा०प्र०क] वंश का, वंश-सम्बन्धी। उ०—यम करण उपद्रव खळ कुळीक, आयौ निसंक लावा नजीक। —ला.रा.

कुलीण—वि० [सं० कुलीन] उत्तम कुल में उत्पन्न, अच्छे घराने का।

कुळीणता—सं०स्त्री०—कुलीनता, उत्तम कुल में होने का भाव। उ०—सांभळ वित समपै नहीं, वडकां तणां वखांण। काहू जिका कुलीणता, उर मांभल तू आंण।—बां.दा.

कुळीनस—सं०पु० [सं० कुलीनस] पानी, जल (ह नां.,अ.मा.)

कुलीर—सं०पु० [सं०] केंकड़ा (डि.को.)

कुळेस—सं०पु० [सं० कुलिश] देखो 'कुलिस' (रू.भे.) उ०—बारवेस जोम गाज गाळिया त्रकूट वासी, राजचील जाळिया तारन्नी तेज रूस। कुमखी कुळेमां इंद्र ढाळिया गिरंद काळा, वीर सिवा वाळै रिमां राळिया वधूंस।—हुकमीचंद खिड़ियौ

कुलोक—सं०पु० [सं० कु+लोक] १ बुरा आदमी। उ०—लड़ै नहीं सुलोक तें कुलोक तें लड़्या करै।—ऊ.का. २ बुरा संसार।

कुल्यंकका, कुल्यकर, कुल्या—सं०स्त्री० [सं० कुल्यंकषा अथवा कुल्या] नदी (अ.मा.)

कुल्लूक—सं०पु० [सं०] मनुसंहिता के प्रसिद्ध टीकाकार जो दिवाकर भट्ट के पुत्र थे।

कुल्लौ—सं०पु० [सं० कुरलः] १ मुंह को साफ करने के लिए उसमें पानी लेकर और इधर-उधर हिला कर फेंकने की क्रिया, गरारा.

कुलफ–सं०स्त्री०—१ ताला। उ०—देवळ विण देव अभवै, तहां कुलफ जड़ै न खोलै। २ पालतू चीतों की आँख पर बांधने की पट्टी विशेष। उ०—इव डार करोलां मुंहडै आगै, आंण कांढ़ियौ छै। तिकां ऊपर चीता छूटै छै। कुलफां दूर कीजै छै। तमासौ वण रह्यौ छै।
—रा.सा.सं.

कुलफी–संस्त्री—१ पेंच. २ टीन या किसी और धातु अथवा मिट्टी आदि का बना हुआ चौंगा जिसमें दूध आदि भर कर बर्फ जमाते हैं। ३ उपर्युक्त प्रकार से जमा हुआ दूध, मलाई वा कोई पदार्थ।

कुळवधू–सं०स्त्री०यौ० [स० कुलवधू] कुलवती स्त्री कुलीन स्त्री, मर्यादा से रहने वाली स्त्री।

कुळवसणौ–सं०पु० [अनु०] छोटे-छोटे जीवों के हिलने-डोलने की आहट।

कुळवसणौ, कुळवसबौ–क्रि०अ०—१ छोटे-छोटे जीवों के हिल-डोल कर आहट करना, चंचल होना. २ व्याकुल होना।

कुळवहू—देखो 'कुळवधू' (रू.भे.) उ०—म्हारी कंवर घर री चांनणी, कुळवहूवां दिवले री जोत—सहेल्यां आंवौ मोरियौ।—लो.गी.

कुळवाहिरौ–वि०—कुलहीन, नीच कुल का, जिसके कुल का कोई पता न हो। उ०—वात बुरी मिळ मित्र री, कुळवाहिरा करंत।—वां.दा.

कुलवै–क्रि०वि०—गुप्त रूप से। उ०—१ कुलवै लगै गुरां री कूंची, खट ताळा खुल जावै।—ऊ.का. उ०—२ तद वीरमदेजी 'कूंपै' अर 'जैतै' सूं मुलाकात करी कुलवै।—द.दा.

कुळभऊ—देखो 'कुळवधू'। उ०—म्हारै बेटा पोतां की जोड़ हर राखी म्हारै कुलवहूवां री भूमखो।—लो गी.

कुळभांण–सं०पु० [सं० कुल+भानु] १ वंश का सूर्य, कुलदीपक. २ सूर्य्य वंश।

कुळमंड–सं०स्त्री०—अग्नि (नां.मा.)

कुळमी–सं०पु०—राजस्थान की कृषि-कार्य करने वाली एक जाति या इस जाति का व्यक्ति।

कुलय, कुलया–सं०स्त्री० [सं० कुल्या] छोटी नदी. नदी (ह.नां.)

कुळराईजणौ, कुळराईजबौ–क्रि०भाव वा०—व्याकुल होना, मुर्झाना। उ०—दैपाळ निराठ दिलगीर हुऔ, कूकारोळ सूं कुळराइज गयौ।
—पलक दरियाव री वात

कुलल–सं०पु० [सं० कलिल] पाप (अ.मा.)

कुळलीक–सं०स्त्री०यौ—कुल की मर्यादा। उ०—बांझ नारि कुळलीक विधुंसक, कहत नपुंसक केता।—ऊ.का.

कुळवंत–वि० [सं० कुलवान्] कुलीन, श्रेष्ठ वंश का। उ०—वैरी री ही वत्तड़ी, करै नहीं-कुळवंत। वात बुरी मिळ मित्र री, कुळ वाहिरा करंत।—वां.दा.

कुळवंति, कुळवंती–सं०स्त्री०—कुलीन स्त्री, वंश-मर्यादा का पालन करने वाली स्त्री। उ०—कुळवंती सूं कीत री, उलटी है आचार। वा न तजै घर आपरौ, जग इणरौ संचार।—वां.दा.

कुळवट, कुळवट्ट, कुळवट्टड़ी–सं०स्त्री० [सं० कुल-वृत्ति] १ कुल की रीति, वंश की मर्यादा। उ०—थळवट थांन सयाप्पौ कुळवट, किनियांणी मां कुळवट किनियांणी।—मे.म. उ०—२ दै वोळावौ जास दिस, जावै अंतक जेम। सादूळौ वन साहिवौ, कुळवट छाडै केम।—वां.दा. उ०—३ जोधा देखै सामछळ, आ जोधां कुळवट्ट। खग्ग न वग्गै पावरी, तां लग्गै ऊवट्ट।—रा.रू. उ०—४ आदू चाडां आगळा, गुणी पयंपै गीत। राठौड़ां कुळवट्टड़ी 'पत्तौ' रखण प्रवीत।—किसोरदांन वारहठ

कुळवधू, कुळवहू—देखो 'कुळवधू' (रू.भे.) उ०—आंगणियां री चोक वो कंवर तुम्हारी जी, राजा कूंभ-कळस थांरी कुळवहू राज।—लो.गी.

कुळवांन–वि० [सं० कुलवान्] कुलीन।

कुळवाट—देखो 'कुळवट' (रू.भे)

कुळवै–क्रि०वि०—गुप्त रूप से (रू.भे. 'कुळवै') उ०—तद कंवर स्री वीकंजी कुळवै आपरौ आदमी मेलनै वाघै कांवळोत नूं बुलायौ।
—द.दा.

कुळसंकुळ–सं०पु० [सं० कुलसंकुल] एक नरक का नाम।

कुळस–सं०पु० [सं० कुलिश] वज्र। उ०—पांण मरकट हुलस गुरज रिमसिर पड़ै, झट कुळस हूंतगिर जांण टोळा झड़ै।—र.रू.

कुळखणौ–वि० [सं० कु+लक्षण] (स्त्री० कुळखणी) कुलक्षण वाला, बुरा शैतान, नीच। उ०—पड़जौ कुळखणियां वौ'रां पर पटकौ, गै'णां गांठा री ठग करग्या गटकौ।—ऊ.का.

कुळमार–सं०पु०—कुलधर्म, कुलरीति।

कुळसुद्ध, कुळसुध्ध–सं०पु०वि०—उच्च कुल, श्रेष्ठ कुल, कुलीन, अच्छे कुल का। उ०—पावस मास विदेस प्रिय, घरि तरुणी कुळसुध्ध। मारंग सिखर निसद करि, मरइ सकोमल मुध्ध।—ढो.मा.

कुळस्रेस्ठ–सं०पु०—कायस्थों का एक भेद विशेष।
वि०—कुलीन, श्रेष्ठ कुल का।

कुळस्वासणी–सं०स्त्री०—पुत्री (अ.मा)
वि०वि०—देखो 'सवासणी'।

कुळहांणी–वि०—कुल-विनाशक, वंश का नाश करने वाला। उ०—पुळियौ नह चाप कथ तौ पांणी, धांग जनक मिळिया रज-धांणी। हतौ कठै पोरस कुळहांणी, अव तैं सिया दगौ कर आंणी।
—र.रू.

कुळांच, कुळांछ–सं०स्त्री०—छलांग, कूदना।
मुहा०—कुळांच खाणी—कह कर वचनों से फिर जाने पर।
कहा०—वांदरौ बूढ़ौ व्है पण कुळांछ खावणी को भूलै नी—बंदर बुड्ढा हो जाता है किन्तु छलांग मारना नहीं भूलता; मनुष्य की प्राकृतिक आदतें आयु अधिक हो जाने पर भी विस्मृत नहीं होती।

कुळाकुळ–सं०पु० [सं० कुलाकुल] तंत्र के अनुसार कुछ निश्चित नक्षत्र, वार और तिथियां।

कुळाच—देखो 'कुळांच'। उ०—दैत्यदमनी खुसी हुई, महताज पाई। इमी कुळाचां मारी मु माळा टूट पड़ी।—पंसदंडी री वारता

कुळाचणौ, कुळाचवौ–क्रि०अ०—छलांग मारना, कूदना।

छोटे भाई सीरध्वज जिनकी कन्यायें भरत और शत्रुघ्न को व्याही थीं। कुशध्वज (रामरासो)

कुसनेही-वि० [सं० कु+स्नेह+ई] कपटी, छली, झूठा मित्र।
उ०—ससनेही समदां परइ, वसत हिया मंझार। कुसनेही घर आंगणइ, जांण समदां पार।—ढो.मा.

कुसव-वि० [सं० कु+शुभ] अमांगलिक, अशुभ।

कुसम-सं०पु० [सं० कुसुम] १ फूल, पुष्प (अ.मा.) उ०—दिपि कनक तोरण द्वार, सम कुसम माळ सिंगार।—रा.रू.
२ एक प्रकार का लाल फूल. ३ रजोदर्शन. ४ आंख का एक रोग (मि० 'फूली' २,३) ५ प्रत्येक चरण में ८ मात्रा का मात्रिक छंद विशेष (ल.पिं.)

कुसमक—देखो 'कुसम' (रू.भे.) उ०—कुसमक तारां व्रंद हुलास, हिय करै, दसतन वरिया काय सुवा धर दूज रै।—वां.दा.

कुसमद-सं०पु०—पेड़, वृक्ष (अ.मा., नां मा.)

कुसमळप्रिय-सं०पु०—भौंरा, भ्रमर (नां.मा.)

कुसमसर-सं०पु० [सं० कुसुमशर] कामदेव। उ०—नाता समंद पखै अन नारी, सुलभ समोभ्रम कुसमसर। सुणियौ ज्यौ वेखियौ संपेखण, वेखियौ ज्यौ वांछियौ वर।—पदमां सांदू

कुसमांडा-सं०स्त्री० [सं० कुशमांडा] १ नौ दुर्गाओं में से एक।
उ०—त्रतीया तुही चंद्रघंटा तवीजै, चतुरथी तुही कुसमांडा चवीजै। —मे.म.
२ शिव के अनुचर. ३ कुम्हड़ा।

कुसमांण-सं०पु० [सं० कुसुम] पुष्प, फूल। उ०—किनर असमांण कुसमांण वरखा करै, गंघरव गांण वाखांण गावै।—मे.म.

कुसमाक-सं०पु० [सं० कुसमाकर] वसंत (अ.मा.)

कुसमाद-सं०स्त्री०—१ फूल वाले वृक्ष या पौधे. २ धूर्तता, चालाकी।

कुसमायुध-सं०पु० [सं० कुसुमायुध] कामदेव। उ०—कुसमायुध कहतां कांमदेव तें कै उदै करि केळि विलास।—वेलि टी.

कुसमाळय-सं०पु० [सं० कुसमालय] भौंरा, भ्रमर।

कुसमालिया-सं०स्त्री०—राठौड़ राव मल्लिनाथजी के पुत्र मांडण के वंशज राठौड़ों की एक उपशाखा।

कुसमावळत-सं०पु० [सं० कुसुमावर्त] वसंत (अ.मा.)

कुसमावळी-सं०पु० [सं० कुसुमावलिट्] भ्रमर, भौंरा (अ.मा.)

कुसमाहिम-सं०पु०—चंपा (अ मा.)

कुसमित-वि०—प्रफुल्लित। उ०—कुसमित कहतां फूलीं, कुसमायुध कहतां कांमदेव तें कै उदै करि केळि विलास।—वेलि.

कुसमै-सं०पु० [सं०कु+समा, कु+समय] कुसमय, असमय। उ०—समै कुसमै नूर सारत सार, पुकारत आरत वंत पुकार।—ऊ.का.

कुसम्मौ-सं०पु० [सं० कु+समय] १ दुर्भिक्ष, दुष्काल. २ कुसमय, असमय।

कुसराणौ, कुसरावौ, कुसरावणौ, कुसरावबौ-क्रि०स० [सं० कु+श्लाघनम्] निंदा करना, अपयश देना। उ०—दरीखांना री वगत वडा इतमांम वणावै, करै निंदा पार की रीत पैलां कुसरावै।—अरजुनजी वारहठ

कुसरावियोड़ौ-भू०का०कृ०—अपयश दिया हुआ, निंदित।
(स्त्री० कुसरावियोड़ी)

कुसळ-वि० [सं० कुशल] १ चतुर, दक्ष, निपुण। उ०—कर वाच वाद अकबर कुसळ, 'वीद' हरे सभिया विडंग।—रा.रू. २ श्रेष्ठ, भला.
३ क्षेम, मंगल, खैरियत। उ०—मन सुद्धि जपंता रुखमिणि मंगळ, निधि संपति थाइ कुसळ नित।—वेलि.
पर्याय०—अघेय, अभय, खेम, भव्य, भव्यक, भावक, मंगळ, मद्र, ससउ, ससत, सिव, सुभ।
४ शिव का एक नाम।

कुसळखे, कुसळखेम-सं०पु०यौ० [सं० कुशलक्षेम] राजी-खुशी, खैरियत (ह.नां., अ.मा.)
उ०—मया करीनै मूकज्यौ, कुसळखेम ना लेख। लीलापति लखजो, वळी समाचार।—ढो.मा.
पर्याय०—अभय, खेम, भद्रसेव, भवक, भव्य, भावक, मंगळ, सुभद्र, सुसत. सेव।

कुसळता-सं०स्त्री० [सं० कुशलता] १ चतुराई, निपुणता, दक्षता.
२ योग्यता. ३ खैरियत, कुशलक्षेम।

कुसळ-पांग-सं०पु० [सं० शुक्लापांग] मयूर, मोर (ह.नां.)

कुसळसमाध-सं०स्त्री० [सं० कुशल+समाधि] कुशलक्षेम, कुशल-मंगल।
उ०—यूं कहि निछरावळ मेल, हजूर मांही बुलाय, मिळ हाथ फेर, कुसळसमाध पूछ सीख दीवी।—जलाल बूबना री वात

कुसळा, कुसळाई-सं०स्त्री० [सं० कुशल] कुशल-क्षेम, खैरियत।
उ०—आव नहीं आदर नहीं, नहि भगति नहि प्रेम। हंस कुसळा पूछै नहीं, खड़ा न रहियै खेम।—अज्ञात

कुसळात, कुसळाता, कुसळौती, कुसळायत—देखो 'कुसळता' (रू.भे.)
उ०—१ कुसळात पूछ इम हेत कीध, देवौ रसाळ जवाहर दीध। —वि.सं.
उ०—२ सुख सूं बैठी सदन में, क्यूं पूछौ कुसळात।—वां.दा.
उ०—३ सांप्रत पूछी नह किणही कुसळाता, अंन-अंन करतोड़ी मरगी अंनदाता।—ऊ.का. उ०—४ विजूं हम बोलतौ, (जदै) घणा दिनां सूं मिळतौ। कुसळायत पूछतौ, अमल रूपेटां गळतौ।
—अरजुणजी वारहठ

कुसळी-सं०स्त्री० [सं० शकुली] मछली (ह.नां., अ.मा.)

कुसवावळ-सं०स्त्री० [सं० कुसुमावलि] कुसुम, पुष्प, फूल (नां.मा., अ.मा.)

कुससथळी, कुसस्थळी-सं०स्त्री०—द्वारका का एक नाम।
उ०—कुससथळी हूंता कुंदणपुरि, किसन पधारचा लोक कंहति।
—वेलि.

कुसागड़ी-सं०पु० [सं० कु+शाकटिक] वह गाड़ीवान जो बैलों को हांकने में निपुण न हो। उ०—कोयक सकट कुसागड़ी, भार विसेस भरंत।

२ उतना पानी जितना एक बार मुंह में लिया जाय (रू.भे. 'कुरळी')
कुल्हड़, कुल्हड़ौ-संपु० [सं० कुल्हर] (स्त्री० कुल्हड़ी) पुरवा, चुक्कड़।
कुल्हाड़ौ-संपु० [सं० कुठार] (स्त्री० कुल्हाड़ी) एक औजार जिससे बढ़ई आदि पेड़ काटते और लकड़ी चीरते हैं, कुठार।
कुवंक-संपु०—टेढ़ापन, बाँकापन।
कुवड़ी-संस्त्री०—छोटा कुआ।
कुवच, कुवचन-संपु० [सं० कु+वचन] १ कुवाक्य, बुरे शब्द.
२ कटुवचन। उ०—जे संतोस सुमेर, चढ़ बैठा मानव चतुर। देख नवै ज्यां देर, कुवचन सर लागै कठे।—बां.दा.
कुवज—१ देखो 'कुब्जा'।
संपु०—२ कमल से उत्पन्न, ब्रह्मा।
कुवजा—देखो 'कुब्जा' (रू.भे.) उ०—कुवजा नारद विदर री, विवरां संजुत वात। हरि रा दासां ज्यूं हुए, दासां नूं सुख दात।—बां.दा.
कुवट-संपु० [सं० कु+वट] बुरा रास्ता, कुपथ।
कुवटौ-संपु०—कुआ (दसदेव)
कुवत—देखो 'कुवत' (रू.भे.)
कुवयण—देखो 'कुवचन' (रू.भे.) उ०—अरिजण स्रवण कुवयण, तजे समभण दियण लघुपण दाव।—रा.रू.
कुवरपद, कुवरपदौ—देखो 'कुंवरपद, कुंवरपदौ' (रू.भे.)
उ०—कछवाहा मांनसिंह भगवंतदासोत नूं कुंवरपदै फौज दे मेलियौ हुतौ।—नैणसी
कुवलय-संपु० [सं०] कमल (ह.नां.) नीली कोई, नील कमल।
कुवळयापीड़—देखो 'कुवळयापीड़' (रू.भे.)
कुवळयास्व-संपु० [सं० कुवलयाश्व] १ धुंधुमार राजा का एक नाम (सू.प्र.) २ एक घोड़ा जिसे ऋषियों का विध्वंस करने वाले पातालकेतु को मारने के लिए पृथ्वी पर भेजा था (पौराणिक)
कुवळी-संस्त्री० [सं० कुवली] बेरी (डिं.को.)
कुवां-संस्त्री०—दक्षिण की कावेरी नदी का एक प्राचीन नाम। (बां.दा. ख्यात)
कुवांण-संस्त्री० [अ० कमान] १ धनुष. [सं० कृपाण] २ तलवार. [सं० कुवाणी] ३ कुवाक्य, कुवचन।
कुवांरी—देखो 'कँवारी' (रू.भे.)
कुवाड़ियाफाड़-वि०—१ बिना सोचे-समझे अंट-संट बोलने वाला, कुबोचर करने वाला. २ सदा खरी-खरी एवं सच्ची कटूक्तियां कहने वाला देवह—
कुवाड़ियौ, कुवाड़ौ-संपु० (स्त्री० कुवाड़ी) १ कुल्हाड़ा (रू.भे.)
२ एक कीड़ा विशेष जो अनाज में लग कर उसे नष्ट कर देता है।
कुवाच-संपु० [सं० कुवचन] कुवचन, अपशब्द। उ०—पुण गुण नाच कुवाच प्रकासै, नकटौ काच निहार।—ऊ.का.
कुवाट-संपु० [सं० कपाट] कपाट (डिं.को.)
वि० [सं०] कुमार्ग, कुपथ।
कुवाटीवाट-संपु०—शत्रु (अ.मा.)
कुवाव-संपु०—वर्षा को हानि पहुँचाने वाली विरुद्ध हवा।
उ०—जे कदास कुवाव पड़ै तौ हायां वासण छूटजै। जाळी टूं टन में ना काढ़ूं, भाग मरू रा फूटजै।—दसदेव
कुविपण, कुवीपण—देखो 'कुवचन' (रू.भे.)
कुवेर—देखो 'कुबेर' (रू.भे.)
कुवेराचळ-संपु०—कैलाश पर्वत का एक नाम।
कुवेळा-संस्त्री०—१ कुसमय, अनुपयुक्त समय, असमय. २ संकट का समय, आपत्तिकाल। उ०—चिंता में बुध परखिये, टोटे परख त्रियांह। सगा कुवेळा परखिये, ठाकर गुन्हा कियांह।—अज्ञात
कुवौ-संपु० [सं० कवल] १ कौर, ग्रास (डिं.को.)
[सं० कूप] २ कुआ, कूप।
कुव्वत—देखो 'कुवत' (रू.भे.)
कुसंग, कुसंगत-संस्त्री० [सं० कुसंग] बुरे लोगों का साथ, बुरी सोहबत।
कुसंगी-वि०—कुसंग करने वाला बुरा, नीच। उ०—प्रथम विचार पाप कौ पापी, करमत करमत मीत कुसंगी।—ऊ.का.
कहा०—संगी सौ मिळजौ पण कुसंगी एक भी न मिळजौ—बुरी वस्तु की थोड़ी सी प्राप्ति भी बुरी है।
कुसंप-संपु०—द्वेष, परस्पर का वैमनस्य, अनबन, विरोध, शत्रुता (ह.नां.)
कुसंस्कार-संपु० [सं०] अंतःकरण में अयथार्थ वा निषिद्ध बात का प्रभाव जिससे बुद्धि ठीक निश्चय न कर सके वा मन अच्छे कामों की ओर न जाय, बुरा संस्कार।
कुस-संपु० [सं० कुश] १ काँस की तरह की एक घास जिसकी पत्तियां नुकीली, तीखी और कड़ी होती हैं। दाभ, डाभ, दर्भ (डिं.को.)
पर्याय०—कुय, डाभ, दरभ।
२ जल. ३ सात द्वीपों में से एक द्वीप. ४ लोहे का लंबा व नुकीला कीला जिससे गड्ढे खोदे जाते हैं. ५ फाल, कुसिया, कुसी (हल की)
कुसकंडिका-संस्त्री० [सं० कुशकंडिका] वेदी पर वा कुंड में अग्नि-स्थापना करने की आनुष्ठानिक क्रिया जिसका विधान भिन्न-भिन्न है। इसमें होम करने वाला कुशासन पर बैठ कर दाहिने हाथ में कुश लेकर उसकी नोंक से वेदी पर रेखा खींचता जाता है।
कुसड़ी-संपु०—कुयें पर काम करने वाला (क्षेत्रीय)।
कुसताळु-संपु०—वह घोड़ा जिसके मस्तक की माँग में और सीने में श्याम रंग के चकत्ते हों और संपूर्ण शरीर किसी एक ही रंग का हो। (अशुभ—शा.हो.)
कुसती—देखो 'कुस्ती' (रू.भे.)
वि० [कु+सती] कुलटा, पतिता।
कुसतीबाज—देखो 'कुस्तीबाज' (रू.भे.)।
कुसदीप, कुसद्वीप-संपु० [सं० कुशद्वीप] सात द्वीपों में से एक जो चारों ओर घृत-समुद्र से घिरा है (पौराणिक)
कुसद्धज, कुसधुज, कुसध्वज-संपु० [सं० कुशध्वज] राजा जनक के

४ भय, डर।

कुहड़ि-सं०स्त्री० [सं० कुहा] देखो 'कूड़' (रू.भे.)

उ०—साल्ह चलंतइ परठिया, आंगरण वीखड़यांह। कुहा केरी कूड़ ज्यूं, हिवड़ै होय रहियाह।—ढो.मा.

कुहटाऊ-सं०पु०—हुक के समान एक उपकरण। उ०—तठा उपरांति करि नै राजांन सिलामति अतरा मांहे तरकमां रा कुहटाऊ वीड़िया छै।—रा.सा.सं.

कुहणि-सं०स्त्री० [सं० कफोणी] कोहनी।

कुहन-वि० [सं०] ईर्ष्या करने वाला, मक्कार, धोखेबाज (डि.को.)

सं०पु० [सं०] १ चूहा, मूसा (अ.मा.) २ मिट्टी का बर्तन (ह.नां.) ३ सांप।

कुहनी-उड़ान-सं०स्त्री०—कुश्ती का एक पेंच जिसमें फुर्ती से कुहनी के झटके से प्रतिद्वंदी के हाथों को पकड़ कर रद्दा दिया जाता है।

कुहर-सं०पु० [सं० कुहू] १ वह अमावस्या जिसमें चंद्रमा बिलकुल नहीं दिखाई दे. २ अमावस्या की अधिष्ठात्री देवी. ३ प्लक्ष द्वीप की एक नदी. ४ अंधेरा. [सं० कुं भूमि हरति त्यजतीति कुहरं अधोभुवनम्] ५ पाताल (डि.नां.मा.) ६ कुहरा. उ०—कळि मचंड अमात उठै मेचक कुहर रण भैचक संक व्है राव रांणै। वीथरतो तेण दिन जाप 'सूजा' विया जग दुदिंद तणै आताप जाणै।

७ कुआ। —उम्मेदसिंह सीसोदिया री गीत

कुहाडउ, कुहाड़ौ-सं०पु० [सं० कुठार] कुल्हाड़ा, फरसा।

उ०—कुहाड़ां मार जिहाज वटका करै।—द.दा.

वि०—१ विध्वंसक. २ विरुद्ध।

उ०—असमर साभि अजीम नूं, थयौ कुहाड़ौ साह।—रा.रू.

कुहींक-वि०—कुछ। उ०—लक्ष्मीजी भगवांन सूं अरज कीवी-देवीदास थांहरी निज भगत है, इणनूं कुहींक दीजै।—पलक दरियाव री वात

कुही-सं०स्त्री०—१ एक प्रकार का शिकारी पक्षी। यह प्रायः पक्षियों का शिकार करने के लिए पाला जाता है। उ०—तठा उपरांति करिनै राजांन सिलामति बाज कुही सिकरा, सीचांणा, जुररा तुमती हुमनाकां सार वांना रा हाथां ऊपर सूं मगगाट करता छूटै छै।—रा.सा.सं.

२ एक जाति विशेष का घोड़ा। उ०—काळवा कुही करड़ा कियाह, हांमला हरेवी नइ हलांह।—रा.ज सी.

कुहुक—देखो 'कुहक' (रू.भे.)

कूं-अव्यय—द्वितीया विभक्ति—को। उ०—आकां कूं रखवाळ कर कोई आंबा खावै।—केसोदास गाडण

वि०—१ कुछ. २ कोई।

कूअर—देखो 'कुंअर' (रू.भे.)

कूआरी—देखो 'कूंआरी' (रू.भे.)

कूकड़ौ-सं०पु०—१ ऊंट के मस्तक का एक रोग. २ एक प्रकार का घोड़ा (शा.हो.) ३ मुर्गा।

कूंकण—१ देखो 'कूंकण' (रू.भे.) २ पंवार वंश की एक शाखा अथवा इस शाखा का व्यक्ति।

कूंकणी-किवळौ-सं०पु०—एक प्रकार का घोड़ा विशेष (शा.हो.)

कूंकणौ, कूंकबौ-क्रि०अ०—देखो 'कूकणौ' (रू.भे.) उ०—ताहरां फूलमती विचारियौ जु हमैं कूकां तौ आपां री अठै कोई नही।—चौबोली

कूंकम—देखो 'कुंकुम' (रू.भे.) उ०—करै तिलक अत्यु का तिलक कूंकम वीसारै।—रा.रू.

कूकावटी-सं०स्त्री० [सं० कुंकुम+पुटी] कुंकुम का पात्र।

उ०—हे कंकू तौ भरी जच्चा राणी रै कूकावटी।—लो.गी.

कूकू-सं०पु० [सं० कुंकुम] देखो 'कुंकुम' (रू.भे.)

कूंकूपत्री-सं०स्त्री०—विवाह का निमंत्रण-पत्र।

कूंख, कूखि, कूखी-सं०स्त्री० [सं० कुक्षि] १ कोख, गर्भाशय।

उ०—१ लालच लिखिया वहनड़ी, सांमहै हीयड़इ डावी कूंखी।

—वी.दे.

उ०—२ हरियौ-हरियौ कांई करो अे. हरी अे बन में तौ दूव। हरियौ सूरज जी रौ घोडलौ, हरी वहू रेणादे री कूंख।—लो.गी.

कूगचौ, कूगसौ-सं०पु०—इमली का बीज, चिआ।

कूगौ-सं०पु०—इमली का बीज, चिआं।

वि०—निर्धन, कंगाल। उ०—कोड़ी-कोडी ले कळियोड़ा कूगा।

—ऊ.का.

कूच-सं०स्त्री०—१ कूच, रवानगी, प्रयाण। उ०—जोधपुर लेवण नूं मडोवर सूं कूच कियौ।—मारवाड़ रा अमरावां री वारता

२ एक प्रकार का वृक्ष. ३ देखो, कूंच' (रू.भे.)

कूंच की फळी-सं०स्त्री०—कौंच की फली (अमरत)

कूचला-सं०पु०—भोजन चबाने के दांत विशेष जो अगाड़ी के दांतों के और डाढों के बीच में होते हैं (मि. कांणेठा)

कूंची-सं०स्त्री०—१ चाबी, ताली। उ०—कुलखै लगे गुरां री कूंची, खट ताळा खुल जावै।—ऊ.का. २ कटी हुई मूंज या बालों का गुच्छा जिससे चीजों का मैल साफ करते हैं अथवा उन पर रंग फेरते हैं। ३ चित्रकार की रंग भरने की कूंची. ४ ऊंट का चारजामा।

उ०—चुग-चुग करलां कूंची मांडी, चुग-चुग घुड़लां जीण।

—टूंगजी जवारजी री पड़

५ ऊंट का उपस्थ या शिश्न. ५ लोहे का वह टेढा छड़ जिसको किवाड़ के छेद मे डाल कर बाहर से भीतर की अर्गला या सिटकनी खोलते है। अंकुसी।

कूंचीकस-सं०स्त्री०—चाबियां लटकाने के लिए करधनी के साथ बंधा कडी व शृंखला लगा एक उपकरण।

कूज-सं०पु०—१ क्रौंच पक्षी (रू.भे. 'कुंज') उ०—आयी आयी मा पीवरिये री ए कूंज आय र बैठी मा नीमडीजी।—लो.गी.

२ एक प्रकार का मिट्टी का वर्तन। उ०—घट घड़कलिया माट, मंगळिया मटकी हाडा। झोवा कूंज कुडाळ, कढ़ावणी ढकण सांटा।

—दसदेव

धवळ वडप्पण आपरै, खांधै लै निवहंत ।—वां.दा.

कुसाग्र–वि० [सं० कुशाग्र] तीव्र, तेज, नुकीला, पैना । उ०—कुसाग्र तीव्र बुद्धि को समग्र व्यग्र तें करी ।—ऊ.का. (यौ० कुसाग्रवुद्धि)

सं०पु०—कोरड़ा, चावुक ।

कुसामद—देखो 'खुशामद' (रू.भे.) उ०—करै कुसामद कूर, करै कुसामद कूकरा । दुरस कुसामद दूर, पुरस अमोल प्रतापसी ।—दुरसौ आढ़ौ

कुसामदी—देखो 'खुशामदी' । उ०—काचै कूड़ कुसामदी जे वाचै नाराज । साचै जस 'परतापसी', मन राचै महाराज ।

—जैतदांन बारहठ

कुसावरत–सं०पु० [सं० कुशावर्त] हरिद्वार के पास एक तीर्थ का नाम ।

कुसासन–सं०पु० [सं० कुश+आसन] १ कुश नामक घास का बना आसन ।

[सं० कु+शासन] २ बुरा शासन ।

कुसिक–सं०पु० [सं० कुशिक] १ एक प्राचीन आर्य वंश. २ हल का फाल (डिं.को.)

कुसियौ—देखो 'कुस' (३)

कुसी–सं०स्त्री०—१ घास काटने का एक औजार. २ वीणा ।

उ०—कुसी रिखराज करै झणकार, धजावंध पत्र भरै रव्र धार ।

—मे.म.

[सं० कुशी] ३ हल का फाल. ४ देखो 'खुसी' (रू.भे.)

उ०—खाणा पीणा खरचणा, ऐस कुसी आरांम । करणा हौ सो कर लेवौ, काळा केसां कांम ।—अज्ञात

कुसीक–क्रि०वि०—खुशी से, प्रसन्नता से । उ०—लाघां पातां वेरड़ा रूपगां, नहीं लुभै सनातनां दीधा त्याग इरादा कुसीक । वास गैस नाग 'मधा' केड़ रा कुसाळ वापौ, लोपै नांज सोभाग अजादां मंत्रां लीक ।—कविराजा करणीदांन

कसील, कुसीलौ–वि० [सं० कु+शील] दुराचारी, पतित, जो शीलवान न हो, बुरा । उ०—दोनां रै एक-एक थप्पड़ घर'र बोली–रांडया कुघन अर कुसीलौ, भाई री बराबरी करसी, क्यों ।—वरसगांठ

कुसुंम, कुसुंमी–वि० [सं० कुसुंम] कुसुम के रंग का, लाल ।

कुसुम—१ देखो 'कुसम' (डिं.को.) २ छप्पय छंद का ६७ वां भेद जिसमें ४ गुरु और १४४ लघु से १४८ वर्ण या १५२ मात्रायें होती हैं (र.ज.प्र.) ३ छंद शास्त्र में ठगण का छठा भेद जिसमें मात्रा का क्रम ।ऽ।। से चलता है (डिं.को.)

वि०—१ लाल, रक्तवर्ण (डिं.को.) २ कोमल (डिं.को.)

कुसुमायुध–सं०पु०यौ० [सं०] कामदेव । उ०—कुसुमति कुसुमायुध ओटि केलि क्रत, तिहि देखे थिउ खीण तन ।—वेलि.

कुसू–सं०पु०—केंचुआ (डिं.को.)

कुसूमल—वि०—देखो 'कुसुमी' ।

कुसेसय–सं०पु० [सं० कुशेशय] कमल (ह.नां, अ.मा.)

कुस्तमकुस्ता–सं०पु०—गुत्थमगुत्था, लड़ाई, मुठभेड़ ।

कुस्ती–सं०स्त्री० [फा० कुश्ती] दो आदमियों का परस्पर एक दूसरे को बलपूर्वक पछाड़ने या पटकने के लिए लड़ना, मल्लयुद्ध ।

मुहा०—१ कुस्ती करणी—संभोग करना (बाजारू) २ कुस्ती लड़णी—मल्लयुद्ध करना ।

कुस्तीगीर–सं०पु०—मल्लयुद्ध करने वाला, पहलवान । उ०—कुस्तीगीर जेठी एक दिल्ली मांझ आयौ ।—शि.वं.

कुस्तीवाज–वि० [फा० कुश्तीवाज] कुश्ती लड़ने वाला, पहलवान ।

कुस्तौ–सं०पु० [फा० कुश्तो] वह भस्म जो धातुओं को रसायनिक क्रिया से फूंक कर बनाया जाय, भस्म ।

कुस्त्री–सं०स्त्री० [सं० कु+स्त्री] बुरी पत्नी, कलहप्रिय स्त्री ।

कुस्याळी–सं०स्त्री०—खुशहाली, प्रसन्नता, हर्ष । उ०—बागा वादिस्यांहां के कुस्याळी का नगारा, दोनूं दीन हाजरि चाकरी में आंण सारा ।

—शि.वं.

कुस्रती–सं०स्त्री० [सं० कुसृति] माया, धूर्तता, ठगाई, इंद्रजाल, बाजीगरी (डिं.को.)

कुस्वारथ–वि०—अहित, बुरा । उ०—जाड़ेची नूं घणौ हठ कर वळती नूं राखी, पिण जाड़ेची कहे 'थे म्हारौ कुस्वारथ करौ छौ ।

—नैणसी

कुस्सम—देखो 'कुसम' (रू.भे.) उ०—प्रिय सूं अधिकउ प्रेम, रयणि दिवस रंगय रमइ । मोह्य मधूकर जेम, कुस्सम जांणि कतक-तणय ।

—ढो.मा.

कुह–सं०स्त्री० [सं० कुहू] १ मधुर स्वर, मधुर ध्वनि. २ कोयल की बोली. [सं० कुहु] ३ अमावस्या । उ०—छिपा कुह रात दिह अंधकार गैंण छायौ ।—हुकमीचंद खिड़ियौ

सं०पु०—४ कुवेर (डिं.को., ह.नां.)

कुहक–सं०पु० [सं०] १ माया, धोखा, इन्द्रजाल का खेल (डिं.को.) २ धूर्तता, मक्कारी. ३ मेंढ़क. ४ नाग विशेष. ५ बारूद से चलने वाला एक अस्त्र (मि० कुहकबांण) उ०—अतवर से गोळा असमांणां, कुहक वांण झड़ तीर कवांणां ।—रा.रू.

६ मुर्गा (डिं.को.) ७ देखो 'कुहक' (रू.भे.)

कुहकणी–सं०स्त्री०—कुहकने वाली, कोयल ।

कुहकणौ, कुहकवौ–क्रि०अ०—१ कोयल का बोलना. २ पक्षियों का कूजना । उ०—मोर कुहकै छै, डेडरा डहकै छै, भाखरां रा नाळा बोलने रह्या छै ।—रा.सा.सं.

कुहकवांण–सं०पु०—१ एक प्रकार का बाण जो बांस की पट्टियां जोड़ कर बनाया जाता है. २ अग्निबाण । उ०—हथनाळि हवाई कुहकवांण हुवि, होइ वीरहक गैंगहण ।—वेलि.

३ एक प्रकार की तोप (रा.सा.सं)

कुहक्क—१ देखो 'कुहक' (रू.भे.) २ ध्वनि विशेष । उ०—हरांमखोर चोर को कुहक्क दे हरावणी, कराळ कंठ कंकणीय टंकणी डरावणी ।—ऊ.का. ३ तान के साठ भेदों में एक भेद (संगीत)

कूंतड़ी—देखो 'कूंत' (अल्पा०) उ०—चींतं घण सैलांण कूंतड़ी इण विध आंणों, संख पदमणा बार पेखता मो घर जांणं।—मेघ.

कूंतणौ, कूतबौ—क्रि०स०—अनुमान करना, अंदाजा करना, किसी वस्तु को बिना गिने, नापे या तौले उसकी संख्या, मूल्य या परिमाण आदि का अनुमान करना। उ०—कुन्नण पीतळ कूंत, एक रीत कर आदरै। हे उण ठाकर हूंत, भाखर सखरौ भैंरिया।—राजा बळवंतसिंह

कूंतणहार, हारौ (हारी), कूंतणियौ—वि०।

कूंताणौ, कूंताबौ, कूंतावणौ, कूंताववौ—क्रि०म०प्रे०रू०।

कूंतिओड़ौ, कंतियोड़ौ, कूंत्योड़ौ—भू०का०कृ०।

कूंतीजणौ, कूंतीजबौ—क्रि० कर्म वा०।

कूंतळ—सं०पु०—बाल, केश (डि.को.)

कूंतहर—सं०पु०—भाला, बरछी। उ०—हणु तुमर केहर कूंतहर, कर करत दुव दसमुख चकर।—र.रू.

कूंता—देखो 'कुंती' (रू.भे.) उ०—गंधारी न जुड़ी थारी गति, जुड़ी न कूंता थारि जोड़ि।—गोरधन बोगसौ

कूंताई—देखो 'कूंतौ'।

कूंताणौ, कूंताबौ—क्रि०स० (प्रे०रू०)—अनुमान कराना, अंदाज लगवाना किसी वस्तु को बिना नापे-तौले उसकी संख्या, मूल्य या परिमाण आदि का अनुमान करवाना।

कूंताणहार, हारौ (हारी), कूंताणियौ—वि०।

कूतायोड़ौ—भू०का०कृ०।

देखो 'कूंतणौ' (स रू.)

कूंतायोड़ौ—भू०का०कृ०—अनुमान कराया हुआ, अंदाज लगवाया हुआ। (स्त्री० कूंतायोड़ी)

कूंति, कूंती—सं०स्त्री०—१ देखो 'कुंती' २ भाला, बरछा। उ०—चउंडहार मांमी कूंति चाडि, ऊनरा सेन नांखिया उपाडि।—रा.ज.सी.

कूंतौ—सं०पु०—वस्तु को बिना गिने, नापे या तौले उसकी संख्या, मूल्य या परिमाण का अनुमान करने की क्रिया का कार्य।

मुहा०—करड़ा कूंता करणा—मेरा आप क्या बिगाड़ लेंगे। आपस में वैमनस्य होने पर विरोधी को कही जाती है।

कूंद—सं०स्त्री०—गोल लकड़ी के बने चक्र पर लंबा पड़ा रहने वाला लट्ठा जिसके एक सिरे पर बैल जोते जाते हैं।

कूंदवौ—सं०पु०—१ घास का छोटा ढेर. २ देखो 'कंदूड़ौ' (रू भे.)

कूंन—सर्व०—कौन। देखो 'कुण' (रू.भे.)

कूंपळ—सं०पु० [सं० कुपल्लव] १ वृक्ष आदि की छोटी, नई और मुलायम पत्ती, अंकुर। उ०—मुणि ढोला करहट कहइ, मो मनि मोटी आस। कइगं कूंपळ नवि चरूं, लंघण पड़इं पचास।—ढो.मा.

२ देखो 'कूंपळी' (२) उ०—अरियां उरि विचै धसि आवी, कूंपळे चरे कटारी।—नरसिंह आसियौ

कूंपळणौ, कूंपळबौ—क्रि०अ०—वृक्ष आदि की छोटी, नई और मुलायम पत्ती का अंकुरित होना। उ०—कूंपळतौ है देवदार चळवात पयांणै, सौरभ रस रंजाट धरा दिस दिखण आंणै।—मेघ. (मि० 'पांगरणौ')

कूंपळी—सं०स्त्री०—१ कोंपल। उ०—पांन झड़ंता देख कर, हंसीज कूंपळियांह। मो वीती तौ बीतसी, धीरी बापड़ियांह।—अज्ञात

२ छाती के नीचे बीचोंबीच की वह छोटी हड्डी जिस पर सबसे नीचे की दोनों पसलियाँ मिलती हैं. ३ लकड़ी का बना कुप्पी के आकार का बहुत छोटा पात्र जिसमें स्त्रियाँ काजल रखती हैं।

उ०—म्हें नै ढोलौ भूंबिया, म्हांनूं आवी रीस। चोवा करै कूंपळै, ढोली साहिब सीस।—ढो.मा.

कूंपळौ—सं०पु०—कोंपल।

कूंपलौ—देखो 'कूपलौ'

कूंपा—सं०स्त्री०—१ सीसोदिया वंश की एक शाखा.

२ *राठौड़ वंश की एक शाखा।*

कूंपावत—सं०पु०—राठौड़ राव रिड़मल के पुत्र कूंपाजी के वंशज, राठौड़ों की एक उप-शाखा. २ इस शाखा का व्यक्ति।

कूंपी—सं०स्त्री०—कुप्पी। उ०—हेम की कूंपी मयण की मुंध सा घन समरई जीम मात गयंद।—वी.दे.

कूंपू—सं०पु०—सेना। उ०—लाहोर रौ राजा सिख रणजीतसिंह जिण रै दो कूंपू एक तिलंगांरौ।—बां दा. ख्यात (मि० 'कंपू')

कूंवरी—वि०—कोमलांगी। उ०—सैज सुखासण कूंवरी, राजमती वीसलदे जोग।—वी.दे.

कूंभ—सं०पु०—१ मोर, मयूर. २ देखो 'कुंभ' (रू.भे.)

कूंभकळस—सं०पु०यौ०—विवाह आदि में बँधाने के काम आने वाला मांगलिक कलश। उ०—आंगणियां रौ चौक बौ कंवर तुम्हारौ जी राज, कूंभ-कळस थांरी कुळवहू राज।—लो.गी.

कूंभख—देखो 'कुंभक' (रू.भे.)

कूंभलौ—सं०पु०—रावण का भाई 'कुंभकर्ण'।

कूंभायळ—देखो 'कुंभायळ' (रू.भे.) उ०—कूंभायळ मोताहळां, भरिया वप गिर भांत। चंद्रवरण गज रतन मैं वंगड़ वणिया दांत।—बां दा.

कूंभार—सं०पु०—देखो 'कुंभार' (रू.भे., डि.को.)

कूंभावत—सं०पु—रामावत साधुओं की एक शाखा (मा.म.)

कूंभिला—सं०स्त्री०—एक देवी का नाम। उ०—कूंभिला पूजण लगौ कूंवर कुंभक्रण जागि।—सू.प्र.

कूंभीपाक—देखो 'कुंभीपाक' (रू.भे.)

कूंभौ—देखो 'कुंभौ' (रू.भे., डि.को.)

कूंम—सं०स्त्री०—कौम, जाति। उ०—सबै कूंम में यह नरुके बुरे हैं, जुरे जंग में यह कहूं ना मुरे हैं।—ला.रा.

कूंयरी—देखो 'कुंअरी (रू.भे.) उ०—कूंयरी भणइ तात अवधारि, हुंतउ कांन्ह देव अवतारि।—कां.दे.प्र.

कूंळ—सं०पु०—१ कमल। उ०—कळियां कूंळां री कादै में कळगी,

३ देखो 'कुंज' (रू.भे.)

कूंजड़ा-सं०स्त्री०—सब्जी बोने व बेचने वाली एक जाति विशेष।

कूंजड़ि, कूंजड़ी-सं०स्त्री०—क्रौंच पक्षी। उ०—प्रतबंब गिरां सिखरां पडिग्रां, कळळै नभ मारग कूंजड़ियां।—पा.प्र. २ कुंजड़ा जाति की स्त्री। उ०—केयां बेचण वीर कूंजड़ी, दाखां छिब दरसाई। —ऊ.का.

कूंजड़ौ-सं०पु० [कुंज+अट=कुंजट—शक.] कुंजड़ा जाति का व्यक्ति।

कूंजणौ, कूंजवौ—देखो 'कूजणौ'। उ०—कई जात रा तत्र पत्राळ कूंजै, गहक्कै सिवा साद सादूळ गूंजै।—मे.म.

कूंजा-बरदार-सं०पु०—पानी पिलाने वाला सेवक। उ०—चीणौ चाकर किसनसिंघ री कूंजा-बरदार कांम आयौ।—बां.दा.ख्यात

कूंजौ—देखो 'कुंजौ' (रू.भे.)

कूंझ, कूंझड़ी-सं०स्त्री०—क्रौंच पक्षी। उ०—१ कूंझा एकणि संगि, ताळि चरंती दिट्ठियां।—ढो.मा. उ०—२ कूंझड़ियां करळव कियउ, घरि पाछिले बणेहि। सूती साजण संभरया, द्रह भरिया नयणेहि। —ढो.मा.

उ०—३ किणहीं अवगुण कूंझड़ी, कुरळी मांझिम रत्त।—ढो.मा.

कूंट-सं०स्त्री०—१ दिशा, कोना, कोण (डिं.को.) उ०—सावण तौ लहरयौ भादवे रे बरसै च्यारूं कूंट।—लो.गी.

उ०—२ जीण मेरी बाई ए! बैठयौ बो बादस्या चादर तांण। मेरी मां की जाई! च्यार सुपारी ये कूंटां मेलदी। —लो.गी.

सं०पु०—२ किनारा, छोर. ३ ऊंट के पैर का बंधन।

उ०—ढोलइ मनह विमासियउ, सांच कहइ छइ एह। करह झंकि दोनूं चढ्या, कूंट न संभाळेह।—ढो.मा.

कूंट-कूंटाळौ-वि०—१ चित्रित. २ कोनेदार।

कूंटणौ, कूंटबौ-क्रि०स०—१ ऊंट का एक पैर मोड़ कर बांध देना जिससे वह चरता चरता अधिक दूर न जा सके। उ०—ऊमर साल्ह उतारियउ, मन खोटइ मनुहारि। पग सूं ही पग कूंटियउ, मुहरी झाली नारि।—ढो.मा.

कूंटियौ-वि०—एक पैर मोड़ कर बांधा हुआ (ऊंट)

सं०पु०—१ लकड़ी आदि छीलने व काटने का एक उपकरण.

२ 'कूंटौ' का अल्पा०। देखो 'कूंटौ'।

कूंटौ-सं०पु० [सं० कुंठ] १ दरवाजे की चौखट में लगा हुआ कोंढ़ा जिसमें सांकल फँसाई जाती है और ताला लगाया जाता है.

२ किवाड़ में लगी हुई सांकल जो किवाड़ को बंद करने के लिए कुंडे में फँसाई व डाली जाती है, कुंडी. ३ जंजीर की कड़ी।

कूंठ-सं०पु० [सं०कुंठ] देखो 'कूंट' (रू.भे.)

कूंठौ—देखो 'कूंठौ' (रू.भे.)

कूंड-सं०स्त्री० [सं० कुंड] १ सिर को बचाने के लिये लोहे की एक ऊंची टोपी जिसे लड़ाई के समय पहनते थे, खोद. २ कुंड, हौज।

कूंडळ-सं०पु०—१ ढोल पर लगाया जाने वाला गोल कड़ा।

२ देखो 'कुंडळ' (रू.भे.) उ०—कूंडळां झोक नग जड़त कूंडा, अभंग कमंध तणौ गुमर उतारियौ।—अज्ञात

कूंडळी-सं०स्त्री०—१ लोहे की पत्ती के अंदर सुराख करते समय नीचे रखे जाने वाले औजार. २ देखो 'कुंडली' (रू.भे.)

कूंडळौ-सं०पु०—गोल घेरा, वृत्त। उ०—जै तळै कूंडळौ मांडियौ, ए लूम्यां री डोरी।—लो.गी.

कूंडापंथ—देखो 'कुंडापंथ' (रू.भे.)

कूंडापंथी—देखो 'कुंडापंथी' (रू भे.)

कूंडाळियौ—देखो 'कुंडाळियौ' (रू.भे.)

कूंडाळौ—देखो 'कुंडाळौ' (रू.भे.)

कूंडियौ-सं०पु० [सं० कुंड] १ वृत्ताकार गोल घेरा, वृत्त. २ सूर्य, चंद्रमा आदि के चारों ओर होने वाला चक्र. ३ मिट्टी का बना हुआ चौड़े मुंह का एक गहरा पात्र जिसमें पानी, अनाज आदि रखा जाता है. ४ घोड़े को वर्त्तुलाकार घुमाने की क्रिया. ५ इस प्रकार घूमने से होने वाला वर्त्तुलाकार चिन्ह।

कूंडी-सं०पु० [सं० कुंड] १ घोड़ा (डिं.को.)

स्त्री०—१ पत्थर या मिट्टी का कटोरे के आकार का बरतन जिसमें लोग दही, चटनी आदि रखते हैं. ३ अग्निहोत्र करने का स्थान.

४ जंजीर की कड़ी।

कूंडौ-सं०पु० [सं० कुंड] १ चौड़े मुंह का एक गहरा वर्तन जिसमें अनाज आदि रखा जाता है. २ गोल घेरा, वृत्त. ३ किसी वस्तु के चारों ओर केवल मात्र अपना अधिकार रखने के लिये खींचा गया एक वृत्त।

कूंढ़ी-सं०स्त्री०—गोल घूमे हुए सींगों वाली भैंस।

कूंण-सर्व०—कौन (रू.भे. 'कुण')

सं०पु०—कोना, दिशा।

कूंणी-सं०स्त्री० [सं० कफोणी] कोहनी (देखो 'खूंणी') (क्षेत्रीय)

कूंत-सं०स्त्री० [सं० कुंती] १ पांडु-पत्नी, कुंती। उ०—सत छोडय सीताय कूंत सती, जिण वार टळै जुध 'पाल' जती।—पा.प्र.

२ करामात, चमत्कार. ३ तंत्र. ४ अनुमान, अंदाज. ५ अक्ल, बुद्धि. ६ भाला, बरछी (डिं.को.) उ०—धोळै दिन बागा धकै, तोलै कूंत खड़ग्ग। आम्हां साम्हां आहुड़े, विडंग उपाड़ै वग्ग।—रा.रू.

७ इज्जत, प्रतिष्ठा। उ०—१ गल राखण निज जड़ गमण, कुळ वधारण कूंत। पिड़ आंगमण में पौढ़ियौ, तेवा पूत सपूत। पा.प्र.

उ०—२ आघां जातां मुंडौ ले'र पाछाई न आवणौ छौ, करे सारां भेळा कर्यूं गमावणौ छौ कूंत। आवड़ धावंतौ बटै पीवणौ मही छौ आक, जीवणौ नहीं छौ धणी जावतां 'जसूंत'। —दलजी महडू

८ कीर्ति, यश (अल्पा. 'कूंतड़ौ')

कूकरटो–सं०पु० (स्त्री० कूकरड़ी) देखो 'कूकर' (अल्पा.)

कूकरभांगरो–सं०पु०—बरसात की मौसम में उत्पन्न होने वाली जड़ी विशेष, ककरौंधा (अमरत)

कूकरियो, कूकरो–सं०पु०—कुत्ते का पिल्ला, कुत्ता (डिं.को.)
उ०—गह भरियौ गजराज, मद छकियौ चालै मतै। कूकरिया बेकाज, रोळ भुसै क्यूं राजिया।—किरपारांम

कूकवौ–सं०पु०—त्राहि-त्राहि की आवाज, दर्द या दुखभरी चिल्लाहट।
उ०—लुगड़िया हुतां त्यां ऊपर लोही रा छांटा नाखिया, पछै घर मांहे पैस कूकवौ कियौ।—नैणसी

कूकस–वि०—१ नीच, दुराचारी. २ बुरा, खराब। उ०—१ गुळ चावळ तंदुल्निया दूध सींभति नहित मकराया, कण कूकसां सहेता रावड़िया नैव सचंति।—रांमरासौ उ०—२ कूकस खावै नित धावै कण काढ़ै।—ऊ.का.

कूका–सं०स्त्री०—नानकशाही संप्रदाय की एक शाखा।

कूकाऊ–वि०—कष्ट मिटाने के लिये आर्तनाद व पुकार करने वाला।
उ०—वाजै महमद बेगड़ो, पतसाहां पतसाह। कर आई कूकाऊआं, थोळै दिन री थाह।—बी.मा.

कूकाणो, कूकाबो–क्रि०स०—'कूकणो' का स.रू.। देखो 'कूकणो'।

कूकारोळ, कूकारोळो–सं०पु०—१ देखो 'कूकवौ'. २ रुदन, विलाप।
उ०—दैपाळ निराठ दिलगीर हुवौ, कूकारोळ मूं कुळराइज गयौ।
—पलक दरियाव री वात

कूकियोड़ो–भू०का०कृ०—रुदन या विलाप किया हुआ, चिल्लाया हुआ, शोर किया हुआ (स्त्री० कूकियोड़ी)

कूकियौ–सं०पु०—चीत्कार, चिल्लाहट, दर्दभरी पुकार।
उ०—सूरजमल दौड़नै पूरणमल नूं पाड़ियौ। उण कूकया किया, तरै रांणौ उण रा ऊपर नूं चले आयौ—नैणसी

कूकिवि–वि० [सं० कुकवि] बुरा कवि, दुष्ट कवि।

कूकी–सं०स्त्री०—लड़की।

कूकीजणो कूकीजबो–क्रि०भाव वा०—रुदन किया जाना, विलाप किया जाना। उ०—देखै तो कांम आयोड़ां नूं दाग दिरीजै छै, घायल संभाळ बहीर किया था जे कूकीजै छै।—ढाढ़ाळा सूर री वात

कूकुल–सं०पु०—बर्फ, तुषार।

कूको–सं०पु०—१ शिशु, लड़का. २ दर्दभरी पुकार, कूक।
उ०—नरै भेरूं बळहीण हुवौ नै भेरूं कूका किया, मनै छोडि। आज पछै इण महिल कदे नाऊं।—जगदेव पंवार री वात

कूख—देखो 'कूंख' (ह.नां., अ.मा.) उ०—देव कळा घन मात देवकी, कूख नीपना नंद कुमार।—ह.नां.

कूखजळी—देखो 'कोखजळी'।

कूखड़ली–सं०स्त्री० [सं० कुक्षि] कोख (अल्पा०) उ०—मा मोरी कुण्यां ये के आगे करूं पुकार, कूखड़ली वैरण हुई।—लो.गी.

कूखधारण–सं०स्त्री० [सं० कुक्षि-धरण] माता (अ.मा.)

कूखि–सं०स्त्री० [सं० कुक्षि] उदर, पेट (अमरत)

कूड़–सं०पु० [सं० कूट] १ झूठ, मिथ्या, असत्य।
पर्याय०—अठीक, अणाल, अनरथ, अनिरित, अलीक, असिति, आळ-पंपाळ, कूड़, खोटीकथ, झूठ, मिथा, विकळ, वितथ, व्रथा।
कहा०—१ कूड़ रा पग काचा व्है—झूठ के पैर कच्चे होते हैं। झूठ अधिक देर तक नहीं ठहर सकता. २ कूड़ रा पग तीन व्है—झूठ के तीन पैर हैं। झूठ लंगड़ा होता है। झूठ अधिक देर तक टिक नहीं सकता।
२ हाथ मे पकड़ कर खाली किए जाने वाले मोट के कुए पर लाव की चकरी (भूंण) पर लगाया जाने वाला सीधा पत्थर जिस पर पैर रख कर मोट की लाव खींचते हैं. ३ रहँट के मध्य स्तंभ को स्थिर रखने के लिए मध्य चक्र के ऊपर लगाया हुआ काष्ठ का लंबा डंडा. ४ कुबड़ापन. ५ ऊँट व बैल आदि के पीठ का ऊपर उभरा हुआ भाग। कूबर, ककुद. ६ ऊँट के चमड़े का बना घी, तेल आदि रखने का बड़ा पात्र. ७ कपट, छल (अ.मा.) उ०—१ तद बेलो चढ़ियो सो नापै नै सारुड़े आय पहुंचियो। कही साबास छै। मोसूं तें भलो कूड़ कियो।—नापा सांखला री वारता
उ०—२ तठै दूत रूप राजा कहै छै। मारग ओहिज छै। सखरो छै। यूं कही तरै कवरी जांणियौ दूत मोसूं कूड़ करचौ। दूत आप रै घरै जाय छै।—पंचदंडी री वारता

कूड़चौ–वि० (स्त्री० कूड़ची) मिथ्याभाषी, असत्यवादी।
उ०—काचड़ गारां ऊपरा, रामतणी है रीस। काचड़गारा कूड़चा, बगड़ै बिसवावीस।—बां.दा.

कूड़ली–वि० (स्त्री० कूड़ली) मिथ्याभाषी, असत्यवादी।

कूड़ापण–सं०पु०—झूठापन, असत्यता, मिथ्यावादिता। उ०—आपरा अंगज रो कूड़ापण दिखावण रै काज वेस बदलण नै म्हांरो पण कूड़ापण ही प्रमांणौ।—वं.भा.

कूड़ाबोलो–वि०पु० (स्त्री० कूड़ाबोली) असत्यवादी, मिथ्याभाषी।

कूड़ियो–सं०पु०—१ मोट को कुये से बाहर निकालने के समय लाव से जो लकड़ी का गोल चक्कर (भूंण) घूमता है उसकी धुरी रखने की लकड़ी (मि० 'करिया') उ०—भूंण गिड़गिड़ी बंध्या कूड़िया, लाख चड़न भर लावै।—रेवतदांन [सं० कुतुप] २ ऊँट के चमड़े या लोहे का बना कुप्पा जिसमें तेल घी आदि रक्खा जाता है।

कूड़ो–वि०पु० (स्त्री० कूड़ी] १ झूठा, मिथ्यावादी, निकम्मा।
उ०—२ रहणा इकरंगाह, कहणा नहि कूड़ा कथन।—किरपारांम
२ शैतान, जबरदस्त। उ०—१ काबिली वाट भुय ग्रासिया कड़खिया, कितो कूड़ो कटक जगत कहियौ।—अज्ञात
उ०—थारै मुलक में भक्ति नहीं छै, लोग बसै सब कूड़ो।—मीरां
सं०पु०—१ कूड़ा-करकट कचरा। उ०—कूड़ै उतारै सुकवि, गाढ़ी महनत गीत। खाल उतारै खांत सूं, इमड़ो कुकव अनीत।—बां.दा.

विलहर संगत सूं पीपळियां वळगी।—ऊ.का. २ अवपका छोटा आम।

कूंळौ—देखो 'कंवळी' (रू.भे.)

कूंवर—देखो 'कुंवर' (रू.भे.)

कूंवरकलेवौ—देखो 'कुंवर-कलेवौ' (रू.भे.)

कूंवळी—वि०—कोमल। उ०—केळि गरभ जीसी कूंवळी, कूंकूं चंदन कीधां खोळी।—वी.दे.

कूंस—वि०—दुष्ट। उ०—सगळी वात सुणी, पिण जोर कोई चालै नहीं। महेवा रै झाड़ां खेह लगाय नै कूंस ले गयौ।

—जगमाल मालावत री वात

कू—सं०पु०—१ कुआ. २ राजा. ३ कुंभ. ४ कारण. ५ द्रव्य. ६ कार्य. ७ प्रकाश (एका०)

सं०स्त्री० [सं० कुः] ८ भूमि (एका.) ९ कूजने का शब्द.

वि०—१ गंभीर. २ मंद (एका.)

अव्यय—द्वितीयाविभक्ति चिन्ह—को। उ०—उदार मेरु शक्ति हेरु जोग के समाध कू।—पा प्र.

कूअति—सं०स्त्री० [अ० कूअत] बुद्धि।

कूईजणौ, कूईजवौ—देखो 'कुईजणौ' (रू.भे.)

कूईजियोड़ौ—भू०का०कृ०—देखो 'कुईजियोड़ौ' (रू.भे.) (स्त्री० कूईजियोड़ी)

कूऔ—सं०पु० [सं० कूप] कूप, कुआ (रू.भे. 'कूवौ')

कूक—सं०स्त्री० [सं० कूजन] १ लंबी सुरीली ध्वनि. २ पुकार।

उ०—१ गई पुकारां जोधपुर, कूक गई अजमेर। सुणी इनायत असत खां, वणी जमात जु फेर।—रा.रू.

उ०—२ चित जे मत व्है चळ विचळ। भज भज नहचळ भाय। कूक करै जिण दिन कुटंब, सीवर करै सहाय।—र.ज प्र.

३ रुदन। उ०—कूक करूं तौ जग हंसै, चुपके लागै लाय। ऐसे कठण सनेह को, किण विध करूं उपाय।—अज्ञात ४ कराह, चीख, त्राहि-त्राहि की आवाज। उ०—वाड़ करी रुखवाळ नै, वाड़ खेत नै खाय, राजा डंडै रैत नै, कूक किसे घर जाय।—अज्ञात

५ मोर या कोयल की बोली. ६ हल्ला।

उ०—कूक फजर कटकां करी, धरी न किलमूं धीर। सब दिन रोजे सम गयौ, वढ़ी विसम कळ पीर।—ला.रा.

कूकड़—सं०पु० [सं० कुक्कुट] कुक्कुट, मुर्गा। उ०—चौथे प्रहरै रैण कै, कूकड़ मेल्ही राळि। धण संभाळै कंचुवौ, प्री मूंछां रा वाळि।—ढो.मा.

कूकड़कंध, कूकड़कंधो—वि०—मुर्गे की गर्दन के समान आकृति वाला घोड़ा (रा.ज.सी., पे.रू.)

कूकड़ळी—सं०स्त्री०—एक प्रकार का पौधा जिसके पत्तों का शाक बनता है।

कूकड़लौ—सं०पु० [सं० कुक्कुट] १ मुर्गा. २ दामाद के लिए ससुराल में गाया जाने वाला एक गीत (रू.भे. 'कुकड़लौ')

कूकड़ियौ—सं०पु०—१ देखो 'कोकड़ी'। उ०—चोखौ वण्यौ दमड़कौ तेरौ, कूकड़िये री लार, चाल रे चरखला हाल, रे चरखला।—लो.गी. २ देखो 'कूकड़ीयौ' (रू.भे.) उ०—कंध धनु क्रम कूकड़ियौ निस दीह तता तुरगांण तता।—किसनौ दधवाड़ियौ

कूकड़ी—सं०स्त्री०— देखो 'कुकड़ी' (रू.भे.) उ०—मोहर-मोहर री कातूं भंवरजी कूकड़ी जी, हां जी ढोला रोक रुपय्यियें रौ तार।

—लो गी.

कूकड़ियौ—सं०पु०—१ देखो 'कोकड़ी'. २ मुर्गे. ३ मुर्गे की गरदन के समान गरदन वाला घोड़ा।

कूकड़ू—सं०स्त्री०—परिहार राजपूत वंश की एक शाखा।

कूकड़ेसर रौ कुंड—सं०पु०—चित्तौड़गढ़ के अंदर एक तीर्थस्थान (वां दा.ख्यात)

कूकड़ौ—सं०पु० [सं. कुक्कुट]—१ पीतल का गोल गोला जिसमें पानी भर कर सोने-चांदी को गलाया जाता है. २ मुर्गा।

कहा०—१ कूकड़ा के तौ वखेरा में ही लाभ—मुर्गे को तो अन्न के बिखर जाने में ही फायदा है जिससे कुछ दाने चुगने को मिलें; चालाक व्यक्ति दूसरों की फूट में लाभ उठाते हैं. २ कूकड़ौ बोले जठैई परभात नहीं होवै—देखो कहावत ३. ३ कूकड़ौ हूं जठे ईज दन ऊगै—जब कोई व्यक्ति अनावश्यक अहंकार करता है तब यह कहावत कही जाती है। मुर्गे की बांग प्रभात के होने की सूचक है; प्रभात का कारण नहीं है।

३ गाय या ऊंट के होने वाला एक रोग जिसमें उनके कंठ में फफोला हो जाता है जिससे उसका श्वास रुक जाता है। यह रोग प्रायः असाध्य माना जाता है. ४ मटकी बजाते हुए दामाद को गाया जाने वाला एक राजस्थानी लोकगीत।

(मि० 'कूकड़लौ')

ककणा—सं०स्त्री०—पँवार वंश की एक शाखा (वां.दा. ख्यात)

कूकणौ, कूकवौ—क्रि०अ०—१ शोर करना, हल्ला-गुल्ला करना. २ रुदन करना, विलाप करना। उ०—पूगो 'पातळियाह', हातळिया जोड़त हुवा, कूकै कावलियाह। वावलिया तैं वोविया।—जुगतीदांन देथौ

३ चिल्लाना। उ०—दिली लखै दिगदाह, विगत हित साह विचारी। खर भूकै रव खैंग, स्वांन कूकै सुखहारी।—रा.रू. ४ फरियाद करना। उ०—किण ढिग ढूकां म्हे किण ढिग कूकां।—ऊ.का.

कूकणहार, हारौ (हारी) कूकणियौ—वि०।

कूकाणौ, कूकावौ—क्रि०स०।

कूकिओड़ौ, कूकियोड़ौ, कूक्योड़ौ—भू०का०कृ०।

कूकर—सं०पु० [सं० कुक्कुर] कुत्ता, श्वान (ह.नां.) उ०—बांका धीरज धरण सूं, हूं नहिं कुंजर हांण। कौ घर-घर भटका करै, कूकर अधिक कमांण।—वां.दा.

कूकरखांसी—सं०स्त्री०—प्रायः बच्चों को होने वाला सूखी खांसी का एक रोग (मि. 'खुलखुलियौ')

लूण ।—वां.दा.
कूण–सर्व०—देखो 'कुण' (रू.भे.) उ०—वावहिया मिळ पंखिया, वाढ़त दइ दइ लूण । पिउ मेरा मइं प्रीउ की, तूं प्रिय कहइ स कूण ।—ढो.मा.
सं०स्त्री०—दिशा, कोना ।
कूणन–सं०स्त्री० [सं० क्वणन] शब्द, ध्वनि (ह.नां.)
कूणिका–सं०स्त्री० [सं०] वीणा, सितार, सारंगी वा चिकारा आदि तंत्री वाजों की तार बांधने की खूंटी विशेष जिसे समय समय पर मरोड़ कर तार को ढीला या कड़ा किया करते हैं ।
कूणी–सं०स्त्री० [सं० कफोणि, प्रा० कहोणि, अ० कोहणी, रा० कूणी, खूणी] हाथ और बाहु के जोड़ की हड्डी, कुहनी ।
कूणौ–सं०पु०—कोना । उ०—जळ सो प्यारो जीव है, कण सी कोमळ काय । कुण से कूणै वादळी, राखी बीज छिपाय ।—वादळी
कूत–सं०स्त्री०—१ एक प्रकार का छोटा मच्छर. २ एक प्रकार का घास विशेष ।
कूतणौ, कूतबौ—देखो 'कूंतणौ' (रू.भे.)
कूतर—१ देखो 'कुतर' (रू.भे.) २ कुत्ता ।
कूतरड़ा—देखो 'कुतर' (अल्पा०)
कूतरड़ो–सं०पु० (स्त्री० कूतरड़ी) कुत्ता (अल्पा०)
कूतरियौ–सं०पु०—१ घास की महीन कुट्टी काटने वाला ।
उ०—करता मांचा दे लांचा कूतरिया, ऊतरता आसाढ़ां मूंढ़ा ऊतरिया ।—ऊ.का. (स्त्री० कूतरी) २ कुत्ता (अल्पा०)
कूतरौ, कूयरौ–सं०पु० (स्त्री० कूतरी) कुत्ता (अल्पा०) उ०—चुगली उगली चीज है चुगली है चरकीन । काग हुवै कै कूयरौ, इण रै रस आधीन ।—वां.दा.
वि०—नीच, दुष्ट ।
कूदणी–सं०स्त्री०—बच्चों का एक खेल विशेष ।
कूदणौ–वि०—कूदने वाला । उ०—फूटरिया हिरणी जणे, बोह कूदणौ थट्ट । ज्यांरा मांही बांकड़ौ, थांभै राखै थट्ट ।—डाढ़ाळा सूर री वात
सं०पु०—एक प्रकार का घोड़ा (शा.हो.)
कूदणौ, कूदबौ–क्रि०अ० [सं० कूर्दनं] १ उछलना, फांदना, जान-बूझ कर ऊपर से नीचे की ओर गिरना, कूदना । उ०—अंबा सिर सूदत कूदत एम, तजै गिरि स्रंग प्लवंग तेम ।—मे.मं. २ अत्यन्त प्रसन्न होना. ३ किसी काम या बात के बीच में सहसा आ मिलना या दखल देना. ४ लांघ जाना ।
मुहा०—गाय कूदणी—गाय का दूध देना बंद करना ।
कूदणहार,हारौ (हारी), कूदणियौ—वि० ।
कूदाणौ, कूदाबौ, कूदावणौ, कूदावबौ—स०रू० ।
कूदिग्रोड़ौ, कूदियोड़ौ, कूदयोड़ौ—भू०का०कृ० ।
कूदीजणौ, कूदीजबौ—भाव वा० ।
कूदायण–सं०स्त्री०—कूदने या छलांग मारने का भाव ।
कूदारण–सं०पु०—खोदने का एक प्रकार का ओजार, कुदाली (डि.को.)
कूध्र–सं०पु० [सं० कुध्र] पर्वत (डि.नां.मा.)
कून–सर्व०—देखो 'कुण' (रू.भे.)
कूप–सं०पु०—कुआ । देखो 'कूवौ' (रू.भे.) उ०—मित ज ओगण मित का, अनत नहीं भाखंत । कूप छांह ज्यूं आपणी, हीये में ही राखंत ।—अज्ञात
कूपलौ–सं०पु०—देखो 'कूंपली' (३) उ०—१ हे काजळ तौ भरियौ ए जच्चा रांणी रै कूपलौ ।—लो.गी. उ०—२ कूपलौ किणरौ ढुळियौ आज गुदळती वण असमांनी ढाल ।—सांभ
कूपार–सं०पु० [सं० कूपार] समुद्र (डि.नां.मा.)
कूबड़–सं०स्त्री० [सं० कुब्ज] १ पीठ का टेढ़ापन, रोग के कारण पीठ का उभर कर टेढ़ा होने का भाव. २ किसी चीज का टेढ़ापन. ३ नाथ संप्रदाय का एक प्रसिद्ध संन्यासी । उ०—मैं हूं रे गोरख तूं भरड़ा लख, मैं नह ओगड़ मैं नह कूबड़ ।—पा.प्र.
कूबड़ी–सं०स्त्री०—कुब्जा नामक दासी जो श्रीकृष्ण पर अत्यन्त प्रेम-भाव रखती थी ।
कूबावत–सं०पु०—वैष्णव संप्रदाय की एक शाखा अथवा इस शाखा का व्यक्ति (वां.दा.ख्यात)
कूबियौ, कूबौ–वि० (स्त्री० कूबी) १ जिसका मुंह टेढ़ा या मुड़ा हुआ हो. २ कुबड़ा ।
कूभटौ–सं०पु०—एक प्रकार का कंटीला वृक्ष विशेष जिसकी फली के बीजों का शाक बनाया जाता है । उ०—खोड़ै खील्हैरी रा चारिया-फुरणियां रै वैसणहार कूभटै कंकेड़ै रा सुरड़णहार, आयवे रा चरणहार ।—रा.सा.सं.
कूम–सं०स्त्री० [अ० कौम] जाति, वर्ण ।
कूमेत—देखो 'कुमैत' (रू.भे.) (शा.हो.)
कूमेतकसमीरी–सं०पु०—एक प्रकार का शुभ रंग का घोड़ा, कुमेत-कश्मीरी (शा.हो.)
कूमेव–सं०पु०—एक प्रकार के शुभ रंग का घोड़ा (शा.हो.)
कूमोत—देखो 'कुमौत (रू.भे.) उ०—कहणै लाग्यौ जे मोनूं मारै ही तौ हाथ सूं मार, तरवार सूं मार पण कूमोत क्यूं कर मारै छै ।
—सूरे खींवे री वात
कूयां–सर्व०—कोई भी । उ०—म्हारा री गिरधर गोपाळ, दूसरां न कूयां । दूसरां नां कूयां साधां सकळ लोक जूयां ।—मीरां
कूर–वि० [सं० क्रूर] १ निर्दयी, क्रूर, नीच । उ०—सम्मन संपत विपत में, जे भूरै ते कूर । मासा घटै न तिल वधै, जे विध लिख्या अंकूर ।—सम्मन २ खोटा. उ०—दुजीह कूर मूरको प्रदूर दूरती दहैं. विधांन वक्र चक्र तें प्रचक्र चूरती वहैं ।—ऊ.का. ३ कुमार्गी, बुरा, दुष्ट. ४ भयंकर, डरावना. ५ झूठा, असत्य । उ०—करै कुसामद कूर, करै कुसामद कूकरा । दुरस कुसामद दूर, पुरस अमोल प्रतापसी ।—दुरसौ आढ़ौ
कूर-कपूर–सं०पु०—एक प्रकार का खाद्य-पदार्थ । उ०—खाजै सड़क

यौ०—कूड़ौ-कचरौ, कूड़ौ-करकट ।

[सं० कूतू] २ ऊंट के चमड़े या लोहे का बना कुप्पा जिसमें तेल, घी आदि रक्खा जाता है । ३ बुरा समय. ४ कुआ (क्षेत्रीय) कहा०—कूड़ा मांये उतारी नै नेज वाड दी—कुये में उतार कर रस्सी काट दी; विश्वासघात करने पर यह कहावत कही जाती है ।

कूड़ौ-करकट-सं०पु०—घास-फूस, कचरा, कूड़ाकरकट ।

कूच-सं०स्त्री० [तु०] १ प्रस्थान, रवानगी । उ०—मेळे सगह दळां पह मोटां, कीधौ कूच घणी नव कोटां ।—रा.रू. २ ठुड्डी पर की नुकीली दाढ़ी । उ०—तेहे घोड़े किस्या किस्या खत्री चढ़िया । पंचवीस वरस ऊपहरा आकरणांत मूंछ नाभि प्रमांण कूच ।—रा.सा.सं

कूचवंदिया-सं०स्त्री०—एक पिछड़ी जाति विशेष ।

कूचा-सं०पु० [फा०] छोटा रास्ता गली ।

कूचील-वि०—गंदा मैला (अनेका.)

कूचीलौ-सं०पु० [सं० कच्चीर] दवा के काम में आने वाले विषैले बीजों का एक वृक्ष अथवा उसके बीज, कुचला ।

कूचौ-सं०पु०—घास, भूसा । (यौ० कूचौ-पांणी)

कूजणौ, कूजवौ-क्रि०अ०—कोमल और मधुर शब्द करना, चहकना, कलरव करना । उ०—कठिण वेयणि कोकिल मिसि कूजति, वनसपती प्रसवती वसंति ।—वेलि.

कूजा-सं०पु०—१ मोतिया या बेले का फूल । उ०—कणियर तरु करणि सेवंती कूजा, जाती सोवन गुलाब जत्र ।—वेलि.

सं०स्त्री०—२ क्रौंच पक्षी (क्षेत्रीय)

कूजित-वि०—ध्वनित (डिं को.)

कूट-सं०पु० [सं०] १ अनाज आदि की राशि या ढेरी. २ हथौड़ा. ३ लकड़ी के म्यान में छिपा हुआ हथियार. ४ छल, फरेब, कपट (ह.नां., डिं.को.) ५ अगस्त्य मुनि का एक नाम. ६ गुप्त वैर. ७ नगर का द्वार. ८ गुप्त रहस्य. ९ वह हास्य या व्यंग्य जिसका अर्थ गूढ़ हो. १० आंखों के ऊपर का भाग. ११ नकल. चिढ़ाने का भाव । उ०—लोह चणां रै चावणै दांत विहूणा थाय । इण घर भोळा आवणौ, जम री कूट कढ़ाय ।—वी.स. १२ किनारा, छोर (रू.भे. 'कूंट') १३ शिखर । उ०—कटचा घण सज्जळ छज्जळ कांन, सिर गिर कज्जळ कूट समांन ।—मे.म. १४ ऊंट के पैर का बंधन (रू.भे. 'कूंट') उ०—चारण ढोलइ नूं कहइ, किस गुण आया राज । ऊपर थे विन्हे चढ़चा, करह कूट किण काज ।—ढो.मा. १५ पहाड़ (नां.मा.)

यौ०—हेमकूट, चित्रकूट ।

१६ वृक्ष (अ.मा.)

सं०स्त्री०—१७ कूट नाम की औषधि ।

१८ काटने-कूटने या पीटने आदि की क्रिया. १९ कुटी, झोंपड़ी ।

वि०—१ झूठा छलिया, कपटी. २ कृत्रिम बनावटी, नकली. ३ कुटिल, दुष्ट । उ०—रुठ अमी दै रेस, ऊठ महाभड़ रूठ अब । कूट गहै छै केस, दूठ व्रकोदर देख रे ।—रामनाथ कवियौ

कूटजुद्ध-सं०पु० [सं० कूट+युद्ध] कपट का युद्ध, छलयुद्ध । उ०—अर मारग मैं कूटजुद्ध करण रा स्थांन जांणिया जिके टळाइ दीधा ।
—वं.भा.

कूटणौ, कूटवौ-क्रि०स०—१ ऊपर से लगातार बलपूर्वक आघात पहुंचाना, मारना, पीटना ।

मुहा०—१ कूट-कूट नै भरणौ—ठसाठस भरना, अच्छी तरह भरना. २ कूट-पीस नै पेट पाळणौ—किसी तरह कड़ी मेहनत करके जीवन-निर्वाह करना ।

२ सिल, चक्की आदि में टांकी से छोटे-छोटे गड्ढे करना या दांत निकालना । (मि० टांचणौ)

कूटणहार, हारौ (हारी) कूटणियौ—वि० ।

कूटाणौ, कूटावौ, कूटावणौ, कूटाववौ—प्रे०रू० ।

कूटिग्रोड़ौ, कूटियोड़ौ, कूटचोड़ौ—भू०का०कृ० ।

कूटीजणौ, कूटीजवौ—क्रि०कर्म वा० ।

कूटीजिग्रोड़ौ, कूटीजियोड़ौ, कूटीज्योड़ौ—भू०का०कृ० ।

कूटनीति-सं०स्त्री०यौ० [सं०] दांव-पेंच की नीति या चाल ।

कूटपाठ-सं०स्त्री० [सं०] मृदंग के चार वर्णों में से एक वर्ण (संगीत)

कूटळ, कूटळौ-सं०पु०—१ फूस, कचरा, कूड़ा-करकट । उ०—कोल काळज्यौ थोथौ करै लगै न कारी कुड़ री । फूस कूटळै दरड़ा भरै, होड हुवै ना धूड़ री ।—दसदेव २ रद्दी कागजों या रद्दी कागजों की बनी लुगदी का ढेर । उ०—थांरै कनै कार्कजी-रा कागज-पत्तर होवैला ? घणौ ही कूटळौ है ।—वरसगांठ

कूटावणौ, कूटाववौ-क्रि०स० [प्रे०रू०] देखो 'कुटाणौ' (रू.भे.)

कूटि-सं०स्त्री०—ऊंट के पैर का बंधन । उ०—कूटि कंटाड़ी इणि करह, हिव नरवर नेड़ेह । ऊमर सुणि मुझ बीनती, घोड़ा म मारेह ।
—ढो.मा.

कूटियउ-सं०पु०—पैर में बंधन डाला हुआ ऊंट । उ०—ऊमर सुणि मुझ बीनती, दउड़ि म मार तुरंग । करिहउ लंघियउ कूटियइ, आडावळ वडवंग ।—ढो.मा.

कूटियोड़ौ-भू०का०कृ०—कूटा हुआ । (स्त्री० कूटियोड़ी)

देखो 'कूटणौ' का भू०का०कृ० ।

कूटियौ—देखो 'कूटियउ' (रू. भे.)

कूटौ-सं०पु०—१ कागज या चिथड़े या टाट के टुकड़ों आदि को पानी में भिगो कर सड़ा कर बनाई गई लुगदी. २ देखो 'कूंटौ' ।

कूठोड़—१ देखो 'कुठोड़' (रू.भे.) २ कुमार्ग, कुपंथ, बुरा स्थान । उ०—आपां विनां कदे एकलौ नहीं जातौ, नै अमलांचाक पोनाक कर आज अकेलौ ही मुळकतौ थकियौ चालियौ सो भलौ नहीं । कूठोड़ां जाय छै ।—जलाल बूबना री वात

कूडौ-सं०पु०—खलिहान में पड़ा अनाज का ढेर । उ०—वणक कहै आवै वमत, कै कूडै कै गूण । चेळे पड़ै सो होय मुध, मैमर पड़ै मो

कैंवच-सं०स्त्री०—एक प्रकार की लता व उसकी फली ।
के-सं०पु०—१ रत्न. २ खान. ३ मयूर. ४ प्राण (एका.)
वि०—कुछ । उ०—ढोलउ किम परचइ नहीं, सहु रहिया समझाइ । के पुळिया पूगळ दिसी, के कांही कजि काइ ।—ढो.मा.
सर्व०—कौन । उ०—सज्जणियां सांवण हुया, घड़ि उलटी भंडार । विरह-महारस ऊमटइ, के ता कहूं संभार ।—ढो.मा.
वि०—कितने ही, कई । उ०—नारायण रा नांम री, मोड़ी पड़ी पिछांण । के दिन बाळापै गया, के दिन गया अजांण ।—ह.र.
प्रत्यय—संबंधकारक का विभक्ति चिन्ह 'का' का बहुवचन ।
उ०—पहिलइ पोहरे रैण के दिवला अंबर डूल । घण कसतूरी हुइ रही, प्रिव चंपा री फूल ।—ढो.मा.
केइक-वि०—कई, कितने ही । उ०—गुड़ा हेटै बाड़मेर हेटै केइक गांव । —बां. दा. ख्यात
केई-वि०—कई, कितने, अनेक । उ०—इहक्योड़ा डोलै केई, डोफा गाफल जनम गमावै ।—ऊ.का.
कहा०—केई बायां नौ कांकड़ियां नो मैल खादो है—कई स्त्रियों के कंकण का मैल खाया है; रोटी बनाते समय कंकण आटे से छूते हैं जिससे उनका मैल आटे में छूटता है; बहुत अनुभवी के लिए कही जाती है ।
सर्व०—किसी ।
कहा०—केई री जीभ चालै केई रा हाथ चालै—कोई गाली देता है कोई पीट डालता है; जो गाली देता है वह मार खाता है ।
केईक-वि०—१ कितने ही. २ कुछ । उ०—जैमलजी रा मांणस गिररी बावरै समेळ केईक दिन रह्या ।—बां दा. ख्यात
केकंध-सं०पु० [सं० किष्किंध] १ मैसूर के आसपास के देश का प्राचीन नाम. [सं० किष्किंधा] २ किष्किंधा पर्वत-श्रेणी. ३ किष्किंधा पर्वत की गुफा ४ रामायण का एक कांड ।
केक-सं०पु० [सं० केकी] मयूर, मोर ।
सर्व०—किसी । उ०—दुरै दिखालै केक काळै अचळ पाळै ऊपरै । दीठा दगाळै तेण ताळै, बय बडाळै वीर ।—र.रू.
वि०—१ कुछ । उ०—उण परवत पर केक बिताया दिनड़ा दोरा, ढळियो भुजबंद हाथ रूप रंग पड़िया फोरा ।—मेघ.
२ कितने ही, कई, बहुत । उ०—छत्री कुळ धरम छेक, कायर कर देत केक । टारत नहि एक टेक, पाव को पुजाता ।—अज्ञात
केकय-सं०पु० [सं०] १ एक प्राचीन देश का नाम. २ दशरथ के ससुर और केकयी के पिता का नाम ।
केकयी-सं०स्त्री० [सं०] १ केकय देश की स्त्री. २ दशरथ की एक स्त्री जो कि भरत की माता थी ।
केकांण-सं०पु० (स्त्री० केकांणी) घोड़ा (ना.डि.को.) उ०—उत्तर न वज्जियउ, ऊकठियइ केकांण । कांमिण कांम कमेड़ि ज्यउं, हइ चांण ।—ढो मा.
केका-सं०स्त्री०—मादा मोर, मयूरिनी । उ०—केकी केका तजि ठेका दे ठेरण ।—ऊ.का.
केकिंदा, केकिंधा—देखो 'केकंध' (रू.भे.)
केकी-सं०पु० [सं० केकिन्] १ मोर, मयूर (ह.नां.) उ०—सुटेर सुणे घनस्यांम री, हिवड़ै में है केकी समाय ।—गी.रां.
२ मुरवर# (डि.को.)
केगई—देखो 'केकयी' (रू.भे.)
केगर-सं०पु०—एक प्रकार का बड़ा वृक्ष । इसके तने का रंग श्याम होता है तथा इसकी लकड़ी मंदिर की ध्वजा के दंड के काम आती है।
केगहि, केगही —देखो 'केकयी' (रू.भे.)
केड़-सं०पु०—१ वंश । उ०—सहर बसायौ तिण रा केड़ रा कपाळिया कहीजे छै ।—रा.वं.वि.
मुहा०—केड़ री होणी—वंशज होना ।
२ पीछा । उ०—करस्यइ केड़ि मारैस्यइ हींदू अबैले किरतार । —कां.दे.प्र.
केड़ै-क्रि०वि०—१ पीछे । उ०—हे पणिहारी बापड़ी, जहरी सूं वर जाय, केड़ै कटकां लूं विया, लायक मरसी आय ।—हा.झा.
२ बाद में, पश्चात् । उ०—अर प्रभात हुवां केड़ै गरभवती पत्नी आप रा अनुगां नूं काठां चढ़ण री निदेस दे'र धणी रा अंचळ हूं अंचळ जोड़ियौ ।—वं.भा.
केड़ो-सं०पु०—घास-फूस का समूह, घना घास (क्षेत्रीय)
क्रि०वि०—पीछा । उ०—कंथड़ा झालि किरमाळ केड़ो करां, सारझण वरण सो सोक सेलां सरां ।—हा.झा.
केच-सं०पु०—एक देश का नाम । उ०—की इरां ऐराक की, किमूं केच मकरांण । खेत तुरंगा थाट जिम, वांका थाट वखांण । —बां.दा.
केचवाळ-सं०स्त्री०—परिहार राजपूत वंश की एक शाखा (बां.दा ख्यात)
केण-सर्व०—१ कौन. २ किस, किसने । उ०—महानत तूझ न जांणै माह, कियौ तुझ केण आयौ तू काह ।—ह.र.
क्रि०वि०—किस कारण, किसलिए । उ०—आज उमाहउ मो घणउ, ना जांणू किव केण । पुरख परायउ वीर वड, अहर फुरकई केण । —ढो.मा.
केणिका-सं०स्त्री०—खेमा (डि.को.)
केत-सं०पु० [सं० केतु] १ केतु. नौ ग्रहों में से एक । उ०—कारै चख नाहर राहर केत, नेत-अण भाळ डरै निसनेत ।—मे.म.
[सं०] २ घर. ३ जगह, स्थान. ४ केतु, ध्वजा (अ.मा.)
उ०—कड़ी बागतां वरम्मां पीठ पनागां ऊपड़ी केत ।
—हुकमीचंद खिड़िया
केतक-सं०पु० [सं०] केतकी, केवड़ा (डि.को.) ।
वि०—१ कितने. २ बहुत ।
क्रि०वि०—किस कदर ।

सालणै वडी कूर-कपूर तळी पापड़ी ।—कां.दे.प्र.

कूरड़ी-सं०स्त्री०—कूड़ा-करकट का ढेर (क्षेत्रीय) (रू.भे. अकूरड़ी, ऊकरड़ी)

कूरपर-सं०स्त्री०—कोहनी, कुहनी (डिं.को.)

कूरम-सं०पु० [सं० कूर्म] १ कच्छप, कछुआ (रू.भे. 'कुरम'-ह.नां.) २ पृथ्वी. ३ प्रजापति का एक अवतार. ४ नाभिचक्र के पास की नाड़ी. ५ विष्णु का दूसरा अवतार. ६ एक राजपूत वंश, कछवाहा. उ०—हाडा कूरम राठवड़, गोखां जोख करंत । कहज्यौ खांनाखांन नै, वनचर हुआ फिरंत ।—महाराणा अमरसिंह ७ शरीरस्थ दस वायुओं में से १ जिसका निवास आँखों में है और जिसके प्रभाव से आँखें खुलती है और बंद होती हैं. ८ तन्त्र के अनुसार एक मुद्रा. ९ छप्पय का एक भेद जिसमें ५३ गुरु ४६ लघु कुल ९९ वर्ण व १५२ मात्राएँ होती हैं ।

कूरमचक्र-सं०पु० [सं० कर्मचक्र] तांत्रिक लोगों द्वारा बनाया जाने वाला एक प्रकार का चक्र जिससे शुभाशुभ का शकुन और फल जाना जाता है ।

कूरमद्वादशी-सं०स्त्री० [सं० कूर्मद्वादशी] कच्छपावतार होने की तिथि, पौष शुक्ला द्वादशी ।

कूरमपुरांण-सं०पु० [सं० कूर्मपुराण] अठारह पुराणों के अन्तर्गत एक पुराण ।

कूरमवंस-सं०पु०—कछवाहा वंश ।

कूरमा-सं०स्त्री० [सं० कूर्मा] एक प्रकार की वीणा ।

कूरमासण, कूरमासन-सं०पु०[सं. कूर्मासन] योग के चौरासी आसनों के अंतर्गत एक आसन । इसमें दोनों पावों की एडिओं से गुदा को दबा कर दोनों पावों के पंजों को थोड़ा पिछले पैर की तरफ रख कर बैठा जाता है । इससे अपान सहित वीर्य का उर्ध्वगमन होकर शारीरिक बल की वृद्धि होती है । इसका नाम गोमुखासन भी है, क्योंकि पीछे की तरफ गौ के मुख के सदृश आकृति बना कर बैठा जाता है ।

कूरम्म—देखो 'कूरम' (रू.भे.) उ०—नमो मच्छ माधव कच्छ कूरम्म, पतित्त उधारण देव परम्म ।—ह.र.

कूरिम-सं०पु०—कछवाहा वंश का राजपूत । उ०—हिंदू तांम हकारिआ, सिंध जसौ जैसिंघ । किया विदा कूरिम कमंध ।—वचनिका

कूरि-सं०पु०—एक प्रकार का घास ।

कूरौ-सं०पु०—प्राय: मेवाड़ की तरफ होने वाला एक अनाज विशेष जिसके दानों की रोटियां गरीब लोग खाते हैं ।

कहा०—कूरा करमा खाय गेहूं जीमै वांणियां—जहाँ बनियें संपन्न हैं वहाँ किसान गरीब हैं ।

कूळ-सं०पु० [सं०कूल] १ किनारा, तट, तीर (डिं.को.) २ सेना का पीछे का भाग. ३ बड़ा नाला. ४ तालाब ।

क्रि०वि०—समीप, पास ।

कूळातरौ-सं०पु०—१ होंठ का एक रोग विशेष जिसमें ओंठ पर एक प्रकार का जहरीला फोड़ा हो जाता है. २ देखो 'कातरौ' (३)

कूलीर-सं०पु०—केंकड़ा ।

कूलौ—देखो 'कूल्हौ' (रू.भे.)

कूल्यस-सं०पु० [सं० कुलिश] वज्र (नां.मा.)

कूल्हणौ, कूल्हबौ-क्रि०स०—तिरछी निगाहों से देखना, एक आँख कुछ छोटी कर के लक्ष्य की तरफ स्थिर नजरों से देखना । उ०—घोड़ां री पूठ तखतां ऊपर बैठा छै, आंख्यां आडी कूल्है छै ।—रा.सा.सं.

कूल्हर-सं०स्त्री०—घी में भुना हुआ आटा जिसमें शक्कर मिला कर खाते हैं । उ०—नणदल कूल्हर खाय, वारी ए लूम्यां री डोरी । —लो.गी.

कूल्ही-सं०स्त्री०—आँखों पर लगाई जाने वाली पट्टी विशेष (रा.सा.सं.)

कूल्हौ-सं०पु०—कोख के नीचे कमर में पेडू के दोनों ओर निकली हुई हड्डियां ।

कूवड़ी-सं०स्त्री०—छोटा व सँकरा कुआ (अल्पा०) उ०—काळै भाटै कूवड़ी, ओ रातै छै पिणिहार, भिलौ म्हारी चूनड़ी ए ।—लो.गी.

कूवाळी-वि०स्त्री०—कुये की, कुये सबंधी । उ०—ऊंटां री लादवौ छोड़दौ, मारूजी लेल्यौ कूवाळी चौथ ।—लो.गी.

कूवौ-सं०पु० [सं० कूप] पानी के लिये पृथ्वी में खोदा हुआ गहरा गड्ढा, कूप ।

मुहा०—१ कूवा में गिरणौ (पड़णौ)—कष्ट में फँसना. २ कूवा में फेंकणौ—जाने देना, बर्बाद करना, जन्म बेकार करना. ३ कूवे ही भांग पड़णी—सभी लोगों का नशे में चूर होना; सबका पागल या मूर्ख होना; सबकी बुद्धि मारी जाना. ४ कूवौ खोदणौ—कठिन परिश्रम करके जीवन-यापन करना; दूसरे को गिराने के लिये कुछ करना. ५ कूवौ चलाणौ—खेत को कुएँ के पानी से सींचना ।

कहा०—१ कूवा रौ डेडरियौ—कुये का मेंढक; संकुचित विचारों के आदमी के लिये. २ कूवौ-कूवौ नहीं मिळै पण आदमी-आदमी सौ वार मिळै-मिळै—एक मनुष्य दूसरे मनुष्य से कभी न कभी जरूर मिलता है; मनुष्य का काम मनुष्य से कभी न कभी अवश्य पड़ता है. ३ कूवै में हुवै तौ खेळी में आवै—भीतर कुछ तत्व हो तो बाहर आवे; पास में कुछ हो तो दें. ४ कूवै री छाया कूवै में रेवै—गंभीर आदमी अपने मन की बात मन में ही रखता है; उस आदमी के प्रति जिसकी संपत्ति या विद्या किसी दूसरे के काम न आवे ।

सर्व०—कौन ।

कूसमांड-सं०पु०—कुम्हड़ा (डिं.को.)

कूह-सं०स्त्री० [सं० कुहू] १ देखो 'कुहर'

सं०पु०—२ कुबेर ।

कॅंकड़ौ-सं०पु० [सं० कर्कट, प्रा० ककट] एक प्रकार का जंतु, पानी का कीड़ा जिसके आठ टाँगें और दो पंजे होते हैं ।

कॅंडौ-सं०पु०—बढ़ई का एक औजार ।

कॅंद्र-सं०पु० [सं०] १ किसी वृत्त के ठीक बीच का बिंदु. २ ज्योतिष शास्त्र में ग्रहों के केंद्र. ३ फलित ज्योतिष के अनुसार ··· में पहला, चौथा, सातवां और दसवां स्थान. ४ बीच का ।

केमद्रुम-सं०पु० [यू० केनीड्रोमस] ज्योतिष में चंद्रमा का एक योग जो उस समय होता है जबकि चंद्रमा वाली राशि के आगे या पीछे वाली राशि पर कोई और ग्रह न हो।

केमर-सं०पु० [सं० कार्मुक] धनुष।

केमरी-सं०पु०—१ धनुष २ झाड़ीनुमा छोटा वृक्ष।

केमि-क्रि०वि० [सं० किम्] कैसे। उ०—नाह महूंगा दियण झूंपडा निभै नर, जावसी कड़तलां केमि जरसी जहर।—हा झा.

क्रि०वि०—कहाँ।

केरकेयक-वि०—कई। उ०—मौत आय केयक मरैं, केक करैं अपघात।
—पा.प्र.

केयुर, केयूर-सं०पु० [सं०] बांह में पहनने का एक आभूषण। (मि० 'भुजबंध') उ०—पुणचा जड़त जडाउ पुराची, कळ आजांन भुजा केयूर।—र.रू.

केरंटी-सं०पु० [सं० किरीटिन्] किरीटी, अर्जुन।

केरंठी-सं०पु० [सं० केरंठी] १ मकर, मत्स्य २ मछली। (यौ० केरंठीकुंडल) उ०—मोर मुगट सिर जास कांत केरठी कुंडळ, वसन पीत तन स्यांम गळै माळा गुंजाहळ।—जग्गौ खिड़ियौ

केर-अव्यय—सबंध-सूचक अव्यय—का, की, के। उ०—पहिर पूछै खोलणी, पेई भूखण केर। हेटविया भाभी हसी, नणद कनै नाळेर।
—वी.स.

सं०पु०—१ एक कांटेदार वृक्ष तथा उसके बीज, करील। उ०—आवै तौ म्हारी निजर दूं धरती में गाड, ऊपर काटा केर का मर्कै न कोई काड।—सगरांमदास

२ वराज। उ०—आखडियां रतनाळियां, मूंछ अवढ़ां फेर। जिण भय कांपै गज्जगणी, ओ गीदाणी केर।—नैणसी ३ नारियल (अ.मा.)

केरक-सं०पु० [सं०] हाथी।

केरकुमटियो-सं०पु०—१ लड़कियों द्वारा गाया जाने वाला एक गीत. २ कैर व कुम्मट आदि वृक्ष अथवा उनके बीज।

केरड़-सं०पु०—मरुभूमि में होने वाला एक प्रकार का पत्तेविहीन कांटेदार वृक्ष व उसके फल, करील।

केरड़ियौ, केरड़ौ—१ देखो 'केरड़' (रू.भे.) (स्त्री० केरड़ी) २ गाय का छोटा बछड़ा। उ०—ढाढा तांभाड़ै केरड़िया टीकै।—ऊ.का.

केरपा-सं०स्त्री० [सं० कृपा] कृपा, मेहरबानी, दया (ह.नां.)

केरल-सं०पु० [सं०] दक्षिण भारत का एक प्रांत (पा.प्र.)

केरली-सं०पु०—केरल देश का निवासी।

वि०—केरल का, केरल संबंधी।

केरव-सं०पु०—रहँट पर बैलों के घूमने के चक्र पर लगा हुआ पत्थर या पाट जिसके नीचे से लाट निकलती है।

केरांटी-सं०पु०—देखो 'केरंठी' (रू.भे.) उ०—कन्ह आगै पंच दीपक जळै, केरांटी कुंडळ झळमळै।—ईसरदास बारहठ

केरा-अव्यय—१ संबंधसूचक अव्यय—के। उ०—१ डूंगर-केरा वाहळा, ओछां नरां सनेह। वहता वहइ उतामळा, झटक दिखावइ छेह।—हा.झा. उ०—२ चंदण केरा नाग ज्यूं, लपटाई रहीजै हो।—मीरां २ जैसा, समान। उ०—ज्यां आगै फेरजै, वड़ा लाखीक वछेरा। ज्या दरगह नित दिपै, कोड़ सुख इंद्रह केरा।
—जग्गौ खिड़ियौ

केरी-अव्यय—सबंधसूचक अव्यय—की। उ०—कागां केरी चांच ज्यूं, चुगलां केरी जीह। विमटा ज्यूं परची बुरी, चूंथै सबही दीह।
—बां.दा.

वि०—समान, तुल्य, बराबर।

सं०स्त्री०—१ आम का कच्चा और छोटा नया फल. २ लकड़ी का एक बित्ता लंबा पतला छड जिसमें जुलाहे (बाना बुनने के लिए) रेशम लपेटते हैं. ३ एक लकडी जिस पर नेवार बुन कर लपेटी जाती है।

केरूं, केरू-सं०पु०—कौरव (महाभारत) उ०—१ घटि घटि रावण लंका द्वार, घटि घटि केरूं सेनि अपार।—ह.पु.वा.

उ०—२ केरू सकळ सहारिया, करम कस रा फाड़।—सगरांमदास

केरे-अव्यय—१ सबंधसूचक अव्यय—के। उ०—प्रीतम बीछुडियां पछइ, मुई न कहि जइ काइ। चोळी केरे पान ज्यूं, दिन दिन पीळी थाइ।
—ढो.मा.

केरौ-अव्यय—१ संबंधबोधक अव्यय—का। उ०—मतना मेरी माता ए, मतना कर जीवण केरौ सोच। मेरी रातादेई, जीवण री चिंत्या ए कुळ में हूं करूं।—लो.गी. २ तरह, भाँति, जैसे।

सर्व०—किसका।

केरोसिन-सं०पु० [अं०] मिट्टी का तेल।

केळ-सं०पु०—१ भाला. २ कामदेव (ह.ना.)

सं०स्त्री० [सं० केलि] ३ केलि, क्रीडा। उ०—१ दरखतां ऊपर मोर कुहक रह्या छै, सुवा केळ करै छै।—रा.सा.स.

उ०—२ जिम मधुकर नइ कमळणी, गंगासार वेळ। लुवधा ढोलउ मारुवी, काम कतुहळ केळ।—ढो.मा. ४ मैथुन, संभोग, स्त्रीप्रसंग। उ०—भारथ मत कर भामणी, मो भारथ नह मेळ। वापी कूप वताव विन, कै कर म्हांसूं केळ।—बां.दा.

[सं० कदली] ५ केला नामक फल व उसका वृक्ष (डिं.को.)

उ०—केळ रहे नित कांपती, कायर जणै कपूर। सीहण रण साकै नहीं, सीह जणै रण सूर।—बां.दा.

सं०स्त्री० [सं० कदली] ६ कोंपल। उ०—१ रामजी चाल्या ए नदजी को लाल, दांतण लाया जी काची केळ रा।—लो.गी.

उ०—२ वसंतपंचमी पछैं, नीकळै काची केळां।—दसदेव

७ किसी वृक्ष की शाखा या टाली. ८ मांगलिक अवसरों पर घर के द्वार के दोनों ओर की दीवारों पर विभिन्न रंगों से बनाये हुए केले के चित्र। उ०—सपना में औ मारुजी दीपक जो देख्यौ, कुवळां री केळ रळावणी जी।—लो.गी.

केतकी–सं०स्त्री० [सं०] १ एक प्रकार का सुगंधित फूलों का छोटा झाड़ या पौधा (डि.को.) २ यात्रा में साथ रखने का जल-पात्र. ३ केवड़ा ४ श्वेत सुगंधित पुष्प। उ०—केवड़ां कुसुम कुंद तणा केतकी स्रम सीकर निरझर स्रवति।—वेलि.

केतन–सं०पु० [सं] १ निमंत्रण, आह्वान. २ ध्वजा (डि.को.) ३ चिन्ह. ४ घर, स्थान।

केतमक्र–सं०पु० [सं० मक्र+केतु] कामदेव। उ०—लोभांणी नवोढ़ा नेह निसा एक चोळा लेती, भासै अंग अचोळा सचोळा लेती भाव। करां केतमक्र रै लचोळा लेती, तूजी कना नक्र रै मचोळा सूं हचोळा लेती नाव।—र. हमीर

केतलउ–वि०—कितना।

केतली–सं०स्त्री०—यात्रा में साथ रक्खा जाने वाला एक विशेष प्रकार का जलपात्र जो ऊपर से कपड़े द्वारा मढ़ा होता है।

सर्व०—कितना।

केतलौ–वि०—कितना। उ०—कुण जांणै संगि हुआ केतला, देस-देस चा देसपति।—वेलि.

केतसाली–सं०स्त्री० [अ० कहतसाली] १ दुष्काल, अकाल. २ वह वर्ष जिसमें अकाल पड़ा हो।

केतां, केता–वि०—कितने, कितना। उ०—१ तूटै सिर धड़ तड़फड़ै, जळ तुच्छै मच्छ जांण। सेल दुसारां नीसरै केतां सह केकांण।

—किसोरदांन बारहठ

उ०—२ रांम भणंतां रे ह्रिदा, कह केता गुण होय।—ह.र.

केताई–वि०—कितने ही।

केतिय–वि०—कितने ही।

केती–वि०—कितनी। उ०—आडा डूंगर भुंइ घणी, सज्जण रहइ विदेस। मांगी-तांगी पंखुड़ी, केती वार लहेस।—ढो.मा.

क्रि०वि०—कहां तक।

केतु–सं०पु० [सं०] १ ध्वजा, पताका, निशान. २ दीप्ति, प्रकाश. ३ एक राक्षस का कबंध (पौराणिक) ४ एक प्रकार का तारा जिसके साथ प्रकाश की एक पूंछ दिखाई देती है। पुच्छल तारा. ५ नौ ग्रहों के अन्तर्गत एक ग्रह (अ.मा.)

केतुकुंडळी–सं०स्त्री० [सं० केतुकुंडली] फलित ज्योतिष के अनुसार बारह कोष्ठों का एक चक्र जिससे प्रत्येक वर्ष का स्वामी निकाला जाता है।

केतुमांन–वि० [सं० केतुमान्] तेजवान, तेजस्वी, बुद्धिमान।

सं०पु०—हरिवंश के अनुसार काशीराज दिवोदास के वंश का एक राजा।

केतुमाळ–सं०पु० [सं० केतुमाल] जंबू द्वीप के नौ खंडों में से एक खंड (पौराणिक)

केतुव्रक्ष–सं०पु० [सं० केतुवृक्ष] पुराणानुसार मेरु के चारों ओर के पर्वतों पर लगे वृक्षों के नाम।

केतुहळ–सं०पु० [सं० कुतूहल] कौतुक, कौतूहल।

केतू–सं०पु०—१ देखो 'केतु' (अ.मा.) २ झंडा, पताका (ह.नां.) ३ धड़। उ०—खड़ौ लांगड़ौ वीर, वीराधि खेतु, करै रागड़ै छाडड़ौ राह केतू।—मे.म.

वि०—१ विनाशक. २ श्रेष्ठ।

केतूड़ौ—देखो 'केतु' (अल्पा०) उ०—ज्यूं बुध सह केतूड़ै री सूं करै रुखाळी चांदलै री।—लो.गी.

केतेऊ–वि० [सं० कियत्] कितना।

केतेक–वि०—कितने।

सं०पु०—केतकी, केवड़ा (डि.को.)

केथ, केथि–क्रि०वि०—कहाँ, किधर। उ०—१ ते माटै ऊतावळा, राज पधारौ एथ। निजर दौलत निज सांम नी, पांमीजै कहौ केथ।—ढो.मा. उ०—२ करहा पांणी खंच पिउ, त्रासा घणा सहेसि। छीलरियउ ढूकीसि नहि, भरिया केथि लहेसि।—ढो मा.

केथी, केथे–क्रि०वि०—१ देखो 'केथ' (रू.भे) उ०—चूक हुआं के नर चीतारै, वाहै कई पड़ंतां वाढ़। पोढ़िया रयण ज्यूं हो प्रतमाळी, केथी कोय न सकियौ काढ़।—अज्ञात २ कहीं। उ०—मोळौ पांणी लाज, साचण बीछड़ियां समी। जाइ ल्याऊं जसराज, कोई जो केथी कहै।—जसराज ३ कहां। उ०—जाळंधर दसकंध जुरासंध जेहा, केथी गया न जांणै कोय।—ओपौ आढ़ौ

केथौ–सं०पु०—एक प्रकार का कँटीला वृक्ष जिसके फल खट्टे होते हैं, कपित्थ।

क्रि०वि०—क्या।

केदार–सं०पु०—१ केदारनाथ नामक एक तीर्थ. २ मेघ राग का चौथा पुत्र (संगीत)

केदारनट–सं०पु०—षाडव जाति का एक संकर राग विशेष (संगीत)

केदारनाथ–सं०पु०—उत्तराखंड में हिमालय में स्थित एक तीर्थ-स्थान।

केदारि—देखो 'केदार' (रू.भे.) उ०—जे फळ पामइ गंगा द्वारि, जे फळ हुई भेटि केदारि।—कां दे.प्र.

केदारी–सं०स्त्री०—१ दीपक राग की पाँचवीं रागिनी (संगीत) २ एक जाति विशेष।

केदारेस्वर–सं०पु०—काशी में स्थित शिव का एक मंदिर (बां.दा.ख्यात)

केदारौ–सं०पु०—एक राग विशेष (संगीत) (मि० 'केदारी')

केन–सं०पु० [सं०] एक प्रसिद्ध उपनिषद जिसका पहला मंत्र 'केनेषित केन' शब्द से आरंभ होता है।

केवत–सं०स्त्री०—कहावत, लोकोक्ति।

केवांण–सं०स्त्री० [सं० कृपाण] तलवार (डि.को.)

केवी–सं०पु०—शत्रु, रिपु, वैरी। उ०—इळा नभ भाळ पाताळ सप उपावण, कंपावण काळ विकराळ केवी।—खेतसी बारहठ

केम–क्रि०वि० [सं० किम्] किस प्रकार, कैसे। उ०—ढोलइ मन चिंता हुई, चारण वचन सुणेह। हिव आव्यउ पाछउ वळइ, करहा केम करेह।

—ढो.मा.

अहंकार की निवृत्ति (योगशास्त्र) ३ अद्वितीय ब्रह्मभाव की प्राप्ति (वेदांत) ४ दुःख की अत्यंत मुक्ति (न्याय)

केवळी-वि०—ज्ञानी। उ०—चाठ घड़ोई वरतण भांडा, क्रोस मुसायव केवळी। नर सेवक देव कुवांरा, धुके विरंडी देवळी।—दसदेव

केवळीविधिकळा-सं०स्त्री०—पुरुषों की बहत्तर कलाओं के अंतर्गत एक कला।

केवांण, केवांणी-सं०स्त्री० [सं० कृपाण] तलवार (ह.नां.) कृपाण, कटार।
उ०—जगपत्ती उण जोस मैं, रत्ती आग समांण। वनसपत्ती खळ जाळवा, करतत्ती केवांण।—रा.रू.

केवा-सं०पु०—१ दुःख, कष्ट, आपत्ति। उ०—सदव्रत करतोड़ी वरणाश्रम सेवा, काढे मरतोड़ी रेवातट केवा।—ऊ.का. २ द्वेष, शत्रुता। उ०—सूरा वचन सुणेह, सांवण रा माचा सवद। दारण गोगादे, केवा काढण कोपियौ।—गो.रू.

केवाड़-सं०पु०—कपाट। देखो 'किवाड़' (रू.भे.)

केवाट-सं०पु० [सं० किंवृत्तम्] (बाहु०) वृतांत, समाचार, खबर, विवरण।

केविय, केवी-सं०पु०—१ शत्रु, रिपु। देखो 'केवी' (रू.भे.) (ह.नां.)
उ०—१ करै वर पार की आपणी जिके नर, केवियां सीस खगधांण करणा कचर।—हा.झा.
उ०—२ वेच धवळ आवतड़ी, कांनां लाग कहंत। जिकौ मित मत जांणजे, केवी जांणे कंत।—बां.दा
उ०—३ कांमिणि कहि कांम काळ कहि केवी, नारायण कहि अवर नर।—वेलि.
क्रि०वि०—कैसा, कैसी।

केवौ-सं०पु०—१ प्रतीकार, बदला, वैर। उ०—मांगिह लेमी माय औ केवा उधरावसी।—पा.प्र. २ देखो 'केवा'।

केस-सं०पु० [सं० केश] १ सिर के बाल।
कहा०—१ केसां नै काटयां किसा मुडदा हौळा हुवै—बाल काटने से कौन से मुर्दे हल्के हो जाते हैं; बड़ी एवं अधिकांश बुराइयों के रहते छोटी सी बुराई को दूर करने के यत्न बेकार हैं. २ नाई-नाई केस किता कै सांमै आय पड़ी—हे नाई! मेरे सिर पर कितने केश हैं। (नाई उत्तर देता है) जितने भी हैं वे सब कटने पर तुम्हारे सामने आ जायेंगे; अभी भेद खुल जायगा; उतावला न बन कर थोड़ी प्रतीक्षा करनी चाहिए तब तक भेद आप ही आप प्रगट हो जाता है।
२ शेर या घोड़े के गले पर के बाल। (यौ० काळाकेस)
३ विश्व. ४ सूर्य्य. ५ विष्णु. ६ केशी नामक दैत्य जिसे कृष्ण ने मारा था (पि.प्र.)

केसकाट-सं०पु०—नाई, नापित (डि.को.)

केसकार-सं०पु०—१ बाल काटने वाला, नाई, हज्जाम. २ बालों को सँवारने वाला।

केसट-सं०पु० [सं० केशट] कामदेव के पांच बाणों में से शोषण नामक बाण।

केसबंध-सं०पु० [सं० केशबंध] नृत्य में हाथों को घुमाने का एक ढंग या क्रिया विशेष जिसमें हाथों को कंधे पर से घुमाते हुए कमर पर लाते हैं और फिर ऊपर सिर की ओर ले जाते हैं।

केसवाळ, केसवाळी-सं०स्त्री० [सं० केश+आवलि] १ घोड़े की गर्दन के बालों की पंक्ति (डि.को.) २ घोड़े की अयाल पर धारण कराने का जालीनुमा आभूषण। उ०—केसवाळी रंग रंग री गुंथीजै छै, अगाडी पछाड़ी खोलजे छै।—रा सा सं.

केसमारजन-सं०पु०—कंघा (डि.को.)

केसमारजनकौसळ-सं०पु०—बालों का मलना और तेल लगाना जो चौसठ कलाओं के अंतर्गत मानी जाने वाली एक कला है।

केसर-सं०पु० [सं०] १ फूलों के अन्दर बीचोबीच बाल की तरह पतले-पतले सीके या सूत. [सं०] २ ठंडे देशों में होने वाला एक पौधा जिसका केसर स्थायी सुगंध के लिए प्रसिद्ध है, जाफरान।
पर्याय०—कसमीरज, काळेक काळेयक, कुंकम, कुंकुम, कुंकुमकाय, कूंकूं, केसर, गुड़वरण, गुडवरणी, चंदण, दीपक, देववलभा, देववल्लभ, धीर, पिसुण, पीत, वाह्लीक, मंगळकरण, मंगळकरणी, रकत, रगत, लोहत, लोहित, वन्हिसिख, वाह्लीकजा, संकज, संकोच, सुगन्ध।
३ घोड़े, सिंह आदि जानवरों के गर्दन पर के बाल. अयाल.
४ नाग केसर. ५ वकुल. ६ मौलश्री. [सं०] ७ स्वर्ग.
८ देववृक्ष (अ.मा.)
वि०—लाल, रक्तवर्णः (डि.को.)

केसरबाई-सं०स्त्री०—मेहा चारण की पुत्री एक देवी जो करणी देवी की बड़ी बहिन थी।

केसरि—देखो 'केसरी' (रू.भे.)

केसरिपूत-सं०पु०—केशरी के पुत्र, हनुमानजी।

केसरियाकंवर-सं०पु०—१ राजस्थान के एक लोक देवता जो गोगाजी के आत्मीय पुत्र माने जाते हैं। इनको नागरूप माना गया है। भाद्रपद मास के शुक्ल पक्ष की नवमी को इनका पूजन किया जाता है.
२ पति (प्रायः इस अर्थ में यह शब्द केवल लोक गीतों में प्रयुक्त होता है)

केसरियानाथ-सं०पु०—जैनियों का एक तीर्थ-स्थान (बां.दा.ख्यात)

केसरियौ-सं०पु०—१ अफीम. उ०—तिण भात री केसरियौ, पोतां घोळियौ मनुहारां हुवै छै।—ढाढ़ाळा सूर री वात २ रसिक नायक।
उ०—१ घूंघटड़ौ हट सूं घणौ, खोलंता कर स्यांत। केसरियै ली कवज में, भुवन मदन प्रिय भांत।—अज्ञात उ०—२ जीमण नै केसरिया वालमजी ओ सियाळै घरे पधार।—लो.गी.
वि०—केसरिया रंग का, केसरिया संबंधी।
मुहा०—केसरिया करणौ—युद्ध में मरने के लिए तैयार होना।

केसरी-सं०पु० [सं० केसरिन्] १ सिंह (अ.मा.) २ घोड़ा (डि.को.)
३ नाग केसर. ४ पुन्नाग. ५ बिजौरा नीबू. ६ हनुमानजी के पिता का नाम. ७ एक प्रकार का बगुला।

केलड़ी-सं०स्त्री०—मिट्टी का बना तवा।

केलण-सं०पु०—भाटी वंश की एक शाखा (बां.दा.ख्यात)

केलणावटी-सं०स्त्री०—जैसलमेर राज्यान्तर्गत 'केलण' भाटियों के राज्य की भूमि।

केलणोत-सं०पु०—भाटी वंश की एक शाखा या इस शाखा का व्यक्ति।

केलपुर-सं०पु०—१ सीसोदिया वंश का राजपूत. २ उदयपुर राज्य के अंतर्गत एक ग्राम।

केलपुरी-सं०स्त्री०—१ देखो 'केलपुर'. २ सीसोदिया वंश की कन्या।

केलपुरौ—देखो 'केलपुर' (रू.भे.) उ०—मेलै जोगिण पुरौ महादळ, केलपुरौ उखेळ करै।—महारांणा प्रताप री गीत

केळरसक्यारी-सं०स्त्री०—काम-क्रीड़ा का साधन, योनि (र. हमीर)

केळवणौ, केळवबौ-क्रि०स०—सुधार करना।

केळवर-सं०पु० [सं० कलेवर] शरीर देह, ढांचा।

केलवा-सं०स्त्री०—सीसोदिया वंश की एक शाखा।

केळवियोड़ौ-भू०का०कृ०—सुधार किया हुआ। (स्त्री० केळवियोड़ी)

केळा-सं०स्त्री० [सं० केलि] १ रस, क्रीड़ा, भोग, आनंद।

उ०—भूखण आभूखण मनसा भरियोड़ी, वेळा मन वंछित केळा करियोड़ी।—ऊ.का.

सं०पु०—२ एक प्रकार का घोड़ा विशेष (रा.सा.सं.)

केळास—देखो 'कैलास'।

केळि-सं०स्त्री० [सं० केलि] १ देखो 'केळ' (३, ४, ६, ७)

उ०—१ केळि कहतां क्रीड़ा त्यें कौं घणौ सुख पायौ।—वेलि. टी.

उ०—२ मांन सरोवर सकळ सुख तहां बैठा केळि करइ।—ह.पु.वा.

केळिग्रभ-सं०पु० [सं० कदली+गर्भ] कदली-गर्भ, केले का तना।

उ०—गति गयंद, जंघ केळिग्रभ, केहरि जिम कटि लंक।—ढो.मा.

केळिग्रह-सं०पु०—क्रीडा-स्थल, रतिगृह, शयनागार। उ०—सखियां आगैं जाय, केळिग्रह कहतां रहस्य मंदिर सयन मंदिर तिहिकौ आंगण मारजण कहतां संवारियौ।—वेलि. टी.

केळिनि, केळिनी-सं०स्त्री० [सं० कदली] कदली, केले का वृक्ष या फल।

उ०—पंथी एक संदेसडड, लग ढोलइ पैहच्चांइ। जंघा-केळिनि फळि गई, स्वात जु वरसउ आइ।—ढो.मा.

केळियौ-सं०पु०—अंकुर निकलता हुआ कोमल पौधा (क्षेत्रीय)

केळी—देखो 'केळि' (अमरत)

केलू, केलूड़ौ-सं०पु० (स्त्री० केलूड़ी) खपरैल।

केळूड़ौ—देखो केळ' (५) उ०—बीराजी केळूड़ा री कांम ए रेजा थांरी जांन में रे।—लो.गी.

केलोड-सं०पु०—तंवर वंश के क्षत्रियों की एक शाखा।

केळौ-सं०पु० [सं० कदल, प्रा० कयल] १ गज सवा गज लंबे पत्ते वाला एक कोमल पेड़ जिसके फल लंबे, गूदेदार व मीठे होते हैं। यह तने के ऊपर ही लगता है। कदली।

पर्याय०—कजळी, कदली, केळ, गुच्छफळा, भांनुफळा, मोचा, रंभा।

२ छोटा शमी वृक्ष। उ०—सूका केळा काट टाप घर गायां भैसां। खेत झूंपड़ी लेत ख्रमित आणंद संदेसां।—दसदेव

केवच—देखो 'कूंच'।

केवड़ौ-सं०पु० [सं० कविका] १ केतकी से कुछ बड़ा सफेद रंग का पौधा (डि.को.) उ०—हाथ बसती केवड़ौ जी कंई करे भंवर सूं हेत, बादळी बरसे क्यूं नी ए, बीजळी चमकै क्यूं नी ए।—लो.गी.

२ इस पौधे का फूल. ३ इसके फूल से उतारा हुआ सुगंधित फूल का आसव (यौ० केवडा-जळ) ४ एक लोक गीत का नाम. ५ एक प्रकार का घोड़ा (शा.हो.) ६ केवड़ा नामक वृक्ष।

केवट-सं०पु० [सं० कैवर्त्त, प्रा० केवट्ट] १ मल्लाह, पार लगाने वाला. २ एक वर्णसकर जाति।

केवटणौ, केवटबौ-क्रि०स०—१ निभाना. २ बटोरना

उ०—हाट वसै भूखौ हसै, हाथ धरै कण हाण। कमर कसै जर केवटण, नहतर सैंज सवाण।—बां.दा. ३ सुधारना.

उ०—कतरण सीवण केवटण, लै दरजी चित चोर। रजधांनी तंबू रचै, ते नरनायक ओर।—अज्ञात

४ मांस को पकाने के योग्य कमा कर तैयार करना. ५ संभालना. ६ देखभाल करना, हिफाजत करना. ७ मितव्ययिता करना. (यौ० घर-केवटू) ८ कमाना।

केवटणहार, हारौ (हारी), केवटणियौ—वि०।

केवटाणौ, केवटाबौ, केवटावणौ, केवटावबौ—प्रे०रू०।

केवटिओड़ौ, केवटियोड़ौ, केवटयोड़ौ—भू०का०कृ०।

केवटीजणौ, केवटीजबौ—क्रि० कर्म वा०।

केवटीजिओड़ौ, केवटीजियोड़ौ, केवटीज्योड़ौ—भू०का०कृ०।

केवटियौ—देखो 'केवट' (अल्पा०)

केवटियोड़ौ-भू०का०कृ०—१ निभाया हुआ. २ सुधारा हुआ. ३ सभाला हुआ. ४ हिफाजत किया हुआ. ५ कमाया हुआ. ६ बटोरा हुआ। (स्त्री० केवटियोड़ी)

केवटू-वि०—१ निभाने वाला. २ सुधारने वाला. ३ मांस को कमा कर पकाने योग्य बनाने वाला. ४ मितव्ययी. ५ बटोरने वाला।

केवत-सं०पु०—१ कहावत, किंवदंती. २ अपयश, कलंक।

केवळ-सं०पु०—१ विष्णु (ह.नां.) २ श्रीकृष्ण (अ.मा.) ३ कल्याण. ४ एक छंद विशेष जिसमें एक तगण, एक जगण, एक यगण और अंतिम दसवां वर्ण दीर्घ होता है (ल.पिं)

वि०—१ मात्र, सिर्फ. २ एक मात्र। उ०—सुनाय निपावण केवळ संत, चिताया ब्रह्मा हंस चरित्त।—ह.र.

३ शुद्ध, पवित्र।

केवळगत-सं०स्त्री० [सं० कैवल्य गति] चार प्रकार की मुक्तियों में से एक मुक्ति (अ.मा.)

केवळग्यांन-सं०पु० [सं० कैवल्य ज्ञान] १ त्रिविध दुखो की अत्यन्त निवृत्ति (नांख्य) २ विशेपदर्शी आत्मभाव की भावना अर्थात्

वि०—१ वलवान. २ पवित्र. ३ नम्र (एका०)
[सं० कति, प्रा० कइ] ४ कितने, कितना । उ०—कै मरण घाल्या छै कोयला वी ग्रांमेरा राज म्हेल में जी ।—लो.गी.
ग्रव्यय [सं० किम्] या, ग्रथवा । उ०—ग्रापै ही जगावसी, भलो ज होसी वगि । कै मांगिरण दरसावियां, कै ऊछजियां खगि ।—हा.झा.
कहा०—१ कै घोड़ा घोड़ा में कै घोड़ा चोरां में—हानि-लाभ की परवाह न करके किसी काम में जुट जाने पर कही जाती है.
२ कै ते खाये मोट पणाये, कै खाये वैरपणाये । कै खाये मांनपणाये, तीन वाते चोड़ दिये ते वो है देवपणाये मांये—मनुष्य वड़प्पन की भावनाओं से, दूसरों की शत्रुता से, और ग्रभिमान की भावना से ग्रालस्यवश ही दुःख पाता है एवं नीचे गिरता है, तीनों को छोड़ने पर वह देवस्वरूप होता है. ३ कै ते चोतो हूनू करे कै करे सोनो—या तो चूना सूनापन पैदा कर देता है या फिर सोने जैसा संपत्तिशाली; घर वनवाने का कार्य सोच-समझ कर प्रारंभ करना चाहिए. ४ कै ते घन धणी खाय, कै धन धणिये खाय—घन का स्वामी घन का उपयोग करता है नहीं तो फिर धन पड़ा रहने से वह स्वामी को खा जाता है. ५ कै ते भार मां भेलै नै कै जमी भेलै—या तो भार मां ही उठाती है या जमीन ही; मां को पुत्र के लिए बहुत कष्ट उठाना पड़ता है. ६ कै तो रोकै पांणी नै कै रोकै दांणी—मनुष्य को या तो नदी, वर्षा ग्रादि के कारण रुकना पड़ता है या कहीं कर (जकात) देना पड़ता हो वहाँ रुकना पड़ता है। इन दोनों की स्वीकृति के विना ग्रागे नहीं जाया जा सकता.
७ कै हंसा मोती चुगै, कै निरणा रह (भूखां मर) जाय—महान् व्यक्ति ग्रपना सिद्धान्त कभी नहीं छोड़ते; स्वाभिमानी व्यक्ति स्वयं नष्ट हो जाते हैं किन्तु ग्रपना स्वाभिमान नहीं छोड़ते ।
सर्व०—किस । उ०—इसै तळाव ग्राया, घोड़ा पाया । डेरो दीठो । कह्यो रे ग्रो कै गे डेरो छै ।—सयणी री वात

कंई—वि०—कई, कितने ही । उ०—करामात री वात साखात कंई, सता मात री चंद्र कूपादि सेई ।—मे.म.

कंक—वि०—कई, कितने ।

कंकळ—सं०स्त्री०—एक प्रकार का गारा । उ०—धोळख रूप सरूप धवळ माटी गारळी, कंकळ काळै रंग, डागळां नाखरण हाळी ।—दसदेव

कंड़ो—वि० (स्त्री० कंड़ी) कैसा । उ०—कहो(नी) मारुजी थांरा मनड़ा री वात, कैड़ै नै डणियारे गोरी थांरी फूटरी ।— लो.गी.

कंटभ—सं०पु० [सं०] मधु नामक दैत्य का छोटा भाई जिसे विष्णु ने मारा था ।

कंटभकंदन, कंटभकदन, कंटभाजित—सं०पु० [सं०] कैटभ नामक दैत्य को मारने वाले, ईश्वर (नां.मा., ग्र.मा.)

कंण—सं०पु०—चमड़े की वनी छोटी रस्सी जो चरस के ऊपरी हिस्से में कसी जाती है ।

कैणा, कैणावत—सं०स्त्री०—१ कहावत. २ किंवदंती ।

कैंणी—सं०स्त्री०—१ कहने का ढंग. २ कहने का भाव, कथनी ।
उ०—दाता गुरण ग्याता दूखरण न देणूं, रैणी कैंणी सूं भू भूखरण रैंणूं ।—ऊ.का. ३ किंवदंती ४ कहावत ।

कैंणो, कैंवो—क्रि०स०—देखो 'कहणौ' (रू.भे.)

कैतन—सं०पु०—ध्वजा, झंडा (ह.नां.)

कैतव—सं०पु० [सं०] १ धोखा, कपट (ग्र.मा., ह.नां.) २ जुग्रा.
३ वहाना. ४ वैदूर्य्य मरिण. ५ धतूरा. ६ मूँगा. ७ चिरायता ।

कैतवापनति—सं०स्त्री० [सं० कैतवापन्हुति] वह ग्रर्थालंकार जिसमें उपमेय का निषेध कैतव, व्याज, मिस ग्रादि शब्दों के ग्रर्थ द्वारा किया जाय ।

कैतसाली—सं०स्त्री० [ग्र० कहत-साली] ग्रकाल, दुष्काल । उ०—जेती भूमि भैरू रावराजा की दुहाई, कीनूं राज जेतै कैतसाली भी न ग्राई ।
—शि वं.

कैतूहळ—सं०पु० [सं० कौतूहल] देखो 'कौतूहळ' । उ०—मिटै रंग राग चहल, हामरांमत कैतूहळ ।—पहाड़खां ग्राढ़ो

कैथ—क्रि०वि०—कहाँ (क्षेत्रीय) उ०—नह वहमन नौसेरवां, ग्रफरास्याव न ऐथ । फरेदून नमरुद फिर, कयूमरस गौ कैथ ।—वां.दा.
सं०स्त्री०—कपित्थ का वृक्ष (डि.को.)

कैद—सं०स्त्री० [ग्र०] १ वंधन, ग्रवरोध. २ कारावास, जेल ।
पर्याय०—ग्रटक, जेर, वंध, रुकत, रोकरण ।
३ किसी प्रकार की शर्त, ग्रटक या प्रतिवंध ।

कैदखानो—सं०पु० [फा० कैदखाना] वह स्थान जहाँ कैदी रक्खे जाते हों, वंदीगृह, जेलखाना ।

कैदतनहाई—सं०स्त्री०—वह कैद जिसमें कैदी को वहुत ही छोटी ग्रौर तंग कोठरी में ग्रकेले रखा जाय, कालकोठरी ।

कैदमहज—सं०स्त्री० [ग्र०] ऐसी कैद जिसमें कैदी को किसी प्रकार का परिश्रम या काम न करना पड़े, सादी कैद ।

कैदारी—सं०पु०—भाटों की एक शाखा । प्रातःकाल भीगे हुए कपड़े ग्रोढ़ कर गाँवों में फेरी देने वाले भाट । इन्हें वासुदेवा भी कहते हैं ।
रू.भे.—'केदारी' (म.मा.)

कैदी—सं०पु० [ग्र०] जो कैद किया गया हो, वंदी ।
पर्याय०—उपग्रह, ग्रह, ग्रहक, प्रग्रह, वंदी ।

कैदीखांनो—देखो 'कैदखांनो' (रू.भे.)

कैंधों—ग्रव्यय—१ या, ग्रथवा. २ मानो ।

कैन—वि०—कौन, कौनसा ।

कैन, कैने—सर्व०—किसको । उ०—साच कहो थे कौरण छो, ग्रर पाताळ कैनूं पासै, राख हर नमस्कार करो छो ।—चौवोली

कैप—सं०स्त्री० [ग्रं०] टोपी ।

कैफ—सं०पु० [ग्र० कैफ] १ नशा मद. २ ग्रफीम (डि.को.)

कैफियत—सं०स्त्री० [ग्र०] १ समाचार, हाल, वर्णन, विवरण, तफसील.

कैम—सं०पु०—एक वृक्ष विशेष ।

वि०—केसरिया रंग का, लाल।

केसरीनंदन, केसरीनंदनि, केसरीपूत–सं०पु०—केसरी के पुत्र हनुमान। (डि.को.)

केसरीसिंघोत सं०पु०—१ राठौड़ राव मालदेव के पौत्र केसरीसिंह के वंशज, राठौड़ों की एक उप शाखा. २ इस शाखा का व्यक्ति।

केसलुंच–सं०पु० [सं० केशलुंच] सिर के बाल नोंचने वाला, जैन यति।

केसव–सं०पु० [सं० केशव] १ विष्णु का एक नाम। उ०—केसव क्रसण किलांण कह, अलख अजोणी ईस।—ह.र. २ श्रीकृष्ण का एक नाम. उ०—तूं तणा अनै तूं तणी त्री, केसव कहि कुण सकै क्रम।—वेलि. ३ ब्रह्म. ४ परमेश्वर. ५ विष्णु के चौबीस मूर्ति-भेदों में से एक।

केसवराइ–सं०पु० [सं० केशव+राट्] श्रीकृष्ण (नां.मा.)

केसवाळी—देखो 'केसवाळी' (रू.भे.) उ०—जीण मांडै छै। केसवाळी रंग रंग री गूंथीजै छै।—रा.सा.सं.

केसवौ–सं०पु० [सं० केशव] १ विष्णु की चौबीस मूर्तियों में से एक. २ श्रीकृष्ण. ३ विष्णु।

केससेखरापीड़-योजन–सं०पु०—शिर पर पुष्पों से अनेक प्रकार की कारीगरी करना। चौसठ कलाओं के अन्तर्गत एक कला।

केसिनी–सं०स्त्री० [सं० केशिनी] १ जटामासी. २ सुन्दर व बड़े बालों वाली स्त्री. ३ एक अप्सरा. ४ रावण की माता का एक नाम।

केसियौ–सं०पु०—शिर के आजू-बाजू बालों में लगाया जाने वाला फूल। वि०—रसिक (मि० 'लाल केसियौ')

केसी–सं०पु० [सं० केशिन्] १ एक असुर जिसे श्रीकृष्ण ने मारा था. २ घोड़ा. ३ सिंह. ४ एक यादव का नाम।

वि०—१ किरण वा प्रकाश वाला. २ अच्छे बालों वाला।

केसू–सं०पु०—१ पलाश का वृक्ष, टेसू। उ०—पुहप करणि करि केसू पहिरे वनसपती पीळा वसन।—वेलि. (केसूड़ौ–अल्पा०)

केसूल केसूलौ–सं०पु०—१ ढाक के फूल, पलाश का पुष्प. २ देखो 'केसू' (रा.सा.सं.)

केहइ–वि०—१ कौनसा, किस। उ०—थळ मथ्थइ ऊजासड़उ, थे इण केहइ रंग। धण लीजइ प्री मारिजइ, छांडि विडांणउ संग।—ढो.मा.

केहड़ली–वि०—कैसी। उ०—भेक धारतां कोदी भूंडी, कुबधां केहड़ली।—ऊ.का.

केहड़ौ–वि० (स्त्री० केहड़ी) कैसा।

केहर–सं०पु० [सं० केसरी] १ सिंह, शेर। उ०—जिण मारग केहर बुवौ, रज लागी तिणांह। ते खड़ ऊभा सूकसी, नह चरसी हिरणांह। —बां.दा.

[सं० केसर] बाल, केश। उ०—भूखा केहरी रौ केहर, खीजिया नागराज रौ मणि माडांणी भाटकि लेण रौ बळ होय तौ म्हांरा प्रस्थांन रौ राह रोकण री सलाह छै।—वं.भा.

केहरि, केहरी–सं०स्त्री०—१ करणी देवी की बहिन केसर बाई। देखो 'केसरबाई'।

सं०पु०—२ देखो 'केसरी'। उ०—१ वढ़ावत केहरि केहरि बाग, नखायुध गाजत भाजत नाग।—मे.म. उ०—२ केहरी जेम रण करण काज, केहरी मुक्ख मोड़ण सुवाज।—वि.सं.

केहवि–वि०—कैसी।

केहवौ–वि०—कौनसा। उ०—आकुळ थ्या लोक केहवौ अचिरज, वंछित छाया ए विहित।—वेलि.

केहा–वि०—कैसा।
क्रि०वि०—कैसे।

केहि, केही–सर्व०—१ किस। उ०—रंग है किण धण रौ कुण चीर, केहि पथ रंग रजवौ नित आय।—सांझ २ क्या।

वि०—१ कौनसा. २ कैसा, कैसी। उ०—१ तुम्ह जावउ घर आपणइ, म्हांरी केही वात। दीहे-दीहे उसारिस्यां, भरिस्यां मांझिम रात। —ढो.मा.

उ०—२ केही कीजे दुक्ख, केही आरति आंणियै। सिरज्यां पावै सुक्ख, जिम तिम ही न मिळै जसा।—जसराज

३ कई, बहुत।

केहेक–सर्व०—कुछ। उ०—ताहरां सारा गोळ कर प्यादा मुंह आगै लेय असवार केहेक डावा, केहेक जीवणा नेय कही। —डाढ़ाळा सूर री वात

केहौ–वि०—१ कैसा। उ०—वंद तणी वंसावळी, केहौ वाचण कांम। महा रोग जांमण मरण, निगम लिये तौ नाम।—ह.र.

२ कौनसा। उ०—हुवै वि तेजी ऐकठा, केहौ काढ़ै कांन। ए हिंदू आराहड़ौ, तू मुग्गळ असमांन।—रा.ज.रासौ
सर्व०—क्या।
क्रि०वि०—क्यों।

कैंकी–सर्व०—किसकी। कैंकी रोवै बैन-भांणजी, कैंकी रोवै माय। बंध में बैठ्यौ कहै डूंगजी, सुण रे लोटचा जाट।—डूंगजी जवारजी री पड़

कैंची–सं०स्त्री० [तु०] १ बाल, कपड़े आदि काटने या कतरने का उपकरण, कतरनी. २ कैंची की तरह एक दूसरे के ऊपर तिरछी रक्खी हुई दो सीधी तीलियां वा लकड़ियां. ३ वे दो तिरछी लकड़ियां जो सहारे के लिए छप्पर के बहुए में लगी हुई हों. ४ कुश्ती का एक पेंच. ५ मालखंभ की एक कसरत।

कैंठै–क्रि०वि०—कहां (क्षेत्रीय)

कैंत–सं०पु०—कपित्थ का वृक्ष (डि.को.)

कैंपा–सं०पु०—इमली का बीज (क्षेत्रीय)

कैंवार–सं०स्त्री० [सं० कीर्ति+वार=ढेर] कीर्ति, यश। उ०—सूरति खंभाति तांई करै, करै कवि पात्र ताहरा कैंवार।—ल.पि.

कै–सं०नपुं०—१ हिजड़ा, क्लीव।
सं०पु०—२ मद (एका०) ३ पुरुष (एका०) ४ वायु।
सं०स्त्री०—५ सरस्वती. ६ वाणी. [अ० कै] ७ कै, वमन, उल्टी (एका०)

कंवा-सं०पु० [सं० कच] १ कसर, दोष, कमी. २ कलंक. ३ अवगुण।

कंवाणौ, कंवावौ-क्रि०स० (प्रे०रू०)--कहलाना। उ०—दसकंधर भ्राता, बुध के दाता, वचन विधाता, कंवाता। सो नाह सुहाता, परजळ गाता, डरले लाता, मुरझाता।—भगतमाळ

कंवायोड़ौ-भू०का०कृ०—कहलाया हुआ। (स्त्री० कंवायोड़ी)

कंवार-सं०पु०—१ डिंगल का वह गीत (छंद) विशेष जिसके विषम चरणों में १६ मात्रायें और सम पदों में ६ मात्रायें और तुकांत में गुरु हो. २ प्रत्येक चरण में २२ मात्रा का एक मात्रिक छंद विशेष (ल.पि.)

सं०स्त्री० [सं० कीर्ति+वर] ३ स्तुति, यश, कीर्ति।

उ०—१ कापियां ज्यां कमळ कीरती कारण, खत्रियां आगै कहै खंगार। कळिजुग तणा संतोखी कवियण, करै गरथ दीनै कंवार।—खंगार रायमलोत सींवल री गीत उ०—२ धवळ सरीखौ धवळ है, की कीजै कंवार। जेतौ भार भळावियै, तेतौ खंचणहार।—बां.दा.

कंवावणौ, कंवाववौ-क्रि०स० (प्रे०रू०)—कहलाना (रू.भे. 'कंवाणौ')

कंवीजणौ, कंवीजवौ-क्रि० कर्म वा०—कहा जाना।

कंवौ-सं०पु०—युद्ध, कलह, टंटा-बखेड़ा। उ०—पूजीजे धूहड़ प्रतक, प्रगट मांड लख पाळ। कंवा लेवण कड़खियो, 'पाल' अनै रांयपाळ।

—पा.प्र.

कंसिकनिसाद-सं०पु० [सं० कैशिकनिषाद] संगीत में एक विकृत स्वर जो तीव्र नामक श्रुति से आरम्भ होता है और जिसमें तीन श्रुतियां लगती हैं।

कंसिकपंचम-सं०पु० [सं० कैसिकपंचम] संदीपनी नामक श्रुति से आरम्भ होने वाला संगीत में एक विकृत स्वर जिसमें चार श्रुतियां लगती हैं।

कंसिकी-सं०स्त्री० [सं० कैशिकी] नाटक की प्रमुख चार वृत्तियों में से एक। वि०वि०—यह वृत्ति ऐसे नाटकों में पाई जाती है जिसमें शृंगार-रस की बाहुल्यता हो। अधिकांशतया ऐसे नाटकों में स्त्री पात्र होते हैं और गीत, नृत्य, भोग-विलास और वाद्य इत्यादि का अधिक प्रदर्शन किया जाता है।

कंसियर-सं०पु० [अं०] खजांची।

कंसी'क-वि०—कैसी। उ०—तद डाढाळौ कही—जायगा कंसी'क बनाऊं जांणै दूसरी सरग हीज छै।—डाढ़ाळा सूर री वात

कंसोहेक-वि०—कैसा। उ०—सोना री पिलंग कसणा कमियौ छै, सो कंसोहेक सोभायमान दीसै छै।—रा.सा.सं.

कंहलवौ-सं०पु०—खपरैल (मि० 'कैलू' रू.भे.)

कंहवत—देखो 'कैवत' (रू.भे.) उ०—कंहवत सारै ही कहै, है जाहर आहाण। पहूं जिकां री कोटड़ी, धणी जिकां रै पाण।—पा.प्र.

कंहौ-वि०—१ कैसा, कैसी। उ०—तांम धारै मगज धांम मुरतांणिया, कुनळ वाळा करां कीत कंहो।—मुरतांणसिंह री गीत

२ कौनसी. ३ कई।

कोंकण-सं०स्त्री०—परशुराम की माता रेणुका का एक नाम।

कोंकणियार-सं०पु०—रहट पर समय निश्चित करने के लिये लकड़ी के चक्र के मध्य में खड़े स्तंभ पर डोरे व पतली रस्सी के गट्टे लगाने की लकड़ी की कीली।

कोंकणी-सं०स्त्री० [सं०] १ कोंकण देश की भाषा जो आर्य और द्राविड़ भाषा के मेल से बनी है. २ चांदी का एक प्रकार का हाथ का कंगन।

कोंकर-क्रि०वि०—१ क्योंकर. २ कैसे।

कोंचा-सं०पु० [सं० कच=बंधने] बहेलियों की चिड़िया फँसाने की लासा लगी हुई लंबी छड़।

कोंण-सर्व०—कौन। उ०—गिरधर रूसणां जी कोंण गुन्हां, कछु इक ओगुण काढ़ौ म्हांमैं म्हे भी सुणां।—मीरां

को-सं०पु०—१ शोक. २ सोना. ३ चातक. ४ बालक. ५ क्रोध. ६ बाज पक्षी (एका.) ७ देखो 'कोपांन'. ८ मोट, चरस।

वि०—१ कोई। उ०—१ न को आवइ पूगळइ, सहु को नरवर जाइ। मारू-तणा संदेसडा, बगड़ बिचा हू खाय।—ढो.मा.

उ०—२ अकरम करम उपाय कर, जागविया तैं जीव। जगपत को जांणै नहीं, गत थारी हैग्रीव।—ह.र. २ कौन। उ०—एक गात एती वात, एक साथ एक हाथ। करवौ विख्यात ऐसौ, दूसरौ दिखात को।—जैतदांन बारहठ ३ कुछ। उ०—वीरसमद वडौ तळाव छै, तठै पातसाहजी को दिन रह्या।—नैणसी ४ कितना, कितने।

क्रि०वि०—कभी नहीं।

कहा०—मरौ मा जीवौ मासी को घी घालौ को गोडा हालै, माता मर जाय, मासी जीवती रहे—न मासी घी डालेगी और न चलने की स्फूर्ति होगी जो युद्ध में जा सकूं।

अव्यय—संबंधसूचक अव्यय—का। उ०—छोटत न छिपी निध छीन लेत मध्य छिपा, छाये छळ वंचक न खात हात हात को।

—जैतदांन बारहठ

कोइ, कोइक-सर्व०—कोई। उ०—ताळि चरंतइ कुंझड़ी, सर संघियउ गंमार। कोइक आखर मनि वस्यउ, ऊटी पंख संभार।—ढो.मा.

कोइट, कोइटौ—देखो 'कोयटौ' (रू.भे.)

कोइन-सं०स्त्री० [अं० क्वीन] रानी, सम्राज्ञी।

कोइयक-सर्व०—कोई।

कोइयन-सर्व०—कोई।

यौ०—कोई नहीं। उ०—ए मा हींडे हींडण गयी आज मैं कोइयन हींडै हिडायी।—लो.गी.

कोइयौ-सं०पु०—सूत या ऊन आदि का लच्छा।

कोइल-सं०स्त्री० [सं० कोकिल] १ कोयल। उ०—आंबा की डाळि कोइल इक बोलै, मेरौ मरण अरु जग केरी हांसी।—मीरां

२ छप्पय छंद का १९ वां भेद जिसमें ५२ गुरु ४८ लघु कुल १०० वर्ण या १५२ मात्रायें होती हैं (र.ज.प्र.)

कैमखांनी-सं०पु०—एक जाति जो पहले राजपूत थी किन्तु अब मुसलमान है। इनके बहुत से रीति-रिवाज राजपूतों से मिलते-जुलते हैं। (बां.दा. ख्यात)

कैमर, कैमरी-सं०पु०—धनुष। उ०—१ कैमरां मार हिक वार कीध, दूसरां चिलै चाढ़ण न दीध।—वि.सं. उ०—२ जड़ जमदढ़ जीमणै, कमर जड़कै केवांणां। कियो पूर कैमरी, भीड़ ऊपरा भाथारो। —बखतो खिड़ियो

कैमल-सं०पु० [सं० क्रमेलक] ऊंट।

कैयां-क्रि०वि०—किस प्रकार, कैसे।

कैर-सं०पु०—मरुभूमि में होने वाला एक प्रकार का पत्तेविहीन कांटेदार वृक्ष व उसके फल, करील।

कहा०—१ कैर आलो भी बळै नै सासू सीधी ई लड़ै—कैर की लकड़ी गीली भी जल जाती है तथा सास अगर सीधी भी हो तोभी बहू से लड़ती है; सास कैसे भी अच्छे स्वभाव की क्यों न हो, वह बहू से अवश्य लड़ती है; सास की बुराई. २ कैर रो कांटो वढ़चो साढ़ी सोळै हाथ—करील का कांटा बढ़ा साढ़े सोलह हाथ; बहुत गप्प कहने वाले पर. ३ थारै मूंडै नै कैर रो कांटो—तेरे मुंह के लिए कैर का कांटा; जैसे कैर का कंटक चुभ कर कष्ट देता है वैसे ही तेरे शब्द लोगों को कष्ट देते हैं; बुरे वचन कहने वाले के लिये कि तेरी जीभ में कैर वृक्ष के कांटे लगें. ४ मौका री छाया कैर री ही भली, विना मौके वड़लो भी चोखो नहीं—मौका पड़ने पर कैर वृक्ष की छिछली छाया भी अच्छी लगती है और विना काम के वटवृक्ष की घनी छाया भी बेकार है; समय पर जो काम आ जाय वही ठीक है।

अल्पा०—'केरड़ियो, कैरड़ो'।

कैरड़ियो—देखो 'कैर' (अल्पा०)

कैरव-सं०पु०—१ कौरव (महाभारत) उ०—व्यास विगाड़चो वंस, कैरव निपज्या जेण वंस। असली व्है ता अंस। सरम न लेता सांवरा। —रांमनाथ कवियो

[सं०] २ कुमुद।

कैरव-दळण-सं०पु०—भीम (ह.नां.)

कैरवि, कैरवी-सं०स्त्री० [सं० कैरविणी] १ कुमुदिनी।

सं०पु०—२ चंद्रमा।

कैरी-सं०स्त्री० [सं० केकरी] १ आम का कच्चा और छोटा नया फल। उ०—केळी, कैरी कांमणी, पीव मित्र परधांन। इतरा तो पाका भला, काचा ना'वै कांम।—अज्ञात

सं०पु०—२ वह बैल जिसकी एक आंख में वलय के आकार की कुंडली हो (अशुभ) ३ एक प्रकार का घोड़ा जिसकी एक आंख निर्मल हो तथा दूसरी आंख में चक्र हो (शा हो)

वि०—भूरे रंग की, ललाई मिले सफेद रंग की (आंख)

सर्व०—किसकी (पु० कैरो)

कैरीकबूतर-सं०पु०—रंग विशेष का एक घोड़ा (शा.हो.)

कैरूंदो-सं०पु०—एक प्रकार का खट्टे फलों वाला पेड़ व उसका फल।

कैरूड़ी-सं०स्त्री०—मिट्टी का छोटा सा पात्र जिसमें स्त्रियां व्रत आदि की कहानियां सुनाते समय गेहूं या बाजरा भर देती हैं और पूजा कर स्त्रियों को भेंटस्वरूप अर्पित करती हैं।

कैरौ-सं०पु०—कौरव।

सर्व० (स्त्री० कैरी) किसका। उ०—अजैपाळ बोलियो—रे तूं बाप कैरो, कुणनै बेटो कहै छै।—पलक दरियाव री वात

कहा०—१ कैरा जायोड़ा कैनै दुख दे—विदेशी अथवा अवांछित व्यक्तियों के प्रति. २ कैरी मां (सेर) सूंठ खाई है—किसी कार्य को करवाने के लिए लोगों को उकसाने की उक्ति।

कैलड़ी-सं०स्त्री०—मिट्टी का बना रोटी सेंकने का तवा।

कैलपुर, कैलपुरौ—देखो 'केलपुर' (रू.भे.) उ०—कळहणि सूं क्रीतियां कैलपुरो, चाढ़ै साह नरो वड चीत। —नांरायणदास सक्तावत

कैळास-सं०पु० [सं० कैलास] १ हिमालय की एक चोटी का नाम जो तिब्बत में है। यह शिवजी का निवास-स्थान माना जाता है (पौराणिक) २ स्वर्ग।

कैळासउथाळ-सं०पु०—रावण (अ.मा.)

कैळासनृप-सं०पु० [सं० कैलास+नृप] महादेव, कैलाशपति (डि.को.)

कैळासपत, कैळासपति, कैळासपती-सं०पु० [सं० कैलास+पति] महादेव, शिव (डि.को., अ.मा.)

कैळासपुरी—देखो 'कैळास' (रू.भे.)

कैळासी-सं०पु०—१ कैलास निवासी, महादेव. २ कुबेर।

कैळि—देखो 'केळ'। उ०—जंघस्थळ जिसो करभ कहीजै, दूसरा द्रस्टांत जिसउ कैळि को पेड़ होय।—वेलि. टी.

कैलू-सं०पु०—खपरैल। उ०—१ जियै मारग आयो हुतो तीयै ही मारग अपूठो उतरियो। कैलू ज्यूं हुता त्यूंहीज दिया।—चौबोली उ०—२ पड़वो कैलूयां सु छायो।—चौवोली

कैवच—देखो 'कैंवच' (रू.भे) (नां.मा.)

कैवणौ, कैवबौ—देखो 'कहणौ' (रू.भे.)

कैवणहार, हारौ (हारी), कैवणियौ—वि०।

कैवाणौ, कैवाबौ—स०रू० (प्रे०रू०)

कैवावणौ, कैवाववौ—(प्रे०रू०)

कैवियोड़ो, कैवियोड़ो, कैव्योड़ो—भू०का०कृ०।

कैवीजणौ, कैवीजवौ—कर्म वा०।

कैवत-सं०स्त्री०—१ कहावत. २ किंवदंती।

कैवल्य-सं०पु० [सं०] १ शुद्धता. २ एकता. ३ त्रिविध दुःखों की अत्यंत निवृत्ति को कैवल्य माना जाता है और विवेक को उसका एक मात्र साधन बतलाया है (सांख्यशास्त्र) ४ योगशास्त्र में विशेषदर्शी आत्म-भाव की भावना अर्थात् अहंकार की निवृत्ति को कैवल्य बताया है।

कहा०—धूड़धांणी नैं कोकलापांणी—निःसार कार्य या फल के लिए।

कोकव–सं०पु० [सं०] पूरबी विलावल, केदारा, मारू और देवगिरी से मिला कर बनाया गया एक संकर राग (संगीत)

कोकसार, कोकसास्त्र–सं०पु० [सं० कोकशास्त्र] कोक कृत रतिशास्त्र, कामशास्त्र।

कोका–सं०पु० [अं०] १ दक्षिणी अमेरिका का एक वृक्ष जिसकी सुखाई हुई पत्तियां चाय या कहवे की भांति शक्तिवर्द्धक समझी जाती हैं. (रा०) २ कंकड़।

कोकारी–सं०स्त्री०—१ चीत्कार. २ तेज आवाज।

कोकाह–सं०पु० [सं०] सफेद रंग का घोड़ा (डि.को.)

कोकिल–सं०स्त्री० [सं०] १ कोयल (डि.को.) २ छप्पय का १६ वां भेद जिसमें ५२ गुरु, ४८ लघु, अर्थात् १०० वर्ण या १५२ मात्रायें होती हैं. ३ जलता हुआ अंगारा. ४ बावन युद्ध-प्रिय वीरों में से एक (वं.भा.)

कोकिला–सं०स्त्री० [सं०] कोयल।

कोकिलासण, कोकिलासन–सं०पु०—चौरासी आसनों के अंतर्गत एक आसन जिसमें पद्मासन की तरह बैठ कर दाहिने पांव के अंगूठे को दायें हाथ से तथा बांयें पांव के अंगूठे को बांयें हाथ से इस तरह पकड़ा जाता है कि पीछे ठेउनी पर बोझ पड़े। इसी चाल से शरीर को सामने झुका कर ठेउनियों को पृथ्वी पर टिकाया जाता है।

कोकींद—देखो 'कोकीन' (रू.भे.)

कोकी–सं०स्त्री०—चकवी (देखो 'कोका' पु०) उ०—कोकन सिर खड़िया कटक, तें सिवराव अभंग। दिन सकुचीजै कोकनद, कोक न कोकी संग।—वां.दा.

कोकीन–सं०स्त्री० [अं० कोकेन] कोका नामक वृक्ष की पत्तियों से तैयार की हुई एक प्रकार की औषधि जो गंधहीन और सफेद रंग की होती है। यह कुछ अंगों को सुन्न करने के काम में आती है।

कोकौ–वि०—थोथा, खोखला, पोला।

कोख–सं०पु० [सं० कुक्षि, प्रा० कुक्खि] १ उदर, जठर, पेट. २ पसलियों के नीचे पेट के दोनों ओर बगल का स्थान. ३ गर्भाशय।

कोखजळी–सं०स्त्री० [सं० ज्वलित-कुक्षि] वह स्त्री जिसके संतान होकर मर जाती हो।

कोखबंद–सं०स्त्री०—बांझ, वंध्या।

कोख्यक–सं०स्त्री० [सं० कौक्षेयक] तलवार, कृपाण (ह.नां)

कोखा–सं०पु०—खलिहान में गेहूँ साफ करते समय गेहूँ के साथ गिरने वाला वह मोटा भूसा जिसमें अनाज कुछ अंशों में शेष रह जाता है।

कोखियक—देखो 'कोख्यक' (रू.भे.) (अ.मा.)

कोगत–सं०स्त्री० [सं० कौतुक] हँसी-मजाक, दिल्लगी।

कोगति, कोगती–वि० [सं० कौतुहकी] दिल्लगी करने वाला, मसखरा।
सं०स्त्री०—बुरी गति, अधोगति।

कोड़–वि० [सं० कोटि] करोड़, कोटि। उ०—कोड़ दरब दीधौ कमँ, सवा कोड़ पह सींग। त्रीकांणै दाता वडा, उभै हुआ अरड़ींग।—वां.दा.
सं०पु० [सं० क्रोड़] १ दोनों बाँहों के बीच का भाग, वक्षःस्थल, गोद. [सं. कोटि] २ करोड़ की संख्या।
कहा०—कुमांणसां कोड़ विघन है—बुरा व्यक्ति करोड़ों विघ्नों का कारण बन जाता है।
३ सूअर (नां.मा.)

कोड़पसाव–सं०पु० [सं० कोटि प्रसाद] करोड़ रुपयों के मूल्य का पुरस्कार। उ०—उर वधत हरख अमाप, सुण-सुण प्रवे कोड़पसाव।
—र.रू.

कोड़वरीस–सं०पु०—करोड़ रुपयों के मूल्य का पुरस्कार या दान देने वाला व्यक्ति। उ०—वसुवा कोड़वरीस, कुण थारी समवड़ करै।
—पा.प्र.

कोड़ि–वि० [सं० कोटि] १ करोड़। देखो 'कोड़'। उ०—साहिब रहउ न राखिया, कोड़ि प्रकार कियांह। का थां कांमिण मन वसी, का म्हां दूहवियाह।—ढो.मा. २ देखो 'कोड़' (रू.भे.)

कोडिक–सं०पु० [सं० कोटिक] कसाई (डि.को.)

कोड़िटंकावळी–वि०—करोड़ रुपये के मूल्य का। उ०—राज कीज्यौ घरि आपणइ, रांणी नइ दीयौ कोड़िटंकावळी हार।—वी.दे.

कोड़ियौ—देखो 'कोडियौ' (रू.भे.)

कोड़ी–सं०पु० [सं० क्रोड़] १ सुअर (डि.को.)
सं०स्त्री०—२ बीस की संख्या।
वि० [सं० कोटि] करोड़ रुपये का। उ०—कमाळा लदे स्रव्व त्यां द्रव्व कोड़ी, सकट्टां लठां भार ज्यौ टांस जोड़ी।—रा.रू.

कोड़ीआळ–सं०पु० [सं० क्रोडपाल] सूअर।

कोड़ीक, कोड़ीग–वि० [सं० कोटिक] १ करोड़, अगणित, बहुत. २ करोड़ रुपए का, अमूल्य। उ०—१ सिरदार सुतन अहरण समर, राज लाज राखे रह्यौ। कोड़ीक नग' सेरी' कमंध, गांठ हूंत छूटै गयौ।
—पहाड़खां आढ़ौ
उ०—२ कियौ जुड़ै मूघड़ै कूरम, जड़ सार वप जुवौ जुवौ। कीमत लाख फतावत कहतां, हमैं रतन कोड़ीक हुवौ।
—रांमौ आसियौ

कोड़ीदढ़ौ–सं०पु० [सं० क्रोडदंत] १ सूअर. २ वराहवतार।

कोड़ीधज–सं०पु० [सं० कोटिध्वज] १ करोड़पति। उ०—कोड़ीधज व्यापारी रहै।—चौबोली २ एक घोड़ा विशेष (वी.दे.)
वि०—करोड़ के मूल्य का, मूल्यवान। उ०—सूंप्या वागा सावटू, कोड़ीधज केकांण। आंम्हा सांम्हा आपिया, प्रीत चढ़ै परिमांण।
—ढो.मा.

कोड़ू, कोड़ेक–वि०—१ करोड़. २ करोड़ के लगभग।
उ०—पड़िया करधारां जहर पाय, इंद्र रा वज्र कोड़ेक आय।
—वि.सं.

कोई–सर्व० [सं० कोपि, प्रा० कोवि] १ ऐसा एक (मनुष्य या पदार्थ) जो अज्ञात हो, न जाने कौन एक, ऐसा एक जो अनिर्दिष्ट हो.
२ बहुतों में से चाहे जो एक।
कहा०—१ कोई गावै होळी री, कोई गावै दिवाळी री—असंबद्ध वार्तालाप पर; जब कहने वाला कुछ कहे परन्तु दूसरा उसका कुछ दूसरा ही उत्तर दे तब कही जाती है. २ कोई चालै चाकरी ताज्यो तुरक तयार—अयोग्य व्यक्ति के प्रत्येक काम करने को उद्धत रहने पर व्यंग्य. ३ कोई बाबौ आवै नै कोई ताळी बाजै—न तो बाबा आवे और न ताली बजे; साधन न होने के बहाने काम न करने पर.
४ कोई जीम'र राजी व्है कोई जीमा'र राजी व्है—कोई खा कर प्रसन्न होता है तो कोई खिला कर. ५ कोई पूछै न ताछै हूं लाडे री भूवा—बिना पूछे-ताछे किसी बात या कार्य के बीच में कूद पड़ने पर. ६ कोई फिरै डाळ डाळ, हूं फिरूं पात-पात—चतुर आदमी से गुप्त भेद या चालाकी छिपाई नहीं जा सकती।
क्रि०वि०—१ एक भी. २ लगभग, करीब-करीब।

कोईक–सर्व०—१ देखो 'कोई' (रू.भे.) उ०—उतारै कोईक सेवक इसी आं संतां री आरती।—ऊ.का. २ किस, किसी।
उ०—जरै उठा ही सूं पीठहव भुवा रौ भवन छोडी कोईक अतीतां री जमाति रै साथ वेड़ी रै वळ।—वं.भा.

कोईकौ–वि०—कोई सा।

कोईरौ–वि० [सं० कोथी, प्रा० कोही] १ तुच्छ विचार या सिद्धांत वाला व्यक्ति. २ मन ही मन कुढ़ने वाला, बुरा चाहने वाला।

कोईली—देखो 'कोयल' (रू.भे.) उ०—वनखंड काळी कोईली, वइसती अंब कइ चंप की डाळि।—वी.दे.

कोईलौ–सं०पु०—कोयला। उ०—ऊंडा तहखानां मांहे खैर कोईलां री मकालां जगाड़ीजे छै।—रा.सा.सं.

कोउ, कोऊ–सर्व०—कोई।
सं०स्त्री० [सं० कुपक] अग्निकुंड। देखो 'कउ' (१) (रू.भे.)

कोऊक–सर्व०—कोई।

कोक–सं०पु० [सं०] (स्त्री० कोकी) १ चकवा पक्षी (डिं.को.)
उ०—दिन सकुचीजे कोक नद, कोक न कोकी संग।—वां दा.
२ रति-शास्त्र का ज्ञाता एक पंडित. ३ काम-शास्त्र।
उ०—१ मळी तदि साध सुरमण कोक मनि, रमण कोक मनि साध रही।—वेलि. उ०—२ दंपति प्रवीन रति कोक विधि, दिन छिनदा संभोग रत।—ला.रा. ४ संगीत का छठा भेद जिसमें नायिका, नायक, रस, रसाभास, अलंकार, उद्दीपन, आलंबन, समाज और समाजादि का ज्ञान आवश्यक होता है।
सर्व०—कोई।

कोककळा–सं०स्त्री० [सं० कोककला] १ रति-विद्या, काम-कला, रति-शास्त्र। उ०—भोगे कोककळा वळे, गुणकळा चितामणी साकळा।
२ संभोग, रति। —रा.सा.सं.

कोकड़–सं०पु० [सं० कौकुट] १ बाल-बच्चे. २ पीलू वृक्ष के सूखे फल।

कोकड़ियौ–सं०पु०—देखो 'कोकड़ी' (१, २) (अल्पा०)

कोकड़ी–सं०स्त्री० [सं० कुक्कुटी] १ कच्चे सूत का लपेटा हुआ लच्छा जो कात कर तकले पर से उतारा जाता है. २ इस उतारे हुए या इस प्रकार अन्य विधि से बनाए गए सूत की लच्छी. ३ मदार का डोडा या फल. ४ पीलू वृक्ष के सूखे फल जो पशुओं को खिलाए जाते हैं. ५ बंध, बंधन। उ०—लकड़ी रा कुंदा छै, रूपै री तारां रा, कोकड़ी सीरम, सपेतै रा बंध छै।—रा.सा.सं.

कोकणौ, कोकबौ–क्रि०स०—१ कच्ची सिलाई करना, कच्चा करना.
२ प्रहार हेतु शस्त्र उठाना. ३ बुलाना। उ०—कोकै पांडवौ अरी परधांन, दीधौ छै जब तिहां चउगुणउ मांन।—वी.दे.
३ भाले से छेदना, मारना। उ०—बांच चाळा चौ तरफां रोकियौ थाहरां बीच, चढ़े इंद्र अटा हूं विलोकियौ सचाळ। भीम नाद अग्रा-जतौ तोकियौ गैणाग भुजा, लाग खेटै रायजादै कोकियौ लंकाळ।
—अज्ञात

कोकदेव–सं०पु०—कोकशास्त्र वा रतिशास्त्र का रचयिता एक काश्मीरी पंडित।

कोकन–सं०पु०—दक्षिण भारत का एक प्रदेश (रू.भे.–'कोंकण')

कोकनद–सं०पु० [सं०] १ लाल कमल। उ०—मकरंद तंबोळ कोकनद मुख मभि, दंत किजळक द्रुति दीपंति।—वेलि. २ कमल (ह.नां.)
३ श्वेत कमल जो चंद्रमा उदय होने पर खिलता है। उ०—कोकन सिर खड़िया कटक, तं सिधराव अभंग। दिन सकुचीजै कोकनद, कोकन कोकी संग।—बां.दा.

कोकर–सं०पु०—कंकड़ (रू.भे.) उ०—रोड़ा पत्थर ईंट चिपावै माटी गारै, कोकर खोरा खड़ी बाटड़ी संचै सारै।—दसदेव

कोकरड़ी–सं०स्त्री०—१ वह बकरी जिसके कान छोटे होते हैं.
२ देखो 'कोकड़ी' (अल्पा०)

कोकरी–सं०स्त्री०—हल के जुए के मध्य में लगाई जाने वाली काष्ठ की कीली।

कोकरौ–सं०पु०—रहँट में बैलों को जोतने के जुए के मध्य में लगी हुई लोहे की कील।

कोकळ–सं०पु० [सं० कौकुट] बाल-बच्चों का परिवार (प्रायः अभावा-वस्था में अधिक संतान के लिए यह प्रयुक्त होता है)
उ०—छिन छिन खाती बिच चढ़ती निज छाती, मोकळ चाकळ में कोकळ नह माती।—क.का.

कोकल–सं०स्त्री० [सं० कोकिल] कोयल। उ०—ग्रीवा मोरसी, बोली कोकल सी, अधर प्रवाळी, दांत दाड़मी कुळी।—रा.सा.सं.

कोकला–सं०स्त्री० [सं० कोकिला] १ कोयल. उ०—सुरं कलीप कोकला कनक कुंभ से स्यणं।—पा.प्र. २ बिना छिलका उतारी हुई सूखी ककड़ी के छोटे खंड।

कोटरी—देखो 'कोटड़ी' (४,५) (रू.भे.)

कोटवाळ–सं०पु० [सं० कोट्टपाल] १ दुर्गरक्षक, किलेदार. २ कोतवाल। कहा०—अपूठौ चोर कोटवाळ नै डंडै—उल्टा चोर कोतवाल को दंड देता है; अपराधी होते हुए भी दूसरों को फटकारने पर। ३ संन्यासियों का बड़ा चिमटा. ४ पींजारा जाति का एक गौत्र। (मा.म.)

कोटवाळी—देखो 'कोतवाली' (रू.भे.)

कोटवा–सं०स्त्री०—राठोड़ों की एक उपशाखा (बां.दा. ख्यात)

कोटसलेम–सं०पु०—वह दुर्ग या स्थान जहाँ राजा, जागीरदार अथवा उनके बंधु कैद किये जाते हों, सलेमकोट। उ०—नेकुं पुत्र भतीज सम, जग ग्रहि मंत्री जेम। पुर दिल्ली नींधा पकड़, दाखल कोटसलेम। —रा.रू.

कोटारियौ—देखो 'कोठारियौ' (रू.भे.)

कोटि–सं०स्त्री० [सं०] १ धनुष का सिरा. २ किसी अस्त्र की नोंक वा धार. ३ वर्ग, श्रेणी, दरजा. ४ उत्कृष्टता, उत्तमता. ५ समूह, जत्था।

सं०पु०—६ अग्र भाग। उ०—१ अर दैव रै परतंत्र प्रतापसिंघ अरिसिंघ दोही गयंदां रै बीच आया। उ०—२ एक तरफ तट दुरगम, एक तरफ द्रह अगाध, देखि दोही वीरां मूंछां रा अग्र भुंहारां री कोटि लिया अर अस्वमेध सत्र रा फळ देणहार दोही गजां रै सांम्हे पैंड दिया।—वं भा.

७ जलाशय का वह स्थान जहां लोग जल-पात्र भरते हैं, घाट।

उ०—वपु नील मञ्झि इम वखांण, जगमगत घटा मझ छटा जांण। त्रिय कोटि कोटि इम सरजु तीर, नग झटित भरत घट हेम नीर। —सू.प्र.

वि०—करोड। उ०—नमौ लख कंद्रप कोटि लावन्न, नमौ हरि मारण रूप मदन्न।—ह.र.

कोटिक–वि० [सं० कोटि+क] १ करोड़. २ असंख्य, बहुत अधिक। सं०पु० [सं० कुट कोटिल्ये] १ मांस बेचने वाला, कसाई (डि.को) २ खटीक।

कोटिज्या–सं०स्त्री० [सं०] ग्रहों की स्पष्टता के लिये बनाये हुए एक प्रकार के क्षेत्र का एक विशेष अंश।

कोटितीरथ–सं०पु०यौ० [सं० कोटि+तीर्थ] एक तीर्थ विशेष।

कोटिफळी–सं०स्त्री०यौ० [सं० कोटिफली] गोदावरी नदी के सागर संगम के निकट का एक प्रसिद्ध तीर्थ।

कोटिस–सं०पु०—ढेले तोड़ने का एक उपकरण हेंगा, पटेला (डि.को.)

कोटी–सं०स्त्री०— १ कोना (डि.को.) २ देखो 'कोटि' (रू.भे.) क्रि०वि०—भांति, प्रकार।

कोटीक—देखो 'कोटिक' (रू.भे.) उ०— देवी सहस्त्रं लखं कोटीक सार्थ, देवी मंडणी जुध मैसास माथै।—देवि.

कोटीर–सं०पु० [सं०] मुकुट (डि.को.)

कोटेचा–सं०स्त्री०—राठोड़ों की एक उपशाखा।

कोटेसर, कोटेस्वर–सं०पु० [सं० कोटीश्वर अथवा कोटेश्वर] शिव, महादेव का एक रूप (ह.नां.) उ०—उण ठौड़ कोटेस्वर महादेव छै, तठै बांभण विजयदत्त पुत्र अरथ सेवा करै छै।—नैणसी

कोट्ट—देखो 'कोट'।

कोट्टवी–सं०स्त्री० [सं०] १ बाणासुर की माता. २ नंगी स्त्री. ३ दुर्गा।

कोठ–सं०पु० [सं०] १ मंडलाकार होने वाला एक प्रकार का कोढ़। [सं० कोष्ठ] २ कोठा, खाना। उ०—कर सम वेवे कोठ अंत यक अंक भरीजै।—र.ज.प्र.

वि० [सं० कुठ] १ जिससे कोई वस्तु कूंची वा चबाई न जा सके. २ कुंठित।

कोठड़ी—देखो 'कोटड़ी' (रू.भे.)

कोठड़ै–क्रि०वि०—कहां। उ०—म्हे हंस वायी, म्हांरी गोरड़ी घण, थारै कोटड़ैस लागी, म्हारा राज।—लो.गी.

कोठलियौ–सं०पु०—१ मिट्टी की बनी हुई छोटी कोठी, बुखार। उ०—चूनौ सुरखी सरब, अरवगण वरतण भांडा। कोठी कोठलिया, चिणाजै चेजारां रा।—दसदेव

कोठाकुचाळ–सं०पु०—हाथियों की वह बिमारी जिनमें उनकी भूख मारी जाती है।

कोठार–सं०पु०— १ अन्न, वनादि रखने का स्थान या भंडारघर, कोष। उ०—१ ताहरां हरदांन फेर अरज कीवी, तौ म्हांरी थकी कोठार में राखजौ।—पलक दरियाव री वात उ०—२ अमिट भड़ां वळ अंग में, कोठारां सांमांन। सांमध्रमी ठाकुर सकौ, दिय रंग दुनियांन।—बां.दा.

सं०स्त्री० [सं० कुठार] २ कुल्हाड़ी।

कोठारियौ–सं०पु०—१ देखो 'कोठार' (रू.भे.) २ दीवार या किसी अन्य स्थान में बनाया हुआ कुछ रिक्त स्थान जो सामानादि रखने के काम आता है। उसके छोटे से मुंह का दरवाजा होता है. ३ रसोईघर का वह बंद कोठा जिसमें पकाया हुआ भोजन, घी या तेल आदि रक्खा जाता है।

कोठारी–सं०पु०—भंडार का प्रबंध एवं पदार्थों का संग्रह करने वाला अधिकारी, भंडारी।

कहा०—गायां चूंनै गांम री, सोच करै स्यारी। धांन धणी रौ ऊपड़ै, वळपै कोठारी—जब व्यय किसी का हो किन्तु फिक्र कोई अन्य करे।

कोठाळियौ—देखो 'कोठारियौ' (रू.भे.)

कोठी–सं०स्त्री०—बड़ा पक्का मकान, हवेली, बंगला. २ बड़ी दूकान जिसमें थोक की बिक्री होती हो. ३ अनाज रखने का कुठला, बखार, गंज।

कहा०—१ कोठी में घाल्यां ही को जीवै नी—कोठी में डालने पर भी नहीं जीते; अभागे व्यक्ति के लिये; आयु समाप्ति पर कही जाने वाली कहावत. २ कोठी में दांणा है जिते तौ कोई डर कोनी—

सं०स्त्री०—करोड़ की संख्या।

कोच–सं०पु० [ग्रं०] १ एक प्रकार की चार पहियों की घोड़ागाड़ी. २ गद्देदार बढ़िया पलंग।
[सं० कवच] ३ कवच, बख्तर। उ०—सुग हेली हीलै सहज, लेणी पड़वै लोच। कंत सजंतां सौ गुणौ, कड़ी वजंतां कोच।
—बी.स.

कोचबकस, कोचबक्स, कोचबगस–सं०पु०यौ० [ग्रं० कोच+बॉक्स] घोड़ागाड़ी में वह ऊँचा स्थान जिस पर हांकने वाला बैठता है।

कोचर—१ देखो 'कोचरी'। उ०—भाय अमंगळ ग्रंव भुकाई, कोचर कंठ कुसंप कुकाई।—ऊ.का.
सं०पु०—२ दांतों में होने वाला सुराख. ३ छेद, सुराख. ४ कोटर।

कोचरणौ, कोचरबौ–क्रि०स० [सं० कूर्चन] देखो 'कुचरणौ' (रू.भे.)

कोचरियोड़ौ–भू०का०कृ०—देखो 'कुचरियोड़ौ' (स्त्री० कोचरियोड़ी)

कोचरी–सं०स्त्री०—शमी के पोले हिस्से में निवास करने वाला एक मादा पक्षी जिसके बोलने पर लोग शकुनों पर विचार करते हैं। यह उल्लू की प्रकृति व आकृति की होती है किन्तु आकार में उससे छोटी होती है। दिन में यह देख नहीं सकती। उ०—सासूजी मनै बांवी तीतर बोल्यौ, एक थांणी बोली कोचरी।—लो.गी.
पर्याय०—देवी, भैरवी, भवांनी, चीवरी।

कोचवांन–सं०पु० [ग्रं० कोचमैन] घोड़ा-गाड़ी हाँकने वाला।

कोची–सं०स्त्री०—सप्त पुरियों के अंतर्गत एक तीर्थ, कांची (अ.मा.)

कोचीन–सं०पु०—दक्षिण भारत की एक प्राचीन रियासत जिसका विलय केरल प्रांत में हो चुका है।

कोज–सर्व०—कोई। उ०—कुरांण पुरांण बचांण न कोज, हुतौ ज हुतौ ज हुतौ ज हुतौ ज।—ह.र.

कोजळिया–सं०पु०—बिना धोया हुआ कलप लगा लट्ठा (कपड़ा) जिसको ओढ़नी के काम में लेते हैं (पुष्करणा ब्राह्मण)

कोजौ–वि० [सं० कु+ओज] १ कुरूप, भद्दा, बदसूरत. २ बुरा, अनिष्टकर (यौ० कोजौ-कुररौ)

कोजौ-कुररौ–वि० [यौ०] बदसूरत, भद्दा, बेढ़ंगा।

कोझौ–वि० (स्त्री० कोझी) देखो 'कोजौ' (रू.भे.) उ०—काळी कांणी कोझी कांमण, अपणी परणी आछी। अवछर आभ अवर अरधंगा, पदमण धरियै पाछी।—ऊ.का.

कोट–सं०पु० [सं० कोट्ट] १ दुर्ग, गढ़, क़िला। उ०—चाचरै गयण चक-चूर चोट, कांगरा अंबारथ भुरज कोट।—वि.सं.
कहा०—कोट रूंधै जकां रा—किले उन्हीं के पहले होते हैं जिनका उन पर पहले कब्जा होता है।
२ शहरपनाह, प्राचीर. ३ राजमंदिर। [सं० कोटि] ४ समूह, यूथ, जत्था। [सं० कोटि] ५ करोड़ की संख्या। उ०—महामत महण जसगाथ मुनि बालमीक, कोट सत चिरत रघु नाथ कीधौ।
—र.रू.
[ग्रं०] ६ कमीज या कुरते के ऊपर पहना जाने वाला अंगरेजी ढंग का एक पहनावा जिसका सामना बटनदार होता है।
[सं० कोटर] ७ बिल।
[ग्रं० कोर्ट] ८ ताश के खेल में एक साथ सात हाथ जीतने से हुई एक प्रकार की जीत जिसमें विपक्षी को एक भी हाथ बनाने का अवसर नहीं दिया जाता।
९ नगर, शहर।
यौ०—अमरकोट, स्याळकोट।

कोटक–सं०पु० [सं० कोटिक] कोटि, करोड़ (अनेका.)
वि०—करोड़। उ०—सोभन अवास सोभा सुमेर, कोटक भंडार समसर कुमेर।—सू.प्र.

कोटड़िया–सं०स्त्री०—राठौड़ राव मल्लिनाथजी के पुत्र जगमाल के वंशज राठौड़ों की एक उपशाखा।

कोटड़ी–सं०स्त्री० [सं० कोट्ट+रा०प्र०ड़ी] १ किसी छोटे जागीरदार का भवन या कचहरी। उ०—बिना पोटळी वांणियौ, बिना सींग रौ बैल। कदियक आवै कोटड़ी, छिपतौ-छिपतौ छैल।—बां.दा.
कहा०—मिंदर रै आगै सूं नै कोटड़ी रै लारै सूं वैणौ—मन्दिर के सामने से और राज-भवन या कचहरी के पीछे से निकलना चाहिये; राजभवन या छोटे जागीरदारों से दूर ही रहना अच्छा है।
२ छोटी जागीर। उ०—सू तिणां रै अवलाद री आंबेर री धरती मैं बारै कोटड़ी है।—द.दा. ३ मेहमानों के ठहरने का स्थान.
४ बैठक का स्थान। उ०—इतरै में भरमल ऊठ आपरी एक कोटड़ी खड़ी कीवी थी उणमें जा बैठी।—कुंवरसी सांखला री वारता
५ मर्दानी बैठक। उ०—विजयसिंहजी बीकानेर पधार दरबार री कोटड़ी में बैठा रहिया।—मारवाड़ रा अमरावां री वारता

कोटड़ीक—देखो 'कोटड़ी'। उ०—जेमौ आंणि फळसा कोटड़ीकां नै बुलाया, हेलौ दे'र सारां कोटड़ीकां नैं जगाया।—शि.वं.

कोटड़ीखरच–सं०पु०यौ०—जनता से जागीरदारों द्वारा वसूल किया जाने वाला एक प्रकार का कर।

कोटड़ीदावौ–सं०पु०यौ०—मेहमांनवाजी, मेजबानी, आतिथ्य।

कोटड़ौ—देखो 'कोट' (अल्पा०)

कोटचक्र–सं०पु०यौ० [सं०] युद्ध से पहले अपने दुर्ग का शुभाशुभ परिणाम जानने के लिये प्रयोग में लाया जाने वाला एक प्रकार का तांत्रिक चक्र।

कोटपाळ–सं०पु०यौ० [सं० कोट्टपाल] दुर्गरक्षक, किलेदार।

कोटवबर–सं०पु०यौ०—युद्ध में कटे हुए वीरों के सिरों का ढेर।
उ०—जैसांणै दुरजण तिलोक सज के समहर का, वरदातां सिर बोलिया चुण कोटवबर का।—दुरगादत्त बारहठ

कोटर–सं०पु० [सं०] १ पेड़ का खोखला भाग. २ दुर्ग के आस-पास का रक्षा के लिये लगाया जाने वाला कृत्रिम वन।

कोटरा–सं०स्त्री०—बाणासुर की माता का नाम।

आभय आभय कोडि । कदरे मिळउंली सज्जना, कस कंचुकी छोडि ।

२ देखो 'कोडी' (रू.भे.) —ढो.मा.

कोडिग्राळ–सं०पु० [सं० क्रोड़पाल] १ सूग्रर. २ वराह ग्रवतार ।

उ०—ग्रोढी थह गयंदां भ्राफळतौ ग्रसहां नह पलतौ ग्रठेल । विसव रूक रद पांग वहोड़ीं कमधज **कोडिग्राळ** कळ ।—चांवडदांन दधवाड़ियौ

कोडियाळी–सं०स्त्री०—बैलों के गले में पहनाई जाने वाली कोडियों की माला विशेष ।

कोडियौ–सं०पु०—१ देखो 'कोढियौ' (रू भे.) २ कुम्हार का एक उपकरण ।

वि०वि०—यह एक चपटा पत्थर का टुकडा होता है जो मिट्टी के पात्र का ग्राकार वढाने ग्रथवा सँवारने के काम ग्राता है। पात्र के भीतर की ग्रोर दाहिने हाथ में इस उपकरण को रख कर दूसरे हाथ में एक लंबोतरा लकड़ी के टुकड़े को लेकर मिट्टी के पात्र को हल्के-हल्के बाहर की ग्रोर से पीटते है जिससे मिट्टी दब कर कुछ ग्रधिक फैल जाती है एवं सँवरती है ।

कोडी–वि०—१ प्रसन्न, हर्षयुक्त। उ०—सीगण कांइ न सिरजियां, प्रीतम हाथ करंत । काठी साहंत मूठि मां, **कोडी** कासी संत ।—ढो.मा.

२ श्वेत, सफेद* (डि.को.) ३ ग्रभिलाषी, उमंगयुक्त ।

उ०—पड़वै नह पोढ़ी उर **कोडी** विलखै ग्रखां, चंवर वीच छोडी किम कर सोढ़ी कांमणी ।—रांमनाथ कवियौ

सं०स्त्री०—१ कौडी, कपर्दिका. २ ग्रांख का डेला। उ०—पीळी **कोडी** रा डोळा पळकाता ।—ऊ.का.

कोडीकौ, कोडीलौ–वि०—उमंगयुक्त, हर्षित । उ०—कागद मेहलां जंवाइयां थानें, ग्रोठी व्हैने थे म्हांरै ग्रायजो । ग्रो **कोडीला** जवाइयां दिन दस पावणा ।—लो.गी.

कोडे, कोडै–वि०—उत्साहयुक्त, जोशसहित ।

क्रि०वि०—उत्सुकता से । उ०—एक पोहर लडियौ वळ ग्रोडे, कमधा भोम विसावण **कोडे** ।—रा.रू. २ कहां. ३ पास, निकट ।

कहा०—कोडे जो कांम ग्रावै, सोना नी लंका छेटी है—पास है वही काम ग्राता है; सोने की लंका दूर है ।

कोडौ–सं०पु०—१ एक प्रकार का धव्वेदार सर्प. २ बड़ी कपर्दिका।

मुहा०—कोडौ मेलणौ—काम बिगाड़ना ।

३ बच्चा, बालक. ४ मन ही मन की कुढन या जलन. ५ वर्षा की छोटी-छोटी बूंदें । (रू.भे. 'कोड़ौ'—क्षेत्रीय)

कोडयाळी–सं०स्त्री०—एक प्रकार की चिड़िया (क्षेत्रीय)

कोडयाळी ज्वार—देखो 'कोडयाळी जैंवार' (रू.भे.)

कोढ़–सं०पु० [सं० कुष्ठ] एक प्रकार का संक्रामक ग्रौर पुरपानुक्रमिक रक्त ग्रौर त्वचा संबंधी रोग। इसका रोगी घृणित एवं ग्रस्पृश्य समझा जाता है, कुष्ठ ।

कहा०—कोढ में पांव व्हेगी—एक दुख के साथ दूसरे दुख के ग्राने पर ।

कोढ़ण, कोढ़णी–सं०स्त्री०—कुष्ठ रोग से पीड़ित स्त्री ।

वि०—दुष्टा । उ०—कोठी राखै साफ, उदर रा रोग मिटावै । जठै नहीं है नीम, **कोढ़णी** कवजी जावै ।—दसदेव

कोढ़ा–सं०स्त्री०—सीसोदिया वंश के क्षत्रियों की एक शाखा ।

कोढ़ियौ, कोढ़ी–सं०पु० (स्त्री० कोढ़ण) कुष्ठ रोग से पीड़ित व्यक्ति ।

वि०—दुष्ट ।

कहा०—१ कोढ़िये रौ टक्कौ ठाकुरदुवारै को चढ़ै नी—दुष्ट व्यक्ति की सेवा भगवान भी स्वीकार नहीं करते. २ कोढ़िये रौ सवासणी माथै मन चालै—दुष्ट व्यक्ति ग्रपनी बहन-बेटी पर भी कुदृष्टि डालने से नही चूकते. ३ कोढ़ियौ विसवद्दौ व्है है—दुष्ट ग्रादमी हमेशा जहर फैलाया करता है ।

कोण–सर्व०—१ किस। उ०—रिम ग्राभन छोडुग्रा फेर रसा, दुर जासिय जीदोय **कोण** दसा ।—पा.प्र. २ कौन। उ०—ग्राज सखी हम यूं सुण्यौ, पौ फाटत पिय गोण। पौ ग्रर हिवड़ै होड है, पहली फाटै **कोण** ।—ग्रज्ञात

सं०पु०—१ कोना (डि को.) २ एक बिंदु पर मिलती या कटती हुई दो रेखाग्रों के बीच का ग्रंतर (रेखा गणित) ३ दिशा (डि.को.) ४ दो दिशाग्रों के बीच की दिशा-विदिशा ।

उ०—जैत कहियौ कोणप **कोण** में ग्रठा थी एक जोजन ग्रचळ री उपत्यका रै ग्राधार उपवसत ।—वं.भा.

५ हाथ की उंगुली के सिरे पर धारण करने की सितार बजाने की नखिया ।—वं.भा. (रू.भे. 'कोनन')

कोणदंड–सं०पु०—वह दंड नामक कसरत जो घर के कोने में दोनों ग्रोर की दीवारों पर हाथ रख कर की जाती है ।

कोणप–सं०पु० [सं० कोणप] १ राक्षस, ग्रसुर, दैत्य (डि.को.) २ शव, मुर्दा। उ०—दागै सम ईरण जीरण छद दाटै. **कोणप** त्रिथीरण संकीरण काटै। वाल्हा वन्ही विन वाल्हां विसरावै, धर ग्रंतेस्टी कर परमेस्टी धावै ।—ऊ.का.

कोणपकोण–सं०पु०—नैर्ऋत्य । उ०—जैत कहियौ **कोणपकोण** मैं, ग्रठा थी एक जोजन ग्रचळ री उपत्यका रै ग्राधार उपवसथ ।

—वं.भा.

कोणलंग–सं०पु०—वह घोड़ा जो चलते हुए लंगड़ाता है (ग्रशुभ–शा.हो.)

कोणसंकु–सं०पु० [सं० कोणशंकु] सूर्य की वह स्थिति जबकि वह न तो कोणवृत्त मे हो ग्रौर न उन्मडल में हो ।

कोणस्त–सं०पु०—शनिश्चर (ग्र.मा.)

कोणाकोणी–ग्रव्यय [सं०] एक कोने से दूसरे कोने तक ।

कोणाघात–स०पु० [सं०] एक लाख हुडुको के ग्रौर दस हजार ढोलों के एक साथ बजने की ग्रावाज ।

कोत–सं०पु०—बंदूकों का जूड़ा, एक साथ खड़ी की गई बंदूकों का ढेर ।

कोतक–सं०पु० [सं० कौतुक] कौतुक, कुतूहल, खेल, तमाशा, क्रीड़ा, विनोद । उ०—१ निसा **कोतक** लगौ 'रैण' जुध निरखवा ऐण रथ रोक चंद्र गैण ऊभौ ।—रयणसिंह सीसोदिया री गीत

खाने को जब तक है तब तक कोई फिक्र नहीं; उम्र है तब तक तो कोई डर नहीं. ४ बंदूक में वह स्थान जहाँ बारूद ठहरतो है ५ म्यान की साम. ६ मिट्टी या धातु का बना सामान आदि रखने का बड़ा पात्र. ७ कुआ, कूप. ८ कोल्हू में वह स्थान जहाँ पेरने के लिये तिल आदि डाले जाते हैं।

कोठीचल–सं०स्त्री०—एक प्रकार की बंदूक जिसके बारूद रहने के स्थान में कुछ खराबी होती है।

कोठीचाली–सं०स्त्री०—१ कोठी चलाने का काम. २ कोठीवाल अक्षर। देखो 'कोठीवाळ' (२)

कोठीवाळ–सं०पु०—१ वह जिसके यहाँ कोठी चलती हो, महाजन, साहूकार, बड़ा कारोबारी. २ बिना शीर्ष रेखायें और मात्राओं के महाजनी अक्षर।

कोठे, कोठेड़े–क्रि०वि०—कहाँ। उ०—१ श्रो ए बांदी बंभां थांनै बात, कोठे म्हांरी जच्चा रांणी पोड़ै जी राज।—लो.गी.
उ०—२ प्यारी घण पै नीबूड़ा कुण बाया म्हारा राज, म्हे हंस बाया जी गोरी घण प्यारी, थांरै कोठेड़ै सी लागी म्हारा राज।
—लो.गी.

कोठेसर, कोठेस्वर–सं०पु०—महादेव, शिव (ह नां.)

कोठै–देखो 'कोठे' (रू.भे.) उ०—मारो चाहे छांडो रांणा नाहिं रहूं मैं बरजी। सुगना साहिब सुमरतां रे, म्हें थांरै कोठै खटकी।—मीरां

कोठो–सं०पु० [सं० कोष्ठक] १ बड़ी कोठरी, चौड़ा कमरा. २ भंडार, कोष, बहुत सी वस्तुओं को संग्रह करने का स्थान. ३ मकान में छत वा पाटन के ऊपर का कमरा, अटारी।
मुहा०—कोठे माथै बैठणौ—रंडी बनना, वेश्या होना।
४ उदर, पेट, आमाशय। उ०—कोठौ राखै साफ, उदर रा रोग मिटावै। जठै नहीं है नीम, कोड़णी कब्जी जावै।—दसदेव
मुहा०—१ कोठौ बिगड़णौ—बदहजमी होना. २ कोठौ साफ होणौ—मन में कुछ बुरा भाव न होना; पेट साफ होना।
कहा०—कोठै री बात होठै आयी रैवै—मन की बात कभी न कभी होंठों पर आ ही जाती है; कपट कभी न कभी प्रकट हो ही जाता है.
२ कोठै सोइ होठै—जो पेट में होती है वह होंठों पर आती है; साफ दिल वाले व्यक्ति के लिये।
क्रि०प्र०—बिगड़णौ।
५ गर्भाशय।
६ खाना, घर (जैसे चौपड़ रौ कोठौ) (ल.पि.) ७ किसी एक अंक का पहाड़ा जो एक खाने में लिखा जाता है. ८ शरीर वा मस्तिष्क का कोई भीतरी भाग जिसमें कोई विशेष शक्ति रहती है. ९ कुयें के पास पानी निकाल कर भरने का हौज, कुंड। उ०—खाली खेळी में बाजै खणखाटा, भाजै धापड़ लै कोठा भणणाटा।—ऊ.का.
१० अनाज रखने का बखार।

कोठ्यार—देखो 'कोठार' (रू.भे.) उ०—आदमी डेढ़ सौ घायल डोळी घाल ल्याया था, सो पाटा चौपड़ खावण नूं सरकार रा कोठ्यार सूं पावै छै—डाढ़ाळा सूर री बात

कोडंड–सं०पु० [सं० कोदण्ड] १ धनुष, कमान (डि.को.)
उ०—वळै भीमै अजन वगा रण वाट रा, सिहायक पाट रा जकां सायो। जिण मही थाट रा भार कोडंड जको, अवै भुज खाट रा तणै आयो।—रावत दुलेसींग री गीत

कोडंड-धर–सं०पु०—धनुषधारी, योद्धा।

कोडंडी, कोडंडीस–सं०पु० [सं० कोदण्ड+ईश] १ अर्जुन का गांडीव धनुष। उ०—जोमंगी भंडीस ज्याग आयौ ज्यूं चंडीस जायौ, राज-पत्री आयौ थंडीस व्याळ रेस। श्रोडंडीस अर्सासतौ लांगड़ो कपीस आयौ, कोडंडीस कसीसतौ आयौ गुड़ाकेस।—हुकमीचन्द खिड़ियौ
२ बड़ा धनुष. ३ धनुष (डि.को.)

कोड–सं०पु०—१ उत्साह. उ०—नरपति आयौ देस नूं. कुंवर उजागर कोड। 'मुहकम' बीकानेर नूं, गौ कूचेरौ छोड।—रा रू.
२ हर्ष, उमंग. उ०—१ सात सहेली आपां हिळमिळ झूलां, म्हारे मन कोड ज छायौ।—लो.गी. उ०—२ कमधज कछवाहां घरे, आयौ नृप अभसाह। कोड सलूणा कूरमे, उर दूणा ओछाह।
—रा रू.
३ अभिलाषा, उत्कंठा चाह। उ०—१ आज तौ मन में पीहर कोड, याद उण सरवरियै री पाळ।—सांझ उ०—२ प्यारा आज्यौ पावणां, प्यारी घण रै देस। साजन म्हांरा पिहर में, थांरा कोड हमेस।—अज्ञात [सं० कुड=बाल्ये+घञ] ४ लाड, प्यार, दुलार। उ०—लाडे कोडे लाडणी, लाडी परण्यौ जेह। विसमय पांम्यौ अति घणौ, देखी कुंमरी तेह।—ढो.मा. ५ शौक.
[सं० क्रोड़] ६ सूअर, वराह. [सं० कोटि] ७ करोड़ की संख्या.
[सं० कुष्ठ] ८ देखो 'कोढ़' (रू.भे.) [रा०] ८ सत्कार।

कोडयाळी जंवार–सं०स्त्री०—एक प्रकार की ज्वार। उ०—झूर निपजायी ए मोठ'र बाजरी, जांणै कोडयाळी ज्वांर।—लो.गी.
(रू भे. 'कोडयाळी जवार')

कोडाणो–क्रि०स०—हर्ष करना, उमंग करना। उ०—काळा में कोडाय, चाहि खायो कर चाळा। मोड़ा उघड़्या मींत, चिरत धारा चिरताळा।
—ऊ.का.

कोडायतो–वि०—१ सुखद मनोवेग वाला, उल्लासपूर्ण। उ०—चैत में कमनीय सांगरी, लोग लगै कोडायता। ओपणा अचार ओलवै, रळै रंगीला रायता।—दसदेव २ जोशीला, उत्साह एवं प्रेमयुक्त।

कोडाळो–वि० (स्त्री० कोडाळी) १ स्वागत करने वाला. २ प्यार करने वाला. ३ उमंगयुक्त। उ०—कूंयरि कोडाळी वेटडी वळी, मेळावउ कवण वळामणि।—कां.दे.प्र.
सं०पु०—१ एक प्रकार का धब्बेदार सर्प. २ ऊंट के गले में बांधने का एक आभूषण. ३ छोटा शंख।

कोडि–सं०स्त्री०—१ किनारा, तट, कोर। उ०—बीजुळियां चहळावहळि,

२ रूठने का भाव. ३ शृंगार रस में नायिका का नायक के प्रति बनावटी कोप।

कोपणौ, कोपवौ–क्रि०अ० [सं० कुप] कोप करना, क्रोध करना, नाराज होना। उ०—१ उठै सुण अंगद वयण, विग्रह कज रघुवीर। ओपै गज घड़ ऊपरां, कोपै जांण कंठीर।—र.रू. उ०—२ कोपियै छाकियै चहर भड़ अहर करि, फुरळतै पिसण घड़ फेरवी अफिर फिरि।—हा.झा.

कोपभवन–सं०पु० [सं०] वह स्थान जहाँ कोई मनुष्य क्रोध कर के या अपने घर के प्राणियों से रूठ कर रहे।

कोपर–सं०पु०—१ पत्थर का छोटा टुकड़ा (अल्पा० कोपरियौ)
२ मकान के तोरण द्वार के दोनों ओर लगाये जाने वाले चपटे पत्थर।
सं०स्त्री० [सं० कूर्पर] ३ कोहनी। उ०—अवझ्भड़ त्रिज्झड़ भड़ असंध, कटै कर कोपर काळिज कंध।—वचनिका ४ घुटना।

कोपरियौ—देखो 'कोपर' (१) (रू.भे.)

कोपरी—१ देखो 'कोपर' (३) (रू.भे.) उ०—दतकुळी अंगुळी करी कोपरी कपाळां, बीच खेत विस्थरी फरी विहरी किरमाळां।—रा.रू.
२ लकड़ी की बनी वस्तुओं के किनारों की खूबसूरती बढ़ाने का औजार।

कोपरौ—देखो 'खोपरौ' (रू.भे.)

कोपवाळ–सं०पु०—क्रोधी व्यक्ति, गुस्सैल।

कोपांन–सं०पु० [सं० कोशपान] अभियुक्त के न्याय-निर्णय की एक प्राचीन परिपाटी, इसमें अभियुक्त किसी देव विशेष को साक्षी कर समाज के सम्मुख देवकलश का जल-पान करता है। विश्वास के अनुसार अगर वह वास्तव में अभियुक्त है तो देव का कोप-भाजन बनेगा।

कोपाणौ, कोपावौ–क्रि०स० [प्रे०रू०] १ क्रोध कराना, गुस्से के लिये प्रेरित करना. २ कोशपान कराना।

कोपानळि–सं०स्त्री०—क्रोधाग्नि। उ०—आगइ रुद्र घणइ कोपानळि, दैत्य सवे तइं वाळ्या। तइं प्रथ्वी मांहि पुण्य वरताव्यां, देवलोकि भय टाळ्या।—कां दे.प्र.

कोपायत–वि०—क्रुद्ध। उ०—इसी खवर नगर रा लोगां राजा सूं की। तद राजा कोपायत होय दूत मेल्हिया।—पंचदंडी री वारता

कोपियोड़ौ–भू०का०कृ० [स० कुपित:] क्रोध किया हुआ।
(स्त्री० कोपियोड़ी)

कोपि, कोपी–वि०—क्रोधी, गुस्सैल।
सं०पु०—संकीर्ण राग का एक भेद।

कोपीन–सं०स्त्री० [सं० कौपीन] ब्रह्मचारी या संन्यासियों आदि के पहनने की लंगोटी, चीर, कांछा।

कोपीणौ—देखो 'कोपांन' (रू.भे.)

कोफळा–सं०पु०—१ बकरी, बकरा. २ सूखे हुए छोटे-छोटे ककड़ियों के टुकड़े।

कोफ्त–सं०पु० [फा०] १ लोहे पर सोने या चाँदी की पच्चीकारी.
२ पके हुए मांस का विशिष्ट प्रकार का सालन।
सं०स्त्री०—३ रंज, दुःख, खेद, परेशानी, हैरानी।

कोफ्तगरी–सं०स्त्री० [फा०] लोहे के बरतनों या हथियारों पर सोने या चाँदी की पच्चीकारी करने का काम।

कोफ्तौ–सं०पु० [फा० कोफ्ता] कटे हुए मांस या बेसन व मसाले का जामुन के आकार का किन्तु उससे बड़ा एक प्रकार का चरपरा पदार्थ जिसके अन्दर अदरक, पुदीना, खसखस, भुना चने का आटा आदि भर देते हैं।

कोबिद—देखो 'कोविद' (रू.भे.) उ०—जिण समय रा कोबिद लोग अवंतीअधीस रा, दीधा अन्न आस्रय विनां कुमारिकामंडळ में कवण रहै।—वं.भा.

कोबीदार–सं०पु० [सं० कोविदार] कचनार का वृक्ष (डि.को.)

कोमंकी, कोमंखी–वि० [सं० कोपांकी, मा. कोवंकी, रा० कोमंकी, कोमंखी] १ क्रोध का चिन्ह वाला, क्रोधी। उ०—केवांणां कोमंकी वाणौ आंटीलौ कमंध।—हुकमीचंद खिड़ियौ २ क्रोधी स्वभाव वाला.
३ योद्धा। उ०—कोमंखी अतूठा क्रोध रूप जोध केवांणा सूं।
—अज्ञात
सं०पु०—तेजी से घोड़े उठाने की क्रिया (डि.को.)

कोमंड–सं०पु० [सं० कोदंड] १ धनुष (अ.मा.) उ०—१ वीरम कोमंड पकड़ियौ. जम घालण वथ्थे।—वीरमायण उ०—२ जवर इसौ कुण जोमंड, मो ऊभां संकर चौ कोमंड तांण भीच कुण तोड़ै।
२ भौंह। —वी.मा.

कोमंत—देखो 'कुमति' (रू.भे.)

कोम–सं०पु० [सं० कूर्म, प्रा० कुम्म, रा० कोम] १ कछुआ. २ कूर्मावतार, कच्छपावतार। उ०—महा क्रोधंगी गनीमां हूंता, हुचकै नरींद 'माधौ'। भूचकै भूलोक वाधौ, चकै कोम भार।—हुकमीचंद खिड़ियौ
[अ० कौम] ४ जाति, वर्ण। उ०—मन अकबर मजबूत, फूट हींदवां बेफिकर काफर। कोम कपूत, पकड़ूं रांण प्रतापसी।
[सं० कोदंड] ५ धनुष। —दुरसौ आढ़ौ

कोमका–सं०स्त्री० [सं० कूर्म, प्रा० कुम्म] कछुआ, कच्छप।

कोमळ–वि० [सं० कोमल] १ मुलायम, मृदु। (यौ० कोमळचित)
२ सुकुमार, नाजुक। उ०--पावस मास विदेस पिय, घरि तरुणी कुळ मुग्ध। सारंग सिखर निसद्द करि, मरइस कोमळ मुग्ध।
—ढो.मा.
३ कच्चा. ४ सुंदर, मनोहर. ५ संगीत में स्वर का एक भेद।

कोमळता–सं०स्त्री० [सं० कोमलता] १ मुलायम व कोमल होने का भाव. २ शोभा (अ.मा., नां.मा)

कोमळा—देखो 'कोमळ' (रू.भे.)

कोमाच–सं०पु०—१ एक प्रकार का चमकीला काच. २ सफाई।
उ०—काच हुलम कोमाच, नाच पातर नखराळी।—मे.म.

उ०—२ देस-देस सह को दियै, सूरां नूं स्यावास। ज्यांरी कोतक देख जुध, हुवै मुनिंद्रां हास।—वां.दा.

कोतकी, कोतगी—वि० [सं० कौतुकी] कौतुक करने वाला, कौतुकी।
उ०—जटी ज्यूं कोतगी वीर नाच री लखैबा जंगां, खळां अंगां भखेवा डाच री जज्रखेद।—हुकमीचंद खिड़ियौ

कोतणौ, कोतवौ—देखो 'कूंतणौ' (रू.भे.) उ०—ओठम जग बळवंत आपरौ, प्रघळी जस कोतै प्रथमाद।
—महाराजा बळवन्तसिंह रतलाम री गीत

कोतल—सं०पु० [फा०] १ सजा-सजाया घोड़ा जिस पर कोई सवार न हो, जलूसी घोड़ा। उ०—समाचार सांढ़िया आय मालम कर जावै, हरवलां फेर कोतल हलै सजिया मुजरा जोत रा।—अरजुणजी बारहठ
२ राजा की सवारी का घोड़ा. ३ वह घोड़ा जो आवश्यकता के समय के लिए साथ रखा जाय। उ०—राव बीसलदे रै घोड़ौ बीजौ कोतल हाजर थौ, सो आंण हाजर कियौ।—डाढ़ाळा सूर री वात
वि०—खाली सजा हुआ, बिना काम का।

कोतवाळ—सं०पु० [सं० कोट्टपाल] १ पुलिस का प्रधान अधिकारी, नगर-रक्षक, पुलिस कप्तान।
[रा०] २ कुत्ता. ३ साधु का लम्बा चिमटा।

कोतवाळी—सं०स्त्री०—१ पुलिस के 'कोतवाल' का कार्यालय.
२ कोतवाल का पद।

कोता—वि० [फा० कोतह] १ छोटा। उ०—सिकल का बेदुरुस्त, सूरत का खराब, किसमत का कोता, दिन का महताब।—दुरगादत्त बारहठ
२ कम, अल्प। उ०—नरां नागां सुरां नार, जूज जीत लीध जार। घपै न कोता बुधवार, है गिवार है गिवार।—र.रू.

कोताई—सं०स्त्री० [फा० कोताही] १ कमी, अल्पता, खामी। उ०—हठ दुरुस्त ऊ छै। मतो जिण कांम रौ करै तिण सूं किणी रै मनै कियां मनै न होय। उण कांम में काहली कोताई न करै।—नी प्र.
२ छोटाई, भूल, गफलत।

कोताखांनी—सं०स्त्री०—एक प्रकार की विशेष बनावट वाली कटार।
उ०—ओडा री अढ़ाई, भोगळी री कोताखांनी, पाडाजीभी घणै सोनै में झकोळी थकी।—रा.सा.सं.

कोताड़ी—सं०स्त्री०—छोटे कानों की बकरी (क्षेत्रीय)

कोतिक, कोतिक्क—देखो 'कौतक' (रू.भे.) उ०—१ कोतिक लखे हुए विकराळ, दीरघ रद किया। सालुळ वणे चंड सरीर खावण कज सिया।—र.रू. उ०—२ इसा गज्ज घंटाळ घंटा अपारं, त्रिण्हे लोक कौतिक्क देखंत त्यारं।—वचनिका

कोतिग—देखो 'कौतक' (रू.भे.) उ०—कोतिग आव्या देवता, कोतिग आव्या इंद्र विमांन।—वी.दे.

कोतिल—देखो 'कोतल' (रू.भे.) उ०—चपल कोतिळ कळळ चंचळ विहद मदगळ भ्रमर अळवळ।—र.रू.

कोतुक—देखो 'कौतक' (रू.भे.) (डिं.को.)

कोतुहळ, कोतूहळ—सं०पु० [सं० कौतूहल] १ कौतुक, खेल (डिं.को.)
उ०—रिख कहै सुणि रांम जोअण, जोसी जनक जिग कोतूहळ कांम।—रांमरासौ २ उत्सुकता।

कोथळी—सं०स्त्री०—१ छोटी थैली (कोथलड़ी—अल्पा०)
उ०—एक कोथलड़ी द्रव दिइयौ, विनायक लाडलै की माय नै।
—लो.गी.
२ संबंधियों, रिश्तेदारों या कन्या के ससुराल थैली में कुछ भर कर भेजना. ३ थैली भरी सामग्री। (मह० कोथळौ)

कोथळौ—सं०पु०—१ बड़ा थैला (अल्पा० कोथळियौ)
उ०—सांम होई ताहरां वहियां नै संभाई कोथळौ गुमास्ता रै हाथ दियौ।—पलक दरियाव री वात
२ विवाह में कन्या के पिता द्वारा अपने सब भाई-सगों को बुला कर वर-वधू को गहना तथा १००) और वर के भाई-बंदों के वेशभूषा कराने की एक प्रथा (जाट)

कोथी—सं०स्त्री०—(तलवार के) म्यान के सिरे पर लगा हुआ धातु का छल्ला या टुकड़ा, म्यान की साम।

कोदंड—सं०पु० [सं०] धनुष। उ०—हेर हियौ हरसायौ, वजर समांन कठिन कोदंड रौ।—गी.रां.

कोद—सं०स्त्री०—१ दिशा, कोना। उ०—हठी जूट तें मेरू के कूट हल्लै, चहु कोद सप्तोद के स्रोत चल्लै।—वं.भा. २ नोंक।
उ०—गहे कोद कट्टार कौ पार गोदै, खुरां वाजिके घुम्मिके भूम्मि खोदै।—वं.भा.
क्रि०वि०—ओर, तरफ।

कोदाळ—सं०पु०—१ एक प्रकार का घोड़ा जो अशुभ माना गया है।
२ कुदाली। (शा.हो.)

कोदाळी, कोदाळौ—देखो 'कुदाळी'। उ०—किरमर धार करग कोदाळे, खेत कळोधर रिण खिणियौ।—अज्ञात

कोद्रू—सं०पु०—कौंदा नामक अनाज विशेष जो हल्के दर्जे का माना जाता है।

कोनन—देखो 'कोण' (४) उ०—यौं राग न पाया प्रमुद यौं सिंधु न छाया, यौं कोनन लाया करन यौं मुट्ठि मिळाया।—वं.भा.

कोनी—क्रि०वि०—नहीं, कभी नहीं। उ०—जैपर मिळी जोध.र मिळगी, मिळगी बीकानेर। दोय पगां नै जागां कोनी, भाई होग्या लैर।—डूंगजी जवारजी री पड़

कोनीयौ—सं०पु०—चोकोर चीज को मजबूत करने हेतु लगाई हुई लोहे या धातु की लंबी पत्ती।

कोन्यां—क्रि०वि०—देखो 'कोनी'। उ०—वनचारी हो लाल, कोन्यां थारै सारै।—लो.गी.

कोप—सं०पु० [सं०] १ क्रोध, गुस्सा, रोष।
पर्याय०—अमरख, कुप, क्रुध, क्रोध, छोह, जाजुळ, तायळ, ताव, धुय, धोम, मछर, रीस, रुट, रोस।

कोर–सं०स्त्री० [सं० कोटि] १ किनारा, सिरा, छोर।
उ०—१ चळापळ ग्रोगनियां री कोर, भोपणा किण भूलां री भार।—सांभ उ०—२ काजळ टीकी विण फीकी द्रग कोरां। —ऊ.का.
मुहा०—काळजा री कोर—बहुत प्यारा।
कहा०—लाडू री कोर की खारी नै की मीठी—लड्डू के सब दाने मीठे होते हैं; खुद की सब संतान प्यारी लगती है; समान प्यार किये जाने वाले व्यक्तियों के लिये।
[सं० कोटि] २ सीमा। उ०—जेठुए खेमे जोर, कुण तेण चंपै कोर। जिण पेख जवन सजोस, सुज गयौ तजि गढ़ सोस।—रा.रू.
[सं० कोटि] ३ पंक्ति, कतार। उ०—दुहुं ग्रोर बनी चतुरंग ग्रनी, दुहुं ग्रोर करीन कि कोर बनी।—ला.रा. ४ दृष्टि. ५ कोना. ६ ग्रंतराल।
[सं० कोटि] ७ हथियार की धार. ८ द्वेष, वैर, वैमनस्य. ९ दोष, ऐब, बुराई. १० सोने या चाँदी के महीन तारों के साथ बनी हुई पतली लंबी गोट जो स्त्रियां वस्त्रों पर लगाती हैं। उ०—१ विहद कोर गोटा बणै, पातर रै पोसाक। परणी फाटा पूंगरण बैठी फाड़ै वाक।—ऊ.का. उ०—२ सरवर पांणीड़ै नै मैं गयी, ग्रेलो भीजै म्हांरै साळूड़ै री कोर, बालो जो।—लो.गी.
कोरकसर–सं०स्त्री०यौ०—दोष, त्रुटि, ऐब, कमी।
कोरगोटी–सं०पु०यौ०—सुनहले या रुपहले बादले का बना हुग्रा पतला फीता। देखो 'कोर' (१०) उ०—बीखरै डावर नैणां लाज, चमकै चोखी कोरां-गोट।—सांभ
कोरड़–सं०पु०—१ एक प्रकार का घास. २ देखो 'कोरड़ू'।
कोरड़ी–सं०स्त्री०—१ देखो 'कोटड़ी' (रू.भे.) २ एक प्रकार का घास (कां.दे.प्र.)
कोरड़ू–सं०पु०—मूंग, मोठ, ग्वार ग्रादि वे ग्रनाज या द्विदल जो कठोर माने जाते हैं और बाजरे के बाद बोए जाते हैं। उ०—थारै करलां नै कोरड़ घलाय, एक बार ग्राज्यो, जवांईजी म्हांरै घर पांवणा। —लो.गी.
कोरड़ो–सं०पु०—१ एक छोटा डंडा या दस्ता जिसमें चमड़ा या सूत ग्रादि बट कर लगाया जाता है और जो मनुष्यों या जानवरों को मारने के काम में ग्राता है, चाबुक, दुर्रा। उ०—ज्यां तो गायां के ए खीची मारै कोरड़ो।—लो.गी. २ उत्तेजक बात. ३ मर्मस्पर्शी बात. ४ कुश्ती का एक पेंच जिसमें विपक्षी के दाहिने पैंतरे पर खड़े होने पर बायें हाथ की कोहनी से उसकी दाहिनी रान दबाते हैं और दाहिने हाथ की कलाई से उसका दाहिने पैर का गुट्टा उठा कर दोनों हाथों को मिला कर जोर कर के उसे चित्त गिरा देते हैं।
क्रि०वि०—केवल, मात्र, सिर्फ। उ०—पहली प्रतोळी मैं पैठतां ही मांहिला चोक में हाडां पड़िहारां रै ग्रचांणक कोरड़ो लोह बाजियो। —वं.भा.

कोरट–सं०पु० [ग्रं० कोर्ट] १ ग्रदालत, कचहरी।
[रा०] २ कटार (डिं.नां.मा.)
कोरट-ग्रॉफ-वारड्स–सं०पु०यौ० [ग्रं० कोर्ट ग्रॉफ वार्डस्] वह सरकारी विभाग जिसके द्वारा किसी ग्रनाथ, विधवा या ग्रयोग्य मनुष्य की सारी जायदाद का प्रबंध होता है।
कोरट इंसपेक्टर–सं०पु०यौ० [ग्रं० कोर्ट इंमपेक्टर] पुलिस की ग्रोर से फौजदारी ग्रदालतों में मुकद्दमे की पैरवी करने वाला पुलिस का कर्मचारी।
कोरटपीस–सं०पु०यौ० [ग्रं० कोर्टपीस] १ चार ग्रादमियों में खेला जाने वाला एक प्रकार का ताश का खेल।
कोरटफीस–सं०स्त्री०यौ० [ग्रं० कोर्ट+फी] ग्रदालती रसूम, न्यायशुल्क।
कोरटमारसल–सं०पु०यौ० [ग्रं० कोर्ट मार्शल] फौजी ग्रदालत जिसमें सेना के नियमों का भंग करने वाले, सेना छोड़ कर भागने वाले तथा बागी सिपाहियों का विचार होता है।
कोरटसिप–सं०स्त्री०यौ० [ग्रं० कोर्ट+शिप] एक पाश्चात्य प्रथा जिसके ग्रनुसार पुरुष किसी स्त्री को ग्रपने साथ विवाह करने के लिए उद्यत करता है तथा ग्रपने ग्रनुकूल करता है, कन्या-संवरण।
कोरण–सं०पु०—काले बादलों के किनारे श्वेत बादलों का भाग।
उ०—१ दूरा नयर कि कोरण दीसै, धवळागिरि किना धवळहर। —वेलि.
उ०—२ कोरण सुभट घटा थट कटकै, बजड़ां हथ दांमणी तप। सूर तणौ घरहरै नरेसुर, वनपत यर खै करण वप। —देवराज रतनू
कोरणवटी–सं०स्त्री०—मारवाड़ राज्यान्तर्गत एक प्रदेश।
कोरणी–सं०स्त्री० [सं० कोटनी, प्रा० कोडनी, रा० कोरणी] १ चित्रकारी. २ पत्थर पर खुदाई का काम, संगतराशी, नक्काशी. ३ एक प्रकार की सिर की हजामत विशेष।
कोरणीदार–वि०—चित्रयुक्त। उ०—छदन कोरणीदार फूटरा कूंट कुंटाळा। उत कोयल रैवास कागलां रा इत ग्राळा।—दसदेव
कोरणो, कोरबो–क्रि०स० [सं० कोटनम्] १ चित्रकारी करना. २ ग्राडी-टेढ़ी रेखायें खींचना. ३ पत्थर पर खुदाई का कार्य करना।
कोरणहार, हारो (हारी), कोरणियो—वि०।
कोरवावणो, कोरवावबो—क्रि०स० प्रे०रू०।
कोराणो, कोराबो, कोरावणो, कोराववो—क्रि०स०।
कोरिग्रोड़ो, कोरियोड़ो, कोरचोड़ो—भू०का०कृ०।
कोरनी—देखो 'कोरणी' (रू.भे.)
कोरपांण, कोरपांणो–सं०पु० [सं० कटे वर्षाऽऽवरणयोः, स्वार्थंणिच् सर्व धातुभ्य इन्, काटि] मांड लगा, बिना धुला (कपड़ा)
सं०स्त्री० [सं० कोर पान] २ रबी की फसल में ग्रनाज बोने के बाद प्रथम बार कुए ग्रादि से खींच कर फसल को पिलाये जाने की क्रिया।

कोमारी-सं०स्त्री० [सं० कुमारी] १ कुमारी. २ अविवाहिता ।

कोय-सर्व०—१ कोई । उ०—कर जीहा लोयण स्रवण, वियौ न आपै कोय ।—ह.र. २ किसी को । उ०—सादूळौ आपा समौ, वियौ न कोय गिणंत । हाक विडांणी किम सहै, घण गाजियै मरंत ।—हा.झा.

वि०—कुछ । उ०—धोय धोय तन चख जळधारां, रोय रोय नर नारी । जोय जोय थाका जग जांमी, कोय न लागी कारी ।—ऊ.का.

कोयक-सर्व०—कोई, कोई सा । उ०—कोयक सकट कुसागड़ी, भार विसेस भरंत । धवळ पइप्पण आपरै, कांधै लियां वहंत ।—वां.दा.

कोयटौ-सं०पु० [सं० कूपोत्थर, प्रा० कुवट्ठा] वह कुआ जिस पर चरस द्वारा सिंचाई होती हो ।

कोयण-सं०पु० [सं० कोचन] १ आंख का कोना । उ०—१ लोयण लागणिया तणिया लज वाळा । कोयण काजळिया रळिया रजवाळा ।—ऊ.का.

उ०—२ ओयण अडग नृपत 'राजड़' अंस । दोयण जोयण खगदहण । ललना जयौ झरहरै लोयण, कोयण धार अंगार कण ।—कविराजा करणीदांन

[सं० कोचन] २ आंख का डेला. ३ नेत्र, नयन । उ०—चठठा भैभीत रठा दुघटा कोयणां चोळ, ऊभै घटा जठा सक्र गाथ मैं अनूप । लंगरां रठठा वे पठठा आडी लीह, रांण वाळा झूठा फील जूटा असै रूप ।—पहाड़खां आढ़ौ [सं० कोपन, मा. कोवण, रा० कोयण] ४ शत्रु । उ०—हे थट सुभट हमल हालावै, कोयण कटक सावता केव । वरसंघ वाळ अजेपुर वळियौ, विक्रमादीत जैत हय वेव ।—चांनण खिड़ियौ

कोयनी-अव्यय—नहीं । उ०—कठै नांव जाळोटिया है, कठैक पील प्रेम रा । सीवी सोणी किंकर कोरूं, कनै कोयनी कैमरा ।—दसदेव

कोयन—देखो 'कोयण' (रू.भे.) उ०—धखि लोयन कोयन खून भरै, दहुवां उन्मत्त मतंग अरै ।—ला रा.

कोयन्नळ—देखो 'कोपानळ' । उ०—मुनीस महेस कोयन्नळ मंज, प्रसिद्ध महाबळ तेजस-पुंज ।—ह.र.

कोयर-सं०पु० [सं० अकूपार, कूपार] कूप, कुआ ।

कोयल-सं०स्त्री० [सं० कोकिल] काले रंग की एक चिड़िया जो कौवे से कुछ छोटी होती है और मैदानों में वसंत ऋतु के आरंभ से वर्षा ऋतु के अंत तक रहती है । मीठी बोली के लिए यह संसार में प्रसिद्ध है । कोकिला ।

पर्याय०—कोकल, दुतसुर, परभ्रत, पिक, भरवत, रगत द्रग ।

कहा०—१ कागा किसका लेत है, कोयल किसकूं देत । मीठी वांणी सुणाय कै, जग अपणा कर लेत—कौआ किसी का क्या लेता है और कोयल किसी को क्या देती है, फिर भी लोग कोयल से खुश रहते हैं; मीठी बोली से सब खुश रहते हैं. २ कोयल कागलौ एक रंग, बोल्यां खबर पड़ै—कोयल और कौवे का रंग एक ही होता है, बोलने से उनका भेद प्रकट होता है । (अल्पा० 'कोयलड़ी')

२ सफेद और नीले फूलों वाली एक लता जिसकी पत्तियां गुलाब की पत्तियों से मिलती-जुलती होती हैं; अपराजिता (रा.सा.सं.)

२ एक प्रकार का राजस्थानी लोक गीत जिसे लड़की को ससुराल के लिए विदा करते समय गाया करते हैं. ४ लड़कियों द्वारा रात्रि में गाया जाने वाला एक लोक गीत ।

कोयलक-सं०पु० [सं० कौलकेय] कुत्ता, श्वान (ह नां.)

कोयलड़ी—देखो 'कोयल' (रू.भे.) उ०—वरज चढ़ो ना ऐ वागां मांयली कोयल जी राज, कोयलड़ी वरजी न ऐ जाय, वारी धण वारी ओ हंजा ।—लो.गी.

कोयलारांणी-सं०स्त्री०—१ लक्ष्मी । उ०—रिध सिध दियण कोयला-रांणी, वाळा बीज-मंत्र व्रहमांणी ।—ह.र. २ एक देवी विशेष ।

कोयलिया—देखो 'कोयल' (अल्पा०) उ०—आंम की डाळ कोयलिया बोलै, बोलत सबद उदासी ।—मीरां

कोयली-सं०स्त्री०—१ कोयल (रू.भे) उ०—अमरांणे में बोलै सूवा मोर, वागां में बोलै छै काळी कोयली ।—लो.गी. २ बाहुमूल के नीचे पीठ में उठने वाली वात विकार की गांठ. ३ लकड़ी का वह टुकड़ा जो रस्सी या रस्से के सिर पर अटकाव या फंसाव हेतु लगाया जाता है ।

कोयलौ-सं०पु० [सं० कोकिल] १ धधकते हुए अंगारों को बुझाने पर अवशिष्ट अंश जिसे वापस जलाने के काम में लिया जाता है.

२ जलाने के काम में आने वाला एक प्रकार का खनिज पदार्थ ।

मुहा०—कोयला माथै छाप लगांणी—मामूली खर्चों में कंजूसी करना ।

कहा०—१ कोयला खावै जकां रौ काळौ मूंडौ व्है—बुरे काम करने वाले की बदनामी होती है. २ कोयला चामी जकै रौ काळौ मूंडौ होवी—देखो कहावत (१) ३ कोयलां री दलाली में काळा हाथ—बुरे काम में सहयोग देने वाले की बदनामी होती है; जब कुछ लाभ के बजाय कुछ हानि सहन करनी पड़े. ४ दूध में धोयां कोयला किसा धोळा व्है—दूध में धोने पर भी कोयले सफेद नहीं होते; उस बुरे व्यक्ति के प्रति जिस पर समझाने का कोई असर न हो. ५ रांम री गत हीरा रौ भाई कोयलो है—असमान गुणों या रूपरंग वाले व्यक्तियों अथवा पदार्थों के एक साथ होने या रहने पर ।

कोयौ-सर्व० —कोई ।

कोयौ-सं०पु० [सं० कोच] १ आंख का कोना (अमरत)

२ आंख की पुतली. [सं० कुच] ३ रस्सी या धागे का समेटा हुआ लच्छा ।

कोरंभ-सं०पु० [सं० कूर्म] १ कछुआ. २ वराह अवतार ।

उ०—कसमसै कोरंभ सेस नागिंद्र सळसळि ।—वचनिका

३ कछवाहा क्षत्रिय ।

३ जंगली मुर्गा. ४ कुम्हार (डि.को.) ५ एक प्रकार का पक्षी विशेष (डि.को.)

कोलाहट–सं०पु० [सं०] नृत्य में प्रवीण वह मनुष्य जिसके अंग खूब टूटे हों, जो अंगों को खूब मोड़ सकता हो, जो तलवार की धार पर नाच सकता हो और जो मुंह से मोती पिरो सकता हो।

कोळाहळ–सं०पु० [सं० कोलाहल] बहुत से लोगों की अस्पष्ट चिल्लाहट, शोर, हल्ला, ध्वनि, आवाज। उ०—१ सु इहां पंखी बोलै छै सु जांणे बंदीजना को कोळाहळ होइ छै।—वेलि.

उ०—२ इक डंकियौ वाजतौ जावै, कोळाहळ होय रहियौ छै, घोड़ां सूं जमी वाजै छै।—कुंवरसी सांखला री वारता

कोलियौ–वि०—१ तिरछी निगाह से देखने वाला. २ छोटी आँख वाला।

कोळी–सं०स्त्री०—१ जंगली जातियों के अंतर्गत एक जाति विशेष।
उ०—'अंजन' कमोई ऊपरा, असहां जांण उतन्न। पुर होळी जिम घेरियौ, कोळी खीम करन्न।—रा.रू.

सं०स्त्री०—२ काठियावाड़ की एक शासक जाति या इस जाति का व्यक्ति (वि.सं.)

कोली–सं०स्त्री०—तिरछी निगाह।

कोळीकांदौ–सं०पु०—औषध के काम आने वाली गोभी या गरम गोभी नाम की घास।

कोळीवाड़–सं०स्त्री०—मकड़ी (अ.मा.)

कोळू–सं०स्त्री०—मारवाड़ राज्यान्तर्गत पश्चिम का एक स्थान जहाँ पर प्रतिज्ञा वीर पाबू राठौड़ का स्मारक स्थान है। यहाँ पर पाबूजी के भक्तों का वर्ष में एक बार बड़ा भारी मेला लगता है।

कोलेयक–सं०पु० [सं० कौलकेय] कुत्ता (ह.नां.)

को'ळै–वि०—कुशल, कुशलपूर्वक (यौ० कोळखेम)

कोळौ–सं०पु०—१ कुष्मांड, एक गोल फल जिसका शाक बनाया जाता है, कुम्हड़ा। [सं० कोल] २ सूअर (डि.को.)

कोलौ–वि०—तिरछी आँख वाला।

कोल्हू–सं०पु०—१ तेल निकालने या ऊख पेरने का एक यंत्र जो कुछ-कुछ डमरू के आकार का और बहुत बड़ा होता है. २ खपरैल।
उ०—पड़वै चढ़ि नै एक वाती विचला कोल्हू उतारिया।—चौबोली

कोवंस–सं०पु० [सं० कोवंश्य] पितरों को बलि देते समय कौए को पुकारने का शब्द।

कोविद–सं०पु०—१ पंडित, विद्वान (डि.को.) २ कवि (अ.मा.)

कोस–सं०पु० [सं० क्रोश] १ प्रायः दो मील की दूरी का एक नाप.
[सं० कोश (कोष)] २ पंचपात्र नामक पूजा का बरतन. ३ तलवार, कटार आदि का म्यान। उ०—अदतां केरी अथ ज्यूं, कायर री किरमाळ। कोड़ पुकारां कोस सूं, नह पादै निकाळ।—बां.दा. ४ वह ग्रंथ जिसमें अर्थ या पर्याय के शब्द इकट्ठे किये गये हों. ५ अंडकोष. ६ ज्योतिष में एक योग जो शनि और बृहस्पति के साथ किसी तीसरे ग्रह के आने से होता है. ७ खोली, आवरण। उ०—कनक कोस सींगां सजे, रजत खुरां अभिरांम। इम गोगण दीधौ अधिप, नियत उवारण नांम।—वं.भा.
[सं० कोष] ६ संचित धन, खजाना।
[रा०] १० कपट (ह.नां., अ.मा.) ११ मोट, चरस।
उ०—किरसांणां हळ छोडिया, लीन्हा लाव'र कोस। कूवां कूंडां वेरियां, पूगा जीव मसोस।—बादळी
[सं० कोश] १२ अंडा (डि.को.)

कोसक–सं०पु० [सं० कौशिक] १ कौशिक, विश्वामित्र (डि.को)
उ०—एकण दिहाड़ मुनिराज अजोध्या कोसक आवण कीधौ। —र.रू.
२ एक राग विशेष (संगीत) ३ इन्द्र (नां.मा.)

कोसकार–सं०पु० [सं० कोशकार] १ म्यान बनाने वाला. २ शब्दकोश बनाने वाला।

कोसणौ, कोसबौ–क्रि०अ०स०—१ विलाप करना. २ छीनना, लूटना।
कहा०—कोस्यां पाछै डूमड़ी भागी बारा कोस—लुट जाने के बाद ढोलन डर के मारे बारह कोस तक भागी; कमजोर हृदय वाले व्यक्ति को आवश्यकता से अधिक डर लगता है।
३ भला-बुरा कहना।
कोसणहार, (हारौ) हारी, कोसणियौ—वि०।
कोसाणौ, कोसाबौ—स०रू०।
कोसिओड़ौ, कोसियोड़ौ, कोस्योड़ौ—भू०का०कृ०।
कोसीजणौ, कोसीजबौ—भाव वा०।

कोसनायक–सं०पु० [सं० कोशनायक] कोषाध्यक्ष, खजांची।

कोसपति–सं०पु० [सं० कोशपति] कोषाध्यक्ष।

कोसळ–सं०पु० [सं० कौशल] १ अयोध्या का एक नाम।
सं०स्त्री०—२ देखो 'कौसल्या' (रू.भे.) उ०—जनमे कोसळ मात जदि रांमचंद्र अवतार।—सू.प्र. २ चतुरता, दक्षता।

कोसल्य—देखो 'कौसल्या' (रू.भे.) उ०—वधै मास कोसल्य आए वधाए।—सू.प्र.

कोसल्यानन्दण, कोसल्यानन्दन–सं०पु०—कौशल्या के पुत्र, श्री रामचंद्र।

कोसातकी–सं०स्त्री०—तोरई (डि.को.)

कोसाध्यक्ष–सं०पु० [सं० कोषाध्यक्ष] कोष का अध्यक्ष, खजांची।

कोसिक–सं०स्त्री० [सं० कौशिक] १ मज्जा, गूदा (डि.को.)
२ देखो 'कोसक' (रू.भे.)

कोसी–सं०स्त्री० [सं० कौशिकी] १ एक नदी जो नेपाल के पहाड़ों से निकल कर चंपारन के पास गंगा में मिलती है। इसका बहाव बहुत तेज है. २ एक राग विशेष (मीरां)
[सं० कोशी] ३ फली (डि.को.)

कोसीटो—देखो 'कोयटो' रू.भे.। उ०—गांवां कोसीटा २०० हुवै, बीजा गांव सारा इकसाखिया।—नैणसी

कोरम-सं०पु० [अं०] किसी सभा आदि के संचालन व कार्य-निर्वाह के लिए सदस्यों की आवश्यक उपस्थिति संख्या. [सं० कूर्म] कच्छपावतार। उ०—कोरम हुंदा रूप तूं मुरदेत मुरांणा।

—केसोदास गाडण

कोरमी-सं०पु०—१ खलिहान में अनाज को साफ करते समय वह अवशिष्ट भाग जिसमें अनाज व भूसा रह जाता है. २ मूंग, मोठ और चने की दाल को साफ करने के पश्चात् बचा महीन व चूरे के समान भाग. [तु० कोरमा] ३ अधिक घी में भुना हुआ एक प्रकार का मांस जिसमें जल का अंश या शोरवा बिलकुल नहीं होता।

वि०—चित्रित।

कोरव-सं०पु०—कौरव (रू.भे.)

कोरवांण—देखो 'कोरपांण' (२)

कोरस-सं०पु० [अं० कोर्स] १ पाठ्यक्रम. २ सामूहिक गायन।

कोराई-सं०स्त्री०—१ रूखापन, रुखाई. २ चित्रकारी करने का कार्य, नक्काशी. ३ चित्रकारी करने की मजदूरी।

कोराड़ो-सं०पु०—आकाश से बादलों के हट जाने पर रूखा दृश्य।

उ०—असाढ़ कोराड़ो ऊतरचौ, मैयल पतळचो मेह। दळ नै ठाढ़क देह, जीवन लाभै जेठवा।

कोराणौ, कोराबौ-क्रि०स०—१ चित्रकारी कराना. २ नक्काशी कराना।

कोरायोड़ो-भू०का०कृ०—चित्रकारी या नक्काशी कराया हुआ। (स्त्री० कोरायोडी)

कोरावणौ, कोराववौ-क्रि०स०—देखो 'कोराणौ' (रू.भे.)

कोरावियोड़ो-भू०का०कृ०—देखो 'कोरायोड़ो' (स्त्री० कोरावियोड़ी)

कोरियोड़ो-भू०का०कृ०—चित्रकारी या नक्काशी किया हुआ। (स्त्री० कोरियोड़ी)

कोरीजणौ, कोरीजबौ-क्रि० कर्म वा०—चित्रकारी या नक्काशी किया जाना।

कोरो-वि० (स्त्री० कोरी) १ जो बरता न गया हो, जिसका व्यवहार न हुआ हो। उ०—मिस्री काळपी गंगा पार री मंगाय कोरा घड़ां में भिजोयजै छै।—रा.सा.सं. २ नया, अछूता।

यौ०—कोरो-काचो।

मुहा०—कोरो जवाब—सूखा उत्तर।

३ जिससे जल स्पर्श न हुआ हो।

कहा०—कोरो रियो रे सींदड़ा सदा सोर के संग—तेल भरने के वर्तन को संबोधन कर के कहा गया है कि तुझ में बारूद भरने से तू कोरा का कोरा रह गया, अर्थात् तैंने सूखी वस्तु के साथ रहने से कोई लाभ नहीं उठाया।

४ जिस पर कुछ लिखा वा चित्रित न किया गया हो। ५ सादा, साफ, खाली।

कहा०—कोरै आभै बीजळी पड़णी—असंभाव्य या अनहोनी बात पर। ६ रहित, वंचित. ७ दोष से रहित, बेदाग, निष्कलंक। ८ शुष्क, रूखा, रूखे स्वभाव का।

यौ०—कोरो-मोरो।

९ उदासीन. १० अनपढ़, अशिक्षित, मूर्ख. ११ वह बच्चा जिस पर बच्चों के संक्रामक रोगों (शीतला, कुक्कुरखांसी आदि) का प्रभाव न पड़ा हो।

कोरो-गोफियो—एक प्रकार का शस्त्र विशेष।

कोरो-मोरो-वि०—बिलकुल कोरा।

कोलंबक-सं०पु० [सं० कोलम्बक] वीणा का तूंबा और डंडा (डि.को.)

कोल-सं०पु० [सं०] १ सूअर, वराह (अ मा.) २ वराहावतार।

उ०—कंपै कोल तुंडा कासवांणी छायो वाय कुंडा।

—हुकमीचंद खिड़ियो

३ पुरु वंशी आक्रीड़ नामक राजा के पुत्र का नाम. ४ एक प्रदेश का प्राचीन नाम. ५ देखो 'कौल' (रू.भे.)

सं०स्त्री०—६ काली मिर्च (अ मा) ७ सेम की तरह की एक लता जिससे सेम सी ही पत्तियां, फूल और फलियां लगती हैं, कौंच (अ.मा) ८ छोटी नाव (डि.को.) ९ एक जंगली जाति।

कोलक-सं०पु० [सं०] १ अखरोट का पेड़. २ कालीमिर्च।

(डि.को., अ.मा.)

[रा०] ३ एक प्रकार का छोटा लंबा औजार जिसकी सतह पर दाने होते हैं, इससे रेती और आरी तेज की जाती है

५ देखो 'कौल'।

कोळखेम-सं०स्त्री० [सं० कुशलक्षेम] कुशल-क्षेम, आनंद-मंगल।

कोळगिरी-सं०पु० [सं० कोलगिरि] दक्षिण भारत का कोलाचल नामक पर्वत, इसे आजकल कोलमलय कहते हैं।

कोळजोळियौ—देखो 'खोळजोळियो' (रू.भे.)

कोलणौ, कोलबौ-क्रि०स०—खोदना, गहरा करना। उ०—ओदी उघरै मिनख खोदवै ख्यारां भारी कोलै कंवळी रेत खांण री सुरंगां सारी।

—दसदेव

कोलमुखी-सं०स्त्री०—सूअर के समान मुख वाली तोप। उ०—मातंग भुजंग नाहर मगर, कोलमुखी बाहर कढ़ी।—मे.म.

कोळांण-सं०स्त्री०—एक प्रकार का छोटा वृक्ष जिसके फूल गुलाबी रंग के होते हैं। इसकी लकड़ी मजबूत होती है।

कोळांमण-सं०स्त्री०—भूरे रंग के बादल जो प्रायः वर्षा ऋतु में होते हैं। उस समय प्रायः ठंडी-ठंडी हवा चलती रहती है।

कोलात, कोलायत-सं०पु० [सं० कपिलपद] कपिल मुनि के आश्रम का स्थान जो बीकानेर के पास कोलायत नाम से प्रसिद्ध है।

कोळायत-सं०स्त्री०—कुशलक्षेम।

कोलाल, कोलालक-सं०पु० [सं० कुलाल] १ कुम्भकार, कुम्हार. २ ब्रह्मा।

उ०—त्रिविध संसार उपाविया कोलालक भंडा।—केसोदास गाडण

कोलाळी-सं०पु० [सं० कुलाल] १ ब्रह्मा (ह.नां.) २ उल्लू.

सर्व०—कोई। उ०—तांम सूझै न को, ठांम धवळह तरणा। घरणा अन राइयां, रुख राखै घरणा।—हा.झा.

अव्यय—संबंधसूचक अव्यय—का। उ०—आठम प्रहर संझा समै, धरण ठव्वै सिरणगार। पांन कजळ पाखर करै, फूलां को गळिहार।
—ढो.मा.

कोड़ि—वि० [सं० कोटि] करोड़। उ०—सुरणत सुरणत सुखि सुखि असुखि, कथत कथत गये कोड़ि।—ह.पु.वा.

कोड़ियाळो—वि० (स्त्री० कोड़ियाळी) कोड़ी के रंग का, कर्पदिका से जड़ा हुआ।

सं०पु०—१ कोकई रंग. २ एक विषैला सर्प।

कोड़ियो, कोड़ीयो—सं०पु०—खंजरीट नामक एक प्रकार का पक्षी।

उ०—इसा जु खंजरीट कहतां कोड़ीया, सोई गतिकार हुआ।
—वेलि.

कोच—सं०पु० [सं० कवच] कवच, जिरह-बख्तर। उ०—हूं हेली अच-रज कहूं, घर में बाथ समाय। हाको सुरणतां हूलसै, मरणो कोच न माय।—वी.स.

कोचुमार—सं०स्त्री० [सं०] कुरूप को सुन्दर बनाने की विद्या, चौसठ कलाओं के अन्तर्गत एक कला।

कोडी—सं०स्त्री० [सं० कर्पदिका] १ घोघे जैसा अस्थिकोश में रहने वाला समुद्री कीड़ा. २ इस कीड़े का अस्थिकोश जो सबसे कम मूल्य के सिक्के की भांति उपयोग में लिया जाता था।

मुहा०—१ कोडी कांम री नहीं होणी—बेकार, कुछ भी काम का नहीं. २ कोडी-कोडी चुकाणी—कर्ज का पैसा-पैसा चुका देना. ३ कोडी नी पूछणी—एकदम बेकार समझना; मुफ्त में भी न लेना. ४ कोडी-कोडी नै तरसणी—पास में रुपया-पैसा बिल्कुल न होना. ५ कोडी-कोडी लेणी—पूरा लेना; हिसाब में कोड़ी-कोड़ी तक ले लेना. ६ कोडी री—बेकार; बेइज्जत; गिरा हुआ. ७ कोडी री करणी—बरबाद कर देना; इज्जत बिगाड़ डालना. ८ कोडी री तीन होणी—कुछ कदर न होना; बहुत सस्ता होना।

कहा०—१ कोडी-कोडी करयां लंक लागै—थोड़ा-थोड़ा करके ही अधिक होता है. २ कोडी-कोडी नै कंजूस, रुपया री दातार—कोड़ी-कोड़ी के लिये कंजूस, पर रुपयों को उड़ाने वाला. ३ कोडी-कोडी संचता रुपियो हुवै—थोड़ा-थोड़ा करने से बहुत हो जाता है. ४ कोडी साटै हाथी जावै—कम मूल्य की वस्तु के बदले अधिक मूल्य की वस्तु का आदान-प्रदान।

३ आंख का डेला. ४ वक्षस्थल के नीचे बीचोबीच का वह भाग जहां पसलियों की हड्डियां मिलती हैं।

कोण—सर्व०—देखो 'कौन'। उ०—देखै भीखम द्रोण, जेठ करण देखै जठै। को' हर बरजै कोण, लाज रुखाळा लाज नै।
—रांमनाथ कवियो

कोणे—किसने। उ०—प्रीतम कूं पतियां लिखूं, बिसुर-बिसूर। ये तुमको कोणे कही, या पर डारते धूर।—अज्ञात

कौतग—देखो 'कोतक' (रू.भे.)

कौतल—देखो 'कोतल' (रू.भे.) उ०—पदि झुलति कौतल पाय, जिण निरख नट नमि जाय।—रा.रू.

कौतिक, कौतिग कौतुक—देखो 'कोतक' (रू.भे.) उ०—१ तद अरक रथ थरक कौतिक, उदधि रण अथाह।—सू.प्र. उ०—२ व्रज मांही कौतिग भया, हरिजन खेलै फाग।—ह.पु.वा.

कौतूहळ—सं०पु० [सं० कौतूहल] १ कुतूहल, उत्सुकता. २ डिंगल के वेलिया सांणोर छंद का एक भेद जिसके प्रथम द्वाले में २२ लघु २१ गुरु कुल ६४ मात्रायें होती हैं (पिं.प्र.)

कौन—सर्व० [सं० किम्] व्यक्ति या वस्तु की जिज्ञासासूचक प्रश्नवाचक सर्वनाम।

कौनस—सं०पु०—बढ़ई का एक औजार।

कौफ—सं०पु० [फा० खौफ] आतंक, भय।

कौफरी—वि०—काफिर की, काफिर संबंधी। उ०—फरमांण कमरबुत कौफरी, रकम जवाहिर ऊंच रिध।—रा.रू.

कौम—सं०स्त्री० [अ० कौम] जाति, वर्ण।

कौमार—सं०पु० (स्त्री० कौमारी) देखो 'कुमार'। उ०—अजै नृपत उण वार, नूर कौमार परक्खे। एम धकै दशरत्थ, जेम स्रीराम निरक्खे।—रा.रू.

कौमारी—सं०स्त्री० [सं०] चौसठ योगिनियों में से छप्पनवीं योगिनी।

कौमियत—सं०स्त्री० [अ०] जातीयता, कौम का भाव।

क्रि०वि०—कौम के संबंध में।

कौमी—वि०—जातीय, कौम संबंधी।

कौरवदळण—सं०पु०—भीम (ह.नां.)

कौल—सं०पु०—१ वायदा, प्रण, वचन, कथन। उ०—१ किण वास्ते थारा जवांनी रा दिन छै, समय कांम रै जोर रो नै कळंक लागण रो छै। तूं कौल देय सो थारै आछा घरांणे री बेटी लाऊं।—नी.प्र.

उ०—२ जे कुंवरजी सावण री तीज रो कौल कर आया छै सो उठै गयो रहसी।—कुंवरसी सांखला री वारता

उ०—३ प्रभू सूं कौल पाळियो तो प्रभू पण तुरत ही किरपा कीवी।
—नी.प्र.

क्रि०प्र०—करणो, देणो, लेणो, होणो।

मुहा०—१ कौल बांधणो—वचन देना, प्रतिज्ञाबद्ध होना. २ कौल रो धणी; कौल रो पक्को; कौल रो पूरो—जो कहे उसे पूरा करने वाला. ३ कौल माथै जमणो—कही हुई बात पर जमा या अड़ा रहना।

यौ०—कौल-करार।

कोळ—१ सूअर। उ०—तुंडां गज फेटां तुरी, डाढ़ां भड़ औछाड़। हेकण कोळै धूंदिया, फौजां पाथर पाड़।—वी.स. २ वराह अव-तार। उ०—जइतसी राउ जंगमां जोळ, कांपियउ सेस कूरम्म कोळ।
—रा.ज.सी.

कोसीद–सं०पु० [सं० कौसीद्यम्] आलस्य, सुस्ती (डिं.को.)।

कोसीस–सं०पु० [सं० कपि-शीर्षक, प्रा० कविसीस, अप० कवसीस, रा० कोसीस] १ किला या गढ़ की दीवार में थोड़ी-थोड़ी दूर पर त्रिकोणाकार स्थान, कंगूरा। उ०—तिण गढ़ मांहि बावड़ी कूआ तळाव जळ वहळ थान घ्रित तेल लूण खड़ ईंधण अमल कपड़ौ घणौ अपार संचौ किओ छै। कोट भुरजां रा कोसीस नै बमळहर धमळगिर पहाड़ ज्यौ बादळां रा किरण सरीखा उजळा सीकोट सो निजरि आवै छै।—रा.सा.सं. २ शिखर। उ०—कोट कोसीसा अंत न पार, देव-नयर छइ रूवड़उ।—बी.दे. ३ कोशिश, यत्न, परिश्रम।

कोसे'क–वि०—एक कोस के लगभग। उ०—पाव कोसे'क गया जद डाढ़ाळी बोलियौ।—डाढ़ाळा सूर री वात

कोसेय–सं०पु० [सं० कौशेय] रेशम। उ०—सिरोरूह कोसेय काळा सरीखा, तियौ आंक भ्रू बांकड़ा नेत तीखा।—मे.म.

कोसौ–सं०पु०—१ कोल्हू में से खली को हटाने का लोह का बड़ा छड़. २ पत्थर हटाने का बड़ा लोह का छड़. ३ बादल का बरसने के बाद का शेष जल। उ०—विरखा काठी राखले, मत नां कोसौ झाड़। पाका पांनां मत करै, ओळां री बौछाड़।—बादळी

कोस्तब–सं०पु० [सं० कौस्तुभ] एक मणि का नाम।

कोह–सं०पु० [फा०] १ पर्वत, पहाड़।

[सं० कोशपान] २ किसी प्रकार के अपराध या दोष के कलंक की मुक्ति के हेतु देव विशेष का नाम लेकर पीया जाने वाला जल।

[सं० क्रोध] ३ क्रोध, गुस्सा। उ०—विमोह मोह-मोह में, विद्रोह द्रोहिपे वढ़ै। कृतांत भांत कोह में, कु कोह कोहिकौ कढ़ै।—ऊ.का.

सं०स्त्री० [रा०] ४ धूलि, रज। उ०—रांण दिस हालिया ठांण आरांण रुख, कोह असमांण चढ़ भांण-ढंका।—र.रू.

[सं० कुहू] देखो 'कुह' (३. ४) (रू.भे.)

कोहक–सं०स्त्री०—मोर की तेज आवाज।

उ०—भर फूल फळित-अढ़ार भार, जुय करत भ्रमर भणहण गुंजार। मिळि करत तंब्र छत्र कोहक मोर, सुक चात्रिग कोकिल करत सोर।—सू.प्र.

कोहकाफ–सं०पु० [फा० कोह+अ० काफ़] यूरोप और एशिया के मध्य का पहाड़।

कोहनूर–सं०पु० [फा० कोहे+अ० नूर] १ एक प्रसिद्ध हीरा जो आकार में साधारण हीरों से काफी बड़ा है। कहते हैं कि यह राजा कर्ण के पास था और पीछे मालवे के राजा वीर विक्रमादित्य के पास था। तत्पश्चात् इस हीरे को गोलकुंडा के बादशाह को सोलहवीं शताब्दी के प्रारंभ में ग्वालियर के राजा ने दिया। करनाल के युद्ध के पश्चात् सन् १७३९ में यह नादिरशाह के हाथ लगा और उसी के वंशज शाह सुजा से महाराजा रणजीतसिंहजी ने इस ही को प्राप्त किया। आखिर में ब्रिटिश साम्राज्य में यह हीरा अंग्रेजों के हाथ लगा और दूसरे ही वर्ष सन् १८५० में इंगलेंड की महारानी विक्टोरिया को अर्पित हुआ और आज भी यह अंग्रेजों के राजकोश में सुरक्षित है। प्रारम्भ में इस हीरे को संसार का सबसे बड़ा हीरा समझा जाता था और इसका वजन ३१९ रत्ती था किन्तु अब दुबारा जांच करने पर इसका वजन केवल १०२$\frac{3}{4}$ रत्ती ही रह गया है. २ मुसलमानों का एक तीर्थ-स्थान (बां.दा.ख्यात)

कोहमंड–सं०पु० [सं० कोदंड] धनुष।

कोहमा–सं०स्त्री०—रजकण, धूलि। उ०—कोहमा चढंका भांण, उडै रैण ग्रीध कंका। असंका आरांण बीच, छंडै जीव आस।

—हुकमीचंद खिड़ियौ

कोहर–सं०पु० [सं० अकूपार] कूप, कुआ (क्षेत्रीय) उ०—सो 'नापौ' कोहर ऊपर खड़ौ छै। कोहर तेवायौ सो वारा आठ नौ नीसरिया। दसमौ वारौ खांचतां नाकौ खुस गयौ।—नापा सांखला री वारता

कोहा–सर्व०—कौन। नागहारी मोहा संच्चै वैताळ समोहा नच्चै महाकाळ होहा तच्चै कोहा मच्चै मीच।—हुकमीचंद खिड़ियौ

कोहिक–सर्व०—कोई। उ०—आ खबर मांनसिंघ दूदावत नुं सीरोही था कोहिक आयौ हुतौ तिण कही हुंती।—नैणसी

कोहिर—देखो 'कोहर' (रू.भे.) उ०—पड़पण कोहिर पर कोहिर पड़ जावै।— ऊ.का.

कोहीरौ–वि० [सं० क्रोधीला या कोधी, प्रा० कोही] १ तुच्छ विचार या सिद्धांत वाला २ मन ही मन कुढ़ने वाला तथा बुरा चाहने वाला।

कोहेलुबानांन–सं०पु०—मुसलमानों का एक तीर्थ-स्थान (बां.दा.ख्यात)

कौंअर—देखो 'कुंअर' (रू.भे.) उ०—कौंअर भोज करंन, किआवरी पूर तपी परिपाळणौ। –ल.पिं.

कौंकुम–सं०पु० [सं०] तीन पूंछ वा चोटी वाले लाल रंग के पुच्छल तारे। बृहत् संहिता के अनुसार इनकी संख्या ६० मानी जाती है।

कौंच, कौंछ कौंछि–सं०स्त्री० [सं० कच्छु] एक प्रकार की लता विशेष, कौंच (अमरत)

कौंण–सर्व०—कौन। उ०—स्वामीजी! मन कै कौंण राह, कौण चाल कौण मूळ कौंण डाळ।—ह पु वा.

कौंतयस–स०पु० [सं० कौंतेय] कुंती पुत्र युधिष्ठिरादि (ह.नां.)

कौंपळ–सं०पु०—१ कोंपल। उ०—रहै उमा भुज वीटियौ, नव कौंपळ रै रंग। आदर पावै कंठ उण, सूर तणौ उतमंग।—बां.दा.

कौंभ–सं०पु० [सं०] सौ वर्ष का पुराना घी (वैद्यक)

कौंसलर–सं०पु० [अं०] परामर्शदाता, सलाह देने वाला।

कौंसिल–सं०स्त्री० [अं०] १ कुछ लोगों की वह बैठक जो किसी विषय पर विचार करने के लिए की गई हो. २ शासक को परामर्श देने के लिए बनाई गई कुछ लोगों की सभा।

कौ–सं०पु०—१ वृषभ. २ नर. ३ कामदेव. ४ यम. ५ यत्न. ६ कार्य (एका०)

वि०—धृष्ट।

कहा०—क्यारा मु क्यारौ पी गयौ—साथ रहने वाले सब बुरे व्यक्तियों के लिए।

३ नमक जमाने के लिए स्थान का छोटा विभाग।

क्यावर—सं०पु०—१ कार्य, काम, बडा उत्तम कार्य। उ०—मिटै दांन मुनमांन उरड़ रीझां आडंवर, मिटै लाड मांगणां करम वरम सत क्यावर।—पहाड़खां आढ़ौ २ दान (डि.को.) उ०—१ पाछै तूंवर परणिया, स्री दूलह अभसाह। तनया जोरावर तणी, क्यावर गग प्रवाह।—रा.रू. उ०—२ प्रांण गांठ जेते पुखत, इण तन मांझल एह। क्यावर ते ते नांम कर, दांम गांठ मत देह।—वां.दा.

३ अहसान. ४ उदारता, यश, गौरव। उ०—दत्त क्यावर दौढ़ा सदा, प्रथमी पर परमार। आ गादी अमरांण री, सावत रखै सुप्यार। —पा.प्र.

क्यावरि, क्यावरी, क्यावरौ—देखो 'क्यावर'। उ०—पह समराथ हाथ जग ऊपरि, क्यावरि करण करम रौ कोट।—ल.पि.

वि०—१ अहसान करने वाला, अहसान रखने वाला.

२ यशस्वी. ३ दातार।

क्यु क्यु—सर्व०—कोई। उ०—हुं किसी भांति वोलूं, वात कहीस तौ हुंकारौ देतौ तौ सारीखौ वीजौ क्युं नहीं।—चौबोली

क्रि०वि०—क्यों।

क्युंइक, क्युंही—वि०—कुछ। उ०—रांणौ कुंभौ क्युं हीरौ क्युंही वोलै तद कुंभलमेर रहता सु गढ़ ऊपर ठौड मामा कुंडळ छै।—नैणसी

क्यूं—वि०—कुछ। उ०—१ असल रौ मजौ क्यूं और है, निकमूं आणंद नकल रौ।—ऊ.का. उ०—२ दूजे दिन वखतसिंहजी रौ सरीर क्यूं वेचैन हुवौ।—मारवाड़ रा अमरावां री वारता

क्रि०वि०—क्यों। उ०—नर नारी सूं क्यूं जळइ, नर सूं नारि जळंत।—ढो.मा. २ किसी व्यापार या घटना के कारण की जिज्ञासा करने का शब्द. ३ कैसे, किस कारण। उ०—जन मीठा वोला जिके क्यूं जग वस न करंत।—वां दा.

कहा०—१ क्यूं आंधौ नूंतै'र क्यूं दो जिमावणा—ऐसा कार्य क्यों करना जिसमें हानि उठानी पड़े २ क्यूं रांड कह अर निपूती सुणणी—जैसा कहोगे वैसा सुनोगे।

क्यूंई, क्यूंईएक, क्यूंक—वि०—कुछ। उ०—१ रिसीस्वर चालण रौ विचार कीयौ, तरै क्यूंई वापा नै देण रौ विचार कीयौ।—नैणसी उ०—२ उमर पिण जिके ब्रह्मा री पावै, तद क्यूंक कहणी में आवै।—र.रू.

क्रि०वि०—कैसे, किस प्रकार। उ०—१ ऊभां सीहां केम इक, कर लेणौ मुमकल्ल। पांण छतै क्यूंकर पड़ै, ऊभां सीहां खल्ल। —वां.दा.

उ०—२ चाहौ छौ पण जाळोर एक घड़ी मांही लेयस्यूं। राखसे क्यूंकर।—मारवाड़ रा अमरावां री वारता

क्यूंकि, क्यूंकै—क्रि०वि०—क्योंकि। उ०—हे सरस्वती म्है म्हारा हृदय में मन री जांणी उक्ती लायौ हूं क्यूंकि वीर पुरसां री कीरती गाय नै प्रगट करणा सारू।—वी.स.टी.

क्यूंही, क्यूंहीएक, क्यूंहीक, क्यूंहेक—वि०—कुछ, कुछ भी।

उ०—१ तद केसरीसिंह नकीव नूं तौ क्यूंही कही नहीं अर परभात नूं वकसी सलावत खां कन्है गयौ।—अमरसिंह री वात

उ०—२ कितरोइक ऊपर गहणौ, क्यूंहीक रोकड़ दियौ, तद वांमण डावड़ा नूं ले घर गयौ।—नैणसी

क्रि०वि०—कैसे भी।

क्योंकर, क्योंकरि—क्रि०वि०—कैसे, किस प्रकार, किस कारण।

उ०—१ कुंवर फुरमायौ आज क्योंकर मिळीजसी, महाराजा तौ वंधुगढ़ विराजिया।—पलक दरियाव री वात

उ०—२ नी पत्र दियौ इण वारी, क्योंकर स्यांम म्हांने विसारी। —लो.गी.

क्योंहिक, क्योंही—देखो 'क्यूंही' (रू.भे.) उ०—१ उणरै ढिग कोई रहै आदमी, तौ क्योंहिक कसर कुमाई मैं।—ऊ.का.

उ०—२ जै साहूकार नै आदमी आयां री खवर हुई तौ कहीं परदेस मेल देसी; पछै क्योंही वटसी नहीं।

—पलक दरियाव री वात

क्यौं—देखो 'क्यूं' (रू.भे.)

क्रंगवा—सं०स्त्री०—पँवार या पँवार वंश की एक शाखा।

क्रंभी—सं०स्त्री०—क्रौंच पक्षी (रू भे. क्रुंभी')

क्रंत—देखो 'कांति'। उ०—१ कंचण जवहर क्रंत विविध सिंगार वडाई।—वां.दा. उ०—२ कंचण खंभ मंडित कीन वरणण छवि कारां। झळहळ क्रंत पूर झळूस मुगता झालरा।—वां.दा.

क्रंदन—सं०पु० [सं०] १ रोना, विलाप। उ०—क्रंदन की कूक मूक नभ कौ विलोड़ रही अंधकार भासे हा! संसार उन विन है।

२ युद्ध-समय वीरों का आव्हान। —केसरीसिंह वारहठ

क्रंन—सं०पु० [सं० कर्ण) राजा कर्ण। उ०—रांमण नह सोनौ दियौ, लहि सोना री लंक। क्रंन दत सोनौ कापियौ, विणही लंका वंक।

—वां.दा.

क्रंम—सं०पु०—कार्य, कृत्य। उ०—दहियौ कांम कियौ क्रंम दारण।

—अं.पु.

क्रकच—सं०पु० [सं०] १ ज्योतिष में एक अशुभ योग जबकि वार और तिथि की संख्या का जोड़ १३ होता है. २ करील का वृक्ष.

[सं०] ३ आरा, करवत (डि.को.) उ०—करवाळ रूप क्रकचां मैं अंग रा फाचरा उडाइ सेलां रा सालां करि पाछौ जुड़ाई खेत पड़ियौ।

४ एक नरक। —वं.भा.

क्रकचच्छद—सं०पु०—केवड़ा, केतकी (डि.को.)

क्रकवाकू—सं०पु० [सं० कुकुवाकुः] मुर्गा (डि.को.)

क्रख—सं०स्त्री० [सं० कृषि] खेती, कृषि। उ०—सूकत क्रख जळहर सवद, लगां अगन रंग लाल।—पा.प्र.

३ बड़ा चूहा। उ०—किरड़ा कर रिमझोळ डोळ डाळ्यां रंग घालै, ऊंदरियां री ओळ कौळ बिल जड़ां टंटोळै।—दसदेव ४ विलाप, रुदन, अश्रुपात। उ०—ढोलौ चाल्यौ हे सखी, आंवा केरी झोळ। हिउ हेमजळ होइ रह्यौ, नयणे मंडी कौळ।—ढो.मा. ५ उत्तम कुल में उत्पन्न. ६ वाममार्गी।

वि०—१ काला, श्याम (डि.को.) २ पैतृक [सं० कौल] ३ अच्छे कुल में उत्पन्न, कुलीन।

कौलका—सं०स्त्री० [सं० कोलक] काली मिर्च (अ.मा.)

कौळखेम—सं०स्त्री०यौ० [सं० कुशल क्षेम] आनन्द, कुशलता, प्रसन्नता, राजीखुशी।

कौलनामौ—सं०पु०यौ०—इकरारनामा। उ०—जोर दीधौ फिरंगी लिखायौ कौलनामौ जठै, आप-रंगी चूंडा तें मेवाड़ राखी ओट।
—राघौदास सांदू

कौलयक—सं०पु० [सं० कौलेयक] कुत्ता (अ मा.)

कौलव—सं०पु० [सं०] ज्योतिष के अंतर्गत ग्यारह करणों में से तीसरा करण। इस करण में जन्म लेने वाला विद्वान और गुणी होता है। इसके देवता मित्र हैं।

कौला—सं०स्त्री० [सं० कोला] पिप्पली (अ.मा.)

कौसक—सं०पु० [सं० कौशिक] इंद्र (ना.डि.को)

कौसक-वाहण सं०पु० [सं० कौशिक+वाहन] १ हाथी (ना.डि.को.) २ ऐरावत।

कौसकी—सं०स्त्री० [सं० कौशिका] एक नदी का नाम। उ०—विसवामित्र विहम वड़ नदी कौसकी नांम।—रांमरासौ

कौसतव—सं०पु० [सं० कौस्तुभ] कौस्तुभ मणि।

कौसया—सं०स्त्री०—कुश की शय्या।

कौसलि, कौसल्या—सं०स्त्री० [सं० कौशल्या] राजा दशरथ की ज्येष्ठ रानी, कौशल्या (रांमकथा)

कौसांबी—सं०स्त्री० [सं० कौशांबी] एक बहुत प्राचीन नगर (ऐतिहासिक)

कौसिक—सं०पु० [सं० कौशिक] १ विश्वामित्र। उ०—कौसिक रिख जग काज रै, जाचिया स्री रघुराज रै।—र.ज.प्र. २ इन्द्र (ह.नां.)

कौसिकी—सं०स्त्री० [सं० कौशिक] १ एक रागिनी (संगीत) २ काव्य में एक वृत्ति—जहां करुणा, हास्य और शृंगार रस का वर्णन हो और सरल वर्ण आवे उसे कौशिकी वृत्ति कहते हैं (बां.दा.) [सं० कौषिकी] ३ एक देवी जिनकी उत्पत्ति काली के शरीर से उत्पन्न हुई थी. ४ चौसठ योगिनियों में से त्रेपनवीं योगिनी।

कौसिलिया—देखो 'कौसल्या' (रू.भे.)

कौसीतकी—सं०स्त्री० [सं० कौषीतकी] १ अगस्त्य की एक स्त्री का नाम. २ ऋग्वेद की एक शाखा।

कौसेय—वि० [सं० कौशेय] रेशम का, रेशमी।

कौसैया—वि०—देखो 'कौसेय'।

सं०पु० [सं० कु+शय्या] बुरी शय्या। उ०—लगे ना कौसैया मलिन सुभ सैया मन लगै। पटीरा पारादी नहिन चित चीरादिक पगै।
—ऊ.का.

कौस्तुभ—सं०पु० [सं०] १ समुद्र-मंथन के समय प्राप्त एक मणि जिसे भगवान विष्णु अपने वक्षस्थल पर धारण करते हैं. २ तंत्र के अनुसार एक प्रकार की मुद्रा।

क्यउ, क्यऊं—क्रि०वि०—१ क्यों. २ कैसे, किस प्रकार। उ०—चोर मन आळस करि रहइ, जाचक रहइ लुभाइ। राज्यंद जे नर क्यऊं रहइ, माल पराया खाइ।—ढो.मा.

क्यव—सं०पु० [सं० कवि] देखो 'कवि' (रू.भे.)

क्यवराज—देखो 'कविराज' (रू.भे., डि.को.)

क्यां—क्रि०वि०—१ कैसे, किस प्रकार। उ०—एम सुजायत खांन नूं, लिखियौ अवरंग साह. झूठ सफी खां झालिया, सो क्यां हुवै निवाह। २ क्यों। —रा.रू.

सर्व०—१ एक प्रश्नवाचक शब्द जो उपस्थित या अभिप्रेत वस्तु की जिज्ञासा करता है।

कहा०—१ क्या करै नर बांकड़ा, जद थैली का मुंह सांकड़ा—पैसे न हों तो मनुष्य क्या करे. २ क्यांरी कुपाळी है—बकवादी के प्रति। २ किस. ३ कौन।

क्यांमखांनी—देखो 'कैमखांनी' (रू.भे.)

क्यांमळकुळ—देखो 'कैमखांनी'। उ०—क्यांमळकुळ घूंकळ कियौ, किण पै निजरि करूर। आज फतैपुर ऊपरां, जैपुर किसी जरूर।—शि वं.

क्यांर—क्रि०वि०—कैसे। उ०—क्यांर बणावां बउ री जी पाळ, क्यांर सिंचावां हरियै रूंख नै।—लो.गी.
वि०—कैसा।

क्यांहरी—क्रि०वि०—१ कैसी. २ किस बात की। उ०—आर पहिलां मांहीज घोड़ी आंणी म्हां पहिल की थांनु वडाई क्यांह री।—चौबोली

क्यांहि—सर्व०—किस। उ०—कह्यौ ना जी यूं नहीं चार हेंसां करिस्यां, कह्यौ जी च्यारि क्यांहि रा।—चौबोली

क्यांहीक—वि०—कुद्ध (अमरत)

क्या—देखो 'क्यां'।

क्याड़ी—देखो 'किमाड़ी' (रू.भे.) उ०—कसी क्वाड़ गंडासी कसिया डांडा दाती दांतियां, ग्याता क्याड़ी गाड पंजाळी सेव खुब पड़ै खातियां।—दसदेव

क्यावर—देखो 'क्यावर' (रू.भे.)

क्यावरौ—वि०—देखो 'क्यावरौ' (रू.भे.)

क्यारा—सर्व०—किसके। उ०—क्यारा कागद होसी वे कांम मांमै फोड़ा क्यूं।—ढो.मा.

क्यारौ—सं०पु० [सं० केदार] (स्त्री० क्यारी) १ बगीचों में थोड़े-थोड़े अंतर पर पतली मेंढ़ों के बीच की भूमि जिसमें पौधे लगाए जाते हैं। उ०—तिण दिन तीजणियां निरखी तन त्यारी, कंचन बेली सी केसर री क्यारी।—ऊ.का. २ सिंचाई के लिए खेत में बनाए गए विभाग।

क्रतिका-सं०स्त्री० [सं० कृतिका] सत्ताइस नक्षत्रों के अंतर्गत तीसरा नक्षत्र।

क्रतिकासुत-सं०पु० [सं० कृत्तिका सुत] कृतिका नक्षत्र से उत्पन्न होने वाले शिव के ज्येष्ठ आत्मज जिन्हें चंद्र-पत्नी कृत्तिका ने अपने पय से पाला था। ये देवताओं के सेनापति थे। षड़ानन। (ह.नां., डि.को.)

क्रती-वि० [सं० कृती] १ पंडित. २ कवि (ह.नां., अ.मा.)

क्रतु-सं०पु० [सं०] १ निश्चय, संकल्प. २ इच्छा, अभिलाषा. ३ विवेक, प्रज्ञा. ४ इंद्रिय जीव. ५ विष्णु. ६ आषाढ़. ७ पुण्य, धर्म. ८ ब्रह्मा के एक मानस पुत्र जो सप्त ऋषियों में से हैं. ९ सतयुग जो १७२८००० वर्ष का होता है. [सं० क्रतुः] १० यज्ञ (डि को.)

क्रतुध्वंसी-सं०पु०यौ० [सं०] दक्ष प्रजापति का यज्ञ नष्ट करने वाले, शिव।

क्रतुपसु-सं०पु० [सं० क्रतुपशु] घोड़ा, अश्व।

क्रतुभखण-सं०पु०—देवता, सुर (डि.को.)

क्रतू-सं०पु० [सं० कृतम्] १ सतयुग। उ०—अगहन मास क्रतू ग्यौ आखौ, पौ त्रेता जुग वीतौ पाखौ। द्वापुर माघ महीनौ दाखौ, रसा सिवायौ आ चित राखौ।—ऊ का. [सं० क्रतु] २ होम, यज्ञ, हवन (डि.को.) ३ देखो 'क्रतु' (रू.भे.) उ०—नरेंद्र के सुरेंद्र के धरा धरेंद्र के ध्रतू, अकारनीक आप नांहि कारनीक ही क्रतू। —ऊ.का.

क्रतिकांजि-सं०पु० [सं०] वह शकटाकार तिलक जो अश्वमेघ यज्ञ में घोड़े के लगाया जाता था।

क्रत्तिका-सं०स्त्री० [सं० कृत्तिका] देखो 'क्रतिका' (रू.भे.)

क्रत्य-सं०स्त्री०—देखो 'क्रतिका' (रू.भे.) उ०—क्रत्यां री भूंबखी पून्य रै चंद सो मुख, थाकौ हुंस असील वंस।—रा.सा.सं.

क्रत्या-सं०स्त्री० [सं० कृत्या] एक देवी विशेष जो मारण कर्म के लिए विशेष रूप से पूजी जाती है. २ एक राक्षसी जिसे तांत्रिक लोग अपने अनुष्ठान द्वारा उत्पन्न किसी शत्रु के नाश या संहार करने के लिए भेजते हैं. ३ अभिचार. ४ दुष्ट व कर्कशा स्त्री।

क्रत्रिम-मणि-कर्म-सं०पु०—पुरुषों की बहत्तर कलाओं के अंतर्गत एक कला।

क्रन-सं०पु०—१ कर्त्ता, करने वाला. [सं० कर्ण] २ कुन्ती-पुत्र कर्ण। उ०—महाभारत रै विखै क्रन कहीजै, किना लंकापति कुंभेण कहीजै।—वचनिका ३ कान. ४ समकोण त्रिभुज में समकोण के सामने की भुजा (रेखागणित)

क्रनतात-सं०पु० [सं० कर्णतात] सूर्य (नां.मा.)

क्रनाळ-सं०स्त्री०—बंदूक। उ०—काळियां तणी वाजी क्रनाळ, तद चढ़ी सेन नह लगी ढाळ।—पे.रू.

क्रन्न—देखो 'क्रन' (रू.भे.) उ०—पगां नित पूजै पांडव पंच, सेवै पग क्रन्न देखै सुख संच।—ह.र.

क्रन्ना-सं०स्त्री० [सं० कृष्णा] यमुना नदी। उ०—क्रना तट गोपी-किसन सरद निसा राकेस।—ह.नां.

क्रप-वि० [सं० कृप] दयालु।
सं०पु०—कृपाचार्य्य।

क्रपण-सं०पु० [सं० कृपण] १ कंजूस, सूम। उ०—क्रपणां जस भावै कठै, गुरु विमुखां नूं ग्यांन। असुरां दया न ऊपजै, चंचळ चित्तां ध्यांन।—वां.दा. २ कायर, डरपोक। उ०—अठी सतारौ आवगौ, दुभ्रल अठी भड़ दोय। मंडियौ समहर मेड़तै, क्रपण न रहियौ कोय। ३ क्षुद्र, नीच। —महेसदास कूंपावत रौ गीत

क्रपणता-सं०स्त्री० [सं० कृपणता] कंजूसी।

क्रपणासय-सं०पु० [सं० कृपणाशय] कंजूसी। उ०—दुरभिख निकटासण किणनै नह दीधौ, नकटै नकटापण क्रपणासय कीधौ।—ऊ.का.

क्रपन-वि०—देखो 'क्रपण' (रू.भे.)

क्रपया-क्रि०वि० [सं० कृपया] कृपापूर्वक, अनुग्रहपूर्वक। उ०—गो तिमर गच्छ सूझंत स्वच्छ, दरसण दयाळ क्रपया क्रपाळ।—ऊ.का.

क्रपर, क्रपरदोस-सं०पु० [सं० कर्परी और कर्परदोस] शिव महादेव। उ०—क्रपरदोस क्रसांन रेता उरधलिंग उदार।—क.कु.वो.

क्रपांण-सं०पु० [सं० कृपाण] १ तलवार, कटार (ह.नां.) २ दंडक वृत्त का एक भेद।

क्रपांणक-सं०पु० [सं० कृपाणक] तलवार, कटार।

क्रपांणिका-सं०स्त्री [सं० कृपाणिका] छोटी तलवार, कटार।

क्रपांणी-सं०स्त्री० [सं० कृपाणी] १ कटार. २ कैंची (डि.को)

क्रपा-सं०स्त्री० [सं० कृपा] १ विना किसी प्रकार की आशा के अन्य की भलाई या हित करने की इच्छा वा वृत्ति, अनुग्रह, दया। उ०—यूं कही दीनता करी तौ कुबेर क्रपा करि कही। स्राप तौ मिटै नहीं, भोगियां हीज सरसी।—डाढ़ाळा सूर री वात २ क्षमा, माफी।

क्रपाचारय-सं०पु० [सं० कृपाचार्य] गौतम के पौत्र, शरद्वत के पुत्र और द्रोणाचार्य के साले एक ऋषि।

क्रपानिधांन-सं०पु० [सं० कृपानिधान] १ कृपा करने वाला. २ ईश्वर। उ०—मनीसि गोन मांन है न होनहार हांन की। जहां न कोन जांन क्रपा क्रपानिधांन की।—ऊ.का.

क्रपानिधि-सं०पु० [सं० कृपानिधि] १ दयालु, मेहरवान. २ देखो 'क्रपानिधांन'।

क्रपापात्र-सं०पु० [सं० कृपापात्र] वह व्यक्ति जिस पर कृपा हो, कृपा का अधिकारी। उ०—खवास पासवांन क्रपापात्र भ्रत्य रास्ट्र भर, सुघर सुचाळ सभ्य सबकौ सुहायौ तूं।—ऊ.का.

क्रपारांम-सं०पु० [सं० कृपाराम] खिड़िया गोत्र के प्रसिद्ध चारण कवि जिन्होंने अपने सेवक राजिये को संबोधित कर दोहे लिखे हैं। इनके लिखे 'राजिये के सोरठे' प्रसिद्ध हैं।

क्रपाळ-वि० [सं० कृपालु] दयालु, कृपालु, कृपा करने वाला।

क्रग-सं०स्त्री० [सं० करग] १ तलवार, खड्ग (डिं.को.)
२ हाथ, हस्त (रू.भे. 'करग')

क्रगलियू-सं०पु०—कवच। उ०—किय टोप रंगावळ क्रगलयू, सज हाथळ सींह सरवकथि यूं।—पा.प्र.

क्रगल्ल-सं०पु०—कवच। उ०—कसै हाथळां टोप मोजा क्रगल्लं, जमद्दाढ़ वांमै जिकै खाग ढल्लं।—वचनिका

क्रग्ग-सं०पु० [सं० कराग्र] १ हाथ। उ०—कूंपावत कान्ह अजांन क्रग्ग, सुल एम मांम नृप छळ सुमग्ग।—रा.रू.
[सं० करग] २ तलवार। उ०—सुज सिंघ सही सुज सिंघ सत, एह न आरख आवरां। काय वात न मांनै पर किणी, क्रग्ग दीघ जळती करां।—मालो आसियो

क्रण-सं०पु० [सं० कर्ण] दानवीर कर्ण जो कुन्ती के कुमारावस्था में ही गर्भ से उत्पन्न हुए थे (रू.भे.)

क्रतंत-सं०पु० [सं० कृतांत] १ अंत या समाप्त करने वाला. २ यमराज. काल (अ.मा., नां.मा.) ३ पूर्व जन्म कृत शुभाशुभ कर्मफल. ४ मृत्यु. ५ पाप. ६ देवता. ७ शनिवार. ८ भरणी नक्षत्र. ९ दो की संख्या॰

क्रत-सं०पु० [सं० कृत्य] १ कृत्य, कार्य, काम। उ०—१ अरक दिखण मग अयन, मास अगहन गुण मंडत। क्रत मंगळ पख क्रस्न, उदय आणंद अखंडत।—रा.रू.
यौ०—क्रतगुण।
२ शुभ कार्य, अच्छा कार्य। उ०—गरढ़ी गंधारीह, जिणनै पूछौ जाय नै। सो कहसी सारीह, क्रत अक्रत री कैरवां।—रांमनाथ कवियौ
३ कर्त्तव्य. [सं० कृत्र = हिंसायाम्] ४ कपट, छल, धोखा।
उ०—ऐ वक मुनि ऊजळा, मीठा बोला मोर। पूछौ सफरी पनंग नूं, क्रत उघड़ै कठोर।—बां.दा.
[सं० कृतिन्, कृती] ५ कवि (अ.मा.) ६ पंडित, विद्वान व्यक्ति (ह.नां.) ७ देवता (अ.मा.) (मि० विबुध, सुमनस)
८ सतयुग. (यौ०—क्रतजुग)
सं०स्त्री० [सं० कीर्ति] ९ कीर्ति। उ०—मीठा कहे जांणियौ मींठां, कमधज धन ताहरी क्रत। बीकाहरा रैण विसतरियौ रे, भ्रत भोहण मांहै अम्रत।—अज्ञात

क्रतमाळा-सं०स्त्री० [सं० कृतमाला] दक्षिण देश की एक छोटी नदी का नाम (बां दा.)
वि०—१ किया हुआ, संपादित. २ बनाया हुआ, रचित।

क्रतका-सं०पु० [सं० कृत्तिका] देखो 'क्रतिका' (नां.मा.)

क्रतकाकुमार-सं०पु०यौ० [सं० कृत्तिका+कुमार] स्वामी कार्तिकेय (अ.मा.)

क्रतकानंद-सं०पु०यौ० [सं० कृत्तिका+नंद] स्वामी कार्तिकेय (ह.नां., नां.मा.)

क्रतकासुत, क्रतकासूत-सं०पु०यौ० [सं० कृत्तिका+सुत] स्वामी कार्तिकेय (अ.मा., ह.नां.)

क्रतगुण-वि०—१ गुण करने वाला, भला करने वाला, उपकारक।
[सं० कृतघ्न] २ कृतघ्न। उ०—राजा निकट झुकन तन रावत, क्रतगुण खीची 'सिवौ' कलावत।—रा.रू.

क्रतघण, क्रतघणी, क्रतघन, क्रतघनी, क्रतघ्नी-वि० [सं० कृतघ्न] दूसरे के उपकार को न मानने वाला, कृतघ्न। उ०—१ कीधोड़ौ उपगार नर, क्रतघण मांनै नहीं। लांणतियां ज्यां लार, रजी उडावौ राजिया।
—किरपारांम
उ०—२ दे धरणी दातार सूं, मांगे हठ करमाल। कूड़ा बोलै क्रतघनी, कुकवि अनंत कुचाल।—बां.दा.

क्रतजुग-सं०पु० [सं० कृतयुग] सतयुग।

क्रतअखार-सं०पु० [सं० तुषारकृत्] इंद्र (अ.मा.)

क्रतधंती, क्रतधुंसी क्रतध्वंसी-सं०पु०—शिव, महादेव (अ.मा.)
उ०—क्रतध्वंसी विस्णू कमळभव जिस्णू स्तुति करै, हिमासू उस्णासू पदम-पद पांमू सिर धरै।—मे.म.

क्रतपूर-वि०—कांतियुक्त, शोभायुक्त। उ०—कंचण खंभ मंडित कीन वरणण छवि करां, झळहळ क्रतपूर झळूस मुगता झालरां।—बां.दा.

क्रतव—देखो 'करतव'। उ०—लोभ कर धणी नै कपट कर संग लियौ, किसूं सारां मिळै क्रतव आछौ कियौ।—स्वांमजी बारहठ

क्रतभुज-सं०पु० [सं० क्रतु+भुज] देवता (ह.नां.)

क्रतमुख-वि० [सं० कृत+मुख] १ कुशल. २ पुण्यात्मा (डिं.को)

क्रतवरमा-सं०पु० [सं० कृतवर्मा] १ राजा कनक का पुत्र और कृतवीर्य्य का भाई. २ जैन मतानुसार वर्त्तमान अवसर्पिणी के तेरहवें अर्हत् के पिता।

क्रतवासा-सं०पु० [सं० कृतिवासस्] शिव, महादेव (क.कु.बो., नां.मा.)

क्रतवीरज क्रतवीरय-सं०पु० [सं० कृतवीर्य्य] राजा कनक का पुत्र और कृतवर्मा का भाई।

क्रतांत-सं०पु० [सं० कृतान्त] देखो 'क्रतंत' (डिं.को.) उ०—दुस्सासेण माथ रौ क्रतांत रोध थायौ दूठ, जेठी पाराथ रौ किनां भाराथ रौ जोध।
—हुकमीचंद खिड़ियौ

क्रतांन-सं०स्त्री० [सं० कृत्वन्न] अग्नि (ह.नां.)

क्रताअंत-सं०पु० [सं० कृतान्त] १ यमराज (ह.नां.) २ नाश करने वाला. ३ पाप।

क्रतारथ-वि० [सं० कृतार्थ] १ जिसका कार्य सिद्ध हो चुका हो, कृतकार्य, कृतकृत्य, संतुष्ट, सफल। उ०—आपणा मन स्युं आलोच ब्राह्मण आलोचै लागौ, जु रुखमणीजी क्रतारथ होस्यै, हौं तौ क्रतारथ हुऔ।
२ दक्ष, कुशल, होशियार। —वेलि.टी.

क्रति-सं०स्त्री० [सं० कृति] १ काम, कार्य (मि० क्रत, १) २ रचना।
[सं० कृतिन्, कृती] ३ पंडित, विद्वान व्यक्ति (डिं.को.)(मि० क्रत, ६)
[सं० कृत्या] ४ जादू, टोना, उपचार। उ०—मिळी ग्रंथ सार प्रसाख रसमय अमिति मंजुर अंजुरे। रसहीन अनि तर सरव रेण सीत छळ क्रति संचरे।—रा रू.

क्रय-सं०पु० [सं०] मोल लेने की क्रिया, खरीदने का कार्य।
उ०—दो ही तरफ रा वीरां ग्रास्यांन रूप बाजार में, प्राणां रा क्रय विक्रय रूप व्यापार मचायौ।—वं.भा.
क्रव्य-सं०पु० [सं०] माँस, गोश्त (डि.को.)
क्रव्याद-सं०पु० [सं०] १ माँसाहारी. २ चिता की ग्राग. ३ राक्षस।
उ०—ग्रर नीच क्रव्याद रा कुळ नूं दुहिता देण री किण मूढ़ कही छै।—वं.भा.
क्रव्यादराक्षस-सं०पु०—ढूंढ नामक राक्षस।
क्रस-वि० [सं० कृश] १ दुबला, पतला, कृश, क्षीण. २ ग्रल्प (डि.को.)
सं०स्त्री० [सं० कृषि] खेती, कृषि। उ०—ज्यौं क्रस भंजे तन गळै, घण गोळक तन लग्ग।—रा.रू.
क्रसक-सं०पु० [सं० कृषक] १ कृषक, खेतिहर. २ हल का फाल।
क्रसण-वि० [सं० कृष्ण] श्याम, काला (ग्र.मा.)
सं०पु० [सं० कृष्ण] १ यदुवंशी वसुदेव के पुत्र, श्रीकृष्ण. २ वेद-व्यास. ३ ग्रर्जुन. ४ कोयल. ५ कृष्ण पक्ष, ग्रँधेरा पक्ष. ६ कलियुग. ७ लोहा. ८ छप्पय छंद का एक भेद जिसमें २२ गुरु ग्रौर १०८ लघु कुल १३० वर्ण या १५२ मात्रायें ग्रथवा २२ गुरु १०४ लघु कुल १२६ वर्ण या १४८ मात्रायें होती हैं। रघुवरजस-प्रकाश के ग्रनुसार ५१ वाँ भेद जिसमें २० गुरु ग्रौर ११२ लघु से कुल १३२ वर्ण या १५२ मात्रायें होती हैं।
क्रसणद्वैपायन-सं०पु० [सं० कृष्णद्वैपायन] देखो 'क्रसनद्वैपायन' (रू.भे.)
क्रसणपक्ष, क्रसणपख-सं०पु० [सं० कृष्ण पक्ष] कृष्ण पक्ष, ग्रँधेरा पक्ष।
क्रसणवरण-वि० [सं० कृष्ण वर्ण] काला, श्याम (ह.नां.)
क्रसणसखा-सं०पु० [सं० कृष्ण+सखा] ग्रर्जुन (ह.नां.)
क्रसणा—देखो 'क्रसना' (रू.भे.)
क्रसणाचळ-सं०पु० [सं० कृष्णाचल] १ रैवतक पर्वत (प्राचीन द्वारका इसी पर्वत पर थी) २ नीलगिरी पर्वत।
क्रसणाभिसारिका-सं०स्त्री० [सं० कृष्णाभिसारिका] वह ग्रभिसारिका नायिका जो ग्रँधेरी रात में ग्रपने प्रेमी के पास संकेत-स्थान में जाय।
क्रसणाश्टमी-सं०स्त्री० [सं० कृष्णाष्टमी] भाद्रपद मास के कृष्ण पक्ष की ग्रष्टमी, इस दिन श्रीकृष्ण का जन्म हुग्रा था।
क्रसन-सं०पु० [सं० कृष्ण] १ देखो 'क्रसण' (रू.भे.) २ भौंरा (ग्र.मा.)
क्रसनद्वैपायन-सं०पु० [सं० कृष्णद्वैपायन] पाराशर के पुत्र, वेदव्यास, पाराशर्य्य।
क्रसनपक्ष, क्रसनपख—देखो 'क्रसण पक्ष'। उ०—मधु मास क्रसनपख द्वादसी, बुध प्रकास जग जांणियौ।—रा.रू.
क्रसनवरण—देखो 'क्रसणवरण' (रू.भे.)
क्रसनसखा-सं०पु० [सं० कृष्णसखा] ग्रर्जुन (ग्र.मा.)
क्रसना-सं०स्त्री० [सं० कृष्णा] १ द्रौपदी (ग्र.मा.) २ पीपल (ग्र.मा.) ३ यमुना (ह.नां.) ४ दक्षिण की एक नदी. ५ काली दाख. ६ काली देवी. ७ पार्वती (क.कु.बो.) ८ ग्रग्नी की सात जिव्हाग्रों में से एक. ९ एक योगिनी।
क्रसनापित-सं०पु० [सं० कृष्णापिता] सूर्य, भानु (क.कु.बो.)
क्रसनाफळा-सं०स्त्री० [सं० कृष्णफला] काली मिर्च (ग्र.मा.)
क्रसनी-सं०स्त्री० [सं० कर्षणी] बिजली (नां.मा.)
क्रसन्न—देखो 'क्रसण' (रू.भे.) उ०—ग्ररोगे ग्रघाये किया ग्राचमन्न, कपूरी ग्रहे पांन बीड़ा क्रसन्न।—ना द.
क्रसभाव-सं०पु० [सं० कृश+भाव] दुबलापन, कृशता। उ०—भाखै सहियां भाळ लियां क्रसभाव नै, चित पिय कोमळ ताय वधावै चाव नै।—बां.दा.
क्रसांण, क्रसांन-सं०स्त्री० [सं० कृशानु] १ ग्राग, ग्रग्नि (नां.मा.)
उ०—थियौ सदय सुण निज थुई, टीटभ हूंत क्रसांन।—बां.दा.
सं०पु० [सं० कृषक] २ किसान, हलधर। उ०—पड़ सीस विना लोटै पठांण, फिर ज्वार सिरै ढूका क्रसांण।—रा.रू.
क्रसांनद्रग, क्रसांनरेता-सं०पु० [सं० कृशानदृग, कृशानरेतस्] शिव, महादेव (ग्र.मा.) उ०—क्रपर दोस क्रसांनरेता, उरधलिंग उदार।
—क.कु.बो.
क्रसानु-सं०स्त्री० [सं० कृशानु] ग्रग्नि, ग्राग (डि.को.)
क्रसिक-सं०स्त्री० [सं० कुशी] लोहे की वह कील जिससे हल चलते समय जमीन खुद कर पोली हो जाती है (डि.को.)
क्रसी-सं०स्त्री० [सं० कृषि] खेती, काश्त, कृषि।
क्रसीकारी-सं०पु०—काश्तकार।
क्रस्ट, क्रस्टि, क्रस्टी-सं०पु० [सं० कृष्टि] पंडित, कवि (ह.नां., ग्र.मा.) (डि.को.)
क्रस्ण-सं०पु० [सं० कृष्ण] १ श्रीकृष्ण। २ ग्रर्जुन. ३ कृष्ण पक्ष.
सं०स्त्री० [सं० कृशानु] ४ ग्रग्नि, ग्राग (ह.नां.)
क्रस्णपिंगळा-सं०स्त्री० [सं० कृष्णपिंगला] चौंसठ योगनियों में से उन्नीसवीं योगिनी।
क्रस्णमाग्रज-सं०पु० [सं० कृष्णाग्रज] बलभद्र, बलराम (ग्र.मा.)
क्रस्णमुख-सं०पु० [सं० कृष्णमुख] लोहा (ग्र.मा.)
क्रस्णला-सं०स्त्री० [सं० कृष्णला] घुगची, गुंजा (डि.को.)
क्रस्णवरतमा-सं०स्त्री० [सं० कृष्णवर्त्मन्] ग्रग्नि, ग्राग (ह.नां.)
क्रस्णा-सं०स्त्री० [सं० कृष्णा] १ यमुना नदी (ग्र.मा.) २ देववृक्ष (ग्र मा.) ३ देखो 'क्रसणा' (रू.भे.)
क्रस्न-सं०पु० [सं० कृष्ण] १ शनिश्चर (ग्र.मा.) २ देखो 'क्रष्ण'।
क्रस्नवरतमा—देखो 'क्रस्णवरतमा' (रू.भे., ग्र.मा.)
क्हकणौ, क्हकबौ-क्रि०ग्र०—भूत-प्रेतादि का युद्ध के समय प्रसन्न होना।
उ०—क्हकै वीर वैताळ करूर, ग्रहकै राग सिंधू रिणतूर।—गो.रू.
क्हक्कह, क्हक्ह-सं०पु० [ग्रनु०] प्रसन्नता से जोर से हँसने की क्रिया या

उ०—कपाळ विसाळ सिघाळ किसन्न, वडाळ भुजाळ उजाळ विसन्न ।
—ह.र.

कपाळता–सं०स्त्री० [सं० कृपालुता] मेहरवानी, दया का भाव ।
उ०—करी बुरी सु पायली, अबै बुरी करूं नहीं । कृपाळ की कपाळता, सकाळ तें डरूं नहीं ।—ऊ.का.

कपाळी–सं०पु० [सं० कपाली] महादेव, शिव । उ०—सुनूर सूर संभके निसंभ से हंसे नचे, कपाळि काळिका अगें न बाळि वाळिका वचे ।
—ऊ.का.

कपासिंधु–सं०पु० [सं० कृपासिंधु] १ विष्णु. २ ईश्वर. ३ श्रीकृष्ण (अ.मा.)
वि०—कृपासागर, दयालु ।

कपी–सं०स्त्री० [सं० कृपी] १ अश्वत्थामा की माता और द्रोणाचार्य की पत्नी जो कृपाचार्य की बहिन थी ।

कपीट–सं०पु० [सं० कृपीटम्] नीर, जल (ह.नां.)

क्रम–सं०पु० [सं०] १ पैर रखने की क्रिया, चलने की क्रिया ।
उ०—क्रम क्रम ढोला पंथ कर, ढांण म चूके ढाल । आ मारू बीजो महल, आखइ भूठ ऐवाळ ।—ढो.मा. २ वस्तु. ३ पद, चरण (डि.को.)
उ०—दूलह हुइ आगै पाछै दुलहणि, दीन्हा क्रम सूणहर दिसि ।
—वेलि.
४ वस्तुओं या कार्यों के परस्पर आगे पीछे आदि होने के नियम. ५ नियम, शैली, प्रणाली. [सं० कर्म] ६ कार्य, लीला । उ०—तू तणा अनै तूं तणी तणा त्री, केसव कहि कुण सके क्रम ।—वेलि. ७ सिलसिला, अनुक्रम. ८ किसी कार्य के एक अंग को पूरा करने के उपरांत दूसरे अंग को पूरा करने का नियम. ९ वैदिक विधान. १० कर्म, कार्य । उ०—एणि कवण सुभ क्रम आचरतां, जांणियै वेलि जपंति जगि ।—वेलि. [सं० कर्म] ११ ललाट, भाल. १२ हद, सीमा, मर्यादा । उ०—मेर डिगत सायर क्रम लोपत, अरक मिटत इळ तजत अहि ।—महेस कल्यांणमलोत
१३ प्रारब्ध । उ०—क्रम कमाई-भूगतिय, किस हुंदा सारा ।
—केसोदास गाडण
[सं० क्रुव् हिंसायाम्] १४ पाप, दुष्कृत, कुकर्म. १५ दाह-संस्कार, मृतक-संस्कार. १६ गति, चाल, गमन । उ०—क्रम हुंस गत म्रग-राज कट, रस उरज नरपा कपोळ रट । गह गंध धज चख एण गुण, अळ भ्रकुटयंदु अभाळ ।—क.कु.बो.

क्रम-क्रम–क्रि०वि०—१ धीरे-धीरे, शनैः-शनैः. २ क्रमशः ।
उ०—क्रम क्रम तीरथ कीध, धन भ्रम नेकी धारण । लेटे लाहौ लीध, मिनख जमारै मोतिया ।—रायसिंह सांदू

क्रमगत–सं०स्त्री० [सं० कर्म+गति] प्रारब्ध, होनहार ।
उ०—क्रमगत पूछूं तौ कने, गोविंद हूं ज गिंवार ।—ह.र.

क्रमजा–सं०स्त्री०—लाख (डि.को.)

क्रमण–सं०पु०—१ पैर, पांव (डि.को.) २ पारे के अठारह संस्कारों में से एक. ३ कार्य, काम. ४ उल्लंघन. ५ गमन ।
उ०—कटक सजे कीधौ क्रमण, सो इम नृप समुझाइ ।—वं.भा.

क्रमणा–सं०पु० [सं० कर्मणा] कर्म्म । उ०—मनसा वाचा क्रमणा मांही, नरहर तौ विण राखिस नांही ।—ह.र.

क्रमणौ, क्रमबौ–क्रि०अ० [सं० क्रम्] १ जाना । उ०—चौथे मंगळ रांमचंद, सुरतरणी स्रीरांम । आगै क्रमि आंणि अनंति, सीतावांम सू अंगि ।—रांमरासौ २ चलना. उ०—सुणि स्रवणि वयण मन मांहि थियौ सुख, क्रमियौ तासु प्रमांण करि ।—वेलि.
३ वार करना । उ०—वरहास खिड़इ ऊलळी वग्ग, कळहिवां क्रमइ कम्मांण क्रग्ग ।—रा.ज.सी.
क्रमणहार, हारौ (हारी), क्रमणियौ—वि० ।
क्रमिओड़ौ, क्रमियोड़ौ, क्रम्योड़ौ—भू०का०कृ० ।

क्रमनासा–सं०स्त्री० [सं० कर्मनाशा] कर्मनाशा नाम की एक नदी ।

क्रमपाठ–सं०पु० [सं०] वेदों के पाठ का एक प्रकार जिसमें संहिता और पाद दोनों को मिला कर पाठ करते हैं ।

क्रमपासी–सं०पु० [सं० कर्म+पाशी] यमराज (ह.नां.)

क्रमबधण–सं०पु०—१ पाप. २ दुष्कर्मों का प्रतिफल ।

क्रमसंन्यास–सं०पु० [सं०] वह संन्यासी जो क्रम से ब्रह्मचर्य, गृहस्थ और वानप्रस्थ आश्रम में रह चुकने के बाद लिया जाय ।

क्रमसाखी–सं०पु० [सं० कर्मसाक्षिन्] १ सूर्य (नां.मा.) (क.कु.बो.)

क्रमसोत–सं०पु०—राठौड़ों की एक शाखा (रा.रू.) करमसीहोत ।

क्रमहीणौ–वि० [सं० कर्महीन] (स्त्री० क्रमहीणी) अभागा ।

क्रमांणक–सं०पु०—घोड़ा (डि.को.)

क्रमाळ–सं०स्त्री० [सं० करवाल] १ खड्ग, तलवार ।
[सं० करवाल] २ नख, नाखून ।

क्रमाळी–सं०स्त्री० [सं० क्रमेलक] मादा ऊँट, ऊँटनी ।

क्रमि–सं०पु० [सं० कृमि] १ कीड़ा, कृमि. २ पेट का एक रोग जिसमें आंतों में छोटे-छोटे सफेद कीड़े पैदा हो जाते हैं ।

क्रमिक–क्रि०वि० [सं०] १ क्रमयुक्त, क्रमागत. २ परम्परागत ।

क्रमिक्रमि–क्रि०वि०—क्रमशः, धीरे-धीरे, क्रमानुसार । उ०—दिन जेही रिणी रिणाई दरसणि, क्रमिक्रमि लागा संकुडिणि ।—वेलि.

क्रमिजा–सं०स्त्री० [सं० कृमिजा] लाह, लाख, लाक्षा (डि.को.)

क्रमी–सं०पु० [सं० कृमि] देखो 'क्रमि' । (रू.भे.)

क्रमुक–सं०पु० [सं०] १ सुपारी का पेड़ (डि.को.) २ नागरमोथा. ३ कपास का फल. ४ शहतूत का पेड़ ।

क्रमुक्रमि–सं०पु०—कदम, डग ।
क्रि०वि०—देखो 'क्रम-क्रम' (रू.भे.)

क्रमेल, क्रमेलक–सं०पु० [सं०] ऊँट, शुतुर (डि.को.)

क्रम्म—देखो 'क्रम' । उ०—देवी पुण्य रूपं देवी प्रम्भ रूपं, देवी क्रम्म रूपं देवी ध्रम्म रूपं ।—देवी.

क्रि०प्र०—करणी, मांनणी, होणी।

क्रिपानाथ-वि०—कृपालु, दयालु।
सं०पु०—ईश्वर।

क्रिपाळ—देखो 'क्रपाळ' (रू.भे.)

क्रिमि—देखो 'क्रमी' (रू.भे.)

क्रिमिकोंड-सं०पु० [सं०] चोल देश के एक राजा का नाम। यह कट्टर शैव था।

क्रिमिभक्ष-सं०पु० [सं०] एक नरक का नाम।

क्रिमी-सं०पु० [सं० क्रमि] देखो 'क्रमी' (रू.भे.)

क्रियमांण-सं०पु०—१ वह जो किया जा रहा हो. २ कर्म के चार भेदों में से एक। उ०—क्रियमांण मिलांन भोगांन संचित्तय, प्रांणि वसांन सुथांन जका।—करुणासागर

क्रिया-सं०स्त्री० [सं०] १ किसी प्रकार का व्यापार, कर्म. २ प्रयत्न, चेष्टा, हिलना-डोलना. ३ अनुष्ठान, आरंभ. ४ व्याकरण का वह अंग जिससे किसी व्यापार का होना या करना पाया जाय. ५ शौच आदि कर्म, नित्यकर्म. ६ श्राद्ध आदि प्रेत कर्म. ७ प्रायश्चित्त आदि कर्म. ८ उपाय, उपचार. ९ न्याय या विचार का साधन. १० मृतक-संस्कार. ११ मृत्यु के बाद तीसरे, नवें, ग्यारहवें तथा बारहवें दिन किये जाने वाले संस्कार।

क्रियाकरम-सं०पु०यौ० [सं० क्रिया+कर्म] १ मृत्यु के पश्चात् ग्यारहवें दिन किया जाने वाला संस्कार. २ मरणोतर संपन्न किये जाने वाले कर्म।

क्रियाकांड-सं०पु०यौ० [सं०] वह शास्त्र जिसमें यज्ञादि का विधान हो, कर्मकांड।

क्रियाजोग-सं०पु०यौ० [सं० क्रिया+योग] पुराणों के अनुसार देवताओं की पूजा करना और मंदिर आदि बनवाना।

क्रियातिपत्ति-सं०पु० [सं०] एक प्रकार का काव्यालंकार जिसमें प्रकृत से भिन्न कल्पना करके किसी विषय का वर्णन किया जाता है।

क्रियाफळ-सं०पु०यौ० [सं० क्रियाफल] १ वेदांत के अनुसार कर्म के चार प्रकार के फल—उत्पत्ति, आप्ति, विकृति और संस्कृति. २ यज्ञ आदि से होने वाला फल या पुण्य।

क्रियावर—देखो 'किरियावर' (रू.भे.)

क्रियाविकळप-सं०स्त्री०यौ०—१ क्रिया के प्रभाव को पलटने का कार्य. २ चौसठ कलाओं के अंतर्गत एक कला।

क्रियाविदग्धा-सं०स्त्री०यौ० [सं०] नायक पर किसी क्रिया द्वारा भाव प्रकट करने वाली नायिका।

क्रियाविसेसण-सं०पु०यौ० [सं० क्रिया+विशेषण] वह शब्द जिससे क्रिया के किसी विशेष काल, भाव या रीति आदि का बोध हो। (व्याकरण)

क्रियासक्ति-सं०स्त्री०यौ० [सं० क्रिया+शक्ति] ईश्वर से उत्पन्न वह शक्ति जिससे ब्रह्मांड की सृष्टि का होना माना जाता है।

क्रियासून्य-सं०पु० [सं० क्रिया+शून्य] कर्महीन।

क्रियास्नांन-सं०पु० [सं० क्रियास्नान] स्नान की एक विधि (धर्मशास्त्र) इस विधि के करने से तीर्थ-स्नान का फल होता है।

क्रिस-वि० [सं० कृश] देखो 'क्रस' (रू.भे.) उ०—हिम बाधि हिमरित निसा हरणे, दिवस क्रिस ग्रुणि देखिये।—रा.रू.

क्रिसन—देखो 'क्रसन' (रू.भे.) उ०—महल खवास निवास मन, क्रिसन दरस्सण काज।—रा.रू.

क्रिसनवरतमा-सं०स्त्री०यौ० [सं० कृष्णवर्त्मन्] अग्नि (ह.नां.)

क्रिसना—देखो 'क्रसना' (ह.नां.)

क्रिसनागर, क्रिसनागरौ-सं०पु०—१ अफीम (डिं.को.) २ सुगंधित पदार्थ। उ०—उवै कांमणी घणै क्रिसनागर, कस्तूरी अंबर अंतर सांधे सू गरकाब हुई थकी।—रा.सा.सं.

क्रिसांण-सं०स्त्री० [सं० कृशानु] १ अग्नि.
सं.पु० [सं० कृषक] २ किसान, कृषक। उ०—कण गंज पुंज क्रिसांण करसण, घरै उद्यम धारणा। वधि आस ज्यास निवास वहरां, अवनि थांन अपारणा।—रा.रू.

क्रिसांन, क्रिसांनु-सं०स्त्री० [सं० कृशानु] अग्नि, आग।

क्रिसा—देखो 'क्रस'। उ०—स्यांमा कटि कटिमेखला समरपित, क्रिसा अंग मापित करळ।—वेलि.

क्रिसोदरीय-वि०स्त्री०यौ० [सं० कृशोदरी] जिसका पेट पतला हो।
उ०—निसास-रोज आंननी, उरोज धारनी नहीं। क्रिसोदरीय कांमिनी, विभा वयोधरी नहीं।—ऊ.का.

क्रिस्टांन—देखो 'क्रिस्तांन' (रू.भे.)

क्रिस्णताळू-सं०पु० [सं० कृष्ण+तालु] वह घोड़ा जिसका तालू काला हो (शा.हो.)

क्रिस्णागर, क्रिस्णागरौ-सं०पु०—१ देखो 'क्रिसणागर' (रू.भे.) २ एक सुगंधित पदार्थ। उ०—सोकि विन्हे महलि आपणे, क्रिस्णागर वासित धूपणे।—ढो.मा.

क्रिस्तांन-सं०पु० [सं० क्रिश्चियन] ईसा के मत पर चलने वाला, ईसाई।

क्रिस्तांनी-वि०—१ ईसाइयों का, ईसाई मत का. २ ईसाई मत के अनुसार।

क्रीड़णौ, क्रीड़बौ-क्रि०अ०—खेलना। उ०—१ कसतूरी गारि कपूर ईंट करि, नवै विहांणै नवी परि। कुसुम कमळ दळ माळ अलंक्रित, हरि क्रीड़े तिणि धवळ हरि।—वेलि. उ०—२ करि इक बीड़ौ वळे वांम करि, कीर सु तसु जाती क्रीड़ंति।—वेलि.

क्रीड़ा-सं०स्त्री० [सं०] १ कल्लोल, केलि, आमोद-प्रमोद।
उ०—कयां तुंही कंथ क्रीड़ा तुंही कांम, रमाड़ मो पग्ग लावौ हिव रांम।—ह.र. २ संभोग, रति, क्रीड़ा. ३ ताल के साठ मुख्य भेदों में से एक (संगीत)।

क्रीड़ाप्रिय-वि०यौ० [सं०] विलासी, रतिक्रीड़ा का प्रेमी।

क्रीट-सं०पु० [सं० किरीट] १ शिरोभूषण. २ मुकुट के ऊपर धारण किया जाने वाला आभूषण।

ध्वनि, अट्टहास। उ०—१ क्हक्कह ज्योति हसंति कपोळ, तणौ रंग सोहै मुखि तंबोळ।—रा ज. रासौ उ०—२ कड़कै कंध क्हक्कह काळ, रळै पळ सोण मचै रिणताळ।—रा.ज. रासौ.

क्हक्हणौ, क्हक्हबौ–क्रि०अ० [अनु०] देखो 'क्हकणौ' (रू.भे.)

क्हक्कह–सं०स्त्री०—१ चमक-दमक. २ प्रभा, कांति. ३ देखो 'क्ह-क्ह'।

क्हूका–सं०पु०—ऊंट के बोलने का शब्द। उ०—थाकउ करह क्हूका करइ, थळ भारी पग माठा भरइ।—ढो.मा.

क्रांखीतेज–सं०पु०—एक प्रकार का घोड़ा जिसके अगले पैर के घुटने पर भौंरी हो (अशुभ—शा.हो)

क्रांत–सं०स्त्री० [सं० कांति] १ कांति, छवि, शोभा। उ०—हिंदू मुस्सलमांण खड़ा दीवांण विचाळै, किया दीप सम क्रांत कंवर नागेंदर काळै।—रा.रू.

वि०—१ भयभीत. २ दबा या ढका हुआ. ३ जिस पर आक्रमण हुआ हो. ग्रस्त. ४ सुन्दर, मनोहर (ह.नां.)

क्रांति–सं०स्त्री० [सं०] १ उलटफेर, फेरफार, उपद्रव, विद्रोह. [सं० कांति] २ कांति, आभा, सोभा (ह.नां.) उ०—छिपै मेघ सोभा इसी भाल छाजै, रवीपंत द्वै कुंडळे क्रांति राजै।—रा.रू.

३ वह कल्पित वृत्त जिस पर सूर्य भूमि के चारों तरफ परिभ्रमण करता है (खगोल) ४ खगोलीय नाड़ी मंडल से किसी नक्षत्र की दूरी (खगोल)

क्रांतिवृत—देखो 'क्रांति' (३)

क्रांतिसाम्य–सं०पु० [सं०] ज्योतिष में ग्रहों की तुल्य क्रांति।

क्रांमत, क्रांमति, क्रांमती–सं०स्त्री० [सं० कांति] १ चमत्कार, करामात। उ०—कर कर क्रांमती जी खोये जैथ हथ जत खंभ।—र.रू.

[सं० कांति] २ कांति, दीप्ति, शोभा (अ.मा) उ०—रे कुळ भांण भांण नृप राघव, कोड़क भांण लियां मुख क्रांमत —र.ज.प्र.

उ०—२ वड विना क्रांमति न को वीरति, पिंड हुई मत जाय संपत्ति।—रा.रू.

क्रायंती–सं०स्त्री० [सं० कांति] १ कांति, दीप्ति, चमक। उ०—आभूखणां हुई झळम क्रायंती भांण उन्हाळ सी।
—नवलजी लाळस

[सं० क्रांति] २ देखो 'क्रांति' (रू भे.)

क्रायक्रांय–स०पु० [अनु०] कौये की बोली, कांव-कांव।
मुहा०—क्राय-क्रांय करणी—बेकार की बकवास करना।

क्राइस्ट–सं०पु०—ईसामसीह।

क्राउन–स०पु० [अं०] १ राजमुकुट, ताज. २ छापे के कागज का नाप १५"×२०"।

क्राथ–सं०पु० [सं०] १ एक नाग का नाम. २ एक बंदर (रामकथा)

क्रासळक, क्रासळक्क–सं०स्त्री०—मस्ती में आए हुए ऊंट के मुंह चलाने पर दांतों के परस्पर की टक्कर से होने वाली ध्वनि। उ०—तनै दाखवै जोसवाळी तरक्कां, करै दांत आलावता क्रासळक्कां।—रा.रू.

क्राह–सं०पु०—बैल आदि पशुओं को बांधने की रस्सी, पाश।
उ०—वाह दे राव दळ ठाह छाडाड़िया, क्राह घाते किया ताह कानै। 'कला' अरि दाह हथवाह सिर केविया, म्हा रिम राह पतिसाह मानै।—महेस बारहठ

क्राहि–सं०स्त्री०—क्रंदन, दुखभरी आवाज। उ०—क्राहि भाय कूकसी सयण सायण सुत नारी, काया हुसी अकज सबै माया दुपियारी।
—ज.खि.

क्रिकेट–सं०पु० [अं०] एक प्रकार का अंग्रेजी ढंग का गेंद का खेल जो ग्यारह-ग्यारह आदमियों के दो पक्षों में खेला जाता है, गेंद, बल्ला।

क्रिखी–सं०स्त्री० [सं० कृषि] खेती, काश्त।
कहा०—क्रिखी नासी'र पसु मर गया, दूधां बरसौ मेह—कृषि सूख जाने पर व पशु मर जाने पर कितनी भी वर्षा हो किसी काम की नहीं होती; समय निकलने पर आवश्यक वस्तु की प्राप्ति व्यर्थ होती है।

क्रिगल–सं०पु०—कवच, जिरहबख्तर। उ०—पिंड बहुरूप कि भेख पालटै, केसरिया ठाहै क्रिगल।—वेलि.

क्रित–सं०पु० [सं० कृत्य] देखो 'क्रत'। उ०—१ विसतरी बात दिसि दिसि विदिस, क्रित अभूत पंखां किया।—रा.रू. उ०—२ लौ या विरियां लाख, घर थांरी थे ही घणी। निंदित क्रित हकनाक, कुरुकुळ भूखण मत करौ।—रांमनाथ कवियौ उ०—३ केहरि तणौ धारियै कुळ क्रित, दळ सूरत पूरियौ दुभाल।
—राजावत हरिसिंह राठौड़ रौ गीत

क्रितक्रत–वि०—१ किया हुआ. २ कृतकृत्य।

क्रितघण–वि०—उपकार को न मानने वाला, कृतघ्न।

क्रितब—देखो 'करतब' (रू.भे.)

क्रित-मन–सं०पु० [सं० क्रतुमनाः] इन्द्र (ह.नां.)

क्रिताअंत–सं०पु० [सं० कृतांत] यमराज (ह.नां.)

क्रितारथ–वि० [सं० कृतार्थ] कृतार्थ, सफल, संतुष्ट। उ०—हिव रुखमणी क्रितारथ हुइस्यै. हुऔ क्रितारथ पहिलौ हूं।—वेलि.

क्रितारथी–अव्यय—लिये, निमित्त। उ०—ऊभी सहु सखिए प्रसंसिता अति, क्रितारथी प्री मिळण क्रत।—वेलि.

क्रिति—१ देखो 'क्रत' (रू.भे) उ०—रंग मुरंग वण गजराज, क्रिति अभ्रत होत अकाज।—रा.रू. २ किया हुआ कार्य, रचना।

क्रितिघन–सं०पु० [सं० किन्तुघ्न] १ ज्योतिष के ग्यारह करणों में से एक करण का नाम (ग.मो) २ देखो 'क्रतघन' (रू.भे.)

क्रितीयां—देखो 'किरतियां' (रू.भे.) उ०—चतुरंगी रायजादी क्रितीयां रौ भूंबिखौ. मोतीआंरी लड़ी हुवै तिणि भांति री।—रा.मा सं.

क्रिपण–वि० [सं० कृपण] १ देखो 'क्रपण' (रू.भे.)
२ क्षुद्र, तुच्छ, दीन। उ०—मुख कहि क्रमन रुखमिणि मंगळ, कांई रे मन-क्ळपसि क्रपणा।—वेलि.

क्रिपा—देखो 'क्रपा' (ह.नां.) उ०—सुंदरता लज्जा प्रीति सरसती, माया कातौ क्रिपा मति।—वेलि.

क्रोधी–वि० [सं०] क्रोध करने वाला, गुस्सावर।
सं०पु०—क्रोध नामक संवत्सर।
क्रौंचदीप–सं०पु०—पौराणिक सात महाद्वीपों में से एक महाद्वीप।
क्रौंचदार–सं०पु० [सं० क्रौंचदार] स्वामी कार्तिकेय का एक नाम (ह.नां, अ.मा.)
क्रौंचार–सं०पु० [सं० क्रौंचारि] स्वामी कार्तिकेय (ह.नां.)
क्रौंची–सं०स्त्री० [सं०] कश्यप ऋषि की ताम्रा नामक पत्नी से उत्पन्न पांच कन्याओं में से एक।
क्रौड़—देखो 'क्रोड़' (अ.मा.)
क्लब–सं०पु० [अं०] वह समिति जो कुछ लोगों द्वारा साहित्य, विज्ञान, राजनीति आदि सार्वजनिक विषयों पर विचार करने अथवा आमोद-प्रमोद के लिए संघटित की गई हो।
क्लरक–सं०पु० [अं० क्लर्क] किसी कार्यालय का लेखक, मुंशी, मुहर्रिर।
क्लांत–वि० [सं०] थका हुआ, श्रांत।
क्लांति–सं०स्त्री० [सं०] १ परिश्रम. २ थकावट।
क्लाक–सं०स्त्री० [अं०] दीवार में लगाने योग्य बड़ी घड़ी।
क्लिस्ट–वि० [सं० क्लिष्ट] १ क्लेशयुक्त, दुखी. २ कठिन, मुश्किल, जो कठिनता से सिद्ध हो।
क्लीब–वि०पु० [सं०] १ षंढ़, नपुंसक, नामर्द. २ डरपोक, कायर।
क्लेदण–सं०पु०—पांच प्रकार के कफ में से एक (अमरत)
क्लेस–सं०पु० [सं० क्लेश] दुःख, कष्ट, व्यथा, वेदना।
क्लोरोफारम–सं०पु० [अं० क्लोरोफार्म] एक प्रसिद्ध तरल औषधि जिसकी विचित्र मीठी गंध से व्यक्ति अचेत हो जाता है (चिकित्सा-शास्त्र)
क्वण–सं०पु० [सं०] १ वीणा का शब्द. २ घुंघरू का शब्द।
क्वांर–सं०पु० [सं० कुमार] १ कुंवर. २ कुमार।
क्वांरो–वि० (स्त्री० क्वांरी) कुमार, अविवाहित। उ०—मीरां रे प्रभु मिळज्यो माधो, जनम जनम री क्वांरी।—मीरां
क्वाड़–सं०पु०—१ कुल्हाड़ी। उ०—कसी क्वाड़ गंडासी कसिया, डांडा दांती दांतियां।—दसदेव २ देखो 'किमाड़' (रू.भे.)
क्वाथ–सं०पु० [सं०] काढ़ा। उ०—काढ़ो पांणीभरां घूंटियो गुजराती में, कमजोरी क्वाथ पीड़ होयां छाती में।—दसदेव
क्वार–सं०पु०—आश्विन मास। उ०—अगहन काती क्वार, लावण्यां देन मजूरी। पोह माघ फागणां, चायना खळियां पूरी।—दसदेव
क्षण–सं०पु० [सं०] १ काल या समय का बहुत छोटा भाग. २ काल, अवसर, समय, वक्त।
क्षणदाकार–सं०पु० [सं०] चंद्रमा।
क्षणभंगुर–वि० [सं०] शीघ्र नष्ट होने वाला, अनित्य। उ०—सदा क्षण-भंगुर जांण सरीर, सखा सुखसागर सूं कर सीर।—ऊ.का.
क्षणिक–वि० [सं०] एक क्षण रहने वाला, क्षणभंगुर।
क्षणिकता–सं०स्त्री० [सं०] क्षणिक का भाव, क्षणभंगुरता।

क्षतज–वि० [सं०] १ क्षत से उत्पन्न. २ लाल, सुर्ख।
सं०पु०—एक प्रकार की खांसी जो क्षत रोग में होती है।
क्षत्रजोग–सं०पु० [सं० क्षत्रजोग] ज्योतिष में एक प्रकार का योग।
क्षत्रव्रद्धि–सं०पु० [सं० क्षत्रवृद्धि] तेरहवें मनु के पुत्र का नाम।
क्षत्रवट–सं०पु०—क्षत्रियत्व, क्षत्रियपन।
क्षपणक–वि० [सं०] निर्लज्ज।
सं०पु०[सं०] १ बौद्ध संन्यासी या भिक्षुक. २ नंगा रहने वाला जैन यती. ३ वीर विक्रमादित्य की सभा के नौ रत्नों में से एक जो कवि था और जिसने अनेकार्थ ध्वनिमंजरी नामक एक कोश की रचना की थी।
क्षपाकर–सं०पु० [सं०] १ चंद्रमा. २ कपूर।
क्षपानाथ–सं०पु० [सं०] चंद्रमा।
क्षमा–सं०स्त्री० [सं०] १ दूसरे द्वारा पहुँचाये हुए कष्ट को चुपचाप सह लेने और उसके प्रतिकार या दंड की इच्छा नहीं करने की मनुष्य के चित्त की एक वृत्ति, सहनशीलता, माफी. २ पृथ्वी (मि० 'क्षमाप') रू.भे.—खमया, खमा, खम्मया, खम्या, खम्मिया।
३ दक्ष की एक कन्या. ४ दुर्गा का एक नाम।
क्षमाजुक्त–सं०स्त्री०यौ० [सं० क्षमा+युक्त] क्षमायुक्त।
क्षमाप–सं०पु०—१ भूमि और जल। उ०—क्षमाप वन्हि वायु व्योम तू खपावणी।—मे.म.
क्षयी–सं०पु० [सं०] १ क्षयरोग (अमरत)
[सं०] क्षय रोग से पीड़ित, रुग्ण (अमरत)
क्षांताकारी–वि० [सं० क्षांतिकारी] १ क्षमा करने वाला। उ०—नमो क्षांताकारी अजरजरहारी जरि नमो।—ऊ.का. २ सहनशील, शांत।
क्षार–सं०पु० [सं०] १ दाहक, जारक या विस्फोटक औषधियों को जला कर या खनिज पदार्थों को पानी में घोल कर रसायनिक क्रिया से साफ करके बनाया हुआ नमक. २ मोखा नामक वृक्ष की पत्तियों के क्षार से बनने वाली एक प्रकार की औषधि (अमरत) ३ नमक. ४ सज्जी, खार. ५ भस्म, राख. ६ सुहागा. ७ शोरा.
वि०—खारा।
क्षारपंचक–सं०पु०—पांच प्रकार के क्षार का समूह—पलाश, मूली, जव, सज्जी और चना।
क्षिति–सं०स्त्री० [सं०] पृथ्वी। उ०—बावन दुरंग बंके विविध, सब क्षिति छोगो छत्रपति।—ला.रा.
क्षीण–वि० [सं०] दुबला, पतला, कृश।
क्षीणपण, क्षीणपणो–सं०पु०—अशक्ति, निर्बलता, कृशता (अमरत)
क्षीरोदधि–सं०पु० [सं०] क्षीरसागर।
क्षुणी–सं०स्त्री० [सं० क्षोणी] पृथ्वी (डि.को.)
क्षुधा–सं०स्त्री० [सं०] भोजन करने की इच्छा, भूख। उ०—क्षुधा प्यासा त्रासा, दुसह कर आसा दुख खर्गे।—ऊ.का.

क्रीत-वि० [सं०] खरीदा या मोल लिया हुआ।
सं०पु०—१ मनु के अनुसार बारह प्रकार के पुत्रों में से एक जो मोल लिया गया हो।
सं०स्त्री० [सं० कीर्ति] २ यश, कीर्ति, प्रशंसा। उ०—कुळवंती सूं क्रीत री, उलटी है आचार। वा न तजै घर आपरी, जग इण री संचार।—वां.दा. ३ शोभा।
क्रीतक—देखो 'क्रीत' (१)
क्रीतड़ी-सं०स्त्री० [सं० कीर्ति] कीर्ति, यश, प्रशंसा (अल्पा०)
क्रीतथंभ-सं०पु०—कीर्तिस्तंभ, स्मृतिस्तंभ।
क्रीतपाळ-सं०पु०—राठौड़ों की एक उपशाखा।
क्रीती—देखो 'क्रत' (रू.भे.)
क्रीला—देखो 'क्रीड़ा' (रू.भे.) उ०—कछ मछ अनेक क्रीला करंत, नव हंस वाळ खंजन नचंत।—सू.प्र.
क्रुंचपद-सं०पु०—एक वर्णिक वृत्त जिसके प्रत्येक चरण में भगण, मगण, सगण, भगण फिर चार नगण तथा अंत में एक गुरु सहित २५ वर्ण होते हैं (पि.प्र)
क्रुंझि, क्रुंझी-सं०स्त्री०—क्रौंच पक्षी। उ०—सा धण क्रुंझि बचाह ज्यउं, लंबी थई तुं कंध।—ढो.मा.
क्रुंभनी-सं०स्त्री० [सं० कुंभिनी] जमीन (अ.मा.)
क्रुद्ध, क्रुध-वि० [सं०] कोपयुक्त, क्रोधित। उ०—१ जांमवंत क्रुध झळ झळ हळी।—सू.प्र. उ०—घणै क्रुधि तेनूं हणूमांन धायौ।
—सू.प्र.

क्रुधांगणी-सं०स्त्री०—क्रोधाग्नि, कोपानल। उ०—क्रुधांगणी निस्संभा सुर भसम संभा सुरक्ती, अई इंदू अंबा जयति जगदंबा भगवती।
—मे.म.

क्रुधार-वि०—क्रोधी, कोप करने वाला।
क्रुमुक-सं०स्त्री० [सं० क्रमुक] सुपारी।
क्रुलथीओ-सं०पु०—एक प्रकार का घोड़ा विशेष (शा.हो.)
क्रूंझ क्रूझड़ी-सं०स्त्री०—क्रौंच पक्षी। (क्रुंझ-रू.भे.)
क्रूर-वि० [सं०] १ परपीड़क, निष्ठुर, निर्दयी. २ तीक्ष्ण, तीखा. ३ उष्ण, गरम. ४ नीच, बुरा. ५ घोर।
सं०पु० [सं०] १ ज्योतिष में विषम राशियां. २ केतु, मंगल, रवि, राहु और शनि ये पांच ग्रह जिन्हें पाप-ग्रह भी कहते हैं।
क्रूरदंती-सं०स्त्री० [सं०] दुर्गा का एक नाम।
क्रूरद्रक-सं०पु० [सं० क्रूरदृक्] १ शनिग्रह. २ मंगलग्रह।
वि०—दुष्ट, खल।
क्रेता-सं०पु० [सं०] १ खरीदने वाला, मोल लेने वाला, खरीददार. २ सतयुग। उ०—उमंडै राकेस थंड तारका ज्यूं क्रेता आळा।
—हुकमीचंद खिड़ियौ
क्रेय-वि०—खरीदा जाने योग्य। उ०—क्रेय ओ विक्रेय कथा काज तें करचौ, स्रेय को विस्रेय साज लाज नां मरचौ।—ऊ.का.

क्रोंच-सं०पु०—हिमालय की एक पर्वत श्रेणी का नाम। उ०—पेल्यां हलक हिमाळ सारस बार पयांणे, क्रोंच रंध्र अखियात पारस कीरत आंणे।—मेघ.
क्रोड़-सं०स्त्री० [सं०] १ आलिंगन में दोनों बांहों के बीच का भाग, वक्षःस्थल, गोद।
[सं०] २ सूअर. ३ वराहावतार। उ०—खूब बजाई खग्ग नै, धारा धमचक्कै। कुक्कै क्रोड़ कराहिकै कमठेस मचक्कै।—वं.भा.
वि० [सं० कोटि] करोड़। उ०—अहीराव नै दावड़ा एह आडा, गुणां वेद जोतां कही क्रोड़ गाडा।—ना.द.
क्रोड़पग-सं०पु० [सं० क्रोड़+रा० पग] कछुआ (ह.नां.)
क्रोड़ीधज—देखो 'कोड़ीधज' (रू.भे.)
क्रोधंगी-वि०—अत्यधिक क्रोध करने वाला, क्रोधी, गुस्सैल।
सं०पु०—वीर, योद्धा (डिं.को.) उ०—क्रोधंगी हमीर वाळी दांमणी केवांण।—तेजरांम आसियौ
क्रोध-सं०पु० [सं०] १ किसी अनुचित और हानिकारक कार्य को होते हुए देख कर उत्पन्न होने वाला चित्त का वह तीव्र उद्वेग जिसमें उस हानिकारक कार्य करने वाले से बदला लेने की इच्छा होती है, कोप, रोष. २ कृष्ण पक्ष। उ०—सम्मत अठार सौ मास क्रोध, जुध्धे गुण चाळिस रचय जोध।—शि.सु.रू.
क्रोधझाळा-सं०स्त्री०यौ० [सं० क्रोध+ज्वाल] क्रोधाग्नि।
उ०—क्रोधझाळा विसम खगा रटके, कटके तोप सूरां सळक .वांण ताळा। असा चाळहा विनां तने भूरा अभंग, आळगे नहीं भाराथ आळा।—हुकमीचंद खिड़ियौ
वि०—क्रोधी, गुस्सैल।
क्रोधतावत-वि०—क्रोध में तप्त, क्रुद्ध। उ०—वांण सुण त्रंबाळ वावत, तांण मूंछां क्रोधतावत। गहर सुत चा विरद गावत, रंग रावत रंग रावत।—र.रू.
क्रोधभवन-सं०पु०यौ० [सं०] कोपभवन।
क्रोधवंत-वि०—गुस्से से भरा हुआ, कुपित।
क्रोधवस-क्रि०वि० [सं० क्रोधवश] क्रोध के वशीभूत होकर।
सं०पु०—एक राक्षस का नाम।
क्रोधवसा-सं०स्त्री० [सं०] दक्ष प्रजापति की एक कन्या और कश्यप प्रजापति की आठ पत्नियों में से एक।
क्रोधांनळ-सं०स्त्री०यौ० [सं० क्रोध+अनल] क्रोधाग्नि, कोपानल।
उ०—सजियौ क्रोधानळ बियौ सीह, दावानळ दमगळ तीन दीह।
—वि सं.
क्रोधार, क्रोधाळ-वि०—क्रुद्ध। उ०—१ प्रळै साधवा फूटियौ सिंध वारध के लोप पाजां, करी घू पटेत हके छूटियौ क्रोधार।
—जालमसिंह मेड़तिया री गीत
उ०—२ भालाळ क्रोधाळ स्यूं बैण भणै, मिळ मूंछ ग्रहाळ रोसाळ मुणै।—गुलाबसिंह महड़ू

ख

ख—वर्णमाला के क वर्ग का दूसरा वर्ण। इसका उच्चारण कंठ से होता है

खंकार—देखो 'खंखार' (रू.भे.)

खंख-संस्त्री० [सं० खं=आकाश+अंक] वायु में धूलिकणों का समूह, गर्दिश जिसके मुँह व नाक में जाने से घुटन सी अनुभव होती है। उ०—अळगा उडै खंख रा गोट, टोकरां टणमणती टणकार। —सांभ

क्रि०प्र०—आणी, उडणी, छाणी, भरीजणी, लागणी।

खंखर, खंखरौ-वि०—१ बहुत पुराना (वृक्ष), जिसके पत्ते आदि झड़ गये हों, अतिवृद्ध। उ०—झड़ पत्र बबूलांय दीट जुवा, हव झंखर खंखर रूंख हुवा।—पा.प्र. २ जो आकर्षक न हो. ३ जहां जाने से भय उत्पन्न होता हो, वीरान, निर्जन, उजाड़।

खंखळ, खंखाड़-संस्त्री० [सं० खंखोल] आँधी। उ०—हीमाळा उत-हीज, सुजड़ी साही 'सोभड़ै'। ढील यहां रिमहा घड़ी, खंखळ वळकी खीज।—नैणसी

खंखाट-संस्त्री० (अनु०) [सं० खंक+आहट] तेज आँधी की ध्वनि।

खंखार, खंखारौ-संपु०—१ गाढ़ा थूक या कफ जो खखारने से निकले, कफ, बलगम. २ दूसरों को सावधान करने के लिए या कफ निकलते समय गले से खरखराहट की निकली हुई ध्वनि।

खंखाळ-संस्त्री० [सं० खंख+आल] देखो 'खंखळ' (रू.भे.)

खंखेरणौ, खंखेरबौ-क्रि०स०—१ झकझोरना, पकड़ कर हिलाना. २ झाड़ना. ३ जलती हुई चिता में शव को कुछ इस प्रकार से ठीक करना जिससे वह भली प्रकार पूर्ण रूप से जल जाय।

खंखेरणहार, हारौ (हारी), खंखेरणियौ—वि०।

खंखेरिओड़ौ, खंखेरियोड़ौ, खंखेरयोड़ौ—भू०का०कृ०।

खंखेरीजणौ, खंखेरीजबौ—कर्म वा०।

खंखेरियोड़ौ-भू०का०कृ०—१ झकझोरा हुआ. २ झाड़ा हुआ। (स्त्री० खंखेरियोड़ी)

खंखोळणौ, खंखोळबौ-क्रि०स० [सं० क्षालन] १ हल्का धोना, थोड़ा धोना, प्रक्षालन करना. २ स्नान करना. ३ किसी वस्तु आदि को पानी में डाल कर अथवा किसी बर्तन में पानी डाल कर धोने के उद्देश्य से हिलाना-डुलाना। उ०—फेर बादळा खंखोळ उणहीज तळाव रै पांणी सूं छांण भरजै छै।—रा.सा.सं.

खंखोळणहार, हारौ (हारी), खंखोळणियौ—वि०।

खंखोळिओड़ौ, खंखोळियोड़ौ, खंखोळयोड़ौ—भू०का०कृ०।

खंखोळीजणौ, खंखोळीजबौ—कर्म वा०।

खंखोळियोड़ौ-भू०का०कृ०—१ हल्का धोया हुआ. २ स्नान किया हुआ. ३ किसी वस्तु को पानी में डाल कर हिलाया-डुलाया हुआ। (स्त्री० खंखोळियोड़ी)

खंखोळी-संस्त्री० (पु० खंखोळौ) स्नान, नहाने का कार्य।

क्रि०प्र०—खाणी, लेणी।

खंग-संपु० [सं० खड्ग] १ तलवार. २ देखो 'खग'।

खंगवाळौ-संपु०—देखो 'खूंगाळौ' (रू.भे.) उ०—सांप पिटारा रांणाजी भेज्या, कोई द्यौ मीरां ने जाय। कर खंगवाळौ मीरांबाई पहरियौ, कोई हो गयौ नौसरहार।—मीरां

खंगापति, खंगापती—देखो 'खगांपत' (रू.भे.)

खंगारोत-संपु०—१ राठौड़ राव जोधाजी के पौत्र व जोगाजी के पुत्र खंगार के वंशज राठौड़ों की एक उपशाखा. २ कछवाह वंश की एक उपशाखा।

खंगाळ-संपु०—तीर (डि.नां.मा.)

खंगाळणौ-वि०—संहार करने वाला, नाश करने वाला।

खंगाळणौ, खंगाळबौ-क्रि०स०—संहार करना, नाश करना।

उ०—खीची राव सत्रू खंगाळण, गाढ़ौ जोर दळां वळ घालण। —पा.प्र.

खंगैल-संपु०—लंबे दांत वाला हाथी।

खंच-संस्त्री०—१ तंगी, कमी, खिंचावट।

क्रि०प्र०—आणी, करणी, पड़णी, होणी।

२ शत्रुता, विरुद्धता, वैमनस्य, मनमुटाव. ३ तिरछापन. ४ भौंहों की धनुषाकार स्थिति. ५ खींचाताणी। उ०—पण दरवाजै मांही खंच करतां एक घड़ी लागी, सो दरवाजै रै एक गेह में राजू खां री सवारी री घोड़ी खड़ी।—सूरे खींवे री वात ६ दृढ़ता से की गई मनुहार।

खंचणौ, खंचबौ-क्रि०स०अ० [सं० कर्ष] १ खींचना। उ०—धवळ सरीखौ धवळ है, की कीजै कैवार। जेतौ भार भळावियौ, तेतौ खंचण हार। —बां.दा.

२ खींचा जाना. ३ चिन्ह बनाना. ४ तंगी या कमी सहन करना।

खंचणहार, हारौ (हारी), खंचणियौ—वि०।

खंचिओड़ौ, खंचियोड़ौ खंच्योड़ौ—भू०का०कृ०।

खंचीजणौ, खंचीजबौ—कर्म वा०, भाव वा०।

खंचमास-संस्त्री०—अर्द्धमंडलाकार पत्थर की चपटी गढ़न।

खंचाणौ, खंचाबौ-क्रि०स० ['खंचणौ' का प्रे०रू०] १ खिंचवाना. २ चिन्ह बनवाना।

खंचाणहार, हारौ (हारी), खंचाणियौ—वि०।

खंचायोड़ौ—भू०का०कृ०।

खंचाईजणौ, खंचाईजबौ—कर्म वा०।

खंचियोड़ौ-भू०का०कृ०—१ खींचा हुआ. २ अंकित किया हुआ। (स्त्री० खंचियोड़ी)

क्षेत्रपाळ–सं०पु० [सं०] १ खेत का रखवाला. २ एक प्रकार के भैरव जो संख्या में ४६ हैं. ३ किसी स्थान का प्रधान प्रवन्धकर्ता. ४ द्वारपाल ।

क्षेत्रफळ–सं०पु० [सं०] लंबाई और चौड़ाई के घात या गुणन से माना जाने वाला किसी क्षेत्र का वर्गात्मक परिमाण । वर्ग-परिमाण । (गणित)

क्षेप–सं०पु० [सं०] १ फेंकना. २ ठोकर. ३ निंदा, बदनामी. ४ अक्षांश. ५ कलंक. ६ दूरी. ७ विताना, गुजारना ।

क्षेपणी–सं०स्त्री०—१ एक प्रकार का शस्त्र विशेष. २ नाव का डांडा, वल्ली (डिं.को.)

क्षेमंकरी—एक चिड़िया का नाम ।

क्षेमकरण–सं०पु० [सं० क्षेमकर्ण] अर्जुन का एक पौत्र जो जनमेजय का सखा था ।

क्षेमकल्यांण–सं०पु०—संगीत के अंतर्गत एक संकर राग जो हमीर और कल्याण के संयोग से बनता है ।

क्षेमकारी–सं०स्त्री०—१ सफेद गले की एक चील. २ एक देवी उ०—देवी कौमारी चामुंडा विजैकारी, देवी कुवेरी भैरवी क्षेमकारी ।—देवि.

क्षेमासण, क्षेमासन–सं०पु०—योग के चौरासी आसनों के अंतर्गत एक आसन जिसमें प्रथम पलथी मार कर पीछे दोनों हाथों की ठेउनी को जांघ के मूल में रख कर करतलों का संपुट करके बैठा जाता है ।

क्षेमेंद्र–सं०पु० [सं०] काश्मीर का एक प्रसिद्ध संस्कृत कवि, ग्रंथकार और इतिहासकार ।

क्षोणा–सं०स्त्री० [सं० क्षोणी] पृथ्वी (नां.मा.)

क्षोणिप–सं०पु० [सं०] राजा ।

क्षोणी–सं०स्त्री०—पृथ्वी, जमीन ।

क्षोहण, क्षोहणी–सं०स्त्री०—अक्षौहिणी । उ०—असीय सहस सजे करि मैमत्ता । पंच क्षोहण जे कइ मिळइ नरिंद ।—वी.दे.

खंडविहंड—देखो 'खंडविहंड'। उ०—१ मंडी आस मळै छं खट्गण खंडद्रगां चितंगो। कित्ती खंडविहंड जिती हारवरि सुरतांणो।—रा.रू.
उ०—२ चवडै खगधारां वकै चाढ़। विप किया खंडविहंड वाढ़।
—पा.प्र.

खंडहिणौ, खंडहिवौ—क्रि०स०—देखो 'खंडणौ' (रू.भे.)

खंडा—सं०स्त्री० [सं० खंड] तलवार। उ०—उलग जांण की परीय तौ सार, राज नी गती जिसी खंडानि धार।—वी.दे.

खंडाक—वि०—संहार करने वाला।

खंडाखीण, खंडापीण—सं०स्त्री० [सं० क्षुद्राण्डपीन] मछली (ह.नां)

खंडार—देखो 'खंडर' (रू.भे.) उ०—गांव हाड़ौती रौ हुयनै आग खंडार गढ़ चांवळ भेळी हुई।—नैणसी

खंडाळी—सं०स्त्री० [सं० खंडाली] १ तेल मापने का एक परिमांण. २ काम की इच्छा रखने वाली स्त्री. ३ देवी. ४ दुर्गा।

खंडाळौ—सं०पु० [सं० खंड+रा०प्र० आळौ] खड्गधारी योद्धा, वीर। उ०—जोसेल कंवारी घड़ा, छैल केळ माथै। खंडाळां निराळां एम दूसरौ खूमांण।—बुधसिंह सिढ़ायच

खंडाहळ—सं०स्त्री० [सं० खंड+अवळी] नंगी तलवारों की पंक्ति।
उ०—वीस कोम दिस वांम वीस दाहणै तरक्कै, जाळंधर सांमहौ करै वेमुहौ सरक्कै। होळी खंडाहळां रहै दोळी दीहाड़ी, रजण लग्गौ आंण जांण खंडीवन वाड़ी।—रा.रू.

खंडिक—सं०स्त्री० [सं०] कांख, कक्ष।

खंडित—[सं०] देखो 'खंडत' (रू.भे.)

खंडिता—सं०स्त्री० [सं०] अपने नायक को रात को किसी अन्य नायिका के पास रह कर सवेरे आने पर उसमें संभोग के चिन्ह देख कर कुपित होने वाली नायिका।

खंडिनी—सं०स्त्री० [सं०] पृथ्वी।

खंडिवन—देखो 'खांडव' (रू.भे.) उ०—वूणै खग घूहड़ लागा धीआग, उडै पड़ जांण खंडिवन आग।—गो.रू.

खंडी—१ देखो 'खांडव' (रू.भे.) २ देखो 'खंड' (रू.भे.)
सं०स्त्री०—३ भूमि, पृथ्वी (अ.मा.) ४ एक प्रकार का व्यंजन विशेष जिस पर शक्कर का पुट दिया हुआ हो। उ०—खाजे पूपी मल्ल के ताजे करि तक्कै। खुरमा खंडी खुप्परी, चक्कै धमचक्कै।
—वं.भा.
वि०—खंडित।

खंडीवन—देखो 'खांडव' (रू.भे.)

खंडीवनखावक—सं०पु०यौ०—अग्नि, आग (डि.को.)

खंडेलवाळ—सं०पु०—१ वैश्यों की एक शाखा. २ ब्राह्मणों की एक शाखा जो पहले व्यापार करती थी।

खंडौ—सं०पु० [सं० खंड] १ तलवार. २ पत्थर का वह बड़ा टुकड़ा जो दीवार चुनते समय चुनाई के उपयोग में लिया जाता है.
३ देखो 'खंड' (रू.भे.)

खणंकौ—सं०पु० [अनु०] १ लोहे, पीतल आदि के वर्तनों के गिरने से उत्पन्न झन्नाहट, खनखनाहट।
[सं० खनक] २ चूहा।

खणखण—सं०स्त्री० [अनु०] देखो 'खणंकौ' (१) (रू.भे.)

खंत—सं०स्त्री०—१ दाढ़ी. २ अभिलाषा, इच्छा। उ०—सुण सुंदर ढोली कही, भाजै मन री भ्रंत। मो मारू मिळवा तणी, खरी विलग्गी खंत।—ढो.मा. ३ देखो 'खत' (रू.भे.)

खंतराव—सं०पु०—एक प्रकार का घोड़ा (शा.हो)

खंति—सं०स्त्री०—१ लगन। उ०—खंति लागौ त्रिभुवनपति खेड़ै, घर गिरि पुर सांम्हा धावंति।—वेलि. २ अभिलाषा (मि० 'खंत')
उ०—सुणि सुंदरि सच्चउ चवां, भांजइ मन ची भ्रांति। मो मारू मिळवा तणी, खरी विलग्गी खंति।—ढो.मा.
वि०—अधीर।

खंतै, खंतौ—क्रि०वि०—शीघ्र, जल्द। उ०—ऊजळ दंता उंठिया, खंतै खडियो जाय। वौ घर मुवज केहवी, तिण कारण सिदाय।—ढो.मा.

खंदक—सं०स्त्री० [अ०] १ शहर या किले के चारों ओर खोदी हुई खाई. २ खदान. ३ गर्त, बड़ा गड्ढा।

खंदाखिणौ—देखो 'खंधौ' (रू.भे.) उ०—व्यावां घर दोगण दिपणा, मुरधर में माटी तणा। चांद चकरिया रेल कोरण, सिर सूणा खंदाखिणा।—दसदेव

खंदाखोळ—सं०स्त्री०—मूर्खतापूर्ण छेड़छाड़ या उच्छृंखलता, गदहमस्ती।

खंदी—देखो 'खंधी' (रू.भे.)

खंदौ—देखो 'खंधौ' (रू.भे.)

खंध—सं०पु० [सं० स्कंध] १ गले और बाहुमूल के बीच का देह-भाग, कंधा। उ०—खंध वसण रण हाथ खग, घोड़ा ऊपर गेह। घर रुखवाळौ विन धरण, गिणै न त्रण सम देह।—जैतदांन बारहठ
मुहा०—खंधौ देणौ—१ सहारा देना, २ शवयात्रा में जाना।
२ गरदन। उ०—कळिया गाडा काढ़ ही, जाडा खंध जियांह। रहे नचीतौ सागड़ी, ज्यां कळ जोत दियांह।—बां.दा. ३ काव्य छंद का एक भेद (पिं.प्र.)

खंधांण—सं०पु०—गाहा छंद का भेद विशेष जिसके प्रथम चरण में १२, द्वितीय चरण में २०, तृतीय चरण में १२ और चतुर्थ चरण में २० कुल ६४ मात्रायें होती हैं (पिं.प्र.)

खंधावार—सं०पु० [सं० स्कंधावार] १ राजधानी। उ०—१ मुहु करमा नै आपरा छुट्टा सहोदर नूं जाळोर री दुरग दीधौ, जठै खंधावार जमाय मौक्तिकराज नै पुरुरवा प्रियव्रत रै समांन राज कीधौ।—वं.भा.
उ०—२ स्वांमी रै अनुकूळ समस्त ही खंधावार री भार आप-आप रै अनुकूळ वहै।—वं.भा. २ फौज, सेना।

खंधार—सं०स्त्री० [सं० स्कंधावार] देखो 'खंधावार' (रू.भे.) (अ.मा., ह.नां.)
उ०—खट कोटि थाट राजत खंधार, पमंगां लघु किंकरां न को पार।
[सं० खंड+पाल] राजा, सरदार। —सू.प्र.

खंज—देखो 'खंजा' (रू.भे.)

खंजक–वि० [सं०] पंगु।

सं०पु०—पैर जकड़ जाने का एक रोग।

खंजन–सं०पु० [सं०] एक बहुत सुन्दर पक्षी जो बहुत चंचल होता है। सुन्दर आँखों के लिये प्राय: इसकी उपमा का प्रयोग किया जाता है। उ०—अनुरंजन खंजन अंखन में, झपके लपके त्रिय झंकन में। —ऊ.का.

वि०—काला, श्याम॰ (डि.को)

खंजनासण, खंजनासन–सं०पु० [सं०खंजनासन] योग के चौरासी आसनों के अंतर्गत एक आसन जिसमें गोमुखासन की तरह दोनों पावों की स्थिति करके दोनों हाथ के पंजे पर शरीर का बोझ आवे। इस प्रकार शरीर को सहज नीचे झुका कर बैठा जाता है।

खंजर–सं०पु० [फा०] १ एक प्रकार का शस्त्र (अ.मा.) उ०—मंजरां कळेजां सेल मार, पजरां खंजरां करै पार।—वि सं.

[सं० खञ्ज+स्वा०प्र०र] २ खंजन पक्षी। उ०—मुख सिसहर खंजर नयण, कुच स्रीफळ कंठ वीण।—ढो.मा.

खंजरी–सं०स्त्री० [सं० खजरीट=एक ताल] १ डफली के आकार का एक वाद्य विशेष, खजड़ी। उ०—सुधा कुंडळी खंजरी चग सोहै, वजै चंग मिरदंग सोभा विमोहै।—रा.रू. २ देखो 'खंजर'। (अल्पा० स्त्री०)

खंजरीट–सं०पु० [सं०] १ खंजन पक्षी। उ०—विधि पाठक सुण सारस रसवछक, कोविद खंजरीट गतिकार।—वेलि. २ एक प्रकार का ताल (संगीत)

खंजरीर–सं०पु० [सं० खजरीट] एक पक्षी विशेष, खंजन।

खंजा–सं०पु०—एक मात्रिक छंद विशेष जिसके प्रत्येक चरण में चालीस मात्रायें होती हैं तथा अंत में रगण होता है (र.ज.प्र.)

खंड–सं०पु० [सं०] १ भाग, टुकड़ा, हिस्सा।

मुहा०—खंड-खंड करणौ—चकनाचूर करना।

२ देश, मुल्क (डि.को.) उ०—रांम-रांम रटतौ रहै, आठूं पोहर अखंड। सुमिरण सा सोदा नही, निरख देख नव खंड।—ह.र.

३ रत्नों का एक दोष विशेष. ४ शक्कर। उ०—खायौ जाय खंड में, न खायौ जाय गुळ में।—ऊ.का. ५ काला नमक. ६ दिशा. ७ वन (ह.नां., नां.मा.) ८ मंजिल. ९ महादेव (क.कु.बो., नां.मा.) १० ग्रंथ का परिच्छेद या विभाग। उ०—पदमनाभ पंडित मति कही, वीजा खंड समापति हुई।—कां.दे.प्र. ११ तलवार. १२ मांस (क्षेत्रीय) १३ नौ की संख्या-बोधक॰ (डि.को.)

खंडकाव्य–सं०पु०यौ० [सं०] वह काव्य जिसमें काव्य के संपूर्ण अलंकार या लक्षण न हों, बल्कि कुछ ही हों।

खंडखीण— देखो 'खडपीण' (रू.भे.)

खंडण–सं०पु० [सं०] १ तोड़ने-फोड़ने की क्रिया, भंजन. २ छेदन। उ०—तैसोइ मंडण वीक तणा, खळ खंडण खग धार।—रा.रू.

३ किसी बात को अयथार्थ प्रमाणित करने की क्रिया, निराकरण।

खंडणौ, खंडबौ–क्रि०अ०—खंडित होना, कम हो जाना। उ०—रांम राजा वीजौ ही भाई हुवै जाहनूं कहा उजाड़ कियौ मारियौ सो अठै जद माथ खंड गयौ।—आंमेर रा धणी री वात

क्रि०स०—२ खंडन करना, तोड़ना. ३ नष्ट करना. ४ संहार करना। उ०—खागि ऊछाजियै खंडै रिण अरि दळां, सूर प्रगटाहियै सो सरां सावळां।—हा.झा. ५ किसी बात को अयुक्त ठहराना, निराकरण करना. ६ साथी को छोड़ा कर अकेला करना। उ०—चंदा तौ किण खंडियउ, मौ खंडी किरतार। पूनम पूरउ ऊगसी, आवंतइ अवतार।—ढो.मा. ७ कीमत निश्चित करना।

खंडणहार, हारौ (हारी), खंडणियौ—वि०।

खंडिओड़ौ, खंडियोड़ौ, खंडयोड़ौ—भू०का०कृ०।

खडीजणौ, खंडीजबौ—भाव वा०, कर्म वा०।

खंडत–वि० [सं० खंडित] १ टूटा हुआ, भग्न। उ०—मूंछ केस खंडत नही, नाक न खंडत कोर। पड़ी पुळंतां पाघड़ी, सुकलीणी तज सोर।—वां.दा. २ अपूर्ण।

खंडपति–सं०पु०यौ० [सं०] राजा।

खडपरस, खंडपरसु–सं०पु०यौ० [सं० खंडपरशु] १ शिव, महादेव (क.कु.बो., नां.मा.)

२ परशुराम. ३ विष्णु. ४ राहु. ५ दांत टूटा हुआ हाथी।

खंडपीन–सं०स्त्री०—मछली (अ मा., ह नां.)

खडपूरी–सं०स्त्री०यौ० [रा० खंड=शक्कर+सं० पूलिका] मेवे और मसाले के साथ चीनी भरी हुई पूरी।

खंडप्रळय–सं०पु०यौ० [सं०] चतुर्युगी या ब्रह्मा का एक दिन बीत जाने पर होने वाला प्रलय (पौराणिक)

खंडप्रस्तार–सं०पु० [सं०] संगीत में एक प्रकार का ताल।

खंडफण–सं०पु० [सं०] एक प्रकार का सांप।

खंडवड, खंडविहंड–सं०पु० [सं० खंड] विध्वंश, नाश।

वि०—१ अपूर्ण. २ दो टूक। उ०—सगां रा खेलह में खंडविहंड होर विमांणां बैठा।—वं.भा.

खंडमेरु–सं०पु० [सं०] पिंगल की वह रीति जिसके द्वारा मेरु या एकावली मेरु के बनाये बिना ही मेरु का काम निकल जाता है।

खंडर–सं०पु०यौ० [सं० खंड+रा० घर=र] टूटे तथा गिरे हुए मकान का अवशिष्ट भाग, जीर्णशीर्ण भाग, खंडहर। (मि० 'ढंढेर')

खंडरणौ, खंडरबौ–क्रि०स०—संहार करना, नाश करना।

उ०—वह मुगलां विरदैत, खागै खंडरतौ खळां। पासां खुंदानिम तणा, वानै गौ वानैत।—वचनिका

खंडळ–सं०पु० [सं० खंड] १ देखो 'खंड'।

[सं० खंडल] २ योद्धा, वीर, खड्गधारी योद्धा।

खंडव—देखो 'खांडव' (रू.भे.)

खंडवाळियौ–सं०पु०—खदान में पत्थर तोड़ने का काम करने वाला व्यक्ति।

बिन पड़सं खेलै।—दसदेव

सं०पु० [सं० ख+शीर्ष] ४ बिना सिर का भूत व प्रेत।

उ०—खेजड़ी मांय निकस्यौ खईस, सो जूटौ ग्रांगा गैरणाग सीस।

—करणीरूपक

खकर–सं०पु०[सं० खांक=ग्राकाश+कर=किरण, कांति] मोर (नां.मा.)

खकार–सं०पु०—१ 'ख' वर्ण. २ देखो 'खंखार' (रू.भे.)

खक्खड़—देखो 'खखड़' (रू.भे.)

खख–सं०स्त्री० [फा० खाक] १ भस्म, राख. २ धूलिकरण, रज।

खखड़–सं०पु० [सं० ख+खंड] १ ग्राकाश। उ०—हल चल्लिय हिंद-वांन, खखड़ जुग्गनि खिलखिल्लिय।—ला.रा. २ जबरदस्त, शक्तिशाली, प्रचंड।

वि० [सं० खक्खट] वृद्ध।

खखड़धज–सं०पु० [सं० कुक्कुट+ध्वज] १ प्रचंड, बलशाली. [सं० खक्खट] २ वृद्ध बुजुर्ग।

खखपती–वि०यौ० [फा० खाक+सं० पति] कंगाल, निर्धन, दरिद्र।

खखाटी–सं०स्त्री० ग्रनु०] शुष्क कांस (खांसी) तथा इससे उत्पन्न होने वाली ध्वनि।

खगंद्र–सं०पु० [सं० खगेंद्र] गरुड़। उ०—तेज हाक नीर पूर पाथोद पाड़िया तसां, नगां उतारिया ज्यूं खगंद्र वर्घ नेत। पवं पंख बड़ूजा झाड़िया वोम वज्र पाठ, खळां थाट दूजे 'दलै' बकारिया खेत।

—हुकमीचंद खिड़ियौ

खग–सं०पु० [सं०] १ पक्षी (डि.को.)

वि०वि०—इस शब्द के ग्रागे पत, पति जोड़ने से गरुड़ का ग्रर्थ होता है।

यौ०—खगईसवर, खगपथ, खगराज, खगराव, खगांवर, खगांधीम, खगांराज, खगाधिप, खगिंद्र, खगेंद्र, खगेसर।

२ मोर (नां.मा.) ३ देवता (डि.को.) ४ बादल. ५ तारा. ६ चंद्रमा. ७ ग्रह. ८ गरुड़ (ग्र.मा.) ९ सूर्य (क.कु.बो, डि.को.) [सं० खड्ग] १० खड्ग, तलवार (डि.को.) उ०—फौज घटा खग दांमणी, वंद लगइ सर जेम। पावम पिउ विण वल्लहा, कहि जीवीजइ केम।—ढो.मा.

यौ०—खगखेल, खगचाळौ, खगझल्ल, खगधर, खगमेळ, खगवाट, खगवाहौ [रा०] ११ बाण, तीर (ग्र.मा.)

उ०—खगां झाट समराट लोहलाठ भांजण खळां, तीख खंत्रवाट धर वाट तोरा।—रावत जोधसिंह री गीत १२ सुग्रर के निकले हुए दांत जिनसे वह शत्रु पर प्रहार करता है। उ०—राव रा घोड़ा रै तंग री ठोड़ खग लगायौ सो घोड़ौ च्यारूं पगां ऊपड़ गयौ।

—डाढ़ाळा सूर री बात

१३ भोजन चबाने के ऊंट के दांत विशेष जो ग्रागे के दांतों के ग्रौर डाढ़ों के बीच में होते हैं. १४ रज, धूलि (ग्र.मा.)

१५ गिद्धनी (डि.को.) (रू.भे.–'खग्ग')

खगईसवर–सं०पु०यौ० [सं० खगेश्वर] गरुड़ (ह.नां.)

खगखेल–सं०पु० [सं० खड्ग+खेल] युद्ध, लड़ाई। उ०—हमा चहुवांण ग्रलावद हेल, खांगी-वंध जैत रच्यौ खगखेल।—मे.म.

खगचाळौ–सं०पु० [सं० खड्ग+रा० चाळौ=उपद्रव] युद्ध।

उ०—चखि पेखै साह वरा खगचाळौ जिंद बिना कळ नींद जुई।

—रा.रू.

खगझलौ, खगझल्ल–वि०यौ० [सं० खड्ग+रा० झल्ल] १ तलवार हाथ में रखने वाला, योद्धा, वीर. २ शक्तिशाली, समर्थ।

खगट–वि० [सं० खड्ग+ग्रट शक–खड्गट] १ उदार. २ दातार (ह.नां.)

खगणौ, खगबौ–क्रि०स० [सं० खंडन] नाश करना। उ०—क्षधा प्यासा त्रासा दुसह कर ग्रासा दुख खगे।—ऊ.का.

खगणहार, हारौ (हारी), खगणियौ—वि०।

खगिग्रोड़ौ, खगियोड़ौ, खग्योड़ौ—भू०का०कृ०।

खगीजणौ, खगीजबौ—कर्म वा०।

खगधर–वि०यौ० [सं० खड्ग+धारिन्] तलवार धारण करने वाला, योद्धा, वीर। उ०—लख लोहां पड़ खगधर लागौ, भागौ रे नभ मारग भागौ।—र.रू.

खगधार–सं०पु०यौ० [सं० खड्ग+धारा] १ तलवार.

२ देखो 'खगधर' (रू.भे.)

खगपंथ–सं०पु०यौ० [सं० खग+पथ] ग्राकाश (ग्र.मा.)

खगपत, खगपति, खगपती–सं०पु०यौ० [सं० खगपति] पक्षीराज, गरुड़ (डि.को.)

खगपथ—देखो 'खगपंथ' (रू.भे.)

खगमेळ–सं०पु०यौ० [सं० खड्ग+मेल] युद्ध। उ०—दाटक ग्रनड़ दंड नह दीधौ, दोयण घड़ सिरदाव दीयौ। मेळ नह कीयौ जाय विच महलां, केळपुरे खगमेळ कीयौ।—दुरसौ ग्राढ़ौ

खगराज, खगराजा, खगराय, खगराव–सं०पु०यौ० [सं० खग+राट्] १ पक्षीराज, गरुड़ (डि.को.) उ०—कठठ थट किलकता तरण खग-राव कळ, वाज पंख कूंत चंच जत त्ररणं।—वां.दा.

खगरूप–सं०पु०यौ० [सं० खग=गंधर्व=किन्नर+रूप) एक प्रकार का घोड़ा विशेष (शा.हो.)

खगवाट–सं०पु०यौ०—युद्ध, समर। उ०—घाट निराट ग्रहाड़ां घडतौ, झाट खगां खगवाट झलू।—वलू चांपावत री गीत

खगवाह, खगवाहौ–वि०यौ० [सं० खड्ग+रा० वाहौ] १ तलवार चलाने वाला, योद्धा, वीर। उ०—१ विदा किया भाटी खगवाहा, वेली साथै कमंध दुवाहा।—रा.रू. उ०—२ पळचर उदमाद गयौ ग्रंत पायौ, घांन वडौ ग्रहंकार थियौ। वांकौ भड़ 'सांगौ' खगवाहौ, ग्रीव वपावण हार गयौ।—सांगा री गीत

२ बलि पशु का सिर काटने वाला. ३ राजपूत जाति का व्यक्ति।

कहा०—मण बायां मांणौ नीपजै, खगवाहां रा खेत—राजपूतों द्वारा एक मन ग्रनाज बोने पर केवल पांच सेर उत्पन्न होता है; राजपूत

खंधारी, खंधारौ–सं०पु०—कंधार में उत्पन्न घोड़ा (रा.रू.)
वि०—कंधार का, कंधार संबंधी।

खंधी–सं०स्त्री० [सं० स्कंधक] ऋण वा देन चुकाने का वह ढंग जिसमें सब रुपया एक बारगी न दिया जाकर, बल्कि उसके कई भाग कर के प्रत्येक भाग के चुकाने के लिये अलग-अलग समय निश्चित किया जाय, किश्त। उ०—इत्तै में खंधी आळै म्हाराज आय'र घोटौ घुमायौ, क्यौं—कठीनै री त्यारी करी हौ।—वरसगांठ

खंधीवाळ—देखो 'खांधीवाळ' (रू.भे.)

खंघेड़, खंघेड़ौ–सं०पु०—मिट्टी की खान, मिट्टी खोदने का स्थान।
उ०—कुलड़ कटोरदांन, कचौळा, लोटां ऊंखळ माटड़ी। साह खंवेड़ दास प्रजापत, न्यांही नगरां हाटड़ी।—दसदेव

खंधौ–सं०पु० [सं० स्कंध] १ कंधा (रू.भे.)
[रा०] २ मकान की चौड़ाई की दीवार के वे भाग जो टाट के सुभीते के लिए लंबाई की दीवार से त्रिकोण के आकार के अधिक ऊँचे किये जाते हैं और जिन पर लकड़ी का वह लंबा बड़ा और मोटा लट्ठा रक्खा जाता है जिसे बंडेर कहते हैं. ३ मकान के दरवाजे के बाहर ओट के लिये बनाई गई वह दीवार जिससे बाहर का कोई व्यक्ति सीधे रूप से दरवाजे के भीतर नहीं देख सकता। यह पर्दा-प्रथा रखने वाले व्यक्तियों के दरवाजे के बाहर होती है।

खंब–सं०पु० [सं० स्कंभ] १ खंभा, स्तंभ। उ०—धरण धूज द्रगपाळ दस कोस नागींद्र धड़क, अड़ ब्रहमंड सबद गड़ड़ ऊठै। बड़ड़ खंब खड़ड़ हक हड़ड़ वांणी विखम, रद कड़ड़ असुर अंत करण रुठै।
—ब्रह्मदास दादूपंथी
२ सहारा, आश्रय। उ०—जग अवलंब खंब सतजुग रा, दिवपुर वसतां 'सिवा' दुआ।—रांमलाल वारहठ
[सं० स्कंध] ३ कंधा।
[रा०] ४ बल, टेढ़ा होने का ढंग या क्रिया, तिरछापन।
क्रि०प्र०—आणौ, पड़णौ, निकळणौ, होणौ।
५ पहाड़ की तलहटी का मध्य भाग।

खंबायची–सं०स्त्री०—खम्माच राग (संगीत)

खंबो–सं०पु० [सं० स्कंभ] १ स्तंभ, खंभा।
[सं० स्कंध] २ कंधा।

खंभ—१ देखो 'खंब' (रू.भे.) उ०—कंचण खंभ मंडति कीन वरणण छवि करां।—वां.दा.
सं०स्त्री० [रा०] २ गुफा, कंदरा. ३ पहाड़ की तलहटी का मध्य भाग।
उ०—राव सुरतांण सीरोही छोड़ दी, भाखर री खंभ झाली।
[सं० कुंभी] ४ हाथी (ना.डि.को.) —नैणसी

खंभट–सं०पु० [सं० कर्म+भट] नौकर, सेवक।

खंभात–सं०स्त्री० [सं० स्कंभावती] गुजरात के पश्चिम प्रान्त का एक प्रदेश अथवा नगर।

खंभायच, खंभायची—देखो 'खम्माच' (रू.भे.) उ०—१ अंगे अंतर केसरां, सुरां खंभायच सार।—रा.रू. उ०—२ भणंत ली विनोदयं, कल्यांण केक मोदयं। खंभायची पटंगयं, वगेसरी विहंगमं।—रा.रू.

खंभायत—देखो 'खंभात' (रू.भे.)

खंभारौ–सं०पु०यौ० [रा० खंभ=हाथी+आ'रौ=आश्रय] हाथी के रहने का स्थान। उ०—वेहू एम जूटिया बंधव पिंडवळी अणहारा, खूटा मदझर जुग जांण खंभारा।—र.रू.

खंभूठांणौ–सं०पु० [सं० कुंभी+स्थान] हाथियों के बांधने का स्थान।
उ०—हाथियों के हलके खंभूठांण, तैं खोलै अरापत के साथी भद्र-जाति के टोळै।—र.रू.

खंभौ–सं०पु० [सं० स्कंभ] १ स्तम्भ, थंभा।
[सं० स्कंध] २ कंधा। उ०—पवित्र खंभां वे करिस एण पर, अंक दिवाड़ संख चक्र ऊपर।—ह.र.

खंवद–सं०पु० [फा० खाविंद] पति, मालिक, स्वामी (रू.भे.)

खंवौ–सं०पु० [सं० स्कंध] १ कंधा। उ०—सिवौ खंवां नभ थंभणौ, भीमौ भुजां उदार।—रा.रू.
मुहा०—खंवौ देणौ—सहारा देना, बोझ उठाने में सहयोग देना, शव-यात्रा में अर्थी में कंधा लगाना।
२ रहँट के मध्य स्तंभ का वह मध्य का भाग जो कंगूरेदार बड़े चक्र में फसाया जाता है।

खंसणौ, खंसबौ–क्रि०अ० [सं० कष=हिंसायाम्] १ मस्ती करना.
२ युद्ध करना।
[सं० कास] ३ खांसना. ४ प्रयत्न करना। उ०—ना जीहा पै बीमुहा, नूसंघ सौर जे नथ। केता कव-जन खंस गया, अरि केता भारथ।—द.दा. ५ रगड़ खाना।
खंसणहार, हारौ (हारी), खंसणियौ—वि०।
खंसाणौ, खंसाबौ, खंसावणौ, खंसाववौ—क्रि०स०।
खंसिओड़ौ, खंसियोड़ौ, खंस्योड़ौ—भू०का०कृ०।
खंसीजणौ, खंसीजबौ—भाव वा०।

ख–सं०पु०—१ गड्ढा, गर्त. २ निर्गम, निकास. ३ छेद, बिल. ४ इंद्रिय. ५ कुआ. ६ आकाश. ७ स्वर्ग. ८ मुख. ९ कर्म. १० बिंदु. ११ ब्रह्मा. १२ शब्द. १३ सुख, आनन्द. १४ पहाड़. १५ कमल (एका०) १६ सूर्य (ह.नां.) १७ प्रलय (डि.को.)
सं०स्त्री०—१८ खाई. १९ पृथ्वी. २० लक्ष्मी (एका०)

खइंग–सं०पु० [फा० खिंग] घोड़ा। उ०—तांणावि तंग चढ़िया तुरेह, खख खड़इ खोणि खइंगां खुरेह।—रा.ज.सी.

खइस–सं०पु० [सं० ख+शीर्ष] देखो 'खईस' (रू.भे.)।

खई–सं०स्त्री०—कँटीली झाड़ियों का वह ढेर जो बई (देखो 'वई') के सहारे सिर पर उठा कर लाया जाता है (मि० 'मयारी')

खईस–वि०—१ पापी, दुष्ट. २ नीच. ३ कठोर परिश्रमी।
उ०—स्वारथ परै खंधेड़, खईसां खदका झेलै। कस्सी ठेलै सबै, पीड़

खड़काणी, खड़कावौ, खड़कावणी, खड़कावबौ—क्रि०स०।
खड़किओड़ौ, खड़कियोड़ौ, खड़क्योड़ौ—भू०का०कृ०।
खड़कीजणी, खड़कीजबौ—भाव वा०, कर्म वा०।
खड़क्कणी, खड़क्कबौ—रू०भे०।

खड़काचर-सं०पु०—छोटी-छोटी गोल या अंडाकार ककड़ियां। देखो 'काचर'।

खड़काणी खड़कावौ-क्रि०स०—'खड़कणौ' का स० रूप। देखो 'खड़कणौ'।

खड़कारौ-सं०पु० [अनु०] १ आवाज. २ इशारा, कटाक्ष। उ०—कहौ कुंवर केही करूं, भोजाई रौ भाव। चखां खड़कारा हुवै. सुणै सुरां रौ राव।
—कुंवरसी सांखला री वारता

खड़कौ-सं०पु० [अनु०] १ खड़-खड़ की ध्वनि. २ किसी जलाशय या नदी का तट। उ०—उठै घर पांणी में कैरणा मूं खड़का मार्थं जांणिया। इणहीज तरै वैरी नै पांमणा कया सो पांमणा नहीं दुसमण है।—वी.स.टी. (रू.भे. 'खड़क')
३ मृत्यु-भोज के बाद बजाया जाने वाला ढोल, इस ढोल की आवाज। उ०—विभीचारी विभचार कर, कुळ भ्रम खोय कुमोज। खूट गया इण खलक में, खड़कौ हुवौ न खोज।—ऊ.का.

खड़क्कणी, खड़क्कबौ—देखो 'खड़कणौ' (रू.भे.)
उ०—घर घोड़ी पिव अचपळौ, वैरी वाड़ै वास। नित उठ ढोल खड़क्कवै, कद चुड़लै री आस।—वी.स.

खड़क्खड़ [अनु०] देखो 'खड़खड़'। उ०—भड़ां घड भंजि व्हुऐ वि वि भग्ग। खड़क्खड़ ढल्ल भड़ज्भड़ खग्ग।—वचनिका

खड़ख—देखो 'खड़क' (रू.भे.)

खड़खड़-सं०स्त्री० [अनु०] पदार्थों या शस्त्रों के परस्पर टकराने की ध्वनि। उ०—हाथ पग धूजै धड़धड़, उर दांत हाड गोडा खड़खड़।
—वचनिका

खड़खड़णी, खड़खड़बौ-क्रि०अ०—'खड़खड़' की ध्वनि करना।
खड़खड़ाणी, खड़खड़ाबौ—स०रू०

खड़खड़ाट, खड़खड़ात-सं०स्त्री० [अनु०] ध्वनि विशेष। उ०—पीठ बड़-बड़ात कूरम छटा प्रळै री। मही खड़खड़ात हैजम मचोळां।
—बां.दा.

खड़खड़ियौ-सं०पु० [रा० खड़खड़णौ] १ पालकी, पीनस. २ एक प्रकार की छोटी सवारी की गाड़ी जिसे घोड़े खींचते हैं; तांगा, इक्का।

खड़खड़ी, खड़खड़ौ-सं०स्त्री०पु० [अनु०] कंपायमान होने का भाव या क्रिया, कँपकँपी।

खड़खावणी, खड़खावबौ-क्रि०स० [अनु०] खड़-खड़ की ध्वनि कराना।

खड़खड—देखो 'खड़खीण' (रू.भे., ह.नां.)

खड़ख्खड़-देखो 'खड़खड़' (रू.भे.) उ०—खड़ख्खड़ जोड़ खड़क्कै खग्ग।—रा.ज. रासौ

खड़ग-सं०स्त्री० [सं० खड्ग] १ तलवार, कृपाण (डि.को.)
२ एक प्रकार का गेंडा जिसके मुख के अग्र भाग पर सींग निकला हुआ होता है, इसका दूसरा नाम गेंडा हाथी भी है (डि.को.) (रू०भे० 'खड़गी')

खड़ग-खेल्ह-सं०पु०यौ० [सं० खड्ग+रा० खेल] युद्ध। उ०—अर सिंह देव भी साथ ही हेठै आय खड़ग-खेल्ह मचाय महाप्रळय रा महानट री आभा धरी।—वं भा.

खड़गधर-वि०यौ० [खड्ग+धारिन्] तलवार धारण करने वाला योद्धा, वीर। उ०—वर वाहरू प्रताप खड़गधर, सुज वीसरे न पाखर सेर।
—पीथोजी आसियौ

खड़गधारणी-वि०स्त्री०यौ० [सं० खड्ग+धारिन्] तलवार धारण करने वाली।
सं०स्त्री०—दुर्गा (डि.को.)

खड़गधारी-वि० [सं० खड्ग] देखो 'खड़गधर' (रू.भे.)

खड़गरूप-सं०पु०—एक प्रकार का घोड़ा (शा.हो.)

खड़गसाही-सं०पु०—मारवाड़ राज्य का एक प्रकार का प्राचीन सिक्का।

खड़गसिध-वि०यौ० [सं० खड्ग+सिद्ध] वीर, योद्धा। उ०—धरा उजवाळियां दीपियौ खड़गसिध।—महाराजा करमसिंह रौ गीत

खड़गहत, खड़गहथ-वि० [सं० खड्ग+हस्त] १ योद्धा, वीर, खड्ग-धारी। उ०—खत्रवाट खत्री गुर होये खड़गहथ, आहण तें साचविये इम।—हरीसूर बारहठ
२ तलवार से आहत।

खड़गी—१ देखो 'खडग' (२) (डि.को.)
[सं० खड्गिन्] २ योद्धा।

खड़ग्ग—देखो 'खड़ग' (रू.भे.) उ०—प्रवाहै खड़ग्ग भड़ै हत्थ पग्गं, लहै जांण आरा धरं काठ लग्गं।—रा.रू.

खड़ड़-सं०स्त्री० [अनु०] ध्वनि विशेष। उ०—खड़ड़ नर हड़ खपर खड़खड़।—र.ज.प्र.

खड़ड़णौ-क्रि०अ०—हड़बड़ाना, घबराना। उ०—गड़ड़ते सोर भरि जोरमातो गहण। खड़ड़ते कायरे लोह खिलते।—महाराजा करण-सिंह रौ गीत

खड़ड़ाट—देखो 'खड़खड़ाट' (रू.भे.)

खड़चर-सं०पु०—पशु। उ०—धूजै सीस ईस भजि भाई, खड़चर रते पड़ै मति खाई।—ह.पु.वा.

खड़चराई-सं०स्त्री०—मवेशी रखने वालों से लिया जाने वाला लगान विशेष।

खड़जंत्र-सं०पु० [सं० षड्यंत्र] षड्यंत्र, धोखा, गुप्त चाल, कपटपूर्ण आयोजन।

खड़णी-सं०स्त्री० [सं० खेटनम्] १ खेत जोतने की क्रिया या भाव. २ जोतने योग्य भूमि. ३ किसी वाहन के चलाने की क्रिया या ढंग।

खेती की ओर ध्यान नहीं देते क्योंकि उनका मुख्य कार्य युद्ध है।

खगांघर-सं०पु०यौ० [सं० खग+रा० घर] पक्षियों का घर, पेड़। (नां.मा., ह.नां.)

खगांधर-सं०पु०यौ० [सं० खग+धारिन्] वृक्ष, पेड़।

खगांधीस-सं०पु०यौ० [सं० खग+अधीश्वर] गरुड़। उ०—मातंग हेरि मांनहु अगीस, मांनहु पनग्ग लखि खगांधीस।—ला.रा.

खगांपत, खगांपति-सं०पु० [सं० खग+पति] गरुड़। उ०—वागां आचरत पवन महाराज वखतै विढण, सरोतर तोलतां पांण अवसांण। नगांपत कूरमांनाथ चलतां नगां, खगांपत हुऔ अवछाड़ खूमांण।
—हुकमीचंद खिड़ियौ

खगांराज—देखो 'खगराज' (रू.भे.)

खगाट-सं०स्त्री० [सं० खड्ग] १ खड्ग, तलवार। उ०—१ आसथांन मुरधर इळा, खाटी पांण खगाट।—अज्ञात उ०—२ वेध धरती तणै खगाटां वाजिया, उभै राठौड़ छत्रधर अरोड़ा।—पहाड़खां आढ़ौ
सं०पु०—योद्धा, वीर।

खगाधिप-सं०पु० [सं० खग+अधिप] पक्षीराज, गरुड़। उ०—पीळी पखराळ तुरंग न पंत, खगाधिप अनंत खिलंत।—अज्ञात

खगारण-सं०पु०यौ० [सं० खग+रमण=भर्ता, पति] गरुड़। उ०—आरोह खगारण धाय धरारण, चक्र चलारण काज कियौ।
—करुणासागर

खगाळी-वि०यौ० [सं० खड्ग+रा०प्र० आळी] खड्ग धारण करने वाली। सं०स्त्री०—देवी।

खगिंद, खगिंद्र—देखो 'खगेंद्र'। उ०—गिरंद कछवाह होतां कदम चलत गत, खगिंद्र दूजे 'दले' ढांकिया खेत।—अनूपरांम कवियौ

खगि-सं०पु० [सं० खड्ग] तलवार। उ०—खत्रवट खगि त्यागी सुयण मिणि साव खरौ।—ल.पिं.

खगींद्र-सं०पु० [सं० खगेन्द्र] गरुड़। उ०—घावां गुडाकेस पवै कार्ट की करिंद्र घड़ा, जे खगींद्र पाखै नाग दार्ट कौ जुयांन।
—कीरतसिंह खिड़ियौ

खगू-सं०स्त्री०—देखो 'खगि' (रू.भे.)

खगेंद्र-सं०पु०यौ० [सं०] गरुड़। उ०—अनळ वळ प्रवळ वहतां अकळ अजावत, सिखर उड पड़ै गज धजां समेत। गिरंद कछवाह होतां कदम चलत गत, खगेंद्र दूजा दला छवै रणखेत।—अज्ञात

खगेल—देखो 'खगैल' (रू.भे.)

खगेस-अर-सं०पु०—[सं० खगेस+अरि] शेषनाग (अ.मा.)

खगेस, खगेसर-सं०पु० [सं० खग+ईश, सं० खग+ईश्वर] पक्षीराज गरुड़ (डि.को.) उ०—रटियौ हरि गजराज, तज खगेस धायौ तठै।
—रांमनाथ कवियौ

खगैल-सं०पु० [रा० खग+प्र० एल=वाला] १ सूअर। उ०—औखा गिरां रहता खगैल विना धोका आळा, पूर्ग तू ही अनोखा सिकारी प्रथीनाथ।—मेहकरण महियारियौ (मि० 'खग'—१२)

२ योद्धा।

खगोळ-सं०पु० [सं० खगोल] १ आकाश-मंडल. २ आकाश के नक्षत्र, ग्रह, तारे व अन्य पदार्थों के संबंध में ज्ञान प्राप्त करने की विद्या।

खग्ग-सं०स्त्री० [सं० खड्ग, प्रा० खग्ग] देखो 'खग'। (रू.भे.) उ०—अनंक खग्ग वग्ग तैं सु अंख खोलते नहीं, पटादि खेल पेलकै सटा समाळते नहीं।—ऊ.का. (यौ० खग्गवग्ग)

खग्गवग्ग-सं०पु०यौ० [सं० खड्ग+वग्ग=बजना] तलवार का युद्ध। उ०—आजे मीत अमल्ल खग्ग-वग्गां खणकारां, पिड़ सींधू सुर पड़ै भड़ां कानां भणकारां—ऊ.का.

खग्गवांणी-सं०स्त्री०यौ० [सं० खड्ग+वाणी] १ तलवार की झनझनाहट। उ०—मथांणे मटल्ले मही जांण हल्लै। अगे अप्रवांणी वजै खग्गवांणी।—रा.रू.
[सं० खग+वाणी] २ पक्षियों का कलरव।

खग्गवारी-सं०स्त्री० [सं० खड्गपालि] तलवार की धार। उ०—वहै खग्गवारी, करग्गे कटारी। तुटै मुंड तुंड, कळा नाट कुंड।—रा.रू.

खग्गि, खग्गी-सं०स्त्री० [सं० खड्ग] १ तलवार। उ०—आपै ही जांणावसी, भली ज होसी वग्गि। कै मांगिया दरसावियां, कै ऊछजियां खग्गि।—हा.झा. २ पश्चिम के मुसलमानों का एक नृत्य।

खग्रास-सं०पु० [सं०] ऐसा ग्रहण जिसमें सूर्य्य या चंद्र का सारा मंडल छिप जाय; पूर्ण ग्रहण।

खड़-सं०स्त्री० [सं०] १ घास। उ०—ते खड़ ऊभा सूकसी, नह चरसी हिरणांह।—वां.दा.
कहा०—१ खड़ कटाओ चावै गेलै चलाओ—चाहे घास कटाओ चाहे रास्ते चलाओ; उतने ही समय में चाहे कुछ भी कार्य करा लो।
२ झड़ जठैई खड़—जहां मंद-मंद हल्की वर्षा होगी वहीं अधिक घास होगी; मंद-मंद हल्की वर्षा की फुहारों की प्रशंसा।
सं०पु०—२ श्योनक, लोध, सोनापाठी वृक्ष. ३ एक ऋषि का नाम। ४ वन, जंगल। उ०—घेनूं चरतोड़ी धोरां खड़ धाती, ऊखां झरतोड़ी लोरां झड़ आती।—ऊ.का.
सं०स्त्री० [रा०] ५ चलाने या हांकने की क्रिया या भाव.
६ चाल में चलने की गति।

खड़क-सं०स्त्री०—१ जलाशय या नदी का तट, जलाशय का बांध.
२ चिंता। उ०—चंदू री मां नै खड़क लागी, वै मांगा तांगा करण सरू किया।—वरसगांठ ३ एक प्रकार का खाद्य पदार्थ।
उ०—खाजे खड़क सालणे वडी, कूर कपूर तळी पापड़ी।—कां.दे.प्र.

खड़कणी, खड़कबौ-क्रि०अ०अनु० [सं० खिट] १ 'खड़-खड़' शब्द होना. २ ढोल का बजना (मि० 'खड़बकणो') ३ ध्वनि करते हुए जल-प्रवाह का बहना। उ०—पावस पड़िनै रहीआ छै, परनाळ साळ पहाड़ खड़कीआ छै।—रा.सा.सं. ४ देखो 'खटकणो'।
क्रि०सं०— ५ तह पर तह लगाना।
खड़कणहार, हारौ (हारी), खड़कणियौ—वि०।

खड़ाणहार, हारौ (हारी), खड़ाणियौ—वि० ।
खड़ायोड़ौ—भू०का०कृ० ।
खड़ाईजणौ, खड़ाईजबौ—कर्म वा० ।
खड़ावणौ, खड़ावबौ—(रू.भे.)

खड़ाबूज—देखो 'खाडाबूज' (रू.भे.)

खड़ावणौ, खड़ावबौ—क्रि०स० प्रे०रू०—देखो 'खड़ाणौ' (रू.भे.)

खड़िॐ-वि० [सं० खटी = खड़िया मिट्टी जो प्रायः श्वेत होती है] सफेद, श्वेत (डि.को.)

खड़िणौ, खड़िबौ देखो 'खड़णौ' (रू.भे.)

खड़ियोड़ौ-भू०का०कृ०—१ चलाया हुआ, हाँका हुआ. २ जोता हुआ । (स्त्री० खड़ियोड़ी)

खड़ियौ-सं०पु०—१ कपड़े का बना हुआ कंधे पर रखने का ब्राह्मणों का भिक्षा माँगने का झोला, थैला. २ दोनों कंधों पर लटकाया जाने वाला बड़ा थैला ।

खड़ीड़-सं०स्त्री० [अनु०] भारी वस्तु के गिरने की अनुकरणात्मक ध्वनि ।

खड़ीडंकी-सं०स्त्री०—मालखंभ की एक कसरत ।

खड़ीण-सं०पु०—वह नीची जमीन जहाँ वर्षा ऋतु में पानी भर जाता है तथा सूखने के बाद उस भूमि को हल चला कर जोतते हैं ।
उ०—'जेहळ' ताळ खड़ीण व्है, तरवर लाकड़ होय । हरम ढहै ढूंढ़ा हुवै, जस अविकारी जोय ।—बां.दा.

खड़ौ-वि० [सं० खड्क] (स्त्री० खड़ी) १ धरातल से समकोण पर स्थित, सीधा ऊपर को उठा हुआ. २ पृथ्वी पर पैर रख कर टाँगों को सीधा कर अपने शरीर को ऊंचा किया हुआ प्राणी. ३ प्रस्तुत, उपस्थित. ४ तैयार, सन्नद्ध, उद्यत. ५ आरंभ, जारी. ६ घर, दीवार आदि ऊँची वस्तुओं के विषय में स्थापित, निर्मित. ७ जो उखाड़ा अथवा काटा न गया हो. ८ बिना पका, कच्चा. ९ समूचा, पूरा. १० जिसमें गति न हो, ठहरा हुआ. ११ चैतन्य. १२ तालाव आदि की मिट्टी की जमी हुई मोटी तह ।

खचत-वि० [सं० खचित] १ जड़ित, जड़ा हुआ. २ लिखित. ३ बनाया हुआ. ४ चित्रित ।

खचर-सं०पु० [सं०] १ पक्षी. २ आकाश में विचरण करने वाले. ३ देखो 'खच्चर' (रू.भे.) (स्त्री० खचरांणी) ४ राक्षस ।

खचाखच-क्रि०वि० [अनु०] बहुत भरा हुआ, ठसाठस ।
मुहा०—खचाखच भरणौ—खूब ठूंस ठूंस कर भरना ।

खच्चर-सं०पु०—गधे और घोड़ी के संयोग से उत्पन्न पशु, जिसके कान गधे के समान होते हैं । मजबूती व बोझा ढोने में यह घोड़े से भी अधिक शक्ति रखता है ।
पर्याय०—वेगसर, वेसर ।

खज-सं०पु० [सं० खाद्य, प्रा० खज्ज] खाद्यपदार्थ, भक्ष्यपदार्थ ।
उ०—मांनसरोवर मांय, बुग मुराळ भेळा वसै । खज अपणौ ही खाय, भाग प्रमांणै भैरिया ।—महाराजा बळवंतसिंह

खजक-सं०पु० [सं० खजकः] मथनी, मथदंड (डि.को.)

खजमत-सं०स्त्री० [अ० खिदमत] १ हजामत.
यौ०—खजमत-खूंटी । २ देखो 'खिदमत' (रू.भे.)

खजर-वि०—क्रोध से पूर्ण, क्रुद्ध । उ०—खजर उभै चख मही रै अगन भटकै अजर, गाज घण जु ही रै बाज घुंसां गजर । खोटहड़ कही रै अदन ऊभौ खजर, नहीं रै जुहारण जिसौ आवै नजर ।
—बदरीदास खिड़ियौ

खजलौ-सं०पु०—एक प्रकार का पकवान जिसे खाजा भी कहते हैं ।

खजांनची-स०पु० [अ० खज़ान:+फा० ची] खजाने का अफसर, कोषाध्यक्ष । उ०—बादसाह चाही कौल आपरौ पाळजै सो खजांनची नूं तेड़ नै कही—नकद खजाने रौ लेखौ करौ ।—नी.प्र.

खजांनासार-सं०पु० [अ० खजान:+सं० सार] संपत्ति, धन-दौलत (ह नां.)

खजांनूं, खजानौ-सं०पु० [अ० ख़ज़ान: खिज़ान:] १ वह स्थान जहाँ धन संग्रह करके रक्खा जाय, धनागार, कोष । उ०—खतम खुसी अनखूट खजांनां, निरमळ चंदमुखी ग्रह नार ।—र.रू.
२ मूठ के समीप तलवार का वह भाग जहाँ से तलवार की चपटाई या चौड़ाई शुरू होती है । यह भाग वहाँ तक होता है जहाँ तक कि तलवार की धार आरंभ होती है ।

खजाणौ. खजाबौ-क्रि०स० [सं० खिद्यते, प्रा० खिज्जइत] १ खिजाना, चिढ़ाना. २ क्रोधित करना ।

खजार-सं०स्त्री०—गर्भवती न होने वाली बकरी ।

खजित-सं०पु० [सं०] एक प्रकार के शून्यवादी बौद्ध ।

खजीनौ—देखो 'खजांनौ' (रू.भे.) उ०—करियौ प्रभुजी की बात सब दिन, करौ प्रभुजी की बात रे । हस्ती घोड़ा महल खजीना, दे दौलत पर लात रे ।—मीरां

खजूर-सं०उ०लि० [सं० खर्जूर] एक प्रकार का पेड़ जो गरम देशों में समुद्र के किनारे या रेतीले मैदानों में होता है । इस जाति के पेड़ सीधे खंभे की तरह ऊपर चले जाते हैं । इसके फल स्वादिष्ट होते हैं ।
पर्याय०—खिजूर, खोडिया, जगभख, जायंति, ताळ, त्रणद्रुम, पड़द, परपत्रावळि पिंचकिंच ।
कहा०—पीतळणौ नै फेर खजूर रौ—फिसलना बुरा है किन्तु खजूर वृक्ष से फिसल जाना और भी बुरा है; अत्यधिक पतन व हानि पर ।
अल्पा० 'खजूरड़ी' ।

खजूरड़ी, खजूरि—देखो 'खजूर' (रू.भे.) उ०—१ कारी कुटका बरसाळै में टळै ऊंटां मजूरड़ी । ढोलौ अर आंगळी देवण, मांडण खूब खजूरड़ी ।—दसदेव उ०—२ ढालि खजूरि पूठि ढळकावै, गिरिवर सिणगारिया गय ।—वेलि.

खजूरियौ—१ देखो 'खजूर' (रू.भे.) २ देखो 'खजूरियौबावळ' ।

खजूरियौबावळ-सं०पु०यौ० [सं० खर्जूर+बर्बूरः] एक प्रकार का बबूल का वृक्ष जो खजूर के वृक्ष के समान ऊँचा होता है ।

खटंग-सं०पु० [सं० षट्+अंग] वेद के छः अंग—शिक्षा, काव्य, व्याकरण, निरुक्त, छंद और ज्योतिष ।

खड़णी, खड़बौ-क्रि०स० [सं० खेटनम्] १ चलाना, हांकना।
उ०—घर-घर सूं नीसर नै घोड़ी, खाली ऊजड़ खड़िया है।—ऊ.का.
२ खेत को जोतना।
क्रि०अ० [रा०] ३ मरना।
खड़णहार, हारौ (हारी), खड़णियौ—वि०।
खड़ाणौ, खड़ावौ, खड़ावणौ, खड़ाववौ—क्रि०स० प्रे०रू०।
खड़िग्रोड़ौ, खड़ियोड़ौ, खड़्योड़ौ—भू०का०कृ०।
खड़ीजणौ, खड़ीजबौ—कर्म वा०, भाव वा०।

खड़दोखड़, खड़दोखड़ौ-सं०पु०—वह वर्ष जिसमें चारे का अभाव हो। दुर्भिक्ष, दुष्काल। उ०—पाधर रा बादसाह वड़ा भोकाई सो एक वरस इहां गांवां में खड़दोखड़ सो हुवौ।—सूरे खींवे री वात

खड़पीण—देखो 'खडपीण' (रू भे.)

खड़वड़-सं०स्त्री० [अनु०] १ खट-खट का शब्द, व्यतिक्रम, उलटफेर, हलचल. २ लड़ाई, वैमनस्य, झगड़ा।

खड़वड़णौ, खड़वड़वौ-क्रि०अ०—१ आतुरता करना, उतावला होना। उ०—सौ पांवंडा आघा गया तरै रावळा सातवीसी रजपूत खड़वड़ीया जुद्ध करण नै तद ठाकरां कही माफ करावौ।—वी.स.टी.
२ लड़ाई होना या करना। उ०—खाग झट उरड़ पड़ ढालड़ा खड़वड़ै, रीस चढ़ सोहड़ आयध अग्रुट रड़वड़ै।
—सुरतांणसिंह नीवाज रौ गीत
३ सतर्क होना. ४ चौंकना. ५ विचलित होना।
खड़वड़णहार, हारौ (हारी), खड़वड़णियौ—वि०।
खड़वड़ाणौ, खड़वड़ावौ—क्रि०स० प्रे०रू०।
खड़वड़िग्रोड़ौ, खड़वड़ियोड़ौ, खड़वड़्योड़ौ—भू०का०कृ०।
खड़वड़ीजणौ, खड़वड़ीजवौ—क्रि० भाव वा०।

खड़वड़ाट, खड़वड़ाहट-सं०स्त्री० [अनु०] ध्वनि विशेष। उ०—वहलां रा वांस पइयां रौ खड़वड़ाट हुय नै रह्यौ छै।—रा.सा.सं.

खड़वड़ियौ-भू०का०कृ० [अनु०] १ खड़-खड़ शब्द किया हुआ. २ झगड़ा किया हुआ। (स्त्री० खड़वड़ियोड़ी)

खड़वड़ी-सं०स्त्री० [अनु०] देखो 'खड़वड़' (रू.भे.)

खड़वूजौ, खड़वूझौ—देखो 'खरवूजौ' (रू.भे.)

खड़वौ-सं०पु०—१ किसी गाढ़ी चीज की जमी हुई मोटी तह, जमा हुआ कतरा, थरकन. २ हिंदवानी का विकृत फल।

खड़ब्भड़, खड़भड़—देखो 'खड़वड़'। उ०—१ किलवांइण चंचळ पाय कळा, विघ सोच खड़ब्भड़ आठवळा।—रा.रू. उ०—२ बूर पड़ि जंबूर विहुं घड़, भुरज बीछंडि पड़ै खड़भड़।—रा.रू.

खड़भड़णौ, खड़भड़बौ-क्रि०अ०—देखो 'खड़वड़णौ' (रू भे.)
उ०—जठी तठी नूं कर कर जुरड़ा, खिल खावण खड़भड़िया है।
—ऊ.का.

खड़भड़ाट—देखो 'खड़वड़ाट' (रू भे.)

खड़भड़ियोड़ौ—देखो 'खड़वड़ियौ' (रू.भे.)

खड़भड़ी—देखो 'खड़वड़ी' (रू.भे.)

खड़वा-सं०स्त्री० [सं० खिट] १ जोती अथवा वोई हुई जमीन. २ पशु की चाल. ३ यात्रा।

खड़सल-सं०स्त्री०—चार पहियों का रथ विशेष जिसका टप गुम्बजदार होता है। उ०—वनाती भूलां घातियां रहकळां इकां खड़सलां जूता छै, सु हालियां थकां घोड़ां री मांम पाड़ै।—रा.सा.सं.

खड़हड़—देखो 'खड़वड़' (रू.भे.) उ०—खड़ड़ नरहड़ खपर खड़हड़।
—र.ज.प्र.

खड़हड़णौ, खड़हड़वौ-क्रि०अ०—लड़खड़ाना। उ०—माळवणी कउ तन तप्यउ, विरह पत्तरियउ अंगि, । ऊभी थी खड़हड़ पड़ी, जांणे डसी भुयंगि।—ढो.मा. २ ध्वनि होना। उ०—ताणावि तंग चडिया तुरेह, खड़खड़इ खोगि खइंगां खुरेह।—रा.ज.सी. ४ गिरना.
उ०—१ सखी अमीणौ साहिवौ, वोह जूंभौ वळवंड। सो थांभै भुजडंड सूं, खड़हड़तौ ब्रहमंड।—वां.दा. उ०—२ कांगरा लागा थका विराजै छै जांणे आकासलोक नूं गिळण नूं दांत दिया छै। ऊंची निजरि करि जोइजै तौ माथा री मुगट खड़हड़ै।
—रा.सा.सं.
५ विजली चमकना।
खड़हड़णहार, हारौ (हारी), खड़हड़णियौ—वि०।
खड़हड़िग्रोड़ौ, खड़हड़ियोड़ौ, खड़हड़्योड़ौ—भू०का०कृ०।

खड़हियौ, खड़हीयौ—देखो 'खड़ियौ' (रू.भे.) उ०—भजन भेद जांणै कछु नांही, कुवधि खड़हीया काखां मांही।—ह.पु.वा.

खड़ाऊ-सं०स्त्री०—पैर में पहनने की तलुये के आकार की काष्ट की पटरी, पादुका।

खड़ाक-वि०—सीधा, खड़ा। उ०—भड़ता महमंद वेग भांजियौ सींग खड़ाक वेगड़ा सांड।—तेजसी खिड़ियौ

खड़ाखड़-सं०स्त्री० [अनु०] १ ध्वनि विशेष। उ०—तरवारियां री खड़ाखड़ वाज रही छै। नवाव पण खड़ौ खड़ौ देख रह्यौ छै।
—पदमसिंह री वात
२ प्रहार या प्रहार से उत्पन्न होने वाली ध्वनि विशेष।
उ०—अर वरछियां री धमाधम लेणी होवै, तरवारियां री खड़ाखड़ सहणी होवै सो म्हारै सागै आवौ।
—कुंवरसी सांखला री वात

खड़ाखड़ी-क्रि०वि०—१ खड़े-खड़े. २ एकाएक। उ०—मो डेरा करो इस तरह खड़ाखड़ी क्यूं कर चलणा होय।
—ढूलची जोइये री वारता
सं०स्त्री०—खटपट, शत्रुता, वैमनस्य।

खड़ाखर-सं०पु० [सं० षड़ाक्षर] छः वर्ण या अक्षर (र.ज.प्र.)

खड़ाणौ, खड़ावौ-क्रि०स० [सं० खेटनम्] ('खड़णौ' का प्रे०रू०) १ चलवाना, हांकने का कार्य दूसरों से करवाना. २ भूमि को जुतवाना।

खटणी, खटवौ–क्रि०स०अ०—१ समाना। उ०—१ खणियां न होइ नाडां खटै ऊफणियां हाडां उदधि।—वं.भा.

कहा०—पतळी छाछ खटै नहीं पांणी—पतली छाछ में और अधिक पानी नहीं समा सकता; जिसका आधार ही कमजोर हो उसके लिए किसी प्रकार बोझ सहन करना कठिन होता है।

२ पर्याप्त होना. ३ जरूरत होना. ४ प्राप्त करना, उपार्जन करना. उ०—आवै एम 'ओपलो' आढ़ो, खूनी कासूं लाभ खटै। ताहरी डसण डसण ताखारी, मेलूं जद मो दाझ मिटै।—ओपो आढ़ो ५ जीतना. ६ निभना. ७ सहन होना. ८ हजम होना।

खटणहार, हारो (हारी), खटणियौ—वि०।

खटाणौ, खटाबौ, खटावणौ, खटाववौ—प्रे०रू०।

खटिओड़ौ, खटियोड़ौ, खट्योड़ौ—भू०का०कृ०।

खटीजणौ, खटीजवौ—क्रि० कर्म वा०, भाव वा०।

खटताळ–सं०पु० [सं० षट्ताल] मृदंग का एक ताल जो आठ मात्राओं का होता है।

खटत्रीस–वि० [सं० षट्+त्रिंशत्] देखो 'छत्तीस'।

खटदरसण–सं०पु० [सं० षट्+दर्शन] १ छः प्रकार के दर्शन—न्याय, वैशेषिक, सांख्य, मीमांसा, उत्तर मीमांसा और योग. २ ये छः प्रकार के समूह—ब्राह्मण, जोगी, जंगम, भाट, संन्यासी और साध। उ०—खटदरसण सब ठगि खाया, बाजी का भरम न पाया।

—ह.पु.वा.

(रू.भे.–खटवरण, षटवरण) २ छः की संख्या*।

खटदरसणी–सं०पु०यौ० [सं० षड्दर्शन+रा० प्र० ई] १ षटदर्शन का ज्ञाता, पंडित। उ०—खटदरसणी रहै तिण नगरी रै विखै राजा भोज राज करै।—चौबोली २ देखो 'खटदरसण' (२)

खटपट–सं०स्त्री० [अनु०] १ अनबन, वैमनस्य, लड़ाई-झगड़ा।

उ०—उस दिन भिस्तां अर भिस्तन में कुछ खटपट हो गई सो दरवाजे रा किंवाड़ घा सो जुड़िया नहीं।

—पलक दरियाव री वात

मुहा०—खटपट होणी—लड़ाई-विरोध होना।

२ दो कठोर वस्तुओं के टकराने का शब्द. ३ खट-पट का शब्द. (रू.भे.–खटखट) ४ काम, कार्य (रू.भे.–खटपटो)

खटपटणौ, खटपटवौ–क्रि०अ०—टकराने से खट-खट की ध्वनि।

उ०—विकराळ काळ मुगळी वजाग, खटपटी आंण रण वीर खाग।

—वि.सं.

खटपटियौ–वि०यौ०—१ लड़ाकू, झगड़ालू. २ प्रपंची।

खटपटी–वि०—१ प्रपंची. २ झगड़ालू।

खटपटो–सं०पु०—काम, कार्य।

खटपद–सं०पु०यौ० [सं० षट्पद] १ भौंरा, भ्रमर (ह.नां.)

२ छः की संख्या*।

खटपदी–सं०स्त्री०यौ० [सं० षट्+पदी] १ जूं (डि.को.)

२ वह प्राणी जिसके छः पैर हों. ३ छप्पय छंद जिसमें छः चरण होते हैं. ४ भ्रमरी, भौंरी।

खटब्रन, खटवन्न—देखो 'खटदरसण' (२) (रू.भे.)

खटभाख, खटभाखा–सं०स्त्री०यौ० [सं० षट्+भाषा] छः भाषायें—१ संस्कृत २ प्राकृत ३ शौरसेनी ४ प्राच्या ५ आवन्ती ६ नागरापभ्रंश। उ०—पगां विदिया सह जोड़ै पांण, वळै पग तो खटभाख वखांण।

—ह.र.

खटमल–सं०पु० [सं० खट्वा+मल] मटमैले उन्नावी रंग का एक प्रसिद्ध कीड़ा जो गरमी में मैली खाटों. कुरसियों और बिस्तरों आदि में उत्पन्न होता है, उडुस।

पर्याय०—किटिभ, मतकुण, मांकड़, मांकण।

खटमली–वि०—खटमल के रंग का, गहरा उन्नावी या खैरा रंग का।

खटमात, खटमाता, खटमातुर–सं०पु०यौ० [सं० षाण्मातुर] स्वामी कार्तिकेय जिनका पालन छः कृतिकाओं द्वारा किया गया था (अ.मा., नां.मा.)

खटमिट्ठौ–वि०यौ०—देखो 'खटमीठौ' (रू.भे.)

खटमिठौ, खटमीठौ–वि०यौ०—कुछ खट्टा और कुछ मीठा, जिसमें खट्टा और मीठा दोनों स्वाद हों।

खटमुख–सं०पु०यौ० [सं० षट्+मुख] जिसके छः मुँह हों, स्वामी कार्तिकेय (डि.को., ह.नां.)

खटरस–सं०पु०यौ० [सं० षट्रस] १ छः प्रकार के रस या स्वाद—खट्टा, खारा, कड़वा, कसैला, मीठा, तीखा। उ०—मुरधर थया वधामणा, गौसरि खार विकार। खटरस भोजन वांमणां, घर-घर मंगळाचार।

—रा.रू.

२ इन सब रसों का मिश्रण, एक आचार. ३ खटाई।

उ०—हरदी जरदी ना तजै, खटरस तजै न आंम। असली गुण का ना तजै, गुण कूं तजै गुलांम।—अज्ञात ४ देखो 'खटरास'।

खटराग–सं०पु०यौ० [सं० षट्राग] १ संगीत के छः राग—भैरव, मलार, श्रीराग, हिंडोल, मालकोस और दीपक. २ बखेड़ा, झंझट. ३ वैमनस्य, झगड़ा।

मुहा०—१ खटराग करणौ—झंझट करना. २ खटराग फैलाणौ—आडंबर बढ़ाना; झंझट बढ़ाना. ३ खटराग पड़णौ—बाधा उपस्थित होना; झंझट पड़ना. ४ खटराग मचाणौ—देखो 'खटराग करणौ'।

४ छः की संख्या* (डि.को.)

खटरास–सं०पु०—मनमुटाव, मनोमालिन्य।

क्रि०प्र०—पड़णौ होणौ।

खटरित, खटरितु–सं०स्त्री० [सं० षट्ऋतु] छः प्रकार की ऋतुएँ

खटरिपु–सं०पु० [सं० षड्रिपु] १ काम-क्रोधादि मनुष्य के छः विकार. २ शरीरधारी या जीवधारी के छः विकार—उत्पत्ति, शरीर-वृद्धि, बालपन, प्रौढ़ता, वृद्धता और मृत्यु।

खटरौ–वि०—ठिगना, नाटा।

खटवदन–सं०पु० [सं० षट्+वदन] स्वामी कार्तिकेय (अ.मा.)

खट–वि० [सं० षट्] छः। उ०—वेद च्यारि खट अंग विचार, जांणि चतुरदस चौसठ जांणि।—वेलि.

सं०पु०—दो चीजों के परस्पर टकराने या किसी कड़ी चीज के टूटने से उत्पन्न शब्द।

क्रि०वि०—शीघ्र, जल्दी।

मुहा०—खट सूं—तत्काल, तुरंत।

खटअंग–सं०पु०यौ०—देखो 'खटंग' (रू.भे.)

खटक–सं०स्त्री०—१ खटकने का भाव, खटका. २ दर्द, वेदना, कष्ट, तकलीफ. ३ द्वेष, पुराना वैर. ४ कसक, टीस। उ०—जातां सुरग कळपतर जीवा, खटक हियै सुण नांय खटी।

—रांमलाल बारहठ

५ प्रहार। दिली साल सीसोदिया ढाल हिंदू दळां, उभै वातां भली पड़ी अणठेल। खीज थारी 'अमर' वीज वाळी खटक, 'अमर' री रीझ दरियाव री उझेल।—किसनौ आढ़ौ

खटकण—देखो 'खटकळ'।

खटकणौ, खटकबौ–क्रि०अ०—१ खटकना, कसकना. २ शरीर में किसी कांटे आदि के गड़ने या कंकरी, तिनका आदि बाहरी चीजों के आ पड़ने के कारण रह-रह कर पीड़ा होना। उ०—ओ तौ रांम सदा थांरा कैण मे, ओतौ खटकै न घाल्यां नैण में।—गी.रा.

३ बुरा मालूम होना। उ०—खटकै खत्रवेध सदा खेहड़तौ, दिन प्रत दाखंतौ खत्रदाव। अकबर साह तणौ ऊदावत, रांण हियै चरणां अनराव।—पीथौ आसियौ

मुहा०—आंख में खटकणौ—अप्रिय लगना।

४ विरक्त होना. ५ डरना. ६ प्रहार होना। उ०—अर तुरकां रा हाडां पर हाडां रा खारा खंग खटकिया।—वं.भा. ७ परस्पर झगड़ा होना. ८ किसी प्रकार के अनिष्ट या उपकार का अनुमान होना. ९ अनुपयुक्त जान पड़ना, ठीक न जान पड़ना. १० कष्ट देना, बाधा पहुँचाना।

कहा०—खटके कणाने नै खटकारे कणाये—दुख किसी से होता है और दुख दिया किसी को जाता है; दुख देने वाले को उसका बदला चुका कर किसी अन्य को कष्ट दिया जाता है तो यह कहावत कही जाती है।

११ खट-खट शब्द होना।

कहा०—अरट खटकै बा'रै मास इंदर री एक झड़ी—रहँट जिस कार्य को बारहों मास करता है उसको इंद्र केवल एक झड़ी में पूरा कर देता है।

खटकणहार, हारौ (हारी), खटकणियौ—वि०।

खटकाणौ, खटकावौ, खटकावणौ, खटकावबौ—प्रे०रू०।

खटकिओड़ौ, खटकियोड़ौ, खटक्योड़ौ—भू०का०कृ०।

खटकीजणौ, खटकीजबौ—भाव वा०।

खटकरम–सं०पु० [सं० षट्कर्म] ब्राह्मणों के छः कर्म—यजन, याजन, अध्ययन, अध्यापन, दान देना और दान लेना।

खटकरमी–सं०पु० [सं० षट्कर्म्मा] षटकर्म करने वाला, ब्राह्मण।

खटकळ–सं०स्त्री०—दरवाजे पर कुत्ते आदि जानवरों के प्रवेश से बचाव के लिये लगाई जाने वाली छोटी फाटक।

खटकळा–सं०पु० [सं० षट्कला] संगीत के ब्रह्मताल के छः भेदों में से एक।

खटकांमुक–सं०पु० [सं० खटकामुख] १ नृत्य के अंतर्गत की जाने वाली एक चेष्टा. २ तीर चलाने का एक आसन।

खटकाणौ–वि०—कसक पैदा करने वाला।

खटकाणौ, खटकावौ–क्रि०स०अ० ('खटकणौ' का प्रे०रू०) १ खट-खट शब्द कराना या करना. २ शंका उत्पन्न कराना या करना. ३ देखो 'खटकणौ' प्रे०रू०।

खटकियोड़ौ–भू०का०कृ०—खटका हुआ (स्त्री० खटकियोड़ी)

खटकूणी–सं०पु० [सं० षट्कोणी] वज्र (नां.मा.)

खटकोण–सं०पु० [सं० षट्कोण] १ छः कोने वाली वस्तु, जिसके छः कोने हों. २ वज्र।

खटकौ–सं०पु०—१ खटका, चिंता, फिक्र, आशंका, भय, डर।

क्रि०प्र०—पड़णौ, मिटणौ, लागणौ, होणौ।

२ खट-खट शब्द. ३ किसी प्रकार का पेंच, कील या कमानी जिसकी सहायता से किसी प्रकार का आवरण खुलता या बंद होता हो अथवा इसी प्रकार का कोई और कार्य होता हो.

क्रि०प्र०—दबाणौ, लगाणौ।

४ किवाड़ की चिटकिनी।

खटक्कणौ, खटक्कबौ—देखो 'खटकणौ' (रू.भे.)

खटक्कियोड़ौ–भू०का०कृ०—देखो 'खटकियोड़ौ' (रू.भे.)

खटखट–सं०स्त्री० [अनु०] १ खट-खट का शब्द. २ झंझट, झमेला, झगड़ा, तकरार।

खटखटाणौ, खटखटावौ–क्रि०स०—१ खट-खट का शब्द करना. २ किसी वस्तु को ठोकना या पीटना, खड़खड़ाना. ३ स्मरण कराना।

खटड़–सं०पु०—सोलंकी वंश के क्षत्रियों की एक शाखा अथवा इस शाखा का व्यक्ति।

खटचक्कर, खटचक्र–सं०पु० [सं० षट्चक्र] शरीर के भीतर कुंडलिनी के ऊपर छः चक्र, यथा—१ आधार २ स्वाधिष्ठान ३ मणिपूरक ४ अनाहत ५ विशुद्धि ६ प्रज्ञा। उ०—यूंही खटचक्कर भेद भवाव, पछै त्रिपुटी तुरिया पद पाव।—ऊ.का.

खटचरण, खटचलण–सं०पु०यौ० [सं० षट्चरण] भौंरा, भ्रमर।

उ०—विसे खटचलण कळिया कदम वृंद वार वाहा, कई आठ मासां वळण।—वां.दा.

खटजती–सं०पु०यौ० [सं० षट्यति] छः यति—लक्ष्मण, हनुमान, भीष्म, भैरव, दत्त और गोरख।

खटणी–सं०स्त्री० [सं० खटिका] खड़िया मिट्टी (डिं.को.)

खटोलौ-सं०पु०—खाट। उ०—एकज खटोलौ वौ राज दोय जणां माची छै भींचा जी भींच।—लो.गी.
(अल्पा०—खटोलड़ी, खटोलणी, खटोली)
खट्ट—देखो 'खट' (रू.भे.)
खट्टणौ, खट्टबौ—देखो 'खटणौ' (रू.भे.) उ०—मइगळां नीर पायउ मसट्टि, खेड़ेचउ आयउ जइत खट्टि।—रा.ज सी.
खट्टाचक-वि०—बहुत अधिक खट्टा।
खट्टू-सं०पु०—जैसलमेर का एक प्रकार का पीला पत्थर।
खडगी-सं०पु० [सं० षडांग] षडांग, पटगास्त्र (डि.को.)
खडंजा-सं०पु०—ईंटों की खड़ी चुनाई (फर्श पर)
खड-सं०पु०—वन (अ.मा.)
खड़खाटी-सं०स्त्री०—घास के ऊपर लिया जाने वाला एक सरकारी कर विशेष।
खडखीण-सं०स्त्री० [सं० षडक्षीण] मछली (अ.मा.)
खडग—देखो 'खड़ग' (रू.भे.)
खडगी, खडगौ-सं०पु० [सं० खड्ग] वह गेंडा जिसके नाक की हड्डी पर एक प्रकार का अत्यन्त पैना सींग होता है (डि.को.)
खडजंत्र—देखो 'खड़जंत्र' (रू.भे.)
खडपीण-सं०स्त्री० [सं० क्षुद्राण्डपीन] मछली (ह.नां)
खडबौ—देखो 'खड़बौ' (रू.भे.)
खडवा—देखो 'खड़वा' (रू.भे.)
खडहुंड-सं०पु०—घोड़ा।
खडांत-सं०स्त्री०—१ नीची भूमि।
[सं० गर्त, अप० गड्ड] २ गड्ढा।
खडाखर—देखो 'खड़ाखर' (रू.भे.)
खडावूज—देखो 'खाडावूक'।
खडांळ-सं०पु०—१ जैसलमेर के अंतर्गत एक प्रदेश। उ०—जेसळमेर सूं खडाळ पस्चिम में है।—वां.दा. ख्यात
[सं० षडाल] २ ४६ क्षेत्रपालों में से ४७ वां क्षेत्रपाल।
खडाळी-सं०स्त्री०—१ सिंधी जाति का एक भेद. २ खडाल का निवासी।
खडियाळौ-सं०पु०—वह घोड़ा जिसके अधिक दांत हों (शा.हो.)
खडी-सं०स्त्री [सं० खटिका] खड़िया मिट्टी (डि.को.)
पर्याय०—कठणी, खटणी, खटि, खड़िया, खड्डी, पांडू।
खडीड़-सं०पु० [अनु०] भारी वस्तु के गिरने की ध्वनि, शब्द, ध्वनि।
खडूग्रौ-सं०पु०—सिर का साफा (क्षेत्रीय)
खडूलौ-सं०पु० (स्त्री० खडूली) एक प्रकार का भूमि-कंद जो वर्षा ऋतु में होता है (क्षेत्रीय)
खडौ, खड्ड-सं०पु० [सं० खात्] खड्डा, गड्ढा। उ०—कहा जांणूं केहि खड्ड में, जाय पड़ेंगे हड्ड।
खड्डू-सं०पु०—मध्य आकार का वृक्ष विशेष।

खणंक-सं०पु० [अनु०] १ एक ध्वनि विशेष. २ तलवार के प्रहार की ध्वनि।
खणंकणौ, खणंकबौ-क्रि०अ० [अनु०] १ खड़कना, खनकना, शस्त्रों की ध्वनि उत्पन्न होना। उ०—खणंके खडग्गं पड़ै हत्थ पग्गं, कती धार कैसी जरी दंत जैसी।—रा.रू. २ खन-खन की आवाज होना।
खण-सं०पु०—१ किसी कार्य को सिद्ध करने के लिए उसकी पूर्ति-पर्यन्त धारण किया गया व्रत, प्रण। उ०—काजळ टीकी कौ थारी धण खण लियौ।—लो.गी.
क्रि०प्र०—लेणौ।
[सं० क्षण] २ क्षण। उ०—पण खण भर में उणियारौ उतर ग्यौ, सोचण लागी—इसै रूप री भेंट किणनै देऊंला—वरसगांठ
३ समय, वक्त।
[सं० खंड) ४ खंड, मंजिल। उ०—महला रा वणाव हुई नै रहियौ छै, सु कहै छै ममांणी पखांण रा महल सात खणा आमास चुणिआ थका।—रा.सा. सं. ५ घर, दराज. ६ कोठा, कोष्ठक. ७ एक विषैला जंतु।
खणक-सं०पु० [सं० खनक] १ चूहा, मूसा (ह.नां) २ कनद्ध, कवच (अ.मा.)
वि०—नितान्त सूखा।
यौ०—सूखौ खणक।
खणका-सं०स्त्री० [सं० क्षणिका] विजली (नां.मा.)
खणकारौ-सं०पु० [अनु०] खटका, दो पदार्थों के परस्पर टकराने से उत्पन्न ध्वनि, खटका। उ०—आजे मींत अमल्ल खग्ग-वग्गां खणकारा, पिड़ सींधू सुर पड़ै भड़ां कांनां भणकारा।—ऊ.का.
खणकण, खणखणण, खणखणाट, खणखण-सं०पु० [अनु०] १ खनखनाहट, खन-खन की ध्वनि. २ शस्त्रों के टकराने से उत्पन्न ध्वनि।
उ०—तरवार खणखण तूट तण, पण मंत्र भणभण रसण पण।
—रू.रू.
३ द्रव पदार्थ का उबाल या उबाल के समय की ध्वनि।
खणणंखणौ, खणणंखबौ—देखो 'खणंकणौ' (रू.भे.)
खणणाट, खणणाटौ, खणखणाहट-सं०पु० [अनु०] देखो 'खणखण'।
उ०—१ खणखणाहट पाखरां, नाद भणणाहट नेवर। पट जेवर पहराय, किया सिणगार कलेवर।—मे.म. उ०—२ पड़तां काच परेह, विण खणणाटौ वाजियौ। आपांणै तन एह, अहियौ जद पोरस घणौ।—पा.प्र.
खणणौ, खणबौ-क्रि०स० [सं० खन्] १ खोदना। उ०—ईरानियां धन वास्तै दिली री जायगावां अति ऊंडी खणी।—वां.दा.ख्यात
२ टीका लगाना (शीतला)
खणत-वि०—नीचा, अध (अ.मा.)
खणदा-सं०स्त्री० [सं० क्षणदा] रात्रि (नां.मा.)
खणनाडिका-सं०स्त्री० [सं० क्षणो नाडिका] धर्म घड़ी, शुभ समय, मांगलिक समय।

खटवरण—देखो 'खटदरसरण' (२)

खटवांग–सं०पु० [सं० खट्वाङ्ग] १ एक शस्त्र का नाम जिसे महादेव रखते हैं. २ एक सूर्यवंशी पौराणिक राजा. ३ चारपाई का पाया या पाटी. ४ तंत्र के अनुसार एक प्रकार की मुद्रा।

खटवांगी–सं०पु० [सं० खटवाङ्ग=शिव का एक अस्त्र+रा०प्र० ई] शिव, महादेव।

खटवाटी–सं०स्त्री०—प्रण, जिद, हठ। उ०—पातसाह री बेटी हुती सु खटवाटी ले पड़ी, धांन खाय न पांणी पीवै।—नैणसी

खटव्रन—देखो 'खटदरसरण' (२)

खटसास्त्र–सं०पु० [सं० षट्+शास्त्र] हिन्दुओं के प्रसिद्ध छः शास्त्र। देखो 'खटदरसरण' (१)

खटसास्त्री–वि० [सं० षट्शास्त्री] षटशास्त्र का ज्ञाता, पंडित।

खटाई–सं०स्त्री०—१ खट्टापन, अम्लता।

मुहा०—१ खटाई करणी—बिगाड़ना. २ खटाई में नांखणी—दुविधा में छोड़ देना, बीच में झंझट पैदा करना. ३ खटाई में पड़णी—कुछ ठीक न होना, रुक जाना, बीच में कोई व्याघात या झंझट आ जाना।

२ वह वस्तु जिसका स्वाद खट्टा हो. ३ कपट, छल. ३ वैमनस्य, वैर, मनमुटाव।

खटाऊ–वि०—१ प्राप्त करने वाला। उ०—सरग गयौ कहियौ सगतावत खत्रवट बरद खटाऊ। नाग तणौ मुख जकौ गुळ नीपजै, वौ गुळ देउं वटाऊ।—ओपौ आढ़ौ २ सहन करने वाला. ३ निभाने वाला. ४ समाने वाला।

खटाक, खटाखट–क्रि०वि०—१ खट से, जल्दी, शीघ्र।

सं०स्त्री० [अनु०] किसी वस्तु के निर्माण आदि में औजारों के प्रहार की ध्वनि।

खटाखरी–सं०स्त्री० [सं० षड्क्षरी] वैष्णवों में रामानुज संप्रदाय का मुख्य मंत्र।

खटाणौ, खटावौ–क्रि०स०—१ निभाना। उ०—नह वीरा त्रण भूंपड़ै, धाड़ी एथ खटाय। धावै दादुर थाप री, काळा रै फण काय।—बी.स. २ निभाना. ३ सहन करना. ४ प्राप्त करना, उपार्जन करना. ५ समाना. ('खटणौ' का स०रू०; देखो 'खटणौ') ६ समझ में आना।

खटापट, खटापटी—देखो 'खटपट' (रू.भे.)

खटायत–वि०—देखो 'खटाऊ'। उ०—खाग झड़ उरड़ पड़ ढालड़ा खड़भड़ै, रोस चढ़ सोहड़ आयुड़ भगुट रड़वड़ै। खटायत वरद सुरतांण सांम्हां खड़ै, लाख रौ पटायत न्याव इण विध लड़ै।—किसनौ आढ़ौ

सं०पु०—धैर्य्य।

खटायौ—देखो 'खटासियौ' (रू.भे.)

खटाळौ–सं०पु० [सं० खट्वासन] टूटा-फूटा व जीर्ण-शीर्ण व्यर्थ का सामान।

कहा०—चलती रौ नांम गाडी, रुकियौ तौ खटाळौ—किसी मशीन की उपादेयता तभी तक है जब तक वह ठीक कार्य करती है, रुकी और बेकार।

खटाव–सं०पु०—१ निर्वाह, गुजर. २ सहनशीलता, सहिष्णुता, धैर्य। उ०—आखर एक दिन रांमसा आंख लाल कर'र कै दियौ, अवै म्हारै खटाव कौ है नी।—वरसगांठ

कहा०—खटाव विनां वटाव नहीं—धैर्य का फल सदा अच्छा होता है।

खटावण–सं०पु०—१ धैर्य्य, शांति. २ रुकने या ठहरने का भाव. ३ खट्टा या अम्ल पदार्थ. ४ निर्वाह, गुजर।

खटावणौ, खटाववौ–क्रि०स०—१ देखो 'खटाणौ' (रू.भे.)

उ०—१ पिण पातसा हीरा रैहण हारा सु गायां मारै, सु हिंदुआं रै खटावै नहीं।—नैणसी २ समझ में आना। उ०—२ अर आप जिसा राजकुमार रौ इण तरह अठा लग आवणौ अरथ-विहूणौ खटावै नहीं।—वं.भा.

खटावियोड़ौ–भू०का०कृ०—सहन किया हुआ, गुजर या निर्वाह किया हुआ (स्त्री० खटावियोड़ी)

खटास–सं०पु०—१ द्वेषभाव, दुश्मनी, शत्रुता, अनबन (ह.नां.) २ अम्लता।

खटासियौ–सं०पु०—पशुओं के कमर के जोड़ की हड्डियों के नीचे एक थैली विशेष।

खटि–सं०स्त्री० [सं० खटिका] खड़िया मिट्टी (डि.को.)

खटिक—देखो 'खटीक' (रू.भे.)

खटियाई—देखो 'खटाई' (रू.भे.)

खटी–वि० [सं० षट्+रा० प्र० ई] जो क्रम में छठवें स्थान पर हो। उ०—खटी मात कात्यायणी तू विख्याता, रचै सातमौ रूप तू काळ-रात्री।—मे.म.

खटीक–सं०पु० [सं० खट्टिक] १ हिन्दुओं के अंतर्गत फल तरकारी बोने और बेचने का व्यवसाय करने वाली एक जाति अथवा इस जाति का व्यक्ति २ चमड़ा बेचने वाली एक जाति विशेष।

खटीकण–सं०पु०—दही जमाने के लिए दूध में अथवा खटाई के लिए शाक में डाला जाने वाला खट्टा पदार्थ।

खटूंबर–सं०पु०—एक मध्याकार का वृक्ष जिसके फलों की चटनी बड़ी स्वादिष्ट होती है।

वि०—खट्टा।

खटैत–वि०—योद्धा, वीर।

खटोलड़ी, खटोलणी–स०स्त्री०—१ छोटी खाट, खटिया. २ देखो 'खटोली'।

खटोली–सं०स्त्री० [सं० खट्वा] १ छोटी खाट, खटिया. (अल्पा० 'खटोलड़ी') २ वाहन, सवारी। उ०—अर नायण ऐ वैस अर उठा सु खटोली ना कही खटोली वाजणी हंड जेथ जाये तेथ म्हारै कुंवर रौ पिंड।—चौबोली ३ वायुयान।

उ०—'फता' जिसौ धणी की फवही, खता न देतौ खून खरै।
—अज्ञात

७ झगड़ा-फिसाद। उ०—असली री ओलाद, खून करचां न करै खता। वाहे वदवद वाद, रोढ़ दुलातां राजिया।—किरपाराम

खतावण, खतावणी–सं०स्त्री०—वह बही या रजिस्टर जिसमें खातेवार अलग-अलग हिसाब दरसाया गया हो।

क्रि०प्र०—करणी, मांडणी।

खतावणौ, खतावबौ–क्रि०स० [फा० खत=पत्र+आवणौ] खातेवार आय या व्यय का विवरण लिखना।

खतावियोड़ौ–भू०का०कृ०—खातेवार आय या व्यय का विवरण लिखा हुआ। (स्त्री० खतावियोड़ी)

खति–स०स्त्री० [सं० क्षति] क्षति, हानि, नुकसान, कमी, घाटा।

खतिया–सं०पु०—लोह-कीट, जंग।

खती—१ देखो 'खति'. २ तलवार का वह चपटा भाग जो मूठ के नीचे होता है, जिस पर प्राय: खुदाई व सोने का काम भी किया जाता है। इस भाग के नीचे से तलवार की धार आरंभ होती है। (मि० 'खजांनौ' २)

खतीब–सं०पु० [अ० खतीब] खुतबा पढ़ने वाला, लोगों को संबोधन कर के कुछ कहने वाला (मा म)

खतेड़—देखो 'खातरोड़' (रू.भे.)

खतोणी—देखो 'खतावणी' (रू भे.)

खतौ–सं०पु०—१ सफेद रंगमिश्रित काले रंग का ओढ़ने का घटिया ऊनी या सूती वस्त्र विशेष।

खत्यै–वि०—उतावला। उ०—खग तोलै मग आरत खत्यै, चौड़ै दावी वात चकत्यै।—रा.रू.

खत्यौ—१ देखो 'खतौ'। उ०—खत्या खेसलिया भाखलिया खांधै, बेफड़ दांमोदर चामोदर वांधै।—ऊ.का.

२ मुसलमानों का अधोवस्त्र। (रू.भे. 'खथीओ')

खत्र–सं०पु० [सं० क्षत्र:] १ क्षत्रियत्व, वीरता। उ०—खत्र बेचिया अनेक खत्रियां, खत्रवट थिर राखी खूमांण।—पृथ्वीराज राठौड़

[रा०] २ शत्रु, दुश्मन। उ०—खत्र नाहरां विचै खेड़ेचौ, आठूं पोहर करै गिड़आळ।—रावळ मलीनाथ रौ गीत

३ युद्ध। उ०—खत्र घणा किया आगे ही खत्रियै, कहियै प्रथ्वी अनाथ किम।—कांधल चूंडावत रौ गीत

खत्रणी–सं०स्त्री०—क्षत्राणी।

खत्रदाव, खत्रधोड़, खत्रवट, खत्रवाट—सं०पु०—क्षत्रियत्व, वहादुरी।

उ०—१ खटकै खत्रवेध सदा खेहड़तौ, दिन प्रत दाखंतौ खत्रदाव।—पीथौ आसियौ उ०—२ मौजां घण महण भंग-हर मडण, धू धारण धरियै खत्रधोड़। रावां वडां तणी रुखमांगद, रीत उजाळै राव राठौड़।—राठौड़ रुकमांगद करणौत राजाउत रौ गीत

उ०—३ मुहीयड़ दळां दळ मुहरि दन मंडयण, धार भर आवरण खत्रधोड़। ऊजळां कमळ वीदाहरा अतुळवळ, मांनीजै तू जिसा न्याय कुळ मौड़।—राठौड़ कूंपा जयमलोत रौ गीत

उ०—४ खत्रवट तोछ खेड़ेचा, वाहर तणी न भाजै वेढ़। जरद तपै डीलां जोधपुरी, हैवर तपै पलांणा हेठ।
—माधौसिंह महेचा रौ गीत

उ०—५ खत्रवाट खत्री गुर होय खड़ग हथ।—हरीसूर वारहठ

उ०—६ खाग त्याग खत्रवाट, पूरौ रांण प्रतापसी।—दुरसौ आढ़ौ

खत्रवेध–सं०पु०—युद्ध, आहव। उ०—खटकै खत्रवेध सदा खेहड़तौ, दिन प्रत दाखंतौ खत्रदाव।—पीथौ आसियौ

खत्रांणी–सं०स्त्री०—१ क्षत्रिय जाति की स्त्री. २ खत्री जाति की स्त्री।

खत्रि–सं०पु० (स्त्री० खत्रिणी) देखो 'खत्री'। उ०—जपै नागपुत्री खत्रि रूप जोती, महाभद्र जाती तणौ कांन मोती।—ना.द.

खत्रिध्रम–सं०पु०यौ० [सं० क्षत्रिय+धर्म] क्षत्रियत्व, क्षत्रिय धर्म।

खत्रिय–सं०पु० [सं० क्षत्रिय, प्रा० खत्तिय] क्षत्रिय। उ०—नहीं तू विप्र नही तू वैस, नहीं तू खत्रिय सूद्र न खैस।—ह.र.

खत्रियांण–सं०पु०—क्षत्रिय। उ०—करण वाखांण दुनियांण धिन-धिन कहै, धरम खत्रियांण भुज अमर धारू।—द.दा.

खत्री–स०पु० [सं० क्षत्रिय, प्रा० खत्तिय] (स्त्री० खत्रांणी) १ हिन्दुओं में क्षत्रियों के अंतर्गत पंजाब में बसने वाली एक जाति विशेष। इस जाति के लोग प्राय: व्यापार करते हैं. २ इस जाति का व्यक्ति. ३ क्षत्रिय, राजपूत। उ०—खत्री दुज वैस गया सुद्र खोज—ह.र. (रू०भे०-खत्रि, खत्र)

खत्रीठ–सं०पु०—राजपूती, क्षत्रियत्व। उ०—खांगड़ां विरुद साजण खत्रीठ, रांगड़ा वजावै खाग रीठ।—पे.रू.

खत्रीपण, खत्रीपणौ–सं०पु० [सं० क्षत्रिय+रा०प्र० पण] क्षत्रियत्व, शौर्य। उ०—हिंदूनाथ दिली चे हाटे, 'पतौ' न खरचै खत्रीपण।
—प्रथ्वीराज राठौड़

खत्रीयांवट, खत्राळै, खत्रीवट, खत्रीवाट–सं०पु०—क्षत्रियत्व।

उ०—१ प्रळै होवै भड़ भिड़ज रिणताळ, लेखा पखै खत्रीपत भीम आवाहतै खाग।—चतरौ मोतीसर उ०—२ हाथां अवसि हुए वसि हाथां, वाहे अणी खत्रीले वाढ़।—हरीसूर वारहठ

उ०—३ मन भावै चलै खत्रीवट मारग, वीरत दावै धड़ा वरै। राजा पति 'जसौ' महाराजा, कमंध सुहावै जेम करै।—नाथौ सांदू

खत्रेस–सं०पु०यौ० [सं० क्षत्रिय+ईश] योद्धा।

खत्रोट–सं०स्त्री० [सं० क्षत्रियत्व] देखो 'खत्रवट'। उ०—धरे कंसरे तुंबळी तात धाठी, तदा ताहरी केथ खत्रोट त्राठी।—ना.द.

खथीओ—देखो 'खत्यौ' (रू.भे.) उ०—खथीआ पहरण पगखळां, लोवड़िआं नळतांन।—पा.प्र.

खदंग–सं०पु० [फा० खदंग] वाण, तीर (अ.मा.)

खद–सं०पु० [सं० क्षुद्र] मुसलमान, यवन।

रू०भे०—खद्द, खद्दन, खद्दाह, खद्ध, खद्राळ (अल्पा–खदड़ौ)

खणभंगुर-वि०—देखो 'क्षणभंगुर' (रू.भे.)

खणस, खणसौ-सं०पु०—१ शत्रुता, दुश्मनी. २ अप्रसन्नता. ३ खटक।

खणाणौ, खणाबौ-क्रि०स० ('खणणौ' का प्रे०रू०) १ तालाव कुआं आदि खुदवाना। उ०—कंवर प्रथीसिवजी री मा ज्यां तळाव खणायौ, वंधाय नांव जांनसागर, कोई लोग सेखावतजी रौ तळाव कहै।—वां.दा.ख्यात २ टीका लगवाना (शीतला)

खणिज-सं०पु० [सं० खनिज] १ खदान। उ०—मुरड़ मेंट लाल अर पीळी खणिज खंघेड़ो खलक रो।—दसदेव
[अ० खिजान:] २ खजाना।

खणियोड़ौ-भू०का०कृ०—खोदा हुआ (स्त्री० खणियोड़ी)

खणीजणौ खणीजबौ-क्रि० कर्म वा०—१ खोदा जाना.
उ०—तिरदै सहर विखै एक तळाव खणीजतौ थौ तिण में कीरत-थंभ नीसरियौ।—चौबोली २ शीतला का टीका लगाया जाना।

खणोतरौ-सं०पु०—जमीन खोदने का औजार। उ०—जोईं नै खणोतरा रै माथै हांडी देई नै आधी कियौ।—चौबोली

खतंग-वि०—१ निशंक, निडर, साहसी। उ०—पैलां वागां झलियां, ऊलां देख तुरंग। वूठा बांण दुहूं दळां, छूटा मूठ खतंग।—रा.रू.
[सं० क्षत+अंग=क्षतांग] २ पराक्रमी, बहादुर। उ०—खळ कटै सहेता जरद खगां खतंग, खळंक घावां रतंग दरद खायै।
—रावत गुलावसिंह चूंडावत रौ गीत
३ आश्चर्यजनक. ४ श्रेष्ठ। उ०—गुरु हुंदा वायक खतंग, इंदर अघसले।—केसोदास गाडण ५ स्त्री व संतानरहित व्यक्ति.
६ तीक्ष्ण, तेज। उ०—रूड़ौ जोवन रूप रंग, त्रिया अंग सीतंग। सुंदर तेरा वरस में, खंजन नैन खतंग।—पना वीरम री वात
७ घायल। उ०—फी फरड़ फरड़क नद फरक, हूय विढ़क हक-हक वीरहर, खित गहक सूर खतंग।—र.रू.
सं०पु० [सं० नक्षत्रांगण, अप० नखतांगण] १ आकाश। उ०—वाज घोम नाळियां, बांण वाजिया निहंगे। चिला-वाज तूझियां, सोक वाजिया खतंगे।—वखतौ खिड़ियौ २ विष-बाण (अ.मा.) उ०—दीठी रूपाळी म्हैं ही घणियां पिण इसी यां ही लोयणां री अणियां, जिण भांत खतंग रा वांण लागा थका हरै हीज प्रांण।—र. हमीर
[रा०] ३ घोड़ा। उ०—खुरसांणी मकुरांणी खतंग, पतिसाह तणा छूटइ पवंग।—रा ज सी. ४ अभिमान। उ०—खूबी न रही काय खतंगां खंजनां, नेही व्है मुनिराज, विसारि निरंजनां।—वां.दा.
५ एक विशेष प्रकार का कबूतर।
[सं० क्षत+अंग] ६ किसी अवयव को क्षति पहुँचने का भाव।

खत-सं०पु० [अ० खत] १ पत्र, चिट्ठी (यौ० खत-किताबत)
२ लिखावट। उ०—दरसावै जग नूं दया, पाप उठावै पोट। हित में चित में हाथ में, खत में मत में खोट।—वां.दा. ३ दस्तावेज, ऋणपत्र।
मुहा०—१ खत लिखणौ—दस्तावेज लिख कर रुपया उधार लेना.
२ खत फाड़णौ—कर्जा चुका देना।
४ दाढ़ी, दाढ़ी के वाल।
[सं० क्षिति, प्रा० खिति] ५ पृथ्वी, जमीन (डिं.को.) ६ क्षत्रियत्व। उ०—पेखे आप तणा पुरसोतम, रोहणीमाळ तणे वळ रांण। खत वेचियौ जठै अनखत्रियां, खत राखियौ जठै खूमांण।—दुरसौ आढ़ौ
[सं० क्षत] ७ घाव, जख्म।
[रा०] ८ मकानों की छतों के नीचे सुंदरता के लिये चतुर्भुजाकार की रेखा।

खतकस-सं०पु०—वढ़ई का एक औजार।

खतजात-सं०पु० [सं० क्षतजात] रुधिर, खून (रू.भे.-खितजात)

खतनौ, खतणौ-सं०पु० [अ० खितान, खत्न] मुसलमानों की एक रस्म जिसमें उनके मूत्रेंद्रिय के अगले भाग का वढ़ा हुआ चमड़ा काट दिया जाता है, सुन्नत।

खतवही—देखो 'खातावही' (रू.भे.)

खतमंडौ-सं०पु०—एक प्रकार का वैल जिसके पूंछ के वाल सफेद और श्याम दोनों साथ-साथ हों (शा.हो., अशुभ)

खतम-वि० [अ० खत्म] १ पूर्ण, समाप्त, अंत।
क्रि०प्र०—करणौ, होणौ।
२ अत्यन्त। उ०—खतम खुसी अनखूट खजानां, निरमळ चंदमुखी ग्रह नार।—र.रू.

खतमाळ-सं०पु० [सं० खतमाल] धुआं (डिं.को.)

खतमेटण-सं०पु०—लाख, लाह, लाक्षा (डिं.को.)

खतम्म—देखो 'खतम' (रू.भे.) उ०—पातल रै तन ओपिया, तुकमा रूप खतम्म। पा.प्र.

खतर-सं०पु० [अ० खतर] देखो 'खतरौ' (रू.भे.)

खतरनाक-वि०यौ० [अ० खतर+फा० नाक] १ भयानक, डरावना। उ०—खतरनाक ख्वाव में मनैं पीरां फरमाई।—मे.म.
२ धोखेवाज, कपटी. ३ खतरा या हानि पहुँचाने वाला, खूंखार।
४ वीर, वहादुर।

खतरी, खतरेटौ—देखो 'खत्री।

खतरौ-सं०पु० [अ० ख़तर] डर, भय, खौफ, आशंका। उ०—पांचौ आठौ दस पनरौ खूपड़िया, सतरै वीसै हय खतरै में खड़िया।
—ऊ.का.

खता-सं०स्त्री० [अ० ख़ता] १ कसूर, अपराध। उ०—वणक खतां रा कांम में, औ दरसावै खैर। नाईं नूं दीधी मुहर, वाळण टाकर वैर।—वां.दा. २ धोखा, फरेव. ३ भूल-चूक, गलती.
उ०—भांमर राड़ हुई जद सारा सिरदारां री असवारी में देसी घोड़ा हूता, उवां खता कीवी।—वां.दा.ख्यात ४ धक्का.
उ०—कोपिया 'मांन' सूं जोर चालै किसौ, पहूतां अंत विण खता पाड़ै।—गोपाळ चरड़ाउत ५ दंड, सजा.

खपावणी, खपाववौ–क्रि०स०—देखो 'खपाणौ' (रू.भे.) उ०—वारै आय अर बोलिया—जावौ जावौ भाई ! क्यूं माथौ खपावौ हौ।
—वरसगांठ

खपियोड़ौ–भू०का०कृ०—१ खपा हुआ. २ परिश्रम किया हुआ. ३ खर्च किया हुआ। (स्त्री० खपियोड़ी)

खपीट़–सं०पु० [सं० क्षपति] हानि, नुकसान. २ अत्यन्त वृद्ध।

खपुआ–सं०स्त्री०—एक प्रकार की छोटी किस्म की मुगलकालीन तलवार जो प्रायः पुरस्कार आदि में दी जाती थी (वीरविनोद)

खपुर–सं०पु० [सं०] १ गंधर्व मंडल जो कभी-कभी आकाश में उदय होता है और जिसके उदय होने से अनेक शुभाशुभ फल माने जाते हैं. २ राजा हरिश्चन्द्र की पुरी. ३ बाघ नख।

खप्पर–सं०पु० [सं० खर्पर] देखो 'खपड़ौ' (रू.भे.) उ०—वीर नाच रहिया छै, जोगण ढाक वजावै छै, खप्पर भरै छै।—सूरे खीवे री वात
कहा०—खाय पीय नै खप्पर नई फोड़णौ—जिससे लाभ प्राप्त हो उसकी प्रत्युत्तर मे हानि करना अच्छा नही होता; जिसकी खाना उसी की निन्दा करना सर्वथा अनुचित है।
रू०भे०—खपड़ौ, खप्र, खफर, खप्फर, खाफर।

खप्पराक, खप्पराळी–सं०पु० [सं० कर्पर+रा०प्र० आयक, सं० कर्पर+रा०प्र० आळी] खप्पर धारण करने वाली काली देवी जिसमें वह रुधिर-पान करती है। उ०—चढ्ढा करत खप्पराक चंडी राग वज अयराक।—र.ज.प्र.

खप्फा–वि० [अ० खफ़ा] देखो 'खफा' (रू.भे.) उ०—खप्फा होवै खलक पर डप्फा डावां डोल।—ऊ.का.

खप्र–सं०पु०—देखो 'खप्पर' (रू.भे.) उ०—कितेक खप्र खोपरी वणाय जुग्गनी चुनी।—ला.रा.

खप्राळी–वि० [सं० कर्पर+रा०प्र० आळी] देखो 'खप्पराळी' (रू.भे.)
उ०—कपाळी कोपाळी भ्रकुटि मतवाळी गहभरी, खगाळी खप्राळी चवसठि मुद्राळी सहचरी।—मे.म

खफगी–सं०स्त्री० [फा० खफ़गी] १ अप्रसन्नता, नाराजगी. २ क्रोध, कोप।

खफत–सं०पु० [अ० ख़ब्त] १ पागलपन, सनक. २ देखो 'खपत' (रू.भे.)

खफनी–सं०स्त्री०—कफन। उ०—खपनी खफन सरिखी, पहरै विरळा कोई।—ह.पु.वा.

खफर–सं०पु० [सं० कर्पर] १ देखो 'खपड़ौ' (रू.भे.) २ मुसलमान।

खफसूरत–वि० [फा० खूबसूरत] सुंदर, मनोहर।

खफा–वि० [अ० ख़फ़ा] १ अप्रसन्न, नाराज, नाखुश. २ क्रुद्ध।

खफ्फर–सं०पु०—देखो 'खपड़ौ' (रू.भे.)

खफ्फा–वि० [अ० ख़फ़ा] देखो 'ख़फा' (रू.भे.)
सं०पु०—कुश्ती का एक पेंच।

खबड़दारी–सं०स्त्री०—देखो 'खबरदारी' (रू.भे.)

खबचौ–सं०पु०—१ छोटा गड्ढा (मि० 'खबोचियौ' अल्पा०) २ क्रिया. ३ वावा. ४ झगड़ा, दंगा।

खबर–सं०स्त्री० [अ० ख़बर] १ समाचार, वृत्तांत, हाल।
उ०—अविस्वास री हद करणी लोक विचारणौ, जासूस आप रा साथ वैरी रा लस्कर उण रा साथ रै पाया हेत विरोध री पूरी खबर लेणी।—नी.प्र.
क्रि०प्र०—आणी, करणी, देणी, भेजणी, लेणी, होणी।
२ संदेश, सूचना, जानकारी।
क्रि०प्र०—आणी, करणी, देणी, भेजणी, लाणी, होणी।
उ०—उण वक्त खबर गुजरात आय, असपति अमल दीन्हौ उठाय।
—वि.सं.
मुहा०—१ खबर उडणी—अफवाह फैलना. २ खबर फैलणी—अफवाह होना, सूचना प्रसारित होना।
३ सुधि। उ०—खिण खिण ले जग ची खबर, जबर सगत जगदीस।
—बां.दा.
मुहा०—खबर लेणी—लालन-पालन करना, पता लगाना, सुधि लेना, देख-भाल करना, दण्ड देना, मारना, बुरी दशा पर ख्याल करना।
४ पता, खोज।

खबरदार–वि० [फा० खबरदार] १ होशियार, सजग, चैतन्य, सावधान, सचेत। उ०—आगमूं के जांणगर सब हुन्नर खबरदार।—र.रू.
क्रि०प्र०—करणौ, रहणौ, होणौ।
२ प्रवीण, दक्ष। उ०—सो वरसां पनरह मांहे हुवौ तिकौ वड़ौ सपूत, नांमे-लेखे विणज-व्यापार मांहे वहोत खबरदार।
—पलक दरियाव री वात
सं०पु०—संदेशवाहक। उ०—दिस अस्ट खबर कज खबरदार, प्रेरिया सिद्ध गुटका प्रकार।—रा.रू.

खबरदारी–सं०स्त्री० [अ० ख़बर+फा० दार+रा०प्र०ई] सावधानी, होशियारी, सतर्कता। उ०—कदाचित कोई उरौ ही आंण लागै तौ थां सावधांन रहिज्यौ, घणी खबरदारी राखज्यौ।
—कुंवरसी सांखला री वारता

खबरनवेस–सं०पु० [अ० खबर+फा० नवीस] संदेश या समाचार पहुँचाने वाला, संदेशवाहक।

खबरि–सं०स्त्री० [अ० खबर] १ देखो 'खबर' (रू.भे.)
उ०—खिति हूंता आयां खबरि, आया दरि उमराव।—रा.रू.
२ परीक्षा, जाँच। उ०—खोटै खरै री खबरि करदे।—चौबोली

खबरी–सं०पु० [फा० खबरी] दूत, संदेशवाहक। उ०—इतरी सुण जे वादसाह रा खबरी था तिकां वादसाह नूं खबर लिख मेल्ही।
—आंमेर रा धणी री वारता

खबोड़णौ, खबोड़वौ–क्रि०स० [सं० ख+वेष्टनः, प्रा० ख+विट्टण] १ पीटना, मारना. २ पूर्ण भरना।

खबोड़ौ–सं०पु० [सं० खवेष्टन] १ प्रहार, चोट. २ धोखा खा जाना. ३ धचका. ४ सदमा।

खदको—सं०पु०—१ चोट, प्रहार. उ०—स्वारथ परै खंधेड़ खईसां खदका झेलै।—दसदेव २ कष्ट, दुख. ३ मस्ती। ४ खदवद की ध्वनि। देखो 'खदवद'।

खदखद—देखो 'खदवद' (रू.भे)।

खदड़ो—देखो 'खद' (अल्पा०)

खदवद—सं०पु० [अनु०] ध्वनि विशेष जो प्रायः किसी अनाज या गाढ़े पदार्थ के उबलने से उत्पन्न होती है।

खदवदणौ, खदवदबौ खदवदाणौ, खदवदावौ—क्रि०अ० [अनु०] खदवद-खदवद की ध्वनि उत्पन्न होना। देखो 'खदवद'।

खदराळ—सं०पु०—मुसलमान।

खदवद—देखो 'खदवद' (रू.भे) उ०—खदवद सीजै बाजरो, कोई लपपथ सीजै दाळ, मीठी खीचड़ो।—लो.गी.

खदवदणौ—क्रि०अ०—अनाज इत्यादि का सीझते वक्त ध्वनि करना। उ०—जब तक हांडी खदवदै, तब तक सीजी नाय। सीजी तब ही जांणियें, नाचै कूदै नाय।—अज्ञात

खदीव—सं०पु० [फा० खिदेव] बादशाह।

खद्द, खद्दन, खद्दाह, खद्दाहू—देखो 'खद' (रू.भे.) उ०—१ चढ़चौ मोजदारं दिवान खद्द, हयं पाव मंडै करीके हवद्द।—ला.रा. उ०—२ तदन खद्दन के हियै परचौ अचांणक सोर।—ला.रा.

खद्ध—देखो 'खद' (रू.भे.)

खद्योत—सं०पु० [सं०] १ जुगनू। उ०—रवि समांन खद्योत सेस जळ साप समीसर।—पा.प्र. २ सूर्य।

खद्राळ—सं०पु०—मुसलमान।

खध्ध—देखो 'खाधौ' (रू.भे.) उ०—तिण वेळां कंठ रोकियउ, जांणक सिंघी खध्ध।—ढो.मा.

खनंक—सं०स्त्री० [अनु०] देखो 'खणंक' (रू.भे.) उ०—खनंक खग्ग बग्ग तैं सु अंख खोलते नहीं।—ऊ.का.

खनंकणौ, खनंकबौ—देखो 'खणंकणौ'।

खननंक—सं०पु० [अनु०] खन-खन की ध्वनि विशेष, झंकार। (मि० 'खणंक')

खनै—क्रि०वि०—पास, निकट। उ०—बाबू सा'ब ! कै खनै वंचे है आठ आंना।—बरसगांठ

खप—सं०स्त्री०—१ 'खपणौ' क्रिया या भाव. २ संहार, नाश. ३ देखो 'खपत'।

खपड़ो—सं०पु० [सं० खर्पर, प्रा० खप्पर] मिट्टी का वह बर्तन जिसमें भिक्षा मांगी जाती है, खप्पर।

खपणौ खपबौ—क्रि०अ० [सं० क्षेपण] १ किसी प्रकार व्यय होना, काम में आना, लगना, समाप्त होना। उ०—दुमासण क्रम गंगेव दुजोण, खपै कुरखेत अढ़ार अखोण।—ह.र. २ चल जाना, गुजारा होना, निभना. ३ परिश्रम करना, प्रयत्न करना. उ०—१ रही कुंआरी राइ कुंअरी, सुर नर खपै प्रसिद्ध।—रांमरासौ उ०—२ तप करि कांई खपौ करौ कांई, तीरथ खत्रियां तीरथ धार। खग देखौ दखिण दळां विच दीसै, 'सादूळ' कहियौ सरग।—खेतसी लाळस. ४ परेशान होना, तड़फना. ५ सनक होना. ६ तंग होना, दिक होना।

खपणहार, हारौ (हारी), खपणियौ—वि०।

खपाणौ, खपाबौ, खपावणौ, खपावबौ—स०रू०।

खपिओड़ौ, खपियोड़ौ, खप्योड़ौ—भू०का०कृ०।

खपीजणौ, खपीजबौ—क्रि० भाव वा०।

खपत—सं०स्त्री० [सं० क्षपति] १ समावेश, समाई, गुंजाइश. २ माल की कटती या बिक्री. ३ संहार, नाश. ४ सनक. ५ खर्च. ६ परिश्रम, प्रयत्न, मेहनत। उ०—खेजड़ा री खपत हुआ है, वीर सती अर सेवड़ा।—दसदेव

खपती, खपत्ति—देखो खपत' (रू.भे.)

वि० [अ० खब्ती] १ सनकी, विक्षिप्त, पागल. [रा०] २ नाश, संहार। उ०—उपत्ति-खपत्ति-प्रकत्ति-प्रसंग, राजीव-लोचन्न जांणै धुवरंग।—ह.र.

खपर—देखो 'खपड़ो' (रू भे.)

खपरखौ—सं०पु०—एक जाति विशेष का घोड़ा (शा.हो.)

खपरियौ—सं०स्त्री० [सं० खर्परी] १ भूरे रंग का एक खनिज पदार्थ। यह आँख के अंजन और सुरमे आदि में भी पड़ता है (अमरत) २ अनाज में लगने वाला कीड़ा (मि० खापरियौ') (रू.भे. 'खपरचौ')

खपरी—सं०स्त्री०—हिंदवानी के फल को फोड़ने या काटने से होने वाले दो विभागों में से कोई एक।

खपरचौ—सं०पु०—देखो 'खपरियौ' (रू.भे.)

खपाऊ—वि०—सहार करने वाला. २ खपाने वाला. ३ परिश्रम करने वाला।

खपाक—क्रि०वि० [अनु०] शीघ्रता से, खट से।

खपाणौ, खपाबौ—क्रि०स० [सं० क्षेपण] १ किसी प्रकार व्यय करना, काम में लाना, लगाना. २ नाश करना, मारना। उ०—हजरत की कृपा आ हुई जो घर सारो खपाय दियौ।

—गौड़ गोपाळदास री बात

३ गुजारा करना, निभाना. ४ परिश्रम कराना, प्रयत्न कराना. ५ तंग करना, दिक करना, परेशान करना।

खपाणहार, हारौ (हारी), खपाणियौ—वि०।

खपायोड़ौ—भू०का०कृ०।

खपाईजणौ, खपाईजबौ—कर्म वा०।

खपाणौ—अ०रू०।

खपायोड़ो—भू०का०कृ०—१ व्यय किया हुआ. २ नष्ट किया हुआ. ३ गुजारा किया हुआ. ४ परिश्रम कराया हुआ. ५ परेशान किया हुआ। (स्त्री० खपायोड़ी)

२ एक विशिष्ट गायकी। इस गायकी में राग को अपने विशिष्ट रूप में पूर्ण स्वतंत्रता से विकसित किया जाता है। इसके दो ही भाग हैं स्थाई एवं अन्तरा। इसमें क्षुद्रतान एवं गिटकरी का प्रयोग होता है। ख्याल दो प्रकार के होते हैं—छोटा एवं बड़ा। आलाप-प्रधान एवं विलंबित लय में बड़ा ख्याल एवं तान-प्रधान एवं द्रुतलय में छोटा ख्याल गाया जाता है।

खयालत—देखो 'खयानत' (रू.भे.)

खर—सं०पु० [सं०] (स्त्री० खरांणी) १ गधा (देखो 'गधौ')

कहा०—खर घघ्घू मूरख पसू, सदा सुखी प्रिथिराज—गधा, उल्लू, पशु और मूर्ख सदा सुखी रहते हैं। मूर्ख व्यक्ति को प्रपंचों में नहीं पड़ना पड़ता और न लोग घेरे रहते हैं। उसे किसी प्रकार की चिंता नहीं होती। मूर्ख व्यक्ति के लिये।

२ बगला. ३ कौआ. ४ रावण का भाई एक राक्षस (रांमकथा) ५ तृण, तिनका, घास. ६ गरमी, उष्णता (ह.नां.) ७ साठ संवत्सरों में से २५वां संवत्. ८ छप्पय छंद का बीसवां भेद जिसमें ५१ गुरु और ५० लघु से १०१ वर्ण या १५२ मात्रायें होती हैं। (र.ज.प्र.)

वि०—१ तेज, तीक्ष्ण. २ कड़ा, कठोर (डि.को.) ३ घना, मोटा. ४ हानिकर. ५ बेंगनी रंग का. ६ धूम्र वर्ण* (डि.को.) ७ उष्ण, गर्म (डि.को.)

खरईस—सं०पु०यौ० [सं० खर+ईस] कुम्हार। उ०—एक अवेली रै अरथ, खूम मुतन खर-ईस, लुळ-लुळ कह 'लालू' लड़ै, बाळूं लाख वरीस।—अज्ञात

खरउ—क्रि०वि०—निश्चय ही। उ०—मी मन खरउ उमाहियउ, देखण पूंगळ देस।—ढो.मा.

खरक—सं०स्त्री०—१ वायव्य-उत्तर और पश्चिम के मध्य की एक दिशा। उ०—इणां आगै मांणच रा मगरा कोस खरक मांहे भील वसै। —नैणसी

२ कपड़ा बुनने का जुलाहे का एक औजार. (देखो 'खिरक'—रू.भे.)

खर-कर—सं०पु० [सं० खर, तेज, तीक्ष्ण+कर = किरण] सूर्य, भानु।

खरकूंता—देखो 'खिरक' (रू.भे.) (ना.मा.)

खरकोण—सं०पु० [सं० खरक्वाण] तीतर पक्षी। उ०—वरे छत्र संभरधणी, रांमचंद्र नर राज। किया गरद खरकोण सा, वैरी गण जिण वाज।—वं.भा.

खरखर—सं०स्त्री०—एक प्रकार की लाग जिसे जागीरदार अपने किसान से पैसे या श्रम के रूप में लेते थे।

खरखरावणौ, खरखरावबौ—क्रि०स० [अनु०] देखो 'खुरखुराणौ' (रू.भे.)

खरखरियौ—सं०पु०—जो जागीरदार के खेत में बिना मजदूरी लिये कार्य करे, एक प्रकार की खरखर की लगान में काम करने वाला व्यक्ति। देखो 'खरखर'।

खरखोदरियौ—सं०पु०—वृक्ष का खोखला भाग। उ०—खरखोदरिया मांय, गोहिरा सांप गजब रा। झड़ झांखड़ जड़ जाय, उरणिया वड़ै अजब रा।—दसदेव

खरगड़ौ—सं०पु०—एक प्रकार का सरकारी लगान।

खरगू, खरगो, खरगोस—सं०पु० [सं० खर+गो] शशक, खरहा।

पर्याय०—दांत्यौ, सस, सुसकल्यौ, सुसल्यौ, सुसौ।

कहा०—रावळी पोळ ऊं खरगो कदै पाछा जावै—कमजोर व्यक्ति एक बार ताकतवर आदमी के चक्कर में फँसने के पश्चात् निकल नहीं सकता।

खरड़—सं०स्त्री० [अनु०] १ शस्त्र-प्रहार की ध्वनि. २ अफीम की डलिया के ऊपर का मैल, अफीम का बुरादा। उ०—पोतौ पड़ियौ रहै अगाड़ी मूंढ़ै आगै, खळ वटियां री खरड़ छुरी सूं छालण लागै।—ऊ.का. ३ बड़ी दरी, जाजम। उ०—पांनां फूलां जी मंडप छाइयां, लंबा तीखा जी खरड़ बिछाइयां।—लो.गी.

खरड़क—सं०स्त्री [अनु०] रगड़। उ०—कटारी बरछी रौ दावौ नहीं, सूअर री दातरड़ी लागै तौ खरड़क न ऊतरै।—रा सा.सं. (रू.भे. 'खरड़कौ')

खरड़कणौ, खरड़कबौ—क्रि०अ० [अनु०] १ टकराना, टकरा कर ध्वनि करना। उ०—भाजै छड़ां खरड़कै भाला, पड़ै न पिड़ देतौ पसर। —नैणसी

[अनु०] २ चुभना। उ०—गया ज गळती रात, पर जळती पाया नहीं, से साजन परभात खरड़किया खुरसांण ज्यूं।—ढो.मा.

३ घसीट कर लिखना. ४ कसकना। उ०—नह पलटै खरड़कै अहोनिस, घड़ दुरवेस घड़ै घण घाव। 'सांगा' हरौ तणौ आलम साह, पात रिदै महपत अनपाव।—पीथौ आसियौ

खरड़कौ—सं०पु० [अनु०] १ ध्वनि विशेष. २ रगड़ से उत्पन्न ध्वनि. ३ रगड़, घर्षण।

खरड़णौ, खरड़बौ, खरड़िणौ, खरड़िबौ—क्रि०स०—१ कुचलना. २ कुचल कर मैल दूर करना. ३ घसीट में लिखना. ४ गंदे पदार्थो से कपड़े व शरीर को गंदा करना. ५ खरोंचना. ६ वेदना से तड़फना। उ०—आघा आघा ऊचरै, राउत तेथ हरीळ। पग खरड़ै हळवळ पड़ै, बोलै गळवळ बोल।—वी.स.

खरड़णहार, हारौ (हारी), खरड़णियौ—वि०।

खरड़िओड़ौ, खरड़ियोड़ौ, खरड्योड़ौ—भू०का०कृ०।

खरड़ीजणौ, खरड़ीजबौ—कर्म वा०।

खरड़ौ—सं०पु०—१ एक प्रकार की लाग जो पट्टा किये हुए मकानों के निवासियों से जागीरदार वसूल करता था. २ वह लंबा या बड़ा कागज जिसमें कोई भारी हिसाब या विवरण लिखा हो.

३ ऋण, कर्ज। उ०—जनम जनम में करज कियौ है मायँ करड़ौ, मिनख कियौ महाराज काट दे क्यूं नहीं खरड़ौ।—सगरांमदास

४ देखो 'खरड़' (२) ५ किसी औसर के अवसर पर समीपवर्ती गांवों के स्वजातीय बंधुओं को निमंत्रित करने के लिए भेजा जाने वाला इतलानामा या सूचनापत्र।

खबीस-वि० [अ० खबीस] १ पापी. २ नीच, दुष्ट. ३ भयंकर।
सं०पु०—दैत्य, दानव।
खबोचियौ-सं०पु० [सं० खपोटक] छोटा खड्डा।
खब्बौ-सं०पु० [सं० स्कंध] कंधा, स्कंध।
खभोळौ-सं०पु०—चोट। उ०—पजावगर री प्रीत, खंघेड़ो खातर राखै। खाय खभोळा खूब, पीड़ पावै अंग आखै।—दसदेव
खमंकणौ, खमंकवौ-क्रि०स० [सं० खमंकि+मंडन] चमकना, दमकना।
खमंत, खांमणा-सं०पु०यौ० [सं० क्षमत-क्षमापन] जैनियों का आपस में किया जाने वाला एक अभिवादन (इसका अर्थ है 'मेरे किए हुए अपराध क्षमा करो')
खम-सं०पु०[सं० क्षम, फा० ख़म] १ संतोष. २ समर्थ. ३ टेढ़ापन, बल।
खमकरौ-सं०पु०—'क्षमा-क्षमा' का सूचक शब्द।
खमकरी-सं०स्त्री०—१ (प्रायः घोड़े का) चंचलता के साथ हिलना-डोलना. २ किसी कार्य में व्यग्रता करना।
खमण—देखो 'खमा' (रू.भे.) उ०—बीदग विरचौ बीनड़ौ, हठ गाढ़ौ ले हल्ल। नमण खमण छोडै नहीं, जोड़ै कर 'जेहल्ल'।—वां.दा.
खमणी-सं०स्त्री०—सहनशीलता. २ क्षमाशीलता। उ०—नमणी खमणी बहुगुणी, सगुणी अनइ सियाइ।—ढो.मा.
खमणौ, खमबौ-क्रि०स०[सं० क्षमण] १ क्षमा करना। उ०—रीत अनरीत फैलियो रावण, खमियो नहीं अभायां खांमण।—रा.रू.
२ सहन करना। उ०—न खमै ताप हजार नर, जुदौ जुदौ डर जाग। केहर गड़ड़ै क्रोध कर, गाजै गिर गयणाग।—वां.दा.
३ फल भोगना. ४ झेलना. ५ देखो 'खिवणौ' (रू.भे.)
खमत-सं०स्त्री०—अग्नि, आग (ह.नां.)
खमता-सं०स्त्री० [सं० क्षमता] १ क्षमता, सामर्थ्य. २ सहनशीलता।
खमदाह-सं०पु०यौ० [सं० क्षम+दाह] कष्ट सहन कर सकने का भाव।
खमया-सं०स्त्री०[सं० क्षमत्री] १ देखो 'खमा'। २ देखो 'खम्मया' (रू.भे.)
खमसा-सं०पु० [अ० खमसः] १ एक प्रकार की गजल जिसके प्रत्येक बंद में पाँच चरण होते हैं. २ संगीत में एक प्रकार की ताल।
खमा-सं०स्त्री० [सं० क्षमा] १ देखो 'क्षमा'। उ०—विजै मातरी जातरी लोक बोलै खमा वैण ऊंचारता नैण खोलै।—मे.म.
२ राजाओं, महाराजाओं, सम्राटों एवं अपने आश्रयदाताओं को किया जाने वाला अभिवादन. ३ दामाद को गाया जाने वाला एक गीत. ४ पृथ्वी (डि.नां.मा.)
खमाई-सं०स्त्री०—१ सहनशीलता। उ०—बादसाह री बड़ी समझ भारी खमाई, देख सगळा चाकरी में एक मना हुवा।—नी.प्र.
२ क्षमाशीलता। उ०—क्रोध जेर नरमी भारी खमाई रे न होय तो हर एक वजन करतूत सूं रीस पकड़ै तरै तहकीत मिनख मारया जाय देस में खूबी नहीं रहै।—नी.प्र.
खमाखम खमाखमा-सं०स्त्री०यौ०—देखो 'खमा' (२)।
खमाणौ, खमाबौ-क्रि०स० [सं० क्षमापण] सहन करना।
खमायची-सं०पु०—१ जामाता को गाया जाने वाला एक प्रकार का गीत (मि० 'खमा'-२) २ एक राग विशेष (संगीत)
खमार-सं०पु० [अ० ख़ुमार] ख़ुमार, मादकता। उ०—भाटी मद बेवड़ खमार, चउद सहस चालइ चमार।—कां.दे.प्र.
खमीर-सं०पु०—१ प्रकृति, स्वभाव, आदत. २ नशा.
[अ० ख़मीर] ३ अनन्नास आदि को सड़ा कर तैयार किया एक पदार्थ. ४ गूंदे हुए आटे का सड़ाव।
खमीरौ-सं०पु० [अ० ख़मीर] चीनी या शीरे में पका कर बनाई हुई औषधि।
वि०—खमीर उठा कर बनाया या खमीर मिलाया हुआ।
खम्मया—देखो 'क्षमा' (रू.भे.) उ०—देवी उम्मया खम्मया ईसनारी, देवी धारणी मुंड त्रिभुवनधारी।—देवि.
खम्माच-सं०स्त्री०—मालकोस राग की दूसरी रागिनी (संगीत)
खम्माच कांन्हड़ा-सं०पु०यौ०—संपूर्ण जाति का एक संकर राग (संगीत)
खम्माच टोरी-सं०स्त्री०यौ०—संपूर्ण जाति की एक रागिनी जो खंभावती और टोरी से मिल कर बनी है।
खम्मिया—देखो 'क्षमा' (रू.भे.) उ०—महा खम्मिया मद्ध सुं
खम्या-सं०स्त्री—क्षमा, माफी (रू.भे.) २ आर्या या गाहा छंद का भेद विशेष जिसमें कुल २२ दीर्घ वर्ण और १३ ह्रस्व वर्ण कुल ५७ मात्रा का एक छंद विशेष (ल.पि.) [सं० क्षमा] ३ पृथ्वी (अ.मा.)
खम्याख्यात-सं०स्त्री०—पृथ्वी (अ.मा.)
अह् मोटा, खरौ हेक तूं ही विया सर्व खोटा।—ना.द.
खयकर-वि० [सं० क्षय+कर] संहार करने वाला।
खयंग-सं०पु० [फा० खिंग] १ घोड़ा। उ०—खुरसांणी सूधा खयंग चढ़िया दळ चतुरंग।—ढो.मा. २ तलवार. ३ नाश, संहार।
खय-सं०पु० [सं० क्षय] १ विनाश, क्षय। उ०—बडेरां जिकां खय करण होता बिदा।—महाराज मांनसिंह रौ गीत
२ क्षय रोग. ३ प्रलय, नाश (डि.को.)
खयकर-सं०पु०—नाश, संहार।
खयकार-सं०पु० [सं० क्षय] नाश, संहार। उ०—कियौ न खळ खयकार, काछैलौ अनरथ कियौ।—पा.प्र.
खयक-सं०पु०—चौहान वंश की एक शाखा।
खयण-वि० [सं० क्षय+रा० ण] नाश करने वाला (ह.नां.)
खयपत्रगिर-सं०पु०यौ०—वज्र (अ.मा.)
खयानत-सं०स्त्री० [अ० ख़यानत] १ धरोहर रखी हुई वस्तु न देना अथवा कम देना, गबन, बेईमानी। उ०—जिकूं प्रभू बंदा नूं दी छै सो अमानत छै तिण में खयानत योग्य नहीं।—नी.प्र.
२ विचार (मा.म.)
खयःबळ-सं०पु०यौ० [सं० क्षया+बल] नाश करने की ताकत।
खयाल-सं०पु० [अ० ख़याल] १ देखो 'ख्याल' (रू.भे.) उ०—है हिरस जोधपुर हरन हाल, खालसौ करन मानी खयाल।—ऊ.का.

खरळ-सं०स्त्री०—१ देखो 'खरक', एक दिशा।
उ०—खरळ दिसा खांखळी, तवै तीतर दिस उतर।—नैणसी
[सं० खल] २ पत्थर, धातु, कांच या काष्ठ की गोल या लंबोतरी कूंडी जिसमें दस्ते से औषधियां कूटी जाती हैं, खल। उ०—नुकरा नांन्हा निपट खरळ कर पीवै खोटी, पैलै भव री पाप महा ऊघड़ियौ मोटी।—ऊ.का.

खरळकणौ-सं०पु० [अनु०] ध्वनि विशेष।

खरळकणौ, खरळकबौ, खरळक्कणौ, खरळक्कबौ-क्रि०अ०—१ ध्वनि करना, खड़कना। उ०—भाय दाय क्रमि भरै पाय लंगर खरळक्कै, ऐंड बेंड अड़ियल्ल नीठ दोय पेंड सरक्कै।—रा.रू. २ खिसकना।

खरळायत-सं०पु०—झाला वंश के क्षत्रियों की एक शाखा या इस शाखा का व्यक्ति।

खरळी-सं०स्त्री०—१ स्नान. २ खेत में पानी देने के लिए बनाई गई नहर (क्षेत्रीय) ३ बरबादी, नाश. ४ हानि।

खरव—देखो 'खरब' (रू.भे.) (ह.नां.)
वि० [सं० खर्व] १ जिसका अंग भग्न या अपूर्ण हो. २ छोटा, लघु. ३ वामन, नाटा, बौना (डि.को.)

खरवड़-सं०पु०—१ एक प्राचीन राजपूत वंश. २ परिहार वंश की एक शाखा।

खरवांस-सं०पु० [सं० खर=हानिकारक+मास] पूस और चैत का महीना जब कि सूर्य धन और मीन राशि में होता है। इन महीनों में मांगलिक कार्य करना वर्जित है।

खरवा—देखो 'खुराई' (रू.भे.)

खरविता-सं०स्त्री० [सं० खर्विता] १ वह अमावस्या जिसमें चतुर्दशी भी मिली हुई हो. २ वह तिथि जिसका काल-मान पहले दिन की तिथि के काल-मान से कुछ कम हो।

खरसंडियौ-सं०पु०—एक प्रकार का बैल। उ०—खरसंडिया खेरूं करै, गोर दड़के सांड। नारा गोधा वाछड़ा, मचमच होवै टांड।—बादळी

खरसणियौ-सं०पु०—शमी, करील, कुमट आदि के वृक्ष जो काट कर खेत की मेंड पर लगाये जाय। उ०—ऊणा ऊरणिया खरसणियां ओळै, डरड़ा नरड़ा बिण अरड़ा दे टोळै।—ऊ.का.

खरसणौ-सं०पु०—एक प्रकार का बिना तने का, लंबी व गहरी जड़ का क्षुप विशेष।

खरसांण-सं०स्त्री०—१ अस्त्रों की धार पैनी करने का उपकरण, सान. २ तलवार. ३ मुसलमान (मि० 'खुरसांण')
वि०—गोल, वृत्ताकार* (डि.को.)

खरसुमौ-सं०पु०—जिस घोड़े के सुम गधे के सुम की भांति बिल्कुल खड़े हों।

खरहंड-सं०पु० [सं० क्षरत्+खंड] १ चिता। उ०—सिघण चाळवियां, खरहंड मांय खंखेरियां। रांणा राख थयां, बीसरसां जद 'बाघ' नै।
—आसौ बारहठ
२ घोड़ा। उ०—खरहंड फौज अगन खूंदालम, नर ईंधण प्रजळै नीमेस। राजा खीर न यंच राखियौ, नीर प्रजळियौ खेड़नरेस।—अज्ञात
[सं० खर=तेज हिंड=गति] ३ सेना। उ०—चौअउड़ घणी चंचळि चड़ेय, खरहंड लेय आयउ खड़ेय।—रा.ज.सी. ४ मुसलमान. ५ युद्ध में शस्त्रों से टुकड़े-टुकड़े करना। उ०—छगधारां खरहंड गनीमा गेरणा, तोपां सिर तोखार घणै वळ घेरणा।
—किसोरदांन बारहठ

खरहन-सं०पु० [सं०] सेना (ह.नां.)

खरहड्ड—देखो 'खरहंड' (रू.भे.) उ०—खड़ सेन खरहड्ड धूंण लीधी धर धारह, परमारां दळ पहट दीध प्रसणां पाहारह।—नैणसी

खरांडक-सं०पु० [सं०] शिव के एक अनुचर का नाम।

खरांसु-सं०पु० [सं० खरांशु] सूर्य्य।

खराई-सं०स्त्री० [सं० खर+रा० ई] खरा होने का भाव।
उ०—अपणै माहि अकल नह ऐसी, खुद ही लखै खराई नै।—ऊ.का.

खराखर, खराखरी-वि०—१ पक्का। उ०—नहीं तूंई बोल खराखरी—लेणौ-देणौ।—बरसगांठ २ कठिन, मुश्किल. ३ दृढ़।
सं०स्त्री०—१ दृढ़-निश्चय. २ कठिनाई।

खराड़णौ, खराड़बौ-क्रि०स० [सं० खर+अदन] खिलाना।

खराड़ियोड़ौ-भू०का०कृ०—खिलाया हुआ (स्त्री० खराड़ियोड़ी)

खराड़ौ-सं०पु०—पशुओं का एक रोग विशेष जिसमें उनके मुंह और खुर में दाने निकल आते हैं और मुंह से लार टपकती है। सारा बदन गरम हो जाता है। यह रोग संसर्ग से बहुत जल्द फैलता है।
यौ०—खराड़ौ-मुराड़ौ।

खराणौ, खराबौ-क्रि०स०—खराना, पक्का करना, दृढ़ करना।
उ०—फेर हरमाळा नै खराय ठीक पूछियौ, ताहरां हरमाल कह्यौ—न मांनौ तौ थे जावौ, चौकस देखौ।—पलक दरियाव री बात

खराद-सं०पु० [अ० खरात, फा० खराद] १ एक औजार जिस पर चढ़ा कर लकड़ी या धातु आदि की सतह चिकनी और सुडौल की जाती है।
सं०स्त्री०—२ खरादने का भाव, ढंग, बनावट, गढ़न।
वि० [सं० खराप्त] खरापन पाया हुआ।

खरादणौ, खरादबौ-क्रि०स०—खराद पर चढ़ा कर किसी वस्तु को साफ और सुडौल करना, कांट-छांट कर सुडौल बनाना।
खरादणहार, हारौ (हारी), खरादणियौ—वि०।
खरादिओड़ौ, खरादियोड़ौ, खरादयोड़ौ—भू०का०कृ०।

खरादियोड़ौ-भू०का०कृ०—खराद पर चढ़ा कर सुडौल बनाया हुआ। (स्त्री० खरादियोड़ी)

खरादी—देखो 'खैराती' (२) (रू.भे.)

खरापण, खरापणौ-सं०पु०—१ खरा होने का भाव, दृढ़ता. २ सत्यता, सच्चाई. ३ उन्मत्तता।

खराब-वि० [अ० खराब] १ बुरा, निकृष्ट, हीन।
मुहा०—खराब करणौ—बरबाद करना, बिगाड़ना।

खरच—सं०पु० [फा० खर्च] १ किसी कार्य में कोई वस्तु का लगना, व्यय।
क्रि०प्र०—आणी, करणी, चलणी, देणी, पड़णी लागणी, लेणी, होणी।
मुहा०—१ खरच उठाणौ—खर्च का भार सहन करना; खर्च बंद कर देना. २ खरच चलावणौ—खर्च के लिए रुपया देना; गृहस्थ निभाना. ३ खरच में घालणौ—व्यय में लिखना. ४ खरच में नांखणौ—खर्च करने पर मजबूर करना. ५ खरच में पड़णौ—व्यय करने को लाचार होना।
कहा०—खरच रा भाग मोटा—कंजूसी की निंदा।
२ वह धन जो किसी काम में लगाया जाय।

खरची—सं०स्त्री० [अ० खर्च+रा० ई] १ देखो 'खरच'।
कहा०—खरची खूटी यारी टूटी—लोग दोस्ती तभी तक रखते हैं जब तक पास में पैसा होता है।
२ वह धन जो किसी को निर्वाह के लिए दिया जाय, निर्वाह भत्ता।

खरचीलौ- वि० [अ० खर्च+रा०प्र० इलो] १ बहुत अधिक व्यय करने वाला. २ जिसमें बहुत खर्च होता हो।

खरचौ—देखो 'खरच'।
कहा०—लाडी और गाडी रौ खरच बराबर व्है—स्त्री का व्यय एक बैल गाड़ी के रखने के व्यय के बराबर होता है।

खरजूर—देखो १ 'खजूर' (रू.भे.) [सं० खर्जूर] २ चांदी (अ.मा.) ३ हरताल।

खरजूरवेध—सं०पु० [सं० खर्जूरवेध] ज्योतिष में एक प्रकार का योग जिसमें विवाह होना वर्जित है।

खरजूरी—देखो 'खरजूर' (रू.भे.)

खरडवौ—सं०पु०—गेहूँ की फसल में होने वाला एक घास विशेष।

खरडौ—देखो 'खरड़ौ' (रू भे.)

खरण—सं०स्त्री०—१ चूल्हे पर चढ़ाये हुए पानी भरे बर्तन से उबाल आने के पहले आने वाली ध्वनि. २ तलवारादि की धार पैनी करने का उपकरण, सान।

खरणियौ—देखो 'खरसणियौ'।
कहा०—पाछी रै सांमी खरणियौ दे जदे पाछी झल्लै, ई झल्लै कोनी—जैसे को तैसा।

खरणी—सं०स्त्री०—१ चोरी के माल का पता प्राप्त करने की नीयत से चोरों को गुप्त रूप से दिया जाने वाला धन।
[सं० क्षीरका] २ मौलश्री वृक्ष तथा उसका फल।
[रा०] ३ राजाओं द्वारा दिया जाने वाला कर (मि० 'चौथ', ४,५)
उ०—भरै खरणी जिकै किसा भूपाळ।—उमेदजी सांदू

खरणौ—सं०पु० [सं० क्षरण] वंश, कुल, गोत्र। उ०—धवळ रूप धरियौ धरम, सिव धवळै असवार। कांमधेन खरणौ धवळ, क्यूं नह झालै भार।—वां.दा.

खरणौ, खरबौ—क्रि०अ० [सं० क्षरण] १ वीर गति को प्राप्त होना। उ०—खगधारां वखतेस खरै।—वखतौ खिड़ियौ २ गिरना, पड़ना।

खरतर—सं०पु०—१ तेजस्वी होने का भाव। उ०—खरच खअवट खाटमा, खरतर जांण पिछांण। ऊदल में हा एकठा, डांण मांण अरु पांण।—डूंगरसी भाटी

खरतरगछ—सं०पु०—वह संप्रदाय जिसमें तेज की तीक्ष्णता हो (जैन)।
उ०—तपागछ में तेरै वैसणा है, खरतरगछ में इग्यारै वैसणा है।
—बां.दा.

खरतरौ—वि० [सं० खर=तेज] तेज, तीक्ष्ण।

खरदंड—सं०पु०—कमल (ह.नां.)

खरदांवणौ—सं०पु०—हाथ की उंगलियों में धारण करने का स्त्रियों का एक आभूषण।
कहा०—लाडी जी मांगै खरदांवणौ, दौ रांड रै दांवणौ—वधू खरदांवणा की मांग करती है, इसके 'दामणा' दो—बिना अवसर के कोई पदार्थ नहीं मांगना चाहिए नहीं तो उसका मिलना तो दूर रहा उलटा दंड सहन करना पड़ेगा।

खरदुखर, खरदूसण—सं०पु०यौ० [सं० खर+दूषण] रावण के भाई खर और दूषण नामक दो राक्षस (रांमकथा)

खरधरौ—वि०पु० (स्त्री० खुरधरी) खुरदरी (अमरत)

खरध्वंसी—सं०पु० [सं० खरध्वंसिन्] १ श्रीरामचंद्र (अ.मा.) २ श्रीकृष्ण (नां.मा.)

खरपट—वि० [सं० खर्पट] अति वृद्ध।

खरपौ—वि० [सं० कर्पट] अति वृद्ध।
सं०पु०—देखो 'खुरपौ'।

खरब—सं०पु० [सं० खर्व] १ सौ अरब की संख्या. २ नव निधियों के अंतर्गत एक निधि (अ.मा.)
वि०—१ सौ अरब. २ नीच, बुरा। उ०—गरब में अखरब खरब गरब ना गरबौ, परब में विपख पख बासना भरबौ।—ऊ.का.
३ नाटा, बौना, वामन. ४ छोटा, लघु।

खरबसाख—वि०—नाटा (डि.को.)

खरबूजौ—सं०पु० [फा० खर्बुजा] ककड़ी की जाति की एक बेल जिसके फल गोल, बड़े, मीठे और सुगंधित होते हैं। इसके बीज प्राय: नदियों के किनारे लगाये जाते हैं। चैत से आषाढ़ तक इसमें फल लगते है। इसके बीज ठंडाई के साथ पीस कर पीये भी जाते हैं।
कहा०—खरबूजै नै देख'र खरबूजौ रंग बदळै—दूसरे को देख कर लोग उत्साहित होते हैं। संग रहने का प्रभाव अवश्य पड़ता है।

खरमौ—सं०पु० [अ० खुरमा] देखो 'खुरमौ' (रू.भे.)

खररर—सं०स्त्री० [अनु०] १ ऊंचे स्थान से खिसक कर गिरने से उत्पन्न ध्वनि।

खररूप—सं०पु०—एक प्रकार का घोड़ा (शा.हो.)

कहा०—खरी खोटी रांम जांणै—अच्छा-बुरा तो ईश्वर ही जानता है; अच्छे बुरे की पहिचान करना कठिन होता है।
यौ०—खरौ-खोटौ।
३ सेंक कर कड़ा किया हुआ, करारा। ४ सच्चा। उ०—आडा डूंगर वन घणा, खरा पियारा मित्त। देह विधाता पंखड़ी, मिळि मिळि आवउं नित्त।—ढो.मा.
मुहा०—खरौ उतरणौ—सच्चा साबित होना।
५ जो झुकाने या मोड़ने से टूट जाय, कड़ा. ६ छल-छिद्रशून्य, साफ, ईमानदार।
मुहा०—१ खरौ आसांमी—चटपट दाम देने वाला आदमी।
२ खरौ आदमी—ईमानदार आदमी; साफ साफ कहने वाला आदमी।
७ नकद (दाम)
मुहा०—रुपया खरा होणा—रुपए मिलने का निश्चय होना।
कहा०—खरी मजूरी चोखा दांम—मजदूरी की प्रशंसा।
८ लाग लपेट न रखने वाला, स्पष्टवक्ता. ९ अप्रिय सत्य।
मुहा०—खरी खरी सुणाणी—स्पष्ट बात कहना चाहे वह बुरी क्यों न लगे।
१० पक्का। उ०—१ खरौ जिगरिया खांन जिकौ उत्तर अपजोरै, पूरब सादित प्रगट तकौ ऊबट निज तोरै।—रा.रू.
उ०—२ बादसाह मुळक नै फरमाई जे म्हारी तरवार मोसूं ही खरी पियासी छै।—नी.प्र.
११ गहरा गेहुँआ या श्यामल (शरीर का)
यौ०—खरौ रंग।
१२ महान, जबरदस्त। उ०—वागां ऊपाड़ै विखमी वार, वड़कै आकास वर। खरौ खेध वाजी, खरा वहसै दुवाह।—जगौ सांदू

खळ—वि० [सं० खल] १ क्रूर, दुष्ट, दुर्जन, नीच। उ०—१ मत जांणै प्रिउ नेह गयउ, दूर विदेस गयांह। विवणउ वाधइ सज्जणां, ओछउ ओहि खळांह।—ढो.मा. उ०—२ खिज्जि कह्यौ रे जनक तुल्य खळ, सजव होहु रक्खस नृप वीसळ।—वं.भा. २ चुगलखोर.
३ कपटी, धोखेबाज. ४ शत्रु, विरोधी। उ०—हरि समरण रस ममभ्रण हरिणाखी, चाचण खळ खगि खेत्र चढ़ि।—वेलि.
५ मूर्ख।
सं०पु० [सं०] १ सूर्य्य. २ रावण (अ.मा.) ३ राक्षस (अ.मा.) (यौ० खळसाल) ४ खलिहान. ५ खरल. ६ तिलों से तेल निकालने के पश्चात् बचा हुआ काला-काला सा पदार्थ जिसे दूध बढ़ाने के उद्देश्य से पशुओं को खिलाया जाता है। उ०—खळ गुड़ अणकूंताय, एक भाव कर आदरै। ते नगरी-हूंता, रोही आछी राजिया।
—किरपारांम
कहा०—१ खळ गुड़ एक ई भाव—जहां ऊपर का कोई अधिकारी देखने वाला नहीं होता है वहां 'अन्धेर नगरी अबूझ राजा' की तरह गुड़ और खली एक ही भाव विकते हैं—अव्यवस्थित शासन सत्ता पर व्यंग्य. २ तेल तिलां सूं उतरिया तौ खळ सूं कई सिनेस—तेल को तिलों से निकलने के पश्चात् खली से क्या स्नेह रह जाता है।
७ अफीम की डलिया के ऊपर का मैल, अफीम का बुरादा।
उ०—खळ वटियां री खुरड़ छुरी सूं छालण लागै।—ऊ.का.
८ युद्धभूमि। उ०—खळ प्रवळ पाड़ पड़ियौ खळै, जस प्रकास राखै जरू। तज छोत मरण उपजण तणी, मिळै जोत भीमंगरू।—रा.रू.
यौ०—खळसाल।

खलक—सं०पु० [अ० खल्क] १ सृष्टि के प्राणी या जीवधारी, जगत, दुनिया। उ०—१ सांईं टेढ़ी अंखियां, वैरी खलक तमांम। टुकि यक झोला महर का, लक्खूं करै सलांम।—अज्ञात उ०—२ जिकौ वादसाह प्रभू री आग्या मांने छै उणरी ओग्या खलक मांनै।—नी.प्र.
२ भीड़, झुंड।

खळकट—सं०पु०—संहार, विध्वंस। उ०—खळकट सूं खळां सावरत खांडौ, खांडौ कदे न राखै खाप। खांडा वळि राखै खूमांणौ, प्रथमी खांडा तणी प्रताप।—महारांणा प्रताप री गीत

खळकणौ, खळकबौ—क्रि०अ०—१ बहना, धार के रूप में प्रवाहित होना। उ०—जस किलक वकवक मुख जपिक, भुव खळक रुधरक भभक भक।—र रू. २ कलकल ध्वनि करना. ३ छलकना।
उ०—खळकियां स्रोण तांय वोह घट-खाळियां, रिण भड़ां सीस यूं वैठि रतनाळियां।—हा.झा. ४ निकलना। उ०—सो तीर खेंचतां भाले सूं कमरबंधौ बढ़ गयौ सो सारा तीर खळक नै पाखती पड़िया।—सूरे खींवे री वात ५ खड़कना, खनकना।
खळकणहार, हारौ (हारी), खळकणियौ—वि०।
खळकाणौ, खळकाबौ, खळकावणौ, खळकावबौ—क्रि०स०।
खळकिओड़ौ, खळकियोड़ौ, खळक्योड़ौ—भू०का०कृ०।
खळकीजणौ, खळकीजबौ—भाव वा०।

खलकत—देखो 'खलक' (रू.भे.) उ०—ललकत जांभळियां वाजण नै लागी, भूखां मरतोड़ी खलकत पड़ भागी।—ऊ.का.

खळकाणौ, खळकाबौ—देखो 'खळकावणौ' (रू.भे.)

खळकाळ—सं०पु०—१ तलवार (नां.मा., अ.मा.) २ श्रीरामचन्द्र. ३ श्रीकृष्ण।

खळकावणौ, खळकावबौ—क्रि०स० ['खळकणौ' का प्रे०रू०] १ खड़काना, खनकाना. २ खौलाना ३ बंधन में डालना. ४ प्रहार करना. ५ पानी बहाना. ६ ढहाना।
'खळकणौ' का स०रू०। देखो 'खळकणौ'।

खळकी—सं०स्त्री०—स्नान।

खळकुलीक—वि० [सं० खल+कुल+रा० क] दुष्ट, क्रूर, नीच।
उ०—यम करत उपद्रव खळकुलीक, आयौ निसंक 'लावा' नजीक।
—ला.रा.

खळकौ—सं०पु०—१ कुर्ता, झगा. २ पानी के प्रवाह से उत्पन्न कलकल की ध्वनि. ३ नाला, प्रवाह. ४ स्नान।

२ दुर्दशाग्रस्त. ३ पतित, मर्यादाभ्रष्ट।

मुहा०—खराब करणी—किसी स्त्री का सतीत्व भंग करना।

खराबी–सं०स्त्री० [अ० ख़राबी] १ बुरापन, दोष, अवगुण।

मुहा०—खराबी में पड़णी—बुरी दशा में होना. २ दुर्दशा, दुरावस्था।

मुहा०—खराबी में डालणी—दुख पहुँचाना, हानि पहुँचाना.

३ गंदगी, गलीच।

खराबौ–सं०पु० [अ० ख़राब] १ खराब करने या होने का भाव.

२ हानि, नुकसान, क्षति।

खरारि, खरारी–सं०पु० [सं० खर+अरि] १ श्रीरामचन्द्र.

२ श्रीकृष्ण. ३ बलराम. ४ विष्णु. ५ ईश्वर (अ.मा.)

खरारी–सं०पु० [सं० खुरारी] एक विशेष प्रकार के घास का बना झाड़ू।

खरास–सं०स्त्री० [फा० खराश] प्रायः छिलन आदि के कारण हो जाने वाला हल्का घाव, खरौंच।

क्रि०प्र०– आणी, पड़णी, लागणी, होणी।

खरियळ–वि०—१ खरी कमाई करने वाला. २ खरी कमाई खाने वाला।

खरींटी—देखो 'खरेंटी' (क्षेत्रीय)

खरीकौ, खरीखौ–वि० (स्त्री० खरीकी, खरीखी] १ छलछिद्रशून्य, सच्चा.

२ स्पष्ट वक्ता।

खरिघाहि–सं०पु०—विश्वास। उ०—तद इयं रे मन खरीघाहि हंतौ तद उठै इयै नूं राखी।—चौबोली

खरीटिया–सं०स्त्री०—बकरी की जाति विशेष।

खरीतौ–सं०पु० [अ० ख़रीत] १ थैली. २ खीसा, जेब. ३ वह बड़ा लिफाफा जिसमें किसी बड़े अधिकारी की ओर से मातहत के नाम आज्ञा-पत्र आदि भेजे जांय।

खरीद–सं०स्त्री० [फा० ख़रीद] १ मोल लेने की क्रिया, क्रय.

२ मोल लिया हुआ पदार्थ।

खरीदणौ, खरीदबौ–क्रि०स० [फा० ख़रीदना] मोल लेना, क्रय करना।

खरीदणहार, हारौ (हारी), खरीदणियौ—वि०।

खरीदाणौ, खरीदाबौ, खरीदावणौ, खरीदावबौ—क्रि०प्रे०रू०।

खरीदिप्रोड़ौ, खरीदियोड़ौ, खरीदचोड़ौ—भू०का०कृ०।

खरीदीजणौ, खरीदीजबौ—कर्म वा०।

खरीददार, खरीदार–सं०पु० [फा० खरीददार] १ मोल लेने वाला, ग्राहक.

२ चाहने वाला, इच्छुक।

खरीदारी–सं०स्त्री० [फा०] खरीदने की क्रिया या भाव।

खरीदियोडौ–भू०का०कृ०—खरीदा हुआ। (स्त्री० खरीदियोड़ी)

खरीदौ–वि०—खरीदने वाला। उ०—लादां लकड़ी जगं, नीकळं न्याई लपटां। खनं खरीदा खड़ा, बांनकी निरखं कपटां।—दसदेव

खरुखानळ–सं०पु० [सं० खरुखानल] ४६ क्षेत्रपालों में से अठारहवां क्षेत्रपाल।

खरूंट–सं०पु०—फोड़े-फुन्सी या घाव आदि के ठीक होकर सूखने पर ऊपर जमने वाली पपड़ी, खुरंट। उ०—जाळ छाल बाळ बुरकाया, राख खरूंट ले ऊतरै।—दसदेव

मुहा०—खरूंट उखेलणी; खरूंट छोलणी—पुरानी बातों को याद कर वैमनस्य उत्पन्न करना; पिछले अवगुणों को प्रकाश में लाना।

खरेड़ी–सं०स्त्री०—घास-फूस का कच्चा छप्पर (प्रायः इसके नीचे कपास रक्खा जाता है।

खरेटौ—देखो 'खरोटौ'।

खरेबरकत, खरेलाभ–सं०पु०यौ०—अनाज आदि तौलते अथवा मापते समय तौलने वाले द्वारा प्रारंभ में उच्चरित शब्द, गिनती के आरंभ में शुभ लाभ की कामना से एक के स्थान पर उच्चारण किया जाने वाला शब्द।

खरै–क्रि०वि०—निश्चय। उ०—पिड़ आंगण आज खरै पड़णी।

—पा.प्र.

खरैंटी–सं०स्त्री० [सं० खरयष्टिका] अष्टवर्ग की एक औषधि विशेष।

देखो 'खिरैंटी' (अमरत)

खरैबरकत—देखो 'खरेबरकत' (रू.भे.)

खरौंच–सं०स्त्री० [सं० क्षुरण] नख आदि लगने या और किसी प्रकार छिलने का हल्का चिन्ह, खराश।

खरोड़ी–सं०स्त्री०—घास से भरी हुई गाड़ी।

खरोट—१ देखो 'खरोंच' (रू.भे.) उ०—लागां कुसुम सरीस वप, ज्यांरै पड़ै खरोट। हद नाजक हिरणांखियां, है मांझल हमरोट।

—बां.दा.

२ देखो 'खुरंट' (रू.भे.)

खरोटिया–सं०पु०—रामावत साधुओं का एक भेद विशेष (मा.म)

खरोटौ–सं०पु० [सं० कर+उत्था, प्रा० करोट्ठा] १ देखो 'खरोंच'.

२ एक प्रकार की लाग जो जागीरदार अपनी प्रजा के अलावा अन्य मवेशी मालिकों से वसूल करता है जो कुछ समय के लिए उनकी भूमि पर ठहराते हैं. ३ ग्रामवासियों से ही वसूल की जाने वाली एक प्रकार की लाग जो गाँव-हित में व्यय की जा सकती है.

(मि० 'ऊकरड़ीखरच, गोचरी')

४ आंगन आदि लीपने के लिए गोबर के साथ मिलाई जाने वाली मिट्टी जो 'मुरड़' से कुछ निम्न श्रेणी की होती है।

खरोदक–सं०पु० [सं० क्षीरोद] १ समुद्र. २ श्वेत वस्त्र।

उ०—दीया खरोदक पइहरणइ राजा कुंवर वसांणी आंणी।

—बी.दे.

खरो–वि० (स्त्री० खरी) १ तेज, तीखा. २ विशुद्ध, बिना मिलावट का, खालिस।

मुहा०—१ खरो उतरणौ—कसौटी पर विशुद्ध सिद्ध होना.

२ खरो खोटो—भला बुरा. ३ खरो खोटो परखणो—अच्छे-बुरे की पहिचान होना. ४ मन मां खरो खोटो होणौ—चित्त चलायमान होना, मन डिगना, बुरी नियत होना।

उ०—बीजळियां खळभळियां, आभै आभै कोडि। कदे मिळेसूं सज्जनां, कसकंचुकी छोडि।—जसराज

खळभळी—देखो 'खळवळी' (रू.भे.)

खळम्भळ—देखो 'खळवळी' (रू.भे.) उ०—खळम्भळ होय असतां ग्राम, जपै भड़धार मुखै जै रांम।—रा.ज. रासौ

खलल-संस्त्री० [अ० खलल] १ रोक, अवरोध, बाधा, विघ्न।
उ०—उसने विचारी—परभात बादसाह रै विनां बादसाही में खलल पड़सी।—सांई री पलक
क्रि०प्र०—नांखणौ, पड़णौ, होणौ।
२ गलती, भूल. ३ हंसी, मजाक. ४ कमी। उ०—आवै घर करै एक पग ऊभा, खातर खलल पड़्यां व्है खीज।—चंडीदांन सांदू

खळळ-संस्त्री० [अनु०] १ द्रव पदार्थ या पानी के प्रचंड प्रवाह से उत्पन्न ध्वनि। उ०—खळळ चळवळ सरित खलहल।—र.ज.प्र.
२ जंजीरों की ध्वनि।

खळळाट-संस्त्री० [अनु०] देखो 'खळळ' (रू.भे.)

खळवट-संपु०—युद्ध।

खळसेरणौ, खळसेरबौ-क्रि०स०—१ काटना. २ जलती हुई लकड़ी से झटक कर अंगारे अलग करना. ३ दाह-संस्कार के समय कपाल-क्रिया करना. ४ मोठ, मूंग, ग्वार आदि को हिला कर व उछाल कर फलियों से अलग करना।

खळसाल-संपु० [सं० खल-शल्य] १ युद्ध. (अ.मा.) २ रावण (अ.मा.) ३ वज्र (अ.मा.) ४ श्रीरामचंद्र (मि० 'खल', २)
५ विष्णु (मि० 'खळ' ३)

खळहल-संस्त्री० [सं० कलकल] जल-प्रवाह से उत्पन्न शब्द, कल-कल। उ०—वळ वळ कंठ विलासं हार, भुजंग गंग सिर खळहळ।
—रा.रा.

खळहळणौ, खळहळबौ-क्रि०अ०—१ कल-कल की आवाज करते हुए पानी का बहना। उ०—१ भूरा भुरजाळा अंबुद भळहळिया, खाळा नदनाळा वाळ्हा खळहळिया।—ऊ.का. उ०—२ घुरि असाढ़ घडुकया मेह, खळहळिया खाळयां वहि गई खेह।—वी.दे.
२ खल-खल की ध्वनि होना या करना।
उ०—अमि पायगा रह्या आफळता। मदभर खळहळता मैमंत।
—प्रिथीराज राठौड़

खळहाणौ, खळहाबौ-क्रि०अ०—१ नष्ट होना.
क्रि०स०—२ विध्वंश करना, नाश करना।

खळहियोड़ौ-भू०का०कृ०—पथभ्रष्ट, पतित, मर्यादाभ्रष्ट।
(स्त्री० खळहियोड़ी)

खळांडळां-वि०—खंड-खंड, टुकड़े-टुकड़े। उ०—दोह घड़ चोवड़ा फतह जंग खळांडळां, खत्री गुर री छएल करै नत थूंकळां।—अज्ञात

खळांहळ-संस्त्री०—जल-प्रवाह की कलकल की ध्वनि। उ०—पाय खळांहळ गंग पुनीता, की तावै अघ कोड़ै।—र.ज.प्र.

खलांण—देखो 'खलथांन' (रू.भे., क्षेत्रीय)

खळांत-संपु० [सं० खल+अंत] १ दुष्टों का संहार. २ शत्रुओं का नाश, संहार। उ०—खळांत कांत व्है खपा, दुदांत खेरते नहीं। सुगिद्धनी घपा घपा, वपा वखेरते नहीं।—ऊ.का.

खळांभयंकर-संपु०—ईश्वर, परमेश्वर (नां.मा.)

खलांहळणौ-क्रि०अ०—द्रव पदार्थ का गतिमान अवस्था में ध्वनि करना।
उ०—रळतळि नीर जिहीं रहिराळ, खळहळि जांणि कि भाद्रव खाळ।—वचनिका

खळाक-संपु० [सं० स्खलन] १ किसी रोग के मिटने पर उस रोग-संबंधित परहेज तोड़ने का शब्द या भाव. २ कपड़ा बुनने में नली चलाने से उत्पन्न शब्द. [सं० खल] ३ कुछ श्रमजीवी जातियों के व्यक्तियों को उनकी वर्ष भर की बेगार, सेवा-टहल आदि के बदले फसल में से दिया जाने वाला एक नियत एवं बंधा हुआ भाग। इसमें फड़कौ' से कुछ कम अनाज होता है (मि० 'फड़कौ')

खळाट-संपु० [सं० खल] १ शत्रु, वैरी. २ दुष्ट, खल।

खळाडळा-वि०—देखो 'खळांडळां'। उ०—फौजां देख न कीधी फौजां, दोयण किया न खळाडळा।—अां.दा.

खलास-वि० [अ०] १ छूटा हुआ, मुक्त. २ समाप्त, खतम।
क्रि०प्र०—करणौ, होणौ।

खलासी-संस्त्री०—१ मुक्ति, छुटकारा, छुट्टी।
संपु०—२ वह व्यक्ति जो किसी यंत्र द्वारा चलने वाले वाहन के चालक की सहायता करे, यान की सफाई करे एवं यान में शक्ति प्रदान करने वाला पदार्थ यथा पैट्रोल, कोयला आदि डाले।

खळि-संपु० [सं० स्खलि] पाप, दोष। उ०—भणै गुण तूझ तणा भगवांन, जावै खळि त्यांहे तणा खैमांन।—ह.र.

खळित-वि० [सं० स्खलित] १ चलायमान, चंचल. २ गिरा हुआ।
संपु० [अ० खिलअत] खिलअत, राजा की ओर से सम्मान में मिलने वाला वस्त्र। उ०—सिरपेच, मोतियां री माळा, खलित, तरवार, हाथी, पालकी, इतरी निवाजस भेजी।
—जलाल बूबना री वात
संपु० [सं० स्खलित] वीर्य्यपात (अमरत)

खळियोड़ौ-भू०का०कृ०—१ चलचित्त. २ निर्धन।
३ भूखा. ४ डांवाडोल. ५ गिरा हुआ, भ्रष्ट।
(स्त्री० खलियोड़ी)

खलियौ-संपु० [सं० खल्ल+इयौ] जूता, पादरक्षिका।

खळीगणौ, खळीगबौ-क्रि०स०—खाली करना, उंडेलना। उ०—हैकंड कठीनै हालिया, डबी खळीगण डैण।—ऊ.का.

खळी-संस्त्री० [सं० खल] १ ग्वार, मोठ आदि के फूस का गोल ढेर.
२ मिचलाहट। उ०—मुंहडै मिळकणी रहै खळि उकारी रहै।
—कुंवरसी सांखला री वारता

खलकौ—देखो 'खिलकौ' (रू.भे.)

खळक्क—देखो 'खळक' (रू.भे.)

खळक्कणौ, खळक्कवौ—देखो 'खळकणौ' (रू.भे.) उ०—जिण दीहे-वण हर धरइ, नदी खळक्कइ नीर। तिण दिन ठाकुर किम चलइं, धण किम बांधइ धीर।—ढो.मा.

खळखट—देखो 'खळकट' (रू.भे.) उ०—खळां सवळां भंज खळखट, विजै कर रण वार।—र.ज.प्र.

खळखळ-सं०पु० [अनु०] [सं० कलकल] पानी के बहाव से उत्पन्न ध्वनि, कलकल।

खळखळणौ, खळखळवौ-क्रि०अ०—१ कल-कल करते जल की धारा का बहना। उ०—परनाळां पांणी पड़ै, नाळा चळवळियाह। पोखर आस पुरावणा, खाळा खळखळियाह।—वादळी

खळखळौ-वि० (स्त्री० खळखळी) १ अधिक, विशेष. २ काफी, ठीक. ३ उदारतापूर्ण।

खळखल्ल-सं०स्त्री० [अनु०] १ हँसने की आवाज, खिलखिल। उ०—गुड़ै गिड़-कंध मदंध मुगल्ल, ख्याली रिखराज हँसै खळखल्ल। —मे.म.

२ देखो 'खळखळ' (रू.भे.)

खळखायक-वि० [सं० खल = दुष्ट+रा० खायक = खाने वाला] दुष्टों का संहार करने वाला। उ०—खळखायक साहिक जना, दीनवंधु देवाधि। द्याळवाळ सरणागती, तुमसे पति हम व्याधि। —करुणासागर

सं०पु०—विष्णु।

खळखेदू-वि०—शत्रु को नष्ट करने वाला।

खळख्खळ—देखो 'खळखळ' (रू.भे.) उ०—भळम्भळ सूळ भुजां भळ-कंत, खळख्खळ खून नदी खळकंत।—मे.म.

खळगट—देखो 'खळकट' (रू.भे.)

खलड़ी-सं०स्त्री० [सं० खल्ल] १ छाल. २ चमड़ा (रू.भे. 'खालड़ी') (रू.भे. 'खल्लड़')

खळचणौ, खळचवौ-क्रि०स०—मारना, नाश करना। उ०—खळचिया धरा खगां मूह खेंग रै, असुर ची अरथ कै घर अयांणी। —महारांणा सांगा री गीत

खळचियोड़ौ-भू०का०कृ०—मारा हुआ, नाश किया हुआ। (स्त्री० खळचियोड़ी)

खळजारण-सं०पु० [सं० खल+जारण] १ दुष्टों का सहार करने वाला. २ सुदर्शन चक्र (नां.मा.)

खळणौ, खळवौ-क्रि०अ० [सं० स्खलन] १ डुलना, विचलित होना, डिगना. २ अधीर होना. ३ विगड़ना. ४ गिरना. ५ पथ-भ्रष्ट होना. ६ मरना।

कहा०—खळ खळिया'र विघन टळिया—दुष्ट व्यक्ति के मरते ही विघ्न स्वयमेव मिट जाते हैं।

क्रि०स०—७ संहार करना। उ०—१ प्रसण वखाण करै जोधां-पत, वडम तुहाळी साख वळै। ऐ जो वहै उवेडा, खांडां तळै राखिया खळै।—मैरूंदास खिड़ियौ उ०—२ ऊजळै चित धरियां उरड़ खळै सम्र वोळी खगां जूटिया भला वेवे जवर ईसगेत राजा अगां। —वखतौ खिड़ियौ

खळणहार, हारौ (हारी), खळणियौ—वि०।

खळाणौ. खळावौ—प्रे०रू०।

खळिओड़ौ, खळियोडौ, खळ्योड़ौ—भू०का०कृ०।

खलता-सं०स्त्री० [सं० खल्ल+ता] दुष्टता, नीचता। उ०—१ फिदा-हुसन सूं खलता कीवी राव राजा वखतावरसिंह।—वां.दा. ख्यात

उ०—२ चदर विभचारी, ऐल्या नारी, खळता जारी पतखारी। रिस साप सहारी, अधगत धारी, वरस हजारां सिल भारी। —भगतमाळ

खळता—देखो 'खलीतौ' (रू.भे.)

खलथांन-स०पु० [सं० खल+स्थान] खलिहान।

खळवट-सं०पु० [सं० खल+वट = टुकडा] १ युद्ध. २ संहार। उ०—खित कारणै करै नित खळवट, खेटै कटक तणा खुरसांण। —प्रथ्वीराज राठौड़

खळवत-सं०स्त्री०—१ मेल, मिलाप. २ गोष्ठी। उ०—वी:रा थळ विहूणां तिल खळवत तरजै, बूढ़ी चेली नै साधू ज्यों वरजै।—ऊ.का.

खळवधकर-सं०पु०यौ [सं० खल+वध+कर] महादेव, शिव (अ.मा.)

खळवळ-सं०स्त्री० [अनु०] १ हलचल, शोर, हल्ला. २ कुलबुलाहट. ३ अशांति, बेचैनी, घबराहट।

क्रि०प्र०—पडणी, मचणी।

(रू०भे०—खळवळी, खळभळ, खळभळाट, खळभळाहट, खळभळी, खळम्भळी)

खळवळणौ, खळवळवौ, खळवळाणौ, खळवळावौ-क्रि०अ०—१ खलवल शब्द करना. २ खोलना. ३ हिलना-डोलना, विचलित होना. ४ खड़वड़ाना।

खळवळी, खळभळ-सं०स्त्री० [अनु०] देखो 'खळवळ' (रू.भे.) उ०—१ सागर तीर वीराज्या स्वांमी, लंका मांय खळवळी जामी। —गी.रा.

उ०—२ काकळ योरप कळ विकळ, खळभळ मच नव खंड। —किसोरदांन वारहठ

खळभळणौ, खळभळवौ-क्रि०अ० [अनु०] १ देखो 'खळवळणौ'। उ०—मार-मार वित्थार वार ऊठियौ विकासे, खुरासांण खळभळै निहग सा वच्चा नासै।—नैणसी २ भयातुर होना, उतावला होना। उ०—लोक सहू पालतियइ मिळया, देखी कटक देस खळभळया।—ढो.मा.

खळभळाट, खळभळाहट-सं०स्त्री० [अनु०] देखो 'खलवल' (रू.भे.)

खळभळिलणौ, खळभळिलवौ-क्रि०अ०—चमकना।

सं०स्त्री०—४ दासी, सेविका. ५ उप-पत्नी, रखैल औरत ।

उ०—१ गूजरां री नटणी उमेदी नूं उमट अचळसिंघ खवास कीवी । —वां.दा. ख्यात

उ०—२ हुवै बसी री वांणियो, पातर हुवै खवास । हुवै कीमिया-गार ठग, निघ हर जावै नास ।—वां.दा.

खवासण–सं०स्त्री०—१ नाई जाति की स्त्री. २ रखैल स्त्री (राजाओं व रईसों के)

खवासवाळ–सं०स्त्री०यौ० [फा० खवास+सं० वाला] १ देखो 'खवास' (५)

उ०—महाराजा अभयसिंहजी संवत् १८७५ आसाढ़ सुदी ५ नूं अज-मेर मांही देवलोक हुआ । स्री पोहकरजी ऊपर दाह हुवौ । जोधपुर नूं आसाढ़ सुदी ६ नूं खबर आई । मोहिल सै खवास-वाळ लुगायां सती हुई ।—मारवाड़ रा अमरावां री वारता

२ रखैल स्त्री की संतान (राजा-महाराजा)

खवासि—देखो 'खवास' । उ०—इणि भांति सूं च्यारि रांणी त्रिहि खवासि गंगाजळ सिनांन करि ।—वचनिका

खवासी–सं०स्त्री० [अ० खवास+रा० ई] १ खवास का कार्य, खिदमत-गारी, चाकरी, सेवा, टहल । उ०—लारै खवासी में मुखनस बैठो मोरछड़ करै है ।—द.दा. २ इस कार्य के लिये मिलने वाली मज-दूरी. ३ हाथी के हौदे या गाड़ी आदि में पीछे की ओर वह स्थान जहाँ खवास बैठता है. ४ दासी, सेविका. ५ नाई जाति की स्त्री ।

खवीस–सं०पु० [अ० ख़वीस] सिर कटा हुआ प्रेत या भूत ।

उ०—हुवै खवीसां हाक जोगणियां वाळै जमै ।—पा.प्र.

खवैयौ–वि०—१ खाने वाला. २ (नाव) चलाने वाला ।

खवौ–सं०पु० [सं० स्कंध] कंधा, भुजमूल ।

खसंग–सं०पु० [सं० ख+संग] हवा, वायु । उ०—हुवै रथ चक्रित देव निसंग, खहा व्रत मेघ कि वेग खसंग ।—रा.रू.

खस–सं०स्त्री० [फा० ख़स] एक प्रकार की सुगंधित घास की जड़, गांडर घास की जड़ (अमरत)

खसकणौ, खसकबौ–क्रि०अ० [अनु०] १ धीरे-धीरे एक स्थान से दूसरे स्थान पर जाना. २ अपने स्थान से इधर-उधर हट जाना. ३ सरकना, खिसकना. ४ विचलित होना ।

खसकणहार, हारौ (हारी), खसकणियौ—वि० ।

खसकाणौ, खसकाबौ, खसकावणौ; खसकावबौ—क्रि०स० (प्रे०रू०)

खसकिओड़ौ, खसकियोड़ौ, खसक्योड़ौ—भू०का०कृ० ।

खसकीजणौ खसकीजबौ—क्रि० भाव वा० ।

खसकाणौ, खसकाबौ–क्रि०स०—१ धीरे-धीरे एक स्थान से दूसरे स्थान पर भेजना. २ अपने स्थान से इधर-उधर हटाना. ३ सरकाना, खिसकाना. ४ विचलित करना ।

खसकाणहार, हारौ (हारी), खसकाणियौ—वि० ।

खसकायोड़ौ—भू०का०कृ० ।

खसकाईजणौ, खसकाईजबौ—कर्म वा० ।

खसकायोड़ौ–भू०का०कृ०—खसकाया हुआ (स्त्री० खसकायोड़ी)

खसकियोड़ौ–भू०का०कृ०—खिसका हुआ (स्त्री० खसकियोड़ी)

खसखस–सं०स्त्री० [सं० खस्खस] पोस्त का दाना जो आकार में सरसों के बराबर और सफेद रंग का होता है ।

खसखसिया, खसखसी–वि०—खसखस का, खसखस की भाँति ।

सं०पु०—खसखसयुक्त भांग । उ०—खसखसिया छांण'र मंडळी मस्त हो'र गुलछर्रां उडावण लागी ।—वरसगांठ २ कंठ की खर-खराहट ।

खसड़कौ–सं०पु० [अनु०] रगड़, खरोंच ।

खसण–सं०स्त्री०—१ खसकने की क्रिया या भाव. २ लड़ाई, युद्ध ।

वि०—युद्ध करने वाला ।

खसणौ, खसबौ–क्रि०अ०—१ भिड़ना, युद्ध करना । उ०—१ खांन अनात खस जोधांणै, नूरमली पाली रै थांणै ।—रा.रू.

उ०—२ खसै खुरसांण मरुधर रांण ।—रा.ज. रासौ

उ०—३ 'जसा' रा डीकरा विण गढ़ जोधपुर खत्री अन खसै सूखता खावै ।—वां.दा.

२ खुजली मिटाने के लिए दीवार आदि से रगड़ खाना (पशु)

उ०—१ झंखड़ खसता व्रच्छ दवानळ दपटां झालै, झूमर काळी सुरा-घेण रा पूंछ दझाळै ।—मेघ.

३ प्रयत्न करना, कोशिश करना । उ०—मींणा री एकल असवार घणौ धरती री विगाड़ करै, तरै मींणा घणा ही खस थाका ।—नैणसी

४ खसकना । उ०—हले थाट दखणाद लग टल तोपां हसत, खसत मद मींढ़ रा नरां खागां ।—अज्ञात ५ गिरना, ढह पड़ना ।

उ०—कळी सेत व्रन पालटै पड़ै जोखिम खसै खूंभी हुवै मंडप खांगौ ।
—राव गांगौ

खसणहार, हारौ (हारी), खसणियौ—वि० ।

खसिओड़ौ, खसियोड़ौ, खस्योड़ौ—भू०का०कृ० ।

खसपोस–सं०पु० [फा० खस-पोश] घास का आच्छादन, घास का मकान आदि के ऊपर का पाटन । उ०—जैसी भींतर बिछायत वैसी ही ढोलियौ, वैसी ही खसपोस ऊपर नूं हवादार जाळी ।
—कुंवरसी सांखला री वारता

वि०—घास से ढंका हुआ, घास से पाटा हुआ ।

खसबोई, खसबोय, खसबोह, खसबौ–सं०स्त्री० [अ० खुशबू] सुगंध, खुशबू । उ०—१ तठै भला भला भोगी भंवर होसनाक खसबोई लेण नै ऊभा रहै ।—जगदेव पंवार री वात उ०—२ वीस वीस पांवडा खसबोय रा डोरा छूटै छै, जांणै गांधी हाट पसारी छै ।
—रा.सा.सं.

उ०—३ उवटणौ करै छै, पीठी सिनांन करै छै, खसबौ लगायजे छै ।—रा.सा.सं.

खसम–सं०पु० [अ०] पति, खाविंद, स्वामी ।

मुहा०—खसम करणौ—किसी को पति के रूप में ग्रहण करना ।

कहा०—खावै-पीवै खसम रौ, गीत गावै वीरा रा—कृतज्ञता न मानने वाले के प्रति ।

वि०—१ दुष्ट, खल, पापी. २ शत्रु । उ०—तो पग भेटै पातला, भेटै वे सुखभांण । खग मेटे जेता खळी, जाय भेटै जमरांण ।
—किसोरदांन बारहठ

सं०स्त्री०—गिलहरी ।

खळीगणौ, खळीगबौ—क्रि०स०—१ खोलना. २ खाली करना. ३ उंडेलना ।

खलीतौ—सं०पु० [अ० खरीतः] १ थैली, जेब. २ वह बडा लिफाफा जिसमें आज्ञा-पत्रादि भेजे जांय, खरीता ।

वि०—खाली, रिक्त । उ०—सोवै खाय करै नहै सुक्रत, खोवै दीह खलीता ।—र.रू.

खलीन—स०स्त्री० [स०] लगाम । उ०—देत खलीना दोरपै नचि कंध नमाया, जंग पलानै डारिकै कसि तंग मिळाया ।—वं.भा.

खलीफा—स०पु० [अ० खलीफ] १ अध्यक्ष. २ अधिकारी. ३ कोई बूढा व्यक्ति, खुर्राट. ४ हज्जाम, नाई. ५ उत्तराधिकारी. ६ मुहम्मद साहब के उत्तराधिकारी जो समस्त मुसलमानों के सर्व-प्रधान नेता माने जाते है ।

खलीळू—सं०स्त्री० [सं० खलीन] लगाम ।

वि० [रा०] योद्धा, वीर, जबरदस्त । उ०—अभंग पाथ हाता जसा खलीळू आंगमरण, कह हर नर का जळ भड़ै कांमू ।—अज्ञात

खळू—वि० [सं० खल] पाजी, दुष्ट, नीच । उ०—नरांनाथ सजात वेपात नीची, खळू आंगिया केम जा मात खीची ।—किसोरदांन बारहठ

खले—सं०पु० [सं० खल्ल] जूती, पनही । उ०—जिण धणी विसारिया, सिरतिणदो खले ।—अज्ञात

खलेची—सं०स्त्री० [सं० खलीति] बुकचे जैसी सिली हुई छोटी थैली जिसमें किताबें, कपड़े आदि रक्खे जाते हैं ।

खलेचौ—सं०पु०—बुकचे जैसा सिला हुआ बडा थैला । (मि० 'खलेची' अल्पा०)

खळौ—सं०पु० [स० खल] १ खलिहान, वह स्थान जहां फसल काट कर रखी मांडी व बरसाई जाती है । अनाज और भूसा यही अलग किए जाते हैं । उ०—बळभद्र खळे खलां सिर वैठी, चारौ पळ ग्रीधणी चिड़ ।—वेलि. २ राशि, ढेर. ३ खलिहान मे तैयार किया हुआ अनाज. ४ सहार, ध्वस ।

खलौ—१ जूती, पादरक्षिका (अ.मा.) २ राज्य की तरफ से मिलने वाला भोजन (क्षेत्रीय)

खल्तौ—देखो 'खलीतौ' (रू.भे.)

खळयोड़ौ—देखो 'खळहियोडौ' (रू भे.)

खल्ल—स०स्त्री० [सं०] १ चमडा । उ०—१ धरती म्हारी म्हे धणी, दाहण नेजा टल्ल । किम कर पडसी ठाकरा, ऊभा सीहां खल्ल ।
—अज्ञात

उ०—२ ऊभा सीहा केस इक, कर लेणां मुसक्ल्ल । पाण छते क्यूं कर पड़ै, ऊभा सीहां खल्ल ।—वा.दा. २ जूता ।

वि० [सं० खल] १ दुष्ट. २ शत्रु । उ०—भड खल्ल कगल्ल वगल्ल भड़, धड़ लल्ल पगल्ल नहल्ल धड़ ।—किसोरदान बारहठ ३ आधा ।

खल्लड़—स०पु० [सं० खल्ल+रा० ड़] १ चमडी, खाल । उ०—पौ खल्लड़ खौ, हवा काळजै माय सू वडै नीसरै । २ जूता ।
—वरसगाठ

खल्लासर—सं०पु० [स०] ज्योतिष में दसवां योग ।

खल्ली—सं०पु० [स०] चौरासी प्रकार के वात रोगो में से एक जिसमे रोगी के हाथ पैर मुड जाते है (अमरत)

खल्लीट—स०पु० [स०] वह रोग जिससे सिर के बाल झड़ जाते हैं, गज ।

खल्लौ—स०पु० [स० खल्ल] जूता । उ०—मरण दे राण नै, बोदो खल्लौ है आ राड मरसी तौ इयै री मा बीजी आसी ।—वरसगाठ

खल्व, खल्वाट—स०पु० [स०] वह रोग जिससे सिर के बाल झड़ जाते है, गंज ।

खल्हौ—स०पु० [सं० खल्ल] सूखी पुरानी जूती ।

खवणौ, खवबौ—क्रि०स०अ०—१ खोना, व्यतीत करना । उ०—मन जाणै चढ़ू हाथिया माथै, खुर रगडंता जनम खवै । नर री चीती वात हुवै नह, हर री चीती वात हुवै ।—ओपो आढौ २ चमकना ।

खवांखांच—वि० [स० स्कंधखचित] कधे तक (प्रायः यह स्त्रियो द्वारा पहने जाने वाले हाथीदांत के चूडे के लिये प्रयुक्त होता है ।)
उ०—खवांखांच चूडै खांवद रै, उणहिज चूड़ै गई यळा ।—वां.दा.

खवांनो—सं०पु० [अ० खवानीन] 'खान' का वहु० । 'खान' की उपाधि रखने वाले लोग वड़े-वडे सरदार । उ०—ईरांनी जस आखता, मिळै खवांनो आय । प्रीत घणी आत्रेरपति, कोटा धणी सवाय ।
—रा.रू.

खवाड़णौ, खवाड़बौ, खवाणौ, खवाबौ—क्रि०स० ('खाणौ' का प्रे०रू०) १ खिलाना. २ खाने के लिये प्रेरित करना । उ०—आ कुण जांणै गाय अनोखी, खळ गुळ साथ खवाई ।—ऊ का.

खवाब—स०पु० [अ० ख्वाब] स्वप्न ।

खवायोड़ौ—भू०का०कृ०—खिलाया हुआ (स्त्री० खवायोडी)

खवार, खवारी—सं०स्त्री० [फा० ख्वारी] १ बरबादी, नाश । उ०—हय धुरळ एम हसौ हुंसार, खोसनै कियौ सरसौ खवार ।
—प्रे.रू.

२ धोखा, बुरा काम. ३ बदनामी । उ०—हूं पत तुझ गुणा वळिहारी, खाली बाता कीध खवारी ।—र.रू

खवावणौ, खवावबौ—क्रि०स० [सं० खाद] 'खवाणौ' का प्रेरणार्थक रूप ।

खवास—स०पु० [अ० खवास] १ राजाओ और रईसो आदि का खिदमतगार । उ०—जणा महला खवासां सगळा अरज कराई—जे घणा दिनां सू मन री इच्छा थी ।—साई री पलक २ हज्जाम, नाई

उ०—गूडळियौ तोड़ गंग जळ, खांखळियौ तोड़ दीह। खरौ विखाती खीमड़ौ, सांकळियौ तोड़ सीह।—ग्राभल-खींवजी री वात

खांखोळणो, खांखोळवौ—देखो-'खंखोळणौ' (रू.भे.) उ०—किण भांत रा हुक्का छै ? सोनैं रा, रूपै रा, विदरी, खांखोळ ठाढ़ा पांणी सूं भरजै छै।—रा.सा.सं.

खांखौ–वि०—वृद्ध।

सं०पु०—वीर पुरुष। उ०—चावे चिहुराये चुंडावत, ग्रौ खांखे कीधौ ग्रलग।—ग्रज्ञात

खांगड़ौ–वि०—१ ग्रक्खड़, उद्दंड. २ योद्धा, वीर (डि.को.) ३ टेढ़ा।

सं०पु०—राठौड़ों का उपमावाचक शब्द। उ०—ग्रापरै भरोसै राग जांगड़ौ दिराय ऊभौ, साय ऊभौ जनेवां खांगड़ौ 'मांनसींग'।

—नवलजी लाळस

खांगारौ–सं०पु०—एक प्रकार का घोड़ा (शा.हो.)

खांगीवंध–सं०पु०—वह व्यक्ति जो तिरछा साफा बांधे (यह प्रायः राठौड़ों के लिये प्रयुक्त होता है।) उ०—लंघी ग्रजाद दध लहर लेत, खांगीवंध चढ़िया वीर खेत।—वि.सं.

खांगौ, खांघड़ौ, खांघौ–वि० (स्त्री० खांगी) १ टेढ़ा, वांका, तिरछा, वक्र। उ०—१ कळी सेत व्रन पालटै पड़ै जोखिम कळस, खसै खूंभी हुवै मंडप खांगौ।—राव गांगौ

कहा०—कंई वांवळिया खांगा कर लेई—तू मेरा क्या कर सकता है (विरोध होने पर)

यौ०—खांगौ-वांकौ।

२ वीर, वहादुर।

सं०पु०—राठौड़ वंशीय क्षत्रियों के लिए प्रयुक्त होने वाला वीरता-सूचक शब्द।

खांच–सं०स्त्री० [सं० खच] १ वाहुग्रों पर स्त्रियों द्वारा धारण किया जाने वाला चूड़ा जो सुहाग-चिन्ह माना जाता है. २ ग्राग्रह, मनुहार (मा.म.)

खांचणौ, खांचवौ–क्रि०स०—देखो 'खींचणौ' (रू भे.)

खांचणहार, हारौ (हारी), खांचणियौ—वि०।

खांचाणौ, खांचावौ—क्रि०स०।

खांचिग्रोड़ौ, खांचियोड़ौ, खांच्योड़ौ—भू०का०कृ०।

खांचातांण, खांचातांणी—देखो 'खींचतांन' (रू.भे.) उ०—१ वड़ै भार जूपै वहै, करै न खांचातांण। जद तूं तांडै धवळ जिम, तौ तांडणौ प्रमांण।—वां.दा. उ०—२ पीवण नै घट में नहीं पांणी, तिरिया पुरुसां खांचातांणी।—ऊ.का.

खांचौ–सं०पु०—१ दो वस्तुग्रों के वीच की जगह, संधि, जोड़. २ खींच कर वनाया हुग्रा विधान, गठन, रचन. ३ मकान ग्रादि का ग्रागे निकला हुग्रा भाग, कोना. ४ तनाव, खींचने की क्रिया या भाव।

खांट–सं०स्त्री० [सं० पट = पाट] ग्रासानी से दूध न दुहने देने वाली गाय। उ०—खांट खुजा दिन रात रहे खुस, लात लई पय पात न पीने।

—ऊ.का.

कहा०—खांट गाय ग्राप रौ दूध को देवैंनी दूजी रौ ढोळाय दे—दुष्ट गाय ग्रपना दूध नही देती ग्रौर ग्रन्य का दूध ढुला देती है; दुष्ट न स्वयं लाभ पहुँचाता ग्रौर न दूसरों को पहुँचाने देता है।

खांड–सं०स्त्री० [सं० खंड] विना साफ की हुई चीनी, कच्ची शक्कर। उ०—विणजारी ए लोभण गुड़ डळियां में जाय, चिमठ्यां रे चिमठ्यां जावै खांडड़ी।—लो.गी.

कहा०—१ खांड खायां गांड गळै—ग्रधिक मीठा नहीं खाना चाहिये. २ खांड गळै जद सगळा ग्राय ज्यावै, गांड गळै जद कोई कौ ग्रावै नी—खाने में या संपत्ति में सव साथ देते हैं किन्तु कष्ट में या विपत्ति ग्राने पर कोई साथ नहीं देता. ३ खांड में खायौ जाय ना कोई गुळ में खायौ जाय—किसी भी प्रकार वश में न किये जा सकने पर।

(ग्रल्पा०–खांडड़ी)

खांडणोत–वि०—संहार करने वाला, मारने वाला। उ०—ग्रर खांडणोत वळ वुध ग्रसंक, छज मांडणोत हरियंद निसंक।—शि.सु.रू.

खांडणौ–सं०पु०—चावल व ग्रनाज ग्रादि ऊखल में कूटने का उपकरण, मूसल।

खांडणौ, खांडवौ–क्रि०स० [सं० खड] १ (ग्रनाज ग्रादि को) मूसल से कूटना। उ०—तीजस तुरुणां तिल तिन खांडे, तीन-गुणां ग्रागे पग मांडे।—ह.पु.वा. २ मारना, काटना, संहार करना। उ०—खगधारां गोरा सिर खांडूं, वैरी दळ पाड़ूं भर वाथ।—चंडीदांन मीसण

खांडणहार, हारौ (हारी), खांडणियौ—वि०।

खांडिग्रोड़ौ, खांडियोड़ौ, खांड्योड़ौ—भू०का०कृ०।

खांडण्यू—देखो 'खांडणौ' (रू.भे., डि.को.)

खांडवारस, खांडवारौ–सं०पु०—मृत्यु के वारहवें दिन मृतक के निमित्त किया जाने वाला मृत्युभोज तथा इस भोज पर संबंधियों या मित्रों द्वारा दिया जाने वाला रुपया।

खांडभील–सं०पु०—एक पहाड़ी जाति विशेष (नैणसी)

खांडरणौ, खांडरवौ–क्रि०स०—काटना, मारना। उ०—खोणी मंडळ खूर, रतनौ कमवज रूपसी। विढ़ंतां सुरवंबव वणै, खांडर तौ खळ खूर।—वचनिका

खांडल्यू–सं०पु० (स्त्री० खांडाळी) खंडित सींग का सींगधारी पशु।

खांडव–सं०पु० [सं०] एक प्राचीन वन जिसे ग्रर्जुन ने जलाया था, नंदनवन (महाभारत)

खांडहळ–सं०स्त्री० [स० खड्ग] तलवार (डि.को.)

खांडादेवळराय–सं०पु०—चारण-वंशोत्पन्न एक देवी जिसका दूसरा नाम खूवड़ देवी है।

खांडाधर, खांडाधार, खांडायत–सं०पु० [सं० खड्ग+धारिन्] तलवारधारी योद्धा। उ०—१ साथि थिकउ भोजलु, खांडाधर मुहल

खसर—सं०पु० [सं० ख+शर] युद्ध। उ०—खसर करता तिके असर सहु खंडिया, जीविया तिके त्रिणौ लेइ जीहै।
—धरमवरधन उपाध्याय

खसरौ—सं०पु० [अ०] १ पटवारी का एक कागज जिसमें प्रत्येक खेत का नंबर, रकबा आदि लिखा रहता है. २ किसी हिसाब-किताब का कच्चा चिट्ठा. ३ सिर का मैल।

खसाखस—सं०स्त्री०—१ कलह, युद्ध. २ वैमनस्य। उ०—रायमल नै सूरजमल घणी ही खसाखस रही, सूरजमल घणी धरती गिरवा सूधी लीयां रहै।—नैणसी
क्रि०वि० [अनु०] देखो 'खचाखच' (रू.भे.)

खसियौ—वि० [अ० खस्सी] जिसके अंडकोश निकाल दिए गए हों। वधिया, नपुंसक (पशु)

खसूं-खसूं—सं०स्त्री० [अनु०] खांसते समय होने वाली ध्वनि।
उ०—एक डोकरी जिकी री आंखियां में सास हौ, घड़ी-घड़ी खसूं-खसूं करती करती दोरी दोरी बोली।—वरसगांठ

खसेरण—सं०स्त्री० [सं० ख+क्षरण] रजकण, धूलिका।

खसोटा—सं०पु०—कुश्ती का एक पेंच।

खसौ—सं०पु०—संहार, नाश।

खस्ता—सं०स्त्री० [फा० खस्तः] १ भिड़ंत, टक्कर. २ सटाने का कार्य.

खस्म—देखो 'खसम' (रू.भे.) उ०—दुनिया दुरसि भूलौ दीन, वा खस्म की कछू खबरि नांही और की आवीन।—ह.पु.वा.

खहंड—सं०पु० [सं० खंड] १ खंड, विभाग. २ अश्व, घोड़ा।
उ०—खहंड जूथ वळवंड सभै झुंड भड़ ततखरा, जवनथंड वहंड खागां जरींदा। सीहरा सांकळा जेम नव सहंसा, ओपियौ कंठ जोधार 'इंदा'।—अज्ञात

खह—सं०पु० [सं० ख] १ आकाश, व्योम (अ.मा.) उ०—पड़ि खाळ थळ थळ ताळ पूरित खह सरूप अखेहयं।—रा.रू.
२ धूलि, रेत।

खहक—प्रहार। उ०—हुरलां खहकां ओभड़ी, भवरका फहे।—द.दा.

खहण, खहणि—सं०पु०—युद्ध (रू.भे. 'खसण')
उ०—१ अखंड भड़ डाक वागी महण तटाका, रिमां घड़ डहण आसक वहण रंभ। असम रा वहण मातां खहण अखाड़ा, खांगडौ कमंध धाड़ा अड़ीखंभ।—कविराजा करणीदांन

खहणी—सं०स्त्री०—युद्ध करने का भाव।

खहणौ, खहबौ—क्रि०स०अ०—१ भिड़ना। उ०—खही साथ जेता करै दुरग खोळा, मही रै अही साथ देता मचोळा।—वं.भा.
२ युद्ध करना। उ०—लाग खाई पूरे पाटां खहै कंपू खेध लागा, वहै खाटां धायलां निराटां भीमवार।—वां.दा. ३ पशुओं का शरीर की खाज मिटाने के लिए किसी पेड़ या दीवार से शरीर का घर्षण करना. ४ गिरना. ५ स्पर्श करना, रगड़ खाना।
उ०—समर धुवे आंबाट होय नाद सिंधु सबद, खहण लागे गयण भुगत खावै।—अज्ञात
६ देखो 'खसणौ' (२) (मि० 'खसणौ')

खहदळ—सं०पु० [सं० ख] आकाश, गगन। उ०—झिख सार झळहळ सोर कळभळ, धरण खहदळ धड़हड़े।—रा.रू.

खहसुवार—सं०पु० [सं० क्षत+सुवार] घी (अ.मा.)

खहाव्रत—सं०पु० [सं० खेह+आवृत्त] धूलि से आच्छादित।
उ०—हुवे रथ चक्रित देव निहंग खहाव्रत मेघकि वेग खसंग।
—रा.रू.

खहीड़णौ, खहीड़बौ—क्रि०स०—मारना।

खहीजणौ, खहीजबौ—क्रि०भाव वा० ('खहणौ' का भाव वा०) युद्ध किया जाना, लड़ा जाना, लड़ना, भिड़ना।

खहेड़—वि०—बलवान, जबरदस्त।

खां [फा० खान] प्रायः मुसलमानों के नाम के आगे प्रयुक्त होने वाला शब्द। यह शब्द इतना प्रचलित हो गया है कि यह प्रायः प्रत्येक मुसलमान के संबोधन के लिए प्रयुक्त कर दिया जाता है।

खांकोळाई—सं०स्त्री० [सं० कक्ष+अलात] बगल में होने वाली ग्रंथि विशेष (अमरत)

खांख—सं०स्त्री० [सं० कक्ष, प्रा० कक्ख] बाहुमूल के नीचे की ओर का गड्ढ़ा, कांख, बगल।
कहा०—१ खांख में कटारी चोर नै घोचां सूं मारै. २ खांख में छुरी'र चोर नै मूवयां री मार—अपने पास में वस्तु के होते हुए भी उसका उपयोग न करना मूर्खता है. ३ खांख में टाबर नै सै'र में ढंढोरौ—पास में कोई वस्तु होने पर भी उसका ज्ञान न होना और उसे चारों ओर ढूंढते फिरना. ४ खांकां मांय सूं हसौ निकळै है—बहुत अधिक खिलखिला कर हँसने वाले के प्रति. ५ खांख में छांणौ नै अंतर मोलावै—अपनी सामर्थ्य से अधिक कार्य करने पर। (पैसे संबंधी)

खांखर, खांखरी—सं०स्त्री०—१ एक बार ही बच्चा देने वाली ऊँटनी.
२ एक प्रकार का शस्त्र विशेष (अ.मा.)
३ वृद्धा, बूढ़िया।

खांखळ—सं०स्त्री०—१ आकाश में छा जाने वाली गर्द।
देखो 'खंख'। उ०—सूरज खांखळ रतन सळ, पोहमी रिण जळ पंक। कायर कटक कळंक, कुकवी सभा कळंक।—वां.दा. २ अभिलाषा।
उ०—ज्यूं ब्याव में दारू पी नै मन री खांखळ काढ़ी।—वां.दा.
मुहा०—खांखळ काढ़णी—इच्छापूर्ति करना।

खांखळणौ, खांखळबौ—क्रि०स०—आकाश का धूलि से आच्छादित होना.
उ०—गैण बीच ऊभी खांखळ जोय, जगत रौ अेक अधूरौ मांन।
—सांझ

खांखळियोड़ौ—भू०का०कृ०—गर्द या धूलि से आच्छादित।
(स्त्री० खांखळियोड़ी)

खांखळियौ—वि०—(ऐसा दिन) जब आकाश में खूब गर्द छाई हुई हो।

४ व्यवस्था । उ०—मेडतिया पण सज सारौ माथ लेय सहर कोट रै दरवाजे बाहर आया खड़ा रहिया । फौज री खांत करै छै सो उहां पग दोय अणी कीवी ।—मारवाड रा अमरावां री वारता

५ उमंग । उ०—मंसारी रा टूकड़ा, नव-नव आंगुळ दांत । सीरा लाड लापसी, खावै कर कर खांत ।—सगरांमदास

६ लगन । उ०—१ कोड अघ ओघ जिण नांम अरधै कटै । रे 'किसन' खांत कर क्यूं न तिणनै रटै ।—र.ज.प्र. उ०—२ ढोला मन अति चिंता घणी, खांति घणी मारुवणी तणी ।—ढो.मा.

७ सावधानी. ८ वृद्धि. ९ भेद, भिन्नता । उ०—सो कोई सबब सूं चुगलां रा चित्त में खांत पडी ।—नी.प्र.

क्रिoविo—१ गौर से, ध्यान से २ विचारपूर्वक ।

उ०—अरि खांत अकव्वर ऊपरै, इसी भांत ऊरव्वडा ।—रा रू.

खांतिलौ, खांतीलौ—संoपुo—एक प्रकार का घोड़ा (शा.हो.)

विo—१ चतुर, होशियार । उ०—हमकै नै ऊनाळै खांतीला, घर वसौ जी म्हांरा राज ।—लो गी. २ बुद्धिमान ।

खांद—देखो 'खांध' (रू.भे.)

खांदियौ—संoपुo [संo स्कंध+राo इयौ] १ शव को कन्धे पर रख कर उठाने वाला. २ शव-यात्रा में सम्मिलित होने वाला ।

कहा०—१ खांदियौ खांद दियै तै खाइन जाय खवड़ावीनै नै जाय—मरे हुए व्यक्ति को कोई कंधे पर उठा कर यथास्थान ले जाने में योग देगा तो मृत्यु-भोज को खाकर जायगा कुछ खिला कर नहीं ; कोई कुछ आशा में ही कार्य करने को तैयार होता है.

२ खांदियौ खांद दे लारै थोड़ै ही वळै—मरे हुए व्यक्ति को लोग कन्धे पर उठा कर श्मशान तक ले जायेंगे उसके साथ जलेंगे नहीं; इसी तरह सहायक से स्वयं की तरह हानि सहने की आशा करना व्यर्थ है ।

खांदेडी—देखो 'खांधेड़ी' (रू.भे.)

खांध—संoस्त्रीo [संo स्कंध] १ शव को श्मशान भूमि तक उठा कर ले जाने का भाव या क्रिया ।

कहा०—कपूत पूत खांध नै कांम आवै—बेटा कपूत भी हो तो भी कन्धा देने के काम तो आता ही है ।

२ देखो 'खांधेडी' (रू.भे.)

खांधडौ—संoपुo [संo स्कंध] कन्धा । उ०—मूंढौ खांधौ मेल हाथ खांधड़ौ हिलावै, मीम धरणि दिस सियळ मुरड़ खांधड़ौ मिळावै ।

—ऊ.का.

खांधीवाळ, खांधीवाळौ—विo—किश्तों पर रुपया कर्ज देने वाला ।

खांधेड़ी—संoस्त्रीo—मिट्टी खोदने का स्थान, मिट्टी की खदान ।

खांधौ—संoपुo [संo स्कंध] बाहु का ऊपरी भाग जो हँसली से जुडा रहता है, कन्धा, पीठ । उ०—नरेस त्री सुरजन पुत्र रौ खांधौ थापलि हृदय हूं लगाड विस्वामियौ ।—वं.भा.

मुहा०—खांधौ थापणौ—शाबाशी देना ।

खांन—१ देखो 'खांण' (रू भे) २ कुएं में एकत्रित मिट्टी, कचरा आदि ।

खांनखांना—संoपुo [फाo खानेखान] १ सरदारों का सरदार. २ मुगल राज्य में मुसलमानो को दी जाने वाली उपाधि ।

खांनगी—विo [फाo] जिससे बाहर वालों का कुछ संबंध न हो, निज का, आपस का, घरेलू ।

खांनडौ—विo—वीर, बहादुर ।

संoपुo [तुo खान+राo प्र० डौ] मुसलमान, यवन ।

उ०—खारौ मीठै सू सरस है, भलै वतेरा पांनड़ा । देस विदेस दुवायां वणै खुसी डाकघर खांनड़ा ।—दसदेव

खांनजादौ—संoपुo [तुo खान+फाo ज़ाद:] (स्त्रीo खांनजादी)

१ अमीर का पुत्र, ऊँचे घराने का पुत्र । उ०—वीवी खांनजादी नै कुळी की त्रास दीनी ।—शि.वं. २ अच्छी जाति के वे हिन्दू जिन्होने मुसलमानों के राज्यकाल मे मुसलमानी धर्म ग्रहण कर लिया था. ३ मुसलमान शाहजादा । उ०—लई दीनतई रहे खांनजादे कहै कहै खो गये मेच्छ वेरे विवादे ।—ला.रा.

खांनदांन—संoपुo [फाo खानदान] वंश, कुल, घराना ।

खांनदांनी—विo [फाo खानदानी] १ ऊँचे वंश का, अच्छे कुल का. २ वंश-परंपरागत, पुश्तैनी, पैतृक ।

खांनदेस—संoपुo [फाo खानदेश] वम्बई प्रांत का एक प्रदेश ।

खांनपांन—संoपुoयौo—१ खाना-पीना, खाने-पीने का ढंग या क्रिया. २ खाने-पीने का संबंध ।

खांनबहादुर—संoपुo [फाo खानबहादुर] भारत सरकार द्वारा मुसलमानो व पारसियों को दिया जाने वाला एक खिताब (ब्रिटिश काल में)

खांनबाज—संoपुo—एक प्रकार का घोड़ा (शा.हो.)

खांनसांमौ—संoपुo [फाo खानसामा] अंग्रेजों, मुसलमानों आदि का भंडारी या भोजन बनाने वाला । उ०—तद बादसाह खांनसामै नूं फुरमाई—जे खजांनै नूं नकदी दिरावौ, जे रिसाला तयार कर देवौ ।

—जलाल वूवना री वात

खांनांणौ—संoपुo—१ भोजन. २ भोजन-योग्य पदार्थ. ३ यवनों का प्रदेश । उ०—खांनांणै खंडे खड़ग वळ खाधौ, लाधौ श्रो व्रद आज सलाह ।—द.दा.

खांनाखराव—विoयौo [फाo खान:खराब] १ चौपट्ट करने वाला. २ आवारा. ३ पथभ्रष्ट. ४ दोगला. ५ जिसका सब कुछ नष्ट हो गया हो अभागा ।

खांनाजंगी—संoस्त्रीo [फाo खानाजंगी] आपस की लड़ाई, युद्ध ।

उ०—राठोड नरसिंघदास कला रायमलोत रौ सूरसिंघ सुंदरदास रामसिंघोत आसूं भाव का खांनाजंगी हुई ।—वां.दा. ख्यात

खांनाजाद—विoयौo [फाo खानाजाद] १ घर में पैदा या पाला-पोसा हुआ. २ सेवक, गुलाम, दास (ह.नां) उ०—जोधांणै री नायबी, जो आपै पतसाह । खिजमत खांनाजाद री, तौ देखै दोइ राह ।

—रा.रू.

आगिळइ आव्यउ।—कां.दे.प्र. उ०—२ हण्या हवसी खांडाधार।
—कां.दे.प्र.

उ०—३ सवा लाख खांडायत सरसु, पाखरीए केकांगे। समीआंगे राउळ कान्हड़दे, आव्यू छडे पीयांगे।—कां.दे.प्र.

खांडाळी-सं०स्त्री० (पु० खांडल्यू) टटे हुए सींगों वाली गाय अथवा भैंस (रू.भे. 'खांडी')

खांडियौ-सं०पु० [सं० खंडित] १ टूटे हुए सींगों वाला पशु।
कहा०—खांडियौ भेंड्यू धराड़ौ घालै, हींगालत्या ना हींग भागै—विना सींग वाले बैल और मुड़े सींग वाली गायें सहायता के लिए जोर की आवाज करती है और सींग वालों के सींग टूटते हैं। साधन-हीन व्यक्ति अपने संकटकाल में साधन-सम्पन्न व्यक्तियों को लड़ा कर साधनहीन कर दिया करते है।
२ एक कृषि उपकरण।
वि०—जिसका कोई अंग या हिस्सा टूट गया हो।

खांडीव—देखो 'खांडव' (रू.भे.) उ०—कान्हर मारन कंस, हरी हिरणाक्ष विदारण। हर मारण मनमत्थ पारथ खांडीव प्रजारण।
—ला.रा.

खांडू—देखो 'खांडौ' (रू.भे.) उ०—आगइ अह्म वरांसउ वीतउ, हिवडां छळ नवि छांडू। असपति ना दळ सांह्मउ चाल्यउ, लेइ ऊघाडउं खांडूं।—कां.दे.प्र.

खांडेराउ-वि०—खड्गधारी योद्धा। उ०—घरा अहिरण घरण घाउ सांम्है चाचरि सात्रवां वाहै साहै वीठलौ खांडौ खांडेराउ।
—वचनिका

खांडेल, खांडेलौ-सं०पु० [सं० खंग] १ देखो 'खांडौ' (रू.भे.)
उ०—तरवार उडै हुय टूक ताळ, खांडेल रमै किरवंध खाळ।
—पा.प्र.

२ होली जलने के दिन प्रत्येक घर से उस पर डाले जाने वाले छोटे-छोटे लकड़ी के डंडे जिन्हें गांव का खाती रीति-अनुसार प्रत्येक घर में दे जाता है (हिन्दू)
कहा०—होळी आळा खांडेला है—बेकार वस्तु; उस वस्तु के प्रति जिसकी कोई उपयोगिता न हो।
३ देखो 'खडूलौ'. ४ जंगली जमीकंद जो आलू की तरह का होता है और वर्षा ऋतु में होता है।

खांडौ-सं०पु० [सं० खड्ग] १ खड्ग, तलवार, दुधारी तलवार (डि.को.)
उ०—खांडा हंदी धार सिर, हुसियार हलंदा।—केसोदास गाडण
कहा०—खांडे री धार वैणौ है—बहुत कठिन कार्य के प्रति, खतर-नाक कार्य के प्रति।
२ टूटे हुए सींगों का पशु (स्त्री० खांडी)
वि० (स्त्री० खांडी) जिसका कोई अंग या हिस्सा टूटा हुआ हो, भग्न, अपूर्ण, खंडित। उ०—पूनम पूरौ ऊगसी, रती न खांडौ होय। उळगांणा री गोरड़ी, वैठी निरमळ होय।—अज्ञात
यौ०—खांडौ-खोचरौ।

खांडौखोचरौ-वि०—टूटा हुआ, भग्न।

खांण-सं०पु०—१ भोजन, भोजन की सामग्री (ह.नां.)
यौ०—खांण-पांण, खान-पान।
२ भोजन करने का ढंग।
सं०स्त्री० [सं० खानि] ३ वह स्थान जहाँ से धातु, पत्थर आदि खोद कर निकाले जांय, खदान. ४ आधार स्थान, उत्पत्ति स्थान।
उ०—देवी ब्रह्म तू विस्णु अज रुद्र रांणी. देवी वांण तूं खांण तूं भूत प्रांणी।—देवि.
कहा०—खाण व्है जैड़ा नीपजै—कोई वस्तु अपने स्थान के अनुसार ही उत्पन्न होती है।
५ जहाँ कोई वस्तु वहुत सी हो, खजाना. ६ चार प्रकार की सृष्टि—उद्भिज, स्वेदज, अंडज और जरायुज। उ०—चोरासी लख च्यार खांण परठै परमांण।—केसोदास गाडण
७ कूओं में पानी की कमी होने पर अन्दर से निकाला जाने वाला मलवा।

खांणकी-सं०स्त्री०—रिश्वत, घूस।

खांणखंडौ, खांणखंदौ-वि०पु०—भोजन-प्रिय, (स्त्री० खांणखंडी)

खांणघर-सं०पु० [सं० खानि+गृह=घर] लोहा (अ.मा)

खांणास-वि०—१ खाने वाला। उ०—रैणां डंड अडंडा गवावैं भींच वाधरा का, खागरा का भूरडंडां अरंद्रां खांणास।
—गिरवरदांन कवियो
२ नाश करने वाला।

खांणि, खांणी-सं०स्त्री० [सं० खानि] १ खान, उत्पत्ति-स्थान, खदान.
२ प्रकार, ढंग। उ०—च्यारि खांणिका जीव सव, गरक फरक विसतार।—ह.पु.वा.

खांणूकरण-सं०पु०—हलवाई (डि.को.)

खांणेराव-सं०पु० [फा० खान+सं० राट्] वादशाह।

खांण्य—देखो 'खांण' (रू.भे.) उ०—राजा खांण्या भोगवौ, रसता चौथ सवाय।—रा रू.

खांत, खांति-सं०स्त्री० [सं० ख=इंद्रिय (मन) इसका अन्त=निश्चय]
१ विचार, ध्यान, ख्याल। उ०—१ सरकार री लोग खासखेळी सो तमासगीर गयौ हुतौ सो खांत राख कजियौ न कियौ।
—डाढ़ाळा सूर री वात
उ०—२ त्रिभुवन कहतां स्रीक्रसणजी खांति लागा रथ घणौ उता-वळा खेड़ै छै।—वेलि. टी. २ दक्षता, चतुराई।
उ०—कूडे ऊतारै मुकवी, गाढी महनत गीत। खाल उतारै खांत नूं, इसड़ो कवि अनीत।—वां.दा. ३ इच्छा, रुचि।
उ०—१ मद लेतां मातै मती, भोळी चावुक भांत। छकियौ लागां छांगसी, खाती डाहळ खांत।—वी.स उ०—२ एक खांति पूरवउं अम्हारी, कटक चिहूं दिसि जोस्यूं।—कां.दे.प्र.

खांमोखांम, खांमोखा—देखो 'खांमखा' (रू.भे.)

खांमोस–वि० [फा० खामोस] चुप, मौन।

क्रि०प्र०—करणौ, रै'णौ, होणौ।

खांमोसी–सं०स्त्री० [सं० खामोशी] मौन, चुप्पी।

खांवंद, खांविद—देखो 'खांविद'। उ०—नायक तीजी नार रौ, मौ दुखदायक मार। धरणीधर खांवंद धकै, परणी करै पुकार।

—बां.दा.

खांसड़ौ–सं०पु०—जीर्ण-शीर्ण जूता, फटा जूता।

खांसणौ, खांसबौ–क्रि० [सं० कासनम्, प्रा० खांसना] कफ या और कोई अटकी हुई चीज निकालने या केवल शब्द करने के लिए वायु को झटके के साथ कंठ से बाहर निकालना।

खांसी–सं०स्त्री० [सं० कास] १ कफ या और कोई अटकी हुई चीज निकालने या स्वाभाविक रूप से अपने आप निकलने या केवल शब्द करने के लिए वायु को झटके के साथ कंठ से बाहर निकालने से उत्पन्न शब्द या क्रिया. २ इसी प्रकार का एक रोग।

खा–सं०स्त्री०—१ खाई. २ पृथ्वी. ३ लक्ष्मी (एका०)

सं०पु०—४ पहाड़. ५ कमल (एका०)

खाअड़ौ—देखो 'खांसड़ौ' (रू.भे.)

खाइयाळ–वि०—१ खाने वाला. २ कपटी. ३ दुष्ट।

खाई–सं०स्त्री० [सं० खानि, प्रा० खाइ] वह गड्ढा जो किसी गाँव, किले, बाग या महल आदि के चारों ओर रक्षा के लिए खोदी गई हो, खंदक उ०—पेट कपूत मपूत परखियौ, खोद न दीनौ खाई में।—ऊ.का.

पर्याय०—खातिका, परिखा।

कहा०—१ आगै खाडौ लारै खाई—जब आगे-पीछे दोनों ओर खतरा हो. २ खाई करै उपाई—खाई रक्षा का उपाय करती है।

खाउकड़ौ—देखो 'खाऊ' (अल्पा०)

खाऊ–वि०—१ बहुत खाने वाला, पेटू। उ०—मनै तौ बाबूजी! खाली कड़ाकंद ही दिया, देखियौ'क बेटौ किसौ'क चोखौ खाऊ है।

—वरमगांठ

मुहा०—आटा रौ खाऊ—आलसी व्यक्ति के लिए।

कहा०—घणाखाऊ नै कम कमाऊ री कदे नहीं बावड़ै—अधिक खाने वाला व कम कमाने वाला सुखी नहीं रह सकता।

(अल्पा० 'खाउकड़ौ') (मि. 'चाऊ')

२ मुंह से काटने वाला (बुरी आदत)

खाओ, खावौ—सूरत, शक्ल, आकृति।

खाक–सं०स्त्री० [फा० खाक] १ धूल, मिट्टी. २ राख, भस्म।

मुहा०—खाक करणौ—नष्ट करना, जला डालना।

[रा०] ३ पृथ्वी, भूमि (ना.डि.को.) ४ देखो 'खांख'।

कहा०—१ खाक ऊगाड़ियां काळजो दीसै—बहुत निर्धन के प्रति। २ खाक जळ सो जळ, बांह बळ सो बळ—जरूरत होने पर या हर समय बगल में लटकती केतली का पानी ही काम में आता है, इसी तरह हर समय या मौका पड़ने पर खुद की भुजाओं का बल ही सहायता करता है।

वि०—तुच्छ, अकिंचन।

खाकरोब–सं०पु० [सं० खाकरोब] झाड़ू देने वाला, भंगी (डि.को.)

खाकलौ—देखो 'खाखली' (रू.भे.)

खाकी–सं०पु०—१ राख या भस्मी लगाने वाले साधु या संन्यासी. २ वैरागी साधुओं का एक संप्रदाय या इस संप्रदाय का साधु (मा.म.) ३ शिव, महादेव (नां.मा.) (रू.भे. 'खाखी')

वि०—मिट्टी के रंग का भूरा।

खाकौ–सं०पु० [फा० खाक] १ चित्र आदि का डौल, ढांचा, नकशा, मानचित्र. २ किसी काम का तखमीना. ३ कच्चा चिट्ठा, मसौदा (रू.भे. 'खाखौ')

खाख—१ देखो 'खाक' (३) (डि.को.) उ०—ज्यांरै खाख विछावणी, ओढ़ण नै आकास। ब्रह्म पोख संतोख वित, पूरण सुख त्यां पास।—बां.दा.

२ देखो 'खाक' (२) उ०—पग पग जम डाका पड़ै, वांका धार विवेक। हुत भुक बिच जळ खाख है, उडणौ है दिन एक।—बां.दा.

[सं० कक्ष] ३ देखो 'खांख' (रू.भे.) उ०—हरड़ बहेड़ा आंवळा, घी सक्कर में खाय। हाथी दाबै खाख में, साठ कोस ले जाय।—अज्ञात

खाखड़ियौ—देखो 'काकड़ियौ' (रू.भे.)

खाखड़ी—देखो 'काकड़ी' (रू.भे)

खाखण–सं०स्त्री०—राख या भस्मी लगाने वाली स्त्री।

खाखबलाई—देखो 'खांकोळाई' (रू.भे)

खाखर—देखो 'खाखरौ' (१) (महत्व)

खाखरियौ—१ देखो 'खाखरौ' (१) (अल्पा०) २ पलाश।

खाखरौ–सं०पु० [सं० खरखर] १ चना, मोठ आदि की बनी हुई पतली रोटी. २ गेहूँ के आटे की ठंडी सूख कर कड़ी हुई रोटी. ३ पलाश का वृक्ष (अल्पा० 'खाखरियौ')

कहा०—१ खाखरा के तौ तीन का तीन पांन—ढाक के तो वर्षा ऋतु आने पर भी एक डंठल में तीन पत्ते ही लगते हैं। स्थिर भाग्य वाले संपत्ति और विपत्ति में समान रहते हैं. २ खाखरा नी खळी हूं जांणे जग ना सवाद—पलास की गिलहरी डाल-पक आम के स्वाद को क्या जाने? निम्न श्रेणी का व्यक्ति उच्च श्रेणी की वस्तु का अनुभव नहीं रखता।

४ ऊँट के चमड़े का एक पोला उपकरण जिसमें कंकड़ डाल कर लकड़ी के सहारे लटका कर खेत में पक्षी उड़ाने के लिए बजाते हैं. [फा० खाक+रा० प्र० रौ] ५ होली का दूसरा दिन, घुलेंडी. ६ दीपावली के दूसरे दिन गोवर्द्धन पूजा के त्यौहार पर गाय अथवा भैंस के मस्ती अथवा उन्माद पर आने का भाव या क्रिया।

खांनातलासी–सं०स्त्री० [फा० खानातलाशी] किसी खोई, छिपी या अन-जानी चीज के लिये मकान के अंदर छानबीन करना।

खांनापुरी–सं०स्त्री०यौ० [फा० खाना+सं० पूर्ण] किसी चक्र या सारणी के कोठों में यथास्थान संख्या या वाक्य आदि लिखना, नक्शा भरना।

खांनाबदोस–वि० [फा० खानाबदोश] बिना स्थायी घर-बार वाला।

खांनाभार–सं०पु०—एक प्रकार का घोडा (शा.हो.)

खांनावधार–सं०पु०—एक प्रकार का घोडा (शा.हो.)

खांनासुमारी–सं०स्त्री० [फा० खानाशुमारी] किसी गाँव या नगर आदि के मकानों की गिनती का कार्य।

खांनी–क्रि०वि०—तरफ ओर।

खांनेड़ी—देखो 'खाबेडी' (रू.भे.)

खांनेजाद–सं०पु० [फा० खानाजाद] देखो 'खानाजाद' (रू.भे.)
उ०—दरसण करि भेट कीवी अर अरज करण लागो—खांनेजाद री प्रतिग्या आप राखी रहसी।—पलक दरियाव री बात

खांनौ–सं०पु० [फा० खानः=गृह, घर] १ वंश, कुल।
मुहा०—खांनौ खराब होणौ—वंश या कुल के व्यक्तियों का खराब होना।
२ आलय, घर, मकान।
यौ०—कारखानौ, डाकखानौ दवाखांनौ।
३ अलमारी, मेज आदि में चीजें रखने के लिए पटरियों या तख्तों के द्वारा किये गये विभाग या खंड. ४ सारणी या चक्र का विभाग, कोष्ठक।

खांप–सं०स्त्री०—१ गोत्र, वंश. २ वर्ण भेद, जाति। उ०—चापज्यो मती वारा चरण, काप-काप री कीचडौ। फाफरी दे'र मुख फेरज्यो, खांप खाप री खीचडौ।—ऊ.का.

खांपण–सं०स्त्री० [अ० कफन] शव ढँकने का वस्त्र, कफन।
उ०—बूत वजारी धरम री, हियै न मानै हील। मन चलाय खांपण मही, काढै नफौ कुचील।—बां.दा.
कहा०—खांध खांपण लेणौ—मरने के लिए हर समय प्रस्तुत रहना, मरने से न डरना।

खांपणियौ–वि०—१ मारने वाला, नाश करने वाला. २ शव को वस्त्र से ढँकने वाला।

खांपांछेरू–सं०पु०—सर्वनाश, सत्यानाश, संहार।

खांपौ–वि०—कलह-प्रिय, लडाकू (यौ०—खांपौ-खरडौ, खांपौ-खीलौ) घोचौ (लकडी का बेकार टुकडा)

खांपौखरड़ौ, खांपौखीलौ–वि०यौ०—१ लडाकू, कलह-प्रिय. २ दुष्ट
सं०पु०—स्वतंत्र मिजाज का छोटे वैभव का राजपूत जो दंगा-फिसाद करने में हिचकता नहीं।

खांबी—देखो 'खांभी'।

खांभ—देखो 'खंभ' (रू.भे.)

खांभणौ, खांभबौ–क्रि०स०—मारना, नाश करना। उ०—खड़गवळ खांभिया किता 'खेताहरै', सीधुरा ल्हसकरा सहस सुरताण।
—महाराणा सांगा री गीत

खांभिणौ, खांभिबौ–क्रि०स० [सं० स्कंभ] १ रोकना। उ०—रवदा तणां खांभिया रहिया, दहवारी थाभिया दळ।—अज्ञात
२ देखो 'खाभणौ' (रू.भे.)

खांभी–सं०पु०—नाव में कीली जडने वाला व नाव से जुते बैलो को हांकने वाला। उ०—गोसी थारो नाव कासू कही, जी नूरो छै, खांभी नू कही हाकल मार थारो नाव कासू, उण कही जी जमाल छै।
—नापे साखले री वारता

खांमंद–सं०पु० [अ० खाविंद] पति, स्वामी।

खांम–सं०पु० [सं० स्कंभ.] १ संधि को जोडने का कार्य. २ मुंहरबंद करना, किसी पदार्थ द्वारा किसी बर्तन का मुंह बंद करने का कार्य।
क्रि०प्र०—करणौ, देणौ, लगाणौ, होणौ।
३ खान। उ०—ओ कुण मींचे कूबडी ए, ओ कुण काढै छै खांम।—लो.गी. ४ दल, सेना। उ०—खळभळ होय असता खांम, जपै भड धार मुखै जै राम।—रा.ज. रासो ५ पहाड का समीपवर्ती स्थान, कन्दरा। उ०—सहर छोटी सी भाखरी री खांम, अगवारै वडौ मैदांन, ऊनाळी निपट धणी।—नैणसी

खांमखा, खांमखांमी–क्रि०वि० [फा० ख्वाह+म+ख्वाह] नाहक, व्यर्थ में।

खांमचाई–सं०स्त्री०—चतुराई, हस्तकौशल।

खांमची–वि०—हस्तकौशल में प्रवीण, निपुण, दक्ष।

खांमचीपण, खांमचीपणौ–सं०पु०—हस्तकौशल, दक्षता, चतुराई।

खांमण–सं०पु० [सं० स्कभन्] देखो 'खाम' (१, २)
उ०—रीत अनीत फैलियौ रावण, खमियो नहीं अभायां खांमण।
—रा रू.

खांमणियौ–सं०पु०—१ छोटा गड्ढा. २ चूल्हे के अग्र भाग (आगड) की बनी दीवार में बर्तन रखने निमित्त बनाया हुआ स्थान।
वि०—मुंहरबंद करने वाला, रोकने वाला (क्षेत्रीय)

खांमणौ–सं०पु०—कद।
उ०—छोरी री मासी हंस'र कयौ–पण कवरजी रो खांमणौ ओछो है अर छोरी दोलडै हाड है।—वरसगांठ

खांमणौ, खांमबौ–क्रि०स० [सं० स्कभन] गीली मिट्टी, आटे या अन्य किसी पदार्थ से किसी पात्र का मुँह बंद करना।

खांममोती–सं०पु०—एक प्रकार का घोडा (शा.हो.)

खांमिंद–सं०पु० [अ० खाविंद] देखो 'खामंद' (रू.भे.)

खांमी–सं०स्त्री० [फा० खामी] १ कच्चापन. २ कमी, अभाव।
उ०—खटकै उर खामीह, नामी नृप कम नीपजै।—अज्ञात
क्रि०प्र०—करणी, नाखणी, पडणी, भरणी, होणी।

खांमेडो–सं०पु०—नाव से कीली जोडने तथा निकालने वाला।
उ०—मोडो मत कर तेवण वाळा, जाखोडो अरडावे। नीली टोलदे खामेड़ो, वारी भरियो बोलै रे।—रेवतदान

सं०स्त्री०—खटक, कसक, दर्द ।

खाटकणौ, खाटकबौ–क्रि०स० [सं० खट] १ प्राप्त करना. २ प्रहार करना. ३ कोप करना । उ०—करतौ दाव घाव काटकतौ, रीस चखां खाटकतौ रोळ । भळ भुज ऊंच मूंछ झाटकतौ, चाटकतौ पंजा चखचोळ ।—महाराजा मानसिंह रौ गीत

खाटकाई–सं०स्त्री०—पिता की बची हुई संपत्ति, जायदाद ।

खाटखड़, खाटखड़ि–सं०स्त्री०—१ खटखट की ध्वनि. २ पदार्थों के परस्पर टकराने से होने वाली ध्वनि । उ०—१ दारू रा दांव बीच-बीच लीजै छै, गोळियां री खाटखड़ लागनै रही छै ।—रा.सा.सं. उ०—२ तरवारां रा छणकार हुय रह्या छै । चोरंगां री खाटखड़ हुयनै रही छै ।—रा.सा.सं. उ०—३ खांडां री खाटखड़ि झाटझड़ि डंडाहड़ि खेलीजै ।—वचनिका

खाटडूखलौ–सं०पु०यौ० [रा० खाट+डूखलौ] बिना तनी हुई खाट, ढीली चारपाई ।

खाटण, खाटणौ–वि० (स्त्री० खाटणी) १ खाने वाला. २ प्राप्त करने वाला । उ०—रंदौ ही होवै मती, मती वसूलौ मित्त । होवै करवत सारिसौ, वांटण खाटण वित्त ।—अज्ञात

खाटणौ, खाटबौ–क्रि०स० [सं० खट्] १ प्राप्त करना. उ०—आप आपरा मालिक रौ लवण ऊजाळौ दिखाय स्वरगलोक रा सुख खाटिया ।—वं.भा. २ उपार्जन करना, अर्जित करना, कमाना । उ०—१ बीसळदे वेसूर, खाटी पण खादी नहीं । कीदी घात करूर, माया उण में मोतिया ।—रायसिंह सांदू

उ०—२ सादूळौ बन साहिबौ, खाटै पग पग खून । कायरड़ा इण कांम नूं, जंवक कहै जवून ।—वां दा.

खाटणहार, हारौ (हारी), खाटणियौ—वि० ।

खाटाणौ, खाटाबौ, खाटावणौ, खाटावबौ—प्रे०रू० ।

खाटिग्रोड़ौ, खाटियोड़ौ, खाटयोड़ौ—भू०का०कृ० ।

खाटीजणौ, खाटीजबौ—कर्म वा० ।

खाटणोत—देखो 'खाटण' (रू.भे.)

खाटम, खाटमा–सं०स्त्री०—१ उपार्जन. २ धन-लक्ष्मी ।

उ०—नहचळ अत कठण रहण ना रे ना, आदम काळ नदी आ रे आ । खाटम दाट(म) कीऊं खा रे खा, गिर जळ जेम दिहाड़ा गा रे गा ।—ओपो आढ़ौ

मुहा०—खाटमा खाटणी—धन प्राप्त करना (व्यंग्य) ।

३ कीर्ति, यश ।

खाटरौ–वि०—बौना, ठिगना, नाटा । उ०—तारां तेजसी कयौ—औ तौ खाटरौ है नै करमचंद डीघौ है ।—द.दा.

खाटली–सं०पु०—चारपाई, खाट (अल्पा०)

खाटियौ, खाटियोड़ौ–भू०का०कृ०—प्राप्त किया हुआ, प्राप्त । उ०—रस पिता पाट बूहड़ सुराय, खाग री खाटियौ आप खाय ।—पा.प्र.

खाटी–वि० (पु० खाटौ) खट्टी, अम्ल (मि० 'खाटौ')

सं०स्त्री०—१ कीर्ति, यश. २ वैभव ।

खाटूंल–सं०पु०—पहाड़ी जंगलों में पैदा होने वाला एक छोटा वृक्ष जिसके पत्ते खुशबूदार होते हैं ।

खाटौ–वि० (स्त्री० खाटी) खट्टा, अम्ल, तुर्श, कच्चे आम या इमली के स्वाद का सा । उ०—पलटी लूंकी देय पळाटा, खाटा अै कुण खाया ।—ऊ.का.

मुहा०—१ खाटी-मीठी बातां सुणणी—भली-बुरी बातों को बर्दाश्त करना, बुरा-भला सुनना. २ खाटौ खाणौ—अप्रसन्न रहना, मुँह फुलाना. ३ खाटौ होणौ—अप्रसन्न होना. ४ मन खाटौ होणौ—दिल टूट जाना. ५ मन खाटौ-मीठौ होणौ—मन में लालच होना. ६ खाटी छा नै रावड़ी से खोणौ—बिगड़े हुए कार्य को और भी बिगाड़ना ।

यौ०—खाटौ-मीठौ, खाटौ-चूकौ, खाटौ-तूड़, खाटौ-वड़छ ।

सं०पु०—१ छाछ, मट्ठा ।

कहा०—कंई खाटौ मोळौ व्है—ऐसा क्या अनर्थ हुआ जाता है (कुछ देरी होने पर) ।

२ बेसन के द्वारा बनाई जाने वाली कढ़ी । उ०—खाटौ खीच सोगरौ लाजै, मीठोड़ौ गळवांणी । चौमासे रा गुड़ला बादळ, पालर बूठा पांणी ।—रेवतदांन

कहा—१ खीच ऊपर खाटौ इज व्है—कोई वस्तु अपनी समान जाति की वस्तुओं में ही शोभा पाती है ।

कहा०—२ रंदायी खीर नै रांदियौ खाटौ, पांमणै रौ मन जरै ई फाटौ—बिना मन किसी की मेहमाननवाजी करने पर ।

(खाटड़ियौ, खाटोड़ौ—अल्पा०)

खाटौतूड़, खाटौवड़छ, खाटौवड़स–वि०यौ०—अत्यंत खट्टा । उ०—बंगाळै ए बोर, रसै ना मुरधर जेड़ा । खाटावड़स निकांम, गिटै ना सूर गदेड़ा ।—दसदेव

खाट्योड़ौ—देखो 'खाटियोड़ौ' (रू.भे.)

खाड–सं०स्त्री० [सं० खात=खड्ड] गड्ढ़ा, गर्त । उ०—उण ऊपर रेवड़ छाळियां रा नीसरतां किणी रौ पग खाड में पड़ै ।—नी.प्र.

कहा०—१ खाड खिणै जिकै नै कूवौ त्यार है—जो दूसरे का बुरा करता है उसका खुद का बुरा होता है. २ खाड सूं निकळ नै कूवै में पड़णौ—एक आफत से निकल कर दूसरी आफत में गिरना ।

खाडखौ–सं०पु०—ऊबड़-खाबड़ भूमि, ऊँची-नीची भूमि । उ०—सांड ऊंट बकरियां बेली, खड़ौ चरावै खाड़खौ ।—दसदेव

खाडरौ–सं०पु०—देखो 'खाड' (रू.भे.) उ०—भूंडण चील्हरां नूं लियां नळां, खाडरां, रूंखां, झाड़ां री झंगी रै ओल्है चालै ।

—डाढ़ाळा सूर री वात

खाडव–सं०पु० [सं० षाड्व] शास्त्रीय संगीत की जाति जिसमें केवल छः स्वर ही उपयोग में लिये जाते हैं ।

खाडावूज, खाडावूझ–वि० [सं० खात=खड्ड+रा० बूझ] जमीदोज,

खाखलौ-सं०पु०—गेहूँ व जौ के डंठलों के महीन-महीन टुकड़े जो गेहूँ का दाना निकालने पर बच रहते हैं। यह पशुओं का खाद्य है, भूसी।
यौ०—खाखला-पांणी।
खाखी—१ देखो 'खाकी' (रू.भे.) उ०—जटा कनफटा जोगटा, खाखी पर धन खावरण। मरुधर में कोड़ां मिनख, करसा एक कमावरण।
—ऊ.का
सं०पु०—२ बड़ा अफीमची (क्षेत्रीय)
खाखोळाई—देखो 'खांकोलाई' (रू.भे.)
खाखीविलखौ-वि०पु० (स्त्री० खाखीविलखी) १ व्याकुल, बेचैन २ उदासीन, खिन्न।
खाखौ—देखो 'खाकौ' (रू.भे.)
खाग-सं०पु० [सं० खड्ग] तलवार (डि.को.) उ०—खाग आतस अथाह दे लंक दाह, सिय वयरणै सार सुरण समाचार।—र.रू.
खागड़ेल, खागड़ौ-सं०पु०—१ सूअर. २ योद्धा, वीर।
खागचाळौ- देखो 'खगचाळौ' (रू.भे.) उ०—हुवै फैल धरण हैकंप हुवै, चढ़ तुरां करै कुरण खागचाळौ।—जवांनजी आढ़ौ
खागधारी-वि०—देखो 'खगधर' (रू.भे.)
खागबंद-वि०यौ० [सं० खड्ग+फा० बंद] योद्धा, वीर। उ०—खंडेलै नहीं हणूं गोविंद खागबंद, वखत इण खेतड़ी नहीं 'वखतौ'।
—गोपाळदांन खिड़ियौ
खागबळ-सं०पु०यौ० [सं० खड्ग+बल] तलवार का बल, बहादुरी।
खागरणी-सं०स्त्री०—संहार करने वाली, तलवार। उ०—रतवाह वजा-वरण खागरणी, तेउ वाजन सूरांय वाज तरणी।—पा.प्र.
खागवळ-सं०पु०—१ तलवार, कृपाण। उ०—बीज नही ऐ खागवळ, बूंद नही ऐ बांरण। घटा नहीं या कांम की, आई फौज अचांरण।—अज्ञात
२ देखो 'खागबळ' (रू.भे.)
खागवाहौ—देखो 'खगवाहौ' (रू.भे.) उ०—दुरत गत डांरण ऊसरांरण सर दयंतौ, लयंतौ फुरळवौ थाट लाहौ। सुतन 'गज-वंध' सुरकांमरणी संपेखै, विवांरणा थांभिया खागवाहौ।—महाराज जसवंतसिंह रौ गीत
खागाट-सं०पु० [सं० खड्ग] तलवार, खड्ग।
खागि—देखो 'खाग' (रू.भे.)
खागैल-वि० [सं० खग+ऐल] १ सूअर। उ०—गैंदंतौ खागैल गिड़, कंधौ गिरणै न कोय। मांडांणै इण मारगां, आवै जौ मर जाय।
सं०पु०—२ ऊँट. ३ योद्धा —हिंगळाजदांन कवियौ
खाडैती-सं०पु०—१ गाडी हांकने वाला। उ०—खाडैती खोलिया खिड़क खासा रथ खांनां। सिरणगारया सिदरणां मिळरण सांमां मिजमांनां।—मे.म. २ हल चलाने वाला।
खाज-सं०स्त्री० [सं० खर्जु] १ एक रोग जिसमें शरीर बहुत खुजलाता है, खुजली।
मुहा०—१ खाज उठरणी—कामातुर होना, सहवास की इच्छा होना, मार खाने की इच्छा होना. २ खाज चालरणी—कोई कार्य करने की इच्छा होना, कुछ पाने की इच्छा होना मैथुन की इच्छा होना, मार खाने की इच्छा होना. ३ खाज मिटरणी—संभोग से स्त्री का तृप्त होना, अच्छी तरह पिटना।
कहा०—खाज खिरिणयां भागै—कार्य करने से होता है।
[सं० खाद्य] २ खाद्य-पदार्थ। उ०—हमें जौ रावजी रै खांत लागी तौ इरण पसूं रौ कासूं। ऐ तौ आपरणै खाज हीज है।
—डाढ़ाळा सूर री वात
वि०—१ निकम्मा. २ डरपोक, कायर. ३ दीन।
खाजटणौ, खाजटबौ-क्रि०स०—खाना, भक्षण करना (क्रोध में शब्द को बिगाड़ कर कहने का प्रयोग)
खाजरबाई-सं०स्त्री०—मांस के लिए मारे गए बकरे, हिरन आदि पशुओं की खाल अलग करने की क्रिया।
खाजरू-सं०पु०—बलि का बकरा, मांस के लिए मारा जाने वाला बकरा।
क्रि०प्र०—करणौ, कराणौ, चढ़ाणौ, होणौ।
उ०—अरु वनमाळीदास लिखमीनाथजी रै मिंदर कनै खाजरू कराया।
—द.दा.
मुहा०—खाजरू करणौ—बलि देना, मांस के लिए बकरे को मारना।
खाजल्यौ-सं०पु०—बूढ़ा घोड़ा।
खाजि—देखो 'खाज' (रू.भे.) (अमरत)
खाजौ-सं०पु० [सं० खाद्य, प्रा० खज्ज] १ भक्ष्य वस्तु, खाद्य.
२ बारीक मैदे आदि से बनाई जाने वाली एक मिठाई व पकवान जो पूरी की शक्ल का होता है किन्तु पूरी के समान फूलता नहीं।
उ०—सोनौ घड़ै सुनार, कंदोई खाजा करै। भोगै भोगणहार, करम प्रमांणै 'किसनिया'।
खाट-सं०स्त्री० [सं० खट्वा] १ चारपाई, खटिया, पलंग।
उ०—१ सोई सज्जरण आविया, जांह की जोती वाट। थांभा नाचइ घर हंसइ, खेलरण लागी खाट।—ढो.मा.
उ०—२ सांझ पड़ै दिन आथवै, जद खातरण लावै खाट। कांई ए करूं थारी खाट नै, म्हारै मारूड़ै विना किसौ ठाठ।—लो.गी.
खाटक-वि०—खट-खट की आवाज करने वाला. २ प्राप्त करने वाला, प्राप्तकर्त्ता। उ०—कावरड़ा काटक करै, कळदी झाटक कांरण। ताखा दाटक 'वखत' तरण, जस खाटक घरण जांरण।
—कविराजा करणीदांन
३ महान. ४ वीर, प्रचंड, योद्धा। उ०—घोड़ा घोड़ा स्यूं। पाळा पाळा स्यूं। खड़ग तरणा खाटक। खेड़ां तरणा झाटक।—कां.दे.प्र.
५ टक्कर. प्रहार. ६ जबरदस्त। उ०—कृपरण वराटक पावियां, नाटक करै निलज्ज। सुरण जाचक खाटक करै, सब दिन फाटक सज्ज।—बां.दा.

खातक-सं०पु० [सं०] छोटा तालाव, तलैया (डि.को.)

खातमौ-सं०पु० [अ० ख़ातिम] १ अंत, खात्मा, समाप्ति. २ मृत्यु।

खातर-सं०स्त्री०—१ खाद. २ विश्वास, भरोसा। उ०—आंपे भेळा ही घोड़चां त्यां पछै थांरी खातर हूं तौ घोड़ी टोळज्यौ।
—जखड़ा मुखड़ा भाटी री वात

३ इच्छा, मर्जी। उ०—तरै ऊ वचन सांभळ पिड़संघी कह्यौ—कूटण मूंडका क्या आधी हमारी है, आधी तुमारी है। तठे क्यूं चड़भड़चौ रजपूतां रौ साथ। तरै भींवंजी कह्यौ—आपरी खातर आवै त्यूं करौ।—जखड़ा मुखड़ा भाटी री वात ४ दया, कृपा.

५ आदर, सम्मान। उ०—कोड़ वचन खातर कियां, पातर नह करै प्रीत। आय देख अकुलीण नूं, मांडै करलै मीत।—वां.दा.

६ ध्यान, विचार।

क्रि०वि०—लिये, वास्ते। उ०—१ रसिया री तन रोग सूं, सड़ जावै नह सोच। हेम रजत खातर हुवै, पातर लोच पलोच।—वां.दा.

उ०—२ तेरै खातर जोगण हूंगी, करवत लूंगी कासी। मीरां के प्रभु गिरधर नागर, चरण कंवळ की दासी।—मीरां

खातरजमा-सं०स्त्री०यौ०—देखो 'खातिरजमा'। उ०—व्यास नूं फेर सिरदारां दवायौ, जे थां रहो जे सारां रौ खातरजमा रहसी।
(क्रि०प्र०—राखणी) —अमरसिंह री वात

खातरदारी—देखो 'ख़ातिरदारी'।

क्रि०प्र०—करणी, रै'णी, होणी।

खातरी-सं०स्त्री० [फा० ख़ातिर] १ सम्मान, आदर, आवभगत।

उ०—तद परवांनां सूंस सपत कर जगमाल री हर भांत खातरी करी।—नैणसी २ तसल्ली, इतमिनान, संतोष।

उ०—खातरी नजर धर करहु खोज, हम है न सजा लायक हनोज।
—ऊ.का.

३ सेवा, वंदगी. ४ विश्वास, भरोसा। उ०—कल्यांणसिंघजी कयौ—थणी आछी वात है, कागद थांरी खातरी रौ आछी तरै लिख देसां।—द.दा.

ख़ातरोड़-सं०स्त्री०—वढ़ई के काष्ठ आदि का काम करने का स्थान।

खाता, खाताई—देखो 'खायाई' (रू.भे.)

खाताबई, खातावही, खाताबई, खातावही-सं०स्त्री०यौ०—वह वही या किताव जिसमें प्रत्येक व्यापारी या आसामी आदि का हिसाब मितिवार और व्यौरेवार लिखा हो।

खातिर—देखो 'खातर'। उ०—जिण समय कोल कियौ माल दरवेसां नूं देयस्यूं तरै सिपाहियां नूं खातिर में आंणिया था।—नी प्र.

ख़ातिरजमा-सं०स्त्री० [अ०] संतोष, इतमीनान, तसल्ली।

उ०—कुंवरसी कही—थे खातिरजमा राखौ, थांहरै खांवदां नूं कहावौ जे आय कर मिळ लेवौ।—कुंवरसी सांखला री वारता

खातिरदारी-सं०स्त्री० [अ० ख़ातिर+फा० दारी] सम्मान, आदर, आवभगत।

क्रि०प्र०—करणी, राखणी, होणी।

उ०—हातम महमांन री खातिरदारी कीवी, आछी ठौर उतारियौ। पछै मेहमांन नूं सुवाण्यौ, आंण वाहिर गयौ।—नी.प्र.

खाती-सं०पु० (स्त्री० खातण, खातणी) लकड़ी का इमारती काम करने वाली जाति विशेष या इस जाति का व्यक्ति, वढ़ई।

वि०वि०—सुथार और खाती दोनों जातियों का व्यवसाय एक होते हुए भी ये अपने आप में कुछ भिन्नता मानते हैं। ये दोनों ही अपने आपको विश्वकर्मा के वंशज मानते हैं। जो खाती लोहे का काम करते हैं वे लुहार-खाती कहलाते हैं।

खातीचिड़ी, खातीचीड़ौ-सं०पु०—१ एक प्रकार का पक्षी विशेष जिसके सिर पर तुर्रा होता है और वह पेड़ों की शाखाओं व तनों पर अपनी चोंच मार कर कीड़े खाता है; कठफोड़ा. २ एक प्रकार का घोड़ा (शा.हो.)

खातून-सं०स्त्री० [तु० ख़ातून] भले घर की स्त्री, भद्र महिला।

उ०—विलायत में खातून जन्नत रौ नांम आंख मींचनै लेवै।
—वां.दा.ख्यात

खातोड़-सं०स्त्री०—वह स्थान जहां वढ़ई बैठ कर नित्य अपनी लकड़ी का कार्य करता है। उ०—खाती री खातोड़ गूंजता जावै गाजी, लाधै जौ लुहार रांमजी मिळग्यौ राजी।—ऊ.का.

खातौ-पीतौ-वि०यौ०—संपन्न, मध्यम वर्ग का।

खातौ-सं०पु०—१ वह वही या किताव जिसमें प्रत्येक आसामी या व्यापारी रुपयों के लेन-देन का हिसाव मितीवार और व्यौरेवार रखता है. २ मद, विभाग. ३ आय-व्यय और लेन-देन की वही का लेख. ४ रहट को चलाने के लिए बैठने वाले काष्ठ के डंडे के मध्य का पका हुआ भाग जहां मध्य स्तम्भ (ऊवड़ियौ) सटा हुआ रखता है. ५ खांचा, कटा हुआ स्थान।

क्रि०वि० (स्त्री० खाती) तेज, शीघ्र, उतावला, द्रुतगामी।

उ०—चढ़ पमंग उमंग खाता चलाय, उण वखत मिळै 'भैरव' सूं आय।—पे.रू.

खात्र-सं०उ०लि—खाद।

खात्रोड़—देखो 'खातोड़' (रू.भे.)

खायाई, खायाळ, खायावळ-सं०स्त्री०—तीव्रता, शीघ्रता, त्वरा।

खायौ-वि०पु० (स्त्री० खायी) उतावली, शीघ्रगामी, तेज।

उ०—फोरै खाया नै गाळी फटकारै, तोरै जातां नै हाळी ततकारै।
—उ.का.

क्रि०वि०—तेज, शीघ्र।

खाद-सं०उ०लि [सं० खाद्य] १ वह पदार्थ जो भूमि में उसे अधिक उपजाऊ वनाने के लिए व उत्तम फसल प्राप्त करने के लिए डाला जाता है।

वि०वि०—घास, फूस, पत्तियां, डंठल, कूड़ा-करकट, कीचड़, पशु-पक्षियों का मल-मूत्र तथा मृत शरीर आदि सभी को गड्ढे में सड़ा-

भूमिगत। उ०—पछै मूळराज री मा नूं खाडावूज करनै बीजै दिन राजपूत आप वळ किया था।—नैणसी

खाडाळ-सं०पु०—जैसलमेर राज्य का एक भू-खंड (वां.दा. ख्यात)

खाडाळियौ-वि०—खाटाल का, खाडाल संबंधी (देखो 'खाडाळ')
सं०पु०—खाडाल प्रदेश का ऊँट। उ—काछी बोदला छपरी *जाळोरी बगरू बलोची सिववाड़िया खाडाळिया*—और ही अनेक जात-भांत रा ऊंट छै।—रा.सा.सं.

खाडाळी-सं०स्त्री०—भैंस। उ०—खुंडी पाडी रा लाडी चख खोळै, घमती खाडाळी काळी दिन घोळै।—ऊ.का.
वि०—खाडाळ संबंधी, खाडाळ का।

खाडियौ-भू०का०कृ०—गड़ा हुआ। उ०—पुहपां मिसि एक-एक मिसि पातां खाडिया द्रव माडिया ऊखेलि।—वेलि.
सं०पु०—खड्डा (अल्पा)

खाडी-सं०स्त्री०—१ वह नीची भूमि जिसमें वर्षाकाल में पानी भर जाता हो. २ समुद्र। उ०—ओघड अतीतां री जमाति रै साथ वेड़ी रै वळ खाडी लांघि हिंगुळाज देवी रै धांम पूगियौ।—वं.भा.

खाडू-सं०पु०—भैंसों का समूह। उ०—१ तद भरमल अरज कीवी जे इठा सू कोस सवा ऊपर म्हारै भैंसां री खाडू छै—उठै तीज रै दिन म्हैं हर भांत आयस्यूं।—कुंवरसी सांखला री वारता

खाडूकर-सं०पु०—भैंसों के समूह की देख-रेख करने वाला।
उ०—भरमल कही-जे आपणै खाडू मांहे सूं दूध मण एक रोजीना री प्रोहित नूं मेल देवै, *खाडूकरां नूं कहिदेजे*—नाघा करे नहीं करै।—कुंवरसी सांखला री वारता

खाडेली-सं०स्त्री०—संगमरमर या चीनी का बना चपटा, गोल या चौरस पात्र जिसमें सोने-चांदी की वस्तुओं में जोड़ लगाने का मसाला तैयार किया जाता है (स्वर्णकार)

खाडौ-स०पु० [सं० खात = खड्ड] गड्ढा, गर्त। उ०—पूरवासाढ़ा में खाडा में पड़िया, अगले अनरथ रा अंकुर ऊघडिया।—ऊ.का.
मुहा०—१ खाडा में नांकणौ—किसी को धोखा देना, घाटा पहुँचाना. २ खाडा में पड़णौ—कष्ट में पड़ना, असमंजस में पड़ना, कठिनाई में पड़ना. ३ खाडौ खोदणौ—हानि करना, नुकसान पहुँचाना, किसी को नीचा दिखाने या गिराने का उपाय करना. ४ खाडौ पड़णौ—गड्ढा हो जाना, कमी पड़ना. ५ खाडौ भरणौ—कमी को पूरा करना, गड्ढे को भरना, रूखा-सूखा खा कर पेट भरना, विरोध दूर करना।
यौ०—खाडौ-खड़बौ, खाडौ-खोचरौ।

खांण-सं०पु० [सं० खादन, प्रा० खाअन] भोजन, खाद्य सामग्री।

खाण-वि० [सं० खादनः] १ खाने वाला, भक्षण करने वाला. २ काटने वाला (मि० 'खावणौ')

खाणौ, खावौ-क्रि०स० [सं० खादन्, प्रा० खाअन] खाने की क्रिया करना, खाना, भोजन करना।
मुहा०—१ खाणौ जैर करणौ—क्रोधित होकर भोजन के समय कोई विघ्न या बाधा डाल निरानन्द करना।
कहा०—१ खा गुड़—अवसर पर शीघ्रता से अनुचित लाभ उठाने वाले व्यक्ति पर व्यंगोक्ति २ खाई खोई नै मांहीनै रोयौ—खाने में व्यर्थ का अपव्यय कर निर्धनता में पीछे सिर पीटना, बिना विचारे अंधाधुंध व्यय करने के बाद में पछताना पड़ता है. ३ खाऊं तौ खाडौ पड़ै, नी खाऊं तौ रोडी वळै—खाता हूं तो कमी पड़ती है और नही खाता हूँ तो नष्ट होता है। उपयोग में नही लाने पर जो वस्तु नष्ट होती हो तो उसका उपयोग करना ही उत्तम है.
४ खा जावै नै खाडा कूट जावै—उस व्यक्ति के प्रति जो पर-स्त्री से संभोग के अतिरिक्त उसका धन भी हथिया ले। कृतघ्न होना.
५ खातां पीता हर मिळै तौ हमकू कहियौ—खाते-पीते अर्थात् ऐश करते समय भगवान मिले तो हमे कहना। बिना कष्ट उठाये लाभ की *इच्छा करने वालों के लिए व्यंगोक्ति.* ६ *खातां पीतां ही मूडौ दूखै*—खाने जैसे सरल कार्य करने में भी नजाकत दिखाने वाले के लिए व्यंगोक्ति; स्वस्थ व्यक्ति जब साधारण कार्य करने में असमर्थता प्रकट करता है तब कहा जाता है. ७ खातौ जाय'र खप्पर फोड़तौ जाय—कृतघ्न के प्रति. ८ खाध करै उपाध—भर पेट भोजन मिल जाय तो शून्य मस्तिष्क मे शैतान उपजता है. ९ खाय जिण री ही फोड़ै—कृतघ्न के प्रति. १० खाय हंगिया कदे न धाया—खाते ही जो शीघ्र पाखाने जाता है वह कभी तृप्त नही होता; भोजन के बाद शीघ्र ही पाखाना जाना बुरा है. ११ खायां किसा खाडा पड़ै है—खाने-पीने से क्या कमी पड़ती है? भोजन का व्यय अन्य व्ययो के अनुपात से कम होता है।
१२ खाय पीं'र लारै पडणौ—हाथ धोकर पीछे पड़ना.
१३ खाया सो ऊबरिया दीया सो ही सथ्थ—जीवन-काल में जो धन भोगा गया अर्थात् जिसका उपयोग किया वही बचत में रहा और जो कुछ परोपकार में दिया वही पुण्य कर्म का सहारा रहा। धन का उपयोग करना या परोपकार में व्यय करना ही सही उपयोग है. १४ खायौ रै परड़ोटियौ कै काळिंदार कठा सूं लाऊं—हुई तो साधारण घटना परन्तु इसे विशाल या महत्वपूर्ण घटना का रूप कैसे बनाया जाय।
यौ०—खातौ-कमातौ, खातौ-पीतौ।
खाणहार, हारौ (हारौ), खाणियौ—वि०।
खवाड़णौ, खवाड़बौ, खवाणौ, खवावौ—प्रे०रू०।
खद्धौ, खादौ, खाधौ—भू०का०प्र०।
खायोड़ौ—भू०का०कृ०।
खाईजणौ, खाईजबौ—कर्म वा०।
खावणौ, खावबौ—रू०भे०।

खात—१ देखो 'खाद' (रू.भे.) २ वह मार्ग विशेष जो चोर चोरी करने के उद्देश्य से दीवार में बनाते हैं; सेंध।

खावड़ो–सं०पु०—पानी भरा छोटा गड्ढ़ा। उ०—वावेली ए खींवें-खींवें भरिया है तळाव, वरसें ने भरिया श्रो नाडा खावड़ा। —लो.गी.

खावेड़ो–वि०पु०—प्रत्येक कार्य बाँए हाथ से करने का अभ्यस्त।

खाबोचियो–सं०पु०—१ छोटा गड्ढा. २ योनि (बाजारु)

खावो–वि० (स्त्री० खावी) १ (वह बैल या भैंसा) जिसका एक सींग ऊपर तथा दूसरा नीचे मुड़ा हुआ हो. २ ऐंचाताना. ३ वीर, बलवान (रू.भे.) ४ बाँया।

सं०पु०—तिरछा देखने का भाव या क्रिया।

खायक खायजादो–वि०पु०—१ खाने वाला। उ०—१ हैवर गैवर गांव फौजें फरहर वहो पायक, वहो जोधा दरवार खसें श्रांखूं भी खायक। —ह.पु.वा.

उ०—२ संतां सायक तूं सदा, दुसहां खायक देव। केसव तो वरणन करूं, भल गुरु दीनो भेव।—भगतमाळ

खायस–सं०स्त्री० [फा० ख्वाहिश] इच्छा, चाह, लालसा। उ०—जहां श्रंब फळ ब्रच्छ तहां नींब फळ न पांमस। जहां चीणी पकवांन तहां कीकस रय मांनस। जहां जायसूं जपे तहां श्रादर नह पायस। जहां उपायस वोहत तहां वोहतेरी खायस।—खींवो करमसी श्रामियो

खायोड़ो–भू०का०कृ०—खाया हुश्रा। (स्त्री० खायोड़ी)

खार–सं०पु० [फा०] १ क्रोध, कोप, गुस्सा। उ०—सांवण जळहर गाज सुण, खीजें उर घर खार। जग सूं उलटा जांणणा, वाघां तणा विचार।—वां.दा.

क्रि०प्र०—ऊघड़णो, करणो, घालणो, होणो।

मुहा०—खार खाणो—क्रोध करना, रुष्ट होना।

२ ईर्ष्या, द्वेष, डाह। उ०—वेध्यो मछ जिण वार मांण दुजोधन मेटियो। खेंचे वच उण खार, थां पारथ वैठ्यां थकां। —रांमनाथ कवियो

क्रि०प्र०—करणो, काडणो, पड़णो, भांगणो, मेटणो।

मुहा०—१ खार काडणो—प्रतिशोध लेना. २ खार मेटणो—वैमनस्य दूर करना।

३ कांटा, कंटक. [सं० क्षार] ४ रज, धूलि. ५ राख।

६ देखो 'क्षार' (रू.भे.) ७ खारापन. ८ श्रम्लता.

[रा०] ९ वंदूक की नाल में पड़ी हुई तिरछी व सीधी धारियाँ जिन पर छोटी-छोटी बिंदियां होती हैं।

खारक–सं०पु० [सं० क्षारक, प्रा० खारक] १ खजूर के पेड़ का सूखा फल, छुहारा. २ देव वृक्ष (श्र.मा.)

खारकभरियोतोडियो–सं०पु०—लड़कियों द्वारा गाया जाने वाला गीत।

खारकियावोर–सं०पु०—छुहारे के श्राकार के वेर।

खारखंघ, खारखंघो–वि०—अति क्रोधित, शत्रुता का भाव लिये हुए।

उ०—१ करण तणें विढ़तें बंधव-कज, खळ दळ कीघा खारखंघ। —द.दा.

उ०—२ लड़वा सर धांबळ दाव लधो, खड़आवत खीचिय खारखंधो। —पा.प्र.

खारड़िया–सं०स्त्री०—सीरवी नामक काश्तकार जाति का एक भेद।

खारड़ो–सं०पु०—१ जूता, पगरखी. २ सूखा हुश्रा पुराना जूता।

खारच–सं०स्त्री० [सं० क्षार+स्थल, प्रा० खरथ] १ वह भूमि जिसमें कुछ क्षार का मिश्रण होता है और वहाँ कुछ भी उत्पन्न नहीं होता। उ०—कृपणां री मतवाळ की, करसण खारच खेत।—वां.दा.

वि०—वेकार।

खारचियो–सं०पु०—खारे पानी से उत्पन्न गेहूँ।

वि०—खारा, कड़ुवा।

खारज–वि० [अ० खारिज] १ बाहर किया हुश्रा, निकाला हुश्रा, बहिष्कृत. २ रद्द किया हुश्रा. ३ भिन्न, अलग।

खारण–सं०पु०—अजवायन (वी.मा.) उ०—जरणी किणी न खायो जापें, खारण खाटो खारो। हमस हलावणहार दिली सूं, है कोई तेड़ण-हारो।—श्रज्ञात

खारभंगणा, खारभंजण, खारभंजणा, खारभनणा–सं०पु०—१ श्रफीम सेवन (महफिल में) के पश्चात सेवन किया जाने वाला मीठा पदार्थ. २ गजक, चुरवुन।

पर्याय०—श्रवदंस, उपदंस, चखण, नुकळ, भंजणूं, मदपश्रसण।

खारवाळ–सं०पु०—१ एक प्रकार का देशी खेल. २ नमक का व्यवसाय करने वाली जाति या उस जाति का व्यक्ति।

खारवो–सं०पु०—पानी व कीचड़ के मध्य श्रधिक रहने पर पैरों में होने वाला चर्म-विकार विशेष।

खारसमुद–सं०पु० [सं० क्षारसमुद्र] लवणोद, समुद्र।

खारास–सं०पु० [सं० क्षार+रा० स] खारापन, तीखापन, कड़वापन।

खारिक–देखो 'खारक' (रू.भे.) उ०—खारिक दाख नाळीयर नीलां, फोफळ श्रनइ खिजूरां।—कां.दे.प्र.

खारियो–सं०पु०—१ वाजरी के सूखे हुए डंठल. २ चने के पौधे के सूखे पत्ते।

[सं० क्षारिकम्] ३ क्षारयुक्त पदार्थ।

वि०—क्षारयुक्त।

खारी–सं०स्त्री०—१ छोटी चौकोर डलिया। उ०—चारी नांणूं व्है खारी भर चारें, श्रपणी प्यारी पर प्राणांतक वारें।—ऊ.का.

२ वनास की सहायक नदी (नैणसी) ३ वाजरी के सूखे डंठल.

४ एक प्रकार का खराब नमक।

वि०—देखो 'खारो' का स्त्री०।

खारीमाट–सं०पु०—नील का रंग तैयार करने का एक ढंग।

खारीलूण–सं०पु०—जमीन पर खारे पानी से जमाया हुश्रा नमक (श्रमरत)

खारीलो–वि०पु० (स्त्री० खारीली) क्रोधी, गुस्सैल।

खारीवा–सं०पु० [सं० क्षीरवाह] केवट (श्र.मा.)

खारोटियो—देखो 'खारो' (१ पु०) (श्रल्पा०) उ०—सगळा हारिया-थकि-

गला कर अच्छी खाद के रूप में तैयार किया जाता है। अनेक क्षारों से भी खाद बनाई जाती है।

कहा०—१ खाद दे तौ होवै खेती नही तौ रहै नदी की रेती—खाद देने से ही उत्तम खेती की आशा की जा सकती है नहीं तो वह खेत केवल रेत की नदी के रूप में रहता है। अच्छी खेती के लिए खाद आवश्यक है. २ खाद अर पांणी कै करै निणाणी—कोरे परिश्रम से कुछ नही होता; खेती के लिए खाद एवं पानी की भी अत्यंत आवश्यकता होती है।

२ देखो 'खाव' (रू.भे.)

खादण, खादन—स०पु० [स० खादन्] १ भोजन, भक्षण (ह.नां.) २ दांत (डि.को.)

सं०स्त्री०—खाने की क्रिया, भाव या ढंग।

खादर—सं०स्त्री०—१ वह नीची भूमि जिसमें वर्षा का पानी बहुत दिनों तक रुका रहता हो, कछार, तराई। उ०—गेहूंडा निपजै खादर में, नित बरसौ मेहा बागड़ मे।—लो गी. २ पशुओं के चरने की जगह, चरागाह।

खादरौ—स०पु० [स० खातक] खड्डा, पोखर, छोटा गड्ढा।

कहा०—आदरा भरै खादरा, पुनरवसु भरै तळाव—आर्द्रा नक्षत्र मे यदि थोड़ी मामूली वर्षा हो जाती है तो पुनर्वसु नक्षत्र मे खूब अधिक वर्षा होने की आशा की जा सकती है (कृषि कहावत)

खादी—स०स्त्री०—एक प्रकार का मोटा सूती कपड़ा।

खादोकड़ौ—वि० (स्त्री० खादोकड़ी) भोजन-प्रिय, अधिक खाने वाला, पेटू।

खादौ—भू०का०प्र०—'खाणौ' का भूतकालिक रूप, खाया (स्त्री० खादी) (रू.भे. 'खधौ')

खाध—सं०पु० [सं० खाद्य] १ खाने की सामग्री, खाद्य। उ०—आपणै देस मे बाजरी रौ ही खाध हो अर आ भाव में ई सस्ती मिळती ही।
—वरसगांठ

२ खाने का व्यय. ३ खाने की इच्छा, रुचि।

खाधोकड़—वि० महत्त्व० (स्त्री० खाधोकड़ी) १ अधिक भोजन करने की रुचि रखने वाला, भोजन-भट्ट, पेटू. २ चटोरा, चट्टू (रू.भे. 'खादोकडौ')

खाधौ—भू०का०प्र० (स्त्री० खाधी) देखो 'खादौ' (रू.भे.)

उ०—१ मी तारक खळ दुस्ट नैं, स्वांमी कारतिक खाधौ।—र.ज प्र.

उ०—२ म्हारा तो घर मे मही घणेरो, हरि चोर दधि खाधो री।
—मीरा

खाप—सं०स्त्री०—१ खड्ग, तलवार। उ०—माथै सना खापा घावै गवावै जिहान माथै। दसू दसा सोभाग छवायो... ।
—कमजी दधवाड़ियौ

२ म्यान, कोष। उ०—खळकीय खाग हळकीय खाप।—गो.रू.

मुहा०—खापा बारै होणौ—युद्धार्थ तलवार को म्यान से बाहर करना, अति क्रोधित होना, आपे से बाहर होना।

३ म्यान के आजू-बाजू की दो पट्टियो मे से एक।

वि०—अति उज्ज्वल, स्वच्छ * (डि.को.)

खापगा—स०स्त्री० [सं० ख+आपगा] गंगा नदी (अ मा.)

खापड़ौ—देखो 'खाप' (रू.भे.) उ०—खेल आरांण रै न मावै खापड़ां, फैल दिखराण रै फिरंग पाळै।—रामलाल आडौ

खापट—स०स्त्री०—१ बांस की पट्टी. २ कुछ चौडाईयुक्त पतला लम्बा पत्थर।

खापटा-री-कोठार—सं०पु०—जवाहरखाना (प्राचीन)

खापटौ—स०पु०—१ दूर से फेंका जाने वाला एक अस्त्र विशेष (पा.प्र.) २ पत्थर का एक लंबा-चौड़ा व पतला खंड, पतली शिला।

खापन—देखो 'खाप' (रू भे.) उ०—खणणकिय खापन खग्ग तजी, सरणकिय गिद्धनि पख सजी।—ला रा.

खापर—स०पु०—मुसलमान। उ०—१ गहग्गह ग्रिधणी मंगळ गाइ, जोधा घर जोपण खापर जाइ।—रा ज सी. उ०—२ जोधार जीपण खापर जूग, तुरंगे जीण कसे भड तूग।—रा.ज.सी.

खापरियौ—स०पु० [सं० खर्पर] १ धूर्त. २ चोर। उ०—जग में ऊसरियौ खापरियौ जैं'री, वाल्हा बीछोडण बापरियौ बैरी।
—ऊ.का.

[रा०] ३ अनाज मे लगने वाला एक प्रकार का कीड़ा जो अनाज को नष्ट कर देता है. [सं० खर्परी] ४ भूरे रंग का एक खनिज। यह प्रायः वैद्यक की औषधियो मे प्रयुक्त होता है। उ०—खापरियां बंधाऊं कूवा बावडी (जी) ढोला, मोतीडा बंधाऊं (रे) तळाव जंवाइया री ओळंची।—लो गी.

खापरी—स०स्त्री०—खड़िया मिट्टी का बना एक प्रकार का मसाला जिसमें सोने के टुकडे डालने पर गोल बन जाते हैं (स्वर्णकार)

खापरचौ—देखो 'खापरियौ' (रू भे)

खापौ—स०स्त्री०—आवश्यकता, जरूरत।

खापो—स०पु०—१ कील, मेख. २ देखो 'खाप' (रू.भे.)

खाफर—वि०पु० [अ० काफिर] देखो 'काफिर' (रू.भे.)

सं०पु० [स० खर्पर] १ देखो 'खपडौ' (रू.भे.) २ मुसलमान।

उ०—१ खाफरां जइत वाहइ खडग्ग, वासदे जाणी वन्नि विलग्ग।
—रा.ज.सी.

उ०—२ धार खग चकर घण भगत करुणा धरे, भांज खाफर मगर भुजा भामी।—द.दा.

खावकौ—स०पु०—१ शाही दरवार. २ राजा व रानी की वह मजलिस जिसमे केवल उनके कृपा-पात्र ही उपस्थित हों. ३ वह स्थान जहां इस प्रकार की मजलिस हो. ४ राजा रानी का शयनागार। उ०—आधा चारण खावकां, बीडी मौज बटत। दूरा केम दकालगा, हूंचकतां भड झत।—वी.स.

खावड़—सं०स्त्री०—१ ऊबड़-खावड़. २ ईडर रियासत की भूमि।

खावड़िया—राठौडों की एक उपशाखा जो जोधपुर के महाराजा राव मालदेव के पुत्र जगमाल से आरम्भ मानी जाती है।

खालिक, खालिकि–सं०पु० [अ० खालिक] १ ईश्वर, सृष्टिकर्ता।
उ०—खखौ खबरि खालिक की पाई, सींबूड़ै बाजै सहनाई।—ह.पु.वा.
२ संसार।

खाळियौ–सं०पु०—पानी की नाली। उ०—खळकिया स्रोण तांय वौह घट खाळियां। रिण भड़ां सीस यूं वैठि रतनाळियां।—हा.झा.
अल्पा०—खाळी।
महत्व०—खाळ।

खाली–वि०—१ जिसके अंदर कुछ न हो, रिक्त, शून्य। उ०— उत्तर नूं खाली कहै, उर ज्यां वडौ अंधेर। उत्तर दिसा सुमेर है, उत्तर मांहि कुवेर।—बां.दा.
पर्याय०—रिकतक, रीतौ, रिकत, सूनूं।
क्रि०प्र०—करणौ, होणौ।
मुहा०—१ खाली पेट—विना कुछ खाये-पीये, भूखा. २ खाली होणौ—रिक्त होना।
कहा०—१ खाली तजारा माथै चोकी—रीते छिलकों पर पहरा अर्थात् साधारण वस्तु पर कड़ी निगरानी रखना मूर्खता है. २ खाली वासण घणा खड़खड़ावै (खड़वड़ीजै)—रिक्त वर्तन टकराने पर अधिक आवाज करते हैं। गुणहीन व्यर्थ वढ़-वढ़ कर बातें बनाते हैं।
२ जिस पर कुछ न हो। ज्यूं खाली घोड़ौ. ३ रहित, विहीन।
मुहा०—१ खाली हाथ—व्यय करने के लिये पास में रुपये-पैसे न होना, विना किसी अस्त्र-शस्त्र के, विना भेंट-उपहार के, विना कुछ लिये-दिये. २ खाली होणौ—रुपया-पैसा पास में न होना।
कहा०—खाली हाथ मूंडा सामौ नी जावै—खाली हाथ कभी मुंह की ओर नहीं जाता; निर्धनता में कुछ भी खर्च नहीं किया जा सकता।
४ जिसे कुछ काम न हो, जो किसी कार्य में न लगा हो।
मुहा०—१ खाली वैठणौ—विना रोजगार के वैठना. २ खाली होणौ—बेकार होना।
कहा०—१ खाली वैठां उतपात सूझै—निठल्ले वैठे ऊधम सूझता है, अर्थात् विना कार्य नहीं वैठना चाहिये, कुछ न कुछ कार्य करते ही रहना चाहिये. २ खाली वैठां विचै वेगार भली—खाली अर्थात् कार्यरहित वैठने की अपेक्षा वेगार करना अच्छा होता है; मनुष्य को कुछ न कुछ कार्य करते रहना चाहिये।
५ जो व्यवहार में न हो, जिसका काम न हो (वस्तु) ६ व्यर्थ, निष्फल।
मुहा०—१ वात खाली जाणी—कही हुई वात निष्फल होना, झूठा सिद्ध होना. २ वार खाली जाणौ—निशाना ठीक न वैठना, वेकार होना।
७ अनुभ. (यौ०—खाली दिन) जिसके पेट में गर्भ न हो (पशु)
सं०स्त्री०—तवला मृदंग आदि वजाने में ताल का वह स्थान जो खाली छोड़ दिया जाता है।
क्रि०वि०—केवल, सिर्फ।

खाळी–सं०स्त्री०—१ नाला, छोटा नाला. २ गंदे पानी को वाहर निकालने की मोरी।

खालीचोपण–सं०स्त्री०—आभूषणों पर नक्काशी करने का एक औजार।

खालीवादळ–सं०पु०—एक प्रकार का घोड़ा (शा.हो.)

खाळू–सं०पु०—१ कवड्डी के खेल का मुखिया, खेल-नायक।
कहा०—खाळू पड़ियौ नै खेल विखरियौ—मुखिया हारा और खेल समाप्त हुआ अर्थात् नायक के गिरते ही या हारते ही वाजी चली जाती है।
२ टोली-नायक। उ०—'विक्कम' सांड ऊससड वग्गि, खाळूआं खट्टकइ हियइ खग्गि।—रा.ज.सी.

खालेड़–वि०—१ खाली, रिक्त. २ आवारा।
सं०स्त्री० [रा० खाली+ऐड = वहरा, मूक] १ उपाय करने पर भी कुछ हाथ न लगने का भाव. २ शिकार में कुछ हाथ न आना।

खालेड़णौ–क्रि०स०—मरे हुए पशुओं की खाल उतारना।

खालेड़ियोड़ौ–भू०का०कृ०—खाल उतारा हुआ।

खालौ–वि०पु० (स्त्री० खाली) रिक्त, खाली।

खाळौ, खाळयौ–सं०पु०—१ गंदा पानी निकलने का निकास-स्थान, गंदा नाला, मोरी. २ नाला उ०—१ भूरा भुरजाळा अंवुद भळहळिया, खाळा नदनाळा वाळ्हा खळहळिया।—ऊ.का.
उ०—२ धुरि आसाढ़ धडूक्या मेह, खळहळया खाळया वह गई खेह।
—वी.दे.

खावंद—देखो 'खाविंद' (रू.भे.) उ०—साथ रा मांणसां देख कही—ओहो, आज तौ म्हारौ खावंद वारहहजारी हो आयौ।
—अमरसिंह री वात

खावण–सं०पु०—१ खाद्य पदार्थ, भोजन. २ खाने की क्रिया या ढंग।

खावणखंडौ, खावणखंदौ–वि० (स्त्री० खावणखंडी) देखो 'खाणखंडौ' (रू.भे.)

खावणौ–वि०—१ खाने वाला. २ हजम करने वाला. ३ नाश करने वाला। उ०—नह डाकी अरि खावणौ, आयां केवळ वार। वधा वधी निज खावणौ, सो डाकी सरदार।—वी.स.

खावणौ, खाववौ—देखो 'खाणौ' (रू.भे.)
कहा०—१ खादे भूख जाय दीठे भूख न जाय—भूख खाना खाने से ही मिटती है केवल खाद्य सामग्री के देखने से नहीं; कार्य करने से ही होता है वार्तालाप से नहीं; २ खाय तौ डाकण नी खाय तौ डाकण—खाये तव भी डायन नहीं खाय तव भी डायन; बुरा व्यक्ति भला कार्य करने पर भी बुरा ही समझा जाता है. ३ खावण नै खोखा पैरण नै चोखा—खाने को भले ही खेजड़ी के सूखे फल ही मिलें परन्तु पहिनने को वस्त्र उच्च कोटि के चाहिएँ; आधुनिक युग के उन युवकों के लिए व्यंगोक्ति है जिनके पास उनकी अकर्मण्यता के

य'र भूखां मरै। माथै खारोटिया, जकां में थोड़ौ सांमांन'र पूर पूळौ।
—वरसगांठ

खारोल—देखो 'खारोळ' (रू.भे.)

खारौ—वि० [सं० क्षार] (स्त्री० खारी) १ नमक या क्षार के समान स्वादयुक्त, कटु, कड़वा। उ०—विमरियां विसर जस बीज बीजिजै, खारी हाळाहळां खळांह।—वेलि.

कहा०—खारा खाई जकै मीठा भी खाई—जो कड़ुवे का स्वाद लेगा उसे मीठा भी मिलेगा; दुख के बाद ही सुख की अनुभूति होती है; कष्ट भुगतने के बाद ही सुख-प्राप्ति सम्भव है।

२ चुभने वाला, अप्रिय, कटु (प्रायः वचन) उ०—बोल्यौ खांन मांनुल्ला हिया में रोस कीनूं, सादौ बोलतां की साथि खारौ जाव दीनूं।—शि.व.

क्रि०प्र०—कै'णौ, बोलणौ, लागणौ, सुणणौ।

कहा०—खारी बोलै मावड़ी मीठा बोलै लोग—चुभने वाली बातें तो हितैषी ही कहते हैं, दूसरे लोग तो केवल सुहावनी बातें ही करते हैं, चाहे वे गलत रास्ते पर ले जाने वाली ही क्यों न हों।

३ अनिष्टकर, अहितकर। उ०—भांगड़ खारा खून कर, तू आंण न डर तार। औ ऊभौ अड़सी हरी, हांमू बगसणहार।—बां.दा.

४ अरुचिकर। उ०—म्हांरै घर आज्यो प्रीतम प्यारा, तुम विन सब जग खारा।—मीरां ५ संकटयुक्त, संकटमय। उ०—माहाराज औघेस आधार संतां, वार खारी रत्नै लाज बेखौ।—र.ज.प्र.

६ जोशीला. ७ क्रूर। उ०—माफी मीर बलक्की मल्लं, मीर सैद पट्ठांण मुगल्लं। खारी और सजोर बुखारी, घर कावली विलाति खँधारी।—रा.रू. ८ क्रोधी, गुस्सेवर. ९ कड़ा, कठोर।

उ०—१ ज्यूं तावड़ौ खारौ घणौ पड़ै।
२ आज खारा घणा दौड़ाया। १० तेज।
उ०—१ ज्यूं गाडी खारी घणी दौड़ै।
२ ऊंट खारा घणौ दोड़ै।

११ भयंकर, भयावह। उ०—जरदपोसां कड़ा भीड़ रोसां जडै, पोह वगत नकीबां तणा हाका पड़ै। धार थारौ दसत सतारौ धड़धड़ै, राजं रौ नगारौ आज खारौ रुड़ै।—महादांन महडू

सं०पु०—१ चार कोने वाला बड़ा टोकरा जिसमें मवेशियों को घास चराया जाता है। (अल्पा०—खारी, खारोटियौ)

२ चने के पौधे की पत्तियां व डंठलों का मिला हुआ भूसा जिसे जानवर बड़े चाव से खाते हैं. ३ संभोग, मैथुन (वैद्यक प्रयोग परहेज के लिए)।

यौ०—खारौ-खाटौ।

खारोळ—सं०पु०—१ नमक का व्यवसाय करने वाली एक जाति अथवा उस जाति का व्यक्ति. २ एक प्रकार का देशी खेल।

खाळ—सं०पु०—१ नीची भूमि. २ मोरी. ३ पानी के प्रवाह से कट कर जमीन में बने गहरे खड्डे।

क्रि०प्र०—घालणौ, पड़णौ।

४ नाला, छोटी नदी। उ०—आगै आवतां एक खाळ वारह हाथ को चौड़ौ घणौ ऊंडौ आडै आयौ जठै कुमार दूदौ तौ सहज में सांवळिया ने झंपाई खाळ रै वार आइ भालौ उवाइ सांम्हौ खड़ौ रहियौ।
--वं.भा.

५ कबड्डी आदि खेलों में परस्पर विरुद्ध खिलाड़ियों के खेलने का स्थान।

खाल—सं०स्त्री० [सं० खल्ल] चमड़ा, त्वचा। उ०—सुकवि कुकवि ह्वैसी सुणौ, हरखै कहिया जाव। करसी न म्हारा कवित रा, खाल उतार खराब।—बां.दा.

क्रि०प्र०—उतारणौ, उधेड़णौ, काडणौ, पाड़णौ।

मुहा०—खाल उधेड़णौ—कड़ी सजा देना, अधिक पीटना।

सं०पु०—देखो 'ख्याल' (रू.भे.)

खालक—सं०पु० [अ० खालिक] १ सृष्टिकर्त्ता, ईश्वर। उ०—पूतळियां न हंदियां, क्या आदम गर्दै। ऐ भी खेलण जांणियां, उस खालक हंदै।
२ कौतुक। —केसोदास गाडण

खालड़, खालड़ौ—१ देखो 'खाल'।

कहा०—खालड़ा री देवी नै खालड़ा री पूजा—चमड़े की देवी की पूजा जूते से ही होनी चाहिए; जो जिस योग्य हो उसे वैसा ही सत्कार मिलना चाहिए।

२ जूता, सूखा जूता।

वि०—वृद्ध, बुड्ढा। उ०—खालड़ खंखारौ घर घाटौ खेवै। दोसत ओधारौ आटौ नह देवै।—ऊ.का.

खालत—सं०पु०—सोलंकी वंश की एक शाखा या इस शाखा का राजपूत।

खालदिया—सं०पु०—एक मुसलमान जाति जो चमड़ा रंगने का कार्य करती है।

खालर—देखो 'खोमणी'।

खालसाई—वि०—खालसा संबंधी (देखो 'खालसौ') राज्य का सरकारी।

यौ०—खालसाई चाकर, खालसाई डावड़ी।

खालसाजमीनभाड़ौ—सं०पु०यौ०—खालसा की जमीन पर लिया जाने वाला एक प्रकार का सरकारी कर।

खालसौ—सं०पु० [अ० खालिस] १ राजा की निजी और जाती—भूमि और जायदाद। उ०—हैं हिरस जोधपुर हरन हाल, खालसौ करन खाली खयाल।—ऊ.का.

क्रि०प्र०—करणौ, होणौ।

२ सिक्खों का एक संप्रदाय, खालसा. ३ इस संप्रदाय का व्यक्ति।

खाला—सं०स्त्री० [अ० खालः] १ माता की बहिन, मौसी।

उ०—इस्दी औरत वालदा खाला पच रेगा, ताई चच्ची आदि ले सब बंद करेगा।—ला.रा. २ गनिका, वेश्या (अ.मा.)

खाळाय—देखो 'खाळौ' (रू.भे.) उ०—तिम नाळाय खाळाय नीर तजै, बरसाळाय काळाय ढूक वजै।—पा.प्र.

चारों सुम गुलाबीपन लिए सफेद हों (शा.हो., डि.को.)
(रू.भे. 'खइंग')

खिजर—सं०पु०—खंजन, पक्षी। उ०—चंद वदरिंग चंपक वरणि, ग्रहर उलना रंगि। खिजर नयरणी खीरण कटि, चंदन परमळि ग्रंगि। —ढो.मा.

खिटौर—सं०पु०—व्यर्थ में तंग करने या कष्ट देने का भाव।
(मि० 'खोड़ीलाई')

खिडणौ, खिडबौ—क्रि०ग्र०—१ जाना। उ०—भीड़ एक-एक कर खिडगी।—वरसगांठ २ भेजना. [सं० खंड] ३ देखो 'खंडणौ' (रू.भे.)

खिडाणौ, खिडावौ, खिडावणौ, खिडाववौ—क्रि०स०—१ भेजना। उ०—गरव गुलाल चरण तळि चूरचा, ग्ररग ग्रबीर खिडाया। —ह.पु.वा.
[सं० खंडन] २ खंडित करना। उ०—इतरै में श्यामजी कह्यौ—हवेली नू तोपखांने सूं खिडाय देयसे, पछे लोग जखमी होयसे तौ बेतरह कांम ग्रास्यां।—ग्रमरसिंह री वात

खिदाणौ, खिदावौ, खिदावणौ, खिदाववौ—क्रि०स०—भेजना।
उ०—विलंब न करौ खिदावतां, मारू तन मुरझांरण। म्हैं थांनै कहिया नही, पदमरण तरणा ग्रहिनांरण।—ढो.मा.

खिवता—सं०स्त्री०—क्षमा।

खिमिया—सं०स्त्री० [सं० क्षमा] देखो 'क्षमा'।

खियाळ—वि०—वह ऊँट जिसके ग्रगले पैरों द्वारा जोड़ के स्थान पर चलते समय शरीर के साथ रगड़ खाते-खाते घाव हो जाता हो।

खियाळौ—सं०पु०—कोयला (क्षेत्रीय)

खिवरण—सं०स्त्री०—१ विजली, दामिनी (ह.नां.) २ बिजली की चमक. ३ भाला (ना.डि.को.)

खिवणौ, खिववौ—क्रि०ग्र०स०—१ चमकना। उ०—ऊंडौ गाज्यौ घुर खिव्यौ, सहीज वरसरण हार। जाय मिळीजै सज्जनां लंबी वांह पसार। —जसराज
२ देवताग्रों के ग्रागे सुगंधित पदार्थ का ग्रग्नि-भोग देना।
खिवणहार, हारौ, (हारी), खिवणियौ—वि०।
खिवाणौ, खिवावौ, खिवावणौ, खिवाववौ—क्रि०स०, प्रे०रू०।
खिविग्रोड़ौ, खिवियोड़ौ, खिव्योड़ौ—भू०का०कृ०।
खिवीजणौ, खिवीजबौ—कर्म वा० भाव वा०।

खिवियोड़ौ—भू०का०कृ०—१ चमका हुग्रा. २ देवता के समक्ष ग्रग्नि-भोग दिया हुग्रा। (स्त्री० खिवियोड़ी)

खि—सं०पु० [सं० खिन्] इन्द्र (ह.नां.)

खिग्राति—सं०स्त्री० [सं० ख्याति] १ प्रसिद्धि, ख्याति. २ इतिहास, तवारीख। उ०—१ जगरण पाइ ग्रावै जुगम, ग्रट ग्राखरां खिग्राति। मांनि छंद सूं मालती, रांम समर दिन राति।—पिंगळप्रकास
उ०—२ एकरिण ता द्वावीस वरण लगि ग्रांरिण जं ज्यांरी जाति खिग्राति इसी विध जांणीजे।—पिंगळप्रकास

खिंखिद—सं०पु० [सं० किष्किंध] १ दक्षिण देश के एक पहाड़ का नाम, किष्किंध पर्वत. २ बीहड़ भूमि।

खिखेरू—वि०—छितराने वाला, तितर-बितर करने वाला, फैलाने वाला।

खिड़क—सं०स्त्री०—दरवाजा, द्वार, कपाट। उ०—खाड़ेत्यां खोलिया खिड़क खासा रथ खांनां।—मे.म.

खिड़कणौ, खिड़कवौ—क्रि०स०—तह पर तह जमाना, एक पर दूसरी ग्रौर फिर उस पर ग्रन्य इसी क्रम से किन्हीं वस्तुग्रों को व्यवस्थित ढंग से जमाना।
खिड़कणहार, हारौ (हारी), खिड़कणियौ—वि०।
खिड़कवाणौ, खिड़कवावौ—प्रे०रू०।
खिड़काणौ, खिड़कावौ, खिड़कावणौ, खिड़काववौ—क्रि०स० प्रे०रू०।
खिड़किग्रोड़ौ, खिड़कियोड़ौ, खिड़क्योड़ौ—भू०का०कृ०।
खिड़कीजणौ, खिड़कीजबौ—कर्म वा०।

खिड़कियापाग, खिड़कियाबंद—सं०स्त्री०—मारवाड़ी पगड़ी या शिर का पेचा बांधने का एक ढंग विशेष जिसमें ऊपर की ग्रोर कुछ भाग खुला रहता है।

खिड़कियोड़ौ—वि०—तह पर तह लगा कर जमाया हुग्रा।
(स्त्री० खिड़कियोड़ी)

खिड़की—सं०स्त्री० [सं० खिट्] १ दरवाजा, द्वार के कपाट।
उ०—दुसमरणां लाभ दांना दहरण, खुली न कांनां खिड़कियां। नर परम वरम बूझै नहीं, हुक्कौ सूझै हिड़कियां।—ऊ.का.
मुहा०—कांनां री खिड़की खुलरणी—ज्ञान होना, ग्रनुभव महसूस होना।

खिड़णौ, खिड़वौ—क्रि०स०—१ टीका लगाना. २ तितर-बितर होना, बिखर जाना। उ०—हाथी तौ ग्रापो ग्राप ही खिड़ दूर जाय ऊभा रहिया।—डाढ़ाळा सूर री वात ३ कूग्रा खोदना. ४ तह पर तह लगा कर वस्तु ग्रादि को ढंग से जमाना।
खिड़णहार, हारौ (हारी), खिड़णियौ—वि०।
खिड़ाणौ, खिड़ावौ, खिड़ावणौ, खिड़ाववौ—प्रे०रू०।
खिड़िग्रोड़ौ, खिड़ियोड़ौ, खिड़चोड़ौ—भू०का०कृ०।
खिड़ीजणौ, खिड़ीजवौ—कर्म वा०।

खिड़ाणौ, खिड़ावौ—क्रि०स०—१ (टीका) लगवाना. २ कुग्रा खुदवाना। उ०—माधव साधन ग्ररठ मंडायौ, खारौ मुख लै घणौ खिड़ायौ।—ऊ.का. ३ भगाना, तितर-बितर कराना।
खिड़ाणहार, हारौ (हारी), खिड़ाणियौ—वि०।
खिड़ायोड़ौ—भू०का०कृ०।
खिड़ावणौ, खिड़ाववौ—रू०भे०।
खिड़ाईजणौ, खिड़ाईजवौ—कर्म वा०।

खिड़ायोड़ौ—भू०का०कृ०—१ (टीका) लगवाया हुग्रा. २ खुदवाया हुग्रा।
(स्त्री०—खिड़ायोड़ी)

खिड़ियोड़ौ—भू०का०कृ०—१ (टीका) लगा हुग्रा. २ खुदा हुग्रा।
(स्त्री०—खिड़ियोड़ी)

कारण खाने को तो कुछ है ही नहीं और केवल भड़कीले वस्त्र धारण कर फिरते रहते हैं. ४ खावण पीवण नै खेमली नाचण नै नगराज—काम करने के वक्त पर कोई और और मौज उड़ाने के लिए कोई और. ५ खावण पीवण नै दीयाळी कूटीजण नै छाज—खाने-पीने को दीवाली और पिटने को छाज; परिश्रम कोई करे मौज कोई और उड़ाये. ६ खावणौ मनचायौ नै पैरणौ परचायौ—खाना मन का चाहा और पहनना पर का चाहा; खाना तो मन की रुचि का हो परन्तु पहनाव समाज की रुचि का होना चाहिए. ७ खावतौ पीवतौ मरै जकै रौ कोई कांई करै—जो खाता-पीता हुआ भी मरे तो उसका कोई अन्य भी क्या करे; सावधानी रखते हुए भी कोई कार्य बिगड़ जाय तो उसका क्या उपाय. ८ खावा नी वेळा आगौ कांम नी वेळा पाछौ—खाने के समय आगे और काम के समय पीछे; आनन्द चाहने वाले किन्तु आलसी व्यक्ति के प्रति कही जाती है. ९ खावै जकी ही थाळी में हिंगै—जिस थाळी में खाना उसी में ही हंगना। उपकार न मानना, कृतघ्न होना. १० खावै जकी हांडी नै फोड़ै—जिस हंडिया (पात्र) में खाना उसी को फोड़ना; उपकार न मानना, नमकहराम होना. ११ खावै जकी हांडी में ही छेकला करै—मि० कहा० (१०) १२ खावै जठै ही ढोळै—मि० कहा० (१०, ११) १३ खावै जकै रौ गावै—जिसका खाता है उसी का गाता है; पालन-पोषण करने वाले का उपकार मानना, कृतज्ञ होना. १४ खावै जिती भूख, लेवै जिती नींद—खावे जितनी ही भूख और ली जाय जितनी ही नींद; भूख व नींद की कोई सीमा नहीं. १६ खावै पीवै जिकण नै खुदा देवै—जो खाता पीता है उसे खुदा देता है; कंजूसी की निंदा; संपत्ति का उपयोग करना चाहिए, भोगने से उसका नाश नहीं होता; खर्च के लिए ईश्वर देता है. १७ खावै सूर कुटीजै पाडा—खाते हैं सूअर और पिटते हैं पाडे (भैंसे); अपराध कोई करता है और दण्ड किसी को प्राप्त होता है; अव्यवस्था पर व्यंगोक्ति।

खावणहार, हारौ (हारी), खावणियौ—वि०।

खवाड़णौ, खवाड़वौ, खवावणौ, खवावबौ—क्रि०स०, प्रे०रू०।

खायोड़ौ—भू०का०कृ०।

खावीजणौ, खावीजबौ—कर्म वा०।

खावतौ-पीवतौ—देखो 'खातौ-पीतौ' (रू.भे.)

खावाळ—वि०—खाने वाला।

खाविंद—सं०पु० [फा०] पति, स्वामी, मालिक।

(रू.भे.—खांमिद, खांवंद, खांविंद।

खावौ—देखो 'खाऔ' (रू.भे.)

खास—वि० [अ० खास] १ विशेष, मुख्य, प्रधान। उ०—छवीलो घणौ खास आवास छाजै। लसे घाट स्वराट रौ पाट लाजै।—वं.भा.

मुहा०—१ खास कर—विशेषत:. २ खास-खास—चुनिंदे, मुख्य। २ निजी, निज का, आत्मीय, प्रिय. ३ विशुद्ध, ठेठ।

[सं० कास] ४ खांसी।

खासखेळी—मंडली। उ०—खासखेळी रा लोग था त्यांनै बादसाह कहियौ—मेरा बेटा जलाल खून रै ऊपर खून करै है।

—जलाल बूबना री वात

खासड़ौ—सं०पु०—जूता (रू.भे.—'खाअड़ौ')

खासजात—सं०पु०—मुख्य आफीसर, प्रधान (नैणसी)

खासणौ—क्रि०अ०—खांसना।

खासपहाड़—सं०पु०—एक प्रकार का घोड़ा (शा.हो.)

खासवाड़ौ, खासावाड़ौ—सं०पु० [अ० खास+सं० वाट: = वेष्टन, घेरा] मुख्य घेरा, मुख्य दल। उ०—१ सातू ही सांमंत खासवाड़ा नूं तोड़ि गजां रा गोळ में जावता जकिया।—वं.भा. उ०—२ मारे अग्गी हरोलां वेहारे गी इळा तमामां, हकारै वकारै भूप धारै जंत्र हास। वाधीयो चाटकै तुरी वगतेस खासावाड़ै, वगतेस खासावाड़ै झाटकै वाणास।—कविराजा करणीदांन

खास-नवीस [अ० खास+फा० नवीस] जो राजाओं या बादशाहों को हर बात की सूचना देता हो (नैणसी)

खासाडोवड़ा—सं०पु०—विवाह पर भोज हेतु बनाया जाने वाला एक पकवान विशेष। उ०—पूरी कचौरी खासाडोवड़ा जी वनाजी थांनै रांमजी मिळया, एजी थानै भुजिया तांर छटाय, वनाजी थांनै रांमजी मिळया।—लो.गी.

खासियत—सं०स्त्री० [अ०] १ स्वभाव, प्रकृति, आदत, गुण। २ विशेषता, प्रधानता।

खासी—वि०स्त्री० [अ०] १ 'खासौ' का स्त्री०लिं० २ राजा की खास तलवार, ढाल, बंदूक या घोड़ी।

खासौ—सं०पु० [अ० खास:] १ राजा का भोजन. २ राजा की सवारी का घोड़ा या हाथी. ३ एक प्रकार का सफेद सूती वस्त्र, मलमल. उ०—खासा पट खरजूर सुभूसण सार नै, दीधी दौलत पूर वधाईदार नै।—र.रू. ४ वह अस्तबल जहां बादशाह या राजा के खास निजी घोडे या हाथी रक्खे जाते हों. ५ प्रकृति, स्वभाव।

वि०पु० (स्त्री० खासी) १ अच्छा, भला, उत्तम. २ मध्यम श्रेणी का, सुडौल, स्वस्थ। ३ अधिक, बहुत।

खाहड़ौ—सं०पु०—फटा जूता, जीर्ण जूता।

खाहणौ—क्रि०स०—देखो 'खाणौ' (रू.भे.) उ०—उज्जळता घोटड़ा करहड़ चढ़ियउ जाहि, तई घर मुंध केहवी जे कारण सी खाहि।

—ढो.मा.

खाही—सं०स्त्री० [सं० खनि, प्रा० खाई] गांव, नगर या गढ़ आदि की रक्षा के लिये चारों ओर बना नहर की भांति गडढ़ा।

खाहेड़ियौ—सं०पु०—सारथी, कोचवान। उ०—करहा चरै करेलियां पांन चितार म रोय। सरवर लाभ सरीजियौ, खाहेड़ियां मुंह सोय।

—ढो.मा.

खिंग—सं०पु० [फा०] वह सफेद रंग का घोड़ा जिसके मुंह पर पट्टा और

खिणवाय नै मांय लियौ ।—द.दा. २ टीका लगवाना. ३ खुजलवाना. ४ खुदवाना।
खिणाणहार, हारौ (हारी), खिणाणियौ—वि० ।
खिणायोड़ौ—भू०का०कृ० ।
खिणाईजणौ, खिणाईजवौ—कर्म वा० ।
खिणाड़णौ खिणाड़वौ—(रू०भे०) ।

खिणायोड़ौ-भू०का०कृ०—१ टीका लगवाया हुआ. २ खुदवाया हुआ. ३ तुड़वाया हुआ. ४ खुजलवाया हुआ । (स्त्री० खिणायोड़ी)

खिणारौ-सं०पु०—१ चेचक का टीका लगाने वाला. २ खोदने वाला ।

खिणावणौ, खिणाववौ—देखो 'खिणाणौ' (रू.भे.)
खिणावणहार, हारौ (हारी), खिणावणियौ—वि० ।
खिणवावणौ, खिणवाववौ—प्रे०रू० ।
खिणाविग्रोड़ौ, खिणावियोड़ौ, खिणाव्योड़ौ—भू०का०कृ० ।
खिणावीजणौ खिणावीजवौ—कर्म वा० ।

खिणि-सं०स्त्री० [सं० क्षण] देखो 'खिण' (रू.भे.)

खिणियोड़ौ-भू०का०कृ०—१ टीका लगाया हुआ. २ खुदा हुआ. ३ टूटा हुआ. ४ खुजलाया हुआ । (स्त्री० खिणियोड़ी)

खिणे, खिणेय—देखो 'खिण' (रू.भे.)

खित-सं०स्त्री० [सं० क्षिति] १ पृथ्वी, धरती, भूमि (अ.मा.)
उ०—खित पड़ियौ न पळचरां खाधौ, पावक घट सकियौ न प्रजाळ ।
२ हानि, नुकसान । —अर्जुन गौड़ रौ गीत
सं०पु० [सं० क्षि = क्षये = क्षित] ३ धन, द्रव्य (अ.मा.)
४ घोड़ा (ना.डि.को.)

खितग-सं०स्त्री०—गंगा ।

खितजात-सं०पु० [सं० क्षतजात] रुधिर, खून (अ.मा.)

खित-डसण-सं०पु०—भाला, बरछी (ना.डि.को.)

खितधर, खितधारी खितनाथ, खितपति-सं०पु० [सं० क्षितिधर]
१ राजा, नृप । उ०—१ प्रचंड खितधर कियण पाधर ।—रा रू.
उ०—२ छटतीसूं वंस तणा खितधारी, विग्रह रूप वरारा है ।
—र.रू.
उ०—३ खितपति श्रा सुणतां खबरि, अजन हुवौ असवार ।
—रा.रू.

खितपुड़-सं०पु०—पृथ्वी-तल । उ०—आयो फेर इकावनों, 'काजम' लह्यो निदांन । नायब हुवो नवाब रै, खितपुड़ लसकर खांन ।
—रा.रू.

खितरुह-सं०पु० [सं० क्षितिरुह] वृक्ष (अ.मा., नां.मा.)

खितवा-सं०पु० [अ० खुत्व] तारीफ, प्रशंसा । उ०—अकबर साह जलाल दी, खितवे वळी खुदाय। बाजदार कर बंदगी, ताजदार हो जाय ।—बां.दा.

खितवाट-सं०स्त्री०—क्षत्रीपन, क्षत्रियत्व ।

खिताब-सं०पु० [अ०] पदवी, उपाधि । उ०—महाराज नूं खिताब बादसाह इनायत राज राजेंद्र महाराज सिरोमणि रौ दियौ ।
—मारवाड़ां रा अमरावां री वात

खिति-सं०स्त्री० [सं० क्षिति] पृथ्वी, धरा, धरती । उ०—जांखळ अउ सरग्गइ बाति जग्ग, खिति मिती नदी साहइ खडग्ग ।—रा.ज. रासौ

खितिज-सं०स्त्री०—क्षितिज । उ०—खितिज री छाती लग लीलांण, धरा में दीसै घणौ सुगाळ ।—सांझ

खितिरू—देखो 'खितरुह' (रू.भे.) उ०—करै सिर हारहर नचै नारद कहर, खिति पुड़ मचै चहुवै दसा खेद ।—अज्ञात

खिती—देखो 'खिति' (रू.भे.)

खित्रवट—देखो 'खित्रीवट' । उ०—भुज धरण वंका विरद अणभंग तीरख खित्रवट तेह ।—र ज.प्र.

खित्री—देखो 'खत्री' (रू.भे.) उ०—सूरां सुभट खित्री तणै घरे घोड़ा पाठव्या, छत्रीस वरण तणा घोड़ा ।—कां.दे.प्र.

खित्रीवट-सं०पु०—क्षत्रियत्व, बहादुरी, वीरता । उ०—खित्रीवट जे साहस धीर मालदेव छइ लहुठऊ वीर ।—कां.दे.प्र.

खिदमत-सं०स्त्री०—सेवा, टहल । उ०—जैपुर रा सारा उमराव जैपुर राज री खिदमत में रहै ।—बां.दा. ख्यात

खिदमतगार-सं०पु०—सेवक, नौकर । उ०—तौ इण फेर अरज कीवी—जे आ तौ कुंवरजी नै फरमावै आपरै खिदमतगार घणा छै ।
—कुंवरसी सांखला री वारता

खिदर-सं०पु०—खैर का वृक्ष । उ०—कुतक खिदर धव काठ रा, विदर पजावण वेस । तौ पिण हाजिर राखणा, घण मेखचा हमेस ।—बां.दा.

खिनणी-सं०स्त्री०—बिजली, विद्युत (ह.नां., अ.मा.)

खिनाणौ, खिनाबौ-क्रि०स०—भेजना । उ०—नणदल बाई नै सासरियै खिनाय, वारी घण वारी श्रौ लंजा ।—लो.गी.
खिनाणहार, हारौ (हारी), खिनाणियौ—वि० ।
खिनावणौ, खिनाववौ—प्रे०रू० ।
खिनायोड़ौ—भू०का०कृ० ।
खिनाईजणौ, खिनाईजवौ—कर्म वा० ।

खिनायोड़ौ-भू०का०कृ० ।

खिनावणौ, खिनाववौ—देखो 'खिनाणौ' (रू.भे.)
उ०—नणदल बाई तोड़्या बड़ रा पांन, देवरियै छिनगारै तोड़ी साटकी । नणदल बाई नै सासरियै खिनाय, देवर नै खिनावौ राजाजी री चाकरी ।—लो.गी.
खिनावणहार, हारौ (हारी), खिनावणियौ—वि० ।
खिनाविग्रोड़ौ, खिनावियोड़ौ, खिनाव्योड़ौ—भू०का०कृ० ।
खिनावीजणौ, खिनावीजवौ—कर्म वा० ।

खिनावियोड़ौ—देखो 'खिनायोड़ौ' (रू.भे.) (स्त्री० खिनावियोड़ी)

खिपा-सं०स्त्री० [सं० क्षिपा] रात्रि (नां.मा.)

खिचड़ी–सं०स्त्री० [सं० कृसर] चावल व मूंग की दाल का मिश्रित हलका भोजन।
क्रि०प्र०—करणी, खाणी. पकाणी, रांधणी, सींजणी।
मुहा०—१ खिचड़ी पकाणी—गुप्त भाव से सलाह करना. २ ढाई चावळ री खिचड़ी रांधणी—सामान्य सम्मति के विरुद्ध अपने मत से कोई कार्य करना।

खिजणौ, खिजबौ–क्रि०अ० [सं० खीज] देखो 'खीजणौ'। उ०—१ पै'ला सुणिया पांच सै, घर में तीन हजार। आधा किण सिर ओरसी, जे खिजसी जोधार।—बी.स. उ०—२ खिजमत करतां खिजै छैल छूटै चंडाळी।—ऊ.का.

खिजमत–सं०स्त्री०—१ सिर अथवा दाढ़ी के बाल काटने अथवा छांटने की क्रिया, हजामत. २ देखो 'खिदमत'। उ०—पछै ढोब री पोट फिटी करनै ठांणियौ हुय रयौ, घणी खिजमत करै।—नैणसी

खिजमतदार–सं०पु०यौ० [अ० खिदमत+फा० दार] खिदमतगार, सेवक, सेवा करने वाला।

खिजमति, खिजमती–सं०स्त्री० [अ० खिदमत] १ सेवा, टहल. २ हजामत. ३ देखो 'खिजमतदार'।

खिजाव–सं०पु० [अ० खिज़ाब] सफेद बालों को काला करने की औषधि।

खिजावणौ, खिजावबौ–क्रि०स०—देखो 'खिजाणौ' (रू.भे.)
उ०—ऐसौ देख अचूंभौ आवै, पावै कवण भलाई पार। र'यौ रिझावणहार लंकपुरी, हरिपुर गयौ खिजावण हार।—भगतमाळ

खिजियोड़ौ–भू०का०कृ०—देखो 'खीजियोड़ौ' (रू.भे.) (स्त्री० खिजियोड़ी)

खिजूर—देखो 'खजूर' (रू.भे.)

खिजूरयौ—१ देखो 'खजूरियौ' (रू.भे.) २ एक प्रकार का घोड़ा।

खिज्जणौ, खिज्जबौ, खिझ्झणौ, खिझ्झबौ–क्रि०अ०—देखो 'खीजणौ' (रू.भे.)

खिझ्झियोड़ौ–भू०का०कृ०—देखो 'खीजियोड़ौ' (रू.भे.) (स्त्री० खिझ्झियोड़ी)

खिटणौ, खिटबौ–क्रि०अ० [सं० खिट्] १ क्रोध करना। उ०—गळि अमलदार तिरणूं मिर्ण, मरणूं डूबि सुमांणसां। खळजाति सिरड़ि मन में खिटै, मिटै न.टिरड़ि कुमांणसां।—ऊ.का. २ द्वेष करना, डाह करना। उ०—खूटळ पै खिटियौ खास गंधळी न गांवी तें, कूरम तें कटचौ नाह, दुसमण तै दटचौ नाह।—ऊ.का.
खिटणहार, हारौ (हारी), खिटणियौ—वि०।
खिटवाणौ, खिटवावौ—प्रे०रू०।
खिटाणौ, खिटावौ, खिटावणौ, खिटावबौ—क्रि०स०।
खिटिओड़ौ, खिटियोड़ौ, खिटचोड़ौ—भू०का०कृ०।
खिटीजणौ, खिटीजबौ—भाव वा०।

खिटाणौ, खिटाबौ–क्रि०स०—१ गुस्सा दिलाना, क्रोध कराना. २ द्वेष कराना, डाह कराना।
खिटाणहार. हारौ (हारी), खिटाणियौ—वि०।
खिटायोड़ौ—भू०का०कृ०।
खिटाईजणौ, खिटाईजबौ—कर्म वा०।
खिटावणौ, खिटावबौ—रू०भे०।

खिटायोड़ौ–भू०का०कृ०—क्रोध कराया हुआ (स्त्री० खिटायोड़ी)

खिटावणौ, खिटावबौ–क्रि०स०—देखो 'खिटाणौ' (रू.भे.)

खिटियोड़ौ–भू०का०कृ०—क्रुद्ध किया हुआ, कुपित (स्त्री० खिटियोड़ी)

खिडुलौ–सं०पु०—जंगली जमींकंद।

खिणक–सं०पु०—१ चूहा. २ गोदने वाला. [सं० क्षणिक] ३ क्षण भर रहने वाला, क्षणभंगुर।

खिण–सं०स्त्री० [सं० क्षण] क्षण, पल। उ०—मन मिळियोड़ा तिकां माढ़वां, जीभ करै खिण मांह जुवा।—बां.दा.
स्त्री० [सं० क्षणिका] बिजली (अ.मा.)

खिणक–सं०पु० [सं० क्षणिक] १ क्षण, पल। उ०—माझी खिणक मिजाज, वे अदबी सातू विसन। लोभ घणौ कम लाज, पैलां घर वांछै पिसण।—बां.दा.
वि०—२ अनित्य, क्षणभंगुर (रू.भे. 'खिणंक')

खिणकर–सं०पु०—सिंह (ना.डि.को.)

खिणका–सं०स्त्री० [सं० क्षणिका] बिजली (अ.मा., ह.नां.)

खिणणौ, खिणबौ–क्रि०स० [सं० खन् विदीर्णे] १ टीका लगाना. २ खुजलाना. ३ खोदना।
कहा०—१ खिणियौ डूंगर निकळियौ ऊंदर—खोदा पहाड़ निकला चूहा; बहुत अधिक परिश्रम का बहुत थोड़ा फल मिलना. २ खिणै जिकौ पड़ै—जो खोदता है वही खड्डे में गिरता है अर्थात् करनी का फल मिलता ही है।
खिणणहार, हारौ (हारी), खिणणियौ—वि०।
खिणवाणौ, खिणवावौ, खिणाणौ, खिणावौ, खिणावणौ, खिणावबौ—प्रे०रू०।
खिणिओड़ौ, खिणयोड़ौ, खिणचोड़ौ—भू०का०कृ०।
खिणीजणौ, खिणीजबौ—कर्म वा०।
खणणौ, खणबौ, खिड़णौ, खिड़बौ—(रू०भे०)

खिणदा, खिणवर–सं०स्त्री० [सं० क्षणदा] रात्रि (ह.नां.)

खिणवाळी–सं०स्त्री०यौ० [?] भूमि (ना.डि.को.)

खिणभंग–वि०—क्षणभंगुर, अनित्य, थोड़े समय के लिए।

खिणमंत–क्रि०वि० [सं० क्षणमात्र] क्षण मात्र, थोड़े समय के लिए।
उ०—मा जांणसि मित्र तुम्हं निसिवासर वीसरेण। खिणमंत जह व कंवयांण सूरं चंद जहा चकोरेण।—ढो.मा.

खिणमपि–क्रि०वि० [सं० क्षण+अपि] क्षण भर भी।

खिणमवि–क्रि०वि०—तत्क्षण, उसी समय।

खिणवाणौ, खिणवावौ, खिणाणौ खिणावौ–क्रि०न०('खिणणौ' का प्रे०रू०) १ तुड़वाना। उ०—पण हाथी पौळ में मायौ नहीं तद दरवाजो

खिलिग्रोड़ौ, खिलियोड़ौ, खिल्योड़ौ—भू०का०कृ० ।
खिलीजणौ, खिलीजबौ—भाव वा० ।

ख़िलत—देखो 'खिलग्रत' (रू.भे.) उ०—पीछे भाटियां वात ठहरायी तद राव लूणकरणजी देवीदासजी नूं ख़िलत ग्रनायत करी ।—द.दा.

ख़िलवत, खिलव्वत-सं०स्त्री०—१ साथ रहने का भाव, संग. २ हँसी-मजाक. ३ सभा-समाज. ४ खिलवाड़. ५ मैत्री. ६ केलि-क्रीड़ा । उ०—हमें कुरळा किया, पांनां रा वीड़ा लिया जठै कुंवर रौ दिल खिलवत सारू जांणियौ ।—र. हमीर

[ग्र० खिलवत] ७ एकान्त, शून्य स्थान । उ०—दिल भी कही खिलवत करौ, जे ममलत री वात कहां ।—नी.प्र.

वि०—निजी, निज का, खानगी । उ०—खिलवत हास खुसामदी, मुरका दुरकी संग । किसव लियां ये कुकवियां, माहव हूंता मांग ।
—वां.दा.

खिलवाड़-सं०स्त्री०—खेलवाड़, खेल, तमाशा, क्रीड़ा, कौतुक ।

खिलावणौ, खिलावबौ-क्रि०स० [सं० 'खिलणौ' का प्रे०रू०] प्रफुल्लित करना या कराना । उ०—पावासर जळ पीय पोयण हेम खिलावै, ऐरावत मुख ग्रांचळतौ घण मेह जतावै ।—मेव.

खिलस-सं०स्त्री०—हँसी, मजाक, दिल्लगी ।

खिलसणौ, खिलसबौ-क्रि०स०—१ क्रीड़ा करना, खेलना. २ हँसी करना. ३ खुश होना ।

खिलसियोड़ौ-भू०का०कृ०—१ क्रीड़ा किया हुग्रा. २ खेला हुग्रा. ३ युद्ध किया हुग्रा । (स्त्री० खिलसियोड़ी)

खिलाई-सं०स्त्री०—भोजन की क्रिया, खाने या खिलाने का काम ।

खिलाड़—देखो 'खिलाड़ी' (रू.भे.)

खिलाड़ी-वि० [सं० खेल] १ खेलने वाला, खेल में दक्ष. २ जादूगर ।

खिलाणौ, ख़िलाबौ-क्रि०स०—१ खिलाना, किसी को खेल में नियोजित करना. २ भोजन कराना. ३ विकसित करना. ४ प्रसन्न करना ।

खिलाणहार, हारौ (हारी), खिलाणियौ—वि० ।
खिलाईजणौ, खिलाईजबौ—कर्म वा० ।
खिलायोड़ौ—भू०का०कृ० ।
खिलणौ—ग्र० रू० ।
खिलावणौ, खिलावबौ—रू०भे० ।

खिलाफ-वि० [ग्र० ख़िलाफ] जो ग्रनुकूल न हो, विरुद्ध, विपरीत ।

खिलाफत-संस्त्री० [ग्र० ख़िलाफ+रा० प्र० त] विरुद्धता, प्रति-कूलता, मनमुटाव ।

खिलायोड़ौ-भू०का०कृ०—१ खिलाया हुग्रा. २ भोजन कराया हुग्रा. ३ प्रसन्न कराया हुग्रा । (स्त्री० खिलायोड़ी)

खिलावणौ, खिलावबौ—देखो 'खिलाणौ' (रू.भे.)

खिलावणहार, हारौ (हारी), खिलावणियौ—वि० ।
खिलाविग्रोड़ौ, खिलावियोड़ौ, खिलाव्योड़ौ—भू०का०कृ० ।
खिलावीजणौ, खिलावीजबौ—कर्म वा० ।
खिलणौ —ग्र०रू० ।

खिलावियोड़ौ—देखो 'खिलायोड़ौ' । (स्त्री० खिलावियोड़ी)

खिलाहर-वि०—१ योद्धा, वीर. २ खेलने वाला. ३ खिलाने वाला ।

खिलियार-वि०—१ खिलाड़ी । उ०—ग्रहंकार ग्रठी ग्रभमल ग्रमांन, खिलियार उठी सिर विलंद खांन ।—वि.सं.

खिलीजणौ, खिलीजबौ-क्रि० ग्र० ('खिलणौ' का भाव वा०) १ खिल जाना. २ खेला जाना. ३ प्रसन्न होना. [सं० कील] ४ वंधन में डालना. ५ मंत्रों द्वारा वश में होना ।

खिलीजणहार, हारौ (हारी), खिलीजणौ—वि० ।
खिलीजिग्रोड़ौ, खिलीजियोड़ौ, खिलीज्योड़ौ—भू०का०कृ० ।
खिलणौ—ग्र० रू० ।

खिलीजियोड़ौ-भू०का०कृ०—१ खेला गया हुग्रा. २ विकसित, प्रसन्न । मंत्रों द्वारा वश में किया हुग्रा । (स्त्री० खिलीजियोड़ी)

खिलोरी-सं०पु० [सं० खिलचारी] भेड़-वकरी चराने वाला ।

खिलौना-सं०पु०—काठ, मोम, मिट्टी, लकड़ी या लोहे ग्रादि की वनी हुई कोई मूर्ति या इसी प्रकार की कोई वस्तु जिससे वालक खेलते हैं ।

खिल्लत—देखो 'खिलग्रत' (रू.भे.) उ०—सुभ खिल्लत एवं वसन सुरंगी, ग्रसि खंजर सर पेच कलंगी ।—रा.रू.

खिल्ली-सं०स्त्री०—१ हँसी, हास्य, दिल्लगी, मजाक. २ देखो 'खील' (रू.भे.)

खिल्लौ, खिल्ल-वि०—प्रफुल्ल, प्रसन्न, विकसित । उ०—मन मिळिया तन गड्डिया, दोहग दूरि गयाह । सज्जण पांणी खीर ज्यूं, खिल्लौ खिल्ल थयाह ।—ढो.मा.

खिवण-सं०स्त्री०—१ विजली (नां मा.) २ भाला (ना.डिं.को.)

खिवणी-सं०स्त्री०—विजली, विद्युत । उ०—नव घण घटा वरसती थाकी, भार ग्रठारह पाई । चित खिवणी गाजे गत ग्रायौ, वसुवा गगन समाई ।—ह.पु वा.

खिवणौ, खिववौ-क्रि०ग्र० [सं० क्षिव्] देखो 'खिमणौ' (रू.भे.) उ०—सिवु परइ सउ जेग्रणे, नीची खिवइ निहल्ल । उर भेदंती सज्जणां, उचेड़ंती सल्ल ।—ढो.मा.

खिवणहार, हारौ (हारी), खिवणियौ—वि० ।
खिवाणौ, खिवावौ, खिवावणौ, खिवाववौ—क्रि०स०, प्रे०रू० ।
खिविग्रोड़ौ खिवियोड़ौ, खिव्योड़ौ—भू०का०कृ० ।
खिवीजणौ, खिवीजवौ—भाव वा० ।

खिवाणौ, खिवावौ-क्रि०स०—चमकाना ।

खिवायोड़ौ—देखो 'खिमायोड़ौ' । (स्त्री० खिवायोड़ी)

खिवियोड़ौ—देखो 'खिमायोड़ौ' । (स्त्री० खिवियोड़ी)

खिसकणौ, खिसकवौ-क्रि०ग्र०—देखो 'खसकणौ' (रू.भे.)

खिप्र—क्रि०वि० [सं० क्षिप्र] शीघ्र (ह.नां.)
खिमण—सं०स्त्री०—१ भाला (ना.डिं.को.) २ बिजली (ह.नां.)
खिमणौ, खिमबौ—क्रि०अ०—१ सहन करना। उ०—पहु गोधळिया पास, आळूधा अकबर तणी। रांणो खिमै न रास, प्रघळौ सांड प्रतापसी।—दुरसौ आढ़ौ
२ क्षमा करना. ३ चमकना. ४ झुकना. ५ फल भोगना. ६ मंडराना, चक्कर लगाना।
मुहा०—काळ खिमणौ—मौत घूमना अर्थात् संकट में फँसना।
खिमणहार, हारौ (हारी), खिमणियौ—वि०।
खिमाणौ, खिमावौ, खिमावणौ, खिमावबौ—क्रि०स०।
खिमिओड़ौ, खिमियोड़ौ, खिम्योड़ौ—भू०का०कृ०।
खिमीजणौ, खिमीजबौ—भाव वा०।
खिमत, खिमता—सं०स्त्री० [सं० क्षमता] १ सहनशीलता. २ क्षमा. उ०—खिमत करै जिम खांन, वीरम जिम अवळौ वहै।—गो.रू.
खिमद, खांवदा—सं०पु०—जैन यतियों में मृत्यु के उपरांत संबंधियों या मित्रों द्वारा सहानुभूति प्रकट करने के लिए आने की रस्म विशेष।
खिमा—सं०स्त्री० [सं० क्षमा] १ क्षमा. २ सहिष्णुता, सहनशीलता।
खिमारूप—सं०पु०—एक प्रकार का घोड़ा।
खिमावंत—सं०पु० [सं० क्षमावान्] क्षमावंत, दयावान, कृपालु। उ०—हळधर बंधव गोकुळ बाळ, खिमावंत साधुव दुष्ट खैंगाळ।—ह.र.
खिमिया—सं०स्त्री० [सं० क्षमा] १ क्षमा, माफी. २ दुर्गा का एक नाम।
खिमियोड़ौ—भू.का.कृ.—१ सहन किया हुआ. २ क्षमा किया हुआ. ३ क्रुद्ध। (स्त्री० खिमियोड़ी)
खिम्या—सं०स्त्री० [सं० क्षमा] १ सहन-शक्ति. २ क्षमा. ३ दुर्गा। उ०—भई अकल मौ भिसट कह्या कूवचन आई नै, सगत खिम्या रा समभ विरद वडकी बाई नै।—पा.प्र.
खियात—देखो 'ख्यात' (रू.भे.)
खियाल—देखो 'ख्याल' (रू.भे.)
खियळ—देखो 'खियाळ' (रू.भे.)
खियौ—सं०पु०—१ तिल्ली, प्लीहा. २ खिस्सा, जेब।
खिरक—सं०स्त्री०—लगभग दो अंगुल चौड़ी चिकनी पटरी जो करघे में दो खूंटियों पर अटका कर खड़ी रखी जाती है और जिस पर ताना फैला कर बुनने का कार्य किया जाता है, खर-करवट।
खिरका—सं०स्त्री० [अ० खिरक] १ मुसलमान फकीरों के ओढने की गुदड़ी. २. साधु, त्यागी (मा.म.)
खिरकोळियौ, खिरकौळी—सं०पु०—वह खूंटा जिस पर ताना फैलाने की दो अंगुल चौड़ी चिकनी पट्टी खरकवट खड़ी लगाई जाती है (जुलाहा)
खिरजूर—सं०पु० [सं० खर्जूर] १ चांदी, रौप्य (ह.नां.)
२ देखो 'खजूर' (रू.भे.)
खिरणियौ—वि०—१ टूट कर गिरने वाला. २ वीर गति प्राप्त करने वाला।
खिरणी—देखो 'खरणी' (रू.भे.)
खिरणौ, खिरबौ—क्रि०अ० [सं० क्षरण] १ स्वतः टूट कर गिरना, सूखने या पकने पर (जैसे फूल, फल आदि) २ वीर गति को प्राप्त होना. ३ गिरना। उ०—मेहा बूठां अन बहुळ, थळ ताढ़ा जळ रेस। करसण पाकां कण खिरा, तद कउ वळण करेस।—ढो.मा.
खिरणहार, हारौ (हारी), खिरणियौ—वि०।
खिराणौ, खिराबौ, खेरणौ, खेरबौ—क्रि०स०।
खिरिओड़ौ, खिरियोड़ौ—भू०का०कृ०।
खिरीजणौ, खिरीजबौ—क्रि० भाव वा०।
खिराज—सं०पु० [अ०] राजस्व, कर, मालगुजारी।
खिरियोड़ौ—भू०का०कृ०—१ सूख कर या पक कर गिरा हुआ. २ मरा हुआ (स्त्री० खिरियोड़ी) ३ वीर गति प्राप्त।
खिरेटी—सं०स्त्री० [सं० खरयष्टिका] बला, बीजबंद।
खिरोड़ा—सं०पु०—विवाह के दिन कन्या-पक्ष की ओर से वर-पक्ष को पापड़, बड़ी कैर, सांगरी, खेलड़ा, वनपापड़, काचरी आदि सूखे साग एवं कुछ रोकड़ रुपये भेजने की एक प्रथा जिसके साथ विवाह का लग्न पत्र भी भेजा जाता है (पुष्करणा ब्राह्मण)
खिल—सं०स्त्री० [सं०] १ बिना जुती हुई जमीन को साफ कर प्रथम बार खेती हेतु जोतने की क्रिया. २ नया खेत। उ०—वरसौ खेतां-माळ खिलां री सौरम जिण में।—मेघ.
खिलअत—सं०स्त्री० [अ०] वह वस्त्र आदि जो किसी बड़े राजा या बादशाह की ओर से सम्मानसूचनार्थ किसी को दिया जाता है।
खिलकत—सं०स्त्री० [अ० खिल्कत] १ सृष्टि, संसार. २ बहुत से लोगों का समूह, भीड़।
(रू.भे. 'खलकत')
खिलकौ—सं०पु०—१ हंसी, मजाक, दिल्लगी. २ खेल, तमाशा।
खिलखिल—सं०पु० [अनु०] १ जोर से हँसने से उत्पन्न ध्वनि. २ अट्टहास (मि० 'खिलखिलणौ')
खिलखिलणौ, खिलखिलबौ—क्रि०अ० [अनु०] खिलखिला कर हँसना, जोर से हँसना। उ०—खेतपाळ खिलखिलै करै हूंकार बकेसर।—पा.प्र.
खिलखिलाट—सं०स्त्री०—खिलखिल की ध्वनि।
खिलजी—सं०स्त्री०—१ अफगानिस्तान की सरहद पर रहने वाले पठानों की एक जाति. २ नायक जाति के मुसलमानों का एक भेद।
खिलणियौ—वि०—खिलने वाला, विकसित होने वाला।
वि०—खिला हुआ, शोभित होने वाला।
खिलणौ, खिलबौ—क्रि०अ० [सं० स्खल] १ खिलना, विकसित होना. २ प्रसन्न या शोभित होना. ३ ठीक जंचना. ४ खेलना, खेल करना। उ०—फाड़ंतौ फौजां अफिर, घूमाड़ंतौ घाए घड़। भवाड़ंतौ 'वीक' भलो, खिलंतौ निघात गेन।—दूदौ मुग्तांणोत वीठू
खिलणहार, हारौ (हारी), खिलणियौ—वि०।
खिलाणौ, खिलावौ, खिलावणौ, खिलावबौ—क्रि०स०, प्रे०रू०।

खींचाणी, खींचावौ–क्रि०स० ('खींचणौ' का प्रे०रू०) खींचने के कार्य में प्रवृत्त करना, खींचने का कार्य दूसरे से करवाना।

खींचाणहार, हारौ (हारी), खींचाणियौ—वि०।

खींचायोड़ौ—भू०का०कृ०।

खींचाईजणौ, खींचाईजवौ—कर्म वा०।

खींचातांण, खींचातांणी—देखो 'खींचतांण' (रू.भे.)

खींचायोड़ौ–भू०का०कृ०—खेंचाया हुग्रा। (स्त्री० खींचायोड़ी)

खींचावणौ, खींचाववौ—देखो 'खींचाणौ' (रू.भे.)

खींचावणहार, हारौ (हारी), खींचावणियौ—वि०।

खींचाविग्रोड़ौ, खींचावियोड़ौ, खींचाव्योड़ौ—भू०का०कृ०।

खींचावीजणौ, खींचावीजवौ—कर्म वा०।

खींचीजणौ, खींचीजवौ–क्रि०कर्म वा०—खींचा जाना, घसीटा जाना।

खींचीजियोड़ौ–भू०का०कृ०—खींचा गया हुग्रा। (स्त्री० खींचीजियोड़ी)

खींजौ–सं०पु० [ग्र० कीसः] जेब, खिस्सा।

खींटणौ, खींटबौ–क्रि०ग्र० [सं० खिद्] देखो 'खिटणौ' (रू.भे.)

उ०—ग्रावद्धि टोपि ऊभरी ग्रगि, खींटिया थाट वे वे खड़ंगि।
—रा.ज.सी.

खींटणहार, हारौ (हारी), खींटणियौ—वि०।

खींटाणौ, खींटावौ—क्रि०स०।

खींटिग्रोड़ौ, खींटियोड़ौ, खींट्योड़ौ—भू०का०कृ०।

खींटीजणौ, खींटीजवौ—भाव वा०।

खींटयोड़ौ—देखो 'खिटियोड़ौ' (रू.भे.)

खींटीजणौ, खींटीजवौ–क्रि० भाव वा०—चिढ़ना, क्रोधित होना।

खींटीजियोड़ौ–भू०का०कृ०— चिढ़ाया हुग्रा। (स्त्री० खींटीजियोड़ी)

खींप–सं०स्त्री०—एक प्रकार का जंगली मरुस्थली पौधा जिसका तना पतला व समूह में होता है ग्रौर उसके पत्तियाँ नहीं होतीं। इसके तने से रस्से, खाट, चटाई ग्रादि वुनते हैं। यह मकान छाने के भी काम ग्राता है। उ०—१ खींपा खींपा मुरट बुई वरणावै, भुरट लांपड़ी लुळै गजब वेलां गरणावै।—दसदेव उ०—२ खींपां तणा पुरांणा खोलड़, थारै हिये न उतरिया 'हरपाळ'।
—दूदौ ग्रासियौ

(ग्रल्पा०—खींपड़ियौ, खींपड़ौ) (महत्व० 'खींपड़')

खींपसा–सं०पु०—राठौड़ राव ग्रासथान के पुत्र खींपसा के वंशज, राठौड़ों की एक उप-शाखा।

खींपोळी–सं०स्त्री०—'खींप' नामक पौधे की फली देखो 'खींप'।

खींया–सं०स्त्री०—राठौड़ों की एक उप-शाखा।

खींयाळ–सं०पु०—१ वह ऊँट जिसके ग्रगले पैरों के पास ग्रौर ईंडर के मध्य का चमड़ा मोटा होकर बढ़ा हुग्रा हो ग्रौर रगड़ खाता हो, ऊँट का एक दोष।

खींवली–सं०स्त्री०— गले में धारण करने का ग्राभूषण विशेष।

उ०—गळां रै परवांण थारै खींवली ल्यावै तौ तिलड़ी री मौज थारौ ग्रालीजौ लगावै।—लो.गी.

खींसियाळ – देखो 'खींयाळ' (रू.भे.)

खी–सं०पु०—१ विधि. २ शृगाल. ३ कामदेव. ४ कुशल-क्षेम। [सं० खिन्] ५ इन्द्र (ह.नां.) (मि० 'नाकी')

सं०स्त्री०—६ ग्रप्सरा (मि० खीवर')

खीखां–सं०स्त्री०—हानि, क्षति।

खीड़ाणौ, खीड़ावौ—देखो 'खिड़ाणौ' (रू.भे.)

खीड़ायोड़ौ—देखो 'खिड़ायोड़ौ (रू.भे.) (स्त्री० खीड़ायोड़ी)

खीड़ावणौ, खीड़ाववौ—देखो 'खिड़ाणौ' (रू.भे.)

खीड़ावियोड़ौ– देखो खिड़ायोड़ौ'। (स्त्री० खीड़ावियोड़ी)

खीच–सं०पु० [सं० कृसर] गेहूँ के साथ कुछ मूंग या बाजरी के साथ कुछ मोठ को कूट कर उनके छिलकों को ग्रलग कर फिर उबाल कर पकाया गया एक प्रकार का खाद्य पदार्थ।

क्रि०प्र०—करणौ, कूटणौ, खाणौ, खावणौ, घालणौ, रांधणौ।

कहा०—१ खीच ऊपर खाटी इज व्है—खीच के साथ कढ़ी होती है; एक वस्तु का ग्रन्य के साथ समुचित संयोग. २ खीच ऊपर खाटौ देख जमाई नाटौ—ग्रपने स्तरानुकूल सम्मान प्राप्त न होने पर मनुष्य ग्रपना ग्रपमान ग्रनुभव करता है।

खीचड़—देखो 'खीच' (महत्व वा०) उ०—दोय घड़ी तौ खीचड़ रांध्यौ सारौ कुटंब जिमायौ, मेरा स्यांम लटकौ ग्रायौ जी।—लो.गी.

२ जाल, करील, नीम ग्रादि वृक्षों का बौर. ३ वेर के वृक्ष पर होने वाला विकृत पदार्थ।

खीचड़ी–[सं० कृसर]—१ दाल ग्रौर चावल का मिश्रित पकाया हुग्रा खाद्य-पदार्थ। उ०—खुस खाणा है खीचड़ी, मांहे टुकियक लूंण। मांस पराया खाय के, गळौ कटावै कूंण।—ह.पु.वा.

कहा०—१ खीचड़ी पापड़ खावतां ही पुणचौ उतरै—खिचड़ी खाने से ही हाथ का पहुँचा उतर जाता है; निर्बल या सुकुमार के लिए व्यंग; ग्रधिक नाजुकता के लिए व्यंगोक्ति. २ खीरां मेली खीचड़ी टीलौ ग्रायौ टच्च (टप्प)—खिचड़ी को पकने पर चूल्हे से उतार कर ग्रंगारों पर रखा ही कि खाने के लिए 'टीला' (व्यक्ति विशेष) ग्राया ग्रौर चट ग्रासन लगा कर बैठ गया; कार्य ग्रथवा परिश्रम के समय तो लुप्त रहना ग्रौर जब लाभ लेने का ग्रवसर हो तो उसके लिए शीघ्र उपस्थित हो जाना।

२ ग्रर्द्ध वृद्ध होना. ३ बालों का कुछ ग्रंश में सफेद होना. ४ मिश्रित. ५ गड़बड़. ६ एक प्रकार का मारवाड़ राज्य द्वारा लिया जाने वाला प्राचीन लगान. ७ जैनियों में विवाह के समय दिया जाने वाला एक भोज।

खीचड़ौ—देखो 'खीच' (ग्रल्पा०) उ०—गाढ़ा कादै जिसा छाछ री है छिब न्यारी। रंधै खीचड़ौ खूब चूंटिये रै उणियारी।—दसदेव

खीचणौ, खीचवौ—देखो 'खींचणौ'।

उ०—टांगडौ झरे लागां टलै पड़ै खिसकि नैं पागड़ौ। नागड़ौ तोई देखौ निलज अमल न छोडै आघड़ौ।—ऊ.का.

खिसकणहार, हारौ (हारी), खिसकणियौ—वि०।

खिसकाणौ, खिसकाबौ, खिसकावणौ, खिसकाववौ—क्रि०स०, प्रे०रू०

खिसकिओड़ौ, खिसकियोड़ौ, खिसक्योड़ौ—भू०का०कृ०।

खिसकीजणौ, खिसकीजबौ—भाव वा०।

खिसकाणौ, खिसकाबौ—क्रि०स०—देखो 'खसकाणौ' (रू भे.)

उ०—ढोलौ चाल्यौ हे सखी, वाज्या विरह निसांण। हाथे चूडी खिस पड़ी, ढीला हुवा संधाण।—ढो.मा.

खिसकाणहार, हारौ (हारी), खिसकाणियौ—वि०।

खिसकायोड़ौ—भू०का०कृ०।

खिसकाई खिसकाईजबौ—कर्म वा०।

खिसकणौ—अक०रू०।

खिसकावणौ, खिसकाववौ—रू०भे०।

खिसकायोड़ौ—भू०का०कृ०—देखो 'खसकायोडौ' (स्त्री० खिसकायोडी)

खिसकावणौ, खिसकाववौ—क्रि०स०—देखो खसकाणौ' (रू भे.)

खिसकावणहार, हारौ (हारी), खिसकावणियौ—वि०।

खिसकाविओड़ौ, खिसकावियोड़ौ खिसकाव्योड़ौ—भू०का०कृ०।

खिसकावीजणौ, खिसकावीजबौ—कर्म वा०।

खिसकणौ—अक०रू०।

खिसकियोडौ—भू०का०कृ०—देखो 'खसकियोड़ौ' (रू.भे.) (स्त्री० खसकियोडी)

खिसणौ, खिसबौ—क्रि०अ० [अनु०] १ पीछे हटना। उ०—देखैं अकबर दूर, घेरौ दे दुसमण घड़ा। सांगाहर रण सूर, पैर न खिसै प्रतापसी। —दुरसौ आढौ

२ खिसकना, सरकना, हटना। उ०—जोत लिंग थौ सु उपाड़नैं आला चावां मांहे वांध नैं गाडे माही घातियौ सु महादेव ठोड़ ती खिसै नही।—नैणसी ३ फिसलना. ४ क्रोध करना. ५ खिसियाना, फीका पड़ना। उ०—खिसियौ न किरंड, सब गा खिसाय। —रामदान लाळस

६ भागना। उ०—मांझी जिके हुता गढ़ मांहै, खिसिगा आये मरण खिरै।—महेमदास कल्यांणदास री गीत ७ भिड़ना।

उ०—मगज अत मनां री खांन दौलत मिटै खिसै दरियाव भाव खांगौ। —अज्ञात

खिसणहार, हारौ (हारी), खिसणियौ—वि०।

खिसाणौ, खिसाबौ, खिसावणौ, खिसाववौ—क्रि०स०, प्रे०रू०।

खिसिओड़ौ, खिसियोड़ौ, खिस्योड़ौ—भू०का०कृ०।

खिसीजणौ, खिसीजबौ—भाव वा०।

खिसांण, खिसांणौ—वि०—लज्जित, खिसियाया हुआ, शर्मिन्दा।

उ०—हमैं प्रथीराज खिसांणौ पड़ियौ, सुवगड़ री वाड़ियां में डेरा कियां बैठो रहै।—द.दा.

खिसाणौ, खिसाबौ, खिसावणौ, खिसाववौ—क्रि०स०—१ पीछे हटाना, पराजित करना. २ खिसकाना. ३ क्रोध करना। उ०—कहां जेठ दिनकर कहां खद्योत खिसाया, कहां सिंह गज रिपु कहां किखि दुव्वळ काया।—वं.भा. ४ झेपाना, लज्जित या शर्मिन्दा करना।

खिसाणहार, हारौ (हारी), खिसाणियौ—वि०।

खिसायोड़ौ—भू०का०कृ०।

खिसाईजणौ, खिसाईजबौ—कर्म वा०।

खिसणौ—अक०रू०।

खिसिणौ, खिसिबौ—क्रि०अ०—देखो 'खिसणौ' (रू.भे.) उ०—१ मांझी जिके हुता गढ मांहै, खिसिगा आये मरण खरै।—अज्ञात

उ०—२ आसल कमध लूण उजवाळै, खिसियौ नही वंदै चहूं खूंट। —अज्ञात

खिसियोड़ौ—भू०का०कृ०—१ लज्जित हुआ हुआ. २ पीछे हटा हुआ. ३ खिसका हुआ. ४ खिसियाया हुआ. (स्त्री० खिसियोड़ी)

खिसौ—सर्व० —कौनसा।

सं०पु०—जेब, खिस्सा।

खींचणौ, खींचबौ—क्रि०स० [सं० कर्षणम्] १ किसी वस्तु को इस प्रकार एक स्थान से दूसरे स्थान पर करना कि वह गति के समय अपने आधार से लगी रहे, घसीटना. २ किसी कोष, थैले, म्यान आदि में से किसी वस्तु को बाहर निकालना. ३ किसी ऐसी वस्तु को छोर या बीच से पकड़ कर अपनी ओर बढ़ाना जिसका दूसरा छोर दूसरी ओर अथवा नीचे-ऊपर हो।

मुहा०—१ खीचातांण—खींचातान; किसी वस्तु की प्राप्ति के लिये दो व्यक्तियों का एक दूसरे के विरुद्ध उद्योग. २ पीड़ खीचणी—कष्ट दूर करना; औषध आदि देकर या सहारा देकर दर्द मिटाना. ३ हाथ खीचणौ—हाथ हटा लेना; किसी कार्य से अपना सहयोग हटा लेना.

४ आकर्षित करना. ५ बलपूर्वक किसी ओर ले जाना. ६ सोखना, चूसना. ७ भभके से अर्क, शराब आदि टपकाना. ८ किसी वस्तु के गुण या तत्व को निकाल लेना. ९ कलम से रेखा आदि डालना, लिखना. १० चित्रित करना ११ रोक रखना. १२ व्यापार का माल मंगाना।

खींचणहार, हारौ (हारी), खींचणियौ—वि०।

खींचाणौ खींचाबौ, खींचावणौ खींचाववौ—प्रे०रू०।

खींचिओड़ौ, खींचियोड़ौ, खींच्योड़ौ—भू०का०कृ०।

खींचीजणौ खींचीजबौ—कर्म वा०।

खींचणौ, खेंचणौ—रू०भे०।

खींचतांण खींचतान,—सं०स्त्री०—१ किसी वस्तु की प्राप्ति के लिए दो व्यक्तियों का एक दूसरे के विरुद्ध उद्योग. २ खीचा-खीची. ३ क्लिष्ट कल्पना द्वारा किसी शब्द या वाक्य आदि का अन्यथा अर्थ करना।

२ क्षीण, सूक्ष्म। उ०—विलासै वरणी खीण उजास, पाथरै सांवळ सेजां रैण।—सांझ ३ उदासीन, चिंतित. ४ पतला, कृश।
उ०—हंस गवण कदळी सुजंघ, कटि केहरी जिम खीण। मुख ससिहर खंजन नयण, कुच स्रीफळ कंठ वीण।—वेलि.
खीणता-संस्त्री० [सं० क्षीणता] दुर्वलता, निर्वलता, कृशता।
खीणौ-वि०पु० (स्त्री० खीणी) देखो 'खीण' (रू.भे.)
खीदन-सं०पु०—ढोली जाति की एक शाखा विशेष।
खीनखाप-सं०पु०—एक प्रकार का वढ़िया जरीदार रेशमी वस्त्र।
खीप—देखो 'खींप' (रू भे.)
खीवर, खीमर—देखो 'खीवर' (रू.भे.)
खीय-सं०पु०—भाटीवंशीय राजपूतों की एक शाखा।
खीर-सं०पु० [सं० क्षीर] १ दूध (अ.मा.)
संस्त्री०—२ दूध में चावल डाल कर पकाया हुआ मीठा खाद्य पदार्थ। चावल के स्थान पर कोई दूसरा खाद्य पदार्थ यथा आलू, शकरकन्द, प्याज आदि भी काम में लिये जा सकते हैं।
क्रि०प्र०—खाणी, पकाणी, पुरसणी।
कहा०—१ खीमला-खीमला! खीर मीठूं, खाये जणाये खवर—खीमले-खीमले! खीर मीठी, तो खाये जिसे स्वाद का ज्ञान; वास्तविक उपयोग किये विना किसी वस्तु के गुण-दोष नहीं जाने जाते.
२ खीर में मूसळ—असंगत साथ, योग्य या समुचित वस्तुयें ही एक दूसरे के साथ शोभा देती हैं।
३ पानी. ४ आर्यगीत या खंधाण (स्कंधक) का भेद विशेष।
खीरकंठ-सं०पु० [सं० क्षीरकंठ] वालक (ह.नां.)
खीरकाकोळी-संस्त्री०—एक प्रकार की औषधि विशेष (अमरत)
खीरड़ी-संस्त्री०—१ एक प्रकार का पौधा विशेष. २ देखो 'खीर' (२) (अल्पा०)
खीरज-सं०पु० [सं० क्षीरज] दधि, दही (ह.नां.)
खीरदध-सं०पु० [सं० क्षीरोद] समुद्र, क्षीर-सागर (ना.डि.को.)
उ०—दधां विधाता दुजां खीरदध, भूपां सिधां जांनुकी भूप।
—र.ज.प्र.
खीरदधि, खीरपत, खीरपति, खीरपती-सं०पु० [सं० क्षीरपति] समुद्र। (अ.मा.)
खीरसंध, खीरसमंद, खीरसमुद्र-सं०पु० [सं० क्षीरसिंधु, क्षीरसमुद्र] क्षीर-सागर। उ०—सित कुसुमां गूंथी सुखद, वेणी सहियां व्रंद। नागणि जांणै नीसरी, सांपड़ि खीरसमंद।—वां.दा.
खीरसागर-सं०पु० [सं० क्षीरसागर] १ क्षीर-सिंधु, दूध का समुद्र.
२ खीर या द्रव्य पदार्थ परोसने का एक नालीयुक्त गहरा व चौड़ा वर्तन।
खीरौ-सं०पु० [सं० क्षरण] १ अंगारा, जलता हुआ कोयला.
२ एक प्रकार की लकड़ी. ३ छोटी आयु का वैल, वह वैल जिसके दूसरी वार दांत न आये हों (क्षेत्रीय)
खीरोद-सं०पु० [सं० क्षीरोद] सागर, समुद्र।
खीरोळियौ-सं०पु०—१ एक प्रकार का जंगली प्याज. २ आटे की खीर।
खील-संस्त्री० [सं० कील] १ लोहे या काष्ठ की मेख, कील, खूंटी।
क्रि०प्र०—उखेड़णी, गाडणी, ठोकणी, लगावणी।
२ शरीर पर होने वाला कठोर और नुकीला फोड़ा, फुंसी.
३ रहट के उपकरण (ऊवड़ियौ) को खड़ा रखने हेतु आजू-वाजू में दो काष्ठ के डंडे लगाए जाते हैं। उनके सहारे के लिए खड़ी की जाने वाली पत्थर या लकड़ी का स्तंभ. ४ चक्की के दो पाटों के बीच की विशेष वनावट की कीली जिसके आधार पर ऊपर का पाट घूमता है. ५ देखो 'कील'।
खीलण-सं०पु०—१ वस्त्र के दो टुकड़ों को परस्पर जोड़ने की क्रिया या भाव. २ अंकुश. ३ मंत्रों द्वारा वश में करने की क्रिया।
खीलणौ, खीलवौ-क्रि०स० [सं० कील वंधने] १ वस्त्र के दो टुकड़ों को टांकना. २ मंत्रों द्वारा भूत-प्रेत, सर्व आदि को वशीभूत करना या वंधन में डालना. ३ वांधना. ४ जूती गांठना।
खीलणहार, हारौ (हारी), खीलणियौ—वि०।
खीलाणौ, खीलावणौ—क्रि०स०।
खीलिओड़ौ, खीलियोड़ौ, खील्योड़ौ—भू०का०कृ०।
खीलीजणौ, खीलीजवौ—कर्म वा०।
खीलोड़ौ—भू०का०कृ०।
खीलहरी-सं०पु०—१ वकरी चराने वाला, गडरिया।
उ०—किसे वोकड़ा खोरड़ै खीलहरी रा चारिओड़ा, सौ ऊठां विसै वोकड़ा मसकां री भांति सौ लिड़ाई नै घातिआ छै।
२ देखो 'खीलोरी'। —रा.सा.सं.
खीलाड़णौ, खीलाड़वौ-क्रि०स० [सं० कील] १ वंधन में डालना या डलाना. २ दो वस्त्रों को हाथ से सिला कर जुड़वाना, टंकवाना.
३ कीलाना।
खीलाड़णहार, हारौ (हारी), खीलाड़णियौ—वि०।
खीलाड़िओड़ौ, खीलाड़ियोड़ौ, खीलाड़्योड़ौ—भू०का०कृ०।
खीलाड़ियोड़ौ-भू०का०कृ०—१ वंधन में डाला हुआ. २ टंकवाया हुआ. ३ मन्त्रों द्वारा वशीभूत किया हुआ।
(स्त्री० खीलाड़ियोड़ी)
खीलाणौ, खीलावौ—देखो 'खीलाड़णौ' (रू.भे.)
खीलाणहार, हारौ (हारी), खीलाणियौ—वि०।
खीलायोड़ौ—भू०का०कृ०।
खीलायोड़ौ—देखो 'खीलाड़ियोड़ौ' (रू.भे.) (स्त्री० खीलायोड़ी)
खीलावणौ, खीलाववौ—देखो 'खीलाड़णौ' (रू.भे.)
खीलावणहार, हारौ (हारी), खीलावणियौ—वि०।
खीलाविओड़ौ, खीलावियोड़ौ, खिलाव्योड़ौ—भू०का०कृ०।
खीलावीजणौ, खीलावीजवौ—कर्म वा०।

खीचणहार, हारौ (हारी), खीचणियौ—वि० ।

खीचाड़णौ, खीचाड़बौ, खीचाणौ, खीचावौ, खीचावणौ, खीचाववौ —प्रे०रू० ।

खीचिग्रोड़ौ, खीचियोड़ौ, खीच्योड़ौ—भू०का०कृ० ।

खीचीजणौ, खीचीजबौ —कर्म वा० ।

खीचाणौ, खीचावौ—क्रि०स० ('खीचणौ' का प्रे०रू०) देखो 'खींचाणौ' (रू.भे.)

खीचायोड़ौ—देखो 'खीचायोडौ' । (स्त्री० खीचायोड़ी)

खीचावणौ, खीचाववौ—देखो 'खीचाणौ' (रू.भे.)

खीचावियोड़ौ—देखो 'खीचायोडौ' (रू.भे.) (स्त्री० खीचावियोड़ी)

खीचि—देखो 'खीची' (रू.भे.)

खीचियोड़ौ—देखो 'खीचियोड़ौ' (रू.भे.) (स्त्री० खीचियोड़ी)

खीचियौ—सं०पु० [सं० क्षार = खार + चित्, क्षीर + चित्] ज्वार, मंडवा गेहूँ आदि अनाज के चून में साजी या क्षार मिला कर बनाया जाने वाला पतला रोटीनुमा एक खाद्य पदार्थ जिसे सुखा कर रख लिया जाता है और फिर कभी भी उसे सेंक कर खाया जाता है। इसका प्रयोग अधिकतर भोजन के अंत में किया जाता है ।

खीची—सं०पु०—चौहान वंश की एक शाखा या इस शाखा का व्यक्ति ।

खीचीवाड़ौ—सं०पु०—खीची चौहानों का प्राचीन राज्य । उ०—जायल राजथांन कियौ सूं गोरा रा पोतरा खीचीवाड़ै गया ।—नैणसी

खीज—सं०स्त्री० [सं० क्षीज] १ कोप, क्रोध । उ०—ग्रंबर री ग्रग्राज सूं, केहर खीज करंत । हाक धरा ऊपर हुवै, केम सहै वळवंत । —बां.दा.

२ खीजने का भाव, खिझलाहट, चिढ़ । उ०—ग्रायौ पावस ग्राज रौ, गयण झववकै बीज । विरही मन मंहै 'जसा', खिण खिण ग्रावै खीज ।—जसराज ३ शीतकाल में ऊंट में ग्राने वाली मस्ती ।

खीजणौ, खीजबौ—क्रि०ग्र० [सं० क्षीज] १ खीजना, चिढ़ना, झुंझलाना. २ क्रोध करना, क्रुद्ध होना. ३ शीतकाल में ऊँट का मस्ती में ग्राना, उन्मत्त होना ।

खीजणहार, हारौ (हारी), खीजणियौ—वि० ।

खीजाड़णौ, खीजाड़बौ, खीजाणौ, खीजावौ, खीजावणौ, खीजाववौ—क्रि०स०, प्रे०रू० ।

खीजिग्रोड़ौ, खीजियोड़ौ, खीज्योड़ौ—भू०का०कृ० ।

खीजीजणौ, खीजीजबौ—क्रि० भाव वा० ।

खीजरौ—सं०पु०—रंग विशेष का घोड़ा (शा.हो.)

खीजाणौ, खीजावौ—क्रि०स०—१ खिजाना, चिढ़ाना. २ क्रोध कराना. ३ ऊंट को मस्ती में लाना ।

खीजाणहार, हारौ (हारी), खीजाणियौ—वि० ।

खीजाईजणौ, खीजाईजबौ—कर्म वा० ।

खीजायोड़ौ—भू०का०कृ० ।

खीजाड़णौ, खीजाड़बौ, खीजावणौ, खीजाववौ—रू०भे० ।

खीजणौ—ग्रक० रू० ।

खीजायोड़ौ—भू०का०कृ०—१ क्रुद्ध किया हुग्रा. २ चिढ़ाया हुग्रा. ३ मस्ती में लाया हुग्रा । (स्त्री० खीजायोड़ी)

खीजाळ—वि०—१ क्रोध करने वाला. २ ग्रातंक जमाने वाला । उ०—लहैरी महैरांण भूपाळ 'लच्छौ' ग्रखां दूसरौ रीझ खीजाळ ग्रच्छौ ।—मे.म.

खीजावणौ, खीजाववौ—देखो 'खीजाणौ' (रू.भे.)

खीजावणहार, हारौ (हारी), खीजावणियौ—वि० ।

खीजाविग्रोड़ौ, खीजावियोड़ौ, खीजाव्योड़ौ—भू०का०कृ० ।

खीजावीजणौ, खीजावीजबौ—कर्म वा० ।

खीजणौ—ग्रक० रू० ।

खीजियोड़ौ, खीजोड़ौ—भू०का०कृ०—१ कुपित, क्रोधित. २ खीजा हुग्रा. ३ मस्ती में ग्राया हुग्रा (ऊंट) (स्त्री० खीजियोड़ी, खीजोड़ी)

खीझ—देखो 'खीज' (रू.भे.)

खीटणौ, खीटबौ—क्रि०ग्र०—देखो 'खिटणौ' (रू.भे.) उ०—सूरज चांद तांम समासै, खरै ग्राप वाजियौ खरौ । हेकां सिर खीटै वावर हर, हेकां 'ग्रमर' 'संग्रांम' हरौ ।—महारांणा प्रतापसिंह रौ गीत

खीटणहार, हारौ (हारी), खीटणियौ—वि० ।

खीटवाणौ, खीटवावौ—प्रे०रू० ।

खीटाणौ, खीटावौ, खीटावणौ, खिटाववौ—क्रि०स० ।

खीटिग्रोड़ौ, खीटियोड़ौ, खीटयोड़ौ—भू०का०कृ० ।

खीटीजणौ, खीटीजबौ—भाव वा० ।

खीटाणौ, खीटावौ—क्रि०स०—देखो 'खिटाणौ' (रू.भे.)

खीटाणहार, हारौ (हारी), खीटाणियौ—वि० ।

खीटाईजणौ खीटाईजबौ—कर्म वा० ।

खीटायोड़ौ—भू०का०कृ० ।

खीटणौ—ग्रक० रू० ।

खीटायोड़ौ—भू०का०कृ०—क्रुद्ध किया हुग्रा, चिढाया हुग्रा । (स्त्री० खीटायोड़ी)

खीटावणौ, खीटाववौ—देखो 'खिटाणौ' (रू.भे.)

खीटावणहार, हारौ (हारी), खीटावणियौ—वि० ।

खीटाविग्रोड़ौ, खीटावियोड़ौ, खीटाव्योड़ौ—भू०का०कृ० ।

खीटावीजणौ, खीटावीजबौ—क्रि० कर्म वा० ।

खीटणौ—ग्रक०रू० ।

खीटियोड़ौ—भू०का०कृ०—खीजा हुग्रा, चिढा हुग्रा, क्रुद्ध । (स्त्री० खीटियोड़ी)

खीटोर—देखो 'खीटोर' ।

खीण—वि० [सं० क्षीण] १ दुर्बल, निर्बल, कृश । उ०—धांसौ मायव खीण दूमणौ मिळवा खातौ । उमगै ग्रंबक नीर निनासां धांम धुळातौ । —मेघ.

खुड़द–सं०पु०—१ संहार, नाश। उ०—अतजींद वदक उर छुरी मेल, अर कियौ खुड़द अरियां उथेल।—पा.प्र.
२ देखो 'खुरद' (रू.भे.)
खुड़दवीन—देखो 'खुरदवीन' (रू.भे.)
खुड़दसांणौर–सं०पु०—डिंगल साहित्य के जांगड़े गीत (छंद) का एक भेद जिसके अंत में ह्रस्व होता है एवं प्रत्येक चरण में १३ मात्रायें होती हैं।
खुड़दा–सं०स्त्री० [फा० खुर्द] १ छोटी-मोटी वस्तु. २ छोटा सिक्का, रेजगी।
खुड़दाचोस, खुड़दियौ–सं०पु०यौ० [फा० खुरदाफरोश] फुटकर चीजें वेचने वाला, छोटी-मोटी वस्तुयें वेचने वाला। उ०— ऐ दलाल ऐ खुड़दिया, हूंडीवाळ वजाज। ऐ हिज करै पसारटौ, केवळ धन रै काज।—वां.दा.
खुड़ा–सं०पु०—पहाड़ों में होने वाला वृक्ष विशेष जो कड़ुआ अधिक होता है।
खुड़ाणौ, खुड़ावौ, खुड़ावणौ, खुड़ाववौ—देखो 'खोड़ाणौ (रू.भे.)
खुड़ियौखातौ–सं०पु०—१ पक्षी विशेष जिसकी चोंच लम्बी होती है. २ लड़कियों द्वारा गाया जाने वाला एक लोक गीत।
खुड़ी—१ देखो 'खोड़ी' (रू.भे.) २ टखने के नीचे पैर की गद्दी का वाहर की ओर निकला हुआ भाग, एडी।
खुचणौ, खुचवौ–क्रि०अ०—१ धँसना, फँसना. २ चुभना. ३ चलना, आना (अवज्ञा)
खुचणहार, हारौ, (हारी), खुचणियौ—वि०।
खुचाणौ, खुचावौ, खुचावणौ, खुचाववौ—क्रि०स०।
खुचिओड़ौ, खुचियोड़ौ, खुच्योड़ौ—भू०का०कृ०।
खुचीजणौ, खुचीजवौ—भाव वा०।
खुचाणौ, खुचावौ–क्रि०स०—१ धँसाना. २ चुभाना।
खुचाणहार, हारौ (हारी), खुचाणियौ—वि०।
खुचवावणौ, खुचवाववौ—प्रे०रू०।
खुचायोड़ौ—भू०का०कृ०।
खुचाईजणौ, खुचाईजवौ—कर्म वा०।
खुचणौ—अक० रू०।
खुचायोड़ौ–भू०का०कृ०—१ चुभाया हुआ. २ धँसाया हुआ. ३ चलाया हुआ। (स्त्री० खुचायोड़ी)
खुचावणौ, खुचाववौ—देखो 'खुचाणौ' (रू.भे.)
खुचियोड़ौ–भू०का०कृ०—१ चुभा हुआ. २ धँसा हुआ. ३ चला हुआ (अवज्ञा) (स्त्री० खुचियोड़ी)
खुजळणौ, खुजळवौ–क्रि०स०—खुजलाना, हाथ से खुजली मिटाना।
खुजळणहार, हारौ (हारी), खुजळणियौ—वि०।
खुजळाणौ, खुजळावौ, खुजळावणौ, खुजळाववौ—क्रि०स०, प्रे०रू०।
खुजळिओड़ौ, खुजळियोड़ौ, खुजळ्योड़ौ—भू०का०कृ०।
खुजळीजणौ, खुजळीजवौ—कर्म वा०।
खुजळाणौ, खुजळावौ–क्रि०स० ('खुजळणौ' का प्रे०रू०) खाज खुजलवाना, कुचरवाना।
खुजळायोड़ौ–भू०का०कृ०—खुजलाया हुआ। (स्त्री० खुजळायोड़ी)
खुजळावणौ, खुजळाववौ—देखो 'खुजळाणौ' (रू.भे.)
खुजळी–सं०स्त्री०—१ खाज, खुजलाहट. २ एक प्रकार का चर्म रोग जिससे शरीर में खुजलाहट चलती है और छोटी-छोटी फुंसियां निकल आती हैं।
खुजाणौ, खुजावौ—देखो 'खुजाळणौ' (रू.भे.)
खुजाणहार, हारौ (हारी), खुजाणियौ—वि०।
खुजायोड़ौ—भू०का०कृ०।
खुजाईजणौ, खुजाईजवौ—कर्म वा०।
खुजावणौ, खुजाववौ—रू०भे०।
खुजायोड़ौ—देखो 'खुजळायोड़ौ' (रू.भे.) (स्त्री० खुजायोड़ी)
खुजारणौ, खुजारवौ—देखो 'खुजाणौ' (रू.भे.)
खुजारियोड़ौ–भू०का०कृ०—खुजाया हुआ। (स्त्री० खुजारियोडी)
खुजाळ–सं०स्त्री०—खुजली, खाज।
क्रि०प्र०—खिणणौ, चलणौ, चालणौ।
खुजाळणौ, खुजाळवौ–क्रि०स०—अंग के किसी भाग पर किसी कारण से सुरसुरी चलने पर नाखून आदि से उसे रगड़ना, खुजलाना, कुचरना, सहलाना।
खुजाळणहार, हारौ (हारी), खुजाळणियौ—वि०।
खुजाळिओड़ौ, खुजाळियोड़ौ, खुजाळ्योड़ौ—भू०का०कृ०।
खुजाळीजणौ, खुजाळीजवौ—कर्म वा०।
खुजाणौ, खुजावौ, खुजावणौ, खुजाववौ—रू०भे०।
खुजाळि—देखो 'खुजाळ' (रू.भे.)
खुजाळियोड़ौ—देखो 'खुजायोड़ौ' (रू.भे.) (स्त्री० खुजाळियोड़ी)
खजावणौ, खुजाववौ—देखो 'खुजाळणौ' (रू.भे.)
खुजावणहार, हारौ (हारी), खुजावणियौ—वि०।
खुजाविओड़ौ, खुजावियोड़ौ, खुजाव्योड़ौ—भू०का०कृ०।
खुजावीजणौ, खुजावीजवौ—कर्म वा०।
खुजावियोड़ौ—देखो 'खुजायोड़ौ' (रू.भे.) (स्त्री० खुजायोड़ी)
खुटक–सं०स्त्री०—१ खटका. २ आशंका. ३ चिंता. ४ त्रुटि, गलती।
खुटणौ, खुटवौ–क्रि०अ०—१ खुलना, वंधनमुक्त होना. २ समाप्त होना। उ०—हे! पणिहारी मत कहै, खोड़ौ सूअर जाय। धव रै घर खुटसी कोई, नाहक मरसी आय।—डाढ़ाळा सूर री वात
खुटणहार, हारौ (हारी), खुटणियौ—वि०।
खुटावाणौ, खुटावावौ—प्रे०रू०।
खुटाणौ, खुटावौ, खुटावणौ, खुटाववौ—क्रि०स०।
खुटिओड़ौ, खुटियोड़ौ, खुट्योड़ौ—भू०का०कृ०।

खीलावियोड़ौ—देखो 'खीलाड़ियोड़ौ' (रू.भे.) (स्त्री० खीलावियोड़ी)

खीलियोड़ौ-भू०का०कृ०—१ टांका हुआ, कीला हुआ २ मन्त्रों द्वारा वशीभूत किया हुआ, बांधा हुआ। (स्त्री० खीलियोड़ी)

खीली—देखो 'खील' (रू.भे.)

खीलीखांनौ-सं०पु०—लकड़ी का कार्य करने का कारखाना, बढ़ई का कारखाना। (रू.भे. 'कीलीखांनौ')

खीलोखांवौ-वि०पु०यौ०—देखो 'खांवौ-खरडौ' (रू.भे.)

खीलोड़ौ—देखो 'खीलियोड़ौ' (रू.भे.) (स्त्री० खीलोड़ी)

खीलोरी, खील्योरी, खील्हैरी—देखो खीलहरी' (रू.भे.)

उ०—ढोला खील्योरी कहइ, सुणि कुढंगा वैण। 'मारू' 'म्हांजी' गोठणी, से मारू दा सैण।—ढो.मा. २ मूर्ख, मूढ़।

उ०—इसौ सुणनै वीरमदेवजी जांणियौ सगपण में खोटा-खाधा रावळ में लखण खीलोरी रा है।—वीरमदे सोनगरा री वारता

खीव-सं०पु० [सं० क्षीवृ] योद्धा, शूरवीर।

खीवण-सं०स्त्री०—स्त्रियों के नाक का एक आभूषण (रू.भे. 'खेंवण')

खीवर-सं०पु० [सं० ख+रा.प्र.ई+वर अथवा सं० क्षीव=मस्त] अप्सरा को वरण करने वाला, योद्धा, वीर। उ०—खीवरां हाथ वांणाखास, वहनीक जांण रोकी वनास।—वि सं.

खीवसा-सं०पु०—राव सिंहा के वंश में राठौड़ों की एक उपशाखा।

खीस-सं०पु०—प्रसव के बाद प्रथम निकाला हुआ गाय या भैंस का दूध (क्षेत्रीय)

खीसणौ, खीसवौ-क्रि०अ० [सं० क्षीप्] १ नाश होना. २ गिरना, खसकना. ३ कोप करना। उ०—खूरमखांन दराब खीसिया, अहासिया आंबाट।—अज्ञात

खीसणहार, हारौ (हारी), खीसणियौ—वि०।

खीसाणौ, खीसावौ, खीसावणौ, खीसावबौ—क्रि०स०।

खीसिओड़ौ, खीसियोड़ौ, खीस्योड़ौ—भू०का०कृ०।

खीसीजणौ, खीसीजवौ—भाव वा०।

खीसाणौ, खीसाबौ-क्रि०स०—१ गिराना, खसकाना. २ नाश करना. क्रुद्ध करना।

खीसाणहार, हारौ (हारी), खीसाणियौ—वि०।

खीसाईजणौ, खीसाईजबौ—कर्म वा०।

खीसायोड़ौ—भू०का०कृ०।

खीसणौ—अक०रू०

खीसायोड़ौ-भू०का०कृ०—१ गिराया हुआ. २ क्रुद्ध किया हुआ। (स्त्री० खीसायोड़ी)

खीसावणौ, खीसावबौ—देखो 'खीसाणौ' (रू.भे.)

खिसावणहार, हारौ (हारी), खीसावणियौ—वि०।

खीसाविओड़ौ खीसावियोड़ौ, खीसाव्योड़ौ—भू०का०कृ०।

खीसावीजणौ, खीसावीजवौ—कर्म०वा०।

खीसणौ—अक०रू०।

खीसावियोड़ौ-भू०का०कृ०—देखो 'खीसायोड़ौ'। (स्त्री० खीसावियोड़ी)

खीसियोड़ौ, खीसोड़ौ-भू०का०कृ०—१ युद्ध किया हुआ. २ नष्ट. ३ गिरा हुआ. ४ कुपित। (स्त्री० खीसियोड़ी)

खीसौ-सं०पु० [अ० कीसः] १ जेब, पाकिट, गिरह।

कहा०—खीसौ तर तौ भावै ज्यूं कर—जेब तर है तो मनचाहा कर; पैसा पास में हो तो सबकुछ किया जा सकता है।

२ थैला, खलीता. ३ होठों से बाहर निकले हुए दांत या ऐसे दांत वाला व्यक्ति।

खुंजाळणौ, खुंजाळबौ-क्रि-स०—देखो 'खुजाळणौ' (रू.भे.)

खुंडासींग-सं०पु०—वृत्ताकार मुड़े हुए पशुओं के सींग।

खुंडी-सं०स्त्री०—घूमे हुए या मुड़े हुए सींगों वाला (पशु)। उ०—खुंडी पाडी रा लाडी चख खोळै।—ऊ.का.

खुंद-सं०पु०—देखो 'खूंद' (रू.भे.) उ०—दृढ़ वात नेम लखि रक्खियौ, खुंद थांन खेमंगुरु।—रा रू.

खुंदवाणौ, खुंदवाबौ-क्रि०स० ['खूंदणौ' का प्रे०रू०] रौंदना, कुचलवाना।

खुंदाळ-वि०—पैरों तले रोंदने वाला।

खुंदालिम-सं०पु०—१ बादशाह। उ०—वह मुगळां विरदैत, खागै खडरतो खळां। खासां खुंदालिम तणा, वांने गो वांनैत।—वचनिका २ यवन। उ०—खुंदालिम करि खोध, वसुधा ऊपर वाजिआ।

—वचनिका

खुंभी-सं०स्त्री०—लोहे या पत्थर के गोल या चौकोर स्तम्भ को खड़ा करने के लिये उसके सहारे हेतु उसके नीचे लगाया जाने वाला आधार, आधारशिला। उ०—चन्दण पाट कपाटइ चन्दण, खुंभी पनां प्रवाळी खम्भ।—वेलि.

खु-सं०पु०—१ कामदेव. २ विकल व्यक्ति. ३ दुखी. ४ उल्लू. ५ सिखावन. ६ स्थान. ७ ब्रह्मा. ८ खद्योत (एका०)

खुगाहड़ौ-सं०पु०—एक प्रकार का घोड़ा विशेष।

खुड़क-सं०स्त्री०—१ एक प्रकार का पशुओं में, विशेषतया ऊंटों में, होने वाला संक्रामक रोग जो भयंकर माना जाता है. २ जलाशय या नदी का तट।

खुड़कणौ, खुड़कवौ-क्रि०अ० [अनु०] खड़खड़ की ध्वनि होना।

उ०—खुड़कै गायां हंदा सांठ, सुणीजै वंसी री झणकार।—सांझ

खुड़कियौ—देखो 'खुड़क' (अल्पा०)

खुड़कौ-सं०पु० [अनु०] १ आहट, आवाज, खटका। उ०—भरमल तौ घणी चतुर हीज थी सो पगां री खुड़कौ सुणतां हीज जगाया।

—कुंवरसी सांखला री वारता

२ मृत्यु के पश्चात् द्वादशे की सम्पूर्ण क्रिया होने के बाद शोक-समाप्ति हेतु सांकेतिक ढोल बजाने की क्रिया या इस अवसर पर इस प्रकार बजे हुए ढोल की आवाज (रू.भे. 'खड़कौ')

३ देखो 'खुड़क'।

खुड़खोज-सं०पु०यौ०—नामोनिशान, अस्तित्व।

खुदवायोड़ौ—भू०का०कृ० ।
खुदणौ—अक० रू० ।

खुदवायोड़ौ-भू०का०कृ०—खुदवाया हुआ। (स्त्री० खुदवायोड़ी)

खुदा-सं०पु० [फा०] ईश्वर, परमात्मा, स्वयंभू ।
कहा०—१ खुदा जेहड़ा फरेश्ता—जैसा खुदा वैसा फरिश्ता; उपयुक्त वस्तु के मेल के लिये प्रयुक्त होता है (मि०—नकटा देव सुरड़ा पुजारा) २ खुदा देगा तौ छप्पर फाड़ कर देगा—ईश्वर चाहे तो येन-केन प्रकारेण सहायता कर ही सकता है. ३ खुदा री महर तौ लीला लहर—यदि ईश्वर की कृपा है तो सर्व कुशल है; परमात्मा की कृपा से सब आनन्द हो जाते हैं।

खुदाई-सं०स्त्री० [फा० खुदाई] १ ईश्वरता.
उ०—घट-घट नूर खुदाय दा भरपूर खुदाई ।—केसोदास गाडण
२ संसार, सृष्टि । [रा०] ३ खोदने का कार्य अथवा भाव. ४ खोदने की मजदूरी ।

खुदाणौ, खुदावौ-क्रि०स०—देखो 'खुदवाणौ' (रू.भे.)
खुदाणहार, हारौ (हारी), खुदाणियौ—वि० ।
खुदायोड़ौ—भू०का०कृ० ।
खुदाईजणौ, खुदाईजबौ—कर्म वा० ।
खुदणौ—अक० रू० ।

खुदाय-सं०पु० [फा० खुदा] १ ईश्वर, स्वयंभू । उ०—नहचळ नांम खुदाय दा कुछ और न बाकी।—केसोदास गाडण [फा० खुदाई] २ खुदाई, सृष्टि।

खुदायोड़ौ-भू०का०कृ०—खुदाया हुआ, खोदने का कार्य कराया हुआ। (स्त्री० खुदायोड़ी)

खुदाळ-सं०पु०—१ रथ. २ सूर्य का रथ, वाहन ।

खुदालम-सं०पु० [फा० खुदा+आलम] १ बादशाह. २ योद्धा, वीर । वि०—विद्रोही, द्रोही, उपद्रवी ।

खुदावंद-सं०पु० [फा०] खुदा, ईश्वर, मालिक ।

खुदावणौ, खुदावबौ-क्रि०स० ['खुदणौ' का प्रे०रू०] खुदाने का कार्य दूसरे से कराना, खुदवाना ।
खुदावणहार, हारौ (हारी), खुदावणियौ—वि० ।
खुदाविओड़ौ, खुदावियोड़ौ, खुदाव्योड़ौ—भू०का०कृ० ।
खुदावीजणौ, खुदावीजबौ—कर्म वा० ।
खुदणौ—अक० रू० ।

खुदिया-सं०स्त्री० [सं० क्षुधा] भूख, क्षुधा (अल्पा०)

खुदियारत—देखो 'खुधियारत' (रू.भे.)

खुदोखुद—देखो 'खुदबखुद' (रू.भे.)

खुद्या, खुधा-सं०स्त्री० [सं० क्षुधा] भोजन करने की इच्छा, भूख, क्षुधा।
उ०—खुधा न भाजै पांणियां, अखा न छीजै अन्न । मुकत नहीं हर नांव बिन, मांनव मानै मन्न ।—ह.र.

खुधार, खुदाळ, खुधावंत- [सं० क्षुधा+आलुच] भूखा, क्षुधित ।
उ०—१ अन्तथ नत्थ नत्थ ले अनत्थ कौ निभाय ले, रिझै करे निहाल रे, खिजे खुधाळ खायले ।—ऊ.का. उ०—[सं० सुधावंत] २ पळ चर साकणि डाकणि प्रेत, खुधावंत भुख लिये रिण खेत ।—वचनिका

खुधियारत-वि० [सं० क्षुधार्त] भूखा, क्षुधा से पीड़ित । उ०—खंड-खीर घ्रत मेळ घणौ खुधियारत खवौ ।—अलूदास कवियौ

खुध्या—देखो 'खुधा' (रू.भे.) उ०—सीत उखन खुध्या अखा, मांनि अमांनि पख पोखै । ममत मनोरथ सोच पोच संगि सांसौ सोखै ।
—ह.पु.वा.

खुनियायौ—देखो 'खुन्यायौ' (रू.भे.)

खुनी—देखो 'खूनी' (रू.भे.)

खुन्यायौ-वि०—हलका, उष्ण, हल्का गर्म जो नितांत ठंडा न हो ।

खुपणौ खुपबौ-क्रि०अ०—चुभना, कील-कांटे आदि का धंसना, गड़ना ।
खुपणहार हारौ (हारी), खुपणियौ—वि० ।
खुपवाणौ, खुपवावौ—प्रे०रू० ।
खुपाणौ, खुपावौ, खुपावणौ, खुपावबौ—क्रि०स० ।
खुपिओड़ौ, खुपियोड़ौ, खुप्योड़ौ—भू०का०कृ० ।
खुपीजणौ, खुपीजबौ—भाव वा० ।

खुपाणौ खुपावौ-क्रि०स०—चुभाना, कील-कांटा आदि को धँसाना ।
खुपाणहार, हारौ (हारी), खुपाणियौ—वि० ।
खुपायोड़ौ—भू०का०कृ० ।
खुपाईजणौ, खुपाईजबौ—कर्म वा० ।
खुपणौ—अक० रू० ।

खुपायोड़ौ-भू०का०कृ०—चुभाया हुआ। (स्त्री० खुपायोड़ी)

खुपावणौ, खुपावबौ—देखो 'खुपाणौ' (रू.भे.)
खुपावणहार, हारौ (हारी), खुपावणियौ—वि० ।
खुपाविओड़ौ, खुपावियोड़ौ, खुपाव्योड़ौ—भू०का०कृ० ।
खुपावीजणौ, खुपावीजबौ—कर्म वा० ।
खुपणौ—अक० रू० ।

खुपावियोड़ौ-भू०का०कृ०—चुभाया हुआ, धँसाया हुआ। (स्त्री० खुपावियोड़ी)

खुपियोड़ौ-भू०का०कृ०—चुभा हुआ, धँसा हुआ। (स्त्री० खुपियोड़ी)

खुपरी-सं०स्त्री०—१ खोपड़ी । उ०—सू ढाल कट घोड़ै री कनौती माथै पड़ी सूं घोड़े री कनौती नै माथै री खुफरी दूर हुई ।—द.दा.
२ देखो 'खपरी' (रू.भे.)

खुफिया-वि०—गुप्त, पोशीदा, छिपा हुआ ।
यौ०—खुफिया पुलिस ।

खुफियौ-सं०पु० [अ० खुफीय:] गुप्तचर, भेदिया ।

खुब-सं०स्त्री०—भाप से कपड़े धोने की धोबी की भट्टी ।

खुबक-सं०पु०—घोड़ों का एक रोग विशेष जिसके कारण घोड़े के गले में ग्रंथी हो जाती है (शा.हो.)

खुटीजणौ, खुटीजवौ—भाव वा० ।

खुटाणौ, खुटाबौ-क्रि०स०—१ समाप्त करना. २ बंधनमुक्त करना ।

खुटाणहार, हारौ (हारी), खुटाणियौ—वि० ।

खुटायोड़ौ—भू०का०कृ० ।

खुटाईजणौ, खुटाईजवौ—कर्म वा० ।

खुटणौ—अक० रू० ।

खुटायोड़ौ-भू०का०कृ०—१ समाप्त किया हुआ. २ बंधनमुक्त किया हुआ । (स्त्री० खुटायोड़ी)

खुटाईजणौ, खुटाईजवौ—देखो 'खुटाणौ' (रू.भे.)

खुटावणहार, हारौ (हारी) खुटावणियौ—वि० ।

खुटाविओड़ौ, खुटावियोड़ौ, खुटाव्योड़ौ—भू०का०कृ० ।

खुटावीजणौ, खुटावीजवौ—कर्म वा० ।

खुटिया-सं०पु०—एक प्रकार का खाद्य पदार्थ जो लखनऊ में बनता है ।

उ०—खुटिया लखनऊ की, गटा कनोज की, पेड़ा मथुरा की, ओळा सिकंदराबाद की अद्भुत हुवै छै ।—वां.दा.

खुटियोड़ौ-भू०का०कृ०—समाप्त. २ बन्धनमुक्त । (स्त्री० खुटियोड़ी)

खुटोड़ौ—देखो 'खटोड़ौ' (रू.भे.) (स्त्री० खुटोड़ी)

खुडौ—देखो 'खुड्डौ' । उ०—सो ठाकुरद्वारौ इण खुडे ऊपर आय चढ़ियौ ।—नांपा सांखळा री वात

खुड्डी—१ देखो 'खोड़ी'. २ देखो 'खुड्डी' ।

खुड्डौ-सं०पु० [सं० खात=खड्ड] १ मुर्गा-मुर्गियों को रखने का कटघरा, दड़बा. २ मुखद्वार (गुफा आदि का) उ०—जो नीसर जायसी तौ खोह रा खुड्डा नजीक छै, जिणां में वड़ जासी तौ मूंडा पड़सै । ३ ऊँची भूमि । —डाढ़ाळा सूर री वात

खुद्ढी—१ देखो खोड़ी'. २ वह गड्ढा जो कुतिया अपने बच्चे देने के लिये प्रसव के पूर्व खोद कर तैयार रखती है ३ गहराई में बना हुआ छोटा घर. ४ गुफा ।

खुणखुणियौ-सं०पु० [अनु०] १ बच्चों का एक खिलौना विशेष जिसमें कंकर होने से उसे हिलाने पर आवाज होती है. २ योनि (बाजारू)

खुणचियौ, खुणचौ-सं०पु०—हाथ की उंगलियों को परस्पर के समान सटा कर अंगूठे को बीच में रखने पर चम्मचनुमा बनी हुई हथेली की आकृति तथा इस आकृति में समाने वाला पदार्थ ।

खुणणौ, खुणबौ-क्रि०स०—देखो 'खिणणौ' (रू.भे.) उ०—ठोड़-ठोड ठांवड़ा बरतै. वणिया कूंडा कड़ालिया । रूप विगाड़ै लेण माटी, खुणिया ऊंडा दरड़िया ।—दसदेव

खुणणहार, हारौ (हारी), खुणणियौ—वि० ।

खुणिओड़ौ, खुणियोड़ौ, खुण्योड़ौ—भू०का०कृ० ।

खुणीजणौ, खुणीजवौ—कर्म वा० ।

खुणस-सं०पु०—खुनस, क्रोध, गुस्सा, रीस । उ०—मनी मंकाणी मारुवी, खुणसउ राखइ कंत । हंसतां प्री सूं वीनवइ, सांभळि प्री विरतंत ।—ढो.मा.

खुणाणौ, खुणावौ-क्रि०स० ('खुणणौ' का प्रे०रू०') देखो 'खिणाणौ' (रू.भे.)

उ०—ताहरां राजा खुणाय वित कढ़ावौ ।—चौबोली

खुणियोड़ौ-भू०का०कृ०—खुदा हुआ (स्त्री० खुणियोड़ी)

खुतराळी-सं०स्त्री०—पशुओं के पैर खुरचने की क्रिया जिससे धूलि पीछे की ओर फेंकी जाती है ।

खुथौ-सं०पु०—बकरी के बालों के बने हुए मोटे वस्त्र जो गाड़ी में गेहूं की भूसी व वदरी पत्र (पालो) आदि भर कर लाने के लिये उसके आजू-बाजू में लगाये जाते हैं, का अग्र भाग जो गाड़ी के आगे के भाग में खड़े दो डंडों के बीच में उठा होता है ।

खुदंग-सं०पु०—एक देश का नाम । उ०—छाछ कवांण खुदंग सर, समसेरां ईरांन । आंणै अस ऐराक सूं, थटण घणौ घन थांन ।—वां.दा.

खुद-अव्यय [फा०] स्वयं, आप ।

खुदकास्त-सं०स्त्री०यौ० [फा० खुदकाश्त] वह जमीन जिसे उसका मालिक स्वयं जोते व बोये ।

खुदकुसी-सं०स्त्री०यौ० [फा० खुदकुशी] आत्म-हत्या, अपने हाथों अपने आप मारने की क्रिया ।

खुदगरज-वि०यौ० [फा० खुद+अ० गरज] अपना स्वयं का मतलब साधने वाला, स्वार्थी ।

खुदगरजी-सं०स्त्री० [फा० खुद+अ० गरज+रा० ई] स्वार्थपरता । वि०—स्वार्थी, मतलबी ।

खुदड़णौ, खुदड़बौ—क्रि०स० [सं० क्षुदिर] कुचलना, रौंदना ।

खुदड़णहार, हारौ (हारी), खुदड़णियौ—वि० ।

खुदड़िओड़ौ, खुदड़ियोड़ौ, खुदड़्योड़ौ—भू०का०कृ० ।

खुदड़ियोड़ौ-भू०का०कृ०—कुचला हुआ (स्त्री० खुदड़ियोड़ी)

खुदणौ, खुदवौ-क्रि०अ०—खुदना, खोदा जाना । उ०—खुद्यौ ए खुदायौ, हां ए बाई थारौ भरचौ ए झिलोळा खाय, झीलणवाळी बाई गांव रा सासरे ।—लो.गी.

खुदणहार, हारौ (हारी), खुदणियौ—वि० ।

खुदिओड़ौ, खुदियोड़ौ खुद्योड़ौ—भू०का०कृ० ।

खुदीजणौ, खुदीजवौ—भाव वा०

खुदबखुद-वि० [फा० खुद+ब+खुद] स्वयं, अपनेआप, आप खुद ।

खुदमुख्तार-वि० [फा० खुद+अ० मुख्तार] जिस पर किसी का दबाव न हो, अनिरुद्ध, स्वतंत्र, स्वच्छंद ।

खुदमुख्तारी-सं०स्त्री० [फा० खुद+अ० मुख्तार+रा० ई] स्वच्छंदता, स्वतंत्रता ।

खुदवाई-सं०स्त्री०—१ खुदवाने का भाव. २ खुदवाने की क्रिया. ३ खुदवाने की मजदूरी ।

खुदवाणौ, खुदवावौ-क्रि०स०—('खोदणौ' का प्रेरणार्थक रूप) खुदवाना, खोदने का कार्य कराना ।

खुदवाणहार, हारौ (हारी), खुदवाणियौ—वि० ।

खुरचणियौ, खुरचणौ–सं०पु०—खुरचने या कुरेदने का छोटा उपकरण।

खुरचणौ, खुरचबौ–क्रि०स० [सं० क्षुरणं] कुरेदना, किसी जमी हुई वस्तु को उसके आधार पर से कुरेद कर अलग करना।

खुरचणहार, हारौ (हारी), खुरचणियौ—वि०।

खुरचाणौ, खुरचाबौ, खुरचावणौ, खुरचावबौ— क्रि०प्रे०रू०।

खुरचिग्रोड़ौ, खुरचियोड़ौ, खुरच्योड़ौ—भू०का०कृ०।

खुरचीजणौ, खुरचीजबौ—कर्म वा०।

खुरचणी–सं०स्त्री०—१ छेनी की तरह का एक औजार जिससे ठठेरे बरतन छीलने का कार्य करते हैं. २ चमारों का एक औजार. ३ 'खुरचणौ' का अल्पा०। खुरचने का छोटा औजार।

खुरचियोड़ौ–भू०का०कृ०—कुरेदा हुआ, खुरचा हुआ। (स्त्री० खुरचियोड़ी)

खुरजी–सं०स्त्री०—घोड़े पर दोनों ओर लटकने वाला झोला जिसे जरूरी सामान रखने के लिए घुड़सवार सवारी के समय अपने साथ रखता है।

खुरणोख–सं०स्त्री०—आकाश में उड़ कर छा जाने वाली रज, धूलि।

खुरतार, खुरताळ, खुरताळि, खुरताळु–सं०स्त्री०यौ० [सं० क्षुरत्राण] १ खुर या सुम का आघात, टाप। उ०—१ गिर छीजे खुरताळ, पहवि थळ सिखर पलट्टे। पड़े अपंथे पंथ, त्रणह तुट्टे सर खुट्टे।
—रा.रू.

२ घोड़े के सुम के नीचे लगाई जाने वाली लोहे की 'नाल'।
उ०—१ हयं सफ सारन की खुरतार, खनंकित पाहन अग्गि उपार।
—ला.रा.

उ०—२ खुरताळु के झमके सत मिपा के मिळाव आउ जाउ में चक्री निरत करबे में हूर।—र.रू. ३ जूतों की मजबूती के लिए उसके तले, एडी अथवा पंजे के नीचे लगाई जाने वाली लोहे की नाल।

खुरद–वि० [फा० खुर्द] छोटा, लघु। उ०—खुरद छोटा नूं कहै, कलां वडा नूं कहै।—बां.दा.ख्यात.

खुरदबीन–सं०स्त्री० [फा० खुर्दबीन] एक विशेष प्रकार का छोटी वस्तु को बड़े आकार में देखने का यंत्र।

खुरदम–सं०पु०—गधा, खर (अ.मा., ह.नां.)

खुरदाफरोस–सं०पु० [फा० खुर्दाफरोश] छोटी बड़ी फुटकर चीजें बेचने वाला।

खुरप–सं०पु०—गधा, खर (अ.मा.)

खुरपी–सं०स्त्री० (पु० खुरपौ) १ लोहे का बना एक छोटा औजार जिसके एक सिरे पर पकड़ने के लिए लकड़ी का हत्था लगा रहता है। यह औजार घास को छीलने व भूमि गोड़ने के काम में आता है. २ चमारों का चमड़े को छीलने का औजार।

खुरपौ–सं०पु० [सं० क्षुरप] १ लोहे का बना एक उपकरण जो कड़ाई में हलुआ वगैरह बनाते समय हिलाने या खुरचने के काम में आता है. (स्त्री० खुरपी] २ देखो 'खुरपी' (अल्पा०) ३ तलवार।

मुहा०—खुरपौ म्यांन करणौ—तलवार म्यान में रखना अर्थात् चुप रहना।

खुरफौ—देखो 'खुरपौ' (रू.भे.)

खुरबांणी—देखो 'खूबांनी' (रू.भे.)

खुरभी–सं०पु०—१ छोटा बछड़ा. २ कायर, कमजोर।

खुरमुरी–सं०स्त्री०—किसी कार्य के लिए कटिबद्ध या तैयार रहने का भाव।

खुरमौ–सं०पु० [अ० खुरमा] १ चूरमा बनाने के उद्देश्य से तले हुए आटे की बाटी जिनको चूर कर चूरमा बनाया जाता है. २ एक प्रकार का घोड़ा (शा.हो.)

खुररांट–वि०पु० [सं० खुर्राट] १ बूढ़ा, वृद्ध. २ अनुभवी. ३ चालाक, कांइयां।

खुररौ–सं०पु० [सं० क्षुरक] १ घोड़े तथा अन्य पशुओं की पीठ का मैल उतारने का एक उपकरण तथा इस उपकरण द्वारा मैल उतारने की क्रिया। उ०—कंवर दिन आथमियै सहिर मांहे आय खांणां दांणां री कीधी नै टकौ एक देय नै घोड़ां रै खुररौ करायौ।
—जगदेव पंवार री वात

२ ऊपर से नीचे तक पत्थर या ईंटों से भूमि समतल बना कर यातायात योग्य निर्मित की गई ढलुआ जमीन।

खुराळियौ–सं०पु०—गाड़ी से खाद ढोते समय गाड़ी पर लगाया जाने वाला एक उपकरण।

खुरासनी–सं०स्त्री०—एक प्रकार की तलवार।

खुरसळी–सं०स्त्री०—चौपाए पशुओं के खुर।

खुरसांण–सं०स्त्री०—१ तलवार। उ०—गया गळंती राति पर, जळती पाया नहीं। से सज्जण परभाति, खड़, हड़िया खुरसांण ज्यूं।—ढो.मा.
सं०पु०—२ यवन, मुसलमान (डि.को.) ३ घोड़ा (अ मा.) ४ तीर (डि.नां.मा.) ५ सेना (अ.मा.) ६ बादशाह.
उ०—खित कारणै करै नित खळवट, खटै कटक तणा खुरसांण।
प्रसणां सोण अहोनिस 'पाताल' खग सावरत रहै खुमांण।
—महारांणा प्रतापसिंह री गीत

७ शस्त्र पैना करने का एक औजार। उ०—१ तीर री लोह तब ही तेज होइ जब खुरसांण चढ़ाइयै।—वेलि. टी. २ सच्चा सतगुरु खुरसांण खांडा दुधारा।—केसोदास गाडण ८ देखो 'खुरासांण' (रू.भे.)

खुरसांणज–सं०पु०—तीर (डि.नां.मा.)

खुरसांणियौ–सं०पु०—शान पर शस्त्र पैना करने वाला।

खुरसांणी–वि०—२ खुरसान देश का निवासी। उ०—ऊमर ऊतावळि करइ पल्लांणियां पवंग,-खुरसांणी सूधा खयंग चढ़िया दळ चतुरंग।
—ढो.मा.

खुबणौ, खुबबौ—देखो 'खुपणौ' (रू.भे.)
खुबणहार हारौ (हारी), खुबणियौ—वि० ।
खुबवाणौ, खुबवाबौ—प्रे०रू० ।
खुबाणौ, खुबाबौ खुबावणौ, खुबावबौ—क्रि०स० ।
खुबिग्रोड़ौ, खुबियोड़ौ, खुब्योड़ौ—भू०का०कृ० ।
खुबीजणौ खुबीजबौ—भाव वा० ।
खुबाणौ खुबाबौ—देखो 'खुपाणौ' (रू.भे.)
खुबायोड़ौ—देखो खुपायोड़ौ'। (स्त्री० खुबायोडी)
खुबावणौ, खुबावबौ–क्रि०स०—देखो 'खुपाणौ' (रू.भे.)
खुबावणहार, हारौ (हारी), खुबावणियौ—वि० ।
खुबाविग्रोड़ौ, खुबावियोड़ौ, खुबाव्योड़ौ—भू०का०कृ० ।
खुबावीजणौ, खुबावीजबौ—कर्म वा० ।
खुबणौ—ग्रक० रू० ।
खुबावियोड़ौ–भू०का०कृ०—देखो 'खुपावियोड़ौ' (रू.भे.) (स्त्री० खुबावियोड़ी)
खुबियोड़ौ–भू०का०कृ०—देखो खुपियोड़ौ' (स्त्री० खुबियोड़ी)
खुभणौ खुभबौ–क्रि०ग्र०—देखो 'खुपणौ' (रू.भे.) उ०—चढ़ि ग्राभ छडाळ चमक चुभी, खुरताळ घमक पताळ खुभी ।—मे.म.
खुभणहार, हारौ (हारी), खुभणियौ—वि० ।
खुभवाणौ, खुभवाबौ—प्रे०रू० ।
खुभाणौ खुभावौ, खुभावणौ, खुभावबौ—क्रि०स० ।
खुभिग्रोड़ौ, खुभियोड़ौ, खुभ्योड़ौ—भू०का०कृ० ।
खुभीजणौ, खुभीजबौ—भाव वा० ।
खुभाणौ–क्रि०स०—देखो 'खुपाणौ'। उ०—सू ग्रो वचन जाहर हुवौ ग्ररु ग्रौरंग सुणियौ तद दिल में खुभाय रख्यौ थौ ।—द.दा.
खुभाणहार, हारौ (हारी), खुभाणियौ—वि० ।
खुभायोड़ौ—भू०का०कृ० ।
खुभाईजणौ, खुभाईजबौ—कर्म वा० ।
खुभणौ—ग्रक० रू० ।
खुभायोड़ौ–भू०का०कृ०—देखो 'खुपायोड़ौ' (रू.भे.) (स्त्री० खुभायोड़ी)
खुभावणौ. खुभावबौ–क्रि०स०—देखो 'खुपाणौ' (रू.भे.)
खुभावणहार, हारौ (हारी), खुभावणियौ—वि० ।
खुभाविग्रोड़ौ खुभावियोड़ौ, खुभाव्योड़ौ–भू०का०कृ० ।
खुभावीजणौ, खुभावीजबौ—कर्म वा० ।
खुभणौ—ग्रक० रू० ।
खुभावियोड़ौ–भू०का०कृ०—देखो 'खुपायोड़ौ' (रू.भे.) (स्त्री० खुभावियोड़ी)
खुभियोड़ौ–भू०का०कृ०—देखो 'खुपियोड़ौ' (रू.भे.) (स्त्री० खुभियोड़ी)
खुमरी–सं०स्त्री०—एक चिड़िया विशेष (वेलि.)
खुमांणी–सं०स्त्री०—एक प्रकार का मेवा विशेष । उ०—छारक ना खुम करै. खुमांणी दाय न ग्रावै । खारी वणी विदांम, दांम ग्रखरोट लगावै ।—दसदेव
खुमार, खुमारी–सं०पु० [ग्र० खुमार] १ नशे के उतार की ग्रवस्था जिसमें हल्का सिर दर्द ग्रौर हल्की ऐंठन होती है. २ मद, नशा, उन्माद ३ नशे की ग्रवस्था । उ०—इसै समइयै में धूप तपै छै, रात रा ग्रमलां री खुमारियां देसोतां राजांनां नै तिस लागै छै । —रा.सा.सं.
४ वह दशा जो रात भर जागने से होती है । उ०—ग्रलवेली ग्रलसांण, निपट खुमारी नींद की ।—ग्रज्ञात
[रा०] ५ गर्मी की ऋतु में भिगो कर ग्रोढ़ने का कपड़ा ।
खुरंट–सं०पु० [सं० क्षुर = खरोचना + अंड] घाव के ऊपर सूख कर जमा हुग्रा मवाद, सूखे घाव के ऊपर जमी पपड़ी ।
पर्याय—किण, व्रणपद ।
क्रि०प्र०—ग्रावणौ, उखेड़णौ, उखेलणौ, कुचरणौ ।
मुहा०—खुरंट उखेड़णौ—घाव की पपड़ी उखेड़ना—घाव को ताजा करना; चुभने वाली विस्मृत बातों को पुनः दोहराना ।
कहा०—लारला खुरंट उखेलणा—रुके घाव को ताजा करना । किसी को चुभने वाली भूली हुई बात को पुनः दोहराना ।
खुर–सं०पु० [सं०] १ चौपायों के पैर की कड़ी टाप जो बीच में से फटी होती है । गाय, भैंस ग्रादि सींग वाले चौपायों के पैर का निचला छोर जो खड़े होने पर पृथ्वी पर पड़ता है । सफ । (ग्रल्पा० खुरड़ौ)
२ नख नामक गंध द्रव्य ।
[रा०] ३ पैर, चरण । उ०—मन जांणै चढूं हाथियां माथै, खुर रगड़तां जनम खवै । नर री चीती वात हुवै नह, हर री चीती बात हुवै ।—ग्रोपौ ग्राढ़ौ ४ तीर, वाण (ग्र.मा., डिं.नां.मा.)
खुरखुराणौ, खुरखुरावौ, खुरखुरावणौ, खुरखुरावबौ–क्रि०प्र० [ग्रनु०] खुर खुर शब्द करना, गले में कफ के कारण घरघराहट होना, खुरखुरा मालूम होना ।
[सं०]—किसी पदार्थ को खौलते घी या तेल में भून कर कडा करना ।
खुरखुरौ–सं०पु०—पशु की चाल विशेष ।
वि०—जो चिकना न हो, खुरदरा ।
खुरखूं–सं०स्त्री०—पृथ्वी (डिं.नां.मा.)
खुरड़णौ, खुरड़बौ—देखो 'खुरचणौ' (रू.भे.)
खुरड़ियोड़ौ—१ देखो खुरचियोड़ौ'। (स्त्री० खुरड़ियोड़ी)
२ छटपटाया हुग्रा ।
खुरचण–सं०स्त्री० [सं० कूर्चनम्] १ खुरच कर या कुरेद कर एकत्रित की हुई वस्तु. २ पकाते या ग्रौटाते समय बर्तन के तले में चिपक जाने वाला खाद्य पदार्थ का वह ग्रंश जो बाद में कुरेद कर निकाला जाय ।
मुहा०—खुरचण खूटणी—बची-खुची सामग्री का भी समाप्त हो जाना ।

खुलीजणौ, खुलीजबौ—भाव वा० ।
खुळणौ, खुळबौ—क्रि०अ०—चौसर आदि खेलों में कोड़ी-पासे आदि का हाथ में हिल कर गिरना ।
खुलमखुला—क्रि०वि०—खुले आम, जाहिर, प्रकाश्य रूप से । (मि० 'चौड़े-धाड़े')
खुलवायोड़ौ—भू०का०कृ०—१ खुलवाया हुआ. २ बंधन-मुक्त कराया हुआ. ३ आरम्भ कराया हुआ (स्त्री० खुलवायोड़ी)
खुलाणौ, खुलाबौ—क्रि०स० ('खुलणौ' का प्रे०रू०)
देखो 'खुलावणौ' (रू.भे.) उ०—मदझरां भारथ रौ टकां नह मुलावै, खाग वळ खुलावै फीलखांना ।
खुलाणहार, हारौ (हारी), खुलाणियौ—वि० ।
खुलायोड़ौ—भू०का०कृ० ।
खुलाईजणौ, खुलाईजबौ—कर्म वा० ।
खुलणौ—अक० रू० ।
खुलावणौ, खुलावबौ—रू०भे० ।
खुळाणौ, खुळाबौ—क्रि०स०—चौसर आदि खेल में कोड़ी या पासे आदि को हाथ में लेकर हिला कर डालना या हाथों के बीच या मुट्ठी में लेकर हिलाना ।
खुलायोड़ौ—भू०का०कृ०—१ खुलाया हुआ. २ बंधन-मुक्त कराया हुआ. ३ आरम्भ कराया हुआ । (स्त्री० खुलायोड़ी)
खुळायोड़ौ—भू०का०कृ०—चौसर खेल में कोड़ी अथवा पासे को हाथ से हिला कर खेला हुआ । (स्त्री० खुळायोड़ी)
खुलावणौ, खुलावबौ—क्रि०स० ('खुलणौ' का प्रे०रू०) १ खुलाना, खुलवाना. २ आरम्भ कराना. ३ बंधन-मुक्त करवाना. ४ बंधन हटवाना ।
खुलावणहार, हारौ (हारी), खुलावणियौ—वि० ।
खुलाविओड़ौ, खुलावियोड़ौ, खुलाव्योड़ौ—भू०का०कृ० ।
खुलावीजणौ, खुलावीजबौ—कर्म वा० ।
खुलणौ—अक० रू० ।
खुळावणौ, खुळावबौ—क्रि०स०—देखो 'खुळाणौ' (रू.भे.)
खुळावणहार, हारौ (हारी), खुळावणियौ—वि० ।
खुळाविओड़ौ, खुळावियोड़ौ, खुळाव्योड़ौ—भू०का०कृ० ।
खुळावीजणौ, खुळावीजबौ—कर्म वा० ।
खुळणौ—अक० रू० ।
खुलासाळ—सं०स्त्री०यौ० [रा० खुला+स० शाला] मकान में कमरों के आगे के भाग में बनाई जाने वाली खुली शाला जिसके कोई द्वार नहीं होती, ऊपर छत होती है । बरामदा, खुला बरंडा ।
खुलासौ—सं०पु० [अ० खुलासा] १ सारांश, संक्षेप. २ निवटारा, फैसला ।
वि०—खुला हुआ, अवरोधरहित, साफ-साफ, स्पष्ट ।
खुलेआळे—क्रिया वि०—देखो 'खुलमखुला' ।
खुलेपगां—वि०—स्वतंत्र, आजाद, मुक्त. २ उच्छृंखल ।
खुलौ—वि० (स्त्री० खुली) १ बंधनरहित. २ आवरणरहित ।
उ०—खुली आथणियां साथणियां खाती, फूली-फूली फिर फूंद्याळी गाती ।—ऊ.का. ३ अवरोधहीन, स्वतंत्र, स्वच्छंद ।
२ स्पष्ट, प्रकट । (स्त्री० खुली)
खुळयौ—वि० [सं० स्खलित] पतित, पथभ्रष्ट । उ०—रुळया खुळया रजपूत विरांमण मिळगा विटळा । वैस्य मिळ गया विकळ सुद्र कुळ रळगा सिटळा ।—ऊ.का.
खुल्लमझुल्ल—वि० [सं० क्षुल्लकंज] १ अव्यवस्थित. २ अंडवंड
सं०पु०—सामान, अटाला ।
खुल्लणौ, खुल्लबौ—क्रि०अ०—देखो 'खुलणौ' (रू.भे.)
खुल्लमखुल्ला—देखो 'खुलमखुला' (रू.भे.)
खुल्हणौ, खुल्हबौ—देखो 'खुलणौ' । उ०—१ अनिबंध चमू वणि चतुर अंग, महिनाथ हुकम खुल्लिय मतंग ।— रा.रू. उ०—२ तठा उपरांयत वाकरा उणहीज दरखतां सूं टांगणा कीजै छै । वाकरा खुल्है छै ।—रा.सा.सं.
खुवाड़ियौ—देखो 'कुवाड़ियौ' (रू.भे.)
खुवाणौ, खुवाबौ—क्रि०स०—खिलाना । उ०—१ खाणौ ब्यांरौ खात, खुवाणौ निज उणियारौ । लेणौ जांणै नोज, दिराणौ कारज ज्यांरौ ।—दसदेव उ०—२ जो म्हारौ कांम सुधरे तौ जितरौ नकद खजांना में छै सारौ फकीरां नूं वांटूं, भूखां नूं खुवाय देऊं ।
—नी.प्र.
खुवार—सं०पु० [फा० ख्वार] १ खराबी. २ नशा. ३ नाश, ध्वंस । उ०—जिणां कपट सूं धणी रौ परव छोडियौ तिणां नूं मारिया खुवार किया ।—नी.प्र. ४ अनर्थ । उ०—मोडा टोडा वाकरा, चोथी विधवा नार । इतरा तौ भूखा भला, धाया करै खुवार ।
—प्राचीन
वि०—खराब । उ०—सो उण री कवर नदी रै रेलै सूं नेड़ै थी सो एक समय मेह इसौ घणौ आइयौ, रेलौ इसौ जोर सूं आवियौ जे घोर नूं खुवार करै ।—नी प्र.
खुस—वि० [फा० खुश] प्रसन्न, मगन, मुदित, आनन्दित, अच्छा ।
क्रि०प्र०—करणौ, रै'णौ, होणौ ।
खुसकौ—देखो 'खुस्कौ' (रू.भे.)
खुसखत—वि० [फा० खुशखत] जिसकी लिखावट सुंदर हो, सुंदर अक्षर लिखने वाला ।
खुसखबरी—सं०स्त्री० [फा० खुशखबरी] शुभ समाचार, प्रसन्न करने वाला समाचार, अच्छी खबर ।
खुसदिल—वि० [फा० खुशदिल] १ प्रसन्न चित, प्रत्येक दशा में आनंदित रहने वाला. २ हंसोड़, मसखरा ।
खुसनवीस—सं०पु०यौ० [फा० खुशनवीस] सुन्दर अक्षर लिखने वाला, सुन्दर लिखावट वाला ।

२ मुसलमानी। उ०—खुरसांणी खाफर खेड़ खत्ति, प्रारम्भ कियउ उतराधिपत्ति।—रा.ज.सी.

सं०पु०—खुरसान देश का घोड़ा।

खुरसांन—देखो 'खुरसांण'। उ०—दूजे बंध लोहे री जिण अंग नूं दीजै सौ सोहांन खरसांन सू घिसियौ जाय।—नी.प्र.

खुरसाड़ौ—सं०पु०—पशुओं के खुरों में होने वाला एक रोग विशेष।

खुरसी—सं०स्त्री०—१ कुर्सी, बेठामन. २ पद, ओहदा. उ०—अमावड वनां में हुई लोथां अनंत चढै, घोड़ां वात दिगत चाली। साथ रा दिरांणा हजारां साहिबा, खुरसिया हजारां हुई खाली।—वां.दा.

क्रि०प्र०—बैठणौ

३ मकान आदि का आधार।

क्रि०प्र०—माडणा।

खुरसीबंध—देखो 'कुरसीबंध'। उ०—तन प्रत नेह तार मत तांणौ, आरतवंत दया तो आंणौ। जे म्हांनै खुरसीबंध जाणौ, मारू आय महलां रंग माणौ।—सियाळा री गीत

खुरहरौ—देखो 'खुररौ' (रू.भे.)

खुराई—सं०स्त्री०—१ वह रस्सी जिससे पशुओं के दोनों पैर परस्पर बांध दिए जाते हैं. २ एक प्रकार का फंदा जो उद्दंड बैल को पकडने के लिए काम में लिया जाता है।

खुराक—सं०स्त्री० [फा० खुराक] १ भोजन, आहार. २ औषधि की एक समय की मात्रा।

खुराकी—सं०स्त्री०—वह नकद दाम जो खुराक के लिए दिए जाये।

वि०—अधिक खाने वाला। उ०—खोखर बडो खुराकी, जिण खायौ आपा सरीखौ डाकी।

खुराड़ियौ, खुराड़ौ—देखो 'खराडौ' (रू.भे.)

खुराट—वि०—दक्ष, चतुर।

खुराफत—सं०स्त्री० [अ०] १ बेहूदी व भद्दी बात, गाली-गलौज.

२ झगड़ा, बखेड़ा, उपद्रव।

क्रि०प्र०—करणी, सूझणी, होणी।

खुरासांण—सं०पु०—१ फारस देश का एक बडा सूबा। यह अफगानिस्तान के पश्चिम में आया हुआ है. २ मुसलमान, यवन (डिं.को.) ३ सेना, फौज (अ.मा.) ४ बादशाह. ५ मुसलमान. ६ खुरासांण देश का घोडा विशेष। उ०—वर्णं लूम भूमां हुवा सज्ज व जी, तुखारी खुरासांण भाड़ेज ताजी।—वं.भा.

खुरासांणी—देखो 'खुरसांणी' (रू.भे.)

खुरी—सं०स्त्री० [सं० खुर+रा०प्र०ई] १ चुराए गए पशुओं को पुनः लौटाने के लिए दिया जाने वाला गुप्त धन. २ पशुओं द्वारा भूमि खोदने की क्रिया। उ०—खुरियां करता खूंद हुवै तुरियां हांकारा।—ऊ.का.

३ मौज, आनन्द। उ०—स्त्री माताजी करै तो पठांणां नै भूंडा दिखाय नै घोड़ियां ल्यावां नै खुरी करां।—जसड़ा मुसड़ा भाटी री वात

४ घोड़े को फेरने की क्रिया विशेष।

सं०पु०—५ खुर वाला पशु।

मुहा०—खुरी करणी, खुर पटकना—१ उतावला होना. २ तंग करना।

६ खुर, सुम. (बहु० खुरिया) ७ घोड़ा।

खुरौ—सं०पु०—१ फर्श. २ देखो 'खुररौ' (रू.भे.) ३ शिर पर बालों की जडों में जमने वाला मैल।

खुळखुळाणौ, खुळखुळाबौ—क्रि०स०—खेल में कौड़ियां या पासे को हाथ में लेकर नीचे गिराने के पहिले हिलाना।

खुलखुलियौ—सं०पु०—बच्चों को होने वाला एक प्रकार का रोग जिसमें उन्हें बार बार खांसी चलती है। कुक्कर खांसी।

खुळखुळी—सं०स्त्री०—१ अव्यवस्था. २ खांसी की खरखराहट. ३ शीघ्रता, उतावल, जल्दबाजी. ४ गुदगुदी, सिहरन. ५ कामोद्योतक सिहरन।

खुलणौ, खुलबौ—क्रि०अ० [सं० खुड, खुल = भेदने] १ खुलना। किसी वस्तु के जुड़े हुए या सटे हुए भागों का इस प्रकार अलग होना कि उसके अंदर या पार तक आना जाना या वस्तु का रखना आदि हो सके। मध्य के अवरोध या आवरण का दूर हटना. २ किसी बंधी हुई वस्तु आदि का छूटना. ३ दरार होना, छेद होना, फटना। उ०—अर सोढै सारंगदेव चामुंडराज रै चाचरै चंद्रहास झाड़ियौ तिण सूं टोप रा दो टूक होय मस्तक रौ चोथौ अंस खुलियौ।—वं.भा.

४ ऐसी वस्तु का तैयार होना जो बहुत दूर तक लकीर के रूप में आगे बढती हुई चली गई हो और जिस पर किसी वस्तु का आना-जाना हो. ५ किसी कार्यालय, दफ्तर, दूकान या कारखाने आदि का नित्य का कार्य आरम्भ होना. ६ बांधने वाली या जोड़ने वाली वस्तु का हटना, बंधन का छूटना, जोड़ हटना. ७ ऐसे नये कार्य का आरम्भ होना जिससे सर्वसाधारण या अनेक लोगों का कार्य आदि के दृष्टिकोण से सम्बन्ध हो सके. ८ किसी क्रम का चलना या जारी होना. ९ शिकार किये गये पशु की चमडी का उतरना। उ०—तठा उपरायत बाकरा उणहीज दरखतां सूं टांगणा कीजै छै। बाकरा खुलै छै।—रा.सा.सं. १० किसी गुप्त या गूढ बात का प्रकट होना।

मुहा०—बात खुलणी—गुप्त रहस्य खुल जाना।

११ फबना, सुहावना जान पड़ना, अच्छा लगना. १२ हृदय की बात को सच्चे रूप में प्रकट करना, किसी बात को साफ-साफ कहना, भेद बताना।

खुलणहार, हारौ (हारी), खुलणियौ—वि०।

खुलवाणौ, खुलवाबौ, खुलवावणौ, खुलवावबौ—प्रे०रू०।

खुलाणौ खुलाबौ, खुलावणौ, खुलावबौ—क्रि०स०।

खुलिओड़ौ, खुलियोड़ौ, खुल्योड़ौ—भू०का०कृ०।

भयंकर. ३ क्रूर, निर्दयी ।

सं०पु०—नाश । उ०—हिमायत ग्रदल री जे नहीं होवै तो सवळा निवळां नूं मार खूंखार करै ।—नी.प्र.

खूंगाळी–सं०स्त्री०—गले में पहिनने का सोने या चांदी का ग्राभूपण विशेप जो हंसुली की हड्डी के पास रहता है । उ०—खोळा टंकचोड़ा गळ में खूंगाळी, जळ जुत ठोडी पर टिमकी जंघाळी ।—ऊ.का.

खूंगाळी–सं०पु० देखो 'खूंगाली' । उ०—मुद्राळा 'प्रताप' कोट सावूत राखियो, मारू सादूळा पटैत वाळा खूंगाळा सारीख ।—महादांन महडू

खूंच–सं०स्त्री०—गधे की गति या चाल ।

खूंचणो–सं०पु०—दोप, ग्रवगुण, ऐव ।

खूंजियो, खूंजीयौ–सं०पु०—जेव, गिरह, पाकिट । (मह० खूंजों)

खूंजो—देखो 'खूंजियो' (रू.भे.)

उ०—वैरण वीजळियां वंधरण विगताळू, लट्ठै घोर्तां रा खूंजा लटकाळू ।—ऊ.का.

खूंट–सं०पु० [सं० खंड] १ छोर, कोना. २ भारी चौकोर या लम्बा गोल पत्थर जो मकान की मजवूती के लिए कोनों पर लगाया जाता है. ३ ग्रोर, तरफ. ४ भाग, हिस्सा. ५ चुनने का कार्य या क्रिया ।

खूंटणी–सं०स्त्री०—चुनने (तोड़ने) की क्रिया, चुनने की स्थिति ।

खूंटणो—देखो 'खुरंट' (रू.भे.)

खूंटणो, खूंटवौ–क्रि०स० [सं० चुट छेदने] चुनना, तोड़ना, पौधे पर से फूल फल ग्रादि हाथ से तोड़ना ।

खूंटणहार, हारो (हारी), खूंटणियो—वि० ।

खूंटाड़णो, खूंटाड़वो, खूंटाणो, खूंटावो, खूंटावणो, खूंटाववो—प्रे०रू० ।

खूंटिग्रोड़ो, खूंटियोड़ो, खूंटयोड़ो—भू०का०कृ० ।

खूंटीजणो, खूंटीजवो—कर्म वा० ।

खूंटा–सं०पु० (एक व० 'खूंटो') १ पंवार या पंवार वंश की एक शाखा २ ज्वार या वाजरी ग्रादि की फसल कटने के वाद पीछे खड़े रहने वाले सूखे डंठल ।

खूंटाउखेड़–वि०—वंश का नाश करने वाला, निकम्मा ।

खूंटाउपाड़, खूंटाऊपाड़—वह घोड़ा जिसके वक्षस्थल पर भौंरी (चक्र) हो (शा.हो.)

खूंटागाड–सं०स्त्री०—घोड़े के घुटने के नीचे होने वाली भौंरी जो शुभ मानी गई है (शा.हो.)

खूंटाचिटकण–सं०पु०—वह वैल जिसके ग्रपने वंधन स्थान से चलने पर थोड़ी देर के लिए पैर से चट चट शब्द निकलता है ।

खूंटाडांणचराई–सं०स्त्री०—एक प्रकार का सरकारी कर जो मवेशियों की चराई के संवंध में लगाया था ।

खूंटाणो, खूंटावो–क्रि०स० ('खूंटणो' का प्रे०रू०) चुनवाना, तुड़वाना, पौधों से फल, फूल ग्रादि से तुड़वाना ।

खूंटाणहार, हारो (हारी), खूंटणियो—वि० ।

खूंटायोड़ो—भू०का०कृ० ।

खूंटाईजणो, खूंटाईजवो—कर्म वा० ।

खूंटापाड़–सं०स्त्री०—घोड़े के जांघ की संधि की नली पर होने वाली भौंरी जो ग्रशुभ मानी गई है (शा.हो.)

खूंटायोड़ो–भू०का०कृ०—चुनवाया हुग्रा । (स्त्री० खूंटायोड़ी)

खूंटारोप–सं०पु०—एक प्रकार का घोड़ा जो शुभ माना गया है (शा.हो.)

खूंटाळी–वि०—खम्भोंयुक्त ।

खूंटावणो, खूंटाववो—देखो 'खूंटाणो' ।

खूंटवाड़णो, खूंटवाड़वो—प्रे०रू० ।

खूंटाणहार, हारो (हारी), खूंटावणियो—वि० ।

खूंटाविग्रोड़ो, खूंटावियोड़ो, खूंटाव्योड़ो—भू०का०कृ० ।

खूंटावीजणो खूंटावीजवो—कर्म वा० ।

खूंटावियोड़ो—देखो 'खूंटायोड़ो' (रू भे.)

खूंटी–सं०स्त्री०—१ लकड़ी की कील ।

क्रि०प्र०—गाडणी, ठोरणी, लगाणी ।

मुहा०—खूंटी खींच'र सोवणो, खूंटी ताण'र सोवणो—चद्दर ग्रादि को इस प्रकार ग्रोढ़ कर व तान कर सोना कि एक सिरा सिर के नीचे दवे एवं दूसरा सिरा पैरों के नीचे दवे तथा दोनों सिरों के वीच का कपड़ा खूव तना हुग्रा हो । निश्चित होकर सोना ।

२ मेख की ग्राकार का छोटा लकड़ी का टुकड़ा जो किसी चीज में ग्रन्य चीजों को ग्रटकाने के लिए लगाया जाता है. ३ वाजरी या ज्वार के पौधे का वह सूखा डंठल जो फसल काट लेने पर खेत में गडा रह जाता है. ४ वालों के कड़े ग्रंकुर जो मूंडने के वाद वच रहते हैं या मूंडने के वाद थोड़े-थोड़े फिर निकल ग्राते हैं ।

मुहा०—खूंटी उखेड़णी, खूंटी निकाळणी—ऐसा मूंडना कि वाल की जड़ तक न रह जाय ।

खूंटीउखाड–सं०पु०—घोड़े की एक भौंरी जो पैरों में पुट्ठों के पास होती है ग्रौर जिसका मुंह ऊपर की ग्रोर होता है (शा.हो.)

खूंटीगाड–सं०पु०—घोड़े की एक भौंरी जो पैरों में पुट्ठे के ऊपर होती है ग्रौर जिसका मुंह नीचे की ग्रोर होता है (शा.हो.)

खूंटो–सं०पु०—१ वड़ी मेख जिसको भूमि पर गाड़ कर उसमें किसी पशु को वांधते हैं । कोई लकड़ी जो भूमि पर खड़ी गड़ी हो ग्रौर जिसमें कोई वस्तु वांधी या ग्रटकाई जाय ।

क्रि०प्र०—उखेड़णो, उखेलणो, गाडणो, ठोरणो ।

कहा०—१ खूंटो हार गळै वीजो हूं करै—स्वयं खूंटा ही वंधी रस्सी को निगल जाय तो ग्रन्य कोई क्या करे । जव रक्षक ही भक्षक वन जाय तव कहीं जाती है. (मि० वाड़ खेत नै खाय) २ खूंटै रै पांण वछड़ो कूदै—खूंटे के वल पर वछड़ा कूदता है । वछड़ा ग्रपने मालिक के वल पर ही कूदता है । कोई सामान्य व्यक्ति किसी समर्थ व्यक्ति के वल पर ही कुछ वोलता है या करता है. ३ खूंटो चोखो चाइजै—खूंटा ग्रच्छा होना चाहिए ।

खुसनवीसी-सं०स्त्री० [फा० खुशनवीसी] सुन्दर अक्षर लिखने की कला।
खुसनसीब-वि० [फा० खुशनसीब] सौभाग्यवान, खुशकिस्मत।
खुसनसीबी-सं०स्त्री० [फा० खुशनसीबी] सौभाग्य।
खुसनुमा-वि० [फा० खुशनुमा] जो देखने में भला मालूम हो, सुन्दर, मनोहर।
खुसबू-सं०स्त्री० [फा० खुशबू] सुगंधि, सौरभ।
(रू०भे०-खुसबोय, खुसबोह)
खुसबूदार-वि० [फा० खुशबूदार] सुगंधियुक्त, सुगंधित।
खुसबोय, खुसबोह-वि०—देखो 'खुसबू'। उ०—१ जीम चळू कर पांन आरोगियां पछै खुसबोय लगाई।—कुंवरसी सांखला री वारता
उ०—२ जाहर जस खुसबोह जुत, सुदता कुसम सुसोह। कांटां सूं भूंडौ क्रपण, वप अपजस वदबोह।—बां.दा.
खुसमिजाज-वि० [फा० खुशमिजाज] सदा प्रसन्न रहने वाला। देखो 'खुसदिल'।
खुसरंग-वि० [फा० खुशरंग] चटकीले रंग वाला, सुन्दर रंग वाला।
खुसहाल-वि० [फा० खुशहाल] १ अच्छी स्थिति वाला, सुखी, सम्पन्न।
उ०—जद महाराज फरमाई जे इण वखत इसी वात कुछ नहीं दोनूं ही जे खुसहाल छां।—पदमसिंह री वात २ प्रसन्न, खुश।
उ०—वरमाळा गळै पहराई खुसहाल होय घर कूं चाली।
—पंचदंडी री वारता
खुसहाली-सं०स्त्री० [सं० खुशहाली] १ उत्तम दशा, अच्छी हालत।
उ०—उठ जद महाराज कही—वणसी जिण दिन दीसी जासी, अवार तौ कोई खुसहाली री वातां होवण देवौ।
—सूरे खींवे री वारता
२ प्रसन्नता। उ०—ईंव तौ घणौ उछाह व मंगळ हुवौ, सारै सहर मांहो खुसहाली हुई छै।—कुंवरसी सांखला री वारता
खुसामंदी—देखो 'खुसामदी'। उ०—स्वतंत्र मन्त्र तन्त्र से, युरोपियन वदा वदी। खराव अज्ज अज्ज के, खुसामंदी खुसामंदी।—ऊ.का.
खुसामद-सं०स्त्री० [फा० खुशामद] दूसरे को प्रसन्न करने के लिए की जाने वाली झूठी प्रशंसा, चाटुकारी, चापलूसी।
कहा०—खुशामद को ताजा रुजगार—खुशामद करने से अच्छी आमद होती रहती है।
खुशामदगोय-वि०—खुशामद करने वाला। उ०—राजा पातसाह कनै खुसामदगोय अवस्य रहै, आं कनां सूं खुसामदगोय दूर होण रौ उपाय ही नहीं, अव्वुलफजल कहै।—बां.दा. ख्यात
खुसामदी-वि०—१ चापलूसी करने वाला, चाटुकारी करने वाला, अपने स्वार्थ के लिए किसी अन्य की झूठी प्रशंसा करने वाला।
सं०स्त्री०—चापलूसी, चाटुकारी। उ०—खिलावत हास खुसामदी, सुरका दुरकी संग। किसव लियां ए कुकवियां, माहव हुता मांग।
—बां.दा.
खुसाळ—देखो 'खुस्याळ' (रू.भे.) उ०—कीधौ हार सुधारतां, मिव तिण वार खुसाळ।—रा.रू.
खुसाळी—देखो 'खुस्याळी' (रू.भे.) उ०—जे म्हे खरळां रै कुसळ-खेम सूं परण आया छां। रावजी खुसाळी मांनज्यौ।
—कुंवरसी सांखला री वारता
खुसियाळ—देखो 'खुस्याळ' (रू.भे.) उ०—दाखी अरज दुरग मां, सव खळ करौ संघार। साहव मन खुसियाळ सूं, जीवै साल हजार।
—रा.रू.
खुसियाळी—देखो 'खुस्याळी' (रू.भे.) उ०—पिणियार्‌यां खुसयाळी कर दे, घर में ताल भराई रे।—लो.गी.
खुसिहाळ—देखो 'खुस्याळ' (रू.भे.)
खुसिहाळी—देखो 'खुस्याळी' (रू.भे.)
खुसी-सं०स्त्री० [फा० खुशी] हर्ष, आनन्द, प्रसन्नता।
खुसुरफुसुर-सं०स्त्री०—चुपके-चुपके कान में करने की गुप्त बात, कानाफूसी।
खुस्क-वि० [फा० खुश्क] १ जो तर न हो, सूखा, जिसमें रसिकता न हो [सं० शुष्क] २ रूखे स्वभाव वाला।
खुस्की-स०स्त्री० [फा० खुश्की] १ रूखापन, शुष्कता, नीरसता।
क्रि०प्र०—आणी, लाणी, होणी।
२ स्थल व भूमि. ३ पैदल चलने का कार्य. ४ अकाल, अवर्षण।
खुस्याळ-वि० [फा० खुशहाल] १ आनंदित, प्रसन्न, खुश।
उ०—१ खैरादियां दा दिल खुस्याळ दिल पाक तिरंदा।
—केसोदास गाडण
२ महाराज घणा खुस्याळ हुवा नै फुरमायौ।
—जगदेव पंवार री वात
२ एक प्रकार का घोड़ा (शा.हो.)
खुस्याळदळ, खुस्याळवाग-सं०पु०—एक प्रकार का घोड़ा (शा.हो.)
खुस्याळी-सं०स्त्री०—खुशी, प्रसन्नता, आनंद। उ०—१ इतरौ कहौ मारग चाल्यौ तिको सासरै गयौ, घणी खुस्याळी हुई, वधाई वांटी।
—जखड़ा मुखड़ा भाटी री वात
उ०—२ रावजी नै रसाळ मेली। घणौ हेत हुवौ। परवांना रावजी वांचीया। खुस्याळी हुई।—वीरम दे सोनगरा री वात
खूहम-सं०पु०—तीर (डि.नां.मा.)
खूंकियौ, खूंकौ-वि०—जिसका हाथ टूटने के उपरांत वापिस जोड़े जाने पर कुछ टेढ़ा रह गया हो।
खूंखाट-सं०स्त्री०—तेज आंधी या प्रचंड तूफान की आवाज। उ०—आंधी खूंखाटा करती उठ आवै। फदके फूंफाटा चेता चुक जावै। —ऊ.का.
खूंखाणौ-क्रि०स० [अनु०] १ तीव्र ध्वनि करना। उ०—आठूं पो'रां एकसी, सूं सूं सूंसातीह। वांडी यूं वटका भरै, खूं खूं खूंखातीह।
—बादळी
२ तीव्र गति करना।
खूंखार-वि० [फा० खूंख्वार] १ रक्त पीने वाला. २ डरावना,

खूंनी—देखो 'खूनी' (रू.भे.) उ०—वाळी बरत न वाढ़, कुग्रे मा'ला काढ़वा। विन खूंनी मत मार, कांमण थारी काढ़वा।—र.रा.

खूंबी, खूंभी—१ एक प्रकार का भूमि के मैल से उत्पन्न विना पत्ते का सफेद पौधा जिसका शाक बनता है। यह पौधा वर्षा में स्वत: उत्पन्न होता है। भूंफोड़ २ शिखर, गुम्बज। उ०—वळी सेत व्रन पालटै, पड़ै जोखिम कळस। खसै खूंभी हुग्रै मंडप खांगौ।
—राव गांगा री गीत

खूंमांण-सं०पु०—रावल 'खुम्मान' के वंशज सीसोदिया राजपूत।

खूंसड़ौ—देखो 'खासड़ौ' (रू.भे.)

खू-सं०पु०—१ कविजन. २ वृहस्पति. ३ सूर्य. ४ जीव. ५ किनारा. ६ पृथ्वी के जीव (एका०)
वि०—खूब, बहुत, ग्रधिक। उ०—पांचो ग्रने दस पनरौ खू पड़िया सतरै वीसै हय खतरै में पड़िया।—ऊ.का.

खूखू-सं०पु०—सूग्रर, शूकर।

खूड़—देखो 'खूड' (रू.भे.)

खूजियौ—देखो 'खूंजियौ' (रू.भे.)

खूट-सं०स्त्री०—चुक जाने का भाव, समाप्त होने का भाव, खत्म।
उ०—पावू रा पराधियां, कीनौ ग्रावट कूट। पड़िया पूरा पांच सौ, खीची रण में खूट।—पा.प्र.

खूटणौ, खूटबौ-क्रि०ग्र०—१ समाप्त होना, चुक जाना। उ०—पुर जोधांण, उदैपुर, जैपुर, पह थांरा खूटा परियांण।—बां.दा.
२ मरना। उ०—बूटी लापड़ गीचांवर बिन बूटी, खांडी बांडी सब खावण बिन खूटी।—ऊ.का.
कहा०—खूटी नै बूटी कोनी—मौत के लिए कोई दवा नहीं। मृत्यु ग्रवश्यम्भावी है।
३ बंधनमुक्त होना। उ०—जूंनी थह मिळतां हद जूटौ, खूनी सिंह सांकळां खूटौ।—बरजू बाई ४ हारना। उ०—खळ कर जोर तांण पग खूटा, उठै रांण कवि वांण उचारै।—र.रू.
५ फहरना। उ०—ग्रोहीज खूटा भंडा मिळण कज ग्रावियौ, वळै वाजावियौ जेत वाजा। कमर दी खांन यस ऊसह ग्ररजां करे, राखिया मुदीकर यसह राजा।—कविराजा करणीदांन
खूटणहार, हारौ (हारी), खूटणियौ—वि०।
खूटाणौ, खूटाबौ, खूटावणौ, खूटावबौ—क्रि०स०।
खूटिग्रोड़ौ, खूटियोड़ौ, खूटचोड़ौ—भू०का०कृ०।
खूटीजणौ, खूटीजबौ—भाव वा०।

खूटल-वि०—निर्लज्ज, बेशर्म। उ०—मलेच्छन तें सिट्यौ नाह, सूरन तें मिट्यौ नाह। खूटल पै खिटचौ खास, गंध लो न गांधी तें।
—ऊ.का.

खूटवण-वि०—समाप्त या संहार करने वाला।

खूटाड़णौ, खूटाड़बौ—देखो 'खूटाणौ' (रू.भे.)

खूटाड़ोड़ौ—देखो 'खूटायोड़ौ' (रू.भे.) (स्त्री० खूटाड़ियोड़ी)

खूटाणौ, खूटाबौ-क्रि०स०—समाप्त करना, खतम करना, चुकाना।
खूटाणहार, हारौ (हारी), खूटाणियौ—वि०।
खूटायोड़ौ—भू०का०कृ०।
खूटाईजणौ, खूटाईजबौ—कर्म वा०।
खूटणौ—ग्रक० रू०।

खूटायोड़ौ-भू०का०कृ०—१ समाप्त किया हुग्रा. २ निकम्मा, हलकी लगाया हुग्रा। (स्त्री० खूटायोड़ी)

खूटावणौ खूटावबौ—देखो 'खूटाणौ' (रू.भे.)
खूटावणहार, हारौ (हारी), खूटावणियौ—वि०।
खूटाविग्रोड़ौ, खूटावियोड़ौ, खूटाव्योड़ौ—भू०का०कृ०।
खूटावीजणौ. खूटावीजबौ- क्रि० कर्म वा०।
खूटणौ—ग्रक० रू०।

खूटावियोड़ौ—देखो 'खूटायोड़ौ'। (स्त्री० खूटावियोड़ी)

खूटियोड़ौ-भू०का०कृ०—१ समाप्त, चुका हुग्रा. २ निकम्मा, गया-बीता। (स्त्री० खूटियोड़ी)

खूटोड़ौ-वि० (स्त्री० खूटोड़ी) १ समाप्त. २ मृत. ३ निकम्मा।

खूटौ-वि०—भूखा। उ०—मांस मिळै नह तौ मर जावै, खूटौ सिंह घास नहि खावै।—ग्रज्ञात

खूड—१ देखो 'कूड़' (२)। उ०—खूंटा खड़ा वळा डूंबिया, हालां सूं हळ ठांभिया। तिरधर ग्रर सैतीर साळां, खूड भूण थम पाटिया।—दसदेव
२ हल चलने से निकलने वाली रेखा, सीता।

खूण-सं०पु० [सं० कोण] १ कोना. २ नदी में होने वाला पानी का गड्ढा जो नदी के बहाव के बाद जल से भरा रहता है. ३ पहाड़ की गुफा, मांद।

खूणियौ-सं०पु०—१ रहट के गड्ढे के दोनों किनारों में से एक जिसमें दूसरा चक्र घूमता है. २ देखो 'खूणौ' (ग्रल्पा०)

खूणीदार-वि०—जिसका कोना हो, कोणधारी, कोने वाला।

खूणूं-सं०पु०—१ कोना. २ छोर।

खूणौ-सं०पु०—१ कोना।
कहा०—सातूं खूणा राजी व्है तौ कांम करजौ—घर के सब सदस्य खुश हों ग्रथवा सहमत हों तो करना।
२ दीवारों के ग्रापस में मिलने का स्थान। उ०—तद एकण खूणै उवा बीजी पण मोजड़ी पड़ी दीठी।—चौबोली ३ दो दिशाग्रों के बीच की दिशा।

खूद—देखो 'खूंद' (रू.भे.) उ०—भद्र जाती चुगै सीस मोती स्रोण पंका भळै, खात मोती मुराळी नसंकां चुगै खूद।—वद्रीदास खिड़ियौ

खूदणौ, खूदबौ-क्रि०स०—१ खोदना, कुरेचना। उ०—ढोला ग्रामण दूमणउ, नख ती खूदइ भीति। हम थी कुण छइ ग्रागळी, वसी तुहारइ चीति।—ढो.मा. २ देखो 'खूंदणौ' (रू.भे.)

खूदालम, खूद्दालम—देखो 'खूंदालम'। उ०—तद हुवौ घाल जळ मांन ग्रास। खूद्दालम वाळो ग्रंब खास।—वि.सं.

पशुओं के विक्रय के समय कही हुई उक्ति कि खरीददार अच्छा होना चाहिए जिससे उस पशु का पालन ठीक हो सके. ४ खूंटौ कोरड़ौ किने हाथ है—खूंटा और कोरडा (चाबुक) का अधिकार किसके हाथ है ? अर्थात् खूंटा बैल के मालिक और चाबुक घोड़े के मालिक के अधिकार में ही होती है, अतः खूंटा और चाबुक स्वामित्व-संपन्नता का प्रतीक है ।

२ बाजरी या ज्वार आदि की फसल कटने के बाद खेत में खड़ा सूखा डंठल ।

मुहा०—खूंटौ काडणौ—खूंटा निकालना अर्थात् किसी बात की जड़ का पता लगाना । मन की जानकारी करना । मूल का पता लगाना ।

खूंडियौ-सं०पु०—हाथ में रखने की छडी जिसका ऊपरी भाग कुछ गोलाकार रूप में मुड़ा हुआ हो (रू.भे. 'गेडियौ') हॉकी (अंग्रेजी)

खूंडी-सं०स्त्री०—आंटेदार या मुड़े हुए सींगों वाली (भैंस) ।

खूंणी-सं०स्त्री० [सं० कफोणी] हाथ और बाहु के जोड़ की हड्डी, कोहनी । उ०—झणकै झालरियौ झूमरिया झटकै, लूमी भीगां री खूंणी तळ लटकै ।—ऊ.का.

खूंणौ-सं०पु० [सं० कोण] कोना ।

मुहा०—खूंणै बैठणौ—कोने में बैठना । विधवा होना ।

उ०—सुण सुण बीरा भाड़वी, आलं देखौ ओर । घर री खूंणै झूरसी, चख मग आतां चोर ।—वी.स.

खूंद-सं०पु० [फा० खाविंद] १ बादशाह । उ०—१ जोवतां विया मंडळीकां वारिज जिहीं, जुगल हूं राखियौ न को जूवौ । 'जैतसी' अभि नमौ खूंद जगनाथ चै. हियै भ्रगु लात ची भांत हूवौ ।

—दळपतसिंह रायसिंहोत रौ गीत

उ०—२ सालै मझ दीह रयण मझ सालै, अकुळावै पावै दुख अग ।
खूंद हियै लागौ खूमांणा, भालौ तूझ तणौ अणभंग ।

—महारांणा राजसिंह प्रथम रौ गीत

२ स्वामी, मालिक । उ०—ताका भाई हरकिसनचंद चित का उदार,खूंद के विखै में व्रत मेर के प्रकार ।—रा.रू. ३ रौंदने की क्रिया का भाव । उ०—खुरियां करता खूंद हुवै तुरियां होकारा ।

—ऊ.का.

४ कष्ट, तकलीफ. ५ योद्धा । उ०—धड़हड़ीये सुणे बाजते ढोले, हुव बाजी कळपंत हुवा । धूहड़ ऊलटते धवळागिर, खूंद पखे कुण धरे खवा ।—बारहठ नरहरदास

खूंदणौ-क्रि०स०—पैरों से कुचलना, रौंदना ।

खूंदणहार, हारौ (हारी), खूंदणियौ—वि० ।

खूंदवाणौ, खूंदवाबौ—प्रे०रू० ।

खूंदाड़णौ, खूंदाड़बौ, खूंदाणौ, खूंदाबौ, खूंदवावणौ, खूंदवावबौ —क्रि०स० प्रे०रू० ।

खूंदिओड़ौ, खूंदियोड़ौ, खूंदयोड़ौ—भू०का०कृ० ।

खूंदीजणौ, खूंदीजबौ—कर्म वा० ।

खूंदलम, खूंदलमौ—देखो 'खूंदालम' (रू.भे.) उ०—तोल खग अभिनमौ 'माल' साहां तई । सेल दळ बंगाळां धिखै चख रीस । चापड़ै काट 'गजबंध' हरौ चढ़ावै, संकरी पाट खूंदलमां सीस ।

—महाराजा अजीतसिंह रौ गीत

खूंदाड़णौ, खूंदाड़बौ-क्रि०स० ('खूंदणौ' का प्रे०रू०) रौंदने का कार्य अन्य से करवाना, रौंदाना, कुचलवाना । उ०—पाताळ रांण प्रवाड़ मल, बांकी घड़ा विभाड़ । खूंदाड़ै कुण है खुरां, तौ ऊभां मेवाड़ ।

—प्रिथीराज राठौड़

खूंदाड़णहार, हारौ (हारी), खूंदाड़णियौ—वि० ।

खूंदाड़िओड़ौ, खूंदाड़ियोड़ौ, खूंदाड़योड़ौ—भू०का०कृ० ।

खूंदाड़ीजणौ, खूंदाड़ीजबौ—कर्म वा० ।

खूंदाड़ियोड़ौ-भू०का०कृ०—रौंदाया हुआ, कुचलाया हुआ ।
(स्त्री० खूंदायोड़ी)

खूंदाणौ, खूंदाबौ-क्रि०स० ('खूंदणौ' का प्रे०रू०) देखो 'खूंदाड़णौ' (रू.भे.)

खूंदाणहार, हारौ (हारी), खूंदाणियौ—वि० ।

खूंदायोड़ौ—भू०का०कृ० ।

खूंदाईजणौ, खूंदाईजबौ—कर्म वा० ।

खूंदावणौ, खूंदावबौ—रू०भे० ।

खूंदायोड़ौ-भू०का०कृ०—रौंदाया हुआ, कुचलाया हुआ ।
(स्त्री० खूंदायोडी)

खूंदालम, खूंदालिम-सं०पु०—१ बादशाह । उ०—१ रांणी जणै स गढ गढ राजा, खूंदालम खीजायौ । दावा हाकण हार दिली सूं, जसवंत बेटौ जायौ ।—अज्ञात उ०—२ रोहणियाळ सभै रायां गुर, घायै असुर उतारै घांण । अवळा बाळ न धारै आडी, खूंदालम घातै खूमांण ।—महारांणा सांगा रौ गीत २ मुसलमान. ३ सहनशील, सहिष्णु (डि.को.) ४ सहनशीलता (डि.को.) ५ अधिक विनीत होना. ६ वीर, बहादुर । उ०—पर गढ़ लेणा रोप पग, अरि सिर देणा तोड़ । धरा हूंत नही धापणौ, खूंदालमां न खोड़ ।

—बां.दा.

खूंदावणौ, खूंदावबौ—देखो 'खूंदाड़णौ' (रू.भे.)

खूंदावणहार, हारौ (हारी), खूंदावणियौ—वि० ।

खूंदाविओड़ौ, खूंदावियोड़ौ, खूंदाव्योड़ौ—भू०का०कृ० ।

खूंदावीजणौ, खूंदावीजबौ—कर्म वा० ।

खूंदावियोड़ौ—देखो 'खूंदावियोड़ौ' । (स्त्री० खूंदाड़ियोड़ी)

खूंदियोड़ौ-भू०का०कृ०—रौंदा हुआ, कुचला हुआ ।
(स्त्री० खूंदियोड़ी)

खूंन—देखो 'खून' (रू.भे.) उ०—एक चित्र ऊजळा चले सुभ नीत रसत्त, एक खूंन छळवांन वहै कोलाहळ मत्त ।—रा.रू.

खूंनणौ, खूंनबौ—देखो 'खूंदणौ' (रू.भे.) उ०—जालमसिंह कहीजे वात तो आही घणी हुई छै जो थां मारवाड़ रौ मुलक खूंनियौ छै ।

—मारवाड़ा रा अमरावां री वारता

खूसियोड़ौ–भू०का०कृ०—१ छीना हुआ. २ ठूंसा हुआ ।
(स्त्री० खूसियोड़ी)

खूह–सं०पु०—कुआ, कूप । उ०—पांणी अटके खूह पर, कट वरत किरंभर । सीह हुआ मेहा सदू, अड़िया भुज अंबर ।
—जूंझारसिंह मेड़तियौ

खें-खें–सं०स्त्री० [अनु०] देखो 'खें-खें' (रू.भे.)

खेंग–सं०पु०—१ पशुओं की पहिचान के लिए दागा हुआ चिन्ह. [फा० खिंग] (स्त्री० खेंगण) २ घोड़ा । उ०—रज सूं नर-वंदण रेवतियूं हुय खेंगण धूपड़ खेवतियूं ।—पा.प्र.

खेंगड़ौ—देखो 'खांगड़ौ' (रू.भे.)

खेंगरणौ, खेंगरबौ–क्रि०स०अ०—नाश करना, मारना, संहार करना ।
उ०—खळ खेंगरण वडा व्रिद खाटण, वैरां सूं चाळवण विरोध ।
सांमि सनाह दुवाहा सांमंत, जगि जणियार कळोधर जोध ।
—सुजांनसिंह राठौड़ रौ गीत

खे–सं०पु०—१ कवि. २ पक्षी. ३ दुख, खेद. ४ सभा-द्वार. ५ नभचर. ६ तलवार. ७ प्राण. ८ शिव (एका०) ९ आकाश (रू.भे.—खं) (डि.को.) १० धूलि, गर्द.
क्रि०प्र०—उडणी, पड़णी, लागणी ।
कहा०—खे देख'र घोड़ा मत वाढ़ौ—धूलि या गर्द को उड़ते देख कर किसी सेना के भय से घोड़ों को उलटा भगाना । केवल सन्देह मात्र से भयभीत नहीं होना चाहिए ।
११ राख. १२ धधकते हुए अंगारों का ढेर जो गोल वाटी सेंकने के लिए उपले जमा कर एवं जला कर तैयार की जाती हो ।
क्रि०प्र०—घालणी, पड़णी, लगाणी ।

खेइणौ, खेइबौ—देखो 'खेणौ' (रू.भे.)

खेई—देखो 'खई' (रू.भे.)

खेखौ–सं०पु०—वड़ा अफीमची, अधिक अफीम खाने वाला ।

खेगाळ–सं०पु०—१ वहुत तेज वेग । उ०—वणगातौ ठाडोळ तूठजे वार खेगाळां, दुखियां मेटण दुख विड़द घण संपत वाळां ।—मेघ.
२ देखो 'खोगाळ' (१)

खेड़–सं०स्त्री०—१ विशाल भोज. २ खेत की जुताई. ३ दूरी या मंजिल तय करने की क्रिया या भाव । उ०—विजौ हरराज रौ अह सूरौ, ए नीसरिया सू किता एक दिनां सूं खेड़ कर अजांणजक आया ।
—द.दा.
४ एकत्रित करने की क्रिया या भाव । उ०—वेटा नरसींघदास भी घणौ बुरौ मांनियौ, काढ़ दीयौ । कह्यौ 'मोनूं मुंहडौ मत दिखावै ।' तिण ऊपर चूंडावतां रा साथ सुं मेघ तेड़ा मेलिया, वड़ी खेड़ करी । वडा-वडा राजपूत ठाकुर चूंडावत आय भेळा हुवा ।—नैणसी

खेड़णौ, खेड़बौ–क्रि०अ०—१ चलना । उ०—पाळा अत वहै सहै अत पाळौ, जात तणौ पय मांगण जात । गायौ नहीं सत हरण गंवारी, खेड़ै न्याव अंधारी रात ।—ग्रोपौ आढ़ौ २ चलाना, हांकना ।
उ०—खांति लागौ त्रिभुवनपति खेड़ै, घर गिरिपुर सांम्हा धावंति ।
—वेलि
खेड़णहार, हारौ (हारी), खेड़णियौ—वि० ।
खेड़िओड़ौ, खेड़ियोड़ौ, खेड़चोड़ौ—भू०का०कृ० ।
खेड़ीजणौ, खेड़ीजबौ—भाव वा०, कर्म वा० ।

खेड़पत, खेड़पति, खेड़पती, खेड़पत्ति–सं०पु०—राठौड़ या राठौड़ राजा ।
उ०—१ धड़हड़इ ढोल धूजइ धरत्ति, पड़ियालगि वरसई खेड़पत्ति ।
—रा.ज.सी.
उ०—२ माहेसोत हरि मन भांणै, खेड़पती साथै खूमांणै ।—रा.रू.

खेड़ा–सं०पु०—१ सोलंकी वंश की एक शाखा या इस शाखा का व्यक्ति. २ कण । उ०—खागां दळै पड़ै हुय खेड़ा, अकस धसै सहसां अरेड़ा ।
—रा रू.
३ वह वर्षा जो कुछ-कुछ दिनों के अंतर पर होती है ।

खेड़ाऊ–सं०पु०—अकाल पड़ने पर मवेशियों को लेकर अन्य प्रदेशों की ओर चारे-पानी की खोज में जाने वाला । (मि० 'गोळू')
उ०—सांवण सूकौ पड़ियौ, हमें हूं कठै जाऊं । कासूं खाऊं । गांव री तौ क्यूं आयौ ही नहीं और आयौ जिकौ खेड़ाऊ खा गया । हळ म्हारै जुपिया नहीं ।—सुंदरदास भाटी री वारता
देखो 'खड़णौ' (रू.भे.)

खेड़ी–सं०स्त्री० [सं० खेडी] एक प्रकार का पक्का लोहा जिसके हथियार वनाये जाते हैं फौलाद । उ०—तोड़ी वा लोवां री लगांम, जांमण की ए जाई, खेड़ी रा तोड़चा ए दुवकी दांवणा ।—लो गी.

खेड़ू–वि०—हांकने वाला, चलाने वाला । उ०—ताता दोय घोरी जोतरिया, भंवर ऊजळ दोउ पाख भला । वाजै जीहा पाटली विध-विध, इण रा खेड़ू आप अल्लाह ।—ओपौ आढ़ौ

खेड़ेच, खेड़ेचउ, खेड़ेचौ–सं०पु०—राठौड़ राजपूत । उ०—१ खेड़ेचउ नगराज चडि खेधि वतवा हुअउं सउं सत्रवेधि ।—रा.ज.सी.
उ०—२ मंहे कंवर जैत मह्वेचौ, खग ऊवरै नरै खेड़ेचौ ।—रा.रू.

खेचर–सं०पु० [सं० खेचरी] १ नभचारी । उ०—खिळै मिळ खेचर भूचर ख्याल, हले संग जोगण देख हवाल ।—पे.रू. २ सूर्य-चंद्रादि ग्रह. ३ तारागण. ४ देवता. ५ विमान. ६ पक्षी. ७ वादल. ८ भूत-प्रेत. ९ राक्षस. १० शिव. ११ कसीस (डि.को.) १२ चौसठ भैरवों के अंतर्गत एक भैरव ।
सं०स्त्री०—१३ अप्सरा. १४ वायु. १५ रण-पिशाचिनी, दुर्गा ।
उ०—गैमरां हैमरां नरां पाड़ि राड़ि दीध गग, दूसरा केहरी खिले खेचरां दुवाह । सो सरां खंजरां वरां करा परा फूटै सेल, ऊपरा अच्छरां करै रिखरा उछाह ।—राठौड़ किसनसिंह

खेचरी—१ देखो 'खेचर'. २ देखो 'खेचरी मुद्रा'. ३ देखो 'खेचरी-गुटिका'. ४ पुरुषों की ७२ कलाओं में से एक. ५ युद्धप्रिय योगिनी, देवी । उ०—आप लोहां ऊपछर हूंम वरियौ, सिवमाळा खेचरि रत सरियौ । 'आमा' हणै सरां आचरियौ, सुजि हरि जोति मुगति सांचरियौ ।—राठौड़ गोकुल सुजांनसिंहोत रौ गीत

खून-सं०पु० [फा०] १ रक्त रुधिर, लहू।
क्रि०प्र०—काढणौ, देणौ, पीणौ, वहाणौ, मिळणौ।
मुहा०—१ खून उतरणौ—गुस्से मे आंख व मुंह लाल होना. २ खून उबळणौ—क्रोध होना, गुस्सा आना, जोश आना. ३ खून ठंडौ पड़णौ—खून ठंडा होना, डर जाना, भयभीत हो जाना. ४ खून देणौ—वलि होना. ५ खून पीणौ—मारना बहुत कडा कष्ट देना. ६ खून री पाणी करणौ - अधिक परिश्रम करना। पसीना बहाना।
२ वध, हत्या, कत्ल।
क्रि०प्र०—करणौ, होणौ।
मुहा०—खून करणौ—हत्या करना, मार डालना।
कहा०—खून रै बदळै फासी—मृत्यु के अपराध पर फासी का दड प्राप्त होगा ही। प्रतिशोध की भावना के प्रति।
यौ०—खून-खराबौ।
३ अपराध, गुनाह। उ०—चारण कह्यौ जे ठाकुरा ऊठ खोडावै नै वेकू जिणा ऊपर चढिया सौ इसौ करहा मे कालू खून छै।—ढो मा
खून री लिप-सं०स्त्री०—रक्त-प्लीहा।
खूनि, खूनी-वि० [फा०] १ मार डालने वाला, हत्यारा, कातिल, घातक २ अपराधी, गुनहगार। उ०— साह तणा खूनी सवळ, आय वसै इण ठौड। ओ सातू इकलीम में चावौ गढ चीतोड।—वां.दा ३ अत्याचारी, जालिम। उ०—मूनी गाफल हुय रहै, खूनी जुलमाणा।—केसोदास गाडण ४ क्रुद्ध, कुपित। उ०—जूनी थह मिळतां हद जूटौ खूनी सिंह साकळा खूटौ।—बरजूबाई
स०पु०—१ वह जिसमे से खून निकले, ववासीर. २ सिंह।
खूब-वि० [फा०] १ अधिक, बहुत २ अच्छा, भला, उत्तम।
क्रि०वि० [फा०] पूर्ण रीति से, अच्छी तरह से।
खूबकलां-स०स्त्री० [फा०] फारस देश के माजिदरा नामक प्रात मे उत्पन्न होने वाली एक प्रकार की घास के वीज जो पोस्त के दानो के समान और गुलावी रंग के होते हैं।
खूबख्याल-सं०पु०—एक प्रकार का घोडा (शा.हो)
खूबड़—देखो 'खूबडी'।
खूबड़खाबड़-वि०यौ०—जो समतल न हो, ऊबड-खाबड, ऊंचा-नीचा।
खूबड़ी-सं०स्त्री०—माघा की पुत्री खूबड जो देवी का अवतार मानी जाती है।
खूबरंग-सं०पु०—एक प्रकार का घोडा (शा.हो.)
खूबसुरंग-स०पु०—एक प्रकार का घोडा (शा.हो.)
खूबसूरत-वि० [फा० खूबसूरत] सुआकृति, सुन्दर आकृति वाला, रूपवान, सुन्दर।
खूबसूरती-स०स्त्री० [फा० खूबसूरती] सुन्दरता, सौन्दर्य।
खूबानी-स०स्त्री० [फा० खूबानी] एक प्रकार का मेवा जिसे जरदालू भी कहते हैं। इसका पेड अधिकतर काबुल की पहाडियों मे होता है। इसके फल सुखा लिये जाते हैं और ताजे भी खाये जाते है।

खूबी-स०स्त्री० [फा० खूबी] १ अच्छाई, अच्छापन. २ गुण, विशेषता, विलक्षणता। उ०—खूबी न रही काय खतंगां खंजनां, नेही है मुनिराज विसारि निरजना।—वां.दा. ३ आनन्द, मौज।
उ०—१ करता बहु कागद मुकता कर, कव वोहरौ यह अरज करै। खूबी करां ऊगटां खावां, मदा सवळ घुर गरज सरै।
—महाराजा पदमसिंह रौ गीत
उ०—२ इतरै राखस वारणै माहै नीचौ सिर कर वड़तौ हतौ अर कुंवर खडग वाह्यौ तैसु राखस मारीयौ। इवै ए राखस मार आपरौ सहर कर खूबी करै छै।—चौवोली ४ शाति।
उ०—क्रोध जेर नरमी भारी खमाई रै न होय तौ हर एक वचन करतूत सू रीस पकडै तरै तहकीक मिनख मारचा जाय देस में खूबी नही रहै।—नी.प्र.
खूम-स०पु०—१ यवन, मुसलमान। उ०—खूम हुकम सिरदार खां, सोजत नयर सिहाय।—रा.रू. २ हिस्सा, विभाग। उ०—खेत सहर माहे पसाइता खावै छै, खूम उण रा छै।—नैणसी
३ एक प्रकार का सूती साफा जो सिंधी मुसलमान धारण करते हैं।
खूमकोस—देखो 'खूमपोस'।
खूमचौ-सं०पु० [फा० ख्वान्चा] १ वह वडा चौडा पात्र जिसमे मिठाई या और कोई अन्य खाने-पीने की वस्तुयें वेचने के लिये भरी रहती हैं. २ वह थाल या ठेला आदि जिसमे सामग्री रख फेरी वाले मिठाई आदि वेचते है।
खूमपोस-सं०पु०—मिठाई या अन्य पकवान अथवा भोजन का थाल ढकने के लिये बना हुआ कपडे का आवरण विशेष।
खूमाण—देखो 'खूमाण' (रू.भे.)
खूमांणी-वि०—भयंकर, अनिष्टकारी। उ०—खूमांणी वाणी घणइ ख्यात, भैरव चहचाणी तिणइ भात।—वि स.
खूर-स०पु०—१ घोडा। उ०—खेड़ंचे खडिया थाट खूर, सत्रवा काळ विकराळ सूर।—वि सं. २ फौज, दल (ह.नां.) उ०—कटकां रा खूर पडिनै रहीआ छै, हाथी लडावीजे छै।—रा.सा.सं. ३ समूह, झुड। उ०—१ खळ दळ सवळ लूंबिया खूर, पातळ तणा मोहर उदयापुर।—दयाराम चारण रौ गीत उ०—२ भय मेट दासे विरद भासे खळा नासे सूर।—र.ज.प्र. ४ वाण, तीर।
(रू०भे०-खुर)
वि०—घना, अधिक। देखो 'खुर'।
खूरदम-सं०पु०—गधा, गर्दभ (ह.नां.)
खूरन-सं०स्त्री० [सं० क्षुर] हाथियों के पैरो के नाखूनो की एक बीमारी जिसमे नाखून फट जाते हैं।
खूराक—देखो 'खुराक' (रू.भे)
खूसणौ, खूसबौ-क्रि०स०—१ छीनना. २ ठूंसना।
खूसाणौ, खूसावौ, खूसावणौ, खूसाववौ-क्रि०स०—१ छिनवाना. २ ठुसाना।

२ कालक्षेप करना, समय बिताना. ३ पार करना. ४ देव-पूजन के लिए गंध द्रव्यों को जला कर धूपदान करना।

उ०—ज्यां तौ गायां के ग्रे चारण, तूं खेती गूगळ धूप।—लो.गी.

खेत-सं०पु० [सं० क्षेत्र] १ वह भूमि खंड जिसे उसमें जुताई कर अनाज आदि बोने व फसल उत्पन्न करने के योग्य बनाया गया हो। जुताई किया हुआ भू भाग। जोतने-बोने की जमीन।

क्रि०प्र०—खड़णौ, जोतणौ, वावणौ, बोवणौ।

मुहा०—खेत कमावणौ; खेत कमाणौ—खेत में खाद आदि डाल कर उसमें अच्छी जुताई करना। खेत को उपजाऊ करना।

२ खेत में खड़ी फसल।

मुहा०—खेत भिळणौ—खड़ी फसल में पशुओं का प्रवेश होना।

कहा०—१ खड़ै ज्यांरा खेत नै चढ़ै ज्यांरा घोड़ा—खेत उसी का जो उसकी जुताई करे और घोड़ा उसी का जो उस पर चढ़ाई करे, अर्थात् खेत जोतने वाले का और घोड़ा सवार का. २ खेत खळै नाडौ घरे आयां पछै किंवाड़ आडौ—किसानों से खेत या खलिहान से अनाज लेना सरल है परन्तु उनके घर पहुँचने के बाद वहाँ से निकलवाना कठिन है।

वि०वि०—भारतीय किसान की गरीब स्थिति होने के कारण वह प्रायः व्यापारी वर्ग से अनाज व रकम उधार लेकर ही अपनी खेती व जीविका चला पाता है। ये व्यापारी वर्ग के लोग अपनी रकम वसूली के लिये प्रायः खलिहान में अनाज तैयार होने पर रकम के स्थान पर अनाज लेने वहीं पहुँच जाते हैं, कारण कि वहाँ से वे सरलता-पूर्वक ला सकते हैं। इसी सम्बन्ध में यह उक्ति कही गई है। ३ खेत में पड़गी खाळी, धांन में पड़ग्यौ काग्यौ। बड़ा बेटा पै पड़ी बीजळी, तवलौ भंवरी खाग्यौ—खेत में पानी की नाली पड़ गई जिससे खाद व मिट्टी बह गई, खड़ी फसल के धान में काग्या (पौधे में अनाज का विकीर्ण होना) पड़ गया, बड़े लड़के पर बिजली गिर गई तथा काठ के बर्तन भंवरी खा गई; दुर्भाग्यशाली कृषक की दशा का वर्णन; बद-किस्मती से सब उलटा ही उलटा होता है. ४ खेत बिगड़ै तौ खाद देवै पण ग्रौलाद बिगड़ै तौ किसौ खाद देवै—खेत उपजाऊ न हो तो उसमें खाद आदि डाल कर उपजाऊ बनाया जा सकता है परन्तु सन्तान यदि बिगड़ जाय तो उसे सुधारने हेतु कौनसी खाद दी जा सकती है। अर्थात् बिगड़ी सन्तान का सुधारना अत्यन्त कठिन हो जाता है. ५ खेतां मांय हाल कराळ, घेर मांय रांड लड़ाक, खळां मांय तांण पड़ांन—खेत में तिरछा लगने वाला हल, घर में झगड़ालू स्त्री और खलिहान में अनाज पर पड़ने वाली भूसी ये सब हाथ से ही सुधारनी पड़ती हैं. ६ बांध कुदाळी खुरपी हाथ, लाठी हंसुआ राखै साथ। काटै घास ग्रौ खेत निरावै, सो पूरा किसांन कहावै—जो कुदाली व खुरपी अपने हाथ में रखता हो, लाठी-हंसिया अपने साथ रखता हो और जो अपने हाथ से घास काटे और खेत में निराई करे वही पूरा किसान कहलाता है। अर्थात् किसान वही जो स्वयं हाथ से खेती करे. ७ लेनै बैठ गयौ जांणै बोदौ खेत बीज लेनै बैठौ—अनुपजाऊ खेत बीज को अपने में ही लुप्त कर लेता है अर्थात् कोई पौधा उत्पन्न नहीं करता। यह कहावत ऐसे ही व्यक्ति के लिये व्यंगोक्ति है जो किसी वस्तु को लेकर हमेशा के लिये छुपा लेता है, उसके किसी प्रतिरूप को भी प्रकट नहीं करता. ८ हळ हळां खेत फाड़लां—अच्छे हाल वाले हल से ही जुताई अच्छी हो सकती है।

२ किसी चीज के, विशेषतः पशुओं आदि के उत्पन्न होने का स्थान या देश। उ०—दिखवण वाड़ी देस रा, काठचावाड़ी खास। खैराड़ी वड खेत रा, वैराड़ी बरहास।—पे.रु. ३ युद्ध-स्थल, रणक्षेत्र, समर भूमि। उ०—१ जसवंत बीड़ा झालिया, ग्रौरंगसाह ऊपर। आया खेत उजीण रै, दळ लियां भयंकर।—द.दा. उ०—२ पवै पंख वडूजा वोम वज्रपात, खळां थाट दूजै 'दलै' वभाड़िया खेत।

—हुकमीचंद खिड़ियौ

मुहा०—खेत हारणौ—युद्ध हारना।

४ श्मशान-भूमि. ५ वंश, खानदान. ६ तलवार की धार का वह मध्य का भाग जहाँ से उसका प्रहार होता है. ७ पृथ्वी (नां.मा.)

खेतगर-सं०पु०—१ योद्धा, वीर. २ किसान।

खेतड़ौ-सं०पु० [सं० क्षेत्र] १ देखो 'खेत' (अल्पा०) उ०—मेहां खोड़ खाळियां मिळै फवै खेतड़ौ फाड़ है।—दसदेव २ कुम्हारों की एक खेतड़ा शाखा का व्यक्ति (मा.म.)

खेतजीव-सं०पु०—किसान, कृषक (डिं.को.)

खेतपाळ-सं०पु० [सं० क्षेत्रपाल] १ राठौड़ राव धूहड़ के पुत्र खेतपाल के वंशज, राठोड़ों की एक उपशाखा या इस शाखा का व्यक्ति। २ देखो 'खेतरपाळ' (रू भे)

खेतर—देखो 'खेत' (रू भे.) उ०—सै'र तणी सीम में कहूं खेतर काळां रा. चरण लगा धांन में विडंग जायल वाळां रा।—पा.प्र.

खेतरपाळ-सं०पु० [सं० क्षेत्रपाल] १ क्षेत्ररक्षक, खेत का रखवाला. २ देवता विशेष जिनके ४९ भेद माने गए हैं। ये इस प्रकार हैं—१ अंजन. २ अजर. ३ अश्ववार. ४ आपकुंन. ५ इंद्रस्तुति ६ ईड़ाचार. ७ उक्त. ८ उन्माद. ९ एकदस्ट्रक (एकदंष्ट्रक) १० ऐरावत. ११ ग्रोघबंधु. १२ ग्रौखधीस (ग्रौषधीश) १३ काळ १४ कस्वानळ. १५ गामुख्य. १६ घटाद (घण्टाद) १७ चंड-वारण (चण्डवारण) १८ छटाटोप. १९ जटाळ. २० भंगीव (भङ्गीव) २१ टंगपांणि (टङ्कपाणि) २२ ठांणबंधु (ठाणबन्धु) २३ डांमर (डामर) २४ ढवकारव. २५ नडिहेह. २६ दंतुर (दन्तुर) २७ धनद. २८ नतिक्कांत २९ नमण (क्रन्न) ३० नरस्चर (नरश्चर) ३१ प्रचंडक (प्रचण्डक) ३२ फटकार. ३३ भंग (भङ्ग) ३४ मेघासुर. ३५ युगांतक. ३६ रिमुक (ऋमुक) ३७ रिमिसूदन (ऋपिसूदन) ३८ रोद्धक. ३९ लंबोस्ठ (लम्बोष्ठ) ४० लवारवण (लवार्णव) ४१ लूपक (लूपक)

खेचरीगुटका, खेचरीगुटिका-सं०स्त्री०यौ०—तांत्रिकों के मतानुसार एक प्रकार की योग-सिद्धि की गोली। ऐसा माना जाता है कि इस प्रकार की गोली मुंह में रखने से आकाश में उड़ने की शक्ति आ जाती है।

खेचरीमुद्रा-सं०स्त्री० [सं०] १ जबान को उलट कर तालू से लगाने और दृष्टि को दोनों भौंहों के बीच मस्तक पर लगाने की योग-साधन की एक मुद्रा जिसके साधन से मनुष्य को किसी प्रकार का रोग नहीं होता. २ दोनों हाथों को एक दूसरे पर लपेट लेने की तंत्र के अनुसार एक प्रकार की मुद्रा।

खेचल-सं०पु०—१ कष्ट, परिश्रम, तकलीफ। उ०—हूं सगळां कौ मुर्दो छूं नै माळवै सिधू धणी खेचल करै नै दुख दै छै।

—कहवाट सरवहिये री वात

२ तंग करने की क्रिया का भाव। उ०—स्री जी रै द्वारे रसत मोल गयो, उदयपुर सूं सो स्रीजीद्वारा सू खेचल करणी।—बा.दा.ख्यात

खेचलणौ, खेचलबौ-क्रि०स०—कष्ट देना, तकलीफ पहुँचाना।

खेचाई-सं०स्त्री०—१ द्वेष. २ शत्रुता. ३ व्यंग. ४ मखौल।

खेचौ-सं०पु०—१ द्वेष. २ शत्रुता. ३ व्यंग. ४ मखौल।

खेज-सं०पु०—खाद्य पदार्थ। उ०—नैण दीठां क्या हुवै, जे नह मेळौ थाय। पेट पड़यां ही धापियै, ऊवै खेज गमाय।

—जलाल बूबना री वात

खेजड़-सं०पु० ('खेजड़ी' का महत्व० शब्द) देखो 'खेजड़ी'।

उ०—जेठ महीनै धूप पडैली, तावड़िये री ताह। खेजड़ चढ़'र खोखा खासां, वाह रे सांई वाह।—अज्ञात २ पँवार वंश की एक शाखा या इस शाखा का व्यक्ति।

खेजड़लौ, खेजड़ियौ—देखो 'खेजड़ी' (अल्पा०) उ०—खेजड़लां री छांग ठूंठ भेळा कर राखै, ठूंठ लगावै ढिग्ग जिग्ग जांझी कर नाखै।

—दसदेव

खेजड़ी-सं०स्त्री०—रेगिस्तान का छोटी पत्तीदार एक कंटीला वृक्ष, शमी का वृक्ष। उ०—खेजड़ियां नै बावळियां नै आजरियां रा पूंख, तीन तिलोकी सूं होवै निराळा मुरधर थारा रूंख।

—लो.गी.

कहा०—१ खड़े खेजड़ां बेज काडणौ—सीधे खड़े वृक्ष में छेद नहीं हो सकता। अर्थात् असम्भव कार्य को करने का प्रयास करना व्यर्थ है. २ सुंवाळी खेजड़ी सोरौ चढ़ीजै—बिना कांटे वाले शमी के वृक्ष पर आसानी से चढ़ा जा सकता है। अर्थात् सीधे व सरल व्यक्ति को हर कोई दबा सकता है। (खेजड़, खेजड़ौ—महत्व०) (खेजड़लौ, खेजड़ियौ—अल्पा०)

खेजड़ौ-सं०पु०—देखो 'खेजड़ी'।

कहा०—गांव गांव खेजड़ौ नै गांव गांव गोगौ—गांव गांव में सर्प हैं तो उपचार हेतु गांव गांव में खेजड़ी भी उपलब्ध है। जहां दर्द है वहां दवा भी है।

खेट-सं०पु० [सं०] १ बारह ग्रह. २ घोड़ा. ३ ढाल. ४ चमड़ा. ५ एक प्रकार का अस्त्र. ६ युद्ध, संग्राम।

खेटक-सं०पु० [सं०] १ बलदेवजी की गदा. २ ढाल। उ०—आणां पोस नत्रीठ, पीठ खेटक खग पांणां।—मे.म. ३ योद्धा, वीर. ४ शक्तिशाली, समर्थ।

खेटकी-सं०स्त्री०—१ ढाल।

सं०पु०—२ योद्धा, वीर।

खेटणौ, खेटबौ-क्रि०स०—संहार करना, नाश करना। उ०—खित कारणै करै नित खटवट, खेटै कटक तणा खुरसांण।

—प्रिथीराज राठौड़

खेटर, खेटरखल-सं०पु०—फटा हुआ या सूखा हुआ पुराना जूता।

उ०—खेटर खल मूंडा छिपियोड़ा छाती, गोडा गळियोड़ा छिपियोड़ी चाती।—ऊ.का.

खेटावणौ, खेटावबौ-क्रि०स० [सं० खेट] १ पराजित करना।

उ०—दिलीनाथ सहता दिली दळ, चार वार चढ़ आया। सातूं चौकी मार साह री, खंड़ेचै खेटाया।—महाराजा अजीतसिंह री गीत

२ क्रुद्ध करना।

खेटाणहार, हारौ (हारी), खेटाणियौ—वि०।

खेटायोड़ौ—भू०का०कृ०।

खेटाईजणौ, खेटाईजबौ—कर्म वा०।

खेटायत-वि० [सं० खिट] योद्धा, वीर।

खेटायोड़ौ-भू०का०कृ०—१ पराजित. २ क्रोधित किया हुआ। (स्त्री० खेटायोड़ी)

खेटावणौ, खेटावबौ—देखो 'खेटाणौ' (रू.भे.)

खेटावणहार, हारौ (हारी), खेटावणियौ—वि०।

खेटाविओड़ौ, खेटावियोड़ौ, खेटाव्योड़ौ—भू०का०कृ०।

खेटावीजणौ, खेटावीजबौ—कर्म वा०।

खेटावियोड़ौ—देखो 'खेटायोड़ौ'। (स्त्री० खेटावियोड़ी)

खेटौ-सं०पु० [सं० खेट] १ युद्ध। उ०—१ सुअर वीर सूं उपजियौ छै, तींमूं थारा बाप सरीखौ होय और राव सूं खेटौ करे।

—डाढ़ाळा सूर री वात

उ०—२ बंधू कुंभ जेहौ अनै मेघ बेटौ। खंवां जोड़ि मोनूं करै कोणि खेटौ।—सू.प्र. २ द्वेष, ईर्ष्या।

खेड-सं०पु० [सं० खिट्, खेट] १ युद्ध, समर। उ०—वड़ वड़ वीच भड़ांन विचै दस्तांन झड़ंदै, सिर देदार मादार सिर हक खेड हुवंदै।

—गा.प्र.

२ तीर, बाण (डिं.नां.मा.)

खेडार-वि०—देहाती, ग्रामवासी।

खेडूर-वि०—जबरदस्त योद्धा, बहादुर।

खेडेच—देखो 'खेड़ेच'।

खेडौ-सं०पु०—खड्ग, तलवार (ना.डिं.को.)

खेणौ, खेबौ-क्रि०स० [सं० खेवृ] १ नाव खेना, नाव चलाना.

खेदित–वि० [सं०] दुखित, खिन्न।

खेदियोड़ो–भू०का०कृ०—भगाया हुआ, खदेड़ा हुआ, पीछा किया हुआ। (स्त्री० खेदियोड़ी)

खेदौ–सं०पु० [सं० खेद] १ डाह, ईर्ष्या, द्वेष। उ०—आयौ कांकांणी 'अजन', घर खेदौ कमवज्ज।—रा.रू. २ पीछा। उ०—साथे फोज कछवाहां री थी सो आणंदसंघजी रै साथे खेदौ कियो।—रा.वं वि. ३ जिद्द, हठ. ४ किसी बनैले पशु को मारने या पकड़ने के लिये घेर कर उपयुक्त स्थान पर लाने का कार्य. ५ शिकार, आखेट।

खेध–सं०पु०—१ विरोध। उ०—१ 'रांग' अनै 'अमरेस' रै, वळै प्रगटचौ वेध। मन फाटी खाटा चितां, खूटै दाध न खेव।—रा.रू. उ०—२ छके जोम सूं जाय जमरांण सा छेड़िया, लड़े अरि रेड़िया खेध लागा।—रा.रू. २ युद्ध, रण। उ०—वागां ऊपड़ै विखमी वार धड़क्कै आकास घर, खरौ खेध वाजी खरा वहसै दुवाह।—जगौ सांदू ३ क्रोध. ४ वाद-विवाद। ५ देखो 'खेद' (रू.भे.)

खेधाऊ–वि०—१ क्रोध करने वाला। उ०—कियौ आप सुं आप आलोच कांनै, रमै साप खेधाऊ सूधौ न मांनै।- ना.द. २ ईर्ष्या रखने वाला।

खेधी–सं०पु०—शत्रु, वैरी, दुश्मन (ह.नां., अ मा.)

खेधौ—देखो 'खेदौ'। उ०—धूहड़ियौ बीजां ही घांखै, रस खेधै हुओ राठौड़।—रावळ मल्लीनाथ रौ गीत

खेप-सं०स्त्री० [सं० क्षेप] १ आतंक, भय, डर. २ गाड़ी, नाव आदि की एक बार की यात्रा। मोटौ दाता मांगियौ, तोटौ भागै तेण। कीजै सायर खेप किल, जुड़ै जवाहर जेण।—वां.दा. ३ उतनी वस्तु जितनी एक बार में ले जाई जाय. ४ नर भेड़ों का समूह. ५ खजाना, माल-मिलकियत। उ०—विविध वांणी नर भाखै, खेप घरि आई खोवै।—ह.पु वा.

खेपणी-सं०स्त्री०—नाव चलाने की वल्ली, डांड (डि.को.)

खेव—देखो 'खेप' (रू.भे.)। उ०—ग्याता क्याड़ी गाड पंचाळी, खेव खून पड़ै खांतियां।—दसदेव

खेवट–सं०पु० [सं० क्षेपक] मल्लाह, नाविक। उ०—जसौ दधि खेवट हीण जिहाज।—रांमरासौ (रू०भे०–खेवट)

खेम–सं०पु० [सं० क्षेम] १ सुरक्षा, प्राप्त वस्तु की रक्षा. २ कुशलता, आनन्द-मंगल। उ०—अणघाव रह्या केई खेम अंग, रजपूत हुआ केई चोळ रंग।—पा.प्र.

खेमकरी, खेमकल्यांणी–सं०स्त्री० [सं० क्षेमकर+ई] श्वेत रंग की चील (चीलृ) जो परम मांगलिक और आदि शक्ति का रूप मानी जाती है।

खेमकुसळ–वि०यौ० [सं० क्षेम+कुशल] कुशल-क्षेम, राजी-खुशी, आनंद-मंगल। उ०—इण भांत सूं खेमकुसळ थी पीहरे गई, माइतां सूं मीळी।—रीसाळू री वात

खेमखाप–सं०पु०—एक भड़कीला सुनहला वस्त्र विशेष।

खेमटौ–सं०पु०—बारह मात्राओं का एक ताल जिसमें तीन आघात और एक खाली होता है।

खेमा–सं०स्त्री० [सं० क्षमा] भूमि, पृथ्वी (ह नां.) [सं० क्षेत्र] खेत (ह.नां.)

खेमौ–सं०पु०—[अ. खेमा] तंबू, डेरा। उ०—पह चाळक घनत्रंतपुर, लांठै लूट लियाह। कांठै नदी कवेरजा, खेमा खड़ा कियाह।—वां.दा.

खेमाळ–सं०स्त्री० [सं० क्षेम+अल्] तलवार

खेयारा–सं०पु० [सं० खचार] नक्षत्र (नां.मा.)

खेजर–सं०स्त्री० [सं० खर्जुर] चांदी (ह.नां.)

खेरण–वि० [सं० क्षरण] नाश करने वाला।
सं०पु०—१ बचा-कुचा चूरा सा अवशिष्ट पदार्थ. २ वार, प्रहार, चोट, दाव. ३ (आटा छानने की) चलनी. ४ सफेद तने का एक प्रकार का बड़ा वृक्ष।

खेरणिया–सं०पु०—हिन्दुओं के अंतर्गत लुहारों का एक भेद जिसके व्यक्ति प्रायः सिकलीगर का कार्य करते हैं।

खेरणियौ–सं०पु०—१ छोटी चलनी. २ 'खेरणिया' जाति का व्यक्ति। देखो 'खेरणिया' ३ अनाज को छान कर साफ करने का उपकरण।

खेरणी–सं०स्त्री०—१ सफेद रंग के तने का एक बड़ा वृक्ष जिसके पत्ते पीपल के पत्तों के समान होते हैं। इसके तने से दूध निकलता है, इसके फूल सफेद तथा फल फलीनुमा होते हैं। २ चलनी।

खेरणौ—देखो 'खेरणियौ' (रू.भे.)

खेरणौ, खेरबौ–क्रि०स० [सं० क्षरण] १ गिराना, टपकाना। उ०—जांणिक वाछरू है मेल्ही गाई, नयन ते आंसू खेरिया। —वी.दे.
२ उखाड़ना, पटकना. ३ वृक्ष आदि को खूब हिलाना जिससे उसके पत्ते या पके फल आदि अपने आप नीचे गिर जाय. ४ किसी जमी हुई चीज को उखाड़ना। उ०—मेर मरजाद रणजीत आखाड़मल, खेर दीधा डसण जबर खेटै।—वां.दा. ५ संहार करना, मारना।
खेरणहार, हारौ (हारी), खेरणियौ—वि०।
खेराणौ, खेराबौ, खेरावणौ, खेराववौ—प्रे०रू०।
खेरिओड़ौ, खेरियोड़ौ, खेर्योड़ौ—भू०का०कृ०।
खेरीजणौ, खेरीजबौ—कर्म वा०।

खेराणौ–क्रि०स०—१ गिरवाना. २ पकवाना. ३ उखाड़ना. ४ संहार करवाना. ५ पेड़ आदि को हिला कर पत्ते फल आदि गिरवाना।

खेरादा–सं०पु०—राठौड़ों की १३ प्रमुख शाखाओं में से एक शाखा। (रा.वं.वि.)

खेरायोड़ौ–भू०का०कृ०—१ गिरवाया हुआ, टपकवाया हुआ, झड़वाया हुआ. २ संहार कराया हुआ। (स्त्री० खेरायोड़ी)

४२ लूप्तकेस (लूप्तकेश) ४३ वसुगण. ४४ बीरसंख (वीरशङ्ख) ४५ सूकनंद (शूकनन्द) ४६ सड़ाल (पड़ाल) ४७ सुनामा (सुनामा) ४८ स्थिर. ४९ हुंब्रुक।

(रू.भे.—क्षेत्रपाळ, खेतपाळ, खेतल, खेतलौ, खेत्तरपाळ)

खेतल–सं०पु० [सं० क्षेत्र+पाल] १ एक प्रकार का भैरव. २ द्वारपाल. ३ देखो 'खेतरपाळ' (रू.भे.) ४ किसी स्थान का प्रधान प्रबंधकर्त्ता।

खेतलग्रस–सं०पु०—श्वान, कुत्ता (ग्र.मा.)

खेतरलथ, खेतलवाहण–सं०पु०—कुत्ता, श्वान (ह.नां.) उ०—खेतल-वाहण खड़खड़ै, चुड़वै चामरियाळ।—नैणसी

खेतलोजी—देखो 'खेतरपाळ' (रू.भे.)

खेतसीयोत–सं०पु०—राठौड राव रिड़मलजी के पौत्र जगमाल के पुत्र खेतसी के वंशज।

खेतिहर–सं०पु० [सं० क्षेत्रधर] खेती करने वाला, किसान, कृषक।

खेती–सं०स्त्री० [सं० क्षेत्र] १ खेत में अनाज वो कर उत्पन्न करने का कार्य, कृषि, काश्तकारी।

मुहा०—खेती हेती—खेती स्नेह और सहयोग के बल पर ही सफल होती है।

कहा०—१ खेती कणाये नी पूगवा दियै—खेती किसी को नहीं पहुँचने देती अर्थात् अन्य धन्धों की अपेक्षा खेती करना ही सब से अधिक लाभप्रद समझा जाता है. २ खेती करै तौ राख गाडौ, राड करै तौ बोल आडौ—खेती करनी है तो पास में गाड़ी रख और लड़ाई करनी है तो टेढ़ा बोल; लड़ाई के लिए विरुद्ध बोलने की आवश्यकता रहती है उसी प्रकार खेती के लिए गाडी रखने की नितान्त आवश्यकता है. ३ खेती खसमां सेती, खेती धणियां सेती—खेती तो मालिक के हाथ से ही सुधरती है. ४ खेती नौ खाडो खेती ईज भराय है—कृषि में रहने वाली कमी तो कृषि करने पर ही पूरी हो सकती है. ५ खेती बळदा की अर राज घोड़ां कौ—राज्य के लिए जिस प्रकार घुड़सवार सेना आवश्यक है उसी प्रकार खेती के लिए बैल आवश्यक है। बिना बैल के खेती सम्भव नहीं. ६ गम्योड़ी खेती अर कमायोड़ी चाकरी बराबर—बिगडी हुई खेती और सुधरी हुई नौकरी बराबर ही होती है। खेती की प्रशसा। ८ बळदमार खेती नहीं करणी चाईजै—ऐसी खेती मे कोई प्रयोजन सिद्ध नहीं होता जिसमें बैलो से इतना काम लिया जाय कि वे काम देते देते मर जाय। सामर्थ्य या शक्ति से अधिक परिश्रम करना हानिकारक है।

यौ०—खेतीवाड़ी, खेतीपाती।

२ खेत में खड़ी फसल।

खेतीगर–सं०पु०—१ कुम्हारों की एक जाति विशेष. २ इस जाति का कुम्हार. ३ खेती करने वाला, किसान।

खेतीपाती–सं स्त्री०यौ०—कृषि-कार्य, काश्तकारी।

खेतीवळ–सं०पु० [सं० कृषिवल] किसान, खेतिहर (डि.को.)

खेतीवाड़ी, खेतीवाड़ी–सं०स्त्री०यौ०—कृषि, काश्त, खेती का धंधा।

खेतु–सं०पु० [सं० क्षेत्र] १ युद्धस्थल। उ०—वरणू वरणू के विलास, खेतु में कायम, आरसी से मंजुल।—र.रू. २ देखो 'खेत' (रू.भे.) ३ क्षेत्रपाल।

खेतू–सं०पु० देखो 'खेतु' (रू.भे.) उ०—खड़ो लांगडो वीर वीराधी खेतू, करै रागड़ा छागडा राहु केतू।—मे.म.

खेत्तर—देखो 'खेत' (रू.भे.)

खेत्तरपाळ—देखो 'खेतरपाळ' (रू भे.)

खेत्र–स०पु० [सं० क्षेत्र] १ रण-क्षेत्र। उ०—पिड़ि नीपनौ कि खेत्र प्रवाळी सिरा हंस नीसरै सति।—वेलि. २ श्मशान, मरघट (डि.को.) ३ देखो 'खेत' (रू.भे.)

खेत्रज–सं०स्त्री०—१ सोलकी वंश की एक आराध्य देवी का नाम (बां.दा.ख्यात)

स०पु०—२ क्षेत्रज-सन्तान।

खेत्रपाळ—देखो 'खेतरपाळ' (रू.भे) उ०—जिण रीति मुकुंद रा मदिर नूं विहाय खेत्रपाळ पूजण री स्रद्धा किसौ कापुरुष चित्त धरे। —वं.भा.

खेत्राड़ी—देखो 'खोत्राडौ'। उ०—भांजै भोमि गुड़ो भिलवाड़ो, वांकिम माळ चरै वेडाय। पगां हेठ पोहकरण पूगळ, खेत्राड़ै खगां वळ खाय।—राव मल्लिनाथ रौ गीत

खेत्रि, खेत्री–सं०स्त्री० [स० क्षेत्र] देखो 'खेत' (रू.भे.) उ०—१ जइ तूं ढोला नावियउ, कइ फागुण कइ चैत्रि। तउ म्हे घोड़ा बांधिस्यां, काती कुडिया खेत्रि।—ढो मा. उ०—२ अंबर कहतां आकास जाय लागी, खेत्री छै जु किसांण त्यां खेत्री रौ उद्यम कियौ छै।—वेलि. २ रणक्षेत्र।

खेद–सं०पु० [सं०] १ अप्रसन्नता, रंज, खिन्नता. २ कष्ट, पीड़ा। उ०—१ बुरहानपुर मे राजा जैसिंघजी रांम कह्यौ, पक्षपात हुआै हौ, दोय महिना खेद रही।—द.दा. उ०—२ बांका भोजन नह रुचैज्यांरै वप ज्वर खेद।—वां.दा. ३ डाह, ईर्ष्या, द्वेष. ४ ग्लानि, घृणा. ५ थकान। उ०—रात रौ ओजगौ खेद थी सो दोनू ही पोढ़ रहिया।—कुंवरसी सांखला री वारता

खेदणौ, खेदबौ–क्रि०अ० [सं० खेट] १ भागना. २ शिकार के पीछे दौड़ना।

क्रि०स०—३ भगाना, खदेड़ना। उ०—सुरहल रै तेरो खेदयां जाय, वारी म्हारा 'गूगा' भल रही औ।—लो गी. ४ तंग करना, कष्ट पहुंचाना।

खेदणहार, हारौ (हारी), खेदणियौ—वि०।

खेदिग्रोडौ खेदियोड़ौ, खेदयोड़ौ—भू०का०कृ०।

खेदीजणौ, खेदीजबौ – भाव वा०, कर्म वा०।

खेदाई–सं०स्त्री०—१ खदेड़ने का कार्य या भाव, खदेड़ने की मजदूरी. २ वैमनस्य. ३ डाह, ईर्ष्या।

खेलाड़—देखो 'खेलाड़ी' (रू.भे.)

खेलाड़णौ, खेलाड़वौ–क्रि०स० ('खेलणौ' का प्रे०रू०) देखो 'खेलाणौ' (रू.भे.)

उ०—तव बोली चंपावती, साल्हकुंवर री मात। रे बाजारण छोहरी, कांइ खेलाड़इ घात।—ढो.मा.

खेलाड़ी–वि० [सं० खेल+रा०प्र० आड़ी] १ खेलने वाला, क्रीड़ाशील, खेलने में दक्ष. २ विनोद. ३ खेल में सक्रिय भाग लेने वाला. ४ तमाशा करने वाला, अभिनय करने वाला. ५ ईश्वर। (मह०—खेलाड़)

खेलाणौ, खेलावौ–क्रि०स० ('खेलणौ' का प्रे०रू०) किसी अन्य को खेल में लगाना, खेल में सम्मिलित करना, जी बहलाना।

खेलाणहार, हारौ (हारी), खेलाणियौ—वि०।

खेलायोड़ौ—भू०का०कृ०।

खेलाईजणौ, खेलाईजवौ—कर्म वा०।

खेलावणौ, खेलाववौ—रू०भे०।

खेलायोड़ौ–भू०का०कृ०—खेलाया हुआ।

खेलार–वि०—देखो 'खेलाड़ी' (रू.भे.) उ०—१ वस प्रांणी सव करम रै, करम सूं प्रेरणहार। नाच नचावै त्यां नचै, ज्यां पुतळी खेलार।—रा.रू. उ०—२ 'तिसौ खेलार अगंजी जैसिंघ तणौ, हाथ वळ चहोड़ै खळां सिरहार।—जयसिंघ आंमेर रा धणी री वारता

खेलावणौ, खेलाववौ–क्रि०स०—देखो 'खेलाणौ' (रू.भे.) उ०—नाचै खेलावण मेलावण नांही, जोवण जोगी वा वेळा जग मांही।—ऊ.का.

खेलावणहार, हारौ (हारी), खेलावणियौ—वि०।

खेलाविओड़ौ, खेलावियोड़ौ, खेलाव्योड़ौ—भू०का०कृ०।

खेलावीजणौ, खेलावीजवौ—कर्म वा०।

खेळी–सं०स्त्री०—१ मवेशियों के लिए पानी पीने का बना हुआ कुंड। वि०वि०—यह प्रायः दो प्रकार की बनी होती है।—(१) कुए के पास आयताकार बनी हुई जो केवल पशुओं के पानी पीने के लिए होती है। उ०—देख अजे तक खाली पड़िया, कूंडी कोठा खेळी। —रेवतदांन

(२) घरों के सामने या पास में रहने वाली वर्गाकार, आयातकार या गोळ बनी हुई जिसमें गृहणियां पानी एवं झूठा भोजन जानवरों के खाने-पीने या चाटने के लिए डाल देती है।

२ सहेली, सखी. ३ मस्त स्त्री।

खेलू–वि०—मुख्य, प्रधान।

खेलूर–वि० [सं० क्ष्वेलृ = रा० खेलरौ = सूखा हुआ] अति वृद्ध।

खेलौ–सं०पु०—१ मूर्ख, नासमझ, पागल। २ मस्त।

खेल्ह- देखो 'खेल' (रू.भे.) उ०—अर छोटा छही सोदरां होळी रा हुळियार जिम खग्गां रो खेल्ह मंडियौ जुवौ जुवौ।—वं.भा.

खेल्हणौ, खेल्हवौ—देखो 'खेलणौ' (रू.भे.)

खेव—देखो 'खेप'। उ०—भेटचा रुद्र न लाई खेव, नगर भगौ पव-राव्या देव।—कां.दे.प्र.

खेवट–सं०पु० [सं० कैवर्त] १ नाव पार लगाने वाला, मल्लाह, मांझी। उ०—मिट आग तप मिट जाय, साकंप सीत सवाय। द्रढ़ पोत खेवट दांम, तट धरी गुदरी तांम।—रा.रू. २ परिश्रम, प्रयत्न। ३ नाव चलाने एवं मिट्टी खोदने का कार्य करने वाली एक जाति।

खेवटियौ–सं०पु० [सं० कैवर्त = रा० खेवट+रा० प्र० इयौ] नाव खेने वाला, नाव चलाने वाला। पार उतारने वाला। उ०—खेवटियौ वण नै खेड़ेंचा अटकी नाव उतारौ।—सिवसींघ ऊदावत री गीत

पर्याय०—ओरेभ, खारीवां, डालाअंग, दधभेदी, दधविधि, दूग्तेरी, नाकवा, नावांहांकण।

खेवटणौ, खेवटवौ–क्रि०स०—नाव को खेना या पार लगाना।

खेवटणहार, हारौ (हारी), खेवटणियौ—वि०।

खेवटिओड़ौ, खेवटियोड़ौ, खेवट्योड़ौ—भू०का०कृ०।

खेवटीजणौ, खेवटीजवौ—कर्म वा०।

खेवण—देखो खीवण' (रू.भे.)

खेवणी–सं०स्त्री०—नाव का डंडा, वल्ली (डि.को.)

खेवणौ, खेववौ—देखो 'खेणौ' (रू.भे.)

खेवणहार, हारौ (हारी), खेवणियौ—वि०।

खेवाड़णौ, खेवाड़वौ, खेवाणौ, खेवावौ, खेवावणौ, खेवाववौ—प्रे०रू०

खेविओड़ौ, खेवियोड़ौ, खेव्योड़ौ—भू०का०कृ०।

खेवीजणौ, खेवीजवौ—कर्म वा०।

खेवर–सं०स्त्री०—चौहान वंश की एक शाखा या इस शाखा का व्यक्ति.

खेवाई–सं०स्त्री० [सं० खेवृ+रा० प्र० आई] १ नाव खेने का कार्य या इस कार्य को करने की मजदूरी. २ देव-पूजन हेतु गंध द्रव्यों को जला कर धूप दान हेतु सुगंधित धुंआं करने का कार्य या उसका व्यय।

खेवाड़णौ, खेवाड़वौ–क्रि०स० ('खेणौ' क्रिया का प्रे०रू०) १ नाव चलाना. २ व्यतीत कराना. ३ पार कराना. ४ देव-पूजन के लिए गंध द्रव्यों को जला कर धूपदान कराना।

खेवाड़णहार, हारौ (हारी), खेवाड़णियौ—वि०।

खेवाड़िओड़ौ, खेवाड़ियोड़ौ खेवाड़चोड़ौ—भू०का०कृ०।

खेवाड़ीजणौ, खेवाड़ीजवौ—कर्म वा०।

खेवाणौ, खेवावौ—देखो 'खेवाड़णौ'।

खेवायोड़ौ—देखो 'खेवाड़ियोड़ौ'। (स्त्री० खेवायोड़ी)

खेवावणौ, खेवाववौ—देखो 'खेवाड़णौ' (रू.भे.)

खेवावणहार, हारौ (हारी), खेवावणियौ—वि०।

खेवाविओड़ौ, खेवावियोड़ौ, खेवाव्योड़ौ—भू०का०कृ०।

खेवावीजणौ, खेवावीजवौ—कर्म वा०।

खेवियोड़ौ–भू०का०कृ०—१ नाव चलाया हुआ. २ धूपदान किया हुआ. ३ व्यतीत किया हुआ। (स्त्री० खेवियोड़ी)

खेवौ–वि०—नाव चलाने वाला। उ०—सदा एक रांणी-व्रती धरम-सेवी, खरा जुद्ध सिंधू विजै नाव खेवौ।—वं.भा.

खेरावणौ, खेरावबौ—देखो 'खेराणौ'।

खेरावणहार, हारौ (हारी), खेरावणियौ—वि०।

खेराविग्रोड़ौ, खेरावियोड़ौ, खेराव्योड़ौ—भू०का०कृ०।

खेरावीजणौ, खेरावीजबौ—कर्म वा०।

खिरणौ—ग्रक० रू०।

खेरावियोड़ौ—देखो 'खेरायोडौ'। (स्त्री० खेरावियोडी)

खेरी—१ देखो 'खेडी' २ एक प्रकार का पुष्प। उ०—इसकपेचौ, खेरी, कोयल, मालती······, और ही अनेक भात रा फूलां री माळा किलगी छडी सेहरा गूथिया छै।—रा.सा.सं.

खेरू, खेरू—सं०पु०—१ नाश, ध्वंश। उ०—मेले सेन्या दैता मारण, पांणी ऊपर बाधै पाज। कीधौ खेरूं सीता कारण, रांणै लकपती चौ राजं।—पि.प्र. २ क्रोध। उ०—सगळा धूमरौ कियां ऊभा राव रौ डील सभाळै, सै ग्रौर डाढाळौ निलोह थकियौ परळै पासै जाय ऊभौ खेरूं करै छै।—डाढाळा सूर री वात

वि०—विध्वस्त बरबाद, विकृत।

खेरौ—सं०पु० [स० क्षरण] १ किसी वस्तु का टूटा हुग्रा सूक्ष्म भाग, ग्रवशिष्ट कण।

क्रि०प्र०—करणौ, होणौ।

खेल—स०पु० [सं०] वह साधारण मनोरजक कृत्य जो स्वयं की इच्छा से, विना किमी विवशता के केवल चित्त की उमग से दिल बहलाने या व्यायाम के लिए किया जाय। इसमे प्राय: हार-जीत भी होती है।

क्रि०प्र०—करणौ खेलणौ, जीतणौ माडणौ, विखरणौ, हारणौ।

मुहा०—खेल विगडणौ—खेन खराब होना, रंग में भग होना।

कहा०—१ खेल खतम पैमा हजम—खेल समाप्त हुग्रा ग्रत' खेल देखने के लिए जो पैसा दिया वह हजम। कार्य-समाप्ति पर। २ खेल खिलाडया रा ग्रर घोडा ग्रसवारा रा—खेल खिलाडियो का ग्रौर घोडा सवार का। साहमी व ग्रनुभवी पुरुष को ही सफलता मिलती है. ३ माभी मरिया नै खेल बीखरिया—टोलीनायक के मरते ही खेल की समाप्ति हो जाती है। (मि०—खाळू पडियौ नै खेल वीखरियौ)

२ बहुत हल्का या तुच्छ कार्य।

कहा०—डावै हाथ रौ खेल है—बांये हाथ का खेल है; बहुत तुच्छ या स धारण कार्य के लिये।

३ काम-क्रीडा, केलि, विषय-विहार। उ०—खारी लागै खेल, बाळा नै वृढा तणी। मना न होवै मेळ, जोडी विना रे जेठवा।

४ किसी प्रकार का ग्रभिनय, तमाशा।

मुहा०—खेल करणौ—किमी काम को ग्रनावश्यक समभ कर हँसी मे उडाना, कौतुक करना, तमाशा करना, मजाक या दिल्लगी करना,

५ कोई ग्रद्‌भुत कार्य, विचित्र लीला।

खेळ—१ देखो 'खेळौ' (१) उ०—हिरणा भाली ग्रासटी, ताकै कूवा खेळ। तिम मरता थिगता फिरै, छूटचौ हिरण्यां मेळ। —बादळी

२ कुल-भेद। उ०—पणी पठाणा री बांवन खेळ है।—बां दा ख्यात

खेलकबूतरी—सं०स्त्री० [स० खेलकपोत+रा०प्र०ई] कुलाचे खाने का एक खेल। यह खेल प्राय: नट किया करते हैं।

खेलड़ौ—स०पु० [स० क्ष्वेल्] देखो 'खेलरौ' (रू०भे०)

खेलण—सं०पु० [स० खेल] खेल, क्रीड़ा, कौतुक।

खेलणौ—वि० [सं० खेल] खेलने मे दक्ष, खिलाडी।

खेलणौ, खेलबौ—क्रि०ग्र० [स० खेल] १ केवल चित्त की उमंग से ग्रथवा मन बहलाने या व्यायाम के लिये इधर-उधर उछलना, कूदना दौड़ना ग्रादि।

मुहा०—खेलणौ-खाणौ—ग्रानद से दिन व्यतीत करना, निश्चित होकर चैन से दिन काटना।

२ काम-क्रीडा करना, समागम करना।

क्रि०स०—३ ऐसी क्रिया करना जो केवल मन-बहलाव या व्यायाम ग्रादि के लिये की जाती है। इसमें कभी-कभी हारजीत का भी विचार किया जाता हे।—ज्यू दडी खेलणौ, चौपड खेलणौ। ४ किसी वस्तु को लेकर ग्रपना जी बहलाना, उसे इधर-उधर हिलाना।

५ ग्रभिनय करना, नाटक या स्वाग रचना।

यौ०—खेल-तमासौ।

खेलणहार, हारौ (हारी), खेलणियौ—वि०।

खेलाड़णौ, खेलाडबौ, खेलाणौ, खेलाग्रौ, खेलावणौ, खेलावबौ—क्रि स. ('खेलणौ' का प्रे०रू०)

खेलिग्रोडौ, खेलियोड़ौ, खेल्योड़ौ—भू०का०कृ०।

खेलीजणौ, खेलीजबौ—भाव वा०, कर्म वा०।

खेलतमासौ—सं०पु०यौ० [सं० खेल+ग्र० तमाशा] खेल व तमाशा, ग्रभिनय।

खेलर, खेलरौ—स०पु० [सं० क्ष्वेल्] प्राय: टिंडी, हिंदवानी, बरसाती ककडी (काचर) ग्रादि को काट कर सुखाया हुग्रा टुकडा। यह सूख कर कड़ा एव सिलवटे ग्रादि धारण कर लेता है। रेगिस्तान के उन गांवो मे जहा बारहो मास हरी सब्जी उपलब्ध नही होती है, वहा वर्षा की ऋतु मे उपरोक्त सब्जिया ग्रादि के टुकडे काट कर सुखा लिया करते है। इनका साग वहा के लोग बडे चाव से खाते हैं।

मुहा०—सूख नै खेलरौ होणौ—सूख कर ग्रत्यन्त कृशकाय होने पर।

खेलवाड—स०पु० [स० केलि] खेल, क्रीडा, तमाशा, मन-बहलाव का कार्य, दिल्लगी।

खेळा—स०स्त्री० [स० केलि] क्रीडा, खेल, कौतुक। उ०—पग रणमस्त पर्टत भोज भाई करि भेळा, ग्रण ग्रवसर इम ग्राइ खोलि दीधी टर खेळा।—व भा.

खेलाई—सं०स्त्री० [सं० खेल+रा०प्र० ग्राई] खेलने का कार्य, खेलने की मजदूरी।

खेंचणहार, हारौ (हारी), खेंचणियौ—वि० ।
खेंचवाणौ, खेंचवाबौ, खेंचवावणौ, खेचवावबौ—प्रे०रू० ।
खेंचाणौ, खेंचाबौ, खेचावणौ, खेंचावबौ—प्रे०रू० ।
खेंचिग्रोड़ौ, खेंचियोड़ौ, खेंच्योड़ौ—भू०का०कृ० ।
खेंचीजणौ, खेंचीजबौ—कर्म वा० ।
खींचणौ, खींचबौ—रू०भे० ।

खेंचातांण, खेंचातांणी—देखो 'खींचातांण' (रू.भे.) उ०—दस जूता दस जूतरणा, दस पाखती वहंत । हेकरण थवळा वायरा, खेंचातांण करंत ।
—वां.दा.

खेंचियोड़ौ-भू०का०कृ०—देखो 'खींचियोड़ौ' (रू.भे.)
(स्त्री० खेंचियोड़ी)

खेंडूर-वि० [सं० खिट्] शक्तिशाली, बलवान, प्रचण्ड, योद्धा ।

खेंण-सं०पु०—१ क्षय नामक रोग. २ नाश, विनाश ।

खेंपांण-सं०पु०—१ मुसलमान. २ संहार, नाश ।
वि०—वृद्ध ।

खै-सं०पु०—१ शिव. २ नंदीगरण. ३ भाई. ४ लड़का (एका०)
[सं० क्षय] ५ नाश, संहार, क्षय । उ०—तोपां रणताळ रै सकज भूपाळ संवारी, खै अकाळ खाटरणी काळ थाटरणी करारी ।—मे.म.

खैकार-वि० [सं० क्षयकार] नाश, ध्वंस । उ०—कुळ जोइयां खैकार, जग 'गोगा दे' जनमियौ ।—गो.रू.
सं०पु०—१ नाश, संहार. २ आकाश (डि.को.)

खैकारी-वि० [सं० क्षयकारी] विनाशक, संहार करने वाला ।

खैकाळ, खैखाळ-सं०पु० [सं० क्षय+अल] १ नाश, संहार ।
उ०—कुळ जोइयां खैकाळ, दीसै तू जायौ "दला" ।—गो.रू.
२ युद्ध, संग्राम ।
वि०—संहार करने वाला ।

खैगमल-सं०पु०—घोड़ा (अ.हो.)

खैगरणी-वि०—संहार करने वाला, नाश करने वाला । उ०—दळां खैगरणी करणौ नांम जगे दाखौ ।—ल.पि.

खैगरणौ, खैगरबौ-क्रि०स०—संहार करना, मारना, ध्वंस करना ।

खैगाळ-वि०—संहार करने वाला, संहारक । उ०—नृपातां करैवा पाळ उजाळ तेरे ही सखां, मेछ दळां खैगाळ लंकाळ पळां मंड ।
—पहाड़ खां आढ़ौ
सं०पु०—संहार, ध्वंस ।
(रू०भे०—खोकाळ, खोगाळ)

खैगोळ-सं०पु०—आसमान, गगन । उ०—भूगोळ करंते थाळ सतारी उयेल मालां । खैगोळ लसंते हाथ दीधौ अड़ीखंभ ।
—अजीतसिंघ चूंडावत री गीत

खैड़नरेस-सं०पु०—१ राठौड़ राजा. २ राठौड़ राजपूत की पदवी ।

खैड़ौ—देखो 'खेड़ौ' (रू.भे.)

खैड़ेच-सं०पु०—राठौड़ क्षत्री । उ०—खैड़ेचे खड़िया थाट खूर, समवां काळ विकराळ सूर ।—वि.सं.

खैड़ौ-सं०पु० [सं० खेट] १ छोटा गाँव । उ०—ऊजड़ खैड़ा फिर वसैं, निरधनियां धन होय । गया न जोवन बावड़ैं, मुग्रा न जीवै कोय ।—ग्रज्ञात २ गाँव के पास वाले खेत. ३ वर्र (ततैया) का छत्ता. ४ मृत्योपरांत किया जाने वाला एक प्रकार का भोज. ५ एक प्रकार का सरकारी कर ।

खैण—देखो 'खेंण' (रू.भे.)

खैपांणा, खैफांण—देखो 'खेंपांण' (रू.भे.)

खैबर-सं०पु०—भारत व अफगानिस्तान के बीच हिमालय पर्वत में पश्चिम की ओर एक दर्रा ।

खैमांन-सं०पु० [सं० क्षयवान्] नाश । उ०—भरणै गुरण तूझ तरणा भगवांन, जावै खळि त्यांह तरणा खैमांन ।—ह.नां.

खैयंग-सं०पु० [फा० खिंग] घोड़ा (रू.भे. 'खेंग')

खैर-सं०पु० [सं० खदिर] १ एक प्रकार का बबूल जाति का वृक्ष विशेष जो प्रायः बड़ा होता है ।
कहा०—खैर रौ खूंटौ होरणौ—खैर वृक्ष की लकड़ी का खूंटा होना अर्थात् दृढ़ता धारण करना ।
२ इस वृक्ष की लकड़ियों के छोटे २ टुकड़ों को उबाल कर बनाया हुआ रस जो पान के साथ खाया जाता है, कत्था ।
[फा० खैर] ३ प्रसन्नता । उ०—वरिणक खता रा कांम मैं, श्रौ दरसावै खैर । नाई नूं दीधी मुहर, वाळरण टाकर वैर ।—वां.दा.
४ दान । उ०—चहुं ओर इळा वध तौर चहुं चक, खैर दियै कव रोर खंडै ।—चिमनजी कवियौ ५ पुण्य । उ०—खैर कौ न चूंन खायौ, मैं'र कौ भरयौ उमायौ ।—ऊ.का. ६ कुशल, मंगल, क्षेम ।
उ०—खोसां मार मनावौ खैर ।—चिमनजी कवियौ
अव्यय—कुछ चिंता नहीं, अस्तु ।

खैरखाह-वि० [फा० खैरख्वाह] भलाई चाहने वाला ।

खैरखाही-सं०स्त्री० [फा० खैरख्वाही] शुभचिंतन, भलाई ।

खैरख्वा—देखो 'खैरखाह' (रू. भे.)

खैरसार-सं०पु०—खैर वृक्ष का रस, कत्था (ग्रमरत)

खैरा-सं०पु०—पंवार या पंवार वंश की एक शाखा ।

खैराइत—देखो 'खैरात' (रू.भे.) उ०—सत धरम रा राखणहार खैराइतां रा करणहार चैन सूं वसै छै ।—रा.सा.सं.

खैराइती—देखो 'खैरायती' (रू.भे)

खैराड़ा-सं०स्त्री०—सोलंकी वंश की एक शाखा ।

खैरात-सं०स्त्री० [ग्र०] दान, पुण्य । उ०—जलाल दोय लाख रिपिया खैरात किया । बूबना निछरावळ मेली ।—जलाल बूबना री बात

खैराती-वि०—खैरात लेने वाला, दान-पुण्य लेने वाला ।
उ०—ज्यांरा मोटा भाग जग, मोटा किरतब मन्न । वां हंदी ग्रासा करै, खैराती खटव्रन्न ।—वां.दा.
सं०पु०—खराद का काम करने वाली एक जाति व उस जाति का व्यक्ति ।

खेस-सं०पु० [फा० खेश] देखो 'खेसलौ'। उ०—ठावा नांमी महाजन जे था तिणां नू खेस मेलिया।—कुंवरसी सांखला री वारता
वि० [रा०] नष्ट, ध्वंस। उ०—देख कहैं सकौ देस, खत्री बीज गयौ खेस।—र.रू.

खेसणौ, खेसबौ-क्रि०स०—१ छीनना. २ पीछे हटाना. ३ धक्का देना. ४ नष्ट करना। उ०—सकल साचै मतै दळै दोखियां दळां, सूर रिण आहुड़ै खेसै खळां।—ह.पु.वा.
५ युद्ध करना। उ०—खेतळ रिणी खेसइ खुरासांण, जुध घसइ मत्त गइजूह जांण।—रा.ज.सी. ६ हराना, पराजित करना।
उ०—खगे नगे खळां खेसे, पगे राखी पातसाही।
—दूदौ सुरतांणोत बीठू

खेसणहार, हारौ (हारी), खेसणियौ—वि०।
खेसिओड़ौ, खेसियोड़ौ, खेसयोड़ौ—भू०का०कृ०।
खेसीजणौ, खेसीजबौ—कर्म वा०।

खेसलियौ, खेसलौ-सं०पु०—[फा० खेस] सूत, ऊन व दोनों का मिश्रित एक मोटा वस्त्र जो ओढ़ने के काम में लिया जाता है। इसकी बनावट एक विशेष प्रकार की होती है।

खेसवणौ, खेसविणौ —देखो 'खेसणौ' (रू.भे)
उ०—१ घरां दस लाग पिया घेरै रै, खेसवियां अचळै खागै रै।
—अचळसिंह सक्तावत री गीत
उ०—२ खेसि औरंग पहल खिसौ मेटे खत्री राखियौ देस दुई वार रांणै।—पतो आसियौ।

खेसियोड़ौ-भू०का०कृ०—१ छीना हुआ. २ पीछे हटा हुआ. ३ युद्ध किया हुआ. ४ संहार किया हुआ। (स्त्री० खेसियोड़ी)

खेसोत-वि०—संहार करने वाला, नाश करने वाला।

खेसौ-सं०पु०—१ एक प्रकार का अशुभ घोड़ा (शा.हो.)
२ वैर. ३ डाह, द्वेष (मि० 'खेदौ')

खेह-सं०स्त्री० [सं० ख+ईह=चाहना] १ धूल, रज, मिट्टी, गर्द (अ.मा.) उ०—ढोल वळाव्यउ हे सखी, झींणी ऊड़इ खेह।
—ढो.मा.

मुहा०—खेह करणौ—भाग जाना। उ०— कहर री दीठां कला, खळ दळ करसी खेह। लूंबा झड़ नह लगियां, लूआं न कांनो लेह। बां.दा.
२ खाक, राख, भस्म। उ०—देह खेह होइ जाय जीव अपणी करि बूझै।—ह.पु.वा. ३ पंवार वंश की एक शाखा या इस शाखा का व्यक्ति. ४ देखो 'खे' (११) (रू भे)

खेहड़णौ, खेहड़बौ-क्रि०अ०—अपने कर्त्तव्य पर चलना, कर्त्तव्य निभाना। उ०—खटकै सखवेप सदा खेहड़तौ, दिन प्रत दाखतौ खग्रदाव।
—पीथोजी आसियौ

खेहटियौ विनायक-सं०पु०यौ०—विवाह के मुहूर्त के अवसर पर लाई जाने वाली गणेश की मिट्टी की बनी मूर्ति। उ०—बीजै दिन वीरमती नै पीठी कराई खेहटियौ विनायक थाप्यौ।
—जगदेव पंवार री वात

खेहडंबर. खेहडंभर—देखो 'खेहाडंबर' (रू.भे.)

खेहड़ली-सं०स्त्री०—भस्म, राख (अल्पा०) उ०—मरियां सूं सूंनी मिळ जासी खूनी खेहड़ली।—ऊ.का.

खेहड़ौ—देखो 'खेह'।
उ०—वरवा घण घाट क्रमै वनड़ो, खळ थाटां ये पीठ लियां खेहड़ौ।
—प.प्र.

खेहरी-सं०स्त्री० [सं० क्षार] १ धूलि, गर्द. २ राख. [सं० केसरी] ३ सिंह, शेर।

खेहाट-सं०स्त्री० [सं० ख+ईह+रा० प्र० आट] आकाश में उड़ कर चारों ओर छा जाने वाले धूलि-कण, गर्द, रंजी।

खेहाडंबर, खेहारव, खेहारवण-सं०पु० [सं० ख+ईह+आडंबर, ख+ईह+रव] १ तूफान, प्रचंड आंधी जिसमें आकाश धूल से आच्छादित हो जाय. २ गर्द। उ०—१ खेहाडंबर खर अंबर अरड़ावै, धरणी तळ धूणै गरदब गरड़ावै।—ऊ.का. उ०—२ धूआ रव दव धोम, खेहारव डंबर खरा। क्रमते रोद्राइण किओ, वोम विचाळै वोम।
—वचनिका
उ०—३ सुतन कलियांण साहण दध सम चढ़ै उरभियां थाट खेहारवण ऊपड़ै।—द.दा.

खैकार—देखो 'खैखार' (रू.भे)

खैखाड़, खैखाट-सं०स्त्री० [अनु०] झंझावात की ध्वनि। तेज हवा चलने से उत्पन्न ध्वनि।

खैखार-सं०पु० [अनु०] १ खंखार, बलगम. २ खांसने पर होने वाली हलकी ध्वनि. उ०—खळ खार खैखार न बोल खमै, नह कोय किणी पर टांक नमै।—पा प्र.
३ संहार, वध, नाश, विध्वंस।

खैखारौ-सं०पु० [अनु०] देखो 'खैखार'। उ०—वळै गढ़ मांहै खैखारो करनै पोढ़ै।— वीरमदे सोनगरा री वात

खै-खै-सं०स्त्री० [अनु०] तेज वायु के चलने से उत्पन्न शब्द, झंझावात में वायु वेग का शब्द या ध्वनि। उ०—अंचळ उलटाती कुलटाकृति आवै, खै-खै करतोड़ी मरतोड़ा खावै।—ऊ.का.

खैग-सं०पु० [फा० खिंग] (स्त्री० खैगण) देखो 'खेंग'।
उ०—खर भूकै रव खैग, स्वांन कूकै सुख हारी।—रा.रू.

खैगारौ—देखो 'खैखार'।

खैगाळ-सं०पु०—संहार, नाश, वध। उ०—जुध भारथ दसरथ सुत जीपण, खर दुम्वर असुरां खैगाळ।—ह.नां.
वि०—नाश करने वाला संहार करने वाला। उ०—नमो कुंभेण तणा भुजकाळ, नमो कुळ-राकस-वंस खैगाळ।—ह.र.

खैगाळौ-वि०—संहार करने वाला।

खैंच-क्रि०स०—खिंचाव, तनाव।

खैंचणौ, खैंचबौ-क्रि०स०—देखो 'खींचणौ'। उ०—देख्यौ सभा जिण वार, मांग्ण दुर्जोधन मेटियौ। खैंचै कच उण वार थां पाण्डव बैठ्या थकां।—रामनाथ कवियौ

खोड़-सं०स्त्री०—१ ऐब, अवगुण, दोष। उ०—हाथां ठालौ हालणौ, जाभी संपत जोड़। मौत सरीखौ मिनख रै, खलक मही नहिं खोड़।
यौ०—खोड़खवाड़, खोड़खाड़। —बां.दा.
मुहा०—१ खोड़ भालणौ—दोष ढूंढ़ना. २ खोड़ मेटणौ—अवगुण हरना, गलती मिटाना।
कहा०—ऊंट री खोड़ ऊंट भुगतै—ऊँट को अपने ही दोष या अवगुण से उत्पन्न होने वाले कष्ट को स्वयं को ही भुगतना पड़ता है। अपने ही अवगुणों का दुष्फल स्वयं को ही भुगतना पड़ता है।
२ धूर्तता, चालाकी। उ०—पंसेरी इक पालड़ै, पुंगीफळ इक ओड़; ऊ तोलण सम कर उभै, आ चतुराई खोड़।—बां.दा.
३ न्यूनता, कमी, कसर। उ०—पीथळ धोळा टमंकिया, बहुली लागी खोड़। पूरे जोवन पदमणी, ऊभी मूंह मरोड़।
—प्रथ्वीराज राठौड़
४ शरीर, तन (मि० 'खोळ' २) उ०—१ नींद आवा पावै न छै, म्हारी खोड़ तौ अठै छै, जीव नलवरगढ़ में छै, थे धीरज बंधाओ छौ।—ढो.मा. ५ कलंक। उ०—चौड़ै लीक छाप माथै वडां री न वारी चाल, खोटी सला विचारी लगाई कुळां खोड़।
—दलजी महड़ू
खोड़उ—देखो 'खोड़ौ'।
खोड़की-वि०स्त्री०—लंगड़ी।
सं०स्त्री०—१ एक प्रकार का बच्चों का खेल।
यौ०—खोड़की टांग।
२ एक प्रकार का बैलों को होने वाला रोग विशेष जिससे उनका एक पैर सूज जाता है। यह संक्रामक रोग होता है। इसमें मृत्यु शीघ्र होती है।
खोड़खवाड़, खोड़खाड़, खोड़खैवाड़-सं०स्त्री०यौ०—ऐब, अवगुण, दोष।
खोड़चौ-सं०पु०—वह काष्ठ का बड़ा मोटा टुकड़ा जिसके बीच में लोहे का चौड़ा व मोटा ठोस गुटका, जिस पर लुहार लोह कूटते हैं या सुनार स्वर्ण चांदी कूटते हैं, लगाया जाता है।
वि०—लंगड़ा।
खोड़ाणौ, खोड़ावौ-क्रि०अ० [सं० खोलृ] लंगड़ाना।
मुहा०—खोड़ खोड़ाणौ—किसी के कार्य की नकल करना। देखादेखी कार्य करना।
खोड़ाणहार, हारौ (हारी), खोड़ाणियौ—वि०।
खोड़ायोड़ौ—भू०का०कृ०।
खोड़ाईजणौ, खोड़ाईजवौ—भाव वा०।
खोड़ावणौ, खोड़ांवबौ—रू०भे०।
खोड़ायोड़ौ—भू०का०कृ०—लंगड़ाया हुआ. (स्त्री० खोड़ायोड़ी)
खोड़ावणौ, खोड़ाववौ—देखो 'खोड़ाणौ' (रू.भे.)
खोड़ावणहार, हारौ (हारी), खोड़ावणियौ—वि०।
खोड़ाविओड़ौ, खोड़ावियोड़ौ, खोड़ाव्योड़ौ—भू०का०कृ०।
खोड़ावीजणौ, खोड़ावीजवौ—भाव वा०।

खोड़ावियोड़ौ—देखो 'खोड़ायोड़ौ'। (स्त्री० खोड़ावियोड़ी)
खोड़ियाळ-सं०स्त्री०—चारण वंश में उत्पन्न एक देवी।
वि०—कार्य में बाधा डालने वाला, टंटा फसाने वाला।
खोड़ियौ-वि० [सं० खोलृ] लंगड़ा।
सं०पु०—१ हनुमान. २ कंधा।
कहा०—खोड़िया ढीला मेलौ अदर अदर फरय्ये कांम न चालै—कन्धे ढीले करो, केवल हलके २ घूमने से काम नहीं चलता।
खोड़ी-सं०स्त्री०—खेत की मेढ़ में आने-जाने हेतु बनाया जाने वाला संकरा मार्ग। यह इस प्रकार बनाया जाता है कि इसके द्वारा केवल मनुष्य ही आ जा सकता है, पशु खेत में प्रवेश नहीं कर सकता।
२ देखो 'खोड़ियाळ'। (रू. भे.-खोडी)
खोड़ीलाई-सं०स्त्री०—१ नाहक तंग करने, छेड़ने या बाधा डालने का भाव या कार्य, व्यर्थ का कष्ट. २ शैतानी, शरारत, दुष्टता।
खोड़ीलौ-वि०पु० (स्त्री० खोड़ीली) १ व्यर्थ में तंग करने वाला.
२ चिड़चिड़े स्वभाव का. ३ व्यर्थ की बाधा डालने वाला.
४ वह जिसकी उपस्थिति या जन्म के कारण अनिष्ट होने की संभावना हो।
खोड़ू—देखो 'खोड़ौ'।
खोड़ौ-सं०पु० [सं० खोलृ] १ कैदी के पैरों में डाला जाने वाला एक काठ का उपकरण जिससे वह चल फिर नहीं सकता। उ०—धन लोड़ै तोड़ै धरम, विध विध जोड़ै वात। जड़ सनेह खोड़ै जड़ण, गिणका मोड़ै गात।—बां.दा. २ देखो 'खोड़चौ' (३)
वि० (स्त्री० खोड़ी) लंगड़ा।
कहा०—खोड़ी वऊ वायदौ करै अर सात जणां टांग जमावै—लंगडी बहु कूड़ा-करकट डालने का कार्य करती है तो सात आदमियों को उसका उपचार करना पड़ता है अर्थात् ऐसे व्यक्ति से कार्य कराना निष्फल सा होता है जिसके काम करने पर दूसरों को उसकी सहायता करना पड़ता है।
खोज-सं०स्त्री०—१ अनुसंधान, तलाश, शोध। उ०—देस विगाड़चौ राव रौ, फेर विनासी फौज। डर बैठां कांसूं हुवै, राजा लाग्या खोज।
— डाढ़ाळा सूर री वात
क्रि०प्र०—करणौ, लागणौ, होणौ।
सं०पु०—२ पदचिन्ह।
उ०—परतख जंवक पेखियां, कोय न जावै भाग। सीहां केरा खोज सूं, मांनीजै डर माग।—बां.दा.
क्रि० प्र०—देखणौ, पड़णौ, मिळणौ।
कहा०—मैंगळ हंदा खोज में, सव ही खोज समाय—हाथी के पद-चिन्ह में दूसरे सब पद-चिन्ह समा जाते हैं। कोई बड़ा कार्य या प्रभाव छोटे-मोटे कार्यों या प्रभावों को अपने में समा लेता है।
३ चिन्ह, निशान, पता।
मुहा०—खोज जाणौ—१ वंश निर्मूल होना, वंश या कुल काणा

२ खैरात करने वाला, खैरात संबंधी, दान का, पुण्य का।

खैराद–सं०पु० [फा० खर्राद] वह उपकरण जिसके द्वारा लकड़ी या धातु की वस्तुओं को उस पर चढ़ा कर चिकना किया जाता है, खर्राद।

खैरादी–सं०पु० [अ० खर्रात से, फा० खर्राद+रा०प्र०ई] १ शेख सैयद आदि से मिल कर बनी हुई एक मुसलमान जाति जो लकड़ी या दांत को खर्रात पर उतारने का कार्य करती है या इस जाति का व्यक्ति. २ बढ़ई।

वि०—दान-पुण्य करने वाला।

खैरायत, खैरायती—देखो 'खैरात' (रू.भे.)

वि०—खैरात लेने वाला, दान लेने वाला। उ०—राजहूंत कहियौ वड रिड़मल, खैरायतां हवै नहि खेचल।—अज्ञात

खैरियत–सं०स्त्री० [फा०] कुशलता, आनन्दमयता, भलाई, कल्याण।

[फा० खैरात] दान-पुण्य। उ०—साह अजैपाळ घरै आय घणी खैरियत करी।—पलक दरियाव री वात

खैरी–सं०पु०—१ एक फूल विशेष (अ.मा.) २ एक वृक्ष विशेष जिसकी लकड़ी मजबूत समझी जाती है. ३ देखो 'खेड़ी'।

खैरी गूंद–सं०पु०यौ०—खैर वृक्ष का गोंद।

खैरूं—१ देखो 'खेरूं' (रू.भे.) २ गाय बैल आदि का मस्ती में खुर से धूल को पीछे की ओर उछालने का कार्य। उ०—खरसंडिया खैरूं करै, गोर दड़ूकै सांड। नारा गोधा वाछड़ा, मच-मच होवै टांड।
—वादळी

खैरौ–सं०पु०—क्रोध में देखने का भाव।

वि०—कुटिल, क्रोधीला।

मुहा०—खैरौ झेलणौ—दुश्मनी कायम रखना।

खैसचार–सं०पु० [सं० ख+चर] आकाशचारी पक्षी।

खैसवणौ–क्रि०अ०—हराना, मारना। उ०—ग्रांमि संग्रांमि झूंझार माल्है गहड़ अरि घड़ा खैसवै आप न खिसै अनड़।—हा.झा.

खैह—देखो 'खेह' (रू भे.) उ०—भाल घांचौ फेरियौ खैह री हूंत छायौ भांण, वांघलौ केहरी 'चैन' घेरियौ वलाय।—सूरजमल मीसण

खोंखों–सं०पु० [अनु०] खांसने का शब्द, खांसने के समय होने वाली ध्वनि।

खोंगाह–सं०पु० [सं०] पीलापन लिये सफेद रंग का घोड़ा (डिं.को.)

खो–सं०पु०—१ खंजन. २ सूर्य. ३ पुण्य. ४ सम्मान. ५ भय. ६ नाश. संहार (एका०) ७ गर्त, गड्ढा।

कहा०—खो री माटी खो में रैवै—गड्ढे की मिट्टी गड्ढे में ही रहती है। १ प्रत्येक वस्तु अपने स्थान पर ही उचित व भली प्रतीत होती है. २ वस्तु का एक तरफ या एकान्त में रहने के कारण उपयोग में नहीं आना।

८ 'खो' नामक देशी खेल जिसमें दो दल खेलते हैं। एक दल के खिलाड़ी पंक्ति बना कर कुछ-कुछ फासले से बैठते हैं जिसमें क्रम से एक को छोड़ दूसरे का मुख पहिले वाले से विपरीत दिशा में होता है। दूसरा दल इनके बीच के फासले में खड़ा रहता है तब बैठी हुई टोली का खिलाड़ी अन्य टोली के खिलाड़ियों को छूने की कोशिश करता है, इसी समय अवसर देख वह अपनी टोली के अन्य खिलाड़ी को पीछे से 'खो' शब्द कह कर विपरीत टोली के खिलाड़ियों को छूने के लिये भगाता है। इसी प्रकार खेलते-खेलते बैठी वाली टोली दूसरी टोली के सब खिलाड़ियों को छू लेती है तो खेल बदल जाता है।

खो'—देखो 'खोज'।

खोग्रौ–सं०पु०—दूध को औटा कर बनाया गया मावा, खोया।

खोकौ–सं०पु०—१ लकड़ी के तख्तों की पेटी जो खाली व पुरानी हो. २ शमी वृक्ष की सूखी फली।

खोखर–सं०पु०—१ राठौड़ राव छाडोजी के पुत्र खोखर के वंशज राठौड़ों की एक उपशाखा या इस शाखा का व्यक्ति।

२ जाटों की एक शाखा (गोत्र) या इस गोत्र का व्यक्ति।

खोखरियां–सं०स्त्री०—परिहार वंश की एक शाखा जो रैवारी (गडरिया) हो गये।

खोखलौ–वि०—खोखला, शून्य, पोला।

खोखाळणौ–क्रि०स०—खोखला करना, पोला करना।

खोखालणहार, हारौ (हारी), खोखालणियौ—वि०।

खोखाळिग्रोड़ौ, खोखाळियोड़ौ, खोखाळ्योड़ौ—भू०का०कृ०।

खोखाळियोड़ौ–भू०का०कृ०—खोखला किया हुआ।

(स्त्री० खोखाळियोड़ी)

खोखौ–सं०पु०—१ शमी वृक्ष की सूखी फली जो खाई भी जाती है।

कहा०—खोखा खा पांणी पी काली डोकरी रोवै की—पगली बुढ़िया! व्यर्थ में रोती क्यों है? शमी की फली खा कर ऊपर से पानी पी ले। जो कुछ प्राप्त होता है उसे ही खा-पी कर संतोष करना चाहिए, व्यर्थ में दुखित होने से क्या लाभ? २ एक प्रकार का देशी खेल। देखो 'खो' (८)

खोगळ–सं०स्त्री०—मांद, गुफा (क्षेत्रीय)

खोगसींगी–सं०पु०—वह अशुभ घोड़ा जिसके पैरों के तलुवों में भौंरी होती है। —शा. हो.

खोगाळ–सं०पु०—१ संहार, नाश।

कहा०—१ पाडा-पाडा लड़ै नै रूंखां रौ खोगाळ; २ सांड-सांड आयड़ै बांठां रौ खोगाळ—पाडों या सांडों का लड़ना और वृक्षों का नष्ट होना; वड़ों या सामर्थ्यशाली व्यक्तियों की लड़ाई में गरीबों की व्यर्थ में हानि होना।

२ खोखलापन. ३ गुफा, मांद, कंदरा।

खोगोड़, खोगीर–सं०पु० [फा० खोगीर] वह ऊनी कपड़ा जो घोड़े के चारजामे के नीचे लगाया जाता है। खुगीर। उ०—सक्तिसिंह सवार वाही सो पेमसिंह घोड़ौ फेरते रै लागी। सो घोड़ै रै खोगीर वड़'र रीढ़ी री हाडी घोड़ै री बैठ गई।—मारवाड़ रा अमरावां री वारता

मुहा०—खोगीर री भरती में देणौ—समूची आय को किसी बड़े व्यय की पूर्ति के प्रयत्न में खर्च करना।

बोलणी—अशुद्ध बोलना, अशुद्ध पढ़ना. ४५ खोट भरणी—स्त्रियों द्वारा आंगन में चित्रित किये जाने वाले साखिये (स्वस्तिक) में गलत चित्रण करना व उनमें गलत रंग भरना. ४६ खोट भांपणी—भूल को जान अथवा समझ लेना. ४७ खोट भाळणी—अशुद्धि ढूंढ़ना, त्रुटि देखना, भूल खोजना. ४८ खोट भोगणी—भूल का दंड भुगतना. ४९ खोट मंडावणी—अशुद्ध लिखवाना. ५० खोट मांडणी—अशुद्ध लिखना, अशुद्ध प्रतिलिपि करना. ५१ खोट मांनणी—भूल को स्वीकार करना, त्रुटि मानना. ५२ खोट रहणी—लिखने के कार्य में अशुद्धि रह जाना, भूल रह जाना. ५३ खोट राखणी—भूल रखना, अशुद्धि करना. ५४ खोट रैंणी—देखो 'खोट रहणी' (रू.भे.) ५५ खोट रौ न्यार काढ़णी—भूल का पता लगाना कि वह किस प्रकार और कहाँ हो गई. ५६ खोट लाधणी—लिखने के कार्य या हिसाब आदि में भूल का पता लगाना. ५७ खोट लावणी—अशुद्धि करना, स्मृतिजन्य पाठ को गलत लिखना, लिखावट के कार्य में त्रुटि रखना. ५८ खोट लिखणी—लिखने के कार्य में अशुद्धि करना, प्रतिलिपि करने में अशुद्ध लिखना. ५९ खोट वाचणी—अशुद्ध पढ़ना. ६० खोट वारणी—भूल को सुधारना, भूल नहीं होने देना. ६१ खोट विचारणी—अशुद्ध सोचना, गलत सोचना. ६२ खोट सोचणी—अपनी भूल पर विचार करना, अशुद्धि को सोचना. ६३ खोट सोधणी—भूल को सुधारना अशुद्धि को ठीक करना, अशुद्धि ढूंढ़ कर निकालना. ६४ खोट हलाणी—जान या अनजान में की हुई भूल को (नहीं सुधारकर) उसी प्रकार चलाते रहना. ६५ खोट हालणी—अशुद्धि का चलना । ६६ खोट हुणी (होवणी)—लिखने के कार्य में भूल आदि हो जाना, अशुद्ध लिखा जाना ।

यौ०—खोट-आळी, खोट-कवाड़, खोट-खवाड़, खोट-चूक, खोट-नि'आर, सोट-पारखी, खोट-पीणौ, खोट-माळौ, खोट-रखौ, खोटवाळौ, खोट-हाळौ ।

२ वह निम्न कोटि की वस्तु जो किसी विशुद्ध या उच्च कोटि की वस्तु में अर्थ-लाभ की दृष्टि से मिलाई जाय अथवा इस प्रकार की मिलावट ।

मुहा०—१ खोट घड़णी—गढ़ने के कार्य में विजातीय वस्तु मिला कर तैयार करना. २ खोट घालणी—विशुद्ध वस्तु में विजातीय या निम्न कोटि की वस्तु को मिलाना. ३ खोट नांखणी—देखो 'खोट घालणी' ४ खोट परखणी—मिलावट की जांच करना, विशुद्धि का पता लगाना. ५ खोट वरतणी (वरताणी)—मिलावट की वस्तु का व्यवहार करना. वस्तु में मिलावट करके बेचना. ६ खोट-वरतीजणी—मिलावट का आम प्रचार हो जाना, कृत्रिम वस्तुओं का अधिक व्यवहार में आना. ७ खोट मेळणी—विशुद्ध व उत्तम वस्तु में निम्नकोटि की वस्तु मिलाना. ८ खोट मेलणी—किसी विशुद्ध वस्तु के अंदर कृत्रिम वा निकृष्ट वस्तु को रख देना. ९ खोट मेळणी—देखो 'खोट-भेळणी' १० खोट राळणी—देखो 'खोट घालणी' (रू.भे.)

११ खोट वापरणी—देखो 'खोट वरतणी' (रू.भे.)

यौ०—खोट-परखौ, परखी, खोट-परखणियौ, खोट-पारखी ।

३ कपट, छल । उ०—१ रांणी मन में घणी खोट राखै छै ।

—नैणसी

उ०—२ दरसावै जग नूं दया, पाप उठावै पोट । हित में चित में हाथ में, खत में मत में खोट ।—बां.दा.

मुहा०—१ खोट आवणी—मन में कुटिलता व्यापना. २ खोट ओळखणी—किसी की धूर्तता या कपट को जान लेना. ३ खोट घड़णी—दगा करना, छल करना. ४ खोट ताड़णी—छल को समझ लेना, कपट जान जाना. ५ खोट तेवड़णी—दगा करने का विचार करना, कपट करने का निश्चय करना. ६ खोट धारणी—कपट धारण करना, छल विचारना. ७ खोट भांपणी—कपट को जान लेना, कुटिलाई समझ लेना. ८ खोट राखणी—कपट वृत्ति रखना. ९ खोट वांछणी—दगा देने की इच्छा करना या रखना । १० खोट वापरणी—छल-कपट उत्पन्न होना, मन में कुटिलता व्यापना ।

कहा०—रांम नांम तौ रटियौ नहीं, मन में राखी खोट । ऊनाळा री तावड़ौ, माथै मण री (मोटी) पोट—राम का नाम तो लिया नहीं, केवल छल-कपट का ही व्यवहार किया, तब मुक्ति कैसे प्राप्त हो । जिस प्रकार ग्रीष्म की कड़ी धूप में मन भर का बोझा हो उसी प्रकार मनुष्य जीवन में सद्कर्म के स्थान पर छल-कपट का व्यवहार कष्ट-दायक ही होता है ।

४ पाप । उ०—अंतरि खोट तहां हरि नांही, ताते बूडा परळा मांही ।—ह.पु.वा. ५ कमी, हानि ।

मुहा०—१ खोट खमणी—हानि सहन करना. २ खोट खाणी (खावणी)—कसर भुगतना, हानि उठाना. ३ खोट खाटणी—हानि उठाना. ४ खोट जरणी—हानि को सहन करना. ५ खोट-जीरवणी—हानि से विचलित नहीं होना. ६ खोट नांखणी—घाटा डालना. ७ खोट पड़णी—(व्यक्ति) की कमी होना, हानि होना. ८ खोट पाड़णी—कमी डालना, हानि पहुँचाना. ९ खोट पूरी करणी—किसी कमी को पूरा करना, धन-हानि की पूर्ति करना. १० खोट भरणी—कमी की पूर्ति करना. ११ खोट भोगणी—हानि व कमी को सहन करना. १२ खोट मारणी—किसी वस्तु या व्यक्ति के अभाव से होने वाली हानि को भुगतना, कमी या घाटे को सहन करना. १३ खोट वारणी—कमी को दूर करना. १४ खोट वेठणी—कमी को सहन करना. १५ खोट सरणी—कमी का निभ जाना. १६ खोट साजणी—कमी या घाटे के समय किसी को सहायता देना ।

यौ०—खोटअंगी ।

होना. २ खोज मिटाणी—नष्ट करना, नाश करना।

खोजक-वि०—खोज करने वाला, अनुसंधानकर्ता।

खोजणौ, खोजबौ-क्रि०स०—तलाश करना, पता लगाना, ढूंढ़ना।

उ०—ढोलइ चढि पडताळिया, डूंगर दीन्हा पूठि। खोजे वावू हथ्थड़ा, धूड़ि भरेसी मूठि।—ढो.मा.

खोजणहार, हारौ (हारी), खोजणियौ—वि०।

खोजाड़णौ, खोजाड़बौ, खोजाणौ, खोजावौ, खोजावणौ, खोजावबौ—स०रू० प्रे०रू०।

खोजिग्रोड़ौ, खोजियोड़ौ, खोज्योड़ौ—भू०का०कृ०।

खोजीजणौ, खोजीजबौ—कर्म वा०।

खोजाड़णौ, खोजाड़बौ, खोजाणौ, खोजावौ-क्रि०स० ('खोजणौ' का प्रे०रू०) ढूंढ़ाना, तलाश करवाना, पता लगवाना।

खोजायोड़ौ-भू०का०कृ०—ढूंढ़वाया हुआ, तलाश कराया हुआ। (स्त्री० खोजायोड़ी)

खोजावणौ, खोजावबौ—देखो 'खोजाणौ'।

खोजावणहार, हारौ (हारी), खोजावणियौ—वि०।

खोजाविग्रोड़ौ, खोजावियोड़ौ, खोजाव्योड़ौ—भू०का०कृ०।

खोजावीजणौ, खोजावीजबौ—कर्म वा०।

खोजावियोड़ौ—देखो 'खोजायोड़ौ'। (स्त्री० खोजावियोड़ी)

खोजी-सं०पु०—१ खोजने वाला, ढूंढ़ने वाला. २ पद-चिन्हों को पहिचानने वाला। पद-चिन्ह विशेषज्ञ. (मि० 'पागी') ३ वह ऊंट जिसके जन्म से ही अंडकोश की गोली न हो।

खोजौ-सं०पु० [फा० ख्वाजा] १ वह नपुंसक व्यक्ति जो मुसलमानी हरमों में द्वार-रक्षक या सेवक की भांति रहता था. २ बकरी के बालों का बना हुआ मोटा कपड़ा जिसमें किसान लोग प्राय: घास, भूसी भर कर गाड़ी भरता है ३ नपुंसक. ४ वह ऊंट जिसके जन्म से ही अंडकोश की गोली नहीं है।

खोज्यौ-सं०पु०—एक प्रकार का छोटा थैला जिसे खेत बोते समय किसान अनाज से भर कर अपनी कमर में बांध कर आगे लटकाता है और हल चलाता हुआ मुट्ठी भर भर कर हल के चोंगा में बोने के लिए अनाज डालता है।

खोटंगी-वि० [सं०खोट+अंगिन्] (स्त्री० खोटगी) १ छली, कपटी, धूर्त. २ अंगहीन, अंगभंग।

खोट-सं०स्त्री० [स० क्षोट] १ भूल, अशुद्धि, गलती।

मुहा०—१ खोट ग्रणावणी—लिखने में भूल करवा देना. २ खोट ग्रणीजणी- दृष्टिदोष आदि से लिखने में भूल हो जाना. ३ खोट ग्रांणणी (ग्रावणी)—लिखने में अशुद्धि हो जाना, भूल हो जाना. ४ खोट ग्रोटणी—लिखने में आई हुई अशुद्धि को छुपाना, दबाना, भूल प्रकट न होने देना. ५ खोट ग्रोळखणी—लिखी हुई भूल को जान लेना, भूल निकालना, ऐब को मालूम करना. ६ खोट उघाड़णी—किसी की भूल को प्रकाश में लाना. ७ खोट उतारणी—प्रतिलिपि करने में अशुद्ध लिखना. ८ खोट कबाड़—देखो 'खोट खबाड़'. ९ खोट करणी—लिखने में भूल करना, गलत लिखना. १० खोट काडणी—किसी के लिखे हुए में भूल निकालना, भूल पकड़ना, किसी के स्वभाव में दोष निकालना. ११ खोट कोरणी—अशुद्ध चित्रकारी करना, पत्थर व लकड़ी पर की जाने वाली चित्रकारी में अशुद्धि करना. १२ खोट खबाड़—भूलचूक, किसी वस्तु के निर्माण में भूल और टेढ़ापन. १३ खोट खोजणी—अशुद्धि खोजना, भूल खोज कर निकालना. १४ खोट गावणी—निंदा करना, किसी की भूल को बार-बार कहते रहना. १५ खोट घोखणी—अशुद्ध उच्चारण का अभ्यास करना, अशुद्ध रटना. १६ खोट चलाणी—भूल को किये जाना. १७ खोट चाढ़णी—बही आदि में रकम की संख्या भूल से गलत लिखना, गलत इंदराज करना. १८ खोट चावणी (चावणी)—बातों ही बातों में या नजर बचा कर अपनी भूल को किसी के सामने नहीं आने देना, भूल को नजर-अंदाज करना. १९ खोट छापणी—अशुद्ध छापना, छपाई के कार्य में भूल करना २० खोट जपणी—अशुद्ध जप करना, मंत्र आदि का अशुद्ध उच्चारण करना. २१ खोट जांचणी—अशुद्धि की जांच करना, भूल जांचना. २२ खोट जाणणी—भूल का अनुभव करना, भूल को समझना. २३ खोट जोवणी—भूल का पता लगाना, भूल तलाश करनी, अशुद्धि ढूंढ़ना, त्रुटि निकालना. २४ खोट झालणी—त्रुटि पकड़ना, भूल का पता लगाना. २५ खोट टाळणी—जान-बूझ कर त्रुटि को चलाना, भूल को आगे नहीं आने देना. २६ खोट टूकणी—अशुद्ध लिखना, अशुद्ध प्रतिलिपि करना. २७ खोट ताड़णी—भूल को समझ लेना. २८ खोट ताणणी—समझते हुए भी भूल को निरन्तर किये जाना. २९ खोट थोपणी—भूल स्वीकार करने के लिये बाध्य करना. ३० खोट दाझणी (दागणी)—जिस जगह से भूल हुई हो उसे वहीं से मिटा देना. ३१ खोट दाबणी—भूल को दबा देना, भूल को प्रकट नहीं होने देना. ३२ खोट धरणी—अशुद्ध लिखना, किसी अंक को गलत रखना. ३३ खोट धोवणी—निंदा करना, भूल सुधारना. ३४ खोट निकळणी—किसी लिखित कार्य में त्रुटि आना, भूल नजर आना. ३५ खोट निकाळणी—त्रुटि निकालनी, अशुद्धि निकालना, भूल बताना. ३६ खोट न्या'रणी—भूल के ऊपर विचार करना. ३७ खोट पकड़णी—त्रुटि को पहचानना, अशुद्धि पकड़ना, भूल बताना. ३८ खोट पारखी—भूल अथवा अशुद्धि की जांच करने वाला. ३९ खोट पोखणी—भूल को किये जाना, भूल को लिये चलना ४० खोट पोतणी—भूल को मिटा देना, अशुद्धि छिपाना. ४१ खोट बताणी—लिखने आदि में की हुई भूल को निकाल कर बताना. ४२ खोट बाढ़णी—व्यापार आदि में नासमझी से ऐसा अव्यवहारिक कार्य कर लेना जिससे हानि उठानी पड़े. ४३ खोट बोधणी—गलत उपदेश देना, गलत सलाह देना. ४४ खोट

क्रिया के समय श्मशान में की जाती है. २ खोटा नूं खरूं करै जणां नो नांम आदमी—खोटे को खरा कर दे अर्थात् बिगड़े हुए बुरे को सुधार कर भला बनावे वही वास्तविक मनुष्य है. ३ खोटी खरी वगत में कांम आवै—बुरा समझा जाने वाला व्यक्ति भी कभी-कभी कठिनाई पड़ने पर बहुत काम आता है. ४ खोटौ खाणौ नै खरौ कमाणौ—साधारण भोजन एवं ईमानदारी से व्यवसाय करना व धन कमाना—ये दोनों कार्य आदमी को ऊंचा उठाते हैं।

३ झूठा, असत्य।

कहा०—खोटे खत में साख कुण घालै—झूठी बात में गवाही कौन दे सकता है ? झूठे दस्तावेजों में गवाही नहीं भरनी चाहिये, झूठी बात में हाँ में हाँ नहीं मिलानी चाहिये।

४ काम से जी चुराने वाला, अड़ियल। (मि. 'पैल(२) माठौ'(२))

कहा०—खोटौ बळद बुचकारी सूं राजी—अड़ियल बैल पुचकारने से खुश रहता है; क्योंकि पुचकारना बैल के लिये कार्य बंद करने का संकेत है ठीक इसी तरह कामचोर व्यक्ति प्रसन्नदायक बात अथवा काम बंद करने के संकेत की प्रतीक्षा में रहता है।

५ विकट, भयंकर। उ०—देखो सूरमां री सूरापणौ कितरौ खोटौ है सो वांरी ·श्रीयां रा अजब अनोखा चूड़ा ऊतरतां जेझ ही नही लागै।—वी.स.टी. ६ भाग्यहीन, अभागा।

खोटीखरौ-वि०यौ०—भलाबुरा, अच्छाबुरा।

खोटोड़ौ—देखो 'खोटौ' (अल्पा०)

खोड—१ देखो 'खोड' (२) २ नाश होने वाली वस्तु।

उ०—अभ्रम खळ ओलंब, अक्रम कोटे आलू जिस। जम दड़्ढा मझ पड़िम, खोड माया खोसाडिस।—ज.खि.

३ जंगल। [सं० खोड] ४ शंख (ह.नां.) (अ.मा.)

५ शरीर। उ०—तद जोगी रांणी री देह पडी थी, उण रै कांन में फूंक मारी तौ उवा खोड ऊठ खडी हुई।—नापे सांखले री वारता

खोडस—देखो 'षोडस' (रू.भे.)

खोडसकळा—देखो 'षोडसकळा' (रू.भे.)

खोडसोपचार-सं०पु० [सं० षोडशोपचार] पूजा के सोलह अंग।

१ आवाहन, २ आसन, ३ अर्घ्यपाद्य, ४ आचमन, ५ मधुपर्क, ६ स्नान, ७ वस्त्राभरण, ८ यज्ञोपवीत, ९ गंध (चंदन) १० पुष्प, ११ धूप, १२ दीप, १३ नैवेद्य, १४ तांबूल, १५ परिक्रमा और १६ वंदना।

खोडि-सं०स्त्री०—कमी, न्यूनता।

खोडियौ—देखो 'खूंडियौ' (रू.भे.)

खोडौ-सं०पु०—१ फसल बोने के बाद खेत में सिंचाई के निमित्त बनाई जाने वाली क्यारी. २ खेतों या बगीचों में थोड़े थोड़े फासले पर पतली मेड़ों की बीच की वह भूमि जिसमें पौधे लगाए जाते है.

३ नमक की क्यारी।

खोण, खोणि, खोणी-सं०स्त्री० [सं० क्षोणि] पृथ्वी, धरा (नां.मा.)

उ०—एको ही नांम अनंत रौ, पलै पाप प्रचंड। जव तिल जेतौ ज्वाळ नळ, खोणी दहै नव खंड।—ह.र.

खो'णौ, खो'बौ—देखो 'खोसणौ' (रू.भे.)

खोणौ, खोबौ-क्रि०स० [सं० क्षेपण] १ गंवाना, नष्ट करना।

उ०—खोयौ आसुरी धरम, आपौ विगोयौ तैं मीरखांन।

—नवलजी लाळस

२ नाश करना। उ०—सोनारी झूरै कहै, रे ठाकुर कुळ खोय। मूझ घड़ाई खोवणी, तूझ मड़ाई होय।—वी.स.

खोणहार, हारौ (हारी), खोणियौ—वि०।

खोयोड़ौ—भू०का०कृ०।

खोईजणौ, खोईजबौ—कर्म वा०।

खोवणौ, खोवबौ—रू०भे०।

खोतरणौ, खोतरबौ-क्रि०स०—कुरेदना।

खोतरणहार, हारौ (हारी), खोतरणियौ—वि०।

खोतरावणौ, खोतरावबौ—क्रि०स०, प्रे०रू०।

खोतरिओड़ौ खोतरियोड़ौ, खोतरयोड़ौ—भू०का०कृ०।

खोतरीजणौ, खोतरीजबौ—कर्म वा०।

खोतराणौ, खोतराबौ, खोतरावणौ, खोतरावबौ-क्रि०स० (प्रे०रू०) कुरेदने का कार्य करवाना।

खोतरावणहार, हारौ (हारी), खोतरावणियौ—वि०।

खोतरायोड़ौ—भू०का०कृ०।

खोतराविओड़ौ, खोतरावियोड़ौ, खोतराव्योड़ौ-भू०का०कृ०। (स्त्री० खोतरावियोड़ी)

खोतरावियोड़ौ-भू०का०कृ०—कुरेदा हुआ। (स्त्री० खोतरावियोड़ी)

खोतलौ-सं०पु०—वह ऊँट जिसके शरीर के बाल उड़ गए हों।

खोतौ-सं०पु०—१ ऊन के अंदर का मैल. २ गधा (क्षेत्रीय) वि०—जाति-च्युत।

खोत्राड़ौ-सं०पु० [सं० क्षोणि त्रोड] १ सूअर. २ वीर, बहादुर।

उ०—भांजै भोम गुढौ भिलवाड़ौ, वांकिम माल चरै वेडाय। पगां हेठ पोकरण पूगळ, खोत्राड़ै खागां बळ खाय।

—रावळ मलीनाथ रौ गीत

खोय-सं०स्त्री०—ऊँट या बकरी का एक रोग विशेष जिससे उनके शरीर के बाल उड़ जाते है।

खोयौ-सं०पु०—१ नपुंसक, हिजड़ा. २ बिना साफ किया हुआ ऊन का गुच्छा. ३ 'खोय' रोग से पीड़ित ऊँट या बकरी। (रू०भे०—खोतलौ)

खोद-सं०पु० [फा० खोद] लोहे का बना टोप जिसे योद्धा लड़ाई के समय पहिनते थे, शिरत्राण (वं.भा.)

खोदणौ, खोदबौ-क्रि०स० [सं० खन्] १ खोदना, किसी स्थान को गहरा करने के लिए वहाँ की मिट्टी आदि को हटाना, गड्ढा करना.

२ खोद कर उखाड़ना या गिराना।

३ किसी पदार्थ पर तीक्ष्ण या पैने औजार से चिन्ह, अंक या बेल-

६ दोष, ऐब। उ०— १ लाजाळू गुळ चिमन में, खग कुळ माहि बकोट, मावडिया मिनखां मंही, यां तीनां मांही खोट।—बां.दा.
उ०—२ अपणा करम ही को खोट, दोस कांई दीजै री आली।
—मीरां

मुहा०—१ खोट ओटणी—दोष छिपाना. २ खोट काडणी—किसी के स्वभाव में दोष निकालना. ३ खोट खोजणी—दोष ढूढना ४ खोट खोलणी—दोष प्रकट करना, भेद प्रकट करना. ५ खोट जोवणी—किसी में दोष ढूढना. ६ खोट डाटणी—किसी के दोषों को छिपाना. ७ खोट ढाकणी—दोष छिपाना. ८ खोट ढाबणी—अपने में दोष बनाये रखना. ९ खोट ताकणी—दूसरे में दोष देखना, दूसरे के दोषों की खोज करना. १० खोट थोपणी—अपना दोष दूसरे पर डालना. ११ खोट दाटणी (दाबणी)—दोषों को छिपाना. १२ खोट रोपणी—दोष लगाना, दोषारोपण करना.

यौ०—खोटपाखौ, खोटकरमौ।

७ अपराध।

मुहा०—१ खोट खाटणी—अपकीर्ति प्राप्त करना. २ खोट ढूकणी—अपराध लागू होना. ३ खोट माणणी—छल, कपट, व्यभिचार आदि कार्यों में रत रहना।

८ कलंक।

मुहा०—१ खोट पोतणी—कलंक को मिटाना, कलंक को साफ करना. २ खोट लगणी—कलंक लगना, लांछन लगना।

९ काम से जी चुराने का भाव।

मुहा०—खोट-खावणी—कामचोर होना।

यौ०—खोट-परांगो, खोट-पांगो।

१० असत्य, झूठ। उ०—सुणतां इसरी बात कुमळ मो भांमण जांणं। खलक वकै जे खोट वैं'म उर करे न आणं।—मेघ०

वि०—१ लंगड़ा. २ झूठा, असत्य। उ०— संसार भगळ विद्या सकळ, खोट साच दीसै खरौ। जाये न किणी लिखियो जगा, ऐसो लेख अलक्ख रौ।—ज. खि. ३ नाशवान।

खोटअंगो—वि०यौ० (स्त्री० खोटअंगी) १ छली, कपटी, धूर्त. २ अंगहीन।
(रू०भे०—खोटंगो, खोटांगो)

खोटआळौ (स्त्री० खोटआळी) देखो 'खोटमाळौ' (रू.भे.)

खोटकवाड़—सं०स्त्री०यौ०—देखो 'खोटखवाड़'।

खोटकरमी, खोटकरमौ—वि०यौ० [सं० क्षोट+कर्मिन] १ दूषित कर्म करने वाला, पापी. २ छली, कपटी. ३ व्यभिचारी।
(स्त्री० खोटकरमी)

खोटखवाड़—सं०स्त्री०—१ भूल-चूक. २ किसी वस्तु के निर्माण में भूल और टेढ़ापन।

खोटड़—वि०—बलवान, शक्तिशाली।

खोटण—सं०स्त्री०—बाजरी या ज्वार की पकी हुई बालों को अनाज के दानों को पृथक करने के लिये पीटने का डंडा।

खोटणौ—क्रि०स०—ठोकना, पीटना।

खोटपखी, खोटपखौ, खोटपाखौ—वि० [सं० क्षोट+पक्षिन्] १ जिसका पक्ष खोटा हो, दूषित. २ कपटी।

खोटपण—देखो 'खोटापण'।

खोटमाळौ—वि० (स्त्री० खोटमाळी) वह वस्तु जिसकी कल (मशीन) बिगड़ गई हो।

खोटमौ, खोटवौ—सं०पु०—१ गुप्तांग के बाल. २ शौच जाने का कार्य।
मुहा०—खोटवा करणा, खोटवा काढ़णा—गुप्तांग के बाल साफ करना. २ खोटवा वाळणा जावणौ, खोटवा काढणौ—शौच जाना, प्रातःकाल नित्यकर्म से निपटना।

खोट-रखौ—वि०—कपटी, धूर्त, छली।

खोटहड़—सं०पु०—वीर, बहादुर। उ०—उभै चख मही रैं अगन भटकै अजर, गाज घण जुही रैं बाज धूसां गजर। खोटहड़ कही रैं अदन ऊभौ खजर, नही रैं जुहारण जिसौ आवै नजर।—बद्रीदास खिड़ियो

खोटहड़ियो—वि०—१ विस्तृत. २ फूला हुआ। उ०—भाद्र वैरी गाज ज्यूं आवाज करतां, साठीका रै भमण ज्यूं चसळका करतां, भागै गाडै ज्यूं वठठाट करता, आगळै भाग नांखता खोटहड़िये रा गोभे रा भूठै कूप रा कळसिमा कपोळा रा।—रा.सा.सं.

खोटाई—सं०स्त्री०—१ बुराई, दुष्टता, क्षुद्रता. २ कपट, छल।

खोटापण, खोटापणो—सं०पु०—१ हीनता का भाव, क्षुद्रता. २ कपट, छल।

खोटी—क्रि०वि०—इन्तजार में व्यर्थ समय गँवाना।
क्रि०प्र०—करणौ, होणौ।
मुहा०—१ खोटी करणौ—विलम्ब कराना, प्रतीक्षा में खड़ा रखना. २ खोटी होणौ—इन्तजार करना, व्यर्थ समय गंवाना।

खोटीकथ—सं०पु०यौ०—असत्य, झूठा कथन (ह.नां.)

खोटीपौ—सं०पु०—इन्तजार में व्यर्थ समय गँवाने का भाव, विलंब।

खोटौ—वि० (स्त्री० खोटी) १ जिसमें कोई दोष अथवा ऐब हो।
मुहा०—१ खोटौ कमाणौ—बुरे कार्यों में पैसा कमाना. २ खोटौ खाणौ—रूखा-सूखा खाना. ३ खोटौ रुपियौ—वह दोष-युक्त सिक्का जिनकी कीमत नहीं मिलती हो, अनुचित रूप से प्राप्त किया हुआ धन।
यौ०—खोटौ-खरौ।
२ बुरा, अनुचित। उ०—१ वेहा लिख खोटा वग्गा, रेहा हीगा रहंत। पात अछेहा धन लहै, जेहा धन जहदत।—बां.दा.
उ०—२ दियै चहौलै चालतां, आर गाळ इक दोय। खाटेंतां खोटौ हुवे, धवळ न खोटौ होय।—बां.दा.
मुहा०—खोटौ समौ—बुरा समय।
कहा०—१ खोटा ना खटका मसांणां माथै निकळै—बुरे व्यक्तियों से बदला श्मशान में लिया जाता है; बुरे व्यक्तियों की निंदा दाह-

मन खोवां अमल, पांतै भोजन पांन। भड़ घोड़ा अजका सदा, जिण री हुकम जहांन।—वी. स.

खोभ-सं०पु० [सं० क्षोभ] १ घबराहट, भय. २ रंज, शोक. ३ क्रोध। उ०—आळ वाळ करता फिरै, साध होण की सोभ। पैलै मनि देखै पतित, मन अपणा की खोभ।—ह.पु.वा. ४ फिक्र।

खोभणौ, खोभबौ-क्रि०अ०—क्रोध करना, कुपित होना।

खोम-सं०पु०—बुर्ज (डि.को.)

खोमणी-सं०स्त्री०—सोने या चांदी की गोली बनाने का लोहे का एक औजार। (रू.भे.—खालर)

खोय-सं०पु०—दोष, एक कलंक। उ०—'मांणेरा' मत रोय, मत कर रत्ती अंखियां। कुळ में लागै खोय, मरतां मांन संभारियै।

—मांणेरा यादव री दूहौ

खोयण-सं०स्त्री०—अक्षोहिनी सेना। उ०—खपिया जठै अठारै खोयण, आवी रहिया तेण अवाह। चौसठ खफर पूरिया चुळवळ, हेकण कमंध तणी हतवाह।—प्रथीराज जैतावत री गीत

खोयौ—देखो 'खोओ' (रू.भे.)

खोर-सं०पु०—बाल काटने का कार्य, क्षौर-कर्म। उ०—रतन आभरण भूखण छाड्यां, खोर किया सिर केस।—मीरां

सं०स्त्री०—ऊंटनी।

वि० [फा० खूर] यह शब्दों के अन्त में आकर करने वाला या खाने वाला अर्थ देता है, यथा—हरामखोर, नशाखोर, चुगलखोर आदि।

[रा०] लंगड़ा।

खोरड़ो, खोरड़ौ-सं०पु०—एक प्रकार का घोड़ा (शा.हो.)

वि०—वृद्ध। उ०—यंद कियौ गज खोरड़ौ, संकर ओढ़ी खाल। तौ विण कुण दै 'नाथ' तण, सुंदर गज 'सत्रसाल'।

—सत्रसाल हाडा री गीत

खोराक—देखो 'खुराक' (रू.भे.)

खोराकी—देखो 'खुराकी' (रू.भे.)

खोरी—देखो 'खोड़ी' (रू.भे.)

खोरौ—देखो 'खोरी' (रू.भे.)

खोळ-सं०स्त्री०—१ पर्वतों के बीच में गुफा की तरह का एक मार्ग जिससे लोग अन्दर से आ जा सकें. २ शरीर, गात। उ०—कुंवर री जीव नीसरियो सौ देईदास री खोळ स्त्री ठाकरां रै खोळ में पड़ी थी।—पलक दरियाव री वात ३ अंक, गोद. ४ आवरण, गिलाफ। उ०—जोगी वडठौ पडलइ जाई, वभूतसर सी खोळ कराई।—वी.दे. ५ कीड़ों का ऊपरी चमड़ा जो समय-समय पर बदलता है. ६ विवाह के अवसर की एक प्रचलित रस्म जिसमें भांवरे पड़ने के पश्चात दुल्हन जब दूल्हे के साथ बारात ठहरने के स्थान पर प्रथम बार जाती है तो वर पक्ष की ओर से मेवा, मिश्री आदि से उसकी गोद भरी जाती है। इसे शुभ माना जाता है। ७ सिंह की मांद।

खोलड़-सं०पु०—खंडहर, पुराना मकान। उ०—खींपां तणा पुरांणा खोलड़, थारै हियै न ऊतरिया हरपाळ।—दूदो आसियौ

(अल्पा० 'खोलड़ियौ') (मह० 'खोलड़ौ')

खोलड़ो, खोलड़ौ—१ देखो 'खोलड़'। उ०—खमै न डोकर तणौ खोलड़ौ, घरपत हसती तणौ धकौ।—अज्ञात

खोळजोळियौ-सं०पु०—विवाह के समय वधू द्वारा पहिने जाने वाले वे कपड़े जो उसके ननिहाल द्वारा भेजे जाते हैं।

खोळण-सं०पु०—वर्तनों आदि की धोवन।

कहा०—आंधै कुत्तै रै खोळण भी खीर—अंधे कुत्ते के लिए धोवन (वर्तनों आदि के धोने का पानी) भी खीर है। अर्थात् अज्ञानी और असमर्थ व्यक्ति के लिए साधारण बात भी अधिक महत्वपूर्ण हो जाती है।

यौ०—खोळण-खाळण।

खोळणौ, खोळबौ—देखो 'खंखोळणौ' (रू.भे.) उ०—तोलंतौ सोहे अजड़ खोळंतौ, खोणी खळां रै। रोळंतौ छड़ाळौ, राजा टंटोळंतौ टाळ।—दूदौ सुरतांणोत वीठू

खोळणहार, हारौ (हारी), खोळणियौ—वि०।

खोळिओड़ौ, खोळियोड़ौ, खोळयोड़ौ—भू०का०कृ०।

खोळीजणौ, खोळीजबौ—कर्म वा०।

खोलणौ, खोलबौ-क्रि०स० [सं० खुड, खुल = भेदने] १ किसी वस्तु के मिले या जुड़े हुए भागों को एक दूसरे से इस प्रकार अलग करना कि उस खुले भाग के अंदर या उसके पार तक आना जाना और टटोलना, देखना आदि हो सके. २ अवरोध आवरण को दूर करना. ३ ऐसी वस्तु जो हटाना या इधर-उधर करना जो किसी दूसरी चीज को छिपाए हुए हो। दरार करना, छेद करना. ४ बांधने या जोड़ने वाली वस्तु को अलग करना. ५ किसी बंधी हुई वस्तु को मुक्त करना. ६ किसी क्रम को चलाना या जारी करना. ७ ऐसी वस्तुओं को तैयार करना जो दूर तक रेखा के रूप में चली गई हों और जिस पर किसी का आना-जाना हो. ८ कोई ऐसा नया कार्य आरंभ करना जिसका लगाव सर्वसाधारण या बहुत से लोगों के साथ हो. ९ किसी कारखाने, दुकान, दफ्तर आदि का दैनिक कार्य आरम्भ करना. १० किसी गुप्त या गूढ़ बात को प्रकट या स्पष्ट कर देना. ११ किसी को अपने मन की बात कहने के लिए उद्यत करना. १२ भ्रष्ट करना। उ०—राजा उदियादीत रै लोहड़ा बेटा री अंतेउर छूं और पाछली सगळी मांड नै बात कही। मोनै छळ करनै मालजादी रांडां ल्याई। पछै म्हारौ धरम खोलण नूं गोलौ आयौ, तरै गोला नै मारियौ।—जगदेव पंवार री वात

१३ शिकार किए गए पशु का चमड़ा उतारना। उ०—तठा उपरांयत सुवर खोलजै छै। साटां उतारजै छै सु कुण भांत रा दीसै छै जांणै रंगरेज री हाट खुली छै। जुदी देगचां में वणायजै छै।

—रा.सा.सं.

बूटे ग्रादि बनाना, नक्काशी करना।

खोदणहार, हारौ (हारी), खोदणियौ—वि०।

खोदाड़णौ, खोदाड़बौ, खोदाणौ, खोदावौ, खोदावणौ, खोदावबौ—क्रि०स०, प्रे०रू०।

खोदिग्रोड़ौ, खोदियोड़ौ, खोद्योड़ौ—भू०का०कृ०।

खोदीजणौ, खोदीजबौ—कर्म वा०।

खुदणौ—ग्रक० रू०।

खोदरड़ौ—सं०पु०—गृहस्थी सम्बन्धी कार्य जिनका तांता लगा ही रहता है ग्रौर समाप्त होने का नाम ही न ले एवं जिसे ग्रनिच्छा से पूरा करने का प्रयत्न करना ही पड़ता है, घरेलु कार्य।

खोदवाणौ, खोदवावौ—क्रि०स० (प्रे०रू०) खोदने के कार्य में लगाना, खोदने का कार्य कराना, नक्काशी करवाना।

खोदा—देखो 'खुदा' (रू.भे.)

खोदाई—सं०स्त्री०—१ खोदने का कार्य. २ खोदने की मजदूरी. ३ नक्काशी का कार्य ग्रथवा इस कार्य की मजदूरी. ४ शैतानी, उत्पात।

खोदाड़णौ, खोदाड़बौ, खोदाणौ, खोदावौ—क्रि०स० (प्रे०रू०) खुदाना, खोदने का कार्य दूसरे से करवाना।

खोदाणहार, हारौ (हारी), खोदाणियौ—वि०।

खोदायोड़ौ—भू०का०कृ०।

खोदाईजणौ, खोदाईजबौ—कर्म वा०।

खोदायोड़ौ—भू०का०कृ०—१ खुदवाया हुग्रा. २ नक्काशी कराया हुग्रा। (स्त्री० खोदायोड़ी)

खोदावणौ, खोदावबौ—देखो 'खोदाणौ'।

खोदावणहार, हारौ (हारी), खोदावणियौ—वि०।

खोदाविग्रोड़ौ, खोदावियोड़ौ, खोदाव्योड़ौ—भू०का०कृ०।

खोदावीजणौ, खोदावीजबौ—कर्म वा०।

खोदावियोड़ौ—देखो 'खोदायोड़ौ'। (स्त्री० खोदावियोड़ी)

खोदियोड़ौ—भू०का०कृ०—१ खुदा हुग्रा, खुदाई का कार्य किया हुग्रा. २ वह वस्तु जिस पर खुदाई का कार्य किया गया हो। (स्त्री० खोदियोड़ी)

खोदीजणौ, खोदीजबौ—क्रि०ग्र० (भाव वा०) खोदा जाना।

खोदीजियोड़ौ—भू०का०कृ०—खोदा गया हुग्रा।

खोदौ, खोदयौ—देखो 'खोदौ' (रू.भे.)

(रू०भे०—खोदियौ)

खोध—सं०पु०—क्रोध, गुस्सा। उ०—खुंदालिम करि खोध, वसुध ऊपरि वाजिग्रा।—वचनिका

खोनेड़ौ—सं०स्त्री० [सं० खन्] किसी प्रकार की मिट्टी की खदान।

खोपड़ी—सं०स्त्री० [सं० कर्पर] १ सिर की हड्डी, कपाल, मस्तक।

पर्याय०—कपाल, करपर।

मुहा०—१ ऊंधी खोपड़ी री—ग्रौंधी खोपड़ी का, बिना ग्रक्ल का, मूर्ख. २ खोपड़ी खाऊं खाऊं करै—शैतानी करने वाले को डांट-फटकार के रूप में भय दिखाने के लिए कहा जाता है. ३ खोपड़ी खावणी—सिरपच्ची करना, दिमाग खाना, परेशान करना।

(रू०भे०—खोपी)

२ बूढ़ी गाय (व्यंग्य) (ग्रल्पा०)

खोपड़ौ—सं०पु०—१ सिर की हड्डी, कपाल. २ सिर. ३ नारियल. ४ गरी का गोला।

(रू०भे०—खोपरौ) ५ बूढ़ा बैल (व्यंग्य) (ग्रल्पा०)

खोपणौ, खोपबौ—क्रि०स०—१ रोपना, गाड़ना। उ०—कर कर कांमतीजी खोपै जैत हथ जस खंभ।—र.रू. २ चुभाना, खुभाना, धँसाना।

खोपणहार, हारौ (हारी), खोपणियौ—वि०।

खोपाणौ, खोपावौ, खोपावणौ, खोपावबौ—प्रे०रू०।

खोपिग्रोड़ौ, खोपियोड़ौ, खोप्योड़ौ—भू०का०कृ०।

खोपीजणौ, खोपीजबौ—कर्म वा०।

खुपणौ—ग्रक० रू०।

खोपरी—देखो 'खोपडी' (रू.भे.) उ०—हणे कुंभेण सा जोध स्त्री हाथां, करै कुण तेण परमांण काया। जगत सारौ ग्रजूं साख दे जिकण री, खोपरी गुळ चा भीम खाया।—र.रू.

खोपरेल—सं०पु०—नारियल का तेल।

खोपरो, खोपरौ—सं०पु०—१ देखो 'खोपड़ौ' (रू.भे.) २ नारियल की सूखी हुई गिरी के दो बराबर भागों में से एक भाग।

कहा०—खारौ खाटौ खोपरौ सोपारी नै तेल, जे थारै गावणौ है तो इतरा ग्राघा मेल—गाने के लिये यदि राग को ठीक रखना है तो खटाई ग्रर्थात खट्टी चीज, नारियल, सोपारी व तेल ग्रादि की वस्तु का प्रयोग त्याग देना चाहिये।

खोपावणौ, खोपावबौ—क्रि०स० (प्रे०रू०) रोपने या चुभाने का कार्य करवाना।

खोपावणहार, हारौ (हारी), खोपावणियौ—वि०।

खोपाविग्रोड़ौ, खोपावियोड़ौ खोपाव्योड़ौ—भू०का०कृ०।

खोपावीजणौ खोपावीजबौ—कर्म वा०।

खोपावियोड़ौ—भू०का०कृ०—१ रोपवाया हुग्रा, गड़वाया हुग्रा. २ चुभवाया हुग्रा। (स्त्री० खोपावियोड़ी)

खोपो खोपौ—सं०पु०—१ वृद्ध व कृश बैल. २ देखो 'खोपड़ौ' (स्त्री० खोपी)

खोबावाजी—सं०स्त्री०—चुल्लू में गला हुग्रा ग्रफीम भर कर पीने व पिलाने की क्रिया या ग्रफीम की मान-मनुहार। उ०—ग्रमलां खोबा-वाजियां, मचे भड़ां मनुहार। जांगड़िया दूहा दियै, सिंधू राग मल्हार।—बां.दा.

खोबो, खोबौ—सं०पु०—१ ग्रंजली. २ देखो 'ग्रंजळी'। उ०—मिळियां

खोसणौ, खोसवौ–क्रि०स०—१ छीनना, झपटना. २ अनुचित रूप से अधिकार करना या किसी दूसरे की वस्तु जबरदस्ती ले लेना. ३ लूटना, डाका डालना। उ०—पैलौ खोसै पाघड़ी, हंसै दिखाळू दंत। कायर मोनै क्यूं कहै, सुद्ध सुभावां संत।—वां.दा.

खोसणहार, हारौ (हारी), खोसणियौ—वि०।

खोसाड़णौ, खोसाड़वौ, खोसाणौ, खोसावौ, खोसावणौ, खोसाववौ—प्रे०रू०।

खोसिओड़ौ, खोसियोड़ौ, खोसयोड़ौ—भू०का०कृ०।

खोसीजणौ, खोसीजवौ—कर्म वा०।

खोसरो, खोसरौ–सं०पु०—वेश्या का दलाल।

खोसाखूंदौ—देखो 'खोवा-खूंदौ' (रू.भे.)

खोसाड़णौ, खोसाड़वौ, खोसाणौ, खोसावौ–क्रि०स० ('खोसणौ' का प्रे०रू०) छीनने का कार्य दूसरे से कराना, अनधिकार अधिकार कराना। उ०—जकै भड़ छेड़ खोसाड़ अकबर जवन, हाथ व्है हींया हूंत हणिया।—वां दा.

खोसाणहार, हारौ (हारी), खोसाणियौ—वि०।

खोसायोड़ौ—भू०का०कृ०।

खोसाईजणौ, खोसाईजवौ—कर्म० वा०।

खोसावणौ, खोसाववौ—रू०भे०।

खोसायोड़ौ–भू०का०कृ०—छिनवाया हुआ, खोसाया हुआ, छीनने का कार्य अन्य से कराया हुआ। (स्त्री० खोसायोड़ी)

खोसावणौ, खोसाववौ–क्रि०स०—देखो 'खोसाड़णौ' (रू भे.)

खोसावणहार, हारौ (हारी), खोसावणियौ—वि०।

खोसाविओड़ौ, खोसावियोड़ौ, खोसाव्योड़ौ—भू०का०कृ०।

खोसावीजणौ, खोसावीजवौ—कर्म वा०।

खोसावियोड़ौ–भू०का०कृ०—खुसवाया हुआ, छिनवाया हुआ, किसी अन्य से छीनने का कार्य करवाया हुआ (स्त्री० खोसावियोड़ी)

खोसियोड़ौ–भू०का०कृ०—छीना हुआ, खोसा हुआ, अपने अधिकार में किया हुआ (स्त्री० खोसियोड़ी)

खोसौ–सं०पु०—लुटेरा, डाकू। उ०—वळ कर लूट लियौ सिंव वावौ, खोसां माल मुलक री खावौ।—चिमनजी कवियौ

खोह–सं०स्त्री० [सं० गुहा] १ गुफा, कन्दरा। उ०—१ खौ मत जीवण वादळी, डूंगर खोहां जाय। मिळण पुकारै मुरधरा, रम-रम धोरां आय।—वादळी

उ०—२ सूअर एक खोह में रोकियौ छै सो सिकार खेल फिरतौ कदमपोसी करसै।—आमेर रा धणी री वारता

२ 'झुलसना' क्रिया का भाव।। उ०—पोह महीने पाळौ पड़सी, खालड़ी री खोह। खालड़ी री खोह कीनौ, वाह रै सांई वाह।—लो.गी.

खोहण, खोहणी–सं०स्त्री० [सं० अक्षौहिणी] अक्षौहिणी सेना. चतुरंगिनी सेना जिसमें १०९३५० पैदल, ६५६१० घोड़े, २१८७० रथ, और ११८७० हाथी होते हैं। उ०—१ तेरह खोहण दळ मिळा, वाजइ खटड पखावज भेर।—वी.दे. उ०—२ खपे अठारह खोहणी, रख पंडव न्यारे। मार जरासिंध भूकपे, ढीली भूपारे।—भगतमाळ

खोहळ–सं०स्त्री० [सं० गुहा] १ दो पहाड़ों के बीच की भूमि, घाटी, कन्दरा, गुफा।

खोहळौ–सं०पु०—पानी का गड्ढा। उ०—जिण जायगा आयौ, वडा खोहळा दीठा, पांणी गै निवास दीठौ।—नापे सांखले री वारता

यौ०—वाळौ, खोहळौ।

खोहिण, खोहिणि, खोहिणी—देखो 'खोहणी' (रू.भे.)

खौंगाळ—देखो 'खोगाळ' (रू.भे.)

खौंडो, खौंडौ–वि० [सं० खंडित] १ वह (पात्र) जिसका किनारा टूटा हुआ हो. २ एक सींग टूटा हुआ (पशु)

सं०पु०—तलवार, खग, खड्ग।

खौखाट—तेज प्रवाह या तेज प्रवाह की ध्वनि।

खौड़—देखो 'खोड़' (रू.भे.)

खौड़ौ–वि०—देखो 'खोड़ौ' (रू.भे)

खौड–सं०पु०—१ शंख (अ.मा.) २ क्यारियां बनाने का कार्य अथवा इस कार्य के करने की मजदूरी।

खौडिया–स०स्त्री०—खजूर (अ.मा.)

खौडी–सं०स्त्री०—१ घास-फूस एकत्रित करने, क्यारियां बनाने अथवा रेत, खाद आदि के ढेर को छितराने का लकड़ी का कंघे की भांति बड़े दांतेदार एक उपकरण. २ महीन किये हुए बेर. ३ भुरट को महीन पीस कर शक्कर मिला कर बनाया जाने वाला चूर्ण विशेष।

खौडौ—देखो 'खोडौ'। (रू भे.)

खौदौ–सं०पु०—विना वधिया किया हुआ बैल।

कहा०—खौदा-खौदा आथड़ै'र वांठां री खौगाळ।

खौप, खौफ–सं०पु० [अ० खौफ] डर, भय, दहसत, आतंक।

खौर–सं०स्त्री०—१ वृद्धा ऊंटनी. २ भैंस। देखो 'खोर'।

खौरी–सं०पु० [सं० क्षौर] १ एक प्रकार की खुजली (चर्म रोग) जिसमें चमड़ा विल्कुल रूखा हो जाता है और बाल प्रायः झड़ जाते हैं। यह रोग कुत्तों और विल्लियों में अधिक होता है. २ देखो 'खोर'. ३ शिर के बालों की जड़ में जमने वाला मैल।

खौळ–सं०स्त्री० (स्त्री० खौळी) १ हीर कोमल घास. २ दो तह का ओढ़ने का एक वस्त्र. ३ टीका. ४ देखो 'खोळ' (रू.भे.)

खौळियौ—शरीर। उ०—सूरवीर रौ सुभाव चाहे जिण ही खौळिया में होवै, सूरपणौ पलटै नहीं।—वी.स.टी.

खौळीड़ौ—देखो 'खोळींडौ'।

खौंळौ–वि० (स्त्री० खौळी) ढीला, शिथिल।

खौहण–सं०स्त्री०—अक्षौहिणी सेना। उ०—चाप करां नृप रांम चढ़ै, मांझ रजी तद भांण मढ़ै, खौहण के असुरांण खर्व, पंख सिवा पळ खाय त्रपै।—र.ज.प्र.

खोलणहार, हारो (हारी), खोलणियौ—वि०।
खोलाड़णौ, खोलाड़बौ, खोलाणौ, खोलाबौ, खोलावणौ, खोलावबौ—क्रि०स०, प्रे०रू०।
खोलिग्रोड़ौ, खोलियोड़ौ, खोल्योड़ौ—भू०का०कृ०।
खोलीजणौ, खोलीजबौ—कर्म वा०।
खुलणौ—ग्रक० रू०।

खोळाड़णौ, खोळाड़बौ, खोळाणौ, खोळावौ—क्रि०स० ('खोळणौ' का प्रे०रू०) प्रक्षालन कराना, बर्तन आदि धुलवाना।
खोळाणहार, हारो (हारी), खोळाणियौ—वि०।
खोळायोड़ौ—भू०का०कृ०।

खोलाड़णौ, खोलाड़बौ, खोलाणौ, खोलावौ—क्रि०स० ('खोलणौ' का प्रे०रू०) खोलने का कार्य अन्य से करवाना, खुलवाना।
खोलाणहार, हारो (हारी), खोलाणियौ—वि०।

खोळात, खोळायत, खोळायती—सं०पु० [सं०] १ गोद लिया हुआ पुत्र, दत्तक पुत्र. २ दत्तक या गोद लेने वाला माता पिता।

खोळायोड़ौ—भू०का०कृ०—बर्तन में पानी डाल कर हिला कर धोया हुआ, प्रक्षालन किया हुआ (स्त्री० खोळायोड़ी)

खोलायोड़ौ—भू०का०कृ०—खुलवाया हुआ (स्त्री० खोलायोड़ी)

खोळावणौ, खोळावबौ—देखो 'खोळाणौ' (रू.भे.)

खोलावणौ, खोलावबौ—देखो 'खोलाणौ' (रू.भे.)

खोळावियोड़ौ—देखो 'खोळायोडौ' (रू भे.) (स्त्री० खोळावियोड़ी)

खोलावियोड़ौ—देखो 'खोलायोड़ौ' (रू.भे.)

खोळियोड़ौ—भू०का०कृ०—प्रक्षालन किया हुआ, बर्तन आदि पानी डाल कर हिला कर धोया हुआ (स्त्री० खोळियोड़ी)

खोलियोड़ौ—भू०का०कृ०—खुला हुआ, खोलने का कार्य किया हुआ, खोला हुआ (स्त्री० खोलियोड़ी)

खोळियौ—सं०पु०—गात, शरीर। (रू०भे०—खोळ)

खोळींडी—सं०स्त्री—खेत में बीज बोते समय कमर में बांधी जाने वाली वह थैली जिसमें बीज के दाने रखे रहते हैं तथा उसमें से चलते हुए बीज हल के पास बंधी नलिका में डालते रहते हैं।

खोळी—सं०स्त्री०—१ गिलाफ, आवरण. २ कंधे के दोनों ओर लटकाई जा सकने वाली कपड़े की थैली जिसके दोनों ओर लम्बी थैली होती है और बीच से खुली होती है (रा.सा.सं.) (मि० 'रखी') ३ ऊंट के चारजामे की रकाव की रस्सी के ऊपर का कपड़ा।

खोळीजणौ, खोळीजबौ—क्रि०स०, कर्म वा०—प्रक्षालन किया जाना, बर्तन आदि का पानी डाल कर हिला कर धोया जाना।

खोलीजणौ, खोलीजबौ—क्रि०स०, कर्म वा०—खोला जाना।

खोळीजियोड़ौ—भू०का०कृ०—बर्तन आदि में पानी डाल कर हिला कर धोया हुआ। प्रक्षालन किया गया हुआ (स्त्री० खोळीजियोड़ी)

खोलीजियोड़ौ—भू०का०कृ०—खोला गया हुआ (स्त्री० खोलीजियोड़ी)

खोळौ—सं०पु०—१ ग्रंक, गोद। उ०—मिनखां नूं पय माय, तूं पावै किण तरह री। जणणी खोळै जाय, पय फिर नहिं पीणौ पड़ै।
—बां.दा.

कहा०—खोळै मांयलै नै छोड'र पेट मांयलै री ग्रास करणी—गोद वाले बच्चे को छोड़ कर पेट वाले अर्थात् गर्भस्थ शिशु की ग्राशा रखना। प्रत्यक्ष या निश्चित वस्तु को छोड कर अनिश्चित की आशा करना।

यौ०—खोळौ-भोळौ।

२ कुर्ता या धोती का सामने की ओर नीचे लटकने वाला भाग जो कोई वस्तु आदि रखने हेतु झोलीनुमा बनाया जाता है।
उ०—खत्रवट धरम सदा थां खोळै।—रा.रू.
कहा०—गांव कनै ग्राय नै खोळा टांकणा—गांव के समीप ग्राकर बहादुरी बताना, कायर के प्रति।
३ भैंस (क्षेत्रीय) ४ पर्वत के अन्दर की गुफा।

खोवणौ—वि०—१ नाश करने वाला, मिटाने वाला। उ०—हिवै मरै खळ हात, खगधारां कुळ खोवणा। सूंपै हेकण साथ, सिर वित घर वसुधा सुजस।—बां.दा. २ गुमाने वाला। उ०—खाटी कुळ री खोवणा, नेपै घर-घर नींद। रमा कंवारी रावतां, बरती को ही बींद।—वी.स

खोवणौ, खोवबौ—क्रि०स०—१ देखो 'खोणौ' (रू.भे.) उ०—सोनारी झूरै कहै, रे ठाकुर कुळ खोय। मूझ घड़ाई खोवणा, तूझ मढ़ाई होय।
— वी.स.

२ देखो 'खोसणौ' (रू.भे.)
खोवणहार, हारो (हारी), खोवणियौ—वि०।
खोवाड़णौ, खोवाड़बौ, खोवाणौ, खोवाबौ, खोवावणौ, खोवावबौ—प्रे०रू०।
खोविग्रोड़ौ, खोवियोड़ौ, खोव्योड़ौ—भू०का०कृ०।
खोवीजणौ, खोवीजबौ—कर्म वा०।

खोवाखूंदौ—सं०पु०यौ०—लूट-खसोट, मारकाट।

खोवाडणौ, खोवाड़बौ, खोवाणौ, खोवाबौ—क्रि०स० ('खोणौ' का प्रे०रू० गुमवाना।
खोवणहार, हारो (हारी), खोवणियौ—वि०।
खोवायोड़ौ—भू०का०कृ०।
खोवाईजणौ, खोवाईजबौ—कर्म वा०।

खोवायोड़ौ—देखो 'खोसायोड़ौ'। (स्त्री० खोवायोड़ी)

खोविग्रोडौ—१ देखो 'खोसियोड़ौ'। (स्त्री० खोवियोड़ी) २ गुमाया हुआ, खोया हुआ।

खोवीजणौ, खोवीजबौ—१ देखो 'खोसीजणौ'. २ गुमा जाना, खो जाना।

खोवीजियोड़ौ—१ देखो 'खोवीजियोड़ौ'. २ खोया गया हुआ, गुमाया गया हुआ। (स्त्री० खोवीजियोड़ी)

ग

ग—क वर्ग का तीसरा वर्ण जिसका उच्चारण स्थान कंठ है एवं इसका प्रयत्न अघोष अल्पप्राण है।

गंऊं–सं०पु० [सं० गोधूमः] गेहूँ।

गंग–सं०पु०—१ अकबरकालीन एक कवि. २ योग के अनुसार नाक का दाहिना छिद्र। उ०—उंचा कमळ सुलटि करि सूवा, अनहद सब्द उचारा। गंग जमन मधि रवि ससि मेळा, सहज भया मतवारा। —ह.पु.वा.

३ तीर, बाण (ह.नां.)

सं०स्त्री० [सं० गङ्गा] ४ गंगा नदी (ह.नां) उ०—१ मिळिये तट ऊपटि विथुरी पिळिया वण, धर बाराधर घणी। केस जमण गंग कुसुम करंवित, वेणी किरि त्रिवेणी वणी।—वेलि.

उ०—२ वळ वळ दीप निसंक वळ, तू क्यूं लाज मरंत। पिता धी घर पांमणौ, उलटी गंग वहंत।—अज्ञात

यौ०—गंगकाज, गंगगरधर, गंगजळ, गंगवार, गंगवर, गंगसिर।

५ मकान की नींव।

उ०—संमत् ६०१ रै वैसाख सुद ३ रोहणी नक्षत्र मव्यांन्ह विजय मोहरत पाटण रा कोट री गंग भरी।—नैणसी

गंगई–सं० स्त्री०—मैना जाति की एक चिड़िया।

गंगकाज–सं०पु०यौ० [सं० गंगिकाज] गंगा का पुत्र भीष्म (डि.को.)

गंगगरधर–सं०पु०यौ० [सं० गंग+गर = विप+धर] शिव, महादेव।

उ०—वछूटै कड़ा वरमां रुधर बमासा, गंगगरधर खड़ा तमासागीर। —हुकमीचंद खिड़ियौ

गंगजळ–सं०पु०यौ० [सं० गङ्गा+जल] १ गंगा नदी का जल जो बहुत पवित्र माना जाता है. २ एक प्रकार का घोड़ा विशेष (शा.हो).

गंगधर–सं०पु०यौ० [सं० गङ्गा+धर] गंगा को धारण करने वाला, शिव, महादेव (ह.नां., अ.मा.)

गंगवर–सं०पु०यौ० [सं० गङ्गा+वर = पति] गंगापति, सागर, समुद्र।

गंगवरु–सं०पु०—शिव, महादेव।

गंगवार–सं०पु० [सं० गंगा+वारि] गंगाजल। उ०—वादळा कनक रा गंगवार। धूमरां मंजरां तुळछ्वार।— वि.सं.

गंगसिर, गंगसीस–सं०पु० [सं० गङ्गा+शिरस्] शिव, महादेव। (ना.डि.को., नां.मा.)

गंगा–सं०स्त्री० [सं० गङ्गा] १ भारतवर्ष की एक प्रधान नदी जो हिमालय पर्वत से निकल कर उत्तर प्रदेश, बिहार व बंगाल में बहती हुई १५६० मील की यात्रा कर कलकत्ते के समीप बंगाल की खाड़ी में गिरती है। हिन्दुओं ने इस नदी के जल को अधिक पवित्र मान कर इसे धर्म में महत्व दिया है। हिन्दुओं के प्रधान तीर्थ प्रयाग, हरिद्वार, काशी, बद्रीनाथ आदि इसी के किनारे पर स्थित हैं।

पर्याय०—अघमोचण (न), ईससीस, खापगा, खितग, गंग, गतअंग, गोमगमण, जगपावन, जटसंकरी, जाह्नवी, त्रिपथगा, त्रिपथा, देवनदी, नदसुरपति, पापमोचन, भागीरथी, भीसमग्राई, मंदाकणी(नी), मोखदा, रिखधुनि, सरगतरंगण, सरितवरा, सिद्धआपगा, सरगनदी, सुरनदी, सुरसुरी, हरवांम, हरसिरा, हरिपदी, हेमवती।

मुहा०—१ गंगा उठाणी—गंगा की कसम खाना. २ गंगाजळ (गंगाजळी) उठाणी—गंगा का जल हाथ में लेकर कसम खाना. ३ गंगा ना'णी—पाप खतम करना, निश्चित होना, कृतार्थ होना. ४ गंगा लाभ होणी—मरना, मरने के बाद गंगा में अस्थि-विसर्जन होना. ५ बै'ती गंगा में हाथ धोणी—किसी ऐसी वात से लाभ उठाना जिससे सब लाभ उठा रहे हों या जो सबके लिये खुला हो, अच्छा अवसर देख कर फायदा उठा लेना।

कहा०—१ गंगा गियां गंगादास, जमना गियां जमनादास—गंगा गये तो गंगादास बन गये, जमुना गये तो जमनादास बन गये; अवसरानुकूल अपना परिवर्तन करने वालों या मुंहदेखी बात कहने वालों के प्रति। अपने-अपने मतानुसार, अपना-अपना मार्ग ग्रहण करना. २ गंगा गयां गधौ किसो घोड़ो व्है—गंगा में स्नान करने से गधा घोड़ा नहीं बन सकता। बाहरी प्रभावों से किसी की वास्तविक प्रकृति (स्वभाव) में अन्तर आना कठिन होता है. ३ मन मां मैल नै गंगा न्हावै—मन में तो कुटिलता एवं पाप भरा है और गंगा में स्नान कर पवित्र होना चाहते हैं; ऊपर से धर्मध्वज एवं अन्दर से कपटी व्यक्तियों के प्रति; ढोंगी व्यक्तियों के प्रति।

रू०भे०—गंग, गंगि।

यौ०—गंगाजमुनी, गंगाजळ, गंगाजळी, गंगाजात्रा, गंगादसमी, गंगाद्वार, गंगाधर, गंगानंद, गंगापथ, गंगापुत्र, गंगामग, गंगासागर, गंगेस, गंगोतरी, गंगोदक।

अल्पा०—गंगड़ी।

२ राजा शांतनु की पत्नी एवं भीष्म की माता (महाभारत)

वि०वि०—कहा जाता है कि कुरु देश के राजा शांतनु से गंगा ने इस शर्त पर विवाह किया था कि मैं जो चाहूँगी वही करूँगी। शांतनु से गंगा को सात पुत्र उत्पन्न हुए, उन सबको गंगा ने जनमते ही जल में फेंक दिया था। जब आठवाँ पुत्र उत्पन्न हुआ तब शांतनु ने उसे जल में फेंकने से मना किया तब गंगा ने कहा—महाराज आपने अपनी प्रतिज्ञा तोड़दी अतः मैं जाती हूँ। मैंने देव-कार्य की सिद्धि के लिये आपके साथ सहवास किया था। ऐसा कह कर वह चली गई। यही आठवां पुत्र देवव्रत ही आगे चल कर भीष्म के नाम से प्रसिद्ध हुआ।

वि०—सफेद, श्वेत, उज्ज्वल* (डि.को.)

गंगागड़दी, गंगागडदी–सं०स्त्री० [अनु०] हुंकार करने से उत्पन्न शब्द,

ख्यत्री-सं०पु० [सं० क्षत्रिय] क्षत्रिय, राजपूत । उ०—वीरमदेजी कह्यौ, पातसाहजी, म्हे हींदू हां, ख्यत्री धरम छां ।—वीरमदे सोनगरा री वात

ख्यांत—देखो 'खांत' । उ०—तद भरमल ख्यांत कर दीठी जे भवको किणरौ छै ।—कुंवरसी सांखला री वारता

ख्यांतीलौ-वि० [सं० ख्यात्] विचारशील, बुद्धिमान, चतुर, प्रवीण, दक्ष, निपुण । उ०—सुघड़ नाह रस कस लीजै, मुहंगौ मद पीवण मोलीजै । वालम घण सूं हंस बोलीजै, ख्यांतीला कमरां खोलीजै ।

—सियाळा री गीत

ख्यात-सं०स्त्री० [सं०] १ इतिहास संबंधी वात । उ०—खूबी मिळी धारणा ख्यातां, जगदंबा तो क्रपा जद ।—बां.दा.

२ वृत्तान्त, वर्णन । उ०—मुणी मैं ख्यात अह्वीणी मत्त, गोविंद न लाधी थारी गत्त ।—ह.र. ३ कथा. ४ वन (अ.मा.)

५ यश (अ.मा.)

वि०—प्रसिद्ध, विदित ।

ख्यातवी-वि० [सं० ख्यात] प्रसिद्ध ।

ख्याति-सं०स्त्री० [सं०] प्रसिद्धि, शोहरत, नामवरी ।

ख्याल-सं०पु० [अ०] १ ध्यान, विचार ।

क्रि०प्र०—आणौ, करणौ, राखणौ ।

मुहा०—१ ख्याल आणौ—ख्याल में आना, ध्यान में आना.

२ ख्याल राखणौ—ध्यान रखना, विचार करना, याद रखना.

३ ख्याल रहणौ—ध्यान रहना, याद रहना ।

२ अनुमान, अन्दाज ।

मुहा०—ख्याल करणौ—अन्दाज लगाना ।

३ भाव, सम्मति. ४ आदर, लिहाज. ५ एक विशेष प्रकार का गान जिसमें केवल एक स्थायी पद और एक अंतरा होता है तथा अधिकतर शृंगार रस का वर्णन होता है. ६ खेल, क्रीड़ा ।

उ०—१ ऊधड़ै जरदां कड़ी खड़ी चंडी ख्याल ईखै ।

—पहाड़ खां आढ़ौ

उ०—२ लेवा मुंड सूर गणां भूतेस चालवा लागा, खंचे रथां दिवेसां भाळवा लागा ख्याल ।—रा.रू.

यौ०—ख्याल-तमासौ ।

७ नाच-गान का खेल. ८ दिल्लगी, मजाक, मखौल. ९ ऐतिहासिक, पौराणिक प्रेम-गाथा संबंधी विभिन्न रसोंयुक्त आख्यान जो नृत्य, गीत आदि अभिनय के साथ रात्रि भर तक ग्रामीण जनता द्वारा मनोविनोद के लिए नाटक के रूप में खेला जाता है.

१० ऐतिहासिक कथायें जिनको राजस्थान में ग्रामीण नृत्य आदि अभिनय के साथ पद्य रूप में गाई जाती है या खेली जाती है ।

ख्यालक-वि०—१ ख्याल या कौतुक करने वाला. २ वाद्यकार ।

ख्यालवती-वि०स्त्री०—हँसी-ठठोली व दिल्लगी करने वाली ।

ख्याली-वि०—१ कल्पित, फर्जी, मनगढ़न्त. २ खब्ती, सनकी, वहमी । ३ ख्याल करने या देखने वाला । उ०—गुडै गिड-कंध मदंध मुगल्ल । ख्याली रिखराज हूंमैं खलखल्ल ।—मे.म.

ख्योणी-सं०स्त्री० [सं० क्षोणी] पृथ्वी, धरा (डिं.नां.मा.)

ख्योणीपति-सं०पु० [सं० क्षोणीपति] महिपति, राजा, नरेश (डिं.नां.मा.)

खव-सं०पु० [सं० खर्व] नौ निधियों में से एक (नां.मा.)

ख्रिस्टांन-सं०पु०—ईसाई, क्रिस्तान ।

ख्वाजा-सं०पु० [फा० ख्वाजा] १ मालिक, सरदार. २ ऊंचा फकीर, पीर. ३ नवाबों के हरम का नपुंसक प्रहरी. ४ अजमेर में स्थित ख्वाजा पीर की दरगाह. ५ एक बादशाही पद ।

ख्वाजेसरौ-सं०पु० [फा० ख्वाजा] नवाबों के हरम का नपुंसक प्रहरी या सेवक ।

ख्वाब-सं०पु० [फा० ख्वाब] स्वप्न । उ०—जंगळधर जंग री, लाय किण आय लगाई । खतरनाक ख्वाब में, मनै पीरां फरमाई ।

—मे.म.

ख्वार-वि० [फा० ख्वार] १ खराब, बरबाद, नष्ट. २ अनादृत, तिरस्कृत । उ०—अर मित्रां नूं ख्वार बेइज्जत करणौ मत विचारै ।

—नी.प्र.

ख्वारी-सं०स्त्री० [फा०] १ बरबादी, खराबी, नष्टता । उ०—पातसाय नौरंगजेब खुदाय का अवतार, अपनी सब ख्वारी करी तहवरखां गंवार ।—रा.रू. २ अनादर, अपमान, तिरस्कार ।

ख्वालवाह-सं०पु०—एक प्रकार का घोड़ा (शा.हो.)

ख्वास—देखो 'खवास' (रू.भे.) उ०—ख्वास, पासवांन, अपापात्र, अत्य रास्ट भर, सुघर सुचाल सभ्य सबको सुहागो तूं ।—ऊ.का.

ख्वाहिस-सं०स्त्री० [फा० ख्वाहिश] इच्छा, कामना, अभिलाषा ।

ख्वाहिसमंद-वि० [फा० ख्वाहिशमंद] ख्वाहिश रखने वाला, इच्छुक, आकांक्षी ।

गंगोद—सं०पु०—गंगाजल। उ०—यौं मुख बीड़ी आप यौं गंगोद अचाया।—वं.भा.

गंगोदक—सं०पु० [सं०] १ देखो 'गंगोद'। उ०—एक बांमण तापस कोई एक गंगाजी सूं कावड़ एक गंगोदक री आंण ने सोमइयै लिंग ऊपर चाढ़े।—नैणसी २ चौबीस अक्षरों का एक वर्ण वृत्त।

गंगोळियौ—सं०पु०—एक प्रकार का खट्टा नींबू जिसका छिलका दानेदार होता है।

गंज—सं०पु० [सं० कञ्ज, खंज] १ एक प्रकार का रोग जिसमें शिर के बाल उड़ जाते हैं. २ छोटी-छोटी फुन्सियां निकलने का शिर का एक रोग. ३ काव्य छंद का एक भेद (पि.प्र.) ४ ज्योतिष शास्त्र के २७ योगों में से एक। किसी शुभ कार्य के करने में इस योग की प्रथम सात घटि अशुभ मानी जाती हैं.

[सं० गंजा] ५ शरावघर. ६ शराव। उ०—घर घर ओघट घाट टाट निस दीह कुटावै, दिल नहि लेवै दाट लाट गंज हाट लुटावै।
—ऊ.का.

७ ढेर, राशि, समूह। उ०—या सुणतां ही जांणै वारूद रा गंज में दमंग दीधौ।—वं.भा. ८ घूंघची, गुंजाफल. [रा०] ९ ऊँट। १० युद्ध. [फा०] ११ खजाना, कोष। उ०—लोभियां कज गंज समपण लछी।—र.ज.प्र.

गंजका—सं०स्त्री०—एक प्रकार का वर्णिक छंद जिसके प्रत्येक चरण में पहले दीर्घ एवं फिर लघु इस क्रम से कुल बीस वर्ण होते हैं।

गंजगोळी—सं०पु०—तोप का वह गोला जिसमें बहुत सी छोटी-छोटी गोलियां भरी रहती हैं।

गंजण—सं०पु० [सं० गंजन] १ संगीत में अष्टताल के आठ भेदों में से एक।

वि०—नाश करने वाला, मिटाने वाला। उ०—१ रिम गंजण सिव मछरियौ राजा, जो जिण ठांम स जुवा-जुवा।—द.दा.

उ०—२ गिरतनया पत सिख अभ गंजण, सुव निस वासर सेवै।
—र.रू.

२ पराजित करने वाला। उ०—गिर आसिया अगंजी गंजण, वीक हरै खग दीनी वेळ।—द.दा. ३ दवाने वाला। उ०—विरुदावळी हसती वरीस अवनीस, लाख सांसण कोड़ि वरीस। अडंड डंडण अगंजी गंजण, अनमी अभूत ताही नमी भूतकरण।—रा.रू.

गंजणरौ—सं०पु०—मेघ, बादल (नां.मा.)

गंजणौ—वि० [सं० गंजन] देखो 'गंजण' (रू.भे.) उ०—सोनंग साहां गंजणौ सोनंग साहां साल। परम तणौ वसियौ पुरां, धरम सूरां री ढाल।—रा.रू.

गंजणौ, गंजबौ—क्रि०स०—१ नाश करना, नष्ट करना, मारना।

उ०—अखमाल कमंधे वळी अथाह, गंजण खळां वाळौ सगाह।—रा.रू.

२ जीतना, पराजित करना। उ०—हैदल कळळ पायदळ हूंकळ, सीसोदै खड़तै संनद्ध। गहकै हाथी बीजागढ़ पतियां, गंजै अगंजी त्रिकुट-गढ़।—महाराणा लाखा री गीत ३ दवाना, दमन करना।

उ०—मल्हनास इत्यादिक राजा नूं रजोगुण रै उफांण दंड लेलै'र गंजिया।—वं.भा.

गंजणहार, हारौ (हारी), गंजणियौ—वि०।

गंजिओड़ौ, गंजियोड़ौ, गंज्योड़ौ—भू०का०कृ०।

गंजीजणौ, गंजीजबौ—कर्म वा०।

गंजन—वि० [सं०] देखो 'गंजण' (रू.भे.)

गंजवाळ—वि०—१ पराजित करने वाला। उ०—ओट कोट पैठा सह आसुर, गंजवाळ वळियौ गाढ़ां गुर।—रा.रू. २ नष्ट करने वाला, मिटाने वाला।

गंजाग्रह—सं०पु०यौ० [सं० गंजागृह] शराब की दूकान, शराब वेचने वाले का घर। उ०—पदमणि पूगळ री ऊगळ गळ आगै। लंजा हुंजा दे गंजाग्रह लागै।—ऊ.का.

गंजार—सं०स्त्री०—तोप के छूटने की आवाज, भड़काने की ध्वनि।

उ०—गोळाल कर गंजार, पावेस ता कुण पार।—प्रे.रू.

गंजियौ—वि०—देखो 'गंजौ' (रू.भे.)

गंजी—सं०स्त्री०—मशीन से बनी हुई या सिली हुई छोटी कुरती या बंडी जो शरीर पर कमीज आदि के नीचे पहनी जाती है, वनियान।

उ०—सोचतौ-सोचतौ माथौ जोर सूं वटीड़ा मारण लागौ अर आंसुवां सूं गंजी भीजगी।—बरसगांठ

गंजीफा—सं०पु० [फा०] एक खेल जो आठ रंग के ९६ पत्तों से खेला जाता है। यह खेल तीन आदमियों से खेला जाता है।

गंजेकेरू—सं०पु०—भीम (अ.मा.)

गंजेड़ी—वि०—गांजा पीने वाला, नशेबाज।

गंजौ—वि० [सं० कंज, खंज] (स्त्री० गंजी) १ जिसके गंज रोग हो गया हो; जिसके सिर के बाल झड़ गये हों।

कहा०—१ कांणा खोड़ा कायरा सिर से गंजा होय। वांनै जद ही छेड़ियै, हाथ में डंडा होय—काना, खोड़ा, कायरा और गंजा इन चार प्रकार के व्यक्तियों से सदैव सतर्क रहना चाहिए (व्यंग्य)

२ गंजे नैं नख नहीं देणा हा—गंजे को नाखून दे देने से वह सिर के बाल खुजला २ कर लहूलुहान कर देता है। दुष्ट व्यक्ति को कोई खतरनाक शस्त्र या कोई अन्य अधिकार मिलने पर उसका सदैव दुरुपयोग ही होता है।

[रा०] २ गांजा नामक नशीला पदार्थ।

गंठ—सं०स्त्री० [सं० ग्रंथि] १ ग्रंथि, गिरह. २ शरीर के अंग का जोड़. ३ गन्ने की पोर. ४ गट्ठा, घास-फूस का बंधा बोझ. ५ माया-जाल। उ०—गळै गो भ्रम विछूटी गंठ, करौ हरि वात लगाड़िय कंठ।—ह.र. ६ एक रोग. देखो 'गंठियौ' ७ रस्सी आदि का जोड़। ८ कुटिलता। उ०—दिल्ली सूं उत्तर दिसा, जमण तणै उप कंठ। ऊतरियौ मिळ आपरां, गुंभ प्रकासण गंठ।—रा.रू.

गंठकटौ—सं०पु०—गांठ में बंधे रुपये-पैसों को काट लेने वाला, गिरह-कट।

हुंकार। उ०—गंगागड़दि दुहु ओडां दळ गाजै, तागड़दि तवल वाजै रिणतूर। रागड़दि रांम रांवण जुध रोपै, सागड़दि अमर अपछरगण आंण।—र.रू.

गंगाजमना, गंगाजमनी—सं०स्त्री०यौ०—१ वह वस्तु जो किन्ही दो भांति के पदार्थो से बनी हो। उनमें एक पदार्थ बढ़िया तथा दूसरा घटिया भी हो सकता है. २ एक प्रकार की चिलम. ३ एक प्रकार का कपड़ा।

वि०—१ मिला-जुला, दोरंगा. २ स्याह व सफेद* (डि.को.)

गंगाजळ—सं०पु०यौ० [स० गङ्गा+जल] १ गंगा नदी का जल जो बहुत पवित्र माना गाया है।

वि०वि०—हिन्दू जाति मे आयोजित किया जाने वाला एक विशेष समारोह जो प्राय: किसी तीर्थयात्रा की संपूर्णता के पश्चात् घर पर लौटने पर या परिवार के वड़े-वूढ़े सदस्य के मृत्योपरान्त उसका अस्थि-विसर्जन गंगा में करके पुन: लौटने पर बाहरवें दिन अपने जाति व संबंधियों की उपस्थिति में किया जाता है। इस आयोजन में जो तीर्थ यात्रा से लौटते समय गंगा का पवित्र जल अपने साथ लाया जाता है उसे किसी कुए, मंदिर आदि उचित स्थान पर रख दिया जाता है। फिर घर से ढोल बाजे सहित स्त्री व पुरुष उस जल-पात्र को लेने पहुंचते है। वहां जल-पात्र की यथा-विधि पूजा कर मिट्टी के पवित्र जलपात्रों में अन्य जल के साथ गंगाजल मिला कर सुहागिन वधुओं के सिर पर वे पात्र रख कर पुन: घर लौटा जाता है। लौटते समय कई बार बाजे की ध्वनि व लय से जल-पात्र वाली वधुओं की देह हिलने लगती है और जल उन पात्रों से बाहर निकलने लगता है। इसे लोग गंगा देवी का पिंड मे आना, उबकना या उमड़ना कहते हैं और बहुत शुभ मानते है। इस आयोजन पर आमंत्रित लोगों को गंगाजल का आचमन कराया जाता है और फिर सामूहिक भोज होता है।

कहा०—गधै नै कई ठा गंगाजळ केड़ो व्है—मूर्ख को ज्ञान के विषय में क्या बोध?

२ एक विशेष रंग का घोड़ा (शा.हो.) ३ एक प्रकार का बढ़िया कपड़ा (रा.सा.सं) ४ डिंगल के वेलिया सांणोर (छोटा सांणोर) छंद का भेद विशेष जिसके प्रथम द्वाले में १० लघु २७ गुरु कुल ६४ मात्रायें तथा इसी प्रकार शेष द्वालों में १८ लघु २६ गुरु कुल ६२ मात्रायें होती हैं (पि.प्र.)

गंगाजळी—सं०स्त्री०—१ कांच या धातु का एक प्रकार का पात्र विशेष जिसमें तीर्थयात्री गंगाजल भर कर ले जाते हैं. २ टोटीदार जल-पात्र. ३ एक प्रकार का घोड़ा विशेष (शा.हो.)

गंगाजात्रा—सं०स्त्री०यौ० [सं० गङ्गा+यात्रा] १ मरणासन्न व्यक्ति का गंगा के तट की ओर मरने हेतु गमन. २ मृत्यु।

गंगादसमी—सं०स्त्री०यौ०—ज्येष्ठ मास के शुक्ल पक्ष की दसमी तिथि।

गंगाद्वार—सं०पु०यौ०—१ गंगा का उद्‌गम स्थल, एक तीर्थ.
२ हरिद्वार।

गंगाधर—सं०पु०यौ० [सं० गङ्गा+धर] १ शिव, महादेव (ना.मा.)
उ०—गंगाधर गंगा तजै, कोई पाप करम होवै सुख देण। जै धरम कियां नरकां पड़ै, तोही रांम न लोपै बाप रा वैण।—गी.रां.
२ एक औषधि का नाम जो नागरमोथा और मोचरस आदि के योग से बनती है। यह औषधि संग्रहणी रोग में दी जाती है (अमरत)
३ चौवीस अक्षरों का एक वर्ण वृत्त जिसके प्रत्येक चरण में ८ रगण होते हैं।

गंगानंद—सं०पु०यौ० [सं० गंगा+नंद] १ स्वामी कार्तिकेय (नां.मा.)
२ भीष्म पितामह।

गंगापथ—सं०पु०यौ० [० गङ्गा+पथ] १ आकाश, व्योम, गगन.
२ आकाश गंगा। (डि.को.)

गंगापाट—सं०स्त्री०—एक भौरी जो घोड़े के तंग के नीचे होती है। यह भौरी यदि तंग के बाहर हो तो शुभ मानी जाती है। तंग के नीचे होना अशुभ मानते हैं (शा.हो.)

गंगापुत्र—सं०पु०—१ गंगा के गर्भ से उत्पन्न राजा शांतनु का पुत्र भीष्म.
२ ब्राह्मणों की एक जाति जिसके व्यक्ति प्राय: गंगा आदि नदियों के किनारे पर रहते है एवं नदियो के घाटों पर दान आदि प्राप्त करते है. ३ इस जाति का व्यक्ति. ४ गंगा नदी से प्राप्त छोटे-छोटे पत्थर व कङ्कर जिनकी पूजा भी की जाती हैं।

गंगामग—सं०पु०यौ०—१ तीन की संख्या*। २ आकाश।
(मि० गंगापथ)

गंगासपतमी, गंगासप्तमी—स०पु०—वैशाख मास के शुक्ल पक्ष की सप्तमी तिथि।

गंगासागर—सं०पु०—१ एक तीर्थ-स्थान जहाँ गंगा सागर में मिलती है.
२ टोंटीदार जल-पात्र।

गंगासातम—देखो 'गंगासपतमी' (रू.भे.)

गंगासुत—सं०पु०यौ०—१ भीष्म. २ स्वामी कार्तिकेय (डि.को.)

गंगिकाज—स०पु०—गंगा पुत्र, भीष्म (डि.को.)

गंगेड़—सं०स्त्री०—१ नशा. २ नशे की हालत में आने वाला चक्कर।

गंगेटियौ—स०पु०—जाति विशेष का घोड़ा (शा.हो.)

गंगेय—सं०पु० [सं० गांगेय] १ गंगा का पुत्र, भीष्म पितामह.
२ स्वामी कार्तिकेय। ३ सोना, स्वर्ण (ह.नां)

गंगेरण—सं०पु० [सं० गांगेरुकी] एक पौधा विशेष जो औषधालय में चतुर्विधबला के अन्तर्गत माना जाता है और मदई के पौधे के समान होता है।

गंगेव—सं०पु० [स० गांगेय] १ गंगा-पुत्र, भीष्म (डि.को.)
उ०—नमो दुजरांम दामोदर देव, नमो गुरु ग्यांन करन्न गंगेव।
२ स्वामी कार्तिकेय। —ह.र.

गंगेस—सं०पु० [सं० गंगेश] शिव, महादेव।

गंगोतरी—सं०स्त्री० [सं० गंगावतार] गढवाल जिले में हिमालय पर्वत का वह स्थान जहाँ गंगा का उद्‌गम स्थान है (तीर्थस्थान)

गंटी-सं०स्त्री०—चूतड़, मलद्वार।

गंडूपदभव-सं०पु० [सं०] शीशा नामक धातु, जस्ता (डि.को.)

गंडूपदी-सं०पु०—गिजाई, एक कीट।

गंडो, गंडी-सं०पु० [सं० गंडक] १ गांठ जो किसी रस्सी या धागे में लगाई जाय. २ वह बटदार तागा जिसमें मंत्र पढ़ कर गांठ लगाई जाती है। इसे लोग प्रायः रोग और भूत-प्रेत की बाधा या पीड़ा दूर करने के लिये गले में बांधते हैं. ३ वह तावीज जो मंत्रादि से तैयार किया गया हो. ४ घोड़े की गरदन के साथ कसा जाने वाला तंग।

गंतव्य-सं०पु० [सं०] १ जानने योग्य। उ०—मंतव्य मांन, गंतव्य ग्यांन, वैदक विधांन, वर वैद ध्यांन।—ऊ.का. २ पहुँचने का स्थान।

गंता-वि०—यात्री, राहगीर। उ०—राफां झरणावै गिरणावै रोता, गता गिरणावै करमां रा गोता।—ऊ.का.

गंदगी-सं०स्त्री० [फा०] १ मलिनता, मैलापन. २ अशुद्धता, अपवित्रता. ३ मैला, मल. ४ दुर्गंध।

गंदल-सं०पु० [सं० कंदल] १ कोंपल, किसलय. २ मूली प्याज आदि में होने वाला पत्तों का डंठल जिसमें रस अधिक होता है और स्वाद भी मीठा होता है।

गंदलौ-वि० [फा० गंदा+रा०प्र०लौ] मैला-कुचैला, गंदा, मलिन।

गंदाबगल-सं०पु०यौ०—वह घोड़ा जिसके दोनों बगल में दो भौंरियां हों।

गंदियौ-सं०पु०—१ गेहूँ की फसल में होने वाली घास. २ वर्षा ऋतु में उत्पन्न होने वाला विशेष कीट जो घास में पनपता है। इसके कुचले जाने से विशेष बदबू आती है।

वि० [फा० गंदा+रा०प्र० इयौ] गंदा (अल्पा०)

गंदीवाड़ौ-सं०पु० [फा० गंदा+रा०ई+रा० प्र० वाड़ौ] गंदगी, मैलापन।

गंदेली, गंदोली-सं०स्त्री०— खुशबूदार घास विशेष।

गंदौ-वि० [फा० गंदा] (स्त्री० गंदी) मैला, मलिन, गंदा, अशुद्ध, घिनौना, नापाक।

सं०पु०—ऊंट के बालों से बना हुआ बिछाने का दरीनुमा मोटा गाढ़ा वस्त्र।

गंदौपांणी-सं०पु०—१ मद्य, शराब. २ वीर्य, धातु (बाजारू)

गंद्रब-सं०पु० [सं० गंधर्व] गंधर्व। उ०—किन्नर गण गंद्रब सहित रिखि नारद आया।—वचनिका

गंध-सं०स्त्री० [सं० गन्ध] १ बास, महक।

यौ०—गंधगज, गंधग्राही, गंधपत्र, गंधवह, गंधम्रग, गंधवह।

२ सुगंध, सुवास, सुगंधित द्रव्य जो शरीर पर लगाया जाय।

गंध-सं०पु०यौ०—चन्दन (अ.मा.)

गंधक-सं०स्त्री० [सं०] एक खनिज पदार्थ जिसे वैद्यक में उपधातु माना है। यह भारी खारे स्वाद की होती है।

पर्याय०—दयितेंद्र, पांवकोड़मात्रव, शुकपिच्छक, सुलव।

वि०—पीत, पीला* (डि.को.)

गंधकवटी-सं०स्त्री०यौ० [सं० गंधक+वटी] एक औषधि या गोली जो शुद्ध गंधक, चित्रक, मिर्च, पीपर आदि के योग से बनाई जाती है।

गंधगज-सं०पु० [सं०] मस्त हाथी।

गंधगात-सं०पु० [सं० गंधगात्र] चंदन (डि.को.)

गंधग्राही-सं०पु०यौ० [सं० गंध+ग्राही] नासिका, घ्राणेन्द्रि।

उ०—तिके वेर चाहिजै विछुट्टे हवाई तेम, गंदग्राही त्रूतां लेर हालियौ गैणाग।—र.रू.

गंधजांण-सं०पु०—नासिका, गंध का अनुभव करने वाली इन्द्रिय, नाक (डि.को.)

गंधण-सं०स्त्री०—१ तेल इत्र का व्यवसाय करने वाली एक जाति. २ इस जाति की स्त्री।

गंधपत्र, गंधपत्रता-सं०पु०—तमालपत्र (अ.मा.)

गंधवह-सं०पु० [सं० गंधवाह] १ नासिका, नाक (डि.को.) २ हवा, पवन (रू०भे०-गंधवह)

गंधमद-सं०पु०—हाथी, गज (डि.नां.मा.)

गंधमाद-सं०पु०—रामचंद्रजी की सेना का एक बंदर।

गंधमादि-सं०पु० [सं० गंधमादन] एक पर्वत विशेष।

गंधम्रग-सं०पु०यौ० [सं० गंधमृग] कस्तूरी मृग।

गंधरब, गंधरव-सं०पु० [सं० गंधर्व] १ तुरंग, घोटक, घोड़ा (ह.नां.) २ देवताओं का एक भेद, ये पुराणानुसार स्वर्ग मे रहते है और वहां गाने का कार्य करते हैं (नां.मा.) ३ गवैयों के अन्तर्गत एक भेद जो जैन धर्म के देवताओं की महिमा गाते हैं. ४ कस्तूरी मृग. ५ एक जाति जिनकी कन्यायें गाती हैं एवं वेश्या-वृत्ति करती हैं। (मा.म)

गंधरब-विद्या-सं०पु०यौ० [सं० गंधर्वविद्या] गान-विद्या, संगीत।

गंधरविवाह-सं०पु०यौ० [सं० गंधर्वविवाह] १ आठ प्रकार के विवाहों में से एक, इसमें माता-पिता की अनुमति के बिना ही वर-वधू एक दूसरे को पसंद करते हुए विवाह कर लेते हैं।

गंधरववेद-सं०पु० [सं० गंधर्ववेद] संगीत शास्त्र जो चार उपवेदों मे से एक है। इसमें स्वर, ताल, राग, रागिनी आदि का वर्णन है।

गंध-रस-पाळग-सं०पु०—मधुप, भौंरा (ह.नां.)

गंधरा-सं०पु०—पड़िहार वंश की एक शाखा।

गंधवती-सं०स्त्री०—एक पौराणिक नगरी (ग.मो.)

गंधवह, गंधवहण-सं०पु० [सं० गंधवाह] १ वायु, हवा (ह.नां., अ.मा.) २ नाक, नासिका (रू०भे०-गंधवह)

गंधवाद-सं०पु०—पुरुषों की ७२ कलाओं में से एक।

गंधवाह-सं०पु० [सं०] १ वायु, पवन (ह.नां., अ.मा.) उ०—केवड़ा कुसुम कुंद तणा केतकी, स्रम सीकर निरझर स्रवति। ग्रहियौ कंधगंध भार गुरु, गंधवाह तिणि मंद।—वेलि. २ नाक, नासिका।

गंधवाहसुत-सं०पु०यौ० [सं० गंधवाह+सुत] १ भीम (अ.मा.) २ हनुमान।

गंठणो, गंठवौ–क्रि०स० [सं० ग्रंथन] १ गांठना. २ मित्रता करना. ३ धन प्राप्त करना. ४ जूती सीना या बनाना. ५ कस कर बांधना।

गंठणहार, हारो (हारी), गंठणियो—वि०।

गंठवाणो, गंठवावो, गंठवावणो, गंठवावबो—प्रे०रू०।

गंठाड़णो, गंठाड़बो, गटाणो, गंठावो, गंठावणो, गंठावबो—क्रि०स०, प्रे०रू०।

गंठिग्रोड़ो, गंठियोड़ो, गंठचोड़ो—भू०का०कृ०।

गंठीजणो, गंठीजबो—क्रि० कर्म वा०।

गंठाई–स०स्त्री०—१ गांठने का कार्य. २ गांठने की मजदूरी. ३ मित्रता करने का कार्य।

गंठाणो, गंठाड़बो–क्रि०स० ('गंठणौ' का प्रे०रू०) गंठाना, गांठने का कार्य अन्य से करवाना, मित्रता करवाना।

गंठाणहार, हारो (हारी), गंठाणियो—वि०।

गंठायोड़ो— भू०का०कृ०।

गंठाईजणो, गंठाईजबो—कर्म वा०।

गंठायोड़ो–भू०का०कृ०—गांठने का कार्य अन्य से कराया हुआ।

गंठावणो, गंठावबो—देखो 'गंठाणौ' (रू.भे.)

गंठावणहार, हारो(हारी), गंठावणियो—वि०।

गंठाविग्रोड़ो, गंठावियोड़ो, गंठाव्योड़ो—भू०का०कृ०।

गंठावीजणो, गंठावीजबो— कर्म वा०।

गंठावियोड़ो–भू०का०कृ०—गंठाया हुआ, गंठाने का कार्य अन्य से कराया हुआ। (स्त्री० गंठावियोड़ी)

गंठियोड़ो–भू०का०कृ०—१ गंठा हुआ. २ कस कर बंधा हुआ। (स्त्री० गंठियोडी)

गंठियो–सं०पु० [सं० ग्रंथिल] १ जमीन पर फैलने वाली एक प्रकार की ग्रंथीयुक्त तंतु वाली घास. २ एक रोग जिसमें अंगों के जोड़ में विशेष कर घुटनों में सूजन और पीड़ा होती है।

गंठीजणो, गंठीजबो–क्रि० कर्म वा०— गांठा जाना मित्रता किया जाना, कस कर बंधा जाना।

गंठीजियोड़ो–भू०का०कृ०—गांठा गया हुआ, मित्रता किया गया हुआ, कस कर बांधा गया हुआ। (स्त्री० गंठीजियोड़ी)

गंठीलियो–सं०पु०—एक प्रकार का घास विशेष (क्षेत्रीय)

गंठेली–वि०—गांठ वाली। उ०—निकळै मिरड़ां लार गठेली सूखी सांकळ। घर कोटां रै ध्येय पड़ी लद लकड़ यां वाखळ।—दसदेव

गंठो–सं०पु० [सं० ग्रंथिक] १ गांठ, गट्ठर, बोझा. २ ऊंट पर लदा हुआ लकड़ियों का बोझा।

गंड–सं०पु० [सं०] १ कनपटी, गण्डस्थल. २ हाथी का कुंभस्थल। उ०—गडामारि बैसारिया नीठ गज्जं. स्त्रमाल फेरं करै झाड़ि रज्जं।—वचनिका ३ गंडा जो गले में पहिना जाता है, तावीज. [रा०] ४ मलद्वार, गुदा (रू.भे.–गांड)

गंडक–सं०पु०—(स्त्री० गंडकड़ी) कुत्ता, श्वान।

उ०—गैला गंडक गुलांम, बुचकारयां बाथैं पड़ै। कूटयां देवै कांम, रीस न कीजै राजिया।—किरपाराम

कहा०—१ अकेलो गंडक भुसै क पातळ चाटै—अकेला कुत्ता या तो भौंकता है या पातल चाटता रह जाता है; अकेला व्यक्ति कुछ भी नहीं कर सकता, उसे दूसरे व्यक्तियों की सहायता की परम आवश्यकता होती है. २ गांव लारै गंडक लादै—प्रत्येक गांव में कुत्ते तो होते ही हैं। थोड़े-बहुत बदमाश या पतित लोग प्रायः सभी जगह मिलते हैं. ३ गंडकड़ हूं गोठीपणा छैनाळ ना हूं संग—कुत्ते अर्थात् दुष्ट व्यक्ति से क्या मित्रता और कुलटा स्त्री का क्या साथ? इन दोनों से दूर ही रहना उचित है. ४ गंडकड़ै री पूंछ रौ बळ वारा बरस भूंगळी में राखै तौ भी नी नीकळै—कुत्ते की पूछ बारह वर्ष तक भूंगळी में सीधी रखी जाय तब भी बाहर निकलने पर वह टेढ़ी की टेढ़ी रहेगी। पड़ी हुई कुटेव या बुरी प्रकृति बहुत प्रयत्न करने पर भी नहीं बदलती. ५ गंडकडी खांदै लेणी पर हटवाड़ो माधणौ—कुतिया को कंधे पर बैठा कर भी साप्ताहिक हाट में जाना। कठिनाई एवं तकलीफ सहन करके भी अपना शौक पूरा करना। ६ गंडकां हूं छांनी गळियां नहीं—दुष्टों से कोई अवगुण छिपा हुआ नहीं।

रू०भे०—गिंडक।

अल्पा०—गंडकड़ो।

महा०—गंडकड़।

गंडकी–सं०स्त्री० [सं०] १ एक नदी जो नैपाल में हिमालय से निकल कर पटना के पास गंगा में मिल जाती है. २ सत्रह मात्राओं का एक ताल (संगीत)

गंडमाळ–स०स्त्री० [सं० गंडमाला] १ एक रोग जिसमें गले में ग्रंथि या गांठ उठती है। धीरे-धीरे पास-पास में बहुत सी गांठें हो जाती हैं और रोग भयंकर हो जाता है। इसका उपचार भी बड़ी कठिनता से होता है। गलकंड, कंठमाला. २ घोड़े का एक रोग विशेष (शा.हो.)

गंडसूर–सं०पु०—सूअर की आकृति से मिलता-जुलता एक जानवर जो प्रायः मनुष्य की बस्ती में गंदे स्थानों पर रहता है और मनुष्य के मल का भक्षण करता है। सूअर की भांति इसके मुंह के बाहर दांत नहीं निकले हुए होते। मेहतर इसे पालते भी हैं और मार कर इसके मांस का प्रयोग भी करते है। ग्राम-शूकर।

गंडासी—१ देखो 'गंडासो' (अल्पा०) २ वस्तुओं को कस कर पकड़ने का औजार, सडासी. ३ एक प्रकार का शस्त्र।

गंडासो–सं०पु० [सं० कंटाशी अथवा कंठासी] १ चौपायों के खाने के लिये चारे या घास के टुकड़े करने का हथियार जो दो फुट के लगभग लम्बा होता है। यह एक लकड़ी के दस्ते में जुड़ा चौड़े व चपटे लोहे का धारदार औजार होता है. २ एक प्रकार का शस्त्र।

गंडियो–वि०—देखो गांडू'। उ०—रंडियां का आसक, गंडियां का यार। भडवां का दोस्त, बड़भूंजों का प्यार।—दुरगादत्त बारहट

उ०—२ गइंवरां मीर ऊतरइ गाउ, राठउड़ रूड़ जइतसी राउ।
—रा.ज.सी.

गइजूह–सं०पु० [सं० गज+यूथ] हाथियों का समूह, गज-यूथ।
उ०—खेतल रिणि खेसइ खुरासांण, जुध घसइ मज्ज गइजूह जांण।
—रा.ज.सी.

गइण, गइणाग, गइणागि–सं०पु० [सं० गगन] आकाश, नभ।
उ०—१ चक अचळा चळचळै गइण गूवळै गरदां।—रा.ज.सी.
उ०—२ वाजिया ढोल दळ हाक वज्जि, गज्जिया गोण गइणाग गज्जि।—रा.ज.सी. उ०—३ वड़धड़इ घरा पइ मगर धज्ज, वेगवंत जेम गइणा ग व्रज्ज।—रा.ज.सी.

गइली–सं०स्त्री०—सवारी। उ०—रहि रहि राव ओळगी तूं जाई, महरी गइली तूं करइ पठाई।—वी.दे.
वि०स्त्री०—पगली।

गइलौ–सं०पु०—रास्ता।
वि० (स्त्री० गइली) पागल।

गईंद, गईंध—देखो 'गइंद' (रू.भे.) उ०—१ घणा गाढ़ भाजै गईंदां वटका घाव, ओकां खोण लैत काळी धटकां अतोल। जनैवां रटका जगनाथ रा अटका जेम, हुवो भारात रै वीच वटका हरोल।
—ईसरदास खिड़ियौ
उ०—२ चमराळां पाए उड़ि चींघ, गूंदळइ व्रिक्ख मूंझइ गईंघ।
—रा.ज.सी.

गई–सं०स्त्री० [सं० गति, प्रा० गई] १ धूप. २ गति, तरह देने या जाने देने का भाव। उ०—इण परघांनगी मांहे सवाद कौ नहीं तरै रांणै ही गई कीवी।—नैणसी
मुहा०—गई करणी—तरह देना, जाने देना, छोड़ देना, ध्यान न देना।
३ मार्ग. ४ उपाय. ५ दशा. ६ गमन।

गईवाळ–वि०—१ अयोग्य, अपात्र. २ हतभाग्य।

करगउ–सं०स्त्री० [सं० गौ] गाय, गौ। उ०—१ वनमाळीदास रीस बोलियौ कै इण जागा तो गउवां पड़सी, ऐ तौ खाजरू है।—द.दा.
उ०—२ गढ़वाड़ां री आंण अही गउआं।—पा.प्र.
कहा०—गउ संतन के कारणै हर वरसावै मेह—गायों और साधु-संतों के लाभार्थ भगवान मेह बरसाते हैं। सत्पुरुषों के भाग्य से ही सृष्टि को सुख मिलता है।
(रू०भे०—गउअ, गऊ, गाय)
यौ०—गउखांनौ, गउखाणौ, गउसाळा।

गऊख–सं०पु० [सं० गौ=गाय+अक्ष=परिमाण अथवा सं० गवाक्ष] झरोखा, वातायन। उ०—१ वावहिया चढ़ि गऊख सिरि, चढ़ि ऊचइ री भीत।—ढो.मा. उ०—२ सांझ समइ सउदागिरी, आप तणइ ऊतारि। वइठी गउखई तिणि समइ, नयणे निरखी नारि।
—ढो.मा.

गउखांनौ–सं०पु०यौ० [सं० गौ+फा० खाना] गौशाला।

गउखाणौ–सं०पु०यौ० [सं० गौ+रा० खाणौ] मुसलमान, यवन।
उ०—दांतां झाळै डाढ़ियां खीजै गउखाणाह।—पा.प्र.

गउधूळक—देखो 'गोधूळीक' (रू.भे.) उ०—गउधूळक धांधल वाग ग्रही।—पा.प्र.

गउर–सं०स्त्री० [सं० गौ] १ अचला, भूमि, पृथ्वी (ह.नां.)
२ देखो 'गउ' (रू.भे.) उ०—जग जाडा जूंझार, अकवर पग चांपै अविप। गउ राखण गुंजार, पिंड में रांण प्रतापसी।
—दुरसौ आढ़ौ

गउव–सं०स्त्री० [सं० गौ] गाय। उ०—गउवां थट वाळघलै गढ़वा, पुळ आगम 'पाल' थळी पढ़वा।—पा.प्र.

गऊं–सं०पु० [सं० गोधूम] गेहूँ। उ०—आ तौ धमसी चोखी म्हारी गऊंड़ा पीसासूं। ऐ तौ गेऊंड़ा चोखा म्हारा लाडूड़ा सोंधाऊं।
कहा०—१ गऊं तौ गुटली वायरौ मेवौ है—गेहूँ तो गुठलीरहित मेवा है। अन्य मेवों में गुठली होती है परन्तु गेहूँ गुठलीरहित होने के कारण श्रेष्ठ मेवा है।
(अल्पा०—गऊंड़ौ) (रू०भे०—गेहूँ)

गऊ–सं०स्त्री० [सं० गौ] १ गाय। उ०—हाल धरे हळ डूंगरां, वळद गऊ रै पेट। हाळी हींडै पालणै, भाती पहुँचौ खेत।—अज्ञात
मुहा०—१ अल्लाह री गऊ—नितांत भोला, भोला एवं सीधा व्यक्ति. २ गऊ होणौ—सीधा होना, किसी की शरण में जाना।
कहा०—१ गऊ मारियां पाप व्हैला—गौ की हत्या करने पर पाप के भागी होंगे; गौहत्या महान अधर्म है. २ गरजौ क्यूं तौ सांड हां, भागौ क्यूं तौ के गऊ रा जाया हां—सांड गाय को देख कर गरजता है और जोर-जोर से गरजता है, परन्तु अपने से बलवान को देख कर चुपचाप भागता है। अवसरवादी बहादुरों के प्रति।
यौ०—गऊखांनौ, गऊचर, गऊचरौ, गऊदांन, गऊभेख, गऊमुख।
(रू०भे०—गउ, गाय) (अल्पा०—गऊड़ी)

गऊखांनौ—१ देखो 'गउखांनौ' (रू.भे.) २ राजकीय बैलों द्वारा ढोने योग्य सवारियां (वाहन) रखने का स्थान एवं विभाग।

गऊचरौ—देखो 'गोचर' (रू.भे.)

गऊड़ौ–सं०पु० [सं० गौ+रा०प्र० ड़ौ] गाय या गाय का बछड़ा, बैल।

गऊदांन–सं०पु० [सं० गौ+दान] गौ को विधिवत् संकल्प करके दान करने की क्रिया।
क्रि०प्र०—करणौ, देणौ, लेणौ।

गऊभेक, गऊभेख–सं०पु०यौ० [सं० गौ+वेश] १ नितांत भोला-भाला सीधा-सादा व्यक्ति. २ कायर व्यक्ति। उ०—१ फौज आय दोळी फिरी, भड़ भागा गऊभेक। रण रहिया रुगनाथ रा, डेरा बळता देख।
—पहाड़ खां आढ़ौ
उ०—२ भगत भाव गऊभेख मिळै ठाकुर मावड़िया।—पा.प्र.

गऊमुख—देखो 'गोमुख' (रू.भे.)

गऊमुखी—देखो 'गोमुखी' (रू.भे.) उ०—देई देवता खसबोई लै रह्या

गंधविरोजा–सं०पु०—एक प्रकार का गोंद जो चीड़ वृक्ष पर उत्पन्न होता है।

गंधसार–सं०पु० [सं०] चंदन (नां.मा., ह.नां.) उ०—मृगमद अंबर सार घणा, गंधसार अंगरेळ।—र.रू.

गंधसुख–सं०पु०—मधुप, भ्रमर (नां.मा.)

गंधहर–सं०पु० [सं०] नासिका नाक (डिं.को.)

गंधहस्ती–सं०पु० [सं०] वह हाथी जिसके कुंभ से मद बहता हो, मदोन्मत हाथी।

गधाविरोजा—देखो 'गंधविरोजा' (रू.भे.)

गधामादन–सं०पु०—एक पर्वत विशेष।

गंधार–सं०स्त्री० [सं० गांधार] १ सिंधु नदी के पश्चिम का देश जो पेशावर से लेकर कंधार तक माना जाता था. २ गंधार देश का रहने वाला. ३ संगीत में सात स्वरों में तीसरा स्वर. ४ प्राणवायु जो नाभि से उठ कर कंठ में जिव्हा के अन्त से रुक जाती है। स्वर-स्थान, नासिका. ५ एक राग (संगीत)

गंधारपंचम–सं०स्त्री० [सं० गांधारपंचम] एक षाडव राग जो मांगलिक मानी जाती है (संगीत)

गंधारभैरव–सं०पु० [सं० गांधारभैरव] एक राग का नाम जो देवगांधार के मेल से बनती है (संगीत)

गंधारी–सं०स्त्री० [सं० गांधारी] १ गंधार देश की स्त्री या राज-कन्या. २ धृतराष्ट्र की स्त्री एवं कौरवों की माता (महा भा.) ३ मेघ राग की पांचवी रागिनी (संगीत) ४ जैनों की एक शासन देवी. ५ गांजा. ६ शरीरस्थ योग की नौ नाड़ियों में से एक नाडी।

गंधास्टक–सं०पु० [सं० गंधाष्टक] आठ गंध द्रव्यों को मिला कर बना हुआ एक संयुक्त गंध जो पूजा में चढाने और मंत्रादि लिखने के काम में आता है। अष्टगंध।

गंधि—देखो 'गंधी' (रू भे.)

गंधिनी–सं०स्त्री० [सं०] मदिरा, शराब।

गंधियौ–सं०पु० [सं० गंधित] १ वर्षा ऋतु में होने वाला एक कीड़ा. २ एक बरसाती घास। देखो 'गंदियौ'।

गंधी–सं०पु० [सं० गंधिन्] १ सुगंधित तेल और इत्र आदि बेचने वाला अत्तार. २ इसका व्यवसाय करने वाली एक जाति. ३ मुसलमान।
वि० [फा० गंद+रा०ई] गंदी, मैली, मलिन।

गंधीलौ–वि० [फा० गंदा+रा०प्र० इलौ] मैला, गदा, गंदला।

गंधीवाड़ौ–सं०पु०—१ गंदगी. २ वह स्थान जहां दुर्गंधयुक्त बहुत सी चीजें हो।

गंधेल, गंधैल–सं०पु०—खुशबूदार पत्तों की घास विशेष (क्षेत्रीय)

गंध्रप, गंध्रव, गंध्रव—देखो 'गंधरव'।

गंध्रवपति, गंध्रवपती–सं०पु० [सं० गंधर्व+पति] कुबेर (अ.मा.)

गंभारी–सं०स्त्री० [सं०] एक बड़ा वृक्ष जिसके पत्ते पीपल के पत्तों के से चौड़े होते हैं एवं छाल सफेद रंग की होती है।

गंभीर–वि० [सं०] १ जिसकी थाह जल्दी न मिले, गहरा. २ जिसमें जल्दी घुस न सके, घना, गहन. ३ जिसके अर्थ तक पहुँचना कठिन हो, गूढ़, जटिल. ४ घोर, भारी. ५ शांत, सौम्य।
सं०पु०—१ समुद्र (अ.मा., ह.नां.) २ कमल. ३ शिव. ४ एक राग (संगीत) ५ गुदा में होने वाला एक फोड़ा विशेष। (अमरत)

गंभीरता–सं०स्त्री०—१ बड़प्पन, गौरव. २ गहनता, गूढ़ता. ३ शांति, सौम्यता। उ०—मोटापणौ गंभीरता पावै को संध री मेघा, केवी बभाड़ा लव यंद री कुदीठ। राजी हुआ जकां घरां, आनंदकंद री रिधी, दुजेस नंद री व्रजचंद री सुदीठ।—जादूराम आढ़ौ

गंभीरवेदी–सं०पु० [सं० गंभीरवेदिन्] अंकुश की गहरी चोट की भी परवाह न करने वाला मस्त हाथी।

गंभीरा–सं०स्त्री०—मेघदूत के अनुसार एक नदी का नाम।
उ०—निरमळ चित ज्यूं नीर गंभीरा छांह सुहावै।—मेघ.

गंभीरौ–सं०पु० [सं० गंभीर+ई] समुद्र (ह.ना.)

गमर–सं०पु०—गर्व, दर्प। उ०—नांम अमर गाढ़ गंमर जोध संमर जीत।—ल.पि.

गंमार, गंवार–वि० [सं० ग्राम्य] १ ग्रामीण, देहाती। उ०—देवसिंह री इसड़ौ हुकम सुणतां ही गंवारां जांणियौ कहिया जिका दहिया-दिकां रा।—वं.भा. २ असभ्य, बेवकूफ, मूर्ख। उ०—ताळि चरंती कुंफडी, सर संचियउ गंमार। कोइक आखर मनि वस्यउ, ऊडी पंख संमार।—ढो.मा. ३ अनजान, अज्ञानी। उ०—निसवासर ग्रासै जुरा, मन सोवै कहां गंवार।—ह.पु.वा.

गंवारिया–सं०स्त्री०—मूंज कूटने, सिरकियां बांधने, भैंस के सींग के कंघे बनाने का व्यवसाय करने वाली एक जाति विशेष।

गंवारी–सं०स्त्री०—१ गंवारपन, देहातीपन, ग्रामीणता. २ मूर्खता, अज्ञानता।
वि०—१ गंवार के समान. २ भद्दा, बेढंगा, बदसूरत।

गंवारु–वि०—देखो 'गंवारी' (रू.भे.)

गंवाळ–सं०पु० [सं० गोधूममाल] वह जमीन जिस पर गेहूँ आदि की फसल बोयी जाय। रबी का खेत।

गंस–सं०स्त्री० [सं० ग्रंथि] १ क्रोध। उ०—गंस धारी खळा हिये ऊबके नेज रा धाव, अंस धारी नमो राजा तेज रा अंवार।
—महाराजा मांनसिंह रौ गीत
२ गांठ. ३ द्वेष, वैर. ४ मन में कसक उत्पन्न करने वाली व्यंग्योक्ति, आक्षेप, ताना।

ग–सं०पु०—१ कृष्ण. २ गणेश. ३ प्रधान व्यक्ति. ४ हाथ. ५ पक्षी. ६ प्राण. ७ जल. ८ एक राग. ९ छंदशास्त्र मे गुरु-बोधसूचक अक्षर (एका०) १० देखो 'गंधार'. ११ वायु।
सं०स्त्री०—१२ गंध. १३ प्रीति।

गइंद, गइंवर–सं०पु० [सं० गजेंद्र, गजवर] हाथी (ह.नां.)
उ०—१ गहै दंत रोकै मदाळा गइंदां।—वं.भा.

उ०—रिणमल्ल धरा छळ रखपाळ, गड़किया सांड गोत्त गोवाळ।
—रा.ज.सी.

गड़कणहार, हारौ (हारी), गडकणियौ—वि०।
गड़काणौ, गड़कावौ, गड़कावणौ, गड़कावबौ—क्रि०स०।
गड़किग्रोड़ौ, गड़कियोड़ौ, गड़क्योड़ौ—भू०का०कृ।
गड़कीजणौ, गड़कीजबौ—भाव वा०

गड़काणौ, गड़कावौ—देखो 'गुड़काणौ' (रू.भे.)

गड़कायोड़ौ—भू०का०कृ०—देखो 'गुड़कायोड़ौ' (रू.भे.) (स्त्री० गुड़कायोड़ी)

गड़कावणौ, गड़कावबौ—देखो 'गुड़काणौ' (रू.भे.)

गड़काविग्रोड़ौ—भू०का०कृ०—देखो 'गुड़कायोड़ौ' (स्त्री० गड़काविग्रोड़ी)

गड़कियोड़ौ—भू०का०कृ०—लुढ़का हुआ (स्त्री० गड़कियोड़ी)

गड़कीजणौ, गड़कीजबौ—देखो 'गुड़कीजणौ' (रू.भे.)

गड़कीजियोड़ौ—देखो 'गुड़कीजियोड़ौ' (रू.भे.) (स्त्री० गुड़कीजियोड़ी)

गड़क्क—सं०पु० [अनु० अ० गक] १ पानी में डूबने से उत्पन्न शब्द। स्त्री०—२ नक्कारे की ध्वनि। उ०—किय हूंकळ चंचळ कळळ गड़ ग्रांबक गड़क्क। दरस्यउ सरि सुरतांण दळ चळ चळ चारे चक्क।
—अज्ञात

गड़क्कणौ, गड़क्कबौ—क्रि०अ०—१ देखो 'गुड़कणौ' (रू.भे.) २ कड़कना. २ गड़गड़ाना। उ०—भभक्के अरावां नाळां गड़क्के अग्राजा गोम, फड़क्के फीफरां ग्रोण ग्रड़क्के फूणाळ। धड़क्के कायरां नरां वड़क्के सनाह धारां, लड़क्के चाचरां सूरां कड़क्के लंकाळ।
—किसनसिंह राठौड़ री गीत

गड़गड़—सं०स्त्री० [अनु०] १ नक्कारे की ध्वनि। उ०—गड़गड़ ग्रंबक गाजिया असमांन गजाया।—वी.मा. २ गड़गड़ाहट से उत्पन्न शब्द. ३ तोप की आवाज।

गड़गड़णौ, गड़गड़बौ—क्रि०अ०—१ गड़गड़ाहट की ध्वनि होना. २ नगाड़े का बजना। उ०—१ नत्रीठा ग्रंबक गड़गड़ै 'कुसीयाळ' नंद, सत्रां मद भड़ै उर बीच रहै संक।—गुलजी आढ़ौ उ०—२ पैदल हैदल पूर सदाई संग चड़ै, नित नौवत नीसांण गड़ां सिर गड़गड़ै। गौड़ करै गजराज खंभा नित खोलणा, एता दे किरतार फेर नहिं बोलणा।
—अज्ञात
३ गरजना. ४ भागना, दौड़ना. ५ हुक्के से धुंग्रा खींचते समय गड़-गड़ की ध्वनि होना. ६ लुढ़कना.
(रू०भे०—गुड़कणौ)
७ कोप करना. ८ तोप की आवाज होना, तोप दगना।
(रू.भे.—गड़ड़णौ)

गड़गड़ाट—सं०स्त्री०[अनु०] १ गड़गड़ाने का शब्द, गराड़ी घूमने, गाड़ी चलने या बादल गरजने आदि का शब्द, कड़क. २ हुक्का पीने का शब्द. ३ पेट खराब होने पर उसमें होने वाली गड़गड़ाहट।

गड़गड़ाणौ, गड़गड़ावौ—क्रि० अ०स० [अनु०] १ गरजना, गड़गड़ करना। उ०—गयण गड़गड़ात पड़ झाट गोळां।—बां.दा. २ कड़कना. —३ नगाड़े का बजना या बजाना।

गड़गड़ी—सं०स्त्री० [अनु०] १ अपराधियों को कठोर दंड देने के लिये बना एक काठ का यंत्र (प्राचीन)
वि०वि०—इसमें अपराधी को एक चरखी के सहारे खड़ा कर भूमि पर पैर बांध देते हैं और हाथ चरखी से बांध देते हैं। चरखी बड़ी होती है। जब चरखी घुमाई जाती है तब चरखी अपने साथ अपराधी को भी लपेटने के लिये पूरे जोर के साथ ऊपर खींचती है किन्तु अपराधी के पैर भूमि पर बंधे होने के कारण वह खिंच नहीं सकता। इससे अपराधी अधमरा हो जाता है तथा अधिक यातना से मर भी जाता है. २ एक प्रकार की बड़ी गिर्री जिसके सहारे कूए से जल भरा मोट (चड़स) बाहर निकाला जाता है।

गड़गड़ौ—देखो 'गुड़गुड़ौ' (रू.भे.)

गड़गूंबड़—सं०पु०यौ०—देखो 'गड़गूमड़' (रू.भे.)

गड़गूदड़—सं०पु०—चियड़े-लत्ते।

गड़गूंवड़, गड़गूमड़—सं०पु०यौ० [सं० गड़ु+रा० गूमड़] फोड़े-फुन्सी आदि चर्म रोग।

गड़ड़—सं०स्त्री० [अनु०] गड़गड़ाहट की ध्वनि।

गड़ड़णौ, गड़ड़बौ—देखो 'गड़गड़णौ' (रू.भे.) उ०—१ लूथ बूथ अह-घण सुर लड़ै, गज धरा नभ गड़ड़ै।—र.ज.प्र. उ०—२ न खमे तोप हजार नर जुदी-जुदी डर जाग। केहर गड़ड़ै क्रोध कर गाजै गिर गयणाग।—बां.दा.

गड़दनी, गड़दांनी—सं०स्त्री०—गर्दन, गर्दन का पिछला भाग।
उ०—कुवरत्त केवि काळा किरिट्ठ, गड़दनी गोळ गांजा गिरिट्ठ।
—र.ज.प्र.

गड़वड़—सं०स्त्री० [अनु०] १ क्रम-भंग।
क्रि०प्र०—करणी, पड़णी, होणी।
२ नियम-विरुद्ध कार्य. ३ अव्यवस्था, कुप्रबंध।
क्रि०प्र०—करणी, नांखणी, होणी।
वि०—१ ऊँचा-नीचा, असमतल. २ क्रमविहीन. ३ अनियमित।

गड़वड़णौ, गड़वड़बौ—क्रि०अ०—१ गड़वड़ी में पड़ना. २ देखो 'गड़वड़ाणौ'।

गड़वड़ाट—सं०स्त्री० [अनु०] गड़वड़ी, अव्यवस्था। देखो 'गड़वड़'।

गड़वड़ाणौ, गड़वड़ावौ, गड़वड़ावणौ, गड़वड़ावबौ—क्रि०अ०—१ गड़वड़ी में पड़ना. २ क्रम-भंग होना, क्रम टूटना. ३ भूल में पड़ना. ४ अव्यवस्थित होना, अस्त-व्यस्त होना. ५ विगड़ना, नष्ट होना।
क्रि०स०—६ गड़वड़ी में डालना. ७ बिगाड़ना, नष्ट करना, खराब करना।

गड़वड़ियोड़ौ—भू०का०कृ०—गड़वड़ में पड़ा हुआ। (स्त्री० गड़वड़ियोड़ी)

गड़वड़ी—देखो 'गड़वड़' (रू.भे.)

गड़वड़ीजणौ, गड़वड़ीजबौ—क्रि०भाव वा०—'गड़वड़णौ' का भाव वाच्य रूप। देखो 'गड़वड़ाणौ'।

छै, बनात री गऊमुखी में हाथ घातियां आप रै इस्ट री ध्यांन सुमिरण।—रा.सा.सं.

गऊव—देखो 'गऊ' (रू.भे.) उ०—गऊवां रज उड्ड चढ़ी गयणे।
—पा.प्र.

गएण—सं०पु० [सं० गगन, प्रा० गयण] आकाश, गगन। उ०—मुणियै यळ धूज गएण मही, न रही सम और सगत्त नहीं।—पा.प्र.

गक्कर—सं०पु० [सं० केकय] पंजाब के उत्तर पश्चिम में रहने वाली एक जाति।

गखड़—सं०पु०—यवनों की एक जाति अथवा इस जाति का व्यक्ति।
(रा.रू.)

गग—देखो 'गघ' (रू.भे.)

गगण—देखो 'गगन' (रू.भे.)

गगणमिण—सं०पु०यौ० [सं० गगन+मणि] सूर्य्य (ना.डि.को)

गगन—सं०पु० [स०] १ आकाश, आसमान (डि.को.)

रू०भे०—गएण, गगण, गयण।

यौ०—गगनगति, गगनगाज, गगनचर, गगनचख, गगनचुंबी, गगनध्वज, गगनपति, गगनफाळ, गगनवांण, गगनभेदी, गगनमंडळ, गगनरूप, गगनवटी, गगनवांणी, गगनस्पर्शी, गगनेचर।

२ छप्पय छंद का ६१ वां भेद जिसमें १० गुरु और १३२ लघु सहित १४२ वर्ण या १५२ मात्रायें होती हैं (र.ज.प्र.) ३ आर्यागीति या खंधाण (स्कंधक) का भेद विशेष (पि.प्र.)

गगनकुसुम—सं०पु०यौ० [सं०] आकाशकुसुम, आकाशपुष्प।

गगनगति—सं०पु० [सं०] १ वह जो आकाश में चले, नभचारी. २ सूर्य, चंद्र आदि ग्रह. ३ देवता।

गगनगाज—सं०पु०—एक प्रकार का घोड़ा (शा.हो.)

गगनचर—सं०पु० [सं०] १ पक्षी. २ ग्रह ३ नक्षत्र. ४ नभचारी।

गगनचरख—सं०पु०—एक प्रकार का घोडा (शा.हो)

गगनध्वज—सं०पु० [सं०] १ सूर्य्य. २ बादल।

गगनपति—सं०पु० [सं०] इंद्र, सुरराज।

गगनफाळ—सं०पु०—एक प्रकार का घोड़ा (शा.हो.)

गगनवांण—सं०पु०—एक प्रकार का घोड़ा या घोड़े की एक जाति विशेष
(शा.हो.)

गगनभेदी—वि०—आकाशभेदी, अधिक ऊचा।

गगनभेदी हवाई—सं०पु०—एक प्रकार का अस्त्र विशेष।

गगनमंडळ—सं०पु० [सं० गगनमण्डल] १ नभमंडल, व्योममंडल. २ मस्तिष्क (योग) उ०—अनहद नाद बजै इकतारा, गगनमंडळ गणणावै।—ऊ.का.

गगनरूप—सं०पु०—एक प्रकार का घोड़ा या घोड़े की जाति (शा.हो.)

गगनवटी—सं०पु० [सं० गगनवर्ती] सूर्य (डि.को.)

गगनवांणी—सं०स्त्री० [सं० गगनवाणी] आकाशवाणी।

गगनस्परसी—वि० [सं० गगनस्पर्शी] आकाश को छूने वाला, नभचुम्बी. गगनचुम्बी।

गगनांगना—सं०स्त्री० [सं०] अप्सरा, परी।

गगनांबु—सं०पु० [सं०] आकाश से गिरा हुआ वृष्टि का जल जो वैद्यक में त्रिदोषघ्न, बलकारक, रसायनोपयोगी, शीतल और विषनाशक माना जाता है।

गगनाअंग—सं०पु०—२० वर्ण या २५ मात्रा का मात्रिक छंद विशेष जिसके अंत में एक गुरु हो (पि.प्र.)

गगनाग—सं०पु०—प्रत्येक चरण में १२, १३ पर यति व अंत में एक रगण सहित २५ मात्रा का मात्रिक छन्द विशेष (र.ज.प्र.)

गगनापति गगनापती—सं०पु०—सूर्य (डि.को.)

गगनेचर—सं०पु० [सं० गगन+चर] १ ग्रह, नक्षत्र. २ पक्षी. ३ देवता। वि०—आकाश में विचरण करने वाला, आकाशचारी।

गगन्न—देखो 'गगन' (रू.भे.) उ०—प्रभू तूं पांणी मांय पवन्न, गरज्जै गाजै मांय गगन्न।—ह.र.

गगराड़ी—सं०स्त्री०—छोटे आकार का मिट्टी का पात्र जिसमें दीपावली के समय पूजन का सामान रखा जाता है (क्षेत्रीय)

गगराज—देखो 'गघराज' (रू.भे.) उ०—कवर सर ताज जग चंद नांमौ कियौ। लिखै जस दियौ गगराज लालै।—जवांनजी आढ़ौ

गग्गनवटी—देखो 'गगनवटी' (डि.को.)

गघ, गघराज, गघराव—सं०पु० [सं० घघ=हसने] ऊंट (ना.डि.को.) (रू०भे०—गग, गगराज)

गघळ—सं०पु०—पशुओं द्वारा जुगाली करते समय उनके मुंह से उत्पन्न होने वाली ध्वनि।

गग्घर निसांणी—सं०स्त्री०—एक प्रकार का छन्द जिसके प्रथम चरण में १८ फिर १४ मात्रा होती है तथा तुकांत में मगण ऽऽऽ होता है। इसके दूसरे भेद में अन्त में जगण और कुल ३२ मात्रायें होती है।

गड़—सं०पु० [सं० गडु] १ ग्रंथि. २ वह फोड़ा जिसके अन्दर कुछ गांठ सी मालूम होती हो एवं पीव उत्पन्न हो गया हो।

क्रि०प्र०—ऊठणौ, फूटणौ, मिटणौ, होणौ।

कहा०—गड़ फूटा नै पीड़ मिटी—फोड़ा फूटते ही पीव निकल गई और दर्द मिट गया। मूल कारण दूर होने पर झगड़ा, दुख आदि सब समाप्त हो जाते हैं।

यौ०—गड़, गूवड़।

३ देखो 'गिड़' (रू.भे.) उ०—आळ भयंकर कांन अळवै, टाळै नहि कांड कांटाळ। खळ नाहरा हियै खेड़ेचो, आठूं पोहर करै गड़ आळ।
—राव रायपाळ री गीत

४ वराहावतार। उ०—कहै जम दियै ज्यूं हीज असुर कोपियो, सहै दुख रहै मांनस अमर सूक। वहो जाती थकी प्रथी इण वार विच, रही गड़ दसण कमधज तणी टूक।—दुरगादास राठौड़ रो गीत

गड़कंद—देखो 'गिड़कंद' (रू.भे.)

गड़कणो—वि०—लुढ़कने वाला।

गड़कणो, गड़कबो—क्रि०अ०—१ लुढ़कना. २ सांड बैल आदि का दहाड़ना

गजकांन–वि०—चंचल*।

गजकुंभ–सं०पु० [सं०] हाथी के मस्तक के दोनों ओर के उठे हुए भाग। (डिं.को.)

गजकुंवर, गजकेसर–सं०पु०—एक प्रकार का घोड़ा (शा.हो.)

गजक्करणौ–सं०स्त्री० [फा० कजक] भोजन करना, खाना।

उ०—गात नमावै गिद्धनी गिलि गूद गजक्कै। —वं.भा.

गजखंभ–वि० [सं० गजस्तम्भ] शक्तिशाली, वलवान, वीर।

उ०—१ खेड़ैचा खार खंधा गजखंभ।—गो.रू.

उ०—२ मांन रा वाळिया वचन वेढ़ां मणा, खळां रा गाळिया गरव गजखंभ।—राजूरांम वारहठ

गजग—देखो 'गजगाह' (१)

गजगत—१ देखो 'गजगति' (रू.भे.) उ०—घूंघट खोलंदी नहीं, वोलंदी पिक वैण। गजगत जावै गोरियां, लांबै सर जळ लैण।—वां.दा.

२ डिंगल का एक गीत (छंद) विशेष जिसके प्रत्येक द्वाले के प्रथम चार चरणों में नौ-नौ मात्रायें होती हैं एवं अंत में लघु गुरु सहित चारों चरणों में तुकांत मिलते हैं। प्रथम एवं तृतीय चरण के वाद 'जी' शब्द का प्रयोग किया जाता है। तत्पश्चात् चतुर्थ चरण का सिंहावलोकन करते हुए गीया छंद जोड़ा जाता है।

गजगति–सं स्त्री० [सं०] १ हाथी की चाल. २ हाथी के समान मंद चाल. ३ रोहिणी, मृगशिरा और आर्द्रा में शुक्र की स्थिति या गति (ज्योतिष) ४ एक छंद विशेष जिसके प्रत्येक चरण में नगण, भगण और लघु गुरु होते हैं।

गजगमणी, गजगवणी–वि०—हाथी के समान मंद और मस्त चलने वाली, गजगामिनी। उ०—त्यौं गजगमणी रुखमणी जी नै मखी ले आई।—वेलि. टी.

वि०वि०—भारतवर्ष में स्त्रियों की मंद चाल को शुभ एवं सुंदर माना गया है।

गजगह—देखो 'गजगाह' (रू.भे.)

गजगांमिणी—देखो 'गजगमणी' (रू.भे.)

गजगा, गजगाव—देखो 'गजगाह' (१, २)

कहा०—गदेड़ी नैं गजगाव—गधी पर हाथी की झूल; अयोग्य को उचित, उपयोगी या उच्च वस्तु देने मात्र से वह योग्य नहीं वन सकता।

गजगाह–सं०पु० [सं० गजगाथ] १ हाथी को संवारने के लिए उसके हौदे के समीप कंधों पर लटकाई जाने वाली झूल. २ घोड़े के चार-जामे के समीप उसके कंधों पर लगाया जाने वाला उपकरण।

उ०—१ रंगे विरंगे राह के गजगाह लगाया।—वं.भा.

उ०—२ आप कुसळ चाहो अधप, अर धण रौ अहवात। एक 'अजा' गजगाह रै, रहो लूंब दिन-रात।—वदरीदास खिड़ियौ

३ युद्ध। उ०—१ एक पंथ काज अवरंग खड़े आवियौ, त्रंवाळां रोड़ वज असंख तूर। वारहठ रचै गजगाह 'राजड़' विये, परम आगळ हचे लोहड़ां पूर।—नरूजी सौदा रौ गीत उ०—२ आदमी हजार दोय रजपूतां सूं पोळि माथै गढ़ मांहे साकौ कीयौ, घणा तुरक मारिया, वडौ गजगाह हुवौ।—वीरमदे सोनगरा री वात

उ०—३ आहड़ियां सूर थटै गढ़ ऊपर, अपछर रथ कढ़िया ओमांहि। वेटौ वाप सेहरौ वांधी, गौड़ चढ़ै तोरण गजगाह।

—गोपाळदास गौड़ रौ गीत

४ संहार, नाश ध्वंश। उ०—धड़क मत चीत्रगढ़ जोवहर धीरवै गंज सत्रां दळां करूं गजगाह। भुजां सूं मूझ जद कमळ कमळां मिळै, पछै तौ कमळ पग देइ पतसाह।—जेमल वीरमदेओत रौ गीत

५ हाथियों का दल, समूह। उ०—लियां भूप ऊमेद गजगाह लड़-लोहड़ां, लागियां डांण गजगाह लटकै। वेख गजराज रांणियां वखत-सी', खांत तण हिये गजराज खटकै।—उमेदसिंह सीसोदिया रौ गीत

६ योद्धा, वीर पुरुष। उ०—१ वावां वहुत खेत पड़चौ घूमत, वुध-हीणै कीवी मिरवाह। जठै 'पदम' गिरतै 'जादम' नै, गोडां तळ दीनौ गजगाह।—द.दा उ०—२ 'सवळौ' आस करन्न रौ, गो जीपै गजगाह।—रा.रू. उ०—३ सुत 'वळराव' 'कुंभक्रन' आसौ, राजा राव वदै दोय राह। पूरा पहर हिचे निठ पड़िया, गढ़पत रा मोटा गजगाह।—गौड़ गोपाळदास अर वीठळदास रौ गीत

७ एक प्रकार का घोड़ा (शा.हो.) ८ हाथी का दान।

उ०—कोट एक जिग कियां, कोट किन्या परणायां। कोट रिख निमंत्रियां, कोट दीनां विप्र गायां। कोट कोट गजगाह, क्रम्म ऐसा जिग कियां। कोट मौर सोव्रन, दांन पुर अरथह दीयां।

—ज.खि.

वि० स्त्री०—गजगामिनी। उ०—तिलक कियां केसर तणा, गजवण वण गजगाह। जोय राह वेहुं यें जपै, वाह उदयपुर वाह। वाह उदय-पुर वाह के पुंगळ आरखा, पदमण घर घर नार प्रथी विच पारखा। मरद गरद हुय जाय देख गूंगट को ओ'लौ, झुक पीछोला री तीर दीप्रे पिणियारचां भोलौ।—महादांन महड़ू

गजगीरी–सं०पु०—एक प्रकार का वढ़िया लोह। उ०—तुम गजगीरी को चूंतरो रे, हम वाळू की भींत।—मीरां

गजगुमांन–सं०पु०—एक प्रकार का घोड़ा (शा.हो.)

गजग्राह–सं०पु०—युद्ध, रण, समर। उ०—अन मुड़तां जुड़तां आवाहे, सिरदारां मोहरे समसेर। मरणै दीह गजग्राह मंडांणौ, मुड़चौ न कहाणौ गिर मेर।—गोकुळदास सक्तावत रौ गीत

गजघंटौ–सं०पु०—एक प्रकार का घोड़ा (शा.हो.)

गजघड़ा–सं०स्त्री० [सं० गजघटा] गजदळ, हाथियों की फौज।

उ०—त्रिजड़ झालि आगळि वसे साहि दारा तणौ, गजघड़ा टूक करि भड़ां गाही। 'सतै' ऊभां रही पातसाही सिरै, 'सतै' पड़ियां गयी पातसाही।—हाडा राव सत्रसाल रौ गीत

गजच्छाया–सं०स्त्री० [सं०] ज्योतिष का एक योग जो उस समय होता है जब कृष्ण पक्ष की त्रयोदशी के दिन चंद्रमा मघा नक्षत्र में और सूर्य हस्त नक्षत्र में हो।

गड़वड़ीजियोड़ौ–भू०का०कृ०—गड़वड़ मे पड़ा हुआ, गड़वड़ से प्रभावित। (स्त्री० गड़वड़ीजियोड़ी)

गड़वौ–सं०पु०—फूटा हुआ मिट्टी का पात्र जो रहँट की माल पर बांधा जाता है।

गड़वड़णौ, गड़वड़वौ–क्रि०अ०—१ भागना. २ देखो 'गड़वड़णौ'। (रू.भे.)

गड़हड़णौ, गड़हड़वौ–क्रि०अ०—देखो 'गड़गड़णौ' (रू.भे.)

गड़ागड़–सं०पु० [अनु०] १ लुढ़कने का क्रम. २ लुढ़कने से उत्पन्न ध्वनि।

गड़ासंध, गड़ासिध–सं०पु० [सं० गढ+संधिक]—सीमा, हद। उ०—सु जेसळमेर रौ चढियौ जेसळमेर सू कोस ४० सोम्राऊ जेसळमेर मेहवारी गड़ासिध आपडिया। क्रि०वि०—निकट, समीप। उ०—लूणौ लूभौ लखौ तेजसी, सरणुवा रा भाखर सिरोही री मां छै तिणां री गड़ासंध आय रह्या छै।—नैणसी

गड़िंदौ–सं०पु०—१ सिर नीचे कर के उलट जाना, कलाबाजी। क्रि०प्र०—खाणौ।
२ पदार्थ आदि के ऊचे से गिरने की ध्वनि। (मि० 'घडिंदौ')

गड़ियड़णौ, गड़ियड़बौ–क्रि०अ०—१ नगाड़े का बजना. २ देखो 'गडगडणौ' (रू भे) ३ हाथियो का चिंघाड़ना। उ०—दिस गयंद गडियड़ै सीह खिण गुजारै। कणं कळस झळहळै डड अहंड संभरै।
—लल्ल भाट

गड़ीजणौ, गड़ीजबौ–क्रि०अ० [सं० गुर्वण] भैस का गर्भ धारण करना।
गड़ीजणहार, हारी—वि०।
गड़ीजिओड़ो, गड़ीजियोड़ो, गड़ीज्योड़ो—भू०का०कृ०।

गड़ीजियोड़ी–भू०का०कृ०—गर्भ धारण की हुई (भैस)

गड़ूकणौ, गड़ूकवौ–क्रि०अ०—१ गड़गड़ शब्द करना. २ गरजना। उ०—झड रूपी पावस झडै, विरह लगावै बांण। ऊंडो गाज गड़ूकियौ, 'जसा' लिये मुझ प्राण।—जसराज
३ मांसाहारी पक्षियो का मस्ती में आवाज करना। उ०—झुक परी वरेवा रेवा काळ झुकै झंप। चूकै टाक भरेवा गड़ूकै मंमचार।
—दुरगादत्त वारहठ

गड़ूथळ–सं०पु०—कुलाच। उ०—खाए रिण महि गड़ूथळ खांन। जिही नट खेल कुलट्ट जुआन। रुद्रां रिणि भूकि करंत 'रतन', कपीदळ जाणि कि कुभकरन्न।—वचनिका

गड़ूस—देखो 'गड़ून' (रू.भे.)

गड़ौ–सं०पु०—ओला। उ०—गड़ा पड वीगडै नही हरगिज गेहूँ, चडा-पड न आवै रोग चाळौ।—गिरधरदान वारहठ—२ देखो 'गिडौ' (रू.भे.)

गच–सं०पु० [सं० खच] १ किसी नरम वस्तु मे किसी कड़ी या पैनी वस्तु के धंसने का शब्द (यौ०—गचागच) २ चूने, सुरखी आदि के मेल से बना हुआ मसाला जिससे फर्श (भूमितल) पक्का किया जाता है। ३ चूने, सुरखी आदि मे पाटी हुई भूमि (डि.को.) (यौ०—गचकारी)

गचक–सं०पु० [सं० खच+रा०प्र० क] जजका, धक्का।

गचकारी–सं०स्त्री० [सं० खच] गच (पक्की छत) पीटने का काम, चूने, सुरखी का काम।

गचगर–सं०पु०—पक्का फर्श या पक्की छत बनाने वाला कारीगर।

गचगीरी—देखो 'गचकारी' (रू.भे.)

गच्छ–सं०पु० [सं०] १ (जैन) साधुओं का मठ. २ एक ही सम्प्रदाय के जैन-साधु-शिष्य. ३ देखो 'गच'।

गच्छी–सं०स्त्री०—मकान की छत।

गछंत–सं०पु० [सं० गम्] जाने या चलने की क्रिया, गमन।
उ०—परभाते गह डंवरां, दोपारांह तपंत। रात्यू तारा निरमळा, चेला करो गछत।—वर्षा विज्ञान

गजंद, गजंद्र–सं०पु० [सं० गयंद] हाथी, गज। उ०—गजंद सुड नाभ कुंड पेट पत्र पीपल, नितंब तंव गंध रंभ केहरी कटी मिल।—पा.प्र.

गज–सं०पु० [सं०] १ हाथी (ना.डि.को.)
यौ०—गजआनन, गजकान, गजगति, गजघडा, गजपति, गजपात, गजपाळ, गजबंध।
२ एक राक्षस का नाम जो महिषासुर का पुत्र था ३ रामचन्द्रजी की सेना का एक बन्दर (रामकथा) ४ गडासा, परशु (डि.नां.मा.) ५ एक प्रकार का सर्प (डि.ना मा.) ६ बदूक मे बारूद जमाने की लोहे की छड. ७ लंबाई नापने का एक नाप जो सोलह गिरह या तीन फुट का होता है।
मुहा०—१ गज भर री छाती होणी—साहस होना. २ गज भर की जीभ होणी—खाने को लालची होना, बहुत चटक-मटक करना, बहुत वड-वड करना।
यौ०—गजभर।
८ वह पतली लकड़ी जो बैलगाडी के पहिये में मूंठी से पुट्ठी तक लगाई जाती है जो पुट्ठी और आरो को मूंडी मे जकड़े रहती है. ९ ज्योतिष मे नक्षत्रो की वीथियो मे से एक. १० सारंगी बजाने का लंबा धनुषाकार उपकरण. ११ चार मात्रा के डगण के प्रथम भेद का नाम (डि.को.) १२ अंत गुरु की चार मात्रा का नाम। (डि.को.)

गजआनन–सं०पु०यौ० [सं० गज+आनन] गणेश (डि.को)

गजउछाळ–सं०पु०—भीम।
वि०—शक्तिशाली, बलवान। उ०—आसथानजी रा धूहडजी, धूहड जी रा वेटा री विगत—रायपाळ महिरेलण, जोगाइत ऊहणो, वेगड कटारमल, जालू गजउछाळ।—वां दा.ख्यात

गजउजळ–सं०पु०यौ० [सं० गज+उज्वल] १ सफेद हाथी. २ इन्द्र का हाथी (ना.मा.)

गजक–सं०स्त्री० [फा० गजक] १ वह वस्तु जो शराब आदि पीने के बाद मुह का स्वाद बदलने के लिये खाई जाती है. २ तिलपट्टी, तिलसकरी. ३ भोजन। उ०—घेर नवळ गजराज, केहर पळ गजकां करै। की गठ कर कम काज, रिगता हो रे गाजिया।—किरपाराम

गजवंधी–वि०—जिसमें हाथी को भी बांध देने की क्षमता हो।
सं०पु०—देखो 'गजवंध' २ (रू.भे.)

गजब–सं०पु० [अ० गज़ब] १ कोप, रोष, गुस्सा।
क्रि०प्र०—करणी, होणी।
२ आपत्ति, आफत, आपद, दैवी प्रकोप आदि। उ०—१ जवन सफी खां झूठ रौ, फळ पायौ तीं वार। गजब जिसौ सुरतांण रौ, फुरमांण रौ विचार।—रा.रू. उ०—२ क्रोध अर गजब रै समय प्रकृति रै वस नहीं होवणौ।—नी.प्र. ३ अनर्थ, अन्याय, जुल्म।
क्रि०प्र०—करणी, ढाणी होणौ।
४ विलक्षण वात, विचित्र वात. ५ आश्चर्य। उ०—ऊंट टाट खावै न आ. अपणौ जांण अभाग। अपणौ जांण अभाग गजब न खाय गधेड़ौ।—ऊ.का.
वि०—अत्यंत, अधिक। उ०—गजब रीस रै समय यूं योग्य छै जे आग्या नहीं करणी चुप रहणौ। उण कांम रौ अंत अक्ल में ही विचारणौ।—नी.प्र. २ वहुत वड़ा, भयंकर. ३ अद्‌भुत, विलक्षण।

गजवदन–सं०पु०यौ० [सं०] गजानन, गणेश।

गजवध–सं०पु०—भीम का एक नाम (अ.मा.)

गजवांक, गजवाग–सं०पु०यौ० [सं० गज+फा० वाग] हाथी को चलाने का अंकुश।

गजबी–वि० (स्त्री० गजबण, गजबण) गजब करने वाला।
(मि० 'गजब')
उ०—१ गळ गयौ देस हा हा गजब, गजबी तज्यौ न गाळणौ।
—ऊ.का.
उ०—२ भीम नै भेवग कर घरों-घर भमायौ, रतन नै पकड़ कप-कळौ कर रमायौ। गजबियां फेर कुंभलनेरगढ़ गमायौ। जोव ज्यौ रांण रौ राज इम जमायौ।—स्यांमजी वारहठ
उ०—३ मिरगानेणी आयो थारो आसा पजोय हां ए मनै सोगन थारी ए कोई हां ये हतियारी ए कोई आम निगरयौ गजबणी तैं करयौ जी राज।—लो.गी.
(वहु० गजबियां)

गजवीथी–सं०स्त्री० [सं०] शुक्र की गति के विचार से रोहिणी, मृगशिरा और आर्द्रा के समूह का नाम जिसके बीच से होकर शुक्र-गमन करता है।

गजवेल–सं०स्त्री० [सं० गज+वल्ली] एक प्रकार का लोहा, कांतिसार।

गजवोह, गजवोह—देखो 'गजां-वोह' (रू.भे.)

गजव्व—देखो 'गजब' (रू.भे.)

गजभांत–सं०स्त्री०—एक प्रकार का कपड़ा।
उ०—कैर टकां रौ थारो चूड़लौ कैर टकां री गजभांत, राजीड़ा लाल चूड़ौ पहराव।—लो.गी.

गजभारा–सं०पु०—हाथियों का दल। उ०—घया हरोळी केहरी, भंजण गजभारा। भिड़ फौजां गज दहुं वळां, निज घोर नगारा।
—लूणकरण कवियौ

गजभ्रमी–सं०पु०यौ०—भीम (अ.मा.)

गजमणि–सं०स्त्री० [सं०] गजमुक्ता (मि० 'गजमुक्ता')

गजमुक्ता–सं०पु० [सं०] एक प्रकार का मोती जिसकी उत्पत्ति हाथी के मस्तक से मानी गई है। आज तक ऐसा मोती कहीं नहीं पाया गया (रू.भे.–गजमोती)

गजमुख–सं०पु० [सं०] गणेश, गजानन (ह.नां.)

गजमुखी–सं०पु० [सं०] १ वह जिसके मुख की आकृति हाथी के मुंह के समान हो. २ गजानन. ३ एक प्रकार की तोप।

गजमूरति–सं०पु०यौ० [सं० गज+मूर्ति] एक प्रकार का घोड़ा (शा.हो.)

गजमोचण (न)–सं०पु०यौ० [सं०] विष्णु का एक रूप।
वि०वि०—इसी रूप को धारण कर के उन्होंने एक ग्राह से लड़ते हुए हाथी की रक्षा की थी।

गजमोती–सं०पु० [सं० गजमौक्तिक, प्रा० गजमोत्तिअ] देखो 'गजमुक्ता'।
उ०—१ केहर कुंभ विदारियौ, गजमोती खिरियाह। जांणे काळा जळद सूं ओळा ओसरियाह।—वां.दा. उ०—२ ताहरां कंवर हाथी रौ माथौ चीर अर गजमोती काढ़, फूलमती रै मोंहड़ै आगै ढिग कियौ।—चौवोली
अल्पा०–गजमोतीड़ौ।

गजमोहन–सं०पु०—एक प्रकार का घोड़ा (शा.हो.)

गजर–सं०पु० [सं० गर्जन] १ निरन्तर होने वाला प्रहार। उ०—दोहीं तरफ गोळां री गजर हूं ओट आवै जिता ही. घोड़ां सिपाहां समेत हाथियां रा गोळ उडण लागा।—वं.भा. २ इस प्रकार के निरन्तर प्रहार से उत्पन्न ध्वनि। उ०—परवत रै सीस पवि पात रै प्रमांण गढ़ गंजण तोपां रै स्रवण अलात दे दे'र गोळां रौ गजर लगायौ।
—वं.भा.
३ पहर-पहर पर घंटा वजने का शब्द. ४ प्रातःकाल, उषाकाल।
उ०—गजर ऊगतां नेजां फरक्कै गैंवरां, घोम चख अजर वजराग धवते।—रावत प्रतापसिंह चूंडावत रौ गीत
[सं० गज = मदे] ५ हंसी, मजाक, दिल्लगी, तमाशा।
६ नगाड़ा। उ०—वजियौ भलौ भरतपुर वाळौ, गाजै गजर धजर नभ गोम। पहलां सिर साहिब रौ पड़ियौ, भड़ ऊभै नह दीधी भोम—वां.दा.
क्रि०प्र०—गाजणौ।
७ शोरगुल, तहलका। उ०—गोळां किम मांडी गजर, होतां फजर हगांम। नीठ हिया आया नजर, जांणै धजर दुजांम।—वी.स.
८ गर्जन। उ०—प्रथम गजर तोपां पड़ै, गोळां वजर गुड़ांण। मचियौ जिण दिन माझियां घोर प्रळै घमसांण।—वं.भा.
स्त्री०—९ सवेरे प्रभात के पूर्व लगभग चार वजे वजने वाला घंटा या इस घंटे की ध्वनि। उ०—निस वीती जीतां फजर, वजी गजर प्रभात। आलम दूत प्रचारियां, भ्रात रहे कित रात।—रा.रू.

गजजिबा-सं०स्त्री०—शरीरस्थ योग की नौ नाड़ियों में से एक।

गजट-सं०पु० [ग्रं० गजेट] १ समाचार-पत्र. २ सरकारी सूचना-पत्र।

गजठेल-वि०—जिसमें हाथियों को भी ठेलने की क्षमता हो, शक्तिशाली। उ०—ठरड़े भड़ करड़ा गजठेल।—अज्ञात

गजढ़ल्ल, गजढ़ाल-सं०स्त्री०—१ हाथियों के मस्तक पर सुरक्षा हेतु लगाई जाने वाली ढाल। उ०—१ गजराजां ऊपरां गजढ़ालां ढळकिनै रही छै। जांणै पहाड़ां ऊपरैं खजूर कळ ग्रांबां री मंजर ढळकिनै रही छै।—रा सा.सं. उ०—२ गाहै सोदे ग्राहकां, ढाहे जे गजढ़ल्ल। लाहौ लोटै वांणियौ, ग्रा है सांची गल्ल।—बां.दा.
२ महान योद्धा।

गजणौ-वि०—१ गर्जन करने वाला, गरजने वाला. २ नाश करने वाला।

गजणौ, गजबौ-क्रि०ग्र०—गर्जन करना। उ०—धुवै दळ राजिंद्र बाजिंद्र धोम, गजै गुण वांण ग्रनै रिण गोम।—वचनिका

गजतार, गजतारण-सं०पु० [सं०] भगवान विष्णु ग्रथवा उनके ग्रवतार यथा-राम, कृष्ण (ग्र.मा., नां.मा.)

गजथट्ट-सं०स्त्री०—हाथियों की सेना।

गजदंत-सं०पु०यौ० [सं०] १ हाथी का दांत. २ एक प्रकार का घोड़ा जिसके दांत हाथी के दांत की तरह मुंह के बाहर ऊपर की ग्रोर निकले रहते हैं (शा.हो.) ३ दांत के ऊपर निकला हुग्रा दांत.
४ नृत्य की एक मुद्रा जिसमें दोनों हाथ कंधे के सामने लाए जाते हैं ग्रौर हाथ की उंगलियों को सर्प के फन की तरह बना कर ग्रागे झुकाते हैं।

गजदंती-वि० [सं०] हाथी-दाँत का बना हुग्रा, हाथी-दाँत का।

गजदर—देखो 'गजधर' (रू.भे.)

गजदसा-सं०स्त्री०—गणित ज्योतिप के ग्रनुसार जन्म-पत्रिका में होने वाली प्रधान ग्रह की दशा।

गजदीव-सं०पु०—एक प्रकार का घोड़ा (शा हो.)

गजधर-सं०पु०—१ मकान बनाने वाला मिस्त्री या कारीगर. २ वह व्यक्ति जो भवन बनाने के पहिले उसका नक्शा ग्रादि तैयार करता हो. ३ दर्जी. ४ वह बढ़ई जो सरकारी कार्य करता है एवं जिसे राज्य की ग्रोर से नापने का गज मिलता है (मा.म.) ५ एक प्रकार का विशेष बनावट का भवन। उ०—सिद्ध पुरादिक ठिकांणा नेमीस्वर विहारादिक जिन मंदिर संप्रति कराया गजधर ग्रस्वधर नरधर मंडित।—बां.दा.ख्यात.

गजनवी-वि० [फा० ग़ज़नवी] ग्रफगानिस्तान में स्थित गजनी नगर का रहने वाला।

गजनायक-सं०पु०—एक प्रकार का घोड़ा (शा.हो.)

गजनाळ, गजनाळी-सं०स्त्री० [सं० गजनाल] १ एक प्रकार की बड़ी भारी तोप जो प्राचीन समय मे हाथी द्वारा खींची जाती थी. २ एक प्रकार की छोटी तोप जो हाथी पर रख कर चलाई जाती थी।
(रा.सा.सं.)

गजनी-सं०स्त्री०—ग्रफगानिस्तान का एक नगर जो महमूद की राजधानी था।

गजनीम-सं०स्त्री०—नींव। उ०—कूण चिणायौ ग्रो बालाजी, थांरौ देवरौ जी? कूण दिरायी गजनीम?—लो.गी.

गजपत-सं०स्त्री०—१ बुद्धि, ग्रक्ल।
पु०—२ देखो 'गजपति' (रू.भे.)
वि०—महान, बड़ा।

गजपति, गजपत्ति-सं०पु० [सं० गजपति] १ वह राजा जिसके पास बहुत से हाथी हों. २ बहुत बड़ा हाथी, ऐरावत. ३ मध्य गुरु की चार मात्रा ।ऽ। का नाम (डि.को.)

गजपात-सं०पु० [सं० गजपात्र] वह बड़ा व महान कवि जिसे किसी राजा ने पुरस्कार-स्वरूप हाथी प्रदान किया हो। उ०—न क्यूं विहांणी निसा इण वखत दूजा नरां, छता वहू दीसवै बडा वड छात। पदम बिन नकौ प्रथमाद दातापण, पदम बिन नकौ प्रथमाद गजपात।
—द.दा.

वि०वि०—प्राचीन समय में केवल उन्हीं कवियों को गजपात कहा जाता था जिन्हें किसी राजा की ग्रोर से पुरस्कार-स्वरूप हाथी प्रदान किया गया हो किन्तु कालांतर में प्राय: इसे बड़े या महान कवि का पर्यायवाची शब्द मान लिया गया ग्रौर बिना हाथी-पुरस्कार के भी बड़े कवियों के लिये इसे प्रयुक्त किया जाने लगा।

गजपाळ-सं०पु० [सं० गजपाल] महावत, हाथीवान (डि.को.)

गजपीठमड़रक्षक-सं०पु०यौ०—हाथी की पीठ का कवच।

गजपीपर, गजपीपळ, गजपीपळी-सं०स्त्री०यौ० [सं. गजपिप्पली] मझोले कद के एक पौधे का नाम जिसके पत्ते चौड़े ग्रौर गूदेदार होते हैं। इसकी मंजरी को सुखा कर बाजार में ग्रौषध के रूप में बेचते हैं। बड़ी पीपल।

गजपुट-सं०पु० [सं०] धातुग्रों के फूंकने की रीति। इस क्रिया के ग्रंतर्गत सवा हाथ के लगभग गहरा लंबा-चौड़ा गड्ढा खोद कर नीचे बिनुए कंडे बिछा कर फूंकी जाने वाली वस्तु को रख कर ऊपर उतने ही कंडे ग्रौर बिछा कर गड्ढे को ढक देते हैं। थोड़ा सा मुंह खाली रख कर उसमें ग्राग डाल देते हैं।

गजपुर-सं०पु० [सं०] हस्तिनापुर, दिल्ली का एक नाम।

गजबद, गजबध-सं०पु० [सं० गजबंध] १ एक प्रकार का चित्रकाव्य जिसमें किसी कविता के ग्रक्षरों को हाथी का एक चित्र बना कर उसके ग्रंग-प्रत्यंग में भर देते हैं. २ जिसके यहाँ हाथी बंधते हों, राजा, महाराजा। उ०—१ पाखांणां चुणिया सह पट्टसी, ग्रभका दिन जातां ग्रनमंध। बडा-बडा गजबध बन्नांणै, ग्रापाहरा तणां पत्रबंध।—दुरसौ ग्राढ़ौ उ०—२ ग्रगनि मोर गाजत्ती, पवन बाजत्ती, गजबंध छत्रबंध गजराज गुड़ती, हिंदू ग्रसुरांदगा नड़ती।—वचनिका

गज्जगाह—देखो 'गजगाह' (रू.भे.) उ०—गुडी लौं उडी गिद्धनी व्योम छायौ, नहीं हूर रंभा रथां पंथ पायौ। भिरी पक्खरां-पक्खरां भीरि पूरं, हयं गज्जगाहं भयं चूरमूरं।—ला.रा.

गज्जणी—वि०—देखो 'गजणी' (रू.भे.) उ०—कुण डिल्ली कुण गज्जणी, हैवं कमण हमीर।—रा.ज.रासौ

गज्जणौ, गज्जबौ—देखो 'गजणौ' (रू.भे.) उ०—विज्जुळियां नीलज्जियां, जळहर तूंही लज्जि। मूनी मेज विदेस प्रिय, मधुरइ-मधुरइ गज्जि।—ढो.मा.

गज्जायी—सं०पु०—एक प्रकार का कीट, गिजाई।

गज्र—देखो 'गजर' (रू.भे.) उ०—फौजां लै हिलोळां ओळ' दोळां अज्र सिंधु फूटा महा गज्र गोळा वज्र तूटा जज्र माग।—हुकमीचंद खिड़ियौ

गटक—सं०स्त्री०—१ निगलने का भाव या क्रिया. २ ग्रंथि विशेष।

गटकणौ, गटकबौ, गटकाणौ, गटकाबौ—क्रि०स० [सं० गलगलन] १ निगलना। उ०—विख रा प्याला राणैजी भेज्या, इमरत करि गटकास्यां।—मीरां २ हड़पना, दबा लेना।

गटकणहार, हारौ (हारी) गटकणियौ—वि०।

गटकावणौ, गटकावबौ—रू. भे.।

गटकवाणौ, गटकवाबौ, गटकवावणौ, गटकवावबौ —प्रे०रू०

गटकिओड़ौ, गटकियोड़ौ, गटक्योड़ौ—भू०का०कृ०।

गटकीजणौ, गटकीजबौ, गटकाईजणौ, गटकाईजबौ—कर्म वा०।

गटकायोड़ौ—भू०का०कृ०—१ निगला हुआ. २ हड़पा हुआ, दबाया हुआ। (स्त्री० गटकायोड़ी)

गटकावणौ, गटकावबौ—देखो 'गटकाणौ' (रू.भे.)

गटकावणहार, हारौ (हारी), गटकावणियौ—वि०।

गटकाविओड़ौ, गटकावियोड़ौ, गटकाव्योड़ौ—भू०का०कृ०।

गटकावीजणौ, गटकावीजबौ—कर्म वा०।

गटकणौ, गटकबौ, गटकाणौ, गटकाबौ—रू०भे०।

गटकावियोड़ौ, गटकियोड़ौ—भू०का०कृ०—१ निगला हुआ. हड़पा हुआ, दबाया हुआ। (स्त्री० गटकावियोड़ी, गटकियोड़ी)

गटकीजणौ, गटकीजबौ—क्रि०स० ('गटकाणौ' का कर्म वा०) निगला जाना, हड़पा जाना, आनंद किया जाना।

गटकीजियोड़ौ—भू०का०कृ०—निगला गया हुआ, हड़पा गया हुआ। (स्त्री० गटकीजियोड़ी)

गटकूड़ी—सं०स्त्री०—फाख्ता, पंडुकी।

गटकूड़ौ—वि० (स्त्री० गटकूड़ी] १ सुंदर एवं सुडौल. २ प्रिय. ३ छोटा सा (अल्पा०)

सं०पु०—कबूतर।

गटकौ—सं०पु०—१ घूंट। उ०—भूरी कीटी रा आसी भव भटका, गुडळी छाछां रा सपने में गटका।—ऊ.का.

क्रि०प्र०—करणौ, देणौ, लेणौ।

२ रस, आनन्द। उ०—अटका नूं ठाकर अनै, वटका भरणा बोल। भला मिनख भटका लिये, गटका खावै गोल।—ऊ.का.

क्रि०प्र०—आणौ, लेणौ।

३ नतीजा, परिणाम। उ०—परभांम गाल बटकौ भरियौ, कांई गटकौ काढ़ियौ।—ऊ.का.

क्रि०प्र०—काढणौ, मिळणौ।

४ हड़पने का भाव। उ०—पड़जौ कुलसरिणयां बोरां पर पटकौ, गैं'णागांठा री करगा गटकौ।—ऊ.का.

क्रि०प्र०—करणौ।

गटक्कणौ, गटक्कबौ—देखो 'गटकणौ' (रू.भे.)

गटक्कौ—देखो 'गटकौ' (रू.भे.) उ०—सुणै दीधा दादरै थटक्का भड़ां लीधा साथ, पीधा चंडी स्वाद रै गटक्का स्रोण पूत।
—दुरगादत्त बारहठ

गटगट, गटग्गट—सं०पु० [अनु०] किसी पदार्थ को कई बार करके निगलने या घूंट-घूंट पीने में गले से उत्पन्न होने वाला शब्द। उ०—हाथ कमाई घाट हरख सूं पतळौ गटगट पीणौ।—ऊ.का.

क्रि०वि०—गटगट शब्द सहित, निरन्तर, लगातार, धड़ाधड़।

उ०—कुसी रिखराज करै भ्रणकार। धजावंद पत्र भरै रत्र धार। भ्रटक्भ्रट खेतल देत भ्रलाय, पूठी पत्र लेत गटग्गट पाय।—मे.म.

गटपट—सं०स्त्री० [अनु०] १ दो या दो से अधिक मनुष्यों या पदार्थों का परस्पर बहुत अधिक मेल, मिलावट. २ सहवास, प्रसंग संयोग. ३ गुप्त मंत्रणा, काना-फूसी।

गटरगूं, गटरगू—सं०पु० [अनु०] कबूतर या पंडुकी के बोलने का शब्द।

गटळकौ—देखो 'गटकौ' (रू.भे.)

गटळी—वि०—कह कर बदलने वाला, कपटी, छली (रू.भे.—गिटळी)

गटागट—देखो 'गटगट' (रू.भे.)

गटाणौ, गटाबौ—देखो 'गिटाणौ' (रू.भे.)

गटायोड़ौ—देखो 'गिटायोड़ौ' (रू.भे.)

गटावणौ, गटावबौ—देखो 'गिटाणौ' (रू.भे.)

गटावियोड़ौ—देखो 'गिटावियोड़ौ' (रू.भे.)

गटी—सं०स्त्री०—१ घोड़े के पैर में पहिनने की लोहे की बड़ी कड़ी। उ०—सो दरवाजै रै एक गह में राजू खां री सवारी री घोड़ी खड़ी सो चंवर ढाल ऊभी छै। पगां मांही सवा मण लोह री गटी छै। चाकर रा मांचा दोनूं पासै छै।—सूरे खींवे री वात

२ छोटी गोल काष्ठ की चकरी।

गटीजणौ, गटीजबौ—देखो 'गिटीजणौ' (रू.भे.)

गटूकड़ौ—देखो 'गटकूड़ौ' (रू.भे.) (स्त्री० गटूकड़ी)

गटौ—सं०पु०—१ एक पक्षी विशेष जिसका मांस अच्छा होता है और शिकारी बड़े चाव से खाते हैं। यह पक्षी शीतकाल के आरम्भ में उत्तरी ऐशिया से आता है और शीतकाल की समाप्ति पर वापिस लौट जाता है. २ तम्बाकू की डिबिया. ३ एक प्रकार का घोड़ा (शा.हो.) ४ बेसन या मोठ के आटे का बेल कर बनाया

वि०—विशाल, बड़ा। उ०—यू विचार नै गजरग डेरौ खड़ौ करायौ और जलाल नू बुलायौ।—जलाल बूबना री वात

गजरथ–स०पु०यौ० [सं०] हाथी द्वारा खींचा जाने वाला बड़ा रथ। (डि.को.)

गजरद–स०पु०यौ० [सं०] हाथीदाँत। उ०—सदा मिळै विल स्याळ रै, वच्छ पुच्छ खुर चाम। मिळै गयां ग्रगराज वह, गजरद मोती ग्राम। —बा.दा.

गजरप्रबंध–स०पु० [सं०] गायन अथवा नृत्य आदि के आरम्भ मे श्रोताओ के सामने गाने व बजाने वालो की स्वर-साधने की क्रिया, वाद्य के साथ स्वर मिलाना।

वि०वि०—जब नृत्य अथवा गायन प्रारंभ होते हैं तो उसके पहले गायक अथवा वादक लोग उपस्थित श्रोताओ के सामने अपना स्वर तथा बाजे इत्यादि लय के अनुसार मिलाते हैं। यही क्रिया गजरप्रबध कहलाती है।

गजराज–स०पु०यौ० [स०] १ बड़ा हाथी. २ इन्द्र का हाथी, ऐरावत. ३ डिंगल के वेलिया साणोर गीत (छंद) का एक भेद जिसके प्रथम द्वाले मे ३० लघु १७ गुरु सहित कुल ६४ मात्रायें होती हैं। शेष के द्वालो मे ३० लघु १६ गुरु सहित कुल ६२ मात्रायें होती है (पि प्र.)

गजराजअर, गजराजअरि, गजरिपु–स०पु०यौ० [सं० गजराज+अरि या रिपु] सिंह (ना डि को)

गजरी–स०स्त्री०—१ एक आभूषण जिसे स्त्रिया कलाई मे पहनती है। (मि० 'गजरौ २) २ छोटी गाजर (अल्पा०)

गजरूढ—देखो 'गजरथ' (डि.ना मा)

गजरौ–स०पु०—१ फूलादि की घनी गूंथी हुई माला. २ एक प्रकार का आभूषण जिसे स्त्रियां कलाई पर पहनती है। उ०—गजरा नवग्रही प्रोचिया प्रोचे, वळे वळे विवि विधि वळित।—वेलि. (अल्पा० 'गजरी') ३ गाजर के पत्ते (क्षेत्रीय)

गजल–स०स्त्री० [अ० गजल] फारसी और उर्दू मे शृंगार रस की एक कविता जिसमे कोई शृंखलाबद्ध कथा नही होती किन्तु प्रेमियो के स्फुट वचन या प्रेमी अथवा प्रेमिका के हृदयोद्गार होते है।

गजलील–स०पु० [स०] ताल के साठ मुख्य भेदो में से एक जिसमे चार लघु मात्रायें और अत मे विराम होता है (सगीत)

गजवदन–स०पु०यौ० [स०] गणेश, गजानन।

गजवान–स०पु० [सं० गजवान] महावत, हाथीवान (डि को.)

गजविभाड़–वि०—हाथी को पछाड देने वाला, योद्धा, वीर।

गजवेल, गजवेलि—देखो 'गजवेल' (रू.भे.) उ०—१ तिरण मे काळवूत री तीसरी साठी काकरे गजवेल रा भळका, सोने री नसमी तिके बाधीजै। पछै कवाणा चाक कीजै छै। —जैतसी ऊदावत री वात

उ०—२ मेघवना फाडा बाधिया, पाए मोजडा पोगर नवा। माटा पटा तणा गजवेलि, अलवि आगिला हीडइ गेलि। —रा.दे.

गजसाळा–स०स्त्री० [सं० गजशाला] वह घर जिसमें हाथी बाधे जाते हैं, फीलखाना।

गजसिक्षा–स०स्त्री० [सं० गजशिक्षा] पुरुषो की बहत्तर कलाओ के अंतर्गत एक कला।

गजसुंदर–स०पु०—एक प्रकार का घोड़ा (शा.हो.)

गजसोभा–स०पु०—एक प्रकार का घोडा (शा हो.)

गजहंस–स०पु०—एक प्रकार का घोडा (शा.हो)

गजांबेल—देखो 'गजवेल' (रू.भे)

गजांबोह–स०पु०यौ० [स० गज+व्यूह] हाथी-दल। उ०—गजांबोह बीच तुरी भेळतौ बरा थी गाढौ, लोह जाय भेळतौ उरा थी लोह। —बदरीदास खिडियौ

गजाडणौ गजाडवौ–क्रि०स० (प्रे०रू०) गर्जन करवाना।

उ०—गजाड़ै घणा घोर यू घोर गाजै, विलागा किनां डूगरां वज्र वाजै।—वं.भा.

गजाणण–स०पु०यौ० [सं० गज+आनन] जिसका मुख हाथी के समान हो, गणेश। उ०—तरण रथ थिकत घण वहै सागा अतर, अडर कर कर मरै वरण अवरी। पडै धड गजाणण कहै इम पचाणण, गजाणण कठै रिण मोभ गवरी।—पीथौ सादू

गजाणौ, गजावौ–क्रि०स०—गुंजायमान करना। उ०—गड गड नंबक गाजिया असमाण गजाया।—वी.मा.

गजानंद–स०पु०यौ० [स० गज+वत् (लोप)+आनद] हाथी के समान मस्त रहने वाला गणेश।

गजानन–स०पु० [स०] गणेश (डि.को.)

गजारि–स०पु० [स० गज+अरि] सिंह।

गजारोहण–स०पु०—पुरुषो की बहत्तर कलाओ के अतर्गत एक कला।

गजारोही–स०पु०यौ० [स० गज+आरोही] हाथी पर सवार व्यक्ति।

गजाव–स०पु० [स० गज] हाथी, गज।

गजासन–स०पु० [स० गज+अशन] अश्वत्थ वृक्ष, पीपल। (अ.मा)

गजास्य–स०पु० [स०] गणेश का एक नाम।

गजिंद्र–स०पु० [सं० गजेन्द्र] हाथी। उ०—केवियां दळ तंडळ जेण क्रिआ, दत्त मासण लक्ख गजिंद्र दिया।—वचनिका

गजी–स०स्त्री०—१ एक प्रकार का मोटा देशी कपडा जिसका अरज कम चौडा होता है. २ हथिनी। उ०—दियौ साम हाथी मिळै तास दानी, गजी साथ हालै मदा सौ गुमानी।—वं.भा.

गजू–स०पु० [स० गज] हाथी। उ०—सुभट्ट सरन्न सवग्गर, रामग लग्ग पक्खरं। घरा अडोल डुल्लय, गजू निसान घुल्लय।—ला.रा

गजेंद्र–स०पु० [स०] गजराज, ऐरावत।

गजेंद्रगुरु–स०पु०यौ० [स०] रुद्रताल का एक भेद (संगीत)

गजोवर–स०पु० [स० गज+वर] हाथी (डि.ना.मा.)

गज्ज—देखो 'गज' (रू भे.) उ०—रतन गज्ज सिरताज, सरब गजराज सिरोमण। पचहजारी प्रगट, दियौ मनमप्प दरम्मण।—रा.रू.

मुहा०—१ गड जागो—लजा जाना. २ गडियोड़ा मुरदा उखाड़ना—बीती हुई बातों को फिर से सामने लाना, पुरानी बातों की याद दिलाना।
३ समाना, पैठना।
गडणहार, हारौ (हारी), गडणियौ—वि०।
गडवाणौ, गडवावौ, गडवावणौ, गडवाववौ—प्रे०रू०।
गडाणौ, गडावौ, गडावणौ, गडाववौ—क्रि०स०।
गडिग्रोड़ौ, गडियोड़ौ, गडयोड़ौ—भू०का०कृ०।
गडीजणौ, गडीजवौ—भाव वा०।
गडत-सं०स्त्री०—तंद्रा, हल्की नींद।
गडदार-सं०पु०—मस्त हाथी के साथ-साथ भाला लिये चलने वाला व्यक्ति जो हाथी के इधर-उधर जाने पर भाले की नोंक चुभो कर उसे ठीक राह पर रखने का प्रयत्न करता है।
गडमेळ-वि०—गहरा, गंभीर, घना। उ०—दिन ऊगां री चीतरी, सिझ्या रा गडमेळ। रात्यूं तारा निरमळा, ऐ काळां रा खेल।
—वर्षा-विज्ञान
गडवाड़ौ-सं०पु० [सं० गढ़वृत्ति] चारणों को जागीर में दिया हुआ गांव।
गडवौ-सं०पु० [सं० गढवीजिन] १ धातु का बना छोटा कलसा या जलपात्र (अल्पा०-गडवी) २ चारण. ३ कवि।
गडसूर, गडसूरौ—देखो 'गंडसूर' (रू.भे.)
गडागड-क्रि०वि—जगह-जगह, स्थान-स्थान, पास-पास।
सं०पु०—घनिष्ट प्रेम।
गडाणौ, गडावौ-क्रि०स०—१ धँसाना, चुभाना, गड़ाना. २ मिट्टी आदि के नीचे दबाना. ३ समाना, पैठाना।
गडाणहार, हारौ (हारी), गडाणियौ—वि०।
गडाईजणौ, गडाईजवौ—कर्म वा०।
गडावणौ, गडाववौ—रू०भे०।
गडणौ, गडवौ—ग्रक रू०।
गडायोड़ौ-भू०का०कृ०—१ गड़ाया हुआ, चुभाया हुआ. २ भूमि में गाड़ा हुआ. ३ पैठाया हुआ। (स्त्री० गडावियोड़ी)
गडावणौ, गडाववौ—देखो 'गडाणौ' (रू.भे.)
गडावणहार, हारौ (हारी), गडावणियौ—वि०।
गडाविग्रोड़ौ, गडावियोड़ौ, गडाव्योड़ौ—भू०का०कृ०।
गडावीजणौ, गडावीजवौ—कर्म वा०।
गडणौ—ग्रक रू०।
गडावियोड़ौ—देखो 'गडायोड़ौ' (रू.भे.) (स्त्री. गडावियोड़ी)
गडासौ—देखो 'गंडासौ' (रू.भे.)
गडि-क्रि०वि०— पास, निकट।
सं०स्त्री०— गाड़ी।
गडियोड़ौ-भू०का०कृ०—१ गड़ा हुआ, धँसा हुआ, चुभा हुआ. २ भूमि में दबा हुआ. ३ समाया हुआ, पैठा हुआ। (स्त्री० गडियोड़ी)

गडी-सं०स्त्री०—१ देखो 'गड़ो' (रू. भे.) २ धातु का बना छोटा कलसा या जलपात्र।
(रू०भे०—गडवी)
गडुळ-सं०पु०—कुबड़ा व्यक्ति।
गडूंबौ-सं०पु०—१ इन्द्रायन का फल (ग्रमरत) २ विकृत या भद्दा हिंदवानी का फल।
गडू-वि०—जीर्ण, पुराना। उ०—गडू जोई नै गुणते घाल्यूं, तौ कांम ग्राव्यूं—वस्तु पुरानी ग्रौर जीर्ण हो गई ग्रतः ग्रनुपयोगी समझ उसे गोणी में रख दिया तो समय पर वह भी काम ग्रा गई; ग्रर्थात् पुरानी ग्रौर जीर्ण वस्तु भी समय पर उपयोग में ग्रा जाती है।
गडूथळ—देखो 'गडूथळ' (रू.भे.)
उ०—'ग्रजाहर' हसम दरियाव दीधौ उभळ, ग्रथ जळ विचै पड नाव ऊंधी। गडथळ खावती ऊाळां पड़ गयी, सतारा तणौ उमराव सूधी।—पिरयाग सेवग
गडूर-सं०स्त्री०—ग्रावाज, ध्वनि।
गडूरौ—देखो 'गंडसूरौ' (रू.भे.)
गडूस-सं०पु० [सं० घटा] सेना, दल (ह.नां.)
गडै-क्रि०वि०—पास, निकट।
गडौ-सं०पु० [सं० गंड] गंडस्थल, हाथी की कनपटी। उ०—कसन नहं लगौ सिंघ कळोधर, ग्रहवि घाव मनाड़ि इसौ। गडौ उपाड़ न ग्रावै गैमर, दूजा ही 'गोपाळ' दिसौ।—गोपाळदास चूंडावत रौ गीत
गडौथळ—देखो 'गडूथळ' (रू.भे.) उ०—सब लाखां ऊपर नवसहसा, लाख पचीमूं दीध हिलोळ। खित पुड़ घणा गडौथळ खावै, वूडै छात विया जस वोल।—दुरसौ ग्राढौ
गड्ड-सं०पु०—१ गड्ढा. २ गढ़, किला। उ०—गिराव गढ़ गड्ड को, विगड्ढ छडडती वहै। वकारि वैरि वृंद को, डकार ड्ड्ढ़ती वहै।
—ऊ.का.
गड्डी-सं०स्त्री०—एक ही ग्राकार की ऐसी वस्तुग्रों का ढेर जो तह से जमी हुई रक्खी हों। ढेर, समूह, गंज।
गड्डौ-सं०पु०—१ छोटी लड़कियों द्वारा एक प्रकार के कंकरों द्वारा खेले जाने वाले खेल का एक गोल कंकर. २ वृद्ध व्यक्ति।
कहा०—गड्डे ते मरे खोजै, मोट क्यार मरै लाजै—वृद्ध ग्रपनी ग्रादत से मरते हैं, किन्तु बड़े ग्रपनी लज्जा से। ग्रादतवश किसी को ऐसा कोई कार्य नहीं करना चाहिये जिससे दूसरों को दुख हो।
गड्ढ, गढ़-सं०पु० [सं० गाढ़] १ किला, दुर्ग, कोट। उ०—गनीम गड्ढ़ गव्वतीय, गव्म कौ गमावनी। जहांन ग्रांन मांन जोर, सोर तैं जमावनी।
—ऊ.का.
कहा०—१ गढ़ किला तौ वांका ही भला—गढ़ ग्रौर किले तो बाँकुरे ही भले। गढ़ ग्रौर किला तो रहस्ययुक्त ग्रौर दृढ़ ही भले. २ गढ़ां रै गढ़ पावणा—गढ़ों के गढ़ ही पाहुने होते हैं ग्रर्थात् बड़ों के बड़े ही पाहुने होते हैं; बड़ों का संबंध भी प्राय: बड़ों से ही होता है.

हुआ खाद्य जिसके टुकड़ों को उबाल कर या तल कर प्रायः शाक बनाया जाता है. ५ पैर की नली और तलुए के बीच की गांठ. ६ हाथ की कलाई के जोड़ पर एक ओर उभरी हुई गांठ. ७ व्यवस्थित रूप से लपेटा हुआ धागा (अल्पा०—गट्टी) ८ वह उपकरण जिस पर व्यवस्थित रूप से धागा लपेटा जाय। यह प्रायः लकड़ी का ही होता है (अल्पा०—गट्टी) ९ हुक्के के नैचे के नीचे की वह गांठ जहाँ दोनों नै मिलती हैं और जो फरशी या हुक्के के मुंह पर रहती है. १० वे घने बादल जो आच्छादित होने पर एक ही बार में सूर्य के प्रकाश को रोक देते हैं (क्षेत्रीय)

वि०—किसी शब्द के अंत में लग कर तुल्य, बराबर, सदृश आदि अर्थ देने वाला एक विशेषण, ज्यूं—लुगाईगटी मिनख।

गट्ट—सं०पु० [अनु०] किसी वस्तु को निगलते समय गले से उत्पन्न होने वाली ध्वनि।

गट्टी—सं०स्त्री०—१ हाथीदांत का वह खंड जिसे चीर कर स्त्रियों के लिए भुजा और कलाई में पहिनने के लिए चूड़ियां उतारी जाती हैं. २ व्यवस्थित रूप से लपेटा हुआ धागा अथवा वह उपकरण जिस पर इस प्रकार धागा लपेटा गया हो (मह०—गट्टौ)

गट्टौ—देखो 'गटौ' (रू.भे.).

गठकटौ—वि०—गाँठ काट कर रुपये चुराने वाला, गिरहकट।

गठजोड़, गठजोड़ौ—सं०पु० [सं० ग्रंथि+रा० जोड़] देखो 'गठबंधन'।

उ०—रण आंमागळ रोड़ि, जोड़ि अच्छरां गठजोड़ां। सेल घमोड़ां सार, मार मुगळां दळ मोड़ां।—मे.म.

गठण—सं०स्त्री० [सं० ग्रंथन, प्रा० गंठन] बनावट, रचना।

गठणौ, गठबौ—क्रि०अ० [सं० ग्रंथन] १ जुड़ना, सटना. २ बड़े-बड़े टांके लगना. ३ अच्छी तरह निर्मित होना, भली भाँति रचा जाना. ४ किसी षटचक्र या गुप्त विचार से सहमतया सम्मिलित होना. ५ अधिक मेल-मिलाप होना।

गठणहार हारौ (हारी) गठणियौ—वि०।

गठवाणौ, गठवाबौ, गठवावणौ, गठवावबौ—प्रे०रू०।

गठाणौ, गठाबौ, गठावणौ, गठावबौ—स०रू०।

गठिओड़ौ, गठियोड़ौ, गठ्योड़ौ—भू०का०कृ०।

गठीजणौ, गठीजबौ—भाव वा०।

गांठणौ, गांठबौ—स०रू०।

गठबंधण, गठबंधन—सं०पु०यौ० [सं० ग्रंथि+बंधन, प्रा० गण्ठबंधन] १ विवाह में वर और वधू के वस्त्र को परस्पर बांध देने की एक रीति. २ पति-पत्नी के वस्त्र के छोरों को परस्पर बांध देना।

पर्याय०—गठजोड़ौ, छेड़ा-छेड़ी, वरजोड़, वरजोड़ण।

मुहा०—गठबंधण करणौ—संबंध स्थापित करना।

गठरी—सं०स्त्री० [सं० ग्रन्थि+रा०प्र०री] १ किसी कपड़े में गाँठ देकर बांधा हुआ सामान, बड़ी पोटली।

मुहा०—१ गठरी करणौ—हाथ, पैर तोड़ या बांध कर अथवा और किसी प्रकार बेकाम कर देना। ढेर करना. २ गठरी बांधणा—सर्दी के मारे घुटना और छाती एक करना; जाने को तैयार होना। २ संचित धन, जमा की हुई दौलत।

मुहा०—गठरी मारणी—चालाकी से किसी का माल चुरा लेना। ३ तैरने का एक ढंग जिसमें तैरने वाला अपने पैरों और घुटनों को छाती से लगा कर और उन्हें दोनों हाथों से जकड़ कर गठरी की सी आकृति बना लेता है।

गठाणौ, गठाबौ—क्रि०स० [सं० ग्रंथन] ('गठणौ' का प्रे०रू०) १ गठाना, सिलवाना. २ मोटी-मोटी सिलाई कराना. ३ जुड़ाना।

गठाणहार, हारौ, (हारी), गठाणियौ—वि०।

गठावणौ, गठावबौ—रू०भे०।

गठाईजणौ, गठाईजबौ—कर्म वा०।

गठाओड़ौ, गठायोड़ौ—भू०का०कृ०।

गठणौ, गठबौ—अक रू०।

गठायोड़ौ—भू०का०कृ०—गठाया हुआ, सिलवाया हुआ। (स्त्री० गठायोड़ी)

गठावणौ, गठावबौ—देखो 'गठाणौ' (रू.भे.)

गठावणहार, हारौ (हारी), गठावणियौ—वि०।

गठाविओड़ौ, गठावियोड़ौ, गठाव्योड़ौ—भू०का०कृ०।

गठावीजणौ, गठावीजबौ—कर्म वा०।

गठणौ, गठबौ—अक रू०।

गठियोड़ौ—भू०का०कृ०—गठा हुआ, सिला हुआ, जुड़ा हुआ। (स्त्री० गठियोड़ी)

गठीजणौ, गठीजबौ—क्रि०अ० ('गठणौ' का भाव वा०) १ गठा जाना. २ सिला जाना. ३ रचा जाना. ४ जोड़ा जाना।

गठीजणहार, हारौ (हारी), गठीजणियौ—वि०।

गठीजिओड़ौ, गठीजियोड़ौ, गठीज्योड़ौ—भू०का०कृ०।

गठणौ, गठबौ—अक रू०।

गठीजियोड़ौ—भू०का०कृ०—गठा गया हुआ, जोड़ा गया हुआ। (स्त्री० गठीजियोड़ी)

गठीलौ—वि० [सं० ग्रंथिल] (स्त्री० गठीली) १ गांठ वाला, ग्रंथियुक्त. २ गठा हुआ, सुडौल, मजबूत, दृढ़।

गठुली—सं०स्त्री०—घोड़े का एक रोग विशेष जो जबड़ों पर प्रकट होता है (शा.हो.)

गठूगण—सं०पु०—गठिया नामक वात रोग। उ०—कफजादि रजादि फियादि ससूकण, वायु गठूगण भोग जिता।—करुणासागर

गडंग—सं०पु० [सं० गड़+अंग-शक] ऊँट (डि.को.)

गड—सं०पु० [सं०] १ ओट, आड. २ चहारदीवारी. ३ गढ़, किला

उ०—दसमाथ विहंडण आसुर खंडण, राघव भूप अरोड़ा। पाथर रच पाजं समुद सकाजं, ते गड हाटक तोड़ा।—र.ज.प्र.

गडणौ, गडबौ—क्रि०अ०—१ घँसना, चुभना, गड़ना. २ मिट्टी आदि के नीचे दबना।

वि०वि०—दाम्पत्य प्रेम के उच्चादर्श के रूप में शंकर-पार्वती के जोड़े की अभिव्यक्ति ही 'गणगौर पूजा' महोत्सव में होती है। होलिका-दहन के पश्चात् 'गणगौर पूजा' चैत्र कृष्णा १ से आरम्भ होकर गौरीशंकर की अर्चना के शास्त्र-निर्दिष्ट दिन चैत्र शुक्ला तृतीया को समाप्त होती है। यही जन-साधारण में गणगौर दिवस माना जाता है। पूरे अठारह दिन गणगौर पूजा के रूप में इस त्यौहार की चहल-पहल रहती है। कुमारी कन्यायें गुणशाली वर-लाभार्थ और पतिवती महिलायें अपने सौभाग्य की अभिवृद्धि की कामना से गणगौर की पूजा करती हैं।

(रू०भे०—गवर, गवरजा, गोरल, गौर)

गणग्रभ, गणग्राभ—सं०पु० [सं० ग्रहग्राम] आकाश, नभ (डि.को.)

गणणंकणौ, गणणंकवौ—क्रि०अ०—१ गोल घेरा बनाते हुए पक्षियों का आकाश में मंडराना। उ०—ठणणंक घंट गदळां ठहे, **गणणंके** पळ-चर गयण: हणणंक हीस हैगांम हय, जय कणणंके वंदिजण। —वं.भा.

२ ध्वनि विशेष का होना।

गणणक—सं०स्त्री० [अनु०] १ आकाश में पक्षियों के मँडराने की क्रिया. २ ध्वनि विशेष।

गणणट—देखो 'गणणाट' (रू.भे.)

गणणणौ, गणणवौ—क्रि०अ०—१ प्रतिध्वनित होना। उ०—जागि प्रळै रिण जंग, उडै सर सांम्हा अगनि। गंडां सवाया **गणणिआ**, नाखित्र माळा निहंग।—वचनिका २ चला जाना, व्यतीत होना।

उ०—भरै खजांना धरती भेदे, चोर कटक लेसी घर छेदे। वांट वांट कहियौ इउं वेदे, दीह **गणणिया** ताळी दे दे। —ओपौ आढ़ौ

गणणाट, गणणाटौ—सं०पु०—१ चक्कर, परिभ्रमण, घूमने का कार्य. उ०—वारै वारै रै धन दे वणणाटा, गांजर खांचै लै पांजर **गणणाटा**। —ऊ.का.

२ जोर की ध्वनि। उ०—सिहां तणौ सकोय, **गणणाटौ** मोटौ गिणै। कुत्तौ भुसै तो कोय, राखै संक न राजिया।—किरपारांम

[अनु०] ३ पक्षियों, भ्रमरों, मक्खियों आदि का पदार्थ विशेष पर मँडराने की क्रिया, अथवा इस प्रकार मँडराने से उत्पन्न ध्वनि, भिनभिनाहट। उ०—मैले ऊपर मांखियां, **गणणाटा** लै गैल। हैकंड कठीनै हालिया, डवी खळींगण डैल।—ऊ.का.

गणणाणौ, गणणावौ, गणणावणौ, गणणाववौ—क्रि०अ० [अनु०]

१ चक्कर खाना। उ०—पड़ै **गणणाय** मुरभाय इळ ऊपरै। पूर मंगळ हुवां राखसां रूपटै।—र.रू. २ पक्षियों का आकाश में मँडराना। उ०—ग्रीधां **गणणावै** खावै तन खांचै, रांमद्वारा में रांडां जिम रांचै।—ऊ.का. ३ भिनभिनाना. ४ गुनगुनाहट की ध्वनि करना।

क्रि०स० ('गणणौ' का प्रे०रू०) ५ गिनती करवाना, गणना करवाना।

गणणौ, गणवौ—क्रि०स०—१ गिनती करना, गिनना. २ संख्या निश्चित करना. ३ समझना। उ०—सूरा तन सूरां चढ़ै, सत सतियां सम दोय। आडी धारां ऊतरै, **गणै** अनळ नूं तोय।—वां.दा. ४ प्रतिष्ठा करना, सम्मान करना. ५ देखो 'गणणाणौ' (रू.भे.)

गणणहार, हारौ (हारी), गणणियौ—वि०।

गणाणौ, गणावौ, गणावणौ, गणाववौ—प्रे०रू०।

गणिओड़ौ, गणियोड़ौ, गण्योड़ौ—भू०का०कृ०।

गणीजणौ, गणीजवौ—कर्म वा०।

गणणेटौ, गणणोटौ—देखो 'गणणाट' (रू.भे.) उ०—वागां आंबा गरक भंवरा **गणणेटा**। पोतै पापां गरक गरक सीतंग मैं वेटा। —अरजुणजी बारहठ

गणतंत्र—सं०पु० [सं०] जनतंत्र, प्रजातंत्र, लोकतंत्र।

गणधर—सं०पु० [सं०] एक प्रकार के जैनाचार्य जो तीर्थङ्कर के शिष्य होते हैं। ये लोग तीर्थङ्करों के उपदेशों का संग्रह करके उनके शिष्यों में प्रचार करते हैं।

गणन, गणना—सं०पु०स्त्री० [सं०] गिनने की क्रिया या भाव, गिनना।

गणनाथ, गणनायक—सं०पु०यौ० [सं०] १ गणों का स्वामी, गणेश। उ०—वंदन कर **गणनाथ** कौ, जे पूत गवर का।—दुरगादत्त बारहठ २ शिव, महादेव (अ.मा.)

गणनायिका—सं०स्त्री०यौ० [सं०] १ दुर्गा. २ पार्वती।

गणप—सं०पु० [सं०] गणेश (डि.को.)

गणपत, गणपति—सं०पु०यौ० [सं० गणपति] १ गणों का स्वामी, गनेश. २ शिव (ह.नां., क.कु.बो.)

गणपरवत—सं०पु०यौ० [सं० गण+पर्वत] वह पर्वत जहाँ शिव के गण या प्रमथ रहते हों।

गणयल—सं०पु० [सं० गणकल] चंद्रमा (नां.मा.)

गणराज—सं०पु०यौ० [सं० गण+राट] १ गणों का स्वामी, गणेश, गजानन (डि.को.) उ०—स्री **गणराज** सारदा सुखकर, वगसौ सुमत रांम-सीतावर।—र.ज.प्र. २ प्रजा में से चुने हुए लोगों द्वारा चलाया जाने वाला राज्य, गणराज्य।

गणराव—देखो 'गणराज' १ (रू.भे.)

गणलौ—देखो 'गरणौ' (रू.भे.) उ०—माजी रच राखै मतौ, सौ **गणलां** छांणंत। असल आगराई अमल, जमियौ जग जांणंत।—वां.दा.

गणव—सं०पु०—गणेश, गजानन (डि.को.)

गणसूर—देखो 'गंडसूर' (रू.भे.)

गणाई—सं०स्त्री०—१ गिनने की क्रिया. २ गिनने की मजदूरी।

गणाणौ, गणावौ—क्रि०स०('गणणौ' का प्रे०रू०) १ गिनाना, गिनती कराना. २ समझाना. ३ प्रतिष्ठा कराना, सम्मान कराना. ४ संख्या निश्चित करवाना।

गणाणहार, हारौ (हारी), गणाणियौ—वि०।

गणाओड़ौ, गणायोड़ौ—भू०का०कृ०।

३ दाबिया ज्यांरा गढ़ कोट—जिसने गढ़ या किले को दबा लिया वही उसका स्वामी होगा। बलपूर्वक अधिकार कर सकने की सामर्थ्य रखने वाला व्यक्ति ही गढ़ का स्वामी हो सकता है।

यौ०—गढ़पत, गढ़बंध, गढ़मंगौ।

२ खाई।

क्रि०वि०—पास, नजदीक।

गढ़किला–सं०पु०—एक प्रकार का सरकारी लगान।

गढ़णौ, गढ़बौ–क्रि०स०—१ किसी सामग्री को काट-छाँट कर कोई वस्तु बनाना, रचना. २ बात बनाना, कल्पित बातें रचना. ३ मारना-पीटना।

गढ़णहार, हारौ (हारी), गढ़णियौ—वि०।

गढ़ाणौ, गढ़ाबौ, गढ़ावणौ, गढ़ाववौ—प्रे०रू०।

गढ़िग्रोड़ौ, गढ़ियोड़ौ, गढ़्योड़ौ—भू०का०कृ०।

गढ़ीजणौ, गढ़ीजबौ—कर्म वा०।

गढ़त–सं०स्त्री०—रचना, बनावट।

गढ़पत, गढ़पति, गढ़पती, गढ़पत्ति–सं०पु०—१ गढ का स्वामी, राजा।

उ०—१ लाख वरीसै भोज तूं, कवित नवा कहणांह। लड़ालूंब वणियौ विहद, गढ़पत जस गहणांह।—वां.दा.

उ०—२ हिकमत करौ हजार, गढ़पतियां जाचौ घणा। धीरज मिळसी धार, करम प्रमांणै किसनिया। २ किलेदार, गढ़-रक्षक।

गढ़बंध–सं०पु०—राजा।

गढ़मंगौ–सं०पु०—राजाओं का याचक, ढोली।

गढ़राज, गढ़राव–सं०पु०—राजा। उ०—यह 'पाल' न मावत वीरपणै, गढ़राव जिकां त्रण मात गणै।—पा.प्र.

गढ़रोह, गढ़रोहऊ, गढ़रोहौ–सं०पु०—गढ़ पर किया जाने वाला आक्रमण, गढ़ का घेरा। उ०—१ इणि परि जाळवउ हींदू, हठि चडीउ सुर-तांण। वरस सात करचउ गढ़रोहऊ, छंडाव्यउ चहूआंण।—कां.दे.प्र.

उ०—२ भड़ लखमसी, रतनसी, करन तीने भाई गढ़रोहै कांम आया।—नैणसी

गढ़व–सं०पु०—चारणों का एक नाम (पा.प्र.)

गढ़वाड़ौ–सं०पु०—चारणों को गांव के रूप में दी गई जागीर।

उ०—मेद्यां अपराधियां मारणी, भलां सेव्गां आवै भाव। करै करां छाया तूं करनी, गांजै कुण गढ़वाड़ां गांव।—वां.दा.

गढ़वी–सं०पु०—१ गढ़पति, राजा, ठाकुर. २ चारणों का एक पर्याय-वाची शब्द (हा.झा.)

गढ़वौ–सं०पु०—चारण कवि। उ०—गडवां थट वाळ घलै गढ़वा, पुळ आगम 'पाल' थळी पढ़वा।—पा.प्र.

गढ़ांपति(ती)—देखो 'गढ़पति' (रू.भे.) उ०—समांपती लखप्पती सुरिंद नरांपति। धरापति नरिंद गढ़ांपती करांमती।—ल.पि.

गढ़ाई—देखो 'गोडाई' (रू.भे.)

गढ़ाणौ, गढ़ाबौ—देखो 'गोडाणौ' (रू.भे.)

गढ़ी–सं०स्त्री०—१ छोटा किला या गढ़। उ०—सीकरि कै लछै भी रावराजा फौज मेली। फेरचौ डूंडळोदा की गढ़ी नैं जाय भेळी।
—शि.वं.

२ गाँव के चारों ओर का अहाता. ३ एक प्रकार का कीटाणु जो ग्वार की फसल को खेत में खा कर नष्ट कर देता है। उ०—कटवळ खाधौ कातरै, गढ़ी अरोग्यौ गवार। वरां खाधी वाजरी, जाभौ खेती जुआर।—अज्ञात

गढ़ीस–वि०—गढ़ का स्वामी, गढ़पति।

गढ़ग्रोत–सं०पु०—गहलोत वंश की एक शाखा या इस शाखा का व्यक्ति।

गढ़ोई–सं०पु०—वह गड्ढ़ा जिसमें मकान की विभिन्न नालियों से पानी इकट्ठा होता है।

गढ़ोगढ़—देखो 'गडोगड' (रू.भे.)

गणंमराव–सं०पु० [सं० गण+राज] गजानन गणेश।

गण–सं०पु० [सं०] १ समूह। उ०—राता तत चितारत. गिरि कंदरि घरि विन्हे गण।—वेलि. २ श्रेणि, जाति. ३ ऐसे मनुष्यों का समुदाय जिनमें किसी प्रकार की समानता हो. ४ नक्षत्रों की तीन कोटियों में से एक. ५ फलित ज्योतिष में नक्षत्रों के तीन गण हैं—देव, मनुष्य और राक्षस. ६ छंदशास्त्र में तीन वर्णों का समूह। लघु, गुरु के क्रम-भेद से इनकी संख्या आठ मानी गई है, यथा—
१ मगण (ऽऽऽ) २ यगण (।ऽऽ) ३ रगण (ऽ।ऽ) ४ सगण (।।ऽ) ६ तगण (ऽऽ।) ६ जगण (।ऽ।) ७ भगण (ऽ।।) ८ नगण (।।।)। इन वर्णिक गणों के अतिरिक्त पांच मात्रिक गण भी होते हैं—१ टगण (छः मात्रायें) २ ठगण (५ मात्रायें) ३ डगण (चार मात्रायें) ४ ढगण (तीन मात्रायें) ५ णगण (दो मात्रायें) ७ शिव के पार्षद. ८ दूत, सेवक. ९ गणेश. १० हाथी (ना डि को.) ११ आर्या, गाहा अथवा गाथा छंद में चार मात्रा का नाम।

गणईस–सं०पु० [सं० गणेश] गणेश, गजानन।

गणक–सं०पु० [सं०] १ ज्योतिषी (डि.को) २ वणिक, बनिया।

गणककेतु–सं०पु० [सं०] एक प्रकार का धूमकेतु, जो तारापुंज सा दिखाई पड़ता है।

गणकराज–सं०पु० [सं०] श्रेष्ठ ज्योतिषी। उ०—तुगलक रै समय दक्खिण में कोई गणकराज विप्र री चाकर एक हुसन नाम जवन हुवौ।—वं.भा.

गणका—देखो 'गणिका' (रू.भे.)

गणगवर, गणगौर–सं०स्त्री० [सं० गुणगवरी] १ पार्वती, गौरी. २ राजस्थान की वरकांक्षिणी कुमारियों और सौभाग्यवती महिलाओं का एक हर्षोल्लासपूर्ण पवित्र सांस्कृतिक पर्व या त्यौहार।

उ०—वोल्यौ वाग में, सुभटां तणै समाज। उदयापुर री गणगवर, अब देखांला आज।—वगसीरांम प्रोहित री वात

दीपक परजळतौ इ न दीपै, नासफरिम सू रतनि नरि ।—वेलि.

सं०स्त्री०—१ समय (अ.मा.) २ हालत, अवस्था, दशा ।

उ०—तारां सेखैजी कयौ, 'रावजी, मैं थांरौ कांई बिगाड़ कियौ, म्हे तौ जमी रै कारणै काकौ भतीजौ विढ़ता हा पण जा मैं गत हुई सो तैं गत हुयज्यौ ।—द.दा.

क्रि०प्र०—करणी, होणी ।

मुहा०—१ गत री—अच्छा, भला. २ गत बणाणी—दुर्दशा करनी, दुर्गति करना, अपमान करना, मारना-पीटना, उपहास करना, उल्लू बनना ।

क्रि०प्र०—करणी, होणी ।

४ संगीत में वाजों के कुछ बोलों का क्रमबद्ध मिलान ।

उ०—ढोली बाहर री ढोल जूंझाऊ अनै खातौ घणौ लियौ तद कहै छै । वीरांगना वचन—ए ढोलण, ढोली नूं कह इतरी ढोल री पलां (ढोल री पौह व गत) में इतरी क्यूं ताकीद करै ।—वी.स.टी.

५ नृत्य में शरीर का विशेष संचालन और मुद्रा । उ०—ताथेई ताथेई थेई थेई थेई ताता, गतां लै अहेस माथा नंद रौ गवाळ ।—र.ज.प्र.

क्रि०प्र०—लेणी ।

६ प्रकार, ढंग, तरह । उ०—जस री गत अदभूत जिका, सत धारियां सुहाय । नर जीवै नर लोक में, जस अमरापुर जाय ।—वां.दा.

[सं० गति] ७ गति, चाल । उ०—१ हुवौ नचीतौ पवन हव, अस रीतौ भौ आज । जीतौ खगपत गत जिकौ, वीतौ चीतौ वाज ।

—रिवदांन महडू

उ०—२ गत गैवर कटि केहरी, रमणी हाटक रंग । कुच गिरवर लोयण कमळ, ऐ है कुसळे अंग ।—वां.दा.

(रू०भे०—गति)

८ गति, मोक्ष । उ०—१ राव बड़ौ रजपूत छै, सूरवीर छै । पाछौ जाय कांम आयसूं तौ गत होयसी ।—डाढ़ाळा सूर री वात

उ०—२ आह जिसा अधमां दीन्ही गत, तोनूं राघव कांय न तारै ।

—र.ज.प्र.

क्रि०प्र०—गत मिळणी, गत होणी ।

मुहा०—गत होणी—मोक्ष होना ।

कहा०—रांम-रांम सत है, आगे गियां गत है—राम का नाम ही सत्य है जिसके स्मरण मात्र से परलोक में मोक्ष की प्राप्ति होती है ।

(रू०भे०—गति)

९ लीला । उ०—अकरम करम उपाय कर, जागविया तैं जीव । जगपत को जांणै नहीं, गत थारी हैग्रीव ।—ह.र.

क्रि०प्र०—करणी ।

कहा०—रांम री गत हीरा रौ भाई कोयलौ व्है है—ईश्वर की भी क्या लीला है ? हीरा जिसकी लाखों रुपयों की कीमत होती है, कोयले की खान में मिलता है ।

[रा०] १० गाय (अ.मा.)

गतअंग-सं०स्त्री०—गंगा (अ.मा.)

गततार-सं०पु०—आभूषण (अ मा.)

गतपंचमी-सं०स्त्री०—पंचतत्व को प्राप्त होना, मोक्ष । उ०—नहीं गया मांचे मुवा, रवि मंडळ रै राह । जूंझ मुवा रण में जिके, गतपंचमी गयाह ।—वां.दा.

गतराड़ौ-सं०पु०यौ० [सं० गत+राट्] नपुंसक, नामर्द, हिंजड़ा ।

कहा०—१ गतराड़ा घोड़ै चढ़ै अौ पिंडत पाळा जाय—नामर्द घोड़े पर सवार हैं और पंडित पैदल चलते हैं । योग्य व्यक्तियों की अपेक्षा अयोग्य व्यक्तियों की कद्र होने पर. २ गतराड़ाई कठे गांम लूट्या है—क्या नपुंसकों ने भी कभी ग्राम लूटा है ? नामर्द व्यक्तियों से वीरतापूर्ण कार्यों के करने की आशा नहीं रखनी चाहिए. ३ गतराड़ा रै पूंछड़ै गाती मांडै—नामर्द पुरुष की सहायता के लिए कमर कसना व्यर्थ है । जिसके पास थोड़ा बहुत भी स्वयं का बल न हो उसे दूसरों की सहायता अधिक लाभ नहीं पहुँचा सकती.

४ गतराड़ै आळी गाती मारणी है—किसी कार्य को न करने के लिए आलस्य प्रकट करने वाले के प्रति ।

गतराज-सं०पु०—एक प्रकार का घोड़ा (शा.हो.)

गतवंत-सं०पु० [सं० गतवत] पद, पैर, चरण (अ.मा.)

गतवन्ही-सं०स्त्री०यौ० [सं० गत = प्रकार+वन्हि = अग्नि] केसर (केसर को संस्कृत में अग्निशिखा कहा गया है ।)

गतागत-वि०यौ० [सं०] आया गया ।

सं०स्त्री० [सं०] १ आवागमन. २ जन्म-मरण. ३ गति, लीला—ज्यूं ईस्वर री गतागत समझ में नी आवै. ४ ढंग—ज्यूं इण कांम री गतागत कीं बैठे कोनी ।

गति-सं०स्त्री० [सं०] १ एक स्थान से दूसरे स्थान पर क्रमशः जाने की क्रिया, चाल, गमन । उ०—१ पदमणि रखपाळ पाइदळ पाइक, हिळवळिया हलिया हसति । गमे गमे मदगळित गुड़ंता । गात्र गिरोवर नाग गति ।—वेलि. उ०—२ आकरसण वसीकरण उनमादक, परठि द्रविण सोखण सरपंच । चितवणि हसणि लसणि गति संकुचणि, सुंदरि द्वारि देहरा संच ।—वेलि.

यौ०—गतिवंत ।

२ अवस्था, दशा, हालत । उ०—१ तू म्हांमें कूड़ा अोगुण काढ़ै छै सो जे म्हारी गति हुई जिकी थारी गति हुयज्यौ ।

—ठाकुर जैतसिहजी री वारता

उ०—२ गढ़वी ढोला ने कहै, तू मांणै नरपत्ति । म्हांसूं सांचौ अक्खजे, मारू केही गति ।—ढो.मा. ३ हिलने-डोलने की क्रिया, हरकत—ज्यूं नाड़ी री गति बिल्कुल धीमी है. ४ रूप, रंग, वेष. ५ पहुँच, प्रवेश, पैठ । उ०—इण कारण मागध लोकां रा घणा ग्रंथां में एक ही लेख जांणि सोही प्रमांण इण ग्रंथ में राखियौ परंतु पीढ़ियां री विसेस ही विसमता हूं विरोध आवै जठै और कोई गति न जांणियां चाळुक्यवंस री तेवीस ही पीढ़ियां में घणां रै

गणावणौ, गणावबौ, गिणाणौ, गिणावौ, गिणावणौ, गिणावबौ—रू०भे०।

गिणाईजणौ, गणाईजबौ—कर्म वा०।

गणाधपत, गणाधपति, गणाधिप, गणाधीस–सं०पु०यौ०—१ गणों का स्वामी, गणेश। उ०—तेग झाळां छोडै कंक बिछोड़ै बैंकूंठ ताळा, गोडै गणाधीस माळा जोड़ै धारगंग।—हुकमीचंद खिड़ियौ

२ शिव. ३ जैन साधुओं के समुदाय में सबसे प्रतिष्ठित या वृद्ध साधु।

गणायोड़ौ–भू०का०कृ०—गिनाया हुआ (स्त्री० गणायोड़ी)

गणावणौ, गणावबौ—देखो 'गिणाणौ' (रू.भे.) उ०—किसूं गणावै पीढ़ियां ख्यात सारी कहै, दुनी ग्रव-ग्रव प्रगट सुजस दीधौ। कदी ही कियौ नह रूसणौ कुचांमण, कुचांमण सांम-ध्रम सदा ही कीधौ।

वां.दा.ख्यात

गणावणहार, हारौ (हारी), गणावणियौ—वि०।

गणाविओड़ौ, गणावियोड़ौ, गणाव्योड़ौ—भू०का०कृ०।

गणावीजणौ, गणावीजबौ—कर्म वा०।

गणावीजियोड़ौ–भू०का०कृ०—देखो 'गणायोड़ौ' (रू.भे) (स्त्री० गणावीजियोड़ी)

गणिका–सं०स्त्री० [सं०] वह नायिका जो द्रव्य के लोभ से नायक से प्रीति करे, वेश्या, पतुरिया। उ०—समझ देख बिगड़ी सभा, आहुट गई उमंग। गणिका सूं राखै गुसट, रसिया तोनै रंग।—बां.दा.

गणित–सं०पु० [सं०] १ वह शास्त्र जिसमें मात्रा, संख्या और परिमाण का विचार हो। इसमें निर्धारित नियमों और क्रियाओं द्वारा ज्ञात मात्राओं, संख्याओं और परिमाणों के संबंध के आधार पर अज्ञात मात्रा, संख्या या परिमाण का निश्चय किया जाता है. २ पुरुषों की बहत्तर कलाओं के अंतर्गत एक कला।

गणितग्य–वि० [सं० गणित+ज्ञ] १ गणित शास्त्र का ज्ञाता, गणितज्ञ। २ ज्योतिषी।

गणियोड़ौ–भू०का०कृ०—१ गिना हुआ. २ प्रतिष्ठा पाया हुआ। (स्त्री० गणियोड़ी)

गणीस, गणेस–सं०पु० [सं० गणेश] १ हिन्दुओं के एक प्रसिद्ध देवता जिनका सारा शरीर मनुष्य का है किन्तु शिर हाथी के समान है (ड़ि.को.)

वि०वि०—ये शिव के गणों के अधिपति हैं तथा शिव तथा पार्वती के पुत्र हैं। कहा जाता है कि इनके जन्म के समय शनि भी इन्हें देखने आए थे। शनि जिसे देख लेते हैं, उसका सिर धड़ से अलग हो जाता है। शनि के देखते ही गणेश का सिर अलग हो गया। उस समय विष्णु के कहने पर उत्तर दिशा में शिर किये हुए इन्द्र के हाथी ऐरावत का सिर काट कर इनके लगा दिया गया। इन्हें एकदंत कहा जाता है जिसके बारे में प्रसिद्ध है कि एक बार परशुराम शंकर से मिलने आये। उस समय शंकर व पार्वती निद्रामग्न थे अतः गणेश ने द्वारपाल के रूप में परशुराम को रोका। तब परशुराम ने क्रोध में आकर इनका एक दांत काट डाला। एक बार सब देवताओं ने पृथ्वी की परिक्रमा करने का निश्चय किया। गणेश ने सर्वव्यापी राम नाम लिख कर उसी की परिक्रमा कर डाली जिससे देवताओं में सर्व प्रथम उन्हीं की वन्दना या पूजा होती है। इनके बारे में यह प्रसिद्ध है कि व्यास के बोलने पर इन्होंने ही महाभारत को लिपिबद्ध किया था। इनका वाहन चूहा माना जाता है।

पर्याय०—अग्रेसुर, इकरदन, एकदन्त, एकरदन, काळीसुतन, गज-आंणण, गजमुख, गजानंद, गजानन, गणप, गणपत, गणराज, गणव, गणेस, गवरीनंद, द्वैमातर, निधगुण, परमनंद, परसीतस, परसीपांण, विनायक, बुद्धिसदन, महेससुत, मूसावाहण, रगण, लंबोदर, विघनराज, विनायक, रिद्धि-सिद्धिनायक, सिधबुधदायक, सुंडाळौ, सूंडाळ, हुड़ंबौ, हेरंब आदि।

(रू.भे.—गणाईस, गणीस गनीस।

२ छप्पय छंद का २१ वां भेद जिसमें ५० गुरु ५२ लघु से १०२ वर्ण या १५२ मात्रायें होती हैं। इसे कुंजर भी कहते हैं।

गणेसखूंटी–सं०स्त्री०—करघे के दाहिनी ओर रहने वाली जुलाहों की वह खूंटी जिसमें ताने को कसा रखने के लिए उसमें बंधी हुई अंतिम रस्सी या जोते का दूसरा सिरा 'पिंडा' या 'हथेला' (करघे के पीछे लगी हुई दूसरी खूंटी) के पीछे से घुमा कर लाया और बांधा जाता है। यह खूंटी करघे की दाहिनी ओर बुनने वाले के दाहिने हाथ के पास इसलिए रहती है कि जिसमें वह आवश्यकतानुसार जोते को ढीला करता रहे और उसके कारण ताना आगे बढ़ता आवे।

पर्याय०—विनायक खूंटी।

गणेसचतुरथी, गणेसचौथ–सं०स्त्री०—भाद्रपद मास के शुक्ल पक्ष की चतुर्थी। इस दिन गणेश की पूजा की जाती है।

गणेसपुरांण–सं०पु०—एक उप-पुराण का नाम।

गणेसभूसण–सं०पु०यौ० [सं० गणेश+भूषण] सिंदूर।

गणेसर, गणेसुर–सं०पु० [सं० गणेश्वर] १ हाथी (ना.डि.को.) २ गजानन, गणेश।

गण्णौ—देखो 'गरणौ' (रू भे.)

कहा०—गोळा मूंडे गण्णू दियै, दन्या मूंडे सूं दियै—छाछ बिलोने के घड़े तथा मिट्टी के अन्य किसी बर्तन का मुंह कपड़े से बांध कर ढका जा सकता है किन्तु संसार का मुंह नहीं बांधा जा सकता। अर्थात् जन-साधारण में फैली हुई बात को फैलने से रोका नहीं जा सकता।

गतंड–सं०पु० [सं० गताण्ड] हिजड़ा, नपुंसक।

गत–वि० [सं०] १ गया हुआ, बीता हुआ। उ०—अज नव बारह अब्द गत, सक विक्रम सत्रंव। दिन नवमी आसाढ़ वदि, मीणां तेड़ि मदंध।—वं.भा.

मुहा०—गत होणौ—मरना।

२ रहित, हीन, खाली।

उ०—गत प्रभा थियौ ससि रयणि गळंती, चर मंदासइ वदन वरि।

जिसमें अनुप्रासों और समासों की अधिकता हो। इसको पढ़ने में पद्य का आनंद आता है। वृत्तगंधि।

गदवड़णौ, गदवड़बौ—क्रि०अ०—छोटी-छोटी फुंसियों का जोश में आकर उनमें मवाद उत्पन्न हो जाना।

गदर—सं०स्त्री०—१ पुष्टि मार्ग के अनुसार एक प्रकार की रूईदार वगल-वंदी जो जाड़े में ठाकुरजी को पहनाते हैं. (मा. मा.) [अ० ग़दर] २ हलचल, उपद्रव. ३ विद्रोह, वगावत।

क्रि०प्र०—करणौ, मचाणौ, होणौ।

यौ०—गदरगडीडी।

गदरगडीडी—देखो 'गदर' ३ (रू.भे.) उ०—महाराज रै पावां लगायौ, दिलासा करि साथ लियौ। महना सात आठ मारवाड़ में आंम्ही सांम्ही गदरगडीडो मांड राखी।

—मारवाड़ रा अमरावां री वारता

गदरौ—सं०पु० [फा० गद्दा] रूई आदि से भरा हुआ मोटा एवं गुदगुदा बिछौना, गद्दा।

गदळ—सं०पु० [सं० गजदल] हाथियों का समूह, गजदल। उ०—ठण-णंक घंट गदळां ठहै, गणणंकै पळचर गयणं।—वं.भा.

गदवंववचनिका—देखो 'गदवंबवचनिका' (रू.भे.)

गदहड़ौ—देखो 'गधौ' (अल्पा०)

गदहपचीसी—सं०स्त्री०—प्रायः १६ से २५ वर्ष तक की अवस्था जिसमें लोगों का विश्वास है कि वुद्धि अपरिपक्व रहती है।

गदहरणी—सं०स्त्री०—हर्रे, हरीतकी (नां.मा.)

गदहलोट—सं०पु०—कुश्ती का एक दांव।

गदा—सं०स्त्री० [सं०] १ प्राचीन समय में प्रयोग में लाया जाने वाला शस्त्र।

वि०वि०—इसमें लोहे का एक डंडा होता है जिसके एक सिरे पर भारी लट्टू की आकृति का वोझा लगा रहता है। इसका डंडा पकड़ कर उस भारी वोझिले भाग से शत्रु पर प्रहार करते हैं। विष्णु के चतुर्भुज रूप में एक हाथ में गदा धारण की हुई देखी जाती है। प्रमुखतया यह महाभारतकाल में अधिक प्रयुक्त होती थी। भीम का यह प्रमुख शस्त्र माना जाता है। रामायणकाल में हनुमान का यह प्रिय शस्त्र था।

यौ०—गदाधर, गदाधीस, गदापांणि।

२ कसरत के सामान में से एक जिसमें वांस के मजवूत डंडे के सिरे पर पत्थर का गोला छेद कर लगाते हैं और उसे मुग्दर की भांति घुमाते हैं।

गदाधर, गदाधारी—सं०पु०—१ विष्णु (नां.मा.) उ०—सांप्रत सांमी मो मज्झ सरीर। गोविंद गदाधर ग्यांन गहीर।—ह.र. २ भीम. ३ हनुमान (डि.को., ह.नां., अ.मा.)

गदाधीस—सं०पु०—१ पांडु-पुत्र, भीम. २ हनुमान. ३ वप्ण।

गदापांणि, गदापांणी—सं०पु०यौ० [सं० गदापाणि] १ भीम।

उ०—पांण रा करन्न महा आरांण रा गदापांणी, नागरी पूड़ांण रा प्रम्मांण रा निधांन।—महाराजा मांनसिंह री गीत

२ वह व्यक्ति जिसके हाथ में गदा हो यथा विष्णु या उनके राम-कृष्णादि अवतार. ३ हनुमान।

गदावळवांन—सं०पु०—भीम (अ.मा.)

गदारा—एक प्रकार की तलवार।

गदाव—देखो 'गदा' (रू.भे.)

गदियौ—१ देखो 'गधौ' (अल्पा०) २ सूखे उपलों के ढ़ेर में पाया जाने वाला एक प्रकार का कीट।

३ एक प्रकार का प्राचीन सिक्का जो चांदी एवं तांवे के मिश्रण से वनता था। यह सिक्का पाँचवीं शताब्दी में प्रचलित था.

गदी—सं०पु० [सं०] १ रोगी। उ०—मग्गण वित्तद मरण, मरण सरणद सरणागत। सुणि सेवक स्रत सुपहु, गदी गदसमण जांणि गत।

—वं.भा.

स्त्री०—२ देखो 'गधौ' (स्त्री०)

गदीजणौ, गदीजवौ—क्रि०अ० [भाव वा०] इधर आना या जाना (तिर-स्कारसूचक संवोधन)

गदेड़ियौ—सं०पु०—१ कातने के चरखे में लगे हुए दो डंडों में से एक जिनमें तकुआ फँसा या लगा रहता है. २ देखो 'गधौ' (अल्पा०)

गदेड़ौ—(स्त्री० गदेड़ी) देखो 'गधौ' (अल्पा०) उ०—वंगाळै ए वोर, रसै ना मुरधर जेड़ा। खाटा वड़छ निकांम, गिटै ना सूर गदेड़ा।

—दसदेव

गदेलौ—वि०—गंदला, धुँधला, मटमैला।

सं०पु०—रूई या जूट आदि से भरा हुआ वहुत मोटा गद्दा।

गद्दरौ—देखो 'गदरौ' (रू.भे.)

गद्दा—देखो 'गदा' (रू.भे.) उ०—गुपत्ती कत्ती संगि गद्दा गुरज्जं, कसै आवधां त्रीसछे भुज्झ कज्जं।—वचनिका

गद्दी—१ देखो 'गादी' २ देखो 'गदी'। (रू.भे.)

गद्धौ—(स्त्री० गद्धी) देखो 'गधौ' (रू.भे.)

गद्य—सं०पु० [सं०] १ वह लेख जिसमें मात्रा और वर्ण की संख्या व उनके स्थान का कोई नियम न हो. २ वार्तिक काव्यों के दो भेदों में से एक जिसमें छंद और वृत्त का प्रतिवंध नहीं होता, वाकी रस अलंकार आदि सव गुण होते हैं।

गधफड़—देखो 'गदफड़' (रू.भे.)

गधाचीतरी—सं०स्त्री०—आकाश में वड़े-वड़े टुकड़ों के रूप में छितरे हुए वादल।

गधामस्ती—सं०स्त्री०—धक्कमधक्का, ऊधम, उत्पात, शरारत।

क्रि०प्र०—करणी, मांडणी।

गधियौ—सं०पु०—देखो 'गदियौ' (रू. भे.)

गधेड़िया, गधेड़ौ— (स्त्री गधेड़ी) देखो 'गधौ' (अल्पा०)

उ०—अपणौ जांण अभाग जव नहि खाय गधेड़ौ, सूकर भूंडी

अंकस्थ पुत्र हुवा होइ इसड़ा ही संभव रा विचार यी खटावै ।
—वं.भा.

६ प्रयत्न की सीमा, अंतिम उपाय. ७ चाल, चेष्टा, करनी. ८ ढंग, रीति । उ०—नर विवने वा न रहै, जग में आ रह जाय । कुळवंती सूं क्रीत री, उलटी गति इण भाय ।—बां.दा. ९ लीला, माया. १० जीवात्मा का एक शरीर से दूसरे शरीर में गमन. ११ मुक्ति, मोक्ष । उ०—ध्यांन समाधि नियत मतधारी, वणिक सुता गति दुलभ विचारी ।—वं.भा. १२ प्रकार, तरह.

उ०—हुइ हरख घणौ सिसुपाळ हालियौ, ग्रंथे गायौ जेणि गति ।
कुण जांणै संगि हुआ केतला, देस देस चा देसपति ।—वेलि.

१३ कुश्ती आदि के समय लड़ने वालों की चाल, पैंतरा. १४ ग्रहों की चाल । यह तीन प्रकार की मानी गई है—शीघ्र, मंद और उच्च. १५ ताल और स्वर के अनुसार अंग-संचालन. १६ सितार आदि बजाने में कुछ बोलों का क्रमवद्ध मिलान ।

यौ०—गतिकार ।

१७ संगीत में लय. १८ पांच की संख्या* (डि.को.)

क्रि०वि०—प्रकार, तरह । उ०—असुरै माया आसुरी, गरजै घण गति ।—रांमरासौ

गतिकार–वि०—संगीत में लय लेने वाला अथवा लय के अनुरूप चलने वाला । उ०—विधि पाठक सुक सारस रस, वंछक कोविद खंजरीट गतिकार । प्रगळभ लाग दाट पारेवा, विदुर वेस चकवाक विहार ।
—वेलि.

गतिवंत–सं०पु०—पैर, पग, चरण (ह.नां.)

गती—देखो 'गति' (रू.भे.)

गतू–वि०—पूर्ण, संपूर्ण ।

क्रि०वि०—पूर्ण रूप से ।

गत्त—१ देखो 'गत' (रू.भे.) उ०—१ जुध भागां थां मैं जिकौ, गढ़ तजियां नहिं गत्त । गढ़ नूं म्हैं वांध्यौ गळै, आवौ सो 'अभपत्त' ।
—बां.दा.

उ०—२ नाभि सुकोमळ कमळ मुख, डील सु सीतळ गत्त । तिणि कादमि खुच(द) विरही, मन मयगळ मयमत्त ।—ढो.मा.

[सं० गात्र] २ गात, शरीर ।

गत्ति, गत्ती—देखो 'गति' (रू.भे.) उ०—१ दीठौ तौही गत्ति न जांणां देव, अनंत तुहीणा कोटि अवेव ।—ह.र. उ०—२ गावत निगम अगम तव गत्ति, स्त्री करनी जय जयति सकत्ती ।—मे.म.

गत्तू—देखो 'गतू' (रू.भे.) उ०—अह प्रभु चौधरियां कुळ कवण उवारै, मत्तू अत्तू में गत्तू दे मारै ।—ऊ.का.

गत्तौ–सं०पु० [सं० ग्रंथ] १ कागज की कई परतों को सटा कर बनाई गई दफ्ती जो प्रायः जिल्द बांधने के काम आती है, कुट. २ किसी पुस्तक पर चढ़ाया जाने वाला आवरण ।

गत्र–सं०पु० [सं० गात्र] गात, शरीर, देह । उ०—बीजळियां गळ बादळां, मेहां माथे छत्र । कदी मिळूं उण सज्जणा, करी उघाड़ा गत्र ।—ढो.मा.

गत्वर–वि० [सं०] १ जाने वाला, गमनशील. २ नाशवान ।

उ०—सोढ़ी अधम गई सुणि सत्वर । गंजण खळ गिणियौ वपु गत्वर ।—वं.भा.

गथ–सं०पु० [सं० ग्रंथ, प्रा० गत्थ] १ पूंजी, जमा. २ माल.

३ देखो 'गाथा' । उ०—गढ़वा जे पढ़ वीज सची गथ, जनम तणा दुख सो जाळण ।—र.ज.प्र. ४ देखो 'गत' । उ०—रे मीत नचित हुवौ कप राजिद, याद हरी नह आवै । तोरौ वीर वीछंडे तीरां, थां गथ सो हिव थावै ।—र.रू.

गथियौ–सं०पु० [सं० गत] नपुंसक, नामर्द, हिजड़ा। उ०—गथिया आगै हेमाळै गळिया, सह भेळा हुय एक समै । पायौ जनम अथी सिर पाछौ, वां लीधौ अवतार हमें ।—कमरदांन लाळस

वि०—गया-बीता, निकम्मा ।

गथ्थ—देखो 'गथ' (रू.भे.) उ०—रघुनाथ समर्थ्य रखि यळ गथ्थ रिण संगी ।—र.ज.प्र.

गद–सं०पु०—१ विष (अ.मा.) २ पीड़ा, रोग, (अ.मा., डि.को.)

उ०—मग्गण वित्तद मरण मरण सरणद सरणागत । सुणि सेवक अत सुपह, गदी गद समण जांणि गत ।—वं भा.

३ श्रीकृष्ण का छोटा भाई. ४ रामचंद्रजी की सेना का एक बंदर सेनापति (रामकथा) ५ एक असुर का नाम. ६ कवि पंडित (अ.मा.)

गदकाळ–सं०पु०—दाड़िम (अ.मा.)

गदगद–वि० [सं० गद्गद] १ अत्यधिक हर्ष, प्रेम, श्रद्धा आदि के आवेग में निमग्न होने की स्थिति. २ अत्यधिक हर्ष, प्रेमादि के कारण रुका हुआ, अस्पष्ट या असंबद्ध । उ०—१ आणंद लखण रोमांचित आंसू, वाचत गदगद कंठ न वणै । कागळ करि दीधौ करुणाकरि, तिणि-तिणि हित ब्राह्मण तणै ।—वेलि. उ०—२ इतरौ कहतां तुरत दोनूं भाई गदगद कंठ होय सिलांम करण लागा, फिस पड़िया ।
पलक दरियाव री वात

३ प्रसन्न, आनंदित, पुलकित । उ०—ऊभी आंगणियै बोळूंड़ी आवै, गदगद मुरळी सूं ओळूंड़ी गावै ।—ऊ.का.

गदगदपण, गदगदपणौ–सं०पु०—गदगद होने का भाव ।

गदगदी–सं०स्त्री०—१ गुदगुदी, आह्लाद, उल्लास. २ हँसी, ठट्ठा.

३ एक प्रकार का रोग (अभरत)

गदचांम–सं०पु०यौ० [सं० गदचर्म] हाथी का एक रोग विशेष जिसमें उसकी पीठ पर घाव हो जाता है ।

गदपाळ–सं०स्त्री०—अनार, दाड़िम (अ.मा.) ।

गदफड़–सं०पु०—एक प्रकार का मांसाहारी पक्षी ।

वि०वि०—यह पक्षी गिद्ध से छोटा और चील से बड़ा होता है । यह सफेद रंग का होता है और इसकी चोंच पीली होती है । (रू.भे.-गदपड़)

गदवंधवचनिका–सं०स्त्री०—राजस्थानी साहित्य के अंतर्गत वह गद्य

गन्न, गन्नौ—सं०पु०—१ संबंध, रिश्ता। उ०—गोल काढ़णौ गन्न, भैंस ऊंठ मन भावणौ, घणी खावणौ धन्न।—अज्ञात
[रा०] २ गन्ना, ईख. ३ देखो 'गरणौ' (रू.भे.)

गन्यांन—देखो 'ग्यांन' (रू.भे.)

गप—सं०स्त्री० [सं० कल्प, प्रा० कप्प] १ इधर-उधर की बात जिसकी सत्यता का निश्चय न हो. २ केवल जी बहलाने के लिए की जाने वाली बात, बकवाद।
क्रि०प्र०—मारणी।
मुहा०—गप मारणी—व्यर्थ की बकवाद करना।
यौ०—गप्प-सप्प।
३ मिथ्या बात, कपोल-कल्पना।
क्रि०प्र०—धरणी, फेंकणी, मारणी।
मुहा०—गप मारणी या लड़ाणी—झूठ-मूठ की बात करना।
४ मिथ्या खबर, अफवाह।
क्रि०प्र०—उडणी, फैलणी।
मुहा०—गप उडाणी—अफवाह फैलाना। झूठा समाचार कहना।
५ बड़ाई, प्रकट के लिए की जाने वाली झूठी बात, डींग।
क्रि०प्र०—धरणी, मारणी।
[अनु०] ६ वह शब्द जो झट से निगलने, किसी नरम अथवा गीली वस्तु में घुसने, पड़ने या निकलने आदि से होता है। उ०—सो कुंवर सुंदरदास गप से तळाव सूं नीसर घोड़ा सगळा कोस लिया, मारिया पीटिया। उण रौ साथ सगळौ नसे में ही जे थौ सो घणी बुरी हालत हुई।—भाटी सुंदरदास बीकूंपुरिये री वारता
यौ०—गपागप, झटपट, जल्दी-जल्दी।

गपड़चौथ—सं०स्त्री०यौ०—१ गड़बड़. २ व्यर्थ की गोष्ठी, निष्प्रयोजन बातचीत।

गपसप—देखो 'गप' (२)

गपागप—क्रि०वि०—शीघ्र, जल्दी, झटपट।

गपियौ, गपिहौ, गपी—वि०—गप्प मारने वाला, गप्पी, मिथ्याभाषी।
उ०—करामात का बिन करतूती, गपी चलावै गोटा। रांम रांम कर रांड बिगाड़ै, प्रकट पाप का पोटा।—ऊ.का.
कहा०—गपियां रौ बादसाह है—उस व्यक्ति के प्रति जो गप्प मारने में दक्ष हो।

गपोड़—देखो 'गपोड़ौ' (रू.भे.)
वि०—देखो 'गपी' (रू.भे.)

गपोड़ेबाजी—सं०स्त्री०—गप्प लगाने का कार्य।

गपोड़ौ—सं०पु०—'गप' का महत्वबाची रूप, कोई बड़ी गप्प।
उ०—ग्यांन गपोड़ा अरु हरि कथा, कळि में घर घर होत। कर दीपक कूए पड़ै, नारायण बिन जोत।—संतवांणी

गप्प—देखो 'गप' (रू.भे.)

गप्पी—वि०—गप्प मारने वाला, मिथ्याभाषी।

गप्फौ—सं०पु० [अनु० 'गप'] १ खाने के लिए उठाया गया बहुत बड़ा ग्रास, बड़ा कौर. २ स्वादिष्ट भोजन खाने का भाव. ३ बढ़िया व स्वादिष्ट भोजन। उ०—खप्फा होवै खलक पर, डप्फा डांवाडोळ। नप्फा थारै है नहीं, गप्फा खावै गोल।—ऊ.का. ४ लाभ, फायदा।

गफलत, गफिलाई—सं०स्त्री० [अ० ग़फ़्लत] १ असावधानी, लापरवाही।
उ०—दुस्मन औरंगजेब सा, फिर गफलत ई भांत। अहड़ी बातां जोग नहि, परबंध राखौ तात।
—महाराजा जयसिंह आंमेर रा धणी री वारता
२ भूल, भ्रम। उ०—हे दरवेस मैं सुक्र करतौ थौ तींसूं थारै जवाब री गफलत हुई।—नी.प्र.

गफ्फूर—सं०पु० [अ० ग़फ़ूर] दया करने वाला, ईश्वर का एक विशेषण।
उ०—खाविंद चहत खुद खलक खैर, गफ्फूर गैर इंसाफ गैर।—ऊ.का.

गफ्फौ—देखो 'गप्फौ' (रू.भे.) उ०—आपां हणांई चोखौ गफ्फौ मारचौ है फेर लोभ करणसूं .....।—वरसगांठ

गवड़काणौ, गवड़काबौ, गवड़कावणौ, गवड़कावबौ—क्रि०स०—फटकारना, दुत्कारना।

गवड़काबियोड़ौ—भू०का०कृ०—फटकारा हुआ, दुत्कारा हुआ।

गवड़कौ—सं०पु०— व्यर्थ की बात, अनावश्यक बात।

गवन—सं०पु० [अ० ग़बन] व्यवहार में मालिक या किसी अन्य के सौंपे हुए माल को हड़प करना, दबाना, खयानत।

गवरू—वि० [फा० ख़बरू] १ उभड़ती जवानी का, तरुण. २ भोला-भाला, सीधा. ३ बेखबर।

गवागव—सं०पु०—गड़बड़, अव्यवस्था।
क्रि०वि०—देखो 'गपागप' (रू.भे.)

गवीड़ौ—सं०पु०—१ धोखा, हानि, नुकसान।
क्रि०प्र०—खाणौ, बरणौ, नांखणौ, मेलणौ।
२ चोट, प्रहार या प्रहार की ध्वनि. ३ असत्य खबर, अफवाह।

गवूरियौ—सं०पु०—फटा हुआ वस्त्र।

गवोड़ौ—देखो 'गवोळौ' (रू.भे.)

गवोळणौ, गवोळबौ—क्रि०स०—१ गड़बड़ी में डालना, घोटाले में डालना. २ गंदला करना।

गवोळियोड़ौ—भू०का०कृ०—१ गड़बड़ी में डाला हुआ. २ गंदला किया हुआ (स्त्री०—गवोळियोड़ी)

गवोळौ—सं०पु०—१ गड़बड़-घोटाला। उ०—लाख पचासां लूटिया, रोकड़ धन रोळै। 'मोटल' सिरखा मारिया, गढ़ लीध गवोळै।
क्रि०प्र०—काडणौ, घालणौ, पहुंचाणौ, मिटाणौ, मेलणौ।
२ डुबकी। —वी.मा.

गव्व—सं०पु० [सं० गर्व] १ अभिमान, गर्व। उ०—बडौ दळ जीतौ आउब बाहि, मरुध्धर गव्व कियौ मन मांहि।—रा.ज. रासौ
२ देखो 'गप' ६ (रू.भे.) उ०—कांई सभा-धभा हुवै जणै गव्व देणी जाय'र सभापति बण जावणौ। अखबार में तौ नांव आय जावै।
—वरसगांठ

समझ निपट निकळै नहिं नेड़ौ ।—ऊ.का.

गधौ—सं०पु० [सं० गर्दभ, प्रा० गद्दह] (स्त्री० गधी) १ घोड़े के आकार का किन्तु उससे कुछ छोटा एक प्रसिद्ध चौपाया जो प्राय: मटमैले रंग का और दो हाथ ऊंचा होता है। इसके कान लंबे होते हैं और खड़े रहते हैं। यह जानवर बोझा ढोने में मजबूत होता है। मूर्ख मनुष्यों को प्राय: इसकी ही उपाधि दी जाती है।

पर्याय०—अंबापोहण, करणलंब, खंर, खुरदम, खुरप, गरदभ, चक्रिवा, चिरमेही, भारवहण, भूंकण, रासभ, रासिवि, रोड़ीराव, लंबकरण, लादणभार, वालेय, संकूकरण, संखसव्दी, सीतळपुहण, सीतळावाहण।

मुहा०—१ गधा माथै कितावां लादणी—मूर्ख को पुस्तकें देना, निरे गंवार को पढाना. २ गधा माथै चढ़ाणौ—खूब वदनाम करना. ३ गधा माथै भूल डालणी—कुरूप को कीमती तथा सुन्दर वस्त्र पहनाना. ४ गधा नै गजगाव—देखो—गधा माथै भूल डाळणी. ५ गधौ होणौ—विना अक्ल का या मूर्ख होना।

कहा०—१ गदेड़ा री गूणती में ६ मण को वांदौ नी—गधे पर लादे गये माल में ६ मन का अंतर नहीं हो सकता। अर्थात् थोड़ी वस्तु में वड़ा अंतर नहीं चलता. २ गधां रै किसा सींग होवै ?—गधों के कौनसे सींग होते हैं अर्थात् मूर्खों की कोई खास पहिचान नहीं होती. ३ गधै नैं मारचां सूं घोड़ौ को हुवै नी—गधे को मारने से घोड़ा नहीं हो सकता अर्थात् मूर्ख मारने से नहीं सुधर सकता. ४ गधै ने लाख सावण सूं धोवौ घोडौ को हुवै नी—गधे को साबुन से कितना ही धोइये वह घोड़ा नहीं हो सकता। मूर्ख को ज्ञान देना वेकार है. ५ गधै री लात सूं गधौ को मरै नी—गधे की लात से गधा नहीं मरता; समान शक्ति वाले आदमी परस्पर एक दूसरे को अधिक हानि नहीं पहुंचा सकते. ६ गधै रै तो जीव री पड़ी है नै स्याळियै ने हुकी हाले—गधा तो संकट में फँसा है और सियार का बोलने का मन करता है—कथा-प्रसंग—गधा और सियार एक खेत में चरने गये। पेट भरते ही सियार का मन वोलने को हुआ। गधे ने लाख समझाया कि मैं अभी भूखा हूँ और तुम्हारी आवाज को सुन कर खेत का मालिक आ जायगा। किन्तु सियार न माना और वह बोलने लगा। खेत के मालिक ने गधे की अच्छी पिटाई की। दुर्जनों के स्वभाव के कारण उनके साथ वाले व्यक्ति को भी कष्ट भुगतना पड़ता है. ७ गधौ ऊकरड़ी माथै लोटण सूं राजी—गधा घूरे पर लोटने से ही खुश होता है; गंदा व्यक्ति गंदगी में ही खुश रहता है. ८ गधौ जांणै सांवण सदा ही सुरंगौ रहसी—गधा समझता है कि सावन सदा ही हरा-भरा रहेगा; सब समय सदा एक सा नहीं रहता। उसे सदा एक सा समझना मूर्खों का काम है. ९ गधौ मिसरीसार कांई जांणै—गधा मिश्री के सार या स्वाद को क्या समझे ? मूर्ख या अज्ञानी अच्छी वस्तु की कद्र नहीं कर सकता. १० गधौ तौ कूदेई नहीं नै आथरिया पैलाई कूदै—गधा तो उछलता नहीं किन्तु उसके ऊपर रक्खी गद्दी पहले ही उछलने लगती है। वह अफसर (या व्यक्ति जिस पर सब उत्तरदायित्व है) तो कुछ कहता ही नहीं किन्तु उसके साथ के छुटपुटे आदमी या अधीनस्थ कार्यकर्ता व्यर्थ ही डांटने लगते हैं। संबंधित व्यक्तियों की उपस्थिति में असंबंधित व्यक्तियों का कुछ कहना-सुनना. ११ गधेड़ै री मांस राख में धोयां विनां को सीजै नी—गधे का मांस राख से धोये विना सीझता नहीं। सजा पाने के आदी विना सजा पाये मार्ग पर नहीं आते। (मि०—लातां रा भूत वातां सूं को मानै नी) १२ गधै नैं कांई ठा गंगाजळ कैड़ौ व्है है—गधा गंगाजल का स्वाद क्या जाने। देखो कहावत नं० ९। १३ गधै री पूछ पकड़णी—विना सोचे-समझे किसी वात का व्यर्थ हठ करना. १४ विजळी तौ आसमांन में खिवै नी गधौ जमी माथै लातां वावै—आकाश में विजली चमकती है और गधा चौंक कर आकाश की ओर दुलत्ती झाड़ता है। असंबंधित कारण से जब कोई भय खाता है, उसके प्रति। स्वार्थ में क्षति पहुँचने की संभावना से अकारण ही भय खाने पर। मूर्खतापूर्ण कार्य करने के वाद।

(रू०भे०—गदहौ, गदौ, गद्धौ)

यौ०—गदहपचीसी, गधामस्ती।

अल्पा०—गदहड़ौ, गदियौ, गदेड़ियौ, गदेड़ौ, गधियौ, गधेड़ियौ, गधेड़ौ

मह०—गदेड, गधेड।

गनका—देखो 'गणिका' (रू.भे.)

गनगौर—देखो 'गणगौर' (रू.भे.)

गनायत—देखो 'गिनायत' (रू.भे.) उ०—भेळपदार गनायत भाई, सभै देख पलटै सगळा ई।—देवी री गीत

गनिका—देखो 'गणिका' (रू.भे.)

गनीम—सं०पु० [अ०] १ शत्रु, वैरी। उ०—मैं तौ जे कुछ वदखवर सुणूंगा, उस दिन कोई गनीम होसी तौ उण सूं कजियौ कर कांम आऊंला।—पदमसिंह री वात २ लुटेरा, डाकू। उ०—लुंडा मुलक रा मेळा हुइ गया, सो एक तौ मुगल इसावेग और एक पठांण खुसेखां सो दोनूं मुलक नूं लूटै। टका करै। गनीम हुवा फिरै। वादसाह कस्मीर में रहै। ऐ हिंदुस्थांन मे रहै वडी धूम मांडी।

—गौड़ गोपाळदास री वारता

गनीमत—सं०स्त्री० [अ० ग़नीमत] १ युद्ध में शत्रु की सेना से छीना हुआ माल. २ लूटा हुआ माल, लूट का माल. ३ संतोष की वात, धन्य मानने की वात।

वि०—उत्तम, अच्छा। उ०— समय नूं गनीमत जांणणौ, चित्त नूं सुख देणौ वादसाहां नूं योग्य नहीं छै।—नी.प्र

गनीमांण—देखो 'गनीम' (रू.भे.) उ०—क्रोधवाळै रूप गनीमांण रौ विधूम कीधौ, जोध वाळै वीरभद्र दक्ष जाग जोम।

—वदरीदान खिड़ियौ

गनीस—देखो 'गणेस' (रू.भे.) उ०—ईस दनीस गनीस गिर, सीस धराधर सेस। राज करहु जैसे रिधू, माधवसिंह नरेस।—वि.वं

उ०—२ गाहा गीत विनोद रस, सगुणां दीह लियंति। कइ निद्रा कइ कळह करि, मूरिख दीह गमंति।—ढो.मा.

७ नाश करना, विध्वंश करना। उ०—१ देवी गाजता दैत ता वंस गमिया। देवी नवे खंड त्रिभुवन तूझ नमिया।—देवि.

उ०—२ मेघाडंबर छतर धर मसतक, ग्रहि लग गमै खळां चा मूळ। जळहर गरज करै जोधपुरी, सत्र ग्राफळै मरै सादूळ।
—देवराज रतनू

[सं० संगमन] ८ फबना, ग्रच्छा लगना। उ०—खातां न गमै खांग पांणी न गमै पीवतां। सयणां विण समसांण, जग सगळो दीसै 'जसा'।—जसराज

गमणहार, हारो (हारी), गमणियो—वि०।

गमाड़णौ, गमाड़वौ, गमाणौ, गमावौ, गमावणौ, गमाववौ—क्रि०स०, रू०भे०।

गमिग्रोड़ौ, गमियोड़ौ, गम्योड़ौ—भू०का०कृ०।

गमीजणौ, गमीजवौ—कर्म वा०, भाव वा०।

गमत—देखो 'गम्मत' (रू.भे.)

गमन—सं०पु० [सं०] १ जाना, प्रस्थान, रवानगी. २ चलना, यात्रा करना. ३ किसी वस्तु के क्रमशः एक स्थान से दूसरे स्थान को प्राप्त होने का कर्म। यह वैशेषिक दर्शन के ग्रनुसार पाँच प्रकार के कर्मो में से एक माना जाता है. ४ संभोग, मैथुन. ५ राह, रास्ता. ६ पैर (ह.नां.) ७ नाश। उ०—रोग को भवन ज्यूं कुजोग को समन जांणे, दया को दमन ग्रो गमन गरुवाई को।—ऊ.का.

गमन्ना—सं०स्त्री०—भाटी वंश की एक शाखा जो ग्रब मुसल्मान हो गई है।

गमयोड़ौ—वि०—१ खोया हुग्रा, गुमा हुग्रा. २ नष्ट, ध्वस्त। (स्त्री० गमयोड़ी)

गमर—सं०पु० [सं० गज, प्रा० गय, ग्रप० गवर] हाथी (डि.को.)

गमलौ—सं०पु० [सं० ग = विनोद + लौ = लाने वाला] नाँद के ग्राकार का मिट्टी या धातु ग्रादि का बना हुग्रा एक प्रकार का पात्र जिसमें फूलों के पेड़ ग्रौर पौधे लगाए जाते हैं।

गमांगमां—क्रि०वि०—चारों ग्रोर। उ०—गहि चाढ़े मंडोवर जंगळ, सांकड़ियां भ्रिळियां दळ सव्वळ। समहर कुळ लज्या पै संकळ, गमांगमां वींटांणौ गोकळ।
—राठौड़ गोकुळ (सुजांनसिंहोत, ईसरोत) रौ गीत

गमा—सं०स्त्री—दिशा।

गमागम—क्रि०वि०—१ यत्र-तत्र, जहां-तहां। उ०—वणिया टूंक गमागम वंका, जळहर वरसै जुग्रा जुग्रो। तिण वेळा लागै ग्रावंतर, हरियै वन गरकाव हुग्रौ।—नवलजी लाळस २ निरंतर, लगातार। उ०—कमंध ग्रखै ललकार, मुगळ उर वार गमागम। मार मार ऊचार, धार हर नांम सांमध्रम।—रा.रू. ३ एक साथ. ४ चारों ग्रोर। उ०—छत्रपती तुंग गमागम छूटा। ति करि गयण सूं नाखत्र तूटा।—रा.रू.

सं०स्त्री०—१ ग्राना-जाना, ग्रावागमन. २ रहस्य, भेद।

गमाड़णौ, गमाड़वौ, गमाणौ, गमावौ—क्रि०स०—१ 'गमणौ' का स०रू० उ०—१ ग्रांखड़ियां डंवर हुई, नयण गमाया रोय। से साजण परदेस मइं, रह्या विडांणा होय।—ढो.मा. उ०—२ तरै ग्रासकरण भूठो हुवौ। तरै मूळराज रतनसी जांणियौ—ग्रौ मांहरौ दुसमण थौ सु म्हांरौ भलौ चाकर गमायौ। तिण थी इणां ठाकुरां रै माहोमांहै ग्रसुख घणौ वधियौ।—नैणसी

२ नाश करना। उ०—इण साक्षात सती रूपी धण रा कपड़ा रंगत ग्रा सत करण नै पोसाक मंगावसी जद म्हांरा दाळद्र गमाय देसी सो इण ने जीवतै रांड करदी कायर।—वी.स.टी.

गमाड़णहार, हारौ (हारी), गमाड़णियौ—वि०।

गमाणहार, हारौ (हारी), गमाणियौ—वि०।

गमाईजणौ, गमाईजवौ—कर्म वा०।

गमायोड़ौ—भू०का०कृ०।

गमणौ, गमबौ—ग्रक रू०।

गमायोड़ौ—भू०का०कृ०—१ गुमाया हुग्रा, खोया हुग्रा. २ नाश किया हुग्रा, नष्ट।

गमार—देखो 'गंमार' (रू.भे.) उ०—१ घर नीली धण पुंडरी, घरि गहगहइ गमार। मारू देस सुहामणउ, सांवणि सांझी वार।
—ढो:मा.

उ०—२ वदै 'जसौ' जिण वार, कंवर ग्रग्गळ जोड़े कर। मीणा ग्रधम गमार, घणै छक ग्रनड़ रहे घर।—वं.भा.

गमावणौ, गमाववौ—देखो 'गमाणौ' (रू.भे.) उ०—स्याळ मत ग्रावै ज्यूं सांप्रत, गांव तरफ गड़वड़िया है। हया गमावण इण हवाल में, ऊमर सूं ग्रब ग्रड़िया है।—ऊ.का.

गमावणहार, हारौ (हारी), गमावणियौ—वि०।

गमाड़णौ, गमाड़वौ, गमाणौ, गमावौ—रू०भे०।

गमाविग्रोड़ौ, गमावियोड़ौ, गमाव्योड़ौ—भू०का०कृ०।

गमावीजणौ, गमावीजवौ—कर्म वा०।

गमणौ, गमबौ—ग्रक रू०।

गमावियोड़ौ—भू०का०कृ०—१ गँवाया हुग्रा, खोया हुग्रा. २ नष्ट किया हुग्रा, मिटाया हुग्रा। (स्त्री० गमावियोड़ी)

गमियोड़ौ—भू०का०कृ०—१ गमा हुग्रा, खोया हुग्रा. २ नष्ट, ध्वस्त। (स्त्री० गमियोड़ी)

गमी—सं०स्त्री० [ग्र० गम + ई] गम से संबंधित, मृत्यु, मौत. २ शोकावस्था।

गम्य—देखो 'गम्य' (रू.भे.)

गमे—क्रि०वि०—तरफ, ग्रोर। उ०—'गोकळ' हेक गमेह, हेक गमे हिंदू ग्रवर। सत तोलियौ सत्रेह, भार कहिक भौ 'भांणवत'।
गोकळदास सक्तावत रौ दूहौ

ग्रव्यय—ग्रथवा, या।

गव्वू–वि०—१ भोला, नासमझ, दव्वू ।
गव्भ–सं०पु०—१ देखो 'गव्व' (रू.भे.)
[सं० गर्भ] २ देखो 'गरभ' (रू.भे.) उ०—१ प्रामारी पति मरत, कियौ सहगोन रीत करि। बुल्ली पावक विसत, रही जद्दोनि गव्भ धरि।—वं.भा. उ०—२ गनीम गड्ढ गव्वतीय गव्भ कौ गमावनी।
—ऊ.का.
गव्भूती–सं०स्त्री०—दूरी का एक माप जो चार मील के बराबर माना जाता था।
गव्भौ, गभौ–सं०पु०—१ वस्त्र, कपड़ा (रू.भे.–गावो)
२ गाय का छोटा बछड़ा (स्त्री०—गव्भी, गभी)
गम–सं०पु० [सं० गम्य] १ प्रवेश, पहुँच, पैठ. २ अक्ल, बुद्धि, समझ, विचारशक्ति। उ०—१ गम राखौ मालकां! थे कांई छोरां सूं छोराई करौ हो। थे तौ दांना हौ।—वरसगांठ उ०—२ असल सूं नकल मीठी असल, गुरगम हीणां गम नहीं। अमलियां हूंत देखौ अपत, हूका वाळा कम नहीं।—ऊ.का.
क्रि०प्र०—राखणी, लेणी, होणी।
३ पता, इल्म, ज्ञान। उ०—१ निस दिन जनमाठम आठम गम नांही। माधव जनम्यौ कै मरियौ जग मांही।—ऊ.का.
उ०—२ सो सगळा लोग कमर बांध आवौ, मांणस च्यार रा पेट में बात, बीजै सगळां नूं गम नहीं।—ठाकुर जैतसिंह री वारता
क्रि०प्र०—करणी, पड़णी, होणी।
[सं० गमन] ४ गमन, प्रस्थान। उ०—गढ़ अजमेरा गम करउ, चउरी वइसी पखाळज्यौ पाव।—वी.दे.
क्रि०प्र०—करणी।
[अ० ग़म] ५ दुख, शोक, रंज।
क्रि०प्र०—आणी, करणी, होणी।
यौ०—गमगीन, गमगलत।
६ सहन करने का भाव, क्षमाशीलता, क्षमा। उ०—इयां गम मोकळी ही पण कणई-कणई तौ छेड़ते ही कपड़ां सूं वारै आय जातौ।—वरसगांठ
क्रि०प्र०—करणी, खाणी, राखणी।
मुहा०—गम खाणौ—क्षमा करना, सब्र करना, संतोष करना, कुछ देर सब्र से प्रतीक्षा करना, ठहरना।
यौ०—गमखोर, गमखोरी।
[रा०] ७ खवर, सूचना। उ०—रिम दौड़ियौ दिवस तिण रतियां, मोहर खवर पूगी मेड़तियां। ऊदां तणै तुरत गम आई, भेळा थया पीहर में भाई।—रा.रू.
क्रि०प्र०—आणी, करणी, भेजणी।
[सं० गम्य] ८ जानने योग्य बात। उ०—पिंगळराय कहइ तिणि वार, कांई वळी अपूरव सार। दीठी हुइ सा मुझ नइ दाखि, गम गोवर मन मांहि म राखि।—ढो.मा.
क्रि०वि०—वार, दफा। उ०—एकइ गमइ ऊतरीउ 'सांतळ,' घणु मेळावउ लेय। बीजइ गमइ कटकि जइ विलगु, राउळ कान्हड़देअ।
—कां.दे.प्र.
गमक–सं०पु० [सं०] १ संगीत में एक श्रुति या स्वर पर से दूसरी श्रुति पर या स्वर पर जाने की एक प्रणाली. २ तबले की गंभीर आवाज. ३ आनंद, मौज. ४ पांच मात्रा का मात्रिक छंद विशेष (र.ज.प्र.) ५ स्वर का कंपन।
गमखोर–वि० [अ० गम+फा० खोर] सहिष्णु, सहनशील।
गमखोरी–सं०स्त्री० [अ० गम+फा० खोर+रा० प्र० ई] सहिष्णुता, सहनशीलता, सहन करने की क्षमता।
गमगलत–सं०पु० [अ० ग़मग़लत] शोक या चिंता दूर करने या भुलाने का भाव।
गमगीन–वि० [अ० ग़म+फा० गीं] दुखी, खिन्न, उदास, गम में लीन।
गमछी–सं०स्त्री०—घोड़े की जीन के साथ रकाब से कसी जाने वाली चमड़े की रस्सी।
गमछौ–सं०पु०—शरीर को पोंछने का वस्त्र विशेष, तौलिया।
उ०—मास्टरजी गमछै सू पसीनौ पूंछतां-पूंछतां वारी माय सूं वारै देखियौ। किणी कयौ—थोड़ी म्हांरी-ई सुणौ, वापजी!
—वरसगांठ
गमण—१ देखो 'गमन'। उ०—१ नायक रै विदेस गमण आपरी अंगना रै समांन राजपुत्रियां भी कुळ रा धरम रै अनुसार पावक रा प्रवेस विनां ही उण ही विदेस में वसण री चाह लागी।—वं.भा.
उ०—२ और पर स्त्री गमण आदि कळंकां सूं पूरित है।—वी.स.
२ नाश करने वाला, संहारक, विध्वंशक। उ०—सुतण दसरत्थयं सुकर संख सारंगमं, अनंत अणभंगयं, गमण दैत स्रीरंगमं।—पि.प्र.
गमणौ, गमबौ–क्रि०अ० [फा० गुम] १ खोना, भूल जाना।
उ०—वोलंति मुहुरमुह विरह गमै वे, तिसी सुकळ निसि सरद तणी। हंसणी ते न पास देखै हंम, हंस न देखै हंसणी।—वेलि.
२ खोना, गायव होना।
कहा०—गमै तोई गांम रां नै लादजो—अगर कोई वस्तु खो भी जाय तो किसी साथी को ही मिले तो अच्छा।
३ नाश होना। उ०—जिण महाभक्त री अंग संग होतां ही आपरी कोढ गमियौ जांणि मीतण राठोड़ सू दसमां साळिग्रांम इसड़ौ विरुद दियौ।—वं.भा.
कहा०—गमियेड़ी खेती नै कमायोड़ी चाकरी बरावर—बिगड़ी हुई खेती और सुधरी हुई नौकरी दोनों बराबर हैं। नौकरी की निंदा एवं कृषि की प्रशंसा।
[सं० गमन] ४ चलना, गमन करना।
क्रि०स० [फा० गुम] ५ खोना गायव करना. ६ खोना, व्यर्थ में बिताना। उ०—१ नट गंगा तपियौ नहीं, नह जपियौ नरसीह। जटतै आरण घमण जिम, दम गंमिया वहु दीह।—वां.दा.

उ०—गयदंतो पाडा खुरी, एकरण मल्ल अबीह। जिण वन कवळी संचरै, तिण वन फेरै सीह।—डाढ़ाळा सूर री वात

गयनाळ—सं०स्त्री०यौ० [सं गज+नाल] एक प्रकार की भारी तोप जिसे हाथी खींचते थे, गजनाल।

गयन्न—सं०पु० [सं० गगन] गगन, आकाश। उ०—जांमिनी सत्र जंगमां जत्ति, गोए गयन्न सासत्त गत्ति।—रा.ज.सी.

गयराज—देखो 'गजराज' (रू.भे.) उ०—गयराजां गुड़ ग्रहण, रहण पाखर हयराजां। पाजां छळि दळ प्रघळ, सघण वरसाळ समाजां।
—वं.भा

गयला—सं०स्त्री०—चौहान वंश की एक शाखा (वं.भा.)

गयलौ—सं०पु०—चौहान वंश की गयला शाखा का व्यक्ति।
वि०—पागल।

गयवर—सं०पु०यौ० [सं० गजवर] हाथी। उ०—उरि गयवर नइ पग भमर, हालंती गय हंभ। मारू पारेवाह ज्यूं, अंखी रत्ता भंभ।
—ढो.मा.

गयसिर—सं०पु० [सं० गयशिर] १ आकाश. २ गया के पास का एक पर्वत (पौराणिक) ३ गया तीर्थ।

गया—सं०पु० [सं०] विहार या मगध देश का एक प्राचीन पुण्य-स्थान यह तीर्थ स्थान श्राद्ध और पिंडदान आदि करने के लिए बहुत प्रसिद्ध है और हिन्दुओं का विश्वास है कि विना वहां जाकर पिंडदान किये पितरों का मोक्ष नहीं होता है।

गयोड़ौ—भू०का०कृ०—क्रिया 'जाणौ' का भू०का०कृ०। उ०—पूरणमल जायौ सो गयोड़ौ भोमि ल्यायौ।—शि.वं.
(स्त्री० गयोड़ी)

गयोवीतौ, गयोवीतौ—वि०—गया-वीता, गया-गुजरा, निकम्मा।

गरंद, गरंद्र—सं०पु० [सं० गिरि+इंद्र] १ पर्वत। उ०—चित सुध 'अभौ' पयंपै 'चिमनौ', ऊपर खड़ आया अरंद। खोसै धन मगरा वळ खावौ, गळै जको वावौ गरंद।—जादूरांम आढ़ौ
२ हिमालय पर्वत. ३ सुमेरु पर्वत।

गर—सं०पु० [सं०] १ विष, जहर (डि.को.) २ वत्सनाभ.
३ ग्यारह करणों में से पाँचवाँ करण (ज्योतिष)
[सं० गिरि] ४ गिरि, पर्वत, पहाड़। उ०—डाकर कर फरंग फरै गर दोळा, जे खग ठाकर केम झलै।—जादूरांम आढ़ौ
[सं० गृह] ५ घर, गृह। उ०—तारै ढोलेजी कह्यौ, थे तौ गरै पधारौ। म्हे तौ मारवणी लारै जीवत काठ लेसां।—ढो.मा.
प्रत्यय० [फा०] बनाने या करने वाले के अर्थ में यह प्रायः शब्द के अंत में प्रयुक्त होता है—यथा बाजीगर, कारीगर।

गरक—वि० [अ० गर्क] १ डूबा हुआ, निमग्न। उ०—१ सगळी साथ अमराव कुंवर रा हजूरी अमलां गरक रहै, ऊगियें आंवे रौ खबर ही नी पड़ै।—कुंवरसी सांखले री वारता उ०—२ वा ठोड़ मंगळीकाधळ कहावै छै। तठै द्रम छै। सु भोमियौ होय सु डांडी आवै। असैंधौ डांडी टळै सु घोड़ी असवार गरक हु जाय। अभूमियौ डांडी सूं टळै सु मरै।—नैणसी २ किसी कार्य आदि में लीन, लग्न। उ०—सो घणा दिनां सूं कांम भोग री वासना में थौ सो आय महलां मांही गरक हुवौ।—नापे सांखले री वारता
३ परिपूर्ण, लदा हुआ। उ०—१ भला पधारौ भीचड़ा, गरक सिलह में गात। केहर वाळा कळह री, वळता कीजो वात।—वां.दा. उ०—२ गरक घणै जळ गूरड़ा, ले तन सूं लपटाय। अत्थ वत्थ भर काढ़जै, मंदिर जळते मांय।—बां.दा. ४ नष्ट, नाश, वरवाद, तबाह। उ०—इतरै में डावी अणी दक्षिणी आय लूटिया तद जोधौ सुखरूप अभयराजोत मुजरौ कर भेळिया सो गरक हुवा।
—मारवाड़ रा अमरावां री वारता
क्रि०प्र०—करणौ, होणौ।
५ गहरा, घना। उ०—हुवै प्रफुल्लत गात हद, सांभळ वात सकोय। गरक घटा उमड़ी गरज, हरख सिखंडी होय।—रा.रू.

गरकाव, गरकाव—देखो 'गरक' (रू.भे.) उ०—१ तिका काळी, डीगी, मोटा दांत, दूबळी, घणी डरावणी, माथा रा लटा विखरिया, घणा तेल मांहे चवती, धवळा केस, माथै निलाड़ सिंदूर थेथड़ियौ थकी, लोवड़ी काळी, काळौ बाव्ळी, कांचळी तेल मांहे गरकाव थकी, उघाड़ौ माथौ कीधां, हाथ मांहे त्रिसूळ झालियां दरबार आई।
—जगदेव पंवार री वात
उ०—२ आइस्यै जाइ साथि सु चढ़ि चढ़ि आया, तुरी लाग ले ताकि तिम। सिलह मांहि गरकाव संपेखी, जोध मुकुर प्रतिबिम्ब जिम।—वेलि.
उ०—३ खाट खड़ ढालड़ां टूक ऊछळ खळां, वाज गरकाव कीधा समर बांधळां।—चांदावत राठौड़ उदयसिंह, नरसिंह और लखधीर री गीत (रू०भे०—गरगाव, गरगाव)

गरकी—सं०स्त्री० [अ० गर्की] १ डूबने या निमज्जित होने की क्रिया या भाव. २ पानी अधिक बरसने से बाढ़ के पानी का फैल जाना। (मि०—गरक)

गरक्क—देखो 'गरक' (रू.भे.) उ०- -जोग पंथ संकर तजै, व्है गिर मेर गरक्क। करनी ऊपर नह करै, ऊं केम अरक्क।
—चौथ वारहठ

गरग—सं०पु० [सं० गर्ग] १ एक वैदिक ऋषि. २ संगीत में एक ताल।

गरगज—सं०पु० [रा० गढ़+सं० गर्जन] १ किले की दीवारों पर बनी हुई बुर्ज जिस पर तोपें रहती हैं. २ वह ऊँचा कृत्रिम ढूहा या टीला जिस पर युद्ध की सामग्री रक्खी जाती है और जहाँ से शत्रु-सेना का पता चलाया जाता है. [सं० गल+गर्ज] ३ वह तख्ता जिस पर फाँसी देने के समय अपराधी को खड़ा करके उसके गले में फँदा लगाते हैं। टिकटी।

गरगाव, गरगाव—देखो 'गरक'। उ०—तिका कटारी किसीएक छै

गमेगमण—सं०स्त्री०—सुरनदी, गंगा (ह नां)

गमेगमे—क्रि०वि०—१ चारों ओर। उ०—गमेगमे मारेवा लागा, मलिका सवे विच कीधा। अंगोअंगि विहुं दळि सांम्हा, मलिकि ऊथळा दीधा।—कां.दे.प्र.

२ इधर-उधर। उ०—पदमिणि रखपाळ पाइदळ पाइक, हिळवळिया हलिया हसति। गमेगमे मदगळित गुड़ंता गाव, गिरोवर नाग गति। —वेलि.

गमेताई—सं०स्त्री०—गाँव के मुखिया का कार्य।

कहा०—घेर नो खूंणौ तौ छोड़े ही नी नै गांम में गमेताई करै—घर का कोना तो छोड़ता ही नहीं और गाँव में मुखिया का कार्य करने चला है। एक ही स्थान पर बैठ कर जो केवल बातें करता है उसके प्रति।

गमेती—सं०पु०—१ ग्रामीण. २ गाँव का मुखिया।

कहा०—गमेती ने हाथ में कात. नी आवै रळी गांव नी बात—गाँव का मुखिया है और पास में शक्ति है परन्तु जानता साधारण बात भी नहीं है। अयोग्य मुखिया या नायक के प्रति।

गमोगम—देखो 'गमागम' (रू.भे.) उ०—इम स्वास दमोदम दुःख हमोहम रांम रमोरम जांण सवे, ग्रह-ग्राह गमोगम जीव भमोभम एक तमोतम ओर नवे।—करुणासागर

गम्मत—सं०स्त्री० [मराठी] १ हँसी, दिल्लगी. २ मौज, आनन्द, बहार।

गम्य—वि० [सं०] १ जाने योग्य, गमन योग्य. २ सहज, सरल।

उ०—दसा विसम्य संम्य हा अगम्य गम्य है नहीं।—ऊ.का.

३ संभोग करने योग्य, मैथुन करने योग्य। उ०—स्वीय कुमार सारंग की, धात्रेयी भगिनी सु दौड़ि गही, नृप देखत हि, गम्य नहीं न गिनी सु।—वं.भा. ४ साध्य।

गम्योड़ौ—देखो 'गमियोड़ौ' (रू.भे.) (स्त्री० गम्योड़ी)

गयंद—सं०पु० [सं० गजेन्द्र, प्रा० गयिंद, गइंद] १ हाथी (डिं.को.)

२ एक प्रकार का घोड़ा (शा.हो.)

गयंदगुमांन—सं०पु०—एक प्रकार का घोड़ा (शा.हो)

गयंदौ—देखो 'गयंद' १ (रू.भे.) उ०—गाजै द्वारि गयंदौ गाजै, नीसांण जैत सिर बाजा।—वचनिका

गय—सं०पु० [स० गगन] १ आकाश, गगन. [सं० गज] २ हाथी।

उ०—१ इण विध नबाव गय चढ़ प्रयांण। गज घड़ा अग्र चालै घुमांण।—शि.सु.रू. उ०—२ राजति अति एण पदाति कुंज रथ, हंस माळ बंधि लास हय। ढालि खजूरि पूठि ढळकावै, गिरवर सिणगारिया गय।—वेलि. [रा०] ३ ऊँट (अ.मा.)

उ०—लांबी कांब चटक्कड़ा, गय लंबावइ जाळ। ढोलउ अजे न वाहुड़इ, प्रीतम मो मन साल।—ढो.मा.

सं०स्त्री० [सं० गति] ४ गति, चाल। उ०—खंजर नेत विसाळ गय, चाही लागइ चल्ख। एकण साटइ मारुवी, देह ऐराकी लख्ख। —ढो.मा

गयगमणि, गयगमणी, गयगयणी—देखो 'गजगमणी (रू.भे.)

उ०—१ लाज लोह लंगरे लगाए, गय जिम आंणि गयगमणी। —वेलि.

उ०—२ मारवणी सिणगार करि, मंदिर कूं भल्हपंति। सखी सुरंग साथ करि, गयगयणी गय गंति।—ढो.मा.

गयणंग, गयणंगणि—सं०पु० [सं० गगन] आकाश, नभ। उ०—१ उड रहियौ मन लाग उळंगे, गड्डी जांण भ्रमै गयणंगे।—रा.रू.

उ०—२ वीर हाक वाजि गयणंगणि, सींगणी ना गुण गाजइ। —कां.दे.प्र.

गयण—सं०पु० [सं० गगन] १ आकाश, गगन, व्योम।

उ०—१ कुसळावत बीठळ रण कोडे, ऊभौ गयण भुजाडंड ओडे। —रा.रू.

उ०—२ पंखी कवण गयण लगि पहुंचै, कवण रंक करि मेरु करै। —वेलि.

यौ०—गयणमणि।

२ हाथी।

गयणग—देखो 'गयण' १ (रू.भे.) उ०—अतरै गरदां ऊपड़ी, चडी पुणां गयणग। आया भड़ 'अजमाल' रा, कर तोलता खड़ग्ग। —रा.रू.

गयणमण, गयणमणि, गयणमिण, गयणमिणि, गयणमिणी—सं०पु०यौ० [सं० गगन+मणि] सूर्य, भानु (ह.नां., नां.मा.)

उ०—जोधपुर धणी सूं गयणमण रीझियौ, देख रण बखत फतै करण दीधौ।—सुभरांम बारहठ उ०—२ केवी मुहर पूठि सुर कांमणि, जडाधार पासे नभ जोगिणि। मोह्या सुर अंतरीख गयणमिणि, राडजादौ सोहियौ महारिणि।

—राठौड़ गोकुळ (सुजांनसिहोत, ईसरोत) रौ गीत

गयणांग, गयणांगण, गयणाग, गयणि—सं०पु० [सं० गगन] गगन, आकाश। उ०—१ लागै मो इकवाल सूं, नीसरणी गयणाग। इण गढ़ क्यूं नहि लागसी, खिविया मो कर खाग।—बां.दा.

उ०—२ गाढ़ी गयणांगण रज ले गरणाटा। सांवण सूकौ गौ देतौ सरणाटा।—ऊ.का.

उ०—३ न खमै ताप हजार नर, जुदौ जुदौ डर जाग। केहर गड़ड़ै क्रोध कर, गाजै गिर गयणाग।—बां.दा.

उ०—४ ऊंडी खेह थयूं अंधारु, गयणि न सूझइ भांण। चाली दळ मुहडासइ आव्यां, ढमढमियां नीसांण।—कां.दे.प्र.

गयणिमिणी—देखो 'गयणमिणी' (रू.भे) उ०—मुंह भांजिया तणा मौहिला, मिळी ते सात्री गयणिमिणि। कुळ आभरण अभिनमा कूंपा, भू-मंडळि चाढ़ियौ भरणि।

—राठौड़ गोवरधनसिंह (चांदावत) रौ गीत

गयणी—१ देखो 'गयणि' (रू.भे.) २ बादल, मेघ (अ.मा.)

गयदंतौ—सं०पु०—हाथी के दांतों के समान दांत वाला, नुग्गर।

कहा०—गरजै सो वरसै नहीं, वरसै घोर अंधार—जो वादल अधिक गरजता है वह वरसता नहीं तथा जो घोर घटायुक्त चुपचाप आता है वह खूब वरसता है। वढ़-वढ़ कर वातें मारने एवं काम कुछ न करने वाले के प्रति।

गरजणहार, हारौ, (हारी), गरजणियौ—वि०।

गरजवाणौ, गरजवावौ, गरजाणौ, गरजावौ, गरजावणौ, गरजाववौ—प्रे०रू०।

गरजिओड़ौ, गरजियोड़ौ, गरज्योड़ौ—भू०का०कृ०।

गरजीजणौ, गरजीजवौ—भाव वा०।

गरजदार—वि० [अ० गरज+फा० दार] जिसे गरज हो, गरजमंद, स्वार्थी।

गरजदारी—सं०स्त्री० [अ० गरज+फा० दार+रा० ई] गरज, स्वार्थ। उ०—जमींदार हुय जमीं करजदारी में कळगी। ईजतदार अंधार गरजदारी में गळगी।—ऊ.का.

गरजमंद—वि० [अ० गरज+फा० मंद] १ जिसे किसी वात की आवश्यकता हो, जरूरतमंद।

कहा०—गरजमंद मारीजै है—गरजवाला ही मारा जाता है। जरूरत या स्वार्थ होने पर व्यक्ति को विवश होकर उचितानुचित सव सहना पड़ता है।

२ इच्छुक।

गरजवांन—वि० [अ० गरज+रा० वांन] देखो 'गरजमंद' (रू.भे.)

गरजापत—सं०पु०यौ० [सं० गिरिजा+पति] महादेव, शिव (डि.को.)

गरजित—सं०पु० [सं० गर्जित] मस्त हाथी।

वि०—गरजा हुआ.

गरजियोड़ौ—भू०का०कृ०—गरजा हुआ (स्त्री० गरजियोड़ी)

गरजियौ, गरजी—वि० [अ० गरज+रा०प्र० इयौ, ई] गरजमन्द, स्वार्थी, मतलवी।

गरजू—देखो 'गरजी' (रू.भे.)

गरज्ज—देखो 'गरज' (रू.भे.) उ०—सुण राठौड़ महावळी, भेळा थया सकज्ज। खीची मुकन वुलावियौ, दरसण सांम गरज्ज।—रा.रू.

गरज्जणौ, गरज्जवौ—देखो 'गरजणौ' (रू.भे.) उ०—प्रभू तूं पांणी मांय पवन्न। गरज्जै गाजै मांय गगन्न।—ह.र.

गरज्जियोड़ौ—देखो 'गरजियोड़ौ' (रू.भे.)
(स्त्री० गरज्जियोड़ी)

गरझणौ, गरझवौ—देखो 'गरजणौ' (रू.भे.) उ०—स्री सिव संकर क्रीत अणंकळ, ज्वाळ जट जळ गंग गरझै। भूत सभा भव साथ गणेसर, अंग उमावर त्यूं रस तझै।—क.कु.वो.

गरझियोड़ौ—देखो 'गरजियोड़ौ' (रू.भे.) (स्त्री० गरजियोड़ी)

गरट, गरट्ट, गरट्ठ, गरठ—सं०पु० [सं० घरट्ट] १ समूह, दल, झुंड।
उ०—१ छिकि टोप वाहुळ उच्छटै, कटि काळि कंकट की कटै। भट गरट मिळि थट पुरट, छट पट कुघट।—वं.भा.

उ०—२ वड़ै कोड़ि खेड़ै गजां वाजि राजां, सुरंगां सुभट्टां गरट्टां समाजां।—रा.रू. उ०—३ गरणाट माखियां री गरठ लारै उडतौ लाविया। पसु जुगत वात जांणी परी, ऐ वंघांणी आविया।
—ऊ.का.

२ सेना (अ.मा., ह.नां.) ३ राशि, ढेर। उ०—धड़ धरती पग पागड़ै, आंतां तणौ गरट्ट। तळ न छोडै साहिवौ, मूंछां तणौ मरट्ट।
—वी.स.

४ घेरा। उ०—गरदाय सिविर दीधौ गरट, जांमिकपण लीधौ सजव।—वं.भा. ५ वृक्ष। उ०—रिण रीछ मरकट जयत रट, भट प्रगट गज ठटकज सुभट। झट गरट गिर थट गह झपट, नट जेम वूघट कर निपट।—र.रू. ६ पाताल (डि.नां.मा.)

वि०—घना, गहरा। उ०—आंव भलौ ऊगौ अठै, गहरौ छांह गरट्ठ। पावै फळ मीठा पछी, वह आवै इण वट्ट।—वां.दा.

गरड—देखो 'गरुड़' (रू.भे.)

गरडू—सं०पु०—१ वेर तथा शमी वृक्ष की टहनियों पर होने वाली ग्रंथी जो उसी वृक्ष से निकले एक विशेष प्रकार के रस से वनती है। यह अकाल-सूचक मानी जाती है. २ आंख में होने वाली गांठ।
(रू०भे०—गरुडू, गरेडौ)

गरडौ, गरढौ—सं०पु० [सं० गरिष्ठ, प्रा० गरड्ढ] (स्त्री० गरडी, गरढी) वृद्ध, वूढ़ा व्यक्ति। उ०—१ चाकरियां गरडा भया, दमड़ां चित्त दियाह। वळै विदेसी वालमा, कहड़ा कांम कियाह।—र.रा.

उ०—२ पिंड वियापण गरढ़पण, हुवण पराक्रम हांण। पण वय वधन प्रतापसी, अह वध घण आपांण।—जैतदांन वारहठ

उ०—३ राजाजी साथे छै, गरढौ एक खोजौ। नांम मियां मुस्ताक दोढ़ियां राख्यौ।—रा.वां. (रू०भे०—गरढेरौ)

गरण—सं०स्त्री० [सं० गृ=शब्दे] १ दर्दभरी ध्वनि, कराह।
[सं० ग्रहण] २ ग्रहण (रू.भे.)

कहा०—गरण री दांन नै गंगा री सिनांन—ग्रहण का दान और गंगा-स्नान धार्मिक दृष्टिकोण से वरावर है। ग्रहण में दिये जाने वाले दान के महत्व के प्रति।

गरणगट, गरणाट, गरणाटौ—सं०पु० [अनु०] १ वृत्ताकार तेजी से घूमने की क्रिया या भाव। उ०—गाढ़ी गयणांगण रज ले गरणाटा, सांवण सूकी गौ देतौ सरणाटा।—ऊ.का. २ वृत्ताकार तेजी से घूमने पर उत्पन्न होने वाली ध्वनि। उ०—गरणाट माखियां री गरठ, लारै उडतौ लाविया। पस जुगत वात जांणी परी, ऐ वंघांणी आविया।
—ऊ.का.

३ शून्य एवं निर्जन स्थान में व्याप्त हल्की ध्वनि। उ०—नकीवां वोल हरणाट हुय नोवतां, गयण घर सवद गरणाट गाजै।
—खेतसी वारहठ

गरणाणौ, गरणावौ—क्रि०अ० [सं० गृ=शब्दे] १ चक्कर खाना, वृत्ताकार घूमना. २ कराहना, दर्दभरी ध्वनि करना. ३ गुंजायमान

घेट वूंदी री नीपनी, कड़कती वाजळी, छेड़ी सांपण, घणा सोनां में **गरगाव** कीधी।—जैतसी ऊदावत री वात

गरगेवड़ा–सं०स्त्री०—शमी वृक्ष की विगड़ी हुई फली (क्षेत्रीय)

गरड़—१ देखो 'गरड़' (रू.भे.) २ वंदूक छूटने की ध्वनि।

उ०—गरड नाळ गोळियां, दरड़ गाड़ियां अपारां। घरड़ आभ धारतां, जरड कुंजरां जयारां।—वगतो खिड़ियौ

गरड़गांमी—देखो 'गरुड़गांमी' (रू.भे.) उ०—धार खग चकर घण भगत करुणा धरे, भांज खाफर मगर भुजां भांमी। रज-धरम राखियौ भूप रासाहरैं, गज-धरम राखियौ गरड़गांमी।—ठाकरसी सिंढ़ायच

गरड़धज—देखो 'गरुड़ध्वज' (रू भे.) उ०—तज तज अवर 'कसन' कव नतप्रत। धर मन नहचळ गरड़धज।—र.ज.प्र.

गरड़ा–सं०स्त्री० [सं० गुरु] एक जाति जो अपनी उत्पत्ति ब्राह्मणों से बताते हैं और भांवी, चमार आदि जाति में विवाह, पूजा आदि कार्य सम्पन्न कराते हैं एवं उनके गुरु माने जाते हैं।

गरड़ावणौ, गरड़ाववौ–क्रि०अ०—गधे का रेंकना। उ०—खेहा डंवर खर अंवर अरड़ावै। धरणीतळ धूजै गरदव गरड़ावै।—ऊ.का.

गरड़ौ–सं०पु०—१ 'गरड़ा' जाति का व्यक्ति (रू.भे.-गुरड़ौ) २ रंग विशेष का घोड़ा. ३ वह घोड़ा जिसकी एक आंख भूरी हो।

गरज–सं०स्त्री० [सं० गर्जन] १ वहुत गंभीर और तुमुल ध्वनि, गड़-गड़ाहट. २ गाज, वज्र-ध्वनि। उ०—गोम गह तुरी गज गरज गरज वाजा गड़ी, ऊख रंभ तोजियां रैण रज ऊपड़ी।—द दा.

[अ०-गरज] ३ आशय, प्रयोजन, मतलव। उ०—चाहीजे गरज उण लड़ाई सूं छूट पूरी भलाई री न होय धरम न छूटे और दफा अन्याव उत्पात री होय।—नी.प्र.

मुहा०—गरज गांठणी—मतलव सीधा करना।

४ आवश्यकता, जरूरत, स्वार्थ। उ०—आळस तज निज गरज अव, भज त्रभुवण भूपाळ। पीय निरंतर आय पय, वांका काळ विडाळ।—वां.दा.

क्रि०प्र०—पड़णी, रखणी, राखणी, रैंणी, निकळणी, निकाळणी।

कहा०—१ गरज गधै नै वाप कंवावै—आवश्यकता व स्वार्थ के कारण गधे को भी वाप कहना पड़ता है। आवश्यकता बुरी होती है, इसके लिए निम्न से निम्न काम भी करना पड़ता है. २ गरज गधै नै वाप करै—देखो कहा० १,३. ३ गरज गधेड़ा ए वाप कंवीजे है—देखो कहावत नं. १,४. ४ गरज जतरै नौकर, गरज मिटी नै दीवी ठोकर—जव तक जरूरत थी तव तक तो नौकर वन कर भी अपना स्वार्थ पूरा किया, वाद में ठोकर मारदी। स्वार्थी व्यक्ति के प्रति. ५ गरज पड़यै धारू'र मारू करवौ पड़ै—कार्य होने पर तेरा मेरा कर इधर-उधर से मांग कर काम चलाना पड़ता है.

६ गरज मटी नै गूजरी नटी—स्वार्थ पूरा हुआ और गूजरी ने इन्कार किया। जव तक स्वार्थ होता है तभी तक व्यक्ति का रुख अनुकूल रहता है. ७ गरज मिटी रे गांगला वळद गायां में जाय—वैलों का कार्य पूरा हुआ या आवश्यकता मिटी कि वेचारों को भटकने के लिए गायों के साथ छोड़ दिया। स्वार्थ पूरा होने या आवश्यकता मिटने पर पुन: कोई किसी को नहीं पूछता. ८ गरज री माटी—स्वार्थ का साथी, मतलव का दोस्त. ९ गरज सरी'र वैद वैरी—स्वार्थ पूरा हुआ कि वैद्य वैरी हो गया। उपचार का स्वार्थ या तव तक वैद्य की आवश्यकता थी और उसका आदर किया जाता था। उपचार होने के वाद उसकी आवश्यकता नहीं रही अत: अव वह अपना शुल्क मांगता है तो शत्रुता बांध ली। काम निकलने के वाद कोई किसी को नहीं पूछता।

यौ०—गरजदार, गरजवांन।

५ चाह, इच्छा।

क्रि०प्र०—रखणी, राखणी, रैंणी, होणी।

मुहा०—१ गरज रौ वावळौ—अपनी गरज के लिए सव कुछ करने वाला। अपनी लालसा पूरी करने के लिए हानि भी सह लेने वाला.. २ गरज रौ दीवांणौ—देखो मुहा० १।

कहा०—१ गरज दीवांणी गूजरी, अव आई घर कूद। सांवण छाछ न घालती, भर वैसाखां दूध—स्वार्थ की वावली गूजरी अव स्वत: ही घर में कूद कर आई है। सावण मास में तो वह छाछ भी नहीं डालती थी, स्वार्थ के कारण अव वैसाख माह में जव कि पूर्ण सूखा होता है, भर-भर कर दूध देती है। अपनी लालसा या किसी प्रकार की इच्छा पूरी करने के लिए आदमी सव कुछ करने को तैयार हो जाता है।

यौ०—गरजमंद, गरजदार, गरजवांन।

६ खुशामद।

क्रि०प्र०—करणी, राखणी।

कहा०—इत्ती देर राजा री गरज करी हुती तौ गांम दे देतौ—इतनी देर तक किसी राजा की खुशामद की होती तो वह इनायत में कोई गांव दे देता। काफी खुशामद करने के वाद भी जव कोई व्यक्ति किसी के लिए कार्य करने के लिए तैयार नहीं होता तव उसके प्रति यह कहावत कह कर असंतोष प्रकट किया जाता है।

गरजण–सं०पु० [सं० गर्जन] १ गंभीर शब्द, तुमुल ध्वनि. २ वज्रपात. ३ गरजने की क्रिया या भाव। उ०—वक पंकत रद नीर मद, गरजण गाज चिंघांण। पटकै हाथळ पंचमुख, जळहर मैंगळ जांण।—वां.दा.

गरजणौ–वि०—गरजने वाला, गर्जन करने वाला।

कहा०—गरजणा वादळ वरसणा नहीं, भुसणा कुत्ता खाणा नहीं—गरजने वाले वादल वरसते नहीं और भौंकने वाले कुत्ते काटते नहीं। वढ़-चढ़ कर वातें मारने एवं काम कुछ न करने वाले के प्रति।

गरजणौ, गरजवौ–क्रि०अ० [सं० गर्जन] गरजना, गंभीर या तुमुल ध्वनि करना, वज्रपात होना।

गरदाणौ, गरदावौ, गरदावणौ, गरदाववौ—क्रि०स०—१ घेरा डाल कर आक्रमण करना। उ०—नरेस भी फरमांण आतां ही जाइ, मऊ गरदाइ झगड़ौ जमाई कोटेसरां राखिया। मऊ रा फौजदार खीची नगराज नूं उचित आतंक दे'र वारै काढ़ियौ।—वं.भा. २ घेरना, वेष्ठित करना। उ०—रावत झाटक रजां गजां म्हावत गरदाया। संपड़ाया जळ सींच, वळै चितरांम कराया।—मे.म.

३ धूल उड़ाना।

गरदाणहार, हारौ (हारी), गरदाणियौ—वि०।

गरदावणहार, हारौ (हारी), गरदावणियौ—वि।

गरदाओड़ौ, गरदायोड़ौ, गरदाविओड़ौ, गरदावियोड़ौ, गरदाव्योड़ौ—भू०का०कृ०।

गरदायोड़ौ, गरदावियोड़ौ—भू०का०कृ०—१ घेरा डाल कर आक्रमण किया हुआ. २ घेरा हुआ, वेष्ठित. ३ धूल उड़ाया हुआ। (स्त्री०—गरदायोड़ी, गरदावियोड़ी)

गरदावळि—सं०स्त्री०—धूलिकण, रजकण। उ०—चढ़ि चल्लिय मेछांन, भांन गरदावळि भिल्लिय। हलचल्लिय हिंदवांन, खखड़ जुग्गनि खिल-खिल्लिय।—ला.रा.

गरदिस—सं०स्त्री० [फा० गर्दिश] १ घुमाव, चक्कर. २ विपत्ति, आपत्ति।

गरदी—सं०स्त्री० [फा० गर्दी] १ भीड़, समूह। ज्यूं—गाड़ी में आज घणी गरदी है। २ परिवर्तन। ३ धूलि, रज

उ०—वांरै खुद रै जीवण रा सपना तो इण समाज री गरदी में ठोड़-ठोड़ विखर नै अलोप व्हैगा।—विजयदांन देथौ

४ क्रांति। उ०—दिखणी घणा मारांणा, भाऊ री कतळ भाऊ गरदी कहांणी।—वां.दा. ख्यात

गरद्द, गरद्दन—सं०स्त्री० [फा० गर्दन] १ ग्रीवा, गर्दन। उ०—गरद्द मझ्झार कियौ रिम घाव। पड़ै धर सीस चलै नह पाव।—पा.प्र.

२ गर्दन का पिछला भाग। उ०—गरद्दन कद्दन केक मुगल्ल, छटे खग वेख क मेख छगल्ल।—मे.म. ३ धूलि, रज। उ०—आइयौ भड़ ऊवांवरौ, मगज अडोळ मरद्द। भड़ पाताल तोमूं भिड़ै, गज घड़ मिळै गरद्द।—किशोरदांन बारहठ

गरद्दी—१ देखो 'गरदी' (रू.भे.) २ देखो 'गरद्द' (रू.भे.)

उ०—खेह गरद्दी मेहलां अम्बीर उडाया। फूल कळीजे फिफ्फरे फवि फांक फुलाया।—वं.भा.

गरधव, गरधभ—देखो 'गरदभ' (रू.भे.) उ०—गह चढ़िया संतोख गज, धर पुड़ ज्यां नूं धोक। चढ़िया ज्यां नूं चहरजे, लालच गरधभ लोक।—वां दा.

गरनाळ—सं०स्त्री०—एक बहुत चौड़े मुंह की तोप। इसका मुंह इतना चौड़ा होता है कि एक आदमी सरलता से घुस सकता है।

गरन्नार—देखो 'गिरनार' (रू.भे.) उ०—देवी गढ़े कोटे गरन्नार गोखे, देवी सिंधु वेळा सवा लाख सोखे।—देवि.

गरब—सं०पु० [सं० गर्व] १ अहंकार, घमंड, दर्प (ह.नां.)

उ०—ममता मिथ्या गरब प्रमाद दब उनमंबा।—केसोदास गाडण

क्रि०प्र०—आणौ, करणौ, पड़णौ, होणौ।

यौ०—गरब-गुमांनण, गरब-गहेली।

२ देखो 'गरभ' (रू.भे.)

गरबणौ, गरबबौ—क्रि०अ०—गर्व करना, अभिमान करना।

उ०—१ गरबै फोड़ै कुंभ गज, धण वळ धावड़ियाह। पापड़ फोड़ पोमावहीं, मन में मावड़ियाह।—वां.दा.

उ०—२ रड़माल गरबै गरबै मारवाड़ रैण, थाट घणी गरभै जोधांण राजथांन। उरां रंभ रथां माळ चेहड़ा छोडाय आयौ, जीवता संभ ज्यूं चांपा कहायौ जेहांन।—प्रभूदांन मोतीसर

गरबरफ—सं०पु०यौ० [सं० गिरि+फा० बर्फ] सदैव बर्फ से ढका रहने वाला पर्वत, हिमालय पर्वत। उ०—हरा जगपत सरब जांण भाला हता, चमु तज मांण वीरांण चळिया। रांण हिंदवांण रा भांग तप राज रै, गरबरफ जेम उसरांण गळिया।—जवांनजी आढ़ौ

गरबांण—देखो गिरवांण' (रू.भे.) उ०—गै घूमै आरांण घांण मथांण नीसांण घोक, सूकै डांण सूंडाडंडां बीछुड़ै सींधांण। दोवळा विवांण ठहै खड़ा गरबांण देवै, भड़ै दखणांण हूंत हिंदवांण भांण।

—पहाड़खां आढ़ौ

गरबाणौ, गरबावौ—देखो 'गरबणौ' (रू भे.)

गरबायोड़ौ—भू०का०कृ०—गर्वित। (स्त्री० 'गरबायोड़ी')

गरबावणौ, गरबाववौ—देखो 'गरबणौ' (रू.भे.)

उ०—मो ऊभां माहरी धरा खग जोर अकावै। बोलै मोटौ बोल वळै मन में गरबावै।—पा.प्र.

गरबावियोड़ौ—भू०का०कृ०—गर्व से ऐंठा हुआ। (स्त्री० गरबावियोड़ी)

गरबी—वि०स्त्री० [सं० गर्व+रा० प्र० ई] १ धैर्यवान, गंभीर।

उ०—नमणी खमणी बहुगुणी, सुकोमळी ज सुकच्छ। गोरी गंगा नीर ज्यूं. मन गरबी तन अच्छ।—र.रा.

२ वह पत्थर जो दो खिड़कियों के बीच में रखा जाता है.

३ एक प्रकार का गायन।

गरबीजणौ, गरबीजबौ—भाव वा०—गर्वित होना। उ०—भूपत भण-काराह, जसरा जिके न जां लिया। तां तां तणकाराह, गाणां क्यों गरबीजिया।—वां.दा.

गरबौ—सं०पु०—एक प्रकार का लोक गीत।

वि०—गंभीर, सहनशील (स्त्री० गरबी)

गरब्ब—देखो 'गरब' (रू.भे.) उ०—अवकारी असुरां तणा, सुण बूजिया सरब्ब। निप चो सोच निवारियो, उर धारियो गरब्ब।

—रा.रू.

गरब्बणौ, गरब्बबौ, गरब्बाणौ, गरब्बावौ—देखो 'गरबणौ' (रू.भे.)

उ०—१ कलमपत मांण हीण किया, बब्बर अकबर दब्बिया। चीतोड़नाथ वैकुंठ पर, सुण जगत सै गरब्बिया।

—महारांणा राजसिंह रौ गीत

होना। उ०—छठो ववावो भंवरजी रा महल में, म्हांरो महल रह्यो गरणाय।—लो.गी. ४ भिनभिनाना।

गरणायोड़ो–भू०का०कृ०—१ चक्कर खाया हुआ, वृत्ताकार घूमा हुआ. २ करुण-क्रंदन किया हुआ, कराहा हुआ. ३ भिनभिनाया हुआ. ४ गुंजित (स्त्री० गरणायोड़ी)

गरणावणौ, गरणाववौ—१ देखो 'गरणाणौ' (रू.भे.) २ पसरना, फैलना। उ०—खींपा पींपा फोग, भुरट बूई वरणावै। भुरट लांपड़ी लुळै, गजब वेलां गरणावै।—दसदेव

गरणावियोड़ो—१ देखो 'गरणायोड़ो' (रू.भे.) २ पसरा या फैला हुआ। (स्त्री० गरणावियोडी)

गरणी–सं०स्त्री०—अफीम को गला कर छानने का एक उपकरण।

गरणौ–सं०पु० [सं० गलन] कपड़े का वह टुकड़ा जिससे पानी छाना जाय।
(रू०भे०–गरणो, गण्णो)

गरत–सं०पु० [सं० गर्त] १ गड्ढ़ा, गर्त. २ जलाशय. ३ एक नरक का नाम।
(रू.भे.–गरत्त)

गरतमांन–सं०पु० [सं० गरुत्मान] गरुड़ (नां मा., ह नां.)

गरता–सं०पु० [सं० गर्त] पाताल (डि.नां.मा.)

गरत्त—देखो 'गरत' (रू.भे.) उ०—जिण घोर समय में सत्वां रा प्रहार करि व्याकुळ हुवो नवाव रणमस्तखांन तौ कुमार भोज नूं लेर एक गरत्त में त्रिणां रा समूह हेठै दवि रहियौ।—वं.भा.

गरत्थ, गरथ–सं०पु० [सं० ग्रथ] १ द्रव्य, धन, संपत्ति (नां मा.)
उ०—१ एकूकी अभसाह री, गोठां उठै गरत्थ। प्रगट इतै धन और पह, सो जिग करै समत्थ।—रा.रू.
उ०—२ वालिम गरथ वसीकरण, वीजा सहु अकयथ्थ। जिण चड्या दळ उत्तरइ, तरुणि पसारइ हथ्थ।—ढो.मा.
यौ०—अरथ-गरथ।
२ गूढ़ार्थ, तत्व, सार. ३ सामग्री। उ०—रुपिया कंचन जात, हुवै हुंडी रा गरथां। नहचै नांणै नहीं, हुवै आरण रा अरथां।
—अरजुणजी वारहठ

गरथव्रत–सं०स्त्री०—हवन की अग्नि (नां.मा.)

गरद–सं०स्त्री० [सं०] १ विष, जहर. २ एक प्रकार का रेशमी कपड़ा. [फा० गर्द] ३ नाश, संहार। उ०—धरे छत्र संभर धणी, रांमचंद्र नरराज। किया गरद खर कोण सा, वैरी गण जिण वाज।
—वं.भा.
४ गर्द, धूलि। उ०—सूरज मांथा रै ऊपर आवियो, जूझारां नूं प्यास लागी। गरमी रै कारण सूं मरदां रा होठ सूखण लागिया अर गरद गालां ऊपर चढ़ी।—नी.प्र.
मुहा०—गरद उडणी—नष्ट हो जाना।
५ झुंड, समूह. ६ पृथ्वी (नां.मा., डि.नां.मा.)
वि०—१ विष देने वाला, विषप्रद. २ मस्त, मदचूर।
उ०—सूतां सहे सहेलियां, गहरी नींद गरद। दरद नहीं छै दूसरां, दूखै जिकां दरद।—वगसीरांम प्रोहित री वात

गरदन–सं०स्त्री० [फा० गर्दन] धड़ और सिर को जोड़ने वाला अंग, ग्रीवा।
मुहा०—१ गरदन उठाणी—विरोध करना, क्रांति या वगावत करना. २ गरदन उडाणी—गरदन काट कर मार डालना. ३ गरदन ऐंठियोड़ी रैंणी—अभिमान में रहना, कष्ट में रहना. ४ गरदन कटणी—वुराई होना, हानि होना, अपमानित होना, गला कटने से मर जाना. ५ गरदन काटणी—अपमानित करना, हानि पहुँचाना, गला काट डालना, वुराई करना. ६ गरदन भुकणी—लज्जित होना, नम्रता दिखलाई पड़ना. ७ गरदन भुकाणी—शर्मा जाना, विनीत या आज्ञाकारी होना, नम्र होना, हार मानना. ८ गरदन नी ऊठणी—कमजोरी के कारण सर न उठना, ऐतराज न करना, सह लेना, लज्जित होना. ९ गरदन पकड़'र करा लेणी—जवरन करा लेना. १० गरदन पकड़'र निकाळणी—वेइज्जती करके या गरदनियां देकर वाहर निकालना, जवरदस्ती निकालना. ११ गरदन माथै छुरी फेरणी—हानि पहुँचाना, अनहित करना, तंग करना, वुराई करना, अत्याचार करना. १२ गरदन माथै जुओ धरणौ—जिम्मेदारी लेना, जिम्मेवारी देना या सौंपना. १३ गरदन माथै वोझ होणौ—सिर पर वोझ होना, जिम्मेवार होना, वुरा लगना, भारस्वरूप लगना. १४ गरदन माथै लेणौ—उत्तरदायित्व लेना. १५ गरदन माथै सवार होणौ—पीछे-पीछे लगे रहना. १६ गरदन मरोड़णी—गरदन मरोड़ कर जान से मार डालना, दवाव डालना, कष्ट देना. १७ गरदन रो वोझ—उत्तरदायित्व, कर्त्तव्य. १८ गरदन हिलण लागणी—वहुत वृद्ध होना. १९ गरदन हिलाणी—नाहीं करना।
२ वोतल या किसी प्रकार के अन्य पात्र आदि का ऊपर का संकरा भाग।

गरदनघुमाव–सं०पु०—कुश्ती का एक पेंच।

गरदनतोड़–सं०पु०—१ कुश्ती का एक दांव. २ एक प्रकार का ज्वर।

गरदनवांध—सं०पु०—कुश्ती का एक पेंच।

गरदनी–सं०पु०—कुश्ती का एक दांव।

गरदव, गरदभ–सं०पु० [सं० गर्दभ] गधा (अ.मा.) उ०—सेहाडंवर खर अंवर अरड़ावै, धरणी तळ धूणै गरद्दव गरड़ावै।—ऊ.का.

गरदव–सं०स्त्री० [फा० गर्द] १ धूलि, रज. २ संहार, ध्वंस।
उ०—विरदपत जवर परताप विजपत विया, सद विजै त्रंवाटां पिसन्न सेलोट। उरड़ जाता वडा करेवा गरदवां, अभैपद वसै वे राज री ओट।—महाराजा मांनसिंहजी रो गीत

गरदह–सं०स्त्री०—सभा। उ०—ज्यांनै पांच न ओळखै, भरी गरदह मांहि। तिणही हूंदो हे सखी, जीतव ही कुछ नांहि।
—नयणा मुजरा भाटी री वात

गादी, नारायणराव री गरभावास छोटो माधोराव बैठौ।

—वां दा. ख्यात

गरभासण, गरभासन—सं०पु० [सं० गर्भासन] योग के चौरासी आसनों के अंतर्गत एक आसन जिसमें पद्मासन की तरह पाँवों की स्थिति कर के कुक्कटासन की तरह दोनों हाथों को पांवों के बीच में घुसा कर हाथों से गरदन को अंकुड़ा भिड़ा कर पकड़ा जाता है तथा गरदन को नीचे झुकाया जाता है। इससे आलस्य दूर होकर इंद्रियां शांत होती हैं।

गरभासय—सं०पु० [सं० गर्भाशय] स्त्रियों के पेट में वह स्थान जिसमें गर्भाधान के समय वे गर्भ धारण करती हैं। बच्चादानी।

गरभिणी—वि०स्त्री० [सं० गर्भिणी] जिसके हमल रह गया हो, गर्भवती।

गरभीजणौ, गरभीजबौ—भाव वा०—१ गर्भ धारण करना।

उ०—गरभीजण असमांन बुगलियां मिळवा आई। इदका हुवा सुगन्न लेवतां मेघ विदाई।—मेघ. २ गर्वित होना।

गरम—वि० [फा० गर्म या सं० घर्म] १ जिसको स्पर्श करने पर जलन का अनुभव हो उष्ण।

क्रि०प्र०—करणौ, होणौ।

मुहा०—१ गरमचोट—हाल की लगी चोट, ताजा घाव. २ गरम मांमलौ—हाल की घटना, नई घटना, संगीन मामला।

यौ०—गरमागरम।

विलो०—ठंडौ।

२ तीक्ष्ण, उग्र, तेज।

क्रि०प्र०—करणौ, होणौ।

मुहा०—१ गरम करणौ—क्रोधित करना, उत्तेजित करना, उकसाना. २ गरम होणौ—क्रुद्ध होना, आवेश में आना. ३ मिजाज गरम होणौ—क्रोध आना।

विलोम—सांत।

३ जिसका गुण उष्ण हो, जिसके सेवन से गरमी बढ़े।

यौ०—गरम कपड़ौ, गरम मसालौ।

४ उत्साहपूर्ण, आवेगपूर्ण।

गरमाळौ—सं०पु०—एक प्रकार का बड़ा वृक्ष जिसके पत्ते लाल चंदन के पत्तों के समान, फूल पीले और फल फली के आकार के डेढ़ हाथ लम्बे होते हैं। इसकी फली का गूदा जुलाब के काम में लिया जाता है। अमलतास।

गरमास, गरमाहट—सं०पु० [सं० घर्म] गरमी, उष्णता।

गरमी—सं०स्त्री० [फा० या सं० घर्म रा०प्र०ई] १ उष्णता, ताप, जलन।

क्रि०प्र०—करणी, पड़णी, लागणी, होणी।

मुहा०—१ गरमी करणी—प्रकृति में उष्णता लाना. २ गरमी निकाळणी—उष्णता दूर करना।

२ तेजी, उग्रता, प्रचंडता।

मुहा०—१ गरमी निकळणी—गर्व एवं उग्रता दूर होनी. २ गरमी निकाळणी—गर्व दूर करना।

कहा०—दुसमण री करपा बुरी, भली सैण री तास। जद सूरज गरमी करै, तद वरसण री आस—शत्रु का कृपालु होना खतरे से खाली नहीं और स्वजन द्वारा कष्ट दिया जाना भी प्रायः हितकर होता है। सूर्य्य जब अधिक उग्र होकर तपता है तब ही वर्षा होने की आशा होती है। स्वजनों की प्रशंसा।

३ आवेश, जोश. ४ क्रोध, गुस्सा।

क्रि०प्र०—आणी, चढ़णी।

५ ग्रीष्म ऋतु।

क्रि०प्र०—आणी, जाणी।

६ अप्राकृतिक अथवा दुष्ट मैथुन से होने वाला एक प्रकार का रोग, आतशक, उपदंश।

क्रि०प्र०—निकळणी, फूटणी, होणी।

७ त्वरा, शीघ्रता। उ०—जिकौ कांम गरमी हळकाई सूं आदरै तो सही आ छै, अरथ नहीं सुधरै—आगलै दुख री कारण होय, संसार सूं सरमिंदगी होय।—नी.प्र. ८ हाथी, घोड़े, ऊँट आदि का एक रोग जिससे उनके पेशाब के साथ खून गिरने लगता है (शा.हो.)

वि०वि०—लम्बी दूरी की यात्रा करने के बाद जबकि पशु का शरीर गरम रहता है, एकाएक किसी ऐसे स्थान में बांधने से जहाँ उसे शुद्ध व भरपूर हवा नही मिलती, यह रोग हो जाता है। इसमें पशु अपना खाना-पीना छोड़ देता है।

गरमीजणौ, गरमीजबौ—क्रि०अ० [भाव वा०] हाथी, घोड़े, ऊँट आदि का गरमी रोग (देखो—गरमी ८) से ग्रसित होना।

गरर—सं०स्त्री० [अनु०] ध्वनि, आवाज विशेष।

गरळ—सं०पु० [सं० गरल] विष, जहर (ह.नां., अ.मा.)

उ०—जीकारौ अम्रित ज्यूंही, भावै जग नूं भाळ। है रेकारौ आक पय, गरळ बराबर गाळ।—बां.दा.

गरळक—सं०पु० [सं० गरल+क] १ सर्प. २ शेषनाग।

उ०—छिल बहत धक-धक अछक छक, अंतराळ गरळंक हुळ इधक।

—र.रू.

गरळधर—सं०पु०यौ० [सं० गरलधर] १ वह जो विष को धारण करे. २ सर्प. ३ शिव, महादेव।

गरळस—सं०पु० [सं० गरलच] सांप, सर्प।

गरळाणौ, गरळावौ, गरळावणौ, गरळाववौ—क्रि०अ०—१ रुदन करना, विलाप करना। उ०—करसा कुरळावेह, दूणा मरुधर देस रा। घर घर गरळावेह, आज न भूप उम्मेदसी।—उदयराज ऊजळ

२ ऊपर से मुँह में पानी उँडेल कर गल-गल की ध्वनि निकालना।

गरळौ—सं०पु०—ऊपर से मुँह में द्रव पदार्थ को उँडेल कर गल-गल की आवाज करने का भाव या क्रिया।

गरवणियौ—सं०पु०—रहँट के ऊपर दोनों ओर रहने वाले लट्ठों को स्थिर रखने के लिये उनके सहारे हेतु खड़े किये गये स्तम्भों के चारों ओर बनाया जाने वाला छोटा चबूतरा।

उ०—२ गावड़ डावड़ का भावरा गुरा गाता। गायां गरभाती गोरी गरव्वाता।—ऊ.का.

गरव्वित—वि० [सं० गर्वित] १ घमंडी, अभिमानी. २ घिरा हुआ, आच्छादित। उ०—छपनै घोरारव आरव छायौ। सूरज ससि मंडळ गरव्वित गणणायौ।—ऊ.का.

गरव्भ—१ देखो 'गरभ' (रू.भे.) उ०—१ प्रकत्ति अतीत पुरुक्ख प्रधांन। गरव्भ विग्यांन जगत्त गिनांन।—ह.र.

२ देखो 'गरव' (रू.भे.) उ०—साह सुणै अत सोचियो, मन मोचियो गरव्भ। ईख प्रताप अजीत री, रीत विचारी सव्व।—रा.रू.

गरभ—सं०पु० [सं० गर्भ] १ पेट के अंदर का बच्चा, हमल, भ्रूण।

क्रि०प्र०—गिरणौ, ठैरणौ, रैं'णौ, हिलणौ।

यौ०—गरभघाती, गरभपात।

२ स्त्री के पेट के अंदर का वह स्थान जिसमें बच्चा रहता है, गर्भाशय। उ०—कहो पिता है कोण, मात गरभ कुण मेलियौ। देखै बैठौ द्रोण, सो की अचरज सांवरा।—रांमनाथ कवियौ

यौ०—गरभनाळ, गरभमास, गरभवास, गरभसंकु।

३ किसी पदार्थ का भीतरी भाग। उ०—१ चंदवदन म्रिग लोयणी, भीसुर ससदळ भाळ। नासिका दीप सिखा जिसी, केळ गरभ सुकमाळ।—ढो.मा. उ०—२ आरोपित आंखि सहू हरि आंननि, गरभ उदधि ससि मथे ग्रिहीत। चाहे मुख अंगणि ओटै चढ़ि, गावै मुखि मंगळ करि गीत।—वेलि. उ०—३ केळि गरभ जिसी कूंवळी, कूं कूं चंदन कीधां खोळी।—वी.दे.

४ चक्र का मध्य भाग, केन्द्र.

यौ०—गरभव्यूह।

५ पेट, उदर (अ.मा.) ६ फलित ज्योतिष में नए मेघों की उत्पत्ति जिससे वर्षा का आगमन होता है (ह.नां.)

क्रि०प्र०—ऊठणौ, गळणौ।

यौ०—गरभदिवस, गरभमास।

[सं० गर्व] ७ देखो 'गरव' (रू.भे.) उ०—महळां गरभ जरम्मनां, पातल धाक पड़ंत। किसूं गरभ जरमन करै, अरभक हि न उछरंत।—किसोरदांन बारहठ

गरभकेसर—सं०पु०यौ० [सं० गर्भ+केसर] पुष्प के मध्य में गर्भनाल में होने वाले पतले डंठलों के सिरे पर, बाल के समान पतले व छोटे रेसे या सूत जिसके साथ पराग केसर के पराग कण का मेल होने पर फलों व बीजों की उत्पत्ति होती है।

गरभग्रह—सं०पु०यौ० [सं० गर्भ+गृह] १ घर का मध्य भाग अथवा मध्य भाग में बनी कोठरी. २ मंदिर के बीच की वह प्रधान कोठरी जिसमें मुख्य प्रतिमा रखी जाती है।

गरभघाती—वि० [सं० गर्भघातिन्] गर्भपात करने वाला।

गरभज—वि० [सं० गर्भज] १ गर्भ से उत्पन्न. २ जिसे साथ लेकर कोई उत्पन्न हो।

गरभणी—वि० [सं० गर्भिणी] वह जिसके गर्भ में हमल (बच्चा) हो, गर्भिणी।

गरभणौ, गरभवौ—देखो 'गरवणौ' (रू.भे.) उ०—रड़माल गरवै गरवै मारवाड़ रैणा, थाट धणी गरभै जोधांण राजथांन। ऊरां रंभ रथां माळ चेहड़ा छोडाय आयौ, जीवता संभ ज्यूं चांपा कहायौ जेहांन।—प्रभूदांन मोतीसर

गरभद—वि० [सं० गर्भद] गर्भ देने वाल, जिसमें गर्भ रहे।

गरभदास—सं०पु० [सं० गर्भदास] वह जो जन्म से दास हो, दासीपुत्र।

गरभदिवस—सं०पु० [सं० गर्भ+दिवस] १ गर्भ का समय, गर्भकाल. २ वृहत्संहिता के अनुसार १९५ दिन की अवधि जिसमें मेघ का गर्भ होता है। यह समय प्रायः कातिक की पूर्णिमा के बाद आता है।

गरभनाळ—सं०स्त्री०यौ० [सं० गर्भ+नाल] पुष्प के मध्य की वह पतली नलिका जिसके सिर पर गर्भ केसर होता है। इसी गर्भ केसर और पराग केसर के मेल से फल और बीज की पुष्टि और वृद्धि होती है।

गरभपात—सं०पु०यौ० [सं० गर्भ+पात] पेट के बच्चे का पूरी वृद्धि के पहले ही निकल जाना, गर्भ गिरना।

गरभमास—सं०पु०यौ० [सं०] वह मास जिसमें गर्भाधान हो।

गरभवंती, गरभवती—सं०स्त्री० [सं० गर्भवती] जिसके पेट में बच्चा हो, गर्भिणी।

गरभवास—सं०पु० [सं० गर्भवास] १ गर्भ के अंदर की स्थिति. २ गर्भाशय. ३ गर्भ में रहने की अवधि। उ०—गरभवास दसमास सदा दुख पाइये। हरि हां जन हरिदास भजि रांम स छोड़ चुकाइये।—ह.पु.वा.

गरभव्यूह—सं०पु०यौ० [सं० गर्भ+व्यूह] प्राचीनकालीन स्थल-युद्ध में सेना की एक प्रकार की रचना जिसमें सेना कमल के पत्तों की तरह अपने सेनापति या रक्षित वस्तु को चारों ओर से घेर कर खड़ी होती थी।

गरभसंकु—सं०पु०यौ० [सं० गर्भ+शंकु] चिकित्साशास्त्रानुसार वैद्य के उपयोग का एक उपकरण जिससे गर्भ में मरे हुए बच्चे को पेट के अन्दर से निकालते थे (अमरत)

गरभहत्या—सं०पु०यौ० [सं० गर्भ+हत्या] गर्भस्थ भ्रूण की हत्या करना। गर्भस्थ भ्रूण को किसी प्रकार अवधि से पूर्व गिराना, गर्भपात।

गरभाणौ, गरभाबौ—क्रि०अ०—गाय-बैल आदि का रंभाना।

उ०—गावड़ डावड़ का भावरा गुरा गाता। गायां गरभाती गोरी गरव्वाता।—ऊ.का.

गरभाधान—सं०पु०यौ० [सं० गर्भ+आधान] मनुष्य के सोलह संस्कारों में से पहला संस्कार। यह संस्कार स्त्री के ऋतुमती होने के समय होता है एवं नर-वीर्य तथा स्त्री के रज से गर्भ स्थिति होती है। गर्भ धारण।

गरभावास—देखो 'गरभवास' (रू.भे.) उ०—पेमवा नारायणराव री

गरासणौ, गरासबौ–क्रि०स०—कंठ से नीचे उतारना, निगलना।
उ०—ओखद जरै तौ मन मरै, खाय'र करै उखाळ। जन हरिदास ता जीव कूं, अंति गरासै काळ।—ह.पु.वा.

गरिट्ठ–वि०—देखो 'गरिस्ठ' (रू.भे.) उ०—वरिट्ठ में वरिट्ठ जे ब्हेक तिव्र सालितें, गरिट्ठ में गरिट्ठ ते गुरे कती गजाळि तें।—ऊ.का.

गरिमा–सं०स्त्री० [सं० गरिमान्] १ गुरुत्व, भारीपन, बोझ. २ महिमा, महत्व, गौरव। उ०—तो चरणां लागै तिकी, चाळक करन सुजाव। नर गरिमा महिमा लहै, सांचौ तूं सिघराव।—वां.दा.
३ गर्व, अहंकार. ४ आठ सिद्धियों में से एक सिद्धि (ह.नां.)

गरिस्ट, गरिस्ठ–वि० [सं० गरिष्ठ] १ अति, गुरु, अत्यन्त भारी।
उ०—अर जगमाल मस्तक रा भार नूं गरिस्ट मांनि अद्रि रै ऊपर दव लगाइ धारा तीरथ रै उछाह इसड़ी अनेक वातां री अवलंब गहियौ।—वं.भा. २ कठिनता से पचने वाला।
सं०पु०—१ एक राजा का नाम. २ एक राक्षस का नाम. ३ एक तीर्थ का नाम।

गरी–सं०स्त्री०—१ गली, कूंचा, संकरा मार्ग। उ०—सरी-सरी सपो-सयं, सुताळ माळ कोसयं। मिठास आस मंजरी, गरी गरी स गुज्जरी।
—रा.रू.
२ मोहल्ला. ३ गिरी, गूदा. ४ नारियल के फल का भीतरी वह गोला जो छिलके के तोड़ने से निकलता है और मुलायम तथा खाने के लायक होता है. ५ दशनामी संन्यासियों का एक भेद. देखो 'गिरी'।

गरीट–वि० [सं० गरिष्ठ] १ देखो 'गरिस्ट' (रू.भे.) २ देखो 'गरींठ'। (रू.भे.)

गरीठ, गरीठौ–वि० [सं० गरिष्ठ] १ बलवान, प्रचंडकाय, महाप्रबल।
उ०—१ ग्रहै कर सावळ अंग गरीठ, 'पवौ' चढ़तौ जद केसर पीठ।
—पा.प्र.
उ०—२ वडै पराक्रम आजम वीतौ, जुध गरीठ हठ आलम जीतौ।
—रा.रू.
२ भयंकर। उ०—घणी लाज वीटियौ, वाज मेळिया नत्रीठै। दहुं ओड़ रुकड़ां, रीठ उडियौ गरीठै।—वखतौ खिड़ियौ
३ प्रभावशाली, पराक्रमी। उ०—द्वादस रामचंद्र सुत दीठा। गुण तोलण जग हूं त गरीठा।—वं.भा. ४ देखो 'गरिस्ठ' (रू.भे.)
सं०पु०—१ हाथी। उ०—रोर अदीठ हुअै प्रजळै रिम, रीझ गरीठ ववै भुज राव।—क.कु.वो. २ ऊंट।

गरीण–वि० [सं० गुरु] दीर्घ, विशाल, बहुत बड़ा।

गरीत, गरीय—देखो 'गरीठ' (रू.भे.) उ०—निरत करवै में हूर, जंग जंगू में गरीत, सालोतरू में पूर।—र.रू.

गरीब–वि० [अ० गरीब] (स्त्री० गरीबण, गरीबणी) १ निर्धन, कंगाल। उ०—मारवाड़ रौ माल मुफ्त में खावै मोडा, सेवक जोसी संग गरीबां दे नित गोडा।—ऊ.का.
कहा०—१ गरीब री खाय सो जड़ामूळ सूं जाय—जो गरीब का धन खाता है वह समूल नष्ट हो जाता है. २ गरीब रै तो टाबर-टूबर हीज धन है—गरीब की संपत्ति उसकी संतान ही है।
यौ०—गरीब-गुरबौ। विलो०—अमीर।
२ नम्र, दीन, हीन। उ०—मुरधर नर संमदर मंही, है कुण तारण-हार। गज जिम तुरत गरीब री, पातल सुणै पुकार।
—चिमनदांन रतनू
कहा०—१ गरीब ऊपर गूणती वत्ती न्हाकै—गरीब को हर कोई काम सौंप देता है, इससे उसे अधिक काम करना पड़ता है। गरीब को सभी सताते हैं. २ गरीब का बेलू रांम—गरीब का रक्षक ईश्वर है. ३ गरीब री हाय नी लेणी—गरीब को सताना बहुत बड़ा अपराध है. ४ गरीब री जोरू सगळां री भाभी—गरीब की स्त्री सबकी भौजाई होती है, हर कोई उससे दिल्लगी करता है; गरीब को कहीं आदर नहीं मिलता। उसकी हर वस्तु को हर कोई मुफ्त में लेना चाहता है. ५ गरीब री हाय खोटी—गरीब की हाय बुरी होती है, उसे कभी सताना नहीं चाहिये. ६ गरीब रै माथै दोय गूंणती वत्ती लादै—गरीब को हर कोई कार्य करने के लिये कह देता है। गरीब सदैव अधिक कार्य से दबा रहता है. ७ गरीब तौ मैल व्है जकै नै कुण भी नहीं राखै इण वास्तै गरीब नहीं हूणौ—गरीब तो मैल होता है अतः उसको कोई भी नहीं रखता। गरीब का कहीं आदर नहीं होता इसलिये गरीब नहीं होना चाहिये. ८ गरीब री बेली रांम ही कोयनी—गरीब का ईश्वर भी सहायक नहीं होता। समर्थ की सब सहायता करते हैं किन्तु दीन जनों की प्रायः कोई सहायता नहीं करता।
यौ०—गरीबखांनौ, गरीबनिवाज, गरीबपरवर।
अल्पा०—गरीबड़ौ।

गरीबखांनौ–सं०पु० [अ० गरीब+फा० खानः] ऐसा घर जिसमें सुख का कोई साधन न हो। वक्ता अपने घर के लिये भी शिष्टता हेतु यही शब्द प्रयुक्त करता है। उ०—खांगीबंद सांसणां वरीसै नवा फील-खांना। बीक भोज कीरती वरांना बीसा बीस। भांण अंस मांन-सिंघ देखजे अरांना भूप। सदा दीठ अमीरी गरीबखांना सीस।
—जवांनजी आढ़ौ

गरीबगुरबौ–सं०पु०यौ०—निर्धन व्यक्ति, दरिद्र व्यक्ति, कंगाल।
उ०—दरबार सूं गरीबगुरबै नूं खैरायत लंगर बंटणौ लागियौ।
—कुंवरसी सांखला री वारता

गरीबड़ौ–(स्त्री० गरीबड़ी) देखो 'गरीब' (अल्पा०)

गरीबनवाज, गरीबनिवाज, गरीबनेवाज–वि० [अ० गरीब+फा० निवाज] दीनों पर दया करने वाला, दयालु, कृपालु। उ०—अवगुण मोरा बापजी, बगस गरीबनिवाज। जो कुळ पूत कपूत व्है, तौ ही पिता कुळ लाज।—ह.र.
सं०पु०—ईश्वर।

गरवणौ, गरवबौ—देखो 'गरवणौ' (रू.भे.) उ०—पेट घरे जायौ पछै, धवरायौ मळ धोय । जिण कारण जगदीस सूं, जणणी गरवी जोय ।
—वां.दा.

गरवत—सं०पु०—१ प्रहास (डिंगल) सांणोर गीत (छंद) का एक भेद. २ गंभीरता । उ०—जस करै एम दुनियांण जाय, महरांण जेम गरवत ग्रमाय । दावसी घणा वांका दुरंग, जीतसी ग्रजे नृप घणह जंग ।—वि.सं.

वि० [सं० गर्वित] गर्वित, ग्रभिमानी ।

गरवत निसांणी—सं०स्त्री०—निसांणी नामक डिंगल छंद जिसके प्रत्येक पद में १३ मात्रा ग्रौर फिर १० मात्रा हो ग्रौर तुकांत में लघु हो ।

गरवर—सं०पु० [सं० गर्व] १ घमंड, दर्प ।

[सं० गिरिवर] २ पहाड़, पर्वत । उ०—हूव छड उरड़ हड़वड़ नरां हैमरां, लोह पसरां दिये छोह लाजा । तजड़ 'उमेद' भांज'र खळां तरवरां, गरवरां ऊपरा खवै गांजा ।—उमेदसिंघ ईसरदास रौ गीत

गरवरणौ, गरवरबौ—क्रि०ग्र०—समूह रूप में इकट्ठा होना ।

गरवहारी—वि०—गर्व मिटाने वाला, गर्व को खंडित करने वाला ।

गरवाई—सं०स्त्री०—१ गंभीरता. २ घमंड । उ०—गैलौ गांव-गांव गैलै नै, गिणै नहीं गरवाई नै । चित जिंदां रौ करचौ चूरमू, कनै राखि कडवाई नै ।—ऊ.का.

गरवाणौ, गरवाबौ—क्रि०ग्र०—गर्व करना, घमंड करना ।

उ०—उदियापुर दिस ग्राय दोय गांमड़िया पाया । ग्रंधाधुध हुय गया खांप बोदी गरवाया ।—ग्ररजुनजी बारहठ

क्रि०स०—गर्व कराना, घमंड कराना ।

गरवाराजा—सं०पु०—दामाद के ग्राने पर गाया जाने वाला एक लोक-गीत ।

गरवावणौ, गरवावबौ—क्रि०स०—घमंड करना, गर्व करना ।

गरविता—सं०स्त्री० [सं० गर्विता] वह नायिका जिसे ग्रपने रूप ग्रौर गुण ग्रादि का घमंड हो ।

गरवी—देखो 'गरवी' (रू.भे.)

गरवीलौ—वि० [सं० गर्वीला] (स्त्री० गरवीली) १ ग्रभिमानी, घमंडी. २ गंभीर । उ०—रगता सेता रैण, नमौ मा कसना कीला । सीकोतर ग्रासुरी, सुरी सुसिला गरवीला ।—देवि.

गरवैराय—सं०पु०—१ गिरिराज, पर्वतराज. २ चौहान राजपूत ।

गरवौ—वि०—१ गंभीर, धैर्यवान । उ०—१ गरवा होय हरि गुण गावौ, छीलर जेम न दाखौ छेह ।—ग्रोपौ ग्राढ़ौ उ०—२ गौतम सो गरवौ न्याय मांझ निरधारियौ मैं ।—ऊ.का. २ बड़ा ।

उ०—गरवा ग्रादर ना करै, करै प्रीत पाळंत । संकर विख सायर वहनि, कोर मधर धारंत ।—ग्रज्ञात

गरह—देखो 'ग्रह' (रू.भे.)

गरहण—देखो 'ग्रहण' (रू.भे.)

गरहणा—सं०स्त्री० [सं० गर्हणा] १ फटकार, डांट । उ०—सदीव सत्य सावधांन सावधांन की सुनूं । गुमांन ग्यांन गरहणा ग्रसावधांन की गुनूं ।—ऊ.का. २ उपालम्भ, शिकायत ।

[रा०] ३ निंदा, ग्रालोचना. उ०—नरेस वारद्धक में विसेस जीवावणहार ग्रापरा प्रारब्ध री गरहणा करि बंबावदा रै वा'रै ही जोगिणी नांम देवी नूं मस्तक चढ़ाइ ग्रभीस्ट लोक पूगौ सो तौ उदंत ग्रठै दूर भावी जांणीजै ।—वं.भा. ४ घृणा ।

[ग्रनु०] ५ नक्कारे की ध्वनि. ६ शब्द, ध्वनि विशेष ।

गरहर—सं०स्त्री० [ग्रनु०] ग्रावाज, ध्वनि । उ०—घासां हर नरां पाखरां गरहर, वसू हुवै नव वळावळा । ग्रसपत तणौ चीत ग्राहड़ा, तुला चढ़ंतां हुवै तुळा ।—महारांणा जगतसिंहजी रौ गीत

गरहरणौ गरहरबौ—क्रि ग्र०—१ युद्ध के बाजे बजना, नगाड़े का बजना । उ०—उण समै कावली दळ ग्रचाळ । बोहौ मिळै मीर गरहर ग्रंबाळ ।—करणीरूपक २ बिजली कड़कना, बादल गरजना. ३ दहाड़ना ।

गरहा—सं०स्त्री० [सं० गर्हणा] निंदा, शिकायत । उ०—१ कुमार प्रिथ्वीराज दुस्मन होय काका री गरहा प्रकट करी । उ०—२ ग्राठवें दिन कुमार प्रिथ्वीराज कन्ह रै सदन जाय सत्कारपूरवक गरहा री ग्लानि भगाई ।—वं.भा.

गिरांदणी—देखो ग्रांजणी' (रू.भे.)

गरांपत—सं०पु० [सं० गिरिपति] सुमेरु पर्वत ।

गरा—सं०स्त्री० [सं० गिरा] १ वाणी । उ०—सरण ग्रसरण ग्रभंकरण, धरणधर सरीखा चरण धावै । जोण संगट हरण वरण वै हुवै जसा, गरा तरण-तारण किऊं न गावै ।—जसजी ग्राढ़ौ
२ सरस्वती ।

गरा'क, गरा'ग—देखो 'ग्राहक' (रू.भे.) उ०—हे बेटा वे सगू माया रा गरा'क है सो वलिया ग्रवार ग्रावण री वाट जोवै ।—वी.स.टी.

गराज—सं०पु०—उपाय, तरकीब ।

गराजा—सं०स्त्री०—गर्जना । उ०—पाजा लोप सिंधु जिउं ग्रराबा हूं ग्रवाजां पूर मातंगां गराजा घूर जठी साजा मोह ।
—हुकमीचंद खिड़ियौ

गराढ़—सं०पु०—गर्व घमंड, ग्रभिमान ।

गरायरौ—देखो 'गरारौ' (३)

गरारौ—सं०पु० [ग्र० गरगरा] १ देखो 'गरळौ' (रू.भे.) २ गरारे करने की ग्रौषधि ।

[रा०] ३ ढीली मोहरी का पजामा ।

वि०—गर्वयुक्त, प्रचंड, प्रबल ।

गराळ—सं०पु० [सं० गिरि] पहाड़, पर्वत । उ०—झाळ बंबाळ ईसर तणौ झळहळै, ग्रळवळै वळै दीजै ऊचाळा । खाळ रोहराळ गाळा वचै खळहळै, झळहळै गराळां वीच झाला ।
—उम्मेदसिंह ईसरदासोत रौ गीत

गराव—सं०स्त्री०—चौहान वंश की एक शाखा ।

विष्णु (नां.मा.) उ०—राव-वैकुंठ घनंतर रिक्खभ, गरुड़ारूढ़ विसन प्रसणीग्रभ ।—ह.र.

गरुड़ासण, गरुड़ासन–सं०पु०यौ० [सं० गरुडासन] चौरासी आसनों के अन्तर्गत योग का एक आसन जिसमें खड़े रह कर कमर से शरीर को सम्मुख झुका कर दोनों हाथों को पीछे की तरफ शिर के आगे से मोड़ा जाता है। मतान्तर से खड़े रह कर दाहिने पांव के घुटने पर बायें पांव के घुटने को रखना और फिर बांयें पांव के पंजे को दाहिने पांव की घुंडी के ऊपर के भाग में आंटी मार कर, पीछे बांयें हाथ के मध्य भाग पर दाहिने हाथ की ठेउनी का ऊपर का भाग रख के आंटी मार, दोनों करतलों को मिला कर स्थिर खड़े रहने से भी गरुड़ासन कहलाता है. २ ईश्वर (नां.मा.)

गरुड़ि—देखो 'गरुड़' (रू.भे.)

गरुड़िधजि—देखो 'गरुड़ध्वज' (रू.भे.)

गरुड़िपति–सं०पु०यौ० [सं० गरुड+पति] विष्णु ।

गरुठ–वि०—देखो 'गरूठ' (रू.भे.)

गरुड—देखो 'गरडू' (रू.भे.)

गरुतमांन–सं०पु० [सं० गरुत्मत्] गरुड़ (ह.नां.)

गरुर—देखो 'गरूर' (रू.भे.)

गरुरी—देखो 'गरूरी' (रू.भे.)

गरुवत्व–सं०पु० [सं०] १ गौरव, महत्व, बड़प्पन ।

उ०—निस दिन रूप अनंत, वधै विधु सुकळ जिही विध । मकर आदि दिन मांन, सोभ गरुवत्व वधै सिध ।—रा.रू. २ भारीपन, बोझ।

गरुवाई–सं०स्त्री० [सं० गुरुता] १ बड़ाई । उ०—रोग को भवन ज्यूं कुजोग को समन जांणौं, दया को दमन औ गमन गरुवाई को ।
—ऊ.का.

२ घमंड, अहंकार, गर्व ।

गरुवौ–वि० [सं० गुरु] १ गौरवशाली, यशस्वी । उ०—१ तें गरुवा गिरनार, कांई मन मंछर धरचौ । मरतां रा खेंगार, ऐको मिखर न ढाळियौ ।—राजा खंगार री वात उ०—२ गुणांविध त्रिविध भुज-नाथ गरुवौ गहड ।—क.कु.बो.

गरुठ–वि०—प्रचण्ड, जबरदस्त । उ०—रोसायमांन डीलां गरूठ, दळ आया लाखां असुर दूठ ।—करणीरूपक

गरूतमांन—देखो 'गरुतमांन' (रू.भे., ह.नां.)

गरूर–सं०पु० [अ० गुरूर] १ अभिमान, घमंड, गर्व, शेखी, अहंवाद ।

उ०—गयणाग सीस छिवते गरूर । सझ फते आवियौ वियौ 'सूर' ।
—वि.सं.

२ बड़ा, दीर्घ, प्रचंडकाय, जबरदस्त । उ०—प्रजोध जोध कुप्पि के प्रधाव धप्पि दे परैं । महा गरूर पूर सूर दूर दूर तें मरैं ।—ऊ.का.

उ०—२ गहकंत इसौ लाग्गौ गरूर, सीहौ इज साझै महासूर ।

३ भयंकर । —सू.प्र.

गरूरी–सं०पु० [अ० गुरूर] घमंड, अभिमान (रू०भे०–गरूर)

उ०—१ पग पग हैंवर पाड़िया, गैंवर माता गांज । रण सेजां धव पौढ़ियौ, भड़ां गरूरी भांज ।—वी.स. उ०—२ धायन सत्ये स्वास के भरि फेन भभक्कै । छोह गरूरी छोरि के सिर फोरि ससक्कै ।—वं.भा.

वि० [अ० गुरूर+रा०प्र०ई] अभिमानी, घमंडी ।

गरेडौ—देखो 'गरडू' (रू.भे.)

गरै–क्रि०वि० —१ पास, समीप, निकट ।

२ देखो 'ग्रह' (रू.भे.)

गरोंगौ—देखो 'गांगौ' (रू.भे.)

गरोळणौ, गरोळबौ–क्रि०स०—मिलाना, मिश्रित करना ।

गरोळाणौ, गरोळावौ, गरोळावणौ, गरोळावबौ–क्रि०स० ['गरोळणौ' का प्रे०रू०] मिलवाना, मिश्रित करवाना ।

गरोळावियड़ौ–भू०का०कृ०—मिलवाया हुआ, मिश्रित कराया हुआ । (स्त्री०–गरोळावियोड़ी)

गरोळी–सं०स्त्री० [सं० गर-रा० ओळी] छिपकली (डिं.को.)

गरोह–सं०पु० [फा० गुरोह] १ समुदाय, झुंड. २ दल, पार्टी ।

गरौ–सं०पु०—१ झड़बेरी के कटे हुए झाड़ों के समूह को गोलाकार रखने का ढंग (मि०–अंबार, ३) २ ढेर, राशि ।

उ०—विणजारां री बाळद पड़ै तिण भांति घोड़ां भड़ां हाथीआं रा गरा पड़ीया छै ।—रा.सा.सं. ३ नाश, संहार । उ०—त्यांनै बाघौ तरवार छूटी वाहै, तिको घोड़ौ असवार दोनूं ही टूक होय यों हजार चार तुरकां रौ गरौ कीयौ ।—वीरमदे सोनगरा री वात

४ साहस, हिम्मत ।

[फा० गुरोह] ५ समूह, दल । उ०—अरु थांसूं तौ घणाई मिळिया है, एकै मैं आयां कांई थांरै भारी गरौ हुसी ।—द.दा.

[रा०] ६ शक्ति, बल । उ०—नै आसिया सारा आय मिळिया अरु देस मैं रिपिया पैदास कियौ नै राज रौ भारी गरौ बांधियौ ।
—द.दा.

गळ–सं०पु० [सं० गल] १ गला, कंठ, गरदन । उ०—गळ मुंडमाळ मसांण ग्रह, संग पिसाच समाज । पावन तूझ प्रभाव सूं, संभु अप-वन साज ।—बां.दा.

यौ०—गळकट, गळकोर, गळगंड ।

२ स्वर, आवाज । उ०—हेरे हरियाळी भूतळ हर खाती, गहरे ऊंचे गळ हरियाळी गाती ।—ऊ.का. ३ मछली, मीन. ४ एक प्राचीन बाजे का नाम । [रा०] ५ फांसी ।

क्रि०प्र०—देणी, चढ़ावणी ।

६ मांसपिंड, गोश्त का टुकड़ा । उ०—१ सुज गळां समपै ग्रीध समळां, पळां भोजन परघळी ।—र.ज.प्र. उ०—२ गळ भार लिये पळचार ग्रीव, पत वार सगत भर रुधर पीव ।—वि.सं.

वि० [सं० ग्रड] मीठा । उ०—तळ पंथी गळ फूल फळ, सर पंछी न समाय । ओहिज हरियौ रूंखड़ौ, सूखौ ठूंठ कहाय ।—अज्ञात

गरीबपरवर–वि०यौ० [अ० गरीब+फा०प्र० पर्वर] दीनों का पालन करने वाला।

गरीबांनिवाज—देखो 'गरीबनिवाज' (रू.भे.)

गरीबी–सं०स्त्री० [अ० गरीबी] १ दरिद्रता, निर्धनता, कंगाली।

कहा०—गरीबी में आटौ गीलौ—गरीब स्थिति में जो कुछ आटा (चून) पास में था, वह भी अधिक पानी मिल जाने से गीला हो गया। गरीबी में आपत्ति पर आपत्ति आने पर।

२ दीनता, नम्रता। उ०—दिन-दिन भोळी दीसतौ, सदा गरीबी सूत। काकी कुंजर काटतां, जांणवियौ जेठूत।—वी.स.

गरु—देखो 'गुरु' (रू.भे.) उ०—चेला वंस छतीस, गरु घर गहलोतां तणौ। राजा राणा रीस, कहतां मत कोई करौ।

—सूरायचजी टापरचौ

गरुऔ–वि०—१ बलवान, शक्तिशाली. २ गंभीर।

उ०—वीस दोई मात्रा विगति, मेक चरण मंडांण। गुण गरुअे गहडेर रा, मेर छंद परमांण।—ल.पि.

गरुघटाळ–सं०पु०यौ०—धातु का बना बाजा जो केवल ध्वनि के लिये मोगरी से ठोक कर बजाया जाता है।

वि०—१ बड़ा भारी चालाक, अत्यन्त चतुर. २ धूर्त्त, चालबाज।

गरुड–सं०पु० [सं० गरुड] १ पक्षियों का राजा माना जाने वाला एक पक्षी।

वि०वि०—एक पौराणिक पक्षी जिसका आधा शरीर मनुष्य का और आधा पक्षी का माना जाता है। यह विष्णु का वाहन है। बालखिल्यों की तपस्या के फलस्वरूप पुत्रेष्ठि यज्ञ के पश्चात् कश्यप और वनिता से इसकी उत्पत्ति हुई। कद्रू और वनिता की शत्रुता के कारण कद्रू-पुत्र सर्पों का यह बड़ा शत्रु है। इसका मुख श्वेत, पंख लाल एवं शरीर सुनहला माना गया है। संपाति इसका पुत्र था। इसकी पत्नी का नाम विनायका है। रामचरित मानस के चार वक्ता और श्रोता वर्ग में से काकभुशुंड और गरुड़ भी एक वर्ग हैं।

पर्याय०—अरणभंग, अरणसंख, अम्रतचरण, अरुणानुज, अरुणावरज, अहिगाह, अहिभुक, अहिरिप, इंद्रजीत, उनतीनाह, कसपतनु, कस्यप-सुतन, कस्यपात्मज, कासपी, कासीपी, खग, खगपत, खगराज, खगेस, खगेसर, गिरगज, ग्रीधळ, चपळवास, जतीवाह, तारक, तारक्ष, तारख, दिढ़वंत, दुजपति, धखपंख, पंखपत, पंखी, पंखीपत, पत्रीगज, पूतात्मा, प्रगड, बळवंत, बिखहा, बिनतासुतन, बिहंगेन, बैनतेय, भुजंगमचर, भुजावेद, भुयंगचर, मंत्रपूत, मनवाह, यंद्रजीत, राजपत्री, लघुअसण, वजरतुड, वनितामुत, वायुविरोधी, विखहर, वेनतनय, व्याळारी, सकतीधरण, सकतीधर, सजव, सालमळी, सुतपावाहन, सुधाचरण, सुपरण, सुप्रसण, सेस, सोव्रनतन, हरिवाह, हरिवाहण।

रू.भे.–गरड़, गरुड़ि, गरुड़ू, गुरड़।

यौ०—गरुड़केतु, गरुड़गांमी, गरुड़धज, गरुड़पक्ष, गरुड़पास, गरुड़-पुरांण, गरुड़वाह, गरुड़वेग।

२ उकाब पक्षी जो गिद्ध की तरह का और बहुत बलवान होता है. ३ सेना की एक प्रकार की व्यूह-रचना जिसमें अगला भाग नोकदार, मध्य का भाग विस्तृत और पिछला भाग पतला होता है।

यौ०—गरुड़-व्यूह।

४ वीस प्रकार के प्रासादों में से एक जिसमें बीच का भाग चौड़ा तथा अगला और पीछे का भाग नुकीला होता है. ५ चौदहवें कल्प का नाम. ६ छप्पय छंद का ५५ वां भेद जिसमें १६ गुरु १२० लघु से १३६ वर्ण या १५२ मात्रायें होती हैं (र.ज.प्र.) ७ देवालय में पूजा या आरती के समय हाथ में लटका कर बजाया जाने वाला टिकोरा जिसके हत्थे पर प्रायः गरुड़ की मूर्ति होती है।

गरुड़केतु–सं०पु०यौ० [सं०] गरुड़ध्वज, विष्णु।

गरुड़गांम, गरुड़गांमी–सं०पु०—विष्णु। उ०—रघुवर महाराज गाव नहचै यक पल न लाव, रंक करै सोई राव सुद्ध भाव सांम रे। दीन-बंधु देवदेव भाखत स्तुति भ्रहम भेव, जेता जग सो अजेव गहर गरुड़गांम रे।—र.ज.प्र.

गरुड़घटी–सं०पु०—देवालय में पूजा के समय हाथ में लटका कर बजाया जाने वाला टिकोरा जिसके हत्थे पर प्रायः गरुड़ की मूर्ति होती है। (मि० 'गरुड़' ७)

गरुड़धज, गरुड़ध्वज–सं०पु० [सं० गरुडध्वज] १ ईश्वर, विष्णु आदि ईश्वर के रूप (नां.मा.) उ०—गरुड़ध्वज रिम मांण गाळा, वैर बाहर सीतवाळा।—र.ज प्र. २ एक प्रकार का स्तम्भ जिस पर गरुड़ की आकृति बनी होती है।

गरुड़पक्ष–सं०पु० [सं०] नृत्य में कुहनी टेढ़ी करके दोनों हाथ कमर पर रखने का भाव, नृत्य की एक मुद्रा।

गरुड़पास–सं०पु०यौ० [सं० गरुडपाश] एक प्रकार का फंदा या फांसी, इसे प्राचीन काल में शत्रु को फँसाने और बांधने के लिये उस पर फेंका जाता था।

गरुड़पुरांण–सं०पु०यौ० [सं० गरुडपुराण] अठारह उप-पुराणों के अंतर्गत एक उपपुराण।

वि०वि०—इसकी श्लोक संख्या १६००० तथा प्रकृति सात्विक कही जाती है। गरुडकल्प में विष्णु भगवान ने इसे सुनाया जिसमें विनता-नंदन गरुड़ के जन्म की कथा कही गई है। इस पुराण में तन्त्रों के मंत्र और औषधियों का वर्णन अधिक है। रत्न, धातु आदि की परीक्षा-विधि विस्तार से दी गई है। इसके पश्चात् सृष्टि-प्रकरण से लेकर सूर्य तथा यदुवंशी राजाओं का इतिहास तक का वर्णन किया गया है। पाश्चात्य विद्वान विल्सन गरुडपुराण के अस्तित्व पर ही संदेह प्रकट करते हैं। हिंदुओं में मृत्यु पर तीसरे दिन से ग्यारहवें दिन तक इसकी कथा कही जाती है।

गरुड़वाह–सं०पु०—विष्णु।

गरुड़वेग–सं०पु०—शीघ्रता, जल्दी (डि.को.)

गरुड़व्यूह–सं०पु०यौ० [सं० गरुडव्यूह] देखो 'गरुड़' (३)

गरुड़ारूढ़–सं०पु०यौ० [सं० गरुडारूढ़] गरुड़ पर सवारी करने वाला,

गळडवौ रहतौ।—बां.दा. ख्यात २ हाथ में चोट लगने पर उसे गले से लटकाते हुए ऊंचा रखने के लिए कोहनी से हाथ मोड़ कर गले से बांधी जाने वाली पट्टी. ३ पशु आदि के गले में बांधने का पट्टा।

गळडळ—सं०पु०यौ० [रा० गळ = मांस + डळ = टुकड़ा] मांसपिंड, गोश्त का टुकड़ा। उ०—डाक चमु वजाड़ै थपाड़ै ग्रीधां गळडळां, बीजूजळां भुजावळां भांजै खळां व्रंद। अच्छरां अरजां करै आंटीला वींवाणां आवौ, अंगहोमां कहै ऊभी आवौ पुरां इंद।

—वनजी खिड़ियौ

गळणी—सं०स्त्री० [सं० गलनी] गले हुए अफीम को छानने का एक उपकरण। उ०—भला जुवांन मचकावै छै। बेवड़ी गळणी सूं खीची चाढ़ छांणजे छै।—रा.सा.सं.

गळणौ—देखो 'गरणौ' (रू.भे.)

गळणौ, गळबौ—क्रि०अ०—१ किसी द्रव्य के संयोजक अंशों या अणुओं का एक दूसरे से इस प्रकार पृथक होना कि जिससे वह द्रव्य विकृत कोमल या द्रव हो जाय, गलना. २ मिटना, नष्ट होना।

उ०—१ जाळ टळै मन क्रम गळै, निरमळ थावै देह। भाग हुवै तौ भागवत, सांभळजै स्रवणेह।—ह.र.

उ०—२ बीजी ही जायगा छै तौ चोर लगायस्यां सो आज सारौ गरब गळियौ।—सूरे खींवे री वात ३ किसी दल के खिलाड़ी का परास्त होकर हटना या पृथक होना.

४ कृश होना, क्षीण होना। उ०—१ सळ पड़ियोड़ा सिथळ गोळ भुज है गळियोड़ा। गळियोड़ा छिक गुंमर गिरे ढूंगा गळियोड़ा।

—ऊ.का.

उ०—२ इंदु वदन गोखड़ां ऊभी, टोयां काजळ टीबी। गळती रात पुकारै गोरी, बावहिया ज्यूं बीबी।—राठौड़ अमरसिंह री वात

उ०—३ गया गळंतौ राति, परजळती पाया नहीं। से सज्जण परभाति, खड़हड़िया खुरसांण ज्यूं।—ढो.मा.

मुहा०—रात गळणी—रात्रि का ढलना, व्यतीत होना।

क्रि०स०—५ निगलना, हजम करना। उ०—रहचै जंते प्रसण दळ रासै, धारां मुंह नींजोड़ वड़। गळती मांस रंगी रण ग्रीधण, ऊडंती रंगिया अनड़।—संकरजी बारहठ ६ नाश करना।

उ०—तूटै असण धसण तरवार्‌यां, झीक वहै सावळां झळ। गळिया 'गजन' तणै धवळगिर, दहुं पतसाहां तणा दळ।

—नरहरदास बारहठ

गळणहार, हारौ (हारी), गळणियौ—वि०।

गळवाणौ, गळवाबौ—प्रे०रू०।

गळाड़णौ, गळाड़बौ, गळाणौ, गळाबौ, गळावणौ, गळावबौ—क्रि०स० प्रे०रू०।

गळिओड़ौ, गळियोड़ौ, गळ्योड़ौ—भू०का०कृ०।

गळीजणौ, गळीजबौ—भाव वा०, कर्म वा०।

गळतंग—सं०पु०—ऊंट के गले में डाला जाने वाला चमड़े या सूत का फीता। ऊंट की पीठ पर का चारजामा पीछे न खिसके अतः चारजामे को रस्सी द्वारा इस फीते के साथ कस कर बांध दिया जाता है।

गळत—वि० [अ०] १ अशुद्ध, भ्रममूलक, असत्य।

[रा०] २ एक प्रकार का कुष्ट रोग (मि०—गळतकोढ़)

३ वह जायदाद या संपत्ति जिसका मालिक मर गया हो एवं उसका कोई उत्तराधिकारी न हो।

गळतकियौ—सं०पु०—१ सोते समय गालों के नीचे रक्खा जाने वाला छोटा गोल और मुलायम तकिया. २ वह छोटा पत्थर का टुकड़ा जो दीवार एवं छत की पट्टियों के संधिस्थल पर आवश्यकतानुसार लगाया जाता है।

गळतकोढ़—सं०पु०—आठ प्रकार के कुष्ठ रोगों में से एक। गलितकुष्ठ।

गळतनांमौ—सं०पु०यौ०—किसी प्रकाशित पुस्तक में लगी हुई वह सूची जिसमें अशुद्धियों को शुद्ध रूप में दिखाया गया हो। शुद्धिपत्र।

गळतफहमी, गळतफैमी—सं०स्त्री० [अ० ग़लतफ़हमी] कुछ का कुछ समझना, बोधभ्रम।

गळतांण, गळतांन—वि०—१ निमग्न, तल्लीन। उ०—रांमरस प्याले रा पीअणहार, दया-धरम रा पाळणहार, करमजाळ रा भोडणहार, तापस अस्टांग जोग साझणहार, सांत रस माहे गळतांण होइनै रहिया छै। —रा.सा.सं.

२ अनुरक्त. ३ मस्त, उन्मत्त। उ०—आदमी बागियां सगळां नूं अमलां सूं गळतांन राखां तौ तीजां नीसर जावै। आपांनूं दोय दोय गोठ पांती आयसै।—कुंवरसी सांखला री वारता

गळतियौ—सं०पु०—पशुओं का, विशेष कर ऊंट का ही एक रोग विशेष जिसके कारण पशु दिन-प्रतिदिन अशक्त होता जाता है। पशुओं का कामला रोग।

गळती—सं०स्त्री० [अ० गलत + रा० प्र० ई] १ अशुद्धि, भूल, त्रुटि. २ देखो 'गळत' (४)

गळथणियौ—वि० [सं० गलस्तन] १ पर्वतीय जाति की बकरी की गर्दन के नीचे चमड़े के दो टुकड़ों में लटकने वाले वे भाग जो स्तन के समान लटकते रहते हैं. २ गले से पशुओं को बांधने का बंधन।

गळथणी—सं०स्त्री० [सं० गलस्तनी] वह बकरी जिसकी गरदन के नीचे गळथणिया। (देखो 'गळथणियौ' १) लटकते रहते हैं।

गळथण्यौ—देखो 'गळथणियौ' (रू.भे.)

गळथैली—सं०स्त्री० [सं० गल + रा० थैली] बंदरों के गाल के नीचे की थैली जिसमें वे खाने की वस्तु भर लेते हैं।

गळथौ—सं०पु० [सं० गल + हस्त] गर्दन पकड़ कर धक्का देकर गिराने की क्रिया। गरदनियां

गळथ्यण, गळथ्थियौ—सं०पु० [सं० गलस्थाणु] १ गले का बंधन।

उ०—गयवर गळै गळथ्थियौ, जहं खंचै तहं जाय। सिंघ गळथ्थण

क्रि०वि०—१ पास, निकट। उ०—गोळू गायां लै गांमां गळ गाहै। दुखिया सुखिया मिळ दोनूं दळ दाहै।—ऊ.का. २ इर्द-गिर्द। उ०—टूकां गळ कांठळ लपटांणी, वरिणयौ अरवुद नवल वनौ। —नवलजी लाळस

गल—देखो 'गल्ल' (रू.भे.) उ०—१ तो हुंता ढोलौ कहै, कूड़ी गल मां कत्थ। हवै तो जीवण एकठा, मरतौ मारू सत्थ।—ढो.मा. उ०—२ गोपाळोत अमर राखण गल, 'देवा' सवाईसींग जिसे दिल। राजा हूंत कह्यौ वड रिड़मल, खैरायतां हुवै नहि खेचल। —ठाकुर भभूतसिंह चांपावत री गीत

गळकंवळ-सं०स्त्री०—गाय के गले के नीचे का लटकता रहने वाला भाग।

गळकट-वि० [सं० गलकट] गला काटने वाला, हत्यारा। उ०—१ भूवा भगनी रा थळचट भिखियारी, धन्या कन्या रा गळकट हठधारी।—ऊ.का.

गळका-सं०पु० (वहु०) आनन्ददायक स्वादिष्ट भोजन को रुचि से खाने का भाव।
कहा०—घणा दाड़ा गळका कीदा, पण खरा खोटां नी पारख आज है—बहुत दिन तक आनन्द से खाते रहे परन्तु समय आ गया है, तुम्हारी अच्छाई या बुराई की परीक्षा आज ही होगी। किसी के द्वारा निरन्तर लाभ उठाते रहने के पश्चात् जब उसे किसी कार्य की कसौटी पर कसा जाता है तब यह कहावत कही जाती है।

गळकाणौ, गळकावौ-क्रि०स० [सं० गलकलित] १ गले के नीचे उतारना, निगलना. २ खाना हजम करना।

गळकायोड़ौ-भू०का०कृ०—१ गले के नीचे उतारा हुआ, निगला हुआ. २ खाया हुआ, हजम किया हुआ। (स्त्री० गळकायोड़ी)

गळकावणौ, गळकाववौ—देखो 'गळकाणौ' (रू.भे.)

गळकावियोड़ौ—देखो 'गळकायोड़ौ' (रू.भे.) (स्त्री० गळकावियोड़ी)

गळकोड़-सं०पु०—वह बंधन जिससे बैलगाड़ी के साथ उन दो लकड़ियों को बांधा जाता है जो कि गाड़ी में गाड़ीवान के बैठने की जगह के सामने सीधी लगी हुई होती है एवं जिनकी सहायता से बैल को खोल लेने पर भी गाड़ी खड़ी रहती है।

गळकोड़ा-सं०पु०—१ मालखंभ की एक कसरत. २ कुश्ती का एक पेंच।

गळकोर-सं०स्त्री०—जट की बनी काली पतली रस्सी जो बैलों को सजाने के लिए उनके गले में पहनाई जाती है।

गळखोड़-सं०पु०—घोड़े के गले में बांधने की चमड़े की पट्टी जो लकड़ी की गुडेल से या कसमार से बांधी जाती है।

गळगंट, गळगंठौ-सं०पु० [सं० गल+ग्रंथि] गले के दोनों ओर की गिल्टियां जो जबान की जड़ के दोनों तरफ होती हैं।

गळगंड-सं०पु० [सं०] गले में होने वाला एक रोग जिसमें गले में सोथ हो जाता है और धीरे-धीरे बढ़ते-बढ़ते सामने एक गांठ निकल आती है।

गळगळ-सं०स्त्री० [अनु०] १ मुंह में पानी भर कर गले से बाहर हवा निकालने पर उत्पन्न ध्वनि।

गळगळणौ, गळगळवौ-क्रि०स०—निगलना। उ०—गायां गोसाळां गूंदां गळगळती, ढाळां द्रग ढळती बूंदां वळवळती।—ऊ.का.

गळगळौ-वि० (स्त्री० गळगळी) १ डबडबाए नेत्रों वाला, अश्रुपूर्ण। उ०—तरै डोकरी आंख्यां गळगळी करिनै गळै भूंबी नै कह्यौ, धन दिन आज रौ, घणा दिनां रौ बीछड़ियोड़ौ पुत्र मिळियौ। —जखड़ा मुखड़ा भाटी री वात
२ गद्गद् कंठ। उ०—अब्दुल सीख पाय गळगळौ थकौ वारे आइयौ।—नी.प्र. ३ अधिक घृतयुक्त (भोजन या कौर)

गळगेटौ-सं०पु०—पानी के साथ आटे आदि को मिला कर आंच पर पकाते समय बिना हिलाये एवं असावधानी के कारण बनने वाली वे ग्रंथियां (गुठलियां) जो कि अंदर से कच्ची रह जाती हैं।

गळगोत-सं०स्त्री०—गिलोल।

गळग्रह-सं०पु०—कंठ का एक रोग विशेष जिसमें कफ की वृद्धि से गला अवरुद्ध हो जाता है (अमरत)

गळग्रहवाई-सं०स्त्री०—घोड़े का एक रोग विशेष जिसके कारण घोड़े के गले में ग्रंथि हो जाती है और घोड़ा अपना कंधा नीचे झुकाए रहता है (शा.हो.)

गळछट-वि०—१ रोटी के लिए मारा-मारा फिरने वाला, टुकड़खोर. २ अधिक घृतयुक्त भोजन (भोजन या कौर) उ०—झिरमिर झिरमिर मेहड़ौ वरसै वादळियौ घररावै ए। ग्वाळां नै म्हारै गळछट चूरमौ।—लो.गी.

गळछेदक-सं०पु०—एक प्रकार का शस्त्र।

गळजोड़-सं०पु०—१ दो पशुओं को एक साथ बांधने के लिए उनकी गर्दन में बांधा जाने वाला एक उपकरण. २ इस प्रकार एक साथ बंधन में बंधे दो पशु. (मि०—सिलाड़) ३ जोड़ा, युग्म। उ०—गाजे बांग आरहट गोळां, घोळै दिन सावळां घमोड़। गोपाळोत ऊपरै गुड़िया, जोगणपुरां तणा गळजोड़। —वीठल गोपाळदासोत री गीत

गळझंप-सं०स्त्री०यौ० [सं० गल+झंपा] युद्ध के समय हाथियों के गले में पहनाई जाने वाली लोहे की झूल।

गळझट—देखो 'गळछट' २। उ०—वाळकियौ भतीजौ मेरौ रेवड़ चरावै, नणदल गायां घेरै ए। ग्वाळां नै म्हारै गळझट चूरमौ, हाळियां नै खीर लपसौ ए।—लो.गी.

गळडव, गळडवौ-सं०पु०यौ० [सं० गल+द्रव्य] १ कन्धे से लटकने वाला चमड़े का एक पटा, जिसमें तलवार बांधी जाती है। उ०—बहादुरसिंघजी रै नागौरी घमाकौ सवां में रहतौ। लोह री मूठ लोह रातै माळवी तरवार गळडवै रहतौ। अघोड़ी रौ

वरसाती घास जिसके खाने से पशु का पेट अफर जाता है. २ पशुओं के गले में बांधी जाने वाली चमड़े या सूत की रस्सी।

गळवांन—वि०—गलने वाला, नष्ट होने वाला।

कहा०—गारे ना गड़्या कल गळवाना—मिट्टी के पात्र नाशवान हैं; नश्वर देह का क्या मोह ?

गळवाह—सं०स्त्री०—गर्दन पर किया जाने वाला प्रहार। उ०—करि घड़ वेहड़ गरा केवियां, हाथूं के **गळवाह** हिचि। हंस वप हूंत विछूटी हालियौ, वांटियौ सुरां विमांण विचि।—तीकमदास खिड़ियौ

गळसरी, गळसिरी—सं०स्त्री० [सं० गलश्री] गले में पहिना जाने वाला कंठश्री नामक आभूषण। उ०—गळै में **गळसरी** पहर लीज्यौ ये अंवा।—लो.गी.

गळसुंडी—सं०स्त्री० [सं० गलशुंडी] १ मांस का एक छोटा जीभ के आकार का खंड जो गले के अंदर जीभ के मूल के पास होता है (अमरत) २ तालु का एक रोग विशेष जिसमें कफ और रक्त के विकार से तालु की जड़ में सूजन हो जाती है (अमरत)

(रू०भे०—गळसूंडी)

गळसुओ—सं०पु० [सं० गलसूती] शीतकाल में मस्ती में आये हुए ऊँट के मुंह से बाहर निकलने वाली गलशुंडी।

वि०वि०—देखो 'साळू' ६।

गळसूंडी—देखो 'गळसुंडी' (रू.भे.)

गलस्तनी—देखो 'गळथणियौ' (रू.भे.)

गळहाथ—देखो 'गळैहाथ' (रू.भे.)

गळांछळौ, गळांठौ—सं०पु० [सं० गलोच्छल] (स्त्री० गळांछळी) किसी वर्तन को उसके गले तक भर देने की क्रिया।

वि०—गले तक भरा हुआ।

गलांण—देखो 'गलांनि' (रू.भे.) उ०—हरणं पसू तिण खिण हचै, हिये दया री हांण। थाळी मांह मसांण थट, गिल ही छोड **गलांण**।
—वां.दा.

गळांणो—सं०पु०—किसी पात्र के गले में रस्सी आदि का डाला जाने वाला वह बंधन जो उस पात्र को उठा कर लाने ले जाने के लिए सहायक हो।

गळांमणो—सं०पु०—१ गले का बंधन जो पालतू पशुओं के गले में डाला जाता हो। २ देखो 'गळवांणो' (२)

कहा०—कुत्ती गई नै गळांमणो ई लेगी—किसी बड़ी हानि के साथ छोटी-मोटी अन्य प्रकार की हानियां होने पर।

२ देखो 'गळांणो' (रू.भे.)

गळांवडो—सं०पु० [सं० गलांदुक] पशुओं के गले में बंधी हुई रस्सी।

गळाई—क्रि०वि०—भांति, तरह, प्रकार।

सं०स्त्री०—१ पिघलाने का कार्य. २ गलाने के कार्य की मजदूरी।

गळाको—सं०पु० [सं० गल+क] १ गला निकाल कर झांकने की क्रिया या भाव।

[सं० गलकलित] २ निगलने का भाव।

गळागळ—सं०स्त्री० (अनु०) एक साथ शीघ्र निगलने की क्रिया या भाव.

गळाणो, गळावो—क्रि०स०—१ किसी द्रव्य के संयोजक अंशों या अणुओं का एक दूसरे से इस प्रकार पृथक करना कि जिससे वह द्रव्य विकृत, कोमल या द्रव हो जाय, गलाना. २ मिटाना, नष्ट करना. ३ किसी दल के खिलाड़ी को परास्त करके खेल से हटाना या पृथक करना. ४ कृश करना, क्षीण करना.

('गळणो' का प्रे०रू०) ५ निगलाना, हजम कराना।

गळाणहार, हारो (हारी) गळाणियो—वि०।

गळाड़णो, गळाड़वो, गळावणो, गळाववो—रू०भे०।

गळाग्रोड़ो, गळायोड़ो—भू०का०कृ०।

गळाईजणो, गळाईजवो—कर्म वा०।

गळणो—अक रू०।

गलांनि—सं०स्त्री० [सं० ग्लानि] १ दुःख या पछतावे के कारण खिन्नता, अपने किए का पछतावा या खेद, अपनी करनी पर लज्जा. २ घृणा।

गळायोड़ो—भू०का०कृ०—गलाया हुआ। (स्त्री० 'गळायोड़ी')

गलार—सं०स्त्री०—१ भेड़ द्वारा की जाने वाली ध्वनि। उ०—सिंघां सिर नीचा किया, गाडर करै **गलार**। अघपतियां सिर ओढ़णी, तो सिर पाघ मलार।—अज्ञात

२ गिद्ध पक्षी की ध्वनि। उ०—खरळ दिसा खांखळी तवै तीतर दिस उत्तर। ग्रीवण करै **गलार** चील चोहंती वडां सिर।—पा.प्र.

३ आनंद, मौज। उ०—कूकर रखवाळी करै, दूजां लोकां द्वार। देसोतां री डोढ़ियां, गोला करै **गलार**।—वां.दा.

गलाळ—सं०पु०—माँस-पिंड, गोश्त का टुकड़ा। उ०—भिड़ै अस तोला लोह भिड़ाळ, गिळै रस ग्रीवण गूद **गलाळ**।—गो.रू.

गळावट—सं०स्त्री०—गलाने की क्रिया या भाव।

गळावणो, गळाववो—देखो 'गळाणो' (रू.भे.)

गळावणहार, हारो (हारी), गळावणियो—वि०।

गळाविग्रोड़ो, गळावियोड़ो, गळाव्योड़ो—भू०का०कृ०।

गळावीजणो, गळावीजवो—कर्म वा०।

गळणो—अक रू०।

गळावियोड़ो—भू०का०कृ०—गलाया हुआ। (स्त्री० गळावियोड़ी)

गळि—१ देखो 'गळी' (रू.भे.) २ गला, गर्दन।

उ०—आभूखण वज्र तणा अथाहे। माथा तणा हार **गळि** मांहे।
—सू.प्र.

गलिचो, गळिचो—सं०पु० [फा० गालीच] गलीचा, कालीन।

गलित—वि० [सं०] १ गला हुआ. २ पुराना, जीर्ण-शीर्ण, खंडित।

गळित्रागो—सं०पु०—१ यज्ञोपवीत धारण किया हुआ व्यक्ति, ब्राह्मण, द्विज। उ०—तितरै हेक दीठ पवित्र **गळित्रागो**, करि प्रणपति लागी कहण। देहि संदेस लगी दुवारिका, वीर वटाऊ ब्राह्मण।—वेलि.

२ जनेऊ, यज्ञोपवीत।

जे सहै, तौ दह लाख विकाय।—खीची अचळदास री वचनिका

देखो 'गळथणियो'।

गळदांई–सं०स्त्री०—मंदाग्नि के कारण अम्ल और जलनमय उद्गार के आने का रोग।

गळनहौ–सं०पु०—हाथियों का एक रोग जिसमें उनके नाखून गल-गल कर निकला करते हैं।

वि०—वह हाथी जो इस रोग से पीड़ित हो।

गळपटियो–सं०पु०—१ स्त्रियों के गले का आभूषण विशेष. २ गले में बांधी जाने वाली पट्टी।

गळपूंछियो–सं०पु०—एक प्रकार का घास विशेष (क्षेत्रीय)

गळप्रोत–सं०पु०—कंठ का एक आभूषण।

गळफड़ौ–सं०पु० [सं० गलस्फटा] गाल के दोनों ओर का वह मांस जो दोनों जबड़ों के बीच में होता है। गाल का चमड़ा।

गळफदार—एक विशेष प्रकार के बनावट की खिड़की।

गळफांसी–सं०स्त्री० [सं० गलपाश] १ गले की फांसी. २ कष्टदायक वस्तु या कार्य।

गळबंध–सं०पु०—कंठ रुकने या दम घुटने का भाव, कंठावरोध।

उ०—गंधि गयौ ग्रह रेगर के, गळबंध भयौ ग्रहबंध बिगारचौ। पीनस काय के पास कपूर, धरचौ कवि 'ऊमर' तौ हिय हारचौ।—ऊ.का.

गळबत्थ, गळबथ–सं०स्त्री०—गले में बांहें डाल कर मिलने का भाव, आलिंगन। उ०—१ संपेखे वाल्हा सगा, मिळ गळबत्थां मार। पहली बाहण पांहुणां, मंडीजै मनुहार।—वी.स. उ०—२ मांने तौ एहसांण द्रमंके भांमण डरती। हळफळती धव अंग मिळै गळबत्थां भरती।—मेघ०

क्रि०प्र०—घालणी।

गळबळ–सं०पु० [अनु०] १ कोलाहल. २ खलबली, गड़बड़ी।

वि०—अस्पष्ट। उ०—आघा-आघा ऊचरै, राउत तेथ हरोळ। पग खरड़ै हलबळ पड़ै, बोलै गळबळ बोल।—वी.स.

गळबांई, गळबांह, गळबांही, गळबाखड़ी, गळबाथ–सं०स्त्री० [सं० गल+बाहु] गले में बांह डालना, कंठालिंगन। उ०—१ माळै बैस बिवांणां मांई, क्रीत जुगां तांई कहलोत। अपछर परण गयौ इक दांई, गळबांहीं कीधां गहलोत।—महादांन महड़ू

उ०—२ च्यारि ही भाई पैलां नूं जाय संसय जणाइ खागां रा खेल्ह में खंड विहंड होइ विमांणां बैठा नारियां रै साथ गळबांह कीधां सुरलोक पूगा।—वं.भा.

उ०—३ गळबांही दीजै है, पूरण नेह नेह रस लीजै।—र. हमीर

उ०—४ तिण भांति गळबांखड़ीआं घातियां थकां बालो जोबन मांणीजै छै। इण भांति सुख-बील करि रात पाछी नाखीजै छै।—रा.सा.सं.

उ०—५ जांणू हूं हिवड़ै हुवौ, सैणां हंदौ साथ। जे सपनौ सांचौ हुवै, तौ घालूं गळबाथ।—र.रा.

(रू०भे०—गळबत्थ, गळबथ)

गळवाह–सं०पु०—रहट के मध्य स्तम्भ के ऊपरी सिरे पर लगा हुआ लकड़ी का अंकोड़ा जिसमें वह सिरा घूमता है।

गळवूचियौ, गळवूचौ–सं०पु०—हथेली को फैला कर बनाई गई वह अर्द्ध-चंद्राकार मुद्रा जो किसी का गला पकड़ कर धक्का देने के उद्देश्य से बनाई जाय अथवा इस प्रकार की मुद्रा से दिया जाने वाला धक्का।

गळवोवौ–सं०पु०—पर्वतीय जाति की बकरी की गर्दन के नीचे चमड़े के दो टुकड़ों में लटकने वाले वे भाग जो स्तन के समान लटकते रहते हैं। (मि०—गळथणियौ)

गलवौ, गळवौ—१ देखो 'गळवळ'। उ०—इस किल्ले में सुजांनसिंघ ठाकर, जिसके 'हाजर्‌या' चाकर। 'हाजर्‌यां' ने आपां दिखलाया, गलवे के साथ बाहर को आया।—ला.रा. २ पशुओं के गले में डालने का बंधन।

गळमुच्छौ–सं०पु०—दोनों गालों पर के बढ़ाये हुए बाल, गलमुच्छा।

गळमुद्रा–सं०स्त्री० [सं० गल+मुद्रा] गाल बजाने की एक प्रकार की मुद्रा जो शिवजी के पूजन, शयन आदि के समय उनको प्रसन्न करने के लिए की जाती है। गलमंदरी।

गळमेद–सं०स्त्री०—गले का एक रोग जिसमें आरम्भ में सूजन होती है और क्रमशः बढ़ते-बढ़ते सामने एक गांठ सी निकल आती है। यह गांठ भिन्न-भिन्न प्रकार की होती है और कभी-कभी इतनी बढ़ जाती है कि थैले की तरह गले में लटकने लगती है।

गलर–सं०पु०—१ स्वाद लेने की क्रिया. २ वृक्ष या पौधे का रस-भरा भाग।

गळळ–सं०स्त्री०—निगलने का भाव। उ०—ग्रीध हळबळ समर गळळ पळ मिळगरां, असळ सळ वळोवळ कळळ हूंकळ तुरां।

—महादांन महड़ू

गळळाटौ–सं०पु० [अनु०] १ हल्क के नीचे द्रव पदार्थ उतारते समय होने वाली एक ध्वनि. २ शोकजनक आवाज। उ०—गदगद वांणी द्रग पांणी गळळाटा, कंगला बंगलां में कीना कळळाटा।

—ऊ.का.

गळळाणौ, गळळाबौ, गळळावणौ, गळळावबौ–क्रि०अ०—१ डबडबाना. २ शोक-ध्वनि करना, विलाप करना। उ०—देखै सूरजमल दरस, हिय पावू रै हेत। ओठी गळळायौ अधक, दूर हूंता पग देत।

—पा.प्र.

[अनु०] ३ पानी मुंह में भरने एवं अंदर से वायु बाहर निकालने पर भरे पानी के कारण होने वाली गल-गल की ध्वनि। उ०—जळ भीतर ग्राव मचाय महाजुध, कंटक लीध दवाय करी। गळळावत सूंड रही दुय अंगुळ, हेत धणै पतराय हरी।—भगतमाळ

गळवांणी–सं०स्त्री०—सिके हुए आटे को गुड़ में मिला कर पानी में उबाल कर बनाया हुआ मीठा पेय पदार्थ।

गळवांणौ–सं०पु०—१ देखो 'गळवांणी' (रू भे.) २ एक प्रकार की

फेरणी—बहुत नुकसान पहुँचाना, मारना, गला काटना. ६ गळै बांधणी—इच्छा के खिलाफ देना, जबरदस्तो देना. ७ गळै नांखणी—किसी के जिम्मे देना, ग्रादर देना. ८ गळै लगणी—गले मिलना. ९ गळै लगाणी—प्रेम करना, ग्रालिंगन करना. १० गळौ काटणी—ग्रत्याचार करना, सर को धड़ से ग्रलग करना, बहुत कष्ट देना, बहुत बड़ा नुकसान, ग्रहित या बुराई करना. ११ गळौ घुटणी—साँस रुक-रुक कर ग्राना. १२ गळौ घोटणी—गला दबा कर हत्या कर डालना. १३ गळौ छुडाणी—छुटकारा पाना, मुक्ति या छुटकारा दिलाना. १४ गळौ छूटणी—झंझट मिटना, झंझट से निकलना. १५ गळौ टीपणी—देखो 'गळौ घोटणी'. १६ गळौ दाबणी—किसी को कोई कार्य करने के लिए विवश करना, गला दबा कर हत्या कर डालना. १७ गळौ फँसणी—लाचार होना, फँस कर लाचार होना. १८ गळौ फँसाणी—बंधन में डालना, जान-बूझ कर किसी ग्राफत में पड़ना. १९ गळौ फाड़णी—चिल्लाना, बहुत जोर से बोलना. २० गळौ मरोड़णी—गला घोंट कर मार डालना।

कहा०—१ गया रोजा छोडण नै नै गळै नमाज पड़गी—रोजे की ग्राफत छुड़ाने गये कि नमाज पढ़ने की बड़ी ग्राफत ग्रौर शिर पर लग गई। एक ग्राफत को छोड़ते या हटते दूसरी ग्राफत का ग्रा जाना. २ गळै ताळवै ई को लागै नी—खाने की उस वस्तु के प्रति जो ग्रत्यन्त ग्रल्प मात्रा में ही खाने को दी गई हो।

मि०—ऊँट रै मुँहडै जीरौ।

२ गले का स्वर, कंठ-स्वर. ३ गले के ग्रंदर, तालू की झालर के बीच का लटकता हुग्रा माँस का टुकड़ा, घांटी, लंगर।

वि०वि०—इस घांटी के कुछ ग्रधिक नीचे लटक ग्राने या सिकुड़ जाने का एक रोग भी होता है जो प्रायः बाल्यावस्था में ही ग्रधिक होता है। इससे कुछ दर्द ग्रौर खाने-पीने में बहुत कष्ट होता है।

मुहा०—१ गळौ पड़णी, गळौ होणी—घांटी के कुछ ग्रधिक नीचे लटकने का रोग होना. २ गळौ उठाणी, गळौ करणी—बढ़ी या ग्रधिक लटकी हुई घांटी को दबा कर यथास्थान करना।

कहा०—गई तौ गळौ करावण नै पण कांच माथै ग्रा पड़ी—गई तो थी गले का कौवा उठवाने परन्तु कांच निकलने की बीमारी ग्रौर लग गई। एक ग्राफत को छोड़ते या हटते ही दूसरी ग्राफत का ग्रा जाना।

मि०—गया रोजा छोडण नै नै गळै नमाज पड़गी।

४ ग्रंगरखे, कुर्ते, ब्लाउज ग्रादि की काट में वह भाग जो पहिनते समय शिर के ऊपर होकर गले में पड़ता है. ५ बरतन का वह तंग या पतला भाग जो उसके मुँह के नीचे रहता है।

गलौ—सं०पु० [ग्र० गुल] १ कोलाहल, शोरगुल। उ०—मूणसिंघजी जाय पड़िया ग्रौर मांय गलौ हुवौ। ग्रालमगीर ढोलिये सूं ऊठ ऊभौ हुवौ।—द.दा. २ [फा ग़ल्ला] झुंड, दल, समूह। उ०—ऐ दिन पहर एक चढ़तां ढींगसर रै गोखै में सांढ़ियां रा गला सांम्हा ग्राया सो घेर ले वेरिया।—सूरे खींवे री वात

[ग्र० ग़ल्ला] ३ ग्रनाज, गल्ला।

[सं० ग्लौ] ४ चंद्रमा (ह.नां.)

[रा०] ५ देखो 'गुल्लौ' (६)

गळौघ—सं०पु० [सं० गलौघ] गालों में एक प्रकार की सूजन हो जाने एवं सांस लेने में कठिनता होने का एक रोग (ग्रमरत)

गल्प—सं०स्त्री० [सं० जल्प, कल्प] १ मिथ्या प्रलाप, गप्प, डींग. २ छोटी कथा।

गल्ल—सं०स्त्री०—१ छोटी कहानी, कथा, गल्प। उ०—सुदतारां भावै सदा, सुदतारां री गल्ल। ग्रदतारां भावै नहीं, सुणियां ह्वै उर सल्ल।—बां.दा.

कहा०—मन री मन में रह गई वा गूंगेग्राळी गल्ल—गूंगे व्यक्ति की बात मन की मन में रह जाती है; उसके प्रति जो किसी कारणवश ग्रपने मन की बात प्रकट न कर सके।

२ गप्प, डींग. ३ कपोल, गाल. ४ यश, कीर्ति। उ०—इस लेखै ग्रौरूं ग्रनेक हुग्रा कीरत बर का, जिस दी गल्लां ऊबरी सब ग्रालम सिर का।—दुरगादत्त बारहठ ५ पुकार। उ०—रनां बनां तर-भंगरां, गढ़ां मढ़ां सुण गल्ल। ज्यां हौवो ज्यां ग्रावज्यौ, (मा) कियां साद करनल्ल।—करणीस्तुति

गल्लका, गल्लकी—सं०स्त्री०—गंडक नदी। उ०—देवी नरमदा सारजू सदा नीरा, देवी गल्लका तुंगभद्रा गंभीरा।—देवि.

गल्लड़ी—देखो 'गल्ल' (ग्रल्पा०) उ०—जिस कुळ हंदी गल्लड़ी, जस दी जाहर का। ग्रबर महीपत सीखवै, पैंतीसूं पर का।—दुरगादत्त बारहठ

गल्ल-वल्ल—सं०पु०यौ०—कोलाहल, शोरगुल, ग्रस्पष्ट ध्वनि।

उ०—मूंछाळ ग्रल्लं क्रोध मल्लं गल्लवल्लं मच्चए। जिदराव सरणं बांध जत्थं 'पाल' मत्थं खंचए।—पा.प्र.

गल्लवर—सं०पु० [सं० गजवर] हाथी (डि.नां.मा.)

गल्लवल्ली—सं०स्त्री०—बोलने की ग्रस्पष्ट ध्वनि। उ०—ऊंचे पागड़ै काळ रूपी ग्रसल्ली, बोलै पारसी ग्ररसी गल्लवल्ली।—वचनिका

गल्लाफरोस—सं०पु० [फा० ग़ल्लाफरोश] ग्रनाज का व्यापारी, ग्रनाज का विक्रेता।

गल्लिका—सं०पु०—राजस्थानी का एक वर्णिक वृत्त जिसके प्रत्येक चरण में रगण, जगण, रगण, जगण, रगण, जगण एवं गुरु लघु के क्रम से बीस वर्ण होते हैं (र.ज.प्र.)

गल्लौ—१ देखो 'गलौ' (रू.भे.) २ वह संदूकची जिसमें दूकानदार रुपये-पैसे ग्रादि दूकान में रखता है ग्रथवा इस संदूकची में रक्खा गया धन।

गल्ह—देखो 'गल्ल' (रू.भे.) उ०—१ मुखवाणां पड़िया मुगळ, गल्ह इसी उचारे। वप निज पूठै पूठवी, ग्रर पड़ लोह ग्रपारे।
—पदमसिंह री वात

गळियांभमर—सं०पु०—गली-कूचे में बना-ठना घूमने वाला, शौकीन, छैला। उ०—सुकर केवांण खेड़ेच भाली समर, भाग ओलाळिया कोट गळियांभमर। गई लग मारगां भड़ां कै'तां गुमर, आविया बीलो-कण गयण केता अमर।—रिवदान बारहठ

गळियार, गळियारौ—वि० [सं० गली+चार] (स्त्री० गळियारी)
१ गली-गली आवारा घूमने वाला।
कहा०—गधो गळियार नै आदमी रुळियार—गली-गली घूमने वाला गधा एवं आवारा व्यक्ति दोनों एक समान हैं। आवारा व्यक्ति की निंदा. २ घायल, आहत। उ०—आड़ी रण गळियार उठायौ, लागि नूर्जान अप्प-पुर नायौ।—वं.भा. ३ उन्मत्त, मस्त।
उ०—रण रा गळियार रोस में रजपुत्र रै रूप हुवा थकां नूं सिंहनाद रै साथ दाकळिया।—वं.भा.
सं०पु०—पतली छोटी गली, गलियारा। उ०—सखी अमीणा कंत री, औ इक वडौ सुभाव। गळियारां ढीलौ फिरै, हाकां वागां राव।
—हा.भा.
कहा०—गळियारे री घर रांम-रांम में ही जासी—गली के मार्ग पर पड़ने वाला घर रांम-रांम का अभिवादन में ही नष्ट हो जायगा। मार्ग में पड़ने के कारण आने-जाने वाले लोगों से राम-राम का अभिवादन करने में ही काफी समय नष्ट हो जायगा, इसके साथ ही शिष्टता के नाते आने जाने वालों को धूम्रपान आदि कराने का भी खर्च करना पड़ेगा इस प्रकार बेकार समय गँवाने व खर्च करने से घर शीघ्र नष्ट होगा। आम रास्ते एवं अधिक आवागमन के रास्ते में घर की स्थिति की बुराई।

गळियौगुळसरौ—सं०पु० [सं० गलित] गलाया हुआ अफीम।
उ०—अवै लाल कंवर अमलां रा जमाव मांडिया, गळियौगुळसरौ छूटौ अमल कियौ।—जगदेव पंवार री वात

गळियोड़ौ—भू०का०कृ०—गला हुआ (स्त्री०—गळियोड़ी)

गळियौ—वि०पु०—मीठा, स्वादिष्ट।
कहा०—गळियौ लागै जे गोळ नी, खारी लागै जे खांड—संसार में जो जैसा दीखता है या जैसा अपने को कहता है, वास्तव में वह वैसा नहीं होता।

गळिळाणौ, गळिळावौ—क्रि०अ०—चिल्लाना। उ०—पहिर नु चोळी नवरंगी, वावन चंदन अंग सउहाई। चित फाटा मन उचट्या, रूठी गोरी रहइ गळिळाई।—बी.दे.

गळी—सं०स्त्री० [सं० गल] १ घरों की पंक्तियों के बीच से होकर गुजरने वाला तंग व संकरा मार्ग जो मुख्य सड़क से कम चौड़ा होता है, कूचा। उ०—१ दीजो बरजै सोरठी, मूझ गळी मत आव। थारी पावल वाजणी, म्हारी और सुभाव।—र.रा. उ०—२ टाढ़ी मूंछाळा ढळियां में ढुळिया, रळियां जायोड़ा गळियां में रुळिया।
—ऊ.का.

पर्याय०—डांडी, तुरती, परतोळी, प्रणा, प्रतोळका, प्रतोळी, विसिखा, वीथि, मग, वाट, रथ्या, सेरी।
मुहा०—गळी-गळी फिरणौ; गळी-गळी मारौ-मारौ फिरणौ—बेकार और बेइज्जत इधर-उधर घूमना; मारे-मारे फिरना।
कहा०—गळी रा गिंडक ही को बूझै नी—गली के कुत्ते भी बात नहीं करते; अकिंचन का कहीं आदर नहीं होता।
यौ०—गळीकूंची, गळी-गोचरी।
२ मुहल्ला. ३ उपाय, तरकीब। उ०—लीण अलीण गळी नहि लाधी, बुध बिन जगत बूडगी वाधी।—ऊ.का. ४ भेद, रहस्य. ५ बड़ा छेद। उ०—ताहरां पछीत खोदणै बैठौ नचींत थको खोदै छै। खोदतै-खोदतै गळी की जिसड़ी मैं माथौ मावै। खींवौ तरवार काढ़िनै बैठौ छै।—चौबोली

गळीकूंची—सं०स्त्री०यौ०—भेद, रहस्य। उ०—तेली लुगाई लेयनै भरथनेर आयौ नै ठाकुरसीजी रै रजपूत नू गढ़ री मारी गळीकूंची दिखाई।—द.दा.

गलीच—सं०पु०—प्रेत, भूत-पिशाचादि. २ मल, विष्टा. ३ मैली, गंदी एवं घृणित वस्तु। उ०—कीच सो गलीच कांम भूलि तै भयौ, नीच कांम वाच अजौं नीच तू नयौ।—ऊ.का.

गलीचता—सं०स्त्री०—१ मैल, गदगी. २ मल, विष्टा।

गलीचौ—सं०पु० [फा० ग़ालीचा] एक प्रकार का खूब मोटा बुना हुआ बिछौना जिस पर रंग-बिरंगे बेल-बूटे बने रहते हैं और घने वालों की तरह सुन निकले रहते हैं।

गलीज—देखो 'गलीच' (रू.भे.)

गलीडुणियौ—सं०पु०—गुल्ली-डंडे का खेल।

गलीम—सं०पु० [अ० गलीम] १ लुटेरा, डाकू. २ शत्रु, वैरी।

गळूचियौ—देखो 'गळबूचियौ' (रू.भे.)

गळेबाज—वि०—अच्छा गाने वाला, अच्छे कंठ या स्वर वाला।

गळेहाथ—सं०पु०यौ०—गले को छू कर शपथ खाने का भाव।

गळै—क्रि०वि०—पास, निकट, समीप। उ०—जिके इदु फण इंद कंद तां गळै निकासै। जुध प्रवीण.रढरांण पांण त्यां दूरि पियासै।
—माली आसियौ

गळोवळ—देखो 'गळवत्व' (रू.भे.) उ०—गुनावां मीरजां नवावां गाहटै, गळोवळ घातियां हेत गाढ़ै। फरोळै पांसड़ी आंतरा फीफरां, काळजा कजळत भमर काढ़ै।—तेजसिंह सेखावत रौ गीत

गळौ—सं०पु०—शरीर का वह भाग जो सिर को धड़ से जोड़ता है। गरदन, कंठ, गला (अ.मा.) उ०—गळौ कटावै लोभ यौ, लोभी काटणहार। लोजै कांनो लोभ सूं, मिळ संतोख मझार।—बां.दा.
मुहा०—१ गळा रै नीचै उतरणौ—समझ में आना, समझ में बैठना. २ गळा रौ ढोल—गले का बोझ. ३ गळा रौ हार—बहुत प्यारा. ४ गळै पड़णौ—जी को लगना (जबरदस्ती या विवशता से) संबंध जुड़ना या जोड़ना. ५ गळै मार्थ छुरी

थकै तवरी । तनूं संपेख रघुनाथ चिरतां तणी, गहर कीरत कहूं सुणो गवंरी ।—र.रू. ३ हल्दी (अ.मा.)

गवरीनंद—सं०पु०यौ० [सं० गौरीनंद] गणेश, गजानन ।

गवळ—सं०पु०—१ रोझ । उ०—देखो जिण वन मे ऊ सिंघ हो जद उण वन में गैंद(हाथी) गवळ रोझ गिड़राज सूर अै नही जाता । २ जंगली भैंसा । —वी.स.टी.

गवळू—सं०पु० [सं० गोपाळ] ग्वाला, गोपाल । उ०—१ गमिया धन नांह धणी गवळूं, कुछ देसांय आंण घटी कवळूं ।—पा.प्र.

गवा—देखो 'गवाह' (रू.भे.)

गवाई—सं०स्त्री० [फा० गवाही] किसी घटना के विषय में किसी ऐसे मनुष्य का कथन जिसने वह घटना देखी हो या उसके विषय में जानता हो । साक्षी या प्रमाण ।

गवाक्ष, गवाक्षन, गवाख, गवाखि, गवाखेस—सं०पु० [सं० गवाक्ष] १ छोटी खिड़की, झरोखा । उ०—गवाक्ष तैं म्रिगाक्ष की कटाक्ष तैं निगै नहीं । थिराभ चंद्रसाळ चंद्रसाळ पै थिगै नहीं । —ऊ.का.

२ गवाक्ष नामक वानर जो राम की सेना का सेनापति था ।

उ०—दसां जोजनां डांण गै नांम दाखै, यता हूं त दूण गवाखेस आखै । —सू.प्र.

गवाड़—सं०पु०—१ चौक. २ वाड़ा, अहाता । उ०—गाडी पडी गवाड़ में, पगां उभांणी जाय । बेटी बैठी बाप के, कहो चेला किण दाय ।—अज्ञात

कहा०—गवाड़े वाळी केरड़ी नैं ऊरण हुवो गवाळ— बछड़ों को बाड़े में डाल देने के पश्चात् अपनी जिम्मेदारी से ग्वाला मुक्त हो जाता है । किसी उत्तरदायित्व से मुक्त होने पर ।

गवाड़णो, गवाड़बो—देखो 'गवाणो' (रू.भे.) उ०—१ गाय गवाड़ै सीखै-सांभळै, जिण री गोगोजी पूरै छै आस ओ ।—लो.गी.

उ०—२ खतम अवसांण खैंपांण रहिया खवत, रीझियो भांण दईवांण राजी । सिव सगत सवाड़ा अखाडा सेल रा, गवाड़ै प्रवाड़ा सुतन गाजी ।—बखतो खिड़ियो

गवाड़ो—वि० [सं० गै] १ गाने के लिए प्रेरित करने वाला, गवाने वाला. २ देखो 'गवाड़' (रू.भे.)

गवाणो—क्रि०म० [सं० गै] (गाणो' का प्रे०रू०) गाना गाने के लिए प्रेरित करना, गाने का कार्य किसी दूसरे से कराना ।

गवाणहार, हारो (हारी), गवाणियो—वि० ।

गवड़ाणो, गवड़ावो, गवड़िणो, गवाड़बो, गवारणो, गवारबो, गवावणो, गवावबो—प्रे०रू० ।

गवाग्रोड़ो, गवायोड़ो—भू०का०कृ० ।

गवायोड़ो—भू०का०कृ०—गाने का कार्य कराया हुआ, गवाया हुआ । (स्त्री० गवायोड़ी)

गवार—देखो 'गंवार' (रू.भे.) उ०—ईछतै अरय न कहै अवाचक सो संदग्ध रहै संदेह । अप्रतीत निज आंन ऊघड़ै, ग्राम्य गवार वचन मति-ग्रेह ।—बां.दा.

सं०पु०—खरीफ की फसल का एक पौधा जिसकी फलियों की तरकारी बनाई जाती है और बीज पशुओं को खिलाने के काम में लिए जाते हैं ।

गवारणी—सं०स्त्री०—१ 'गवारिया' जाति की स्त्री. २ मूर्ख स्त्री, गंवार स्त्री ।

गवारपाठो—सं०पु०—प्राय: नदियों के किनारे पर अधिक होने वाला एक प्रकार का क्षुप, घी कुंवार, ग्वारपाठा ।

गवारफळी—सं०स्त्री०यौ०—ग्वार के पौधे पर आने वाली फली जिसका शाक बनाया जाता है ।

गवारिया—सं०स्त्री०—एक जाति विशेष जिनकी औरतें प्राय: सुई व कंघे आदि बेचने का व्यवसाय करती हैं ।

गवारियो—स०पु०—'गवारिया' जाति का व्यक्ति ।

गवाळ—सं०पु० [स० गोपाल] १ गायों को चराने वाला, ग्वाला, गोपाल उ०—माळी हाळी वाळधी, गाडेती गवाळ । सात देव रक्षा करो, पखेरू पूछाळ ।—अज्ञात २ विष्णु. ३ श्रीकृष्ण ।

उ०—नमो गोविंद नमो गोपाळ, नमो गिरधारिय नंद गवाळ । —ह.र.

वि०वि०—बचपन में गायें चराने के कारण ही श्रीकृष्ण को गोपाल, ग्वाल, आदि नाम से पुकारा जाने लगा था ।

४ भूमि पर बना वह नियत गोल चक्र जिस पर रहेंट को घुमाने वाले बैल चक्कर लगाते हैं ।

सं०स्त्री०—५ रक्षा । उ०—जनमाळ घुराळ दुधाळ सिरज्जत, काळ में क्यों न गवाळ करै ।—करुणासागर

गवाळणी—सं०स्त्री०—१ ग्वाले जाति की स्त्री, ग्वालिन. २ ढोर चराने वाली ।

गवाळणो, गवाळबो—क्रि०म०—१ रक्षा करना, बचाना. २ गायें चराना ।

गवाळियो—देखो 'ग्वाळो' (रू.भे.)

गवाळी—सं०स्त्री० [सं० गोपाल+रा० प्र० ई] १ रक्षा करने का कार्य, रक्षा. २ गायो को चराने का कार्य. ३ रक्षा करने या गायों को चराने के कार्य की मजदूरी ।

गवास—सं०पु० [सं० गवाशन] गोनाशक, हत्यारा, कसाई ।

गवाह—सं०पु० [फा० गवाह] वह जो किसी घटना के विषय में जानकारी रखता हो अथवा वह घटना देखी हो । साक्षी ।

गवाही—सं०स्त्री० [फा०] किसी घटना को देखे हुए या जानकार व्यक्ति का उस घटना के संबंध में दिया गया बयान, साक्षी, प्रमाण ।

क्रि०प्र०—देणी, भरणी, लिखाणी, लेणी ।

(रू०भे०—गवाई)

गवीजणो, गवीजबो—क्रि० कर्म वा०—गाया जाना ।

उ०—२ मघरै-मघरै हुक्कां सूं तमाखू खायजै छै, गल्हां कीजै छै। (अल्पा०—गल्हड़ी) —रा.सा.सं.

गल्लौ—वि०—पागल।

सं०पु०—१ देखो 'गुल्लौ' (रू.भे.) २ देखो 'गल्लौ' (रू.भे.)

गव—सं०पु०—१ रामचंद्रजी की सेना का एक बंदर।

स्त्री० [सं० गो] २ गाय। उ०—**गवां** बचाय थट मुगळ गाय, मारै गिड हेकल दिली मांय।—वि.मं.

गवगवति—सं०स्त्री०—दूध देने वाली गाय, दुधारी गाय।

गवड—देखो 'गौड' (रू.भे.) उ०—हुई तांम पुरणाहुती जद मंत्र जपाले। गवड द्रवड दोनूं गती दुरगा दरसाळे।—अज्ञात

गवण—१ देखो 'गमन' (रू.भे.) उ०—अतलोक अनै सुरलोक मही, उभै **गवण** है माहरी। इण रीत म्हनै कीजै अमर, तवूं दवा सिध ताहरी। —पा.प्र.

२ पद, पैर (अ.मा.)

सं०स्त्री०—३ गति, चाल। उ०—हंस गवण कदळी सुजंघ, कटि केहर जिम खीण। मुख ससहर खंजन नयण, कुच स्रीफळ कठ वीण। —र.रा.

गवणि, गवणी—सं०स्त्री०—मादा भालू।

वि०—१ गमन करने वाली। उ०—चंदमुखी हंसा **गवणि**, कोमळ दीरघ केस। कचन वरणी कांमणी, वेगौ आवि मिळेस।—र रा.

२ गाने वाली।

गवणौ, गवबौ—क्रि०अ०—जाना, गमन करना। उ—१ घुमडी नभ ग्रीधणि चील्ह घणी। गहकाय अवाज सिवा **गवणी**।—मे म.

उ०—२ कुकुम की वेंदी लिलाट कर, चंद वदन छिब अधक चित। आनदत देवण गवर, **गवणी** उठ गयंद गति। —बगसीरांम प्रोहित री वात

गवतम—देखो 'गौतम' (रू.भे.) उ०—गवतम नारी रज पय तारी, भय जप भाखी सुर मुनि साखी।—र.ज.प्र.

गवन—देखो 'गमन'।

गवय—सं०स्त्री० [सं०] १ नील गाय।

सं०पु०—२ रामचंद्रजी की सेना का एक बन्दर. ३ गैंडा।

उ०—जिण वन भूल न जावता, गैंद **गवय** गिडराज। तिण वन जंबुक ताखडा, ऊधम मंडै आज।—बी.स.

गवर—वि०—गौ, गोरे रग की। उ०—१ प्रथम लघु यगण फळ अद्ध जळ अधपति, कह उदध मेदनी **गवर** रंग कीन। रिखि आत्रेय वदणै मगर करुण रस, तसत गिरमेर कुळ विप्र द्रग तीन।—र.रू.

उ०—२ अदभुत लसै छव **गवर** अंग, पदमणि कोमळ चंपक प्रसंग। हुलड्यां संग सखी ढूल। दमकंत अंग जरकस दकूल। —बगसीराम प्रोहित री वात

सं०स्त्री० [सं० गौरी] १ पार्वती, गौरी। उ०—**गवर** मात सिव तात, सिध पूजित सुरेसुर। मंद सुगंध ऊपर भमैं, मद-मत्त मधूकर। —करणीस्तुति

कहा०—गवर रूठसी तो आपरो सवाग लेसी—गौरी रूठेगी तो अपना दिया हुआ सुहाग ले लेगी, इससे अधिक क्या करेगी? किसी के रूठने पर।

२ देखो 'गणगोर' (रू.भे.) ३ गणगौर त्यौहार पर गाया जाने वाला लोकगीत. ४ इस त्यौहार पर सजाई जाने वाली पार्वती की मूर्ति।

गवरजा, गवरज्या—सं०स्त्री०—१ गौरी, पार्वती। उ०—हीरां चिंता परहरौ, करो मती मन कुद। गावौ मगळ **गवरज्या**, वा करसी आणंद। —बगसीरांम प्रोहित री वात

२ देखो 'गणगौर' (रू.भे.) उ०—फागण उतरे धीव **गवरज्या** पूजण चावै। वीण लासवा फूल, चढा चंद्रायण गावै।—दसदेव

गवरनर—सं०पु [अं० गवर्नर] किसी प्रांत अथवा प्रदेश का वह प्रधान हाकिम जिसे उस पद पर राजा या प्रजा ने चुना हो या किसी देश की सरकार द्वारा नियुक्त किया गया हो। शासक, हाकिम।

गवरनर-जनरल—सं०पु०यौ० [अं० गवर्नर जनरल] गवर्नरों के ऊपर किसी देश का सबसे बडा अधिकारी या शासक।

गवरनरी—सं०स्त्री०—जहां पर गवर्नर शासन करता हो, शासन, अधिकार।

गवरमिंट, गवरमेंट—स०स्त्री—१ शासक-मंडल, सरकार।

उ०—मान मोद सीसोद, राजनीत वळ राखणौ। **गवरमिंट** री गोद, फळ मीठा दीठा 'फता'।—केसरीसिंह बारहठ २ राज्य।

गवरल, गवरांदे—स०स्त्री० [सं० गुणगौरी] १ गौरी, पार्वती.

२ देखो 'गणगौर' (रू भे.) उ०—१ चैत महीने **गवरल** पूजी, वैसाखा वड सींच्यौ हो रांम।—लो.गी. उ०—२ गढां ए कोटां सूं **गवरल** ऊतरी, हांजी वैरै हाथ कंवळ केरो फूल, **गवरल** रूडौ नजारौ तीखा नैण रौ।—लो गी. उ०—३ राणी **गवरांदे** हीडण वैठ्या, धरती न झेलै भार, श्रो जी। ईसरजी ए ललकारौ दियौ, श्रो हींडौ गयौ गिगनार, श्रो जी।—लो गी.

गवराडणौ, गवराड़बौ, गवराणौ, गवराबौ, गवरावणौ, गवराववौ—देखो 'गवाणौ' (रू.भे.) उ०—१ घणी दिराड़ै घूमरा, **गवराड़ै** नह गूढ़। भाडै वाळी भांम नूं. माथै चाढै मूढ।—बां.दा. उ०—२ कियां दुवाहा कोट, पाल जागड **गवरावै**। गहमह न्हे दरवार, वडा भूपत वह आवै। —पा.प्र.

गवरि—देखो 'गवरी' (रू.भे.) उ०—साभळि अनुराग थयौ मनि स्यामा, वर प्रापति वंछति वर। हरि गुण भणि ऊपनी जिका हर, हर तिणि वंदे **गवरि** हर।—वेलि.

गवरिजा—देखो 'गवरजा' (रू.भे.) उ०—दूलह नै दूलहणी री जोड़ी देखि देखि नै लोक बार-बार वखाणै छै, कहै छै—गंगाजी माहे ऊंडै जळ पैसि तपस्या करि ईस्वर **गवरिजा** पूज्या छै।—रा.सा.सं.

गवरी—सं०स्त्री० [सं० गौरी] १ देवी, दुर्गा. २ पार्वती।

उ०—वदन एक सहस दुय सहस रसना वणी, तिको फणपती गुण

गहकिग्रोड़ौ, गहकियोड़ौ, गहक्योड़ौ—भू०का०कृ०।

गहकीजणौ, गहकीजबौ—भाव वा०।

गहक्कणौ, गहक्कबौ—रू०भे०।

गहकाणौ, गहकाबौ—'गहकणौ' (रू.भे.)

उ०—गिद्धनि चिल्हनि गैन मैं गनके गहकाया। धूरि बिलग्गी भांनु के सब भानु छिपाया।—वं.भा.

गहकाड़णौ, गहकाड़बौ, गहकारणौ, गहकारबौ, गहकावणौ, गहकाववौ—रू०भे० सक.।

गहकियोड़ौ—भू०का०कृ०—१ एकत्रित. २ गाने की ध्वनि किया हुआ. ३ गर्व किया हुआ. ४ पक्षियों का ध्वनि किया हुआ. ५ मंडराया हुआ. ६ जोशपूर्ण आवाज किया हुआ. ७ चाह व लालसा से पूर्ण, उमंगित। (स्त्री० गहकियोड़ी)

गहकौ—सं०पु०—१ राग, तान, लय. २ चहक. ३ हर्ष ध्वनि।

गहक्कणौ, गहक्कबौ—देखो 'गहकणौ' (रू.भे.). उ०—गिरवर मोर गहक्किया, तरवर मूंक्या पात। धणियां वण सालण लगा, वूठै तौ बरसात।—ढो.मा.

गहक्कियोड़ौ—देखो 'गहकियोड़ौ' (रू.भे.) (स्त्री० गहक्कियोड़ी)

गहगंध—सं०पु०—नासिका, नाक। उ०—क्रम हंस गत अग म्रगराज कट, रस उरज नरपा कपोळ रट। गहगंध वज चख एण गुण, अल भ्रकुट चंदु ग्रभाळ।—क.कु.बो.

गहगह—वि०—प्रफुल्लित, प्रसन्नतापूर्ण, उल्लास मे भरा हुआ।

उ०—गहगह त्रिवणी मंगळ गाइ, जोवा वर जीपण खापर जाइ।—रा.ज.सी.

क्रि०वि०—धमाधम, धूम के साथ (वाद्य-वादन आदि)

गहगहणौ, गहगहवौ, गहगहाणौ, गहगहावौ—क्रि०अ०—१ प्रफुल्लित होना, आनंदित होना। उ०—मारुवणी तव चिति चळवळी, छांनी वातां सहि सांभळी। सांचे मन सउदागरि (कहि), मारुवणी हीयड़ै गहगही।—ढो मा. २ वनस्पति आदि का घना होना।

उ०—नदी महा पूरि आवइं, प्रथ्वी पीठ प्लावइं। नवा किसलय गहगहइं, वल्ली वितांन लहलहइं।—वाग्विलास

३ महक फैलना, खुशबू देना। उ०—मेघवना उलच वांध्या छइ। पगीयछ ढळी छइ। केतकी ना गंध गहगहीया छइ।—कां.दे.प्र.

४ जोशपूर्ण होना। उ०—गहगहिय थाट वंकं गरीठ, राठउड़ि राउहि वाजियउ रीठ।—रा.ज.सी. ५ उमंग में भरना.

उ०—रभ सूरां नरख हरख भुक भुक रही, ग्रीध सवळा उळा भख नयण गहगही।—जवांनजी ग्राढ़ौ

गहगहौ—देखो 'गहगह' (रू.भे.)

गहगीर—वि०—१ योद्धा, वीर। उ०—देसोत वाडिम दाखणौ, वर राखणौ लख धीर। वर वीर वांनय धारणौ, गढ़ मारणौ गहगीर।—ल.पि.

२ गंभीर। उ०—गहगीर तुरां गय करत गोड़। रुड़ धोक डंड पैदल अरोड़।—करणीरूपक

गहग्गाह—सं०पु०—१ झुंड, समूह. २ पक्षियों का समूह।

गहघट्ट—सं०पु०—१ जमवट, समूह।

वि०—बहुत, अधिक, घना।

उ०—छांडौ छांडौ पागड़ा, साम्हैं आवौ थट्ट। डाढ़ाळौ कह रावतां, जं माचै गहघट्ट।—डाढ़ाळा सूर री वात

गहघूमणौ—क्रि०अ०—मंडराना। उ०—गहघूमी लूमी घटा, पावस उलट्या पूर। सांवण महिने सायवा, कदे न राखूं दूर।—र.रा.

गहड़, गहड़ेर—वि०—१ गंभीर। उ०—१ माल्हंतौ घरि आंगणै, सखी सहेलौ कांमि। जे जांणूं पिय माल्हणौ, जे मल्है संग्रांमि। ग्रांमि संग्रांमि झूंझार माल्है गहड़। अरि घड़ा खेसवे आप न खिसै अनड़।—हा.झा.

उ०—२ फेरा लेतै फिर अफिर, फेरी घड़ अणफेर। सीह तणी हरधवळ सुत, गहमाती गहड़ेर।—हा.झा.

२ वीर, बहादुर। उ०—केहरि केस भमंग मणि, सरणाई सुहड़ांह, सती पयोहर क्रपण धन, पड़सी हाथ मुवांह। मुवां हिज पड़सी हाथ तौ भमंग मणि, गहड़ सरणाइयां ताहरै गैड़सणि।—हा.झा.

३ विकट। उ०—नाह नीठि पड़सि खेत मांझि निवड़, गयंद पड़सि गहर करड़ घड़ भड गहड़।—हा.झा.

गहझेर—देखो 'गहड़ेर' (रू.भे.)

गहट्ट—सं०पु०—१ नाश, संहार, विध्वंश. २ वैभव, ऐश्वर्य. ३ समूह।

गहट्ठ—देखो 'गहट्ट' (रू.भे.) उ०—घरवट्ट पहट्ट गहट्ठ घड़ं। पिंड खंड विहंड पमंग पड़ं।—पा.प्र.

गहडंबर, गहडंभर, गहडंमर—वि०—गहरा, घना, सघन। उ०—१ सूकै कांठ संजोइयौ, भुज माट मही भर। नीलोतर व्है नेहड़ी, बणियौ गहडंबर।—ठाकुर जूंझारसिंह मेड़तियौ

उ०—२ परभाते गहडंमरां दोपारां तपंत। रात्यूं तारा निरमळा, चेला करौ गछंत।—वर्षाविज्ञान

गहण, गहणि—वि०—देखो 'गहन' (रू.भे.)

सं०पु०—१ युद्ध, लड़ाई। उ०—महण वन दहण केमर गहण मंडियौ। तेण खग वहण वण सघण तणियौ।—किसोरदांन बारहठ २ सेना, फौज. ३ फेरा, चक्कर। उ०—गुरड़ गयण चाले गहण।—अज्ञात ४ समूह। उ०—त्यांकी वीरहक होण लागी, गय हस्ती त्यांकी गहणि हुई। गहण कहतां भीड़ हुई।—वेलि.

५ गंभीर। उ०—काळि वाघी जैतमल कळोधर, गज फौजां डोहण गहण। समहर भर ऊपरि नव सहसौ, ताइ ओडविजै भांण तण।—राठौड़ नरपाळ (नरहरदास भांणोत, चांपावत) रौ गीत

गहणौ—सं०पु०—गहना, आभूषण, अलंकार। उ०—मन मांणक गहणौ धरयौ, मित तुमारै पास। नेह व्याज अती वढ्यौ, नहिं छूटण की आस।—र.रा.

गवीजियोड़ी—भू०का०कृ०—गाया गया हुआ। (स्त्री० गवीजियोड़ी)
गवु—सं०स्त्री०—गाय (अमरत)
गवेसा—सं०स्त्री० [सं० गवेषणा] खोज, गवेषणा, अनुसंधान।
गवै—सं०पु० [सं० गवय] राम की सेना का एक वानर (रामकथा)
गवैयौ—वि०—गायक, गाने वाला।
गव्य—वि०—जो गाय से प्राप्त हो, गौ से उत्पन्न।
सं०पु०—गाय का झुंड, गौ-समूह।
गस—सं०स्त्री० [अ० गशी, फा० गश] १ मूर्च्छा, बेहोशी. २ नेत्रों में होने वाली लाल रेखा। उ०—गस चखां चुरस री खळां भांजण गजो, छटा रण चुरस रीं अथी उप्रवट छजो। महाजस सुरसरी वेग अनमी मजो, अणी कढ़ उरस री तेग रावत अजो।
—बदरीदास खिड़ियौ
गसत—देखो 'गस्त' (रू.भे.)
गसती—देखो 'गस्ती' (रू.भे.) उ०—दूठ देव आहुंसी वाहादरेस भूप दीठौ, वीरांण नृसींग रूप धीटौ क्रोध वार। भूलगी गसती भोम आगै व्है असती भागो, मसती न लागो फेर हसत्ती मलार।
—हुकमीचंद खिड़ियौ
गसा, गसी—देखो 'गस' (रू.भे.) उ०—आवै जद याद गसा तद आवै, देख दसा दुखियारी। रसा गयौ तूं राजेस्वर, छोड 'जसा' छत्रधारी।—ऊ.का.
गस्त—सं०स्त्री०—१ टहलना, घूमना, भ्रमण करना. २ दौरा, चक्कर. ३ पुलिस, चौकीदार आदि कर्मचारियों का पहरा देने के लिए चक्कर लगाना।
क्रि०प्र०—देणी, मारणी, लगाणी।
यौ०—गस्त-गिरदावरी।
४ एक प्रकार का नाच जिसमें नाचने वाली वेश्या बरात के आगे नाचती हुई चलती है।
गस्त सलांमी—सं०स्त्री०—वह भेंट या नजर जो पुराने समय में दौरे पर गये हुए हाकिमों को मिला करती थी।
गस्ती—वि० [फा० गश्ती] घूमने वाला, फिरने वाला, गश्त लगाने वाला।
सं०स्त्री०—व्यभिचारिणी, कुल्टा।
गह—सं०पु० [सं० गर्व] १ गर्व, अभिमान, घमंड। उ०—१ घेर सबै रथ पालखी, फेर तुरंगां वग्ग। भंग थयौ गह मीर रौ, संग भयौ जू मग्ग।—रा.रू. उ०—२ पै उलट्यौ सांमंद वीकपुरा, छात विया ग्रह्या गह छंड। मेघाडंबर मुकट सिर मंडे, रीझ धकै न सकै पग मंड।—दुरसौ आढ़ौ २ मस्ती, उन्माद। उ०—गह भरियौ गज-राज, मह हालै आपण मतै। कूकरिया बेकाज, रुगड़ भुसै किम राजिया।—किरपारांम
३ वीर, बहादुर व्यक्ति। उ०—कावल धणी पीड़ कछवाहां, गढ़ रोकै रोकिया गह। गिळवा नहीं राखिया गळहय, राजा रायांसिघ सह।—द.दा.
४ ग्राह, घड़ियाल। उ०—गहे ग्रवे सुद्रसण भ्रांज सुरतांण गह, कीध नर सुरां सिहायतनि केही। आवियौ संकट गजे सुपह ऊवेळियौ, जंगळ चै नाथ रुघनाथ जेही।—द.दा.
[सं० गृह] ५ घर, गृह। उ०—गह छंडइ गहिलउ हुअउ, पूछइ वळि पूछंत। मारू तणइ संदेसड़इ, ढोलउ नह धावंत।—ढो.मा.
६ पारसियों द्वारा नमाज पढ़ने का समय (मा.म.)
सं०स्त्री० [अनु०] ७ ध्वनि, आवाज. ८ मान, प्रतिष्ठा।
उ०—नेवर पाखर रोळ नचती, सग सेरविलंद तणै। सोभंती
रोळी 'अजण' तणै रंग रमणी, गह खोसाड़ गई गयगमणी।
—द्वारकादास दधवाड़ियौ
९ मकान का एक भाग या हिस्सा। उ०—पण दरवाजै मांही खंच करतां एक घड़ी लागी। सो दरवाजै रै एक गह में राजूखां री सवारी री घोड़ी खड़ी, सो चंवरढाळ ऊभी छै।—सूरे खींवे री वात
वि०—१ महान, जबरदस्त, भयंकर। उ०—दळ सभ्भत खळ दाह यभ वाज अणथाह, गह रचण गज गाह नरनाह रघुनाथ। सट-पटत भर सेस अति चकित अरेस, दिन धूधळ दिनेस थरहरड अर साथ।—र.ज.प्र. २ गहरा, गंभीर। उ०—अकबर मच्छ अयांण, पूंछ उछाळण बळ प्रबळ। गोहिलवत गह रांण, पाथोनिधि प्रतापसी।
—दुरसौ आढ़ौ
३ मस्त। उ०—चवदह वरसां अधिक चित, जोबन तणी जिहाज। जोवत अब टेढ़ी निजरि, गह चालत गजराज।
—बगसीरांम प्रोहित री वात
गहक—सं०पु० [सं०] कविता पढ़ने या गाने की ध्वनि, लय।
गहकणौ, गहकबौ—क्रि०अ०—१ इकट्ठा होना, एकत्रित होना. २ नगाड़े का बजना. ३ गाने की ध्वनि करना, गाना। उ०—गोम नेजा हलक राग सिंधु गहक, डहक डडाहड़ां सीस डंका।—र.रू. ४ गर्व करना।
उ०—हैदळ कळळ पायदळ हूंकळ, सीसोदै खड़तै संनढ़। गहकै हो
वीजां गढ़पतियां, गजै अंगजी त्रिकुटगढ़।
—महारांणा लाखा रौ गीत
५ पक्षियों का ध्वनि करना। उ०—ऊपर कुरजां सारसां गहकनै रही छै।—रा.सा.स. ६ मंडराना. उ०—चिलते झिलंव आयुध चढ़ाय, असवार हुवौ गज पीठ आय। गहकिया ग्रीध टोळा गरूर, ग्रहकिया नंव ऐराक तूर।—वि.सं. ७ जोशपूर्ण आवाज करना।
उ०—छिल वहत धक-धक अछक छक, अंतराळ गरळक ढुळ डधक।
फीफरड़ फरड़क नद फरक, हय विढ़क हक-हक वीरहक, खित
गहक सूर खतंग।—र.रू.
८ चाह से भरना, उमंग से भरना, लालसा पूर्ण होना।
गहकणहार, हारौ (हारी), गहकणियौ—वि०।
गहकवाणौ, गहकवावौ—प्रे०रू०।
गहकाणौ, गहकावौ, गहकाड़णौ, गहकाड़बौ, गहकावणौ, गहकाववौ—स०रू०।

आज क काल करंतां 'ओपा', दीहड़ा गया स ताळी देह।

—ओपौ आढ़ौ

२ अधिक, ज्यादा. ३ घोर, प्रचंड. ४ दृढ़, मजबूत.

५ भारी, कठिन।

गहळ—सं०स्त्री० [सं० ग्रहल] नशा, खुमार, उन्माद। उ०—डाकी ठाकर रौ रिजक, ताखां रौ विख एक, गहळ मुवां हीं ऊतरै, सुणिया सूर अनेक।—वी.स.

गहला—सं०स्त्री०—पंवार वंश की एक शाखा।

गहळीजणौ, गहळीजबौ—क्रि०अ० भाव वा०—१ किसी नशे के प्रभाव में होना, नशीला होना. २ चेहरे की रौनक कम होना। उ०—भरमल नूं आसा रहीं, महीनै चार री गरभ हुवौ तीसूं डील सिथळ पडणै लागो, नेत्रां री तह गहळीजण लागी।—कुंवरसी सांखला री वारता

गहलोत—सं०पु०—क्षत्रियों के ३६ वंशों में से एक वंश अथवा इस वंश का व्यक्ति।

गहलौ—वि० [सं० ग्रहिल] पागल, बावला। उ०—१ ताहरां हरदांन कह्यौ—महाराज, म्हे गहला कोय नहीं, बात चौकस कहां छां।

—पलक दरियाव री वात

उ०—२ मांग्या लाभै जव चणा, मांगी लभै जवार। मांग्या साजन किम मिळै, गहली मूढ गिंवार।—र.रा.

गहलौत—देखो 'गहलोत' (रू.भे.)

गहल्ल—सं०स्त्री०—आवड़ देवी की बहिन, एक देवी। उ०—गंजै दळ रेपळ लांग गहल्ल। मारै वोहो मीर अमीर मुगल्ल।—मे.म.

गहवंत—वि०—१ गंभीर, गहरा। उ०—सबदी लग कोड मुजाद राय-सिंव, गहवंत रैणायर वड गात।—दुरसौ आढ़ौ

२ वीर, बहादुर। उ०—आविया मीर तेजी उलाळि, वाराह विढेवा वाग वाळि। गहवंत जडत साम्हउ मुगुल्ल, तड़मल्ल राउ निहराइ तुल्ल।—रा.ज.सी. ३ गर्वीला, अभिमानी। उ०—आद इता भड़ आठ सौ, गढ़ आया गहवंत। माप न कौ मांटी पणै, उर ज्यां ताप न अंत।—रा.रू. ४ अटल, स्थिर। उ०—देवळे पड़इ बाजइ दुवारि, झालरी मंभ मुसवद भणारि। आदीत जिसा निरमळा अंग, गहवंत राउ धू जेम गंग।—रा.ज.सी.

गहवग—सं०पु०—मल्लयुद्ध। उ०—गहवगां जण जण अगण गण, मुर भवण कंपण लगण मण, लंकाळ धृजिय लंक।—र.रू.

गहवर—सं०पु०—घनापन, सघनता। उ०—मु मांनौ वसंत हुलराईजै छै। तरु कहतां जि वृक्षां गहवर पाकड़चौ छै।—वेलि. टी.

गहवरणौ—सं०पु०—गर्व, अभिमान।

गहवरणौ, गहवरबौ—क्रि०अ०—१ बहादुर होना, निडर होना. २ घना होना, सघन होना। उ०—हूलरावणै फाग हुलराया, तरु गहवरिया थिया तरुण।—वेलि.

क्रि०स०—३ उत्तेजित करना. ४ फुलाना।

गहवरा—सं०स्त्री० [सं० गह्वरी] पृथ्वी, भूमि (अ.मा.)

गहवरी—सं०स्त्री० [सं० गह्वरी] पृथ्वी, भूमि (ह.नां., नां.मा.)

गहवांन—वि०—१ जबरदस्त। उ०—नृप सुमेर पातल निडर, अर घर करण उद्यांन। तोयव तरळ तरंग तिर, गा लंदन गहवांन। गा लदन गहवांन सुभट्टां सारखा। साहण लीधां साथ परक्खे पारखा।

—किसोरदांन बारहठ

२ गर्वीला, अभिमानी।

गहाणी—सं०पु०—वह वेलियो गीत जिसके प्रत्येक द्वाले के प्रथम गाथा हो (देखो 'वेलियौ', 'गाथा')

गहांणौ—क्रि०स०—१ संहार करना. २ ग्रहण कराना, पकड़ाना। उ०—दिल्ली रा जावण रा समय सूं तीजे वरस चहुवांण प्रतिहार नू कुमार रा संवंध री वात स्मरण में गहाई।—वं.भा.

३ धारण कराना।

गहाणहार, हारौ (हारी), गहाणियौ—वि०।

गहाओड़ौ, गहायोड़ौ—भू०का०कृ०।

गहणौ—अक रू०।

गहायोड़ौ—भू०का०कृ०—१ संहार किया हुआ. २ ग्रहण कराया हुआ, पकड़ाया हुआ (स्त्री० गहायोड़ी)

गहावणौ, गहावबौ—देखो 'गहाणौ' (रू.भे.) उ०—सिवरी कुळ भील कुचील मरीरी, चाखत बोर रसील सचै। गहावत ढील करी नह गोविंद, बीच अंगीर मंजार वचै।—भगतमाळ

गहि—सं०पु० [सं० गृही] १ कुत्ता, श्वान (अ.मा.) २ गृहस्थ।

गहियोड़ौ—भू०का०कृ०—१ संहार किया हुआ. २ ग्रहण किया हुआ, पकड़ा हुआ. ३ धारण किया हुआ (स्त्री० गहियोड़ी)

गहिर—देखो 'गहीर' (रू.भे.) उ०—१ वर्णव राजां वहिर गहिर तोपां घण गाजां।—वं भा. । उ०—२ गंधरव सेण सुत मन गहिर।

—वं.भा.

गहिलउ—वि०—देखो 'गहलौ' (रू भे.) उ०—गह छंडइ गहिलउ हुअउ, पूछइ वळि पूछंत। मारू तणइ संदेसड़इ, ढोलउ नह धापंत।

—ढो.मा.

गहिलाणौ, गहिलाबौ—क्रि०अ०—बहना, प्रवाहित होना। उ०—पांखे पांणी थाहरड, जळि काजळ गहिळाइ। स्यांणां तणां संदेसड़ा, मुख वचने कहिवाइ।—ढो.मा.

गहिलोत—देखो 'गहलोत' (रू.भे.)

गहिलौ—वि० [सं० ग्रहिल] (स्त्री० गहिली) देखो 'गहलौ' (रू.भे.) उ०—गहिली है, स्त्री तोहइ लागी छइ वाय। अस्त्रीय ले कोइ उलगि जाई? गहिली मुंधउ तुं बावळी। चंद क्युं कूडइ ढांकाणउ जाई?

—वी.दे.

गहीर—वि० [सं० गंभीर] १ गंभीर, गहरा, अथाह। उ०—१ भारांणी दुख भंजणी, गुण रंजणौ गहीर। जास खजांनै जगत रौ, साहिब राखै सीर।—बा.दा.

उ०—२ गुणपति गुणे गहीरं, गुण ग्राहग दांन गुण दिअणं। सिधि

क्रि०प्र०—घड़ावणो, जड़ावणो, चढ़ाणो, धरणो, पैरणो।

गहणो, गहवो–क्रि०स०—१ रौंदना, खूंदना। उ०—सो खांन घोड़ी नूं देख कहणै लागियो—जे हूं तो सारी जमीन गहतो फिरियो, अर घोड़ी म्हारी तळहटी में रही—सूरे खींवे री वात २ कुचलना, नष्ट करना। उ०—सो सागी हाथी जाय वागिया, हौदे री पेटी रा रस्सा वाढ़ अर इसा ही जे फौज में फिरिया, फौज सारी गह लीवी।
—अमरसिंह राठौड़ री वात

३ धारण करना। उ०—अर जगमाल मस्तक रा भार नूं गरिस्ट मांनि अद्रि रै ऊपर दव लगाइ धारा तीरथ रै उछाह······इसड़ी अनेक वार्तां रो अवलव गहियो।—वं.भा.

४ पकड़ना। उ०—मुकन सुतन वळ मंड अत, पड़ी न खंड लिगार। रैणायर रामंग रू, सरू हुवो गह सार।—रा.रू.

गहतंग. गहतंत–वि०—नशे में चूर, मस्त। उ०—१ अमल पांणियां रा थडा लाग रहिया छै। चार पहर रात नैं दिन गहतंग हुवा रहै छै। ऊगे आंथिये री खवर ही नहीं।—कुंवरसी सांखला री वारता

उ०— २ घणै चोज सूं मन लियां मनहारां कीजै छै। दिल हाथ लीजै छै। अमलां गहतंत हुवा छै।—रा.सा.सं.

गहन–वि० [सं०] १ गंभीर, गहरा। उ०—१ देवी ग्यांन रै रूप तूं गहन गीता, देवी क्रिस्ण रै रूप गीता कथीता।—देवि.

उ०—२ वैठी गहन गुफा विच वांमा, राजा वह निरखी अभिरांमा।
—वं.भा.

२ दुर्गम, कठिन।

सं०पु०—१ वन, जंगल (नां मा., ह.नां.) उ०—पुत्री करि अग्ग जु परिणाई, भनी वहिनि सारंगा भाई। सो पति मरत सिद्धि दुख संजम, रही सु पुस्कर गहन मनोहरम।—वं भा.

२ गुप्त स्थान (ह.नां)

[सं० ग्रहण, प्रा० गहण] ३ कलंक, दोष. ४ दुख, कष्ट, विपत्ति।
(अ.मा.)

५ वंधक, रेहन. ६ पकड़ने का भाव, ग्रहण करना।

गहपूर–सं०पु०—सिंह (ह.नां., ना.डि.को.)

गहवरा–सं०स्त्री० [सं० गव्हरी] पृथ्वी, जमीन (अ.मा.)

गहवळ–वि०—वलवान, जवरदस्त। उ०—रघुवर तित रह्या जी, मोटी कर मया। भैंचक खळ भया जी, गहवळ तज गया।—र.रू.

गहम–वि० [सं० ग्रह] गर्व, घमंड।

गहमत–सं०स्त्री०—सलाह, राय, सम्मति।

गहमह, गहमहाट–सं०स्त्री०—१ भीड़, समूह। उ०—हाडां घर गहमह हुई, जाडां विरुद लुभांण। गाडां भरि जाडां गलां, खाडां तुरक खपांण।—वं.भा. २ अधिकता। उ०—उकतां सुकवि वोलै ऊंच विरदां आवळी, राजस भड़ां गहमह, रूंस पूरण नित रळी।—वां.दा.

३ उत्सव, जलसा, धूमधाम। उ०—पैंदल हैदल दळ प्रघळ वह गहमह दरवार।—रां.रा. ४ जगमगाहट। उ०—१ गई रवि किरण ग्रहे थइ गहमह, रहरह कोइ वह रहे रह। सु जु दुज पुरा नीसरे सूतो, निसा पड़ी चालियो नह।—वेलि.

५ गह-गह की ध्वनि। उ०—सूरय अस्तमित हुओ धरा कै विखै गहमहाट होइ रह्यो छै।—वेलि.

गहमातो–वि० (स्त्री० गहमाती) गर्वोन्मत्त। उ०—१ हेली थारो करहलो, गहमातो गमियोह।—जलाल वूवना री वात

उ०—२ फेरा लेतै फिर अफिर, फेरी घड़ अण फेर। सीह तणी हर घवळ सुत, गहमातो गहड़ेर।—हा.झा.

गहम्रग–सं०पु०यौ० [सं० गृह+मृग] श्वान, कुत्ता (ह.नां.)

गहर–वि०– १ गंभीर, भयंकर। उ०—नाह नीठि पड़िसि खेत मांझी निवड़। गयंद पड़िसि गहर करड़ घड़ भड़ गहड़।—हा.झा.

२ अथाह। उ०—दीनवंधु देव देव, भाखत स्तुति अहम भेव। जेता जग सो अजेव, गहर गुरुड़ गांम रे।—र.ज.प्र.

सं०पु०—१ घमंड, गर्व। उ०—वध ओप वाजत्र वाजिया, सझ टोप वगतर साजिया। कस कमर वड कर गहर कर, धर धजर आवध सधर धर।—र.रू. २ वड़प्पन। उ०—सहर की तारीफ कूंण कर सकै, अमरावती के अमर तिस गहर कूं तकै।—र.रू.

सं०स्त्री०—३ ध्वनि विशेष।

गहरणो, गहरवो–क्रि०अ०—ध्वनि करना, गरजना।

गहरवा–सं०स्त्री०—चौहान वंश की एक शाखा।

गहरवार–सं०पु०—राजपूत वंश।

गहराई–सं०स्त्री० [सं० गभीर+रा० ई] गहरापन, गंभीरता, गांभीर्य। उ०—सो इण वार तो ठाकुराई वधारी, गहराई पकड़ी।
—सूरे खींवे री वात

गहराणो, गहरावो–क्रि०अ०—१ गरजना। उ०—घर लीलो गिरवर धुपै, घन मुधरो गहरात। निस सागी खारी लगै, विन प्यारी वरसात।—र.रा. २ गद्‌गद् होना। उ०—तो पिण रतनां आंखियां भरी, चाळां लूंवी, गळै विलूंवी, वोलणी न आयो, गळो गहरायो।—र. हमीर ३ अधिकार में करना।

गहरापण, गहरापणो–सं०पु०—गहरापन, गहराई। उ०—मचियो रस-वीर वसंत रत मातो, अवध पवन पोह गोळा तीर। कुसमपात तर जठै कुसळहर, गहरापण कीधो गजगीर।—अभैरांम मइयारियो

गहरायोड़ो–भू०का०कृ०—१ गरजा हुआ. २ गद्‌गद्।
(स्त्री० गहरायोड़ी)

गहरावणो, गहरावबो—देखो 'गहराणो' (रू.भे.)

गहरियोड़ो–भू०का०कृ०—गरजा हुआ, ध्वनि किया हुआ।
(स्त्री० गहरियोड़ी)

गहरी–सं०स्त्री० [सं० गह्वरी] भूमि, पृथ्वी (ह.नां.)

गहरो–वि० [सं० गहन] १ जिसकी थाह वहुत नीचे हो, जिसका विस्तार नीचे की ओर अधिक हो, गंभीर, अथाह।

उ०—गहरा होय हरी गुण गावो, छीलर जिउं मत दाखो छेह।

रिधि सुबुधि सधीरं, सुंडाळा देव सुप्रसनं ।—वचनिका

२ घना, गहन, जटिल. ३ भारी. ४ सौम्य, शांत. ५ मधुर ।

उ०—कोयल सुर मिळ नायका, गावत गीत गहीर । हय ध्यावत घर थरहरत, विवध खिलावत वीर ।

—बगसीरांम प्रोहित री वात

सं०पु०—१ महादेव, शिव (डि.को.) २ हाथी (डि.को.)

गहीलौ—वि० [सं० ग्रहिल] देखो 'गहलौ' (रू.भे.)

गहुं, गहूं—देखो 'गेहूं' (रू.भे.)

कहा०—गहुं'र गोयला तौ भेळा ही नीपजै—गेहूँ और 'गोयला' नामक घास साथ ही पैदा होते हैं । संसार में भले-बुरे दोनों प्रकार के व्यक्ति होते हैं ।

गहेठौ—देखो 'गाहटौ' (रू.भे.) उ०—भले भींच केता कढ़े खेंग भोला । टळे ऊछटे भू पड़ै भद्र टोळा । जिणी वार वूडा लगू पाथ जेठौ । वणूं घूमरां पाड़ माती गहेठौ ।—पा.प्र.

गहेर—गंभीर ।

गहेलड़ी—देखो 'गहलौ' (अल्पा०) उ०—सगुण सलूणा राउळ रूसणूं किस्यूं । हूं ता प्रेम गहेलड़ी, तूं सोनिगिरउ चहूआंण जी ।

—कां.दे.प्र.

गहेलू, गहेलौ—सं०पु०—१ मार्ग, रास्ता, पथ. २ देखो 'गहलौ' (रू.भे.)

गह्वर—सं०पु० [सं०] १ अंधकारमय स्थान, गुफा, कन्दरा. २ वह स्थान जिसमें छिपने से छिपने वाले का पता न चले, विषम स्थान. ३ भूमि में छोटा छिद्र. ४ कुंज, सघन झाड़ी ।

गह्वरौ—सं०पु०—जाति विशेष का घोड़ा (कां.दे.प्र.)

गांगड़ी—सं०स्त्री०—१ एक प्रकार का टहनियोंदार पौधा, जिसमें कांटे नहीं होते तथा टहनियाँ पतली होती हैं । इसके फल छोटे-छोटे तथा पकने पर पीले रंग के होते हैं (बां.दा.ख्यात) २ इस वृक्ष का फल. ३ डूंगरपुर की एक नदी का नाम (नैणसी)

गांगड़ौ—सं०पु०—हल और हाल को मजबूत करने के लिए दोनों के बीच में लगाया जाने वाला लकड़ी का गुटका ।

गांगण—देखो 'गांगड़ी' (रू.भे.)

गांगणिय, गांगणियौ—सं०पु०—'गांगड़ी' नामक वृक्ष का फल । देखो 'गांगड़ी' ।

गांगनौ—वि०—१ मूर्ख, विक्षिप्त. २ जिसका ध्यान एक स्थान पर स्थिर न रहे, गाफिल (मि० 'वांगौ')

गांगरत, गांगरौ—सं०स्त्री० [सं० गाङ्ग+कीर्ति, पूर्ण] किसी वस्तु, बात, झगड़ा, कलह या घटना बीत जाने पर भी उसी की राग अलापे जाने का कार्य या क्रिया ।

मुहा०—गांगरौ गाणौ—बीती हुई बात या कथन की बार-बार पुनरावृत्ति करना ।

गांगली—सं०स्त्री०—श्रावण या आषाढ़ मास में दक्षिण और पश्चिम के मध्य से चलने वाली वायु जो वर्षा का अवरोध करती है (क्षेत्रीय)

कहा०—गांगली कोई रोवण में रोईजै नै न कोई गीतां में गाईजै—उस व्यक्ति के प्रति जिसकी कहीं भी प्रतिष्ठा न हो ।

गांगांणौ, गांगी, गांगुवण—देखो 'गांगड़ी' (रू.भे.) (रा.सा.सं.)

गांगेड़ौ—सं०पु०—१ बर्तनों के मुंह का गर्दन के ऊपर का भाग. २ मृत्योपरान्त संबंधियों द्वारा गंगाजी जाकर लौटने के बाद किया गया वह भोज जो बहुत मामूली खर्च में ही पूरा कर लिया गया हो ।

गांगेय, गांगेय—सं०पु० [सं० गांगेय] १ भीष्म. २ कार्तिकेय. ३ सोना (ह.नां.)

गांगौ—सं०पु०—१ बर्तनों के मुंह का वृत्ताकार गर्दननुमा भाग ।

कहा०—गीलै में हाथ नै गांगै में माथौ—हाथ गरिष्ठ भोजन में और शिर घी के पात्र में, अर्थात् खूब घृत के बने पकवान प्राप्त हो रहे हैं । अधिक मौज व आनंद के समय की उक्ति ।

गांछा—सं०स्त्री०—बाँस की डलिया आदि बनाने या बांस संबंधी व्यापार करने वाली एक जाति ।

गांछौ—सं०पु०—'गांछा' नामक जाति का व्यक्ति ।

गांज—वि०—नाश करने वाला ।

गांजणौ—वि०—तोड़ने वाला, नाश करने वाला । उ०—भारथि खळां दळ भांजणौ, गढ़ गांजणौ गहगीर ।—ल.पि.

गांजणौ, गांजबौ—क्रि०स०—१ तोड़णा, खंडित करना, गर्व मिटाना ।

उ०—गांज मगज पतसाह रौ, भांज मुदप्फर खांन । 'अभौ' त्रिवेणी आवियौ, जांणी वात जिहांन ।—रा.रू.

२ पराजित करना । उ०—जितै मो सीस खवा पर जांण, इतै कुण गांज सकै तो आंण ।—गो.रू.

गांजणहार, हारौ (हारी), गांजणियौ—वि० ।

गांजवाणौ, गांजवावौ—प्रे०रू० ।

गांजिओड़ौ, गांजियोड़ौ, गांज्योड़ौ—भू०का०कृ० ।

गांजीजणौ, गांजीजबौ—कर्म वा० ।

गंजणौ, गंजबौ—रू०भे० ।

गांजर—सं०स्त्री०—बहुत से आदमियों द्वारा चरस खींचने की क्रिया ।

उ०—भाजै धाफड लै कोठा भणणाटा, गांजर खांचै लै पांजर गणणाटा ।—ऊ.का.

मुहा०—गांजर खांचणी—जीवनयापन करना ।

गांजवणौ, गांजवबौ—देखो 'गांजणौ' (रू.भे.) उ०—उठै थां मेलउ जेथ अपाल जठै नहि गांजव सकै जगमाल ।—गो.रू.

गांजागिर—सं०पु० १ राजा, नृप (डि.नां.मा.) २ भाग्यविधाता ।

गांजीजणौ, गांजीजबौ—क्रि०स० कर्म वा० १ तोड़ा जाना, खंडित किया जाना. २ पराजित किया जाना.

गांजीव—सं०पु० [सं० गांडीव] अर्जुन का धनुष, गांडीव ।

उ०—सज टोप बकत्तर सूर, किये कमध रूप करूर । हव लीध

२ मेघ राग की पांचवीं रागिनी (संगीत) ३ तंत्र के अनुसार एक नाड़ी. ४ जैनों के एक शासन देवता।

गांधी–सं०पु० १ वर्षाकाल में धान के खेतों में होने वाला एक कीड़ा. २ हींग. [सं० गांधिक] (स्त्री० गांधण) ३ तेल व इत्र का व्यवसाय करने वाली एक जाति अथवा इस जाति का व्यक्ति.

४ आधुनिक भारत के एक प्रसिद्ध महात्मा।

वि०वि०—इनका नाम मोहनदास था। श्री करमचंद गांधी के यहां गुजरात के पोरबंदर नामक स्थान में इनका जन्म हुआ था। भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के ये मुख्य स्तंभ थे। भारत को ब्रिटिश शासन से स्वतंत्रता दिलवाने का श्रेय इन्हीं को प्राप्त है। इनका स्वर्गवास ३० जनवरी १९४८ को हुआ था। प्रति वर्ष दो अक्टूबर को इनकी जयन्ती मनाई जाती है।

गांन–सं०पु०—१ गाने की क्रिया. २ गाना, गायन, गीत।

उ०—अलियळ आज करंत नह, गयंद कपोळां गांन। सिंहनाद मद सूकियौ, औ कीजै अनुमांन।—वां.दा.

३ संगीत।

गांनगर–वि० [सं० गानकर] गायक, गाने वाला। उ०—दीजै तिहां डंक न दंड न दीजै, ग्रहणि मवरि तरु गांनगर। करग्राही परवरिया मधुकर, कुसुम गंध मकरंद कर।—वेलि.

गांनवंत–वि० [सं० गानवत] गायक, गवैया। उ०—मुखि गांनवंत वसंत मंगळ संत धांम सुहावही, किरि प्रति अबीर गुलाल केसर भूप लख सुख भावही।।—रा.रू.

गांम–सं०पु० [सं०ग्राम] गाँव, देहात। उ०—ईदा ऊदा नयर, साम पख ग्राम विभाळे। गांम गांम मैल्हांण, वहै आपांण संभाळे।—रा.रू.

कहा०—१ गांम करै ज्यां गिंवार भी करै—समूह या समाज के लोगों के देखादेखी कार्य करने वाले के प्रति. २ गांम खनै आयनै खोळा टांकणा—गांव के पास आकर कस कर तैयार होना। डरपोक व्यक्ति के लिए जो अपने गांव के पास आकर अपने को बहादुर बताता है. ३ गांम मांये घेर नी उजाड़ मांये खेत नी—न गांम में घर है न जंगल में खेत है। उस व्यक्ति के प्रति जिसके पास न रहने को घर है और न बोने को खेत है. ४ गांम री नांम खारौ तौ मीठौ कांई—गाँव का नाम ही खारा है तो वहाँ मीठा क्या होगा? जैसा व्यक्ति होगा वैसे ही उसके गुण होंगे. ५ जिण गांम नहीं जांणौ उणरौ मारग ही क्यूं पूछणौ—जिस गांव को जाना ही नहीं है, फिर उसका रास्ता पूछने से क्या अभिप्राय। जिस कार्य को करना ही नहीं है, उसके संबंध में जानकारी करने से क्या लाभ।

६ डूम रौ पांमणौ गांम नै भारी—ढोली के घर पर आया हुआ मेहमान गाँव वालों के लिए बोझा होता है। निर्धन व्यक्ति व्यय आदि के कारण उसके पड़ौसी एवं संबंधियों के लिए बोझा होता है.

७ रोवतौ फिरै गांम वांभी फिरै ज्यूं—अधिक इधर-उधर घूमने व चक्कर लगाने वाले के प्रति।

यौ०—गांमखेर, गांम-गांमतरौ, गांम-गोचर।

(अल्पा०—गांमड़ियौ, गांमड़ौ)

गांमखेर–सं०स्त्री०—ग्राम की गायों का समूह (मि०—गोमाळ)

गांम-गांमतरौ—देखो 'गांमतरौ' (रू.भे.)

गांम-गोचर–सं०पु०—किसी गांव के आधीन वहाँ के मवेशियों के चरने के उद्देश्य से छोड़ी गई भूमि, चरागाह।

गांमड़ियौ—देखो 'गांम' (अल्पा०)

गांमड़ी–वि०—ग्रामीण, ग्राम-निवासी।

गांमड़ौ—देखो 'गांम' (अल्पा०) उ०—सोना री ईढ़ाणियां, आंणे जळ अवळाह। गांजण निवळा गांमड़ां, सगत नहीं सवळांह।

—वां.दा.

गांमतरौ–सं०पु० [सं० ग्रामान्तर] एक गाँव से दूसरे गाँव को जाने की क्रिया, गांव-गांव की जाने वाली यात्रा।

गांम-भांभी–सं०पु०—शासक की ओर से नियुक्त 'भांभी' जाति का वह व्यक्ति जो गाँव के व्यक्तियों को आवश्यकतानुसार बुलाने का कार्य करता है।

गांमाऊ–वि० [सं० ग्राम+रा० प्र० आऊ] गाँव का, गाँव संबंधी।

गांमी–वि० [सं० गामिन्] (स्त्री० गांमणि, गांमणी) १ चलने वाला, गतिवान। उ०—उठा हूं नागणेच्यां भवण आविया, लाविया सरब रणवास लारै। गती गजराज हंसां गवण गांमणी, इंद्र पर कांमणी लवण वारै।—मे.म.

यौ०—गरुड़-गांमी।

२ संभोग करने वाला, रमण करने वाला।

यौ०—वेश्यागांमी।

सं०पु०—श्रीकृष्ण (डिं.को.)

गांमेट–सं०पु०—वर्षा होने पर गांव के मोहल्लों का एकत्र होकर बहने वाला जल।

गांमेती–वि०—ग्राम-निवासी, ग्रामीण। उ०—ओछी अंगरखियां दुपटी छित्र देती। गोढ़ै वरड़ी जे पूरा गांमेती।—ऊ.का.

सं०पु०—गांव का स्वामी।

गांमोगांम–सं०पु०यौ०—प्रत्येक गाँव, हर गाँव।

गांव–स०पु० [सं० ग्राम] छोटी वस्ती, ग्राम, देहात।

पर्याय०—खेड़ौ, निवसथ।

कहा०—१ गांव करै ज्यूं गैली करै—देखो 'गांम करै ज्यां गिंवार भी करै'. २ गांव कोटवाळी आप ही सिखाय दे—कोतवाली करना गाँव खुद ही सिखा देता है। कार्य करने एवं अनुभव से ही अधिक सीखा जाता है. ३ गांव गाव खेजड़ी नै गांव गांव गोगौ—प्रत्येक गाँव में सांप मिल जाया करता है, किन्तु उसके इलाजस्वरूप शमी वृक्ष भी प्रत्येक गाँव में मिल जाता है। जहाँ दुष्ट व्यक्ति होते हैं वहाँ दुष्टों का शमन करने वाला भी कोई न कोई मिल ही जाता है.

४ गांव गेलै ने को गिणै नी नै गेलौ गांव ने को गिणै नी—गाँव अर्थात् उसमें बसने वाले पागल को महत्व नहीं देते और पागल भी

गांठौ–सं०पु०—गठरी विशेष जो केसर की होती है।
उ०—किस्तूरी रा पुड़ा एक, एक केसर रौ गांठौ, एक बावने चंदण रौ झाड़, एक मूंगियां रौ, तरवार, एक ग्रमल, इतरी वसतां ग्रनोखी ग्रर दूजौ मेवौ. कपड़ौ भांत-भांत री नजर करनै बैठौ। —पलक दरियाव री वात

गांड–सं०स्त्री० [सं० गर्त, प्रा० गड्ड] मल-द्वार, गुदा, अपान।
मुहा०—१ गांड उघाड़्यां फिरणौ—नंगा फिरना, बच्चों की तरह अनजान बना फिरना. २ गांड गरदन एक करणी—थका कर लथ-पथ करना; मार-मार कर बेसुध करना. ३ गांड गळा में ग्रावणी—संकट में पड़ना, ग्राफत में फँसना, तंग ग्राना, हैरान होना. ४ गांड चाटणी—चापलूसी करना खुशामद करना.
५ गांड छूटणी—दस्त ग्राना, पेट चलना. ६ गांड तोड़णी—मार-मार कर भुस बनाना, खूब पीटना. ७ गांड धोवणी—खुशामद करना, सेवा करना. ८ गांड फाटणी—डर लगना, भय होना, घबराहट होना. ९ गांड वळणी—बुरा लगना, न सुहाना, ईर्ष्या होना. १० गांड मराणी—गुदा मैथुन कराना, प्रकृति-विरुद्ध मैथुन कराना हानि सहना, नुकसान उठाना, चापलूसी करना. ११ गांड मारणी—गुदा मैथुन करना, तंग करना, सताना, कठिन परिश्रम लेना. १२ गांड में ग्रांगळी करणी—छेड़ना, तंग करना.
१३ गांड में गू होणौ—पास में पैसा होना १४ गांड में घुसणौ—चापलूसी करना, खुशामद करना. १५ गांड में मिरचां लागणी—बुरा लगना, खलना, न सुहाना. १६ गांड रगड़णी—बहुत प्रयत्न करना, बहुत दौड़-धूप करना।
कहा०—१ गांड झरै नै सराय में डेरा—दस्तें तो लग रही हैं और सराय में ग्रावास चाहते हो। ग्रयोग्य पुरुषों द्वारा योग्य और ग्रच्छे स्थान में रहने की कामना पर व्यंग्य. २ गांड तपै जद सूत कतै—एक स्थान पर जम कर बैठने से सूत कतता है। जम कर कार्य करने से ही कार्य पूरा होता है। कार्य में सफलता के लिए परिश्रम ग्रावश्यक है. ३ गांड में कीड़ौ हालणौ—लगातार कुछ ग्रटपटा या बिगाड़ का काम करते रहने वाले के प्रति. ४ गांड रौ गड़ नै फळसे रौ लेणायत—गुदा का फोड़ा और द्वार के सामने का लेनदार दोनों ही महा दुखदायी होते हैं।

गांडर–सं०स्त्री०—१ किसी वस्तु के नीचे का वह भाग जिसके बल पर वह खड़ी रह सके। पेंदी, तला. २ एक प्रकार की घास विशेष।

गांडीव–सं०पु० [सं०] ग्रर्जुन के धनुष का नाम।

गांडीवी–सं०पु०—गांडीव को धारण करने वाला, ग्रर्जुन।

गांडू–वि०—१ जिसे गुदा-मैथुन कराने की लत हो. २ निकम्मा. ३ जिसमें हिम्मत न हो, डरपोक, कायर।

गांण—देखो 'गांन' (रू.भे.) उ०—राळ पांनड़ा कळस, कांमड़्यां गोघड़ मांडै। चूकै नगदी नेग, गांण ग्रह देव्यां मांडै।—दसदेव

गांणपत–वि० [सं० गाणपत] गणपति सम्बन्धी।
सं०पु०—एक संप्रदाय जो गणेश की उपासना करता है।

गांणवर–सं०पु०—शिव (डि.नां.मा)

गांती—देखो 'गाती'।

गांतौ—देखो 'गांथौ' (रू.भे.)

गांथणौ, गांथबौ–क्रि०स० [सं० ग्रंथन] १ गूंथना. २ मोटी सिलाई करना, गांठना. ३ दो (पशुग्रों) को एक साथ ग्रापस में गले से बांधना।
गांथणहार, हारौ (हारी), गांथणियौ—वि०।
गांथाणौ, गांथावौ, गांथावणौ, गांथावबौ—प्रे०रू०।
गांथिग्रोड़ौ, गांथियोड़ौ, गांथ्योड़ौ—भू०का०कृ०।
गांथीजणौ, गांथीजबौ—कर्म वा०।

गांथियोड़ौ–भू०का०कृ०—१ गूंथा हुग्रा. २ मोटी सिलाई किया हुग्रा, गांठा हुग्रा. ३ दो (पशुग्रों) को एक साथ ग्रापस में गले से बांधा हुग्रा (स्त्री० गांथियोडी)

गांथौ–सं०पु० [सं० ग्रंथन] वह रस्सी या ग्रन्य बंधन जिससे दो पशुग्रों को एक साथ उनके गले से बांधते हैं।
मुहा०—गांथे जुतणौ—साथ लगना, मदद में जुतना।
(मि०–सिलाड़)

गांदिनी–सं०स्त्री० [सं०] १ ग्रक्रूर की माता जो काशीराज की कन्या तथा श्वफलक की भार्या थी. २ गंगा।

गांदौ—देखो 'गांधौ' (रू.भे.)

गांधरव–वि० [सं० गांधर्व] गंधर्व संबंधी, गंधर्वदेशोत्पन्न।
सं०पु०—१ घोड़ा. २ सामवेद का उपवेद, गधर्ववेद. ३ गंधर्व. ४ ग्राठ प्रकार के विवाहों में से एक जिसमें वर और कन्या परस्पर ग्रपनी इच्छानुसार ग्रनुरागपूर्वक पति-पत्नीवत् रहते हैं।

गांधरव वेद–सं०पु०यौ० [सं० गांधर्व+वेद] सामवेद का उपवेद, संगीत-शास्त्र।

गांधार–सं०पु० [सं०] १ सिंधु नदी के पश्चिम का पेशावर से कंधार तक माना जाने वाला एक देश. २ गांधार देश का निवासी.
३ संगीत के सात स्वरों में से तीसरा स्वर. ४ एक प्रकार का राग (संगीत)

गांधार पंचम–सं०पु० [सं०] एक षाडव राग (मांगलिक) (संगीत)

गांधार भैरव–सं०पु० [सं०] एक राग का नाम जो देवधार के मेल से बनता है (संगीत)

गांधारी–सं०स्त्री० [सं०] १ धृतराष्ट्र की स्त्री या कौरवों की माता।
वि०वि०—यह गांधार देश के राजा सुबल की कन्या थी। शिव की ग्राराधना के कारण इन्हें १०० पुत्र होने का वरदान मिला था। कुरुवंश में पुत्रों की कमी के कारण भीष्म ग्रादि ने धृतराष्ट्र के लिये गांधारी को मांगा था, ग्रतः इनका विवाह धृतराष्ट्र के साथ हो गया। पति के ग्रंधे होने के कारण गांधारी ने ग्रपनी ग्रांखों पर भी सदा के लिये पट्टी बांधली। कालान्तर में इसके दुर्योधन ग्रादि सौ पुत्र हुए।

गागीजणौ, गागीजबौ—भाव वा० ।

गागर–सं०स्त्री० [सं० गर्गर] गगरी, घड़ा । उ०—वैरा वैरागर सागर सम सोभा, रीती गागर ले नागर तिय रोभा ।—ऊ का.

मुहा०—गागर में सागर भरणौ—संक्षिप्त भाषा में तत्वरूप कहना । थोड़े शब्दों में बहुत कुछ व्यक्त कर देना ।

गागरौ–सं०पु०—लहँगा, घाघरा ।

गागियोड़ौ–भू०का०कृ०—रोया हुआ, चिल्लाया हुआ, विलाप किया हुआ । (स्त्री० गागियोड़ी)

गागोळिया–सं०स्त्री०—गुजराती नटों की एक शाखा (मा.म.)

गाघ–सं०स्त्री०—घाव, क्षत, चोट ।

गाघणौ, गाघबौ–क्रि०अ०—दुख या कष्ट से पीड़ित होकर दर्दभरी आवाज करना, कराहना ।

गाघणहार, हारौ (हारी), गाघणियौ—वि० ।

गाघिग्रोड़ौ, गाघियोड़ौ, गाघ्योड़ौ—भू०का०कृ० ।

गाघीजणौ, गाघीजबौ—भाव वा० ।

गाघरांणौ–सं०पु०—एक प्रकार का पुनर्विवाह । उ०—कोई ठावौ गांमेती, वासड़ियौ तथा घर री धणी रजपूत मरै, कै मोटियार कांम आवै, तो उणरी बायर (वैर) गाघरांणौ करै ।

—जखड़ा मुखड़ा भाटी री वात

(मि०–नातौ)

गाघरियौ, गाघरौ—१ देखो 'गाघरांणौ' (रू.भे.)

२ देखो 'घाघरौ' (अल्पा०)

गाछ–सं०पु०—बड़ा वृक्ष, दीर्घकाय पेड़ (क्षेत्रीय)

गाज–सं०पु० [सं० गर्जन, प्रा० गज्ज] १ गर्जन । उ०—१ अर तोपां रा गाज हूं सेस रा सीसां समेत मक्राक्रत मेखळा मही रै मचोळा लगाया ।—वं.भा. उ०—२ जंबक सबद नचीत कर, डर कर तूं मत भाज । सादूळौ खीजै सुणै, जळहर हंदी गाज ।—बां.दा.

२ बिजली, वज्र । उ०—लेवै अवळा लाज, सवळा हुय बैठा सकौ । गरड़ सभा पर गाज, सुणतां राळौ सांवरा ।—रांमनाथ कवियौ

३ मस्ती में आए हुए ऊँट की आवाज । उ०—रांगड़ा थळी रा जूंगराज, गूंगला जोड़ रा करय गाज ।—पे.रू.

गाजणौ–वि० (स्त्री० गाजणी) १ गर्जन करने वाला, दहाड़ने वाला । उ०—१ मेरौ देवरियौ चरावै सांड, करला गाजणा ।—लो.गी.

उ०—२ मेरौ परण्यौ चुंगावै टोडिया, मेरौ जेठजी दूवै भूरी भोट सांड्यां गाजणी ।—लो.गी.

२ बजने वाला, ध्वनि करने वाला । उ०—धणी रा गाजणा त्रंबाळ नगारा तौ आपरै हीज पांण बाजै है ।—वी.स.टी.

गाजणौ, गाजबौ–क्रि०अ०—१ गर्जना, कड़कना । उ०—कांपिया उर कायरां असुभ गाजंते नीनांणै गड़ड़ै ।—वेलि टी.

२ प्रसन्न होना. ३ दहाड़ना । उ०—नाहर जे गाजिस नहीं, ऐ गज वहता ईख । सर सर कमळ सुगंध री, भमर न मांगिस भीख ।

—बां.दा.

४ हुंकार भरना. ५ गायन करना । उ०—गोरी पणियारी तेजौ तन गाजै, लारै धोरी रै जणियारी लाजै ।—ऊ.का.

गाजणहार, हारौ (हारी), गाजणियौ—वि० ।

गाजिग्रोड़ौ, गाजियोड़ौ, गाज्योड़ौ—भू०का०कृ० ।

गाजीजणौ, गाजीजबौ—भाव वा० ।

गाजनमाता–सं०स्त्री०—बनजारा जाति की कुलदेवी ।

गाजर–सं०स्त्री०—एक प्रकार का पौधा जिसकी पत्तियां प्रायः धनिए के पौधे की पत्तियों से मिलती-जुलती होती हैं. २ इस पौधे की जड़ जो एक खाद्य पदार्थ है । यह मूली की तरह ही होती है किन्तु मूली से मोटाई में कुछ अधिक तथा लंबाई में कुछ कम होती है ।

कहा०—१ गाजर आळी पीपळी—जिसके रहने से न लाभ हो और मिटने से न हानि हो. २ गाजर री पूंगी बाजी जिते बजाई नी बाजी तौ तोड़ खाई—गाजर की पूंगी जब तक बजी तब तक बजाने के काम में लेली और खराब होने पर तोड़ कर खाने के काम में ले ली। ऐसी वस्तु के प्रति जो अच्छी एवं बुरी दोनों अवस्था में प्रयुक्त हो सके ।

गाजरियौ–सं०पु०—१ गेहूँ की फसल में होने वाली घास. २ गाजर का बना खाद्य पदार्थ ।

गाजरूप–सं०पु०—एक प्रकार का घोड़ा (शा.हो.)

गाजियोड़ौ–भू०का०कृ०—१ गर्जना किया हुआ. २ गाया हुआ । (स्त्री० गाजियोड़ी)

गाजी, गाजीउ–सं०पु० [अ०] १ मुसलमानों में वह वीर पुरुष जो धर्म के लिये विधर्मियों से युद्ध करे । उ०—जग्गौ अवसांणे जोरवंत । सुत सांम खेत गाजी अरंत ।—रा.रू.

२ एक खास प्रकार का ऊँट । उ०—खाती री खातोड़ गूंजता जावै गाजी । लावै जो लोहार रांमजी मिळंग्यौ राजी ।—ऊ.का.

३ घोड़ा (अ. मा.)

वि०—बहादुर, वीर पुरुष, श्रेष्ठ पुरुष । उ०—गुरां प्रोहित सुभट गाजी, तेड़ मंत्री अकल ताजी, सला कीध सधीर ।—र.रू.

गाजीमरद–सं०पु०—१ बहुत बड़ा वीर. २ घोड़ा ।

गाजी मियां–सं०पु० [अ०] सालार ममउद गाजी नामक एक व्यक्ति जो महमूद गजनवी का भानजा था । वह हिंदुओं को काफिर समझ कर उनसे लड़ने के लिये अवध तक बढ़ आया था पर आरंभ ही में श्रावस्ती के जैन राजा के हाथों मारा गया था ।

गाट–सं०पु० [अं० गॉर्ड] १ रक्षा करने वाला, रक्षक. २ पहरा देने वाला ।

गाटक–सं०पु०—घूँट । उ०—दूवां रा स्वाद अम्रत सारिखा लागै छै । सु कढ़ी रा वड़िग्रां रा गाटक लीजै छै ।—रा.सा.सं.

गाटर–सं०पु० [अं० गर्टर] लोहे की लंबी, मोटी एवं अत्यन्त भारी धरन जिसे बड़ा कमरा बनाने के लिये दीवार पर डाल कर छत पाटी जाती है ।

गांव वालों को कुछ भी महत्व नहीं देता। जैसे को तैसा व्यवहार के प्रति. ५ गांव गैल ढेढ़वाड़ौ सगळै है—जहां गांव है वहां चमार-वाड़ा भी है। अच्छाई-बुराई, सफाई-गंदगी आदि कुछ न कुछ सब स्थानों पर मिलता ही है. ६ गांव जठै ढ़ेडवाड़ौ—देखो 'कहावत' ५ ७ गांव थारौ, नांम म्हारौ—कांम न करके भी उसका यश स्वयं प्राप्त करने की इच्छा रखने वाले के प्रति. ८ गांव बिगाड़चौ गोरी, ब्याह बिगाड़चौ मेह—विवाह को वर्षा एवं गांव को चरवाहा बिगाड़ देता है (विवाह के दिनों वर्षा हो जाय तो विवाह का आनन्द किरकिरा हो जाता है और चरवाहा अपने पशुओं को खेतों में चराने लगे तो मारे गांव की हानि होती है। ९ गांव री गधी को पूछै नी—गांव की गधी भी नहीं पूछती। अकिंचन के प्रति.

१० गांव री छब गोर में नै घर री छब पौळ में—जिस प्रकार गांव की स्थिति उसका बाहरी भाग या चौहटा देखने से मालूम हो जाती है ठीक उसी प्रकार घर की स्थिति उसके प्रवेश-द्वार से मालूम हो जाती है. ११ गांव री छब गोर मां सूं ही नजर आवै—गांव की स्थिति उसके बाहरी भाग से ही प्रतीत होती है (मि० कहा०—१०) १२ गांव री साख वाड़ा भरै—गांव की शोभा या उसकी स्थिति उसके बाहरी वाड़ों से ही प्रतीत होती है १३ गांव लार गंडक लाधै—प्रत्येक गांव में कुत्ते होते ही हैं। थोड़े-बहुत बदमाश व दुष्ट लोग प्रायः सभी जगह पर मिलते हैं।

(रू०भे०—गांम)

गांवखेर—सं०स्त्री०—गांव की गायों का समूह।

गांवघाट—सं०स्त्री०—मृत्यु के उपरांत किया जाने वाला एक भोज जिसमें उसी गांव के तथा केवल उसी जाति के व्यक्ति भोजन के लिये बुलाये जाते हैं (जाट) (रू०भे०—'गामघाट')

गांवड़ियौ, गांवड़ौ—देखो 'गांव' (अल्पा०) उ०—लीलोती चोवीस मांगै, गिरणै न छोटो गांवड़ौ। जद नीम सगळां सूं पैंली, थारौ ही सुभ नांवड़ौ।—दसदेव

गांवतरौ—देखो 'गांमतरौ' (रू.भे.)

गांवभांभी—देखो 'गांमभांभी' (रू.भे.)

गांवेती—देखो 'गांमेती' (रू.भे.)

गांस, गांसी—सं०स्त्री०—१ रोक-टोक, प्रतिरोध, बंधन. २ ईर्ष्या, द्वेष, वैमनस्य. ३ कपट। उ०—सो सगळी सुणी वातां दुरगादासजी नूं कही तिण पर वहोत राजी हुइया, कोई पेट में गांस थी सो पण सारी छोड़ दीवी।—भाटी सुंदरदास री वारता

४ नोक, नुकीला भाग। उ०—वरछियां रा फळ मांहे टूट रहिया। तीरां री सांठी टूटी, भालां री गांस मांही रही सो लोहां सूं पूर हुवो थको पार होय जा वरड़ी ऊपर खड़ो रहियो।—डाढाळा सूर री वात ५ गांठ, बंधन। उ०—अरज करै अबळा कर जोड़्यां, स्यांम तुम्हारी दासी। मीरां के प्रभु गिरधर नागर करस्यां म्हारो गांसी।—मीरां ६ दुष्ट प्रकृति, दुष्ट स्वभाव।

गांसु—देखो 'गांस'। उ०—स्रवण सुणत मेरी सुध बुध बिसरी, लगी रहत तामें मन की गांसु री।—मीरां

गा—सं०स्त्री०—१ पार्वती. २ लक्ष्मी. ३ गंगा. ४ पृथ्वी. ५ सरस्वती. ६ नाभि. ७ शक्ति. ८ गाय।

सं०पु०—९ बुद्ध. १० ज्ञान. ११ धनी. १२ बुद्धिमान, पंडित (एका०)

गाअटौ—सं०पु०—१ किसी वस्तु, शरीर आदि को अधिक पीटने से होने वाली अवस्था, कचूमर. २ नाश, विध्वंश ३ खलिहान में भूसे से अनाज पृथक करने की क्रिया या भाव। अनाज के सूखे डंठलों में से दाने निकालने के लिये उसे बैलों द्वारा अथवा बैलों से जुती गाड़ियों द्वारा रौंदने का कार्य।

(रू०भे०-गा'टौ, गा'ठौ, गायटौ, गाहटौ, गाहठौ।

गाअणौ, गाअबौ—देखो 'गाणौ'। उ०—अति उत्तिम दीजै उकति, सरसती हूँ सुप्रसंन। गाअं लखपत्ती गुणे, महिपत्ती वड मंन।—ल.पि.

गाइ—सं०स्त्री० [सं० गौ] गाय (ह.नां.) उ०—तो इह महा अजोग्य वात होसै। जैसे कपिळा गाइ दांन दीजै।—वेलि.

गाइड़मल—देखो 'गायड़मल' (रू.भे.) उ०—आज म्हारे गाइड़मल ने वावायेजी रै न्यूं'त्यौ।—लो.गी.

गाइड—सं०पु० [अं०] पथ-प्रदर्शक।

गाइणी—वि०—गाने वाली। उ०—निरखंति अच्छर नीची निजर, गौ मद मच्छर गाइणी। इण वयण सची विलखी उवरि, इंद्र लखी इंद्रायणी।—रा रू.

गाइव—देखो 'गायव' (रू.भे.)

गाइरूप—सं०स्त्री० [सं० गौ+रूपा] पृथ्वी (डिं.नां.मा.)

गाई—सं०स्त्री० [सं० गौ] गाय (रू.भे.) उ०—गंडक गिणै न गिणै गधेड़ौ, गोधौ गिणै न गाई नै।—ऊ.का.

गाईजणौ, गाईजबौ—क्रि०स०, कर्म वा०—गाया जाना। उ०—मंगळ रूप गाईजै माहव, चार सूं ए ही मंगळ चार।—वेलि.

गाउन—सं०पु० [अं०] १ एक प्रकार का लंबा ढीला पहनावा जो प्रायः पश्चिमी देशों में पहना जाता है. २ एक तरह का चोगा जो कई आकार और प्रकार का होता है।

गागड़—सं०पु०—अपरिपक्व बेर।

गागड़दा—वि०—अधिक गाढ़ा या घना। उ०—वो नित कागावासी मे झारिया अर दुपारै अर सिंज्या री गागड़दा छाणै। ऊपर जोईजै ठूंगार।—वरसगांठ

वि०वि०—प्रायः यह शब्द किसी द्रव पदार्थ के लिए विशेषण रूप में प्रयुक्त होता है।

गागणौ, गागबौ—क्रि०अ०—चिल्लाना, रोना, कुहराम मचाना, विलाप करना।

गागणहार, हारौ (हारी), गागणियौ—वि०।

गागिओड़ौ, गागियोड़ौ, गाग्योड़ौ—भू०का०कृ०।

यौ०—ऊँटगाडी, घोड़ागाडी, वळदगाडी, मोटरगाडी, रेलगाडी ।

अल्पा०—गाडूलौ ।

मह०—गाडौ ।

गाडीजणौ, गाडीजवौ—कर्म वा०—गाडा जाना, दफनाया जाना ।

गाडीजणहार, हारौ (हारी), गाडीजणियौ—वि० ।

गाडीजिग्रोड़ौ, गाडीजियोड़ौ, गाडीज्योड़ौ—भू०का०कृ० ।

गाडीजियोड़ौ—भू०का०कृ०—१ गाडा हुग्रा. २ दफनाया हुग्रा. (स्त्री० गाडीजियोड़ी)

गाडीणौ—सं०पु०—मिट्टी के बड़े-बड़े मटकों में पानी भर कर लाने ले जाने के उपयोग में ग्राने वाली वैलगाड़ी (रेगिस्तानी)

उ०—नाडा भरियोड़ा नैंड़ा निजराता, गाडा गुड़काता पैंडा रुड़ पाता। लावै फूलांणी भीणैं सुर लेता, डींगा गाडीणा डव-डव धुनि देता ।—ऊ.का.

गाडीत, गाडीतौ—सं०पु०—१ देसवाली मुसलमानों का एक भेद. २ गाडोलिया ।

गाडीवांन—सं०पु०—गाडी चलाने या हाँकने वाला ।

गाडूलौ—सं०पु०—१ छोटी वैलगाड़ी, छकड़ा (ग्रल्पा०) उ०—पीढ़े तौ वैठी मायड़ मन करचौ, मन कर मेल्यौ लोड़ौ वीर । कठै तौ पड़ियौ मायड़ गाडूलौ, कठै म्हारा धोळा रा जोत ।—लो.गी.

२ बच्चों के खेलने के लिये लकड़ी या लोहे का तीन पहियों वाला खिलौना जिसके सहारे से बच्चे चलना बहुत शीघ्र सीख लेते हैं ।

गाडेती—सं०पु०—१ देखो 'गाडोलियौ' (रू.भे.) २ गाडीवान ।

उ०—माळी हाळी वाळवी, गाडेती गवाळ । सात देव रक्षा करौ, पंखेरू पूंछाळ ।—ग्रज्ञात

गाडेसर, गाडेहर—सं०पु०—मकान ग्रादि का वह दरवाजा जिसमें से होकर गाड़ी ग्रा-जा सके या ग्राती हो ।

गाडोलिया—सं०स्त्री०—लुहारों की एक जाति विशेष । इसके व्यक्ति प्रायः ग्रपना सब घरवार एक गाड़ी पर ही स्थापित कर एक स्थान से दूसरे स्थान को घूमते रहते हैं ग्रौर एक स्थान पर टिक कर नहीं रहते ।

गाडोलियौ—सं०पु०—'गाडोलिया लुहार' नामक जाति का व्यक्ति ।

गाडोली—सं०स्त्री०—१ देखो 'गाडोलौ'. २ भूरे रंग की छोटे ग्राकार की एक प्रकार की चिड़िया जो प्रायः जलाशयों के पास मिलती है ।

गाडोलौ—१ देखो 'गाडौ' (रू.भे.) २ देखो 'गाडूलौ' (रू.भे.)

गाडौ—सं०पु०—१ बड़ी गाड़ी (डि.नां.मा.)

कहा०—गाडा पाडा ना सूं भरोसौ, वाटे रात रावै—गाड़ी ग्रौर भैंस का विश्वास नहीं करना चाहिये क्योंकि इनके कारण कभी रास्ते में ही रात व्यतीत करनी पड़ती है ।

२ वीस मन का परिमाण ।

गाढ़—सं०पु०—१ शक्ति, वल । उ०—१ हुवौ जेम हरणंक यम साह ग्रवरंग हुवौ, ग्रहे सुर नरां छोड़ दियौ गाढ़ । ग्रवन ग्रणयाह जातां हुई ग्रवरकै, दुरग री तेग वाराह री डाढ़ ।—भोजराज महियारियौ

उ०—२ दिकपाळां रा गाढ़ समेत, दिग्गजां रा मद छूटि ग्राठूं ही ग्रनेकप चकितपण रा चीकार करण लागा ।—वं.भा.

क्रि०प्र०—पड़णौ, निकळणौ, राखणौ, होणौ ।

२ मान, प्रतिष्ठा । उ०—गोहिल कुळ धन गाढ़, लेवण ग्रकवर लालची । कोडी दे नह काढ़, पणधर रांण प्रतापसी ।—दुरसौ ग्राढ़ौ

३ गर्व, ग्रभिमान (ग्र.मा.) (मि०—गाढ़ री ग्रांवळी)

४ दृढ़ता, मजवूती. ५ धैर्य, धीरज । उ०—ग्रावां मास ग्रसाढ़, प्रथम पख में पांवणा । महल रखौ मन गाढ़, ग्रव मत लिखजो ग्रोळभा ।—र.रा.

६ प्रेम । उ०—फरगट मारै फूटरा, कर सूं सरगट काढ़ । सठ दाखै भाळो सरस, गिणका वाळो गाढ़ ।—वां.दा. ७ वृद्धावस्था.

८ ग्राग्रह । उ०—तिसै खवास नै गाढ़ करि पूछियौ, साच वोलो किण कंवर कै रांणी, प्रधांन महते उमराव दुसमण जिण दिरायौ तिण रौ नांम ले ।—वीरमदे सोनगरा री वात ९ साहस, हिम्मत। उ०—तिणसूं सूराचंद रै गोखे चोताळै ग्रसैंवा ग्रसवार देखै छै, तरै पूछण री गाढ़ घणौ करै तिण ऊपरां राज सूं पूछण री गाढ़ कियौ ।—जैतसी ऊदावत री वात

१० गाढ़ापन, सघनता, कठोरता । उ०—नदी दीह वधे सर नीर घटे निसि, गाढ़ धरा द्रव हेमगिरि । सुतरु छांह तदि दीघ जगत सिरि, सर राह किय जगत सिरि ।—वेलि. ११ कपट ।

उ०—जद वादसाह गाढ़ छोड न्याय वोल्यौ ।—नी.प्र.

१२ कुत्ता, श्वान (ग्र.मा.)

वि०—१ ग्रधिक, वहुत । उ०—कोकल परियां गांन घणकिया, ग्रीधां भमर भणकिया गाढ़ ।—वां.दा. २ दृढ़, मजवूत ।

उ०—तठै गढ़ रौ घणौ गाढ़ जावतौ कियौ—वीरमदे सोनगरा री वात

३ घना, गाढ़ा. ४ विकट, कठिन, दुर्गम. ५ पूर्ण युक्त, परिपूर्ण।

उ०—प्रथम मारियौ सलावतखांन कितांई पछै, सांकड़ै सूर रुघै संवांही 'ग्रमरसी' तखत पातसाह ग्रागळी, वीर रस गाढ़ जमदाढ़ वाही ।—माधोदास गाडण

गाढ़थंभ—वि०—वीर, योद्धा ।

गाढ़म—सं०स्त्री० [सं० गाढ़िमा] १ गर्व, गंभीरता. २ वीरता, वहादुरी ।

उ०—गाहणौ गज घट ग्रघट गाढ़म प्रगट रजवट पेखजै ।—र.ज.प्र.

३ प्रतिष्ठा, मान. ४ वल, शक्ति । उ०—ऊपड़िया पतसाह, दळ वागी भेर निसांण । भाटी दोनौं भीम दे, तव गाढ़म प्रमांण ।—ग्रासराव रतनू

गाढ़मल—देखो 'गायड़मल' (रू.भे.) उ०—गाढ़मळ खळां खागां झपट गाहणौ, भूप कल्यांण सुत सयण मन भावणौ ।—रौड़जी भादो

गाढ़ रौ ग्रांवळौ—सं०पु०—१ धैर्य्यवान, गंभीर, स्वाभिमानी ।

उ०—गाढ़ रा ग्रांवळा इता सरग गया, चूंथियौ मुलक रौ माल चोरां ।—सुरतौ वोगसौ २ साहसी, सामर्थ्यवान ।

गाढ़वाळ—वि०—गंभीर, धैर्यवान ।

गाटा–सं०पु०—बैलगाडी में मुख्य थाटे (चौड़े तख्ते) के नीचे मजबूती के लिये लगाये हुए लम्बे डंडे।

गा'टौ—देखो 'गाअठौ'। उ०—गायां-भैंस्यां रौ कर दीन्हौ **गा'टौ**, लज्जा कुमजा री ले लीनौ लाटौ।—ऊ.का.

गा'ठौ—देखो 'गाअठौ' (रू.भे.)

गाड–सं०पु० [सं० गर्त, प्रा० गड्ड] १ गर्त, गड्ढा।

स्त्री०—२ गाडी, बैलगाडी।

उ०—कसी, क्वाड, गडासी, कसिया डाडा, दांती, दांतियां। ग्याता वयाडी, गाड पंजाळी, खेव खूब पडै ख्यातियां।—दसदेव

गाडणौ, गाडबौ–क्रि०स० [सं० गर्तन] १ गड्ढा खोद कर किसी वस्तु को उसमें डाल कर ऊपर से मिट्टी आदि डाल कर दबा देना, गाडना, दफनाना। उ०—हूंडी सू भूडी हुवै, ऊडी गाडै आथ। देवाळौ दरसाय दे, कर काठौ हिय हाथ।—वा.दा

२ भूमि में खड्डा खोद कर किसी वस्तु के एक भाग को उसमें डाल मजबूती से खडा करना, जमाना. ३ किसी नुकीली वस्तु को उसकी नोंक के बल किसी चीज पर ठोक कर जमाना, धंसाना।

गाडणहार, हारौ (हारी), गाडणियौ—वि०।

गडवाणौ, गडवावौ, गडवावणौ, गडाववबौ—प्रे०रू०।

गाडिग्रोडौ, गाडियोड़ौ, गाडयोड़ौ—भू०का०कृ०।

गाडीजणौ, गाडीजबौ—कर्म वा०।

गडणौ, गडबौ—अक रू०।

गाडर–सं०स्त्री०—भेड। उ०—पहिरण-ग्रोढण कंबळा, साठे पुरिसे नीर। आपण लोक उभांखरा, **गाडर** छाळी खीर।—ढो मा

कहा०—१ गाडर आणी ऊन नै ऊबी चरै कपास—भेड को ऊन के लिये लाया गया परन्तु वह चरती-चरती कपास को चर गई। एक वस्तु के लाभ के बदले दूसरी वस्तु की हानि सहन करना। लाभ के लिये लाई गई वस्तु से हानि होने पर. २ गाडर रै माथै ऊंन कुण छोडै—भेड की ऊन कौन छोड़ता है? गरीबों से हर कोई लाभ उठाता है।

गाडरतांतियौ–सं०पु०—एक प्रकार की घास जो वर्षा ऋतु में उत्पन्न होती है।

गाडरियौ–सं०पु०—१ एक प्रकार की लता का फल।

वि०वि०—इसका स्वाद कड़ुआ होता है। इसके संबंध में यह प्रचलित है कि जो भैंस गर्भ धारण नही करती उसे अगर यह फल खिला दिया जाय तो उसमें गर्भ धारण करने की शक्ति आ जाती है।

२ श्वेत बादल।

गाडरौ–सं०पु० (स्त्री० गाडरी) नर भेड़।

गाडलिया—देखो 'गाडोलिया' (रू.भे.)

गाडलियौ—देखो 'गाडोलियौ' (रू.भे.)

गाडांसळ–सं०पु०—गाडियों, छकड़ो आदि पर रखा हुआ सामान।

उ०—वळदां गाडांसळ पाडा पर बोरा। छोटा डोरांतर रोरांकुर छोरा।—ऊ.का.

गाडियोड़ौ–भू०का०कृ०—गाड़ा हुआ (स्त्री० गाडियोडी)

गाडी–सं०स्त्री० [सं० शकटी] घोडे, बैल आदि द्वारा खीचा जाने वाला लकडी व लोहे आदि का वह ढांचा जो घूमने वाले पहियों के ऊपर ठहरा हुआ होता है। यह आदमियो के बैठने और असबाब आदि रखने के काम आता है। इस पर माल भी ढोया जाता है। यान, शकट।

क्रि०प्र०—खडणी, जोतणी, वागणी।

मुहा०—१ गाडी छूटणी—गाडी न पकड पाना. २ गाडी पकड़णी—ठीक वक्त पर स्टेशन पहुंच कर रेलगाडी पर चढना. ३ गाडी भर—बहुत ज्यादा, ढेर।

कहा०—१ गाडी कनै बळद आया रै'सी—गाडी के पास बैल अवश्य आवेंगे। उचित स्थान पर उपयुक्त वस्तु अवश्य आयेगी. २ गाडी तौ चीलां ही वैवै—गाडी तो अपने मार्ग पर ही चलती है। कार्य का ठीक रूप से चलते रहना या किसी का उचित मार्ग पर कार्य करते रहने के प्रति. ३ गाडी तौ वागी ही चालै—गाडी तो उसके पहियो में तेल देने पर ही ठीक तरह चलती है। किसी को रिश्वत देने पर शीघ्र कार्य हो जाने के प्रति. ४ गाडी देख'र लाडी रा पग मूजै—साथ मे सवारी की व्यवस्था होने पर पैदल चलना हर किसी को बुरा लगता है। किसी वस्तु को देख कर उसे प्राप्त करने की लालसा हो जाना. ५ गाडी नै लाडी वधावणी चोखी—गाडी और वधू का स्वागत करना अच्छा है क्योकि वधू गृहस्थी का मूल आधार है और गाड़ी जीविका का. ६ गाडी नीचै कुत्तौ वैवै जकौ जांणै गाडी म्हारै ही पांण चालै—गाड़ी के नीचे कुत्ता चलता है और समझता है कि गाडी मेरी ही शक्ति के कारण चल रही है। दूसरे द्वारा संपादित कार्य का किसी अन्य व्यक्ति द्वारा यश प्राप्त करने पर. ७ गाडी भर धान री मूठी भर वानगी—गाड़ी अनाज से भरी है परतु एक मुट्ठी भर अन्न ज देखने से ही अनाज की किस्म एवं अच्छाई-बुराई का पता लग जाता है। थोडे से नमूने से ही पूरी वस्तु की जानकारी की जा सकती है. ८ गाडी भरी नै बोयू नै टोपी भरी नै लायू—गाडी भर कर बोया और टोपी भर कर लाया। अकुशल व्यक्ति के प्रति. ९ गाडी मे छाजळै रौ कांई भार—गाडी पर सूप का क्या भार? धनिक व्यक्ति को साधारण खर्च का बोझ मालूम नही पडता. १० गाडी रा धणी नै गो'र में भी रै'णौ पडै—गाड़ी के स्वामी को अवसर पडने पर गाडी की रक्षा हेतु गाँव के बाहर भी रहना पडता है। अपने कार्य के लिये कष्ट उठाना ही पड़ता है. ११ गाडी लीक जो गाडे लीक—जिस मार्ग मे छोटी गाटी निकल जाती है उधर से बड़ी भी निकल सकती है। थोडे से आरभ के द्वारा बडा कार्य भी किया जा सकता है. १२ चालती गाडी मांयै चाळणी नो सू भार—चलती गाड़ी में चलनी का क्या भार? देखो 'कहावत सं० ९'। १३ चालती गाडी में फाचरौ देणौ—चलती हुई गाडी में रुकावट डालना। किसी पूरे होते हुए काम में रुकावट डालने पर।

गात्रसैल—सं०पु०यौ० [सं० गात्र+शैल] हाथी (डिं.नां.मा.)

गाय—सं०पु० [सं० गात्र] १ देखो 'गात' (रू.भे.) उ०—गळियोड़ी सब गाय गजब कांधौ गळियोड़ौ। अमल खाण नें अजे बळ मूंडौ वळियोडौ—ऊ.का.

सं०स्त्री० [सं० गाथा] २ देखो 'गाथा'।

[सं० ग्रथ] ३ धन, दौलत।

[रा०] ४ यश (अ.मा.)

उ०—मही राखण गाय रा अखियात रा गात मेर।—र.ज.प्र.

गाथा—सं०स्त्री० [सं०] १ वह श्लोक जिसमें स्वर का नियम न हो. २ स्तुति. ३ प्राचीन काल में होने वाली एक प्रकार की प्रसिद्ध रचना जिसमें लोगों के दान, यज्ञादि का वर्णन होता था। ४ कथा, वृत्तांत, हाल। उ०—रीधौ साथां रैणवां, जस गाथां जेहल्ल। भारांणी वाथां भरै, अथां दियै अपल्ल।—वां.दा.

५ पारसियों के धर्म ग्रंथ का एक भेद (मा.म.) ६ एक प्रकार का अर्द्ध-मात्रिक छंद जिसके पहले और तीसरे चरण में बारह-बारह तथा दूसरे और चौथे चरण में पन्द्रह-पन्द्रह मात्रायें होती हैं। इसके पहले, तीसरे, पांचवें और सातवें गण में जगण नहीं होना चाहिये (चार मात्राओं के गण को समूह कहते हैं।) किन्तु छठे गण में जगण आवश्यक है. ७ यश (मि०—गाय ४)

गाथौ—देखो गाथा' (६)

गाद—सं०पु०—वचन, शब्द। उ०—पाद तणौ परधांन गाद रो सांप्रत गोटो।—ऊ.का.

गादड़, गादड़ियौ, गादड़ौ—सं०पु०—गीदड़, सियार। उ०—गोड़ावण तिल्लोर, खेत भड़ड़ां लुक खावै। आंगै ओळी लियां, आय गादड़ गरळावै।—दसदेव

कहा०—१ गादड़े आळा भाठा भिड़ाणा—फूट पैदा करना; परस्पर मतभेद उत्पन्न कर देना. २ गादड़े कै मूंडै न्याव होणौ—साधारण व्यक्ति पर किसी बात का निर्णय छोड़ देना. ३ गादड़ै री मौत आवै जद गांव कांनी भाजै—सियार की जब मौत आती है तो वह गाँव की ओर भागता है। विनाशकाले विपरीत बुद्धि।

वि०—कायर, डरपोक, भीरु।

गादरणौ—सं०पु०—मंजरी, कोंपल।

गादरणौ, गादरबौ—क्रि०अ०—अंकुर जमना, अंकुर निकलना, उत्पन्न होना। उ०—अजहुं तरु पुहप न पल्लव अंकुर, थोड़ डाळ गादरित थिया। जिम सिणगार अकीवै सोहति, प्री आगमि जांणियै प्रिया।

—वेलि.

गादरित—वि० [अनु०] १ गद्गद्, प्रसन्न. २ युवावस्था के आरम्भ में शरीर का पुष्ट और सुडौल होने का भाव, गदगदाया हुआ, स्थूल।

गादह—सं०पु०—गधा, गर्दभ। उ०—साहिब म्हां का बाप कइ, छइ करहां कउ वग्ग। जे करहउ खोड़उ हुवइ, गादह दीजइ दग्ग।

—ढो.मा.

गादी—सं०स्त्री०—१ छोटा गद्दा. २ रूई या जूट से भरा मोटा गद्देदार बिछौना। उ०—घोड़ां नैं तो घास घतावां, थांनै बूरी भात। गादी गिडवा देवां बैसणां, घणी करां मनवार।

डूंगजी जवारजी री पड़

यौ०—गादी-गींडवौ।

३ वह कपड़ा जो घोड़े-ऊँट आदि की पीठ पर काठी या जीन आदि रखने के लिये डाला जाता है. ४ व्यवसायी आदि के बैठने का स्थान. ५ किसी बड़े अधिकारी या राजा का पद।

ज्यूं—महंत री गादी, राजा री गादी।

उ०—कुमार चूंडै वडा प्रसभ रै प्रमांण पिता रौ संबंध करवाइ आप चीतोड़ री गादी छोडण रौ लेख करि मारवाड़ रै आधीन कीधौ।—वं.भा.

क्रि०प्र०—बैठणौ, राखणौ, लेणौ।

मुहा०—गादी माथै बैठणौ, गादी बैठणौ—सिंहासनारूढ़ होना।

यौ०—गादीनसीन, राजगादी।

६ गाय के थन।

गादीवर—सं०पु०—१ वह जो किसी सिद्ध पुरुष की गादी पर बैठा हो. २ राजा।

गादीनसीन—वि० [रा० गादी, फा० नशीन] सिंहासनारूढ़।

उ०—अणंदराव फाकड़ा रा बेटा मुकंदराव हमैं दौलतरावजी रै खोळै गादीनसीन हुवा।—वां.दा. ख्यात

गादेल—सं०स्त्री०—रहँट के कंगूरेदार-चक्र पर बीच में लगा हुआ लम्बा व मोटा काष्ठ का लट्ठा जिसके एक छोर पर बैठ कर रहँट चलाने के लिये बैल हांके जाते हैं।

गादोतरौ—सं०पु० [सं० गौवधोतर या गाधोत्तर = प्रतिष्ठा से निकला हुआ अर्थात् कलङ्कित] १ गाँव के जमींदार, शासक या ग्राम-निवासियों से ऊब कर कोई जाति विशेष विद्रोह करती थी तब गाय के सिर की पत्थर की मूर्ति उस गांव की भूमि पर खड़ी करके वह जाति उस गाँव को छोड़ देती थी। उसके पश्चात् उस जाति का कोई व्यक्ति उस गाँव में प्रवेश नहीं करता था। इस क्रिया का नाम गादोतरौ है. २ भूमिदान करते समय उस भूमि की सरहद पर पत्थर लगाने की एक प्रकार की क्रिया। इस पत्थर पर गाय व बछड़े की मूर्ति अंकित होती थी। इसका तात्पर्य यह होता था कि भविष्य में यदि कोई उसे पुनः अपने अधिकार में करने की चेष्टा करेगा तो उसे गौहत्या का पाप लगेगा।

गादौ—सं०पु०—कीचड़।

कहा०—गादा मांय जांणीनै पड़ै तौ फचड़का उड़ेज—कीचड़ में गिरने पर छींटे अवश्य उछलते हैं। जान-बूझ कर मूर्खता से कोई कार्य किया जायगा तो अवश्य परेशानी होगी।

गाध—सं०पु०—कुत्ता, श्वान (अ.मा)

गाधनृपनंदण—सं०पु० [सं० गाधिनृपनंदन] विश्वामित्र।

गाढ़ांगुर—वि०—१ अभिमानी, घमंडी. २ वीर, योद्धा।
उ०—गाढ़ांगुर देव तणौ गिर मेर, सत्रा सिर झाट दिये समसेर।
—सू.प्र.

गाढ़ाक—वि०—१ गहरा, गंभीर। देखो 'गाढौ'. २ जबरदस्त, जोशीला, वीर। उ०—अंवारा सू झूठौ क्रोध गाढाक गनीमा आगै। मांझी धकै चाढाक गनीमा मालकोट।—चावडदान महडू

गाढ़ामारू—स०पु०—१ शौकीन, छैला. २ आर्यपुत्र। उ०—जठै नै जवाइया लसकर नीकळै। जठै नै गाढ़ामारू री लसकर नीकळै।
—लो गी.

गाढिम—वि० [स० गाढिम] गभीर, धैर्य्यवान। देखो गाढौ'।
उ०—१ मारूं' वीरम मडळी, गाढ़िम गोत्र गवाळ। तुडि ताणण 'चाडै' तणी, राउ चा उर रखवाळ।—राजरासौ
उ०—२ गजसिंघोत कमध नर गाढ़िम, तत खिण माचवियौ रिण-ताळ। दुवयण वयण काढिये दुआसू, प्रिसण परा काढी प्रतमाळ।—केसोदास गाडण

गाढीलौ, गाढू, गाढेराव, गाढ़ेल, गाढ़ैराव—वि०—धैर्यवान, गभीर, देखो 'गाढौ'। उ०—डाकी डाटेराव गजा गनीमा भरतौ डाचा, गाढेराव भूरौ बाध करंतौ गजार।—हुकमीचद खिडियौ

गाढौ—वि० [स० गाढ] १ जो पानी की तरह तरल न हो, जो घनत्व लिये हुए हो, तरलता वाला. २ जिसके सूत परस्पर मिले हो, ठोस, मोटा. ३ घनिष्ट, गहरा, गूढ़। उ०—हरमा वीर मेरा रै, वैनड भाई री गाढौ नेह। जलमी का रै जाया, पर घर की दूती रै आय तुडाइयौ।
—लो.गी.
४ बहुत, अधिक। उ०—१ गाढौ प्रसन्न रहै जस गाया, बाधारै ईजत वरदाया।—र ज.प्र. उ०—२ रांणा रा विन रावता गाढां आदर गाढ। पाग्रो अकवर पानडै, चित्रकोट जळ चाढ।—वा दा
५ गहरा, गभीर, धैर्यवान। उ०—किया अडप ठाडो करता सू, माटीपणा तणौ सिर मोड। रण गाढौ ठाढौ रजपूती, ठांम-ठाम लाडौ राठौड।—वलू गोपाळदासोत रौ गीत ६ दृढ, मजबूत।
उ०—कमळ मुगट गाढौ करै पीत पट बाध कर, भ्रात बळ हाथ दे लकुट भाळौ।—वां.दा.

गाणौ—म०पु० [स० गान] गाने की चीज, गायन, गीत।

गा'णौ—स०पु०—खलिहान मे भूसे से अनाज पृथक करने की क्रिया या भाव। अनाज के सूखे डठलो मे से दाने निकालने के लिये उसे बैलो द्वारा अथवा बैलो जुती गाडियो द्वारा रौंदने का कार्य।

गाणौ, गाबौ—क्रि०स०—१ ताल, शब्द के नियमानुसार शब्दोच्चारण करना. २ आलाप के साथ ध्वनि निकालना. ३ मधुर ध्वनि करना. ४ स्तुति करना. ५ वर्णन करना, विस्तारपूर्वक कहना।
उ०—प्रथम ब्रहम मभ्फ वेद, छद मारग दरसायौ। खग अग पिंगळ नाग, नाग पिंगळ कर गायौ।—र.ज.प्र.

गाणहार, हारौ (हारी), गाणियौ—वि०।
गवाणौ, गवाबौ, गवाडणौ, गवाड़बौ, गवावणौ, गवाववौ—प्रे०रू०।
गावणौ, गावबौ—रू०भे०।
गाग्रोड़ौ, गायोड़ौ—भू०का०कृ०।
गाईजणौ, गाईजबौ, गायीजणौ, गायीजबौ—कर्म वा०।

गात—म०पु० [स० गात्र, प्रा० गात्त] शरीर, अंग, बदन।
उ०—सखी अमीणौ साहिबौ, मदन मनोहर गात। महाकाळ मूरत वणै, करण गयदा घात।—वां.दा.

गातरियौ, गातरी—सं०पु०(स्त्री०) १ शरीर पर वस्त्र लपेटने का एक प्रकार का ढग जिसे प्राय. साधु लोग काम मे लेते है। इसमे लपेटे जाने वाले वस्त्र के दोनो छोर एक-दूसरे पर आकर क्रास बनाते हुए पीठ की ओर गिर जाते हैं. २ वह वस्त्र जिसे इस प्रकार लपेटा जाय।

गातरौ—स०पु०—१ कपाट मे मजबूती के लिये बीच-बाच मे लगाये गये डडे. २ काष्ट या लोहे की बनी निश्रेणी के बीच बीच मे लगे डडे जिस पर पैर रख कर ऊपर चढते है। उ०—बीजा बारै-बारै लडा कराया, बीच मे राढू रा गातरा कराइया सो हाथ तीन चौडा गातरा किया।
—ठाकुर जैतसी ऊदावत री वात

गाति—देखो 'गात' (रू भे) उ०—तठा उपराति करिनै राजान सिलामति उवै चतुरगी रायजादी झिलीया री झुकिखौ मोतीआ री लडी हुवै तिणि भाति री ऊजळी गोरंगीग्रा ऊजळै गाति ऊजळै बावनै चदण री खोळि किया।—रा.सा स.

गातियौ—१ देखो गातरौ' (अल्पा०) २ जबडे की हड्डी।

गाती—म०स्त्री० [स० गात्रिका] देखो 'गातरी' (रू.भे)
उ०—आधा भादवा री आधी रात गई छै ताहरा काळौ कावळ री गाती मारि टोपी माथै मेल्हि जाचीयौ पहिरि छुरौ काढि कढि बाधि अर सहर माहे चोरी नु चालीयौ।—चौबोली
मुहा०—गाती मारणी—कमर के वस्त्र को कस कर लडने को उद्यत होना।

गातौ—१ देखो गातरौ' (रू.भे.) उ०—तद मूज ऊंट दोयरी मंगायी नै जाडा-जाडा राढू वटाया अरु बीच में हाथ रै आतरै लकडी रा गाता दिया रसा बीच नै वरत री नीसरणी वणायी। गाता चोडै पेटै हाथ तीन कराया सु इण वात नू गिंवार लोक काई जाणै कै कवरनी हाथिया री तागड करायौ है।—द.दा.

गात्र—देखो 'गात' (रू.भे.) उ०—१ पदमिणि रखपाळ पाइदळ पाइक, हिंडवळिया हलिया हसति। गमे-गमे मदगळित गुडता, गात्र गिरोवर नाग गति।—वेलि. उ०—२ उत्तर आज स ऊजमी, पाळौ पडै विहाण। भाजै गात्र कुमारीग्रा, देखै मुगळ पठाण।—ढो.मा.

गात्रगुप्त—म०पु० [स०] लक्षणा के गर्भ से उत्पन्न श्रीकृष्ण का एक पुत्र।

गात्रवरण—म०पु० [स० गात्रवर्ण] स्वर-साधन की वह प्रणाली जिसमें सातो स्वरो मे से प्रत्येक का उच्चारण तीन-तीन वार करते है।

गायणी–सं०स्त्री०—१ गाने वाली, गायक. २ वेश्या। उ०—१ गायणी नृत संगीत रंग करत उरवसी रीत।—सू.प्र. उ०—२ तई नैर ओढाड़ियौ हेम तारां। हुवा भांण उद्दोत जांणै हजारां। सफै गायणी सोळ स्रिगार साजा। वजावै छहै तीस आणंद वाजा।—सू.प्र.

गायणेचा–सं०स्त्री०—राठौड़ वंश की एक उपशाखा।

गायणौ–सं०पु०—विश्नोई जाति का गुरु।

गायत्री–सं०स्त्री० [सं० गायत्रिन्] १ एक वैदिक छंद का नाम। यह छंद तीन चरणों का होता है और प्रत्येक चरण में आठ-आठ अक्षर होते हैं। इसके आर्षी, दैवी, आसुरी, प्रजापत्या, याजुषी, साम्नी, आर्ची और ब्राह्मी आठ भेद हैं. २ एक पवित्र मंत्र जिसे सावित्री भी कहते हैं।

वि०वि०—ब्रह्मा की स्त्री का नाम गायत्री था। गायत्री मंत्र वेद का सबसे प्रचलित मन्त्र और गायत्री छंद सबसे प्रसिद्ध छंद है। इसको वेद माता भी कहा गया है। यह मन्त्र सबसे अधिक पुनीत अथवा पावन माना गया है। द्विजों में यज्ञोपवीत के समय वेदारंभ संस्कार करते हुए आचार्य इस मन्त्र का उपदेश ब्रह्मचारी को करता है। प्रत्येक ब्राह्मण के लिए त्रिसंध्या में इसका जप करना अनिवार्य माना गया है। मनु का कथन है कि प्रजापति ने अकार, उकार और मकार वर्णों, भूः भुवः और स्वः तीन व्याहृतियों तथा सावित्री मन्त्र के तीनों पादों को ऋक्, यजः और सामवेद से यथाक्रम निकाला है। गायत्री मन्त्र इस प्रकार है—ॐ भूः भुवः स्वः तत्सवितुः वरेण्यम् भर्गो देवस्य धीमहि धियो योनः प्रचोदयात्। विद्वानों ने इसका भिन्न-भिन्न अर्थ किया है। मन्त्र का मौलिक आशय इस प्रकार है—'हम उस परम तेजोमय सूर्य (सविता) के उस तेज की उपासना करते हैं कि वह हमारे मन और बुद्धि को प्रकाशमान करे।'

३ दुर्गा. ४ गंगा. ५ गाय।

गायत्रीईस–सं०पु०यौ०—ईश्वर, ब्रह्मा (डि.को.)

गायन—देखो 'गायण' (रू.भे.)

गायब–वि० [अ० ग़ायब] लुप्त, अंतर्धान।

क्रि०प्र०—करणौ, होणौ।

मुहा०—गायब करणौ—चुरा लेना, उड़ा लेना।

२ गाने वाला, गायक। उ०—कवि नव नव कायब कथै, गायब तांन सगांन। वाजित्रा लोभै भ्रमर, नर सोभै दीवांन।—रा.रू.

गायबिट–सं०पु०यौ० [सं० गोविट] गाय का गोबर।

गायबौ—१ देखो 'गायब' (२) (रू.भे.)

२ गाना, गायन।

गायीजणौ, गायीजबौ—देखो 'गाईजणौ' (रू.भे.) उ०—श्री करनी जी नूं आ चिरजा श्रीमुख सूं वणाय मालम करी। तिका अद्यापि रातीजुगै में गायीजै है।—द.दा.

गायोड़ौ–भू०का०कृ०—गाया हुआ। (स्त्री० गायोड़ी)

गार–सं०स्त्री० [सं० गाल] १ गाय, भैंस, बैल आदि के गोबर के साथ मिली हुई चिकनी मिट्टी का सम्मिलित लेप जो घरों के कच्चे आंगन व दीवारों आदि को लीपने के कार्य में लिया जाता है. २ मिट्टी, रेत ३ कीचड़, पंक। उ०—सांवण आयउ साहिवा, पगइ विलूंबी गार। अच्छ विलूंबी वेलड़ियां, नरां विलूंबी नार।—ढो.मा.

४ दलदल। उ०—कांकर करहौ गार गज, थळ हैवर थाकंत। त्रिहूं ठौड़ हेकण तरह, चंगौ धवळ चालंत।—वां.दा.

५ दीवार की चुनाई करने के कार्य में पत्थरों को एक दूसरे पर जोड़ने के लिए लगाया जाने वाला चिकनी गीली-मिट्टी का लेप। (मि० 'गारौ'—रू.भे.)

सं०पु० [अ० गार] ६ गहरा गड्ढा. ७ गुफा, कन्दरा।

गारक–सं०पु० [सं० गैरिक] सुवर्ण, सोना (डि.को.)

गारगी–सं०स्त्री० [सं० गार्गी] १ एक अत्यन्त ब्रह्मनिष्ठ तथा विदुषी वैदिक स्त्री का नाम। जनक की सभा में इन्होंने याज्ञवल्क्य मुनि से शास्त्रार्थ किया था। यह वचक्नु ऋषि की कन्या थी. २ दुर्गा।

गारग्य–सं०पु० [सं० गार्ग्य] १ महर्षि गर्ग के पुत्र प्रसिद्ध धर्मशास्त्रकार तथा वैय्याकरण जिनका उल्लेख यास्क तथा पाणिनि ने किया है. २ गर्ग गोत्र में उत्पन्न पुरुष।

गारड़व, गारड़ी, गारड़ू—देखो 'गारड़ू' (रू.भे.)

गारट–सं०पु० [अ० ग़ारत] समूह। उ०— खग झपट बे थपट छट खळखट विकट अविग्रट विढ़ै रिणिवट। पड़ै घट कटि उलट पालट गारट समरट पहट गाहट विचत्र खंड खट तणां दहवट।

—ल.पिं.

गारड–स०पु० [अं० गॉर्ड] १ पहरेदार, रक्षक. २ रेल का वह प्रधान कर्मचारी जो रेलगाड़ी की रक्षा एवं देख-रेख के लिये उत्तरदायी हो और पीछे एक निर्धारित भाग (ब्रेक) में रहा करता हो।

गारडव, गारडी, गारडू–सं०पु० [सं० गारुडिन्] १ सांपों का विष उतारने वाला। उ०—विषहर जे डंकिया विजावत, दोरा काढ़ै निस दिवस। ले रांण गारडवां लसकर, वापर पाली लगे विस।

—जगरांमसिंह उदावत नींवाज रौ गीत

२ सँपेरा। उ०—१ गोपीनाथ रा हाथ आया गड्डदे, अही गारडी जांण छांटचौ अड्डदे। अही मूंठ वाजीन जेही उपाडे, रमे गारडी जेम काळौ रमाडे।—ना.द. उ०—२ वदनं वर्णं कंध वांकै विनांणं। जळं गारडू छेड़ियौ नाग जांणं।—रा.रू.

गारत–वि० [अ० ग़ारत] नष्ट, बरबाद। उ०—१ गारत असुरां दळ किया गाह, मारिया मीर वह खेत माह।—गि.सु.रू.

उ०—२ अरु रांणा वरसल नरवद कांम आया, नैं मोयलां रौ साथ गारत हुवौ।—द.दा.

मुहा०—गारत करणौ—नष्ट करना, तहस-नहस करना।

गारद–सं०स्त्री० [अं० गॉर्ड] १ सिपाहियों का एक निर्धारित संख्या का समूह दल जो एक अफसर के अधीन हो। सेना की टुकड़ी।

उ०—दोय सौ तोपां वाहर हजार गारदां इब्राहिम खां तालुकै हुती।

२ पहरा, चौकी। —बां.दा. ख्यात

गाधि—सं०पु० [सं०] विश्वामित्र के पिता का नाम जो कौशिक (कुशिक) राजा के पुत्र थे।

गाधिनंद, गाधिपुत्र—सं०पु०यौ० [सं०] विश्वामित्र।

गाधिपुर—सं०पु० [सं०] कान्यकुब्ज।

गाधिसुनंद—सं०पु०यौ०—विश्वामित्र।

गाधी—देखो 'गाधि' (रू.भे.)

गाधेय—सं०पु० [सं०] गाधि के पुत्र, विश्वामित्र।

गाधोतरौ—देखो 'गादोतरौ' (रू.भे.) उ०—गाधोतरा रोप छाड परा गया। पछै जाळोरी री गांव वाधरी जठा सूं वाधरेचा ओसवाळ आय सिवांणै वसिया।—बां.दा. ख्यात

गाफल, गाफिल—वि० [अ० ग़ाफ़िल] बेखबर, असावधान।
उ०—डहक्योड़ा डोलै केई डोफा, गाफल जनम गमावै। राजी भेख मात्र नैं राखै, सैंजां ही सुख पावै।—ऊ.का.

गाफिली—सं०स्त्री०—असावधानी, गफलत। उ०—रांम तुम्हारी गाफिली, अहड़ी-अहड़ी जोय। म्हारै चित में जांणजै, हित सूं अति दुख होय।—महाराजा जयसिंह आमेर रा धणी री वारता

गावड़—सं०स्त्री०—गर्दन, ग्रीवा, गला (अ.मा.)
रू०भे०—गावडी, गावड़ू।

गावणी—देखो 'ग्यावणी' (रू.भे.)

गावळ—देखो 'गावड़'। उ०—जमजाळ कड़ी जरदाळ जड़ै, उतबंग'र गावळ वांम अड़ै।—गो.रू.

गावलियौ, गावौ—देखो 'गाभौ' (रू.भे.)

गाभ—देखो 'गरभ' (रू.भे.) उ०—जिणि दीहे तिल्ली त्रिड़इ, हिरणी झालइ गाभ। तांह दिहां री गोरड़ी, पड़तउ झालइ आभ।—ढो.मा.

गाभौ—सं०पु० [सं० गर्भ, प्रा० गब्भ] १ पेट के अन्दर का हल्का भोजन. २ गर्भ।
[रा०] ३ वस्त्र, कपड़ा।

गाय—सं०स्त्री० [सं० गौ] सींग वाला एक सीधा-सादा मादा मवेशी जिसे लोग दूध व बछड़े के लिये पालते हैं। इसके नर को सांड या बैल कहते है।
पर्याय०—अगना, अरजुनी, उसा, उश्रा, कपळा, कवळी, गऊ, तंबा, त्रंबा, दहव्रन, देवधन, धेन, नलंपिका, निलयका, माहा, माहेयी, रोहिणी, सीगाळी. सुरभी, सुरह, सुरै, सौरभेई, स्रंगणी।
मुहा०—१ गाय रा भेंस हेटै नै भेंस रा गाय हेटै करणा—इधर का उधर करना, गड़वड़ करना. २ गाय री तरह कांपणौ—बहुत भय-भीत हो जाना. ३ गाय होणौ या अल्ला री गाय होणौ—बहुत सीधा होना।
कहा०—१ गाय घास सूं भायेली करै तो खावै कांई—गाय यदि घास से ही प्रेम करे तो फिर खाये क्या। निरन्तर प्रयोग या उपयोग में आकर खप जाने वाली वस्तुओं का मोह व्यर्थ है. २ गाय दूयनै गधा नैं पावणौ—गाय दुह कर गधों को पिलाना। अति कठिन परिश्रम से उपार्जन कर व्यर्थ में अपव्यय करना। उपार्जित धन ऐसे व्यक्तियों पर खर्च करना जिससे कुछ भी लाभ न हो. ३ गाय दूयनै गिंडकां आगै क्यूं ढोळणौ—देखो 'कहावत सं० २'. ४ गाय नैं हळ में जोतणौ—गाय को बैल के स्थान पर हल में जोतना। निर्बल या अयोग्य व्यक्ति को कठिन काम सौंपना. ५ कोई गाय में न वळद में—न गाय जैसा और न बैल जैसा। निरर्थक एवं निकम्मे व्यक्ति के प्रति. ६ गाय रै भेंस कांई लागै—गाय और भैंस का परस्पर क्या संबंध ? उनके प्रति जिनमें कोई परस्पर संबंध न हो. ७ गायां ऊछरगी, पोठा लारै छोडगी—गायें जंगल में चरने चली गई, पीछे केवल गोबर मात्र छोड़ गई। सज्जन व्यक्तियों के चले जाने एवं पीछे निकम्मे व्यक्तियों के रहने पर. ८ गायां तौ कण्यां री है, गुवाळिये रै तौ हाथ में गेडियौ है—गायें तो अपने-अपने स्वामी की हैं, ग्वाला जो दिन भर उन्हें चराता है, उसके हाथ में केवल लाठी ही है। किसी के द्वारा सौंपा हुआ धन अपनी संपत्ति नहीं होता। अपनी संपत्ति तो कठोर परिश्रम से ही प्राप्त की जा सकती है।
रू०भे०—गऊ, गाड, गाव, गौ।
अल्पा०—गायड़ी, गावड़ी।
सं०पु०—२ बहुत सीधा-सादा मनुष्य।

गायक—सं०पु० [सं०] १ गाने वाला, गवैया। उ०—आगळि रितुराय मंडियौ अवसर, मंडप वन नीझरण म्रदंग। पंचवांण नायक गायक पिक, वसुह रंग मेळगर विहंग।—वेलि.
२ ग्राहक। उ०—टेका कड़ियां बांध ढोवता घर पर आखो। फोगां हुंदी फसल गरीबां गायक लाखो।—दसदेव

गायकवाड़—सं०पु०—वड़ौदा राज्य के महाराजाओं की एक उपाधि।

गायकौ देखो 'गायक' (रू.भे.) उ०—यौ कुण चूड़ले रौ गायकौ जी म्हारौ, यौ कुण खरचैलौ दांम, राजींदा लाल चूड़ो पहराव।
—लो.गी.

गायड़—वि०—१ गंभीर. २ बहादुर. ३ अभिमानी।
यौ०—गायड़गाडौ, गायड़मल।
सं०पु०—गर्व, अभिमान (मि० गाढ़)

गायड़मल—सं०पु०—लोक गीतों में प्रचुरता से प्रयुक्त होने वाला शब्द जो प्राय: नायक के लिए ही आता है। उ०—गायड़मल धीमा हालौ जी, फूटरमल धीमा हालौ जी।—लो.गी.

गायटौ, गायठौ—देखो 'गाअठौ' (रू.भे.)

गायण—सं०पु० [सं० गायन] १ गाना, गीत। उ०—वड काळस वंदावै गायण गावै विरदावै कह क्रीतां। ईखै असवारी नर अरु नारी पुरी सिगारी कर प्रीतां।—र.रू.
सं०पु० स्त्री०—२ गायन करने वाला, गायक। उ०—सु कांम का पंचवांण छै। इहै नाइक हुआ। कोकिला ही गायण हुई। प्रथ्वी पै रंगभोमि हुई।—वेलि. टी.
३ वेश्या। उ०—सो प्रवीण गायण सकळ उछरत उछव आखि।—सू.प्र.

वि०—संहार करने वाला, नाश करने वाला। उ०—तीन रतां तावड़ौ टाळै, भळै किसी रँगी कसर। मिनख है गुण गाळ अठै रा, मत करज्यौ ओगण असर।—दसदेव

गाळक-वि०—गलने या पिघलाने वाला।

गाळगर-वि०—संहारक, नाश करने वाला। उ०—सुपातां पाळगर जोग पारथ समर, केवियां गाळगर वंस रा दिनंकर। वसू सावार भोख लागै भीतवर, अभंग पारथ अत इळा राजौ अमर।
—विसनदास बारहठ

गालड़ियौ, गालड़ौ—देखो 'गाल' (अल्पा०) उ०—मूंछां गालड़िया सेडे में भरिया, ऊबासा लेवै मावा ऊतरिया।—ऊ.का.

गाळण-सं०स्त्री०—लोहा पिघलाने या तपाने की भट्टी (लुहार)
वि०—गलाने वाला, पिघलाने वाला। उ०—दळ दांणव निरदळण ग्रब्ब रांमण चौ गाळण।—जग्गौ खिड़ियौ

गाळणौ, गाळबौ-क्रि०स०—१ गलाना (रू.भे.) उ०—सज्जन बांधै पाळ सिर, सीसा छकियां गाळ। दुरजण फोड़ै गाळ दे, प्रीत सरोवर पाळ।—वां.दा.
२ नष्ट करना। उ०—गरब गाळण तणी ठौड़ ग्रब गाळियौ। कुळी खट तीस विन 'पदम' कहियौ।—द.दा.
गाळणहार, हारौ (हारी), गाळणियौ—वि०।
गाळिओड़ौ, गाळियोड़ौ, गाळयोड़ौ—भू०का०कृ०।
गाळीजणौ, गाळीजबौ—कर्म वा०।
गळाणौ, गळाबौ—प्रे०रू०।
गळणौ—अक रू०।

गालफदार-सं०पु०—एक प्रकार के कपाट जो अर्द्धचंद्राकार दरवाजे में लगाए जाते हैं।

गाळबौ-सं०पु०—अभिमान, गर्व, घमंड। उ०—मौहरै चढ़ियां मयंद रै. भैचक जाय भड़ाक। गेंवर मूलै गाळबौ, चींतै चढ़ चित चाक।
—वां.दा.

गालमसूरी, गालमसूरौ-सं०पु०—गले के नीचे लगाने का छोटा गोल मुलायम तकिया, गलतकिया। उ०—मचली रै बेंभ वणाय, दांवण घलावौ मखतूल री। सूवा वरणी सौड़ भराय, गालमसूरा गादी-गींदवा।—लो.गी.

गाळमौ-वि०—गला हुआ, तरल।
सं०पु०—गला हुआ अफीम, अफीम का रस। उ०—धीरा धीरा ठाकुरां, इसी उतावळ काय। लीजै खोवां गाळमा, जमी कठै घुस जाय।—वी.म.

गालरकोटै, गालरगोटै, गालरपोटै-वि०—१ अनाज की फसल की वह अवस्था जिनमें उनके ऊपर की बाल या सिट्टा निकलने में मामूली देर हो और पौधा पूर्ण युवा अवस्था में हो. २ पूर्ण युवा अवस्था, यौवनोन्मुखी।

गालव-सं०पु० [सं०] एक प्रसिद्ध ऋषि जो विश्वामित्र के प्रिय शिष्य थे।

गाळा-सं०पु०—१ एक वृक्ष विशेष. २ एक औषधि विशेष जिसे लोध भी कहते हैं।

गाळाबंध-सं०पु०—रस्सी का एक प्रकार का गले का बंधन।
उ०—साझै मेछ सुजड़ जस धरिये, कळकळ कोप किये कमळ। गाळाबंध महल नह घातै, गुण घातै पतसाह गळ।
—महाराणा सांगा री गीत

गाळि—१ देखो 'गाळी' (रू.भे.) उ०—१ रति रयण सुदि नर नारि रांमति गाळि प्रमदति गावही। मुख गांन दिन निस स्वांम मंगळ वेण चंग बजावही।—रा.रू.

गालिब-सं०पु०—उर्दू के एक प्रसिद्ध शायर।
वि०—१ जीतने वाला, विजयी. २ समर्थ, बलवान।
उ०—नर जिण सिर गालिब नहीं, दुसमण रा सौदाव। विण पढ़ियां ही 'बांकला', सपढ़ियां रा राव।—बां.दा.

गाळियोड़ौ-भू०का०कृ०—गलाया हुआ। (स्त्री० 'गाळियोड़ी)

गाळी—१ देखो 'गाळ' (१, २. ३) उ०—तेगा बळ गज सिर तोड़ण मांनै, गाळि पीठि पग मोड़ण।—वं.भा.
२ कानों के आभूषण (टोटी) का पिछला गोल भाग.
३ चमड़े की वह रस्सी जो घोड़े की रकाब को ऊगटे (देखो 'ऊगटौ') से जोड़ती है

गाळीगलोज, गाळीगलौज-सं०पु०यौ०—१ परस्पर गालियों का आदान-प्रदान, दुर्वचन।

गालीचौ—देखो 'गलीचौ' (रू.भे.) उ०—तेल्यां कै पिनारां कै दुसाला ओढ़वानै। गालीचा झरोखां में बिछाल्यां पोढ़वानै।
—शि.वं.

गाळीजणौ, गाळीजबौ-क्रि० कर्म वा०—गलाया जाना।

गाळौ-सं०पु०—१ गले का बंधन, पाश.
२ देखो 'गाळ' (११) (रू.भे.) उ०—ताळा तोड़ करै मूं' काळा, गाळा घालै गूढ़। भाळौ नैणां वाळा भोळा, माळा फेरै मूढ़।
—ऊ.का.

३ ढरकी के मध्य का रिक्त स्थान या गड्ढा जिसमें जुलाहे नरी रख कर कपड़ा बुनते हैं. ४ देखो 'गारौ' (रू.भे.) (क्षेत्रीय)
५ घोड़े की टांग में सुम व टखने के मध्य का भाग। उ०—रेसम री बागडोरां सूं आण हाजर कीजै छै। किसाहेक घोडा छै? वे पख भला, ऊँचा अलला, कटोरानखा, आरसी सारीखा। तिअंगळ गाळा, मुठिया बीलफळा।—रा.सा.सं.
[सं० गाल] ६ चक्की के ऊपर का वह गोल सूराख जिसमें पीसने के लिए ऊपर से अनाज डाला जाता है अथवा इस छेद में एक बार में डाला जाने वाला अनाज. [सं० गाल] ७ निवाला, ग्रास, कौर।
उ०—कही गजदंतां सहित सुंडादंड सूना करी दीठा दोयणां रै सोणित भद्रकाळी रौ खप्पर भराइ वीर वेताळां नूं गूद रा गाळा जीमाइ।—वं.भा.

वि०—गारवी।

गारव-सं०पु० [सं० गर्व] गर्व, घमंड, अभिमान।

गारहपत्याग्नि-सं०स्त्री० [सं० गार्हपत्याग्नि] छः प्रकार की अग्नियों में से पहली और प्रधान अग्नि।

गाराकान्हड़ौ-सं०पु०—संपूर्ण जाति का एक राग जो संध्या के उपरांत गाया जाता है।

गारि—देखो 'गार' (रू.भे.) उ०—१ पावस मास प्रगट्टियउ, पगइ विलंबइ गारि। धण की आही वीणती, पावस पंथ निवारि।
—ढो.मा.

उ०—२ कसतूरी गारि कपूर ईंट करि, नवै विहांणे नवी परि।
—वेलि.

गारिया-सं०स्त्री०—रामावत साधुओं की एक शाखा विशेष (मा.म.)

गारौ—देखो 'गार' (रू.भे.)

गारुड़-सं०पु० [सं० गरुड] १ गरुड़ पक्षी. २ सोना, स्वर्ण (ह नां., अ.मा.) ३ गुरुड़पुराण. ४ पुरुषों की बहत्तर कलाओं में से एक। वि०—महान, बड़ा। उ०—साखां खट तीसां सिरै, भाखां गारुड़ भाग। कुण आखा नाखै कमळ, लाखा ताखा नाग।—सूरजमल मीसण

गारुड़ि, गारुड़ी—देखो 'गारडी' (रू.भे.) उ०—तहां सांपणी नहीं संचरै, डहकि दोय डंक न धारै। प्रथम नहीं चढ़ै जहर, मंत्र गारुड़ी न मारै।
—ह पु.वा.

गारुतमत-सं०पु० [सं० गारुत्मत्] १ मरकत मणि. २ गरुड़देव का अस्त्र।

गारौ-सं०पु० [सं० गाल] ईंट, पत्थर की चुनाई के काम आने वाला एक प्रकार का लसदार लेप जो मिट्टी, चूने अथवा सुर्खी आदि को पानी में सान कर बनाया जाता है।

कहा०—१ गारे का नगारा और घर का बजावा वाळा—मिट्टी के नगारे और घर के बजाने वाले तो फिर डर किसका अर्थात् खूब बजाना चाहिए. २ गारे ना गड़द्या कल गलवाना है—मिट्टी के बने हुए वर्तन अधिक नहीं चलते। देह की नश्वरता के प्रति।

गाल-सं०पु०—१ आंखों के नीचे का मुंह के दोनों ओर ठुड्डी और कनपटी के बीच का भाग जो बहुत कोमल होता है। कपोल।

पर्याय०—कपोल, लकवण।

मुहा०—१ गाल तोड़णौ—जबरदस्ती चुम्बन कर लेना. २ गाल पिचकणा—कमजोर होना, कृशगात होना. ३ गाल फूलणा—मोटा-ताजा होना. ४ गाल बजाणा—बढ़-बढ़ कर बातें मारना. ५ गालां में घोड़ा दौड़णा—बिना आय का फिक्र किए खर्चे की बढ़ा चढ़ा कर बातें मारना, विभिन्न स्वादु पदार्थों के खाने की तीव्र इच्छा होना।

कहा०—१ गाल थाप आंतरौ कितरौ'क—गाल और थप्पड़ के बीच फासला कितना? सन्निकटता के लिए कही गई कहावत. २ थाप देनै गाल रातौ करणौ—थप्पड़ लगा कर मुंह लाल रखना; जैसे तैसे इज्जत को बचाए रखना।

(रू०भे०—गल्ल)

(अल्पा०—गालड़ियौ, गालड़ौ)

गाळ-सं०स्त्री० [सं० गालि] १ कलंक। उ०—१ असजे मौ धड़ ओधणी, अरियां समुख उताळ। घर दिस पाछौ धीसतां, लागै मौ कुळ गाळ।—अज्ञात उ०—२ कहै कंथ नूं दुहूं कुळ ऊजळी कांमणी, वळां फौजां भिळै खाग वागै। नानती तिकां नूं जिके भड़ नीसरै, लारला वंस नूं गाळ लागै।—वीर-प्रशंसा

२ गाली, अपशब्द।

क्रि०प्र०—काढ़णी, देणी, लागणी।

मुहा०—१ गाळ खाणी—गाली सुनना. २ गाळियां रौ झड़ बांधणौ—बहुत गालियां देना, लगातार गालियां देना. ३ गाळ लागणी—गाली का सच्चा होना, शाप पड़ना।

कहा०—१ गोत री गाळ भैंस नै भी खारी लागै—जाति संबंधी गाली भैस को भी बुरी लगती है। जाति संबंधी गाली की निंदा। जाति संबंधी गाली नही देनी चाहिए. २ गाळयां सूं किसा गूमड़ा ऊठै (हुवै)—गालियों से फोड़े नही होते। गालियों का कोई प्रभाव नहीं होता।

३ सगे-संबंधियों की स्त्रियों द्वारा परस्पर पुरुषों या स्त्रियों को संबोधित कर गाये जाने वाले वे गीत जिसमें गायिकायें व्यंग्य, ताने या दिल्लगी स्वरूप सबोधित व्यक्ति की ओर कस कर गालियों की बौछार करती हैं। उ०—गाळ लुगायां गावही, नर मुख उचत न गाळ। अमल गाळ मनवार कर, का सुभ बचन उगाळ।—बां.दा.

क्रि०प्र०—गावणी।

४ मध्य, बीच।

वि०वि०—इस शब्द का प्रयोग प्रायः पहाड़ों के मध्य की तंग घाटी या ऊंचे-ऊंचे टीबे या ऊंचे किनारों के मध्य के लंबे रास्ते के लिए होता है।

उ०—एकलिंगजी रा देहुरा री बेउ तरफ भाखरां री गाळ छै।
—नैणसी

[सं० गल] ५ जहर, विष. ६ वर्षा के उपरांत प्रातःकाल सूर्योदय के पूर्व दिखने वाले बादल. ७ द्रव पदार्थ, घोल. ८ संहार, नाश. ९ देखो 'गाळौ' (रू.भे.) १० सिंचाई के लिए खेत तक पानी पहुंचाने वाली नाली में उसकी मजबूती के लिए बिछाए जाने वाला चिकनी मिट्टी का घोल।

[सं० काल] ११ समय। उ०—अकबर लेख प्रमांणे, तहवर सहत राज लोभांणे। आवी चित अनीती, विणसण गाळ बुद्धि विपरीती।
—रा.रू.

१२ छेद, बड़ा सूराख। उ०—नाथ सुत बांधिया चाल भुज नीमजै, जुड़ण जमजाळ लंकाळ जूटै। जोध किरमाळ गहि ढाल औरै जठी, तठी पड़ि गाळ भूरजाळ तूटै।—अनोपसिंह सांदू

···गाहड़ रा गाडा, फौज रा लाडा ।—रा.सा.सं.

सं०स्त्री० [सं० गाहु] २ मान, प्रतिष्ठा, मर्यादा । उ०—दत क्यावर दौढ़ा सदा, प्रथमी पर परमार । आ गाहड़ अमरांण री, सावत राखै सुप्यार ।—पा.प्र.

गाहड़मल, गाहड़मल्ल—देखो 'गायड़मल' (रू.भे.)

गाहटणी, गाहटबौ—देखो 'गाहणी' (रू.भे.) उ०—रिण गाहटतै रांम खळां रिण, थिर निज चरण स मेढ़ि थिया ।—वेलि.

गाहटियोड़ौ—देखो 'गाहियोड़ौ' (रू.भे.) (स्त्री० गाहटियोड़ी)

गाहटौ, गाहठौ—देखो 'गाग्रठौ' (रू.भे.)

गाहण—सं०पु० [सं० गाह] १ युद्ध. २ देखो 'गाग्रठौ' (रू.भे.)
वि०—संहार करने वाला, संहारक । उ०—अग्रज रांमचंद्र मन उज्जळ, खिच्चीराज अनुज गाहण खळ ।—वं.भा.

गाहणी—सं०स्त्री०—१ गाने का व्यवसाय करने वाली, गायिका. २ ढोली जाति की स्त्री. ३ गाहा (आर्या) छंद का एक भेद जिसके प्रथम व तृतीय चरण में बारह-बारह तथा द्वितीय और चतुर्थ चरण में अठारह-अठारह मात्रायें होती हैं ।

गाहणौ—सं०पु०—संहारक । उ०—गोळ भर सबळ नर प्रगट अर गाहणा ।—पदमां सांदू

गाहणौ, गाहबौ—क्रि०स० [सं० गाह] १ संहार करना, नष्ट करना ।
उ०—मुंह न दियै पर मारियै, केहर कठण प्रबंध । भूखौ थाहर में सुए, कै गाहै गज गंध ।—बां.दा. २ डूब कर थाह लेना.
३ मथना । उ०—जिणि यमुना जळ गाहीउं, जिणि नाथीउं भूयंग । —कां दे.प्र.
४ लूटना । उ०—गाहै सोदे ग्राहकां, ढाहै जे गज ढल्ल । लाहौ लूटै वांणियां, आ है सांची गल्ल ।—बां.दा.
५ खलिहान में अनाज के दानों को पृथक करने के लिये अनाज के डंठलों को कुचलना. ६ दबाना । उ०—कंकांणी चंपै चरण, गीवांणी सिर गाह । मो विण सूतौ सेज री, रीत न छंडै नाह । —वी.स.
७ ग्रहण करना, पकड़ना. ८ पार करना, जाना । उ०—गोळू गायां ले गामां गळ गाहै, दुखिया सुखिया मिळ दोनूं दळ दाहै ।—ऊ.का.
गाहणहार, हारौ (हारी), गाहणियौ—वि० ।
गाहिओड़ौ, गाहियोड़ौ, गाह्योड़ौ—भू०का०कृ० ।
गाहीजणौ, गाहीजबौ—कर्म वा० ।

गाहा—देखो 'गाथा' (रू.भे.) उ०—मारवणी इम वीनवइ, घनि आजूणी राति । गाहा-गूढ़ा-गीत-गुण, कहिका नवली वाति ।—ढो.मा.

गाहचोसर—सं०पु०—सावक अडल गीत (डिंगल छंद) का एक ही द्वाला । (यह आर्याछंद का ही नाम है । वि०वि०—देखो 'गाथा' ६)

गाहिड़—१ देखो 'गाहड़' (रू.भे.) २ देखो 'गायड़' (रू.भे.)
उ०—गौरव गायां रा गाहिड़ रा गाडा ।—ऊ.का.

गाहिड़मल—देखो 'गायड़मल' (रू.भे.)

गाहियोड़ौ—भू०का०कृ०—गाहा हुआ, 'गाहणौ' का भू.का.कृ. । (स्त्री० गाहियोड़ी)

गाहू—सं०पु०—५४ मात्रा का एक छंद विशेष जिसके प्रथम व तृतीय चरण में बारह-बारह मात्रायें तथा द्वितीय व चतुर्थ चरण में पन्द्रह-पन्द्रह मात्रायें होती हैं ।

गाहेणि, गाहेणी—सं०पु०—गाथा (आर्या) का एक भेद जिसके प्रथम एवं तृतीय चरण में बारह-बारह मात्रायें तथा द्वितीय व चतुर्थ चरण में बीस-बीस मात्रायें होती हैं ।

गाहौ—देखो 'गाथा' (६)

गिंजौ—देखो 'गंजौ' (रू.भे.)

गिंडक—देखो 'गंडक' (रू.भे.) (अल्पा०—गिंडकड़ौ)

गिंदड़ी—सं०स्त्री०—गंदगी । उ०—लावौ है दिन चार छूट जासी या गिंदड़ी । कहै दास सगरांम जितै साजी है जिंदड़ी ।—सगरांमदास

गिंदणौ—वि०—दुर्गन्ध देने वाला, बदबूदार ।

गिंदणौ, गिंदबौ—क्रि०अ० [सं० गंधन] बदबू देना ।
गिंदणहार, हारौ (हारी), गिंदणियौ—वि० ।
गिंदाणौ, गिंदाबौ, गिंदावणौ, गिंदावबौ—रू०भे० ।
गिंदिओड़ौ, गिंदियोड़ौ, गिंद्योड़ौ—भू०का०कृ० ।
गिंदीजणौ गिंदीजबौ—भाव वा० ।

गिंदफड़—सं०पु० [सं० गंधस्फट] देखो 'गदफड़' (रू.भे.)

गिंदाणौ, गिंदाबौ—क्रि०स०अ०—बदबू फैलाना, गंदगी फैलाना, बदबू देना ।
गिंदाणहार, हारौ (हारी) गिंदाणियौ—वि० ।
गिंदावणौ, गिंदावबौ—रू०भे० ।
गिंदाओड़ौ, गिंदायोड़ौ—भू०का०कृ० ।
गिंदणौ—अक० रू० ।

गिंदायोड़ौ—भू०का०कृ०—बदबू फैलाया हुआ । (स्त्री० गिंदायोड़ी)
गिंदावणहार, हारौ (हारी), गिंदावणियौ—वि० ।
गिंदाविओड़ौ, गिंदावियोड़ौ, गिंदाव्योड़ौ—भू०का०कृ० ।
गिंदावीजणौ, गिंदावीजबौ—कर्म वा० ।
गिंदणौ, गिंदबौ—अक० रू० ।

गिंदावियोड़ौ—देखो गिंदायोड़ौ' (रू.भे.)

गिंदियौ—वि०—१ गंदा, मैला. २ बुरा, नीच ।
सं०पु०—एक प्रकार का बरसाती कीट जिसके स्पर्श से हाथ गंदे हो जाते हैं और उनसे बदबू आने लगती है ।

गिंदीजणौ, गिंदीजबौ—क्रि० भाव वा०—गंदा होना, बदबू आना ।
गिंदीजणहार, हारौ (हारी), गिंदीजणियौ—वि० ।
गिंदीजिओड़ौ, गिंदीजियोड़ौ, गिंदीज्योड़ौ—भू०का०कृ० ।

गिंदीजियोड़ौ—भू०का०कृ०—बदबू दिया हुआ, गंदगी फैलाया हुआ । (स्त्री० गिंदीजियोड़ी)

गिंदीयौ—देखो 'गंदियौ' (रू.भे.)

गिंदुक—सं०पु०—तकिया, उपधान (अ.मा.)

गावंत्री—देखो 'गायत्री' (रू.भे.)

गाव–सं०स्त्री० [सं० गौ] १ गौ।

[फा० गाव, सं० ग्राव] २ पर्वत (अ.मा.)

गावकुस–सं०पु०यौ० [सं० ग्रीवाङ्कुश] लगाम (डि.को.)

गावकोहान–सं०पु० [फा०] वह घोड़ा जिसकी पीठ पर बैल की तरह कूबड़ निकला हो (अशुभ, शा.हो.)

गावड़–सं०पु०—१ गला, गर्दन. २ ग्वाला, गोप।

गावड़ियौ–सं०पु० [सं०] गायों में रहने वाला बैल। उ०—भूसर भार न झल्लही, गोधा गावड़ियांह। इम जस भार न ऊपड़ै, मोलां मावड़ियांह।—बां.दा.

कहा०- -बेटौ मावड़ियौ नै गोधौ गावड़ियौ—स्त्री-स्वभाव वाले (स्त्रैण) व्यक्ति की निंदा।

गावड़ी–सं०स्त्री० [सं० गौ] गाय (अल्पा०)

गावची–सं०स्त्री०—कलाई पर धारण करने का एक आभूषण।

गावजबांन–सं०स्त्री० [फा०] एक बूटी जो फारश देश के गीलान प्रदेश में होती है।

गावटौ—देखो 'गाअठौ' (रू.भे.)

गावण—देखो 'गायण' (रू.भे.) उ०—दारा दुद्दिन दूति दुगणित दरसाई, सावण आवण में गावण सरसाई।—ऊ.का.

गावणौ—१ देखो 'गाणौ' (रू.भे.) २ गायन, गाना। उ०—गाजै घण सुण गावणौ, प्याला भर मद पाव। झूलै रेसम रंग झड़, झोटा दे'र झूलाव।—र.रा.

गावणौ, गावबौ—देखो 'गाणौ' (रू.भे.) उ०—दुज जळ मांझळ सांपड़ै, अरुण उदै री वार। गावै कै दातार गुण, कै गावै किरतार।—बां.दा.

मुहा०—१ गावणौ अर रोवणौ सब जांणै—गाना और रोना सभी व्यक्ति जानते है. २ गावणा को आवै नी, गावणा रौ भाई आवै है—गाना तो नहीं आता है परन्तु उसका भाई अर्थात् रोना आता है। रोनी सूरत वाले के प्रति. ३ गावणौ अर रोवणौ कुण नी जांणै—देखो मुहा० (१)

कहा०—गावता डूम को कांई नी बिगड़ै—किसी कार्य में अभ्यस्त व्यक्ति को उस कार्य को करने में अधिक थकान मालूम नहीं होती.

गावणहार, हारौ (हारी), गावणियौ—वि०।

गाणौ, गाबौ—रू०भे०।

गाविओड़ौ, गावियोड़ौ, गाव्योड़ौ—भू०का०कृ०।

गावीजणौ, गावीजबौ—कर्म वा०।

गा'वणौ, गा'वबौ—देखो 'गाहणौ' (रू.भे.)

गावतकियौ–सं०पु० [फा०] बड़ा गोल तकिया जो फर्श पर बैठते समय कमर के सहारे के लिये लगाया जाता है।

उ०—तिसीहीज विछायत ऊपरां गावतकिया, बगलतकिया, गीदवा, बादेला, पास्वा, मसंद ऊपरै पड़िया छै।

—जगदेव पंवार री वात

गावत्रि, गावत्री–सं०स्त्री०—१ गार्य। उ०—गावत्रि हेम तुरी गज ग्रांम।—रांमरासौ।

२ देखो 'गायत्री' (रू.भे.) उ०—गावत्री प्रयाग अड़सट्ठि गंग।

—रांमरासौ

गावसुम्मौ–सं०पु०—वह घोडा जिसका सुम फटा हो (अशुभ)

गावाळणौ–सं०पु० (स्त्री० गावाळण, गावाळणी) १ गायों के चराने तथा देख-रेख करने वाला ग्वाला. २ रक्षक।

गावाळणौ, गावाळबौ–क्रि०स०—१ गायों की रक्षा करना, गायों को चराना. २ देखो 'गवाड़णौ'. ३ रक्षा करना।

उ०—पत राखे द्रोपदी, प्रभु बिरदां प्रतपाळै। ब्रह्म पत राहवी, वेद च्यारे ही गावाळै।—जग्गौ खिड़ियौ

गाविन्नि, गावित्री—देखो 'गायत्री' (रू.भे.)

गावीजणौ, गावीजबौ—देखो 'गाईजणौ' (रू.भे.)

उ०—गढ़वी गांगौ गाविजै, स्यांम न मेल्है साथ। ओढ़ण अनिकारां नरां, हाला रा पण हाथ।—हा.झा.

गावीजियोड़ौ–भू०का०कृ०—गाया गया हुआ। (स्त्री० गावीजियोड़ी)

गास–सं०पु० [सं० ग्रास] मुँह में चबाने हेतु एक ही बार में रक्खी जाने वाली खाने की वस्तु, कौर, निवाला, ग्रास। (अल्पा०—गासियौ)

गासमारी–सं०स्त्री०—देखो 'घासमारी' (रू.भे.)

गासियौ—देखो 'गास' (अल्पा०) उ०—बैनड भाई जीमां साथ। जांमण की ये जाई, बिच बिच वदलां ये वाल्हा गासिया।—लो.गी.

गा'हक—देखो 'गाहक' (रू.भे.)

गाह–सं०पु०—१ मकान, घर। उ०—बीजा गामां बाहरू, नीदांणौ घर नाह। ढोलणियां घण तेड़वै, गांन मंडाड़ै गाह।—वी.स.

२ रक्षक। उ०—नमौ रघुनाथ सधीर समाथ, गणां गज गाह दसानन दाह।—र.ज.प्र.

३ विध्वंश, नाश। उ०—घरी खरी सरीत निवाही वाज फूल घारां, गोळकूंडे रीत चूंडे अरी करे गाह।—बदरीदास खिड़ियौ

सं०स्त्री०—४ गाथा, कथा। उ०—माजी मांनै वेद मत, सुणै सदा सुर गाह। सती आठमी सापरत, दसमी स्री दुरगाह।—वां.दा.

गाहक–सं०पु० [सं० ग्राहक] १ लेने वाला, खरीदने वाला, खरीददार।

उ०—नर तेथ निमांणा निलजी नारी, अकबर गाहक वट अवट। चोहटै तिण जाय'र चीतोड़ौ, वेचै किम रजपूत वट।

प्रथ्वीराज राठौड़

२ चाहने वाला, कद्र करने वाला, इच्छुक, अभिलाषी।

गाहकताई–सं०स्त्री० [सं० ग्राहकता] कदरदानी, चाह।

गाहकी–सं०स्त्री०—बिक्री।

सं०पु०—ग्राहक, खरीददार। उ०—बाप बसाया बैर जे, लेवै निडर निराट। बेटा सिर रा गाहकी, वळिया जोवै वाट।—वी स

गाहड़—१ देखो 'गायड़' (रू.भे.) उ०—आवध सझिया थका चौक पधारै छै म् किण भात रा छै—काल्ही रौ नळस गती रौ नाळेर,

मुहा०—आज ही माथौ मुंडायो नै आज ही गिड़ा पड़ग्या; माथौ मुंडावतां ही गिड़ा पड़िया—आज ही सिर मुंडाया और आज ही ओले गिरे; विपत्ति पर विपत्ति पड़ना; कोई कार्य आरम्भ करते ही आपत्ति आना।

२ बड़ा बेडौल गोल शिला-खंड। उ०—नै मालदे जाय मुजरो कियौ। पीछै गांगंजी नूं माल देवाय मैं झाल गढ़ सूं हेठै गिड़ां मैं नांखिया।—द.दा.

गिचणौ, गिचबौ—क्रि०अ०—अधिक भार या बोझ से दबना या पिचकना।

गिचणहार, हारौ (हारी), गिचणियौ—वि०।

गिचिओड़ौ, गिचियोड़ौ, गिच्योड़ौ—भू०का०कृ०।

गिचपिच—वि० [अनु०] जो साफ या क्रम से न हो, अस्पष्ट।

सं०स्त्री०—हिचकिचाहट।

गिचपिचियौ—सं०पु०—बहुत से छोटे-छोटे तारों का पुंज जो एक गुच्छे के समान आकाश में दिखाई देता है। कृतिका नक्षत्र।

गिचपिची—देखो 'गिचपिच' (रू.भे.)

गिचरकौ—सं०पु०—१ एक ध्वनि विशेष जो किसी वस्तु आदि के भार से दब कर कुचल जाने के समय उत्पन्न होती है।

क्रि०प्र०—करणौ, काडणौ, निकळणौ, होणौ।

२ हिचकिचाहट. ३ किसी फोड़े या गूदेदार फल को जोर से दबाने पर अकस्मात् निकलने वाला द्रव पदार्थ या गूदा।

क्रि०प्र०—करणौ, काडणौ, निकळणौ।

४ देखो 'गुचरकौ' (रू.भे.)

गिचर-पिचर—सं०स्त्री०—किसी काम विशेष को करने में भय, संकोच या अनिच्छा प्रकट करने का भाव या क्रिया, हिचकिचाहट।

गिचलांण—सं०स्त्री०—अरुचि, मिचलाहट।

गिचली—सं०स्त्री०—कह कर पलटने का भाव, अपने शब्दों से विमुख होने का भाव।

वि०—कह कर पलटने वाला, अपने शब्दों से विमुख होने वाला।

गिचियोड़ौ—भू०का०कृ०—अधिक भार से दबा हुआ या पिचका हुआ। (स्त्री० गिचियोड़ी)

गिच्चर-पिच्चर—देखो 'गिचर-पिचर'।

गिजा—सं०स्त्री० [अ० गिज़ा] १ खाने योग्य वे पदार्थ जो पुष्टई प्रदान करते हों. [रा०] २ आफत। उ०—पड़ै तेण पड़ि हाब भूपाळ हैकंप पड़ै, जैत नुत बात संसार जांणी। अकल पतसाह मंडोवरा ऊपरै, अणमिणी गिजा कलियांण आंणी।

—ठाकुर जैतसिंह री वारता

गिट, गिटक—सं०स्त्री०—१ निगलने की क्रिया या भाव. २ ग्रंथि।

गिटकिरी—सं०स्त्री० [अनु०] तान लेने में विशेष प्रकार से स्वर का कांपना जो बहुत अच्छा समझा जाता है (संगीत)

गिटणौ, गिटबौ—क्रि०स० [सं० गृ] मुँह में गले के नीचे उतारना, निगलना। उ०—चढ़ै जुग समदर री वौछाळ, जड़ां सूं ढावा ढहता जाय। माचणा वणिया मगर बटाळ, सावती माछळियां गिट जाय।

—सांझ

गिटणहार, हारौ (हारी), गिटणियौ—वि०।

गिटाड़णौ, गिटाड़बौ, गिटाणौ, गिटाबौ, गिटावणौ, गिटावबौ—प्रे०रू०।

गिटिओड़ौ, गिटियोड़ौ, गिटयोड़ौ—भू०का०कृ०।

गिटीजणौ, गिटीजबौ—कर्म वा०।

गिटपिट—सं०स्त्री० [अनु०] निरर्थक शब्द।

मुहा०—गिटपिट करणौ—टूटी-फूटी या साधारण अंग्रेजी भाषा बोलना; कानाफूसी करना।

गिटाड़णौ, गिटाड़बौ, गिटाणौ, गिटाबौ—क्रि०स०—निगलवाना।

गिटायोड़ौ—भू०का०कृ०—निगलवाया हुआ। (स्त्री० गिटायोड़ी)

गिटावणौ, गिटावबौ—देखो 'गिटाणौ' (रू.भे.)

गिटावियोड़ौ—भू०का०कृ०—देखो 'गिटायोड़ौ' (रू.भे.) (स्त्री० गिटावियोड़ी)

गिटियोड़ौ—भू०का०कृ०—निगला हुआ। (स्त्री० गिटियोड़ी)

गिटीजणौ, गिटीजबौ—क्रि० कर्म वा०—निगला जाना।

गिटीजणहार, हारौ (हारी), गिटीजणियौ—वि०।

गिटीजिओड़ौ, गिटीजियोड़ौ, गिटीज्योड़ौ—भू०का०कृ०।

गिटणौ, गिटबौ—सक०रू०।

गिटीजियोड़ौ—भू०का०कृ०—निगला गया हुआ (स्त्री० गिटीजियोड़ी)

गिट्टक—सं०स्त्री०—१ गोल कङ्कर. २ इस गोल कंकर के समान गोल ग्रंथि. ३ 'गिटकिरी' लेने में स्वर या तान का वह सब से छोटा भाग जो केवल एक कंपन में निकलता है, दाना (संगीत)

गिडंक, गिड—देखो 'गिड़' (रू.भे.)

गिणगोर, गिणगौर—देखो 'गणगौर' (रू.भे.)

गिणणौ, गिणबौ—क्रि०स० [सं० गणन] १ गणना करना, शुमार करना, संख्या निश्चित करना। उ०—रिण अचळ जोड़ दळ ढल्ल रांम, जादम संग्रांम कज गिणत जांम।—रा.रू.

मुहा०—१ गिण-गिण नै दिन काटणा—बहुत दुख से दिन गुजारना. २ गिण-गिण नै मारणौ—बहुत पीटना. ३ दिन गिणना—आशा में समय बिताना, प्रतीक्षा करना. ४ गिणिया-गिणाया—बहुत थोड़े, सीमित।

२ गणित करना, हिसाब लगाना. ३ कुछ महत्व समझना, कुछ समझना। उ०—१ वयण घण सांभळै रहै किम वीसमौ, सुपह सादूळ कुण गिणै आपा समौ।—हा.झा. उ०—२ म्हानै गिणजो मूढ़ अमलियां ओगणगारां।—ऊ.का. ४ निगलना।

उ०—तरै आपरा हाथ थी कड़छणी खोल्यौ नै घूंमतै नेत्र फाड़तौ मूंछां रा केस सरब ऊभा हुवा, जांणै कोई जम सरब तुरकां नै गिण जावै तिसौ दीसै।—वीरमदे सोनगरा री वात

गिमार, गिंवार—देखो 'गंमार' (रू.भे.) उ०—१ मारवणी सूं अति चतुर, हीयइ चेत गिंवार। जउ कंता सूं कांमड़उ, करहउ कावे मार।
—ढो मा.

उ०—२ तरै रावळजी नू जगमाल आय कह्यौ—जु गांव माहै आज इमड़ौ रजपूत आयौ छै, सु कैतौ कोई गिंवार छै, कै कोई'क राजवी रै घर रौ छोरू छै।—नैणसी

गिंवारी—वि०—पागल, पागल संबंधी। उ०—बालपणौ हंस खेल वितायौ, गाफर चाल गिंवारी।—ऊ.का.

गिग—सं०स्त्री०—छुहारे की गुठली।

गिगन—सं०पु० [सं० गगन] १ आकाश, नभ [नां.मा., ना.डि.को.)
उ०—गिगन ग्रीध चनाय अडबोम अपछर आय। सज कमध एम सधीर, 'भैरव्व' आये भीर।—पे.रू.

२ डिंगल के वेलिया साणोर छंद का एक भेद जिसके प्रथम द्वाले मे २६ लघु, १९ गुरु सहित कुल ६४ मात्रायें तथा शेष द्वालो में से प्रत्येक मे २६ लघु व १८ गुरु कुल ६२ मात्रायें होती हैं (पि.प्र)

गिगनमंडळ—सं०पु० [सं० गगनमंडळ] नभमंडल, व्योम।

गिगनार—सं०पु०—१ सौराष्ट्र का एक पर्वत, गिरनार. २ आकाश, गगन। उ०—बादडलौ भंवरजी चढियौ गिगनार। हां ओ भंवरजी कोई कीरति ढळ आई गढ रै कागरे जी म्हारा राज।—लो.गी.

गिगन्न—देखो 'गगन' (रू भे) उ०—घूघहर वरसता घन्न, गुरिजा निहाइ वाजइ गिगन्न।—रा.ज सी.

गिगाय—सं०स्त्री०—एक देवी का नाम।

गिड़ंद—सं०पु० [सं० गिरीन्द्र] १ पहाड, बड़ा पर्वत। उ०—रघुराजा! रे रघुराजा! रिख मूक गिड़ंद दराजा। चौमास रहे वे भ्रात, सुचगा ताम खटे जस ताजा।—र.रू. २ हिमालय।

गिड़—सं०पु० [सं० गिरि+अंग=गिर्यंग] १ योद्धा (डि.नां.मा.)
२ सूअर (अ.मा.) उ०—गिड़ सूर तौ वन वाटिया ने डोहैं है अर ऊंडा-ऊडा पहाड़ी नदियां रा डाहा नै गजराज डोह रहिया छै।
—वी.स. टीका

३ फोडा (रू०भे०—गड)
[सं० गिरि] ४ पर्वत, पहाड़।

गिड़कंद, गिड़कंध—वि०यौ० [सं० गिरिस्कंध] जिसके कंधे बहुत विशाल हो, बलवान, दीर्घकाय। उ०—जरद्रेन लोह मझि कड़ाजूड, अबनाड़ भूप गिड़कंध अडूड।—सू.प्र.
सं०पु०—ऊंट। उ०—कच्छ रा कईक भुज रा कहाय, ओपिया इसा गिड़कंध आय। वेग रा प्रबळ जिम चली वात, जोजन प्रमाण घटि एक जात।—पे.रू.

गिड़कणौ, गिड़कबौ—देखो 'गुडकणौ' (रू.भे.)
गिडकणहार, हारौ (हारी), गिडकणियौ—वि०।
गिड़कवाणौ, गिड़कवावौ—प्रे०रू०।
गिड़काणौ, गिड़कावौ, गिड़कावणौ, गिड़कावबौ—स०रू०।
गिड़किओड़ौ, गिड़कियोड़ौ, गिड़क्योड़ौ—भू०का०कृ०।
गिड़कीजणौ, गिड़कीजबौ—भाव वा०।

गिड़काणौ, गिड़कावौ—देखो 'गुडकाणौ' (रू.भे)
गिड़काणहार, हारौ (हारी) गिड़काणियौ—वि०।
गिडकावणौ, गिड़कावबौ—रू०भे०।
गिड़काईजणौ, गिड़काईजबौ—कर्म वा०।
गिड़कायोड़ौ—भू०का०कृ०।
गिड़कणौ गिड़कबौ—अक० रू०।

गिड़कायोड़ौ—भू०का०कृ०—देखो 'गुडकायोड़ौ' (रू.भे.)
(स्त्री० गिडकायोडी)

गिड़कावणौ गिड़कावबौ—देखो 'गुडकाणौ' (रू.भे.)
गिड़कावणहार हारौ (हारी), गिड़कावणियौ—वि०।
गिड़काणौ, गिडकावौ—रू०भे०।
गिड़काविओड़ौ, गिड़कावियोड़ौ, गिडकाव्योड़ौ—भू०का०कृ०।
गिडकावीजणौ, गिड़कावीजबौ—कर्म वा०।
गिड़कणौ गिड़कबौ—अक० रू०।

गड़कावियोडौ देखो 'गुडकायोडौ' (रू भे) (स्त्री०—गुडकावियोडी)

गिड़गिड़ाणौ, गिड़गिड़ावौ—क्रि०अ० [सं० गद्‌गद्] आवश्यकता से अधिक विनीत या नम्र हो कर कोई बात कहना या प्रार्थना करना।

गिड़गिड़ाहट—सं०स्त्री० [सं० गद्‌गद्] विनम्रता, गिड़गिडाने का भाव।

गिड़गिड़ी—सं०स्त्री० [अनु०] १ गोल चरखी जिस पर रस्सी चढा कर कुये से पानी खीचते है २ एक प्रकार का छोटा किन्तु लम्बा गोल काष्ठ आदि का गुटका (चकरी) जो चडस से पानी खीचते समय वडे चक्र के सहायक रूप मे नीचे वाली पतली रस्सी के चलने के सहारे के लिये उपयोग मे लिया जाता है।

गिड़णौ, गिड़बौ—देखो 'गुडणौ' (रू.भे)
गिड़णहार, हारौ (हारी), गिड़णियौ—वि०।
गिडिओड़ौ, गिड़ियोड़ौ, गिड़्योड़ौ—भू०का०कृ०।

गिड़द—देखो गिडदी' (रू.भे.)

गिड़दाव—सं०पु०—विस्तार, घेरा, क्षेत्रफल।

गिड़दी—सं०स्त्री०—भीड, जमघट, झुंड।

गिड़दीजणौ, गिड़दीजबौ—क्रि० भाव वा०—१ चारों ओर से घेरा जाना, आवेष्ठित होना. २ भीड होना, जमघट होना।

गिड़दी—सं०पु०—सिर का पिछला भाग, गुद्दी।

गिड़राज—सं०पु०—१ शूकरराज, सूअर। उ०—जिण वन भूल न जावता, गैद गवय गिड़राज। तिण वन जंबुक ताखडा, ऊधम मंडै आज।
२ ऊंट। —बी.स.

गिड़राय—सं०स्त्री०—आवड़ देवी।
वि०वि०—देखो 'आवड'।

गिड़ि, गिड़ी—देखो 'गिड़' (ह.नां.)

गिड़ौ—सं०पु०—१ ओला।

गिनी—सं०स्त्री० [अं०] सोने का एक सिक्का जिसका व्यवहार इंगलैंड में सन् १६६३ में आरम्भ हुआ था और सन् १८१३ में बंद हो गया।

गिनौ—देखो 'गनौ' (रू.भे.)

गिमार—देखो 'गंमार' (रू.भे.)

गियांन—देखो 'ग्यांन' (रू.भे.) उ०—नमो अवधूत उदार अलक्ख, नमो गुरु दत्त गियांन गोरक्ख।—ह.र.

गियांनी—देखो 'ग्यांनी' (रू.भे.) उ०—भणै जती नित जाप भवांनी, ग्यांन विजै मुनि परम गियांनी।—रा.रू.

गियाकस—सं०पु०—घीया, लौकी आदि को रगड़ कर कुतरने व छोटे-छोटे टुकड़ों में विभक्त करने का एक औजार।

गियारस—देखो 'इगियारस' (रू.भे.)

गियोड़ो—भू०का०कृ०—गया हुआ।

कहा०—गियौ धन वोळावौ मांगै—खोया हुआ धन अपने पीछे कुछ व्यय और मांगता है। जो धन चोरी आदि में नष्ट हो जाता है या चला जाता है उसे पुनः प्राप्त करने या उसका पता लगाने के लिए और खर्च करना पड़ता है।

वि०—१ गया-बीता. २ पतित। (स्त्री० गियोड़ी)

गिरंडियौ—सं०पु०—सूखा गोवर।

गिरंद—सं०पु० [सं० गिरि+इंद्र] १ पहाड़, पर्वत (अ.मा.) २ सुमेरु पर्वत (अ.मा., नां.मा.)

गिरंदवाज—सं०पु०—एक प्रकार का घोड़ा (शा.हो.)

गिरंदर—सं०पु० [सं० गिरींद्र] १ पर्वत, पहाड़. २ सुमेरु पर्वत।

गिरंदरूप—सं०पु०—एक प्रकार का घोड़ा (शा.हो.)

गिरंध—सं०पु० [सं० गृध्र] गिद्ध पक्षी।

गिर—सं०पु० [सं० गिरि] १ पहाड़, पर्वत (डिं.नां.मा.)

उ०—न खमै ताप हजार नर, जुदौ जुदौ डर जाग। केहर गड़ड़ै क्रोध कर, गाजै गिर गयणाग।—बां.दा.

२ संन्यासियों के दस भेदों में से एक. ३ किसी फल बीज आदि को तोड़ने पर उसके अंदर से निकलने वाला गूदा।

गिरअठार, गिरअढ़ार—देखो 'अढ़ारगिर' (रू.भे.)

उ०—सीरोही ऊपरां खिवै सार, आबू धर धूजै गिरअढ़ार। —वि.सं.

गिरउर—सं०पु० [सं० गिरिवर] पर्वत, पहाड़। उ०—सर जहर उडि घोम धर सर। रीठ तर पड़ि वजर गिरउर चौतरफ घमचाळ। —सू.प्र.

गिरकंद—देखो 'गिड़कंध' (रू.भे.)

उ०—सार का कोट अंतक समांन, मार का वहादर मुसलमांन। पोसाक सिलै ऐसा'क पूर, गिरकंध छाक पौरख गरूर।—वि.सं.

गिरक—सं०पु०—१ गर्व, घमंड, अभिमान. २ ईर्ष्या, द्वेष, डाह।

गिर-गिराट—सं०पु०—१ जी मिचलने का भाव, मिचली. २ हिच-किचाहट।

गिर-ग्रहण—सं०पु०—पर्वत को धारण करने वाले, श्रीकृष्ण (पि.प्र.)

गिरज, गिरजड़ौ—देखो 'गिद्ध' (रू.भे.) उ०—आभै ऊपर भमै गिरजड़ा, चीलां उडती जाय। पग-पग ऊपर ला'स मिनख री, कुत्ता माटी खाय। —रेवतदांन

अल्पा०—गिरजड़ो।

गिरजपत, गिरजपति—देखो 'गिरजापति' (रू.भे.)

गिरजा—सं०पु० [सं० गिरिजा] १ देखो 'गिरिजा' (रू.भे.) २ देखो 'गिरजाघर' (रू.भे.)

गिरजाघर—सं०पु०यौ० [पुर्त० इग्रिजिया+रा० घर] ईसाई मत के अनु-यायियों का ईश-आराधना का भवन।

अल्पा०—गिरजो।

गिरजानंदन—सं०पु०यौ० [सं० गिरिजा+नंदन] पार्वती-पुत्र, गणेश।

गरजापत, गिरजापति—सं०पु०यौ० [सं० गिरिजा+पति] महादेव, शिव (अ.मा.)

गिरजावर—सं०पु०यौ० [सं० गिरिजा+वर] शिव, महादेव।

गिरजौ—सं०पु० [सं० गृध्र] १ गिद्ध पक्षी। उ०—गुंजवै पर ठाल न गिरजां। भुरजाळांय आंण ग्रही भुरजां।—पा.प्र.

२ देखो 'गिरजावर'।

गिरझ—देखो 'गिद्ध' (रू.भे.) उ०—फेर बसाई भट्टियां, अंत करे पियारी। मारै ईसर भांणजी, गिरझां गहकारी।—द.दा.

गिरडू—सं०पु०—पेड़ों में रसविकार से निकलने वाला सुपारीनुमा गोल पदार्थ जो औषधि के काम में आता है।

गिरण—सं०स्त्री० [सं० गृ] १ पीड़ा व दर्द के कारण मुँह से निकलने वाली ध्वनि, कराह। उ०—भाटी नै जम भेट कियां डूबंती किरणां। तड़छै धर जंतिया घणू घट करतौ गिरणां।—पा.प्र.

२ देखो 'ग्रहण' (रू.भे.)

गिरणणौ, गिरणबौ, गिरणाणौ, गिरणाबौ, गिरणावणौ, गिरणावबौ—क्रि०अ०—पीड़ा से कराहना, दर्द-भरी आवाज करना।

उ०—राफां झरणावै गिरणावै रोता, गंता निरणावै करमां रा गोता।—ऊ.का.

गिरणियोड़ौ—भू०का०कृ०—दर्द से कराहा हुआ (स्त्री० गिरणियोड़ी)

गिरणौ, गिरबौ—क्रि०अ० [सं० गलन] १ रोक या सहारे के अभाव के कारण किसी वस्तु का ऊपर से नीचे आ जाना। उ०—अवनी आंदो-लन ओळा ओसरिया, पिड़ि भिड़ि प्लासी पै गोळा जिम गिरिया। —ऊ.का.

२ किसी वस्तु आदि का किसी धरातल पर खड़ा न रह सकना

ज्यूं—घर गिरणौ, रूंख गिरणौ।

३ निरन्तर ह्रास की ओर जाना, अवनति होना।

ज्यूं—जाति गिरणी, देस गिरणौ।

४ छोटी या बड़ी किसी जलधारा का किसी समुद्र या जलाशय में जाकर मिलना. ५ शक्ति, स्थिति, प्रतिष्ठा, मूल्य आदि की दृष्टि से

गिणणहार, हारौ (हारी), गिणणियौ—वि० ।
गिणाणौ, गिणाबौ, गिणावणौ, गिणावबौ—प्रे०रू० ।
गिणिग्रोड़ौ, गिणियोड़ौ, गिणयोड़ौ—भू०का०कृ० ।
गिणीजणौ, गिणीजबौ—कर्म वा० ।

गिणत, गिणती–सं०स्त्री०—१ वस्तुओं को समूह से तथा एक दूसरी से अलग कर के उनकी संख्या निश्चित करने की क्रिया, गणना, शुमार ।
उ०—१ म्हांनै काढ़ियां पछै दूजां नूं कुण राखसी, आंपणी गिणत कांई नहीं—मारवाड़ रा अमरावां री वात उ०—२ अन गांमां गिणतो नह आई, पुर वाले ज्यां खाग पजाई ।—रा.रू.
क्रि०प्र०—करणी, होणी ।
मुहा०—१ गिणत (गिणती) करणी—किसी कोटि के अंतर्गत समझा जाना. २ गिणत (गिणती) में होणी—किसी कोटि में समझा जाना, कुछ समझा जाना. ३ गिणत (गिणती) होणी—किसी महत्व का समझा जाना. ४ गिणती रा—थोड़े ।
२ संख्या, तादाद. ३ एक से सौ तक की अंकमाला. ४ उपस्थिति की जांच, हाजरी ।

गिणाईजणौ, गिणाईजबौ–क्रि० कर्म वा०—गिनाया जाना ।

गिणाणौ, गिणाबौ–क्रि०स० ('गिणणौ' का प्रे०रू०) गिनाना ।
गिणाणहार, हारौ (हारी), गिणाणियौ—वि० ।
गिणाग्रोड़ौ, गिणायोड़ौ—भू०का०कृ० ।
गिणावणौ, गिणावबौ—रू०भे० ।
गिणाईजणौ, गिणाईजबौ—कर्म वा० ।
गिणणौ—क्रि०स० ।

गिणायोड़ौ–भू०का०कृ०—गिनाया हुआ । (स्त्री० गिणायोड़ी)

गिणावणौ, गिणावबौ—देखो 'गिणाणौ' (रू.भे.)
गिणावणहार, हारौ (हारी), गिणावणियौ—वि० ।
गिणाविग्रोड़ौ, गिणावियोड़ौ, गिणाव्योड़ौ—भू०का०कृ० ।
गिणावीजणौ, गिणावीजबौ—कर्म वा० ।
गिणावियोड़ौ—देखो 'गिणायोड़ौ' (रू.भे.)
(स्त्री० गिणावियोड़ी)

गिणियोड़ौ–भू०का०कृ०—१ गिना हुआ. २ समझा हुआ ।

गिणीजणौ, गिणीजबौ–क्रि० कर्म वा० ('गिणणौ' कर्म वा०) गिनती में आना, गिना जाना ।
गिणीजणहार, हारौ (हारी), गिणीजणियौ—वि० ।
गिणीजिग्रोड़ौ, गिणीजियोड़ौ, गिणीज्योड़ौ—भू०का०कृ० ।
गिणणौ, गिणबौ—सक० रू० ।

गिणीजियोड़ौ–भू०का०कृ०—गिनती किया हुआ, गणना में आया हुआ ।
(स्त्री० गिणीजियोड़ी)

गिद–सं०पु० [सं० गद] १ कवि (अ.मा.) २ रोग ।

गिदळणौ, गिदळबौ–क्रि०अ०—१ गंदला होना ।
क्रि०स०—२ गंदला करना ।

गिदळाईजणौ, गिदळाईजबौ–क्रि० कर्म वा०—गंदला किया जाना ।

गिदळाणौ, गिदळाबौ–क्रि०स०—गंदला करना ।

गिदळायोड़ौ–भू०का०कृ०—गंदला किया हुआ । (स्त्री० गिदळायोड़ी)

गिदळावणौ, गिदळावबौ—देखो 'गिदळाणौ' (रू.भे.)

गिदळावियोड़ौ—देखो 'गिदळायोड़ौ' (रू.भे.)
(स्त्री० गिदळावियोड़ी)

गिद्ध–सं०पु० [सं० गृध्र] (स्त्री० गिद्धणी) एक प्रकार का बड़ा मांसाहारी पक्षी जिसकी छोटी बड़ी कई जातियाँ होती हैं । इसकी आँखें बड़ी तेज होती हैं ।
पर्याय०—खग, दुज, दूरनैण, पंखण, रातंग ।
(रू०भे०—गिध, ग्रीध, गिरज, गिरझ)

गिद्धराज–सं०पु०यौ० [सं० गृध्रराज] १ जटायु. २ गरुड़ ।

गिध—देखो 'गिद्ध' (रू.भे.)

गिनका–सं०स्त्री० [सं० गणिका] १ वेश्या, पतुरिया । उ०—गिनका री जे नर ग्रहै, कवरी डंड करेण । खाग ग्रहै किमि दळण खळ, तेज विहीणा तेण ।—बां.दा.
पर्याय०—कंचणी, कांमकी, कुलटा, खाला, गायणी, चातुर, जगवल्लभा, द्रवत्रिया, धनजोखता, नगरनायका, नगरवधू, निलजा, नृती, परप्रिया, पातर, पुंसचळी, प्रेमास्वारथ, वेस्या, भगतण, रूपजीवणी, लंभिक, वारवधू, संभळी ।
(रू०भे०—गणका गनका, गिणका)
२ सोनजुही (अ.मा.)

गिनर–सं०स्त्री० [सं० गण] ध्यान, ख्याल ।

गिनांन–सं०पु० [सं० ज्ञान] १ देखो 'ग्यांन' (रू.भे.) उ०—सुजळ गिनांन मंजन तन सारिस, ध्रम क्रम जप तप नेम वधारिस ।
—ह.र.

गिनायत–सं०पु०—१ सजातीय व्यक्ति. २ संबंधी, रिश्तेदार, ३ लड़की या लड़के के ससुराल से संबंधित कोई व्यक्ति ।
उ०—वाटी समुद्रसिंह आपरी सीमा में वरी रा लोकां सहित मीसणां री गोळ दिवाइ गिनायतां नूं आदर रै साथ राखिया ।
—वं.भा
यौ०—गिनायतभाई, गिनायतचारो ।

गिनारणौ, गिनारबौ–क्रि०स०—१ ध्यान देना, परवाह करना ।
उ०—पछै सूरजमल आपनूं कहाड़ियौ—'रावळ रै घर नूं बिगोयै, या सारी न छै, राठोड़ां तांई पोंहतो छै, भूल की छै सु मांन तो गिनारै ही नहीं ।—नैणसी
२ समझना. ३ गिनना ।
गिनारणहार, हारौ (हारी) गिनारणियौ—वि० ।
गिनारिग्रोड़ौ, गिनारिग्रोड़ौ, गिनारयोड़ौ—भू०का०कृ० ।

गिनारियोड़ौ–भू०का०कृ०—१ ध्यान दिया हुआ. २ समझा हुआ. ३ गिना हुआ । (स्त्री० गिनारियोड़ी)

गिरमिर-सं०पु०यौ० [सं० गिरि+मेरु] सुमेरु पर्वत (ह.नां.)

गिरमी—१ देखो 'गरमी' (रू.भे.) उ०—गिरमी गिरमी में गिरवै गुड़ियोड़ा, जांन्हूं डैरू ज्यूं गोडा जुड़ियोड़ा ।—ऊ.का.

[सं० गरिमा] २ आठ सिद्धियों में से एक (अ.मा.)

गिरमेर, गिरमेरु-सं०पु० [सं० गिरिमेरु] सुमेरु पर्वत (ह.नां.)

गिरयंद-सं०पु० [सं० गिरींद्र] १ बड़ा पर्वत, पर्वत ।

उ०—चित सुध 'अभौ' पयंपै 'चिमनौ', ऊपर खड़ आया अरयंद ।
खोसै धन मगरा वळ खावौ, गळै जिकौ बांधौ गिरयंद ।

२ हिमालय पर्वत. ३ सुमेरु पर्वत । —जादूरांम आढ़ौ

गिरमणी-सं०स्त्री० [सं० गिरि+मणि] पार्वती देवी, गौरी ।

गिरराक, गिरराका-सं०पु०यौ० [सं० आरक+गिरि] सुमेरु पर्वत (नां.मा.)

गिरराज-सं०पु०यौ० [सं० गिरिराज] १ सुमेरु पर्वत. २ हिमालय. ३ कोई बड़ा पर्वत । उ०—तेरा सर गिरराज तारे, महा खळ दह-कंध मारे ।—र.ज.प्र.

४ गरुड़ (नां.मा.)

गिरराय-सं०स्त्री०—१ श्री आवड़ देवी ।

वि०वि०—देखो 'आवड़' ।

२ पार्वती ।

गिरवर-सं०पु० [सं० गिरिवर] बड़ा पर्वत । उ०—हुई साज सिंधुर हैमरै, प्रति जांण गिरवर पाखरै । इण रूप नृप चढ़ि सुहड़ आतुर, अस्ट दिसि भड़ तुरां अड़वड़ै ।—रा.रू.

गिरवरधणी, गिरवरधर-सं०पु०—श्रीकृष्ण । उ०—१ दसण निपाप करिस दांमोदर, आणंद तूझ हूंसे गिरवरधर ।—ह.र.

गिरवांण-सं०पु० [सं० गीर्वाण] १ देव, देवता, सुर (अ.मा., नां.मा.)

उ०—सरवर लांवै संचरै, पणघट पदमणियांह । किर गिरवांण कंवारिया, वप सोभा वणियांह ।—वां.दा.

२ ऊंट के नाक में डाला जाने वाला काष्ठ का उपकरण ।

(रू०भे०-गरवांण, गिरवांण, गिरव्वांण, गिरवांन)

गिरवांणपत-सं०पु० [सं० गीर्वाणपति] सुरपति, इंद्र । उ०—जे होता रछपाळ जग, यां सुहड़ां रा थाट । पांख गिरां गिरवांणपत, किण विध सकतौ काट ।—वां.दा.

गिरवांणी-सं०पु० [सं० गीर्वाण+ई] १ देवी.

२ अप्सरा ।

गिरवांन—देखो 'गिरवांण' (रू.भे.)

गिरवाणौ, गिरवाबौ-क्रि०स०—गिराने का कार्य दूसरे से कराना, 'गिरणौ' का प्रे०रू० । देखो 'गिरणौ'

(रू०भे०-गिरवावणौ, गिरवावबौ)

गिरावियोड़ौ-भू०का०कृ०—गिरवाया हुआ । (स्त्री० गिरावियोड़ी)

गिरवी-सं०स्त्री० [फा०] बंधक, रेहन । (मि० 'अडांणूं, अडांणौ')

क्रि०प्र०—राखणौ, धरणौ, मेलणौ ।

यौ०—गिरवीदार, गिरवीनांमौ, गिरवीपत्र ।

गिरवीदार-सं०पु० [फा०] वह व्यक्ति जो रेहन या बंधक रख कर लेन-देन का कार्य करता हो ।

गिरवीनांमौ, गिरवीपत्र-सं०पु०यौ०—वह लिखित पत्र जिसमें गिरवी की शर्तें लिखी हों, रेहननामा ।

गिरवै—देखो 'गिरवी' (रू.भे.)

गिरव्वर—देखो 'गिरवर' (रू.भे.)

गिरस-सं०पु० [सं० गिरीश] शिव, महादेव ।

गिरसार-सं०पु० [सं० गिरिसार] लोहा (अ.मा.)

गिरसर-सं०पु०यौ० [सं० गिरिशिखर] पर्वत की चोटी, पर्वतशिखर ।

गिरसुता-सं०स्त्री०यौ० [सं० गिरि+सुता] गिरिजा, पार्वती ।

गिरह-सं०स्त्री० [फा०] १ गांठ, ग्रंथि.

क्रि०प्र०—देणी, बांधणी, लगाणी ।

२ एक गज का सोलहवां भाग जो सवा दो इंच के बराबर होता है.

३ कलाबाजी, उलटी कलैया । उ०—केहक गिरैबाज कबूतर री नांई गिरह खाता नै पळचर पंखियां ज्यूं झड़फड़ाता सफीलां सुं धरती पड़ता पहली दोय दोय तीन तीन कटारियां लगावै छै ।

—प्रतापसिंह म्होकमसिंह री वात

क्रि०प्र०—खाणी, मारणी, लगाणी, लेणी ।

[सं० ग्रह] ४ देखो 'ग्रह'. [सं० गिरि] ५ पर्वत, पहाड़ ।

उ०—गिरह पखाळण सर भरण, नदी हिंडोळणहारि । सूती सेजइं ग्रेकली, हइ हइ दइव म मारि ।—ढो.मा.

गिरांमणौ-सं०पु०—एक प्रकार का घास ।

गिरा-सं०स्त्री० [सं०] १ सरस्वती (ह.नां.) २ विद्या.

३ वाणी, बोली. ४ जिव्हा. ५ भाषा. ६ सरस्वती नदी.

७ कविता, शायरी ।

गिराक—देखो 'ग्राहक' (रू.भे.)

गिराणौ, गिराबौ-क्रि०स० ('गिरणौ' का स०रू०) १ रोक या सहारे को हटा कर किसी वस्तु को ऊपर से नीचे की ओर डालना, पतन करना. २ धरातल पर खड़ी वस्तु या व्यक्ति को जमीन पर डाल देना, ज्यूं—मकान गिराणौ. ३ निरन्तर ह्रास की ओर प्रेरित करना, अवनत करना. ४ किसी जलधारा को किसी ढाल की ओर प्रवृत्त करना. ५ शक्ति, स्थिति, प्रतिष्ठा, मूल्य आदि की दृष्टि से कम करना या ह्रास करना. ६ दुर्बलता, क्षीणता या किसी अन्य कारण से किसी वस्तु को अपने स्थान से हटाना या झाड़ना, ज्यूं—दांत गिराणा, केस गिराणा, गरभ गिराणौ. ७ लड़ाई में प्राण लेना, मार डालना ।

गिराणहार, हारौ (हारी), गिराणियौ—वि० ।

गिराड़णौ, गिराड़बौ, गिरावणौ, गिराववौ—रू०भे० ।

गिरवावणौ, गिरवावबौ—प्रे०रू० ।

गिराईजणौ, गिराईजबौ—कर्म वा० ।

कम होना। ज्यूं—समाज में आदमी गिरणौ, बीमारी सूं डील गिरणौ।
६ दुर्बलता या क्षीणता के कारण किसी वस्तु का अपने स्थान से हटना या झड़ना। ज्यूं—दांत गिरणा, केस गिरणा।
७ युद्ध में मारा जाना.
गिरणहार, हारौ (हारी), गिरणियौ—वि०।
गिरावणौ, गिरावबौ—प्रे०रू०।
गिराड़णौ, गिराड़बौ, गिराणौ, गिराबौ, गिरावणौ, गिरावबौ—क्रि०स०।
गिरिग्रोड़ौ, गिरियोड़ौ, गिरयोड़ौ—भू०का०कृ०।
गिरीजणौ, गिरीजबौ—भाव वा०।

गिरत—सं०पु० [सं० गिरि+रा०त] पर्वत। उ०—गोप गायां त्रिया सहत बसिया गिरत, चिरत अदभुत तणी करत चरचा। आप जिम करग नग थपै दर उचत ऐ, ऊथपै पुरंदर तणी अरचा।—बां दा.

गिरथ—सं०पु०—धन, संपत्ति, अर्थ।

गिरद—सं०स्त्री० [फा० गर्द] १ पृथ्वी (ना.डि.को.) २ धूलि, रज, गर्द। उ०—उड गिरद छव असमांण नूं, भरपूर ढांके भांण नू। जळ उभळ झळ जळधार जळ, चळ विचळ दिग्गज अचळ चळ।
—र.रू.

[सं० गृध्र] ३ देखो 'गिद्ध' (रू.भे.)
(रू०भे०—गिरध)
[फा० गिर्द] ४ चारों ओर का घेरा। उ०—१ गिरद गजां घमसांण, नहचै घर माई नही। मावै किम महरांण, गज सौ रै घेरै गिरद।
—केसरीसिंह बारहठ
उ०—२ सो लसकर बडौ भारी कोस च्यार-च्यार रा गिरद में।
—जयसिंह आंमेर रा धणी री वारता
क्रि०वि०— चारों ओर, आस-पास। उ०—मरद झूठ बोलै तौ धाक जाती रहै। हजार तरवार उणरै जतनां रै वास्तै उणांरै गिरद होय पण जीभ उणरी झूठी छै तौ मिनखां री निजर में उणरी भार नहीं छै।—नी.प्र.

गिरदभ—सं०पु० [सं० गर्दभ] गधा (ह.नां.)

गिरदवाई, गिरदवाय—सं०पु०—विस्तार, फैलाव, प्रसार।
उ०—उदयपुर री गिरदवाई कोस ५ आगै गिरवौ कहीजै।—नैणसी

गिरदाणौ, गिरदाबौ—क्रि०स०—आक्रमण द्वारा किसी स्थान को चारों तरफ से घेरना। उ०—खेहाडंबर घूमते धर अंबर छाया। हल्ला बोलि हकारि के किल्ला गिरदाया।—ला रा.

गिरदाव—सं०पु०—चक्कर। उ०—सो पांच सौ पांच-पांच कोस तांई सहिर रै गिरदाव घोड़ौ फेरै।—रिसालू री वात

गिरदावर—सं०पु० [फा० गिर्दावर] घूम-घूम कर जांच करने वाला, दौरा करने वाला व्यक्ति।

गिरदावरी—सं०स्त्री०—गिरदावर का कार्य या पद।

गिरद्द—सं०पु० [सं० गिरि] पर्वत, पहाड़।

गिरध—देखो 'गिद्ध' (रू.भे.) उ०—पळ आस उरध ढक गिरध पंख, सर तीर पूर रव नर असंख।—रा.रू.

गिरधर—सं०पु० [सं० गिरिधर] पहाड़ को धारण करने वाला. हनुमान, श्रीकृष्ण। उ०—हंस मांयला मूढ़ रे, कर हर सर बिसरांम। मर-मर घर-घर नंह फिरै, उर घर गिरधर नांम।—ह.र.
रू०भे०—गिरधरण, गिरधरलाल, गिरधार, गिरधारण, गिरधारन, गिरधारी।
२ एक कवि का नाम जिनकी बनाई कुंडलियां बहुत प्रसिद्ध हैं।

गिरधरण—सं०पु०—१ देखो 'गिरधर' (रू.भे.) उ०—घड़ां सिर जोम ताजै घड़ां धमाधम, कांगुरां तरफ बाजै कुहाड़ा। किलौ गिरधरण ओळै 'रयण' बंधकड़ा, विरोळै चौवड़ा फिरंग वाळा।—बां.दा.
स०स्त्री०—२ पृथ्वी।

गिरधरणि, गिरधरणी—सं०स्त्री०—पृथ्वी (डि. नां. मा.)

गिरधरलाल—सं०पु०—श्रीकृष्ण।

गिरधरियौ—देखो 'गिरधर' (अल्पा०) उ०—अरे रांणा पहली क्यौं ना बरजी, लागी गिरधरिया सूं प्रीत।—मीरां।

गिरधार, गिरधारण, गिरधारन, गिरधारी—१ देखो 'गिरधर' (रू.भे.) २ ईश्वर (नां मा.)

गिरनार—सं०पु०—१ जैनियों का एक पवित्र तीर्थ जो गुजरात में जूनागढ़ के निकट एक पर्वत के ऊपर है. २ एक पर्वत का नाम।

गिरनारी—सं०पु०—१ गिरनार पर्वत के निवासी. २ एक राग विशेष। यह राग सांप को बहुत प्रिय है।

गिरपत, गिरपति, गिरपती—सं०पु०यौ० [सं० गिरि+पति] १ सुमेरु पर्वत (नां.मा.) २ पर्वत, पहाड़ (अ.मा.)

गिरफ्तार—वि० [फा०] जो पकड़ा, कैद किया या बांधा गया हो, असा हुआ, ग्रस्त।

गिरफ्तारी—सं०स्त्री० [फा०] गिरफ्तार होने का भाव या क्रिया।

गिरवांण, गिरव्वांण—देखो 'गिरवांण' (रू.भे.) उ०—इंद्र गै अरूढ़ गिरवांण भूल सामां आया। सारां है बधाया कीधां झलूसा समाज।
—चांवंडदांन महड़

गिरमट—देखो 'गिरमिट' (रू.भे.)

गिरमा—देखो 'गरिमा' (ह.नां., नां.मा.)

गिरमाथ—सं०पु०यौ० [सं० गिरि+मस्तक] सुमेरु पर्वत।
उ०—मलफै कुण गिरमाथ हाथ कुण अगन हलावै। विस भरियोड़ा व्याळ स्याल कर कवण खिलावै।—पे.रू.

गिरमाळ—सं०पु०—१ पर्वत, श्रेणी. २ अमलतास।

गिरमाळौ—देखो 'किरमाळौ' (अमरत)

गिरमास—सं०पु०—१ गरमी, उष्णता, ताप। उ०—गायां नै गिरमास ठिकाणौ चोड़ै ठायौ। सूवै सूतक सुधी तळै छिगास बिसायौ।
—दसदेव

गिरमिट—सं०पु०—लकड़ी आदि में छेद करने के काम आने वाला एक प्रकार का बड़ा बरमा (बढ़ई)

गिरिस—देखो 'गिरीस' (नां.मा.) (रू.भे.)
गिरिसार-सं०पु० [सं०] १ शिलाजीत. २ लोहा।
गिरिसुत-सं०पु० [सं०] मैनाक पर्वत।
गिरिसुता-सं०स्त्री० [सं०] पार्वती।
गिरिस्त्रंग-सं०पु०यौ० [सं० गिरिश्रृंग] पर्वत-शिखर, पर्वत की चोटी।
गिरींद्र-सं०पु० [सं०] १ हिमालय. २ बड़ा पर्वत.
गिरी-सं०स्त्री०—१ वह गूदा जो किसी बीज आदि को तोड़ने पर उसके अंदर से निकलता है. २ नारियल के अंदर के गूदे का टुकड़ा. [सं० गिरि] ३ देखो 'गिरि' (रू.भे.)
गिरीग्रो—देखो 'गिरियौ' (रू.भे.) उ०—सुराही गळा रै घाटि, सभासळ पींडी, भीणै गिरीग्रै ऊपरि दाजणी पायल रा घूघरा रमभोळ भणकिया जांणै कळहंस रा बच्चा वकोर करि रहिया छै।
—रा.सा.सं.
गिरीयक-सं०पु० [सं० गिरिक] गेंद, कंदुक (डि.को.)
गिरीस-सं०पु० [सं० गिरीश] १ महादेव, शिव (ह.नां.)
२ हिमालय पर्वत. ३ कोई बड़ा पर्वत. ४ शिव-लिंग।
उ०—अति ऊंचा तिय रै उरज, वरणिया विसवा वीस। जोड़ै लागै जगत में, गिरि गज कुंभ गिरीस।—वां.दा.
गिरीस्त्रंग—देखो 'गिरिस्त्रंग' (रू.भे.)
गिरुग्रो-सं०पु०—एक राजपूत वंश (कां.दे.प्र.)
गिरैगोचर—देखो 'गोचर' (३) उ०—किसनू घणी-ई भैरूंजी रै प्रसाद…मावड़ियाजी-रै आखा भेजिया, डाकोतियै खनै गिरै-गोचर देखाया अर छतीछरजी-री दांन कियौ पण आंख्यां-रा पट्ट मिळ-ई गया।—बरसगांठ
गिरै—१ देखो 'ग्रह' (रू.भे.)
मुहा०—१ गिरै आवणी—संकटग्रस्त होना, विपत्ति में पड़ना.
२ गिरै लागणी—आपत्ति में पड़ना।
३ देखो 'गिरह' (रू.भे.)
गिरैवाज-सं०पु०यौ० [फा० गिरहबाज] एक प्रकार का कबूतर जो उड़तेउड़ते ही उलट कर कलाबाजी दिखाने लगता है और फिर वापिस उड़ने लगता है। उ०—केहक गिरैवाज कबूतर री नांई गिरह खाता नै पळचर पंखियां ज्यूं फड़फड़ाता सफीलां सुं वरती पहली दोय-दोय तीन-तीन कटारिया लगावै छै।—प्रतापसिंह म्होकमसिंह री वात
गिरोंगौ—देखो 'गरोंगौ' (रू.भे.)
गिरोवर—देखो 'गिरवर' (रू.भे.) उ०—पदमणि रखपाळ पाइदळ पाइक, हिळवळिया हलिया हसति। गमे गमे मदगळिता गुड़ता, गात्र गिरोवर नाग गति।—वेलि.
गिलंका-सं०स्त्री०—मजाक, दिल्लगी।
गिलका-सं०स्त्री०—नदी (ग्र.मा.)
गिलकासिला-सं०स्त्री०—गंडक नदी जो गंगा की सहायक नदी है(ह.र.)
गिलगिली-सं०स्त्री०—१ गुदगुदी. २ मीठी सुरसुराहट या खुजली जो शरीर के किसी अवयव पर अँगुली आदि के स्पर्श से होती है.
३ घोड़े की एक जाति।
गिलची-सं०पु०—मुसलमानों का खिलजी वंश, गिलजई वंश।
(वां.दा. ख्यात)
गिलट-सं०स्त्री० [अं० गिल्ड] १ सोने का पानी चढ़ाने का कार्य, मुलम्मा.
२ एक प्रकार की हलकी और कम मूल्य की धातु जिसका रंग सफेद और चमकीला होता है।
गिलटी-सं०स्त्री० [सं० ग्रंथि] १ एक प्रकार का रोग।
वि०वि०—इस रोग में शरीर के संधिस्थलों में स्थित गांठों में से किसी गाँठ में सूजन आकर फूल जाती है अथवा शरीर के किसी दूसरे भाग में इसी प्रकार की कोई गाँठ उत्पन्न हो जाती है।
२ एक प्रकार का छोटा कीटाणु जो मृत देह के मांस पर अधिक होता है. ३ अपने कहे कथन से मुकरने या पलटने का भाव।
गिलण-वि०—निगलने वाला।
सं०स्त्री०—गला, गर्दन।
गिलणी-सं०स्त्री०—गर्दन।
गिलणौ-सं०पु०—गला, गर्दन।
गिळणौ, गिळबौ-क्रि०स० [सं० गल] १ निगलना, खाना।
उ०—१ गिळती मांस रंगी रिण ग्रीभण। उडती रंगिया अनड़।
—बोळूजी
उ०—२ च्यार मजल अजमेर सूं, दाभै अवरंग दुक्ख। ज्यों विखधर छच्छूंदरी, गिळै न त्यागै मुक्ख।—रा.रू.
२ अधिकार में करना। उ०—१ राह विलग्गौ अरिहरां, ग्रहण करण गजगाह। देवगिर सरिखा दुरंग, वैठो गिळै दुबाह।—चतुरौ बारहठ
उ०—२ गाहै थांणा गढ़ गिळै, तूं पातल बळवंत। हमै कवर वासौ हुसी, अकबर आयौ अंत।—वां.दा.
३ संहार करना। उ०—बडा विरदेत करमेत रा वीरवर, अंजसै दुरग जोधांण घर ऐत। फिरै फिरत अणी सावळ फळां, छळण द्वारां गिळै तुहिज छत्रेत।—नरवद
क्रि०अ०—४ पिघलना, द्रवित होना।
गिळणहार, हारौ (हारी), गिळणियौ—वि०।
गिळवाणौ, गिळवावौ—प्रे०रू०।
गिळिग्रोड़ौ, गिळियोड़ौ, गिळ्योड़ौ—भू०का०कृ०।
गिळीजणौ, गिळीजबौ—कर्म वा०, भाव वा०।
गिलविला-सं०पु०—मुसलमान।
गिलविलाणौ, गिलविलावौ-क्रि०अ०—व्याकुल होकर बकना, असंबद्ध प्रलाप करना।
गिलवौ-सं०पु०—१ कोलाहल, शोर। उ०—गिलवौ कर कहसी जे भूंडी गल्ल, (तो) बांभी अणगिणती रा लेसी बारणा।—लो.गी.
२ गाने की ध्वनि. ३ शिकायत।
गिलमौ, गिलम-सं०पु०—१ बहुत मोटा व मुलायम गद्दा या बिछौना
(ग्र.मा.)

गिरायोड़ौ—भू०का०कृ० ।
गिरणौ —अक० रू० ।
गिरापति–सं०पु० [सं०] सरस्वती के पति ब्रह्मा ।
गिरापितु–सं०पु०यौ० [सं० गिरा+पितृ] सरस्वती के पिता ब्रह्मा ।
वि०वि०—इस संबंध में एक कथा प्रचलित है । एक बार ब्रह्मा के शरीर से एक अत्यन्त सुंदर कन्या की उत्पत्ति हुई । उसकी सुन्दरता के कारण ब्रह्मा उस पर मोहित हो गये । इनकी वासनाभरी दृष्टि से बचने के लिए वह ब्रह्मा के पीछे खड़ी हो गई ब्रह्मा फिर उसकी ओर मुख करके उसे देखने लगे । इसी प्रकार वह ब्रह्मा के चारों ओर घूमी और ब्रह्मा उसे देखने को चतुर्मुख हो गये । उन्होंने उस कन्या को, जो आगे चल कर सरस्वती की संज्ञा से विभूषित हुई, अपनी अर्द्धांगिनी बना लिया । तब से सरस्वती ब्रह्मा की पुत्री तथा पत्नी दोनों ही मानी जाती है ।
गिराब–सं०पु० [अं० ग्रेप] १ तोप का वह गोला जिसमें छोटी-छोटी गोलियां व छर्रे भी रहते हैं ।
सं०स्त्री० [रा०] २ ऊमरकोट के इलाके की भूमि ।
गिरायोड़ौ–भू०का०कृ०—गिराया हुआ (स्त्री० गिरायोड़ी)
गिरारक–सं०पु०यौ० [सं० गिरि+आरक, गिर्यारक] सुमेरु पर्वत (नां.मा.)
गिराळ–सं०पु० [सं० गिरि+रा०प्र०आळ] पर्वत, पहाड़ । उ०—बयाळ सियाळ उनाळ बयाकुळ, वारि वरखाळ खुदाळ सयूं । वनाळ बिचाळ गिराळ असाकळ, ज्वाळ मयाळ सखाळ लयूं ।—करुणासागर
गिराव, गिरावट–सं०स्त्री०—गिरने का भाव या क्रिया, पतन, उतार, घटाव । उ०—अर वो सोचण लागौ—गरीब बाळक सामा ऊभा रोटी रै टुकड़ै नै तरसै अर म्हे वांनै चिगाय'र माल उडावां । हिरदै री कित्ती गिरावट अर सभाव रौ कित्तौ टुच्चापण है ।—वरसगांठ
गिरावणौ, गिराववौ–क्रि०स०—देखो 'गिराणौ' (रू.भे.)
उ०—गिणौ मदंघ सोख जोख गोख कौ गिरावणौ, फबै फिसाद मंद कौ सु फेट दे फिरावणौ ।—ऊ.का.
गिरावणहार, हारौ (हारी), गिरावणियौ—वि० ।
गिराविप्रोड़ौ, गिरावियोड़ौ, गिराव्योड़ौ—भू०का०कृ० ।
गिरावीजणौ, गिरावीजवौ—कर्म वा० ।
गिरणौ—अक० रू० ।
गिरावियोड़ौ–भू०का०कृ०—देखो 'गिरायोड़ौ' ।
गिरावीजणौ, गिरावीजवौ—देखो 'गिराईजणौ' (रू.भे.)
गिरास–सं०पु०—१ उपाय, तरकीब. २ देखो 'ग्रास' (रू.भे.)
गिरासिया—देखो 'ग्रासिया' (रू.भे.)
गिरासियौ–सं०पु०—ग्रासिया जाति का व्यक्ति ।
गिरासौ—देखो 'ग्रासिया' (रू.भे.)
गिराल्लमी–सं०पु०—[सं० गिराश्रमी] १ कवि । उ०—विसाळ चट्टसाळ बीच वेद की धुनी नहीं । महाल्लमी ग्रहाल्लमी, गिराल्लमी गुनी नहीं ।—ऊ.का.
२ पंडित ।
गिरिंद–सं०पु०—पर्वत (ह.नां.)
गिरि–सं०पु० [सं०] १ पर्वत, पहाड़. २ दशनामी संन्यासियों के अंतर्गत एक उपाधि. ३ पारे का एक दोष जिसको बिना शोधन सेवन करने से शरीर अचेतन हो जाता है ।
गिरिकंटक–सं०पु० [सं०] वज्र ।
गिरिक–सं०स्त्री०—१ गेंद (डि.को.)
सं०पु० [सं०] २ शिव, महादेव. ३ वह जो पर्वत से उत्पन्न हो ।
गिरिका–सं०स्त्री० [सं०] पुरु वंश के वसु राजा की स्त्री (महा०)
गिरिगुड़–सं०स्त्री०—गेंद, कंदुक (डि.को.)
गिरिज–सं०पु० [सं०] १ शिलाजीत. २ लोहा. ३ अभ्रक. ४ गेरू ।
गिरिजा–सं०स्त्री० [सं०] १ पार्वती जो हिमालय की कन्या मानी जाती है ।
यौ०—गिरिजापति ।
रू०भे०—गिरजा ।
२ गंगा ।
गिरिजाबीज–सं०पु० [सं०] गंधक ।
गिरिट्ठ–वि० [सं० गरिष्ठ] १ शक्तिशाली । उ०—जोड़ाळ मिळइ जमदूत जोध, काइरा कपीमुखखी सक्रोध । कुवरत्त केवि काळा किरिट्ठ, गड़दती गोळ गांजा गिरिट्ठ ।—रा.ज.सी.
२ पौष्टिक ।
गिरित्र–सं०पु० [सं०] १ शिव, महादेव. २ समुद्र ।
गिरिधर, गिरिधरन–सं०पु० [सं० गिरिधरन्] १ श्रीकृष्ण.
२ हनुमान ।
गिरिधातु–सं०पु० [सं०] गोरू ।
गिरिधारन, गिरिधारी—देखो 'गिरधर' (रू.भे.)
गिरिध्वज–सं०पु० [सं०] इन्द्र ।
गिरिनंदिणी–सं०स्त्री०यौ० [सं० गिरिनंदिनी] १ पार्वती. २ गंगा.
३ नदी, सरिता ।
गिरिनगर—देखो 'गिरनार' (रू.भे.)
गिरिनाथ–सं०पु० [सं०] शिव, महादेव ।
गिरिमा–सं०स्त्री०—आठ सिद्धियों के अंतर्गत एक सिद्धि (अ.मा.)
गिरियांडोव–क्रि०वि०—टखने तक । उ०—इळायचं रा, मिसरू रा, गुलबदन रा, मालनेरी रा, वाफतां रा, चाळीस चाळीस हाथां रा छै । गिरियांडोव रै समा नाड़ा छै ।—रा सा.सं.
गिरियौ–सं०पु०—एड़ी के ऊपर उभरी हुई हड्डी की गांठ, गुल्फ ।
उ०—जांघां गरभज केळ की, पींडी पूहरियांह । गिरिया गोळ सुपारियां, झीणी पांसळियांह ।
—कुंवरसी सांखला री वारता
गिरिराज–सं०पु० [सं०] १ बड़ा पर्वत. २ हिमालय पर्वत. ३ गोवर्धन पर्वत. ४ सुमेरु पर्वत ।

२ छोटा गोल तकिया। उ०—सोना री पिलंग कसणां कसियो छै सो कैसोहेक सोभायमांन दीसै छै ? जांणे खीर-समुद्र रा झाग छै। ओसीसा गींडवा कैसा विराजै छै ? जांणै सीगीमल काछवा समुद्र में केळ करै छै।—रा.सा.सं.

गींडोळियौ, गींडोळौ—सं०पु०—वर्षा ऋतु में होने वाला एक प्रकार का कीड़ा जो गोवर के गोले बनाता है।

गींदवौ—सं०पु० [सं० गेंदुक] देखो 'गींडवौ' (रू.भे.) उ०—कंत लखीजै दोहि कुळ, नथी फिरंती छांह। मुड़िया मिळसी गींदवौ, वळे न घण री बांह।—वी.स.

गी—सं०स्त्री०—१ शोभा. २ स्त्री. ३ वाणी. ४ अमृत (एका०) ५ सरस्वती (ह.नां.)

वि०—कठोर।

'जाणौ' क्रिया का भूतकालिक स्त्री लिंग रूप।

गीआमाळती—सं०स्त्री०—प्रत्येक चरण में २८ मात्रा का एक मात्रिक छंद

गीगौ—सं०पु० (स्त्री० गीगी) छोटा बच्चा। उ०—मरूं अक जीवूं मोरी माय, दुहागण कौ मांन ववायौ, जी राज, म्हारी बीहड़ थारी मरैगी बलाय, दुहागण कौ गीगौ मांन ववायौ, जी राज।—लो.गी.

अल्पा०—गीगलड़ौ, गीगलौ, गीगल्यौ, गीगियौ।

गीजड़—सं०पु०—आँख का मैल (डि.को.)

गीजा—सं०स्त्री०—विना नगीने वाली एक प्रकार की अँगूठी विशेष।

गीड—सं०पु० [सं० किट्ट] आँख का मैल।

रू०भे०—गीजड़, गींद।

गीण—सं०स्त्री०—पीड़ा या वेदना से उत्पन्न होने वाली कराह।

गीणणौ, गीणवौ—क्रि०अ०—१ कष्ट या पीड़ा से चीखना, कराहना. २ रोना।

गीत—सं०पु०—१ वह वाक्य या पद जो गाया जाता हो, गाने की सामग्री, गायन। उ०—प्रति पोळि भूल सप्रीत, गावंति सुंदर गीत। जगमगत दीपक जोत, अति जोति पंति उद्योत।—रा.रू.

२ मांगलिक गायन।

अल्पा०—गीतड़लौ, गीतड़ौ।

३ बड़ाई, यश।

मुहा०—चमारी आळा गीत—झूठे बड़प्पन के लिये कष्ट उठाना।

४ राजस्थानी (डिंगल) के एक खास प्रकार के छंद जिनकी कुल संख्या ८४ है. ५ स्त्रियों की चौसठ कलाओं के अंतर्गत एक कला. ६ पुरुषों की बहत्तर कलाओं में से एक कला।

गीतका—सं०स्त्री०—१ एक मात्रिक छंद विशेष. २ बीस वर्ण का एक वर्णिक छंद विशेष।

गीतणी—सं०स्त्री०—वह जो गीत गावे, गायिका। उ०—आप कनै सामांन थौ तिको वगसियौ नै सुखपाळ मंगाय गींदोली नै बैसांण नगर नै चाल्यां नै गीतणियां नै हुकम कियौ, म्हांनै नै सहजादी गींदोली नै गावौ।—जगमाल मालावत री वात

गीता—सं०स्त्री० [सं०] १ भगवद् गीता. २ छब्बीस मात्रा का एक छंद जिसमें १४ और १२ मात्राओं पर विराम होता है

३ वृत्तांत, कथा, हाल. ४ एक वर्णिक वृत्त जिसके प्रत्येक चरण में स ज ज भ र और स के क्रम से तथा अंत में एक लघु एवं एक गुरु सहित २० वर्ण होते हैं।

गीतारी—सं०स्त्री०—१ झुंड बना कर रहने वाला एक प्रकार का पक्षी. २ गायन विद्या में प्रवीण।

गीतिका—देखो 'गीता' (४)

गीतेरण—देखो 'गीतणी' (रू.भे.) उ०—गांवां गांवां में गीतेरण गाती, चित्रण ग्रह भीतर चित्तेरण चाती।—ऊ.का.

गीद—देखो 'गीड' (रू.भे.)

गीदड़—सं०पु०—सियार, शृगाल।

मुहा०—गीदड़ भभकी—सिर्फ डराने के लिए डाँट या कोई बात।

वि०—डरपोक, कायर, भीरु।

गीदल—सं०स्त्री०—आँधी चलने के बाद आकाश में छा जाने वाली गर्द (क्षेत्रीय)

गीध—सं०पु० [सं० गृध्र] (स्त्री० गीधण, गीधणि, गीधणी, गीधांणी) गिद्ध पक्षी। उ०—१ गई चढ़ि चील्हणि गीधणि गैण। नसौ करि वेल चढ़्यौ त्रण-नैण।—मे.म. उ०—२ कंकांणी चंपै चरण, गीधांणी सिर गाह। मो विण सूतौ सेज री, रीत न छंडै नाह।—वी.स.

गिप्ती—सं०स्त्री० [सं० गीर+पती, गीष्पती] सरस्वती।

उ०—बराबर दीस दिगंतर बाह्य, अगोचर गोचर गिप्ती अग्राह्य।
—ऊ.का.

गीयांन—देखो 'ग्यांन' (रू.भे.)

गीया—सं०पु०—एक प्रकार का मात्रिक छंद विशेष।

गीयाई—सं०स्त्री०—घी की बिक्री पर प्रजा से लिया जाने वाला सरकारी कर विशेष।

गीरंद—सं०पु०यौ० [सं० गिरि+इंद्र] पहाड़, पर्वत।

गीरथ—सं०पु० [सं०] १ बृहस्पति का नाम. २ जीवात्मा।

गीरदेवी—सं०स्त्री० [सं० गीर्देवी] सरस्वती, शारदा।

गीरपति—सं०पु० [सं० गीर्पति] १ बृहस्पति. २ विद्वान, पंडित (अ.मा.)

गीरवांण—देखो 'गिरवांण' (रू.भे.)

गीला—सं०स्त्री०—१ चौहान वंश की एक शाखा (वं.भा.)

२ ढोली जाति की एक शाखा।

गीलापण, गीलापणौ—सं०पु०—आर्द्र या गीला होने का भाव, नमी, तरी।

गीलोपत्तौ, गीलोपत्रौ—वि०—सुकुमार, नाजुक, सुंदर।

गीलौ—वि० [सं० गीली] भीगा हुआ, नम, तर।

गील्लसणौ, गील्लसवौ—क्रि०स०—निगलना, ग्रसना। उ०—सासु कहइ बहू ! घर मांहि आव। चंद कइ भोळइ तोहि गील्लसइ राह।
—वी.दे.

उ०—१ सवळ भूखै सीह ज्यूं, चढ़िया मुहि चुगलाळ। गिलमां ऊपर गिळ गयौ, ज्यां अग आळ लंकाळ।—रा.रू.

उ०—२ वणी विछायत वाड़ियां, जाजमे गिलम जुहार। आप दुनीचां ऊपरै, अदभुत खुलै अपार।

—वगसीरांम प्रोहित री वात

उ०—३ ताहरां मांहि गिलमां विछाया। ऊपर चादरा बिछाया।

२ तकिया। —चौबोली

गिलवै—देखो 'गिलोय' (अमरत)

गिलांण, गिलांणी, गिलांन, गिलांनी—सं०स्त्री० [सं० ग्लानि] देखो 'ग्लांनि' (रू.भे.) उ०—१ हणं पसू तिण खिण हुए, हिए दया री हांण। थाळी मांह मसांण थट, गिल ही छोड़ गिलांण।—वां.दा.

उ०—२ पण माथै पर करज, मोतीलाल सेठ री बेमुरोवती, घर में टोटौ, लुगाई सूं कपट अर ऊपर सू भाई गोपाळ री मीठी फटकार, आं सारी वातां सूं रमेस रै मन में गिलांणी पैदा हुयगी, अर करतव-बुद्धि जाग उठी।—वरसगांठ

उ०—३ तौ फेर कही—वांरै मन में गिलांनी नहीं, मेरै मन में है इणसूं माफी करौ।—अमरसिंह री वात

गिलाफ—सं०पु० [अ०] १ कपड़े का बना वह आवरण जो तकिये, लिहाफ आदि पर चढ़ाया जाता है. २ लिहाफ. ३ म्यान।

गिलार—सं०स्त्री०—गला, गर्दन। उ०—करके तरवार ग्रहे हिरणाकुस, मूढ़ निरोस निवार मुड़ै। सुत के बळ एक मुरार तणौ, सज थंभ विडार गिलार थड़ै।—भगतमाळ

गिलारी—सं०स्त्री०—एक प्रकार का छोटा चंचल जानवर जो एशिया, यूरोप और उत्तरी अमेरिका में बहुत अधिकता से होता है। गिलहरी

गिलास—सं०स्त्री० [अं ग्लास] पानी, दूध आदि तरल पदार्थ पीने का एक पात्र जो गोल और लम्बा होता है। यह पैंदे में कम चौड़ा और मुंह की ओर कुछ अधिक चौड़ा होता है।

(अल्पा० 'गिलासड़ी')

गिळित—वि०—निगला हुआ। उ०—ग्रहिया मुखि मुखा गिळित उग्रहिया।—वेलि.

गिलिम—देखो 'गिलम' (रू.भे.)

गिली—१ देखो 'गुल्ली' (रू.भे.) २ देखो 'गिलगिली' (रू.भे.)

गिलोड़ी—सं०स्त्री०—१ गुड़, घी व आटे के मेल से बनाई जाने वाली मोटी रोटी. २ देखो 'घिलोड़ी' (रू.भे.)

गिलोणौ, गिलोबौ—क्रि०स०—१ गीला करना. २ मिश्रित करना, मिलाना. ३ गूंधना।

गिलोणहार, हारौ (हारी), गिलोणियौ—वि०।

गिलोयोड़ौ—भू०का०कृ०।

गिलोवणौ, गिलोवबौ—रू०भे०।

गिलोय—सं०स्त्री० [फा०] एक प्रकार की वृक्षों पर चढ़ने वाली लता, गुरुच, गुड़ूची।

गिलोयोड़ौ—भू०का०कृ०—१ गीला किया हुआ. २ मिश्रित किया हुआ, मिलाया हुआ. ३ गूंधा हुआ। (स्त्री० गिलोयोड़ी)

गिलोरी मांडिया—सं०स्त्री०यौ०—घी की रोटी। उ०—कोई जद चित आया गिलोरी मांडिया, लायौ नटड़ौ खाटी-मीठी छाछ जी।

—लो.गी.

गिलोळ—देखो 'गुलेळ' (रू.भे.)

गिलोळौ—सं०पु० [फा० गुलेला] मिट्टी की बनी छोटी गोली जो गुलेल से फेंकी जाती है।

गिलोवणौ, गिलोवबौ—देखो 'गिलोणौ' (रू.भे.) उ०—१ म्हे तो आंगण गार गिलोवस्यां, म्हारी विरधी रा कोडां।—लो गी.

उ०—२ नांखै मोल मजूर, लदै ऊंटां पर बोरा। गार गिलोवणहार चिणावै चेजै ओरा।—दसदेव

गिलोवणहार, हारौ (हारी), गिलोवणियौ—वि०।

गिलोविओड़ौ, गिलोवियोड़ौ, गिलोव्योड़ौ—भू०का०कृ०।

गिलोवीजणौ, गिलोवीजबौ—कर्म वा०।

गिलोवियोड़ौ—भू०का०कृ०—देखो 'गिलोयोड़ौ' (रू.भे.)

(स्त्री० गिलोवियोड़ी)

गिलौ—सं०पु० [सं० गर्हा] १ लड़ाई, झगड़ा, टंटा। उ०—अमरसिंह रो आपस मांहे रस नहीं। वकसी रै जसवंतसिंहजी सूं इकळास सो अमरसिंहजी सूं वात वात में गिलौ करै।—अमरसिंह री वात

२ अपकीर्ति, निंदा। उ०—१ जाडा थंडां मेल आया गनीमां सूं बांध जिलौ, जिकौ लेसूं चोड़ैधाड़ै आडा खंडां जूट। कमंधां रै नाथ म्हारै भरोसै सूंपियौ किलौ, किलौ ढीलौ कियां हुवै गिलौ चारूं खूंट।—देवीदांन लाळस उ०—२ जणां कही फलांणौ वैरी थारौ गिलौ करतौ थौ, थारी फाटी वातां कहतौ थौ, मैं उणनूं मनै कियौ थौ।—नी.प्र.

३ खवर, सन्देश। उ०—इणरै अन्याय रौ गिलौ प्रभू री दरगाह में घणौ पहुंचौ।—नी.प्र.

गिल्ली—१ देखो 'गुल्ली'. २ गुदगुदी।

गिवल—सं०पु०—रीछ।

गिव्वर—सं०पु०यौ० [सं० गिरिवर] पहाड़, पर्वत।

गिसत—देखो 'गस्त' (रू.भे.)

गिसी—सं०स्त्री० [अ० गिश, गिश्श] अशुभ, भयंकर।

उ०—गजां दांण सूकै इसा वांण गाजै। प्रळै काळ सई गिसी नाळ वाजै।—रा.रू.

गिस्ती—देखो 'ग्रहस्थी' (रू.भे.)

गींगणी—सं०स्त्री०—एक प्रकार का छोटा पक्षी जिसके नेत्र पीले होते हैं। जब ये पक्षी बहुत से एक साथ होते है तो टांय-टांय की ध्वनि करते है।

गींडवौ—सं०पु०—१ तकिया, उपधान। उ०—लायौ नटड़ौ फाटयौ पुरांणौ पूर जी, कोई जद चित आया मोड़'र गींडवा।—लो.गी.

गुंवज-सं०पु० [फा० गुंवद] देवालय या अन्य विशाल भवनों पर ऊपर की गोल छत।
रू०भे०—गुम्मज।
यौ०—गुंवजदार।
गुंभार, गुभारौ-सं०पु०—१ तहखाना. २ गुम्वज।
गु-सं०पु०—१ अर्क. २ प्राण. ३ कामदेव. ४ कुत्ता. ५ खर, गधा. ६ भय. ७ नर. ८ गुरा. ९ पय. १० समाज (एका०) [सं० गूथ] ११ विष्टा, मल।
कहा०—गू खायां काळ नहीं निकळै—विष्टा खाने से अकाल नहीं निकलता। बेईमानी या हराम की कमाई से जीवन सफल नहीं हो सकता।
सं०स्त्री०—युक्ति, उपाय।
गुआर—देखो 'गवार'।
गुआरपाठौ—देखो 'ग्वारपाठौ' (रू.भे.)
गुआळ-सं०पु० [सं० गोपाल] १ गांव के बीच का चौक।
उ०—छांह गुआळ ढळंती छाया, जकौ पटंतर देख जुए। मुसवद वर्सीजै सहर सितारौ, हथरणापुर में वेढ़ हुए।—ओपौ आढ़ौ
२ ग्वाला।
गुआळियौ, गुआळौ-सं०पु०—१ ग्वाला. २ श्रीकृष्ण।
गुख-सं०पु०—गवाक्ष, खिड़की। उ०—कोठा नइ कोसीसा घणां, गुख वार मइ मतवारणा। वळी धवळहर जोयां चडी, रतनजडित वइठी फूदड़ी।—कां.दे.प्र.
गुगजी-सं०पु०—भाटी वंश की एक शाखा अथवा इस शाखा का व्यक्ति (वां.दा. ख्यात)
गुगर-सं०पु०—किसी धातु का बना वह गोल गुरिया जिसके भीतर छोटी गोली या कंकर होता है। हिलाने पर इससे मधुर ध्वनि उत्पन्न होती है, घुंघरू।
गुगळ—देखो 'गुग्गुळ' (रू.भे.)
गुगळधूप-सं०पु०—गुग्गुल नामक वृक्ष या सलई के वृक्ष से निकलने वाला गोंद या धूप।
गुगर्‌यौ—देखो 'गुळगुचियौ' (रू.भे.)
गुग्गुळ-सं०पु०—एक कांटेदार पेड़ जो सिंध, काठियावाड़, राजपूताना, खानदेश आदि में होता है। इसमें से कुछ हरापन लिये हुए भूरे रंग का गोंद निकलता है जिसे गुग्गुल कहते हैं।
पर्याय०—गूगळ, देवधूप, पलंकस, महिखाक, वायुघ्न।
गुग्घर—१ देखो 'घूघर'। उ०—जवनिय सेन प्रळै किर ज्वाळ, घमं-घम पक्खर गुग्घर माळ।—रा.रू
२ देखो 'गूगरी' (रू.भे.)
गुग्घस-सं०पु०—१ बिना जल के बादल. २ मृगी रोग में मुंह से निकलने वाले फेन।
गुग्घी, गुघी—देखो 'घुघी' (रू.भे., मा.म.)

गुड़-सं०पु० [सं० गूढ़] १ हाथी का कवच। उ०—१ गाहै गजराजां गुड़ां रुहिर मचावै कीच, ज्यांरै नवग्रह पाधरां, जे वंका रण वीच।
—वां.दा.
उ०—२ गयराजां गुड़ ग्रहण, रहण पाखर हयराजां। पाजां छिळि दळ प्रथळ, सघण वरसाळ समाजां।—वं.भा.
मुहा०—गुड़ पाखर होणौ—कटिवद्ध होना, तैयार होना।
२ गेंद कंदुक. ३ पका कर जमाया हुआ गन्ने या ताड़ी का रस जो कतरे, बट्टी या भेली के रूप में होता है।
पर्याय०—इच्छु।
मुहा०—१ गुड़ खाणौ नै गुलगुलां सूं परहेज करणौ—बड़ी बुराई करना और छोटी बुराई से बचना। किसी कार्य का बड़ा अंश करना और छोटे से दूर रहना। किसी कम हानिकारक चीज को बचाना और ज्यादा हानिकारक को खाना. ३ गुड़ गाळणौ—किसी मांगलिक कार्य के अवसर पर बड़ा भोज करना जिसमें कोई गुड़-मिश्रित वस्तु बनी हो. ४ गुड़ गोवर करणौ—बना बनाया काम विगाड़ देना. ५ गुड़ दियां मरै तो जहर क्यूं देणौ—आसानी से काम निकलता हो तो सख्ती नहीं करना चाहिये. ६ गुड़ मायै माखियां घणी आवै—माल होगा तो चखने वाले अपने आप आ जायेंगे; कोई चीज होगी तो उसकी जरूरत वाले अपने आप पहुँचेंगे।
कहा०—१ गुड़ घालसी जितौ मीठौ हुसी—जितना गुड़ डालोगे उतना ही मीठा होगा। जितना परिश्रम करोगे उतना ही लाभ होगा। जितना खर्च करोगे वैसी ही वस्तु मिलेगी. २ गुड़ खाई जिकौ कांन वींदाई—जो गुड़ खायेगा, वही कान छिदावेगा। जो कुछ धन लेगा उसे कुछ कष्ट भी उठाना होगा (लड़कों का कान छेदते प्रायः उनके हाथ में गुड़ की डली दे दी जाती है जिससे वे उसमें भूले रहें और झट से कान छेद दिए जाँय. ३ गुड़ देतां ही छोरी हुवै जरां पछै कांई करै—गुड़ देते हुए भी लड़की हो जाय तो क्या किया जाय? अधिक परिश्रम या व्यय करने पर भी सफलता न मिलने पर. ४ गुड़ विना किसी चौथ, जैतल बिना किसौ रातीजोगौ—विना गुड़ अर्थात् मिष्ठान के चौथ आदि का त्यौहार पूर्ण नहीं होता, उसी प्रकार विना जैतल (देवी विशेष का गीत) गाये रात्रि-जागरण अधूरा होता है। जैतल देवी का महत्व-प्रदर्शन।
रू०भे०—गळ, गुळ, गोळ।
गुड़कणौ, गुड़कवौ-क्रि०अ० [अनु०] लुढ़कना।
गुड़कणहार, हारौ (हारी), गुड़कणियौ—वि०।
गुड़काड़णौ, गुड़काड़वौ, गुड़काणौ, गुड़कावौ, गुड़कावणौ, गुड़कावबौ—क्रि०स०।
गुड़िओड़ौ, गुड़ियोड़ौ, गुड़्योड़ौ—भू०का०कृ०।
गुड़कीजणौ, गुड़कीजवौ—भाव वा०।
गुड़णौ, गुड़वौ—रू०भे०।

गुंगट-सं०पु० [अनु०] घूं घूं का शब्द (अमरत) २ देखो 'घूंघट' (रू.भे.)

गुंज-सं०स्त्री० [सं० गुञ्ज] १ भौंरों के भनभनाने का शब्द, गुंजार. २ सलाह, परामर्श। उ०—१ ऊकटिया उदियापुर ऊपर, मेवाड़ा मिळिया तिण मौसर। रांण कंवर थी गुंज रचायौ, प्रगट करै कांइ देस परायौ।—रा.रू. उ०—२ अकबर तहवर खांन इम, उर निज गुंज उपाय। दळ सोनग्ग दुरग्ग रै, दीना दूत पठाय।—रा.रू. ३ घुंघची, गुंजाफल।

गुंजणौ—देखो 'गुंजा' (१)

गुंजणौ, गुंजबौ-क्रि०अ०—भौंरों का भनभनाना, मधुर ध्वनि निकालना। गुंजणहार, हारौ (हारी), गुंजणियौ—वि०। गुंजिओड़ौ, गुंजियोड़ौ, गुज्योड़ौ—भू०का०कृ०। गुंजीजणौ गुंजीजबौ—भाव वा०।

गुंजन-सं०स्त्री० [सं०] १ भौंरों के गूंजने से उत्पन्न शब्द, भनभनाहट. २ भौंरों के समान कोमल मधुर ध्वनि।

गुंजा-सं०स्त्री० [सं०] १ घुंघची नाम की लता जो जंगल में झाड़ों पर चढ़ती है और जिसकी फलियों में से अरहर के बराबर गहरे लाल रंग के दाने निकलते हैं, चिरमटी। उ०—गुंजा सूं घटतौ घणौ, मावडियां रौ मोल।—बां.दा. २ एक प्रकार का खाद्य पदार्थ विशेष।

गुंजाइस-सं०पु० [फा० गुंजाइश] १ स्थान, जगह। २ सुभीता।

गुजाड़णौ, गुजाड़बौ, गुंजाणौ, गुजाबौ-क्रि०स० ('गुंजणौ' का प्रे०रू०) गुंजाना, मधुर ध्वनि उत्पन्न कराना।

गुजामाळ-सं०स्त्री०—घुंघचियों की माला।

गुंजायमान-वि०—गूंजता हुआ, मधुर ध्वनि करता हुआ।

गुंजायस—देखो 'गुंजाइस' (रू.भे.)

गुंजार-सं०स्त्री०—१ भौंरों की गूंज, भनभनाहट। उ०—१ रचै लार गुंजार रोळंब राजी।—वं.भा. उ०—२ तीं समै वीं कवर रै ऊपर भंवरा गुंजार कर रहिया, सुगंध इतर री सारै फैल रही। —जलाल बूबना री बात [सं० गुह्यागार] २ सामानगृह, गोदाम. ३ चौड़े द्वार का एक गृह या कोठार जिसमें किसान वर्षा ऋतु में अपनी गाड़ी रखते हैं या घास-फूस भरते हैं. ४ ताकत, शक्ति। उ०—जग जाडा जूंझार, अकबर पग चांपै अधिप। गौ राखण गुंजार, पिंड में रांण प्रतापसी। —दुरसौ आढ़ौ

गुंजारणौ, गुजारबौ-क्रि०अ०—१ गरजना. २ गुनगुनाना। गुंजाणहार, हारौ (हारी), गुंजारणियौ—वि०। गुंजारिओड़ौ, गुंजारियोड़ौ गुजारचोड़ौ—भू०का०कृ०।

गुंजारव-सं०पु०—१ भौंरों के द्वारा उत्पन्न ध्वनि, गुंजार। उ०—भंवर गुंजारव करिनै रहिया छै।—रा.सा.सं. २ गर्जना। उ०—गुजारव गैमरां घुवै हव सांभळ ढोलां, जादम सूं कर जंग फवै थिर भारी बोलां।—द.दा.

गुंजावणौ, गुंजावबौ—देखो 'गुजांणौ' (रू.भे.)

गुंजाहळ-सं०पु० [सं० गुंजाफल] १ घुंघची, चिरमटी। उ०—अहर रंग रतउ हुवइ, मुख का जळ मसि व्रन्न। जांण्यउ गुंजाहळ अछइ, तेण न ढूकउ मन्न।—ढो.मा. २ घुंघची की बनी माला।

गुंजियोड़ौ-भू०का०कृ०—भनभनाया हुआ, गुंजार किया हुआ।

गुंजौ-सं०पु०—एक प्रकार की मिठाई।

गुंझ—देखो 'गुंज' (रू.भे.) उ०—दिल्ली सूं उत्तर दिसा, जमण तणै उपकंठ। ऊतरियौ मिळ आपरां, गुंझ प्रकासण गंठ।—रा.रू.

गुंठड़ौ-सं०पु० [सं० गुठि] घूंघट (अल्पा०) उ०—गुंठड़ौ तौ मोड़ नोकोटी री राव जगावियौ, जागौ-जागौ भंवर सुजांण।—लो.गी.

गुंठौ-सं पु०—एक प्रकार का नाटे कद का घोड़ा।

गुंड-सं०पु०—१ मल्हार राग का एक भेद. २ देखो 'गुंडौ'। उ०—दयाळ व्है न सरवथा व्रथा दया मया दटै, मिळै जु गुंड मुच्छ मुंड थुंड ऊटके थटै।—ऊ.का.

गुंडापण, गुडापणौ-सं०पु०—गुंडापन, शोहदापन, बदमाशी।

गुंडी-सं०स्त्री०—रस्सी या डोरे आदि में अधिक बल देने पर होने वाली ऐंठन। मुहा०—मन री गुंडी खुलणी—कपट मिटना। वि०—देखो 'गुंडौ' (स्त्री०)

गुंडौ-वि० [सं० गुंडक] (स्त्री० गुंडी) १ दुर्वृत्त, दुराचारी, बदमाश. २ मन में गांठ रखने वाला। सं०पु०—बदमाश व्यक्ति।

गुंढ़ी-सं०स्त्री० [सं० ग्रंथि] १ गांठ, ऐंठन, ग्रंथि. २ सूत के कपड़े से बना छोटा बटन घुंडी।

गुंढेल-सं०स्त्री०—काष्ठ का छोटा गुटका जो रस्सी के किनारे पर विशेष रूप से तैयार करके लगाया जाता है। वि०—देखो 'गुंडौ' (रू.भे.)

गुंणपचास-वि० [सं० ऊनपञ्चाशत, प्रा० ऊंणपंचासा] चालीस और नौ के योग के बराबर।

गुंथित-वि० [सं० ग्रंथित] गुंथा हुआ। उ०—कबरी किरि गुंथित कुसुम करंबित, जमुण फेण पावन्न जग।—वेलि.

गुंधणौ, गुंधबौ—देखो 'गूंधणौ' (रू भे.)

गुंथावणौ, गुंथावबौ—देखो 'गूंथावणौ' (रू.भे.) गुंथावणहार, हारौ (हारी), गुंथावणियौ—वि०। गुंथाविओड़ौ, गुंथावियोड़ौ, गुंथाव्योड़ौ—भू०का०कृ०।

गुंदरइ-क्रि०वि०—निकट, पास, समीप। उ०—मोटा मलिक गुंदरइ वळइ घोड़ां मरड नवां मोकळइ। चाल्यां कटक सोनिगिरि भणी, पूठइ बगनी आवइ घणी।—कां.दे.प्र.

गुंदिनौ—देखो 'गूंदी' (रू.भे.)

गुंफ—सं०पु० [सं०] १ उलझन, जाल. २ गुच्छा।

गुंबड़ौ—देखो 'गूंबड़ौ' (रू.भे.)

उ०—केसोदास लखमण वांगज सांधियौ गैणा भमर गुड़ाया ।
—केसोदास गाटण

६ कवच धारण कराना. ७ विताना ।

गुड़ाणहार, हारौ (हारी), गुड़ाणियौ—वि० ।

गुड़ायोड़ौ—भू०का०कृ० ।

गुड़ावणौ, गुड़ाववौ—रू०भे० ।

गुड़ाईजणौ, गुड़ाईजवौ—कर्म वा० ।

गुड़णौ, गुड़वौ—अक०रू० ।

गुड़ावणौ, गुड़ाववौ—देखो 'गुड़ाणौ' (रू.भे.)

गुड़ावणहार, हारौ (हारी), गुड़ावणियौ—वि० ।

गुड़ाविग्रोड़ौ, गुड़ावियोड़ौ, गुड़ाव्योड़ौ—भू०का०कृ० ।

गुड़ावीजणौ, गुड़ावीजवौ—कर्म वा० ।

गुड़णौ, गुड़वौ—अक०रू० ।

गुड़ावियोड़ौ—भू०का०कृ०—देखो 'गुड़ायोड़ौ' (स्त्री० गुड़ावियोड़ी)

गुड़ियौ—सं०पु०—कवचधारी हाथी । उ०—गुड़िया ढाहै मर्दंगगज, ताता चाल तुरंग । सांकड़भीड़ौ मुरग व्है, जिकौ कहीजै जंग ।
—वां.दा.

गुड़ियोड़ौ—भू०का०कृ०—१ लुढ़का हुआ. २ युद्ध में काम आया हुआ। (स्त्री० गुड़ियोड़ी) ३ मरा हुआ ।

गुड़ी—देखो गुडी' (रू.भे.) उ०—पहिरावणि राजा करी, ऊछव गुड़ी भोज दुवारि ।—वी.दे.

गुड़ीकेस—सं०पु० [सं० गुडाकेश] अर्जुन (ह.नां.) २ शिव ।

गुड़ीजणौ, गुड़ीजवौ—क्रि० भाव वा०—१ लुढ़का जाना. २ युद्ध में काम आया जाना ।

गुड़ीजणहार, हारौ (हारी), गुड़ीजणियौ—वि० ।

गुड़ीजिग्रोड़ौ, गुड़ीजियोड़ौ, गुड़ीज्योड़ौ—भू०का०कृ० ।

गुड़ीजियोड़ौ—भू०का०कृ०—लुढ़का गया हुआ ।

'गुड़ीजणौ' का भू०का०कृ० । (स्त्री० गुड़ीजियोड़ी)

गुड़ेरक—सं०पु०—कौर, निवाला, ग्रास ।

गुड़ेल—देखो 'गुटेल' (रू.भे.)

गुचरकौ, गुचळकियौ, गुचळकौ—सं०पु० (स्त्री० गुचळकी) १ पानी में गोता खाने की क्रिया, डुबकी । उ०—घडा पीपळा नाख नटखट, तिरणौ सीखै तोख सूं । गैला गजब गुचळकी गिटै, चतर दूर दस दोख सूं ।
—दसदेव

२ अधिक भोजन करने से डकार के साथ पेट में से आने वाला वह तरल पदार्थ जो अपच के कारण गले तक आ जाता है । कभी-कभी यह मुंह के वाहर भी आ जाता है । उ०—भोजन असमरां चाखता भुचरका, गुचरका खावता जावता गोलीह ।—मालौ सांदू

गुच्ची—सं०स्त्री०—१ भूमि में बना हुआ बहुत छोटा गड्ढा. २ वह विशेष प्रकार का छोटा गड्ढा जो बालक गोलियाँ या गुल्ली-डंडा खेलने के लिये बनाते हैं ।

गुच्छ—देखो 'गुच्छौ' (रू.भे.)

गुच्छी—देखो 'गुच्ची' (रू.भे.)

गुच्छौ—सं०पु०—१ सम्मिलित लगे हुए कई पत्तों, फलों या फूलों का गुच्छा. २ एक में लगी गुंथी या बंधी छोटी-छोटी वस्तुओं का समूह ।

गुजर—सं०पु० [फा० गुज़र] १ निर्वाह, गुजर-बसर । उ०—सो इसा-इसा वडा रजपूत आगै हुआ । एक दिन री बंदगी सू जमारे तलक की गुजर हुई ।—दूलची जोइये री वारता

२ पहुँच, पैठ. ३ कालक्षेप. ४ देखो 'गुज्जर' (रू भे.)

गुजरड़ौ—१ देखो 'गूजर' (अल्पा०) २ देखो 'गुजर' ।

गुजरणौ, गुजरवौ—क्रि०अ०—१ किसी स्थान से होकर आना या जाना, गुजरना. २ व्यतीत होना, बीतना. ३ मरना, चल बसना ।

गुजर-बसर, गुजरांण—देखो 'गुजर' (रू भे.) उ०—परेसांन था तिकां खरच पायौ । हमें थे बैठा जोखिया करौ । थांरी छाया सूं म्हे गुजरांण करस्या ।—जलाल बूबना री वात

गुजराणौ, गुजरावौ—क्रि०स०—निवेदन करना । उ०—स्री महाराज सूं अरज गुजरांणी, सब कूं सुहांणी । स्री महाराज अजमाल, सुभचिंतक की अरज का सुणीजै सवाल ।—रा रू.

गुजरात—सं०पु० [सं० गुर्जर+गोत्रा] पश्चिम में स्थित भारत का एक प्रांत ।

गुजराती—वि०—गुजरात प्रान्त का, गुजरात सबंधी ।

सं०स्त्री०—१ गुजरात की भाषा. २ छोटी इलायची. ३ ब्राह्मणों की एक जाति. ४ नटो का एक भेद विशेष जिनकी स्त्रियाँ रस्सी पर चलने या कलाबाजियाँ खाने का काम नहीं करतीं (मा.म.)

सं०पु०—५ गुजरात का निवासी. ६ निमोनिया नामक एक रोग ।

गुजारणौ, गुजारवौ—क्रि०स० [फा० गुजारना] विताना, व्यतीत करना । उ०—थांरै मांहै सीह वाजौ जैड़ी सकती नही, दीनता सूं आपरा दिन गुजारौ ।—वी.स.टी.

मुहा०—नमाज गुजारणौ—नमाज पढ़ना ।

गुजारणहार, हारौ (हारी), गुजारणियौ—वि० ।

गुजारिग्रोड़ौ, गुजारियोड़ौ, गुजारयोड़ौ—भू०का०कृ० ।

गुजारियोड़ौ—भू०का०कृ०—विताया हुआ, व्यतीत किया हुआ । (स्त्री० गुजारियोड़ी)

गुजारिस—सं०स्त्री० [फा० गुजारिश] प्रार्थना, निवेदन ।

गुजारौ—सं०पु० [फा० गुजर] १ देखो 'गुजर' (रू.भे.)

उ०—वहु मजूरी कर ल्यावै तीमें गुजारौ करै । आप वजार में महनत मजूरी करै सो दिन वुरी तरह सूं नीसरै ।
—साह रामदत्त री वारता

२ वृत्ति जो किसी को जीवन-निर्वाह के लिये दी जाय ।

गुजहिक—सं०पु० [सं० गुह्यक] देवयोनि विशेष, यक्ष ।

गुजी—सं०स्त्री० [सं० गो+दधि, प्रा० गुदही, गुज्झी] १ छाछ को अग्नि

गुड़काणौ, गुड़काबौ–लुढकाना । उ०—गाडा भरियोडा नेड़ा निजराता। गाडा गुड़काता पैंडा रुड़पाता।—ऊ.का.

गुड़काणहार, हारौ (हारी), गुड़काणियौ—वि०।

गुड़काडणौ, गुड़काड़बौ, गुड़कावणौ, गुड़कावबौ—रू०भे०।

गुड़कायोड़ौ—भू०का०कृ०।

गुड़काईजणौ, गुड़काईजबौ—कर्म वा०।

गुड़कणौ, गुणकबौ—अक०रू०।

गुड़कायोड़ौ–भू०का०कृ०—लुढवाया हुआ।
(स्त्री० गुडकायोडी)

गुड़कावणौ—देखो 'गुडकाणौ' (रू.भे)

गुडकावणहार हारौ (हारी), गुड़कावणियौ -वि०।

गुड़काडणौ, गुडकाड़बौ, गड़काणौ, गुड़काबौ—रू०भे।

गुडकाविप्रोड़ौ, गुड़काबियोड़ौ, गुड़काव्योड़ौ—भू०का०कृ०

गुड़कावीजणौ, गुड़कावीजबौ—कर्म वा०।

गुड़कणौ, गुड़कबौ—अक०रू०।

गुड़काबियोड़ौ—देखो 'गुडकायोडौ' (रू.भे.)
(स्त्री० गुडकावियोडी)

गुड़कियोड़ौ–भू०का०कृ०—लुढका हुआ (स्त्री० गुडकियोडी)

गुड़कीजणौ, गुड़कीजबौ–क्रि० भाव वा०—लुढका जाना।

गुड़कीजणहार, हारौ (हारी), गुड़कीजणियौ—वि०।

गुडकीजिप्रोड़ौ, गुड़कीजियोड़ौ, गुड़कीज्योडौ—भू०का०कृ०।

गुड़कीजियोड़ौ–भू०का०कृ०—लुढका हुआ (स्त्री० गुडकीजियोडी)

गुड़कौ–स०पु०—१ लुढकने की क्रिया या भाव. २ ध्वनि, आवाज। उ०—आहियौ आसाडाह गाजै नै गुड़कौ कियौ। बूठौ भेदाहाह, निवळी भ'य पर नागजी।—र.रा.

गुड़गांठ–सं०स्त्री०—१ एक प्रकार का बडा गोल पत्थर जो इसी नाम के एक प्रकार के खेल मे उपयोग मे लाया जाता है. २ एक प्रकार की गांठ जो कठिनता से खुल पाती है।

गुड़गुड़–स०पु० [अनु०] १ वह शब्द जो जल मे नली आदि के द्वारा वेगपूर्ण वायु के घुसने और बुलबुला उठने मे उत्पन्न होता है. २ मदाग्नि मे उदर मे होने वाला शब्द।

गुडगुडाणौ, गुड़गुडाबौ–क्रि०स०—१ गुडगुट शब्द करना। २ हुक्का पीना।

गुडगुडाहट–सं०स्त्री०—गुडगुड शब्द की ध्वनि।

गुड़गुड़ियौ–स०पु०—१ हुक्के के नीचे का जल भरने का पात्र. २ एक प्रकार का हुक्का।

गुड़गुड़ौ—१ देखो 'गुडगुड' (रू.भे.) २ देखो 'गुडगुडियौ' ? (रू.भे.)

गुड़गुड़ीलौ–वि०पु० (स्त्री० गुडगुडीली) वह लकडी जिसमें कई ग्रंथियां हो।

गुड़गुड़ौ–क्रि०वि०—मुंह या किनारे तक।
(रू०भे०–गडगड़ौ)

गुड़णौ, गुड़बौ–क्रि०अ०—१ लुढकना।
कहा०—गुडती-गुड़ती गोळ हुवै—लुढकती-लुढकती ही कोई वस्तु गोल होती है। सतत अभ्यास करने पर ही कुछ ज्ञान प्राप्त होता है या सफलता मिलती है।
२ गिरना. ३ जाना, गमन करना। उ०—जाडा धन वाळा सिंधु तट जुडिया। गाडा तन पाळा गुज्जर घर गुड़िया।—ऊ.का.
४ बजना। उ०—रिण तूर नफेरिय भेर रुडै, गहरै स्वर तांम दमांम गुड़ै।—रा.रू. ५ गड़गड शब्द होना ६ मरना, मृत्यु को प्राप्त होना। उ०—धां-धां गुड़गी खा ऊधा री घेरी, विस में जुड़गी हा दूधा री वेरी।—ऊ.का. ७ कवच धारण करना।
उ०—तेहे रांउते चालते हूंते हस्ती गुडीया। तुरी पाखरिया रथ जूता।—का.दे.प्र.
८ झूमना, झूमते हुए चलना। उ०—पदमिणि रखपाळ पाइदळ पाइक, हिळवळिया हलिया हमति। गमे-गमे मद गळित गुड़ता, गात्र गिरोवर नाग गति।—वेलि. ९ बीतना, निर्वाह होना।
गुड़णहार, हारौ (हारी), गुड़णियौ—वि०।
गुड़ाणौ, गुड़ाबौ, गुडावणौ, गुड़ावबौ—क्रि०स०।
गुड़िओड़ौ, गुडियोड़ौ, गुड़्योड़ौ—भू०का०कृ०।
गुड़ीजणौ, गुड़ीजबौ—भाव वा०।

गुड़थळ, गुड़थेलौ—देखो 'गड़थळ' (रू.भे) उ०—वीजूजळ दाव दूसरौ वीकौ, साहे आवाहे सबळ। खळ पारधी गुड़थळ खायै, दाढाळी सिरि हू कळै दळ।—नरपाळ राठौड़ री गीत

गुडद, गुड़दापेच–स०पु०—गिराने या लुढकाने की क्रिया या भाव।
उ०—लाखा बीच आए नै भूपाळ 'बिजै' मार लीधौ, गोपाळ ज्यूं कीधौ काळमेच्छ नै गुड़द।—हुकमीचंद खिड़ियौ

गुड़दौ–स०पु० [फा० गुर्दः, स० गोर्द ?] १ रीढदार जीवों के अंदर का अग जो कलेजे के निकट होता है। साधारण जीवो में रीढ़ के दोनों ओर एक-एक के हिसाब से दो गुर्दे होते है। शरीर मे इनका काम पेशाब को बाहर निकालना और खून साफ करना है. २ एक प्रकार की छोटी बंदूक. ३ कान का एक आभूषण विशेष।

गुडपाखर–वि०—सुसज्जित, कटिबद्ध २ कवच धारण किया हुआ।
उ०—गुड़पाखर पूरब गयौ, नभ औ घसते सीस। आटौ करै उडाविया, जग पट्ठाणौ सीस।—बा.दा.

गुड़फळ–सं०पु०—पीलू जाति का वृक्ष।

गुड़बाणियौ–स०पु०—चीटा (क्षेत्रीय)

गुड़मच–स०स्त्री०—एक ध्वनि विशेष।

गुड़वरण, गुड़वरणी–स०स्त्री० [स० गौरवर्ण] केसर (अ.मा.)

गुड़वाड़–स०स्त्री० [स० गुडवाट] गन्ना, ईख।

गुड़हळ, गुड़हाळ–स०पु०—एक प्रकार का वृक्ष, गुडहर।

गुड़ाणौ, गुड़ाबौ–क्रि०स० ('गुड़णौ' का स०रू०) १ लुढकाना. २ गिराना. ३ बजाना. ४ गड़गड़ शब्द करना. ५ मारना।

गुडळियोड़ो–भू०का०कृ०—गन्दला किया हुआ। (स्त्री० गुडळियोड़ी)

गुडळौ–वि० (स्त्री० गुडळी) १ गन्दला, गन्दा. २ धूलि से आच्छादित. ३ घना। उ०—चौमासे रा गुडळा वादळ, पालर वूठा पांणी।
—रेवतदांन

४ गाढ़ा। उ०—भूरी कीटी रा आसी भटका. गुडळी छाछां रा सपना में गुटका।—ऊ.का.

गुडा–सं०पु०—१ कवचधारी हाथी. २ दाख (अ.मा.)

गुडाकेस–सं०पु० [सं० गुडाकेश] १ अर्जुन। उ०—जो मंगी भंडीस ज्याग आयौ ज्यूं चंडीस जायौ। राजपत्री आयौ थंडीस व्याळ रेस। ओडंडीस असीसतौ लांगड़ौ कपीस आयौ, कोडंडीस कसीसतौ आयौ गुडाकेस।—हुकमीचंद खिड़ियौ
(रू०भे०—गुड़ाकेस)

२ शिव, महादेव।

गुडायलौ–सं०पु०—लोहे का एक गुटका जिस पर रख कर सोने व चांदी की कटोरियां बनाई जाती हैं।

गुडाळ–सं०पु०—राठौड़ वंश की एक उपशाखा।

गुडाळियां, गुडाळयां–सं०स्त्री०—घुटनों के बल चलने की क्रिया।
उ०—देख गुडाळयां हालै उण दिन, डूंगर डिगणौ चहीजै।
—रेवतदांन

गुडिया–सं०स्त्री०—कपड़े की बनी हुई पुतली जिससे लड़कियां खेला करती हैं।

गुडियांण–सं०पु०—राठौड़ों की एक उपशाखा या इस शाखा का व्यक्ति (बां.दा.ख्यात)

गुडियौ–सं०पु०—१ समाचार. २ गप्प. ३ देखो 'गुड़ियौ' (रू.भे.)

गुडी–सं०स्त्री०—१ किसी रस्सी में अधिक बल देने पर उसमें उत्पन्न होने वाली ऐंठन. २ कपट, धूर्तता, छल।
मुहा०—मन री गुडी खोलना—कपट खोलना. २ मन में गुडी होणी—कपट होना।

३ पतंग, किनका। उ०—१ सो तुरत आंण हाजर कर दियौ। साळौ सलांम कर आप लेय लियौ। असवार हुवौ सो जांणजै गुडी गुडी होवै।—कुंवरसी सांखला री वारता
उ०—२ खग धावां नह पूगे खड़तां, ले टक छोह लखाई। दीधी डोरी गुडी दो-दोखी, दारू आग दखाई।—देवाजी दधवाड़ियौ

४ ध्वजा, झंडी। उ०—नगर लोग आंण दिया, बांध्या तोरण बार। घर घर गुडी ऊछळी, जंपै जयजयकार।—ढो.मा.

५ कवच. ६ देखो 'गुडिया' (रू.भे.)

गुडेल–सं०पु०—१ बुनने के निमित्त ताने को लम्बा कर उसके छोर पर बांधा जाने वाला काष्ठ का गुटका जिसे किसी खूंटी या कील से कस कर बांधने के लिए लगाया जाता है। इस प्रकार बांधने से ताना तना हुआ रहता है. २ सूत, ऊन, चमड़े आदि की रस्सी के सिरे पर बांधा जाने वाला विशेष प्रकार से बना हुआ काष्ठ का छोटा गुटका (मि०—गुंड़ेल)

गुडौ–सं०पु०—१ रुपये रखने का थैला। उ०—कुंवरसी गुडै मांही सूं पांच मुहर काढ़ भरमल ऊपर निछरावळ करनै वडारण नूं दीवी।
—कुंवरसी सांखला री वारता

२ देखो 'गुढ़ौ' (रू.भे.)

गुड्डी—१ देखो 'गुडी' (रू.भे.) उ०—उड रह्यौ मन लाग अलंगे गुड्डी, जांण भ्रमै गयणंगे।—रा.रू. २ एक प्रकार का छोटा हुक्का.
३ लड़के के जनेऊ के अवसर पर सूचना के लिये उसके ननिहाल भेजा जाने वाला गुड़ व घी।

गुढ़ी—१ देखो 'गुढ़ौ' (अल्पा०) २ ध्वजा, पताका. ३ पतंग ('गुडी' का रू.भे.) ४ रहस्य। उ०—अंग भभूती गळे मृगछाळा, तू जन गुढ़ियां खोल।—मीरां

गुढ़ेर–सं०पु०—एक फूल का नाम (अ मा.)

गुढ़ौ–सं०पु०—१ रक्षास्थान। उ०—गुढ़ौ संभाए साहली, पहली जोई वाट। आयौ वारठ केहरी, पड़तां झाट निराट।—रा.रू.
२ वह स्थान जहाँ प्रारम्भ में मनुष्य रक्षार्थ रहते हैं और धीरे-धीरे वह गाँव के रूप में बस जाता है. ३ रहस्य।

गुढ्ढ़–सं०पु०—१ गंभीर रहस्य. २ प्रबल इच्छा। उ०—चाह न थी इण सब्द री, मंद मती सुण मुढ्ढ़। प्रौढ़ देख धारण पती, मो मन हुती सु गुढ्ढ़।—पा.प्र.

गुणंतर–वि० [सं० ऊनसप्तति, प्रा० एगूणसत्तरि, अप० उणंत्तरि] साठ और नौ की संख्या के योग के बराबर।

गुणंतरमौ–वि०—जो क्रम में अड़सठ के बाद पड़ता हो।

गुणंतरेक–वि०—उनहत्तर के लगभग।

गुणंतरौ–सं०पु०—उनहत्तरवां वर्ष।

गुण–सं०पु० [सं०] १ किसी पदार्थ आदि में पाई जाने वाली वह विशेषता जिससे वह वस्तु या पदार्थ पहिचाना या जाना जाता है। वस्तु या पदार्थ के साथ लगा हुआ भाव या धर्म।
क्रि०प्र०—आणौ. आवणौ, जांणणौ।
२ निपुणता, प्रवीणता. ३ कोई कला या विद्या।
क्रि०प्र०—जांणणौ, सीखणौ, सिखणौ।
४ असर, प्रभाव।
क्रि०प्र०—करणौ, देखणौ, पहुंचाणौ, होणौ।
यौ०—गुणकार, गुणकारक।
५ अच्छा स्वभाव, शील, सद्वृत्ति। उ०—आडा डूंगर वन घणा, आडा घणां पळास। सो साजन किम वीसरइ, बहुत गुण तणा निवास।
—ढो.मा.

कहा०—१ गुण नौ तौ वन भलौ, को गुण नौ मनख खोटौ—सद्गुण का तो वन भी भला किन्तु दुर्गुणी मनुष्य बुरा. २ गुण लारै पूजा—गुण से ही मनुष्य की पूजा होती है।
यौ०—गुणअतीत, गुणआगार, गुणग्राहक, गुणग्राही, गुणचोर, गुणवंत, गुणवांन, गुणवाचक।

पर गर्म करने के बाद पुनः ठंडा होने पर उस पर आये हुए पानी को पृथक कर देने के बाद अवशिष्ट गाढ़ा पदार्थ।
[सं० गोधूम+यव] २ वह अनाज जिसमें गेहूँ और जौ दोनों के दाने हों।
(रू.भे.-गुज्जी)

गुज्जर-संपु० [सं० गुर्जर] १ गुजरात प्रांत. २ देखो 'गूजर' (रू.भे.) ३ तीसरे विवाह की स्त्री।

गुज्जरात—देखो 'गुजरात' (रू.भे.)

गुज्जरी-संस्त्री० [सं०] १ गुर्जर जाति की स्त्री, गूजरी. २ एक रागिनी जो भैरव राग की स्त्री है (संगीत) ३ गुजरात प्रांत की स्त्री।

गुज्जी—देखो 'गुजी' (रू.भे.)

गुज्झ, गुझ-संपु० [सं० गुह्य] गुप्त भेद, रहस्य। उ०—नहीं तू गुज्झ नहीं तू ग्यांन। नहीं तू दुज्ज नहीं तू दांन।—ह.र.
वि०—गुप्त। उ०—निरंजणनाथ परम्म नृवांण, किसन्न महाघण-रूप कल्यांण। त्रवग्गुण देव अतीत संसार, विभू अति गुज्झ परम्म-विचार।—ह.र.

गुझियौ-संपु० [सं० गुह्यक] खोये की बनी एक प्रकार की मिठाई जिसके अंदर थोड़ी मिश्री अथवा इलायची और कालीमिर्च रहती है।

गुटक—देखो 'गुटकी' (रू.भे.)

गुटकणौ, गुटकबौ-क्रि०अ० [अनु०] जलकाग, कबूतर, फाख्ता आदि का मस्ती में बोलना। उ०—टीटोड़ी टहकनै रही छै, जळकाग गुटकनै रह्या छै।—रा.सा.सं.
क्रि०स०—२ निगलना, घूंट-घूंट कर पीना।

गुटकांण—देखो 'गुटकौ' (रू.भे.)

गुटकी-संस्त्री०—१ जन्मजात बच्चे को सर्वप्रथम पिलाया जाने वाला द्रव पदार्थ, जन्मघुट्टी।
क्रि०प्र०—देणी, लेणी।
२ बच्चों को उदर-शुद्धि के लिये दी जाने वाली औषधि. ३ एक बार में गले के नीचे उतरने वाला कोई द्रव पदार्थ, घूंट।
उ०—म्हांने गुर मिळिया अविनासी, दई ग्यांन की गुटकी।—मीरां

गुटकौ-संपु० [सं० गुटिका] १ काष्ठ आदि का छोटा टुकड़ा. २ गोली. ३ छोटे आकार की पुस्तक, छोटी पुस्तक. ४ एक सिद्धि जिसके अनुसार कोई सिद्ध-गुटका मुँह में रख लेने पर योगी जहाँ चाहे चला जा सकता है, उसे कोई नहीं देख सकता. ५ नीम वृक्ष के पके फल (शेखावाटी) ६ एक बार में गले के नीचे उतरने वाला कोई द्रव पदार्थ, घूंट। उ०—गुडळी छाछां रा सपना में गुटका।—ऊ.का.

गुटरगूं-संस्त्री० [अनु०] जलकाग, कबूतर, फाख्ता आदि की मस्ती में की गई आवाज।

गुटळकौ—देखो 'गटकौ' (रू.भे.)

गुटली—देखो 'गुठली' (रू.भे.)

गुटिका—देखो 'गुटकौ' (रू.भे.)

गुटियौ-संपु०—वह गोल व छोटा पत्थर जो 'गुड़ गांठ' खेल में प्रयोग किया जाता है व फेंका जाता है।

गुटकौ—देखो गुट्टौ' (रू.भे.)

गुट्ट-संपु०—१ समूह, टोली, दल। उ०—पांच पचास आदमियां रो गुट्ट हुवै जद कांम चालै।—वरसगांठ
२ शब्द, आवाज, ध्वनि।

गुट्टौ, गुट्ठौ-संपु०—नीम का फल, निंबौरी।
वि०—नाटे कद का, छोटा।

गुठली-संस्त्री० [सं० गुटिका] ऐसे फल के बीज जिसमें एक ही बड़ा और कडा बीज होता है।

गुठौ—देखो 'गुट्टौ (रू.भे.)

गुड-संपु०— हाथी का कवच (वं.भा.)
(रू०भे०-गुड़)

गुडगुडीलौ-वि०—१ धूर्त, चालाक. २ कपटी. ३ गांठोंयुक्त, गँठीला।

गुडळ—देखो 'गुडळियौ' (रू.भे.)

गुडळकियौ-वि० [सं० गोधूलि] गोधूली समय का, गोधूली समय संबंधी।

गुडळणौ, गुडळबौ-क्रि०अ०—१ (पानी) का गंदा होना.
२ धूलिमिश्रित होना। उ०—गुडळ गैणाग रिण तूर सर गड़-गड़ी। ऊभ रंग ताजियां रैण रज ऊपड़ी।—अज्ञात
३ (पानी को) गंदला होना।
गुडळणहार, हारौ (हारी), गुडळणियौ—वि०।
गुडळिओड़ौ, गुडळियोड़ौ, गुडळ्योड़ौ—भू०का०कृ०।
गुडळीजणौ, गुडळीजबौ—भाव वा०।

गुडळता-संस्त्री०—१ गंदलापन। उ०—प्रथी तै पंक कहतां कादौ दूरि हुऔ, जळ की गुडळता दूरि हुई।—वेलि. टी.
२ गाढ़ापन।

गुडळपण, गुडळपणौ-संपु०—१ गंदला किया हुआ पानी, गंदा जल.
२ गन्दला करने की क्रिया, गन्दलापन। उ०—वितए आसोज मिळै नभि बादळ, प्रथी पंक जळि गुडळपण।—वेलि.
३ गाढ़ापन।

गुडळाणौ, गुडळाबौ-क्रि०स०—१ पानी को गन्दा करना. २ धूलि मिश्रित करना।

गुडळायोड़ौ-भू०का०कृ०—गन्दा किया हुआ (पानी आदि)
(स्त्री० गुडळायोडी)

गुडळावणौ, गुडळावबौ—देखो 'गुडळाणौ' (रू.भे.)

गुडळि-संस्त्री०—अधिकता। उ०—आडंग री गुडळि मांहे ऊंडौ गाजीओ छै।—रा.सा.सं.

गुडळियौ-संपु०—पकाए हुए मांस की वह जोड़ के स्थान की हड्डी जिसे मुँह से उसके आस पास लगे मांस को तथा अन्दर के गूदे को चूसते हैं।

गुणणी, गुणबौ–क्रि०स०—१ समझना। उ०—ग्रमरसिंह रा भेजिया, कागद आया आज। सुण कर गुण लेवौ सकळ, पाछै करियौ काज।
—राजसिंह री बात

२ विचार करना, मनन करना। उ०—बात बडा चित ना धरै, सुण छोटां रा बोल। अरथ तणी वातां गुणै, हृदय तराजू तोल।
—ठाकुर जैतसिंह री वारता

कहा०—भणिया पण गुणिया नहीं—पढ़ाई अवश्य करली किन्तु उस पर मनन नहीं किया।

३ गुणा करना. ४ वर्णन करना। उ०—वासिठ विसवामित्र कौ, हेत कळह सुत हांणि। सकळ गुणांणा सुभ असुभ, सत्यानंद सुगांण।
—रांमरासौ

५ बोलना। उ०—अचांणी गुणतां गेरी गूंज, सरण ज्यूं आवै भोळी लाज। होठ री ओट हियो कह जाय, वायरिया धीमौ मुवरौ वाज।—सांझ

६ गुनगुनाहट करना।

गुणणहार, हारौ (हारी), गुणणियौ—वि०।

गुणिग्रोड़ौ, गुणियोड़ौ, गुणयोड़ौ—भू०का०कृ०।

गुणती, गुणतीस–वि० [सं० ऊनत्रिंशत्, प्रा० अउणतीस, अप० उणतीस] बीस और नौ के योग के बराबर।

सं०पु०—उनतीस की संख्या, २९।

गुणतीसमौ–वि०—जो क्रम में अठाइस के बाद पड़ता हो।

गुणतीसेक–वि०—उनतीस के लगभग।

गुणतीसौ–सं०पु०—उनतीसवां वर्ष।

गुणत्रीस—देखो 'गुणतीस' (रू.भे.)

गुणद–वि०—गुणदायक, गुणकारी।

गुणदा–सं०स्त्री०—हल्दी (अ.मा.)

वि०स्त्री०—गुणकारी।

गुणधारी–सं०पु०—गुणों को धारण करने वाली, गुणधारी।

गुणन–सं०पु० [सं०] गुणा।

गुणनफळ–सं०पु० [सं० गुणनफल] वह अंक या संख्या जो एक अंक को दूसरे अंक के साथ गुणा करने से आती हो।

गुणनिधांन–सं०पु०—एक प्रकार का घोड़ा (शा.हो.)

वि०—गुणवान, सर्वगुणसम्पन्न।

गुणनिधि–वि०—१ विद्वान, पंडित. २ गुणवान।

सं०पु०—ईश्वर। उ०—आरंभ म्हैं कियौ जेणि पायौ, गावण गुणनिधि हूं निगुण।—वेलि.

गुणनेउमौ–वि०—जो क्रम में अट्ठासी के बाद पड़ता हो।

गुणनेऊ–वि०—अस्सी और नौ के योग के बराबर।

सं०पु०—नवासी की संख्या, ८९।

गुणनेवौ–सं०पु०—८९ वां वर्ष।

गुणपचास—देखो 'गुणचास' (रू.भे.)

गुणपचासमौ—देखो 'गुणचासमौ' (रू.भे.)

गुणपचासेक—देखो 'गुणचासेक' (रू.भे.)

गुणपचासौ—देखो 'गुणचासौ' (रू.भे.)

गुणपत, गुणपति, गुणपत्त–सं०पु० [सं० गणपति] गणेश। उ०—गुणपति गुणे गहीरं, गुणग्राहग दांनगुण दिग्रणं। सिधि रिधि सुबुधि सधीरं, सुंडाळा देव सुप्रसनं।—वचनिका

गुणमांणिक–सं०पु०—एक प्रकार का घोड़ा (शा.हो.)

गुणमोती–सं०पु०—१ एक प्रकार का घोड़ा (शा.हो.) २ एक प्रकार का बढ़िया मोती।

गुणयल–सं०पु० [सं० गुणिकल, प्रा० गुणियल] चंदा, चंद्रमा (नां.मा.)

गुणरंजणौ–वि०—१ गुणों से उत्पन्न होने वाला. २ गुणग्राहक।

गुणरासि–सं०पु०—चंद्रमा (नां.मा.)

गुणरूप–सं०पु०—एक प्रकार का घोड़ा (शा.हो.)

गुणवंत–वि० [सं०] (स्त्री० गुणवंती) १ गुणयुक्त, गुणवान।

उ०—१ अवळी सवळी नै सवळी उर आंणै, गोरी गुणवंती गोरी गुण जांणै।—ऊ.का. उ०—२ इसड़ी वा कन्या छै सु काठ भखण करै छै, सरवण छै, गुणवंती छै।

२ विद्वान, पंडित। —पंचदंडी री वारता

गुणवणौ, गुणववौ–क्रि०स०—विचार करना, मनन करना॰।

गुणवती—देखो 'गुणवंत' का स्त्री० (रू.भे.)

गुणवरदांन–सं०पु०—गणेश, गजानन (ह नां.)

गुणवांन–वि०—१ गुणयुक्त, गुणवंत। उ०—नीतिवांन गुणवांन समय सुजांन जांन, गुण के निधांन सूर सुरिंद्र स्वदेस के।—ऊ.का.

२ पंडित, विद्वान।

गुणवाचक–सं०पु०यौ०—गुणों को प्रकट करने वाला, गुणों की प्रशंसा करने वाला।

गुणवाद–सं०पु० [सं०] मीमांसा के अर्थवाद का एक भेद। यह प्रायः तीन प्रकार का होता है—गुणवाद, अनुवाद और भूतार्थवाद।

गुणवेलड़ी–सं०स्त्री०—गुणलता, गुणसंपन्न। उ०—वाही थी गुणवेलड़ी, वाही थी रसवेलि। पीणइ पीवी मारवी चाल्या सूती मेलि।—ढो.मा.

गुणसठ—देखो 'गुणसाठ' (रू.भे.)

गुणसठमौ—देखो 'गुणसाठमौ' (रू.भे.)

गुणसठौ—देखो 'गुणसाठौ' (रू.भे.)

गुणसमौ–सं०पु०—एक प्रकार का घोड़ा।

गुणसांण–वि०—गुणवान, श्रेष्ठ, गुणज्ञ।

गुणसागर–वि०—गुणों का समुद्र, गुणवान, गुणनिधि। उ०—वांणी अवरळ सुध वचन, गुणसागर वडगात। ढोलौ पूगळ आवतां, पंथ मिळै कवि पात।—ढो.मा.

सं०पु०—एक प्रकार का घोड़ा।

गुणसाठ–वि० [सं० ऊनषष्ठि, प्रा० एगूणसट्ठ, अप० अउणट्ठि] पचास और नौ के योग के बराबर।

६ विशेषता, खासियत, लक्षण. ७ एहसान।

मुहा०—गुण मांनणौ—कृतज्ञ होना।
यौ०—गुणचोर।

८ तीन की संख्या॰ (डिं.को.) ९ सांख्य के अनुसार सत्व, रज और तम—तीन गुण. १० रस्सी, डोर, तागा। उ०—कुमकुमै मंजण करि धोत वसत धरि, चिहुरै जळ लागौ चुवण। छीएँ जांणि छ्छोहा छूटा, गुण मोती मखतूळ गुण।—वेलि.

११ धनुष की प्रत्यञ्चा। उ०—कप्पड़ जीण कमांण गुण, भीजइ सव हथियार।—ढो.मा. १२ यश, कीर्ति। उ०—१ मन दुख दाया डोल मत, साधा जग तज साव। मांनव भव मीता मिटण, गुण सीतावर गाव।—र.ज.प्र. उ०—२ तेरो जलम-जलम गुण गास्यूं, सूवा म्हारौ भंवर दिखा दे रे।—लो.गी.

मुहा०—गुण गावणौ—यश गाना, प्रशंसा करना।

१३ डिंगल साहित्य का गीत या छंद। उ०—सुज प्रहास सांणोर रै, दस मत अरघ सिवाय। मेल दोय पूरव उतर, चोटियाळ गुण चाय।
—र.ज.प्र.

१४ मित्र (अ.मा.) १५ काव्य, कविता। उ०—१ चाहुवांण सोभौ हीमालावत मुगळ प्रेम गाय मारी तिण ऊपर मारियौ तिण साख री गुण—छायल फूल विछाय वीसमतौ वरजांगदै, गैंमर गोरी राय तिण आमास अड़ावियो।—नैणसी उ०—२ कवि वेदव्यास वलमीक कवि, करि अस्तुति वंदण कियौ। सूरज प्रकास सूरज जिसौ, 'अभमल' गुण आरंभियौ।—सू०प्र०

सं०स्त्री०—दासी, सेविका (अ.मा.)

वि०—१ अति तीक्ष्ण. २ बड़ा, गुरु।

गुणअंकुस—सं०पु०—एक प्रकार का घोड़ा (शा.हो.)

गुणअतीत—वि०—गुणों से रहित, गुणों से परे, निर्गुण।
सं०पु०—परब्रह्म, परमेश्वर।

गुणअसी—देखो 'गुणियासी'।

गुणआकर—सं०पु०—इंद्रिय (अ मा.)

गुणआगर, गुणआगळौ—सं०पु०—एक प्रकार का घोड़ा (शा.हो.)
वि०—गुणों का घर।

गुणक—सं०पु० [सं०] वह अंक जिससे किसी अंक को गुणा किया जाता है।

गुणकर—वि०—गुणकारी, लाभकारी।

गुणकारी—सं०स्त्री० [सं०] एक रागिनी जो किसी के मत से भैरव राग की और किसी के मत से हिंडोल राग की भार्या मानी जाती है (संगीत)
वि०—लाभप्रद, फायदेमंद।

गुणकार—सं०पु०—१ पाकशास्त्र का ज्ञाता. २ भीमसेन।
वि०—लाभप्रद। उ०—औगण मेटणहार, अमोलख ओखद इणमें। गूंद घणौ गुणकार, अव्यय सक्ति है जिणमें।—दसदेव
(स्त्री० गुणकारी)

गुणकारक, गुणकारी—वि० [सं०] फायदा करने वाला, लाभदायक।

गुणगाथ—१ यशगाथा, कीर्ति-स्तवन। उ०—मूरख कूं पोथी दिवी, वांचण कूं गुणगाथ। जैसे निरमळ आरसी, दी आंधे के हाथ।
२ प्रशंसा। —अज्ञात
अल्पा०—गुणगाथड़ी

गुणगाळ—वि०—गुणों को मिटाने या नाश करने वाला, कृतघ्न

गुणगुण, गुणगुणाहट—सं०पु० [अनु०] मन ही मन गुनगुनाने का भाव, गुनगुनाहट।

गुणगुणाणौ, गुणगुणावौ—क्रि०स०—१ हल्के स्वर से अपने आप ही मन में गुनगुनाना. २ नाक में बोलना।

गुणगुणायोड़ौ—भू०का०कृ०—गुनगुनाया हुआ। (स्त्री० गुणगुणायोड़ी)

गुणगुणावणौ, गुणगुणाववौ—देखो 'गुणगुणाणौ' (रू.भे.)

गुणग्य गुणग्याता—वि० [सं० गुणज्ञ, गुणज्ञाता] गुण को जानने वाला, गुणज्ञाता।

गुणग्यांन—सं०पु०—इन्द्रिय (अ.मा.)

गुणग्राम—वि० [सं० गुणग्राम] १ विद्वान, गुणसम्पन्न (अ.मा.)
२ चतुर।

गुणग्राहक, गुणग्राही—सं०पु० [सं० गुणग्राहक, गुणग्राहिन्] गुणियों का आदर करने वाला व्यक्ति, कदरदान मनुष्य।
वि०—गुणियों का आदर करने वाला, गुण की खोज करने वाला।
उ०—१ गुणग्राहक गिरनारपत, चूडा राव खंगार। एक परब आधौ अरब, दे तूं हिज दातार।—वां.दा. उ०—२ गुणग्राही गोविंद गुण गावां, भजि भजि रांम परम पद पावां।—ह्.पु.वा.

गुणचाळी, गुणचाळीस—वि० [सं० ऊनचत्वारिंशत्, प्रा० अउणचत्तालीसा] तीस और नौ के योग के बराबर।
स०पु०—उनचालीस की संख्या।

गुणचाळीसमौ—वि०—जो क्रम में अड़तीस के बाद पड़ता हो।

गुणचाळीसे'क—वि०—उनचालीस के लगभग।

गुणचाळीसौ, गुणचाळौ—सं०पु०—उनचालीसवां वर्ष।

गुणचास—वि० [सं० ऊनपंचाशत] चालीस और नौ के योग के बराबर।
सं०पु० [प्रा० ऊनपचा, एगूणपण्णास] उनपचास की सख्या, ४९।

गुणचासमौ—वि०—जो क्रम में अड़तालीस के बाद पड़ता हो।

गुणचासे'क—वि०—उनचास के लगभग।

गुणचासौ—सं०पु०—उनपचासवां वर्ष।

गुणचोर—वि०—किये हुए उपकार को न मानने वाला, कृतघ्न।
उ०—चुगल वधक गुरु सेजगत, चोर कृपण गुणचोर, कुण घटतौ वधतौ कवण, एकण गिर रा मोर।—वां.दा.

गुणजोड़ौ—स०पु०—१ कविता बनाने वाला, कवि. २ कीर्ति-गान करने वाला।

गुणणी—सं०स्त्री० [सं० गुणनी] पाठशाला में छात्रों द्वारा सामूहिक रूप से छुट्टी के समय बोली जाने वाली गिनती। उ०—विद्यारथियां रै मुख गुणणी (नी) गुणीजण लागी।—र. हमीर

गुणीभूत व्यंग्य–सं०पु०—काव्य में वह व्यंग्य जो प्रधान न हो वरन वाच्यार्थ के साथ गौण रूप में आया हो।

गुणीयण—देखो 'गुणिजण' (रू.भे.) उ०—गुणीयण कहणौ गुरु लघु पहली तरह पढ़ंत।—र.ज.प्र.

गुणीस—देखो 'उगणीस' (रू.भे.)
[सं० गुण+ईश] कवि, महाकवि। उ०—धनेस देवेस दुजेस ध्यावै, गुणीस राघौ नित क्यूं न गावै।—र.ज.प्र.

गुणेस, गुणेसर–सं०पु० [सं० गणेश, गणेश्वर] गणेश, गजानन।
उ०—उअंकार अनाहत अक्खर, सिद्धि वृद्धि दे सारद गुणेसर।
—रा.ज.सी.

गुणेस्वर–सं०पु० [सं० गणेश्वर] १ तीनों गुणों पर प्रभुत्व रखने वाला, ईश्वर, परमेश्वर. २ चित्रकूट पर्वत. ३ देखो 'गणेसर' (रू.भे.)

गुणोपेत–वि० [सं०] जिसमें गुण हों, गुणवान, गुणयुक्त।

गुणौ–सं०पु० [सं० गुणन] १ गणित की एक क्रिया।
वि०वि०—इस क्रिया के अनुसार एक अंक पर दूसरे अंक का इस प्रकार से प्रयोग किया जाता है कि जिससे उनका फल उतना ही आवे जितना पहिले अंक को उतनी ही बार रख कर अलग जोड़ने से आवे।
क्रि०प्र०—करणौ।
[फा० गुनाह] २ गुनाह, दोष। उ०—बगसै तनै गुणौ इण वारै, चित अयणी जो विरद विचारै।—र.रू.
प्रत्यय—एक प्रत्यय जो केवल संख्यावाचक शब्दों के अंत में लगता है, ज्यूं—दुगुणौ, तिगुणौ आदि।

गुण्य–सं०पु० [सं०] वह अंक जिसको गुणक से गुणा किया जाता है।

गुत्थमगुत्थ–सं०पु०—१ दो या अधिक वस्तुओं का इस प्रकार परस्पर मिलना या गुंथना कि दोनों के कई अंग कई ओर से आकर लिपट गए हों, उलझाव, फँसाव. २ हाथापाई, लड़ाई।

गुत्थी–सं०स्त्री० [सं० ग्रंथि] १ वह गाँठ जो कई वस्तुओं के एक में गुंथने से बन जाती हो. २ उलझन।

गुथणौ, गुथबौ–क्रि०अ०—१ एक का दूसरे के साथ लड़ने के लिए खूब लिपट जाना. २ उलझना।
गुथणहार, हारौ (हारी), गुथणियौ—वि०।
गुथवाणौ, गुथवावौ, गुथाणौ, गुथावौ—प्रे०रू०।
गुथिग्रोड़ौ, गुथियोड़ौ, गुथ्योड़ौ—भू०का०कृ०।
गुथीजणौ, गुथीजबौ—भाव वा०।

गुथाणौ, गुथावौ–क्रि०स० (गूथणौ व गूथणौ का प्रे०रू०) १ उलझाना गुँथवाना. २ गूँथने का कार्य दूसरे से कराना।
गुथाणहार, हारौ (हारी), गुथाणियौ—वि०।
गुथाग्रोड़ौ, गुथायोड़ौ—भू०का०कृ०।
गुथावणौ, गुथावबौ—रू०भे०।
गुथाईजणौ, गुथाईजबौ—कर्म वा०।

गुथायोड़ौ–भू०का०कृ०—उलझाया हुआ, गुँथवाया हुआ।
(स्त्री० गुथायोड़ी)

गुथावणौ, गुथावबौ—देखो 'गुथाणौ' (रू.भे.)
गुथावणहार, हारौ (हारी), गुथावणियौ—वि०।
गुथाविग्रोड़ौ, गुथावियोड़ौ, गुथाव्योड़ौ—भू०का०कृ०।
गुथावीजणौ, गुथावीजबौ—कर्म वा०।

गुथावियोड़ौ—देखो 'गुथायोड़ौ' (रू.भे.)
(स्त्री० गुथावियोड़ी)

गुथियोड़ौ–भू०का०कृ०—गुथा हुआ, उलझा हुआ।
(स्त्री० गुथियोड़ी)

गुद–सं०स्त्री० [सं०] १ गुदा, मलद्वार. [रा०] देखो 'गुद्दी' (रू.भे.)

गुदगुदाणौ, गुदगुदावौ–क्रि०स०—१ काँख, तलुवे, पेट या शरीर के किसी कोमल, मांसल भाग पर अंगुली आदि के स्पर्श द्वारा सुरसुराहट या गुदगुदी उत्पन्न करना. २ मन बहलाव या विनोद के लिए छेड़ना।

गुदगुदी–सं०स्त्री० [सं० गुद् क्रीडायाम्] १ काँख, तलुवे, पेट या शरीर के किसी कोमल व मांसल भाग पर अंगुली आदि के स्पर्श से उत्पन्न होने वाली मीठी खुजली, सुरसुराहट. २ उत्कंठा, शौक।

गुदड़ियौ–सं०पु०—१ गुदड़ी पहिनने या ओढ़ने वाला. २ फटे पुराने कपड़े आदि बेचने वाला. ३ खेमा, फर्श, बिछावन, दरी आदि किराए पर देने वाला. ४ गुदड़िया संप्रदाय का साधु।

गुदड़ी–सं०स्त्री० [सं० गुध = परिवेष्टने] १ फटे-पुराने कपड़ों की कई तहों को एक में जुटा या सी कर बनाया हुआ बिछावन या ओढ़ने का वस्त्र। उ०—ऐ तोकस तकिया थारै, थारी बरोबरि म्हे करां, स कोई फाटी गुदड़ी म्हारै।—लो.गी.
२ कपड़े के फटे पुराने टुकड़ों को जोड़ कर बनाया हुआ कपड़ा, कंथा। उ०—सुत परताप घणां भर सारां इळा उजीण दुकांन। काया अमर गूदड़ी कीधी, जगपत गोरखनाथ जिम।
—महाराणा अमरसिंह रौ गीत
३ देखो 'गुद्दी' (अल्पा०)

गुदड़ौ—१ देखो 'गुदड़ी' (रू.भे.) २ एक प्रकार का घोड़ा।

गुदभ्रंस–सं०पु० [सं० गुदभ्रंश] गुदाद्वार से कांच निकलने का एक रोग।

गुदरणौ, गुदरबौ—देखो 'गुजरणौ' (रू.भे.) उ०—दिन पांच-छः गुदरिया ताहरां एक दिन दोपहर री वरियां खीमौ रिगसतौ रिगसतौ आयौ।—चौबोली

गुदरांण, गुदरांन—देखो 'गुजरांण' (रू.भे.) उ०—इणांरै माहोमाहे रा एका बिगर इळाज नहीं छै नै प्रकृति इणरी विरुद्ध छै जिणां बीच में रीत चाहीजे तिणसूं मांहोमाहे गुदरांण करै। किणां ऊपर अन्याय नी होय।—नी.प्र.

गुदराणौ, गुदरावौ–क्रि०स० [फा० गुजरान+रा० प्र० णौ] १ पेश करना, सामने रखना, उपस्थित करना। उ०—१ अमरावां हजूरियां

कांमदारां सागिरदपेसे सगळां आंण मुजरौ कियौ। घोड़ा, हाथी, हवालदारां आंण नजर गुदराया ।—डाढ़ाळा सूर री वात

उ०—२ अरज अजीत हूंत गुदराई, सळक गयौ जैसिंघ सवाई ।
—रा.रू.

२ निवेदन करना । उ०—ओठिए आंणि राजांन सूं मुजरा गुदराया छै ।—रा.सा.सं. ३ हाल कहना ।

गुदरायोड़ौ—भू०का०कृ०—१ पेश किया हुआ, सामने रक्खा हुआ. २ निवेदन किया हुआ. ३ हाल कहा हुआ ।
(स्त्री० गुदरायोड़ी)

गुदरावणौ—देखो 'गुदराणौ' (रू.भे.)

गुदरियोड़ौ—देखो 'गुजरियोड़ौ' (रू.भे.) (स्त्री० गुदरियोड़ी)

गुदरी—देखो 'गुदड़ी' (रू.भे.) उ०—मिट आग तप मिट जाय, साकंप सीत सवाय । द्रढ़ पोत खेवट दांम, सट धरो गुदरी तांम ।
—रा.रू.

गुदळणौ, गुदळबौ—देखो 'गुडळणौ' (रू.भे) उ०—चिळकै सोने रा चीलरिया, वंबगी वा रूपाळी पाळ । कूंपलो किण री दुळियौ आज, गुदळती घणअसमांनी ढाळ ।—सांझ

गुदळाणौ गुदळाबौ, गुदळावणौ, गुदळाववौ—देखो गुडळाणौ' (रू.भे.)

गुदळियोड़ौ—देखो 'गुडळियोड़ौ' (स्त्री० गुदळियोड़ी)

गुदळियौ—वि०—१ धूलि से आच्छादित. २ गंदा, धूलभरा ।
उ०—१ गुदळियौ जळगार, जीव न धापै जेठवा ।
उ०—२ गुदळियौ तोड़ गगजळ, सांकळियौ तोड़ सीह ।
—कहवार सरवहिया री वात

गुदळौ—वि०—देखो 'गुडळौ' (रू.भे.) उ०—दूघ(ए) पकाऊं गुदळी खीर, धौळिया जी ओ थ म्हांरै आयजो धरमी पांवणा ।—लो.गी.

गुदवावणौ, गुदवाववौ—देखो 'गुदाणौ' (रू.भे.)

गुदहळक—सं०स्त्री० [सं० गोधूलिक] गोधूलि, गोधूलिक ।
उ०—इम करतां गुदहळक वेळा हुई । तारै कोहर ऊपर पधारिया ।
—ढो.मा.

गुदा—सं०स्त्री० [सं०] मलद्वार ।

गुदाणौ, गुदाबौ—क्रि०स० ('गुदणौ' का प्रे०रू०) १ गोदने की क्रिया कराना. २ चुभाना ।
गुदाणहार, हारौ (हारी), गुदाणियौ—वि० ।
गुदाड़णौ, गुदाड़बौ, गुदावणौ, गुदावबौ—रू०भे० ।
गुदायोड़ौ—भू०का०कृ० ।
गुदाईजणौ, गुदाईजबौ—कर्म वा० ।

गदायोड़ौ—भू०का०कृ०—गोदने की क्रिया कराया हुआ ।
(स्त्री० गुदायोड़ी)

गुदाळ—सं०पु०—मांस-पिंड (गो.रू.)

गुदाळक—वि०—मांसाहारी, मांसपिंड खाने वाला । उ०—गुदाळक जै पंखाळ गजै, विकराळ वंवाळ भ्रंवाळ वजै ।—गो.रू.

गुदावणौ, गुदाववौ—देखो 'गुदाणौ' (रू.भे.)

गुदावियोड़ौ—देखो 'गुदायोड़ौ' (रू.भे.)

गुदियारौ—सं०पु०—एक प्रकार की घास ।

गुदी—सं०स्त्री०—१ पशुओं के चरने के वाद वचा हुआ घास-फूस का महीन अवशिष्ट भाग. २ देखो 'गुद्दी' (रू.भे.)

गुदीजणौ, गुदीजबौ—क्रि० भाव वा०—गूदा जाना, चुभा जाना ।
गुदीजणहार, हारौ (हारी), गुदीजणियौ—वि० ।
गुदीजिओड़ौ, गुदीजियोड़ौ, गुदीज्योड़ौ—भू०का०कृ० ।
गुदणौ—अक० रू० ।

गुद्दी, गुद्धी—सं स्त्री०—१ गूदा, सार, तत्व. २ गर्दन का पिछला भाग।
मुहा०—१ आंखियां गुद्दी में होणी—देख कर काम न करना, मूर्ख होना. २ गुद्दी नापणी—सिर के पीछे थप्पड़ मारना. ३ गांड-गुद्दी एक करणी—मार-मार कर अधमरा करना ।
३ गर्दन के पिछले भाग के बाल. ४ हथेली का मांसल भाग ।
अल्पा०—गुदड़ी, गुदड़ौ ।

गुधळकियौ—वि०—गोधूलि समय संबंधी, गोधूलि समय का ।

गुधळणौ—देखो 'गुडळणौ' (रू.भे.) उ०—नित गुधळावण नीर, कुंभी सम अकवर क्रमै । गोहिल रांण गंभीर, पण गुधळै न प्रतापसी ।
—दुरसौ आढ़ौ

गुधळाणौ, गुधळावौ, गुधळावणौ, गुधळाववौ—देखो 'गुडळाणौ' (रू.भे.)

गुधळावियोड़ौ—देखो 'गुडळावियोड़ौ' (रू.भे.)

गुधळिक—देखो 'गोधलूक' (रू.भे.)

गुधळौ—देखो 'गुडळौ' (रू.भे.)

गुनकली—सं०स्त्री०—एक राग विशेष ।

गुनगुनौ—वि० [सं० कदुष्ण, प्रा० कउण्ह] आधा गरम या कुछ हल्का गरम (पानी), कुनकुना ।
(रू०भे०—कुणकुणौ)

गुनहगार—वि० [फा०] १ अपराधी, दोषी. २ पापी ।
(रू०भे०—गुनागार, गुनाहगार, गुनैगार, गुन्हगार, गुन्हैगार ।

गुनहगारी, गुनहरी—सं०स्त्री० [फा०] १ दोष, अपराध, गुनाह ।
२ किसी अपराध या दोष के लिए प्राप्त किया जाने वाला दंड ।
उ०—सो तू मन मनाय अर गुनहरी पेसकस देय इतरा वरसां रो परगना री हिसाव देय ।—ठाकुर जैतसी री वारता
रू०भे०—गुनागारी, गुनाहगारी, गुनैगारी, गुन्हगारी, गुन्हैगारी ।

गुनागार—देखो 'गुनहगार' (रू.भे.) उ०—हूं थां कन्है थां प्रभू कन्है गुनागार छौ ।—नी.प्र.

गुनागारी—देखो 'गुनहगारी' (रू.भे.)

गुनाढ्य—देखो 'गुणाढ्य' (रू.भे.) उ०—गुमड़ै गरिमादिक ग्यांन गुनाढ्य, रुड़ रुड़ रंक ध्यांन धनाढ्य ।—ऊ.का.

गुनाळी—सं०स्त्री०—यश, प्रशंसा, गुण । उ०—गुनाळी गाऊं मैं पुनि न पिछताऊं पथ परूं । कुपथ्यादि काटूं धरम पथ धाटूं गय धरूं ।
—ऊ.का.

गुनाह–सं०पु० [फा०] १ अपराध, दोष. २ पाप।
क्रि०प्र०—करणौ, होणौ।
(रू०भे०—गुना, गुनौ, गुन्हौ)

गुनाहगार—देखो 'गुनहगार' (रू०भे०) उ०—तौ कही उवा छै के जिणसूं बेगुनह उणसूं निडर रहै अर गुनाहगार डरता रहै।
—नी.प्र.

गुनाहगारी –देखो 'गुनहगारी' (रू.भे.) उ०—१ नै जावणौ दरवेसां री बंदगी दरगाह बादसाहां री में गुनाहगारी छै।—नी.प्र.
उ०—२ जिकौ सगळौ मलूकायौ उहां हिसाब दे दिराय राजी किया, गुनहगारी आप लीवी और सारै परगने रै सिर हवालौ ठहरायौ।—ठाकुर जैतसी री वारता

गुनाही–सं०पु० [फा०] अपराधी, दोषी, कसूरवार।

गुनूं—देखो 'गुनाह' (रू.भे.) उ०—सुणू हरिरांम गुनूं किय साफ, महाप्रभु मांगत आगत माफ।—ऊ.का.

गुनेगारी—देखो 'गुनहगारी' (रू.भे.) उ०—गुनेगारी भारी बकस हितकारी मम गुणौ।—ऊ.का.

गुनैगार—देखो 'गुनहगार' (रू.भे.)

गुनैगारी—देखो 'गुनहगारी' (रू.भे.)

गुनौ—देखो 'गुनाह' (रू.भे.) उ०—थे भी तौ थांरै भायलां-भपेलां में बैठ'र दुख-सुख री वातां किया करौ हौ। पछै ऐ पाड़ोसण कनै गया परा तौ कांई गुनौ करियौ?—वरसगांठ

गुन्नी—देखो 'गुणणी' (रू.भे.)

गुन्हगार—देखो 'गुनहगार' (रू.भे.)

गुन्हगारी—देखो 'गुनहगारी' (रू भे.) उ०—देवीदास कह्यौ—अन्न तौ दरसण करनै जीमसूं। साह कह्यौ—सवारै गुन्हगारी भेळी चाढ़ज्यौ, परण आज तौ जरूरी कांम छै।—पलक दरियाव री वात

गुन्हैगार—देखो 'गुनहगार' (रू.भे.) उ०—अमरसिंह गजसिंह के, करी अचळ राठौड़। कांन वाढ़ वूचौ कियौ, गुन्हैगार छै गौड।
—अमरसिंह री वात

गुन्हैगारी—देखो 'गुनहगारी' (रू.भे.)

गुन्हौ—देखो 'गुनाह' (रू.भे.) उ०—ताहरां किवाड़ रो सेरियां हाथ घात कैवण लागी, महाराज पइसो लीजो, म्हांमें तकसीर पड़ी, मों'ड़ी आयो गुन्हौ माफ कीजो।—पलक दरियाव री वात

गुपचुप–क्रि०वि०—गुप्त रूप से, छुपा कर, चुपचाप।
सं०स्त्री०—गुप्तगू, गुपचुप की बात।

गुपत–वि० [सं० गुप्त] छुपा हुआ, गूढ़, पोशीदा (अ.मा.)
उ०—मावड़िया अंग मोलिया, नाजुक अंग निराट। गुपत रहै ऊमर गर्म, खाय न निज वळ खाट।—बां.दा.
सं०पु०—१ एक प्राचीन राजवंश जिसने पहले मगध देश में राज्य स्थापित करके सारे उत्तरीय भारत में अपना राज्य फैलाया. २ एक प्रकार का शस्त्र जो ऊपर से केवल छड़ी के समान दिखता है किन्तु अन्दर किर्च लगी रहती है। (रू०भे०—गुप्त)

गुपतअंग–सं०पु० [सं० गुप्तांग] १ कछुआ, कमठ (अ.मा.) २ गुप्त अंग।

गुपतकासी–सं०स्त्री० [सं० गुप्तकाशी] हरिद्वार एवं बद्रीनाथ के मध्य स्थित एक तीर्थ।
(रू०भे०—गुप्तकासी)

गुपतचर–सं०पु० [सं० गुप्तचर] किसी बात का चुपचाप भेद लेने वाला, भेदिया, जासूस।
(रू०भे०—गुप्तचर)

गुपतदांन–सं०पु० [सं० गुप्तदान] वह दान जिसे देने वाले के सिवाय और कोई व्यक्ति दानदाता का नाम न जान सके।
उ०—हकीम सिकंदर नूं कहै गुपतदांन दै, असमांन सूं आवै जिका आफत गुपतदांन रा पुण्य प्रभावात मिटै।—बां.दा. ख्यात
कहा०—गुपतदांन महा पुन—गुप्तदान बड़ा पुण्य-कार्य है। गुप्त रीति से कार्य धीरे-धीरे करते रहने से सिद्धि प्राप्त होती है।
रू०भे०—गुप्तदांन।

गुपतमार–सं०स्त्री० [सं० गुप्त+मार] १ ऐसा प्रहार जिससे शरीर पर न तो कोई चिन्ह पड़े और न खून आदि निकले परन्तु शरीर के किसी भीतरी भाग में चोट पहुँचे. २ ऐसा अनिष्ट जो बहुत छिपा कर किया जाय। (रू०भे०—गुप्तमार)।

गुपता–सं०स्त्री० [सं० गुप्ता] १ वह नायिका जो सुरति छिपाने का उद्योग करती है. २ रखैल स्त्री।
रू०भे०—गुप्ता।

गुपतिपंचअंग–सं०पु०यौ० [सं० गुप्ताङ्ग+पंचांग] कछुआ (ह.नां.)

गुपती, गुपत्तिय, गुपत्ती—देखो 'गुपत' (३) उ०—१ गुपत्तिय खंजर धूप कटार।—ला.रा. उ०—२ गुपत्ती कत्ती संगि गद्दा गुरज्जं।
—वचनिका
क्रि०वि०—छिपे रूप में। उ०—कातिग मांसा जण(ह) चलाई। कोरौ कागळ गुपती लीखाई।—वी.दे.
(रू०भे०—गुप्ती)

गुप्तगंगा–सं०स्त्री०—एक पौराणिक नदी।

गुप्त—देखो 'गुपत' (रू.भे.)

गुप्तकासी—देखो 'गुपतकासी' (रू भे)

गुप्तचर—देखो 'गुपतचर' (रू.भे)

गुप्तदांन—देखो 'गुपतदांन' (रू.भे.)

गुप्तमार—देखो 'गुपतमार' (रू. .)

गुप्ता—देखो 'गुपता' (रू.भे.)

गुप्ती—देखो 'गुपती' (रू.भे.)

गुप्फा—देखो 'गुफा' (रू.भे.)

गुप्फागुद्ध, गुफागुध्ध—देखो 'गुपफागुव्व' (रू.भे.)

गुफा–सं०स्त्री० [सं० गुहा] वह गहरा अंधकारयुक्त गड्ढा जो जमीन या पहाड़ के नीचे बहुत दूर तक चला गया हो।
पर्याय०—कंदरा, खोह, गुद, दरी।

(रू०भे०—गुहा)

गुप्तगू—सं०स्त्री० [फा०] १ बातचीत, वार्तालाप. २ गुप्त मन्त्रणा।

गुप्फागुध्ध—क्रि०वि०—१ दृढ़ आलिंगनपूर्वक। उ०—दूजै पोहरे रयण कै, मिळियत गुप्फागुध्ध। धण पाळी पिव पाखरची, विहू भला भड़ जुध्ध।—ढो.मा.

२ गुत्थमगुत्था।

गुबार—सं०पु० [अ०] १ गर्द, धूल. २ मन में दबाया हुआ क्रोध, दुख, द्वेष आदि।

गुब्बारौ—सं०पु०—१ गरम हवा या हवा से हल्की कोई गैस भर कर आकाश में उड़ाने की एक प्रकार की थैली अथवा इसके आकार की कोई अन्य वस्तु. २ इसी प्रकार का बना कागज का गुब्बारा। इसके नीचे जलता हुआ तेल से भीगा कपड़ा बांध देते हैं जिसके गरम धुयें से गुब्बारा उड़ने लगता है।

क्रि०प्र०—उडणौ, उडाणौ, छूटणौ, छोडणौ।

३ भेद, रहस्य।

गुम—सं०पु०—१ गर्व, घमंड. २ पता, ज्ञान। उ०—ताहरां डवी देखि सुजांण कह्यौ—बात सांची। डवी री गुम कुंवरजी विना दूजै नै पण कोयनी।—पलक दरियाव री बात

वि०—१ गुप्त, अप्रकट, छिपा हुआ. २ अप्रसिद्ध. ३ खोया हुआ।

क्रि०प्र०—करणौ, जाणौ, होणौ।

यौ०—गुमनांम, गुमराह।

गुमड़ौ—सं०पु०—ग्रंथि, फोड़ा।

गुमटी—सं०स्त्री० [फा० गुंबद] १ इमारत के ऊपरी भाग में सीढ़ी या कमरों आदि की छत जो शेष भाग से अधिक ऊपर उठी हुई होती है। गुंबज. २ श्मशान भूमि में बनवाया जाने वाला स्मारक स्थान।

गुमनांम—वि० [फा० गुमनाम] अप्रसिद्ध, अज्ञात।

गुमनांम रौ खत—सं०पु०—वह ऋण-पत्र जिसमें ऋणदाता का नाम न लिखा हो।

गुमर—सं०पु०—१ अभिमान, घमंड (अ.मा.) उ०—१ अभंग कमंध तणौ गुमर उतारियौ, चमर बांध धारियौ गुमर चूंडा।

—रावत जसवंत रौ गीत

उ०—२ और रजपूतपण रौ गुमर जिकां रै हिया में असर ही नहीं।—वी.स. टी.

२ मन में छिपाया हुआ क्रोध या दोष. ३ धीरे-धीरे की बातचीत, कानाफूसी।

गुमराह—वि० [फा०] १ कुपथगामी, बुरे मार्ग पर चलने वाला, नीति-पथ से हटा हुआ. २ भटका हुआ।

गुमराही—सं०स्त्री० [फा०] १ भूल, भ्रम. २ कुपथ, कुमार्ग।

गुमसुम—वि०—अवाक, स्तब्ध। उ०—थोड़ी ताळ तांई तौ वै गुमसुम ऊभा रहिया, पछै हथाळी में सीप रा बटण ले'र बोल्या।

—वांणी विजयदांन देथौ

गुमांन—सं०पु०—गर्व, अभिमान।

गुमांनगंजण—सं०पु०- -एक प्रकार का घोड़ा (शा.हो.)

गुमांनराव—सं०पु०—एक प्रकार का घोड़ा (शा.हो.)

गुमांनसार—स०पु०—एक प्रकार का घोड़ा (शा.हो.)

गुमांनी—वि० (स्त्री० गुमांनण) १ अभिमानी, घमंडी, अहंकारी।

उ०—१ हूं अबळा री जात, जूण नार री जोयलै। पग में बेड़ी घात, गयौ गुमांनी जेठवौ। उ०—२ मन मुसकाय खेत के मांहीं, बोल्यौ मोटी वांनी। चंगी चाल चाह कर चूक्यौ, गढ़ नहं सज्यौ गुमांनी।—ऊ.का.

२ एक प्रकार का घोड़ा (शा.हो.)

गुमाणौ, गुमाबौ—क्रि०स०—गुम करना, खोना, गायब करना।

गुमाणहार, हारौ (हारी), गुमाणियौ—वि०।

गुमाड़णौ, गुमाड़बौ, गुमावणौ, गुमावबौ—रू०भे०।

गुमायोड़ौ—भू०का०कृ०।

गुमाईजणौ, गुमाईजबौ—कर्म वा०।

गुमणौ—अक० रू०।

गुमायोड़ौ—भू०का०कृ०—गुम किया हुआ, खोया हुआ।

(स्त्री० गुमायोड़ी)

गुमावणौ, गुमावबौ—देखो 'गुमाणौ' (रू.भे.)

गुमावणहार, हारौ (हारी), गुमावणियौ—वि०।

गुमाविओड़ौ, गुमावियोड़ौ, गुमाव्योड़ौ—भू०का०कृ०।

गुमावीजणौ, गुमावीजबौ—कर्म वा०।

गुमणौ—अक० रू०।

गुमावियोड़ौ—देखो 'गुमायोड़ौ'। (स्त्री० गुमावियोड़ी)

गुमास्तागीरी—सं०स्त्री०यौ० [फा०] गुमाश्ते का कार्य, गुमाश्ते का पद।

गुमास्तौ—सं०पु० [फा० गुमाश्ता] किसी व्यापारी आदि की पेढ़ी पर हिसाब लिखने या क्रय-विक्रय के लिए नियुक्त किया गया कर्मचारी, मुनीम। उ०—तांहरै अर्जपाळ साह कांम गुमास्ता नैं सौंपि बेटा देवीदास नै साथ लेय घरै जीमण नै गयौ।—पलक दरियाव री बात

गुमी—सं०स्त्री०—एक प्रकार की वीणा (अ.मा.)

गुमेज—सं०पु०—गर्व, अभिमान। उ०—१ नाभि उंडाळी खीण कटि, चल मिरगा नैणी। विधना रूप गुमेज, सवारी पैं'ल सैलांणी।

—मेघ.

उ०—२ वीरा ऊभी ओरिया रै बा'र, देवरजी मूमा बोलिया। भावज करती वीरा रौ गुमेज, वीरौ बत्तीसी ले गयौ।

—लो.गी.

क्रि०प्र०—करणौ, खंडणौ, राखणौ, होणौ।

गुम्मज—देखो 'गुंबज' (रू.भे.)

गुम्मत—देखो 'गम्मत' (रू.भे.)

गुम्मर—देखो 'गुमर' (रू.भे.) उ०—१ धीरा-धीरा ठाकुरां, गुम्मर कियां म जाह। महंगा देसी झूंपड़ा, जै घरि होसी नाह।—हा.झा.

उ०—२ गौ अजमेर मियां तज गुम्मर, आयौ दुरंग पजावे ऊपर।
—रा.रू.

गुरंड-सं०पु०—अंग्रेज। उ०—हिंदू गुरंड खगां हूचकिया, वहिया वाहण मूझ विचाळ।—दुरगादत्त बारहठ

गुर—देखो 'गुरु' (रू.भे.) उ०—१ गढ़ तूं जिसौ सिंघ राधां गुर। गढ़ सिरखौ रिव तौ यह गात।—द.दा. उ०—२ खत्री गुर वासिया मोलि महूंगा खरा। अरि घड़ा भांजिसी भीच जसवंत रा।
—हा.झा.

गुरगम, गुरगमि-सं०स्त्री०यौ०—१ गुरु-शिक्षा, उपदेश।
उ०—मेर मरजाद रणजीत आखाड़मल, खेर दीधा डसण जबर खेटे। पुखत गुरगम मिळी सेन पख पांकियौ, भरतपुर फेर नह उसर भेटे।—बां.दा.
२ तत्वज्ञान। उ०—जन हरिदास उदबुद कथा, परम गति गुरगमि लहिए। घर बन गिरि तर कंदरा, रांम राखै तहां रहिए।—ह.पु.वा.

गुरगळ-सं०पु०—एक पक्षी विशेष।

गुरगावी-सं०स्त्री०—एक प्रकार का जूता, मुड्डा जूता। उ०—पातसाह री हजूर अमराव मंमूसाह मीर गाभरू, सु हरम री खुटक नैं गुरगाव्यां पगां उवांणा सो तीजे भाई नूं आपड़ियौ थौ सु आ घणी वात छै।
—नैणसी

गुरड़—देखो 'गरुड़' (रू.भे.) उ०—जसवंत गुरड़ न उड्डही, ताळी अजड़ तणेह।—हा.झा.

गुरड़गाह-सं०पु०—एक प्रकार का घोड़ा (शा.हो.)

गुरड़धज—देखो 'गरुड़ध्वज' (ह.नां.)

गुरड़पंख-सं०पु०—एक प्रकार का घोड़ा (शा.हो.)

गुरड़ासण, गुरड़ासन-सं०पु०—१ गरुड़ पर सवारी करने वाला—ईश्वर, विष्णु (अ.मा., नां.मा.) २ देखो 'गरुड़ासन' (रू.भे.)

गुरड़ेस-सं०पु०—गरुड़।

गुरड़ौ-सं०पु०—१ गुरु. २ गुरु जाति का ब्राह्मण जो चमारों आदि के विवाह-संस्कार आदि कार्य सम्पन्न कराता हो. २ घोड़े का एक प्रकार का विशेष रंग अथवा इस रंग का घोड़ा।

गुरज-सं०पु० [फा० गुर्ज़] १ गदा, सोटा (अ.मा.) उ०—हाथ में सोना री गुरज हुती सौ प्रोहितजी रा माथामें दीवी नै कह्यौ—तुम्हारै सीरायंत मारवम हुवौ तौ वीर माहाराज रै वळै कोय नहीं?
—रीसालू री वात

२ एक प्रकार की गदा जिसे मुसलमान अपनी भाषा में प्रायः गुर्ज कहा करते थे। यह इस्पात की बनी अत्यधिक भारी होती है और इसके ऊपरी भाग पर आठ अर्द्धचंद्राकार पत्तियां लगी होती हैं जिन पर तेज धार होती है। पत्तियों के मिलने वाले स्थान पर मुंगरी (मोगरा) लगी होती है। इसके नीचे के भाग पर सुंदर दस्ता या मूठ बनी होती है. ३ कोट या शहरपनाह (प्राचीर) की दीवार का वह स्थान जो कुछ गोलाकार उभरा हुआ होता है, बुर्ज।

गुरजखांप-सं०स्त्री०—एक प्रकार का रंदा।

गुरजणकुत्तौ-सं०पु० (स्त्री० गुरजणकुत्ती) एक जाति विशेष का कुत्ता।

गुरजदार, गुरजबरदार-सं०पु०—१ गदाधारी. २ बादशाह व राजा का व्यक्तिगत सेवक। उ०—अत मिळतां आदर अरब, करै कमंध विण-पार। सेव खड़ा गिणदेव सम, गुरजदार पड़दार।—रा.रू.
३ हाथ में डंडा या गुर्ज नामक शस्त्र रखने वाला सिपाही।
उ०—राव फील चराही न देवै और पण लाजमा रा सवाल जवाब न करै तो बादसाह फुरमाई—फील चराई लेवौ तद गुरजबरदार मेलियौ सो आंण कही।—अमरसिंह गजसिंहोत री वात

गुरजमार-सं०पु०—एक प्रकार के मुसलमान फकीर जो लोहे का गुर्ज साथ लिये फिरते हैं।

गुरजर-सं०पु० [सं० गुर्जर] १ गुजरात. २ एक जाति या इस जाति का व्यक्ति।

गुरजरी-सं०स्त्री० [सं० गुर्जरी] १ गुजरात देश की स्त्री. २ गुर्जर जाति की स्त्री, गूजरी. ३ भैरव राग की स्त्री (संगीत)

गुरज री टोडी-सं०स्त्री०—संपूर्ण जाति का एक राग (संगीत)

गुरजी-वि० [फा० गुर्ज] जाजिया नामक देश का एक कुत्ता।

गुरज्ज—देखो 'गुरज' (रू.भे.) उ०—अवण तहवर ऊपरै, किर कोपै जगदीस। पर्वं भुरज्जां वज्र पर, पड़ी गुरज्जां सीस।—रा.रू.

गुरडि—देखो 'गरुड़' (रू.भे.) उ०—गुरडि चडी हरी आव्या अनी, आवी सकति सिंह-वाहिनी।—कां.दे.प्र.

गुरडी-सं०स्त्री०—१ रस्सी की ऐंठन।
क्रि०प्र०—पड़णौ, लागणौ।
२ कपट।
मुहा०—मन री गुरडी मेटणी—मन में कपट न रखना।

गुरडु—देखो 'गरुड़' (रू.भे.)

गुरणी—१ देखो 'गुराणी' (रू.भे.) २ गुरु-पत्नी।

गुरदवारौ-सं०पु० [सं० गुरुद्वारा] १ गुरु का निवास-स्थान. २ सिक्खों का देवालय।

गुरभाई-सं०पु०—दो या दो से अधिक वे पुरुष जो एक ही गुरु के शिष्य रह चुके हों, गुरुभाई।

गुरमुख—देखो 'गुरुमुख' (रू.भे.)

गुरमुखी—देखो 'गुरुमुखी'।

गुरराणौ, गुररावौ-क्रि०अ० (अनु०) [सं० घुर] क्रोधवश गले से भारी आवाज निकालना, क्रोध या अभिमान के कारण भारी और कर्कश स्वर में बोलना, गुर्राना।

गुररायोड़ौ-भू०का०कृ०—गुर्राया हुआ (स्त्री० गुररायोड़ी)

गुरवादित्य-सं०पु० [सं० गुर्वादित्य] सूर्य और बृहस्पति का एक राशि पर गमन (अशुभ)

गुरवार—देखो 'गुरुवार' (रू.भे.) उ०—मास मिगसर वार गुर, बीज उजाळी पाख।—रा.रू.

गुरसा–सं०स्त्री०—श्यामा चिड़िया ।

गुरांजणी–सं०स्त्री० [सं० गड्डुग्रंजनी] आँख की पलक पर होने वाली फुन्सी ।

गुरांणी–सं०स्त्री०—१ गुरुपत्नी, गुरु की स्त्री. २ स्त्री-शिक्षक, शिक्षिका ।

गुरांसा–सं०पु०—१ गुरु के लिये सम्मानसूचक शब्द ।

२ जैन यति ।

कहा०—आप गुरांसा वैंगण खावैं दूजां नैं परमोद सुणावैं—गुरुजी स्वयं तो बैंगन खाते हैं और दूसरों को उसे न खाने का उपदेश देते हैं; जिस बात पर स्वयं आचरण न करते हों उस बात पर दूसरों को आचरण करने की शिक्षा देने पर; कथनी व करनी में अंतर होने पर ।

गुराड़, गुराड़ौ–सं०पु०—अंग्रेज, गोरा । उ०—गंज गाडां जंबूरां जंजाळां दागी गोम गाज, दळां आडा अच्छरां अच्छरां लागी दीठ । जाडा थंडां ऊपरैं जोसेल आग जागी जठैं, रोसेल **गुराड़ां** हाडां वागी खागां रीठ ।—दुरगादत्त बारहठ

गुराब, गुराबा–सं०स्त्री०—१ छोटी तोप । उ०—**गुराबां** अटक तट ऊतरैं विकट गत, साहीपुर दुरंग थट अघट समाज ।

—रणसिंह सीसोदिया रौ गीत

२ घोड़े, ऊँट आदि से खींची जाने वाली तोप ।

गुरिज–सं०पु० [सं० गुरूर्ज] १ हाथी. २ एक प्रकार का शस्त्र, गदा ।

गुरु–सं०पु० [सं०] १ आचार्य, शिक्षक, उपदेशक । उ०—**गुरु** गेहि गयौ गुरु चूक जांणि, गुरु नांम लियौ दम घोख नर ।—वेलि.

कहा०—१ गुरु खनैं तौ ग्यांन हीज लाधै—गुरु के पास तो ज्ञान ही प्राप्त होता है. २ गुरु तौ गुड़ रैं'ग्या और चेला सक्कर हुं'ग्या—गुरु तो गुड़ ही रहे और चेले शक्कर हो गये; शिष्य गुरु से भी आगे बढ़ गये. ३ गुरु बिना किसौ ग्यांन—गुरु के अभाव में ज्ञान कैसा अर्थात् ज्ञान तो गुरु से ही प्राप्त होता है.

४ घर रा तौ घट्टी चाटैं नैं गुरां नैं आटौ भावैं—घर के तो सब चक्की चाट रहे हैं और गुरुजी को आटे की इच्छा हो रही है। किसी व्यक्ति से सामर्थ्य से अधिक मांग करने पर ।

(रू०भे०–गरु, गरू, गुर, गुरू)

यौ०—गुरुकुंडळी, गुरुकुळ, गुरुघंटाळ, गुरुदक्षिणा, गुरुदत्त, गुरुदुवारौ, गुरुभाई, गुरुमंतर ।

२ देवताओं का आचार्य, बृहस्पति (अ.मा.) ३ बृहस्पति ग्रह । उ०—तैंतिळ सोळह साठि भला कवि **गुरु** न अस्त भणि ।—वं.भा.

यौ०—गुरुवार ।

४ ग्रह (नां.मा.) ५ दो मात्राओं का अक्षर ऽ (छंदशास्त्र)

६ अपने-अपने गृह्य सूत्र के अनुसार यज्ञोपवीत आदि संस्कार कराने वाला जो कि गायत्री मंत्र का उपदेष्टा होता है. ७ वह साधन, प्रणाली या क्रिया जिसके प्रयोग करते ही कार्य तुरंत हल हो जाय, मूल-मन्त्र, सार. ८ ब्रह्मा. ९ विष्णु. १० शिव. ११ माता-पिता । उ०—**गुरु** गेहि गयौ, गुरु चूक जांणि । गुरु नांम लियौ, दमघोख नर ।

—वेलि.

१२ एक ब्राह्मण जाति जो चमारों आदि के यहाँ विवाह कार्यादि कराती है अथवा इस जाति का व्यक्ति. १३ तीन की संख्या* ।

वि०—१ भारी, वजनी । उ०—केवड़ा कुसुम कुंद तणा केतकी, स्रीय सीकर निरझर स्रवति । ग्रहियौ कंधैं गंध भार **गुरु**, गंधवाह तिणि मंदगति ।—वेलि. २ लम्बेचौड़े आकार वाला, दीर्घाकार. ३ श्रेष्ठ, शिरोमणि. ४ महान, बड़ा ।

(रू०भे०–गुर)

गुरु कुंडळी–सं०स्त्री० [सं० गुरुकुंडली] फलित ज्योतिष में एक चक्र जिसके द्वारा जन्म नक्षत्र के अनुसार एक-एक वर्ष के अधिपति ग्रह का निश्चय किया जाता है ।

गुरुकुळ–सं०पु० [सं० गुरुकुल] गुरु, आचार्य या शिक्षक के रहने का वह स्थान जहाँ वह विद्यार्थियों को अपने साथ रख कर शिक्षा देता है ।

गुरुगंधरव–सं०पु० [सं० गुरुगंधर्व] इंद्रजाल के ६ भेदों में से एक (संगीत)

गुरुगम–सं०पु०यौ० [सं० गुरु+गम = ज्ञान] गुरु द्वारा प्राप्त ज्ञान, गुरु से समझा हुआ रहस्य । उ०—प्रीत घीन मेंदी पीठी तंत रो तेल चढ़ायौ, समझ तलवार हाथ में लीन्ही **गुरगम** ढोल घुरायौ ।

—ऊ.का.

गुरुघंटाळ–वि०—१ महान धूर्त. २ निपट मूर्ख ।

गुरुघ्न–सं०पु० [सं०] गुरु-हत्या करने वाला, गुरु-हत्या का अपराधी ।

गुरुच–सं०स्त्री० [सं० गुडूची] गिलोय ।

गुरुजन–सं०पु०यौ० [सं०] बड़े लोग, माता-पिता, आचार्य आदि ।

गुरुडियउ–सं०पु०—रंग विशेष का घोड़ा (रा.ज.सी.)

गुरुता, गुरुताई–सं०स्त्री० [सं०] १ गुरुत्व, भारीपन. २ महत्व, बड़प्पन. ३ गुरु होने का भाव ।

गुरुदक्षिण, गुरुदखणा, गुरुदखिणा, गुरुदछणा–सं०स्त्री०—विद्या पढ़ने के पश्चात गुरु को दी जाने वाली दक्षिणा ।

गुरुदत्त–सं०पु०—दत्तात्रेय । उ०—नमौ अवधूत उदार अलक्ख, नमौ **गुरुदत्त** गियांन गोरक्ख ।—ह.र.

वि०—१ गुरु का दिया हुआ. २ गुरु को दिया हुआ ।

गुरुदवार, गरुदवारौ–सं०पु० [सं० गुरुद्वारा] देखो 'गुरदवारौ' ।

गुरुदैवत–सं०पु० [सं०] पुष्य नक्षत्र ।

गुरुद्वारौ—देखो 'गुरदवारौ' ।

गुरुपुस्य–सं०पु० [सं० गुरुपुष्य] बृहस्पति के दिन पुष्यनक्षत्र के पड़ने का योग ।

गुरुपूनम–सं०पु०यौ० [सं० गुरुपूर्णिमा] आषाढ़ मास के शुक्ल पक्ष की पूर्णिमा । इस दिन गुरु का पूजन किया जाता है। व्यासपूर्णिमा ।

गुरुबला–सं०स्त्री० [सं०] संकीर्ण राग का एक भेद (संगीत)

गुरुभ–सं०पु० [सं०] १ पुष्य नक्षत्र. २ मीन राशि. ३ धन राशि ।

गुरभाई—देखो 'गुरभाई'।

गुरमंतर–सं०पु० [सं० गुरुमंत्र] १ गुरु द्वारा दी जाने वाली शिक्षा।
क्रि०प्र०—देणौ, फूंकणौ।
२ गुरु का शिष्य को दीक्षित करने का कार्य।

गुरमुख–वि०—कंठस्थ, जैसे गुरु से ज्ञान प्राप्त हो ठीक वैसा ही किया गया याद या कंठस्थ।

गुरमुखी–सं०स्त्री०—१ गुरु नानक की चलाई हुई एक लिपि जो आजकल पंजाबी भाषा की लिपि है. २ इस लिपि में लिखी जाने वाली भाषा, पंजाबी. ३ देखो 'गुरमुख' (रू.भे.)

गुरवार, गुरवासर–सं०पु० [सं०] सप्ताह के सात दिनों में से एक, वृहस्पतिवार। उ०—संवत सत्तर छिनुग्रो पुणां दस वरस पटंतर। तिथि उतिम सातिम वार उतिम गुरुवासर।—ल.पि.

गुरसंथा–सं०स्त्री०—गुरु द्वारा दी जाने वाली शिक्षा व दीक्षा।

गुरड़ौ—देखो 'गुरड़ौ' (रू.भे.)

गुरू—देखो 'गुरु' (रू.भे.)

गुरूप–सं०पु० [अं० ग्रुप] दल, झुंड, समूह।

गुलंवर–सं०पु०—द्वार पर त्रिभुजाकार बना हुआ आंतरिक ताखा।

गुल–सं०पु० [फा०] १ गुलाब का पुष्प।
२ मनुष्य या पशु के शरीर पर गर्म की हुई धातु आदि के दागने से अंकित होने वाला चिन्ह, दाग।
क्रि०प्र०—दागणौ, देणौ।
मुहा०—गुल खाणौ—अपने शरीर पर गरम धातु से दगवाना।
३ पुष्प, फूल (अ.मा.) उ०—लाजाळू गुल चिमन में, खग कुळ मांहि वकोट। मावड़िया मिनखां मही, यां तीनां में खोट।—बां.दा.
मुहा०—१ गुल खिलणौ—विचित्र वात होना, अनहोनी बात सामने आना, हलचल होना, झंझट होना. २ गुल खिलाणौ—विचित्र घटना उपस्थित करना, ऐसी बात उपस्थित करना जिसका अनुमान पहले से ही लोगों को न हो, बखेड़ा खड़ा करना, उपद्रव मचाना।
यौ०—गुलजार, गुलदस्तौ, गुलदान।
४ दीपक आदि में वत्ती का वह अंश जो बिल्कुल जल जाता है।
क्रि०प्र०—कतरणौ, काटणौ, पड़णौ।
मुहा०—(दियौ) गुल करणौ—(चिराग) बुझाना।
यौ०—गुलगीर।
५ चिलम पीने के बाद बच रहने वाला तम्बाकू का जला हुआ अंश.
६ किसी चीज पर बना हुआ भिन्न रंग का कोई गोल निशान।
क्रि०प्र०—पड़णौ।

गुळ–सं०पु० [सं० गुड़] गुड़। देखो 'गुड़' (रू.भे.) उ०—दाता धन जेतौ दियै, जस तेतौ घर पीठ। जेतौ गुळ लै थाळियां, तेतौ जीमण मीठ।—बां.दा.
मुहा०—१ कुलड़ी में गुळ गाळणौ—गुप्त रीति से कोई कार्य करना, छिपे-छिपे कोई सलाह करना. २ गुळ ढळियां घी आंगळियां—एक-एक डली कर के गुड़ और अंगुली-अंगुली कर के घी चट समाप्त हो जाता है; नित्य की थोड़े-थोड़े व्यय से बड़ी राशि भी समाप्त हो जाती है. ३ गुळ-खळ एकण भाव—अच्छे-बुरे अथवा योग्य-अयोग्य सब को एक समान समझना. ४ गुळ तौ इंधारै में ही मीठौ—गुड़ तो अंधेरे में भी मीठा ही लगता है; उपयुक्त वस्तु सब जगह ही ठीक होती है।
कहा०—१ गुळ नहीं गुळवांणी नहीं, गुळ सूं मीठी जीभ ही नहीं—गुड़ एवं गुड़ का पकवान तो दूर रहा, मुंह से मीठे वचन भी नहीं बोल सकते ? भलाई या सहायता करना तो दूर, मीठी बोली बोलने से भी परहेज करने पर. २ गुळ लारै तमाखू बळै—गुड़ के साथ तम्बाकू भी जलती है; सामूहिक भोज में जहां भोजन में अधिक व्यय होता है वहां साथ में छोटे-मोटे अन्य खर्च भी करने पड़ते हैं।

गुलअनार–सं०पु०यौ०—एक प्रकार का पुष्प विशेष (रा.सा.सं.)

गुलअब्बास–सं०पु० [फा० गुल+अ० अब्बास] वर्षा ऋतु का एक पौधा जिसमें लाल या पीले रंग के फूल निकलते हैं।

गुलअब्बासी–वि०—गुल अब्बास के पुष्प के रंग का, हल्के नीले रंग की झांईयुक्त चमकते लाल रंग का।

गुलअसरफी–सं०पु० [फा० गुलअशर्फी] एक प्रकार के पीले रंग का फूल।

गुळकंद–सं०पु० [फा०गुल+सं० कंद] ठंडी तासीर की एक मीठी औषधि जो चीनी या मिश्री के रस में अमलतास या गुलाब के फूल की पंखुरियों को मिला कर धूप की गर्मी में पकाई जाती है।

गुलक—देखो 'गोलक' (रू.भे.)

गुलकागड़ी–सं०स्त्री०—एक प्रकार की बकरी विशेष जिसके शरीर पर सफेद, लाल और श्याम रंग के धब्बे होते हैं।

गुळकारस–सं०पु०—मोती (ह.नां.)

गुळकारस उदभव–सं०पु०—१ हीरा. २ मोती (ह.नां.)

गुलक्यारी–सं०स्त्री०यौ० [फा० गुल+सं० केदारिका] फूलों की क्यारी।

गुळगचियौ—देखो 'गुळगुचियौ' (रू.भे.)

गुलगली–सं०पु०—१ एक प्रकार का घोड़ा (शा.हो.) २ एक प्रकार का व्यंजन।

गुळगांठ–सं०स्त्री० [सं० घटित+ग्रथि] ऐसी गांठ जो घुल जाती है और आसानी से नहीं खुल सकती।

गुलगीर–सं०पु० [फा०] चिराग का गुल काटने की कैंची, वत्ती काटने की कैंची।

गुळगुचियौ–सं०पु०—१ प्राकृतिक रूप से बना हुआ छोटा चिकना गोल पत्थर या ऐसे पत्थर का टुकड़ा। उ०—धूजता हाथां सूं पेटी ऊंधी करनै सगळी चीजां दरी माथै विखेर दी—सिगरेटां रा चिळकता जळपू, भांत-भांत री छापां, भांत-भांत रा गुळगुचिया, काच रा केई टुकड़ा।—वांगी, विजयदांन देथौ
२ एक प्रकार का फैलने वाला कंटीला पौधा जिसके बीज कंकड़ के

समान कठोर व चिकने होते हैं. ३ देखो 'गुळगचियौ' (रू.भे.)

गुलगुली—देखो 'गिलगिली' (रू.भे.)

गुलगुलौ—सं०पु०—गुड़ के रस में खमीर, आटा या मैदा मिला घोल बना कर उबलते हुए घी या तैल में निकाले हुए छोटे-छोटे गोल पकोड़े। मीठा पकौड़ा।

गुलचसम—सं०पु०—एक प्रकार का घोड़ा।

गुळचियौ—सं०पु०—पानी में डूबते समय खाई जाने वाली डुबकी, गोता।

गुळचोसन—सं०पु०—एक प्रकार का घोडा (शा.हो.)

गुळछररा—सं०पु०—वह भोग-विलास या ऐश जो बहुत स्वच्छंदतापूर्वक और अनुचित रीति से किया जाय। उ०—खसखसिया छांण'र मंडळी मस्त हो'र गुळछररा उडावण लागी।—वरसगांठ

गुलजार—सं०पु०—बाग, उद्यान, वाटिका।

वि०—१ हरा-भरा. २ आनन्द और शोभायुक्त. ३ चहल-पहल से परिपूर्ण।

गुलजारू—सं०पु०—फूल, पुष्प। उ०—गुलजारू की पंकत रोसी सरसावै, तिसकूं देखिये नंदन वन सहसा लखावै।—र.रू.

गुलतुररौ—सं०पु०—एक प्रकार का घोड़ा (शा.हो)

गुलदस्तौ—सं०पु० [फा० गुलदस्त:] १ विशेप प्रकार से बँधा हुआ कई प्रकार के सुन्दर फूलों एवं पत्तियों का समूह, गुच्छा. २ एक प्रकार का घोड़ा जिसका अगला बायां पैर गांठ तक सफेद हो और दाहिने पैर का रंग पिछले दोनों पैरों के रंग के समान रंग का हो (शा.हो.)

गुलदांन—सं०पु० [फा० गुलदान] गुलदस्ता रखने का पात्र।

गुलदाउद—सं०पु०—एक प्रकार का रंग विशेष का घोड़ा (शा.हो.)

गुलदाउदी—सं०स्त्री० [फा०] १ एक प्रकार का छोटा पौधा जिसकी लम्बी कटावदार पत्तियों में भी उसके फूल की भाँति हल्की भीनी खुशबू होती है. २ इस पौधे का फूल। ३ देखो 'गुलदाउद'

गुलदार, गुलदारौ—सं०पु० [फा० गुलदार] १ एक रंग विशेष का घोड़ा (रा.सा.सं.)

२ एक प्रकार का सफेद कबूतर।

गुलदुपहरिया—सं०पु०—एक प्रकार का पौधा जो लगभग ४-५ फुट ऊँचा होता है।

गुलनरगस, गुलनरगिस—सं०स्त्री०यौ० [फा० गुलनरगिस] एक प्रकार की लता, वल्लरी। उ०—वौ बादसाह नोसेरवां जिण घर रै आंगण में गुलनरगस होतौ उठै आपरी स्त्री सूं भोग विलास न करतौ। —नी.प्र.

गुलनार—सं०पु० [फा०] १ अनार का फूल। (रू०भे०—गुलअनार)

२ गहरा लाल रंग।

गुलफानूस—सं०पु० [फा०] केवल शोभा के लिये लगाया जाने वाला एक प्रकार का बड़ा वृक्ष।

गुलब—देखो 'गुलाब' (रू भे.)

गुलबदन—सं०पु०—एक प्रकार का बहुमूल्य रेशमी कपड़ा जो प्राय: लहरियेदार या धारीदार होता है (रा.सा.सं.)

गुलबिदांम—सं०पु०—एक प्रकार का घोड़ा (शा.हो.)

गुलमंड—सं०पु०—एक पौधा तथा उसका फूल (अ.मा.)

गुलम—सं०पु० [सं० गुल्म] १ वह पौधा जो एक जड़ से कई होकर निकले तथा जिसमें कड़ी लकड़ी तथा डंठल न हो।

उ०—१ बन थाहर नाहर वसै, बाहर थाट बिडार। तरवर गलम समीर विण, न को नमावणहार।—बां.दा.

उ०—२ मावट पोवट मध्य, गुलम गण कूंपळ काढ़ै। नेसावरिया डाग, घणेरा घुरड़ै वाढ़ै।—दसदेव

२ सोने चांदी के आभूपणों पर की जाने वाली खुदाई का नाम विशेष. ३ आभूपणों पर खुदाई करने का एक औजार विशेप।

गुळमट, गुळमटियौ—सं०पु०—घुटने मोड़ कर छाती के पास समेट कर सोने का ढंग।

वि०—गोलाकार, वृत्ताकार।

गुलमवाय—सं०स्त्री०—घोड़े का एक रोग विशेष जिसके कारण घोड़े के समस्त शरीर में ग्रंथियां होती हैं (शा. हो.)

गुलमेहदी—स०स्त्री०—१ एक प्रकार का पौधा जो आश्विन मास में फूलता है. २ इस पौधे का फूल।

गुलरंगदार—वि०—गुलाब के फूल के रंग का। उ०—चत्रवर बजार चित्र कांम चार। दुतिवंत वेलि गुलरंगदार।—सू.प्र.

गुलर—देखो 'गूलर' (रू.भे.)

गुळराब—सं०स्त्री०—सिके हुए आटे को गुड़ में मिला कर पानी में उबाल कर बनाया हुआ मीठा पेय पदार्थ (मि० 'गळवांणी')

गुलरि—देखो 'गूलर' (रू.भे.)

गुलरियौ—सं०पु०—गूलर का फल या गूलर के फल का जन्तु।

गुलरी—सं०पु०— गूलर का वृक्ष।

गुळरूप—सं०पु०—एक प्रकार का घोडा (शा हो.)

गुळरोवाढ़—सं०पु०—शस्त्र का पैना भाग।

गुल्लंजा—सं०स्त्री० [फा० गुल+सं० रंजा] सुंदर स्त्री।

उ०—भाटा तूं सभागियौ, पीछोळा री टग्ग। गुललंजा पांणी भरै, ऊपर दे दे पग्ग।—महादांन महड़ू

गुललाल—सं०पु०—एक प्रकार का घोड़ा।

गुळवाड़, गुळवाड़ि—स०स्त्री०—१ गन्ने की खेती. २ गन्ना।

उ०—१ सू एकल किण भांत रौ छै। जेरौ बारहूं आंगळ लग लीडीकट छै, कांधो-पूठ एक सारखी छै। गुळवाड़ गोहूं जब चिणां रौ, जुवार रौ चरणहार छै।—रा.सा.सं.

उ०—२ सूअरै राते खून किओ छै। सूरे गुळवाड़ि विधांसिया छै। —रा.सा.सं.

गुलसन—सं०पु० [फा० गुलशन] वाटिका, बाग, उद्यान, फुलवारी।

गुलसफा—सं०स्त्री० [फा० गुलसब्बो] लहसुन की तरह का एक छोटा पौधा जो रात में फूलता है।

गुलसरसक—सं०पु०—एक प्रकार का घोड़ा (शा.हो.)

गुलहजारी–सं०पु० [फा०] १ एक प्रकार का पौधा विशेष या इस पौधे का फूल, गेंदा, गुल्लाला. २ एक प्रकार का घोड़ा।

गुलह्वास—देखो 'गुलग्रव्वास' (रू.भे.)

गुळांच, गुळांची–सं०स्त्री०—कलाबाजी, कुलांच। उ०—दो थप्पड़ वापड़ै छोरै रै लागा। लारदाळो गुळांची खा'र पड़ियो।—वरसगांठ

क्रि०प्र०—खाणी, लगाणी।

गुलांम–सं०पु० [ग्र० गुलाम] १ खरीदा हुग्रा, नौकर।

मुहा०—१ गुलांम करणौ—एकदम ग्रपने वश में करना. २ गुलांम वणाणौ—देखो 'गुलांम करणौ'. ३ गुलांम होणौ—ग्रधिकार में होना।

२ साधारण सेवक, दास. ३ ताश का एक पत्ता जो दहले से बड़ा ग्रौर बेगम से छोटा समझा जाता है।

गुलांमी–सं०स्त्री० [ग्र० गुलाम+ई] १ दासत्व, सेवा, नौकरी।

मुहा०—गुलांमी ग्रख्तियार करणी—दासत्व स्वीकार करना।

२ पराधीनता, परतंत्रता।

गुलांमो—देखो 'गुलांम' (रू.भे.)

गुलाब–सं०पु० [फा०] १ एक झाड़ या कंटीला पौधा जिस पर बहुत सुंदर एवं सुगन्धित फूल लगते हैं. २ गुलाबजल।

गुलाबजळ–सं०पु०यौ०—भभके द्वारा गुलाब के पुष्पों का निकाला हुग्रा ग्रर्क।

गुलाबजांमु, गुलाबजांमुन–सं०पु०—खोवे ग्रौर मैदा के योग से बनाई जाने वाली एक प्रकार की मिठाई।

गुलाबताळू–सं०पु०—गुलाब के रंग के तालु वाला हाथी (शुभ)

गुलाबदांनी—देखो 'गुलाबपास'।

गुलाबदासी–सं०स्त्री०—नानकशाही संप्रदाय की एक शाखा (मा.म.)

गुलाबपास–सं०पु० [फा० गुलाबपाश] प्रायः शुभ ग्रवसरों पर गुलाबजल छिड़कने की एक प्रकार की झारी के ग्राकार का लंबा पात्र जिसके मुंह पर हजारा लगा रहता है।

गुलाबपासी–सं०स्त्री० [फा० गुलाबपाशी] गुलाबजल छिड़कने की एक क्रिया।

गुलाबबाई–सं०स्त्री०—मेहा चारण की पुत्री एवं श्री करनी देवी की बड़ी बहिन जो देवी का ग्रवतार मानी जाती है।

गुलाबदेग–सं०पु०—एक प्रकार का घोड़ा (शा.हो.)

गुलाबी–वि० [फा०] १ गुलाब के रंग का, गुलाब संबंधी. २ थोड़ा या कम, फीका, हलका।

यौ०—गुलाबी नशो।

सं०पु०—एक प्रकार का घोड़ा (शा.हो.)

गुलाल–सं०स्त्री० [फा० गुल्लाला] १ एक प्रकार की लाल बुकनी या चूर्ण। प्रायः होली के दिनों में लोग इसे एक दूसरे के चेहरे पर मलते हैं। उ०—ग्रतर गुलाल ग्रबीर, सोभ जांनियां सरीकां। चम्पण केसर चरच, कियो इन्द्रव मछरीकां।—रा.रू.

क्रि०प्र०—उडणी, नांखणी।

२ महीन धूलि, धूलिकण। उ०—पंखिया परदेसी ग्रजकाय, ग्रागमै ग्रसमांनी ग्रसमांन। उडै कोइ ग्रायूंणी गुलाल, ग्राई सांझ धरा मिजमांन।—सांझ

३ एक प्रकार का लाल पुष्प।

गुलालरंग–सं०पु०—एक प्रकार का घोड़ा (शा.हो.)

गुलाला–सं०स्त्री०—सोने-चांदी के ग्राभूषणों पर की जाने वाली खुदाई विशेष।

गुलाली–वि०—गुलाल के रंग का, गुलाल संबंधी। उ०—ग्रागला कंध पड़छी ग्रलप, मलप गुलाली मूंठियां।—मे.म.

सं०स्त्री०—लालिमा।

गुलिक–सं०स्त्री०—गुटिका। देखो 'गुटको'। उ०—सिधि गुलिक वेग पर सक्ति पाव, धजराज मुकुट खगराज धाव।—रा.रू.

गुलियल्ल, गुली–सं०स्त्री०—१ एक पौधा विशेष जिससे गहरा ग्रासमानी रंग प्राप्त करने के लिये उसकी खेती की जाती है, नील. २ जिस भेड़ के कान बड़े हों. ३ लहसुन का बीज (ग्रमरत)

गुलीडंडी–सं०पु०यौ० [सं० कीलदंड] गुल्ली ग्रौर डंडे से खेला जाने वाला एक प्रकार का खेल। इसमें गुल्ली को डंडे से मार-मार कर खेल खेला जाता है।

गुलीबंद–सं०पु० [सं० गलबंध या फा० गुलूबंद] १ गले में धारण करने का सोने का एक ग्राभूषण जिसमें लहर पड़ी होती है.

२ सर्दियों में प्रायः ठंड से बचने के लिए सूती, ऊनी या रेशमी लंबी ग्रौर कुछ चौड़ी पट्टी जो प्रायः गले या कानों पर लपेट ली जाती है। यह सिलाई या करघे पर बुनी हुई होती है। मफलर।

गुलीबावळी–सं०स्त्री०—एक प्रकार का बबूल।

गुळेचा–सं०स्त्री०—१ कुलांच. २ डुबकी, गोता।

उ०—जगत सारो ग्रजूं साख दे जिकण री, खोपरी गुळेचा भीम खाया।—र.रू.

गुळेटी–सं०पु०—कुलांच, कलाबाजी।

गुळेडी–सं०स्त्री०—घी तेल ग्रादि में तल कर शक्करपारे की भांति गोल बनाया हुग्रा खाद्य-पदार्थ।

गुलेनार—देखो 'गुलनार' (रू.भे.)

गुलेल–सं०स्त्री० [फा० गिल्लूल] १ पक्षियों ग्रादि को मारने के लिये गोलियां या पत्थर के टुकड़े फेंकने के उद्देश्य से बनाया हुग्रा कमान या धनुष। उ०—फरी पिसतोल गुलेल कुठार, थके नन हत्थ बके मुख मार।—ला.रा.

सं०पु०—२ गहरा ग्रासमानी रंग।

गुलेलची–सं०पु०—गुलेल नामक ग्रस्त्र को चलाने वाला. २ गुलेल नामक ग्रस्त्र को चलाने में दक्ष व्यक्ति।

गुलेलो–सं०पु० [फा० गुलूला] चिड़ियों का शिकार करने के लिये बनाई गई मिट्टी की गोली। यह गुलेल में फेंक कर मारी जाती है।

गुल्या–सं०पु०—बीज (अमरत)

गुल्लालौ–सं०पु० [फा० गुल्लाला] एक प्रकार का लाल फूल। इसका पौधा पोस्त के पौधे के समान होता है।

गुल्ली–सं०स्त्री०—लगभग ६ इंच लम्बा और १ इंच मोटा काष्ठ का गुटका जिसके दोनों छोर नुकीले होते हैं। इसे डंडे से मार कर बालक खेल खेलते हैं।

गुल्ली डंडौ—देखो 'गुली डंडो' (रू.भे.)

गुल्लौ—१ देखो गुलेलौ' (रू.भे.) २ देखो 'गुलेल' (रू.भे.) ३ ताश का एक पत्ता, गुलाम. ४ मस्ती के समय ऊँट के मुँह से निकलने वाला गलसुआ (वि०वि०—देखो 'साळू' ६)

गुवाड़–सं०पु० [सं० गोवाट] १ गाँव के मध्य का या गाँव के बाहर का खुला स्थान जहां गांव भर की गायें एकत्रित होती हैं. २ मकान के अंदर का या पास का वह अहाता जहां गायें बांधी जाती हों अथवा दुही जाती हों।

गुवाड़ी–स०स्त्री० [सं० गोवाटी] मकान के अंदर का या पास का वह अहाता जहाँ गायें बांधी जाती हैं अथवा दुही जाती हैं। उ०—स्याळा जाति गांवां की **गुवाड़्यां** में फिरावै।—शि.वं.

गुवार—देखो 'ग्वार'।

यौ०—गुवारफळी।

गुवारवा–सं०पु०—ग्वार का खेत।

गुवाळ–सं०पु० [सं० गोपाल] १ गायों को चराने वाला, ग्वाला।

उ०—बूज्यौ सजना गायां री **गुवाळ**, सींव बताओ रे हाडे राव री।
—लो.गी.

२ रहँट चलाने वाले बैलों के चलने का गोल चक्र।

गुवाळियौ–सं०पु० [सं० गोपाल] गायों को चराने वाला, ग्वाला।

उ०—अहो कांई जांणै **गुवाळियौ** वेदरदी पीड़ पराई। (जो) जनमत ही कुळ-त्याग न कीन्हौं, बन-बन धेनु चराई।—मीरां

गुवाळी–सं०स्त्री०—१ गायें चराने का कार्य या मजदूरी, ग्वाले की वृत्ति. २ रक्षा, हिफाजत। उ०—हक री तरै में अन्याई नूं रैयत रै ऊपर अमाल करणौ। इसौ होय छै ज्यूं **गुवाळी** छाळियां री ल्याळियां नूं देणी।—नी.प्र.

गुवावणौ, गुवावबौ–क्रि०स० [सं० गै] गाने का कार्य दूसरे से कराना।

उ०—प्रति दिन मंगळ गीत, देवतां तणा **गुवावै**। विघन विडारण काज, विनायक नूंत बुलावै।—दसदेव

गुवावणहार, हारौ (हारी), गुवावणियौ—वि०।

गुवाड़णौ, गुवाड़बौ, गुवाणौ, गुवाबौ—रू०भे०।

गुवाविओड़ौ, गुवावियोड़ौ, गुवाव्योड़ौ—भू०का०कृ०।

गुविंद, गुविंदौ–सं०पु० [सं० गोविंद] १ गोविन्द, श्रीकृष्ण. २ विष्णु।

गुसट–स०स्त्री० [सं० गोष्ठी] १ सभा, गोष्ठी. २ गुप्त सलाह।

उ०—सुजस विगड़ विगड़ी सभा, आहुट गई उमंग। गनका सूं रातै **गुसट**, रसिया तोनूं रंग।—बां.दा.

३ मित्रता, दोस्ती।

गुसळखांनौ–सं०पु०—नहाने के लिये बनाया गया स्थान, स्नानागे

गुसांई–सं०पु० [सं० गोस्वामी] १ वैष्णवों के संप्रदाय की एक शाखा २ दशनामी संन्यासी।

गुसैल–वि० [अ० गुस्सा+रा०प्र० एल] गुस्सा करने वाला, क्रोधी स्वभाव वाला।

गुसौ—देखो 'गुस्सौ'। उ०—आवळी पढ़ै साफी इलम्म। कावली **गुसै** भरिया किलम्म।

क्रि०प्र०—आणौ, उतरणौ, करणौ।

गुस्ट—देखो 'गुसट' (रू.भे.)

गुस्ताख–वि० [फा०] १ धृष्ट, ढीठ. २ अशिष्ट, बेअदब।

गुस्ताखी–सं०स्त्री० [फा०] १ धृष्टता, ढिठाई. २ अशिष्टता, बेअदबी।

गुस्ल–सं०पु० [अ०] स्नान।

गुस्लखांनौ—देखो 'गुसलखांनौ' (रू.भे.)

गुस्सांई—देखो 'गुसांई' (रू.भे.)

गुस्सेल, गुस्सैल–वि०—गुस्सा करने वाला, क्रोधी स्वभाव वाला।

गुस्सौ–सं०पु० [अ० गुस्सा] क्रोध, कोप गुस्सा।

क्रि०प्र०—आणौ, उतरणौ, करणौ।

गुह–सं०पु० [सं०] १ कार्तिकेय (डि.को.) २ निषाद जाति का एक नायक जो राम का मित्र था एवं शृंगवेरपुर में रहता था (रामकथा) ३ गुफा, कंदरा. ४ कुबेर (नां.मा.)

गुहछठ–सं०स्त्री० [सं० गुहषष्ठी] अगहन मास के शुक्ल पक्ष की छठी तिथि जो कार्तिकेय की जन्मतिथि मानी जाती है।

गुहराज–सं०पु०—निषादराज (रामकथा)

गुहांजणी–सं०स्त्री०—नेत्रों की पलक पर होने वाली फुन्सी (अमरत)

गुहा–सं०स्त्री० [सं०] गुहा, कंदरा।

गुहाचर–सं०पु० [सं०] ब्रह्म।

गुहिक–सं०पु०—एक देव जाति, यक्ष (नां.मा.)

गुहियण—देखो 'गुणियण' (रू.भे.) उ०—बावीस नांम वांणी बोहत, जांणंग **गुहियण** लहै।—ना.डि.को.

गुहिर–वि०—गंभीर, गहरा। उ०—१ वरसतै दड़ड़ नड़ अनड़ वाजिया, सघण गाजियौ **गुहिर** सदि।—वेलि. उ०—२ ऊनमियउ उत्तर दिसइं, गाज्यउ **गुहिर** गंभीर। मारवणी प्रिय संभरयउ, नयणे वूठउ नीर।—ढो.मा.

सं०पु०—२४ मात्रा का मात्रिक छंद (ल.पि.)

गुहिरइ–वि०—देखो 'गुहिर' (रू.भे.) उ०—ढाढ़ी गाया निसह भरि, राग मल्हार निवाज। च्यार पहर झड़ मंडियउ, घण **गुहिरइ** सुर गाज।—ढो.मा.

गुहिल, गुहिलोत—देखो 'गहलोत' (रू.भे.)

गुहीर—देखो 'गुहिर' (रू.भे.) उ०—बाजइ **गुहीर** निसांणौ घाव, दुरंग चीतोड़ पहुंतौ राई।—वी.दे.

गुह्यक–सं०पु० [सं०] कुबेर के खजाने की रक्षा करने वाले यक्ष, निधि-रक्षक, यक्ष।

गुह्यकेस्वर, गुह्यपति–सं०पु० [सं० गुह्यकेश्वर] कुबेर।

गूगट, गूंगटौ—देखो 'घूंघट' (रू भे.)

गूंगल–वि०—गूंगा, मूक।

गूंगलियौ–सं०पु०—एक छोटा आठ पदों वाला जन्तु जो प्राय: गोबर के आस-पास पाया जाता है। (मि०–जूंजळौ)

गूंगलौ–वि० (स्त्री० गूंगली, गूंगली) मूक, गूगा। उ०—देवी ब्रज्ज विमोहणी बोम वांणी, देवी तोतला गूंगला कत्तियांणी।—देवि.

सं०पु०—१ देखो 'गूंगलियौ'।

कहा० —१ गूंगली ही।फण करै—गूगी भी फन करती है अर्थात् अशक्त भी सामना करने के लिये तैयार होता है (व्यंग) २ गूंगलौ गळनी करै जणै कांना ऊपर हाथ दे—गूंगा जब त्रुटि करता है तो कानों पर हाथ रखता है।

२ सर्दी की ऋतु में मस्ती से भरा ऊंट। उ०—१ मद झरै करै आकाम मून, रिस भरै चरै ताते सु चून। गूंगला मस्त वोलै दुगाळ, झुकता सखुन नखता सभाळ।—पे.रू. उ०—२ बजै हाक वाजता उरड ऊंठ गूंगलां अरावां, निजर चोळ धारतौ थकै मारतौ नवावा।

—बखतौ खिड़ियौ

दि०वि०—मस्ती मे गूंजते समय गुल्ला (गलसुआ) बाहर न निकालने वाले ऊंट को गूंगला कहते है. ३ गेहूं की फसल मे होने वाला एक रोग।

गूंगा–सं०पु०—पँवार वंश की एक शाखा।

गूंगापण, गूंगापणौ–सं०पु०—मूकता, गूंगापन।

गूंगिका–सं०स्त्री०—एक देवी का नाम।

गूंगियौ—देखो 'गूंगौ' (अल्पा.)

गूंगी–सं०स्त्री०—१ एक छोटा जंतु. २ मूक स्त्री. ३ दो मुंहा सांप।

गूगौ–वि० [फा० गुग] (स्त्री० गूंगी) जो बोल न सके, मूक।

उ०—१ गूंगा राग अलाप कर, कोई राव रीझावै।—केसोदास गाडण

उ०—२ नकटै बूचौ निरख अंग-अंग में उफणायौ, बोलै गूगौ बोल सबद गुण इधक सुणायौ —ऊ.का.

कहा०—१ गूंगै नै समझावणौ गूंगै री गत आंण—गूंगे या मूक को समझाने के लिए गूंगे की भांति मूक बनना पडता है. २ गूगे री पारसी में गूंगा री मा समझै—

३ मन री मन में रैय गई बा गूगे आळी गल्ल—मूक की भांति स्पष्ट करने मे असमर्थ होने के कारण कोई बात अव्यक्त ही रह गई। *किसी को अपने मन को इच्छा व्यक्त करने में असमर्थ रहने पर।*

सं०पु०—नाक के सड़ने का रोग, गुंजी, नकटी।

गूंघट, गूंघटौ—देखो 'घूघट' (रू.भे.)

गूंछी–सं०स्त्री०—बैलों की आंतो में बल पड़ने से उत्पन्न होने वाला रोग विशेष।

गूंज–सं०स्त्री० [सं० गुंज] १ भौंरों के गूंजने का शब्द, गुंजार. २ प्रतिध्वनि। उ०—डूंगर-खोहां गूंज मेघ मृदग बजावै। तौ सिव री संगीत उणी पुळ पूर लखावै।—मेघ.

३ देर तक बना रहने वाला शब्द या ध्वनि. ४ अपने संबंधियों से गुप्त रूप में बचाया हुआ धन. ५ गुप्त बात, गुप्त मंत्रणा।

गूंजणौ, गूंजबौ–क्रि०अ०—१ भौंरों या मक्खियों का भिनभिनाना, गुंजार करना. २ गूंजना, प्रतिध्वनित होना, शब्द व्याप्त होना. ३ गरजना। उ०—खाती री खातोड़ गूंजता जावै गाजी, लधे जो लोहार रांमजी मिळिया राजी।—ऊ.का.

४ जोश में आना, शक्तिशाली होना।

गूंजणहार, हारौ (हारी), गूंजणियौ—वि०।

गूंजवाणौ, गूंजवाबौ—प्रे०रू०।

गूंजाड़णौ, गूंजाड़बौ, गूंजाणौ, गूंजाबौ, गूंजावणौ, गूंजावबौ—क्रि०स०।

गूंजिओड़ौ, गूंजियोड़ौ, गूंज्योडौ—भू०का०कृ०।

गूंजीजणौ, गूंजीजबौ—भाव वा०।

गूंजा–सं०स्त्री०—लकडी के दो तख्तो को जोड़ने के लिए उनके बीच में लगाई जाने वाली कील जो दोनों तरफ से नुकीली होती है।

गूंजाइस—देखो 'गुंजाइस' (रू.भे.)

गूंजाड़णौ, गूंजाड़बौ—देखो 'गूंजाणौ' (रू.भे.)

गूंजाड़णहार, हारौ (हारी), गूंजाड़णियौ—वि०।

गूंजाड़िओडौ, गूंजाड़ियोड़ौ, गूंजाड़्योड़ौ—भू०का०कृ०।

गुंजाड़णौ, गुंजाड़बौ—रू०भे०।

गूंजणौ, गूंजबौ—अक०रू०।

गूंजाड़ियोड़ौ—देखो 'गूंजायोड़ौ' (रू.भे.)

(स्त्री० गूंजाड़ियोड़ी)

गूंजाणौ, गूंजाबौ–क्रि०स०—गुंजाना, गुंजायमान करना।

गूंजाणहार, हारौ (हारी), गूंजाणियौ—वि०।

गूंजायोड़ौ—भू०का०कृ०।

गूंजणौ, गूंजबौ—अक०रू०।

गूंजायस—देखो गुंजाइस'।

गूंजायोड़ौ–भू०का०कृ०—गुंजायमान किया हुआ, गुंजाया हुआ। (स्त्री० गूंजायोड़ी)

गूंजियोड़ौ–भू०का०कृ०—१ भिनभिनाता हुआ, गुंजार किया हुआ. २ गुंजा हुआ, प्रतिध्वनित. ३ गरजा हुआ ४ जोश में आया हुआ। (स्त्री० गूंजियोड़ी)

गूंजियौ—देखो 'गूंजौ' (१)

गूंजी–सं०स्त्री० [सं० गूढ़+पुंज] १ अपने सम्बन्धियों से गुप्त रूप में बचाया हुआ धन, गुप्त द्रव्य। उ०—थाया संपत थाट, भंवर कंवर सुख भोगवै। म्हे की आळे माट, किरतब री गूंजी 'करन'।

—लक्ष्मीदांन बारहठ

२ एक प्रकार की मिठाई। उ०—होणी सो होई थिर नह थिर कोई, सिरजण हारै फिर सिरजी सिर सोई। लूंजी लेतोड़ी गूंजी गुण गाती, पिछली पूंजी नै सिर धुणि पछताती।—ऊ.का.

गूंजौ—सं०पु०—१ जेब, गिरह, पाकिट।
(अल्पा०—गूंजियौ)
२ बादाम, किशमिश, काजू, पिस्ता आदि का मिश्रित मेवा.
३ एक प्रकार की खोवे की मिठाई।

गूंट—देखो 'घूंट' (रू.भे.) उ०—कीजै नीबरी गूंट ज्यूं पीजै प्यालौ काळकूट केम, मणां तोल तोलियां तुलीजै केम मेर।—बां.दा.

गूंठ—सं०पु०—मूलस्थान, आधारभत स्थान।

गूंठड़ौ—१ अंगुष्ठ। उ०—सुपनौ तौ आयौ सरब सुलखणौ जी म्हारी बैंयां तळौ कर एजी ए जाय, गूंठड़ौ सौ बींधै गोरी रै पांव कौ जी।
—लो.गी.

२. देखो 'घूघट' (रू.भे)

गूंड—सं०पु० [सं० गूढ़] १ पेड़ के तने का वह निचला भाग जो सब से नीचे भूमि के ऊपर रहता है. २ जड़।

गूंडळणौ, गूंडळबौ—क्रि०अ०—देखो 'गुडळणौ' (रू.भे.)
उ०—गूंडळिग्रो रज गैण, हैकंप धर डेरां हुआं। सहिजादा दरकूच सूं, आया खड़े उजेण।—वचनिका

गूंडेल—सं०स्त्री०—लकडी का वह विशेष प्रकार का बना हुआ गुटका जो सूत चमड़े आदि के रस्सी के सिरे पर लगाया जाता है।
(रू०भे०—गुंढ़ेल)

गूंडौ—१ देखो 'गुडौ' (रू.भे.) उ०—सूरै केहर सोह रै, माड़चै वड मन्न। देवळिय गूंडौ कियौ, धणो थयौ सुप्रसन्न।—रा.रू.
२ समूह, दल। उ०—वोम छत्र कमळ प्रतमाळ कर वाहतौ, गज घड़ां गाहतौ खळां गूंडौ। रण कटे गयौ वैकुंठ भ्रम राहतौ, चाहतौ मुकत सांमीप चूंडौ।—रावत गुलाबसिंह चूंडावत री गीत
३ देखो 'गुंडौ' (रू.भे.)

गूंढ़—देखो 'गूड' (रू.भे.)

गूंढ़ौ—सं०पु०—१ वृक्ष का मूल, जड़. २ मूल स्थान।

गूंण—सं०स्त्री० [सं० गोणी] १ बकरी के बालों से बना हुआ बोरा.
२ टाट, कंबल या चमड़े आदि की बनी हुई वह खुरजी जिसमें दोनों ओर अनाज आदि सामग्री भरने का स्थान होता है। गधे या बैल आदि की पीठ पर इसे रख कर एवं सामान भर कर एक स्थान से दूसरे स्थान को ले जाया जाता है। उ०—बणक कहै आवै बसत, कै कूड़ै कै गूंण। चेळै पड़ै सो होय सुध, सेंभर पड़ै सो लूंण।

गूंणौ—सं०पु०—मूंग, मोठ आदि के सूखे पौधों का ढेर।—बां.दा.

गूंत, गूंतौ—सं०पु०—१ गोमूत्र. २ प्रसव के बाद गाय या भैंस का पहली बार निकाला हुआ दूध जो गरम करने पर जम जाता है।

गूंथणौ, गूंथबौ—क्रि०स० [सं० ग्रंथि = कौटिल्ये] १ कई वस्तुओं को तागे आदि के द्वारा एक में बांधना या फँसाना; कई वस्तुओं को एक गुच्छे या लड़ी में गूंथना। उ०—चंपा केरी पांखड़ी, गूंथूं नवसर हार। जउ गळ पहरूं पीव विन, तउ लागै अंगार।—ढो.मा.
२ किसी वस्तु को दूसरी वस्तु में सुई धागे से अटकाना व टांके आदि के द्वारा दो वस्तुओं को परस्पर एक में जोड़ना. ३ कई धागों, रेशों आदि को एक दूसरे में किसी क्रम से फंसाते हुए कोई वस्तु बनाना, बुनना या संवारना। उ०—कुसळसिंह कही—लोग कहै था जे सांचा ठाकुर गूंथण गूंथिया।—मारवाड़ रा अमरावां री वारता
[सं० ग्रंथ संदर्भे या बंधने] ४ क्रमबद्ध कर के एक सूत्र में उपस्थित करना. ५ रचना, बनाना। उ०—सुकदेव व्यास जैदेव सारिखा, सुकवि अनेक ते एक संथ। श्रीवरणण पहिलौ कीजै तिणि, गूंथियै जेणि सिंगार ग्रंथ।—वेलि.
गूंथणहार, हारौ (हारी), गूंथणियौ—वि०।
गूंथाणौ, गूंथाबौ, गूंथावणौ, गूंथावबौ—प्रे०रू०।
गूंथिओड़ौ, गूंथियोड़ौ, गूंथ्योड़ौ—भू०का०कृ०।
गूंथीजणौ, गूंथीजबौ—कर्म वा०।
गुंथणौ—अक०रू०।

गूंथाणौ, गूंथाबौ—क्रि०स० ('गूंथणौ' का प्रे०रू०) गूंथने का कार्य अन्य से कराना।
गूंथाणहार, हारौ (हारी), गूंथाणियौ—वि०।
गूंथायोड़ौ—भू०का०कृ०।
गूंथाईजणौ, गूंथाईजबौ—कर्म वा०।

गूंथायोड़ौ—भू०का०कृ०—गूंथने का कार्य अन्य से कराया हुआ।
(स्त्री० गूंथायोड़ी)

गूंथाळ—सं०स्त्री०—गूंथने की क्रिया या भाव। उ०—गळ माळ रंभाळ गूंथाळ ग्रहै। करमाळ मुंछाळ भूताळ कहै।—पा.प्र.

गूंथावणौ, गूंथावबौ—देखो 'गूंथाणौ' (रू.भे.)
गूंथावणहार, हारौ (हारी), गूंथावणियौ—वि०।
गूंथाविओड़ौ, गूंथावियोड़ौ, गूंथाव्योड़ौ—भू०का०कृ०।
गूंथावीजणौ, गूंथावीजबौ—कर्म वा०।

गूंथावियोड़ौ—देखो 'गूंथायोड़ौ' (रू.भे)
(स्त्री० गूंथावियोड़ी)

गूंथियोड़ौ—भू०का०कृ०—गूंथा हुआ, बुना हुआ, रचा हुआ।
(स्त्री० गूंथियोड़ी)

गूंद—सं०पु० [सं० गूथ = वृक्षमल + उन्द = गीलापन] १ चिपचिपा या लसदार वृक्ष का वह पसेव जो सूखने पर कड़ा और चमकीला हो जाता है, वृक्षों की निर्यास. २ पड़िहारिया राजपूत वंश की एक शाखा. ३ मांस-पिंड। उ०—दांध तिह वर चंड पत्र पर, गूंद पळचर धपाड़े रिण धीर।—प्रतापसिंह म्होकमसिंह री वात

गूंदगरी—सं०पु०—एक प्रकार का वृक्ष विशेष।

गूंदड़ौ—देखो 'गूदड़'। उ०—राली नहीं ओढ़ै गूंदड़ौ नहीं ओढ़ै, ए तो ओढ़ै वांरा साळाजी री तिलक पिछोवड़ौ।—लो.गी.

गूंददांनी–सं०स्त्री०—लेसदार गोंद रखने का पात्र।

गूंदरौ–क्रि०वि०—निकट, पास। उ०—पड़ै चखां पांणीह, जोर नहीं लागै जकौ। देवळ लूंटांणीह, गढ़वण कोळूं गूंदरै।—पा.प्र. (रू.भे.–गूदरौ)

गूंदळणौ, गूंदळबौ—१ देखो 'गुडळणौ' (रू.भे.) उ०—खुरिसांण खड़ंग ऊडी खुरेह, रवि छायउ अंबर रजी रेह। चमराळां पाए ऊडी चींध, गूंदळइ त्रिक्ख मूझइ गईंध।—रा.ज.सी.
२ मथना, मलना. ३ रौंदना।

गूंदळियोड़ौ—१ देखो 'गुडळियोड़ौ' (रू.भे.) २ मथा हुआ, मला हुआ. ३ रौंदा हुआ। (स्त्री० गूंदळियोड़ी)

गूंदाळ–सं०पु०—मांस-पिंड। उ०—मांसाळ भूखाळ पंखाळ मिळै। गूंदाळ रसाळ गालाळ गळै।—पा.प्र.

गूंदी–सं०स्त्री०—१ एक वृक्ष विशेष जिसकी जड़, छाल व पत्तियां औषध के काम आती हैं। इसके फल छोटे-छोटे हरे रंग के व पकने पर पीले रंग के होते हैं जो खाए जाते हैं. २ इस वृक्ष का फल।

गूंदौ–सं०पु०—१ गूंदी वृक्ष का फल जो कच्ची अवस्था में हरे रंग का होता है एवं पकने पर पीले रंग का होता है। कच्चे फलों का शाक बनाया जाता है तथा पके फल ऐसे ही खाए जाते हैं. २ इस फल का वृक्ष. ३ देखो 'गूंदी' (१)

गूंथणौ, गूंथबौ–क्रि०स० [सं० गुध = क्रीड़ायाम्] पानी में सान कर हाथों से दबाना या मलना, मसलना।
गूंथणहार, हारौ (हारी), गूंथणियौ—वि०।
गूंथाड़णौ, गूंथाड़बौ, गूंथाणौ, गूंथाबौ, गूंथावणौ, गूंथावबौ—प्रे०रू०।

गूंथिओड़ौ, गूंथियोड़ौ, गूंथ्योड़ौ—भू०का०कृ०।
गूंथीजणौ, गूंथीजबौ—कर्म वा०।

गूंथाणौ, गूंथाबौ–क्रि०स० ('गूंथणौ' का प्रे०रू०) गूंथने का कार्य कराना, गूंथाना।
गूंथाणहार, हारौ (हारी), गूंथाणियौ—वि०।
गूंथायोड़ौ—भू०का०कृ०।
गूंथाईजणौ, गूंथाईजबौ—कर्म वा०।

गूंथायोड़ौ–भू०का०कृ०—गूंथाया हुआ, गूंथने का कार्य कराया हुआ। (स्त्री० गूंथायोड़ी)

गूंथावणौ, गूंथावबौ—देखो 'गूंथाणौ' (रू.भे.)
गूंथावणहार, हारौ (हारी), गूंथावणियौ—वि०।
गूंथाविओड़ौ, गूंथावियोड़ौ, गूंथाव्योड़ौ—भू०का०कृ०।
गूंथावीजणौ, गूंथावीजबौ—कर्म वा०।

गूंथावियोड़ौ—देखो 'गूंथायोड़ौ' (रू.भे.) (स्त्री० गूंथावियोड़ी)

गूंथियोड़ौ–भू०का०कृ०—गूंथा हुआ। (स्त्री० गूंथियोड़ी)

गूंथीजणौ, गूंथीजबौ–क्रि०स० ('गूंथणौ' का कर्म वा०) गूंथा जाना, मथा जाना।
गूंथीजणहार, हारौ (हारी), गूंथीजणियौ—वि०।
गूंथीजिओड़ौ, गूंथीजियोड़ौ, गूंथीज्योड़ौ—भू०का०कृ०।

गूंथीजियोड़ौ–भू०का०कृ०—गूंथा गया हुआ। (स्त्री०–गूंथीजियोड़ी)

गूंबड़, गूंबड़ौ—देखो 'गूमड़ौ'। (स्त्री० गूंबड़ी)

गूंमर–सं०पु०—गर्व, अभिमान, अहंकार।

गूंसांई—देखो 'गुसांई' (रू.भे.)

गू–सं०पु० [सं० गूथ, प्रा० गूह] मल, पाखाना, विष्ठा।
मुहा०—१ गू उछाळणौ—निंदा करना, बदनामी करना. २ गू उठाणौ—पाखाना साफ करना, तुच्छ से तुच्छ सेवा करना, नीच कार्य करना. ३ गू करणौ—गंदा और मैला करना. ४ गू खाणौ—बहुत अनुचित और भ्रष्ट कार्य करना. ५ गू मूत करणौ—मलमूत्र से निवृत्त होना, गंदा करना, मैला करना. ६ गू मूत धोवणौ—मल-मूत्र साफ करना, तुच्छ से तुच्छ सेवा करना. ७ गू में भाटौ फेंकणौ—बुरे आदमी से छेड़छाड़ करना. ८ गू री ओडी—बदनामी का टोकरा, कलंक का भार।
कहा०—गू री भाई पाद नै पाद री भाई गू—दो समान अयोग्य व्यक्तियों के प्रति. २ गू सूं गू थोड़ै ही धुपै—विष्ठा से विष्ठा थोड़े ही धुल सकता है। नीचता के बदले नीचता अपनाने से कोई लाभ नहीं।

गूगक–सं०पु०—राठौड़ वंश की एक उपशाखा या इस शाखा का व्यक्ति।

गूगरमाळ–सं०स्त्री०यौ० [सं० घुघुरु+माला] घुंघुरुओं की बनी माला जो पशुओं के गले में प्रायः बांधी जाती है।

गूगरियौ–सं०पु०—१ करील वृक्ष का छोटा पुष्प जो भूरे रंग का और ज्वार के दाने के समान होता है. २ छोटा घुंघरू।

गूगरी–सं०स्त्री०—१ एक निश्चित लगान या कर जो अनाज के रूप में कृषक भूमि के मालिक को देता है। इसके अनुसार जितना धान भूमि में बोया जाता है उतना ही लगान के रूप में पुनः दिया जाता है. २ उबाले हुए गेहूँ के दाने।

गूगळ—देखो 'गुग्गुळ' (रू.भे.)

गूगळधूप—देखो 'गुगळधूप' (रू.भे.)

गूगळौ–वि०—१ धुंधला, अस्पष्ट, अस्वच्छ. २ मटमैला।

गूगस, गूगसवाड़ौ–सं०पु०—१ सर्दी की ऋतु में ऐसा समय जब आकाश में बादल छाये हों एवं नन्हीं-नन्हीं बूंदें गिरती हों या गिरने वाली हों. २ बिना जल के बादल। (रू०भे०–गुग्घस)

गूगू, गूगूराजा–सं०पु० [सं० घुग्घर] उल्लू, उलूक पक्षी।

गूघर—देखो 'घूघर' (रू.भे.) उ०—परगह ले बांधी पगां, सेंठी गूघर साथ। हंजा रौ सारौ हुकम, हुवौ रंगीली हाथ।—बां.दा.

गूघरमाळा—देखो 'गूगरमाळ' (रू.भे.)

गूघरियूं, गूघरियौ—देखो 'गूगरियौ' (रू.भे.) उ०—अस वाजस पक्खर गूघरियूं। तित थागत लेत सुरंतरयूं।—पा.प्र.

गूघरी—देखो 'गूगरी' (रू.भे.)

गूजड़–सं०पु०—राठौड वंश की एक उपशाखा या इस शाखा का व्यक्ति।

गूजर–सं०पु० [सं० गुर्जर] १ अहीरो की एक जाति जो प्राय: पशु पालने का धधा करती है. २ इस जाति का व्यक्ति. ३ तीसरे विवाह की स्त्री।
४ गुजरात का प्रदेश।
यौ०—गूजरखड, गूजरधरा।

गूजरगौड़–सं०पु०—ब्राह्मणो का एक भेद विशेष जो अपने को गौतम ऋषि के वंशज मानते हैं (मा म)

गूजरपठांण–सं०पु०—मुसलमानो का एक भेद।

गूजरी–स०स्त्री० [स० गुर्जरी १ गूजर जाति की स्त्री. २ ग्वालिन. ३ स्त्रियो के कलाई मे धारण करने का एक आभूषण. ४ एक रागिनी (संगीत) ५ स्त्रियो के कंठ में धारण करने का आभूषण विशेष। उ०—सीसफूल सिर ऊपर सोहै, बिंदली सोभा न्यारी। गळै गूजरी कर मे कंकण, नेवर पहिरैं भारी।—मीरां

गूडण–वि०—१ लुढकाने वाला, गिराने वाला. २ मारने वाला।
उ०—मोटा जळ चाढण मडोवरि, समहरि गज गूडण सनढ। उदै खळ सो आफळते, गढपति होवै फतेगढ।—राठौड प्रथीराज

गूडणौ, गूडबौ–क्रि०स०—१ गाडना. २ मारना, काटना।
उ०—रणि राउत वावरइ कटारी, लोह कटाकडि रूडइ। तुरक तणा पाखरीया तेजी, ते तरुआरे गूडइ।—का दे.प्र.

गूडर—सं०पु०—डेरा, खेमा।

गूडळ–सं०पु०—१ देखो 'गूडंल' (रू.भे.) २ मांस सहित हड्डी जो खाते समय चूसी जाती है।

गूडळियौ–वि०—१ गंदला २ धूमिल।
सं०पु०—देखो 'गूडळ' (रू.भे.)

गूडळियोड़ौ—देखो 'गुडळियोडो' (रू.भे)

गूडी—देखो 'गुडी' (रू.भे.) उ०—सवि तळीयातोरण झळहळइ, नगर माहि गूडी ऊछळइ।—का दे प्र

गूढ–स०पु० [स०] १ बडा छायादार वृक्ष २ स्मृति मे पाच प्रकार के साक्षियो मे से एक साक्षी जिसे अर्थी ने प्रत्यर्थी का वचन सुना दिया हो ३ एक अलंकार सूक्ष्मालकार. ४ छिप कर रहने का स्थान. ५ गुफा।
वि०—१ गहन, गम्भीर. २ जिसका आशय स्पष्ट न हो, अबोधगम्य, रहस्ययुक्त. ३ गुप्त, छुपा हुआ (अ.मा.) उ०—केसव भजतां हरख कर, मत कर आळस मूढ। जिण दीधौ मनखा जनम, गरभ कौल कर गूढ।—र.ज.प्र.

गूढ़चर–सं०पु०—चोर (अ.मा.)

गूढ़पग, गूढ़पय, गूढ़पद, गूढ़पाद–स०पु०—१ सर्प, सांप (ह.ना., अ.मा.) २ मन (ह.ना.)

गूढ़व्यंग्य–सं०स्त्री० [स०] काव्य में एक प्रकार की लक्षणा। इसमें ऐसा व्यंग्य रहता है जिसका अभिप्राय सर्व साधारण को जल्दी समझ में नही आ सकता।

गूढ़ा–सं०स्त्री०—पहेली। उ०—मारवणी इम वीनवइ, धनि आजूणी राति। गाहा गूढ़ा गीत गुण, कहि का नवली वात।—ढो.मा.

गूढ़ावाच–सं०पु०—मन्त्री (डि.ना.मा.)

गूढ़ोक्ति–स०स्त्री० [सं०] एक अलंकार जिसमे कोई रहस्ययुक्त बात दूसरे के ऊपर छोड तीसरे के प्रति कही जाती है।

गूढ़ोत्तर–सं०पु० [स०] वह काव्यालंकार जिसमें प्रश्न का उत्तर गूढ अभिप्राययुक्त दिया जाता है।

गूढ़ौ–सं०पु० [सं० गूढ] १ वृक्ष का मूल, जड. २ रक्षा का स्थान, गढ। उ०—देवराज तुसरा सासू नू कह्यौ—'मोनू लोक सको' 'हुरडवनो' कह वतळावै छै। हूं थासूं जुदौ वसीस। तरै नदी रै पैलै काठै जाय आपरौ गूढ़ौ कर रह्यौ।—नैणसी

गूण—देखो 'गूंण' (रू.भे) उ०—१ सग इण साकरखोर के, संग न साकर गूण। सब दिन पूरै साइयाँ, चाच दई सो चूण।—बां.दा.
कहा०—गधै री गूण मे कणां री फरक रै', मणां री को रै' नी—गधे के ऊपर लादे जाने वाले थैले मे मामूली कमी हो सकती है, अधिक नही। थोडे परिमाण की वस्तु मे अधिक अन्तर नही होता।

गूणती—देखो 'गूण'।
कहा०—गरीब ऊपर गूणती बत्ती न्हाकै—गरीब पर हर कोई अधिक बोझ लादता है। गरीब को सभी सताते हैं।

गूणियौ–स०पु०—१ रहँट का वह गड्ढा जिसमे बडा कंगूरेदार चक्र घूमता है २ इस गड्ढे के दोनो किनारो पर लगाया जाने वाला पत्थर. ३ जल भरने के लिये पीतल का कलश. ४ दूध दुहने का पीतल का पात्र।

गूणी–स०स्त्री०—कुए से चरस खीचने के लिये बनाया हुआ बैलो के चलने का स्थान।

गूणौ–स०पु० [स० गुण] १ जनाने वस्त्रों पर गोट के ऊपर लगाई जाने वाली बारीक किनार।
क्रि०प्र०—देणौ, लगाणौ।
२ देखो 'गूण' (रू भे.) ३ ग्वार. मूग तथा मोठ के पौधो के सूखे डठल जो मवेशी बडे चाव मे खाते है। (रू०भे०—गूणो)

गूतौ—देखो 'गूंतौ' (रू भे.)

गूथण–स०पु०—गूंथने की क्रिया या भाव।

गूथणौ, गूथबौ—देखो 'गूंथणौ'।
गूथणहार, हारौ (हारी), गूथणियौ—वि०।
गूथिओड़ौ, गूथियोड़ौ, गूथ्योड़ौ—भू०का०कृ०।
गूथीजणौ, गूथीजबौ—कर्म वा०।

गूथाणी—देखो 'गूथाणौ' (रू.भे.)

गूथायोड़ौ—देखो 'गूथायोड़ौ' (रू.भे.) (स्त्री० गूथायोडी)

गूयावणी, गूयाववौ—देखो 'गूंथाणी' (रू.भे.)

गूयियोड़ौ—देखो 'गूंथियोड़ौ' (रू.भे.) (स्त्री० गूथियोड़ी)

गूद–सं०पु० [सं० गुप्त, प्रा० गुत्त] १ मांस का गूदा, मज्जा ।

उ०—दोयण रै सोणित भद्रकाळी रौ खप्पर भराइ वीर वैताळ नूं गूद रा गाळा जीमाड ।—वं.भा. २ मांस ।

उ०—कितेक गिद्धनी की वपाय गूद अप्पने, कितेक सुद्धि के विहीन मार-मार जप्पने ।—ला.रा.

[सं० गर्त] ३ गड्ढा, गर्त. ४ संन्यासियों का एक भेद । (मि० 'गूदड़ियौ' ३)

गूदड़–सं०पु०—१ चिथड़ा, फटा-पुराना वस्त्र. २ चिथड़ों से बना हुआ ओढ़ने अथवा बिछाने का कपड़ा । उ०—कांधे गांठड़ियां वड़ियां चग वाळै, राली गूदड़ नै कांधे पर राळै ।—ऊ.का.

(अल्पा०—गूदड़ियौ, गूदड़ी)

गूदड़ियौ—१ देखो 'गूदड़' (अल्पा०) २ एक प्रकार का नीबू जिसका छिलका मोटा होता है. ३ संन्यासियों का एक भेद ।

उ०—सुल्तांन संजर वडौ वादसाह कठी नूं जावै थौ, मारग में गूदड़ियौ फकीर उभौ थौ सो वादसाह नूं सलांम कीवी ।—नी.प्र.

गूदड़ौ—देखो 'गूदड़' (रू.भे.) उ०—गरक घणौ जळ गूदड़ा, ले तन सूं लपटाय । अत्य वत्य भर काडजै, मंदिर जळतां मांय ।—वां.दा.

कहा०—१ गूदड़ां रै पूर सूं गमावणौ—किसी काम का न रखना, बुरी तरह से नष्ट करना. २ गूदड़ी में किसा लाल को नीपजै नी—गुदड़ी में कौनसे लाल पैदा नहीं होते ? गरीब के घर में भी महा-पुरुष उत्पन्न हो सकता है ।

(अल्पा०—गूदड़ियौ)

गूदर, गूदरौ—१ देखो 'गूदड़' (रू.भे.) २ हाथ के मणिवंध के पास वाला हथेली का उभरा हुआ भाग. ३ देखो 'गूंदरौ' (रू.भे.)

गूदळणौ, गूदळवौ—देखो 'गुडळणौ' (रू.भे.) उ०—गूदळे व्योम ढंके गरद, रवि लुक्के धूंआं रवण । आलम्म पयांणौ एण पर, कोप तेण झल्ले कवण ।—रा.रू.

गूदळौ–वि०—१ गन्दला. २ धुंधला ।

गूदाळ–सं०पु०—मांस, मांस-पिंड (रू.भे.–गूंदाळ) उ०—ग्रीवाळ गूदाळ कजे गहकै, चहकै चोटीयाळ सीयाळ चकै ।—गो.रू.

गूदौ–सं०पु०—१ किसी फल व बीज के अन्दर का वह भाग जो उसके छिलके के नीचे होता है. २ भेजा, मग्ज. ३ मांस. ४ देखो 'गूंदरौ' (२)

गूधळणौ, गूधळवौ—देखो 'गुडळणौ' (रू.भे.)

गूधळौ—देखो 'गूदळौ' (रू.भे.)

गूपत, गूपति–वि० [सं० गुप्त] १ गुप्त, छिपा हुआ । उ०—ईसा गूपती वचन तौ वंचीया । नव जोवन नवरंगी नेह ।—वी.दे. २ देखो 'गुपत' (रू.भे.)

गूमड़, गूमड़ौ–सं०पु०—वह कड़ी और गोल सूजन जो किसी अंग पर चोट लगने से अथवा अपने आप हो जाती है । सूजन, फोड़ा, ग्रंथि ।

उ०—गाळ न ऊठै गूमड़ौ, ऊठै झाळ अकत्य । जिण नूं सज्जण वैण जळ, सांत करण समरत्थ ।—वां.दा.

गूलर–सं०पु०— १ वट वृक्ष और पीपल की जाति का ही चौड़े पत्तों का एक वृक्ष जिसकी डाल या टहनी से एक प्रकार का दूध निकलता है. २ इस वृक्ष का फल ।

पर्याय०—उदंवर, जन्तूफळ, मसकी ।

गूलरकवाव–सं०पु०—उवले और पिसे हुए मांस के भीतर अदरक, पुदीना आदि भर कर भूनने से बनने वाला एक प्रकार का कवाव ।

गूलरौ–सं०पु०—फल विशेष ।

गूली–सं०स्त्री०—मामड़ की पुत्री आवड़ देवी की वहन एक देवी ।

गूह—१ देखो 'गू' (रू.भे.) २ रामभक्त गुह नामक एक निपाद-राज (रामकथा)

वि०—गुप्त, छिपा हुआ ।

गेंआळ–सं०पु०—वर्षा एवं भूमि की नमी के कारण विना सिंचाई किए ही उत्पन्न होने वाले गेहूँ का खेत ।

गेंडौ–सं०पु० [सं० गंडक] १ जंगलों में नदी के किनारे के दलदलों एवं कछारों में प्रायः रहने वाला भैंसे के आकार का एक बड़ा पशु । इसका चमड़ा बिना बाल का तथा अत्यन्त मोटा और ठोस होता है । इसके नाक की हड्डी पर एक पैना सींग होता है । क्रुद्ध होने पर यह इसीसे चोट करता है । यह विना छेड़े किसी से नहीं बोलता । इसके चमड़े की ढालें बनती थीं (रू.भे.–गेंडौ)

गेंती–सं०स्त्री०- कुदाली, खोदने का एक औजार ।

गेंद–सं०स्त्री० [सं० गेंडुक, गेंदुक] कपड़े, रवड़ या चमड़े का बना हुआ छोटा गोला जिससे बालक खेलते हैं । उ०—उडै गति गेंद नरां उतमंग । गहै झट कंज करां जट गंग ।—मे.म.

गेंदवौ—देखो 'गींदवौ' (रू.भे.)

गेंवर–सं०पु०—१ एक प्रकार का घोड़ा (शा.हो.) २ हाथी ।

गेंवार—देखो 'गिंवार' (रू.भे.)

सं०पु०—ग्वार ।

गे–सं०पु० [सं० ग+ई=गे] १ सूर्य । उ०—सुर इंद्र सिव पनंग ससि, गे मह गयण दिपाय । सिवदांना तो जस सुरद, रज धर इता रहाय ।—शि.सु.रू.

२ काम संबंधी, प्रेम. ३ यमकानुप्रास. ४ मूर्ख व्यक्ति.

५ पाप. ६ छंद. ७ गीत. ८ मल्हार राग. (एका.) ९ हाथी ।

उ०—इंद्र गे अरुढ़ गिरवांण भूल सांमां आया । सारां है वधाया कीधा झळूसा समाज ।—चावंडदांन महड़

गेऊं–सं०पु० [सं० गो]

गेऊंआळ–सं०पु० [सं० गोधूम+रा०प्र० आळ] गेहूँ की फसल का खेत ।

गेऊंड़ा–सं०पु० (बहु०)—देखो 'गेहूं' (अल्पा०)

गेगरियौ–सं०पु०—चने का कच्चा दाना जो खाया जाता है ।

गेगरी—सं०स्त्री०—दानेयुक्त चने का फोकला जिसे फोड़ कर चना निकाला जाता है (मि० 'सरपट')

गेगरौ—सं०पु०—१ ज्वार की बाल (सिरटा). २ एक प्रकार की ज्वार जिसका डंठल मीठा होता है तथा सिरटा गहरा होता है. ३ चने के पौधे पर लगा हुआ फफोलायुक्त चना।

गेघर—देखो 'गेगरौ' (३) उ०—फोग कैर काचर फळी, पापड़ गेघर पात। बड़ियां मेलै बांणियां, सांगरियां सोगात।—वां.दा.

गेड़—सं०पु०—१ घुमाव, चक्कर, फेरा। ज्यूं-दिनमांन रा गेड़ है भाई, रांमजी करी ज्यां होई। २ कारण. ३ बारी, पारी, अवसर. ४ समूह, झुंड. ५ परिभ्रमण।

गेड़णौ, गेड़बौ—क्रि०स०—१ गिराना। उ०—'पता' महाराज 'विजा' ऊपरा, गाज असमांन री तूं हीज गेड़ै।
२ घेरना।

गेड़ौ—सं०पु०—फेरा, चक्कर।

गेड—देखो 'गेडियौ' (२)
वि०—आच्छादित।

गेडियौ—सं०पु०—१ गेंद का बल्ला। उ०—मांचां रा पागलिया लियां, लांमी लांम झड़ामड़ी। टाबरिया गेडिया टाळै, बूढ़ां ठेंगण कांमड़ी। —दसदेव
२ डंडा, लाठी, सोंटा (मि० गेडी)
कहा०—धन तौ धणियां री, गुवाळ रै हाथ में गेडियौ—किसी वस्तु की रक्षा करने वाले का उस वस्तु पर स्वामित्व नहीं होता।
३ आगे से पकडने के हेतु मुड़ी हुई छड़ी।

गेडी—सं०स्त्री०—१ चक्र या पहिये की नेह या नाभि के दोनों ओर धुरी में डाली जाने वाली चमड़े की छोटी गेंडुरी. २ बकरी, भेड़ या ऊँट के कातने योग्य साफ किये हुए बालों का गोल घेरा, गेंडुरी. ३ रहँट पर समय के ज्ञान के लिये लपेटे जाने वाले धागे के नीचे लगाया जाने वाला काष्ठ का डंडा. ४ लाठी, लकड़ी, डंडा, सोटा।
मुहा०—गेडियां रळाणी—लकड़ियां भिड़ाना, परस्पर लड़ाना।
कहा०—साप ही मर जावै नै गेडी ई नहीं भागै—सांप भी मर जाय और लाठी भी न टूटे; बिना किसी हानि के किसी काम का सिद्ध हो जाना।
५ स्त्रियों के सिर पर धारण किये जाने वाले सुहाग-चिन्ह 'बोर' नामक आभूषण के पीछे उससे जुड़ी हुई एक खोखली लम्बी नली।

गेडीयौ—सं०पु०—२ देखो 'गेडियौ' (रू.भे.)

गेडौ—सं०पु०—१ एक प्रकार का काष्ठ का डंडा जिस पर जुलाहे लोग करघे की लम्बाई से बढ़े हुए ताने का सूत लपेट कर रखते हैं। ज्यों-ज्यों कपड़ा बुनते जाते हैं त्यों-त्यों उस पर से सूत खींचते जाते हैं. २ देखो 'गेडियौ' (महत्व०)

गेढ़ी—देखो 'गेडी' (२) उ०—मुखिया मन मोहण दोहण घर मेढ़ी, गोडै हेरी है खूंणी में गेढ़ी।—ऊ.का.

गेम—सं०पु०—पाप, दुष्कर्म (मि० यौ० 'अणगेम')

गेमर—देखो 'गैमर' (रू.भे.)

गेमी—वि०—पापी, दुष्कर्मी, देशद्रोही। उ०—गेमी नांव धरावियौ, आसावत अणजांण। भाटी दीनों भीमदे, तब गढ़ भेद प्रमांण। —नैणसी

गेय—सं०पु०—गाने योग्य, गीत, गाना। उ०—महातम ध्येय रती नहिं गम्य, गती निगमागम गेय अगम्य।—ऊ.का.
वि०—जानने योग्य। उ०—वेय कौ विधांन साधि घ्यांन ना धरचौ। गेय कौ अग्यांन तै प्रमांन ना परचौ।—ऊ.का.

गेर—देखो 'गेहर' (रू.भे.)

गेरक—देखो 'गैरक' (रू.भे.)

गेरकी—सं०स्त्री० [सं० गैरिक+रा०प्र० ई] सोने की गोल चकरी जो गले के आभूषण (आड या तिमणिया) के किनारे पर लगाई जाती है।

गेरणी—सं०स्त्री०—छोटी चलनी।

गेरणौ—सं०पु०—अनाज आदि को साफ करने का लोहे का एक उपकरण, बड़ी चलनी।

गेरणौ, गेरबौ—क्रि०स०—१ छोड़ना, निस्सरित करना।
उ०—महाराजा जयसिंहजी निसासा गेरणै लाग गया। धीरां सी कही।—महाराजा आंमेर रा धणी री वारता
२ गिराना। उ०—किंवाड़ नहीं खोलस्यौ तौ खुवाड़ियौ मंगाय तोड़ गेरस्यां।—कुंवरसी सांखला री वारता
३ संहार करना।
गेरणहार, हारौ (हारी), गेरणियौ—वि०।
गेड़णौ, गेड़बौ—रू०भे०।
गेरिओड़ौ, गेरियोड़ौ, गेरचोड़ौ—भू०का०कृ०।
गेरीजणौ, गेरीजबौ—कर्म वा०।

गेरमोहल—देखो 'गैरमहल' (रू.भे.) उ०—सो तपस्या हीण पड़ गई, पाछौ दिल्ली आइयौ, गेरमोहल रहियौ। —ठाकुर जैतसी री वारता

गेरियौ—देखो 'गेहरियौ' (रू.भे.)

गेरी—सं०स्त्री०—१ एक प्रकार का पक्षी, फाख्ता. २ चमड़े की बनी गोल चकरी।

गेरुऔ, गेरुवौ—वि०—गेरु के रंग का, भगवा।
सं०पु०—गेहूँ की फसल में होने वाला एक रोग विशेष।

गेरु—सं०पु०—एक प्रकार का खनिज। यह कड़ी लाल मिट्टी होती है जो खानों से निकलती है।
वि०—गेरु के रंग का सा, गैरिक, भगवा (डि.को.)

गेरौ—सं०पु०—एक प्रकार का पक्षी, कबूतर। (स्त्री०—गेरी)

गेल—देखो 'गेलौ' (रू.भे.) उ०—चरता सजळै देस फूलती कांदळ धोळी। सूंघै वन री गंध बतावण गेल नवेली।—मेघ.

गेलड़, गेलड़ौ–सं०पु०—१ एक प्रकार का लंबे पैरों वाला बड़ा जन्तु. २ किसी स्त्री के पहले पति का लड़का जिसे लेकर वह दूसरे पति के यहाँ जाय (मि०—आंगळीभल, लारवाळ)

वि०—पगला ।

गेलोत–सं०पु०—१ क्षत्रियों के छत्तीस वंशों में से एक, सूर्यवंश. २ इस वंश का कोई व्यक्ति ।

गेलौ, गेल्यौ–सं०पु०—मार्ग, राह, रास्ता । (अल्पा०—गैल्यौ)

मुहा०—१ गेलै घालणौ—ठीक रास्ते पर लाना, सदाचार-वृत्ति सिखाना. गेलै चालणौ—सुमार्ग पर चलना. ३ गेलौ छोडणौ—राह देना, रास्ता देना ।

कहा०—गेलै हालतां कांई डर—सुमार्ग पर चलते हुए या सद्कर्म करते हुए किसी का कोई भय नहीं होता ।

गेवाळियौ, गेवाळ्यौ–सं०पु०—गायें चराने वाला, ग्वाला ।

गेह–सं०पु० [सं० गृह] १ मकान, घर । उ०—१ अभैसाह जैसाह रै गेह आयौ, वणै इंद्र सांमंद्र हूंता सवायौ ।—रा.रू.

उ०—२ जगदातार जनारदन, गिरधारी गुण गेह । व्रजपत्त रोटी वांटणौं, मोटां नींद म देह ।—वां.दा. २ समूह ।

गेहणी–सं०स्त्री० [सं० गृहिणी] घर वाली, गृहिणी, पत्नी ।

गेहपति–सं०पु० [सं० गृहपति] गृहस्वामी, घर का मालिक ।

गेहर–सं०पु०—फाल्गुन मास का एक लोक-नृत्य ।

वि०वि०—देखो 'डंडिया गेर' ।

गेहरियौ–सं०पु०—१ फाल्गुन मास के प्रसिद्ध लोक-नृत्य 'डंडिया गेर' में नाचने वाला व्यक्ति । उ०—दुगम जवन घड़ि कांमणि दोळी, हुय खेलूं गेहरियां होळी ।—सू.प्र. २ वह जो होली पर दल बना कर गाता-बजाता हो. ३ एक प्रकार का घोड़ा (शा.हो.)

गेहरी—देखो 'गेहरियौ' (१)

गेहरचौ—देखो 'गेहरियौ' (रू.भे.)

गेहलौ–वि०—पागल (देखो 'गैलौ') उ०—पण वीरमदे गेहलौ हुवौ सु मुख सूं वकै घणौ कै जोधपुर ओहीज है ।—द.दा.

गेहा, गेहि—देखो 'गेह' (रू.भे.) उ०—गुरु गेहि गयौ गुरु चूक जांणि, गुरु नांम लियौ दमघोख नर ।—वेलि.

गेहि–वि०—घर संबंधी, गेह संबंधी ।

सं०पु० [सं० गृहस्थ] गृहस्थ ।

गेहुंअन–सं०पु०—एक प्रकार का अत्यन्त विषधर सांप जो भूरे रंग का होता है ।

गेहूं–सं०पु० [सं० गोधूम] एक अनाज जिसकी फसल विश्व के शीतोष्ण कटिबंध में बहुतायत से होती है । इसकी फसल भारत में अगहन मास में बोई जाती है और चैत्र में काटी जाती है । इसका पौधा तीन से चार फुट तक लम्बा होता है ।

पर्याय०—गोधूम, सुमन ।

रू०भे०—गऊं, गहूं, घेऊं ।

अल्पा०—गेउंड़ा, गेहूंड़ौ ।

गेहूंआळ—देखो 'गेऊंआळ' (रू.भे.)

गेहूंड़ौ—देखो 'गेहूं' (अल्पा०)

गैं–सं०पु० [सं० गज] हाथी । उ०—जन हरिदास कहिए सदा, रूप गैं ज्यूं मन वारै । काया वन में चरै डरै नहिं डहकिन हारै ।

—ह.पु.वा.

गैंडौ—देखो 'गेंडौ' (रू.भे.)

गैंण, गैंणाग, गैंणायर—देखो 'गैंणाग' (रू.भे.) उ०—१ जिके कांन रंध्रां हुवै नीसरै करेवा जंग । महा कूप हूंतां ज्यूं परेवा गैंण मांग ।

—र.रू.

उ०—२ अवगति गति को लहै कौंण, गैंणायर मापै । कौण मेरु कूं तोलि थापना उलटी थापै ।—ह.पु.वा.

गैंणौ–सं०पु०—गहना, आभूषण । उ०—पड़ज्यौ कुलसरिगयां वो'रां पर पटकौ । गैंणे गांठै री करिगा ठग गटकौ ।—ऊ.का.

यौ०—गैंणौ-गांठौ ।

गैंती—देखो 'गेंती' (रू.भे.)

गैंतूळ—देखो 'गंतूळ' (रू.भे.)

गैंद—१ देखो 'गेंद' (रू.भे.) २ हाथी (डि.को.) उ०—१ सुणे भूप ए बात ऊठे सतेजं । अचां पांण कोमंड झालै अजेजं । ततै रोस टिल्ला करै गैंद तेही । जु मस्सै न कोमंड धु ग्यांन जेही ।—सू.प्र.

उ०—२ जिण वन भूल न जावता, गैंद गवय गिड़राज । तिण वन जंबुक ताखड़ा, ऊवम मंडै आज ।—वी.स.

गैंदगड़ा–सं०पु०यौ० [सं० गज+इन्द्र+घटा] गजदल, हाथियों का समूह । उ०—गाजां वाजां अर गैंदगड़ां, जुड़ै न चांदो रौद-घड़ां । जे जुड़सी चांदो रौद घड़ां, गाज न वाज न गैंदगड़ां ।

—चांदा वीरमदेवोत राठौड़ री गीत

गैंदा–सं०पु० [सं० गेंडुक] १ गेंद. २ एक प्रकार का फूल, हजारा ।

गैंदाळ–वि० [सं० गेंडुक+रा०प्र० आळ] बड़ी तोंद वाला, तोंदल, पेटू ।

गैंवर—देखो 'गेंवर' (रू.भे.) उ०—उद्दम री आसा करै, सहै नहीं घणराव । घात करै गैंवर घड़ा, सीहां जात सुभाव ।—वां.दा.

गैंवार—देखो 'गिवार' (ह.नां.)

गै–सं०पु०—१ हाथी, गज (डि.को.) उ०—गढ़ गढ़ राजा गै गुड़ै, गढ़ गढ़ राज कुंवार । भुज जेहल नूं भेटियौ, श्री कोइक अवतार ।

—वां.दा.

२ आकास, आसमान (डि.को.) उ०—हयनाळि हवाई कुहक वांण, हुवि होड वीर हक गै गहण ।—वेलि.

३ शिव. ४ सूर्य. ५ शोक. ६ पलास का वृक्ष (एका.) ७ गत, गति, चाल । उ०—डरै नहिं डहकिन हारै, चलै अपणी गै गोडे ।

—ह.पु.वा.

८ शोभा, छटा. ९ गर्व, अभिमान. १० मंजिल. ११ मकान का हिस्सा (मि०—'गह' ६)

गैगमणि, गैगमणी—देखो 'गयगमणी' (रू.भे.)

गैघटाळ, गैघट्ट—सं०पु० [सं० गज+घटा] १ हाथियों की सेना, गजदल. २ आनन्द, बहुलता।

गैघूंवणौ, गैघूंबवौ, गैघूंमणौ, गैघूंमवौ—क्रि०अ०—चारों ओर फैल जाना, उमड़ना, मंडराना। उ०—१ पूरण थयौ भयासियौ, वण वरसात सरस्स। स्रावण घण गैघूंबियौ, चौरासियौ वरस्स।—रा.रू.

उ०—२ गैघूंमै आरांण धांण मथांण नीसांण धोक, सूकै डांण सूंडा-डंडां वीछूड़ै सीधांण।—पहाड़खां आढ़ौ

गैजूह, गैजूह—सं०पु० [सं० गज व्यूह] १ हाथियों का दल, गज-सेना।

उ०—१ झाड़ दियंदा राड़ कज, सझ किया धैबीगर। तळ लग्गा वरसाळ ज्यूं, गैजूह पटाछर।—लूणकरण कवियौ

उ०—२ हयं गत्य गैजूह पागवक हल्लै, इळा जांणि सांमंद्र साते उझल्लै। जिकै वार स्रीरांम री जांन जोई, कहै ओपमा पार पावै न कोई।—सू.प्र.

गैडंबर—सं०पु०—विना जल के वादल। उ०—थोथा गैडंबर संवर विण थाया। छपनै सूमां सा आडवर छाया।—ऊ.का.

गैडसणि, गैडसणी—वि०—वीर, बहादुर।

उ०—केहरि केस भमंग मणि, सरणाई सुहड़ांह, सती पयोहर क्रपण धन, पड़सी हाथ मुवांह। मुवांहिज पड़सी हाथ तौ भमंग-मिण, गहड़ सरणाइयां ताहरै गैडसणि।—हा.झा.

गैण, गैणक—सं०पु० [सं० गगन] आकाश (नां.मा.) उ०—फतेसाह साह आए वांह गैण धारे, विजावत विजय रूक पराजय निवारे।

गैंणकियौ, गैंणकौ—देखो 'गैंणौ' (अल्पा०) —रा.रू.

गैण-गड्डू—वि०—लम्बा और पतला, लम्बोतरा। उ०—वांरै घर वाळा सगळा-रा सगळा ओछै खांमणै-रा ईज है। कंवरजी-री दादी तो घघमा-री घघमा है पण दादोजी है गैणगड्डू दाई।—वरसगांठ

गैणवटी—सं०पु० [सं० गगन+वटी] सूर्य्य। उ०—जटी जोग पारावारां धावां सुभ्रतटी जेम, गैणवटी तावां ऊंच सुभावां गोव्रंद। चीलार पुरंद्र चावां चंद्र ज्युं नखत्र चावां, नरां लोक दावां सरै 'किसनेस' नंद।

—हुकमीचंद खिड़ियौ

गैणमगी—सं०पु०—आकाश मार्ग।

वि०—आकाश मार्ग से चलने वाला।

गैणमिण—सं०पु० [सं० गगनमणि] सूर्य (क.कु.वो.)

गैणांग, गैणांण, गैणाक, गैणाग, गैणागि—सं०पु० [सं० गगन] आकाश, आसमान। उ०—१ तिके बेर चाहीजै विछुट्टै हवाई तेम। गंध-ग्राही लूतां लेर हालियौ गैणांग।—रा.रू. उ०—२ चढ़ी गैणाक अणपार आमंख चर, अपछरां विमांण नभ वीच अड़िया अधर।

—विसनदास वारहठ

उ०—३ छिलै गैघड़ां लड़ंगां तोपां झाळ रै गैणाग छायौ, कोपै लाठ आयौ वंचै काळ रै करूप।—चिमनजी चांपावत रौ गीत

गैणा-घड़—सं०पु०यौ०—आभूषण बनाने वाला, स्वर्णकार, सुनार।

गैणाण, गैणारव, गैणाळौ—देखो 'गैणाग' (रू.भे.) उ०—गजां उमंडे वादळां जूथ सकंजा कांठळा गढ़ां। वीज सोर झाळां धजा गैणाळा वहेम।—रावन रतनसिंहजी सीसोदिया रौ गीत

गैंणूं, गैंणौ—सं०पु०—जेवर, आभूषण, गहना।

यौ०—गैंणौ-गांठौ।

गैतूळ, गैतूळौ—स०पु०—१ आंधी, झंझावात, वातचक्र, तूफान।

उ०—बीभरै करै गळवांह वीर, नीझरै रुधर जिम सघण नीर। रण फिरै चाक चैतूळ रंग, ऐराक छाक गैतूळ अंग।—वि.सं.

२ सेना, फौज (ह.नां., अ.मा.) उ०—सु सुरतांणि ईसरै समहरि, लोह छरा गैतूळां लाइ। भुजग पांणि उपाड़ै भारथि, ब्रहमंड सांम्हा चाढ़ै वाइ।—ईसरदास मेडतिया रौ गीत

३ गर्द, धूलि. ४ समूह। उ०—ऊपड़ै बीड़गां वागां, गरद्दां गैतूळ उड्डै। वीर हाका गमा-गमा वाजै डाक वाह।

—महाराजा वखतसिंहजी रौ गीत

[सं० गततोल्य] ४ वायु, हवा (अ.मा.)

गैदंत—सं०पु० [सं० गजदंत] १ हाथी का दांत. २ हाथी।

गैदंतड़ौ, गैदंतौ—सं०पु०—सूअर। उ०—गैदंतौ पाडा खुरौ, आरण अचळ अघट्ट। भूंडण जणै सो भू भली, थोभै अरियां थट्ट।—हा.झा.

गैब—सं०पु० [अ० गैब] वह जो सामने न हो, परोक्ष।

उ०—तिणि वेळा गैब री आवाज आकासवांणी कहिओ—महाराज रैणसाहि वधाई-वधाई।—वचनिका

क्रि०वि०—अचानक।

गैबकौ—क्रि०वि०—अचानक, एकदम।

गैबवांणी, गैबवांणी—सं०स्त्री०—आकाशवाणी। उ०—सो उण समय गैबवांणी हुई।—नी.प्र.

गैबांणी, गैबाऊ—वि०—१ गुप्त, जो सामने न हो, अप्रत्यक्ष. २ अचानक होने वाला, गुप्त रूप से होने वाला। उ०—वीखरै वैरियां चक्र न्हांखै गैबाऊ। रखी लाज रांणी री सरव जांणै आसाऊ।—ऊ.का.

गैबावळ—सं०पु०—गुप्त गोला।

गैबी—वि० [अ० गैब] १ गुप्त, छिपा हुआ. २ अज्ञात. ३ अबोधगम्य।

सं०पु०—अपराध करने वाला, अपराधी। उ०—कंस सिसपाळ पूतना काळी, भगवत दोखी सरव भयौ। पेमी ऊधव ली गत पाछै, गैबी मों'र सुथांन गयौ।—भगतमाळ

क्रि०वि०—अचानक। उ०—अनूंपसिंघ जूंझारसिंघ रौ, बुलाकी साह-जादौ गैबी ऊठियौ थौ पूरव में। उण कनै वोह में राजा जैसिंघ रै रै'वै।—नैणसी

गैमर—सं०पु० [सं० गजवर] हाथी (ह.नां.) उ०—हैमर गैमर पाय-दळ रिणतूर रुड़ंदा।—केसोदास गाडण

गैया—सं०स्त्री० [सं० गौ] गाय, गऊ।

गैर—वि० [अ० ग़ैर] १ अन्य, दूसरा, अपरिचित, अजनबी, अपने कुटुंब

या अपने समाज से वाहर का व्यक्ति । उ०—परणी नैं परहरै, गैर सुत गोदी धारै ।—ऊ.का.

२ अनुपयुक्त, अनुचित । उ०—तरै नींवा मूं कहाव कियौ, तरै नींवै कह्यौ—म्हैं वहोत गैर की छै सु पंजुपायक रा वोल हुवै तौ हूं आऊं । —नैणसी

३ विरुद्ध, खिलाफ ।

सं०स्त्री०—१ देखो 'गेहर' (रू.भे.) २ निंदा । उ०—भड़ां वैर वढ़ियौ भलौ, वधियौ भलौ न वैर । रुक जेण नित कर रहै, गांठ हिये मुख गैर ।—वां.दा.

अव्यय—वगैरह, इत्यादि । उ०—वंधियौ अकवर वैर, रसत गैर रोकी रिपू । कंदमूळ फळ कैर, पावै रांण प्रतापसी ।—दुरसौ आढ़ौ

गैरइंतजांमी-सं०स्त्री०—अव्यवस्था, कुप्रवन्ध ।

गैरक-सं०पु० [सं० गैरिक] सोना (अ.मा.)

गैरचाल-सं०स्त्री०यौ०—कुमार्ग, व्यभिचार । उ०—परमेस्वर रा अवतार हा अरु पराक्रम करनैं माहावीर हा, सु पराक्रमपणैं री वा पोखता मिळी तिण वगेरै मा'राज री वातां घणी है अरु एक-दोय तौ गैरचाल हालणै वाळा ठावा अमीर मारिया ।—द.दा.

गैरजवांन-क्रि०वि०—अशिष्टतापूर्ण शब्दों का उच्चारण ।

उ०—तद इहां कहाई—जे हरांमखोर हजरत का भी न है, पाजी मुंह से हजूर में गैरजवांन वोलै सो कैसे सहै ? —राठौड़ अमरसिंह री वात

गैरत, गैरय-सं०पु० [सं० गौरथ] १ आकाश, नभ ।

सं०स्त्री० [अ० गैरत] २ लज्जा, शर्म । उ०—गैरत धरम री आ छै जे आज्ञा करणै योग्य कांमां री मांनै अर भूंडा कांमां री ताकीद करै । आपरा चाकरां नूं रैयत देस री नूं जप तप भजन री आग्या करै ।—नी.प्र.

३ स्वाभिमान । उ०—गैरत में सो गैरत योग्य अहंकार मू राखणौ भलौ छै ।—नी.प्र.

गैरमनकूला-वि०—जो एक स्थान से उठा कर दूसरे स्थान को न ले जाया जा सके, स्थिर, अचल ।

गैरमहल-सं०पु०—१ रंगमहल, केलिगृह । उ०—कोई वीर पुरुस रा राज में राजा रा भुजवळ नूं सांती ही पण जिनांना गैरमहलां में रहणा सूं सत्रू देसमें निरभै रहण लागगा है ।—वी.स.टी.

२ जनाना महल ।

गैरमामूली-वि० [अ०] असाधारण, नित्य-नियम के विरुद्ध ।

गैरमुमकिन-वि० [अ०] असंभव, न होने योग्य ।

गैरव-सं०पु० [सं० गजवर] हाथी, गज (रू.भे.—गैवर)

गैरवाजिव-वि०—अयोग्य, अनुचित, वेजा ।

गैरसरकारी-वि०—जो राज्य या सरकार से संवंधित न हो ।

गैरसाली-वि०—कपटपूर्ण, कपटी । उ०—पीछै रायमल डेरै जावण लागौ तद भीतर मूं कहायौ कै रायमल नूं कहौ, मैं इणनूं वारी मांय कर दीठौ है सु इण वायभाई रौ वेसास मती करजे, इणरी निजर गैरसाली है ।—द.दा.

गैरहाजर, गैरहाजिर-वि०—अनुपस्थित, जो मौजूद न हो ।

गैरहाजिरी-सं०स्त्री०—गैरमौजूदगी, अनुपस्थिति ।

गैराई-सं०स्त्री०—गहरापन, थाह ।

गैरिक-सं०पु० [सं०] १ गेरू. २ सोना ।

गैरी-सं०पु०—१ शत्रु, दुश्मन । उ०—खग झट वैरी खेल गैरी किम कुसळै गयौ ।—पा.प्र.

२ दुष्ट व्यक्ति ।

गै'रीं-वि०—देखो 'गै'रौ' ।

गैरुक-सं०पु०—स्वर्ण, सोना (ह.नां.)

गै'रौ-वि०—गहरा, अथाह ।

मुहा०—१ गै'रौ आसांमी—अधिक देने वाला. २ गै'रौ पेट—वात हजम करने वाला आदमी, रुपए लेकर न देने वाला, कोई भी चीज लेकर न लौटाने वाला, वहुत खाने वाला. ३ गै'रौ रंग पकड़णौ—वात का और वढ़ता ही जाना. ४ गै'रौ हाथ पड़णौ—काफी धन मिलना. ५ गै'रौ हाथ मारणौ—कहीं से काफी धन या सामान उड़ा लेना ।

२ अधिक, काफी ।

गैल-सं०स्त्री०—१ मार्ग, राह, रास्ता । उ०—हवै गैल चौड़ा जठै सैल हूंता, हलै वैल जोटां घणां वैल हूंता ।—व.भा.

२ पीछा । उ०—सायव वड़ा सिरदार, केता चुगल चाड़ी करै । हाथी गैल हजार, भुसै गिडक रे भंरिया ।—राजा वळवंतसिंह

क्रि०वि०—साथ-साथ । उ०—सुणी कीरती छाक वाळै सवादी, विनां नारि हालै नथी कील वादी । करी गैल तौ एक दीधी करेणूं, वळै डाक दारां सजै लव्व वेणूं । वं.भा.

गैळ-सं०स्त्री०—१ हल्का नशा, मादकतापूर्ण वेहोशी । उ०—इसा डाकी ठाकर रौ अन अर ताखा सरप रौ विस वरावर है । उण जहर री गैळ ही मरियां ऊतरै नै इण अन रूपी जहर री गैळ अन रौ फरज जुद्ध में मरण सूं हीज ऊतरै है ।—वी.स.टी.

२ गफलत ।

गैळक-वि०—भूलने वाला, गाफिल, वेखवर ।

गैलड़—देखो 'गेलड़' (रू.भे.) उ०—निस आधी रा नीकळै, थळवट ग्रहियौ थांन । गादी मालक गैलड़ा, पेह गंगा परधांन ।—पा.प्र.

गैलणौ-वि०—पागल । उ०—ताजा जीमण त्यार प्रथम मद पीजियै, सारौ परगह सैंग अहोड़ौ न दीजियै । नवळी हुवै मिरकार क ठाकुर गैलणा, एता दै किरतार फेर नह वोलणा ।—अज्ञात

गैलाइत-सं०पु०—राही, राहगीर । उ०—आतस अपार ऊचार जस, गैलाइत तर्कै गळी । नीसार सोर पूरति निपट, यौं जांणै पति आगळी ।—रा.रू.

गैलाई-सं०स्त्री०—पागलपन, नादानी ।

गैलागीर-सं०पु०—राही, राहगीर । उ०—कोई खोदवानै तौ मजूरी काज आता । गैलागीर आता सो ढकोळा नाखि जाता ।—शि.वं.

गैलियौ—देखो 'गैलौ' (अल्पा०) उ०—पर दार प्यार हुयग्यौ प्रमत, विन सींगां री वैलियौ। भोग रै मांय भंमतौ भंवर, गयौ जनम सव गैलियौ।—ऊ.का.

गैळीजणौ, गैळीजवौ–क्रि०अ०—हल्के नशे या बेहोशी से ग्रसित या प्रभावित होना। उ०—वांडी काळा गोहिरा, सरळक अर संखचूड़। परवा में गैळीजिया, लिट लिट ठंडी धूळ।—वादळी

गैळीजणहार, हारौ (हारी), गैळीजणियौ—वि०।

गैळीजिग्रोड़ी, गैळीजियोड़ौ, गैळीज्योड़ौ—भू०का०कृ०।

गैळीजियोड़ौ–भू०का०कृ०—हल्के नशे या बेहोशी से प्रभावित।

गैलेरी–सं०स्त्री० [अं०] १ चढ़ाव से उतार की ओर क्रमशः बैठने के लिए सीढ़ीनुमा वनाया स्थान जैसा प्रायः सरकस, थियेटरों आदि में होता है. २ व्यापारियों की दूकान पर चढ़ाव से उतार तक क्रमशः सीढ़ीनुमा स्थान जहाँ वस्तुएँ सजा कर रक्खी जाती हैं।

गैलौ–वि० (स्त्री० गैली) पागल, नासमझ।

कहा०—१ गैला कुत्ता हिरणां लारै दौड़ै—पागल कुत्ते हिरणों का पीछा करते हैं। जिस कार्य में सफलता संदिग्ध हो उस कार्य को करने वाले के प्रति. २ गैला-गैला गांव मती वाळजे कै भली चितारी—अरे पागल ! गांव मत जला देना कि अच्छी याद दिलाई। उस व्यक्ति के प्रति जो वही कार्य करता है जिसके लिए कि उसे मना किया जाता है. ३ गैलां रै किसा घर व्है—पागल के कौनसा निश्चित घर होता है। पागल व्यक्ति के प्रति। आवारा व्यक्तियों के प्रति. ४ गैली सव सूं पैंली—पागल हर काम में सब से आगे आते हैं चाहे उस कार्य को करने की उनमें सामर्थ्य न हो। विचारहीन एवं विना सोचे-समझे हर कार्य में आगे रहने वाले के प्रति. ५ गैली सासरै गई नै नहीं गई—पगली का क्या, वह सासरे जा भी सकती है और नहीं भी। पागल से किसी विशेष प्रकार के निश्चित कार्य की आशा नहीं रखी जा सकती. ६ गैले आळी पांखड़ी वैठोड़ी है—पागलपन के कार्य करने वाले के प्रति. ७ गैलौ वेटौ वाप कै जितांई चोखौ—पगला लड़का वाप के घर पर ही है तभी तक ठीक है। पागल द्वारा की गई हानि घर में तो जैसे-तैसे सहन की जा सकती है परन्तु वाहर किसी अन्य के यहाँ यह हानि असह्य होती है. ८ दादू दुनियां वावळी सोच करै गैली, रोटी देसी रांमजी दिन ऊगा पैंली—यह दुनिया पागल है जो व्यर्थ में सोच करती है, ईश्वर सबके लिए सूर्योदय के पहले ही रोटी की व्यवस्था कर देता है। आलसी व अकर्मण्य व्यक्ति द्वारा कही जाने वाली उक्ति।

यौ०—गैलौ-तुड, गैलौ-वीसी।

(अल्पा०—गैलड़ौ, गैहलड़ौ, गैल्यौ)

क्रि०वि०—पीछा।

मुहा०—गैल छोडणौ—पीछा छोड़ना।

सं०पु०—मार्ग, रास्ता (डि.को.) (रू.भे.–गैलौ)

गैव–देखो 'गैव' (रू.भे.) उ०—गैर कांम ही तैं गैव गूंज नूं गयौ। आपनी ही ऐव तैं अमूझ नूं दयौ।—ऊ.का.

गैवर–सं०पु० [सं० गजवर] १ श्रेष्ठ हाथी। उ०—दूठ हाथी छोड दीनौ, रयौ सैंभर रह। तौ गोविंद जी गोविंद, गैवर टाळियौ गोविंद। —भगतमाळ

२ ऐरावत।

गैवरियौ—देखो 'गेरियौ' (रू.भे.) उ०—तूं तौ कांग्री, म्हारी होळी माता, गरभ री तूं तौ देख गैवरियां री ढाळौ रे, ढाळचा ढळ कर चाल्यौ ढेलणी।—लो.गी.

गैवरौ–सं०पु० [सं० गजवर] हाथी (डि.नां.मा.)

गैस–सं०स्त्री० [अं०] १ वायु-मंडल में वायु के समान एक अत्यन्त, अगोचर और सूक्ष्म द्रव्य जिसके भिन्न-भिन्न रूपों के संयोग से जल-वायु आदि पदार्थ वनते हैं. २ गंदे स्थानों एवं कोयले आदि की गहरी खानों से उठने वाली एक प्रकार की तीव्र गंधयुक्त वायु।

गैसोत—[अ० गैर+सं० श्रोत] दोगला, वर्णशंकर।

उ०—वासी नरकां रा विदर, ग्यासी रा गैसोत। सत्यानासी रा सुगन, दासी रा दैसोत।—ऊ.का.

गैहणलियौ, गैहणौ—देखो 'गैणौ' (रू.भे.) उ०—घरोघर सत्रुवां री स्त्रियां रा चूड़ा गेहणा चीर ऊतरै छै सो मोनै दया आवै छै। —वी.स.टी.

गैहलड़ा–सं०स्त्री०—पंवार या पंवार वंश की एक शाखा।

गैहलड़ौ—देखो 'गैलौ' (अल्पा०)

गैहवंत–सं०पु०—गृहस्थी।

गोंगरौ—१ देखो 'गांगड़ौ' (रू.भे.) २ देखो 'गांगरौ' (रू.भे.)

गोंगौ–सं०पु०—खिड़की पर लगा हुआ वह अर्द्धचन्द्राकार पत्थर जिसकी खुदाई एक पत्थर पर ही हुई हो।

गोंदल—देखो 'कंदळ' (रू.भे.)

गो—देखो 'गौ' (रू.भे.) उ०—मुगळ न जांणै गो दया, चुगळ न जांणै चोज।—वां.दा.

अव्यय [फा०] यद्यपि, अगरचे।

गो'—देखो 'गोह' (रू.भे.)

गोआळियौ–सं०पु० [सं० गोपाल] १ गायें चराने वाला, ग्वाला। २ श्रीकृष्ण।

गोइंतरौ–सं०पु० [स० गोधा] (स्त्री० गोइंतरी) १ छिपकली की जाति का एक जंतु. २ गाय का वछड़ा।

गोइंद–सं०पु० [सं० गो=पशु+इंद्र] १ श्रेष्ठ हाथी. २ ऐरावत।

गोइतरौ–सं०पु० [सं० गो+पुत्र] गाय का वछड़ा।

गोइ–सं०पु०—कपट, छल।

वि०—कपटी, छली।

गोइड़ौ–सं०पु०—१ विसखोपरा नामक जंतु।

कहा०—गोइड़ा रा पाप सूं पीपळी वळै—गोहरे के दोष से पीपल का वृक्ष भी नष्ट हो जाता है। दुष्ट के साथ रहने से निरपराध भी मारा जाता है।

२ पशुओं का खून चूसने वाला एक कीड़ा विशेष।

गोइयाळ–वि०—धूर्त, चालाक, कपटी।

गोइल–सं०पु०—एक राजपूत वंश, गोयल।

गोईतरी–सं०स्त्री०—गाय।

गोई–सं०स्त्री०—१ घुमाव, मोड़, चक्कर।
सं०पु०—२ कपट, धूर्तता, छल।
सं०पु०—३ कुए पर चरस को खाली करने वाला व्यक्ति।
(रू०भे०–गोही)
४ शत्रु। उ०—डूबी बात छै, कदाचित भूंठी होय जावै तो पाखती रा सोई तथा गोई डूबी बात जांण कोई हंससी।
—पलक दरियाव री वात

गोईड़ौ—देखो 'गोइड़ौ' (रू.भे.)

गोईतरी–सं०स्त्री० [सं० गो+पुत्र+रा०प्र० ई] गाय।

गोईयाळ—देखो 'गोइयाळ' (रू.भे.)

गोऊं–सं०पु० [सं० गोधूम] गेहूँ।

गोग्रौ–सं०पु०—मस्ती में आने पर ऊंट के मुँह से निकलने वाली गलसुंडी। वि०वि०–देखो 'साळू' (६) उ०—माठी केरै भमण ज्यूं चसळका करता, भागै गाडै ज्यूं बठठाठ करता, आगलै भाग भाग नांखता, खोटहड़ीग्रे रा गोग्रै रा भूठै कुग्रै रा कळसिमा कपोळा रा।
—रा.सा.स.

गोकन्ह, गोकरण–सं०पु० [सं० गोकर्ण] १ टोडा रायसिंह के निकट बनास के तट पर स्थित एक पहाड़ी के शिखर पर बना हुआ महादेव का मंदिर, एक तीर्थ-स्थान (नैणसी) २ इस स्थान पर स्थापित शिव की मूर्ति का नाम. ३ एक स्थान विशेष जो मलाबार के पास है। यहाँ शिव की मूर्ति है। कहा जाता है कि रावण और कुम्भकर्ण ने यहाँ तपस्या की थी. ४ शिव के एक गण का नाम. ५ धुंधकारी के भाई का नाम जिससे भागवत सुन कर धुंधकारी तर गया था. ६ गाय का कान, गोकर्ण. ७ नृत्य में एक प्रकार का हस्तक।

गोकळ—देखो 'गोकुळ' (रू.भे.)

गोकळनाथ–सं०पु०—श्रीकृष्ण, ईश्वर (ह.नां.)

गोकळिया गुसांई–सं०पु०यौ०—वैष्णव संप्रदाय के संन्यासियों का एक भेद।

गोकळेस–सं०पु०यौ० [सं० गोकुल+ईश] श्रीकृष्ण (अ.मा., नां.मा.)

गोकुळ–सं०पु० [सं० गोकुल] वह गांव जहाँ श्रीकृष्ण ने अपनी बाल्यावस्था बिताई। यह गाँव मथुरा नगर से पूर्व-दक्षिण की ओर तीन कोस की दूरी पर यमुना के दूसरे किनारे पर बसा हुआ था। आजकल यहाँ जंगल बना हुआ है।

कहा०—गोकुळ गांव रौ पेंडौ ही न्यारौ—गोकुल गाँव की अपनी लीला ही निराली है। जिस गाँव में नित्य विशेष या असाधारण घटनायें घटती हैं उसके प्रति।

गोकुळचंद, गोकुळचंद्र, गोकुळनाथ–सं०पु०—१ ईश्वर. २ श्रीकृष्ण।

गोकुळस्थ–वि०—१ गोकुल गाँव में स्थित. २ गोकुल-निवासी।

गोकुळसरजी–सं०पु०यौ० [सं० गोकुल+ईश्वर रा० जी] १ ईश्वर. २ श्रीकृष्ण।

गोखंबर–सं०पु०—जालीदार कपड़ा।

गोख–सं०पु० [सं० गोक्ष, गवाक्ष] १ झरोखा, वातायन।
उ०—अनूप ताक गोख स्री विचित्र चित्र सूं अटा, घणू उतंग अंग जांणि स्रंग मेघ री घटा।—रा.रू.
२ आँख का वह भाग जो नाक के मूल में है। उ०—पछै आंख्यां रा गोख, कांनां रा मोर छांटिया, तीखा कुरळा कीया, घड़ी एक अमल नै पोढ़ाड़ियौ।—जैतसी ऊदावत री वात
३ कान का विवर। उ०—तठै जाय घोडा सूं ऊतरिया, हथियार खोल्या, गंगाजळी बादळी जळ सूं भरि लाया। घोड़ां रा लालिया छांटचा। आप आंख्यां छांटी, कांनां रा गोख छांटचा। चावड़ी मुख धोयौ, ठंडाई कीवी।—जगदेव पंवार री वात
४ राजस्थानी का एक गीत (छंद) विशेष जिसके प्रत्येक पद में २० मात्राएँ होती हैं किन्तु प्रथम पद में २३ मात्राएँ होती हैं। चौथे चरण में पाँच मात्राओं वाला शब्द चार बार आता है। इस गीत को जंघखोडा भी कहते है।
म०स्त्री०—५ सीमा, हद। उ०—१ ऐ दिन पहर एक चढ़ता ढीगसर रै गोखै में सांढियां रा गळा माम्हा आया सो घेर ले घेरिया।
—सूरे खीवे कांधळोत री वात
उ०—२ इतरै पण चार दिन पाछै आय गोखै उतर कुवरजी गोठ करी। माग साथ नू केसरिया किया व लोगा बडवेहडा वधाइया, नजर नछरावळ कीवी।
—कुंवरसी साखला री वारता

गोखड़ौ—१ देखो 'गोख' (१) (अल्पा०) उ०—ऊंचा रांणाजी रा गोखड़ा जी, नीची मीरांबाई री साळ। रमतां तो पायौ मीरां कांकरौ कोई सेवा साळिगराम।—मीरां
२ मकान की खुली 'साळ' (देखो 'साळ') के मुख्य द्वार के पार्श्व में लम्बी पट्टी लगा कर बनाया गया ताक।

गोखरू–सं०पु० [सं० गोक्षुर] १ वर्षा ऋतु मे पनपने वाला एक पौधा जिसमें चने के फल के आकार के कड़े और कँटीले फल लगते हैं। ये फल औषध के काम में लिए जाते हैं और वैद्यक में इन्हें शीतल, मधुर, पुष्ट, रसायन, वायु, अर्श और व्रणनाशक कहा है. २ गोखरू फल के आकार के बने धातु के कँटीले टुकड़े जो हाथियों को पकड़ने के लिए उनके रास्ते में फैला दिए जाते हैं. ३ स्त्रियों की कलाई का एक आभूषण जो कड़े के आकार का होता है।

गोखरूकांटी–सं०स्त्री०—१ जमीन पर छितराने वाला एक प्रकार का क्षुप जिसके फल 'गोखरू' के समान होते हैं (मि०—गोखरू)
२ इस क्षुप के फल।

गोखांनौ—देखो 'गऊखांनौ' (रू.भे.)

गोखुर–सं०पु०—गाय का खुर, गौ का खुर ।

गोखौ–सं०पु० [सं० गोक्ष, गवाक्ष] १ देखो 'गोख' (रू.भे.)

२ डिंगल का एक गीत (छंद) विशेष जिसके हर द्वाले में आठ चरण होते हैं । प्रत्येक चरण में १२ मात्रायें और अंत में गुरु लघु होता है ।

गोग–सं०पु०—१ झाग, फेन । उ०—ऊगते री माछळी, आथमते री माग । डंक कहै सुण भड्डळी, नदिया चढसी गोग ।

२ साँप, सर्प । —भड्डळी पुराण

गोगघोड़ी–सं०पु०—वर्षा ऋतु में घास में उत्पन्न होने वाला लम्बी टांगो का एक प्रकार का कीट जो प्राय: आक के वृक्ष पर बैठता है । रंग-भेद से यह तीन-चार प्रकार का होता है ।

गोगण–सं०पु०यौ० [सं० गौ+गण] गायो का समूह । उ०—कनक कोस सीगां सजे, रजत खुरा अभिराम । इम गोगण दीधौ अधिप, नियत उचारण नाम ।—वं.भा.

गोगरा–स०स्त्री०—गंगा की सहायक नदी, घाघरा ।

गोगळी–सं०स्त्री०—भाटी वंश की एक शाखा ।

गोगा–सं०स्त्री०—राठौड़ो की एक शाखा (बां दा.ख्यात)

गोगाआंगळी–सं०स्त्री०यौ०—अनामिका और तर्जनी के बीच की एक अंगुली मध्यमिका ।

गोगाजी री मासी–सं०स्त्री०—छिपकली जाति का एक जंगली जन्तु जो अधिकतर कँटीली झाडियों में रहता है ।

गोगादे–सं०पु०—१ राठौड राव वीरम के पुत्र गोगादे के वंशज, राठौडो की एक उपशाखा. २ देखो 'गोगौ' (रू.भे.)

गोगानम–स०स्त्री०—भाद्रपद शुक्ला नवमी । इस दिन सर्पों की पूजा की जाती है ।

गोगापीर—देखो 'गोगौ' (रू.भे.)

गोगामेड़ी–सं०स्त्री०—चौहान गोगादेव का जन्म-स्थान ।

गोगाराखड़ी–सं०स्त्री०—गोगापीर के नाम पर बांधा जाने वाला धागा जिसे किसान प्राय: वर्षा ऋतु में प्रथम बार हल चलाने के समय अपने हाथों मे बांधते हैं (तांत्रिक)

वि०वि०—देखो 'गोगौ' ।

गोगावत–सं०पु०—कछवाहा वंश की एक शाखा ।

गोगी—१ देखो 'घुग्घी' (रू.भे.) २ मुँह पर आने वाले भाग ।

गोगौ–स०पु०—१ प्रसिद्ध गोगादेव चौहान ।

वि०वि०—गोगादेव बीकानेर राज्य के रतनगढ के ददोडा गांव के ठाकुर जेहँवर के पुत्र थे । इनका विवाह राठौड पाबूजी की भतीजी केलण दे के साथ हुआ था । इन्होने तत्कालीन दिल्ली के बादशाह शमसुद्दीन अल्तमिश के पुत्र रुक्नुद्दीन फिरोजशाह के साथ भारी युद्ध कर उसको परास्त किया था । उस युद्ध में इनके दो भाई मारे गये थे । युद्ध से लौटने पर इनकी माता ने भाइयों के मरने एवं इनके जीवित लौटने पर इनको धिक्कारा था अत: ये वापस लौट गये और जीवनपर्यन्त छिप कर रहे । भाद्रपद मास के शुक्ल पक्ष की नवमी को समस्त राजस्थान में इनकी तिथि मनाई जाती है । कहा जाता है कि इस दिन ये एक युद्ध में वीर गति को प्राप्त हुए थे । इन्हें आज भी देवता के समान पूजा जाता है ।

२ इन्ही गोगादेव चौहान की प्रशंसा मे गाया जाने वाला एक लोक-गीत ।

कहा०—गोगौ गायौ गीतां री छेह आयौ—गोगा नामक गीत गाया और गीतों का अन्त आया । गोगा नामक गीत सब के अन्त में गाया जाता है ।

३ सर्प, साँप, नाग ।

गोगोचर–स०पु० [सं०] १ ईश्वर (ना.मा) २ श्रीकृष्ण ।

गोग्रास–स०पु० [सं० गौ ग्रास] भोजन प्रारम्भ करने के पूर्व परोसी हुई सामग्री मे से थोडा सा गौ के लिये पृथक कर रख दिया जाने वाला भाग ।

गोघड़–स०स्त्री०—एक पुतली जो वैवाहिक रस्म के अनुसार बनाई जाती है ।

गोघाट–सं०पु०यौ०—जलाशयो पर पशुओ के पानी पीने के निमित्त बना हुआ ढलुवाँ घाट ।

गोघात–स०स्त्री० [सं०] गौहत्या, गोवध ।

गोघातक–सं०पु०—गौ-हिंसक, गौ-हत्यारा ।

गोघी—१ देखो 'घुग्घी' (रू.भे.) २ देखो 'घुग्घी' (रू.भे.)

गोघोख–सं०पु०—गौशाला । उ०—सयोगिणि चीर रई कैरव स्त्री, घर हट ताळ भमर गोघोख । दिणियर ऊगि एतला दीघा, मोखियां बंध बधिया मोख ।—वेलि.

गोड़–सं०पु०—१ समूह, झुंड । उ०—गाजिया नगारा गयण गाज, भूमी एवासी गया भाज । गैमरा हैमरां थीय गोट, तरवरा झगरां दीह तोड ।—वि.स.

२ नाश, सहार. ३ देखो 'गौड' (रू.भे.)

सं०स्त्री०—४ ललकार, वीरहाक. ५ नदी में वेगपूर्ण प्रवाह की आवाज या ध्वनि. ६ मस्ती की अवस्था मे हाथी द्वारा की जाने वाली ध्वनि । उ०—पैदल हैदल पूर सदाई संग चडै, नित नौबत नीसाण गढ़ा सिर गडगडै । गोड़ करै गजराज खभा नित खोलणा, एता दै किरतार फेर नहिं बोलणा ।—अज्ञात

गोड़णी, गौड़बौ–क्रि०अ०—१ हाथी का चिग्घाड़ना । उ०—कळह गोडिया गइंदा ।—भगवानजी रतनू २ प्रहार करना ।

उ०—विहद मचे धम गजर, किरमर अरि सिर गोड़े । केई-केई कर किलक, धजर अरि उवर धमोडे ।

—प्रतापसिंह म्होकमसिंह री वात

गोड़ांग–सं०स्त्री०—एक पक्षी विशेष जो कुछ लम्बे कद का होता है । इसका मांस खाने के काम मे भी लिया जाता है ।

गोड़ारव–सं०स्त्री०यौ०—समुद्र मे लहरो के टकराने मे उत्पन्न ध्वनि ।

उ०—सायर गोड़ारव करै, जाका थाग न पाया ।—केसोदास गाडण

गोड़ियाबाजी—देखो 'गौड़ियाबाजी' (रू.भे.)

गोड़ियौ—देखो 'गौड़ियौ' (रू.भे.)

गोड़ींदौ—सं०पु० [अ० गोइन्दः] १ मुखबिर. २ गुप्तचर, भेदिया ।

गोड़ी—सं०स्त्री०—हाथी की चिंघाड़ ।

गोड़ीड़—वि०—हृष्ट-पुष्ट, मोटा-ताजा. २ विशालकाय, दीर्घकाय ।

गोड़ीजी—सं०स्त्री०—एक देवी का नाम ।

गोड़ीर—वि०—१ देखो 'गोड़ीड़' ।

सं०पु०—२ देखो 'गोड़ीरव' (रू.भे.)

गोचणी—सं०स्त्री०—गेहूँ और चने का मिश्रण (क्षेत्रीय)

गोचर—सं०पु० [सं०] १ गौओं के चरने का स्थान, चरागाह. २ वह विषय जिसका ज्ञान इंद्रियों द्वारा हो सके. ३ किसी मनुष्य के प्रसिद्ध नाम की राशि के अनुसार गणित करके निकाले हुए ग्रह जो जन्म-राशि के ग्रहों से कुछ भिन्न होते हैं और स्थूल माने जाते हैं (ज्योतिष)

यौ०—गोचर-ग्रह ।

गोचरी—सं०स्त्री०—१ योग की एक मुद्रा विशेष. २ कपट से बचाया हुआ धन. ३ जैन यतियों या साधुओं द्वारा मांगी जाने वाली भिक्षा. ४ भिक्षावृत्ति ।

क्रि०वि०—गुप्त रूप से ।

गोचार—१ देखो 'गोचर'. २ ग्वाला, गोप ।

गोजरी—सं०पु०—गेहूँ और जौ का मिश्रण ।

गोजारौ—देखो 'गुजारौ' (रू.भे.)

गोजीत—वि०—जिसने इंद्रियों को वश में कर लिया हो, जितेंद्रिय ।

गोट—सं०स्त्री० [सं० गोष्ठ] १ किनार, किसी प्रकार का किनारा. २ वह फीता जो किसी वस्त्र के किनारे पर खूबसूरती के लिये लगाया जाता है । उ०—हंसै किण बनडी तणौ सुहाग, बादळी झीणी घूंघट ओट । बीखरै डावर नैणां लाज, चमक्कै चोखी कोरां गोट ।—सांझ

(यौ०—गोट-किनार)

३ काष्ठ की बनी वस्तु के किनारों की खूबसूरती हेतु लगाई जाने वाली अर्द्ध गोलाकार लकड़ी ।

[सं० गुटिका] ४ चौसर या किसी अन्य खेल का मोहरा, गोटी ।

सं०पु० [रा०] ५ वातचक्र, तूफान, अंधड़ । उ०—अळगा उडै खंख रा गोट, टोकरां टणमणाती टणकार । खुड़कै गायां हंदा लांठ, सुणीजै बंसी री झणकार ।—सांझ ६ समूह । उ०—बोलां में ओछा विदर, मोलां में नह मोट । पोळां में परताप रै, गोलां वाळी गोट ।

—ऊ.का.

गोटकौ—सं०पु०—१ वह सूखी कचरी (काचर) जिसका छिलका उतरा हुआ हो. २ पुस्तक का कोई छोटे आकार का संस्करण, गुटका. ३ एक मंत्र विशेष ।

गोट-गूगरी—देखो 'गोठ-गूगरी' (रू.भे.)

गोटमगोट—वि०—अंधाधुंध, बेढंगा, अव्यवस्थित ।

सं०पु०—बड़ी राशि, बड़ा समूह ।

गोटाजाय—सं०पु०—एक पुष्प विशेष ।

गोटाळौ—सं०पु०—घोटाला, गड़बड़ ।

गोटियौ—सं०पु०—मित्र, दोस्त ।

गोटीबौ—सं०पु०—खरबूजा ।

गोटी—सं०स्त्री० [सं० गुटिका] १ चौसर, शतरंज आदि खेलों का मोहरा. २ उपाय, तरकीब, युक्ति. ३ टिकिया, गोली ।

उ०—१ माथै मैंगळ खाग, तैं वाही परतापसी । बाट किया वे भाग, गोटी साबू तांत गत ।—सूरायचजी टापरचौ

उ०—२ तिण हीज वेळा आपरा कड़ा, मोती, सिरपाव दीधा नै अमल री गोटी एक, मिठाई री करंडियौ, दारू री बतक, पांनां सूं भरनै पांनदांन दीधौ ।—जैतसी ऊदावत री वात

सं०पु० [सं० गोष्ठी] ४ मित्र, साथी, सहपाठी ।

कहा०—गोटीपणा मांये गोडा रगड़वा पड़ै—मित्रता निभाने के लिए कठिन से कठिन कार्य भी करना पड़ता है ।

गोटीजणौ, गोटीजबौ—क्रि०अ०—१ ऊँट के बदहजमी का रोग होना. २ दम घुटना, मूर्छित होना. ३ विशूचिका रोग से पीड़ित होना ।

गोटीजणहार, हारौ (हारी), गोटीजणियौ—वि० ।

गोटीजिओड़ौ, गोटीजियोड़ौ, गोटीज्योड़ौ—भू०का०कृ० ।

गोटेमिसूर—सं०पु०यौ०—सुनहले या रुपहले बादलों का बुना हुआ पतला फीता जो प्रायः सुन्दरता के लिए वस्त्रों के किनारे पर लगाया जाता है । उ०—गोटेमिसूर री थांरी घण खण लियौ जी म्हारा राज ।—लो.गी.

गोटौ—१ देखो 'गोट' १, २ (रू.भे.) उ०—बिहद कोर गोटे बणै, पातर रै पोसाक । परणी फाटै पूंगरण, बैठी फाड़ै बाक ।—बां.दा.

२ वात-चक्र, बवंडर, अंधड़ । उ०—दुसमणां री छाती में हौल खाडा पड़ण ढूक जावै वाडहोला (भै'रा गोटा ऊठै छाती में) निजर पड़तां ही अरसिया ही ओडी ओळा ताक ताक नै कहै ।—बी.स. टी.

३ छिलका उतरा हुआ नारियल. ४ दम घुटने का भाव ।

५ हैजा रोग. ७ उन्माद रोग, पागलपन ।

मुहा०—गोटौ ऊठणौ—उन्माद में होना ।

८ गड़बड़ी ।

मुहा०—१ कांम रौ गोटौ करणौ—जल्दबाजी से अव्यवस्थित रूप में कार्य करना ।

२ गोटौ वाळणौ—कार्य को बेढंग से पूर्ण करना, किसी कार्य में गड़बड़ी करना ।

९ इन्द्रजाल । उ०—जांमण मरण मरण फिर जांमण, जग नट गोटौ जांणै । सो दुख मेट अखै पद समपण, केसव नांम कहांणै ।—र.ज.प्र.

१० रस्सी, नेवार आदि को लपेट कर बनाया गया गोला ।

गोठ—सं०स्त्री० [सं० गोष्ठी] १ मित्र-मंडली का वह सामूहिक भोजन

जो किसी बड़े व्यक्ति के सम्मान में, किसी सुअवसर पर या सुन्दर मौसम के समय किया जाता है। उ०—१ माता कहै आज सारा घर रा तौ गोठ में गया।—वी.स.टी. उ०—२ रावळ आप नांन्हा बेटा रै कोड रै वासतै आयौ। पैंहलै दिन वीमाह हुवौ नै वीजै दिन गोठ की नै साथ सदोरौ हुवौ; तठै चूक करनै विजैराव नूं मांणस ७५० सूं मारियौ।—नैणसी

२ मेहमानदारी, मिहमानी। उ०—भोजन विविध चाव भूंजाई, सदा नवनवी गोठ सवाई। चावा मवद कहै नित चावां, अकसौ सिरै तणौ उमरावां।—रा.रू.

३ टोली, दल, गोष्ठी। उ०—ठठोर सत्रु गोठ की जवांन गोठ लें जवे, वडी मठोठ में वहैं दु होठ दंत तें दवें।—ऊ.का.

४ समूह, झुंड दल. ५ छोटा गाँव, खेड़ा। उ०—नहीं तूं ठोड नहीं तूं ठांम, नहीं तूं गोठ नहीं तूं गांम।—ह र.

यौ०—गाव-गोठ।

[सं० गुटिका] ६ चौसर या किसी अन्य खेल की गोटी, मोहरा.

उ०—साळै वैहनोई रै घणौ सुख छै सु एक दिन चोपड़ रमता छा सु राज रा हाथ सूं गोठ मारतां चिरफाट उछळी सु लाखै रै निलाड़ लागी।—नैणसी

[रा०] ७ पशुओं को रखने का अहाता। (क्षेत्रीय)

गोठ-गुघरी, गोठ-गूगरी —देखो 'गोठ' (अ.मा.) उ०—आंमा-सांमा कुसळ पूछ्या। घणी मांन-मनवार हुई। असल आगराई रा फूल सभा मांहै फेरिया। वडी गोठ-गुघरियां हुई।—वात रीसालू री

गोठड़ी—देखो गोठ' (अल्पा०) उ०—म्हारै घर आवौ स्याम, गोठड़ी कराइयै।—मीरां

गोठांण—सं०पु०—गायों को बांधने का स्थान। उ०—ऊंचौ सो पीपळ कोपल्यो हो देव। वठै वैठी गाय गोठांण।—लो.गी.

गोठि—सं०स्त्री० [सं० गोष्ठी] गोष्ठी, सभा (ह नां.)

गोठियौ—सं०पु० (स्त्री० गोठण, गोठणी) १ दोस्त, सखा, मित्र।

उ०—तरै आ वात पातसाहजी सांभळी सु पातसाह रै कपूरो मरहठौ पंचहजारी उमराव थौ, तिण पातसाह नूं मालम कियौ—'मूळराज कमालदी सोगटै रमै छै। गोठिया हुवा रहै छै'। —नैणसी

कहा०—गूगरियां रा गोठिया खाय पीय नै ऊठिया—गेहूं के उवाले हुए (गूगरी) दानों के ही प्रेमी हैं, बस खाये और उठ गये। स्वार्थी मित्रों के प्रति। पति के अतिरिक्त अन्य प्रेमी, यार। उ०—ढोला, खील्योरी वहइ, सुणे कुड़ंगा वैण। मारू म्हांजी गोठणी, सै मारूंदा सैण।—ढो.मा.

२ प्रेमी, प्रियतम.

गोठीपण, गोठीपणौ—सं०पु० [सं० गोष्ठी] १ मित्रता, दोस्ती.

२ प्रेम, प्यार।

गोड—सं०पु०—१ वृक्ष का तना. २ वाजीगर. ३ जड़, मूल।

उ०—वड़ला काय सूं वंधाऊं थारी पाळ, काय सूं सिंचाऊं थारौ गोड।—लो.गी.

४ एक प्रकार का पौधा जिसकी जड़ खाने के काम में लाई जाती है, मूली।

गोडणौ, गोडवौ—क्रि०स०—किसी भूमि की मिट्टी को कुछ गहराई तक खोद कर उलट-पुलट देना जिससे वह पोली और भुरभुरी हो जाय।

गोडवणौ, गोडववौ—क्रि०स०—१ गिराना, पटकना। उ०—चांच पंखां करि गोडवियौ राखस गिरध।—रा.रा.

२ देखो 'गोडणौ, गोडवौ' (रू.भे.)

गोडवाड़—सं०स्त्री०—जोधपुर डिविजन के दक्षिणी-पूर्वी भाग का नाम जो पाली जिले में आया हुआ है। यहाँ पहले गौड़ वंशी क्षत्रियों का राज्य था।

गोडवाड़ी—सं०उ०लि—१ गोडवाड का निवासी.

सं०स्त्री०—२ गोडवाड़ की भाषा।

वि०—गोडवाड संवंधी, गोडवाड़ का।

गोडवाड़ौ—देखो 'गोडवाडी' (१)

गोडां—क्रि०वि०—पास, निकट। उ०—मिरजौ विहूं फोजां विचाळा अर पातिसाह रा गोडां होइ नीसरियौ।—द वि.

गोडाई—सं०स्त्री०—गोडने की क्रिया।

गोडाकूट—सं०पु०- -वह ऊंट जो वैठने पर निरन्तर अपना घुटना भूमि पर पटकता रहता है (अशुभ)

गोडाटी—देखो 'गौडाटी' (रू.भे.)

गोडाणौ, गोडावौ—क्रि०स० ('गोडणौ' का प्रे०रू०) गोड़ने का कार्य कराना।

गोडापाही—सं०स्त्री०—एक प्रकार का कठोर दंड।

वि०वि०—देखो 'गोडालकड़ी'।

गोडाफोड़—सं०पु०—ऊंट का कुलक्षण (मि०—गोडाकूट)

गोडाळ—सं०पु०—घुटनों पर झुकने का भाव। उ०—मछराळ खेंगाळ सुताळ मतौ। रोहराळ वंवाळ भालाळ रतौ। हाडाळ गोडाळ डालाळ हुआ। जांण साल जंझाळ जड़ाव जुवा।—पा.प्र.

गोडालकड़ी—सं०स्त्री०—एक प्रकार का कठोर दंड।

वि०वि०—इसमें दोनों हाथों को कलाई पर एवं दोनों पैरों को टखनों पर रस्सी से बांध दिया जाता है। घुटनों को समेट कर डंडा दोनों कुहनियों एवं घुटनों के वीच में से निकलता हुआ रखा जाता है। कभी-कभी डंडे के वीच में रस्सी बांध कर छत से लटका दिया जाता है।

क्रि०प्र०—करणी, देणी।

गोडाळियां, गोडाळियै—देखो 'गुडाळियां' (रू.भे.)

वि०वि०—छोटे वच्चे प्रायः पशुओं के समान दोनों पैर और दोनों हाथ जमीन पर लगा कर घुटनों के वल चला करते हैं।

गोडावण—सं०स्त्री०—एक पक्षी विशेष।

(मि०—'गोड़ांण')

गोडि–क्रि०वि०—पास, निकट। उ०—एक तौ सगाई की सनस मन मांहि आवै लागी और रुखमणीजी गोडि बैठा छै मु मारिबा कौ तो मतौ छोटचौ।—वेलि. टी.

गोडिय–देखो 'गोडी'। उ०—जभतयौ वड़ धूंणव खाय भको। तद गोडिय भूम प्रभंक टको।—पा.प्र.

गोडियौ–सं०पु०—१ उन दो डंडों में से एक डंडा जिसमें घूमने वाली चकरी की धुरी के दोनों छोर फंसाये हुए रहते हैं (कृषि) २ उन दो डंडों में से एक डंडा जिनमें रहँट को उलटा घूमने से रोक के लिये 'डूग्रा' (देखो 'डूग्रा') अटकाया हुग्रा रहता है.

३ देखो 'गोड' (अल्पा०) ४ घुटना (अल्पा०) ५ वह चमड़े की पट्टी जिस पर घूँघरु बँधे रहते हैं। यह पट्टी ऊँट के बटने पर शृंगार एवं मधुर ध्वनि के लिये बाँधते हैं।

गोडी–सं०स्त्री०—१ ऊँट के किसी एक अगले पैर को घुटने के साथ बाँधने का ढंग या इस प्रकार बाँधने का बंधन (क्षेत्रीय) २ उद्दंड गाय या बैल के सींग और अगले पैर के एक घुटने को एक साथ एक रस्सी से बांधने का ढंग. ३ घुटना। उ०—१ झीणी-झीणी वेळूड़ी री रेत, म्हारै बवळै गोडी ढाळ दी।—लो गी.

उ०—२ मोडी गोडी दे पसवाड़ा मोडै, तड़छां वातोडी घडछा तन तोड़ै।—ऊ.का. ४ सूत कातने या कपास ओटने की चरखी के चक्र के दोनों ओर लगाये जाने वाले दो डंडों में से एक।

५ सरदार (ढोलियों की सांकेतिक भाषा)

गोडीरव–सं०पु०—समुद्र (ह.नां)

गोडूंदौ–सं०पु०—१ हिंदवानी. २ तरबूज।

गोडै–क्रि०वि०—पास, निकट सम्मुख। उ०—मेलै मांग दुगांणी मागै, सब ही आगै नमावै सीस। गोडै बैस डील गणावै, ऊंडै पेम भज्यौ नहि ईस।—ओपौ आढ़ौ

गोटौंण—देखो 'गोटांण' (रू.भे.)

गोडौ–सं०पु०—१ पैर और जंघा के बीच का जोड़, घुटना।

मुहा०—१ गोडा देणा—किसी को हानि पहुँचाना. २ गोडा रगड़णा—कष्ट उठाना, परिश्रम करना, नीचे घुटने के बल गिर पड़ना. ३ गोडा गाळणा—परिश्रम से आयु बिताना, मेहनत करना. ४ गोडा हालणा—परिश्रम करने की सामर्थ्य होना, स्वस्थ होना. ५ चाखै तो चांदी नै रगड़ै तो गोडा—उस स्थान के प्रति जहां कुछ भी हाथ न लगे।

कहा०—१ गोडा तो पेट नै ही निवसी—घुटने तो पेट की ओर ही झुकेंगे। अपने ही आदमी को सब चाहते हैं. २ गोडा हालै जितरै कमाय खाग्रो—शरीर से परिश्रम होता है जब तक कमाये जाग्रो. ३ होडां-होड (होडा-होड) गोडा फोड़णा—देखा-देखी करना, व्यर्थ की नकल करना।

२ बैलगाड़ी के नीचे लगाया हुग्रा वह डंडा जिस पर गाड़ी का चौड़ा तख्ता (धाटा) स्थिर रहता है और जिसके एक सिरे में पहिये की धुरी रहती है. ३ देखो 'गोडी' (४)

गोडौबोळावण–सं०स्त्री०—मृत व्यक्ति के संबंधियों के स्थान पर जाकर समवेदना प्रकट करने की क्रिया। उ०—उदेकरण कहायौ कै रावजी स्री लूणकरणजी कांम आया तिणसूं म्है तौ गोडौबोळावण आया हां। (मि० 'मोंखांण') —द.दा.

गोढ़—देखो 'गोड' (रू.भे.)

गोढ़ल–क्रि०वि०—निकट, पास। उ०—दुर्ग्योधर बोलक नांदरियौ, यम ही गिर गोढ़ल ऊतरियौ।—पा.प्र.

गोढ़ला–सं०स्त्री०—पड़िहार वंश की एक शाखा।

वि०—पास के, निकट के।

गोढ़वाड़, गोढ़ांण—देखो 'गोडवाड़' (रू.भे.)

गोढ़ां, गोढ़ा, गोढ़ि, गोढ़ी, गोढ़ै–क्रि०वि०—पास, निकट।

उ०—१ आंना अथ आंना अरथ, तुरत बिगाड़ै तांन। बदलै तुसरै वांणियौं, धुर गोढ़ा लै थांन।—बां.दा. उ०—२ राव रावत रावळ के राजा, रांणहरै राखियौ रिण। तूं हिंदवांण धणी 'पातल' तण, तो गोढ़ां मांगजे तिण।—दुरसौ आढ़ौ उ०—३ ओछी अंगरखियां दुपटी छित्र देती, गोढ़ै वरड़ी जे पूरा गांमेती।—ऊ.का.

गोण–सं०पु० [सं० गम] १ गमन। उ०—१ आज सखी हम यूं सुण्यौ, पौ फाटत पिव गोण। पौ अर डिवड़ै होड है, पहली फाटै कोण।
—अज्ञात

२ आसमान, आकाश। उ०—सीघलउ माहि खेतसी सेर, भारी दुरंग गढ़ भट्टनेर। रउद्रमइ फेरियउ चक्र राह, गाजिया गोण चउहूं गमाह।—रा.ज.सी. ३ भूमि, पृथ्वी। उ०—वाजिया ढोल दळ हाक वज्जि, गाजिया गोण गइणाग गज्जि।—रा.ज.सी.

गोणियौ—देखो 'गूणियौ' (रू.भे.)

गोणौ–सं०पु० [सं० गमन] विवाह के कुछ समय बाद की एक रस्म या प्रथा जिसमें वर अपने ससुराल जाता है और कुछ रीति-रस्म पूर्ण करके वधू को अपने साथ घर ले आता है। (मि०—मुकलावौ)

गोत–स०पु० [सं० गोत्र] १ कुल, वंश, खानदान। उ०—मोनूं तौ इण धरती मांही क्यूंही चाहीजे नही तिणसूं हू गोत री लोही कांहीं नूं ढोळूं।—ठाकुर जैतसी री वारता

कहा०—गोत री गाळ भैंस नै भी खारी लागै—वंश की गाली या वंश के प्रति अपशब्द भैंस जैसे जानवर को भी बुरे लगते हैं अर्थात् कुल के प्रति कलंक की बात सबको असह्य है।

२ समूह, दल. ३ गायब या लुप्त होने का भाव।

मुहा०—गोत मनावणौ—काम से गायब रहना।

गोतकदम–सं०स्त्री०—वंश या गोत्र के व्यक्ति की हत्या का पाप।

उ०—पछै रावत मेघ हीज विचार कर दीठो, घर एक छै, गोतकदम हुसी।—नैणसी

गोतण–सं०स्त्री०—गोत्र या कुल में जन्म लेने वाली स्त्री।

उ०—कै थारे रे वीरा, जलमी छै धीव, कै वड गोतण भावज वरजिया जे।—लो.गी.

गोतणौ—देखो 'गोथणौ' (रू.भे.)

गोतभाई–सं०पु०—एक ही गोत्र में उत्पन्न होने वाला व्यक्ति।

गोतम–सं०पु०—१ गोत्रप्रवर्तक ऋषि. २ एक मंत्रकार ऋषि. ३ देखो 'गौतम' (रू.भे.) ४ महात्मा बुद्ध. ५ गोतम ऋषि के वंशज. ६ एक क्षत्रिय वंश।

गोतमसुता–सं०स्त्री०—गौतम ऋषि की पुत्री, अंजना (र.रू.)

गोतमी–सं०स्त्री०—१ गौतम ऋषि की स्त्री अहिल्या का एक नाम. २ गोदावरी नदी. ३ दुर्गा. ४ कृपाचार्य्य की स्त्री।

गोतम्म—देखो 'गोतम' (रू.भे., र.रू.)

गोतर—देखो 'गोत्र' (रू.भे.)

गोतराड़—देखो 'गोतार' (रू.भे.)

गोतहत्या–सं०पु० [सं० गोत्रहत्या] वंश या गोत्र के व्यक्ति की हत्या या इस प्रकार की हत्या का पाप। उ०—वीजे घणौ ही कह्यौ, सकतावत प्रवाड़ा वघसी। इण आगा कठेही फिर सकां नहीं। पिण मेघ कह्यौ—जांणे सु दुनी कहौ मोनूं तौ गोतहत्या नहीं हुवै।—नैणसी

गोताखोर, गोतामार–सं०पु० [अ०] डुबकी लगाने वाला, पानी में गोता लगाने वाला।

गोतार–सं०पु० [सं० गो+त्रि+रात्रि] एक व्रत विशेष जो भादों मास के शुक्ल पक्ष की अष्टमी, नवमी और दशमी को किया जाता है। दशमी के दिन गौर वर्ण की गाय को जलाशय पर लेजा कर उसकी पूजा करते हैं तथा बाद में फलाहार करते हैं।

गोतिमि—१ देखो 'गोतमी' (रू.भे.) २ देखो 'गोतम' (रू.भे.)
उ०—राघव तणी परसतां पद रज, इमि गोतिमि त्रिया हुऔ उधार।—ह.नां.

गोतियौ–वि० [सं० गोत्र+रा०प्र० इयौ] अपने गोत्र का, गोती।

गोती–वि० [सं० गोत्रीय] समान गोत्र में उत्पन्न व्यक्ति।
उ०—सु जगमाल नूं राव सुरतांण मारियौ, तरै सगर जांणियौ म्हे तौ दीवांण रै ऐन छां, पिण दीवांण छोटा ही गोती रै ऊपर करै छै।—नैणसी
कहा०—एक गोती सौ जाती बरावर व्है—गोत्र या कुल का एक व्यक्ति जाति के सौ व्यक्तियों के बरावर है। अर्थात् गोत्र का व्यक्ति निकटतम सम्बन्धी होता है।

गोतीत–वि० [सं०] जो मानवीय ज्ञानेन्द्रियों के जानने से परे हो, अगोचर।
सं०पु०—ईश्वर, विष्णु।

गोतीरथक–सं०पु० [सं० गोतीर्थक] सुश्रुत के अनुसार फोड़ों आदि को चीरने की एक विधि, जिसके अनुसार अनेक छेद वाले फोड़े चीरे जाते हैं। शल्य चिकित्सा का एक प्रकार।

गोते–वि०—समान, सदृश, तुल्य।

गोतौ–सं०पु०—१ गहरे जल में डुबकी लगाने की क्रिया, डुबकी, गोता।
उ०—ताहरां साहिजादा नूं स्रीजी वांहां गरहि-गरहि अर पांणी मांहे गोतौ दियौ।—द.वि.
२ व्यर्थ का आना जाना, असफल यात्रा, चक्कर।
उ०—मूढ़ मन क्यूं घुड़दौड़ मचावै, खाली गोता खावै।—ऊ.का.
मुहा०—गोता खाणा—भ्रम में पड़ना, विपत्ति में पड़ना, हानि उठाना, चक्कर काटना।
३ धोखा।

गोत्त-गोवाळ–वि०—वंश-रक्षक, गोत्र-रक्षक। उ०—'मालौ' 'वीरम' मंडळी गाढ़िम गोत्त-गोवाळ।—रा.ज.रासौ

गोत्र–सं०पु० [सं०] १ वंश, कुल, खानदान (रू०भे०—गोत) २ कुल या वंश की संज्ञा जो उस कुल के किसी मूल पुरुष के अनुसार होती है. ३ पर्वत, पहाड़ (ह.नां.) ४ पत्थर (ह.नां., अ.मा.) ५ संतति, संतान. ६ बंधु, भाई। ७ समूह, जत्था, झुंड।

गोत्र-गवाळ—देखो 'गोत्त-गवाळ'। उ०—दळपत्त छात्रपत मालदे, गढ़पत्त गोत्र-गवाळ। सत दत्त लूंणकरन्न समवड़ वडै विरद विसाळ।—नैणसी

गोत्रज–सं०पु०—१ एक ही गोत्र में उत्पन्न व्यक्ति. २ शिलाजीत. ३ पत्थर।

गोत्रजण–सं०स्त्री०—पड़िहार वंश की आराध्य देवी (वां.दा.ख्यात)

गोत्रभिदी, गोत्रभेदी–सं०पु० [सं० गोत्रभेदिन्] १ इन्द्र (अ.मा., नां.मा.) २ वज्र (अ.मा.)

गोत्रसुता–सं०स्त्री० [सं०] पार्वती, गौरी।

गोत्रहर–सं०पु० [सं०] वज्र।

गोत्रहरी–सं०पु०—इन्द्र (अ.मा.)

गोत्रा–सं०स्त्री०—१ पृथ्वी (नां.मा., ह.नां.) २ गाय।

गोत्राड़—देखो 'गोतराड़' (रू.भे.)

गोत्राचार–सं०पु०—विवाह आदि अवसरों पर कुलपुरोहित द्वारा कराया जाने वाला गोत्र का उच्चारण।
वि०वि०—यह गोत्रोच्चारण कन्या और वर का पिता करता है।

गोत्री–वि० [सं०] समान गोत्र वाला, गोत्रज।

गोथणी–सं०स्त्री० [सं० गोस्तनी] मुनक्का, दाख (डिं.को.)

गोथणौ–सं०पु० (बहु०—गोथणा) हरीसा के उस छोर पर लगने वाली काष्ठ की छोटी कील जहां जुंआ बांधा जाता है। ये गाय के स्तन के आकार की होती हैं।

गोथळी–सं०स्त्री० [सं० गुद=परिवेष्टने] थैली। उ०—निठ दो तीन सेर आटौ जिको वड़ै जतन सूं गोथळी में घाल लियौ।—नैणसी (देखो 'कोतळी'—रू.भे.)

गोदंती–वि० [सं० गोदंत] १ कच्चा. २ श्वेत (हरताल)
सं०पु०—एक प्रकार की मणि या बहुमूल्य पत्थर।

गोद–सं०स्त्री०—१ बालकों को उठाने के लिये वक्षस्थल के पास एक या दोनों हाथों को मोड़ कर बनाया जाने वाला घेरा, उत्संग।
२ साड़ी आदि का वह भाग जो वक्षस्थल के पास रहता है, आंचल।

गोदड़–सं०पु०—हिन्दुओं का एक संप्रदाय विशेष या इस संप्रदाय का साधु जो गुदड़ी ही धारण किये रहता है (रा.सा.सं.)

गोदणी–सं०स्त्री०—वह सुई या नुकीला औजार जिससे गोदने का कार्य किया जाता है । चुभाने, गाड़ने या गोदने की कोई वस्तु ।

गोदणौ, गोदबौ–क्रि०स०—१ किसी नुकीली चीज को चुभाना, गड़ाना. २ छेड़छाड़ करना ।

गोदणहार, हारौ (हारी), गोदणियौ—वि० ।

गोदाणौ, गोदावौ, गोदावणौ, गोदाववौ—प्रे०रू० ।

गोदिग्रोड़ौ, गोदियोड़ौ, गोदयोड़ौ—भू०का०कृ० ।

गोदीजणौ, गोदीजवौ—कर्म वा० ।

गोदान–सं०पु० [सं० गोदान] गाय का विधिवत् संकल्प करके ब्राह्मण को दान करने की क्रिया ।

गोदाम–सं०पु० [अं० गोडाउन] वह सुरक्षित विशाल गृह जहाँ वहुत-सा माल-सवाव रक्खा जाता है ।

गोदा, गोदावरी–सं०स्त्री० [सं०] गोदावरी नदी ।

गोदि, गोदी—देखो 'गोद' (रू.भे.)

गोदौ–सं०पु० [सं० गौ] १ युवा वैल, वृषभ. २ सांड ।

गोध–सं०पु०—१ ववूल की फली (क्षेत्रीय) २ मनुष्य, नर (ह.नां.)

गोधन–सं०पु० [सं०] १ गायों का समूह, गायों का झुंड ।

उ०—१ अति सोभ **गोधन** हरित अवनी, सरिस गत जळ सोभणं ।
—रा.रू.

उ०—२ मुरळी कर लकुट लेऊं, पीत वसन धारूं । आछी गोप भेख मुकठ, **गोधन** संग चारूं ।—मीरां २ गौ रूपी सम्पत्ति ।

उ०—भाखा खीणा भड़ एवड़ ले आता, धाया धीणा रा **गोधन** रा घाता ।—ऊ.का. ३ एक प्रकार का तीर जिसका फल चौड़ा होता है ।

गोधम–सं०पु०—झगड़ा, टंटा । उ०—किता कटहड़ा कूदिया चढ़-चढ़ चमकारे, खड़ा थड़ा पड़िया किता क आखे अपणारे । हुवौ धम **गोधम** इसौ, गया जम भी हारे । पांवां तळ दिया पिसण, कुण सके वकारे ।—पदमसिंहजी री वात

गोधर–सं०पु० [सं०] १ पर्वत, पहाड़. २ चंद्रमा (डि.को.)

गोधरम्म–सं०पु० [सं० गोधर्म्म] अपने पराये का कुछ भी विचार न रखते हुए पशुओं की भांति समागम करने का कार्य ।

गोधळियौ–सं०पु०—छोटा वैल । उ०—पहु **गोधळिया** पास, आळूधा अकवर तणा । रांणौ खिमै न रास, प्रधळौ सांड प्रतापसी ।
—प्रथीराज राठौड़

गोधळूक—देखो 'गोधूळक' (रू.भे.) उ०—तीज री **गोधळूक** सावौ ।
—वरसगांठ

गोधा–सं०पु०—सिसोदिया वंश की एक शाखा ।

गोधार–सं०पु०—१ इन्द्र । उ०—किरंटी **गोधार** वाळौ पव्वे पत्रां सीस कना ।—हुकमीचंद खिड़ियौ

[सं०] २ गोह नामक जंतु (डि.को.)

गोधि–सं०स्त्री० [सं०] कपाट, ललाट, भाल (डि.को.)

गोधुळीक–सं०पु०—गोधूलि वेला ।

वि०—देखो 'गोधूळक' (रू.भे.)

गोधुळुक्क–सं०पु०—गायों के खुरों से उड़ने वाली धूलि ।

(मि० गोधूळ)

उ०—असि पाइ खेह ऊडी उलुक्क, गो गइण विची मिळि **गोधुळुक्क** ।
—रा.ज.सी.

वि०—देखो 'गोधूळक' (रू.भे.)

गोधूम–सं०पु० [सं०] गेहूँ (डि.को.)

गोधूळ–सं०स्त्री०—१ संध्या के समय जंगल से लौटने पर गायों के खुरों से उडी हुई धूल. २ वह समय जव इस प्रकार की धूलि उड़ती हो, गोधूलि वेला ।

गोधूळक–सं०स्त्री०—गोधूलि वेला । उ०—तिसैं ऊगा री फौजां रा तूंगा था तिके आय भेळा हुआ । ऊगै साहनै कह्यौ—आज **गोधूळक** रा फेरा लिवाय द्यौ, जावौ तोरण चंवरी जुदी-जुदी वंधावौ ।
—कहवाट सरवहिया री वात

वि०—गोधूलि वेला संवंधी ।

गोधूळकियौ, गोधूळक्यौ–वि०—गोधुलि वेला संवंधी ।

सं०पु०—गोधुलि वेला । उ०—चाकर एक भींवै माता कनै मेल्यौ नै कहायौ **गोधूळक्यां** रौ साहौ छै । वींदणी ले आयौ छूं ।
—कहवाट सरवहिया री वात

गोधूळिक—देखो 'गोधूळक' (रू.भे.) उ०—**गोधूळिक** वेळा जव हुई, जोवा जांन पधारी जूई । तव पिंगळ तेडी सुभ वार, परिणाव्यउ करि मंगळच्यारि ।—ढो.मा.

गोधूळिकियौ—देखो 'गोधूलकियौ' (रू.भे.) उ०—कोई थेट गोडां रै गयां आंटौ उठतौ, आरे करि तोरण वांदि चंवरी मांय सिधाया । **गोधूळिकियां** रा फेरा लीया ।—जगदेव पंवार री वात

गोधेय, गोधेर, गोधेरक–सं०पु० [सं०] गोह नामक जन्तु (डि.को.)

गोधौ–सं०पु०—युवा वैल या साँड । उ०—भूंसर भार न झल्लही, **गोधां** गावड़ियांह । कवियण किण पायौ कुरव, मांगै मावड़ियांह ।—वां.दा.

गोनंद–सं०पु० [सं०] १ कार्तिकेय के एक गण का नाम. २ पुराणों के अनुसार एक देश ।

गोपंगण, गोपंगना–सं०स्त्री० [सं० गोपांगना] गोपियां, गोप जाति की स्त्री । उ०—चीर चोरी तर ऊपर चढ़ियौ, **गोपंगना** तणा गोपाळ । अरज करैं ऊभी जळ अंतर, दे व्रज भूखण दीनदयाळ ।—वां.दा.

गोप–सं०पु० [सं०] १ गौ का पालन करने वाला, गौ की रक्षा करने वाला, ग्वाला. २ गोशाला का अध्यक्ष. ३ भूपति, राजा (ह.नां.) ४ एक गंधर्व का नाम. ५ गले में पहिनने का सोने का आभूषण. ६ श्रीकृष्ण. ७ व्रजभूमि । उ०—अनेक जाति जाति भांत भांत मेघ आरुहै । धुर्य कि मेघमाळ **गोप** सीस कोप धारुहै ।—रा.रू. ८ गाय । उ०—दई राव रै ढल, 'जींद' नै दो गंगाजळ । गढ़वण राखी **गोप** कमंध, पावू कज काजळ ।—पा.प्र.

वि०—गुप्त। उ०—रजस्वला नारीह, कथा गोप किरणनूं कहूं। समझौ हर सारीह, सरम मरम री सांवरा।—रांमनाथ कवियौ

गोपण—देखो 'गोफण' (रू.भे.)

गोपत, गोपति—सं०पु० [सं० गोपति] १ शिव. २ विष्णु. ३ सूर्य. ४ राजा. ५ वृषभ, सांड. ६ ग्वाल, गोपाल. ७ श्रीकृष्ण (अ.मा.)

गोपथ—सं०पु०—अथर्ववेद का एक ब्राह्मण।

गोपद—सं०पु०—पृथ्वी पर पड़ा हुआ गाय के खुर का चिन्ह।

गोपदांन—सं०पु०यौ० [सं० गोप्य+दान] वह दान जिसे देने वाले के सिवाय और कोई व्यक्ति दानदाता का नाम न जान सके। (मि० गुपतदांन)

गोपन—सं०पु० [सं०] गोपनीयता लुकाव, छिपाव।

गोपपति—सं०पु०यौ० [सं० गोप+पति] श्रीकृष्ण (अ.मा.)

गोपांगना—देखो 'गोपंगना' (रू.भे.)

गोपांनसि—सं०पु०—कच्चे मकानों की छत का वह भाग जो दीवार से बाहर निकला होता है। अरवाती, ओलती (मि०—नेव)

गोपाचळ—सं०पु० [सं० गोपाचल] १ ग्वालियर का प्राचीन नाम. २ ग्वालियर के निकट का पर्वत।

गोपाटडा—सं०स्त्री०—एक प्रकार की गोह।

गोपायित—वि० [सं०] गुप्त, रक्षित, गोपनीय।

गोपाळ—सं०पु० [सं० गोपाल] १ गौओं का पालन-पोषण करने वाला, ग्वाला. २ श्रीकृष्ण (ह.नां.) ३ राजा. ४ परमेश्वर (ह.नां.) ५ इन्द्रियों को पालने वाला, मन. ६ एक मात्रिक छंद जिसके प्रत्येक चरण में १५ मात्रायें होती है। इसमें क्रमशः ८ एवं ७ पर यति होती है।

गोपाळक—देखो 'गोपाळ' (रू.भे.)

गोपाळदवास—सं०पु०—एक प्रकार का घोड़ा (शा.हो.)

गोपालदेओत—सं०स्त्री०—भाटी वंश के क्षत्रियों की एक शाखा अथवा इस शाखा का व्यक्ति।

गोपाळी—सं०स्त्री०—१ गायों का पालन करने वाली. २ कार्तिकेय की एक मातृका का नाम।

गोपाळु—सं०पु० [सं० गोपाल] श्रीकृष्ण (अ.मा.) उ०—कोपे कराळू अंध जाळू बंध वाळू बोल ए। सब में गोपाळू है दयाळू, मार डाळू कोल ए।—करुणासागर

गोपाळोत—सं०स्त्री०—राठौड़ वंश की एक शाखा।

गोपि—देखो 'गोपी' (रू.भे.)

गोपिका—सं०स्त्री० [सं०] गोप की स्त्री, अहीरनी, ग्वालिन।

गोपिरासिरमण—सं०पु०—गोपियों के साथ रास लीला करने वाले, श्रीकृष्ण (नां.मा.)

गोपी—सं०स्त्री० [सं०] १ ग्वाले की स्त्री, ग्वालिन, गोप-पत्नी. २ ब्रज की वे युवतियां या वयस्क कुमारियां जो कृष्ण के प्रेम में पगी हुई थी, जिनके साथ कृष्ण ने बाल-क्रीडा या रास-क्रीड़ा की थी। उ०—वहे लार लेवार पिडार वाळे, नवा नेह सूं देह गोपी निहाळे। —ना.द.

गोपीकामोदी—सं०स्त्री०यौ०—कामोद और केदार राग के मेल से बनने वाली एक संकर रागिनी (संगीत)

गोपीचंण—देखो 'गोपीचंदण' (रू.भे.)

गोपीचंद—सं०पु०—भर्तृहरि की बहिन मैनावती के पुत्र कहे जाने वाले एक प्राचीन राजा जिनका राज्य प्राचीन समय में बंगाल के रंगपुर में था। इन्होंने अपनी माता से उपदेश पाकर वैराग्य धारण कर लिया था।

गोपीचंदण, गोपीचंदन—सं०पु०—एक प्रकार की पीली मिट्टी जो द्वारिका के एक सरोवर से निकलती है। वैष्णव लोग इसका तिलक लगाते है। उ०—ततखिणि चडीउ राउळ कान्ह, सवे राउते करचां सनांन। गोपीचंदनि चरच्यां भाळ, कंठि धरी तुळसी नी माळ।—कां.दे.प्र.

गोपीचंद्र—देखो 'गोपीचंद' (रू.भे.)

गोपीजनवल्लभ—सं०पु०—१ गोपियों और भक्तों का प्यारा, श्रीकृष्ण. २ ईश्वर, परमात्मा (नां.मा.)

गोपीय—सं०पु० [सं०] १ वह सरोवर जिसमें गौएँ जल पीती हैं. २ एक प्राचीन तीर्थ।

गोपीनाथ, गोपीपत, गोपीपति, गोपीवर, गोपीवल्लभ, गोपीस—सं०पु०यौ०—गोपियों के प्रिय, श्रीकृष्ण (डि.को., नां मा., ह.नां.मा.)

गोपुर—सं०पु० [सं०] स्वर्ग, गोलोक।

गोपेंद्र—सं०पु०—१ श्रीकृष्ण. २ गोपों में श्रेष्ठ, नंद।

गोपो—सं०पु०—१ गोप, ग्वाल. २ गाय का बछड़ा. ३ गाय के बांधने का स्थान।

गोप्रवेस—सं०पु०यौ० [सं० गो+प्रवेश] गौओं का जंगल से चर कर पुनः लौटने का समय, गोधूलि वेला।

गोफण—सं०स्त्री० [सं०] सूत का गुंथा हुआ या चमड़े का बना हुआ एक प्राचीन शस्त्र जिसके बीच में एक चौडी पट्टी होती है। यह पट्टी प्रायः सर्प के फन के आकार की होती है जिसके दोनों किनारों पर एक-एक लम्बा कस्सा होता है। इनमें पत्थर या ढेले रख कर फसल की रक्षार्थ चिड़ियों आदि को उड़ाने के लिए अथवा प्रतिपक्षी पर फेंके जाते हैं।
(अल्पा०—गोफणियौ)

गोफणियौ—१ देखो 'गोफण' (अल्पा०) २ इस 'गोफण' में रख कर फेंका जाने वाला पत्थर या ढेला। उ०—माळे चढ ऊभा रखवाळ, दाकळ गोफणियां सूंसाय। उडे जद चिड़ियां दूळ अलेख, अजकता आभै में गम जाय।—सांझ
कहा०—गोफणियौ री गोफणियौ नै ठाकुरजी रा ठाकुरजी—एक ही वस्तु को अनेक स्थानों में भिन्न-भिन्न रूप में प्रयुक्त किया जा सकता है। उस पूजनीय व्यक्ति के प्रति जो हर किसी को सलाह देने एवं छोटे से छोटा कार्य करने को तैयार हो।

गोफा, गोफियौ—देखो 'गोफण' (रू.भे.)

गोवद्धन—सं०पु० [सं० गोवर्धन] गोवर्धन पर्वत। उ०—**गोवद्धन** कर लैण की जिम कन्ह कसाया।—वं.भा.

गोबर—सं०पु० [सं० गोविट] गो-विष्टा, गो-मल।

पर्याय०—गायविट, गोमय, पोटौ, भूमिलेप।

कहा०—गौबर की घड़ तौ काठ की तरवार—अगर गोबर का धड़ बना हो तो उसके लिए काठ की तलवार ही काफी होगी। व्यक्ति एवं प्रतिपक्षी को देख कर उसके अनुसार ही शस्त्रों का प्रयोग करने पर

गोबर-गणेस—वि०यौ०—१ वह जो देखने में बेडौल मालूम हो, भद्दा, बदसूरत २ मूर्ख या बेवकूफ व्यक्ति।

गोवरधण, गोवरधन—सं०पु०—गोवर्धन पर्वत।

गोबरियौ—१ देखो 'गोबर-गणेस' (रू.भे.) २ गोबर इकट्ठा करने वाला।

गोबरी—सं०स्त्री०—कंडा, उपला, गोहरा।

गोबी—देखो 'गोभी' (रू.भे.)

गोव्यंद—देखो 'गोविंद' (रू.भे.) उ०—**गोव्यंद** सत क्रत गेह सीत नेह सजण।—र.ज.प्र.

गोभी—सं०स्त्री०—एक शाक विशेष जिसकी खेती वर्तमान समय में भारत में अधिकता से होने लगी है। यह तीन रूपों में प्राप्य है—(१) फूल गोभी, (२) गांठ गोभी, (३) पत्ता गोभी। फूल गोभी को ही जन-साधारण गोभी कह कर पुकारा करते हैं। यह फुट, डेढ़-फुट का पौधा होता है जिसके चौड़े और लंबे पत्तों के बीच में छोटे-छोटे मुंहबंधे फूलों का गुच्छा होता है जिसका शाक बनता है।

गोभ्रत—सं०पु० [सं० गोभृत] पर्वत, पहाड़ (डि.को.)

गोमंग—सं०पु०—१ पृथ्वी (डि.को.) २ आकाश।

गोमंत—सं०पु० [सं०] सह्याद्रि के अंतर्गत एक पहाड़ी जहाँ गोमती देवी का स्थान है। यह सिद्ध पीठ माना जाता है।

गोमंद—देखो 'गोविंद' (रू.भे.)

गोम—सं०स्त्री० [सं० गो+रा०प्र०म] १ पृथ्वी, भूमि (अ.मा.)

उ०—उडी रज डंवर अंवर **गोम**, विहंगम की पर वज्जि व्योम।—ला.रा.

२ आकाश (नां.मा.) ३ नगाड़ा (डि.को.) ४ मेघ (डि.को.)

सं०पु०—वह घोड़ा जिसके पेट के नीचे भौंरी हो (शा.हो.)

वि०—गुप्त, छिपी हुई।

गोमगंगा, गोमगमण—सं०स्त्री०—गंगा नदी, भागीरथी (ह.नां.)

गोमचौ—सं०पु०—एक प्रकार का घोड़ा (शा.हो.)

गोमतसर—सं०पु०—राजस्थान में जालोर राज्य के भीनमाल नगर का प्राचीन नाम।

गोमती—सं०स्त्री०—१ सैदपुर के पास गंगा नदी में मिलने वाली एक नदी जो शाहजहाँपुर की एक भील से निकलती है (अ.मा.) २ एक देवी जिसका प्रधान स्थान गोमंत पर्वत पर है. ३ टिपरा की एक छोटी नदी. ४ ग्यारह मात्राओं का एक छंद।

गोमतीसिला—सं०स्त्री०यौ० [सं० गोमतीशिला] हिमालय पर्वत की एक चट्टान जिसके लिये यह बात प्रसिद्ध है कि यहाँ पहुँच कर अर्जुन का शरीर बर्फ से गल गया था।

गोमत्ती—देखो 'गोमती' (रू.भे.) उ०—सावत्री सरसती गवरि गंगा **गोमत्ती**।—रा.रू.

गोमय—सं०पु० [सं०] १ गोबर. [सं० गोमायु] २ सियार, गीदड़।

उ०—चूंडाळी चहकैय वक **गोमय** वीटौ वहे। पौंहरातू आ पखेह भूरा रा लूं भांमणा।—पा.प्र.

गोमर—सं०पु० [सं० गो] १ आकाश, नभ. २ पृथ्वी।

गोमरी—वि०स्त्री०—१ भूखा. २ गंवार. ३ ग्रामीण।

गोमळ—सं०पु० [सं० गोमल] गोबर।

गोमसावझड़ौ—सं०पु०—डिंगल का एक गीत (छंद) जिसके प्रत्येक चरण में क्रमशः तीन सगण और एक यगण होता है।

गोमांन—सं०पु० [सं० गोमान] गायों का स्वामी, गायों का मालिक।

गोमा—सं०स्त्री०—गोमती नदी।

गोमाय, गोमायु, गोमायू—सं०पु०—सियार, गीदड़। उ०—गंडक **गोमाय** पायु पळ पावै, वायस वांसै चख चांचां भख चावै।—ऊ.का.

गोमाळ—सं०स्त्री० [सं० गोमाला] गांव की गायों का समूह, गोझुण्ड।

गोमी—सं०पु० [सं० गोमिन्] १ सियार, गीदड़. २ गायों का स्वामी, गोपाल. [सं० गो] ३ पृथ्वी।

गोमुख—सं०पु० [सं०] १ गाय का मुंह. २ एक शंख विशेष जिसकी आकृति गाय के मुंह के समान होती है. ३ देखो 'गोमुखी' (१) ४ योग का एक आसन. ५ इन्द्र के पुत्र जयन्त के सारथी का नाम।

गोमुखी—सं०स्त्री० [सं०] १ माला का गुप्त रूप से जाप करने के लिए प्रयोग में ली जाने वाली एक सूती या ऊनी थैली विशेष जिसकी आकृति गाय के मुंह के समान होती है. २ चित्तौड़ का एक तीर्थ-स्थल. ३ गाय के मुख की आकृति का गंगोतरी का वह स्थान जहां से गंगा देवी निकलती है. ४ घोड़े की एक भौंरी जो उसके ऊपरी होठ पर होती है (शुभ)

गोमूंत, गोमूत—देखो 'गोमूत्र' (रू.भे.)

वि०—पीला* (डि.को.)

गोमूत्रिका—सं०स्त्री० [सं०] १ एक प्रकार का चित्रकाव्य। इसमें अक्षरों को पढ़ने का ढंग ठीक उसी प्रकार से चलता है जिस क्रम से बैलों के मूतने से जमीन पर रेखा गई रहती है. २ एक प्रकार की घास जिसके बीज सुगंधित होते हैं।

गोमेचा—सं०पु०—राठौड़ों की एक शाखा जो राठौड़ राव मल्लिनाथजी के पुत्र कूंपा से आरम्भ हुई मानी जाती है।

गोमेद, गोमेदक—सं०पु० [सं०] एक प्रसिद्ध मणि जिसकी गणना नौ रत्नों में होती है (अ.मा.)

गोमेध–सं०पु०—अश्वमेध यज्ञ के ढंग का एक यज्ञ जिसमें गौ से हवन किया जाता था। कलियुग में इसका अनुष्ठान पूर्ण वर्जित है।

गोमोदक–सं०पु०—१ नग (अ मा.) २ देखो 'गोमेदक' (रू.भे.)

गोयंदपोता–सं०पु०—चारणों के याचक, ढोली।

गोयंदासोत–सं०पु०—राठौड़ों की एक उपशाखा।

गोयंदो–सं०पु० [फा० गोइंद] गुप्तचर, भेदिया, जासूस।

गोय–सं०पु०—वचन (डि.को.)

गोयड़ो–सं०पु०—१ नकुल या नेवला से मिलता-जुलता किन्तु उससे कुछ बड़ा विषैला जन्तु. २ रहँट के उपकरणों में वह छोटी लकड़ी की कील जो माल को घुमाने वाले घेरे को उलटा फिरने से रोकने वाली लकड़ी को स्थिर रखने के लिए कुयें के किनारे पर पत्थर में लगाई जाती है।

गोयणो–सं०पु०—१ एक प्रकार का छोटा कीड़ा जो पशुओं के शरीर पर चिपक कर उनका रक्तपान करता है. २ विश्नोई जाति के लोगों का गुरु जो उनके विवाह आदि संस्कार कराता है।

गोयणो, गोयबो–क्रि०स०—छिपाना। उ०—हारि जीति का पासा डारचा, बाजी जीती डाव विचारचा। खेलणहार गया मुख **गोय**, ताका पला न पकड़े कोय।—ह.पु.वा.

गोयर—देखो 'गो'र' (रू.भे.)

गोयरो—देखो 'गोयड़ो' (१) (रू.भे.)

गोयल–सं०पु०—एक क्षत्रिय वंश या इस वंश का व्यक्ति।

गोयलो–सं०पु०—एक प्रकार का घास जो प्राय: गेहूँ की फसल में गेहूँ के पौधों के साथ उत्पन्न होता है।

कहा०—गहुं'र गोयलो भेळा ही नीपजै—गेहूँ और गोयला नामक घास साथ ही उत्पन्न होते हैं। अच्छे और बुरे सब साथ ही उत्पन्न होते है एवं इस दुनिया में साथ ही पनपते हैं।

गोया–क्रि०वि०—अगरचे, यदि।

गोयील—देखो 'गोयल' (रू.भे.)

गोरंगी–वि० स्त्री० [सं० गौरंग+ई] गौर वर्ण वाली, गौरांगना। उ०—मारू देस उपन्नियां, ताह कां दंत सुसेत। कूंझ बचा **गोरंगियां**, खंजर जेहा नेत। —ढो मा.

गोरंभ, गोरंभी–सं०पु०—१ योद्धा, वीर. २ युद्ध, कलह, झगड़ा. ३ भंडार.

सं०स्त्री०—४ पृथ्वी, भूमि (डि.नां.मा.)

गोर–सं०पु०—१ किनारा, तट। उ०—पाड़ खळां रण पौढ़ियो, चाड प्रवाड़ै लज्ज। गढ़ जोवांणै **गोर** मैं, गढ़ जोवांणै कज्ज।—रा.रू.

[फा० ग़ोर] २ गौर, ध्यान चिंतन। उ०—राजा, बीजा भाई भतीजां सगळां सराह्या नै राजा कह्यो—जा घास नै कोरड़ री निर्चिताई कीवी तो म्हे थांसूं निपट घणी **गोर** करिस्यां, हासल मांहे रवायत करस्यां।—कहवाट सरवहिया री वात

सं०स्त्री० [फा० ग़ोर] ३ कब्र, समाधि। उ०—सो डोकरी आधी रात में बादसाह री **गोर** ऊपर जाय घणी दीनता सूं प्रभू नूं बीनती करी।—नी.प्र.

(रू०भे०—घोर)

[सं० गौरी] ४ पार्वती, गौरी. ५ सुन्दर स्त्री. ६ अप्सरा।

वि०—गौरवर्णयुक्त, सुंदर। उ०—बाजूबंध बंधै **गोर** बाहु बिहुं, स्यांम पाट सोहंत सिरी।—वेलि.

गो'र–सं०पु०—१ गाँव के मध्य या गाँव के बाहर का खुला स्थान। उ०—कंथ पराये **गो'र** में, भाजै सोहि गंवार। लांछण लावै दुहुं कुळां, मरणो एकहि वार।—डाढ़ाळा सूर री वात

सं०स्त्री०—२ गायों का समूह. ३ रात्रि में गायों को बंद करके रखने का अहाता।

गोरक, गोरक्ख–सं०पु० [सं०गोरक्षक] १ देव वृक्षों के अंतर्गत एक देव-वृक्ष. २ एक प्रसिद्ध अवधूत या हठ योगी, गोरखनाथ (वि.सं.) ३ गोरक्षक. ४ जितेन्द्रिय।

गोरक्षासण, गोरक्षासन–सं०पु०—योग के चौरासी आसनों के अंतर्गत एक आसन। वृषण की नीचे की सीवनी के वाम भाग में वाम पाद की एडी रखना और दक्षिण भाग में दक्षिण पाद की एडी रखना चाहिए। फिर दोनों एडियों को उलटा कर जिससे अंगुलियां पीछे की ओर जायें, उन्हीं पर शरीर का वोझ देकर बैठना चाहिए। दोनों हाथों को पीठ की तरफ लाकर हाथ के पंजे से दोनों पाँव की तलियों को आमने-सामने भिड़ा कर जालंधर बंध कर के नासाग्र दृष्टि रख कर स्थिर होकर बैठने से गोरक्षासन होता है। इसे भद्रासन भी कहते हैं।

गोरख—देखो 'गोरक्ख' (रू.भे.) (ऊ.का.)

गोरखआंवली–सं०स्त्री०—मोटे तनेदार वृक्षों की जाति का एक बड़ा वृक्ष जो मध्य व दक्षिणी भारत में अधिकता से होता है। इसका तना मोटा व डालियां खूब फैली हुई होती हैं। इसके फल के बीजों का प्रयोग औषधि में किया जाता है।

गोरखकळी–सं०स्त्री०—एक प्रकार का पौधा अथवा इस पौधे पर लगने वाला पुष्प विशेष।

गोरखकाकड़ी–सं०स्त्री०—एक प्रकार की ककड़ी, गोरख ककड़ी।

गोरखधंधौ–सं०पु०गौ०—१ कई तारों, कड़ियों या लकड़ी के टुकड़ों इत्यादि का समूह जिनको विशेष युक्ति से परस्पर जोड़ा या अलग किया जाता है. २ वह पदार्थ या काम जिसमें बहुत झगड़ा या उलझन हो. ३ उलझन, जटिलता। उ०—मायाजाळ जंजाळ है, जग **गोरखधंधा**।—केसोदास गाडण

४ गूढ़ बात।

गोरखनाथ–सं०पु० [सं० गोरक्षनाथ] पन्द्रहवीं शताब्दी में होने वाले एक प्रसिद्ध अवधूत और सिद्ध पुरुष का नाम जिनका निवासस्थान गोरखपुर माना जाता है। इनका चलाया हुआ गोरखपंथ अब तक प्रचलित है।

गोरखपंथ–सं०पु०यौ०—सिद्ध पुरुष श्री गोरखनाथ द्वारा चलाया हुआ एक सम्प्रदाय विशेष।

गोरखपंथी–सं०पु०—गोरखपंथ का अनुयायी ।

गोरखमुंडी–सं०स्त्री०—१ भूमि पर पसरने वाली एक प्रकार की घास जिसकी पत्तियां उंगली के समान लंबी होती हैं । इसका प्रयोग प्रायः औषधि में अधिक किया जाता है. २ एक जड़ विशेष (अमरत)

गोरखी—देखो 'गोरखकाकड़ी' ।

गोरखेस–सं०पु०—प्रसिद्ध सिद्ध पुरुष गोरखनाथ ।

गोरखौ–सं०पु०—१ भारत के उत्तर में हिमालय पर्वत की तराई में स्थित पर्वतीय प्रदेश नैपाल या भूटान का निवासी.
२ देखो 'गोरखनाथ' ।
(अल्पा०–गोरखियौ)

गोरख्ख—देखो 'गोरक्ख' (रू.भे.)

गोरख्या—देखो 'गोरखकाकड़ी' ।

गोरड़ी—देखो 'गोरी' (अल्पा०) उ०—जो थूं सायब नी आवियौ, अगि काजळिया री तीज । चमंक मरैली गोरड़ी, देख खिवंती बीज ।
—लो.गी.

गोरज–सं०स्त्री०—गायों के खुर से उड़ी हुई धूल, गर्द ।

गोरजा–सं०स्त्री०—पार्वती, गौरी । उ०—देवी गोरजा रूप तूं रुद्र राता, देवी रुद्र रै रूप तूं जोग धाता ।—देवि.
२ गौर वर्ण की स्त्री, सुंदरी ।

गोरजी–सं०पु० [सं० गुरु+रा०जी] ब्राह्मण, द्विज ।

गोरज्या—देखो 'गोरजा' (रू.भे.) उ०—अयरापति चढ़ि चाल्यौ राय, ली अस्त्री अरधंग वइसाय । ज्यूं ईस्वर संग गोरज्या, चहुवांण वंस हुव उछाह ।—वी.दे

गोरटौ–वि० (स्त्री० गोरटी) गौर वर्ण वाला, सुंदर ।

गोरण–सं०स्त्री०—विवाहोपरांत दूसरा दिन । उ०—गोरण दिन सूती सखी, वागा ढोल विगास । वांह उसीसौ खींचियौ, जागी पटक निसास ।—वी.स.
सं०स्त्री०—ग्वाले की स्त्री, ग्वालिन ।

गोरणी–सं०स्त्री०—स्त्रियों की एक प्रथा विशेष जिसमें स्त्री अपने जीवन-काल में एक बार चौबीस पात्रों में मेवा या मगद भर कर अपने परिवार की सुहागिन स्त्रियों में वितरित करती है । यदि जीवनकाल में यह कार्य स्वयं न कर सके तो मृत्योपरांत उसके निकटतम संबंधी उसके निमित्त इस प्रथा को पूरी करते हैं. २ स्त्रियों द्वारा किये जाने वाले विशेष व्रतोत्सव यथा गणगोर, ऊबछट, गाजव्रत आदि के समय भोजन करने वाली सुहागिन स्त्री ।

गोरधन—देखो 'गोवरधन' (रू.भे.)

गोरपत, गोरपति–सं०पु०—१ शिव, महादेव. २ बादशाह ।

गोरबंद, गोरबंध–सं०पु०—१ ऊंट की सजावट के लिए उसके गले में पहिनाया जाने वाला एक आभूषण विशेष. २ इस प्रकार के आभूषण की प्रशंसा में गाया जाने वाला लोक गीत ।

गोरम–सं०पु०—१ हिंजड़ों के देवता ।
वि०वि०—अरावली पर्वत शृंखला में सोजत तहसील में गोरम पहाड़ पर फाल्गुन मास के कृष्ण पक्ष की चतुर्दशी को इस देवता के नाम पर मेला लगता है । इसमें बहुत से हिंजड़े इकट्ठे होते हैं और नाच गान करते हैं. २ गोरम नामक एक पहाड़ । कहा जाता है कि इस पर्वत पर कभी-कभी अपनेआप गर्जना होती है । यदि इस गर्जना के समय किसी के संतान उत्पन्न होती है तो वह नपुंसक होती है. ३ नाथ सम्प्रदाय का एक सिद्ध पुरुष । ४ देखो 'सौरंभ' ।

गोरमटियौ–सं०पु०—वह खेत जहां केवल खरीफ की फसल होती है ।

गोरमिंट–सं०पु० [अं० गवर्नमेंट] १ हकूमत, शासन. २ राज्य-सत्ता. ३ सरकार ।

गोरमिंटी–वि०—गवर्नमेंट का, गवर्नमेंट संबंधी, सरकारी ।
उ०—क्या कंवूं ? म्हारी डोकरी गोरमिंटी है । इणं ऊपर म्हारौ जोर को चालै नी ।—वरसगांठ

गोरमौ–सं०पु०—गांव के मध्य का या गांव के बाहर का खुला हुआ स्थान ।
कहा०—गांव री थत गोरमा सूं ही नजर आवै—गांव की स्थिति का पता उसके समीपवर्ती भाग से ही लग जाता है ।

गोरयौ–सं०पु०—१ एक पक्षी विशेष. २ गोरी चमड़ी का व्यक्ति, अंग्रेज. ३ रात्रि में गौओं के रखने का स्थान ।
वि०—गौर वर्ण वाला ।

गोरल–सं०स्त्री०—गणगोर (वि०वि० देखो 'गणगोर')
उ०—कड़ मोड़ै घोड़ै चढ़ै ए चाल निरखतौ जाय । ओ वर देवी माता गोरल ए, म्हे थांनै पूजण जाय ।—लो.गी.

गोरवा–सं०स्त्री०—एक प्राचीन राजपूत वंश ।

गोरवाळ–सं०पु०—१ चौहान वंश की एक शाखा या इस शाखा का व्यक्ति. २ एक प्राचीन राजपूत वंश ।

गोरवौ—देखो 'गो'र' (रू.भे.) उ०—तिणसूं सूराचंद रै गोरवै चौताळै असेंवा असवार देखै तरै पूछण री गाढ़ घणी करै ।
—जैतसी ऊदावत री बात
कहा०—गाड़ी गोरवै ही भूखां मारै—गाड़ी का भरोसा नहीं, वह गांव के निकट पहुंचते-पहुंचते भी खराब हो सकती है और गाड़ीवान के पास उसे ठीक करने के औजार न रखने के कारण वहीं भूखों मरना पड़ता है । कल के बल से चलने वाले उपकरणों का क्या भरोसा, न मालूम कब खराब हो जायें ।

गोरस–सं०पु० [सं०] १ दूध, दुग्ध (अ.मा.) २ दही (ह.नां.) ३ तक्र, मट्ठा, छाछ (अ.मा.) ४ मक्खन. ५ इन्द्रियों का सुख ।

गोरस्यौ–सं०पु०—गोरस अर्थात् दूध-दही बेचने वाला ।

गोरह—देखो 'गोरस' (रू.भे.)

गोरहर–सं०पु०—जैसलमेर का किला । उ०—बाहड़ गिर खावड़ कोटड़ै, छाहोटण सवाईयौ । गोरहर लगी जु मेहणौ, त्यै ऊतारण आवियौ ।
—नैणसी

गोरा-सं०स्त्री०—१ पार्वती, गौरी. २ गौर वर्ण की स्त्री, सुंदरी।
गोराई-सं०स्त्री०—१ गोरापन. २ सुदरता, सौन्दर्य।
गोरायो, गोरावो-सं०पु०—गौर रंग का एक सर्प विशेष।
गोरि-सं०स्त्री०—गांव का वह चौक जहाँ गांव के मवेशी इकट्ठे होते है।
गोरियावर—देखो 'गोरायो' (रू.भे.) उ०—चांनणी रात में कांई देखें के सांमी मारग ऊपरां दो सरप जुद्ध करैं। एक प्रचंड गोरियावर नैं बीजौ काळिंदर।—वाणी, विजैदांन देथौ
गोरियांराउ-सं०पु०—मुसलमान पादशाह, बादशाह। उ०—गोरियांराउ यळ माळ जाहि।—रा.ज.सी.
गोरियौ-वि०—गोरे रंग का, गौर वर्ण का, सुदर. १ अंग्रेज.
सं०पु०—२ पशुओ को बाँधने का वह छोटा स्थान जो किसी से अहाते घिरा हो।
गोरिलौ, गोरिल्लौ-सं०पु०—प्राय: अफ्रीका के जगलो मे पाया जाने वाला वनमानुष जाति का एक जगली प्राणी।
गोरिसुत-स०पु० [स० गोरी+सुत] १ कार्तिकेय (डिं.को.)
२ गजानन, गणेश।
गोरी-स०पु० [सं० गो+अरि] १ यवन, मुसलमान।
यौ०—गोरीराय, गोरीपति।
(अल्पा०—गोरीडो)
सं०स्त्री० [रा०] २ फदाली जाति के व्यक्तियो की एक शाखा.
[सं० गौरी] ३ पार्वती, उमा (ह.ना.) ४ दुर्गा. ५ चौसठ योगिनियो मे से दूसरी योगिनी. ६ आठ वर्ष की कन्या. ७ लाल रंग की गाय. ८ गंगा नदी. ९ गौर वर्ण की सुदर स्त्री, रूपवती स्त्री. १० आर्या या गाहा छद का एक भेद विशेष जिसके चारो चरणो मे मिल कर बीस दीर्घ एव सत्रह ह्रस्व वर्ण सहित ५७ मात्राये होती है (ल.पिं.)
वि०—गौर वर्ण की, सुदर। उ०—१ नमणी खमणी बहुगुणी, सुकोमळी सु सुकच्छ। गोरी गंगा नीर ज्यूं, मन गरवी तन अच्छ।
—ढो.मा.
उ०—२ गोरी पीडी पर ऊघडता गोडा, लवी बीखा दे लेतोडी लोडा।—ऊ.का
(अल्पा०—गोरडी, गोरीडो)
गो'री-स०पु० [सं० गोभरी, प्रा० गोहरी] (स्त्री० गोरण) गाये चराने वाला, ग्वाला। उ०—गावड डावड का भावड गुण गाता, गाया गरभाती गो'री गरव्वाता।—ऊ.का.
गोरीत-सं०स्त्री०—विवाह सस्कार के तीन-चार दिन पश्चात् किसी शुभ मुहूर्त में की जाने वाली एक रस्म जिसमे वर के द्वारा ससुराल मे एक नारियल की गिरी निकलवा कर उसमे तिल और जव भराते है (पुष्करणा ब्राह्मण)
गोरीनंदन-सं०पु०—गणेश, गणपति, गजानन।
गोरीय-सं०पु०—१ यवन, मुसलमान. २ देखो 'गो'री' (रू.भे.)
गोरीयौ-स०पु०—१ एक प्रकार का घोडा विशेष (शा.हो)
२ देखो 'गोरियौ' (रू.भे.)
गोरीराय, गोरीराव-सं०पु०—१ बादशाह। उ०—छायल फूल बिछाय, बीसमतौ बरजांगदे। गैमर गोरीराय, तिण आमास अड़ाविया।
—नैणसी
२ शिव, महादेव।
गोरीसर-सं०स्त्री०—हसराज नामक जडी विशेष (अमरत)
गोरीसुत-स०पु०यौ० [सं० गौरी+सुत] १ कार्तिकेय (डिं.को.)
२ गजानन, गणेश।
गोरूप-सं०पु० [सं०] १ महादेव।
सं०स्त्री०—२ पृथ्वी, भूमि।
गोरेल-सं०पु०—ढोलियो की एक शाखा विशेष।
गोरोचन-स०पु० [स०] गाय के हृदय के पास पित्त मे से उत्पन्न होने वाला पीले रग का एक प्रकार का सुगधित द्रव्य। यह अष्टगंध के अतर्गत है और बहुत पवित्र माना जाता है (अमरत)
वि०—पीला, पीत* (डिं.को.)
गोरौ-स०पु०—१ गौर वर्ण का एक भैरव, एक देव विशेष।
उ०—काळौ अगवाणी करै, गोरौ जैरी गैल। घमकै कटिया घूघरा, लटिया तेल फुलेल। जी मेहाई थारा बाईसा री करीजै उवेल।—मे म
२ गौर वर्ण वाला व्यक्ति, विशेषत: योरोप अमेरिका आदि ठंडे देशों का निवासी, फिरंगी।
वि०—सफेद और स्वच्छ वर्ण वाला।
मुहा०—हाड सू ही गोरौ होणौ—हड्डी से भी अधिक श्वेत होना, अत्यधिक उज्वल के प्रति, श्रेष्ठ वंश या कुलीन के प्रति।
गोळटोळ-वि०—बिल्कुल गोल, गोल-मटोल। उ०—ऊटडा उगाळी सारै, झोक लिटै फिर घिर चरै। इण घिटाळ घसकै घणेरा, गोळटोळ मीगण करै।—दसदेव
गोळदाज-सं०पु० [फा० गोलंदाज] तोप में गोला रख कर चलाने वाला, तोपची.
गोळंदाजी-स०पु० [फा० गोलदाजी] तोप से गोले फेकने का कार्य।
गोळ-वि० [सं० गोल] १ जिसका घेरा या परिधि वृत्ताकार हो, चक्र के आकार का, गोलाकार. २ वह घनात्मक आकार का पदार्थ विशेष जिसके पृष्ठ भाग का बिंदु उसके भीतर के मध्य बिंदु से समान दूरी या अतर पर हो, सर्ववर्तुल, अंडाकार।
मुहा०—१ गोळगाळ—अनुमानत:, मोटे हिसाब से, अस्पष्टत:। २ गोळ बात—घुमाव-फिराव की बात. ३ गोळमाळ करणौ—मिलावट करना, मिला देना, गडबड करना, इधर-उधर हटाना ४ गोळमाळ होणौ—गडबड़ होना, हलचल होना. ५ गोळ होणौ—गात हो जाना, चूक जाना, खतम हो जाना, चुपके से खसक जाना, चला जाना, गैरहाजिर हो जाना।

यौ०—गोळमटोळ।
स०पु०—१ दल, झुंड, समूह। उ०—१ दोही तरफा गोळां रा गजर हूं ग्रोट ग्रादै जिता ही घोटा सिपाहां समेत हाथिया रा गोळ उडण लागा।—वं भा. उ०—२ ग्रोरे ग्रमि हरवला, सेल खळ खगा संभारूं। गज ग्रसवारां गोळ, धड़छि घण लोह संवारू।—सू प्र. (मि०—चक्र, १०)
२ सेना, फौज (ग्र.मा.) उ०—१ रवां बोळ चढायौ परारी देतौ खगारोळं, सवां गोळ ऊपरा यौ ग्रायौ सेरमीग।—कविराजा करणीदान उ०—२ पातळौ सीह चख चोळ वांगी पढै, केवियां गोळ रण थकै ठहरै कढै।—ग्रज्ञात उ०—३ जवन हरोळ विहारी मधि जावा, ग्रसुर गोळ मभि लोह उडावा।—सू.प्र.
उ०—४ वीज ग्रखाढ जेम खग वाहां, गोळ दरोळ करू ग्रवगाढा। (मि०—चक्र, ८) —सू.प्र
३ षड्यन्त्र, जाल, कपट।
मुहा०—गोळ गंथणी—जाल फैलाना, षडयंत्र रचना, छल करना.
४ स्नान, नहाने की क्रिया (डि.को.) ५ गडबड गोलमाल, खलबली
क्रि०प्र०—करणौ, होणौ।
६ शस्त्रो द्वारा चारों ग्रोर से घेरने की क्रिया या ढंग, घेरने की क्रिया। उ०—ताहरा सारा गोळ कर प्यादा मुंह ग्रागै लेय ग्रसवार केहेक टावा, केहेक जीवणा लेय कही।—डाढाळा सूर री वात
७ सेना का वह भाग जो सेना के पीछे रक्षा के लिये चलता है, चन्दावल। उ०—असवार १००० सू ग्राप भाखरी रै ग्रोटै जाय ऊभो रह्यौ नै रांणी ग्राप हरोळा रा ग्रणी माहे थौ सु गोळ रा ग्रणी माहे जाय ऊभो रह्यौ।—नैणसी ८ केन्द्र की सेना।
उ० —१ डेरा पूठि चंदोळ दिवारै, मभियौ गोळ विचै सिरदारै। त्या म्हाहे 'जसराज' 'गजण' तण, जोधा हरौ माण दुरजोधन।—वचनिका उ०—२ भोम धूजै घोडा रोड भैरवी किलक्कै भात, तरक्कै ग्रजीत वाळै सेलिया नत्रीठ। हरोळा चढाय छाती गोळ वीच दिया हाके, गोळ छाती चाटे लेगी चंदोळा गरीठ।—महाराजा वखतसिंह री गीत
९ दुष्काल या ग्रकाल के समय घास-पानी के ग्रभाव में मवेशी को लेकर घास-पानी वाले स्थान की ग्रोर गमन करने की क्रिया.
१० इस प्रकार गमन कर ऐसे स्थान पर डाला जाने वाला पडाव जहां घास व पानी प्रचुर मात्रा में उपलब्ध हो।
उ०—वाटी समुद्रसिंह ग्रापरी सीमा मे वसी रा लोकां सहित सीमगा री गोळ दिवाइ गिनायता नू ग्रादर रै साथ राखिया।—व.भा.
११ पीपल वृक्ष का फल. १२ एक प्रकार का भाला विशेष, भाला।
उ०—हरवळ ग्रम हाकले सत्रा वमरोळू सावळ, गोळ जडू सिर गयद नभ जगी हवदा त्वळ।—सू.प्र.
१३ मडलाकार क्षेत्र, वृत्त. १४ गोलाकार पिंड, सर्ववर्तुल पिण्ड. १५ किसी काम या वात के लिए वह ग्रवसर जो कुछ ग्रन्तर देकर क्रम से ग्राता है। उ०—ग्ररी ग्राकलै व्रय ग्रिणप, मचियौ घोळ मथोळ। गोळ ग्राय सी जिण घड़ी, घर दौटासी घोळ।
—ठा० रैवतसिंह भाटी
गोल-सं०पु० [स० गोलक] १ दास, सेवक। उ०—गोल ढोल वावै गळै, लोक गर्म कुळ लाज। काठा वाधै कूटिया, करै काज ग्रावाज।
—वा दा.
२ वर्णसंकर. ३ गुड।
गोळक-स०पु० [स० गोलक] गोल पिंड। उ०—सेन ग्रकव्वर तापटै, ग्राप गयौ खहमग्ग। ज्यौ क्रम भजे तन गळै, वण गोळक तन लग्ग।
—रा रू.
वि०—देखो 'गैळक' (रू.भे.)
गोलक-सं०पु० [स०] १ विधवा का जारज पुत्र. २ वर्णसंकर संतान ३ मिट्टी का वडा कूडा. ४ वह सदूक या थैली जिसमे किसी विशेष कार्य के लिये थोडा-थोडा धन सग्रह किया जाय। इसका मुंह ऊपर से बंद होता है जिस पर एक छोटा सा छिद्र रहता है। इसमे रुपये डाले तो जा सकते हैं किन्तु विना तोडे वापस नही निकाले जा सकते।
मुहा०—घर गोलक मे—जो कुछ भी प्राप्त हो उसे गोलक मे डाल कर सगृहीत करना।
गोळकपण, गोळकपणौ-स०पु०—१ ग्रस्थिर दिमाग से काम करने का भाव. २ लापरवाही।
गोळकाकड़ी-स०स्त्री०—एक प्रकार की ककडी (क्षेत्रीय)
गोळकूंडियौ, गोलकुंडौ-स०पु०—वृत्ताकार चक्र।
गोलखांनौ-स०पु०—१ गोलमेज सम्मेलन. २ वह गोलाकार स्थान जहां सभा व दरवार किया जाता हो। उ०—इतरी कह सवारी री तैयारी कर वादसाह री हजूर पधारिया। रात रौ वखत थौ, गोलखाने में जाय मुजरौ कियौ।—ग्रमरसिंह री वात
गोळचाल—देखो 'गोळ' (१०)
गोळची-स०पु०—१ किसी लकडी के किनारे को गोल वनाने का ग्रौजार. २ बंदूक या तोप का निशाना लगाने वाला।
गोळजंत्र-स०पु० [सं० गोलयंत्र] वह यंत्र जिससे सूर्य, चद्र, पृथ्वी व नक्षत्र ग्रादि की स्थिति ग्रौर ग्रयन परिवर्तन ग्रादि जाने जाते हो।
गोळजोग-सं०पु० [स० गोलयोग] ज्योतिष में एक योग जो एक राशि मे भिन्न मतानुसार छ: ग्रौर सात ग्रहो के एकत्र हो जाने मे होता है। यह ग्रशुभ एव नष्टकारी माना जाता है।
गोलणौ-सं०पु० [ग्र० गुलाम] दास, सेवक, भृत्य। उ०—गावा सहरा गोलणा, रहे हुवा रजपूत। लखणा सू लख लीजिये, सुकर घणा रा सूत।—वा.दा.
गोलती-वि०—गोलाकार। उ०—सूचैन देन सेन स्वीय रैन मे रुठै नही, ग्रपार तोल गोलती इलोळ में उठै नही।—ऊ का
गोळनी-सं०स्त्री०—मिट्टी का वडा पात्र, मटकी, घडा।

गोळमटोळ–वि०यौ०—१ गोल, बिल्कुल गोल। उ०—**गोळमटोळ** पहिया घड़दे, फाचर लाल-गुलाल। गड़मच-गड़मच करती चालै, गीगे के मन भाय।—लो.गी.

२ अस्पष्ट. ३ मोटा और ठिगना, नाटा।

गोळमदाज—देखो 'गोलंदाज' (रू.भे.) उ०—१ किया चठठारव ज्यां फटकारि, दिया घट **गोळमदाज** विदारि।—मे.म.

उ०—२ सवळे री बेटौ च्यार तौ पडियार, दरोगा, दूजा बारह **गोळमदाज**, तीस जुजायळबरदार और तावे री लोग थी सो कांम आयौ।—मारवाड़ रा अमरावां री वारता

गोळमाळ–सं०पु०—१ गड़बड़, अव्यवस्था. २ मिलावट।

गोलर—देखो 'गूलर' (रू.भे.)

गोळविद्या–सं०स्त्री०यौ० [सं० गोल विद्या] ज्योतिष विद्या का वह अंग जिससे पृथ्वी की गोलाई, आकार-विस्तार, चाल, ऋतु-परिवर्तन आदि बातें जानी जायें।

गोळवौ–वि०—गोलाकार, वृत्ताकार। उ०—काठां गोहुवां रौ आटौ मगायजै छै सू नाळेरगरा **गोळवां** वणायजै छै।—रा.सा.सं.

गोलांगूळ–सं०पु० [सं० गोलांगूल] एक बंदर विशेष जिसकी पूंछ गाय की पूंछ से मिलती-जुलती होती है।

गोला–सं०स्त्री०—कुम्हारों की एक शाखा (मा.म.)

गोळाई–सं०स्त्री०—१ किसी गोल वस्तु की परिधि २ गोल का भाव, गोलापन।

गोळाकार–वि०—जिसका आकार गोल हो, वृत्ताकार।

गोलाड़ी–सं०स्त्री०—एक प्रकार की बरसाती लता का फल जो कच्ची अवस्था में हरा एवं पकने पर लाल होता है।

गोळारद्ध–सं०पु० [सं० गोलार्द्ध] एक ध्रुव से दूसरे ध्रुव तक की दूरी को बीचोबीच में से विभाजित करने से बनने वाला पृथ्वी का आधा भाग।

गोळासण–सं०पु०—चौहान वंश की एक शाखा।

गोळिया–सं०स्त्री०—एक प्रकार की तलवार।

गोळियौ–सं०पु०—१ स्त्रियों द्वारा पैर की अंगुलियों में धारण किया जाने वाला चांदी का एक आभूषण २ गेहूँ की फसल में होने वाला रोग विशेष जिसमें गेहूँ गोल हो जाता है. ३ कांसी का छोटा कटोरा. ४ छोटा पीतल का जलपात्र. ५ पकाये हुए मांस की वह जोड़ के स्थान की हड्डी जिसे मुँह से उसके आसपास लगे मांस को तथा अंदर के गूदे को चूसते हैं। उ०—घणी फीनसताई चीज लियां आरोगजै छै। दारू रा दाव बीच-बीच लीजै छै। **गोळियां** री खाट-खड़ लागनै रही छै। मुसालां री चांनणौ वणनै रह्यौ छै।—रा.सा.सं. (मि०—गुड़ळियौ)

गोळी–सं०स्त्री०—१ छोटा गोलाकार पिंड, गोलमटोल कोई छोटी सी वस्तु. २ औषधि की वटिका, वटी।

क्रि०प्र०—खाणी, गिटणी, देणी।

३ बालकों के खेलने का मिट्टी अथवा कांच का बना गोल पिंड।

क्रि०प्र०—खेलणी, मारणी।

४ सीसे आदि का ढला हुआ छोटा गोलाकार पिंड जिसे बंदूक में भर कर चलाया जाता है। उ०—मंडियौ चांपे मोरचौ, दारुण नरहरदास। गाजै अंबर **गोळियां**, खग होळियां प्रकास।—रा.रू.

क्रि०प्र०—खाणी, चलणी, चलाणी, छोडणी, मारणी, लागणी, वावणी।

मुहा०—१ गोळी खाणी—बंदूक की गोली का शिकार बनना. २ गोळी बारूद—लड़ाई का सामान. ३ गोळी मारणी—उपेक्षा से त्याग देना, घृणा करना, बंदूक की गोली का शिकार बनाना।

कहा०—गोळी गई गांड में, म्हारै भूटकै सूं काम—बंदूक के धड़ाके से मतलब है गोली चाहे कहीं लगे।

५ दही मथने का बड़ा पात्र जिसमें दही मथा जाय, मथनी. ६ किसी वृक्ष का स्थूल तना. ७ शरीर की रचना, शारीरिक गठन।

गोली–सं०स्त्री०—१ दासी. २ देखो 'गोलाडी' (रू.भे.)

गोलीजादौ–सं०पु०यौ० (स्त्री० गोलीजादी) १ दासी पुत्र, गुलाम. २ वर्णसंकर संतान।

गोळीढ़ाळ–सं०स्त्री०—एक प्रकार का शस्त्र विशेष।

गोलीपौ–सं०पु०—दासी का कार्य, गुलामी, दासत्व।

गोळीयौ–सं०पु०—१ लकड़ी में खुदाई करने का औजार. २ देखो 'गोळियौ' (रू.भे.)

गोलीवाड़–सं०स्त्री०—एक जंगली लता जिसके 'गोलड़' या 'गोलाड़ी' नामक फल लगता है।

गोळीवाळौ–सं०पु०—पशुओं में होने वाला एक रोग विशेष। यह रोग प्रायः बैलों में अधिक पाया जाता है जिसमें एक पैर में सोध हो जाता है। प्रायः घंटे-दो घंटे बाद इस रोग से पशु की मृत्यु हो जाती है।

गोळू–सं०पु०—अकाल पड़ने पर मवेशियों को लेकर अन्य प्रदेश की ओर चारे-पानी की खोज में जाने वाला। उ०—**गोळू** गायां रा गांमां गळ गाहै, दुखिया सुखिया मिळ दोनूं दळ दाहै।—ऊ.का.

गोळे, गोळै–वि०—अधीन, वश में।

गोलोक–सं०पु० [सं०] सब लोकों में श्रेष्ठ माना जाने वाला मनोहर एवं रम्य लोक (पौराणिक)

गोळौ–सं०पु०—१ किसी पदार्थ का बड़ा गोल पिंड. २ छोटी-छोटी गोलियां, मेखें, बारूद आदि भरा हुआ लोहे का वह गोल पिंड जिसे युद्ध में तोपों की सहायता से शत्रु-सेना पर फेंका जाता है।

उ०—अवार रात रा हीज क्यूं गोळां री गजर मांडी हौ, सुहारे फजर परभात रा हीज हगांम जुद्ध है।—वी.स.टी.

क्रि०प्र०—चलाणौ, छोडणौ, फेंकणौ।

३ एक प्रकार का रोग जिसमें थोड़े-थोड़े समय पर पेट के अंदर

नाभि से गले तक वायु का गोला आता जान पड़ता है। इससे रोगी को बहुत कष्ट होता है। गुल्म रोग. ४ नारियल का वह भाग जो उसके ऊपर का कड़ा छिलका उतारने के बाद बच रहता है, गिरी का गोला. ५ मिट्टी, काठ आदि का बना हुआ गोलाकार पिंड जिसके ऊपर विशेष ढंग की पगड़ी बांधी जाती है. ६ लकड़ी का वह गोल पेटे का सीधा लम्बा लट्ठा जो छाजन में लगाने तथा छप्पर आदि छाने के काम में आता है. ७ सूत, ऊन आदि की गोल लपेटी हुई रस्सी या डोरे की पिंडी. ८ किसी चीज की बनाई हुई गोली. ९ तांबे या लोहे की बनी चिलम में लगने वाला मिट्टी का भाग. १० एक प्रकार की तलवार।

गोलौ–सं०पु० [सं० गोलक] (स्त्री० गोली) दास, सेवक, भृत्य (ह.नां.)

कहा०—१ गोला घर भेळ देवै—गुलाम जिस घर में रहते हैं उसका नाश हुए बिना नहीं रहता. २ गोला किण रा गुण करै, ओगणगारा आप—गुलाम स्वयं अवगुणयुक्त होते हैं अतः उनके द्वारा किसी का गुण या भला होने की आशा रखना व्यर्थ है। गुलामों की निंदा. ३ गोला किण रा गोटिया, जोगी किण रा मित। वेस्या किण री अस्त्री, तीनूं मींत कुमींत—गुलाम एवं योगी किसी के सच्चे मित्र नहीं होते, वेश्या किसी की सच्ची स्त्री नहीं बन सकती। ये तीनों बुरे मित्र होते हैं। गुलामों की निंदा. ४ गोली रांड पराया धोवती फिरै, आपरा धोवती लाजां मरै—उसके प्रति जो दुनिया भर का काम करता फिरे किन्तु अपना खुद का काम न करता हो।

(अल्पा०–गोलियौ, गोल्यौ)

गोल्ड–सं०पु० [अं०] सोना, स्वर्ण।

गोल्डन–वि० [अं०] स्वर्णनिर्मित, सुनहला।

गोल्डौ–सं०पु०—जुए को बैल के कंधे पर स्थिर रखने में सहायता देने वाली काष्ठ की कीली।

गोळयौ—देखो 'गोळौ' (अल्पा०, रू.भे.)

गोल्यौ—देखो 'गोलौ' (अल्पा०)

गोल्हौ—देखो 'गुल्लौ' (रू भे.)

गोवंद—देखो 'गोविंद' (रू.भे.) (ह.नां.) उ०—नांम गोवंद थयौ नमो नंदराय नंद, अमंद जस गोरवन आभ अड़ियौ।—वां.दा.

गोवड़ी–सं०स्त्री०—१ पशुओं के शरीर पर चिपक कर उनका खून चूसने वाला एक कीड़ा, ईंत. २ एक घास विशेष. ३ गौर वर्ण की स्त्री, सुंदरी।

गोवणियौ–सं०पु०—दूध दुहने के लिये एक प्रकार का चौड़े मुंह का बर्तन। उ०—चैनजी बाजी पंद्रै सेर खीर रौ गोवणियौ एकर होड मायं ऊभा ई चाटता।—बांगी, विजयदांन देथौ

गोवणौ–सं०पु०—१ अधिक पीटने से होने वाली शारीरिक अवस्था. २ खलिहान में अनाज साफ करने की क्रिया. ३ नाश, ध्वंस।

गोवध–सं०पु०—गौ की हत्या, गौ का वध।

गोवर–सं०पु०—१ गोबर (रू भे.)

सं०स्त्री०—२ गाय। उ०—हिव ते जेसळ नांमि खवास, मनि आपणइ सुबुद्धि विमासि। पूगळ मांहि बुद्धि केळवइ, गोवळ सहि गोवर मेळवइ।—ढो.मा.

[सं० गह्वर] ३ गुफा। उ०—पिंगळराय कहइ तिणि वार, कांई वळी अपूरव सार। दीठी हुइ सा मुझनइ दाखि, गम गोवर मन माहि म राखि।—ढो.मा. ४ गुप्त बात, रहस्य।

गोवरद्धन, गोवरधन–सं०पु० [सं० गोवर्धन] १ ब्रज में स्थित गोकुल के समीप के एक प्रसिद्ध पहाड़ का नाम।

वि०वि०—भागवत में एक कथा आती है कि ब्रजवासी पहिले इन्द्र की पूजा करते थे। श्रीकृष्ण ने उन्हें इंद्र की पूजा को त्याग कर गोवर्धन पर्वत की पूजा करने की सलाह दी। इससे इंद्र ने अप्रसन्न होकर मूसलाधार वर्षा की। सारे ब्रज में त्राहि-त्राहि मच गई। श्रीकृष्ण ने तब गोवर्धन पर्वत को बायें हाथ की कनिष्ठा अंगुली पर उठा कर ब्रज की जनता की रक्षा की।

२ श्रीकृष्ण का एक नाम. ३ गीले गोबर का बनाया हुआ वह पिंड जिसकी दीपावली के दूसरे दिन पूजा की जाती है।

वि०वि०—पूजा के समय इस पर दीप जला कर रक्खा जाता है। गाँवों में जहाँ मवेशी पाले जाते हैं वहाँ यह पूजा मवेशियों के बाड़े या उनके बांधने के किसी दूसरे स्थान के द्वार के ठीक बाहर करते हैं। पूजा के बाद मवेशियों को हांक कर उसके ऊपर से निकाला जाता है।

गोवरधनधर, गोवरधनधारी–सं०पु० [सं० गोवर्द्धन+धारिन्] गोवर्धन पर्वत को धारण करने वाले, श्रीकृष्ण।

गोवरी—देखो 'गोयरी' (रू.भे.)

गोवळ–सं०पु०—१ गुड़. २ गोप, ग्वाला। उ०—सुर नर मोहै देवता, जिम गोवळ मांहि सोहइ गोव्यंद।—वी.दे.

३ देखो 'गोळ'।

सं०स्त्री०—४ गाय।

वि०—रक्षक, रक्षा करने वाला।

गोवाळ, गोवाळियौ, गोवाळौ–सं०पु० [सं० गोपाल] १ गोपाल, श्रीकृष्ण. २ गोप, ग्वाला। उ०—१ गोवाळ सहेत राखी तैं गाय, महा दुख हूंत विछोड़ी माय।—ह.र. उ०—२ तिसै गोवाळियौ एक दौड़ियौ आवै छै तरै जखड़ै कह्यौ—दौड़ियौ इकसासियौ कुं जाय छै।

—जखड़ा-मुखड़ा भाटी री वात

उ०—३ बाबा मत देइ मारुवां, सूधा गोवाळांह। कंध कुहाड़ौ सिर घड़ौ, वासौ मंझ थळांह।—ढो.मा.

३ रक्षा करने वाला, रक्षक। उ०—रिणमल्ल वरा छळ रखपाळ, गड़कियउ सांड गोत्त गवाळ।—रा.ज.सी.

गोविंद–सं०पु० [सं० गोपेंद्र, पा० गोविन्द] १ श्रीकृष्ण (ह.नां.) २ वेदांतवेत्ता. ३ बृहस्पति. ४ शंकराचार्य के गुरु का नाम. ५ सिक्खों के दस गुरुओं में से एक, गुरु गोविंदसिंह. ६ परब्रह्म (अ.मा.)

गोविंददेव–सं०पु०—विष्णु का एक रूप (वां.दा. ख्यात)

गोविंदद्वादसी–सं०स्त्री०यौ० [सं० गोविंदद्वादशी] फाल्गुन माह के शुक्ल पक्ष की बारहवीं तिथि।

गोविंदपद–सं०पु०यौ० [सं०] मोक्ष, निर्वाण।

गोविंदौ–सं०पु० [सं० गोविंद] १ श्रीकृष्ण. २ विष्णु।

गोवीथी–सं०स्त्री० [सं०] चंद्रमा के मार्ग का वह भाग जिसमें भाद्रपद रेवती और अश्विनी तथा किसी किसी के मत से हस्त चित्रा और स्वाती नक्षत्रों का समूह है।

गोवेता–सं०स्त्री०—इन्द्रिय (अ.मा.)

गोवौ–सं०पु० [सं० गोवह] वह मार्ग जिसके दोनों ओर खेतों की ऊँची-ऊँची मेढ़ें लगी हों। उ०—गोवे चरतोड़ी पेड़ां थिग गेडी, भें भें करतोड़ी भेड़ां ढिग भेड़ी।—ऊ.का.

(रू०भे०—गोऔ)

गोव्यंद—देखो 'गोविंद'। उ०—कर जोड़े 'नरपति' कहई। विसुनपुरी जांणे वसइही गोव्यंद।—वी.दे.

गोव्रत–सं०पु० [सं०] गोहत्या के प्रायश्चित्तस्वरूप किया जाने वाला व्रत।

गोस–सं०पु० [फा० गोश] १ सुनने की इंद्रिय, कान (डिं.को.)
२ देखो 'गौस' (रू.भे.)

गोसक–स०पु० [सं० गोशक] इंद्र (अ.मा.)

गोसणौ, गोसबौ–क्रि०स० [सं० कुप = निष्कर्ष] दुख देकर धन लेना, किसी की आत्मा दुखा कर धन का अपहरण करना।

गोसमायल–सं०पु० [फा० कोशमायल] पगड़ी का वह एक छोर जिस पर मोती जड़े हुए होते हैं और जो पगड़ी बांधने पर कान के पास लटकता है।

गोसमाळी–सं०स्त्री० [फा० गोशमाली] १ कान उमेठना.
२ ताड़ना। उ०—दूजां प्यार में गुनागार नूं गोसमाळी इसी भांति देणी आवै छै सो रीस में नही दी जाय।—नी.प्र.

गोसळखांणौ—देखो 'गुसळखांनौ' (रू.भे.)

गोसवारौ–सं०पु० [फा० गोशवारा] १ जोड़, योग. २ हरएक मद के आय व्यय का अलग-अलग दिखाया हुआ संक्षिप्त लेखा.
३ किसी रजिस्टर आदि में खाने के ऊपर का वह भाग जिसमें उन खानों का नाम लिखा रहता है।

गोसांई–सं०पु० [सं० गोस्वामी] १ गाय का स्वामी. २ स्वर्ग का स्वामी, ईश्वर. ३ संन्यासियों का एक संप्रदाय जिसमें १० भेद होते हैं. ४ विरक्त साधु. ५ जितेन्द्रिय।
वि०—श्रेष्ठ, बड़ा।

गोसाळा–सं०स्त्री० [सं० गोशाला] गौओं के रहने का स्थान।
उ०—गायां गोसाळां गूंदा गळगळती, ढाळां द्रग ढळती बूंदां बळबळती।—ऊ.का.

गोसियळ–वि०—गुस्सैल, क्रोधी। उ०—सबळ बाराह 'हालौ' लड़ण अंकड़ौ, गोसियळ 'रांण' जसवंत गैदंतड़ौ।—हा.झा.

गोसौ–सं०पु०—कुये पर जल-भरा मोट खाली करने वाला व्यक्ति।
उ०—तद नापै भींतर पैसारियौ भ्रात सांघ भींतर दिराई अर कहौ—रे गोसी थारौ नांव कासूं।—नापा सांखला री वारता

गोसूक्त–सं०पु० [सं०] गोदान के समय पढ़ा जाने वाला अथर्ववेद का कुछ अंश जिसमें ब्रह्मांड की रचना का गौ रूप में वर्णन किया गया है।

गोसेल–वि०—क्रुद्ध होने वाला, कोप करने वाला (मि० गोसियळ)

गोसौ–स०पु० [फा०] १ कोना। उ०—१ जणां उजीर अरज कीवी अठै एक दरवेस छै। उण साठ हज किया छै। उठै मक्का में मुद्दतां रहियौ छै। हमैं गोसे बैठौ छै।—नी.प्र. उ०—२ दोय दरवेस गोसे बैठा छै।—नी.प्र.
२ कमान की दोनों नोंकें। उ०—पररेज घरै दाढ़ीस पांण, कमधजां ग्रहूं गोसे कबांण।—सू.प्र.
३ एक रोग विशेष. जिसमें अंडकोश की गोलियां बढ़ जाती हैं।
४ आंख में दोनों पलकों के बीच का स्थान। उ०—गैं घड़ा विरोळै जोधा दोवळा चळुळां गोसां।—अज्ञात
[रा०] ५ अंडकोश।
वि०—गुप्त। उ०—खिलवत गोसै बैसणौ, जिलवत चौड़े बैसणौ।
—वां.दा.ख्यात

गोस्ठी–सं०स्त्री० [सं० गोष्ठी] १ बहुत से लोगों का समूह, सभा, मंडली. २ वार्तालाप, परामर्श, सलाह।

गोस्त–सं०पु० [फा० गोश्त] मांस, आमिष।

गोस्तनी–सं०स्त्री० [सं०] दाख, मुनक्का, द्राक्षा (अ.मा.)

गोस्रंग–सं०पु० [स० गोशृंग] १ रामायण एवं महाभारत में वर्णित एक पर्वत. २ बबूल का पेड़. ३ एक ऋषि का नाम।

गोस्वांमी—देखो 'गोसांई' (रू.भे.)

गोह–सं०स्त्री० [सं० गोधा] १ छिपकली की जाति का एक जंगली जंतु जो नेवले से कुछ बड़ा होता है। यह बहुत विषैला होता है।
कहा०—गोह री मौत आवै जरां ढेढ़ रा खालड़ा खड़बड़ावै—गोह की जब मौत आती है तब चमारों के घर पड़ी खालों में चली जाती है जिससे वे सूखी खालें खड़बड़ाने लगती हैं और गोह को मार कर चमार उसे खा जाते हैं। विनाशकाले विपरीत बुद्धि (मि० स्याळियै री मौत आवै जद गांव सांमी दौड़ै)
सं०पु०—२ उदयपुर राजवंस के एक पूर्व पुरुष का नाम जो बप्पा रावल के पहिले हुआ था. ३ रामभक्त निषादराज गुह का एक नाम (रांमकथा) उ०—गोह सरीसा पांमर गाऊं, व्याध कबंध ग्रीध बताऊं।—र.ज.प्र.

गोहणौ—देखो 'गैंणौ' (रू.भे.) उ०—लोह कुंदण करि जसै चलायौ, दीनौ लाभ सुजस जगदीस। गोहणौ 'रतन' अमोलक गिणियौ, सुज वणियौ दुहूं राहां सीस।—आसियौ रांमौ

गोहबाज–सं०पु०—एक प्रकार का घोड़ा (शा.हो.)

गोहरी—देखो 'गोह' (१)
(रू०भे०—गोइड़ो, गोह, गोहिरी)
(मि० गोइड़ी)

गोहल—सं०पु०—क्षत्रियों का गहलोत वंश।

गोहलड़ा—सं०स्त्री०—पँवार वंश की एक शाखा।

गोहलोत—सं०पु०—देखो 'गहलोत' (रू.भे.)

गोहलौ—देखो 'गेहलौ' (रू.भे.)

गोहिर—सं०स्त्री०—१ गांव का वह खुला स्थान जहाँ रात्रि में गायें बैठ कर विश्राम किया करती हैं। उ०—अघसूकोड़ा कांम न आवैं, दांम न दे अणदड़िया है। गायां उछरगी गोहिर सूं, पोठा लारै पड़िया है। —ऊ.का.

२ देखो 'गो'र' (३)

गोहिरी—देखो 'गोह' (१) (मि० 'गोइड़ी')

गोहिल, गोहिल्ल—देखो 'गहलोत' (रू.भे.) उ०—१ वाघेल गोहिल-वाड़, रस कीध घाट वराड़।—रा.रू. उ०—२ जयवंत यादव वीहल्ल, नर निकुंभ गिरुया गोहिल्ल।—कां.दे.प्र.

गोही, गोहीयाळ—वि०—कपटी, धूर्त।

गोहूं, गोहूं—देखो 'गेहूँ'। उ०—रतनपुर री चौरासी चूंडावतां री ठोड़ गोहूं चणा नीपजै।—नैणसी

गोहेलवांन—सं०पु०—१ चौहान वंश की एक शाखा. २ इस शाखा का व्यक्ति।

गोहौ—देखो 'गोधौ' (रू.भे.)

गौ—सं०स्त्री० [सं०] १ गाय, गऊ। उ०—गायां री बाहर जावणी परगणा सूं वध ने समझियो सो उण अजकै वींद सूरवीर गौ बाहर में लाखां सत्रुवां ने हण मारनै मोटै पड़वै नींद लीधी।—वी.स.टी.
यौ०—गौदांन, गौमुखी, गौमुखौ, गौवध, गौव्रत।
२ किरण. ३ सरस्वती, ४ इन्द्रिय. ५ दिशा. ६ वसंत. ७ सुगंध. ८ पृथ्वी। उ०—असि पाइ खेह ऊडी उल्लुक, गौ गइण विची मिळी गौधुळक्क। बरहास खिड़इ ऊछळी वग्ग, कळहिवा क्रमइ कम्मांण क्रग्ग।—रा.ज.सी.
९ माता. १० वाणी. ११ जिव्हा. १२ वृष राशि. १३ आँख. १४ दृष्टि. १५ बिजली. १६ नौका. १७ रोमावली. १८ बकरी. १९ भेड़ (एका०)
सं०पु०—२० सूर्य्य. २१ चंद्रमा. २२ घोड़ा. २३ बैल. २४ बंदर. २५ तीर, वाण. २६ स्वर्ग. २७ कल्पवृक्ष. २८ वज्र. २९ घर. ३० वृक्ष. ३१ पक्षी. ३२ हाथी. ३३ जल. ३४ शिव का गण. ३५ अंक. ३६ शब्द. ३७ केश (एका०)
अव्यय—यद्यपि, अगरचे।

गौख—देखो 'गोख' (रू.भे.) उ०—मंदिरां विखै गौखा छै सु पदमराजमणि रा छै।—वेलि. टी.

गौखड़ौ—देखो 'गोखड़ौ' (रू.भे.) उ०—हे बाभीजी सा। आपरा गौखड़ा सूं आपरा देवर री हथवाह तरवार वहती देख लेराओ। —वी.स.टी.

गौड़—सं०पु०—१ बंग देश का एक प्राचीन भाग. २ कायस्थ जाति का एक भेद विशेष. ३ स्कंदपुराण के सह्याद्रि खंड के अनुसार ब्राह्मणों की एक कोटि जिसमें सारस्वत, कान्यकुब्ज, उत्कल, मैथिल और गौड़ सम्मिलित हैं. ४ ब्राह्मणों की एक जाति जो दिल्ली के आसपास अधिक पाई जाती है. ५ राजपूतों के छत्तीस वंशों के अन्तर्गत एक क्षत्रिय वंश. ६ संपूर्ण जाति का एक राग जिसमें सब शुद्ध स्वर लगते हैं (संगीत) ७ गाय, बैल या भैंस आदि के गले में एक ओर होने वाला गांठ का रोग. ८ देखो 'गोड़' (१, ५, ६) (रू.भे.)

गौड़नट—सं०पु०—गौड़ और नट के योग से बना एक संकर राग।

गौड़पाद—सं०पु० [सं०] स्वामी शंकराचार्य के गुरु के भी गुरु जिन्होंने मांडूक्योपनिषद पर कारिका लिखी थी।

गौड़मल्लार—सं०पु०—गौड़ और मल्लार के योग से बना एक संकर राग (संगीत)

गौड़सारंग—सं०पु०—गौड़ और सारंग के योग से बना एक संकर राग। (संगीत)

गौड़ाटी, गौड़ावटी—सं०स्त्री० [सं० गौड़+पट्टी] गौड़वंशीय क्षत्रियों के राज्य की भूमि। इसके अंतर्गत जोधपुर डिविजन के नागौर जिले का उत्तरी पूर्वी भाग आता है।

गौड़िया-बाजी—सं०स्त्री०—१ नट विद्या. २ ऐंद्रजालिक क्रिया, जादूगरी. ३ छलकपट।

गौड़ियौ—वि०—गौड़ देश का, गौड़ देश संबंधी।
सं०पु०—१ जादूगर, बाजीगर। उ०—१ जांण लगाया गौड़िये, वाड़ी वन खंडा।—केशोदास गाडण उ०—२ हे सखी! ऐ जो जगत रा और तमासा गौड़ियां रा, जोगियां रा आद देनै सो ऐ तमासा तौ कायरां रै देखण रा छै।—वी.स.टी.
२ वह पशु जो गौड़ रोग से पीड़ित हो. ३ सँपेरा।
उ०—कळपै अकबर काय, गुण पुंगीधर गौड़िया। मिणधर छाबड़ मांय, पड़ै न रांणा प्रतापसी।—दुरसौ आढ़ौ
कहा०—कांई गौड़ियौ गावै'र कांई पूंगी बजावै—संपेरा न तो अच्छा गायक ही होता है और न उसकी बीन (पूंगी) ही संगीत का वाद्य है अतः उसका गाना और बजाना दोनों ही महत्व नहीं रखते। ऐसे लोगों के प्रति व्यंगोक्ति जो पूर्ण रूप से जाने बिना कार्य करते हैं।

गौड़ी—१ देखो 'गोड़' (५) (रू.भे.) उ०—ललिता गौड़ी करै तौ न्यारी, समद समाय समद समि होवै।—ह.पु.वा.
२ ओजगुण प्रकाशक काव्य की एक प्रकार की रीति या वृत्ति जिसे परुषा भी कहते हैं। इसमें ट वर्ग और संयुक्ताक्षर अधिक आते हैं. ३ संपूर्ण जाति की एक रागिनी (संगीत)

गौड़ीर—देखो 'गोड़ीर' (रू.भे.)

गौड़ीरव—देखो 'गोड़ीरव' (रू.भे.)

गौढ़ा, गौढ़े—१ देखो 'गोढ़े' (रू.भे.) २ अधिकार में, कब्जे में ।

गौण—देखो 'गोण' (रू.भे.) उ०—मोह कहै विवेक सूं, वैर कियौ सुख कौण । मेरी वसुधा ऊपरैं, तूं ज करता है गौण ।—ह.पु.वा.
वि०—जो प्रधान या मुख्य न हो, सहायक ।

गौणी-सं०स्त्री०—अस्सी प्रकार की लक्षणाओं में से एक जिसमें केवल किसी एक वस्तु का गुण लेकर दूसरे में आरोपित किया जाता है ।
वि०—अप्रधान, साधारण ।

गौणौ—१ देखो 'गोणौ' (रू.भे.) [रा०] २ खलिहान ।
३ खलिहान में अनाज आदि को कुचलने की क्रिया ।
क्रि०प्र०—करणौ, घालणौ ।

गौतम-सं०पु०—१ नासिक के पास स्थित एक पर्वत का नाम.
२ क्षत्रियों का एक भेद ।

गौतमी—देखो 'गोतमी' (रू.भे.)

गौती—देखो 'गोती' (रू.भे.) उ०—खवी गौती कदम निज अठारह, खोहण सारीखौ दुरजोधन समर ।—किसनौ सिढ़ायच

गौदांन—देखो 'गोदांन' (रू.भे.)

गौन-भू०का०कृ०—गया हुआ, गमन किया हुआ । उ०—मरणे खातिर फेर द्विज, आवै यहं पै कौन । सपथ करौ जो हेत सो, तौ चाहै कर गौन ।—सांई री पलक

गौव्यंद—देखो 'गोविंद' (रू.भे.)

गौमुखी—देखो 'गोमुखी' (रू.भे.)

गौमूत—देखो 'गोमूत' (रू.भे.)

गौमेद—१ देखो 'गोमेद' (रू.भे.) २ गो-मूत्र के रंग का एक प्रकार का रंग ।

गौरंगि—देखो 'गोरंगी' (रू.भे.)

गौर-सं०पु०—१ देखो 'गोर' (रू.भे.) २ एक प्रकार का हिरन जिसके खुर बीच से फटे नहीं होते. ३ चैतन्य महाप्रभु ।
सं०स्त्री०—४ देखो 'गोर' (रू.भे.) उ०—ओपमा तेण आवै न और, गणपती रमावै जांण गौर ।—वि.सं.
वि०—गोरा, श्वेत वर्ण का ।

गौ'र—देखो 'गो'र' ।

गौरता-सं०स्त्री०—गोरापन, गोरा होने का भाव । उ०—सु गौर वांहां छै । मखतूल सूं पोया छै सु गौरता ऊपरि स्यांमता किसी सोभै छै जैस्यै मणी मैं हींडोळै मन घरि हींडै छै ।—वेलि. टी.

गौरपत, गौरपती—देखो 'गोरपति' (रू.भे.)

गौरबंद, गौरबंध—देखो 'गोरबंद' (रू.भे.)

गौरम-सं०पु०—१ आकाश, नभ. २ देखो 'गोरम' (रू.भे.)

गौरव-सं०पु० [सं०] १ बड़प्पन, महत्व. २ गुरुता. ३ सम्मान, आदर ।
सं०स्त्री०—४ कीर्ति, यश. ५ वृद्धि । उ०—तुलि बैठौ तरणि तेज सम तुलिया, भूप कणय तुलता भ्रू भांति । दिणि दिणि तिणि लघुता प्रांमै दिन, राति राति तिणि गौरव राति ।—वेलि.
६ पाणिग्रहण संस्कार के बाद जीमणवार के दूसरे दिन वधू पक्ष द्वारा दिया जाने वाला भोज विशेष (श्रीमाली ब्राह्मण)

गौरवीवाळा-सं०स्त्री०—श्रीमाली ब्राह्मणों में 'पड़ गौरव' भोज की रात्रि को वधू के घर की जाने वाली एक रस्म विशेष ।

गौरवौ—१ देखो 'गोर' (रू.भे.) उ०—असी रिप्यां में लियौ टोड़ड़ौ, हाल्या रातूं रात । गढ़ बठोठ कै आया गौरवै, ऊगतड़ै परभात ।—डूंगजी जवारजी री पड़
२ चटक पक्षी, चिड़ा ।

गौरहर—देखो 'गोरहर' (रू.भे.)

गौरहारी-सं०स्त्री०—ध्रुपद की चार प्रकार की वाणियों में से एक ।

गौरांग-सं०पु०—१ विष्णु. २ श्रीकृष्ण. ३ चैतन्यमहाप्रभु
४ अंग्रेज ।
वि०—गोरे रंग का ।

गौरा—१ देखो 'गोरा'. २ श्रीराग की स्त्री मानी जाने वाली एक रागिनी (संगीत)

गौरियौ-सं०स्त्री०—१ काले रंग का एक प्रकार का जल-पक्षी.
२ मिट्टी का बना हुआ एक प्रकार का छोटा हुक्का ।
वि०—देखो 'गोरियौ' (रू.भे)

गौरिवौ-सं०पु०—बादशाह । उ०—भोयंगमंडळ लोह भणावण, गौरिवै कुंभा प्रांण गुर ।—महारांणा कुंभा रौ गीत

गौरी—१ देखो 'गोरी' (रू.भे.) २ विवाह का अंतिम कार्य जिसे गौरी अति कहते हैं । इस दिन माया मातृका का विसर्जन होता है ।

गौरीवौ—१ देखो 'गौरिवौ' ।
२ गौरीपति, शिव, महादेव ।

गौरीसंकर-सं०पु०यौ०—१ शिव, महादेव. २ हिमालय पर्वत की सब से ऊंची चोटी का नाम, माउंट एवरेस्ट ।

गौरीसर—देखो 'गोरीसर' (रू.भे.)

गौळ-सं०पु०—बादामी व गेहूँ के रंग का मोटे तने का बड़ा वृक्ष जो लम्बे समय तक सूखता नहीं । इसकी लकड़ी पर खुदाई का काम अच्छा होता है । इसका बीज गोल होता है ।

गौवरहारी—देखो 'गौरहारी' (रू.भे.)

गौस-सं०पु० [अ०] १ वह मुसलमान महात्मा जो वली से बड़ा पद रखता है । उ०—कतब गौस अवदाळ (स) सूफी अने कळंदर, पीरजादा मिळै सांज परभात ।
—महाराजा जसवंतसिंह प्रथम रौ गीत
२ पानी में पैठना, गोता मारने का भाव ।
वि०—दुहाई सुनने वाला, न्यायकर्ता ।

गोसळ, गोसळखांणी—देखो 'गोसळखांनी' (रू.भे.) उ०—सह गयौ दरगाह सूं, निज रहवासि अनेह। हितकर बोलाया हितू, गोसळ अंतर गेह।—रा.रू.

गोसाळा—देखो 'गोसाळा' (रू.भे.)

गोह, गोहक, गोहकेसर—सं०पु०—१ एक देव जाति. २ कुबेर (अ.मा.)

गोहर—सं०पु०—१ जैसलमेर का किला. २ महल, प्रासाद. [फा०] ३ मोती, मुक्ता।

ग्यांनकांड—सं०पु०यौ० [सं० ज्ञानकांड] वेद के तीनों कांडों या विभागों में से एक विभाग।

ग्यांनक्रत—वि०पु०यौ० [सं० ज्ञानकृत] जानबूझ कर किया हुआ करतब या पाप।

ग्यांनगोचर—वि०यौ० [सं० ज्ञानगोचर] ज्ञानेन्द्रियों से जानने योग्य, ज्ञानगम्य।

ग्यांनगोभा—सं०स्त्री०यौ०—ज्ञान की जड। उ०—गिरवांणां सहाई मनोज धेनु ग्यांनगोभा, नाराज, वरीस सोभा इसी प्रथीनाथ।

—र.रू.

ग्यांनजग्य—सं०पु०यौ० [सं० ज्ञानयज्ञ) ज्ञान द्वारा अपनी आत्मा का परमात्मा में हवन, ब्रह्मज्ञान।

ग्यांनजथा—सं०स्त्री०यौ० [सं० ज्ञान+रा० जथा] डिंगल साहित्य में गीतों की वह रचना जिसमें अवयानों का यथासंख्य वर्णन हो।

ग्यांनण—सं०स्त्री०—ज्ञानी, विदुषी।

ग्यांनदाता—सं०पु०यौ० [सं० ज्ञानदाता] ज्ञान देने वाला मनुष्य।

ग्यांनमुद्रा—सं०स्त्री०यौ० [सं० ज्ञानमुद्रा] तंत्रसार के अनुसार राम की पूजा की एक मुद्रा।

ग्यांनयोग—सं०पु०यौ० [सं० ज्ञानयोग] ज्ञान की प्राप्ति द्वारा मोक्ष का साधन।

ग्यांनलक्षण—सं०पु०यौ० [सं० ज्ञानलक्षण] न्याय में अलौकिक प्रत्यक्ष का एक भेद।

ग्यांनलिंग—सं०पु०—महादेव का एक लिंग। उ०—पुरांण लिखै है—आंनै ग्यांनवापी री जळ आगला जुगां में कासी में लोग पीवताआं में ग्यांनलिंग प्रकटी। लोक त्रिभंग हो जाती।—वां.दा.

ग्यांनवांन—वि०यौ० [सं० ज्ञानवान] ज्ञानी, विद्वान।

ग्यांनव्रद्ध—वि०यौ० [सं० ज्ञानवृद्ध] ज्ञान में बड़ा, अनुभवी।

ग्यांनसत—सं०पु०यौ० [सं० ज्ञानिपद] स्वर्ग (अ.मा.)

ग्यांनसाधन—सं०पु०यौ० [सं० ज्ञानसाधन] १ इंद्रिय. २ ज्ञान-प्राप्ति का प्रयत्न।

ग्यांनावरणी अंतराय—सं०पु०यौ० [सं० ज्ञानावरणी अंतराय] प्राप्त ज्ञान से होने वाले लाभ में उपस्थित होने वाला विघ्न (जैन)

ग्यांनासण, ग्यांनासन—सं०पु०यौ० [सं० ज्ञानासन] रुद्रयामल के अनुसार योग का एक आसन जिससे योगाभ्यास में शीघ्र ही सिद्धि होती है।

ग्यांनी—वि० [सं० ज्ञानिन्] १ जिसे ज्ञान हो, ज्ञानवान, अनुभवी।

उ०—सुख-संपत अर ओदसा, सब काहू को होय। ग्यांनी काटै ग्यांन सूं, मूरख काटै रोय।—अज्ञात

२ आत्मज्ञानी, ब्रह्मज्ञानी. ३ कवि ४ हंस (अ.मा.)

ग्यात—वि० [सं० ज्ञात] विदित, जाना हुआ, अवगत।

ग्यातजोबना, ग्यातजोवना—सं०स्त्री० [सं० ज्ञात-यौवना] वह मुग्धा नायिका जिसे अपने यौवन का ज्ञान हो। उ०—१ हीरा मुगधा ग्यात-जोबना कहावै छै, दिल बीच चंपतराय भावै छै। अब नोंख-चोख की वातां वणावै छै।—बगसीरांम प्रोहित री वात

उ०—२ ग्यातजोबना गहर मदन छक लहर समाजत, बणि हीरां द्रग विकस रसक रंभादिक राजत।—बगसीरांम प्रोहित री वात

ग्याता—वि० [सं० ज्ञातृ] १ जानने वाला, ज्ञान रखने वाला, जानकार। उ०—तुहीं ग्याता ग्येय प्रक्रति बनि ग्याता पद तुंही। तुंही ध्याता ध्येय व्रति मति विख्याता प्रत तुंही।—ऊ.का.

२ कवि ३ पंडित, वेदान्ती।

ग्याति—सं०स्त्री० [सं० ज्ञाति] १ जाति या गोत्र-सम्बन्ध।

उ०—प्रभणंति पुत्र इम मात पिता प्रति। अम्हां वासना वसी इसी। ग्याति किसी राजवियां ग्वाळां, किसी जाति कुळ पांति किसी।

—वेलि.

२ एक ही गोत्र या वंश का मनुष्य, गोती।

ग्याती—सं०स्त्री०—दरवाजा बंद करने का दरवाजे के बीच में लगाया जाने वाला एक प्रकार का डंडा।

ग्यावण, ग्यावणी—वि० [सं० गर्भिणी] गर्भवती। उ०—इतरा में रोही मांही एक थोरी सिकार रै पगां हिरणी मुंहडा आगै लियां आवै, उवा हिरणी ग्यावण तावड़ी में तिस सूं रहि गई थकी वहै।

—साह रांमदत्त री वारता

ग्यारमौ—वि०—जो क्रम में दस के बाद पड़ता हो।

ग्यारस, ग्यारसि, ग्यारसी—सं०स्त्री० [सं० एकादशी] मास के प्रत्येक पक्ष की ग्यारहवीं तिथि, एकादशी। उ०—१ ग्यारस गोरी गंगजळ, भोजन भला ज खीर। वसवौ तौ व्रज कौ भलौ, मरवौ गंगा तीर।

—अज्ञात

उ०—२ ग्यारसि करत वहोत दिन बीता, एकादसी न जांणी रीता। जब लग निज तत निजरि न आवै, दुबव्या खेलि बहुत दुख पावै।—ह.पु.वा.

ग्यास—सं०पु०—हँसी, मजाक, दिल्लगी।

ग्यासी—सं०स्त्री०—वह स्त्री जिसके ग्यारह बारह यार या उपपति हों, व्यभिचारिणी। उ०—वासी नरकां रा विदर, ग्यासी रा गैंमोत। सत्यानासी रा सुकन, दासी रा देसोत।—ऊ.का.

ग्येय—वि० [सं० ज्ञेय] जो जानने योग्य हो, जो जाना जा सके, ज्ञातव्य.

ग्रंजन—सं०पु० [सं०] प्याज।

ग्रंथ—सं०पु० [सं०] पुस्तक, किताब।

यौ०—ग्रंथकरता, ग्रंथकार।

ग्रंथक–सं०पु०—ग्रंथ लिखने वाला, ग्रंथकर्ता।

ग्रंथकरता–सं०पु०यौ० [सं० ग्रंथकर्ता] ग्रंथ की रचना करने वाला, ग्रंथकार।

ग्रंथकार—देखो 'ग्रंथकरता'।

ग्रंथण–सं०पु० [सं० ग्रंथन] १ दो चीजों को इस प्रकार जोड़ना कि उनके बीच में गांठ पड़ जाय. २ जोड़ने या गूंथने का भाव।

ग्रंथसाहब–सं०पु०—सिक्खों का धार्मिक ग्रंथ जिसमें उनके गुरुओं के उपदेश एकत्रित हैं।

ग्रंथांण—देखो 'ग्रंथ'। उ०—तारवै अनेकां दया महरांण तस, गिणां की वडम ग्रंथांण गावै।—र.रू.

ग्रंथि–सं०स्त्री०—१ गांठ, बंधन. २ जोड़, संधि।
३ रक्त-विकार से होने वाला एक प्रकार का रोग।

ग्रंथिभेदनासण, ग्रंथिभेदनासन–सं०पु०—योग के चौरासी आसनों के अंतर्गत एक आसन। इसमें पद्मासन की तरह पांवों की स्थिति करके पीछे आसन को उठा कर दोनों घुटनों को छाती के पास लाया जाता है और पीछे दोनों हाथों के बंध में बांध कर स्थिर होकर बैठा जाता है।

ग्रंथि—देखो 'ग्रंथि' (रू.भे.)

ग्रथीलो–वि० [सं० ग्रंथिल] गूंथा हुआ।

ग्रंदप–सं०पु० [सं० गंधर्व] १ गंधर्व, विद्याधर। उ०—परगह सह परवार अरी सह मार उडाणूं। सुरगण ग्रंदप सुपह डहै बंध तासु छुडांणूं।—र.रू.
२ मृग. ३ घोड़ा।

ग्रंधप, ग्रंध्रप—देखो 'ग्रंदप' (रू.भे.) उ०—जिण सभा रै मांहे ब्रह्मादिक सिवादिक इंद्रादिक आद तेंतीस क्रोड देवता, इठयासी हजार रिखी विद्याधर ग्रंध्रप जक्ष आद देस देस रा राजा बैठा है।—र.रू.

ग्रग–सं०पु० [सं० गर्ग] १ एक वैदिक ऋषि। उ०—कमधजां छात जिग वात क्रत, लख विख्यात संकळप लियौ। रिखि वयण आद वासिस्ट ग्रग, कहिया तिम उद्यम कियौ।—रा.रू.
२ बैल, सांड. ३ पहाड़।

ग्रगाचार–सं०पु० [सं० गर्ग] १ एक वैदिक ऋषि, गर्ग ऋषि।
उ०—वडा जीतसी जुद्ध बाहू वडाई, ग्रगाचार नारद संखेप गाई।
—ना.द.

ग्रझड़—देखो 'ग्रीध' (रू.भे.) उ०—फील घड़ पड़ ग्रझड़ झड़ फड़ हुय दड़ड़ रत मुनंद हड़हड़।—सू.प्र.

ग्रद, ग्रद्ध, ग्रध–सं०स्त्री० [फा० गर्द] १ गर्द, धूलि।
सं०पु०—२ गिद्ध। उ०—१ आगै पग राज खळवक उदद्ध, गरज्ज पगां रज मोटा ग्रद्ध।—ह.र. उ०—२ ग्रध झपट बहु मांस गट गट।
—सू.प्र.

ग्रधसी–सं०स्त्री० [सं० गृध्रसी] एक प्रकार का वात रोग जो पहले कूल्हे से उठता है और धीरे-धीरे नीचे को उतरता हुआ दोनों पैरों को जकड़ लेता है (अमरत)

ग्रब, ग्रब्ब, ग्रब्भ, ग्रभ—१ देखो 'गरभ' (रू.भे.) उ०—१ जळंतौ उत्रा ग्रब्भ मझार, अनंत परीखत संत उवार।—ह.र.
उ०—२ महाराजा अजमाल रौ, वधसी जगत प्रताप। आयौ ग्रभ जिण निस अभी, भागौ सुरां संताप।—रा.रू.
२ देखो 'गरव' (रू.भे.) उ०—१ अड़ाभीड़ रावत्त चेला अबीहा, सिबी सब्ब आरब्ब सो ग्रब्ब सीहा।—रा.रू.
उ०—२ वे हरि हर भजै अतारू बोलै, ते ग्रब भागीरथी म तूं। एक देस वाहणी न आंणी, सुरसरी सम सरि वेलि सूं।—वेलि.
उ०—३ गिरतनया पत सिख ग्रभ गंजण, सुव निसवासर सेवै।
—र.रू.

ग्रभवास—देखो 'गरभवास' (रू.भे.) उ०—ग्रभवास बैठ भट किसूं घणूं, भूलै कांइ चीलै भलै।—ज.खि.

ग्रभवासी–वि०—गर्भ का बच्चा, गर्भस्थ शिशु।

ग्रबी–सं०स्त्री०—आग, अग्नि (ह.नां.)

ग्रसण–सं०पु० [सं० ग्रसन] १ निगलने या खाने की क्रिया या भाव.
२ पकड़. ३ ग्रहण।

ग्रस्त–वि० [सं०] १ पकड़ा हुआ. २ पीड़ित. ३ खाया हुआ.
[सं० गृहस्थ] ४ गृहस्थ।

ग्रस्तज–सं०पु० [सं० गृहस्थ] गृहस्थी, गृहस्थ।

ग्रस्तास्त–सं०पु० [सं०] १ ग्रहण लगने पर चंद्रमा या सूर्य का ग्रहण की अवस्था में ही बिना मोक्ष प्राप्त किए अस्त होना.
[सं० गृहस्थ] २ गृहस्थ।

ग्रस्तोदय–सं०पु० [सं०] चंद्रमा या सूर्य का ग्रहण लगे हुए ही उदय होना।

ग्रह–सं०पु० [सं०] १ प्राचीन काल से ही ज्ञात वे तारे जिनकी गति, उदय एवं अस्तकाल आदि का पता ज्योतिषियों ने लगा लिया था।
यौ०—ग्रहगोचर, ग्रहपति, ग्रहमिण, ग्रहमैत्र, ग्रहराज, ग्रहवेध।
२ सौर जगत में अपनी निश्चित कक्षा पर सूर्य की परिक्रमा करने वाला तारा।
वि०वि०—ये प्रधान ग्रह नौ हैं—१ बुध, २ शुक्र, ३ पृथ्वी, ४ मंगल, ५ बृहस्पति, ६ शनि, ७ अरुण, ८ वरुण, ९ यम (प्लूटो)। फलित ज्योतिष में नौ ग्रहों के अंतर्गत सूर्य व चंद्र भी सम्मिलित किए जाते हैं (मि० 'नवग्रह')
यौ०—ग्रहगोचर, ग्रहचिंतक, ग्रहजग्य, ग्रहजुती, ग्रहजोग, ग्रहदसा, ग्रहद्रस्टि, ग्रहनेमि, ग्रहपति, ग्रहमिण, ग्रहमैत्र, ग्रहराज, ग्रहवेध।
३ नौ की संख्या* ४ ग्रहण करने या लेने का भाव. ५ कृपा.
[सं० ग्रहण] ६ देखो 'ग्रहण'. ७ वह पात्र जिससे यज्ञ में देवताओं को सोमरस का हविष्य दिया जाता है. [सं० गृह] ८ घर, मकान, निवासस्थान। उ०—आगै जाइ आलि केळि ग्रह अंतरि, करि अंगण मारजण करेण।—वेलि.
यौ०—ग्रहचार, ग्रहचारी, ग्रहचिंतक, ग्रहजुध, ग्रहधारी, ग्रहनार, ग्रहपति, ग्रहपाळ, ग्रहपसु, ग्रहम्रग, ग्रहवंत।

(रू०भे०—ग्रिह, ग्रेह, ग्रेहक)
६ कुटुम्ब, परिवार. १० कैदी ।

ग्रहइंद-सं०पु० [सं० ग्रहेन्द्र] सूर्य्य, भानु (क.कु.बो.)

ग्रहकल्लोल-सं०पु० [सं०] राहु नामक ग्रह ।

ग्रहकेस्वर-सं०पु०यौ० [सं० गुह्यकेश्वर] कुवेर (नां.मा.)

ग्रहक्कणी, ग्रहक्कबौ—देखो 'गहकणौ' (रू.भे.) उ०—ग्रहकै ग्रीधणी लाधै ग्रास ।—रा.ज.रासौ

ग्रहगण-सं०पु०यौ०—ग्रहावली, ग्रहों का समूह ।

ग्रहगति, ग्रहगोचर—१ देखो 'गोचर' (३) उ०—ग्रिह काज भूलिग्या ग्रहि ग्रहि ग्रहगति पूछीजै चिंता पड़ी । मन ग्ररपणा कीवै हरि मारग चाहै प्रज ग्रोटे चढ़ी ।—वेलि. २ फलित ज्योतिष के ग्रनुसार ग्रहों का चालू क्रम ।

ग्रहग्रहणी, ग्रहग्रहबौ-क्रि०ग्र०—पक्षियों का ग्राकाश में मँडराना ।
उ०—उपड़ रजी ग्रपार, ग्रीझण समळा ग्रहग्रहै । सझै छतीसह सार, दळ हालै गोगा दिसी ।—गो.रू.

ग्रहचार-सं०पु० [सं० गृह+चार] संभोग, मैथुन, समागम।
वि० [रा०] घर संबंधी । उ०—पिता पूत ग्रहचार सपूतां, हुई वात राठौड़ां हूंतां । महारांणा सूं कंवर मिळायो, दुझल मारवां राज दिरायो ।—रा.रू.

ग्रहचारी-सं०पु० [सं० गृहचार+ई] गृहस्थ । उ०—कांनन रहो रहो गिरिकंदर, चवै खलक ग्रहचारी । घर घर जो डोलै विण घरणी, भाखै नगर भिखारी ।—र.रू.

ग्रहचिंतक-सं०पु० [सं०] १ ज्योतिषी. २ घर की चिंता रखने वाला ।

ग्रहजग्य-सं०पु०यौ० [सं० ग्रहयज्ञ] ग्रहों की उग्रता एवं कोप सम्बन्धी दोषों को दूर करने के लिए किया जाने वाला पूजन या यज्ञ (फलित ज्योतिष एवं पौराणिक)

ग्रहजुति-सं०स्त्री०यौ० [सं० ग्रहयुति] एक राशि के एक ही ग्रंश या भाग पर दो ग्रहों के एकत्र होने का भाव ।

ग्रहजुध-सं०पु०यौ० [सं० ग्रह युद्ध] १ सूर्य सिद्धांत के ग्रनुसार होने वाला एक प्रकार का ग्रहण जिसका फल फलित ज्योतिष के ग्रनुसार ग्रत्यंत भयंकर होता है ।
वि०वि०—इस सिद्धांत के ग्रनुसार बुध, बृहस्पति, शुक्र, शनि या मंगल में से किसी एक ग्रह का चंद्रमा के साथ ग्रथवा उक्त ग्रहों में से किसी दो ग्रहों का एक साथ एक राशि के एक ग्रंश पर इस प्रकार एकत्र होना होता है कि उस ग्रह पर ग्रहण लगा हुग्रा जान पड़े ।
[सं० गृह युद्ध] २ गृहक्लेश, घर का झगड़ा ।

ग्रहजुधभ-सं०पु०यौ० [सं० ग्रहयुद्धभ] वह नक्षत्र जिस पर कोई दो ग्रह एक साथ एकत्र हों ।

ग्रहजोग-सं०पु० [सं० ग्रह+योग] एक राशि के एक ही ग्रंश या भाग पर दो ग्रहों के एकत्र होने का भाव ।

ग्रहण-सं०पु० [सं०] १ सूर्य, चंद्र या किसी दूसरे ग्राकाशचारी पिंड की ज्योति का ग्रावरण जो दृष्टि ग्रौर उस पिंड के मध्य में किसी ग्रन्य ग्राकाशचारी पिंड के ग्रा जाने के कारण इस पिंड की छाया पड़ने से होता हैं ।
वि०वि०—भौगोलिक सिद्धांत के ग्रनुसार सूर्य ग्रौर पृथ्वी के बीच में चंद्रमा के ग्राने से सूर्य का कुछ भाग ढक जाता है । इससे सूर्यग्रहण होता है । इसी प्रकार सूर्य ग्रौर चंद्रमा के बीच पृथ्वी के ग्राने से पृथ्वी की छाया चंद्रमा पर पड़ने से चंद्रग्रहण होता है । पौराणिक मत के ग्रनुसार राहु नामक राक्षस के राहु ग्रौर केतु (धड़ एवं शिर) कभी सूर्य ग्रथवा कभी चंद्रमा को ग्रस लेने का प्रयत्न करते हैं । सूर्य ग्रौर चंद्रमा को इस विपत्ति से बचाने ग्रथवा इस प्रकार के ग्रहण से होने वाले ग्रशुभ फल से बचने के लिए लोग ग्रहण के समय दान-पुण्य ग्रादि करते हैं ।
२ पकड़ने, लेने या हस्तगत करने की क्रिया. ३ दुख, कष्ट, पीड़ा, संकट ।
वि०—पकड़ने वाला । उ०—गिरंद गाहटण नूझै-मण सझै रिण विसम गत, दोयण घण दावटण जैत दूजौ । जपै ग्रन सहू जन 'सिंध' तण विजै जस, साह मोखण-ग्रहण भूप सूजौ ।—किसनौ सिंढ़ायच

ग्रहणगंध, ग्रहणग्रंध-सं०पु०यौ० [सं० गंध+ग्रहण] १ भौंरा (ग्र.मा.) २ नाक (ग्र.मा.)

ग्रहणवैरी-सं०पु०यौ०—भाला (ना.डिं.को.)

ग्रहणसुगंध-सं०पु०यौ०—नाक (ग्र.मा.)

ग्रहणि, ग्रहणी-सं०स्त्री० [सं०] १ पेट में पक्वाशय ग्रौर ग्रामाशय के बीच की एक नाड़ी विशेष । यह ग्रग्नि ग्रौर पित्त का प्रधान ग्राधार है (सुश्रुत) २ इस नाड़ी के दूषित होने से उत्पन्न होने वाला एक प्रकार का रोग जिसमें खाया हुग्रा पदार्थ पचता नहीं हैं ।
[रा०] ३ युद्ध. ४ ग्रहण. [सं० गृहिणी] ५ घर की मालकिन. ६ भार्या, पत्नी ।

ग्रहणी—देखो 'गैंणौ' (रू.भे.) उ०—निहसै वूठौ घण विणु नीलांणी वसुधा थळि थळि जळ वसइ । प्रथम समागम वसत्र पदमणी लीध किरि ग्रहणा लसइ ।—वेलि.

ग्रहणौ, ग्रहबौ-क्रि०स०—१ लेना । उ०—मोतिए विसाहण ग्रहि कुण लूंकै, एक एक प्रति एक ग्रनूप ।—वेलि. २ स्वीकार करना ।
उ०—ग्रहिया मुखि मुखा गिळित गिळित उग्राहिया, मूं गिणि ग्राखर ए मरम ।—वेलि.
३ पकड़ना, हाथ में थामना । उ०—१ भरिया तरु पुहप वहे छूटा भर, कांम बांण ग्रहिया करगि ।—वेलि.
उ०—२ स्त्रिया देख दाखै प्रभू काज सारो । ग्रिणो नोख रूपी ग्रहो काय मारो ।—सू.प्र.
४ धारण करना । उ०—ग्रहियौ कंध गंध भार गुरु, गंधवाह तिणि मंद गति ।—वेलि. ५ ग्रधिकार में करना । उ०—महदातार पयंपै माहव, बोल किसो ऊचरां वियो । ग्रहिया पछैं उग्रहणौ गोविंद, कीजौ जिम सगरांम कियो ।—महारांणा संग्रांमसिंह रो गीत

ग्रहदसा-सं०स्त्री०यौ० [सं० ग्रहदशा] १ गोचर ग्रहों की स्थिति. २ ग्रहों की स्थिति के अनुसार किसी व्यक्ति की भली या बुरी अवस्था. ३ अभाग्य।
क्रि०प्र०—आणी, बीतणी।

ग्रहदायु-सं०स्त्री० [सं०] जन्म के समय के ग्रहों की स्थिति के अनुसार किसी जातक की आयु, अवस्था।

ग्रहद्रस्टि-सं०स्त्री०यौ० [सं० ग्रहदृष्टि] फलित ज्योतिष के अनुसार बनाई जाने वाली कुंडली में एक ग्रह की दूसरे ग्रह पर दृष्टि होने का भाव। इसमें शुभ ग्रहों की दृष्टि का फल शुभ तथा अशुभ ग्रहों की दृष्टि का फल अशुभ होता है।

ग्रहधारी-सं०पु०यौ० [सं० गृह+धारिन्] गृहस्थी। उ०—ग्रहधारी थोडां गिणां, नर थोड़ां में नेक। भेक लियोड़ा में भला, कोड़ां मांहीं केक।—ऊ.का.

ग्रहनार-सं०स्त्री०यौ० [सं० गृह+नारी] गृहिणी, भार्या।
उ०—सिंघासण चढ़णौ नर आसण, सासण सह मांनै संसार। खतम खुमी अणखूट खजांना, निरमळ चंदमुखी ग्रहनार।—र.रू.

ग्रहनेम-सं०पु० [सं० ग्रहनेमि] १ आकाश (डिं.को.) २ चंद्रमा।

ग्रहनेमि-सं०स्त्री० [सं०] चंद्रमा की गति के मार्ग का वह भाग जो मूल और मृगशिरा नक्षत्रों के बीच में पड़ता है।

ग्रहप, ग्रहपत, ग्रहपति, ग्रहपती-सं०पु०यौ० [सं० गृह+प—गृहपति] १ घर का मालिक, गृहपति.
उ०—आज भलां दिन उगीयौ, ग्रहपति गयौ मुझ गेह। सुपनै मिळती साल पिव, सो दीठा नयणेह।—ढो.मा.
३ श्वान, कुत्ता ४ चौकीदार. ५ पति, खाविंद।
[सं० ग्रहपति] ६ सूर्य, भानु (अ.मा.)

ग्रहपसु-सं पु० [सं० ग्रहपशु] १ कुत्ता (अ.मा.) २ गाय।

ग्रहपाळ, ग्रहपाळक-सं०पु० [सं० गृहपाल] १ घर का रक्षक, चौकीदार. २ सेवक, दास, दासी. ३ श्वान, कुत्ता।

ग्रहपसु-सं०पु० [सं० ग्रहपुष] सूर्य, भानु।

ग्रहमंडण-सं०पु०यौ० [सं० गृह+मंडन] धन, दौलत, द्रव्य (नां मा.)

ग्रहमणि, ग्रहिमिण, ग्रहिमिणि-सं०पु० [सं० गृहमणि] १ दीपक (अ.मा., ह.नां.) २ प्रकाश, ज्योति।

ग्रहमैत्र, ग्रहमैत्री-सं०पु०स्त्री० [सं० ग्रहमैत्र] वर एवं वधू के ग्रहों के स्वामियों की अनुकूलता, जिसका विचार विवाह-संस्कार के पूर्व किया जाता है।

ग्रहम्रग-सं०पु० [सं० गृहमृग] श्वान, कुत्ता (ह.नां., अ.मा.)

ग्रहराज, ग्रहराव-सं०पु० [सं० ग्रहराज] १ सूर्य। उ०—भारथ मझि मिळै दूसरी भारथ, रथ ठांभियौ जोवण ग्रहराज।—गोरधन बोगसौ २ चंद्र. ३ बृहस्पति।

ग्रहवत-वि०—भाग्यवान, सौभाग्यशाली। उ०—रड़रांण भांण रतन्न, करतब्ब भारथ क्रन्न। नरनाह जे मुख नीर, ग्रहवंत ग्यांनगहीर।
—वचनिका

ग्रहवार-सं०स्त्री०यौ० [सं० गृह+वारि] मछली (अ.मा.)

ग्रहवास-सं०पु०—१ किसी के घर में रहना. २ किसी के घर में पत्नी रूप बन कर रहना। उ०—कल मांनव रै ग्रहवास करूं। उण स्राप तें पार जदी उतरूं।—पा.प्र.
(रू०भे०—घरवास, घरवासौ)
३ सहवास।

ग्रहवेध-सं०पु० [सं०] ग्रह की स्थिति आदि का ज्ञान।

ग्रहसणौ, ग्रहसबौ-क्रि०स०—१ ग्रहण करना, स्वीकार करना. २ छीनना, झपटना।

ग्रहसमागम-सं०पु० [सं०] मंगल, बुध आदि अन्य ग्रहों का चंद्रमा के साथ योग।

ग्रहस्थ-सं०पु० [सं० गृहस्थ] वह व्यक्ति जो ब्रह्मचर्य के उपरांत विवाह कर के दूसरे आश्रम में प्रवेश करे. २ घर-बार वाला, बाल-बच्चों वाला।

ग्रहस्थणी—देखो 'ग्रहस्थी' (रू.भे.)

ग्रहस्थास्रम-सं०पु० [सं० गृहस्थाश्रम] जीवनकाल के माने हुए चार आश्रमों के अंतर्गत दूसरा आश्रम जिसमें ब्रह्मचर्य एवं विद्याध्ययन के उपरांत (लगभग पच्चीस वर्ष की आयु के पश्चात्) लोग विवाह कर के घर का काम-काज देखते थे। जीवनकाल का वह भाग जिसमें पुरुष विवाह कर के पारिवारिक जीवन व्यतीत करता है।

ग्रहस्थी-सं०पु० [सं० गृहस्थ+रा०प्र०ई] १ गृहस्थ का कर्तव्य. २ घरबार, घर की व्यवस्था. ३ कुटुम्ब, परिवार. ४ घर का सामान।
वि०पु० (स्त्री० ग्रहस्थण) गृहस्थ में रहने वाला, घरबार वाला।

ग्रहस्रंगाटक-सं०पु० [सं० ग्रहशृंगाटक] ग्रहों का एक प्रकार का योग जिसके अवस्थानुसार शुभ और अशुभ फल होते हैं (बृहत्संहिता)

ग्रहस्वर-सं०पु० [सं०] संगीत के अंतर्गत किसी राग में वह स्वर जिससे वह राग आरम्भ होती है।

ग्रहांग्रहण-सं०पु० [सं० ग्रह-ग्रहण] रावण (नां.मा.)

ग्रहांचोआवास ग्रहांचोरहण-सं०पु०—आकाश, नभ (डिं.नां.मा.)

ग्रहांपत, ग्रहांपति—देखो 'ग्रहपति' (२) (ह.नां.)

ग्रहांराज-सं०पु० [सं० ग्रहराज] सूर्य, भानु। उ०— ग्रहांराज साखी नंदी ज्वाळ साई। तरै रांम सुग्रीव री मित्रताई।—सू.प्र.

ग्रहाधार-सं०पु० [सं०] ध्रुव नक्षत्र, ध्रुव।

ग्रहारांम-सं०पु०यौ० [स० गृह+आराम] छोटा बगीचा, वाटिका, उद्यान।

ग्रहावणौ, ग्रहावबौ-क्रि०स० ('ग्रहणौ' का प्रे०रू०) ग्रहण कराना। —ह.र.
उ०—धरे हर केता वार धियांन, ग्रहावण लोक अनोग्रन ग्यांन
(अ.मा.)

ग्रहास्रमी-वि० [सं० गृहाश्रमी] गृहस्थाश्रम में रहने वाला।

ग्रहि-सं०पु० [सं० गृह] १ घर (अ.मा.) २ श्वान, कुत्त
[सं० ग्रही] ३ चंद्रमा (अ.मा.)

ग्रहिणी–सं०स्त्री० [सं० गृहिणी] घर की मालकिन, भार्या, पत्नी (अ.मा.)

ग्रहित–वि०—ग्रहण किया हुआ। उ०—गुण गध ग्रहित गिळि गरळ ऊगळित, पवण वाद ए उभय पख।—वेलि.

ग्रहिमिणि–सं०पु० [सं० गृहमणि] दीपक (ह ना.)

ग्रही–सं०पु०—गृहस्थी. २ श्वान, कुत्ता (अ.मा.)

ग्रहीत–वि०—१ घिरा हुआ, आवृत। उ०—आरोपित आखि संहू हरि आंननी, गरभ उदधि ससि मछे ग्रहीत।—वेलि.

२ देखो 'ग्रहित' (रू भे.)

ग्रहेस–सं०पु० [सं० ग्रहेश] सूर्य। उ०—हुवौ असताचळ ओट ग्रहेस। सक्यौ नह देख कुतूहळ सेस।—मे.म.

ग्रहेसणौ, ग्रहेसबौ—देखो 'ग्रहसणौ' (रू.भे.) उ०—घोडा सवि जीवता मेहलाव्या, ते अम्ह पुण्य अनंत। विप्र तणूं धन जेह ग्रहेसइ, ते जासइ भममंत।—का.दे.प्र.

ग्रह्य–सं०पु० [सं० ग्रह्य] १ एक प्रकार का यज्ञ-पात्र. २ पालतू पक्षी। वि० [सं० ग्रह्य] ग्रहण करने योग्य।

ग्रह्यसूत्र–सं०पु० [सं० गृह्यसूत्र] वह पुस्तक जिसमें हिन्दू संस्कृति के संस्कार, यथा—मुण्डन, यज्ञोपवीत, विवाह आदि के विधान का वैदिक पद्धति से विवरण हो।

ग्रांजणी–सं०स्त्री० [सं० गुह्य+अंजन] आँख की पलक पर होने वाली फुन्सी, गुहांजणी।

ग्रांम–सं०पु० [सं० ग्राम] १ कुछ घरो की सम्मिलित वस्ती, गाव, छोटी वस्ती।

यौ०—ग्रामजाचक, ग्रामपाळ, ग्रामभ्रत, ग्रांमवल्लभा, ग्रामसीह।

२ समूह, ढेर, राशि (अ.मा.) उ०—सदा मिळै विल स्याळ रै, वच्छ पुच्छ खुर चाम। मिळै गया अगराज थह, गज रद मोती ग्राम।—वा दा.

३ शिव (अ.मा.) ४ क्रम से सात-स्वरो का समूह, सप्तक।

उ०—सात सुर तीन ग्राम रो भेद वरणियौ छै, भाव दिखावै छै।—रा.सा.स.

वि०वि०—संगीत में सुविधा के लिए षडज, गंधार और मध्यम तीन ग्राम निश्चित कर लिए गए हैं।

ग्रांमजाचक–सं०पु०यौ० [सं० ग्राम याचक] वह ब्राह्मण जो ग्राम के ऊँच-नीच आदि सभी जाति के लोगो का पुरोहित हो।

ग्रांमपाळ–सं०पु०यौ० [सं० ग्रामपाल] १ गांव का मालिक या स्वामी.

ग्रहजुध २ गांव की रक्षा करने वाला सैनिक या चौकीदार।

एक सा[...]त–सं०पु०यौ० [सं० ग्रामभृत] वह व्यक्ति जो गांव के बहुत से

ग्रहजोग–सं०पु की सेवा करता हो।

पर दो ग्रहो के [...]०स्त्री०यौ० [सं० ग्राम+वल्लभा] वेश्या, पतुरिया, रंडी।

ग्रहण–सं०पु० [सं० [...]ह–सं०पु० [सं० ग्रामसिंह] श्वान, कुत्ता (ह नां, अ.मा.)

[...] देहाती, गँवार, गांव का रहने वाला।

ग्रांमोफोन–सं०पु०—एक प्रकार का वाद्य जिसमे गीत आदि भरे और इच्छानुसार समय-समय पर सुने जा सकते है।

ग्रांम्य–सं०पु० [सं० ग्राम्य] १ एक प्रकार का रतिबंध शृगार का एक आसन. २ काव्य का एक दोष। वह काव्य जिसमे गँवारू शब्दो की बहुलता हो. ३ स्त्री-प्रसग, मैथुन।

वि०—१ ग्राम से संबन्धित. २ मूढ।

ग्रात्र–सं०पु० [सं० गात] शरीर, तन, देह।

ग्रायक—देखो ग्राहक' (रू.भे.)

ग्राव–सं०पु० [सं० ग्रावन्] १ पत्थर (ह.ना.) उ०—दिपै भाळ वैठा तवा जेव देता, लसै गल्लकी ग्राव भा नैण लेता।—व.भा.

२ ओला (अ.मा.) ३ पर्वत, पहाड (अ.मा.)

४ गाह, मगरमच्छ। उ०—जळ भीतर ग्राव मचाय महाजुद्ध, कंटक लीध दबाय करी।—भगतमाळ

वि०—दृढ, मजबूत।

ग्रास–सं०पु०—१ भोजन का उतना अश जो एक बार में चबाने के लिए मुँह में डाला जाय, कौर, निवाला. २ पकडने की क्रिया.

३ सूर्य, चंद्रमा के ग्रहण लगने का कार्य या भाव ४ विभाग, हिस्सा.

५ आय, आमदनी। उ०—ओछी जाति रै बडी ग्रास हुवां बडा री ओळि मे आवण री हूँस धरै।—वं भा.

ग्रासण–सं०पु० [सं० ग्रास] कौर, निवाला।

ग्रासणौ, ग्रासबौ—क्रि०स०—निगलना।

ग्रासणहार, हारौ (हारी), ग्रासणियौ—वि०।

ग्रासिओड़ौ, ग्रासियोड़ौ, ग्रास्योड़ौ—भू०का०कृ०।

ग्रासवेध–सं०पु०

उ०—दूदौ निलोकसी, सांगण, वांगण ऐ मन मे धरती रो ग्रासवेध राखै छै। पण मूळराज रतन सी कंवर निपट जोरावर, परधान सीहड बीकमसी निपट जोरावर तिण आगै कठै ही वयू धरती मांहे खाय सकै नही।—नैणसी

ग्रासियौ—१ देखो 'गिरासियौ' २ थोडी जमीन का मालिक, भूस्वामी

उ०—तद स्त्री करणीजी कयौ—बीका अठै थारौ प्रताप जोधा सू सवाई आजी हुसी। घणा ग्रासिया थारा पायनामी हुसी।—द.दा.

३ नये राज्य को पाने वाला. ४ लूट-खसोट करने वाला, लुटेरा।

उ०—सइलोट कीध सामई साहि, मारियउ सलहदी मीर माहि। सूमरइ जिसा आसुर सवागि, महिपत्ति बडा ग्रासिया मारि।—रा ज सी.

५ बागी, विद्रोही। उ०—म्हे थारो विगाड वयूं नही करा, तूं थारा लुद्रवा माहे वैठौ रहै। सु तिण दिना जेमळ दुसाफ रो ग्रासियौ हुय वारै नीसरियौ छै। पातसाह नूं कहै छै—पवार इणां रै भाया छै, औ खबर विगर दिया रहसी नही।—नैणसी

ग्राह–सं०पु० [सं०] १ मगर, घडियाल। उ०—राखे तै वार किता गजराज, मारे ग्राह वारि विचै महाराज।—ह.र.

२ ग्रहण. ३ ग्रहण करने की क्रिया या भाव।

ग्राहक, ग्राहग–सं०पु०—ग्रहण करने वाला। उ०—जांण प्रवीण विजौ जस-ग्राहग, करणीगर सहु विधि कियौ। क्रम कायरां लखण क्रपणां रा, सु तौ न जांणै सरवहियौ।—ईसरदास बारहठ
२ खरीदने वाला, मोल लेने वाला. ३ लेने या पाने की इच्छा रखने वाला।

ग्राहगम–सं०पु०—भ्रमर, भौंरा (ह नां.)

ग्राहगू–सं०पु०—ग्राहक। उ०—सकळ जग ऊपरां अकळ देसल सुतन, सदा सोभा उदरि आउ सरिखै। गढ़पति नहीं खोटां तणौ ग्राहगू, 'प्राग' रौ पोतरौ खरा परखै।—ल.पि.

ग्राहग्रह–सं०पु०—हाथी (अ.मा.)

ग्राही–सं०पु० [सं०] १ दान ग्रहण करने वाला व्यक्ति. २ स्वीकार करने वाला।
वि० [सं० ग्राह्य] १ अधिकार में करने योग्य. २ ग्रहण करने योग्य

ग्रिध्ध–सं०पु० (स्त्री० ग्रिध्धणी] गिद्ध।

ग्रिह—देखो 'ग्रह' (रू.भे.)

ग्रिहवास—देखो 'ग्रहवास' (रू.भे.) उ०—रंग विण व्याह, वेस विण रांमति, सुंदरि विण ग्रिहवास जिसौ। सुरतांण कहै कलियांण समोभ्रम, त्याग पखै कुळ जलम तिसौ।—अज्ञात

ग्रींज ग्रींजण–सं०स्त्री० [सं० गृध्र] गिद्ध पक्षी।

ग्री–सं०स्त्री० [सं० ग्रीवा] गरदन। उ०—धनुख भूंह लाज व्यूह तद्र··· कंज मुखं। करं विसाळ चंप डाळ ग्री कपोत के रुखं।—पा.प्र.

ग्रीक–सं०स्त्री०[अं०] १ यूनान देश का नाम।
२ ग्रीस (यूनान) देश की भाषा।
वि०— यूनान देश का, यूनान संबंधी।

ग्रीखम—देखो 'ग्रीसम' (रू.भे.) उ०—वपि असह जळ सुख उसण वल्लभ सूर कर हुइ सीतळं, उण किरण सिस निस जेम ग्रीखम विखम हिम द्रुम विज्जळं।—रा.रू

ग्रीज, ग्रीझ–सं०पु० [सं० गृध्र] (स्त्री० ग्रीझणी) गिद्ध।
उ०—१ सो टूकड़ा काढ़ि वारै ग्रीजां नै दीधा और आंतां ऊझ भेळा करि पेटी सैंठी वांधि ऊपरि हथियार वांध्या।
—वीरमदे सोनगरा री वात
उ०—२ ग्रीझणी काय उतावळी. हय पलांणतां धीर।—हा.झा.

ग्रीठ—देखो 'गरीठ' (रू.भे.)

ग्रीघ, ग्रीधड़, ग्रीधट–सं०पु० [सं० गृध्र] (स्त्री० ग्रीधण, ग्रीधणी) गिद्ध पक्षी। उ०—१ कण एक लिया किया एक कण कण, भर खचे भंजियौ भिड़। बळभद्र खळे खळां सिर बैठौ, चारौ पळ ग्रीधणी चिड़।—वेलि. उ०—२ सुणे रांम रौ उच्छाह साई। जमै ग्रीध संपात रै पंखि आई।—सू. प्र.
(रू०भे०—ग्रींज, ग्रीझ, ग्रीधल, ग्रीधस, ग्रीधिण, ग्रीध्ध।

ग्रीधपंख–सं०पु०—बाण, तीर (ह.नां.)

ग्रीधल, ग्रीधस–सं०पु०—१ गरुड़ (ह.नां, अ.मा.)
२ देखो 'ग्रीध' (रू.भे.)

ग्रीधांणी–सं०स्त्री०—मादा गिद्ध। उ०—घिरी घर ग्रीधांणी चील्ह अघाय। अंत्रावळि नाड़ि नखां उळझाय।—मे.म.

ग्रीधाळ–सं०पु० [सं० गृध्र+आल] १ गिद्धों का समूह. २ बड़ा गिद्ध पक्षी।

ग्रीध्ध—(स्त्री० ग्रीधिण, ग्रीध्धणी) देखो 'ग्रीध' (रू.भे.)

ग्रीव—देखो 'ग्रीवा' (रू.भे.) उ०—घट सुंदर ग्रीव कवांण घटी, पवमांन विमांण समांण पटी।—मे.म.

ग्रीवरेख–सं०स्त्री०—तीन की संख्या*। (डि.को.)

ग्रीवा–सं०स्त्री० [सं०] सर और धड़ के मध्य का अंग, गरदन, गला।
उ०—प्रेम वाग पहचांण निरंतर पाळही। ग्रीवा कंबु कपोत गरब्बां गाळही।—बां.दा.

ग्रीवाज–सं०पु०—चौबीस अवतारों के अंतर्गत एक अवतार, हय-ग्रीवावतार।

ग्रीवी–सं०पु० [सं० ग्रीविन्] लम्बी गर्दन वाला (ऊंट)

ग्रीसम, ग्रीस्म–सं०पु० [सं० ग्रीष्म] १ गर्मी की ऋतु. २ उष्णता।
वि०—गरम, उष्ण।

ग्रेट ब्रिटेन–सं०पु० [अं०] यूरोप के उत्तर पश्चिम में स्थित एक बड़ा द्वीप। इंग्लैंड और स्कॉटलैंड का सम्मिलित प्रदेश।

ग्रेवड़, ग्रेवड़ी–सं०पु०—वृक्षों में रस विकार हो कर निकलने वाला एक पदार्थ जो जम कर सुपारी की भांति दिखाई देता है।
उ०—अमल सुपारी सतपड़ां रम, अमर गोळियां ग्रेवड़ा। खेजड़ां री खपत हुया है, वीर सती अर खेवड़ा।—दसदेव

ग्रेह—देखो 'ग्रह' (रू.भे.) (ह.नां.) उ०—भलोस आज मुंझ भाग, आप ग्रेह आविया। दरस्स तो रघू दिलीप. पुन्यहूं त पाविया।
—सू.प्र.

ग्रेहक–सं०पु० [सं० गृह+क—स्वार्थे] घर, भवन, मकान, गृह।

ग्रेहणि, ग्रेहणी—देखो 'ग्रहणी' (रू.भे.) (ह नां.)

ग्रेहणौ–सं०पु०—गहना, आभूषण।
उ०—भख पळ अमंख घाव नह लाधै, थाट वरग सुर सोच थयौ।
ग्रीधण मच्छर तवीवां ग्रेहणौ, 'गंग' समोभ्रम सुरग गयौ।
—रूपसींग पीपाड़ा रौ गीत

ग्रैदसा— देखो 'ग्रहदसा' (रू.भ.)

ग्लांणि—देखो 'ग्लांनी' (रू भे)

ग्लांन, ग्लांनि, ग्लांनी–सं०स्त्री० [सं० ग्लानि] १ शिथिलता, अनुत्साह, खेद, अक्षमता। उ०—असरमसोन वरम पै कमांन ग्लांन मांन पै। परचौ जमीन पै सुं सांग टांग आसमान पै।—ऊ.का.
२ घृणा, अरुचि। उ०—आठवें दिन कुमार प्रथ्वीराज कन्ह रै सदन जाय सत्कार पूरवक गरहा रौ ग्लांनि भगाई।—वं.भा.

ग्लौ–सं०पु० [सं०] चंद्रमा (अ.मा.) उ०—सुखी वियोग से सुखी दुखी भ्रमैं दिगंत में। सुखांत कांत ग्लौ सुखी दुखांत तें सुखांत में।
—ऊ.का.

ग्लो-भाळ–सं०पु०—शिव, महादेव (नां.मा.)

ग्वाड़—देखो 'गुवाड़' (रू.भे.) उ०—धवळा सूं राजै धणी, चंगो दीसै ग्वाड़। नारायण मत नांखजै, धवळा ऊपर धाड़।—बां.दा.

ग्वाड़ी—देखो 'गुवाड़ी' (रू.भे.)

ग्वार—देखो 'गवार' (रू.भे.)

ग्वारतरी–सं०स्त्री०—ग्वार नामक पौधे का सूखा घास जो पशुओं को खिलाने के काम में आता है।

ग्वारपाठो–सं०पु०—घी कुआँर नामक औषधि। मीठे एवं कड़ुवे की दृष्टि से इसके दो भेद होते हैं।

ग्वारफळी—देखो 'गवारफळी' (रू.भे.)

ग्वालंब–सं०पु० [सं० गवालंब] वह व्यक्ति जो गायें आदि पाल कर उनके दूध एवं घी से अपनी जीविका उपार्जन करता हो।

ग्वाळ–सं०पु० [सं० गोपाल, प्रा० गोवाळ] (स्त्री० ग्वाळण, ग्वाळणी) ग्वाला, अहीर।

यौ०—ग्वाळपति।

ग्वाळपति–सं०पु०यौ०—श्रीकृष्ण।

ग्वाळियौ–सं०पु० ('ग्वालो' का अल्पा०) १ ग्वाला. २ गडरिया। उ०—इण पाटण री ठौड़ एक कोई **ग्वाळियौ** अणहलनांमै स्यांणौ आदमी हुतौ, तिण एक तमासौ दीठौ।—नैणसी

३ श्रीकृष्ण।

(रू०भे०–गवाळियौ, गुवाळियौ)

ग्वाळेर–सं०पु० [सं० गोपालगिरि] ग्वालियर नामक एक प्राचीन देशी रियासत।

ग्वाळौ—देखो 'ग्वाळियौ' (अल्पा०)

घ

घ—कवर्ग का चौथा वर्ण जिसका उच्चारण-स्थान कंठ है। यह 'ग' का महाप्राण है।

घंघोळणौ, घंघोळबौ—क्रि०स०—पानी को हिला कर उसमें कुछ घोलना, मिश्रित करना।

घंघोळियोड़ौ—भू०का०कृ०—पानी या किसी तरल पदार्थ को हिला कर कुछ मिश्रित किया हुआ (स्त्री० घंघोळियोड़ी)

घंट—सं०पु० [सं० घट] १ घड़ा, जल-पात्र [रा०] २ गला, कंठ. ३ देखो 'घंटौ' (रू.भे.) उ०—१ मांड पीवइ करण राळजे, लाळ विहूणी वाजै छै घंट। इसी सकति तिहां देव की, चोर नाहर नहीं देव कइ पंथ।—वी.दे.

उ०—२ घंट गै घमंक घोर, जंगमांण नाळ जोर।—सू.प्र.

घंटका—सं०स्त्री० [सं० घंटिका] १ छोटा घंटा. २ घुंघरू।

घंटाकरण, घंटाकरन—सं०पु० [सं० घंटाकर्ण] शिव का एक गण।

वि०वि०—शाप के प्रभाव से यह उज्जयिनी में प्रकट हुआ था। उस समय के समस्त पंडितों को परास्त करने के उद्देश्य से यह शिव की उग्र तपस्या करने लगा। शिव से वर प्राप्त कर इसने कालिदास को छोड़ कर सारे पंडितों को परास्त किया। शिव ने इसे कालिदास को परास्त करने का वर नहीं दिया तो इसने शिव का नाम न लेने की प्रतिज्ञा की। अंत में यह शाप से मुक्त हुआ और शिव ने इसे अपने गणों में स्थान दिया। एक दूसरा मत यह है कि यह शिव का भक्त और विष्णु का द्रोही था। विष्णु का नाम कानों में न पड़े इसलिए इसने अपने कानों में घंटे लटका दिये थे। इसीसे इसका नाम घंटा-कर्ण पड़ा।

घंटाघर—सं०पु०यौ० [सं० घंटा+रा० घर] वह ऊँची स्तंभाकार इमारत जिसके ऊपरी सिरे पर चारों ओर से दिखने वाली बड़ी घड़ी लगी हो और जिसका घंटा दूर तक सुनाई देता हो।

घंटारव—सं०पु०यौ० [सं० घंटा+रव] घंटे या घंटियों की ध्वनि।

उ०—सूराचार घंटारवं तार साजै, वर्णं नौवतीं सोभती रीत वाजै।
—रा.रू.

घंटाळ—वि० (स्त्री० घंटाळी) जिसके घंटा या घंटिका बंधी हो।

उ०—इसा गज्ज घंटाळ घंटा अपारं।—वचनिका

घंटाळी—सं०पु०—१ सफेद व मटमैले रंग का एक मृग विशेष जिसके गले में थन होते हैं।

सं०स्त्री०—२ दुर्गा, देवी।

वि०—देखो 'घंटाळ' (पु०)

घंटावळि—सं०स्त्री०यौ० [सं० घंटा+अवलि] घंटे या घंटिकाओं की पंक्ति। उ०—देवळ री घंटावळि जेम घंटा ठणकनै रहि छै।
—रा.सा.सं.

घंटीका, घंटी—सं०स्त्री० [सं० घटिका] १ छोटा घंटा. २ घुंघरू. ३ जीभ की जड़ के पास गले के अंदर लटकने वाली मांस की पिंडी, कौवा।

घंटीयाळी—देखो 'घंटाळी' (रू.भे.)

घंटौ—सं०पु० [सं० घटा] १ ध्वनि-उत्पादक एक बाजा जो धातु का बना होता है।

वि०वि०—यह प्रायः दो प्रकार का होता है। एक तो गोल थाली की तरह धातु को पथरा कर बनाया जाता है जो मोगरी से ठोक कर बजाया जाता है। दूसरा औंधे आकार के प्याले या बर्तन के समान होता है जिसमें एक लंगर होता है, इसी लंगर से उसे हिला कर बजाया जाता है।

क्रि०प्र०—घुरणौ, बजणौ, बजाणौ, वाजणौ।

यौ०—घंटाघर, घंटावळी।

२ किसी घंटे की वह ध्वनि जो किसी निश्चित समय या काल की सूचना देने के लिए की जाय. ३ दिन-रात के समय का २४वां भाग जो साठ मिनट के बराबर माना जाता है.

४ लिंगेन्द्रिय (अशिष्ट एवं बाजारू)

मुहा०—१ घंटौ दिखाणौ—याचक को चीज न देना, अंगूठा दिखाना, साफ इन्कार कर जाना. २ घंटौ देणौ—कुछ न देना. ३ घंटौ पकड़ाणौ—देखो 'घंटौ दिखाणौ'. ४ घंटौ हिलाणौ—व्यर्थ का काम करना, निकम्मा होना।

(रू०भे०—घंट)

अल्पा०—घंटी।

घंस—सं०पु० [सं० घर्ष] १ संहार, नाश. उ०—रूपां पातां घांघलां, छळ जोधांण नरिंद। वंस छतीसां भल्लियौ, घंस वधारण दुंद।—रा.रू.

२ रास्ता, मार्ग।

३ फौज, सेना, दल। उ०—१ खड़िया दिक्खण सांमुहा, चढ़िया सुहड़ हजार। सातां कोसां ऊपरां, जातां घंस तैयार।—रा.रू.

उ०—२ तरै भाटी दूदो तिलोकसी जसहड़ रा बेटा पारकर रहता। उणां नूं खबर कराई जु—गढ़ लीजै छै। तरै दूदो तिलोकसी आय गढ़ मांहे पैठा सु जगमाल वांसा पो आयो। तरै आगै घोड़ां री घंस दीठो तरै कह्यौ—ऐ कुण?—नैणसी

४ युद्ध. ५ अनुधावन, पीछा। उ०—जैमल जोरां मां है, मांनै नहीं, बदनोर आयो। गांव तो आगै आया तिण कह्यो सूनो छै, इतरै रात पड़ी। सरि वडे ठाकुरें कह्यौ—हेरो करो, सवारै गाटां री घंस लेस्यां।—नैणसी

वि०—संहारक, नाश करने वाला। उ०—केहरी जगो करणोत वंस, घण वेध लागा असुरांण घंस।—रा.रू.

घंसणौ, घंसबौ—देखो 'घसणौ' (रू.भे.) उ०—कौन जतन करां मोरी आली, चंदन लाऊं घंसिके।—मीरां

घंसार–सं०पु० [सं० घर्ष] मार्ग, रास्ता।
(रू०भे०–विसार, घींसार) मि० 'धंस' (२)

घंसि—देखो 'घंस' (रू.भे.) उ०—सूरां सीम दूजो सवळावत, राजा घंसि लगायौ रावत।—रा.रू.

घ–सं०पु०—१ सुवर्ण. २ हाथी. ३ शिव. ४ नरक. ५ कङ्कण।
सं०स्त्री०—६ वसुमती. ७ राक्षसी. ८ शची (एका०)
वि०—घातक।

घघंटहुली–सं०स्त्री०—नागरवेल।

घकार–सं०पु०—'घ' वर्ण।

घक्को–सं०पु०—१ होश-हवास, ध्यान, ख्याल, चेतना. २ व्यवस्था. ३ 'घ' वर्ण।

घग्घरनिसांणी—देखो 'गघ्घरनिसांणी' (रू.भे.)

घघ–सं०पु० [सं० घघ्] ऊंट।

घघरी–सं०स्त्री०—१ छोटा लहँगा. २ एक प्रकार का ढीला-ढाला कुरता जिसे प्रायः छोटी लड़कियां पहनती हैं, फ्रॉक।

घघरौ—देखो 'घाघरौ' (रू.भे.)

घघियौ—देखो 'घघौ'।

घघौ–सं०पु०—वर्णमाला का 'घ' वर्ण। उ०—घघौ घरण घट घाट, नूफळ नर ननौ निमाड़ै। खय जस करै खकार, भभौ परदेस भ्रमाड़ै।
—र.रू.

अल्पा०—घघियौ।

घघ्घू–सं०पु०—उल्लू।
कहा०—घघ्घू रै भाठै री लागी—जैसे उल्लू के पत्थर की लगी। थोड़ा सा कष्ट होने पर जोर से चिल्लाने वाले व्यक्ति के प्रति व्यंगोक्ति।

घड़–सं०स्त्री० [सं० घटा] १ सेना, फौज, दल। उ०—विचित्रांण निवड़ घड़ महण वेळ, मुरधरां नरां हय निजर मेळ। वळ दाख दुहूं दिस सस्त्र वंध, किलवांण पेख वळिया कमंध।—रा.रू.
२ मेघ, बादल। उ०—आज घरा-दस ऊनम्यउ, काळी घड़ सखरांह। उवा धण देसी ओळंबा, कर कर लांबी बांह।—ढो.मा.
३ करवट. ४ गगरी, छोटा घड़ा. ५ समूह, झुंड।
उ०—ऊठे सुण अंगद वयण, विग्रह कज रघुवीर। ओपे गज घड़ ऊपरां, कोपे जांण कंठीर।—र.रू. ७ तरतीब से जमाये हुए कपड़े या वस्त्र की तह. [सं० घट] ८ शरीर। उ०—१ घड़ रत वहै घाव कर घूमै।—सू.प्र.
उ०—२ लोहीं घड़ वहि वहि फळ लोहां, घड़ गहि गहि ऊछंत द्रोहां।—सू.प्र.

घड़उ–सं०पु० [सं० घट] घड़ा। उ०—गाइ तणां मस्तक जळि तरइ, कांठइ कोइ न दांतण करइ। पांणी मांहि दीस एवडउ, पांणी हारि भरइ नवि घड़उ।—कां.दे.प्र.

घड़उथल, घड़उथल्ल–सं०पु०—डिंगल के गीतों (छंद विशेष) के अंतर्गत एक प्रकार का गीत छंद विशेष जिसके प्रत्येक चरण में अंत में गुरु सहित १६ मात्राएँ होती हैं। इस गीत में पूर्वार्द्ध को उलट कर उतरार्द्ध बनाया जाता है (र.ज.प्र.)

घड़कलियौ–सं०पु०—छोटा घड़ा। (देखो 'घड़ौ' का अल्पा०)
उ०—घट घड़कलिया माट, मंगळिया मटकी हांडा। झोवा कूंज कुंडाळ, कढ़ावणी ढकणा खांडा।—दसदेव

घड़घड़, घड़वड़ाट–सं०स्त्री० [अनु०] गाड़ी चलने अथवा बादल गरजने आदि से उत्पन्न होने वाली ध्वनि, गड़गड़ाहट। उ०—अठे नीसांण कहतां जुद्ध रा वाजित्र वाजता, उठै मेघ घड़ड़ात करता।—वेलि.टी.

घड़घड़ाणौ, घड़घड़ावौ–क्रि०अ०—घड़घड़ की ध्वनि करना, गड़गडाना।

घड़घड़ाहट—देखो 'घड़घड़ाट' (रू.भे.)

घड़ड़–सं०स्त्री० [अनु०] तोप छूटने आदि से उत्पन्न ध्वनि।

घड़ण–सं०पु०—गहना, आभूषण।
सं०स्त्री०—गढ़ने या बनाने की क्रिया।
वि०—गढ़ने या बनाने वाला। उ०—उभै विध खाग गयणाग लग ऊछजै, जिता जुव ताकवै जिता जीपै। सितर नै बौहतर धणी नव साहंसौ, दिल्ली भांजण-घड़ण 'सूर' दीपै।—किसनौ सिंढ़ायच

घड़णौ–सं०पु०—गहना, आभूषण। उ०—चालौ विनायक आपां सोनी रे चालां, चोखा सा घड़णा घड़ासां हे म्हांरौ विड़द विनायक।
—लो.गी.

घड़णौ, घड़वौ–क्रि०स०—१ गढ़ना, बनाना, रचना करना।
उ०—जिण संचे सोरठ घड़ी, घड़ियौ राव खेंगार। कै तौ संचौ गळ गयौ कै लाद वुहा लवार।—र.रा.
२ बात बनाना, कपोल-कल्पना करना. ३ मारना, पीटना.
४ किसी वस्तु को बेच कर पैसा बनाना।
घड़णहार, हारौ (हारी), घड़णियौ—वि०।
घड़ाणौ, घड़ावौ, घड़ावणौ, घड़ाववौ— प्रे०रू०।
घड़िग्रोड़ौ, घड़ियोड़ौ, घड़्योड़ौ—भू०का०कृ०।
घड़ीजणौ, घड़ीजबौ—कर्म वा०।

घड़त–सं०स्त्री०—१ गढ़ने का ढंग या कार्य, बनावट. २ कारीगरी.
३ गढ़ने या निर्माण करने की मजदूरी।

घड़नाव–सं०स्त्री०—खाली घड़ों को उलट कर बांस के साथ बांध कर बनाई हुई नाव। उ०—तठा उपरायंत सिरदारां देसोतां तळाव में झूलण री हांस करै छै। लाल लांगी री पोतां पहरजै छै। घड़नावां वणायजै छै। सू लै तळाव में बड़जे छै।—रा.सा.सं.

घड़वंद–सं०पु०—१ वह रस्सी या तार जिसके द्वारा घड़िया या ठिलियां रहँट पर बंधी रहती हैं. २ सेनापति।

घड़मोड़–वि०—शूरवीर, योद्धा।

घड़लियौ–सं०पु०—चड़स खींचने के लिए बैल की गर्दन पर रखे जाने वाले जुए में लगाया जाने वाला काष्ठ का डंडा जो बैल की गर्दन के एक बाजू में बाहर की ओर लगाया जाता है।

घड़ली-सं०स्त्री० [सं० घटिका या घटी] रहँट में लगी हुई छोटी-छोटी ठिली जिनमें पानी भर कर आता है, घड़िया।

घड़लौ-सं०पु० [सं० घट] मिट्टी का बना जल-पात्र, घड़ा।

घड़वंद—देखो 'घड़वंद' (रू.भे.)

घड़वौ-सं०पु०—१ गढ़ा हुआ पत्थर. २ घडा, गागर।

घड़स-सं०स्त्री० [सं० घटा] १ समूह, दल। उ०—तठा उपरांति करिनै राजांन सिलांमति अठीना सफावंधी हिंदू भाजणी परत राजावत राजांन मारु गुरडव्यूह, ग्रिद्धव्यूह, चक्रव्यूह सेना रची छै, बिहू फोजां री घड़स चाली जावै।—रा.सा.सं.

२ सेना, फौज।

घड़सिया-स०स्त्री०—पड़िहाड़ वंश की एक शाखा।

घड़ा-सं०स्त्री०—१ सेना, फौज (डिंको) २ समूह, दल।

उ०—उद्दम री आसा करै, सहै नही घणराव। घात करै गैवर घड़ा, सीहां जात सुभाव।—बां.दा.

घड़ाई-सं०स्त्री०—१ गढने या बनाने की क्रिया. २ गढ़न, बनावट. ३ गढने की मजदूरी।

घड़ाईजणौ, घड़ाईजवौ-क्रि०कर्म वा०—गढ़ाया जाना, बनवाया जाना।

घड़ाणौ, घड़ावौ-क्रि०स० ('घडणौ' का प्रे०रू०) १ गढ़ाना या रचना करना. २ किसी वस्तु की बिक्री करवा कर पैसा उत्पन्न कराना।

घड़ाणहार, हारौ (हारी), घड़ाणियौ—वि०।

घड़ाओड़ौ, घड़ायोड़ौ—भू०का०कृ०।

घड़ाईजणौ, घड़ाईजवौ—कर्म वा०।

घड़ावणौ, घड़ाववौ—रू०भे०।

घड़ाभिड़, घड़ामोड़-सं०पु०—योद्धा, शूरवीर। उ०—ऐराकी ऊपरा माडिया सुचगे, घड़ामोड़ केवियां कड़ा भांड़िया डुतगे।
—बखतो खिड़ियो

घड़ायोड़ौ-भू०का०कृ०—गढ़ाया हुआ, निर्माण कराया हुआ। (स्त्री० घड़ायोड़ी)

घड़ाळ-सं०पु०—योद्धा। उ०—पावू जिंदराव प्रमाण पहं। गहवत घड़ाळ सपूर गहं।—पा.प्र.

घड़ाळौ-स०स्त्री०—योद्धा। उ०—धाका सुणे टोपी वाळा घड़ाळा हिया मे धूजै, कड़ाळा ससत्रां भारी केहरी कोपाळ।
—गुलाबसिंह महडू

घड़ावणौ, घड़ाववौ—देखो 'घड़ाणौ' (रू.भे.)

घड़ावणहार, हारौ (हारी), घड़ावणियौ—वि०।

घड़ाविओड़ौ, घड़ावियोड़ौ, घड़ाव्योड़ौ—भू०का०कृ०।

घड़ावीजणौ, घड़ावीजवौ—कर्म वा०।

घड़ावियोड़ौ—देखो 'घड़ायोड़ौ' (रू.भे.) (स्त्री० घड़ावियोड़ी)

घड़ावीजणौ, घड़ावीजवौ—देखो 'घड़ाईजणौ' (रू.भे.)

घड़िय, घड़ियउ—देखो 'घड़ी' (रू.भे.) उ०—१ मसत महीनो आवियो रे जला, अब तौ तो बिन घड़िय न आवड़ै रे छैला, जीवन उतै इत देह।
—लो.गी.

उ०—२ काछी करह विधूंभिया, घड़ियउ जोइण जाइ। हरणाखी जउ हसि कहइ, आंगिणि एथि विसाइ।—ढो.मा.

घड़ियक-सं०स्त्री०—एक घड़ी के लगभग, २४ मिनट के लगभग।

घड़िया-सं०स्त्री०—पानी भरने का व्यवसाय करने वाली एक जाति (कां.दे.प्र.)

घड़ियाळ-सं०पु० [सं० घटिकावलि] १ देवस्थान पर पूजा या आरती के समय अथवा समय की सूचना के लिए बजाया जाने वाला घंटा।

उ०—लिखमीवर हरख निजर भर लागी, आयु रयणि खूटंति इम। कीड़ाप्रिय पोकार किरीटी, जीवित प्रिय घड़ियाळ जिम।
—वेलि.

२ समयसूचक यंत्र. ३ जल का एक प्रसिद्ध जन्तु, गाह।

घड़ियाळौ-सं०पु०—गढ़ने वाला, बनाने वाला।

घड़ियोड़ौ-भू०का०कृ०—गढा हुआ, रचा हुआ। (स्त्री० घड़ियोड़ी)

घड़ियौ-स०पु०—१ स्वर्णकार, सुनार. २ किसी अंक के गुणनफलों की क्रमागत सूची या नक्शा, पहाड़ा (गणित)

३ छोटा घडा (अल्पा.) ४ वह व्यक्ति जो घड़ या गगरे से पानी भरता हो।

घड़ी-स०स्त्री० [सं० घटी, घटिका] १ समय का एक मान जो लगभग २४ मिनट का होता है।

मुहा०—१ घड़ियां गिणणी—समय की प्रतीक्षा करना, मौत की प्रतीक्षा करना. २ घड़ीक में घड़ियाळ होणौ—हालत बदलते देर न होना. ३ घडी में तोळा नै घडी मे मासा करणा—थोड़ी-थोड़ी देर में विचार का बदल जाना।

कहा०—१ घडी नो घड़ल्यो पैदा नही करवो—कोई भी कार्य शीघ्रता में नहीं करना चाहिए. २ घडी पलक नी तो खबर नी नै करै काल नी वाता—घडी और पल में घटित होने का तो ज्ञान ही नहीं है और बातें करता है आने वाले कल और परसों की; किसी कार्य को आने वाले समय के लिए न छोड़ कर तत्काल ही कर डालना चाहिए. ३ घड़ी में घडावळ बाजणी—शीघ्र एवं उतावल से किया गया कार्य प्रायः ठीक नहीं होता. ४ घडी रौ हाकम जनम को वास बिगाड़ देवै—सत्ताधारी व्यक्ति, चाहे वह अल्पकाल के लिए ही क्यों न हो, परम्परा से चलते आये सुव्यवस्थित घर को भी उजाड़ देता है। अतः सत्ताधारी व्यक्ति या पदाधिकारी से वैर करना उचित नहीं है।

यौ०—घडी-घड़ी, घडी-पुळ।

२ समय, अवसर, मौका. ३ समय-सूचक यंत्र।

घड़ीक-स०पु०—एक घड़ी के लगभग का समय।

क्रि०वि०—कभी। उ०—सौस हबीली छांट, भमरो मोत्यां भड़्यो। घड़ीक धमकै मेघ, घड़ी दो फोगड़ फलयो।—दमदेव

घड़ी-घड़ी-क्रि०वि०—बार-बार।

घड़ीजणौ-क्रि०कर्म वा०—गढ़ा जाना, रचा जाना ।
घड़ीभिड़-सं०पु०—योद्धा (डिं.नां.मा.)
घड़ीयक—देखो 'घड़ीक' (रू.भे.) उ०—कुरजां ए थूं म्हारै बाप री, घड़ीयक पांखड़ली निवाय। पांखड़ल्यां पर लिखूं ए धण रा ओळवा, चांचड़ली पर लिखूं ए सात सिलाम ।—लो.गी.
घड़ीयाळौ—देखो 'घड़ियाळ' (रू.भे.)
घड़ीयेक—देखो 'घड़ीक' (रू.भे.)
घड़ीसाज-सं०पु०—घड़ियों की मरम्मत करने वाला ।
घड़ीसाजी-सं०स्त्री०—घड़ियों की मरम्मत करने का व्यवसाय ।
घड़ूथळ-सं०पु०—डिंगल का एक गीत (छंद) विशेष ।
घड़ूलौ, घड़ूल्यौ-सं०पु०—१ छोटा घड़ा, ('घड़ौ' का अल्पा०) २ देखो 'घुडलौ' (५)
घड़ूस-सं०पु० [सं० घटा+ऊप] १ आकाश में छाये हुए बड़े-बड़े बादल. २ सेना (अ.मा.) ३ समूह, दल । उ०—घरां सांम्हां फौजां रा घड़ूल चालीआ छै ।—रा.सा.सं.
घड़ोटियौ-सं०पु० (बहु०—घड़ोटिया) १ छोटा घड़ा, ('घडौ' का अल्पा०) २ मृत व्यक्ति के पीछे बारहवें दिन किया जाने वाला सामूहिक भोज (मि० 'चुकली') ३ किसी की मृत्यु के बाद बारहवे दिन की एक प्रथा जिसके अनुसार मिट्टी के छोटे-छोटे जल-पात्रों को भर कर विशेष क्रिया के साथ मृत व्यक्ति के तर्पण हेतु उन्हें उलट देते हैं । (मि० 'चुकली')
घड़ोवणौ—देखो 'घड़णौ' (रू.भे.)
घड़ौ-सं०पु० [सं० घट] पानी भरने का मिट्टी का गगरा या बर्तन, जल-पात्र, कलसा ।
मुहा०—१ पाप रौ घड़ौ भरीजणौ—किसी के अत्याचारों या कुकर्मों का पराकाष्ठा पर पहुँचना. २ पाप रौ घड़ौ फूटणौ—किसी के कुकर्मों या दुराचरण का भंडाफोड़ होना ।
कहा०—१ घड़ा सरीखौ मोती—अत्यधिक मान-प्रतिष्ठा प्राप्त व्यक्ति के प्रति. २ घड़ै सरीखी ठीकरी, मां सरीखी टीकरी—जैसा घड़ा होगा वैसी ही उसकी ठीकरी होगी तथा जैसी माता होगी वैसी ही उसकी लड़की होगी। संतान प्राय: माता-पिता के अनुरूप ही होती है ।
घच-सं०स्त्री० [अनु०] किसी नरम वस्तु या अंग में किसी धारदार या नुकीली वस्तु के चुभने या धँसने से उत्पन्न शब्द ।
घचोलणौ-सं०पु०—विघ्न । उ०—मोटी भायप होय, पितां हूवै पूजता । वडा राज रो गांव, लोग सोह पूजता । नह को लोपै लीह क धरै घचोलणा एता दै किरतार, फेर नट बोलणा ।—अज्ञात
घजोंड़-सं०पु०—पहाडी भाग में पाया जाने वाला एक प्रकार का बड़े पत्तों वाला वृक्ष जिनके पत्तों को प्राय: गाय-भैंसों को उनका दूध बढ़ाने के लिए खिलाया जाता है ।
घट-सं०पु० [सं०] १ तन, शरीर, देह । उ०—... से सेल वहै ... सहे । घट घाव घणौं, विकराळ वणै ।—
उ०—२ मोटा घणी अचंभो मोटो, घट सूरापण निपट घणोह । ठावौ सकळ सकळ री ठाकर, तूं चाकर चाकरां तणोह ।—भ.मा.
२ मन, हृदय । उ०—१ घट सूं हेक घड़ीह, अळगौ आवड़तौ नही। 'पीथल' घणी पडीह, जुग छेटी जसराजवत ।—जसवंतसिंह
मुहा०—१ घट में वसणौ, घट में बैठणौ, घट में रमणौ, घट में व्यापणौ—मन में जमना, शरीर मे रहना, घट में रहना ।
३ घड़ा, जल-पात्र ।
यौ०—घटकरतार, घटकार, घटजात, घटजोनि ।
वि०—न्यून, कम । उ०—खत्रवट घट हुआं समैवळ खातां, पग पग थातां असत पुळ ।—जसजी आढ़ौ
घटकचुकी-सं०स्त्री०यौ० [सं०] वाममार्गियों अथवा तांत्रिकों की एक रीति । ऐसा प्रचलित है कि इस पंथ (कांचळिया पंथ) के अनुयायी स्त्री-पुरुष एक स्थान पर इकट्ठे हो कर मांस-मद्य का सेवन कर उपस्थित सब स्त्रियो की कंचुकियाँ इकट्ठी कर एक घड़े में डाल देते हैं। फिर इस संप्रदाय का प्रत्येक पुरुष बारी-बारी से उस घड़े में हाथ डाल कर एक कंचुकी निकाल लेता है । जिस स्त्री की कंचुकी उसके हाथ मे आती है वह उसी के साथ सभोग कर सकता है। इस प्रथा को चोली-मार्ग भी कहते हैं ।
घटकरकट-सं०पु०यौ० [सं० घटकर्कट] एक प्रकार का ताल (संगीत)
घटकरण-सं०पु०यौ० [सं०] १ कुभकर्ण. २ कुम्हार ।
घटकरतार, घटकार-सं०पु०यौ० [सं० घटकर्तार] घड़ा बनाने वाला, कुम्हार ।
घटक्क-सं०पु०—शरीर, देह ।
घटखरपर-सं०पु० [सं० घटखर्पर] विक्रमादित्य की सभा के नव रत्नों में से एक ।
घटज, घटजात-सं०पु०यौ० [सं०] अगस्त्य मुनि ।
उ०—ज्यौं जंभासुर जंगपै सतसत्त सुहाया । कै द्रोणाचळ लेन को कपिराज कसाया । पीवण पारावार कै घटजात घुमाया । कै वन सुत्ता विटिकै अगराज जगाया ।—वं.भा.
घटजोणी, घटजोनि, घटजोनी-सं०पु०यौ० [सं० घट योनि] अगस्त्य मुनि ।
घटण-सं०स्त्री०—न्यूनता, कमी ।
घटणौ, घटबौ-क्रि०अ०यौ० [सं० घट चेष्टायाम] कम होना, न्यून होना । उ०—सरधा घटगी सेंग, वेग विरधापण वळियौ । निकळण रौ रथ नही, कळण ऊंडी में कळियौ ।—ऊ.का.
मुहा०—१ घटती वढ़ती री छाया होणी—सुख-दुख का आते जाते रहना, सुख या दुख कोई स्थायी नही रहता.
कहा०—२ घटती-घटती बाड़ में घुसणौ—कम होते-होते बाड़े में मिलना; किसी वस्तु का धीरे-धीरे शुरू होकर पूर्ण रूप से लुप्त हो जाना. ३ घटै जिका पूरा करणा—अवशिष्ट समय को पूरा कर हैं; अर्थात् जो आयु बाकी है उसे गुजार रहे हैं ।

[सं० घटन] २ उपस्थित होना, वाकै होना, होना. ३ आरोप होना, लगना, मेल में होना।

घटणहार, हारौ (हारी); घटणियौ—वि०।

घटाणौ, घटाबौ, घटावणौ, घटावबौ—क्रि०स०।

घटिओड़ौ, घटियोड़ौ, घट्योड़ौ—भू०का०कृ०।

घटीजणौ, घटीजबौ—भाव वा०।

घटत-सं०स्त्री०—१ न्यूनता, कमी. २ घाटा, हानि, नुकसान।

घटना-सं०स्त्री० [सं०] कोई बात जो हो जाय, वाक़या, वारदात।

घटवढ़-सं०स्त्री०यौ०—घटती-बढ़ती, न्यूनाधिकता, कमी-बेशी।

घटावणौ, घटावबौ-क्रि०स०—घटाने का कार्य कराना।

घटवायोड़ौ-भू०का०कृ०—घटाने का कार्य अन्य से कराया हुआ।

घटवाळियौ-सं०पु० [सं० घट्ट+रा० वाळियौ] तीर्थ-स्थान या किसी सरोवर के घाट पर बैठ कर दान ग्रहण करने वाला व्यक्ति।

घटस्थापन-सं०पु० [सं०] पूजन आदि के समय या किसी मांगलिक कार्य में जलपात्र में जल भर कर रखना (कल्याणकारक)।

घटसंभव-सं०पु० [सं०] अगस्त्य मुनि।

घटांण-सं०पु० [सं० घोटक] घोड़ा, अश्व। उ०—मगरै ऊदा हरा महा-बळ, वीटे खळ लूंबिया चहूं वळ। जवनां वीत चहूं दिस जावै, ऊंठ घटांण रसत नह आवै।—रा.रू.

घटा-सं०स्त्री०—१ समूह, झुंड। उ०—सटा न मावै वाथ में, फलंग अठा गरकाव। पेख छटा सूकै पटा, सिंधुर घटा सताव।—बां.दा.
२ धूमधाम, समारोह. ३ उमड़ते हुए मेघों का समूह, मेघमाला।
उ०—विढ़े मल्ल पांणं जिहीं जुंभवांणं। पठांणे कमंधं कमंधे पठांणं। खळां स्रोण रंगे वहै खग्ग खग्गे, अकासे घटा जांण माळा उमंगे।—रा.रू.

क्रि०प्र०—उमडणी, छावणी।

यौ०—घटाटोप, घटाघूम, घटाघोर।

४ धुंयें का गुब्बारा. ५ गोष्ठी, सभा (अ.मा.) ६ घटना, वाकया. ७ सेना, फौज। उ०—दुगम रीठ गोळां दरसाई, वीर-भद्र जिम घटा वणाई।—सू.प्र.

घटाकास-सं०पु०यौ० [सं० घटाकाश] घड़े के अंदर का खाली स्थान।

घटाघूम-सं०पु०—घनघोर घटा।

वि०—घनघोर। उ०—घटाघूम तोपां गरज, छटा खाग रत छोळ। परसण हुय काढ़ै 'पतौ', इण करसण घुर ओळ।—जैतदांन बारहठ

घटाघोर, घटाटोप-सं०पु०—१ गाड़ी या बहली को ढकने वाला ओहार, छाजन. २ घनाच्छादित होने का भाव. ३ बादलों की भांति चहुं ओर छा जाने वाला दल।

वि०—१ आच्छादित. २ सुसज्जित।

घटाणौ, घटाबौ-क्रि०स०—१ न्यून करना, कम करना, क्षीण करना. २ बाकी निकालना. ३ काटना. ४ अप्रतिष्ठा करना।

घटाणहार, हारौ (हारी), घटाणियौ—वि०।

घटायोड़ौ—भू०का०कृ०।

घटावणौ, घटावबौ—रू०भे०।

घटाईजणौ, घटाईजबौ- -कर्म वा०।

घटायोड़ौ-भू०का०कृ०—१ घटाया हुआ, कम किया हुआ. २ बाकी निकाला हुआ। (स्त्री० घटायोड़ी)

घटाळ-सं०पु०—सेना, फौज। उ०—गै घटाळ जटाळ वैताळ गजै, विकराळ त्रंबाळ वंबाळ वजै।—गो.रू.

घटाव-सं०पु०—१ कम होने का भाव, न्यूनता, कमी. २ अवनति, पतन।

घटावणौ, घटावबौ—देखो 'घटाणौ' (रू.भे.)

घटावणहार, हारौ (हारी), घटावणियौ—वि०।

घटाविओड़ौ, घटावियोड़ौ, घटाव्योड़ौ—भू०का०कृ०।

घटावीजणौ, घटावीजबौ—कर्म वा०।

घटावळी-सं०स्त्री०—१ एक देवी का नाम (बां.दा.ख्यात) २ मेघमाला।

घटिकावधांन-सं०पु०यौ० [सं०] १ अनेक प्रका के कार्य एक ही घड़ी में करने की क्रिया।

घटिकासतक-सं०पु०यौ० [सं० घटिकाशतक] एक ही घड़ी में सौ प्रकार के काम एक साथ करने की क्रिया।

घटित-वि० [सं०] १ घटा हुआ. २ रचा हुआ, निर्मित।

घटिया-वि०—१ कम कीमत का, सस्ता. २ निम्न कोटि का, हल्का. ३ अधम, नीच, तुच्छ।

घटियाळ—देखो 'घंटोळ' (रू.भे.) उ०—सु कर प्रतमाळ किरमाळ जुग सम्हणी, दिपै डाढ़ाळ घटियाळ देवी।—खेतसी बारहठ

घटियोड़ौ-भू०का०कृ०—१ घटा हुआ, कम हुआ, हुआ. २ गिरा हुआ, अवनत. ३ पथभ्रष्ट. ४ परिमाण या तादाद से कम. (स्त्री० घटियोड़ी)

घटी-सं०स्त्री० [सं०] १ चौबीस मिनट का समय. २ समय, घड़ी. ३ मुहूर्त्त. ४ समयसूचक यंत्र. ५ देखो 'घट्टी' (रू.भे.)

घटीजंत्र-सं०पु० [सं० घटीयंत्र] १ समयसूचक यंत्र, घड़ी. २ रहँट।

घटुलियौ-सं०पु०—छोटे आकार की चक्की जो प्राय: दालें आदि दलने के काम में आती है।
('घट्टी' का अल्पा०)

घटूको, घटोत्कच-सं०पु०—हिडिम्बा के गर्भ से उत्पन्न भीमसेन का एक पुत्र।

घटोद्भव-सं०पु० [सं०] अगस्त्य मुनि।

घटोर, घटोरी-सं०पु० [सं० घटोदर] मेंढ़ा, भेड़ा, मेष।

घटोलियौ—देखो 'घटुलियौ' (रू.भे.)

घट्ट—१ देखो 'घट' (रू.भे.) उ०—उत्तर आज स उत्तरइ, सीय पड़ेसी घट्ट। सोहागिण घर आंगणइ, दोहागिण रइ घट्ट।—ढो.मा.
२ देखो 'घाट' (रू.भे.)

घट्टा—देखो 'घटा' (रू.भे.)

घट्टित-सं०पु० [सं०] नाच में पैर चलाने का एक ढंग जिसमें एडी को जमीन पर टिका कर पंजा ऊपर नीचे करते हैं।

घट्टी-सं०स्त्री०—ऊपर नीचे रखे पत्थर के दो गोल और भारी पाटों का बना यंत्र जिसके द्वारा गेहूँ आदि पीसे जाते हैं या दालें दली जाती हैं।

क्रि०प्र०—चलणी, चलाणी, पीसणी, फेरणी, मांडणी।

मुहा०—घट्टी पीसणी—कड़ा परिश्रम करना।

कहा०—१ घणी घट्यां मऊं निकळ्यौ तोई आखौ को आखौ—बहुत सी चक्कियों में से निकला फिर भी पूरा का पूरा। उस व्यक्ति के प्रति जिसे बहुत सी कठिनाइयों में से गुजरने अथवा ठोकरें खाने के बाद भी अक्ल न आवे. २ घर रा तौ घट्टी चाटै नै पामणां नै नैता दै—परिवार के सदस्य तो चक्की चाटते हैं अर्थात् भूखों मरते हैं और अतिथियों को निमंत्रण दिया जा रहा है; उस व्यक्ति के प्रति जिसके घर के लोग तो भूखों मरें और वह दूसरों को निमंत्रण देता फिरे।

घड़हड़ौ-सं०पु०—घड़ा, कलश। उ०—वतळायौ इम केहरि वडाळ, कोप्यौ क आय जमजाळ काळ। जग्यौ क सोर ढिग अगन जोम, घड-हड़ौ वीरत घण अगन घोम।—बगसीरांम प्रोहित री वात

घणंकणौ, घणंकवौ-क्रि०स०—गायन गाना, अलापना।

घण-सं०पु० [सं० घन] १ मेघ, बादल। उ०—१ इम वेभड़ां लोह घुवि आरण, घाव जांणि वरसै बारह घण।—सू.प्र.

उ०—२ वेत्रवती जळ पीय लहरतौ घण गरजंतां। ज्यूं मुख भौंह विलास अधर घण पांन करता।—मेघ.

यौ०—घणघोर, घणनाद, घणपटळ, घणप्रिय, घणमाळ, घणराट, घणराव, घणवाह, घणहर।

२ मोटा भारी हथौड़ा जिससे गरम लोहा पीट कर दूसरे रूप में बदला जाता है (लुहार) उ०—इण भांत कमंधां अग्गळी, रूक वजायौ रोहड़ै। वीरांण कि आरण वावरै, ज्यां घण तत्तै लोहड़ै।

—रा.रू.

३ लोहा (ह.नां.) ४ मुख (डि.को.)

यौ०—घणमाळ।

५ समूह, झुंड. ६ किसी अंक को उसी अंक से दो बार गुणा करने से प्राप्त गुणनफल. ७ ताल देने का बाजा. ८ सेना, फौज (ह.नां.)

९ पत्थर (ह.नां.) १० पिंड, शरीर. ११ अनाज में पड़ने वाला एक कीड़ा विशेष, घुन. १२ प्रथम लघु एवं दो दीर्घ सहित पांच मात्रा का नाम ।ऽऽ (डि.को.) १३ संगठन।

कहा०—घण जीतै रे लिछमणा सदा ही हड़वंत—संगठन की सदैव जीत होती है।

वि०—१ अधिक, बहुत, ज्यादा। उ०—बीजळियां खळभळियां, ढावा घी ढळियांह। काठी भीड़े वल्लहा, घण दीहै मिळियांह।

—जसराज

कहा०—१ घण गाजण वरसै नहीं, भूसण कुत्ता न खाय—गरजने वाले बरसते नहीं; शेखी बघारने वाला व्यक्ति काम नहीं कर सकता. २ घण जायां कुळ हांण, घण वूठां करण हांण—अधिक संतान होने से कुल की हानि होती है एवं अधिक वर्षा से खेती नष्ट होती है; अति सर्वत्र वर्जयते. ३ घण दूझी नै पाडी री मा—अधिक दूध देने वाली और साथ में पाडी की माँ; किसी लाभकारी वस्तु से दुहरा लाभ होने पर कही जाती है।

यौ०—घणआणंद, घणखाऊ, घणघोर, घणजांण, घणजांणग, घण-जीवौ, घणजुग, घणजूंझौ घणदाता, घणदूखाळ, घणनांमी, घण-मोलौ, घणरूप, घणसहौ।

२ ठोस, दृढ़. ३ श्वेत-कृष्ण, धूमिल* (डि.को.)

घणअप-सं०पु० [सं० घनाप] पानी, जल (अ.मा.)

घणआणंद-सं०पु०—१ विष्णु. २ अत्यधिक आनंद एवं हर्ष।

घणउकता-वि०—१ अनूठी, अद्‌भुत. २ चमत्कारपूर्ण।

३ वह कविता जिसमें बहुत-सी उक्तियां हों।

उ०—करणी कृपा मुज्ज पर कीजै, देवी वचन वडाळा दीजै। घण-उकता थळ समय घटाळी, लाज धुंजाळी लोवडियाळी।

—पा.प्र.

घणकंठ सुपंखरौ-सं०पु०—डिंगल का एक गीत (छंद) विशेष। इसमें अनुप्रास की अधिकता होती है।

घणकरौ-क्रि०वि० [सं० घनाकार] प्रायः, अधिकतर, बहुधा।

घणकील-सं०पु० [सं०] लोहा (अ.मा.)

घणकोदंड-स०पु० [सं० घनकोदंड] इंद्रधनुष।

घणखाऊ-वि०—अधिक खाने वाला, पेटू। उ०—बाबा म देई माळवे, जिहां छै पुरुस कुरूप। ऊवड़ पेट, घणखाऊ, रोगीला कुमीठ।

—ढो.मा.

घणखप्पी-वि०यौ० [सं० घन = अधिक+क्षपयति] अधिक परिश्रम से होने वाला, अधिक परिश्रम का।

घणखरौ—१ देखो 'घणाकरौ' (रू.भे.)

वि०—२ अधिक, विशेष। उ०—राजपूत थोड़ा सा कुंवरजी रै साथि विरिया, घणखरा हेक मदनौ साथि ले गयौ।—द.वि.

घणखाऊ—देखो 'घणखऊ' (रू.भे.)

घणघणा-वि०—बहुत, अधिक। उ०—घणघणा थाट भांजण घड़ण।

—ह.र.

घणघोर-वि० [सं० घन+घोर] १ बहुत, अधिक. २ घना, गहरा.

३ भीषण, भयानक।

सं०पु०—मेघ-गर्जन। उ०—जोइ जळद पटळ दळ सांवळ ऊजळ, धुरै नीसांण सोइ घणघोर। प्रोळि प्रोळि तोरण परठीजै, मंडै किरि तंडव गिरि मोर।—वेलि.

घणचक, घणचकर, घणचक्क, घणचक्कर, घणचक्र–सं०पु०—१ युद्ध, रण। उ०—१ जै जीतौ अजमेर, घड़ी मांहीं घणचक्कह, जै लीयौ जाळोर भिड़े पट्ठांण कटक्कह।—गु.रू.वं. उ०—२ आतस घोर अंधार ले कार संधार घणचक्र उत्तरियांणि, कुरु खेत भारथ जांणि।—गु.रू.वं. २ भीड़-भाड. ३ गर्दिश, चक्कर।

मुहा०—१ घणचक्कर में आणौ—कष्ट में फँसना, फेर में आना, धोखे में आना, झंझट में फँसना. २ घणचक्कर में पड़णौ—देखो 'घणचक्कर में आणौ'।

४ मूर्ख बेवकूफ व्यक्ति।

मुहा०—१ घणचक्कर होणौ—बेवकूफ होना. २ मिनख है कै घणचक्कर है—बेवकूफ व्यक्ति के प्रति।

५ निठल्ला, आवारागर्द।

घणजांण, घणजांणग–वि० [सं० घनज्ञ, घन ज्ञानांग] १ चतुर. २ बुद्धिमान, पंडित. ३ बहुत अधिक बातों का जानकार व्यक्ति, बहुज्ञ। उ०—वळियौ जूह विडार, सीख करै सौ जांन सूं। 'दलौ' सकज दईवांण, घणजांणग आयौ घरे।—गो.रू.

घणजीवौ–वि० [सं० घनजीवः] १ बहुत काल तक जीवित रहने वाला, चिरायु. २ बहुत से जीवों वाला।

घणजुग–वि०—[सं० घनयुग] अति प्राचीन, बहुत पुराना।

घणजूंझौ–वि०—वीर, योद्धा, बहादुर।

घणजोर–वि०—१ बलवान, शक्तिशाली. २ धनाढ्य।

घणझूंझौ—देखो 'घणजूंझौ' (रू.भे.)

घणण–सं०स्त्री० [अनु०] ध्वनि विशेष।

वि०—बहुत, अधिक।

घणताळ–सं०पु० [सं० घनताल] १ चातक पक्षी, पपीहा. २ करताल।

घणदाता–वि०यौ०—अधिक दान देने वाला।

सं०पु०—ईश्वर। उ०—बदरी टीकम परस बुध, जगमोहण जैकार। घणदाता आनंदघण, श्रीपति सब आधार।—ह.र.

घणदीहौ–वि०यौ०—१ वृद्ध, बूढ़ा। उ०—जो घणदीहौ सागड़ी, व्है बिरदावणहार। सींगाळौ बळ सौ गुणौ, जांणावै जिण वार। —वां.दा.

२ पुराना।

घणनांमी–सं०पु०—वह जिसके बहुत से नाम हों—ईश्वर, श्रीकृष्ण, श्रीरामचन्द्र, आदि। उ०—घट घट घणनांमी स्वांमी सुरराई, अंतरजांमी हुय ओळज न आई।—ऊ.का.

वि०—प्रसिद्ध, विख्यात।

घणनाद–सं०पु०यौ० [सं० घननाद] १ रावण का ज्येष्ठ पुत्र, मेघनाद. २ मेघ-गर्जना, बादलों की गर्जना. ३ मोर।

घणनादानळ–सं०पु० [सं० घननादानुलासिन्, घननादानुलासी] मोर, मयूर (अ.मा.)

घणपटळ–सं०पु०यौ० [सं० घनपटल] बादलों का समूह (एका०, नां.मा.)

घणपति–सं०पु० [सं० घनपति] इंद्र।

घणपत्र–सं०पु०यौ० [सं० घनपत्र] वह वृक्ष जो घने पत्तों से आच्छादित हो (नां.मा.)

घणपथ–सं०पु०यौ० [सं० घनपथ] आकाश (नां.मा)

घणपात–सं०पु०यौ० [सं० घनपत्र] देखो 'घणपत्र' (अ.मा.)

घणपुसप–सं०पु०यौ० [सं० घनपुष्प] पानी (मि० 'मेघपुसप')

घणप्रिय–सं०पु०यौ० [सं० घनप्रिय] १ मोर, मयूर. २ एक प्रकार की घास।

घणफळ–सं०पु० [सं० घनफल] १ किसी अंक को उसी अंक से दो बार गुणा करने से प्राप्त गुणनफल (गणित) २ लम्बाई, चौड़ाई व ऊँचाई का गुणनफल (गणित)

घणमंख–सं०पु०यौ० [सं० घनमंख] मोर, मयूर (नां.मा.)

घणमंड–सं०पु०—मेघ-घटा। उ०—चकोर चाहै चंद कूं, मोर चहे घणमंड। हीरा चाहे आप कूं, प्रोहित रायै प्रचंड।

—बगसीरांम प्रोहित री बात

घणमाया–सं०पु०—१ ईश्वर. २ विष्णु (नां.मा.) ३ कृष्ण।

घणमाळ–सं०स्त्री० [सं० घनमाल] १ मेघमाला, घनघटा।

उ०—विविध घणमाळ नभ चक्र मांझळ वणी, रवि ससी न दीसै दिवस रजनी।—वां.दा.

२ मुंडमाला। उ०—कळह मझ महत जद रांम धनु निज कर। हरत रिम कटक घणमाळ उर सझत हर।—र.ज.प्र.

घणमूळ–सं०पु० [सं० घनमूल] किसी अंक के घनफल का मूल अंक।

घणमोल, घणमोलोह, घणमोलौ–वि० [सं० घनमूल्य] बहुमूल्य, कीमती।

उ०—पहरण घण ओढ़ण पसमीनां। नोख तोस घणमोल नवीनां।

—सू.प्र.

उ०—२ लेस्यां जी, पना मारू, म्हे बाईजी खातर हार, चूनड़ लेस्यां घणमोलड़ी।—लो.गी. उ०—३ उदियापुर लंजा सहर, मांणस घणमोलाह, दे झाला पांणी भरै, आयौ पीछोलाह।

उ०—४ वाल्ही घण वालम मीठी मुखबोली। घड़ियां अम्रत री घुळती घणमोली।—ऊ.का.

घणरस–सं०पु० [सं० घनरस] १ पानी (अ.मा.) २ हाथी का एक रोग।

घणराट–सं०पु० [सं० घनराट] १ मेघ, घन (एका०) २ मेघ-गर्जना।

घणराव–सं०पु० [सं० घन+रव] १ मेघ-गर्जना। उ०—उहम री आसा करै, सहै नहीं घणराव। घात करै गैवर घड़ा, सीहां जात सुभाव।—वां.दा.

२ रावण का ज्येष्ठ पुत्र मेघनाद।

उ०—दसाणण घणराव दाहे, गहर कुंभ अरोड़ गाहे।—र.ज.प्र.

घणरूप–सं०पु०—जिसके कई रूप हों, जो कई रूप धारण करे, ईश्वर।

उ०—रटै तो नांम जिकै घणरूप, कदे न संसार पड़ै मझ कूप।

—ह.र.

घणवरण–सं०पु०—१ विष्णु. २ श्रीकृष्ण (ह.नां.)
घणवह, घणवाह–सं०पु० [सं० घनवाह] हवा, पवन, वायु (अ.मा.)
(मि० 'मेघवाह')
घणवाहण–सं०पु० [सं० घनवाहन] १ इन्द्र (ह.नां.) २ पवन।
(मि० 'मेघवाहण')
घणवाही–सं०स्त्री० [सं० घनवाही] लोहे को घण से कूटने का कार्य।
घणसगण, घणसघण–वि०यौ० [सं० घन+सघन] बहुत, अत्यधिक।
उ०—घण सघण घांम चहुं तरफ घेर। दुरग थी काढ़ियौ त्रास दे'र।
—वि.सं.
घणसहौ–वि०—अत्यधिक सहन करने वाला, सहनशील।
उ०—थळ-मथ्थइ जळ वाहिरी, कांईलक वूं वूरि। मीठा बोला घणसहा, सज्जण मूक्या दूरि।—ढो.मा.
घणसागर–सं०पु० [सं० घनसागर] देखो 'घणसार' (१, २)
घणसार–सं०पु० [सं० घनसार] १ जल, पानी. २ कपूर।
उ०—आतुर चित आगळी धांम विसरांम सुवारै, वन चंदण वावना अगर घणसार अपारै।—रा.रू.
३ राजस्थानी का एक छंद विशेष जिसके प्रत्येक चरण में क्रमशः प्रथम एक दीर्घ, नगण, मगण, नगण एवं अंतमें दो दीर्घ वर्ण होते हैं। (ल.पि.)
घणसुर–सं०पु०यौ० [सं० घनस्वर] रावण का ज्येष्ठ पुत्र, मेघनाद।
उ०—लूयवय अह घणसुर लड़ै।—र.ज.प्र.
घणसेड, घणसेड़–सं०पु०यौ०—१ बहुत से कामों में निपुण व्यक्ति.
२ उदार, दातार व्यक्ति. ३ बुद्धिमान, गंभीर।
सं०स्त्री०—४ अधिक दूध देने वाली गाय या भैंस।
घणस्यांम–सं०पु०यौ० [सं० घन+श्याम] १ काला बादल.
२ श्रीकृष्ण (नां.मा.)
वि०—श्याम-वर्ण। उ०—वप घणस्यांम नेत्र दुति वारज।—सू.प्र.
घणहर–सं०स्त्री० [सं० घनभर] घनघटा, मेघमाला।
उ०—१ फजरां हथणी सी दधि मथणी फुरती, माटां घर-घर में घणहर सी घुरती।—ऊ.का.
उ०—२ ऊट प्रचंड अनेक अग्राजै ऊवरै, घणहर भादु मास क जांणै घरहरै।—वगसीरांम प्रोहित री वात
घणाक–वि०—बहुत, ज्यादा, अधिक।
घणाक्षरी–सं०पु० [सं० घनाक्षरी] जनसाधारण में कवित्त के नाम से जाना जाने वाला एक प्रकार का दंडक या मनहर छंद जो ध्रुपद राग में गाया जा सकता है। इसके प्रत्येक चरण में सोलह और पन्द्रह के विराम से ३१ अक्षर होते हैं। अंत में प्रायः गुरु वर्ण रखने का नियम है।
घणाखर–क्रि०वि० [सं० घनकार] प्रायः, अधिकतर, बहुधा।
उ०—पछै घणाखरा आणंद सूं विदा हुइ डेरां आइया, तुरत ही बीकानेर नूं कूच कीयौ।—मारवाड़ रा अमरावां री वारता
(रू०भे०—घणाकरी, घणाखरी)
घणाखरी—देखो 'घणाक्षरी' (रू.भे.)
घणाघण–सं०पु०यौ० [सं० घनाघन] १ इन्द्र. २ बादल (अ.मा.)
उ०—भज रे मन रांम सियावर भूपत, अंग घणाघण सोभ अनूप।
—र.ज.प्र.
३ मस्त हाथी।
घणात्यय–सं०पु० [सं० घनात्यय] शरद ऋतु (डिं.को.)
घणारंग–सं०पु०—वाहवाही, अधिक प्रसिद्धि।
घणियेर, घणीक–वि०—अधिक, ज्यादा। उ०—जो तुम घणीयेर सोटी मारसौ, हो राजा, नहीं म्हारै माय न वाप।—लो.गी.
घणीवात–सं०स्त्री०—१ अधिक महत्ता. २ मान, प्रतिष्ठा।
घणुं, घणूं–वि० [सं० घन] अधिक, बहुत। उ०—त्रिणि दीह लगन वेळा आडा तै, घणूं किसूं कहिजै आ घात।—वेलि.
घणूघणौ–वि०—अत्यधिक, अधिकाधिक।
घणेड़–वि०—१ दातार, दानवीर. २ बहुत से कार्य करने में निपुण।
(मि०—'घणसेड, घणसेड़')
घणेरौ–वि० बहुत, अधिक। उ०—रोवता टावरियां नै छोड, आई दूवण नै घर नार। घणेरी व्हैगी गोयर भीड़, सुणीजै मीठी दूधां धार।—सांझ
(स्त्री० घणेरी)
घणोत्तम–सं०पु० [सं० घनोत्तम] मुख (ह.नां.)
(रू०भे०–घनोतम) (स्त्री०–घणी)
घणौ–वि०—बहुत, अधिक। उ०—खग रुपी भड़ दाहिणै, घणै पराक्रम जांण। भुज ओढ़ण भूपाळ रै, वांमे तिके वखांण।
—रा.रू.
मुहा०—१ घणां री ऐब ऐब नहीं—एक ही प्रकार का अवगुण अधिक व्यक्तियों में पाया जाने पर उन व्यक्तियों के समाज में वह अवगुण नहीं कहलाता. २ घणा कहै जिउं करणी—अधिक लोग जैसा कहें वैसा ही करना चाहिये, बहुमत का आदर करना चाहिए.
३ घणा जी घणा भूंडा—बहुमत या अधिक व्यक्तियों का संगठन शक्तिशाली होता है. ४ घणा वाळा रै घणौ दुख—अधिक संपन्न या अधिक संपत्ति वाले व्यक्ति के अधिक दुःख होता है. ५ घणी खांचियां (तांणियां) टूटै—अधिक खींचने से (रस्सी) टूटती है। किसी बात को कुरेद-कुरेद कर अधिक आगे बढ़ाने से बिगड़ती है.
६ घणी चतराई घणी भूंडी—अत्यधिक चातुर्य बुरा है। अति सर्वत्र वर्जयते. ७ घणौ मथियां आक व्है—(घी को) अधिक मथने से वह विष के रूप में बदल जाता है। (मि० मुहा० ५)
८ घणौ लोभ गळौ कटावै—अत्यधिक लालच करना बुरा है.
९ घणौ समझणौ वूळ खावै—अत्यधिक समझदार व्यक्ति भी भूल कर बैठता है, अत्यधिक चतुराई बुरी है।
कहा०—१ घणा कांगां माळवौ ई मूंगौ—अत्यधिक भिखमंगे होने से

मालवा जैसे उपजाऊ प्रान्त में भी भिक्षा का मिलना दुर्लभ हो जाता है; अधिक दरिद्र मिल कर धनाढ्य वस्ती को भी कंगाल बना देते हैं. २ घणा भायां री वैन अलूणी रैं'वैं—अधिक भाइयों की बहिन कोरी ही रह जाती है। बहुतों से आशा रखने की अपेक्षा किसी एक व्यक्ति का आश्रय लेना ही उचित है (मि० भरोसे री भैं पाडो लावैं, सातां री मा नैं सियाळिया खावै) ३ घणा मांमां को भांणेज भूखो रैं' जावै—देखो कहा० २। ४ घणा हेत तूटण में नैं मोटी आंख फूटण में—घनिष्ठ प्रेम का अंत विछोह में होता है एवं बड़ी आंख को फूटने का भय अधिक रहता है; अति सर्वत्र वर्जयते.

५ घणा ऊंचां झोटा लें'र आयौ है—किसी भाग्यशाली पुरुष के प्रति कही जाने वाली उक्ति. ६ घणा घरां रौ पांवणौ भूखां मरै—अत्यधिक घरों का अतिथि प्रायः भूखा ही रह जाता है।

(मि० कहा० २) ७ घणा नाड़ा तोड़चा जे रा घरां न आळा बांध्या—परिश्रम द्वारा शरीर की बहुत सी नसें टूटी तब कहीं जाकर घर का प्रबंध हुआ। परिश्रम करने पर ही सुख प्राप्त हो सकता है.

८ घणी गई थोड़ी रही, सो भी जावणहार—बहुत समय बीत गया अब तो थोड़ा समय (आयु) शेष है; समय निरन्तर बीत रहा है.

९ घणी चतुराई चूल्हे में पड़ै—अधिक चतुराई चूल्हे में पड़ती है; अधिक चातुर्य्य बुरा है; अति सर्वत्र वर्जयते. १० घणी दायां जापै रौ नास करै—बहुत सी दाइयों पर भरोसा करने की अपेक्षा एक ही दाई की सेवा अधिक अच्छी रहती है (मि० 'बहुते जोगी मठ उजाड़') ११ घणो सराही खीचड़ी दांतां सूं चिप जाय—अधिक प्रशंसित खिचड़ी भी दांतों के चिपक जाती है; अधिक शोभा या प्रशंसा पाने पर इतराने वाले व्यक्ति के प्रति. १२ घणी सैणप में किरकिर पड़ै—जरूरत से अधिक समझदारी से हानि होने की संभावना रहती है. १३ घणू बोलै नैं घणू खाय ज्यो कई कांम थोड़ू करै—बहुत बोलने वाला और अधिक खाने वाला अधिक काम नहीं कर सकता; अधिक खाने वाले और अधिक बोलने वाले की निंदा. १४ घणो करै, थोड़ो करै, आपणे आपणे घेर नू बोज पूरों पाड़ै, बीजू कोनी पाड़ै—अधिक काम करना पड़े या थोड़ा किन्तु अपने परिवार का निर्वाह उसे ही करना पड़ता है; अधिक या कम, हरएक को अपना काम खुद ही करना पड़ता है १५ घणो खावै घणो मेद वढ़ावै—अधिक खाने से वृद्धि नहीं बढ़ती, केवल चर्बी बढ़ती है; अधिक खाने वाले की निंदा १६ घणो खावै जिको घणो मरै—अधिक भोग भोगने वाले की इच्छा भोग में ही बनी रहती है; ज्यों-ज्यों विषयों एवं ऐश्वर्य का उपभोग किया जाता है त्यों-त्यों उनको अधिक प्राप्त करने की इच्छा बढ़ती जाती है. १७ घणो गाजै थोड़ो वरै'—जो गरजते हैं सो बरसते नहीं. १८ घणो भुसै जिको काटै नहीं—देखो कहावत १७. १९ घणो स्यांणो कागलो जको गू में चोंच डवोवै—कौआ बहुत चतुर होने पर भी विष्ठा में अपनी चोंच डालता है; जरूरत से ज्यादा चतुर कई बार मूर्खता का काम कर वैठता है.

२० घणो हसो विणास करावै—अधिक हँसी विनाश का कारण बन जाती है; अधिक हास्य बुरा है. २१ घणो हेत लड़ाई रो मूळ—आवश्यकता से अधिक प्रेम कई बार लड़ाई का कारण बन जाता है; अति सर्वत्रवर्जयते।

(रू०भे०—घण, घणू, घणूं)

घतावणौ, घतावबौ—क्रि०स० ('घातणौ' का प्रे०रू०) डलवाना।

उ०—माड़ेचो मुकनेस रो, देस अजाद दुझल्ल। झोळी वीस घताविया, पड़िया तीस मुगल्ल।—रा.रू.

घतावणहार, हारौ (हारी), घतावणियौ—वि०।

घताविओड़ौ, घतावियोड़ौ, घताव्योड़ौ—भू०का०कृ०।

घतावीजणौ, घतावीजबौ—कर्म वा०।

घातणौ—क्रि०स०।

घतावियोड़ौ—भू०का०कृ०—डलवाया हुआ। (स्त्री० घतावियोड़ी)

घन—१ देखो 'घण' (रू.भे.) २ प्रायः ताल देने के काम आने वाला एक प्रकार का बाजा जो धातु को ढाल कर बनाया जाता है।

उ०—ततवितत घन सुखिर, पंचवरण वाजित्र वाजइ छइ।

—कां.दे.प्र.

वि०—१ श्वेत, सफेद (डि.को.) २ घना, सघन. ३ संकीर्ण।

घनकोदंड—देखो 'घणकोदंड' (रू.भे.)

घननाद—देखो 'घणनाद' (रू.भे.) उ०—निडर अंगद दिखण महोदर चर निसा, दुझल हणमंत घननाद पच्छम दिसा।—र.रू.

घननादानळ—देखो 'घणनादानळ' (रू.भे.)

घनपटळ—देखो 'घणपटळ' (रू.भे.)

घनपति—देखो 'घणपति' (रू.भे.)

घनपथ—देखो 'घणपथ' (रू.भे.)

घनपुसप—देखो 'घणपुसप' (रू.भे.)

घनप्रिय—देखो 'घणप्रिय' (रू.भे.)

घनफळ—देखो 'घणफळ' (रू.भे.)

घनमंख—देखो 'घणमंख' (रू.भे.)

घनमंड—देखो 'घणमंड' (रू.भे.)

घनमाळ—देखो 'घणमाळ' (रू.भे.)

घनमूळ—देखो 'घणमूळ' (रू.भे.)

घनरस—देखो 'घणरस' (रू.भे.)

घनराट—देखो 'घणराट' (रू.भे.)

घनराव—देखो 'घणराव' (रू.भे.)

घनवरण—देखो 'घणवरण' (रू.भे.)

घनवह, घनवाह—देखो 'घणवाह' (रू.भे.)

घनवाहण, घनवाहन—देखो 'घणवाहण' (रू.भे.)

घनसागर—देखो 'घणसागर' (रू.भे.)

घनसार—देखो 'घणसार' (रू.भे.)

घनसुर—देखो 'घणसुर' (रू.भे.)

घनस्यांम—देखो 'घणस्यांम' (रू.भे.)

घनहर—देखो 'घणहर' (रू.भे.)

घनाक्षरी, घनाखरी—देखो 'घणाक्षरी' (रू.भे.)

घनाघन—देखो 'घणाघण' (रू.भे.)

घनोत्तम—देखो 'घणोत्तम' (रू.भे.)

घवड़ाणौ, घवड़ावौ—देखो 'घवराणौ' (रू.भे.)

घवड़ाणहार, हारौ (हारी), घवड़ाणियौ—वि० ।

घवड़ायोड़ौ—भू०का०कृ० ।

घवड़ावणौ, घवड़ाववौ—रू०भे० ।

घवड़ायोड़ौ—देखो 'घवरायोड़ौ' (रू.भे.)

घवड़ावणौ, घवड़ाववौ—देखो 'घवराणौ' (रू.भे.)

घवर, घवराट—सं०स्त्री०—घवराहट, भय । उ०—सवर राख कुसमै समै, कासूं घवर करीस । खिण खिण लें जग री खवर, जवर सगत जगदीस ।—बां.दा.

घवराणौ, घवरावौ—क्रि०अ०—१ व्याकुल होना, अधीर या अशांत होना, घवराना । उ०—चित पर घोरारव आकर वरचावै । घर घर नर-नायक लायक घवरावै ।—ऊ.का.

२ सकपकाना, हक्कावक्का होना. ३ चकित होना. ४ वड़-वड़ाना, उतावली में होना. ५ ऊवना, जी न लगना ।

घवराणहार, हारौ (हारी), घवराणियौ—वि० ।

घवड़ाणौ, घवड़ावौ, घवड़ावणौ, घवड़ाववौ, घवरावणौ, घवराववौ—रू०भे० ।

घवरायोड़ौ—भू०का०कृ० ।

घवराईजणौ, घवराईजवौ—भाव वा० ।

घवरायोड़ौ—भू०का०कृ०—१ घवराया हुआ, व्याकुल, अधीर. २ किंकर्त्तव्यमूढ़, भौंचक्का. ३ सकपकाया हुआ ।

(स्त्री० घवरायोड़ी)

घवरावट—देखो 'घवराहट' (रू.भे.)

घवरावणौ, घवराववौ—देखो 'घवराणौ' (रू.भे.) उ०—घर सारौ पूरौ होवै तठै हर मिनख घवरावै पण वीर माता आपरा घर में इसा कुळ-सुद्ध सूरवीर देख राजी होवै छै ।—वी.स.टी.

घवरावणहार, हारौ (हारी), घवरावणियौ—वि० ।

घवराविप्रोड़ो, घवरावियोड़ौ, घवराव्योड़ौ—भू०का०कृ० ।

घवराहट—देखो 'घवराट' (रू.भे.)

घर्वारयोड़ौ—देखो 'घवरायोड़ौ' (रू.भे.)

घवरीजणौ, घवरीजवौ—क्रि०अ० (भाव वा०) १ घवरा जाना, व्याकुल होना । उ०—मरणौ हुवै जिके पग मांडौ, ऊवरणौ हुवै जिकै अखौ । दिल घवरीज मौत सूं डरपौ, वळै कहौ किण भांत विखौ ।

—जादूरांम आढ़ौ

२ भौंचक्का हो जाना. ३ सकपका जाना ।

घवरीजणहार, हारौ (हारी), घवरीजणियौ—वि० ।

घवरीजिओड़ौ, घवरीजियोड़ौ, घवरीज्योड़ौ—भू०का०कृ० ।

घवराणौ, घवरावौ- -क्रि०अ० ।

घवरीजियोड़ौ—भू०का०कृ०—१ घवराया हुआ. २ हड़वड़ाया हुआ. ३ भौंचक्का. ४ सकपकाया हुआ । (स्त्री० घवरीजियोड़ी)

घमंक—सं०स्त्री० [अनु०] १ आघात से उत्पन्न हुई ध्वनि, धमाका. २ झनकार । उ०—सुरंग रंगभोमि में, तरंग है न तांन की । ढमंक ढोलकी न त्यूं, घमंक घुग्घरांन की ।—ऊ.का.

३ जोर से मूसलाधार वर्षा होने से उत्पन्न शब्द । उ०—गात सुहाता नीर हठीली लार म छोडै । कड़क घमंका मांड डरपती दड़कै दौड़ै ।

—मेघ.

घमंकणौ, घमंकवौ—क्रि०अ०—'घमंक' की ध्वनि होना या करना । उ०—१ वडी फौजां दरसांणी घमंकी पाखरां वाजा ।—अज्ञात

उ०—२ घमंकि घंट घुग्घरं, सिंदूर सीस चम्मरं ।—गु.रू.वं.

घमंकौ—देखो 'घमकौ' (रू.भे.) उ०—वना हसती थे भल लाज्यौ, घुड़लां रे घमंकै आज्यौ ।—लो.गी.

घमंघम—देखो 'घमघम' (रू.भे.) उ०—जवन्निय सेन प्रळै किर ज्वाळ, घमंघम पक्खर गुग्घरमाळ ।—रा.रू.

घमंड—सं०पु० [सं०] १ अभिमान, गर्व, अहंकार ।

मुहा०—१ घमंड उतारणौ—अभिमान दूर करना. २ घमंड टूटणौ—अभिमान खतम होना. ३ घमंड निकाळणौ—अभिमान दूर करना ।

२ वल, वीरता । उ०—ज्यूं किण रा घमंड सूं थूं इतरौ नाचै है ।

घमंडी—वि०—अहंकारी, अभिमानी, गर्वीला ।

घम—सं०पु० [अनु०] किसी तल पर कड़ी वस्तु का आघात लगने से उत्पन्न शब्द ।

यौ०—घमाघम ।

घमक—१ देखो 'घमंक' (रू.भे.) उ०— घण सायक सावळ घमक, विखमी खग वग्गी ।—सू प्र.

२ यथाशक्ति किया गया परिश्रम. ३ 'घूमर' नामक राजस्थान का एक लोक-नृत्य. ४ घोड़ों की प्रसन्नतासूचक हिनहिनाहट. ५ प्रहार । उ०—वह घमक सावळां, वहै झाटक वीजूजळ ।—सू प्र.

घमकणौ, घमकवौ—क्रि०अ०—१ नाचना. २ वर्षा का उमड़ना । उ०—मेघ अमीणौ नांम घमंकूं जिण पुळ नभ में । खोलण कांमण केस पड़ै धव खाता मग में ।—मेघ.

३ अचानक आकर उपस्थित होना, आ धमकना. ४ किसी कार्य को तेजी से करना ।

घमकणहार, हारौ (हारी), घमकणियौ—वि० ।

घमकिओड़ौ, घमकियोड़ौ, घमक्योड़ौ—भू०का०कृ० ।

घमकीजणौ, घमकीजवौ—भाव वा० ।

घमकाणौ, घमकाबौ-क्रि०स०—१ प्रहार करना, मारना-पीटना.
२ धमकी देना. ३ नचाना. ४ पैरों को पटक घुंघरु आदि का बजाना। उ०—सांतां दीप रास रमैं सातूं, घूघरियां घमकांणी। वीणा म्रदंग बजावैं ईस्वं, गावैं अम्रत वांणी।—राघवदास भादौ
घमकाणहार, हारौ (हारी), घमकाणियौ—वि०।
घमकायोड़ौ—भू०का०कृ०।
घमकावणौ, घमकावबौ—रू०भे०।

घमकायोड़ौ-भू०का०कृ०—१ पीटा हुआ २ धमकाया हुआ.
३ नचाया हुआ। (स्त्री० घमकायोड़ी)

घमकावणौ—देखो 'घमकाणौ' (रू.भे.)
घमकावणहार, हारौ (हारी), घमकावणियौ—वि०।
घमकाविप्रोड़ौ, घमकावियोड़ौ, घमकाव्योड़ौ—भू०का०कृ०।
घमकावीजणौ, घमकावीजबौ—भाव वा०।

घमकावियोड़ौ—देखो 'घमकायोड़ौ' (रू.भे.)
(स्त्री० घमकावियोडी)

घमकौ-सं०पु० [अनु०] १ प्रहार का शब्द, चोट की आवाज.
२ चलते समय पैर पटकने से उत्पन्न ध्वनि. ३ नृत्य करते समय पैर पटक कर की जाने वाली घुंघुरुओं की आवाज।
उ०—वांका नैणां री, झोक नांखती, पायल रै ठमकै सूं, घूघरै रै घमकै सूं, विछीयां रै छमकै सूं, रमझोळ करती, अंगूठा मोड़ती, नखरा करती बाजारि चाली जाए छै।—रा.सा.सं.

घमघम-सं०स्त्री०यौ० [अनु०] १ निरन्तर प्रहार से उत्पन्न ध्वनि.
२ चलते समय जोर से पैर पटकने से उत्पन्न ध्वनि।
उ०—भीने कांचळिये घमघम डग भरतो, धसळां देतोड़ी घम घम पग धरती।—ऊ.का
३ नृत्य करते समय पैर पटक कर की जाने वाली घुंघुरुओं की आवाज। उ०—नम नम घमघम नाचती, रमझम अपछर रीत। तिम तिम यम पावू तवै, वाला खम खम बीत।—पा.प्र.
क्रि०वि०—शीघ्रता।

घमघमणौ घमघमबौ-क्रि०अ०—पैर पटक कर घुंघरुओं की आवाज करते हुए नृत्य करना। उ०—घं वाजित्र घण घाउ घमिघमि अपछर घूघरा।—वचनिका

घमघमाहट—देखो 'घमघम' (रू.भे.)

घमघमाणौ, घमघमाबौ-क्रि०स०—१ प्रहार करना. २ घम-घम शब्द करना।

घमघोर—देखो 'घणघोर' (रू.भे.)

घमड़-सं०स्त्री०—घमघम की ध्वनि। देखो 'घमघम' (२ ३)
क्रि०वि०—जल्दी-जल्दी, उतावली से।
कहा०—घमड़-घमड़ पीसै नै जाती रा पग दीसै—पीसने के कार्य में उतावलापन दिखाने का अभिप्राय यह है कि अब वह इस घर में नहीं रहेगी एवं किसी अन्य पुरुष से नाता जोड़ेगी; कार्यों में उतावलेपन या अरुचि दिखाने की बुराई।

घमड़ी—देखो 'घमडी' (रू.भे.)

घमचाळ-सं०स्त्री० [सं० घर्मचाल] १ फौज, सेना.
उ०—सर जहर उडि थोम घर घर, रीठ तर पड़ि वजर गिर उर, चौतरफ घमचाळ।—सू.प्र.
२ युद्ध। उ०—१ सुजड़ अथकाव जड़ कुरड़ परवाह सक, ग्रूठ उमरड़ सत्रां होम देहा। उरड़ घमचाळ होतां वर्णं आपरा, अनड पैराज तस गुरड़ येहा।—कविराजा करणीदांन
३ जी मचलने या ऊबने का भाव. ४ शस्त्रों का प्रहार।
उ०—जबर वीर छाजंत अरिदां जाळ का, किरमाळां घमचाळ समोवड़ काळका।—बगसीरांम प्रोहित री वात

घमचोळ-सं०स्त्री०—१ ऊँट की एक चाल विशेष. २ घुंघुरुओं की ध्वनि। उ०—पारघै लेय आयोय घाट पती। विहंगां पग नेवरियां बजती। वण जांन सुप्यार तणै वर री, घमचोळ वजै वहु गूघर री।—पा.प्र.
३ मादक द्रव्यों से उत्पन्न नशा. ४ जी मचलने की क्रिया, वमन की स्थिति. ५ वर्षा की तेज बौछार. ६ कोलाहल, हल्ला-गुल्ला।

घमचोळणौ, घमचोळबौ-क्रि०अ०—जी मचलाना, जी घबराना, वमन की स्थिति होना।

घमझोळौ-सं०पु०—झमेला, टंटा। उ०—खींवौ कही—घोड़ी मैं नीकां दीठी। ये तौ वातां रै घमझोळे मांहीं था, पण हूं दीठी थी। घोड़ी पिरथी री रूप छै।—सूरे खींवे री वात

घमडी-सं०स्त्री०—घूम, चक्कर। उ०—दुरविध घमडी दै सणकारी साजी। भारी भमडीलै घर में भूवाजी।—ऊ.का.

घमर-सं०स्त्री० [अनु०] १ ढोल आदि का उत्पन्न गम्भीर शब्द।
२ कोई गम्भीर ध्वनि।

घमराळ, घमरोळ-सं०पु०—१ युद्ध, रण. २ शस्त्रों की बौछार।
उ०—कंथ घणी ही सांकड़ो, घेरौ घर रै दोळ। वाभी देखण हूलसै, सेलां री घमरोळ।—वी.स.
३ तेज महक. ४ धमाचौकड़ी, उछलकूद. ५ कोलाहल।

घमरोळणौ, घमरोळबौ-क्रि०स०—१ युद्ध करना. २ संहार करना, नाश करना, रौंदना. ३ सुगंध देना, महकना।
घमरोळणहार, हारौ, (हारी), घमरोळणियौ—वि०।
घमरोळिग्रोड़ौ, घमरोळियोड़ौ, घमरोळ्योड़ौ—भू०का०कृ०।
घमरोळीजणौ, घमरोळीजबौ—कर्म वा०।

घमरोळियोड़ौ-भू०का०कृ०—१ युद्ध किया हुआ. २ संहार किया हुआ. ३ महका हुआ। (स्त्री० घमरोळियोड़ी)

घमरोळौ—देखो 'घमरोळ' (रू.भे.)

घमस-सं०स्त्री०—१ घोड़ों के टापों से उत्पन्न ध्वनि। उ०—नाळ घमस वजि निहंग, धरा जहराळ कमळ धुकि।—सू.प्र.
२ दौड़ने से उत्पन्न होने वाली पंजों की ध्वनि।

घमसाण, घमसांन-सं०पु०—१ भयंकर युद्ध। उ०—१ घण घट्टां गड

घेरियां; वरिए रिए ऊग विहांए। निस जाये चख जगगर्णं, दिन पाये घमसांण।—रा.रू. उ०—२ प्रथम गजर तोपां पड़ै, गोळां वजर गुड़ांए। मचियौ जिए दिन मांभियां, घोर प्रळै घमसांण।—वं.भा.

मुहा०—घमसांए करणौ, घमसांए मचाणौ—लड़ाई-झगड़ा मचा देना।

२ संहार, नाश. ३ फौज, सेना (ह.नां.)

उ०—वए सुभट थाट हैमर वणाये, ग्राखेट रमए कीनौ उपाये। घमसांण चले घए थाट घेर, वाजंत घाव नीसांए भेर।

—बगसीराम प्रोहित री बात

४ समूह, दल। उ०—१ तरै मियां नै समाचार हुग्रा तरै मियां फौज री घमसांण करनै रांमदासजी ऊपर चढ़ियौ।—रा.सा.सं.

उ०—२ इसौ हुकम सुए घोड़ां रा घमसांण लेनै चढ़िया।

कहवाट सरवहिया री बात

वि०—घमासान, घनघोर, भयंकर।

घमसाळ-वि०—विशाल, बड़ा।

घमस्सांण—देखो 'घमसांए' (रू.भे.)

घमहम, घमांघम—देखो 'घमघम' (रू.भे.)

घमाकौ-सं०पु० [ग्रनु०] भारी वस्तु के गिरने ग्रथवा वंदूक ग्रादि के छूटने का शब्द, धमाका।

घमाघम, घमाघमी—१ देखो 'घमघम' (रू.भे.)

उ०—१ घूघरां तए भरणाट हुय घमाघम, वेए रा तंत्र तरणाट वाजै।—खेतसी वारहठ उ०—२ मिळै पंथ सालळै खेग मरद्द, घमाघम ऊपर घोर गरद्द। -रा रू.

२ युद्ध, लड़ाई. ३ धूमधाम, चहल-पहल।

क्रि०वि०—निरन्तर, लगातार।

घमाड़ौ, घमीड़, घमीड़ौ, घमीर, घमेड़, घमेड़ौ-सं०पु०—१ दुःख ग्रथवा शोक में छाती पीटने का भाव। उ०—हिये हठी हमीर सो ग्रठी ग्रमीर ऐन मैं। दया गंभीर देखिये घमीर लैन दैन मैं।—ऊ.का.

२ प्रहार, चोट। उ०—सेल घमेड़ां सल्ल पड़ै, मल्लां प्रति मल्लां। भल्लां-भल्लां भणै ऊगतां भड़ां ग्रमल्लां।—ऊ.का.

३ प्रहार या ग्राघात से उत्पन्न ध्वनि, धमाका। उ०—परोपर सानुज वांघव पीड़, घमाघम सावळ वाज घमीड़।—पा.प्र.

घमोड़-सं०पु० [ग्रनु०] १ दधि मंथन की ध्वनि. २ देखो 'घमीड़'। (रू.भे.)

उ०—संग वहे सामंत, रंग घोड़ां राठोड़ां। ग्रड़ै भुजां ग्रसमांए, मुड़ै फए पौड़ घमोड़ां।—मे.म.

घमोड़णौ, घमोड़वौ-क्रि०स०—१ पीटना, मारना, प्रहार करना।

उ०—राघोदे ग्राघा वधतौ थकौ सेल री राजा रै घमोड़ी।

—जैतसी ऊदावत री बात

२ दही मथना, विलोड़ित करना।

घमोड़णहार, हारौ (हारी), घमोड़णियौ—वि०।

घमोड़िग्रोड़ौ, घमोड़ियोड़ौ, घमोड़्योड़ौ—भू०का०कृ०।

घमोड़ीजणौ, घमोड़ीजबौ—कर्म वा०।

घमोड़—देखो 'घमीड़ौ'। उ०—सैल घमोड़ा किम सह्या, किम सहिया गज दंत। कठिए पयोहर लागतां, कसमसतौ तूं कंत।—हा.भा.

घमोय-सं०स्त्री०—एक छोटा पौधा जिसके पत्ते गोभी के पौधे के रंग के व कटावदार कांटों से युक्त होते हैं। इसका तना सीधा ऊपर की ग्रोर बढ़ता है। इसमें टहनियाँ नहीं होतीं। इसके फूल पीले होते हैं। यह पौधा प्राय: रेतीले स्थान पर ग्रौर ऐसे खड्डे पोखरों में ग्रधिक होता है जहाँ पानी एकत्रित होकर जल्दी सूख जाता है। इसे लोग सत्यानाशी भी कहते हैं।

घमोर—देखो 'घमोड़' (रू.भे.) उ०—वंदूक सोरं मूठ ग्रौर गज्ज डोरं वंधए। गोळी घमोरं दंत तोरं चडा ठोरं संधए।—पा.प्र.

घम्म—देखो 'घम' (रू.भे.)

घम्मघमंतड़-वि०—१ घेरदार। उ०—घम्मघमंतड़ घाघरड़, उलटचौ जांए गयंद। मारू चाली मंदिरे, भीएौ वादळ चंद।—ढो.मा.

२ घूमता हुग्रा।

घर-सं०पु० [सं० गृह] दीवार ग्रादि घेर कर मनुष्य द्वारा ग्रपने लिए वनाया हुग्रा रहने का स्थान, ग्रावास, मकान।

पर्याय०—ग्रगार, ग्रांमस, ग्रायांए, ग्रारांम, ग्रालय, ग्रासपद, ग्रासय, ग्रास्रय, ऐए, ऐवास, ग्रोक, कुट, गेह, ग्रह, जाग, थांन, धमळ, धांम, धिसए, निकेत, निलय, निवासपद, वसती, भवन, मंदर, मकांन, रहए, वसी, वास, विस्रांम, वेसंम, सदन, सदम, सुथांनक, सोध।

मुहा०—१ अंधारे घर री उजाळौ—भाग्यवांन, तेजस्वी, कुलदीपक, ग्रत्यन्त सुंदर. २ ग्रापरौ घर जांएणौ—ग्रपना घर समझना, संकोच न करना, ग्राराम की जगह समझना, ऐसा स्थान समझना जहाँ घर का सा व्यवहार हो. ३ ग्रापरौ घर समझणौ—देखो मुहा० सं० २. ४ घर ग्रावाद करणौ—विवाह कर लेना, किसी सूने घर में निवास करना. ५ घर उजड़णौ—परिवार की दशा विगड़ना, कुल की समृद्धि नष्ट होना, परिवार पर विपत्ति होना. घर के प्राणियों का तितर-वितर होना या मर जाना. ६ घर ऊठणौ—घर वनना, इमारत का खड़ा होना, देखो 'घर उजड़णौ'. ७ घर करणौ—वसना, रहना, निवास करना, किसी वस्तु या प्राणी का जमने या ठहरने के लिए गड्ढा करना, घुसना, विल वनाना, पत्नी भाव से किसी के घर में रहना, खसम करना, नया पति स्वीकार करना. ८ घर काटए (खावए) नै दौड़णौ—किसी के विना घर का सूना लगना. ९ घर खाली छोडणौ—गोटी के खेल में ग्रागे के लिए जगह छोड़ना. १० घर खोणौ, घर खोवणौ—घर का सत्यानाश करना, घर उजाड़ना, घर की संपत्ति नष्ट करना. ११ घर गमाणौ—घर की समृद्धि एवं संपत्ति नष्ट करना. १२ घर-घर—हर एक घर में, सबके यहाँ. १३ घर-घर री होणौ—तितर-वितर हो जाना, मारे-मारे फिरना, वेठिकाने हो जाना, विना घर के होना.

१४ घर-घर होणौ (मिळणौ)—हर जगह पर होना. १५ घर घालणौ—निवास करना, बस जाना. १६ घर घुसणियौ, घर घुसणौ—घर में घुसा रहने वाला, हर घड़ी अंतःपुर में पड़ा रहने वाला, सदा स्त्रियों के बीच में बैठा रहने वाला, बाहर निकल कर काम-काज न करने वाला. १७ घर चलणौ—घर का काम चलना, गुजर-बसर होना, घर का खर्च चलना. १८ घर चलाणौ—परिवार का निर्वाह करना, देखभाल कर गृहस्थी का संचालन करना.
१९ घर जमणौ—गृहस्थी ठीक होना, घर का सामान इकट्ठा होना.
२० घर जमाणौ—गृहस्थी को ठीक एवं व्यवस्थित करना, घर की समृद्धि बढ़ाना. २१ घर जंवाई करणौ—दामाद को अपने घर में रखना. २२ घर जाणौ—घर का विनाश होना, घर के सभी सदस्यों का कहीं जाना. २३ घर डुबोणौ—परिवार की बेइज्जती करना, घर का धन बरबाद करना, घर को तबाह करना.
२४ घर डूबणौ—घर का नष्ट होना, घर तबाह होना, धन खतम होना, कुल में कलंक लगना. २५ घर तक पुगणौ—घर के आदमियों तक से शिकायत करना, मां-बहिन की गाली देना. २६ घर दीठ—एक एक घर में, प्रति घर से. २७ घर देखणौ—किसी के घर कुछ मांगने जाना, घर का रास्ता देख लेना, घर के भेद की जानकारी करना. २८ घर नै माथा माथै (ऊपर) लेणौ—परिवार के सब आदमियों को परेशान कर देना, शोरगुल मचाना.
२९ घर नै सिर माथै लेणौ—देखो मुहा० २८. ३० घर फाटणौ—मकान की दीवार आदि में दरार पड़ना, घर में फूट एवं विरोध होना. ३१ घर फूंकणौ—घर का नाश करना, घर की समृद्धि नष्ट करना, घर का धन बरबाद करना. ३२ घर फूंक नै तमासौ देखणौ—अपना घर बरबाद करके खुशी मनाना, अपनी हानि पर प्रसन्नता होनी, प्रशंसा या तमाशे के लिए स्वयं को ही हानि पहुँचाना. ३३ घर फोड़णौ—परिवार में लड़ाई-झगड़ा पैदा करना, घर में अशांति उत्पन्न करना, घर का भेद खोलना.
३४ घर बंद होणौ—घर भर का मर जाना, घर में प्राणी न रह जाना, घर का कोई मालिक न रह जाना, घर के प्राणियों का तितर-बितर होना, घर में ताला लगना, किसी घर से कोई संबंध न रह जाना गोटी के खेल में चलने की जगह न होना. ३५ घर बणणौ—मकान तैयार होना, इमारत बनना, घर की आर्थिक स्थिति अच्छी होना, घर संपन्न होना, धनी होना, घर के लोगों का मेल से रहना.
३६ घर बणाणौ—इमारत बनाना, मकान तैयार करना, निवास-स्थान बनाना, बसना, घर की आर्थिक दशा सुधारना, घर को संपन्न बनाना, अपना लाभ करना, गृहस्थी बनाना. ३७ घर बरबाद होणौ—घर बिगड़ना, घर की समृद्धि नष्ट होना, परिवार नष्ट होना, घर के लोगों में फूट होना. ३८ घर बसणौ—घर आबाद होना, घर में प्राणियों का होना, घर की दशा सुधरना, घर में स्त्री या बहू आना, व्याह होना. ३९ घर बसाणौ—घर आबाद करना, घर में नये प्राणी लाना, घर की दशा सुधारना, घर को धन-धान्य से पूरित करना, घर में स्त्री या बहू लाना, विवाह करना. ४० घरबार री धणियांणी होणौ—घर की मालकिन होना, बाल-बच्चेदार व गृहस्थिन होना. ४१ घर बिगाड़णौ—घर में फूट पैदा करना, घर में कलह उत्पन्न करना, घर बरबाद करना घर की समृद्धि नष्ट करना, परिवार की हानि करना, दूसरे घर को औरत को बहकाना, कुलवती को बहकाना, घर की बहू-बेटी को बुरे मार्ग पर ले जाना. ४२ घर बैठणौ—काम पर न जाना, नौकरी छोडना, कोई काम न मिलना, बेकार रहना, मकान का गिरना, घर में बैठना, एकांत सेवन करना. ४३ घर बैठा—बिना कुछ काम किये, बिना हाथ-पैर डुलाये, बिना परिश्रम, बिना कुछ देखेभाले, बिना बाहर जाकर सब बातों का पता लगाये, बिना कहीं गये-आये—बिना यात्रा का कष्ट उठाये, एक ही स्थान पर रहते हुए. ४४ घर भर—घर के सब प्राणी सारा परिवार.
४५ घर भरणौ—घर में खूब माल लाना, घर को धन-धान्य से पूर्ण करना, अपना लाभ करना, घर में ज्यादा आदमी होना, घर का प्राणियों से भरना, मेहमानों या कुटुंब वालों का घर में इकट्ठा होना, हानि पूरी होना, आगे जाने की जगह न होना. ४६ घर मंडणौ—किसी आदमी का विवाह होकर उसकी गृहस्थी जमना.
४७ घर मांडणौ—किसी स्त्री का पुनर्विवाह करना, गृहस्थी आरंभ करना, घर को सुव्यवस्थित करना. ४८ घर माथै चढ़ नै आवणौ—लडाई करने के लिए किसी के घर पर जाना. ४९ घर में—स्त्री, जोरू, घरवाली. ५० घर में गंगा होणी—घर में ही सब कुछ प्राप्त होना. ५१ घर मेटणौ—गृहस्थी उजाड़ना, घर को तबाह करना, घर के परिवार को नष्ट करना, घर का अस्तित्व मिटा देना. ५२ घर राखणौ—घर को उबारना, गृहस्थ की मर्यादा को रखना, अपनी इज्जत रखना. ५३ घर रा घर—भीतर ही भीतर, गुप्त रीति से, बिना लोगों को सूचना दिये, बहुत से घर.
५४ घर रा घर साफ होणा—परिवार के परिवार का सफाया होना, बहुत से घर नष्ट होना. ५५ घर री, घर वाळी—गृहिणी, स्त्री.
५६ घर री जुगत—गृहस्थी का प्रबंध. ५७ घर री तरै बैठणौ—आराम से बैठना. खूब फैल कर बैठना, बैठने में किसी प्रकार का सकोच न करना. ५८ घर री तरै रै'णौ—आराम से रहना, अपना घर समझ कर रहना. ५९ घर री पूंजी—अपने पास की संपत्ति, निज का धन. ६० घर री बात—कुल से संबंध रखने वाली बात, आपस की बात, आत्मीय जनों के बीच की बात. ६१ घर री रोसनी—कुलदीपक, कुल की समृद्धि करने वाला, कुल की कीर्ति को बढाने वाला, भाग्यवान, अत्यंत प्रिय, लाडला. ६२ घर रौ—निज का, अपना, आपस का, संबंधियों या आत्मीयजनों के बीच का, संबंधी, अपने परिवार का प्राणी, पति, स्वामी. ६३ घर रौ आदमी—बहुत नजदीकी, अपने ही कुटुम्ब का प्राणी, भाई-बंधु, इष्ट-

मित्र, अत्यन्त विश्वासपात्र, पति. ६४ घर रो उजाळो—परिवार की इज्जत बढ़ाने वाला, घर भर में खूबसूरत, कुलदीपक, कुल की समृद्धि को बढ़ाने वाला, भाग्यवान. ६५ घर रो घर—पूरा का पूरा परिवार, घर के सभी प्राणी. ६६ घर रो घर में रैणो—न कुछ हानि न लाभ होना. ६७ घर रो घर साफ होणो—परिवार के परिवार का सफाया हो जाना. ६८ घर रो चोखो—मालदार, समृद्ध कुल का, अच्छे खानदान का, खाने-पीने से खुश. ६९ घर रो दीयो—कुलदीपक, कुल की समृद्धि करने वाला, कुल की कीर्ति को बढ़ाने वाला, भाग्यवान, अत्यन्त प्रिय. ७० घर रो न कोई घाट रो—जिसके रहने का कोई निश्चित स्थान न हो, बेकार, कहीं का भी नहीं, निकम्मा. ७१ घर रो नांम डुबोणो—कुल को कलंकित करना, अपने भ्रष्ट या निकृष्ट आचरण से अपने परिवार की प्रतिष्ठा खोना, घर की बदनामी करना. ७२ घर रो बा'दर—अपने ही घर में दम दिखाने या बढ़-बढ़ कर बोलने वाला, परोक्ष में शेखी बघारने वाला और मुकाबिले के लिए सामने न आने वाला.
७३ घर रो बोझ—गृहस्थी का कारबार. ७४ घर रो बोझ उठाणो (संभाळणो)—गृहस्थी का कामकाज देखना, घर का प्रबंध करना, घर का खर्च चलाना. ७५ घर रो भेदियो—अपनी गुप्त बातों को जानने वाला. ७६ घर रो भेदी—घर का सब भेद जानने वाला, ऐसा निकटस्थ मनुष्य जो सब रहस्य जानता हो. ७७ घर रो मरद—देखो 'घर रो बा'दर'. ७८ घर रो रास्तो पकड़णो—अपने काम से काम रखना. ७९ घर रो रास्तो लेणो—अपने काम से काम रखना. ८० घर रो वीर—देखो 'घर रो बा'दर'.
८१ घर रो सेर—देखो 'घर रो बा'दर'. ८२ घर रो हिसाब—अपने लेन-देन का लेखा, निज का लेखा, अपने इच्छानुसार किया हुआ हिसाब, मनमाना लेखा. ८३ घर लारै—एक एक घर में, एक एक घर से. ८४ घर समझणो—निःसंकोच रहना.
८५ घर सूं—पास से, पल्ले से, पति, स्वामी, स्त्री, पत्नी.
८६ घर सूं देणो—अपने पास से देना, अपनी गांठ से देना, स्वयं हानि उठाना, मूल धन से व्यय करना. ८७ घर सूं बेघर करणो—बिना शरण का कर देना, निकाल देना. ८८ घरे पड़णो—घर में आना, प्राप्त होना, मिलना मोल मिलना. ८९ घरे पुगणो—सुरक्षित स्थान पर पहुँचना, अपने घर पहुँचना. ९० घरे बैठणो—किसी के घर पत्नी-भाव से जाना, किसी को खसम बनाना, काम पर न जाना, नौकरी छोड़ना, कोई काम न मिलना, बेकार रहना.
९१ घरे बैठा—बिना मेहनत के, बिना आये-गये, देखो मुहा० 'घर बैठा' (रू.भे.). ९२ घरे बैठां रोटी मिळणी—बिना मेहनत की रोटी, बिना परिश्रम की जीविका. ९३ घरोघर—हरएक घर, प्रत्येक घर. ९४ दिल में घर करणो—इतना पसंद आना कि उसका ध्यान सदा बना रहे, अत्यन्त प्रिय होना, प्रेम-पात्र होना।
कहा०—१ आप तणो घर आप री सूझै सौ कोसां—अपने घर की स्थिति का ज्ञान तो सौ कोस दूर बैठे हुए को भी होता है; किसी भी प्रकार के व्यय आदि को घर की स्थिति के अनुसार ही करना चाहिये. २ घर आयो नाग न पूजै, बांबी पूजण जाय—घर पर आये नाग की पूजा तो होती नहीं और विवर (सांप का बिल) पूजने जाती है; अवसर पर लाभ न उठाने वाले के प्रति. ३ घर आयो वैरी ई पांमणो—घर आये हुए शत्रु को भी अतिथि समझ उसका पूर्ण सम्मान करना चाहिये; अतिथि-सत्कार की भावना. ४ घर आवती लिछमी नै ठोकर नहीं मारणी—घर आती लक्ष्मी की अवहेलना नहीं करना चाहिये; सुगमता से घर बैठे धन एवं लाभदायक वस्तु प्राप्त हो रही हो तो उसे अवश्य स्वीकार करना चाहिये. ५ घर का डांडा सूं आंख फूटणी—घर में लगे छत के डंडे से (नीचा होने के कारण) आंख फूटना; अपने सम्बन्धियों से हानि पहुचना.
६ घर की खांड करकरी लागै, गुळ चोरी को मीठो—घर की शक्कर तो किरकिरी ही लगती है परन्तु चोरी का तो गुड़ भी मीठा लगता है; परायी वस्तु अधिक सुन्दर या अच्छी प्रतीत होती है. ७ घर की मुरगी दाळ बराबर—अपने अधिकार की वस्तु का कोई खास महत्व नहीं होता; उच्च वस्तु भी साधारण प्रतीत होती है, जैसे मलयाचल पर्वत पर चंदन ईंधन की भांति जलाया जाता है; परायी वस्तु सुंदर व अच्छी प्रतीत होती है. (मि०—घर की खांड करकरी लागै, गुळ चोरी को मीठो।) ८ घर के आंगण बोरड़ी न लगाजै—घर के आंगन में बेर का वृक्ष नहीं लगाना चाहिये क्योंकि इसके कांटों में कपड़े उलझ कर फटते हैं और पैरों में कांटे लगते हैं; बुरे व्यक्ति को घर में स्थान नहीं देना चाहिये क्योंकि वह सदैव हानि ही पहुँचाता है।
९ घर को गंडक घर में सेर—अपनी गली में कुत्ता भी शेर होता है। (मि० मुहा०—'घर रो बा'दर') १० घर-घर माटी रा चूल्हा है—घर-घर मिट्टी के चूल्हे हैं; सब की परिस्थितियां प्रायः समान ही हैं; घर-गृहस्थी की चिन्ता प्रायः सभी को समान रूप से ही होती है. ११ घर जय नै झांझर वाजै—घर में हानि होने के समय थाली बजाना अनुचित है; बिना अवसर के बाजे अप्रिय लगते हैं. १२ घर जाय मांई सूं, मांचो जाय बांई सूं—सौतेली मां से घर नष्ट होता है और खाट उसकी बुनाई के अंतिम सिरे जहां से दावन कसी जाती है, नष्ट होती है. १३ घर जायां का दांत गिणूं के हाड—घर में उत्पन्न व्यक्ति को क्या परखा जाय, उसकी तो नस-नस जानी हुई होती है. १४ घर तो लुगायां रा ही ज कह्या है—घर तो स्त्री का ही है; घर की स्वामिनी तो स्त्री ही होती है; स्त्री होने से ही घर होता है या गृहस्थी बनती है. १५ घर दीया तो मसीत ही दीया—घर में प्रकाश है तो बाहर भी प्रकाश करना संभव है; घर में सुखी है तो अन्यों को भी सुख पहुँचाने का प्रयत्न किया जा सकता है. १६ घर दूर घटी भारी—घर अभी दूर है और सिर पर भारी चक्की है; आलसी व सुस्त के प्रति व्यंग्य. १७ घर देख नै हालणो, मांटी देख नै मालणो—घर की स्थिति के अनुसार ही चलना

चाहिये और पति की शक्ति के अनुसार ही गर्व करना चाहिये; घर की स्थिति के विपरीत चलना और पति की शक्ति के विपरीत गर्व करना अनुचित है. १८ घर ना गोदा नैं घर ना जोदा जणां नी खेती—जिनके अपने निजी घर के जवान बैल हैं और घर के मजबूत आदमी है उसी की खेती अच्छी हो सकती है. १९ घर नी तौ घट्टी चाटैं, उपाद्यौ कै'पोय चपटी—घर के तो बच्चे भूखे है और मांगने वाला कहता है कि मुझे रोटी बना के दे; गरीबी की हालत मे दूसरे को भोजन देना कठिन होता है; खुद की सामान्य आवश्यकताओं की पूर्ति के बाद ही दूसरे की सहायता संभव है. २० घर नौ दीवौ करी नैं जाणैं डूगरैं दव लगाडैं—घर का दीपक जलाना तो जानता ही नही और पहाड पर आग लगाने को उद्यत है; साधारण कार्य को भी करने का ज्ञान नही होते हुए भी बडे कार्य में हाथ डालने वाले के प्रति. २१ घर फूटचा घर जाय—घर मे फूट पडने से घर उजड़ जाता है; घर की फूट बहुत बुरी है. २२ घर बळती कौ दीसै नी, डूगर बळती दीसै—घर में जलती आग दिखाई नही देती, पहाड पर जलती आग दिखाई देती है; अपने दोष दिखाई नही देते, दूसरो के दोष दिखाई दे जाते हैं. २३ घर बाळ'र तीरथ नी करणी आवैं—घर जला कर तीर्थ-यात्रा नही की जाती; घर की स्थिति के अनुसार ही पुण्य-कार्य किया जा सकता है. २४ घर बिना दर कठै ?—घर के बिना रहने को दूसरा स्थान कहाँ है ? घर मे जैसी सुविधायें मिल सकती है वैसी अन्य कहाँ मिल सकती है ? घर की प्रशंसा. २५ घर मांहि ऊंदरा ग्यारस करै—घर में चूहे भी एकादशी करते हैं; अत्यन्त दरिद्रता के प्रति. २६ घर में घोड़ौ घालणौ—घर मे आफत उपस्थित करना; अवांछित व्यक्ति का घर में आ फँसना; जानबूझ कर घर में कोई आफत मोल लेना. २७ घर में तौ फाका पडैं, मोडा नूतण जाय—घर में तो फाके पड रहे है और साधुओ को भोजन के लिये निमंत्रण देने चला है; अपनी शक्ति से बाहर कार्य करना अनुचित है. २८ घर में तौ भूंज्योड़ी भांग ही कोनीं—घर में तो भुनी भांग भी नही; पास मे कुछ भी न होने पर; अत्यन्त दरिद्रता के प्रति. २९ घर में नही अखत रा बीज कोटी खेलै आखातीज—घर मे कुछ नही है और आप मौज व ऐश उडा रहे है; गरीब स्थिति मे मौज व ऐश शोभा नही देती. ३० घर मे हुवैं नांणा तौ बींद परणीजै कांणा—गाँठ में पैसा हो तो काने व्यक्ति का भी धूमधाम से विवाह हो सकता है; पैसा हर कठिन कार्य को भी सरल बना देता है; पैसे की प्रशंसा. ३१ घर मे नाहर नैं बारैं गाडर—घर में शेर और बाहर भेड़; घर में या परिचितों मे वीरता की शेखी बघारने वाले कायर व्यक्ति के प्रति. ३२ घर में नांही तेल तळाई, रांड मरैं गुलगुलां तांई—घर में न तेल है न कढ़ाई है फिर भी गृहिणी मिष्ठान्न के लिये मरती है; घर की माली हालत के विपरीत चलने वाली स्त्री कुलक्षणा होती है. ३३ घर में पूंचेटी रौ टाबर लाडकौ व्हे—घर मे सबसे छोटा बच्चा अधिक लाडला होता है; घर में सबसे छोटे बच्चे को सबसे अधिक प्यार मिलता है. ३४ घर में बोलैं डोकरा अर बा बोलैं छोकरा—वृद्ध और अनुभवी व्यक्ति तो घर के झगड़े आदि घर में ही निपटा देते है किन्तु युवा व उद्दंड लडके अपने घर की फूट को बाहर प्रकाशित कर देते हैं. ३५ घर में भुवाजी थडचां (भचीड़ा खावै) करै—घर में भूख खड़ी है, घर की स्थिति ठीक नही है; दरिद्रता के प्रति. ३६ घर में रांमजी को नांम है—घर मे कुछ नही है; अत्यन्त गरीब स्थिति है. ३७ घर में रांमजी रौ दीन है—घर में ईश्वर की कृपा है; गृहस्थी पूर्ण संपन्न है; ईश्वर की कृपा से गृहस्थी ठीक चल रही है. ३८ घर में सळ नहो है—घर की माली हालत ठीक नही है; किसी विशेष व्यय आदि के लिये घर में कोई साधन नही है. ३९ घर में हुवै संवार तौ झख मारौ गवार—अगर घर में लाभ होता हो तो निंदा करने वाले गंवार व्यक्तियों की परवाह नही करनी चाहिये. ४० घर मे ही मोतियां रौ चौक पूरणौ—किसी बडे कार्य को अपनेआप स्वतः ही घर पर पूरा कर लेने पर. ४१ घर रा ऊंदरा सोरा व्है ज्यूं करौ—ऐसा कार्य करो जिससे घर के चूहे भी सुखी हों। वही कार्य करना अच्छा है जिसमें सब परिवार वालों का हित हो. ४२ घर रा ही देवता नैं घर रा ही पुजारी—घर के ही देव और घर के ही पुजारी। सब प्रकार की सुविधा मिलने पर यह कहावत कही जाती है। ४३ घर री जूती नैं घर रौ माथौ—खुद की जूती और खुद का ही शिर; अपने ही हाथो अपना नुकसान करने वाले के प्रति. ४४ घर री डाकण घर रां नैं नही खावै—घर की डायन घर के कुटुम्ब पर अपना प्रभाव नही डालती; दुष्टों को भी अपने पराये का ख्याल होता है. ४५ घर री तौ रोवै है नैं पडोसण नैं फेरा भावै—घर की स्त्री तो संतुष्ट ही नही और पडौसिन शादी के लिये तैयार है; घर की स्थिति तो सुधरती नहीं एव दूसरों को सहारा देने की तैयारी करने वाले के प्रति. ४६ घर री मां नैं कुण डाकण बतावै—अपनी माँ को कौन डायन बताता है; अपने स्वजनो के अवगुणो को कोई प्रकट नहो करता. ४७ घर री रीत बा'रैं मत काडौ—घर की प्रथा को बाहर प्रकट नहीं करना चाहिये; घर का भेद बाहर खोलना अच्छा नही होता. ४८ घर री रोटी बा'रैं खावणी है—घर की रोटी बाहर खानी है; सत्कार देने वाला व्यक्ति ही खूब सत्कार और सम्मान प्राप्त करता है. ४९ घर रौ घरकोलियौ कर दियौ—घर का घरकोलिया बना दिया; लापरवाही और अपव्यय से घर को और घर की पूंजी को नष्ट करने पर. ५० घर रौ छोरौ बाहर रौ बींद—घर का लडका बाहर का वर; घर के लोगों की अपेक्षा बाहर वालों का आदर-सत्कार अधिक होता है, (मि० 'घर कौ जोगी-जोगडौ, आंण गांव कौ सिद्ध). ५१ घर रौ नांणौ खोटौ तौ परखवा वाळौ कांई करै—घर का पैसा ही ठीक नहीं है तो परखने वाले का इसमें क्या दोष ? अपना व्यक्ति ही जब बुरा है तो इसमें बुरा बताने वाले का क्या दोष ?.

५२ घर बरसौ मेसड़ला नै घर हीं हुवौ सुगाळ—घर पर ही वर्षा हो जिससे घर में ही सुकाल हो; अपना ही स्वार्थ चाहने वाले व्यक्ति केवल अपने लिए ही प्रयत्न करते हैं, परोपकार के लिए कुछ नहीं करते; स्वार्थी व्यक्तियों के प्रति. ५३ घर सारू पावणौ है, पावणा सारू घर कोयनी—मेहमान का आदर-सत्कार घर की सामर्थ्य के अनुसार ही किया जाता है; मेहमान की स्थिति के अनुसार घर की सामर्थ्य नहीं बनती; किसी का अतिथि-सत्कार अपनी स्थिति के अनुसार ही किया जाता है. ५४ घर सूं वाड़ी जितौ वाड़ै सूं घर—घर से जितना दूर वाड़ा है उतना ही वाड़े से घर दूर है; पारस्परिक संबंध की निकटता को प्रकट करने के लिए कही जाने वाली कहावत. ५५ घर सूंवावतौ खावणौ नै लोक सुवावतौ पैरणौ—घर-सुहाता खाना और लोक-सुहाता पहिनना चाहिए; जैसी घर की स्थिति हो वैसा ही खाना चाहिए और जिसे पहिनने से लोग टीका-टिप्पणी न करें वैसा ही पहिनना चाहिए। अर्थात् खाने-पीने व वेश-भूषा में व्यय अपनी स्थिति एवं समाज की परिस्थितियों को देख कर ही करना चाहिये. ५६ घरे कांम कूड़े विस्रांम—घर पर काम अधिक हो तो खलिहान में काम के बहाने जाकर विश्राम किया जा सकता है; काम से जी चुराने वाले आलसी व सुस्त व्यक्तियों के प्रति. ५७ घरे घाणी तेली लूखौ क्यूं खावै—तेली के घर पर कोल्हू चलता है, फिर वह रूखा-सूखा क्यों खावे; साधन-संपन्न होते हुए कष्ट क्यों देखा जाय.
५८ घरे घोड़ौ'र पाळौ जावै—घर पर घोडा और फिर पैदल चलना; साधन होते हुए भी साधन का उपयोग न करना मूर्खता है.
५९ घरे घीणौ'र लूखौ खाय—घर में दूध-दही सब है और रूखी-सूखी रोटी खाता है; साधनों के होते हुए भी साधनों का उपयोग न करने पर. ६० घरे नहीं बूकौ नै घांणी कढ़ावा ढूकै—घर पर तो सामग्री नहीं और कोल्हू चलवाने का विचार करता है; स्थिति से परे कार्य करने के प्रयत्न करने पर. ६१ सुसिया मांस खाई रे, कै म्हारो घर गौ रैं' जाई तो चोखौ—खरगोश मांस खायगा ? खरगोश उत्तर देता है—मेरे शरीर का ही मांस बच रह जायगा तो बहुत अच्छा होगा; जिसको अपने आप की रक्षा का ही भय है वह दूसरों को क्या सतायेगा ?
यौ०—घरकत्ती, घरगिरस्ती, घरघुसणियौ, घरधुनणौ, घरचारौ, घरजंमाई, घरदासी, घरद्वार, घरनायक, घरफोड़ी, घरभेद्व, घरबार, घरलोच, घरवासौ, घरसोचू।
अल्पा०—घरकोलियौ, घुरकलौ।
२ जन्मस्थान, स्वदेश. ३ कुल, वंश, घराना।
मुहा०—१ घर देखणौ—कुल या वंश पर विचार करना. २ घर राखणौ—कुल की मर्यादा को रखना. ३ घर रौ उजाळौ—कुल का दीपक, कुल को चमकाने वाला।
कहा०—घर हांगौ जोय लेणौ पर वर हांगौ नीं जोणौ—वर के चुनाव में कुल की अपेक्षा वर की सुयोग्यता को अधिक महत्व दिया जाना चाहिए।

यौ०—घर-घरांणौ, घरबार।
४ कोई वस्तु आदि रखने का डिब्बा या चोंगा, खाना. ५ पटरी आदि से घिरा हुआ स्थान, खाना, कोठा. दराज. ६ किसी वस्तु को जमाने या बैठाने का स्थान, किसी वस्तु के अँटने या समाने का स्थान. ७ छेद, बिल।
मुहा०—घर भरणौ—छेद मूंदना।
८ राग का स्थान, स्वर. ९ उत्पत्ति-स्थान, मूल कारण।
कहा०—रोग रौ घर खांसी अर कळह रौ घर हांसी—रोग का मूल कारण खांसी है और झगड़े का मूल कारण हँसी है अतः अधिक हँसी करना अच्छा नहीं।
१० गृहस्थी, घरबार. ११ गृहस्थी का सामान, घर का असबाब।
मुहा०—घर अवेरणौ—गृहस्थी व घर के सामान सुव्यवस्थित रूप से रखना, किफायत से खर्च करना।
१२ कार्यालय. कारखाना, दफ्तर. १३ कोठरी, कमरा.
१४ आडी व खड़ी खींची हुई रेखाओं से घिरा स्थान, खाना, ज्यूं कुंडळी रौ घर. १५ चौखटा, फ्रेम. १६ शतरंज आदि खेलों का चौकोर खाना।
मुहा०—१ घर खाली छोडणौ—गोटी के खेल में आगे के लिए जगह छोडना. २ घर बंद होणौ—गोटी के खेल में चलने की जगह न होना।
१७ भंडार, खजाना कोश. १८ दाँव, पेंच युक्ति. १९ देवालय, मंदिर।
घरकोलियौ—सं०पु०—गीली मिट्टी आदि से बनाया जाने वाला घरौंदा। ('घर' १ अल्पा०)
घरगिणती—सं०स्त्री०—१ जनगणना के निमित्त राज्य द्वारा लिया जाने वाला कर विशेष. २ घरों की गणना।
घरगिरस्ती—वि०—गृहस्थी का, घर का। उ०—वे घर-गिरस्ती रै कांम री एक ई जिनस लावौ कोयनी।—वरसगांठ
सं०पु०—घर के बाल-बच्चे. घर की स्थिति।
घरघरांणौ—सं०पु०—कुल, वंश।
घरघराणौ, घरघरावौ—क्रि०अ०—घर-घर का शब्द करना, घरघराहट करना।
घरघराहट—सं०स्त्री० [अनु०] घर-घर की ध्वनि।
घरघाल, घरघालणियौ—वि० (स्त्री० घर घालणी) १ घर का नाश करने वाला, घर बिगाड़ने वाला. २ कुल में कलंक लगाने वाला।
घरड़क—सं०स्त्री०—घर्षण करने की क्रिया, घर्षण।
घरड़कौ—सं०पु०—१ रगड़, घर्षण. २ कुरेद।
घरड़णौ, घरड़बौ—क्रि०स०—१ घिसना. २ परिश्रम करना.
३ तंग करना।
घरड़णहार, हारौ (हारी), घरड़णियौ—वि०।
घरड़वाड़ौ, घरड़ियोड़ौ, घरड़योड़ौ—भू०का०कृ०।

घरड़ीजणौ, घरड़ीजबौ—कर्म वा० ।

घरड़ीजणौ, घरड़ीजबौ–क्रि० कर्म वा०—१ घिसा जाना. २ परिश्रम किया जाना. ३ तंग किया जाना ।

घरड़ीजियोड़ौ–भू०का०कृ०—१ घिसा गया हुआ. २ परिश्रम किया हुआ. ३ तंग किया गया हुआ । (स्त्री० घरड़ीजियोड़ी)

घरचारौ–सं०पु०—१ घर-गृहस्थ, गृहस्थाश्रम. २ पति स्वीकार करना।

घर जमाई–सं०पु०—१ वह व्यक्ति जो अपने विवाह के बाद स्थायी रूप से ससुराल में ससुर का आश्रित बन कर रहे अथवा ससुर द्वारा दिये गये साधनों से अपने परिवार का निर्वाह करे २ वह व्यक्ति जो विवाह के पहले अपने भावी ससुर के यहाँ किसी निश्चित समय तक के लिये रह कर मजदूरी या कार्य करता है। उस निश्चित समय के बाद ही विवाह होता है, एवं कहीं भी रहने के लिये स्वतंत्र होता है ।

घरजांम, घरजांमी–सं०पु०—गृहस्थ में जन्म लेने वाला व्यक्ति, अपने घर में उत्पन्न ।

घरजायौ–सं०पु०—१ घर में जन्म लिया हुआ. २ दास, गुलाम ।

घरट–सं०पु० [सं० घरट्ट] १ एक प्रकार का मोटा, चपटा एवं गोलाकार पत्थर जिसे भैंसे आदि गोलाकार रूप में चलाते हैं जिससे चूना या आटा पीसा जाता है । (अल्पा० घरटियौ) २ वह गोल घेरा जहाँ उपरोक्त घरट फेर कर चूना व आटा आदि पीसा जाता है. ३ बड़ी चक्की. (अल्पा०–घरटियौ) ४ एक जलचर पक्षी. ५ डिंगल का एक गीत (छन्द) विशेष जिसके प्रत्येक चरण में सात भगण एवं तुकांत में गुरु होता है ।

घरटियौ–सं०पु०— छोटे आकार की चक्की। देखो 'घरट' १, ३ (अल्पा०) मि०–घटूलियौ ।

घर्टी—देखो 'घट्टी' (रू.भे.)

घरट्ट—देखो 'घरट' (रू.भे.) उ०—मैं परणंती परखियौ, मूंछां तणौ मरट्ट । सायधण फेरै अरटियौ, फेरै पीव घरट्ट ।—अज्ञात

घरड़ू–सं०पु०—कफ के बढ़ने से कंठावरोध होने पर गले से निकलने वाली घर्र-घर्र की ध्वनि ।

घरण, घरणि, घरणी–सं०स्त्री० [सं० गृहिणी, प्रा० घरणी] घर वाली, भार्या, गृहिणी । उ०—१ रिखय मत्त कर रखवाळ तारी रिख घरण चरण रज हूंता ।—र.ज.प्र. उ०—२ सीस घरणि चौ गळै माळ सझि, 'सिध' तणौ वढियौ जगीस ।

—जसवंतसिंगोत सोनगरा री गीत

उ०—३ घरणी निज परणी घर बाहिर पेचै, वनिता वनितावत निलजा नर वेचै ।—ऊ.का.

घरत–सं०पु० [सं० घृत, प्रा० घीअ] घी, घृत ।

घरतार–सं०स्त्री० [सं० गृह] मकान घर, निवासस्थान ।

उ०—बाड़ी दीन्ही वेढ में, घरतार गमाई ।—वी.मा.

घरदासी–सं०स्त्री०—गृहिणी, पत्नी ।

घरधणी–सं०पु०यौ० [सं० गृह+रा० धणी] १ घर का स्वामी, मकान-मालिक. २ पति, भरतार ।

घरधारी–वि०यौ० [सं० गृहधारिन्] घरवारी, गृहस्थ । उ०—घरधारी घबराय नै, भणिया मागै भीक । नांणौ लै प्रभु नांव रौ, ठरै काळजौ ठीक ।—ऊ.का.

घरनायक–सं०पु०यौ० [सं० गृहनायक] गृहपति, स्वामी ।

घरनायरा–सं०पु०यौ० [सं० गृह नालक] गगन, आकाश (डि.नां.मा.)

घरनाळ–सं०स्त्री०—एक प्रकार की प्राचीन तोप ।

घरनी, घरन्नी—देखो 'घरणी' (रू.भे.)

घरफोड़ौ–सं०पु०—१ चोरी, नकब. २ चोरी के हेतु दीवार तोड़ कर उसमें बनाया गया मार्ग, सेंध. ३ घरेलू कलह. ४ घरेलू कष्ट ।

घरवताघणी–सं०स्त्री०—हाथ की तर्जनी, उंगली ।

घरवार–सं०पु०यौ०—१ घर, रहने का स्थान । उ०—कोस कोस पर पहरा बैठ्या, पेंड पेंड बटमार । हे विधना कैसी रच दीन्हीं, दूर वस्यो घरवार ।—मीरां

२ गृह सामग्री. ३ गृहस्थी, बालबच्चे । उ०—घर छूटा घरवार छूटग्या, आस छूटगी जीवण री । कायौ हुयनै जै'र घोळियौ, हिम्मत कीनी पीवण री ।—रेवतदांन

घरवारी–सं०पु०—बाल-बच्चों वाला, कुटुंबी, गृहस्थी. २ (वह साधु) जो पत्नी रखता हो तथा पारिवारिक जीवन व्यतीत करता हो । ३ रामस्नेही साधुओं का एक भेद जो गृहस्थ जीवन बिताते हैं.

घरबिकरी, घरबिखरी–सं०स्त्री० [सं० गृह+विकरः] गृहस्थी के काम में आने वाला सब प्रकार का सामान, माल-मिलकियत ।

घरबूडौ–वि०—घर को डुबाने वाला, घर को नष्ट करने वाला ।

उ०—यूं कहतां चौधरी दारू रो अकियौ हौ सू चौधरण नूं लाजण दो-च्यार वाया अरु कयौ, 'रांड रीझी है तौ तूं पांडू रै जा ।' तद जाटणी कयौ, 'घरबूडा, मैं तौ वात कही ती ।'—द.दा.

घरभमतौ–सं०पु०—१ मकान में होने वाला या फैलने वाला धुआं. २ आवारा डोलने वाला ।

घरभेद–सं०पु०—घर का भेद, गुप्त, रहस्य ।

घरभेदू–वि०—घर का भेद एवं गुप्त रहस्य जानने वाला ।

घरमंड–सं०पु०—धन-दौलत (अ.मा.)

घरमंडण–सं०पु०—पति । उ०—गह घूमी लूंबी घटा, बादळ कियौ बणाव । घर-मंडण घर आवियौ, घर-मंडण घर आव ।—अज्ञात

घरमकर–सं०पु० [सं० घर्म्मकर] सूर्य ।

घरमपुसप–सं०पु० [सं० गृहपुष्प] अट्टालिका. महल, भवन (अ मा.)

घरमणी–सं०पु० [सं० गृहमणि] घर का प्रदीप, दीया, दीपक (डि.को.)

घरमेढ़ी–सं०पु० [सं० गृहमेधी] घर का प्रकाश, घर का दीपक, कुल-दीपक । उ०—मुखिया मन मोहण दोहण घरमेढ़ी, गोडै ढेरौ है खूणी में गेढ़ी ।—ऊ.का.

घरर—सं०स्त्री० [अनु०] १ कड़ी वस्तुओं के रगड़ने से उत्पन्न ध्वनि, घर्षण की ध्वनि. २ मेघ-गर्जना। उ०—घण हल्लै गयंद वजि घरर घोर, सहनाय तूर नवकीब सर।—सू.प्र.

घरराट—सं०पु० [अनु०] १ गर्जना, घर्राटा, भीषण ध्वनि।
उ०—वाघ सुणावै वाहरां, घण ज्यूंहीं घरराट। धावै भागां लार नह, नह जावै भगवाट।—बां.दा.
२ देखो 'घरघराहट' (रू.भे.) उ०—ऊपरां थोहर रा आकरा कोयलां रा चिमिया मल्हजै छै, जांणै सहिजादै रा ताइत बभूत लगायोड़ा जोगी सा छै, तिणां री होंस मांणजे छै। मघरो-मघरो खांचजै छै, घरराटा हुयनै रह्या छै।—रा सा.सं.
३ भूमि के कम्पायमान होने की क्रिया या ध्वनि। उ०—वीर जोधारां रो जुध होवण लागो तिणसू धरती धूजण लागी तद नागणी नाग नै पूछै छै—हे नाग ! आज धरती मैं घरराट कांई तरह री होवै छै। तद नाग कही—हे नागण ! आ धरती मचकै छै।—वी स.टी.

घरराणौ, घररावौ, घररावणौ, घररावबौ—क्रि०अ०—कड़कड़ाहट की आवाज होना या करना. देखो 'घरघराणौ'। उ०—१ लोरां मांवण लूंबियो, घोरां घण घरराय। मांणीगर रंग मांण अब, प्यालाह भर मद पाय।—र.रा. उ०—२ झिरमिर-झिरमिर मेहूड़ो बरसै, वादळियो घररावै ए। जेठजी तो मेरा दूजा काटै, परण्यो हळियो वावै ए।—लो.गी.

घरलोचू—वि० [सं० गृहलोची] विवेकपूर्ण गृहस्थी का कार्य करने वाला।

घरवट—सं०स्त्री० [सं० गृहव्रति] १ वंश, कुल। उ०—उदियापुर दिस आय दोय गांमड़िया पाया। अंवघंव हो गया म्हांप चोदी गरवाया। आदू घरवट रीत देस छोड़तां वीसारो।—अरजुणजी वारहठ
२ घर की मर्यादा, वंश का गुण, कुल का स्वभाव।
उ०—व्है भगती हर रीह, किरियावर वंका करै। घरवट जिण घर-रीह विगड़ै कदे न वमतिया।—ममेळजी वारठह

घरवतावणी—सं०स्त्री०—हाथ की तर्जनी, अंगुली।
रू०भे०—'घरवतावणी'।

घरवरताऊ—सं०पु०—उतना पदार्थ या सामग्री जो घर की आवश्यकताओं को पूरा कर सके।

घरवाट—देखो 'घरवट' (रू.भे.) उ०—घटी पुळ मांय घरवाट तो न घटी, भुज मठो जकां री फर्त भागै। तठां तू मचेनो घड़ो नावत लठो, उजाळो रव जठां जगत आगै।—नींबाज ठुरसिंह री गीत

घरवाळी—सं०स्त्री०—पत्नी, गृहिणी।

घरवाळो—सं०पु०—१ पति, स्वामी. २ गृहपति, घर का मालिक।

घरवास—सं०पु०—१ गृहस्थाश्रम। उ०—बनगा काठ री टोनियो, सिन्दूरगां घरवास। पग जागै पिव पोढ़ियो, बाळूं यां घरवास।
२ पत्नी बन कर रहने का भाव। उ०—तरै जोगीनर कह्यो, गाय-राणी वया कहीजै। भींवै कह्यो, देवर होय तिणनूं घरवास करै, भोजाई देवर रै घर मांहे पैसै।—जखड़ा मुखड़ा भाटी री वात

घरवासीदार—सं०पु०—कुटुम्ब वाला, बाल-बच्चेदार, गृहस्थ।
उ०—उठै एक रोही हंती तठै रोही मांहे एक सूथार घरवासीदार रहै।—चौबोली

घरवासौ—सं०पु० [सं० गृहवास] १ गृहस्थ जीवन. २ किसी स्त्री को पत्नी बना कर उसके साथ रहना. ३ पति-पत्नी का सम्बन्ध।

घरविकरी, घरविखरी —देखो घरविकरी' (रू.भे.)

घरविद, घरविध—सं०स्त्री० [सं० गृहविधि] १ स्नेह प्रेम. २ परिवार के सदस्यों का पारस्परिक प्रेम. ३ घनिष्ठता, मैत्री, दोस्ती।

घरस्याळ—सं०स्त्री०—पशु-पक्षियों के बसेरा लेने का स्थान।
उ०—लास फागळ घिटाळ ऊटां, कातीसरो हर मास रो। से सेढ़ां धुरी घरस्याळां, आळां पंछयां आसरो।—दसदेव

घरहर—सं०स्त्री०—गर्जन, ध्वनि। उ०—घण भेरी घरहर हुई सिंधु सुर।—गु.रू.बं.

घरहरणौ, घरहरबौ—क्रि०अ०—घरघराहट करना, गरजना, बजना।
उ०—सुरदादुर पिक सोर, सवद अदु मोर सुहावै। घण सावण घरहरै, सिखरदां मण दरसावै।—रा.रू. उ०—२ फूंकण नवकोटि झंडा फरहरिया, घर-घर जाती रा टामक घरहरिया।—ऊ.का.

घरांणौ—सं०पु० [सं० गृह+रा प्र.आंणो] खानदान, वंश, कुल।
उ०—आपरो रिण पोढ़णो अरथात झगड़ा में हीज मरण वाळा मांचा री मौत मरण वाळा नहीं, अरथ त सूरवीर घरांणो है।—वी.स.टी.

मुहा०—१ घरांणौ उजाळणौ—कुल का नाम उज्ज्वल करना. घरांणौ लजाणौ—कुल को कलंकित करना।
कहा०—घरांणा में कुपातर किसा नहीं जनमै—अच्छे कुल में कौन से कुपात्र उत्पन्न नहीं होते हैं; गुणी या अवगुणी होना वंश से सम्बन्ध नहीं रखता।

घराघरू—निजी, निज का।

घरिणि—सं०स्त्री० [सं० गृहिणी] स्त्री, पत्नी। देखो 'घरणी' (रू.भे.)
उ०—देवड़ी नांमै ऊमा घरिणि, मारवणी तस धू कुंवर। चौसठि कळा सुंदर चतुर कथा तास कहिसुं सपरि।—ढो.मा.

घरिया—सं०पु० [बहु०] रहंट की लाट के सिरे पर (जो कुये की तरफ रहता है) बने हुए छिद्र जिसमें घूमने वाले गोल घेरे (डावड़े) के संबे डंडे लगे रहते हैं।

घरू—वि०—घरेल, घर से संबंधित। उ०—छलंग वाछरू घरू न उच्छरै चरै चिरै। पलंग भैचकी थकी न नैचकी चकी फिरै।—ऊ.का.

घरेचौ—सं०पु०—पुनर्विवाह। उ०—तरै रांणगदे री वैर कह्यो—'घरेचा रो नामतर करो।' तरै राव केल्हण कह्यो—'आज तो रावाई रा सासतर रो मोहरत छै, सवारै बीजो नामतर करस्यां।—नैणसी

घरोचियौ–वि०—प्रत्येक घर से, प्रति घर।

घरोघर, घरोघरि–वि०—प्रति घर, प्रत्येक घर से।

उ०—कोपियौ वाळ सुग्रीव छंडै कळह, घरोघर भटकियौ विपत छायौ।—र.ज.प्र.

घरो'घर–सं०पु०—निज का घर, खुद का घर।

घलणौ, घलबौ–क्रि०अ०—१ डालना. २ बांधना. ३ लपेटना. क्रि०अ० [भाव वा०] ४ डाला जाना. ५ बांधा जाना.

उ०—घल्यौ घलायौ, ए हां ऐ बाई, पड़्यौ हिंडोळौ खाय, हींडण वाळी बाई गवरां सासरै।—लो.गी. ६ लपेटा जाना।

घलाणौ, घलाबौ–क्रि०स० ('घलणौ' का प्रे०रू०) १ डलवाना. २ बंधवाना. ३ लपेटवाना।

घलायोड़ौ–भू०का०कृ०—१ डलवाया हुआ. २ बंधवाया हुआ. ३ लपेटाया हुआ। (स्त्री० घलायोड़ी)

घलावणौ, घलावबौ—देखो 'घलाणौ' (रू.भे.)

घलावियोड़ौ—देखो 'घलायोड़ौ' (रू.भे.) (स्त्री० घलावियोडी)

घल्लणौ, घल्लबौ—देखो 'घलणौ' (रू.भे.) उ०—मग सागर तजि सुद्ध भंमर कुण वेड़ौ घल्लै। अहि कसण ओटवै कमण रसण कर भल्लै।—रा.रू.

घल्लाणौ, घल्लाबौ—देखो 'घलाणौ' (रू.भे.)

घवकौ–सं०पु०—आंख का दर्द विशेष (अमरत)

घस–सं०पु०—१ प्रति दिन घर्षण होने वाला, मार्ग, रास्ता।

उ०—१ दिस मारू खुरसांण तणां दळ, बाधै जांण प्रळै चा वद्दळ।
अण तर थळां सिखर खुर तूटै, फौजां घसां परव्वत फूटै।
—रा.रू.

उ०—२ किळ दळ वद्दळ आविया, दिखणी घस लागाह। जरां सजे तुरियां चढे, भागा अणभागाह।—गु.रू.बं.

२ युद्ध। उ०—उग्राहियौ रांम अतुळीबळ, हायाळां दीपियौ हव। देख तुहारौ चंद दूसरा, वैरां घसि घाए विसव।
—सुजांनसिंह राठौड़ री गीत

(मि० घंस)

क्रि०वि०—शीघ्र, जल्दी। उ०—पसवाड़ै घरती मूकिया, मूकि नै वेह वाती, पकड़ि नै मांही ले दासी घस सूं उतरियौ।—चौबोली

घसक–सं०स्त्री०—१ सूरत, शक्ल. २ ढंग, ढांचा. ३ असत्य बात, गप्प, डींग। उ०—अमली ठाकरड़ा डेरां में आवै, मोटी घसकां घड़ मावा मटकावै।—ऊ.का.

घसकणौ, घसकबौ–क्रि०अ०—खा-पी कर जल्दी रवाना होना या खिसकना। उ०—ऊटड़ा उगाळी सारै, भोक निर्टे फिर घिर चरै। डण घिटाळ घसकै घणेरा, गोळटोळ मींगण करै।—दसदेव

घसकाणौ घसकाबौ–क्रि०स०—१ धमकाना, दुत्कारना, फटकारना. २ रगड़ना. ३ स्त्री-प्रसंग करना, मैथुन करना (बाजारू)

घसकाणहार, हारौ (हारी), घसकावणियौ—वि०।

घसकावणौ, घसकावबौ—रू०भे०।

घसकायोड़ौ—भू०का०कृ०।

घसकायोड़ौ–भू०का०कृ०—१ धमकाया हुआ, फटकारा हुआ. २ रगड़ा हुआ। (स्त्री० घसकायोड़ी)

घसकावणौ—देखो 'घसकाणौ' (रू.भे.)

घसकावणहार, हारौ (हारी), घसकावणियौ—वि०।

घसकाविओड़ौ, घसकावियोड़ौ, घसकाव्योड़ौ—भू०का०कृ०।

घसकावीजणौ, घसकावीजबौ—कर्म वा०।

घसकावियोड़ौ—देखो 'घसकायोड़ौ' (रू.भे.)

घसकौ–सं०पु०—१ झूठी एवं आधारहीन कथा या कहानी या कोई बात, गप्प. २ ढग, स्वभाव. ३ ठसक. ४ शक्ति, बल।

घसड़कौ–सं०पु०—१ घर्षण, रगड़. २ कुढंग, अव्यवस्था. ३ व्यय, खर्चा।

मुहा०—घसड़कौ लागणौ—कुछ खर्च होना।

घसड़पसड़–सं०स्त्री०यौ०—गड़बड़ी, अव्यवस्था।

कहा०—घसड़पसड़ की घांणी आधौ तेल'र आधौ पांणी—अव्यवस्थित रूप से किये हुए काम में खूब गड़बड़ी रहती है। जल्दबाजी के काम की निन्दा।

घसटी–सं०पु०[सं० घृष्टिः] सूअर (अ.मा.)

घसण–सं०पु० [सं० घर्षण] १ मार्ग, राह, रास्ता। उ०—मांण धांण परसण विय मोकळ, घसण फोज पड़ घण घणी। धणी चत्रंग बैसतां धारण, धारण जकौ दिली धणी।—महारांणा जगतसिंह री गीत २ युद्ध, रण. ३ सेना, फौज। उ०—धमकता पाखरां घसण लीधा घणा, पोहव गज घजां तूं खेत पाड़ै।—मांनसिंह आसियौ

घसणौ, घसबौ–क्रि०स० [सं० घर्षण] १ रगड़ना, घिसना।

उ०—१ घसै घसै अर फेर घसै, घस-घस गेरै पांणी।—अज्ञात

उ०—२ अदता टांणा ऊपरै, नांणौ खरचै नांहि। हाथ घसै निरधन हुवां, माखी ज्यूं जग मांहि।—बां.दा.

२ एक पदार्थ को दूसरे पदार्थ पर दबा कर खूब रगड़ना. ३ भक्षण करना. ४ किसी बात की बार-बार पुनरावृत्ति करना।

घसणहार, हारौ (हारी), घसणियौ—वि०।

घसिओड़ौ घसियोड़ौ, घस्योड़ौ—भू०का०कृ०।

घसीजणौ, घसीजबौ—कर्म वा०।

घसरौ–सं०पु० [सं० घस्र] दिन, दिवस, समय।

मुहा०—घसरौ काटणौ—जल्दी में काम बिगाड़ना।

घसाणौ, घसाबौ, घसावणौ, घसावबौ–क्रि०स० ('घसणौ' का प्रे०रू०) १ घिसवाना, रगड़वाना. उ०—रुपिया में दोय सेर सोनौ घसावसे नहीं।—बां.दा. २ संभोग कराना (बाजारू)

घसावणहार, हारौ (हारी), घसावणियौ—वि०।

घसाविओड़ौ, घसावियोड़ौ, घसाव्योड़ौ—भू०का०कृ०।

घसावीजणौ, घसावीजबौ—कर्म वा०।

घसि–सं०पु०—१ आहार, खाद्य-सामग्री (डि.को.)
[सं० घर्षण] २ राह, मार्ग।

घसियारो–सं०पु० (स्त्री० घसियारी) घास का व्यापार करने वाला, घसियारा।

घसीट–सं०स्त्री०—१ घसीटने की क्रिया या भाव. २ शीघ्रता में लिखी हुई अस्पष्ट लिखावट. ३ रगड़ की रेखा, खरोंच।
सं०पु०—४ एक स्वर से दूसरे स्वर तक जाने में बीच के सब स्वरों पर अंगुली का आभास देने की क्रिया।

घसीटणौ, घसीटबौ–क्रि०स०—१ किसी पदार्थ आदि को इस प्रकार से खींचना कि वह जमीन से रगड़ खाती जाय। धरातल पर रखी किसी वस्तु को धरातल के सहारे खींचना. २ जल्दी-जल्दी में अस्पष्ट लिखावट लिखना. ३ अपने पक्ष की ओर आने के लिए प्रेरित करना. ४ निभाना।
घसीटणहार, हारौ (हारी), घसीटणियौ—वि०।
घसीटिग्रोड़ौ, घसीटियोड़ौ, घसीटचोड़ौ—भू०का०कृ०।
घसीटीजणौ, घसीटीजबौ—कर्म वा०।

घसीटियोड़ौ–भू०का०कृ०—घसीटा हुआ। (स्त्री० घसीटियोड़ी)

घस–सं०पु०—दिन। उ०—अजस अस घस अस विन्न पीवतौ वह्यौ। रिजू दलील पीलके जलील जीवनौ रह्यौ।—ऊ.का.

घहंमहमम–सं०पु० [अनु०] एक ध्वनि विशेष।

घहर-घुमेर–वि०—घना, गहरा। उ०—बदळी ए, म्हांरो चांद छिपायौ, घहर-घुमेर ऊमड़ी बादळी, थारी चांद ओट में आयौ। ऊमड़ी बादळी, थारी चांद ओट में आयौ।—लो.गी.
(मि० घेर-घुमेर)

घहरणौ, घहरबौ–क्रि०अ० [अनु०] गर्जन करना, गरजने का-सा शब्द करना, घोर शब्द करना।

घहराणौ, घहराबौ, घहरावणौ, घहरावबौ–क्रि०अ० [अनु०] गरजने का-सा शब्द करना, गरजना, गंभीर शब्द करना। उ०—१ बरसात भर घर परम सुख वरिण उमड़ि जळधर आवही। वणवोर सोर मयोर रस घण घटा घण घहराव ही।—रा रू.
उ०—२ घटा घुमड़ उतराध री, चढ़ी व्योम घहराय, छटा चिमक तिण में छिपै, थिरक थिरक थहराय।—अज्ञात

घांघळ–सं०स्त्री०—कष्ट, तकलीफ। उ०—याह निहाळइ दिन गिणइ, मारू आसा लुध्ध। परदेसे घांघळ घणा, विखउ न जांणै मुध्ध।
—ढो.मा.

घांघां–सं०पु०—१ स्थान-स्थान, ठौर-ठौर। उ०—घांघां गुड़गी खा ऊधां री घेरी। विस में जुड़गी हा ! दूधां की वेरी।—ऊ.का.
२ कंठ से घर्र-घर्र शब्द निकलने का ढंग (अमरत)

घांची–सं०पु०—दूध बेचने का व्यवसाय करने वाली एक हिन्दू जाति या इस जाति का व्यक्ति। ये लोग कहीं-कहीं तेल निकालने का व्यवसाय भी करते हैं।

घांचौ–वि०—वह जो दमन न किया जा सके, वीर।
उ०—भाळ घांचौ प्रेरियौ खेह री हूंत छायौ भांण, बांघळौ केहरी 'चैन' घेरियौ 'वलाय'।—सूरजमल मीसण

घांट–सं०स्त्री०—गरदन।

घांटाळ–सं०स्त्री०—१ घन्टा धारण करने वाली, देवी।
सं०पु०—२ हाथी।

घांटी–सं०स्त्री०—कंठ, गरदन।
मुहा०—घांटी करणी—गला घोंट कर मारना।

घांटै–क्रि०वि०—समीप में, पास में।

घांटौ–सं०पु०—गला, कंठ, गर्दन। उ०—कर जुध घरा रह्यौ करनांणी, बदखोरी आयौ चढ़ बाढ़। घोड़ै हूंत लियौ झल घांटौ, देखत पार करी जमदाढ़।—द दा.

घांण–सं०पु०—१ पानी की धार से भूमि के कटाव को रोकने के लिये बिछाया जाने वाला पत्थर या घास-फूस। यह किसी नाली या मोरी के नीचे उस स्थान पर रक्खा जाता है जहां मोरी से पानी नीचे गिरता है. २ घाव, जख्म. ३ युद्ध, संग्राम, लड़ाई।
(यौ०—घांणमथांण)
४ ध्वंस, नाश। उ०—घणा घोड़ा भड़ां री घांण काढ़ि बूंदी कोटा दोहीं ऊजळा दिखाई।—वं.भा.
[सं० घ्राण] ५ सुगंध, महक, खुशबू। उ०—विजय पड़ी क्या पंथ में, मिळियौ बीच पठांण। हेली तोरा कापड़ां, मो पिय हंदी घांण।—जलाल बूबना री बात
६ तेल व घी में एक साथ एक ही बार में भूने जाने वाले पदार्थ।
७ समूह, झुंड। उ०—१ छायौ धूंए अपास घमंकां सोर भंकां छूट, घोर तोपां अमंखां चरेल पंखां घांण। कसीस अढ़ार टंकां ऊघड़ी परीर कंकां, झड़ी वीर वंकां सीस असंकां भूसांण।
—दुरगादत्त बारहठ
उ०—२ घोर घमसांण कर दूठ कप घांण में, प्रसत कितरा अवर झड़े पीठांण में।—र.रू.
सं०स्त्री०—८ कोल्हू। देखो 'घांणी' का रू०भे०
उ०—ताखी ताव तमांम पीनणी अर पुसळाई, नैड़ी थैड़ी तणी जाळ वसतुवां वणाई। गेह किरूं सांतीर पीढ़ियां कट बाजोटां, घड़ै बूढ़िया घांण थांमला चकळा मोटा।—दसदेव
वि०—सराबोर, लथपथ (पसीने में) उ०—कांई देख्यौ कैए क जाट सूखा में ई खेत खड़ै। घूम तावड़ो। परसेवां में घांण वियोड़ौ—लयोबध।—विजयदांन देथौ, वांणी

घांणमथांण, घांणमथांणौ–सं०पु० [अनु०] १ युद्ध, कलह।
उ०—१ गै घूमै आरांण घांण मथांण नीसांण घोक, सूकै डांण सूंडाडंडां वींछूड़ै सीधांण। दोवळा विवांण ठहै खड़ा गरवांण देखै, भिड़ै दखणांण हूंत हिंदवांण भांण।—पहाड़खां आढ़ौ
उ०—२ आधी निस अमरांण. ग्रहण अरध निस जूंजुए। मंडियौ घांणमथांण, पौह पाबू देवा प्रतै।—पा.प्र.

२ नाश, संहार। उ०—वाढ़ चाढ़ हैवर नर वेगर, कुंजर घांणमथांण कर। मेवाड़ा डूंगर मेवाड़ै, आछे रंग रंगीया 'ग्रमर'।
—महारांणा ग्रमरसिंह रौ गीत

३ मंथन। उ०—सांमुद्र डहोळा ग्रोद्रका जांण हिलोळां हल्लियौ, ग्रालम्म भड़ां अजमल्ल रां घांण मथांण घल्लियौ।—रा.रू.

४ उथल-पुथल। उ०—वोले इण पर खांन तहव्वर, घांण मथांण हुवण दिल्लीघर।—रा.रू.

घांणियां री हासल—सं०पु०—एक प्रकार का सरकारी लगान।

घांणियौ—सं०पु०—१ उबलते हुए तेल या घी में एक ही साथ एक बार में तल कर निकाला हुआ पदार्थ. २ कोल्हू में एक बार में पेरा जाने वाला पदार्थ।

घांणी—सं०स्त्री०—१ तिल आदि से तेल निकालने का यंत्र, कोल्हू।

क्रि०प्र०—करणी, कराणी, काढ़णी, फेरणी।

मुहा०—घांणी री गंडक—कोल्हू का कुत्ता; ऐसे लोगों के प्रति जो स्वयं तो किसी पदार्थ एवं वस्तु का उपभोग नहीं कर सकते पर दूसरों को भी उससे लाभान्वित नहीं होने देते. २ घांणी रौ बळद—कोल्हू का बैल, बहुत मेहनती, एक ही लकीर पर सर्वदा चलने वाला।

२ उतनी ही वस्तु जितनी एक ही बार में कोल्हू में डाल कर पेरी जा सके।

क्रि०प्र०—ऊरणी, ग्रोरणी।

घांणौ—सं०पु०—१ कोल्हू. २ संहार, नाश। उ०—घालण ग्ररि घांणं, पालण दाळद पाथवां। जनमें लो जोधांणे, 'मांन' जिसा नृप मोतिया।—रायसिंह सांदू

घांतरड़ौ—सं०पु०—गला, कंठ।

घांनर, घांनरौ—स०पु०—१ बहरा व्यक्ति. २ बकरी।

घांम—सं०पु०—१ प्रकाश, गर्मी। उ०—जहां तहां तें जीव सब, न्याय सहै सिर घांम।—ह.पु.वा.

२ धूप। उ०—नहीं तू नार नहीं तू नाह, नहीं तू घांम नहीं तू छांह।—ह.र.

३ फौज, सेना। उ०—घण सघण घांम चहुं तरफ घेर। दुरग थी काढ़ियौ त्रास दे'र। लड़ एण तरह नागांण लीध, दइवांण बंध बन पटै दीध।—वि.सं.

घांमकर—सं०पु०—रश्मि, किरण (ह.नां.)

घांमघूम—सं०पु०—किसी फिक्र या संकट के कारण गहरा उदास होने का भाव, स्तब्ध। उ०—जस ग्रपजस जाचक पढ़ै, मांगै चाळ विलूंब। नहीं चढ़ै उत्तर न दे, घांमघूम व्है सूंब।—बां.दा.

घांव—देखो 'घांम' (रू.भे.) उ०—न्याय सहै सिर घांव नांव निरभै नहि पाया। सूक व्रक्ष सूं प्रीति ग्रगम हरि तरवर छाया।—ह.पु.वा.

घांस—सं०पु०—एक प्रकार का पत्थर विशेष।

वि०वि०—कुछ स्थानों में यह दीपावली के दूसरे दिन गांव के चारों ग्रोर घुमाया जाता है (क्षेत्रीय)

घांसाड़—सं०स्त्री०—फौज, सेना (रू.भे.—घांसाहड़) उ०—तंडै जोगणी माहेस संडै उमंडै परी वैताळ, घुमंडै प्रचंड थंड उडंडै घांसाड़। ग्राडा खंडै रोप भंडै भुजां डंडै तोलै ग्राभ, रायांसींग गनीमां सूं मंडै चोड़ै राड़।—पहाड़ खां ग्राढ़ौ

घांसाड़णौ, घांसाड़बौ—क्रि०ग्र०—बंदर का चीखना।

घांसाड़ौ—सं०पु०—योद्धा, वीर। उ०—घाड़ा राघव घुर घमळ, ग्रव-नाड़ा ग्रगवीह। ऊबेड़ण जाड़ा ग्रसह, सुज्ज घांसाड़ा सीह।
—र.ज.प्र.

घांसाहड़, घांसाहर—सं०स्त्री०—१ फौज, सेना (ह.नां.)

उ०—१ घांसाहर नरां पाखरां गरहर, वसू हुवै नच वळा वळा। ग्रसपत तणौ चीत ग्राहाड़ा, तुला चढ़ंतां हुवै तुला।
—महारांणा जगतसिंह रौ गीत

उ०—२ जवण हेक जेण रौ, ग्रांख नाहर उणहारै। जग जाहर जोधार, लाख घांसाहर लारै।—मे.म.

२ समूह, दल। उ०—१ ग्रायौ 'सूर' ग्रभंग सभै फौजां घांसाहर।
—सू.प्र.

उ०—२ फौज चढ़ी घण थाट घांसाहर एह समुद्र क फाटौ ग्रंबर।
—गु.रू.बं.

घांसी—देखो 'घोसी' (रू.भे.) (क्षेत्रीय)

घांसोहर—देखो 'घांसाहर' (रू.भे.) उ०—सेन मेल सिवपुरी, फौज घेरे घांसोहर।—गु.रू.बं.

घा—सं०पु०—१ ब्रह्मा.

सं०स्त्री०—२ देवी. ३ ध्वनि. ४ वसुमती. ५ राक्षसी (एका०)

घाग्र—सं०पु०—१ नरक. २ कंकण. ३ प्रहार, चोट।

उ०—ढालां सिर घाराळ, वागा वरिग्रामां तणा। गळती निसि गाजै गजर, घण घाग्रे घड़िग्राळ।—वचनिका

सं०स्त्री०—४ शची. ५ घार।

घा'—सं०पु० [स० घास] घास, चारा।

घाइ, घाई—सं०स्त्री०—१ नकल. २ चोट, प्रहार। उ०—घुर निसांण तब्बलां घाइ, उत्तर ग्रसाढ़ घटा किर ग्राइ।—रा.रू.

उ०—२ जलेब चौक सिरे ड्योढी तलग इसके नगारे पर पड़ै घाई।
—ला.रा

३ घाव। उ०—घाई भांजै घड़ा खाग ग्राछै घणौ। मेर मांभी 'जसौ' हेक रिण माल्हणौ।—हा.भा.

घाइल—देखो 'घायल' (रू.भे.) उ०—ताहरां रांमसिंघ नूं कहियौ जु मोनूं सीख द्यौ तौ गांव जाइ ग्रर घाइलां रा घाव बांधूं।—द.वि.

घाउ—सं०पु०—१ प्रहार, चोट। उ०—१ तठा उपरांति करिनै राजांन सिलांमति जिके सूर सांमत रावताळा छै सु हाथियां रा कूंभा-थळां दांतूसळां पाउ दे दे नै घाउ वाहै छै।—रा.सा.सं.

उ०—२ काळी कंठळि बादळी, वरसि ज मेल्हइ वाउ। प्री विण लागइ बूंदड़ी, जांणि कटारी घाउ।—ढो.मा.

२ क्षत, घाव। उ०—घटि घटि घरा घाउ, घाइ-घाइ रत घरा।
—वेलि.

३ एक कोस या दो मील का फासला (क्षेत्रीय)

घाघ-वि०—१ चतुर, चालाक. २ अनुभवी, सयाना. ३ दक्ष, निपुण, होशियार. ४ बड़ा जखम, घाव (मि० गाघ)

घाघड़दि, घाघदड़ी-वि०—गंभीर, गहरा। उ०—डागड़दि डुले कूरम अहि डंबर, घाघड़दि धुळै रवि रज उड घोर। छागड़दि छोभ आवध हद छूटा, जागड़दि जुल्म जूटा जंगजोर।—र.रू.

घाघड़ा-सं०पु०—बेर के कच्चे फल (क्षेत्रीय)

घाघरट-सं०पु०—१ युद्ध, लड़ाई। उ०—उरड़ भड़ सुभट थट 'मांन' सुत ऊपरां, खगां झट घाघरट रमै खेळा।
—रावत माहसिंह सारंगदेवोत कानोड़ री गीत

२ समूह, झुंड।

वि०—जबरदस्त, बड़ा।

घाघरा-सं०स्त्री०—१ सरयू नदी का एक नाम.

घाघरौ-सं०पु० —स्त्रियों का वह घेरदार व चुननदार वस्त्र जिसे वे कमर से ऐड़ी तक का अंग ढकने के लिए कमर में पहनती हैं। उ०—१ ओढूं लज्या चीर, धीरजि कौ घाघरौ। समता कांकरा हाथ, सुरति कौ मूंदड़ौ।—मीरां उ०—२ विस खावो कै सरण लो, सरवरिया री थाह। कै कंठा बिच घाल लो, घाघरिया री घाह।
—अज्ञात

मुहा०—१ घाघरा पल्टरा—स्त्रियों की सेना, स्त्रियों का समूह.
२ घाघरा री ढेरौ—स्त्री पर अत्यंत आसक्त व्यक्ति, स्त्री का गुलाम.
३ घाघरौ घोळ नै पावरौ—किसी स्त्री का अपने पति को वश में कर लेना. ४ घाघरौ पैर नै बैठणौ—कायरता दिखाना।

अल्पा०—घाघरियौ।

घाड़-सं०पु०—बाजरी के एक बीज से उत्पन्न होने वाले पौधों का गुच्छा।

घाट-सं०पु० [सं० घट्ट] १ नदी, सरोवर या किसी अन्य जलाशय का वह भाग जहां लोग पानी भरते, नहाते अथवा कपड़े धोते हों। २ झील, नदी, सरोवर आदि का वह किनारा जहाँ पानी तक पहुँचने के लिए सीढ़ियां बनी हों। उ०—कान्हा तोरी रे जोवत रह गई वाट। जोवत जोवत इक पग ठाढ़ी, कालिंदी के घाट।—मीरां

पर्याय०—तीर, बतार।

मुहा०—१ घाट घाट री पांणी पीणौ—बहुत तजुर्बा हासिल करना, रमता जोगी बनना, काफी स्थानों से भिज्ञ होना. २ घाट लगणौ—ठिकाना पाना, नाव का किनारे पर आना।

३ तंग पहाड़ी रास्ता, कठिन मार्ग।

उ०—पाछा आवतां राजा रा काका सारंगदेव रा बडा पुत्र प्रतापसिंह अरिसिंह दो ही सहोदर एक नदी रै तीर उचित जळ देखि सायंकाळ री विवेय करम करण पाळा ही चलाया अर विखम दुरग ओघट घाट रै कारण आपरा घोड़ा सिपाह पाछा ही भलाया।—वं.भा.

मुहा०—घाट उतारणौ—संकट से पार करना।

४ ढंग, प्रकार। उ०—मन माया लालच लियां, त्रिसळौ लियां लिलाट। रसरा नकार लियां रहै, औ सूमां रौ घाट।—वां.दा.

५ रचना, बनावट। उ०—१ अगनयरणी अगपति मुखी, अग मद तिलक लिलाट। अग रिपु कटि सुंदर वणी, मारू अइहइ घाट।
—ढो मा.

उ०—२ वेह कळायां वावरी घडी भयंकर घाट। मूसळदंता मैंगळां, नित डर रहै निराट।—वां.दा.

६ विचार। उ०—माग मुरद्धर देस री, लियै उरद्धर ज्यास। घाट अनेकन संचरै, एक प्रभू री आस।—रा.र.

(यौ० घाट-वड़)

७ स्थान, जगह। उ०—गुंडा रौ नह घाट साट नह व्है सूमां रौ।
—ऊ.का.

८ हाल, स्थिति, दशा। उ०—गंगा मद्धगंघाह, कुण जाई व्याही कठै। घर कुळ रा ऐ घाट, सरम कठा सूं सांवरा।
—रांमनाथ कवियौ

९ घात, दाव। उ०—ऊठि अचूंका बोलणा, नारि पयंपै नाह। घोड़ां पाखर घमधमी, सिंधू राग हुवाह। हुवौ अति सिंघवौ राग वागी हकां, थाट आया पिसरण घाट लागै थकां।—हा.झा.

१० समूह, झुंड, दल। उ०—थंभ जंगां बोम वाट, जोड़तौ रातंगां थाट। तोड़तौ मातंगां घाट, रोड़तौ त्रांवाट।—हुकमीचंद खिड़ियौ

११ घड़ों का समूह। उ०—लोह तावां दळां थाट, अंगां ऊधड़ेवा लागा। घावां कुंभां कोलाळी, घड़ेवा लागा घाट।
—हुकमीचंद खिड़ियौ

१२ षड़यंत्र। उ०—जा कंधै सुख सोवतै, सो परलोक पलाया। जाकी वाहर चाहतै, उरा घाट रचाया।—वं.भा.

१३ धोखा, कपट, छल। उ०—१ माजी जीवतौ मोनूं ही प्यारौ छै। हूं परा जांणूं छूं जो बीजौ तौ पहुंच न पाया जराां ओ घाट विचारियौ छै जे आंवळी छोरी काढ़स्यां अर घर आया नै मारस्यां।
—कुंवरजी सांखला री वारता

१४ शरीर। उ०—वाजि झाट बीजळां, घाट तूटै घरा घावां। करि निराट घरा कटै, पाव तूटै गज पावां।—सू.प्र.

१५ गढ़े हुए पदार्थ। उ०—१ कंसारा नट नाणुटीया, घड़ीया घाट वेचइ लोहटीया।—कां.दे.प्र.

उ०—२ घड़िया घाट भंगाय के, नह और घडाये।—सालूजी कवियौ

सं०स्त्री०—१६ सेना, फौज। उ०—इम चढे सोनगढ ऊपरा, सांमत गजरा सधीर रा। तोड़िवा जांणि चढ़ीया त्रिकुट, विकट घाट रघुवीर रा।—सू प्र.

१७ निंदा, बुराई. १८ मक्की, ज्वार या बाजरी को दल कर छाछ

या पानी के साथ पका कर बनाया हुआ व्यंजन। उ०—हात कमाई घाट हरख सूं पतळी गट गट पीणी। घोर रेत सम चेत घमंडी चोर लियोड़ी चीणी।—ऊ.का.

१९ तलवार की धार.

मुहा०—तरवार रै घाट उतारणौ – तलवार से मार डालना।

२० तरतीब से जमाये हुए कपड़े की तह. २१ मार्ग, रास्ता।

उ०—जोगमाया तणी भगति कीधां जुड़ै, प्रथी सिर मुड़ै नही विकट पैंडा। सगत रा पुत्र जांणै कोडक वचन सिध, जगत री जुगत रा घाट ग्रेंडा।—नवलजी लाळस

वि०—कम थोड़ा। उ०—१ नरक सुरग दोऊ हम तोल्या ग्यांन तराजू मांहीं। दोन्यू विथा बराबरि दीसै, घाट बाध कुछ नांहीं।

—ह.पु वा.

उ०—२ उण कह्यौ 'सीरोही जाळोर गांव बरावर लागै छै, दांण राव रै घणौ आवतौ तद रु० ५०,००० तथा ६०,००० आवतौ, इणै दिनां तौ घाट आवै छै, सीरोही री आध चंदा अमरा रै लीजै छै, विभोगै रा गांव १०० तथा १२५ छै।

—नैणसी

क्रि०वि०—प्रकार, तरह। उ०—महलां पूनम चंद-मुख, आठम चंद ललाट। केहर कड़ ज्यूं खीण कड़, भ्रूह भ्रमरावळ घाट।—बां.दा.

घाटघट, घाटघड़–सं०स्त्री० [सं० घट्ट-घटनम्] चिंता, सोच-विचार, ऊहा-पोह। उ०—वीर पुरखां री प्रक्रती विखय दुरवासना सूं हटियोड़ी रहै है नै आपरा पुरांणा वैर लेवण नै रात दिन घाटघड़ में बणिया रहै है।—वी.स.टी.

घाटघड़ालोहार–सं०पु०—लोहार जाति की एक शाखा या इस शाखा का व्यक्ति।

घाटबराड़-वि०—विराट, भयंकर जबरदस्त।

घाटबाज–सं०पु०—शरीर की बनावट, शरीर-रचना, डील-डौल।

घाटवाळ–सं०पु०—वह ब्राह्मण जो किसी घाट पर बैठ कर स्नानार्थियों से दान आदि ग्रहण करता हो।

घाटि—देखो 'घाट' (रू.भे.) उ०—ज्यूं मूरति त्यूंहीं सिला, रांम बसे सब मांहीं। जन हरिदास पूरण ब्रह्म, घाटि बाधि कछु नांहीं।

—ह.पु.वा.

घाटियौ—देखो 'घाटवाळ'।

घाटी–सं०स्त्री०—१ पर्वतों के बीच का रास्ता या भूमि. २ पर्वतीय ढाल. ३ ढालू जमीन. ४ कठिन तंग मार्ग, संकीर्ण रास्ता.

५ आपत्ति, कठिनाई, बाधा।

मुहा०—१ घाटी होणी—कोई कठिनाई या आपत्ति की संभावना होना. २ घाटी डाकणी—किसी आपत्ति या कठिनाई को पार करना।

घाटू–सं०पु०—कमी, हानि, क्षति।

वि०—कम, थोड़ा।

घाटौ–सं०पु०—१ कमी, हानि। उ०—काकौ भतीजौ सारै दिन काटौ, घर में घाटौ नहिं आटा रो घाटौ।—ऊ.का.

क्रि०प्र०—उठावणौ, खाणौ, देणौ, पड़णौ, सहणौ, होणौ।

मुहा०—१ घाटौ आणौ—हानि होना, किसी वस्तु की कमी होना. २ घाटौ उठाणौ—नुकसान में पड़ना. ३ घाटौ भरणौ—हानि को पूरा करना. ४ मुदल में ही घाटौ होणौ—मूल में ही घाटा होना, मूल धन में ही कमी होना।

२ अरावली पर्वत। उ०—सूता-सूता ओ वीरा म्हारा सुख भर नींद, (थारी) परणी घाटौ लांघियौ।—लो.गी.

३ पर्वतीय घाटी. ४ तंग पहाड़ी मार्ग। उ०—सिंघणी भाख्यौ सूर नै, इण घाटै मत आव। चीत रहै नह गाज घण, रीत यहै वणराव।—मृगया मृगेन्द्र

५ मार्ग, रास्ता। उ०—समंद तरवौ अनै गरब घरवौ सहल, दरब घरवौ सहल परा दाटौ। प्रांमवै छेह संसार अणपार रौ, घणौ दातार रौ विकट घाटौ।—अज्ञात

घाठ—देखो 'घाट' (रू.भे.)

घाणौ, घावौ–क्रि०अ०—१ पीड़ित होना, दुखित होना। उ०—कोपियां वाळ सुगरीव छोडै कळह। घरोघर भटकियौ विपत घायौ।—र.ज.प्र.

क्रि०स०—२ संहार करना, मारना। उ०—अखो रांण रौ पुत्र जूटौ अछायौ। घणैं क्रोधि तेनूं हणूंमांन घायौ।—सू.प्र.

घात–सं०स्त्री०—१ प्रहार चोट, मार। उ०—१ उद्यम री आसा करै, सहै नहीं घण राव। घात करै गैंवर घड़ा, सीहां जात सुभाव।

—बां.दा.

उ०—२ सादूळो लाजै सरां, घात करण घिरतांह। कूंभाथळ खाय चौ पळ गजमोती खिरतांह।—बां.दा.

मुहा०- घणां री घात हीरौ इज झेलै—घण की चोट हीरा ही सहता है; शक्तिशाली ही कठोरता सहन कर सकता है।

२ वध हत्या, संहार, नाश। उ०—१ सखी अमीणौ साहिबौ, मदन मनोहर गात। महाकाळ मूरत वणै, करण गयंदां घात।—बां.दा.

उ०—२ थे जाओ छो नळवरै, ढाढ़ी सुणोज वात। मालवणी चौकी रहै, पंथियां करै ज घात।—ढो.मा.

क्रि०प्र०—करणो, घालणी, होणी।

यौ०—गोघात, नरघात, विस्वासघात।

३ कपट, छल, धूर्तता। उ०—१ तज मन सारी घात, इकतारी राखै अधिक। वां मिनखां री वात, रांम निभावै राजिया।

—किरपारांम

४ मौका, अवसर। उ०—१ रे जगा! समझ इण जीव नूं, पूगै दिन पछतावसी। अइलोकनाथ समरण तणी, इसी घात कद आवसी।

—ज नि.

उ०—२ जब कागळ लिख्यौ छै, तब लगन आडा तीन दिन थ।

या घात छै । घणउ किसौ कहूं । इसी घात और नहीं छै ।
—वेलि.टी.

उ०—३ तथा श्रौ जाव सुण वीठळदास रै आग लागी, पण जोर नहीं । पण वीठळदास खनै लोक हजार पनरह छै सु घात जोवै छै ।—द.दा.

मुहा०—१ घात ताकणौ—उचित समय की प्रतीक्षा में रहना, मौके की ताक में रहना. २ घात में फिरणौ—मौका खोजना, किसी को नुकसान पहुँचाने का अवसर ढूंढ़ना. ३ घात में बैठणौ—आक्रमण करने के लिए छिप कर प्रतीक्षा में रहना । देखो 'घात ताकणौ' ।
४ घात में होणौ—मौके की फिक्र में होना, मौका ताकना.
५ घात लगणी, घात लागणी—अवसर मिलना, मौका हाथ आना.
६ घात लगाणी—उपाय करना, ताक में रहना, अवसर खोजना ।
५ तलवार (ह.नां.) ६ पत्थर (ह.नां.) ७ उपला, कंडा (ह.नां.)
८ दांव, पेंच, षड़यंत्र । उ०—१ उदयादीतइ जांणी वात, श्राचिगदे इम खेली घात । करी कोप मन माहे घणउ, तेड़ाव्यउ कुमर आपणउ ।
—कां.दे.प्र.

उ०—२ तो सूं दुस्मणां घात घाली छै सो टाळी खाय, नहींतर मोनूं मार नै पछै चढ़ जाय । रावजी रै तो बेटो छै सो ही रहसे पण म्हारै तो आंधालकड़ी तूं ही छै :
—कुंवरसी सांखला री वात

मुहा०—१ घात घालणी—जाल रचना, दाव लगाना, षड्यन्त्र रचना. २ घात चलाणी—कपट करना, षड़यन्त्र करना.
३ घात बताणी—चालें बताना, चालबाजियां सिखाना धोखा देना.
४ घात में आणौ—वश में आना, मौके पर चढ़ना. ५ घात में रैणौ—षड़यन्त्र या दांव के लिए उपयुक्त अवसर की प्रतीक्षा करना ।
९ (ज्योतिष में) प्रवेश, संक्रांति.
यौ०—घाततिथ, घातवार ।
१० धोखा । उ०—बीसल दे बे सूर, खाटी पण खाधी नहीं । कीधी घात करूर, माया रण में मोतिया ।—रायसिंह सांदू
११ आफत, विपत्ति, संकट. १२ मौत, मृत्यु ।
उ०—वाढ़ फरास वीर वरदाई, आप तणै सिर घात उपाई ।
—गो.रू.

१३ तार-वाद्यों के बजाने में मध्यम अंगुली को जोड़ कर तर्जनी से आघात करने की क्रिया (संगीत) १४ चुगली । उ०—ताहरां मूंहतै भोपत री घात राजाजी आगै घाती अर जीव राजाजी री भोपत सेती बुरौ कराड़ियौ ।—द.वि.

घातक, घातकी, घातकू-स-पु० [सं० घातक] (स्त्री० घातणी)
१ संहार करने वाला, हत्यारा. २ शत्रु । उ०—आगै ही उणनै मारण नै राजाजी घातकू किया हुता । मकतावत, भाटी हेमराज राठवड़ करमसी भीदावत ।—द.वि.

घातणी—देखो 'घातक' का स्त्री० ।
घातणौ, घातबौ-क्रि०स०—१ डालना । उ०—१ पही भमंता जइ मिळइ, तउ प्री आखे भाय । जोवण बंधन तोड़सइ, बंधण घातन्न आय ।—ढो.मा. उ०—घर स्यांमा सरिस स्यांमतर जळघर, घेवूं चे गळिबाहां घाति । भ्रमि तिणि संध्या वंदन भूला, रिखियन लखै सकै दिन राति ।—वेलि.
२ निर्माण करना । उ०—१ पीछै सं० १७३५ गढ़ घातियौ, नांम अनूपगढ़ दीनो ।—द.दा. उ०—२ तद कांवलजी कयौ—'वणी आछी वात है ।' पछै कळकरण कहायौ कै थे अठै गढ़ मती घातज्यौ, परै जांगळू री हद मैं जावौ ।—द दा.
३ मिलाना । उ०—कोटड़ौ जोधपुर वांसै थौ सु रावळ हरराज जैसळमेर वांसै घातियौ ।—नैणसी
घातणहार, हारौ (हारी), घातणियौ—वि० ।
घातिग्रोड़ौ, घातियोड़ौ, घात्योड़ौ—भू०का०कृ० ।
घातीजणौ, घातीजबौ—कर्म वा० ।
घातलौ-वि०—१ मारने वाला. २ घातक ।
घाता-वि०—संहारक, विध्वंशक । उ०—रिख मख आता, दित कुळ-घाता । सु भुज निघायौ, किरण उडायौ ।—र.ज.प्र.
घातियोड़ौ-भू०का०कृ०—१ डाला हुआ. २ पकड़ा हुआ. ३ रक्खा हुआ ४ निर्माण किया हुआ । (स्त्री० घातियोड़ी)
घाती-वि० (स्त्री० घातणी) १ वध करने वाला, हत्यारा, घातक.
२ शत्रु (ह नां) ३ भयंकर, भयावह । उ०—घाती वार सुकर सुट्टुकर लगाई घाती, जबै याद आती ना सुहाती है जहांन कौ ।
—ऊ.का.

घातीक, घातू—देखो 'घातक' (रू भे.) (ह नां.)
घाय-सं०पु० [सं० घात] १ घाव, जख्म । उ०—इक पड़ै मुढ़ै मुह लड़ै आय । घड़ियाल गजर जिम जजर घाय ।—रा.रू.
२ प्रहार, वार, चोट । उ०—जिण साल तियार करंत जरदी, घाय विनाणीय लोह घड़ै ।—गु.रू.बं.
वि०—घायल, जख्मी ।
घायक-वि० [सं० घातक] १ मारने वाला, वध करने वाला ।
उ०—दिपै रघुनायक दीन दयाळ, पुणां खळ घायक सेवग पाळ ।
२ घायल । —र.ज.प्र.
घायत-वि०—संहार करने वाला, नाश करने वाला । उ०—अठी जींद अजरेल अठी वूढ़ौ अड़पायत । प्रथमी आंटै पळै घणां सत्रवां दळ घायत ।—पा.प्र.
घायल, घायल्ल-वि० [सं० घातल] जिसके घाव लगा हो, जख्मी, आहत । उ०—'अजमाल' तणै बळ धार इम, नर दुभाळ ध्रम नीमड़ै । भाजियौ खेत मुहकम भिड़ै, ऐ घायल हुय ऊपड़ै ।—रा.रू.
कहा०—घायल री गत घायल जांणै—घायल की गति को घायल ही जानता है; कष्ट, पीड़ा का अनुभव एक भुक्तभोगी ही जानता है ।

अल्पा०—घायलियौ, घायलियोड़ौ ।

घारवाटौ-सं०पु०—रहँट पर फसल की सिंचाई के लिए पानी कुए से निकालने की जितनी सामग्री उपयोग में आती है उसका किराया जो कृषक द्वारा मालिक को दिया जाता है ।

घालणौ-वि० (स्त्री० घालणी, घालिणी) संहार करने वाला, संहारक । उ०—घाव घणा थटां अत पिसण दळ घालणौ । पांच सै पाखरचा हेकलौ पालणौ ।—हा.झा.

घालणौ, घालबौ-क्रि०स०—१ डालना । उ०—१ ताळा तोड़ करे मूं काळा, गाळा घाले गूढ़ । भाळा नैणां वाळा भोळा, माळा फेरै मूढ़ ।— ऊ.का. उ०—२ घालै विसमत मत मगमग ठग घेरौ । फोरौ किसमत सू पगपग पगफेरौ ।—ऊ.का.

कहा०—घी घालसी जका तौ आडा हाथां घालसी—घी परोसने वाले तो ना-ना करते ही परोसेंगे; बार-बार मांगने से कोई वस्तु नहीं मिलती ।

२ रखना. ३ फेंकना. ४ छोड़ना. ५ बिगाड़ना. ६ नाश करना, मारना. ७ प्रहार करना । उ०—पुरस मारग नीत चालै, घाव भागां नकूं घालै ।—र.ज.प्र.

घालणहार, हारौ (हारी), घालणियौ—वि० ।

घालिओड़ौ, घालियोड़ौ, घाल्योड़ौ—भू०का०कृ० ।

घालमेल-सं०पु०—१ अलग-अलग प्रकार की कई वस्तुओं की एक साथ मिलावट. २ वस्तुओं को एक दूसरे में डालने व रखने की क्रिया ।

मुहा०—१ घालमेल करणी—मिला-मिलू देना, गववड़ कर देना.

२ घालमेल राखणी—मेल-मिलाप रखना ।

३ कपट, छल. ४ चुगली. ५ घनिष्ठता ।

घालरिया-सं०पु०—सीसोदिया वंश की एक शाखा ।

घालामेलौ—देखो 'घालमेल' (रू.भे.)

घालियोड़ौ-भू०का०कृ०—१ डाला जाना. २ रखा हुआ. ३ फेंका जाना. ४ छोड़ा जाना. ५ बिगाड़ा जाना. ६ नाश किया हुआ. ७ प्रहार किया हुआ ।

(स्त्री० घालियोड़ी)

घालीजणौ, घालीजबौ-क्रि० कर्म वा०—१ डाला जाना. २ रखा जाना. ३ फेंका जाना. ४ छोड़ा जाना. ५ बिगाड़ा जाना. ६ नाश किया जाना. ७ प्रहार किया जाना ।

घाव-सं०पु० [सं० घात, प्रा० घाअ] १ क्षत, जख्म ।

मुहा०—१ घाव भरीजणौ—जखम अच्छा होना. २ घाव माथै नमक छिड़कणौ—दुख पर दुख देना. ३ घाव हरौ होणौ—दुख की याद से दुखी होना ।

२ चोट, प्रहार । उ०—१ मुंह न दियै पर मारियौ, भागां न करै घाव । सादूळौ साचा गुणां, वेह कियौ बन राव ।—वां.दा.

उ०—२ समोभ्रम साहिब खांन सकाज, रिमां खग घाव करै जग-राज ।—सू.प्र.

कहा०—घाव तौ दुसमण रौ ही सरावणौ—अच्छे गुणों की तो दुश्मनों की भी सराहना करनी चाहिए ।

घावक-वि० [सं० घातक] १ प्रहार करने वाला.

सं०पु०—घाव, जख्म । उ०—लिया खग खप्पर गेंद गुलाल, खळां घट घावक जाव पखाळ ।—मे.म. २ प्रहार, चोट ।

घावछक-वि०—घावों से परिपूर्ण, घायल । उ०—घावछक घूमतौ झूमतौ भूम घट, परि तकिया निकट कोल पड़ियौ ।

—बालाबख्श बारहठ

घावड़-वि० [सं० घातक] १ प्रहार करने वाला. २ शूरवीर, पराक्रमी. ३ कपटी, धूर्त । उ०—इतरी सुण आदमी घावड़िया था सो द्वार छोड पासै ऊभा रहिया ।—कुंवरसी सांखला री वारता

४ विचारशील, चतुर ।

(अल्पा०—घावड़ियौ)

घावणौ, घावबौ—देखो 'घाणौ' (रू.भे.) उ०—१ जुध खग वाहै 'जसौ', घण मुगळां खळ घावै ।—सू.प्र. उ०—२ ठौड़ ठौड़ राठौड़, घणा मुगळां खग घावंत ।—सू.प्र.

घावरियौ-सं०पु०—घावों की चिकित्सा करने वाला, जर्राह, चिकित्सक.

घावांपूर-वि० [सं० घात+पूर्ण] घावों से परिपूर्ण, घावों से युक्त । उ०—सु अठै हरदास नै घोड़ौ घावांपूर हुवा अर हरदास नूं भांण उठाय पूगतौ कियौ सोझत ।—द दा.

घावौ—देखो 'घाव' (रू भे.)

घास-सं०पु० [सं०] १ भूमि पर उगने वाले उद्भिज, तृण, चारा ।

क्रि०प्र०—काटणौ, खाणौ, चरणौ, चराणौ, वाढ़णौ ।

पर्याय०—अरजुण, खड़, चारौ, जवस, त्रण ।

मुहा०—१ घास काटणौ—छोटा काम करना, आसान काम करना, बिना संभाले जल्दी-जल्दी काम करना, बेकार कोशिश करना.

२ घास खाणौ—तुच्छ चीज पर गुजर करना, जानवर हो जाना ।

यौ०—घासपात, घास-फूस, घासमंडी, घासमारी ।

अल्पा०—घासड़ौ ।

२ एक प्रकार का रेशमी कपड़ा ।

घासण-वि०—काटने वाला, संहार करने वाला ।

घासणौ, घासबौ-क्रि०स०—१ घिसना, रगड़ना. २ काटना, मारना

घासणहार, हारौ (हारी), घासणियौ—वि० ।

घासिओड़ौ, घासियोड़ौ, घास्योड़ौ—भू०का०कृ० ।

घासीजणौ, घासीजबौ—कर्म वा० ।

घासपात, घासफूस, घासभूसौ-सं०पु०यौ०—१ घास व पत्ते आदि. २ कूड़ा-करकट. ३ बेकार की वस्तु ।

घासमंडी-सं०स्त्री०—वह मंडी जहां घास का फुटकर एवं थोक व्यापार होता हो ।

घासमारी-सं०स्त्री०—१ मवेशियों की गणना. २ मवेशी रखने वालों से मवेशियों की गिनती पर लिया जाने वाला एक प्रकार का सरकारी कर ।

घासवणौ, घासवबौ—देखो 'घासणौ' (रू.भे.)

घासाहड़, घासाहर—देखो 'घांसाहड़' (रू.भे.) उ०—घासाहरां दीधा घेर विभाड़ै हाथियां घड़ां, वेध लागा कीधा धू विलातियां वरंग। —डूंगजी जवारजी रौ गीत

घासियौ-सं०पु०—रूई से भरा हुआ गद्दा जो प्रायः आयताकार होता है और सोने के लिए प्रायः बिस्तर का काम देता है। रूई से भरा हुआ गद्देदार बिछौना।

घासौ-सं०पु०—किसी औषधि या जड़ी-बूटी को पानी के साथ घिस कर तरल रूप में दी जाने वाली दवा।

घाह-सं०पु०—भूल, घेरा। उ०—विस खावौ कै सरण लौ, सरवरिया री थाह। कै कंठा विव घाल लौ, घाघरिया री घाह।—अज्ञात

घिटाळ, घिटियाळ-सं०पु०—१ 'फोग' नामक मरुदेशीय वृक्ष के फूल। उ०—लास फोगल घिटाळ ऊंटां कातीसरौ हर मास रौ। से सेळां बुरी घरस्याळां आळ्यां पंछ्यां आसरौ।—दसदेव (मि० 'फोग')
२ 'फोग' वृक्ष का पक्का फल।

घिदड़ा-सं०स्त्री०—१ घास व लकड़ी आदि बाहर से लाकर बेचने वाली एक मुसलमान जाति विशेष।

घियाळणौ, घियाळबौ-क्रि०स०—१ खींचना. २ घसीटना।

घियाळियोड़ौ-भू०का०कृ०—१ खींचा हुआ. २ घसीटा हुआ। (स्त्री० घियाळियोड़ी)

घियाळी-सं०स्त्री०—१ लकड़ी का वह उपकरण जिस पर रख कर हल को खींचा जाता है। यह उपकरण उस समय काम में लिया जाता है जब कि हल को बैलों द्वारा खींच कर एक स्थान से दूसरे स्थान पर ले जाया जाता है. २ घसीट से बनी रेखा।

घि-सं०स्त्री०—१ मृगतृष्णा. २ चँवर, चामर.
सं०पु०—३ धर्म. ४ विस्तार, फैलाव (एका०)

घिचपिच-सं०स्त्री० [अनु०] १ स्थानाभाव के कारण होने वाली तंगी, संकरापन. २ थोड़े से स्थान पर बहुत से व्यक्तियों का जमघट, बेतरतीब की भीड़।
वि०—अस्पष्ट।

घिटोरड़ी-सं०स्त्री०—वह भेड़ जिसने बच्चा न दिया हो।

घियौ-सं०पु०—घीया, लौकी।

घिरणा-सं०स्त्री० [सं० घृणा] घृणा, ग्लानि। उ०—तोछी कया गरीबां री संताप सूं भिळकै। रे वैभव ! थूं सुणतां मत घिरणा सूं मुळकै।—सगतीदांन

घिरणी-सं०स्त्री०—घुमाव, मोड़।

घिरणौ, घिरबौ-क्रि०अ०—१ किसी चारों ओर फैली हुई वस्तु के बीच में पड़ना, आवृत्त होना, गिरना, आवेष्ठित होना. २ चारों ओर छाना, इकट्ठा होना. ३ वमन होना, कै होना. ४ मुड़ना, लौटना।
उ०—१ वरसौ खेतां-माळ खिलां री सौरभ जिणमें। घिरजौ घण असमांन अजकता उत्तर दिश में।—मेघ.
उ०—२ कुंवरजी पाछा पधारिया। रजपूत थोड़ा सा कुंवरजी रै साथि घिरिया।—द.वि.
५ प्राप्त होना, मिलना। उ०—वीरमजी रावजी नूं कयौ—कोई जमी घिरण रौ उपाव कियौ चाहीजै।—द.दा.
घिरणहार, हारौ (हारी), घिरणियौ—वि०।
घिरवावणौ, घिरवावबौ, घिराड़णौ, घिराड़बौ, घिरावणौ, घिराववौ—प्रे०रू०।
घिरिग्रोड़ौ, घिरियोड़ौ, घिरयोड़ौ—भू०का०कृ०।
घिरीजणौ, घिरीजबौ—क्रि० भाव वा०।

घिरत-सं०पु० [सं० घृत] घृत, घी, गोरस। उ०—खट कास्ळें निरदूख खित, आहुत घिरत कपूर। दिव पंडित वेदी सद्दढ़, सोभत अगनि सनूर।—रा.रू.
कहा०—घिरत सुधारै सारणा नानी वहू को नांम—साग में कुछ अच्छा घी डालने से साग अच्छा बनता है, किन्तु प्रशंसा बनाने वाली छोटी वहू की ही होती है, अर्थात् माल तो स्वसुर का लगता है पर नाम बहू का होता है। दूसरे के सहारे अपना नाम करना।

घिराई-सं०स्त्री०—१ घेरने की क्रिया या भाव. २ घेरने के कार्य की मजदूरी. ३ मवेशियों को चराने का कार्य तथा इस कार्य की मजदूरी।

घिराव-सं०पु०—घेरने की क्रिया, घेरा।

घिरित—देखो 'घिरत' (रू.भे.)

घिरियोड़ौ-भू०का०कृ०—१ घिरा हुआ, आवेष्ठित. २ वमन किया हुआ। (स्त्री० घिरयोड़ी)

घिल, घिलोड़ी-सं०स्त्री० [सं० घृतपुटी] धातु का बना घृत रखने का पात्र।
कहा०—घी तौ घिलोड़ी मुजब नै आटै री घाटौ नी—घी तो आर्थिक अवस्थानुसार ही मिलेगा किन्तु आटे का घाटा नहीं है; साधारण व्यक्ति अपनी सामर्थ्य के अनुसार ही स्वागत कर सकता है। (रू०भे०—घीलोड़ी)
अल्पा०—घिलोड़ियौ, घीलोड़ीयौ।
महत्व०—घीलोड़।

घिव, घिवड़ौ—देखो 'घी' (रू.भे.)

घिसघिस-सं०स्त्री० [अनु०] १ किसी काम या बात को निश्चित करने में व्यर्थ की देरी।
मुहा०—घिस घिस करणौ—ठीक से काम न करना।
२ अनिश्चय।
मुहा०—घिस घिस करणौ—साफ न कहना, हीला हवाला करना।
३ कानाफूसी. ४ गड़बड़ी।

घिसटणौ, घिसटबौ-क्रि०अ०—घिसटते हुए चलना, रेंगना।

घिसणौ, घिसबौ—देखो 'घसणौ' (रू.भे.)

घिसणहार, हारौ (हारी), घिसणियौ—वि०।
घिसावणौ, घिसावबौ—प्रे०रू०।
घिसाणौ, घिसावौ, घिसावणौ, घिसावबौ—क्रि०स०।
घिसिग्रोड़ौ, घिसियोड़ौ, घिस्योड़ौ—भू०का०कृ०।
घिसीजणौ, घिसीजबौ—कर्म वा०।

घिसपिस—देखो 'घिसघिस' (रू.भे.)

घिसवाणौ, घिसवाबौ–क्रि०स० ('घिसणौ' का प्रे०रू०) घिसने का काम कराना, घिसवाना।

घिसाई–सं०स्त्री०—१ घिसने की क्रिया या भाव. २ घिसने की मजदूरी।

घिसाणौ, घिसावौ–क्रि०स० ('घिसणौ' का प्रे०रू०) घिसने का काम दूसरे से कराना।
घिसाणहार, हारौ (हारी), घिसाणियौ—वि०।
घिसावणौ, घिसावबौ—रू०भे०।
घिसाग्रोड़ौ, घिसायोड़ौ—भू०का०कृ०।
घिसाईजणौ, घिसाईजबौ—कर्म वा०।
घिसाणौ, घिसावौ—क्रि०स०।

घिसायोड़ौ–भू०का०कृ०—घिसने का काम किसी दूसरे से कराया हुआ।
(स्त्री० घिसायोडी)

घिसावणौ, घिसावबौ—देखो 'घिसाणौ' (रू.भे.)

घिसियोड़ौ–भू०का०कृ०—घिसा हुआ, रगड़ा हुआ।
(स्त्री० घिसियोड़ी)

घिसरपिसर—देखो 'घिसघिस' (रू.भे.)

घिस्सौ–सं०पु०—धोखा, झाँसा, झूठी बात।
क्रि०प्र०—देणौ, मेलणौ, लगाणौ।

घींगल–सं०पु०—गोबर का कीड़ा विशेष (क्षेत्रीय)

घींचणौ, घींचबौ–क्रि०स०—१ खींचना, ऐंचना. २ घसीटना। ३ गायों का झुंड बना कर हांकना।
घींचणहार, हारौ (हारी), घींचणियौ—वि०।
घींचाणौ, घींचावौ, घींचावणौ, घींचावबौ—क्रि०स०।
घींचिग्रोड़ौ, घींचियोड़ौ, घींच्योड़ौ—भू०का०कृ०।

घींचीजणौ, घींचीजबौ—कर्म वा०।

घींचाणौ, घींचावौ, घींचावणौ, घींचावबौ–क्रि०स० (प्रे०रू०) १ खींचाना. २ घसीटवाना।

घींचावियोड़ौ–भू०का०कृ०—१ खिचवाया हुआ. २ घसीटवाया हुआ.
(स्त्री० घींचावियोड़ी)

घींचियोड़ौ–भू०का०कृ०—१ खींचा हुआ. २ घसीटा हुआ।
(स्त्री० घींचियोड़ी)

घींयाड़ी, घींयाळी—देखो 'घियाळी' (रू.भे.)

घींयौ–सं०पु०—सिंचाई के लिए बनी हुई नालियों को साफ और चिकनी बनाने के लिए बोझा रख कर नाली में चलाया जाने वाला घास या झाड़ी का गुच्छा।

घींसणौ, घींसबौ—१ देखो 'घीसणौ' (रू.भे.)
उ०—१ तद स्यांमी कही—बावा ग्रा घोड़ी मोनूं घींस ले जाय। ग्रागै तौ मरियौ सो पड़ियौ ही छूं, इब ग्रौर क्यूं मारै छै।
—सूरे खींवै री वात
उ०—२ लख हेली घण रौ धणी, करै न जुड़ियौ कोप। पेंतीसां पग घींसतौ, ग्रावै डूंगर ग्रोप।—वी.स.
२ देखो 'घसीटणौ' (रू.भे.) उ०—सो रुपियां री खीर है। ऐ तौ रांड रा जागां जागां पग घींसता फिरसी।—वरसगांठ

घींसाणौ, घींसावौ–क्रि०स०—१ घिसवाना, घसीटवाना।
उ०—तिसैं जखड़ैं नाहर नै मार लीयौ। तरै टावरां कनां सूं वेऊं तखता नाहर रा घींसाइ दरवार ग्रांण राळ्या।
—जखड़ा मुखड़ा भाटी री वात

घींसायोड़ौ–भू०का०कृ०—घिसवाया हुग्रा।
(स्त्री० घींसायोड़ी)

घींसार–सं०पु० [सं० घृष्टचार] बड़ा मार्ग, राज-पथ। उ०—सुदतारां सुदतार, केतां इळ वहिला किया। घाल्यौ तैं घींसार, मेरू सिखरां 'मूळसी'।—महामहोपाध्याय कविराजा मुरारिदांन

घींसावणौ, घींसावबौ—देखो 'घींसाणौ' (रू.भे.)

घींसावियोड़ौ—देखो 'घीसायोड़ौ' (रू.भे.)

घींसियोड़ौ–भू०का०कृ०—घसीटा हुग्रा, खींचा हुग्रा।
(स्त्री० घींसियोड़ी)

घी–सं०पु० [सं० घृत] दूध का वह स्निग्ध सार जो जमे हुए दही से मक्खन प्राप्त कर उसे तपा कर उसमें से जल का ग्रंश ग्रलग निकाल कर प्राप्त किया जाता है। तपाया हुग्रा मक्खन।
पर्याय०—ग्रंगवळ, ग्रम्रत, ग्राजि, चोपड़, जोतवंत, तूप, तेजवंत, विखसुधार, सवळो, सरपिख, हयग्रंगवीन, हविखि।
मुहा०—१ घी खीचड़ियां होणौ—खाने का ग्रानन्द होना. २ घी घालणौ—खूब प्रसन्न रखना, ग्रानंद करवाना. ३ घी रा दीया वाळणा—खुशी या ग्रानन्द में होना, संपत्तिशील होना, कामना पूरी होना. ४ घी रा दीया भरणा—खुशी मनाना, मौज उड़ाना।
कहा०—१ ग्रापरी गाय रौ घी सौ ई कोसां खाई—ग्रपनी गाय का घी सौ कोस की दूरी पर भी ग्रच्छा लगता है; ग्रपनी वस्तु सदैव प्रिय लगती है. २ घणौ घी भींतां रै लगावण नै को हुवै नी—ग्रधिक घी ग्रगर हो भी तो वह दीवारों पर लगाने को नहीं होता; किसी वस्तु की ग्रधिकता होने पर भी उसे लुटाया या बेकार नष्ट नहीं होने दिया जाता. ३ घी ग्रंधारे में ही छांनौ को रैवै नी—घी ग्रंधेरे में भी छिपा नहीं रहता; ग्रच्छाई व सच्चाई छिपी नहीं रह सकती. ४ घी खादौ तौ कुलड़ौ तौ कठेई नहीं गयौ—घी खा लिया तो क्या हुग्रा, उसका वरतन तो शेष है, इससे पता लग सकता है; किसी चोरी या ग्रपराध का ज्ञान विभिन्न संकेतों से भी हो जाता है. ५ घी घटियौ तौ कुलड़ौ परवांण है—घी ग्रगर कम भी हुग्रा

तो भी वह होगा तो बरतन के अनुसार ही। (मि० कहावत नं० ४) ६ घी घालै जितौ ही स्वाद—जितना घी डालोगे उतना ही स्वाद अच्छा होगा; जितना परिश्रम करोगे उतनी ही सफलता मिलेगी; जितना व्यय करोगे उतना ही आनंद मिलेगा. ७ घी ढुळियौ तोई मूंगां में—घी गिरा तो भी मूंग में; किसी किये गये व्यय का नितांत निरर्थक न जाने पर।

वि०वि०—इस कहावत संबंधी यह दोहा मिलता है—

भाई रौ धन भाई खायौ, बिना बुलायां जीमण आयौ।
आखड़ियो पण पड़ियौ नही, घी ढुळियौ तौ मूंगां में ही ॥

८ घी दूध नजराना धांन खोड खोनूं—घी दूध देख-रेख करने पर और धान परिश्रम करते रहने पर ही प्राप्त होता है; अच्छी प्रकार देख-रेख करने से कार्य अच्छा होता है. ९ घी में घी सब घालै पण तेल में घी कुण भी नी घालै—घी में घी तो सब डालते हैं किन्तु तेल में घी कोई नही डालता; सपन्न या धनियो की सहायता करने को सब तैयार रहते हैं किन्तु भूखों की सहायता कोई नही करता; सुखी का साथ हर एक देने का प्रयत्न करता है किन्तु दुखी को कोई नही पूछता; संसार की स्वार्थी प्रवृत्ति के प्रति; सच्ची बात में सब साथ देते हैं किन्तु झूठी बात में कोई साथ नही देता. १० घी रौ नै खुदा रौ मूंडो ही कुण देखियौ है—घी और खुदा का मुह ही किसने देखा है; निर्धनता के प्रति. ११ घी बिगर चूरमा नी कँवाय- बिना घी के चूरमा नही कहलाता; बिना उचित खर्चे के कोई कार्य ठीक नहीं हो सकता।

(रू०भे०—घरत, घिरत, घिरित, घिव, घीव, घ्रत, घ्रित)

अल्पा०—घिवड़ौ।

२ सार, तत्व (एका०)

घीग्रड़—देखो 'घीड़' (रू.भे)

घीग्राई—देखो 'घीयाई' (रू.भे.)

घीग्रो–सं०पु०—बीया, लौकी।

घीकणौ, घीकबौ–क्रि०स०—प्रहार करना, वार करना।

घीकुआर, घीकुंवार, घीकुमार–सं०पु० [सं० घृत कुमारी] ग्वारपाठा।

घीघाणौ, घीघाबौ, घीघावणौ, घीघावबौ–क्रि०अ०—डर के मारे चीखना, भयभीत होकर रोना या चिल्लाना। उ०—आगै बाजार में आवै तौ सूंडे राजा रौ बेटौ बरस सात मे थौ तिकौ बाजार में रमै थो। तिण नै चाकरां पकड़ियौ। टावर थो, घीघावण लागौ।

—जैतसी ऊदावत री बात

घीघाणहार, हारौ (हारी), घीघाणियौ—वि०।

घीघावणहार, हारौ (हारी), घीघावणियौ—वि०।

घीघाविग्रोड़ौ, घीघावियोड़ौ, घीघाव्योड़ौ—भू०का०कृ०।

घीघावीजणौ, घीघावीजबौ—भाव वा०

घीघायोड़ौ, घीघावियोड़ौ–भू०का०कृ०—डर के मारे चीखा हुआ, घबराया हुआ। (स्त्री० घीघायोड़ी)

घीड़–सं०स्त्री०—एक प्रकार का बरसाती कीड़ा जो कुछ लंबा व लाल रंग लिए होता है। इसके काटने से भयंकर दर्द होता है और खून निकलता है।

घीतांमणियौ, घीतावणियौ–सं०पु० [सं० घृत+तापन] मक्खन को तपा कर घी बनाने का पात्र विशेष।

घीतोरू–सं०स्त्री०—१ वर्षा ऋतु की एक बेल जिसमें लम्बे फल लगते हैं. २ इस बेल का फल जो शाक बनाने के काम में आता है।

घीद–सं०पु० [सं० गृध्र] (स्त्री० घीदणी) गिद्ध पक्षी।

घीयड़–सं०पु०—एक प्रकार का कीड़ा, बड़ी दीमक, गुबरैला।

घीयाई–स०स्त्री०—१ एक प्रकार का कर जो जागीरी प्रथा के समय जागीरदार द्वारा घी की उत्पत्ति पर कुछ घी की मात्रा में वसूल किया जाता था। उ०—बछेरां रौ वा घीयाई रौ लाग सदाई सूं सरू हुवौ।—द दा.

२ घसीटने की क्रिया या भाव. ३ घसीटने की मजदूरी।

घीरत—देखो घी' (रू.भे.) उ०—बतळायौ इम वेहरि बडाळ, कोप्यौ क आय जमजाळ काळ। जग्यौ क सोर ढिग अगन जोम, घडहडौ घीरत घण अगन वोम।—बगसीरांम प्रोहित री बात

घीलोड़ी—देखो 'घिलोडी' (रू.भे.)

घीलोड़ौ–स०पु०—धातु का बना घृत रखने का कुछ बड़ा पात्र।

घीव—देखो 'घी' (रू.भे.) उ०—१ बीजोड़ा नै ए मा चरी चरी घीव, बाई नै दीनी ए. सासू डोरौ तेल रौ।—लो.गी.

उ०—२ घीव कर घीव कर सूवा लापसी रंधाऊं रे। आंब ही कौ रस सूवा घोळ घोळ पाऊं रे।—मीरां

घीवेल—१ देखो 'घीड़' (रू.भे.) २ एक प्रकार की वर्षा ऋतु में होने वाली लता विशेष।

घीसणपूंछौ–सं०पु०—वह बैल जिसकी पूंछ चलते समय भूमि स्पर्श करती हो (अशुभ)

घीसणौ, घीसबौ–क्रि०स०—घसीटना, खींचना।

घीसणहार, हारौ (हारी), घीसणियौ—वि०।

घीसाणौ, घीसाबौ, घीसावणौ, घीसावबौ—क्रि०स०।

घीसिग्रोड़ौ, घीसियोड़ौ, घीस्योड़ौ—भू०का०कृ०।

घीसीजणौ, घीसीजबौ—कर्म वा०।

घीसाणौ, घीसाबौ–क्रि०स० (प्रे०रू०) घसीटने का कार्य दूसरे से करवाना, घिसवाना।

घीसायोड़ौ–भू०का०कृ०—घसीटने का कार्य कराया हुआ।

(स्त्री० घीसायोड़ी)

घीसार—देखो 'घींसार' (रू.भे.)

घीसाळ–सं०पु०—१ किला, दुर्ग. २ देखो 'घींसार' (रू.भे.)

घीसावणौ, घीसावबौ—देखो 'घीसाणौ' (रू.भे.)

घीसावणहार, हारौ (हारी), घीसावणियौ—वि०।

घीसाविग्रोड़ौ, घिसावियोड़ौ, घिसाव्योड़ौ—भू०का०कृ०।

घीसावीजणौ, घीसावीजवौ—कर्म वा० ।
घीसावियोड़ौ—देखो 'घीसायोड़ौ' (रू.भे.)
(स्त्री० घीसावियोड़ी)
घीसियोड़ौ—भू०का०कृ०—घसीटा हुआ, खींचा हुआ ।
(स्त्री० घीसियोड़ी)
घुंगची, घुंघची—सं०स्त्री० [सं० गुंजा, प्रा० गुंचा] १ एक लता जो अधिकतर पर्वतीय जंगलों में पाई जाती है। यह पेड़ों के सहारे ऊपर चढ़ती है और इसकी फली में से अरहर के दानों के बराबर खूब गहरे लाल रंग के बीज निकलते हैं. २ इस लता के गहरे लाल बीज, इसके बीज का मुंह काला होता है।
घुंघट—देखो 'घूंघटौ' (रू.भे.) उ०—नागजी, घड़ी दोय घुड़ला थांम, रे वैरी, घुंघट री छैयां करूं ओ नागजी।—लो.गी.
घुंघराळौ, घुंघरेदार—वि०पु० (स्त्री० घुंघराळी) घुमावदार, टेढ़े व बल खाये हुए बाल।
घुंघरौ—सं०पु०—१ वह गोल और पोली गुरिया जो प्रायः धातु की बनी होती है एवं जिसके अंदर कंकर या कोई अन्य वस्तु होती है जिससे हिलने से मधुर ध्वनि उत्पन्न होती है। घुंघुरू. २ ऐसी गुरिया का बना गहना।
घुंघवारौ—देखो 'घुंघराळौ' (रू.भे.)
घुंडी—सं०स्त्री० [सं० ग्रंथि] १ मटर के दाने के आकार की कपड़े की सिली हुई छोटी गोली जो वस्त्र पर बटन के रूप में लगाई जाती है, कपड़े का गोल बटन. २ कुछ आभूषणों में लगी धातु की गोल गांठ जिसे सूत के घर में डाल कर गहनों को कसते हैं. ३ ग्रंथि, गांठ।
घुंडीदार—वि०—जिसमें घुंडी लगी हो।
घुंसौ—देखो 'घूंसौ' (रू.भे.)
घु—सं०पु०—अहि (एका०)
वि०—१ शठ. २ दयालु (एका०)
घुकरी—सं०पु०—१ कौआ, काग. २ उल्लू।
घुग्घर—देखो 'घुंघरौ' (रू.भे.) उ०—घमंकी घंट घुग्घरं, सिंदूर सीस चम्मरं।—गु.रू.बं.
घुग्घी—सं०स्त्री० [सं० गूहक, प्रा० गुघई] तीन कोने वाला विशेष प्रकार से बना ऊन का मोटा वस्त्र जिसे प्रायः किसान शीत व वर्षा से बचने के लिए अपने सिर पर ओढ़ लेते हैं। घोंघी।
घुग्घू—सं०पु०—उल्लू नामक पक्षी।
घुघ—सं०स्त्री०—झड़ी। उ०—कोई-कोई बूंदां पड़ रही छै, चमकां री घुघ लाग रही छै।—कुंवरसी सांखला री वारता
घुघराळौ—वि० (स्त्री० घुघराळी) देखो 'घुंघराळौ' (रू.भे.)
घुघु—सं०पु०—उल्लू पक्षी। उ०—चमकत घर घर दीप मोद संजोगण मंडत, कलबलाव कोचरी तीस सुर घुघु तंडत।
—बगसीराम प्रोहित री बात
घुड़कणौ, घुड़कबौ—क्रि०स०—क्रुद्ध होकर फटकारते हुए किसी को कुछ कहना या डांटना, जोर से बोल कर धमकाना।
घुड़कणहार, हारौ (हारी), घुड़कणियौ—वि०।
घुड़काणौ, घुड़कावौ, घुड़कावणौ, घुड़कावबौ—क्रि०स०।
घुड़किओड़ौ, घुड़कियोड़ौ, घुड़क्योड़ौ—भू०का०कृ०।
घुड़कीजणौ, घुड़कीजबौ—कर्म वा०।
घुड़काणौ, घुड़काबौ—क्रि०स० (प्रे०रू०) घुड़कने का कार्य दूसरों कराना।
घुड़काणहार, हारौ (हारी), घुड़काणियौ—वि०।
घुड़कायोड़ौ—भू०का०कृ०।
घुड़काईजणौ, घुड़काईजबौ—कर्म वा०।
घुड़कायोड़ौ—भू०का०कृ०—घुड़का हुआ, डांटा हुआ, धमकाया हुआ।
(स्त्री० घुड़कायोड़ी)
घुड़कावणौ, घुड़कावबौ—देखो 'घुड़काणौ' (रू.भे.)
घुड़कावणहार, हारौ (हारी), घुड़कावणियौ—वि०।
घुड़काविओड़ौ, घुड़कावियोड़ौ, घुड़काव्योड़ौ—भू०का०कृ०।
घुड़कावीजणौ, घुड़कावीजबौ—कर्म वा०।
घुड़कियोड़ौ—भू०का०कृ०—घुड़का हुआ, डांटा हुआ, फटकारा हुआ।
(स्त्री० घुड़कियोड़ी)
घुड़की—सं०स्त्री०—क्रोध में कड़क कर डराने हेतु कही गई बात, डांट-डपट, धमकी।
घुड़कौ—देखो 'घुरड़कौ' (रू.भे.)
घुड़चढ़ी—सं०स्त्री०—१ विवाह-संस्कार होने के पश्चात् बरात की विदाई के समय की एक प्रथा जिसमें दूल्हा घोड़े पर चढ़ कर आता है और वर पक्ष वालों की तरफ से वहां पर आये हुए याचकों को यथाशक्ति नेग या दस्तूरी दी जाती है. २ इसी अवसर पर नेग प्राप्त करने हेतु बजने वाला ढोल. ३ कायस्थ जाति में विवाह हेतु वधू के घर जाने के समय वर द्वारा घोड़ी पर चढ़ कर तैयार होने के समय की जाने वाली प्रथा जिसमें उस समय वर के मित्र या संबंधी द्वारा वर को १) या २) रु० घुड़चढ़ी के नाम से दिये जाते हैं. ४ घोड़े पर रख कर चलाई जाने वाली एक छोटी तोप।
घुड़चढ़ौ—सं०पु०—१ घोड़े पर चढ़ा हुआ व्यक्ति. २ एक प्रकार का स्वांग।
घुड़दौड़—सं०स्त्री०—१ घोड़ों की दौड़. २ घोड़ों की दौड़ पर खेला जाने वाला जूआ जिसमें एक स्थान से कुछ घोड़े दौड़ते हैं। उनमें से निश्चित स्थान पर सब से पहिले जो घोड़ा पहुंचता है उसकी जीत होती है. ३ घोड़ा दौड़ाने का स्थान. ४ अश्वारोही सेना की कवायद।
घुड़नाळ—सं०स्त्री०—घोड़े पर रख कर चलाई जाने वाली एक तोप।
घुड़बेहल—सं०स्त्री०—वह गाड़ी, रथ या बहली जो घोड़े द्वारा खींची जाय, घोड़े का रथ। उ०—रात पाछली घड़ी ४ आय रही थी, साथ

सारी उंवावतो थी, जैमल घुड़बहेल बैठो थी, रतनो आइ साथ भेळो हुवो ।—नैणसी

घुड़रके री दांन—देखो 'घुरड़का री दांन' (रू.भे.)

घुड़लो, घुड़ल्लो–सं०पु०—१ विवाहोपरांत पुत्री को वर के साथ विदा करते समय गाया जाने वाला लोक गीत. २ गणगोर त्यौहार के अवसर पर गाया जाने वाला लोक गीत. ३ घोड़ा। उ०—कुण थारा घुड़ला भंवरजी कस दिया जी, हांजी ढोला, कुण थांनै कस दिया जीण ।—लो.गी.

४ घड़े के आकार का छोटा पात्र जिसमें बहुत से छेद होते हैं और उसमें दीया जलता है। इसको लड़कियां सिर पर ले कर चैत्र मास में अपने मुहल्ले में घूमती हैं और इसी नाम का गीत गाती जाती हैं।

वि०वि०—विक्रम संवत् १५४८ चैत्र कृष्ण प्रतिपदा शुक्रवार तदनुसार तारीख २५ फरवरी १४९२ मतान्तर से वि० सं० १५४८ (चैत्रादि १५५९) चैत्र सुदि ३ (ई० स० १४९२ ता० १ मार्च) को मारवाड़ राज्य के गांव कोसाना की बहुत सी हिन्दू कन्यायें तालाव पर गौरी पूजन करने को गई थीं। मौका पाकर अजमेर का सूबेदार मल्लू खाँ उनमें से १४१ कन्याओं का अपहरण कर अपने साथ ले गया। जोधपुर के तत्कालीन नरेश राव सातलजी को जब यह संदेश प्राप्त हुआ तब उन्होंने त्वरित ही यवनों का पीछा किया। राव सातलजी उन १४१ हिन्दू कन्याओं को यवनों के बन्धन से छुड़ा लाये और लौटते समय अपने साथ मल्लू खाँ की रूपवती पुत्री और २ अमीरजादियों को भी पकड़ कर ले आये। इसके लिए राव सातलजी को सूबेदार के साथ भयंकर युद्ध करना पड़ा। इस युद्ध में सूबेदार मल्लूखाँ तथा उसका साथी घुड़ले खाँ, जो सिंध का एक अमीर था, रावजी के सेनापति सारंगदेवजी खीची के तीरों से छिद कर मारा गया। तीरों से छिदा घुड़ले खाँ का शिर उन १४१ कन्या को सौंप दिया गया। वे उस सिर को लेकर सारे गांव में घूमी। आज प्रायः समस्त राजस्थान में उसी दिन की यादगार में घुड़ले का मेला मनाया जाता है। हिन्दू कन्यायें अपने शिर पर अनेक छिद्रोंयुक्त छोटा घड़ा, जो भालों से छिदा घुड़ले खां के शिर का प्रतीक है, लेकर ग्राम में घूमती हैं। यह क्रिया पृथक पृथक स्थानों पर कुछ निश्चित अवधि, प्रायः ३ से ७ दिन तक, होती है और अन्तिम दिवस सभी कन्यायें उन छिद्रयुक्त घड़ों को ग्राम के बाहर कुए या तालाव में डाल कर प्रसन्नता मनाती हुई पुनः घर पर लौटती हैं।

घुड़साल–सं०स्त्री० [सं० घोटशाला] वह स्थान जहाँ घोड़े बाँधे जाते हों, अस्तबल।

घुड़ी–सं०स्त्री०—घोड़ी। उ०—इव काहे चमरी घुड़ी नूं छोड राद्या नूं सूंपी।—कुंवरसी सांखला री वारता

घुड़्‌कणो, घुड़्‌कबो—देखो 'घुड़कणो' (रू.भे.)

घुचरियो–सं०पु०—कुत्ते का छोटा बच्चा, पिल्ला (क्षेत्रीय)

घुचली–सं०स्त्री०—छलांग, कूद। उ०—तिकां ऊपर कुत्तां री डोर छुटी छै। बांठ-बोझा कूदै छै। घुचली खाय रह्या छै।—रा.सा.सं.

घुट–सं०पु०—१ टखना, गुल्फ (डिं.को.) २ घुटना।

घुटरू–सं०पु०—घुटना।

घुटकी–सं०स्त्री०—गले की वह नली जो भोजन-पानी आदि को पेट में पहुँचाती है।

घुटक्कणो, घुटक्कबो–क्रि०स०—घूंट भरना, घूंट उतारना, घूंट लेना। उ०—भुल्लै के मग भांवरी, पग पंक खचक्कै। घुम्मै खेतरपाळ ले घन रत्त घुटक्कै।—वं.भा.

घुटणो, घुटबो–क्रि०अ०—१ सांस का अन्दर ही अन्दर दबना व बाहर न निकल सकना, दम घुटना। उ०—सैंणा संकट में बंकट सब राया, घांटा घुटियोड़ा घूंघट घबराया।—ऊ.का.

मुहा०—घुट घुट नै मरणो—हवा या पानी के विना मर जाना, चिंता या मानसिक दुःख के कारण भीतर ही भीतर घुलना।

२ रगड़ खा कर चिकना होना. ३ परस्पर मेल-जोल अधिक बढ़ना. ४ किसी कार्य में विशेपता प्राप्त करना. ५ कोप करना, क्रोध करना. ६ तन्द्रित होना।

घुटणहार, हारो (हारी), घुटणियो—वि०।

घुटाणो, घुटाबो, घुटावणो, घुटावबो—क्रि०स०।

घुटिओड़ो, घुटियोड़ो, घुटयोड़ो—भू०का०कृ०।

घुटीजणो, घुटीजबो—भाव वा०।

घुटरगूं–सं०पु० [अनु०] १ कबूतर के बोलने की आवाज. २ कानाफूसी।

घुटवाणो, घुटवाबो–क्रि०स० ('घुटणो' का प्रे०रू०) घोटने का कार्य कराना।

घुटाई–सं०स्त्री०—घोटने, रगड़ने अथवा चमकाने का कार्य अथवा इसकी मजदूरी।

घुटाणो, घुटाबो–क्रि०स०—घुटने का कार्य कराना, घुटवाना।

घुटायोड़ो–भू०का०कृ०—घुटवाया हुआ। (स्त्री० घुटायोड़ी)

घुटावणो, घुटावबो—देखो 'घुटाणो' (रू.भे.)

घुटियोड़ो–भू०का०कृ०—१ घुटा हुआ. २ कुपित, क्रुद्ध। (स्त्री० घुटियोड़ी)

घुटीजणो, घुटीजबो–क्रि० भाव वा०—१ दम का घुटा जाना. २ रगड़ा जाना. ३ क्रुद्ध हुआ जाना।

घुट्टबो–सं०पु०—घुटना।

घुट्टी—देखो 'घूंटी' (रू.भे.)

घुणंतरि–वि०—साठ और नौ के योग के बरावर।

सं०स्त्री०—उनहत्तर की संख्या।

घुण–सं०पु०—एक छोटा कीड़ा विशेष जो प्रायः अनाज, पौधा अथवा सूखी लकड़ी आदि में लग जाता है। उ०—हरि बिण क्यूं जीवां री माय। स्याम विना बोरां भयां, मन काठ ज्यूं घुण खाय।—मीरां

वि०वि०—लकड़ी में लगने वाला घुन एवं अनाज में लगने वाले घुन की आकृति एवं भेद अलग-अलग होते हैं।

मुहा०—घुण लागणो—निरन्तर क्षीण (शरीर) होते जाना।

अल्पा०—घुणियौ ।

घुत–सं०स्त्री०—चोट आदि के लगने से होने वाली सूजन ।

घुतकी, घुती–सं०स्त्री०—छोटे कानों की बकरी ।

घुद–सं०पु०—गोदने का शस्त्र विशेष ।

वि०—पूर्ण, निपट ।

(यौ०–आंधौ घुद)

घुदी—देखो 'घोदी' (रू.भे.)

घुवारियौ–सं०पु०—बड़े-बड़े भवनों के नीचे बना मकान विशेष जो घर का फुटकर सामान, ईंधन आदि डालने के उपयोग में लिया जाता है । तहखाना ।

घुमंड–सं०पु०—१ घुमड़ने का भाव. २ घमंड (रू.भे.) ३ एक प्रकार की मस्त चाल ।

घुमंडणौ, घुमंडबौ—देखो 'घुमड़णौ' (रू.भे.) उ०—तंडै जोगणी महेस संडै उमंडै परी वैंताळ, घुमंडै प्रचंडै थंडै उडंडै घंसाड ।
—राजा रायसिंह झाला रौ गीत

घुमंडी–वि०—घमंडी, अभिमानी ।

घुमड़–सं०स्त्री०—१ बरसने वाले बादलों की घोर घटा. २ ध्वनि-विशेष ।

घुमड़णौ, घुमड़बौ–क्रि०अ०—बादलों का उमड़ना । उ०—चहुं तरफां बणि चौहटां, अटा उतंग अखंड । घुमड़े जांणे घन-घटा, दमक छटा छवि-डंड ।—बगसीरांम प्रोहित री वात

घुमड़णहार, हारौ (हारी), घुमड़णियौ—वि० ।

घुमड़ाणौ, घुमड़ाबौ, घुमड़ावणौ, घुमड़ावबौ—क्रि०स० ।

घुमड़िओड़ौ, घुमड़ियोड़ौ, घुमड़्योड़ौ—भू०का०कृ० ।

घुमड़ीजणौ, घुमड़ीजबौ—भाव वा० ।

घुमड़ियोड़ौ–भू०का०कृ०—उमड़ा हुआ । (स्त्री० घुमड़ियोड़ी)

घुमणौ, घुमबौ—देखो 'घूमणौ' । उ०—मतवाळा जेम घुमंत महा भड़, लोह तणी छक लालुरता ।—गु.रू.बं.

घुमर–सं०स्त्री०— १ झुंड, समूह । उ०—डाहाळौ पसरां दये, घूंघा फेर हुवोह । तिण पुळ में घोड़ां तणौ, जोय घुमर जाडोह ।—पा.प्र.
२ युद्ध. ३ इस नाम का एक लोक-नृत्य ।

घुमरणौ, घुमरबौ–क्रि०अ०—१ जोर से धम-धम शब्द करना. २ घोर शब्द होना. ३ एक प्रकार का लोक-नृत्य करना ।

घुमाणौ, घुमाबौ–क्रि०स०—१ घुमाना, फिराना, टहलाना. २ चक्कर दिलाना ।

मुहा०—१ घुमा घुमा नै पूछणौ—हेर-फेर से पूछना, खोद-विनोद कर के पूछना. २ घुमा घुमा नै वातां करणी—स्पष्ट बात न करना. ३ घुमाय फिराय नै पूछणौ—देखो 'घुमा घुमा नै पूछणौ'. ४ घुमाय फिराय री वात—पेचीदा बात, अस्पष्ट बात ।

३ मरोड़ना.

घुमाणहार, हारौ (हारी), घुमाणियौ—वि० ।

घुमाड़णौ, घुमाड़बौ, घुमावणौ, घुमावबौ—रू०भे० ।

घुमायोड़ौ—भू०का०कृ० ।

घुमायोड़ौ–भू०का०कृ०—१ घुमाया हुआ, फिराया हुआ. २ चक्कर दिलाया हुआ. ३ मरोड़ा हुआ.
(स्त्री० घुमायोड़ी)

घुमाव–सं०पु०—१ चक्कर, फेरा. २ घूमने अथवा घुमाने का भाव. ३ मोड़ ।

घुमावणौ–वि०पु० (स्त्री० घुमावणी) १ घुमाने वाला. २ चक्कर दिलाने वाला । उ०—घुराय गैल की छटा, कटी घटा घुमावणी । पराति धार छार में, पछार के घुमावणी ।—ऊ.का.

घुमावणौ, घुमावबौ—देखो 'घुमाणौ' (रू.भे.)

घुमावणहार, हारौ (हारी), घुमावणियौ—वि० ।

घुमाविओड़ौ, घुमावियोड़ौ, घुमाव्योड़ौ—भू०का०कृ० ।

घुमावीजणौ, घुमावीजबौ—कर्म वा० ।

घुमावदार–वि०—जिसमें कुछ घुमाव या गोलाई हो, चक्करदार ।

घुमावियोड़ौ—देखो 'घुमायोड़ौ' (रू.भे.) (स्त्री० घुमावियोड़ी)

घुम्मरणौ, घुम्मरबौ—देखो 'घुमरणौ' (रू.भे.)

घुम्मौ–सं०पु०—१ घूसा, मुष्टिका. २ खरबूजे के आकार की गोल ककड़ी (क्षेत्रीय)

घुर–सं स्त्री०—नक्कारे की आवाज ।

घुरक–सं०स्त्री०—१ वह गड्ढा जो सियार, कुत्ते आदि द्वारा अपने पैरों से खुरच कर बनाया गया हो. २ गुफा ।

कहा०—घुरक मायै तौ स्याळियौ ही घुरका करै—अपनी मांद या गुफा पर तो शृगाल भी गुर्राता है । (मि० 'आपरी गळी में कुत्तौ ही सेर व्है')

घुरकणौ, घुरकबौ—देखो 'घुड़कणौ' (रू.भे.)

घुरकणहार, हारौ (हारी), घुरकणियौ—वि० ।

घुरकाणौ, घुरकाबौ, घुरकावणौ, घुरकावबौ—क्रि०स० ।

घुरकिओड़ौ, घुरकियोड़ौ, घुरक्योड़ौ—भू०का०कृ० ।

घुरकीजणौ, घुरकीजबौ—भाव वा० ।

घुरकाणौ, घुरकाबौ, घुरकावणौ, घुरकावबौ—देखो 'घुड़कावणौ' (रू.भे.)

घुरकियोड़ौ—देखो 'घुड़कियोड़ौ' (रू.भे.) (स्त्री० घुरकियोड़ी)

घुरकौ–सं०पु०—गुर्राने की ध्वनि, गुर्राहट ।

घुरख, घुरखाळौ—देखो 'घुरक' (रू.भे.)

घुरघुर–सं०पु० [अनु०] १ सूअर, बिल्ली आदि के गले से अथवा कफ के कारण मनुष्य के गले से निकलने वाला घुरघुर का शब्द.
२ टकटकी लगा कर देखने की क्रिया ।

घुरघुराणौ, घुरघुराबौ–क्रि०अ० [अनु०] घुरघुर शब्द की ध्वनि करना ।

घुरड़–सं०स्त्री०—१ घर्षण, रगड़. २ रगड़ लगने का निशान. ३ झगड़ा ।

घुरड़का रौ दांन–सं०पु०—मनुष्य की मृत्यु होने के समय ब्राह्मण आदि को दिया जाने वाला दान ।

घुरड़को-सं०पु०—१ आसन्न मृत्यु के समय कफ प्रकोप से कंठ में होने वाली ध्वनि, घरघराहट. २ अंतिम साँस लेने के समय दान में दिया जाने वाला धन या पदार्थ. ३ अंतिम समय में श्वास-क्रिया का बिगाड़।

घुरड़णौ, घुरड़बौ-क्रि०स०—१ रगड़ना। उ०—डूंग उघाड़े ढगळ मूंछ मुख घुरड़ मुंडावै। जनम भूमि में जाय भीख लै जनम भंडावै। —ऊ.का.
२ खरोंचना, खुरचना।

घुरड़ियोड़ौ-भू०का०कृ०—१ रगड़ा हुआ. २ खुरचा हुआ, खरोंचा हुआ। (स्त्री० घुरड़ियोड़ी)

घुरणौ, घुरबौ-क्रि०अ० [सं० घुर] १ घोर शब्द होना, गरजना।
उ०—फजरां हयणी सी दधि मथणी फुरनी, मांटां घर-घर में घण-हर सी घुरती।—ऊ.का.
२ नक्कारे नौबत आदि का बजना। उ०—१ जोड़ जनद पदछ दळ संवळ उजाळ, घुरै नीसांण सोइ घणघोर।—वेलि.
उ०—२ त्रूटै सार घुरै त्रंबाळां, विचि आउधां वहै वरमाळां।
—गदाधर राठौड़ रौ गीत
३ देखो 'गुररागौ' (रू.भे.)
घुरणहार, हारौ (हारी), घुरणियौ—वि०।
घुराणौ, घुराबौ, घुरावणौ, घुराववौ—क्रि०स०।
घुरिओड़ौ, घुरियोड़ौ, घुर्योड़ौ—भू०का०कृ०।
घुरीजणौ, घुरीजबौ—भाव वा०।

घुरनाळ-सं०स्त्री०—एक प्रकार की बंदूक।

घुररावणौ, घुरराववौ-क्रि०अ०—१ घुर्राना. २ डांटना, पीटना।

घुरळणौ, घुरळबौ-क्रि०स०—छोटे बच्चों द्वारा पीया हुआ दूध पुनः वमन कर बाहर निकालना, कै करना।

घुरळियौ-सं०पु०—कुए से मोट (चड़स) खींचने वाले बैलों के जूए में दोनों बैलों के बाहर की ओर गर्दन की बाजू में लगाये जाते वाले डंडों मे से एक। इनके लगाने से बैल अपनी गर्दन इधर-उधर अधिक नहीं हिला सकते।

घुरळी-सं०स्त्री०—१ घोड़े के मुंह में लगाई जाने वाली एक प्रकार की लगाम. २ वमन, कै।

घुरस-सं०स्त्री०—घोड़े का भूमि खोदते समय पैर रखने का ढंग या क्रिया.
उ०—लाख लाख रा लाखीक घुरस खाइ खाइ झपटां लै छै।
—वचनिका

घुरसली-सं०स्त्री०—जंगली मैना।

घुरसाळ-सं०स्त्री० [सं० घोटशाला] १ घुड़साला, अस्तबल. २ उल्लू पक्षी के रहने का स्थान। उ०—तिण सूं दो ही राजावां रै ऊंची आवै इसा प्रपंच सूं तौ घणा आमारां रा घर घूकारां घुरसाळां रौ ही सह-वास गहै।—वं.भा.
३ कुत्ते लोमड़ी आदि के रहने का स्थान।

घुरसाळौ-सं०पु०—घोंसला।

घुरस्याळ—देखो 'घुरसाळ' (रू.भे.)

घुराणौ-क्रि०स०—१ घुर्राना, घुर्राहट करना. २ पीटना, मारना. ३ डराना, आँखें निकालना. ४ घोर शब्द करना. ५ नक्कारे को बजाना। उ०—लोक लाज कुळ-कांणिहु तजिकै, निरभै निसांण घुरास्यां। मीरां के प्रभु हरि अविणासी, चरण कमळ वलि जास्यां।
—मीरां
६ गहरी नींद लेना।
घुराणहार, हारौ (हारी), घुराणियौ—वि०।
घुरावणौ, घुराववौ—रू०भे०।
घुरायोड़ौ—भू०का०कृ०।
घुराईजणौ, घुराईजबौ—कर्म वा०।

घुरायोड़ौ-भू०का०कृ०—१ घुर्राया हुआ, घुर्राहट किया हुआ. २ पीटा हुआ, मारा हुआ. ३ डराया हुआ. ४ घोर शब्द किया हुआ. ५ नक्कारे का बजाया हुआ. ६ गहरी नींद लिया हुआ। (स्त्री० घुरायोड़ी)

घुरावणौ, घुराववौ—देखो 'घुराणौ' (रू.भे.)
घुरावणहार, हारौ (हारी), घुरावणियौ—वि०।
घुराविओड़ौ, घुरावियोड़ौ, घुराव्योड़ौ—भू०का०कृ०।
घुरावीजणौ, घुरावीजबौ—कर्म वा०।

घुरावियोड़ौ—देखो 'घुरायोड़ौ' (रू.भे.) (स्त्री० घुरावियोड़ी)

घुरिया-सं०स्त्री०—पँवार वंश के क्षत्रियों की एक शाखा. २ डराने के उद्देश्य से आँखें निकालने की क्रिया या भाव (क्षेत्रीय)

घुरियोड़ौ-भू०का०कृ०—घोर गर्जन किया हुआ, घोर शब्द किया हुआ। (स्त्री० घुरयोड़ी)

घुर्रियौ—देखो 'घुर' (रू.भे.)

घुरी—देखो 'घुरक' (रू.भे.) उ०—लास, फोगळ, धिटाळ ऊंटां, कातीसरी हर मास रौ। से 'सेळां' घुरी घरस्याळां, आळां पंछ्यां आसरौ।—दसदेव

घुळणौ, घुळबौ-क्रि०अ० [सं० घूर्णन, प्रा० घुलन] १ किसी द्रव्य पदार्थ या किसी वस्तु का हिलमिल जाना।
मुहा०—१ घुळ-घुळ नै वातां करणी—खूब हिलमिल कर बातें करना. २ घुळमिळ नै—खूब मेल-जोल से, मिल कर।
२ (ग्रंथि आदि का) अधिक फँसना, गाढ़ा होना। उ०—और गांठ खुल जात है, जंह लग पूगै हाथ। प्रीत गांठ नैणा घुळी, रिगस-रिगस अड़ जाय।—र.रा.
३ रोग आदि के कारण अथवा किसी मानसिक चिंता के कारण क्षीणकाय होना, निरन्तर कमजोर होना।
मुहा०—घुळ घुळ नै कांटौ होणौ—बीमारी आदि से बहुत दुर्बल हो जाना, चिंता के कारण सूख जाना. २ घुळ घुळ नै मरणौ—कष्ट सह कर मरना।
४ व्यतीत होना, बीतना, गुजरना। उ०—वाल्ही घण वालम

मीठी मुख बोली, घड़ियां अमरत री घुळती घणमोली ।—ऊ.का.
मुहा०—दिन घुळणा—समय गुजरना, दिन बीतना ।
५ तन्द्रित होना, झेंपना, ज्यूं आंखियां घुळणी (मि० 'घुटणौ' ६)
६ बजना । उ०—पव्वै धारां पाए मौत रळैगी अमरां-पुरां । ऊजळै गौ गोत वूंदी सम्मरां आथांण । डम्मरां घुळंतां वास मळैगी अदोत दीहां, चम्मरां ढुळंतां गोत भळैगी चहुआंण ।—दुरगादत्त वारहठ
घुळणहार, हारौ (हारी), घुळणियौ—वि० ।
घुळवाणौ, घुळवावौ—प्रे०रू० ।
घुळाणौ, घुळावौ, घुळाड़णौ, घुळाड़वौ, घुळावणौ, घुळाववौ—क्रि०स० ।
घुळिओड़ौ, घुळियोड़ौ, घुळ्योड़ौ—भू०का०कृ० ।
घुळीजणौ, घुळीजवौ—भाव वा० ।

घुळाणौ, घुळावौ—क्रि०स०—१ घुलने का कार्य कराना, द्रवित करना, मिश्रित करना. २ (ग्रन्थि आदि का) अधिक फँसाना, गाढ़ा करना. ३ रोग आदि या चिंता के कारण शरीर को निरन्तर क्षीण करना, कमजोर करना ।
मुहा०—घुळा घुळा नै मारणौ—परेशान करना, बहुत कष्ट देना ।
४ व्यतीत करना, विताना ।
मुहा०—दिन घुळाणा—समय व्यतीत करना, समय गुजारना ।
५ तंद्रित कराना, झेंपाना । उ०—अमल उगावै अंग में, निकट घुळावै नैण ।—ऊ.का. ६ वजाना ।
घुळाणहार, हारौ (हारी), घुळाणियौ—वि० ।
घुळायोड़ौ—भू० का०कृ० ।
घुळाईजणौ, घुळाईजवौ—कर्म वा० ।
घुळणौ, घुळवौ—क्रि०अ० ।

घुळायोड़ौ-भू०का०कृ०—घुलाया हुआ । (स्त्री० घुळायोडी)

घुळावट-सं०स्त्री०—घुलने की क्रिया या भाव ।

घुळावणौ, घुळाववौ—देखो 'घुळाणौ' (रू.भे.)
घुळावणहार, हारौ (हारी), घुळावणियौ— वि० ।
घुळाविओड़ौ, घुळावियोडौ, घुळाव्योड़ौ—भू०का०कृ० ।
घुळावीजणौ, घुळावीजवौ—क्रि०अ० ।
घुळणौ, घुळवौ—क्रि०अ० ।

घुळावियोड़ौ—देखो 'घुळायोडौ' । (स्त्री० घुळावियोड़ी)

घुसण—देखो—'घुसृण' ।

घुसणौ, घुसवौ-क्रि०अ०—१ घुमना, प्रवेश करना.
यौ०—घरघुसणियौ ।
२ धँमना, चुभना. ३ दखल देना. ४ खूब ध्यान से कार्य करना ।
घुसणहार, हारौ (हारी), घुसणियौ—वि० ।
घुसवाणौ, घुसवावौ—प्रे०रू० ।
घुसाडणौ, घुसाड़वौ, घुसाणौ, घुसावौ, घुसावणौ, घुसाववौ—क्रि०स० ।
घुसायोड़ौ—भू०का०कृ० ।
घुसीजणौ, घुसीजवौ—भाव वा० ।

घुसवाणौ, घुसवावौ-क्रि०स० ('घुसणौ' का प्रे०रू०) घुसाने का कार्य अन्य से कराना, घुसवाना ।
घुसवाणहार, हारौ (हारी), घुसवाणियौ—वि० ।
घुसवायोड़ौ—भू०का०कृ० ।

घुसवायोड़ौ-भू०का०कृ०—घुसवाने का कार्य अन्य से कराया हुआ, घुसवाया हुआ । (स्त्री० घुसवायोड़ी)

घुसाड़णौ, घुसाड़वौ, घुसाणौ, घुसावौ-क्रि०स०—१ भीतर घुसेड़ना, घुसाना, पैठाना. २ चुभाना, धँसाना. ३ दखल दिलवाना ।
घुसाड़णहार हारौ (हारी), घुसाणहार, हारौ (हारी), घुसाड़णियौ, घुसाणियौ—वि० ।
घुसाड़िओड़ौ, घुसाड़ियोड़ौ, घुसाड़्योड़ौ—भू०का०कृ० ।
घुसायोड़ौ—भू०का०कृ० ।
घुसाड़ीजणौ, घुसाड़ीजवौ—कर्म वा० ।
घुसाईजणौ, घुसाईजवौ—कर्म वा० ।
घुसणौ—क्रि०अ० ।

घुसायोड़ौ-भू०का०कृ०—१ भीतर घुसेड़ा हुआ, घुसाया हुआ. २ चुभाया हुआ, धँसाया हुआ. ३ दखल दिलवाया हुआ । (स्त्री० घुसायोड़ी)

घुसाळ देखो 'घुरसाळ' (रू.भे.)

घुसावणौ, घुसाववौ—देखो 'घुसाणौ' (रू.भे.)
घुसावणहार, हारौ (हारी), घुसावणियौ—वि० ।
घुसाविओड़ौ, घुसावियोड़ौ, घुसाव्योड़ौ—भू०का०कृ० ।
घुसावीजणौ, घुसावीजवौ—कर्म वा० ।

घुसावियोड़ौ—देखो 'घुसायोड़ौ' । (स्त्री० घुसावियोड़ी)

घुसियोड़ौ-भू०का०कृ०—१ घुसा हुआ. २ धँसा हुआ, चुभा हुआ । (स्त्री० घुसियोडी)

घुसेड़णौ, घुसेडवौ—देखो 'घुसाणौ' (रू.भे.) ।
घुसेड़णहार, हारौ (हारी), घुसेड़णियौ—वि० ।
घुसेड़ाणौ, घुसेड़ावौ, घुसेड़ावणौ, घुसेड़ाववौ—प्रे०रू० ।
घुसेड़िओड़ौ, घुसेड़ियोड़ौ, घुसेड़्योड़ौ—भू०का०कृ० ।
घुसेड़ीजणौ, घुसेड़ीजवौ—कर्म वा० ।

घुसेड़ियोड़ौ-भू०का०कृ०—घुसाया हुआ । (स्त्री० घुसेड़ियोड़ी)

घुसौ-सं०पु०—१ गुप्तेन्द्रिय के बाल. २ देखो 'घूंसौ' (रू.भे.)

घुसृण, घुस्रन-सं०स्त्री० [सं० घुसृण] १ केशर (अ.मा.)
उ०—अजिर कुंड अविखय उनहु, रखहु घुस्रन घुळाइ । जिहिं मरसौ निज वस्र जुहि, अकथित बीतहि आहि ।—वं.भा.
२ आवाज, ध्वनि ।

घूंगटौ, घूघट—देखो 'घूंघटौ' (रू.भे.) उ०—गायण दान सवास भणै अवसर मन भाणौ, घट वाल्हौ आप रौ तिके पट घूंघट ताणौ ।
—रा.रू.

(अल्पा० 'घूंघटड़ी, घूंघटियौ')

घूंघटपट–सं०पु०यौ०—घूंघट निकालने का वस्त्र या वस्त्र का छोर।

घूंघटियौ, घूंघटौ–सं०पु० [सं० गुंठ] पर्दा करने के उद्देश्य से अथवा लज्जावश मुंह को ढकने के लिए चेहरे के सम्मुख डाला जाने वाला साड़ी या ओढ़नी का एक भाग।

पर्याय०—अवगुंठण, छेड़ौ, पल्लौ।

मुहा०—१ घूंघटौ आघौ लेणौ—घूंघट हटाना, परदा दूर करना, नई दुल्हन का घूंघट उठा कर मुंह देखना. २ घूंघटौ उठाणौ—देखो 'घूंघटौ आघौ लेणौ'. ३ घूंघटौ करणौ, घूंघटौ काढ़णौ—मुंह छिपाना, दुपट्टे या साड़ी के सर पर रहने वाले भाग से मुंह को ढंकना, शर्माना, झेंपना, कायरता दिखाना. ४ घूंघटौ राखणौ—लज्जाशील होकर रहना।

(रू०भे०-घूंघट)

(अल्पा०-घूंघटड़ौ, घूंघटियौ)

घूंघर–सं०पु०—बालों में पड़ी हुई मरोड़ या छल्ले।

घूंघरवाळौ–वि०—जिसके टेढ़े-मेढ़े व मरोड़दार बाल हों, छल्लेदार केशों वाला।

घूंघरौ—देखो 'घुंघरौ' (रू.भे.)

घूंघौ–सं०पु०—१ नाक के अन्दर होने वाला सूखा मैल (क्षेत्रीय) २ इमली के बीज।

घूंची–सं०स्त्री०—कोल्हू का वह मुड़ा हुआ काष्ठ का डंडा जो 'जाट' के ऊपर लगा कर नीचे की ओर आता है।

मुहा०—घूंची मारणौ—सिकुड़ कर बैठना।

घूंट–सं०पु०—एक बार में गले के नीचे उतारा जाने वाला या उतारा जा सकने वाला द्रव पदार्थ। उ०—सतगुरु कौ परसाद, सुवा मद घूंट न सीखी।—ऊ.का.

क्रि०प्र०—उतारणौ, पीणौ, लेणौ।

मुहा०—१ घूंट घूंट पीणौ—धीरे-धीरे पीना, थोड़ा-थोड़ा कर के पीना. २ घूंट पीणौ—बरदाश्त करना, क्रोध का शमन करना. ३ घूंट लेणौ—थोड़ा-थोड़ा कर के पीना, एक एक घूंट उतारना।

घूंटणौ, घूंटबौ–क्रि०स०—१ पानी या किसी अन्य द्रव पदार्थ को घूंट-घूंट कर के गले से नीचे उतारना, पीना। उ०—वांणी पवित्र करिस सीतावर, नित प्रत क्रीत प्रकासे नरहर। नासा व्रिसन करिस इम निमळ, प्रभु घूंटे तो चरणां परमळ।—ह.र.

घूंटळवाळौ–वि० (स्त्री० घूंटळवाळी) पैरों को समेट कर घुटनों को सीने के सम्मुख रख कर सोने वाला। उ०—पीपा राईका रा बेटां-पोतां सांढ़ां री दूध पीधौ, मेहरै री बेटौ घूंटळवाळै पग समेट सूतौ।

—बां.दा.ख्यात

घूंटियौ—देखो 'घूंट' (अल्पा०) उ०—नीमां चढ़ी गिलोय वणै वडी गुणांकारी। छः आना भर भाव, फळावै ग्रांम पंसारी। काढ़ौ पांणी-झरां, घूंटियौ गुजराती में। कमजोरी में क्वाथ, पीड़ होयां छाती में।

—दसदेव

घूंटी–सं०स्त्री०—एक प्रकार का वात रोग, मृगी, अपस्मार।

उ०—रिव रिव बाया नी छाया सिर रोळै। घूंटी आया जिम काया चख घोळै।—ऊ.का.

२ जन्मजात बच्चे को उदर शुद्धि के लिए दी जाने वाली औषधि।

यौ०—जनमघूंटी।

घूंडी—१ देखो 'घुंडी' (रू.भे.) २ गांठ, ग्रंथि।

उ०—हांजी म्हारा सायबा दिल की तौ घूंडी जी खोल मांनूं ना मांनूं ना हाजर गोरड़ी जी म्हारा राज, मांनूं ना हाजर गोरड़ी जी म्हारा राज।—लो.गी.

घूंदणौ, घूंदबौ—देखो 'खूंदणौ' (रू.भे.) उ०—तूंडां गज फेटां तुरी, डाढ़ां भड़ ओभाड़। हेकण कवळै घूंदिया, फौजां पाथर पाड़।

—वी.स.

घूंदणहार, हारौ (हारी), घूंदणियौ—वि०।

घूंदाड़णौ, घूंदाड़बौ, घूंदाणौ, घूंदाबौ, घूंदावणौ, घूंदावबौ—क्रि०स०।

घूंदिओड़ौ, घूंदियोड़ौ, घूंद्योड़ौ—भू०का०कृ०।

घूंदीजणौ, घूंदीजबौ—कर्म वा०।

घूंदरौ–सं०पु०—एक प्रकार का बरसाती पौधा (क्षेत्रीय)

घूंदाड़णौ, घूंदाड़बौ, घूंदाणौ, घूंदाबौ—देखो 'खूंदाणौ' (रू.भे.)

घूंदायोड़ौ—देखो 'खूंदायोड़ौ' (रू.भे.)

(स्त्री०-घूंदायोड़ी)

घूंदावणौ, घूंदावबौ—देखो 'खूंदावणौ' (रू.भे.)

घूंदावियोड़ौ—देखो 'खूंदावियोड़ौ' (रू.भे.)

(स्त्री० घूंदावियोड़ी)

घूंदियोड़ौ—देखो 'खूंदियोड़ौ' (रू.भे.) (स्त्री० घूंदियोड़ी)

घूंमटणौ–क्रि०अ०—उमड़ना। उ०—दादुर मोर पपीहा बोलै, कोयल सबद सुणावै। घुमंट घटा ऊलर होइ आई, दांमिण दमक डरावै।

—मीरां

घूंमणौ, घूंमबौ—देखो 'घूमणौ' (रू.भे.) उ०—१ चाळुक्यराज रा सूरवीर लोहछक होय घूंमता लाधा।—वं.भा.

घूंस–सं०स्त्री०—१ चूहे की जाति का एक बड़ा जन्तु. २ रिश्वत, उत्कोच, घूस।

घूंसणौ, घूंसबौ–क्रि०स०—प्रहार करना, मारना।

घूंसियोड़ौ–भू०का०कृ०—१ प्रहार किया हुआ। (स्त्री० घूंसियोड़ी)

घूंसौ–सं०पु०—१ मारने के उद्देश्य से उठाई गई बंधी हुई मुट्ठी. २ बंधी हुई मुट्ठी का प्रहार।

क्रि०प्र०—खाणौ, चलाणौ, देणौ, मारणौ, लगाणौ।

मुहा०—१ घूंसौ लगाणौ—घूंसे से मारना. २ घूंसा री कांई उधार—मार-पीट का बदला तुरन्त लेना चाहिये।

(यौ०-घूंसेबाजी)

घू–सं०पु० [सं० हूहू] १ देवता. २ हाथी. ३ उल्लू. ४ आकाश। सं०स्त्री०—५ मदिरा. ६ गुदा. ७ पृथ्वी. ८ ग्यारह की संख्या (एका०)

घूक, घूकार-सं०पु० [सं०] १ उल्लू पक्षी। उ०—तिण सूं दो ही राजावां रै ऊंची आवै इसा प्रपंच सूं तौ घणा आमारां रा घर घूकां रा घुरसाळां रौ ही सहवास गहै।—वं.भा.

२ भय, डर। उ०—हुंह सांनसाह किण घूक होय, दुस्टी के करदं. टूक दोय।—ऊ.का.

सं०स्त्री०—३ उल्लू पक्षी की आवाज. ४ ध्वनि, घोष।

घूगस-सं०पु०—हेमंत ऋतु के बादल।

घूघ-सं०स्त्री०—युद्ध में शिर को शत्रु के प्रहार से बचाने के लिए पहनी जाने वाली लोह, पीतल या किसी धातु की बनी टोपी, शिरस्त्राण।
उ०—कोरड़ां लोहड़ां तूटै विछूटे छक्कड़ां कड़ां, नीधकां नीवाड़ा भड़ां हाकलै नत्रीठ। घूघ ओजड़ां झड़ां धजवडां भांजि घड़ा, राठोड़ां ओनाड़ां लागौ वागौ विने रीठ।

—राठौड़ किसनसिंह रौ गीत

घूघर-सं०पु०—१ बालों में पड़े हुए मोड़ या बल. २ नूपुर।
(अल्पा०-घूघरियौ)
३ देखो 'घुंघरौ'।
(अल्पा०-घूघरड़ौ)

घूघरड़ौ—१ देखो 'घुंघरौ' (अल्पा०) २ देखो 'घुग्घी' (अल्पा०)

घूघरमाळ-सं०स्त्री०—घुंघरू की माला जो पशुओं के कंठ में डाली जाती है। उ०—१ कांम विरंचि विमास क स्त्री-हथ सूं करी। जे हरी घूघरमाळ प्रगटै झणंकै जियां।—वां.दा.
उ०—२ हाथी सहस विच्चारि, पाखरीया घंटा घूघरमाळ।

—कां.दे.प्र.

घूघरियौ—देखो 'घूघर' २, ३ (रू.भे.) उ०—सातां दीप रास रमै सातूं, घूघरिया घमकांणी। वीण अरदंग बजावै डैरूं, गावै अम्रत वांणी।—राघवदास भादौ

घूघरी—१ देखो 'घुंघरौ'। उ०—घम घमंत घूघरी, पाय नेउरी रणं-झण। डम डमंत डाकली, ताळ ताळी वज्जे तण।—देवि.
२ एक लोक गीत का नाम. ३ पायल, नूपुर. ४ उबले हुए गेहूँ या चने। उ०—दिनूंगै घूघरचां रांध'र मजूरी जोवण निकळसां।

—वरसगांठ

५ एक प्रकार की सरकारी लाग (मि० 'गूगरी')

घूघरौ-सं०पु०—घुंघरू। उ०—चरणे चांमीकर तणा चंदाणणि, सज नूपर घूघरा सजि। —वेलि०

घूघी—१ देखो 'घुग्घी' (रू.भे.) २ वाचा की पुत्री जो देवी का अवतार मानी जाती है।

घूघू-सं०पु०—उल्लू पक्षी। उ०—१ अलेखां आंख्यां री उर जोत, कियौ वै घूघू आंख उजास।—सांझ उ०—२ लोग चुगल कांनां लग्या, घूघू बोल्यौ गेह। भायां सूं भेळप नहीं, विपत लिखी विधि एह।—वां.दा.

घूड़-सं०पु०—सूअर के मुंह का अग्र भाग या इस भाग से किया जाने वाला प्रहार या टक्कर। उ०—चर चर फुरणियां आया छै, माछुरां रा संताया। थोहर नै झाड़ रा बीड़ां सुख छै। घूड़ वाहै छै पूछै-सू जड़ां समेत उखेड़ नांखै छै।—रा.सा.सं.

घूड़िया-सं०पु० (बहु०) कुयें से चरस निकालने के लिए चरस की नाली वाली रस्सी के सहारे के लिए लगाई जाने वाली गिर्री के दोनों ओर के खूंटे जिसमें गिर्री की धुरी रखी जाती है।

घूची-सं०स्त्री०—कोल्हू के 'जाट' के ऊपर चुटिये की तरह का एक उपकरण।

घूटणौ, घूटबौ-क्रि०स०—(गला) घोंटना।
घूटणहार, हारौ (हारी), घूटणियौ—वि०।
घूटिओड़ौ, घूटियोड़ौ, घूटचोड़ौ—भू०का०कृ०।
घूटीजणौ, घूटीजबौ—कर्म वा०।

घूटियोड़ौ-भू०का०कृ०—घोंटा हुआ। (स्त्री० घुटियोड़ी)

घूब-सं०स्त्री०—घूंसा, मुष्टिका, प्रहार। उ०—लात घूब लाठियां वणी, आछी बरखा वळ। जूत भेंट व्हा जठे, नाक हुइग्यौ निछरावळ।

—ऊ.का.

घूब-सं०स्त्री०—१ कूबड़, टेढ़ापन. २ किसी बर्तन के गिरने या टक्कर लगने से पड़ने वाली मोच।

घूबौ-वि०—१ कुबड़ा. २ जिसके मोच पड़ी हुई हो (बर्तन)

घूम-सं०स्त्री०—१ घुमाव, मोड़, चक्कर। उ०—खड़ा भड़ घूम चकेरिय खाय।—सू.प्र.
२ वह जगह जहाँ से किसी दूसरे स्थान के लिए मुड़ना पड़े।

घूमघुमाळौ-वि०—१ घेरदार. २ खूब घूमने वाला, घुमक्कड़।

घूमणौ, घूमबौ-क्रि०अ०—१ घूमना इधर-उधर फिरना, टहलना.
२ सफर करना, यात्रा करना. ४ लौटना. ५ मुड़ना. ६ चक्कर खाना, गोल-गोल घूमना। उ०—घूम घटा घर घालियौ, ऊपर लूंब अछेह। बालम नित बरसावजो, महलां रंग भर मेह।—र.रा.
७ किसी देव विशेष के बल से उसके अनन्य भक्त का अपने शरीर को घुमाना।
घूमणहार, हारौ (हारी), घूमणियौ—वि०।
घुमाड़णौ, घुमाड़बौ, घुमाणौ, घुमाबौ, घुमावणौ, घुमावबौ—स०रू०।
घूमीजणौ, घूमीजबौ—कर्म वा०।

घूमर—१ देखो 'घूमरौ' (रू.भे.) उ०—छछोहा कपी घूमरा एम छूटा, फबै जांण कोटेक सांमंद्र फूटा।—सू.प्र.
सं०स्त्री—२ वृत्ताकार रूप में किया जाने वाला एक प्रकार का लोक नृत्य। उ०—म्हांरी घूमर छै नखराळी ए माय, घूमर रमवा जावा दे।

—लो.गी.

घूमरौ-सं०पु०—१ समूह, झुंड। उ०—१ घणां सोंघे घणी कैनरि अगरचै सूं गरकाव कियां थकां घोड़ां रजपूतां रै घूमरै सूं आइ तोरण बांदिओ छै।—रा.सा.सं.
२ घेरा। उ०—लोग साथ रा सारा ही भेळा हुआ। लोग सगळा

घूमरी कियां ऊभा राव री डील संभाळै छै।—डाढ़ाळा सूर री वात

घूमाळौ—देखो 'घूमघूमाळौ' (रू.भे.) उ०—अबरां रै रंग दीजै है, तिल तिकै कीजै है, घूमाळौ घाघरौ पहरीजै है।—र. हमीर

घूमियोड़ौ–भू०का०कृ०—घूमा हुआ। (स्त्री० घूमियोड़ी)

घूमूं, घूमौ–सं०पु०—घूंसा, मुष्टिका-प्रहार।

घूर–सं०पु०—१ पशु के पेट पर सींग या किसी अन्य पैनी चीज का आघात लगने से होने वाला रोग विशेष. २ नाश, ध्वंश।

घूरण–सं०स्त्री०—घूरने की क्रिया या भाव।

घूरणौ, घूरबौ–क्रि०अ०—१ टकटकी लगा कर देखना, घूरना, ताकना। मुहा०—घूर घूर नै देखणौ—टकटकी लगा कर देखना. २ निद्रा-वस्था में नाक में से श्वास के साथ घर्र-घर्र शब्द निकालना. ३ देखो 'घुरणौ' (रू.भे.) उ०—फरक्कै भंड नेजो आविया लड़ंग फोजां। घूरतां त्रंबाळां रणताळां दाव-घाव। लोहड़ां देयंतौ झाट, ऊसरां गैणाग लागो। सेवा भड़ां हूंत वागो 'जंमाल' सुजाव। —दांनजी बोगसौ

घूरणहार, हारौ (हारी), घूरणियौ—वि०।

घूराणौ, घूराबौ, घूरावणौ, घूराववौ—क्रि०स०।

घूरिश्रोड़ौ, घूरियोड़ौ, घूर्योड़ौ—भू०का०कृ०।

घूरीजणौ, घूरीजबौ—भाव वा०।

घूराणौ—देखो 'घुराणौ' (रू.भे.)

घूराणहार, हारौ (हारी), घूराणियौ—वि०।

घूरायोड़ौ—भू०का०कृ०।

घूराईजणौ, घूराईजबौ—कर्म वा०।

घूरायोड़ौ—देखो 'घुरायोड़ौ' (रू.भे.) (स्त्री० घूरायोड़ी)

घूरावणौ, घूराववौ—देखो 'घुराणौ' (रू.भे.)

घूरावणहार, हारौ (हारी), घूरावणियौ—वि०।

घूराविश्रोड़ौ, घूरावियोड़ौ, घूराव्योड़ौ—भू०का०कृ०।

घूरावीजणौ, घूरावीजबौ—कर्म वा०।

घूरावियोड़ौ—देखो 'घुरायोड़ौ' (रू.भे.) (स्त्री० घुरावियोड़ी)

घूरियोड़ौ—१ देखो 'घुरियोड़ौ' (रू.भे.) २ टकटकी लगा कर देखा हुआ। (स्त्री० घूरियोड़ी)

घूरी–सं०स्त्री०—सियार, लोमड़ी आदि के रहने की खोह, मांद।

घूस—देखो 'घूंस' (रू.भे.)

घूसौ—देखो 'घूंसौ' (रू.भे.)

घूहौ–सं०पु०—गुप्तेन्द्रिय के बाल।

घेंचणौ, घेंचबौ—देखो 'घेचणौ' (रू.भे.) उ०—उस सुबै रनि मूंठ वाळे ने जुल्म किया, तमांम मुसलमांनों को घेंचि किल्ले को रनी में दिया।—ला.रा.

घे–सं०स्त्री०—१ गरदन. २ छड़ी. ३ चौकी. ४ कीली. सं०पु०—५ कुत्ता (एका०)

घेउर, घेऊर—देखो 'घेवर' (रू.भे.) उ०—खुरमां खंडी खुप्परी, चक्कै घमचक्कै। भेजा भात भराय कै गिलि जात गजक्कै। फैले घेउर पिप्फरन छैले बनि छक्कै। बुक्का ठोर बणाय कै बुक्का भरि हक्कै। —वं.भा.

घेघूंचणौ, घेघूंचबौ–क्रि०स०—१ मिलना, आलिंगन करना। उ०—घर स्यांमां सरिस स्यांमतर जळधर, घेघूंचे गळिबाहां घाति।—वेलि. २ देखो 'घेघूमणौ'।

घेघूंबणौ, घेघूंबबौ–क्रि०अ०—१ मंडराना। २ भिड़ना। उ०—अठी हूं जोधांण नाथ नागाण री नाथ उठी। घेघूंबिया थाट, वे वे मेलने को घाव। —मारवाड़ रा अमरावां री वारता

घेड़—देखो 'घड़ली' (रू.भे.)

घेचणौ, घेचबौ–क्रि०स०—१ घसीटना। उ०—घरणी निज परणी घर वाहिर घेचै, वनिता वनितावत निलजा नर वेचै।—ऊ.का. २ मवेशियों को हाँक ले जाना। उ०—१ भालाळ भोपाळ, पाल गयौ परणीजवा। विण धणिया धणवाळ, गढ़वाड़ां वित्त घेचणौ। —पा.प्र. उ०—२ पछै वळै हमांऊ पातसाह विक्रमादीत री मदत करी, हमांऊ चीतोड़ आयौ, बहादुर नूं घेच काढ़ियौ।—नैणसी

घेचणहार, हारौ (हारी), घेचणियौ—वि०।

घेचाणौ, घेचाबौ, घेचावणौ, घेचाववौ—प्रे०रू०।

घेचिश्रोड़ौ, घेचियोड़ौ, घेच्योड़ौ—भू०का०कृ०।

घेचीजणौ, घेचीजबौ—कर्म वा०।

घेचियोड़ौ–भू०का०कृ०—१ घसीटा हुआ. २ पशुओं को हांका हुआ. (स्त्री० घेचियोड़ी)

घेटियौ–सं०पु०—(स्त्री० घेटी) भेड़ का बच्चा, मेमना। वि०—नाटे कद का, ठिगना।

घेटुओ–सं०पु०—गर्दन या कंठ का आगे की ओर का उभरा हुआ छोटा भाग, घेंटुआ, घीची (क्षेत्रीय)

घेटौ–सं०पु० (स्त्री० घेटी) १ नर भेड़, मेंढ़ा. २ गेहूँ में पड़ने वाला

घेदौ–वि०—मोटाताजा, हृष्टपुष्ट। उ०—घोड़ा दौड़ रह्या छै, होकारौ हगांमौ होय रह्यौ छै, जितरै बीच थोहर झाड़ां रा बीड़ां मांहां खरगोस उठिया छै सू किण भांत रा छै, मोटा घेदा छै, तोबड़िया छै। —रा.सा.सं.

घेर–सं०पु०—चारों ओर वृत्ताकार फैलने का भाव, घेरा, परिधि. २ चक्कर, फेरा, घुमाव। उ०—सूंडाळा घड़ सांमही, फ़ेरी जेसळमेर। पाछौ दळ पतसाह री, घिरियौ घाते घेर।—नैणसी ३ घर, गृह (रू.भे.)

घेरउ–सं०पु०—झुंड, समूह। उ०—केलि कहतां क्रीड़ा, त्यैं कौ घणी सुख पायौ। स्यांम कल्याणजी। स्यांमा रुखमणीजी कै संगि। सखी जु मन की राखणहार त्यांको घेरउ जुड़ रह्यौ छै।—वेलि. टी.

घेरघार–सं०पु० [अनु०] १ चारों ओर से घिरने या आच्छादित हो जाने की क्रिया. २ खुशामद. ३ विस्तार. ४ परिधि, घेरा।

घेरघुमाळौ-देखो—'घूमघुमाळौ'। उ०—घेरघुमाळौ गवरल घाघरौ, जी वैंरे ओढ़ण दिखणी री चीर।—लो.गी.

.२ देखो 'घेरघूमाळौ' (रू.भे.)

घेरघुमेर-वि०—१ सघन, घनी छाया वाला. २ विस्तृत परिधि वाला, घेरदार।

घेरणी-सं०स्त्री०—सूत कातने के चरखे को चलाने का हत्था।

घेरणौ, घेरवौ-क्रि०स०—१ चारों ओर हो जाना, चारों ओर फैल जाना. २ किसी शहर, दुर्ग आदि को अधिकार में करने हेतु उसके चारों ओर घेरा डालना। उ०—१ दुसमण री फौज गढ़ घेरियौ तठै गढ़ रौ धणी साकौ कर मरण री विचारी।—वी.स.टी.

उ०—२ संमत १६५६ सोभत सकतसिंघजी नूं हुई, तद भाटी सुरतांण रावळ साथ जाय सोभत घेरी थी।- नैणसी

३ मवेशियों को चराना या हांकना. ४ रुख पलटना, दिशा बदलना. ५ नाली में बहते पानी को क्यारी में मोड़ना। उ०—बायरै रा ठंडा भोला सांमी छाती झेलजै। पैं'लौ जोटौ आवै है, पांणतिया खोडी घेरजै।—रेवतदांन

घेरणहार, हारौ (हारी), घेरणियौ—वि०।

घेराड़णौ, घेराड़वौ, घेराणौ, घेरावौ, घेरावणौ, घेराववौ—क्रि०स०। (प्रे.रू.)

घेरिओड़ौ, घेरियोड़ौ, घेरयोड़ौ—भू०का०कृ०।

घेरीजणौ, घेरीजवौ—कर्म वा०।

घेरत—देखो 'घिरत' (रू.भे.)

घेरदार-वि०—जिसमें घेर हो, घेरयुक्त।

घेराई-सं०स्त्री०—१ घेरने की क्रिया या भाव. २ घेरने के कार्य की मजदूरी।

घेराणौ, घेरावौ-क्रि०स०—घेरने का कार्य किसी दूसरे से कराना।

घेरायोड़ौ-भू०का०कृ०—घेरने का कार्य कराया हुआ।

(स्त्री० घेरायोड़ी)

घेराव-सं०पु०—१ घेरने का भाव २ देखो 'घेर'।

घेरावणौ, घेराववौ—देखो 'घेराणौ' (रू.भे.) उ०—पीछै ऐ पूलौ वगैरै साराई नरसिंघ सूं मिळिया, अरु कयौ, 'म्हारौ वदळौ घेरावौ, थांनूं वा'रै महीनां मैं इतरौ मासूल भरसां।—द.दा.

घेराविथोड़ौ—देखो 'घेरायोड़ौ' (स्त्री० घेरियोड़ी)

घेरियोड़ौ-भू०का०कृ०—घेरा हुआ। (स्त्री० घेरियोड़ी)

घेरौ-सं०पु०—१ चारों ओर का विस्तार या फैलाव, किसी गोल स्थान या वस्तु की परिधि, सीमा। उ०—निचलौ होठ जाडौ नै लटकतौ। उपरला दो दांत पड़ियोड़ा। खांधा थोड़ासा मांय बैठोड़ा। धूंद रौ घेरौ सीना सूं लांठौ। निचलौ तंग हळकौ नै ऊपरलौ भारी।
—वांणी, विजयदांन देथौ

२ वह वस्तु जो किसी स्थान के चारों ओर हो, घेरने की क्रिया या भाव। उ०—घालै विसमत मत मग मग ठग घेर। फोरौ किसमत सूं पग पग-पग फेरौ।—ऊ.का.

३ सेना का किसी गढ़, दुर्ग आदि को चारों ओर से आवेष्ठन करना, चारों ओर से आक्रमण करना। उ०—१ नागौर जोधपुर घेरौ हुवौ। तिण समै माहाराज श्री विजयसिंहजी रौ मोहल सेखावत नै कंवर जेसळमेर रै गढ़ में रह्या।—नैणसी उ०—२ दक्खणियै घेरौ दियौ, कटके कोइ न थग्ग। अन घ्रत खड़ इंधण दुलभ, चिहुं दिस रोके मग्ग।—गु.रू.ब.

४ घिरा हुआ स्थान. ५ किसी स्थान या वस्तु आदि को चारों ओर से घेरने वाली वस्तु. ६ किसी वाद्य या वस्तु का गोल वृत्ताकार भाग, चक्कर।

घेवर-सं०पु० [सं० घृत पूर] पतले घुले हुए मैदे की घी और चीनी के संयोग से बनाई जाने वाली एक मिठाई जिसमें जाली सी पड़ी होती है और जिसका आकार छोटी गोल थाली की भांति होता है।

कहा०—घेवर कै' हूं मीठौ कै म्हारौ लारलौ पग देखौ—घेवर कहता है कि मैं मीठा हूं, इसके लिए मेरा एक अंग देखो, अर्थात् मुझ में शक्कर डाली जाती है। किसी मनुष्य के भले या बुरे का पता उसके खुद के कहने से नहीं लगता अपितु उसके वंश अथवा कार्य-कलापों से लगता है।

(अल्पा०-घेवरियौ)

घैंणौ-सं०पु०—घुआं (क्षेत्रीय)

घैंसाड़, घैंसाहड़, घैंसाहर—देखो 'घांसाहर' (रू भे.) उ०—१ तंडै जोगणी महेस संडै उमंडै पर बैताळ। घुमंडै प्रचंडै थंडै उडंडै घैंसाड़।
—राजा रायसिंह झाला रौ गीत

उ०—२ विहारी दळ विहंडी जीपि लीधौ जाळंधर, वीर त्रंबाळ वजाइ सभे फौजां घैंसाहर।—सू.प्र.

उ०—३ अभमल मिळे हुसनअली अणभंग, साइत मज्झ फिरै घैंसाहर।—सू.प्र.

घैड़, घैड़ली—देखो 'घड़ली' (रू.भे.)

घोंई-सं०स्त्री०—१ खेत में सिंचाई के समय पानी की नाली को साफ करने के लिए उसमें घुमाई या फिराई जाने वाली झाड़ी का गुच्छा जिस पर बोझा रख कर खींचते या फिराते हैं. २ कंटीली झाड़ियों का समूह।

घोंघौ-सं०पु०—नदी, तालाब या जलाशय में पाया जाने वाला शंख की तरह का एक कीड़ा।

वि०—१ मूर्ख, मूढ़. २ जड़. ३ निस्सार।

घोंटी-सं०स्त्री०—गरदन, ग्रीवा।

घोंसलौ-सं०पु०—घास-फूस व तिनकों आदि का बनाया गया पक्षियों का घोंसला अथवा निवास-स्थान। नीड़।

घोई-सं०स्त्री०—१ वक्रता, टेढ़ापन. २ घुमाव, मोड़।

घोउकार-सं०स्त्री०—वाद्यों की ध्वनि। उ०—इसौ तालग्रणांनौ मंडै छै। घोउकार पड़ि रहे छै।—सयणी री वात

घोक-सं०पु० [सं० घोष] १ गर्जन, घोष। उ०—वड़े घोक घावां, घड़ी दोय घावां।—रा.रू.

२ किनारा, तट, कूल. ३ अहीरों की वस्ती. ४ अहीर जाति का व्यक्ति. ५ प्रणाम, नमस्कार (मि० 'धोक')

सं०स्त्री०—द्रव पदार्थों (यथा नदी के जल आदि) का तीव्र प्रवाह।

घोकणौ, घोकवौ—देखो 'घोखणौ' (रू.भे.)

घोकाणौ, घोकावौ—देखो 'घोखाणौ' (रू.भे.)

घोकार–सं०स्त्री० [अनु०] प्रत्यंचा की ध्वनि। उ०—तठा उपरांति करि नै राजांन सिलांमति पचास टांक चिले री'' अणहारी कवांण रा घोकार वाजि नै रहिया छै।—रा.सा.सं.

घोकायोड़ौ, घोकावियोड़ौ—देखो 'घोखायोड़ौ' (रू.भे.) (स्त्री० घोकायोड़ी)

घोकियोड़ौ—देखो 'घोखियोड़ौ' (रू.भे.) (स्त्री० घोकियोड़ी)

घोख–सं०पु० [सं० घोष] १ शब्द, घोष, आवाज। उ०—१ नीसांण घोख कर अमल नोख, जोधांण करै आथांण जोख।—वि.सं.

उ०—२ वायक सतगुरु वैद रो, घणौ करै हित घोख। रे इण लालच रोग रो, सद ओखद संतोख।—वां.दा.

२ गायों को रखने का अहाता, गोशाला। उ०—संयोगिणी चीर रई कँरव स्त्री, घर हटताळ भमर गौ घोख।—वेलि.

घोखणौ, घोखवौ–क्रि०स० [सं० घोष] याद करने के लिए वार-वार पढ़ना या उच्चारण करना, रटना, किसी ग्यान या विद्या को प्राप्त करने के लिए उसका अधिक मनन करना।

घोकणहार, हारौ (हारी), घोकणियौ—वि०।

घोखाणौ, घोखावौ, घोखावणौ, घोखाववौ—क्रि०स०।

घोखिओड़ौ, घोखियोड़ौ, घोख्योड़ौ—भू०का०कृ०।

घोखीजणौ, घोखीजवौ—कर्म वा०।

घोखाणौ, घोखावौ–क्रि०स० ('घोखणौ' का प्रे०रू०) याद करने का कार्य किसी दूसरे से करवाना, रटाना।

घोखाणहार, हारौ (हारी), घोखाणियौ—वि०।

घोखावणौ, घोखाववौ—रू०भे०।

घोखायोड़ौ—भू०का०कृ०।

घोखाईजणौ, घोखाईजवौ—कर्म वा०।

घोखायोड़ौ–भू०का०कृ०—वार-वार उच्चारण करा के याद कराया हुआ, रटाया हुआ। (स्त्री० घोखायोड़ी)

घोखावणौ, घोखाववौ—देखो 'घोखाणौ' (रू.भे.)

घोखावणहार, हारौ (हारी), घोखावणियौ—वि०।

घोखाविओड़ौ, घोखावियोड़ौ, घोखाव्योड़ौ—भू०का०कृ०।

घोखावीजणौ, घोखावीजवौ—कर्म वा०।

घोखावियोड़ौ—देखो 'घोखायोड़ौ' (रू.भे.) (स्त्री० घोखावियोड़ी)

घोखिओड़ौ–भू०का०कृ०—रटा हुआ, याद किया हुआ। (स्त्री० घोखियोड़ी)

घोघ–सं०पु०—फेन, झाग। उ०—तनै दाखवै जोसवाळी तरक्कां, करै दांत आलावता क्रासळक्कां। जमै गूगळा घोघ दोनूं जवाड़ै, कवी जांणि झागूंड लूंणी कराड़ै।—रा.रू.

घोघड़मिन्नौ–सं०पु०—बड़ा बिल्ला, बिलाव।

घोघी–सं०स्त्री०—१ मूर्च्छा. २ देखो 'घुग्घी' (रू.भे.)

घोघौ–सं०पु०—चने की फसल को हानि पहुँचाने वाला एक छोटा कीड़ा।

घोड़–सं०पु०—घोड़ा (महत्व०) उ०—१ गुड़ाया गज गाव गुड़ावत गौड़, घणा सहि घाव पड़चा कइ घोड़।—मे.म.

उ०—२ मोवन री मा बोली—'पँ'ली छोरचां री फिकर करणी पड़सी। हां, छोरचां-नै-ई सगळा कँ'वै है, घोड़-री-घोड़ करली है।'—वरसगांठ

घोड़चढ़ी—देखो 'घुड़चढ़ी' (रू.भे.)

घोड़ची–सं०पु०—१ अश्वारोही, घुड़सवार। उ०—तद हजार सात-आठ पखरैत तवलवंध, सेर-जुवांन सीपाही राखिया। कदे'क वा'रै चढ़ै, तद ५०० घोड़ची सुतरनाळ रांमचंगी लियां चढ़ै।

—जगमाल मालावत री वात

सं०स्त्री०—२ सारंगी या तंबूरे में तारों के नीचे की लकड़ी।

घोड़तौ–सं०पु०—घोड़ा।

घोड़वच–सं०स्त्री०—घोड़े को दी जाने वाली 'वच' नाम की एक औषधि।

घोड़राई–सं०स्त्री०—राई का एक भेद जिसके दाने वड़े-वड़े होते हैं।

घोड़रोज–सं०पु०—घोड़े की भांति तेज भागने वाली एक प्रकार की नील गाय।

घोड़लियौ घोड़लौ–सं०पु० (स्त्री० घोड़ली) १ घोड़ा (अल्पा०)

उ०—१ साथ्यां रे साथ्यां, थारा घोड़लियां पर जीण मंडाय। म्हांरे लाडल जंवाई री सुरंगी सागी थे करो।—लो.गी.

उ०—२ इण भांत झालो ठाकुरसिंह ऊभौ ऊभौ विसूरणा करै छै। हाथ मसळै छै। घोड़लौ आपरी सवारी री सुन्हली साखत सूं खेत मांहीं पड़ियौ छै।—डाढ़ाळा सूर री वात

२ दीवार में लगाई जाने वाली लकड़ी की वह खूंटी जिसका अग्र भाग घोड़े की आकृति का होता है।

घोड़सार, घोड़साळ–सं०स्त्री०यौ० [सं० घोटशाला] अस्तवल, घुड़साल।

घोड़ाकरंज–सं०पु० [सं० गृत करंज] एक तरह का करंज (वृक्ष)

वि०वि०—वैद्यक में इसे चर्म रोग, ववासीर आदि को दूर करने वाला कहा गया है।

घोड़ाकांमळ–सं०स्त्री०—प्रजा से वसूल किया जाने वाला एक प्रकार का सरकारी कर।

घोड़ागांठ–सं०स्त्री०—रस्सी में लगाई जाने वाली एक प्रकार की गांठ, खूंटा-गांठ।

घोड़ागाडी–सं०स्त्री०—वह गाड़ी जिसमें घोड़े जुते हों, इक्का, तांगा, वग्गी आदि।

घोड़ाचोळी–सं०स्त्री०—१ वैद्यक की एक प्रकार की प्रसिद्ध औषधि.

सं०पु०—२ नाथ सम्प्रदाय का एक प्रसिद्ध नाथ।

घोड़ादमो–सं०पु०—राजस्थानी साहित्य का एक गीत विशेष जिसके प्रथम चरण में अठारह तथा अन्य चरणों में सोलह मात्रायें होती हैं। तुकांत में दो गुरु होते हैं। इसे त्रंबकडो भी कहते हैं।

घोड़ानस–सं०स्त्री०—मनुष्य शरीर के पैर में एडी के ऊपर की ओर जाने वाली मोटी नस।

घोड़ानीम–सं०पु०—बकाइन का वृक्ष।

घोड़ापळास–सं०पु०—मालखंभ की एक प्रकार की कसरत।

घोड़ावच—देखो 'घोड़वच' (रू.भे.)

घोड़ामाख, घोड़ामाखी–सं०स्त्री०—एक प्रकार की मक्खी विशेष जो साधारण मक्खी से कुछ बड़ी होती है और प्राय: घोड़ों पर बैठती है व उन्हें काटती है।

घोड़ाय–सं०पु०—गरासिया जाति का एक रीड (फूंक वाद्य) का संगीत वाद्य जो बांस की पतली दो खपच्चियों से बना होता है। ये खपच्चियां बांस की होती हैं और छः इंच लम्बी होती हैं। इनमें पतली रीडें निकाली जाती हैं। दोनों खपच्चियों के बीच में एक धागा बंधा होता है। इस धागे को खेंचने व घटाने से विभिन्न सुर निकलते हैं।

घोड़ा हरड़ै–सं०स्त्री०—बड़ी हर्रे (अमरत)

घोड़ियौ—देखो 'घोड़ो' (अल्पा०)

घोड़ी–सं०स्त्री०—१ मादा घोड़ी (देखो 'घोड़ो' का स्त्री०)
२ ऊँचाई के स्थान तक पहुँचने के लिए काठ की लम्बी पटरी जो लकड़ी के पायों के सहारे खड़ी रहती है ३ चार पायों के साथ उनके बीच में लगी एक लम्बी लकड़ी के साथ लटकने वाली झोली जिसमें छोटे बच्चे झुलाये जाते हैं। इसके पायों के ऊपर की चौड़ी लकड़ी की आकृति प्राय: घोड़े के मुंह जैसी बनी होती है।
(रू०भे०—घोड़ियौ)
४ विवाह में वर पक्ष की ओर से गाया जाने वाला लोक गीत।
५ बच्चों के एक प्रकार के खेल में वह लड़का जिसकी पीठ पर दूसरे लड़के सवार होते हैं. ६ जुलाहों का कैंचीनुमा एक औजार या उपकरण जिस पर ताना फैला कर पाई करते हैं. ७ ऊँट के चारजामे पर दो व्यक्तियों के बैठने के स्थान के बीच में दोनों को अलग-अलग करने तथा आगे व पीछे झुकने से रोकने के लिए बना हुआ लकड़ी या लोह का गोलाकार व उभरा हुआ भाग. ८ छाजन की धरन के बीचों-बीच ठोंकी हुई डेढ़-डेढ़ हाथ की दो खड़ी लकड़ियां जिन पर एक बेंडी लकड़ी वा गडारी बैठा कर उसके ऊपर धरन रखते हैं। उटेव. ९ लँगड़े व्यक्ति के चलने में सहारे के लिए उपयोग में लाया जाने वाला काष्ठ का उपकरण।
(अल्पा०—घोड़ली)
१० मैदे की सेवें निकालने का एक उपकरण।

घोड़ो–सं०पु० [सं० घोटक, प्रा० घोडा] (स्त्री० घोड़ी) १ सवारी और गाड़ी आदि खींचने के काम आने वाला एक प्रकार का पशु जिसकी गरदन पर बाल होते हैं तथा पैरों में पंजे के स्थान पर गोलाकार सुम (टाप) होते हैं।

पर्याय०—अरबी, अरब, अलल्ल, अस, असप, उडंड, उतंगह, ऐराक, कंबोज, काछी, कुंडी, केकांण, केसरी, क्रमाणंक, खेग, गंधरव, चंचळ, चांमरी, चींगौ, जंगम, जड़ाग, ताजी, तारख, तुरंग, तोखार, धजराज, घाटी, निहग, पमंग, प्रोथी, बंगळी, बड़ंगी, बरहास, बाज, बाजी, वेंडूर, भिडज, रूहीचाळ, रैवंत, वानायुज, वाह, विडंग, वितंड, वीति, साकुर, सारंग, सिधैव, हंस, हय, हरी।

मुहा०—ऐ घोड़ा नै ऐ मैदांन—ये घोड़े और ये मैदान, झगड़े के लिए ललकार २ घोड़ा-गिणती राखणी—हिसाब रखना, पूरी गिनती रखना ३ घोड़ा दौड़ै तौ हूंस सू दौड़ै—घोड़े दबाव या मार की अपेक्षा मन की उमंग से अधिक तेज दौड़ते है। दबाव से किये जाने वाले कार्य की अपेक्षा मन की उमंग से व स्वेच्छा से किया गया कार्य अधिक अच्छा होता है. ४ घोड़ा नैं घर कितौ'क दूर—घोड़े के लिए घर कितना दूर? जो स्वयं द्रुतगामी है उसके लिए दूरी का कोई महत्व नहीं। हिम्मती व्यक्ति को प्रत्येक कार्य सरल मालूम होता है. ५ घोड़ा वेच'र सोवणी—गहरी नींद में सोना, बिल्कुल निश्चित होकर सोना. ६ घोड़ा रै आगै गाडी राखणी—उलटा काम करना; मूर्खतापूर्ण कार्य करना (मि० To put the cart before the horse). ७ घोड़ा वाळी चट्ट पकड़णी—घोड़े वाली जिद्द पकडनी; घोड़े के समान अड़ जाना; कठोर हठ पकड़ना.
८ घोड़ै चढ़णौ—घोड़े की सवारी करना; किसी कार्य के लिए अत्यधिक उग्र होना. ९ घोड़ो उडाणौ—घोड़े को तेज दौड़ाना. (मि० हवा से बातें करना) १० घोड़ो कसणौ—सवारी के लिए घोड़े पर साज जमाना. ११ घोड़ो घोड़ा री लात सूं नी मरै—घोड़ा घोड़े की लात से नहीं मरता। समान बल वाले व्यक्तियों के लड़ने से लड़ने वालों को अधिक हानि की संभावना नहीं होती. १२ घोड़ो फेरणौ—घोड़े को सिखा कर सवारी के योग्य बनाना; घोड़े को चाल सिखाना. १३ घोड़ो भेळणौ—युद्ध में घोड़े झोंकना.
१४ ढोली घोड़ी होणौ—निकम्मा होना, बेकार होना।

कहा०—१ आगै गधा आवै तौ लारै घोड़ां री आस कैंड़ी?—सम्मुख गधे ही आते हों तो पीछे घोड़ों की आशा ही क्या? प्रारम्भ में ही यदि कार्य ठीक न हो तो बाद में उत्तम फल की आशा ही कैसे की जा सकती है? २ घोड़ा नी लगांम घोड़ा वाळा रै हाथ में—घोड़े की लगाम घोड़े के मालिक के हाथ में है। किसी अधीनस्थ अथवा परतंत्र व्यक्ति के प्रति। कोई कार्य करने वाले की इच्छानुसार नहीं होता अपितु कराने वाले की इच्छानुसार होता है. ३ घोड़ा मत कर हरणाट, घर आपणा आया—हे घोड़े! अब मत हिनहिनाना, अपना घर आ गया है। क्योंकि मेहमानदारी कराने का समय बीत गया, अब तो घर की रूखी-सूखी रोटी खाना है। दूसरे घरों में की जाने वाली आवभगत प्राय: अपने घर में उपलब्ध नहीं होती.
४ घोड़ाये नी रोवूं हूं घोड़ा नी चाल नै रोवूं हूं—घोड़े को नहीं

रोता, मैं तो उसकी चाल को रोता हूँ। जिस प्रकार घोड़े की श्रेष्ठता उसकी चाल से सिद्ध होती है, ठीक उसी प्रकार मनुष्य की श्रेष्ठता उसकी बुद्धि एवं आचरण पर निर्भर है ५ घोड़ा री लंबी पूंछ घोड़ा नै ही आरांम देई—घोड़े की लम्बी पूंछ से घोड़े को ही आराम मिलेगा, उससे वह मक्खियां अधिक उड़ा सकेगा। खुद की वस्तु प्राय: खुद को ही आराम देती है. ६ घोड़े ही वेगा चढ़ावै नै गधै ही वेगा चढ़ावै जो घोड़े पर भी शीघ्र चढ़ाता है और गधे पर भी शीघ्र चढ़ाता है। ऐसे व्यक्ति के प्रति जो प्रशंसा करते-करते क्षण भर में निंदा भी करता हो। ऐसे व्यक्ति के प्रति जो क्षण भर में प्रसन्न हो जाता हो किंतु क्षण भर में ही क्रुद्ध हो जाता हो. ७ घोड़ौ तौ दौड़ दौड़ नै मरै नै सवार रे मन ही नी भावै—भरसक प्रयत्न एवं परिश्रम करने पर भी स्वामी के अप्रसन्न रहने पर. ८ घोड़ौ कठै बांधूं, कै थारी जीभ रै—एक ने पूछा—घोड़ा कहां बांधू ? दूसरे ने उत्तर दिया—तेरी जीभ के। उस व्यक्ति के प्रति जो छोटा-मोटा कार्य भी अपनी बुद्धि से न करके व्यर्थ में दूसरों से पूछता फिरे ९ जंवाई रै घर में घोड़ौ नै सासू हरणाटा करै—घोड़ा तो दामाद के घर में किन्तु घोड़ा रखने का घमंड उसकी सासू को है। काम में सफलता तो किसी को मिलती है और गर्व कोई दूसरा ही करता है। दूसरों के बल एवं संपत्ति पर इतराने वाले के प्रति। स्वजनों की उन्नति में निकट संबंधियों को प्रसन्नता होती है।

(रू०भे०—घुड़ल्ल, घुड़ल्लौ)

(अल्पा०—घोड़लियौ, घोड़लौ, घोड़ियौ)

महत्व०—घोड़।

२ घोड़े के मुंह की आकृति का बंदूक दागने का खटका. ३ शतरंज का एक मोहरा जो ढाई घर चलता है. ४ चार पायों पर ठहरने वाला कसरत करने का लकड़ी का बना मोटा कुंदा जो लड़कों द्वारा फांदा जाता है. ५ चार पाये लगा कर बनाया हुआ एक चौड़े तख्ते का ऊँचा पाटिया जिस पर एक आदमी आसानी से बैठ कर काम कर सकता है. ६ दो पायों का लकड़ी का बना एक उपकरण जिस पर लकड़ी के किसी बड़े लट्ठे को लम्बी आगी से चीरते समय व्यक्ति बैठता है. ७ बड़ी डलिया के ऊपर बांधा हुआ लकड़ी का गुटका जिससे भूरट नामक घास की बालें झाड़ी जाती हैं।

घोचियौ, घोचौ—सं०पु०—१ तिनका, तृण।

मुहा०—१ घोचौ पड़णौ—किसी तिनके आदि का चुभना, (आंख आदि में) किसी वस्तु का गिर जाना. २ घोचौ घालणौ, घोचौ फसाणौ—बाधा उपस्थित करना, किसी काम के होने में किसी प्रकार की रोक।

२ लकड़ी का छोटा बेडौल टुकड़ा। उ०—१ घोचौ लागां घाव, घी गेहूं भावै घणा। अहड़ा तौ अमराव, रोटचां मूंगा राजिया।

—किरपारांम

उ०—२ नीम घोचिया घाल, चींवड़ी कांन वंधावै। फोगां लकड़ी ऊंट, नाक गिरवांण घलावै।—दसदेव

सं०स्त्री०—वह विधवा स्त्री जिसने अपने सजातीय पुरुष से पति का सम्बन्ध जोड़ लिया हो या पति रूप में स्वीकार कर लिया हो।

घोट—देखो 'घोड़' (रू.भे.)

(अल्पा०—घोटड़ौ)

घोटक—सं०पु० [सं०] (स्त्री० घोटकी) घोड़ा।

घोट—सं०पु० [सं० घोण्टा] सुपारी का वृक्ष या सुपारी (अ मा.)

घोटणी—सं०स्त्री०—घोटने का छोटा उपकरण।

घोटणौ, घोटबौ—क्रि०स०—१ घोटना, पीसना, महीन चूर्ण में परिवर्तन करना. २ किसी वस्तु को चमकीली करने के लिए दूसरी वस्तु पर बार-बार रगड़ना. ३ परस्पर रगड़ना. ४ याद करने के लिए बार-बार उच्चारण करना, रटना, अभ्यास करना.

मुहा०—घोट-घोट पीणौ—पक्का याद करने के लिए बार-बार रटना।

५ सिर के बाल साफ करना, मूंडना. ६ दम घोटना, सांस अवरुद्ध करना। उ०—हरमा बीरा मेरा रे, मारूंगा बादस्या नै गळ घोट। जांमण का रे जाया, छूरां कटवावूं रे जांरी चांमड़ी।—लो.गी.

मुहा०—घोट घोट नै मारणौ—तकलीफ दे दे कर मारना।

घोटणहार, हारौ (हारी), घोटणियौ—वि०।

घोटवाणौ, घोटवावौ—प्रे०रू०।

घोटाणौ, घोटावौ, घोटावणौ, घोटाववौ—क्रि०स० (प्रे०रू०)।

घोटिओड़ौ, घोटियोड़ौ, घोटचोड़ौ—भू०का०कृ०।

घोटीजणौ, घोटीजबौ—कर्म वा०।

घोटमघोट—वि०—१ नितांत घुटा हुआ, बिल्कुल घुटा हुआ.. २ चिकना. ३ कड़ाई लिए उभरे हुए गोलाकार (स्तन) ४ हृष्ट-पुष्ट।

घोटमा—स०पु० (बहु०)—लड्डू के आकार की एक प्रकार की मिठाई जो जैसलमेर में बनती है (क्षेत्रीय)।

घोटलियौ—देखो 'घोटौ' का अल्पा०। उ०—म्हारे हुणमत जोगी घोटलियौ वड़ल्याव, बीनांणी लाल, म्हारे पितरां जोगी बीरा बींटली जी।—लो.गी.

घोटाई—सं०स्त्री०—१ घोटने की क्रिया या भाव. २ घोटने के कार्य की मजदूरी।

घोटाणौ, घोटाबौ—क्रि०स० ('घोटणौ' का प्रे०रू०) घोटने का कार्य दूसरे से कराना।

घोटाफरस—सं०पु०—एक प्रकार का शस्त्र।

घोटायोड़ौ—भू०का०कृ०—घोटने का कार्य कराया हुआ।

(स्त्री० घोटायोड़ी)

घोटाळौ—सं०पु०—गड़बड़, अव्यवस्था।

घोटावणौ, घोटाववौ—देखो 'घोटाणौ' (रू.भे.)

घोटावियोड़ौ—देखो 'घोटायोड़ौ' (रू.भे.)

(स्त्री० घोटावियोड़ी)

घोटियोड़ौ—भू०का०कृ०—घोटा हुआ। (स्त्री० घोटियोड़ी)

घोटू—वि०—घोटने वाला ।

घोटेवरदार—सं०पु०—चेला जाति के व्यक्तियों का एक नाम ।

वि०वि०—इनको राजा की ओर से एक चांदी का डंडा मिला करता था, जिसे ये सदा अपने पास रखा करते थे । घोटा (डंडा) रखने के कारण इनका नाम घोटेवरदार कहलाया ।

घोटौ—सं०पु०—१ जिससे घोटा जाय, घोटने का उपकरण. २ सिला पर किसी वस्तु को पीसने का बट्टा (पत्थर)
(अल्पा०—घोटलियौ, घोटलौ)
३ एक सुर देने वाला घन संगीत वाद्य ।

वि०वि०—कुछ धातुओं के मिश्रण में कांनी की प्रधानता होती है । एक छोटा प्याला बनाया जाता है जिसमें एक किनारे पर लकडी से आघात कर के लकड़ी को चारों ओर घुमाते हैं । इस क्रिया से गैण का सुर निकलता है ।

घोडू—देखो 'घोड़ौ' (रू.भे.) उ०—कटक मांहि सहू दखीऊं हूऊं । घोडूं मांणस विलखूं थयूं ।—कां दे.प्र.

घोण—सं०स्त्री० [सं० घ्राण] १ नाक (डिं.को.) [रा०] २ बकरी के स्तनों पर किया जाने वाला ऐसा लेप जिससे बकरी के बच्चे स्तन-पान न कर सकें ।

घोणा, घोणी—सं०पु० [सं० घोणिन्] सूअर (अ.मा., ह नां)

घोदौ—सं०पु०—१ किसी नुकीली वस्तु को चुभाने का कार्य, गोदने की क्रिया. २ धक्का. ३ बाधा, रोक, अड़चन ।

घोनौ—सं०पु० (स्त्री० घोनी) १ बकरा. २ वृद्ध, बूढ़ा व्यक्ति. ३ नितांत बहरा ।

घोबौ—सं०पु०—१ घास या फसल के कट जाने पर भूमि में खड़े रह जाने वाले छोटे-छोटे नुकीले अंश. २ नुकीली वस्तु को चुभाने का कार्य. ३ शूल, पीड़ा, कसक (नेत्रों में अथवा शिर में) ४ वात-विकार के कारण नाड़ी में चलने वाला शूल ।

घोयणौ, घोयबौ—क्रि०स०—नष्ट करना । उ०—सरणियै वसै रिड़मल सुहड़, खंडां डंडां खड़खड़ै । चहुवांण जिकण ऊपर चढ़ै, घण नरिंद घोयै घड़ै ।—मालौ आसियौ

घोयणहार, हारौ (हारी), घोयणियौ—वि० ।

घोयोड़ौ—भू०का०कृ० ।

घोयीजणौ, घोयीजबौ—कर्म वा० ।

घोर—वि०—भयंकर, डरावना । उ०—१ महाबळ कांणण-रांण मलग, दारू मभ जाण क्रमांण दमंग । सत्रां उर घोर धमोड़त सेल, भलै पत्र चोसठि रत्र उभेळ ।—मे.म. २ जबरदस्त । उ०—हे जोधार, म्हारी जोड़ी रा मत्रवां नै मारण सारू घोर (जबर) जमराज जेड़ा रोड़ी ।—बी.स. टी. ३ सघन, घना । उ०—लटा लूंब द्रुम बन लता, कुमसटा चहुं कोर । उदीपण भूखण अटा, घटा मोर घण घोर ।—क.कु.बो. ४ कठिन, दुर्गम, कठोर. ५ अत्यधिक, घना ।

सं०स्त्री०—१ दफनाने का स्थान, कब्र । उ०—१ केवांण भाटके वाढ़, भाड़िया भूरियां कंधां । विभाड़िया लाटके, बूरिया घोरां बीच । —डूंगजी जवारजी रौ गीत

उ०—२ हरभम पीर वडी करामात रौ धणी हुवौ । पीर रांमदेवरै घोर ली तरै कह्यौ—घोर एक म्हांरी घोर रै पाखती सांखला हरभम रै वास्तै संवार राखौ ।—नैणसी

२ समाधि-स्थान या कब्र पर अंकित शब्द. ३ शब्द, ध्वनि, गर्जना । उ०—१ लोरां सांवण लूंबियौ, घोरां घण घरराय । मांणीगर रंग मांण अब, प्याला भर मद पाय ।—र.रा.

उ०—२ गोळै नाळिए वाजंती, घड़ा गाजंती करंती घोरि । खिवंती ऊनागे खागे, रचावंती रीठ ।—दूदौ बीठू

उ०—३ रणंके तिकां घोर रूड़ी रचाई, ठणके किनां भल्लरी ठोर ठाई ।—वं.भा.

४ निद्रावस्था में नाक से निकलने वाली घर्र-घर्र की ध्वनि.

५ नक्कारे की आवाज (अ.मा.)

घोरणौ, घोरबौ—क्रि०स०—१ पीटना, मारना.

२ देखो 'घुरणौ' (रू.भे.) ३ निद्रावस्था में नाक से घर्र-घर्र की आवाज निकलना ।

घोरमघोर—देखो 'घोर' (महत्व०) उ०—ज्ञांनी कळयुग घोरमघोर, सहलांनी ढोला कळजुग घोरमघोर, कटारी छैला सागै राखैजी । —लो.गी.

घोररूपा—सं०स्त्री०—चौसठ योगिनियों के अंतर्गत दूसरी योगिनी ।

घोराडंबर—सं०पु०—बादलों की सघन घटायें । उ०—धुरधर आसाढ़ां अंबर घरहरियौ, घोराडंबर में संवर घरहरियौ ।—ऊ.का.

घोरारव—सं०स्त्री०—१ शोकसूचक भयंकर ध्वनि । उ०—छपने घोरारव आरव रव छायौ, सूरज ससि-मंडळ गरबित गणणायौ ।—ऊ.का.

२ गर्जन, घोर ध्वनि. ३ उल्लू पक्षी की बोली ।

घोराणौ, घोराबौ, घोरावणौ, घोराववौ—देखो 'घूराणौ' (रू.भे.) उ०—आं कही—तूं जागतौ सोय घोरावजे, आ थारी रात रा मूंडौ सूंघसी ।—वां.दा.

घोळ—सं०पु०—१ किसी के सिर पर कोई वस्तु घुमा कर दान कर देने का कार्य. २ इस प्रकार से दान में दिया गया पदार्थ. ३ किसी घुलनशील पदार्थ या वस्तु को किसी द्रव पदार्थ में घुला कर बनाया गया पदार्थ. ४ न्यौछावर ।

घोळणौ, घोळबौ—क्रि०स०—१ किसी घुलनशील पदार्थ को किसी तरल पदार्थ में मिलाना व हिलाना । उ०—रतन कचोळै महंदी घोळस्यां, रार्चो छै रंग मजीठ, सोदागर महंदी राचणी ।—लो.गी.

मुहा०—१ घोळ नै पावणौ—बिलकुल याद करा देना, रटा देना. २ घोळ नै पी जाणौ, घोल नै पीवणौ—देखते-देखते खतम कर जाना, कुछ न समझना, शरबत बना कर पीना. ३ घोळ मे पड़णौ—दुविधा में पड़ना, झंझट में रहना ।

२ सर्पादि जहरीले जंतुओं का घुटना. ३ क्रोधित होना, कोप

करना. ४ कष्ट या दर्द की अवस्था में नेत्रों की पुतली को इधर-उधर डुलाना। उ०—रिव रिव घाया नी छाया सिर रोळै। घूंटी आया जिम काया चख घोळै।—ऊ.का.

५ वच्चों का वमन करना।

घोळणहार, हारौ (हारी), घोळणियौ—वि०।

घोळाणौ, घोळावौ, घोळावणौ घोळाववौ—क्रि०स० (प्रे०रू०)

घोळिश्रोड़ौ, घोळियोड़ौ, घोळयोड़ौ—भू०का०कृ०।

घोळीजणौ, घोळीजवौ—कर्म वा०।

घोळवौ—सं०पु०—१ एक प्रकार का पकाया हुआ मांस विशेष.
२ मांस पकाने का ढंग विशेष।

घोळाणौ, घोळावौ—क्रि०स० ('घोळणौ' का प्रे०रू०) घोलने का कार्य दूसरों से कराना।

घोळायोड़ौ—भू०का०कृ०—घोलने का कार्य कराया हुआ।
(स्त्री० घोळायोड़ी)

घोळावणौ, घोळाववौ—देखो 'घोळाणौ' (रू.भे.)

घोळावणहार, हारौ (हारी), घोळावणियौ—वि०।

घोळाविश्रोड़ौ, घोळावियोड़ौ, घोळाव्योड़ौ—भू०का०कृ०।

घोळावीजणौ, घोळावीजवौ—कर्म वा०।

घोळावियोड़ौ—देखो 'घोलायोड़ौ' (रू.भे.) (स्त्री० घोळावियोड़ी)

घोळियोड़ौ—भू०का०कृ०—घोला हुआ। (स्त्री० घोळियोड़ी)

घोळियौ—सं०पु० [सं० घोलक] वह तरल पदार्थ जो किसी घुलनशील वस्तु के मिश्रण से तैयार किया गया हो।

घोळी—न्यौछावर होने की क्रिया। उ०—आगै जा देखै तौ कासूं फूलमती बैठी छै। हींडोळाट मांहे हींडे छै। तद नायण जाय वलायां लीनां अर कही—घोळी जावां, म्हारी भांणेजी हूं ऊपर।
—चौबोली

घोळुवौ—देखो 'घोळियौ' (रू.भे.)

घोळौ—सं०पु०—१ मांस को हिलाने की लकड़ी.
२ देखो 'घोळ' (रू.भे.)

घोळ्या—सं०स्त्री०—१ कुशल, खैर, क्षेम।

अव्यय—१ एक अव्यय जिसका अर्थ है—कुछ चिन्ता नहीं, कुछ परवाह नहीं।

ज्यूं—घोळ्या यूं भलांई जा।

२ अस्तु।

घोस—सं०पु० [सं० घोष] १ शब्द, आवाज. २ गर्जन, गरजने का शब्द. ३ ताल के साठ भेदों में से एक (संगीत) ४ शब्दों के उच्चारण में ग्यारह वाह्य प्रयत्नों में से एक।

घोसणा—सं०स्त्री० [सं० घोषणा] १ सूचना, इत्तला. २ सर्वसाधारण अथवा किसी निश्चित समुदाय को दिया गया आदेश. ३ गर्जना, आवाज।

घोसवती—सं०स्त्री० [सं० घोषवती] वीणा।

घोसी—सं०पु० [सं० घोष] १ मुसलमान जाति में दूध दुहने और बेचने का व्यवसाय करने वाली एक जाति विशेष अथवा इस जाति का व्यक्ति. २ वह व्यक्ति जो कुये से गांव वालों के लिये पानी निकालता हो. ३ कुये पर चरस या मोट को पकड़ कर नाली में खाली करने वाला व्यक्ति।

घ्रणा—सं०स्त्री० [सं० घृणा] १ कृपा (अ.मा.) २ नफरत, ग्लानि। (अ.मा.)

घ्रत—देखो 'घी'। उ०—जोगी जगत संन्यासी जेता, अन घ्रत अमित लहै पुर एता।—रा.रू.

घ्रतआहुतण—सं०स्त्री०—जिसमें घी की आहुति दी जाय, अग्नि (ह.नां.)

घ्रताची घ्रतायची—सं०स्त्री० [सं० घृताची] १ घृताची नाम की स्वर्ग की अप्सरा विशेष. २ अप्सरा (अ.मा.)

घ्रति—देखो 'घी' (रू.भे.) उ०—रत घ्रति चंदण कपूर सभै समसांण सझाई। विविध अमित सुचि वसत चेह ग्नि निमति चलाई।
—रा.रू.

घ्रस्टी—सं०पु० [सं० घृष्टि] सूअर।

घ्रांण, घ्रांणा—सं०पु० [सं० घ्राण] १ नाक (ह.नां.) उ०—तन त्रसित घ्रांण अगमद त्रसींग। हठ अरिन अमल व्है जात हींग।
—ऊ.का.

२ सुगंध. ३ सूंघने की शक्ति।

घ्राई—वि०—भयंकर प्रहार करने वाला।

घ्रिणा—देखो 'घ्रणा' (रू.भे.) (ह.नां.)

घ्रित देखो 'घी'। उ०—अरणी अगनि अगर में इंधण, आहुति घ्रित घणसार अच्छेह।—वेलि.

वि०—तृप्त, संतुष्ट। उ०—माळवणी ढोलौ कहै, सुज मन दाखां साच। मारू मिळियां घ्रित हुई, उर सगळा जग साच।—ढो.मा.

घ्रिति—सं०पु० [सं० घृती] १ यज्ञ (ह.नां.)

सं०स्त्री०—२ अग्नि (ह.मा.)

घ्रसि—सं०पु० [सं० घृष] भोजन (ह.नां.)

घ्रिस्टी—सं०पु० [सं० घृष्टि] सूअर, शूकर (ह.नां.)

घ्रोण, घ्रोणा—सं०स्त्री० [सं० घ्राण] १ देखो 'घ्राण' (रू.भे.) (ह.नां., अ.मा.)

सं०पु०—२ मस्तक, सिर।

घ्रोणी, घ्रोनी—सं०पु० [सं० घोणिन्] सूअर (ह.नां.)